

६-श्रीरामानन्दवेदान्तमालायाः पष्ठं पुष्पम् ।
पण्डितसम्राट् स्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्तपीठाचार्यविरचितेन
श्रीवैष्णवालङ्कारभाष्येणालङ्कृतम्
आचार्यसार्वभौमभगवच्छ्रीरामानन्दाचार्ययतीन्द्रप्रणीतं
शास्त्रीरकमीमांसायाः

श्रीआनन्दभाष्यम्

उपनिषद्भाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यविरचिता
अधिकरणरत्नमाला प्रकाशारुघा व्याख्या च
१—प्रथमो भागः



श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

संशोधक—महामहोपाध्याय स्वामी श्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेशरी

प्रकाशक—पण्डितसम्राट् स्वामी श्रीवैष्णवाचार्य वेदान्तपीठाचार्य

त्रणदेरी—श्रीरामजी मन्दिर

शारंगपुरदवाजाबाहर

अहमदाबाद—२

१००० प्रति

विजयादशमी सं २०२२
श्रीरामानन्दाब्द ६६६

मूल्य ६/००

इस ग्रन्थके सर्वाधिकार प्रकाशकके अधीन है ।

क—स्वामी श्रीत्रिभुवनदासजी शास्त्री श्रीरामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस, कांकरिया रोड-अहमदाबाद

जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यपीठा के आराध्य



सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी

विश्रामद्वारका
श्री शेषमठ, शींगडा
पोरबन्दर, सौराष्ट्र



श्री कामलेश्वर मठ
पालडी, सरखेज रोड
अहमदाबाद - ३८०००७

हिन्दुधर्मोद्धारक

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्यजी

(आविर्भाव १३५६ विक्रम १९३० निरोध)



जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्यजी

विश्रामद्वारका, शेषमठ,
पोस्ट शींगडा,
पोरबन्दर, (मौगाट)



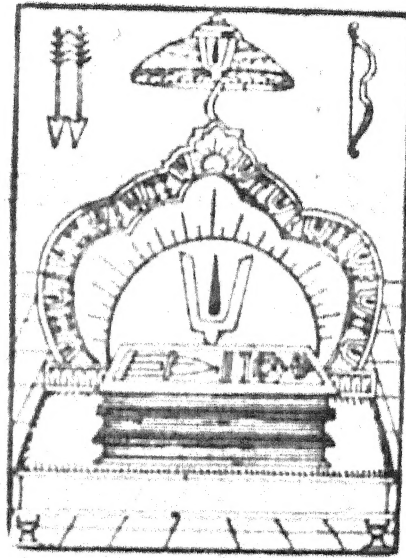
श्री कोमलेश्वरमठ,
पोस्ट पाटडी,
अहमदाबाद ३८० ००३

जगद्गुरु भोत्रिदण्डिप्रन्यमाळाबाभ्रयोदशशतोत्तरपुष्पम्

ॐ श्रीगणेशाय नमः ॐ

॥ जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः



श्रीआनन्दभाष्यम्

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

卐 सम्पादकः 卐

श्रीआनन्दभाष्यमिहासनामैत

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीगमेस्वगनन्दाचार्या

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ

विश्रामद्वारका—श्रीशेषमठ

पो. शिमडा

गौरबन्दर

८८७/७२९



श्रीकोसलेन्द्रमठ

पो. पाण्डी

अहमदाबाद—३८०००७

४११००१

卐 प्रकाशकः 卐

स्वामीसीतारामाचार्यः

व्यवस्थापक

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ

अहमदाबाद—३८०००७

☎ ४११००१

卐 तिथिः 卐

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणानाम्

६६६

卐 जयन्ती 卐

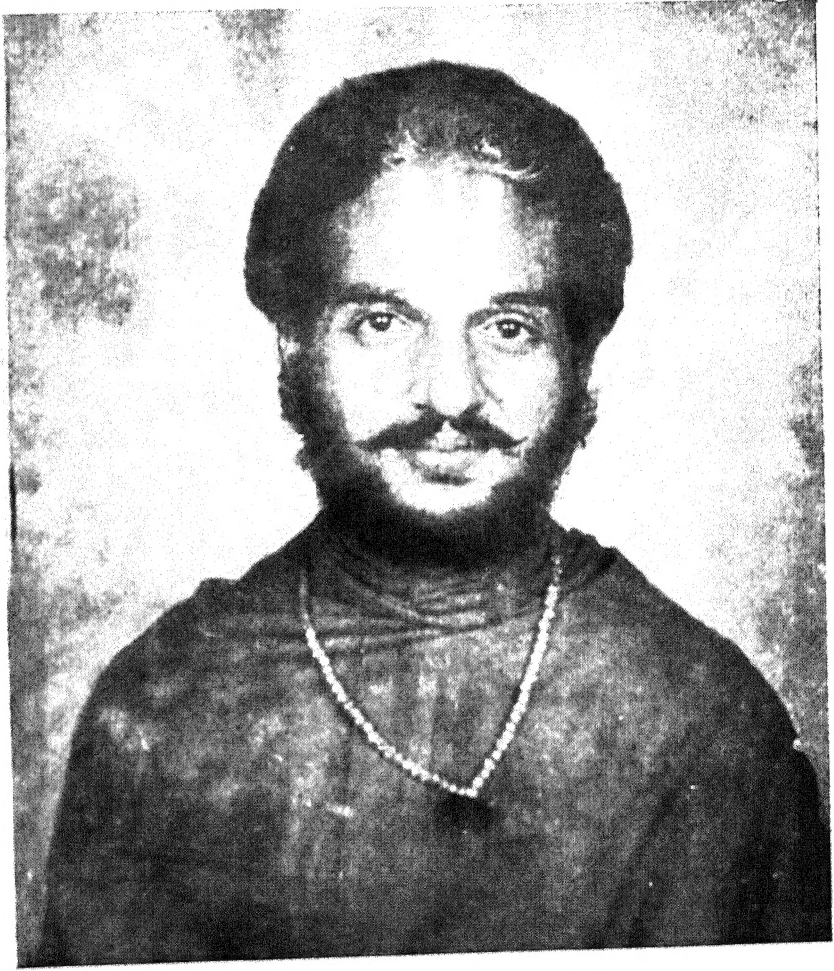
मागकृष्णसप्तमी—शनिवार—२०५२

दि. १३/१/१९९६

मुद्रकः—श्रीआनन्दभाष्यमुद्रणालयम्-आचार्यपीठ—अहमदाबाद-३८०००७ दूरभास ४११००१

स्वामी श्री सीतारामाचार्यजी

श्री रामानन्द वेदान्ताचार्य



व्यवस्थापक

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ

श्री विश्वामद्वारका
श्री शेषमठ शींगडा
पोरबन्दर - सौराष्ट्र



श्री कोशलेन्द्र मठ
पो. पालडी, सरखेज रोड
अहमदाबाद - ३८० ००७.

आनन्दभायमिहामनासीन
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी



जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ

श्री विश्वामित्राका
श्री शेषमठ शींगडा
पोरबन्दर - सौराष्ट्र



श्री कौशलेन्द्र मठ
पो. पालडी, मरवाज रोड
अहमदाबाद - ३८० ००९.

का विजय ध्वज को फहराने के साथ शंखनाद करके समस्तजनों को त्रिविध तापों से मुक्तकर दिये । समस्त प्रदेशों में परिभ्रमण कर सद्धर्म सत्कर्म के सम्बर्धन के साथ सारे देश में भक्ति के लहर को प्रजागरित कर मानवमात्र को परमचामाभिमुखी बनाकर चैत्रशुक्ल ९ श्रीराम नवमी वि. स. १५३२ में अन्तर्धान हुये—छीलासम्बरण कर श्रीसाकेत पधारे ।

आचार्यजी के ब्रह्मसूत्र गीता तथा उपनिषदों यों तीनों प्रस्थानों पर प्रसाद गंभीर परम वैदिक विशिष्टाद्वैतमत प्रतिपादक आनन्दभाष्य हैं । तथा सर्वशास्त्रसार और सर्व जनगम्य तथा सर्वजनोपकारक परिशिष्ट श्रीरामार्चन पद्धति के साथ श्रीगैष्णवमताब्जभास्कर जो प्रस्थानत्रया नन्दभाष्यों का संक्षिप्तसार है आचार्य प्रवर की अत्युत्कृष्ट कृति है ।

दुर्दाम्त यवन शासक द्वारा अत्याचार का प्रतीक हिन्दुओं पर लादागया जजिया कर के विरुद्ध आचार्यजी ने धर्मयुद्ध छेडा । यौगिकशंखनाद द्वारा जगदाचार्यजी ने निग्रह शक्ति को आकाश मण्डल में प्रसारित करदिया परिणाम स्वरूप देशभर के मस्जिदों में मुल्ला मौलवियों की आवाज बन्द हो गई अतः सर्वत्र नवाज पढ़ना बन्द हो गया । इस आपत्ति से बचने के लिये मुहम्मद तुगलक बादशाह ने मौलवियों के साथ काशी आचार्यपीठ में आकर श्रीक-बीरदासजी को साथ में लेकर जगदाचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी के चरणों में प्रणिपात पूर्वक क्षमा याचना कर सशर्त कुख्यात जजिया करको हटा दिया ।

जजियाकर की १२ शर्तें निम्न हैं—१—हिन्दुओं पर जजिया कर न लगाया जाय । २—हिन्दुओं के धर्म स्थान मठ मन्दिर आदि के बनाने का प्रतिबन्ध उठा लिया जाय । ३—हिन्दु दुलहे को सवारी पर बैठकर मस्जिद के सामने से न जाने का कानून रद्द करदिया जाय । ४—हिन्दु धर्म के प्रचार-प्रसार में किसी प्रकार की रुकावट न डाली जाय । ५—गाय की कुर्बानी बन्द हो जाय । ६—हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों को जलाना और उसका प्रकाशन बन्द कराना रोका जाय । ७—हिन्दुओं के देव मन्दिरों को गिराकर उस जगह पर मस्जिद बनाना तथा हिन्दुओं को मस्जिद में प्रार्थना करने के लिए बाध्य करने का दुर्व्यवहार रोका जाय । ८—मोहरम पर या कोई भी अन्यसमय पर हिन्दुओं के उत्सवों को न रोका जाय । ९—शंख बजाने के रोक को हटाया जाय । १०—किसी भी मेले या यात्रा में हिन्दुओं से कर न लिया जाय । ११—किसी स्त्री का सतीत्व भंग न किया जाय । और १२—किसी हिन्दु को मुसलमान न बनाया जाय ।

वि. स. १४३२ में पचासके हजार विद्वान्वाये गये हिन्दुओं की परामर्श संस्कार (वैदिक संस्कार) द्वारा जगद्गुरुजी ने पुनः सनातन हिन्दु समाजको बनाये जो हजार मुख लमान बनाये गये थे जिन्हें पण्डित वर्ग ने पुनः हिन्दु धर्म में लेने से मनाई कर दी थी। जिन में वि. स. १३८१ में बहादुर अपने ३४ हजार राजपूत माणिकों के साथ अयोध्या के राजा श्रीहरिसिंह को मुहम्मद तुगलक बादशाह ने मुखलमान बनाया था का भी समाधि है अपनी अछौकिक चमकृति पूर्ण क्रिया कलाओं द्वारा पूर्य आचार्यजी ने सभी की सर्वोपर श्रीरामजी की प्रतीति तथा देव दर्शन का मार्ग प्रमत्त किया जगदाचार्यजी की दिव्य वेषणा है—

“सर्वे प्रपन्नोधिकारिणः यदा शक्ता अशक्ता पदयोजनप्रभोः ।

अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो न चापि कालो न च शुद्धतापि नौ ॥”

(श्रीगीष्णवमताब्जभास्कर १५५०) अर्थात् भगवत् प्रपत्ति मोक्ष का कारण है। इस पर जिज्ञासा होती है कि इस प्रपत्ति का अधिकारी कौन है ? इसके उत्तर में आचार्यजी कहते हैं कि हे सुमुखानन्द ! जगत्प्रभु सर्वोपर आरामजी की शरणमान में सबकी अधिकार है। चाहे वह बलवान् हो, बलहीन हो, उच्च कुल में उत्पन्न हो या नीच हो क्योंकि भगवान् परम दयालु हैं अतः वे स्वप्रपत्ति में कुछ तथा जानि आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं। इसलिये जीव मात्र प्रपत्ति का अधिकारी है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के इस वेषणा को इतिहासकारों ने स्वर्गादेशों में अंकित किया है जो वाक्यानुसार अक्षरम चरितार्थ कर बता दिया है। उदाहरण के लिये श्रीकान्ति रत्नामजी तथा श्रीरावेदास (रैदास) जी प्रपत्ति जग जाहिर हैं। ये जगदाचार्य विराग लेकर अन्वेष्टन करने पर भी नहीं मिलेंगे। वस्तुतः जगद्गुरुत्व आप में ही अक्षरम चरितार्थ है।

‘विशिष्टाद्वैत’ आचार्य प्रवर का निदान्त है आपने ब्रह्मसूत्र के आनन्दभाष्य में लिखा है—‘एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो नतु केवाद्वैतम्’—(१।१।१) अतः आप अनादि वैदिक और विशिष्टाद्वैतमत जिसका प्रथम सयुक्तिक प्रतिपादकाचार्य महर्षि बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी थे के प्रबल प्रचारक—प्रसारक थे परिणामतः आपके ही नाम से इस शास्त्रप्रदाय का नाम श्रीरामानन्दसम्प्रदाय—प्रचलित हुआ। संक्षेपतः इस शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ यों है विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टं विशिष्टयोः अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् है। व्युत्पत्ति में दो बार विशिष्ट कहने का

साधर्म्य यह है कि सूक्ष्म चित् तथा अचित् विशिष्ट यानी कारणावस्थापन्न सर्वेश्वर श्रीराम और स्थूलचित् तथा अचित् विशिष्ट यानी कार्यावस्थापन्न सर्वेश्वर परब्रह्म श्रीरामजी में एकता एकरूपता यानी अभेद है परब्रह्म दो नहीं । चित् विशिष्ट-चित् विशेषण से युक्त तथा अचित् विशिष्ट-अचित् विशेषण से युक्त होने से ही दो ब्रह्म की प्रतीति सी होती है वस्तुतः ब्रह्ममें यानी कार्य कारण रूप परब्रह्म श्रीरामजी में अभेद है । इस श्रौत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में परात्पर तत्त्व सर्वेश्वर श्रीरामजी हैं । श्रीरामामिन्न रूपा सर्वेश्वरी श्रीसीताजी पराशक्ति के रूप में समवराध्या हैं । श्रीलक्ष्मणादि श्रीरामजी की आज्ञा पालक शेष रूप में हैं । शेषी मात्र सर्वेश श्रीरामजी हैं । अन्य सभी शेष हैं । इस श्रौत विशिष्टाद्वैत मतानुसार जीव तथा ब्रह्म अलग अलग तत्त्व हैं एक नहीं । विशेष्य रूपतया श्रीरामजी हैं तो अन्य समस्त विशेषण रूप से स्वीकृत है । इन तत्त्वों के विशेष जानकारी के लिये प्रस्थानत्रयों के आनन्दभाष्य तथा उन पर मेरी प्रकाशटीका श्रीगोष्पितमताब्जभास्कर तथा मेरी प्रभा-किरण टीका और जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्यजी योगीन्द्र की तत्त्वत्रयसिद्धि तथा मेरी उसकी टीका तत्त्वदीप श्रीयोगीन्द्र चरण की वेदार्थचन्द्रिका उसमें मेरी प्रकाश-किरण टीका प्रभृति ग्रन्थों को पढ़ें यहाँ तो केवल दिग्दर्शन मात्र कराया गया है ।

आचार्यश्री के भाष्य-प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र-गीता तथा उपनिषदों) के आनन्दभाष्य हैं-
पतिपाद्यविषय-माया, जीव तथा परब्रह्म श्रीरामजी हैं ।

यों 'राम' शब्द के अनन्त अर्थ होते हैं तथापि अतिरिक्त रूप से ऐसा समझा जा सकता है-१-श्रीरामजी का प्रतिपादक २-श्रीरामजी प्रतिपाद्य तथा ३- श्रीरामजी जगत् के रक्षा करने वाले हैं । अ=१- श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य किसी का भी यह जीव शेष नहीं है २- ब्रह्मादि देवों का भी यह जीव शेष नहीं है ३- श्रीरामजी को छोड़कर अन्य किसी का शेष बनना या मानना भूल है तथा स्वरूप विरोधी है । ४- आचार्य द्वारा ही श्रीरामजी की प्राप्ति होती है । म=जीव है जो रकारवाच्य श्रीरामजी का शेषभूत है अतः श्रीरामजी जैसे चाहें इस शेष रूप जीव का उपयोग कर सकते हैं ।

जगदाचार्यजी से प्रवर्धित श्रीसम्प्रदाय के इष्ट-श्रीसीतारामजी हैं । मन्त्र द्रष्टा ऋषि श्रीजानकीजी हैं मन्त्र-षडक्षर तारक महामन्त्र 'रा रामाय नमः' है । यों तो जीव-अनन्त हैं तथापि १- नित्य २- मुक्त ३- बद्ध ४- मुमुक्षु तथा ५- कैवल्य अभेद से पाँच प्रकार के हैं । परब्रह्म श्रीरामजी के साथ जीवात्मा का ९, प्रकार का सम्बन्ध है ।

१, शेष-शेषी २, नियम्य-नियामक ३, पिता-पुत्र ४, पति-पत्नी ५, आचार-आधेय ६, मेव्य-सेवक ७, शरीर-शरीरी ८, धर्म-धर्मी तथा ९, रक्ष्य-रक्षक । यह श्रीसम्प्रदाय—श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के नाम से जगत् विख्यात है । इसका धाम—निम्न दिव्य श्रीसाकेत धाम है यही श्रीअयोध्याजी के नाम से ससार में प्रसिद्ध है । क्षेत्र—नन्दिग्राम तथा परिक्रमा श्रीचित्रकूट में कामदगिरि और मिथिला की है । मुखविहाम—श्रीचित्रकूट तथा नर्षी—घनूपकोटि और गोत्र—अच्युत है । वर्ण—शुक्ल शाखा अनन्त, मुक्ति—मायुष्य द्वार-ध्रुवण, ऋषि-श्रीवृद्धाजी, मुनि-श्रीवशिष्ठजी, पार्षद-देवता-श्रीहनुमानजी, वेद-ऋग्वेद, देवी-श्रीकमलाजी, मिहामन-शुद्ध रत्न-मिहामन, वंश-सूर्य वंश, तिलक-ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा माला-श्रीनुलसी की है । बड़ी जगद् पञ्चगङ्गा घाट काशी तथा आचार्य-प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी यति सम्राट् हैं । और धर्म-श्रीसीतारामाय श्रीवैष्णव है आहार-हरिनाम है, ध्येय-श्रीसीतारामजी, तथा ज्ञेय—श्रीमद्वाल्मीकि रामायण (और श्रीनुलसीदामजीकृत रामायण) है । तत्त्वत्रय—१, कृष्ण स्वरूप माया २, जीव ३, ब्रह्म । रहस्यत्रय—१ महामन्त्र (रा रामाय नमः) २ चरम मन्त्र—सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अमयं सर्वभूतानां ददाम्येतद्वत्त मम ॥ तथा ३ द्रव्य मन्त्र—‘श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये । श्रीमते रामचन्द्राय नमः’ है । शरणागति मन्त्र—‘श्रीरामः शरणं मम’ तथा गायत्री-श्रीराम गायत्री ‘ॐ दाशरथाय विद्महे सीता बन्धुभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्’ है ।

॥ श्रीआनन्दभाष्यकारजी के पूर्वाचार्यों की शुभनामावली निम्न प्रकार से है ॥

- १ सन्तेश्वर श्रीरामजी (लोकलीलार्थ प्रादुर्भाव काल त्रेतायुग वैवशुक्ल श्रीरामनवमी के दिन अयोध्या में)
- २ सन्तेश्वरी श्रीसीतार्जी (लोकलीलार्थ प्रादुर्भाव काल त्रेतायुग वैशाख शुक्ल नवमी के दिन सीतामती मिथिला में)
- ३ श्रीहनुमानजी (स्वपरमाराध्य श्रीरामजी के साथ लोकलीला सम्पादनार्थ प्रादुर्भाव काल त्रेतायुग कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी मन्वमादन पर्वत पर)
- ४ श्रीब्रह्माजी (सृष्टि का प्रारम्भ काल अश्वयुज्यवमी श्रीविष्णु के नामिकमलाप्रमाण में आविर्भूत)
- ५ श्रीवशिष्ठजी (ऋषिपञ्चमी के दिन ब्रह्मलोक में प्रकट)
- ६ श्रीपराशरजी (आश्विन शुक्ल पूर्णिमा श्रीवशिष्ठ काल में उनके आश्रम में प्रकट)

- ७ श्रीवादरायण व्यासजी (पराशर काल में गुरुपूर्णिमा के दिन कालपी उ.प्र.में जन्म)
- ८ श्रीशुकदेवाचार्यजी (श्रावण शुक्ल पूर्णिमा व्यासकाल में व्यासाश्रम में जन्म)
- ९ महर्षि बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी (वि. पू. ५६९-३२० पौषकृष्ण १२ बोधायसर मिथिला में)
- १० जगद्गुरु श्रीगङ्गाधराचार्यजी (माघ कृष्ण एकादशी को आविर्भाव ४८९ वि. पूर्व तथा तिरोभाव २८९ वि. पूर्व माघ शु०५ स्थान प्रतिष्ठानपुर प्रयाग)
- ११ जगद्गुरु श्रीसदानन्दाचार्यजी (आविर्भाव ३३७ वि. पूर्व माघ शुक्ल पञ्चमी तिरोभाव ८० वि. पूर्व जन्मस्थल गढमुक्तेश्वर)
- १२ जगद्गुरु श्रीगोमेश्वरानन्दाचार्यजी (आविर्भाव १३६ वि.सं. पूर्व गैशाखशुक्ल तृतीया तिरोभाव ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी वि.सं. २३६ जन्म कामद गिरिमें)
- १३ जगद्गुरु श्रीद्वारानन्दाचार्यजी (आ.भा. फाल्गुन पूर्णिमा वि.सं. १९६ द्वारका में ति.भा. आषाढ शुक्ल तृतीया ३७६ वि. सं. में)
- १४ जगद्गुरु श्रीदेवानन्दाचार्यजी (आ.भा. गैशाख शुक्ल दशमी वि.सं. ३२६ प्रयाग में ति.भा. माघ पूर्णिमा ५२६ वि.सं. में)
- १५ जगद्गुरु श्रीश्यामानन्दाचार्यजी (आ.भा. आषाढ शुक्ल द्वितीया वि.सं. ४८६ जगन्नाथ पुरी में ति.भा. ६८६ आषाढ शुक्ल २ वि.सं. में)
- १६ जगद्गुरु श्रीश्रुतानन्दाचार्यजी (श्रावण शुक्ल सप्तमी ६३६ वि.सं. मिथिला में जन्म ८३६ वि.सं. श्रावण शुक्ल ७ में साकेत गमन)
- १७ जगद्गुरु श्रीचिदानन्दाचार्यजी (चैत्र पूर्णिमा ७४६ वि. सं चित्रकूट में जन्म ८९६ वि.सं. आश्विन शु. १२ में साकेतवास)
- १८ जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी (गैशाख कृष्ण त्रयोदशी ८६६ वि.सं. अवन्तिका में जन्म गैशाख पूर्णिमा १०६७ वि.सं. में साकेतवास)
- १९ जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यजी (गैशाख शुक्ल नवमी १०२६ विक्रमसम्बत् जनकपुर में जन्म १२०६ विक्रमसम्बत् चैत्र शुक्ल ९ में अन्तर्धान)
- २० जगद्गुरु श्रीहर्यानन्दाचार्यजी (आषाढ शुक्ल एकादशी ११५६ विक्रमसम्बत् कर्णपुर में जन्म साकेतवास १३५६ विक्रमसम्बत् गैशाख शुक्ल १२)
- २१ जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी (चैत्र शुक्ल एकादशी १२०६ विक्रमसम्बत् अयोध्या में अवतार १३९६ विक्रमसम्बत् गैशाख शुक्ल ११ में तिरोभाव)

- २२ वै स्वयं आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी (आविर्भाव माघ कृष्ण ७-१३५६ तिरोभाव चैत्र शुक्ल ९-१५३२) पूर्वविरणानुसार आनन्दभाष्यकारजी २२वें आचार्य हैं। अग्रिम अतिवृत्त-न आचार्य परम्परा निम्नानुसार है-
- २३ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी (आविर्भाव वैशाख कृष्ण ६ विक्रमसम्बत् १३७६ मिथिला में तिरोभाव ज्येष्ठ पूर्णिमा १५३९ विक्रमसम्बत्)
- २४ जगद्गुरु श्रीजगन्मोक्षानन्दाचार्यजी (आविर्भाव अश्विन पञ्चमी १५०३ काशीमें तिरोभाव श्रीरामनवमी १६११ विक्रमसम्बत्)
- २५ जगद्गुरु श्रीविरजानन्दाचार्यजी (आविर्भाव शुक्ल ९ विक्रमसम्बत् १५५० जयपुर में आविर्भाव तिरोभाव श्रावण शुक्ल नवमी वि.स. १७७५)
- २६ जगद्गुरु श्रीआशारामाचार्यजी (दायोरामजी) (जन्मस्थान नागी राजस्थान काविक शुक्ल १२ विक्रमसम्बत् १५६५ तिरोभाव काविक शुक्ल १२ वि.स. १७६८)
- २७ जगद्गुरु श्रीरामभद्राचार्यजी (आविर्भाव वैशाख पूर्णिमा विक्रमसम्बत् १७३३ तिरोभाव माघ पूर्णिमा १७८९ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल कुन्दरामनिकेतन-नेपाळ)
- २८ जगद्गुरु श्रीधृतायाचार्यजी (श्रावण अमावस्या १७५७ विक्रमसम्बत् अक्षय तिरोभाव कृषि पञ्चमी १८०७ जन्मस्थल छवना इटावा)
- २९ जगद्गुरु श्रीविश्वम्भराचार्यजी (आविर्भाव चैत्रकृष्ण तृतीया १७७७ विक्रमसम्बत् तिरोभाव ज्येष्ठ शुक्ल दशमी १८२७ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल पूता)
- ३० जगद्गुरु श्रीगणेशभद्राचार्यजी (आविर्भाव चैत्रशुक्ल पञ्चमी १८०७ विक्रमसम्बत् तिरोभाव वैशाख शुक्ल नवमी १८३८ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल मिरसी बिहार)
- ३१ जगद्गुरु श्रीनिदेश्वरभद्राचार्यजी (जन्माष्टमी १८११ विक्रमसम्बत् तिरोभाव मीना अमावस्या १८७१ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल पोखरा-नेपाळ)
- ३२ जगद्गुरु श्रीकोसलेन्द्राचार्यजी (आविर्भाव रथसप्तमी १८३५ विक्रमसम्बत् तिरोभाव अश्वयुज तृतीया १८८५ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल रायगढ़)
- ३३ जगद्गुरु श्रीरामकिशोराचार्यजी (आविर्भाव अनन्तचतुर्दशी १८५१ विक्रमसम्बत् तिरोभाव माघपद चतुर्थी १९११ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल भुवनेश्वर)
- ३४ जगद्गुरु श्रीजानकीनिवासाचार्यजी (आविर्भाव माघकृष्ण सप्तमी १८५१ विक्रम सम्बत् तिरोभाव श्रावण शुक्ल सप्तमी १९१५ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल मतेरकोटला-नेपाल)

- ३५ जगद्गुरु श्रीसाकेतनिवासाचार्यजी (आविर्भाव चैत्र शुक्ल प्रतिपदा १८६७ विक्रमसम्बत् तिरोभाव ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी १९३५ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल मण्डी)
- ३६ जगद्गुरु श्रीजानकीजीवनाचार्यजी (आविर्भाव नागपञ्चमी १८७५ विक्रमसम्बत् तिरोभाव १९०२ श्रावण कृष्ण द्वितीया जन्मस्थल सुचीन्द्र-केरल)
- ३७ जगद्गुरु श्रीभरनाप्रज्ञाचार्यजी (अवतार माघी अमावस्या १८४८ विक्रमसम्बत् साकेतवास गैशाख शुक्ल द्वितीया १९२३ विक्रमसम्बत् जन्मस्थल कुण्डराग्राम-बिदर्भ)
- ३८ जगद्गुरु श्रीहनुमदाचार्यजी (अवतार अक्षय तृतीया १९०७ विक्रमसम्बत् साकेतवास कार्तिक शुक्ल एकादशी १९७८ जन्मस्थल राजपीपला)
- ३९ महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीब्रुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी (अवतार विजया दशमी विक्रमसम्बत् १९४३ साकेतवास वसन्तपञ्चमी २००७ विक्रमसम्बत् अवतार-स्थल मुरादाबाद)
- ४० जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रान्नाचार्यजी योगीन्द्र (काशी में प्रधान आचार्यपीठ आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ के संस्थापक अवतार श्रीरामनवमी विक्रम सम्बत् १९४४ तिरोभाव २०४६ भाद्र कृष्णनवमी) भाष्यदीप कार ।
- ४१ आनन्दभाष्यसिद्धामनामीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी (जन्म गैशाख शुक्ल ३ विक्रमसम्बत् १९८८ जन्मस्थल पूर्वनेपाल) भाष्य प्रकाश कार ।

आचार्यजी के जनकल्याण कारक परमत्रिक्त प्रधान बारह शिष्य (महाभागवत) थे वे इस प्रकार हैं— १ जगद्गुरु श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी २ जगद्गुरु श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी ३ जगद्गुरु श्रीसुखानन्दाचार्यजी ४ जगद्गुरु श्रीभाजानन्दाचार्यजी ५ जगद्गुरु श्रीयोगानन्दाचार्यजी ६ जगद्गुरु श्रीनरहर्यानन्दाचार्यजी ७ जगद्गुरु श्रीगालवानन्दाचार्यजी ८ जगद्गुरु श्रीपीपाचार्यजी ९ जगद्गुरु श्रीरामकबीराचार्यजी १० जगद्गुरु श्रीरविदासजी (रेदास) ११ श्रीघनाजी १२ श्रीसेनजी जो द्वादश महाभागवत के अवतार होने से बारह सूर्य के समान तेज स्त्री लोकोत्तर चमत्कारी तथा लोक कल्याण कारक थे ।

॥ आनन्दभाष्य ॥

अनादि वैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रथम व्याख्याता भगवान् श्रीबोधधन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी जो श्रीसम्प्रदाय के नवें आचार्य हैं के वृत्ति ग्रन्थ में प्रतिपादित सत् सिद्धान्त श्रौत विशिष्टाद्वैत मत का भाष्यग्रन्थद्वारा विशिष्ट प्रचारक एवं प्रसारक प्रस्थानत्रयानन्द भाष्यकार

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी का समय १३५६—१५३२ है जो भारतीय संस्कृत एवं संस्कृत के लिए विशेष संकटापन्न काल था। जिसकी वृत्ति श्रीरामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास देशिक परिचर्या श्रीसम्प्रदायदिग्दर्शन, आचार्य परिचर्या महाभोष्टपाठ्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीधुराचार्य का स्मृतिप्रिय श्रीरामानन्दसम्प्रदायका संक्षिप्त परिचय एवं जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य तथा विजय पताका प्रभृति ग्रन्थों में ज्ञांकी जा सकती है।

जगदाचार्यजी ने भारतीय सद्धर्म के स्वस्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए प्रस्ताव नत्रयों ब्रह्मसूत्र उपनिषदों एवं गीता में प्रसन्न प्रसाद गीता भाष्यों की रचना की 'तन्मगुण सारत्वात्तुतद्व्यपदेशप्राज्ञवत्' ब०सू. २।३।३०। इस शास्त्र के निर्देशानुसार 'आनन्दभाष्य' नाम रखा। इस नामाभिधानानुसार ही 'आनन्दो ब्रह्म व्यजानात् आनन्दादेवस्त्वन्निर्वाण भूतानि जायन्ते' आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रत्याभिसेवशान्ति' इत्यादि धृतिवो संगत होती है। अतः भगवान् भाष्यकारजी ने अपने व्याख्यानों का नाम आनन्दभाष्य के रूप में प्रसिद्ध कर सर्व साधक जनों को परमपद पथिक बनने के लिए सुगममार्ग का प्रदर्शन श्रीरामानन्दसम्प्रदाय द्वारा किये जो आनन्द भाष्यों का मारकत्व है। जिसमें मानव मात्र के लिए श्रीरामप्रपत्ति स्वीकार कर परम पद श्रीसकैतार्थीशजी का कैरव्य प्राप्त करने की आज्ञा प्रदान की गई है।

‘सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्प्रभोः।

अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो न चापिकालो न च शुद्धतापि नौ”

श्रीवै०म०भा० ४/५० भास्कर के पूर्ण रहस्यों को जानने के लिए भेजे प्रभा एवं कारण टीका का स्वाध्याय करें।

भगवान् बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्रों की संख्या एवं अधिकारों के विषयों में भी भाष्यकार आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। श्रीशंकराचार्यजी के मत में सूत्र संख्या ५५५ एवं अधिकरण संख्या १९९ है। श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में सूत्र संख्या ५४५ तथा अधिकरण संख्या १६० है। श्रीमाध्वमत में सूत्र संख्या ५६४ और अधिकरण संख्या २२३ है। श्री निम्बार्क मत में सूत्र संख्या ५४९ तथा अधिकरण संख्या १६१ है। श्रीविष्णुसूक्तजी मत में सूत्र संख्या ५५४ और अधिकरण संख्या १७१ है। पर श्रीबोक्कयनीय वृत्ति के अनुयायी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के सर्वशास्त्र सामन्तस्य मतानुसार सूत्र संख्या ५५१ है जैसा कि अध्याय १—३२+३३+४३+२९=१३७। अध्याय २—३६+४५+५३+२१=१५५। ३—२७+४१+६४+५१=१८३। अध्याय ४—१९+२०+१५+२२=७६। तथैव अधिकरण संख्या १६० है जैसे कि अ० १—११+७+१२+८=३८। अ० २—१०+८+९+९=३६। अ० ३—६+८+२५+१५=५४। अ० ४—११+१०+५+६=३२।

ब्रह्मसूत्रों में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। उन पादों में वर्णित अति सूक्ष्म विषय इस प्रकार है--१-१ पाद में अस्पष्टतर जीवों के स्वरूप का विचार है। २ पाद में पुनः अस्पष्ट जीवों के विषय में चर्चा है। ३ पाद में स्पष्ट जीवादि के स्वरूपकी चर्चा है। ४ पाद में स्पष्टतर जीवादि के विषय में चर्चा है। २-१ पाद में सोख्यादि स्मृति विरोध एवं न्यायशास्त्र विरोधका परिहार है। २ पाद में सांख्यादि अनुकूल तर्कों का वेदवेदान्तानुसारि सत् तर्कों द्वारा निराकरण है। ३ पाद में विषदादिकों का कार्यत्व का समर्थन है। ४ पाद में इन्द्रियादिकों का कार्यत्व निरूपण है। ३-१ पाद में ब्रह्म की उपासना विषयक इच्छा निरूपण के लिए जागर आदि अवस्थाश्रय जीव के दोषों का निरूपण है। २ पाद में परमपुरुष परब्रह्म श्रीरामजी का उभयलिङ्गत्व का निरूपण है। ३ पाद में ब्रह्म के उपासनात्मक भेदों का निरूपण है। ४ पाद में उपासना का वर्णाश्रमधर्म के साथ सामञ्जस्य का प्रतिपादन है। ४-१ पाद में श्रीरामोपासना के फल प्रतिपादन के लिए उपासना के फल निरूपण पूर्वक ब्रह्मोपासनाका प्रकार एवं विद्या के माहात्म्य का भी विवेचन किया गया है। २ पाद में श्रीरामोपासकों का परधाम श्रीसाकेत में जाने के प्रकार का निरूपण है। ३ पाद में अर्चिरादिमार्ग का सोमोपांग वर्णन कर अर्चिरादि मार्ग से ही श्रीरामोपासकों का श्री रामधाम प्राप्ति का वर्णन है। ४ पाद में अर्चिरादिमार्ग से श्रीसाकेत-ब्रह्मलोक गये मुक्त जीवों का श्रीरामसायुज्य प्राप्तिरूप मोक्षका प्रतिपादन है।

तो भगवान् भाष्यकारजी के मत का स्वरूप को संक्षेप में यह समझा जा सकता है जगद्गुरुजी ने श्रीरामशरणागति-प्रपत्ति एवं अनन्याभक्ति को मोक्ष-सायुज्य मुक्ति का कारण माना है। परब्रह्म श्रीरामजी को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है। जीवों का परस्पर भेद एवं नानात्व स्वीकारा है। एवं जीवों का स्वरूपतः अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और नित्यत्व माना है तथा जीवों का ब्रह्म से भेद माना है। विद्या में उपकारिका वर्णाश्रम व्यवस्था स्वीकार किया है। विवर्तपाद मायावाद प्रतिविश्ववादों का असकृत् प्रत्याख्यान किया है। नारद पञ्चरात्र आगम शास्त्र का सम्पूर्णतया प्रमाण माना है। निर्विशेष ब्रह्मवाद का श्रुति-स्मृति प्रामाण्य पुरस्सर अनेकवार अनेक स्थलों पर निराकरण कर सर्वशास्त्र सम्मत सविशेषवाद का घटाटोप के साथ प्रतिपादन किया है। जगन्मिथ्यात्व एवं भावरूप अनिर्वचनीय अविद्या का सर्वशास्त्रानुकूलतया खण्डन किया है। तथा सत्त्व्यातिवाद को स्वीकार किया है।

५ आनन्दभाष्यका मत ५

भाष्यकार श्रीने विशिष्टाद्वैत मत को ही ब्रह्ममीमांसाशास्त्र का अभिमत माना है। 'एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यदुपपत्तिवलाच्चविशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्यविषयो न तु केवलाद्वैतम् आनन्दभाष्य १-१-१ यानी विशिष्टाद्वैत मत ही श्रुति स्मृति इतिहास एवं पुराण से सामञ्जस्य होता है तथा युक्ति युक्त भी यह सिद्धान्त है कि केवलाद्वैत नहीं। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ इस प्रकार से होता है - विशिष्टं न विशिष्टं च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतं। प्रथम विशिष्ट शब्द से सूक्ष्मान्वितविशिष्ट ब्रह्म यानी चरण ब्रह्म का प्रहण होता है एवं द्वितीय विशिष्ट शब्द से स्मृत निदानविशिष्ट ब्रह्म यानी कार्य ब्रह्म का प्रहण होता है। अतः विशिष्टाद्वैत का अर्थ हुआ कार्य ब्रह्म एवं कारण ब्रह्म की एकता यानी कार्य एवं कारण दोनों में एकता इस बात को आचार्य श्रीने 'तदनन्यन्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' ब० मू० २।१।१४ के भाष्य में अन्तरी प्रकार से समझाया है। इस विषयका विस्तृत विवेचन श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ३९ वें आचार्य महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीगुरुराचार्यजी ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' एवं विशिष्टाद्वैतमिद्धान्तसार में किया है तथैव श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ४० वें आचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्यजी ने तत्त्वत्रयमिद्धि एवं वेदार्थचन्द्रिका में तथा मेन तत्त्वदीप एवं प्रकाश-किरण में किया है एवं श्रीविष्णुवमनाचमस्कर व्याख्या प्रमाण-किरण प्रभृतिद्वय प्रबन्धों में विशेष चर्चा किया है अतः विशेषार्थों तथा ऐसे विस्तारमय में अन्य उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

५ आनन्दभाष्यमें ब्रह्मपदवाच्य श्रीरामजी हैं ५

'ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्तनिखिलशेषमनवधिकानिशयासंख्येय कल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममाह सामान्यवाचकानां पदानां विशेषे पर्यवसानात्' आनन्दभाष्य १-१-१ यानी सामान्य वाचक पदों का विशेष अर्थ में समाप्ति होने से इस ब्रह्ममीमांसा सूत्रमें ब्रह्म शब्द महापुरुष एवं उत्तमपुरुष आदि पद से वाच्य समस्त दोषों से रहित निरवधिक तथा अतिशय से रहित असंख्य कल्याण गुणों के आश्रय भगवान् श्रीरामजी को ही कहता है, अर्थात् इस शारीरक मीमांसा शास्त्र के विषय में ब्रह्म शब्द उक्त विशेषण विशिष्ट सर्वेश्वर श्रीरामजी का ही वाचक है। क्योंकि व्यापकत्व के योग से ब्रह्म शब्द सामान्य वाचक पद है और श्रीरामजी विशेष अर्थ हैं। इस प्रकार भाष्यकारजी ने ब्रह्म शब्द वाच्य सर्वेश्वर श्रीरामजी का प्रतिपादन किया है।

तथैव 'एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण आ. भा. १।१।२ यानी इस प्रकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान जगत्कारण निर्गुण एवं सगुण आदि पदों का वाच्य श्रीरामतत्त्व है वही जगत्का कारण ब्रह्म है जन्माद्यस्ययतः सूत्र द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार आगे १।१।४ प्रभृति अनेक सूत्रों द्वारा श्रीरामतत्त्व का ही विवेचन किया गया है, विशेषार्थी वही देखें।

५ आनन्दभाष्य एवं सगुण निर्गुण ब्रह्म ५

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी ने ब्रह्म को निर्गुण तथा सगुण दोनों ही माना है। आचार्यजी ने निर्गुण शब्दका—

‘सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणाः । स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्य प्रमिदतु त्रिपुराण ‘योऽसौनिर्गुणप्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः । प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्त्वमुच्यते प०पुराण । यानि जिनमें सत्त्वादिक प्रकृति के गुण नहीं हैं। एवं सर्व शुद्ध पदार्थों से शुद्ध वह आदि पुरुष है। जो जगदीश्वर शास्त्रों में निर्गुणरूप से कहा गया है वह त्याग करने योग्य प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से हीन कहा गया है। इत्यादि शास्त्र सम्मत ‘निर्गता निकृष्टा सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्ट गुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम् आ०भा० १।१।२ अर्थात् निर्गत है निकृष्ट सत्त्वादि प्राकृतिक गुण जिनसे वह निर्गुण है इस प्रकार गूढ़ रहस्यमय अर्थों का प्रतिपादन कर श्रुति का समन्वय पूर्वक एक ही ब्रह्म तत्त्व को निर्गुण एवं सगुण माना है। यदि निर्गुण तथा सगुण का एक ही नहीं मानते तो ‘परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानचक्रक्रिया च । एवं निर्गुणं निष्क्रियम्’ आदि श्रुतियों का सामञ्जस्य नहीं हो पाता अतः दिव्य-गुणमन्वेन च सगुणत्वमित्युभयमेकस्य ब्रह्मणानिर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम् आ० भा० १।१।२ लिखा है। उसी तत्त्व को स्फुट करते हुये आगे लिखते हैं किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चनश्रुतयः स्फुटकारणस्वरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्व मक्षरब्रह्मणो जगत्कारणत्व वादिन्यश्काश्चनकाश्चनश्रुतयस्तस्याक्षरस्य निराकारत्वं निर्गुणत्वञ्चाहुर्गुणमभयत्राविरोधार्थः स एवार्थस्तान्निर्कैरङ्गीकर्तव्यः अन्यथा परस्पर विरोधे व्याहतत्वादप्रामाण्यमेवनिष्पद्येत एवं श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्यदिव्यगुण-चन्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्वं निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् आ०भा० १।१।२ इत्यदि रूप से समस्त वेदान्त दर्शन को सगुणरूप श्रीराम जी का प्रतिपादकरूपतया निरूपण किया है।

५ आनन्दभाष्यके अनुसार सद्य मुक्ति नहीं ५

'तदोक्तोऽप्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषतावगमान् तच्छेष-
गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतशताधिकया ११२।१६ के प्रयोग में भाष्यकारजी लिखते
हैं—विद्यासामर्थ्य से यानी परमात्मोपासन रूप विद्या सामर्थ्य से एवं परमात्मा के शेषता
के अनुमन्वान से साधक जीवात्मा ईश्वर से अनुगृहीत होता है। इसी विषय का निर्देश
पहले जन्माद्यधिकरण में भी किया गया है इसी समुण ब्रह्म श्रीरामजी के निराकारानुपायान्
एवं अभ्यास वाले साधक एक सौ एकवीं सुप्ता नाड़ी द्वारा शरीर से निकलकर अर्चिरादि
मार्ग से ब्रह्मलोक श्रीमाकेत लोक को प्राप्त हुए। अन्य भक्त की मुक्ति प्रतिपादित की
गई है। विद्या सामर्थ्यात् यहां पर विद्यापद से जिसकी भरण से पूर्व में आहुति की गई
है उसी ब्रह्म का निर्विद्यासन रूप परमात्मा श्रीरामानन्दन उदकलय विद्या का ग्रहण है यही
सूत्रकार श्रीरामजी का मार्ग है। अतः जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में सद्यमुक्ति
नहीं है अर्चिरादि मार्ग से क्रममुक्ति ही है। पुनः आपने लिखा है—एतेन सद्योमुक्तेर
भावोऽपि व्यक्तो भवति यानी इसमें ज्ञानी को सद्यमुक्ति का अभाव है अर्थात् सद्योमुक्ति
नहीं होती है यह व्यक्त होता है। पुनः आगे अर्चिरादि मार्गेण ब्रह्मलोकगमनवज्ञाप
नात् सद्यो न मुक्तिब्रह्मविदामपि तु देवयानक्रमेणैवेति सिद्धान्तः लिखकर प्रकृत
प्रयोग को पुष्ट किया गया है। अतः अर्चिरादि मार्ग से क्रममुक्ति शास्त्र संगत है सद्यमुक्ति
नहीं यह भाष्यकार का सिद्धान्त है।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मममनुते प्रभृति अति का आश्रय लेकर सद्यमुक्ति
का जो समर्थन किया जाता है इसका निराकरण 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' प्रभृति मा
थ्यान्दिनीय श्रुति के द्वारा निराकरण कर निगमन रूप से इति न केनापि प्रमाणेन सद्योमु
क्तिः सिद्ध्यतीति मनीषिभिर्विभावनीयम् आ०भा० १।१।२ यानी किसी भी प्रमाण
से सद्योमुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिए। यह अति
संक्षेप में बताया गया है, विशेष भाष्य एवं दीप-प्रकाश टीका ग्रन्थों से अवगत करें।

५ आनन्दभाष्य की टीका ५

जगदाचार्य प्रसादित आनन्दभाष्य की अनेक टीकाएं वा टीपणियां हुई हैं। दारा-
चार्य जगद्गुरु श्रीटीलाचार्यजी (१५१५-१६४२) ने सुरद्रुम नाम की टीका लिखी है।
परिवाराचार्य श्रीमङ्गलाचार्यजी (१७८५-१८९८) ने सुरद्रुममञ्जरी नाम की टीका लिखी

है। महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीधुवराचार्यजी (१९४३-२००७) ने भाष्यपदानुगानामक स्वपदानुरूप टीका लिखी है। अभिनववाचस्पति पण्डित सम्राट् स्वामी जीष्णवाचार्यजी (१९००-१९८६ ई०) ने जीष्णवाङ्मयार नामकी टीका लिखी है जो प्रथमपाद तक प्रकाशित व सम्प्रति उपलब्ध है। जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्यजी योगान्द्र (१९४४-२०४६) ने भाष्यदीप नामक रहस्यमय भाष्यतत्त्व प्रकाशकटीका लिखी है एवं मैंने भी भाष्यप्रकाश टीका लिखी है जो भाष्यदीप के साथ में श्रीआनन्द-भाष्यमुद्रणाट्य में मुद्रित होकर सावकों के हाथों में है।

प्रकृत भाष्यरत्न का मुद्रणकार्य १९९० ई. में प्रारम्भ हुआ, जिसका पहला फर्मा १९-२१९९० को छपा। एक सौ एकसठवाँ फर्मा २९-१०-९९ को छपा। इतने दीर्घ काल का कारण एकाधिक प्रत्यवायों का उपस्थित होना है। समाज के अदूरदर्शी तत्त्वानभिज्ञ महानुभावों के द्वारा समुपस्थापित भिरोवाभासस्वरूपि प्रहों के शान्त्यर्थ सत् शान्तिपाठ को परमावश्यकतानुभव करके इतर कार्यों में प्रवृत्त होना पड़ा। तदर्थ आचार्यपीठ को सहस्रों आर्थिक भार का बहन करना पड़ा। यों प्रकृत प्रसंग के फलस्वरूप ही सहस्राधिक पृष्ठों का जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ स्मारक स्मृति ग्रन्थ एवं जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यः आनन्दभाष्यकारजी का सांगोपांग दिव्य चरित्र प्रस्तुत परक गण्य महाकाव्य पांचेक सौ पृष्ठों का आविर्भूत हुआ, एवं सौएक पृष्ठों का जगदाचार्य श्री के दिव्य प्रसंगों का प्रस्तावक आगमग्रन्थ श्रीअगस्त-संहिता तथा श्रीवशिष्ट संहिता, श्रीरामस्तचराज प्रभृति श्रीसम्प्रदाय (श्री रामानन्द सम्प्रदाय) के दिव्य तत्व बोधक ग्रन्थ रत्न प्रस्फुटित हुये। एवं श्री सम्प्रदाय (श्रीरामानन्द सम्प्रदाय) के मार्मिक रहस्यों को विस्फुरित करने वाले अनेक निबन्ध प्रबन्ध श्रीसम्प्रदायतत्त्व जिज्ञानु साधकों के समक्ष पहुंच पाये। इसी प्रत्यवाय सामक शान्तिपाठ का एक प्रकरण के रूपमें अतात्ववानी जगद्विजयी महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीधुवराचार्यजी वेदान्त केसरीजी की आचार्यस्मृति आनन्दभाष्य सिंहासनासीन के प्रकाश किरण के साथ प्रस्फुटित होकर सावकों के समक्ष उपस्थित हुई।

अत्यन्त सावधानी रखते हुये भी मानव सुलभ स्वभाव अनवधानता के कारण प्रस्तुत भाष्यरत्न एवं टीकाओं में यत्र तत्र अवाञ्छित त्रुटियां रह गयी है। दीर्घकाल जनीत खीन्नता एवं कार्यबाहुल्यतया समयभाव होने से त्रुटिसोधनीका लगायी नहीं जा सकी अतः वेदान्त

रसिक साधकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि-उन्हें निर्द्वेषता के ऊपर ध्यान न देकर सकलित ज्ञान को स्वतः पूर्णता स्वाध्याय करें ।

सर्वोत्तर श्रीसीतारामजी की असीम दया एवं आनन्द भाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी की असीम अनुकम्पा से प्रथमवार यह भाष्यकार पूर्णरूप में संस्कृत एवं हिन्दी दो टीकाओं के साथ श्रीनविशिष्टाद्वैत वेदान्ततत्त्व जिज्ञासु साधकों के समक्ष प्रस्तुत है । यही बड़ी प्रसन्नता की बात है । भाष्यकारजी का अति संक्षिप्त परिचय पाठ्यक्रम में हिन्दी भाषा में प्रस्तुत है एवं अन्त में संस्कृत श्लोकवद् आवद्ध है । आचार्य जगत का पूर्ण जीवन परिचय को प्रस्तुत करना असंभव प्रायः है, तथापि यद्यप्युक्त विभव सप्तमहाकाण्ड के रूप में विपद चरित 'जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य' विजय पत्रिका के साथ में समाप्त के समक्ष प्रस्तुत है, अतः विशेषार्थि उसी से विपद क्षरितानुग्रह करें ।

'श्रीआनन्दभाष्यमुद्रणालय' का शुभारम्भ दि० २३-२-१९२५ में हुआ मुद्रणालय के नाम के विषय में एकाधिक साधकों ने विप्रनिर्वात व्यक्त की 'भावितः सुटोनिवृत्त्यर्थं समुद्रकनिर्देशः' के अनुसार शेका समाधान प्रस्तुत हुआ 'ग्रामं गच्छन् तृणमृज्जति' श्यायानुसार अनेक अन्य दिव्य तात्त्विक प्रबन्धों का मुद्रण करने हुये मुद्रणालय जगै बंद, नामाभिधानानुसार गीतानन्दभाष्य दि० ३-४-१९२० की समाप्त के भावने प्रस्तुत किया । अनेक विशिष्ट अन्तराय को निरहित करना हुआ अपनी विजय पात्र के दिव्य निर्देश के साथ लगभग १३०० पुष्टों का श्रीगीणों का अमूल्य निधि 'ब्रह्मप्रदानन्दभाष्य' की आचार्य प्रवर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी की जातिर्भाव विधि माघ कृष्ण सप्तमी दि० १३-१-१९२२ को प्रस्तुत कर रहा है । अब यो कहा जा सकता है कि हमने प्रस्थानतत्त्वानन्द भाष्यों में से गीता एवं ब्रह्मसूत्रों के भाष्यों को प्रस्तुत कर दो महीने पर कर लिया है । और उपनिषदानन्दभाष्यों में से इवेताइवरोपनिषदानन्दभाष्य मूल मात्र ८ पत्रों में १८०३-२१०८७ में साधकों के करों में प्रस्तुत हुआ, अन्य १० उपनिषदानन्दभाष्य प्रकाश के साथ अनुमानतः २४, २५ सौ पुष्टों में कार्यारम्भ कर रहा है । अतः अपने नामाभिधान को पूर्णतः चरितार्थ कर रहा है । पीछले १७ वर्षों में अविच्छिन्न रूपसे समाज सेवा में रत मासिक जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ का तो यह मूलाग्र ही है ।

यह सर्व जन विदित है कि 'सन्तैः कथा सन्तैः पथ्याः' श्यायानुसार अपने विषय वस्तु के गरिमानुसार उन अग्रिष्ठ भाष्यों को भी समयानुसार साधकों के समक्ष प्रस्तुत करेगा ही ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है ।

इस भाष्य रत्न के प्रकाशन हेतु श्रीदत्तवतभाई देवपुरी सिंगपुर वाले ने अंशदान किया है तदर्थ धन्यवाद ।

अधिकरणसूची एवं अकारादी क्रम सूत्र सूची के साथ भाष्य में प्रस्तुत श्रुति-स्मृति श्रीमद्रामायण तथा स्वपूर्वाचार्यों के निबन्ध-प्रबन्ध सूची को नहीं जोड़ा जा सका इसका हमें पेट है । अन्त में

गच्छतस्त्वलनं कापि भवत्येव प्रमादतः । हसन्ति दुर्जेनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

आनन्दभाष्यसिद्धान्तसीमा

जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्य श्रीगमेश्वरानन्दाचार्य

जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्यपीठ अहमदाबाद-३८०००७ ४११००१

५ श्रीमैथिलीमहोपनिषद् ५

उभयैव मनं पूर्वं साकेतमितिर्मावोचत् । अहं हनुमते मम प्रियाय प्रियतराय ।
म वेदवेदिने ब्रह्मणे, म वशिष्ठाय । म पराशराय, म व्यासाय, म शुक्राय ॥१॥

५ श्रीवशिष्ठसंहिता ५

शृणु वदामि ते वत्स मन्त्रराजपरम्पराम् । वस्याश्च वन्दनाद् रामश्चात्यन्तं हि प्रसीदति ।
सृष्ट्यादी च सिसृक्षुः श्रीगमोविधिं विवाय हि । सृष्टये प्रेषयामास वेदं ज्ञानमहामिधिम् ॥३॥
तथाऽप्यर्थविवेकस्वाभावाद् विविधः ससर्ज न । जानायामीशभक्तो च गुरुभक्तिर्घतो न हि ॥
भक्तिद्वये यतश्चास्ति तत्त्वप्रकाशहेतुता । ततो वेदार्थबोधो न गुरोर्भक्तेरभावतः ॥५॥
ततो रामस्य खेदं हि समुद्गीक्ष्य च मैथिली । गृहीत्वा त्रिविधं रामान्मन्त्रराजं षडक्षरम् ॥
हनुमते च दत्त्वा तं राममन्त्रं षडक्षरम् । त्रिवये मन्त्रदानाय प्रेरयामास मारुतिम् ॥७॥

५ श्रीचाल्मीकिसंहिता ५

इदं तु परमं तत्त्वं देवानामप्यगोचरम् । पृष्ठं सुष्माभिरनर्थं कथ्यते शृणुतर्पयः ॥८॥
भगवान् रामचन्द्रो ही परं ब्रह्म श्रुतिश्रुतः । दयालुः शरणं नित्यं दासार्ता दीनचैवसाग ॥९॥
इमां सृष्टिं समुत्पाद्य जीवानां हितकाम्यया । आर्थाशक्तिं महादेवां श्रीसीतां जनकात्मजाम् ।
तारकं मन्त्रराजं तु श्रावयमास ईश्वरः । जानकीं तु जगन्माता हनुमन्तं गुणाकरम् ॥
श्रवयामास नूनं स ब्रह्माणं सुधिया वरम् । तस्मात्त्येने वसिष्ठर्षिः क्रमादस्मादवातरत् ॥
भूमौ हि राममन्त्रोऽयं योगिता सुखदः शिवः । एवं क्रमं समादाय मन्त्रराजपरम्परा ॥

५ गीतानन्दभाष्यम् ५

श्रीरामं जनकात्मजामनिलजं त्रयो वसिष्ठावृषा योगीशश्च पराशरं श्रुतिविदं व्यासं जिताक्षं शुक्रम ।
श्रीमन्तं पुरुषोत्तमं गुणनिधिं गङ्गावराद्यान्यतीत्र श्रीमद्राघवदेशिकञ्च वरदं स्वाचार्यवर्यं श्रये ॥

५ निदर्शिका ५

पृ. १-६ प्रथम मङ्गलश्लोकः

पृ. ६ मे द्वितीय मङ्गल श्लोकः

पृ. ६-१३ भाष्यान्तरणम्

५ अधिकरणमृचो ५

॥ प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे ॥

३६

१४-१०	निष्णामाधिकरणम्	११११	=१
११-१६४	जन्माद्यधिकरणम्	१११२	=१
१६५-१०४	शास्त्रयोनिस्वाधिकरणम्	१११३	=१
१०५-२२७	समन्वयाधिकरणम्	१११४	=१
२२८-२७०	इक्षय्यधिकरणम्	१११५	मे ११११२=८
२७१-३१६	आनन्दमयाधिकरणम्	११११३	मे १११२०=८
३१७-३२५	जन्मधिकरणम्	१११२१	मे १११२२=२
३२६-३३१	आकाशाधिकरणम्	१११२३	=१
३३१-३३४	प्राणाधिकरणम्	१११२४	=१
३३४-३४०	उपोनिगलिकरणम्	१११२५	मे १११२८=४
३४१-३५२	प्राणानुगमाधिकरणम्	१११२०	मे १११३२=४

* प्रथमाध्यायस्यद्वितीयपादे *

३५३-३७४	सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम्	११२१	मे ११२१८=८
३७४-३७८	अन्नधिकरणम्	११२१९	मे ११२१०=२
३७८-३८३	गुहप्रविष्टाधिकरणम्	११२११	मे ११२१२=२
३८३-३९४	अन्तराधिकरणम्	११२१३	मे ११२१८=६
३९४-४०३	अन्तर्याम्यधिकरणम्	११२१०	मे ११२२१=३
४०३-४०९	अदृश्यत्वादिगुणाधिकरणम्	११२२२	मे ११२२४=३
४१०-४२७	गैश्वानराधिकरणम्	११२२५	मे ११२३३=०

पृष्ठ

५ प्रथमाध्यायस्यतृतीयपादे ५

सूत्र

४३

↓

४२८-४३६	बुभ्वाद्यधिकरणम्	१।३।१	से १।३।७=७
४३७-४४४	भूमाधिकरणम्	१।३।८	से १।३।९=२
४४४-४५०	अक्षराधिकरणम्	१।३।१०	से १।३।१२=३
४५०-४५३	ईश्वरिणीविधिकरणम्	१।३।१३	=१
४५४-४७८	दहराधिकरणम्	१।३।१४	से १।३।२३=१०
४७८-४८२	प्रमिताधिकरणम्	१।३।२४	से १।३।२५=२
४८२-५०४	देवताधिकरणम्	१।३।२६	से १।३।३०=५
५०५-५०८	मध्वधिकरणम्	१।३।३१	से १।३।३३=३
५०८-५१८	अपशूद्राधिकरणम्	१।३।३४	से १।३।३८=५
५१८-५२१	कम्पनाधिकरणम्	१।३।३९	=१
५२१-५२३	ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम्	१।३।४०	=१
५२४-५२८	अन्तरत्वादिष्यपदेशाधिकरणम्	१।३।४१	से १।३।४३=३

॥ प्रथमाध्यायस्यचतुर्थपादे ॥

२९

↓

५२९-५५०	अनुमानिकाधिकरणम्	१।४।१	से १।४।७=७
५५०-५५७	चमसाधिकरणम्	१।४।८	से १।४।१०=३
५५८-५६५	संख्योपसंप्रदाधिकरणम्	१।४।११	से १।४।१३=३
५६६-५७३	करणत्वाधिकरणम्	१।४।१४	से १।४।१५=२
५७३-५७८	जगद्धाचित्वाधिकरणम्	१।४।१६	से १।४।१८=३
५७९-५८५	वाक्यान्वयाधिकरणम्	१।४।१९	से १।४।२२=४
५८५-५९४	प्रकृत्यधिकरणम्	१।४।२३	से १।४।२८=६
५९५-५९६	सर्वव्याख्यानधिकरणम्	१।४।२९	=१

५ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे ५

३६

↓

५९८-६०५	स्मृत्यधिकरणम्	२।१।१	से २।१।२=२
६०५-६०७	योगाप्रत्युक्त्यधिकरणम्	२।१।३	=१

६०७-६२५	विच्छेदनाधिकरणम्	२।१।४	मे २।१।११ = ८
६२५-६२६	शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्	२।१।१२	= १
६२६-६३०	भोक्त्रापरिग्रहाधिकरणम्	२।१।१३	= १
६३१-६४२	आरम्भणाधिकरणम्	२।१।१४	मे २।१।२० = ७
६४२-६४८	सर्वव्याख्यानाधिकरणम्	२।१।२१	मे २।१।२० = ७
६४९-६५२	उपसंहारदर्शनाधिकरणम्	२।१।२२	मे २।१।२५ = ३
६५२-६६०	कृत्स्नप्रसक्त्याधिकरणम्	२।१।२६	मे २।१।३१ = ६
६६०-६६६	प्रयोजनवत्ताधिकरणम्	२।१।३२	मे २।१।३२ = १

* द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय पादे *

४१

६६७-६८२	रचनानुपपादधिकरणम्	२।२।१	मे २।२।१० = १०
६८२-६९८	महोपाधिकरणम्	२।२।११	मे २।२।१० = १०
६९८-७११	समुदायाधिकरणम्	२।२।१८	मे २।२।२७ = १०
७१२-७१७	उपलब्ध्याधिकरणम्	२।२।२८	मे २।२।३१ = ३
७१८-७२०	सर्वानुपपादधिकरणम्	२।२।३२	= १
७२१-७२६	एकस्मिन्समम्भाधिकरणम्	२।२।३३	मे २।२।३६ = ४
७२६-७३२	प्राप्यधिकरणम्	२।२।३७	मे २।२।४१ = ४
७३३-७४०	उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्	२।२।४२	मे २।२।४५ = ४

* द्वितीयाध्यायस्य तृतीय पादे *

५३

७४१-७५१	विषयधिकरणम्	२।३।१	मे २।३।१० = १०
७५१-७५५	तेजोऽधिकरणम्	२।३।११	मे २।३।१५ = ५
७५५-७५७	विपर्ययाधिकरणम्	२।३।१६	= १
७५७-७६१	अन्तराविज्ञानाधिकरणम्	२।३।१७	मे २।३।१८ = २
७६१-७६४	आत्माधिकरणम्	२।३।१९	= १
७६५-७८४	ज्ञाधिकरणम्	२।३।२०	मे २।३।३३ = १४

७८४-७९२	कर्त्राधिकरणम्	२।३।३४	से २।३।४० =७
७९२-७९६	परायत्ताधिकरणम्	२।३।४१	से २।३।४२ =२
७९६-८१५	अंशाधिकरणम्	२।३।४३	से २।३।५३ =११

❧ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थ पादे ❧ २३

↓

८१६-८२१	प्राणोष्णत्वविकरणम्	२।४।१	से २।४।६ =६
८२२-८२४	अयससगत्वविकरणम्	२।४।५	से २।४।६ =२
८२५-८२६	प्राणाणुत्वाविकरणम्	२।४।७	=१
८२६-८२७	श्रेष्ठयाविकरणम्	२।४।८	=१
८२८-८३२	वायुक्रियाविकरणम्	२।४।९	से २।४।१२ =४
८३३-८३४	अणुत्वाविकरणम्	२।४।१३	=१
८३४-८३७	उयोतिराद्यविष्टानाविकरणम्	२।४।१४	से २।४।१६ =३
८३८-८४०	इन्द्रियाधिकरणम्	२।४।१७	से २।४।१८ =२
८४०-८४६	संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यविकरणम्	२।४।१९	से २।४।२१ =३

❧ तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादे ❧ २७

↓

८४७-८५७	तदन्तरप्रतिपत्त्यविकरणम्	३।१।१	से ३।१।७ =७
८५८-८६५	कृताव्ययाविकरणम्	३।१।८	से ३।१।११ =४
८६६-८७५	अनिष्टादिकार्यविकरणम्	३।१।१२	से ३।१।२१ =१०
८७५-८७७	सम्भाव्यापत्त्यविकरणम्	३।१।२२	=१
८७७-८७८	नातिचिराविकरणम्	३।१।२३	=१
८७९-८८३	अन्याधिष्ठिताविकरणम्	३।१।२४	से ३।१।२७ =४

❧ तृतीयाध्यायस्य द्वितीय पादे ❧ ४१

↓

८८४-८९२	संख्याधिकरणम्	३।२।१	से ३।२।६ =६
८९३-८९५	तदभावाविकरणम्	३।२।७	से ३।२।८ =२
८९६-८९८	कर्मानुस्मृतिशब्दविव्यविकरणम्	३।२।९	=१
८९८-९००	सुरघाविकरणम्	३।२।१०	=१

०.१०-०.१०	उभयच्छिदाधिकरणम्	३।२।११	से	३।२।११
०.२०-०.२४	अडिकुण्डलाधिकरणम्	३।२।२६	से	३।२।२६
०.२५-०.३२	पराधिकरणम्	३।२।३०	से	३।२।३०
०.३२-०.३०	फलाधिकरणम्	३।२।३७	से	३।२।३७

५ तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे ५

०.४०-०.४५	सवेवेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्	३।३।१	से	३।३।१
०.४६-०.५०	अन्यथात्वाधिकरणम्	३।३।६	से	३।३।६
०.५०-०.५१	सर्वभेदाधिकरणम्	३।३।१०		
०.५१-०.५०	आनन्दाधिकरणम्	३।३।११	से	३।३।१०
०.५०-०.६०	कार्योक्त्यानाधिकरणम्	३।३।१०		
०.६१-०.६२	समानाधिकरणम्	३।३।१०		
०.६२-०.६५	सम्बन्धाधिकरणम्	३।३।२०	से	३।३।२०
०.६५-०.६७	सम्भूत्याधिकरणम्	३।३।२३		
०.६८-०.६०	पुरुषविद्याधिकरणम्	३।३।२४		
०.७०-०.७१	वेदाद्याधिकरणम्	३।३।२५		
०.७१-०.७५	हम्यधिकरणम्	३।३।२६		
०.७५-०.८४	साध्यासाधिकरणम्	३।३।२७	से	३।३।२१
०.८४-०.८६	नियमाधिकरणम्	३।३।३२		
०.८६-०.९०	अक्षरव्यधिकरणम्	३।३।३३	से	३।३।३४
०.९१-०.९५	अन्तरत्वाधिकरणम्	३।३।३५	से	३।३।३७
०.९५-१.००२	कामाद्याधिकरणम्	३।३।३८	से	३।३।४०
१.००२-१.००३	तन्निघारणनियमाधिकरणम्	३।३।४१		
१.००४-१.००७	प्रदानाधिकरणम्	३।३।४२		
१.००७-१.०१६	क्षिप्तभूयस्त्वाधिकरणम्	३।३।४३	से	३।३।५०
१.०१७-१.०१०	आत्मनः शरीराधिकरणम्	३।३।५१	से	३।३।५२

१०२०-१०२२	अथाङ्गवद्धाधिकरणम्	३।३।५३	से	३।३।५४	=२
१०२२-१०२४	अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्	३।३।५५			=१
१०२५-१०२७	अथ शब्दादिमेदाधिकरणम्	३।३।५६			=१
१०२७-१०२९	अथ विकल्पाधिकरणम्	३।३।५७	से	३।३।५८	=२
१०३०-१०३३	अथ यथाश्रयभावाधिकरणम्	३।३।५९	से	३।३।६४	=६

५ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे ५

५२



१०३४-१०५६	पुरुषार्थाधिकरणम्	३।४।१	से	३।४।२०	=२०
१०५७-१०५८	स्तुतिमात्राधिकरणम्	३।४।२१	से	३।४।२२	=२
१०५९-१०६०	पाणिष्ठवार्थाधिकरणम्	३।४।२३	से	३।४।२४	=२
१०६१-१०६२	अथारनीन्वनाधिकरणम्	३।४।२५			=१
१०६२-१०६४	अथसर्वापेक्षाधिकरणम्	३।४।२६			=१
१०६५-१०६६	समदायामाबधिकरणम्	३।४।२७			=१
१०६७-१०७१	अथसर्वान्नानुमत्यधिकरणम्	३।४।२८	से	३।४।३१	=४
१०७१-१०७४	अथ विहितत्वाधिकरणम्	३।४।३२	से	३।४।३५	=४
१०७५-१०७९	अथ विभुराधिकरणम्	३।४।३६	से	३।४।३९	=५
१०७९-१०८५	तद्भूनाधिकरणम्	३।४।४०	से	३।४।४३	=४
१०८५-१०८८	अथ साम्यधिकरणम्	३।४।४४	से	३।४।४५	=२
१०८८-१०९३	सहकार्यन्तरविषयधिकरणम्	३।४।४६	से	३।४।४८	=३
१०९४-१०९५	अथानाविष्काराधिकरणम्	३।४।४९			=१
१०९६-१०९७	अथैहिकाधिकरणम्	३।४।५०			=१
१०९८-१०९९	अथ मुक्तिफलाधिकरणम्	३।४।५१			=१

५ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ५

१९



११०१-११०६	अथवृत्त्यधिकरणम्	४।१।१	से	४।१।२	=२
११०६-१११०	अथात्मवोपानाधिकरणम्	४।१।३			=१
११११-१११४	अथप्रतीकाधिकरणम्	४।१।४	से	४।१।५	=२

१११४-१११६	अथादिभ्यादिभ्यधिकरणम्	४११६		५१
१११६-११२१	अथासीनाधिकरणम्	४११७	से	४११११ = ५२
११२२-११२३	अथाप्रायणाधिकरणम्	४१११२		५३
११२३-११२६	अथ तदधिगमाधिकरणम्	४१११३		५४
११२६-११२८	अथेतराधिकरणम्	४१११४		५५
११२८-११३०	अथानाकरन्वकार्याधिकरणम्	४१११५		५६
११३१-११३४	अथाग्नि होत्रायाधिकरणम्	४१११६	से	४१११६ = ५७
११३४-११३६	अथेतरक्षणाधिकरणम्	४१११७		५८

५ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे ५

११३७-११४२	अथवागधिकरणम्	४१११८	से	४१११८ = ५९
११४२-११४४	अथ मनोधिकरणम्	४१११९		६०
११४४-११४८	अथाप्यक्षाधिकरणम्	४११२०		६१
११४८-११५२	अथ भूताधिकरणम्	४११२१	से	४११२१ = ६२
११५२-११६६	अथामृत्युपक्रमाधिकरणम्	४११२३	से	४११२३ = ६३
११६६-११६८	अथ परमप्रायधिकरणम्	४११२४		६४
११६९-११७१	अथ विभागाधिकरणम्	४११२५		६५
११७२-११७५	अथ तदोकोऽधिकरणम्	४११२६		६६
११७६-११८३	अथ रश्म्यनुमाराधिकरणम्	४११२७	से	४११२७ = ६७
११८४-११८९	दाक्षिणायनाधिकरणम्	४११२९	से	४११२९ = ६८

५ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे ५

११९०-११९५	अथान्विषाधिकरणम्	४११२८		६९
११९५-११९८	अथवात्यधिकरणम्	४११२९		७०
११९८-१२०३	अथ परणाधिकरणम्	४११३०		७१
१२०१-१२०४	अथान्विषाद्विषाधिकरणम्	४११३१	से	४११३१ = ७२
१२०४-१२२३	अथ कार्याधिकरणम्	४११३२	से	४११३२ = ७३

५ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे ५

२२



१२२४-१२३६	अथ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्	४।४।१	से	४।४।३	=३
१२३७-१२४०	अथ विभागेनदृष्टत्वाधिकरणम्	४।४।४			=१
१२४०-१२४६	अथ ब्रह्माधिकरणम्	४।४।५	से	४।४।७	=३
१२४६-१२४९	अथ संकल्पाधिकरणम्	४।४।८	से	४।४।९	=२
१२४९-१२६३	अथ भावाधिकरणम्	४।४।१०	से	४।४।१६	=७
१२६३-१२८१	अथ जगद्व्यापारवर्जनाधिकरणम्	४।४।१७	से	४।४।२२	=६

५ अकारादिक्रमसूची ५

पृष्ठाङ्कः

सूत्रम्

अध्यायपादाङ्कः

५ अ ५

८३०	अकरणत्वाच्चनदो०	२।४।११
४४४	अक्षरमम्बरान्तधृते :	१।३।१०
२८६	अक्षरधियान्त्ववरो ०	३।३।३३
११३१	अग्निहोत्रादितु तत्का०	४।१।१६
८५२	अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न	३।१।४
१०२०	अङ्गावद्वास्तु न शा ०	३।३।५३
६७५	अङ्गित्वानुपपत्तेश्च	२।२।६
१०३०	अङ्गेषु यथाश्रयभावाः	३।३।५०
१११८	अचलत्वं चापेक्ष्य	४।१।९
८२५	अणवश्च	२।४।७
८३३	अणुश्च	२।४।१३
४९७	अत एव च नित्यत्वम्	१।३।२०
३०१	अत एव तद्ब्रह्म	१।२।१६
१०६१	अत एव चार्त्तनीचनो ०	३।४।२५
१२४८	अत एव चान्याधि ०	४।४।९

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	आध्यायसंज्ञाः
२००	अत एव चोपमासूत्रे	२।२।१८
२१०	अत एव न देवता	२।२।२८
२३१	अत एव प्राणः	२।२।२९
२१४१	अत एव सर्वाण्यनु	२।२।३०
८०५	अत एव प्रबोधोऽस्मात्	२।२।८
११८४	अतश्चायने ऽपि दाक्षिणे	२।२।१०
१०७८	अतस्त्वितरज्या	२।२।२९
१०१०	अतिदेशाच्च	२।२।४५
२१०	अतोऽन्येन तयाहि	२।२।२५
११३३	अतोऽन्यपि त्वेतेषा	२।२।१७
३७५	अत्ताचराचामङ्गनात्	२।२।९
१४	अथातो ब्रह्मनिश्चयः	२।२।१
४०३	अदृश्यत्वादि गुणको	२।२।२२
८१२	अदृष्टानियमात्	२।२।५१
६४३	अधिकन्तुभेदनिर्देशात्	२।२।२२
१०४०	अधिकोपदेशात् वा	२।२।८
७३०	अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	२।२।३०
१०४५	अप्ययनमात्रवतः	२।२।१२
१०७४	अनभिभवश्च दर्शयति	२।२।३५
३०३	अनवस्थितेरसम्भवाच्च	२।२।१८
११२८	अनारब्धकार्ये एव तु	२।२।१५
१००४	अनाविष्कृत्यन्तव्यात्	२।२।४९
१२७६	अनावृत्तिश्चात्	२।२।२२
९८४	अनियमः सर्वेषाम्	२।२।२२

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
८६६	अनिष्टादिकारिणा	३।१।१२
४७५	अनुकृतेस्तस्य च	१।३।२२
८०९	अनुज्ञा परिहारौ	२।३।४८
३६३	अनुपपत्तौस्तु न शोऽ	१।२।३
१०१३	अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञा	३।३।४८
४२४	अनुस्मृतेर्वादरि	१।२।३१
७०९	अनुस्मृतेश्च	२।२।२५
१०५२	अनुष्टेयवादरायण	३।४।१९
९३१	अनेन सर्वशतत्वमा	३।२।३६
३८३	अन्तरउपपत्तौः	१।२।१३
१०७५	अन्तराचापितुतदृष्टेः	३।४।३६
९९१	अन्तराभूतग्रामव	३।३।३५
७५७	अन्तराविज्ञानम	२।३।१७
३९४	अन्तर्याम्यग्निदैवा	१।२।१९
७३२	अन्तवत्तमसर्वज्ञतावा	२।२।४१
३१८	अन्तस्तद्व्यमौपदेशात्	१।१।२१
७२६	अन्यावस्थितेश्चो	२।२।३६
६७४	अन्यत्रा भावाच्च न	२।२।५
९४६	अन्यथात्वं शब्दादिति	३।३।६
६७८	अन्यानुमितीचक्षुशक्ति	२।२।८
४४८	अन्यभावव्यावृत्तेश्च	१।३।१२
४७४	अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्	१।३।२१
५७६	अन्यार्थन्तु त्रैमिनि	१।४।१८
४७३	अन्यार्थश्च परामर्श	१।३।२०
८७९	अन्याविष्टिते पूर्ववद	३।१।२४

પૃષ્ઠાંક	સૂત્રમ્	અધ્યાયસંખ્યા
૯૫૮	અન્વયાદિતિ નેત્ર્યા	૨૧૨૧૨૧
૬૯૭	અપરિચક્ષાન્વાન્યન્તમ	૨૧૨૧૨૨
૯૭૪	અપિ નૈવમેકે	૨૧૨૧૨૩
૮૬૯	અપિ ચ માત્ર	૨૧૨૧૨૪
૯૧૬	અપિનંગમને પ્રત્ય	૨૧૨૧૨૫
૪૭૭	અપિ ચ સ્મર્યે	૨૧૨૧૨૬
૧૦૭૦	અપિ ચ સ્મર્યે	૨૧૨૧૨૭
૧૦૭૬	અપિ સ્મર્યે	૨૧૨૧૨૮
૮૦૬	અપિ સ્મર્યે	૨૧૨૧૨૯
૬૧૭	અપિ તૌ તદ્વપ્રસક્તા	૨૧૨૧૩૦
૧૨૧૯	અપ્રતિકાલમ્બના	૨૧૨૧૩૧
૧૦૬૯	અવાચાવચ	૨૧૨૧૩૨
૧૨૪૯	અમાત્રે આદરિગદ	૨૧૨૧૩૩
૫૯૦	અભિચ્ચોદેશાવચ	૨૧૨૧૩૪
૬૧૧	અભિમાનિવ્યવદેશ	૨૧૨૧૩૫
૪૨૩	અભિવ્યક્તોત્પાદન	૨૧૨૧૩૬
૮૧૨	અભિસન્વયાદય	૨૧૨૧૩૭
૬૭૯	અમ્યુપગમેપ્યમામાત્ર	૨૧૨૧૩૮
૯૧૧	અમ્યુતદમ્બહાણાતુ ન તથા	૨૧૨૧૩૯
૯૭૫	અક્રુપતદેવ દિ તપ્રચા	૨૧૨૧૪૦
૧૧૯૦	અર્ચિતાદિના તપ્રચિતે	૨૧૨૧૪૧
૩૭૦	અર્મકોકસવાતદવ્ય	૨૧૨૧૪૨
૪૭૪	અસ્ત્યુતેરિતિચેતદુક્તમ	૨૧૨૧૪૩
૭૭૩	અવસ્થિતિ ળેષેપ્યાદિ	૨૧૨૧૪૪
૫૮૪	અવસ્થિતેરિતિકાશ	૨૧૨૧૪૫

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
१२३७	अविभागेन दृष्टत्वात्	४।४।४
११६९	अविभागोवचनात्	४।२।१५
७७२	अविरोधश्चन्दनवत्	२।३।२५
८८०	अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	३।१।२५
७९६	अंशोनानाव्यपदेशादन्य	२।३।४३
६४७	अभ्यादि वच्च तदनु	२।१।२३
८५४	अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टा	३।१।६
७०५	असतिप्रतिज्ञोपरोधो	२।२।२१
६१४	असदिति चेन्न प्रति	२।१।७
६३८	असदुपदेशान्नेति चेन्न	२।१।१७
८१०	असन्ततेश्चाप्य०	२।३।४९
७५०	असम्भवस्तु सतो	२।३।१०
१०४३	असर्वत्रिकी	३।४।१०
७४३	अस्ति तु	२।३।२
३१५	अस्मिन्नस्य च सद्यो	१।१।२०
११६१	अस्यैव चोपपत्तोरूपमा	४।२।११
५ आ ५		
३२६	आकाशस्तल्लिङ्गात्	१।१।२३
७०८	आकाशे चाविशेषात्	२।२।२४
५२४	आकाशोर्यान्तरत्वा	१।३।४१
१०३७	आचारदर्शनात्	३।४।३
१२०१	आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्	४।३।४
५९०	आत्मकृते	१।४।२६
९५७	आत्मगृहीतिरितरवद्	३।३।१६
६५५	आत्मनि चैव विचि	२।१।२८

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
०.५६	आत्मशब्दाच्च	२।३।१५
१२३२	आत्मप्रकरणात्	४।३।२
११०६	आत्मेति नृपमन्त्रनिष्ठा	२।१।३
०.०.०.	आदरादष्टोपः	२।३।३२
१११४	आदित्यादिमलयप्रज्ञात्	४।१।३
०.५५	आय्यानाय प्रयोजना	२।३।२२
०.५२	आनन्दादय प्रयानस्य	३।३।२२
२७३	आनन्दोभयोभ्या	२।१।२३
८६३	आनर्गस्यामिति मे	२।१।२०
५३०	आनुमानिकमपेक्षे	२।४।३
७५२	आरः	२।३।२२
११२२	आश्रायणालयानि हि	२।१।२२
८११	आश्रम एव च	२।३।५०
४२६	आश्रमनि चैनमस्मिन्	१।२।३३
१०८६	आविभयमिच्छीदुल्लोमस्त	३।४।४५
११०२	आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४।१।१
१११६	आसीन सम्भवान्	४।१।७
०.०८	आह च नन्मात्रम्	३।२।१६
५ इ ५		
४६६	इतरपरामर्शान्स	१।३।१८
६४२	इतरव्यपदेशादि	२।१।२१
११२६	इतरस्याप्यवमसंश्ले	४।१।१४
७०२	इतरेतरप्रत्ययम्वा	२।२।१९
०.५५	इतरेवर्ण सामान्यात्	३।३।१३
६०४	इतरेवाह्वानुपपत्त्येः	२।१।२

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
९९०	इयदामननात्	३।३।३४
	॥ ई ॥	
४५०	ईक्षतिकर्मव्यपदे	१।३।१३
२३१	ईक्षतेर्नाशब्दम्	१।१।५
	॥ उ ॥	
७६८	उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२।३।२१
५८३	उत्क्रमिष्यत एवम्भावा०	१।४।२१
४७०	उत्तराच्चेदादिर्भूतस्वरू०	१।३।१९
७०३	उत्तरोत्पादे च पूर्वनि०	२।२।२०
७३३	उत्पत्त्यसम्भवात्	२।२।४२
७११	उदासीनानापि	२।२।२७
३४०	उपदेशमेदान्नेति चे०	१।१।२८
२३०	उपपत्तेर्यच्च	३।२।३४
२८०	उपपन्नस्तत्त्वज्ञ	३।३।३०
१०८३	उपपूर्वमपीत्येके	३।४।४२
१०४८	उपमर्दञ्च	३।४।१६
७८९	उपलब्धिब्रह्म	२।३।३७
६४९	उपसंहारदर्शन	२।१।२४
९४४	उपसंहारोर्गामे	३।३।५
१०००	उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३।३।४०
७८७	उपादानादिहारो	२।३।३५
६९७	उभयथा च दोषात्	२।२।१६
७०८	उभयथा च दोषात्	२।२।२३
६८७	उभयथापि न कर्मा	२।२।१९
९२०	उभयव्यपदेशात्त्रिहिकुण्ड	३।२।२६

प्रश्नक

मूत्रग

अकारादिकमन्त्रः

ॐ ऊ ॐ

१०४९

ऊर्ध्वरेतस्तु न शब्दे हि

३४११०

ॐ ए ॐ

१०१७

एक आत्मनः शरीरे भावात्

३३१११

७४९

एतेन मातस्मिन्वा न्या

२३११२

६०५

एतेन योग प्रपुञ्ज

२३११३

६२५

एतेन शिक्षापरिध

२३११२

५९५

एतेन सर्वे व्याख्या

१४१२९

१२४३

एतमधुपन्यासात्

२३११०

७२४

एतन्नामाकारमर्थम्

२३१३४

१०९८

एवं मुक्तिरुक्तानियमत्

३४१५१

ॐ ऐ ॐ

१०९६

ऐदिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे

३४१५०

ॐ क ॐ

७८४

क.तां शास्त्रार्थवशात्

२३३३४

३६४

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च

१२३४

७३१

करणवचनेन भोगादिव्यः

२३३४०

५१८

कम्पनात्

१३३३९

५५५

कल्पनोपदेशाच्च मन्त्रा

१४११०

१०४८

कामकारेण चैके

३४११५

३१०

कामाच्च नानुमानापेक्षा

११११९

९९५

कामादीनाञ्च नत्र चा

३३३३८

१०२०

काम्यास्तु यथाकामं

३३३५८

५६६

कारणत्वेन चाकाशा

१४११४

९५९

कामाख्यानादपूर्वम्

३३३१८

१२१०

कार्यात्यये तदव्यक्षेण स

२३३१९

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
१२०४	कार्यं वादरिरस्य गत्युप	४।१।६
७९४	कृतप्रयत्नापेक्ष	२।३।४२
६५२	कृत्स्न प्रसक्तिर्निर	२।१।२६
१०९१	कृत्स्नभावात्तु गृहि	३।४।४७
८५८	कृतात्ययेनुशय	३।१।८

ॐ ग ॐ

४५९	गतिशब्दाभ्यां तथा	१।३।१५
२६५	गतिसामान्यात्	१।१।११
९७९	गतेरर्थकत्वमुभयथा	३।३।२९
१०३१	गुणसाधारण्यश्रु	३।३।६२
७७४	गुणाद्वालोक्तवत्	२।३।२७
३७८	गुडाभ्रप्रविष्टावात्मा	१।२।११
२४९	गौणश्चेन्नात्मशब्दात्	१।१।६
७४४	गौण्यसम्भवात्	२।३।३
८१८	गौण्यसम्भवात्	२।४।२

ॐ च ॐ

८२९	चक्षुरादिवत् तत्स	२।४।१०
५५०	चमसवदविशेषात्	१।४।८
८६२	चरणादिति चेन्न	३।१।९
७५९	चराचरव्यपाश्र	२।३।१८
१२४२	चित्ति तन्मात्रेण त	४।४।६

ॐ छ ॐ

९७८	छन्दत उभयाविरोधात्	३।३।२८
३३८	छन्दोऽभिधानान्नेति चे	१।१।२६

पृष्ठाङ्क

सूत्रम्

अकारादिपञ्चमः

५ ज ५

५७३

जगदानिन्वात्

१४१३

१२६३

जगदन्वापारकजं प्रक

१४१३

२५

जन्माद्यस्य यतः

१४१३

५७५

जीवमुल्लस्यप्राणजिह्वा

१४१३

३४९

जीवमुल्लस्यप्राणजिह्वा-जैत

१४१३

३३४

इयोनिश्चरणाभिधानात्

१४१३

५२१

इयोनिर्दंशनात्

१४१३

८३४

इयोनिर्गर्भाभिधा

१४१३

५५२

इयोनिस्त्वक्रमानुस

१४१३

५०६

इयोनिषि भावात्

१४१३

५६५

इयोनिर्गैकैवामसंयन्

१४१३

५ त ५

८३८

त इन्द्रियाणि

१४१३

१०३८

तच्चक्षुरेव

१४१३

११०८

तद्धितोऽधिवर्णः स

१४१३

१९५

तत्तुममन्वयात्

१४१३

८१०

तत्प्राक्श्रुतेश्च

१४१३

८२०

तत्पूर्वकत्वादायः

१४१३

८६९

तत्रापि च तदन्वापार

१४१३

१०६०

तथाचैकवाक्यतोष

१४१३

९३१

तथान्यप्रतिषेधात्

१४१३

८१६

तथाप्राणाः

१४१३

७५३

तदधिकारस्यशब्दा

१४१३

१२२३

तदध्यास उत्तरपू

१४१३

५३८

तदधीनत्वतदर्शकत्

१४१३

पृष्ठाङ्कः	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
६३१	तदनन्यत्वमारम्भणस	२।१।१४
८४८	तदन्तरप्रतिपत्तौरंहति	३।१।१
५१७	तदभावनिर्धारणेचप्रवृत्तेः	१।३।३७
८९३	तदभावो नाडीपुत	३।२।७
७५४	तदभिध्यानादेवतु	२।३।१५
९१५	तदव्यक्तमाहति	३।२।२२
११५७	तदापीते संसारव्य	४।२।८
४८२	तदुपर्यपिवादराय	१।३।२६
११७२	तदोक्तोऽप्रग्वर्त्तितत्प्र	४।२।१६
७७८	तदगुणसारत्वात्तुतदव्य	२।३।३०
१०७९	तदभूतस्यतुनातदभा	३।४।४०
१०३९	तद्वतोविधानात्	३।४।६
२९८	तद्वेतुव्यपदेशाच्च	१।१।१५
१००२	तन्निर्धारणानियमस्त	३।३।४१
२५५	तन्निष्ठस्यमोक्षोपदेशात्	१।१।७
११४२	तन्मनः प्राणउ	४।२।३
१२५५	तन्वभावेसन्ध्यबद्ध	४।४।१३
६२२	तर्काप्रतिष्ठानादध्यन्यथा	२।१।११
८३७	तस्य च नित्यत्वात्	२।४।१६
११६६	तानिपरेतथाहोह	४।२।१४
५४३	त्रयाणामेवचैव	१।४।६
८५०	त्रयात्मकत्वात्तुभूय	३।१।२
१०४२	तुर्यन्तुदर्शनम्	३।४।९
८७४	तृतीयशब्दवरोध	३।१।२१
७५१	तेजोऽतस्तथाह्याह	२।३।११

पुष्पाङ्क

सूत्रम्

अध्यायसंज्ञा

५ द ५

१२७१

दर्शयतश्चैवप्रत्यक्षा

२।२।२०

०४४

दर्शयति च

२।२।२१

०६४

दर्शयति च

२।२।२२

८७३

दर्शनाच्च

२।२।२३

१०३२

दर्शनाच्च

२।२।२४

१२१७

दर्शनाच्च

२।२।२५

००८

दर्शयति चाथो

२।२।२६

४५४

दह्यतेऽर्थेभ्यः

२।२।२७

६१३

दश्यते तु

२।२।२८

६५१

देवादिनद्विषो

२।२।२९

८००

देहयोगादवासोऽपि

२।२।३०

१२५३

द्वादशाहवदुभयंवा

२।२।३१

४२८

सुन्वायायतनस्वरा

२।२।३२

५ घ ५

०३५

धर्मजैमिनिरन एव

२।२।३३

४४३

धर्मोपपशेच

२।२।३४

४६४

धृतेश्च महिम्नोऽस्या

२।२।३५

१११८

ध्यानाच्च

२।२।३६

६ न ६

६६४

नकर्माविभासादिति

२।२।३७

७३५

न च कर्तुं करणम्

२।२।३८

१२१८

न च कार्येप्रत्यभिः

२।२।३९

७२५

न च पर्यायादप्यपि

२।२।४०

४००

न च स्मार्तमतद्वया

२।२।४१

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
१०८१	न चाधिकारिकमपि	३।४।४१
६१८	नतु दृष्टान्तभावात्	२।१।९
८७१	न तृतीये तथोप	३।१।१८
११११	न प्रतिके नहिस	४।१।४
६६०	न प्रयोजनत्वात्	२।१।३२
७१६	न भावेऽनुपलब्धे	२।२।३०
३४४	नवक्तुरात्मोपदेशा	१।१।३०
१०३२	नवातःसहभावा	३।३।६३
९४७	नवाप्रकरणमेदात्	३।३।७
८२८	नवायुक्रियेपृथगु	२।४।९
९६३	नवाविशेषात्	३।३।२१
७४१	नविपदश्रुतेः	२।३।९
६०७	नविलक्षणत्वा	२।१।४
१०१४	नसामान्यादध्युप	३।३।४९
५५८	न संख्योपसंप्रदा	१।४।११
९००	नस्थानतोऽपिपर	३।२।११
७७१	नाणुरतच्छ्रुतेरि	२।३।२३
८७७	नातिचिरेणविशे	३।१।३३
७६१	नात्माश्रुतेर्नित्यत्वा	२।३।१९
१०२५	नानाशब्दादिमे	३।३।५६
४३३	नानुमानमतच्छब्दात्	१।३।३
७१२	नाभावउपलब्धे	२।२।२८
१०४५	नाविशेषात्	३।४।१३
७१०	नासतो दृष्टत्वात्	२।२।२६
१०३९	नियमाच्च	३।४।७

पृष्ठाङ्क

सूत्रम्

अ. पा. प. म. अ. ड.

८८५

निर्माणां चैकेषुवा

३।२।२

११७८

निशिनैति सेनसम्भ

२।२।३३

६९५

नित्यमेव च भावात्

२।२।१८

७८१

नित्योपलब्धयन्नुपल

२।३।३३

३०६

नेतरोऽनुपपन्नोः

१।१।२०

११४०

नैकस्मिन्दर्शयतोऽि

२।२।६

७२१

नैकस्मिन्सम्भवात्

२।२।३३

११६०

नोपमर्देनातः

२।२।१०

ॐ प ॐ

८३२

पञ्चवृत्तिमनोवद्वय

२।२।१२

५२७

पण्यादिशब्देभ्यः

१।३।४३

७२६

पण्यसामञ्जस्यार्

२।२।३३

६४१

पटवच्च

२।२।१९

६७१

पयोऽभ्युपगच्छेत्तथा

२।२।३

९२५

परमतः सेतून्मान

३।२।३०

१२१३

परं जैमिनिर्मुक्त्यया

२।२।११

७९२

परान्तु तच्छ्रुतेः

२।३।२१

८८८

परामिष्यानांतु निरो

२।२।४

१०५१

परामर्शं जैमिनिरचो

२।२।१८

५०१

परिणामात्

१।२।७

१०१५

परेण च शब्दस्यनादि

२।३।५०

१०५९

पारिव्राथा इतिचेन

३।२।२३

६७६

पुरुषाश्मवदितिच

२।२।७

१०३४

पुरुषार्थोऽतः शब्दा

२।२।१

९६८

पुरुषवित्प्रायामपि

३।३।२४

पृष्ठाङ्कः	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
७८१	पुंस्त्वादिकत्वस्यसतो	२।३।३२
९२२	पूर्ववद्वा	३।२।२८
१००९	पूर्वविकल्पः प्रकार	३।३।४४
९३७	पूर्वन्तु चादरायणो हेतु	३।२।४०
७७७	पृथगुपदेशात्	२।३।२९
७५२	पृथिवी	२।३।१३
३७७	प्रकरणाच्च	१।२।१०
४३५	प्रकरणात्	१।३।६
९०७	प्रकाशवच्चानौयर्ष्या	३।२।१५
९१८	प्रकाशादिवच्चानौशे	३।२।२४
८०६	प्रकाशादिवस्तुनैव	२।३।४६
९२१	प्रकाशाश्रमवद्वातेजस्वात्	३।२।२७
५८५	प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाद	१।४।२३
९१३	प्रकृतैताकवंहि प्रतिषे	३।२।२१
२५९	प्रतिज्ञाविरोधात्	१।१।९
५८३	प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्रम	१।४।२०
७४७	प्रतिज्ञाहानिरन्यतिरेका	२।३।६
९२३	प्रतिषेधाच्च	३।२।२९
११६२	प्रतिषेधादितिचेन्नशा	४।२।१२
७०६	प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या	२।२।२२
१२६७	प्रत्यक्षोपदेशादितिचे	४।४।१८
८५३	प्रथमेऽश्रवणादिति	३।१।५
१००४	प्रदानवदेवतदुक्तम्	३।३।४२
१२५७	प्रदीपवदाविशेषस्तथाहि	४।४।१५
८१३	प्रदेशभेदादिति चे	२।३।५३

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अकारादिकमसूची
६७०	प्रवृत्तेश्च	२।२।२
४६६	प्रामद्वेश्च	२।२।२८
८५१	प्राणमनेश्च	२।२।३
८३६	प्राणमताशब्दात्	२।२।२५
३४१	प्राणस्त्वानुगमा	२।२।२९
५६३	प्राणादयो वाक्ये	२।२।२२
४३४	प्राणभृच्च	२।२।२
२५३	प्रियशिरस्त्वाद्यप्राणि	२।२।२२
प क प		
९३२	कष्टमत उपपत्तेः	२।२।३७
प च प		
१०८४	बहिरन्तुभ्यसापिस्मृतेषां	२।२।४३
२२७	बुद्ध्यर्थः पादवत्	२।२।३२
१११३	ब्रह्मदृष्टिस्तत्कथात्	२।२।५
१२४०	ब्राह्मणे जैमिनिस्त्वानुगमा	२।२।५
प भ प		
८५६	भाक्तं तानात्मवित्तात्	२।२।७
१२५१	भावं जैमिनिर्विकल्पा	२।२।११
५०६	भावं तु बादरायणो	२।२।३३
१०५८	भावं शब्दाच्च	२।२।२२
६३७	भावे चोपलब्धे	२।२।२५
१२५६	भावे जाग्रद्वत्	२।२।१४
३३०	भूतादिपादव्यपदेशो	२।२।२७
११४८	भूतेषु तच्चतुर्भिः	२।२।५
४३७	भूमा सम्प्रसादादप्यु	२।२।८

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
१०२२	भूमनः क्रतुव्यायस्व	३।३।५५
४३५	मेदव्यपदेशात्	१।३।५
३०९	मेद व्यपदेशाच्च	१।१।१८
३२४	मेद व्यपदेशाच्चान्यः	१।१।२२
८३९	मेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च	२।४।१८
९०३	मेदादितिचेन्न प्रत्येक	३।२।१२
९४२	मेदान्नेतिचेदेकस्यामपि	३।३।२
६२६	भोक्तापत्तोरविभागश्चे	२।१।१३
१२७५	भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	४।४।२१
११३४	भोगेनत्विरेक्षयित्वा	४।१।१९

ॐ म ॐ

५०५	मन्वादिष्वसम्भवा	१।३।३१
६८२	मङ्गदीर्घवद्वाहस्वप	२।२।११
५४८	मङ्गद्वच्च	१।४।७
८०५	मन्त्रवर्णाच्च	२।३।४४
१०२१	मन्त्रादिवद्वा विरोध	३।३।५४
३००	मन्त्रवर्णिकमेवच गीयते	१।१।१६
८८६	मायामात्रन्तु कार्त्तर्ये	३।२।३
८४३	मासादिभौम यथास	२।४।२०
१२२९	मुक्तप्रतिज्ञानात्	४।४।२
४३१	मुक्तोपसृप्यव्यपदे	१।३।२
८९८	मुध्वेऽर्द्धसम्पत्तिः परि	३।२।१०
१०९२	मौनवदितरेषाम	३।४।४८

ॐ य ॐ

११२०	यत्रैकामता तत्राविशे	४।१।११
------	----------------------	--------

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपदङ्कः
७९१	यथा च तन्मोक्षयथा	२।३।४०
६४१	यथा च प्राणादिः	२।३।२०
११३४	यदेव विद्ययेति हि	४।३।२८
२८३	यावद्विकारमवस्थि	३।३।३१
७७९	यावदात्मभावित्वा	२।३।३१
७४८	यावद्विकारानुविभा	२।३।८
६४०	युक्तेः शब्दान्नराच	२।३।२८
११८७	योगिनः प्रतिस्मर्येतेहमा	४।२।२०
५९४	योनिश्च हि गीयते	१।४।२८
८८३	योनिः शरीरम्	३।३।२७
५ र ५		
६६८	रचनानुपपत्तोरचनानु	२।२।१
११७६	रश्म्यनुसारी	४।२।२७
६९६	रूपादिमत्वाच्चकार्यप	२।२।१५
४०८	रूपोपगमासाच्च	१।२।२४
८८२	रेतः सिग्धोऽय	३।१।२६
५ ल ५		
१००७	लिङ्गभूयस्यातद्विष	३।३।४३
११०५	लिङ्गाच्च	४।१।२
६६१	लोककतु लीलाकैवन्म	२।१।३३
५ व ५		
५४१	वदतीति केन प्राज्ञो हि	१।४।५
५७९	वाक्यान्वयात्	१।४।१९
११३७	वाङ्मनसि दाच्छब्दाच्च	४।२।१
११९५	वायुमन्दादविशेषविशेषा	४।३।२

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
१०२७	विकल्पोविशिष्टक	३।३।५७
२८४	विकारणत्वान्नेतिचे	१।१।१४
१२६८	विकारावात्त च तथाहि	४।४।१९
७३६	विज्ञानादि भावेपात	२।२।४४
८७०	विद्याकर्मणोरितिप्र	३।१।१७
१०१०	विधैव तु निद्वारणा	३।३।४६
१०५५	विधिर्वाघरणवद्	३।४।२०
७२५	विपर्ययेनतुक्तमा	२।३।१६
७३८	विप्रतिशेषाच्च	२।२।४५
६८०	विप्रतिरोधाच्चासमञ्ज	२।२।१०
१०४४	विभागः शतवद्	३।४।११
४९०	विरोधः कर्मनीतिचे	१।३।२७
३६०	विवक्षितगुणोपपत्तोश्च	१।२।२
१२२२	विशेषञ्च दर्शयति	४।३।१५
४०७	विशेषण मेदव्यप	१।२।२३
३८१	विशेषणाच्च	१।२।१२
१०७७	विशेषानुग्रहश्च	३।४।३८
१२०६	विशेषितत्वाच्च	४।३।७
१०७१	विहितत्वाच्चाश्रमकर्मा	३।४।३२
९१२	वृद्धिहासभाळमन्तभा	३।२।२०
९७०	वेधार्थमेदात्	३।३।२५
१२०२	नेष्टुतेर्नैव ततस्तच्छ्रु	४।३।५
७१५	नेघर्म्याच्च स्वप्न	२।२।२९
८४५	नेशेष्यातुतद्वाद	२।४।२१
४१०	नेश्वानरः साधारण	१।२।२५

पृष्ठाङ्क

सूत्रम्

अध्यायसंख्या

६६२

नीयम्यनीयपे न सा

२।१।३४

१०१८

न्यतिरेकस्तदभावमति

२।३।१२

६७३

न्यतिरेकानवस्थिते

२।२।१४

७७५

न्यतिरेकोपनय

२।३।२८

९९३

न्यतिहाराविशिष्टं

२।३।३६

७८८

न्ययदेशाच्च कि

२।३।३६

९४९

न्यायेनैव समप्रत्ययम्

२।३।१९

ॐ हा ॐ

७८९

शक्तिविपर्ययात्

२।३।२८

४९२

शब्द इति चेन्नान

२।३।२८

१०७१

शब्दाश्चातीकामकारे

२।३।३१

३६५

शब्दविशेषात्

२।२।१५

४७८

शब्दादेव प्रमित

२।३।२४

४१६

शब्दादभ्योक्त प्रलिङ्गा

२।२।२०

७४५

शब्दाच्च

२।३।१४

७४८

शब्देभ्य

२।३।७

१०६५

शब्दमाधुपेयस्या

२।३।२०

४०१

शागिरश्चोमयेति हि मेदेनीय

२।२।२१

३४७

शास्त्रदृष्ट्यानुपदेशो

२।१।३१

१६५

शास्त्रयोनित्वात्

२।१।३२

१०३०

शिष्टेभ्य

२।३।६०

५०९

शुगस्यतवनादर

२।३।३४

१०३६

शेषत्वात्पुरुषार्थत्वा

२।३।२२

५१७

श्रवणाद्ययनाय

२।३।३८

२६८

श्रुतत्वाच्च

२।१।१२

पृष्ठाङ्कः	सूत्रम्	अव्यायपादाङ्कः
०३४	श्रुतस्त्राच्च	३।२।३८
३५३	श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात्	२।१।२७
३०२	श्रुतोपनिषत्कगव्य	१।२।१७
१०११	श्रुत्यादिबलीयस्त्राच्च	३।३।४७
८२६	श्रेष्ठाच्च	२।४।८

ॐ स ॐ

८९६	सएवतुकर्मानु	३।२।९
६३७	सत्राच्चात्रस्य	२।१।१६
८८४	सन्ध्येसृष्टिराहृद्भि	३।२।१
८२२	सप्तगतेर्विशेषित	२।४।५
१०३९	समन्वारम्भणात्	३।४।५
६९०	समवायाम्युपग	२।२।१३
५७१	समाकर्पात्	१।४।१५
७९०	समाध्यभावञ्च	२।३।३९
०६१	समान एवञ्चामेदा	३।३।१९
४९०	समाननामरूपत्वा	१।३।३०
११५२	समाना चासृष्ट्युपक्रमा	४।२।७
१०३१	समाहारात्	३।३।६१
६०८	समुदायउभयहे	२।२।१८
४२५	सम्पत्तोरिति जैमिनिस्तथा	१।२।३२
१२२४	सम्पत्ताविर्भावः स्वे	४।४।१
०६२	सम्बन्धादेवमन्य	३।३।२०
७२०	सम्बन्धानुपपत्तेश्च	२।२।३८
०६५	सम्भृतिर्बुध्न्याप्यपिचातः	३।३।२३
३७२	सम्भोगप्राप्तिरिति	१।२।८

पृष्ठांक	सूत्रम्	अध्यायवादाङ्कः
३५४	सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्	२।२।१
७१८	सर्वथानुपपत्तिश्च	२।२।३२
१०७३	सर्वथापि त एवैव	२।२।३४
५६६	सर्वधर्मोपपत्तिश्च	२।२।३६
०.४०	सर्ववेदान्तप्रत्ययं बोधना	२।२।१
१०६७	सर्वान्नानुमतिश्च प्रा.	२।२।२८
१०६२	सर्वोपेक्षा च यज्ञादिभ्यः	२।२।२९
०.५०	सर्वोपेक्षादन्त्यलोमे	२।२।१०
६५८	सर्वोपेक्षा च तद्दर्शनात्	२।२।३०
१२४६	संकल्पादेव तत्पुनः	२।२।४८
८६७	संयमनेननुभूये	२।२।१३
०.४८	संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति	२।२।४८
५१६	संस्कारपरामर्शा	१।३।३६
८४०	संज्ञामूर्तिरित्यस्ति	२।२।१०
१०७२	सहकारिणेन च	२।२।३३
१०८८	सहकार्य-तरविवेचि प.	२।२।४५
८७५	समाध्यापसिद्धपदोः	३।२।२२
५००	साक्षाच्चोभयान्नानात्	१।२।२५
४२०	साक्षादविरोध	१।२।२०
४४७	सा च प्रशंसनात्	१।३।११
०.२६	सामान्यात्	२।२।३१
१२०८	सामीप्यात् तद्व्यपदेशः	२।३।४८
०.७५	साम्पराये कर्तव्या	२।३।२०
८६४	सुखतदुच्छेदेव	२।२।११
३८७	सुखविशिष्टामिधा	१।२।१५

पृष्ठाङ्क	सूत्रम्	अध्यायपादाङ्कः
५२६	सुष्ठुयुक्तान्योर्मेदेन	१।३।४२
५३७	सूक्ष्मन्तुतदर्हत्वात्	१।४।२
११५८	सूक्ष्मप्रमाणतश्च •	४।२।९
८९१	सूचकश्चहिश्रुतेरा	३।२।६
९९४	सैवहि सत्यादय	३।३।३७
११४४	सोऽप्यक्षे तद्रूपगम	४।२।४
११४०	स्तुतयेऽनुमतिर्वा	३।४।१४
१०५७	स्तुतिमात्रमुपादा	३।४।२१
९२९	स्थानविशेषात्मका	३।२।३३
३८६	स्थानादिष्यपदेशाच्च	१।२।१४
४३६	स्थित्यदनाभ्याञ्च	१।३।७
८०८	स्मरन्ति च	२।३।४७
८६८	स्मरन्ति च	३।१।१४
१११९	स्मरन्ति च	४।१।१०
४१३	स्मर्यमाणमनुमान	१।२।२६
९३८	स्मर्यते च	३।२।४१
११६५	स्मर्यते च	४।२।१३
८७३	स्मर्यतेऽपिचलोके	३।१।१९
३६६	स्मृतेश्च	१।२।६
१२१२	स्मृतेश्च	४।३।१०
५९९	स्मृत्यनवकासदोष	२।१।१
७४६	स्याच्चैकस्य ब्रह्मण	२।३।५
६२१	स्वपक्षदोषाच्च	२।१।१०
६५६	स्वपक्षदोषाच्च	२।१।२१
७०१	स्वशब्दोन्माभानाभ्याञ्च	२।३।२४
७७०	स्वात्मना चोत्तरया	२।३।२२
९४२	स्वाध्यायस्यतथात्वेनहि	१।३।३

पृष्ठाङ्क	मूलन	अप्यपगः ३३
२६२	स्वाप्ययात्	१।१।१०
१२६०	स्वाप्ययमस्योप्यय	१।४।१६
१०८५	स्वामिनः पठधुनेरिया	१।१।१२
	ॐ ह ॐ	
८२३	हस्यादयस्तुमिने	१।४।६
९७१	हानी नृगयन शब्द	१।३।२६
४८१	हयपेशयानु मनु	१।३।२५
२५८	ह्येयत्वावचनावच	१।१।८
	ॐ श ॐ	
५१४	श्रियत्वावगतेरयो	१।३।३५
७१६	श्रणिकत्वावच	१।२।३१
	ॐ इ ॐ	
५४०	श्रेयत्वावचनावच	१।४।४
७६५	श्रोत्रण	१।३।२०
एवम्		
↓		
अ- १०५	उ- २	य- ११
आ- २६	ज- ११	र- ५
इ- ७	न- ३८	ल- ३
ई- २	द- १३	व- ३६
उ- २०	घ- ४	श- २२
ऊ- १	न- ३८	स- ७४
ए- ८	प- ४९	ह- ४
ऐ- १	फ- १	क्ष- २
क- १७	ब- ४	ज्ञ- २
ग- ९	म- १९	
च- ५	म- १२	सूत्राणि → ५५१

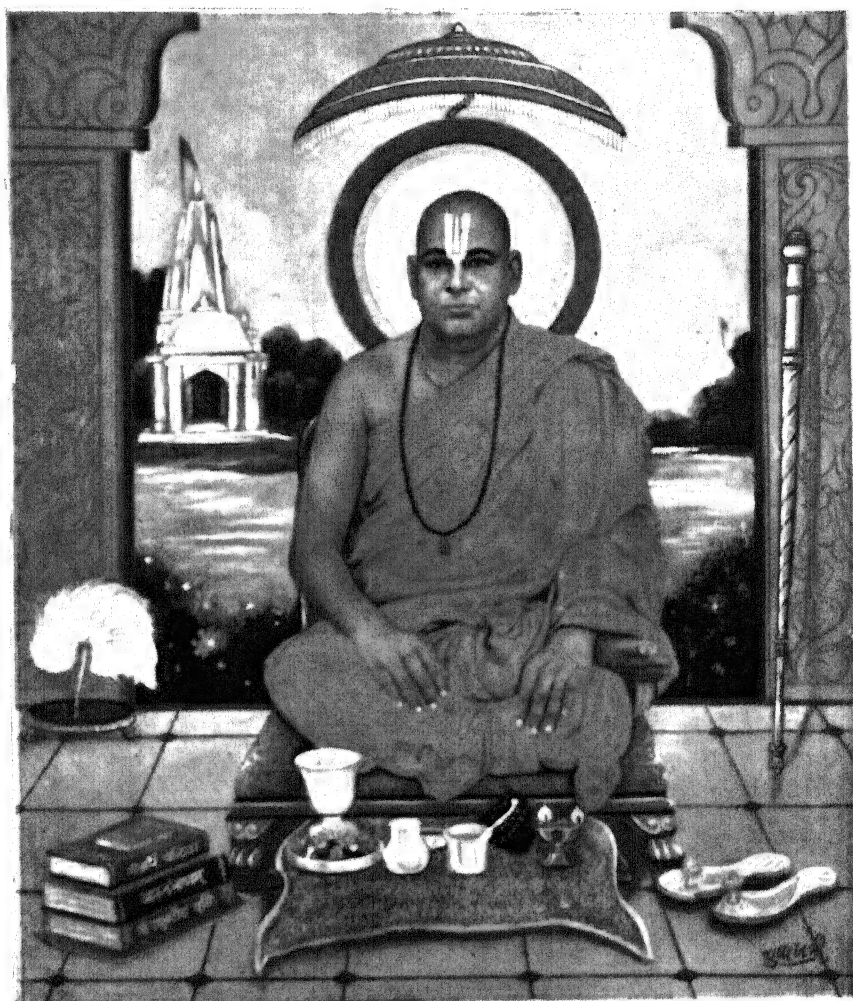
ॐ आचार्यस्तुति-चन्द्रिका ॐ

ॐ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नयोगीन्द्रप्रणीता ॐ

सज्जानमि सदाचारान् सदाचारान् वदन्त्यपि । रामब्रह्मरतान् तास्तु स्वाचार्यान् प्रणमाम्यहम् ॥१॥
 सर्वथा गुरुनिष्ठान् तान् गुरोराज्ञाकरान् तथा । गुरु पूजार्तान् तास्तु स्वाचार्यान् प्रणमाम्यहम् ॥२॥
 रामप्रपन्नयोगीन्द्रः सीताराम परायणः । प्रणमामि सदाऽचार्यान् सदाचारामिवृद्ध्यये ॥३॥
 सीताराम सत्सारम्भां रामानन्दार्चमध्वमाम् । गुरुवर्यं गुर्वन्तो वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥४॥
 सीता स्वयं हि सावित्री भवान् ब्रह्मा चतुर्मुखः । सीतारामा भवान् बिष्णुः सीतागौरी भवान् शिवः ।
 सीताभुक्तिर्भगवती भोक्ता त्वं पुरुषोत्तमः । सीतेयं मुक्तिरचलमेकता त्वमकुतोभयः ॥६॥
 रमन्ते योगिनेो यस्मिन् रामत्वं ब्रह्म तत्परम् । त्वद्विभूतिरियं सीता विश्वकारा हि दृश्यते ॥७॥
 सत्यानन्दस्त्वमेवासि यत्र भेदे न दृश्यते । सीताराममहं वन्दे भक्तियोगममन्वितम् ॥८॥
 दिव्यदेहगुणं रामं सच्चिदानन्दविग्रहम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः प्रणमामि हृदि स्थितम् ॥९॥
 दिव्यदेहगुणां सीतां सच्चिदानन्दविग्रहाम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः प्रणमामि हृदि स्थिताम् ॥१०॥
 मैथिलीहृदयं रामप्रियं मारुतिनन्दनम् । अञ्जनीगर्भसम्भूतं हनुमन्तं महाबलम् ॥११॥
 भक्तकमेष्टदं कीरं सीताशोकविनाशकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥१२॥
 ब्रह्माणं सृष्टिकर्तारं रामध्यानरतं मया । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥१३॥
 वशिष्ठं ब्रह्मतत्त्वज्ञं वेधसो मानसं सुतम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥१४॥
 पराशरं वशिष्ठस्य पौत्रं धर्मविशंभरम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥१५॥
 व्यासं द्वैपायनं ब्रह्म सूत्रकर्तारमन्युतम् । अष्टादशपुराणानो कर्तारं वादरायणम् ॥१६॥
 वेदोपनिषदान्तर्वेदं सत्यवतीसुतम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥१७॥
 व्यासपुत्रं शुकाचार्यं मोहमायाविनिर्जितम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः प्रणमामि जगद्गुरुम् ॥१८॥
 बोधायनं वृत्तिकारमाचार्यं पुरुषोत्तमम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः प्रणमामि जगद्गुरुम् ॥१९॥
 प्राज्ञं गङ्गाधराचार्यं शिष्यं बोधायनस्य तु । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः प्रणमामि जगद्गुरुम् ॥२०॥
 सदानन्दं तपोनिष्ठं रामयज्ञप्रवर्धकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२१॥
 रामेश्वरं वेदविदं बौद्धबाधित्खण्डकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२२॥
 द्वारानन्दं यतिश्रेष्ठं तर्कशास्त्रे विचक्षणम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२३॥
 सीतारामस्य सद्भक्तं देवानन्दं महायतिम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२४॥
 श्यामानन्दं श्रुती श्रेष्ठं श्रुतितात्पर्यबोधकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२५॥
 श्रुतानन्दं श्रुती दक्षं भौतमिद्वान्तकोविदम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२६॥
 सच्चिदानन्दतत्त्वज्ञं चिदानन्दं जगद्गुरुम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२७॥
 पूर्णानन्दं ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मविद्याप्रचारकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२८॥

भिन्नानन्दं यन्निष्ठं रामतत्त्वप्रदर्शकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२९॥
 हर्षानन्दं महामिष्टं न्यायशास्त्रविशारदम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥३०॥
 ब्रह्मर्षिं रामवानन्दं वेदवेदाङ्गपाण्डुम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥३१॥
 विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तो वैदिकः इति योऽवदत् । रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले ॥३२॥
 स्वनभेदेदवेदप्रमिते (४४००) धर्मं गते कलौ । माघस्य कृष्णसप्तम्यामाचार्यः समवासात् ॥३३॥
 रविचण्डावेदाब्दे (४५०६) मधुनामे कलौ शुभे । भीमद्वयानन्दश्चो मे साकेतमगमयन् ॥३४॥
 ज्ञानन्दभाष्यकारं तं रामानन्दं जगद्गुरुम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥३५॥
 रघुनाथसुतो ज्ञानः भवनाथेति विभूतः । वेदवेदान्ततत्त्वज्ञः शिवनाथप्रभुः सुधीः ॥३६॥
 रामानन्दः गुणोदीश्वरवाच्यः दीप्ताकाशमीः । भक्तानन्देति विप्रकृतः स्वामाचार्यं जगद्गुरुम् ॥३७॥
 निस्तवौद्विद्वान्तं भूतगीतमविमदम् । विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तकथापकं योगसाधकम् ॥३८॥
 माधानन्दं महामिष्टम् विदेहं ज्ञानकीप्रियम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥३९॥
 विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तं प्रतिपद्ये विद्वान्नि । मीतारामे सदासीनं तत्त्वज्ञं तत्त्वदर्शिनम् ॥४०॥
 अनुभवापिमाचार्यं भूतिहृद्गं तपोनिधिम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४१॥
 विरजानन्दमाचार्यं यमीन्द्रं तत्त्वविचक्ष्णम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४२॥
 आशारामं महामिष्टं हार्थीरामेति विभूतम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४३॥
 रामभट्टं रामभक्तं तत्त्वज्ञानं प्रवेष्टकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४४॥
 रघुनाथं तपोनिष्ठं रामतत्त्वोपदेशकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४५॥
 विश्वम्भरं त्रिकाक्षं तत्त्वत्रयं विचारकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४६॥
 राववेन्द्रं गुरोः भक्तं ज्ञानकीप्रोति भाजनम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४७॥
 नैदेहीश्वरभाचार्यं रामतत्त्वविचारकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४८॥
 कोमलेन्द्रं तपोनिष्ठं सदाचारप्रवर्धकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥४९॥
 रामकिसोरमाचार्यं ब्रह्मतत्त्वविवेचकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५०॥
 श्रीजनकीनिवासमाख्यं श्रीनान्तत्त्वविवेचकम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५१॥
 श्रीसाहेतनिब. साख्यं वेदवेदान्तपाण्डुम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५२॥
 ज्ञानकीजीवन.चार्यं ज्ञानकीतत्त्वकोविदम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५३॥
 भरताग्रजमाचार्यं रामतत्त्वज्ञं तदा । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५४॥
 पूज्यं हनुमदाचार्यं तपोनिष्ठं गुरोर्गुरुम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५५॥
 वेदवेदाङ्गशास्त्राणां तत्त्वज्ञं तार्किकं बुधम् । शास्त्रमग्नशास्त्रार्थं विरोधिप्रविनं व्रजम् ॥५६॥
 सर्वज्ञं सम्प्रदायस्य स्थितिस्थापनकारिणम् । सर्वज्ञं शिष्यनिबद्धं भूषितं भूपतिप्रियम् ॥५७॥
 विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तं निष्ठातं पण्डितं सदा । मीतारामत्रये स्त्रीनं दीप्तावनन्तवर्धकम् ॥५८॥
 गुरुं रघुवाचार्यमज्ञानध्वग्वाचार्यम् । रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥५९॥
 रामप्रपन्नयोगीन्द्रः स्वाचार्यस्तुतिचन्द्रिकाम् । समर्पयामि निर्माय स्वाचार्यचरणेषु मे ॥६०॥

वृत्तिकारश्री रामानन्द सम्प्रदाय के ३९ वें आचार्य



महामहोपाध्याय

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्तकेशरी

(आविर्भाव १९४३ विक्रमसंवत् २००७ तिरुभावा)

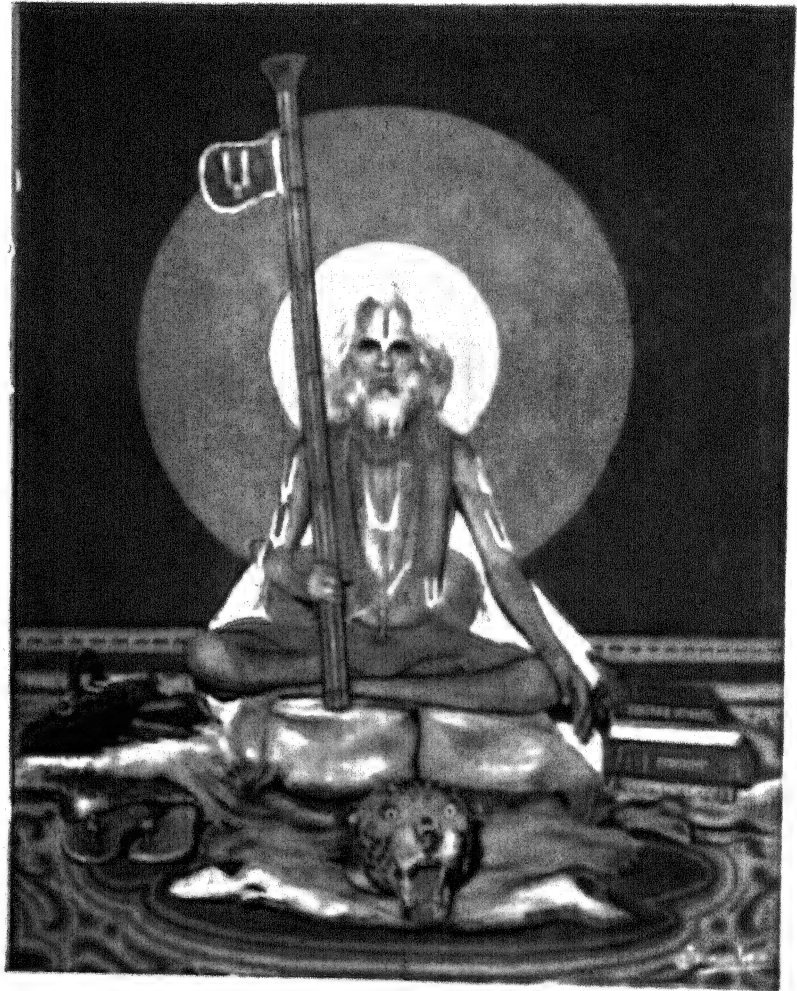
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ - विश्रामद्वारका श्रीशेषमठ

पो. : शींगडा वाया : बगवदर-पोरबन्दर

जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्य

श्रीगमप्रपन्नाचार्यजी योगीन्द्र

(श्रीगमनवर्षी १९७७ विक्रम संवत् २०२३ भाद्र पक्ष नवमी)



आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्यपीठ

विश्रामहारका
श्री शेषमठ, शींगडा
पौरवन्दर, मौगार



श्री कोशलेश्वर मठ
पालडी, सरस्वती राई
अहमदाबाद - ३८० ००९

सर्वेश्वर श्रीसीतारामाभ्यां नमः
श्रीहनुमते नमः
प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमोनमः
श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचितं
शांतिरकमीमांसाया



आनन्दभाष्यम्



प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादः

यस्माद्विस्वमुदेति येन लभते संरक्षणं शाश्वतं
यस्मिन्नप्ययमेति योहि सततं कारुण्यवारांनिधिः ।

॥ श्रीरामचन्द्राय नमः ॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृत

॥ भाष्यदीपः ॥

सीताकान्तसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम् ।

ग्युवर्ग्यगुर्वन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

अथ 'तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय' 'तरतिशोकमात्म-
विन्' 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मज्ञानादेवमोक्षोभवति तदतिरिक्त-

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत



भाष्यप्रकाशः



सीताकान्त समारम्भां रामानन्दार्य मध्यमाम् ।

रामप्रपन्न गुर्वन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

यः कल्याणगुणाकर्मजगतः श्रेयः परम्प्रापक

स्तं ब्रह्मार्चिनापादपद्मयुगलंगमाख्यमोशं नुमः ॥१॥

उपायोनास्तीति । तत्रापिनापातजनितमान्मज्ञानं मोक्षाय पर्याप्तम् । आरण्यज्ञानस्यापिजनकत्वप्रसङ्गात् । किन्तु प्रत्यक्षममानाकारकतेलधारावदविच्छिन्नतन्मन्तानामकमेव । तादृशज्ञानं च सीमांसासहकृतवेदान्तविचारजनितमिति परमान्मविचाराय तत्त्वस्वरूपनिर्णायकसूत्रव्याख्यानायचोपक्रमं कुर्वन् प्रथमतः प्रारम्भितग्रन्थस्य निर्विघ्नपूर्वक्रममाप्तये शिष्टाचारप्राप्तमङ्गलमारचयति यस्मादित्यादि ।

ननु यथादण्डमन्वेष्टोजायते तदभावे च न जायते । इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां घटकारणतादण्डादौमिध्यति । तथैव यदिमङ्गलमन्वे ग्रन्थममामिर्भवेत्तदभावे च तत्समामिर्भवेत्तदा तस्यमङ्गलस्य ग्रन्थममामिप्रति कारणत्वमभावेनापि परन्तु नेवदृश्यते स्थलविशेषे मङ्गलाभावेऽपि निर्विघ्नपूर्वक्रममामिदर्शनान् स्थलविशेषे च मङ्गलमन्वेऽपि ग्रन्थस्य समाप्तेरभावादतो मङ्गलमनादेयमेवेतिपूर्वपक्षः । मङ्गलं सकलम्, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् प्रयाजादिवदिन्यनुमानेन मङ्गलस्य सकलमन्वेजाने किं तदीयं फलमिति जिज्ञासायां स्वर्गादीनामप्रकान्ततया फलत्वाभावे निश्चिते स्मृतिविषयत्वादुपस्थितत्वाच्चममामिरेवफलम् । अकृतमङ्गलस्थले यदि समाप्तिमदापूर्वजन्मकृतपुण्यविपाकात्कृतमङ्गलस्थलेतुग्रन्थासमाप्तिः प्रबलप्रतिबन्धकदुरितकर्मोदयादिनिदिह ।

‘यस्मादित्यमुदेतीत्यादि । यस्मान्सर्वज्ञान्सर्वशक्तिसमन्वितादमित्यहंप्रगुणरहितान्निखिलकल्याणकरात् साकेताधिपतेः सकाशात् । अत्रापादाने पञ्चमी हिमवतांगङ्गाप्रभवतीतिवत् । यथा हिमवन्तं शरणीकृत्यगङ्गायाः प्रभवः समुत्पत्तिर्भूति तथैव श्रीमन्न्श्रीमीतानाथमभिन्ननिमित्तोपादानत्वमभिलक्ष्य जगतः समुत्पत्तिरिति सूचिता । विद्वमिति स्थूलजडचेतनात्मकजगत् तत्र केचन कर्तार एव भवन्ति । यथा घृणकारकृत्त्विकप्रभृतयः घृणनिर्मातार एव भवन्ति । केवलमन्यार्थमेवभोजननिर्माणं करोति नतु तस्य भोक्ता भवति । केचन भोक्तार एव भवन्ति नतुकर्तारः । यथा आदौ पुत्रशिकादी-

‘यस्मा’ दित्यादि जिस सर्वेश्वर श्रीमीतानाथ श्रीराम से यह समस्त जडचेतन साधारण जगत् सर्ग के आदि काल में आवक्ष्ण सम्बन्ध लक्ष्ण उदय को प्राप्त करना है अर्थात् जगत् का प्रादुर्भाव होता है । एवं जिस भगवान् से यह सम्पूर्ण जगत् सार्वकालिक संरक्षण को प्राप्त करता है अन्यथा संरक्षण के अभाव में छिन्न भिन्न हो जाता । और प्रलयकाल में जिसमें अप्पय लीनता विनाश को प्राप्त करता है । अर्थात् स्वकीय स्थूल रूप को छोड़ करके

पितापुत्रादयः । नहि श्राद्धकरणे पुत्रस्य । पुत्रेष्टिकादौ पितुः किञ्चित्फलं भवति । फलं तु पितरि पुत्रे च भवति । यथा ब्राह्मणानां यागदानप्रभृतयो नियता एवक्रियादयः । यथावा सुखादिप्रतिनियतफलम् । यथावा प्रतिनियतनिमित्तं यथा वसन्तेकोकिलारावः काश्मीरेकुंकुमोत्पत्तिरित्यादि । यदनेककर्तृभोक्तृसंयुतम् । तथा विभिन्नक्रियाफलाश्रयानेकनिमित्तमनेकवर्णाश्रमादिप्रविभागकमेतादृशं जगत् । एतेन 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुत्यर्थः प्रकाशितः । तथा समुत्पन्नं जगद्येन परमेश्वरेण शाश्वतिकं सर्वकालिकं संरक्षणं लभते प्राप्नोति । यद्यपि पितुरुत्पन्नः पुत्रः पितुः सकाशात्संरक्षणं प्राप्नोतीति स्वाभाविकम् तथापि तदीयं रक्षणं न शाश्वतिकमपितु किञ्चित्कालिकमेव । अत्र संरक्षकरक्ष्यसंरक्षणक्रियाणामल्पकालिकत्वात् । यद्यपि प्रकृतेऽपि संरक्ष्यस्य क्रियायाः अल्पकालिकत्वमेव तथापि संरक्ष्यस्य क्रियायाः प्रवाहो नित्यत्वात् संरक्षकस्य तु सर्वथानित्यत्वमेवेति । तथा यस्मिन् परमात्मनि इदं परिदृश्यमानं जगत् अप्ययं विनाशमेति ध्वंसप्रतियोगी भवति 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' इत्यादिश्रुत्या परमात्मनः सर्वविनाशकत्वस्य श्रवणेन सर्वेऽपि पदार्थाः परमात्मन्येव विलीना भवन्ति, यथा अवान्तरप्रलये च चतुर्विधभूतग्रामाः पृथिव्यां विलीना भवन्ति यथा मृदि घटः प्रलीनो भवति । तथैव महाप्रलये सर्वपदार्थाः स्थूलरूपतां परित्यज्य सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि स्वशरीरिणि विलीयमाना भवन्ति । एतेन अभिन्ननिमित्तोपादानत्वं परमेश्वरश्रीरामेष्टितं भवति । न तु कुलालवत् केवलकर्तृत्वं न वा मृत्तिकावत् केवलोपादानत्वं भवति । किन्तु लूताकीटवदुभयविधमपिकारणत्वं भवति । यद्यपि 'वाचारंभणं विकार' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मविकारस्य जगतो मिथ्यात्वमेव प्रतिभाति । तथापि 'मृत्तिकेत्येवमत्यमिति समुदाहृतश्रुत्यन्तिमभागेन कारणात्मना जगतः सत्यत्वस्यैव प्रतिपादनात् । नहि कस्यचिदप्यपूर्वस्य पदार्थस्योत्पत्तिर्भवति किन्तु कारणात्मना सत एवोत्पत्तिदर्शनेन सत्कार्यवादस्यैव स्वीकारात् । 'नास्ततो विद्यते भावः' इत्यादिनाऽसत्उत्पत्तिनिराकरणात् । अत्रायमाशयः परिणामिस्वभावानां देहादिपदार्थानां विनश्वरत्वादसत्त्वं तेषां निपरमेश्वर मे विलीयमान हो जाता है । जिस तरह पक्षी निकर दिनान्त में स्वकीय नीड में प्रचलन होता है तथा जो भगवान् सर्वदा करुणा दया का सागर है किसी भी प्राणी के ऊपर किसी भी समय में मनसा प्रद्वेष नहीं करते हैं । और जो भगवान् हेय प्रत्यनीक अखिल लोकोत्तर अनन्त कल्याण गुण का सागर हैं । तथा जगत् त्रयका शरीरी होने से कल्याण स्वरूप हैं । लोक में सबको सर्वथा आत्मा ही प्रिय होता है । और भगवान् स्वयं आत्मस्वरूप हैं । अतः सब के लिए कल्याणामक हैं । तथा जगत् त्रय को मोक्ष देनेवाले हैं । ब्रह्मादि देवों

यतम् । आत्मनोऽपरिणामित्वाच्चमन्वम् । उक्तमेतत्पुराणरत्ने 'अनाशि परमार्थश्च
प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तन्तु नाशि न मन्देहो नाशित्वयोपपादितम् । तथा 'यत् काला-
न्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै । परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तुनृपतत्त्वकिम् ? ।' वि०
पु० २।१३।९६) इति प्रकृतेस्वात्मशरीरयोरेवमदमच्छब्दाभ्यांन्यपदेशः । यतोऽ-
नित्यत्वेदेहादेश्चावश्यविनश्यन्त्वे 'गतायनगतायुश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' इत्या-
दिकमुपदिष्टम् । तस्मान्नाशमन्कार्यवादोपन्यासप्रसर इतिमन्कार्यवादोऽनन्योपन्यास्य
त इति मतंच्युदस्तम् । आत्मशरीरनिरूपण एव 'अविनाशी तु तद्विद्भि येन सर्वमिदं
ततम् । अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताशरीरिणः ।' इत्युत्तरदेशोक्तेरपिप्रकरणसंगतिः
सामञ्जस्यमुपैति' इत्यादिरूपेणास्मद्गुरुचरणमहामहोपाध्यायजगद्गुरु श्रीरामानन्दा-
चार्यध्रुवराचार्यवेदान्तकेशरिभिःप्रतिपादनाच्च । यदा च कारणं सन्तदानज्ज्ञानकार्य-
कथमिवात्मनस्त्वात् । लोकयुक्तिविरोधात् । 'अमदकरणादिन्यादिनामन्कार्यवादस्यैवव्य-
वस्थापितत्वादिति ।

अनेन विशेषणत्रयेण 'यतोवाश्मानिभूतानिजायन्तेयेनजानानिजीवन्ति यन्प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति' इतिममश्रुत्यर्थःप्रकाशितोभवति । तथा योहि श्रीमीतानाथोभगवान्
सततंसर्वदेवकारुण्यस्यदयायाःवारांनिधिममूढः । नतु यदाकदाचिदखिलकल्याणगुणा-
नामाश्रयोभगवानिति एतेन बद्धमुक्तनित्यमृद्धजीवेभ्योऽन्याधुनिःप्रतिपादितमर्बलस्यप्रा-
प्यस्यपरमेष्ठवरस्येति । यथापरिमितजलराशिजलाशयःप्रमाणाधिकजलानामागमनेन
विक्षुभितोभवति तथा भगवानपिपरिमितकल्याणगुणाश्रयत्वेनकदाचिद् विक्षुभितः
स्यादित्याशङ्क्यं समुद्रदृष्टान्तेनापाकरोति । यथैव महानजलराशिममूढोऽपरिमितजला-
गमनेन कदाचिदपिक्षोभंनाप्नोति किन्तु स्तिमिततरङ्गःसर्वदाशोभरहितएवावलिष्ठते ।
तथैवपरमेष्ठवरोऽपरिमितकल्याणाधारः कदाचिदपिक्षोभंनाप्नोतीतिममूढदृष्टान्तेनध्वनि-
तम् । तथा योभगवान् श्रीमीतानाथःकल्याणगुणानामाकरद्वारकरोहेयप्रत्यनीकगुणगणा-

से पूजित हैं जिनका चरणकमल एतादृश सर्वेनियन्ता भगवान् श्रीराम को मे नमस्कार करना
है । अर्थात् भगवान् श्रीरामजी का शरणागत हो जाता है । क्योंकि श्रीरामजी का प्रतिज्ञा
है कि 'सहदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अमयं सर्वं नूनेभ्यो ददाम्येनद्वयं मम' इसको
लक्ष्य में रखकर के मैं भी यदि भगवान् श्रीराम के शरणागत होऊंगा तो मेरा उद्धार हो जायगा ।
'यस्मादित्यादि विशेषणत्रय' से 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुति तथा 'नदनन्यथावि-
त्यादि सूत्रसिद्ध 'अभिन्न निमित्तोपादानत्व' का समर्थन किया गया है ।

धारः । ननु यथा मणिविशिष्टोपि सर्पो लोकानां हितकारको न भवति प्रत्युतापकारक एव भवति यथावा धनाढ्योपि स्वभावकृपणः स्वधनेन परान् नोपकरोति किन्तु समयेऽपकरोत्येव तथैव सर्वगुणसंपन्नोपि परमेश्वरः सर्वक्रियारहितत्वात्कमपिनोपकरिष्यतीति भ्रमनिवारयितुमाह 'त्रिजगतः' इति । नायं भगवान्सर्पादिवत् लोकानामनुपकारकः किन्तु स्वाभाविकदयावान् परं श्रेयसो मोक्षस्य प्रापकः सर्वानेव सर्वदानिरतिशयसुखदायकः । तत्र शरणागतप्रपन्नान् सद्य एव समुद्धरति, तदुक्तं 'तेषामहंसमुद्धरतां' इत्यादि । कुभाग्यग्रहप्रस्तांस्तु स्वोपासनालाभेनतिरस्कृतग्रहान् परंपरया समुद्धरति । अथवा त्रिजगतः श्रेयः ऐहिकामुष्टिकमुखजनकस्तथा कल्याणकारकः तथा विरक्ताय शरणागतप्रतिपन्नय परमपदस्य नित्यनिरतिशयसुखात्मकमाकेतस्य प्रापको भवति । अयमेव श्रीसीतानाथः सर्वस्य प्राप्यः परमादप्रापकश्च भवति । 'श्रुतावुक्तं 'एमेवैष वृणुते' इति रूपतः । तत्र प्राप्तावुपायस्तत् राम ? त्वं चासि नेतरः । उपायस्तवमंप्राप्तौ त्वामेव वदति श्रुतिः । उपायो भवतात् त्वं मे राम ? वेदनिवेदित ॥१॥ जगत्सृष्ट्यादिलीलात्वच्छ्रीरामाद्ब्रह्मणः खलु । उपेयो मुक्तजीवानां नेतरो कश्चिदस्ति हि (वशिष्टसंहिता) 'परात्परं पुरातनमिति दिव्यमिति श्रुतौ । 'दिन्यो मुक्तजनोपेयो रामो ब्रह्मपरात्परम्' (उपेयोपायदर्पणम्) इत्याद्युक्ते ।

प्रपन्नो भवतु अप्रपन्नो वा. तत्र प्रपन्नं सद्यः समुद्धरति । अप्रपन्नं तु परंपरया 'शत्रूनगमयन् वर्गमित्यादिवृद्धोक्तेः । एतादृशं ब्रह्मार्चितं पादपद्मयुगलम्, अत्र ब्रह्मेति पदं देवान्तरस्यापि उपलक्षकम् । तेनाशेषदेवपूज्यत्वकथनेन श्रीसीतानाथे देवाधिदेवत्वं सूचितम्, साधारणतया इन्द्रशिवादयो मनुष्याणां पूज्या अयंतु देवेभ्योऽपि पूजनीयचरणयुगल इत्ययं देव इति । अत्र 'यस्यामलं नृपसदस्स यशोऽधु ।ऽपि गायन्त्यधधनमृषयो दिग्भिरेन्द्रपट्टम् । तं नाकपालवसुवालकिरीटजुष्टं पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥ (भा० १।१।११।२१) मर्यादापुरुषोत्तमस्य लीलाप्रयोजनमतिममासेन प्रदर्शयन् स्वशरण्यत्वाच्छरणं गच्छति यस्यामलमिति यस्य श्रीरामचन्द्र-

उपादान कारणं सै पदार्थ की उत्पत्ति स्थिति विनाश रहता है, जैसे घट की उत्पत्ति स्थिति विनाश मृत्तिका में है । अतः घट का उपादान मृत्तिका ही है : जिसमें जिसका प्रागभाव रहता है वह उसका उपादान होता है । 'कारुण्यवाराद्धिः' इस विशेषण से अभिव्यक्त होता है कि भगवान् की अनुकंपा से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिए 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादि श्रुत्यर्थ का स्मरण कराया जाता है । 'कल्याणगुणाकरः' इस विशेषण से प्राकृत गुणराहस्य तथा सकल दिव्य गुणालय का प्रदर्शन होने से परमात्मा को

श्रीरामाख्यं परंब्रह्म सदाभ्यायान्तदीपितम् ।

स्वभक्तैर्व्येयमाप्यं च वन्दे दिव्यगुणाकम् ॥२॥

अथाखिलाभ्याभ्यायनमनुपपत्तिमद्वेते ब्रह्मचर्यादिति तत्प्र-
युक्तवेदवाक्यविचाम्याप्यन्तरेणवेदाभ्यायनममम्भवाद ब्रह्मविचा-

स्यामलमघघ्नपापनाशकं पादाभ्युज्जं तन्मन्त्रनिधरेणं नृपाणां युधिष्ठिरप्रभृतीनां मदस्म
ऋषयो मार्कण्डेयप्रभृतयोयशोऽधुनापि गायन्ति । यद्यशोदिगिधेन्द्राणां पदवदाभर-
णस्वरूपेण तत्पर्यन्तव्याप्तं नाकपालदेवावमुपालास्तेषांकिरीटैर्जुष्टपादाभ्युज्जं यस्य तं
रघूपतिमखिलजीवशरण्यंशरणं प्रपद्ये । यदुवा नाभ्ययंकंयस्मिन् स नाकः सन्यलोकमद-
धिष्ठातृदेवोब्रह्मा, वसुशब्दश्चधनभूतपशूपलक्षकस्ततश्च पशुपतिः शङ्करमयोगिनि-
योज्यम्' (शुकार्यमतदीपिका) इत्याद्यनुमन्धेयम् । एतारशंरामाख्यंमाकेताधिपतिम्
इशं सर्वस्यान्तर्यामितयानियन्तारम् । 'यःपृथिव्यां निष्ठुन 'योविज्ञानेनिष्ठुन' ए
विज्ञानं नवेद यस्य विज्ञानं शरीरम्' इत्यादिश्रुतेः । एतारशं सकलजगतः शासकं
श्रीमाकेताधिपतिं भगवन्तं श्रीरामं नुमः शरणागतो भवामि । 'भक्त्याभ्यनन्यपालभ्य'
इत्यादिस्मृतेरितिसंक्षेपः ॥१॥

अखिलद्वेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणमन्यमङ्गत्वादीनामाकरममृदस्वरूपोयमिति तथा
सदेवआभ्यायान्तोवेदान्तः, तारशवेदान्तेन दीपितंप्रकाशितम् अद्वैतार्थस्मादाभ्येनवेदान्त-
वाक्यवाच्यम् 'मन्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिश्रुतेः । स्वभक्तैःस्वकीयसेवाकर्तृभिःध्येयंभ्यातुंपो-
श्यम् तथाभक्तप्रपन्नैःआप्यंप्राप्तुंयोग्यम् नित्यनेमितिककर्मानुष्ठानेन येषांमनोविशुद्धं-
जातं तारशभक्तानांकृतेशमित्योग्यम् 'एदयतेन्वग्रयावृद्ध्या' इत्यादिश्रुतेः । इत्थं
भूतंश्रीरामाख्यंरमन्तेयोगिनोअस्मिन्नित्युत्पत्तिमिदम् स्वरूपतोऽगुणनवृहत्त्वात् परंब्रह्म-
रामंमाकेताधिपतिमहंवन्देसर्वान्मनाश्रये इति संक्षेपः ॥२॥

निर्गुण माननेवालों के मत का निराकरण किया गया । यद्यपि 'अखलमनणु' इत्यादि श्रुति में
निर्गुणत्व परमात्मा में प्राप्त होता है । तथापि तारश श्रुति का अनिवाच यह है कि लौकिक
गुणज्ञान का अभाव परमेश्वर में है । किन्तु अप्राकृतिक गुणज्ञान का निराकरण नहीं किया
जाता है । गुण समर्थक तथा गुणनिराकरणपरक सर्व श्रुतियों का समन्वय करने पर यही अर्थ
लब्ध होता है, अन्यथा अन्यतर श्रुति का वैयर्थ्य हो जायगा ॥१॥

'श्रीरामाख्यमित्यादि । वेदान्त वाक्य द्वारा प्रदिपादित, तथा स्वकीय भक्त से ध्यान करने
के योग्य और प्राप्त दिव्यान्त गुण का आकर श्रीराम ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

रानुपपत्तिरित्यापाततो ब्रह्मज्ञानमन्तरेण च तद्विषयकजिज्ञासाया अनुदयस्तदभावे चाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकस्त्वाश्रयभगवत्स्वरूपानुभवसम्भवान्मोक्षानुपलब्धिः ।

तस्मादादावाभ्यास्यविधिवदध्ययनेनाभिलषितानर्थानापाततोऽवगम्यतद्विशेषनिर्णयसत्तृष्णः पूर्वमीमांसामाचिष्येनविशिष्टार्थाधिगमाय प्रयतते । तत्र च कर्मणामल्पास्थिरफलकत्वमाकल्याणान्तस्थितानन्दफलावाप्तये ब्रह्मस्वरूपानुभवसाधनभूताभ्यासान्तवाक्यविचारोऽनुष्ठेय इति स्वत एव निश्चिनोति ।

शिष्टाचारप्रयुक्तं मङ्गलं कृत्वा सूत्रव्याख्यानायावतरति 'अथाखिलाभ्यासेत्यादि । यावत्पर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य संपत्तिर्न भवेत् । तावत्पर्यन्तमखिलवेदराशेरध्ययनं नोपपत्तिमत् । अन्तरेण च वेदाध्ययनं तदधीनवेदवाक्यविचारो न संभवतीति तदन्तर्गतब्रह्मविचारो न संभवति । आपातजनितपरमात्मज्ञानं विना न संभवति ब्रह्मजिज्ञासा । यतो ज्ञानविषयक इच्छाया एव जिज्ञासारूपत्वेन तस्या ज्ञानसाध्यत्वनियमात् । ज्ञानं विना भगवत्स्वरूपानुभवान्मकमोक्षो न स्यात् । अतो वेदराशेर्यथाविधिस्वाध्यायेन स्वकीयाभिलषितानर्थान्नापाततो विज्ञायविशेषरूपेण तन्निर्णयमिच्छन् कर्मकाण्डसाहित्येन विशिष्टार्थस्य निर्णयकरणाय प्रयतमानो भवतीत्यर्थः । तत्र च विरक्तोधिकारी, अग्निहोत्रादिवाजपेयान्तकर्मणामनित्यसातिशयफलजनकत्वं विनिश्चित्य नित्यनिरतिशयानन्दा—

जो पदार्थ संदिग्ध तथा प्रयोजनवाला होता है उसीकी जिज्ञासा होनी है । किन्तु प्रमाणादिनिश्चित तथा निष्प्रयोजन पदार्थ की जिज्ञासा नहीं होती है । जैसे प्रमाण विनिश्चित स्वर्गीय करतल की जिज्ञासा नहीं होती है । नवा निष्प्रयोजन जलनाडने में किसी की प्रवृत्ति होती है । प्रकृत में सामान्यतः आत्मरूप से प्रसिद्ध होने से आत्मविषयक जिज्ञासा नहीं होती है । तब 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र से आत्म विचार किस तरह प्रस्तुत हो सकता है । इस शंका के समाधान में आनन्द भाष्यकार कहते हैं 'अथाखिलाभ्यासेत्यादि । यद्यपि सामान्यरूप से ब्रह्म पदार्थ सिद्ध है भी तथापि वादियों की विप्रतिपत्ति होने से सन्दिग्धमान ब्रह्म का विशेषरूप से विचार करना आवश्यक है । इसलिये सूत्र के अवतरण रूप से भाष्यकार कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य के बिना वेद का अध्ययन अनुपपन्न है तो तत्प्रयुक्त वेदवाक्य का विचार

एवञ्च 'तद्यथेहकर्मचितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्य
चितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६।) एतच्छ्रुतिविरोधिनः 'अक्ष-
यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः मुकृतं भवति तस्मान्चातुर्मास्येन यजेत'
इत्यस्य वाक्यस्य विधिशेषत्वेन तदर्थवादतया तस्मिन्नुक्तिमात्रपक्षमवग-
न्तव्यम् । स्मर्यतेऽपि चोपभुक्तकर्मविपाकानामुर्वग्नितानुशयशालिनाम्पु
नगवृत्तिः । 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो अर्जुन ?' (गी०
८।१६) इति । तस्मात् परीध्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-

न्मकमोक्षफलप्राप्त्यर्थं वेदान्तवाक्यविचारोऽवश्यमेवानुष्ठेयः । एतस्मिन्मन्त्रेण
मोक्षसाधकज्ञानस्याभावात् । 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'तस्मिन् शोकमात्मविदिन्यादि-
श्रुतेः । इत्येवं स्वमनीषया स्वयमेव विनिश्चितो निर्विरक्तो ब्रह्मचर्यादिमाधनसंपन्नोऽधि-
कारी । ननु 'अपामयो मम मृता अभूम्' 'अक्षयं ह चातुर्मास्ययाजिनः मुकृतं भवतीति ।
श्रुत्वा स्वर्गादीनां निन्यन्वावगमान्कथं कर्मणामनित्यफलकत्वं कथं वा अधिकारीतनो वि-
ख्यातकलेशवद्बलमोक्षमार्गमाश्रयेतेति चेन्न प्रबलश्रुत्यादिविरोधेन स्वर्गनिन्यनाप्रति-
पादकश्रुतेरर्थवादमात्रत्वात् । स्वर्गः क्षयीभावत्वेनैतिकाप्यन्वादिन्यायानुमानादि
प्रमाणेनापितस्यानिन्यन्वावगमात् । 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतवर्हिभाष्यते' इत्यादि-
नौपचारिकामृतत्वस्यैव प्रतिपादनात् । स्मृतिरपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो
ऽर्जुन' इत्यादिकाः कर्मणामनित्यफलतामेव बोधयतीत्याशयेनाह भगवान् भाष्यकारः

हे सो वेदाध्ययन के बिना वेदवाक्य के विचार को अनुपपन्न होने से ब्रह्मविचार अनुपपन्न है
और आपातः ब्रह्मज्ञान के बिना ब्रह्मविषयक विज्ञाना नहीं होगी । विज्ञाना के अभाव में अधिक
हेय के विरोधी अनन्त कल्याण गुण के स्वरूपका आश्रय स्वरूप भगवत् का अनुभव का
साक्षात्कार नहीं होने से ज्ञान प्रयोध्य मोक्ष नहीं हो सकेगा । तस्मात् समस्त वेद का विविधवत्
अध्ययन करके आपात रूप से वेदार्थ को जान करके वेदार्थ विशेष का निर्णय का इच्छावाला
व्यक्ति पूर्वमीमांसा के गृहकार से विशिष्ट अर्थ के अधिगम [जानने के लिए] करने के लिये
प्रयत्नमान होता है । अग्निहोत्रादिक पारलौकिक फल का साधनभूत कर्म—अन्य, अस्थिर,
उत्पाद विनाशशील फलक है, ऐसा विचार करके, स्थिर, नित्य, निरतिशयानन्द लब्धुन फलके
प्राप्ति के लिए ब्रह्मस्वरूप का अनुभव उसका कारण वेदान्त वाक्य का विचार अवश्य कर्त्तव्य
है । इस तरह से वह अधिकारी स्वयमेव निश्चय करता है । ऐसा होने से तब यह इस

मायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समि-
त्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचि-
त्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मवि-
द्याम्' (मु० १।२।१२।१३) मोक्षस्य ब्रह्मावाप्तिलक्षणस्य कृतेन कर्म-
णाऽसिद्धेरित्यतस्ततो विरक्तस्य पस्तत्त्वबुभुत्सया स्वाचार्योपसदनपूर्वकं
ब्रह्मोपदेशश्रवणात्तस्या एव परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वमवसीयत इति ।
दृढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिगणः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० १।१।१)

एवं च तद्यथेह कर्मचिन्ता इत्यादियथेह लोके कृष्यादिकर्मणा संचितो धान्यादिलोक उप-
भोगेन क्षीणो भवति । तथैव पुण्यकर्मणा संचितः स्वर्गादिलोक उपभोगेन क्षीणो भवतीति
समुदाहृतश्रुतेरर्थः । यद्यप्यस्याः श्रुतेः प्रतियोगिनी 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः'
इत्यादिश्रुतिरस्ति तथापि तस्याः श्रुतेः स्तावकत्वेनाविरोधात् । 'तस्मात् परीक्ष्येत्यादि'
यस्मात्कर्मणामनित्यफलकत्वं ब्रह्मविज्ञानस्य नित्यमोक्षफलजनकत्वं तस्मात् कारणात् कर्मणा
संपादितान् लोकान् आगमोवपत्तिभ्यां परीक्ष्यजात्या कर्मणा च ब्राह्मणो निर्वेदं वैराग्यं
प्राप्नुयात् । यतोऽकृतः केवलक्रिययाऽसंपाद्यमानो मोक्षः कृतेन केवलेनाग्निहोत्रादिकर्म-
णा न भवति किन्तु ज्ञानकर्मभ्यां भवतीति कारणात् घटकस्यात्मज्ञानस्य प्राप्तये मोधिकारी
गुरुकुलंगच्छेत् समिदादिकं यथा विधि मङ्ग्राह्यम् । तस्मै समागताय ब्रह्मचारिणे
लोकं मे कृष्यादि कर्म द्वारा संचितं जो धान्यादिकं लोकं है वह उपभोग द्वारा विनष्ट होजाता है,
उसी तरह स्वर्गादि अन्य लोकमें पुण्य कर्म द्वारा उपार्जित लोक भी उपभोग से विनष्ट होजाता है'
एतादृशश्रुति का विरोधी चातुर्मास्य यज्ञ को करनेवाले को अक्षय्य सुकृत प्राप्त होता है । इसलिये
चातुर्मासयाग करना चाहिये' । इत्यादिक जो वाक्य है उसको त्रिष्विशाख का अंग होने से
वह अर्थवाद है । अतः वह केवल कर्म का स्तावक है ऐसा जानना चाहिए । गीता में भी
बतलाया है कि 'कर्मफल का अनुभव करने के बाद अवशिष्ट कर्मवान् पुरुष का पुनरावर्तन
होता है ।' हे अर्जुन ! प्रजापति लोक पर्यन्त लोक जो है वह पुनरावर्तनशील है । अर्थात्
साधारण स्वर्गप्राप्त पुरुष का तो पुनरावर्तन होता ही है किन्तु प्रजापति लोक में रहनेवाला
व्यक्ति भी पुण्य के समाप्ति के बाद शेष कर्मबल से पुनः इस लोक में आता है ।' अर्थात्
विचारशील पुरुष स्वर्गादि सुख को अनित्य समझ करके नित्यफल प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान्
होता है ।

‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ (मु० ३।२।७) ‘यो वेद निहितं गुहायां पद्मे व्योमन् । मोऽनुते सर्वान्कामान् महब्रह्मणा विपश्चितां’ (ते० २।१।१) ‘ततस्तु तत्पश्यति निष्कलं व्यायमानः’ (मु० ३।१।८) ‘यदा पश्यः पश्यते स्ममवण कर्ताग्मीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निग्ज्जनः पद्मे माम्पमुपैति’ (मु० ३।१।३) ‘भियते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वमंशयाः । श्रीयन्त चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे पगवरे’ (मु० २।२।८) ‘यदा सर्वप्रमुच्यन्ते कामायेभ्य हृदि स्थिताः । अथ सर्वेऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते’ (कठ० २।३।१५) ‘न विरक्ताय विनीताय यथाशास्त्रं ब्रह्मोपदेशं कुर्यात् इत्यर्थः । ‘ब्रह्मविद्योपदेशप्रवणानस्या एव ब्रह्म प्राप्तिहेतुत्वमवसीयत इति’ इति सेवं ब्रह्मविद्यापरमात्मनः प्राप्त्येकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र एव शब्दोऽप्यर्थकः ; न तु तदित्यस्य वच्छेदकः । अन्यथा कर्मणामपि तत्प्राप्तिद्वारास्य निराकरणप्रसङ्गान् । यथा कर्मादिकं ब्रह्मप्राप्त्यै कारणं तथा ब्रह्मविद्यापि ब्रह्मप्राप्तीमाधनम् । अर्थात् मोक्षे दण्डवत्कादिन्यायेन ज्ञानादीनां कारणत्वं न तु तृणारणिमणिन्यायेन । ज्ञानमात्रस्य तदन्यस्य वा कारणत्वम् । अथवा एवमशब्द इत्यस्य वच्छेदको भवन् केवलकर्मणैव मोक्षो भवतीति यन्मीमांसकमतं तमपहस्तयति, तत्र च ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः स्वीकृतो भवति । मिद्धान्तविदस्तु ज्ञानकर्मसहकृतप्रपञ्चैव मोक्षमिच्छन्ति । ज्ञानस्य मोक्षकारणता बोधिकाः भूतीरुदाहर्तुमाह इदमप्यमुमेवार्थमिदं विदुः । ब्रह्मविद्याप्नोति परमिति ब्रह्मविदमुद्दिश्य प्राप्तिरनया विधीयते । तत्रोदे इत्यत्र वच्छेदकप्रयोग्यत्वं तत्कालावच्छिन्नत्वं विधेयो भवतीति नियमः । यथा सुखीन्यत्र धनवन्तमुद्दिश्य सुखस्य

इसलिए ‘कर्म संपादित लोक का समीचीन रूप से परीक्षा करके जानि वाञ्छन इस लोक को अनुपादेय समझ करके इस विषय ज्ञान से वैराग्य को प्राप्त करें । अर्थात् क्रियामात्र से असंपाद्यमान मोक्ष कृतः कर्म से प्राप्त नहीं होता है । किन्तु ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होता है अतः ब्रह्म विज्ञान को प्राप्त करने के लिये समित्पाणि होकरके शास्त्राध्ययन सम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जायें । तब ब्रह्मज्ञानी आचार्य विधिवत् समाप्त प्राप्त विनीत प्रशान्तचित्त शम-दमादि समन्वित शिष्य को जिसके द्वारा सत्य परम पुरुष जाने जाते हैं, उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करें ।’ ब्रह्म प्राप्ति लक्षण जो मोक्ष है वह कृत अर्थात् कर्म से विरक्त को परमतत्त्व प्राप्ति की अभिलाषा से स्वकीय आचार्य के उपसदन पूर्वक ब्रह्मविद्या के, उपदेश के श्रवण होने से, ब्रह्मविद्या को ही परमात्म प्राप्ति में कारणत्व का निश्चय होता है ।

च पुनरावत्तते' (छा० ८।१५) इति ब्रह्मज्ञानस्यैव परब्रह्मानुभवरूप-
फलजनकत्वश्रवणात् 'येनाक्षरं पुरुषं वेद' इत्यादौ कर्मफलविरक्तस्यैव
ब्रह्मज्ञानार्थित्वमवसीयते । एवञ्च "तपमा ब्रह्मविजिज्ञासस्व तपोब्रह्मे
ति स तपोऽनप्यन स तपस्तप्त्वा" (तै० ३।५।५) 'आनन्दो ब्रह्मति व्य-
जानात्' (तै० ३।५।६) इति तपसो ब्रह्मविजिज्ञासायास्तज्ज्ञानस्य
च साधनत्वश्रवणादादौ तदनुष्ठेयम् । तदाह भगवान् वृत्तिकारः 'पर-
मपुरुषपरिचर्यातपः सप्ताधिभिराशुब्रह्माधिगमः सायुज्यफलदः' इति
(बोधायनवृत्तिः)

विधानं भवति तत्रोद्देश्यो हि धनवान् । उद्देश्यतावच्छेदकं धनम्, येन रूपेणोद्देश्यमानं-
तदेवोद्देश्यतावच्छेदकं भवति उद्देश्यविशेषणमितियावत् । ततश्चोद्देश्यतावच्छेद-
कधनप्रयोज्यत्वं धनावच्छेदककालावच्छिन्नत्वं च भासते । अत एव धनकाले एव धनिक-
स्य सुखं जायते न तु धनाभावकाले तथा तादृशसुखनिष्ठप्रयोज्यतानिरूपयितप्रयोजकता-
त्वं धने भवति, एवमेव प्रकृते ज्ञानवतो ब्रह्मप्राप्तेर्दर्शनात् ज्ञानमुद्देश्यतावच्छेदकं भवती-
ति ज्ञाननिष्ठप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावत्त्वं परप्राप्तौ मिष्यति । अनेन क्रमेण-
ज्ञानजन्यत्वस्य पक्षे प्रतिपादनज्ञाने मोक्षजनकत्वं सिद्ध्यतीति सुष्ठूक्तं भाष्यकृता 'ब्रह्म-
विद्या परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वमवसीयते' इतीति । अनेन क्रमेणोदाहृतश्रुतयो मोक्षकारणत्वं-
ज्ञानस्य जापयन्ति । इति ब्रह्मज्ञानस्यैव परब्रह्मानुभवरूपफलजनकत्वश्रवणादिति अत्राप्ये-
व शब्दोऽप्यर्थक एव । ये तु केवलकर्मणैव मोक्षमिच्छन्ति न तु ज्ञानस्य कारणा-

ब्रह्मज्ञान परमात्म प्राप्ति का कारण है । इस विषयका दृढीकरण श्रुति करती है तथाहि
—ब्रह्मज्ञानवान् पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है । उद्देश्यतावच्छेदक प्रयोज्यत्व विवेक में
होता है । ऐसा नियम होने से उद्देश्यतावच्छेदकीभूत ब्रह्मज्ञान में मोक्ष प्रयोजकत्व सिद्ध
होता है । 'ब्रह्मज्ञानवान् ब्रह्मरूप ही हो जाता है ।' जो हृदय रूप गुहा में निहित गुहा में
परमात्मा को जानता है, साक्षात्कार करता है, वह सर्व कमनीय विषय को प्राप्त करता है ।
निष्कल पुरुष का ध्यान करता हुआ पुरुष उस परमात्मा का साक्षात्कार करता है । 'जब
पश्य जीव सुवर्णवत् देदीप्यमान जगत्कर्ता सर्वप्रकाशमान पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करता
है । तब वह उपासक पुरुष पुण्य पाप को विनष्ट करके सर्वदुःख रोहित हो करके परमात्मा के
परम साम्य को प्राप्त करता है ।' उस परावर परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदयप्रेमि का

एतदुक्तं भवति । परमपुरुषानुभवलक्षणमुन्वावाप्तिकामेनादौ-
ब्रह्मचर्यादिनियमपूर्वकं सार्थानुश्रवमधीन्यतदुदितकर्मणामन्तवत्फलपा-
कल्याणानन्तफललिप्सया मनः स्थैर्यादिमाधनमधिष्टाय ब्रह्मविचारोऽह-
र्दिवं विभावनीय इति । तदर्थं भगवान् वादगण आम्नायान्तवाक्य-
विचारालक्षणीं प्रणिनायशास्त्रीकब्रह्ममीमांसाम् । यस्याश्च सूत्ररूपत्वेन
सूक्ष्माकाशामवधार्य तत एव समधिगम्य पार्मीकान्त्यनिम्नस्य स्व-
श्रीगुरोश्च श्रीशुकदेवमुनेर्गङ्गाया बोधायनायनामधेयश्रीपुरुषोत्तममु-
मोक्षे समीहन्ते तेषां मनस्ययच्छेदापब्रह्मज्ञानस्यापिकारणनाभवस्येवेति दर्शितवान् प्रकृत-
प्रकरणेन । ज्ञानस्यैव स्वभावोपत्तिरिति प्राप्तिः, अनिष्टपरिहारं च कारयति तथोक्तम्
सर्पान् कुशाग्रेण तथोदपानं ज्ञान्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति । अज्ञानतस्तत्रपतन्ति
केचित् ज्ञाने फलं पश्य महद्दिशिष्टम्' इति ।

ननु यदि ब्रह्मज्ञानमात्रेणैव मोक्षो भवेत्तदाऽनेककलेशसंपादनीयकर्मणा किम् तत्
कर्मानुष्ठानं निरर्थकमेव । न चेष्टापत्तिः ? कर्मप्रतिपादकधुनीनां दीपार्थमेवापत्तेः । नच
तदपीष्टमेव । तथा सति एकत्रैरर्थक्ये सर्वत्र तदपि दृष्टासेन सर्वोऽपि वेदराशिः स्वप्रमाणं
जह्यादिति चेत्सत्यम् । यदि कर्मनित्यनैमित्तिकस्यानुष्ठानं न स्यात् तदा भासोत्पत्त्यानन्त-
ज्ञानमेव नोत्पद्येत तदभावे मोक्षाश्चा आश्रमात्रमेव स्यात् । तस्मान् नित्यनैमित्तिककर्मा-
नुष्ठानान् पापनिवृत्तिः पापनिवृत्त्याऽन्तःकरणस्य विशुद्धिना ततो विशुद्धान्तःकरणे ज्ञान-
मेदनं हो जाता है, सभी प्रकार का संशय विनष्ट हो जाता है और सर्वकर्म विनष्ट हो जाता है ।
इस उपासक के हृदयगत कामनायें विनष्ट हो जाती हैं । इसके बाद वह सर्व पुरुष अर्पण
हो जाता है । इस स्थिति में वह ब्रह्म को प्राप्त करता है । 'वह मोक्ष प्राप्त पुरुष पुनः
मोक्ष स्थान से लौटकर के नहीं आता है ।' इत्यादि धृतियों से ब्रह्मानुभव रूप फलजनकता
है ऐसा निश्चित होता है । जिसके द्वारा ब्रह्म पुरुष को जानना है । इत्यादि स्वतः में
कर्मफल से जो विरक्त है उसी को ब्रह्म ज्ञानार्थिना का निश्चय होता है ।

ऐसा हुआ तब, 'तपस्या से ब्रह्म की जिज्ञासा करो, तप ब्रह्म है, उसने तप किया,
वह तप करके आनन्द लक्षण ब्रह्म को जाना ।' इत्यादि धृति से ब्रह्म जिज्ञासा तथा
ब्रह्मज्ञान में तप साधन है, ऐसा सिद्ध होने से प्रथमतः तप का आराधन आवश्यक है ।
भगवान् वृत्तिकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने भी कहा है, "परम पुरुष की परिचर्या तपस्या और
समाधि से ब्रह्म का ज्ञान होता है, जो साधुस्य फल को देता है" इति बोधायन वृत्ति ।

निना सुखबोधायविशदतमावृत्तिर्भ्यधायि । इयञ्च भगवता वादरायणेन निश्चतानामेवार्थानामवबोधिकेति वेदान्ताध्वनिप्रवर्तमानानाम्महानवलम्बोऽऽस्याभवेद्भवेद्यदिकात्स्येनोपलब्धिरेतस्याभास्तवमुन्धरायाम् । न च सुदृढंगवेषयद्विरप्यस्माभिस्सोपलभ्यते । अतोऽस्मत्पूर्वाचार्यैर्येऽशाः क्वाचिदस्याः संगृहीतास्तान् सवहुमानं यथास्थलमुद्धृत्येदं विधीयते सूत्रभाष्यमानन्दभाष्यं नाम ।

मुदेति ज्ञानोदयंतदामाद्यमोक्षाशा तदुक्तम् 'नित्यनैमित्तिकैरेवकुर्वाणोर्दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचमेत् । अभ्याशात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभतेनरः' इति । इत्येवंज्ञानार्थिनावश्यमेवकर्मानुष्ठानंविधेयमित्येवंक्रमेणपरंपरयाकर्मणोपिमोक्षजनकत्वेन—नकर्मानुष्ठानं निरर्थकमपितु ज्ञानवत् कर्माप्याववश्यकमेव । एतेन मायावादिमतमपास्तं भवति । यतस्ते केवलदेवज्ञानादिच्छन्तिमोक्षम् । परन्तु केवलज्ञानस्यकारणत्वे-कर्माभावेमोक्षस्यासंभवित्वप्रसङ्गादिति विशेषस्त्वन्यत्रानुसन्धेयः । तपःप्रभृतिकर्मणामाचरणमवश्यमेवकर्तव्यंसत्यपिज्ञानस्यमोक्षजनकत्वे इति वृत्तिकारवचनेन दृढयति 'तदाह भगवान् वृत्तिकारः इत्यादिना प्रकरणेन । एतत्पर्यान्तविवरणग्रंथस्याशयंप्रदर्शयितुमाहभाष्यकारः एतदुक्तं भवतीत्यादि । मोक्षकामवताद्विजन्मनाप्रथमतोमोक्ष-

एतदुक्तं भवतीत्यादि परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार स्वरूप जो सुख तादृश नित्य निरतिशय सुख के प्राप्ति कामनावान् अधिकारी प्रथमतः ब्रह्मचर्यं तपस्यादि नियमपूर्वक अर्थसहित अनुश्रव वेद का अध्ययन करके [गुरु के पाठ के अनन्तर में जो श्रवण किया जाय उसको कहते हैं अनुश्रव अर्थात् वेद ।] तादृश वेद से प्रतिपादित जो नित्यनैमित्तिक तथा काम्य ज्योतिष्टोमादिक क्रिया कलाप तादृश कर्म का फल स्वर्गादिक वह अनित्य तथा सातिशय फलवाला है, ऐसा विचार करके तादृश कर्म तथा तदीय फल से विरक्त हो करके, अनन्त निरतिशय मोक्ष लक्षणसुख की इच्छा से मनकी स्थिरता ब्रह्मचर्यं विनयादि साधनों से सम्पन्न हो करके, "आसुतेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया" एतदनुकुल रातदिन ब्रह्म विचार को सम्पन्न करे । इस ब्रह्म विचार का संपादन करने के लिए भगवान् वादरायण वेदव्यास जी ने वेदान्त वाक्य विचार लक्षण शारीरिक ब्रह्ममीमांसा शास्त्र को बनाया उस शारीरिक मीमांसा को सूत्र रूप होने से अति सूक्ष्मरूपता का आकलन करके साक्षात् भगवान् के अवतार स्वरूप स्वकीय परमगुरु के आशय को उन्हीं से जान करके ब्रह्मनिष्ठ स्वकीय गुरु

ॐ त्रिज्ञामाधिकरणम् ॐ

५ अथानो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१। ५

अत्रानन्तर्यार्थकोऽयमथशब्दः । अधिकागदिवाचकस्य तस्य-
कामुकेन सार्थवेदं यथाविधिगुरुपुत्रादधीन्य वेदप्रतिपादितकर्मणामनिव्यवृत्तिप्रपञ्चसम्-
संप्रधारिनिन्यकलप्राप्तीच्छयाब्रह्मचर्यमनः स्थैर्यादिकमधिष्टायप्रवृत्तिवारोऽनुष्ठानकर्त-
व्यः । तदुक्तम् 'आमुपमामृतेपावन्नयेद् वेदान्तचिन्तयेतिटिक् ।

अथ 'सुत्रार्थविपर्ययेन यत्र वाक्येः सुत्रानुकारिभिः । स्वपदानि च वच्येन्ने भाष्यं
भाष्यकृतोविद्वृतिरितिभाष्यलक्षणं कथयन्ति प्राज्ञाः । ततश्चावतरणप्रकरणस्य भाष्यस्य
कथमित्येन्नतत्रसुत्रस्यास्यानपदस्यसुत्रतान्यर्थपरकत्वेन निमित्तस्यादिप्रकरणस्य
तथान्वेनदोषाभावात् । सुत्रघटकपदानां व्याख्यानं कर्तुमिच्छन् भाष्यकारः
प्रथमसुत्रघटकप्रथमं पदं व्याख्यातुमाह अत्रानन्तर्यार्थकोऽयमथशब्द इति ।
तत्राथशब्दस्य आरंभमङ्गलार्थान्तरगत्वप्रद्वनकारस्यानन्तर्य इतिपदार्थः संभवन्ति ।
श्रीशुकदेवमुनि की आज्ञा से बोधायनापर नामक पुरुषोत्तम मुनि ने शुक का आशय निकाल कर
से लोगों को ज्ञान हो इसलिए व्यास प्रणीत सूत्र का विमल विभूत वृत्ति मन को
लिखा । यह बोधायन वृत्ति बादरायण से निश्चित विशिष्टा है तथा अर्थ को ही समझाने
वाली है । यह वेदान्त मार्ग में प्रकीर्णित व्यक्तियों को महान् अवलोकन होता यदि इस
देश में सम्पूर्ण रूप से वृत्ति का उपलब्ध (प्राप्ति) होता । परन्तु प्रपञ्चकेक मोक्ष करने
पर भी वह बोधायन वृत्ति सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होती है । अतः जगद्गुरु
श्रीदेवानन्दाचार्य जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्य तथा जगद्गुरु श्रीलियानन्दाचार्य प्रभृति मदीय
पूर्वाचार्यो से संग्रहित उस वृत्ति के अंश तथा जो आशय है उनको बहुमानपूर्वक स्थल-स्थल
में उद्धृत करके मैं इन सूत्रों का आनन्द नामक भाष्य को लिखना हूँ, जो कि बोधायन
श्रीपुरुषोत्तमाचार्य संमत परमप्रामाणिक सर्वोत्तम भाष्य होगा ।

प्रथम सूत्र घटक जो अथ शब्द है वह आनन्तर्य रूप अर्थ का प्रतिपादक है । अनन्तर में
जिज्ञासा होती है । किसके अनन्तर में ? इस जिज्ञासा के उत्तरमें कहेंगे कि कर्मज्ञान के
अनन्तर में ब्रह्मविचार करणीय है । प्रश्न 'ओकारश्चाथशब्दश्च एतेनो ब्रह्मण पुनः । कष्ट-
भिरवा विनिर्याती तस्मान्मातृलिकाबुभौ' [सृष्टि के पूर्वकाळ में ओकार तथा अथ शब्द कमलासन
ब्रह्मा के कण्ठ को फोड़ करके निकल पड़े । इसलिए यह दोनों अथ शब्द तथा ओकार शब्द
मातृलिक हैं ।] इस स्थिति से सिद्ध होता है कि अथ शब्द मंगलार्थक है । तब मंगलार्थक होने

प्रकृतेऽनुपयोगात् । अतःशब्दो हेत्वर्थकः । एवं च माङ्गलशिर-
स्कवेदाध्ययनेनाधिगतकर्मज्ञानस्य अविनाशिमुखभोक्षाभिलाषुकस्य

तत्रायोऽर्थः प्रकृतेऽपेक्षितस्तमर्थं दर्शयति अत्रानन्तर्यार्थक इति । ननु अथशब्दः
“ओंकारश्चाथशब्दश्चद्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मङ्गल-
कावुभौ” इतिनियमान्मङ्गलार्थोऽपि संभवति तदा कथं तस्य परित्याग इति चेन्न,
मङ्गलस्य तदर्थत्वाभावात् । अर्थान्मङ्गलमथशब्दस्य वाच्योऽर्थो न बालश्च्यस्तदा कथमिदं
स्यादिति । न च तथात्वे पूर्वस्य विरोधः । वीणादिध्वनिवत् अथशब्दश्रवणस्यैव-
मङ्गलप्रयोजकत्वात् । नहि तदर्थो मङ्गलं किन्तु तत् श्रवणमेव मङ्गलप्रयोजकत्वात् ।
तेन स्मृतिविरोधो न भवति । न वा “अथ शब्दानुशासनम्” इति वदाम्भार्य
कत्वमथशब्दस्य संभवति प्रत्यधिकरणं तस्याप्रस्तुतमानत्वात् । न वा पूर्वप्रकृतापेक्षत्वम् ।
तस्य कल्पान्तरोपन्यासे एवोपयुज्यमानत्वात् । नात्र कल्पान्तरोपन्यासः । न वा
अन्येषां स्तेषां प्रकृतानुपयोगादिति परिशेषादानन्तर्यार्थक एव सूत्रघटकोऽथशब्द इति ।
एतदेव दर्शितं भाष्यकारेण “अधिकारादिवाचकस्याथशब्दस्य प्रकृते ब्रह्मजिज्ञासायामनु-
पयोगादिति । ततश्चायमथशब्दः “अथयोगानुशासनम्” इति सूत्रघटकाथशब्द-
व्यतिरिक्तार्थपरको न तु तथैवाधिकागद्यर्थममर्थक इति भावः ।

अतः परं सूत्रघटकद्वितीयोऽनः शब्दं व्याख्यातुमाह अतः शब्दो हेत्वर्थकः
इति । अयमतः शब्दः हेतुरूपमर्थं प्रतिपादयति । तथाहि यस्मात् कारणात्
मे मङ्गलके लिये प्रतिदिन ब्रह्मविचार करना चाहिए ऐसा वाक्यार्थ होव होगा । उत्तर—अथ
शब्दका वाच्य अथवा लक्ष्य अर्थ मङ्गल नहीं है किन्तु अथ शब्द श्रवण मात्र से मङ्गल प्रयो-
जक होता है । मृदंग वीणा शंख शब्द के समान इसी से प्रदर्शित स्मृति के सार्थकत्व को
कोई विरोध भी नहीं होता है । नवा पूर्व प्रकृतापेक्ष अथ शब्द है क्योंकि जिस स्थलमें कल्पा-
न्तर का उपन्यास होता है उसी स्थलमें पूर्व प्रकृतापेक्षत्व माना जाता है अथवा आनन्तर्य से
पूर्व प्रकृतत्व का कोई भेद नहीं है । नवा ‘अथ योगानुशासनम्’ इसके समान अधिकार अर्थात्
आरंभार्थक अथ शब्द है । जिस तरह योग सूत्र घटक अथ शब्द योगानुशासन के आरंभ को
बतलाता है उसी तरह प्रकृतमें ब्रह्म विचार के आरंभको बतलायगा ‘ब्रह्म विचार आरंभणीयः’ यह
होगा यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि प्रत्येक अधिकरणमें ब्रह्म विचार प्रस्तुत नहीं है । एवं
प्रश्न कास्त्र्यादि रूप अर्थ तो प्रकृत में संभवित नहीं होने से तादृश अर्थ अथ शब्द का है
ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है । इस अभिप्राय को लेकर के भाष्यकार कहते हैं अधिकारादि

तदुपायनयावगतब्रह्मजिज्ञासैवानन्तर्भाविनी ।

"प्रवाद्येतेऽदृष्टाः कर्मरूपा" इत्यादिको वेदः केवलकर्मणोऽनित्यमानिश्रयफलजनकत्वं दर्शयति तथा ब्रह्मविदानोतिपरमिन्यादिको वेदो ब्रह्मज्ञानस्य नित्यनिरतिशयमोक्षफलकतां बोधयति तस्मादेवकारणान् साधनकर्मादिज्ञानानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासाममभ्युपगम्यमेव कर्तव्येति । एतदेवविशेषतोदशयितुमाह भगवान् भाष्यकार एवं च साङ्ख्यशास्त्रेत्यादि । येनाधिकारिविशेषणव्याकरणादिब्रह्माध्ययनं तथा वेदशिरोभागास्य वेदान्तस्यापि गुरुममीपेयथाविध्ययनं कृतम् । कर्मज्ञानं ज्ञातम् तस्य कर्मणोऽनित्यफलकतामाकलयन् तथा वेदान्तभागाध्ययनेन तदुब्रह्मज्ञानस्य नित्यनिरतिशयफलजनकत्वमप्युपागतम् । ततः संसारानलाद्विदग्धोऽविनाशिर्मोक्षकामो मोक्षस्योपायतया ब्रह्मज्ञानमवगम्य कर्मज्ञानानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासायामेव प्रवर्तमानो भवतीत्यतः कर्मज्ञानानन्तरं तारुणमोक्षकामस्यावश्यं

नीब्रह्मजिज्ञासाभवतीति । यस्मान् वेद एव केवलकर्मणोऽनित्यफलतां दर्शयति । स एव ब्रह्मज्ञानस्य नित्यफलकत्वं प्रदर्शयति ततः कर्मकलादिरक्तस्याधिकारिणो नित्यनिरतिशयसुखान्मकमोक्षाभिलाषकस्य मोक्षार्थं ब्रह्मजिज्ञासाऽवश्यमेव भवति । अर्थात् कर्मज्ञानानन्तरं वैराग्यादिसंपत्त्या विभूषितेनाधिकारिणानियमेन ब्रह्मविचारः कर्तव्य एवेति फलितार्थः ।

वाचकस्य तस्याथशब्दस्य प्रकृतेऽनुपयोगादिति । अर्थात् अधिकार मंगल पूर्व प्रकृतापेक्षणादिक अथ शब्द का अर्थ नहीं है । किन्तु ज्ञानान्तर्ग माचार्यक प्रकृत अथ शब्द है । तब कर्म ज्ञान के अनन्तर में ब्रह्मविचार किया जाता है । यह अर्थ निष्पन्न होता है । इसके बाद गुरु घटक जो द्वितीय पद है उसका विवरण करने के लिए कहते हैं 'अथ शब्दो द्वयर्थकः' इति । इदं शब्द से तमिल प्रायय करके अतः यह निष्पन्न होता है । वह कारणार्थक है । जिसलिए 'तद्यथेह कर्मचिन्तोक्तोऽधीपते' इत्यादि वेद कर्म को अस्थिर मानिश्रयफलक प्रतिपादन करता है । तथा 'ब्रह्मविदानोतिपरमि' इत्यादि वेद ब्रह्म ज्ञान में निरतिशय निरतिशयफलजनकत्व का प्रतिपादन करता है । इसलिए नित्य फलकत्तुक्त व्यक्ति को कर्मज्ञान के अनन्तर में ब्रह्म विचार करना आवश्यक है । यह अर्थ निष्पन्न होता है । इस बातको स्पष्ट आगे बतलायेंगे ।

एवं च साङ्ख्येति व्याकरणादि षडङ्ग तथा शिरोभाग महित वेदान्त महित समस्त वेदका अध्ययन करने से अधिगत कर्मज्ञानवान् तथा अविनाशी मोक्षफल के अभिलाषावान् पुरुष को मोक्ष के कारण अवगत हुए को कर्मज्ञान के अनन्तर में ब्रह्मजिज्ञासा अवश्यमाप्ति है । वेदाध्ययन से अधिगत कर्मज्ञानवान् को तदनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा होती है

कर्मज्ञानानुष्ठानयोश्चित्तकल्मषापनयनपूर्वकवैराग्योत्पादनद्वारा
च ब्रह्मज्ञानम्प्रतिसाधनत्वेनतयोर्हेतुहेतुमदभावतयापिपूर्वोत्तर-
मीमांसयोरेकशास्त्रत्वम् । सिध्यति चैतद्वृत्तिकारणाक्याभ्यां प्रस्फुटम्
'वृत्तात्कर्माधिगमानन्तरंब्रह्मविविदिषेति । संहितमेतच्छारीस्कंजैमिनी-
येनपोडपलक्षणेनपूर्वकाण्डार्थविधायकेनेति च । ब्रह्मणोजिज्ञासा ब्रह्म-
जिज्ञासा । कर्मण्येषापष्टी । 'कर्तृकर्मणोः'कृतीतिकृद्योगेकर्तृकर्मणि
च पष्टीविभक्तिर्भवतीतिकृद्योगलक्षणापष्टी । इत्यप्रवृत्तनपलाशशा-

ननु प्रकृतविचारे कर्मणः किं प्रयोजनं नतदीयोविचारःप्रकृतोपयोगीतिशङ्काया-
माह कर्मज्ञानानुष्ठानयो रित्यादि । कर्मज्ञानंतदनुष्ठानं च ब्रह्मज्ञानं प्रतिसाधनं भवति ।
तत् कर्मज्ञानमन्तःकरणस्थितंपापंनिवर्तयतिवैराग्यं च समुत्पादयतीतिपापविनाशपूर्वकं
वैराग्योत्पादनद्वारा ब्रह्मजिज्ञासायां हेतुर्भवतीतिकृत्वातस्यकर्णः प्रकृतेचिन्तनं
कृतम् । ब्रह्मज्ञानं कार्यम् कारणं च कर्मज्ञानम् । कर्मज्ञानेमतिब्रह्मज्ञानस्यदर्शनात्तद-
भावे च तददर्शनादिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यांतयोस्तथान्वं सिद्ध्यति । कर्म-
प्रतिपादकं पूर्वमीमांसाशास्त्रम् । ब्रह्मज्ञानप्रयोजनंवेदान्तशास्त्रमितितदुभययोरेकशास्त्र-
त्वमपि भवति । एतदेवदर्शितम् । कार्यकारणभावादेवतदुभयचिन्तकोभययोरप्येक-
शास्त्रत्वमिति । न केवलंपूर्वोक्तयुक्त्यैवतयोरेकशास्त्रत्वं किन्तु श्रीपुरुषोत्तमाचार्य

कर्म जो अग्निहोत्रादिक उसका, ज्ञान, तथा कर्म का जो अनुष्ठान है वह अन्तः-
करण में स्थित जो पाप कर्म उसके अपनयन द्वारा अर्थात् अन्तःकरण में जब तक पाप
कर्म विद्यमान रहता है तब तक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता है । जब नित्य नैमित्तिक
कर्मका अनुष्ठान होता है तब उस पाप कर्मका विनाश होने पर अन्तःकरण में ब्रह्मज्ञान
उत्पन्न होता है ऐसा कहा है । 'ज्ञानमुपपद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । नित्यनैमि-
त्तिकैरेव कुर्वाणोदूरितक्षयम्' इत्यादि । अतः कल्मष नाशार्थं वैराग्य द्वारा कर्मानुष्ठान ब्रह्म
ज्ञान के प्रति कारण है । और कर्म का प्रतिपादक पूर्वमीमांसा है और ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन
उत्तर मीमांसा है । इसलिए दोनों शास्त्रों में एकशास्त्रत्व की सिद्धि होती है । यह एक
शास्त्रत्व दोनों में वृत्तिकार के वाक्यद्वय से स्फुटतर रूप से सिद्ध होता है । वृत्तिकार के
वाक्यद्वय को बतलाते हैं 'पूर्ववृत्त कर्माधिगम के अनन्तर में ब्रह्मविविदिषा होती है । पूर्व

तनादिवत्समामः । एवञ्च कृद्योगा च पश्री समस्यते" इति वचन-
बलात् "प्रतिपदविधाना पश्री न समस्यते" इति निषेधस्याप्रसक्तिः ।
अथवा शेषलक्षणेयं पश्रीति न किमपि वक्तव्यमवशिष्यते । न चैवं
सर्वत्र शेषलक्षणापश्रैवकाये सम्भवे पश्री समामप्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्य-
मिति वाच्यम् । तेषां स्वगचिन्तायामुपयोगम्याङ्गीकारादिति सर्वमवदा-
तम् ।

बोधायनवाक्येनापितयोस्तथान्वंभवतीति द्रष्टव्यमिति "मिथ्यपतिवेत्तवृत्तिकारवाक्याभ्यां प्र-
स्फुटमिति । वृत्तिकारीयवाक्यद्वयमुदाहरति वृत्तादिपादः । कर्मणोऽधिगमादनन्तरब्रह्म-
वेदनविषयिणीच्छाभवति । मदिनमेतच्छास्त्रीयमिति । एतत् शास्त्रीयकशास्त्रापूर्वका-
ण्डार्थप्रतिपादकेन षोडशलक्षणेन संहितं भवति । आभ्यांवाक्यद्वयाभ्यामुक्तयोः शास्त्र-
योरेकशास्त्रत्वमिति ।

ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ब्रह्मणोजिज्ञासाब्रह्मजिज्ञासेतिकर्मपश्रीज्ञेया नतुशेषपश्री "कर्तुं
कर्मणोः कृतीति सूत्रेण कृद्योगे पश्रीयाविधानेन कर्मण्येव पश्रीति । अथवा "शेषे पश्री-
ती" वचनात् शेषपश्रीयेव । ततो ब्रह्मतत्प्रमाणादिमर्वविषयकप्रतिज्ञायाः सिद्धेः । न
चैवं सर्वत्र तथैव निर्वाहात् पश्रीति निषेधसूत्राणां किं प्रयोजनमीति वाच्यम् । स्वरूपकरणे-
तदावश्यकत्वादिति दिक् ।

काण्ड के अर्थ का विधायक जैमिनीय षोडशलक्षणशास्त्र से संहित मिलित यह उत्तर मिलता
है । इसलिए यह दोनों एक शास्त्र हैं । विस्तृत रूप से इस विषय को भाष्य भूमिका में
देखिये । ब्रह्मजिज्ञासा में ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा इस रूप से यह कर्म पश्री है ।
'कर्तुं कर्मणोः कृति' इस पाणिनी सूत्र से कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता कर्म से पश्री विभक्ति
होती है । अतः यह कृद्योग लक्षण पश्री है । इत्यप्रब्रह्मपक्षशास्त्रातनादि के समान समाम
होता है । ऐसा होने पर कृद्योगापश्री समस्याते इस वचन के बल से प्रतिपद विधानापश्री न
समस्यते इस निषेध की प्राप्ति नहीं होती है

अथवा 'ब्रह्मजिज्ञासा' इस स्थल में शेष लक्षण पश्री है । इस पक्ष में कुछ कहने की
आवश्यकता ही नहीं है इस पक्ष को निरुद्ध होने से । यदि शेष लक्षण पश्री मानने हैं
तबतो शेष लक्षण पश्री से सर्वत्र निर्वाह की संभावना संभवित है । तब पश्री समाम प्रति-
षेधक सूत्रों का वैयर्थ्य होता है ऐसा नहीं कहना क्योंकि उन सूत्रों का स्वरचिन्ता में उपयोग
है ऐसा मानने से कोई क्षति नहीं है ।

ब्रह्मशब्दश्चमहापुरुषादिपदवेदनीयनिस्ताखिलदोषमनवधि -
कातिशयसंख्येयकल्याणगुणगणभगवन्तंश्रीराममेवाह । सामान्य-
वाचकानांपदानांविशेषार्थपर्यवसानात् । तदाहवृत्तिकारः—“विशेषा-
र्थनमामान्यार्थोऽवसीयत” इति (बोधायनवृत्तिः)

ननु ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्रब्रह्मपदेनकस्यब्रह्मणोग्रहणं भवति । यस्येयंजिज्ञासाप्रकृता ।
यतोब्रह्मशब्दोऽनेकत्रप्रयुज्यमानो भवति । यथा ब्रह्मोज्झमित्यत्रब्रह्मपदेनवेदस्यग्रहणं
दृश्यते । तदर्थश्चवेदत्यागीनामित्यर्थः । ब्रह्महृत्येत्यत्रब्रह्मणत्वजात्यवच्छिन्नपरकः ।
परमेव्योमन्नित्यादौब्रह्मपरकः । क्वचित् प्रधानादावपिप्रयुज्यमानो भवति । बृह-
त्वात् बृंहणत्वाद्वाब्रह्मेतिव्युत्पत्त्या । शरीरादीनांवर्द्धकत्वात् । मतान्तरेन्यापकत्वा-
च्चजीवोपिब्रह्मशब्देनग्रहीतुंशक्यते । इतिब्रह्मशब्दस्यानेकार्थत्वेनकस्यब्रह्मणोजिज्ञासाभ-
वतीत्याशङ्कामनसिनिधायाह ब्रह्मशब्दश्चमहापुरुषादीत्यादि । प्रकृते विद्यमानोब्रह्मशब्दो-
नप्रधानादिकंबोधयति किन्तु “रमन्तेयोगिनोऽनन्तेमत्यानन्देचिदात्मनि । इति राम-
पदेनासौपरंब्रह्माभिधीयेते” “राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः । राम एव परं तत्त्वं
श्रीरामो ब्रह्म तारकम्” “शेषी चाथ निमित्तंचोपादानं जगतोऽस्य हि । महाविष्णुर्निरा-
धारोगामोब्रह्माखिलेश्वरः” “वन्देमहापुरुष ते चरणाग्रविन्दम्” इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणेन
“नतत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते” इत्यादिश्रुतिप्रमाणेन च महापुरुषादिपदवेदनीयं
निर्गननिखिलदोषम् । तथा अनवधिककातिशयकल्याणगुणगणविशिष्टं भगवन्तंश्रीसाकेताधि-
पतिंश्रीराममेवबोधयति “दिव्यदेहगुणास्त्राय साञ्जनेयाय शेषिणे । सानुजाय ससीताय-
रामाय ब्रह्मणे नमः” “रामोब्रह्मपरात्परंश्रुतिमतम्” इत्याद्याचार्योक्तेः । ननु महा-
पुरुषपदानभिधेयंमात्राधिकसातिशयसंख्येयगुणविशिष्टमन्यंकमप्युपस्थापयति । नव
मात्राधिकबृहत्त्वादिगुणयोगेन प्रधानादिकमेव बोधयति । यद्यपि प्रधानादावपिस्वकार्या-
पेक्षयाबृहत्त्वमस्ति । तथापि तद्बृहत्त्वमापेक्षिकमेव नतुनिरवधिकम् । किंच ब्रह्मपदेन

‘ब्रह्मजिज्ञासा’ यह जो समस्त पद है वह कहीं कहीं प्रधानादिपरक भी है तब सन्देह
होता है कि प्रकृतस्थलीय ब्रह्मपद से किसका ग्रहण होता है । क्या ज्ञेय ब्रह्मका बोधक है ।
अथवा तदितर किसीका बोधक है । इस जिज्ञासा के उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं ब्रह्मशब्द
“चेत्यादि । महापुरुषादि पद से जानने के योग्य निरस्त हैं सकल दोष जिसमें एतादृश
तथा, अर्वाच अतिशय रहित अमंख्येय संख्यातीन जो कल्याणगुणगण तन्दिशिष्टपरम पुरुष
सर्वेश्वर श्रीरामजी का ही कथन ब्रह्मजिज्ञासा घटक ब्रह्मशब्द करता है । किन्तु तदतिरिक्त
किसी अर्थका प्रतिपादन नहीं करता है । ब्रह्मव्यतिरिक्त में जो ब्रह्मपद का प्रयोग होता

जिज्ञासेत्यत्रप्रकृतिप्रत्ययौ महार्थवृत्तस्तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्य-
मितः मनोऽन्यत्रेति वचनवत्तादिच्छाया इत्यमाणप्रधानत्वादित्यमाण-

परमान्मद्वयतिरिक्तस्य प्रत्ययस्य कस्यचिद्वग्रहणे परमान्मलक्षणं 'जिज्ञासेत्यत्र' इत्यादिना-
प्रतिपादितं तदसङ्गतमेव स्यात् । नहि परमपुरुषभिन्नस्य लक्षणमेवाह तद्वग्रहण-
त्वेन दीपज्ञानान् मोक्षमिदमिदमभूणां स्यादिति । स्यात्प्रधानत्वमिति स्यादिति । सामा-
न्यार्थवाचको ब्रह्मशब्दस्तथापि तस्य विशेषेण तदभिन्नोपादानकत्वलक्षणविशेषार्थे एव
परोक्षमानं भवति । यथा दानप्रकरणे 'दत्तदानम्' इति कथितम् तत्र 'सुार्णदक्षिणे-
ति नियमान् द्रव्यपदं साक्षीयमानान्यार्थपरिग्रह्य सुवर्णान्म कद्रव्यविशेषमेवोपस्थापयति ।
तथैव सामान्यार्थवाचकोपि ब्रह्मशब्दो निरतिशयां रूपेण गुणगणविशिष्टपरमान्मानमेवो-
पस्थापयति । अमुमर्थं वृत्तिकारवचनेन द्रव्यति ॥ इति । 'विशेषार्थेनमा-
मान्यार्थोऽवर्णीयते' इति हि भगवान् श्री बोधायनः ।

ननु ज्ञानविषयिणी इच्छा जिज्ञासा अत्र प्रकृत्यर्थो ज्ञानम् प्रत्ययइच्छेच्छा ज्ञानयोर्द्वयोर्मध्ये
इच्छाया एव प्राधान्यं गौणत्वं च प्रकृत्यर्थस्येतिकथं ज्ञानस्य विशेषत्वम् किन्तु प्रधानी-
भूत इच्छाया एव प्राधान्यम् । परन्तु विशेषत्वं न संभवति । विशेषत्वं प्रत्ययमा-
ध्यतारूपमेव एतादृशप्रत्ययमाध्यतानेच्छायाः, तस्यास्तु विषयस्य लक्षणयाधीनत्वात्,
इत्याशङ्क्य इच्छाप्रधानत्वे प्रत्ययनामाध्यवेति, इत्यमाणप्रधानत्वेन इत्यमाणं ज्ञानं कियत्-
प्राप्ताविष्टमंतस्यैव ज्ञानस्य विशेषत्वम् । सन्नन्तनिर्देशस्तु निदिष्ट्यामित्य इति सन्त्यनु-
मारेण भवति । वस्तुतो न मन प्रत्यय इच्छार्थकोविचारार्थपरक एव । अनएव ब्रह्मवि-
चारकर्तव्य इत्यग्रे वक्ष्यति । एतन्मर्ममभिप्रेत्याह जिज्ञासेत्यत्र इत्यादि । जिज्ञासेत्यत्र
हे वह औपचारिक है । ननु ब्रह्मपद का मुख्यवृत्तिमे पहण होता है । गौणमुख्य में मुख्यको
ही प्रधानता होनी है गौण का नहीं । यद्यपि ब्रह्मपद सामान्य अर्थ का वाचक है । तथापि
सामान्य अर्थ का वाचक पद विशेष अर्थ में पर्यवसित होता है ऐसा नियम है । इस बात
का दिग्दर्शन वृत्तिकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने भी किया है 'सामान्य अर्थ विशेषार्थ में निहित
होता है ' अर्थात् सामान्यवाचक शब्द विशेषार्थ का बोधक होता है । '

ज्ञानविषयक इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं । यहाँ प्रकृतिज्ञान तथा प्रत्ययार्थ इच्छा
यह दोनों साथ होकर के अर्थ का प्रतिपादन करने हैं । उसमें प्रत्ययार्थ प्रधान होता है
और प्रकृत्यर्थ गौण होता है । इस नियम से प्रधान होने के कारण प्रत्ययार्थ इच्छा में विशेषत्व
प्राप्त होता है । तथापि प्रत्ययसाध्यस्वरूपविशेषत्व इच्छा में नहीं है । किन्तु विषय के वैल-

ज्ञानमिहविधेयम् । न केवलं कर्मभिः परपुरुषानुभवरूपो मोक्षः शक्योऽवाप्तुम् । वेदान्तवाक्यविचाररूपाया उत्तरमीमांसाया वैयर्थ्य-प्रमज्ज्ञात् ।

इदमत्रविचार्यते । परभक्त्यपरपर्यायज्ञानातिरेकिकर्मभिर्मुक्तिस्तद्विरहितेन ज्ञानेन वा ? नाद्यः । वेदान्तविचारशास्त्रानारम्भ्यत्व इत्यारम्भ्य-उपमाणाज्ञानमिहविधेयम् इत्यन्तोग्रन्थोऽतिरोहितार्थकः । ननु ज्ञानस्यविधेयत्वाय एतावान् प्रयासः कथम् । न च ज्ञानेनमोक्षं भविष्यति ततस्तस्य तथात्वमेष्टव्यमिति चेत् । केवलकर्मणैवमोक्षस्यमिद्वसंभवादित्याशङ्क्यामाह न केवलं कर्मभिरित्यादि । वैयर्थ्यप्रमज्ज्ञादिति ननु भवतु उत्तरमीमांसायावैयर्थ्यम् । तावता किं न छिन्नम् मोक्षस्य परमपुरुषानुभवलक्षस्य कर्मणैव संभवादिति चेत् सत्यम् कारणमन्तरेण कार्येन भवतीति नियमः । मोक्षकार्यस्य कारणम् तरतिशोकमात्मवित् 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानस्यैव कारणत्वप्रतिपादनेन ज्ञानाभावेमोक्षामिद्वेः । ज्ञानं चोत्तरमीमांसाविचारलभ्यमिति तादृशविचारामन्वेज्ञानाभावो ज्ञानाभावेमोक्षाभाव इति महदनिष्टं प्रमज्जयेत् नात उत्तरमीमांसावैयर्थ्यमिष्टमिति भावः ।

ननु केवलं कर्मभिः परमपुरुषानुभवरूपो मोक्षः शक्योऽवाप्तुम् । उत्तरमीमांसायावैयर्थ्यप्रसङ्गादिति पूर्वप्रकरणे कथितम् । तदत्रचिन्त्यते किं केवलेन कर्मणामोक्षो भवति केवलज्ञानेन वा ? नाद्यः ज्ञानस्यैवैतत्प्रसङ्गादित्याशङ्क्य कर्मसमुचितज्ञानेनमोक्षो भवति तच्च ज्ञानं भावनाप्रकर्षजनितदर्शनममानाकारकतैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ताक्षण्य प्रभृति इच्छा का निरूपण होता है । ननु इच्छा में विधेयत्व होता है । ब्रह्मज्ञानमोक्षोपयोगी होने से विधेय माना जाता है । वह मोक्ष तो केवल कर्म से ही होगा । पुनः ज्ञान को विधेय बनाने की क्या आवश्यकता है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं न केवल कर्मभिरित्यादि । केवल कर्म से परमपुरुष के अनुभवरूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं । अन्यथा वेदान्त वाक्य विचारामक उत्तरमीमांसा का वैयर्थ्य हो जायगा ।

केवल कर्म से परमपुरुष का अनुभवलक्षण मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है । क्योंकि कर्ममात्र से यदि मोक्ष मिद्व हो 'तब तो वेदान्तवाक्य का विचारामक उत्तरमीमांसा का वैयर्थ्य हो जायेगा' ऐसा पूर्व प्रकरणमें कहा है । तो इस विषय में विचार होता है कि केवल कर्म से यदि मोक्ष माना जाय तब तो ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादक श्रुति का व्याकोप हो जाता है । यदि केवल ज्ञान से मोक्ष का स्वीकार करे तब तो कर्म प्रतिपादक

प्रमङ्गान् । नान्त्यः । अपमिद्धान्तान्नेष्कर्म्यवादप्रमङ्गान्च । तस्मात्
 कर्मविशिष्टस्यैवज्ञानस्यमोक्षमाधनत्वमितिमिद्धान्तः । तथा च श्रुतिः
 'अन्धन्तमःप्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते । ततोभूयद्व ते तमोय
 उविद्यायां गताः' (ईश०९) अत्राविद्याशब्देन केवलकर्मोच्यते 'अविद्या
 कर्मसंज्ञान्या' इति स्मृतेः । एवं 'विद्यायां गता इत्यस्यस्याधिकारोचि-
 नलक्षणं तदेवमोक्षमाधकमितिदर्शयितुमुपक्रमेभाष्यकारः इत्यप्युक्तव्येन इत्यादि । अत्र
 प्रकृतविचारणीयप्रकरणे इदं वक्ष्यमाणं वस्तुविचारमार्गमवलंबते इत्यर्थः । ज्ञानं हि प्रदीपवत्
 प्रकाशमात्रं भवति नतु दण्डादिवज्जनकं तत्कथंमोक्षोत्पादकमिति संशयं तदेवानन्यभक्ति-
 रूपं समापन्नं जनकमपि भवतीति भक्त्यपरपर्यायज्ञानभिन्नकेवलकर्मणामोक्षो भवति ।
 अथवा कर्मविरहितेन केवलज्ञानेनमोक्षो भवतीति विकल्पार्थः । तत्र प्रथमविकल्पो न पुनः
 केवलकर्मणामोक्षे 'तरतिशोकमात्मविदिन्यादिश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गान् । नवाद्वितीय
 पक्षोपिविचारसहोविशिष्टाद्वैतमिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गान् । मायावादिषु नैक्यस्यप्रसङ्ग-
 गदृशस्यात् । ज्ञानस्यप्रकाशकस्यक्रियाजनकस्वरूपकारकत्वाभावात् । तस्मादङ्गा-
 गिभावापन्नं कर्मसहकृतज्ञानमेवमोक्षजनकमितिमिद्धान्तः । इदमेवकर्मसमुचितज्ञानवादं
 'तिरपि एकैकपक्षस्थनिन्दया संमिलितमेवमोक्षकारणमिति प्रतिपादयति । 'ये उपासका अवि-
 श्रुति का सामञ्जस्य नहीं होता है । अतः कर्मसहकृत ज्ञान मोक्ष का जनक है । यह ज्ञान
 दर्शन समानाकारक नैलधारावत् अविच्छिन्न स्मरण मन्तान जनक है । इस बात को समझने
 के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं । इदमत्रविचार्यते इत्यादि । यहाँ प्रकृत प्रकरण में
 यह विचारणीय होता है । तथाहि पराभक्ति के अपरपर्यायामक जो ज्ञान तदतिरिक्त कर्म-
 मात्र से मोक्ष होता है । अथवा कर्मरहित केवल ज्ञान से मोक्ष होता है । इसमें प्रथम पक्ष
 ठीक नहीं है । क्योंकि केवल कर्म से यदि मोक्ष को माना जाय तब तो वेदान्तवाक्य
 विचारामक जो शास्त्र उत्तमीमासा उसका आरंभ निरर्थक हो जायगा । एवं केवल ज्ञानकार-
 णात्मक लक्षणभी ठीक नहीं है । क्योंकि केवल ज्ञान से मोक्ष को माने तब तो कर्मसहकृत
 ज्ञान से मोक्ष होता है, इस पक्ष का व्याघात होगा । [नहि वरचाताय कन्या उद्वाह्याते]
 इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होगा । और नैस्कर्म्यवाद की भी आपत्ति होगी । एवं ज्ञान
 में तो ज्ञापक हेतुत्व है कर्तृत्व नहीं है । 'तस्मात्' त्रिसृष्टि एक एक पक्ष में दोष है अतः
 कर्म विशिष्ट ज्ञान को ही मोक्षजनता है । ऐसा सिद्धान्त ही रमणीय है । श्रुतिभी कर्म समुचित
 ज्ञानवाद का ही प्रतिपादन करती है ।

तकर्मपरित्यागेन विद्यायांगता इत्यर्थः । अयमभिप्रायः । पार्थक्येन नैक-
स्यापि श्रेयःसाधनत्वमपितु कर्मसचिवज्ञानस्यैवेति वेदवित्ममयः । दर्श-
यति चामुमेवार्थं श्रुतिः 'विद्याञ्चाविद्याञ्चयस्तद्वेदोभयंसह । अविद्यया
मृत्युंतीर्त्वा विद्याया मृतपद्भुत' (ई० ११) इति । नित्यनैमित्तिककर्मणां
कल्पपापनयनद्वारा ब्रह्मोपासनरूपविद्योपचायकत्वमेव ।

द्यांकर्ममात्रमेवोपासते । अर्थात् कर्ममात्रस्यानुष्ठानं कुर्वन्ति । ते अन्धेतमसि दुःखबहु-
स्थानिशेषं प्राप्नुवन्ति । येनूपासकाः कर्मानुष्ठानं परित्यज्य केवलोपासनामेव कुर्वन्ति ते तु
पूर्वापेक्षयाप्यतिनिष्कृष्टतमं स्थानं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अत्र श्रुतावविद्यापदम् 'अविद्याकर्मसं-
ज्ञान्या' इति स्मृतेः कर्मबोधकम् । 'विद्यायांगता' इत्यस्य नित्यनैमित्तिककर्मपरित्यज्य केवल
ज्ञाने एव संलग्नाः । तस्मान्न केवलकर्मणामोक्षो न वा केवलज्ञानेन किन्तु कर्मसहकृतज्ञाने-
नेति तन्वविदो गजमार्गः । 'विद्याञ्चाविद्याञ्चयस्तद्वेदोभयंसह' इत्यादि श्रुतिरप्यमुमेवार्थ-
मुपपादयति । तद्वत्कर्म न माक्षान्तोक्षजनकं किन्तु मोक्षजनकविलक्षणात्मज्ञानस्य प्रति-
बन्धकदुर्गतिविनाशनद्वारा विद्याया उन्नायकत्वेन परंपरया सहकारकमेव । अंकुरोत्पत्तौ बीज-
सहकारि पृथिव्यादिवदेवेति मिद्वान्तमार्गः । एतेन केवलज्ञानस्य मोक्षजनकत्वमिति यस्य-
कस्यचित्पक्षः प्रतिक्षिप्तो भवतीति भावः ।

एक एक पक्ष का निन्दा करके 'वे उपासक अन्धतम को अर्थात् अत्यन्त दुःखप्रद
स्थान को प्राप्त करते हैं जो केवल अविद्या कर्म का अनुष्ठान करने हैं । और वे तो उनमें
भी अधिक दुःख बहुल स्थान को प्राप्त करते हैं जो केवल विद्या मात्र में संलग्न होते हैं
इस प्रकृत श्रुति में अविद्या शब्द से केवल कर्म का ग्रहण होता है । क्योंकि अविद्या
कर्मसंज्ञान्या । इत्यादि स्मृति ऐसा कहति है । एवं 'विद्यायांगता' इसका स्वकीय वर्णाश्रम
के अधिकारोचित मार्ग का परित्यागपूर्वक केवल विद्यामें जो रत हैं वे पूर्वापेक्षया भी अधिक
दुःख बहुल स्थान को प्राप्त करते हैं ऐसा अर्थ है । यहाँ का अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्र
रूप से न कर्म को श्रेयस मोक्ष कारणता है न वा केवल ज्ञान को ही श्रेय साधनत्व है ।
किन्तु कर्म सचिव अर्थात् कर्म सहकृत ज्ञान में मोक्ष साधनता है । ऐसा वेदाभिप्राय को
ज्ञाननेत्रियों का सिद्धान्त है । इसी कर्म सहकृत ज्ञान में मोक्षजनकता का प्रतिपादन श्रुति
भी करती है । तादृश श्रुति को उदाहरण करते हैं । विद्याञ्चाविद्याञ्चेत्यादि जो उपासक विद्या
तथा अविद्या का साथ-साथ उपासन करता है । वह कर्मानुष्ठान से मृत्युको विनष्ट करके विद्या
द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।' इस प्रकार नित्यनैमित्तिक कर्म उपात्त दुर्गतिक्षय द्वारा ब्रह्मो-

एवञ्च. अज्ञाङ्गिभावेन महानुप्रेयं यो वेद सोऽविद्यया विद्याज्ञतया-
नुष्ठितेन कर्मणा मृत्युं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकीभूतमदृष्टपदवेदनीयं प्राप्त-
नं कर्मतीर्त्वा लब्ध्वा मृतमश्नुते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । अस्यां श्रुती
विद्याशब्देन प्रकृतमूत्रे च ब्रह्मजिज्ञासापदकेन जिज्ञासापदेन ध्याना-
पासनादिशब्दवाच्यं वेदनमेवोच्यते न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम् ।
पदवाक्यप्रमाणनिष्णातस्य व्युत्पत्तिमतः पदमन्दर्भश्चाविणोर्विधमन्तरे-
णार्जप तस्य प्राप्तत्वात् । समामनन्ति च 'आत्मावाअरेदृष्टव्योनिदि-
ध्यामितव्यः' (बृ० ४।६।५।) 'अनुविद्यविज्ञानानि' (छा० ८।१२।६)

'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि श्रुतेरर्थस्फारयितुमाह एवञ्चेत्यादि । अज्ञाङ्गिभावेन
तत्राङ्गकर्मनित्यनैमित्तिकादिकम् अङ्गीकारेण समानाकारकारकं स्मरणान्मकर्मविच्छिन्न-
ज्ञानमृषेऽपीमे महकर्तव्यमिति कृत्वा तयोऽनुष्ठानं यः करोति स उपामको विद्याया अंगभू-
तेन कर्मानुष्ठानेन मृत्युपदवाच्यं ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकपूर्वमंचितं शुभाशुभकर्मलक्षणं तीर्त्वा-
तिक्रम्य नित्यनिरतिशयसुखात्मकं श्रीमाकेतपदं लभते इत्यर्थः ।

पासन रूप विद्याका उपायकत्व सिद्ध होता है — अर्थात् कर्म पापनिवृत्ति दाय विद्या का
सहायक है ।

विद्यां चाविद्यां च इत्यादि श्रुति के अर्थ को बतलाने के लिए प्रकरण चलता है एवं च
इत्यादि जब निष्पादिक कर्म विद्याका उपायक है यह सिद्ध हुआ तब अंग कर्म प्रतीक्षण
को शेष शेषी भाव से महानुप्रेय या उपामह स्मरणा है । अर्थात् मृत्यु पाप कर्म का अनु-
ष्ठान तथा उपासना करना है वह उपासक विद्या से अर्थात् विद्या के आकार से अनुष्ठित
नित्यनैमित्तिकादिक कर्म से मृत्यु को अर्थात् ज्ञान के उत्पत्ति प्रतिबन्धक दूरितारणपदवाक्य
जन्मान्तरीय कर्म विशेष उसका तरण उल्लेखन करके अमृत को साकेतयाम लक्षण मोक्ष को
प्राप्त करता है, यह उदाहृतश्रुति का अर्थ है । इस समुदाहृत श्रुति में विद्या शब्द से तथा
'अयानो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा के अवयव लक्षण जिज्ञासा पद से पानोरा-
सनादिपद वेदनीय ही प्रतिपादित होता है । किन्तु वाक्य से जायमान आपातज्ञान विवक्षित
नहीं है । क्योंकि तादृश ज्ञान तो पदवाक्य प्रमाणों में निष्णात व्युत्पत्तिमान जोकि पद
समुदाय के श्रवण करनेवाले को विधायक वाक्य के बिना भी आपातज्ञान ज्ञान तो प्राप्त ही
है । प्रतिपादन भी किया है 'हे मैत्रेय ! यह आत्मा दर्शनार्थक ज्ञान का विषय है ।

‘विज्ञायप्रज्ञां कुर्यात्’ (बृ० ६।४।२१।) ‘आत्मेत्येवोपासीत’ (बृ० ३।४।७।) इत्यादि श्रुतयः । अत्राध्ययनविधिसमासादिताखिलवेदः प्रयोजनवदर्थमभिकांक्षमाणस्तन्निर्णयमात्रफलोनिर्गत एव प्रवर्तमानतया तस्य प्राप्तत्वमेव । श्रुतार्थप्रतिष्ठापकत्वान्मननस्येति तस्यापि चिगयार्थप्रतिष्ठामोऽनुवादकत्वमेव । अप्राप्तेशास्त्रमर्थवदिति न्यायात् । इति निध्यासनमेवात्र विहितम् । तथा च श्रुतिः ‘ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । [श्वे० १।३।] तच्च विमजातीयग्रहामंसृष्टैककारकमनोवृत्तिरूपम् । सा च वृत्तिः स्मृ-

मोक्षकारणं यदात्मज्ञानं तदध्यानोपासनादिरूपमेव न तु आपातजनितं तज्ज्ञानं मोक्षालम् । अन्यथा विदितपदपदार्थस्यापि पुरुषस्य संजाततादृशज्ञानेन तदापत्तेः । अतएव ‘विद्याञ्चाविद्याञ्च’ एतत्श्रुतौ विद्यापदेन प्रकृतसूत्रघटकजिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्यर्थः । तादृशज्ञानमेव विवक्षितमन्यथा विदितपदपदार्थस्यापि तदापत्तेः । एवं ‘श्रोतव्योऽन्तव्यः’ इसका श्रवण करना । मनन करना तथा निदिध्यासन करने का योग्य है । एवं ‘अनुविद्यविजानाति’ इत्यादि श्रुतिगण यथोक्त अर्थका प्रतिपादन करते हैं । ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इत्यादि अध्ययन विधि से संप्राप्त निखिल वेद को ज्ञान करके प्रयोजनवान् अर्थ की ईच्छा करता हुआ उसके निर्णयमात्रफलक अधिकारी स्वभावत एव प्रवर्तमान होता है । इसलिए श्रवण तो प्राप्त ही है । तदर्थ विद्या की आवश्यकता नहीं है । एवं श्रुत जो अर्थ वस्तु है उसका प्रतिष्ठापक मन है । तो मनन भी श्रुतार्थ प्रतिष्ठापक व्यक्ति के लिए अनुवादक है । अतः उसका विद्या की भी कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि अर्थ का प्रापक शास्त्र ही प्रयोजनवान् कहलाता है । न तु प्राप्त का प्रापक शास्त्र प्रयोजनवान् कहलाता है । अतः परिशेषात् निदिध्यासनमात्र का विद्या किया जाता है । श्रवणादिक तो अन्य से प्राप्त है अनुवादकमात्र है । इसलिए उनका विद्या अपेक्षित नहीं है । पूर्वोक्तयुक्ति से, श्रुति भी इसी प्रकार से बनलानी है । ‘ते ध्यानयोगानुगता’ इत्यादि । [‘वे उपासक लोग ध्यान योग से अनुगत होकर के स्वगुण से निगूढ आच्छादित देवात्म शक्ति को देखें ।] वह निदिध्यासन विजानीय प्रत्ययान्तर रहित ध्येयाकारक मानसिक वृत्ति रूप ही है । यद्यपि वह मानसिक वृत्ति रूप स्मरणात्मक ज्ञान है । साक्षात्कार रूप ही मोक्ष जनक होता है । तथापि वह भावना प्रकर्ष से जायमान दर्शन समानाकारक होने से साक्षात्कार रूप ही है । अत ए जिस

त्यपस्पर्श्यायामाशान्कारूपैव । अतएव भिद्यते हृदयप्रतियिच्छित्यन्ते
 सर्वसंशयाः । श्रूयन्ते चाम्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपगवरे । [मु० २।२।
 ८।] 'स्मृतिलम्भेसर्वग्रन्थोनाविप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२।) इत्यादा-
 वपरोक्षान्मकानुभवरूपैव सा प्रदर्शिता । प्राप्नोति च स्मृतिरेवभावना
 प्रकर्षादर्शनरूपताम् । निर्णीत एवमेवायमर्थो भगवता बोधायनेन
 पूर्वपक्षोपन्यासपूर्वकप्रतिवचननिर्चयैः । तथाहि—'सकृन्प्रत्ययं कुर्याच्छ्र-
 द्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत् (बो० ३०) इत्यादिना पूर्वपक्षमुपन्य-
 स्य समाहितम् 'मिद्धं तूपामनशब्दान्' (बो० ३०) इति । वेदनमेवो-
 पामनमित्यप्युक्तं 'वेदनमुपामनंभ्यान्निद्रिपयेश्रवणात्' (बो० ३०)
 इति । उपामनं तु ध्रुवानुस्मृतिरूपमित्यभिहितम् 'उपामनंभ्याद्-
 ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च' (बो० ३०) इति । सा च ध्रुवा-

इत्यत्र नश्रावणंज्ञानेविधेयंतस्यान्यथापिमभवात् । नवामननात्मकज्ञानस्यविधानम् । मन-
 नस्यश्रुतार्थप्रतिष्ठापकतयाऽनुवादकत्वात् । किन्तु निद्रिपयामनापरवर्षांस्मरणान्मकं
 ज्ञानमेवविधेयम् । न च ब्रह्मसाक्षात्कारस्यैवमोक्षजनकत्वं भूतं नतु स्मरणस्येति वाच्यम् ।
 भावनाप्रकर्षेण स्मरणस्यैव दर्शनसमानत्वान् ।

उपासक ने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसकी ब्रह्मसाक्षात्कार के बल से हृदय की
 प्रेमी टूट जाती है । मरी प्रकार का संशय छिन्न—भिन्न होता है । जैसे प्रारब्ध भिन्न
 सकल शुभाशुभ कर्म समुदाय भी चिनष्ट हो जाता है ।' [मुण्डक] एवं 'दर्शन समानाकारक
 स्मरण का होनेसे उपासक के हृदयस्वित्त सर्वप्रतियो के विनाश हो जाता है ।' इत्यादि
 स्थल में अपरोक्ष अनुभव काय । वह स्मृति वृत्ति है ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।
 यद्यपि स्मृति की परिगणना परोक्षज्ञान के अन्तर्गत है तथापि वह स्मृति भावना के प्रकर्ष
 से दर्शन के समानाकारता को प्राप्त करके कर्म राजों को नष्ट करती हुई मोक्ष से प्रयोजक
 होती है । जिस तरह गुंतापुन में भावना प्रकर्ष से बड़े का सञ्चरकारी ज्ञान जानी को
 होता है । इसी तरह प्रकृत में मानसिक स्मरण वृत्ति भी भावना प्रकर्ष से दर्शन समानाकारता
 को प्राप्त करती है । स्मरणान्म ज्ञान भावना प्रकर्ष से दर्शन समानाकारता को प्राप्त कर
 जाता है । इस विषय को भगवान् श्रीबोधायन ने प्रश्न प्रतिवचनों से निर्णीत किया है ।

नुस्मृतिःमाधनमपनकादेवेत्युदीग्निम् 'तल्लब्धिविवेकविमोकाभ्यास-
क्रियाकल्याणानवमादानुद्धर्पेभ्यःसम्भवान्निर्वचनाच्च' (बो० वृ०) इति
तत्र जात्याश्रयनिमित्ताद्दुष्टादन्नात् कायशुद्धिविवेक इति । निर्व-
नमत्र 'आहाशुद्धौ मत्त्वशुद्धिः मत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति ।
विमोकः कामानभिष्वङ्ग इति । निर्वचनञ्चात्र 'उपासते पुरुषं ये
ह्यकामाः' (मु० ३।२।१।) 'शान्त उपासीत' (छा० ३।१।४।) इत्यादि ।
आगम्भणसंशोलनं पुनः पुनरभ्यासः 'ज्ञानप्रमादेन विशुद्धमत्त्वस्त-
नस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३।१।८।) इति निर्वचनम् ।
पञ्चप्रहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रियेति । निर्वचनमत्र 'तमेतं वेदा-

इदमेवसंमतं भगवतो बोधायनस्यापि । एतदेव दर्शयति निर्णीत एवमेवायमर्थो भगवता-
बोधायनेनेत्यादिनामन्दर्भेण । तथाहीति 'सकृदेवज्ञानमावर्तयेत्' एतावतैव निदिध्यासनस्य-
संपन्नत्वात् । यथाप्रयाजादीनां सकृदेवानुष्ठानं तावतैव पूर्वपक्षस्य सम्पन्नत्वात् । न तु
प्रयाजादेरसकृदनुष्ठानं तथैव सकृदेवानुष्ठानं कुर्यान्तावतैव निदिध्यासनस्य संपन्नत्वादिति
तथाहि 'सकृत् एक बार ही उपासन को करना चाहिए । क्योंकि सकृत् प्रत्यय करने पर
भी 'निदिध्यासितव्यः' इस विधि का चारितार्थ हो जाता है प्रयाजादि के समान । अर्थात्
जिस तरह दर्शपौर्णमासयाग में प्रयाजादिक अंग कलाप का अनुष्ठान एक ही बार किया
जाता है । एतावतैव प्रयाजादि बोधक अवान्तर विधि वाक्य चरितार्थ होता है । नतु उस
निदिध्यासन करने से विधि वाक्य की चरितार्थत्व है । तो तादृश निदिध्यासन का बारंवार
अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है । इत्यादि प्रकरण से पूर्वपक्ष करके श्रीबोधायन महर्षि ने
समाधान किया । 'सिद्धंतूपासनशब्दात्' इस ग्रंथ समुदाय से । अर्थात् प्रयाजादिक स्थल
में तो तादृश कर्म को अदृष्टार्थक होने से सकृदनुष्ठान से भी निर्वाह होता है । प्रकृत
में तो साक्षात्कार रूप फल के प्रत्यक्ष होने से यावत् पर्यन्त कार्य की सिद्धि नहीं हो
तावत् पर्यन्त तदनुष्ठान आवश्यक है । अन्यथा स्मरण ज्ञान में दर्शन समानाकारता नहीं
होगी । अनुक्षण तत्कर्तव्यता आवश्यक है । वेदन ही उपासन है इस बात को भी ('वेदन-
मुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्' इत्यादि प्रकरण से श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायन ने कहा है
उपासना ध्रुवानुस्मृति रूप ही है ऐसा भी कहा है । 'उपासनं स्यादित्यादिना' उपासना ही
ध्रुवानुस्मृति रूप है देखने में आता है । तथा निर्वचन होने से उपासन लक्षणध्रुवानु-

नुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपमानाशकेन'
(बृ० ४।४।२२) मर्त्यार्जवदयादानाहमानाभिध्याः कल्याणानि ।
'मर्त्येन लभ्यस्तपसा ह्यप आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
(मु० ३।१।५) इत्यादिनिर्वचनम् । देशकालवैषम्यात् शोकवम्बा-
द्यनुस्मृतेश्चतज्जन्यं दैन्यमभाम्बन्त्वं मनसोऽवमादः, इति तद्विराडयो-
ऽनवमादः । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३।२।४) इति

क्रमेणवर्चस्पक्षकृत्वा 'मिद्वन्तूपासनशब्दादित्यादिना समाहितम् । वेदनमें तो रासनमिष्टपुस्तम् ।
उपासनं ध्रुवानुस्मृतिरूपम् । तदपि प्रतिपादितमिति प्रकरणस्य भावार्थः । 'उपासनं स्याद-
स्मृति ही सात साधनों से वह ध्रुवानुस्मृति होती है । इस बात को भी बताया है ।
उसकी उपलब्धि विवेक, विमोक्ष, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवमाद और अनुद्वेग इन
सात कारणों से ध्रुवानुस्मृति होती है । क्योंकि इन सात कारणों से सम्भावित है तथा
निर्वचन से मिद्व होता है । इस श्रवणोपासन प्रतिपादित लब्धादिक का व्याख्यान करने
के लिए कहते हैं 'तत्र ज्ञात्याश्रयेत्यादि जाति आश्रयादि निमित्तक दोष रहित अन्न मे
जो शरीर की विशुद्धि है उसको विवेक कहते हैं । इसका निर्वचन इस प्रकार से है आहार
का पवित्रता होने से अन्तःकरणमें पवित्रता होती है । तथा अन्तःकरण के पवित्र होने पर
ध्रुवानुस्मृति होती है । 'काम्यमानवदार्थ विषयक इच्छा के अभाव को विमोक्ष कहते हैं ।
इसका निर्वचन इस प्रकार से है । 'जो कामनाहित उपासक परमेश्वर का उपासन करता
है' । 'शान्त होकर के उपासन करे' इत्यादिक निर्वचन है । पुनः पुनः आरंभणशीलता
को अभ्यास कहते हैं । इसका निर्वचन 'ज्ञान की परमता से विशुद्ध अन्तःकरणवाला
पुरुष तदनन्तर निष्कल परम पुरुष का ध्यान करता हुआ ताराश परम पुरुष का साक्षात्कार
करता है इस प्रकार से होता है । यदाशक्ति पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान को संवादन करने
का नाम है क्रिया' । इसका निर्वचन 'उस सर्वशक्तिमन्वचिन्त परमात्मा को ब्राह्मण लोग
वेदानुवचन नियम स्वाध्याय से यज्ञ से तथा नियनैमित्तिक कर्मों से और शरीर के अनाशक
तप से [अधिक भोजनशील को विषूचिकादि रोग की संभावना हो जाती है । तथा कृच्छ्र
चान्द्रायणादिक तपः शील को घातु वैषम्य हो जाने से ब्रह्मविविदिषा नहीं हो सकती है,
किन्तु हितमितमेव अशन करनेवालों को ही ब्रह्म विविदिषा संभवित है । इसलिये 'तपसा-
अनाशकेन' ऐसा श्रुति में कहा है ।] इस प्रकार से होता है । सपवचन कथुना दया दान

निर्वचनम् । तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षस्तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः । एतैरु-
पायैर्यतते यस्तु विद्वान् यस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' (मु० ३।
२।४।) शान्तोदान्तः' बृ० ४।४।३।) इत्यादिनिर्वचनम् ।

दृढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिः । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न
मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैव
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' । (मु० ३।२।३।) अयमर्थः 'यथा न
ध्रुवानुस्मृतिस्त्विद्यारभ्य इत्यादिनिर्वचनमित्यन्तोभाष्यभागोऽतिरोहितार्थः ।

उपर्युक्तमर्थं श्रुतिःस्वयमेव दृढयतीतिदर्शयति 'नायमान्मेत्यादिश्रुत्यर्थस्वयमेव
विशदयति 'अयमर्थः' इत्यादि । यथा 'न पृथिव्यामग्निश्चेतन्यः' इतिकेवलंपृथिवी-
अधिकरणे आकाशेचाग्निचयनं प्रतिपिध्यसुवर्णस्थापयित्वावहेश्चयनं प्रतिपादयति । तथैव
प्रकृतेपिकेवलमननादिमाधनद्वाराप्रकृतात्मनःप्राप्तिर्नभवति किन्तु विलक्षणप्रेम्णैवायमा-
न्माप्राप्तोभवति । अयं च परमात्माविलक्षणप्रेमविशिष्टंपुरुषंस्वीकरोति तमेवानुरागिणं -
स्वरूपाविशिष्टंस्वरूपप्रकाशेनोपकरोतीति । तथाचात्र-

अहिंसा और अपरिग्रह इसका नाम है कल्याण । 'यह आत्मा सत्य से शरीर अनाशक तप से
सम्यग् ज्ञान से तथा नियमित ब्रह्मचर्य से आत्मा प्राप्त होता है' इत्यादि इसका निर्वचन
है । देशकाल की विषमता हेतुक शोकादिक समुदादक वस्तु का जो अनुस्मरण उसमें जाय-
मान जो दैन्यभाव उसको कहते हैं अवसाद और एतादृश अवसाद के अभाव का नाम है
अनवसाद । इसका निर्वचन इस प्रकार है 'यह आत्मा बलहीन पुरुष से लब्ध नहीं होता
है । मानसिक तुष्टि को कहते हैं उद्धर्ष तदभाव का नाम है अनुद्धर्ष' । इन उपायों से जो
विद्वान् आत्मप्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है—उसकी आत्मा का ब्रह्मधाम में प्रवेश होता है ।
तथा 'बाह्य अभ्यान्तर इन्द्रियों को उपशमित करनेवाला' इत्यादि इसका निर्वचन होता है ।

उपर्युक्त अर्थ को श्रुति स्वयमेव दृढ करती है 'नायमात्मा' इत्यादि श्रुति का गूढार्थक होने
से माध्यकार सिद्धान्त सिद्ध अर्थ को बताते हैं 'अयमर्थः' इत्यादि । 'नायमात्माप्रवचनेनलभ्य'
इत्यादि श्रुति का यह अर्थ होता है 'जिस तरह पृथिवी में अग्निचयन करना । न वा
अन्तरिक्ष में अग्निचयन करना । किन्तु हिरण्य सुवर्ण के ऊपर अग्नि का चयन करना 'यहाँ
केवल पृथिव्यादिक का चयनार्थकरणत्वेन निषेध करके सुवर्णस्थापन पूर्वक अग्निचयन का
विधान किया जाता है । उसी तरह प्रकृत में केवल प्रवचन रूप साधन से केवल मननादि

पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तर्निष्ठे न दिवि हिम्यं निधाय तु चेत-
व्यम् ।' इत्यादौ केवलपृथिव्याद्यधिकगणकाग्निचयनं निषिध्यहिम्य-
स्थापनपूर्वकं तद्विधीयते । तथात्रापि केवलेन प्रवचनमाधनेन
मननेन ध्यानेन वेदमात्मस्वरूपं नामाद्यते । अपि तु निरति-
शयप्रेमविशिष्टेनैव एष आत्मा यं प्रीतिविशिष्टं पुरुषं विवृणुते
स्वीकरोति तेनैव पुरुषविशेषेणायं लभ्यः । स्वीक्रियमाणता च
स्वविषयकाखण्डानुगागत्येव जायत इति लोकव्यवहारः ।

शृणोमि सीतापतिचित्रसत्कथां वदामि सीतापतिर्कीर्तिमध्याम् ।
स्मरामि सीतापतिदिव्यविग्रहं वृणोमि सीतापतिभक्तिमुत्तमाम् ॥१॥
ब्रजामि सीतापतिदिव्यमन्दिरं तथा च सीतापतिसत्प्रपन्नताम् ।
युनज्मि सीतापतिचिन्तनेमनस्तनोमि सीतापतिदासमंगतिम् ॥२॥
अर्चामि सीतापतिमञ्जुवन्धुतां तथ च सीतापतिदिष्टभोग्यताम् ।
ततश्च सीतापतिनित्यधामदां करोमि सीतापतिभक्तिमुत्तमाम् ॥३॥
करोमि सीतापतिपाददामतां नमामि सीतापतिपादपंकजम् ।
पठामि सीतापतिकार्यमंहति जपामि सीतापतिमन्त्रभूषणम् ॥४॥
करोमि सीतापतिविग्रहार्चनं तथा च सीतापतिमूर्तिदर्शनम् ।
गुणाब्धि सीतापतिनामकीर्तनं परेशसीतापतिपादवन्दनम् ॥५॥
भजामि सीतापतिमेवकेवलं रटामि सीतापतिमेवकेवलम् ।
श्रयामि सीतापतिमेवकेवलं प्रयामि सीतापतिमेवकेवलम् ॥६॥

इत्यादिरूपेण जगद्गुरुश्रीमद्भगवाधराचार्योक्तदिशाऽनुसन्धेयम् ।

रूप साधन से यह आत्मस्वरूप प्राप्त नहीं होता है । अपितु निरतिशय प्रेम विशिष्ट से ही
प्राप्त होता है । यह आत्मा जिस प्रेमविशिष्ट पुरुष के ऊपर कृपा करता है । उसी पुरुष
से यह परमात्मा प्राप्त होता है । स्वविषयक अखण्डानुगागवान् व्यक्ति का ही स्वीकरण होता
है । ऐसा लोकव्यवहार देखने में आता है । लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है कि जिसके प्रति
जिसका विवर्तन अनुगाग होता है उसको वह अपना समझता है । जैसे पुत्र के प्रति पिता
का, पति के प्रति पत्नी का, गुरु के प्रति शिष्य या शिष्य के प्रति गुरु का ।

एवञ्च परमात्मविषयकोऽनुगस्तस्मिन् परमपुरुषे प्रमोत्पा-
दनद्वारा तदवाप्तौ कारणताम्भजत इति निर्विवादम् । अतएव 'तेषां
मततयुक्तानां भजतां प्रीतीपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन
मामुपयान्ति ते (गी० १०।१०) 'पुरुषः स परः पार्थ ? भक्त्या
लभ्यस्त्वनन्यया।' (गी० ८।२२) 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च

यतः केवलप्रवचनमननादिना परमपुरुषः प्राप्तो न भवति । किन्तु परमविशिष्टयोक्त
साधनेनैव प्राप्तो भवति । तस्मान् परमात्मविषयकोऽनुगस्तः प्रमोत्पादनपरमेस्वरप्राप्तौ
साक्षात् हेतुगतिदर्शयितुमुपक्रमते एवञ्च परमात्मविषयकः इत्यादि । यतः केवलप्रवचना-
दीनां नकारणत्वं किन्तु परमप्रेमविशिष्टत्वेनैव तेषां कारणत्वं ततः परमात्मविषयकोऽनु-
गस्तानुगम एव भगवत्प्राप्तौ हेतुः । तादृशानुगमत्वेत्तत्प्राप्तेर्दनात्तदभावेत्तादृश-
नात् । इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य तत्त्वं सिद्ध्यतीत्यविवादम् । अतएव वक्ष्यमाणाः-
स्मृतयोऽपि सङ्गता भवन्ति । तेषां परप्रेम्णोपासनं कुर्वतां समुपासकानां पुनश्च प्रीतिपूर्वकं-
भजनं कुर्वतां पुरुषाणां तादृशविलक्षणं बुद्धियोगं ददामि । येन सद्य ते उपामका मामुपयान्ति ।
भगवद्दामप्राप्नुवन्तीति । तथा भक्त्या भक्त्यैवाहं लभ्यो भवामि नतु केवलेन श्रवणादिने-
त्यादि । ततश्च परमभक्तिविशिष्टमेव परमात्मा स्वकीयं रूपं प्रकाशयतीति । ननु यदि पर-
भक्त्यैव मोक्षस्तदा श्रवणादिसाधनानां नैवार्थमेव प्राप्नोतीति शङ्कामिष्टापत्त्यैव निराकुर्व

केवल प्रवचनादिक से परमपुरुषानुभवरूप मोक्ष नहीं होता है । किन्तु निरतिशय प्रेम
विशिष्टता सदृश साधन बद्ध ही होता है । ऐसा होने से परमात्म विषयक जो अनुगम सो
तादृश परम पुरुष में विलक्षण प्रेम के उत्पादन बद्ध भगवत् प्राप्तिलक्षण मोक्ष में कारणता को
प्राप्त करता है । यह निर्विवाद सिद्ध होता है । अत एव प्रीतिपूर्वक मनन करनेवाले सनत
युक्त उपासक को तादृश बुद्धियोग देता हूं जिस बुद्धि योग के कारण वे लोग मुझ परमेश्वर
को प्राप्त करजाते हैं तथा हे पार्थ ! अर्जुन ! वह परम पुरुष परमात्मा अनन्या भक्ति से ही
लब्ध होते हैं । 'ज्ञानी भक्त को मैं अतिशय प्रिय होता हूं । और वह भी मेरा अनिशायित
प्रिय होता है । एवं [नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चैज्यया । शक्य एव विशो ब्रह्मं दृष्टवानसि मा यथा]
इस प्रकरण से वेदानुवचनादि कारण का निराकरण करके अनन्या भक्ति को स्वकीय साक्षा-
त्कार में कारणता का स्वयमेव प्रतिपादन किया है । इत्यादि ये सब स्मृति भी सगत होती
है । उक्त दर्शनेच्छा धटित परभक्तिमान उपासक को परमात्मा स्वकीय स्वरूप का प्रकाशन
करते हैं यह सिद्ध होता है ।



मम प्रियः' (गी० ७।१७) इत्यादयः स्मृतयः मङ्गलान्ते । तस्योपा-
सकस्योत्कटदिदृक्षागर्भपरभक्तिमत् एव आत्मा परमात्मा स्वरूपं
प्रकाशयतीतिमिद्धम् ।

अनेन श्रवणादिमाधनमसम्पन्नस्यापि परभक्तिरूपोत्कृष्टमा-
धनस्यावश्यकत्वमित्यर्थस्वभावादुपबृंहणवलाच्चावगतम् । ध्रुवानुस्मृ-
त्यपरपर्यायपरभक्त्यतिरेकेण श्रवणादीनां वैयर्थ्यमिति हृदयम् ।

मा च भक्तिः परमप्रेयोभगवदितग्वैतृण्यपूर्वकपरमपुरुषानु-
गगरूपो ज्ञानविशेष एव । तदुद्भवश्च संसारस्यानित्यतामाकल्य्या-
न्नुपक्रमते अनेनेत्यादि । परमपुरुषानुरागवतामेवमोक्षप्राप्तिर्भवतीति कथनेन श्रवणादि-
साधनवतामपिभक्तिलक्षणोत्कृष्टकारणस्यावश्यकत्वे तत्र एवतन्मिद्विस्तृतचभक्तिमन्तरेण
श्रवणादीनांनैयर्थ्यामिष्टमेवेतिभावः । यदव्यवहितोत्तरक्षणेयउजायते तस्यतदेवकारणं यथा
दण्डोत्तरकालेजायमानोघटःदण्डकार्य एव । व्यवहितं तु कारणं कारणकारणत्वादन्यथा
मिद्धमेव यथाघटंप्रतिकुलालपित्रादिकम् । इतिकृत्वासमीपवर्त्तिन्याभक्तेःसाक्षात्कारणत्वम्
श्रवणादीनांसाक्षात्कारणत्वाभावेनान्यथामिद्धम् । न च श्रवणमननादीनां सुदुर्बल-
त्वेन यदिकारणत्वंनास्ति तदोपनिषद्गम्यःपरमात्मानस्यादितिवाच्यम् । तादृशभक्तेः-
श्रवणोत्तरकालभावितया तस्मिन् तथान्वस्याक्षतत्वात् । यथा वाचस्पतिमतेश्रवणादि-
संस्कृतमनोगम्योप्यात्माओपनिषत्कोभवतीति तथैवप्रकृतेर्पीष्टत्वादिति । सेयं पराभक्तिः

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रवण मननादि साधन सम्पन्न व्यक्तित्व को भी परभक्ति लक्षण
अति उत्कृष्ट [अन्तरंग भक्ति लक्षण] साधन आवश्यक है । क्योंकि पूर्वोक्त स्मृति से यह बात
अर्थतः सिद्ध हो जाती है । तथा वेदार्थका निश्चय स्मृतीतिहासादिक से ही सिद्ध होता है ।
और गीतादिक स्मृति से भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति में कारणत्व अवगत होता है । इस स्थिति में
ध्रुवानुस्मृति के अपर पर्याय परमभक्ति के बिना श्रवणादिक व्यर्थ ही है । अर्थात् परमपुरुष
की प्राप्ति में श्रवणादिक को कारणत्व भी भक्ति के सहकार से ही होता है अन्यथा नहीं ।
परम प्रिय भगवान् श्रीसीताराम से इतर जो सांसारिक पदार्थ ज्ञात है उनसे वैतृण्यपूर्वक परम
पुरुष श्रीराम में विलक्षण जो अनुराग तादृशानुरागरूप जो ज्ञान विशेष उसी का नाम होता
है पराभक्ति । एतादृश ज्ञान विशेष का प्रादुर्भाव आगम उपपत्ति के द्वारा संसार की अनि-
त्यता को जान करके तथा 'तस्मिन् शोकमात्मविन्' इत्यादि से नित्य फलक ब्रह्मज्ञान है ऐसा

चार्योपसत्तिपुरस्मस्वर्णाश्रमाचारसेवनजनितपुण्यशालितकपायस्य वि-
वेकविमोकाभ्यामादिभिरेवेति सर्वमवदातम् ।

केचित्त्वाहुः ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र निरस्ताखिलभेदमशेषविशेष
प्रत्यनीकं चिन्मात्रमेव तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यम् । तदेव वस्तुपदाभिलाष्यं
परमार्थरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमप्याम्नायावगततत्त्वमस्यादि
वाक्यावसेयसामानाधिकरण्यविनिश्चितजीवैक्यं वक्ष्यते मुच्यते च ।

परमपुरुषानुगमात्मकज्ञानविशेषरूपैवेति न 'तरतिशोकमात्मविदितिज्ञानान्मोक्षप्रतिपादि-
कानां त्रैयर्थ्यं भवतीतिदिक् ।

एतावताप्रवचने अखिलकल्याणगुणकोदिव्यविहिग्रवान् श्रीमाकेताधिपतिः स्वमायया-
सकलप्रपञ्चजनयतिपालयतिसमयेविनाशयति च तादृशदिव्यगुणकोभगवानेवमंसार
निवृत्तयेसमुपासनीयः, तथा स एव 'ब्रह्मजिज्ञासाघटकब्रह्मपदेनपरिगृहीतो भवतीति
स्वमतस्यपरपक्षाख्यानापेक्षयाअभ्यर्हितत्वात् प्रथमं प्रदर्शितः । तदनन्तरंचिन्मात्रमशेष-
रहिततदेवब्रह्मपदेनपरिगृह्यते तस्यैवात्रविचारः प्रकान्त इतिपरपक्षप्रत्यारूपानायप्रयतिष्यते
तत्राभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्यापेक्षितत्वेनपूर्वप्रतियोगिज्ञानायपूर्वपक्षीयंमतंसंक्षिप्यदर्शयि-
तुमुपक्रमते केचित्त्वाहुर्गित्यादि । स च वाद इत्थंप्रवर्ततेनिरस्तसमस्तप्रपञ्चचिन्मात्रां ब्रह्मैव-
जगतोऽध्यासाधिष्ठानम् । तादृशब्रह्मणिविद्यमानायाऽविद्यातस्याःशक्तिद्वयंविद्यते आव-
रणशक्तिर्विक्षेपशक्तिश्च तत्र यथा शुक्तिकायाअज्ञानमावरणशक्त्याऽधिष्ठानमिदमादिक-
मावृत्यविशेषशक्त्यारजतादिकंदर्शयति, इदम् ज्ञानं सदसद्भ्यां विलक्षणं भावरूपं ज्ञाननिवर्त्य-
ञ्च । तथैव ब्रह्माश्रितमनाद्यज्ञानंस्वकीयावरणशक्त्याऽधिष्ठानभूतंपरमात्मानंप्रथमत-
ज्ञान करके तादृश ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरुकुल के उपसदनपूर्वक वर्णाश्रमोचित कर्मानुष्ठानपूर्वक
संजात जो पुण्य उस पुण्य से निरस्त है अशेष पाप कर्म जिसके एतादृश पुरुष विशेष को
विवेक विमोक प्रभृति सात साधन के द्वारा पूर्वोक्त ज्ञान विशेष का प्रादुर्भाक होता है । तादृश
प्रादुर्भूतज्ञान विशेष लक्षण परामर्श से मोक्ष होता है ।

ब्रह्मजिज्ञासा घटक ब्रह्मशब्द का वाच्य सविशेष साकेताधिपति भगवान् हैं वेही जिज्ञास्य
तथा ज्ञेय एवं प्राप्य हैं । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके जो व्यक्ति निरस्त समस्त भेद प्रप
ञ्चचिन्मात्र ब्रह्मनिश्चय तथा ज्ञेय है ऐसा जो मानते हैं, उनके मन को निराकरण करने के
लिए उस मत का प्रदर्शन करते हैं 'केचित्त्वाहुर्गित्यादि' कोई मायावादी लोग कहते हैं कि

एवञ्च पट्विधतात्पयेनिर्णायकैर्लिङ्गैर्ममेषां वेदान्तानामपदैते
ब्रह्मण्येव निश्चयः । 'नेह नानास्ति किञ्चन सृष्टोः स सृष्ट्युपानोति
य इह नानेव पश्यति' (का० २।१।११) 'उदग्मन्तं कुरुते अथ
तस्य भयं भवति' [तै० २।७।] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१।४।१)
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'यस्मात्परं

आवृत्य, तत्रावृतब्रह्मणिविशेषशक्तिद्वारा आकाशादिकं सर्वभेदप्रपञ्चमुद्भावयति । तद्वक्तं
'विशेषशक्तिलिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेदिति । ततश्च 'इहानादिरविशेष-
व्यामोहकनिबन्धनमित्युक्त्या । अज्ञानावृतो जीवः प्राज्ञादिभेदभिन्नोऽनुक्षणंदुस्वभय-
संसारेपरिभ्रमन् ततो विरक्तो गुरुपदेशात् ब्रह्मजिज्ञासां संपाद्य मज्जातत्त्वज्ञानस्मृ-
च्छिद्यानाद्यविद्यामुक्तो भवति । यादृशब्रह्मणोज्ञानादिदमुच्यते तादृशब्रह्मनिरस्तममस्त
भेदप्रपञ्चमिति तदेव दर्शयति केचित् इत्यादि । केचित् मायावादिनः इत्थं वक्ष्यमाण-
रूपेण स्वकीयं मतं प्रदर्शयन्ति । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र यादृशस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा-
प्रकान्ताः तद्ब्रह्मनिरस्तममस्तभेदप्रपञ्चचेतन्यमात्रमेव । ननु विशेषधर्मा विशिष्ट-
मेतादृगेव तत्त्वब्रह्मपदवाच्यं भवति तदेव वस्तुपदेन वाच्यं भवति तदेव च परमार्थरूपं
'नेह नानास्ति किञ्चन' 'नेति नेति' इत्यादिनानिषिध्यमानत्वेनापारमार्थिकत्वात् । एतादृग्
ब्रह्मेव 'तत्त्वमस्यादिश्रुतिबलेन जीवेन महैकतामापन्नमज्ञानेन बध्यते बन्धनमनुभवति ।
पुनर्विद्याबलेनाज्ञानं निरस्य मुक्तश्च भवति । 'उपक्रमोपसंहारावध्यामोऽपूर्वनाकलम् ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गान्तात्पर्यनिर्णये' । इति तात्पर्यनिर्णायकप्रमाणेनाशेषवेदान्तवा-
क्यानामपदैते ब्रह्मण्येव तात्पर्यम्, ननु स्वरूपगुणादिकृतद्वैतवतिमविशेषे ब्रह्मणि वेदान्त-

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में जिज्ञासा शब्द निरस्त है अखिल भेद जिस में ऐसा अशेष विशेष के
विरोधी चैतन्य निरवच्छिन्न ज्ञानमात्र रूप चैतन्यमात्र वस्तुत्व है और वही ब्रह्मपद का वाक्य
है । वही चैतन्यमात्र वस्तुपद वाक्य परमार्थ रूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभावक वेदान्त वाक्य
से अवगत तत्त्वमसि प्रभृति वाक्यावमेव समानाधिकरण्य विनिश्चित एकावाला ब्रह्म होता है,
तथा मुक्त होता है । अथात् जीवभिन्न ब्रह्म ही संसार तथा मोक्ष का भागी बनता है ।
ऐसा होने से उपक्रमोपसंहारादिक छः प्रकारक तात्पर्य निर्णायक हेतुओं के द्वारा समस्त
वेदान्त को अद्वितीय ब्रह्म में ही निश्चय किया जाता है । जो वेदान्त चिन्मात्र ब्रह्म का
निश्चापक है उनका प्रातिस्विक रूप से प्रदर्शित करते हैं 'नेह नानास्ति' इत्यादि ।

नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयोन ज्यायोस्ति कश्चित्' (श्वे० ३।१। 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (क० २।२। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि वाक्यानां तात्पर्यमिति । यद्यपि 'ज्ञाज्ञौ' 'द्वासुपर्णा' इत्यादिश्रुतयोद्वैतमेव प्रतिपादयन्ति तथापि अद्वैतश्रुतिविरोधात्तासां लोकासिद्धभेदानुवादकत्वेन द्वैतप्रतिपादने एव तात्पर्यात् । न च जीवेशयोर्द्वैते परेशजीवस्यापि सर्वज्ञत्वं जीववत् परेशस्यापि असर्वज्ञत्वमापतेदिति वाच्यम् । औपाधिकभेदमादाय तस्य समाहितत्वात् । यथा सर्वगतो व्यापकोऽप्याकाशो घटपटादिउपाधिभेदेन विभिन्नो भवति तथैव प्रकृतेऽप्युपाधिभेदबलेन भेदव्यवस्थितेस्तस्य च भेदस्यापारमार्थिकत्वात् ।

सम्प्रति ब्रह्मणो निर्विशेषताप्रतिपादकश्रुतिजातमुदाहरति नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि । इह ब्रह्मणि नाना किञ्चिदपि वस्तु नास्ति । य इह ब्रह्मणि भेदजातं पश्यति स तथा विधट्टा मृत्योर्मोहकान् मृत्युं स्वविनाशमेव प्राप्नोति इत्यर्थः प्रथमश्रुतेः । अत्र द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि द्वैताभावस्य प्रतिपादनेन स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वरूपमिथ्यात्वं द्वैतेपर्यवस्यति । न च स्वविरोधि धर्मधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकज्ञानस्याहार्यत्वेन आहार्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाभावेन कथं द्वैते मिथ्यात्वं स्यादिति शङ्कनीयम् । परोक्षज्ञानस्याहार्यत्वेनाविरोधित्वेऽपि प्रात्यक्षिकस्य तस्य तथात्वेन प्रतिबन्धकत्वस्याभ्युपेतत्वात् ।

उदरमन्तरमित्यादियोजीवेशयोर्मध्येऽत्यल्पमपि भेदं करोति तस्य भेदद्रष्टुर्भयं भवति । अर्थात् अतद्वतितत्प्रकारकं भ्रमज्ञानं कुर्वन् तादृशज्ञानबलात्संसारपतनभयमेव प्राप्नोतीति । 'सर्वजडचेतनात्मकमिदं वस्तु जातम् ब्रह्मैव ब्रह्मण्यध्यस्तमेव सत् सदा प्रतिभा-

इस ब्रह्म में नाना कोई भी पदार्थ नहीं है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है जो इस अद्वैत ब्रह्म में द्वैत भेद जात को देखता है । 'सदेवमोम्येदमग्रे' इस श्रुति तथा 'नेह नाना इसको संमिश्रित रूप से अन्वय बोध करने पर यह अर्थ होता है कि इस द्वैत विशिष्ट ब्रह्म में द्वैताभाव है तो द्वैत विशिष्ट में द्वैताभाव का विधान करने से 'स्वात्यन्ताभाव समानाधिकरणतया स्व की प्रतिति होने से स्वात्यन्ताभाव समानाधिकरण तथा प्रतीयमानत्व रूप मिथ्यात्व की सिद्धि होने से अखिल भेद जात में मिथ्यात्व की सिद्धि होता है । इसी प्रकार प्रत्येक अद्वैत प्रतिपादक वाक्य को द्वैतोपस्थापक वाक्य के साथ एक वाक्यता करने पर द्वैत में मिथ्यात्व की सिद्धि होती है । एवम्, जो अग्ररूप भी भेद को देखता है उसको भय

च । खं वायुज्योतिगपञ्चप्रथिवी विश्वस्य धाग्णि' (मु० २।१।३)
 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।४) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर
 इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कम्पश्येत् तत्केन कं
 विजानीयात्' (बृ० २।४।१४) 'वाचाग्भगं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव
 सत्यम्' (छा० ६।१।४) 'मायामात्रन्तु कात्स्न्येनानभिच्यस्तस्वरूपत्वात्
 सते इति । 'मदेवेत्यादि' 'हे सोम्य इवेतकेतो ? इदं नामरूपाभ्यांरूपाक्रियमाणं जगत्
 अग्रे उत्पत्तेः पूर्वम् एकमेवाद्वितीयकं सदेवासीत् । सज्जानीयविजानीयस्वगतभेदशून्यमदा-
 त्मनैवासीत् नामीन्पूर्वतस्य सत्ता किन्तु मदात्मकब्रह्ममत्तयैव विद्यमानमासीत् सज्जा-
 तीयविजानीयस्वगतभेदशून्यत्वकथनेन निराकुलं ब्रह्मवासीन्नतु नदतिरिक्तं किञ्चिदभवदि-
 त्यर्थः । तस्मै दिपं श्रुतिर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावमेव प्रतिपादयतीति भवत्यद्वैतमिद्विः । यस्मा-
 त्परमित्यादिब्रह्मापेक्षया परं किञ्चिन्नस्ति यस्मात्सुक्ष्मं स्थूलं वा किञ्चिदस्तु न विद्यते ।
 एतावता पारमार्थिकवस्त्वन्तरं नास्तीति व्यज्यते । विजानतः परमात्मदर्शनवतः ।
 यस्मिन्काले सर्वाणि भूतानि आत्मस्वरूपाण्येव संवृत्तानि तस्यामवस्थायां को मोहः कः शोको भ-
 वेदेकत्वज्ञानवताम् । भयस्य वस्त्वन्तराधीनतया पदार्थान्तरस्थाभावे भयाभावः शोका-
 भावश्च भवति । द्वितीयाद्वैतं भयं भवतीति श्रुत्या द्वितीयवस्तुन एव भयजनकत्वेन कार-
 णाभावात्कार्याभावः संपद्यते । तस्मादद्वैतमेव तत्त्वमिति । यथा भुवनं प्रविष्टो वायुः
 प्रवेशाधारवस्तुनामनेकत्वाद्वायुर्गन्धनेकरूपो भवति तथैव एकः सर्वभूतानामन्तरात्मा
 आधारभेदादनेकरूपो भवतीति । 'एतस्मात्सकरोपादानभूतब्रह्मणः सकाशात् प्राणो मनश्च
 जायते तथा सर्वक्रियाण्यपि ततो जायन्ते । एवं तत् एव गगनवायुनेज्जलानामुत्पत्ति-
 होता है' क्योंकि 'द्वितीयाद्वैतं भयं भवति' इत्यादि श्रुत्यन्तर में भी भय का कारण द्वैत को
 ही बतलाया गया है । 'यह सब पदार्थ अद्वैत ब्रह्म रूप ही है । हे सोम्य ! यह परिदृश्यमान
 जागृत उत्पत्ति के पूर्व में एक अद्वितीय सदात्मक ब्रह्म रूप ही था । अर्थात् सदात्मक ब्रह्म
 से भिन्न पदार्थ की सत्ता नहीं थी । जिस पर ब्रह्म से भिन्न पर उत्कृष्ट अथवा अपर कोई
 भी पदार्थ नहीं था । न वा उससे छोटा न वा बड़ा कोई भी पदार्थ था । जिस समय में
 इस आत्मज्ञानी को सभी पदार्थ आत्मस्वरूप ही होगा, उस समय में एक तरफ दर्शी विद्वान्
 को मोह शोक क्या होगा । अर्थात् जब सब पदार्थ को आत्म स्वरूप से जान लिया उस
 समय में शोक मोह का अभाव हो जाता है । एक सर्व भूतों के अन्तरात्मा आश्रय भेद
 से वायु प्रभृति के समान अनेक रूप हो गया । इस परमात्म से प्राणादिक पृथिव्यन्त सब

(ब० सू० ३।२।३।) 'तदनन्यत्वमास्मभगशद्वादिभ्यः' (ब० सू० २।१
१५।) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२।) 'न
तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।' (गी० १०।३१।) 'विभे-
दजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः
भवति तथा सकलस्थावरजङ्गमसाधारणपदार्थमात्रस्य धारणकर्त्रीवृथिन्यधिजायते ।
एतावतासकलजगदुपादानात्वंतस्मिन्निर्विशेषपरब्रह्मण्येवासिद्ध्यत ।

इदमित्यादि इदं परिदृश्यमानं सर्ववस्तु आत्मैव तत्र संयोगमवायात्मना तदात्मक-
त्वासंभवात् आध्यासिकतादात्म्यसंबन्धेन सर्वस्यात्मस्वरूपत्वे पदार्थमात्रस्य मिथ्यात्वमेव-
पर्यवस्यति । यत्र द्वैतमिवेत्यादि । यस्मिन् समये ज्ञानावस्थायामेव परस्परं विभिन्न
साभावकं वस्तुमवभासमानं भवति । तस्यामेवाज्ञानावस्थायामन्योऽन्यं पश्यति
स्वप्नावस्थायामिव । यत्र तु यस्याज्ञानावस्थायामस्य ज्ञातुः पुरुषस्य सर्ववस्तु आत्मस्वरूप-
मेवाभूत् स्वसत्तामनतिक्रम्य परमात्मसत्तयैवावभासमानं भवति । तदा प्रतिबोधक-
काले कार्यकरणयोरभावात् केन करणेन कंकर्मीभूतं पश्येत् कर्तृकरणकर्मादीनामेकरूपेणैवाव-
भासमानत्वेन स्वतन्त्रपदार्थान्तरस्याभावादभिजगतो मिथ्यात्वं परमात्मनश्च पारमार्थिकत्वं -
भवद्वैतमेव सिध्यति । वाचारंभणमिति विकारात्मकं सर्ववस्तु वाचारंभणमात्रं मन्यं तु-
केवलं मृत्तिकैव । कारणमात्रं सन्यत्रिकालावाधितम् कार्यं तु सर्वमिथ्यात्मकमेव । यथा-
लोके कारणं मृत्तिकादिकं सत् कार्यन्तु घटादिकं वाचारंभणमेव मृद्वन्यतिरंकेण तस्य स्वतन्त्रस्य
वस्तुनोऽभावादिति । मायामात्रं तु इत्यादि ब्रह्मसूत्रम् यथा स्वाप्तिकाः पदार्थाः न यथार्थाः
किन्तु ज्ञानकालपात्रे एव प्रतिभासमानाः मिथ्याभूताः यतः कालान्यरूपेणानभि-
व्यक्तत्वात् । तथैव जागरितकालिकाः पदार्था अपि मिथ्याभूता एवेति । एवम् 'तदनन्य-
पदार्थों की उत्पत्ति होती है । इससे ब्रह्म में सर्वजनकता का प्रतिपादन होने में, तथा कार-
णव्यतिरिक्त कार्य की व्यक्त् सत्ता का अभाव होने में ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है ऐसा बत-
लाया गया । यह सब पदार्थ आत्म रूप ही है । जिस समय में द्वैत के समान देखने में
आता है उस समय एक दूसरे के भिन्न रूप से जानना है । और जिस समय में इस दृष्टा
को सब आत्म स्वरूप ही हो गया, उस समय में किस कारण के द्वारा किस वस्तु को
जानेगा । यह विकार घटपटादिक पदार्थ वाचारंभण मात्र है, वस्तुनस्तु मृत्तिका मात्र सत्य है ।
ये सब पदार्थ माया मात्र है स्वप्नादिक के समान । सभी क्षेत्र शरीर में क्षेत्र को ही समझो ।
ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि मेरे सत्ता के बिना प्रतिभासित हो । परस्पर भेद का

करिष्यति' (वि.पु. ६।७।१.४) 'मायामात्रमिदं द्वैतपदैतं परमार्थतः ।'
(गौ. पा. का. १७) इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात् सर्वोऽपि
भोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चस्तस्मिन्मिथ्यामात्रब्रह्मण्यनाद्यविद्यया परि-
कल्पितः । इयञ्चानिर्वचनीयरूपाविद्यैवाज्ञानपदेनाभिधीयते ।

त्वमित्यादिब्रह्मवृत्तणापि कार्यभूतस्य जगतो मिथ्यात्वमेव भवति । यथाशुक्लवच्छिन्नचैत-
न्यस्यविवृतोन्मत्तजगतादिकं कार्यमिथ्यात्वमेव ब्रह्मविवर्तस्य जगतो मिथ्यात्वमेव श्रुतिसुत्राभ्यां-
समर्थितं भवति । जगतः परिणामपुत्रादानं मायाविवर्तोदादानं ब्रह्मनिर्विशेषमेव ।
तस्मात्मायिकमिदं जगत् मिथ्याभूतमेवेति । किं च 'क्षेत्रज्ञं चापि माविद्धि' इत्यादिनापि
जगतस्तथान्वमेवमिदं भवति ।

न तदस्ति इत्यादि । तत् चरमचरं वा वस्तु नास्ति यन्मया विनाभूतं भवेत्,
अर्थात् मदीयमता व्यतिरेकेण विद्यमानं भवेदेतादृशं वस्तु नास्ति, एतावता पर-
मेश्वरसत्तातिरेकेण सर्ववस्तुनां मिथ्यात्वमेव पर्यवस्यतीति गीतार्थः । 'विभेदज-
नक' इत्यादि तावदेव जीवेश्वरयोः परस्परं भेदोऽवभासने यावदेवाज्ञानस्य संभव
समुदिते तत्त्वज्ञाने तु तद्विरोधि अज्ञानं यदा विनश्यति तदाभेदकारणीभूताज्ञानस्यान्य-
न्तिकविनाशे जाते सति जीवात्मब्रह्मणोमध्ये वस्तुतोऽविद्यमानं भेदं कः करिष्यति,
अर्थात् भेदकारणभूतस्य विनाशेजाते कारणाभावात् कार्यस्य भेदस्यावादानं कः करि-
ष्यति न कोऽपि करिष्यतीत्यर्थः । अत्र किं शब्दस्यापेक्षार्थकत्वेन विभेदजनकस्या
ज्ञानातिरिक्तस्याभावादिति 'मायामात्रमित्यादि' इदं परिदृश्यमानं द्वैतं जगत् माया
मात्रं मायैव केवलं समुपस्थापितं संपरिदृष्टं भवति । ऐन्द्रजालिकनिर्मितहस्ति
प्रभृतिपदार्थवन्न तु पारमार्थिकमिदम् । नच सर्वस्याविमर्शिकत्वे अधिष्ठानाभा-
वात्कुत्रेदं प्रतिभासते तत्राह 'अद्वैतं परमार्थतः' इति । पारमार्थिकं केवलमद्वैत
जनक अज्ञान जब अत्यन्त विनष्ट हो गया तब जीवामा परमात्मा के अस्तु भेद का प्रति-
भासित कौन करेगा । यह द्वैत माया मात्र है पारमार्थिक तो केवल अद्वैत ही है । इत्यादि
अनेक श्रुति स्मृति प्रमाणों से सिद्ध होना है कि भोक्ता योगादि प्रपञ्चमात्र पदार्थ अद्वैत
चिन्मात्र स्वरूप पर ब्रह्म में कल्पित है । इन पदार्थों को स्वाभाविक अतिरिक्त समझा नहीं
है । यह अनिर्वचनीय अविद्या ही अज्ञान पद से व्यवहृत्यमाण होती है । यह अविद्या सत्
रूप नहीं है । क्योंकि सद्व्यक्तमानने से द्वैत हो जायेगा । न वा असद्व्यक्त है । क्योंकि असत्
में जनकत्व नहीं होने से सकल प्रपञ्च या उदादान्तव ब्रह्मपुत्र के समान नहीं होगा ।

तच्चाज्ञानमागमप्रत्यक्ष्यानुमानवलेनानादिभावरूपमेवावग-
म्यते । अभावरूपत्वे तु तस्य तुच्छतयाऽकिञ्चित्कस्त्वेन तद्वि-
शिष्टस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न स्यात् । ननु नास्त्येव तात्पिद्धान्ते
ब्रह्मणोऽखिलदोषपूर्णस्यास्य जगतः कारणत्वम् । तस्य निर्विकारत्वेन
कौटस्थ्यभङ्गप्रसङ्गात् । अपितु निरस्तममस्तदोषगन्धं कार्यकारण-

मेव । ब्रह्ममात्रं कल्पितत्वात् सरोविष्टानं भवति । तदन्यत्सर्वतस्मिन्नाद्वे माया-
बलात् प्रतिभासितं भवति नतु तत्त्वतो द्वैतं परिभासने स्वप्नकारे पण्डितमानसदा-
र्थवत् । द्विचन्द्रद्वेति । नेह नास्तीत्यारभ्य मायामात्रमिदमित्यन्तानेऽवृत्तिस्मृति
प्रमाणैरनुभवयुक्तिभिः सर्वोपिभेदप्रपञ्चनिष्ठप्रपञ्चेचिन्मात्राधिष्ठाने नादिभाव-
रूपविद्या परिकल्पितो न तु वास्तविकः । सेयमनिर्वचनीया न तु मता द्वैतापत्तेः ।
नासती जनकत्वाभावप्रसङ्गात् । नवा सदमती विरोधात् 'परस्परविरोधोहि न प्रका-
रान्तरस्थितिरिति नियमात्' । किन्तु अनिर्वचनीया । तदुक्तं 'प्रत्येकं मदमत्वाभ्यां
विचारपदवीं नयेत् । गाहते पदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः' इति । सेयमविद्यैवा-
ज्ञानपदेनाभिधीयते नतु अविद्या अतिरिक्ता अज्ञानमतिरिक्तम् किन्तु तदेवाज्ञानम्
तस्यैव नामाविद्येति वामा रामादिवत् पर्यायवाचकमेवेति ।

तदिदमविद्यापरपर्यायमज्ञानं भावरूपमभावरूपं वा नाद्योऽज्ञानस्य भावत्वे
ऽनादित्वेचात्मज्ञानेन तस्य विनाशो न स्यात् । अज्ञानं न विनाशप्रतियोगि अनादिभाव-
त्वादात्मवदित्यनुमानेन विनाशित्वाभावप्रसङ्गात् । न वाऽभावरूपं तथात्वे तस्य तुच्छ-
न वा उभय स्वभावक है विरोध होने से किन्तु सत् असत् कोटि से निर्भूत अनिर्वचनीय है
इसका विशेष विवरण समाधान के अवसर में प्रतिपादित होगा ।

यह अनिर्वचनीय अनादि अविद्या परपर्याय अज्ञान आगम पर्याय और अनुमानादि
प्रमाण से भावरूप ही सिद्ध होता है । अर्थात् ज्ञानाभावरूप अज्ञान नहीं है किन्तु भावात्मक
पदार्थ ज्ञान है । इसमें 'मायातु प्रकृतिविद्यान्माधिननुमहेभ्यम्' 'अनृतेन विप्रयूढाः' इत्यादि आगम,
'न किञ्चिदवेदिपगाढमूढोऽहमात्म' इत्यादि सुमेयित को जो स्मरण होता है वह अनुभव के बिना
अनुपपन्न है तो तदन्यथानुपपत्ति से सिद्ध प्रत्यक्षानुभव से तथा 'अज्ञानं भावरूपं सर्वोपादानत्वा-
दात्मवत्' इत्यादि अनुमान से भावात्मक है, ऐसा सिद्ध होता है । यदि वदाचिद् अज्ञान को
अभावरूपमानेगे तो वह तुच्छ होने से कार्य करने में अनुयुक्त होगा तो तादृश अकिञ्चित्कर

विलक्षणं स्वानुभूतिरूपमेव तद्रभित्विति चेत् चिंजीवत्वायुष्मान्
 कोह्यनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत् । नास्त्येव वस्तुतोऽस्मन्नये-
 संगस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् । न च तदभावे 'तदेव सोम्येदमग्र
 आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै०
 ३।१) इत्यादिजगत्कारणत्वाभिधायिनीनां श्रुतीनां वैयर्थ्यमिति

त्वेन शशधियाणवज्जनकत्वाभावप्रसङ्गान् । इत्याशङ्क्य तस्य भावरूपत्वद्योतनायोप-
 क्रमते तत्त्वज्ञानमित्यादि । तदधियापरपर्यायमनिर्वचनीयाज्ञानं भावरूपमेव ताम-
 प्रत्यक्षानुमानप्रमाणबलेन तस्य तथान्वमेव सिद्ध्यति । 'मायांतुप्रकृतिविद्यात्'
 'अतृतेनहि प्रत्यूहाः' तममाच्छन्नमित्यागमेन तस्य भावरूपत्वमिदं । 'नकिञ्चिदवेदिषं-
 गाढमूढोहमामित्यादिसमुत्थितस्य परामर्शानुपपत्तिसिद्धौ नुभवस्तस्य तथान्वं साध-
 यति । विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावानिरिक्तानादेर्विनाशकं प्रमा-
 णज्ञानत्वात् यज्ञदत्तगतप्रमाणज्ञानत्वादित्याद्यनुमानबलेन अज्ञानस्य भावरूपत्व-
 मेव भवतीति । यदि अज्ञानस्याभावरूपत्वं स्थानदानस्य बन्ध्यापुत्रादिवस्तुच्छन्वेन
 कार्याश्रयत्वेन तादृशकिञ्चित्कगज्ञानविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽपि जगत्कारणत्वं न स्यात्तस्माद-
 ज्ञाने नाभावरूपमिति । ननु मायावादिनये दोषविशिष्टजगतः कारणता तु नास्ति ।
 यतस्तस्य कूटस्थनित्यत्वेन तथान्वस्यवक्तुमशक्तत्वादिति चेन्न तस्यैव कथितम्,
 मन्मते तस्य ब्रह्मणस्तथान्वेनास्वीकारादिष्टामतिरेवेति ।

अज्ञान से विशिष्ट जो पर ब्रह्म उसमें भी जगत्कारणता की सिद्धि नहीं होगी । इसलिये अज्ञान
 ज्ञानाभावरूप नहीं है किन्तु भावरूप ही है । प्रश्न आपके सिद्धान्त में तो सर्व विशुद्ध ब्रह्म में
 समस्त दोषों का आकार रूप जो जगत् है उसके प्रति कारणता तो नहीं है कौंकि ब्रह्म तो
 निर्विकार है, तो उसमें कारणता मानेने तो ब्रह्म में जो कूटस्थ नित्यता है, उसका भंग हो
 जायगा । नित्यता दो प्रकार की होती है, कूटस्थ नित्यता तथा परिणामिनित्यता जिसमें विकार
 होने पर भी 'तदेवेदम्' इत्याकारक बुद्धिका विधान नहीं होता है उसको परिणामिनित्यता कहते
 हैं । जिस तरह जगद् को नित्य माननेवालों के मन में पृथिवी प्रभृति वस्तु में है, इसी को
 प्रवाह नित्यत्व कहते हैं गंगास्रोतवत् । यथावा सुवर्ण एक आकार का परिणाम करके आका-
 रान्तर को प्राप्त करना है तथापि आकारान्तर में भी 'तदेवेदं सुवर्णम्' इस बुद्धि या विधान
 नहीं होता है । अन्वर्थी सुवर्ण द्रव्य का पूर्ववत् पर में भी अनुवर्तन होता है । जो पदार्थ
 किसी भी देशकाल में स्वकीय स्वरूपका परिणाम न करे उसको कूटस्थ नित्य कहते हैं

वाच्यम् । तासां जगदुपादानज्ञानाधिष्ठानपरत्वेनैवोपपत्तेर्न ब्रह्मकारणमपित्वज्ञानमेव । वस्तुनो नाज्ञानस्यापि तत्त्वं वेदान्तेन निर्दिष्टम् । तस्य भ्रमनिमित्तमात्रत्वेनैवोक्तत्वात् । कार्यकारणवादस्याप्यौपनिषदनयानन्तर्गतत्वाद्विवर्तवादस्यैव वेदान्ततात्पर्यावमितत्वादिनि । विवर्तश्च पूर्वाधिष्ठानविरुद्धामर्थस्यावस्तुनोऽवभासः । भवति चैवं मरु-

न च तथात्वे 'यतो वा इमानि भूतानीत्यादि' ब्रह्मणि जगत् कारणता प्रतिपादकश्रुतेर्वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । नेयं 'यतो वा इमानि भूतानीत्यादि' श्रुतिर्ब्रह्मणो जगतां कारणत्वं निवेदयति । किन्तु जगत् उपादानं यदज्ञानं तादृशाज्ञानस्याधिष्ठानतामेव दर्शयति ब्रह्मणि ततश्च जगत्कारणत्वमज्ञानमेव । वस्तुनोऽस्मिन् मतेऽज्ञानमपि जगतो न कारणं किन्तु भ्रमनिमित्तत्वमेवाज्ञानस्येति । वस्तुतस्तु प्रकृतनये विवर्तवाद एवाभिमतः । विवर्तस्तु कारणविषमसत्ताकार्यापादनमेव यथा शुक्तिका विषमसत्ताकरजतापादनम् तथैव ब्रह्मविषयसत्ताकमेव जगदिति भवति प्रकृते विवर्त इति । गौडपादाचार्यास्त्वज्ञातवादमेव मन्यन्ते । एतदेव श्रद्धान्तरेण प्रतिपादयन्ति भगवन्तो भाष्यकाराः विवर्तश्चेत्यादि । भ्रमपूर्वकालिकं यदधिष्ठानम् तद्विरुद्धामर्थस्यावस्तुनोऽवभासो विवर्तः, यथा इदं रजतमिति भ्रमस्य पूर्वकालिकं यदधिष्ठानमिदं है । किन्तु निर्गत है समस्त दोष जिसमें तथा कार्यकारण से विच्छेदन और अनुभावमक ही तो ब्रह्म है । उत्तर—आप चिरंजिवित रहें । अनुकूल आचारण करने वाले के ऊपर प्रतिकूलाचरण कौन करता है ! वस्तुतः यदि विचार करें तो मेरे सिद्धान्त में तो 'असंगोऽसंगपुरुषः' इत्यादि श्रुतिसिद्ध असंग ब्रह्म में तो जगत् कारणत्व नहीं है यदि आप ब्रह्म में जगत् उत्पत्त्यादिकारणता नहीं मानते हैं तब तो 'सदेवसोम्येदमग्रे आसीत्' 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि ब्रह्म में जगत्कारणता का प्रतिपादक जो वेदान्त वाक्य है उसका तो वैयर्थ्य हो जाता है । तथा अकारण ब्रह्म में कारणता का प्रतिपादन करने से अप्रामाणिकत्व भी हो जायगा यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'सदेवसोम्येदमग्रे' इत्यादि तथा 'यतोवा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुति ब्रह्म में जगत् के कारणता का बोधक नहीं । किन्तु जगत् का परिणामी कारण जो अज्ञान है उसके अधिष्ठानता ब्रह्म में है एतावत्मात्र का प्रतिपादन करके चरितार्थ हो जानी है । यदि अज्ञान जगत् का कारण है तब तो तदधिष्ठानभूत-ब्रह्म से भी तो परंपरया कारणत्व हो जाता है, इस अस्वरस को लेकर भाष्यकार कहते हैं 'वस्तुनो नाज्ञानस्यापीत्यादि । वस्तुतः अद्वैत वेदान्त

मरीचिकामृदन्वतोऽवभासः स्फीतप्रकाशमप्रवस्थितशुक्तिकायां रजत-
स्य चेति । एवं व्यावहारिकमन्तामुपेयुषोऽस्य मिथ्याभूतस्य जगतो-
ऽवण्डानन्दैकरसे चिन्मात्रब्रह्मण्यध्याम इति समन्वयः ।

तदेतदनादिभेदवामनाप्यायितकलेवमज्ञानविज्ञम्भणं 'तर्गित-
शोकमात्मवित्' इत्याद्यागमहस्त्रेण निर्विशेषवद्यात्मैकत्वप्रकाशक-
मान्मकं व्यवहारिकं शुक्तिकावस्तु तस्य विरुद्धोपौरजतान्मकोऽवस्तुभूतः पदार्थस्त्व-
स्यावभासनमेव तथा । अस्मिन् मने सत्तात्रिविधाः पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्राति-
भासिकी च । तत्र ब्रह्मणः सत्ता पारमार्थिकी तस्य कूटस्थानित्यन्वान् । आकाशादेः
प्रपञ्चस्य व्यावहारिकी तस्या व्यवहारकालमात्रेऽवस्थानान् रज्जुमण्डोः स्वाप्तिकस्य
या सा तृतीया, ज्ञानकालमात्रे परिदृश्यमानन्वान् । अतस्मिन् स्तब्धद्विरेवाध्यामः ।
भवति च चक्षुः संपुक्तस्फीतालोरुपतिष्ठितमन्दान्धकारे वा पुरोवस्थित शुक्ति-
कादिद्रव्ये चाकचिक्यादिमाधारणधर्मदर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारवत् इदं रज-
तमित्यध्याम इति लक्षणसमन्वयः । पुनश्च विशेषदर्शनेन शुक्लपवच्छिन्ना-
ज्ञानस्य विनाशे अथवा नेदं रजतमिति वाधे ज्ञाने मूलकारणज्ञानस्य बाधे ज्ञानेरजनादेर्वाध
इति । एतदेव 'भवति चेवं मरुमरीचिकामृदन्वतः' इत्यादिग्रन्थेन संक्षेपतो दर्श-
यामास । एवं स्वरूपतोऽनवस्थितस्यापि व्यावहारिकादिमकलप्रपञ्चस्य ततः परतो
मे तो अज्ञान मे कारणता नही है । किन्तु जगत् विभ्रम मे वह निमित्तमात्र है । जिस तरह
रजतादिक विभ्रम मे शुक्तिकागत अज्ञान निमित्त होता है । इसी तरह प्रकृत मे अज्ञान जगत्
विभ्रम मे निमित्तमात्र है । निमित्त मानने पर भी वो कारणता का विनाश नहीं होता है ।
इस अस्वरस से कहते हैं 'कार्यकारणवादस्यापीत्यादि । कार्यकारणवाद जो है वह धीरनिषेध
वाद के अन्तर्गत नहीं है । इसमे तो विवर्तवाद ही अभिमत है । अतन्वपूर्वक अग्न्या प्रया
का नाम ही विवर्त है । पूर्वकादिक अविद्या के विरुद्ध अवस्तुभूत असमीचिन अर्थ का जो
अवभास उसको विवर्त कहते हैं । जिस तरह मरुमरीचिका मे तरंग तरंगित गंगादि जल
का असमीचिन अवभास होता है । यथावा स्फीतालोक मे विपरिवर्तमान वस्तुभूत शुक्तिकादिक
का चाकचिक्यादि सादृश्य दर्शन जनिव संस्कार सहित करण दोष विशिष्ट चक्षुरदि से
असत् रजतादिक पदार्थका अवभास होता है । इसी तरह व्यावहारिक सत्ता को प्राप्त किया
मिथ्याभूत जो आकाशादिक जगत् उसका प्रकृत आनन्दैकरस चिन्मात्र मे अव्यास होता है ।
इस तरह 'स्मृतिरूपपरब्रह्मप्रावभासोऽप्यासः' इस अव्यास लक्षण का समन्वय होता है ।

वस्तुज्ञानेन कृत्स्नं निवर्तते तच्च ज्ञानमज्ञानं नाशयत्कतकरजोवत्स्व
यमप्युपशाम्यति ततः परं यदवशिष्यते तत्त्वनुभूतिरूपं चिन्मात्रं ब्रह्मैव
तद्वस्तु तस्य ब्रह्मण एवाऽत्र जिज्ञासाभिमतता सूत्रकृतमिति ।

वासिद्धेरसंभवेन ज्ञानमात्रस्वरूपे ब्रह्मण्यध्यस्तत्त्वेन मिथ्यात्वात् तादृशस्य तस्य ज्ञानान्म
काधिष्ठाने एवाध्यास इति सिद्धमेव भवति जगतोऽध्यास इति । तदेतन्मर्षमाका-
शादिकं जगत् तत्त्वमसीत्यादि वाक्यजनितनिर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वप्रकारकमाक्षा-
त्कारिज्ञानेन निवर्तते, तदेतद्वृत्त्यात्मकतत्त्वज्ञानं स्वयमपि विनश्यति कतकरजतत्त्वं
यथा कतकरजो मलिनेपाथमिनिक्षिप्तजलमनाविलं करोति स्वयमपि च विनश्यति
तथैवेदं वृत्त्यात्मकब्रह्ममाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं स्वयमेव विनष्टं भवतीति न तत्र विना-
शकान्तरोदेतीत्यनो नानवस्थादेयः । ततश्च जगदन्तर्गतमकलाध्यारोपितवस्तु
नोऽभावे यदवशिष्यते ज्ञानमात्रं वस्तुज्ञानात्मकं तदेव ब्रह्म तस्यैव जिज्ञासा
प्रकृतेऽपेक्षिता न तु संसारान्तर्गताध्यारोपितविशेषविशिष्टस्य प्रकृते जिज्ञासाऽभि-
मता, विशेषाणां सर्वेषामध्यारोपिततयाऽवस्तुत्वादित्यादिसर्वं संक्षिप्य भाष्यकारेण
प्रदर्शितः पूर्वपक्षः ।

एतादृश अनादि भेद वासना से परिपुष्ट स्वरूप अज्ञान 'तरनिशोकमात्मवित्' 'तत्त्वमसि'
'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि से जात निर्विशेष ब्रह्मात्मैकत्व प्रकारक वस्तु ज्ञान से वह अज्ञान
निवृत्त हो जाता है । अज्ञान का विनाशक आत्मज्ञान स्वेतर अज्ञान तत्कार्य का निवर्तक होता हुआ
स्वरूप को भी नष्ट कर देता है कतकरजोवत् । जिस तरह मल मलिन जलमें प्रक्षिप्त कत-
करजम् जलगत मलिनता को निराकृत करके स्वयं भी उपशान्त हो जाता है । यथावा कान के
अन्दर दिया हुआ जल पूर्वस्थित कान के जल को अपगत करके स्वयं भी शान्त-होजाता है ।
उसी तरह ब्रह्मात्मैकत्व प्रकारक वृत्तिज्ञान अज्ञान तत्कार्य का नष्ट करता हुआ स्वयमपि विनष्ट
हो जाता है । इसलिए नाशक का प्रवाह-प्रवाहप्रसंग नहीं होता है । उसके बाद जो अवशिष्ट
रह जाता है वह ज्ञान मात्र स्वरूप ब्रह्म ही वस्तु भूत पदार्थ अवशिष्ट रह जाता है । उसी
ब्रह्मरूप वस्तु की जिज्ञासा सूत्रकार को अभिमता है । अनादि भेद वासना वासित अन्तः-
करणवाला पुरुष बारंबार जन्ममरणादिक दुःख बहुल संसार में निमग्न होकर कदाचित्
प्रारम्भवीय पुण्यविद्या से संसारासारता को देखकर तादृश प्रहाणेच्छया अर्थात् सर्वदा समनुभू-
यमान जन्ममृत्यु रूप संसार के असार-क्षणिकता का अनुभव कर उसके दूर करने की इच्छासे
गुरु समीप में जाकर तदुपदिष्ट वेदान्त से आपानतः ज्ञानवान् विशेष रूप से आत्मा को जानने

५ समाधानभाष्यम् ५

तदेतदनास्वादितागमत्वानां त्रयीसमधिगतार्थानुष्ठानमि-
न्नानां कुतर्ककर्कशवागुगनिगडितान्तः कर्णानां श्रुतिप्रतिपन्नत-
र्कपराहतमानमानांचोद्यमिदं धर्मपथाद्वैः श्रद्धाधनैर्गनादणीयम् ।

तथाहि निर्विशेषं ब्रह्मेति कथमवगतम् ? केनचित् प्रमाणेन
तदतिरिक्तेन वा ? नाद्यः । प्रमाणागम्यत्वेन सविशेषतया निर्विशेष-
तमेतमेतन् निर्विशेषब्रह्मवादं पूर्वपक्षप्रस्तुतं निराकर्तुमपक्रमते तदेतदित्यादि-
समाधानभाष्यम् । अथ यदेतन्निर्विशेषं ब्रह्मेति कथनम् तत्र पृच्छामि एतद्वशं ब्रह्म
प्रमाणेन केनचिदवगतम् तदभावेन वा । आद्ये प्रमाणगम्यत्वमेव विशेष आसति,
नान्तिमोऽप्रामाणिकस्य सत्त्वामिद्वेः । अन्यथा सप्तमरमादेरपि मिद्विः स्यात् । न च
स्वप्रकाशत्वादिव तारशब्रह्मणः मिद्विरितिवाक्यम् स्वप्रकाशत्वमिद्वेरपि प्रमाण
साध्यत्वेन ततोपि निर्विशेषत्वामिद्वेः । इत्यादिदूषणजालं मनमिनिधायाह 'तथाहि
निर्विशेषं ब्रह्मेतीत्यादि । 'नाद्य' इति । यदि ब्रह्मप्रमाणेन ज्ञायते तदा केन प्रमाणेन,
किं प्रत्यक्षेणानुमानेनागमेव वा । नाद्यः, रूपस्पर्शाद्यभावेन बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वात्
नापि मानसेन जीवतद्गुणातिरिक्तस्य तेनाग्राह्यत्वेन न प्रत्यक्षेण तत् मिद्विः ।
नाप्यनुमानेन अप्रत्यक्षतया तेन सह व्याप्त्यभावेन तेन तदमिद्वेः । नाप्यागमे-
नान्योन्याश्रयात् । अथवा यदि प्रमाणेन तस्य मिद्विरिच्यते तदाप्रमाणगम्यत्व
के लिये ब्रह्मजिज्ञासा के उपरान्त आत्मा का प्रवण मनन निदिध्यासन से ब्रह्म साक्षात्कार को
जो कि जीव ब्रह्म के एवम् परक ज्ञान से आत्मगत अज्ञानता कार्य को बिनष्ट करके
स्वरूप से अवस्थित होकर के सुख का अनुभव करता है । यादश ब्रह्मज्ञान से मोक्ष को
प्राप्त करता है तादृश ब्रह्म जिज्ञासा ही ब्रह्म जिज्ञासा पद से विवक्षित है इति मक्षेयः ।

५ अथसमाधानभाष्यम् ५

अभाव ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण है । जब तक प्रतियोगी को व्यक्ति नहीं
जानेकागा, जब तक उसका निराकरण नहीं हो सकता है । इसलिए भाष्यकार निराकरणार्थ
पक्ष का स्वरूप का निराकरणार्थ, गत प्रश्न का कथन करके उसका खण्डन करने के लिये
उपक्रम समाधान भाष्य ग्रंथ से करते हैं 'तदेतदनास्वादितागम' इत्यादि । जिन्होंने वेदान्त
तत्व का यथा संप्रदाय परिशीलन नहीं किया है, और वेद प्रतिपादित निग्य नैमित्तिक कर्मों
का यथाविधि अनुष्ठान रक्षित है । तथा कुतर्क लक्षण अतिकठिन जो वागुगताम, उससे बड़ है

त्वाभावात् । न द्वितीयः । प्रमाणातीतस्य वस्तुनः प्रामाणिकैर्नङ्गी-
कारात् । नापि षड्विधलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वैते तात्पर्यमित्यपि युक्तम् ।
तेषां सविशेषब्रह्मण्येव तात्पर्यावसायित्वात् । यत्तु स्वार्थमाधनाय
केषाञ्चिच्छ्रौतवचसामुपोद्बलकनयोपादानम् । तत् 'विनायकं प्रकु-
र्वाणो रचयामास वानरम्' इतिन्यायं स्मारयत् स्वविरुद्धार्थमेवोपस्था-
लक्षणमविशेषत्वमेव सिद्धमितिगतं निर्विशेषवार्तया । न च 'सर्वार्थदृशामिद्विः
स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः । यदभ्युपगमादेव तत् सिद्धिः केन वार्यते' इति नियमेन
आत्मनः स्वप्रकाशतया तत् एव निर्विशेषब्रह्मसिद्धिर्गितिवाच्यम् । भक्षितेऽपिलशुने
नशान्ताव्याधिरितिन्यायस्यानतिक्रमणात् । अर्थात् निर्विशेषता प्रतिद्वन्द्वीमविशेष-
त्वस्यानतिक्रमात् । किंच स्वप्रकाशत्वं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा आद्ये पूर्वोक्तदोषोऽन्तिमे-
वक्ष्यमाणोदोष आपतेदेवेति 'नद्वितीयः प्रमाणातीतस्येत्यादि । प्रमाणरहितपदपदार्थम-
त्ताया अस्वीकारादन्यथा गगनकुसुममत्सरसादीनामपिसत्त्वप्रसङ्गात् । प्रमाणमन्तरेण
वस्तुनो न स्वीकारोऽतस्तदभाव एव सिद्धो भवतीतिभावः । न च 'उपक्रमोपसंहा-
रावभ्याशोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्तिश्चलिङ्गतात्पर्यनिर्णये' इति तात्पर्यनिर्णाय-
कप्रमाणबलेन 'अस्थूलमनणु' इत्यादीनां श्रुतीनां निर्विशेष एव तात्पर्यमिति वाच्यम्,
न तैः प्रमाणैर्निर्विशेषता अपितु त्वदनभिमततायाः सविशेषताया एव सिद्धिर्जायते
इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।

अन्तःकरण जिनका, तथा श्रुति के अनुकूल तर्क से पराइन है मन जिनका । एतादृश व्यक्ति के
द्वारा प्रतिपादित निर्विशेष ब्रह्म ही जिज्ञास्य तथा प्राप्य है—इत्यादि विषय का धर्म पक्षपर
आरूढ श्रद्धाशील पुरुष—जिज्ञासु व्यक्ति हैं उन्हें तादृश तर्क रहित श्रुत्यविहित मन का
आदर कदमपि नङ्ग करना चाहिये ।

स्वानभिमत पूर्व पक्षका खण्डन प्रकार को बताने हैं 'नयादि' इत्यादि । ब्रह्मसर्व विशेष
मे रहित है इस बात को आपने किस तरह से जाना ? क्या किसी प्रमाण से । अर्थात्
प्रत्यक्षाद्यन्यतम प्रमाण द्वारा आपने निर्विशेष ब्रह्म को जाना, अथवा प्रत्यक्षाद्यन्यतमव्यतिरिक्त
जिस किसी के द्वारा आपने ब्रह्म को जाना ? तो इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि
प्रमाणगम्य होने से । प्रमाणगम्यत्व रूप सविशेष होने से निर्विशेषत्व सिद्ध नहीं होता है ।
द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ प्रमाणार्जित है, उसको प्रामाणिक लोग नहीं
मानते हैं । अन्यथा प्रमाणाभाव में भी पदार्थ की सत्ता को माना जाय तब तो सप्तम रस

पयति । तथाहि 'नेह नानाम्नि किञ्चन' [बृ० ६।४।१६) इत्यादीं नाद्वैतं प्रतिपाद्यते किन्तु इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि नानान्तं किञ्चन नास्ति भेदलेशोऽपि नास्तीत्युच्यते । अयमभिप्रायः । स्थावजङ्गमस्यास्य जगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामितया च तदात्मकत्वेनैक्यान्तर्द्विन्नं नानान्तं प्रतिषिध्यते । अन्यथा 'बहुस्यां प्रजायेय' (छा. ६।२।३)

यद्यपि तैमांयिभिः स्वकीयनिर्विशेषतारूपस्वार्थसाधनाय 'अस्थूलम्' 'नेह नानेत्यादिवचनमाप्तादानां क्रियते तदपि तदीयविरुद्धार्थस्योपपादकं भवति विरुद्धहेत्वमिधानवत् । यथा गोत्वसाधनायोपादीयमानोऽहवन्वहेतुर्गोत्वसाध्यममाध्यमसाध्यन् गोत्वविरुद्धगोत्वाभावमेवोपस्थापयति तथैव निर्विशेषत्वसाध्यसाधनायोपादीयमानमस्थूलमनणुं नेहनानेत्यादिवाक्यं स्वाभिप्रेतविरुद्धार्थमेवोपस्थापयति, तथाहि नेहनानेति वाक्यं सर्वस्याद्वैतं न प्रतिपादयति किन्तु ब्रह्मणि नानान्वस्यार्थात् भेदस्याभावं प्रतिपादयति ब्रह्मणि भेदोनास्तीत्यर्थः ।

एतदेव विशेषतः प्रतिपादयति अयमभिप्राय इति । अस्य नामरूपतयोपस्थापितस्य जगत् उपादानकारणं ब्रह्म तथा तदेतद् ब्रह्मसर्वान्तर्यामि च । कार्यकारणयोरभेदमिति तद्विन्ननानान्वस्य निराकरणं भवति ननु सर्वस्याभेदप्रतिपादनं भवतीति । अन्यथा । 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादिशास्त्रेण यन्नानान्तं प्रतिपाद्यते तत्सर्वं निराख्यनकमेवस्यादिति । न च एकेनाद्वैतं प्रतिपाद्यते तदन्वेन द्वैतं प्रतिपाद्यते इति समानबलवतो वाक्ययोर्विरोधे जाने तत्र विकल्पः स्यात् कदाचिद् द्वैतमेवस्यादिति न कस्याप्यभिमतमिद्विः । यथा षोडशिव्रह्मणप्रतिपादकतद्व्रह्मणप्रति-

शशश्रृंगादिक की सत्ता को भी मान लिया जाय, नहीं कहो कि—उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता फल अर्थवाद तथा उपपत्ति युक्ति से तात्पर्य का निर्णय होता है । तो इन हेतुओं से वेदान्त वाक्य का निर्विशेष ब्रह्म में तात्पर्य का निश्चय किया जाता है । अतः निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि होती है । यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि 'ज्ञाज्ञोद्भावज्ञो' 'द्रासुपर्णा' इत्यादि वेदान्त वाक्य तो उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्य निर्णायक के बल से सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करना है निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपादक 'नेतिनेति' इत्यादि वाक्य तो प्राकृतिक गुणादिरूप विशेष का निराकरण करता है । लोकोत्तर कल्याण गुणाधिकरणता का तो साधक ही होता है । अतः सविशेष ब्रह्म की ही सिद्धि होती है, निर्विशेष की सिद्धि नहीं होती है ।

इति बहुभवनसंकल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुतिसिद्धं बालो
डनकं स्यात् । सपञ्चलश्रुत्योर्विरोधे तु विकल्प एव स्यात् । न च
चाष्टदोषदुष्टत्वादेतादृशस्थलेऽनङ्गीकारात् ।

किञ्चैकमर्थं प्रतिपाद्य स्वयमेव निराकुर्वत्याः श्रुतेरुक्तं त-
प्रलापित्वमपि दुष्परिहरम् । न च न स्वरूपेण निषेधं द्याः किन्तु
पादकवाक्ययोः समानबलवतोः 'अतिरात्रेपोडशिनं गृह्णाति । नातिरात्रेपोडशिनं
गृह्णातीति वाक्ययोर्विरोधे विकल्प एव भवतीति तद्वत्प्रकृतेऽपि विकल्प एव कस्मान्न-
स्यादिति वाच्यम् विधिस्पष्टनिषेधेऽनर्थजनकत्वस्याभावात् । तदुक्तम् 'यद्यपि
स्याद्विधिस्पष्टे निषेधो नैव तादृशः । विज्ञायते ह्यनर्थत्वं पोडशिग्रहणादिवर्तिन ।
भाष्यकारैस्तु 'प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वपरित्यागप्रकल्पना । तदुज्जीवनहानाभ्यां विक-
ल्पे चाष्टदोषता ।' इत्युक्तप्रकारेण विकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वं प्रतिपाद्य प्रकृते विक-
ल्पस्य निषेध एव कृतः 'अनङ्गीकारात्' इति ।

ननु महता प्रक्रमेण ब्रह्मणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिना
जगत्कारणतां प्रतिपाद्य पुनश्च 'नेति नेति' इत्यादिना सकलद्वैतस्य निषेधकर्मणे श्रुते
विरुद्धार्थप्रतिपादकतया अप्राप्यमापतेत् न चेष्टापत्तिः, वेदस्य स्वतः प्राप्ताप्यवादिभि
मायावादियों ने स्वकीय स्वार्थ सिद्धि के लिए जो 'नेह नानास्ति' इत्यादि वचन का
साधक रूप से कथन किया है यह तो 'विनायकं प्रकुर्वणो च यामाम वातयम्' [गणेश का
निर्माण करता हुआ बन्दर को बनाया] इस न्याय का स्मरण करा जाता हुआ स्वकीय विरुद्धार्थ
को ही उपस्थित करता है । जिस तरह गोत्व साध्य की सिद्धि के लिए कोई अश्वत्व हेतु का
उपन्यास करे तो वह अश्वत्व प्रतिज्ञा विषय गोत्व साध्यको सिद्ध नहीं करता है, किन्तु गोत्व
विरोधी गोत्वाभाव को सिद्ध करता है । उसी तरह जिस वेदान्त वाक्य को आप निर्विशेष ब्रह्म
स्वरूप अर्थ की सिद्धि करने के लिए अपना सकते हैं, वह वेदान्त वाक्य तद्विरुद्ध सविशेष
ब्रह्म का ही साधक होता है तथाहि 'नेह नानास्ति' [इस जगत्कारण ब्रह्म में नानात्व, अर्थात्
किसी प्रकार का भेद नहीं है] यह श्रुति ब्रह्मेतर सकल पदार्थ का निषेधद्वारा अद्वैत का
प्रतिपादन नहीं करती है ? किन्तु इस द्रष्टव्य ब्रह्मपरमात्मा में नानात्व कोई नहीं है । अर्थात्
इस में लेशतोपि भेद नहीं है । इस श्रुति के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं
'अयमभिप्राय' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि स्थावर जंगम लक्षण इस जगत् को ब्रह्म का
कार्य होने से, अर्थात् जड़चेतन साधारण जगत् ब्रह्म का कार्य है । तथा 'यः पृथिव्यं तिष्ठन्'

पारमार्थिकत्वाकारणेति वाच्यम् । स्वरूपस्यानिपेधे जाध्यत्वलक्षणपारमार्थिकत्वस्यापि सत्त्वेन तस्यापि निपेधानर्हत्वात् । तन्मान्नास्मिन्प्रकरणे ब्रह्मानिम्बितं निपेयत इति निर्विवादम् ।

यदपि 'यदा होवैष एतस्मिन्नुदरमन्तं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' [तै० २।७।१] इत्यादिना भेददर्शिनो भयप्राप्तिरित्युक्तम् । तदप्यापादनानर्हम् । तथाहि 'सर्वं एतद्विदं ब्रह्म तज्जला-
स्तथात्वस्यास्वीकारादित्याशयेनाह किंचेकमयं प्रतिपाद्येत्यादि । ननु 'नेह नानेति श्रुत्या प्रपञ्चो मिथ्यादृश्यत्वादिन्यायनुमानप्रमाणेन चाकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मणि स्वरूपतो निराकरणं न भवति । किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वाकारेण निपेधप्रतियोगीतैव प्रतिपाद्यते । घटवन्यपि भूतले पटत्वेन घटो नास्तीतिवदित्याशङ्क्यतन्निराकरणायोपक्रमते न च न स्वरूपेणेत्यादि भाष्यम् । ब्रह्मणि गगनादि प्रपञ्चस्य स्वरूपतो निपेधो न प्रतिपादितो भवति किन्तु पारमार्थिकत्वेन रूपेण प्रपञ्चस्याभावः प्रतिपादितो भवति । अयंभावः अभावो द्विविधः समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकश्च । तत्र प्रथमस्य स्वप्रतियोग्यधिकरणेन सहविरोधो भवति नतु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तथान्वय इत्यादि श्रुति से ब्रह्म का सर्वात्म्यामी भी होने से यह जगत् कारण तथा अन्तर्गामी का स्वरूप होने से, ब्रह्मान्ननानात्व-भेद का निराकरण उक्त श्रुति से किया जाता है पर ब्रह्मतादात्म्या-पन्नभेदकानिराकरण नहीं होता है । अन्यथा यदि इस अर्थ को नमाने तो अग्रिम श्रुति के विरोध को बतलाते हैं 'अन्यथेति 'बहुस्याम्' [मैं अनेक रूप से होऊ] इस प्रकार से वह भवन संकल्प पूर्वक ब्रह्म का नानात्व जो श्रुति शिद्द है वह बाल की भावत निर्गन्क हो जायगा । जब ही ब्रह्म में बहु भवन संकल्प पूर्वक नानात्व हुआ, तब उस नानात्व का श्रुति निराकरण करती है नतु ब्रह्मव्यतिरिक्त के अभाव का प्रतिपादन करती है । नहीं कहो कि समान बलवती दोनों श्रुति हैं, और इन दोनों का जब विरोध होता है तब विकल्प होगा । थोड़ीसी गड़बास हबत । तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि विकल्प स्थल को आठ दोपदूध होने से प्रकृत स्थल में विकल्प नहीं माना जाता है ।

'किञ्चेत्यादि' और भी देखिये जब एक बार श्रुति सविशेषता अर्थ का प्रतिपादन करती है, पुनः उसी अर्थ का यदि निराकरण करे, तब क्या श्रुति में उन्मत्तवत् प्रलापित्व दोष नहीं

निति शान्त उपासीत' [छा० ३।१।४।१] इत्यादौ सर्वस्यास्य जग-
तस्तदुदयावनलयकर्मतया तच्छरीरानुसन्धानेनात्र शान्तिर्विधीयते
तज्ज्ञानस्याभयजनकतया न भयोत्पादकत्वमिति । 'अथ तस्य भयं-
भवति' इत्युत्तराख्यस्य तु 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नि' त्यादिना या
प्रतिष्ठा विहिता तस्य भङ्गे भयमित्युच्यत इति स्पष्टोऽयमर्थः श्रुति-
कस्य तथात्वम् घटवति घटाभावस्यानुभविक्-
त्वात् । तदिह ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः
किन्तु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक एवेति न क्षतिरिति । उत्तरयति 'स्व-
रूपस्यानिषेधे' इत्यादि ।

होगा ? अर्थात् असेवद्ग प्रलापित्व दोष होगा । यद्यपि यह असेवद्गप्रलापित्व उभयमत में
समान है । तथापि सिद्धान्त में 'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुति प्राकृतिक गुण का निराकरण करती है ।
तथा अप्राकृतिक अनन्त कल्याण गुणवत्त्व लक्षण सविशेषता का प्रतिपादन करती है । ऐसा
मानने पर कहीं भी श्रुति में व्याघातादि दोष की आपत्ति नहीं होती है ।

प्रश्न-ब्रह्म में जो प्रपञ्च का निषेध होता है, वह प्रपञ्चत्व रूप से अर्थात् स्वरूपतः
निषेध नहीं होता है । किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से प्रपञ्च का निषेध होता है । 'पारमार्थि-
कत्वेन प्रपञ्चो नास्ति' जैसे घटाधिकरण में 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस के समान । अतः प्रपञ्च
निःस्वरूपकत्व की आपत्ति नहीं होती है ।

उत्तर-यदि प्रपञ्च का स्वरूप से निषेध नहीं मानने हैं और पारमार्थिकत्व का निषेध
कहते हैं तब तो प्रपञ्च में तादृश निषेध प्रतियोगित्व के समान, अवाध्यत्व लक्षण पारमार्थि-
कत्व का भी अस्तित्व होने से पारमार्थिकत्व रूप से भी निषेध नहीं होगा । अर्थात् 'पटत्वेन
घटो नास्ति' इत्यादि स्थल में घटनिष्ठ प्रतियोगिता का व्यधिकरणपटत्व है । तब 'पटत्वेन घटो
नास्ति' यह अभाव व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव कहलाता है । प्रकृत में
तो जब अवाध्यत्व लक्षण पारमार्थिकत्व प्रपञ्च निष्ठ प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म है
तब 'तेन रूपेण तदभाव व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव नहीं है । एतावता
प्रपञ्च स्वरूप का निषेध नहीं हुआ अवाध्यत्व लक्षण पारमार्थिकत्व का निषेध भी अयुक्त है ।
अर्थात् प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व व्यवस्थित होने से मिथ्याच सिद्ध नहीं होता है । इसलिये
इस प्रकरण में ब्रह्मव्यतिरिक्त का निषेध नहीं होता है, यह निर्विवाद है ।

तदुपवृंहणीभूतेतिहामपुगणेषु । तदाह वृत्तिकारः 'यदैतस्मिन्
स्थूलाक्षाविषयेऽनिलयनेपरस्मिन् पुरुषे निगन्तरा प्रतिष्ठामधितिष्ठति
तदाऽऽमादयत्यभयफट्टिकां मायुज्यमुक्तिम् । अथ लेशतोऽपि प्रति-
ष्ठापगमेऽनिवार्यस्तु भयमंप्रयोगः' इति ।

यदि स्वरूपेण प्रतियोगिनो निराकरणं न भवति तदा अवाच्यस्वरूपपारमा-
र्थिकत्वंस्यापि निषेधाभावाज्जगतः पारमार्थिकत्वं नापगच्छतीति भवदभिमनसीपरीत्य-
मेवापततीति कृत्वा ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यावाभावो न प्रतिपादितो भवतीति प्रकरणादेः
संपत्स्यते ।

यदपि 'यदाक्षेत्रैव' इत्यादियद्यप्यनयाश्रयाभेददर्शनां भयप्राप्तेः प्रतिपाद-
नेन न भेददर्शनमुचितमिव प्रतिभाति तथापि जगत्परमेष्ठवरयोः शरीरशरीरिभावे
नाभिन्नतांगतयोः यदि तत्राभिन्ने भेदं पश्यति तदा तस्य तथा दृष्टदुर्भयं भवतीति-
युक्तमेव, अभिन्ने भेददर्शनात् । यदितु अभिन्नेऽभेदमेव पश्यति तदा न भयं
भवतीति प्रकरणस्य संपिण्डितोऽर्थः कलितः । एतदेव वृत्तिकारश्रीपुरुषोत्तमाचार्य
वचनेनापि प्रदर्शयति तदाहवृत्तिकारः इत्यादि ।

'यदपीत्यादि । जब इस ब्रह्म में जो कोई अन्यथा भेद को करता-मानता है । तब
उसको भय होता है इत्यादि से भेददर्शी को भय प्राप्ति का कथन किया है । वह भी ठीक
नहीं क्योंकि 'सर्वे खलु इदं ब्रह्म' इस प्रकरण में समस्त जगत को उत्पत्ति स्थिति लय कर्मकूल होने
से परमेश्वर के शरीरानुसन्धान से ज्ञान का विधान किया गया है । यह परमेश्वर का पदावे-
मात्र शरीर रूप है । एतादृश ज्ञान को अभयजनक होने से भय का उत्पादकत्व नहीं है ।
'अथ तस्य भयं भवति' इस अंशिम वाक्य को 'यदाक्षेत्रैव' इत्यादि पूर्व वाक्य से जो परमेश्वर
में प्रतिष्ठा का विधान किया है । तादृश प्रतिष्ठा का भंग होने पर भय कहा गया है । स्पष्ट
रूप से इस अर्थ का प्रतिपादन भुति तथा भुति का उपोद्बलक स्मृति इतिहास पुराण में
किया है । वृत्तिकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायन ने भी कहा है 'स्थूलेन्द्रिय का अविशेष
अनिलय परम पुरुष में निगन्तर रूप से प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है । तब वह उपासक अभय
फलक सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है । अथ यदि लेशतोऽपि तादृश प्रतिष्ठा का विगम होने
से, उसको अनिवार्यतया भय योग है ।

‘सदेव सोम्येदमग्र’ इत्यादिच्छान्दोग्यसद्विद्याप्रकरणेऽप्यस्य जगतो मिथ्यात्वं न प्रतिपाद्यते । प्रत्युतास्य सन्दर्भस्य मिथ्या-त्वखण्डन एव तात्पर्यम् । तथा हि—श्वेतकेतोर्जिज्ञास्यमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं पूर्वत्रिभिर्दृष्टान्तैः सम्यगुपपाद्य दार्ष्टान्ते योजयितुं सर्व-स्यास्य ब्रह्मकारणकत्वमेवेति प्रतिपिपादयिषोरुद्दालकस्येयमुक्तिः । अस्याश्चेदं बहुत्वावस्थंजगत्सृष्टेः प्रागेकमेव । सृष्ट्यनन्तरं विभ-

ननु ‘सदेवसोम्येदमग्र’ इत्यादि श्रुतौ ऐक्यावधारणद्वैतनिषेधपरकविशेषणौ-यथा वृक्षस्य स्वगतभेदः पत्रपुष्पादिभिर्विजाजीयो भेदः शिलादिभिः सजातीयो भेदो वृक्षान्तरैर्भवति तथैव ब्रह्मणि प्राप्तस्य भेदस्यश्रुत्या स्वघटकतत्त्वदैर्निराकर-णेन ब्रह्माद्वैतं साधयन्ती अर्थतस्तदितरस्य जगतो मिथ्यात्वमवबोधयतीति कथमु-च्यते जगतो मिथ्यात्वं न भवतीति शङ्काव्यवच्छेदायोपक्रमते सदेवसोम्येदमग्र इत्यादि । नेदं छान्दोग्यप्रकरणं जगतो मिथ्यात्वं बोधयति किन्तु तद्विरुद्धं जगतः सत्यत्वमेव प्रतिपादयतीति मिथ्यात्वं खण्डितमेव भवतीति । जिज्ञासोः श्वेतकेतो-र्जिज्ञास्यमेकविज्ञानेनपदार्थमात्रस्यज्ञानम् । तत् लोहसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तैः प्रतिपा-

‘सदेवसोम्येदमग्र’ इत्यादि ‘सदेवसोम्येदमग्रेऽसीदेकमेवाद्वितीयम्’ इमं श्रुतिं मे सजातीय विजातीय स्वगत भेद का निराकरण होने से ब्रह्म व्यनिरिक्त पदार्थ में मिथ्यात्व की सिद्धि होनी है ।, ऐसा जो मायावादी ने कहा था, उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि ‘सदेव-सोम्येदमग्र’ इत्यादि जो छान्दोग्य का सद्विद्या प्रकरण है, उस प्रकरण में जगन्निष्ठ मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है । किन्तु यह प्रकरण तो मिथ्यात्व का खण्डनपूर्वक जगत का सत्यत्व का ही प्रतिपादन करता है । तथाहि जिज्ञासु जो श्वेतकेतु है उससे जिज्ञास्य एक विज्ञान से सर्वविज्ञान है । (‘कस्मिन्नुभगवोविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातंभवति’ हेमगवन् ! कौन ऐसा पदार्थ है जिस एक के ज्ञान होने से परिदृश्यमान स्थावरजंगम साधारण सब पदार्थ विज्ञात हो जाता है ।) इस वस्तु का पूर्व में लोह सुवर्ण मृत्तिका के दृष्टान्त से समीचीन रूप से उपपादन करके दार्ष्टान्तिक में उस बात को बतलाने के लिए यह परिदृश्यमान उद्बेतन सब पदार्थ ब्रह्मरूप कारण का कार्य है, इस बात का प्रतिपादन करने की इच्छा वाले उद्दालक महाऋषि का कथन है—‘सदेवसोम्यं’—इत्यादि । यह अनेक विभक्त नाम रूपक बहुलावस्थायुक्त जो जगत् है वह सृष्टि के पूर्वावस्था में एक ही था । सभी चराचरोत्पत्ति के

क्तनामरूपतया बहुत्वावस्थापन्नमपि सृष्टिप्राक्कालिकाविभक्तना-
मरूपतयैकत्वावस्थापनामेवाधिष्ठात्रन्तर्गहितमदान्मरुमेवामोदित्यर्थः ।

सच्छब्दस्य विशेष्यभूतपरमाभिधायित्वेऽप्युत्तरोक्षणपूर्वकबहु-
भवनरूपकार्यतयापरिणतत्वात्प्रकृते कारणत्वोपपत्तिकगुणाश्रितत्ववि-
शिष्टमृक्षमचिदचिच्छरीरकत्वरूपपञ्चज्ञत्वमेव सत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम् ।
एवञ्चाग्रिमवाक्यानामप्यर्थः सङ्गच्छते । नहि युनिदेवदत्ते यथाव-

द्यदाष्टान्तिके योजयितुमिदं निखिलमपिस्थावरजङ्गमात्मकं जगत् ब्रह्मप्रभवमेवेति
प्रदर्शितम् । अनेकनामरूपान्मता व्याक्रियमाणं जगत् स्योन्पत्तेः पूर्वमेकमेव ।
सर्गान्तरं यद्यपि विभक्तनामरूपकं किन्तु सर्गपूर्वकालिकैकत्वावस्थापन्नमेवापीन्
ब्रह्मातिरिक्तः कश्चिदधिष्ठातानामीदित्ययमेव श्रुतिर्बोधयति । सन् पदवाच्यं सूक्ष्म-
चिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैव । यथा बालावस्थायाम् ज्ञानेच्छादयोऽनभिद्यक्ता अपियौवने
विकशिता भवन्ति । तत्रपूर्वनामन्त इति न कथ्यते । द्वितीयपदं सहायवाचको
भवति यथा 'असि द्वितीयोऽनुसमापण्डवः' तथा प्रकृते परमपुरुषस्यास्ति कश्चिन्
सहायक इति अद्वितीयपदेन ज्ञाप्यते । अर्थात् सत्रातीयद्वितीयगहिन्यमेवावगते भवति ।
वाद विभक्त नाम रूपक होकर के यद्यपि बहुत दशावस्थ होता हुआ भी सर्ग पूर्वकालिक
अविभक्त नाम रूपतया एकावस्थापन्न हो करके अन्य किसी अधिष्ठाता से रहित सदात्मक
था । अर्थात् सृष्टि के बाद में जो जगत् अनेक रूप से प्रतिभामित होता है, वह पूर्वकाल
में अविभक्त नाम रूपवान् एकापन्न अन्य अधिष्ठाता से रहित जो सदात्मक परम पुरुष
श्रीराम हैं तत्स्वरूप ही था, तदनिरिक्त स्वरूपवाला नहीं था यह 'सदेवतोऽप्येदम्'—इत्यादि
श्रुति का अर्थ है । जगत्सर्व शरीरं ते स्वैर्यं ते वसुधातलम्' इस आर्षवचनानुसार परम पुरुष
सर्वेश्वर का शरीरामक चराचर जगत् अपने शरीरि सर्वेश्वर श्रीरामजी के साथ ही एकरूप से
अवस्थित था तथा उस समय में नामरूप का विभाग नहीं था सर्गोत्तरकाल के समान ।

'सच्छब्दस्येत्यादि 'सदेवतोऽप्येदम्' एतत् वाक्य षट्क जो सत्पद है वह यद्यपि विजे-
ष्यभूत परमात्मा का वाचक है । तथापि 'बहुस्यांप्रजायेय' इस उत्तर प्रकरण में संकलापूर्वक
अनेक भवन रूप जो कार्य तद्रूप से परिणत होने से प्रकृत में कारणत्व का अनुकूल
गुणाश्रितत्व विशिष्ट सूक्ष्म जो चित् अचित् तादृश चिदचित् शरीरकत्व रूप जो परं ब्रह्मत्व है
वही सत्पद का प्रवृत्ति निमित्त है यानी शक्यतावच्छेदक है । अर्थात् प्रवृत्ति निमित्त है यानी

काशं प्रसरमवाप्नुवानाज्ञानेच्छादयो गुणा बाल्ये नामन्निति मक्यं
कल्पयितुम् । तस्मान्निखिलशक्तिविशिष्टमेव ब्रह्म सृष्टेः प्राक्काले
ऽविभक्तनामरूपतया सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकमवतिष्ठत इति निर्विवादम् ।
अद्वितीयपदश्चात्यन्तविलक्षणं विमजातीयमेव ब्रह्मोपस्थापयन्निमि-

यथा अस्मिन् ग्रामे अयमद्वितीयः पण्डित इति कथनेन प्रकृतपण्डितममानो
द्वितीयो नास्तीत्यर्थो भवति नतु तदनिरिक्तस्य पदार्थमात्रस्यैव निराकरणं भवति ।
तथैव ब्रह्मजातीयोऽन्यः कश्चिदधिष्ठाता जगतो नास्तीति द्योतितं भवति । ननु ब्रह्माति-
रिक्तस्याभावो निवेदितो भवतीति । एवमेवेत्यत्र एवकारेण सर्गस्य पूर्ववस्थायां
बाहुल्यमात्रस्य निराकरणं भवति । एतद्वता जगत उत्पत्तेः पूर्वमस्य जगतोऽम-
त्वं निराकृतम् । तथा कार्योत्पत्तेः पूर्वं कार्यमसदिति न्यायमतमपि निराकृतम् ।
अयमभिप्रायः यथा उत्पत्तेरन्तरं घटादिकार्यसन् तथैवोत्पत्तेः पूर्वमपि सदेव अन्यथा
शक्यतावच्छेदक केवल विशेष पर ब्रह्म ही नहीं है किन्तु चिदचित् शरीरक ब्रह्मत्व है । यथो-
क्त विशेषण विशिष्ट ही सत्पद का शक्य अर्थ है केवल विशेषण नहीं नवा केवल विशेषण ही
सत्पद का शक्य है । इस तरह सत्पद का शक्यार्थ का विवेचन करने से अयम वाक्य का भी
अर्थ संगत होता है । सृष्टि के पूर्वकाल में तो 'नास्तिभित्तमंभीरं न तेजो न तमस्वतम । अना-
ख्यमनभिव्यक्तं न किञ्चिदवशिष्यते'—इत्यादि स्मृति से तो यह सिद्ध होना है कि सृष्टि से पूर्व-
काल में तो केवल सत् मात्र था ईश्वरवस्तु नहीं था । तब एतद्वत् विलक्षण कार्य क गिा उस
ब्रह्म में किस तरह माना जाय ! इस पूर्वपक्ष के उत्तर दृष्टान्त द्वारा भाष्यकार बतलाने हैं
'नडि युनीत्यादि' युवावस्था होने पर देवदत्त में ज्ञानेच्छादिक जो गुण हैं वे यथा संभव बढ़ते
हैं तो वे गुण समुदाय बाल्यावस्था में नहीं थे क्या अर्थात् युवावस्था में तिन गुणों की अविभक्ता
देखते हैं वे सब गुण बाल्यावस्था में भी रहते ही हैं । केवल विशेषण इतनी है कि पूर्व में
सूक्ष्म रूप से रहते हैं । वे ही उत्तर काल में अभिव्यक्त रूपक होते हैं । इसी प्रकार से पर-
मात्मा में भी सूक्ष्म रूप से चिदचिद्विभक्तियों की सत्ता रहती है । और सृष्टिकाल में स्पृष्ट रूप
कता को प्राप्त कर जाते हैं । परन्तु सृष्टि पूर्वकाल में कारणता के उपयोगी सब गुण विभ-
मान ही हैं क्योंकि सत्कार्य बाद में नहीं पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है 'नास्तो विद्यते-
भावः' इति नियमात् । इसलिए यह सिद्ध होता है कि सर्वशक्ति सम्पन्न परमपुरुष ही सृष्टि
के पूर्वकाल में अविभक्त नाम रूपक चिदचिच्छरीरक रहते हैं, इसमें किसी प्रकार का विवाद
नहीं है ।

तत्कारणान्तरमस्य जगतो व्यावर्तयति । न तु सजातीयविजातीय-
स्वगतभेदमून्यत्वम्ब्रह्मणोऽभिदधाति । एकमेवेत्यत्रैवकारेण तस्या-
मवस्थायां व्यवच्छिद्यते बाहुल्यम् । एवब्राह्मपादीयनये काम्कव्या-
पारात्प्राक्कारणे कार्यस्यामत्वमप्यनेन मदितिपदेन व्युदस्तम् । तथा
चानया श्रुत्या प्रवाहानादित्वमस्य जगतोऽङ्गीकृत्याचिदुद्गात्रं
पाणिनामिकमेव तत्त्वमस्मिन् प्रकरणेऽभिधीयते । न तु मदमद-
कारणव्यापारेणापितस्यसत्वासंभवात् । न च पूर्वमपि कार्यस्य सत्त्वे कारणव्यापारो
निरर्थक एवस्यादिति वाच्यम् । सूक्ष्मरूपेणकारणे विद्यमानस्यैव कारणव्यापारेणा-
विर्भावान् । सतएवाविर्भावोभवति नत्वमतः । यथागविविद्यमानस्यैवपयसोदोहनेनाविर्भा-
वोभवति । नतु सिकतादिमुतैलस्यकस्य पिवाकारकमहस्त्रेणाप्याविर्भावः । नहि असतः
समुत्पादनेऽस्तिकश्चिदष्टान्तः । एवं च प्रकृते सूक्ष्मविदचिद्विशिष्टब्रह्मणः सकाशात्स्थ-

इसके बाद श्रुति घटक अद्वितीय पद के अर्थ को साधक बनाने हैं 'अद्वितीय पद-
जेन्यादि' श्रुति घटक जो अद्वितीय पद है वह ब्रह्मभिन्न पदार्थों के अभाव का प्रतिपादन नहीं
करता है, किन्तु ब्रह्म सजातीय का निराकरण करता है । अर्थात् आयत्त विलक्षण विमजातीय
ब्रह्मका उपस्थापन करता हुआ इस जगत् का निमित्त कारणान्तर का निराकरण करता है ।
जिस तरह 'अस्मिन् ग्रामेऽयमद्वितीयः पण्डितः' यहाँ जैसे प्रकृत पंडितवापेयया सजातीय पण्डि-
तान्तर का व्यवच्छेद होता है तद्वत् ब्रह्म में भी । अथवा द्वितीय पद का अर्थ होता है सहायक
तो अद्वितीय पद सहायकान्तरका निराकरण परक है । तो जगत्कार्य के उत्पादन में ब्रह्म सहा-
यकान्तर निरपेक्ष है । जिस तरह घट निर्माण करने में कुलाळ को मृत्तिकादि सहायक की
आवश्यकता होती है । उस तरह ब्रह्म को सहायकान्तर की आवश्यकता नहीं है । 'असिद्वितीयो-
नुसमागपाण्डवम्' यथा 'शिष्यद्वितीयोमहं चालयति'—इत्यादि स्थल में सहायकवाची भी द्वितीय
शब्द है । तो एतादृश सहायक सजातीय द्वितीय का निराकरण श्रुतिघटक अद्वितीय पद करता
है । न तु सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्यत्व ब्रह्म को बनलाता है एवम् 'एकमेव'
यहाँ जो एवकार है वह सर्ग के पूर्ववस्था में बाहुल्य का निराकरणपरक है । अर्थात् सर्ग के
पूर्वकाल में विभक्त नामरूप पदार्थ नहीं था । किन्तु अविभक्त नामरूपक कारणावस्थ रूप
सं था । इससे जिस तरह न्याय के मत में कारक व्यापार के पूर्व में कारण में कार्य की सत्ता
नहीं रहती है सो नहीं किन्तु कारण व्यापार के पूर्व में भी कार्य सत् रूप से रहता ही है,
यह अर्थ एवकार का है । अतः कार्य के असत्त्व का निराकरण होता है ।

भ्यां व्यपदेशानर्हं मिथ्यात्वम् । केवाच्चिदुज्ज्वान्तानामस्मिन्नर्थे
मा भूद्विशय इत्यग्रिमे वाक्ये तन्मतमुपन्यस्य स्वयमेव दूषितत्वात् ।
'कथमसतः सज्जायेत' [छा० ६।२।२] इति । स्पष्टीकरिष्याम उपरि-
ष्टाज्जन्माद्यधिकरण इममर्थमित्यत्र संक्षेपः ।

एतेन 'यस्मात्परं नापरमस्ति' (श्वे० ३।९) इत्याद्युपनिषद्भ्यः
'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [गी० १३।२] इत्यादिस्मृतिषु च प्रपञ्चमि-

लस्य जगतः प्रादुर्भावोभवति । तत्रपरिणामिकारणं यथोक्तं ब्रह्मैव भरतीति ।
अस्य विशेषतो विवरणं भाष्यकारः स्वयमेव जन्माधिकरणे करिष्यतीति तत एव दृष्ट-
व्यमतो नात्रविशेषतो विवरणमावश्यकतेति शम् । तत्सिद्धं जगत्सत्यं नो मिथ्येति ।

इतः पूर्वप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसाधनाय यत् श्रुतिजातं पूर्वपक्षिणोपन्यस्तंतस्य स-
र्वस्यापि न मिथ्यात्वबोधकत्वमपितु प्रपञ्चसत्यतायामेव तात्पर्यमित्यभिधाय तदन्यश्रु-
त्यादेरपि न मिथ्यात्वसाधकत्वं किन्तु प्रपञ्चसत्यत्वसाधकत्वमेवेति दर्शयितुमुपक-
मते भगवान् भाष्यकारः एतेनेत्यादि । 'यस्मात्परमित्यादि । यस्मात्परमात्मा-

तो इस श्रुति से प्रवाह रूप अनादिता इस जगत् को मान करके अचित् पदार्थ द्वारा
पारिणामिक तत्व का ही इस प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है न तु सत् असत् से व्यपदेश
के अयोग्यलक्षण मिथ्यात्व का प्रतिपादन इस प्रकरण में है । किसी सरल स्वभाववाले व्यक्तियों
को संशय न हो इसलिए अग्रिम वाक्य में उसके मत का उपन्यास करके श्रुति स्वयमेव निराकरण
करती है 'कथमसतः' इत्यादि । असत् कारण से सत् पदार्थ की उत्पत्ति किस तरह हो सकती
है । यहाँ किम् शब्द आक्षेपार्थक है । अर्थात् असत्पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इस
विषय का स्पष्टीकरण जगज्जन्माधिकरण में विशेष रूप से प्रतिपादन किया जायगा इसलिए यहाँ
संक्षिप्त करता हूँ । अर्थात् तिल में अनागतावस्था तैल की उत्पत्ति होती है । किन्तु मिकना में
तैल की उत्पत्ति नहीं होती है । इस से सिद्ध होता है कि सूक्ष्म रूप से कारण में अवस्थित
ही कार्य उत्पन्न होता है, न तु अविद्यमान का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार पूर्व वर्णित क्रमसे 'जिस से पर और अपर कुछ भी नहीं है इत्यादि' उपनिषदों
तथा क्षेत्रज्ञ भी मुझ को जान' इस प्रकार सामानाधिकरण्य के बल से एकता प्रतीत होती है,
इसलिये सत् ईश्वर को ही 'अज्ञान से क्षेत्रज्ञ सदृश भ्रम हो जाता है' यह स्वीकार करना
पड़ेगा । उसकी निवृत्ति के लिये एकत्वोपदेश है । यह रज्जु है सर्प नदी इस आत्मोपदेश से

म्यान्वपूर्वकं परमार्थतोऽद्वैतमेकमेव ब्रह्माभिधीयत इति मायिमत् सर्वं व्याख्यातं वेदितव्यम् । दुर्गाग्रहमात्रीकमाधनत्वात् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गप्रमङ्गाच्च । नहि तन्मते ब्रह्मातिगिक्तं वस्त्वन्तरं सर्वपदाभिलष्यमस्ति यद्विज्ञानमेकविज्ञाननियतं स्यादिति । नच ब्रह्मास्वरूपेऽवगते तदध्यस्तं प्रपञ्चजातं ज्ञातमेव । अधिष्ठानमेव ह्यगोपितवस्तुनः स्वरूपम् । तदतिरेकेणावस्तुभूतस्य कल्पनामात्रलब्धमन्ता-

न्मतोऽपेक्ष्यकिमपिपरमपरं वा वस्तु ज्ञातं न विद्यते । तथा 'क्षेत्रज्ञ चापि मां विद्धि' इत्यादिषु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनपूर्वकं वास्तविकरूपेणाद्वितीयब्रह्मण एव मिद्धिर्भवतीति कथितं तदस्य सारम् । परन्तु नहि पूर्वोक्तवचनानां मिथ्यात्वेनान्तर्यमपितु प्रपञ्चमन्यत्वे एव तान्तर्यमित्यर्थस्यमाधितत्वात् । मिथ्यात्वमाधकान्येतानि वचनानि इति कथनं तु तेषां दुराग्रह्याधीनमेव । न तु श्रुतिस्मृतिर्कथयितममन्वितमिति । किञ्च मायिमते 'एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानीयप्रतिज्ञाभङ्गदोषोऽपिनापगच्छति । यतो नहि तन्मते ब्रह्मभिन्नो किमपिवस्तुवास्तविकं विद्यते यत् ब्रह्मविज्ञानेन विज्ञातं स्यात्, विज्ञेयस्यैभावात् । किं केनापि विज्ञानेन गगनकुसुमादिकं विज्ञातं भवति ? नैवम् । कुतः ? कूर्मरोमादीनामविज्ञेयत्वमेवावस्तुत्वात् । तद्वत् तन्मते ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यावस्तुत्वादिति । न चारोपितपदार्थस्यातिरिक्तमन्ता न भवति किन्तु यत् यत्राध्यस्तं तत्राधिष्ठानमन्वेनीयमन्तावन्

जैसे रज्जु में हुये सर्पत्व भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है । उसी प्रकार परम आप्त भगवान् के उपदेश से ईश्वर में हुए क्षेत्रज्ञत्व भ्रमकी भी निवृत्ति हो जाती है । इत्यादि स्मृति वाक्यों में प्रपञ्च मिथ्यात्व कथन पूर्वक परमाण्वरूप में एक अद्वैत ब्रह्म ही कहा जाता है । इत्यादि मायावादि यों के सम्पूर्ण मत का खण्डन जानलेना । इसका कारण यह है कि उन का यह मन युक्ति तथा प्रमाण रहित दुराग्रह मात्र में सिद्ध किया गया है । इन लोगों के इस मन के माननेपर उपनिषद् में कही हुई एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा के भंग का प्रसंग भी प्राप्त होता है । क्योंकि उनके मन में ब्रह्म से अनिरिक्त सर्वपदावाच्य कोई पदार्थ है ही नहीं जिसके विज्ञान को एक विज्ञान से होने वाला कहा जा सके । वे यह नहीं कह सकते हैं कि 'अधिष्ठान ही आगोपितवस्तु का स्वरूप है । क्योंकि कल्पना मात्र से जिसको सत्ता प्राप्त होती है, उसे अवस्तु रूप आगोपित पदार्थ का अधिष्ठान से अनिरिक्तरूप से निर्देश करना अशक्य है ।

कस्य तस्य निर्देष्टुमशक्यत्वादितिवाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथा हि आध्यासिकः प्रपञ्चोपादानतया ब्रह्माश्रयति नवा आद्ये स्वरूपसत्तया, असत्तया वा ? यदि सत्तयेत्यभिधत्से, हन्त ? तर्हि, आगतं प्रपञ्चे सत्यत्वम् । अथ चासत्तयेत्यन्तिमं पक्षं कक्षीकोगोपि चेदमन्दमुपहास्यम् । आश्रयाश्रयिभावश्च सतोरेव कयोश्चिद्रस्तुनोः कुण्डवदयोस्वि लोकशाम्भिमिद्धः ।

भवति । न हि शुक्तिसत्तातिरिक्तमत्वं रजतस्य भवति । तदतिरेकेण तस्य निर्देशानर्हत्वमेवेति । तदपि न युक्तम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि योयमाध्यासिकः शुक्तिरजतादिप्रपञ्चः सत्रज्ञोपादानकोन वा ? आद्ये स्वरूपसत्तया अपत्तयावा ? तत्र प्रथमे अध्यस्तसमस्तप्रपञ्चस्य सत्तावत्वेन मूलज्ञेः । द्वितीयोपि न युक्तियुक्तः । आश्रयाश्रयिभावस्यसत्पदार्थाधीनत्वात् । सतोरेवाधेयभावो भवति । यथा घटभूतलयोः । न तु असतोस्तथात्वम् वन्ध्यापुत्रादौ तदभावदर्शनादिति । न वा द्वितीयः पक्षः सर्वोपादानं ब्रह्मेति नियमस्य भङ्गप्रसङ्गात् ।

ननु न शुद्धं ब्रह्मजगतः कारणं किन्तु मायाशवलितमेवब्रह्मोपादानं भवति । तत्र 'तस्मान्मायी सृजते विश्वमेतन्' इत्यादि श्रुत्यामायाविशिष्टस्यैव तथान्वप्रतिपादनात् तत्रापि विशेषणांशस्यमायाया एवोपादानत्वम् । ब्रह्मणस्तुतदधिष्ठानतया तथात्वमौपचारिकत्वमेवेत्याशयेनाह ननुशुद्धस्याचिद्रस्तुनः इत्यादि । उत्तरयति इतिचेन्न इदि शुद्धं ब्रह्मनोपादानंतदा, 'यतोवा इमानि भूतानि' इत्यादिब्रह्मणि इसलिये समस्त प्रपञ्चक अधिष्ठान रूप ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान होने पर समस्त प्रपञ्च ज्ञात हो ही जायगा' ऐसा वे क्यों नहीं कह सकते हैं ! इसका उत्तर यह है कि उन लोगों का उक्त कथन विकल्प को नहीं सह सकता है इसलिये । वह इस प्रकार है अत्यस्त प्रपञ्च अपने उपादान कारण रूप से माने हुए ब्रह्म के आश्रित है कि नहीं ! यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें यानी प्रपञ्च आश्रित है तो हम पूछने हैं कि प्रपञ्च स्वरूप सत्ता से ब्रह्माश्रित है अथवा स्वरूप सत्ता के बिनाही ब्रह्माश्रित है ! स्वरूप सत्ता से प्रपञ्च ब्रह्माश्रित है इस प्रकार प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर प्रपञ्च में सत्यत्व आही गया अर्थात् प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो ही गया । दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर यानी प्रपञ्च स्वरूप सत्ता बिना ही ब्रह्माश्रित है ऐसा कहने पर माया वादी गण अत्यन्त उपहासास्पद बनेंगे । क्योंकि सत्

द्वितीये ब्रह्मोपादानवादभङ्गः । ननु शुद्धस्य चिदस्तुनोना-
स्त्येवोपादानत्वमिति चेन्न । 'यतोवा' [तै० ३।१।१] इत्यादिश्रुति
शतव्याकोपप्रसङ्गात् । अथाध्यस्तोपादानमेव 'तुतिर्गमिधत्त' इति-
चेत्कोट्यर्थोऽनेन बालक्रीडनेन साधितः स्यादगवत्या श्रुत्या ।
अतः प्रपञ्चसत्यत्वमेव सर्वत्रोपदिष्टमिति दिक् ।

एतदपि चाज्ञानमनादिभावरूपं पदार्थान्तरभागप्रत्यक्षानुपा-
जगत्कारणताप्रतिपादकवचनानां निरासेन तत्रासङ्गत्वात् । न च परमेश्वरस्यैव
जगदुत्पादकत्वं न शुद्धस्येति वाच्यम् । अध्यस्तस्याध्यामान्तरं प्रत्यनभिष्टानन्वात् ।
न हि भवति शुक्तिरूपाध्वस्तं रजतं कस्याप्युपादानम् । तन्मतेऽध्यस्तोपादानस्याधिष्ठानस्या
धिकसत्तावत्वम् । अतएव सत्यानृतयोर्मिथुनीकरणमिष्युक्तम् । एतावताधिष्ठानस्य स-
त्यत्वं प्रतीतं भवति । उभयोरध्यस्तत्वेऽध्यस्तत्वाविशेषान् कः कस्योपादानं स्यात् ।

तस्माद्यन् प्रमाणं प्रपञ्चमिध्यात्वप्रतिपादनायोपस्थाप्यते तन्मर्वैरपि प्रपञ्चस्य-
सत्यत्वमेवोक्तयुक्तिभिः प्रतिपाद्यते इति सर्वजगत् चिदचिद्विशिष्टपरमात्मजनितं
सत्यमेव भवति न तु प्रपञ्चस्य मिध्यात्वमिति दिक् ।

अथानादिभावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं विद्यते । तदेव जगतः परिणाम्युपादानं
स्वरूपं कुण्ड तथा सत्स्वरूपं ब्रह्मे समानं ही कोऽभी दो सत्स्वरूपं पदार्थों का ही आचारावे-
यभाव लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध है ।

यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार कर कहें कि प्रपञ्च उपादान रूप में ब्रह्म का आश्रय
नहीं करता है तो वार्दा को ब्रह्मोपादान वाद के भङ्ग का प्रसङ्ग प्राप्त होगा यदि कहें कि ठीक
ही तो है शुद्ध चिन्तार्थ में प्रपञ्चरूप कार्य की उपादान कारणता है ही नहीं तो
शुद्धचिद्वस्तु में उपादान कारणता का अभाव कहने पर 'जिस से ये भूत उत्पन्न होते हैं'
इत्यादि सैकड़ों श्रुतिओं के विरोधका प्रसङ्ग प्राप्त होगा । इस में यदि कहें कि श्रुति अत्य-
स्तब्रह्म को ही प्रपञ्च का उपादान कहती है शुद्ध ब्रह्म को नहीं तो इस का उत्तर यह है कि
भगवती श्रुति इस बाल क्रीडा से कौन सा अर्थ सिद्ध कर लेगी ! क्योंकि अध्यस्त प्रपञ्च के
अधिष्ठानाश्रय के प्रश्न के सदृश अध्यस्त ब्रह्मके अधिष्ठानाश्रयका अपरिहार्य प्रश्न तो विद्यमान

॥ अथ केवलद्वैतवादिनः सर्वमपि परिहृत्यमानमेहिकपारलौकिकपदार्थज्ञानमाविशकमेवेति मन्यन्ते
परमपुरुषस्य श्रीरामस्य लीलाविभूतिलङ्घनं सर्वथा सम्यमेवेति न स्वीकुर्वन्ति । तेषां अमनिगच्छणां
अविद्यायाः स्वरूपप्रमाणयोर्विषययोलेक्षतो विचारणामत्रकोमि । येषं भवद्भिमतता "अविद्या" तस्याः

नबलेन प्रसाध्य तच्छबलिनस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमितिकथन-
न्तदपि महाम्भसिनिमज्जतः कुशकाशावलम्बनमनुकरोति । तथाहि

तदधिष्ठानतया ब्रह्मण उपादानत्वं ततश्च तादृशाज्ञानशबलिनस्य परमात्मन
उपादानत्वमिति मायावादिमतम् । तस्यमतस्याज्ञानमूलकस्य तादृशाज्ञाननिर्गाकरण-
द्वारा निर्गाकर्तुमुपक्रमते यदपिचाज्ञानमित्यादि । अज्ञानमित्यत्र न ज्ञानमित्यज्ञानम् ।
अत्र समस्यमानस्य नञः कोर्थः ? किं ज्ञानाभावोऽज्ञानम् । ज्ञानभिन्नं वा, ज्ञान-
विरोधी वा तत्र नाद्यः ज्ञेयस्य घटादेर्भावोऽज्ञानपदवाच्यं भवति न वा अनिर्वा-
ही रहेगा । इसलिये शालों में सर्वत्र प्रपञ्च के सत्यत्वका ही उपदेश किया गया है । यह तो
दिग् दर्शन मात्र है विशेषचर्चा अन्यत्र होगी ।

मायाशबलिन ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मान करके जगत् में मिथ्यात्व की सिद्ध करने
हैं । उस में विशेषणीभूत अज्ञान की सिद्धि आगमादि प्रणाम से नहीं होती । इस बात को
बनाने के लिए उपक्रम करते हैं 'यदपिचाज्ञानमनादिभावरूपमित्यादि । अनादि भावरूप पदार्था-
न्तर भूत अज्ञान को आगम प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल से सिद्ध करके तादृश प्रणाम सिद्ध-

किं स्वरूपम् । यतो ज्ञानस्य यो भावमद्विन्नस्वरूपेण काचिदधिष्ठा न लोके प्रसिद्धा समुपपद्यते वा । ज्ञान
स्य योहि प्रागभावः प्रथ्वंसो वा, तदन्यतरमिन्नेव सर्वेषां व्यवहर्तृणां व्यवहारदर्शनान् । ननु ज्ञाना
भावातिरिक्ते भावाभावचित्तभूणेऽविज्ञेति व्यवहारा व्यवहर्तृ लोके प्रसिद्धः । तदातिरिक्ता 'अधिष्ठा न
प्रसिद्धा न उपपादकयुक्तितर्काभ्यां तादृश विद्याया उपपत्तिरपि भाति । युक्तिनर्हीदेर्भावात् ।

किञ्च 'अविद्येत्यत्र न विज्ञेति अविज्ञेत्येव समासः । तत्र विद्या पदेन समस्यमानस्य नञ्
पदस्य कोर्थः ? तत्र समासान्तर्गतस्य नञ् पदस्य षडर्थः संभवन्ति । तथोक्तम्' तस्मादप्यमभावत्वं
तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्यं विरोधश्च नवार्थाः पद प्रकीर्तिताः ॥१॥

एतदर्थस्तु इत्थं भवति, सादृश्यम् १ अभावः २ भेदः ३ अल्पत्वम् ४ अन्यत्व ५ अप्राशस्यम्
तथा विरोधः ६ इत्यादिषडर्थः भवन्ति नञ् इति ।

तद्यथा अनिक्षुः सर इत्यत्र न इक्षुरिति अनिक्षुः सरः । तत्र नञोऽर्थः सादृश्यम् इक्षुसदृशसंज्ञः
यथेक्षुदण्डो लंबायमानो मधुरश्च तथेदं सरोपि लंबायमानं तथेक्षुरसवदिति मिष्टजलकं चेति भवति
सरस इक्षुसादृश्यं चन्द्रवन्मुखमिति वदिति भवति नञर्थः सादृश्यमिति प्रथमोदाहरणम् ।

द्वितीयंतु अघटं भूतलमित्यत्र घटेन सह समस्यमानो नञ् घटस्यात्यन्ताभावं भूतले बोधयति ।
तदन्यार्थस्य तत्रानुपयुक्तत्वादिति द्वितीयोदाहरणम् । तृतीयंतु 'अघटः पटः' इत्यत्र घटेन सहसमस्य-
मानो नञ् घटभिन्ने पटादौ घटस्यान्योन्याभावं प्रदर्शयति । योर्यत्नादिति तृतीयोदाहरणमिति ।

चतुर्थोदाहरणंतु 'अनुदराकन्या' अत्र न विद्यते उदरं यस्याः सा अनुदरा । तत्रोदरात्यन्ताभाववतीतु
नार्थः प्रत्यक्षवाधापह्नविषयान् वाधादित्यर्थः किन्तु तत्रत्य नञोल्पतैर्गर्थः । अर्थादिषदुदरवती, अल्पोद-
रवतीत्यर्थः । भवति काचित्कन्यका पृथुदस्वनीनेयं तथा किन्तु कुशोदरी तदुक्तम् 'अलघुताद्भुदरस्य
कुचे गता चरणचंचलता नयने गता । सखि विलोक्यमानंतनुचेष्टितं दिनभयेन गतं नवयौवनम्' इति स्वभाव

भावरूपस्याज्ञानस्यागमेन साधयितुमशक्यत्वात् । न च 'अनृतेन हि प्रत्यूहाः' [छा० ८।३।२] 'इन्द्रोपायाभिः पुरुष इयते' (बृ० ४।५।१९) इत्याद्यागमाः प्रमाणतामत्र दधत इति वाच्यम् । तत्रानु-

च्यत्वं तथैव ज्ञानाभावरूपस्य तस्य तथात्वात्संभवात् । न वा द्वितीयः ज्ञानभिन्नस्य समस्तस्यापि जगतोऽज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तच्चमायावादिभिर्गणितयानाभ्युपेयते । नापि तृतीयः ज्ञानविरोधिनः संशयविपर्ययादेरपि अज्ञानत्वप्रसङ्गात् न च संशयादेरज्ञानत्वं कस्यापीष्टम् । किञ्च किमिदमज्ञानत्वम् ? न तावद् ज्ञाननिर्वन्त्यम् पूर्वज्ञाने उत्तरज्ञाननिवर्त्ये ऽतिव्याप्तेः । न चानादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति तत्त्वज्ञानमिति वाच्यम्, तथा सति ज्ञानप्रागभावे ऽतिव्याप्तेः । ज्ञानप्रागभावादि स्वप्रतिषेधे ज्ञान से शनक्ति विशिष्ट ब्रह्म को जगत् के प्रति उपादान कारणता है, ऐसा जो चयन है वह महाजलाशय में डूबनेवाले को तिनके का सहारा लेने का अनुकरण करता है । तथाहि क्योंकि भाव रूप अज्ञान का आगम द्वारा साधन तो अशक्य है । अर्थात् आगम से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि तादृश अज्ञान का साधक कोई आगम नहीं है ।

रौसेकानां सहृदयानां साहित्यिकानां रसोद्गारो ननु तर्ककर्कषु बहूनामुद्गारः । यथावा 'अन्यत्राणं शास्त्रमित्यत्र न सर्वथा लवणाभाववति शास्त्रे तथा प्रयोगः किन्तु अन्यत्र पल्लवणके एव शास्त्रे तथा प्रयोग इति भवति समासान्तर्गतस्य नञोऽल्पार्थकतापि । इति चतुर्थोदाहरणम् तथा अपाशम्यम् तथा 'अज्ञानो वाधुषिकः' । अत्र न ब्रह्मणोऽब्रह्मण इति ब्रह्मणेन सहसमम्यमानस्य नञोर्भेदादिरर्थः किन्तु अपाशम्यमर्थः तथाचाप्रशस्तो ब्रह्मणः स इत्यर्थः । अपाशम्यत्वादेव तस्य औलम्भमार्तक्रिया समुदाये ऽन्विकार इति पञ्चममुदाहरणम् । यथैते पूर्वोदाहृताः पञ्च अर्थान् तथा पञ्चविरोधोपपत्त्यर्थः समासान्तर्गतस्य नञो यथा अगुरः अत्र न सुरोऽसुरः । तत्र भेदादिर्नार्थो नञः तथा सति सुरभिन्नस्य मनुष्यादेरपि तथात्वापातात्तस्माद्विरोधपक्षार्थः । एवञ्च सुराणां विरोधकारकाश्च सादिकाः समाजविशेषा एवेति सामान्यतो नञर्थः प्रतिपादिताः ।

प्रकृते अविद्येत्यत्र विद्यापदेन समस्यमानस्य नञः विद्याभावो विद्याया विरोधी विद्यान्योवा अर्थः स्वीक्रियते ? तत्र प्रथमपक्षे यथा विद्याविषयस्य घटपटादिपदार्थस्याभावोऽनिर्वचनीयेन भवति । कुतः ? घटादिविद्याभावस्य अभावरूपत्वेन मदसद्विलक्षणत्वलक्षणानिर्वाच्यत्वस्याभावात् । तथैव विद्याभावस्यापि अभावरूपत्वेन मदसद्विलक्षणत्वलक्षणानिर्वाच्यत्वस्याभावात् । नवा विरोधित्वलक्षणानिर्वाच्यपक्षोपि संभवति । कुतः ? तथा सति संशयविपर्ययादीनामपि विद्याविरोधितया तेषु प्रकृतलक्षणस्यातिव्याप्तेः । यतो विद्यानाम प्रमाज्ञानम्, तादृश प्रमाज्ञानलक्षणविद्याया विरोधित्वं संशयादिषु भवत्येव नच संशयादयोऽनिर्वाच्याः किन्तु ते संशयादयो ज्ञानलक्षणगुणात्मका इति नतेऽनिर्वाच्या गुणात्वादात्मविशेषत्वाद्वा । एवं संशयादीनामनिर्वाच्यत्वे भावस्वरूपत्वस्यापि विरोधः प्रसज्येत । एवं तृतीयपक्षस्याविद्यान्यत्व लक्षणस्य स्वीकारे विद्याभिन्नस्यात्माज्ञादिपदार्थस्य नित्यमप्यपि तथात्वमर्थोद्विधाभिन्नत्वेन तेषामपि अनिर्वाच्यत्वमापद्येन नचेष्टापत्तिः ? यथा रजतविभ्रमं प्रति सत्यस्य श्रुतिकारदेव

तशब्दस्य बन्धप्रदायककर्मणि नियतत्वात् । 'ऋतं पिवन्तौ मुकृतस्य लोके' (कठ० ३।१) इत्यादौ भगवदाराधनरूपनिष्कामकर्मागो यत्फलं तद्वत्तमिति दृष्टत्वात्तद्व्यतिरिक्तमनृतमित्युच्यते । न ह्यनेनानृतपदे-
 गिज्ञानेन निवृत्तो भवति, अनादिरभिभवति न चानादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यम-
 ज्ञानम्, इति वाच्यम् । तथा सति प्राचीनमतानुसारेण परमाणुश्यामिकायामतिव्याप्तेः
 परमाणुश्यामत्वस्यानादिभावत्वादीदृशज्ज्ञानेन निवर्त्यत्वाच्च । किञ्चैवं यदि अज्ञानमना-
 दिभावरूपं भवेत्तदा तदपिनित्यं भवन्नज्ञानेन निरस्यं स्यात् । आत्मवत् । यथा आत्मा
 अनादिभावरूपो न निवर्तते । तथैवाज्ञानमप्यनादिभावरूपतया ज्ञाननिरस्यं न
 नहीं कहो कि 'अज्ञान से आच्छादित था' तथा 'परमेश्वर इन्द्र माया के द्वारा अनेक रूप
 को प्राप्त करते हैं' इत्यादिक आगम भावरूप अज्ञान में प्रणाम हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है ।
 क्योंकि प्रथम वाक्य में अनृत शब्द का अर्थ है बन्धजनककर्म नतु भवदमित अज्ञान अर्थ है
 'ऋतं पिवन्तौ' इत्यादि स्थल में भगवान् का आराधनात्मक कर्म का जो फल है वह 'ऋत' शब्द

धिप्रान्तत्वं तथैव जगद्विषयं प्रति सदात्मकस्य ब्रह्मण एवाधिप्रान्तत्वं भवतीति योऽन्यत्र मिद्वान्तस्तस्य विलोप
 प्रसङ्ग एव तत्र बाधको भवेत् । यतो ब्रह्मणोऽप्यनिर्वाच्यत्वे कमधिप्रान्तविशेषमाल्लभ्य मायावादः प्रवर्तते ।
 नहि भवति, अनिर्वाच्यं शुक्तिरजतम् कस्याप्यधिप्रान्तम्, अनिर्वाच्यत्वादेवेति । तस्मान्नैतन्नयोपि पक्षा
 अविद्यास्वरूपविषये भवतामनुकूला इति ।

नवा लोके वेदाप्रसिद्धाविद्यायाः किमपि लक्षणं संभवति । विचारे कृते सति बालुकाभित्तिवत्
 विलीयमानमेव भवतीति । तथाहि न ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञान [अविद्या] मितितल्लक्षणं भवति । अर्थान्
 ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबन्धतावत्वरूपं तत्संभवति । (यथा मन्दान्धकारे साहस्यदि
 दोषसंवलने शुक्तिवत्प्रकारकज्ञानमत्वे शुक्तौ रजतविभ्रमो जायते तत्र च कारणबलं शुक्तिवत्
 प्रकारकज्ञाने जाते तत्र रजतविभ्रमो निवर्तते इति तत्र शुक्तिवत्प्रकारकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबन्ध-
 कतानिरूपितप्रतिबन्धताया रजतज्ञाने सत्वाल्लक्षणसमन्वयो भवतीति ।) परन्तु नैतल्लक्षणं समीची-
 नम् । यतः पूर्वज्ञानस्य तदुत्तरकाले जायमानो तज्ज्ञाने । विनाशदर्शनादिनि तत्रापि ज्ञानत्वावच्छिन्न
 प्रतिबन्धकता निरूपितप्रतिबन्धतावत्त्वस्य पूर्वज्ञाने विद्यमानत्वेन तत्रानिव्याप्तेः । परन्तु तज्ज्ञाननिव-
 र्त्यस्यापि पूर्वज्ञानस्यानिर्वाच्यत्वं केनाप्यभ्युपगम्यते येन कदाचित्तत्रोद्भासि कुर्यात् कोपीति ।

नचैतादृशपरिहाराय अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यं यत् तदज्ञानलक्षणमिति लक्षणकणेन
 पूर्वज्ञानेऽति व्यामिश्रितः पूर्वज्ञानस्य जगत्त्वेन तत्रानादित्वाभावादिति वाच्यम् तथापि ज्ञानप्रागभावेऽति
 व्याप्तेः । ज्ञानप्रागभावस्यानादित्वान् स्वप्रतियोगिविनाश्याच्च सर्वोपि प्रागभावः स्वप्रतियोगि
 विनाशः प्रतियोगिजनकोऽनादिश्च कारणकोटिप्रविष्टनयेन कारणवत्प्रतियोगिनं जनयति स्वभावात्
 प्रतियोगिनाविनश्यति तावदेव हि प्रतीयते प्रागभावो यावन्नायाति प्रतियोगी, तदागमने तद्विनश्यति,
 प्रतीतिबलादनादिरपि भवतीति तत्तर्ककुशलानां प्रक्रियेति प्रागभावेऽज्ञानलक्षणस्यातिव्याप्तिं भवतीति
 नैतल्लक्षणं समीचीनमिति ।

नानिर्वचनीयं भावरूपमज्ञानमर्हति मेदृशम् । न च 'आयुर्वै घृतम्'
(तैत्तिरीय० का० २।३० प्र० अ० २) इतिवदन्तपदमत्र गौण्या वृत्त्याऽ-
स्यान्नित्यः स्यात् । 'अज्ञानं न ज्ञानेन निवर्तते अनादिभावरूपत्वादात्मवदित्यनुमानेन
तस्यनित्यत्वं प्रसज्येत । तथामति ज्ञाननिरस्यमज्ञानमित्यज्ञानलक्षणस्यतत्राव्याप्तेः ।
तथा च लक्षणाभावान्नाज्ञानमिद्विः, तदमिद्वैतच्छब्दलिनस्यत्रक्षणोन्नापादानन्वं
संभवतीति । तदनयारीत्या लक्षणानिरूपणेनाज्ञानं निराकृत्य प्रमाणाभावादपिना-
दज्ञानस्यमिद्विर्न भवतीति दर्शयति यदपिनाज्ञानमित्यादि । अनादिभावरूपत्वेमति-
का वाच्य कथं है ऐमा देवने में आता है । तादृश कर्म में अनिर्वचनीय जो कर्म है वह
'अनृत' शब्द से कहा जाता है । ननु इस अनृतपद से अनिर्वच्य भावरूप अज्ञान की मिद्वि
होती है । नहीं कडो कि—जिस तरह आयु का जनक पुन में आयु का प्रयोग लातगिक
है । उसी तरह प्रकृत में अनृतपद लक्षणा वृत्ति के द्वारा अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान का

नच तदोपपरिजिहीर्षया यदि अनादिस्त्वब्द भावव्यमपि विशेषण लक्षणे प्रतीयते तदा प्राग-
भावेभावत्वस्याभावेन न लक्षणस्य तत्रानित्याप्रिति वाच्यम् । अनादिभावस्य नित्यत्वेन
यदि अज्ञानमोदशं भवेत्तदायथानित्योभाव आत्म काशादिनित्य एवभवतीतिनेपां न केनापि विनाशोभवति
तथा अज्ञानस्यापि विनाशोत्तस्यात् । तदज्ञानज्ञाननाशकत्वज्ञानं प्राप्यमोक्षस्याशा आशामोदकत्वन
निरफलास्यात् । तथा मति शास्त्रगुरुपदेशादीनां सर्वशैबनैरर्थक्यमापणेन । तस्मान् यथाकथं नज्ञान
विनाशाय प्रयामः करणीय एव । परन्वज्ञानस्य नित्यत्वं न मिशोपायत्वात् विकलमेवभवेदिति ।

नन नायमस्ति नियमो यत् अनादिर्भावो न विनश्यतीति दृश्यते यदनादिर्भावः पार्थिवपामाण-
गतः यामत्वादिगुणे विलक्षणतेजः संयोगलक्षणपात्रेन निवृत्तो भवतीति । यद्येवं तदातादृशदृश-
मत्वे परमेश्वरज्ञाननित्यत्वंऽज्ञानलक्षणस्यापि व्यापिरापणेन । नहि कस्यापिपते नन द्यामत्वम
ज्ञानम् । इत्यलक्ष्ये लक्षणगमनादतिव्याप्तिः स्यादिनाज्ञानलक्षणं किमपि घटते । ननु नहि अनादि
भावत्वे मति यदनिर्वचनीयं भवेत्तदेवाज्ञानमित्येवाज्ञानलक्षणं भवन्ति चेन्न विकल्पामहत्यात् ।
तथाहि किं निर्वचनविग्रहोऽनिर्वचनीयत्वं निर्वचननिमित्तस्याभावोवाऽनिर्वचनीयत्वम् ? तत्र न प्रथमः
पक्षः साधीयानिवभवति । यतः 'इदं रजतम्' इत्यादिरूपेण निर्वचनस्य मायावादिभिर्वापि
स्वीकारान् । नवा द्वितीयपक्षोपि साधीयान् भवति । विकल्पामहत्यादेव । तथाहि निर्वचनस्य
वाग् व्यवहाररूपस्य कारणं ज्ञानं वा भवति अथोघटादिर्वानिर्वचनकारणमिष्यते ? तत्र न प्रथमः
पक्षः संभवति, यत् इदं रजतमिति ज्ञानस्यनादृशव्यवहारे जनकतायाः मायावादिनापि शीकृ-
त्वात् । ज्ञानमन्तरेण वाग् व्यवहारस्य सर्वथैवासंभवान् । नापि द्वितीयः पक्षः सदर्थस्याभावेऽमन्
ख्यातिवादप्रसंज्ञात् । असदर्थस्यचाभावे सत्ख्यातिवादप्रसंज्ञान् । तस्मान् निर्वचनागोचरताया-
भावाभावविलक्षणतायाश्चासंभवान् । अनाद्यनिर्वचनीयमज्ञानमिति लक्षणमज्ञानस्य कथमपि न
संघटते इति ।

नच यद् भ्रमस्योपादानकारणं तदेवाज्ञानलक्षणं करोमि । शुक्तिकायां रजतस्यविभ्रमो जायते ।
तत्र शुक्त्यवच्छिन्नचेतन्यगमज्ञानमेव तादृशरजतस्योपादानमिति भवति लक्षणममन्वय इति

निर्वचनीयभावरूपमज्ञानमभिधत्त इति वाच्यम् । मतिशक्यार्थेनात्प-
र्यनिश्चये लक्षणाया अस्वीकार्यत्वात् ।

ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं शब्दादिप्रमाणवलेन व्यवस्थाप्य तादृशाज्ञानशवलितस्य परमेष्ठ-
रस्य कारणताभवतीति प्रतिपाद्यते । तदप्यकिञ्चिन्क्रमेव । तथाहि नाममेनैतादृशा-
ज्ञानस्य मिद्धिः संभवति । न च 'अवृत्तेनहि प्रत्यूढाः' 'इन्द्रोणायाभि' ग्निवादिना
कथन करता है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि शक्ति प्रतिपाद्य अर्थ में नामार्थ
का निश्चय हो सकता है तब लक्षणावृत्ति का आश्रयण करना ठीक नहीं है । शक्यार्थ की
संभावना हो तो लक्षणा को कोई नहीं मानते हैं । एवम् 'इन्द्रोणायाभिः' इत्यादि वाक्य में जो

वाच्यम् । तथा सत्यात्मन्यपि प्रकृतलक्षणस्यातिव्याप्तिप्रसङ्गान् । यथा रजतभ्रमेऽज्ञानं परिणामितया
उपादानकारणं भवति । तथैवात्मापि विभ्रमोपादानकारणं भवतीति तत्र सिद्धान्तान् प्रकृतलक्षणस्य
भवत्येवातिव्याप्तिरिति । न च यदि सत्य आत्मा भ्रमस्य कारणं भवेत्तदाविभ्रमोपि सत्य एव स्यादिति
न तस्य नेदं रजतमितिवाधकज्ञानेनवाधः स्यात्तस्मात्तस्मात् विभ्रमोपादानमिति न भवत्यात्मन्यतिव्या-
प्तिरितिवाच्यम् । विभ्रमस्यापि स्वरूपतः सत्यत्वस्यैव स्वीकारान् । न च विभ्रमस्यापि स्वरूपतः सत्यत्वे
समीचीनरजतवद्वाधे तत्र मिथ्यात्वं न स्यादिति वाच्यम् । विषयापहारान् तथा व्यवहारस्य संभ-
वान् । अर्थात् इयं शुक्तिरिति ज्ञानोत्तरकाले रजतरूपविषयस्यापगमान् तादृशरजतज्ञाने इदं रजतज्ञानं
मिथ्येति व्यवहारो भवति नतु रजतज्ञानस्य स्वरूपमेव चिन्तयामि । ततश्चाविभ्रमस्यापि स्वरूपेण
ज्ञानरूपेण सत्यत्वमिति व्यवहारः तथा विषयस्य परिदृश्यमानरजतस्य नेदं रजमिति याधवाधेनापहारान्
मिथ्यात्वं तस्मात्स्वरूपतो विभ्रम एव । अन्यथा 'एतावन् कालपर्यन्तमिदं रजतभ्रमादित्यनुभवावाधोत्तर-
काले जायते तन्नस्यादिति कृत्वा आत्मन्यपि विभ्रमोपादानत्वस्य सत्त्वेनवत्रात्मनि प्रकृतलक्षणस्य
गमनादतिव्याप्तिः स्यादिति विभ्रमोपादानज्ञानमिति लक्षणमज्ञानस्यैव युक्तमिति ।

तथा सर्वज्ञानानां यथार्थत्वात् विभ्रम एव न विद्यते इति विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणकारणं
सर्वथैवायुक्तं मायावादिनामिति । अत्रत्यो विषयः सत्यवसरे पुनरपि विचारणीय एवावशिष्यते
इति संक्षेपः ।

इत्थं च लक्षणस्य लक्षणदोषत्रयशून्यस्याभावान् । अज्ञानलक्षणं न निवृत्तं भवति ।
लक्षणानुपपत्तौ न तल्लक्ष्याज्ञानस्य सिद्धिर्भवति यतो लक्ष्यव्यवस्थाया लक्षणप्रमाणाधीनत्वादिनि ।
तस्मादज्ञानज्ञानाभावादतिरिक्ततंभावरूपमिति कथतं मायावादिनां सर्वथैवासंगतमिति ।

किञ्च पदार्थव्यवस्थितौ यथा तदीयं लक्षणमात्रस्यकम् । तथैवतद्विषयकं प्रमाणमप्यावश्यकमेव ।
तदिह लक्षणासंभवं प्रदर्शयज्ञानसाधकप्रमाणस्यप्यमद्भावं दर्शयिष्यामि । तथा च लक्ष्यव्यवस्था-
योर्लक्षणप्रमाणयोरभावान् सुतरामेव तदव्याप्याज्ञानस्याभावः सिद्धो भविष्यति व्यापकभावस्य व्या-
प्याभावसाधकत्वस्यान्यत्रव्यवस्थापितत्वात् । यथाव्यापकस्य ब्राह्मणस्य शत्रियेऽभावात्तत्र ब्राह्मणस्य
व्याप्यस्यकठत्वादेरभावस्य दर्शितान् । यथा वा धूमव्यापकस्य वह्नेर्जलादावभावदर्शनेन वह्निव्या-
प्यस्य धूमस्याभावोर्थमिदं एव भवतीत्यतः प्रकृतेपि यथाकथंचिद् यत्किञ्चित्त्वलक्षणस्य संभवेपि
प्रमाणस्याभावं दर्शयामि ।

एवमपरस्मिन् वाक्येऽपि मायापदस्यादभुतत्वनश्रमत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं श्रुत्यन्तरपुगणकोशादितोऽवसीयते न त्वनिर्वचनीया तत् मिद्धिर्भवतीतिवाच्यं भावानवबोधान् नहि प्रकृतागमेऽनृतपदेन भवदभिमता-
ज्ञानस्य ग्रहणं भवति किन्तु बन्धप्रयोजककर्मण एव ग्रहणं भवति । न च लक्षणया अनुत्पदेनाज्ञानस्यग्रहणमितिवाच्यम् । शक्या निबोधसंभवे लक्षणाश्रयणस्यानुचित-
त्वात् । तस्मादनृतपदेन भवदभिमतानादिभारुपाज्ञानस्यमिद्धिर्न भवतीति । एवं मायापद है वह आश्चर्यजनक पदार्थ मात्र का बोधक है । जो कि श्रुत्यन्तर पुगण कोशादि से ज्ञात होता है । ननु अनिर्वचनीय अनादि भावरूप अज्ञान का बोधक है । इसका आगम

नात्रकिमपि अज्ञानमद्भावे प्रमाणमस्तीति न च 'अहमज्ञ' इत्याद्यनुभव एव ज्ञानमद्भावे प्रमाणमस्तीति वाच्यम् । एतादृशानुभवस्य ज्ञानाभावविषयत्वेन तादृशज्ञानासाधकत्वात् । तथाऽह-
मज्ञस्यानादित्वभावविषयत्वस्याप्यभावात् । न चोक्तितत्पुरुषस्य 'न किञ्चिदवेदिषं गादमृतोऽभवम्' इत्यादिस्मरणं भवति । तच्च स्मरणम् तथाविद्यानुभवमन्तरेणानुत्पन्नमित्यन्यथाऽनुत्पत्ति-
प्रमाणेन सिद्धः सुषुप्तिकालिकोऽनुभव एव तादृशज्ञाने प्रमाणमितिवाच्यम् । वेदान्तमते सुषुप्तिकाले साक्षिणो विद्यमानत्वेन तेन साक्षिणोवाभावो ज्ञायते । न्यायादिमते च समुत्थितस्य पुरुषस्य लिङ्ग-
बलादेवज्ञानाभावानुमानं जायते । तेनचानुमानेन ज्ञानाभावोऽनुमीयते इति ज्ञानाभाव विषयक एव पूर्वप्रदर्शितोऽनुभवो न विलक्षणानादिभावलक्षणाज्ञानसाधक इति ।

नवा अभावातिरिक्तभावलक्षणाज्ञानेऽनुमानमपि संभवति । नच 'अज्ञानं न ज्ञानाभाव रूपम्, अभावग्राहकप्रमाणागम्यत्वात्, यथा घटादि' न्यायमते अभावो घटाभावादिप्रत्यक्षादिप्रमाणेन गृहीतो भवति । मीमांसकमते तु । अनुपलब्धिप्रमाणविषयो भवतीति नियमः । यस्तु प्रकृते अज्ञानं न प्रमाणगम्यं भवति । प्रमाणनिवर्त्यत्वात् शुक्तिरज्ज्वादिमैवगर्गसिद्धिः । तदनुमानेन ज्ञानस्य मिद्धिर्भवतीति वाच्यम् । अज्ञानस्य प्रमाणागम्यत्वस्वीकारे विश्वरादिभवदीयस्यैव अज्ञानसाधकानु-
मानादिप्रमाणस्य यत्प्रदर्शनं कृतं तस्य सर्वथैवासंगत्यापत्तेः । तस्मादननुमानप्रमाणेनापि यथोक्तलक्षणाया-
ज्ञानस्य भवदभिमतस्य सिद्धिर्नैव भवतीतिभावः ।

नवा 'नामद सीन्तो रुढासीदित्युपक्रम्य 'तमः आसीत्' 'मायांतु प्रकृतिं विश्वाम्मायिनं नृ महेश्वरम्' 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपइयते' इत्यादिश्रुतिरेव तादृशज्ञाने प्रमाणं भवतीति । 'तम आसीदिति वाक्ये-
न वद्धजीवानां संसारे विश्व'नानां प्रलयकाले यो ज्ञानाभावस्तादृशज्ञानाभावस्यैव प्रतिपादनान् ननु त्वदभिमताज्ञानस्यतमः पदेन ग्रहणं भवतीति । नच अभावस्य ज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं तथा अधिकरण-
ज्ञानं च कारणं भवति । यथा घटज्ञानमन्वे तथा घटाभावाधिकरणज्ञानमन्वे एव घटाभावो ज्ञायते ननु ताभ्यां विना घटाभावो ज्ञायते । प्रकृते च प्रलयकाले प्रतियोगि तथा अधिकरणज्ञानयो-
रभावान् कथं ज्ञानाभावस्य ग्रहणं भवतीति वाच्यम्, यथा भेदसादृश्यादीनां स्वरूपेण ग्रहणं भवति तथैव प्रलये ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपत एव ग्रहणस्य संभवान् । यथा प्रतियोग्यनुयोगिमापेक्षोपि-
भेद स्वरूपनो ज्ञानो भवति । यथा वा प्रतियोग्यनुयोगी मापेक्षमपि सादृश्यम् स्वरूपनो गृहीतं भवति तथैव ज्ञानाभावस्यापि ग्रहणसंभवान् । नच तर्हि सुषुप्त्यादिकालान् जाग्रदादिकालस्य को

ज्ञानत्वम् । तस्मान्नागमतोऽज्ञानं भावरूपं शक्यं प्रतिपत्तुम् । प्रतिपादयिष्यते चैतदुपरिष्ठादतोऽत्र संक्षेपः ।

प्रत्यक्षेणाप्यनादिभावरूपस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याज्ञानस्य माधनं दुःशकम् । नचाहपज्ञो मामन्यञ्च न जानामीति प्रतीतीरेव तदमायापदमपि नाज्ञानस्य भवदभिमतानादिभावरूपाज्ञानस्य समर्थकम् । किन्तु विलक्षणकार्यकारित्वरूपार्थमेवद्योतयति श्रुतिकोशादिप्रमाणेन तस्मादज्ञानं भावरूपमेकं भवदभिमतं नेतिशम् ।

‘अहमज्ञः’ इत्यादिप्रत्यक्षेण भावरूपाज्ञानस्य सिद्धिर्भवतीति तन्मतं तन्ममर्माचीनम् । यतः प्रकृतानुभवोहि नातिरिक्तभावात्मकज्ञानमाधकस्तस्य नानाभावविषयतयाप्युपपत्तिसंभवात् । यतः सुषुप्तिकालिकोऽयंप्रत्ययः स्वप्नजाग्रत्कालिकप्रणाम से भावरूप अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान की सिद्धि नहीं होसकती है । आगे इसका विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया जायगा अतः यहाँ इसका संक्षेप किया है ।

अनादिभावरूप अज्ञान की सिद्धि आगम प्रणाम से नहीं होता है, इस बात को बतलाकरके एतादृश अज्ञान का साधक प्रत्यक्ष प्रणाम भी नहीं है । अर्थात् प्रत्यक्ष प्रणाम से भी अनादि भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं होती है इस बात को बतलाने हैं—‘प्रत्यक्षेणापि’

विशेषः स्यादिति वाच्यम्, स्फुटत्वास्फुटत्वयोरेव विशेषात् । जाग्रदादिकाले प्रतियोग्यनुबोधमापेक्षतया भेदः सादृस्यादिकं च स्फुटरूपेण व्यवहियमाणं भवति सुषुप्तिप्रलयादौ च न तादृशस्फुटरूपेण व्यवहारविषयो भवति । किन्तु मुकुलितरूपेण व्यवहारविषयो भवतीत्येतावानेव विशेषः । तस्मान् आगमवाक्यघटकतमः पदेन सांसारिकजीवानां ज्ञानाभावस्यैव प्रतिपादनं भवति ननु भवदभिमतज्ञानस्य भावात्मकस्य प्रतिपादनं भवतीति । तथा ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यादित्यादि स्थले परमपुरुषाशेषजगन्निदानकारणस्य या ज्ञानशक्तिः परमेश्वरस्वरूपभूता तस्या एव ग्रहणं भवति । ननु भवदभिमत पारिभाषिकाज्ञानस्य ग्रहणं भवति ।

तस्मान्नाज्ञाने आगमवाक्यमपि प्रमाणं भवति । तदज्ञानज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरभावात् । एतादृशमज्ञानमस्तीति कथनं मायावादिनामज्ञानमेवाभिव्यनक्ति ।

ननु तर्हि अविद्या मायादिपदेन कस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । आगमे तत्प्रतिपादनस्य दर्शनादिति चेत् सत्यम् ‘अविद्या कर्मसंज्ञान्या’ इत्यादिप्राचीनाचार्यसंमत्या शुभाशुभकर्मणामेवाविद्यादिपदवाच्यत्वमिति गृह्यते । विशेषतोऽयं विवरणं स्वकीयविद्वान्तिरुत्तरागान्तरे यत्र तत्र प्रपञ्चितमित्यलंनिरसपरमतसमीक्षणेनेतिदिक् ।

। श्रीमतेरामचन्द्रायनमः ।

५५ प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमोनमः ५५

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्यः

ध्यक्षेमानम् । तथा हि निरुक्तप्रतीतावहमित्यात्मनोऽभावानुयोगितया तत्प्रतियोगितया च ज्ञानस्य प्रतिपत्तिर्भवान् न वा ? प्रथमं पक्षं पक्षीकरोषिचेन्न तर्हि ज्ञानाभावप्रत्ययः प्रमत्तामामादयति । धर्मिप्रतियोगिनिश्चयाभ्यां प्रतिबध्यमानत्वात् । नापि द्वितियः । अभावानुभवस्य स्वप्रतियोगिज्ञाननियतमापेक्षत्वात् । तन्मादिदमज्ञानं ज्ञाननिवर्त्य भावरूपमेवेति नाभावपतपनुमृत्याभिहितानां दूषणानामवकाशः । तथाच धर्मिप्रतियोगिज्ञानममकालिक एवाम्य भावरूपाज्ञानस्यानुभव उपपद्यते परस्पराविरुद्धत्वादिति वाच्यम्. अह-

ज्ञानानामभावमेव बोधयति । न चाभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिबोधपराधीनताया अन्यत्रदर्शनात् तत्काले तयोः सत्त्वे अभावबोध एव न स्यात् । तयोरन्यतरस्यापि सत्त्वेतद्विरोधितदभावप्रत्ययस्योदेतुमशक्यत्वादिति वाच्यम् भेदमादृश्यवन् निर्विकल्पक बुद्धिविषयतयापितत्संभवति यथा भेदप्रत्ययो न प्रतियोगिधर्मिमाध्यस्तथाऽयमपीति । जाग्रदादिकाले धर्मिप्रतियोगिबोधपराधीनो भवन् स्फुटतरङ्गवहारविषयो भवतीत्याशयमासाद्याज्ञानस्य भावरूपत्वनिराकरणपूर्वकाभावरूपतां प्रतिपादयितुमुपक्रमतेते भाष्यकारः प्रत्यक्षेणाप्यनादिभावरूपस्येत्यादि । ज्ञाननिरस्यभावरूपाज्ञानस्य प्रत्यक्षेणसिद्धिर्न भवतीति प्रतिज्ञा । न चाहमज्ञोमामन्यञ्च न जानामीति प्रात्य-
—इत्यादि । प्रत्यक्ष प्रणाम से भी अनादि भावरूप तथा ज्ञान निवर्त्य अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है नहीं कहो कि—‘मैं अज्ञ हूँ मैं अपने को तथा अन्य को नहीं जानता हूँ’ इत्याकारक प्रात्यक्षिक प्रतीति [प्रत्यक्षज्ञान] ही तादृश अज्ञान में प्रणाम है । ‘अहमज्ञः’ इत्यादि प्रतीति को तादृश अज्ञान की साधकता का उपादान करने के लिए बनाने हैं ‘तथाहि’ इत्यादि ‘अहमज्ञोमामहञ्चनजानामि’ इस प्रतीति अभाव के अधिकरण रूप से आत्मा का तथा अभाव के प्रतियोगि रूप से ज्ञान की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है अथवा नहीं होती है ? यदि इसमें प्रथम पक्ष को मान लें तबतो यह ज्ञानाभाव नहीं होता है । क्योंकि धर्मी आत्माका ज्ञान तथा प्रतियोगि के निश्चय से प्रतिवद्ध हो जाता है । अर्थात् जब धर्मी तथा प्रतियोगि ज्ञान का निश्चय है तब तद्विरोधी अभाव प्रत्यय कैसे होगा । अर्थात् नहीं होगा । नवा द्वितीय पक्ष भी ठीक है । क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान को कारणता होती है । तब यदि प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है, तब ज्ञानाभाव का ज्ञान नहीं होगा । इसलिए यह अज्ञान भावरूपतया ज्ञान प्रतिकल्प्य है ।

मज्ञो मामन्यञ्च न जानामीत्यादावनुभूयमानमज्ञानमभावरूपमेव न तु भावरूपम्, विकल्पकल्पनाकलुषितकलेवरत्वात् । तथाहि अज्ञानस्य निवर्तकाश्रयविषयतया किञ्चित्प्रत्यक्तत्वं प्रतीतं न वा? आद्यस्वरूपज्ञानवाध्यं तदज्ञानमिति निपातान् तत्प्रतीतौ कथं कारयति चेत् ।

अन्तिमे तु निवर्तकाश्रयविषयरहितमज्ञानं नतरापनुभूयेत् । तस्माद्भवदभिमतभावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावसमानवर्तत्वात्तत्रैव पर्यवसानमित्ययमप्याशापाशः शिथिलबन्धोऽन्यत्राभिनिवेशात् । एवञ्चोभयसमधिगतज्ञानाभाव एवाहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीति प्रतीतिगोचर इत्यभ्युपेयम् ।

क्षिकीप्रतीतिरेव प्रमाणम् । एतदेवोपपादयति तथाहीति पक्षद्वयम् । प्रथमेनाभावाप्रत्ययः धर्मिप्रतियोगिज्ञानाभ्यां विरोधात् न वा द्वितीयः प्रतियोगिज्ञानाभावेऽभावप्रत्ययाभावात् । अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्यापेक्षणेन तदभावे तदभावात् । तस्मात् धर्मिप्रतियोगिज्ञानसमानकालिको भावरूपाज्ञानविषयकमेवेदं प्रत्यक्षमिति पूर्वपक्षः । अज्ञानस्याश्रयविषयतयाऽभिमततत्त्वज्ञाने कथमिव तदज्ञानं स्यात् । आश्रयविषययोरज्ञाने तु कथमाश्रयविषयरहितज्ञानस्य प्रतीतिः स्यात् । तस्मात् भावरूपज्ञानव्यतिरिक्तमेव ज्ञानाभावं गमयति 'अहमज्ञः' इत्यादिप्रत्यक्षप्रमाणमिति संक्षेपः ।

अतः इसको अभाव रूप मानकर के जो जो दोष दिया था उन दोषों का अवकाश नहीं होता है । ऐसा हुआ तब धर्मों तथा प्रतियोगी ज्ञान के समान कालिक भावरूप अज्ञान का अनुभव उत्पन्न होता है । क्योंकि उक्त अज्ञान को धर्मों प्रतियोगी ज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है । उत्तर यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'अहमज्ञो मामन्य न जानामि' इत्यादि स्थल में अनुभूयमान जो अज्ञान है वह अभावरूप ही है नतु भाव रूप क्योंकि भावरूपता में अनेक दोष होता है । तथाहि अज्ञान का आश्रय तथा विषय रूप से प्रत्यक्तत्वं प्रतीयमान होता है अथवा नहीं होता है । प्रथम पक्ष में तो ज्ञान से तदीय अज्ञान बाधित होता है ।' ऐसा नियम है । (यथा शुक्ति का स्वरूप ज्ञान होने से शुक्ति का जो अज्ञान है वह बाधित होता है ।) तब यहाँ जब याश्रय विषय का ज्ञान रहेगा तब उसका अज्ञान किस तरह रह सकेगा । अगर अन्तिम पक्ष को माने तो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि आश्रय विषय रहित अज्ञान का अनुभव असंभव है । तस्मात् भवदभिमत भावरूप अज्ञान होने से उसी में उसका

यदपि च कैश्चिन्मायिमतम्पण्डितैर्नैर्भावस्याज्ञानसाधक-
मनुमानं प्रदर्शितं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्व-
विषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर्गुर्वकम् . अप्रकाशितार्थप्रका-
शकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति । तदपि न
युक्तिसहम् । स्वाभिमतपज्ञानं साधीयतुं प्रयोजितेऽप्यनभिमतज्ञा-
नान्तरसाधनेनापसिद्धान्तापातात् । तदसाधने तु हेतुग्नैकान्त्यम् ।
दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यञ्च । नहि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रका-

एवमागमेन प्रत्येक्षणं चाज्ञानस्वभावरूपतायाः सिद्धिर्नभतीतिगतप्रकरणेन प्रमा-
ध्ययथोक्ताज्ञानस्य साधनायानुमानं विवरणकारादिभिरुपस्थापितं तदपि न स्वकार्य-
साधनाय पर्याप्तमिति दर्शयितुमुपक्रमते यदपि च कैश्चिन्मायिममिन्त्यादि । अत्रस्या-
भिमतेतराज्ञानान्तरस्य सिद्धौ स्वानभिमतस्यसिद्ध्यासिद्धान्तभङ्गोभवति । असिद्धौ
साध्याभाववति हेतुसत्त्वेनव्यभिचारे दोषोजायते भ्रमवान् प्रमेयत्वादिनिवत् । किञ्च-
स्थापनानुमाने अप्रकाशितार्थप्रकाशनार्थं प्रकाशकत्वं हेतुः प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रकाशे-
नास्ति, यतः प्रदीपप्रकाशस्य जडत्वेन प्रकाशकत्वाभावात् । नहि ज्ञानव्यतिरिक्तं
किमपि प्रकाशकमिति केवलाद्वैतवादिभिः स्वीकारात् । ज्ञानंविनाऽर्थप्रकाशस्याभावा-
दित्यादिदूषणजातं भाष्यानुसारेण द्रष्टव्यम् । तस्मात् नागमो न प्रत्यक्षं न वा
अनुमानमेतादृशाज्ञानसाधनाय पर्याप्तं भवति । अतः प्रमाणाभावान्नाज्ञानस्यसिद्धि-
पर्यवसानं होता है यह भी आशामात्र है । अतः उभय मत सिद्ध ज्ञानाभाव ही 'अहमज्ञः' इत्यादि
प्रतीति का विषय है । किन्तु ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान नहीं यह सिद्ध हुआ ।

जिस किसी व्यक्तिने केवलाद्वैतवादी मत का परिष्कार करते हुए, अनादिभाव अज्ञान के
साधन करने के लिए अनुमान का बतलाया है उसे बतलाते हैं 'विवादास्पदीभूतं जो प्रमाण ज्ञान
वह स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य, स्वदेशगत वस्तु तर पूर्वक है अप्रकाशितार्थ
प्रकाशक होने से अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीप प्रकाश की तरह इस साध्यव्याप्त हेतुक प्रकृता
नुमान से अज्ञान की सिद्धि करते हैं । यह ठीक नहीं है । क्योंकि स्वाभिमत अज्ञान की सिद्धि
के लिए प्रयुक्त प्रमाण से अज्ञानान्तर की सिद्धि हो जाने से अपसिद्धान्तरूप दोष प्रसक्त हो
जाता है । यदि अज्ञानान्तर का साधन नहीं तो हेतु में व्यभिचार दोष होता है । साध्या
भाववत् विपक्ष में हेतु का सद्भाव होने से । एवम् दृष्टान्त जो प्रदीप प्रभा है उसमें अप्रकाशितार्थ
प्रकाशकत्व रूप हेतु भी नहीं है । क्योंकि प्रकाशकत्व तो ज्ञान मात्र में ही है । प्रदीपादि प्रभाश

शक्तत्वं सम्भवदुक्तिकम् । ज्ञानस्यैव तान्त्रिकैः प्रकाशकत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा ज्ञानरूपस्यात्मन एव स्वयंप्रकाशकत्वमिति भवत्सिद्धान्तो व्याकुप्येत । विद्यमानायामपि प्रदीपप्रभायामन्तरेण ज्ञानविषय-प्रकाशासम्भवात् । प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादय-तस्तत्प्रतिकूलतमस्तिरस्करणेनोपकारकत्वमेव तस्मान्नागमप्रत्यक्षानु-मानानि प्रभवन्ति भावरूपतज्ज्ञानं माधयितुमित्यलपनेनशुष्कतर्क-निरासायासेनेत्युपसम्पते ।

किञ्च, केवलतर्कवादास्तु सूत्रकृद्भिः स्वयमेव 'तर्काप्रति-ष्ठानादपि' [ब० सू० २।१।११] इतिविलक्षणत्वाधिकरणे निरा-कृताः । अत एव—

भवतीति । न च प्रमाणमन्तरेणप्रमेयमिद्विः ? प्रमेयमिद्विः प्रमाणादेवेतिनियमात् । अन्यथा गगनकुसुमशशविषाणादीनामपिसिद्धिप्रसङ्गात्, साधकाभावादेवमवसिद्धि-प्रसङ्गादिति ।

ननु न भवतु प्रमाणेनानादिभावरूपस्याज्ञानस्यामिद्विः किन्तु प्रमाणानुग्राहक-तर्केणैवतत्सिद्धिः स्यादित्याशयेनाह किञ्चकेवलतर्कवादास्तु इत्यादि । 'यन्नेनानु-मितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते' इति प्राचीननिय-मेनकेवलतर्कप्रतितस्य पदार्थस्य प्रवलतर्कवादिनाऽन्येनतन्निराकरणदर्शनेन केवल-तर्कस्य न वस्तुसाधकत्वमिति स्वयमेवसूत्रकारेण विलक्षणत्वाधिकरणेप्रतिपादनात् तस्मान्न केवलतर्केण वस्तुनः प्रामिद्विगिति । अत एव 'आर्षधर्मोपदेशं च' इत्यादिना मनुरपिशास्त्रसहमततर्कस्यैवसाधकत्वं प्रमाथितवान् । केवलतर्केण वस्तुमिद्वी-तो जड है । उसमें प्रकाशकत्व तो किसी ने नहीं माना है । ज्ञान को ही सब प्रकाशकत्व मानते हैं । अन्यथा ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही स्व प्रकाशकत्व है, ऐसा जो मायावादियों का सिद्धान्त है तादृशसिद्धान्तका व्याकोप हो जायगा । प्रदीप प्रकाश को रहते हुए भी ज्ञान की असत्तामें विषय का प्रकाश नहीं होता है । प्रदीपप्रभातो केवल चक्षुष प्रत्यक्ष में विरोधीतम का निराकरण करने में उपयोगिनी है । तस्मात् आगम प्रत्यक्ष तथा अनुमान कोई भी प्रमाण भावरूप अज्ञान के साधन करने में समर्थ नहीं है । अतः इस शुष्कतर्क का निरास करना निरर्थक है ।

‘आर्षधर्मोपदेशश्च वेदशास्त्रविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसन्धतो स धर्मं वेद नेतरः ॥

इति भगवता मनुनापि सिद्धान्तिम् । केवलतर्केणैव कार्य-
निर्वाहे आगममर्यादायाः प्राधान्येनोद्घोषणं व्यर्थमेव स्यात् ।
एवञ्च निरुक्तभवत्प्रयोगे हेतोः सत्प्रतिपक्षितापि सम्भवति । तथाहि-
विवादाध्यामितप्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति-
प्रमाणज्ञानत्वाद्भवदभिमतज्ञानसाधकप्रमाणज्ञानवदित्यादिप्रयोगाणां
मपि जागरूकत्वादिति दिक् ।

अपि च येयमनादिभावरूपाऽविद्या भवद्विगस्थीयते सा
वागमप्रमाणस्य प्रमाणशेखरत्वं न स्यादिति न तर्कमात्रेणाज्ञानस्यमिद्विगिति ।

अज्ञानसाधकानुमाने यथासंभवंदोषानुदाहृत्यसत्प्रतिपक्षदशयितुमाह निरुक्तभवत्प्र-
योगेहेतोःसत्प्रतिपक्षतेत्यादि । किञ्च ‘प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणामिद्वत्त्वादान्मवदित्य-
नुमानेनापिभवदीयहेतोः सत्प्रतिपक्षितत्वेनासाधकत्वमेव । समानबलबोधितमाध्य-
विपर्ययकत्वमितितल्लक्षणात् । किञ्च ‘स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतयाप्रतीयमानत्व-
लक्षणमिथ्यात्वमपि संयोगविभागादिप्रादेशिकवस्तुनि सत्त्वेन तस्यातिव्याप्तेः सत्य-
वस्तुनि । तस्मात्साध्यस्थानिर्वचनेनानुमानेमाध्याप्रसिद्धिदोषोपिभवत्येव । एवं साध्य-
हेतु दृष्टान्तानां सत्यत्वेनानुमानेन मिथ्यात्वं न सिद्ध्यति मिथ्यात्वेमाधकाभावादेव
तत्सिद्धिरितिसंश्लेषोऽध्यासध्वंसलेशविवरणे बहुचर्चितत्वान्मया ।

येयमविद्या सा कीदृशी ? अत्र विद्यापदेन समस्यमानस्य नञः कोर्थः ?

किं च शुक्ततर्क का निराकरण तो मूत्रकार ने विलक्षणत्वाधिकरण में स्वयमेव किया
है । अतएव ‘आर्षधर्मोपदेशश्च’ इत्यादि रूप से भगवान् मनु ने भी सिद्धान्त किया है । यदि
केवल तर्क से ही कार्य का निर्वाह हो जाय तब तो अगम मर्यादा का प्रधान रूप से उद्घोषण
करना सर्वथा निरर्थक हो जायगा । एवं अज्ञान साधक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष भी होना है ।
तथाहि—‘विवादाध्यासित प्रमाण ज्ञान स्वप्रागभावातिरिक्त अज्ञान पूर्वक नहीं है, प्रमाण ज्ञान
होने से, भवदभिमत अज्ञान साधक प्रमाण ज्ञान की तरह’ इत्यादिक प्रयोग भी विद्यमान है
अतः अद्वैतियों का उक्त प्रयास केवल प्रयास मात्र है सर्वशास्त्र तथा प्रमाण विरुद्ध होने से ।

अविद्यास्वरूप अविद्या का लक्षण और अविद्यामें प्रमाण कोई भी नहीं है, इस बात का

कार्यरूपाऽकार्यरूपा वा ? कार्यरूपेति चेत्किमस्याः कारणमिति विवेचनीयम् अविद्यान्तरमिति चेन्नानवस्थादौस्थ्यत् । सैव कारणमिति पक्षस्तु आत्माश्रयदोषप्रसङ्गाद्धेय एव । एकस्यामेवाविद्यायां कारणत्वं कार्यत्वञ्चेत्युभयमसम्भवि । विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात् । ब्रह्मण समामान्तर्गतनञः पडर्था भवति । तदुक्तम् 'तत्सादृश्यमभावत्वं तदन्यत्वंतदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्चनञर्थाः पट्प्रकीर्तिता' तथाहि न इक्षुरनिक्षुः सरः इक्षु-सादृश्यमर्थः समामान्तर्गतस्य नञः । अर्थात् सरोवरे दीर्घत्वमधुरत्वाभ्यामिक्षुसादृश्यं प्राप्यते । अघटं भूतलमित्यत्र नञोऽत्यन्ताभावोऽर्थस्तेन घटाभाववद्भूतलमित्यर्थः । अघटः पट इत्यत्र घटभिन्नत्वं पटे बोधितं भवति अनुदराकन्या 'अलवणकंशाकमित्यत्र नञोऽल्पार्थता तेनेषदुदरवती, ईषल्लवणकंशाकमित्यर्थः । अब्राह्मणोवाधुषिक इत्यत्राप्रशस्तो ब्राह्मण इत्यर्थः । 'असुरः' इत्यत्र न सरोऽसुरः सुरविरोधीत्यर्थः, भेदार्थकत्वेसुरभिन्नमनुष्यादावपि तादृशप्रयोगप्रसङ्गात्, किन्तु सुरविरोधित्वार्थकत्वे दित्यपत्येष्वेव तथा प्रयोग नतु तदन्यत्रेति । तदिह विद्याभावोऽविद्येत्यर्थः, विद्याविरोधित्वं, विद्याभिन्नत्वं वा ? तत्र नाद्यः, यथा वेद्यस्य घटादेरभावो निर्वचनीयः, तथा विद्याऽभावरूपाया अविद्याया अपि, अनिर्वचनीयत्वं न स्यात् । न द्वितीयः विद्या विरोधिनः संशयविपर्ययादीनामपि, विद्याविरोधित्वेनाविद्यात्वप्रसङ्गात् । न च तत्केनापि स्वीकृतम् । नवा विरोधित्वरूपस्तृतीयपक्षः, तथा सति विद्या-प्रतिपादन करके, भवदभिमत अज्ञानापरपर्याय लक्षण अविद्या नित्य है, अथवा अनित्य है, इत्यादि विकल्प द्वारा अविद्या का खण्डन करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'अपि च येयमनादिभावरूपाऽविद्ये त्यादि" यद्यपि अविद्या की सिद्धि में अनेक दोष का उद्घावन किया है । तथापि इस अविद्या के स्वीकार करने में दोषान्तर भी है इस अभिप्राय से कहते हैं । 'अपि च' और भी अविद्या सिद्धि में दोष को देखिये जो इस अनादि भावरूप अविद्या को आप लोग मानते हैं, वह अविद्या अकार्य रूप है । अर्थात् नित्य है । अथवा कार्यरूप है अर्थात् अनित्य है । किसी कारण से अविद्या जायमान है, अथवा आत्मा की तरह अजायमान है । यदि निखिल जगत् कारण रूप अविद्या स्वयं यदि कार्य रूप हैं तब इसका कारण क्या है । उसका विवेचन करना चाहिये । यदि प्रकृत अविद्या से भिन्न कोई अविद्यान्तर कारण है, इस अविद्या का ऐसा मानें तब अनवस्थादोष होगा । अर्थात् यदि निखिल जगत् का उपादान भूत अविद्या का यदि तदन्य अविद्या कारण है तब वह अविद्या नित्य है कि

एव कारणत्वमित्यपि न युक्तम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमु-
पाधिविशिष्टब्रह्मैव तस्याः कारणमाहोस्वित्तद्रहितम् । तत्र न प्रथमः ।
अविद्यायाः प्रागुपाधीनामसत्त्वात् । सत्त्वे तु किं तस्य कारणमिति
विचारे सैवानवस्था मिशाची दुस्वस्था स्यादतो विषमोऽयमुपन्यासः ।

भिन्नस्य सर्वस्यैवज्ञानेतरघटपटादिजगतोऽविद्यात्वप्रसङ्गान् । न च घटादिपदा-
र्थानामविद्यात्वं भवतामपीष्टम् । भवद्विरपिप्रपञ्चकारणत्वेन तदभ्युपगमेन तत्स्वरू-
पत्वानभ्युपगमात् । नवा अज्ञानापरपर्यायाया अविद्यायाः किमपिलक्षणं पश्यामि ।
न च ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम् । अर्थात् ज्ञाननिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबन्धकताव-
त्त्वम्, यथा 'घटाभावनिश्चयनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबन्धकतावत्त्वेन घटाभाव-
निश्चयप्रतिबन्धकत्वघटवद् भूतलमिति ज्ञानस्येतिवाच्यम् । तथा सति अग्रिमनिश्चय
निवर्त्यपूर्वज्ञाने स्मृतिप्रत्यसंस्कारेचाज्ञानत्वप्रसङ्गेन तत्रानिश्चाप्तेः । नवा
अनादित्वेमतिज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्, इतिलक्षणं संभवति, यतो ज्ञानप्रागभावोऽनिश्चाप्तेः
ज्ञानप्रागभावोऽनादिरपि प्रतियोगिनाज्ञानेन निवृत्तश्चापि भवति, प्रागभावोहि प्रति-
योगिनं जनयति कारणकोटौ प्रागभावस्यापिसमाविष्टत्वात्, तथा स्वप्रतियोगिनैवप्राग-
भावोनिवर्ततेऽपि, तावदेवप्रागभावो विद्यमानो भवति यावन्नायातितदीयप्रतियोगी
स्वप्रतियोगिजनकः, स्वप्रतियोगिनानिवृत्तश्च भवतीतितदीयस्वभावः । यथा कदली-
वृक्षस्तावदेवप्राणान् धारयति, यावत् कालं नागच्छति फलात्मकं कार्यं समागते-
कार्ये सकदलीवृक्षो विनष्टोभवति । यथा कर्कटी स्वर्कायवन्मानुष्यादयति, ज्ञाने
अनित्य है । यदि नित्य है तब वह नित्य विद्या से ही निर्वाह होगा । प्रथम अविद्या नि-
र्थका हो जायगी' और विद्या को नित्य मानना तो आपको इष्ट नहीं है । अब उस
द्वितीय अविद्या को अनित्य मानियेगा । तब अनित्य अविद्या का उपादान कारण कौन है
ऐसी जिज्ञासा होने से, उसके उत्तर में तृतीय अविद्या को मानेंगे । एवं तृतीय का कारण
चतुर्थ अविद्या को मानेंगे तो ऐसा मानने से अनवस्था दोष होगा ।

यदि कहो कि अनवस्था में क्षति क्या है । ऐसा मत कहना । क्योंकि अनवस्था
को मानने से तीन दोष होता है—प्राग्लोप, अविनिगम्यत्व तथा प्रमाणापगम । प्रथम—अज्ञान
जिस कार्य को करता है उस कार्य का संपादन द्वितीय अज्ञान से ही होगा । तब प्रथम
अज्ञान का विलोप हो जायगा । एवं 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनीनिर्विभागचित्तिरेव केवला' इत्यादि
नियम से अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को ही मानेंगे तो किस अज्ञान को उद्देश्यतावच्छेदक

न द्वितीयः । शुद्धस्य चिच्छक्तेस्त्वन्मतेऽकारणत्वात् । अभ्युपेत्या-
 ऽपि शुद्धस्य कारणत्वं न मुक्तिर्दोषशृङ्खलातो, यतः संसृतेः
 कारणमज्ञानमेव, तस्यैव च संसृतेस्सामग्रीत्वेन मुक्त्यभावः प्रसज्जेत,
 संसृतिसामग्रीतयाऽवसितस्याज्ञानस्याद्याप्यविनष्टत्वात् । अथाकार्य-
 रूपत्वेऽनादिभावपदार्थस्य निवृत्यभावात् तन्निवर्तकगुरुशास्त्रोपदे-
 वत्से तेनैव विहतापि भवति । तदेवं यथोक्तज्ञानलक्षणस्य ज्ञानप्रागभावेऽतिव्या-
 प्तिर्भवतीति । न यथोक्तं लक्षणमज्ञानस्य समीचीनं भवतीति । न चानादिभावत्वे
 सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमेतदेवलक्षणम् । न चैवं प्रागभाववत्सुप्रागभावे वा अतिव्या-
 प्तिः प्रागभाववतामनादित्वाभावात्, प्रागभावे च भावत्वाभावात्, प्रागभावस्य भाव-
 त्वाभावादिति वाच्यम्, परमाणुश्यामत्वेऽतिव्याप्तेस्तस्यानादित्वात् भावत्वात् परमेश्व-
 रज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च । तस्मान्नाज्ञानस्य किमपि लक्षणं घटते । न वा यथोक्ताज्ञानं
 किमपि प्रमाणं दृश्यते, प्रत्यक्षानुमानागनप्रमाणानां पूर्वप्रकरणे यथा संभवं निरासात् ।
 ततश्च लक्षणप्रमाणाभ्यामेवपदार्थस्य सत्तायाः संभवेन तदभावात्, न यथोक्ताज्ञानं
 सिद्ध्यति तथा च लक्षणप्रमाणगोरभावाद्ज्ञानाभावातिरिक्तमज्ञाननामकं वस्तु
 नास्त्येवेति सिद्धम् ।

बनाकरके कौन अज्ञान विधेय बनेगा । क्योंकि पूर्व व्यवस्थित उद्देश्यतावच्छेदक होता है ।
 और आगन्तुक विधेय बनता है । प्रकृत में तो समस्त अज्ञान एकदैव ब्रह्माश्रित होगा तो
 इसमें अन्योन्य कलह का समाधान नहीं होगा । इस प्रकार से अविनिगम्यत्व दोष
 होता है । एवं अनेक अज्ञान को मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है । इसलिए प्रमाणा-
 पगम दोष होता है ऐसा कहा है । — 'प्रागूलोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् । अनवस्थि-
 तिमास्थानुरचिकित्स्यात्रिदोषता' । इस श्लोक में जो प्रमाणापगमोत्तर तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ
 है—अभेद । धान्येन धनवान् एतादृश प्रयोगान्तर्गत धान्यापदोत्तर तृतीया विभक्तिवत् । अर्थात् जिस
 तरह धान्याभिन्नधनवान्—यह अर्थ होता है । उसी तरह प्रकृत में प्रागूलोपाविनिगम्यत्व प्रमा-
 णापगमाभिन्न दोष अनवस्थावादियों को अचिकित्स्य हो जाता है । जिस तरह वानपिक्तकफमूलक
 त्रिरोग की चिकित्सा अमाध्य है । उसी तरह प्रकृत में यह दोषत्रय भी अनिवार्य हो जाता
 है । अथवा 'प्रमाणापगमैः'—में तृतीया का अर्थ है प्रयोज्यत्व । अर्थात् प्रागूलोप अविनिगम्यत्व
 प्रमाणापगम प्रयोज्य जो दोष है वह अनिवार्य हो जाता है अनवस्थावादियों को ।

शैवैर्यम् । प्रयोगश्च-विमता अविद्या न निवर्तते अनादित्वे
सति भावपदार्थत्वाद्ब्रह्मवत् । स्यादेवम्, इदमज्ञानं स्वस्मिन् कार्य-
कारणते परित्यजत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमेव रूपं धत्ते ।
एवञ्चास्याज्ञानस्य मायापदभिलष्यस्य भूषणमेवेदं यल्लक्षणविवेच-
नानाक्रान्तत्वं न दूषणमिति । मैवम् । अनिर्वचनीयस्य वस्तुनो

अज्ञानापरपर्यायरूपायामविद्यायामेतादृशानेकदोषवत्त्वेऽपि विशिष्येतां स्वण्डयितुं
दोषान्तरं प्रदर्शयितुं भाष्यकारः प्रव्रजते अपि च येयमनादिभारुपादिद्येत्यादि । लक्ष-
णप्रमाणयोरभावद्वारेणनिराकृताया अप्यविद्याया मिलक्षणदोषप्रदर्शनाय अपि चेत्त्युक्तम् ।
अर्थात् तदोषा एवाज्ञाननिराकरणे समर्थास्तथापि तेषां सत्त्वेऽपि तदन्योऽवश्यमाणो-
ऽयं दोष इति । येयमविद्या सा जन्या अजन्या वा, अर्थात् अनित्या, नित्या चेत् ।
प्रथमपक्षे तस्य जन्यत्वे, तज्जनकं किमिति, अज्ञानान्तरम् तदतिरिक्तं वा किञ्चित् ।
प्रथमे अविद्यान्तरस्यापिकार्यत्वे तस्या अपिकारणान्तरं वक्तव्यम् एवं तस्यास्तस्या
इत्यादिक्रमेणानवस्थास्यात् । स्वस्यैव स्वकारणत्वे आत्माश्रयदोषान्ननिर्मुक्तिः । न
च सैवकारणत्वं कार्यत्वं च, सिद्धस्वकारणत्वमसिद्धस्वकार्यत्वमिति नियमेन विरुद्धयो-
स्तयोरेकत्रावस्थाना योगात् । न च प्रपञ्चमात्रं प्रति ब्रह्मण एव कारणत्वमिति
प्रपञ्चान्तर्गतत्वात्तस्या अपिकारणं ब्रह्मैवेतिवाच्यम्, विकल्पासहत्वात् । उपाधिविशिष्टं
ब्रह्म तस्याः कारणं निरुपाधिकं वा । नाद्यः अविद्यापूर्वमुपाध्यन्तराभावात् । उपा-

यदि उसी अज्ञान को स्व के प्रति कारणता कहें तो आत्माश्रय दोष होगा । इसलिए
यह पक्ष तो सर्वथा हेय है । एक ही अविद्या में कारणत्व पूर्वकालवृत्तित्व तथा परकालवृत्तित्व
लक्षण कार्यत्व असंभवित है । क्योंकि पूर्वापर कालवृत्तित्व रूपकारणत्व कार्यत्व यह दोनों
विरुद्धधर्म हैं । यदि दोनों को एकाधिकरण वृत्तित्व होने तो विरुद्ध धर्म ही नहीं कहलायगा ।
सहानवस्था का नाम ही तो विरोध है ।

उस अविद्या का कारण ब्रह्म है यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इसमें होने
वाले विकल्पों का समाधान नहीं होता है । तथाहि क्या उपोपाधिक ब्रह्म अविद्या का कारण
है । अथवा निरुपाधिक अर्थात् उपाधिविहित शुद्ध ब्रह्म अविद्या का कारण है । इसमें प्रथम
पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या से पूर्ववृत्ति कोई उपाध्यन्तर ब्रह्म में नहीं है । यदि उपाध्यन्तर
को पूर्व में माने तो उस उपाध्यन्तर का क्या कारण है ऐसा प्रश्न होने पर पुनः यदि उपा-
ध्यन्तर को मानें तो अनवस्था दोष अनिवार्य हो जाता है । तब पुनः पूर्व पूर्व फल का विलोप,

दुरुपपादत्वात् । तथाहि—सर्वं हि वस्तु प्रानिस्विकरूपेण सत्तयाऽस-
त्तया वा शक्यते निर्वक्तुम् । न त्वेकस्यैव वस्तुनः सत्त्वविशिष्टास-
त्वम्, असत्त्वाविशिष्टासत्त्वं वा । एतेन सदमदनधिकरणत्वमेवानिर्व-
चनीयत्वमिति कथनमपि प्रत्युक्तम् । इतरेतरविरुद्धत्वात् । सद्वि-
लक्षणमसदेव भवति । असद्विलक्षणञ्च सदिति लोकव्यवहारात् ।

ध्यन्तरसत्त्वे प्रथमाज्ञाननिरर्थकम् । न द्वितीयः निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो भवन्मतेऽकारण-
त्वात् । अथ यदि अविद्या न कार्यरूपा किन्तु नित्या, तदा अनादिभावरूपत्वेन नित्य-
त्वात् तन्निवर्तकाभावेन अविद्यानिवृत्तिरेवमोक्ष इति सिद्धान्ते कुठाराघातः स्यात् ।
किञ्चाविद्या निवृत्तिः सत्या असत्या वा ? प्रथमेद्वैतापत्तेरन्त्ये मोक्षस्य कादाचित्कत्वं
स्यादित्यादयो दोषा भाष्ये उक्ता वा स्वयमेवोदनीयाः ।

किञ्च किमिदमनिर्वचनीयत्वं यदज्ञानस्य प्रपञ्चमात्रस्य वा भवद्विरास्थीयते,
किं निर्वचनस्याभावोऽनिर्वचनीयत्वम् निर्वचननिमित्तस्याभावो वा अनिर्वचनीयत्वम् ।
तत्र नाद्यः इदं रजतमिति निर्वचनस्य मायावादिभिः स्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः विक-
ल्पासत्त्वात् । तथाहि निर्वचनस्य निमित्ताज्ञानं वा अर्थो वा निर्वचनस्य निमित्तम् ।
नाद्यः इदं रजतमिति ज्ञानस्य मायावादिभिः स्वीकारात् । अन्यथा तादृशवाग्व्यवहार एव
न स्यात् । न द्वितीयो निर्वचनस्य कारणं सऽसदर्थोवा, नाद्यः सदर्थस्याभावे असत्ख्याति
प्रसङ्गात् । इष्टापत्तौ बौद्धमतप्रवेशात् । असदर्थस्याभावे सत्ख्यादिवादप्रसङ्गात् ।
विनिगमना निरुद्ध तथा प्रमाणाभाव भी होता है । नवा उपाधिगदित ब्रह्मअविद्या का कारण है ।
यदि कदाचित् तादृश्य शुद्ध ब्रह्म को कारणता मानें तो भी दोष शुद्धब्रह्म से छुटकारा नहीं
होता है । क्योंकि संसारका कारण अज्ञान ही है । उसी को यदि संसार की सामग्री मानेंगे
तो मोक्षका अभाव हो जायगा । यतः संसार सामग्री रूप से निश्चित अज्ञान का विनाश तो
हूँआ नहीं । और यदि अविद्या को अकार्य अर्थात् नित्य मानें तो अनादि भाव पदार्थ का विनाश
नहीं होने से, अविद्या निवृत्ति के लिए गुरु तथा शास्त्र का वैयर्थ्य भी हो जायगा । प्रयो-
गश्च—वित्रदास्पदीभूत अविद्या विनष्ट नहीं होती है, अनादि होकर के भावपदार्थ होने से ब्रह्म
के समान । नहीं कहो कि अनादि भाव पदार्थ तो पार्थिव परमाणु का श्यामत्व है । परन्तु
वह तो विच्छेद तेजः संयोगरूपपाक से निवृत्त हो जाता है । तो प्रकृत हेतु के उसमें होने
से परन्तु साध्य के नहीं होने से व्यभिचार दोष दृष्ट प्रकृत अनुमान है । ऐसा नहीं कहना
क्योंकि समस्तचिदचित् पदार्थ का जन्य होने से तदन्तर्गत जब परमाणु स्वयंजन्य है तब तादृश

तदुभयविलक्षणस्यवस्तुनः प्रामाणिकैरनङ्गीकागत् । सद्विलक्षणं किन्तु नासत्, एवमसद्विलक्षणमपितु न सदिति कथनन्तु—‘ममानने जिह्वा नास्तीति’ कथनवद्व्याहतत्वादनादङ्गीयमेव । तस्मादस्यानिर्वाच्यस्यानिर्वचनीयतैवेति न प्रागुक्तदूषणनक्रनिर्मुक्तिर्गति सर्व स्पष्टम् ।

न चेष्टापत्तिः सिद्धान्तविरोधात् । किञ्च सन्त्वेन विचारामहत्त्वमनिर्वचनीयत्वं तदा असत्त्वं स्यात् । अमत्त्वेन विचारामहत्त्वेसत्त्वप्रसङ्गात् । उभयविलक्षणत्वं तु लोकादिविरुद्धत्वादेवोपेक्षणीयम् । विशेषतस्तु प्रकरणान्तरे द्रष्टव्यमिति संक्षेपः ।

प्रयोगश्चेत्यादि । यत्रयत्रानादित्वे मति भावत्वं तत्र न नाशप्रतियोगित्वं ब्रह्मणि यथा एवंगृहीतव्याप्तिकेन हेतुना विद्याया अनिर्वच्यत्वं प्रसज्येत । न चा विद्यायानिवृत्त्यभावेकाक्षतिरिति वाच्यम्, भवदीपसिद्धान्तविरोधप्रसङ्गात् । ‘अविद्यास्तमयोमोक्षःसाचचन्धउदाहृतः’ साचाविद्याद्विविधास्थूलरूपासूक्ष्मरूपाच’ इत्युभय-प्रकारका विद्याया अभावस्यैव मोक्षरूपाया भवदीपसिद्धान्ते प्रतिपादनेनाविद्याया नित्यत्वे एतादृशसिद्धान्तस्यभङ्गप्रसङ्गादिति । किंचाविद्यासद्रूपा वा असद्रूपावा-आद्ये द्वैतापातात्, अन्त्येजनकत्वाभावात् ; सदसत्पक्षस्तुविरोधादेवपरास्तः । इत्यादिका दोषा एतन्मते द्वेयाः । विशेषस्थलान्तरेऽनुसन्धातव्य इतिदिक् ।

परमाणुनिष्ठ श्यामत्व में अनादित्व कैसे हो सकता है । तत्र निवृत्त्यभाव साधक प्रकृत हेतु व्यभिचारी नहीं है । अतः अव्यभिचरित अनादि भावत्व हेतु से अविद्या में तादृश साध्य की सिद्धि होने में कोई बाधक नहीं है ।

यद्यपि यह पूर्वोक्त दोष अविद्या में ठीक है । परन्तु यह अज्ञान स्व में कार्यत्व कारणत्व धर्म का परित्याग करके, सत् असत् से अनिर्वचनीयत्व रूप को अज्ञान धारण करता है । ऐसा हुआ तब मायापदवाच्य इस अज्ञान का यह भूषण है कि इसका लक्षण विवेचित न होवे, किन्तु लक्षण का अविनेचन कोई दोष नहीं है । यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अनिर्वचनीय पदार्थ का विवेचन अशक्य है । तथाहि सब पदार्थ सत्ता रूप से अथवा असत्त्व रूप से ही निर्वर्चित होता है । नतु एक ही पदार्थ में सत्त्व विशिष्ट असत्त्वहो सकता है । नवा असत्त्व विशिष्ट सत्त्व हो सकता है ।

इससे ‘सदसदनधिकरणत्व रूप ही अनिर्वचनीयत्व’ है यह कथन भी परास्त हो जाता है । क्योंकि सत्त्व और असत्त्व रूप जो धर्मद्वय है वह परस्पर विरुद्ध है । अतः इन

एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिवलाच्च
विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो नतु केवलाद्वैतम् ।
तथाहि चिदचिद्वस्तुनोः शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम्, तद्वि-
शिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव काश्चनश्रुतयो-
ऽभिदधते । 'पृथगात्मानं प्रतारं च मत्वा जुष्टस्तस्तेनामृतत्व-
मेति' (श्वे० १।६।) 'ज्ञाज्ञौन्दावजावीशानीशौ' (श्वे० १।९।) 'भोक्ता

ननु यदि मायादिमकलपदार्थस्य खण्डनेनमायावादिमतं न मीमांसाशास्त्रस्य
विषयस्तदाप्रकृतशास्त्रस्याभिमतं किमात्मकं तत्त्वमित्याशङ्क्यामाह 'एवञ्चाखिलश्रुती'
त्यादि । प्रकृतशास्त्रस्य विषयो न केवलाद्वैतं किन्तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रमाणितं तथोप-
पत्तिमंत्रलितं विशिष्टाद्वैतमेव विषय इति । विशिष्टं च विशिष्टं चेतिविशिष्टे तयोरैक्यं
विशिष्टाद्वैतम् । तत्र परेशतज्ज्ञानं भिन्नं द्रव्यं देहोदेही च परात्मा अनयोरपृथक् सिद्धि
रेवसंबन्धः । चिदचिद्देहसंबन्धात् ब्रह्मविशिष्टमिति कथ्यते विशिष्टं ब्रह्म सर्वेश्वर
श्रीराम एव 'महाविष्णुर्निराधारो रामो ब्रह्माखिलेश्वरः । 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्या-
नन्देचिदात्मनि । इति राम पदेनामौ परब्रह्माभिधीयते ।' राम एव परं ब्रह्म राम एव
परं तपः । राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्' इत्यादिश्रुतिवृन्दं हि वेदान्त-
तत्त्ववेदिभिः । ब्रह्मत्वे रामचन्द्रस्य प्रमाणत्वेन सम्मतम्' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।४-७)
इत्याचार्योक्तेः । स एव रामः प्रलयदशायां सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टः कारणं स एव संसार
दशायांस्थूलचिदचिद्विशिष्टः कार्यमितिचोच्यते एतादृशयोर्विशिष्टयोरद्वैतमेवविशिष्टा-

सत्त्व तथा असत्त्व का एक में समावेश नहीं हो सकता है । सद्विलक्षण जो होगा वह असत्
होता है । और जो असद्विलक्ष होता है सो सत् होता है । क्योंकि लोकव्यवहार ऐसा ही
है । उभय विलक्षणत्व तो लोकशास्त्र उभय विरुद्ध है । उभय विलक्षण पदार्थ को प्रामाणिकों
ने नहीं माना है । असत् से विलक्षण है और सत् नहीं है । यह कथन तो 'मेरे मुँह में
जीभ नहीं है' इस कथन की तरह व्यावृत्त है । इसलिए अनिर्वचनीय अज्ञान है ऐसा कहना
अज्ञान मात्र ही है । अतः पूर्वोक्त दोष का निराकरण नहीं होता है ।

अविद्यादि पदार्थ के खण्डन द्वारा मायावादी मत का निराकरण करके, इस मीमांसा
शास्त्र का विषय क्या है ! इस वस्तु को बनाने के लिए उपक्रम करते हैं 'एवञ्चाखिलेत्यादि'
समस्त श्रुति स्मृति इतिहास पुराण के सामंजस तथा उपपत्ति के बल से सिद्ध होता है कि विशिष्टा

भोग्यं प्रेस्तास्त्रमत्वा' (श्वे० १।१२।) 'क्षप्रधानममृताक्षं ह्रः क्षग-
त्मानावीशते देव एकः' (श्वे० १।१०।) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'
(श्वे० ६।१६) अत्र प्रधानक्षेत्रज्ञपदाभिधेययोश्चिदचितोर्भाक्तृभो-
ग्यत्वेन पतिरितिपदेन च तयोर्नियमनकारित्वं परमात्मन इति
स्पष्टतयैवाभिहितम् । गुणेश इतिपदञ्च सत्यकामत्वमत्यमंकल्प-
त्वादिनित्यगुणयोगञ्चाभिदधाति । 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-

द्वैतम् । तदत्राद्वैतस्मद्गुरवो महामहोपाध्याय जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचायां
वेदान्तकेशरिणः 'विशिष्टाद्वैतमित्यत्र विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे एकशेषः
द्वयोर्भावोद्विता द्वितैवद्वैतम् स्वार्थिकोऽणं भेद इति यावत् नद्वैतमद्वैतम् । 'नञ्' इति
पाणिनीयेन समासस्ततश्च विशिष्टाद्वैतमितिपठितत्पुरुषः । अत्र च विशिष्टपदाभ्यां
सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं स्थूलचिदचिद्विशिष्टञ्च ब्रह्मैवाभिधीयते । तयोश्च ब्रह्मणोरद्वैतम
भेद एवेत्यर्थोपलभ्यते । सूक्ष्मावस्था हि कारणावस्था स्थूलावस्था च कार्यावस्था तयो-
रुभयोरवस्थितिमेकमेव ब्रह्मेति तु तत्त्वम् ।

नचात्राचित्पदार्थनिष्ठे स्थौल्ये सत्यपि पारिमाण्डल्यजुषो जीवस्य कथं तत्त्वं
कथन्तराज्जाणोरणीयानित्याम्नायाभिहितस्येद्वैतस्येतिवाच्यम् । अनेकाम्नायममधि-
कान्तयोर्नामरूपविभागार्हत्वतदनर्हत्वयोरेवस्थौल्यमौक्ष्म्यचिदचिद्विशिष्टस्थूलचिदाच-
द्विशिष्टब्रह्मेत्यस्य शब्दबोधस्तु अपृथक्सिद्धिसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित सूक्ष्म-
चित्त्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नापृथक् सिद्धिसम्बन्धावच्छिन्न सूक्ष्मचित्त्वा-
द्वैत ही इस ब्रह्म मीमांसा शास्त्र का विषय है किन्तु केवलाद्वैत, इस ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का
विषय नहीं है । क्योंकि केवलाद्वैतवाद का पूर्वोक्त क्रम से निराकरण कर दिया गया है ।
सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म—के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं ।
इस विशिष्टाद्वैत—के स्वरूपका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं 'तथाहिइत्यादि' चित्तचित्त
पदार्थ अर्थात् जडचेतन पदार्थ समुदायशरीर रूप होने से प्रकार है, इस प्रकार को प्रकारों
ब्रह्म के साथ अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है । और तादृश जडचेतनात्मक देह विशिष्ट ब्रह्म को
शरीरी होने से प्रकारित्व शाश्वतिक है । एतादृश स्थूल पदार्थ लक्षण देह विशिष्ट ब्रह्म को सूक्ष्म
जडचेतन देह विशिष्ट कारण ब्रह्म की एकता का नाम विशिष्टाद्वैत है । इसको श्रुति बतलानी
है । यह जीव स्व से भिन्न सबका प्रेरक परमात्मा को जान करके, तादृश प्रेरक परमात्मा की

ऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यम-
हिमानमिति वीतशोकः (श्वे० ४।६।) 'सकारणं करणाधिप
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।' [श्वे० ६।९।) 'नित्यो-
नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे०
६।१३।) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां
मरूपः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाप्रजो-

वच्छिन्नप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नविशेष्यताकस्यापृथक्सिद्धिसम्बन्धावच्छिन्नस्थूल-
चित्त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितस्थूलचित्त्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नपृथक्सिद्धिसम्ब-
न्धावच्छिन्नस्थूलचित्त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नविशेष्यताकस्य ब्रह्मणश्च
तादात्म्यमिति दिशावसेयः ।

अनेन च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्थूलचिदचिद्विशिष्टपदयोः सामानाधिकरण्य
मुपपादितं भवति । एतादृशपदसामानाधिकरण्यञ्च तत्पुरुषः सामानाधिकरण इत्यादि
शास्त्रे शाब्दिकशिरोमणिर्भगवान् पतञ्जलिः स्पष्टमाचष्टे, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तशब्दा
नामेकस्मिन्नर्थेवृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति । एतदनुरोधेन तत्पदविशिष्टत्वमेव तत्पद-
स्य तेन सादृष्टं सामानाधिकरण्यमिति निश्चीयते । अत्र वैशिष्ट्यञ्च स्वजन्योपस्थिति
विषयतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नोपस्थापकत्वस्वप्रयोज्यविषयतानिरूपिततादात्म्यनिष्ठवि-
षयतानिरूपितविषयताप्रयोक्तृत्वोभयसम्बन्धाभ्याम् । एतच्च सामानाधिकरण्यं
प्रकृतेऽपि सङ्गच्छत इति दिक्' इत्यादिरूपेण ।

सेवा में अमृतत्व को प्राप्त करता है ।, 'ज्ञेयपरमात्मा, अज्ञ जीव, ये दोनों ईश तथा जीव, दोनों
अज हैं, उत्पादग्रहित हैं ।, भोक्ता जीव भोग्य जड पदार्थ को तथा प्रेरयिता परमात्मा को जान
करके, प्रधान क्षर है, और हर जीव अमृतक्षर है, इन दोनों का नियामक एक कोई देव है ।
'प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ जीव का पति स्वामी तथा अनन्त कल्याण गुण का आश्रय परेश है ।,
इस श्रुति में प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ पद वाच्य चित् अचित्, चेतन जड को भोक्ता तथा भोग्यरूप से,
तथा तति पद से भोग्य भोक्ता का नियमन कारि परमात्मा में है ऐसा स्पष्ट रूप से प्रति-
पादन किया है । एवम्. गुणेश, यह पद सत्यकामत्व सत्य संकल्पत्वादिक नित्यगुण का संबन्ध
को बनलाता है । 'समाने वृक्षे' इत्यादि शरीर लक्षण वृक्ष पर नियमन जीव अनैश्वर्य से मुग्ध होता
हुआ संसार दुःख का अनुभव करता है । और जब स्वभिन्न महापुरुष का अनुभव करता

ऽन्यः ।' (इवे० ४।५।) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर्गे यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तर्गे यमयत्येष न आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३।) 'य आत्मानमन्तर्गेयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (शत० १४।५।३०) 'योऽक्षमन्तरे सन्नग्न यस्याक्षश्शरीरं यमक्षरं न वेद । अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै० आ० ३।११।२) इत्येवमादयः ।

एतादृशविशिष्टाद्वैतमेव श्रुत्यादिप्रमाणसंमतंमीमांसाशास्त्रस्य विषय इति । एतादृशविशिष्टाद्वैतं शास्त्रस्य प्रतिपाद्यमिति तत्र श्रुत्यादिकमेवोदाहरति । तथाहि चिदचित्पदार्थो शरीररूपतयाऽपृथक् मिद्वत्त्वेन प्रकाररूपोभवतः । तद्विशिष्टस्यपरमात्मनः शरीररूपत्वेन प्रकारित्वं तच्चशाश्वतिकमेव । इममर्थं श्रुतयः संगिरन्ति मृथगात्मानमित्यादि । जीवोहि स्वापेक्षयाभिन्नं प्रेरितारंकमप्यात्मानमत्वाज्ज्ञात्वा तेन जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वंमोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थाः । जडचाञ्चल्येनीमौढावयवत्रौसमुत्पादरहितौ जीवपरेशावित्यर्थाः । भोक्ता सुकृतकर्मफलस्यात्ताजीवः भोग्यमचित्पदार्थं प्रेरितारं-परमात्मानंमत्वाज्ज्ञात्वेत्यर्थः । एवं भाष्ये समुदाहृतागमवाक्यानामर्थो ज्ञातव्यः । पूर्वोक्तवाक्येषु प्रधानक्षेत्रज्ञपदाभ्यां जडचेतनयोर्मोग्यत्वभोक्तृत्वरूपेणप्रतिपादनं भवति । प्रतिपदेन च जडचेतनयोर्नियमनकारित्वंपरमात्मन एव प्रदिपादितं भवति । गुणेश इति पदं च सत्यकामत्वादित्यगुणवत्त्वं भगवत इति ज्ञापयति । समानेवृक्षे इत्यादि एकस्मिन् शरीररूपे विनाशवति देहे निमग्नोजीवोऽनीशयामुद्यमानोऽनुशोचति संसारभाग्भवति । अथयदास्वभिन्नं सेवमानमस्य परेशस्य महिमानं पश्यति विज्ञानानि है, तव संसार दुःख का अतिक्रमण कर जाता है ।, वह परमहमा सबका कारण है । कारण चक्षुरादिक का अधिप जीव का भी अधिप नियन्ता है । इस महापुरुष का कोई जनयिता तथा उसका कोई स्वामी नियामक नहीं हैं । नित्यत्वेन अभिमत वस्तुओं में भी नित्य है चेतनों का भी चेतन है, एक होता हुआ भी अनेक व्यक्तियों के काम्यमान विषय का संपादन करने वाले हैं । 'एक अजायमान रजोगुण सस्त्व गुण और तमो गुणवाली अनेक समानाकार प्रजा के उत्पादन करनेवाली प्रकृति का सेवन एक पुरुष करता है । और कोई मुक्तभोग पुरुष, उस प्रकृति का परित्याग करता है ।, जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है । जिसको पृथिवी नहीं समझती है । जिसका शरीर पृथिवी है । जो पृथिवी को अन्दर ही अन्दर नियन्त्रित

एष एवाभिप्रायः स्मृत्यादिषु बहुलमुपलभ्यते । यथा
 प्रकृतेः पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि (गी०१३।२०)
 मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
 हेतुनानेन कौन्तेय ? जगद्विपश्चितते । (गी० १।१०)
 मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।
 सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ? । (गी०१४।३)

तदा संसारभयरहितो भवतीत्यर्थः । एवं सपरमात्मासर्वस्यापिकारणं तथा चक्षुरा-
 दिकरणानामधिपोजीवस्तस्याप्यधिपति, अस्य कठिचदुत्पादकोनास्तिनवातस्यकश्चि-
 त्स्वामी विद्यते इतितदर्थः । एवमादिका आगमा अमुमेव विशिष्टाद्वैततत्त्वमनुमोद-
 यन्ति निराकुर्वन्ति च तदितरकेवलाद्वैतादिकमिति ।

विशिष्टाद्वैतमेव समीचीनं न कैबलाद्वैतमिति श्रुतिप्रमाणेन संसाध्य ततः परं
 स्मृतिपुराणादिभिस्तस्यैव सिद्धिर्भवतीति, दर्शयितुमाह एष एवाभिप्राय इत्यादि । अयमेवा-
 भिप्रायोऽर्थात् विशिष्टाद्वैतमेव श्रुतिमिद्वमित्यभिप्रायः स्मृत्पादावपि समुपलभ्यते ।
 तादृशस्मृत्यादिकमेवोदाहरति यथा प्रकृतिमित्यादि । प्रकृतिपुरुषावुभावप्यनादीत्यर्थः ।
 'मदीयशासने विद्यमानेयं प्रकृतिः सचराचरं जगदुत्पादयति, हे कौन्तेय ! तेनैवकार-
 णेन सर्वेभ्य उपरिवर्तेहमित्यर्थः । 'जगत्सर्वतत्रैव परमेश्वरस्य शरीररूपं जगतः स्थैर्यमपि
 करता है । यह तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है ।' 'जो इस जीवत्मा को नियन्त्रित करता
 है ।, जो अक्षर के अन्दर में संचरित होता है । जिसका अक्षर शरीर है ज्ञायादि, । इत्या-
 दिक अनेक श्रुतिगण पृथिव्यादिक को परमात्मा का शरीर है, तथा परमात्मा शरीरी है इस
 बात का स्पर्शकरणपूर्वक विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन करता है ।

मूत्रकार का जो विशिष्टाद्वैत मत है वही श्रुति स्मृति संमत है इसका विवेचन पूर्व
 प्रकरण से किया गया है । यही अभिप्राय स्मृतिपुराणादिक में भी बहुलतया उपलब्ध
 होता है । यथा 'प्रकृति तथा पुरुष ये दोनों अनादि हैं—गीता ।—, मेरे शासन के अन्तर्गत
 में यह प्रकृति सचराचर जगत् का उत्पादन करती है हे अर्जुन ! इसी कारण से मैं सर्वोपरि
 हूँ ।, यह प्रकृति ही परम उत्पत्ति का आधार है । मैं उसमें ही बीज का प्रदाता हूँ । तब
 सब भूतों की उत्पत्ति होती है ।—गीता] प्रकृति का पुरुष से भिन्न अव्यय परेश पुरुषोत्तम

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः । (गी० १५।१७)

जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् (वा० ग० यु०)

प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।

पुरुषश्चाप्युभावेर्ता लीयेते परमात्मनि ।

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।

विष्णुनामा म वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते । (वि० पु० ६।४।३८-३९)

‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ (ब्र० सू० १।१।५) ‘तदनन्यत्वमागम्भणशब्दा

त्वय्येव, इमौ प्रकृतिपुरुषौ प्रलयकाले त्वय्येव विलीनी भवतः । तत्र तेषां सर्वेषामाधारभूतः परमात्मैव नान्यो भवतीति स्मृतिः पुराणवाक्ययोरभिप्रायः । एतावता विशिष्टाद्वैतमेव पुष्टतामुपयाति निरस्तश्चान्यमतवादी भवतीति । ईक्षतेर्नाशब्दम् [अशब्दशब्दाप्रतिपाद्यम् प्रधानं जगतो न कारणं कुतः ? ईक्षते जगत्कारणे ईक्षितृत्वस्य तद्वैतत्वं इत्यादी प्रतिपादनात् समीक्षणं च चेतनकर्तृकमेव, तदचेतने प्रधानेऽभावात् प्रधानस्याचेतनस्य जगत्कारणत्वं न भवतीति सूत्रार्थः । तदनन्यत्वमिति । तत् कार्यं कारणादनन्यम् अर्थात् कारणव्यतिरेकेण कार्यस्योत्पादिकं न भवति । यथा मृत्तिकाया व्यतिरेके घटादिव्यतिरेकवदिति । प्रकृतिश्चेति यद्यपि चेतनत्वात् परमात्मा जगतो निमित्त है जो लोकत्रय में सर्वान्तर्यामी रूप से आविष्ट होकर के सबका धारण करके हैं ।,—हे देव! यह सम्पूर्णजगत् जो कि चिदचित् है वह सब आप परेश का ही शरीर लक्षण है । आपके शरीर रूप होने के कारण से ही ये सब स्थिर होकर के अवस्थित है ।, [वा० ग० यु० का०] जिस व्यक्त अव्यक्त स्वरूप प्रकृति का मैं कथन किया हूँ वह तथा पुरुष जीव राशि, ए सब पदार्थ प्रलय समय में परमात्मा में प्रलयमान हो जाते हैं । इन सबका आधार परमेश्वर परमात्मा है वही विष्णुनाम से वेद तथा वेदान्त में कहे जाते हैं ।, [वि० पु० ६।४।३८-३९] एवं—‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’, [शब्दाप्रतिपादिन जो प्रधान है वह जगत् का कारण नहीं है । क्योंकि जगत् कारण में ईक्षितृत्वका श्रवण है । ईक्षण धर्म चेतन का है अचेतन का नहीं है । इसलिए जड प्रधान जगत् का कारण नहीं है । किन्तु सकल जगत् शरीरक परमात्मा ही जगत् का कारण है । तदनन्यत्वमित्यादि (कारण से कार्य अनन्य है, अर्थात् कारण के व्यतिरेक में कार्य का अवस्थान नहीं होता है । जैसे मृत्तिका के अभाव में घटादि कार्य अवस्थान

दिभ्यः' (ब्र०सू०२।१।१५) 'प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' ।
 (ब्र०सू०१।४।२३) इत्याद्याः । 'ईक्षतेर्नाशब्द' मित्यत्राशब्दप्रति-
 पाद्यस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं निरस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण
 एव तत्त्वमीक्षणकर्तृत्वेन हेतुना सम्यगुपपादितम् । एवञ्च सूक्ष्मचि-
 दचिद्विशिष्टेन ब्रह्मणा सह स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य प्रपञ्चस्याभेद-
 स्तदनन्यत्वमास्मभ्यशब्दादिभ्य इत्यादावभिहितम् । 'सदेव सोम्ये-
 दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' । (छा०६।२।१।) इत्यत्रोदंशब्दस्यापि
 चिदचिद्विशिष्टपरत्वमेव । अत एव च सदिदं पदयोर्मुख्यमेव समाना
 कारणं भवत्येव घटादिकं प्रतिचेतनकुलवत् तथापि स परमात्मा सृष्टिकादिश्वत् प्रकृति
 रुपादानकारणमपि भवतीति । तत्रोक्षतेरिति सूत्रे वेदाप्रतिपाद्यस्य प्रधानस्य जग-
 त्कारणत्वं निराकृत्य ईक्षणकर्तृत्वकारणेन सूक्ष्मचिदचेतनशरीरस्य ब्रह्मण एव
 कारणत्वं प्रतिपादितम् । एवं कारणीभूत सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट परमेश्वरेण सह कार्य
 परिणतस्थूलचिदच्छिद् विशिष्टपरमेश्वरस्य तादान्म्यं तदनन्यत्वमित्यादि सूत्रेणाभि-
 व्यञ्जितम् ।

एवम् सदेवेत्यादिवाक्यघटकदंपदमपिचिदचिद्विशिष्टवस्तुन एवोपस्थापकं
 भवति । अत एव प्रकृतवाक्यघटकमन्पदेदंपदयोरुभयोरपिचिदचिद्विशिष्टयोः परस्परंसा
 नहीं होता है । आरंभण शब्दादि से यह सिद्ध होता है ।'] प्रकृतिश्चेत्यादि परमात्मा
 जगत् का निमित्त कारण जिस तरह से है उसी तरह इस जडचेतन जगत् का प्रकृति
 अर्थात् उपादान कारण भी है । अर्थात् तूता तन्तु के समान इस जगत् का उपादान भी है
 तथा निमित्त कारण भी है । इसलिए अभिन्नोपादनत्व का व्यवहार परेश में होता है ।
 ऐसा मानने से भी, एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा,
 तथा मृदादि दृष्टान्त का समन्वय होता है ।'] इत्यादिक स्मृति पुराण सूत्रों का अभिप्राय,
 विशिष्टाद्वैत अर्थ में ही उपलब्ध होता है इन सब वाक्यों का अभिप्राय विशिष्टाद्वैत रूप अर्थ
 में किस प्रकार से अभिव्यक्त होता है उसका स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं 'ईक्षतेर्नाशब्द-
 मित्यत्रेत्यादि, ईक्षतेर्नाशब्दम् । यहाँ शब्द से अप्रतिपादित प्रधान में जगत् कारणता का
 निरास करके सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में ईक्षण कर्तृत्व हेतु से जगत्कारणता अभिन्ननिमित्तो-
 पादनत्व का उपपादन किया गया है । ऐसा होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के साथ

धिकरण्यम् । एवं 'सर्वे खल्विदं ब्रह्म' (छा०३।१।४।१।) 'तत्त्वमसि' (छा०६।८।१६) इत्यादावपि सर्वादिपदानां तत्तच्छरीरकपरमात्मपरत्वात्सर्वादिपदब्रह्मादिपदयोः सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव । शरीरगमिधायिपदानां शरीरिणी शक्तिगतिमिद्धान्तान् । न च स्थाणुःपुरुष इतिवदबाधार्थं सामानाधिकरण्यं तथा च जितं विवर्तवादेनेति वाच्यम् । 'सदेवसोम्येदमग्रे' इत्यादिश्रुत्या 'अग्रे' इतिनिषेधविरोधात् । एवञ्चसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टप्रत्युपादानत्वमुपपन्नम् । भाव्यवस्थाविशेषतः प्रागवस्थाश्रयत्वमे-

मानाधिकरण्यं भवति । विभिन्नार्थोपस्थापकत्वे घटादवन सामानाधिकरण्यं न स्यात् । समानार्थकसमानविभक्तिकपदाभ्यामुपस्थितयोरेव सामानाधिकरण्यं भवतीति । एवमेवाग्रिमसर्वादिपदब्रह्मादिपदयोर्यत्सामानाधिकरण्यं तदपि मुख्यमेव मतान्तरे तदसंभवादिति । शरीरवाचकपदस्य शरीरिण्यपिपर्यवसानं शक्तिबलादेव जायते इत्यस्यापि व्यवस्थापितत्वादन्यत्रेति । न च बाधायां सामानाधिकरण्यं प्रकृतसङ्गतेः । ततश्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मकारणं भवति तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्टं तदेव ब्रह्म कार्यं भवतीति । न च ब्रह्मण एव कारणत्वेतस्यैवच कार्यत्वे आत्माश्रयदोषः स्यात् विशिष्टस्यार्थान्तरत्वेपि आंशिकात्माश्रयस्यापरिहार्यत्वादितिवाच्यम् । स्थूल चिदचिद्विशिष्टप्रपञ्च के तादात्म्य का उपपादान,—'तदनन्यत्व' इत्यादि गृह से किया गया है । एवम्—'सदेव सोम्येदम्'—एतद्वाक्य घटक इदं शब्द का चिदाचिद्विशिष्ट रूप ही अर्थ है । अत एव उक्त श्रुति घटक सत्पद तथा इदं पद का जो सामानाधिकरण्य है वह मुख्य ही सामानाधिकरण्य है । चिदचिद्विशिष्ट सत्पदार्थ को चिदचिद्विशिष्ट इदं पद के साथ सामानाधिकरण्य होने में कोई बाधक नहीं होता है । नवा लक्षणादिक वृत्त्यन्तर का आश्रयण प्रयुक्त गौरवादिक दोष होता है । एवम्—'सर्वेखल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रमास्मि' इत्यादि स्थूल में भी सर्वादिक पद का तत् शरीर परक परमात्मपरक होने से, सर्वादिकपद तथा ब्रह्मादिक पदों का जो सामानाधिकरण्य है वह भी मुख्य सामानाधिकरण्य होता है । लक्षणादिक की आवश्यकता नहीं होती है । मतान्तर में तो लक्षणा सर्वत्र अनिवार्य है । जो पद शरीरवाचक होता है उसकी शक्ति शरीरी में भी होती है, ऐसा सिद्धान्त है ।

वैपादानत्वम् । एवञ्चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि सम्यगुपपन्ना भवति । भवन्मते तु ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्य कस्यचिदपिवस्तुनोऽभावात् 'येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातंस्या' दित्यादौ कस्य श्रुतेन किमश्रुतं श्रुतं स्यात् । द्वितीयस्यासद्भावाद्वितीयमपि प्रतिज्ञा निगलम्बना स्यात् । यदि चाधिष्ठानभूतायाश्चिच्छक्तेः पारमार्थिकत्वेन परिज्ञाते तदध्यस्तस्याखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेनागतिर्भवत्येवेत्युच्यते हन्त ? तर्हि परिज्ञानप्रयोजनमेव मन्दफलकम् । पारमार्थिकमिथ्या-स्थूलचिदचित् कार्यं प्रति सूक्ष्मचिदचित्तोरेव कारणत्वात्, न तु विशेष्ये कार्यत्वं कारणत्वं वा येनात्माश्रयदोषः स्यात् । कथं तर्हि ब्रह्मैव कार्यं तदेव कारणमिति तत्राह—भाष्यवस्थाविशेषतः इत्यादि—विशेषत एतत्तत्त्वं सांप्रदायिकेभ्योऽवतगन्तव्यमिति । एतन्मते एव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा सिद्धाभवति, मायिकमते तु ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावेन तदसिद्धेः । न च तन्मते सत्ता त्रिविधा पारमार्थिकी व्यावहारिकीप्रातिभासिकी च । तत्र ब्रह्मणः प्रथमा आकाशादिप्रपञ्चस्य द्वितीया, शुक्तिरजतादेस्तृतीया, तत्र ब्रह्मवत् पारमार्थिकसत्तावतोव्यतिरिक्तस्यासत्त्वेऽपि व्या-

नहीं कहो कि 'इदं रजतं स्थाणु पुरुषः' इत्यादि स्थल में जिस तरह बाध में भी तो सामानाधिकरण्य देखने में आता है । उभी तरह इदमादिक पद तथा ब्रह्मादिक पद में सामानाधिकरण्य जो है वह बाध अर्थ में ही है । ऐसा होने पर विवर्तवाद ही सिद्ध होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि—'सदेवसोम्येदम्' इत्यादि श्रुति में अग्रे पद से जो निषेध किया है उसका विरोध होता है । इससे सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट परमेश्वर स्थूल चिदचिद्विशिष्ट का उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है नहीं कहो कि ब्रह्म को ब्रह्म के प्रति उपादान कारणत्व तो आत्माश्रय दोष दृष्ट है, ऐसा नहीं कहना । यहाँ भावी अवस्था विशेषापेक्षया पूर्वकालिक अवस्थाश्रयत्व ही उपादानत्व है । अथवा विशेषणांश में ही जन्यजनक भाव है, किन्तु विशेष्यांश में नहीं क्योंकि असिद्धांश ही कार्य होता है विशेष्य तो निःशेष सार्वकालिक है । 'स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो-बुधैः । ११ । ब्रह्मणस्तु विकारो यन्न स्वरूपस्वभावयोः । व्याकोपावसरः कश्चिच्छ्रुतीनां वर्तते न तत् । १२ ।' इत्यादिरूप से ज-गु. श्रीद्वारानन्दाचार्यजी ने भी कहा है । अथवा विशेषणांशोपहितत्व रूप से विशेष्यांश में भी जन्यता औपचारिक है । जिस तरह वह्निमत्त्व रूप से

त्वपदयोः श्रुतिविरुद्धयोरध्याहारः । दृष्टान्तानुपपत्तिश्च स्पष्टैव ।
तथा सत्यैकेन शुक्तिशकलेन सर्वं रजतभ्रकादिकं यथा वा सोम्यै-
कया रज्ज्वा सर्वं सर्पभूदलनाम्बुधारादिकं विज्ञातं स्यादित्येव
ब्रूयान् । यथा सोम्यैकेनमृतपिण्डिनसर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादित्यादि
दृष्टान्तनये तु परिणामवाद एव संगच्छत इति मुधिय एव विभाव-
यन्तु ।

वहारिकप्रातिभाषिकसत्तावतोर्विद्यमानत्वेन, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा
मिदृध्यन्त्येवेति वाच्यम् । सत्तात्रैविध्यपरिभाषाया लोकशान्नामिदृन्त्वेन हेयत्वान् ।
तस्मादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा मिद्वेष्टभावान् विशिष्टाद्वैतमेव रमणीयं श्रुति-
स्मृत्यनुकूलत्वादिति । एतत्सर्वं भाष्यकारः स्वमेव दर्शयति—भक्त्यमेव इत्यादि ।
तस्मान्नविवर्तवादोमायिकाभिमतः समीचीतोऽपितु परिणामवाद एव श्रेयान् तन्मते
दृष्टान्तस्याप्यनुपपत्तिरेवेति । अन्यत्सर्वभाष्यरीत्यवज्ञातव्यमिति सश्लेषः ।

पर्वत को अनुमेय मानते हैं । वहां पर्वत लक्षण पक्ष को चक्षुरादि प्रमाण सिद्ध होने पर भी
विशेषण विशिष्ट रूप से अनुमेयत्व होता है । उसी तरह प्रकृत में भी विशेषण विशिष्टत्व
रूप से जन्यत्वादिक होने पर भी कोई श्रुति नहीं है नवा विशिष्टाद्वैत की सिद्धि में
कोई प्रबलवाचक ही है ।

इस प्रकार श्रुत्यादि प्रमाण सिद्ध विशिष्टाद्वैत लक्षण तत्त्व का स्वीकार करने पर एक
विज्ञान में सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा है उसकी भी सिद्धि होती है । सकल जड़ चेतन जगत्
एक परमेश्वर का विज्ञान होने में तदवयवात्मक सत्य सकल पदार्थ सन्तत्युल साधक
वस्तु का ज्ञान होजाना है । जिस तरह मृत्तिका का ज्ञान होने में तदवयवलक्षणमृन्मय पद-
अभाव घटिका उदंचन पदार्थ ज्ञान हो जाता है । उसी तरह में भी सकल पदार्थ
का उपादान कारण ब्रह्म का ज्ञान होने में तदेक रूप लक्षण सकल जगत् का ज्ञान हो जा-
यगा । और मायावादी के मन में तो ब्रह्म से अनिरिक्त कोई भी सत्य पदार्थ, वस्तु, भूत
नहीं है तब 'जिस से अशुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है, अमन भी मति का विषय होता है ।
और अविज्ञात पदार्थ भी विज्ञात हो जाता है' इत्यादिस्थल में किस पदार्थ का श्रवण होने
से कौन पदार्थ ऐसा अश्रुत है जो श्रवण प्रत्यक्ष विषय होगा । क्योंकि ब्रह्म व्यतिरिक्त तो
कोई द्वितीय पदार्थ है नहीं तो यह जो प्रतिज्ञा है वह आलंबन रहित हो जायगी ।

यदि कहो कि अखिल भ्रम का अधिष्ठानभूत जो परब्रह्म है उस का पारमार्थिक रूप

न चैवमभेदनिरासे श्रुतिव्याकोपः 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।३।४] इतिच्छान्दोग्ये दहरविद्यायां 'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते नहास्योद्ग्रहणाथैव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तपपारं विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाप तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीति' (बृ० २।४।१२।) 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मा

यदि पूर्वोक्तप्रकारेणाभेदस्य सर्वथैव तिगमः क्रियते तदाऽभेदवादिनीनां का गतिः ? इत्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते भाष्यकारः न चैवमभेदनिरासे इत्यादि तत्रपूर्वपक्षवादी, अभेदप्रतिपादकश्रुतिरुदाहरति परंज्योतिरित्यादि । अयं जीवः परंज्योतिस्वरूपं परमात्मनं प्राप्यस्वकीयरूपेणाभिनिष्पन्नो भवतीति छान्दोग्यश्रुतेः ज्ञान होने पर तादृश अधिष्ठान में शुक्ति रजत के समान अध्यस्त जो समस्त प्रपञ्च है उस का मिथ्यात्व रूप से ज्ञान तो हो ही जायगा । जैसे परमार्थ रूप रज्जु में अध्यस्त सर्प का । रज्जुत्वका पारमार्थिकत्वेन ज्ञान हो जाने पर 'मिथ्यैवायं सर्पः' इत्यादि रूप से मिथ्यात्वरूप से सर्प ज्ञात हो जाता है, उसी तरह प्रकृत में भी होगा । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि एतादृश ज्ञान का तो कोई प्रयोजन ही नहीं है । क्या अन्य वस्तु का ज्ञान होने से अन्यपदार्थ जानता है ! क्या पारमार्थिकत्व रूप से घटका ज्ञान होने पर मिथ्यात्व रूप से घट ज्ञान होता है ! और पारमार्थिकत्व तथा मिथ्यात्व पदों का अध्याहार भी करने का क्लेश होता है । जो कि श्रय्यनभिप्रेत है । और मृत्तिकादिक दृष्टान्त की अनुपपत्ति तो स्पष्ट हो है यदि भवदभिमत वस्तु ही श्रय्यभिमत होता, तब तो हे सौम्य ! एक शुक्तिशकल का ज्ञान होने पर सब रजत अभ्रादिक, यथा वा एक रज्जु के ज्ञान होने पर सब सर्प जलधारादिक ज्ञात होगा, ऐसा ही कहना चाहिए । परन्तु ऐसा तो नहीं कहा है ! जिस तरह हे सौम्य एक मृत पिण्डके ज्ञान होने पर सर्वमृन्मय पदार्थ विज्ञात होता है, इत्यादि दृष्टान्त के देखने से तो परिणामवाद ही संगत होता है । किन्तु विवर्तवाद सिद्ध नहीं होता है । इत्यादि बातों का विद्वान् लोग स्वयं विचार करें ।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अभेद के खण्डन करने पर श्रुतियों का विरोध होगा क्योंकि नीचे लिखी श्रुतियाँ अभेदवाद को ही कह रही हैं । 'यह सम्प्रासाद इमं शरीरं से उठकर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से युक्त हो जाता है, ऐसा छान्दोग्य

वर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विध्वंस्य
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः
समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपविमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् (मु० ३।२।८) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'
(मु० ३।२।९।) इत्यादावसकृत्तथैव प्रतिपादितत्वादिति वाच्यम् । अभेद-
वादस्योदाहृतश्रुत्यर्थास्पृष्टत्वात् । तत्र च मुक्त्यवस्थैव प्रतिपाद्यते ।
परं ज्योतिः परमात्मानमुपमम्पद्य याथार्थ्येनावगम्य स्वेनानन्दरूपेण

तेरर्थः । दहरविद्यायामपि 'स यथा' सैन्धवखिल्य इत्यादिकं कथितम् । मुण्डकेऽपि
यदापश्यः पश्यतेरुक्मवर्णम् इत्यादिनाऽभेदः प्रतिपादितः । तथा ययानद्यः इत्यादीनदी
दृष्टान्तेनाभेदप्रतिपादितः, तत्कथमभेदस्य सर्वथा निरासक्रियते इति चेत्सन्त्यम् ।
योऽयं भवतामभेदवादः स नाभेदवादः श्रुत्यर्थः । प्रथमाश्रुत्यर्थोभाष्यकृतास्वयमेव-
स्पष्टीकृतः । एवं द्वितीयश्रुतौ विनश्यति इत्यस्य नाशप्रतियोगीजीवो भवति-इति
तु नार्थः । किन्तु यथा नदीजलं स्वकीयनामरूपे परित्यज्य समुद्रे जलराशौ विलीय
के दहर विद्या में कहा है । तथैव वृद्धारण्यक में भी कहा है कि—'महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा कि
जैसे जल में डाली हुई नमक का टुकड़ा जल में ही लीन हो जाता है । उसे जल में से
निकालने को कोईकहे तो उसे निकालने में कोई भी समर्थ नहीं होता है । जहां जहां से लिया
जाय लवणही विदित होता है । हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह महद् भूत अनन्त अपार तथा
विज्ञानघनही इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के पश्चात् विनष्ट हो जाता है, मुण्डकोपनिषद् में
भी 'जव जीव सुवर्ण के समान वर्ण वाले ब्रह्मयोनि कर्त्ता तथा परम पुरुष रूप ईश्वर को देखता
है तब वह विद्वान् पुण्य और पाप को नष्ट कर निर्लेप होकर परम सादृश्य को प्राप्त होता है,
और भी कहा है कि 'जैसे बहती हुई नदियां नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन
हो जाती हैं तथैव नामरूप से छूटा हुआ विद्वान् परात्पर दिव्यपुरु को प्राप्त होता है, तथा
ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म होता है इत्यादि श्रुतियों में अनेकों बार जीव और ब्रह्म का
अभेद ही प्रतिपादित किया गया है अबः अभेदवाद का खण्डन करनेपर इन सब श्रुतियों
का विरोध होगा । अभेदवादियों के ऐसा कहने पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं—उदाहृत
श्रुतियों के अर्थों में अभेदवाद का स्पर्श भी नहीं हुआ है इन श्रुतियों में मुक्ति दशा का
ही प्रतिपादन है 'यह जीव परमात्मा को यथार्थ रूप से जानकर इस शरीर से निकलकर

सायुज्यं समवाप्य तिष्ठतीति प्रथमश्रुत्यर्थः । द्वितीयास्तु विज्ञानधनो जीवः पाञ्चमीतिकं देहम्परित्यज्य सर्वाधारे परमात्मनि विनश्यति लीनो भवति देवादिनामरूपपरित्यागादित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः “स यथा सैन्धवखिल्य” इत्यादि । सैन्धवखिल्यो लवणपिण्ड एकरूपताम्भजत । नहि रूपतः पार्थक्यं दृश्यते परमादितो मध्यतोऽन्तत आचमने तु रसतो वैधर्म्यं ज्ञायत एव । एतदुक्तम्भवति । यथा सैन्धवघन उदके प्रास्तस्तत्र लयमुपगच्छति समानाकारतया च पार्थक्येन ग्रहणं न भवति परं परिमाणविशेषेण रसविशेषेण च शक्यत एव

मानं भवति । तथा जीवोऽपि स्वकीयदेवमनुष्यादिनामरूपेहित्वापरमकारणपरमेष्ठवरे विलीयमानो भवतीति । विलयने दृष्टान्तं दर्शयति स यथा सैन्धवखिल्य इत्यादि यथा लवणपिण्डोऽत्रकेप्रक्षिप्तो जले लयंप्राप्नोति तत्र जलात्पार्थक्येन गृहीतो न भवति समानाकारत्वात् । एवं ब्रह्मणि लीनो जीवः पार्थक्येन गृहीतो न भवति । अत एव निरञ्जन इत्यादिश्रुतिर्मुक्तजीवस्य ब्रह्मणामाम्यमेव दर्शयति नतु सर्वथा तादात्म्यं दर्शयति समतायाभेदघटितत्वात् । यथा चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्र चन्द्रभिन्नत्वे सति-

परम प्रकाशरूप परमात्मा को प्राप्त होकर अपने आनन्द रूप से सायुज्यमुक्ति को प्राप्त कर स्थित होना है, यह प्रथम श्रुतिका अर्थ है । विज्ञान धनजीव पाञ्चमीतिक देहका परित्यागकर देवादि नाम और रूप को त्याग कर सर्वाधार परमात्मा में लीन हो जाता है यानी नाम रूप विभाग के अयोय अवस्था को प्राप्त होता है । इस में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे जल में लवण खण्ड डालने पर वह अपने नाम और रूप का त्याग कर जल के साथ एकरूपता को प्राप्त होता है अर्थात् अपने नाम और रूप की विभागायोग्य दशाको प्राप्त होता है । रूप से पृथक् रूप से नहीं दिखाई देता है परन्तु आदि मध्य तथा अन्त से आचमन करने पर खारेपन से वैधर्म्य तो विदित होता ही है । अभिप्राय यह है कि जैसे सैन्धव खण्ड जल में डालने पर उस में लीन हो जाता है स्वाकार को छोड़कर जलके आकार को प्राप्त हो जाता है जल से भिन्न नमक रूप में दिखाई नहीं देता है । परन्तु परिणाम-वजन से तथा लवणरस से-खारेपन से, जल और नमक का विवेक किया ही जा सकता है । उसी प्रकार ब्रह्म लीन जीवका भी विवेक हो ही सकता है । अर्थात् जीव यद्यपि ब्रह्म के साथ नाम और रूप के विभागायोग्य

विवेक्तुं तथा ब्रह्मलीनोपीति तात्पर्यम् । अत एव 'निरञ्चनः परमं साम्य-
मुपैती' त्यादौ भेदघटितं साम्यमेवाभिहितम् । न केवलं साम्यमात्र
मपितु परमं साम्यमित्युक्तम् । अतिशयभेदद्योतनायैव परमेण विशि-
ष्यते । नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि नामरूपभेदाभाव एव विवक्षितः ।
तत्रापामाधिक्यं परं केन निवार्यते । एवञ्च भवदभिमतभेदे दृष्टान्त
एव नास्तीति सिद्धम् । तस्मात्सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिविव्य-
कल्याणगुणविशिष्टस्य सविशेषब्रह्मण एवात्र शारीरकमीमांसाशास्त्रो
जिज्ञासाऽभिमता सूत्रकृतामिति सर्वं समञ्जसम् । इत्यानन्दभाष्ये
जिज्ञाधिकरणम् ॥१॥

चन्द्रगतालहादजनकत्वंमुखे भवत् चन्द्रसमत्वमिति भिन्ने एव तादृशव्यवहारोभवति ।
तथैव प्रकृतेऽपिपरमात्मासादृश्यं मन्यते जीवोनतुपरमात्मतादात्म्यमेव प्राप्नोति ।
तस्मात् अभेदो जीवपरेशयोर्नक्वापि वेदान्ते प्रतिपादितः किन्तु जीवपरयोः शरीर-
शरीरिणो विशिष्टाद्वैतमेव वेदान्ततत्त्वमिति । एवं सर्वथाऽभेदेनास्तिकिमपिनिदर्शनम् ।

दशा को प्राप्त होता है तो भी वह ब्रह्म से भिन्न ही रहता है अभिन्न नहीं । अतः एव
'निरञ्चनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुति में जीव की ब्रह्म के परमसादृश्य को प्राप्त होना कहा
है । अत्यन्त भेद बतलाने के लिये ही साम्य में परमविशेषण दिया है । 'तद्विन्नत्वे सति तद्
गत भूयो धर्मकत्वमेव सादृश्यम्' यह सादृश्य का लक्षण है । जो जिस से भिन्न हो और
जिस में रहेहुए बहुत-अधिक धर्म वाला हो वह पदार्थ उसके सदृश कहा जाता है जैसे
'चन्द्रसदृशं मुखम्' यहां पर मुख चन्द्र से भिन्न है और चन्द्रमामें रहे हुए आह्लादकत्व धर्म-
वाला है । इसलिये चन्द्रमा का सादृश्य मुख में माना जाता है । जैसे चन्द्र सदृश होने पर
भी मुख चन्द्र से भिन्न है । अभिन्न नहीं । उसी प्रकार ब्रह्मसाम्य को प्राप्त हुये जीव में
भी ब्रह्म का भेद रहता है और ब्रह्म के अपहृतपाप्मत्व आदि आठ गुण रहते हैं । अतः जीव
ब्रह्मसाम्यावस्था को प्राप्त कहा जाता है । जीव में ब्रह्मसाम्य होने पर भी ब्रह्म का भेद तो
रहता ही है । नदी और समुद्र के दृष्टान्त में भी नाम और रूप का अभाव ही विवक्षित है ।
नदियों के समुद्र में मिलने पर जल के अधिकता को कौन रोकसकता है ! जल तो बढ़ता
ही है । इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि अद्वैतवादियों के इष्ट जीव तदा ब्रह्म के अभेद में

५ अथद्वितीयं जन्माधिकरणम् ॥२॥ ५

ब्रह्मप्राप्तिकामस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासनमेव युक्तन्तत्र तद्विषयी
भूतं ब्रह्मनिर्गुणं सगुणं वोतोभयविधं श्रुतिप्रतिपाद्यमेकमेवेतिविशये
येन विवर्तवादः सर्वथा जीवपरेशयोरद्वैतं भवेत् । तस्मात्सत्यकामत्वादिविविधकल्या-
णगुणकसविशेषपरमात्मनो जिज्ञासैवाभिमतासूत्रकृतमिति संक्षेपः ।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नःचार्ययोगीन्द्रप्रणीत

श्रीआनन्दभाष्यदीपे जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रेण ब्रह्मणोजिज्ञासा प्रकृता तादृशजिज्ञासाविषय-
स्य ब्रह्मणोलक्षणमावश्यकम् । लक्षणं चेतरेव्यावृत्तिपूर्वकलक्ष्यस्वरूपं व्यवस्थापयति-
लक्षणप्रमाणाभ्यामेव वस्तुतत्त्वस्यविनिश्चयादिति ब्रह्मणोलक्षणायसूत्रान्तरमवतारयि-
तुमुपक्रमते भाष्यकारः ब्रह्मप्राप्तिकामस्य इत्यादि । संसारसागराद्विरक्तस्य तथा नित्य-
कोई हृद्यन्त नही है । अतः इस शारीरक मीमांसाशास्त्र में सत्यकामत्व सत्यमंकल्पत्व इत्यादि
दिव्य कल्याण गुण विशिष्ट स विशेष ब्रह्म की ही जिज्ञासा सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यासजी
को इष्ट है । इसलिये पूर्वप्रकरण में जोकुल कहा गया है सब ठीक ही है इस में विचि-
कित्सा नहीं ।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'छागोवा मन्त्र बर्गोत्' इस मीमांसान्यायानु-
सार ब्रह्म सत् आत्मा तथा परमात्मा इत्यादि सामान्य भगवद्वाचक शब्दों का विशेष रूप परा-
त्पर ब्रह्म सर्वेश्वर श्रीरामजी में ही पर्यवसान होता है । यानी इन सर्वशब्दों के वाच्य सर्वेश्वर
श्रीरामजी ही है । अतः श्रीराममन्त्रराजप्रदाचार्य होने पर भी ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यासजी का 'अथा
तो राम जिज्ञासा' न लिख कर 'अथा तो ब्रह्मजिज्ञासा' लिखना अर्थात् श्रीरामजी को श्रीराम
शब्द से न कहकर ब्रह्म शब्द से कहना तो परिपूर्ण ब्रह्म सर्वेश्वर श्रीरामजी के स्वरूप से
तथा गुण ते निरविशय बृहत्त्वं तथा बृहत्त्व को प्रकाशित करने के लिये ही है नकि अन्य
कोई हेतु से । १।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे

जिज्ञासाधिकरणम् । १।

नित्यनिरतिमय सुख लक्षण ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छावाले मुमुक्षुओं को ब्रह्म
जिज्ञासा ही आवश्यक है । क्योंकि ब्रह्मज्ञान के अभाव में मोक्ष प्राप्ति असंभव है ऐसा—'नान्यः
पन्थाविद्यते ऽयनाय' 'तरतिशोकमात्मवित्'—इत्यादि वेदान्त वाक्य प्रतिपादन करता है । तादृश
ब्रह्म जिज्ञासा का विषयीभूत जो ब्रह्म है वह निर्गुण वा सगुण अथवा उभय प्रकारक है !

(मीमांसकानां धर्मजिज्ञासायाः संमतत्वात् सांख्यवैशेषिकाणाञ्च
प्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिपदार्थतत्त्वज्ञानस्यात्मतत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षमाधन-
त्वाभिमतत्वात्तेषां ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रयोजनत्वाभावेन तन्मतस्य पूर्व-
सुखात्मकब्रह्मप्राप्तिकामनावतो मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासा आवश्यकी, तादृशजिज्ञासाविपर्य-
भूतं किं निर्गुणं सगुणमुभयविधं वा । यद्यपि श्रुतिप्रतिपाद्यं ब्रह्मैकरूपमेव तथापि वादि
विप्रतिपत्त्यासंशयोभवति । तत्र मीमांसकस्य ब्रह्ममीमांसानावश्यकी । तस्य धर्ममी-
मांसाया एव संमतत्वात् । नवा सांख्यस्य, तस्य व्यक्ताव्यक्तविज्ञानादेव मोक्षो
भवतीति सिद्धान्तात् । पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमेवसेन् । जटामृण्डीशिखीवापि
मुच्यते नात्रसंशयः' इति नियमात् । नवात्रनैयायिकः पूर्वपक्षो, तस्य मतभेदेन-
द्रव्यादिसप्तपदार्थानांतत्त्वज्ञानात् तथा 'प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानादेवमोक्ष-
स्यस्वीकृतत्वात् । अतो नैतेषां प्रकृते मतस्य पूर्वपक्षत्वम् । किन्तु तर्मीमांसानुवर्तिनः
कस्यचिन्मतस्यैव पूर्वपक्षत्वम् तत्र यतो वेत्यादिवेदान्तवाक्यज्ञानविषयजगत्कारणीभूत-
सगुणं ब्रह्मैव । नतु निर्गुणं तस्य प्रमाणाविषयतया स्वीकर्तुमशक्यत्वात् नतः
सगुणब्रह्मजिज्ञासैव पूर्वसूत्रेस्थापिता । तस्यैव दृढतासंपादनमभिलषन्मुनिः प्रथमतः
ब्रह्मणोलक्षणं कर्तुं द्वितीयसूत्रं कृतवानिति ।

ऐसा संशय होता है । योंतो श्रुति प्रतिपाद्य एक ही ब्रह्म है, परन्तु वादियों की विप्रतिपत्ति
से ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वमीमांसक को तो—'अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यादि प्रकरण से
धर्म जिज्ञासा ही संमत है । ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं है । ये लोग कर्म के द्वारा ही
सुख प्राप्ति का अनुमोदन करते हैं । सांख्य के मत में तो व्यक्त अव्यक्त तथा पुरुष के
विवेक ज्ञान से ही मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं । एवं न्याय सिद्धान्तवादि तो द्रव्यगुणादि
पदार्थ के तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं 'द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष समवायानां तत्त्वाधि-
गमन्निश्रेयसम्' 'प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थाधिगमान्निः श्रेयसम्' ऐसा इन लोगों का कथन है ।
तो इसलिए इन लोगों को तो ब्रह्म जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं होने से इन
सबका जो मत है वह तो पूर्वपक्ष रूप से उपस्थित हो नहीं सकता है । तब केवल निर्गुण
ब्रह्मवाद ही पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित होता है । उसमें भी 'निर्गुणं सगुणं वा ब्रह्म' एतादृश
संशय होने पर इस शारीरक मीमांसा शास्त्र में जगत् का कारण सगुण ब्रह्म जिज्ञासा को
ही सिद्धान्त रूप से व्यवस्थित प्रथम सूत्र में किया गया है । उसी विषय को अर्थात् पूर्व
सिद्धान्तित सगुण ब्रह्म जिज्ञासा को दृढ़ करने की इच्छा से मुनीश्वरव्यासजी ने सर्वप्रथम

पक्षत्वानुपपत्तेः) अस्मिच्छारीरकमीमांसाशास्त्रो जगत्कारणसगुणब्रह्म
जिज्ञासायाः सिद्धान्तितत्वात्तद्दृष्टीकरणकामो मुनिस्तावदादौ ब्रह्म
स्वरूपं लिलक्षयिषुर्विचयाञ्चकार द्वितीयं सूत्रम् । तत्र मुमुक्षुजिज्ञास्यस्य

ननु लक्ष्यस्य ब्रह्मणोलक्षणं न संभवति । जडचेतनभिन्नवस्तुनो बन्ध्या-
पुत्रवत् प्रमाणविषयत्वेनसाध्यतुमशक्यत्वात् । न च 'यतो वा इमानीत्यादिश्रुत्यै-
व तादृशब्रह्मणः सिद्धिर्भवतीति' कथमुच्यते तत्र प्रमाणाभाव इतिवाच्यम् । कर्मत-
दङ्गभूतकर्तृदेवतादीनां स्वरूपविनिश्चये एव वेदान्तवाक्यानामुपक्षयादित्याशङ्का-
यामाह सूत्रकारः जन्मावस्ययतः इति । सूत्रघटकजन्मपदं स्थितिप्रलययोरपि-
सङ्गग्राहकम् । जन्मआदिर्यस्येति तद्गुणसंविज्ञानोबहुव्रीहिसमासः । लम्बकर्णपुरुष-
मानयेतिवत् । ननु दृष्टसागरपुरुषमानयेति वदतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । षष्ठ्य-
न्तेदं पदेन जडचेतनसाधारस्याचिन्त्यानेकविलक्षणस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्त-
क्रियाफलाश्रयब्रह्मादिस्थावरान्तसाधारणसंसारस्यग्रहणं भवति । यत इति पञ्चम्यन्त-
यत्पदेन हेयप्रतनीकसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिनिखिलकल्याणगुणसमलंकृतभक्ता-
नुग्रहकारकपरमपुरुषादिपदवाच्यमाकेताधिपतिश्रीरामस्य ग्रहणं भवति । तथा च
यस्मान् निरस्ताखिलहेयगुणसकलकल्याण गुणगणसमलंकृतात्सविशेष परमपुरुष-
श्रीसाकेताधिपतेः सकाशात्, अस्य दृश्यमानस्य निखिलजडचेतनसाधारणस्यान्येन
मनसापि कर्तुमशक्यजघतः उत्पत्तिस्थितिप्रलया भवन्ति । तद् ब्रह्म यत्पदस्य तत्पद-
साक्षात्क्षितत्वादिति सूत्रस्य मुकुलितोऽर्थः ।

ब्रह्मस्वरूप के लक्षण करके की इच्छा से द्वितीय सूत्र को बनाया । जब तक स्वरूप का
निश्चय नहीं होगा तब तक उसका लक्षण नहीं हो सकेगा । उसमें पूर्वपक्ष होता है कि
मुमुक्षुओं से जिज्ञास्य जो ब्रह्म है उसका लक्षण असंभवित है । क्योंकि जड चेतन ये दो ही
तो पदार्थ प्रसिद्ध हैं तदतिरिक्त पदार्थ तो प्रसिद्ध नहीं है । न हा कहो कि—'सत्यं' इत्यादि
वेदान्त वाक्य प्रमाण से ब्रह्म तो प्रसिद्ध है, ऐसा नहीं कहना । क्योंकि वेदान्त वाक्य तो कर्म
का अंग कर्तृदेवता के स्वरूप प्रतिपादन करने में ही उपक्षीण हो जाता है, इस शंका के
उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'जन्मावस्ययतः' इति ।

यह विभक्त नामरूपवाला जो जड चेतन साधारणस्थूल प्रतिनियत देशकालनिमित्त
फलाश्रयजगत् है तादृश जगत् का जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित सर्वनियन्ता परमपुरुष से
उत्पत्ति स्थिति भंग प्रलय होता है वह ब्रह्म है । तथा वही जिज्ञास्य है । इससे जगदुत्पत्ति-

ब्रह्मणो लक्षणमसंभवि । चिदचितोरतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभिद्धत्वात्
वेदान्तवाक्यानाञ्च कर्मस्वरूपवीचेचनायामेवोपक्षीणत्वादित्याश-
ङ्कायामाह—

इतरमतनिराकरणपूर्वकं विशेषतस्तद्व्याख्यातुमाह तैत्तिरीयकं इत्यादि । यन्नि-
त्यादि । यस्मात् सर्वज्ञात्परमकारणान् । इमानि प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितानि समु-
त्पद्यन्ते समुत्पद्यच्चस्थितानिभवन्ति तथा प्रलये तत्रैव कारणविशेषेप्रलीयमानानि भवन्ति
तद्ब्रह्म तदेव जिज्ञास्यमित्यर्थः । इयं श्रुतिर्लक्षणविधयाब्रह्मप्रतिपादयति न वेतिशंसयः ।
तत्र भवति पूर्वपक्षः प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य लक्ष्यस्य लक्षणद्वारेण विशेष्यतो ज्ञापनं
भवति । यथा प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितस्य पृथिव्यादेः गन्धवत्त्वादिलक्षणेन व्यव-
स्थापनं भवति प्रकृते निःसमाभ्यधिकस्य लक्ष्यस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरावेद्यत्वेना
प्रसिद्धत्वात् कथं तस्य लक्षणं स्यात् । न च वेदान्तेन तस्य प्रसिद्धिर्गिनिवाच्यम् ।
अप्रसिद्धत्वादेव शक्तिरक्षणवृत्तेरभावेन वेदान्तबोध्यत्वाभावात् वेदान्तेन तद् बोध-
नमशक्यम् । तथात्वे च तज्जिज्ञासनं च न संभवति । धर्मभेदोऽपि दुष्परिहर इति ।
अयमाशयः । असाधारणधर्मोहि लक्षणं भवति । यथागवादीनां मास्नादिमन्त्रम् ।
तत्तल्लक्षणं लक्ष्यमितरेभ्योऽव्यावर्तयति । यथा गौः स्वतरेभ्योभिद्यते । मास्नादिम-
न्वात् । तथा लक्षणभेदो लक्ष्य भेदस्य नियामको भवति । यथा गन्धवत्त्वं पृथि-
कारणत्वं, जगत् स्थितिकारणत्वं, जगत्लयकारणत्वं, ब्रह्म का लक्षणहोता है । यहाँ कारणत्व, वर्ण-
निरूपणनिमित्त कारणत्व है अतः लक्ष्य अप्रसिद्ध है इस शंका का निराकरण होता है । यह
सूत्र का संक्षिप्तार्थ होता है ।

इसमें विशेष रूप से पूर्वपक्ष को उपस्थित करने के लिए भाष्यकार कहने है 'तैत्ति-
रीयेश्रूयतै'—इत्यादि । तैत्तिरीयक श्रुति में सुनने में आता है कि 'जिस सर्वशक्ति समन्वित
सर्वनियंता सर्वशरीरक परमात्मा से यह आकाशादिक भूतवर्ग उत्पन्न होता है और उत्पन्न
होकर अवस्थित रहते हैं । और प्रलयकाल में जिसमें प्रलीयमान होता है । उसकी जिज्ञासा
करो, वह ब्रह्म है ।' क्या यह उपर्युक्त श्रुति लक्षण रूप से ब्रह्म का कथन करती है, अथवा
नहीं । उसमें पूर्वपक्ष होता है ब्रह्म के स्वाधिक उत्कृष्टताभावलक्षण असाधारण धर्मवान् होने
से स्वकीय सदश का अभाव होने से उसका कोई सदश नहीं, उससे कोई अभ्यधिक नहीं
है ।' इत्यादि अनेकों श्रुतियों से उसका वर्णन होने से तादृश ब्रह्म के सदश तथा अधि-
कोक्त किंसीभी वस्तु के असिद्ध होने से एतादृश पदार्थ का लक्षण द्वारा जानना अशक्य

५ जन्माद्यस्य यतः १।१।२। ५

तैत्तिरीये श्रूयते 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' श्रुतिरियं ब्रह्मणो लक्षणविधयाऽभिधातुमीष्टे न वेति विशय-स्तत्र च पूर्वपक्षः, ब्रह्मणः स्वावधिकोत्कृष्टत्वाभाववत्तयाऽऽसाधारणधर्मवत्तया स्वसादृश्यवदभावेन 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६।८।) इत्यादिश्रुतिशतैरुपवर्णनात्तादृशनिस्ममाभ्यधिकस्य कस्यचिदपि वस्तुनोऽसिद्धतया तस्य लक्षणतः प्रतिपत्तुमशक्यतया न्याः शीतस्पर्शादिमत्त्वं चापाम् ततश्चप्रकृते जगदुत्पादकत्वम् । जगत्स्थापकत्वं तथा जगल्लयकर्तृत्वम्, इत्येतत्लक्षणत्रयं विभिन्नमितिततस्वलक्ष्यंसेत्स्यति । एवं कर्तृत्वं च स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वमेव । तत्र ज्ञानेच्छाकृतीनांभेदात् प्रकृते-नवलक्षणानि भवन्ति । प्रत्येकं च लक्षणं स्वकीयंलक्ष्यंभेत्स्यतीति लक्षस्यानेकत्वप्रस-ङ्गः । स्वेतरव्यावृत्तिविशिष्टपदार्थबोधकत्वस्यैव लक्षणत्वमिति नियमात् । अन्यथा-तत्लक्षमेव नस्यात् । अर्थात् अन्यासिप्रभृतिकदोषत्रयशून्यमेव लक्षणम् । तत्रान्या-सिदोषे इतरव्यावृत्त्यनुमाने नीलरूपस्यश्वेतगवि सत्त्वाभावेनाव्याप्तिः । अन्यासदुष्टेन हेतुना इतरभेदानुमाने भागासिद्धिः । यथावा गोः शृङ्गित्वलक्षणं महिष्यादिवृत्तित्वे-है । तब एतादृश वस्तु का प्रतिपादन करने में वेदान्त का प्रामाण्य असंभविता है । अतः अप्रसिद्धब्रह्म की जिज्ञासा सर्वथा असंगत है । धर्मा का ज्ञानोत्तर काल में ही उसकी जिज्ञासा होती है अन्यथा नहीं । अगर ऐसा होतब तो वन्द्यापुत्रादिक पदार्थ की भी जिज्ञासा होगी । यह तो अभी तक किसी को किसी भी देशकाल में जिज्ञासा नहीं हुई है । नवा तादृश जिज्ञासा शक्य है । उसी तरह अति अप्रसिद्ध ब्रह्म जिज्ञासा अनुपपन्न है ।

तथा 'यतो वा इमानि'—इत्यादि श्रुति से समधिगत जो जगज्जन्मादि कारणत्वरूप धर्म है वह भी तो अनेक है । (जगज्जन्मकारणत्व, स्थिति कारणत्व, तथा प्रलय कारणत्व, इसका भी आत्रान्तर भेद से नौ भेद होता है ।) तो जो लक्षण अनेक हैं तब लक्षण में भी अनेकत्व-अपरिहार्य है । स्वेतरव्यावृत्ति विशिष्ट धर्म के बोधक कोई लक्षण कहते हैं । वह विशेषण रूप से अथवा उपलक्षण रूप से बोधक होता है यह विषय अन्य है । 'व्यवृत्ति व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' (स्वेत०भेदानुमिति जनकत्व अथवा व्यवहार प्रयोजकत्व ही लक्षण का प्रयोजन है । जैसे 'पृथिवी स्वेतरेभ्योभिद्यते गन्धकत्वात्' इत्याकारक स्वेतर भेद की अनुमिति होती है ।

च तादृशवस्तुप्रतिपादने वेदान्तानाम्प्रामाण्यासम्भवेन तज्जिज्ञास-
नमसङ्गतम् । यतो वेत्यादिश्रुतिमवधिगतजगज्जन्मादिकाणत्वस्वरूप-
धर्माणाञ्च नानात्वाद्धर्मिभेदोऽपि दुष्परिहृतः । इत्यस्यावृत्तिविशिष्टव-
स्तुबोधकत्वमेव लक्षणत्वम् । तच्चोपलक्षणविवक्षा वा विशेषणविधया
वेत्यन्यदेतत् । प्रकृते तु त्वदुक्तरीत्या 'यतो वा इमानि' इत्यादि-
श्रुतिर्न कयापि रीत्या ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय प्रमाणतामाम्भ्यानुमर्हती-
त्यर्थवादित्वमेव तच्छ्रुतः स्यात् ।

किञ्च वेदान्तेषु निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यते । तथा हि
तिव्याप्तेः तादृशेन हेतुना इतरभेदानुमाने व्यवहारे भवति । असंभवप्रसङ्गे इतर-
भेदानुमाने स्वरूपासिद्धिर्भवति । एवं च प्रकृते लक्षणस्य नवत्वेन लक्षणस्य ब्रह्मणो
प्यनेकत्वप्रसङ्गोऽनिवार्य एव स्यात् । न च तदिष्टम् परमकारणस्य श्रुतिभिरनेकत्व
प्रतिपादनादिति । प्रकृते भवत्कथनानुसारेण 'यतो वा इमानि' इत्यादिश्रुतिर्ब्रह्मलक्षणद्वारेण
ग्रामाण्यं कथमपि न प्राप्नोति । किन्तु एता अर्थवादरूपैवेति पूर्वपक्षाशयः संक्षिप्तः ।

ननु यदि वेदान्ते सगुणं ब्रह्मलक्षणित्वं भवेत्तदा यतो वा इमानि इत्यादिशास्त्रं
तादृशं सगुणं ब्रह्मप्रतिपादयति नचा प्रतिपादयतीति विचारः संभवेत् । परन्तु
तथानास्ति वेदान्ते तु सर्वत्रनिर्गुणमेव ब्रह्मप्रतिपादयिषितं वर्तते । इत्याशयेन
पूर्वपक्षवादी उपक्रमते किञ्चवेदान्तेषु इत्यादिभाष्यम् । वेदान्ते निर्विशेषस्यैव ब्रह्मणः
अथवा इयंपृथिवी गन्धवत्त्वात् एतादृश व्यवहार का प्रतिपादन करना ही लक्षण का प्रयोजन है
ऐसा नियम है । तो लक्षण भेद होने से लक्ष्य में अवश्यमेव भेद होगा ।

प्रकृत में आपके कथनानुसार 'यतो वा' इत्यादि श्रुति किसी भी प्रकार से ब्रह्म लक्षण
का प्रतिपादन करके प्रामाण्यता को प्राप्त नहीं कर सकती है । किन्तु अर्थवाद रूप मात्र ही
यह श्रुति होगी । इसलिए ब्रह्म लक्षण का प्रतिपादक यथोक्त श्रुति नहीं है । ऐसा निर्गुण
ब्रह्मवादी का पूर्व पक्ष है तथा आगेभी विवर्तमताभिप्रायक ही पक्ष होगा ।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में जिज्ञास्यत्व कहा गया है तो वह निर्गुण ब्रह्म ही
जिज्ञास्य है ऐसा सिद्ध होता है । क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक कनेक श्रुति है । किन्तु
सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक एतादृश कोई प्रबल प्रणाम नहीं है । इस बात को बलबाने के
लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'किञ्चवेदान्तेषु' इत्यादि । और भी देखिए सभी वेदान्तों में

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’ । (मु० १।१।५।) ‘यत्तदद्रेश्यम-
ग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं
सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिम्परिपश्यन्ति धीराः’ (मु० १।१।६।)
‘यथोर्णनाभिसृजते गृह्णते च’ (मु० १।१।७।) ‘यथा पृथिव्यामो-
षधयः सम्भवन्ति, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भ-

प्रतिपादनं विद्यते न तु सगुणस्य तथात्वं विद्यते इति । निर्गुणस्य प्रतिपादनमेव
दर्शयितुमाह तथाहीत्यादि । अथ पराययेत्यादि । विद्याद्विविधा—परा, अपरा च, तत्रा-
पराऋग्वेदादिलक्षणा ऐहिकपारलौकिक संसारफलद्योतिका । अथ परा सा विद्या,
ययाविद्ययातदक्षरं परमं ब्रह्मविदितं भवति, यस्य च वेदनेन परमपदप्राप्तिर्भवतीति ।
यत्तद्व्याप्तिं यद्व्यपदेश्यं व्यपदेशानहं वाग्व्यवहाराविषयत्वम् वाग्व्यवहारस्य धर्मो-
पपन्नप्रवर्तिव्युत्पत्तिर्धर्मो तस्मिन् धर्मस्य कस्यचिद्भावेन तस्य वाग्व्यवहाराविषयत्व-
मेव । अग्रहं ब्रह्मोत्पत्तिरवयवत्वात् कर्मोक्त्याग्राह्यत्वम् अगोत्रं गोत्रवर्जितम् । नील-
पातादिद्वर्णरहितं निरवयवत्वात् । अचक्षुः श्रोत्रम् चक्षुषाश्रोत्रेन्द्रियेण गृहीतुमशक्यम्
रूपाद्यभावेन शब्दभिन्नत्वेन ताभ्यां गृहीतुमशक्यत्वात् । अपाणिपादम् कर्मेन्द्रिय-
विवर्जितम् । एतावता स्थूलशरीरप्रतिषेधः कृतो भवति । निन्यभूत्यादौ विनाशराहित्यं-
निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है । तथाहि विद्या दो प्रकार की है । एक परा
तथा दुसरी अपरा । इस में ऐहिक पारलौकिक सांसारिक फल का प्रतिपादन करनेवाली अपरा
ऋग्वेदादि लक्षणा है । और परा विद्या उसको कहते हैं जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म जाना जाता
है । ‘यदद्रेश्यमित्यादि’ जो परमात्मा अद्रेश्य है । अर्थात् जो दर्शन के योग्य नहीं । अग्राह्य
है । ग्रहण करने के योग्य नहीं है । गोत्रवर्ण चक्षुः श्रोत्र रहित हैं । एतावता ज्ञानेन्द्रिय के
अभाव को बतलाया गया है । हस्तपादादिक कर्मेन्द्रिय से रहित है, नित्य हैं । विभु अनेक
रूप से होते हैं । सर्वगत व्यापक हैं । अति सूक्ष्म हैं । तथा अव्यय पड़ भाव विकार रहित
हैं । और इस सकल भूतों का निदान कारण है । जिसे धीर विद्वान् योग विद्वान् अन्तःकरण
द्वारा जानते हैं । ‘जिस तरह ऊर्णनाभि टूना कीट अपने मुख से तन्तु बनाता है तथा उस
तन्तु को अपने में प्रतिलीयमान कर लेता है । इसी तरह उस परमात्मा से सर्ग के आदि में
सकल वराचर उत्पन्न होता है । तथा प्रलयकालमें उसी परमात्मा में विलीयमान होजाता है ।
‘यथे’ त्यादि जिस तरह पृथ्वी से ओषधि गेकी मोहियवादिक की उत्पत्ति होती है । यथावा

वतीह विश्वम्' (मु० १।१।८।) 'तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नञ्च जायते' 'एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च । एवं वायु-ज्योतिरापः पृथ्वीविश्वस्य धारिणी' (मु० २।१।३।) इत्यादिश्रुति-शतप्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म । यत्र चराचरजगदध्यस्तमस्ति । यच्च-राचरात्मकजगत्कल्पनाधिष्ठानसर्पकल्पनाधिष्ठानरज्जुवत्तन्निर्गुणम्ब्रह्म-

द्योतयति । विशुद्धदेवमनुष्यादिरूपेणानेकरूपधारिणम् । सर्वगतं सर्वव्यापकम् सगन्त-र्यामिन्त्वमिति वा । सुसूक्ष्मं परमाणवादिसूक्ष्मवस्त्वपेक्षयाप्यतिशयेनसूक्ष्मम् । अतएव प्रस्तराद्यन्तर्गतप्रदेशेऽप्यंकादिरूपेणावस्थितम् । अन्ययम् पदभावविकारवर्जितम् । भूतयोनिम् आकाशादिपदार्थमात्रस्यनिदानकारणम् । इत्थंभूतं परमान्मानंधीराध्या-नादिना पश्यन्ति प्रत्यक्षममानाकारकबुद्ध्याविषयीकुर्वन्तीति श्रुत्यर्थः । यथोक्तना-भिस्त्यादि । यथोऽर्णुनाभिर्लूताकीटविशेषः स्वयमेवतन्तुनुत्पादयति । उत्पाद्य च पुनः संगृह्णातिस्वस्मिन्नेव प्रलीयमानं करोति । तद्वदयमपि भूतानिममुत्पादयतिस्व-स्मिन् प्रविलापयति च प्रलयकाले यथापृथिव्यामित्यादि । यथा पृथिव्यांवीहिय-वादीनामुत्पत्तिर्जायते । यथावा जीवितमनुष्यशरीरान्तखादीनामुत्पत्तिर्भवति । तथैवास्मात्परमात्मनः सकाशात् सर्वजडचेतनात्मकं जगत् सर्गादिकाले जायते ।

जीवित शरीर से केशलोमादिक की उत्पत्ति होती है । उसी तरह अक्षर ब्रह्म से चराचर लक्षण समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है । 'उस परम ब्रह्म से हिरण्यगर्भ तथा नाम रूप और विविध प्रकारक ब्रीडियत्वादि लक्षण अन्तों की उत्पत्ति होती है ।' 'इस परम कारणत्व ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है । मन उत्पन्न होता है । ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय समुदाय उत्पन्न होते हैं । आकाश जो कि शब्द का कारण है । सर्वदा गमनस्वभावक वायु, उष्णस्पर्शाश्रय तेज, शीतस्पर्शवान् जल, तथा समस्त पदार्थ को धारण करनेवाली पृथिवी भी उत्पन्न होती है । इत्याद्यनेक श्रुतियों से प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही है । किन्तु सगुण ब्रह्म नहीं प्रतिपाद्य होते हैं । जिस निर्गुण ब्रह्म में चराचर लक्षण सकल जगत् अध्यस्त है । जिस तरह श्रुतिका में अध्यस्त रजत रहता है । जो चराचर लक्षण जगत् कल्पनाका अधिष्ठान है । सर्प कल्पना के अधिष्ठान रज्जु के समान वह निर्गुण जो ब्रह्म है, वही जिज्ञास्य है । इसलिये जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है । यह जो यगत् में अध्यस्तता है वह अध्यास के अधीन है । अतः प्रथमतः अध्यास स्वरूप का ही विवेचन करना चाहिए । इस अध्यास के विषय में केवलाद्वैतवादो लोग कहते हैं 'युष्मदस्मदित्यादि'

जिज्ञास्यमित्यतो जगतो ब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायाध्यासस्वरूपं प्राग्विवे-
चनीयम् । तत्राहुः युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रका-
शवद्विरुद्धस्वभावयोस्तिरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुत-
रामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरेविषयिणिचिदात्मके
युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासस्तद्विपर्ययेण विष-

तस्मादेतदित्यादि । तस्मात्परमात्मनः हिरण्यगर्भनामरूपमन्नादिकं च प्रादुर्भवति
एतस्मादेवपरब्रह्मणः सकाशात् प्राणादारभ्य पृथिव्यन्तमर्वजगत उत्पत्तिर्भवतीति
श्रुत्यर्थः । एतान्यागामवाक्यानिनिर्गुणब्रह्मैवप्रतिपादयन्ति नतु सगुणं ब्रह्मेति । तथा
चाश्रयस्यैवामिद्रेः कथं तादृशस्य लक्षणादिचिन्तावसर इति । यथाशुक्तिकाद्यधि-
ष्ठाने रजतादिकमध्यस्तं भवति तथैवैतादृशब्रह्मणि सर्वत्रगदध्यस्तं भवति ।
एतादृशं श्रुत्यादिप्रतिपादितं निर्गुणं ब्रह्मैव जिज्ञास्यमितिमिदंभवति नतु सगुणब्रह्म-
णोजिज्ञासात्रप्रकृतेति । निर्गुणे ब्रह्मणि जगदध्यस्तंशुक्तिकायां रजतवदिति कथितं
तत्तदेवमंभति यदि इतः पूर्वमध्यासस्वरूपं सिद्धेदत अध्यासस्य स्वरूपलक्षणादिकं-
विवेचयितुमाह जगतोब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायेत्यादि पूर्वमध्यासस्वरूपे निश्चिते सतितदन्त-
रमध्यामाधिष्ठानस्य सिद्धिःस्यादितिविवेचयितुं प्राग् विवेचनीयमित्युक्तं भाष्यकृतेति ।

युष्मत् अस्मत् का विषय 'वमहम्' इत्याकारक ज्ञान का विषय जो विषय जड वर्ग तथा
विषयाज्ञान, जो कि तम अन्धकार तथा प्रकाश के समान अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाला है ।
जिम तरह तम प्रकाश में परस्पर इतरेतर भाव तादात्म्य अनुपपन्न है । उसी तरह विषय तथा
विषयी ज्ञान में इतरेतर भाव की अनुपपत्ति सिद्ध होने से, विषय तथा विषयी का जो धर्म
जाडव चैतन्यादिक है का भी परस्पर तो सुतरामेव अनुपपन्न है । धर्मा में परस्पर तादात्म्य न
होने पर भी तदीय धर्मों का परस्पर अध्यास होता है । जैसे स्फटिक तथा जपाकुसुम में परस्पर
भेद ज्ञान रहने पर भी तदीय आरुण्य का प्रतिभास होता है । इसलिए कहा है कि सुतरा-
मित्यादि ! अर्थात् धर्मा के बिना केवल धर्म प्रतिमंक्रमण असंभवित होता है । क्योंकि धर्मा
के बिना धर्म का प्रतिभास होता है ऐसा कहीं दृष्ट नहीं है । अतः अस्मत्प्रत्यय का विषय
चिदात्मा में युष्मत् प्रत्यय 'गोचर' विषय का तथा तदीय धर्मों का तद्वैपरीत्येन विषयी तथा
तदीय धर्मों का विषय में अध्यास होता है । यह कथन असंगत है । तथापि
अन्योन्य में आत्मा में विषय का तथा विषय में आत्मा का तदीय धर्मों का अ-धो-न्यात्मकत्व

यिणस्तद्विधर्माणाञ्च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् । तथा-
प्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्काश्चाध्यस्तन्तरेतराऽविवे-
केनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथु-
नीकृत्याहमिदमिति ममेदमिति च नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।
आह कोऽयमध्यासो नामेति ? उच्यते । स्मृतिरूपः परत्र पूर्व-

अध्यासस्वरूपमेव विवेचयितुं तदीयग्रन्थमोद्वगति युगादित्यादि । पृथग्ग्रन्थयस्य
विषयो देहादिर्जडपदार्थः अस्मत् प्रत्ययस्याहमिन्याकारकस्यविषयो अहमिति प्रत्य-
यसाक्षी, आत्मा तत्र विषयिणमनुवध्नन्ति स्वकीयस्वरूपेणभिरूपणं कुर्वन्ति ये ते
विषयाः, यश्च विषयेण निरूप्यमाणं भवति सविषयी । इमौद्वौतमः प्रकाशाभ्यामिव
परस्परविरुद्धस्वभाववन्तौ, अनयोः परस्परमितरेतरभावस्तादात्म्यं न भवति । न
च धर्मिणोस्तादात्म्याभावेपितदीयधर्माणां तादात्म्यं भविष्यति । यथा स्फटिका-
द्भिन्नरूपेण गृह्यमाणस्यापि जपाकुमुमस्ययदारुण्यं तद्विभर्ति स्फटिकस्तथैवात्माभिन्न
तयागृह्यमाणस्यापिविषयस्य जाड्यादिको धर्म आत्मनि संक्रान्तो भविष्यति ।
तथा आत्मधर्माज्ञानादीनामात्मनि संक्रमः स्यात् तत्राह तद्वर्माणामपिसुनरानिति
यदाधर्मिणौ परस्परं विभिन्नौ तदातयोधर्मः कथमन्यत्रोपलभ्येत । नहि पटं
का अध्यास करके, इतरेतर का अविवेक से, अत्यन्त भिन्न भी धर्म धर्मों का मिथ्याज्ञान निमि-
त्तक सत्य अनृत का मिथुनीकरण करके अहमिदम्, इत्याकारक तथा 'मम इदम्' इत्याकारक
नैसर्गिक स्वाभाविक लोकव्यवहार होता है । अर्थात् अध्यास मूलक व्यवहार होता है । व्यवहार में
अनादिता का कथन करने से, व्यवहार का कारण जो अध्यास है उसमें भी अनादिता का सूचन
होता है । यद्यपि अज्ञान को अनादि मानें तब तो अनादि भाव की निवृत्ति नहीं होगी आत्मा
के समान, तथापि अज्ञान में जो भावत्व है वह असद्विषयत्वेन औपचारिक मात्र है । और
'अज्ञानं न निवर्तते अनादिभावत्वादात्मवत्' इस अनुमान में नित्यत्व उपाधि है । क्योंकि निव-
र्त्यत्वाभारूप साध्य आत्मा है । उसमें उपाधिवेनाभिमत नित्यत्व भी है । इस प्रकार से साध्य
व्यापकत्व है । और हेतु पक्ष में भी है । तो उसमें नित्यत्वरूप उपाधि नहीं होने से हेतु का
नित्यत्व अव्यापक होने से 'साध्यव्यापकत्वे सति साधना व्यापकत्व' रूप उपाधि का लक्षण घटना
है । इसलिये सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्धिरूप दोष है । इसलिये व्याप्यत्वासिद्ध हेतु साध्य
नहीं होता है । 'धूमपान् वह्निः' इस अनुमान में वह्नि हेतु सिद्धवत् । अर्थात् धूम साध्यक
वह्नि हेतुक अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग, साध्य धूम का व्यापक है । तथा वह्नि हेतु का

दृष्टावभास इति । अस्यार्थः । परत्र रज्जुशुक्तिकादिषु पूर्वदृष्टानां सर्परजतादीनां योऽवभासः सोऽध्यास इति संक्षिप्तार्थः । ख्यात्यन्तस्वादनां समेषां तान्त्रिकाणामप्यस्मिन्नेवार्थे पर्यवसाना इति मन्तव्यम् । एवञ्च युक्तमेवोक्तलक्षणस्याध्यासस्य सर्वतन्त्रासिद्धान्तत्वम् । नचैकान्तोस्याध्यासस्य सत्त्वमेवेष्टव्यम् । उत्तरकालिकवा-

विहाय पटरूपं संक्रामति घटादाविति । अतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे आत्मनि युष्मत्प्रत्ययविषयस्य तदीयधर्माणां, तथा विषये आत्मनस्तदीयधर्माणामध्यासोऽपि संभवतीति तदीय प्रश्नः । तथाप्यन्योन्यस्मिन् इत्यादिना परस्पराध्यासोपपादनम् । अथोत्तमिणोर्धर्माणां च तादात्म्यमिति समाधानम् । तत्राक्षेप्ता अध्यासलक्षणं प्रतिक्षिपति । कोयमध्यासोनामेति । समाधाता लोकसिद्धमध्यासं व्याचक्षाण उत्तरयति स्मृतिरूप इत्यादि । स्मृतेः रूपमिवरूपं यस्य तादृशः स्मृतिरूपत्वं चासंनिहितरूपत्वमेव । यस्मिन् शुक्तिकादिलौकिकपारसार्थिके पूर्वदृष्टस्य रजतादेः अवभासो विभ्रमात्मकज्ञानम् । संक्षेपतोऽस्याध्यासलक्षणस्यार्थो भाष्यकृता स्वयमेव दर्शितः । विशेषरूपेण तदर्थस्तु जगद्गुरु श्रीकीलदेवाचार्यप्रणीताऽध्यासध्वंसलेशस्तथा तदीयमद्विवरणादीतरप्रबन्धेभ्योऽनुसन्धेयः प्रपञ्चमिषा विरन्यतेऽन्यत्र बहुप्रपञ्चितत्वात् ।

अव्यापक है । क्योंकि अयोगोलक में वहि हेतु है और उपाधि आर्देन्धन नहीं होने से अव्यापक है । तो वह आर्देन्धन संयोग उपाधि है । और उपाधिमग्न होने से व्याप्यत्वासिद्ध कइलाता है । इसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए । 'आहकोयमध्यासोनामेति'—कोई पूर्व पक्षवादी कहने है कि यह अध्यास क्या है ? अर्थात् अध्यास का लक्षण क्या है । यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेपार्थक है । अध्यास का लक्षण कुछ नहीं है । केवलाद्वैत के सिद्धान्तवादी उत्तर करते हैं 'उच्यते स्मृतिरूप' इत्यादि । स्मृति लक्षण, असंनिहित विषयक परशुक्तिकादि अधिष्ठान में पूर्व दृष्ट रजतादिक का जो अवभास, मिथ्याज्ञान, उसी को अध्यास कहते हैं । इसका संक्षिप्त अर्थ भाष्यकार स्वयमेव बतलाते हैं । 'अस्यार्थ इत्यादि' । इस पूर्व कथित अध्यास का यह अर्थ होता है । पर में अधिष्ठानत्वेन अभिमत शुक्तिका रज्जु प्रभृति में पूर्वदृष्ट रजत सर्पादिक का जो अवभास मिथ्याज्ञान, उसको अध्यास कहते हैं । यद्यपि अवभास पर समीचीन ज्ञान में भी प्रसिद्ध है । यथानीलस्यावभासः पीतस्यावभास इत्यादि । तथापि शुक्तिकादिक में जो रजतादिक का ज्ञान होता है, उसका उत्तरकाल में शुक्तित्व प्रकारक ज्ञान होने से, प्रत्यक्षबाधका

धदर्शनात् । अन्यत्र स्थितस्य सत्यभूतस्य रजतादेर्वाभानत्वाद्-
बाधो युज्यत एवेति तत्त्वम् । नचामत्त्वमध्यपरोक्षानुभवविषयतया
च प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नचैकस्य सदमत्त्वं परम्परविरोधान् । अतस्त-
स्यानिर्वचनीयत्वमेवेति सिद्धम् । स चायमध्यामोद्विविधमन्मना-
वलम्बिभिर्वर्णितः । प्रथमः परत्र परावभास इत्येतल्लक्षणोऽध्यामो
ब्रह्मणि सर्वत्राचरजगदध्यस्तत्वबोधनाय स्वीकृतः । द्वितीयस्तु

प्रकृतानुपयोगात् स्वल्प रूपेणैवात्र प्रदर्शितः । नचामध्यामः सत इदं रजतमिति
भ्रमोत्तरकाले नेदं रजतमिति विशेषदर्शनानन्तरं बाधदर्शनात् । नचामवेधा
अमन्नेव प्रत्यक्षविषयत्वायोगात् । अमनां प्रत्यक्षविषयत्वस्यादर्शनात् । ततोभयान्मर्क-
विकृद्बोधयोरेककाले एकत्रायोगात् । अतोऽध्यामोऽपि सदमद्वयविवेचनायो-
ग्यत्वेनानिर्वचनीय एवेति । एतादृशाध्यामस्य द्विविधं दर्शयितुमाह — सत्त्वाध्याम-
इत्यादि । तत्र प्रथमः परत्रावभासः परस्मिन् परब्रह्मणि परस्य समस्तप्रपञ्चस्या-
वभासः । एतावता मूलाज्ञानमालक्ष्यकृतमिदं प्रथमलक्षणम् । अनेन सर्वकल्पनाधि-
ष्ठानब्रह्माश्रिताध्यासोलक्षितः प्रदर्शितश्च । द्वितीयस्तु जीवेशरीरेन्द्रियाणां भ्रमोपादा-

अनुभव होने से प्रकृत में अवभास पद मित्याज्ञानपरक ही है । यह अव्याम केवल में ही
मानता हूँ ऐसा नहीं किन्तु बौद्ध मीमांसक नैयायिक लोक भी प्रकारान्तर से इसको मानते
ही हैं । इस बात का स्वयमेव भगवान् माध्यकार भी दिग्दर्शन कराते हैं 'खयात्यन्तरादिना-
मित्यादि' खयात्यन्तरवादी आत्मख्याति, अस्तख्याति अख्याति अन्यथाख्याति सभी तान्त्रिकों
का इसी अर्थ में पयवसान है ऐसा मानना चाहिये । ऐसा हुआ तब यथोक्त अव्याम सर्वतन्त्र
सिद्धान्त सिद्ध ही है । एतादृश जो अव्याम है वह सर्वथा सत् है ऐसा नही मानना । क्योंकि
'नेदं रजतम्' इत्यादि रूप में बाध हो जाता है । यदि सर्वथा सत् अव्याम हो तो उसका
बाध नहीं होता है । और उत्तरकाल में बाधतो स्वानुभव सिद्ध है । इसलिए एकान्ततः अव्याम
सत् नहीं है । अन्यत्र आपणादिक में स्थित सत्यभूत रजतका इस शुक्तिकादिक में भान होने
से बाध होना ठीक ही है । नहीं कहो कि तादृश रजतादिक असत् है ऐसा कहना ठीक
नहीं है । क्योंकि असत् पदार्थ अपरोक्षानुभव का विषय नहीं होता है । और असत् पदार्थ
विषयक आदानेच्छा भी नहीं होती है । यहाँ तो अपरोक्षानुभव भी होता है । तथा तादृश
रजत विषय आदान की इच्छा भी होती है । अतः शुक्तिकादिक में प्रतिभासित रजत सर्वथा

अतस्मिंस्तद्वुद्धिस्तियेतल्लक्षणः प्रत्यगात्मनि ब्राह्मणादिदेहेन्द्रिया-
द्यध्यासबोधनाय स्वीकृत इति ।

सचायमध्यासः सर्वथाऽक्षम एवाद्वैतमुपपादयितुम् । तथाहि
सद्युक्त्या विमृश्यमानेन चानेनाध्यासेन न जीवानां न वा
प्रकृतितत्कार्याणां देहेन्द्रियादीनां शुक्तिकाकल्पितरजतवद्रज्जुक-
ल्पितसर्पवच्च ब्रह्मणि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमुपपद्यते एतच्चानात्मनि
देहादावात्मबुद्धिर्याऽहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रिय इतीदृशी सैवाविद्येति
तत्प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इत्येवमादितदीयवचनैरवग-

नभूतोऽध्यासः प्रदर्शितः । एतावता प्रकरणेन पूर्वपक्षस्य संक्षिप्याशयोदर्शितः ।
एतादृशाध्यासाधिष्ठाननिर्गुणब्रह्मणोज्ञानेन जगत्कल्पनाया निरासायनिर्गुणब्रह्मण एव
जिज्ञास्यता नतु सगुणस्येतिदर्शितम् ।

यथा दृष्टान्ते शुक्तिरजतादौ पूर्वदृष्टत्वान्नरजतस्यासत्त्वम् किन्तु आपणादौ
समीचीनज्ञानवत्तया गृहीतस्यसत्यस्यैवान्यत्र शुक्तिकादाववभासमानतया तज्ज्ञा-
असत् नहीं है । नवा तादृश रजत सत् तथा असत् रूप भी है । क्योंकि सत्त्व असत्त्व पर-
स्पर विरुद्ध है । 'परस्परविरोधेहि न प्रकारान्तरस्थितिः' ऐसा नियम है । अतः तादृश शुक्ति
रजत अनिर्वचनीयत्व ही सिद्ध होता है । विवेचित यह अध्यास दो प्रकार का है ऐसा केवलाद्वैत
वादियों ने कहा है । तथाहि अन्य में अन्य का जो अवभास वह प्रथम अध्यास है । ब्रह्म में
समस्त चराचर लक्षण जगत का अध्यस्तत्व का बोधन करने के लिए स्वीकार किया है । द्वितीयतो
अतत् में तत्प्रकारक बुद्धि लक्षण है । जो कि प्रत्यगात्मा में ब्राह्मण क्षत्रियादि शरीर क्रियाध्यास
को बतलाने के लिए माना गया है । एतावत् पर्यन्त पूर्वमत का संक्षेप रूप से कथन किया ।

निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि करने के लिए केवलाद्वैतवादियों ने संक्षेप विस्तार रूप से निरूप-
ण किया है अध्यास का तो यहाँ संक्षेप रूप से अध्यास का प्रतिपादन करके उस अध्यास
का तथा अध्यासावलंबित निर्विशेषत्व ब्रह्मवाद का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम
करते हैं 'सचायमध्यास' इत्यादि । यह अध्यास अद्वैतमत का उपपादन करने में सर्वथा असमर्थ
है । तथाहि समीचीन युक्तिपूर्वक विचार करने से इस अध्यास में न तो जीवों का न वा
प्रकृति तथा प्राकृतिक कार्य देहेन्द्रियादियों का, शुक्ति में कल्पित रजत की तरह । अथवा
रज्जू में कल्पित सर्पवारादि की तरह, ब्रह्ममें कल्पितत्व रूप से मिथ्यात्व उत्पन्न होता है ।

म्यने । किन्तु तान्यपि च जगन्मिथ्यात्वामाधकव्यात्मैकत्वबुद्धरेव
मिथ्यात्वप्रवगमयन्ति । तथाहि स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास
इत्युपक्रमाभिहिताध्यासलक्षणम्यायपर्यः । परत्रोक्त्युक्ते परम्येत्यार्थि-
कम् । परत्र परस्यावभासोऽध्यासः । एतदुपपादकतया स्मृतिरूपत्वं
तत्साधनार्थं च पूर्वदृष्टत्वमुपात्तम् । अवभासनप्रवभासः । परम्य
रजतसर्पादेः परत्र शुक्लरज्ज्वादिप्रवभासः परावभासः । स्मर्यत
इति स्मृतिः स्मर्यमाणोऽर्थः । 'भावे' (पा०३।३।१८) 'अकर्तृणि च
कारके संज्ञायाम्' (पा०३।३।१९) इति सूत्रद्वयमधिकृत्य 'स्त्रियां
क्तिन्' (पा०३।३।१४।) इति सूत्रेण भावे कर्तृव्यतिस्किने च कर्मादी

मस्य भ्रमत्वं नतु तादृशज्ञानविषयस्य मिथ्यात्वं तथैव प्रकृतेः प्रमाणमानस्य जगतीनाम
त्वम् । असत्त्वे पूर्वदृष्टं मेव न स्यात् । तस्मान्न जगती मिथ्यात्वमपि तु मय्यन्वमेव । ततो

अनात्मादेहेन्द्रियादिक में आत्मा बुद्धिरूप में ब्राह्मण है, में शक्ति है, में बुद्धि है, में बुद्धि है । ये सब वेदान्त आत्म्य होता है । इत्यादि निर्गुण
ब्रह्मादियों के वचन में ही ज्ञान होता है । किन्तु इनका जो वचन है वे सब जगत् में मिथ्यात्व
के संचित जो ब्रह्म आत्मा ही रहने बुद्धि है वही । बुद्धि में मिथ्यात्व के वे सब साधन करने
है । तथा हि 'स्मृति' रूप पर में पूर्वदृष्ट का अवभास आत्मा है । इस प्रकार में उपक्रम में
व्यक्ति जो अध्यास लक्षण है उसका यह अर्थ होता है । 'परत्र' यह कहने में 'परम्य' अर्थ
अर्थात् स्वभावन एवं प्राप्त होता है । अर्थात् पर में परका जो अवभास उसको कहते हैं
अध्यास । इसी के उपपादन करने के लिए स्मृतिरूपत्व तथा पूर्वदृष्टत्व का कथन किया गया
है । अवभासन ही अवभास है । पर जो रजत सर्पादिक, उसका पर में अर्थात् शुक्लरज्जु प्रमाण
में अवभास, इसका नाम हुआ परावभास । स्मर्यमाण जो हो उसको स्मृति कहते हैं । अर्थात्
स्मरणविषयीभूत पदार्थ । 'भावे' अकर्तृणि च कार के संज्ञायाम्' इस सूत्रद्वय को अधिकृत करके
'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से भाव अर्थ में और कर्मा से अतिरिक्त कर्मादिकारक में, संज्ञा अवभा
संज्ञा अर्थ में क्तिन् प्रत्ययका विधान किया गया है । स्मरण का विषयीभूत जो रजत
सर्पादिक उसका जो रूप, उसके समान रूप है जिसका उसको स्मृतिरूप कहते हैं । अतः
स्मृतिरूपः शुक्लरज्जु में स्मर्यमाण जो रजत सर्पादिक पदार्थ उसके रूप के समान रूप

कारके संज्ञायामसंज्ञायां क्तिन्विधानात् । 'अकर्तरि चेति' (पा०-३।३।१९।) चकारस्य संज्ञाव्यभिचारार्थत्वाङ्गीकारात् । स्मर्यमाणस्य रजतसर्पादेः रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः शुक्तिरज्ज्वादौ स्मर्यमाणो यो रजतसर्पादिरूपोऽर्थस्तस्य रूपमिव रूपमस्य ब्रह्मणि जगदध्यासस्येति स्मृतिरूपोऽन्यत्र पूर्वदृष्टस्य रजतसर्पादेर्पदार्थस्य यथा शुक्तिरज्ज्वादाववभासो भवति शुक्तिरज्ज्वावच्छिन्नाज्ञानवताम् न तत्र वस्तुतो रजतसर्पादिस्ति तथा ब्रह्मण्यधिष्ठाने चराचरस्य जगतोऽवभासमात्रं भवति । तत्स्वरूपज्ञानविधुराणामित्यधिष्ठाने ब्रह्मण्यारोप्यस्य जगतोऽत्यन्ताभाव एव दर्शितो भवति । एवञ्च भ्रमदशायामप्रतीयमानत्वे सत्यारोप्यस्याश्रयत्वमधिष्ठानत्वं यथा शुक्तिरज्ज्जरजतसर्पयोगधिष्ठानमित्यधिष्ठानलक्षणं दृष्टान्ते साङ्गत्यमुपैति । प्रकृते त्वारोप्यस्य जगतः पूर्वमध्यासादसत्त्वाद्ब्रह्मणोऽधि-

नायमध्यासोऽद्वैतानुकूलः प्रत्युततन्प्रतिकूल एव । किञ्च 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्' इत्याद्युक्ते सर्वस्यापि जडचेतनमाधारणजगतोभगवच्छरीरत्वेन, परमा-
है ब्रह्म में जगत् अध्यास का, इसलिए स्मृतिरूप का अन्यत्र पूर्वदृष्ट रजतादि पदार्थ का जिस तरह शुक्ति रज्जु प्रभृति में अवभास होता है । उसी तरह ब्रह्म रूप अधिष्ठान रूप ब्रह्म में इस जगत् का अत्यन्ताभाव प्रदर्शित होता है । ऐसा हुआ तो भ्रम भ्रमकाल में अप्रतीयमानत्व होकर के आरोप्य जो रजत का आश्रय तथा अधिष्ठान शुक्ति तथा रज्जु है, इस प्रकार से अधिष्ठान का लक्षण दृष्टान्त शुक्त्यादिक में संगत होता है । प्रकृत में तो आरोप्य जो जगत् है उसका पूर्व में अध्यास नहीं होने से ब्रह्म में अधिष्ठानत्व अनुपपन्न हो जाता है । नहीं कहो कि पूर्व पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास में कारण है । तो सो मानना ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने से अनवस्था दोष होगा ।

यहाँ यह कहा जाता है कि-पूर्वदृष्ट रजतसर्पादिक का अवभास शुक्तिका तथा रज्जु में होता है । उसमें तो रजत सर्पादिक में सत्यत्व है तथा शुक्ति रज्जु में तथा तदवभास में मिथ्यात्व निर्वाध है । अन्यथा उन दोनों असत् का अन्यत्र शुक्ति का व्यतिरिक्त

ष्टानत्वानुपपत्तिरिति स्पष्टम् । एतदुक्तम्भवति पूर्वदृष्टस्य रजत-
सर्पादेरवभासः शुक्तिरज्ज्वादौ तत्र रजतमर्पादेः सत्यत्वं शुक्ति-
रज्ज्वोस्तदवभासस्य मिथ्यात्वञ्च निर्वाधम् । अन्यथा तयोर्मन्ययो-
रन्यत्राप्यवभासानुपपत्तेरित्यध्यासवादामिदुध्याद्वैतामिद्धिः । परत्र
परावभास इत्येतावन्मात्रमेवाध्यासलक्षणमिति चेत्तर्हि परशब्दवाच्योः
शुक्तिरजतयोश्चि ब्रह्मजगतोरुभयोः सत्यत्वमेवापन्नमन्यथा परस्य
मिथ्यात्वाङ्गीकारे तदवभासवचनानुपपत्तेरध्यासवादामिदुध्याद्वै-
तासिद्धिः । किम्वहुनोक्तेन वेदशास्त्राणां सर्वेषां ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन
मिथ्यात्वकथनमन्तरेण ब्रह्मणोऽद्वैतत्वामिद्धिः । तेषां मिथ्यात्वस्वी-
कारे मिथ्याभूतैर्वेदान्तवाक्यैस्तत्त्वमस्यादिभिस्माधितस्य ब्रह्मण्यद्वै-
तस्य मिथ्यात्वोपपत्त्याब्रह्मणोपि मिथ्यात्वोपपादकोऽध्यासोऽयमद्वैत-
साधकोऽनादरणीय इति ।

त्मनश्चसर्वथासत्यत्वात्तदङ्गभूतजगतोपिसत्यत्वमेव नतु मिथ्यात्वम् । विशेषस्तु
प्रकृतविषयोमयाऽध्यासध्वंसलेशविवरणेप्रपञ्चिनोऽतस्त एवानुमन्धेयः । विरम्यते
विस्तारभियोन्मत्तप्रलापनिरमनात् ।

स्थल में भी अवभास अनुपपन्न हो जायगा । इस प्रकार अध्यासवाद की सिद्धि नहीं होने से
अद्वैत की भी सिद्धि नहीं होती है । यदि पर में पर का अवभास मात्र को ही अध्यास लक्षण
मानें । तब तो पर शब्द बोध्य शुक्तिरजत के समान ब्रह्म तथा जगत् इन दोनों को भी
सत्यत्व ही व्यवस्थित होता है । अन्यथा यदि पर पद बोध्य को मिथ्या मानें तब तो आरोप्य
का पराधिकरण में अवभास अनुपपन्न होने से अध्यासवाद सिद्ध नहीं होता है । तथा
अध्यास की सिद्धि नहीं होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी । विशेष क्या कहा जाय ।
वेदशास्त्रादि सब को ब्रह्म में अध्यस्त होने से यदि शास्त्रादिक मिथ्या नहीं मानने से ब्रह्मा-
द्वैत की सिद्धि नहीं होगी । और यदि सब को मिथ्या माने तब मिथ्याभूत शास्त्र से
तत्त्वमस्यादि वाक्य से साधित अद्वैत के मिथ्या होने से, ब्रह्म के मिथ्यात्वापपादक यह अद्वैत
साधक अध्यास सर्वथैव अनादरणीय है । एतादृश अध्यास स्वपक्ष का बाधक हो जाता है ।
इसलिए केवलाद्वैत मत सर्वथा असमंजस है । किंच जब ये लोग ब्रह्म को त्रिकाल सत्य मानते

किञ्च जगन्मिथ्यात्वसाधनसमर्थस्याध्यासस्य परैरङ्गीकृतस्य कर्तृत्वं ब्रह्मणो जीवानां वा ? नाद्यः । ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वे तस्याधिष्ठानत्वानुपपत्तिरज्ञत्वापत्त्या संसारित्वापत्तिश्चानिवार्या स्यात् । न द्वितीयः । जीवानां ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तस्मिन्नेव ब्रह्मणि जगदध्यासस्य कर्तृत्वानुपपत्त्या संसारित्वानुपपत्तेः । न चोभयोस्तदितिवाच्यम् । दृष्टान्तासिद्धेः । तथाहि—यथा शुक्तिकायां रजतमध्यस्तं

पूर्वोक्तक्रमेण स्वरूपरूपलक्षणाभ्यामध्यासंनिराकृत्य, तादृशाध्यासस्य कश्चित्कर्ता न संभवतीत्युपपादयितुमुपक्रमते किञ्च जगन्मिथ्यात्वेत्यादि । अस्याध्यासस्य क्रियारूपत्वात् । क्रियायाश्च कर्तृमत्वत्वात् । नहि अन्तरेण कर्तारमात्मलाभं करोति क्रिया च कर्तारमन्तरेणानुपपन्ना, अर्थापत्त्या कर्तारमाक्षिपति । पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमिव । तदिह एतादृशाध्यासस्य कर्ता क इति पक्षः, किं ब्रह्मैव अध्यासस्य कर्तृ भवति, जीवोवा तस्य कर्ता न चाभ्यामन्यः कर्ता संभवति । तयोर्भिन्नस्य चेतनस्याभावात् । न चाचेतनः कश्चित्कर्ता संभवति अचेतनत्वात् है । तत्र तदङ्गभूत ज्ञानादि के समान शास्त्र सिद्ध ब्रह्मावयवभूत जगत् किस तरह मिथ्या हो सकता है । विशेष विवरण अन्यत्र देंगे । पर पक्षका व्यण्डन दिखू मात्र से यहाँ बतलाया गया है ।

अध्यास का स्वरूप तथा लक्षण का निराकरण करके, इस अध्यास का कर्ता कोई नहीं हो सकता है इस प्रकार कर्ता के अभावमूलक अध्यास का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'किञ्च जगन्मिथ्यात्वेत्यादि' केवलद्वैतवादियों से स्वीकृत जगत् में मिथ्यात्व का साधक जो अध्यास है उसका कर्ता कौन है ! अर्थात् अध्यासक्रियारूप है । और क्रिया साध्य होती है कर्ता से । कर्ता के बिना क्रिया बन नहीं सकती है । तो अध्यास क्रिया से आक्षिप्यमाण जो कर्ता है वह प्रकृत में कौन है ? क्या अध्यास क्रिया का कर्ता ब्रह्म है ? अथवा जीव है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं । क्योंकि यदि ब्रह्म जगदध्यासके प्रति कर्ता हो तो वह जगत् का अधिष्ठान नहीं बनेगा । और यदि ब्रह्म अध्यास का कर्ता होगा तब तो अज्ञानवान् होने से ब्रह्म में, संसारित्वापत्ति हो जायगी । इष्टापत्ति तो आप इसको कह नहीं सकते हैं । क्योंकि आपके मत से स्वप्रकार ज्ञानात्मक नित्यमुक्त होने से उसमें संसारित्व तो इष्ट नहीं है । तथा यदि ब्रह्म संसारी हो तब तो वह जगत् का अधिष्ठान

तत्र न रजतशुक्तिकयोरुभयोरन्यतरस्य वा तत्कर्तृत्वं, किन्तु तदन्येषां तत्र भ्रान्तिमतां मनुष्याणामेव । एवं रज्जो सर्पाध्यामस्य कर्तृत्वं नाधिष्ठानभूतायाः रज्जोर्नचाध्यस्तस्य सर्पस्योपपद्यते । उपपद्यते चान्येषां भ्रान्तिमतां प्राणिनाम् । तथाधिष्ठाने ब्रह्मणि सर्वचराचरात्मकं जगदध्यस्तमित्यत्रापि नाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणस्तत्क-
इति संशयः । तत्र न ब्रह्मणः तादृशाध्यामकर्तृत्वम्, अधिष्ठानत्वात्, नहि अधिष्ठानं कर्ता भवतीति, शुक्तिकादावधिष्ठाने तददर्शनात् । कदाचित्कथंचित्तस्य कर्तृत्वे ब्रह्मणोऽज्ञत्वेन जीववत् संसारापत्तिर्द्वारा । न च तदिष्टम्, ब्रह्मणः सर्वदा स्वप्रकाशज्ञानरूपतया भवद्भिः स्वीकारात् । नवाजीवोऽध्यामस्य कर्ता संभवति, जीवानां ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन, तादृशब्रह्माधिष्ठानकाध्यासंप्रति कर्तृत्वानुपपत्तेः । नहि अध्यस्यमानयोर्द्वयोर्मध्ये एकस्तदन्यंप्रतिकर्तृत्वेनजनक इति संभवति, जनकस्य पूर्ववृत्तित्वं जन्यस्य च पश्चात्कालिकत्वात् समसमययोः परस्परं जन्यजनकभावो न भवति, युग्मजातवत् । तथा जीवस्याध्यामकर्तृत्वे संसारानुपपत्तिरपिस्यादिति । नहि तदुभययोस्तत्र कर्तृत्वम्, दृष्टान्ते तथाऽदर्शनात्, नहि शुक्तिकाध्यस्तरजतस्थले तादृशरजताध्यासस्य कर्ता शुक्तिकादिर्भवति । नवाऽध्यस्तं रजतमेव वा कर्तृ भवति । अचेतनत्वादध्यस्तत्वात् । एतदेवभाष्यकारो दर्शयति 'तथाहि यथा शुक्ति कायमित्यादि । यथाशुक्त्यवच्छिन्नचेतन्ये रजताध्यासे अधिष्ठानं तादृशचेतन्यं तदव-
ही नहीं बनेगा । नवा द्वितीय पक्ष ठीक है । अर्थात् जीव अध्यास का कर्ता है यह पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म में अध्यस्त है स्वयमेव, तब उसी ब्रह्म में जग-
दध्यास का कर्तृत्व अनुपपन्न होने से जीव में संसारित्व अनुपपन्न हो जायगा । नहीं कहो कि ब्रह्म तथा जीव इन दोनों में अध्यास का कर्तृत्व है यह भी कहना ठीक नहीं है ।
क्योंकि भवदीय कथन को अनुकूल दृष्टान्त असिद्ध है । तथाहि जिस तरह—'इदं रजतम्' इस प्रकार से शुक्तिका में रजत का अध्यास होता है । तो उसमें शुक्तिका रजत इन दोनों में अथवा उन दोनों के मध्य से एक किसी में तादृश अध्यास का कर्तृत्व नहीं होता है । एवम् रज्जू में सर्पाध्यास का कर्ता अधिष्ठानभूत रज्जू नहीं है । नवा अध्यस्त सर्प में कर्तृत्व होता है । किन्तु तदतिरिक्त भ्रान्तिमान अन्य कोई प्राणियों में ही कर्तृत्व होता है । उसी प्रकार अधिष्ठानभूत ब्रह्म में संपूर्ण जड चेतन साधारण जगत् अध्यस्त है तो यहाँ भी अधिष्ठान रूप जो ब्रह्म तथा ब्रह्म से कल्पित जो जगत् और जीव, इनमें अध्यास कर्तृत्व उपपन्न नहीं हो

ल्पितस्य जगतो जीवानां वाध्यासकर्तृत्वमुपपद्यते न वा भ्रान्ति-
हेतुकः संसार उपपद्यते । एतदध्यासकर्तृत्वादिकं ब्रह्मणि जगज्जीव-
भ्रान्तिमतां ब्रह्मजगज्जीवभिन्नानामेव सम्भवति । न चैतादृशा
ब्रह्मतदध्यस्तजगज्जीवभिन्नाः केप्युपलभ्यन्ते येन दृष्टान्तदार्ष्टा-
न्तिकयोरुभयोरपि सामञ्जस्यं निर्वहेदित्यत्र संक्षेपः ।

स्यादेवम् । नास्माभिस्तल्लक्षणोऽध्यासः सिद्धान्ततयाऽभ्युपेयते
परमतास्मैस्तद्वबुद्धिरित्युक्तलक्षण एव । अतस्मिन्ननात्मनि देहेन्द्रि-
च्छेदकंशुक्तिकादि, तदध्यस्तं च रजतमारोप्यं न भवति कर्तुं न वा रज्ज्वादा-
वध्यस्तः सर्पादिः, तत्र रज्ज्ववच्छिन्नं चेतनं न तदवच्छेदकं रज्ज्वादिकं सर्पों वा
कर्ता भवति । किन्त्वेतेभ्योभिन्नोभ्रान्त मनुष्यादिरेव कर्ता भवति एवमेव जगद-
ध्यासाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणः, तदध्यस्तपदार्थस्य जीवस्य वा कर्तृत्वं नोपपद्यते ।
न च मूलाज्ञानेन शुद्धचेतन्योध्यस्तोऽहमर्थ एव कर्ता स्यादिति वाच्यम्, अलोकशास्त्र-
प्रसिद्धमूलाज्ञानतुलाज्ञान दीनां केवलस्वकीयपरिभाषामात्रसिद्धविद्वत्परिपदि सर्वथैवा-
नादेयत्वेन तदसिद्धेः । नवा भ्रममूलकः संसार एव संभवति । भ्रमस्य तन्मूल
स्यैवासिद्धेः । अन्यत्सर्वभाष्यदिशैवज्ञानव्यमिति दिक् ।

ननु स्यादेवं पूर्वोक्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसामञ्जस्यं यदि स्मृतिद्वयः परत्र
पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास इति लक्षणं स्वीक्रियेत । परन्तु नेदं लक्षणमस्माभिः
सकता है । नवा भ्रममूलक संसार की ही उपपत्ति हो सकती है । किन्तु एतादृश अध्यास
कर्तृत्व, ब्रह्म जगत् जीव से भिन्न जीव जगत् भ्रान्तिमान किसी अन्य को ही कर्तृत्व हो सकता
है । परन्तु एतादृश ब्रह्म में अव्यस्त जगत् वा जीव वर्ग कोई उपलब्ध नहीं होता है जो कि
उपर्युक्त अध्यास का कर्ता बने । जिससे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक इन दोनों में सामञ्जस्य हो ।
नहीं कहो कि अद्वैत लक्षण जो पदार्थ है वह तो केवल आन्नायसमधिगम्य है, ननु अनुमानादि
प्रमाण गम्य जिससे निदर्शन साध्य हो अतः दृष्टान्त को अनुकूल न होना क्षतिकर नहीं है ।
यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि तब तो दृष्टान्त जो शुक्ति रजत को उदाहृत करते
हैं वह सर्वथा असंगत होता है । प्रयाजादिक में कहाँ कोई दृष्टान्त है । अतः अध्यासवाद
ठीक नहीं है इत्यत्र संक्षेपः ।

‘स्यादेवमिति, आपने—‘परत्रपूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः’ इस अध्यास लक्षण में दृष्टान्त दार्ष्टा-

यादौ तद्बुद्धिर्मात्मबुद्धिरहं ब्राह्मणक्षत्रियादिकः स्थूलः कृशः गौरे
मूढः काणोऽन्धोवधिगे गच्छामि श्रोता वक्ता द्रष्टा कर्ता भोक्ता
इत्येवमादिरूपाऽनात्मन्यात्मबुद्धिः । मैवाध्यामपदवाच्या अयमे-
वाध्यासो यथार्थो लोकशास्त्रप्रसिद्धशास्माभिर्ज्ञीक्रियत इति तदपि
तुच्छम् । स्वोदीग्निस्रग्धविरुद्धत्वात् स्वाभिमतार्थविरुद्धार्थोपस्था-

स्वीक्रियते, किन्तु अतस्मिन् तद्बुद्धिरेवाध्यामः । यथा रजतत्वाभाववन्त्यां शुक्ति-
कायां रजतत्वप्रकारिका बुद्धिरेवाध्यामः । तद्वक्तं—'समारोप्यस्य रूपेण विषयो
रूपवान् भवेत् । विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवदिति । अस्यार्थः समारोप्यस्य
आरोपः प्रकारस्य रजतादेः । सर्वादिश्च रूपेण, तत्र प्रकारतयाभावमानस्य रजत-
त्वमर्षत्वरूपेण धर्मेण, विषयोधिष्ठानमिदं रज्ज्वादिकं च रूपवत् धर्मवत् भवति
अर्थात् आरोप्यस्य रजतस्य यो धर्मो रजतत्वेन रजतत्वेन ज्ञानीयविषयतया विशिष्टमिदमा-
कम् । वस्तुतो रजतत्वं नेदमोविशेषणं किन्तु तादृशबुद्धिममये एव शुक्तिधर्मतया प्रति-
भासमानं भवति । तादृशरजतत्वप्रकारताया इदं निष्ठविशेष्यताया व्यधिकरणत्वात्
वस्तुतोरजतत्वं प्रकारः रजतेनेदमि विशेष्यता चेदमि नतु रजते । अत एव विशेषदर्शन
जाते बाधोपि भवति । यदि वस्तुविद्यया रजतत्वधर्म इदमि भवेत् तदा भ्रमकालवत् काला-
न्तरेपि रजतस्य रजतत्वस्य वा बाधो न भवेत् । परन्तु विशेषदर्शनानन्तरकाले बाधो भव-
त्येव सर्वेषाम् । अतः प्रतिभासकाले एव समारोप्यरजतधर्मेण रजतत्वादिना विष-

यिक में सामंजस्य निर्वहित नहीं होता है ऐसा जो कदा है ऐसा आपक कहना ठीक नहीं
है क्योंकि परत्र पूर्व दृष्टावभास लक्षण अध्यास को हम लोग नहीं मानते हैं । किन्तु अतद् में
तत्प्रकारक ज्ञान लक्षण अध्यास को ही मानते हैं । अतद् में आत्मभिन्न अनात्मा शरीरेन्द्रिय
लक्षण वस्तुओं में जो तद् बुद्धि आत्म बुद्धि, जैसे मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय स्थूल हूं, मैं गौरे
हूं, मैं काला हूं, काण, अन्ध तथा बधिर हूं, मैं जाला हूं, मैं श्रोता द्रष्टा कर्ता और भोक्ता
इत्यादि रूप अनात्मा में आत्मबुद्धि ही अध्यास पद वाच्य है । यही अध्यास का लक्षण
यथार्थ है । लोक शास्त्र प्रसिद्ध है । इसी को हम लोग मानते हैं । यह केषलाद्वैतवादी का
कथन भी अति तुच्छ है । क्योंकि उनसे कथित ग्रन्थ से विरुद्ध है । तथा स्वाभिमत
अर्थ से निरुद्ध अर्थ का उपस्थापक भी है । तथाहि इस अध्यास से तो जीव प्रकृति तथा
प्रकृति का कार्य जो शरीरेन्द्रियादिक उसमें नित्यत्व की ही सिद्धि होती है । अर्थात् अध्यास

पक्त्वाच्च । तथाहि अध्यासेनाऽनेन जीवानाम्प्रकृतेस्तत्कार्यभूतानां देहेन्द्रियादीनाञ्च नित्यत्वमेव साध्यते तदीयग्रन्थस्थतत्प्रकरणोपसंहारस्वास्यात् । तत्र हि—एवमयमनादिनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्ष इत्यनेनाध्यासस्यानाद्यनन्तत्वोक्त्याऽऽद्यन्तरहितत्वेनाध्यासस्य नित्यत्वज्ञाप-

योधिष्ठानं रूपतत्प्रकारवद्भवति । एवम् भ्रान्त रजते यथा रजतार्थी समीहते तदादानाय प्रवर्तते च तथैव भ्रमोपस्थापितरजतम् रजतमितिमत्वा तदिच्छति तदर्थं प्रवर्तते चेति । परन्तु विषयस्याधिष्ठानस्य शुक्तिकादे रूपेण विशेषधर्मेण शुक्तिकात्वादिना, समारोप्यं रजतादिकं रूपवत् तादृशविशेषधर्मात्मकरूपवन्न भवति, यतस्तत्र शुक्तिकात्वादिज्ञानकाले आरोप्यस्य रजतसर्पादेरेवाभावात् । कुत्र तादृशरूपं व्यवस्थितं भवेत् । अतोऽतस्मिन्तद्बुद्धिरेवाध्यासलक्षणम् । एतदेव सर्वं दर्शयति भाष्यकारो लक्षण समन्वयप्रदर्शनेन अतस्मिन्ननात्मनिशरीरेन्द्रियादिपुतद्बुद्धिरात्मबुद्धिः यथा अहं ब्राह्मणः क्षत्रियः कर्ता भोक्तेत्यादिलक्षणेऽनात्मनि, आत्मबुद्धिरिति । सेयमेतादृशीबुद्धिरेवाध्यासपदवाच्येत्येवमेव बुद्धिः । अयमेवाध्यासोलोकवेदयोः असिद्धः स्वीकृतश्च केवलाद्वैत वेदान्तिनेति पूर्वपक्षाशयः ।

एवं केवलाद्वैतवादिनोपपादितं पूर्वपक्षं निराकर्तुं भाष्यकार उपक्रमते तदपितुच्छमिति तन्मतस्य तुच्छतामेव दर्शयति स्वोदाहरित्यादि । यदेतत् सर्वं तैः प्रतिपादितं तत्सर्वं जीवादिकों में नित्यत्वादिक का ही साधक है । यह बात उनके ग्रन्थस्थ प्रकरण के स्वारस्य से सिद्ध होता है । उनके ग्रन्थ में 'इस प्रकार यह अनादि अनन्त नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक अध्यास जो कि मिथ्याज्ञान रूप है, कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष सिद्ध है ।, इस ग्रन्थ में अध्यास में आनाद्यनन्तत्व कथन करने से, आद्यन्तरहितत्व होने से अध्यास में नित्यत्व ज्ञापन करता है । एवं, 'अजा' मेकान् 'अजोद्धेकः' इस प्रकार प्रकृति पुरुष में अनादित्व का कथन होने से नित्यत्व की ही सिद्धि होती है । 'वह आत्मनित्य है । सर्वगत व्यापक है, स्थाणु के समान स्थिर है । अचल है चलनात्मक क्रिया विवर्जित है, और सनातन सार्वकालिक है । प्रकृति तथा पुद्गल—इन दोनों को अनादि समझो । इस प्रकार से भगवान् वासुदेव ने जीव तथा प्रकृति में नित्यत्व सनातनत्व और अनादित्व का कथन किया है । इससे केवलाद्वैतियों का अभिमत अध्यासवाद सिद्ध नहीं होता है । अर्थात् अध्यासवादी के मतमें

नात् । एवं 'अजामेकाम्' 'अजोह्येकः' [इवे० ४।५] इतिप्रकृति
जीवयोरजत्वश्रुत्याऽनादित्वेन नित्यत्वोपपत्तेः । 'नित्यः सर्वगत-
स्थाणुश्चलोऽयं सनातनः' (गी० २।१४) 'प्रकृते पुरुषञ्चैव विद्वद्भ्य-
नादी उभावपि' (गी० १३।१९) इतिभगवतोऽपि जीवानाम्प्रकृ-
तेश्च नित्यत्वसनातनत्वानादित्वबोधनाच्च नानेन स्वप्नमिदृधिः ।

मेव तदीयोदाहृतग्रन्थेनैव विरुद्धं भवति तथा तदीयाभिमतार्थस्यासाधकमपि ।
तदीय मतसिद्धोऽध्यासो जीवस्यप्रकृतेस्तत्कार्यस्य च देहेन्द्रियादेर्नित्यत्वमनादित्वमेवो-
पस्थापयति नतु मिथ्यात्वं व्यवस्थापयति एवमयमनादिनन्तो नैर्मर्त्तिकोऽप्यागोमिश्याप्रत्ययरूपः
इति तदीपभाष्यग्रन्थः । अयं च ग्रन्थः जीवादीनामनाद्यनन्तत्वकथनेन तेषामुत्पाद-
विनाशयोर्निराकरणात् प्रद्योतितमतितेषु जीवादिपदार्थेषु नित्यतामनाद्यनन्तत्वमिति ।
ततश्चनेदं तदीयप्रकरणं जीवादीनामुत्पत्तिमत्त्वं सान्तत्वं च दर्शयति । इति स्वग्रन्थ
एव स्वस्य विनाशमिच्छतीति तेषां बुद्धिदीवन्यमेव प्रकटयतीति वृथाशुक्लच-
र्वणमिति । किञ्च श्रुतिस्मृतयोऽपि प्रकृतिजीवयोरनादित्वनित्यत्वं च प्रतिपादयन्ति ।
तथाहि 'अजामेकालोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां मरूपाः । अजो ह्येको-
जुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः' (इवे० ४।५ तत्र न जायते । अर्थात्
नोत्पद्यते इत्यजानित्या प्रकृतिः साच इवसजातीयां विरूपां च कार्यवर्गमहतत्वं गगनादि-
पञ्चभूतानि च समुत्पादयति । न जायते इत्यजोजीवः स च तां तत्कार्यं च भुनक्ति,

पदार्थ मात्र को ब्रह्म में अव्यक्त होने से जगदन्तर्गत जीवादिक भी उसमें अव्यक्त होने
से मिथ्या है । परन्तु भगवान् ने तो पुरुष को अनादि नित्य मान लिया है । तब तो
भगवान् के प्रतिकूलताका प्रतिपादन करने से तन्मत सर्वथा अनादरणीय है । एक तो
प्रतिवादी को स्वकीयाममत वस्तु की सिद्धि नहीं होती है । प्रत्युत अनात्मा शरीरादिक में
अन्मबुद्धि मात्र में मिथ्यात्व साधक रूप होने से ब्रह्ममें अद्वैत का साधक नहीं है ।
अपितु आत्मा तथा अनात्म रूप जो जीव तथा शरीरादिक हैं उस में अन्वोन्वाच्यास्परक
ही है ऐसा सिद्ध होता है । प्रश्नः—केवलद्वैतवादी कहते हैं कि मेरे सिद्धान्त ग्रन्थों में
प्रत्यगात्मक पद से ब्रह्म का कथन है । उस ब्रह्म में शरीरेन्द्रियादिक को अव्यक्त होने
से ब्रह्म में अद्वैत की सिद्धि होती है । अर्थात् प्रत्यगात्मा अन्वोन्वाच्यास है । यह आप ठीक
कहते हो । परन्तु प्रत्यगात्म शब्द का अर्थ है पर ब्रह्म । क्योंकि तत्त्वमस्यादि शास्त्र से दोनों

प्रत्युताऽनात्मन्यात्मबुद्धिमात्रस्य मिथ्यात्वसाधकतयाऽयमध्यासो न ब्रह्मणोऽद्वैतत्वसाधकः । अपित्वात्माऽनात्मनोर्जीवदेहयोरन्योन्याध्यासपर एवेति सिद्धम् । नन्वत्र मदीयसिद्धान्तग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन ब्रह्मोच्यते तत्र च देहेन्द्रियादीनामध्यस्तत्वेन ब्रह्मणोऽद्वैतत्वं सिद्ध्यतीति चेन्न । जीवस्य चेतनात्मकस्याचेतनदेहेन्द्रियादिपदवाच्यत्वाऽनुपपत्त्या स केन शब्देनोच्यते ? अनात्मन्यात्मबुद्धिरेव जीव इति चेन्न । तस्याः प्रकृतिकार्यत्वेनाऽचेतनरूपायाश्चेतनजीववाचकत्वानुपपत्तेः । न च तत्र ग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन जीव एव गृह्यत इति वाच्यम् । एवं सत्यधिष्ठानत्वेन तस्याध्यपुनश्च प्रकृतिपुरुषयोर्भेदं ज्ञानात्मक तत्त्वज्ञाने जाते तां प्रकृतिं जहाति परित्यजतीत्यर्थक श्रुतिबलेन प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यमनादित्वमेव व्यवस्थापयति । तथा श्रुत्यन्तरेणापि प्रकृतिपुरुषयोरजत्वं स्थापितं भवतीति । 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्य नादी' इत्यादिप्रकरणेन भगवान् वासुदेवोऽपि प्रकृत्यादीनामजत्वनित्यत्वसनातनत्वादिकमेव व्यवस्थापयति । अतो न केवलाद्वैतवादिनां स्वकपोलकल्पनामात्रेण स्वाभिमतार्थस्य श्रुतिस्मृत्यादिना समर्थनं भवति ततश्चादौदिकत्वान्नतन्मतं ग्राह्यमिति ।

किञ्च भवदीयतन्त्रे प्रत्यगात्मपदेन कस्य ग्रहणम् । किं ब्रह्मणो जीवस्य वा ? तत्र नाद्यः तत्र च ब्रह्मणि देहेन्द्रियादीनामेवाध्यास इति भवन्मतम् । तन्न मे तादात्म्यं सिद्धं है । अतः प्रत्यगात्मा ब्रह्म मे अध्यस्त शरीरादिकं का 'नेतिनेति' इत्यादि शास्त्र से अध्यस्तवस्तुओं का निराकरण हो जानेपर ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है । उत्तर-चेतन लक्षण जो जीव है उसको अचेतन शरीरेन्द्रियादि पदवाच्यत्व तो अनुपपन्न है । तब वह जीव किस शब्द से कहा जायगा । अर्थात् आत्मा अनात्मा का ही तो अन्योन्याध्यास सिद्ध हुआ है । तब जीव का अध्यास कैसे होगा । आत्मपद से तो ब्रह्म का आपने ग्रहण किया । तब तो ब्रह्म तथा शरीरादिक में ही अन्योन्याध्यास होगा । जीवका अध्यास तो नहीं होगा । क्योंकि जीव तो ब्रह्म है नहीं नवा देहादिक है । तब जीव का कहा अध्यास होगा । नहीं कहो कि अनात्मा देहादिक में जो आत्मबुद्धि है वही जीव है । तो यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि बुद्धि तो प्रकृतिजन्य है और कार्य

स्तत्वाऽसिद्धेः । कल्पितत्वानुपपत्त्या च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तस्यापि सत्त्वेनाद्वैतासिद्धिः । एवञ्च शुक्तौ रजताऽध्यामवद्ब्रह्मणि जगदध्यस्तमस्तीत्ययम्पक्षः कथापि नोपपद्यते निरुक्तगीत्या ब्रह्मजोवयोऽन्यतरस्याप्युक्ताध्यामकर्तृत्वानुपपत्त्या तत्कर्त्रभावेन तदसिद्धेः ।

एतेनाद्वैतसाधनाय कल्पितस्य ब्रह्मणि जीवभावकल्पितत्वार्थकस्याऽध्यामवादस्य निगमेन तन्नान्तर्गीयकतयाद्वैतसाधनाय

सम्पक्क जीवस्य चेतनत्वेन शरीरेन्द्रियादिपदवाच्यात्वानुपपत्तेः । नापि द्वितीयस्तस्य सत्यतयाऽधिष्ठानत्वेन जीवस्याध्यस्तत्वामिद्धेः । यदि प्रत्यगान्मपदेन जीवग्रहणं तदा तस्यैवाधिष्ठानतया जीवस्याधीवतदतिरिक्तस्य सर्वस्य स्यात् । मताध्यस्त इति जीवोपि रजतादिवदेव ब्रह्मण्यध्यस्त इति सिद्धान्तव्याक्रीपात् । तस्मात् जीवस्य ब्रह्मणोवा तदन्यतरस्य वा कर्तृत्वानुपपत्त्याऽध्यासो नैव कथमपि संभवतीति न तन्मतं समीचीनमिति ।

कारण में तादात्म्य होने से अचेतन रूप जो बुद्धि है उसका चेतन जीववाचकत्व अनुपपन्न है । क्या कभी भी जड़ घटाधिक चेतन जीव का वाचक हुआ है ? ऐसा कही भी देखने में आया है ? तो इसका यही कारण है कि घटादिक जड़ हैं इसलिये चेतन जीव का वाचक नहीं होता है । इसी तरह बुद्धि अचेतन है । तब बुद्धि पद जीव का वाचक नहीं हो सकता है । नहीं कहो कि मेरे ग्रन्थों में तो प्रत्यगान्म पद से जीव का ही ग्रहण होता है 'प्रतीपमञ्चतीतिप्रत्यक् स चासौ आत्मावेति प्रत्यगात्मा' ऐसा विवेचन किया है । ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा यदि मानें तब तो जीव कोई सबका अधिष्ठान होने से जीव में अध्यस्त नहीं कहायगा । नहीं कहो कि जीव तो अध्यस्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि तब तो ब्रह्मज्ञान होने से जीव का बाध होगा नहीं तब ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं होगी । तथा उस जीव में कल्पितत्व की उपपत्ति होने से ब्रह्म व्यतिरिक्त जीव की सत्ता पृथक् रह जाने में अद्वैत सिद्ध नहीं होगा । ऐसा होनेमें यह सिद्ध होता है कि शुक्तिका में रजताध्यास की तरह ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है यह पक्ष किसी भी तरह से उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म तथा जीव में से एक को भी अध्यास कर्तृत्व का अनुपपन्न होने से उस अध्यास का कोई कर्ता सिद्ध नहीं होता है । अतः अध्यासवाद सर्वथा अयुक्त है ।

कल्पिताविवर्तादिवादा अपि निरस्ता वेदनीयाः । तथा च तान्वा-
दानाश्रित्य श्रुतिस्मृतिसूत्राणामानर्थक्यसम्पादनेनाऽद्वैतवादस्य नि-
र्मूलत्वमेवेति ।

किञ्चैतन्मते जीवभावस्यारोपितत्वेन मिथ्यात्वे तद्भुक्ति-
मुक्त्युपायबोधकानां शास्त्राणां मिथ्यालापकत्वाऽपत्तिः, इमानि
सच्छास्त्राणि मृष्ट्यादीनि च परमात्मकर्माणि सर्वथोपयन्ति सार्थ-
कतां जीवानां तत्कर्माणां प्रकृतेश्चानाद्यनन्तत्वपक्ष इति तथैव तत्सा-
मञ्जस्यायावश्यमभ्युपेयम् । अद्वैतवादिमते तु परमपुरुषकर्तृकमृष्ट्या

एतेनेत्यादि ब्रह्मणि जीवत्वादिप्रमिद्ध्यर्थम्, आच्छाद्यविक्षिपतिसंस्फुरदात्मतत्त्व
जीवेश्वरश्च जगदाकृतिभिर्मृषैव' इत्यादिरीत्या कल्पितस्याध्यासस्य पूर्वोक्तयुक्तिश्रुत्या-
दिना निराकरणेन । अध्यासमूलकविवर्तादिवादा अपि निराकृता एव भवन्तीति विज्ञा-
तव्यम् । एवं विवर्तादिवादाश्रयणे श्रुतिसूत्रादिनाप्यानर्थक्यमनिवार्यमेवापतति ।
अतोनायमद्वैतवादः श्रेयोर्थिभिः संग्राहोऽपितु विशिष्टाद्वैतवादो रमणीय इत्याकल-
प्यतत्परिग्रह एव समुचित इत्यर्थः प्रकणस्य ।

पूर्वोक्त प्रकार से अध्यासवाद का युक्तिपूर्वक निराकरण करके तन्नास्तर्गीय विवर्तवाद
का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एतेनाद्वैतसाधनायेत्यादि' एतेन-
अध्यासवाद का निराकरण होने से अद्वैतवाद का साधन करने के लिए, कल्पित ब्रह्म में जीव
भान के कल्पित तत्त्व प्रयोजक इस अध्यासवाद का युक्त्यादि द्वारा निराकरण होने से अद्वैत
साधन करने के लिए कल्पित जो विवर्तादिवाद् है वह भी निरस्त हो जाता है ऐसा सम्झना
चाहिए । ऐसा हुआ तब, इन अध्यासवाद विवर्तवादिक का आश्रय लेकर के श्रुतिस्मृति
सूत्राधिक का आनर्थक्य संपादित हो जाने से यह अद्वैतवाद निर्मूलक है अर्थात् अध्यासा-
दिवाद को मानने से श्रुत्यादिक प्रमाणों का कार्य न होने से, यह अद्वैतवाद सर्वथा
निर्मूलक है ऐसा सिद्ध होता है ।

और भी इन अद्वैतवादियों के मत में 'मायाख्यायाः कामधेनोर्वैतसौजीवेश्वरावुभौ' इस
नियम के अनुसार जीवभाव [जीवत्व] को मिथ्या होने से जीव भोगमोक्ष के उपाय, कारण-
बोधक शास्त्रों में मिथ्यार्थत्व के अवबोधकत्व प्रसंग हो जायगा । ये सत् शास्त्रों तथा सृष्टि प्रसू-
तिक परमात्मा कार्य सर्वथा उपयुक्त है यह बात जीव जीवकृत कर्म तथा प्रकृति के अना-

दिकर्मणां वेदान्तादिसच्छास्त्राणां गुरूपदेशस्य चैकान्ततो नैक्यस्य-
मेवेति स्पष्टम् ।

अपि चास्याऽध्यामस्यामम्भवोऽपि सुतगम् । तथाहि 'सदेव-
सोम्येदमग्र' (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतेरद्वितीयं स्वमजानीयविजा-
तीयस्वगतभेदशून्यम्ब्रह्मैवाऽग्र आसीदित्यर्थः । तदानीं प्रकृतेर्जीवानां
ज्ञात्यन्ताऽभावात् किं वस्तु स्वस्मिन्नव्यस्य ब्रह्म जीवत्वप्राप्तमि-
तिविवेचनीयम् । मृष्टेः प्राक्काले जीवानामभावेन तत्कृतकर्मणा-
मप्यसत्त्वादन्तरेण निमित्तं प्रयोजनञ्च जीवशरीरेन्द्रियादीनां स्व-

किञ्च 'माया आभासेन जीवेशीकरोति मायाचाविद्या च स्वयमेव भवति
'मायाख्यायाः कामधेनोर्वर्त्मौ जीवेश्वरौ मतौ' इत्यादितदीयमते जीवस्य कल्पितत्वेन
तादृशकल्पितजीवस्य बन्धापनयनाय कल्पितजीवस्य भोगमोक्षप्रतिपादनाय प्रवर्तमानं
शास्त्रं गुरुणामुपदेशस्य सर्वथैव नैरर्थक्येनामदर्थबोधकत्वेन च प्रतात्कन्वमेव भवेत् ।
नही रज्जौ कल्पितसर्पस्य परिपालनाय मोक्षाय च कश्चिन्कृपालुरपि तदुपरि कृपां
घनन्तव पक्ष में समंजस होता है । इसलिए जीवादिक का अनाद्यन्त पक्ष ही सर्वथा
सर्वानुकूल है । अद्वैतवादियों के मत में तो परमपुरुष वर्तक जो सर्वादिक कर्म उसका
तथा वेदान्तादि सत् शास्त्र का, और गुरु उपदेश का सर्वथा नैरर्थक्य हो जाता है यह
स्पष्ट है और भी—यह जो पुर्य वर्णित अत्यास है वह असंभवित भी है । तथाहि—
'सदेवसोम्येदमग्रे आसीत्'—इस श्रुतिका अद्वितीय—सजानीय विजानीय स्वगत भेद रहित ब्रह्म
ही सर्ग के पूर्वकाल में था । ऐसा अर्थ है । उसमें, सर्ग के पूर्वकाल में प्रकृति तथा जीवों
का अत्यन्त अभाव था, तो उस सर्ग पूर्वसमय में किस पदार्थ को ब्रह्म अपने में अप्यस्त
करके जीवभाव को प्राप्त किया इस बात का विवेचन करना चाहिए । सर्ग के पूर्वकाल
में जीव का नहीं होने तथा जीव से संपादित जो शुभाशुभ कर्म, उसका भी अभाव हो
तब उत्पत्ति में किसी निमित्त तथा प्रयोजन के बिना जीव तथा जीव का जो शरीर तथा करण
उनकी उत्पत्ति भी असंभव है । और जीवादिक का उपादान का अभाव भी जगत की रचना
के अभाव में उपोद्बलक होता है । क्योंकि सर्ग के पूर्वकाल में प्रकृति तथा प्रकृति से भिन्न
कोई भी पदार्थ नहीं है । सर्ग के पूर्वकाल में जीव का जो अस्तित्व है वह जीव कृत कर्म के
अस्तित्व को बतलाता हुआ, फल भोग के लिए अपेक्षित जो करण कर्तेवर की रचना तथा इन

नानुपपत्तिः । उपादानपदार्थान्तराभावोऽपि तदनुपपत्तावुपोद्बल-
कम् । तदानीम्प्रकृतेरतिरिक्तस्य वा पदार्थस्याऽभावात् । प्राक्काले
जीवासत्त्वमेव जीवकृतकर्मासत्त्वमवगमयत्तत्फलभोगायापेक्षितशरीरे
न्द्रियादिश्चनायास्तैश्च सह जीवसम्बन्धस्य व्यतिरेकं ग्राहयति ।
न च 'तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इतिश्रुतिप्रामा-
ण्यात्स्वेच्छया लीलार्थमेव स्वस्मात्प्रकृतिमुत्पाद्य ताञ्च स्वस्मिन्नाध्यस्य
स्वयं जीवभावम्प्राप्य तथैव प्रकृत्या जीवार्थशरीरेन्द्रियाणि ब्रह्मणा
कास्तिनीति वाच्यम् । इच्छावत्त्वेन ब्रह्मणि सगुणत्वसिद्धेः स्वस्मा-
करोति । तत्कस्य हेतोः ? असत्त्वात्तादृशसर्पस्य । तद्वत्प्रकृते प्रकृतेर्जीवस्यासत्त्वेन-
तदीय भोगमोक्षाय शास्त्रस्य प्रवृत्तिरपि नस्यात् । अपि चैतन्मते—'तत्र माता अमाता
भवति पिता अपिता भपति वेदा अवेदा भवन्तीतिनियमात् तदपि मिथ्यैवेति सर्वमे-
वाकुलं भवति । तस्मात् जीवादीनामनाद्यनन्तपक्ष एव श्रेयानिति स एव पक्ष आश्रय-
णीय इति प्रकरणार्थः ।

सब वस्तुओं के साथ जीव का सम्बन्धभाव को सिद्ध करता है । यद्यपि प्रलयकाल में जीव
तदीय कर्म तदा प्रकृति, अनादि पदार्थों का अभाव नहीं होता है । तथापि जीवादिक पदार्थों की
उत्पत्ति मान करके यह दोष दिया गया है । कर्म की असत्ता सर्गपूर्वकाल में है इस बात को
स्वयमेव भाष्यकार आगे बतलायेंगे । नहीं कहो कि 'उस ब्रह्म ने ईक्षण किया कि एक भी मैं
अनेक हो जाऊँ' इस श्रुति के प्रामाण्य से स्वेच्छा से अथवा सृष्टि करने के लिए वह परंब्रह्म
स्व से प्रकृति को उत्पन्न करके और समुत्पन्न प्रकृति का स्व में अध्यास करके तदनन्तर स्वय-
मेव जीवभाव को प्राप्त करके स्वाध्यस्त प्रकृति से जीव के लिए करण कलेवर को उत्पन्न कराते
हैं । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्म को इच्छारूप गुणवान् होने से सगुणत्व का
प्रसंग हो जायगा । जो कि निर्विशेष ब्रह्मवाद का प्रतिकूल है । और ब्रह्म स्व से अचेतन
प्रकृति का उत्पादक होगा, तब तो ब्रह्म में विकारित्व भी होगा । और विकारिता यदि ब्रह्म में
मानें तब तो निर्विकारिता प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध भी होगा श्रुति विरोध परिहार तो
'रामस्य परिणामोहि चिदचिद्द्वारको जगत् ।' (श्रौत प्रमेय चन्द्रिका ६।४४) 'स्वरूपे च स्व-
भावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वकृतो बुधैः । ब्रह्मणस्तु विकारो
यन्न स्वरूपस्वभावयोः' (परिणामविमर्श ११-१२) इत्यादिदिव्य प्रबन्धानुसार सिद्धान्तस्थिरकरने

दचेतनप्रकृत्युत्पादकत्वेन विकारिण्या निर्विकारत्वप्रतिपादकश्रुतेर्व्या-
कोपः । स्वस्यैव ब्रह्मणो जीवन्वैज्ञत्वसंसास्त्रादिदोषाणाम्पुनस्तु-
च्छाश्च । अपि च प्रकृतिरपि किं निमित्तीकृत्य कर्म प्रयोजनाय
जीवसाधनभूतानि शरीरेन्द्रियादीनि स्रजेत् । न तावत्कर्मणो
निमित्तत्वम् । कियत् इति हि कर्म तस्य च स्यतोऽनादित्वाऽसिद्धेः ।
शरीरेन्द्रियमस्यन्धात्पूर्वन्तु तेषामभाव एव । 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः
प्रकृतिरुच्यते' (गी० १३।२०) इति भगवद्वचनवत्याच्च प्रकृतेरेव
शरीरेन्द्रियम्वनकर्तृत्वमकामेनाऽपि भवताऽभ्युपेयम् । तच्च त्वन्मते

अपि चाप्यामस्यासंभवोपात्त्यादि यथा वृक्षमज्जातीयोवृक्षान्नरादभेदः, विजातीयः
शिलादितो भेदः । पत्रपुष्पादिभिः स्वगतोभेद इत्येवं ब्रह्मणि प्राप्तस्य भेदस्य निगमः
एकमेवाद्वितीयम् इत्यादिना कियते । ततश्च सर्वपूर्वममये जीवानां तदीयशुभाशुभ
कर्मणां चासत्त्वान् । कं निमित्तमासाद्य परमेश्वरो जीवशरीरकरणादिनामुत्पत्तिं कर्ति-
ष्यति । तथैव तेषामुत्पादानमपि किञ्चित्नास्ति यद्वेनेतेषामुत्पत्तिर्भवेत् । घटाद्युत्पादे
पर ही होगा । और यदि स्वयमेव ब्रह्म जीव भाव को प्राप्त करता है तब तो ब्रह्म में अज्ञान
संसारित्वादिक दोष का उद्धार नहीं होगा । और भी यदि प्रकृति स्वयं करण कर्तव्य को
उत्पादन करनी है तो वह प्रकृति किसको निमित्त कारण बनाती है । तथा किस प्रयोजन में
जीव के भोग में साधनभूत शरीरेन्द्रिय की रचना को करती है । नती कही कि शुभाशुभ
कर्म को निमित्त बनाकरके रचना करती है यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जो किया
जाय, उसे कर्म कहते हैं, एतादृश कर्म स्वतः उस कर्म में अनादित्व असिद्ध है । जो उत्पन्न
होता है वह अनादि नहीं होता है । आदि शब्द का अर्थ होता है कारण, और आदि अर्थात्
कारण जिसका नहीं हो उसको अनादि कहते हैं । परन्तु यदा तो जब कर्मजन्य है तब तो
अवश्यमेव कारणजनित होने से अनादित्व तो उस कर्म में असिद्ध है । शरीर इन्द्रियों के सम्बन्ध
से पूर्वकाल में कर्म नहीं था 'कार्यशरीर कारण इन्द्रिय इनके उत्पादन करने में हेतु प्रकृति है ।'
इस भगवान् के वचन के बल से शरीरेन्द्रियोत्पादकत्व प्रकृति को ही इच्छा न होने पर भी आप
अवश्य स्वीकार कीजिएगा ।

प्रश्न : ब्रह्म स्वयमेव कर्म को उत्पन्न करके अथवा जीवकारित्व कर्मको निमित्त बना
करके, जीव के फलोंपभोमार्य प्रकृति से शरीरेन्द्रिय को बनवाते हैं !

नैव सम्भवति । ननु ब्रह्मणा स्वयं कर्माण्युत्पाद्य जीवैः कारितानि कर्माणि वा निमित्तोक्त्य तत्कलभोगार्थं प्रकृत्या तच्छरीरेन्द्रियाणि कारितानीति चेन्न । शरीरेन्द्रियसम्बन्धात्पूर्वं शरीरेन्द्रियरहितानां जीवानां कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या ब्रह्मणा तैः कारयितृत्वाऽसम्भवात्, कथञ्चित्सम्भवेऽपि विषमसृष्टिहेतुभूतविषमकर्मकारयितृत्वेन तस्मिन् वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेः । एवञ्च जीवानां शरीरेन्द्रियसम्बन्धप्रन्तरेण कर्म कर्तृत्वानुपपत्त्या कर्मणामसिद्धिः । तदतिरेकेण शरीरेन्द्रियस्वना-
यारतैश्च सह जीवसम्बन्धस्य वा चासंभवादितीतरेतराश्रयदोषस्य

सृष्टिकावदिति । न च सर्गस्यानादित्वेन पूर्वसर्गकृतकर्मणामव्याकृतमायायाश्च तदानीमपिसत्त्वात्त एव सर्वं स्यादिति वाच्यम् । अनवस्था प्रसङ्गात् । पूर्वकाले तेषां सत्त्वे द्वैतापत्तेश्च । यदि कदाचित् 'तदैक्षतेति श्रुत्या परमेष्ठवरेच्छा बलेन शरीरेन्द्रिया-
दीनामुत्पत्तिं स्वीकुर्यात्तदा स्वमिद्धान्तविपरीतमेव भवति । इच्छादिगुणवत्त्वेन ब्रह्मणः

उत्तर : कारणकलेवर के सम्बन्ध से पूर्व में शरीरेन्द्रिय रहित जीवों में, कर्म कर्तृत्व अनुपपन्न है । तब ब्रह्म में जीव द्वारा कारयितृत्व सर्वथा अनुपपन्न है । यदि कथञ्चित् ब्रह्म में कारयितृत्व को मानलें तब विषम सर्ग का कारण भूत विषम कर्म का उत्पादयिता होने से वैषम्य नैर्घृण्य दोष होगा ।

नहीं कहोकि परमेश्वर तो जिस तरह बीज से अंकुरोत्पत्ति में साधारण कारण होता है जल वर्षण द्वारा किन्तु तत्तत् अंकुरोत्पत्ति में तत्तत् बीज असाधारण कारण होता है । इसी तरह प्राणी का जो शुभाशुभ कर्म है, वह असाधारण कारण है और परमेश्वर तो मात्र साधारण कारण है अर्थात् प्राणियों के शुभाशुभ कर्मापेक्ष हो करके विषम सृष्टि का निर्माण परमेश्वर करते हैं । इसलिए परमेश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं होता है । यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि सर्ग के पूर्वकाल में जब जीव नहीं था तब जीव से कर्म का निर्माण होता है । उस कर्म के निष्पादन करने में शरीर इन्द्रिय देशकालादिक की अपेक्षा होती है तो सर्ग के पूर्वकाल में इन सब वस्तुका अभाव होने से कर्म का सद्भाव सर्ग पूर्वकाल में असंभवित है । अतः कर्मापेक्ष रूप से वैषम्य नैर्घृण्य का उद्धार नहीं होता है । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए प्रकरण का उपसंहार करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'एवं च जीवानामित्यादि' ऐसा होने से जीव को शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध के बिना कर्म कर्तृत्व की अनुपपत्ति होने से कर्म का सद्भाव अनुपपन्न है और शुभाशुभ

दुरुद्धस्तादयमद्वैतवादो ब्रह्मव्यतिरिक्तम्याऽग्नित्वम्य मिथ्यात्वबोधक-
तया प्रकृतेर्जीवानाञ्च तदभुक्तिमुक्त्युपायबोधकश्रुतिस्मृत्यादीनां
सर्वेषां शास्त्राणां मिथ्यात्वापादानमन्तरेण स्वरूपमत्तामलभमानः
श्रुतिसत्तर्कादिविरोधितया स्वयमेव मिथ्यात्वज्ञत इति सर्वतश्चानुगम्यम्।

तस्माज्जगत्सृष्ट्यादिस्वनानुगुणं जीवानां तत्कर्मणां प्रकृतश्चा-
नादित्वमनन्तञ्चावश्यमङ्गीकार्यम्। तथा चात्र श्रुतिस्मृतयः 'अजा
सगुणवत्प्रसङ्गात्। नतु तदिष्टं निर्विशेषब्रह्मवादिनामिति। प्रकृत्यैव सर्वं भवति
नतु ब्रह्म किञ्चित्करोतीतिस्वीकारे मातृत्वमतारत्तिः प्रकृतेः प्रवर्तकाभावाच्चेति भावः।

संप्रति प्रकरणार्थमुपसंहरन् स्वमिद्वान्तं प्रदर्शयितुमुपक्रमते तस्मात्प्रमाण इत्यादि
यस्मात् कारणात् केवलाद्वैतवादे जगद्रचनाकूलप्रक्रिया असंभवः तस्मात् संगतारच-
नाया अनुकूलं जीवसंघानां जैश्वर्यशुभाशुभकर्मनिवहानां तथा सर्वसाधनानुकूलप्रकृते-
कर्म के बिना शरीरेन्द्रिय की रचना तथा इन सब वस्तुओं के साथ जीव का सम्बन्ध होना
असंभवित होने से अन्योन्याश्रय दोष का उद्धार नहीं होता है। अर्थात् शरीरादिक सम्बन्ध
होने से कर्म की सिद्धि होगी, तथा कर्म का सद्भाव होने से शरीरेन्द्रियादिक सद्भाव सिद्ध होगा।
इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होता है। नहीं कहो कि बीज अंकुर के समान यह अन्योन्याश्रय
अनादित्वात् दोषजनक नहीं है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से
अन्धपरंपरा की आपत्ति होती है। अन्त तो अनवस्था में पर्यवसान हो जायगा।

तो इस प्रकार से यह केवलाद्वैतवाद, ब्रह्म व्यतिरिक्त समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व बोधक
होने से तथा जीवों का भोग मोक्ष के उपायताबोधक सब श्रुतिस्मृति आदि शास्त्रों में मिथ्यात्व-
बोधन के बिना स्वर्गीय मत्ता को नहीं प्राप्त करता हुआ अद्वैतवाद, प्रतिगुणनर्कादि का विरोधी
होने से, स्वयमेव मिथ्यात्व को प्राप्त कर जाता है। अर्थात् सबका मिथ्यात्व प्रतिपादक यह
अद्वैतवाद श्रत्यादि विरोधी होने से स्वयमेव मिथ्यासिद्ध होता है यह सर्वतो मातृ से निर्विवाद
सिद्ध है।

जिसलिए अन्यमत में जगत् रचना का प्रकार संगत नहीं होता है इसलिये जगत् रचना
का अनुकूल जीव तदीय शुभाशुभ कर्म और प्रकृति को अनाद्यनन्तत्व अवश्यमेव स्वीकार करना
चाहिए। इन सब पदार्थों को अनादित्व अनन्तत्व प्रतिपादन करने से ये सब श्रुतिस्मृत्यादिक
भी प्रमाण होते हैं। 'अजामेकामित्यादि (न जायते न समुत्पद्यते इति 'अजामेका' रजोगुण

मेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे० ४।५) 'गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभावनी' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (कठ २।५।१३) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गी० २।२०) 'नित्यः सर्वगतस्थाणुस्त्रलोऽयं सनातनः' (गी० २।२४) 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्' (गी० २।२१) 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वद्यनादी उभावपि' (गी० १३।१९) इत्याद्याः । जीवप्रकृ-

दधानादित्वमनन्तत्वं चावश्यमेवमन्तव्यम् । यद्यपि कर्मणामनन्तत्वे तत्क्षयाभावात् संसारान्मुक्तो न भविष्यति कोपीत्यतस्तस्य कर्मणोऽनन्तत्वं नमन्तव्यं तथापि, कर्माभावात् मोक्षो भवतीति नियमः किन्तु भक्तिप्रपत्तिभ्यां संसाराधितपुरुषस्य तदीयानुकम्पयैव मोक्षो भवति । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुतेः । तथा 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यद्वास्मितत्त्वतः', इत्यादि स्मृतेः 'रामो ब्रह्म परात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निःश्रेयसम्' इत्यादिरूपेण जगद्गुरु श्रीसमानन्दाचार्योक्तेश्च । एतस्मिन्नर्थे श्रुतिस्मृतयो भवन्ति । तथाहि 'अजामेकामित्यादि, न जायते नोत्पद्यते, या सा अजा आदि भावविकाररहिता या सा प्रकृतिः, एतावता प्रकृतेरनादित्वं सूचितं भवति । एवं न जायते

सत्त्वगुण और तमोगुण स्वरूपा समान रूप अनेक प्रजावर्ग का उत्पादन करनेवाली, अज एक कोई बद्धजीव उसका अनुसरण करता है । तथा एक कोई व्यक्ताव्यक्तज्ञ के विवेकज्ञानवान् अज भुक्तभोग अजा का परित्याग करता है ।) [अनादि अनन्त भूतमात्र के उत्पादन तथा पालन करनेवाली प्रकृति] जो नित्यो में भी नित्य है । चेतनों में चेतन है । एक हो करके अनेकों के अभिलषित पदार्थ को संपादन करनेवाले हैं । [यह नित्य है, नित्य पुराण तथा शाश्वत है । शरीर का विनाश होने पर भी विनष्ट नहीं होता है ।] नित्य है सर्वगत सनातन सर्वदा अचल है । अविनाशी नित्य इस आत्मा को जो जानता है । '(प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों को जो जानता है ।)' इत्यादि श्रुतिस्मृति प्रमाण है । इत्यादिक प्रमाण से जीव तथा प्रकृति इन दोनों में नित्यत्व तथा अनादित्व सिद्ध होता है । जीव के कर्म में सूत्रकार ने स्वयमेव अनादित्व का 'न कर्माविर्भागाद्' इस सूत्र में प्रतिपादन किया है । इस प्रकरण का सारांश

त्योरुभयोरपि नित्यत्वमनादित्वञ्चाहुः, जीवकर्मणामपि 'न कर्मावि-
भागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३५)
इति सूत्रेणानादित्वमभिदधते सूत्रकृतः । एतदुक्तम्भवति—तत्तज्जी-
वानुगुणकर्माण्यपेक्ष्य सत्यसंकल्पो भगवान् भोग्यभोगस्थानभोगो-
पकरणशरीरेन्द्रियसङ्घातान् सृजति । एवञ्चायमध्यामो जीवकर्तृक एव
तथाहि जीवशब्दवाच्यः प्रत्यगात्माऽनादितोऽविद्यानिरोहितस्वस्व-
रूपप्राकृतशरीरेन्द्रियादिकमनादितः स्वात्मन्यध्यस्य तत्कृतानि कर्मा-
णि स्वात्मकृतान्येवेति मन्वानस्तैर्निबद्धो ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं ममेते
स्त्रोपुत्रादय इत्येवं व्यवहरति । तथा चानात्मवस्तुषु देहादिपञ्चात्मबु-
इति, अजो जीवः । एतावता जीवस्यानादित्वं सूचितं भवति । यद्येतावता जीवप्रकृ-
त्योरनादित्वं सूचितं कर्मणोऽनादिसूचकं वचनं नास्ति । तथापि त उभयमध्यपाति
कर्मणांसादित्वेभगवद्रचनाया अन्यथानुपपत्त्यातस्यापि तथात्वमर्थतः सिद्धं भवतीति-
भावः । 'नित्यो नित्यानामित्यारभ्यप्रकृतिं पुरुषं चैवेत्यादिममुदाहृतवचनबलेन प्रकृति-
पुरुषयोरनादित्वं नित्यत्वं च साधितमिति ।

सर्गादिकाले कर्मणोऽभावे कर्मसापेक्षहीनमध्यमोत्तमसर्ग एव नोपपद्येत । परमे-
श्वरस्योत्पादकत्वस्वीकारे विषमसर्गकरणोत्तस्मिन् परमेश्वरं वैषम्यनेर्घृण्यं प्रमज्जेत ।
तस्मात्, विषमसर्गप्रयोजकजीवकर्मणामनादित्वं स्वीकर्तव्यमेव । प्रकृतिपुरुषयोर-
यह होता है कि सत्य संकल्प सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित भगवान् तत् तत् जीव के अनुकूल
शुभाशुभ कर्म के साहाय्य से जीव का भोग्य भोगस्थान तथा भोग के उपकरणीभूत करण
कलेवर समुदाय को बनाते हैं । ऐसा हुआ तो यह अनात्मा में आत्मबुद्धिरूप अग्यास जीव
कर्तृक है परन्तु ब्रह्म कर्तृक नहीं है । तथाहि जीव शब्द का वाच्य यह प्रायामात्मा, जो
कि अनादिकालिक अविद्या से आच्छादित स्वकीय स्वरूपवाला, प्रकृति जनित करण कलेवर
समुदाय को अनादि काल से अपनी आत्मा में उन सबको अप्सृत करके शरीरेन्द्रियादि से
संपादित कार्य को मैं स्वयं किया हूँ, ऐसा मानना हुआ, उन शरीरादिक से निबद्ध होकर के
मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पुत्र कछ्वादिक है इस प्रकार से व्यवहार करता है । तो
अनात्मा देह इन्द्रियादिक में जो आत्मबुद्धिरूप व्यवहार है उसी का अग्यास पद से लोक
शास्त्र में प्रसिद्ध है । एतादृश अनात्मा में आत्मबुद्धिरूप अग्यासवान् जीवों को संसार होता

द्विरूपो व्यवहार एवाध्यासपदेन लोकशास्त्रयोः प्रसिद्धः । एता-
दृशाध्यासशालिनामेव जीवानां संसृतिभाक्त्वं श्रुतिस्मृत्यादौ मुहु-
र्मुहुर्निर्दिष्टम् । स्वस्वरूपाज्ञानवतामेव विपरीताध्यासेन प्राकृतगुणैः
क्रियमाणानि शुभाशुभानि कर्माणि स्वानुष्ठितानीति मन्वानानां
तैर्भूयो भूयो बन्धप्राप्तिः । यस्त्वात्मनिष्ठो गुणकर्मविभागं विवेके-
नावगच्छति स पुनस्तैर्न बध्यत इति स्पष्टीकृतोऽयमर्थो भगवद्गी-
तायां 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमू-
ढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' गी० २।२७) ततस्तैरेव कर्मभिर्निबध्यत
इति शेषः । 'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु
नादित्वं श्रुतिभ्यां प्रसाध्य तदीयकर्मणामनादित्वं साधयितुमाह जीवकर्मणामपीत्यादि
'नकर्माविभागादिति चेन्न' इत्यादिमुत्रेण कर्मणां शुभाशुभानामनादित्वमुपपत्तिवलेन
सूत्रकारः स्वयमेव साधयिष्यतीति । तत एव तस्यानादित्वं ज्ञातव्यम् । तत्रत्य प्रक-
रणस्य व्याख्यानमत्रानावश्यकं सति समयेभाष्यकारः स्वयमेव समर्थयिष्यतीति ।

ननु नस्वातन्त्र्येण प्रकृत्यासर्गः प्रकृतेरचेतनत्वात् । नवा कर्मणा तत एव न
चा जीवेन केवलेन, अमहायस्य तस्य कर्तृत्वायोगात् । तदा कथं जगतो रचनाकार्य-
मित्याशंभय सर्वमुपपादयितुं स्वसिद्धान्तानुसारेणाह एतदुक्तं भवनीत्यादि । यदा जीवोऽज्ञः
प्रकृतिकर्मणि अचेतनत्वात् यदा सर्वाणि जगद्रचनायां नस्वतः समर्थानि तदाकस्यवलेन
है । इस तरह श्रुतिस्मृति में बारं बार कहा है । स्वकीय स्वरूप का अज्ञानवान् पुरुष को ही
विपरीताध्यास अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान के कारण से प्रकृति जनिन गुणों से संपाद्यमान शुभा-
शुभ कर्म को स्व से अनुष्ठित समझने वाले को बारंवार बन्ध प्राप्त होता है । और जोकि
आत्मज्ञानी है गुण कर्म विभाग को विवेकपूर्वक जानने हैं । वे लोग शुभाशुभ कर्म द्वारा बद्ध
नहीं होने हैं । इस विषय को गीता में स्पष्टरूप से कहा है । 'प्रकृति के गुण द्वारा क्रिय-
माण सभी कर्म को अहङ्कार से विमूढात्मा अर्थात् विपरीताध्यास से विमूढ पुरुष में इन कर्मों
का कर्ता हूं, ऐसा मानना है तब उन्हीं कर्मों से बद्ध होता है । 'हे अर्जुन ! जो तत्त्वज्ञानी
है, गुणकर्म के विभाग में वे तो गुण गुणों में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते हैं यह जान करके
वे उसमें आसक्त नहीं होते हैं ।' जिस व्यक्ति को अहङ्कार नहीं होता है और जिसकी बुद्धि
प्रकृति गुणों में लित नहीं है वह व्यक्ति चाहे इन समस्त लोक को मार भी देवे, तथापि

वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते' (गी० २।२८) 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' तेन कर्मणा न निबध्यत इति भावः । तदुक्तं वृत्तिकृता 'गुणकर्मविविक्तदृक् परमपुरुषोपास्ति परिशृतीतचेतास्तु न कर्मबन्धमुपेति परं प्रसादमेवासादयति' (बो०वृ०) अस्य च निरुक्तस्याध्यासमूलकस्वरूपाज्ञानस्य नाशः स्वरूपज्ञानावाप्तिश्च भगवदनन्यभक्तिहेतुकभगवत्प्रसादेनैव सिद्ध्यतीत्युक्तम् । तत्रैव 'तेषां मततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी० १०।१०) 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

केन प्रकारेण जगद्रचनमुपपन्नंस्यादिति संशये स्वमिद्वान्तानुसारेण सर्वं प्रतिपाद्यमानं भवतीत्यर्थः । स्वयमेव सर्वं तदुपपादयति तत्तज्जीवानुगुणेत्यादि । तत्तज्जीवानां यानियानि अनादिसञ्चितानि शुभाशुभकर्माणि, प्रवाहपरंपरया विद्यमानानि सन्ति, व्यवस्थितानि तानि कर्माण्यपेक्ष्य सत्यसंकल्पः सर्वज्ञो भगवान् भोग्यं भोगसमुपयुक्तानि कर्मण्यकलं वरादिकान् सर्वानेव पदार्थान् संसृजति, ततश्च परमेश्वराय तज्जुक्तो जीवः समुत्पद्य सर्वमुपभोगं करोतीति । अध्यासस्पर्कतज्जीवो भवति परमेश्वरो वा भवतीति संशयतदुभयपक्षेऽपि दोषं प्रदर्श्य खण्डनं कृतवान् तादृशाध्यासस्य का गतिरिति शङ्कायामाह एवं चायमध्यास इत्यादि यदिदमज्ञानं बद्धलेन जीवः संसारमभिगच्छति स चाध्यासो न परमेश्वरकर्तृकोऽपि तु जीवकर्तृक एव । तमध्यासं तत्कार्यं दर्शयति तथाहि इत्यादि । अयं प्रत्यगात्मा जीवपदबोध्यानाद्यविद्यया समाच्छादितस्वस्वरूपः, अनादिकालादेव तादृश कर्म से बद्ध नहीं होता है । अर्थात् उन अशुभ कर्मों से बद्ध नहीं होते हैं । इस बात को बोधायन वृत्तिकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने भी कहा है 'गुण कर्म के विवेक पार्येक्य को जाननेवाला, तथा जिनका चित्त परमात्मोन्मुख है वे व्यक्ति कर्म बन्धन को प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु भगवान् की प्रसन्नता को ही प्राप्त करते हैं । यह पूर्व कथित अध्यास-मूलक जो स्वस्वरूप विषयक अज्ञान है तादृशाध्यासमूलक अज्ञान का विनाश तथा स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति, भगवान् की जो अनन्य भक्ति तन्मूलक भगवत् प्रसाद से ही प्राप्त होता है । गीता के उसी प्रकरण में और भी कहा है कि—'जो व्यक्ति सर्वथा भगवान् की सेवा में रहते हैं और प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं उन व्यक्तियों को उस बुद्धियोग को

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' (गी० १०।११) भग-
वदनन्यभक्त्यैव सगुणातीतः सन् ब्रह्मभावाय कल्पत इत्यप्युक्तम् ।
'माञ्च योऽन्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गी० १४।२६) अत्र ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूय
तस्मा इति भावः । अस्याश्चानन्यभक्तेः परमात्मसाक्षात्कार एव
फलं तदेव प्राप्नोति । तथा च 'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परि-
ग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गी १८।५३)
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । सप्तः सर्वेषु भूतेषु
प्रकृतिजनितशरीरादिकं स्वस्मिन्नध्यस्य शरीरकृतं सर्वस्वात्मनैव संपादितवानिति-
मत्वा समैते पुत्रादय इत्येवं रूपेण व्यवहारं करोति । एवं च अनात्मनिशरीरादौ,
आत्मबुद्धिलक्षणो व्यवहार एवाध्यास पदेन प्रसिद्धः सर्वत्र रजतत्वाभाववति रजतत्व-
प्रकारकबुद्धिवत् । अयमेवाध्यासोऽध्यासोनतु परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः परप्रसिद्ध
इति । एतादृशाऽध्यासवतामेव जीवानां संसारो भवतीति शास्त्रे प्रतिपादितम् । तस्यैव
च बन्धविनिमुक्तिर्न भवति । आत्मज्ञानवतो ये गुणकर्मविभागंतत्त्वतोऽवगच्छन्ति न
तेषां संसारो भवति परन्तु परमात्मकृपयामोक्षपदमेवाधिगच्छन्तीति सर्वं स्पष्टीकृतं
गीतादाविति प्रकृतेः क्रियमाणानि इत्यारभ्य न इन्ति न निवद्ध्यते इत्यन्तग्रन्थेन । वृत्ति-
कारोऽप्यमुमेवार्थं पुष्पाति गुणकर्मविविक्तदृशित्यादि । पूर्वोक्तज्ञानस्य विनाशः स्वरूप-
देता हूं जिस बुद्धि योग के द्वारा वे लोग मुझको प्राप्त कर जाते हैं । उनके उपर अनुकम्पा
के लिए, उनके हृदयस्थित अज्ञान जनित तम का प्रकाश लक्षण ज्ञानरूप प्रदीप से नष्ट
करता हूं । भगवान् के अनन्य भक्ति से उपासक गुणातीत होकर के ब्रह्म भाव को प्राप्त
करता है । इस बात को भी भगवान् ने कहा है । जो 'अन्यभिचरित भक्तियोग के द्वारा
मेरी सेवा में तत्पर रहता है वह इन गुणों को अतिक्रमण करके ब्रह्मभूयता को प्राप्त करता
है । यहाँ ब्रह्म का जो भाव उसको ब्रह्मभूय कहते हैं—उस ब्रह्मभूयता के लिए वह कलित
अर्थात् योग्य होता है । इस अनन्य भक्ति का परमात्मा श्रीराम का साक्षात्कार ही फल है ।
तादृश फल को वह परमात्मोपासक अनन्य भक्ति से प्राप्त करता है । तथा च अहङ्कार बल-
दर्प कामक्रोध और परिग्रह को छोड़ करके ममता से रहित शान्त व्यक्ति ब्रह्मभाव के लिए
योग्य होता है ।' 'जो ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा व्यक्ति है वह न किसी प्रकार का शोक करता

मद्भक्तं लभते पराम्' (गी० १८।५४) 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गी० १८।५५) इत्यादिभिः प्रतिपादितम् । सा चैषाऽनन्य-भक्तिर्भगवदेकचिन्तनतत्सततस्मरणतदेकानाम्तदेकनिदिध्यामनादि शब्दवाच्येति च तदीयैरेव वचोभिस्वगम्यते ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गी० ९।२२।

ज्ञानप्राप्तिश्च भगवद्भक्तिप्रप्रतिमूलकभगवतः कृपयैव भवति । गांतादीभगवता स्वयमेव प्रतिपादनात् तेषां स्तनयुक्तानामित्यादि । भगवतोभक्त्यैव सर्वमिदं भवति । सा च भक्तिर्निदिध्यामनादिरूपैवेति परमेष्ठवरवचनेनैव सिद्ध्यतीति प्रकरणस्य पिण्डितोर्थः ।

इयं चानन्यभक्तिर्निदिध्यामनादिशब्दवाच्येति तदीयैरेववचोभिस्वगम्यते इति पूर्वकथितमिति तत्र भागवतमेव वचनमुदाहरमि अनन्याश्चिन्तयन्त इत्यादि । योगक्षेममिति अप्राप्तस्य प्राप्त्ययोगः तथा प्राप्तस्याभिलषितस्य परिरक्षणं क्षेमः । एतदुभय-
है न वा किसी वस्तु की अभिलाषा करता है । तथा प्रत्येक प्राणियों में समान बुद्धि को रखनेवाला उपासक मेरी भक्ति को प्राप्त करता है । 'मे जितना बड़ा हूं, जैसा हूं, इस बात को भक्ति द्वारा जानता है । तब मुझको तत्त्वतः जान करके ज्ञानोत्तर काल में मुझमें प्रविष्ट हो जाता है' । इत्यादि वचनों से भगवान् ने प्रतिपादन किया है । यह अनन्या-भक्ति भगवान् का चिन्तन भगवत्स्मरण निदिध्यामनादि शब्द द्वारा कही जाती है, यह भी भगवान् के वचन से ही ज्ञात होता है ।

अनन्याभक्ति निदिध्यामनादि रूप ही है ऐसा भगवान् के वचन से ज्ञात होता है । ऐसा पूर्व प्रकरण में कहा है । उसी भगवद् वचन का प्रदर्शन करने हैं 'अनन्या' इत्यादि । जो उपासक अनन्य चिन्तनपूर्वक मेरी उपासना करते हैं, उन उपासकों के योगक्षेम का वहन मैं करता हूं, उसमें अभिलषित अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति को कहते हैं योग और प्राप्त अभिलषित पदार्थ के संरक्षण को कहते हैं क्षेम । 'अत ऊर्ध्वं न संशय इति, प्रारब्धकर्म भोग के अनन्तर में । इसमें कर्म तीन प्रकार का होता है संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध । आगामी क्लेश-भोगजनक कर्म का नाम होता है संचित । और भविष्य में होनेवाले कर्म का नाम होता है

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ गी० १२।८।

अत ऊर्ध्वं प्रारब्धकर्मभोगानन्तरमित्यर्थः ।

मम्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ गी० १८।६२।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ ? नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ गी० ८।१४।

मपि भगवदुपासकस्य भगवानेवनिर्वाहयतीतिभावः । अत ऊर्ध्वं न संशय इति । अत-
ऊर्ध्वं भोगेन प्रारब्धकर्मणां विनाशानन्तरम् । तस्मिन्नेवजन्मनि नतु जन्मान्तर
परिपालनम् । मुक्तोभवतीतिभावः । नचिगदिति । प्रारब्धकर्मभोगाय यत् शरीर-
मुपात्तं तादृशशरीरस्य परिसमाप्तिसमयात्पूर्वमेवेत्यर्थः । भगवत् एकान्तभक्तस्य
प्रारब्धकर्मभोगादनुसाकेताधिपतेः प्राप्तिर्भवत्येवेति भगवद्वचनस्याभिप्रायः । भक्ति-
श्चेहेति न केवलं सेवार्थकभजधातो निष्पन्नोऽत्रभक्तिशब्दः किन्तु निदिध्यासन
लक्षणा ध्रुवानुस्मृतिरेवानन्याभक्तिरिति । सैव च पराविद्येति शब्देनापि कथ्यते ।

क्रियमाण तथा वर्तमान शरीरावच्छेदेन फलोपभोगजनक कर्म को कहते हैं प्रारब्धकर्म के फलोप-
भोगानन्तर ही भगवत् उपासक को मोक्ष होता है । अर्थात् भगवद्राम की प्राप्ति हो जानी
है । 'मेरे में मन को लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरे नमस् क्रिया में तत्पर रहो । ऐसा करने
पर अन्त में इस शरीर के अवसान में मुझको ही प्राप्त कर जाओगे, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है,
ऐसा सगङ्गो' । 'हे पार्थ ! अनन्य चित्त होकर के जो उपासक नियमतः मेरा स्मरण करता
है । वह नित्य मुक्तयोगी मुझको सुलभतापूर्वक प्राप्त कर जाता है ।' जो सर्व कर्म को
मेरे में सन्यस्त करके मत्पर होकर के अनन्ययोग द्वारा ध्यान करता हुआ उपासन करता
है । एतादृश उपासक को मृत्यु संसार सागर से अचिरेणैव उद्धार कर देता हूँ । यहाँ 'न
चिरात्' का इस प्रारब्ध शरीर के अन्त में—यह अर्थ है । अन्यत्र 'अत ऊर्ध्वम् तथा तेषामहम्'
इन दोनों से यह अर्थ निकलता है कि भगवान् का जो अनन्य भक्त है उसको वर्तमान
शरीर के अवसान में ही भगवद्राम की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

'भक्तिश्चेहेत्यादि' निदिध्यासन है अपर पर्याय जिसकी एतादृश ध्रुवानुस्मृति रूप ही
भक्ति है ऐसा निर्णय हो चुका है । श्रुति भी इसी प्रकार से कहती है । 'विशुद्ध आहारं

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि मन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ गी० १२।६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारमागतात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ गी० १२।७

न चिरादिति अस्यैव प्रारब्धदेहस्यान्त इत्यर्थः । अत्रत्याभ्यां 'अत ऊर्ध्वं निवसिष्यसि मय्येवे' ति 'तेषामहं समुद्धर्ता न चिरा-
द्भवामी' त्याभ्यां भगवदनन्यभक्तस्य वर्तमानदेहस्यैवान्ते भगव-
त्प्राप्तिर्भवतीत्यवसीयते ।

एतादृशविलक्षणभक्तिरेवाक्षरब्रह्मप्राप्ति कारणत्वमिति भावः । एतदेव भगवता श्री
कृष्णेनापि भक्त्यात्मन्येवेत्यादि प्रकरणेन प्रतिपादितं तत्सर्वभाष्यप्रतिपादित प्रका-
रेणावगन्तव्यमिति दिक् ।

न च वाच्यं निर्गुणं निष्क्रियमित्यादि । न च निर्गुणं निष्क्रियमित्यादिप्रमा-
णेन निर्गुणत्वप्रतिपादनात् कथं ब्रह्मणः सगुणत्वमिति वाच्यं, भावानवबोधान् । नहि
निर्गुणत्वप्रतिपादकं वचनं गुणात्यन्ताभावं प्रतिपादयति ब्रह्मणि किन्तु प्राकृतगुणा-
ग्रहण करने से अन्तःकरण पवित्र होता है । [दीपो भक्षयते ध्यान्ते काजले च प्रसूयते । यदन्नं
भक्षयते नित्यं तादृशी जायते प्रजाः] इसका यह अर्थ है 'प्रदीप अन्धकार को खाता है अर्थात्
अन्धकार का विनाश करता है तो भोजन के अनुकूल ताम्रजालीय काजल लक्षण मलिन
कार्य को उत्पन्न करता है । जिस प्रकार के अन्न का भक्षण किया जाता है । तादृश
ही प्रजा अर्थात् तादृशी बुद्धि होती है । अर्थात् भोजन के अनुकूल ही बुद्धि उत्पन्न होती
है । अर्थात् जिस प्रकार का भोजन होगा उसी तरह अन्तःकरण का परिणाम होता है ।
यदि सात्त्विक भोजन होगा तो सात्त्विक परिणाम अन्तःकरण का होगा और तामसाहार से
तामस ही अन्तःकरण का परिणाम होगा । अन्तःकरण के पवित्र होने से ध्रुवानुस्मरण होता
है । और ध्रुवानुस्मरण होने से सर्वप्रस्थियों का विनाश हो जाता है । 'जिस व्यक्ति को
देवता में परमभक्ति है और जिस प्रकार से देवता में भक्ति है उसी प्रकार गुरु में भक्ति
है तो उस व्यक्ति से कथित जो अर्थ वह लोक में प्रकाशित होता है ।' इस छान्दोग्य
तथा श्वेताश्वतर में कथित जो ध्रुवानुस्मृति तथा पर भक्ति है उससे उसी अनन्य भक्ति
का कथन होता है । एवम् 'उसको पराविद्या कहते हैं जिसके द्वारा वह अक्षर ब्रह्मज्ञान

भक्तिश्चेह निदिध्यासनापर्यया ध्रुवाऽनुस्मृतिरूपैवेति निर्णयः । तथा च श्रुतयः 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवाऽनुस्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।३) 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (श्वे० ६।२३) यत्र ध्रुवाऽनुस्मृतिपरभक्तिपदाभ्यां सैवानन्यभक्तिरभिधीयते । 'अथ पराययातदक्षरप्रधिगम्यते' (मु० १।१।५) इत्यादावपि परविद्ययाऽक्षरप्राप्तिरिति दर्शितम् । अखिलोपनिषत्सारभूते श्रीगीताशास्त्रे वेदवेद्यो भगवात् परमपुरुषोऽपि-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन ? ।

ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ गी० ११।५४॥

भावबोधने एव तद्वचनानां तात्पर्यात् । प्राकृतगुणाभाववत्त्वेन निर्गुणत्वं लोकोत्तरगुणवत्तयासगुणत्वं ब्रह्मण इति न कोपिदोषः 'दिव्यदेहगुणास्त्राय साञ्जनेयाय शेषिणे । सात्तुजाय ससीताय रामाय ब्रह्मणे नमः ।' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।१०९) होता है ।' इस स्थल में भी पर विद्या से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है ऐसा बतलाया गया है । समस्त उपनिषद् का सारभूत गीताशास्त्र में वेद वेद्य परम पुरुष भगवान् ने भी अनन्य भक्ति से परम पद की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है ।

'हे अर्जुन ! तुमने मेरे जिस स्वरूप का साक्षात्कार किया है एतादृश स्वरूप का ज्ञान, तथा साक्षात्कारी दर्शन, मात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही तत्त्वतः हो सकता है । अर्थात् मेरा अनन्य भक्त ही अनन्य भक्ति के द्वारा मुझको जान सकता है तथा मुझको प्राप्त कर सकता है । अनन्य भक्ति से रहित व्यक्ति मुझको न जान सकता है न वा मेरे पद को प्राप्त कर सकता है ।' वस्तुतः मैं जैसा हूँ यादृश प्रकार का हूँ तादृश मुझको भक्ति मात्र से जानता है । तब मुझको तत्त्वतः जान करके तदनन्तर मुझ में प्रविष्ट होता है । अर्थात् वस्तुतः मदीय ज्ञानोत्तर काल में सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है ।' इत्यादि प्रकरण से भगवान् की अनन्य भक्ति को ही मोक्षोपायत्व के रूप में दृढ़ किया गया है ।

इस ग्रन्थका वास्तविक अभिप्राय इस तरह का है ध्रुवानुस्मृति पदवाच्य जो अपर भक्ति है उसीको अनन्येत्यादि विशेषणसे विशिष्ट करते हैं । सर्वशास्त्रा प्रत्यय न्यायसे विभिन्न शब्दों से

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गी० १८।५५।

इत्यादिभिर्भगवदनन्यभक्तेरेव मोक्षोपायत्वं दृश्यति । एवञ्चात्रेदं ग्रन्थहृदयम् । ध्रुवास्मृतिपदाभिलष्यापरभक्तिरेवाऽनन्येत्यादि विशेषणेन विशिष्यते । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विभिन्नशब्दैर्भगवत्प्राप्तिरूपपरमपुरुषार्थोपायतया सैव सर्वत्राभिधीयते । एतेन मुमुक्षुभिरूपायान्तराणि दूस्तः सन्त्यज्य केवलमनन्यभक्तिरेव प्राप्तेति सिद्धम् । तथैव च श्रीगीताचार्याणां सिद्धान्तः । स च

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहन्त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । गी० १८।६६

इत्याचार्योक्तेः । अत्रार्थे पुराणादिवचनमेव प्रमाणम् । तदेवोदाहृतं भाष्यकृता सत्वादयोऽनसन्तीशे इत्यादि । भगवति लोकोत्तरगुणमन्त्रे 'परास्पृशक्तिरित्यादि प्रमाणम् । कतिपयश्रुतयः परमेश्वरस्य साकारत्वं प्रतिपादयन्ति । काश्चन निराकारतां तादृश-भगवान् की प्राप्ति रूप जो परम पुरुषार्थ, उसके उपाय रूपसे भी वही अनन्याभक्ति कही जाती है । इससे यह सिद्ध होता है कि मुमुक्षु लोग मोक्ष के उपाय, केवलज्ञान केवल कर्मादि रूप उपायान्तर को छोड़करके केवल अनन्यभक्ति का ही ग्रहण करें । यानी मोक्ष कारण रूप से अनन्याभक्ति का ही ग्रहण करें । ऐसा ही सिद्धान्त गीताचार्य का है । वह सिद्धान्त इस प्रकार से है । तथाहि—'हे अर्जुन ! सब धर्म को छोड़करके अर्थात् अनन्यभक्ति से अतिरिक्त मोक्ष के कारणरूप से प्रसिद्ध जो जो उपायान्तर है उनको छोड़करके मात्र मेरे शरण को प्राप्त करो । अर्थात् मदीय शरणागति को स्वीकार करो । मेरे शरणागति में आने पर मैं तुमको सर्व पाप से, अर्थात् मोक्ष प्रतिबन्धकीभूत सकल कर्म से तुमको मुक्त कर दूंगा तुक शोक मत करो । अर्थात् इस विषय में संशय मत करो ।' इस प्रकार गीता के अष्टादश अध्याय के अन्त में भगवान् ने स्वयमेव स्पष्ट कर दिया है । अर्थात् भगवान् की शरणागति अनन्याभक्ति ही मोक्ष का उपाय है । एतादृश भक्ति व्यतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है । जो मोक्ष प्राप्ति में उपाय हो तथा गीताचार्य से अनुमोदित हो, किन्तु अनन्याभक्ति ही केवल गीताचार्य संमत मोक्षका अव्यभिचरित् कारण है । ज्ञान की पराकाष्ठा को ही अनन्याभक्ति कहते हैं ।

इत्यत्र स्वोदीस्तिवाक्यान्तेऽष्टादशाध्याये तैरेव प्रकटीकृतः ।
ज्ञानस्यैव पराकाष्ठाभक्तिरिति तु प्रागेवाभिहितं जिज्ञासाधिकरणे
इति सर्वं निखद्यम् । न च वाच्यं 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निखद्यं
निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिभवेदवचनैर्व्रह्मणो निर्गुणत्वे
तस्य मानसव्यापाररूपज्ञानसाध्यत्वादन्यविधया भक्तेरूपायत्वास-
म्भवादिति । निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्त-
न्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम् । तथैव च

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।

स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥ वि० पु० ॥

स्थितो पूर्वोक्तरीत्यैवोभयोः श्रुत्योः सामञ्जस्यं कर्तव्यम् । अन्यथा परस्परविरुद्धार्थ
प्रतिपादकत्वेन श्रुतिप्रामाण्यमसम्भविताम् । वृत्तिकारोपि सगुणस्वैवोपास्यत्वं स्वीकृत
वानिति । न च साकारप्रतिपादकश्रुतिपुरस्कृत्य यदि ब्रह्मणः साकारवादमुपैति
इस बात को जिज्ञासाधिकरण में पहले कहा गया है । नहीं कहो कि 'निर्गुणं निष्क्रियम्'-
इत्यादिक वेद वचन से तो ब्रह्म में निर्गुणत्व का प्रतिपादन किया गया है । वह तो मानस
व्यापाररूप ज्ञान साध्य है । तब अव्यभिचरित रूप से भक्ति में मोक्षकारणता की सिद्धि
तो नहीं होती है यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि निर्गुण शब्द का गुणाप्यन्ताभावरूपगुण
का सामान्याभाव रूप अर्थ नहीं है । किन्तु प्राकृतिक जो सत्त्वादिक गुण हैं तादृश गुणका
निराकरण निर्गुण पद करता है । यहाँ भाष्यकार कहते हैं 'निर्गुण है निकृष्ट प्राकृतिक गुण
जिसमें उसको निर्गुण कहते हैं । नतु गुणाप्यन्ताभावज्ञान को निर्गुण कहते हैं । इसी
प्रकार से, 'सत्त्वादयोनसन्तीत्यादि । जिस परमेश्वर में प्राकृतिक सत्त्वादिक गुणजात नहीं है
एतादृश सर्व शुद्धों में भी शुद्ध आदि पुरुष हैं वे प्रसन्न हों' तथा 'शास्त्र में जो निर्गुण पुरुष
कहा गया है । प्राकृतिक हेयसत्त्वादिक गुणहीन है । एतादृश हेयसत्त्वादिक गुण हीनत्व का
ही नाम निर्गुण कहा जाता है' । इत्यादि रूप से प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार प्राकृतिक
सत्त्वादि गुण का निषेध होने पर, अर्थात् श्रीरामात्मक ब्रह्म में दिव्यानेक कल्याण गुणाश्रयत्व
की सिद्धि होती है । परास्येत्यादि इस परमेश्वर में अत्यन्त विलक्षण अनेक प्रकारक स्वाभाविक
शक्ति है । तथा स्वाभाविक ज्ञानबलादिक है । इत्यादिस्थल में तादृश स्वाभाविक अनेक
दिव्य गुणकः कथन करने से प्राकृत गुण रहितत्व होने से निर्गुणत्व है । तथा दिव्यानेक-

योऽमौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।

प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥ वि० पु० ॥

इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः । तादृशदिव्यगुणानाञ्च 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवृत्तिया च' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चन श्रुतयः स्फुटं कारणरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्वमक्षग्वयगो जगत्कारणत्ववादिन्यश्च काश्चन श्रुतयस्तस्य निराकारत्वं निर्गुणत्वञ्चा-

तदा निर्विकारप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन निराकारत्वमेव कुतोनेति वाच्यम् तथा सति निर्विशेषे आकाराद्यभावेनोपासनाया एव विलोपप्रसङ्गात् । किञ्च निर्विशेषवादस्या-
रोपाधीनत्वेनारोपस्य च श्रुतियुक्त्यादिभिर्निराकरणान् । किञ्च तन्मते सर्व हेयप्रत्यनीक गुणवान् होने से सगुणत्व है । अतः उभयरूप से एकही ब्रह्म का निर्देश होने से कोई भी अनुपपत्ति नहीं होनी है । किचेत्यादि सर्वेश्वर श्रीराम में जगत्कारणता का प्रतिपादन करनेवाली कोई कोई श्रुति, अत्यन्त स्फुटरूप से कारण स्वरूप भगवान् में साकारत्व सगुणत्व का प्रतिपादन करती है । तथा अक्षर ब्रह्म में जगत्कारणता का प्रतिपादन करनेवाली कोई कोई श्रुति परमेश्वर में निराकारत्व निर्गुणत्व का प्रतिपादन करती है । तो इन दोनों श्रुतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं हो इसलिए पूर्वोक्त अर्थ को ही शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है ।

अन्यथा, यदि इस प्रकार से समन्वय श्रुतियों का न किया जाय तब तो परस्पर इन सब श्रुतियों में विरोध होने से व्याहतार्थक होने से अप्रामाणिकत्व होनायगा । और स्वयः प्रणाम भूतवेदोंको अप्रामाणिकत्व तो किसी को भी इष्ट नहीं है । तस्मात् पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है । अतएव भगवान् वृत्तिकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायन ने 'युक्ततद्गुणोपासनात्' इस प्रकार से कहते हुए सगुण ब्रह्म में भी उपास्यत्व है ऐसा स्थिर किया है । नहीं कही कि त्रिनिगमनाविरह से, निराकार निर्गुणत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति 'नेति नेति' इत्यादिक सगुण ब्रह्म रचित सर्गका अनुवाद करके, उनसबपदार्थों को निर्गुणनिराकार ब्रह्म में कल्पितत्व

हुरित्युभयत्राऽविरोधार्थं स एवार्थस्तान्त्रिकैरङ्गीकर्तव्यः । अन्यथा परस्परविरोधे व्याहतत्वादप्रामाण्यमेव निष्पद्येत । अतएव भगवता वृत्तिकारेण 'युक्तं तद्गुणकोपासनादिति' (बो. वृ.) कथयता स गुणस्यैवोपास्यत्वं स्थिरीकृतम् । न च विनिगमनाविहान्निराकार-निर्गुणवादिन्य एव श्रुतयः सगुणब्रह्मरचितानि सृष्ट्यादन्यनूद्य तेषाञ्च निर्गुणे निगकारे ब्रह्मणि रज्जौ कल्पिताहिम्नि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमवगमयन्तीति वाच्यम् । आरोपवादस्य प्रागेव श्रुति-स्मृतियुक्त्यादिभिर्निराकृतत्वात् । पूर्वोदीक्षितार्थ एव सामञ्जस्य कल्पितत्वकल्पनाया अनुपपत्तेश्च । तस्मात्प्राकृतगुणाकारयोरसत्त्वेन निर्गुणत्वं निराकारत्वं दिव्यस्वासाधारणगुणाकारस्वत्त्वेन च सगुणत्वं साकारत्वं चैकस्यैव ब्रह्मण उपपन्नतरमिति न कश्चिद्विरोधः ।

कल्पितमेव मन्मते सर्वस्य परमेश्वरकृतसर्गस्य तत्परिणामत्वेन 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्' इत्यागभोक्तदिशा सत्यत्वमित्येव विशेषः । तस्मात् प्राकृत गुणनिषेधः लोकोत्तरगुणानां सद्भावश्च भगवति साधितः ।

रूप से मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती है । श्रुक्तिका में रजत के समान, यथावा रज्जु में सर्प के समान । अर्थात् जिस तरह भ्रम द्वारा स्थित रजत सर्प प्रतियोगी का 'नेदं रजतम्' इस बाध्यबुद्धि से निराकरण करके रजत सर्पादिक में स्वात्म्यन्ताभाव समानाधिकरणनया प्रतीयमानत्व रूप मिथ्यात्व को समझता है । उसी तरह सर्ग प्रतिपादक श्रुति से प्रसिद्ध जगत् रूप प्रतियोगी के अभाव का प्रतिपादन करती हुई 'नेति नेति' इत्यादि वेदान्तवाक्य ब्रह्म में सर्गाभाव का कथन करता हुआ अर्थात् आरोपित पदार्थों में मिथ्यात्व का समर्थन करती है । अतः सगुण साकारता प्रतिपादक वाक्य केवल निषेध प्रतियोगी का उपस्थापक है, नतु तादृश प्रतियोगी में सत्यता प्रतिपादक है, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इस आरोपवाद का श्रुतिस्मृति और युक्तिओं से पूर्व में ही निराकरण कर दिया गया है । अतः आरोपवाद मूलक प्रश्नका पुनरावर्तन ठीक नहीं है । पूर्वोक्त प्रकार से जब सबका समाधान हो सकता है तब जगत् को कल्पित है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । तस्मात् प्राकृत गुण, तदाकारता का अभाव होने से निर्गुणत्व तथा निराकारत्व है और हेयप्रत्यनीक गुणवत्त्वेन सगुणत्व है तथा

एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण । बाह्यकरणानपेक्षामलशाश्वतिकापरोक्षानुभवविषयाखिलपदार्थत्वमेव चात्र सर्वज्ञत्वम् । एतस्यैव सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य जगत्कारणस्य 'शाम्भ-योनित्वात्' (ब० सू० १।१।३) इत्यधिकरणेनापि निगमनसमस्तदोषकलङ्कवेदकारणत्वेन सर्वज्ञत्वप्रतिपादनेन सगुणत्वज्ञापनात् । 'तत्तु-

ननु जन्माद्यस्ययत इति यस्य ब्रह्मणो लक्षणं कृतं तद्ब्रह्मनिर्गुणं सगुणं वा ? तन्नाद्यः निर्विशेषस्य लक्षणासंभवात् । यदि तद्ब्रह्मलक्षणवद् भवेत्तदातस्य निर्विशेषत्वहानिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः पक्षः निर्विशेषताप्रतिपादकश्रुतिविरोधादित्याशङ्कां समाधातुं प्रकरणस्य सारांशं दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः एवं च सर्वज्ञ सर्वशक्तिमदित्यादि । सर्वज्ञसर्वकारणसगुणादिपदैर्वाच्यं श्रीरामात्मकपरमतत्त्वं जगतः कारणमिति द्वितीयसूत्रेण प्रतिपादितं भवतीत्यर्थः । तत्र स्थूलप्रश्नमाधारणसकलपदार्थविषयकपरोक्षज्ञानाधिकरणत्वमेव । एतदेव ब्रह्म सगुणनिर्गुणजगत् कारण साकारत्व है । इस तरह एक ही ब्रह्म में उभय प्रकारत्व उपपन्न होता है इसमें कोई भी विरोध नहीं है ।

पूर्व प्रकरण के सारांश को बतलाते हैं 'एवंचेत्यादि' 'यः सर्वज्ञः स सर्वशक्तिः' एतन्मन्त्र-घटित सर्वज्ञ पदसे सर्वशक्तिमान् पदसे 'यतोवा इमानि' इत्यादि श्रुति कथित जगत् कारण पद से सगुण तथा निर्गुण पदसे वाच्य जो श्रीरामाख्यतत्त्व है वही जगत् का कारण ब्रह्म इस जन्मादि सूत्र से कहा जाता है । न तु निर्विशेष ब्रह्म जगत् कारण रूपेण जन्मादि सूत्र प्रतिपाद्य है । क्योंकि निर्विशेष ब्रह्मको निर्धर्मक होने से सर्वज्ञत्व जगत्कारणत्वादि लक्षण से वाच्यत्व नहीं हो सकता है । वाच्यत्वादिक तो धर्म है वह निर्धर्मक में किस तरह रह सकता है । बाह्य करण जो चक्षुरादिक तदनपेक्ष अमलशाश्वतिक जो अपरोक्षानुभव तादृशानुभव विषयीभूत समस्त पदार्थ कत्व रूप ही सर्वज्ञत्व है । अर्थात् सकल पदार्थ विषयक नित्यज्ञानवत्त्वरूप सर्वज्ञत्व है । तादृश सर्वज्ञपद वाच्य श्रीरामतत्त्व है । वही सर्वज्ञत्वादि धर्म विशिष्ट जगत् कारणीभूत श्रीरामात्मक ब्रह्म है । वह आद्य योनित्वाधिकरण से निरस्त है समस्त दोषरूप कलंक जिसमें ऐसा जो वेदराशि है उसका कारणत्व कथन होने से सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन करने से ब्रह्ममें सगुणत्व का ज्ञापन होता है । अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व जगत्कारणत्व धर्म का तत्तत् श्रुति से जब बोध होता

समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति सूत्रेणाऽपि तस्मिन्नेव जगत्कारणे सर्वासांसगुणनिर्गुणार्थकेन प्रतीयमानानां श्रुतीनां समन्वयत्वप्रदर्शनेन तस्यैकस्यैवाक्षरब्रह्मात्मसदादिसामान्यपदबोध्यस्य श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्य दिव्यगुणवत्त्वेन प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्वं निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् । उत्तरत्राऽपि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१५) इति सूत्रेण स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्यावस्थपदेन व्यवहियमाणं भवति । तदेव ब्रह्म स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन कार्यं तदेव च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन कारणं भवति । एतदेव ब्रह्मशास्त्रयोनिवादिष्वेतेषां वेदकारणत्वेन निर्दिश्यमानं भवत् सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टत्वेन सगुणमेव भवति । न च निर्गुणत्वप्रतिपादकश्रुतिभिर्विरोधो भवति । तासां प्राकृतिकहेयगुणनिषेधे एव तात्पर्यात् । नतु गुणसामान्याभावप्रतिपादने तात्पर्यम् । इत्थमेव सर्वश्रुतिसमन्वयोपि भवति । अन्यथा परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकतया सर्वोपिवेदः स्वप्रामाण्यं जहात् तदाहुर्जगद्गुरवः श्रीश्रुतानन्दाचार्याः सर्वश्रुतिसम्बन्धे

है तब धर्मत्व का प्रतिपादन होता है । तब वह ब्रह्म निर्गुण किस तरह से हो सकता है । अपितु सर्वथा सगुण ही हैं । एवम् उत्तर प्रकरण में 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' कारण से कार्य में अनन्यत्व, अर्थात् अभेद है । कारण के बिना कार्य की स्वातन्त्र्येण सत्ता नहीं होती है । जिस तरह मृत्तिका सुवर्णादिरूप कारण के अभाव में घट कटक कुण्डलादिक कार्य नहीं होता है । इस प्रकरण में कार्य तथा कारण का अभेद कहा गया है यह जो कार्य एवं कारण का अभेदपना है वह सिद्धान्त में किम तरह घट सकता है । क्योंकि यहाँ तो कार्य कारण एक ही सगुण ब्रह्म को मानते हैं तो स्व में स्व का अभेद नहीं होता है । 'घटोघटः' यहाँ अभेदेन घट प्रकारक घट विशेष्यक बोध नहीं होता है । इस शंका का निराकरण करते हैं कि हमारे मत में स्थूल प्रपञ्च विशिष्ट ब्रह्म कार्य है । तथा सूक्ष्म प्रपञ्च विशिष्ट ब्रह्म कारण है तो सूक्ष्म प्रपञ्च विशिष्ट ब्रह्म में स्थूल प्रपञ्च विशिष्ट ब्रह्म का तादात्म्य होने से कोई क्षति नहीं होती है । नहीं कहो कि तथापि तो आंशिक आत्माश्रय दोष होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि कार्यकारणभाव परस्पर विशेषण अंश में ही है विशेष्यांश में नहीं है । अर्थात् स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कार्य है और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कारण है । विशेष्यांश में कार्य कारण-

स्य ब्रह्मणः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टकारणावस्थब्रह्मानन्यत्वबोधनात् ।
चतुर्थाध्याये 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१) इति
सूत्रेण निदिध्यासनपदवाच्याया ब्रह्मणः सततचिन्तनलक्षणयास्त-
द्वक्तेरेव मोक्षसाधनत्वज्ञापनात् । 'ध्यानाच्च' (ब्र० सू० ४।१।८)
इतिसूत्रेण च तस्या एव दृढीकरणात् । अनुपदं सगुणब्रह्मण एव
शास्त्रे प्रतिपादनम् । एतादृशानन्यभक्तेरेव चोपनिष्ठान्मुक्तिरूपं
फलं दर्शितं तत्कर्तुरिति 'तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्रागे विद्या-
सामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया'
(ब्र० सू० ४।२।१६) इत्यधिकरणे स्पष्टम् । तत्र हि सगुणब्रह्मणः

अद्वैतबोधिकाः काश्चिन्काश्चिद्वैतस्य बोधिकाः ।

घटकश्रुतयः काश्चिदन्तर्यामिप्रबोधिकाः ।

अश्रामाण्यं भवेत्तासां विरोधेऽभिमते मिथः ।

विशिष्टाद्वैतिभिस्तासां क्रियेऽनः समन्वयः ।

अद्वैतश्रुतयो बोध्या विशिष्टब्रह्मबोधिकाः ।

नान्यश्रुतिमतानां हि तत्त्वानां प्रतिषेधिकाः ।

परं ब्रह्म च तद्वाच्यं तद्वाच्यं त्वच्छरीरकम् ।

तत्त्वमसीतिवाक्येन तूक्तोऽभेदस्तयोर्द्वयोः ।

द्वैतश्रुतिसमूहस्तु विद्वद्भिः सम्मतः खलु ।

चिदचिदीशतत्त्वानां पार्थक्येनावबोधकः ।

भाव होता है । तो विशेष्यांश में तदुपचार करके विशेष्यांश में अभेद होने से सगुण में ही
अन्यता का बोध होता है प्रकृत प्रकरण से एवं चतुर्थ अध्याय के प्रारंभ में 'आवृत्तिरसकृदु-
पदेशात्' इक सूत्र से निदिध्यासन है अपर नाम जिसका एतादृश परमेश्वर के सतत चिन्तन
रूप भक्ति को ही परमधाम प्राप्ति लक्षण मोक्ष के प्रति कारणता का ज्ञापन होता है । और
'ध्यानाच्च' इस सूत्र में निदिध्यासन लक्षण ध्यान को ही मोक्ष कारणता है इस बात को दृढ
किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र शास्त्रों में सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन
किया है निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया गया है ।

श्रीरामस्यानवच्छिन्नध्यानाभ्यासवतोऽनन्यभक्तस्य शताधिकया सुषुम्नया नाड्या शरीराद्वहिर्निः सृत्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गतस्य मुक्तिः प्रतिपादिता । विद्यासामर्थ्यादित्यत्र विद्यापदेन यस्य पूर्वमावृत्तिर्विहिता तस्यैव ब्रह्मनिदिध्यासनरूपस्य तच्चिन्तनापरपर्यायस्य ग्रहणमिति सूत्रकारीयः पन्थाः ।

एतेन ज्ञानिनः सद्योमुक्तेरभावोऽपि व्यक्तो भवति । अत एवास्मिन्प्रकरणे 'प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१२) इत्यत्राऽयं विचारः प्रसृतः । तथाहि—

आत्मत्वमीश्वरस्याथचिदचितोश्च देहता । सर्वाभिर्विनिवेद्येते घटकश्रुतिभिः किल । वेदान्ततत्त्वविद्भिश्च कार्यकारणभेदतः । चिदचिद्भ्यां विशिष्टं हि ब्रह्म च द्विविधं मतम् स्थूलाचिच्चिद्विशिष्टं हि ब्रह्म कार्यं प्रकीर्तितम् ।

सूक्ष्माचिच्चिद्विशिष्टं तु ब्रह्म कारणमुच्यते ।

अद्वैतं च मतं श्रौतं ब्रह्मणोश्च विशिष्टयोः । विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तस्तस्माच्छून्यनुमोदितः अत एवास्मदाचार्यबोधायनादिसम्मतः । विशिष्टाद्वैतमिद्वान्तो लोके विज्ञयतेतन्नाम् ॥

एतादृश जो अनन्या भक्ति है उसी को 'तदोकोप्रवचनम्' इस अधिकरण में स्पष्ट रूप से कथन किया गया है । उस प्रकरण में सगुणेश्वर ब्रह्मजो श्रीरामजी हैं उनका अनवच्छिन्न ध्यानाभ्यासवान् परमभक्त को एक सी एक सुषुम्नानाडी के द्वारा शरीर से बाहर निकल करके अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक परमवाम प्राप्त कर मोक्ष होना है ऐसा कहा गया है । विद्या के सामर्थ्य से होता है इसमें विद्या पद से, जिस ब्रह्म को, पूर्व में आवृत्ति कही गयी है अर्थात् जिसका अनुक्षण चिन्तन का कथन किया गया है उसी ब्रह्मका निदिध्यासन रूप भगवान् के चिन्तन का ग्रहण होता है । यह सूत्रकार का अभिमत मार्ग है ।

इस पूर्वोक्त कथन से ज्ञानी को सद्योमोक्ष होता है, इसके अभाव को अभिव्यक्त किया गया है । अर्थात् ब्रह्मज्ञानी को भी देवयानादि मार्गक्रम से ही मोक्ष होता है सद्योमोक्ष नहीं होता है । अत एव इस प्रकरण में 'प्रतिषेधादिनिचेन्न' इस सूत्र में इस विचार का स्पष्ट बृहद् रूप से प्रतिपादन किया है । बृहत्प्रतिपादन के स्वरूप को बताते हैं 'तथाहि' इत्यादि 'यदा सर्वे' जब इस परमात्मोपासक के हृदय में विद्यमान सब काश्यमान पदार्थ विषयक इच्छा निवृत्त

‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिस्थिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।’ क० २।६।१४।

‘अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति’ (बृ० ४।४।६) इति द्वयोः श्रुत्योर्थस्य ‘योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ती’तिमाध्यन्दिनशाखास्थ-वाक्यानुसारेण नेतव्यत्वादात्मकामाच्छरीराज्जीवात्प्राणोत्क्रान्तेः प्रतिषेध एवाऽनेन सूत्रेण क्रियते । सर्वकामविमुक्तस्यात्मकामस्य शताधिकया सुषुप्त्या नाड्या शरीराच्चिस्मृत्याऽर्चिर्गदिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनत्वज्ञापनात्सद्यो न मुक्तिर्ब्रह्मविदामपि तु देवयानादिक्रमेणैवेति सिद्धान्तः ।

इत्यादिरूपेण । तथैव तच्च समन्वयादिति सूत्रमपि तादृशसर्वजगत्कारणीभूते परब्रह्मणि सगुणनिर्गुणाद्यर्थकतया प्रतीयमानवेदवाक्यानां समन्वयस्य प्रतिपादनेन अक्षरसदादिसामान्यपदबोधस्य श्रीरामेनिर्विशेषपदबोधस्य दिव्यगुणाधिकरणत्वेन सगुणत्वं हेयगुणप्रतिषेधेन निर्गुणत्वमुभयस्य प्रतिपादनेनोभयविधत्वं सिद्धं भवतीत्यतः सर्वथा सगुणमेव ब्रह्म जगत्कारणं भवति नतु निर्विशेषं ब्रह्म जगत्कारणमिति । किञ्च निर्विशेषे तस्मिन् सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वादिधर्माणां समावेशा संभवेन यतोवा इमानि इत्यादिश्रुतिनां निरवकाशताप्यापद्येत ।

यथा अस्मिन् सूत्रचतुष्टये सविशेषस्यैव जिज्ञासा जगत् कारणत्ववेदप्रतिपादकत्वसमन्वयः प्रदर्शितस्तथोत्तरतदनन्यत्वमारंभणत्वादिसूत्रेपि कार्यावस्था ब्रह्मणः हो जाती है । इसके बाद अनादिकाल मरणधर्मा यह जीव अमृत होता है उस समय में ब्रह्म को प्राप्त करता है’ । इसके बाद अकामयमान कामनाविषय पदार्थ को छोड़नेवाला अकाम सर्वथा कामना इच्छा से रहित, निष्काम आप्तकाम कमनीय विषयों को प्राप्त किया हुआ । केवल आत्मकामनावान् उपामक पुरुष है उसका प्राण उत्क्रामित नहीं होता है किन्तु ब्रह्म सदृश होकर के ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । इन दोनों श्रुतियों के अर्थ को ‘योऽकामो निष्कामः’ इस माध्यन्दिन शाखास्थित वाक्य के अनुसार जीव से प्राणोत्क्रमण का ही प्रतिषेध,

एवञ्च 'ब्रह्मसन्ब्रह्माप्येती'त्यस्य तात्पर्यसौकर्याय ब्रह्मसदृशः सन्नित्यर्थोऽवश्यमास्थेयः । अन्यथा ब्रह्म सन्निति सम्पन्ने ब्रह्मणि भूयो ब्रह्मण्यप्यवचनस्य वैयर्थ्यात् । नहि स्वस्मिन् स्वस्यैवाप्यय इति युक्तम् । तथा सति 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति किन्तु सार्वत्रिकं यद्ब्रह्म तद्रूपतामासादयन्तीत्येव ब्रूयात् । यथा 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' । 'राजा भूत्वा राजानं मित्ते'दित्यादौ देवसदृशः सन् राजसदृशः सन्नित्यर्थस्तथैव प्रकृतेऽपीति ज्ञेयम् । सादृश्यञ्च भेदघटितमेवेत्यन्यत्र विस्तरः । काठके तु 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म सम्कारणावस्थसगुणब्रह्मणासहैवतादात्म्यप्रतिपादनेन सविशेषब्रह्मण एवाभिद्धिर्भवति नतु कुत्रचिदपि निर्विशेषस्य ब्रह्मणः सिद्धिर्भवतीति । तथा निदिध्यासनापरपर्याय सगुणब्रह्मचिन्तनलक्षणभक्तेरेव मोक्षकारणत्वं नतु निर्विशेषब्रह्मज्ञानमात्रस्य मोक्षकारणत्वम् । इतिसगुणब्रह्मण एव सर्वशास्त्रे प्रतिपादनम् । यद्यपि 'अस्थूल' मित्यादिभिर्निर्विशेषस्य प्रतिपादनं विद्यते तथा 'तरतिशोकमानमविदिन्यादिना केवलान्मज्ञानस्यमोक्षकारणत्वमपिश्रुतम् । तथापि निर्विशेषप्रतिपादकश्रुतेर्हेयगुणराहित्ये एव तात्पर्यम् । तथा तरतिशोकमित्यादेः प्रकरणपर्यालोचनया सविशेषब्रह्मज्ञानेनमोक्षकारणतेत्यत्रान्तर्याम्यम् । ज्ञानपराकाष्ठाया एव भक्तिपदेन कथनादिति सर्वत्रसगुण ब्रह्मण एव प्रतिपादनं नतु निर्विशेषब्रह्मण इति ।

इस सूत्र से किया गया है । अर्थात् प्राणोत्क्रमण का निषेध है वह शरीर से प्राणोत्क्रमण का निषेध है किन्तु शरीर से प्राणोत्क्रमण का निषेध नहीं है । सर्वत्राद्य कामना विषय से रहित तथा मात्र आत्म कामनावान उपासक का सुषुप्तानाडी के द्वारा शरीर से निकलकरके अचिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन का प्रतिपादन करने से ब्रह्मज्ञानी को भी सखी मोक्ष नहीं होता है । किन्तु देवयानमार्ग क्रम से ही परमशान्ति प्राप्ति लक्षण मोक्ष होता है यह सिद्धान्त है ।

ऐसा हुआ तब 'ब्रह्मसन् ब्रह्माप्येति' इस वाक्य का तात्पर्य सुगमता रूप से अवगत हो इस लिए 'ब्रह्मसन्' इसका ब्रह्म सदृश होकर के ब्रह्म को प्राप्त करता है इस प्रकार से अर्थ करना चाहिए । अन्यथा ब्रह्मसन् ब्रह्मसम्पन्न जब हो गया तब पुनः ब्रह्म में अप्यय का जो कथन

श्नुते' (क० २।६।१४) 'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशामनम्' (क० २।६।१५) 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्मृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।' (क० २।६।१६) इत्येवं क्रमस्तत्राऽपि 'यदा सर्वे प्रमुच्यते' इत्यस्यानन्तरं 'शतञ्चैके' तिवाक्यमुक्तम् । तदयमभिप्रायः । सर्वकामविमुक्तस्य पुंसः शताधिकया सुषुम्नया शरीराच्चिर्गत्यार्चिरादिमार्गेणैव ब्रह्म लोकावाप्तिः । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (क० २।६।१४) इत्यस्मिन् भागे विद्यमानस्यात्रपदस्यैतस्यां सर्वकामविमुक्तदशायां ब्रह्म समश्नुते

एतेनेत्यादि । निदिध्यासनपरपर्यायभक्तेरेव मोक्षकारणत्वमितिकथनेन सद्योमुक्तिविरहोऽपि अभिव्यंजितः । द्विविधोमोक्षः प्रतिपादितः सद्योमोक्षः क्रममोक्षश्च । तत्रार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतस्यक्रममोक्षः । तत्र क्रममोक्ष एव मोक्ष इति प्रतिषेधादिति चेन्न—इतिप्रकरणे स्पष्टरूपेण प्रतिपादितः । तत्र तथाहीत्यादिना प्रकृत्य 'देवयानादिकमेगैवेतिसिद्धान्त' इत्यन्तप्रकरणेन भाष्यकारेण कथितो भाष्यग्रन्थादेवज्ञातव्यम् ।

एवं 'ब्रह्मसन्ब्रह्माप्तेतीत्यादौ ब्रह्मसदृशोभूत्वा ब्रह्मणि प्रलीनो भवतीत्यर्थः । देवोभूत्वायजेदेवमितिवत् । यथा देवसादृश्यमवाप्यदेवपूजनेऽधिकारी तथैव ब्रह्मसहै सो असंगत हो जायगा । क्योंकि स्व में स्व का अप्यय असंभवित है । क्योंकि सिकतादिक में जल का विलय होता है । न तु स्व में स्व का प्रविलय देखने में आता है । अगर ऐसा हो तब तो ब्रह्मज्ञानी का प्राणोत्क्रमण नहीं होता है किन्तु सार्वत्रिक सर्वव्यापक जो ब्रह्म तद्रूपता को प्राप्त करता है ऐसा कहना चाहिए । जिस तरह 'देव' होकर के देवता का पूजन करना चाहिए । यथा वा 'राजा' होकर के राजा से मिलें' इत्यादि स्थल में 'देव सदृश राजादि सदृश होकर के' यह अर्थ किया जाता है । उसी तरह प्रकृत में ब्रह्म सदृश होकर के ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है । यही अर्थ 'ब्रह्मसन्' इस वाक्य का करना चाहिए । और सादृश्य जो होता है वह नियमतः भेद घटित ही होता है । जैसे चन्द्र भिन्न होकर के चन्द्रगत आरुहादादिजनकत्व होने से मुख में चन्द्र सादृश्य होता है । अर्थात् चन्द्रप्रतियोगीक सादृश्यानुयोगिमुख है । इस प्रकार 'चन्द्रवन्मुखम्' में सादृश्य है । यह सादृश्य कहीं द्रव्य का

प्राप्नोतीत्यर्थस्यैव सम्यक्त्वादिति न केनापि प्रमाणेन सद्योमुक्तिः सिद्ध्यतीति मनीषिभिर्विभावनीयमिति दिक् ।

स्यादेवं, जीवब्रह्मणोर्भेदस्यौपाधिकत्वादभेदस्यैव च पारमार्थिकत्वान्मुक्त्यवस्थायां तयोः पार्थक्येनावस्थानप्रयुक्तम् । विगलितबन्धस्य जीवस्य ब्रह्मरूपापत्तिरेव हि मुक्तिस्तथाचार्यिणादिना तस्य दृशो भूत्वैव ब्रह्मणि विलीयमानो भवति । तत्र तद्विन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वरूप सादृश्यस्य भेदघटितत्वेन न ब्रह्मजीवयोरेकत्वम् किन्तु परस्परं भेद एव । अन्यथा-स्वस्य स्वस्मिन्नप्यस्यासंभवेन श्रुत्यर्थोऽसङ्गत एव भवेत् । तस्मात् भाष्यप्रतिपादितार्थ एवादर्थव्यः ।

ननु ब्रह्मसन्ब्रह्माप्येति इत्यत्रमुक्तस्य ब्रह्मसादृश्यं भवति । सादृश्यं च भेदघटितम् ततश्च मुक्तावस्थायां जीवो ब्रह्मभिन्न एवावतिष्ठते । अप्येति शब्दस्यार्थः ब्रह्मप्राप्नोति अयमेव भवतीत्यपिकथितम् । परन्तु तन्न युक्तम् यतो जीवब्रह्मणोर्भेदस्यापारमार्थिकत्वं, तत्त्वज्ञानेन विनाशानन्तरमुभयोरेकत्वेन पारमार्थिकाभेदस्यैव होता है यथा हरिस्तथाहर इत्यादिक में तथा क्वचित् गुण में भी होता है 'यथा केनकीगन्धस्तथा सर्पगन्धः' इत्यादि स्थल में गुणगत, 'यथा नटो नृत्यति तथैव नमनुकरोति शिष्यमाणनर्तकी' यहाँ क्रिया में परस्पर सादृश्य होता है । इसी प्रकार से अन्यत्र भी सादृश्य को देखना चाहिए । परन्तु सादृश्य जहाँ होगा उम स्थल में भेद तो अवश्य ही रहेगा । इत्यत्र संक्षेपः ।

कथोपनिषत् में 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते शतं चैका' इत्यादि स्थल में यद्यपि उपर्युक्त क्रम है । परन्तु यहाँ भी 'यदासर्वे प्रमुच्यन्ते' इसके बाद में 'शतं चैका' इत्यादि वाक्य का कथन है । उक्त यद् अभिप्राय है कि—सर्वकामना से रहित जो व्यक्ति है उस व्यक्ति को सुषुम्नानाडी द्वारा शरीर से विनिर्गत होकर के अर्चिरादिक मार्ग द्वारा ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है । 'अत्र ब्रह्मसमश्नुते' इस भाग में विद्यमान जो 'अत्र' पद है उससे इस सर्वकाम विमुक्त दशा में ब्रह्म को प्राप्त करता है यही अर्थ करना समीचन है । इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है कि सद्योमोक्ष शास्त्र संमत है, अपितु ब्रह्मज्ञानों को भी क्रम मोक्ष ही होता है प्रकृत विषय में मनीषियों को स्वतः विचार करना चाहिये । इसका विस्तृत विचार अन्यत्र देखिये ।

आपने जो कहा कि मोक्षदशा में भी जीव तथा परमात्मा में भेद रहता है । अभेद प्रतिपादक 'ब्रह्मसन् ब्रह्माप्येति' का अर्थ है ब्रह्म सादृश्य होकर के ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

देशान्तरे गमनासम्भवात् । नैतदेवं, मशरीरनिःशरीरभेदेन मुक्तात्मनां द्वैविध्यमुदीरितं भगवता बादरायणेन फलाध्याये । तत्र मशरीराणां भोगस्य जाग्रद्भोगसमानत्वाच्चिन्मात्रस्वरूपेणावस्थितानां निःशरीराणां तु स्वाप्तिकभोगवद्भोगार्जकत्वान्मुक्त्यवस्थायामपि जीवब्रह्मणोर्भेदस्यैव पारमार्थिकत्वम् । शरीररहितस्य मुक्तात्मनो ब्रह्मैक्ये सति पृथगवस्थानाभावेन तमुद्दिश्य स्वप्नभोगवद्भोगवचनस्यैवैर्थ्यमेव स्यात् । मुक्तिदशायामत्यन्तविलक्षणत्वं एव तत्पार्थक्यं सम्भवति नेतरथा । अत एव 'जगद्व्यापारवर्जप्रकणादशान्निहित-

प्राप्तत्वात् । ततश्चकतिपयभेदप्रतिपादकश्रुतिबलेन प्राप्तो भेदो व्यावहारिको लोकयात्रा प्रवर्तकः । अभेदस्तु तत्त्वमस्यादिश्रुतिप्रतिपादितः पारमार्थिक इति कथमुच्यते मोक्षदशायामपि जीवब्रह्मणोर्भेद एवेत्याशङ्कां समाधातुं स्वमिद्वान्तप्रक्रियां च दर्शयितुमुपक्रमते स्यादेवमित्यादि संभवेदेवं यदिजीवब्रह्मणोर्भेदः स्यात्, नतु एवं किन्तु द्वास्तुपर्णा इत्यादिना प्रतिपादितो भेदः औपाधिकोऽन्तः कर्णमायारूपोपाधिना भेदोऽपारमार्थिक एव । तत्त्वमस्यादिशास्त्रेण प्रतिपादितोऽभेद एव पारमार्थिकः । तदुक्तम् 'अभेदोऽस्तिस्वन्तीधीर्भेदोऽस्तिस्वन्तश्चमा । तथा चाद्ये प्रभासास्यान्नान्त्येस्वापेक्ष्यवैशसात् ।' अभेदस्येतानपेक्ष्यत्वम् । भेदस्य च परापेक्षत्वेन सादृश्य भेद घटित होता है । यह उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जीव तथा ब्रह्म में जो भेद है वह तो औपाधिक है । अन्तःकरण तथा मायारूप उपाधि के भेद होने से तदुपहितचैतन्य में भी भेद का प्रतिभास मात्र होता है । किन्तु जीव परमेश्वर में अभेद पारमार्थिक है । इसलिए मोक्षकाल में जीव ब्रह्म का पृथक् रूप से अवस्थान अयुक्त है । निरस्त है सकल बन्ध जिसमें ऐसा जो जीव है उसको ब्रह्मरूपता की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं । तत्र अर्चिरादि मार्ग से जीव को देशान्तर में गमन असंभवित है । उत्तर-नैतदेवमिति यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि शरीर तथा अशरीर भेद से मुक्तात्मा दो प्रकार का है ऐसा भगवान बादरायण ने फलाध्याय चतुर्थाध्याय में कहा है । उसमें सशरीर मुक्त को जो भोग होता है वह अस्मदादिक के जाग्रत् कालिक भोग के समान ही होता है । और चैतन्यमात्रस्वरूप से अवस्थित जो शरीर रहित मुक्त पुरुष है उसको स्वप्नकालिक अस्पष्ट भोग के शब्दशः भोग होता है । अर्थात् मुक्तजीव को भी भोग होता है । भेद एता-

त्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७) इत्यधिकरणेऽशरीराणां जगद्व्यापार-
कर्तृत्वप्रतिषेधेन ब्रह्मणो न्यूनत्वबोधनं स्पष्टमेव संगच्छते । मुक्त-
ब्रह्मणोरुभयोः सत्यसंकल्पत्वेऽपि जगद्व्यापारांशे मुक्तस्य सत्यस-
ङ्कल्पताया अकार्यकारित्वेन चिन्मात्रस्वरूपेण स्थितानामपि निश्श-
रीराणां मुक्तानां स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां तत्सत्यसंकल्पत्वस्य च पर-
मात्माधीनत्वसिद्ध्या तेषां परमात्मशेषत्वं स्पष्टमेव । तस्माच्छाश्व-
तिकं सार्वत्रिकञ्च परमात्मनः सकाशाज्जीवस्य भिन्नत्वमेवेति वेद-
वित्समयः ।

सोपाधिकत्वमेव । ततश्च जीवपरमेश्वरयोर्मोक्षावस्थायां भेदेन समवस्थानकथनमयु-
क्तमेव । परित्यक्तबन्धनस्य जीवस्य देवयानेन ब्रह्मलोकप्राप्तिरूपमोक्षो न संभवति ।
जीवस्य व्यापकतया गमनागमनस्यासंभवादिति पूर्वपक्षः ।

उत्तरयति नैतदेवमित्यादि । अयमाशयः मुक्तोद्विविधः सशरीरोनिःशरीरश्चेति
फलाध्याये भगवता सूत्रकारेणैव प्रतिपादितः । तत्र प्रथमस्य यो भोगः सजाग्रत्का-
लिकभोगसदृशोऽस्मदादिवत् । द्वितीयस्य निःशरीरस्य यथालोके स्वप्नममये
भोगो जायते तथैव तस्यापि विभोगो भवत्येवेति भोगवत्त्वलक्षणविशेषतामासाद्य भोगं
चिन्मात्ररूप से ही है कि सशरीर को तो अस्मादिवत् जाग्रत्कालिक भोग सदृश भोग होता
है । और शरीर रहित मुक्त को स्वाप्निक भोगवत् भोग होता है । यह दोनों प्रकार का भोग
तदीय कर्मसाध्य होता है परमेश्वर को एतद्दृश भोग नहीं होता है । अतः मोक्षावस्था में
भगवत्स्वरूप वीर्य्य होने से जीव तथा परमेश्वर में भेद है तथा तादृशभेद पारमार्थिक है ।
नतु जीव परमेश्वर में कदाचिदपि सर्वथा अभेद होता है । जो भी एकता प्रतिपा-
दक वेद भाग है वह भी निर्दुःखत्वरूप से समता का तथा तदीयत्व का प्रतिपादन करता
हुआ स्तावक है नतु वस्तुभूत एकता का प्रतिपादन करता है । और अभेद है भेदाभावरूप
तो भेदाभाव अभेदज्ञान होने में भेदरूप प्रतिज्ञान की आवश्यकता है । अतः प्रतियोगि
विधया अभेद के पूर्व में भेद की सत्ता अपेक्षित है । भेदज्ञान में तो अभेद की आवश्यकता
नहीं होने से भेद पारमार्थिक है । तथा भेद को नैयायिक लोग नित्य मानते हैं । तो नित्यत्वात्
आकाशादि भेद पारमार्थिक ही है । यदि कदाचिद् शरीर रहित मुक्त आत्मा को ब्रह्म के
साथ आत्यन्तिक अभेद मानलें तब तो ब्रह्म से पृथक् रूपेण मुक्त का अवस्थान नहीं होने से

एवाच्चास्याः शारीरकब्रह्ममीमांसाया उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मणः
 शेषित्वसगुणत्वादिप्रतिपादकतया तन्मध्यभूतानामपि सूत्राणां संदं-
 शपतितन्यायेन तत्प्रतिपादकत्वमेवेति मन्तव्यम् । यथाचाखिल-
 श्रुतिस्मृतिसूत्राणां सगुणब्रह्मण्येव तात्पर्यन्तथा स्फुटीकरिष्यामस्त-
 त्तसूत्रव्याख्यायामित्यत्र संक्षेपः । अथाऽखिलद्वेयप्रत्यनीकानन्त-
 कल्याणगुणविशिष्टस्यैव परमात्मनो वेदान्ततात्पर्यावमितत्वात्कुत्र-
 चिदापाततो निर्गुणे तात्पर्यमर्पयन्तीनां वस्तुतो भगवतो दिव्य-
 करोति तस्मात् मोक्षावस्थायामपि जीवब्रह्मणोर्भेदस्यैव पारमार्थिकत्वमिति । अन्यथा
 यदि शरीरविहितस्य मुक्तजीवस्य ब्रह्मणाऽभेदं तस्य जीवस्य पृथगवस्थानाभावेन
 तादृशजीवमुद्दिश्य, स्वप्नभोगवद् भोगप्रतिपादकवचनं सर्वथैव निरर्थकं भवेत् ।
 तादृश वचनान्यथानुपपत्त्या मोक्षसमयेपि जीवब्रह्मणोः पार्थक्येनैवावस्थानं मन्तव्यम्
 नतु जीवब्रह्मणो सर्वथैकत्वमिति । किञ्च ब्रह्मणो जगद्रचनारूपव्यापारो भवति ।
 मुक्तात्मनो सव्यापारो नास्ति । अयं भेदो जीवब्रह्मणोरेकत्वे, न संभवति । तस्माद-
 पितयोर्भेदः पारमार्थिकोनत्वभेदः । यद्यपि मुक्तजीवोपि परमेश्वरवदेव सत्यमंक-
 शरीर रहित मुक्तात्मा को उद्देश करके 'स यदि पितृलोक कामो भवति तदा संकल्पादेव पितरः
 समुपस्थिता भवन्ति' इत्यादि श्रुति से जो स्वात्मिक भोग के समान जो भोग का प्रतिपादन
 किया है तादृश वेद वचन का वैयर्थ्य हो जायगा । इसलिए शरीर रहित मुक्त जीव को
 भी भोग होता है । इसलिए मोक्षकाल में भी जीव को परमेश्वर के साथ भेद परमार्थ
 ही है । जो अभेद प्रतिपादक वचन है वह निर्दुस्त्व रूप से समता का ही प्रतिपादन
 करता है तथा समत्व भेद बटित है । इसलिए जीव ब्रह्म का भेद सर्वथा पारमार्थिक
 ही है अभेद औपचारिक है । यदि मोक्ष काल में जीव तथा ब्रह्म में अत्यन्त निष्कृष्टता
 अर्थात् भेद को मानें तब ही शरीर रहित मुक्तपुरुष को भोग प्रतिपादक वचनों की
 सार्थकता हो सकती है अन्यथा भोग प्रतिपादक वचनों की सार्थकता नहीं हो सकती है ।
 अत एव जीव ब्रह्म में अत्यन्त विच्छिन्नता होने से 'जगद्व्यापारवर्जम्' इत्यादि सूत्र के
 अधिकरण में अशरीर मुक्त में जगद्रचनारूपव्यापार कृत्व का निषेध करने से ब्रह्म की
 अपेक्षा से न्यूनता का बोध स्पष्ट रूप से संगत होता है । अर्थात् जिस तरह परमेश्वर
 सत्य संकल्पादिक गुणवान् है उसी तरह मुक्त भी सत्य संकल्पादिक गुणवान् है परन्तु

कल्याणगुणानभिधायिनीनां श्रुतीनां तादृशपदानामेवार्थोऽवसरतो विविच्यते । तत्र यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमित्यादिपूर्वोदाहृतश्रुतेरयमर्थः । अद्रेश्यम्-अदृश्यमिति यावत् । तच्च न तावद्दर्शनकार्यतां निषेधति । 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृ० ६।५) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (क० १।३।१२)

ल्पवान् परमेश्वरवत् स्वसंकल्पेन सर्वं कर्तुं समर्थस्तथापि जैवीयसत्यसङ्कल्पस्य परमात्माधीनत्वेन न मुक्तजीवः स्वयं किमपि कर्तुं समर्थः । अत एव मुक्तजीवानां परमात्मशेषत्वं परमात्मनश्च शेषित्वां सिद्ध्यति शेषशेषिणोश्च भेदसमनियतत्वात्तयोर्भेद एव पारमार्थिकोन्तत्त्वभेदस्तयोरिति वेदाभिप्रायज्ञातृणां प्रशस्तो राजमार्गः ।

इयं शारीरकमीमांसा आद्यवसानयोः सगुणत्वशेषित्वब्रह्मणः प्रतिपादयति । तत्र मध्यपतितसूत्राणामपि संदन्शन्यायेन ब्रह्मणः सगुणत्वशेषित्वप्रतिपादकत्वमेव । परमेश्वर में जगदुत्पादकत्व विशेष धर्म है मुक्त में वह जगदुत्पादकत्व नहीं है । तो जगदुत्पादकत्व अनुत्पादकत्व रूप से दोनों में विलक्षणता है । अर्थात् मुक्त जीव में जगदुत्पादकत्व नहीं है इतनी हीनता परमेश्वरापेक्षया है । यह कथन जीव प्रतियोगिक ब्रह्मानुयोगिक भेदमानने से उपपन्न होता है अन्यथा नहीं होगा । अतः जीव परमेश्वर का भेद पारमार्थिक है अभेद पारमार्थिक नहीं है । इसी का स्पर्शिकरण भाष्यकार करते हैं 'मुक्त ब्रह्मणोरुभयोरित्यादि' यद्यपि मुक्त जीव तथा ब्रह्म इन दोनों में सत्य संकल्प समान है । तथापि जगत् रचना व्यापारांश में मुक्त जीव का सत्य संकल्प कार्य करने में समर्थ नहीं है । तो चिन्मात्र वर्तमान भी शरीर रहित जीव का जो जो सत्य संकल्प है तादृश संकल्प को परमात्मा के अधीनता की सिद्धि होने से वह मुक्त जीव परमात्मा का शेष अर्थात् अंश है ऐसा स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है । अर्थात् मुक्त जीव हो अथवा बद्ध जीव हो परन्तु उसका जो संकल्प है वह परमात्मा के सत्य संकल्प के अधीन है । इसलिए मुक्त का जो संकल्प है उसका सत्य संकल्प होने पर भी मुक्त जीव में जगत् रचनानुकूल सत्यसंकल्प नहीं होता है । इसलिए परमात्मा से जीव में सावैदिक शाश्वत भेद हो रहता है किन्तु अभेद नहीं होता है । यद्यपि चिन्मात्र स्वरूप से अभेद है । तथापि आत्यन्तिक परमत्वत् अभेद बद्धावस्था में है नवा

इत्यादौ स्वकण्ठरैवेण तस्य दर्शनीयत्वप्रतिपादनात् । अतोऽद्रे-
श्यमित्यस्य स्थूलबुद्ध्या द्रष्टुमशक्यं लौकिकप्रत्यक्षाविषयमिति
यावत् । सूक्ष्मबुद्धिविषयत्वन्तूदाहृतश्रुत्यनुरोधेन वर्तत एवेति भावः ।
अग्राह्यम्—अपरिच्छिन्नात्वेनातिसूक्ष्मतया चाकाशादिवदग्राह्यमित्यर्थः ।
अगोत्रमिति स्वसमानद्वितीयब्रह्माजनकत्वात्पुत्रपौत्रादिरूपलौकिक-
परम्पराया अप्रवर्तकत्वाद्वा गोत्रमवंशमित्यर्थः । अवर्णमिति—ब्राह्म-

इममर्थं तत्तत्सूत्रव्याख्यानान्तरे एव प्रतिपादितं भविष्यतीत्यत्र संक्षिप्तः कृत इति ।
यद्यपि निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणवान्सगुणोभगवान् श्रुतिभिः प्रतिपादितः
तत्र याः काश्चनश्रुतयस्तस्य निर्गुणत्वं प्रतिपादयन्ति । तथापि तादृशश्रुतेस्तद्ग-
तपदानामद्वैतार्थप्रतिपादकानामर्थान्तरं कृत्वा सविशेषब्रह्मण्येवाभिप्रायं वर्णयितुं
भाष्यजाल उपक्रमते अथानिखिलहेयप्रत्यनीकेत्यादि तत्र या निर्विशेषत्वप्रतिपादिकाश्रुतिस्ता-
भुक्तावस्था में है किन्तु जीव ब्रह्म सर्वदा सर्वथा भेद ही है । ऐसा वेदानुयायी विद्वानों
का सिद्धान्त है ।

‘एवंचास्याः शारीरकमीमांसायाः’ इत्यादि ऐसा हुआ तब इस शारीरकमीमांसाको उप-
क्रमोपसंहार अभ्याशः अपूर्वता युक्त अर्थवाद और उपपत्ति लक्षण तात्पर्य निर्णायक द्वारा ब्रह्म
के सगुणत्व शेषित्वादि प्रतिपादक होने से अर्थात् उपक्रमोपसंहार से ईदृश ब्रह्ममें शेषित्व स-
गुणत्वादिका प्रतिपादक होने से तन्मध्यपतित सूत्रों को भी संदेश न्याय से सगुण प्रतिपाद-
कत्व ही सिद्ध होता है ऐसा मानना चाहिए । अतः भाष्यकार कहते हैं—जिस तरह से
सकल श्रुतिस्मृति और ब्रह्मसूत्रों का सगुण ब्रह्म प्रतिपादन करने में ही तात्पर्य है इस बात
को स्फुट करुंगा तत्तत् सूत्रों के व्याख्यान समय में । इसलिए यहाँ संक्षेप किया गया है ।
अखिल हेय गुणों का विरोधी अनन्त कल्याण गुण विशिष्ट ही परमेश्वर को वेदान्त तात्पर्य
से निश्चित होने से, कुत्रचित् आपाततः निर्गुण ब्रह्म में तात्पर्य को समर्पण करनेवाली वस्तुतः
भगवान् के दिव्य कल्याण गुणों का प्रतिपादक श्रुतियों का तथा तादृश कल्याण गुणोंका
प्रतिपादन करनेवाले पदों के अर्थ का अवसर—प्रसंग प्राप्त के अर्थों का विवेचन करता हूँ ।
उसमें प्रथमतः ‘यदद्रेश्यम्’ इत्यादि पूर्व कथित श्रुति का यह अर्थ होता है तथाहि उसमें
अद्रेश्य का अर्थ है अदृश्य, वह परमात्मा अदृश्य है । यह अदृश्यार्थक अद्रेश्य पर परमे-
श्वर में दर्शन साक्षात्कारात्मक ज्ञान विषयता का निराकरण करता है । क्योंकि यदि सामान्य

णादिवर्णरहितं प्राकृतनीलपीतादिवर्णरूपरहितं वेत्यर्थः । न तु रूपा
त्यन्ताभाववत्त्वं सूक्ष्मबुद्धिदृश्यत्वानुपपत्तेर्दिव्यरूपवत्वमिति भावः ।
अचक्षुः श्रोत्रम्-चक्षुः श्रोत्रानधीनदर्शनश्रवणमित्यर्थः । तदपाणि-
पादम्-पाणिपादापस्तन्त्रो ग्रहणगमनमित्यर्थः । अव्ययमिति-विवि-
धविकाररहितम् । भूतयोनिमिति आकाशादिभूतकारणम् । धीराः
परिपश्यन्तीति श्रुतेरर्थः । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः'

मुदाहृत्यतद्गतपदानां स्वानुकूलमर्थं प्रतिपादयितुमाह—अद्रेश्यम् अदृश्यमिति याव-
दिति । अद्रेश्यमित्यस्य, अदृश्यमर्थं अपवित्रामन्तः करणेनद्रष्टुमयोग्यमित्यर्थः
लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वमितियावत् । नतु सर्वथा अदृश्यत्वम् । अन्यथा 'आत्मा-
वारेद्रष्टव्यः' 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'दृश्यतेत्वाग्रयाबुद्ध्या' इत्यादिश्रुतिव्याकोप
प्रसङ्गात् । तस्मादस्मदादिभिलौकिकप्रत्याक्षाविषयत्वमेवार्थः संपद्यते । अग्राह्यम्

रूप से ज्ञानीय कर्मता का परमेश्वर में निराकरण करें तब तो—'आत्मावारेद्रष्टव्यः' (हे गार्गि!
यह परमात्मा दर्शनीय है ।) 'क्षीयन्ते' इत्यादि (उस परावर परमात्मा का साक्षात्कारी ज्ञान
होने से उस द्रष्टा सम्बन्धी सकल कर्म विनष्ट हो जाता है ।) 'एष सर्वेषु भूतेषु' यह आत्मा
अर्थात् परमात्मा सकल भूतों में गूढ़ है । इसलिए प्रकाशित नहीं होता है । किन्तु तीक्ष्ण
अति सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शी उपासक लोग देखने हैं ।) इत्याद्यनेक स्थल में स्वयं
शास्त्र परमात्मा में दर्शनीयत्व का प्रतिपादन करता है तो इस प्रकार विरोध हो जाता है ।
अतः अद्रेश्यम्—इसका अर्थ यह है अस्मदादिक के स्थूल असेकृत बुद्धि का विषय नहीं है।
अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष का विषय परमात्मा नहीं है । विषयता सम्बन्ध से लौकिक चक्षुषादि
प्रत्यक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध से विषय को कारणत्व होता है । किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष में
विषय की कारणता नहीं है । अत एव सूक्ष्म सुदुर्बल पदार्थ का भी प्रत्यक्ष योगियों को
होता है । तो परमेश्वर लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । किन्तु संस्कृतान्तःकरणवाले
व्यक्तियों से प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होते हैं । यह अभिप्राय अद्रेश्यम् इस पद का है ।
इसी बात को भाष्यकार कहते हैं । परमात्मा में सूक्ष्म बुद्धि विषयता तो उदाहृत श्रुति के
अनुरोध से होना ही है । अग्राह्यमिति, अपरिच्छिन्न तथा अति सूक्ष्म होने के कारण मे
आकाशादि के समान हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय से अग्राह्य है । अर्थात् सावयव महत्पदार्थ का
ही हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय संप्राप्तत्व होता है । यह परमात्मा तो विलक्षण होने से कर्मेन्द्रिय

‘एतस्यैवाक्षरस्य प्रशामने गार्गि? सूर्याचन्द्रथमौ विधृतौ तिष्ठतः’ (बृ० ३।८।९) इत्याद्यनेकश्रुतिभिः परमात्मनः सर्वोत्कृष्टदिव्यज्ञानादिमत्त्वेनोक्तत्वान्न क्वापि निर्विशेषप्रतिपादकत्वम् । एतच्च तत्तदुपनिषद्विवेचनायां स्पष्टीकृतमस्माभिर्मिति तत एवाऽवगतव्यं विशेषार्थिभिरतोऽत्र विरम्यते ।

प्राकृतदेहादिरहितत्वेन व्यापकतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन लौकिकदृष्टपांदादिनागृहीतुमशक्यमित्येवार्थः । अगोत्रं वंशरहितमित्यर्थः एवं क्रमेणैतदन्यपदानामपि भाष्यदर्शितदिशाऽर्थोऽज्ञातव्य इति ।

एवं च सर्वत्र यः सर्वज्ञः इत्यादिना दिव्यज्ञानादिमत्त्वेनैव प्रतिपादनान्न ब्रह्मणोनिर्विशेषत्वमपि तु सविशेषत्वमेवेति जीवब्रह्मणोः सर्वथा सर्वदा पारमार्थिक भेद एवेति रमणीयः पन्थाः ।

से गृहीत नहीं होते हैं । अगोत्रमितीति स्वममान सजातीय द्वितीय ब्रह्म का जनक नहीं होने से अथवा पुत्रपौत्रादि लक्षण लौकिक परंपरा का प्रवर्तक नहीं होने से अगोत्र है । अथोत्वंश रहित हैं । ‘अवर्णमिति’—ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण अर्थात् जानि रहित हैं । अथवा लौकिक नीलपीतादि वर्ण रहित है । किन्तु सामान्यतः रूपाभागवान् नहीं है । यदि सामान्यतः रूपा भाववान् हो तो सूक्ष्म बुद्धि प्राप्तात् अनुपपन्न हो जायगा । अतः दिव्य रूपवान् तो अवश्य है । अर्थात् ‘अवर्णम्’ इस पद का अर्थ है प्राकृतिक रूप रहित । दिव्यानिदिव्य कमनीय रूपवान् तो अवश्यमेव हैं । ‘अचक्षुः श्रोत्रमिति—चक्षुः श्रोत्र के अनधीन दर्शन तथा श्रवणवान् है । श्रुत्यन्तर में भी कहा है ‘अपाणि पादो जवनोगृहीता पश्यन्चक्षुः सश्रुणोत्यकर्णः’ (हाथ पैर से रहित है तथापि वेगवान् तथा ग्रहण करनेवाले हैं, चक्षुः रहित है, तथापि पदार्थ जात को देखते हैं, कान नहीं है तथापि सुनते हैं ।) ‘अव्ययमिति’ व्यय शब्द विकारार्थक है तथा च सर्व विकार रहित होने से अव्यय कहलाते हैं । यद्यपि स्थूलावस्थ जगत् का कारण होने से विकारस्त्व प्राप्त होता है । तथापि परमात्मा का शेषभूत जो सूक्ष्म जड है उसमें जनकता विकारित्व होता है, किन्तु विशेषांश में न जनकत्व है न वा विकारित्व है । विशेषांश में जनकत्व होने से विशिष्ट में भी जनकत्व कथंचित् होता है ऐसा व्यवहार मात्र होता है ‘शिखीध्वस्तः’ इस स्थल के समान ऐसा ही सनातन वैदिक सिद्धान्त ‘स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो बुधैः । ब्रह्मणस्तु विकारो यन्न स्वरूप स्वभावयोः’ इत्यादि दिव्य प्रबन्ध द्वारा जमद्गुरु श्रीद्वारानन्दा

एतदुक्तम्भवति—‘यतो वा इमानि’ (तै० ३।१।१) इतिश्रुतिरपि सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मण एव लक्षणं दर्शयति । तदेव हि जगत्कारणम् । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदि’त्यादौ यथा यत्सत्पदवाच्यं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्माग्रे आसीत्तदेव च स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कारणमुक्तं तथात्रापि ज्ञेयम् । परं पराभिमतस्य केवलस्य

इतः पूर्वप्रकरणेन निर्विशेषस्य ब्रह्मणोजगज्जन्मादिकारणत्वं न लक्षणं किन्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यसगुणस्यैव ब्रह्मणः जन्माद्यस्ययत् इति सूत्रेण लक्षणं भवतीति प्रतिपादितम् । संप्रति यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादिश्रुतिरपि निर्विशेषस्य ब्रह्मणो लक्षणं न प्रतिपादयति किन्तु सविशेषस्यैव तस्य ब्रह्मणो लक्षणं वदति निर्विशेषस्य तथात्वेऽनेकदूषणं भवतीति प्रकरणे प्रतिपादितमपि पुनर्दोषान्तरं दर्शयितुं तन्मतयुक्तिराहित्यञ्च दर्शयितुमुपक्रमते एतदुक्तं भवतीत्यादि । यथेदं द्वितीयं सूत्रं ‘जन्माद्यस्ययत्’ इत्याकारकं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्यसगुणब्रह्मणो लक्षणं प्रतिपादयति । तथैव ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादिका कारणत्वप्रतिपादिका श्रुतिरपि सगुणस्यैव ब्रह्मण प्रतिपादयति न तु कदाचिदपि निर्विशेषस्य तस्य तथात्वं वक्ति । तथात्वेऽनेकदूषणजातस्य प्रदर्शितत्वात् । अग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च । तथा च सूक्ष्मचार्यजी ने स्थिर किया है । ‘भूतयोनिमितीति’ वह परमात्मा आकाशादि महाभूतों का योनि अर्थात् निदान कारण है । ‘धीराः’ परिपक्व मतयः कृतोपासनाः एतादृशं परमात्मानं परिपश्यन्ति । विशेषतो जानन्ति इत्युदाहृतश्रुत्यर्थः संपन्नः । एवम्—‘यः सर्वज्ञः स सर्वविद्’ (जो परमात्मा सर्व विषयक सामान्य रूप से ज्ञानवान् है वह परमात्मा सर्व विषयक प्रातिस्विकरूप से ज्ञानवान् है ।) ‘यस्य ज्ञानमयं तपः’ (जिसका तप ज्ञानरूप ही है ।) ‘एतस्यैवाक्षरस्येत्यादि’ अनेक श्रुत्यादिक प्रमाण परमात्मा में ज्ञानाधिकरणता का प्रतिपादन करता है । इस लिए सर्वत्र सगुण ब्रह्म की ही सिद्धि होती है । न तु किसी भी स्थल में निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है । निर्विशेष प्रतिपादन कही नहीं है इस बात का स्पष्टीकरण तत्तत् उपनिषद् वाक्यों के विवेचन समय में मैंने किया है । इस लिए विशेष जिज्ञासु व्यक्ति उसी स्थल में देखें । इस लिए मैं यहाँ विराम करता हूँ ।

निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतियों का स्वसिद्धान्तानुकूल अर्थ का प्रतिपादन करके सर्वत्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है इसका वादान्तर का निराकरण करके सिद्ध करने के लिए तथा प्रसंगात् विवर्तादिक वाद में असारता का उपपादन करने के लिए उपक्रम करने हैं

निर्विशेषस्य ब्रह्मणस्तु न जगतः कारणत्वं केनापि प्रमाणेन शक्यं
 मवगन्तुं नतरामारोपितस्य तस्य तत्र सुखादिभोक्तृत्वविकारित्ववै-
 षम्यनैर्घण्याज्ञत्वाद्यनेकदोषापत्तेः । किञ्च विवर्तादिवादानां मायि-
 मतप्रवर्तकानां विपरीतार्थोपस्थापकत्वमपीत्यपरंदूषणम् । एतत्सर्वं
 प्रागेवास्मिन्नधिकरणे सप्रमाणमभिहितम् । इदानीं प्रसङ्गात्तेषाम-
 चिदचिच्छरीरस्यैव ब्रह्मणो लक्षणं श्रुतिरपि वक्ति नतु सूत्रं सविशेषस्य ब्रह्मणो
 लक्षणं वदतुनाम् । परंतु श्रुतिस्तस्य तथात्वं वदतीति क्वदृष्टमित्याशङ्क्यामाह
 सदेवसोम्येदमित्यादि । हे सोम्य ! इदं परिदृश्यमानं सर्वस्थूलात्मकं वस्तु सत्पदवाच्यं
 यत् सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मतदात्मकमेवास्तीति अत्र सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं यद् ब्रह्म-
 तदेव स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कारणं कथितं तथैव यतोवा इमानि भूतानि इत्यादि
 श्रुतिरपि सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्टं ब्रह्मस्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कारणरूपेण विनिर्दिश्यमानं
 भवतीत्यर्थः । इति समुदीरितप्रकारेण सविशेषस्यैव कारणत्वं नतु केवलनिर्वि-
 शेषस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं भवतीति । यदि निर्विशेषं ब्रह्मजगतः कारणं भवेत्
 तदा तन्मते जीवपरमात्मनोरभेदात्, जीवगतक्रियाकर्तृत्वभोक्तृत्वादौ दोषाणां ब्रह्मण्यपि
 संक्रमात् जीववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वात्पञ्चत्वादिको दोषो ब्रह्मण्यापत्तेः । तथा ब्रह्म
 'एतदुक्तं भवतीत्यादि' गते प्रकरणे का यह सारांश है कि 'यतोवा इमानि—आत्मावा' इदमेकं
 अग्रे आसीदित्यादि श्रुतियां सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक जो सगुण ब्रह्म है उसीके लक्षण का प्रतिपादन
 करती है । किन्तु निर्गुण ब्रह्म के लक्षण का प्रतिपादन ही करती है । और एतादृश सूक्ष्म
 चिदचिच्छरीरक सविशेष ब्रह्म ही जगत् का कारण है । ब्रह्म में जो कारणता है वह सर्वत्र
 अभिन्न निमित्तोपादान लक्षण ही कारणत्व है । इस अभिन्न निमित्तोपादानत्व लक्षण कारणता
 का 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इस सूत्र में सूत्रकार तथा भाष्यकार ने निश्चित किया
 है । 'सदेवसोम्येदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि स्थल में जिस तरह सूक्ष्मचिदचिदि-
 शिष्ट ब्रह्म जगत के उत्पत्ति के पूर्वकाल में था वही सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म स्थूल चिदचि-
 द्विशिष्ट का कारण रूपसे कहा गया है । उसी तरह यहाँ 'यतोवा इमानि' इस स्थल
 में भी सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म स्थूल चिदचिद्विशिष्ट का कारण है ऐसा समझना चाहिए ।
 किन्तु मायावादी के अभिमत केवल निर्विशेष ब्रह्म परिदृश्यमान जड़ चेतन साधारण जगत्
 का कारण है इस वस्तुको किसी भी प्रमाण से जान नहीं सकते हैं । उस ब्रह्म में आरो-
 पित पदार्थ का तो किसी भी प्रमाण से ज्ञान होना अति असंभवित है । क्योंकि निर्विशेष

साङ्गत्यं युक्त्यपेशलत्वञ्च पुनः प्रदर्श्यते तथाहि दृष्टान्ते रज्जुगधि-
ष्ठानं तत्रारोपितः सर्पस्तयो रज्जौ नहि भवति भ्रान्तिर्नवा तत्कृतं
दुःखमपितु, रज्जुसर्पभिन्नानां तद्द्रष्टृणां मनुष्याणामेव तत्र
भ्रान्तिस्तद्धेतुकञ्च दुःखम्भवति । दार्ष्टान्ते त्वधिष्ठानं ब्रह्म तस्मि-
न्नेव चराचरात्मकं जगत्कल्पितम् । न हि तस्य कल्पितस्य जगतो

गतगुणानां जीवेपि संक्रमाज्जीवस्यापि सर्वज्ञत्वसर्वजनकत्वादिकत्वप्रसङ्गात् ।
तस्मात् न निर्विशेषस्य जगत्कारणत्वं किन्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य स्थूलचिदचिद्वि-
शिष्टं प्रतिकारणत्वम् । एतदेव सूत्रश्रुतिभ्यां प्रतिपादितम् । अन्यथा सुखादिभोक्तृ
त्वादिदोषस्य भाष्ये उक्तस्यापत्तिप्रसङ्गात् ।

ननु—‘यश्चोभयोः समोदोषः परिहारोपितादृशः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्ता-
द्वगर्थविचारणे’—इतिनियमेन निर्विशेषब्रह्मवादे यथा परजीवयोरभेदेन जीवकृत
दोषेण परमेश्वरोपि दोषवद् भवतीव । तथैवेतन्मतेपि दोषशेषिणोरुपयोरपि—अभि-
न्नत्वेनावयवकृतदोषस्यापत्तिसमानैव । शरीरवाचकपदानां शरीरिणीपर्यवसानस्य भव-
दभिमतत्वात् । ततश्चोभयमतेपि समानोदोषः । इत्याशङ्कामभ्युयेत्यापि प्रौढि-
वादेन तन्मते दूषणान्तरं दर्शयति किञ्चित्रवर्तादीत्यादि । यो यो मायावादिनां मत-
संस्थापने स्तम्भभूतोविवर्तादिवादः स तदीयं मतं न व्यवस्थापयति किन्तु तद्विरुद्धं सगु-
को लक्ष्य मानने में ब्रह्म में सुखादि भोक्तृत्व कारित्व अल्पज्ञत्व वैषम्यनैर्घृण्यादिक अनेक दोषों
की आपत्ति होती है । किंच मायावादियों के मत का प्रवर्तक जो विवर्तादिकवाद है
उसमें भी विपरीतार्थ का प्रतिपादकत्व है । अतः यह भी एक द्वितीय दोष इनके मतमें
होता है । अर्थात् यह विवर्तवाद निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन न करके स्वविरुद्ध सगुणवाद
को ही व्यवस्थित करता है ।

इन सब विषयों का इसी प्रकरण में इससे पूर्व में प्रतिपादन किया है प्रमाणपूर्वक
यदि इन सब वस्तुओं का पूर्वमें प्रतिपादन कर दिया गया है तब पुनः इसका विचार यहाँ
करना सर्वथा निरर्थक जैसा लगता है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं ‘इदानीं प्रसंगादित्यादि
अभी पुनः प्रसंगवश उन वादियों के मत में असंगति तथा युक्ति रहितत्व को बतलाते हैं ।
तथाहि ‘अयं सर्पः’ इत्यादिक दृष्टान्त में सर्पका अधिष्ठान है रज्जु तथा सर्प उसमें आरोपित हैं ।
तो इन अधिष्ठान तथा आरोपित सर्प को तो रज्जु में भ्रम नहीं होता है । न वा भ्रमजनित

ब्रह्मणश्च जगद्भ्रान्तिस्तद्धेतुकं संमरणञ्चोपपद्यते, किन्तु तद्विज्ञा-
नामेव तद्द्रष्टृणां स्यात् न चैतादृशा ब्रह्मचराचरात्मकजगद्विज्ञाः
केचिदन्य उपलभ्यन्ते येषामियं भ्रान्तिस्तत्कृतञ्च दुःखं स्यात् । ब्रह्म-
जगद्विन्नस्य कस्यचिदनुपलम्भाद्दृष्टान्तासङ्गतिः स्पष्टैव । तस्मा-
च्छ्रुतिस्मृतिप्रमाणसमधिगतस्य सुखदुःखादिभोक्तुश्रगाचरात्मकस्य

णब्रह्मवादादिमतमेवपुष्पातीति विरुद्धार्थप्रतिपादकतया अयं गौडवत्त्वादेतन्स्थलीया-
स्वपक्षमन्यवस्थाप्यविपरीतार्थमेवोपस्थापयतीति । यथा च विवर्तादिवादानां विरुद्धार्थ
प्रतिपादकत्वं तथापुरस्तादेव प्रतिपादितमितित एव द्रष्टव्यं पुनरुक्तदोषभियानात्र-
पुनर्विवेचितम् । ननु यद्यत्रयेदोषास्तेषां यदिपूर्वमेव निवेदनं कृतं तदात्रपुनस्तच्चिन्त-
नमयुक्तमिवभवतीत्याशयेनाह इदानीं प्रसङ्गादित्यादि यद्यप्यस्मिन् विवर्तादिवादेदोषाः
प्रागुद्भाविता एव तथापि प्रसङ्गामाद्यतन्मतस्यामङ्गलत्वं युक्तिरहितत्वं च पुनः
प्रदर्श्यते इति । तथाहि इदं रजनमित्यत्रपुनर्वर्त्तिमितभास्वरद्रव्यमधिष्ठानं भवति ।
अध्यस्तं च विलक्षणं रजतं भवति । तत्राधिष्ठानाध्यस्तयोर्मध्ये न कोपि ज्ञाता

भय कंपादिक भी होता है । किन्तु अधिष्ठान इदमंश तथा आरोपित सर्प से भिन्न जो द्रष्टा
उसको रज्जू में सर्प का भ्रम होता है । तथा भय कंपादिक भी होता है चैनन होने से ।
दाष्टान्तिक में तो जगदव्यास का अधिष्ठान ब्रह्म है । और उसी ब्रह्म में चराचरात्मक जगत्
कल्पित है ऐसा कहा है । 'अक्षमाभवतः केये साधकत्वं प्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तजौव
ज्ञानकल्पितम्' (ब्रह्म जगत् का विवर्ताधिष्ठान है । इसमें आपको क्या अगुया होती है ।
क्या उसी ब्रह्म में अज्ञान के बल से संपूर्ण जगत् कल्पित है इस बात को आप नहीं देखते
हैं ।) तो ब्रह्म में कल्पित जगत् का भ्रम होता है । नवा विवर्ताधिष्ठान ब्रह्म को ही भ्रम
होता है । नवा तादृश भ्रम से संसार प्राप्ति ही होती है । किन्तु अधिष्ठान ब्रह्म तथा अध्यस्त
जगत् इन से भिन्न किसी द्रष्टा को भ्रम होता है । तथा भ्रम का कार्य संसृणादिक होता
है । परंतु एतादृश ब्रह्म तथा चराचर से भिन्न तो कोई भी उपलब्ध नहीं होता है । जिसको
एतादृश भ्रम हो तथा भ्रम जनित दुःखादिक होगा । ब्रह्म तथा जगत् से भिन्न कोई उपलब्ध
नहीं होता है । अतः दृष्टान्त की असंगति स्पष्ट रूपसे है । तस्मात् श्रुति स्मृति प्रमाण से
समधिगत सुख दुःखादि के भोक्ता जो चराचरात्मक जगत् है उसमें कल्पितत्व की अनुपपत्ति
होने से केवल ब्रह्म में जगत्कारणता की सिद्धि नहीं होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है ।

जगतः कल्पितत्वानुपपत्त्या केवलस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वानिष्प-
 तोरद्वैतासिद्धिः । एवं बिम्बात्मकाधिष्ठाने कल्पितस्य प्रतिबिम्बस्य
 बिम्बस्य च न बिम्बेभ्रान्तिरपि तु तदुभयभिन्नानां तद्द्रष्टृणामेव
 तथा दार्ष्टान्तेऽपि ब्रह्मतदाभासभूतानां जीवानां न तदाभासभ्रा-
 न्तिरुपपद्यते किन्तु तदन्येषाम् । तादृशाश्च ब्रह्मतत्प्रतिबिम्बरूपजी-
 किन्त्वाभ्यामतिरिक्तः सचेतनः कोपिद्रष्टा ज्ञाता वा भवति प्रकृते ब्रह्मणि सर्वकल्पित-
 मिति ब्रह्माधिष्ठानमध्यस्तं च तदन्यतिरिक्तं सर्वं जगत् । आभ्यामधिष्ठानाध्यस्ताभ्या-
 मतिरिक्तोनास्तिकश्चित् । यो ज्ञाता कर्ता वा भवेत् । एवं भ्रान्तिभ्रान्तिजनितं-
 दुःखादिकं न भवत्यधिष्ठानाध्यस्तयोः किन्तु ताभ्यां विलक्षणस्य तदन्यस्य च भवति ।
 अत्र चाधिष्ठानमध्यस्तयोरतिरिक्तः सचेतनोनास्तीतिनाध्यासानुकूलो विवर्तवादादिरिति
 नतन्मत्तं समीचीनम् । एतत्सर्वं तथा हीत्यारभ्य दृष्टान्तासङ्गतिस्पष्टैवेत्यन्तप्रकरणेनद-
 शितः । न च इदं रजतमितिभ्रमस्थलेधिष्ठानं शुक्लयादिकमध्यस्तं च रजतादिकं
 तादृशभ्रान्तिमान् ब्रह्मणि कल्पितो व्यवहारदशायामनादिप्रवाहादागतोजीवोध्या-
 सस्य कर्ता भ्रान्ति जनितदुःखादिमान् भवतीति नास्तिकाप्यनुपपत्तिरितिवाच्यम् ।

एवं विलक्षण अधिष्ठान में कल्पित प्रतिबिम्ब तथा बिम्ब का बिम्ब में भ्रम नहीं होता
 है । किन्तु बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब से भिन्न उन दोनों को देखनेवाला किसी अन्य द्रष्टा को
 भ्रम होता है यह लोक प्रसिद्ध है । इसी तरह दार्ष्टान्तिक में भी ब्रह्म तथा ब्रह्म का भास
 रूप जो जीव इन दोनों को ब्रह्म में आभासजनित भ्रम नहीं हो सकता है । किन्तु इन दोनों
 से भिन्न को ही आभास भ्रम होगा । किन्तु एतादृश ब्रह्म तथा तद्विप्रतिबिम्ब रूप जो जीव,
 उससे भिन्न समीचीन ज्ञानवान् तो अन्य कोई भी उपलब्ध नहीं होता हैं । जिसमें दृष्टान्त
 का समर्थन किया जाये । क्योंकि ब्रह्म तथा तद्विन्न कोई भी पदार्थान्तर तो है ही नहीं ।

और भी देखिये, केवलाद्वैतवादी के मत में, ब्रह्म को निरवयव तथा सर्व व्यापक माना
 गया है तो एतादृश ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी असंगत है । क्योंकि सावयव परिच्छिन्न रूपादिमान
 पदार्थ का प्रतिबिम्ब होता है । जिस तरह रूपादिमान् सावयव चन्द्रमाका विप्रकृष्ट सावयव
 रूपादिमान् स्वच्छ जल में होता है । नतु अति समीपस्थ निरवयव व्यापक पदार्थ का
 प्रतिबिम्ब होता है । यथा काल दिशा का प्रतिबिम्ब नहीं देखने में आता है । तो प्रकृत में
 निरवयव तथा व्यापक ब्रह्मका प्रतिबिम्ब सर्वथा असंगत है । नहीं कहोकि लोक में तो

वभिन्नाः सत्प्रत्ययवन्तो न केऽप्युपलभ्यन्ते यत्र दृष्टान्तमपर्थनं
 स्यात् । किञ्च तदीयसिद्धान्ते निरवयवस्य विभुनो ब्रह्मणः प्रति-
 बिंबोऽप्यसम्भवी । सावयवस्य परिच्छिन्नस्यैव च लोके प्रतिबिंब-
 र्शनात् । न च दृष्टमेव लोके निर्मलांभसि निरवयवस्यापि नभसः
 प्रतिबिंब इति वाच्यम् । तत्र वियति विद्यमानस्य मेघस्य समीपम-
 एतादृशत्वदीयानादिप्रवाहपरिभाषायाः श्रुत्यादिप्रमाणासिद्धतया प्रामाणिकपरिषद्ना
 देयत्वात् । तदेवग्राह्यं यत् श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धं भवेत् । तदभावे तदभावात् । सप्त-
 मरसादिवदिति । तस्मान् श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धजगज्जीवादिपदार्थानां कल्पनाविषय-
 त्वस्यानुपपत्तौ निरवच्छिन्नस्य चैतन्यमात्रस्य जगज्जनकत्वस्याभिद्ध्या तन्मूलका-
 द्वैतवादस्य सिद्धिर्न भवतीति प्रकरणार्थपरिस्कृतो भवतीति भावः । अक्षरार्थस्त्वति-
 रोहितः ।

एवं तन्मतसिद्धः प्रतिबिम्बवादोऽपि न समीचीनस्तत्रापि बिम्बप्रतिबिम्बभिन्नस्य
 कस्यचित्तत्त्वस्याभावेन द्रष्टुरभावात् । 'तस्मिन्निर्दोषे स्फारे समस्तावस्तु दृष्टयः ।
 इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः' इत्यादिना बिम्बभूते परब्रह्मणि समस्त
 देखने में आता है कि निर्मल जानु प्रमाणक जल में निरवयव नीरूप आकाश का तो प्रति-
 बिम्ब होता है । तो उसी तरह प्रकृत में निरवयव नीरूप ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब होगा ।
 अथावा निरवयव रूप रहित नीलादि रूपका प्रतिबिम्ब होता है उसी तरह निरवयव
 निरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होगा ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जलादिक में आकाश
 का प्रतिबिम्ब नहीं होता है । किन्तु आकाश में विद्यमान जो मेघ अथवा वायु से समीपित
 प्रेरित जो धूलिकण या धूमादिक परिदृश्यमान पदार्थ उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है । किन्तु
 आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता है । न ही कहो कि निरवयव नीरूप जो जयाकुसुम का
 आरोप्य है उसका प्रतिबिम्ब तो स्फटिक में होता है । उसी तरह प्रकृत में होगा, ऐसा
 कहना ठीक नहीं है । क्योंकि आरोप्य जहाँ दूरवर्ति रहता है, उसी स्थल में अनिर्वचनीय
 ख्याति को मानते हैं । प्रकृत में आरोप्य जो आरोप्य है वह तो समीपवर्ती है । इसलिए
 प्रकृत में आरोपित प्रतिबिम्ब नहीं है किन्तु प्रकृत अन्यथा ख्याति मात्र है । वस्तुतः आकाश
 निरवयव नहीं है । किन्तु परम पुरुष से जायमान होने से अनित्य तथा सावयव है
 'आकाश सावयव है जन्य होने से घटादिक की तरह ('आकाशः सावयवो जन्यत्वात् घटा-
 दिवत्') इस अनुमान से निरवयवत्व का विरोधी सावयवत्व सिद्ध होता है । एवं पञ्ची-

मीस्तिरजः कणधूमादीनामेव वा दृश्यमानत्वात् । वस्तुतो न नभसो निखयवत्वं निरूपत्वञ्चेत्यन्यत्र निरूपितम् । अतोऽस्यापि दृष्टान्तस्यासामञ्जस्यम् । द्विचन्द्रभ्रान्तिरप्यधिष्ठानरूपैकस्मिंश्चन्द्रमसि नारोपितद्विचन्द्रस्य न वाधिष्ठानभूतस्यैकस्य तस्य किन्तु अङ्गुल्याद्यवष्टंभेन दोषवशात्तमोऽपहतचक्षुष्कस्य कस्यचित्तैमिरिकस्यैवेति नानेनापि दृष्टान्तेन भवदभिमतसिद्धिर्दृष्टान्तवैपरीत्यञ्च ।

जगत् प्रतिबिम्बतम् । जीवोपि प्रतिबिम्बित एव । तदा प्रतिबिम्बभूतं जगत् कः पश्यति । तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभूतातिरिक्तस्याप्रसिद्धिः, उक्तयुक्तेरेव । तस्मात्प्रतिबिम्बवादोऽप्रामाणिकोऽनादेय एव । अपि च निरवयवस्य नित्यस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बोपि न भवति । रूपवतामेव रूपादि मति जलादौ प्रतिबिम्बदर्शनात् । न च यथा निर्मलजले रूपादिरहितस्याकाशस्यप्रतिबिम्बो भवति तथैव निरवयवस्य परमेश्वरस्यापि तथास्यादिति वाच्यम् । न हि जलादावाकाशप्रतिबिम्बतो भवति किन्तु तत्रा भ्रादेरेव प्रतिबिम्बस्य संभवात् । तदुक्तं—‘शब्दगन्धरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बतेति । तस्मात्प्रतिबिम्बवादोऽपि न युक्तः । न च ‘रूपं रूपं प्रतिरूपः’ इत्यादिना प्रतिबिम्बवादः समर्थित एवेति वाच्यम् । तादृशश्रुत्यर्थस्यान्यथैव नयनादिति दिक् ।

कारण प्रक्रिया से आकाश में भी रूपवत्ता है । इस बात का स्पष्टीकरण ‘वैशेष्यानुत्तद्वादस्तद्वादः’ इस सूत्र में स्पष्टीकरण किया जायगा इसलिए प्रतिबिम्बवाद में आकाश का दृष्टान्त असंगत है । यह प्रतिबिम्बवाद विवरणाचार्य का मत है । इन्होंने निरवयव द्रव्य का भी प्रतिबिम्ब मान करके इस वाद को अग्रसर किया है । परन्तु यह वाद वाचस्पतिमताभिप्रायक नहीं है । इसलिए कतिपय आचार्यों ने भी इस वाद को स्वीकार नहीं किया है । सिद्धान्तवादी तो कहते हैं कि इन लोगों की जो यह प्रक्रिया है वह युक्ति श्रुति रहित होने से अनादरणीय है इस प्रतिबिम्बवाद का सयुक्तिक श्रुतिस्मृति के द्वारा मैंने श्रीरघुवरी यवृत्तिविवरण सारबोधिनी में निराकरण किया है अतः विशेषार्थियों को वही देखना चाहिए एक चन्द्रमा में जो द्विचन्द्रभ्रम है वह भी अधिष्ठानभूत एक चन्द्रमा में आरोपित द्विचन्द्र की है न वा अधिष्ठानभूत प्रथम चन्द्रमा को विभ्रम होना है । किन्तु अङ्गुल्यादिक के अवष्टंभ से दोषवत् के कारण, अपहत चक्षुवाले पुरुष को तादृश विभ्रम होता है । तो यहाँ भी केवल अन्यथा ख्याति है । इसलिए द्विचन्द्रादिदृष्टान्त से केवलाद्वैतवादी का अभि-

अत्रायमधिकरणार्थमङ्ग्रहः । 'यतो वा इमानि भूतानि
जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिमंविशन्ति तद्विजिज्ञामस्व
तद्ब्रह्म' (तै० ३।१) 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो
द्विचन्द्रादावपिनचन्द्राधिष्ठानम् । दोषवशादेव तथा प्रतीतेरित्यादिकं भाष्योक्तदूषण
जातं यथावदवगन्तव्यं भाष्याक्षरादेवेति संक्षेपो विस्तरस्त्वन्यत्रेति ।

पराभिमतप्रतिविम्बवादादिकं निरस्य वाचस्पतिममतमवच्छेदवादं निराकर्तुं-
प्रथमतस्तन्मतं संक्षेपेणपरिष्कृत्यदोषप्रदर्शनेनापहस्तयितुमुपक्रमते नन्ववच्छेदवादमाश्रित्ये-
त्यादि भाष्यम् यद्यपि नीरूपमवच्छेदवापकस्यप्रतिविम्बो न संभवति । अन्यत्र रूपवतां
परिच्छिन्नविप्रकृष्टानामेव प्रतिविम्बदर्शनेन ब्रह्मणो न प्रतिविम्बस्तदभावेचस्वरचित
लोकयात्रा न निर्वहति तथापि एतादृशमरुचिमालक्ष्यदृष्टान्तमसिद्धावच्छेदमाश्रित्य-
लौकिकवैदिकलोकयात्रानिर्वाहकायाऽवच्छेदवाद आश्रितः टीकाकारेण तदीय-
मत आरोप की सिद्धि नहीं होती है । और आपका कथन दृष्टान्त से विपरीत भी है ।
इत्यादिक अनेक दोष अध्यासवाद में है । इसलिङ्ग केवलाद्वैत का अध्यासवाद सर्वथा अना-
दरणीय है इति संक्षेपो विस्तरस्त्वन्यत्रेति ।

प्रतिबिम्बवादाद का निराकरण करके वाचस्पति मतसिद्ध अवच्छेदवाद को निराकरण
करने के लिए प्रथमतः तदीय मन का संक्षेप से विवेचन करने के लिए कहते हैं 'नन्व-
वच्छेदवादमित्यादि । प्रतिबिम्बवाद में जो दोष दिया है, उसका समाधान तो अवच्छेदवाद
में हो जाता है तो तदीय सर्व प्राकृत्या सुसंगत ही है । तथाहि, जिस तरह घटादि से
अवच्छिन्नाकाश परिच्छिन्नवत् भासित होता है । परन्तु घटादि लक्षण जो अवच्छेदक उसका
कारणवशात् विनाश होजाने पर वही घटाकाश निरवच्छिन्न महाकाश से एकात्म को प्राप्त
करता है ।' 'घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे ।' उसी तरह अनादि कालिक अविद्या से
अवच्छिन्न जीवशब्द वाच्य जो चेतन है वह पुर्यमतोपाजित श्रवणमननादि द्वारा साक्षात्कारी
ज्ञान लक्षणतत्त्व ज्ञान से अविद्या का विनाश हो जाने पर ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है ।
इस पक्ष में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है । ऐसा अवच्छेद वादियों का कथन है ।
यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस तरह घटावच्छिन्न आकाश का जो प्रदेश है, उसका
अवच्छेदक घट को प्रदेशान्तर में जाने पर उस घट से अवच्छिन्न जो प्रदेशान्तराकाश है,
वह पूर्वकालावच्छिन्न आकाश से अति भिन्न है । पूर्वप्रदेशाकाश को तादृश आकाश का
अवच्छेदक जो घटादिक, उस घट के गमनवत् प्रदेशान्तर में घटादि के साथ गमन अनुप-

न ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्तेकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' (श्वे० ३।९) 'स्मन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परम्ब्रह्माभिवीयते' (श० पू० ता० १।६) एवमादयोऽस्य विषयः । अत्र जगज्जन्मादिकं ब्रह्मणो लक्षणं सम्भवति न वेति संशयः । न सम्भवतीत्येव युक्तमनियतत्वाद् ।

मतमाश्रित्यवक्ति भवतु प्रतिबिम्बाभाववस्तथापि, अवच्छेदवादमाश्रित्यैतत्पूर्वोक्तस्य सर्वस्यापिनिर्वाहस्यादेवेति । तदीयमतमेवदर्शयति—तथाहीत्यादि यथा घटादिपरिच्छिन्नपदार्थेनावच्छिन्नआकाशोमहाकाशसंज्ञाविहायघटाकाशादिसंज्ञां लब्ध्वा अयं घटाकाशोऽयं पटाकाश इत्यादिव्यवहारभाग्भवति । यदापुनर्दण्डादिप्रहारजनितघटाद्यवच्छेदकविनाशेसतिघटाकाशादिस्वरूपं परित्यज्यमहाकाशपदबोधो भवति । अर्थात् महाकाशव्यवहारवानेव भवति अवच्छेदकमेदवशादन्यथाव्यवहियमाणोपितादृशावच्छेदकविनाशे स्वकीयवास्तविकरूपमासाद्य महाकाश एव भवति । तथैव ब्रह्मविषयकपन्न है । अर्थात् घट जब प्रदेशान्तर में जाता है तब तद्गत आकाशांशका गमन नहीं होता है । उसी तरह अविद्यावच्छिन्न प्रदेशान्तर में स्थित ब्रह्म के अंश रूप जीवसे, अविद्या लक्षण जीव के उपाधि रूप जो शरीर, उसको प्रदेशान्तर में जाने से तादृशपूर्व शरीर लक्षण-उपाधि से अवच्छिन्न अचल ब्रह्मांश को पूर्व अंशापेक्षया अंशान्तर हो जाना है तब अविद्यावच्छिन्न पूर्वावस्था से अवच्छिन्न जो ब्रह्मांश है उससे अनुष्ठित जो पुण्यपाप उसका उत्तर-प्रदेशावच्छिन्न ब्रह्मांश से भोग्यत्व की आपत्ति होगी । तब तो अकृताभ्यागम तथा कृतप्रणाशरूप दोष होगा जो कि महादोष है । अर्थात् जिस प्रदेशस्थित ने कर्म किया, उस कर्म का फलभोग प्रदेशान्तरावस्थ ब्रह्मांश को हुआ । और जिसने किया उसको तादृश कर्म जनित फल का विनाश हो गया । और भी आपके मतमें ब्रह्मदेश कालादि रूप परिच्छेद से रहित है । तो तादृश ब्रह्म को अविद्यावच्छिन्न मानेंगे तब तो वस्तु परिच्छिन्नत्व होने से देश कालादि से अपरिच्छिन्नत्व रूप जो लक्षण है वह बाधित हो जायगा । इसलिये यह अवच्छेदवाद ठीक नहीं है यह सिद्ध हुआ ।

‘एवमन्येषामपीत्यादि । इसी तरह अवच्छेदवादादिक की तरह इससे अन्य आपात रमणीय केवलद्वैतमत सिद्ध निर्विशेष ब्रह्माद्वैत साधक युक्ति तथा दृष्टान्तों का तत्त्व बुद्धि से विचार करने पर बालुका भित्ति के समान शिथिल मूलकत्व ही प्रतीत होता है । यह वस्तु बुद्धिमान् व्यक्तियों को अविदित नहीं है । इसलिये मैं यहां विराम करता हूँ ।

तथाहि समानधर्मिकव्यावर्तकधर्माणां स्वाश्रयभेदकत्वनियमाज्जन्मादिकारणत्वरूपधर्मे धर्मिभेदः प्राप्नोत्येव ।

यत्र तु मानान्तरेणैक्यावगमश्छत्री वामस्वी कुण्डली देवदत्त इत्यादौ तत्र न भेदः । प्रकृते ब्रह्मणो मानान्तरागोचरतया धर्मिभेदः स्यादेव । तस्मान्नेदं करणत्वादिकं तस्य लक्षणम्, अपि तु

जीवाश्रिताविद्यालक्षणावच्छेदकेनावच्छिन्नं चैतन्यमेव तत्सत्तायां जीव इति व्यवहारमासाद्य लौकिकचैदिकलोकयात्रां निर्वर्त्ययावत्संसारमवस्थितो भवति । अथैतन्मते ब्रह्म विषयकब्रह्माश्रिताऽविद्यासंसारं जनयति द्रुतकृतम् 'आश्रयन्त्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेवकेवला । पूर्वसिद्धतमसोहि पश्चिमोनाश्रयो भवति नापि गोचरः' । अस्यार्थः निरवच्छिन्नं चैतन्यमेवाज्ञानस्याश्रयोविषयश्च भवति । नतु अज्ञानात्परकालिकोजीवस्तस्याश्रयोविषयश्च भवति, अज्ञानजन्यत्वात्, नहि जन्योजनकस्याश्रयोभवतीति । एकं मतम् 'अज्ञाननटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत् । जीवज्ञानं जगद्बीजं-

ऐसा होने पर जब ब्रह्म में धर्मों का भेद नहीं है तब निःसमाप्यधिक अद्वितीय वस्तु के सद्भाव होने से लक्षण द्वारा ब्रह्म को जानने की शक्यता होने से, उस ब्रह्म में वेदान्तों का प्रामाण्य संभक्ति है । इसलिए समारंभणीय ब्रह्म जिज्ञासा हो सकती है ।

यहां द्वितीय अधिकरण प्रतिपाद्य वस्तु का संग्रह वक्ष्यमाण प्रकार से होता है । तथाहि—जिस परब्रह्म परमपुरुष श्रीराम से आकाशादिक चिदचित् पदार्थ उत्पन्न होते हैं । तथा उत्पन्न होकरके जिसमें व्यवस्थित रहते हैं । और प्रलयकाल में जिसमें प्रलीयमान हो जाते हैं । उसकी जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है । 'जिसके अपेक्षया कोई पर तथा अधिक नहीं तथा अपर भी नहीं है । जिसके अपेक्षया कोई अणु सूक्ष्मनही है नवा कोई बड़ा है । वृक्ष के समान निश्चल प्रकाशात्मक स्थान में स्थित है । एतादृश पुरुष से यह संपूर्ण जगत्-स्थावर साधारण विश्वव्याप्त है ।' [३वे०] । इस अनन्त नित्य आनन्द स्वरूप चिदात्मा परम पुरुष श्रीराम में योगिजन रमण करते हैं । 'इसलिए रामपद से परम ब्रह्मवाच्य होते हैं ।' इत्यादिक वचन समुदाय, इस अधिकरण का विचाणीय विषय होता है । यहां जगज्जन्मादिक ब्रह्म का लक्षण हो सकता है अथवा नहीं हो सकता है । एतादृश संशय होता है । क्योंकि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिक श्रुतिप्रकरणवश परमपुरुष का उपस्थापक है और जन्मादिक जो है वह जगत् का धर्म है । नित्य अनादिपरम पुरुष में

जगन्निष्ठजन्मादिकमेवोपलक्षणविधया लक्षणं वक्तव्यम् । तदपि न
क्षोदक्षमम् । ब्रह्मणि ज्ञाताकारज्ञाप्याकारयोरभावात् । तथा पूर्वे गगने
ज्योतिर्मण्डलमालोकयतः पुंसोऽस्ति कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदिकस्यार्थः,
योऽसावस्मिज्ज्योतिर्मण्डले वर्तत इति जिज्ञासोरत्र ज्योतिर्मण्डले कञ्च
न्द्र इति प्रष्टारम्प्रत्युपदेशस्तद्विदः शाखाग्रे चन्द्र इति । तत्र ज्योति-
र्मण्डलसम्बन्धितेजः पिण्डत्वन्त्ववगतत्वाज्ज्ञाताकारश्चन्द्रशब्दवाच्य-

वभाषे भामतीपतिरिति । ब्रह्म नाहं जानामीतिप्रतीत्या, अज्ञानस्यविषयो ब्रह्म, आश्रय
इचजीवः । तथा च जीवाश्रितब्रह्मविषयकमज्ञानं जगतः कारणमितिवाचस्पतिः ।
ततश्चतादृशाज्ञानवलेन ब्रह्मैव जीवात्मकं भूत्वा संमरतिः । पुनश्च प्राक्तनस-
त्कर्मपरिपाकात् श्रवणादिद्वारेणावाप्तसाक्षात्कारितत्त्वज्ञानेन निवृत्ताज्ञानोजीवोजीवत्वं
हित्वानिरवच्छिन्नचैतन्यक्षणमेवभवतीति, अवच्छेदवादस्याभिप्रायः । एतद्विषयेविशेष-
विवरणं तदीयग्रन्थानुसारेणान्यत्रैव द्रष्टव्यमिति पूर्वपक्षः ।

उत्तरन्तु—घटावच्छिन्नाकाशप्रदेशादवच्छेदके घटे देशान्तरगतेसति तेनोत्तरा-
वच्छेदकेनावच्छिन्ना आकाशप्रदेशः पूर्वापेक्षयाविभिन्न इतिवदिहपूर्वशरी-
रहता नहीं है । इस प्रकार से उभय कोटि की उपस्थिति होने से संशय होता है । समान
धर्म का दर्शन विप्रतिपत्ति प्रभृतिक वस्तु संशय का जनक है ऐसा—‘समानानेकधर्मिक’
—इत्यादि गौतम सूत्र है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जगज्जन्मादिक ब्रह्म का
लक्षण नहीं है । क्योंकि व्यधिकरण धर्म होने से, जो घट निष्ठ विशेष्यता का व्यधि-
करण धर्मपटत्वादिक वह घट का लक्षण नहीं होता है । नवा गन्धत्व लक्षण पृथिवी भिन्न
होता है एवं जगज्जन्मादिक धर्म अनियत है । इसलिए ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता है ।
अनियतत्व का स्वर्णी करण करते हैं भण्यकार ‘तथा हीन्यादि’—एक अधिकरण में रहनेवाला
स्वेतरव्यावर्तक धर्मों को स्वाश्रय भेदकत्व होता है ऐसा नियम है । तो जन्मकारणत्व स्थिति-
कारणत्व तथा नाश कारणत्वादिक जो विभिन्न व्यावर्तक धर्म हैं उनके द्वारा धर्मों जो
ब्रह्म उसमें अवश्य भेद होगा अर्थात् जगत्कारण ब्रह्म से भिन्न जगत् पालक ब्रह्म हो
जायगा तथा जगत्पालक से भिन्न जगन्नाशक होगा यह आपत्ति होगी ही नहीं कहो
कि एक ही देवदत्त में ‘पण्डितोवदान्योमानी’ इत्यादि स्थल में धर्म जो पण्डितत्वादिक,
उनका भेद होने पर भी देवदत्त रूप विशेष्य में तो कोई भेद नहीं होता है । उसी

त्वमेव ज्ञाप्यमिति तस्य ज्ञाप्याकारत्वम् । तदुभयमपि ब्रह्मणि न सम्भवति मानान्तराविषयत्वात्तस्य । न च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।२) इति स्वरूपलक्षणप्रतिपत्तस्य सत्यत्वादेर्ज्ञाताकारत्वमस्त्येवेति वाच्यम् । तथा सत्युक्तस्वरूपपरिचायकवाक्येऽनेकधर्माणां कीर्तनाद्धर्मिभेदस्तदवस्थ एव । तत्राप्युपलक्षणत्वस्वीकारे तु प्राक्स्व-

रावच्छेदकविनाशे उत्तरावच्छेदकेनावच्छिन्नस्य भेदे अकृतागमपूर्वप्रणाशरूपदोषापत्तेः । एवं देशकालादिविरहितस्य ब्रह्मणस्तदवच्छिन्नत्वे वस्तुपरिच्छिन्नत्वं बलादापतितमित्यपि दोषोऽवच्छेदवादे भवतीति नैतन्मतमपि समीचीनमिति । तथाहि यथा घटावच्छिन्नाकाश इत्यारभ्य वक्तुं शक्यमिति सिद्धमित्यन्तप्रकरणस्य निर्गलितोर्थ इति ।

एवमन्येषामपीत्यादि एवं प्रतिविम्बवादावच्छेदवादादिवदेव, ब्रह्माद्वैतसाधकतन्मतामिद्वयुक्त्यादिदृष्टानामापाततो रमणीयानां सबुद्ध्याविविच्यमानेवालुकाभिचि-
दसाधकत्वमेव भवतीति । तथा च यदा परमात्मनि धर्मिभेदो न भवति तदा तन्म-

तरह प्रकृत में भी धर्मजगत्कारणत्वादिक का भेद होने पर भी विशेष में भेद नहीं होगा । इस शंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि—'यत्र तु मानान्तरेण' इत्यादि । जिस स्थान में प्रमाणान्तर के द्वारा धर्मी में अभेद सिद्ध है । यथा 'छत्रीकुण्डलीवासस्वीदेवतः' यहाँ जो ही छातावाला है कुण्डलवाला तथा नम्रवाला है । इसमें धर्मी देवदत्त का अभेद वह प्रत्यक्ष प्रमाण से विनिश्चित है तो यहाँ धर्मभेद होने पर भी, धार्मिमाहक प्रमाण अभेद विरोधी भेदवाचक हो जाता है । अतः भेद का प्रतिभासन होता है । प्रकृत में तो ब्रह्म किसी प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं है । तो इसमें धर्म भेद धर्मी भेद का प्रयोजक अवश्य होगा । तस्मात् जगत्कारणत्वं ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकेगा । किन्तु जगत् जन्मादिक को उपलक्षण रूप से ब्रह्म का लक्षण होने की संभावना है । तो उपलक्षणविषया लक्षण कहियेगा । परन्तु यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्म में ज्ञाताकार तथा ज्ञाप्याकार का अभाव है । जैसे प्रथमत आकाश में उयोर्निर्मण्डल को प्रत्यक्ष प्रमाण से देखनेवाले पुरुष को चन्द्रप्रतिपादित का अर्थ अवश्य कोई है ऐसा ज्ञान होता है । तदनन्तर चन्द्ररूप अर्थ के जिज्ञासु व्यक्ति को, इस उयोर्निर्मण्डल में कौन चन्द्रमा है । एतादृश प्रश्न करनेवाले पुरुष को जो चाद्रूमा के जाननेवाले व्यक्ति हैं वे प्रश्नकर्ता को कहते हैं । 'शाखा के अग्रभाग में जो अवस्थित है वही चन्द्रमा है' उसमें उयोर्निर्मण्डल

रूपसिद्ध्यर्थं किञ्चिल्लक्षणान्तरमपेक्षणीयं तत्सिद्ध्ये पुनर्लक्षणान्तर-
मित्यनवस्था । एतत्परिजिहीर्षया 'यतोवे'त्यादिवाक्यापेक्षायां पुनर-
न्योन्याश्रयः । ज्ञाप्याकास्तु तथाप्यनुपपन्नो वेदान्तानामद्वैते निर्वि-
शेषे नात्पर्यग्राहकत्वात् । तस्माद् ब्रह्मणो लक्षणस्यासम्भवान्न ब्रह्म-
विचार आरम्भणीय इति पूर्वपक्षिते ब्रूमो जन्मादेः प्रपञ्चगतत्वेन

ततदधिकपदार्थसहितपदार्थस्य लक्षणद्वाराज्ञातुंशक्यतया, तत्र ब्रह्मणि वेदान्तस्य प्रमाण-
त्वात् ब्रह्मजिज्ञासाऽवश्यमेवारम्भणीयेति । तदीयजिज्ञासायां तज्ज्ञानस्यकारणत्वेन ब्रह्म-
ज्ञानायवेदान्तानामेव तथात्वेन ब्रह्मजिज्ञासासम्भारभ्य एवेतिभावः ।

विस्तररूपेण विविच्यमानस्य जन्माद्यधिकरणस्यार्थं संगृह्यस्वल्पाक्षरेणवक्तुमुप-
क्रमते अत्रायमधिकरणार्थेत्यादि । 'यतो वा इमानिभूतानि, यस्मात्परं नापरम्, रमन्तेयोगि-
नोऽनन्ते' इत्यादिकोवेदविचारणीयः । तत्र जगज्जन्मादिकं ब्रह्मणो लक्षणं भवति न
वेति संशयः । न संभवतीति पूर्वपक्षः । यतः, जन्मादिधर्मस्य जगति विद्यमानत्वेन
वृत्तित्वाभावात् । लक्ष्यवृत्तिधर्मस्यैवलक्षणत्वात्, तस्येहाभावात् । जगन्निष्ठाजन्यतानि-
रूपितजनकत्वसंबन्धेन जन्मादेर्ब्रह्मवृत्तित्वं कदाचित् स्वीक्रियते चेत्तदापि लक्षणविशे-

सम्बन्धी तेज पिण्डत्व, अवगत होने से ज्ञाताकार होता है, और चन्द्र शब्द का वाच्य जो है
वह ज्ञाप्य है । इस प्रकार से ज्ञाप्याकारत्व होता है । प्रकृत में तो यह ज्ञाताकारत्व तथा
ज्ञाप्याकारत्व ब्रह्म में संभविन नहीं हैं । क्योंकि ब्रह्म तो चन्द्रमा के समान प्रमाणान्तर का
विषय नहीं है । ब्रह्मतो केवलवेदैकसमधिगम्य है । अर्थात् चन्द्रमातो प्रमाणान्तर समधिगत
पदार्थ है । तो प्रमाणान्तर विषयता रूपसे उसमें ज्ञाताकारत्व तथा औपदेशिक ज्ञान विषय-
तयाज्ञाप्यत्व होने से उभयाकारत्व घटता है । प्रकृत में तो ब्रह्म प्रमाणान्तराधिगत नहीं है ।
इसलिए ज्ञाताकारत्व तथा ज्ञाप्याकारत्व, एतदुभय इसमें नहीं हो सकता है । नहीं कहोकि,
'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित जो सत्यत्वादिक स्वरूपतया ज्ञात धर्म है ।
तादृश सत्यत्वादिक के द्वारा ज्ञाताकारत्व तो ब्रह्म में भी प्रसिद्ध है । ऐसा नहीं कहना, क्यों
कि तादृश सत्यत्व अनन्तत्वादिक धर्म को अनेक होमे से तादृश धर्म द्वारा धर्मो रूप ब्रह्म में
अनेकत्वापत्ति हो जायगी । क्योंकि समानधर्मिक धर्म का भेद धर्मोका व्यावर्तक होता है ऐसा
नियम है । यदि सत्यत्वादि धर्म को विशेषण न मानकरके काकादिवत् उपलक्षणमाने, तब तो

यद्यपि ब्रह्मण्यसम्बन्ध एव तथापि तदस्थतया लक्षणं सम्भवत्येव । यत्तूदीर्घादिमुभयाकारासंभवादिति तत्र । लक्षणजिज्ञासाप्रयोजकज्ञान विषयाकार एव ज्ञाताकारस्तज्ज्ञानमादायैवात्र ज्योतिश्चक्रे कश्चन्द्र ? इति प्रश्नः सङ्गच्छते । तस्य च 'शाखाग्रे चन्द्रः' इति युक्तमेवो-
तस्म । प्रकृतेऽपि मुमुक्षुजनैरूपासनीयताज्ञाननिमित्तकत्वाद्द्वार्गवप्रश्न-
स्येति ज्ञाताकारः संभवत्येव । एवं ज्ञानविषयरूपवस्तुनि निरतिश-

षणस्य लक्ष्यभेदकत्वेन प्रकृतेजन्मादिलक्षणीभूतविशेषणानामनेकत्वेन लक्ष्यब्रह्मणोऽनेक-
त्वप्रसङ्गात् । घटत्वपटत्वादीनां भेद एवघटपटादिधर्मिणां भेदको भवति, अन्यथा तद्-
भेदानुपपत्तेः । न च 'लघ्वीकुण्डलीत्यादौलघ्वकुण्डलादिविशेषणानां भिन्नत्वेपि न भवति
धर्मिभेद इतिवाच्यम् तत्र प्रबलप्रत्यक्षादिप्रमाणेनैकत्वस्यविनिश्चयात् । प्रकृते लक्ष्यस्य-
प्रमाणान्तराविषयत्वेन धर्मिभेदस्यानिवार्यत्वात्तस्मान्नेदं लक्षणं संभवति । उपलक्षणा-
पिलक्षणत्वंजन्मादीनां न भवति तथा सति अनवस्थादिदोषप्रसक्तेरितिपूर्वपक्षाशयः ।

उत्तरन्तु-यद्यपिजगज्जन्मादीनां ब्रह्मणि संभवान्नेदं लक्षणं तथापि लक्षणं द्विविधं
भवति, स्वरूपलक्षणमेकमपरं तदस्थलक्षणम्, तत्र यथा प्रलयकालिकपृथिव्यामेवमुत्पत्तिका-
लिकपृथिवीविशेषस्य गन्धवत्वस्य गन्धवत्त्वंपृथिव्यास्तदस्थलक्षणत्वंसम्भवति, तथा प्रकृते

पूर्वरूप के प्रसिद्धि के लिए अर्थात् धर्मों का ज्ञान हो इसलिए लक्षणान्तर का अन्वेषण करना
होगा । तथा पुनरपि धर्मि प्रसिद्धि के लिए लक्षणान्तर की आवश्यकता होगी । तदर्थपुनः
लक्षणान्तर माने तब तो अनवस्था दोष होगा । यदि इस अनवस्था का निराकरण करने के
लिये 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति का अनुसरण करेंगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष होगा ।
क्योंकि लक्षण सिद्ध्यर्थ-यतो वा इमानि इसका अनुसरण होगा और श्रुति का अनुसरण करने
पर लक्षण सिद्ध होगा । इस प्रकार से अन्योन्याश्रय होगा । और ज्ञाप्याकारता तो तथापि
अनुपपन्न ही है । क्योंकि वेदान्त तो निर्विशेष अद्वैत ही में तात्पर्यग्राहक है इस लिये ब्रह्म का
लक्षण असंभव होने से ब्रह्मविचार का आरम्भ नहीं करना चाहिये । यह पूर्वपक्षवादियों का
अभिप्राय है ।

इसके उत्तर में कहते हैं 'ब्रूोजन्मादेरित्यादि' यद्यपि जन्मादिक जो धर्म है वह प्रपञ्च
में रहता है । उस जन्मादिक का ब्रह्म में सम्बन्ध नहीं है । तथापि जगत् जन्मादिक जो
है वह तदस्थतया ब्रह्मका लक्षण हो सकता है । लक्षण दो प्रकार का होता है । स्वरूप

यतत्त्वं ज्ञाप्याकारोऽपि युक्त एव । किञ्च चन्द्रपदाभिधेयं किमस्तीत्यापाततः प्रतिपत्तिमतः प्रश्नस्य 'शाखाग्रे चन्द्रः' इति ताटस्थ्येन लक्षणमभिधायोत्तरदर्शनादुपलक्षणभावस्य सर्वथा सामञ्जस्यादिमावेवाकारौ कथमत्र न ग्राह्यौ ? तौ च प्रकृतेस्त एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । सविशेषस्यैव च ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात्तदेवात्राभिहितम् ।

उपलक्षणविधयाजगज्जन्मादिकानां तटस्थलक्षणत्वसम्भवात् । न च ज्ञाताकारज्ञाप्याकारयोरसिद्धिः, लक्षणजिज्ञासाजनकज्ञानविषयाकारस्यैवज्ञाताकारत्वात् । एवं ज्ञानविषयवस्तुनि निरतिशयतत्त्वस्यैव ज्ञाप्याकाररूपत्वादुभयमपि प्रकृते संगतमेवेतिभावमभिव्यञ्जयितुं भाष्यकारः प्राह समानधर्मिकेत्यादि । ब्रह्मणि ज्ञाताकारज्ञाप्याकारयोरभानादिति प्रमाणान्तरज्ञानेपदार्थसामान्यरूपेण ज्ञातृत्वं भवति, तत्रैव जिज्ञासोर्विशेषाकारेण ज्ञाप्यत्वमिति तदुभयं घटते ब्रह्मणितु एतदुभयं न सम्भवति, आम्नायमात्रसमधिमम्यत्वाद्ब्रह्मणः धर्मादिवदितिभावः । तदुक्तं जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्येण श्रीबोधायनमतादर्शे—

लक्षण तथा तटस्थ लक्षण । इसमें यावत् लक्ष्यकालवृत्ति हो करके इतर व्यावर्तक जो लक्षण हो उसको स्वरूप लक्षण कहते हैं । यथा पृथिवी का स्वरूप लक्षण है पृथिवीत्व । जहाँ तक पृथिवी का काल है तावत्काल वृत्ति पृथिवीत्व है । तथा लक्ष्य पृथिवी को स्वेतर से व्यावृत्त कराता है । और यावत् लक्ष्यकाल में अवस्थित न करके भी इतर व्यावर्तक हो उसको तटस्थ लक्षण कहते हैं । यथा गन्धवत्त्व पृथिवीका तटस्थ लक्षण है । उत्पत्ति कालावच्छेदेन अनित्य पृथिवी में तथा प्रलयकालावच्छेदेन नित्य पृथिवी में गन्ध नहीं रहता हुआ लक्ष्य को इतर से भिन्न करता है । तो यह गन्धवत्त्व पृथिवी का तटस्थ लक्षण है । इसी प्रकार से प्रकृत में सत्यादिक ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है । और जगज्जन्मादिक तटस्थ लक्षण है । यावत् लक्ष्यकाल में अनवस्थित हो करके लक्ष्य को इतर से भिन्न कराता है । 'ब्रह्मस्वेतरभिन्नं जगज्जन्मादिमत्वात्' । 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति स्मृति युक्त्यादि से सिद्ध होता है कि जगज्जन्मादिकारणता सगुणब्रह्मात्रनिष्ठ है । इस प्रकार से तटस्थतया अर्थात् उपलक्षण रूप से जगज्जन्मादिक ब्रह्मका लक्षण बन सकता है । जिस किसीमें उभयाकारता को असंभव बतलाया था वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि लक्षण जिज्ञासा का प्रयोजक जो ज्ञान तद्विषया, कारता का ही नाम ज्ञाताकारत्व है । एतादृश लक्षण जिज्ञासा प्रयोजक ज्ञान को लेकर के ही 'इस उद्योतिर्मण्डल में कौन चन्द्रमा है ! यह प्रश्न संगत होता है । तथा इस प्रश्नका

एतेन 'परिज्ञाते लक्ष्ये तत्परिच्छेदकलक्षणानर्थक्यमज्ञाते तु तास्मै-
लक्षणजिज्ञासानुदयात्कथमिह ब्रह्मणो लक्षणनिर्वचनमि'त्यपि परा-
स्तम् । एतत्पूर्ववृत्तवेदाध्यथनादिनाऽऽपाततोऽवगते ब्रह्मण्येव तत्प्र-
सर इति शक्यमेव लक्षणतः प्रतिपत्तुं ब्रह्म तास्मैश्च वेदान्तानां प्रा-
माण्यसंभवादारंभणीयैव ब्रह्ममीमांसेति सिद्धान्तः ।

॥ इत्यानन्दभाष्ये जन्माद्यधिकरणं द्वितीयम् ॥

“ब्रह्मसत्त्वे प्रमाणं च शास्त्रमेव सुनिश्चितम् ।

तन्त्वौपनिषदञ्चैतच्छ्रुतिवाक्यप्रमाणतः ॥१३१॥

तन्त्वौपनिषदञ्चैव ब्रह्मणः शास्त्रवेद्यता ।

सूत्रं च शास्त्रयोनित्वात् ततो व्यासेन सूत्रितम् ॥१३५॥ इति ।

ब्रूमोजन्मादेरित्यादि यद्यपि ब्रह्मलक्षणतयाऽभिमतस्य जन्मादेर्नित्ये ब्रह्मणि न
सम्भवः । तथापि जन्मादीनामपितटस्थतया तत्सम्भवादिति । उपासनीयताज्ञाननिमि-
त्तत्वाद्भृगुप्रश्नस्येति ज्ञाताकारः संघटते । ज्ञानविषयपदार्थे ज्ञाप्याकारतापिभव-
त्येवेति । एतेनेति यदि लक्ष्यं ज्ञातं तदाज्ञातत्वादेवलक्षणस्यावश्यकतानास्ति । अथ
शाखा के अग्रभाग में चन्द्रमा है । यह उत्तर भी देना युक्त ही होता है । प्रकृत में सुमुधु
व्यक्ति उपासनीयत्व ज्ञान निमित्तक भृगु का प्रश्न है । इसलिये ज्ञाताकारत्व होता है । एवम्
ज्ञान के विषयीभूतवस्तु में जो निरतिशयत्व है वह ज्ञाप्याकार है । उसमें ज्ञाप्याकारत्व होता
है । और चन्द्र पद का वाच्य क्या है ? इस प्रकार आपाततः ज्ञानज्ञान् पुरुष का जो प्रश्न
है, उस प्रश्न का शाखा के अग्रभाग में चन्द्रमा है । इस प्रकार तटस्थ रूप लक्षण कह
करके उत्तर देखने में आता है । तो उपलक्षण पक्ष में सर्व समंजस होता है । तो यही दोनों
आकार क्यों यहाँ नहीं ग्रहण करना ? यह दोनों आकार तो प्रकृत में विद्यमान ही है ।
इसलिए किसी भी प्रकार से कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । प्रकृत में प्रतिपाद्यतो सविशेष ही
ब्रह्म है । और उसीका यहाँ कथन किया गया है ।

इसलिए यदि लक्ष्य का ज्ञान है, तबतो लक्ष्य का बोधक लक्षण कथन निरर्थक है ।
यदि लक्ष्य का ज्ञान नहीं है तब तो अज्ञात वस्तुविषयक जिज्ञासा अनुपपन्न है । अतः प्रकृत
में ब्रह्म का जो लक्षण, उसका निर्वचन है वह निरर्थक है । ऐसा जो किसी का आपेक्ष या
वह भी परास्त हो गया है । क्योंकि इस ब्रह्म विचार के पूर्व में निष्पन्न जो वेदाध्ययन,

अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥

पूर्वाधिकरणसिद्धं जगत्कारणं ब्रह्म किंप्रमाणकमित्येतत् आह

५ शास्त्रयोनित्वात् । १ । १ । ३ । ५

शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि तस्य भावस्तत्त्वं

यदि न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावेन लक्षणप्रश्नो न भवतीति । तदपि परास्तम् । वेदाध्ययनादिना, आपततो ब्रह्मणि विशेषरूपेण तत्परिज्ञानाय लक्षणस्यावश्यकत्वात् लक्षणतो ब्रह्मज्ञानाय प्रश्नः समुपपद्यते एव । तत्र वेदान्तस्यैव प्रामाण्यात् ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति संक्षेपः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रप्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे
जन्माद्यधिकरणद्वितीयम् ।

यस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा समारब्धा तद्ब्रह्मास्ति नवेति शंसये अस्तीत्येव लब्धव्य इत्यादि श्रुत्यादि तथा जन्माद्यस्य यत् इत्यादि सूत्रेण जगत्कारणतया तदस्ति प्रसाधितम् । तत्र धर्मिणः प्रसिद्धत्वे एतद्विचारः स्यादिति मत्वा वस्तुव्यवस्थापकं जगत्जन्मादि-कारणत्वादिरूपं लक्षणमपि गतसूत्रेण निर्धारितम् । यतो लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुनः

उसमें आपाततः ब्रह्मका अवगत होने पर ही लक्षण से ब्रह्म को जानना शक्य है । उसमें वेदान्त के प्रमाण होने से ब्रह्म विचार का आरम्भण होना ही चाहिए यह सिद्धान्त है । अर्थात् वेदाध्ययन करने से सामान्यतः ब्रह्मका ज्ञान हो गया है । अब विशेष रूप से ब्रह्म का परिज्ञान करने के लिए ब्रह्म मीमांसा आवश्यक है । विशेष रूप से ब्रह्म का ज्ञान तो लक्षण द्वारा ही हो सकता है । इसलिए सूत्रकार ने ब्रह्म लक्षणपरक द्वितीय सूत्र को बतला करके लक्षण को सम्पन्न किया है ।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामेद्वरानन्दाचार्य प्रणीते आनन्दभाष्य प्रकाशे
जन्माद्यधिकरणं द्वितीयम् ।

‘जन्माद्यस्य यतः’ इस द्वितीय अधिकरण से समस्त स्थावर जंगमात्मक जगत्कारण-रूपसे प्रसिद्ध जो ब्रह्म है उसमें क्या प्रमाण है । अर्थात् लक्षण प्रमाण के अधीन वस्तु की व्यवस्था होती है इसमें ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्र से जगत् कारणत्वरूप ब्रह्म का लक्षण तो बतलाया गया । परन्तु साधक का द्वितीय अंश तो प्रमाण है उसका प्रदर्शन तो नहीं किया गया । नहीं कहो कि कोई प्रमाण नहीं है तब तो ‘प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः’ एतन्नियमानुसा-

तस्माद्ब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणमिति यावत् । एवं च पूर्वोक्त-
सूत्रयोः साध्यहेतुपरतयैकार्थ्येऽपि निराकरणीयसंशयपूर्वपक्षादि-
भेदादधिकरणभेदः । तथा हि अत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जा-

प्रसिद्धिर्भवतीतिनियमस्यैकोऽंशः जन्मादिसूत्रेण निर्दिष्टः । किन्तु लक्षणस्यानेकत्वा-
लक्ष्यं ब्रह्मापि बहुविधं भविष्यतीत्याक्षिप्य तटस्थतयाजगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो
लक्षणं संभवतीत्यपि व्यवस्थापितम् । परन्तु साधकांशस्यलक्षणस्य निर्वचनेपि साधक
द्वितीयांशस्यानिर्देशात् कथं ब्रह्मणप्रसिद्धिरिति । प्रमाणमनेकविधं प्रत्यक्षादिकम् तत्र
प्रत्यक्षं द्विविधं बाह्यमान्तरं च । तत्र रूपाद्यभावात् चक्षुरादिबाह्यप्रत्यक्षेण न ब्रह्म प्रसि-
द्धिः । सुखादिव्यतिरिक्तत्वेनानन्तरप्रत्यक्षगम्यता । नानुमानेन तस्य सिद्धिरव्य-
भिचरितहेतोरदर्शनात् व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट एव हेतुर्गमको भवति नान्यः । व्याप्ति-
श्चक्वचित् साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षेण सामानाधिकरण्यज्ञानेनैव भवति । न च
प्रकृते परमेश्वरः प्रत्यक्षो येन सामानाधिकरण्यबलेन व्याप्तिविनिश्चयः स्यात्तस्मान्ना-
नुमानेन तत् सिद्धिः सम्भवति । नाप्यागमेन परमेश्वरसिद्धिः अन्योन्याश्रयात् परमे-
श्वरनिश्वासभूतत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् वेदप्रामाण्ये च प्रमाणीभूतवेदेन परमेश्वर-
सिद्धिरित्वेवमन्योन्याश्रयान्नवेदेन परमेश्वरसिद्धिः सत्यपितल्लक्षणे । इत्याशङ्कानिरा-
करणाय भाष्यकार उपक्रमते पूर्वाधिकरणसिद्धमित्यादि । पूर्वाधिकरणेन जगज्जन्माधि-
करणेन सिद्धलक्षणेन संस्थापितं ब्रह्म किं प्रमाणकम् । अर्थात् न केवलं लक्षणकरणे-
नैव पदार्थस्य सिद्धिर्भवति किन्तु तत्र प्रमाणमप्यावश्यकम् लक्षणप्रमाणाभ्यां पदार्थव्यवस्था-
नात् इति नियमः । तत्र लक्षणे जातेऽपि प्रमाणं किमिति प्रश्नः । लक्षणप्रमाणाभ्यां
वर्तुनो निर्णयाद् । तत्र ब्रह्मणि प्रमाणं किमिति जिज्ञासावतां जिज्ञासा निवृत्तये प्राह

रात् प्रमाणाधीन प्रमेय की सिद्धि होती है । यह परिभाषा विलुप्त हो जायेगी । तथा यदि
प्रमाण के बिना भी पदार्थ का सत्त्व माने तब तो कूर्मरोम पक्षिक्षीरादि वस्तुओं का भी
सद्भाव प्रसंग हो जायगा । अतः प्रमाण चिन्तन आवश्यक है । किन्तु बहुधा विचार करने
पर भी अप्रत्यक्ष परमेश्वर में प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है । एतादृश शंका के उत्तर में सूत्र-
कार कहते हैं 'शास्त्रयोनित्वात्' याज्ञयोनि प्रमाण है जिसमें उसको शास्त्र योनि कहते हैं ।
उसका जो भाव उसको शास्त्रयोनित्व कहते हैं । यद्यपि योनि शब्द कारक हेतु परक हैं ।
तथापि प्रकृत में कारक हेतु परक नहीं होकर के ज्ञापक हेतु परक है हेतु दो प्रकार के होते हैं ।
जनक हेतु तथा ज्ञापक हेतु यथा 'दण्डेन घटः' दण्ड से घड़ा होता है यहाँ कारक अर्थात्

यन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादिवाक्यद्वारा शास्त्रं विषयः । अत्र जगत्कारणतया सिद्धं ब्रह्म शास्त्रमात्रगम्यमाहोस्वित् प्रमाणान्तरेणापि

सूत्रकारः शास्त्रयोनित्वात् । इतः पूर्वं सर्गोत्पत्त्यादिकारणीभूतं ब्रह्मश्रुतिशिरोभागेन प्रतिपादितं भवतीतिकथितम् । परन्तु तत्कथनं न युक्तम्, अनुमानेनापितत् सिद्धिसम्भवादित्वाशङ्कायामाह शास्त्रेति । शास्त्रं ऋग्वेदादिकं योनिः कारणं यस्य तत् शास्त्रयोनि ब्रह्म । यद्यपि योनिशब्दः कारणवाची जनक इत्यर्थः । न च शास्त्रोण-ब्रह्मजन्यते तथापि प्रकृते न कारकरूपं कारणमपितु प्रज्ञापकरूपमेव कारणम् । दण्डेन घट इत्यत्र दण्डे घटजनकता प्रदीपेन घट इत्यादौ ज्ञापकरूपकारणताभवति । तथैव प्रकृते प्रज्ञापकता रूपैवकारणतायोनिपदेन कथ्यते । तथा च शास्त्रमृग्वेदादिकं प्रज्ञापक यस्य तत् शास्त्रयोनि, तस्यभावः शास्त्रयोनित्वम् । ब्रह्मविषयकज्ञानजनकत्वं शास्त्रस्येति भवति शास्त्रयोनिब्रह्म । एवं चातिन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षादिप्रमाणेन न ब्रह्मविदितं भवति । किन्तु शास्त्रैकसमधिगम्यत्वमेव तस्येति यतोवा इमानि इत्यादिवाक्यं बोधयत्येव तादृशजगन्निदानं ब्रह्मेति । अर्थात् परमपुरुषात्मकब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणं तथैवाहुर्जगद्गुरवः श्रीपूर्णानन्दाचार्याः श्रीबोधायनमतादर्शे 'ब्रह्मसत्त्वे प्रमाणं च शास्त्रमेव सुनिश्चितम् । तन्वौपनिषदञ्चैतच्छ्रुतिवाक्यप्रमाणतः । १२१ । इति ननु शास्त्रमेव ब्रह्मणः स्वरूपाधिगमे प्रमाणम् । तादृशशास्त्रस्य द्वितीयाधिकरणे प्रदर्शनं कृतमेव । ततः पुनरपि करणान्तरस्य किमर्थं रचनामित्यत आह—एवं च पूर्वोत्तरसूत्रयोरित्यादि द्वितीयाधिकरणं साध्यरूपम् । तृतीयं तु हेतुपरकमिति । अधिकरण-घटका उत्पादक दण्ड है ऐशा अर्थ होता है । और 'प्रदीपेन घटः' प्रदीप से घट होता है । इस स्थल में प्रदीप पदोत्तर तृतीया विभक्ति का अर्थ ज्ञापक होता है । अर्थात् प्रदीप से घडाजन्य नहीं होता है किन्तु प्रदीप से ज्ञाप्य होता है । उसी प्रकार से प्रकृत में ब्रह्मशास्त्र योनि है इसका अर्थ शास्त्रजन्य ब्रह्म है ऐसा नहीं किन्तु ऋग्वेदादिक शास्त्र से ब्रह्मज्ञाप्य होता है । शास्त्र जनित ज्ञान का विषय होने से ब्रह्म शास्त्रयोनिक कहता है । अर्थात् ब्रह्माव-गति में शास्त्र प्रमाण है ।

‘ब्रह्मसत्त्वेप्रमाणं च शास्त्रमेव सुनिश्चितम् । तन्वौपनिषदञ्चैतच्छ्रुतिवाक्यप्रमाणतः’

इत्यादिरूपसे श्रीबोधायन मतादर्श में जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी ने निरूपित किया है अतः शास्त्र प्रमाणक कहा है यह सिद्ध हुआ । ‘एवं चेत्यादि’ ऐसा हुआ तब, द्वितीय

गम्यमिति संशयः । तत्राप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति सिद्धान्ताच्छास्त्रस्य प्रमाणान्तरप्राप्तविषयत्वान्न परमात्मनि शास्त्रं प्रमाणं किन्त्वनुमानमेव । तथा हि इदम्परिदृश्यमानं नानासंस्थानविशिष्टं जगत्सावयव-

भेदनियामकः संशयपूर्वपक्षादिभेदः । तत्र संशयादिभेदप्रकारं दर्शयितुमाह—तथाहि अत्र इत्यादि । शास्त्रं विषय इति 'यतो वा इमानि भूतानि' इति वाक्यद्वारा शास्त्रं विषयः विचारणीयविषय इत्यर्थः । द्वितीयसूत्रेण आकाशादिप्रपञ्चकारणरूपेणावगतं यद्ब्रह्म तत् केवलं शास्त्रेणावगतं भवति, यद्वा प्रमाणान्तरेणाप्यवगतं भवतीति संशयः । तन्त्वौपनिषदं पृच्छामीत्यादिना शास्त्रसमधिगम्यत्वं ज्ञायते । क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृकं कार्यत्वादित्यादिना प्रमाणान्तरवेद्यत्वं प्राप्यते इत्येवं कोटिद्वयोपस्थितेः संशयो भवतीति । तत्राप्राप्तेशास्त्रमित्यादि अयमभिप्रायः प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्य पदार्थस्य प्रापकत्वमेव शास्त्रः । यद्वस्तु प्रमाणान्तरेण परिज्ञातं न भवति तस्य परिज्ञापकत्वाच्छास्त्रमर्थवत्सप्रयोजनं भवति । परन्तु यत्प्रमाणान्तरेण प्राप्तं तद्वोधकं शास्त्रं न विधायकमपित्वनुवादकमेव भवति यथा 'अग्निर्हिमस्यभेषजम्' तदिहानुमानेन ब्रह्मणोऽवगमात् न शास्त्रप्रमाणकत्वं किन्तु अनुमानज्ञाप्यत्वमेव । अनुमानप्रकारमेव दर्शयति तथाहि इदं परिदृश्यमान मित्यादि । यत् सावयवं तज्जन्यं यथाघटः, सावयवं च परिदृश्यमानमिदं सर्वं तस्मात्तदपि केनचित् कर्त्राजनिनम् । तत्रास्मदादीनां क्षित्यङ्कुरादि समवायिकारणपरमाणुविषयकापरोक्षज्ञानाभावात् नास्मदादीनां कर्तृत्वमपि तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् पक्षधर्मतावलेन लाघवादेकस्य परमेश्वरस्य सिद्धिर्भवतीति द्वितीयप्रमाण समधिगतत्वेन न शास्त्रप्रमाणकत्वं परमेश्वरस्येति पूर्वपक्षाशयः । तमिममाश्लेषं परिहर्तुमाह—इति प्राप्ते ब्रूम इत्यादि । अयमाशयः पूर्वस्मिन् द्वितीयाधिकरणे जगत्कारणतृतीय सूत्र में एक साध्यपरक है । तथा द्वितीय हेतुपरक है । इस रूप से दोनों सूत्रों को एकार्थक होने पर भी निराकरणीय जो संशय तथा पूर्व पक्ष इनका भेद होने से दोनों अधिकरण भिन्न हैं । इस प्रकार से दोनों अधिकरण में भेद होता है । 'तथाहीति' यहाँ जिस सर्वज्ञ से ये आकाशादिक भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं । तथा जिससे उत्पन्न होकर के जीवित रहते हैं और पुनः प्रलयकाल में जिसमें प्रलीयमान हो जाते हैं । उम परात्पर परमेश्वर की जिज्ञासा करो वही ब्रह्म हैं । इत्यादि वाक्य द्वारा शास्त्र इस अधिकरण का विषय है । इसमें 'यहां' स्थावर जंगमादिक जगत् के कारणरूप से सिद्ध जो ब्रह्म है वह मात्र शास्त्र के द्वारा जाना जाता है अथवा प्रमाणान्तर से भी ज्ञात होता है । एतादृश संशय होता है ।

त्वाज्जन्यमेव । न चैतदस्मदादिपरिमितशक्तिमत्साध्यमिति तज्जन
कतया कश्चिदखिलभुवननिर्माणनिपुणोऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान्
सार्वज्ञ्यविशिष्टो लाघवादेकः कर्ता सिद्ध्यति । स एव परमपुरुष-
पदवेदनीयम्ब्रह्मेत्यनुमानगम्यत्वाच्च शास्त्रमात्रगम्यमिति प्राप्ते ब्रूमः ।

तयाज्ञातं यद्ब्रह्म तत् शास्त्रमात्रप्रमाणेनैवाधिगतं भवतीति निश्चितम् । 'तं त्वौपनिषदं
पुरुषं पृच्छामि नावेदविन्मनुते' इत्यादिवचनजातैर्वेदैकमात्रगम्यत्वमेवब्रह्मणः ।
तत्रोपनिषत्प्रमाणमात्रवेद्यतेति कथितं नतु प्रमाणान्तरवेद्यत्वं प्रतिपादितम् । यथा धर्मा
दीनामतीन्द्रियत्वेन वेदमात्रप्रमाणगम्यत्वं नतु तदितरप्रमाणगम्यत्वंतद्वदिहापि उप-
निषन्मात्रवेद्यत्वकथनेन शास्त्रमात्र प्रमाणकत्वमेव । किंच 'नैषामतिस्तर्केणापनेया' इति
तर्कादीनां निराकरणान्न प्रमाणान्तरविषयता ब्रह्मणि । एवं तर्काप्रतिष्ठानादितिष्ठेत्
तर्कादीनामप्रतिष्ठितत्वकथनेनापि प्रकृतविषये प्रमाणान्तरस्यव्यवच्छेद एव कृत इति
न प्रमाणान्तरवेद्यत्वमपितु शास्त्रमात्रप्रमाणकत्वमेवेति भावः । तथैवाहुर्भगवत्पादाः 'अपि
चान्यत्र प्रतिष्ठितस्यापि श्रुतिविरोधिनस्तर्कस्य प्रकृतेऽप्रतिष्ठानात् । श्रुत्यनुकूलस्यतर्कस्य
तु श्रुत्यर्थनिश्चायकत्वादुपादेयत्वमेवेति हृदयम् । तथा च 'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च
विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसुद्धिमभीप्सता । आपं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्रा-
विरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (मनुस्मृति १२।१०५-१०९)
इत्यादिवचनैर्वेदाविरोधितर्कस्यैव तत्त्वनिर्णयसहकारित्वमुक्तम्' (आनन्दभाष्यम् २।१।
११) इति । यच्चकार्यलिङ्गकानुमानेनेत्यादि कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविद्वयः (न्या.कु. ५।१) इत्यादिकथितपर-
मेश्वरसाधककार्यत्वलिङ्गेनतत्साधनमुक्तम् । क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्
घटादिवदिति कार्यलिङ्गकमनुमानम् । अत्र यथा घटे कार्यत्वं प्रत्यक्षेणावगतमिति तत्र

इस संशय के वाद—'अप्राप्तेशास्त्रमर्थवत्' प्रमाणान्तर से अप्राप्त पदार्थ का प्रतिपादन
करनेवाला शास्त्र ही प्रयोजनवान् होता है । परन्तु यदि प्रमाणान्तर प्राप्त का प्रतिपादन
जो होता है वह अनुवादक कहलाना है । ऐसा सिद्धान्त होने से तो शास्त्र प्रमाणान्तर से
अप्राप्त विषयक है । अतः परमात्मा में शास्त्र प्रमाण नहीं है । किन्तु अनुमानरूप प्रमाण
का विषय होने से परमात्मा में शास्त्र प्रमाणकत्व नहीं है । तथाहि यह परिदृश्यमान अनेक
संस्थान विशिष्ट जगत् सावयव होने से जन्य है । एतादृश जो जगत् सो अस्मदादि परिमित

पूर्वाधिकरणे जगत्कारणतयावगतम्ब्रह्म शास्त्रैकगम्यम् । तथा हि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।१।२६) इत्यत्रौपनिषद

उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् कर्ता भवति । तथैव गृहीतव्याप्तिकं कार्यत्वलिङ्गपृथिव्यादिपक्षे सकर्तृकत्वं साधयति । तत्र परिमितज्ञानशक्तिमानस्मदादिनैव कर्ता सम्भवति । कुतः पृथिव्यादिसमवायिकारणपरमाणुविषयकप्रत्यक्षज्ञानाभावात् । तथा क्षित्यङ्कुरादिविषयकचिकीर्षाकृत्योरभावाच्च । तस्मादस्मदादिभिन्नः कश्चित् सर्वज्ञसर्वशक्तिमान् कर्ता भवति । स एव भगवान् परमेश्वरः । सचैक एव बहुत्वे शास्त्रवाधादनुपपत्तेरिति । तमिमं पक्षं निराकरोति तत्तुच्छमिति । अप्रत्यक्षेण भगवता हेतोर्व्याप्तिग्रहणासम्भवात् । अयमभिप्रायः । यथा वह्निधूमयोः प्रत्यक्षगृहीतयोर्महानसे सामानाधिकरण्यं गृहीत्वा, गृहीतव्याप्तिकेन धूमेन पक्षधर्मता बलात् पर्वते बन्धयनुमितिर्भवति तथैव यदि प्रकृते परमेश्वरः प्रत्यक्षपरिगृहीतो भवेत्तदातेन कस्यचित्त्विलिङ्गस्य सामानाधिकरण्यरूपा व्याप्तिर्गृहीतास्यात् ततश्चगृहीतव्याप्तिकेन कार्यत्वलिङ्गेन पक्षधर्मताबलात्परमेश्वरसिद्धिः स्यात्, नत्वेवमस्ति तबश्च नानेन प्रकृते कार्यत्वलिङ्गकानुमानेन परमेश्वरसिद्धिरपि तु धर्माधर्मवत् शास्त्रमात्रप्रमाणेनैव परमेश्वरसिद्धिरिति । किञ्च नवीनजलधरमालायां कार्यत्वहेतोः सत्त्वेन तत्र च कर्तुः कस्यचिदप्यपरिदर्शनात् व्यभिचारदोषोप्यस्मिन्ननुमाने भवतीति अन्यविचारितहेतुना न साध्यसिद्धिर्बहिर्मान् प्रमेयत्वादितिवत् । न च तत्रापि सकर्तृकत्वमनुमेयमिति वाच्यम् अप्रसिद्धसाध्यकत्वापत्तेरिति ।

ज्ञान शक्तिमान् से जन्य नहीं हो सकता है । अतः एतादृश जगत् का जनक, संपूर्ण जगत् के निर्माण करने में समर्थ तदुपादान विषयक अपरोक्षज्ञान तथा चिकीर्षाकृतिमान् संज्ञादि धर्म विशिष्ट ढाघवात् एक कर्ता की सिद्धि होती है । वही परम पुरुष पदवाच्य ब्रह्म है । इस प्रकार 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्' एतादृशानुमान प्रमाणगम्य ब्रह्म है किन्तु शास्त्र प्रमाणगम्य नहीं है । एतादृश पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—

'इति प्राप्ते ब्रूमः' इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं । इससे पूर्व अधिकरण में अर्थात् जन्माधिकरण में जगत्कारण रूपसे अवगत जो ब्रह्म है वह शास्त्रमात्र प्रमाणगम्य है ऐसा कहा है । तथाहि 'उस औपनिषद पुष को पूछता हूं' यहां उपनिषत् पदोत्तर शैषिक अण् प्रत्यय हुआ है । उपनिषत् अर्थात् वेदान्त शास्त्र से दर्शनीयत्व का कथन होने से शास्त्रमात्र प्रमाणकत्व ब्रह्म में सिद्ध होता है ऐसा मानना युक्त ही है ।

इति शैषिकोऽण् तथा चोपनिषदा वेदान्तशास्त्रेण दृष्टत्वोक्त्या ब्रह्मणस्तन्मात्रप्रमाणकत्वम् । 'नावेदविन्मनुतेतम्बृहन्तम् नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क० १।२।९) इत्यादिवचनैरुपनिषदेकवेद्यत्वस्य ब्रह्म

ननु परमेश्वरस्यातीन्द्रियत्वेन परोक्षत्वात्तेन सह सबन्धग्रहः प्रत्यक्षेण न भवतु । परन्तु विलक्षणानामपि प्रासादादीनां पुरुषोत्पाद्यत्वं प्रत्यक्षेण दृश्यते इति । प्रमाणान्तरेण सबन्धज्ञानं स्यात् ततश्च तत्कर्मकत्वेनानुमानादेव परमेश्वरसिद्धिर्भवतीत्यत आह ननु यथा- अर्थात् जन्माधिकरण से ब्रह्म के लक्षण का कथन किया गया है । और तृतीय सूत्र ब्रह्म में प्रमाण कथन परक है । सूत्रार्थ यह है कि शास्त्र है प्रमाण जिसमें ऐसा ब्रह्म है । अर्थात् शास्त्रौक प्रमाणमात्र ब्रह्म है । 'नावेदविदित्यादि' वेद को नहीं जाननेवाला व्यक्ति उस सर्वव्यापक परमात्मा को नहीं जान सकता है । 'ये इस ब्रह्म विषयक ज्ञान को तर्क द्वारा हटाया नहीं' इत्यादि वेद वचनों से वेदैकगम्य ब्रह्म का वेदान्तशास्त्र के बिना ज्ञान होना असंभवित है । नहीं कहो कि आगम से ब्रह्म की सिद्धि होती है । और ब्रह्मो-च्चारित होने से आगम का प्रामाण्य सिद्ध होगा । इस तरह तो अन्योन्याश्रय होनेसे आगम प्रमाण वेद्यत्व तो सिद्ध नहीं होता है । किन्तु कार्यलिङ्गक अनुमान वेद्यत्व ही परमात्मा में है । और—'दृश्यते त्वग्रया' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष गम्यत्व है तो प्रत्यक्ष प्रमाण वेद्य ही परमात्मा है । इस आशंका को दूर करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'यच्च कार्यलिङ्गकेत्यादि' जिसमें कार्यलिङ्गक अनुमान से ब्रह्म सिद्धि होती है । अर्थात् क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वम्, यत् कार्यं तत्कर्तृज्म्यं भवति, यथा घटादिकम्, क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्य होने से घट की तरह, घट में कार्यत्व है । तो वह घटादिक कुलाल रूपकर्ता से जन्य होता है । यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । उसी तरह दृश्यकादिक पदार्थ भी कार्य होने से किसी कर्ता से अवश्य जन्य है । इसमें परिमित ज्ञानशक्तिवाले अस्मादि से लेकर लोकपालान्त तो कोई भी कर्ता नहीं बन सकता है । और गृहीतव्याप्तिक हेतु से सकर्तृकत्व प्राप्त होता है । परिशेषात् यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित भगवान् ही कर्ता हैं इस प्रकार अनुमामादिगम्यत्व ही परमेश्वर में है । परन्तु शास्त्र प्रमाणकत्व ब्रह्म में नहीं है । यदि कदाचित् शास्त्रेतर प्रमाण प्राप्यत्व नहीं होता तब ठीक कह सकते थे कि शास्त्रमात्र प्रमाण वेद्यता ब्रह्म में है । इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं 'तत्तुच्छम्' इत्यादि । यह कथन ठीक नहीं है । उक्त पूर्व पक्षी के मत को भाष्यकार ने वचन मात्र से निराकरण किया । युक्ति हेतु

णोऽन्तरेण वेदान्तशास्त्रं बोधासंभवात् । यच्च कार्यलिङ्गकानुमानेन तत्सिद्धिरित्युक्तम् । तत्तुच्छम् । अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वात् । यथा प्रत्यक्षेण महानसादौ धूमधूमध्वजयोर्व्याप्तिमाकलय्यपर्वते धूमेन

नगरेत्यादि यथातिविलक्षानामपि नगरप्रासादादीनामनेकशिल्पिव्यक्तिभिः सम्पाद्यमानत्वं भवतीति प्रत्यक्षेण परिदृश्यते । तथेहापि परमेश्वरोमहीमहीधरादिकं निर्मास्यताति प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिग्रहो भविष्यतीति चेत्सत्यम् । यदि दृष्टान्तचलेन पुरुषकर्तृकत्वं वा प्रदर्शन नहीं किया तो युक्ति के कथन करने के लिए कहते हैं 'अनुमानस्येत्यादि' अनुमान प्रत्यक्ष सापेक्ष होता है । इसका स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं 'यथा प्रत्यक्षेण इत्यादि । जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से महानसादि सपक्ष में धूम तथा धूमध्वज वहि (धूम है ध्वजा अग्रभाग जिसका उसको धूमध्वज कहते हैं अर्थात् वहि, नहीं कहो कि निर्धूम वहि में तो यह लक्षण नहीं जाता है ।' तो तादृश धूमध्वज पदवाच्य नहीं होगा । ऐसा मत कहो । क्योंकि वहिमात्र में सूक्ष्म रूप से धूम का सद्भाव रहता ही है । अतएव मकरध्वज विशुद्ध है कि नहीं इस सन्देह में आयुर्वेदकार ने कहा है कि 'निर्धूमज्वलते वहिः' अर्थात् विशुद्ध मकरध्वज का अग्नि में प्रक्षेप करने से निर्धूम होकरके वहि का ज्वलन होता है । यदि धूम का निर्गमन हुआ तब विशुद्ध मकरध्वज नहीं है ऐसा समझना । अतः जो कोई अग्नि है वह सधूमक ही होता है । इसलिए धूमध्वज वहि को कहाजाता है । यदि कदाचित् मकरध्वज प्रक्षिप्त वहि में धूम नहीं होने से उसमें अव्याप्त होगा ऐसा नहीं कहना । तादृश स्थल में जाति घटित लक्षण से निर्वाह किया जाता है ।) में व्याप्ति का निश्चय करके गृहीत व्याप्तिक धूम हेतु से पक्षधर्मता बलात् पर्वतरूप सन्देह विषयीभूत पर्वतादिक पक्ष में वहि का अनुमान करने के लिए अनुमान रसिक लोक प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् जिस स्थल में प्रत्यक्ष द्वारा साध्य हेतु का सामानाधिकरण्य दृष्ट होता है । उसी स्थल में सपक्ष में गृहीत व्याप्तिक हेतु से साध्य की सिद्धि होती है । प्रकृत में तो उस प्रकार से ब्रह्म किसी भी सपक्ष में प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है । तब किस हेतु के साथ व्याप्ति रूप संबन्ध का ग्रहण हो सकता है । इसलिए अनुमान प्रमाणगम्य ब्रह्म नहीं है । किन्तु शास्त्रमात्र प्रमाणगम्य होने से शास्त्रप्रमाणक ही ब्रह्म है । अतः ब्रह्म की सिद्धि में शास्त्र प्रमाण है । ऐसा सिद्ध होता है इतर प्रमाणकत्व नहीं है ।

हेतुना वह्निमानुमातुमानुमानिकः कश्चित्प्रवर्तते । तथा ब्रह्म न
क्वापि सपक्षेऽध्यक्षं यतः केनापि संबन्धग्रहणमुपपद्येत । अतो नानु-
मानगम्यम् । ननु यथा नगरसेतुप्रसादादीनां विलक्षणानामपि
साधयेत्तदा दृष्टान्तबलेनैव प्रकृते परमेश्वरस्य कर्मपराधीनत्वप्रसङ्गात् । अर्थात् यथा
प्रासादादावनेककर्तृकत्वं तथा प्रकृतेऽप्यनेककर्तृकत्वमापद्येत । एवं ते प्रासादादीनां
कर्तारः कर्मपराधीना भवन्ति तथा परमेश्वरोपि कदाचित् कर्मपराधीनो भवेदिति ।

प्रश्न—जिस तरह नगर सेतु (पुल) प्रसाद प्रभृतिक अति विलक्षण पदार्थों में
पुरुष कर्तृकत्व प्रत्यक्ष से देखने में आता है । उसी तरह से मही पृथिवी पर्वतादिक
पदार्थ का निर्माण परमेश्वर करते हैं तो इस तरह से व्याप्ति रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता
है । तब व्याप्ति ग्रहाभाव का कथन युक्त नहीं है ।

उत्तर—ऐसा यदि प्रासादादिक प्रभृतिक दृष्टान्त से तो अनेक कर्तृकत्व की सिद्धि होगी एक
कर्तृत्व का साधन नहीं होगा । जिस तरह प्रसाद प्रभृति दृष्टान्त में अनेक कर्तृकत्व है । उसी
तरह मही महीधरादिक में कनेक कर्तृकत्व सिद्ध होगा । एक कर्तृकत्व की सिद्धि नहीं होने
से अभिप्रेतार्थ विपर्यय प्रसंग हो जायगा । यदि कदाचित् दृष्टान्त सिद्धमात्र व्याप्ति से साध्य
की सिद्धि को मानें तब तो प्रासादादिक कार्य का उत्पादक शिल्पी जिस तरह कर्म के
शुभाशुभ होने से तदधीन होता है । उसी तरह परमेश्वर में भी कर्माधीनत्व प्रसंग हो जाने से
इतर निरपेक्षता का परमेश्वर में व्याघात हो जायगा । इसलिए कार्यल्लिङ्गादिक अनुमान
मात्र से सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारणभूत परमात्मा की
सिद्धि नहीं हो सकती है । इसलिए केवल शास्त्र प्रमाणकत्व ही ब्रह्म को मानना युक्त है ।
और भी कार्यत्वरूप जो हेतु है वह व्यभिचरित है । क्योंकि कार्यत्व हेतु इन्द्रघनुष मेघमाला
में है । परन्तु उसमें कर्तृकत्व साध्य नहीं है । क्योंकि मेघमाला को बनाने वाला प्रत्यक्षादि
प्रमाण वेद्य नहीं है । और कार्यत्व हेतु में अनित्यत्व उपाधि भी है । क्योंकि साध्य है
कर्तृजन्य । वह जहाँ जहाँ घटपटादिक में है उसमें नाश प्रतियोगित्व लक्षण अनित्यत्व
भी है । इसलिए साध्य कर्तृजन्यत्व का अनित्यत्व व्यापक है । और प्रागभाव प्रतियोगित्व
लक्षण कार्यत्व ध्वंस में है । उसमें ध्वंस प्रतियोगित्व लक्षण अनित्यत्व नहीं है । इस
प्रकार साध्य कर्तृ जन्यत्व का व्यापक तथा कार्यत्वरूप हेतु का अव्यापक होने से
अनित्यत्व प्रकृत अनुमान में उपाधि है । और उपाधिमान् हेतु के होने से व्याप्यत्वासिद्धि
है । 'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः' ऐसा नियम है । जिस तरह 'धूमवान् वहेः' इस

पुरुषकर्तृकत्वमध्यक्षं तथेदं महोमहीधरादिकं परमेश्वरो निर्मिमीते
त्यस्त्येव संबन्धग्रह इति चेन्न । तथा सत्यनेककर्तृकत्वमिद्रावप्ये-
ककर्तृकत्वासिद्धेः । व्याप्तिबलेनैव साध्यमानस्य परमात्मनः कर्म-

न च तदिष्टम् तथात्वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य परमेश्वरेश्रुतस्य व्याहृतिप्रसङ्गादिति । सम्प्रति
प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह—तस्मान्मानुमानादित्यादि यस्मात् शास्त्रेतरप्रमाणेनावगतः
परमात्मा न भवति । तस्मादेव कारणात् अनुमानप्रमाणेन सर्वज्ञसर्वशक्तिसमन्वि-

स्थल में आर्देन्धन संयोग को उपाधि होने से व्याप्यत्वासिद्ध है । और व्याप्यत्वासिद्ध होने से साध्य का साधक नहीं होता है । इसी तरह कार्यत्व हेतु में अनित्यत्व उपाधि है । तथा सोपाधिक होने से कार्यत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है ।

प्रश्न यदि कार्यत्व हेतु में उपाधि है तो इससे क्या क्षति होगी ?

उत्तर—उपाध्यभाव से साध्याभाव से साध्याभाव की सिद्धि हो जायगी । जिस तरह आर्देन्धन संयोगाभाव से अयोगोलक रूप पक्ष में धूमाभावात्मक साध्याभाव सिद्ध होता है । ‘अयोगोलकं धूमाभाववत् तद्व्यापक आर्देन्धन संयोगाभाववत्वात्’ इसी तरह कार्यत्व हेतु में अनित्यत्वाभाव रूप उपाध्यभाव से पक्ष पृथिवी प्रभृति में कर्तृजन्यत्वाभाव सिद्ध हो जायगा । यही क्षति उपाधिसद्भाव में होता है । इसका विशेष विवरण अन्यत्र तत्त्वत्रयसिद्धि श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर चिदात्मप्रबोध वेदार्थचन्द्रिका प्रभृतिग्रन्थों के मेरे विवरण में देखिये । नहीं कहोकि कार्यत्व तथा अनित्यत्व यह दोनों तो एक ही वस्तु है । तब स्व का स्व उपाधि किस तरह होगा ?

उत्तर—प्रागभाव प्रतियोगित्व को कार्यत्व कहते हैं तथा ध्वंस प्रतियोगित्व को अनित्यत्व कहते हैं । इसलिए अनित्यत्व तथा कार्यत्व का परस्पर विभिन्न होने से कार्यत्व हेतु में तद्विन्न अनित्यत्व उपाधि बन सकता है । इस प्रकार से कार्यत्व हेतुको हेत्वाभास होने से सकर्तृकत्व साधक द्वारा परमेश्वर का साधक नहीं होता है । किन्तु शास्त्रमात्र से ब्रह्म अवगत होते हैं । इस प्रकार से तृतीय सूत्र का यह प्रथम व्याख्यान समाप्त हुआ ।

इस तरह ‘शास्त्रयोनित्वात्’ यहाँ ‘शास्त्रयोनिः प्रज्ञापकं यस्य’ एतादृश बहुव्रीहि समास करके शास्त्रमात्र प्रमाणक ब्रह्म है ऐसा स्थिर किया गया ।

कार्यल्लिङ्गक अनुमान द्वारा जो आपने जगत् का उत्पादक परमेश्वर को माना है वह अनुमित परमेश्वर शरीर विशिष्ट होकर के कार्य करते हैं । अथवा शरीर रहित परमेश्वर

पास्तन्यप्रसङ्गापातश्च । तस्मान्नानुमानात्सर्वशक्तिप्रसङ्गितस्य जग-
तोऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतस्य परमात्मनः सिद्धिरिति युक्तमेव
शास्त्रैकवेद्यत्वब्रह्मणः ।

अल्पाक्षरैरपि बह्वर्थस्य कक्षीकरणादेव सूत्राणां सूत्रत्वमित्यर्था-
न्तराभिधानेऽपि वाक्यभेदादिदोषाभावाद्दर्शनकान्तरमस्य सूत्रस्य प्रद-
तस्य परमेश्वरस्यजगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानलक्षणस्यसिद्धिर्न जायते इति तत्र शास्त्रस्य
प्रामाण्यं युक्तमेवेति प्रकरणस्यभावः ।

वाच्याद्याकाशादिजगतः कारणतया ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय, वाचकस्य शब्द-
राशिलक्षणवेदस्य कारणतया ब्रह्मणो लक्षणमभिधातुं तृतीयसूत्रस्यार्थान्तरमपि दर्शयि-
ष्यति । न चार्थान्तरप्रतिपादने वाक्यभेदादिदोषः स्यादितिवाच्यम् । लघूनि सूचिता-
जगत्सर्जनादि कार्य को करते हैं ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं हैं विकल्पासह होने से ।
परमेश्वर में शरीर का वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्नभोगवत्त्वसम्बन्ध से हैं अथवा येन केनापि सम्बन्ध
से है ? इसमें प्रथम माने तो ईश्वर में जीवत्वापत्ति होगी । द्वितीय पक्ष में सर्वत्र जगत्सर्ज-
कत्व हो जायगा । तथापि परमेश्वर का शरीर नित्य है अथवा अनित्य हैं । प्रथम पक्ष ठीक
नहीं क्योंकि सावयव परमेश्वर शरीर को नित्य मानें तब तो समस्त जगत् भी नित्य हो
जायगा । तब किसका सर्जक परमेश्वर होंगे । यदि अनित्य माने तो उसका कोई कारणान्तर
नहीं हैं । अशरीर परमेश्वर हैं यह भी पक्ष ठीक नहीं हैं । क्योंकि अशरीर में कर्तृत्व उप-
लब्ध नहीं होता है । अशरीर होकर के भी मनसा सकल कार्य को करेगा ऐसा कहना भी
ठीक नहीं है । क्योंकि मानस कार्य भी शरीर विशिष्ट में ही होता हैं । शरीर रहित में नहीं
होता है । अतः अनुमानादि प्रमाणक ब्रह्म नहीं है । किन्तु शास्त्रमात्र प्रमाणक है । इसलिये
आचार्यपाद श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी ने श्रीबोधायनमतादर्श में लिखा हैं—

‘ब्रह्मसत्त्वे प्रमाणञ्च शास्त्रमेव सुनिश्चितम् । तन्त्रौपनिषदञ्चैतच्छ्रुतिवाक्यप्रमाणतः ॥१३१॥’

इति संक्षेपः ।

शास्त्र है योनि प्रज्ञापक प्रमाण जिसका उसको शास्त्रयोनि कहते हैं इस प्रकार बहु-
व्रीहि समास करके शास्त्र प्रमाणक ब्रह्म है ऐसा कहा गया । इसके बाद ‘शास्त्रस्य योनिः
शास्त्रयोनि’ इस तरह षष्ठी समास करके शास्त्र का कर्त्ता परमात्मा है । इससे पूर्वाचिकरण में
वाच्य जगत् आकाशादि के उत्पादकत्व रूप कारणत्व का प्रदर्शन किया गया है । ‘इतः पर’

श्यते । ब्रह्मणो जगत्कारणत्वसमर्थनेन तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्त्यादि-
 मत्वञ्चार्थात्सूचितम् । तदिदानीमनेन द्रष्टव्यम् । शास्त्रयोनित्वात् ।
 शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कर्तृत्वेन कारणं तत्त्वात् परस्य ब्रह्मणः
 सर्वज्ञत्वं भवतीति सूत्रार्थः । सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्योत्पादकत्वा-
 दुब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमेव सिद्ध्यतीति भावः । अत्र 'अस्य महतो
 र्थानिस्वल्पाक्षरपदानि च । अस्तोममनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतोविदुर्निति सूत्रलक्षणं तथात्रापि
 सूचनात्, अल्पाक्षरपदैरप्यधिककार्यस्य कथनादिति नियमेन सूत्रस्यवर्णकान्तरकथना-
 योपक्रमते भाष्यकारः अल्पाक्षरैरपीत्यादि । लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च इति स्व-
 ल्पाक्षरैरधिककार्यस्य प्रतिपादनात्सूत्राणां सूत्रत्वमितिवर्णकान्तरमस्य सूत्रस्य दर्शयति । शास्त्र
 योनित्वादिति । शास्त्रस्य महतो ऋग्वेदादेर्योनिर्कर्तृकारकं ब्रह्मेति । 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा-
 नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते' । हिताहितयोः शासनात्
 में वाचक शब्दराशि रूप जो ऋग्वेदादिक जगत् का भी कारण ब्रह्म ही है तदन्य नहीं है ।
 तथा सर्वज्ञ प्रतिकल्प शास्त्रका उत्पादक होने से ब्रह्म में भी सर्वज्ञता के सिद्धि करने के लिए
 द्वितीय वर्णक का उत्थानार्थ भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'अल्पाक्षरैरपीत्यादि अल्प अक्षर से
 अधिक का सूचक होने से सूत्र में सूत्रत्व है । सूत्र का सूत्रत्व यही है कि स्वल्प अक्षरों से
 अधिकार्थ बोधकत्व हो । इसलिए कथित अर्थ से अधिक अर्थान्तर का प्रतिपादन करने पर
 भी वाक्य भेदादि दोषका अभाव होने से (एकवार उच्चारित शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपा-
 दक होता है) ऐसा नियम है । यदि एक अर्थ से अधिक अर्थ का प्रतिपादन करें तब वाक्य
 भेद दोष होता है । परन्तु प्रकृत में एक अर्थ का प्रतिपादन अन्यार्थ का सूचक होना है ।
 इसलिए उक्त दोष का यहाँ संभव नहीं होता है ।) इस सूत्र के वर्णकान्तर को बतलाने हैं।
 ब्रह्म में जगत् कारणता का समर्थन करने से सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व का समर्थन अर्थात् सिद्ध
 होता है । उस विषय को दृढ़ करते हैं इस सूत्र से 'शास्त्रयोनित्वात्' प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन
 कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते' पुरुष के हिताहित का उपदेश करने
 से शास्त्र जो ऋग्वेदादिक तादृश ऋग्वेदादिक शास्त्र का योनि कर्ता रूप कारण है । इससे
 अर्थात् वेद कारणत्व का कथन करने से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है अर्थात् ऋग्वेदादिक
 शास्त्र स्वयं सर्वज्ञ सदृश है । तादृश सर्वज्ञ शास्त्र का उत्पादक होने से अर्थात् ब्रह्म में
 सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है ऐसा सूत्र का अर्थ होता है । सर्वज्ञ सदृश वेद का उत्पादक होने से
 ब्रह्म में सर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है ऐसा भाव है ।

भूतस्य निःश्वसितमेतद्ऋग्वेदो यजुर्वेदसामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः
पुगणम्' (बृ० ४।५।११) इत्यादिवाक्यमस्यसूत्रस्य विषयः । तत्रेदं
वाक्यं वेदकारणत्वेन ब्रह्मणः किं सर्वज्ञत्वं साधयत्याहोस्विन्नेति
संशयः । तत्र वेदकर्तृतयानेश्वरस्य सार्वज्ञ्यं साधयितुमिष्यते यतः
'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादिश्रुतयो वेदवचसामनादित्वं नित्यत्व-

शास्त्रं ऋग्वेदादिकं तस्योत्पादकं परं ब्रह्मेति षष्ठीसमासमाश्रित्यायमर्थः सूत्रस्य द्वितीयः।
सर्वार्थप्रकाशकस्य सर्वज्ञकल्पस्यवेदस्यजनकतया ब्रह्मणि सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिसमन्वि-
तत्वञ्च सिद्ध्यतीति भावः । अस्यमहतोभूतस्येत्यादि । अस्यजगत्कारणतया प्रसिद्धस्य
महतो भूतस्य परमेश्वरस्य सकाशाद् ऋग्वेदादिकं जायते समुत्पद्यते' इत्यर्थकं वेद-
वाक्यं विषयो भवति । इदं वाक्यं वेदकारणत्वेन परमेश्वरस्य सार्वज्ञ्यं साधयति न

यहाँ 'इस महान् भूत परमेश्वर का निःश्वास रूप यह ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वा-
गिरस इतिहास और पुगण' यह निःश्वास सरूप है' यह वाक्य इस सूत्र का विषय है ।
उसमें संशय होता है कि 'अस्य महतोभूतस्य' इत्यादि यह वाक्य वेद के कारण रूप से
क्या परमेश्वर में सर्वज्ञता को सिद्ध करता है । अथवा सर्वज्ञता का साधक नहीं है । इसमें
पूर्वपक्ष होता है कि वेद के कर्ता रूप से परमेश्वर के सर्वज्ञत्व के सिद्धि करने में समर्थ
नहीं है । क्योंकि—'वाचाविरूप' हे विरूप नित्य वाणी से स्तुति करो' इत्यादिक श्रुतियों
का वचन शब्दराशिरूप वेद में नित्यत्व तथा अनादित्व का प्रतिपादन करता है । और
'अनादिनिघना' [उत्पाद विनाश रहित इस वाणी को स्वयंभूने आविर्भूत किया ।] इत्यादि
स्मृतियों से वेद में नित्यत्व ही सिद्ध होता है । तथा 'तथा अनादिनिघनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं
यतः परम् । विवर्तनेर्थाभावेन प्रक्रिया जगतोयतः' इत्यादि वाक्यपदीयानुशासन से जब शब्द
में नित्यत्व का प्रतिपादन होने से शब्दराशि रूप वेद में सुतरामेव नित्य सिद्ध होता है ।
तब नित्य सर्वदा दोष रहित वेद को अपौरुषेय होने से तादृश नित्य वेद के कर्ता होने
से ब्रह्म में सर्वज्ञता है एतादृश कथन सर्वथा ही दुर्घट है । नहीं कहो कि 'सामवेदोऽग्ने-
रजायत' प्रति मन्वन्तरं चैषा स्मृतिरन्याविधीयते' इत्यादि श्रुति स्मृतियों से वेद में सकर्तृक
देखने में आता है । तब वेद में नित्यता नहीं है । और जब नित्यता नहीं है । तब तो
तदुत्पादकतया ब्रह्म में सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि
अनेक श्रुतिस्मृति द्वारा नित्यत्व की सिद्धि होने से 'सामवेदोऽग्नेरजायत' इत्यादि श्रुति स्मृति

आहुः । स्मृतयोऽपि अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवे'
त्यादिनाऽऽम्नायस्य नित्यत्वमेवाभिदधते । तस्मान्नित्यनिर्दोषवेद-
स्यापौरुषेयतया तत्कर्तृकत्वेन सार्वज्ञ्यं ब्रह्मणो दुर्घटम् । न च सर्वज्ञ
वेदोपादानतयापि तत्सिद्धिः । उपादानोपादेययोरेकशक्तिमत्त्वस्य
तन्तुपटादिषु जगदुपादानब्रह्मतत्कार्यजगत्सु च प्रायेण व्यभिचा-

वेति संशयः । तत्र शब्दस्य नित्यत्वेन शब्दराशिरूपस्य वेदस्य वाचाविरूपनित्यया ।
अनादिनिधनाः' इत्यादिस्मृत्या च वेदानां नित्यत्वावगमात् कथं परमेश्वरकर्तृत्वं ।
नहि नित्यस्योत्पत्तिर्भवति येन तत्र तज्जन्यतास्यात् तस्मान्न वेदकर्तृतया परमेश्वरस्य
सार्वज्ञ्यं सम्भवति । न वा वेदस्य सर्वज्ञत्वेतादृशसर्वज्ञवेदजनकतया परमेश्वरे सार्वज्ञ्यं
सम्भवति । कार्यकारणयोः समानशक्तिमत्त्वस्याभावात् । नहि पुत्रस्य पण्डितत्वे
तज्जनकस्तत् पितुरपि पाण्डित्यं भवतीति नियमः । न वा तन्तु कार्यस्य पटस्य प्रावरण
सम्प्रदाय का प्रवर्त्तकमात्र है । इससे वेद में भी नित्यत्व का विधान नहीं होता है ।
और जब वेद में नित्यत्व तथा निर्दोषत्व है । तब तत्कारणतया परमेश्वर में सर्वज्ञता की
सिद्धि नहीं होती है ।

सर्वज्ञ कल्प के कर्त्तारूप से उत्पादक होकर के परमेश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं
होती है । इसका कथन करके जो कोई वाच्य वाचक जगत् के प्रति परमेश्वर को उपादान
कारण कहते हैं । तथा उपादान विधयापरमेश्वर को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कहने का प्रयास
करते हैं उनके मत का भी निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम कहते हैं 'न च सर्वज्ञ
वेदोपादानतयेत्यादि' वाचक सर्वज्ञ कल्प वेद के उपादान कारण रूप से भी परमेश्वर में
सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है अर्थात् कारणका गुण कार्य में समान जानीय गुणान्तर का
उत्पादक होता है ऐसा नियम है । जिस तरह घट के रूप के प्रति कपाठकारूपान्तरक गुण-
कारण होता है तब वेद में सर्वज्ञता है तो अवश्य वेद का उपादान कारण परमेश्वर में सर्व-
ज्ञता है तो अवश्य वेद या उपादान कारण परमेश्वर में सर्वज्ञता है । अन्यथा वेद में सर्वज्ञत्व
है वह अवश्य परमेश्वर के सर्वज्ञत्व प्रयुक्त है । अतः सर्वज्ञ वेद के उपादान कारण
परमेश्वर में सर्वज्ञता का संपादन अर्थतः हो जाता है । ऐसा जो कहते हैं यह ठीक नहीं
है । क्योंकि उपादान समवायि कारण तथा उपादेय में समान शक्तिमत्त्व तन्तु पटादिक
में तथा परमेश्वर और तदीय कार्य जगत् में प्रायः व्यभिचरित होने से अप्रयोजक है ।

स्तितयाऽप्रयोजकत्वेनाऽऽगमस्यव्यवहितविप्रकृष्टाद्यखिलार्थप्रकाशनशक्तिशालित्वेऽपि ब्रह्मणि तदसम्भवात् । कथञ्चित्सम्भवेऽपि श्रुत्यविषयीभूतानां प्रावृट्पयोधरपतन्तीनां वर्षधाराणां धरणितलजुषांरजःकणानाञ्च संख्यादीनान्तथाप्यनधिगतत्वाच्च न ब्रह्मणो वेदकर्तृतया सार्वज्ञ्यसिद्धिरिति प्राप्ते ब्रूमः ।

कर्तृत्वंतावतातन्तुषु प्रावरणकार्यमुपलभ्यते ? नैव कदाचित् । तद्वद्वेदस्य सर्वज्ञत्वेतज्जनकस्य ब्रह्मणो न सम्भवति सार्वज्ञमिति भावः । एवं वर्षधारादिगतसंख्यादीनामनधिगमादपि सार्वज्ञ्यम् । तदुक्तं 'सर्वं पश्यतु वा भावा तत्त्वमर्थं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते' इति नियमात् संख्यादिपरिज्ञानस्य सार्वज्ञ्याप्रयोजकत्वात्तस्मान्न भवति शास्त्रकारणतया सर्वज्ञत्वं परमात्मन इति पूर्वपक्षः ।

कारण में जो गुण हो वह कार्य में समवेत होता है ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि परमाणुगत परिमाण तदीय कार्यद्वयणुक में नहीं आता है । यथावा तन्तु में जो बन्धन जनकता है वह पट में नहीं है । और पट में जो प्रावरण शक्ति है वह तदीय कारण तन्तु में नहीं है । ब्रह्म में जो चेतना है वह तत्कार्य अचित्समुदाय में नहीं है । यद्यपि कपालगत रूप कार्यघट में आता है । ब्रह्मगत सत्ताधर्म अचित् कार्य में भी आता है । इसलिए भाष्यकार ने 'प्रायेणव्यभिचरितनया' ऐसा कहा है सर्वथा व्यभिचरिततया ऐसा नहीं कहा है । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कार्य में जो शक्ति जो धर्म है वह कारण में रहेगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है । तब आगम वेद में व्यवहित विप्रकृष्ट स्थूल सूक्ष्म साधारण समस्त पदार्थ के प्रकाशन शक्ति मत्व है तो तज्जनक ब्रह्म में भी तादृश शक्ति का होना चादिण ही यह कथन असंभवित है । क्या पुत्र में पाण्डित्य है तो उसका जनक पिता भी पण्डित होगा ? यथा वा प्रह्लाद में वह भक्ति रूप गुण था तो उसके पिता में वह गुण कभी भी उपलब्ध था । इसी प्रकार वेद में प्रदीपवत् सर्व पदार्थावभासन शक्ति है तब तो ब्रह्म में भी वह सर्वज्ञत्व होगा ही यह संभवित नहीं है । अतः सर्वज्ञ कल्प वेद का उपादान कारण होने से ब्रह्म में भी सर्वज्ञाता की सिद्धि होगी यह कथन अयुक्त है ।

नहीं कहो कि सर्वज्ञ वेद का अभिन्न निमित्तोपादन विधया ब्रह्म में सर्वज्ञता भले ही सिद्ध न हो किन्तु 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुति तो सिद्धवत् परमेश्वर में सर्वज्ञत्व का प्रति-

ब्रह्मणोऽखिलवेदकर्तृतया युक्तमेव सार्वज्ञ्यम् । तथा च श्रुतयः
‘अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वा-
ङ्गिरस इतिहामः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्या-

वेदस्य नित्यत्वेनोत्पत्तिविनाशरहिततयावेदकर्तृकत्वेन ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यं न सम्भवतीति यदुक्तं पूर्वपक्षिणा तस्य समाधानायोपक्रमते—इति प्राप्ते ब्रूम इत्यादि । सत्यं वेदस्य अनादिनिधना इत्यादिना नित्यत्वं प्रदर्शितं तथापि छन्दांसिजज्ञिरे इत्याद्यनेकश्रुतिषु वेदस्य परमेश्वरादेव जनिर्भवतीति प्रतिपादनात् वेदकर्तृकतया परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वे न किमपि बाधकमिति । न च पुरुष प्रभवतया तस्य पौरुषेयत्वेनापौरुषेय-पादन करती है । इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘कथञ्चित्-तत्संभवेपीत्यादि ।

कथञ्चित् वेद कर्तृकत्वेन सार्वज्ञ्य की सिद्धि होने पर भी, श्रुति का अविषय अर्थात् श्रुति अप्रतिपादित वर्षा कालिक मेघ से गिरनेवाली जो वर्षा धारा, तथा तदीय संख्यादिक उसका ज्ञान नहीं होने से, वेद कर्तृत्व रूप से भी ब्रह्म में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होनी है । अर्थात् श्रुति के उत्पादक होने से श्रुति प्रतिपादित धर्माधर्मादि पदार्थ ज्ञान का ज्ञान होने पर भी श्रुत्यप्रतिपादित अनेक पदार्थ है । तथा तद्वत् संख्यादिक का ज्ञान नहीं होने से परमेश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती है । यह पूर्व पक्ष का अभिप्राय है ।

वेद का उत्पादक होने से परमेश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि वेद तो नित्य है । इसलिए उसका कोई उत्पादक नहीं है । ऐसा जो पूर्व पक्ष किया गया था, उसका समाधान करने के लिए कहते हैं कि ‘इतिप्राप्ते ब्रूमः’ इति । पूर्वोक्त प्रकार के पूर्व पक्ष का समाधान कहता हूँ । समाधान प्रकार को बतलाते हैं ‘ब्रह्मण’ ‘इत्यादि । शब्द-राशि रूप वेद समुदाय का अर्थात् वाचक समस्त जगत् का कर्ता होते से ब्रह्म में सार्वज्ञ्य को सिद्ध होना युक्त ही है । क्योंकि जब वेद जो कि जन्य है । वह जब सर्व पदार्थ का अवभासक होने से सर्वज्ञ कल्प है । तब उसका जनक जो परमात्मा उसमें सर्वज्ञत्व तो अर्थतः सिद्ध होता है । श्रुति समुदाय स्वयं वेद जनकत्व का ब्रह्म में प्रतिपादन करता है ‘अस्य महतः’ इत्यादि । इस महान् भूतपरात्पर परमेश्वर से पुरुष निःश्वास के समान ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस श्रीरामायण महाभारतादिक इतिहासपुराण व्याख्यान सूत्र शिक्षा कल्प प्रभृतिक वाचक जगत् उत्पन्न होता है । एवम् ‘छन्दों का आविर्भाव भगवान् से हुआ’ ।

नानि व्याख्यानानि' (बृ० ४।५।११) 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (यजु० मा० सा०) अत्र निश्चितवदन्तरेण प्रयत्नं वेदानां तत एव प्रादुर्भावनिश्रयात्तद्वचितत्वमेव । न ह्यत्र वेदकर्तृत्वमर्थमासाद्य तदनुगुणप्रणयनकर्तृत्वम् । येन विषयसापेक्षत्वेन पौरुषेयत्वं स्यात् । न वा केवलमुच्चारयितृत्वरूपम्, आधुनिकाध्यापकसादृश्याद्देदस्य त्ववार्तास्तंगतास्यादिति वाच्यम् । नहि पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वमात्रेण पौरुषेयत्वम्, तथा सति मीमांसकमतेऽपि अध्यापकपरंपरया तथात्वेन पौरुषेयत्वापत्तेः । तस्मात् स जातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वमेव पौरुषेयत्वम् । इहतु कल्पान्तरपरिज्ञातोच्चारणसजातीयोच्चारणसापेक्षत्वेनापौरुषेयत्वस्यावाधात् । यादृशपदवर्णाद्यानुपूर्वीक वेदस्योच्चारणं कृतवान् तादृशानुपूर्वीविशिष्टमेवास्मिन् कल्पेऽप्युच्चारयतीति सजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणविषयत्वेन न पौरुषेयत्वमपित्वपौरुषेयत्वमेव । न च कण्ठता- 'त्रयोवेदा अजायन्त' ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीनों वेद सर्वज्ञ सर्वशक्ति समवन्वित परमात्मा से उत्पन्न होते हैं । नहीं कहोकि सामवेद तो अग्नि से हुआ है । यजुर्वेद वायु से तथा ऋग्वेद आदित्य से होता है । तब परमेश्वर कर्तृकत्व तो नहीं होता है । यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ये सब वचन संप्रदाय मात्र का प्रवर्तक है और इन वचनों से उत्पत्तित्व का तो निराकरण नहीं होता है । जिस तरह सुप्त जीव प्रयत्न के बिना भी स्वापादिकाल में श्वासादि का ग्रहण करता है । उस श्वाशादि ग्रहण में जीवनयोनि यत्नमात्र कारण है । पुरुष प्रयत्न कारण नहीं है । उसी तरह प्रकृत में पुरुष श्वास के समान प्रयत्न के बिना ही परमेश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव होता है । ऐसा निश्चित होने से परमेश्वर रचितत्व की ही सिद्धि होती है । [यहाँ 'प्रादुर्भाव' तथा 'रचितत्व' कथन से उत्पत्ति का निराकरण तथा परिणामवाद अभिव्यक्त होता है । अर्थात् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है । किन्तु आविर्भाव तिरोभाव मात्र होता है । इससे यह कहा जाता है कि उत्पत्ति के पूर्व में भी पदार्थ की सत्ता रहती है । केवल कारक व्यपार से कार्य स्वात्म सत्ता को लाभ करता है । इसका विशेष विवेचन श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर टीका में किया हूँ वहाँ देखें] यहाँ वेद कर्तृत्व रूप अर्थ को लेकर के तदनुकूल प्रणयन कर्तृत्व नहीं है । जिससे कि विषय सापेक्ष होने से पौरुषेयत्व की आपत्ति होगी । नवा केवल उच्चारयितृत्व लक्षण कर्तृत्व है । यदि केवल उच्चारण कर्तृत्व ही मानें तब तो, आधुनिक अध्यापक की तरह वेद में विशिष्ट ब्रह्म कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा । यद्यपि संपूर्ण वेद का उच्चारण कर्त्ता होने से यत् किञ्चित् वेदोच्चा

विशिष्टब्रह्मकर्तृकत्वासिद्धेः । तदाह्यखिलवेदोच्चारयितृतया ब्रह्मणो विशिष्टाध्यापकत्वस्य लाभेऽपि तावन्मात्रस्यापुरुषार्थतया वैलक्षण्यं न स्यात् । तस्मात्सृष्टेः प्राग्यादृशक्रमस्ववर्णानुपूर्वीमानासीत्तथैवास्मिन्कल्पे विरचय्य प्रवर्तयति कारुणिकः परेशः । तथा च 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इतिवेदोदितदिशा प्राचीनानुपूर्व्यनुरूपरचनया सार्वज्ञ्यं

त्वादिरहितस्य तस्य कथमुच्चारयितृत्वमिति वाच्यम् भक्तानामनुग्रहाय विग्रहधारणस्य श्रुतौ दर्शनेत कण्ठतात्वादिनाऽभिव्यक्तिसम्भवात् । न च वर्णानां नित्यत्वेन कथमुत्पत्तिरिति वाच्यम् । भावानवबोधात् । वर्णानित्या इत्यस्यायमर्थो भवति । यत् वर्णो त्रिक्षणावस्थायित्वंनैयायिकवन्नास्तीति । अतएव सककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञापिसंगता भवति । न च जातिविषयिणीप्रत्यभिज्ञा व्यक्तिविषयत्वेपि बाधकस्यासत्त्वादित्याशयेन परिष्करोति ब्रह्मणोऽखिलवेदेत्यादि भाष्यम् । ब्रह्मणोवेदकर्तृतया सार्वज्ञ्यं यदुक्तं रक अध्यापक की कपेक्षा से ब्रह्म में विशिष्ट अध्यापकत्व का लाभ होने पर भी एतावन्मात्र तो पुरुषार्थ है । नहीं तो पुनः आधुनिक वेदाध्यापक से ब्रह्म में कोई अधिक विलक्षणता की सिद्धि नहीं होगी । इसलिए वर्तमान सृष्टि के पूर्व सर्गकाल में यादृश क्रम प्रवर वर्ण के आनुपूर्वीवाला वेद था । उसी तरह से इस वर्तमान सर्ग में भी तादृश वेद की रचनाकर के परम कारुणिक भगवान् लोक में उपदेश करते हैं । अर्थात् भगवान् पूर्वसर्ग स्थित वेद का निर्माण करके पूर्वकालिक वेद समान वेद का उपदेश एतत्सर्ग कालिक वेद का उपदेश देते हैं । किन्तु तद्विपरीत का स्वेच्छया नहीं करते हैं । अत एव जिस तरह ब्रह्म हत्या पूर्व सर्ग में पाप प्रयोजक था । तथा विश्वजीदश्वमेधादि विलक्षण धर्मजनक था । उसी तरह इस सर्ग में भी होता है किन्तु विपरीत नहीं होता है । अतएव 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' [सर्ग का उत्पादक परमेश्वर यथा पूर्व पदार्थों का निर्माण किया ।] इस वेद कल्पित प्रकार से प्राक् कालिक जो वेद का आनुपूर्वी थी तदनुरूप आनुपूर्वी विशिष्ट वेद की ही भगवान् करते हैं । अतः भगवान् में सर्वज्ञता तथा वेद कर्तृत्व स्वत एव सिद्ध होता है । यही परमात्मा में अन्य की अपेक्षया विलक्षण वेद कर्तृत्व है । जो अन्य संकलित क्रम वर्णादि के अनधीन होने से स्वतंत्र रूप से पूर्वकल्प में स्वसंपादित क्रम वर्णादि विशिष्ट वेद के समान इस कल्प में भी वेद कर्तृत्व है । तो इस तरह वेद को परमात्मा कर्तृत्व होने पर भी क्रमवर्ण पद वाक्य तथा इनके अर्थ जोकि अनादि सिद्ध है इन सब को यथावस्थित होने से वेद में स्वतः प्रामाण्य तथा अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है । सजातीय उच्चारणानपेक्ष उच्चारण कर्तृत्व पौरुषेयत्व कहलाना है ।

वेदकर्तृत्वञ्च स्वतः सिद्ध्यति । इदमेव च परमात्मनोऽन्यविलक्षणं वेदकर्तृत्वं यत् परसङ्कलितक्रमवर्णाद्यनधीनतया स्वातन्त्र्येण पूर्वकल्पीयस्वकृतक्रमादिवदिदानीमपि तत्कर्तृत्वम् । एवञ्च वेदानाम्परमात्मकर्तृकत्वेऽपि क्रमवर्णापदवाक्यतदर्थानामनादिसिद्धानामेव तादवस्थ्यात्तेषां स्वतः प्रामाण्यमपौरुषेयत्वञ्च सुतरां सम्पन्नम् । न

तत् सर्वथा समीचीनमेव । अमुमर्थं श्रुतिरेव प्रतिपादयति अस्यमहतः इत्यादि । सुप्तो-
पिजीवः प्रयत्नमन्तरेण श्वासादिकं गृह्णाति परित्यजत्यपि । न तत्र तस्य जीवनयोनि-
व्यतिरिक्तप्रयत्नं करोति । तथैवात्र परमेश्वरोपि प्रयत्नमन्तरेणैव वेदान् समुत्पाद-
यति । तथा 'छन्दांसि जज्ञिरे' 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोतितस्मै'
'यो ब्राह्मणं विदधाति, इत्येतच्छ्रुतिमानतः । रामो विधिं विधायादौ तस्मै वेदं हि दत्त-

तथा सजातीय उच्चारण सापेक्ष उच्चारण कर्तृत्व को अपौरुषेय कहते हैं तो ऐसा प्रकृत में है । नहीं कहो कि यदि वेद परमेश्वर कर्तृक है तब तो भ्रम प्रमादादि दोष प्रयुक्त होने से वेद में अप्रामाणिकत्व प्रसंग होगा ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अखिल हेयगुण का प्रत्यनीक विरोधी गुणवान् संप्राप्त है सकल काम जिसको तथा नित्य निरतिशय ज्ञान से अनुभूयमान है सकलतत्त्व जिसको तथा महा महिमाशील भगवान् श्रीरामात्मक ब्रह्म का यह वचन है । इसलिए एतादृश परमात्मा का वचनरूप वेद में अप्रामाण्य की शंका नहीं होती है । रागद्वेषादिदोष से दूषित अन्तः करणवान् जो विप्रलम्भक पुरुष है, उसी के वचन में अप्रामाणिकत्वादि दोषों की शंका रहती है । भगवान् तो सकल दोष रहित है । इसलिए भगवद्वचनरूप वेद में शंका का समावेश नहीं है । नहीं कहो कि जब शब्द समुदाशात्मक वेद उत्पत्तिमान् है । तब तो वह त्रिक्षणावस्थित लक्षण अनित्य हुआ तब वेद में नित्यत्व का व्याघात होता है । अर्थात् 'शब्दोऽनित्य उत्पत्तिमत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान से शब्द को अनित्य होने से शब्दराशिरूप वेद में भी त्रिक्षणावस्थाधित्व रूप अनित्यत्व होगा । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'जिस शब्दराशिरूप वेद का अध्ययन विष्णुशर्मा ने किया उसी वेद का अध्ययन रामशर्मा भी कर रहा है ।' एतादृश प्रत्यभिज्ञा से वेद का अनित्यत्वानुमानवाधित है । नहीं कहो कि उक्त प्रत्यभिज्ञा जाति विषयक है व्यक्ति विषयक नहीं है ऐसा कथन भी युक्त नहीं है । क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा को व्यक्ति विषयक होने में कोई बाधक नहीं है ।

चात्राप्रामाण्यशङ्कासम्भवः । अखिलहेयप्रत्यनीकस्यावाससमस्तका-
मस्य नित्यनिरतिशयज्ञानानुभूयमानपरावस्वस्तुतत्वस्य निस्वधिकम-
हिम्नः श्रीरामस्य ब्रह्मणो वचनत्वात् । रागद्वेषदोषदूषितान्तः कर-
णानां विप्रलिप्सूनां वचनेष्णोव तत्सम्भवः । न चैवं शब्दराशि-
रूपस्य वेदस्योत्पत्तिमत्त्वेन त्रिक्षणावस्थायित्वमेव स्यादिति वाच्यम् ।

वान्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिष्वपि तथैव प्रतिपादनात् वेदकर्तृत्वं परमेश्वरस्यैव नान्यस्य ।
ततश्च तत्कर्तृत्वात्संघटते एव तस्य सार्वभौम्यमिति । न चात्राप्रामाण्यशङ्केत्यादि । न च
वेदस्य पुरुषजन्यत्वे पुरुषे भ्रमप्रमादादिदोषसद्भावेन वेदस्याप्राण्यं ततश्च स्वतः
प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियादिति । नैवं शक्यम् । नेदं वचनं भ्रमादिदोषवताम् । किन्तु
रागद्वेषरहितपरमकारुणिकस्य भगवतो रामस्य वचनं वेदः । भ्रमादिदोषवतां वच-

वर्ण के विषय में दो पक्ष हैं एक तो वर्ण को नित्य मानते हैं । और अपर अनित्य
मानते हैं । उसमें अनित्यतावादी के मत में तो वेद कर्तृत्वं परमेश्वर में अव्याहत है ।
परन्तु जो वर्ण को नित्य मानते हैं उनके मत में भी वेद कर्तृत्वं घटता है । तथाहि वर्ण
नित्य है तथापि पद वाक्य प्रभृतिक को अनित्य ही मानना पड़ेगा । क्योंकि पूर्वपराम्भक
आनुपूर्वी विशिष्ट वर्ण समुदाय को पद कहते हैं । तथा आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट पद समुदाय
को वाक्य कहते हैं । यह आनुपूर्वी व्यक्ति का धर्म है, वर्ण का धर्म नहीं है । क्योंकि वर्ण
तो नित्य तथा व्यापक है । तो उसमें देशकृत अथवा कालकृत पूर्वापरीभाव नहीं हो सकता
है । तब आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट नित्य वर्ण का जो पदत्व है वह अनित्य है तथा वाक्यत्व
भी अनित्य है । इसलिए यादृश आनुपूर्वी का कथन व्यापक वैदिक पदादि का कर्त्ता है ।
उसका अनुकरण मात्र शिष्य करता है । अतः वर्ण के नित्यतावादी के मत में भी लौकिक
वैदिक पदवाक्यादि के पौरुषेयत्व होने में कोई भी विवाद नहीं है । परन्तु लौकिक वाक्य में
जिस तरह पुरुष की स्वतन्त्रता है तादृश स्वतन्त्रता वैदिक वाक्य में नहीं इसी स्वतन्त्रता अस्व
तन्त्रता में केवल विवाद है ऐसा कहा है 'यन्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' वैदिक वाक्यों
में पुरुष का स्वातन्त्र्य यत्न पूर्वक निराकरणीय है । इसमें भी मीमांसक तो गुरु परंपरा को
अनादि मानकरके वेद को अनादि मानते हैं । वेदान्ती जो लोग सृष्टि प्रलय को मानते हैं ।
वे लोग तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा जो वेद का कारण है उनकी स्वतन्त्रता को नहीं
मानते हैं । किन्तु पूर्ण पूर्वकालिक सर्गानुसारेण तो तादृश तादृश आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट वेद की

‘योऽयं वेदो विष्णुशर्माणधीतः स एव रामशर्मणाप्यधीयते’ इति प्रत्यभिज्ञावाधात् । एवं न वर्णानामपि त्रिक्षणावस्थायित्वम् । यः ककारश्चैत्रेणोक्तः स एव मैत्रेणापीति प्रत्ययात् । नापि वर्णानामाकाशमात्रगुणत्वमणुत्वं च । मानाभावात् । ‘यष्टकारोऽयोध्यायां श्रुतः स एवानेन काश्यां श्राव्यत’ इत्यादिव्यापकत्वप्रतीतिविरोधाच्च ।

नस्यैवाप्रामाण्यं भवति । न तु तादृशदोषरहितव्यक्तिप्रभववचनानामप्रामाण्यमिति । न च वेदस्य परमेश्वरजन्यत्वेनानित्यत्वं स्यात् । ततश्च वेदोऽनित्य उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवदितिवाच्यम् । प्रत्यभिज्ञया तस्य बाधात् । न च सा जाति विषयिणीति वाच्यम् । व्यक्तिविषयत्वेपि बाधकाभावादिति । अक्षरार्थस्त्वतिरोहित एवेति दिक् ।

रचना को करते हैं इसलि नित्य वेद का कर्तृत्व परमात्मा में है । और परमात्मा का वचन होने से स्वतः प्रमाण वेद कहलाता है तथा नित्य भी कहलाता है । क्योंकि अनादि काल से आने के कारण प्रवाह नित्यता का बाध नहीं होता है । इसीलिए भाष्यकार ने प्रत्यभिज्ञा द्वारा नित्यत्व का प्रदर्शन किया है । विशेष अन्यत्र देखिये ।

‘एवं न वर्णानामित्यादि’ जिस तरह शब्दराशि रूप वेद में त्रिक्षणावस्थायित्वलक्षण अनित्यता नहीं है किन्तु चिर कालावस्थायित्व है । उसी तरह वेद घटक जो वर्ण है उसमें भी त्रिक्षणावस्थायित्वरूप अनित्यता नहीं है । क्योंकि जिस टकारादिक वर्ण का कथन चैत्रने किया था, उसी टकारादि वर्ण का कथन मैत्रा भी कर रहा है । इस प्रत्यभिज्ञान से वर्ण में भी स्थायित्व ही सिद्ध होता है । नहीं कहो कि यदि वर्ण नित्य है तब कोकिल के शब्द से शुक सारिका के वचन में जो भेद प्रत्यय होता है । तथा मनुष्य के वचन से तदितर के वचन में जो भेद प्रत्यय होता है उसका समर्थन किस तरह होगा ! उत्तर—वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती है । किन्तु अभिव्यक्ति मात्र होती है । और उसमें अभिव्यंजक होता है वायु रूप ध्वनि । और ध्वनि का विभेदक होता है जण्ट तालु प्रभृति का अभिघातादिक । तो निमित्त के भेद होने से नैमित्तिक वर्ण में भी भेद प्रतिभास होता है । नतु वर्ण विभेद कृत विभेद है । अर्थात् अभिव्यंजक के भेद से अभिव्यंज्य में भेद प्रतिभासित होता है । जिस तरह अभिव्यंजक घट मटादि के भेद होने से अभिव्यंज्य आकाश में यह घटाकाश है यह मटाकाश है ऐसा प्रतिभास होता है । वस्तुतः आकाश तो एक ही है उसमें कोई भी भेद

एतेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नानभोभागस्यैव श्रोत्रत्वात्तदसाधारणगुणस्तत्समवेत एव वर्णात्मा शब्द इत्यपि कणभुङ्मतमपास्तम् । इन्द्रियाणां सात्त्विकाहङ्कारित्वेन श्रोत्रस्याकाशत्वाभावात् । न च केवलमाकाशगुण एव शब्दः सिद्धान्ते वाय्वादिस्वपि तस्य स्वीकारात् । गुणगुणिनोः समवाय इतिनियमस्य चाग्रे समवायनिराक-

शब्दोद्रव्यसमवेतो गुणत्वादनेनानुमानेन शब्दस्य सामान्यतो द्रव्यसमवेतत्वं सिद्ध्यति । ततश्च शब्दो न पृथिव्यादिवायुनां विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् । नवा दिक्कालमनसांगुणोविशेषगुणत्वात् सुखवत् । नात्मगुणोवाह्य प्रत्यक्षविषयत्वात् । तस्मात्परिशेषादाकाशगुणः । तत्र कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशस्यावयवभूतं श्रोत्रं तस्मिन् समवेतस्तदसाधारणगुणः शब्दः श्रोत्रेण साक्षात् क्रियते इति न्यायमतम् । तन्न मनोरमम् श्रोत्रस्य सात्त्विकाहङ्कानहीं है । उसी तरह प्रकृत कोकिलादि शब्दों में जो भेद प्रतिभास होता है वह शब्दाभिव्यञ्जक निमित्त भेद प्रयुक्त है नतु शब्द भेद प्रयुक्त भेद है । नवा शब्द आकाशमात्र का गुण है, तथा अणु है, क्योंकि, 'जिस शब्द को मैंने श्रीअयोध्याजी में सुना था उसी शब्द को मैं काशी में सुनता हूँ।' इत्यादि प्रतीति से शब्द में व्यापकत्व प्रतीति होती है । शब्द आकाश का गुण नहीं है तथा अणुरूप भी नहीं है इसका विचार प्रसंगवश अन्यत्र किया जायगा । वही देखने का प्रयास किजिए' ।

'एतेन' इस वक्ष्यमाण हेतु से इसका अन्वय 'मतमपास्तम्' इसके साथ में है । कर्ण-शब्दकुण्डली से अवच्छिन्न जो आकाश का भाग उसी को श्रोत्ररूप होने से श्रोत्रात्मक आकाश का असाधारण अर्थात् विशेष गुण शब्द है । तथा उसी श्रोत्रात्मक आकाशमें समवाय सम्बन्ध से वृत्ति है । [शब्दगुण है तो वह समवाय सम्बन्ध से आकाशमें रहता है । यथाघटीय रूपादिक समवाय समवायसम्बन्ध से घटादि द्रव्य में रहता है । यह शब्द पृथ्वी जल तेज तथा वायु रूप स्पर्शवान् द्रव्य में नहीं रहता है । क्योंकि अग्निसंयोगरूप असमवायिकारणक नहीं होकर के अकारण गुण पूर्वक शब्द प्रत्यक्ष होता है । नवा दिशाकाळ तथा मन में रहनेवाला है विशेषगुण गुण होने से । नवा आत्मा में रहता है । बाह्येन्द्रियग्राह्य है । अतः परिशेषात् आकाशनामक द्रव्य में आश्रित है । एतादृश वर्णात्मक शब्द है । ऐसा वैशेषिक का मत है यह परास्त हो जाता है । क्योंकि चक्षुरादिक जो इन्द्रिय हैं वे सात्त्विक अहंकारोपादानक हैं । अर्थात् सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियमात्र की उत्पत्ति होती है । इसलिये

रणावसरे निरसिष्यमाणत्वात् । श्रोत्रेण च शब्दव्यञ्जकध्वनेरेव ग्रहणात् ।

एवञ्चाम्नायस्य वर्णपदवाक्यव्यूहरूपस्य परमात्मन एव सृष्ट्यादावुत्पादकत्वम् । स्थूलव्योमादिवत् । एवं प्रलयकालिक-ध्वंसप्रतियोगित्वेनैव वर्णानां सामञ्जस्ये नान्तराल उदयापायौ

रजन्यत्वेनाकाशत्वाभावात् । यद्यपि श्रोत्रस्याहङ्कारप्रभवत्वमिति साख्यमतं तथापि न्यायमतनिराकरणमात्रतात्पर्यादिति तन्मतखण्डनायोपक्रमते भाष्यकारः एतेन कर्ण-शकुल्यवच्छिन्नेत्यादि । एतेन वक्ष्यमाणदोषेणेत्यर्थः । श्रोत्रस्याहङ्कारप्रभवत्वेनाकाश-रूपत्वं न भवतीत्यर्थः । शब्दश्चनाकाशमात्रे तिष्ठति । तस्याकाशादारभ्य पृथिवी पर्यन्तभूतेषु सम्भवादितिवेदान्तमतम् । एवं गुणगुणिनोः समवाय इत्यपि न युक्तं समवायस्याग्रेख्यमानत्वात् । तथाहि गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोरवयवावयविनो-र्जातिव्यक्तयोः परमाणुविशेषयोर्यः सर्वत्रः स समवाय इति न्यायमतम् । स सम-श्रोत्र इन्द्रिय में आकाशत्व नहीं है । तथा केवल आकाश का ही गुण शब्द नहीं है । किन्तु आकाश वायु प्रभृतिक इतरभूत का भी गुण शब्द है । वायु तेज जल पृथिवी में भी शब्द की उपलब्धि होनी है ऐसा स्वकीय सिद्धान्तमें कहा गया है । यद्यपि चक्षुरादिक इन्द्रियों की उत्पत्ति अहङ्कार जो अभिमान लक्षणक एक तत्त्व है उससे होती है ऐसा तो सांख्य का मत है । तथापि यहाँ न्याय मत का खण्डन करने के लिए भाष्यकार ने 'सिद्धान्त' इस प्रकार का प्रयोग किया है । अर्थात् आकाश मात्र का गुण शब्द है । इस न्याय मत के खण्डन करने मात्र में भाष्यकार का तात्पर्य है । और गुण गुणि का समवाय सम्बन्ध होता है । अर्थात् समवाय सम्बन्ध से आकाशादिक में समवाय सम्बन्ध से शब्दादिक गुणों की वृत्तिता होती है । इसनियम का निराकरण समवाय के खण्डन प्रकरण में किया जायगा । अर्थात् कपाल तथा घट से भिन्न समवाय कपाल में घट को सम्बन्ध कराता है । तो समवाय भी तो समवायी कपाल से भिन्न है तो वह भी तो किसी सम्बन्ध से समवायी में सम्बद्ध होगा तब सम्बन्ध परंपरा मानने से अनवस्था होती है । एवं यदि स्वरूपतः समवाय समवायी से सम्बद्ध होता है । ऐसा कहे तब तो संयोग के लिए भी समवाय की कोई आवश्यकता नहीं होगी । एवं यदि समवाय को एक मानें तब तो रूप एवं स्पर्श के समवाय को एक होने से वायु में रूपत्व का तथा घट में विलक्षण स्पर्श का भी आधाराधेय भाव हो जायगा । यदि समवाय को अनेकमानें तब तो संयोग समान होने से समवाय में अनित्यत्व का प्रसंग

श्रुतियुक्तिसम्मतौ । ककारादिवर्णानामनन्तप्रागभावध्वंसादिकल्प-
नायां गौखात् । तथा च, नवकृत्वोगोशब्द उच्चरितः स एवायं
ककार इति प्रामाणिकप्रतीतिप्रत्यभिज्ञाभ्यामुत्पन्नः को विनष्टः क
इत्यादिप्रत्ययस्याप्रामाण्यमेवास्थेयम् । वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिगतोत्प-
त्तिनिरूपितसम्बन्धविषयकत्वं वा ।

वायो नित्यो विशिष्टबुद्धिनियामकतया सिद्धः सस्वकीयानुयोगिप्रतियोगिभ्यांभिन्न एव
स्वरूपेणैव स्वयं सम्बद्धोभवतीति । तत्र पृच्छामि । यथा रूपघटौ परस्परं विभिन्ना-
वेव समवायाख्यसम्बन्धेन सम्बद्धौभवतः तथैव समवायोपि प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां
विभिन्न एवेति सोपिसम्बन्धान्तरसापेक्षः स्यात् । ततश्च यदपेक्षः सोपिसम्बन्धान्त-
रापेक्ष इत्येवं क्रमेणानवस्था स्यात् । न च समवायः स्वसम्बन्धिनौसम्बद्धं कार-
यित्वा स्वयं त्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्धोभवतीतिक्वानवस्थास्यादिति वाच्यम् । स्वरूपस्य-
द्विष्टत्वाभावेन सम्बन्धत्वस्यास्वीकारात् । अपि च समवायो यदि सम्बन्धान्तरं नापे-
क्षो जायगा । तथा अपसिद्धान्त प्रसंग भी होगा । इत्यादिक दोष समवाय में बतलाकरके
समवाय का निराकरण द्वितीयाध्याय के तर्कपाद में करेंगे । विशेष जिज्ञासु लोग वहाँ से ही
इसका अनुसंधान करें । और श्रोत्रेन्द्रियों से शब्द का ग्रहण नहीं होता है । किन्तु शब्द
का अभिव्यंजक जो ध्वनि उसी का ग्रहण होता है । इसका भी विशेष विवरण अन्यत्र देखिये ।
शब्द आकाश का गुण नहीं है श्रोत्र अहंकार से उत्पन्न होता है । और श्रोत्र से शब्द का
ग्रहण नहीं होता है । किन्तु शब्दाभिव्यंजक ध्वनि मात्र का ग्रहण होता है । इन सब विषयों
का संकलन इस, 'एतेनेत्यादि' प्रकरण से किया गया है ।

'एवं चान्नायस्येत्यादि' ऐसा हुआ तब वर्णतत्समुदाय रूपपद तत्समुदाय लक्षण वाक्य
तथा वाक्य समुदाय जो आन्नाय वेद उस वेद का सर्ग के आदि में उत्पादकत्व परमात्मा को
ही है । जिस तरह वाच्य जगत् का उत्पादकत्व सर्गादि में परमात्मा को है । अर्थात् जैसे
श्रीराम में आकाशादि समुत्पादकत्व है उसी तरह वाचक वेद समुदाय रूप जगत् का उत्पादकत्व
भी सर्गादि में परमात्मा श्रीराम में ही है । एवं वेद जगत् में प्रलयकालिक लोस प्रतियोगित्व
है अर्थात् जिस तरह आकाशादिक पदार्थ सर्गादि में प्रागभाव प्रतियोगि लक्षण उत्पत्तिमान् है,
तथा प्रलय में विनाश प्रतियोगी होता है 'जगत्प्रतिष्ठादेवर्षेणृथिव्यधुप्रलीयते' इत्यादि नियम से
उसी तरह वर्ण समुदायात्मक वेद सर्गादि में उत्पन्न होता है । तथा महाप्रलयकाल में विनष्ट
होता है । नतु नैयायिक मतवत् क्षणिक है । जिससे कि वेदमें अनित्यत्व सिद्ध हो ।

तस्मान्नित्यत्वाद्दर्शनानां तत्समुदायस्यार्थप्रत्यायकत्वेनैव सर्वे-
 ष्टसिद्धौ नातिरिक्तः कश्चित्फोटात्मा कश्चिद्धर्मी युक्तिसहः शक्यो-
 ऽङ्गीकर्तुम् । विकल्पासहत्वात् । स च यत्किञ्चिद्दर्णव्यङ्ग्यो यावद्-
 वर्णव्यङ्ग्यो वा ? न तावदाद्यः । घशब्देनैव व्यञ्जिते स्फोटे सम्प-
 न्नायां घटपदार्थावगतौ ट्वर्णस्य वैयर्थ्यात् । न द्वितीयः तन्मते
 क्षते तदा संयोगोपि सम्बन्धान्तरानपेक्ष एव सम्बन्धिसम्बद्धं करोतु । न च गुण-
 तत्संयोगस्समवायाधीन इति वाच्यं गुणपरिभाषाया कल्पितत्वेनाश्रद्धेयत्वादिति ।
 किञ्च समवायसम्बन्धस्य यदि समवायिभ्यां स्वरूप एव सम्बन्धान्तरानपेक्षः
 सम्बन्धस्तदा संयोगस्यापि तथैव भवतु तस्यापि सम्बन्धान्तरस्वीकारे कारणाभावा-
 देव । न च समवायिभ्यां भिन्नः समवायः स च नित्य इति तदा संयोगोऽपि तथैव-
 भवतु ऋते कदाग्रहात् । किञ्च स समवायः एकोऽनेको वा ? नाद्यस्तथात्वे रूपप्रति-
 योगिकतथास्पर्शप्रतियोगिकसमवाययोरेकत्वेन रूपवान् घट इति प्रतीतिवत् रूप-
 किन्तु पूर्वोक्त कथन ही श्रुति तथा युक्ति संमत है । एवम् 'योग्यविभुविशेषगुणानांस्वोत्तरवर्ति-
 गुणनाशयत्वम्' एतन्नियमानुसार क्षणिक उत्पाद विनाश को मानते हैं वह भी ठीक नहीं है ।
 क्योंकि इस प्रकार अनन्त प्रागभाव तथा खांस प्रतियोगीत्व मानने में गौरव होता है । अतः
 वर्ण भी सृष्टि के आदि में परमात्मा से उत्पन्न होता है । तथा प्रलयकाल में विनष्ट होता है ।
 ऐसा मानना ही श्रुति युक्ति संमत है । तथा च नौवार गो शब्द का उच्चारण किया । एवं
 'स एव ककारः' इत्यादिक प्रामाणिक प्रत्यभिज्ञा भी संगत होती है । अन्यथा प्रामाणिक इस
 प्रत्यभिज्ञा का विरोध होगा । अतः 'उत्पन्नः ककारो विनष्टः ककारः' इस प्रतीति के बल से
 जो ककारादि वर्ण का उत्पाद विनाश मानते हैं यह भी अयुक्त ही है । नहीं कहो कि
 छिन्न पुनर्जात केशों में जिस तरह 'ते एवामीकेशाः' यह प्रत्यभिज्ञा जाति विषयक है । यथा वा
 'सैनेयं गुर्जरी' यह प्रत्यभिज्ञा व्यक्ति भेद को प्रत्यक्ष सिद्ध होने से जातिविषयकत्व है । उसी
 तरह वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञा जाति विषयक है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जाति
 में तो द्वित्व बहुत्व प्राप्त नहीं है जिसका बाधक उक्त प्रत्यभिज्ञा को कहा जाय । किन्तु
 व्यक्ति विषयक ही प्रत्यभिज्ञा है । छनपुनर्जात केशादिक में तो भेद प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष प्रमाण
 सिद्ध है । इसलिए उस स्थल में जाति विषयता को लेकर के प्रत्यभिज्ञा का समर्थन किया
 जाता है । वर्ण विषयक एकत्व प्राप्त प्रत्यभिज्ञा का तो कोई बाधक नहीं है । प्रत्युत श्रुति
 तथा युक्तियों से समर्थित है । इसलिए व्यक्ति विषयक प्रत्यभिज्ञा व्यक्ति के एकत्व का ही

वर्णानामाशुविनाशितया सम्मेलनाऽसम्भवात् । नित्यत्वे तु वर्णानामस्मन्मतपातात्तत्समुदाये नैवार्थप्रतीतौ किमन्तर्गडुना स्फोटेनेति राद्धान्तः । अतो न वेदानाम्पौरुषेयत्वं त्रिशणावस्थायित्वञ्चेत्यलमनेनाप्रसंगोचितकथालापेन ।

वान् वायुरिति प्रत्ययोप्यविरतः स्यात् । न द्वितीयः सिद्धान्तवाधादित्याद्यधिकं द्वितीयाध्यायीयद्वितीयपादे द्रष्टव्यमिति संक्षेपः ।

श्रोत्रेचेत्यादि । किञ्च न भवति श्रोन्तेन्द्रियेणशब्दस्य ग्रहणमपितु तेन शब्दाभिव्यञ्जकध्वनीनामेव ग्रहणादितिसम्प्रदायः । एवंचाम्नायस्येत्यादि । यथा सर्गस्यारम्भकाले परमात्मासर्जति स्थूलाकाशादिभूतवर्गम् तथा तानि भूतानि प्रलयेविनष्टानि भवन्ति । न तु तेषामध्ये उत्पादविनाशौभवतस्तथैव वर्णोपि सर्गप्राक्काले ब्रह्मणा समुत्पन्नः । इसलिये न्याय मतका निराकरण तथा वर्ण का एकत्व ही स्थिर होता है । इस स्थिति में 'उत्पन्नः ककारो विनष्टः ककारः' इत्यादि प्रतीति प्रमाण बाधित होने से अनादेय है ऐसा स्थिर होता है

अथवा 'उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकारः' यह प्रतीति भी प्रामाणिक है । इसमें गकारादिरूप वर्ण का अभिव्यञ्जक जो निमित्त वायु है वह उत्पन्न तथा विनष्ट होता है । तादृश उत्पाद तथा विनाशक का कथंचित् अभिव्यज्यमानककारादिक वर्णों में प्रतिभास होता है । जैसे घटाकाश का उपाधि भूत घटादि पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश होने में तादृश घटाकाशादिक में भी 'घटाकाश उत्पन्नो घटाकाशो विनष्टः' ऐसा प्रत्यय तथा व्यवहार होता है । यथावा 'शिखीविनष्टः' इस स्थल में विशेषणीभूत शिखा का विनाश होने पर भी विशेष्य पुरुष में भी विनाश प्रत्यय होता है । तो यहाँ विशेषणांश में ही ध्वंस प्रतियोगित्व है विशेष्यांश में नहीं है । इसी तरह 'उत्पन्नः ककारो विनष्टः ककारः' इस स्थल में वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनिगत जो उत्पाद विनाश है उसका अभिव्यक्ति में प्रतिभास मात्र को लेकर के तथा प्रतीति है नतु वर्ण उत्पाद विनाशशील है । इसी बात को भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनिगतोत्पत्ति निरूपित सम्बन्ध विषयकत्वोवेति' [वर्ण का अभिव्यञ्जक जो ध्वनि तादृश ध्वनि की जो उत्पत्ति तन्निरूपित सम्बन्ध विषयकत्व रूप से] 'उत्पन्नः ककारः' इत्यादि प्रतीति कथंचित् प्रमाण भी है । 'आत्मानुद्ध्यसमेयर्थान्मनोयुद्धक्ते विवक्षया । मनः कायाग्नि माहन्तिसप्रेरयतिमारुतम् । मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं नजयति स्वरम्' इत्यादि हरिकारिका में वर्ण का अभिव्यञ्जक ध्वनि को माना है । इत्यादि स्थल में विशेष देखिये ।

एवञ्च ब्रह्मकर्तृकवेदस्य सर्ववस्त्ववभासकत्वं ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यमन्तरेणानुपपन्नं सत्तस्य तद्दृढयति । एतच्च परमात्मनः सर्वज्ञत्वमाजानसिद्धमहर्षिभ्यो योगिजनेभ्यः सर्वार्थावभासकवेदेभ्यश्च विशिष्टम् । विशिष्टज्ञानबलक्रियादिशक्तिशालित्वादनवरताखिलार्थसमर्थप्रत्यक्षकारित्वाच्चेति ।

त्पादितो भवति विनश्यति च प्रलये । न तु अस्योत्पादविनाशौभवतः । एतावतैव निर्वाहे न वर्णानां त्रिक्षणावस्थायित्वम् । विशेषतोऽन्यत्रावध्येयम् । तस्मान्नित्यत्वादियतोवर्णा न त्रिक्षणावस्थायिनः किन्तु आकल्पान्तस्थायिनोऽत एव नित्या इति व्यवहारवन्तस्तादृशवर्णसमुदायेनैवार्थप्रतीतौ स्फोटो नाम नास्ति कश्चिदतिरिक्तः पदार्थः । यदि कदाचित् स्वीक्रियेत तदा किं यत् किञ्चिद्वर्णव्यङ्ग्यः, यावद्वर्णव्यङ्ग्यो वा ? आद्ये वर्णान्तरवैयर्थ्यम्, द्वितीयेऽनित्यानामेलनासम्भवात् । कदाचित् नित्यत्वेस्वमतहानिस्तस्मान्नास्ति कश्चित् स्फोट इति ।

‘तस्मान्नित्यत्वाद्गणानामित्यादि’ कोई कोई विद्वान् वर्णाभिव्यङ्ग्य वर्णगत स्फोट नामक एक पदार्थ को मानते हैं जो कि अर्थ के बोध को सम्पन्न करता है । तादृश स्फोटवर्ण स्फोटपद स्फोट और वाक्यादि स्फोट भिन्न से आठ प्रकार का है । उस स्फोट का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘तस्मादित्यादि’ जिसलिए श्रुति युक्ति द्वारा वर्ण की नित्यता की व्यवस्थिति हुई इस लिए उन नित्य वर्णों का जो समुदाय है उसी से जब अर्थ प्रायः संपन्न हो जाता है । तब अर्थ प्रत्यय का संपादन करने के लिए जो स्फोट नामक अतिरिक्त पदार्थ का स्वीकार किया है वह सर्वथा असंगत है । तथाहि वर्णगत जो स्फोट है वह यत्किञ्चित् वर्ण से अभिव्यक्त होता है अथवा यावत् वर्णों से अभिव्यक्त होता है । इसमें यदि प्रथम पक्ष को मानें तब तो ‘घटः’ इस स्थल में मात्र घ वर्ण से अर्थ प्रत्यय हो जायगा तब ट वर्ण के उच्चारण व्यर्थ हो जायगा । अर्थात् घ वर्णसे व्यक्त स्फोट हुआ और उससे घट रूप अर्थ प्रत्यय सम्पन्न हो जायगा । तब टकार का उच्चारण सर्वथा अनुपयोगी हो जायगा । द्वितीय पक्ष को यदि मानें तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि स्फोटवादियों के मत में वर्ण अनित्य है । आशुतर विनाशी है । द्वितीय वर्ण के उच्चारण से प्रथम का विनाश हो जाता है । तब वर्णों का संमेलन सर्वथा असंभवित है । और संमेलन नहीं होगा तब स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होने से अर्थ प्रत्यय नहीं होगा अतः—‘भक्षितेपिलशुने न शान्तोव्याधिः’ इस न्याय विषयता का अतिक्रमण

नच 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'
(य० २५।१०) 'प्रजापतिस्तपोऽतप्यत' इत्याभ्य 'तेभ्यस्तपस्तेपाते-

वेदस्य सर्वार्थावभासकत्वं ब्रह्मणः सार्वज्ञमन्तरेण न सम्भवति इति ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यं समर्थितमेव भवति । यद्यन्येपिब्रह्मः सर्वज्ञास्तथापि विशिष्टज्ञानबलाद्भगवतः सार्वज्ञ्यं सर्वापेक्षया विलणमेवेति संक्षेपः ।

ननु हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्यादिश्रुतिभिस्तथा 'ततः स्वयंभूर्भगवान् मिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजदित्यादिस्मृत्या । चतुर्मुखस्फोटवादी को नहीं होता है ? अर्थात् वर्ण आशुतर विनाशी होने से अर्थ प्रत्ययक नहीं होता है । इस लिए स्फोट का स्वीकार किया । परन्तु स्फोट मानने पर अर्थ प्रत्यय नहीं हो सका । यदि कदाचित् वर्ण को नित्यमान लें तब स्वमत का परित्याग तथा मदीय सिद्धान्त का स्वीकार प्रसंग हो जायगा । तस्मात् नित्यवर्ण समुदाय से अर्थ प्रत्यय हो जायगा । तब स्फोट नामक पदार्थ का स्वीकार सर्वथा निरर्थक है ऐसा वेदान्त का सिद्धान्त है । अब प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हैं 'अतोनेत्यादि' इसलिए न वेदान्त में पौरुषेयत्व है । नवा त्रिक्षणावस्थायित्व ही है । अप्रासंगिक वस्तु का विवेचन निरर्थक है ।

'एवं च ब्रह्म कर्तृकेत्यादि' ब्रह्म से उत्पन्न ऋग्वेदादिक वेदों में जो सर्वार्थ प्रकाशकत्व है । वह ब्रह्मनिष्ठ सार्वज्ञ्य के बिना अनुपपन्न होता हुआ ब्रह्म में सर्वज्ञत्व को स्थिर करता है । जिस तरह दिवस में नहीं भोजन करनेवाले व्यक्ति में विद्यमान जो पानत्व है वह भोजन विना अन्यथानुपपन्न होता हुआ रात्रि भोजन का आक्षेप करता है । उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए । एतादृश जो ब्रह्म में सर्वज्ञत्व है वह आज्ञान सिद्ध महर्षियों से [स्वभाव सिद्ध महर्षि को आज्ञान सिद्ध करते हैं] योगिजनों से तथा सर्वार्थ का अवभासक वेद के सार्वज्ञ से विशिष्ट सार्वज्ञ है । क्योंकि परमात्मा, विशिष्ट ज्ञानबल क्रियादि शक्तिशाली है । तथा प्रतिक्षण में समस्त पदार्थ के अवभासन करने में समर्थ प्रत्यक्ष ज्ञानवान् है । इसलिए अन्य के सर्वज्ञत्वापेक्षया परमात्मा का सार्वज्ञ विशिष्टतर है ।

सभी प्राणियों का अधिपति हिरण्यगर्भ चतुर्मुख ब्रह्मा सर्व प्रथम हुए 'प्रजापति ने तप किया' यहाँ से लेकर के उनको तप करने से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, ये तीनों वेद उत्पन्न हुए' इत्यादि श्रुति बल से तथा ततः स्वयंभूर्भगवान् मिसृक्षुर्विविधा

भ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त' इत्यादिप्रमाणबलेन न परमात्मनो वेद-
कर्तृत्वं किन्तु हिरण्यगर्भादेरेवेति वाच्यम् । 'हिरण्यगर्भं जनयामास
पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (श्वे० ३।४) 'यो ब्रह्माणं
विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६।१८) इत्या-
द्यनेकश्रुतिभिर्हिरण्यगर्भादीनामपि कार्यभूतानां ब्रह्मैव कारणम् ।
'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा' इति वेदप्रदानकर्तृतया श्रुतत्वा-
त्परमात्मन एवादौ वेदोत्पादकत्वम् । देवान्तरेभ्यो या वेदोत्पत्तिः

कमलासनस्यैव वाच्यवाचकजगत्कर्तृत्वं न तु परमात्मनः, इत्याशङ्क्य एतेषां श्रुति-
स्मृतिवाक्यानां परमात्मनो जनकत्वे एव तात्पर्यम् । एतानि समुदाहृतवाक्यानि
सम्प्रदायप्रवर्तकान्येव न तु परमात्मनो जगदुत्पादकत्वनिषेधपरकाणीत्याशयेनाह
न च हिरण्यगर्भः समवर्तनाग्रे इत्यादि । प्रश्नग्रन्थस्तु सुलभतया न व्याख्यातः । उत्तर-
यति हिरण्यगर्भं जनयामास इत्यादि । सकलशक्तिसम्पन्नः परमात्मा सर्वप्रथमं हिर-
ण्यगर्भमुत्पाद्य तस्मै वेदं दत्तवान् । तदनन्तरं स प्रजासर्गमकरोदिति सर्वजनकत्वं परमा-
त्मन एव न तु हिरण्यगर्भस्य । 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इत्येतच्छ्रुतिमानतः । रामो-
विधिं विधायादौ तस्मै वेदं हि दत्तवान्' इत्यादिरूपेण श्रीबोधायनमतादर्शोक्तेश्च
तस्य स्वस्यैव परमात्मजन्यत्वादिति । अन्यत्सर्वसुगमम् । एवं च सर्वज्ञवेदकर्तृतयेत्यादि ।
न केवलं वेदकर्तृतया सर्वज्ञं परमात्मनः, अपितु वाच्याकाशादिजनकतयापि परमे-

प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत' इत्यादि स्मृति के बल से हिरण्यगर्भ ही
वेद का कर्ता है । किन्तु परमात्मा परमपुरुष वेद के कर्ता नहीं हैं यह कहना ठीक
नहीं है । क्योंकि 'जो परमात्मा ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करते हैं इत्यादि
अनेक श्रुत्यादि से सिद्ध होता है कि उत्पद्यमान जो हिरण्यगर्भ उसका भी उत्पादक पर ब्रह्म
ही है । और 'जिसने हिरण्यगर्भ को वेद दिया' यहाँ वेद को देनेवाले परब्रह्म ने ही सर्ग
के आदि में वेद को बनाया । देवतान्तर से जो वेद का उत्पाद श्रवण है वह परंपरा वेद
कर्तृत्व परमेश्वर में है यह वतलाता है । अथवा सम्प्रदाय का प्रवर्तक है ऐसा समझना
चाहिए । ऐसा हुआ तब सर्वज्ञ के तुल्य जो वेद हैं' उसका कर्ता होने के कारण से परमात्मा
में अर्थतः सर्वज्ञता की सिद्धि होती है

श्रुता सा तु परम्परया वेदप्रवर्तकतयेति योजनीयम् । एवञ्च सर्वज्ञवेदकर्तृतया परमात्मनः सर्वज्ञत्वं सिद्धम् ।

अत्र तृतीयवर्णकमपि—यथा ‘जन्माद्यस्ययतः’ (ब्र०मू० १। १।२) इत्यनेन ब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्त्वञ्चार्थान्निष्पन्नं भवति तथात्रापि ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्य कारणत्वादिति सर्वज्ञत्वमानुमानिकमेव न श्रूतम् । इतीमं पक्षमपाकरोति । ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिमच्च । कुतः ? शास्त्रयोनित्वात् । वेदप्रमाणत्वात् । ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ (मु० १।१।९) ‘परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ (श्वे० ६।८) इत्येवमादिश्रुतिप्रमाणत्वादित्याहुस्तदिदं द्वितीयेनैव वर्णकेन गतार्थप्रायम् ।

॥ इत्यानन्दभाष्येशास्त्रयोनित्वाधिकरणतृतीयम् ॥

इश्वरस्य सर्वज्ञत्वं सिद्ध्यति । तथाहि सर्वोपि प्रथमतः कर्त्तव्यं जानाति ततस्तमिच्छति ततस्तं कार्यं करोति इति नियमः । यथा कुलालः प्रथमतः घटादिकं बुद्ध्वावालेखयति ततस्तमिच्छति । एवं जगत् कार्यकारणात् प्रथमं तमाकलयत्यतमिच्छन्नेवकरोतीति सर्वपदार्थज्ञानमन्तरेण न सम्भवति तस्मात् स परमेश्वरः सर्वज्ञः । तथा प्रमाणशेखरागमवाक्यादितस्य तथात्वं सिद्ध्यतीति न तत्र विशेषतो युक्त्यादेराश्रयणमावश्यकमितिभावः ।

तृतीय सूत्र का पट्टी तत्पुरुष समास तथा बहुव्रीहि समास करके अर्थ को बनवा करके तृतीय अर्थ का प्रदर्शन करने के लिए तृतीय वर्णक का उपक्रम करते हैं ‘अत्र तृतीय वर्णकमपीत्यादि’ इस तृतीय सूत्र में तृतीय वर्णक भी होता है । जिस तरह ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्र से ब्रह्म को सर्व जगत् के प्रति कारणता को प्रतिपादन किया वह सर्व कारणत्व सर्व शक्तिमत्त्व के बिना अनुपपन्न होने से अर्थतः उसमें सर्व शक्तिमत्त्व की सिद्धि होती है । उसी तरह यहाँ भी ब्रह्म सर्वज्ञ है सर्वज्ञ तुल्य वेद का उत्पादक होने से । इस प्रकार से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व अनुमान द्वारा ही सिद्ध होता है । किन्तु श्रुति सिद्ध सर्वज्ञत्व नहीं है । इस पक्ष का निराकरण करते हैं । ‘ब्रह्म सर्वज्ञतया सर्वशक्तिमान् है ’ क्योंकि शास्त्रयोनिक अर्थात् वेद प्रमाणक होने से—‘यः सर्वज्ञः स सर्ववित्’ जो परमात्मा सर्वज्ञ है अर्थात् सामान्य रूप से सर्व विषयक ज्ञानवान् है वह सर्ववित् सर्व विषयक विशेष से भी ज्ञानवान् है ।’ तथा ‘इस पर-

॥ अथ समन्वयाधिकरणम् ॥४॥ ॥

एवं शास्त्राऽनारभ्यत्वप्रयोजकीभूतामाशङ्कां प्रथमाधिकरणेनापाकृत्य ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वञ्च प्रतिपाद्य क्लृप्तक्षणकं किम्प्रमाणकञ्च तदित्याशङ्कायाः परिजिहीर्षया लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेः सर्वतन्त्राभ्युपगततया द्वितीयाद्याधिकरणद्वयेन ब्रह्मणो लक्षणं प्रमाणञ्च यथाऽविध्युपदर्शितम् । अथापि वेदान्तादिशास्त्रप्रमाणकत्वं परिनिष्पन्नस्य ब्रह्मणो न सम्भवति तत्र तेषां समन्वयासम्भवाद्वितीयां शङ्कां निराचिकीर्षुश्चतुर्थाधिकरणमारचयाञ्चकार ।

॥ तत्तु समन्वयात् ॥११॥४॥ ॥

अत्र तच्छब्दः प्रकृतब्रह्मपरामर्शकत्वाद्द्वितीयान्तः । तु शब्दश्च

एवं वर्णकद्वयेन तृतीयसूत्रस्यार्थद्वयं दर्शयित्वा तृतीयमर्थं दर्शयितुं तृतीयवर्णकमपि दर्शयितुमुपक्रमते अत्र तृतीयवर्णकमपीत्यादि । अत्र तृतीयसूत्रस्य तृतीयार्थोऽपि भवतीत्यर्थः । तथाहि यथा जन्माद्यस्येति सूत्रेण ब्रह्मणः सर्वशक्तिसम्पन्नत्वमर्थोऽसिद्ध्यति तथा सर्वज्ञकल्पवेदकर्तृत्वेन परमात्मनः सर्वज्ञत्वमपि द्वितीयप्रमाणबलैर्नैव सिद्ध्यति । अतः परमेश्वरनिष्ठं सर्वज्ञत्वं न श्रौतमपित्वानुमानिकमेवेति खण्डयति परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमांश्च वेदप्रमाणत्वाद् यः सर्वज्ञः इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यादिति । तदेतद्वस्तु द्वितीयवर्णकेनैव गतार्थमिति न वर्णकान्तरस्यावश्यकतेति भावः १।१।३

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे

शास्त्रयोनित्वाधिकरणं तृतीयम्

ननु गतप्रकरणेन ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं कथितम् । परन्तु तत्कथं स्यात् । मात्मा में अनेक प्रकारक क्लृप्तक्षण शक्ति है । तथा ज्ञान बल और क्रिया भी स्वाभाविक है ।' इत्यादि श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है ऐसा कोई कहते हैं । परन्तु यह विषय तो प्रायः द्वितीय वर्णक से ही गतार्थ हो जाता है । इस तृतीय अर्थ की कल्पना किसी क्लृप्तक्षणा का द्योतक नहीं है ।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे शास्त्रयोनित्वाधिकरणं तृतीयम् ।

पूर्वपक्षव्यावर्तकः । तथा च तज्जगत्कारणं ब्रह्म स्वकीयतात्पर्यव्याख्या
वेदान्तवाक्यानि प्रतिपादयन्त्येवेति सूत्रार्थः । अत्र सर्वाण्यप्यपनि-
षदानि वाक्यानि विषयः । वेदान्तानां ब्रह्माभिधायकत्वमस्ति न
वेति संशयः । येषां तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव कुतः ?
समन्वयादितिसूत्रार्थस्तेषामपीमावेव विषयसंशयावभिप्रेतो ।

वेदान्तस्य क्रियार्थप्रतिपादकत्वाभावात् । यद्वस्तुक्रियारूपं तदेव शास्त्रेण प्रतिपादितं भवति
तच्च तस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं भवति । ब्रह्म तु न क्रियारूपमपि तु सिद्धस्वरूपम्, परि-
निष्पन्नत्वात् । आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् इत्यादिजैमिनीयसूत्रेण शास्त्रमात्रस्य तथा-
त्वात् । नहि वेदान्ताः क्रियात्मकं प्रतिपादयन्ति । अतस्ते निरर्थकाः । अथवा विधि-
नैकवाक्यतां प्राप्य यथाऽर्थवादशास्त्रं प्रयोजनवद्भवति । तथोपामनावाक्येनैकार्थतां
प्राप्य वेदान्तस्याप्यर्थवत्त्वं स्यादित्याशङ्क्यतन्निराकरणाय प्रयतमानो भगवान् भाष्य-
कार उपक्रमते एवंशास्त्रानारम्यत्व इत्यादि । संशयप्रयोजनरहितत्वात् वेदान्तशास्त्रस्या-
रम्भो न कर्त्तव्य इत्याशङ्काफलादिप्रयोजनप्रदर्शनद्वारा प्रथमाधिकरणेनापाकृत्य-
परमात्मा मोक्षकामैश्वर्यं जिज्ञास्य इत्येवं प्रतिपाद्य जिज्ञास्य ब्रह्मणः किं लक्षणं किं वा
तत्र प्रमाणमित्याशङ्कायाः परिहाराय तदपि द्वितीयाधिकरणेन स्थापितम् । यस्य लक्षणं

यद्यपि शास्त्रेतर प्रमाणगम्य परमेश्वर है तथापि शास्त्र को प्रवृत्ति निवृत्ति परक होने से
तादृश शास्त्र से सिद्धस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र से नहीं होता है इस शंका का निरा-
करण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एवं शास्त्रानारम्यत्वेत्यादि' सन्देह प्रयोजक
के अभाव होने के कारण से शास्त्र का आरंभ नहीं करना चाहिए एतादृश आशंका का प्रथम
अधिकरण से निराकरण करके ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, इसका उपपादन करके ब्रह्म
का लक्षण तथा ब्रह्ममें प्रमाण क्या है ! इस आशंका के निराकरण करने की इच्छा से लक्षण
तथा प्रमाण से वस्तुतत्त्व व्यवस्थित होता है, यह नियम सर्व तन्त्र सिद्ध है । एतदनुकूल
द्वितीय तथा तृतीय अधिकरण से यथावत् लक्षण तथा प्रमाण से ब्रह्म को बताया गया है ।
इतना होने पर भी वेदान्तशास्त्र लक्षण प्रमाणसे गम्यत्व परिनिष्पन्न अर्थात् अक्रियारूप ब्रह्म
में समन्वित नहीं हो सकता है क्योंकि सिद्ध ब्रह्ममें वेदान्त का समन्वय नहीं हो सकता
है । एतादृश आशंका का निराकरण करने के लिए चतुर्थ अधिकरण का निर्माण किया
'तत्समन्वयात्' यहाँ इस सूत्र घटक जो 'तत्' शब्द है वह जिज्ञास्य ब्रह्मका परामर्शक

तत्र पूर्वपक्षः केनचिच्छब्देन कस्याचिदेवार्थस्यावगतिर्नसर्वस्य ।
 अतस्तत्र शब्दार्थयोः सम्बन्धरूपशक्तिग्रहोऽपेक्षितः । तत्पदार्था-
 पस्थितौ यथा तत्पदज्ञानस्यावश्यकत्वं तथा तत्तत्पदपदार्थव्युत्पत्ति-
 ज्ञानस्यापीति । अन्यथा घटपदस्य कम्बुग्रीवादिमदर्थवाचकत्वमेवेति
 नियमो न स्यात् । स्याच्च समेषां पदानां नानार्थकत्वम् । तस्माच्छ-
 प्रमाणं च भवति तदेव वस्तु व्यवस्थितं भवति । तदभावे तदभावात् खपुष्पवदिति
 लक्षणप्रमाणमावश्यकं सर्वानुमतं तद् द्वयं प्रदर्शितवान् । तत्र ब्रह्मणोजगत्कारणत्वादिकं
 लक्षणप्रमाणं च शास्त्रमेवेति शास्त्रयोनित्वाधिकरणेन प्रदर्शितम् ।

परन्तु शास्त्रं कथं सिद्धरूपे ब्रह्मणि प्रमाणं स्यात् । यत् आम्नायमात्रस्य आम्ना-
 यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामित्यादिना जैमिनीनां प्रतिपादनात् । तथा 'प्रवृ-
 त्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते' इत्यभियुक्तो
 क्तेश्च । वेदान्तानां क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् । अथवा अर्थवादशास्त्रवत् क्रियाशेषत्व-
 मङ्गीकृत्य तस्य तथात्वप्रतिपादनीयम् । यद्वा वेदान्तप्रकरणगतोपासनविधिशेषतया
 वेदान्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगमनमिति सर्वथापि सिद्धस्वरूपस्य शास्त्रप्रमाणकत्वं शास्त्रस्य
 होने से द्वितीया विभक्त्यन्त है । क्योंकि प्रतिपादन क्रिया का विषय होने से गमनक्रिया में
 प्रामादिवत् । और सूत्र घटक द्वितीय जो 'तु' अव्यय वाचक शब्द है वह पूर्वपक्ष का
 व्यावर्तक है । अर्थात् ब्रह्म वेदान्त वाक्य से प्रतिपादित नहीं होता है । सिद्ध स्वरूप ब्रह्म
 में उन वाक्यों का शक्तिग्रह नहीं होता है । कारण कि शक्तिग्रह का नियामक वृद्धव्यव-
 हार है । वह क्रिया विषयक है । ब्रह्म में तद्रूपता का अभाव होने से वेदान्त वाक्यों का
 शक्तिग्रह नहीं है । इत्याकारक शंका का निवृत्तिपरक है । अब सूत्र के फलितार्थ को
 बतलाते हैं 'तथा चेत्यादि' सर्वाज्ञ सर्वशक्ति समन्वित जगत्कारणभूत ब्रह्म का उपक्रमादि तात्पर्य
 ग्राहक लिंग से युक्त जो वेदान्त वाक्य उन से प्रतिपादन करता ही है ऐसा सूत्र का
 अर्थ निष्पन्न होता है । यहाँ सभी औपनिषद् वेदान्तवाक्य विषय हैं । अर्थात् विचारणीय
 हैं । प्रकृत में वेदान्तवाक्य ब्रह्म का वाचक होता है । अथवा नहीं होता है एतादृश संशय
 होता है । और जिनके मत में तत् अर्थात् शास्त्र प्रमाणत्व ब्रह्ममें होता ही है क्यों ? 'तो
 समन्वय होने से' एतादृश सूत्र का अर्थ है । उनके मत में भी विषय तथा संशय पूर्वोक्त
 ही अभिप्रेत है । किन्तु संशय विषय में कोई भेद नहीं होता है । जिस पूर्वपक्ष के उत्तर
 में यह सूत्र है तादृश पूर्वपक्ष के स्वरूप को बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं
 'तत्रपूर्वपक्ष' इत्यादि ।

वदार्थप्रतिपत्तिनैयत्यप्रयोजकीभूतमादां तद्व्युत्पत्तिज्ञानमावश्यकम् ।
तच्च वृद्धव्यवहारादेव । व्याकरणोपमानकोपादिरूपाणां शक्तिग्राह-
कोपायान्तराणां वृद्धव्यवहारः शक्तिग्रहणममनन्तर्गमेव प्रवृत्तिरिति
मन्तव्यम् । वृद्धव्यवहारश्च कार्यमात्रविषयः । तथा च प्रथमव्युत्पत्ति-
ग्रहस्य कार्यविषयत्वात्तदधीनः सर्वोऽप्यव्युत्पत्तिग्रहस्तद्विषयस्मिदु-
ध्यति ।

तथाविधव्रजणि समन्वयस्याभावादिन्याशङ्कानिराकरणाय चतुर्थमधिपणं प्रस्तौति
तत्तु समन्वयादिति । तत् सर्वज्ञत्वादिधर्मविशिष्टं वेदान्तशास्त्रेणैवावगतं भवति । नन्व-
नवगतं प्रमाणान्तरावगतं वा । कुतः ? समन्वयात् सर्ववेदान्तवाक्यानि तान्पर्येणैत-
मेवार्थं प्रतिपादयन्तीति । एतन्मन्त्रघटकस्तच्छब्दोद्दितीयाविभक्त्यन्तः प्रकृतब्रह्मोपस्था-
पकत्वात् । ब्रह्मण एव समन्वयकर्मत्वात् कर्मान्तरवत् । द्वितीयस्तु तुल्यः सिद्धं
ब्रह्म न वेदान्तप्रतिपाद्यमित्याकारकपूर्वपक्षस्य निराकरणपरकः । ततश्च कलितं मन्त्रार्थं
प्रदर्शयति भाष्यकारः तथा च तत्रजगत्कारणमित्यादि । अत्र सर्ववेदान्ता एव विषय-
रूपाः । वेदान्तानां सिद्धब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति न वेति संशयाकारः । अन्येषामपि
विषयसंशयौ समानावेवेति । ननु शाब्दबोधे पदज्ञानं करणं पदजन्यपदार्थोपस्थिति-

इससे पूर्व अधिकरण में ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक है ऐसा प्रतिज्ञा मात्र से कथन किया
है । परन्तु प्रतिज्ञा मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है । उसमें हेतुका निर्देश इस मन्त्र
से करने का है । उसमें पूर्वपक्ष का निर्देश आवश्यक है । इसलिए भाष्यकारने प्रश्न
के स्वरूपका कथन किया 'तत्र पूर्वपक्ष' इत्यादि प्रकरण से । उस विचारणीय विषय में
यह वक्ष्यमाण पूर्वपक्ष होता है । किसी एक घट पटादि शब्द से किसी एक अर्थ घट
पटादि अर्थ का ही ज्ञान होता है । नतु सर्व अर्थ का अवगम होता है । ऐसा सर्वानुभव
सिद्ध है । अतएव तादृश स्थल में शब्द अर्थ के सम्बन्धरूप शक्ति का ज्ञान अपेक्षित
होता है तत्पदजन्यपदार्थोपस्थिति में जिस तरह तत्पदजन्यज्ञान आवश्यक है । उसी तरह
पद तथा पदार्थ का सम्बन्धवृत्ति ज्ञान भी आवश्यक ही है । अन्यथा घटादि पद
कंबुग्रीवादिमान् पदार्थ का ही वाचक है यह नियम नहीं होगा । और पदमात्र में अने-
कार्थत्व की आपत्ति हो जायगी । तस्मात् शब्दार्थ ज्ञान का जो नैयत्य, तादृश नैयत्य
का प्रयोजक वृत्तिज्ञान अति आवश्यक है । अर्थात् शब्दबोध में पद ज्ञानकरण होता है ।

तथाहि कार्यमात्रवाचकानि पदानि लिङ्लेङ्लोत्त्व्यदा-
दीनि यस्मिन् पदे वाक्ये वा समवेतानि तस्यैव प्राक् प्रत्यायकत्वं
तदन्वितत्वादन्वेषामपि पदानाम्पश्चाद्बोधः । 'घटमानय' इति
प्रयोजकवृद्धवाक्यश्रवणसमनन्तरभाविनी प्रयोज्यपुरुषप्रवृत्तिमुपलक्ष्य
पार्श्वस्थो व्युत्पित्सुर्वालस्तस्यां सामान्येन स्वप्रवृत्ताविव कार्यताज्ञान-

व्यापारः, तत्रापि वृत्तिसहकृतपदार्थोपस्थितिः । वृत्तिश्चशक्तिलक्षणान्यतररूपैव ।
शक्तिश्चेद्वरेच्छारूपापदार्थान्तरंवेत्यन्यत् । शक्तिग्रहश्चवृद्धव्यवहारेण, वृद्धव्यवहारश्च-
लिङ्गादिकार्यताबोधकपदसाध्यस्तथा च सिद्धं ब्रह्मणि सामग्यभावेन शक्तिग्रहः
सम्भवति, तदभावान् न पदार्थस्मरणं तदभावे शाब्दबोधाभाव इति न वेदान्ता ब्रह्म-
बोधने समर्था इत्याशयेन पूर्वपक्षं दर्शयति भाष्यकारः तत्रपूर्वपक्षः इत्यादि । घटादि
शब्देन घटरूपस्यैवार्थस्य प्रतीति न तु पटाद्यर्थस्यापीत्यर्थः । व्याकरणोपमानेत्यादि । शक्ति
ग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति
सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः । तत्र व्याकरणेन शक्तिग्रहोधातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां
भवति । उपमानेन शक्तिग्रहो यथागौस्तथागवयः । कोशात् नीलादिपदानां नीलगुणे

पद जन्य पदार्थ स्मरण व्यापार है । शाब्दबोध फल है और पदज्ञान से जो पदार्थ स्मरण होता
है उसमें शक्यादि रूप वृत्तिज्ञान सहकारी होता है । अन्यथा पदज्ञान के बाद
प्रमाणान्तर से पदार्थ का ज्ञान होने पर भी शाब्दबोध प्रसंग हो जायगा । पदजन्य
पदार्थ स्मरण में वृत्ति द्वारा पदजन्यत्व आवश्यक है । अन्यथा घटादि पद से यथा
कथंचित् आकाश स्मरण होजाने से आकाश विषयक शाब्दबोध प्रसंग हो जायगा ।
शक्ति लक्षणा अन्यतर को वृत्ति कहते हैं । 'इस शब्द से इस अर्थ को समझना' एतादृश
ईश्वरेच्छा का नाम ही शक्ति है । एतादृश शक्ति का ज्ञान शाब्दबोध में परम आवश्यक है ।
अन्यथा कारणाभाव होने से कार्याभाव हो जायगा । तथा अमुक पद से अमुक ही अर्थ
का बोध होगा । तदितर का बोध नहीं होता है 'यह नियम भी व्याहृत हो जायगा ।
इसका विशेष विचार अन्यत्र देखें ।' यह जो वृत्ति ज्ञान है वह वृद्ध व्यवहार से ही होता
है । वृद्ध व्यवहार से किस तरह शक्ति होता है इस बात को भाष्यकार स्वयमेव बत-
लायेंगे । [यद्यपि 'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य
शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'] इस नियम से व्याकरण द्वारा धातु प्रकृति

जन्यत्वमनुमाय तद्वाक्ये कार्यसामान्यज्ञानजननीं शक्तिं निश्चि-
नोति । ततश्च 'घटं नय दण्डञ्चानय' इत्याद्यभियुक्तव्यवहारतो घटा-
दिपदानामवापोद्वापाभ्यां तत्तत्कार्यविशेषे शक्तिमवगच्छति । तथा
च कार्यवाचकपदशक्तिरेव स्वसमभिव्याहृतपदशक्त्यतामवगमयति ।
कार्यतावाचकपदसमभिव्याहृतवाक्यत्वं प्रवृत्त्याप्यिककार्यताज्ञानजन-
कतावच्छेदकमिति नियमः । अत एव—

व्यवहारतः, यत्र प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेति कथितं तत्र । वाक्यशेषात् यवमयश्च-
रुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घसूत्रे शक्तिग्रहः । तत्समानार्थकपदान्तरेण कथनं तेन । घटो
स्तीत्यत्र घटपदस्य कलसोऽस्तीत्यनेन विवरणात् घटपदस्य कलसे शक्तिग्रहः । सिद्ध-
पदसामीप्यादपि इह सहकारतरौ मधुरं पिकोरौतीत्यत्र पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रहो
भवतीति । कार्यमात्रविषय इत्यादि । कार्यता बोधकं पदम् । तद्व्युत्पत्त्यानीपरलिङ्ग-
लोडादिकमिति । एवं च प्राथमिकः शक्तिग्रहः कार्यविषय इति सर्वेषां व्युत्पत्तिग्रहाणां
तदधीनत्वमेवेति । शक्तिग्रहप्रकारं व्यवहारं विविच्य भाष्यकारो दर्शयति तथाहीत्यारभ्य
जनकतावच्छेदकमित्यन्तप्रकरणेन । प्रवृत्तिर्वेत्यादि । पुरुषाणां या प्रवृत्तिनिवृत्तिः येन
प्रतिपाद्यते । तदेव शास्त्रपदेन प्रतिपादितं भवति । वेदान्तेऽपि तादृशशास्त्रव्य-
प्रत्यय का शक्तिग्रह होता है । एवम्—'यथा गोस्तथा गवयः' इस स्थल में उपमान द्वारा
शक्तिग्रह होता है । एवम् कोश से नीलादि पद का शक्तिग्रह नीलगुण में होता है ।
नीलादि विशिष्ट बोध में तो लक्षणा होती है । आभवाक्य से—'कोकिलः पिक पद
वाच्यः' इस स्थल में पिक पद वाच्यता कोकिल में होता है । तथा व्यवहार से 'घटमानय'
इत्यादि स्थल में आनयन रूप क्रिया विशिष्ट घट में शक्तिग्रह होता है । एवं वाक्य शेष
तथा सिद्ध पद से भी शक्तिग्रह होता है । किन्तु व्यवहार मात्र से नहीं । तथापि पठन में
बुद्ध व्यवहार को प्रधानता बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'व्याकरणोपमानेत्यादि'
यद्यपि व्याकरण उपमानादिक भी शक्तिग्राहक उपायान्तर हैं तथापि बुद्ध व्यवहार से
शक्ति ग्रहण होने के बाद में ही उन प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है ऐसा समझना चाहिए ।
और बुद्ध व्यवहार जो है वह तो कार्यमात्र विषयक है । ऐसा होने से प्राथमिक शक्ति
ग्रह कार्य विषयक होता है । तदधीन सकल व्युत्पत्तिग्रह है । इसलिए सर्वत्र कार्य
ग्रह सिद्ध होता है ।

बुद्ध व्यवहार से जो शक्तिग्रह होता है वह कार्यमात्र विषयक किस तरह से होता है ?

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥

इत्यभियुक्तोक्तिः संगच्छते । एवञ्च कार्यवाचकपदानधिक-
रणतामपि वेदान्तवाक्यानां कार्यपरत्वेनैव प्रामाण्यस्य सम्पादनी-
यतया कार्यपदाध्याहार आवश्यक एवं शक्तिग्रहस्य कार्यमात्रविषय
त्वात् । अथवा तेषामप्रामाण्यमेव ।

मस्तीति तदपि प्रवृत्तिनिवृत्तिमेव बोधयिष्यति । तेनैव तस्यार्थं वत्वंस्यात् नतु ब्रह्मस्व-
रूपमात्र बोधनेन तस्य साफल्यमिति । अयमाशयः वेदान्तानां सिद्धब्रह्मस्वरूपप्रति-
पादकत्वं न सम्भवति । तत्र ब्रह्मणि अज्ञातसंगतिकत्वात् । यस्मिन्नन्ये लोके यः शब्दः
प्रयुज्यमानो भवति तत्रैव तदर्थे तच्छब्दस्य शक्तिग्रहो भवति । नतु लोकाप्रयुक्ते शक्ति
ग्रहो भवतीति । न तु लोके प्रयुज्यतेऽतो न वेदान्तानां तादृशब्रह्मणि शक्तिग्रहोऽतो-
न वेदान्तानां ब्रह्म बोधकत्वम् । किञ्च वेदत्वाद् वेदान्तोपि शास्त्रमेवेति शास्त्रत्व
प्रसिद्ध्या प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकत्वमेव नतु वेदान्तस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकमपि स्व-
रूपमात्रबोधकत्वम् । नवा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनकर्तृणां वेदान्तानां किमपि प्रयोजन-

इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार बतलाते हैं 'तथाहीत्यादि' कार्य-
ताबोधक पद ये हैं लिङ् लेट् लोट् तव्यत्तव्य और अनीयर । यह कार्यमात्रवाचक पद
जिस पद में वा वाक्य में क्रियाकारक रूप से समवेत अर्थात् संबद्ध रहते हैं । [इसमें
समवाय सम्बन्ध से वृत्ति यह अर्थ नहीं है समवेत शब्द का किन्तु संबद्ध अर्थमात्र
है ।] उसीको प्रथमतः बोधजनकत्व होता है । तदन्तर क्रियान्वित होने से पदान्तर का
बोध होता है । 'घटमानय' एतादृश प्रयोजक पुरुष के वाक्य श्रवण के अनन्तर काल में होने
वाले जो मध्यम वृद्ध की घटानयनकी प्रवृत्ति उसको उपलक्षित करके व्युत्पत्ति शक्ति की इच्छा
को रखनेवाला बालक उस मध्यम पुरुष की प्रवृद्धि में स्वकीय प्रवृत्ति के समान सामान्यतः
कार्यताज्ञान जन्यत्व का अनुमान करके ['मध्यमवृद्ध प्रवृत्तिः कार्यताज्ञानजन्यामदीयप्रवृत्तिवत्'] उस
वाक्य में अर्थात् 'घटमानय' इस वाक्य में कार्यसामान्य ज्ञानजनक शक्ति का निश्चय करता
है । उसके बाद 'घटनय' घट को ले जाओ । 'दण्डं चानय' दण्ड को लाओ । इत्यादि उत्तम
पुरुष के व्यवहार से आवाप उद्घाप द्वारा घटादि पद का तत्तत् आनय, नय, इत्यादि कार्य

तथा च प्रकृते 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।२)
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिवेदान्तवाक्यानां न
सिद्धेऽर्थे ब्रह्मणि व्युत्पत्तिः सम्भवतीति शास्त्राप्रतिपाद्यतया निष्प्र-
माणकम्ब्रह्मेति प्राप्ते ब्रूमः ।

मपि विद्यते । न च यथा नायं सर्पोऽपितुरज्जुरिति श्रवणे यथा भयादीनां निवृत्तिस्तथा
वेदान्तवाक्यज्ञाने जाते सांसारिकधर्मनिवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । श्रुतब्रह्मणोऽपिसंसार
निवृत्तेरदर्शनात् । किञ्च यदि श्रुतब्रह्मणः संसारनिवृत्तिर्भवेत् तदा श्रवणोत्तरमननादी
नामुपदेशोनिरर्थक एव स्यात् । अतो न ब्रह्म स्वरूपबोधका वेदान्ताः । अपितु उपा-
सनात्मकक्रियाविधिशेषा एवेति न ब्रह्म बोधकत्वं वेदान्तानामिति । एतत्सर्वं मनमि-
निधायान् एवं च कार्यवाचकपदानधिकरणेत्यादि । एवं च कार्यता बोधकपदरहितानामपि
कार्यपरत्वेन प्रामाण्यं सम्पादनीयं स्यादिति कार्यपदमध्याहृत्यशक्तिग्रहः सम्पादनीयः ।
यतः शक्तिग्रहस्य कार्यमात्रविषयत्वात् । अथवा वेदान्तानामप्रामाण्यमेव सर्वथैवेति
विशेष में शक्ति को जानता है । कार्यवाचक जो आयनादिक की शक्ति बड़ी स्वसमभिव्याहृत
आनयनादि पद समभिव्याहृत घटादि पद शक्यत्व का बोधक होता है । कार्यता वाचक
आनयनादि पद समभि व्याहृत वाक्यत्व ही प्रवृत्ति में कारण कार्यता ज्ञान जनकता का अवच्छेदक
होता है यह नियम है । । 'अतएनेत्यादि' जिसके द्वारा पुरुष को प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का
उपदेश किया जाय उसको शास्त्र कहते हैं । अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति परक पद सन्दर्भ का
नाम होता है ।

शास्त्र तो जिस तरह 'स्वर्गकामोयजेत न कलजं भक्षयेत्' इत्यादि वेदान्त भी तो शास्त्र है ।
इसलिए इसको भी प्रवृत्ति निवृत्तिपरक होना चाहिए । अर्थात् पुरुषार्थ का जो बोधक हो
उसको ही शास्त्र कहते हैं । वेदान्त तो पुरुषार्थ का उपदेशक नहीं है । नहीं कहो कि
'नायंसर्पोऽपितुरज्जुः' इत्यादि वाक्य श्रवण से भी तो भयादि की निवृत्ति होती है । उसी
तरह वेदान्त से आत्मज्ञान होने पर संसार निवृत्ति रूप कार्य होगा—ऐसा कहना ठीक नहीं है ।
क्योंकि श्रुत ब्रह्म पुरुष को भी यथा सर्व संसार का अनुवर्तन देखने में आता है । तथा
यदि श्रवणमात्र से संसार की निवृत्ति होजाय तब तो श्रवणोत्तर जो मनन निदिध्यासन का
उपदेश दिया गया है वह निरर्थक हो जायगा ।

ऐसा हुआ तब कार्यवाचक पद का अनधिकरणीभूत जो वेदान्त वाक्य है उसको
कार्यपरकता रूप से ही प्रामाण्य का समर्थन करना होगा । इसलिए कार्यतावाचक पद का

परिनिष्पन्नं ब्रह्मस्वरूपं बोधयतामपि वेदान्तवाक्यानां सम्भवत्येव ब्रह्मप्रतिपादकत्वम् । उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यहेतुसमन्वयात् । अयमभिप्रायः । पूर्वकार्यार्थव्युत्पत्तेर्हेतुताऽङ्गीकृतापि पश्चात्सम्पन्ने बोधे त्यज्यते । अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । अत एव सिद्धपरवा-

मन्तव्यम् । पूर्वपक्षमुपसंहरन्नाह तथा च प्रकृतेः सदेवेत्यादि तस्मात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादि वेदान्तवचसां परिनिष्पन्नस्वरूपकब्रह्मरूपेऽर्थे न शक्तिग्रहः । ततश्च वेदान्तशास्त्रेणाप्रतिपाद्यतया ब्रह्मणि न किमपि प्रमाणमिति पूर्वपक्षस्य संक्षिप्ताशयः ।

व्यवहारतः कार्यान्विते एव पदानां शक्तिरिति मीमांसकमतमाश्रित्य क्रिया विरहितानां सत्यादिवेदान्तानां क्रियान्वितत्वाभावेन शक्तिविषयता न भवतीति यदुक्तं पूर्वं तत्खण्डयितुमुपक्रमते इति प्राप्ते ब्रूमः परिनिष्पन्नमित्यादि । अयमाशयः कार्यान्विते एव पदशक्तिग्रह इति नोपयुक्तम् । सिद्धार्थकपदानामपितत्संभवात् यथा पुत्रस्ते जातः इत्यादिस्थले श्रोतुर्मुखविकाशादिना सुखमनुमाय तादृश वाक्यजनित-सिद्धपुत्रादिज्ञानस्यैव तथात्वविनिश्चयात् । एवं प्रकृतेऽपि सिद्धार्थपरकाणामपि अभ्याहार करना आवश्यक होगा क्योंकि पद का शक्तिग्रह कार्यमात्र विषयक ही होता है । और यहाँ कार्यतावाचक पद नहीं है तो वेदान्त में प्रामाण्य नहीं होता है । अतः वेदान्त को विधिशेष रूप से ही प्रामाण्य होगा । अन्यथा इन वेदान्त को अप्रामाणिकत्व ही है । 'तथा च प्रकृते' इत्यादि । जब कार्यता बोधक पद में ही शक्तिग्रह होता है ऐसा जब निश्चित हुआ तब 'सदेवसोम्येदमप्रआसीत्'—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इत्यादिक जो वेदान्त वाक्य है उसको सिद्ध अर्थात् क्रिया के अविषयीभूत ब्रह्मसूत्र अर्थ में शक्तिग्रह नहीं हो सकता है । तब ब्रह्म शास्त्र प्रमाण नहीं होता अतः ब्रह्म निष्प्रमाणक है । तब जो शास्त्र प्रमाणकत्व ब्रह्म को कहा गया है वह निरर्थक है । एतादृश शंका के उत्तर में कहते हैं । अर्थात् इस पूर्व पक्ष का उत्तर अग्रिम ग्रन्थ से करते हैं

कार्यतावाचक पद को ही अर्थबोधकत्व होता है किन्तु तद्वहित में अर्थबोधकत्व नहीं होता है । इसलिए सिद्ध ब्रह्म पदार्थ का बोधकत्व वेदान्त को नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं इति प्राप्ते ब्रूमः परिनिष्पन्नमित्यादि परिनिष्पन्न अर्थात् सिद्ध ब्रह्म स्वरूप को बोध करने वाला भी वेदान्त वाक्य को ब्रह्मरूप पदार्थ का प्रतिपादकत्व हो सकता है । क्योंकि उपक्रमोपसंहार अभ्यासादिक तात्पर्य ग्राहक लिङ्ग का समन्वय होने से । इसका अभिप्राय यह है कि प्रथमतः शाब्दबोध में

क्यादपि सुतरां सम्पद्यते बोधः । चैत्र ! पुत्रस्ते जात इत्यादौ वार्ता हारादिवाक्यमाकर्ण्य चैत्रस्य सुखविकासम्पश्यति कश्चिद् दृष्टचैत्रपुत्र-जन्मा बालस्ततस्तेन चैत्रहर्षमनुमिमानस्तत्कारणतया चैत्रस्य स्वकीय पुत्रजन्मज्ञानमेव कल्पयंस्तज्जननक्षमतां तस्यैव वाक्यस्य कल्पयती-त्येवं क्रमेण सिद्धपरवाक्येष्वपि सम्भवति सुतरामाद्यव्युत्पत्तिज्ञानम् । किञ्चोपायान्तरेणापि शब्दार्थयोस्सम्बन्धग्रहसम्भवतीति न कार्यार्थ पदानां वाक्यानां तथा संभवस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् । किञ्च प्राथमिकव्युत्पत्ति ग्रहेऽपि पश्चात् लाघवेन तत्परित्यागस्यैवोचितत्वेन पदमात्रस्यैव स्वार्थं बोधकत्वसंभवात् । किञ्च न केवलं व्यवहारत एव शक्तिग्रहो भवतीतिनियमः व्याकरणादितोपि शक्तिग्रहस्योपपादनात् । इत्यादिकं सर्वं मनसि निधायाहभाष्यकारः परित्यज्यन्तं ब्रह्मस्वरूपमित्यादि । सिद्धस्वरूपकं ब्रह्म तद्विषयकज्ञानमुत्पादयतो वेदान्तवाक्यस्य प्रति-पादकत्वं भवत्येवेति । कुतः ? उपक्रमादितात्पर्यग्रहकारणस्य समन्वयात् । अर्थात् तात्पर्यग्राहकलिङ्गोपेतं वेदान्तवाक्यं ब्रह्मबोधने समर्थं भवत्येव चैत्रपुत्रस्ते जातः इत्यादिवाक्यवदिति ।

कार्यताबोधकपदसान्निध्याभावात् कथं वेदान्तानां सिद्धार्थबोधकत्वमिति शङ्कां निराकर्तुं विशेषतो विस्पष्टीकरणायाह अयमभिसन्धिरित्यादि । शक्तिग्रहात्पूर्वं कार्य-कार्यार्थं व्युत्पत्ति को कारणता होने पर भी बोध के अन्तर में उसका परित्याग करना ही उचित है । क्योंकि प्रमाणान्तर से अप्राप्त जो अर्थ है वही शब्द का अर्थमाना जाता है । अतएव सिद्धपरक जो वाक्य है उससे भी अर्थ विषयक बोध उत्पन्न होता है । जिस तरह जिसने चैत्र के पुत्रजन्म को देखा है । वह वार्ताहार के साथ चैत्र के समीप में गया । वहां जानेपर वार्ताहार ने कहा—‘हे चैत्र ! तुम्हारा लडका हुआ है ।’ ‘चैत्र-पुत्रस्तेजातः’ एतादृश वार्ताहार के वचन को सुनकर के चैत्र के मुख विकाशादिक को देखता है । तदनन्तर वह बालक चैत्र के हर्ष का अनुमान करता है । उसके बाद चैत्र सुख का कारण तदीय पुत्र जन्मज्ञान की कल्पना करता हुआ कारण रूप में उसी शब्द को अर्थात् चैत्र पुत्रस्ते जातः इस वाक्य को कल्पित करता है । इस प्रकार से सिद्ध परक वाक्य में प्राथमिक शक्तिज्ञान होता है ।

जब बृद्ध व्यवहार से शक्तिग्रह होता है ऐसा निश्चय होने से कार्यान्वित पद को ही वाचकता है । तब शक्ति ग्राहकता तादृश कारण के अभाव में सिद्धस्थल में बोध कैसे

एव प्रथमव्युत्पत्तिग्रहः । तथा हि पूर्वमज्ञानशब्दार्थसम्बन्धान् बालां-
स्तत्सम्बन्धमेव जिग्राहयिष्वो मातापितृप्रभृतयोऽङ्गुल्यादिभिरर्थान-
भिलक्ष्यीकृत्य तद्वाचकशब्दानसकृत्प्रयुञ्जते । ततश्चेममर्थप्रवबोध-
यितुमयं शब्दः प्रयुक्त इति मनस्याकूतयन्तस्ते (बालाः) सत्त्वरमेव
शब्दार्थसम्बन्धमवगच्छन्त्ययम्पन्थाः सिद्धार्थेष्वपि प्राथमिकव्युत्पत्ति-
ग्रहस्य सर्वेषां नो दृष्टचरः । एवं क्रमेणैव चाभिज्ञमात्रादिभिः शैशव

न्विते शक्तिस्वीकारेऽपि शक्तिग्रहजाते सति कार्यार्थव्युत्पत्तेः कारणतात्यज्यते एवे-
त्यर्थः । अर्थात् व्यवहारेण कार्यान्विते घटादिपदानां शक्तिस्वीकारेऽपि पश्चात्
कार्यान्वयाज्ञापरित्यज्य घटादिपदस्य घटादिपदार्थमात्रे शक्तिरादरणीया, अनन्य-
लभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । यो ह्यर्थो येन शब्देन लब्धो भवति स एव तस्यार्थो न तु तदन्य-
स्येति । एवं च स्वार्थमात्रे तत्पदस्य शक्तिस्वीकारे सिद्धार्थबोधकपदादपितत्तदर्थ-
ज्ञानस्य सम्पाद्यत्वात् । तथापि सिद्धपदात्कथं सिद्धार्थबोधो जायते तत्र लौकिकं
दृष्टान्तं दर्शयति । चैत्रपुत्रस्तेजात इत्यादि । भूतार्थविषयकं ज्ञानं न भवति कस्यचि-
दिति वक्तुं न युक्तम् । हर्षशोकादेस्तदुन्नायकस्य संभवात् । तथाहि कस्यचित् गृहे
पुत्रजन्मजातम् । ततः तदीयपरिजनो जातपुत्रपितुः सकाशं कमपि वार्ताहारं प्रेषितवान्
तेन सह दृष्टपुत्रजन्मा तद्भाषानभिज्ञोऽन्यः कोपि तत्र ययौ । तत्र स वार्ताहारो देवदत्त-

होगा ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं कि चोपायान्तरेणेत्यादि । जब
उपायान्तर से अर्थात् व्याकरणोपमानादि रूप कारण से भी शब्द अर्थ का सम्बन्ध ग्रहः
अर्थात् शक्तिग्रह संभवित है । तब कार्यार्थ में ही शक्तिग्रह होता है ऐसा मानना ठीक
नहीं है । तथा हि पूर्व में नहीं है विज्ञान शंकार्थ का सम्बन्ध जिसको एतादृश बालक को
शब्दार्थ सम्बन्ध का ग्रहण कराने की इच्छावाले मातापिता प्रभृतिक आप्तजन अङ्गुल्यादि
द्वारा तत्तदर्थ को लक्षित करके तादृश अर्थ का वाचक जो घटपटादिक शब्द है । अर्थात्
यह घड़ा है, यह पट है । एतादृश शब्दों का प्रयोग करते हैं । उसके बाद वह बालक
अमुक अर्थ को समझाने के लिए अमुक अर्थ का वाचक शब्द का प्रयोग किया है ।
ऐसा मनमें विचार करता हुआ बहुत जल्दी ही शब्दार्थ सम्बन्ध को जान लेता है ।
यह प्रकार सिद्धार्थ में भी प्राथमिक व्युत्पत्ति ग्रह का संभवित है । जो अपने सबको
दृष्टप्राय ही है । इस क्रम से जानकार मातापिता प्रभृतिक आप्तजन बाव्यावस्था में ही अपने

एव स्वकीयबालका व्युत्पाद्यन्त इति सर्वजनीनमेतत् । एष एव नयोऽनुत्तरमीमांसकधुरीणानामपि । तस्मात्सिद्ध्यर्थेऽपि सुग्रह एव व्युत्पत्तिग्रह इति सम्भवत्येव वेदान्तानामनवद्यब्रह्माभिधायकत्वम् ।

स च समन्वयो वेदान्तवाक्यानामित्थम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।२) 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (के० १।४) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

सकासंप्राप्य 'दिष्ट्यावर्धसे चैत्रपुत्रस्ते जातः' इति वार्ताहारस्यशब्दश्रवणेनातीवमुख-
वान् संपन्न इति तस्य मुखविकारादिकावलोकनेनानभिज्ञभाषोपि अनुमानेन ज्ञातवान्
ततश्चैत्रस्यसुखकारणमदवलोकितपुत्रजन्मैवेति निश्चिनोति तत्र यदि कार्यपराणामेव
बोधकत्वं भवेत् तदा कथमत्रेत्यमभूत् । तस्मात् सिद्धार्थपरकमपि वाक्यं स्वार्थमव-
बोधयत्येवेतिस्थितम् । यदा च लोके भूतार्थपरकपदानां संगतिग्रहः शक्तोभवति
तदा वेदान्तानां भूतार्थपरकत्वं पूर्वापरालोचनया यदवगतं तस्य परित्यागो नैवोचित
इति । एतदेव चैत्रपुत्रस्तेजात इत्यारभ्य संभवति सुतरामाद्यव्युत्पत्तिज्ञानमित्यन्त-
ग्रन्थक्रमेणोक्तवानिति । किञ्चोपायान्तरेणापीत्यादि । किञ्च न केवलं वृद्धव्यवहारे-
णैव प्राथमिको व्युत्पत्तिग्रहो भवतीति सार्वत्रिको नियमोऽपितु प्रकारान्तरेणापि न
भवति । यथा चोपायान्तरेणापि भवति तथा व्याकरणोपमानकोशादिना प्रदर्शित

अपने बालक को व्युत्पादित करते हैं । यह बात सर्वजनानुभव सिद्ध है । यही प्रकार
पूर्व मीमांसक को भी अभिमत है । एवं यदि छिद्वादि पद प्रयोग स्थल में ही पद से
बोध होता है ऐसा एकान्त नियम माना जाय तब वर्तमानापदेश से जो वन पर्वतादिक
पदार्थों का वर्णन किया है वह सब निरर्थक हो जायगा । किन्तु वर्णन उसीका होता है
जो कि सप्रयोजनक हो । प्रकृत में आत्मोपदेश का फल जब मोक्ष विद्यमान है तब वेदा-
न्तोपदेश को निरर्थक मानने का साहस निरर्थक ही है । इसलिए जब सिद्धार्थ में भी
जब शक्तिग्रह संभवित है तब वेदान्त को ब्रह्म वाचकत्व है ऐसा सिद्ध होता है ।

वह वेदान्त वाक्यों का समन्वय वक्ष्यमाण प्रकार से होता है 'हे सोम्य ! यह
परिदृश्यमान नगत् उत्पत्ति के पूर्व में सदात्मक ही था ।' जो श्रोत्रादिक का भी श्रोत्र
स्वरूप है वही ब्रह्म है । परन्तु तुम जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है ।'
एक शरीररूप वृक्ष के ऊपर संपरिध्वस्त अर्थात् बैठे हैं उन दोनों के मध्य से एक सुपर्ण

एकस्तयोः पिप्पलमत्ति स्वाद्वनश्नन्नान्योऽभिचाकशीति' (मु० ३।१।
१) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) 'यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'
(तै० ३।१।१) 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' (बृ० ४।१।१०) 'ॐ यो
ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा' (रामोत्तरा-
पन्याम्) 'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।६।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

वन्तोवृद्धा इति । एवं लोकेपि यथा भवति प्राथमिको व्युत्पत्तिग्रहस्तथा तथाहि
पूर्वमज्ञातशब्दार्थसम्बन्धाम् इति ग्रन्थेन भाष्यकारोपि प्रदर्शितवानिति । अक्षरार्थ-
स्तु न तिरोहितः । प्रकरणमुपसंहरति तस्मात् सिद्धार्थेष्वपीत्यादि । यदालोकेऽपि सिद्धार्थं
पदे शक्तिवृत्त्या तदर्थबोधकत्वं प्रमाणतः प्रमाणितम् तदा भ्रमाणशेखराणां वेदान्ता-
नां परिनिष्पन्नब्रह्मवाचकत्वं भवत्येवेति स्थितमिति भावः ।

वेदान्तवाक्यानां समन्वयो ब्रह्मणि कथं भवतीति दर्शयितुमाह स च समन्वय
इत्यादि हे सोम्य ! परिदृश्यमानमेतज्जगत् अग्रे उत्पत्तेः पूर्वम् सदात्मकमेवासीत्
तदेवेत्यादि यत् तत्त्वं चक्षुषोऽपि चक्षुः श्रोत्रादीनामपिश्रोत्रम् तदेव ब्रह्मतस्यैवोपासनं
कुरु किन्तु यस्यत्वमुपासनं चक्षुरादीनां करोषि न तद् ब्रह्म । द्वासुपर्णा इत्यादि एक-
स्मिन् शरीरलक्षणे वृक्षे जीवपरात्मानौ संपरिष्वक्ताविवविद्येते तयोर्मध्ये एकोजीवः

जीव स्वकृत कर्म के शुभाशुभ फल का उपभोग करता है । तथा जीव भिन्न परमेश्वर
रूप सुपर्ण कर्मफल का उपभोग न करते हुए ही सर्वथा प्रकाशमान रूप से अवस्थित
रहता है ।' 'उस चिदचिद्विशिष्ट परमपुरुष परमात्मा को जानकर के ही उपासक लोग मोक्ष
को प्राप्त करते हैं । इस परमात्मज्ञान से अतिरिक्त कोई भी उपायान्तर नहीं है कि
जिसके द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जाय ।' 'जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित परमात्मा
से यह आकाशादि भूतमात्र जायमान होते हैं । तथा जन्म लेकर के स्थित रहते हैं, परि-
पालित होते हैं । और प्रलयकाल में पुनः उसी सर्वशक्तिमान् में प्रविष्टीयमान होजाते हैं ।
जिस तरह पृथिवी से उत्पन्न पदार्थ पृथिवी में अवस्थित रहते हैं तथा पृथिवी में ही विली-
यमान हो होजाते हैं ।'—'यह परिदृश्यमान जड चेतन पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व में ब्रह्म
दातात्म्यापन्न ही था तदंग होने से जो यह भगवान् श्रीरामचन्द्रजी है वह अद्वैत परमानन्द
स्वरूप परमात्मा है । अर्थात् जडचेतन साधारण जगत् का अंगी है सर्वाधार हैं ।' 'ब्रह्म आनन्द

(तै० २।१।१) इत्येवमादयः श्रुतयो ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणगुणादिप्रकाशनेन चरितार्थाः । एवमुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यैस्तात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैर्वेदान्तानां परमपुरुषे श्रीरामाख्ये ब्रह्मण्येव समन्वयस्तत्र तत्र सद्विद्यादिवेदभागेषूपलभ्यते । तथाहि उपक्रमे 'सदेव सोम्येदमग्र' (छा० ६।२।२) इतिवाक्यमभिवा-
निमित्तोपादानत्वतत्सहकारिसर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वसगुणत्वादिगुणवि-

स्वकृतकर्मफलं शोभनमिति मत्वा भुनक्ति तदन्यश्च अनुपमुञ्जान एव प्रकाशने । तमेवेत्यादि तमेव सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं परमात्मानं विदित्वा साक्षात्कृत्वातिमृत्युमोक्षमवाप्नोतीत्यर्थः यतोवा इमानीत्यादि यस्मात्सर्वज्ञसर्वशक्तिसमन्वितपरमात्मनः सकाशात् आकाशादिकानि भूतानि समुत्पद्यन्ते येन परमेश्वरेण जातानि तानि पालितानि संस्थितानि च भवन्ति । तथा प्रलयसमये तस्मिन्नेव परात्मनि प्रलीयमानानि संभवन्तीत्यर्थः । ब्रह्मेवेत्यादि इदं परिदृश्यमानं जगत् अग्रे उत्पत्तेः पूर्वं ब्रह्मैवासीत् । ब्रह्मशेषरूपमेवासीदित्यर्थः । ओं यो ह वै इत्यादिमन्त्रघटकौ ह वै शब्दौ प्रसिद्धार्थकौ योयं सर्वप्रसिद्धसर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रः स अद्वैतपरमानन्दरूप आत्मे-
त्यर्थः । आनन्दोब्रह्म आनन्दलक्षणं ब्रह्म आनन्दवदेव ब्रह्मेत्यर्थः । सत्यज्ञानमित्यादि । यद्वै ब्रह्म तत् सत्यज्ञानानन्तात्मकमेव, अर्थात् सत्यत्वादिगुणविशिष्टमित्यर्थः । इत्या-

लक्षण है अथवा आनन्द का अधिकरण है । 'वह परमात्मा सत्यत्वादि गुणवान् है ।' इत्यादि वेदान्त वाक्य ब्रह्म परमात्मा स्वरूप लक्षण तथा लोकोत्तर गुणादि के प्रकाशन करते हैं । एवम् उपक्रमोपसंहार अभ्यास अपूर्वताफल अर्थवाद [प्रशंसा] उपपत्ति । ये सब तात्पर्य का निर्णायक प्रमाण है । [इन सबका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में ही होता है अन्यथा परिगणित प्रमाण व्यतिरिक्त प्रमाणों का भी अप्रामाणिक कल्पना करना पड़ेगा ।] इन उपक्रमादि तात्पर्य निर्णायक प्रमाण के द्वारा वेदान्त वाक्यों का परमपुरुष परमात्माश्रीरामाख्य ब्रह्म में ही समन्वय होता है । इस बात को सद्विद्या के प्रकरण में तत्तत्स्थल में प्रतिपादन किया गया है ।

तथाहि छान्दोग्य के षष्ठाध्याय के उपक्रम प्रारंभ में 'सदेव सोम्येदमग्रे आसीत्' एतादृश वाक्य सुनने में आता है । वह वाक्य अभिन्न निमित्तोपादानत्व तथा उसके सहकारी सर्वज्ञत्व सर्वशक्ति विशिष्टत्व सगुणत्वादि गुण विशिष्ट सूक्ष्मचित्त चेतन तथा सूक्ष्म अचित् जड पदार्थ विशिष्ट सविशेष परम पुरुष परमात्मा श्रीजानकीनाथ लक्षण ब्रह्मको प्रतिपादन करता है ।

शिष्टसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टविशेषब्रह्मण एव प्रतिपादकम् । उपसंहारे ऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति वाक्यं सामानाधिकरण्यमुखेनोक्तगुणविशिष्टस्योपक्रान्तस्यैव ब्रह्मणोऽभिधायकम् । अस्मिंश्च प्रकरणे स्वोदीस्तार्थदृढीकरणाय तत्त्वमसीतिवाक्यस्य नवकृत्व आवृत्तत्वादभ्यासः फलितः । तत्रैव प्रमाणान्तरागोचराणां जगत्कारणत्वादिगुणानां विशिष्टे ब्रह्मदिका अनेकश्रुतयः ब्रह्मणः परमात्मनः स्वरूपलक्षणगुणादिवोधकतया चरितार्थाभवन्ति । अर्थात् कार्यान्वयविरहितत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदीयगुणानां च बोधिका भवन्तीति न क्रिया मात्र परकाः किन्तु स्वरूपपरका अपीतिभावः । एवम् 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यं निर्णये' इति तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिङ्गैर्वेदान्तवाक्यानां सत्यज्ञानमित्यादीनां परमपुरुषे श्रीजानकीनाथे समन्वयस्तत्तत्स्थले प्रतिपादितः । न तु कार्यपरतां पदानामभ्युपेत्य तस्मिन् तत्समन्वयं रुरोधेति ।

कुत्रस्थले उपक्रमोपसंहारादिकं प्रदर्शितमिति जिज्ञासायामाह तथाहीत्यादि छान्दोग्यस्यषष्ठाध्यायीयोपक्रमे यदिदं सदेव सोम्येदमित्यादिवाक्यं तत् अभिन्ननिमित्तोपादानत्वसर्वज्ञत्वादिगुणकं सविशेषं परमात्मानं प्रतिपादयति । तथा तत्रैवोपसंहारं उपसंहार अन्तिम प्रकरण में भी—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि वाक्य सामानाधिकरण्य के प्रतिपादन द्वारा अभिन्न निमित्तोपादानत्वादि गुणगुणविशिष्ट उपक्रमोक्त ब्रह्म का ही वाचक है । । इस प्रकरण में प्रतिपादित ब्रह्मरूप अर्थ का दृढीकरण करने के लिए—'तत्त्वमसि' इस वाक्य का नौवार कथन करने से अभ्यास लक्षण तात्पर्य ग्राहक लिङ्ग भी फलित होता है । उसी प्रकार से प्रमाणान्तर का अविषयीभूत जगत्कारणत्वादि गुण समुदायों का परम पुरुष ब्रह्म में निर्देश करने से अपूर्वत्व लक्षण तात्पर्यग्राहक लिङ्ग भी उपलब्ध हो रहा है । और 'तस्य तावदेवचिरम्' उस उपासक को तावत्कालपर्यन्त ही विलंब रहता है । जब तक प्राख्य कर्मोपात्त चरम करण कलेवर का विनाश नहीं होता है । अथ तादृश कलेवरादि के विनाशोत्तर काल में ही मुक्त हो जाता है । इस प्रकार से उपासक को मोक्ष लक्षण फल का निर्देश करने से फल लक्षण तात्पर्य ग्राहक प्रमाण का भी उपपादन किया है । 'श्वेत केतु इ आस' इस प्रकरण को पिता पुत्र के आख्यायिका रूप से प्रवृत्त होने से अर्थवाद अर्थात् स्तावकत्व

ण्येव निर्देशादपूर्वतापि सम्पद्यते । फलमपि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्ना विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१।४।२) इत्यनेनोपासितु-
र्माक्षाख्यं निरूपितम् । प्रकरणस्यास्य 'श्वेतकेतुर्हारुणेय आम' (छा० ६।१।१) इत्यादिना पितापुत्राख्यायिकारूपेण प्रवृत्तत्वादर्थवा
दश्च सिद्ध्यति । एवं प्रकृतं सविशेषब्रह्मस्वरूपं हस्तामलकवज्जिघ्रा
हयिपया पित्रा मृत्पिण्डादिदृष्टान्तत्रयस्याभिहितत्वादुपपत्तिरपि राज
ते । इत्येतद्विस्तरेण तत्प्रकरण एवोपपादितम् ।

एवमुपासनाविधिप्रतिपादनेनापि वेदान्तानां ब्रह्मणि सम-
हारे ऐतदात्म्यमिदमित्यादिवाक्यं जीवब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यमुपदर्शयन् उपक्रम
प्राप्तं परमात्मानमेव बोधयतीत्युपसंहारोपि प्रदर्शितः । तथा इदमीयप्रकरणे नव-
धातत्त्वमसीतिकथनेनास्याभ्यासोऽपि प्रदर्शित एवेति । एवं तत्रैव छान्दोग्यप्रक-
रणे प्रमाणान्तराप्राप्तसमस्तकारणत्वादिकगुणानां सविशेष ब्रह्मणि निर्देशकरणेना-
पूर्वत्वमपि प्रदर्शितम् । फलं च मोक्षोऽपि प्रदर्शित एव तस्य तावदेवचिरमिति ग्रन्थेन ।
पितापुत्राख्यायिकैव अर्थवादस्थानीया सापि प्रदर्शितैव । युक्तिरपिमृदादिदृष्टान्तेन
साधितैव । एतादृशतात्पर्यग्राहकलिङ्गसमवहितवेदान्तवाक्यं ब्रह्म प्रतिपादने समुपयुक्तं
भवत् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं साधितमेवेतिभावः ।

सिद्धार्थप्रतिपादाकानां वेदान्तपदवाक्यानां पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मणि परमपुरुषे
उपक्रमादितात्पर्यग्राहकलिङ्गैः प्रतिपादितवान् । ततः परमुपासनाविधितया वेदान्तानां
होने से अर्थवाद लक्षण तात्पर्यग्राहक प्रमाण भी निर्दिश्यमान होता है । एवम् उपक्रान्त जो
सविशेष ब्रह्म स्वरूप है उसको अति स्पष्ट हस्तामलकवत् समझाने के लिए उदाहक ने मृत्पिण्ड
सुवर्ण लोह लक्षण तीन दृष्टान्त को बतलाया है । इससे उपपत्ति युक्ति लक्षण चरम तात्पर्य
ग्राहक लिङ्ग भी यहाँ विद्यमान है । इन सब बात को विस्तारपूर्वक तत्तत्प्रकरण में बतलाया
गया है । अर्थात् छान्दोग्य के षष्ठाध्याय में मन्त्र व्याख्यावसर में इन सब बातों को भाष्य-
कार ने विस्तार रूप से प्रतिपादन किया है । प्रत्येक उपनिषदानन्द भाष्य व्याख्यानो में उन
विषयों का विशेष प्रतिपाद मैं ने भी उद्धीस्थानों में किया है वही से अनुसन्धान कीजिये

'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादिक शास्त्र को उपासनविधिपरक होने पर भी वेदान्त वाक्य
का समन्वय ब्रह्म में स्पष्ट रूप से समर्थित होता है । अर्थात् उपासनाविधि का अङ्ग होने

न्वयः स्पष्ट एव । तथा हि—‘आत्मेत्येवोपासीत’ (बृ० १।४।७) ‘आत्मानमेव लोकमुपासीत’ (बृ० १।४।१५) ‘ब्रह्मविदानोतिपरम्’ (तै० १।१।१) ‘ओमित्येवाक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) ‘ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्’ (मु० २।२।६) ‘सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः’ (छा० ८।७।१) इत्येवमादिषु विधीयमानोपासनाया विषयतयान्वितम्ब्रह्मस्वरूपं विशेषतः प्रतिपादयति कृत्स्नमुपनिषच्छास्त्रम् । नोचेदुपासनानुष्ठानस्य ब्रह्मस्वरूपतत्प्राप्तिरूपफलाद्यनभिसं-

सार्थक्यनान्यथेतिवदतांमतमिष्टापत्यैव निराकुर्वन् ग्राह—एवमुपासनविधि प्रतिपादनेनापीत्यादि । उपासनाविधिशेषतया वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः संभवत्येव तत्र न क्वापि क्षतिरस्तीतिभावः । तथा हि आत्मेत्येवोपासीत तत्रात्मनः परमपुरुषस्योपासनं कर्त्तव्यम् । उपासनं च ध्यानापरपर्यायमेवेत्यर्थः । आत्मानं लोकमुपासीत परमात्मलक्षण लोकस्य समुपासनं विधेयमित्यर्थः । ब्रह्मविदानोतीति यो हि समुपासकोऽनवरतध्यानादिकरणेन समुपार्जितब्रह्मज्ञानः तादृशोपासनावलात् परंपरमात्मानं प्राप्यभूतंप्राप्नोति ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षमवाप्नोतीत्यर्थः । ओमित्याकारकमक्षरमुद्गीथमिति कृत्वा तदुपासनं कुर्यादित्यर्थः । ओमित्येवमिति परमात्मवाचकमोकारम् वाच्येन परमात्मना एकीकृत्यात्मनः परमपुरुषस्योपासनं कर्त्तव्यमितिभावः । सोऽन्वेष्टव्यः इत्यादिसकलजगत्कारणरूपः परमात्मा अन्वेषयितुं योग्यः स एव च जिज्ञासा योग्य इत्यर्थः । इत्यादि बहुषु स्थलेषु परमात्मन उपासना प्रदर्शिता सैवोपासना क्रिमारूपा सा च कर्त्तव्यसे क्रियाविधि का शेष होने से वेदान्त वाक्य चरितार्थ होता है । इस पक्षका समाधान ईष्टापत्याभाष्यकार करते हैं एवमुपासनाविधीत्यादि । उपासना विधिपरक होने पर भी वेदान्त वाक्य का ब्रह्म में समन्वय होता है, उपासना विधि मानने पर भी कोई क्षति नहीं है ।

उपासना विधि का प्रतिपादन होने पर भी किस तरह वेदान्त वाक्य का ब्रह्म में समन्वय होता है इसको बतलाते हैं ‘तथाहीत्यादि’—‘परमात्मा परम पुरुष का उपासन करना चाहिए’ परमात्म स्वरूप का लोगों को उपासन ध्यान करना चाहिए । ‘जो ब्रह्मज्ञानवान् उपासक है वह परमात्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष को प्राप्त करता है । ‘ओम्’ इत्याकारक अक्षर का ही उद्गीथ बुद्धि से ध्यान करना । ‘ओम्’ जो परमेश्वर का वाचक प्रणव है उसके द्वारा आत्मा की उपासना करना, वाच्य वाचक का एवत्वानुसंधान करके उपासन करना

हितत्वे वैयर्थ्यमेव स्यात् । न च तथापि विधिवादस्वीकारे फलानु-
पलब्ध्यानुष्ठानतुः प्रवृत्त्याभावादानुष्ठानस्य वैयर्थ्यमेवेति वाच्यम् । स-
म्पन्नो विधी 'तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'
(श्वे० ३।८) 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णे कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयो-
निम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति
दिव्यम्' [मु० ३।१।३] 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० ३।२।९]
'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । श्रीयन्ते चास्य कर्माणि

मांधीना तत्र उपासकः कर्ता उपासनक्रियायाः सकर्मकत्वात्कर्माधीनेति तत्र कर्मरूप
उपास्य परमात्मैवेति कर्मविनाऽनुपपद्यमानोपासनक्रियाबलात्कर्मरूपं परमान्मानमाक्षि-
पतीति । एतादृशोपासनविषयतया समाक्षिप्तं ब्रह्मस्वरूपं विशेषरूपेणाक्षिपति सर्वं सन्तं
ज्ञानमित्यादिकं वेदान्तवाक्यम् । अन्यथोपासनायाः स्वरूपमेव न निष्पद्येत । तथा
तादृशोपासनायाः विधानमपि शास्त्रेक्रियमाणमनर्थकं भवेत् । तादृशोपासना विषय
रूपेण सर्वमपि शास्त्रं प्रतिपादयत्येव परमात्मानमिति । समुपासनविषयताया पर
ब्रह्मणि स्वीकारेणोपासनविषयतयापि न कश्चिदोपोऽपितु परमपदप्राप्तिफलमेव प्राप्तं
भवतीतिभावः । न च प्रकृते विधिस्वीकारे यागादिविधिवत्तत्रापिस्वर्गादिवत् किमपि
फलं स्वीकर्त्तव्यं किन्तु तादृशफलस्य प्रकृतेऽश्रवणात् फलोद्देशेनोपासकानां प्रवृत्ति-
र्नस्यादिति वाच्यम् विधिवादान्यथाऽनुपपत्त्या तमेवविदित्वादिश्रुतिप्रतिपादितफल-
स्यैव फलतया कल्पनादिति । एतदेवाह संपन्नेविद्यावित्यादि तं परमात्मानं ज्ञात्वामोक्ष-
चाहिए । उस परम पुरुष परमात्मा का अन्वेषण करो तथा तादृश परम पुरुष की जिज्ञासा
करो इत्यादि स्थलों में विधीयमान जो परमेश्वर का उपासन है उस उपासन के विषय कर्म
रूप से अन्वित जो ब्रह्म स्वरूप, तादृश ब्रह्म स्वरूप का विशेष रूप से सकल उपनिषद्
अर्थात् वेदान्तशास्त्र प्रतिपादन करता है । यदि वेदान्त वाक्य ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन
न करें तब तो उपासनानुष्ठान का ब्रह्म स्वरूप तथा तत् प्राप्ति अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति रूप
जो फल उसका अभाव होने से वैयर्थ्य ही हो जायगा । अर्थात् उपासनानुष्ठान निरर्थक
हो जायगा । नहीं कहो कि ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन होने पर भी विधिवाद को माना
जाय तब तो इस उपासन का सोमादि यागवत् फल की उपलब्धि नहीं होने से अनुष्ठान
कर्त्ता की प्रवृत्ति नहीं होगी । क्योंकि 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इत्यादि स्मृति से प्रवृत्ति नहीं

तस्मिन्हृष्टे परावरे' [मु० २।२।८] 'तद्य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्ये
तांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' [छा० ८।
१।६] 'अथ यद्यज्ञपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्याज्ञपाने
समुत्तिष्ठतः' [छा० ८।२।७] इत्याद्यार्थवादिकस्य फलस्य रात्रिसत्रन्या
येन विद्यमानत्वात् । इत्थञ्च ध्यानोपासनाविधिना सममेकवाक्यत्वं
सर्वासां ब्रह्मस्वरूपबोधिकानामुपनिषदाम् । यथा 'वायव्यं श्वेतमाल
भेत भूतिकामः' इति विधिवाक्येनैकवाक्यता भवति 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा

मवाप्नोति तदतिरिक्तः कश्चनातिरिक्तः मार्गोनास्तीत्यर्थः यदापश्योजीवो रुक्मवर्णं
सुवर्णसमं देदीप्यमानं कर्तारमीशं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादेः कारणं परमेशं पुरुषं पश्यति
साक्षात्कारोति तदनन्तरं पापं पुण्यं च कर्म विहाय परित्यज्य पादोदरत्वचेव । तदा तद-
नन्तरम् । सत्त्वज्ञानी सर्वदुःख रहितः सन् दिव्यमतिविलक्षणं परमं साम्यं ब्रह्मणा
सह प्राप्नोतीत्यर्थः । ब्रह्मवेदब्रह्मज्ञानवान् उपासकः ब्रह्मस्वरूप एव भवति ब्रह्मणा सह-
नात्यन्तिकमभेदं किन्तु परमसादृश्यं प्राप्नोति तच्च भेदघटितत्त्वमित्यर्थः । तस्मिन्
परावरे परमात्मपुरुषे साक्षात् कृते सति अर्थात् परमात्मसाक्षात्कारानन्तरम् । अस्यो-
पासकस्य हृदयग्रन्थिरविद्याभिद्यमाना भवति ग्रन्थीनामभावो भवतीत्यर्थः । सर्वसंशयाः
छिन्ना विनष्टा भवन्ति तथा कर्माणि प्रारब्धातिरिक्त कर्म जालानि शुभाशुभयोनिप्राप्ति
भूतकानि सर्वाण्यपि विनष्टानि भवन्तीति श्रुत्यर्थः । तदयद्देहयोदि योहि उपासकः
होने से उपासना तो तथापि व्यर्थ ही होती है । अर्थात् किसी भी कार्य में विद्वान् की प्रवृत्ति
प्रयोजन को देखकर के ही होती है । तो प्रकृत में सोमादिक याग में स्वर्ग लक्षण फलोद्देशेन
प्रवृत्ति होती है । उस तरह प्रकृत में फल नहीं होने से, अनुष्ठाता प्रवृत्त तो होगा नहीं
तब ध्यानादि का अनुष्ठान निरर्थक हो जायगा, ऐसा पूर्वपक्षियों का अभिप्राय है ।

उत्तर—जब युक्ति श्रुति से ध्यानादिक का विधिवाद सिद्ध होता है तब 'उस
परमात्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष को प्राप्त करता है । आत्मज्ञान व्यतिरिक्त प्रकारान्तर
मोक्ष प्राप्ति में कोई साधन नहीं है ।' जब परम जीव, सुवर्णवत् देदीप्यमान जगत् के कर्त्ता
सर्वेश हिरण्यगर्भादिक का भी उत्पादक परम पुरुष श्रीराम का साक्षात्कार करता है । तब
वह विद्वान् पुण्य पाप को छोड़ करके सर्वदुःख रहित होकर के परमेश्वर के साथ परम
समता को प्राप्त कर जाता है । ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है अर्थात् उपासक अपने

देवता, वायुमेव स्वेन भागेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयती' त्याकार्कार्थवादस्य । एवञ्च 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनांस्युः' [पू०मी० १।२।७] इति सिद्धान्तसूत्रेणैतत्सर्वममाहितं पूर्वतन्त्रो तथा प्रकृतेऽपि सोऽर्थ उपयुज्यत एव । 'ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इत्यादिश्रुतिषु ध्यानमाहात्म्यमुपवर्णितम् । तत्र प्रतिपाद्यस्य ध्यातुर्ध्यानं हि ध्येयस्वरूपमन्तरेणानुपपन्नं मत्स्मरणीयब्रह्मस्वरूपं ध्येयतया समाक्षिपति । तत्स्वरूपगुणमहिमप्रकाशन

प्रकृतं परमात्मानं ज्ञात्वा व्रजति । तेषां सर्वलोकेषु कामचारः स्वेच्छयागमनागमनं भवतीत्यर्थः । अथयदित्यादि अथ यदि स उपासकः परिपक्वोपासनः अन्नपानादि लोककामो भवति तदा संकल्पबलादेव तस्य यथाकालमन्नादयः संप्रतिष्ठन्ते इत्यर्थः । इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितमार्थवादिकमेव फलं भवतीति । यद्यपि स्वर्गकामोयजेत इत्यादि विधिशास्त्रप्रतिपादितस्वर्गादिफलवत् फलमुपासनावाक्येभ्यो न ज्ञायते । तथापि अर्थवादशास्त्रप्रसिद्धफलमेवात्रफलमस्यध्येयम् । तादृशफलबलादेवोपासकानामुपासने प्रवृत्तिसंभवात् ।

रात्रिसन्न्यायेनेति अयमाशयः, पूर्वमीमांसाचतुर्थाधिकरणे विचारितम् 'कृतौ फलार्थवादमङ्गवत्काष्णाजिनिः' इति सूत्रे कथितम् 'प्रतिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरूपयन्ति' इत्येवं श्रूयते । तत्र रात्रिशब्देन 'आयुज्योतिः' इत्यादिवाक्यप्रतिपादिताः मोमयाग-को चिदचिद्विशिष्ट परमेश्वर के साथ सादृश्य को प्राप्त कर जाता है । परमेश्वर परम पुरुष का साक्षात्कार करनेवाले उपासक का अविद्या बन्धन भिन्न हो जाता है । मन में अवस्थित सर्व संशय विनष्ट हो जाता है । तथा प्रारब्ध कर्मेतर सकल शुभाशुभ कर्म विनष्ट हो जाता है । जो आत्मा को जान करके जाता है उस उपासक को सर्वलोक में कामचार होता है । अर्थात् प्रतिबन्ध रहित स्वेच्छाचारगामित्व हो जाता है । 'अथ यदि वह उपासक अन्न पानादिक की कामनावान् होता है तब उसको संकल्प के बल मात्र से अन्नपानाधिक उपस्थित हो जाता है । इत्यादि वाक्य प्रतिपादित अर्थवाद सिद्ध फल रात्रि सन्न्याय से तो विद्यमान ही है । अर्थात् इस उपासना का फल उपर्युक्त वाक्य प्रतिपादित है रात्रि सन्न्याय से । जौमिनी मत में चतुर्थाध्याय तृतीयपाद का सप्तदश सूत्र है 'कृतौ फलार्थवाद मङ्गवत् काष्णाजिनीः' इसमें कहा है कि 'प्रतिष्ठन्ति ह वा य एता रात्री रूपयन्ति' ते प्रतिष्ठा लक्ष्णामेव

द्वारा परिनिष्पन्नस्वरूपबोधकस्य वेदान्तस्योपयोगः । तथा हि
 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा० ६।२।२] 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म'
 [तै० २।१।१] 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
 जीवन्ति' [तै० ३।१।१] अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' [बृ०
 ४।३।९] 'विज्ञातात्मरे केन विजानीयात्' [बृ० २।४।१४] 'रमन्ते
 योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि' [रमतापिनो] 'यः सर्वज्ञः

विशेषा एवोक्ता भवन्ति । अत्राधिकारीविशेषणं स्वर्गः प्रतिष्ठावेति संशयः । यत्र किमपि
 फलं न श्रूयते तत्र विश्वजिन्न्यायात् स्वर्ग एव फलतयाकल्प्यते इति फलतयास्वर्ग
 उपस्थितो भवति । वाक्याच्चप्रतिष्ठामात्रं श्रूयते । इति भवति संशयोयदत्रफलं स्वर्गः
 प्रतिष्ठावेति । तत्रैवंकामः रात्रिसत्रं कुर्यादित्यश्रवणाद्विधिशक्त्यालभ्यः स्वर्ग एव
 विशेषणं संशये वाक्यशेषस्वीकारो भवति न तु निश्चये तत्स्वीकारः । अत्र सर्वेषा-
 मभिलषितः स्वर्गफलम् विधिवाक्यसामर्थ्यादधिकारी विशेषणम् । प्रतिष्ठाविषयाया-
 श्रुतिः सा लक्षणया स्वर्गबोधिकैवेति । ततो रात्रिसत्रे सोमपानेन प्रतिष्ठादिफलं विव-
 क्षितम् । एतावन्मात्रेण कृतौफलार्थवादभङ्गवादीति जैमिनीसूत्रे प्रयाजाद्यङ्गकं फलार्थवादो
 दाहरणम् । न तु तद्वत्यभेदार्थत्वमस्ति रात्रिसत्रस्येति प्रश्ने उच्यते । 'फलमात्रेयोनिर्द-
 शादश्रुतौह्यनुमानम्' अत्र रात्रिपक्षे प्रतिष्ठैव फलम् कुतः ? 'एतारात्रीरूपयेति' इत्यादि

प्राप्नुवन्ति' में रात्रि सत्रांसोमयागं कुर्वन्तीत्यर्थ' वह प्रतिष्ठा लक्षणफल को प्राप्त करता है
 जो रात्रि सत्र अर्थात् सोमयाग करता है । तो क्या यहाँ स्वर्गफल है इस याग का या प्रतिष्ठा
 फल है । ऐसा संशय होता है—उसमें अमुक कामना वाला रात्रि सत्र करें ऐसा कथन नहीं
 होने से स्वर्ग ही अधिकारी का विशेषण है । इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि यहाँ प्रतिष्ठा
 लक्षण फल का निर्देश होने से अर्थवादिक प्रतिष्ठारूप ही फल है । स्वर्गफल का कथन
 करना ठीक नहीं है क्योंकि वह श्रुत है । इसीको रात्रिसत्र न्याय कहते हैं । इसी प्रकार
 प्रकृत में अर्थवादिक फल ध्यानादिक का है । अतः फल रहित होने से उपासना का
 अनुष्ठान व्यर्थ हो जायगा, यह कथन ठीक नहीं है । उपासना को सफल होने से
 उपासना विधि के साथ ब्रह्म स्वरूप बोधक सभी वेदान्त को एक वाक्यता होती है ।
 जिस तरह "भूति कामनावान् पुरुष वायु देवताकश्चेत छाग का आलंभन करे" इस विधि वाक्य
 के साथ एक वाक्यता होती है । 'वायु अतिशीघ्र गामी देव हैं वायु को ही प्राप्त करता है, वह

सर्वविद्' [मु० १।१।९] 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नं बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणे न हन्यते हन्यमाने शरीरे' [क० १।१।१८] 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं पते पतीनां परमञ्च दैवतम्' [श्वे० ६।७] 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' [श्वे० ६।८] 'एष आत्मा उपहतपाप्मा' [छा० ८।१।६] इत्येवमादयः श्रुतयः साक्षात्परम्पर्या

वाक्ये प्रतिष्ठाया एव फलत्वेन श्रवणान् । यत्र फलश्रवणं न भवति तत्रैव प्रमाणान्तरेण फलं कल्पितं भवति । प्रकृते तु 'प्रतिप्रतिष्ठान्निहवाय एता र श्रीरूपयन्ति' इति वाक्ये-प्रतिष्ठायाः फलत्वेन श्रवणादर्थवादावगतस्यैव प्रतिष्ठाफलस्य फलत्वमिति न विद्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलम् तस्या श्रुतत्वात् । प्रतिष्ठायास्त्वर्थवादवाक्ये श्रवणान् तदेवार्थवादिकं प्रतिष्ठाफलं भवतीति रात्रिसत्रन्यायस्याशय इति ।

प्रकृते तथैव 'तमेवविदित्वेत्यादिश्रुत्यवगतफलमेव फलं भवतीतिभावः । एवं हि ध्यानादिविधिना सहैव सर्वोपनिषदां परमात्मस्वरूपप्रतिपादकानामेकवाक्यता भवति । यथा 'वायव्यं श्वेतमालभेतेत्यादि विधिवाक्यानां तदीयार्थवादशास्त्रेणैकवाक्यता भवति तत्सर्वप्रथमतन्त्रे आक्षिप्य समाहितं तथैवात्रापिसौर्थः समुपपद्यते एवेतिभावः । 'ततस्तु तं पश्यते' इत्यादौ ध्यानादीनां माहात्म्यमुपपादितं ध्यानं च ध्येयस्वरूपमन्तरेणा-इसके भूति को प्राप्त कराता है एतादृश अर्थवाद को । अर्थात् 'वायुर्वक्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाय शास्त्र को जिस तरह—'वायव्यं श्वेतमालभेते' इस विधिवाक्य के साथ एक वाक्यता होती है । इसी तरह प्रकृत में भी समझना । ऐसा हुआ तब—'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' इस सिद्धान्त सूत्र से इन सबका समाधान पूर्वतन्त्र में किया गया है । इसी तरह प्रकृत में भी वह सब अर्थ उपयुक्त होता ही है । 'ततस्तु तं पश्यते' इत्यादि श्रुतिर्यो में ध्यान के माहात्म्य का वर्णन किया गया है । उसमें प्रतिपाद्य जो ध्यान करने वाला पुरुषका जो ध्यान लक्षण किया है । वह ध्यान क्रिया ध्येय का जो स्वरूप है उस स्वरूप के बिना अनुपपन्न होता हुआ स्मरणीय जो ब्रह्म स्वरूप है उसको ध्येय रूप से आक्षेप करता है । जैसे भोजन के बिना दिवा अमुंजान पुरुषनिष्ठ पीनत्व रात्रि भोजन का आक्षेप करता है । तद्वत् प्रकृत में भी समझना । तो सिद्धब्रह्म स्वरूप ब्रह्म स्वरूप का बोधक वेदान्त वाक्य का परमेश्वर स्वरूप तदीय गुण तथा तदीय महिमा के प्रकाशन द्वारा उपयोग होता है । तथाहि हे

च तस्यैव स्वरूपादिकं प्रतिपादयन्ति । एतच्चोक्तं भगवता वृत्ति कृता—‘स्यात्तूपासनविधिना परमपुरुषार्थस्य दिव्यानन्दोदन्वतोऽभि-
धेयतया समन्वयः शास्त्राणाम्, [बो० वृ.] इति ।

अयमेवार्थो वेदोपबृंहणरूपेतिहासपुराणयोरपि बहुधोपलभ्यते
तथाहि—

संभवस्थितिकं सत् ध्येयस्वरूपमाक्षिप्यापिवोधयति । तत्रध्येयस्वरूपप्रतिपादनेसिद्धा-
र्थकस्यापि वेदान्तस्योपयोगो भवतीति । कथं वेदान्तानां ध्येयस्वरूपप्रतिपादने
उपयोग इति शङ्कायाः समाधानमाह तथा हि सदेवेत्यादि । एवमादय आगमाः
साक्षात्परंपरयातत्स्वरूपं प्रतिपादयन्तीति । एतदेवाभिप्रेत्यभगवतावृत्तिकारेणापिकथि-
तम् स्यात्तूपासनविधिनेत्यादि । अन्यत्सर्वमतिरोहियार्थकमेव ।

उपासनाविधिप्रतिपादनावसरेयोऽर्थः प्रकाशितः स एवार्थः वेदोपबृंहणरूप
वेदार्थप्रकाशकेतिहासमहाभारतपुराणादिषु तत्तत्स्थलेऽनेकशः प्रतिपादनं समुपलभ्यते ।
सौम्य ! यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व में सदात्मक ब्रह्म स्वरूप ही था’ ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा
अनन्त लक्षणक है । जिससे इन आकाशादिक भूतों की उत्पत्ति होती है, इत्यादि ।
इस स्वरूप अवस्था में यह पुरुष स्वयं प्रकाश स्वरूप होता है ।’—‘अनन्त नित्यानन्द
चिदात्मा सर्वेश्वर श्रीरामजी में योगी लोग रमण करते हैं ।’ ‘जो सर्वज्ञ सर्ववित् हैं ।’ ‘यह
आत्मा न मरता है न वा किसी से उत्पन्न होता है कभी भी यह अजनित्य शाश्वत
तथा पुराण है । शरीर का विनाश होने पर भी विनष्ट नहीं होता है ।’ ‘पतियों का भी
पति, ईश्वरों का भी महेश्वर परमदेव परमात्मा को ।’ ‘उस परम पुरुष का करण कलेवर
नहीं है और उसके समान तथा उससे अधिक कोई नहीं है ।’ ‘जो आत्म अपहृत पाप्मा
है ।’ ‘अपाणिपादो जवनोगृहीतापश्यत्यचक्षुः ।’ हस्तपादादिक से रहित होने पर भी
पदार्थों का ग्रहण करने वाले तथा अतिवेगसे चलने वाले है । चक्षु के बिना देखते हैं ।
कान न होने पर भी श्रवण करते हैं’ [बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना] इत्यादिक
श्रुति समुदाय उस परमेश्वर पर ब्रह्म श्रीरामजी के स्वरूप गुण महिमा का साक्षात्परंपरया
प्रतिपादन करते हैं । इस बात को भगवान् वृत्तिकार ने भी कहा है ‘उपासना विधि से
परमपुरुषार्थ लक्षण दिव्यानन्द सागर का वाच्यतया समत्व शास्त्रों का होता है । अर्थात्
समस्त वेदान्त का समन्वय परम पुरुष में होता है ।

‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

विभेत्यल्पश्रुताद्भेदो मामयं प्रतग्मिष्यति ॥’

इति वचनबलादुपबृंहणेन संक्षिप्तस्य वेदार्थस्य विशदीकरण-
मावश्यकम् । तथा चात्र—

प्राप्यस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः ।

प्राप्त्युपायं फलप्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधिनः ॥

अर्थात् न केवलं वेदे एव दृश्यते किन्तु वेदार्थप्रकाशकग्रन्थेषु बहुधा दृश्यते एवेति ।
तथाहि इतिहासपुराणाभ्याम्, तत्रेतिहासो महाभारतादिः पुराणं विष्णुपुराणादिः,
आभ्यांवेदंसमुपबृंहयेत् वेदार्थप्रकाशनं कुर्यात् । वेदेहि संक्षेपेण योऽर्थः कथितस्तमर्थ-
पुराणादिवचनेन विस्तृतं कुर्यात् । अल्पश्रुतात् योहि अल्पश्रुतः पुरुषस्तस्माद्भेदोवि-
भेति यतोयमल्पबुद्धित्वात् अन्यार्थं प्रकल्प्य अथवा अज्ञात्वा मदीयाभिप्रायं मां वा ग्रह-
रेत ममार्थराशिप्रहारमेव करिष्यति । तस्माद्भेदोऽल्पाधीतपुरुषाद्विभेतीत्यर्थः । इत्यादि
शास्त्रवचनेन । इतिहासपुराणादिना संक्षिप्तवेदार्थस्य विस्पष्टरूपेण प्रकाशनमावश्यकम्
इतिहासपुराणादिसमुपबृंहणमन्तरेण वेदार्थनिर्णयस्यास्मदादिभिः कर्तुमशक्यत्वात्ततः
ताभ्यां तस्य समुपबृंहणमावश्यकमेवेतिभावः । तानि इतिहासपुराणादिवचनानि दर्श-
यति ‘तथा चात्रेति प्राप्यस्य उपासकैर्गन्तव्यतयासमुद्दिष्टस्य ब्रह्मणोरामाख्यस्य पर-
मात्मनोरूपम् तथा परमेश्वरप्राप्तिकर्तुः प्रत्यगात्मनोरूपम् तथा प्राप्तेरुपायं तथा
प्राप्ते फलं तथा प्राप्तिक्रियायां प्रतिबन्धकस्य स्वरूपादिकं सर्वं वस्तु इतिहासपुराणा-
दिनायुक्ताः सकलाः समस्ता अपि वेदा ऋगादिप्रमुखाः वेदवेदान्तशास्त्रनिष्णाता मुनयो

सकल वेदान्त सिद्धार्थं ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करता है यह विषय वेदार्थ का निर्णा-
यक इतिहास पुराण में भी अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है । तथाहि ‘इतिहास भारतादिक
तथा पुराण भागवतादिक के द्वारा वेद को समुपबृंहित करे । अर्थात् वेदार्थ का स्पष्टीकरण,
इतिहास-पुराण द्वारा करें क्योंकि वेद में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है वह
प्रायः अति संक्षिप्त रूप से है । क्वचित् संशयप्रस्त है । तो इन सबका स्पष्टीकरण वेद
का व्याख्यानरूप इतिहास पुराण द्वारा ही करना चाहिए, ‘नहि सन्देहादलक्षणम्’ ऐसा
पतञ्जलि का कथन है । जो अल्पश्रुत वेदेतिहासपुराणादिक का सांगोपाग का वेत्ता नहीं है
एतादृश व्यक्ति से वेद भी डरता है कि यह अल्पज्ञ कदाचित् मेरे ऊपर प्रहार न

वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः ।

मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तदर्शिनः ॥

इति वचनाद् ब्रह्मस्वरूपतत्प्राप्त्युपायादिबोधकमेव वेदान्त-
शास्त्रम् । तत्र निर्दिष्टस्य ध्यानस्मरणादेरेव—

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सैव विक्रिया । वि.पु.॥

महात्मानो वदन्ति प्रतिपादयन्ति । अर्थात् इतिहासपुराणादियुक्तासर्वे वेदास्तथावेदान्तार्थदर्शिनो महात्मनः प्राप्यपरमात्मास्वरूपादिकं प्रकाशयन्ति नतु केवलं वेदादेव वेदार्थावगतिर्भवति वेदस्तु संक्षेपेणार्थं प्रतिपादयति तदर्थस्य विस्तारस्तु पुराणादिनैव भवति ततो वेदार्थोपबृंहणमतीवावश्यकमेवेति भावः । एभिः प्रतिपादितवचनबलैरित्थं प्रतिपादितं भवति यत् प्राप्य स्वरूपादिबोधकत्वं वेदान्तशास्त्रे एव नान्यत्र तद्वोधकत्वमिति । उपर्युक्तवाक्येषु प्राप्त्युपायतया निर्दिष्टस्य ध्यानस्मरणादेरतीवावश्यकत्वं तदन्तरेण फलप्राप्तेरसंभवात् । नहि कारणाभावे क्वचिदपिकार्यं भवतीति नियमात् । 'यन्मुहूर्तमित्यादि' आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तनादित्यभियुक्तवचनात्परमेश्वरश्रीरामानुस्मरणमहर्दिवमेव विधातव्यम् किन्तु यत्र मुहूर्तमात्रं क्षणमात्रमपि वासुदेवो भगवानचिन्तितः सैव हानिर्जीवानां तदेव महच्छिद्रम् भ्रान्तिरपि सैवेत्यर्थः । अर्थात् भगवतश्चिन्तने क्षणादिमात्रमपि व्यवधानं न कुर्यान् दिनादिव्यवधानस्य तु कथैव का यस्माद् भगवतः सर्वदा स्मरणेनैवानर्थनिवृत्तिः शाश्वतिकसुखप्राप्तिलक्षणं सायुज्यमुक्तिफलं करदे । क्योकि यदि यथावत् परिज्ञान नहीं होनेके कारण अर्थ को अनर्थ करदेगा । इत्यादि वचन के बल से उपबृंहण इतिहास पुराण के द्वारा संक्षिप्त वेदार्थ का स्पष्टीकरण अति आवश्यक है ।' तथाचात्र ऐसा होने से यहाँ प्रकृत में 'प्राप्यस्येत्यादि' उपासक के द्वारा प्राप्य ब्रह्म का जो स्वरूप सर्वनियन्तृत्वादिक है और तादृश ब्रह्म का प्रापक जो जीव प्रत्यगात्मा उसके स्वरूप को एवं भगवत्प्राप्ति में जो उपाय भक्तिप्रपत्यादिक को, एवं प्राप्ति का जो फल है उसको, और प्राप्ति में जो विरोधी है उनके स्वरूप को, इतिहास पुराणादिक से युक्त सकल वेद प्रतिपादन करते हैं । और वेद वेदान्त को जानने वाले महामना मुनि महर्षि लोग कहते हैं । इन पूर्वोक्त वचनों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मजीवादिक के स्वरूप तथा प्राप्ति के उपायादिक का बोधक वेदान्तशास्त्र है । उसमें निर्दिष्ट ध्यान स्मरणादिक का

इत्यादिभिः प्रतिपादनात् । एवं ब्रह्मणः स्वरूपमपि—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ? । गी. ७।६॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । गी. १०।४२॥

एवं प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।

समस्तहेयरहितं विष्ण्वारूपं परमं पदम् । वि. पु. १।२२॥

समस्ताः शक्तयश्चैव नृप ! यत्र प्रतिष्ठिताः ।

तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् । वि. पु. ६।६।१॥

प्राप्तं स्यात्तदभावे तदभावादिति । इत्यादिवचनेन भगवदनुस्मरणस्यावश्यकत्वं प्रदर्शितं भवति । 'त्वदीया स्मृतिस्तारिका मृत्युसिन्धो स्तथाविस्मृतिः पतिका तत्र चैव । परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम्' इत्याचार्योक्तेः ।

तथा भगवतः समाराध्यस्य रामस्य स्वरूपवर्णनमपि कृते भगवता व्यासेन गीता-दिशास्त्रे तथाहि 'अहं कृत्स्नस्येत्यादि' हे धनंजय ? अहं वामुदेवो भगवान् सर्वं इव शाली सर्वशक्तिसमन्वितश्च कृत्स्नस्य स्थावरजंगमलक्षणाखिलजायमानवस्तुनः प्रभवः समुत्पादकः, 'यतो वा इमातीनिश्रुतेः । अहमेव सर्वस्य जगतः प्रलयः प्रलयकारणम् प्रभवप्रलयाभ्यां मध्यवर्तिन्याः स्थितेरपिमङ्गप्रदः । तथा चाहमेव जगत उत्पादकः स्थापकस्तथा प्रलयहेतुरपि यतो वेत्यादिश्रुतेरेवेति । भगवतोपि शरीरधारित्वाद्-स्मदादिवदेव कश्चिदुत्पादकः स्यादिति शङ्कानिराकरणार्थमाह 'मत्तः परतरमिन्यादि' मत्तः श्रीकृष्णात्परतरं समाभ्यधिकं तत्त्वान्तरं नास्ति येन ममापि प्रभवादिः शङ्कितः स्यात् तथात्वेऽनवस्थापातात् न्यायमते परमाणुव्यतिरिक्तकारणवदिति ।

प्रतिपादन किया गया है वक्ष्यमाण मन्त्र से । 'यदि मुहूर्त क्षणभर भी वामुदेव परम पुरुषश्रीराम का चिन्तन नहीं किया गया तो यह जीव के लिये बहुत बड़ी हानि है, तथा यही महा छिद्र है । इत्यादि रूप से प्रतिपादन किया गया है । इसी तरह ब्रह्म के स्वरूप को भी शास्त्र में बतलाया गया है । भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे धनंजय ! मैं परमेश्वर, इस समस्त स्थावरजंगम जगत् का प्रभव उत्पादक हूँ तथा पालन करने वाला हूँ और इन सबका विनाश करने वाला हूँ । मुझसे समान अथवा अधिक अन्य कोई भी व्यक्ति नहीं है । अर्थात् हमारे समान, हमसे अधिक तथा हमारा कारण कोई भी पदार्थ नहीं है । मैं सम्पूर्ण इस जगत् को एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ ।' एवं प्रकारमिन्यादि, एता-

जगत्सर्वं शरीरन्ते, स्थैर्यं ते वसुधातलम् । वा. रा. यु. ॥

वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम् ।

अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥

(सन. सं. रामस्त. ६१)

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवेन्द्रो देवतास्तथा ।

आदित्यादिग्रहाश्चैव त्वमेव रघुनन्दन ! सन. सं. रामस्त. ६९।

रामः सत्यम्परं ब्रह्म रामात्किञ्चिन्न विद्यते ।

तस्माद्रामस्यरूपोयं सत्यं सत्यमिदं जगत् । सन. सं. रामस्त. ९३।

‘विष्टभ्याहमित्यादि’ हे अर्जुन ? एकेनांशेन सकलंजगत् विष्टभ्य व्याप्यस्थितो-
स्मि’ इत्यर्थः । ‘एवं प्रकारमित्यादि’ एवं पूर्वोक्तप्रकारकम् अमलं सर्वमलविवर्जितम्
नित्यमाद्यन्तरहितम् । व्यापकं सर्वगतम् अक्षयं समस्तभावविकाररहितम् । तथा सम-
स्त हेयगुणविवर्जितमर्थात् प्राकृतिकगुणरहितं यत्पदं तदेव विष्णुनामकं पदम् तदेव-
परमं पदम् । तद्विष्णोः परमपदमिति श्रुतेरिति । नतु तदतिरिक्तं पदं परमं पदमिति भावः ।
‘समस्ता इत्यादि’ हे नृप ? यत्र यदधिकरणे समस्ताः शक्तयस्तिष्ठन्ति । तत् विश्व-
रूपाद्विलक्षणं रूपमन्यापेक्षमतिविलक्षणं रूपमेव हरेः रूपम् ज्ञातव्यमिति शेषः । जग-
त्सर्वमित्यादि हे भगवन् समस्तमिदं जगत् तव शरीरं शरीरीरूपस्य तव शेषरूपमेवाभव-
दित्यर्थः । अतएव वसुधातलं स्थिरमिव भवतीति भावः । ‘वेदान्तवेद्यमित्यादि । तं रामं
समस्तजगदाधारलक्षणं नमामि । कीदृशं तमित्यत आह वेदान्तवाक्येन वेद्यं ज्ञायमा-
नम् । अर्थात् वेदान्तप्रतिपाद्यं कविक्रान्तदर्शिनम् ईशितारं सर्वस्यान्तर्णीमितयानि
यामकम् । आद्यन्तमध्यरहितम् । अचिन्त्यम् अकृततपसामनसाप्यालोचयितुमशक्यम् ।
अगोचरम् चक्षुरादिकरणागोचरम् निर्मलं प्राकृतिकमलविवर्जितम् । एकरूपं समाभ्य-
दृश सर्वमल रहित नित्य सर्वव्यापक, अक्षय सर्वभावविकारवर्जितः समस्त हेय रहित विष्णुनामक
परम पद है । हे राजन् ! जिसमें सर्वप्रकार की शक्तियां प्रतिष्ठित हैं । अनवरत रूप
से विद्यमान हैं । विश्व संसार के रूप से विरूप अर्थात् विभिन्न एक सर्व विलक्षण महान्
रूप परमेश्वर का है । हे भगवन् ! सम्पूर्ण स्थावरजंगम लक्षण जगत् आपका शरीर अर्थात्
आपका शेष है । इन सबका शेषी शरीरी आप हैं । इसलिए यह वसुधा पृथिवीतल
भी स्थिर है । वेदान्त के द्वारा ही जानने का योग्य क्रान्तदर्शी, सर्वके अन्तर्यामी होने

इत्यादिभिः प्रदर्शितम् । तथा फलमपि ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः । गौ. ८।१५।

इत्यादिभिर्निर्दिष्टम् । तथा चाखिलजगदुदयादिलीलस्य महा-
महिमशालिनः परमकारुणिकस्य परमात्मनः स्वरूपरूपगुणविभूति-
वर्णनमसकृदुद्धोषितम् ।

धिकरहितम् 'नेदंयशो रघुपतेः सुरयाञ्जयात् लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः'
(भागवत ९।११।२०] इत्युक्तेः । तथैव जगद्गुरु श्रीगङ्गाधराचार्यचरणाः श्रीशुक्लार्थ
मतदीपिकायाम् 'अधिकसमाभ्यां विमुक्तं धाम्नभावो यस्य निरतिशयाधिकप्रभाववत्
इत्याशयः' इति । तमसोऽविद्यायाः परस्तादतिदूरम् । अथवाऽविद्यादिदोषरहितमेता-
दृशं श्रीरामं नमामि प्रणमामीति । ब्रह्माविष्णुश्चेत्यादि । हे रघुनन्दन ? ब्रह्मादयो-
देवाः सर्वेऽपित्वदीयरूपा एव भवतः शरीररूपास्त्वद्विभूतय इत्यर्थः । एतावता सर्वरूपत्वं
भगवतो दर्शितमिति । 'रामः सत्यमित्यादि । राम एव सत्यरूपः स एव परमं ब्रह्म
श्रीरामादन्यत् किञ्चित्तत्त्वं नास्ति । इदं जगदपि सत्यात्मकमेवरामस्वरूपत्वादित्यादि वच-
नैर्भगवतः स्वरूपस्य निर्वचनं कृतमिति । तथा भगवद्ब्रह्मनादीनां फलमपि प्रदर्शि-
तम् 'मामुपेत्येत्यादि' हे अर्जुन ? समस्त जगदाधाररूपम् मामुपेत्यमदीयधामप्राप्य
परमांसिद्धिमोक्षप्राप्य महात्मानः पुनः दुःखालयं दुःखकारणभूतम् । अशाश्वतम-

से, सबका नियंत्रण कारक, आदि मध्य अन्त रहित अकृत तपने जीव के द्वारा मन से भी
चिन्तन करने के अयोग्य सबका आदि, चक्षुरादिकरण का अविषय, सर्वमल, समस्त हेय-
रहित और अविद्या के पार स्थित तथा सर्वदा एक रूप से व्यवस्थित रहने वाले, भगवान्
श्रीसाकेताधिपति रामजी को मैं प्रणाम करता हूँ ।' 'हे रघुनन्दन ! ब्रह्मा विष्णु महेश्वर देवे-
न्द्र तथा देवतागण और आदित्यादिक ग्रह मण्डल तथा जो कोई भी पदार्थ है, सर्वस्वरूप
आप ही हो ।

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी परं ब्रह्म हैं, यह सत्य है । श्रीरामजी के सम अथवा उत्कृष्ट
कोई भी पदार्थ नहीं है, इसलिए सर्वेश्वर श्रीराम के स्वरूप होने से यह जगत् सत्य है,
यह कथन सर्वथा सत्य है ।' इत्यादि प्रकरण से ब्रह्म स्वरूप का कथन किया गया है ।
समस्त जगत् का जो उत्पत्त्यादिक, वही है छीला जिनकी ऐसा महामहिमाशास्त्री परम-

अथात्र द्वितीयवर्णकमास्थीयते । 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू. १।१।२) इति सूत्रेण यत इति हेत्वर्थिकया पञ्चम्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुक्तम् । न च हेतौ पञ्चमी न सम्भवति शाब्दिकसमयविरुद्धत्वादिति वाच्यम् । 'अइउण्' (अ. सू. १) इति सूत्रभाष्ये 'विवारभेदा' दितिनिर्देशेन 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' (पा० २।३।२५) इतिसूत्रे विभाषेतिपार्थक्येन योगाश्रयणात् क्वचिदगुणेऽपि हेतौ नित्यम् अनेकदुःखप्रबन्धलक्षणजन्मनाप्नुवन्तीति संक्षेपः । इत्यादिपुराणादिषु जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयनियामकस्य महाशक्तिसमन्वितस्य करुणासागरस्य परमेशितुः स्वरूपादिकमनुक्षणं सर्वत्रैवप्रतिपादितं भवति शास्त्रे इति ।

भगवतः परमपुरुषस्य स्वरूपगुणविभूत्यादीनां वर्णनद्वारा सर्ववेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयप्रकारमुपदर्श्य प्रकारान्तरेणापि समन्वयप्रकारं प्रदर्शयितुं चतुर्थाधिकरणस्य वर्णकान्तरमपि दर्शयति । यद्यपि चतुर्थसूत्रे वर्णकान्तरप्रकारमन्यत्रभाष्यादौ नोपलभ्यते तथापि, इदं वैलक्षण्यमेतद्भाष्यस्येति प्रतीतं भवति । वर्णकान्तरं दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः अथात्रेत्यादि । अथ प्रथमवर्णकस्य कथनानन्तरं द्वितीयं व्याख्यानमुपस्थापितं भवतीत्यर्थः । 'जन्माद्यस्य यतः' इति द्वितीयसूत्रे यस्मादित्यतः एवं क्रमेण कारणत्वार्थकपञ्चमीविभक्ते ब्रह्मणि यत् पदप्रकृतिरूपे कारणत्वं प्रतिपाद्यते । कारुणिक अर्थात् दया का सागर परमात्मा के स्वरूपगुण तथा विभूतियों का वर्णन अनेकशः शास्त्र में किया गया है ।

परमात्मा का स्वरूपगुण विभूति का वर्णन द्वारा वेदान्त का समन्वय ब्रह्म में कथन करके इस सूत्र का वर्णकान्तर का प्रतिपादन करने के लिये वर्णान्तर व्याख्या करने के लिए उपक्रम करते हैं 'अथात्रद्वितीयवर्णकमित्यादि'—अथ इसके बाद द्वितीयवर्णक उपस्थित करते हैं । 'जन्माद्यस्य यतः'—इस सूत्र में स्थित 'यत' हेत्वर्थक इस पंचमी विभक्ति के बल से ब्रह्म में जगत् कारणत्व प्रतिपादन किया जाता है । अर्थात् जायमान प्रपंच के प्रति ब्रह्म में जो कारणता है वह कारणता 'यत' पद में पंचमी विभक्ति के बल से प्राप्त है । जगन्निष्ठकार्यता निरूपित कारणतावान् परमेश्वर है इत्याकारक बोधनिष्पन्न होता है । नहीं कहो कि हेतु अर्थ पंचमी विभक्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि व्याकरण के नियम से विरुद्ध है । 'अपादाने पंचमी' इत्यादि सूत्रों से अपादान अर्थ में ही पञ्चमी

पञ्चमी सिद्ध्यति । तेन च 'धूमादग्निमान् पुत्रात्प्रमोदो जायते'
इत्यादिप्रामाणिकप्रयोगाणामपि साधुत्वं मङ्गलम् । यत इति च 'प-
ञ्चम्यास्तसिल्' (पा. ५।३।७) इति पञ्चम्यन्तात्तसिल् । तत्र हेत्व-
पेक्षायामाह 'तत्तुममन्वयात् ।' समन्वयपदप्रत्ययतिरेकम्याप्युपल-
क्षणम् । तद्व्यतिरेकाच्चोपपद्यते 'जन्माद्यस्य यतोन्वयादितस्तत्त्वार्थे'
(श्रीमद्भाग० १।१।१) इतिभगवतो वेदव्यासस्यैव वचनान्तर्गतम् ।

यथा दण्डाद्वट इत्यादौ दण्डपदोत्तरपञ्चमीविभक्त्या जनकत्वमर्थममुपस्थाप्य घट-
निष्ठजन्यतानिरूपितजनकत्वं दण्डे बोध्यते । तथैव प्रकृते जगन्निष्ठजन्यतानिरूपित-
जनकतावत्त्वं ब्रह्मणि तादृशपञ्चम्या समुपस्थापितं भवतीत्यर्थः । यद्यपि 'वृक्षान्पर्ण-
पतति' 'धावतोऽश्वात् पतति' इत्यादिप्रयोगदर्शनेन प्रायोऽपादाने एव पञ्चमी
न तु कारणतायां पञ्चम्याबोधकत्वमिति वैयाकरणाः संगिरन्ति । तथापि पतञ्जलि
भाष्यानुसारेणविचारं कृत्वा भाष्यकारेणापादानतातिरिक्तस्थलेष्वपिपञ्चम्याः साधु-
त्वमुपवर्ण्यतत्समाधानं कृतवानिति तदुपवर्णनप्रकारं भाष्यादेवावगन्तव्यम् । शास्त्रा-
न्तरविचारस्य प्रकृतेभक्तप्रयोजनत्वेन प्रकृते तद्विचारस्यासामयिकत्वेनास्माभिरपि
संक्षिप्तः । अत एव धूमादग्निमानित्यादिप्रामाणिकप्रयोगोपि साङ्गत्वं लभते इति ।

का विधान है । कारणार्थक पंचमी का तो कहीं भी विधान नहीं किया गया है ऐसा
कहना ठीक नहीं है । क्योंकि, 'अइउण्' इस सूत्र के महाभाष्य में—'विवारमेदात्' ऐसा
निर्देश होने से—'विभाषागुणेऽस्त्रियाम्' इस सूत्र में—'विभाषा' इस प्रकार पृथक् योग विभाग
करने से यह सिद्ध होता है कि किसी स्थल में अगुण गुण भिन्न हेतु में भी पंचमी
विभक्ति होती है ऐसा सिद्ध हुआ । इसलिए 'धूमादग्निमान्'—धूमरूप होने के कारण से
पर्वत वह्निमान् है । 'पुत्रात्प्रमोदोजायते' पुत्ररूप हेतु से सुख विशेष होता है । ऐसा
प्रामाणिक पुरुषों का प्रयोग भी संगत होता है । [यद्यपि सामान्य नियम ऐसा है कि
अपादान अर्थ में भी पञ्चमी विभक्ति होती है ।] तथापि 'अइउण्' इस सूत्र के भाष्य
प्रकरण का पर्यालोचन करने से यह सिद्ध होता है कि कारणरूप अर्थ में भी पंचमी विभक्ति
होती है । [यद्यपि अपादनार्थक पंचमी में भी कारणत्व का बाध नहीं होता है । जैसे
'हिमवतो गङ्गाप्रभवति' यहाँ हिमालयावच्छेदेन गंगा की उत्पत्तिरूप अर्थ का बोध होता
है । इसमें अवच्छेदकता सम्बन्ध से हिमालय में कारणत्व व्यवस्थित है । तथापि यथाश्रुत

तथा चायमर्थः । तज्जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः सर्वेषु कार्येषु पदार्थेषु व्यापकत्वेन समन्वयाद्विद्यत इति शेषः । ‘पादोऽस्य विश्वा भूतानि’ (शु०य० ३१।३) इत्यादिभिर्ब्रह्मणः सर्वत्र समन्वयो ज्ञाप्यते । ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (शु०य० ३१।३) इति वाक्येन च तस्य व्यतिरेको बोध्यते । एवं ‘स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा’ (शु०य० ३१।१) इति ‘यतः’ इत्यत्र पञ्चम्यास्तसिद्ध इति सूत्रेण करणार्थे पञ्चम्याविधानम् । ततश्च यतोयस्मात् कारणविशेषाज्जगत् जायते इत्यर्थः । तत्कथं भवतीति जिज्ञासायां हेतुं वक्ति चतुर्थसूत्रम् समन्वयात्, यस्मात् समन्वयोद्दृश्यते तस्मात् परमेश्वराज्जायते जगदिति । अत्र समन्वयपदं व्यतिरेकमप्युपलक्षयति यतो महामुनिव्यासस्यैव वचनान्तरमपि ‘जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतः’ इत्यादि । कथं समन्वयेन व्यतिरेकेण च जगत्कारणत्वं ब्रह्मणि समर्थितं भवतीति जिज्ञासायां समन्वयप्रकारं दर्शयितुमाह—‘तथा चायमर्थः’ इति । परमात्मनः सर्वव्यापकत्वेन सर्वत्रविद्यमानत्वेन सर्वपदार्थेषु समन्वयाद् भवत्येव सर्वकारत्वं भगवतः । तत्रैव श्रुतिमुदाहरति ‘पादोऽस्येत्यादि’ अस्य परब्रह्मणः सर्वाण्यपि गगनादि प्रमुखाणि भूतानि पादोऽवयवात्मकम् स्वशरीरैकदेशव्याकरण क्री मर्यादा को लेकर के भाष्यकार ने प्रश्न तथा उत्तर को बतलाया है इसका विशेष विवेचन अन्यत्र देखें ।] ‘यतः’ इति चेत्त्यादि’ यतः यह पद—‘पञ्चम्यास्तसिद्ध’—इस सूत्र से पञ्चम्यन्त यत् पद से तसिद्ध प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है । इस जगत् का परमेश्वर से उत्पादादिक होता है ऐसा क्यों ? इम जिज्ञासा के उत्तर में प्रकृत सूत्र कहता है ‘समन्वयात्’ सर्व पदार्थ में परमेश्वर का समन्वय है । इसलिए जगतरूप कार्य परमेश्वर से जायमान होता है । जैसे मृत्तिका रूप कारणक घटादिक के साथ समन्वय रहने से घटादिक कार्य मृत्कारणक सिद्ध होता है । उसी तरह पदार्थ मात्र के साथ व्यापक होने से परमेश्वर का समन्वय है । अतः पदार्थमात्र परमेश्वर से जन्य है । जगत्निष्ठ कार्यतानिरूपित कारणतावान् परमेश्वर हैं ।

यहाँ समन्वय पद व्यतिरेक का भी उपलक्षक है क्योंकि—‘जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्येष्वभिज्ञः’ इत्यादि महामुनि व्यासजी का वचनान्तर होने से ।

तब इसका यह अर्थ होता है कि परब्रह्म को व्यापक होने के कारण पदार्थमात्र के साथ समन्वय रहने से जगत् कारणता ब्रह्म में विद्यमान ही है । सर्वत्र पदार्थ में ब्रह्मका समन्वय, ‘पादोऽस्य विश्वा’ इत्यादि प्रमाण द्वारा ज्ञापित होता है । एवं व्यतिरेक भी, ‘त्रिपा-

ब्रह्मणो जगत्सन्वयो दर्शितः । 'अत्यतिष्ठदशाङ्गुलम्' (शु० य० ३१।१)
 इति च तस्य व्यतिरेकः । आभ्यां जगदन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य
 जगत्कारणत्वमुपपद्यते । त्रिवृत्कृतानां मृदादीनां तत्कार्येषु घटादिषु
 व्यापकत्वेन समन्वयस्य तद्व्यतिरेकस्य च दर्शनेन तेषां तत्कारण-
 त्वनिश्चयात् । एवं ब्रह्मणोऽपि व्यापकतया सर्वजगत्समन्वयेन तद्-
 भूतमित्यर्थः । एवं चावयविनोऽवयवे समनुगमात् संबन्धो भवतीति समन्वयः । त्रिषा
 दस्यामृतं दिवीतिकथनान् व्यतिरेकोपि समर्थित एवेति भावः । एवं चान्वयव्यतिरे-
 काभ्यां जगत् कारणत्वं परमात्मनः समर्थितं भवतीति । व्याप्यस्थले तन्मन्वेतन्मन्व-
 मन्वयस्तद्व्यतिरेकेतद्व्यतिरेकोव्यतिरेकः व्यापककारणता स्थले तु तत्सन्वमात्रमन्वयो
 भवति व्यापकत्वेन तद् व्यतिरेकाभावात् । यथादण्डसत्त्वे घटसत्त्वम् । दण्डव्यतिरेके
 घटव्यतिरेकः । तत्र दण्डस्योभयसंभवात् । आत्मादिस्थले तु केवलमात्मसत्त्वेऽप्युक्तम् ।
 नतु आत्मनोऽभावे सुखाभाव इति व्यतिरेकः संभवति । आत्मनो व्यापकत्वेन तद्-
 व्यतिरेकाभावात् । तत्कथमत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं समर्थितमिति ।
 दस्यामृतम्' इत्यादि आगम द्वारा व्यतिरेक भी ज्ञापित होता है । इस अन्वय व्यतिरेक
 ज्ञापक वचनान्तर को भी बतलाते हैं 'एवमित्यादि' एवम् सभूमि सर्वैवः स्पृत्वा' इत्यादि वचन
 से ब्रह्म में सर्वजगत् में अन्वय भी प्रदर्शित होता है । तथा, 'अत्यतिष्ठदशाङ्गुलम्'—
 इत्यादि वाक्य से व्यतिरेक प्रदर्शित होता है । इस प्रकार जगत् के अन्वय व्यतिरेक
 द्वारा सर्वज्ञ परमेश्वर में जगत्कारणता की उपपत्ति होनी है । जिस तरह पक्षीकृत जो
 मृत्तिका पृथिवी प्रभृतिक भूतवर्ग का कार्य है उसमें तद्व्यापकतया समन्वयतया व्यतिरेक
 का दर्शन होने से भूतादिक में घटादि कारणता का निश्चय होता है । इसी तरह
 ब्रह्म का सर्वव्यापक होने से सर्वजगत् के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से तथा एकत्र
 प्रधान रूप से समवस्थित होने के कारण से सर्वजगत् के प्रतिकारणता की उपपत्ति
 है । यद्यपि ब्रह्म तो व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान रहने से सर्वत्र सर्वदा समन्वय ही
 है तादृश व्यतिरेक तो कथमपि नहीं होता है । अन्वय व्यतिरेक तो व्याप्य मूल पदार्थ
 में होता है । किन्तु व्यापक अमूर्त का व्यतिरेक होता है । जैसे व्याप्य दण्डघटादिक
 में अन्वय व्यतिरेकगम्य कारणता होती है । किन्तु व्यापक अमूर्त आत्मा तथा सुखादिक
 में कार्यकारणभाव अन्वय व्यतिरेकाधीन नहीं हो करके केवल अन्वयाधीन ही होता है ।
 क्योंकि 'आत्मसत्त्वे सुखसत्त्वम्' एतादृश केवल अन्वय ही है । 'आत्माभावे सुखाभावः' एतादृश
 व्यतिरेक तो हो नहीं सकता है । यतः व्यापक सर्वत्रावस्थित आत्मा का व्यतिरेक

व्यतिरेकेणैकत्र प्रधानतया समवस्थितत्वेन च हेतुना सर्वजगत्कारणत्वमुपपद्यते । यद्यपि ब्रह्मणः सर्वजगति व्यापकत्वात्सर्वत्र समन्वय एव तथापि श्रुतिभिस्तदीयाखिलप्रपञ्चविलक्षणस्वरूपस्यापि प्रतिपादनं क्रियते तत्स्वरूपस्यैवात्र व्यतिरेकपदबोध्यत्वमिति विवेकः ।

चतुः सूत्र्यां विशेषार्थाः सर्वेचाम्नायसम्पत्ताः ।

कथितास्तेन सर्वात्मा श्रीरामः प्रीयतामिति ॥

॥ इति चतुः सूत्री समाप्ता ॥

तत्राह 'तथापि श्रुतिभिरित्यादि । नात्र पूर्वोक्तोरेकः किन्तु भागवतमखिलप्रपञ्चाद् विलक्षणस्वरूपमेव व्यतिरेकः स च शास्त्रे प्रतिपादित इति तादृशविलक्षणस्वरूपस्यैव व्यतिरेकपदेन कथनमिति न कोऽपि विरोधः । एतत्सर्वं स्वमनीषयैव व्याख्येयम् । वेदसंमता ये विशेषार्थास्तेषां विशेषार्थानामत्रचतुस्रसूत्र्यां कथनं कृतं तेन परमात्मा सर्वेश्वरश्रीरामप्रसन्नो भवतु इति सङ्ग्रहश्लोकार्थः ।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे समन्वयाधिकरणं चतुर्थम्

॥ चतुः सूत्री टीका समाप्ता ॥

असंभवित है । एवं प्रकृत में सर्वव्यापक होने से ब्रह्म का सर्वत्र समन्वय मात्र है । व्यतिरेक तो नहीं घटता है । तब अन्वय व्यतिरेकाधीन जगत्कारणता का प्रतिपादन करना अयुक्त है । इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं तथापीत्यादि । श्रुति के द्वारा ब्रह्म के प्रपञ्च स्वरूपापेक्षया विलक्षण स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है । एतादृश सर्वजगत् विलक्षण ब्रह्म स्वरूप का ही व्यतिरेक पद से ग्रहण किया जाणा है । अर्थात् 'तत्सत्त्वे तत् सत्त्वं तद्व्यतिरेकेचासत्त्वम्' इत्याकारक लोक सिद्ध अन्वय व्यतिरेक प्रकृत में नहीं है । जगत्प्रपञ्च स्वरूपापेक्षया ब्रह्म स्वरूप में जो विलक्षणत्व है वही व्यतिरेक बोध्य होता है । इस अभिप्राय से समन्वय तद्व्यतिरेक का कथन किया गया है । इसमें किसी प्रकार का बाधक नहीं है इति संक्षेपः ।

इस चतुःसूत्री में आगम सहमत सभी विशेष पदार्थ का प्रतिपादन किया गया है । इससे सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हों । शुभमस्तु सर्वजगतः । सर्वे सन्तु निरामयाः । क्वाहं मन्दमतिर्दानः क्वायं भाश्यमहोदधिः । स्वरूपधी नौकया तनुं कृतिस्तात सफला मम ॥१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीत
श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे समन्वयाधिकरणं चतुर्थम् ॥

॥ इति चतुः सूत्री समाप्ता ॥

श्रीरामाय नमः

५ अथैश्वर्य्यधिकरणम् । ५

एवमत्र मुमुक्षुभिश्चिन्तनीयशाम्ने वेदविहीतकर्मानुष्ठानेन प्रशीणाशेषकल्मषस्य परतत्त्वबुभुक्षोरादी ब्रह्मजिज्ञासामभिधाय द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां ब्रह्मणि लक्षणं प्रमाणं चोपवर्ण्य तुगेयेण सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयस्तत्रैवेतिप्रतिपादनादनया चतुस्सूत्र्या संक्षेपेण सर्वोऽपि शास्त्रार्थः प्रदर्शितः । स चायमेवार्थोऽग्रे प्रमाणमव्युक्ती-
स्वलम्ब्य विस्तरेण चतुर्लक्षण्याऽभिधास्यते । अथ कस्यचिदप्यभि-
मतवस्तुनो विवेचनीयत्वे कथमत्र निश्शङ्कप्रमाणानां कात्स्न्येन

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रेण ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय द्वितीयसूत्रादारभ्य चतु-
र्थसूत्रान्तप्रकरणेन सर्वज्ञसर्वशक्तिमति जगदुत्पत्त्यादिकारणभूते वेदान्तानां प्रामा-
ण्यं प्रदर्शितम् । नतु ब्रह्मण्येव कारणता प्रतिपादिता अतः संशयोभवति ब्रह्म-
जगतः कारणमथवाऽचेतनं किमपि कारणम् । तत्राचेतनं प्रधानं कारणमिति सांख्याः ।
परमाणव इतिन्यायविदः । अभावादिकमेवतथेत्यन्ये । एवं संशये प्रधानस्य सर्वज्ञ
सर्वशक्तिमत्त्वेन तस्यैव कारणत्वं नतु चेतनस्य तस्य क्रियाशक्त्यभावेनातथान्वादवि-
विक्रियत्वेन सर्वज्ञत्वादिधर्माभावात् प्रधानस्य तु परिणामित्वेन सर्वज्ञत्व सर्वशक्ति-
मत्वस्य संभवेन तस्यैव जगत्कारणत्वमिति शङ्कानिराकर्तुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते
एवमत्रमुमुक्षुभिरित्यादि । 'वेदविहितकर्मानुष्ठानेनेति' 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयान्पा-

प्रथम सूत्र से लेकर चतुर्थसूत्र पर्यन्त प्रकरण से ब्रह्म में जिज्ञासक, तथा लक्षण
प्रमाण का निवर्चन करके वेदान्तों का समन्वय ब्रह्म में है, ऐसा प्रतिपादन किया गया ।
इसके बाद जगदुत्पादक जो ब्रह्म का लक्षण बतलाया है वह ब्रह्म का ही लक्षण है ऐसा
तो नहीं कहा है । तथा वादियों के विप्रतिपत्ति से प्रधानादिक में भी जगत्कारणादिक
होता है । इत्यादि शंका का निराकरण करने के लिये तथा अग्रिम सूत्र के व्याख्यान के
लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एवमत्रमुमुक्षुभिरित्यादि' इस प्रकार यहाँ मुमुक्षु, मोक्ष
कामनावान् पुरुषों से चिन्तनीय इस वेदान्तशास्त्र में वेद विहीन नियम नैमित्तिक नतु काम्यादिक
के [अथवा फलेच्छारहित पुरुष से क्रियमाण काम्यकर्मादिक का] अनुष्ठान से विनष्ट है अशेष
पाप जिसका 'नित्यनैमित्तिकैरेवकुर्वाणोदुरितक्षयम्' नित्यनैमित्तिक शुभकर्म से दुरित पदवाच्य

समन्वयः ? कथमन्यैरुद्भाषितानां विरोधानाम्परिहारः ? कथं वा तत्साधनम् ? किञ्च तत्फलम् ? इत्येवं शंकासङ्घातः समुत्पतति द्रागेव तद्विवेचनारम्भ इति तन्निराकरणमत्र समन्वर्यावरोधपरिहारसाधनफलाख्यैरध्यायैः स्पष्टमुदटङ्कि । तत्रास्मिन् समन्वयाध्याये चतुर्भिः पादैर्वेदान्तानां चिदचिच्छरीरकब्रह्मस्वरूपप्रतिपादन एव तात्पर्यम् । तत्राप्यनेन प्रथमचरणेन आरभ्य केषाञ्चित् स्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां वाक्यानां विचारः प्रस्तूयते ।

पस्य कर्मणः' इत्यभियुक्तोक्या नित्यनैमित्तिककर्मणामनुष्ठानेन पुण्योत्पत्तिस्ततश्चधर्मोत्पादात् तद्विरुद्धस्य पापस्य निवृत्तिर्जायते । तन्निवृत्तौ विशुद्धान्तः करणस्य ब्रह्मजिज्ञासा भवतीति । अथ कस्यचिदप्यभिमतवस्तुनः इत्यादि तत्र प्रथमाध्यायेन वेदान्तानां समन्वयः प्रदर्शितो भवति । तत्र वादिभिरुद्भाषितानां विरोधस्य परिहारो द्वितीयाध्यायेन करिष्यते । तृतीयाध्यायेन साधनस्वरूपं प्रदर्शयिष्यति । चतुर्थेन तु फलस्य मोक्षस्य स्वरूपादिकं विचारयिष्यति । एतावता कथं ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयः कथं वा परैरुद्भाषितानां विरोधानामुद्धारः । कथं वा साधनसंपत्तिं वा साध्यं किञ्च तस्य स्वरूपं लक्षणमित्यादिका दोषाः पराकृता भवन्तीति । तत्र प्रथमाध्यायीयपादचतुष्टयेन ब्रह्मस्वरूपस्य प्रतिपादनम् । तत्रापि प्रथमं स्पष्टब्रह्मलिङ्गकवाक्यानां विचारं कारिष्यन्ति । इतः पूर्वं सगुणब्रह्मपदवाच्यपरेऽशस्यैव

पाप कर्म का विनाश करके] परम तत्त्व परमात्मा को जानने की इच्छा करने वाले पुरुष के लिए [विवदिषन्ति दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुतेः । दान तथा शरीर के अविनाशक तप के द्वारा ब्राह्मण लोग आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा रखते हैं ।] एतादृशा संसार विरक्त पुरुष के लिए प्रथमतः प्रथमसूत्र से जिज्ञासा कथन करके तदनन्तर द्वितीय—'जन्माद्यस्य यतः' तृतीय सूत्र—'शास्त्र योनित्वात्' सूत्र से ब्रह्म का लक्षण तथा प्रमाण को प्रदर्शित करके चतुर्थ, तत्समन्वयात्' से समस्त वेदान्त का समन्वय उसी ब्रह्म में है ऐसा प्रतिपादन करने से संक्षेपतः समस्त शास्त्र प्रतिपाद्य वस्तु का प्रदर्शन किया गया । यही संक्षिप्त रूप से चतुःसूत्री से प्रतिपादित जो पदार्थ है उसका आगे प्रमाण तथा समीचीन युक्ति द्वारा विस्तृत रूप से चतुर्थाध्यायान्त ग्रन्थ से कथन किया जायगा । किसी अभिमत पदार्थ का विवेचन करने में शंका रहित हो करके प्रमानों का सम्पूर्ण रूप से समन्वय कैसे

पूर्वं जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वेन सर्वशक्तिमत्त्वेन च सगुण-
मेव ब्रह्म वेदान्तवेद्यमिति प्रतिपादितम् । तस्यैव च लक्षणादिविवे-
चनेन तत्र वेदान्तसमन्वयेन च वेदान्ततात्पर्यविषयत्वमिति निश्चि-
तम् । इदानीं जगत्कारणत्वस्वरूपं यद्ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तत्र सम्भ-
वति जगत्कारणतया प्रधानादीनामेव नियतत्वादितीमां शंकां निग-
कर्तुकामो निरुक्तस्य ब्रह्मलक्षणस्यान्यपक्षं न सम्भवतीत्यावेदयि-
तुमाह—

वेदान्तप्रतिपाद्यत्वं दर्शितम् । नतु निर्विशेषं ब्रह्मवेदान्तप्रतिपाद्यत्वम् । तस्य
सगुणस्यैव लक्षणप्रमाणादिवेदान्ततात्पर्यत्वविषयत्वमित्यपि प्रतिपादितम् । सम्प्रति
जगदुत्पादकत्वादिकं यद् ब्रह्मणो लक्षणं कृतं तत् न समीचीनम् । कुतः ?
तस्य कूटस्थनित्यत्वेन विकाररहितत्वात् कारणत्वानुपपत्तेः । किन्तु परिणामिप्रधानमेव
जगतः कारणम् । तस्य परिणामित्वेन कार्यजनकत्वस्य संभवादित्याशङ्कां निरा-
कर्तुमाह सूत्रकारः ईक्षतेनाशब्दम् अशब्दं शब्दाप्रतिपाद्यं सांख्यमतपरिकल्पितं
प्रधानं जगतः कारणं न संभवति कुतः ? ईक्षतेः । अयमर्थः 'तदैक्षत' इत्यादिभूतौ
जगत्कारणे ईक्षित्वं श्रुम् । ईक्षितत्वं च न जडधर्मः किन्तु चेतनस्य धर्मः प्रधानं तु
न चेतनं सत्तादिगुणानां संघातरूपत्वेन जडत्वात् । ब्रह्म च चेतनं तस्मात् ईक्षि-
होता है तथा परोद्भाविन विरोधों का परिहार कैसे होता है ? क्या फल है ? इत्यादिक
शंका विवेचनारंभ के पूर्व में होती है । इसलिए उन शंकाओं का निराकरण इस शास्त्र में
समन्वयाध्याय अविरोधाध्याय साधनाध्याय तथा फलाध्याय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन
किया गया है ।

इस प्रथम अध्याय में प्रथमादिचार पादों से समस्त वेदान्त का चिदचित् शरीरक जो
ब्रह्म है उनके स्वरूप का प्रतिपादन करने में तात्पर्य है । उसमें भी इस प्रथम चरण अर्थात्
प्रथम पाद से यहाँ से प्रारंभ करके स्पष्ट ठीक जो वाक्य समुदाय है उसका विचार
प्रस्तुत किया जात है । पूर्व में चतुःसूत्री प्रकरण में जगत् कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्
सगुण ब्रह्म ही वेदान्त वेद्य है ऐसा प्रतिपादन किया है । उसी वेदान्त वेद्य सर्वज्ञादिगुण
समन्वित चित् ब्रह्म का लक्षण प्रमाण के विवेचन द्वारा और वेदान्तों का समन्वय होने से
वेदान्त तात्पर्य का विषय है ऐसा निश्चिन हुआ है । सम्प्रति ब्रह्म का जो लक्षण किया

५ ईक्षतेर्नाशब्दम् । १।१।५। ५

छान्दोग्ये सद्विद्यायां समाम्नायते 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इत्यादिसद्विद्याप्रकरणमेवास्य विषयः । तत्राखिलजगत्कारणतया प्रकृतवाक्ये श्रूयमाणं यत्सत्पदवाच्यं तत्सांख्यतन्त्राभिमतं स्वतन्त्रमानुमानिकं प्रधानमाहोस्विदचित्पदवाच्यप्रधानशरीरकम्ब्रह्मेति संशयः ।

तत्त्वाश्रयीभूतं ब्रह्मैव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानम् । न तु जड्वात्मकं प्रधानं जगतः कारणमिति सूत्रस्यमुकुलितोऽर्थः ।

अत्र 'सदेवेत्यादि' प्रकरणमेवविषयः । अत्र सत्पदवाच्यं ब्रह्म जगतः कारणं भवति अथवा अचित् पदवाच्यं स्वतन्त्रं प्रधानादिकमेव जगतः कारणमिति संशयः । तत्र वादिविप्रतिपत्त्या संशयो जायते । ब्रह्म जगतः कारणमिति सूत्रचतुष्टयेन व्यवस्थापितम् । न तु ब्रह्मैव कारणमिति विशेषानुपलंभेन विप्रतिपत्तिः । तत्र प्रधानं सत्त्वादीनां समुदायात्मकमचेतनम् । अचेतनधर्मस्य जगति समन्वयात् । स्वकर्मद्वारा- है जगत्कारण स्वरूप वह लक्षण ठीक नहीं है । क्योंकि जगत् कारण रूप से तो साँख्या-भिमत प्रधान ही नियत है । इस आशंका का निराकरण करने के लिए जगत् कारण स्वरूप लक्षण ब्रह्मेतर में वृत्ति नहीं हो सकता है इस बात को बतलाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' शब्द से अप्रतिपादित केवलानुमानावगत जो कि सत्त्वरजस्तथात्मस गुण का साम्यावस्था रूप जड है । वह जगत् का कारण नहीं हो सकता है । क्योंकि जगत् का जो कारण है शास्त्र प्रतिपादित, उसमें 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुति से ईक्षित्व धर्म का कथन है । ईक्षणरूप जो क्रिया है सो चेतन में रहनेवाली क्रिया है । वह अचेतन प्रधान में नहीं है । इसलिए तादृश ईक्षण धर्मवान् कोई चेतन ही हो सकता है तो वह चेतन ही जगत् का कारण है । अचेतन प्रधान स्वतन्त्र रूप से जगत् का उत्पादक कारण नहीं है । नवा परमाणु अभाव वा जगत् का कारण है किन्तु 'वेदवेद्यो जगद्योनिर्मन्निभो राघवोमतः । जगत्सृष्ट्यादयोलीला ममेव राघवस्य च' इत्यादिरूप से आगमोक्तदिशा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परम पुरुष द्विमुज भगवान् श्रीजानकीनाथ ही जगत् का कारण हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् के सद्विद्या प्रकरण में 'सदेव' हे सोम्य यह जगत् उत्पत्ति के पूर्वकाल में एकाद्वितीय सदात्मक ही था ।' उस सदात्मक ब्रह्म ने ईक्षण क्रिया एक ही

तत्रायम्पूर्वः पक्षः । स्वातन्त्र्येण सांख्योक्तस्य त्रिगुणस्य प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तम् । न ब्रह्मणः । तस्य जन्यधर्मानाश्रयत्वेनापरिणामित्वात् । प्रधानन्त्वचेतनं परिणामि नित्यमेकम् । तथा च प्रकृतश्रौतवाक्य इदमिति प्रसिद्धमचेतनं त्रिगुणात्मकं कार्यं निर्दिश्य तस्य स्थूलावस्थाराहित्यं सद्रूपत्वमेवोच्यते सदासीदिति । तस्यैकस्य विज्ञानेन तत्कार्यरूपस्याखिलप्रपञ्चस्य विज्ञानमप्युत्तरोदीर्य-
जीवैवकारणमितिसमान्तरम् । परमाणवः कारणमित्यन्यमतम् । अभाव एव जगतः कारणमित्यपि मतान्तरम्, इत्याद्यनेकवादिनां विप्रतिपत्तेः संशयो जायते । किं ब्रह्मकारणमुत स्वतन्त्रं प्रधानादिकं जगत उपादानकारणमिति ।

प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वादिगुणानां साम्यावस्थारूपम् । तदेव महदादिसर्वजगत् उपादानम्, कार्यज्ञातस्य जडत्वात्तदुपादानमपि तथैव कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् । यद्यपि प्रधानं जडमज्ञस्य कार्यकारणाय प्रवृत्तिर्न संभवति । तथापि वत्सवृद्धयर्थं क्षीरप्रवृत्तिवत् स्वकार्येन्मुखतालक्षणप्रवृत्तिर्न संभवति । ज्ञानस्य सत्त्वकार्यत्वेन तदाधिक्ये तत्र सर्वज्ञत्वादिगुणवैशिष्ट्यमपि संभवति प्रधाने । तेन सर्वज्ञ्यादिगुणवत्त्वमपि । अनादिप्रवाहरूपेण नित्यत्वेनेकत्वं च । इदं पुरुषार्थमपेक्ष्य भोगाय मोक्षाय च प्रवर्तते । पुरुषस्य मोक्षं संपादयन्निवर्तते । रंगस्थं अनेकं होजाऊं ।' इत्यादि जो सद्धिया प्रकरण है वही इस मुद्रा का विचारणीय विषय है । उस प्रकृत वाक्य में समस्त कारण रूप में ध्रियमाण जो सद्वाक्य है वह सांख्य सिद्धान्ताभिमत स्वतन्त्र आनुमानिक प्रधान संपदवाक्य है । अथवा अचिद् पदवाक्य जो प्रधान है तत् शरीरक ब्रह्म है ! एतादृश संशय होता है ।

जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है अथवा स्वातन्त्र्येण प्रधान सांख्याभिमत जगत् का उपादान कारण है । ऐसा संशय होने के बाद सांख्य के पूर्वपक्ष को बलवाने के लिए भाष्यकार उपक्रम कहते हैं 'तत्रायम्पूर्वः' इत्यादि । स्वतन्त्र रूप में सांख्य सिद्धान्त प्रतिपादित सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण का साम्यावस्थापन्न प्रकृत्यपरपर्याय प्रधान जो कि महत्सत्त्वादि पदार्थों का उत्पादक है वही स्थावर जंगम साधारण समस्त जगत् का उपादान कारण है ऐसा मानना ही युक्त है । परन्तु ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानना युक्त नहीं है । प्रधान को ही जगत् कारण माना जाय और ब्रह्म में जगदुपादानत्व क्यों नहीं माना जाय ?

माणं सामञ्जस्यमुपैति । अत एवान्यत्र 'अजामेकां लोहितशुक्ल
कृष्णां बह्वीः प्रजां जनयन्तीं सरूपाः' (श्वे० ४।५) इतिस्पष्टमेवाभि
हितम् प्रधानस्यैव जगदुत्पादकत्वम् । सत्त्वगुणांशेन शुक्लां रजो
ंशेन लोहितां तमो गुणांशेन च कृष्णां प्रजां जनयन्तीरित्यर्थात् ।
तच्च प्रधानं प्रकृतिशब्दवाच्यं सर्गादौ महदादिक्रमेण परिणमते ।
तदेवं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं व्यपदिश्यते । तदुक्तम् 'मूलप्रकृतिरवि
कृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न
विकृतिः पुरुषः' (सां.का. ३) प्रधानस्य जगत्कारणत्वे रजःसत्वयो

नटीवत् । तावदेवेयं प्रवर्तते भोगाय यावद्विवेकविज्ञानंनोत्पादयति । व्यक्तान्यक्त-
ज्ञानां विवेकविज्ञानमुत्पाद्य पुरुषं मोक्षयति । तदुक्तं 'अश्वविंशति तत्त्वज्ञो यत्रतत्रा-
श्रमे वसेन् । जाटीमुण्डीशिखीवापि मुच्यते नात्र संशयः' इति सिद्धान्तम् । तदेतत्प्र-
धानमेव 'सदेवेत्यादि वाक्यघटकसत्पदवाच्यं जगत्ः कारणं नतु विक्रियारहितमु-
दासीनमात्मचेतन्यमिति न ब्रह्मजगत्ः कारणमिति सांख्यीयपूर्वपक्षं संक्षिप्य दर्श-
यितुं भाष्यकार उपक्रमते तत्रायं पूर्वपक्षः इत्यादि । 'स्वातन्त्र्येणेति, परमेश्वराधी-
नस्य जगत्कारणताया सिद्धत्वात् स्वातन्त्र्येणेत्युक्तम् । ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न
संभवति । तत्र हेतुं प्रदर्शयति तस्यजन्मधर्मानाश्रयत्वेनेत्यादि । यस्यजन्मधर्माश्रयत्वं

इस आशंका के उत्तर में भाष्यार कहते हैं कि 'तस्य जन्मधर्मानाश्रयत्वेनेत्यादि' उप ब्रह्म के जन्य
धर्म का अनाश्रय होके से परिणामित्व नहीं है । और जो परिणामी होता है वही कारण होता है ।
इसलिए अपरिणामित्वात् ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है । किन्तु परिणामी प्रधान ही जगत् का
कारण है । प्रधान तो अचेतन परिणामी नित्य तथा एक है । प्रधान को चेतन अपरिणामी अनित्य
तथा अनेक मानने पर सिद्धान्त विरोध होगा । जब प्रधान जगत् का कारण है यह सिद्ध
होने पर 'सदेव सोम्येदमग्रे' इत्यादि जो श्रुति वाक्य है तद्वद्वत् जो 'इदं पद' है वह अचेतन
त्रिगुणात्मक जो कार्य जात है उसका निर्देश करके, उसका स्थूलावस्था राहित्यरूप सद्रूपत्व
का प्रदिपादन करता है, सत् पहले था, इस रूप से । उस एक प्रधान के वाक्य से प्रधान
का कार्य जो अखिल प्रपंच उसका विज्ञान होता है यह कथन भी संगत होता है । अतएव
अन्यत्र श्रुत्यन्तर में—'अजामेकाम्'—इत्यादि स्पष्ट रूप से कहा है । अतः प्रधान में ही जगत्

गादस्य क्रियाज्ञानशक्तिरपि सम्भवत्येव । ज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् ।
 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च' (गी० १४।१७) इति
 वाक्यात् । एतस्य सत्त्वस्य च प्रधानावस्थायामपि वर्तमानत्वाद्
 चेतनस्यापि प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्वञ्चोपचर्यते । सत्त्वस्य
 स्वयमक्रियत्वेन प्रकाशाख्यज्ञानवृत्तेरनुत्पादकत्वेऽपि चलेन रजसा
 तदुपष्टम्भात्तज्जनने प्रवृत्तिः । तमस्त्वावस्कत्वेन गुरुत्वेन चोभयोः
 सत्त्वरजसोः क्वचित्प्रवर्तयत्क्वचिन्निवर्तयन्नियमयति । एते च प्रवृ-

त्तस्यैव परिणामित्वं परिणामित्वाच्चजनकत्वं ब्रह्मणस्तु तदभावान्नजनकत्वमित्यर्थः ।
 'सदेवेदमग्रे' इत्यादिवाक्ये इदं पदेनाचेतनत्रिगुणात्मककार्यं निर्दिश्य । तस्य कार्य-
 जातस्योत्पत्तेः पूर्वं स्थूलावस्थाया अभाव एव सदेवेति सत्पदेन विवक्षितः सैवाव्य-
 क्तावस्था । अतएव 'अजामेकामित्यादिना तस्या एव जगज्जनकत्वं नित्यत्वादिकम-
 प्युच्यमानं सार्थकं भवतीति । सेयं प्रकृतिः सर्गादौ महादादिकं प्रकृतिपुरुषव्यनि-
 रिक्तं जनयति । तत्र सप्त प्रकृतिविकृतयः, बुद्धिहंकारः पञ्चतन्मात्राणि षोडशविकाराः
 प्रकृतिपुरुषश्चैतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि । एतेषामेव विवेकविज्ञानान्मोक्षो भवति ।
 एतस्यां प्रकृतौ रजोगुणयोगात् क्रियाशक्तिमत्त्वं सत्त्वगुणयोगेन च ज्ञानवन्धमपि । सत्त्वस्य

उत्पादकत्व है । सत्त्वगुण से शुक्ल रजो गुण से छोहिन, तथा तमोगुण से कृष्ण प्रजा को
 पैदा करती है' यह अर्थ होता है श्वेताश्वतर वाक्य का । वह प्रधान प्रकृति शब्दवाच्य है ।
 वह सर्ग के आदि में महत्तत्त्व अहंकार पंचतन्मात्रा महाभूत और इन्द्रियादि रूप से परिणत
 होता है ।, इस प्रकार से वह प्रधान चतुर्विंशति तत्त्वत्मक रूप से व्यवहृत होता है ।
 प्रधान, महत्तत्त्वादि पंचतन्मात्रा, ये सात प्रकृति-विकृति । सोलह विकार, और एक प्रधान
 रूप से चौबीसतत्व का व्यवहार होता है । ऐसा ही सांख्यकारिका में कहा है 'मूलप्रकृति-
 रित्यादि' । एक तो मूल प्रकृति जो सर्व कार्य का कारण है । वह प्रकृति ही है,
 किसी का विकार नहीं है । उसको भी जन्य माने तो अनवस्था होगी । और महादादिक
 सात, महत्त्व अहंकार पंचतन्मात्रा, ये सात प्रकृति विकृति हैं । और ज्ञानेन्द्रिय पांच,
 कर्मेन्द्रिय पांच, तथा पांच महाभूत और मन-ये सोलह केवल विकार ही हैं । पुरुष तो
 न प्रकृति रूप है नत्रा विकृत रूप यह कारिकार्थ है जगत्कारणता में रजोगुण तथा सत्त्वगुण
 के सम्बन्ध से इस प्रधान में क्रिया शक्ति तथा ज्ञानशक्ति भी संभवित है । क्योंकि ज्ञान

त्तिनिवृत्ती तदुत्तरकार्यानुमेये । गुणानामयं स्वभावोऽभिहितः सां-
ख्यकारिकायाम्—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।

गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः (सां.का. १३)

एवञ्च ब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणवत्ताभावेन न ज्ञानादिशक्ति
मत्त्वं, न वा जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वमुपपद्यते । प्रधानस्य तु
त्रिगुणत्वादुक्तक्रमेण ज्ञानशक्त्यादिमत्त्वं, जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं च
न विरुद्धयते । अत एव 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्व
चाधिक्येन सर्वज्ञत्वमपि । तदुक्तं 'सत्त्वात्संजायतेज्ञानमिति । अतः सर्वदैव सर्वज्ञत्वं
तस्याः । तत्र सत्त्वगुणात् प्रकाशादिकार्यरजो योगात् कर्तृत्वम् । तमस्तूभयोः
साहाय्येनोपकरोति । नतु सर्गेस्वातन्त्र्येण तस्य किमपि कार्यम् । गुणानां प्रवृत्ति-
निवृत्तिर्वा कार्यद्वारेणोन्नीयते । गुणानां स्वभावः सांख्यकारिकया प्रदर्शितः 'सत्त्वं-
लघुप्रकाशकमित्यादि । यद्यपि इमे गुणाः परस्परं विरुद्धाः विरुद्धत्वाच्चपरस्परं विनष्टा
एव भविष्यन्ति । मिलित्वा कार्यकारित्वन्तु दूरापेतम् । सुन्दोपसुन्दवत् । तथापि
पुरुषार्थमपेक्ष्यसामाञ्जस्येन कार्यं करिष्यन्ति । यथा परस्परविरुद्धानि वह्निवर्ति-
तैलानि प्रकाशलक्षणकार्यमभिप्रेत्यकार्यं कुर्वन्ति । तथैव प्रकृते पुरुषार्थलक्ष्मेकं कार्यं
सत्त्वगुण का धर्म है । और क्रिया शक्ति रजोगुण का कार्य है । तथैव १० गीता में भगवान्
ने कहा है—,सत्त्वगुण से ज्ञान होता है तथा रजोगुण से लोभाधिक होते हैं । यह जो सत्त्व-
गुण है वह प्रधानावस्था में भी वर्तमान है अतः अचेतन होने पर भी प्रधान में सर्वज्ञत्व सर्व-
शक्तिमत्त्व का उपचार होता है । सत्त्वगुण स्वयं क्रिया रहित है उसमें प्रकाश नामक जो
ज्ञान लक्षण वृत्ति है उस में उत्पादकत्व नहीं है । तथापि चलवृत्तिक रजोगुण, की सहायता
से प्रवृत्ति होती है । तमोगुण आवरण होने से इन सत्त्व रजो गुणों को कहीं प्रवृत्त करा
करके, कहीं निवृत्त करा के—दोनों का सहायक होता है । इनको प्रवृत्ति—निवृत्त—कार्यलिक
अनुमानगम्य होते हैं ।

गुणों का जो स्वभाव है उसका कथन सांख्यकारिका में किया है । तथाहि—'सत्त्वं-
लघु'—इत्यादि सत्त्वगुण लघुव तथा प्रकाशक है । रजोगुण में उपष्टम्भकत्व तथा चलत्व है ।
और तम गुरु तथा आवरण कर्त्ता है । यद्यपि ये गुण समुदाय परस्पर विरोधी हैं । तथापि

शः' (गी० ३।२७) इति स्पष्टमुक्तम् । तस्मादत्र सर्वज्ञं सर्वशक्ति-
मत्प्रधानमेव जगत्कारणम् । तदैव च सदेवेत्याद्यखिलकारणवाक्या-
नि प्रतिपादयन्तीति प्राप्ते ब्रूमः—

‘ईक्षतेर्नाशब्दमिति । अशब्दमानुमानिकं सांख्याभिमतं प्रधा-
नं न सदेवेत्यत्र सत्पदवाच्यमत एव न तज्जगत् कारणम् । ‘तदै-
क्षत बहुस्यां प्रजायेये’ तीक्ष्णधातोः श्रवणात् । अपि तु ब्रह्मैव जग-
त्कारणम् । तस्य चेतनत्वेनेक्षणसम्भवात् । प्रधानस्य त्वचेतनत्वेन
तदसम्भवात् ।

मुद्दिश्य सामञ्जस्येन गुणा कुर्वन्ति स्वस्वकार्यमिति विवेकः । तस्मादत्रैतादृशं प्रधान-
मेव जगतः कारणं तदेव सदेवेत्यादिवाक्यघटकमत्यपदवाच्यं नतु ब्रह्म तथा निष्क्रि-
यत्वादुदासीनत्वादिति संक्षेपः पूर्वपक्षस्येति प्राप्ते ब्रूम इति ।

ब्रह्म जगतः कारणं स्वातन्त्र्येण प्रधानं वा जगतः कारणमिति संशये न ब्रह्म-
जगतः कारणं सम्भवति ज्ञानक्रियादिशक्तिरहितत्वात् किन्तु क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वा-
त्प्रधानमेवानुमानिकं जगतः कारणमिति पूर्वपक्षस्य निराकरणाय ब्रह्मकारः प्राह ईक्ष-
तेर्नाशब्दमिति’ अस्यां वेदान्तप्रक्रियायामानुमानिकं शब्दाप्रतिपाद्यं प्रधानं कारण-
पुरुषार्थं सिद्धि के लिये प्रदीप के समान मिल करके कार्य का संपादक होते हैं । ब्रह्म में सत्त्व
रजस्तमो गुणों का अभाव होने से ज्ञानादि शक्ति—मत्त्व नहीं है । नवा जगत् का सर्ग स्थिति
विनाश कर्तृत्व है । और प्रधान तो त्रिगुण है इसलिए प्रधान में ज्ञानादिमत्त्व है । तथा जगत्
के सर्गादि कर्तृत्व में भी कोई विरोध नहीं है । अतएव ‘प्रकृति का जो गुण सत्त्वादिक
उससे क्रियमाण सब कर्म का अहंकार विमूढजीव अपनेको कर्ता समझता है ।’ ऐसा स्पष्ट
रूप से गीता में भगवान् ने कहा है । अतएव का उपसंहार करते हैं,—‘तस्मादित्यादि’—इसी
कारण से यहां परमेश्वर कर्ता नहीं है । किन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत् प्रधान ही जगत् का
कारण है । उसी प्रधान का—‘सदेव सोम्येदमग्रे’—इत्यादि कारणता बोधक वाक्य समुदाय
प्रतिपादन करते हैं । किन्तु कारण वाक्य ब्रह्म का बोधक नहीं है । एतादृश सांख्यवादी के
प्रश्न को व्यवस्थित होने पर सिद्धान्तवादी कहते हैं ‘प्राप्ते ब्रूमः’ इत्यादि ।

‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्’ इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से परमेश्वर सर्वथा निष्क्रिय तथा
विकारादि दोष रहित होने से जगदुत्पत्त्यादि के प्रतिकारण नहीं है किन्तु परिणामी जो प्रधान

एवमाप्नायते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’
 ‘तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ततो जोजसृजत ततो ज ऐक्षत बहुस्यां
 प्रजायेयेति तदपोऽसृजत’ (छा० ६।२।३) इतिसृष्टिवाक्ये जगत्कर्तृ-
 कृतस्येक्षणस्य श्रवणाच्चेतनात्मककर्तृकत्वमेवेक्षणस्यानुभविकत्वात् ।
 चेतनरूपस्य ब्रह्मण एव जगतः कारणत्वं न त्वचेतनस्य प्रधानस्य
 स्वातन्त्र्येण ब्रह्मशरीरत्वेन तु तत्पारतन्त्र्येण जगत्कारणत्वमस्त्येव ।

तथा आश्रयितुं न युक्तम् । अर्थात् यत्र प्रधाने शब्दः प्रमापकप्रमाणं न भवति न
 तस्येह कारणतया परिग्रहोयुक्तः । कुत ? ईक्षते: ‘जगत् कारणे ईक्षितृत्वधर्मस्य श्रव-
 णात् । ईक्षणं च चेतनगतो धर्मस्तादृशधर्मेण चेतनस्यैव धर्मेणः प्रतिपादनस्यान्नत्व
 चेतनस्य प्रधानस्य तत्र जडत्वधर्मस्य सर्वसंमतत्वात् । तस्माद् वेदान्तप्रक्रियायां ब्रह्मैव
 कारणतया समाश्रयितुं युक्तं न तु कार्यलिङ्गकानुमानगम्यं प्रधानं कदाचिदपि परि-
 गृहीतुं युक्तमिति सूत्रार्थः ।

एतदेव सर्वं संक्षेपविस्तरभ्यां भाष्यकारो दर्शयति अशब्दमानुमानिकमि-
 त्यादि । महत्त्वादिमहाभूतकार्यस्वाचेतनत्वेन तादृशकार्येणानुमीयमानं प्रधान
 है वह स्वतन्त्र रूप से जगदुत्पत्त्यादिक कार्य के प्रति कारण है इस आशंका का निराकरण
 करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘प्राप्ते ब्रूमः’ इत्यादि । ब्रह्म जगत् के प्रति कारण
 है । अथवा प्रधान जगत् का कारण है । इस संशय के बाद प्रधान ही जगत् का कारण
 है । इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं ‘ईक्षतेर्नाशब्दमिति’ । शब्द प्रमाण
 नहीं है जिसमें ऐसा केवल कार्यलिङ्गक अनुमान सिद्ध प्रधान जगत् का कारण नहीं है ।
 क्योंकि जो जगत् का रचयिता है उस में ईक्षितृत्व धर्म का श्रवण है । प्रधान तो अचेतन
 है । उसमें चेतन का वर्त ईक्षितृत्व कथमपि समवेत नहीं होता है । अतः ईक्षितृत्व की अन्य-
 थानुपपत्ति होने से प्रधान जगत् का कारण नहीं है । किन्तु चेतन सर्वज्ञ ही जगत् का
 कारण है यह निश्चित होता है । यह सूत्र का संक्षिप्तार्थ होता है । इसी सूत्र का विस्तार
 रूप से व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘अशब्दमानुमानिकमित्यादि’—‘अशब्दः’
 शब्द से अप्रतिपादित केवल अनुमानगम्य जो सांख्याभिमत प्रधान है वह ‘सदेवसोम्येदमग्रे’
 इत्यादि श्रुति में सत्पद वाच्य नहीं है । अत एव प्रधान जगत् का कारण नहीं है । जो
 सदादिपद वाच्य है वही कारण होता है । प्रधान क्यों नहीं सदादिपद वाच्य तथा कारण

अत एव 'तद्धोतत्वादर्थवत्' (ब्र०सू० १।४।३) इति सूत्रेण 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे० ४।९) इति श्रुत्या च प्रधानस्य ब्रह्माधीनत्वेन चेतनव्यतिस्मितस्य जगतः कारणत्वमभिहितम् । एवञ्चाचेतनस्य प्रधानस्याचेतनांशस्य जगतः कारणत्वोपपत्तावपि न सर्वस्य कारणत्वम् । ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणैव तेजोवन्नादिमर्बलोकस्य कारणत्वम् । सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वात् । तथा च 'अस्मान्मायी सृजते

अपि तथैवेति कार्यलिङ्गकानुमानगम्यं प्रधानं शब्दप्रमाणरहिततया प्रकृतवेदान्तप्रक्रियायां न सदादिपदवाच्यं कारणं चापि संभवति । ब्रह्म तु चेतनत्वात् ईक्षणधर्मत्वादिति तस्यैव सत्पदवेद्यत्वं कारणत्वमपीति भावार्थः । एतदेव व्यासेन दर्शयति एवमाश्नायते इत्यादि । अयमाश्रयः—यथा जगद्रचनायां ब्रह्म सर्वशक्तिमान् कारणं भवति । तथा प्रधानमपि जगत्कारणं भवति । 'अस्मान्मायीसृजत इति श्रुतेः । एतावानेवोभयोर्विशेषो यदेकं ब्रह्म जगद्रचनायां स्वतन्त्रं भवति घटोत्पादने कुलालवत् । अपरन्तु तत्र पराधीनं भवति न तु तस्य तत्र स्वातन्त्र्यमपितु पराधीनत्वमेव । घटादिकार्ये सृष्टिकादिवदिति । मायीसृजते 'मायावान् परमेश्वरः सर्गं करोति । अत्र मायावन्युद्देश्यत्वं सर्जने च विधेयत्वम् । तदिहोद्देश्यविशेषणवन्माया अवच्छेदका तत्रोद्देशतावच्छेदकप्रयोज्यत्वं विधेये भवतीति नियमेन मायाजन्यत्वं सर्गं आयाति । तत्र यथा घटादि नहीं है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहने हैं 'तदैक्षत' इत्यादि । 'उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक रूप से होऊँ' ईक्षति वातु का श्रवण है । अर्थात् इस श्रुति में श्रूयमाण जो ईक्षण है वह प्रधान के कारणत्व का निराकरण करता है । अतः प्रधान कारण नहीं है । अपितु सर्वशक्तिमान् परब्रह्म ही जगत् का कारण है । क्योंकि ब्रह्म चेतन है तो उसमें ईक्षण संभवित है । और प्रधान अचेतन सर्वथा जड पदार्थ है तो तादृश प्रधान में ईक्षण तो सर्वथा असंभवित है छान्दोग्य के छोटे अध्याय के प्रकरण में इस तरह से कहा जाता है कि—हे सौम्य ! यह परिदृश्यमान जगत् उत्पत्ति के पूर्व में एक अद्वितीय सदात्मक ही था ।'

'उसने ईक्षण किया मैं अनेक रूप से होऊँ, तब उसने तेज को बनाया, तब उसने पुनः ईक्षण किया, तब उसने जल को उत्पन्न किया' इस सृष्टि वाक्य में जगत् कर्ता से क्रियमाण ईक्षण का श्रवण होने से, इस ईक्षण में चेतन कर्तृत्व ही अनुभव सिद्ध होता है । अतः चेतन रूप जो ब्रह्म है, वही जगत् का कारण है । किन्तु अचेतन प्रधान में स्वातन्त्र्येण

विश्वमेतत्' (श्वे० ४।९) इति श्रुत्यनुरोधेन सद्ब्रह्मात्मादिशब्दवाच्यं ब्रह्मैव प्रधानद्वारा तेजोबन्नादिरूपसर्वलोकमुत्पादयति । तत्राप्यादिसृष्टवान्तरसृष्टौ च स्वस्मिन् सूक्ष्मरूपेणाव्याकृतनामरूपाभ्यां स्थितानां सर्वेषां व्याकृतनामरूपात्मिकां सृष्टिं करोति । 'तद्धेदं तह्यं व्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' (बृ० १।४।७) इति श्रुतेः । तदेवमचेतनमात्रस्य प्रधानांशत्वेन विकारित्वादिदोषाणां प्रधान एव पर्यवसानाद् ब्रह्मणो निर्विकारित्वमेव स्वतः सिद्धम् । एवञ्च निर्विकारिणस्तस्य मृदादिस्वरूपस्य घटादिरूपत्वप्राप्तिवत् ।

जनकत्वं दण्डादेर्न स्वातन्त्र्येण किन्तु कुलालाधीनत्वेन एवमेव मायापदवाच्यप्रधानस्य जगज्जनकत्वं न स्वातन्त्र्येण किन्तु परमात्मच्छन्दसा भवति । तत्सुष्ठूक्तं भाष्यकृता 'नत्वचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्र्येण ब्रह्मशरीरत्वेन तु तत्पारतन्त्र्येण जगत्कारणत्वमस्त्येवेति ।'

'अतएव तदधीनत्वादर्थवदित्यादि । यदिदं व्याससूत्रं तदपि परमेश्वराधीनतया प्रधानस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपादयति 'तदधीनत्वात् परमेश्वराधीनत्वात् प्रधानमपि सार्थकं भवति । अर्थात्तस्यापि जगद्रचनायां साफल्यं भवत्यबच्छेदकतया प्रधानेऽपि कारणत्वं भवत्येव । अन्यथा तदसंभवादिति । तथा 'अस्मान्मायीत्यादिश्रुतिवजगत् कारणता नहीं है । ब्रह्म का शरीर होने से परब्रह्म के अधीनतारूप से तो प्रधान में भी जगत् कारणत्व है ही । अतएव 'तदधीनत्वादर्थवत्' इस व्यास सूत्र से तथा 'अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत्' इस श्रुति से, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते सचराचरम्' इत्यादि स्मृतियों से प्रधान को परमेश्वराधीनत्व रूप से चेतन भिन्न जगत् के प्रति कारणता का कथन किया है । ऐसा हुआ तब अचेतन प्रधान का जो अचेतनांश है उसमें जगत् का कारणत्व का उपपत्ति होने पर भी वह सम्पूर्ण अर्थात् स्थावर जंगम के प्रति कारण नहीं है । और ब्रह्म तो सूक्ष्म चिदचित् शरीरक होने से सम्पूर्ण जगत् का स्वरूपत एव कारण होते हैं । तब 'तस्मान्मायी'—इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से शतशब्द, ब्रह्म शब्द आत्मादिक शब्द का वाच्य परमेश्वर ही प्रधान द्वारा तेज, जल, पृथिव्यादि लोक का उत्पादन करते हैं । उसमें भी प्राथमिक सर्ग में तथा अवान्तर सर्ग में 'स्व' में सूक्ष्म रूप से अव्याकृत नाम रूप द्वारा अवस्थित सब पदार्थ का व्याकृत नाम रूपात्मक सर्ग को बनाते हैं । [नहीं कहो कि सर्ग करने में]

स्वरूपेणाऽचेतनविकारिजगद्रूपता न सम्भवतीति स्वरूपतो जगदुपादानत्वासिद्ध्या प्रधानजीवद्वारैव तस्य जगदुपादानत्वम् । तथा च जगतो ब्रह्मोपादानकारणकत्वस्वीकारेऽपि नाद्वैतवादः सिद्ध्यति । तथा सति ब्रह्मकारणवादिमायाकारणवादिवाक्यानामेकवाक्यतासम्पादनेऽपि न कश्चिद्विरोधः ।

एवमग्रेऽपि प्रधानकारणत्वनिषेधपगणां मृत्राणां प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वं न सम्भवतीत्यर्थ एव तात्पर्यम् । एतच्च 'तदधीनत्वादर्थव' (ब० सू० १।४।३) दितिवैयासिकवाक्यान्नश्रीयते ।

लेनापि परमेश्वराधीनत्वे तस्य जडस्य प्रधानस्य या कारणता सा जडांशं प्रत्येवातो जडजगत एव कारणत्वं प्रधानस्य । नतु सर्वलोकं प्रतिजनकता भवति । परमेश्वरस्तु चेतनस्तत्रापि सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वनियामको यथायथं कार्यमात्रं प्रतिजनको भवति । प्रधाने कारणता आंशिकीपरमेश्वरेतु सर्वसाधारणीति । अतएव परमेश्वरे विकारित्वादिदोषो न भवति । विकारितातु प्रधाने एवेति 'स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतोचुधेः ॥ ब्रह्मणस्तुविकारो यन्नस्वरूपस्वभावयोः ।' इत्याचार्योक्तेः सर्वममङ्गलम् । एवमप्येतिपादि । ननु यदि प्रधानस्यापि जगद्रचनाकारित्वं मन्यते तदा प्रधानस्य कारणतानिर्गकरणप्रकृत्यश्रुतीनां यदि परमेश्वर प्रधान सापेक्ष होते है, तब तो परमेश्वर में स्वातन्त्र्य का भूति होगी, ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जिसतरह लण्डुकादि मृदायकारिणी भी पाचक का स्वातन्त्र्यपाक क्रिया में व्याहत नहीं होता है । उसी तरह सभी कार्य में प्रधानाश्रित परमेश्वर का होने पर भी तदीय स्वातन्त्र्य का विनाश नहीं होता है ।] इस विषय को, 'नदेदेनर्हि' इत्यादि श्रुति भी समर्थन करती है । ऐसा हुआ तब अचेत पदार्थ मात्र को प्रधान का अंश अवयव होने से विकारित्वादिक दोष प्रधान में ही होता है । किन्तु ब्रह्म में निर्विकारित्व स्वतः एव सिद्ध होता है । जिस तरह मृदादिक पदार्थ घटादिक स्वरूपत्व को ज्ञात करता है । अर्थात् मृत्पदार्थ घटादि रूप से परिणत होता है । उस तरह निर्विकारी जो ब्रह्म है वह स्वरूपतः विकारी अचेतन जगत्स्वरूप नहीं हो सकता है । तो स्वरूपतः ब्रह्मको जगत् उपादानत्व असिद्ध होने से प्रधान द्वारा जीव द्वारा ही ब्रह्म को जगत् के प्रति उपादानत्व होता है । ऐसा होने से जगत् को ब्रह्मोपादानक होने पर भी अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता है । (इस

यदुक्तम्, ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यं सर्वशक्तिमत्त्वञ्च न सम्भवतीति तदपि न ब्रह्मणो नित्यनिर्दोषज्ञानाश्रयत्वात्सर्वसम्भवः । तथैव प्रतिपादितत्वात् ।

‘न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ (श्वे. ६।८) इति तस्य ज्ञानबलक्रियाशक्तीनां नैसर्गिकत्वश्रुतेः सार्वका गतिरित्याशङ्काया निराकरणाय प्राह प्रधानकारणत्वनिषेधपराणामित्यादि । यानि सूत्राणि याश्च श्रुतिस्मृतयः तत्सर्वं स्वातन्त्र्येण प्रधानस्य कारणत्वनिषेधपरकमेव नतु परमेश्वराधीनत्वेन निषेधपरकमिति । पारतन्त्र्येण कारणत्वं तु प्रधानस्य सिद्धान्तसिद्धमेवेति व्यासीयः पन्थाः ।

ब्रह्मसर्वज्ञं न संभवति । यतस्तदीयज्ञानस्यनित्यत्वेन तादृशज्ञानक्रियां प्रति ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यस्यासंभवात् । नहि कुत्रचिन्नित्यवस्तुं प्रति कस्यापि स्वातन्त्र्यं भवति । नहि भवति आकाशस्य क्वचिदपि जन्म । यस्य जन्म भवति तत्प्रत्येव कस्यचित् कर्तुः स्वातन्त्र्यं भवति नतु नित्यं प्रति । तस्मादोश्वरो न सर्वज्ञः, इत्याशङ्क्यतन्निरासायोपक्रमते यदुक्तं ब्रह्मणः इत्यादि । जन्यधर्मानाश्रयत्वेनापरिणामित्वात्सार्वज्ञ्यं न विषय को ‘स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो बुधैः । ब्रह्मणस्तुविकारोयन्न स्वरूप स्वभावयोः’ इत्यादि रूप से जगद्गुरु श्रीद्वारानन्दाचार्यजी ने परिणामविमर्श में विशेष विवेचन किया है ऐसा हुआ तब ब्रह्म में कारणता बोधक तथा माया में कारणता प्रतिपादक वाक्यों का एक वाक्यत्व करने में भी कोई विरोध नहीं होता है । इसी प्रकार आगे भी प्रधान कारणता का निषेधक सूत्रों का, प्रधान को स्वतन्त्र रूप से कारणता का निषेध करने में ही तात्पर्य है । नतु ब्रह्माधीन होकर के कारणता का निषेध में तात्पर्य है । यह विषय ‘तदधीनत्वात्’ इत्यादि व्यास वाक्य से निश्चित होता है । इसका विशेष विवरण ‘तदधीनत्वात्’ इस सूत्र के विवरणों में देखें ।

ब्रह्म के अपरिणामी होने से सर्व विषय ज्ञानवत्वरूप सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता है किन्तु परिणामी भी जो प्रधान है वह सत्त्व गुण का कार्य जो ज्ञान उसी की अतिशय उत्कर्षता होने से सर्वज्ञत्व हो सकता है । ऐसा पूर्वपक्ष का निराकरण करने लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘यदुक्तमित्यादि’ जिस किसी ने कहा है कि ब्रह्म में सर्वज्ञत्व तथा सर्व

ज्ञादिकं सर्वमुपपद्यते । किञ्च यदनुग्रहादिदानान्तनमिन्द्रयोगिना-
मप्यतीतानागतव्यवहितविप्रकृष्टादिविषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षमेव युगपदु-
त्पद्यते । किन्तर्हि तस्यानाद्यनन्तस्य महाश्चर्यगणेः महायोगेश्वरस्य
परमपुरुषस्य भगवतो वक्तव्यम् । तथा च 'अपाणिपादो जवनो
गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्या
स्ति वेत्ता तमाहुर्ग्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।१९) इत्यादयो मन्त्र
वर्णास्तस्यानन्तमहिमानमामनन्ति । तस्मात्परमात्मनः सर्वज्ञत्वा-

संभवति किन्तु परिणामिनः प्रधानस्यैव सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्यादिमन्त्रमिति । तन्न समी-
चीनम्, परमेश्वरज्ञानस्य नित्यत्वेन तथा परमेश्वरस्य सर्वदोषरहितत्वेनास्य प्रश-
स्यैवायुक्तत्वात् । यदीयं ज्ञानं नित्यं सर्वदैवसर्वपदार्थस्यावभासनममर्थं सन् सर्वज्ञ
इत्यस्यासंभवात् । प्रत्युतसर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन प्रधानस्यैव तत् न संभवति । प्रधाने-
गुणत्रयसत्त्वेन सत्त्वमूलकज्ञानवत्त्वे स्वीकृते तदितररजस्तमनमूलकत्वे तदभाव एव
स्यात् तस्मात् परमेश्वरस्य सर्वज्ञसर्वक्रियादिशक्तिमत्त्वं स्वाभाविकमेवेति मन्त्रव्यम् ।
नित्यज्ञानादिमत्त्वं परमेश्वरस्य स्वाभाविकमेव नत्वागन्तुकमित्यत्र श्रुतिमुदाहरति 'नतस्य
कार्यं करणं च' इत्यादि । तस्य परमेश्वरस्य कार्यजायमानं कलेवरं शरीरं नास्ति । तथा
बाह्याभ्यन्तरकरणान्यपि न सन्ति । परमेश्वर सदृश परमेश्वरादधिकदृष्टेः परिदृष्टो न
शक्तिमत्त्व नहीं हो सकता है । किन्तु परिमार्णी प्रधान में सत्त्वगुणमूलक सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व
है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्म निर्दोष ज्ञान का आश्रय होने से सर्वज्ञ संभवित
है । अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व परमेश्वर में संभवित है इसी तरह ही श्रुति में प्रतिपादन
किया है । 'उस सर्वनियन्ता परम पुरुष को कार्य अर्थात् शरीर प्राकृतिक कलेवर नहीं है ।
तथा चक्षुरादिक बाह्याभ्यन्तरकरण इन्द्रिय समुदाय भी नहीं है । उस परमेश्वर का समान
तथा उससे विशिष्ट भी कोई नहीं है । उस परमेश्वर में अनेक प्रकारक सर्व विच्छेदन शक्ति
है । तथा ज्ञानबल और शक्ति स्वाभाविक है ।' इस प्रकार परमेश्वर के ज्ञान बल क्रिया
शक्तियों की नैसर्गिक स्वाभाविक कथन करने से सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादि सब परमेश्वर में
उपपन्न होता है । परमेश्वर का ज्ञान सर्व विषयक नित्य है । इस विषय में और भी देखिये ।
जिस परमेश्वर के अनुग्रह कृपा से इस काळ में भी सिद्ध योगी लोगों को भी अनीत अनागत
सर्वविषयक तथा व्यवहित विप्रकृष्टविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान एक काळ में उत्पन्न होता है । तब

दिकं सुतरामुपपन्नम् । प्रत्युतत्वदीयमतसिद्धस्य प्रधानस्यैव तन्नो-
पपद्यते ।

तथाहि—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाया एव प्रधानपदवाच्य-
त्वात्तत्समये गुणैस्तारतम्यमपहाय वर्तमानतया फलोन्मुखप्रवृत्त्यभा-
वात् । तदभावे सत्त्वधर्मेण सार्वज्ञ्यादेरनुदयात् । तत्क्षणेऽपि प्रवृत्ति-
रङ्गीक्रियत एवेति चेन्न । तदा गुणाधिकारस्य न्यूनाधिकभावेन
सत्त्वेन प्रधानमेव प्राधान्याद्धीयेत । अतः कथमपि सत्त्वादिभिः

भवति । अस्य शक्तिरनेकापरासर्वतः समुत्कृष्टाः । ज्ञानबलक्रिया अपि भगवतः स्वाभा-
विक एव नहि भगवति स्वेच्छाशीले तस्मिन् प्राकृतिकः कोपि गुणोऽपितु लोकोत्तरगुणा
एव तस्मिन् सन्तीति समुदाहृत श्रुतेरर्थः । एवम् 'अपाणिपादोजवनोगृहीता' इत्यादि
श्रुत्यापि तस्य सर्वातिशायिज्ञानादिकं विद्यते । नहि एतावतैव तस्य परमेश्वरस्य
सार्वज्ञ्यादिकं सिद्ध्यति किन्तु श्रुत्यन्तरेणोपपत्त्यापि तत् सिद्ध्यतीति दर्शयितुमाह—
किञ्च यदनुग्रहादित्यादि । यस्य करुणासागरस्य भगवतः कृपालवलेन योगिनां
महानुभावानामपि अतीतानागतवस्तुविषयकं हस्तामलकादिवत् प्रत्यक्षज्ञानं भवतीति
सर्वानुभवसिद्धं किमुक्तव्यं तस्य स्वाभाविकविलक्षणज्ञानादिमत्त्वे' इति । श्रुतिरपि
तस्यानन्तज्ञानादिमत्त्वं दर्शयति 'अपाणिपाद' इत्यादि । स भगवान् हस्तपादादि
कर्मेन्द्रियविरहितोपि कर्मेन्द्रियसाम्यं सर्वमपि कार्यं संपादयति । एवं चक्षुरादिज्ञाने-

क्या कहना कि—अनादि, अनन्त, महान् आश्चर्यकारी, महायोगीश्वर, परमपुरुष जानकीनाथ
के लिए तो कहना ही क्या है ? 'एवम् वे महापुरुष हस्तपादादिक क्रियारहित होने पर भी
अतित्वरा गति से चलते हैं । तथा पदार्थ का ग्रहण करते हैं । एवं ज्ञानेन्द्रिय चक्षुरादि से
रहित होने पर भी देखते हैं । तथा श्रवण करते हैं । [बिनु पग चलइ सुनर बिनु काना]
परम पुरुष सभी वेद्य वस्तुओं का वेत्ता—जानने वाले हैं । परन्तु उनको जानने वाला कोई भी
नहीं है । उनको ही महामहिमशाली सर्पप्रथम पुरुष कहते हैं ।' इत्यादिक मन्त्रवर्ण समुदाय
अनन्त महिमा का कथन करते हैं ।' इसलिए परमात्मा में सर्वज्ञत्वादिक गुण अनायासेनैव
उपपन्न होता है । किन्तु सांख्यमत सिद्ध प्रधान में सर्वज्ञत्वादिक गुण सिद्ध नहीं होता है ।
प्रधान में ज्ञान का कारण सत्त्वगुण के रहने पर भी सर्वज्ञत्वं क्यों नहीं है ? इस बात को
उपपादान करने के लिए कहते हैं 'तथाहि सत्त्वरजस्तमसामित्यादि' । सत्त्वगुणादि सभी गुणों

सार्वज्ञ्यं प्रधानस्य न सिद्ध्यतीत्यादीनि परःशतानि दृष्टानि विशेषतो रचनानुपपत्त्यधिकरणे दर्शयिष्याम इति न प्रधानस्य जगत्कारणत्वं युक्तमितिदिक् ।

एवञ्च अशब्दमित्यस्य शब्दशब्दान्मतत्त्वार्थीयाच्प्रत्ययेन सर्वं वाक्यं सावधारणमिति नियमादप् भक्षो वायुभक्ष इतिवच्छब्द एव यत्र न प्रमाणमिति विग्रहलभ्योऽर्थः । शब्देतरानुमानप्रमाणवत्त्वमिति वार्थः । पर्युदासार्थकनञासमासेऽशब्दशब्दान्मतत्त्वार्थीयाच् प्रत्ययेन निष्पन्न-

न्द्रियरहितोऽपितत्साध्यं सर्वमपिकार्यं करोतीति । सर्वबाह्यमवभाषनविरहितोऽपि लोकोत्तरसाधनसमवहितो वेद्यमर्थजातं त्रैकालिकमपि विजानाति । न च विषयतासंबन्धेन प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वमिति नियमेनातीतानागतपदार्थानां पदार्थानां वर्तमानकालेऽभावात् कथं त्रैकालिकपदार्थबोधकज्ञानं तस्मिन्निति वाच्यम् । लौकिकविषयतासंबन्धेन प्रत्यक्षं प्रत्येवतादृशनियमस्य स्वीकारेणा लौकिकप्रत्यक्षेऽस्वीकारात् । नहि भगवतः प्रत्यक्षमस्मदादिप्रत्यक्षवत् लौकिकं तदीयं सर्वमपिज्ञानमलौकिकमेवेति भावः । स सर्वं जानाति किन्तु भगवतो वेत्तानास्ति । कश्चित् यथा सर्वोऽपि पदार्थस्तदीयज्ञानस्य कर्म भवति । न तथा भगवान् कस्यचिदपि ज्ञानस्य कर्म विषयो भवति इत्थंभूतः सर्वातिशायी कश्चित् पुरुषः परमेश्वर इत्यादिको मन्त्रवर्णो भगवन्तं महामहिमशालिनं विनिवेदयति । तस्मात् परमपुरुषे सार्वज्ञ्यादिको की साम्यावस्था को ही प्रधान कहते हैं । उस प्रधानावस्था में गुण का जो तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक भावों को छोड़कर वर्तमान रहने में फलानुमुख प्रवृत्ति का अभाव है । तादृश प्रवृत्ति के अभाव होने से सत्त्व धर्म से सर्वज्ञत्व का उपादान नहीं हो सकता है । यदि प्रधानावस्था में भी ज्ञानादिक का प्रादुर्भाव होता है ऐसा कहें तब तो उस समय में भी गुण का न्यूनाधिक भाव के रहने से प्रधान का प्रधानत्व ही विनष्ट हो जायगा । अतः किसी भी तरह सत्त्वगुण द्वारा प्रधान में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती है इत्यादिक अनेकों दोष हैं । उन सब दोषों का प्रतिपादन रचनानुपपत्त्यधिकरण में, अर्थात् द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद के प्रथमाधिकरण में बतलाऊंगा । इसलिए प्रधान में जगत् कारणत्व मानना युक्ति युक्त नहीं है । जब प्रधान में जगत्कारणत्व की व्यवस्था न हो सकने से, सूत्र घटक, 'अशद्वम्' इसका शब्द लक्षण शब्द से मत्वर्थाय अच् प्रत्यय होता है और, 'सर्व वाक्यं सावधारणम्'

त्वाङ्गीकारात् । तादृशब्दानुमानिकं स्वतन्त्रमचेतनं प्रधानमेवेति तस्य जगत्कारणत्वं निषिद्ध्यत ईक्षतेरिति हेतुघटितपारमर्षेण सूत्रेण । तथा च प्रधानं जगत् कारणत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यं वेदान्ततात्पर्याविषयत्वात् । वेदान्तघटकसद्विद्याप्रकरणं न प्रधानतात्पर्यविषयकं तस्य चेतनधर्मबोधकेक्षतिपदघटितत्वात्, 'देवदत्त, ऐक्षत' इति वाक्यवदित्यादिदिशानुमानस्वरूपमवसेयम् ।

अशब्दमित्यस्य वेदशब्दाऽप्रतिपादितं प्रधानं न जगत्कारणमिति तु नार्थः । 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे० ४।९) मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) 'प्रधाधर्मोऽनायासेन सिद्ध्यतीति प्रकरणार्थः । अनेन प्रकारेण भगवत एव सार्वज्ञ्यादि को गुण इति श्रुतिस्मृतियुक्तिप्रमाणादिभिः समर्थं ये चाचेतनं प्रधानमेव सार्वज्ञ्यादिगणकमुपवर्णयन्ति तन्मतं निरसितुमाह प्रत्युतत्वदीयमतइत्यादि । मन्मते एव श्रुतियुक्त्यादिभिः परमेश्वरस्य सार्वज्ञ्यादिकं सिद्ध्यति सांख्यमतानुयायिनांतु प्रधानेऽचेतने ते गुणा न सिद्ध्यन्तीति ।

यथा कथञ्चित् प्रधाने सार्वज्ञ्यादिकं समर्थितं परन्तु सति विचारे बालुकाभित्तिरिव विशीर्यते एवेति । कथं सांख्यमतस्य विचारासहत्वं तदुपपादयति तथाहीत्यादि । अयं भावः प्रकृतेर्द्विविधा प्रवृत्तिर्भवति । सलक्षणा विलक्षणा च । तत्र प्रधानावस्थायां स्वत्वस्य सत्त्वेन परिणामः सर्गकाले महदादिक्रमेण प्रवृत्तिः । परिणामस्वभावा गुणानां परिणाम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते इति नियमात् । यदा सदृशः परिणामस्तदा प्रकृतिरिति । यदा विसदृशः परिणामस्तदा सर्ग इति । ततश्च सत्त्वधर्मेण [सभी वाक्य अच् चारणार्थक होता है ।] इस नियम से 'अप्भक्षः'—जलमात्र भक्षण करनेवाला । 'वायुभक्षः' 'वायुमात्र भक्षणशील' इसके सदृश । 'शब्द ही जहां प्रमाण नहीं है इस प्रकार विग्रहलभ्य अर्थ होता है । अथवा शब्दे तदनुमान प्राणवान् यह अर्थ है । पर्युदासार्थक नञ् समास होने पर, अशब्द शब्द से मत्त्वर्थाय अच् प्रत्यय करके 'अशब्द' पद की निष्पत्ति होती है । एतादृश आनुमानिक स्वतन्त्र अचेतन प्रधान वा जगत्कारण रूप से इस सूत्र में निषेध किया जाता है 'ईक्षते' इत्याकारक हेतु पद घटित परम ऋषि प्रणीत सूत्र हे । तब अनुमान का यह आकार होता है 'प्रधान जगत् कारण रूप से वेदान्त प्रतिपाद्य नहीं है ।

नक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' (श्वे० ६।१६) इतिमायाप्रकृतिप्रधानशब्द-
वाचकस्य वेदप्रतिपाद्यत्वदर्शनात् । 'तदधीनत्वादर्थवद्दि' (ब्र०सू०
१।४।३) तिसूत्रेण ब्रह्मणः स्वाधीनाऽव्यक्तपदवाच्यप्रकृतिसकाशा-
ज्जगत्सृष्टिकर्तृत्वस्य ज्ञापनाच्च ।

एवं नाशब्दं शब्दाप्रतिपाद्यं शब्दाऽगम्यं न ब्रह्म किन्तु
शाब्दमेव शब्दगम्यमेव । कुतः ? ईक्षते 'परात्परमीक्षते' (वृ० १।
३।१०) इतिपरात्परपुरुषस्य ब्रह्मण ईक्षणविषयत्वश्रवणादित्यपि नार्थः ।

ज्ञानेन प्रधानस्य सर्वज्ञमिति कथं स्यात् । प्रतिमर्गमन्तरेण विरूपपरिणामासंभवेन-
ज्ञानाभावात् । यदि ज्ञानशक्तिमत्त्वं सर्वज्ञत्वे प्रयोजकं ब्रूयात् तदा यथा ज्ञान-
शक्तिस्तस्य सर्वज्ञत्वं तदा ज्ञानप्रतिबन्धकताममशक्तिमादायप्रधानस्याल्पज्ञत्वमपिस्या
दिति । किञ्च जानाति, इति क्रियया असाक्षिकासत्त्ववृत्तिर्नेष्यते क्रियायाः कर्तृसा-
पेक्षत्वात् । तत्रा चेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वं न संभवति । तस्मात् प्रधानस्य त्वं
ज्ञत्वं कथमपि न सिद्ध्यति । न च यथा वह्निनिमित्तकायोगोलकस्यनम्रबालुकानिच
यदग्धृत्वं तथैव । साक्षिनिमित्तकमीक्षितृत्वं प्रधानस्यस्यादिति वाच्यम् । यथाग्नि-
मित्तकं दग्धृत्वं बालुकायां भवदपि न तस्य स्वाभाविकं किन्तु वह्न्यादेरेव तथैव
प्रकृतेषु ब्रह्मण एव मुख्यमीक्षितृत्वस्वीकारेण प्रधाने तदभावनिश्रयादिति । तस्मा
न्न प्रधानस्य सार्वज्ञ्यं किन्तु सर्वेश्वरमर्वनियामकश्रीरामस्यैवेति । एतदाशयेनैवो-
क्त्येव वेदान्त तात्पर्य का विषय नहीं होने से । तथा वेदान्त घटक शब्दिका का प्रकरण
प्रधान तात्पर्य विषयक नहीं है । क्योंकि उस प्रकरण के चेतन धर्म बोधक ईक्षति पद
घटित होने से—'देवदत्त ऐक्षत' इत्यादि वाक्य की तरह, इत्यादि रूप से अनुमान स्वरूप को
जानना चाहिए ।

एवम् सूत्र घटक 'अशब्दम्' इस पद का वेद शब्द से अप्रतिपादित प्रधान जगत्
का कारण नहीं है ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'अस्मान्मायी'
'मायान्तु प्रकृतिं विधात्' 'प्रधान क्षेत्रज्ञपतिः'—इत्यादि वेद प्रतिपाद्यत्व तो देखने में आता
है । एवं 'तदधीनत्वादर्थवत्' इस सूत्र से भी ब्रह्म में ब्रह्म के अधीन अन्यत्वं मायादि पद-
वाच्य प्रधान की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है । तो इनका विरोध होगा । अतः
सामान्यतः वेदाप्रतिपाद्यत्व प्रधान में नहीं है । एवम् अशब्दः=शब्द से अप्रतिपाद्य अर्थात्

उदाहृतश्रुतावीक्षत इत्यस्य ब्रह्मणो दृश्यत्वसाधकस्य शाब्दत्वसाधक-
त्वानुपपत्तेः । दृश्यत्वेन ब्रह्मणः शाब्दत्वमप्युपपद्यते इति चेन्न,
वाक्यभेदापत्तेः । किञ्चास्यास्त्वदीयकल्पनाया एव सामञ्जस्ये
'औपनिषदत्वान्नाशब्द' इतिसाक्षाद्ब्रह्मशाब्दत्वसाधकस्यैव हेतो-
रुपादानं कुर्यात् । तादृशसूत्राऽप्रणयनमेवाभिव्यनक्ति त्वदोयार्थस्य
निस्सारताम् । तस्मात्प्रागुदीरित एव राद्धान्तितोऽर्थ इति सर्वं सम-
ञ्जसम् १।१।५।

क्तं भाष्यकृता परः शतानि दूषणानित्यादि । एवं च अशब्दमित्यस्येत्यादि । तथा च
न प्रधानमिति । यत् यदीयतात्पर्यविषयं भवति तत् तदेव प्रतिपादयति तदभावे तन्न
प्रतिपादयति यथा घटादिपदाद्यर्थम् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां न प्रधानं जगत्कारणतया
प्रतिपादितं भवतीति । ये पुनः सर्वथैव वेदान्ताप्रतिपाद्यत्वं प्रधानस्य मन्यन्ते तन्म-
तमपहस्तयितुमाह अशब्दमित्यस्य वेदशब्दाप्रतिपादितमित्यादि । प्रधानस्य सर्वथा वेदा-
प्रतिपाद्यत्वेत्यादि । एकान्ततः प्रधानस्य शब्दाप्रतिपाद्यते अस्मान्मायीत्यादिप्रधान-
कारणताबोधकश्रुतीनामग्रामाण्यप्रसङ्गात् । तस्मात्परशरीरतयातस्यापि कारणत्वं भव-
त्येव । प्रधानकारणतानिषेधकश्रुतीनां स्वातन्त्र्येण कारणता प्रतिषेधपरकत्वम्,
विधायकश्रुतीनां तु परमेश्वरशरीरतया कारणता बोधने एव तात्पर्यादित्युभयोः
सामञ्जस्यम् । मतान्तरे तन्न संभवतीति विशिष्टाद्वैतवाद एव निराकुलो राजमार्गः ।
अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमितिदिक् ॥५॥

शब्द से अगम्य ब्रह्म है ऐसा नहीं किन्तु ब्रह्मशब्द अर्थात् शब्द प्रमाणगम्य है । क्यों ।
सूत्र में 'ईक्षते' का प्रयोग किया गया है । ऐसा भी अर्थ ठीक नहीं है । क्योंकि उदाहृत
इस श्रुति में 'ईक्षते' इसका ब्रह्म में दृश्यत्व साधक का शब्द साधकत्व अनुपपन्न है ।
दृश्यता होने पर भी ब्रह्म में शाब्दत्व हो सकता है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि
ऐसा मानने से वाक्य में दोष होगा । और भी यदि आपकी यह कल्पना अगर ठीक हो
तब तो 'औपनिषद् होने से ब्रह्म अशब्द नहीं है' ऐसा साक्षात् ब्रह्म में शाब्दत्व का
साधक हेतु का ही उपादान करना ही उचित होता । परन्तु तादृश सूत्र का निर्माण नहीं
करने से यह सिद्ध होता है कि आपकी कल्पना सर्वथा असंगत है । अतः पूर्व कथित अर्थ
ही सिद्धान्त सिद्ध है । इससे सर्व सामञ्जस्य होता है ॥५॥

नन्वीक्षणमात्रेण न चेतनस्य जगत्कारणत्वं सिद्ध्यति । 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६।३।३) 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।३।३) इत्यप्तेज-सोरेचेतनयोरपीक्षणत्वश्रवणात् । तत्समानप्रकरणपाठात्साहचर्याच्च सदीक्षणस्याप्यौपचारिकत्वेन सत्पदवाच्याचेतनप्रधानपरत्वेनापीक्षितृत्वोपपत्त्या प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

ननु सदेवेत्यादिप्रकरणपर्यालोचनया प्रकृते चेतनगतं मुख्यमीक्षणं न अभिप्रेतं किन्तु तत्तेज ऐक्षत इत्यादिदर्शनाद्गौणमेवेक्षणमभिमतम् । अचेतनपदार्थेऽपि चेतनवदुपचारो दृश्यते 'वृष्टिप्रतीक्षाः शालयः कुलंप्रतिभुमिच्छतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् तस्मात् नात्र परमेश्वरगतं मुख्यमीक्षणमपितु तेजः प्रभृतिषुगौणमीक्षणमादाय सदेवेत्यत्र प्रधानगतमेवेक्षणमिति शङ्कामपनेतुं सूत्रं व्याख्यातुं च भाष्यकार उपक्रमते नन्वीक्षण मात्रेण न चेतनस्येत्यादि 'तदैक्षत' इत्यत्रेक्षणदर्शनमात्रेणैवसत्पदवाच्यचेतनस्य कारणतानाध्यवसितुं युक्ता । यतोऽग्रिमग्रन्थदर्शनेनाचेतनयोरपि जलतेजसोरीक्षणत्वश्रवणात् । तस्मादपादिदं सदीक्षणं तदप्यौपचारिकमेवेति वृष्टि प्रतीक्षाः शालयवदिति । ततः सत्पदवाच्यंयदचेतनं प्रधानं तस्यापीक्षणसंभवादचेतनमेव प्रधानं जगतः कारणं

'ईक्षतेनाशब्दम्' यहां ईक्षण धर्मचेतन का है । अतः जगत् का कारण परमात्मा है प्रधान नहीं है । ऐसा कहा है गत सूत्र में । परन्तु ईक्षणमात्र के कथन से जगत् में चेतन कारणता की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि 'तत्तेजऐक्षत' (उस तेज ने ईक्षण किया । 'ता आप ऐक्षन्त' (उन जलों ने ईक्षण किया) इस श्रुति के अनुसार अचेतन भी तेज तथा जल में ईक्षणत्व धर्म का श्रवण है । अर्थात् अचेतन में भी ईक्षण होता है । तो इस श्रुतिके समान प्रकरण में पाठ होने से तथा साहचर्य से सत् का भी जो ईक्षण है, उसको भी औपचारिक होने से 'सत्पदवाच्य' जो प्रधान है तत्परतया भी ईक्षितृत्व की उपपत्ति हो जाती है । अतः जगत्कारणता प्रधान में मानना ही युक्त है । अर्थात् 'तत्तेज ऐक्षत' इससे सिद्ध होता है कि प्रकृत में गौण ही ईक्षण है । क्योंकि जल तेज तो अचेतन हैं । तो उसमें मुख्य तो ईक्षण हो ही नहीं सकता है । तो प्रकरण तथा साहचर्य से सत्पदवाच्य में भी गौण ही ईक्षण है । तस्मात् ईक्षितृत्व हेतु से प्रधान में ही जगत्कारणता का निश्चय होता है । किन्तु सत्पदवाच्य ब्रह्म में जगत्कारणत्व नहीं है । एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'गौणश्चेन्नात्मशब्दादिति' 'तदैक्षत' यहां गौण ही ईक्षण है । ऐसा नहीं

५ गौणश्चेन्नात्मशब्दात् १।१।६। ५

अप्तेजसोरचेतनयोरपि 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इत्यादिष्वीक्षणं यथा गौणं श्रूयते तथा सत्पदवाच्ये प्रधानेऽपीक्षणं गौणं स्यात्तेन च प्रधानमेव स्वतन्त्रं कारणं स्यादिति चेन्न । कुतः ? आत्मशब्दात् । उत्तस्वाक्येष्व्वात्मशब्दस्य श्रूयमाणत्वात् । तथाहि—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि' त्युपक्रम्य 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' [छा० २।२।३।] इत्येवं तेजोबन्धानां सृष्टिमभिधाय तानि नतु चेतनं ब्रह्मतथेति प्रश्नमुत्थाप्यतन्निराकरणायाह सूत्राकरः गौणच्चेन्नात्मशब्दादिति । प्रकृते गौणमेवेक्षणमिति चेन्न । कुतः आत्मशब्दात् । अयं भावः तत्सत्यं स आत्मा इत्यत्र सदेवेति वाक्यप्रतिपादितपदार्थस्य आत्मशब्देन प्रतिपादनं दृश्यते । तस्मादात्मपदप्रयोगश्चेतने एव नत्वचेतने प्रधाने भवति । अतः तेजः प्रभृतीनामपि परमात्मैवात्मा । तस्मात्तेजः प्रभृतिशब्दा आत्मन एव वाचकाः । तेजः प्रभृतीनां परमात्मशरीरत्वादिति । अयमेवाशयः आत्मशब्दादित्यारभ्यदिगित्यन्तप्रकरणेन भाष्यकारेण दर्शितः । अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः । यदिकदाचिदात्मा जडस्यात्तदातद्गतमीक्षणमौपचारिकं भवेदपि परन्तु नैवं भवति । तस्मान्मुख्यमेवेक्षणं प्रकृते प्रतिपादितं नतु गौणं तदिति न कश्चिद्विरोधः । ननु तर्हि तेजः प्रभृतिसमीक्षणमुच्यमानं कथं संगच्छते तत्राह एवं च तत्तेज ऐक्षत इत्यादि । नात्र जलतेजसोरीक्षणं किन्तु कहना । क्योंकि ईक्षणकारण में आत्म शब्द का प्रयोग होने से इस प्रकार संक्षिप्त सूत्र का अर्थ होता है । प्रकृत सूत्रका विशेषरूप से व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'अप् तेजसोरित्यादि । अचेतन भी जल तेज में 'तत्तेज' इत्यादि स्थल में ईक्षण जिस प्रकार गौणरूप से श्रूयमाण है उसी प्रकार से 'सदेव' इत्यादि स्थल में सत्पदबोध्य अचेतन प्रधान में भी गौण ही ईक्षण होगा । अतः स्वातन्त्र्येण प्रधान ही जगत् का कारण होगा । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्यों ? तो आत्मशब्द का प्रकृत में कथन होने से । इसीका स्पष्टीकरण करते हैं 'उत्तरेत्यादि' 'तत्तेज ऐक्षत' वाक्य के अग्रिम वाक्यों में आत्म शब्द श्रूयमाण है । तथाहि 'सदेव सोम्येदम्' (हे सोम्य ! परिदृश्यमान यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व में सत् रूप था ।) यह उपक्रम करके 'तदैक्षत' इत्यादि प्रकरण से तेज जल तथा अन्न पदवाच्य पृथिव्यादिक के सर्ग का कथन करके इन तेज प्रभृतिक तीनों को अग्रिम ग्रन्थ में

चोत्तरत्र तदेव सत्पदवाच्यमीक्षितदेवतापदेन परामृश्याह 'सेयं देवतैक्षत' 'हन्तामिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' [छा० ६।२।२] अत्र श्रुतौ जीवेनात्मनेत्यादेर्जीवशरीरेण मयाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणीत्ययमर्थः । न चात्र व्याकरणकर्तुस्तिष्ठभिहितत्वेनानभिहिताधिकारीयतृतीया न स्यादितिवाच्यम् । आत्मशब्दस्य स्वरूपरूपार्थकत्वमाश्रित्य कल्पितभेदमादाय 'सूर्यः स्वरूपेण प्रकाशते' इतिवदुपपत्तेः । अथवा करण एवैषा तृतीया । आत्मशब्दः शरीरपरः । तथा च युवशरीरेण जलादिशरीरकपरमात्मन एवेक्षणमिति । ननु कथं जाडभूतं तेजः प्रभृतिकमन्तर्यामिपरमात्मनः शरीरं भवतीति तद्दर्शयितुमन्तर्यामिब्राह्मणवाक्यमुदाहर्तुमाह तेजस्यन्तर्यामितयेत्यादि । यस्तेजसि तिष्ठन्तित्यादि । यः सर्वेषामात्मभूतः परमात्मा तेजसि तिष्ठन् वर्तमानस्तेजसो मध्येऽवस्थितः । यं च परमात्मानं स्वस्मिन्नवस्थितमपि तेजो न विजानाति । तथा यस्व परमात्मनस्तेजः शरीरम् । यच्च परमात्मा-तेजोनियन्त्रयति । एष एव परमात्मा अमृतस्वरूपः इति समुदाहृतश्रुतेरर्थः । एवमेवान्यासामपि श्रुतीनामर्थो ज्ञातव्यः । एतावता तेजः प्रभृतिकं सर्वमेव वस्तुजातं परमात्मनः शरीरभूतमिति न क्वापि जडे वस्तुनि ईक्षणं किन्तु तत्तच्छरीरके परमात्मन्येव तदिति परमात्मनि मुख्यमीक्षणं तदन्येतु गौणमिति । ततः तेजः प्रभृतिषु ईक्षणं दृष्ट्वा तदुदाहरणेन परमात्मनि गौणं तदिति प्रत्ययोभ्रम एवेति भावः ।

वहीं सत्पदवाच्य ईक्षण कर्त्ता देवता पद से परामर्श करके 'सेयं देवता हन्तामिमा' सो यह देवता ईक्षण किया—मैं तथा ये तीनों देवता । इस आत्मस्वरूप जीव से अनुप्रविष्ट हो करके नामरूपात्मक जगत् को विष्णु करते हैं । इस श्रुति में 'जीवेनात्मना' अर्थात् जीव शरीर से मैं अनुप्रविष्ट होकरके नामरूप को स्पष्टीकरण करता हूं यह अर्थ है । नहीं कहो कि व्याकरण रूप क्रिया का जो कर्त्ता है वह जब तिङ् प्रत्यय से है, उक्त है । तब अनभिहिताधिकारीय तृतीया विभक्ति किस तरह से होगी । अर्थात् तिङ् प्रत्यय से जहाँ कर्त्ता उक्त नहीं है वहाँ तो कर्त्ता से तृतीया विभक्ति होती है । प्रकृत में करवाणि क्रिया से कर्त्ता उक्त है । तब तृतीया विभक्ति किस प्रकार से हुई ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यहां आत्मशब्द का अर्थ है स्वरूप और कल्पित भेद का आश्रय करके 'सूर्य स्वरूप से प्रकाशित होता है । इसके समान 'जीवेनात्मना' जीव स्वरूप से अनुप्रविष्ट होकर

गृहमनुप्रविश्य गार्हस्थ्यमनुभवानीतिवच्छरीररूपेणानेन जीवेनानु-
प्रविश्य नामरूपे व्याकखाणीत्यादिरर्थः । जीवपदमेतत्कल्पे जीवा-
ख्याशरीरमात्रपर इतिदिक् । तथा च तस्यैव तेज आदिषु प्रवेश-
नतन्नामरूपव्याकरणादिविचारस्य तत्कथनस्य च चेतनधर्मत्वेन
सत्पदवाच्यब्रह्मधर्मत्वोपपत्तेर्मुख्यत्वमेवेक्षणस्य । 'स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो' [छा० ६।९।४।] इत्यात्मशब्देन स्पष्टमभिधानाच्च । न
ह्यात्मनो जडत्वं येन गौणत्वमीक्षणस्य स्यात् । एवञ्च 'तत्तेज ऐक्षत'

ननु सदेव सोम्येदम् अत्र सत्पदवाच्यत्वं ब्रह्मणः प्रधानस्य वा ? यदि सत्प-
दवाच्यत्वं ब्रह्मणः सिद्धेत् तदा ब्रह्मण्येव मुख्यमीक्षणं गौणं तु प्रधाने स्यात् । अथ
यदि सत्पदवाच्यता प्रधाने तदा तत्रैव मुख्यमीक्षणं गौणं च ब्रह्मणि । परन्तु
निश्चायकप्रमाणाभावेनैकतरस्यापि पक्षस्याविनिश्चय इत्याशङ्क्य तन्निर्णयार्थं
प्राह किञ्च आत्मा वा इत्यादि । सदेवसोम्येदमत्रसत्पदम् सामान्यार्थवाचकं नतु
विशेषस्य । किन्तु आत्मावा इदमग्रे इत्यादि । [परिदृश्यमानमिदं जगत् । अग्रे उत्पत्तेः
पूर्वं ब्रह्मतादात्म्यापन्नमेवासीदित्यर्थः ।] अत्रात्मपदवाच्य ब्रह्मणः सकाशाज्जगत
उत्पत्तिः प्रदर्श्यते । तत्रात्मपदं विशेषरूपेण परमेश्वरस्यैव वाचकम्, नतु तदतिरि-
क्तस्य वाचकम् । एवं सदेवेत्यादिवाक्यमपि जगदुत्पादकमित्युभयोर्वाक्ययोः
के यह अर्थ है । अथवा 'आत्मना' यहां जो तृतीया विभक्ति है वह करण अर्थ में है और
आत्मा शब्द का अर्थ है 'शरीर' । तब जिस तरह युवा शरीर से गृह में अनुप्रविष्ट होकर के
गृहस्थजीवन का अनुभव करता हूं यह प्रयोग होता है । इसी तरह शरीररूप इस जीव से
अनुप्रविष्ट होकर के नामरूप को स्पष्टीकरण करता हूं ऐसा अर्थ होता है । अथवा पक्ष में
जीवपद का अर्थ है जीवनामक शरीर मात्र अर्थ का बोधक है । ऐसा होने से उसी जीव को
तेज प्रभृति पदार्थों में प्रवेश तथा व्याकरणादि का विचार और उसका कथन यह सचेतन
का धर्म है । इसलिए ये सब सत्पदवाच्य ब्रह्म का धर्मत्व की उपपत्ति होने से ईक्षण में मुख्यत्व
सिद्ध होता है । 'वह परमात्मा है । हे श्वेतकेतु ! तुम उसी परमात्मा का अंश शरीरकैदेश
है ।' इस प्रकार से स्पष्टरूप से कथन भी किया है । आत्मा वस्तुतः जड नहीं है । किसी
दार्शनिक ने उसको जड माना है । अगर आत्मा जड होता तो ईक्षण गौण कहलाता ।
परन्तु आत्मा तो जड नहीं है । इसलिए तद्गत ईक्षण गौण नहीं है किन्तु मुख्य ही ईक्षण
है । इसलिए प्रकृत में गौण ईक्षण का समावेश नहीं है । इसलिए गौण ईक्षण मूलक

‘ता आप ऐक्षन्त’ इति श्रूयमाणमीक्षणं तच्छरीरान्तर्यामिपरमात्मन एवेति सिद्धम् ।

तेजस्यन्तर्यामितया परमात्मनो नियमनकर्तृत्वन्तर्न्यामि-
ब्राह्मणात्सिद्धम् । तथाहि—‘यस्तेजसि तिष्ठन् तेजसोऽन्तरो यं
तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरस्य स्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
न्तर्याम्यमृतः’ (बृ० ४।७।१४) ‘योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न
विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’

समानार्थकतया तदुभयवाक्ययोरेकवाक्यत्वे सदेवेत्यत्र यद्यपि सत्पदमात्मन एव
वाचकमिति निश्चयाभावेऽपि आत्मावेत्यादि वाक्ये मुख्यत एवात्मनो निश्चयात् । सदे-
वेत्यादिवाक्येऽपि सत्पदेन परमात्मन ग्रहणं नतु कथमपि प्रधानस्य ग्रहणं भवति ।
तस्मात्सत्पदवाच्यपरमात्मन्येव मुख्यमीक्षणकर्तृत्वं न तु प्रधाने तत् । अत एव
परमात्मैव जगतः कर्ता नतु प्रधानं जगत्कारणमिति विनिश्चयः । अन्यत्सर्वमिति
रोहितार्थकमिति संक्षेपः ॥६॥

प्रधान में जगत् कारणता नहीं है ‘किन्तु मुख्य ईक्षण मूलक परमात्मा में ही जगत्कारणता
है । प्रश्न यदि श्रुति उपपत्त्यादिक से मुख्य ईक्षण है तब तो वह चेतन
में ही रहेगा । तब ‘तरोज ऐक्षत’ इत्यादि स्थल में श्रूयमाण जो तेजः प्रभृतिक में ईक्षण है
वह संगत कैसे होगा ? इसके समाधान के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘एवं च तरोज ऐक्षत’ इत्यादि।
‘एवं च’ जब ईक्षण मुख्य है ऐसा सिद्ध हुआ तब ‘उस तेज ने ईक्षण किया, उन जलों
ने ईक्षण किया’ इत्यादि स्थल में श्रूयमाण जो ईक्षण है वह तेज प्रभृति का ईक्षण नहीं
है । किन्तु तेजः प्रभृति शरीरक जो परमात्मा हैं उन्हीं का यह ईक्षण है । इसलिए जड में
भी ईक्षण है ऐसा कहना ठीक नहीं है । किन्तु सर्वत्र परमात्मगत मुख्य ही ईक्षण विवक्षित
है । अतः परमात्मा में ही जगत् कारणता है । गौण ईक्षण को लेकर के प्रधान में जगत्
कारणता नहीं है यह सिद्ध हुआ । तेजः प्रभृतिक जड में अन्तर्यामि रूप से विद्यमान
परमात्मा ही सब पदार्थ का नियामक है यह बात अन्तर्यामी ब्राह्मण से सिद्ध होता है ।
तथाहि जो परमात्मा तेज में रहते हुये तेज से अन्तर भिन्न हैं । जिस परमात्मा को जो
तेज के अभ्यन्तर में अवस्थित है उसको तेज नहीं समझता है । जिस परमात्मा का
तेज शरीर है । अर्थात् अवयव-शेष है तथा भगवान् शेषी है, जो तेज को नियन्त्रित

[बृ० ४।७।४।] 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' [बृ० ४।७।१५।] इत्यत्र तेजोऽन्नादिपरवाक्येष्व्वात्मशब्दश्रवणादात्मनस्तेजो-बाह्यन्तर्यामित्वेन तच्छरीरितया तेजोवादीनाञ्च शरीरतया श्रवणादीक्षणादेः शरीरधर्मत्वानुपपत्त्या तदन्तर्यामितयासमवस्थितपरमात्मधर्मत्वेन मुख्यत्वम् । तद्वदत्रापि सत्पदवाच्यब्रह्मेक्षणस्य मुख्यत्वमेव ।

किञ्च 'आत्मा वा इदमग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चनमिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमांल्लोकानसृजत' [ऐ० १।१।] सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युभयोर्वाक्ययोस्समानार्थकत्वेनैक-

ननु स आत्मातत्त्वमसीत्यत्रात्मपदप्रयोगसामर्थ्यान्मुख्यमेवेक्षणं ततो न प्रधानस्य कारणत्वमिति कथम् यत आत्मशब्दस्यान्यत्रापि प्रयोगदर्शनात् । यथा ममात्मा-पुत्र इत्यादौ । एवं चात्मनः सर्वकार्यप्रसाधकेऽचेतने प्रधानेपि तत्स्यात् । यथा एक एवाग्निशब्दः क्रतुज्वलनोभयसाधारणो दृश्यते । तथा चात्मपदेन प्रधान-करते हैं । एतादृश परमात्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं ।' 'जो जल में विद्यमान होकर के जल के अभ्यन्तरवर्ती हैं । जिनको जल नहीं समझता है—जिसका जल शरीर है । तथा जो जल का नियन्त्रण करता है । एतादृश परमात्मा अन्तर्यामी अमृत है ।' जो सब भूतों में विद्यमान होकर के सब के अभ्यन्तर में रहते हैं । जिनको ये सब भूतवर्ग नहीं जानते हैं, जिनका सब भूतवर्ग शरीर है।' इस स्थल में तेज जल अन्नादिबोधक वाक्य में आत्म शब्द का श्रवण है और आत्मा को तेज जल अन्नादिकों का अन्तर्यामी भी होने से तेज प्रभृति का वह शरीरी शेषी है और तेज प्रभृति का परमात्म शरीर रूप से श्रवण होने से तो ईक्षणादिक शरीर जड का तो धर्म नहीं हो सकता है । अतः जलादि के अन्तर्यामी रूप से समवस्थित जो परमात्मा, उसका धर्म होने से ईक्षण में मुख्यत्व है । अर्थात् तेज प्रभृति में श्रुत जो ईक्षण वह तेज प्रभृतिक जड वस्तु में नहीं है । किन्तु तेजः शरीरक परमात्मा में होने से वह ईक्षण मुख्य है । उसी तरह प्रकृत में सत्पदवाच्य जो ब्रह्म का ईक्षण है वह मुख्य है । तेजः प्रभृति में श्रूयमाण धर्मिण ईक्षण का केवल उपचार ही

वाक्यत्वसिद्धौ सच्छब्दस्यात्मवाचकत्वेन तदीक्षणस्य प्रधान्यमेव ।
 एवं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' [तै० २।२।]
 इत्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यस्य च समानार्थकत्वेन सत्पदाभिधेयस्या-
 त्मपदवाच्येन सहाभेदात्तदीक्षणस्य मुख्यत्वान्न सत्पदवाच्यमचेतनं
 केवलं प्रधानं जगतः कारणमिति ॥६॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम्—

स्यापि ग्रहणसंभवात्कथं तस्य व्यावृत्तिरिति शङ्कां समाधातुं सूत्रव्याख्यातुं च
 प्रक्रमते इतश्च न प्रधानमित्यादि । सदात्मनिष्ठस्य चेतनोपासकस्य मोक्षस्यापदेशश्र-
 वणात् । न प्रधानं सत्पदबोध्यं भवति । अर्थात् यदि अचेतनस्य प्रकृतेर्ग्रहणं
 भवेत्तदा तदनुसन्धानादेव मोक्षमुपदिशेत् शास्त्रं परन्तु तथा सति प्रधानानुसन्धानेन
 चेतनस्य मोक्षो न स्यात् प्रत्युत संसार एवापतेदिति शास्त्रस्य प्रामाण्यमेवापगतं स्यात् ।
 नहि शास्त्रादन्यः कश्चिद्विषयपदेष्टा विद्यते तस्मान्न प्रधानं सदादिपदवाच्यं भव-
 तीति दर्शयति वक्ष्यमाणग्रन्थेन अत्र प्रकृतसत्पदाभिधेयेत्यादि । तन्निष्ठस्य परमा-
 त्मोपासकस्य परमात्मानुसन्धानवत् उपासकस्यैव मोक्षोपदेशात् परमात्मानुसन्धान-
 वत् एव मोक्षो भवतीति 'वासुदेवादिमूर्तिनां चतुर्णां कारणं परम् । चतुर्विंशतिमूर्ति-
 नामाश्रयः शरणं मम । नित्यमुक्तजनैर्जुष्टो निविष्टः परमे पदे । परं परमभक्तानां श्री
 रामः शरणं मम' बृहद्ब्रह्मसंहितास्थ श्रीनारायण वचने तथा 'विष्णुलोकात्परे लोके
 साकेते शुभासंसिनि । राजन्तं रामचन्द्रेति जपन् बन्धात् प्रमुच्यते'
 (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।६६) 'शरण्यौ वेदनीयौ च भजनीयौ हि मुक्तये' (वशिष्टसंहिता)
 रामोऽखिलात्मरूपेभ्यः सुलभोऽर्चातनौ तदा । अर्चकपरतन्त्रोऽपि मोक्षैश्वर्यं प्रयच्छति'
 (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।१०७) इत्यादिरूपेण शास्त्रे प्रतिपादनात् सत्पदवाच्यं पर-
 है । अतः मुख्य ईक्षणवान् परमात्मा ही जगत् का कारण है । प्रधानादिक में मुख्य ईक्षण
 नहीं है । 'सदेव सोम्येदमग्रे' इत्यादि वाक्य में सत्पदवाच्य परमात्मा है अथवा प्रधान में
 है इसका निश्चायक वाक्य के नहीं होनेसे प्रधान में भी सत्पदवाच्यत्व है ऐसा मान
 करके प्रश्न किया था । तथा यथा कथंचित् उसका समाधान भी भाष्यकार ने किया ।
 इसके बाद जिस वाक्य में 'मुख्य एव' आत्मबोधक पद है उस स्थल में तो निर्विवाद
 आत्मा ही जनक है । तो तादृश वाक्य को सदेव इत्यादि समानार्थक वाक्य के साथ एक
 वाक्यता करने पर सत्पद भी परमात्मा का ही वाचक है । तथा तदीक्षण भी मुख्य ही

५ तन्निष्ठस्यमोक्षोपदेशात् । १।१।७। ५

अत्र प्रकृतसत्पदाभिधेयतत्त्वनिष्ठस्योपासकस्य मोक्षोपदेशान्न प्रधानं सत्पदग्राह्यमिति । तथा हि सदेवेत्यारभ्य 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापोमूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सौम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्पतिष्ठाः' । [छा० ६।८।४] इति सत्पदवाच्य-मात्मैव नतु प्रधानमिति सूत्रस्य संक्षिप्तोऽर्थः । विशेषतः सूत्रं व्याख्यातुमाह—तथा-हीत्यादि । सदेवसौम्येत्यारभ्य' तत्त्वमसि इवेतकैतोरित्यन्तप्रकरणेन प्रकृतात्मपरक-सत्पदस्य संग्रहः । ततश्च तादृशसदनुध्यायिनः आचार्यवान् पुरुषः तस्य तावदेव चिरमिति प्रकरणेन । तत्र परमात्मना सह जीवस्यांशंशिरूपेणा भेदविज्ञानमेव मोक्षहेतुः स्यात् नतु जडपदार्थेन सहाभेदज्ञानं तथात्वे चेतनोपासकस्याप्यचेतनत्वा-पत्तिरेवभवेत् । तस्मात्सत्पदवाच्यः परमात्मैव नतु प्रधानं तथेत्यतः परमात्मैवसत्प-है । इस वस्तु को समझाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'किञ्च, आत्मा वा' इत्यादि । यह परिदृश्यमान जगत् उत्पत्ति के पूर्व में आत्मरूप ही था । तदन्य कोई भी पदार्थान्तर नाम रूप से व्याकृत नहीं था । 'उसने ईणण किया कि मैं लोगों का सर्ग करूँ । तब उसने भूरादि लोकों का सर्जन किया और यह जगत्पूर्व में सत् स्वरूप था । 'आत्मा वा' इत्यादिक, तथा 'सदेव सौम्येदम्' इत्यादि दोनों वाक्यों को समानार्थक होने से एक वाक्यता करने से सदेवेत्यादिवाक्यघटित सत्पद को 'आत्मा वा' इत्यादि वाक्य घटक आत्मपदानुरोधेन आत्म-वाचकत्व की सिद्धि होती है । अतः सत् का जो ईक्षण है वह मुख्य है । एवम् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इस वक्य को तथा सदेवेत्यादि वाक्य को भी समानार्थक होने से सत्पद के वाच्य को आत्मपदवाच्य के साथ अभेदान्वय होने से सत् का जो ईक्षण है वही मुख्य होता है । इसलिए यथा कथंचित् सत्पदबोध्य केवल स्वतन्त्र अचेतन प्रधान में कारणता जगत् की नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥६॥

सदेवेत्यादि वाक्य घटक जो सत्पद है उसका वाच्य परमात्मा है । किन्तु सांख्या-भिमत स्वतन्त्र प्रधान नहीं है । इसमें युक्त्यन्तर बतलाने के लिए तथा सूत्रव्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'इतश्च न प्रधानमित्यादि । इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि प्रधान सत्पदवाच्य तथा जगत् का कारण नहीं है । क्योंकि तन्निष्ठ=अर्थात् परमात्मा का अनुध्यान स्मरण में जो उपासक तत्पर

स्यैव सर्वप्रजाया मूलत्वेन तत्त्वष्टृत्वं तदायतनत्वेन तत्स्थिति
हेतुत्वं तत्प्रतिष्ठत्वेन तत्प्रलयहेतुत्वञ्चाभिधायानन्तरम् अस्य सोम्य
पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः
परस्यां देवतायाम्' [छा० ६।८।६] 'स य एषोणिमा' [छा० ६।
९।४] इति प्रकृतमेव सत्पदवाच्यं परदेवतापदेनाणिमशब्देन च
परामृश्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो' [छा. ६।८।७] इत्यत्र स आत्मेति तस्यैव प्रकृतस्य
सत्पदवाच्यस्य संग्रहः । एतदात्मकमिदं सर्वमिति सदात्मकत्वं
सर्वस्य जगतो ज्ञापयित्वा 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' रिति
चेतनस्यापि सदात्मकत्वोपदेशेन तन्निष्ठोपदिष्टा । ततश्च
सद्ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मव्याप्यत्वेन प्रत्यगात्मानुसंधाननिष्ठस्य
तस्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' [छा० ६।१४।२] इतिरीत्या
दाभिधेयोजगत्कारणं नतु स्वातन्त्र्येण प्रधानं जगतः कारणमिति । एतदन्यानि
भाष्याक्षराणि नतिरोहार्थकानीतिदिक् ॥७॥

है उसी को मोक्ष होता है । ऐसा शास्त्र में उपदेश किया गया है अब यदि 'सदेव
इत्यादि स्थल में सत्पदवाच्य परमेश्वर को माने तब ही उस परमेश्वर के साथ 'शेषशेषी'
रूपात्मक अभेद ज्ञान होने से मोक्ष होगा । यदि कदाचित् सत्पद बोध्य प्रधान अचेतन
को मानेंगे तब तो तदुपासक को प्रधान के साथ अभेदज्ञान होने से मोक्ष नहीं होगा
किन्तु तद्विपरीत संसार में पतन होने से शास्त्र का प्रामाण्य तथा तदुपदेश निरर्थक हो
जायगा । ऐसा सूत्रका संक्षिप्त अर्थ होता है । यहाँ, 'सदेवसोम्येदम्' इस स्थल में प्रवृत्त जो
सत्पद है उसका वाच्य जो चेतन लक्षणतत्त्व तन्निष्ठ अर्थात् तादृश परमात्म तत्त्व का उपासन
करनेवाले उपासक को शास्त्र ने मोक्ष का उपदेश किया है । इसलिए प्रधान सत्पदवाच्य नहीं
है । अर्थात् सत्पद से अचेतन प्रधान का ग्रहण नहीं होता है । अतः प्रकृत में सत्पदवाच्य
प्रधान नहीं है । इसमें उपपत्ति बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'तथाहीत्यादि । 'सदेव-
सोम्य' गदां से आरंभ करके 'अन्न रूप कार्य से जलरूप कारण को जानो । जलरूप कार्य
से तेजोवृक्षण कारण को जानो । अर्थात् जल कारणक पृथिवी है । तथा तेजः कारणक जल
है—ऐसा, निश्चय करो । काहण के बिना कार्य का प्रादुर्भाव नहीं होत है । तो पृथिव्यादि

‘तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति’
 [छा० ६।१४।२।] इति मोक्षोपदेशश्रवणात् । एवञ्च पूर्वोदितस-
 द्विषयकज्ञानवतस्तत्त्वमसीत्युपदेशेन स्वस्य सत्तादाम्यज्ञानं मोक्ष
 हेतुर्न हि स्वस्याचिदभेदज्ञानम् । तस्मात्सच्छब्दवाच्यं जगत्कारण-
 मात्मैव न प्रधानम् । अत्र श्रुतौ ‘विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य’ इत्युभय-
 त्रोत्तमपुरुषः छान्दसत्वात्प्रथमपुरुषे ज्ञेयः ॥७॥

तत् तत् कार्य से तत्तत् कारण को जानो । हे सोम्य ! तेज लक्षण कार्य से सदात्मक ब्रह्मरूप
 मूल कारण को जानो । हे सोम्य ! परिदृश्यमान ये सब प्रजासन्मूलक हैं । सत् ही इन
 सबका आयतन सद्रूप ब्रह्म है । तथा सत् में सब प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकरण में सत्पदवाच्य
 को ही सर्व प्रजा का मूल होने से सबका वह सत्पदवाच्य स्रष्टा तथा आयतन कहने से सबके
 स्थिति में कारणत्व और प्रतिष्ठितत्व कथन से प्रजाके प्रलय का हेतु कहकरके इसके बाद ‘हे
 सोम्य ! मरने के समय में इस म्रियमाण पुरुष का जो वागिन्द्रिय है वह मन में प्रलीयमान हो
 जाता है । मन प्राण में सम्पन्न होता है । प्राण तेज में विलीयमान हो जाता है और तेज परा
 देवतामें सम्पन्न हो जाता है’ । ‘सो जो यह अणिमा अति सूक्ष्म है, इस प्रकार पूर्वप्रकान्तसत्पद
 वाच्य पर देवता पद से तथा अणिमा पदसे उसका परामर्श करके’ इस सत् का तादात्म्यापन्न ये
 सब पदार्थ हैं । वह सत्पदवाच्य सत् है, वहीं परमात्मा है, और हे श्वेतकेतु तुम इसी सत्पदवाच्य
 से अभिन्न अर्थात् शेषशेषी या शरीर शरीरी भाव से व्यवस्थित हो । यहाँ ‘स आत्मा’ इससे उसी
 प्रकृत सत्पदवाच्यका संग्रह होता है’ । और ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इससे सदात्मकता सर्व जगत्
 में ज्ञापित करके ‘तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इस वाक्य से सत् स्वरूपता का उपदेश करके सन्नि-
 ष्टत्व रूप से उपदेश दिया है चेतन श्वेतकेतु को । तब सद् ब्रह्मात्मकत्व रूप से प्रत्यगात्मा
 के अनुसंधान परायण को ‘आचार्यवान् पुरुष आत्मा को जानता है ।’ इस रीति से ‘उसको
 तावत् काल ही विलंब रहता है जब तक प्रारब्ध शरीर का विनाश नहीं होता है । अथ
 तादृश शरीर के विनाशोत्तर काल में सत् सम्पन्न हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।
 इत्यादि क्रम से मोक्षोपदेशका श्रवण है । इस प्रकार पूर्व कथित सद्विषय ज्ञानवान् पुरुष को
 तत्त्वमसीति उपदेश से स्वनिष्ठ सत् तादात्म्य ज्ञान मोक्ष का कारण होता है । नतु स्वनिष्ठ
 अचित् का अभेद ज्ञान मोक्ष का कारण होता है । तस्मात् सत्पदवाच्य जगत् का कारण
 आत्मा ही है । किन्तु सत्पदवाच्य जगत् का कारण प्रधान नहीं । इस श्रुति में ‘विमोक्ष्ये संपत्स्ये’
 इन दोनों जगहों में ‘छान्दसत्वात्’ उत्तम पुरुष का प्रयोग है । ऐसा जानना चाहिए ॥७॥

५ हेयत्वावचनाच्च १।१।१।८। ५

‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेत-
केतो’ [६।१।४।] इत्यत्र हेयत्ववचनाभावान्न सच्छब्दवाच्यं प्रधा-
नम् । यदि तदेव स्यात्तदा तदनात्मतत्त्वं त्वं नासि, अतस्तदात्म-
कत्वेनात्मानं नानुसंधत्स्व तदनुसंधानस्य मोक्षविरोधित्वादित्येवं
मातापितृसहस्रवत्सलतरेण परमहितानुशासनपरेण वेदेनोपदिष्टं
स्यात् । यथाऽरुन्धतो दिदर्शयिषुस्तत्समोपस्थताराणां हेयत्वं स्पष्टं
निर्दिशति तद्वदिहापि स्यान्न च तथा दृश्यते ॥८॥

ननु मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानविषयीभूतंब्रह्मैव परमपुरुषार्थरूपतयाऽभिमतम्, ज्ञाना-
भावमोक्षानुपपत्तेः । ब्रह्म च सूक्ष्माच्चतत्सूक्ष्मतरं विभातीत्यादिश्रुत्याऽतीव सूक्ष्मतमम्
तादृशं तत् सूक्ष्मतया बोधयितुं न शक्यते । ततो ब्रह्म संबद्धं ब्रह्मापेक्षया स्थूलं प्रधान-
मेवात्मतया श्वेतकेतुं ग्राहयति शास्त्रम् तत्सत्यं स आत्मेत्यादिकम् । तद् यथा कश्चि-
त्कमपि सूक्ष्मामरुन्धतीं बोधयितुं तत्समीपस्थतदपेक्षया स्थूलं वा शिष्टादिकं बोधयितुं
प्रवर्तते सफलप्रयासोपि भवति तद्वत्प्रकृतेऽतिसूक्ष्ममात्मानं सत्पदवाच्यं बोधयितुं
मात्मसंबद्धं तदपेक्षया स्थूलमेव प्रधानं सत्पदेन ग्राहयत्यतः सत्पदबोधं प्रधानमेव
तदेव च जगत् कारणमिति शङ्कां समाधातुं सूत्रं व्याख्यातुं च प्रक्रमते ऐतदात्म्यमिद-
मित्यादि । यदि प्रधानमेव सत्पदवाच्यं भवेत्तदा तज्ज्ञानादेव मोक्षः स्यात् परन्तु
तदसंभवितमेवेति तस्य स्थूलतादेरेव पश्चान्निराकरणं कुर्यात् परन्तु तन्नकृतम् । अर्थात्
तस्य हेयत्वं नावोचत् तस्मात् सत्पदवाच्यत्वं न प्रधानस्यापितु परमात्मन एवेति ।
‘सीतारामौ तन्मयावत्रपूज्यौ जातान्याभ्यां भूवनानिद्विसप्त’ (श्रीरामपूर्वतापिनी २।४)
‘शरण्यौ वेदनीयौ च भजनीयौ हि मुक्तये’ (वशिष्टसंहिता) इत्यादिरूपेण शास्त्रं च
सर्वस्य हितोपदेष्ट्वान्नान्यथावदिष्यति । तस्मादात्मैव सत्पदवाच्यं नतु प्रधानं
सत्पदवाच्यमिति । ८।

इस प्रकरण में आत्मा ही उपदेष्टव्य है । परन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण से उसका
उपदेश तथा परमात्मा का शेषशेषीरूपेण स्वाभिन्नत्व रूप से ज्ञान असंभवित है, अतः
आत्मसंबद्ध प्रधान को आत्म रूप से ज्ञान कराया जाता है । इसलिए प्रधान ही सत्पदवाच्य
है इसपक्ष का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘ऐतदात्म्यमित्यादि’ यह
परिदृश्यमान सब पदार्थ परमात्म रूप है । वह आत्मा सत्य है । हे श्वेतकेतो ? तुम उसका

इतोपि न प्रधानं सच्छब्दवाच्यमित्याह—

॥ प्रतिज्ञाविरोधात् ।१।१।९। ॥

‘येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात्’ [छा० ६।१।३] इत्यत्र कारणविज्ञानेन तत्कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञानमित्यं सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा विरुद्ध्यते प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वे । कुतः ? प्रधानस्याचेतनत्वेन तद्विज्ञानेन चेतनाचेतनसम्भिन्नस्य सर्वस्य प्रपञ्चजातस्य विज्ञानं न स्यात् । चेतनवर्गस्य तत्कार्यत्वाभावेन सर्ववस्तुविषयिण्याः प्रतिज्ञाया विरोधः स्पष्ट एव ।

सदेवसोम्येदमित्यादि वाक्ये यदि सत्पदेन स्वातन्त्र्येण प्रधानस्य ग्रहणं क्रियेत तदापूर्वदोषसत्त्वेऽपि प्रतिज्ञा विरोधलक्षणदोषान्तरमपि भवतीति दर्शयितुमाह इतोपि न प्रधानमिति ‘वक्ष्यमाणदोषादपि प्रधानस्य सत्पदवाच्यतानभवतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणदोषमेवाह सूत्रकारः प्रतिज्ञा विरोधादिति आचार्यकुलादधीत्यागतमभिमानिनं पुत्रं दृष्ट्वातं प्रशासितुमुद्दालकेनजिज्ञास्य तद्वोधनाय सार्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रदर्शिता । यथा मृत्कारणे विज्ञाते तत् कार्यं विज्ञातं भवतीति दर्शितम् । तत्र सत्पदवाच्यप्रधाने-विज्ञाते चेतनाचेतनात्मकं सर्वकार्यं विदितं न स्यात् यतोऽचेतनस्य प्रधानकार्यत्वेऽपि चेतनस्य तदकार्यत्वात् । ब्रह्मकारणवादे तु चेतनाचेतनमात्रस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञा समर्थिता भवति । अस्याः प्रतिज्ञायाः प्रधानपक्षे-ही शेष स्वरूप हो’ । इस जगत् में सत्पदवाच्य में हेयत्व वचन का अभाव होने से प्रधान सत्पदवाच्य, नहीं है । यदि प्रधान सत्पदवाच्य होता तब तो अनात्मतत्त्व रूप तुम श्वेतकेतु नहीं हो इसलिए उस प्रधान रूप से आत्मा का अनुसंवान न करो क्योंकि अनात्मा का अनुसन्धान मोक्ष का विरोधी है ।’ इस प्रकार से सहस्रों माता पिता से अधिक प्रिय परमहित का अनुशासन करने में तत्पर शास्त्र ने कहा होता । जिस तरह अरुन्धती को बतलाने की इच्छा से तत्समीपस्थ ताराओं में हेयत्व का स्पष्ट रूप से निर्देश किया जाता है । उसी तरह प्रकृत में ब्रह्म सम्बद्ध तदपेक्षया स्थूल प्रधान को प्रथमतः सत्पदवाच्यत्व रूपसे कथन करके पुनः उसका निराकरण करके आत्मोपदेश किया गया होता । परन्तु तादृश रूप से सत्पदवाच्य का हेयत्व रूप से प्रतिपादन नहीं किया

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणस्तु पुनः 'यतो वे'त्यादि-
श्रुतिशतमधिगते जगत्कारणत्वे तस्यैव सत्पदवाच्यत्वेन तद्वि-
ज्ञानेन सर्वमिदंस्थूलरूपेण परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं कार्यरूपं
जगद्विज्ञातमेव भवतीति सम्यगुपपद्यते प्रतिज्ञा । तथाहि—'स्त-
ब्धोऽस्युततमादेशमप्राक्ष्यः' [छा० ६।१।२] अत्रादेशः प्रशासनं
कर्ता आङ्गुपसृष्टाद् दिश् धातोः कर्तरि घञ् बाहुलकात् । विवक्षातः
कारकाणि भवन्तीतिसिद्धान्ताच्च अथवाऽर्शाद्यजन्त आदेशशब्दो
समर्थनाभावात् प्रतिज्ञाहानिः स्यादेवेति ततो न प्रधानकारणवादः, इति । एतदेव
येना श्रुतमित्यारभ्य प्रतिज्ञायाविरोधः स्पष्ट एवेत्यन्त प्रकरणेन भाष्यकारः प्रदर्शित
वान् । चिदचिदात्मकं कार्यरूपमिति । ननु अचेतनस्य कार्यभूतस्य जगतो जन्यत्वेपि
'अजो नित्यः शाश्वत' इत्यादिना जीवस्य जन्यत्वप्रतिषेधात् । न च जीवोपकरण
करणकलेवरादेरचेतनस्य जन्यत्वेन तद्विशिष्टजीवेपि तज्जन्यत्वसंभवादिति वाच्यम् ।
तथा सत्यचेतनांशस्य प्रधानजन्बत्वेन तद्विशिष्टजीवस्य प्रधानजन्यत्वमेवस्यादिति चेन्न ।
संप्रदायवादमाश्रित्यात्मनः सकाशाज्जीवस्यापि तथात्वस्वीयारात् । विशेषतश्चैद्वि-
चारोऽन्यत्रकृत इति तत् एवावधातव्यमिति दिक् । एवं च चेतनाचेतनस्य जगतो ब्रह्म-
गया है । इससे ज्ञात होता है कि 'सदेवेत्यादि' वाक्य में सत्पदवाच्य परमात्मा ही है ।
तथा वही 'यतोवेत्यादि' वाक्य से जगत् कारण रूप से परिगृहीत होते हैं । किन्तु स्वतन्त्र
रूप से कथमपि जगत् कारण रूप से प्रधान का ग्रहण नहीं होता है । ब्रह्मशरीर रूप से तो
उसमें भी कारणता है ॥८॥

स्वतन्त्रतया प्रधान को सत्पदवाच्य मानने में 'हेयत्वावचनात्' इस सूत्र से दोष
बतला करके इस पक्ष में दोषान्तर को बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'इतोपिने-
त्यादि' वक्ष्यमाण दोष से भी सिद्ध होता है कि 'सदेवेत्यादि' वाक्य घटक सत् पद से प्रधान
वाच्य नहीं होता है । वक्ष्यमाण दोष को सूत्रकार बतलाते हैं 'प्रतिज्ञा विरोधात्' प्रधान को यदि
सत्पदवाच्य मानें तब एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की जो प्रतिज्ञा है उसका विरोध होगा ।

प्रतिज्ञा विरोध का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार अहते हैं, 'येनाश्रुतं श्रुतमि-
त्यादि' जिस का श्रवण होने से अश्रुत भी पदार्थ श्रुत हो जाता है । अमत भी मत हा
जाता है और अविज्ञात भी पदार्थ विज्ञात हो जाता है । 'यहाँ' कारण के विज्ञान से
तत्कार्यभूत सब विज्ञात होता है एतादृश जो सर्व विज्ञान विषयक प्रतिज्ञा शास्त्र संमत है

ज्ञेयः । एवं चाखिलजगदुपादानभूतं प्रशासितारं जगदात्मानं पृष्ट-
वानसीत्यर्थः । ततः स्वयमेवोद्दालको येनाश्रुतं श्रुतं भवतीति प्रति-
ज्ञामाह—कथं नु भगवः स आदेशो भवति' [छा० ६।१।३।] इति
जिज्ञासिते प्रतिज्ञातस्यार्थस्य स्पष्टं प्रबोधयिषया 'यथा साम्यैकेन
जन्यत्वेन ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति । जीवस्य च प्रधानजन्यत्वाभावेन प्रधाने
विज्ञातेऽपि तदकार्यस्य जीवस्य विज्ञानं न स्यादिति प्रतिज्ञाविरोधो वज्रलेपापितो भवतीति न
स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वं प्रधानस्य नवा सत्पदवाच्यत्वमपि । किन्तु ब्रह्मण एव
तथात्वमिति न प्रतिज्ञा विरोधः । १।

तादृश प्रतिज्ञा का विरोध हो जाता है स्वातन्त्र्य रूप से प्रधान को सर्वजगत् के कारणता
पक्ष में इसलिए सत्पदवाच्य प्रधान नहीं है । प्रधान कारण पक्ष में क्यों प्रतिज्ञा
का विरोध होता है ? उत्तर=क्योंकि प्रधान स्वयं अचेतन जड़ है । तो
प्रधान का विज्ञान होने पर भी जड़ चेतन साधारण सम्पूर्ण प्रपञ्च का विज्ञान
नहीं होगा । क्योंकि चेतन वर्ग तो प्रधान का कार्य है नहीं तब प्रधान का ज्ञान होने पर
भी चेतन का ज्ञान नहीं होने से सर्व वस्तु विषयक प्रतिज्ञा का स्पष्ट रूप से विरोध होता
है । और सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट परमात्मा के 'यतोवा इमानि' इत्यादि श्रुति बोधित जगत्
कारणता पक्ष में तो सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की ही सत्पदवाच्यता होने से तादृश ब्रह्म के
विज्ञान से, स्थूल रूप से परिदृश्यमान जड़ चेतन साधारण कार्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञात
हो जाता है । अतः प्रतिज्ञा की उपपत्ति होने में कोई भी बाधक नहीं होता है । इस विषय का
ही स्पष्टीकरण भाष्यकर करते हैं । 'तथाहि इत्यादि' 'हे श्वेतकेतु ! तुम बहुत उद्धत अविनीत हो
क्या तुमने अपने गुरु से जगत् का जो प्रशासक है उनके विषय में प्रश्न पूछ लिया है ?
यहाँ आदेश शब्द का अर्थ है प्रशासन करने वाला । आइए उपसर्गक दिश घातु से कर्त्ता अर्थ
में बाहुलकात् घञ् प्रत्यय हुआ है । तथा कारक विवक्षाका अधीन है ऐसा सिद्धान्त है ।
अथवा अर्शाद्यन्त आदेश शब्द है ऐसा समझना ।

ऐसा होने से सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण रूप प्रशासक सम्पूर्ण जगत् का आत्मरूप
परमात्मा के विषय में तुमने पूछा ? ऐसा वाक्यार्थ बोध 'स्तब्धोसीत्यादि' वाक्य से होता है ।
उसके बाद स्वयमेव उद्दालक ऋषि ने जिसके श्रुत होने से अश्रुत पदार्थ श्रुत हो जाता है' ।
इस प्रतिज्ञा का कथन किया । 'हे भगवन् ! किस तरह से यह आदेश होता है !' इस
प्रकार श्वेतकेतु के जिज्ञासा करने पर प्रतिज्ञात अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाने की इच्छा

मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् [६।१।७] इत्यादि
दृष्टान्तानां 'सदेव सोम्य' इत्यादिवाक्यानाञ्चोपादानम् ।
एतत्सर्वमुपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वेन सत्पदवा-
च्यत्वमित्यर्थे सिद्ध्यति ॥९॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम्

५ स्वाप्ययात् १।१।१०॥ ५

अत्रापि तदेव सत्पदवाच्यं कारणं प्रकृत्याह 'स्वप्नान्तं मे
जगत्कारणीभूतं सदात्मानं प्रकृत्यश्रुतिः स्वाप्ययंदर्शयति । तत्राप्ययोनाम
विनाशः स्वकारणे लयः यथा घटस्य लयो घटकारणे मृत्तिकायामेव भवति । नतु मृत्संबद्धे-
घटानात्मके जलादौ वा लयो भवति । किन्तु घटोपादान एव लयो जायते । तद्वत् प्रकृते,
से हे सोम्य ? जिस तरह एक मृत्पिण्ड का ज्ञान होने पर समस्तमृन्मय पदार्थ विज्ञात हो
जाता है' इत्यादि दृष्टान्त तथा 'सदेव सोम्य ।' इत्यादि वाक्यों का उपादान किया ।

यह सब विषय उपक्रमोपसंहार द्वारा ब्रह्म को जगत् कारण रूप से सत्पदवाच्यत्व
मानने पर ही सिद्ध होता है । तस्मात् सत्पदवाच्य परमात्मा ही है तथा वही जगत् का
कारण है । नतु स्वतन्त्र रूप से प्रधान जगत् का कारण है । नत्रा सदेवेत्यादि वाक्य घटक
सत्पद का वाच्य है । प्रधान को एतादृश मानने पर प्रतिज्ञा विरोधादिक का प्रसेग उपस्थित
हो जाता है अतः सर्वेश्वर श्रीगम को ही सत्पद बोध्य तथा जगदभिन्न निमित्तोपादानका-
रण मानना शास्त्र युक्ति संगत है ॥९॥

सत्पदवाच्य में जीव के लय का स्वाप्यय प्रकरण में कहा गया है 'पदार्थो का
उत्पादस्थिति' जिस तरह उपादान में ही होता है । उसी तरह प्रलय भी उपादान में ही
होता है । इसलिए उत्पादादिक हेतु से कारणत्व का निश्चय होता है । यहां सत्पदवाच्य
में जीव का लय कहा गया है तो यह लय अकारण लक्षण प्रधान में असंभवित है । अतः
सत्पदवाच्य परमात्मा ही है । इस बात को बतलाने के लिए तथा अग्रिम सूत्र का
उत्थान करने के लिये भाष्यकार कहते हैं, 'इतश्चेत्यादि' वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध
होता है कि प्रधान सत्पदवाच्य नहीं है । 'स्वाप्यय=स्व में कारण में कार्य
का प्रबिलय रूप हेतु से सिद्ध होता है कि परमात्मा सत्पदवाच्य है प्रधान सत्पद
वाच्य नहीं है । सूत्र का स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं 'अत्रापित्यादि'—इस प्रकरण
में भी उसी सत्पदवाच्य कारण को प्रकृत करके कहते हैं । 'स्वप्नान्तं मे विजानाहीत्यादि' 'हे

सोम्य विजानीहीति' 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वमपितीत्याक्षते स्वंहपीतो भवति' [छा० ६।८।१।] इति सुषुप्तस्य जीवात्मनः सता सम्पत्तिर्भवतीति श्रुतिर्दर्शयति । स्वमपीतो भवतीत्यनेन प्रलयो बोध्यते । स च सर्वेषां स्वकारण एव भवतीति सकलतान्त्रिक स्वमपीत्यत्र चिदचिद्विशिष्टे परमात्मनि जीवस्य लयो दर्शितः । स च लयो जीवस्य जीवस्य कारणे एव स्यात् । नत्वकारणे प्रधाने संभवति । तस्मात् सत्पद वाच्यं सकलजगत्कारणं ब्रह्मैव जगतः कारणं नतु स्वतन्त्ररूपेण प्रधानं जगतः कारणं भवति स्वाप्ययादित्येतत्सर्वबोधयितुमाह इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यमिति । वक्ष्यमाण स्वाप्ययकारणादपि सत्पदवाच्यता प्रधानस्य न भवति किन्तु परमात्मन एवेति । सोम्य ! हम से तुम स्वप्नान्त अर्थात् सुषुप्ति को जानों' । जिस काल में यह 'स्वपिति' 'अर्थात् सो जाता है उस समय में सत् परमात्मा के साथ संपन्न हो जाता है । स्वकीय स्वरूप को प्राप्त कर जाता है । इसलिए इस जीव को स्वपिति कहते हैं । स्वरूप को प्राप्त कर जाता है ।' इस सुषुप्त जीवात्मा को सत् के साथ संपत्ति हो जाती है । ऐसा श्रुति कहती है । [जीव की तीन अवस्था होती है—जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था । उसमें इन्द्रियादिजन्य ज्ञानावस्था को जाग्रत् अवस्था कहते हैं । बाह्य करणानपेक्ष ज्ञानावस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं । जिसमें निद्रित पुरुष वासनादि के बल से हस्ति अश्वादिक विविध पदार्थ का अनुभव करता है । यह स्वप्न तीन कारणों से होता है । वासना से, रोग से, भाग्य से । उसमें दिन में देखा हुआ पदार्थ वासना के द्वारा देखने में आता है उसको वासना-मूलक कहते हैं । ज्वर, कफ और वात मूलक रोगों के द्वारा जो देखता है उसको रोग जनित स्वप्न कहते हैं । जैसे सीमातीत ज्वर होने पर दिग्दाहादिक को देखता है । कफ के अधिकता से जल संतरण वर्षादिक को देखता है । वायु प्रकोप से अपने को आकाशादिक संचरणशील देखता है । ये सब स्वप्न रोगमूलक कहलाता है । और सोता हुआ पुरुष कदाचित् अपने को हाथी पर चढ़ा हुआ देखता है । इसमें से तृतीय जी भाग्यज स्वप्न होता है वह शुभाशुभ का सूचक होता है । और तदितर स्वप्न शुभाशुभ का सूचक नहीं होता है ये तीनों प्रकार का स्वप्न पुनः तीन ही तीन प्रकार का होता है । जाग्रत, जाग्रत ? 'जाग्रत स्वप्न, जाग्रत सुषुप्ति । स्वप्नस्वप्नजाग्रत, स्वप्नसृष्टि । सुषुप्ति जाग्रत् सुषुप्ति, सुषुप्तिस्वप्न सुषुप्ति । इन सबका विशेष विवरण सूचकश्चतुर्विधः' इस ब्रह्म-

समयः । एवञ्चात्र सत्पदेन प्रधानाख्ये केवलेऽचेतने गृहीते तत्रैव लयो वक्तव्यः । स चायुक्त एव । नहि चेतनस्य जीवस्याचेतने लयः सम्भवदुक्तिकः । तस्मात्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे ब्रह्मणि सत्पदवाच्य एव स्वाप्ययो युक्त इति ॥१०॥

सूत्रं व्याख्यातुमाह अत्रापीत्यादि' अस्मिन् प्रकरणे तमेव कारणीभूतं परमात्मनं प्रस्तुत्य जीवस्य सुषुप्तिं दर्शयति स्वप्नान्तं सुषुप्तिं मे मम कथयतो विजानीहीति । यस्यामवस्थायां जीवः स्वपिति तस्मिन् समये जीवः सता ब्रह्मणा संपन्नो ब्रह्मणि विलीनो भवतीति श्रुतेरर्थः । अन्यजीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिं दर्शयति संपत्तिर्नाम कारणे कार्यस्य विलयः । स च यथा कार्यस्य कारणे एवोत्पत्तिस्थितीभवतस्तथैव लयोऽपि तत्रैवभवतीति । अतएवोत्पत्तिस्थितिलयैः कारणताया विनिश्चयो भवतीति तान्त्रिकाः । एवं च यदि सत्पदवाच्यं कदाचित्प्रधानं विवक्ष्येत तदा लयादिकं कथं जीवस्य तत्रोपपद्येत । प्रधाने तदनात्मकतदजन्यस्य तत्रलयासंभवात् । सत्पदेन परमात्मपरिग्रहेनायं दोषः । श्रुतिभिः परमात्मनि जीवस्य लयादिप्रतिपादनात्तस्मात्स्वाप्ययान्न प्रधानं जगत्कारणं किन्तु चिदचिच्छरीरकः परमात्मैव तथेति सूत्रस्याशयः ॥१०॥

सूत्रभाष्य के प्रकाश में देखिये ॥ 'स्वमपीतो भवति' इससे जीव के प्रलय का प्रतिपादन किया जाता है । एतादृश प्रलय जन्य सब पदार्थ का स्वकीयोपादान कारण में होता है । नतु अकारण में अथवा उपादान सहकारी कारण में होता है । यह नियम सर्व संमत है । इस स्थिति में यदि यहाँ सत्पद से केवल अचेतन प्रधान का ग्रहण किया जाय तब तो उसी प्रधान में जीवके लय का प्रतिपादन किया जायगा यह तो बन नहीं, सकता है । क्योंकि चेतन जो जीव है । उसका अचेतन प्रधान में विलय नहीं हो सकता है । अर्थात् चेतन का प्रविलय अचेतन में कथमपि संभवित नहीं है ।

इसलिए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट सत्पदवाच्य ब्रह्म में ही जीव का प्रलय होता है यह कहना युक्त है । यद्यपि जीव अनादिनिघन है । उसका प्रादुर्भाव तथा प्रलय का चित्तन निरर्थक प्राय ही तथापि श्रुति के स्वारस्य से जीव का प्रादुर्भाव तथा प्रलय चिदचिद्विशिष्ट परमेश्वर से माना जाता है । यही भेद केवलाद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत में है । एक व्यक्ति जीव में औपाधिक उत्पाद प्रलय मानते हैं । और दूसरे लोग चिदचिद्विशिष्टरूप से स्वाभाविक मानते हैं । इसका विचार गत प्रकरणों से तथा सम्प्रदाय निष्णातों से जानिये । या चिदात्मप्रबोध की टीका मेरी लिखी चिदात्म मीमांसा से अवगत करें ॥१०॥

प्रधानं न जगत्: कारणमित्यर्थेऽन्येषां वेदान्तवाक्यानां
सम्मतिमाह—

॥ गतिसामान्यात् ११११११ ॥ ॥

सर्वेष्वपि वेदान्तेषु चेतनस्य ब्रह्मण एव कारणत्वमुच्यते न
प्रधानादीनाम् । यद्यत्र सद्विद्यायां सत्पदवाच्यं प्रधानमेव जग-
त्कारणतयोच्येत तर्हि तद्विन्नानामात्मपदबोध्यब्रह्मणो जगत्कारण-
त्वाभिधायिनीनामनेकश्रुतीनां वैमत्यं प्रसज्येत । एकार्थप्रतिपा-
दकत्वरूपमेकवाक्यत्वञ्च भज्येत । ताश्च श्रुतयः ‘आत्मा वा इद-

यथा सर्वेषां चक्षुः समानरूपेणरूपादिमत्सु संयुक्तं सत् रूपमात्रं ग्राहयति नतु
रसादिकं नवा कस्यचिच्चक्षू रूपं प्रकाशयति । कस्यचिच्चतदन्यत् प्रकाशयति ।
तथैव सर्वत्र वेदान्तेषु समानैव जगत्कारणलक्षणचेतनस्यावबोधनम् । नतु नैयायि-
कादिसिद्धान्तवत् क्वचित्परमाणुं कारणतया गृह्णाति । क्वचित् प्रधानं क्वचिदभा-
वादिकं वेत्येतत्सर्वं प्रकाशयितुं प्रक्रमते प्रधानं न जगत्:कारणमित्यादि । न प्रधानं

इससे पूर्व प्रकरण में यह सिद्ध किया गया कि चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण है । किन्तु
सांख्य मत सिद्ध प्रधान स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण नहीं है । इस विषय में अन्य
वेदान्त वाक्यों की भी सहमति वतलाने के लिए कहते हैं ‘गति सामान्यात्’ सब वेदान्त में
चेतन ब्रह्म को ही जगत् के प्रति कारणत्व का प्रतिपादन किया गया है । किन्तु प्रधान
परमाणु काल अभावादिक में जो कि अचेतन हैं उन सब में जगत् कारणता का प्रतिपादन
नहीं किया गया है । यदि इस सद्विद्या प्रकरण में सत् पदवाच्य प्रधान ही जगत् कारण
रूप से कहा जाय तो प्रधान कारणता बोधक श्रुति से भिन्न, आत्मपदबोध्य ब्रह्म के जगत्
कारणता प्रतिपादक ‘आत्मा वा’ इत्यादि श्रुतियों में परस्पर वैमत्य हो जायगा । अर्थात्
एक श्रुति कहती है कि जगत् का कारण प्रधान है । तथा तदितर श्रुति में, आत्मा में
कारणता का प्रतिपादन करती है । तो दोनों में परस्पर विरोध हो जायगा । तथा एकार्थ
प्रतिपादकता रूप एक वाक्यत्व का भी भंग हो जायगा । परन्तु स्वतः प्रमाण वेद में
यदि ऐसा वैमत्य मानें तब तो वेद का जो स्वतः प्रामाण्य है वह अनुपपन्न हो जायगा ।
सत्पदवाच्य प्रधान का बोधक वाक्य तो सदेवेत्याजिक है । परन्तु आत्मा में कारणता बोधक

मेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत् स ईक्षते लोकान्नु सृजा
इति स इमान् लोकान्सृजत' [ऐ० १।१।] 'आत्मन एवेदं सर्वम्
[छा० ७।२६।१।] 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' [तै०
२।१।] आत्मन एष प्राणो जायते' [प्रश्न० ३।३।] 'यतो वा
इमानि भूतानि जायन्ते' 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' [तै० ३।१।]
इत्याद्याः । एतेषां वाक्यानां या गतिर्यत्रार्थेऽध्यवसिता प्रवृत्तिस्त-
त्समानार्थकत्वादस्यापि वाक्यस्य सा स्यात् । प्रदर्शितवाक्येष्व-

जगतः कारणं किन्तु ब्रह्मैव जगतः कारणमिति सर्ववेदान्तानां समानैव प्रवृत्तिरि-
त्यर्थः । गति सामान्यादिति गतिरवगतिः प्रवृत्तिर्वा सा च सर्ववेदान्तेषु समानैव । नतु
मतान्तरवद् विभिन्ना । वेदेनास्ति परस्परं व्याघातः किन्तु सर्वेषां समानार्थकानामेक-
वाक्यत्वेनैकार्थस्यैव बोधकत्वमिति भावः । यद्यति सदेवेति वाक्ये प्रधानस्य कारणत्वमा-
श्रुति कौन है ? इस जिज्ञासा के निवृत्त्यर्थ भाष्यकार आत्मबोधक श्रुतियों को बतलाते हैं
'तादृचश्रुतयः' इत्यादि 'यह परिदृश्यमान जडाजडसाधारण जगत् उत्पत्ति के पूर्व में आत्म
रूप ही था । अन्य कोई भी पदार्थ नहीं था । उस आत्मा ने ईक्षण किया कि मैं इन
लोकों का सर्जन करूँ ! ऐसा विचार करके उसने भूरादि 'लोकों का सर्जन किया' (ऐतरेय)
'यह जगत् आत्मा से उत्पन्न होता है । (छान्दोग्य) 'उस आत्मा से आकाशादिक उत्पन्न
हुआ (तैत्तरीय) । 'आत्मा से यह प्राणादिक पदार्थ उत्पन्न होता है (प्रश्नोप०) । जिस
सर्वज्ञ परमात्मा से आकाशादिक भूत उत्पन्न होते हैं उसकी जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है'
(तैत्तरीय) इत्यादिक श्रुति साक्षात् आत्मा को कारणत्व का प्रतिपादन करती है । इन सब
वाक्यों की जो गति जिस अर्थ में प्रवृत्ति है तत्समानार्थक होने से इस 'सदेवेत्यादि'
का भी तादृश ही प्रवृत्ति है । प्रदर्शित 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि वाक्यों में आत्म पद का
स्पष्ट रूप से चेतन में ही समस्त चेतनाचेतन जगत् कारणत्व का समर्थन किया जाता
है । इन वाक्यों में जो आत्म पद है वह स्ववाच्य रूप से किसी अचेतन पदार्थ का
उपस्थापक नहीं होता है । अर्थात् जिस तरह घटादिक पदशक्ति सम्बन्ध से घटादि
रूप अर्थ का ही उपस्थापक होता है । उसी तरह आत्म पद भी चेतन रूप अर्थ
का ही उपस्थापक होता है । किन्तु अचेतन पदार्थ की उपस्थिति का जनक नहीं
होता है ।

त्मादिपदोपादानाच्चेतन एव जगत्कारणत्वसमर्थनम् । नह्यात्म-
शब्दोऽत्र समुपस्थापयति स्ववाच्यतयाऽचेतनम् । ननु दृष्ट एवा-
त्मशब्दोप्यर्थान्तरे प्रयुक्तः 'ममात्मायम्पुत्रः' 'आत्मानं सततं रक्षेत्'
'भूतात्मा' प्राणात्मा' इत्येवं प्रामाणिकप्रयोगाणां बाहुल्यादिति-
चेन्न । उदाहृतेषु प्रयोगेष्व्वात्मशब्दस्य भाक्तत्वात् । अन्यथाऽने-
कार्थकत्वप्रसङ्गात् । सत्येकार्थतात्पर्यनिश्चयेऽनेकार्थकत्वकल्पनाया
जघन्यत्वात् । स आत्मा तत्त्वमसीत्यादौ नहि श्वेतकेतोश्चिच्छरीरक-
स्यात्मदपवाच्य कश्चिदचेतन आत्मा स्यात् । तस्मादनेक-
युक्तिप्रमाणैरात्मपदवाच्यश्चेतन एवेति सिद्धम् ॥११॥

त्मनो वा कारणत्वमिति न निश्चयो निश्चायकता पदाभावात् । तथापि आत्मा वा इद-
मेकः इत्यादि अनेकस्थले आत्मनो बोधकपदसत्त्वेन तादृश आत्मन एव जगत्कारणत्वं
ननु प्रधानस्य । सदेवेति वाक्यस्य आत्मत्वादिवाक्यसमानार्थकतया एव वाक्यत्वे
कृते सति सदादिपदमपि ब्रह्मणश्चेतनस्यैव कारणतां समर्पयतीति । अत एव

नहीं कहो कि, 'ममात्मापुत्रः' मेरा आत्मा ही पुत्र है । आत्मा अर्थात् शरीर का
सतत रक्षण करना चाहिए । 'भूतात्मा इन्द्रियात्मा' इत्यादि अनेक स्थल में देखता हूँ कि
आत्मा शब्द अचेतन अर्थ में प्रयुक्त होकरके अचेतन पदार्थ का भी वाचक होता है ।
तब आत्मा पद अचेतन का वाचक नहीं है यह कहना तो ठीक नहीं है । ऐसा कहना
ठीक नहीं है । क्योंकि 'ममात्मापुत्रः' इत्यादि उदाहरण स्थल में आत्मा शब्द शक्ति द्वारा
अचेतन अर्थ का उपस्थापक नहीं है । किन्तु जिस तरह 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादि स्थल
में मञ्च पद लक्षणा द्वारा मञ्चस्थ पुरुष का उपस्थापक है उसी तरह चेतनेतर पदार्थ बोधक
स्थल में आत्म पद लाक्षणिक है । तो 'ममात्मापुत्रः' इत्यादि स्थल में आत्म पद लाक्षणिक
है । अन्यथा आत्मपद को अनेकार्थकत्व प्रसंग हो जायगा । एक पद यदि शक्ति द्वारा ही
अनेक अर्थ का वाचक होता है वहाँ अनेकार्थकत्व दोष होता है । 'हरि' पद में अन्यथानु-
पपत्त्या अनेकार्थकत्व कथञ्चित् मान लिया जाता है सर्वत्र यह नहीं माना जाता है । यद्यपि
एक ही पद लक्षणा द्वारा अर्थद्वय का प्रतिपादक होता है । तथापि एक पद यदि शक्ति
द्वारा अनेक अर्थ को समझावे तो तादृश स्थल में अनेकार्थकत्व दोष होता है ।

इतश्च न सत्पदवाच्यं प्रधानम् ।

५ श्रुतत्वाच्च १।१।१२। ५

श्रुतमेवास्मिन्सद्विद्याप्रकरणे सच्छब्दवाच्यस्योत्तरत्रवाक्ये-
ष्वात्मत्वेनानुस्मरणम् । तथा हि—सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रम्य
असद्वा इदमग्रे इत्यादिवाक्यमपि आत्मन एव कारणतां बोधयति । आत्मपदार्थाभा-
वेपि परग्रन्थपर्यालोचनयेति । आत्मावा इदमग्रे इत्यादिवाक्ये घटकतया आत्मपदस्य
विद्यमानत्वाच्चेतनस्यैव कारणता समर्थिता भवति । न ह्यात्मपदमचेतनस्य कस्यचि-
दुपस्थापकं भवति । न च ममात्मापुत्र इत्यादिप्रयोगो भवतीति वाच्यं गङ्गायांघोषः
इत्यादिवल्लक्षणिकतयापितदुपपत्तेः । नहि कुत्रचिल्लक्षणया प्रयुज्यमानं पदं सर्वत्रवाच-
कतां विस्मरति । नवा लक्षणालभ्यार्थरूपदस्यानेकार्थतेति । तस्मादत्रप्रमाणयुक्त्यादि-
भिश्चेतन एवात्मपदवाच्यो भवति । स एव च जगतः कारणं न कदाचिदपि प्रधानं
जगतः कारणं सिद्धं भवतीति भावः ॥११॥

यदि एक अर्थ का तात्पर्य निश्चय रहे तब अनेकार्थकत्व कल्पना यह जघन्य पक्ष
है । 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस स्थल में चेतन शरीरक आत्मपदवाच्य श्वेतकेतु का अचेतन
कोई आत्मा नहीं हो सकता है । अतः अनेक युक्ति तथा प्रमाणों से आत्मा पद का वाच्य
चेतन है ऐसा सिद्ध होता है ॥११॥

पूर्वोक्त श्रुतियुक्तिभिः प्रधानं न जगतः कारणं किन्तु चेतन एव कश्चिज्जगतः
कारणमित्यवधारितम् । इदानीं परमेश्वरस्य साक्षादेवजगत्कारणत्वप्रतिपादकं वाक्य-
जातमुदाहर्तुं प्रक्रमते । 'इतश्च न सत्पदवाच्यं प्रवानमित्यादि । अनेकामुपनिषत्सुसाक्षादेव
परमात्मनः कारणत्वमिति श्रुतत्वात्परमेश्वर एव जगत्कारणं नान्य इति । श्रुतमेवास्मिन्नि-
त्यादि । अस्मिन् प्रकरणे जगत्कारणतया श्रुतस्य चेतनस्यात्मरूपेणानुस्मरणमग्रिमवाक्येषु
साक्षादेवानुस्मरणं दृश्यते । तामेव श्रुतिमुदाहरति तथाहीत्यादिना । सत्यकामत्वादिका
धर्माः श्रुताः न ते अचेतने प्रधाने कथमपि संभवन्ति । किन्तु ते गुणाः परस्मिन् ब्रह्म-
ण्येवावकल्प्यन्ते । तथा सकारणं करणाधिपाधिपः इत्यादिश्रुतयःसाक्षादेव परब्रह्मणो
जगत्कारणतां प्रतिपादयन्ति ।

वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि प्रधान सत्पद का वाच्य नहीं है । क्योंकि
'श्रुतत्वात्' सुना गया है कि इस सद्विद्या के प्रकरण में सत् पदवाच्य परमात्मा का उत्तर
वाक्यों में आत्मरूप से कथन है । तथाहि—हे सोम्य ! यह जगत उत्पत्ति के पूर्व में
सत्पदवाच्य आत्म स्वरूप ही था । इस प्रकार से उपक्रम करके 'उसने तेज का उत्पादन

‘तत्तेजोऽसृजत’ सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः’ इति मध्ये प्रदर्श्य ‘स एषोणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ [छा० ६।९।३।] इत्येवमादिभिस्तस्य सच्छब्दवाच्यस्यात्मत्वमुपदर्श्य सत आत्मन एव जगत्स्रष्टृत्वनामरूपव्याकर्तृत्व सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व सर्वाधारत्वादयोगुणाः स्पष्टम्प्रतिपादिताः । एवं तस्यामेवोपनिषदि सप्तमाष्टमयोः प्रपाठकयोः ‘आत्मैवेदं सर्वम्’ [छा० ७।२५।२।] ‘आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप’ इत्यारभ्य ‘आत्मत एवेदं सर्वम्’ [छा० ७।२६।१।] ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’

तथैव श्रुत्युपबृंहणीभूताः स्मृतयोऽपि

‘यो ब्रह्माणं विदधाति’ इत्येतच्छ्रुतिमानतः ।

रामो विधिं विधायादौ तस्मै वेदं हि दत्तवान् ।

अजडं चेतनं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणम्”

(श्रीबोधायनमतादर्शः २।५)

‘रामाज्जातः स्वयंभूश्च सर्जको जगतस्तथा ।

शङ्ककरोऽखिलसंहर्ता विष्णुश्च विश्वपालकः ॥

ब्रह्माद्यन्तः स्थितो भूत्वा सृष्टिं करोति राघवः ।

संहरते शिवादिस्थो विष्णुरूपेण रक्षति ॥

अचेतनमिदं सर्वं शरीरं चेतनस्य हि ।

शरीरं नेङ्गते किञ्चित् कदापि चेतनं विना ॥

अणुजीवंप्रविश्येशः सर्वतनुप्रवर्त्तकः ।

अभिमानं ततस्त्यक्त्वा रामायान्यं स्वकर्म हि ॥

क्रिया’ । यह सब प्रजा सन्मूलक है । सत् ही उनका आयतन है । सत् में ही सब प्रतिष्ठित है ।’ इस प्रकार से प्रकरण मध्य में बतलाकरके ‘वह परमेश्वर अति अणु है तदात्मक ही सब जगत है । वह सर्वथा सत्य है । वह सबका आत्मा है । हे श्वेतकेतु ! तुम भी तादृश आत्म स्वरूप ही हो’ । इन सब कारणों से सत्पदवाच्य में आत्मत्व का वर्णन करके उसी सत् आत्मा को जगत्सर्गत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वाधारत्वादिक गुणों का स्पष्ट रूप

इत्यारभ्य 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'
छा० [८।४।१।] इति श्रुतम् । एभिः स्पष्टमेव सत्पदवाचात्मन एवा-
पहतपाप्मत्व सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादयोऽसाधारणधर्माः प्रतिपा-
दिताः । तस्मादत्र सत्पदवाच्यस्य परमात्मन एव जगत्कारणत्वमिति
सिद्धम् ॥१२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये ईक्षत्यधिकरणं पञ्चमम् ।

श्रुतिवेद्यश्च रामो हि ब्रह्म श्रुतिसमन्वितम् ।

कर्ता वेदस्य दाता च विभुर्नित्यः परेश्वरः ॥

सच्चिदानन्ददेहश्च सच्चिदानन्दलक्षणः ।

भक्त्यैव मुक्तिदाता स स्वप्रपच्या तथैव च ॥

प्रपत्तिर्जानकीशाय स्वस्वीयानां समर्पणम् ।

न्यासकलानिधौ सा श्रीचिदानन्दैर्निरूपिता ॥

जगद्धेतुः पर ब्रह्म श्रीरामः सकलेश्वरः”

(श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।५२-५९) इत्यादयः ।

नतु प्रधाने ते गुणाः संभवन्ति प्रधानस्याचेनत्वात् सिद्धं ब्रह्मणश्च सर्वजगत्
कारणत्वं नतु प्रधानस्येति संक्षेपः ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ईक्षत्यधिकरणपञ्चमम् ।

से प्रतिपादन किया गया है । एवं छान्दोग्य के सप्तम अष्टम अध्याय में भी 'यह सब आत्म-
रूप है' । आत्मा से आकाश, तेज, जल उत्पन्न होता है । ऐसा आरंभ करके 'आत्मा से
ही ये सब होते हैं । 'यह आत्मा अपहतपाप्मा है' इस प्रकार कह करके 'वह सत्य कामा-
दिक गुणवाला है वह अन्वेष्टव्य है, वह ब्रह्म है' ऐसा श्रवण होता है । इससे स्पष्ट प्रतीत
होता है कि सत्पदवाच्य आत्मा का ही सत्संकल्पादिक असाधारण गुण है । इसलिए यहां
सत्पदवाच्य परमात्मा ही जगत् का कारण है । तदन्य कारण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१२॥

इति आनन्दभाष्यसिंहासनासीनजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे ईक्षत्यधिकरणं पञ्चमम् ।

॥ अथानन्दमयाधिकरणम् ॥६॥ ॥

तदेवमथात इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येतदन्तैः सूत्रैः सर्वज्ञ-
सर्वशक्तिमत् सर्वकारणं सर्वात्मकं चित्स्वरूपं ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रति-
पाद्यमित्युपपाद्याचेतनप्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वनिरासेन
न ब्रह्मलक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरिति स्पष्टमुपपादितम् ।

॥ श्री रामाय नमः ॥

आनन्दमयमात्मानं नत्वारामं यतीश्वरः ।

अस्यानन्दमयस्यात्र विचाराय प्रवर्तते ॥१॥

ब्रह्मणो जिज्ञासा सा कर्तव्येति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता । जिज्ञासितव्यं च ब्रह्मेति
ततः शास्त्रप्रमाणमात्रेणाधिगतं भवति । शास्त्रं च यतोवा इत्यादिकं जगदुत्पत्ति-
स्थितिलयकारणे परमात्मन्येव प्रमाणं नतु प्रधानादावचेतने प्रमाणमित्यादिकं पूर्वा-
प्रकरणे एव सर्वं व्युत्पादितम् । एतत्सर्वं प्रथमसूत्रादारभ्य द्वादशसूत्रपर्यन्तसूत्रैः कृत-
मेव । ततः परं ग्रन्थस्योत्थाने किं कारणमिति शङ्कायाः समाधानाय भाष्यकारः
प्रक्रमते तदेवमथात इत्यारभ्येत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तप्रकारेण अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति
प्रथमसूत्रादारभ्य द्वादशसूत्रपर्यन्तसूत्रसमुदायेन सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्त्वादिगुणकं ब्रह्मैव
वेदान्तवाक्येन प्रतिपादितं भवति । तथाऽचेतनस्य प्रधानस्य जगत् कारणता
न भवतीति सर्वं निवेदितम् । अतः उत्पत्तिस्थितिलयकारणत्वलक्षणलक्षणस्याचेतने
प्राप्तिर्न भवति-इत्यादिकं सर्वमुपपादितमेवेत्यर्थः । परन्तु विशिष्टगुणकेकस्मिंश्चित्चेतने

इस प्रकार 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र से आरंभ करके, 'श्रुतत्वाच्च'
इस द्वादशसूत्र पर्यन्त सूत्र समुदाय से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वकारण सर्वात्मक तथा चेतन
लक्षण परं ब्रह्म ही सर्ववेदान्त प्रतिपाद्य है ऐसा उपपादन करके अचेतन प्रधान को स्वातन्त्र्येण
जगत् कारणता का निराकरण करके ब्रह्म का जो उत्पत्त्यादि लक्षण, लक्षण है उसका प्रधा-
नादिक में अतिव्याप्ति नहीं होती है ऐसा स्पष्ट रूप से निर्वचन किया गया है ऐसा होने
पर भी चेतन सामान्यात् प्रकृति का जो विलक्षण संयोग तन्मूलक अनेक प्रकारक दुःखाग्नि
से संदीप्त प्रत्यगात्मा में भी शास्त्रदर्शित उपायों से दुःख रूप अंश से विशुद्ध होने पर उस
जीव विशेष में ब्रह्म लक्षण की अतिव्याप्ति से भवित है । एतादृश शंका का निराकरण
करने के लिए इसके आगे का जो प्रकरण है उसका उत्थान करते हैं 'आनन्दमयोऽभ्या-
सात्' आनन्दमय पदवाच्य जीव नहीं है किन्तु परमेश्वर ही है । क्योंकि आनन्दमय का
अभ्यास वारं-वार कथन होने से । यह सूत्र का संक्षिप्त अर्थ होता है ।

अथापि चेतनसामान्यात्प्रकृतिसंयोगहेतुकविविधवृजिनसन्त-
प्तस्य प्रत्यगात्मनोऽपि कैश्चिच्छास्त्रोपदर्शितोपायैस्तदंशविशुद्ध-
तायां सम्पादितायां तत्र तल्लक्षणस्योपसङ्क्रमः स्यादिति तामिमां
शङ्कामपाचिकीर्षन्नुत्तराधिकरणमास्वयति—

तल्लक्षणस्यैतावताऽतिव्याप्तिर्ननिवारितेति तामतिव्याप्तिं निराकर्तुमग्रिमग्रन्थस्या-
वतरणं करोतीति, अवतरणभाष्यस्याशयः । अथवा वादिविप्रतिपत्त्याद्विविधं ब्रह्म
सोपाधिकं निरूपाधिकं च । तत्र निरूपाधिकस्य गुणद्वारा निर्वचनं न संभवति ।
सोपाधिकस्योपाधिद्वारा स्यात् । स चोपाधिः स्वाभाविक आगन्तुर्वेति संशय्य सत्य-
कामत्वादिगुणानां स्वाभाविकत्ववत् गुणान्तराणामपि स्वाभाविकतां दर्शयितुं प्रकर-
णान्तरस्यारंभ इति । आनन्दमयशब्देन जीवस्य ग्रहणम् परमेश्वरस्य वेति संशयः ।
जीव एवेति पूर्वपक्षः । परमेश्वर एव अभ्यासादित्युत्तरः पक्ष इति सूत्रस्य मुकुलितोऽर्थः ।
विशेषविवरणमग्रे भविष्यतीति अवतरणभाष्याशयः ।

तैत्तिरीयक उपनिषद् में 'अन्नमय' अन्नमय स्थूल शरीर, प्राणमय कोश, मनोमयविज्ञा-
नमय के प्रतिपादन के अनन्तर में, 'तस्माद्वात्' पूर्वक्रमागत इस विज्ञानमय से भिन्न तथा
उसके अभ्यन्तरवर्ती आत्मा आनन्दमय है । उस आनन्दमय से यह विज्ञानमय पूर्ण व्याप्त
है, यह पुरुषाकार है । उस विज्ञानमय के पुरुषाकारता के बाद यह आनन्दमय भी पुरु-
षाकार है । उसका प्रियशिर है । मोद दक्षिण पक्ष है । प्रमोद उत्तर पक्ष है । आनन्द
आत्मा है । ब्रह्म पुच्छ अर्थात् प्रतिष्ठा है । इस प्रकार से उक्त उपनिषद् में श्रुत
है । इसमें संशय होता है कि क्या यहाँ आनन्द पद से परब्रह्म का बोध होता
है । जो पर ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित होता है ।
अथवा आनन्दमय पद से प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव का बोध होता है जो
कि शुभाशुभ कर्मफल का भोक्ता है । परमात्मा तथा जीव इन दोनों के मध्य में
किसका ग्रहण करने से प्राकरणिक अर्थों का सामंजस्य होता है । तो इसमें क्या युक्त
है ? क्या आनन्दमय पद से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है । अथवा जीवका ग्रहण
करना युक्त है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्रत्यगात्मा जीव का ग्रहण करने से प्राक-
रणिक सकल अर्थ का समंजस होने से जीव पक्ष ही युक्त है । क्यों ? तो अन्नमयादि
विकार का साहचर्य है । अन्नमयादि का प्रवाह में विकारी अन्नमयादिक है तो तादृश
प्रवाह मध्यपतित होने से आनन्दमया तादृश ही है । और 'तस्य शरीर आत्मा' इससे स्वपूर्व का
पुच्छ के समान आधारत्व का निर्देश होने से पूर्वापेक्षया पर में भेद भी ज्ञापित होता है ।

५ आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३। ५

तैत्तिरीयके -अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयादिप्रतिपाद-
नादनन्तरं 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्द-
मयस्तेनैषपूर्णः स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं
पुरुषविधः । तस्य प्रियमेवशिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद
उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' । ['तै० २।
५।] इति श्रूयते तत्र संशयः किमत्रानन्दमयपदेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्मेति प्रकृतं परम्ब्रह्मैवाभिधीयत आहोस्वित् प्रत्यगात्मपदवेदनीयो
जीव इति । कस्मिन्नर्थे प्राकरणिकानामर्थानां सामञ्जस्यम् ।

तैत्तिरीयोपनिषदि अन्नमयादिकं कोशमाश्रित्य प्रतिपादयति तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञान-
मयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः अन्नमयाद्भिन्नस्तदन्तर आत्मा प्राणमयः । विज्ञा-
नादन्यस्तदन्तर आत्मा आनन्दमय इति एवं श्रूयते । तत्र यो यं सर्वान्तर आनन्द-
मयः किं परमात्मा यः सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यत्र प्रकृतः । अथवा परमात्मभिन्नः कश्चित्
प्राप्तैश्वर्यो जीवो वेति संशयः । तत्र जीव एवेति पूर्वपक्षः । कुतः तस्य प्रियमेवशिर
इत्यादिनाऽवयवत्वस्य श्रवणात् । नहि भवति जीववत् परमात्माऽवयवादिमान् । तथा
तस्यैव शरीर आत्मा इत्यादिना शरीरसम्बन्धस्य प्रतिपादनात् । नहि भवति परमात्मनः
शरीरसम्बन्धः । भवति च शरीरसम्बन्धो जीवस्यावयवसम्बन्धश्च । तस्मात् जीव
एवात्रानन्दमयपदेन व्यपदिश्यते नतु परात्मेति पूर्वपक्षाशयः । कस्मिन्नर्थे इत्यादि

नहीं कहो कि आनन्दमय पद से जीवका परिग्रह किया जाय तो जीव सकल
संसार विषयक ईक्षण कार्यमात्र का स्त्रष्टृत्व नहीं हो सकता है क्योंकि जीव तो अल्पज्ञ
है, सर्वज्ञ तो नहीं है ? इस आशंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं—'तस्य च चेतनत्वे-
नेत्यादि'—उस जीव के चेतन होने से ईक्षण पूर्वक सृष्टिकर्तृत्व भी उपपन्न होता है ।
'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्' इत्यादि से आरंभ करके—आनन्द से ही यह सब आकाशादिक
भूतवर्ग समुत्पन्न होते हैं ।' आनन्द से उत्पन्न होकर के जीवित रहते हैं । और प्रलय
काल में वहीं प्रविलीयमान हो जाते हैं ।' एतदन्त यह श्रुति जीव में ब्रह्मत्व आनन्दत्व
आत्मत्व जगत्कर्तृत्व को ज्ञापित करती है । इसलिए प्रकरण के आलोचन करने से सिद्ध
होता है कि आनन्दमय पदवाच्य जीव ही है । अत एव "आनन्द का मैं अनुभव करता

किञ्च युक्तम् ? प्रत्यगात्मन्येवाखिलप्राकरणिकानामर्थानां साङ्गत्येन जीव एवात्राभिहितः । कुतः ? अन्नमयादिविकारसाहचर्यात् । तस्यैष शरीर आत्मेति तस्य पूर्वस्य पुच्छवत्तदाधारत्वनिर्देशेन ततः पृथक्त्वज्ञापनात् । तस्य च चेतनत्वेनेक्षणपूर्वकसृष्ट्यादिकर्तृत्वोपपत्तेः । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यारभ्यानन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' [तै० ३।६।] इत्यन्तेयं श्रुतिर्जीवस्यैव ब्रह्मत्वमात्मत्वमानन्दत्वं जगत्कर्तृत्वं च ज्ञापयतीति प्राप्ते ।

यस्मिन्नर्थे प्राकरणिकार्थानां संभवो भवेत्तस्यैवात्रग्रहणं युक्तं तादृशश्च जीव एव न परमात्मा विकारार्थकान्नमयादिसाहचर्यात् ।

एवं क्रमेण पूर्वपक्षं कृत्वोत्तरयितुमाह उच्यते इत्यादि । प्रकृते आनन्दमय शब्देन ब्रह्मैव गृह्यते । कुतः ! अभ्यासात् 'सैवा आनन्दस्य मीमांसा' इत्यारभ्य 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्याद्यन्तवाक्यैः एकापेक्षया शतगुणाधिक आनन्दः, अभ्यस्यमानो दृश्यते । अर्थात् मनुष्यानन्दात् शतगुणितः, आनन्दोगन्धर्वस्य, ततः शतगुणाधिक आनन्दोदेवगन्धर्वस्य एवं क्रमेण सर्वाधिक आनन्दः प्रजापतेः, तदपेक्षयापि शतगुणाधिक आनन्दः परमात्मनः । सोऽयं सर्वानन्दसमुत्कृष्ट आनन्दः सर्वातिशायिनं कमपि व्यक्तिविशेषमेवाश्रयति । नतु स्वकर्माधीनं सीमिहं' इत्याकारक प्रतीति होती है । अतः आनन्दमय पदवाच्य जीव ही है । परमेश्वर आनन्दवान् होने पर भी प्रकृत प्रकरण प्रतिपाद्य नहीं है ।

आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा है अथवा जीव है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी ने स्वकीय युक्त्यादिक से सिद्ध किया था कि जीव ही आनन्दमय पदवाच्य है परमेश्वर आनन्दमय पदवाच्य नहीं है । इस शंका का समाधान करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'उच्यते' इत्यादि । यहाँ प्रकृत में आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा ही हो सकते हैं जीव नहीं है । क्योंकि अभ्यास से अर्थात् आनन्दमय पद का वारंवार ब्रह्म में ही प्रयोग किया है । अभ्यास प्रकार को बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'तथाहीत्यादि ।' विज्ञानमय से भिन्न आत्मा आनन्दमय है । उस आनन्दमय को प्रकृत करके 'वह परमात्मा रस स्वरूप है ।' इस श्रुती में उसी आनन्द को प्राप्त करके आनन्दित

उच्यते 'आनन्दमयोभ्यासादिति । आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः ! अभ्यासात् । आनन्दमयपदस्य ब्रह्मण्येवाभ्यासदर्शनात् तथाहि—अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तम्प्रकृत्य 'रसो वै रसः' [ति० २।२७] इति तस्यैव रसत्वं सास्त्वमानन्दत्वमुक्तवोच्यते रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दीभवति । को ह्येवान्यात्कः प्रान्यात् यद्येष आनन्दो न स्यात् । एष एवानन्दयति । यदाह्येवैष एतस्मिन्नादृश्येऽनाम्येऽनिरुक्ते निलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयंगतो भवति । सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति युवास्यात्साधुयुवाध्यापकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वावित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष तानन्दवन्तं जीवमाश्रयति । यतोमनुष्यानन्दस्यपरिमितत्वश्रवणात् । सैषा आनन्दस्य मीमांसा इत्यारभ्य कायागतानन्दस्य निःसीमत्वप्रतिपादनात् । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति श्रुत्या आनन्दविशेषवतः परमात्मनो जीवप्राप्यतया प्रतिपादनात् । मनुष्यादीनामानन्दस्य सातिशयत्वं ब्रह्मानन्दस्य च निरतिशयत्वं प्रतिपादयति भाष्यकारः रसोवैसः इत्यादिप्रकरणेन ।

जीवानन्दोहिसातिशयः कर्मसंपादितश्च तादृशसुखाश्रये निरतिशयानन्दो न समुपैति । ततश्च तादृशनिरतिशयानन्दस्याधिकरणं कश्चित् पुरुष विशेष एव यः सर्वस्य नियामकः सर्वशक्तिमत्त्वादिकगुणगणोपबृंहितः । अतः आनन्दस्याश्रय आनन्दमयः होता है । कौन व्यक्ति व्यक्ति है ? जो आननप्राण क्रिया को कर सकता है यदि यह आनन्द लक्षण परमात्मा नहीं होते यदि आनन्दस्वरूप परमात्मा सबको आनन्दित करते हैं ।' जब यह जीव इस अदृश्यत्वादि गुण युक्त परमात्मा में अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है । तब वह उपासक अभय को प्राप्त कर जाता है ।' यही इस आनन्द की मीमांसा होती है । युवा हो, साधु वा शास्त्रज्ञाता तथा आशाशील दृढ बलवान् हो । उसको सर्ववित्त से युक्त यह पृथिवी प्राप्त हो । एतादृश व्यक्ति को एतादृश धन प्राप्ति जनित जो आनन्द है यह मनुष्य का एक आनन्द है । एतादृश मनुष्य का जो सौ आनन्द है वह एक आनन्द मनुष्य गन्धर्व का है । जो कर्म द्वारा मनुष्य से गन्धर्वता को प्राप्त किया है ।' इस प्रकार पूर्व पूर्व शतगुणित आनन्द के तुल्य उत्तरोत्तर का एक आनन्द है । इसी तरह गन्धर्वदेव गन्धर्वपितरः आजान देव, कर्मदेव, देव-

आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मानुषगन्धर्वा-
णामानन्दः' [तै० २।८।१।] एवं पूर्वेषां पूर्वेषां शतेन शतेन
चानन्देन तुल्य उत्तरेषामुत्तरेषाञ्चैक आनन्दः। एवं गन्धर्वदेवगन्धर्वपि
त्राजानजदेवकर्मदेवदेवेन्द्रवृहस्पतिप्रजापतीनामानन्दानुक्त्वाह' 'ते
ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणः, आनन्दः । यतो वाचो
निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति
कुतश्चन' [तै० २।८।१।] इत्यानन्दवल्यामसकृदभ्यस्यमानमानन्दपदं
स्वकर्मोपार्जितानन्तक्लेशाश्रयप्रत्यगात्मनि प्रसस्तामलभमानं
निखिलकल्याणगुणभाजनं निस्समाभ्यधिकं परमपुरुषं श्रीरामपद-
वाच्यं भगवन्तमेव स्ववाच्यतयोपस्थायतीति निखद्यम् ।

परमात्मैव भवति । नतु कश्चिदानन्दभयोजीव इति । एतत्सर्वं भाष्यकारेण प्रतिपा-
दितम् निरवद्यमित्यन्तः प्रकरणेन । अग्रेष्वस्यप्रकरणस्येत्यादि । प्रकृतप्रकरणस्य परमा-
त्मरूपे यथा पर्यवसानं तथैव भृगुर्वैवारुणिः इत्यादि इदं प्रकरणं मुख्यत एव परब्रह्मणः
प्रकरणे भवदानन्दस्य ब्रह्मरूपत्वं प्रतिपादयतीति न कथमपि आनन्दमयपदेन जीवस्य
ग्रहणं भवति किन्तु परब्रह्मण एवानन्दमयपदेन ग्रहणमिति ।

किञ्च यतो वेत्यादिकारणताबोधकश्रुतिबोधितसर्गस्थितिप्रलयकारणीभूतस्य
परब्रह्मणो बोधनायैव वारुणिविद्या वरुणेन भृगुं प्रत्युपदिष्टम् । तत्र पर्यवसाने आनन्दादेव
सर्वस्योत्पादादिकं प्रदर्शितवानिति परिशेषादानन्दस्य ब्रह्मत्वं सिद्ध्यति । नतु जीव
राज, वृहस्पति तथा प्रजापति के आनन्द को वतला करके' जो यह प्रजापति का सी आनन्द
है वह ब्रह्म का एक आनन्द है । मन के साथ-साथ वाणी जिससे निवृत्त हो जाती है ।
अर्थात् जो वाणी तथा मन का विषय नहीं है । ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान्
किसी से भी नहीं डरता है । इस प्रकार तैत्तिरीय आनन्दवल्ली में बारंवार अभ्यस्यमान
जो आनन्द पद है वह स्वकर्म से उपार्जित अनन्त दुःख का आश्रय प्रत्यगात्मा जीव में
आश्रय को प्राप्त न करता हुआ समस्त गुणका आकार निःसमाभ्यधिक परमपुरुष श्रीराम-
पदवाच्य सर्वेश्वर श्रीसाकेतपति को स्ववाच्यता रूप से उपस्थित करता है । जिस तरह
घटपद कम्बुग्रीवादिवान् अर्थ को घट पदवाच्यत्वरूप से उपस्थित करता है ।

अग्रेष्यस्य प्रकरणस्योक्तेऽर्थ एव पर्यवसानात् स एवार्थोऽव-
 सेयः । तथाच 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधी
 हि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः
 श्रोत्रं मनोवाचमिति तं होवाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
 येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व
 तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वाऽन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ।
 'अन्नाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।' तै० ३।२।] इत्या-
 रभ्यानन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि
 जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंवि-
 शन्तीति सैषा भार्गवी वारुणी विद्या । परमेव्योमन् प्रतिष्ठिता' [तै०
 ३।६।] इत्यन्तयावल्या स्पष्टमेवानन्दस्य ब्रह्मत्वाभिधानात् ।

आनन्दमयः किन्तु परमात्मैवेति प्रकारान्तरेण ब्रह्मण एवानन्दमयत्वमिति बोधयितुमाह
 किञ्चेत्यादि । मनुष्यानन्दादारभ्य प्रजापत्यन्तजीवसमुदायानन्देभ्यः परमात्मन
 आनन्दस्यात्यधिकदर्शनात् तादृशानन्दप्रचुरः परमात्मैवानन्दमयोभवति । नतु कोपि
 जीव आनन्दमयः, जीवानन्दस्य परमात्मानन्दापेक्षयाऽत्यल्पत्वात् । अत एव विलक्षण-
 परमात्मसुखप्रेप्सया जीवानां तदर्थं प्रवृत्तिदर्शनमपि संगतं भवति । अन्यथा परमा-
 त्मनः प्राप्तये न कोपि प्रयत्नं कुर्यात् । जीवानां स्वयमेवानन्दमयत्वेन परमेश्वरानन्द
 प्राप्तये प्रवृत्तेरसंभवादिति भावः ।

आगे का भी जो इसका प्रकरण है उसका एतादृश अर्थ में ही पर्यवसान होने
 से वही अर्थ वहाँ भी समझना चाहिये । 'तथा च' वरुण के पुत्र भृगु कदाचित् स्वकीय
 पिता वरुण के पास में गया और हे भगवन् ! हमको ब्रह्म का उपदेश दीजिए । यों निवे-
 दन किया तब वरुण ने भृगु को—'अन्न प्राण चक्षुःश्रोत्र मन और वाणी का निर्देश करके
 कहा 'जिससे ये भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं । जिसमें स्थित रहते हैं । और प्रलयकाल में
 प्रलीयमान हो जाते हैं । उसकी जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है । पिता का उपदेश सुन
 करके भृगु ने तप किया । तब तप करके अन्न को ब्रह्म रूप से जाना ।' अन्न से ही
 इन भूतों की उत्पत्ति होती है अन्न से ही जीवित रहते हैं ।' यहाँ से आरंभ करके

अत्र हि सृष्टिस्थितिप्रलयकारणस्य बुबोधयिषया वरुणेन क्रमशोऽन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दानां भृगुम्प्रत्युपदिष्टत्वात् पर्यवसाने चानन्दाद्ध्येव खल्विमानानीति श्रुत्याऽनन्दस्यैव ब्रह्मस्वरूपत्वावगमः-कृतः । तदन्तरं प्रश्नप्रतिवचनयोरश्रवणात् भृगोर्जगत्कारणविषयिण्या जिज्ञासाया आनन्दपदार्थ एव परिसमाप्तत्वाद्धारुणिविद्ययानन्दस्यैव ब्रह्मत्वं जगत्कारणत्वमिति निश्चयादानन्दमयपदव्यपदेशः परमात्मैव न जीव इति ।

किञ्च 'स एको मानुष आनन्द' इत्याभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन मनुष्यादिप्रजापत्यन्तानां जीवानामानन्देभ्यो ब्रह्मण आनन्दस्य बहुप्रचुरत्वश्रवणादानन्दप्रचुर आनन्दमयः परमात्मैव भवितुमर्हति न जीवस्तदल्पतरानन्द इति सिद्धम् । एवं जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रकारेणैव जीवस्य जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्व प्रतिषेधात् प्रकृते चानन्दस्य जगत्कर्तृत्वश्रवणादानन्दमयस्य परमात्मपरत्व एव तत्सामञ्जस्यादानन्दमयः परमात्मैवेति सिद्धम् ।

ननु ब्रह्म पुच्छम् इत्यत्र ब्रह्मणः पुच्छत्व कथनात् पुच्छं चावयवविशेषः, ततश्चावयवावयविनोर्भेद इति नियमात् नानन्दमयं ब्रह्मणः किन्तु जीवस्यैवानन्दमयत्वमित्युपवर्ण्यतन्मतं निरसितुं प्रक्रमते यदुक्तं ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यादि । अथवा ब्रह्मण 'आनन्द को ब्रह्मरूप से भृगु ने जाना' आनन्द से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं । आनन्द से उत्पन्न होकर के आनन्द से ही जीवित रहते हैं । तथा अन्त काल में आनन्द में ही प्रलीयमान हो जाते हैं' । यही भार्गवी वारुणि विद्या है, पर ब्रह्म में प्रतिष्ठित है !' एतदन्त ब्रह्मवल्ली से स्पष्ट रूपेण आनन्द को ही ब्रह्मरूप से प्रतिपादन किया है । अतः आनन्दमय पदवाच्य सुखार्णव श्रीसाकेतनाथ ही हैं । किन्तु तदतिरिक्त कोई भी जीव आनन्दमय पदवाच्य नहीं है । क्योंकि जीवमात्र सीमित आनन्दवान् ही होता है । निःसीम आनन्दतो परेश में ही है ।

यहाँ सर्ग स्थिति तथा प्रलय का कारणीभूत वस्तु की बोधनेच्छा से वरुण ने क्रमिक अन्नप्राण मन विज्ञान और आनन्द को भृगु के प्रति उपदेश दिया । तथा सबसे अन्त में 'आनन्दाद्ध्येव खलु' इत्यादि श्रुति से आनन्द को ब्रह्मरूप से निश्चित किया ।

यदुक्तं 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति ब्रह्मण आनन्दमयपुच्छत्वो-
क्त्या पुच्छवत्तदाधारत्वेन ततोऽभिन्नत्वज्ञापनादानन्दमयो जीव
इति । तत्रा । कुतः ? उक्तेनाभ्यासेन जगत्कारणत्वेन चानन्दम-
यस्य परमात्मत्वनिष्पत्तेः ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यस्य चानन्दमय आत्मा
स एव ब्रह्मपुच्छवद्वामयाद्याधारः प्रतिष्ठेत्यर्थकत्वात् तदुपपत्तेः ।

किञ्च यथाऽन्नमयो देहः स्वस्मादभिन्नैः स्वावयवैरेव
शिरश्चक्षुः श्रोत्रहस्तपादादिभिर्व्यपदिश्यते तथानन्दमयंब्रह्मापि,
'सवा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध' इत्युक्त-
स्य पुरुषविधत्वस्योपपादकैः स्वस्मादभिन्नैः प्रियमोदप्रमोदपुच्छैः 'तस्य
प्रियमेवशिरः' इत्यायुक्तैर्व्यपदिष्टं भवति । तत्रावयवत्वेन निरूपि-
तानां प्रियमोदप्रमोदानां पुच्छत्वेन प्रतिष्ठत्वेनाश्रयत्वेनानन्दमयं
ब्रह्माखण्डानन्दं भवतीति ज्ञापनाय 'पुच्छप्रतिष्ठे' त्युक्तम् । यदि-

आनन्दमयस्य पुच्छत्वकथनेन पुच्छवत्तदाधारत्वात् । ततोऽभिन्नत्वज्ञापनेनानन्दमय
पदवाच्यो जीव एव नतु परमात्मेति मतं निरासायाह यदुक्तमित्यादि । एतन्मतं
निरस्यति तन्मतेत्यादि अभ्यासात् परमात्मनि जगत्कारणत्वकथनाच्चानन्दमयपदस्य
ब्रह्मपरत्वस्य निर्णयत्वादानन्दमयः परमात्मैव नतु जीव इति विनिश्चयः । अन्यत्-
सर्वमतिरोहितार्थकम् ।

ननु यथा शरीरमचेतनं स्वकीयावयवेनहस्तपादादिना स्वाभिन्नेन व्यपदिष्टं
भवति । तथा आनन्दमयः परमात्मापि स्वाभिन्नस्वावयवैर्व्यपदिश्यमानं भवतीति
क्योंकि आनन्द के बाद प्रश्न प्रतिवचन की धारा निवृत्त होगई है । इसलिए भृगु की
जगत् कारण विषयिणी जो जिज्ञासा है सो आनन्दमय पदत्व में ही परिसमाप्त होती है ।
अतः यह वारुणी विद्या आनन्द में ब्रह्मत्व जगत्कारणत्व का निश्चय होने से आनन्दमय
पदवाच्य परमात्मा ही है, जीव नहीं है । किंच और भी 'यह मनुष्य का एक आनन्द
है ।' यहाँ से आरंभ करके, 'वह ब्रह्म का एक आनन्द है ।' एतदन्त 'ग्रन्थ से यह
सिद्ध होता है कि मनुष्य से लेकर के प्रजापति पर्यन्त जीवों का जो आनन्द तदपेक्षया
ब्रह्म के आनन्द को अति प्रचुर होने से आनन्दप्रचुर आनन्दमय परमात्मा ही हो सकते
हैं । किन्तु अभ्यन्तर आनन्दवाला जीव आनन्दमय नहीं है ।

त्वानन्दमयादन्यद्ब्रह्म स्यात्तदा 'तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योन्तर आत्मा ब्रह्मेत्यादिकमप्युक्तं स्यान्नत्वेवं वचनान्तरं श्रूयते। तस्मादानन्दमय एव ब्रह्म न तनोऽन्यदिति । यतूक्तं 'तस्यैष एव शरीर आत्मा' तस्य पूर्वोदितस्य विज्ञानमयस्य एष आनन्दमयः शरीर आत्मेत्यानन्दमयस्य शरीरत्वश्रवणात् शरीर-शरीरत्वोपपत्तेः शरीरो जीव एवानन्दमयो भवितुमर्हतीति तन्न । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरं यं पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्य-मृतः' [बृ० ३।७।३] इत्युपक्रम्य 'योप्सुतिष्ठन् योऽग्नौ तिष्ठन्, योन्त-परमानन्दमयः परमात्मा अखण्डानन्दरूपः सिद्धोभवतीति दर्शयितुमाह किं च यथाऽन्नमयोदेह इत्यादि । ननु तस्यैष शरीर आत्मा इत्यादिश्रवणेन आनन्दमयस्य शरीरत्वश्रवणात् शरीरशरीरिभावेन शरीरो जीवानन्दमय इत्याशङ्कां निराकर्तुमुप-

एवं 'जगद्व्यापारवर्जम्' इस प्रकार से सूत्रकार ने जीव में जगत् सर्ग कर्तृत्व का प्रतिषेध किया और प्रकृत आनन्द में जगत् कर्तृत्व का श्रवण है । अतः आनन्दमय को परमात्म परक मानने में ही जगत्कर्तृत्वादिक का सामंजस्य होने से आनन्दमय परमात्मा ही है । किन्तु जीव कथमपि आनन्दमयपदवाच्य नहीं है यह मित्र होता है ।

जिस किसीने कहा था कि, 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इससे ब्रह्म को आनन्दमय का पुच्छश्रवण कथन होने से पुच्छ के समान तदाधार होने से ब्रह्म से अभिन्नत्वज्ञापन होने से आनन्दमय पदवाच्य जीव है ब्रह्म नहीं, यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि आनन्दमय का अभ्यास होने से तथा जगत्कारणत्व का कथन होने से आनन्दमय परमात्मा ही है । 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' इसका आनन्दमय जो आत्मा है वही ब्रह्म पुच्छवत् अन्नमयादिक का आधार प्रतिष्ठा है । ऐसा अर्थ करने पर भी उपपत्ति हो जाती है । और भी देखिये जिस तरह अन्नमय जो शरीर है उस शरीर से अभिन्न जो शरीर का अवयव हाथ पैर मस्तक चक्षुः श्रोत्रादिक उनके द्वारा व्यपदिश्यमान होता है । अर्थात् शरीर से अभिन्न हस्तपादादिक के द्वारा व्यवहारास्पद होता है । उसी तरह आनन्दमय ब्रह्म भी 'वह पुरुषाकार ही है ।' उसके पुरुषाकार होने से तदनु यह भी पुरुष विध ही है' इस प्रकार से कथित है जो पुरुषाकारत्व है उसका उपपादक ब्रह्म से अभिन्नत्वेन प्रियमोद प्रमोद तथा पुच्छरूप अवयवों से 'प्रिय ही उसका शिर है'-इत्यादि

रिक्षे तिष्ठन् यो वायौ तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद'
[बृ० ३।७।२२।] इत्यादिकं बृहदारण्यके पठितम् । माध्यन्दिनी-
यास्तु विज्ञानस्थान एवमधीयते । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो
यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त
आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्त्तम्' । [बृ० ३।७।२२।] इत्यादौ सर्वेषां-
पृथिव्यादीनां तथा मनसः प्राणस्य विज्ञानात्मनश्च परमात्मशरीरत्व-
क्रमते यत्तूक्तम् इत्यादि । निराकरोति तन्नेत्यादि । अन्तर्यामि ब्राह्मणरीत्या
परमात्मन एव सर्वशरीरत्वेनादोषादिति । तस्मादानन्दमयः परमात्मैव भवति न
जीव इति सिद्धम् ॥१३॥

रूप से कथित जो उन प्रियादिक के द्वारा व्यपदिश्यमान अर्थात् व्यवहारास्पद होता है उसमें
ब्रह्म के अवयव रूप से निरूपित जो प्रियमोदादिक है उन सबका पुच्छ प्रतिष्ठा अर्थात्
आश्रय रूप से व्यवस्थित जो आनन्दमय ब्रह्म है वह अखण्ड अखण्डानन्दरूप है इस
बात को बतलाने के लिए 'पुच्छं प्रतिष्ठा' यह कहा गया है ।

यदि कदाचित् आनन्दमय से ब्रह्म भिन्न हो तब तो जिस तरह अन्नमय के बाद
में प्राणमयादिक का पार्थक्येन कथन है । उसी तरह आनन्दमय से भिन्न तदन्तर 'इस
आनन्दमय से भिन्न उसके अन्तर एक आत्मा ब्रह्म है' इस तरह वचनान्तर का भी
श्रवण होता । किन्तु ऐसा तो श्रुत नहीं है । इसलिए आनन्दमय ही ब्रह्म है न कि
उससे अतिरिक्त ब्रह्म है ।

जिस किसीने कहा था 'यत्तूक्तम्' इत्यादि । उस विज्ञानमय का यही आनन्दमय
शरीर आत्मा है इस प्रकार से आनन्दमय में शरीरत्व का श्रवण होने से, शरीर जो
जीव वहीं आनन्दमय है परमात्मा आनन्दमय नहीं है । इसका उत्तर करते हैं 'तन्न'
यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अन्तर है,
जिसको पृथिवी नहीं समझती है । जिसका यह पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी को निय-
न्त्रित करता है ।' यही तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप है' इत्यादि उपक्रम
करके 'जो जल में रहता हुआ, जो तेज में रहता हुआ, जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ,
जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान से अन्तर है, जिसको विज्ञान नहीं समझता है' इत्यादि
रूप से बृहदारण्यक में कहा है । 'माध्यदिन शाखावाले तो' जो आत्मा में रहता हुआ

श्रवणात् परमात्मनश्च तदन्तर्याम्यात्मत्वश्रवणाच्च तस्यैव सर्व-
शारीरत्वनिष्पत्तेस्तः परमात्मैवानन्दमयोसेदधुमर्हति न ततोऽन्यो
जीव इति 'अतोऽन्यदार्त्तमिति' परमात्मव्यतिरिक्तस्यार्तत्वश्रवणात्
जीवस्यानन्दमयत्वाऽसम्भवात् ॥१३॥

नन्वस्तु ब्रह्मण आनन्दपदवाच्यत्वम् परमानन्दमयपदबो-
ध्यत्वन्तु न सम्भवति मयटोविकार्यकत्वात् । यथा दारुमयो हस्ती,

अथ आनन्दमयोऽभ्यासादिति आनन्दमयबोध्यत्वं परमात्मन इति कथितम् ।
परन्तु तन्न युक्तं यतो मयट्प्रत्ययस्य विकारार्थकत्वात् । नहि आनन्दविकारत्वं तत्र
संभवति । परमात्मनि विकारराहित्यस्य श्रुतिप्रतिपाद्यत्वात् । तस्य विकारत्वे निर्वि-
कारित्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । जीवस्य च संसारदशायां विकारित्वेन आनन्द-
विकाररूपत्वसंभवेनानन्दमयपदेन जीवस्यैव ग्रहणं भवति नतु सर्वथा विकाररहितस्य
ब्रह्मण आनन्दमयपदवाच्यत्वमित्याशङ्क्य प्राचुर्यार्थोपि मयट् प्रत्ययस्य दृष्टत्वेनान्द-
आत्मा से अन्तर है जिसको आत्मा नहीं समझती जिसका आत्मा शरीर है । यही
तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है । इससे भिन्न सब अर्थ आर्त है' इत्यादि
रूपसे सब पृथिव्यादिक प्राण मन तथा विज्ञानात्मा, ये सब परमात्मा का शरीर अवयव है
ऐसा सुना जाता है । तथा परमात्मा इन सबका अन्तर्यामी है । तथा आत्मा है ऐसा
श्रवण होता है । अतः परमात्मा ही सर्व शारीरिक है । इसलिए परमात्मा ही
आनन्दमय सिद्ध होता है । किन्तु परमात्मा से भिन्न कोई भी आनन्दमय नहीं
है । क्योंकि 'अतोऽन्यदार्त्तम्' इससे परमात्म भिन्न में आर्तत्व का श्रवण होने से
जीव में आनन्दमयत्व असंभव है ॥१३॥

'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्र में सिद्धान्त किया गया कि आनन्दमय पदवाच्य
परमात्मा है, जीव नहीं है । परन्तु यह अयुक्त है । क्योंकि मयट् प्रत्यय विकारार्थक है ।
तब आनन्द विकारत्व परमेश्वर में नहीं हो सकता है । किन्तु विकारित्व संसारस्थ जीव में ही
संभवित है । आनन्दमय पदवाच्य परमेश्वर नहीं है किन्तु जीव ही है इस शंका का
निवारण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'नन्वस्तु ब्रह्मण' इत्यादि । भले ही
आनन्द पदवाच्यता ब्रह्म में हो किन्तु आनन्दमय पदबोध्यत्व तो ब्रह्म में नहीं हो सकता ।
है । क्योंकि प्रकृत में मयट् प्रत्यय विचारार्थक है । जैसे 'दारुमयो हस्ती' दारु काष्ठ का
विकार हाथी है । मृत्तिका का विकार घटादिक पदार्थ है । जुहू पर्णमय है । वेदी कुशमय है'

मृण्मयानि पात्राणि, पर्णमयी जुहूः, द्रुममयी वेदी, इत्यादौ विकारार्थकस्य दृष्टत्वात्, विचार्यमाणप्रकरणेऽपि 'अन्नमयः प्राणमयो मनोमय' इत्यादिषु च यथा विकारार्थकस्य मयटो दृष्टत्वात्तथा प्रकृत आनन्दमयपदेऽपि प्रायपाठसामर्थ्याद्विकारार्थकस्यैव मयटो ग्राह्यत्वात्तादृश आनन्दविकारत्वं प्रत्यगात्मनि जीवे सम्भवत्येव

प्रचुरपरमात्मन्यपि आनन्दमयपदवाच्यत्वान्न कोपिदोषः पदमादधातीत्येतत्सर्वं दर्शयितुं भाष्यकार उपक्रमते नन्वस्तु ब्रह्मण आनन्दपदवाच्यत्वमित्यादि । मयट् प्रत्ययस्य विकारार्थे प्रयोगदर्शनेन प्रकृतेऽपि तथैवाश्रमणीयतया पूर्वसूत्रोक्तोर्थो न समीचीन इति ।

मयटो विकारार्थकत्वे दृष्टान्तमाह—यथादारुमयो हस्तीत्यादि प्रकृतप्रयोगे यथा हस्तिनि काष्ठविकारत्वमुपलभ्यते प्रत्यक्षत एव । यथा वा अन्यत्रापि विकार एवार्थो मयट् प्रत्ययस्य तथैव प्रकृतेऽपि । ततश्च परमात्मनो निर्विकारत्वात् कथमानन्दपद-इत्यादिकस्थल में विकारार्थक मयट् प्रत्यय देखने में आता है । इसी तरह विचारणीय प्रकरण में भी 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय' में विकारार्थक मयट् प्रत्यय देखने में आता है । उसी तरह प्रकृत आनन्दमय पद में भी प्रायपाठ के बल से अर्थात् उपक्रम के अनुरोध से विकारार्थक मयट् प्रत्यय का ही ग्रहण करना होगा, तो तादृश आनन्द विकारत्व तो संसारकाल में प्रत्यगात्मा जीव में संभवित है । इसलिए जीव में ही आनन्दमय पद का गौण प्रयोग है । किन्तु परमात्मा में आनन्दमय पद का प्रयोग नहीं है । क्योंकि परमात्मा तो सर्वथा विकार रहित है । इस प्रकार से शंका करके समाधान करते हैं 'विकार शब्दान्नेति' इत्यादि । [विकारार्थक मयट् प्रत्यय घटित आनन्द शब्द परमात्मा में समन्वित नहीं हो सकता है ऐसा मत कहना क्योंकि प्रकृत में मयट् प्राचुर्यार्थक है तो आनन्द प्रचुर परमात्मा है ऐसा मानने से कोई विरोध नहीं होता है] सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'अन्नमय इतीत्यादि । 'अन्नमयः' इसमें विकारार्थक मयट् प्रत्यय है तो उसके साहचर्य से 'आनन्दमयः' यहाँ भी मयट् प्रत्यय विकारार्थक ही है । [क्योंकि उपक्रम के अनुरोध से उपसंहार में भी मयट् को विकारार्थक होना ही उचित है ।] अतः आनन्दमय पदवाच्यत्व ब्रह्म में नहीं हो सकता है ब्रह्म तो सर्वथा निर्विकार है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'आनन्दमय' इसमें मयट् प्रत्यय विकार अर्थ का वाचक न होकरके प्राचुर्य अर्थ का वाचक है । 'स एको मानुष आनन्दः' यहाँ से लेकर के 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' एतत्पर्यन्त

संसारित्वदशायामिति जीवस्यैवात्रानन्दमयपदभावत्वं नतु परमा-
त्मनस्तस्याविकृतत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते

५ विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ११।१।१४। ५

अन्नमय इति विकारार्थकमय साहचर्यादानन्दमय इत्यय-
मपिमयद्विविकारार्थक एवातो नानन्दमयपदवाच्यं ब्रह्म भवितुमर्ह-
तीति चेन्न प्राचुर्यात् । आनन्दमय इत्यत्र मयद्वप्रत्ययस्य प्राचुर्यार्थ-
बोध्यत्वमिति । किन्तु जीव एव तथेति न च अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराण इत्यादि-
श्रुतिस्मृतिनियमेन जीवस्यापि नित्यत्वप्रतिपादनान्न जीवस्यापि आनन्दमयपद-
वाच्यतेति वाच्यम् । संसारदशायां जीवस्य विकारत्वेन तथार्संभवात् । परमा-
त्मनस्तु नानन्दमयपदवाच्यतेत्याशङ्कायामाह इति चेन्न प्राचुर्यात् । अयमाशयः
आनन्दमय इत्यत्र न विकारार्थको मयद्व । किन्तु प्राचुर्यार्थक एव । यथा
ग्रन्थ से मनुष्यादि आनन्द से प्रजापति पर्यन्त आनन्दों में शतगुणाशतगुणाधिक आनन्द का
शाल में श्रवण है । प्रजापति के आनन्द से भी ब्रह्म के आनन्द में शतगुण अधिकता का श्रवण
है । इसलिये ब्रह्म के आनन्द में प्रचुरत्व उपपन्न होता है । तो एतादृश आनन्द प्रचुर
परमात्मा ही है नतु अल्पतरानन्द जीव [यद्यपि प्रजापति से शतगुणाधिक आनन्द ब्रह्म का
है इस कथन से तो ब्रह्म में सीमित आनन्दत्व ही सिद्ध होता है । नतु नित्य निरतिशया-
नन्द की सिद्धि होती है, तथापि जिस तरह गंगादि जलापेक्षया अत्यधिक जलवान् होने से
समुद्र निःसीम जलवान् सिद्ध होता है । क्योंकि समुद्र की अपेक्षा से अधिक जलवान् अन्य
जलराशि न दृष्ट है नवा श्रुत है । इसी तरह ब्रह्मानन्द से अधिक आनन्दवान् न कोई दृष्ट है
नवा श्रुत है । अतः ब्रह्मानन्द निःसीम आनन्द है—ऐसा सिद्ध है । ‘एतस्यैवानन्दस्य मात्रामु-
पजीवन्ति अन्यानि भूतानि’ इस श्रुति से सिद्ध होता है कि मनुष्यादि आनन्द के अपेक्षया
अत्यधिक प्रजापति का आनन्द भी ब्रह्मानन्द के एक लवलेख ही है । जैसे जो अन्य व्यक्ति
को घनी बनाता है वह अवश्य अत्यधिक घनवान् कहलाता है । उसी तरह प्रकृत में भी
ब्रह्मानन्द निःसीम है ऐसा सिद्ध होता है]

‘यतो ब्रह्मण आनन्दस्येत्यादि’ आनन्द प्रचुर परमात्मा ही हैं । नतु अल्पतरानन्दक
जीव एतादृश है । इसका स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘यतो ब्रह्मण’ इत्यादि ।
क्योंकि ब्रह्मानन्द के ज्ञान से जीव अभय को प्राप्त करता है ऐसा श्रुति में कहा गया है ।

भिधायित्वात् । 'स एको मानुष आनन्दः' इत्यारभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेनमानुषाद्यानन्देभ्यः प्रजापतिपर्यन्तानन्दानां शतगुणाधिक्यश्रवणात् । ततोऽपिब्रह्मण आनन्दस्य शतगुणाधिक्यस्य श्रवणात् तदानन्दस्य प्रचुरत्वोपपत्तेश्चमानन्दप्रचुरः परमात्मैव नत्वल्पतरानन्दो जीव इति । यतो ब्रह्मण आनन्दस्य ज्ञानाज्जीवोऽभयं गच्छतोत्युक्तन्तत्रैव 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुत-यवमयो यज्ञ इत्यत्र न यवविकारता यज्ञे किन्तु यवस्य प्राचुर्यम् । एवं प्रकृते नानन्दविकारत्वं परमात्मनि किन्तु आनन्दप्रचुरत्वेनानन्दमयत्वं ब्रह्मणः । नहि एकान्ततोऽयं नियमो यत् विकारे एव मयट् प्रत्ययः किन्तु प्राचुर्याद्यर्थेपि तस्य बहुलं प्रयोगोपलब्धेः ।

अपि च ब्रह्मण आनन्दस्य परिज्ञानाज्जीवः संसारभयंपरित्यज्य विमुक्तोभवतीति श्रूयते यदा तदा कथं जीवस्तादृशानन्दः प्रचुरः स्यादपितु तादृशानन्दप्रचुरः परेश एव नतु जीव इति सिद्धम् । न चान्नमयादौ विकारार्थकमयट् प्रवाहैरानन्दमयस्यापिपाठादत्रापि तथैवस्यादिति वाच्यम् प्राणमयेत्यादौ विकारार्थस्य परित्यागेनार्थान्त-
'मन के साथ वाणी भी जिससे निवृत्त हो जाती है । अर्थात् जो वाङ्मनसातीत हैं उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला उपासक किसी से भी डरता नहीं है । अर्थात् जन्मजराव्या-
ध्यादि लक्षण संसार भय से विनिर्मुक्त हो जाता है । यद्यपि अन्यत्र 'तरतिशोक मात्मवित्' इत्यादि स्थल में संसार लक्षण भयाभाव के प्रति आत्मज्ञान को प्रयोजक बतलाया गया है । तथापि 'सत्यंज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति दृष्ट सामानाधिकरण्य के अनुरोध से आनन्द तथा ब्रह्म में तादात्म्य को स्वीकार करके पूर्वोक्त कथन है । जब ब्रह्म के प्रचुरानन्द ज्ञान से जीव अभय को प्राप्त कर जाता है । तब किस तरह से एतादृश आनन्द का प्राचुर्य प्रत्यगात्मा जीव में हो सकता है । [जिस प्रचुरानन्द ज्ञान से जीव भय रहित हो जाता है तादृश प्रचुरतरानन्दवान् जीव ही हो, तब तो स्वका सर्वदा ज्ञान स्व को रहने से जीव किसी भी काल में संसार भयवान् नहीं होता है । क्योंकि कारण सामग्री कार्योत्पत्ति व्याप्य होती है । और जीव को तो सर्वदा संसार वद्ध देखते हैं । इसलिए जीव तादृश प्रचुरतरानन्दक नहीं है । किन्तु परमात्मा ही तादृश प्रचुरतरानन्दवान् है और तादृशानन्द ज्ञान से जीव संसारभय से समुत्तीर्ण होता है । इसलिए ब्रह्म परमात्मा ही प्रचुरतरानन्दवान् है । किन्तु जीव कथमपि

श्चन' [तै० २।१।] इति । ब्रह्मणः प्रचुरानन्दज्ञानाज्जीवोऽप्यभय-
तामुपयाति कुतस्तर्हि तदानन्दप्राचुर्यं प्रत्यगात्मनीति ब्रह्मैवानन्द-
मयपदवाच्यम् ।

यदुक्तमन्नमयेत्यादौ प्रायपाठवलात्समानार्थकत्वस्य न्या-
य्यत्वेन विकारार्थकत्वमेवानन्दमयपदेऽपिमयट् इति । तदयुक्तम्
प्राणमय एव तावत्तस्य विकारार्थकस्य मयटो सम्भवाद्-तत्रैवान्या-
र्थस्य स्वीकर्तव्यत्वात् ।

अत्रेदं विचारणीयम् । विज्ञानमयानन्दमयपदयोर्मयट्
रस्य स्वीकृतत्वात् । विकारार्थको मयट् प्रत्ययो लोके एव भवति नतु वेदे ततश्चा-
नन्दमय इत्यत्र न विकारार्थको मयट् किन्तु प्राचुर्यार्थक एवेति दर्शयति अत्रेदं
विचारणीयमित्यादिना ।

अत्रेदं विचारणीयमित्यादिप्रकरणेन विज्ञानमयादौ विकारार्थको मयट् न संभ-
वति । यतोव्याकरणनियमानुसारेण विकारार्थकस्य मयटो लोके एव प्रयोग
दर्शनात् । वेदे तदभावादित्यादिकं विचार्य सर्वत्र वेदे आनन्दस्यैवाभ्यासो दृश्यते नतु
आनन्दमयपदस्याभ्यासः । ततश्च आनन्दोभ्यासादिति सूत्रमकृत्वा आनन्दमयोऽभ्या-
सादित्येवं सूत्रकरणे तथा अग्रिमस्थले स्वार्थिकत्वादिति हेतुमप्रयुज्यप्राचुर्यादित्येवं
तादृश प्रचुरतर आनन्दवान् नहीं है । जीव को तादृशानन्दवत् होने में प्रत्यक्ष युक्ति तथा
श्रुति स्मृति भी बाधक है ।

‘यदुक्तमित्यादि’ अन्नमय से उपक्रम किया गया है तो उपक्रम में विकारार्थक
मयट् है । तब तदनुरोधात् अर्थात् प्रायपाठ के बेल से उपसंहार में भी समानार्थकता ही अन्यत्र
भी उचित है । इसलिए आनन्दमय पद में भी विकारार्थक मयट् प्रत्यय को होना चाहिए ।
ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उपक्रम में जो विकारार्थक मयट् है वह तो प्राणमय में
निवृत्त हो जाता है । क्योंकि प्राण का विकार तो प्राणमय नहीं है । अतः असंभवात् प्राणमय
में विकारार्थत्व निवृत्त होकरके अन्य अर्थ का ही स्वीकार करना पड़ता है । अर्थात्
प्राणमय में ही विकारार्थत्व का त्याग हो गया । तब आनन्दमय में विकारार्थकत्व का तो
विचार निरर्थक है । अतः प्रकृत में प्राचुर्यार्थक ही है ।

‘अत्रेदं विचारणीयमित्यादि’ प्रकृत में यह विचारणीय होता है कि विज्ञानमय तथा
आनन्दमय में जो मयट् प्रत्यय है वह विकार अर्थ में किस तरह से हो सकता है । अर्थात्

विकारार्थे कथं निष्पद्यते ? मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरिति-
पाणिनीयन्तु भाषायामेव प्रवर्तते नच्छन्दसि प्रकृतपदयोश्चच्छान्द-
सत्वात् । नच नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४४) इतिवृद्धत्वा-
देवमयडितिवाच्यम्, तत्रापिपूर्वसूत्रेणमयडादीनामिव भाषायामि-
त्यस्याप्यनुवृत्तेरानुभविकत्वात् । 'शरमयं बर्हिर्भवति' 'दर्भमयं वासो
भवति' यस्यपर्णमयी जुहुस्त्यादिवैदिकेषु प्रयोगेषु 'द्वयचच्छन्दसि'
(४।३।१५०) इत्यनेनैवसिद्धिः, विज्ञानानन्दयोर्द्वयचूकत्वाभावाच्चाते-
न निर्वाहः । मृण्मयं गृहमिति वैदिकोऽपिचेत्प्रयोगस्तर्हि तत्र प्राचुर्य

हेतूपन्यासे कोभिप्रायः सूत्रकारस्येति सर्वमुपपादयितुं भाष्यकारः ग्राह एतदुक्तं भवती-
त्यादि । आकाश आनन्दो न स्यादित्यादिसर्वस्थलेषु प्रकृतिमात्रस्यानन्दस्यैवाभ्यासो-
वर्तते न कुत्रचिदप्यानन्दमयस्याभ्यासो विद्यते दृश्यते वा तथापि सर्वत्रानन्दाभ्यास
प्रत्यक्षत उपलभ्यापि आनन्दोभ्यासादितिसूत्रमकृत्वामयडन्तं सूत्रमकरोदितिकमप्याश-
यविशेषं ज्ञापयति । अयमाशयः स्वाक्षरैरेव भाष्यकारेण प्रदर्शितः । एवं विकारशब्दा-
न्नेत्यादि सूत्रेस्वार्थिकत्वादिति हेतुमनुपन्यस्य प्राचुर्यादिति सूत्रकरणेपि कमप्याशय
विशेषं ज्ञापयति । ज्ञानात्मकः परमात्मा प्रभूतानन्दगुणवानेव जगत्कारणतया
उपर्युक्त स्थल में विकारार्थक मयट् नहीं हो सकता है । क्योंकि 'मयड्वैतयोर्भाषायाम्' इत्या-
दिक जो पाणिनीय मूत्र है उससे तो भाषा अर्थात् लोक में ही मयट् प्रत्यय का विधान होता
है । प्रकृत में विज्ञान तथा आनन्द पद तों छान्दस है तो उसमें तो मयट् प्रत्ययविधायक सूत्र
की तो प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है । नहीं कहो कि 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' (वृद्ध संज्ञक
तथा शरादिक शब्दों से नित्यमेव मयट् होता है ।) तो विज्ञान तथा आनन्द पद को वृद्ध
संज्ञक होने से मयट् प्रत्यय होगा । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि, 'नित्यं वृद्ध शरा-
दिभ्यः' इस सूत्र में जिस तरह पूर्वसूत्र से मयट् का अनुवर्तन होता है । उसी तरह भाषा-
याम् इसका अनुवर्तन भी अनुभव सिद्ध है । इसलिए 'नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः' इस सूत्र से
विज्ञान तथा आनन्द पद से विकारार्थक मयट् प्रत्यय नहीं हो सकता है । नहीं कहो कि
यदि भाषा में ही मयट् होता है किन्तु छन्द में नहीं होता है । इसलिए विकारार्थक मयट्
प्रत्यय विज्ञानादिक में नहीं होता है । तब तो 'शरमयं' इत्यादि स्थल में मयट् प्रत्यय किस
तरह से होगा ? इस शंका का उत्तर करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'शरमयमित्यादि'

एव मयट् । एवमागताद्यर्थेष्वपि मयटोऽसामञ्जस्यं स्पष्टमेव । तस्मा-
दत्रानन्दप्रकृतिकोमयट् प्राचुर्य एव 'तत्प्रकृतवचनेमयट्' (५।४।२१)
इतिसूत्रेणविहितोऽपूपमयं पर्व इतिवत् । तथा च विज्ञानमयोविज्ञान-
प्रचुरोयथाजीवस्तथाऽऽनन्दप्रचुरः परमात्मेति सिद्धम् ।

एतदुक्तं भवति अत्र 'यद्येष अकाश आनन्दो न स्यात्' एष एवा-
नन्दयति' आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' विज्ञानमानन्द ब्रह्म व्यजानात्'
विज्ञासा विषयीभूतो भवतीति तदाशयः । यत आनन्दगुणकः परमात्मा । अत एव
आनन्दादयः परमात्मनो गुणा इत्यग्रिमसूत्रेऽवोचत् । यदि आनन्दस्वरूपो भवेत्
तदाप्रधानस्य ते गुणा इति न ब्रूयात् ।

एतत्सर्वं श्रुत्यास्वयमेव दर्शितम् सत्यंज्ञानमनन्तमिति । तत्र सत्यादिकं त्रिकमपि
विशेषणं ब्रह्म च विशेष्यम् । विशेषणं विशेष्ये स्वभिन्नाद् व्यावर्तयति । यथागन्धोहि-
लक्षणं पृथिवीं पृथिवीभिन्नाद् व्यावर्तयति । लक्षणेन लक्ष्यस्येतरस्माद् व्यावृत्तिर्व्यवहारो
वा प्रयोजनं क्रियते तदुक्तं व्यावृत्तिर्व्यवहारोवा लक्षणस्य प्रयोजनमिति । तथा च
इन सब स्थल में विकारार्थक मयट् प्रत्यय पूर्व सूत्र से नहीं होता है । किन्तु 'द्वयचःशुद्धसि'
इस सूत्र में द्वयचक मान करके पूर्वोदाहृत वैदिक पदों में मयट् प्रत्यय करने से निर्वाह
हो जाता है । और विज्ञान तथा आनन्द पद में पारिभाषिक द्वयचकत्व का अभाव होने से
'द्वयचः' इत्यादिक सूत्र से निर्वाह नहीं होता है । नहीं कहो कि 'नित्यंवृद्धः' इत्यादि
सूत्र में पूर्व सूत्र से मयट् प्रत्यय का तो अनुवर्तन होता है । और 'भाषायां' का अनुवर्तन
नहीं होता है । अन्यथा वैदिक 'मृण्मयं गृहम्' इत्यादि प्रयोग की उपपत्ति नहीं होगी ! इस
प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं 'मृण्मयं गृहमित्यादि' यदि 'मृण्मयं गृहं' ऐसा यदि
वैदिक प्रयोग होता है तो यहां भी प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय है । 'यवमयो
यज्ञः' यव प्रचुरक यज्ञ है इस के समान । जैसे विज्ञान मयादिक स्थल में
विकारार्थक मयट् प्रत्यय उपपन्न नहीं होता है । उसी तरह आगतादिक अर्थ में भी
मयट् प्रत्यय सामञ्जस्य को प्राप्त करता है । इसलिए यहां आनन्द पद प्रकृतिक जो मयट्
प्रत्यय है वह प्राचुर्यार्थ है । जो कि 'तत्प्रकृति वचने मयट्' इस पाणिनीय सूत्र से विहित
है । जिस तरह 'अपूपमयं पर्व' इस स्थल में प्राचुर्यार्थक है उसी तरह । तथा च जिस
तरह विज्ञानमय अर्थात् विज्ञान प्रचुर जीवात्मा है । उसी तरह आनन्द प्रचुर परमात्मा है
यह सिद्ध होता है । अतः प्रकृत में न विकारार्थक मयट् प्रत्यय है । नवा किसी अन्य

‘आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त’ इत्येवमादिकमानन्दस्यै-
वाभ्यासं दृष्ट्वाऽऽनन्दमयपदाभ्यासमदृष्ट्वापिसूत्रकार आनन्दो
ऽभ्यासादित्येवं न सूत्रयामास किन्त्वानन्दमयोऽभ्यासादित्येवम् ।
पुनः ‘विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यार्थित्यत्र मयटः स्वार्थिकत्वं विहाय
प्राचुर्यार्थिकत्वं यदुक्तं तत् ‘गौणश्चेन्नात्मशब्दादित्यत्रत्येनात्मशब्दे
नेक्षणकर्तृकत्वाच्चेतनवाचकेन ब्रह्मस्वरूपस्य चिज्ज्योतिरात्मकत्वं
यज्ज्ञापितं तच्चिज्ज्योतिः स्वरूपं ब्रह्म आनन्दप्रचुरं प्रभूतानन्दगुणकम्

सत्यादिकं ब्रह्मणो लक्षणं भवत्परमात्मानं स्वेतराद्व्यावर्तयति । अत एवोक्तं भाष्यकृता
ब्रह्मणः स्वेतरख्यावृत्तमिति । यत्र च वाक्येऽनेकानि पदानि भवन्ति तत्र योग्यतया एकं
विशेष्यमुपस्थापयति । तदपरं च योग्यतावलेन विशेषणं भवत् विशेष्यं व्यावर्तय-
तीति । तत्र सत्यपदम् असत्याद्व्यावर्तयति ज्ञानपदं जडेभ्यो व्यावर्तयति । अनन्त-
पदं च उत्पादविनाशिवस्तुभ्यो व्यावर्तयति । तदुक्तमभियुक्तैः ‘प्रतिपद्यपदार्थं हि
विरोधात्तद्विरोधिनः । पदचादभावं जानाति वध्यघातकवत् पदात् । तत्रानन्तोन्तव-
द्भस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाल्या च परिशिष्टौ विशेषणम्’ इति ।
भाष्यकारस्तु जडसंसारस्य चेतनयोर्व्यावृत्तिं सत्यपदेन प्रदर्शितवान् । ज्ञानपदेन
अर्थ में मयट् है किन्तु प्राचुर्यार्थिक मयट् है । अत एव एतादृश आनन्द प्रचुर परमात्मा है
जीव नहीं है यह सिद्ध होता है ।

प्रचुरतर आनन्दवान् परमात्माही आनन्दमय है नतु अल्पतर आनन्दवान् जीव
ऐसा पूर्व में कहा गया है । इस विषय का स्पष्टीकरण, करने के लिए भाष्यकार
पुनः विशेष रूप से विचार करने के लिए उपक्रम कहते हैं “एतदुक्तं भवतीत्यादि”
इस विषय में यह वक्ष्यमाण विचार किया जाता है । अत्र प्रकृत विषय में “यदि
यह आनन्द स्वरूप न होता” “यही परमात्मा जीव मात्र को आनन्ददायक है”
ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला उपासक किसी भी प्रकार के भय से डरता नहीं है ।”
“विज्ञान तथा आनन्द लक्षण ब्रह्म को जाना” । आनन्दलक्षण ब्रह्म से इन आकाशादिक
भूतों की उत्पत्ति होती है । आनन्द से समुत्पन्न होकरके जोवित रहते हैं और प्रलय-
काल में आनन्दात्मक ब्रह्म में ही विलीयमान हो जाते हैं ।” इत्यादि स्थल में आनन्द

स्तीति ज्ञापनायैव । यद्यानन्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वज्ञापनपरः सूत्रकारो भवेत्तदाऽऽनन्दोभ्यासादित्येवं सूत्रयेत् । द्वितीयसूत्रोऽपि स्वार्थिकत्वादित्येव लिखेन्न तु प्राचुर्यादिति । प्रभूतानन्दगुणकं चिज्ज्योतिः स्वरूपं ब्रह्म जगत्कारणं जिज्ञास्यमिति ज्ञापनायैव तथोक्तम् । अत एव 'आनन्दादयः प्रधानस्य' [ब्र० सू० ३।३।११] इति सूत्रेणाप्यानन्दादीनां ब्रह्मगुणतया स्फुटीकरिष्यमाणत्वात् । तदेतच्छ्रुतिसिद्धमेव ज्ञापितं सूत्रकारेणेति । तथा च श्रुतिः—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१]

संसारदशायां संकुचितज्ञानवतां मुक्तात्मनां व्यावृत्तिर्भवति । अनन्तपदं च त्रिविध परिच्छेदरहितब्रह्मोपस्थापकम् । तत्र देशकालवस्तुभेदात् त्रिविधः परिच्छेदः । तत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छिन्नत्वम् । तद् यथा भूतले घटसद्भावेऽपि तत्कालावच्छेदेन जलादौ घटाभावस्य विद्यमानत्वेन लक्षणस्यात्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य घटादौ सद्भावेन लक्षणसमन्वयात् । नचाकाशाभावप्रतियोगिनि तल्लक्षणमतिव्याप्तपद का ही अभ्यास को देख करके और आनन्दमय पद का अभ्यास को नहीं देखते हुये भी सूत्रकारने 'आनन्दोभ्यासात्' एतादृश सूत्र का निर्माण नहीं किया । किन्तु "आनन्दमयोभ्यासात्" इसप्रकार से सूत्र का निर्माण किया । उसके बाद पुनः "विकारशब्दान्तेति चेन्न प्राचुर्यात्" इससूत्र में मयट् प्रत्यय स्वार्थ में है ऐसा न कहकरके मयट् को प्राचुर्यार्थिकत्व जो कहा है तथा "गौणश्चेन्नात्मशब्दात्" अत्रत्य आत्मशब्द ईक्षणकर्तृकत्व होने से चेतन वाचक आत्मशब्द से जो ब्रह्मस्वरूप को चैतन्य लक्षण ज्योतिः स्वरूपता का ज्ञापन किया तो जो रूप चैतन्यज्योतिः स्वरूप ब्रह्म है वह आनन्द प्रचुर अर्थात् प्रभूत आनन्द गुणवाला है । इस बात को ज्ञापित करने के लिए ही कहा है ।

यदि आनन्दपद ब्रह्म स्वरूपका ज्ञापनपरक है ऐसा सूत्रको अभिमत होता तब तो 'आनन्दोऽभ्यासात्' एतादृश सूत्र बनाते । द्वितीयसूत्र में अर्थात् "विकारशब्दादित्यादि" सूत्र में स्वार्थिकत्व ऐसा हेतु का उल्लेख करते किन्तु प्राचुर्यात् इस तरह के हेतु का उल्लेख न किया जाता । इससे ज्ञात होता है कि प्रचुर आनन्द गुणवान् चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्मा जगत्का कारण है । वह जिज्ञासास्पद है । इस बात को ज्ञापित करने के लिए ही भाष्यकार का पूर्वोक्त कथन है । अत एव, "आनन्दादयः प्रधानस्य" [आनन्दादिक गुण प्रधान का अर्थात् परमेश्वर का है ।] इससूत्र से आनन्दादिक गुण परमेश्वर का है । इस तरह स्पष्ट रूप से प्रति-

इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मणः स्वेतख्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते । तत्र चत्वारि पदानि सन्ति । एकस्मिन् वाक्ये एकस्यैव पदस्य विशेष्यताप्रयोजकत्वमिति नियमादत्र सत्यज्ञानानन्तपदानि तु स्ववाच्यवृत्तिविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकानीति मन्तव्यम् । तत्र विनिवृत्तोपाधिकसत्त्वाश्रयत्वम्प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तदाश्रयीभूतं ब्रह्माभिधत्ते सत्यपदम् । तेन च चिदचितोर्व्यावृत्तिः फलिता । तत्राचित् द्रव्यस्य स्वरूपतः परिणामित्वेनावस्थान्तराश्रयणाद्वि-

मितिवाच्यं वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वस्यापि निवेशेनादोषात् । न च तथापि समवायेनाकाशाभावाप्रतियोगिनि गगनेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यं समवायादिवृत्तिनियामकसंबन्धावच्छिन्नत्वस्यापि निवेशात् । न चात्यन्ताभावप्रतिशोगित्वस्य संयोगाभावे सत्त्वेन केवला-न्वयिनि तस्मिंस्तल्लक्षणोतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रतियोगिन्यधिकरणाभावप्रतियोगि-त्वस्य विवक्षणात् । नहि संयोगस्तदभावो वा प्रतियोगिन्यधिकरणोऽपितु तस्याप्यवृत्तित्वेन

पादन किया है । भाष्यकार ने जो कहा है वह वस्तु श्रुति सिद्ध ही है । जिस श्रुति मूलक सूत्रकार का कथन है उस श्रुति को भाष्यकार बतलाते हैं 'तथा च श्रुतिरिति' [सत्यज्ञानवान् तथा अनन्त अर्थात् परिच्छेद रहित ब्रह्म है ।] इस श्रुति वाक्य से स्वेतर व्यावृत्त अर्थात् अनन्य साधारण ब्रह्म के स्वरूप का विधान किया जाता है । सत्यादिक श्रुतिवाक्य में चारपद हैं सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं तथा ब्रह्म—इस प्रकार चारपद है । एकवाक्य में एक ही पद को विशेष्यता प्रयोजकत्व होता है । अर्थात् अनेक पद घटित वाक्य में एक ही पद विशेष्य होता है । और तदितर पद विशेषण होता है ऐसा नियम है । प्रकृत में सत्यज्ञान और अनन्तपद जो हैं वे स्ववाच्य में वृत्ति जो विशेष्यता तादृशविशेष्यतानिरूपित जो प्रकारता—तादृशप्रकारता का प्रयोजक होता है जैसे इसी वाक्य में स्वपद से सत्यपद को छीजिए तो स्व सत्यपद उमका वाच्य है ब्रह्म-तादृश ब्रह्म में रहने वाली जो विशेष्यता, तादृशविशेष्यता से निरूपित जो सत्यत्वादिनिष्ठप्रकारता, तादृश सत्यत्वादिनिष्ठ प्रकारता का प्रयोजक सत्यादिक पद है ऐसा मानना चाहिए । अब यहाँ जो सत्यपद है वह निवृत्त है सर्व उपाधि जिसमें एतादृश जो सत्यत्व धर्म, तदाश्रयत्व को प्रवृत्ति निमित्त बना करके अर्थात् शक्यतावच्छेदक धर्म का आश्रय करके तादृश शक्यतावच्छेदक सत्यत्व धर्म का आश्रय लक्षण ब्रह्म परमात्मा का कथन करता है । जो वाच्य हो, वाच्य-

कारित्या सोपाधिकसत्ताश्रयत्वम् । तदन्वयानुविधायित्वेन तत्संसृष्टचेतनस्यापि नामान्तरादिधारकतयौपाधिकसत्त्ववत्वम् । अतस्तद्व्यावृत्तिरत्र सत्यपदेन सम्पद्यत एव । नित्यत्वविशिष्ट संकोचविकासपरिहीणसमानाकारकज्ञानाश्रयीभूतं ब्रह्माचष्टे ज्ञानपदम् । अतः संसारदशायां संकुचितज्ञानवतां मुक्तात्मनां व्यावृत्तिः । देशादिपरिच्छिन्नताराहित्याश्रयीभूतञ्च ब्रह्मोपस्थापयत्यनन्तपदम् । ततश्च ब्रह्मणः सगुणत्वात्तत्स्वरूपस्य तदगुणाप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात् । एवं प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धधर्मावच्छिन्नत्वस्यापि निवेशः कर्त्तव्यः । प्रयोजनं तु स्वयमेवोहनीयम् । एवं च प्रतियोगितावच्छेदकधर्मसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिमत्प्रतियोगिकप्रतियोगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छेदलक्षणं फलितम् । लक्षणसमन्वयप्रकारस्तत्तत्स्थले स्वयमेवोहनीयः । एवं ध्वंसप्रतियोगित्वं कालपरिच्छेदलक्षणम् । वर्तमानघटस्य दण्डप्रहाराद्विनाशे तत्र तथात्वस्यमेव वृत्ति हो, तथा वाच्य की जो उपस्थिति, तत्सम्बन्धीप्रकारता का आश्रय हो, उसको शक्यतावच्छेदक कहते हैं, अथवा प्रवृत्ति निमित्त कहते हैं । जैसे घट पद का शक्य है घट घटत्व तो घटत्व में घट पदवाच्यत्व है और घट पद का वाच्य जो कंचुप्रीवादिमत्त्वरूप अर्थ, उसमें घटत्ववृत्ति है तथा घट पदोपस्थिती प्रकारता का आश्रय भी घटत्व है । इसलिये घटत्व, घटपद का शक्यतावच्छेदक है । इसी तरह प्रकृत में सत्यत्व वाच्य है वाच्य सत्यात्मक वृत्ति है । तथा सत्यपदोपस्थितीयप्रकारताश्रय भी है । अतः एतादृश सत्यत्व लक्षण शक्यतावच्छेदक धर्माश्रयीभूत ब्रह्म का उपस्थापक सत्यपदहोता है घटादि पद की तरह इस सत्य विशेषण को देने से ब्रह्म भिन्न चित् वर्ग तथा अचित् वर्ग से व्यावृत्ति होती है । अर्थात् चित् अचित् की व्यावृत्ति होती है । प्रश्नः—परमेश्वर का अवयव शरीरैकदेश होने से पदार्थ मात्र तो सत्य ही है । तब सत्य पद से इनकी व्यावृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि सत्यपद तो असत्य का ही व्यावर्त्तक होगा । क्योंकि सिद्धान्त में बौद्धादिक मत के समान तो कोई भी पदार्थ नहीं है । यदि कोई पदार्थ हो तब तो चिदचिद्विशिष्टत्व लक्षण विशिष्टाद्वैत के चरण में कुठाराघात होगा । क्योंकि यहां तो भगवत् अवयव शेष होने से सब चित्, अचित् सत्य ही है ! इस आशंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं । अर्थात् सत्य विशेषण देने से चित्, अचित् की व्यावृत्ति किस तरह होती है ! उसका उपपादन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं “तत्राचित् द्रव्यस्येत्यादि” अचित् द्रव्य प्रकृति अहंकारादिक पदार्थ स्वरूपतः परिणामी

नाञ्चानन्त्यात्सातिशयस्वरूपगुणवतां नित्यानाञ्च व्यावृत्तिः
 फलति । त्रिभिर्विशेषणैरेतत्त्रयं व्यावृत्त्यते । एतेन जीवाना-
 बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रैविध्यमपि दर्शितम्भवतीत्यन्यत्र विस्तरः ।
 प्रकृतलक्षणे ज्ञानमिति पदस्यार्शआद्यजन्तत्वेन ज्ञानगुणाश्रयत्वमे-
 वार्थः । एवं ज्ञानस्वरूपत्वमप्यर्थः स तु 'प्रज्ञानघनएवानन्दमयः'
 विद्यमानत्वेन ध्वंसप्रतियोगित्वस्य विद्यमानत्वेन लक्षणसमन्वयो भवति । एवम्
 अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छेदलक्षणं घटः पटो न भवतीत्यादिप्रतीत्या-
 घटादिपरिच्छिन्ने वस्तुनि लक्षणस्य समन्वयात् । एतादृशपरिच्छेदत्रयरहितत्वं ब्रह्म
 अनन्तपदं बोधयति । अर्थात् श्रुतिघटकविशेषणीभूतं सत्यपदं निरूपाधिकत्रिका-
 लावाध्यत्वलक्षणं सत्यत्वं बोधयत् असद्भ्यः सोपाधिकसद्भ्यश्च व्यावृत्तिं प्रदर्शयत्
 सफलं भवति । ज्ञानपदं च असंकुचितनित्यनिरतिशयज्ञानवत्वं ब्रह्मणि समुपस्था-
 यत् जडेभ्यः संकुचितज्ञानवद्भ्यश्च व्यावृत्तिं समुपस्थापयति । तेन कतिपयज्ञानवतां
 होने से एक अवस्था को छोड़करके अवस्थान्तर में परिणत होता है । अतः वह विकारी है ।
 और विकारी होने से सोपाधिक सत्ता उसमें है । यद्यपि सत् सब पदार्थ है । तथापि सत्ता
 दो प्रकार के हैं । सोपाधिक तथा निरूपाधिक, उसमें निरूपाधिक सत्ता ब्रह्म में है और
 सोपाधिक सत्ता, ब्रह्मेतर चित्, अचित् में रहती है । अर्थात् ब्रह्म में स्वाभाविक सत्ता है ।
 तथा तदितर में ब्रह्म सम्बन्धित्वात् पराधीन सत्ता है । इसलिए चित्, अचित् सत्ता सोपाधिक
 कहलाती हैं । और परिणामी द्रव्य के अन्वयानुविधायी होने से तादृश द्रव्य संसृष्ट
 चेतन वर्ग को भी देव मनुष्यादि नामधारक होने से चेतन में अर्थात् जीव में भी औपाधिक
 ही सत्ता रहती है । (अर्थात् जिस तरह घटादि द्रव्य के चलने पर घटीय रूपादिक में चलन
 देखने में आता है । परन्तु वह चलनादि स्वभावतः रूपादिक का नहीं है । किन्तु घटान्वयानु
 विधायी हैं । उसी तरह प्रकृत में जो सत्ता है वह अचिदन्वयानुविधायी है । तथा अचित्
 संवद्ध चेतन को ही देव मनुष्यादि नामान्तर का धारक होने से औपाधिक सत्ताश्रयत्व है ।
 यद्यपि अन्वयानुविधायित्व स्वाभाविकत्व का विधातक नहीं है । क्योंकि सुवर्णमल को सुवर्णा-
 नुविधायित्व होने पर भी सुवर्णमल में द्रव्य होने से स्वाभाविकत्व होता है । तथापि प्रकृत में
 चेतन में जो उपभोग क्षमता है वह जड़ संपर्क के बिना असंभवित है । इसलिए भाष्यकार ने
 "तत्संसृष्ट चेतनस्य" ऐसा कहा है । अतः जड़ तथा जड़ संसृष्ट चेतन में औपाधिक सत्ता-
 श्रयत्व होने से उपयुक्त सत्ता का अभाव है । इसलिए पारिभाषिक सत्ताश्रयबोधक सत्यपद से जड़
 चेतन दोनोंकी व्यावृत्ति है । और 'सत्यं ज्ञानमित्यादि' वाक्य घटक जो ज्ञान पद है वह नित्यत्व

इत्यादिश्रुतिभिस्त्वगन्तव्यः, इति । तदुक्तं वाक्यकारेण प्रकृतश्रुति विमर्शे “तैत्तिरीयश्रुत्युपगृहीतसत्यादिपदैर्निस्ताऽखिलकर्मबन्धं परिणामाश्रयचिदचित्स्वरूपविलक्षणं सर्वेशितुः परमपुरुषस्य दिव्यस्वरूपमुपदिश्यत्” इति ।

एवञ्चात्र वाक्ये सत्यमनौपाधिकवाधितं ज्ञानं स्वप्रकाशकमनन्तमपरिच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः पर्यवसन्नो भवति । तथैव ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ [बृ० ३।१।२८।] इति विज्ञानपदेन स्वप्रकाशाच्चिज्ज्योतीरूपव्यावृत्तिर्भवति । अनन्तपदं च अन्तवद्भ्यः प्रागभावध्वंसप्रतियोगिभ्योऽव्यावर्तयति [अन्तोद्विविधः प्रागभावप्रतियोगिध्वंसप्रतियोगित्वभेदान्, तत्रोत्पत्तिमतां प्रागभावप्रतियोगित्वं जन्यभावानां कतिपयाभावानां च ध्वंसप्रतियोगित्वम्, इति] एतादृशान्तस्याभावशिष्ट संकोचविकाशरहित समानाकारकं जो ज्ञान तादृश ज्ञान के आश्रयीभूत परमात्मा को कथन करता है । इस ज्ञानरूप विशेषण से, संसार काल में संकोचविकाशादि ज्ञानवान् जो मुक्तात्मा है उनकी व्यावृत्ति होती है । यद्यपि मोक्षकाठ में मुक्त जीव में जो ज्ञान है वह संकोचविकाशशाली नहीं है । तब उपर्युक्त ज्ञान पद से उसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती है । तथापि प्रतियोगि व्यधिकरण संकोचविकाशाभाव तदीय ज्ञान में नहीं है । नैयायिक के मत में सुषुप्ति प्रलय कालिक आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है । तो ज्ञानाभाववत्त्वरूप जडत्वापत्ति के शंका होने से प्रतियोगि व्यधिकरण ज्ञानाभाववत्त्वं जडत्वम् एतादृश लक्षण करके आत्मा में जडत्वापत्ति का वारण करते हैं । उभी तरह प्रकृत में प्रतियोगि व्यधिकरण संकोचविकाशाभाव जीवज्ञान में नहीं है । क्योंकि संसार दशा में संकोचविकाश जीवज्ञान में, उक्त संकोचविकाशाभाव परमात्म ज्ञान में ही रहता है । इसलिए संसारकालिक संकोचविकाशविकाशशालीज्ञानवान् मुक्तात्मा की व्यावृत्ति होती है । एवं अनन्तपद देशकाल वस्तुकृत परिच्छेद रहित ब्रह्म को उपस्थित करना है । देशादि परिच्छेद के स्वरूप तथा लक्षण के स्वरूप को भाष्यदीप से अनुसन्धानकरें ।

तब ब्रह्म को सगुण होने से तथा ब्रह्म का जो गुण है उसको अनंत होने से सातिशय स्वरूप तथा गुणवान् नित्यात्मा की व्यावृत्ति होती है । इन तीन विशेषण सत्य ज्ञान तथा अनन्त विशेषणों से क्रमिक अचित् द्रव्य तथा बद्धजीव, मुक्तजीव तथा नित्यजीवों की व्यावृत्ति होती है ।

इससे बद्ध, मुक्त तथा नित्य के भेद से जीव तीन प्रकार के होते हैं इस बात को भी बलाया गया । [इस बात का विशेष विचार श्रीवैष्णव मतान्नभास्कर की मेरी टीका प्रभा-किरण

मुक्तमभवति । तस्य तेजोभूतत्वाद्द्रष्टृत्वम् । आनन्दस्य सुखपर्यायत्वेन गुणत्वं गुणस्य च द्रव्याश्रितत्वेन चिज्ज्योतिषो गुण एवानन्दः । तत्राप्यानन्दस्य क्लीबत्वनिर्देशात् ब्रह्मपदसमानाधिकरण्याच्च ब्रह्मरूपसमानाकारत्वमवगम्यते । अन्यथाऽऽनन्दपदस्य घञन्तत्वेन घञजपः पुंसी-
तिलिङ्गानुशासनबलात् पुंस्त्वं स्यात् । तथा चायमर्थः सम्पन्नो भवति स्वरूपसमानाकारानन्दगुणकं स्वप्रकाशज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मेति, एवमेव 'आनन्दो ब्रह्म' [तै० ३।६।] इत्येवमाद्याः श्रुतयः ब्रह्मपदसामाना-
वमनन्तमिति प्रदं बोधयतीति संक्षेपोविस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः । प्रकृतलक्षणे ज्ञानमि-
त्यादिसत्यंज्ञानमित्यादिश्रुतिघटकं यद् ज्ञानपदं तत् ज्ञानाश्रयत्वमर्थं बोधयति ज्ञानपदेन
अर्शादि अच् प्रत्ययः ततश्च ज्ञानगुणवान् परमात्मेत्यर्थः । अन्यथा द्रव्यगुणयो-
रभेदस्यासंभवात् । तथा आनन्दमित्यस्याप्पश्चाद्यजन्तत्वेनानन्दवानित्येवार्थः ।
अन्यथा आनन्दपदस्य नित्यपुंलिङ्गत्वेनानन्दमिति प्रयोगस्यासाधुत्वमेव स्यात् । आश्रय
परकत्वे तु विशेष्यानुरोधेननपुंसकत्वस्य संभवान् । यद्यपि विज्ञानघनः प्रज्ञानमित्यादौ-
तथान्यचिदात्ममीमांसादि मेरे प्रबन्धों में देखिये ।] प्रकृत लक्षण में ज्ञानपद अर्शाद्यजन्त होने
से ज्ञान लक्षण गुण के आश्रय को बतलाता है । अर्थात् ज्ञानगुण का आश्रय है इस ज्ञानगुण
का आश्रयाश्रयीभाव रूप अर्थ होता है । आत्मा में ज्ञान विशेषण है । एवं ज्ञान स्वरूपता
का भी प्रतिपादन करता है । 'प्रज्ञानघनः' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से ऐसा
वाक्यकार ने कहा है । प्रकृत जो श्रुति, उसका विचार करने पर तैत्तिरीय 'सत्यज्ञानादि
श्रुति से उपगृहीत जो सत्यज्ञानादि पद समुदाय है उससे निरस्त है समस्त कर्म बन्धन
जिसमें एतादृश परिणाम का आश्रय जो चित्, अचित् का स्वरूप तदपेक्षया अति विलक्षण सर्वेश
परमपुरुष का जो दिव्य स्वरूप तादृश स्वरूप का उपदेश किया जाता है । अर्थात् कर्म
संपादित स्वरूपापेक्षया अतिविलक्षण भगवान् का स्वरूप है ।

'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि समस्त वाक्य का पर्यवसितार्थ को बतलाते हैं 'एवं चात्रे-
त्यादि ।' 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य में सत्य अर्थात् अनौपाधिक तथा त्रिकालाबाधित
स्वप्रकाश लक्षण देश कालादि परिच्छेद रहित ब्रह्म है एतादृश अर्थ सत्यादि वाक्य का
पर्यवसित होता है । इसी 'तरह विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रौत वाक्य में विज्ञान पद से
स्वप्रकाश चैतन्य ज्योतिः स्वरूप का कथन होता है । उस स्वप्रकाश चैतन्य को तेजो लक्षण

धिकरण्यात्तमेवार्थमुपस्थापयन्ति । तस्मात्स्वरूपसमानाकारानन्द-
गुणकं स्वप्रकाशचिज्ज्योतिः स्वरूपमखिलजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकारणं
ब्रह्मैव सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं यत्तदेवात्राभिहितम् । अत एव 'तद्गु-
णसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवादतिसूत्रकारेणात्मनो विज्ञानान-
न्दगुणसारत्वाच्च विज्ञानानन्दपदाभ्यां व्यपदेश इति स्पष्टमुक्तम् ।
प्राज्ञवादिति नृशान्तः । यथा यः सर्वज्ञः सर्वविदिति सर्वज्ञातृत्वेन श्रुतः
तादात्म्यमिव प्रतिभाति तथापि तत्राप्याश्रयपदत्वेन सामञ्जस्य संभवेन क्लिष्टक-
ल्पनानुपपत्तेरिति । अमुमर्थं वृत्तिकारवचनेनापि द्रष्टव्यं तद्वक्तृ वाक्यकारेण-
न्यादि । सत्यादिश्रुतिघटकसत्यज्ञानां पदैर्भगवतो विलक्षणमप्राकृतिक
कर्मबन्धनरहितमत्याश्चर्यकर्मजनकचिदचिद्विशिष्टं स्वेतरासाधारणं विग्रहवत्त्वं
प्रदर्शितं भवति । एतेन केवलाद्वैतसंमतनिर्विशेषत्वादिकं पराकृतं भवतीति
संक्षेपोविस्तरस्त्वन्यत्रेतिदिक् ।

सत्यज्ञानादितिवाक्यघटकसत्यादिप्रत्येकपदस्य सिद्धान्तानुकूलमर्थं
प्रदर्श्यतदनुसंमस्तस्य वाक्यस्य पर्यवसितार्थं दर्शयितुमाह, एवं चात्रवाक्ये इत्यादि ।
एवं च प्रत्येकपदस्यार्थकरणानन्तरमयमर्थः संपद्यते इति । सत्यमित्यस्य, अनौपा-
होने से द्रष्टव्य होता है । और आनन्दपद सुख का पर्यायवाची होने से आनन्दगुण है ।
और जो गुण होता है वह द्रव्य में ही समवेत होता है । 'अथ द्रव्याश्रिताज्ञेयानिर्गुणानि-
ष्क्रियाश्चेते' ऐसा नियम है । इसलिए चैतन्य प्रकाश का सुख पर्याय आनन्द गुण है ।
विज्ञान रूप आत्मा गुणी है । इसमें भी आनन्द पद में नपुंसक निर्देश है । तथा ब्रह्म
समानाधिकरण्य होने से ब्रह्मरूप समानाकारत्व को बतलाता है । अन्यथा आनन्द पद को वज्र
प्रत्ययान्त होने से घञ् अच् और अप् प्रत्ययान्त पुलिङ्ग होता है इस व्याकरण के नियम से
पुलिङ्गत्व होना चाहिए । अतः आनन्द ब्रह्म में गुणगुणी भाव ही है । तब सम्पूर्ण वाक्य
का यह अर्थ होता है स्वरूपसमानाकारक अनन्तगुण का स्वप्रकाश ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म ही
है । इसी तरह 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादिक श्रुति भी ब्रह्म पद के समानाधिकरण्य से उपर्युक्त
अर्थ को ही उपस्थित कराती है । तस्मात् स्वरूप समानाकारक आनन्दगुणक स्वप्रकाश-
ज्योतिः स्वरूप समस्त जगत् का सर्ग, स्थिति तथा प्रलय का कारण ब्रह्म ही सर्व वेदान्त
प्रतिपाद्य है ।

उन्हीं का यहाँ कथन किया गया है । अत एव 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्'
इस सूत्र में सूत्रकार ने आत्मा को विज्ञानादिगुणसार होने से विज्ञान तथा आनन्द पद से

प्राज्ञो ज्ञानगुणसारत्वात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते । यथा च आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानिति । स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यानन्दगुणकत्वेन श्रुतस्य प्राज्ञत्वानन्दगुणसारत्वात् 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' । 'आनन्दो ब्रह्म व्यजानात्' [तै०। ३।६।] इत्यादावानन्दशब्देन व्यपदेश इति ज्ञानानन्दयोर्ब्रह्मगुणसारत्वेन तत्सामानाधिकरण्यनिर्देशेन च ब्रह्म स्वरूप समानाकारतैव प्रथितो भवतीति दिक् ॥१४॥

धिकत्वमवाधितत्वं चार्थः, ज्ञानपदस्य स्वप्रकाशकत्वमर्थः । अनन्तपदस्य सर्वपरिच्छेद-राहित्यमर्थः । तथा च यथानुगुणकं ब्रह्मेति वाक्यार्थः । एवं विज्ञानमानन्दमित्यत्र विज्ञानपदं स्वप्रकाशचैतन्यलक्षणं ज्योतिः स्वरूपमर्थं प्रतिपादयति । तादृशचैतन्यपदमपि सामानाधिकरण्यानन्तपुंसकनिर्देशाच्च ब्रह्मस्वरूपसमानाकारतामेव गमयति । अन्यथा घञन्तत्वेन पुंलिङ्गत्वापत्तेः । अतः ब्रह्मानन्दयोराधाराधेयभाव एव । अन्यत्सर्वं भाष्याक्षरेणैव ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥१४॥

व्यपदेश होता है ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है । प्राज्ञवत् यह दृष्टान्त कहा गया है । तथाहि जिस तरह 'जो सर्वज्ञ है वह सर्ववित् है' इस श्रुति में सर्वज्ञातृत्वरूप से श्रुत जो प्राज्ञ परमात्मा है वह ज्ञान गुणसार होने से सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है इस श्रुति में ज्ञान शब्द से व्यवहृत होते हैं तथा जिस तरह 'ब्रह्मके आनन्द को जाननेवाला' 'यह ब्रह्मका एक आनन्द है' इत्यादि स्थल में आनन्दगुणवत्वरूप से श्रूयमाण प्राज्ञको आनन्द गुणवान् होने से 'यदि यह आकाश आनन्द स्वरूप नहीं होता । तथा 'आनन्दलक्षण ब्रह्म को जाना' इत्यादि स्थल में आनन्द शब्द से व्यवहार होता है । । इसलिए ज्ञान तथा आनन्द को ब्रह्मगुणसार होने से तथा ब्रह्म सामानाधिकरण्य का निर्देश होने से ब्रह्म स्वरूप समानाकारत्व ही सिद्ध होता है ॥१४॥

॥ तद्धेतुव्यपदेशाच्च । १ । १ । १ ५ । ॥

आनन्दप्रचुरः परमात्मेत्यत्र हेतुमाह 'तद्धेतुव्यपदेशाच्चेति' "एष एवानन्दयाति" [तै० २।७] एष परमात्मा जीवमानन्दयतीति जीवानन्ददाने परमात्मनोऽत्र हेतुव्यपदेशात् । योऽन्यानानन्दयति स स्वयमानन्दप्रचुरो भवति यथा लोके स्वयं धनी सन्नेव परान्धनिनः करोति तथाऽनन्दयातीति निर्देशः । दीर्घस्थानन्दमः । अथवा इतश्चानन्दमयः परमात्मेत्याह "तद्धेतुव्यपदेशाच्च" तस्या नन्दमयस्य परमात्मत्वे यो जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वरूपोऽव्यभिचारी हेतुस्तस्य "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" [तै०

"जीवो नानन्दमयः" किन्तु परमात्मैव । यतो जीवानामानन्ददायकत्वं परमात्मन एव श्रुतम् । यश्च यस्य दाता यश्च प्राप्ति कर्ता तयोर्भेदो दृष्टो लोके यथा स्वधनेनान्यन्धनिकं करोति स प्रचुरतरधनवान् भवति । यथावा कर्पूरादिद्रव्यं स्वसम्बन्धादन्यमपि सुवासितं करोतीति तद्द्रव्यमतिप्रचुरसुगन्धिमदिति दृश्यते । प्रकृते परमेश्वरो मोक्षात्मकसुखसमन्वितं जीवं करोतीति एष एवानन्दयातीत्यादौ-श्रुतमतः स परमात्मा जीवादन्यो जीवानन्दप्रदातैव प्रचुरानन्दवत्त्वादानन्दमयो भवति नतु तदन्यः कोऽप्यनन्दमय इति सुखप्रदातृत्वात् सिद्ध्यतीत्याशया विष्कृतं

"आनन्दमय" परमात्मा ही है किन्तु जीव नहीं है । क्योंकि जीव को आनन्द प्राप्त होता है उसमें कारण परमात्मा है तो जीव आनन्द प्राप्तकर्ता होने से परमात्मा में ही आनन्द है । इस बात को बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "आनन्द प्रचुरः परमात्मेत्यादि" परमात्मा आनन्द प्रचुर है इसमें हेतु बतलाते हैं "तद्धेतु व्यपदेशादिति" परमात्मा में जीवानन्द के हेतुका कथन होने से परमात्मा आनन्दमय है इति सूत्रार्थः । जीवानन्द के प्रति परमात्मा हेतु है इसका उपपादन करने के लिए भाष्यकार कहते हैं "एष एवानन्दयातीति" यह आनन्द प्रचुर आत्मा जीव को आनन्द सम्पन्न करते हैं । इस प्रकार से जीव के आनन्द प्रदान में परमात्मा को तादृशानन्द प्रदान में हेतु का कथन किया है । जो दूसरे को आनन्दित कराता है वह स्वयं तो आनन्द प्रचुर होता ही है । जिस तरह लोक में जो स्वयं धनाढ्य होकर के ही अन्य व्यक्ति को धनी बनाता है । यथावा शीतजल सम्पर्क से पृथिव्यादिकभी शीतल होता है । तो जल में अति शीतत्व अर्थतः सिद्ध होता है । इसी तरह जीवानन्द प्रदाता परमात्मा प्रचुरतर आनन्दवान् होने से आनन्दमय है । आनन्दयाति में जो दीर्घ हैं वह छान्दस है । अथवा

३।६] इत्यादिना व्यपदेशादानन्दमयः परमात्मा । यतो हि “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मे” त्यनयाश्रुत्या जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य ब्रह्मैकनिष्ठत्वबोधनेन तस्य ब्रह्मत्वसाधक हेतुत्वात् । एवं ‘आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’ [तै० ३।६।] इत्यत्रानन्दमयस्य ब्रह्मत्वज्ञापकतयानन्दमयः परमात्मैव प्रयोगस्त्वीदृशः “आनन्दमयः परमात्मा जगत् सृष्ट्यादिकर्तृत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्’ एवमप्यानन्दमयपदवाच्यं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥१५॥

भाष्यकार उपक्रमते “आनन्द प्रचुरः परमात्मेत्यादि । आनन्दप्रचुरः परमात्मैवानन्दमयो न जीवस्तत्र हेतुमाह “तद्वेतुव्यपदेशादिति” तस्य मोक्षादिसुख विशेषस्य परमात्मैवानन्दप्रचुरत्वादानन्दमयः । कुतः ! आनन्दहेतुत्वात् दृष्टान्तश्चात्र व्यतिरेकीभाष्योक्तः “एष एवानन्दयातीतिश्रुतेः । अन्यमानन्दयन् स्वयं तत्प्रचुर इति गम्यो भवति । अथवा आनन्दमयः परमात्मा आनन्दस्यैव “आनन्दाद्व्येवखल्विमानिभूतानि” इत्यादिश्रुत्याजगत्सर्जकत्वकथनादित्यादिकं भाष्याक्षरैर्ज्ञातव्यमीति संक्षेपः ॥१५॥

आनन्दमय परमात्मा है इस कारण से तत्राह “तद्वेतु” इत्यादि । उस आनन्दमय को परमात्मा होने में जो जगत् स्रष्टृत्वरूप अव्यभिचरित हेतु है उसका “आनन्द से ही इन भूतों की उत्पत्ति होती है” इत्यादि रूप से व्यपदेश होने से आनन्दमय परमात्मा है । जिस लिए ‘जिस परमात्मा से आकाशादिक भूतों की उत्पत्ति होती है ।’ उस परमात्मा से स्थिति विनाश होता है । वह जिज्ञास्य है तथा वही ब्रह्म है’ । इत्यादि स्थल में आनन्दमय को ब्रह्मत्व का ज्ञापक होने से आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा ही है । प्रकृत में अनुमान का आकार इस तरह से होता है ‘परमात्मा (पक्ष) आनन्दमय है’ (साध्य) अर्थात् आनन्दमयत्व साध्य है । जगत् सृष्टि कर्तृत्व हेतु है । ‘यन्नैवं तन्नैवम्’ यह दृष्टान्त है । अर्थात् जिसमें उक्त साध्य नहीं है उसमें प्रकृत हेतु भी नहीं है । यथा जीव । जीव में आनन्दमयत्व साध्य नहीं है । तो जीव में जगत्सर्जकत्व हेतु भी नहीं है । व्यतिरेकी अनुमान में साध्याभाव हेत्वभाव में ही व्याप्य व्यापकभाव रहता है । ‘पृथिवी स्वेतरेभ्योभिद्यते गन्धवत्त्वात्’ के समान । साध्याभाव व्याप की भूताभाव प्रतियोगित्व रूप व्याप्ति होती है । इत्यादिक अनुमान से आनन्दमय पदवाच्यत्व ब्रह्म में सिद्ध होता है ॥१५॥

इतश्च न जीव आनन्दमयः—

॥ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते । १ । १ । १ ६ । ॥

“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्दमयो गीयते । तज्जीवप्राप्यत्वेन श्रुतं जीवात्परं ततोऽन्यद्भवितुमर्हति । तथा हि “ब्रह्मविदानोतिपरम्” इत्युपक्रम्य “सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्” ‘सोऽश्नुते सर्वान् कमान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता’ [तै० २।१] इत्यस्मिन्मन्त्रो तद्गीयते तन्मान्त्रवर्णिकम् । तदेव “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः [तै० २।१] इत्यादिश्रुतिभिरात्मत्वेनाकाशादिकर्तृत्वेनानन्दमयत्वेन “स एको ब्रह्मण आनन्द” इत्यानन्दप्रचुरत्वेन च गीयत इत्यर्थः ।

जीवो नानन्दमयोऽपितु परमात्मैवानन्दमय इत्यत्र युक्त्यन्तरं दर्शयितुं प्रक्रमते इतश्च न जीव इत्यादि मन्त्रवर्णप्रतिपादितत्वलक्षणकारणादपि सिद्ध्यति यत् परमात्मैवानन्दमयो न जीव इत्यर्थः । सूत्रार्थं विवृणोति “सत्यं ज्ञानमित्यादि” सत्यं ज्ञानमित्यादि एतन्मन्त्रवर्णैः प्रतिपादितं यत् सत्यज्ञानादिलक्षणं परब्रह्म तदेव “अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय” इत्यादिब्राह्मणवाक्येनापि प्रतिपादितं भवतीति । यदा खलु

वक्ष्यमाणरीति से भी जीव आनन्दमय नहीं हैं किन्तु परमात्मा ही आनन्दमय है’ इसमें हेतुन्तर बतलाते हैं “मान्त्रवर्णिकमित्यादि सूत्रम् ‘सत्यं ज्ञान’ मित्यादि मन्त्रवर्ण प्रतिपादित जो ब्रह्म है वही “अन्योन्तर आनन्दमय’ इस ब्राह्मण वाक्य से प्रतिपादित होता है । नतु जीव आनन्दमय पद प्रतिपाद्य है । मन्त्रवर्ण प्रतिपादित ब्रह्म जीव से प्राप्यत्वेन प्रमाण है । वह जीव से पर है । अर्थात् वह जीव से अवश्य भिन्न है । तथाहि—‘ब्रह्मज्ञानी उपासक पर ब्रह्म को प्राप्त करता है’ । यहाँ से प्रारंभ करके “जो उपासक गुहा में निहित ब्रह्म को जानता है वह सभी कमनीय पदार्थ को प्राप्त करता है । विपश्चित् ब्रह्म के साथ-साथ इस मन्त्र में जो ब्रह्म कहा गया है उसको मान्त्रवर्णिक कहते हैं । अर्थात् मन्त्रवर्ण प्रतिपाद्य जो हो उसको मान्त्रवर्णिक कहते हैं वह मन्त्र प्रतिपादित ब्रह्म ‘तस्माद्वा’ इस आत्मा से आकाशादिक उत्पन्न हुआ’ । इत्यादि श्रुति के द्वारा आत्म रूप से आकाशादिक कर्तृत्व रूप से तथा आनन्दमयत्व रूप से ‘स एको ब्रह्मण’ इस श्रुति से आनन्द प्रचुर रूप से प्रतिपाद्य होता है । इस प्रकार से सूत्र का संक्षिप्तार्थ होता है ।

अयम्भावः । ब्रह्मविज्जीवप्राप्यतया जगत्कर्तृतयाऽनन्द प्रचुरतया श्रूयते यद्ब्रह्म मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दमयपदवाच्यं भवति न जीवः प्राप्तुरुपासकस्य जीवस्य स्वप्राप्यब्रह्मत्वानुपपत्तेः । जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रेण मुक्तस्यापि जीवस्य जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च न जगत्कर्तृनन्दमयपदवाच्यो जीवः किन्तु ब्रह्मैव ।

अत्रोदं तत्त्वम्—‘जन्माद्यस्य यतः’ [ब्र०सू० १।१।२।] इत्याम्भ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते [ब्र०सू० १।१।१६।] इत्यन्तैः सूत्रैः सूत्रमन्त्रब्राह्मणयोरेकवाक्यता भवति तदा मन्त्रप्रकाशितमेव ब्रह्म ब्राह्मणभागेनापि गीयमानं भवति । तस्मादानन्दमयः प्रकृते परमात्मैव न तु जीवः कदाचिदपि तेनरूपेण प्रतिपादितो भवति । किञ्च जीवप्राप्यमानन्दप्रचुरं ब्रह्म जीवश्चलब्धेति कथं जीव आनन्दमयः स्यात् । लब्धलब्धव्ययो भेददर्शनात् तस्मादानन्दमयः परब्रह्म श्रीराम एव न तु जीवः कदाचिदप्यानन्दमय इति ।

मन्त्रवर्ण प्रतिपादित ब्रह्म ही ब्राह्मण भाग से प्रतिपादित होता है वह किस प्रकार से होता है । इस बात को बतलाने के लिए तथा आनन्दमय प्रतिपाद्य भी ब्रह्म ही है जीव नहीं इस बात को बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘अयंभाव’ इत्यादि । प्रकृत में कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ज्ञानवान् जो उपासक जीव उससे ब्रह्म का प्राप्य होने से जगत् कर्तारूप से आनन्द प्रचुर रूप से श्रूयमाण जो मान्त्रवर्णिक ब्रह्म है वही मान्त्र वर्णिक ब्रह्म ब्राह्मण प्रतिपादित आनन्दमय पदवाच्य है किन्तु जीव आनन्दमय पदवाच्य नहीं है । क्योंकि प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता जो जीव है उसी जीव का प्राप्य अर्थात् प्राप्ति क्रिया का कर्म जो ब्रह्म उसके साथ तादात्म्य अनुपपन्न है । जिस तरह गमन क्रिया का कर्त्ता जो देवदत्त हैं उसका गमन क्रिया का कर्माभूत ग्राम के साथ अमेद नहीं होता है । अर्थात् जो जिस क्रिया का कर्त्ता होता है वह उस क्रिया का कर्म नहीं होता है । क्योंकि पर समवेत क्रिया जनित फल का आश्रय होता है वह कर्म है । देवदत्तादिक कर्त्ता में पर समवेत क्रिया जन्य फलाश्रयता नहीं है । क्रिया का स्वातन्त्र्येण प्रयोजक कर्त्ता होता है वह तो चेतन ही होता है । अतः एक पदार्थ कर्त्ता तथा उसी क्रिया का कर्म नहीं होता है । एकत्व में क्रिया कर्म भाव ही अनुपपन्न है’ । इसीलिए भाष्यकार ने कहा है ‘स्व प्राप्य ब्रह्मत्वानुपपत्तेः’ प्रापक जीवको प्राप्य ब्रह्म स्वरूपत्व अनुपपन्न है ।

कृद्भिर्निश्चितम् तद्धि जगत्कारणं ब्रह्म द्विभुजाद्यवयवविग्रहवदस्तीति
 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । उरु तदस्य यद्वैश्यः
 पद्भ्यां शूद्रोऽजायत [पु०सू० ११] इत्यनया श्रुत्यावगम्यते मोऽस्य
 विग्रहो ब्रह्मानन्दमयोस्तीति 'अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः'
 [रा० ता०] इत्यनयावगम्यते । एतदविरोधाय ब्रह्मप्रतिपादकनि-
 राकारपदस्य प्राकृतहेयाकारनिषेधपरत्वमुपपद्यते । प्राकृताकारसहि-
 तत्वं निराकारत्वमिति तन्निर्वचनम् । तस्य जगत्कर्तृब्रह्मणो ज्ञान-
 शक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यादयो बहवः स्वाभाविका दिव्या गुणाः
 सन्ति । एतच्च 'सकारणं कारणाधिपाधियो न चास्य कश्चि-

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकमेतावत्पर्यन्तसूत्रैर्यद् विचारितं तद्
 ब्रह्म साकारं निराकारं वा साकारत्वेऽपि श्रीकृष्णनारायणादिनामकं तदन्यद्वा तत्र साकार
 प्रतिपादकनिराकारप्रतिपादकश्रुतीनां कथं परस्परमेकवाच्यत्वं कथं वा विरोधपरिहार
 इत्यादिजिज्ञासां निराकृत्य सिद्धान्तमार्गं परिष्कृत्य दर्शयितुं प्राह "अत्रेदं तत्त्वं

नहीं कहो कि ब्रह्मजीव आनन्दमय पदवाच्य न हो क्योंकि प्राप्य प्रापक में एकत्व
 अनुपपन्न है । किन्तु ब्रह्म प्राप्त जो मुक्त जीव है उसमें तो अब प्राप्य प्रापक भाव नहीं है
 तो मुक्त जीव आनन्दमय पदवाच्य हो सकता है । इस शंका का निराकरण करने के लिए
 भाष्यकार कहते हैं 'जगद्व्यापारवर्जमित्यादि' जगद्व्यापारेत्यादि सूत्र से सूत्रकार ने मुक्त
 जीव में जगत् कर्तृत्व का निषेध किया है । इसलिए जगत् का कर्ता आनन्दमय जीव
 नहीं है किन्तु ब्रह्म ही है ।

अर्थात् पूर्व श्रुतियों से सिद्ध हो चुका है कि आनन्दमय जगत्कर्तृत्व धर्म विशिष्ट
 है । अब प्रकृत में जब मुक्त जीव में जगत् कर्तृत्व रूप विशेषण का अभाव का
 प्रतिपादन होनेसे विशेषणभाव प्रयुक्त विशिष्टाभावसिद्ध होता है । दण्डभाव रूप विशेषणभाव
 से "दण्डी नास्ति" इत्यादि के समान । इसका विशेष विवरण अन्यत्र देखिये । इसलिए
 मुक्तजीव भी आनन्दमय पदवाच्य नहीं है । किन्तु जगत्कर्तृत्वादिक गुणविशिष्ट परमात्मा
 ही आनन्दमय पदवाच्य है ।

सर्वेश्वर श्रीरामजी ही परब्रह्म हैं । इस बात को "जन्माद्यस्य यतः" यहाँ से
 उपक्रम करके प्रकृत सूत्रों से निर्णय किया है । समस्त वेदपुराणादि से इसका निश्चय

ज्जनिता च चाधिपः [श्वे० ६।१।] न तस्य कार्यं करणञ्चविद्यते
 न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
 स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च [श्वे० ६।१।] इत्यादिभिः श्रुति-
 भिरवगम्यते । एवञ्च 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यम-
 गन्धवच्च यत् [क० १।३।१५।] इत्यादिश्रुतीनां 'सर्वगन्धः सर्व-
 रसः' इत्यादिश्रुतिभिः सहैकवाक्यतया प्राकृतहेयगन्धादिनिषेधकत्व-
 मुपपद्यते । एवं "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजि-
 धित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" [छा० ८।७।१] इत्यनया
 श्रुत्या तस्य हेयान् पाप्मत्वादीन् गुणान् प्रतिषिध्य दिव्यानामेव
 मित्यादि मान्त्रवर्णिकमिति सूत्रपर्यन्तसूत्रैर्जगत्कारणं यद् ब्रह्मसूत्रकारेण निर्णीतं
 तद् ब्रह्म द्विभुजश्यामलादिवर्णकं श्रीरामात्मकमेवेति विशेषरूपेण निर्णयं
 कृतवान् अर्द्धमात्रात्मकोराम इत्यादिश्रुतेः । निराकारादिश्रुतीनां हेयाकारनिषेध
 क्रिया है । "रूपवत्त्वादि" निराकरणपरक श्रुतियों का भी सविशेष साकार ब्रह्म प्रतिपादन
 में तात्पर्य है । इस बात को विस्तृत रूप से प्रतिपादन करने के लिए भाष्यकार उपक्रम
 करते हैं "अत्रोदं तत्त्वमित्यादि" इस प्रकरण का यह अभिप्राय है । "जन्माद्यस्य यतः"
 से आरंभ करके "मान्त्रवर्णिकम्" इत्यादि पर्यन्त सूत्रों से सूत्रकार ने ब्रह्मरूप से जिसको
 निश्चित किया है वह जगत् का कारण ब्रह्म द्विभुजादि अवयवक शरीरवान् है ऐसा
 "इस ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए बाहु से क्षत्रिय को बनाया, जंघा से वैश्य को
 पैदा किया, और इस ब्रह्म के पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई" इस श्रुति से ज्ञात
 होता है । इस परमात्मा का वह शरीर ब्रह्मानन्दमय है यह "ब्रह्मानन्दैक विग्रह अर्द्ध
 मात्रात्मक भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं ।" इस श्रुति से अवगत होता है । इन श्रुतियों के
 साथ अविरोध संपादन करने के लिए निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला जो वाक्य
 है उसको हेय जो प्राकृत आकार है उसका निषेध परक है । अर्थात् भगवान् का जो
 विग्रह है वह प्राकृतिक अस्मदादि शरीर के समान नहीं है इस अंश में तात्पर्य है ।
 निराकार पद का सर्वथा आकार राहित्य अर्थ नहीं है । किन्तु प्राकृत आकारराहित्य
 रूपही अर्थ है । आकार का सामान्याभाव विवक्षित नहीं है । किन्तु इतर श्रुति सहकार
 से आकार विशेष ही अपेक्षित है । प्राकृतप्रकार रहितत्व ही निराकार पद का अर्थ है ।

सत्यकामत्वादिगुणानां प्रकाशनात् । न चागन्धमस्पर्शमित्यादि श्रुतिविरोधेन ज्ञानशक्त्यादिगुणानामेवौपाधिकत्वं कुतो न स्यादिति वाच्यम् 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यत्र श्रुतौ स्वाभाविकत्वेनैव स्वकण्ठस्वेणोक्तानां ज्ञानादीनामौपाधिकत्वानुपपत्तेः । तस्मादगन्धमित्यादिवाक्यानां हेयगुणनिषेधपरत्वेनाचक्षुरश्रोत्रमित्यादिवाक्यानाञ्च हेयप्राकृतशरीरनिषेधपरत्वेन चोपपत्तिः । तथा च 'कर्तारमीशं परुषं ब्रह्मयोनिमित्यादिवचनैः साकारजगत्कर्तृन्तर्यामिब्रह्मदर्शनेन तत्साम्यप्राप्तिरुक्ता भवति । तस्मात्सगुणनिर्गुणसाकारनिराकारादिशब्दाभिहितनिस्वधिकनिरतिशयज्ञानानन्दबलैश्वर्यतेजोवीर्याद्यनन्तगुणैकतानं दिव्यमङ्गलविग्रहं स्वप्रकाशचिज्ज्योतिः एव तात्पर्यम् । साकारवादिन्यश्चाप्राकृतिकरूपमेव समर्थायन्ति तथैवाहुर्जगद्गुरुश्रीमद्भगवत्पुत्राचार्याः "निष्कलं निक्रियं चाथ निर्गुणं च निरञ्जनम् । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, इत्येवं श्रुतिवाक्यतः" ॥ निषेधः प्राकृतानां हि गुणानामेव राघवे । उस जगत् कर्ता परं ब्रह्म में ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य तेज और वीर्य प्रभृतिकानन्त स्वाभाविक दिव्यगुण रहता है । भगवान् में स्वाभाविक गुणवत्त्व है ऐसा "ब्रह्म परमात्मा सब पदार्थ का कारण है । करण इन्द्रिय समुदाय का अधिप जो जीव उसका भी अधिप स्वामी नियन्ता है । इस परमात्मा का उत्पादकतया कोई स्वामी नहीं है । परमात्मा का कार्य कलेवर नहीं है । तथा कारण भी नहीं है । परमात्मा के समान अथवा उससे अधिक कोई नहीं है । अनेक प्रकारक विरक्षण शक्तिमान् हैं । तथा परमात्मा में स्वाभाविक ज्ञानबल तथा क्रिया है ।" इन श्रुतियों से ज्ञान होता है । "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि श्रुति को "सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादि श्रुति के साथ एकवाक्यता होने से प्राकृत हेय गन्धादि निषेधकत्व उपपन्न होता है । एवं "अपहृत पाप्मा" इत्यादि श्रुति से परमात्मा में हेयगुण का निराकरण करके दिव्य गुण का विधान किया जाता है । नहीं कहो कि, "अगन्धमस्पर्शम्" इत्यादि श्रुति के विरोध होने से ज्ञान शक्त्यादिक गुण परमात्मा में औपाधिक है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि "स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" इत्यादि श्रुति में ज्ञानादिक शक्त्यादिक को स्वाभाविक कहने से औपाधिक कल्पना निर्मूलक है । तस्मात्, "अगन्धमस्पर्शम्" इत्यादि वाक्य हेय प्राकृत गुण का निषेध

स्वरूपं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं स्वचिन्तकैकप्राप्यं यज्जगज्जन्मादिहेतु-
भूतं ब्रह्म तदेव जिज्ञास्यं ज्ञेयं ध्येयम्प्राप्यञ्चेति । तत्प्राप्ते
साधनं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणं तदेक-
ध्यानं तदेकचिन्तनमिति “ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः”
इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टम्प्रतिप्रादितमिति सर्वमनवद्यम् ॥१६॥

यद्यपि बद्धजीवस्य न मान्त्रवर्णिकत्वमुपपद्यते तथापि विली-
नाखिलप्रपञ्चसम्बन्धस्य निर्विशेषचिन्मात्रैकस्य शुद्धस्वरूपस्य
मुक्तावस्थस्यैव जीवस्य तथा सम्पद्यतामित्याशङ्क्याह—

परास्य शक्तिरित्यादि शक्त्यादि बोधकश्रुतेः ॥ गुणानां किन्तु दिव्यानां
वैशिष्ट्यं राघवे मतम् । प्राकृतानां गुणानां तु रोहित्यं तत्र बुध्यताम्” (सगुणनिर्गुण
ब्रह्माभेदवादः १०-११-४२) इत्यादिरूपेणेति संक्षेपः ॥१६॥

ननु बद्धजीवः संसारमलावृतत्वान्न भवतु मान्त्रवर्णिकस्तथा आनन्दमयपद
वाच्यः किन्तु मुक्तजीवः संसाररहितत्वाद्विशुद्धोमान्त्रवर्णिक आनन्दमय पदवाच्योवाच्य-
करके तथा “अचक्षुः श्रोत्रम्” इत्यादि वाक्य प्राकृत हेय शरीर का प्रतिषेध करके उप-
पन्न होते हैं । “कर्त्तारमीशं पुरुषम्” इत्यादि वचनों से यह सिद्ध होता है कि
जगत्सर्जक सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के दर्शन से उपासक को ब्रह्म समत्व की प्राप्ति होती है ।
तस्मात् सगुण निर्गुण साकार निराकारादि शब्द प्रतिपादित निःसाम्यविक निरतिशयज्ञा-
नानन्दादि गुण युक्त दिव्य मंगल शरीरवान् स्वप्रकाशचित्ज्योतिः स्वरूप सर्व वेदान्त से
प्रतिपाद्य स्वकीय उपासक मात्र से प्राप्ति योग्य जगत् जन्म स्थिति लय कारणभूत जो
श्रीरामात्मक ब्रह्म है वही जिज्ञास्य है । तथा अथातो ब्रह्म जिज्ञासा का लक्ष्य है, ज्ञेय है
उपासकों से ध्यातव्य है । तथा भक्तों से प्राप्य है । एतादृश परम ब्रह्म के प्राप्ति में
साधन विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाह लक्षण भगवान् का ध्यान भगवत्
चिन्तन ही है । इस बात का, “ततस्तु तं पश्यते” इत्यादि श्रुति से स्पष्ट रूप से
प्रतिपादन किया गया है ॥१६॥

यद्यपि संसारावस्थ जो जीव है वह “सत्यंज्ञानम्” इत्यादि मन्त्रवर्ण प्रतिपादित
नहीं हो सकता है । तथापि विनष्ट हो गया है समस्त संसार बन्धन जिसका । तथा

॥ नेतरोऽनुपपत्तेः । १ । १ । १ ७ । ॥

ब्रह्मण इतरो भिन्नो जीवो मुक्तिदशामापन्नोऽपि मान्त्र-
वर्णिको नार्हति भवितुम् । अनुपपत्तेः । मुक्तस्यापि जीवस्य
“सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इति श्रुत्युक्तनिरुपाधिकविपश्चित्वाऽनुपपत्तेः ।
एवं “सोऽकामयत प्रजायेय” “सत्यकामः सत्यसंकल्पः” [छा०
८।७।१] इत्यादि श्रुतिभिः परमात्मन एव सत्यसंकल्पत्वनिर्णयात् ।
एवञ्चात्र विविधं पश्यतीति विपश्यञ्जीवः स चासौ चिच्चेति
विपश्चित् तस्य भावो विपश्चित्वं पश्यच्छब्दावयवभूतस्य यच्छब्दस्य
पृषोदरादित्वालोपेन व्युत्पन्नोऽयं विपश्चिच्छब्दः । तत्त्वञ्च
मनसयोरविषयत्वान्निर्विशेषोपि स्यादित्याशङ्कानिरासार्थं सूत्रव्याख्यानाय चोपक्रमते
यद्यपि बद्धजीवस्येत्यादि यद्यपि संसारमलावृतोजीवो न भवतु मान्त्रवर्णिक आनन्दमय
पदवाच्यश्च । परन्तु मुक्तजीवस्तु संसाररहिततया निर्मलो भविष्यति मान्त्रवर्णिक
आनन्दमयवाच्यश्चेति शङ्कितुराशयः । इमां शङ्कां निराकर्तुमाह सूत्रकारो नेतर
इत्यादि । इतरो भिन्नः तत्र भेदपदस्य प्रतियोगिसाक्षांशत्वेन तदपेक्षायां परमेश्वरे नित्यत्वं
निर्विशेषचिन्मात्रैकरसविशुद्ध स्वरूपवान् जो मुक्तावस्थ जीव है वह तो मान्त्रवर्णिक हो
सकता है” । एतादृश शंका के उत्तर में कहते हैं “नेतरोऽनुपपत्तेः” ब्रह्म परमात्मा से
इतर अर्थात् भिन्न जो मुक्त जीव है वह मान्त्रवर्णिक नहीं हो सकता है । क्योंकि
अनुपपन्न है । अर्थात् मुक्त जो जीव है उसमें “सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इत्यादि श्रुति
प्रतिपादित जो निरुपाधिक विपश्चित्व है वह अनुपपन्न है । क्यों अनुपपन्न है उसका
स्पष्टीकरण करते हैं “सोऽकामयत” इत्यादि उस परमात्मा ने संकल्प किया । “सत्यकाम
सत्य संकल्प है” इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है । परमात्मा ही यथोक्त गुणवान् है जीव एतादृश
गुणवान् नहीं है । ऐसा हुआ तब अनेक प्रकार से जो देखे उसका नाम है “विपश्यत् स
चासौचित्” इति ‘विपश्यत्’ उसका जो भाव उसका नाम है विपश्चित्व । पश्यत् शब्द का अवयव
जो यत् शब्द है उसका पृषोदरादित्वात् लोप काके विपश्चित् शब्द बनता है । नित्यं

नित्यानुपहितेतरानपेक्षासंकुचितसर्वविषयकज्ञानवत्त्वम् । एतादृशं निरुपाधिकं विपश्चित्वं मुक्तात्मनोऽपि न सम्भवति । मुक्तेः प्राक्संसारावस्थायां सोपाधिकविपश्चित्वेन निरुपाधिकतत्त्वा-सम्भवात् ।

अथवा विगतं पशू बन्धनं यस्मात् स विपश् स चासौ चिच्चेति विपश्चित् तस्य भावो विपश्चित्वमितीदमपि विपश्चित्वं मुक्त-जीवस्य संसारस्त्वदशायां व्यभिचरति । तदशायां तस्यैवात्मनो बद्धत्वान्निरुपाधिकस्य तस्याभावात् । “न जायते म्रियते वा वपश्चित्” इत्यत्र तु विपश्चित्छब्दो ज्ञानवज्जीवपरो विगतं पशू बन्धनं यस्मात्तद् विपश् ज्ञानं तच्चिनोतीति विपश्चिदिति निरु-क्तेरिति तत्रैव स्वष्टम् ।

प्रतियोगितयाऽन्वेति । तथा च परमेश्वराद्भिन्नो बद्धोमुक्तो वा जीवो न मान्त्रवर्णिकः । कुतः ? अनुपपत्तेः । विपश्चित्त्वादिगुणानां जीवे सम्बन्धासंभवादिति सूत्रस्य मुकुलितोऽर्थः । अनुपपत्तेरिति हेतुं विवृणोति मुक्तस्यापीति । तद्विपश्चित्वं तस्मिन् कुतोनुपपन्नस्तदेवविस्पष्टयति एवं सोऽकामयत इत्यादिश्रुतिभिः परेश-स्यैव सत्यसंकल्पादिमत्त्वं नान्यस्येति । विपश्चित् शब्दस्य शक्त्यर्थं प्रदर्शयति नित्यानुपहित इत्यादि । एतादृशं विपश्चित्वं मुख्यरूपेण परमात्मन्येव भवति अनुपहित इतरानपेक्ष असंकुचित सर्व विषयक ज्ञानवत् रूप ही विपश्चित्व है । एतादृश निरुपाधि विपश्चित्व मुक्त आत्मा में भी नहीं है क्योंकि मुक्ति के पूर्व संसारावस्था में सोपाधिक विपश्चित्व होने से निरुपाधिक विपश्चित्व नहीं है । अथवा पशू शब्द का अर्थ है बन्धन । तद्वहित जो ज्ञान उसका भाव विपश्चित्व है । एतादृश विपश्चित्व भी मुक्त जीव में नहीं है । संसारी दशा में उसका अभाव है । क्योंकि संसार दशा में बद्ध होने से निरुपाधिक विपश्चित्व का अभाव है ।

“न जायते म्रियते वा” इत्यादि स्थल में विपश्चित् शब्द ज्ञानवान् जीव बोधक है । विगत है पशू अर्थात् बन्धन जिससे एतादृश ज्ञान का संचयशील को विपश्चित् कहते हैं । ऐसा

एवञ्चात्र “यतो वाचो निवर्तन्ते” इत्यादिवाक्यं न ब्रह्मणो वाङ्मनसयोगोचस्तामभिधत्ते । प्रकरणान्तःपातिनामनन्तानां विपश्चित्त्वजगत्कारणत्वादीनां गुणानां वैयर्थ्यापाताच्छतगुणितोत्तर क्रमेण महताऽऽम्बरेण प्रतिपादितस्य सर्वोत्कृष्टानन्दस्य चाकाण्डताण्डवायितत्वात् । किन्तु स्वकर्मोपार्जितपुण्यपापरूपादृष्टवशादधिगतमलिनवासनस्य पुंसो मनसोऽविषयत्वमेव । “दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” [का० १।३।१२] “मनसा तु विशुद्धेन” इत्याद्यनेकैः प्रमाणैर्निदिध्यासनादिसाधननिर्मलीकृतान्तःकरणानां मनसो ग्राह्यत्वमेवेति संक्षेपः ॥१७॥

नतु बद्धजीवे मुक्ते वा मुक्तस्यापि संसारदशायां सोपाधिकत्वस्यैव सत्त्वात् । विपश्चित्च्छब्दस्यार्थान्तरं दर्शयति अथवा विगतं इत्यादिसमन्वय प्रकारः स्वयमेवो हनीयः । यदप्युक्तं यतो वाचा इत्यादिश्रुत्या वाणिमनोऽविषयत्वं ब्रह्मणस्तदपि न युक्तम् । “दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या” इत्यादिश्रुतिविरोधात् । अर्थात् असंस्कृतेन मनसा गृहीतो न भवति परमात्मा । किन्तु निदिध्यासनादि समवहित संस्कृत मनसा तु गृहीत एव भवति । अन्यथोपासनादिविधीनां वैयर्थ्यमेवस्यादिति दिक् ॥१७॥ विपश्चित् शब्द का निर्वर्चन होता है । पूर्व में वाङ्मनसातीतत्व बतलाया था । उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं “एवं च यतो वाचो” इत्यादि । ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ इत्यादि वाक्य ब्रह्म में वाङ्मनसातीतत्व का प्रतिपादन नहीं करता है । क्योंकि अगर ऐसा हो तब तो प्रकरण के अन्तर्गत विपश्चित्त्व जगत् कारणत्वादि अनन्तगुण का जो विधान किया गया है वह सब निरर्थक हो जायगा । तथा शत गुणित उत्तरोत्तर क्रम से जो सर्वोत्कृष्ट आनन्द का कथन यहाँ आडंबर से किया है वह भी अकाण्डताण्डवायित हो जाता है । अर्थात् निरर्थक हो जाता है । किन्तु स्वकीय कर्म द्वारा संपादित जो पुण्य पापाख्य अदृष्ट है तादृश अदृष्ट के बल से प्राप्त जो मलिन वासना तादृश वासनावान् पुरुष के मन का अविषय परमात्मा है । अर्थात् अशुद्ध मनवाला पुरुष नहीं देख सकता है । ‘सूक्ष्मदर्शी विद्वान् सूक्ष्म दृष्टि से परमात्मा को देखते हैं’ । ‘विशुद्ध मन से परमात्मा का ग्रहण होता है’ । इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निदिध्यासनादि साधनों से निर्मल अन्तःकरणवाले पुरुष के मन से परमात्मा गृहीत होते ही हैं इति संक्षेपः ॥१७॥

इतश्च जीवादय आनन्दमयः—

५ भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १ । ८ । ५

“तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योन्तर आत्मानन्दमयः” [तै० २।५] इति स्पष्टं विज्ञानमयाज्जीवादभेदस्य व्यपदेशादयं मान्त्रवर्णिक आनन्दमयः परमात्मैव न जीवः । अथवानेन सूत्रेण हेत्वन्तरमाह तथा हि “ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ” [श्वे० १।९।] “समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टो यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥” [मु० ३।१।२।] इत्यादिषु जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेशात् । किञ्च “अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” [छा० ८।१।२।३।] इत्याविर्भूतस्वरूपस्य मुक्तजीवस्य पर-

भेदव्यपदेशादपि जीवपरमात्मानौ परस्परं विभिन्नाविति न मुक्तोपि जीव आनन्दमयः किन्तु जीवभिन्नः परमात्मैवानन्दमय इति दर्शयितुं प्रक्रमते इतश्च जीवादय इत्यादि । इतो वक्ष्यमाणहेतुतोपि जीवादयत्वमानन्दमयस्य भवति । अन्योन्तर आत्मानन्दमयः इत्यत्र विज्ञानमयपदवाच्यजीवादानन्दमयस्य भेदप्रतिपादनेन तयोर्भेद एव, भेदाच्च आनन्दमयो न मुक्तोपि जीवः

जीव तथा परमात्मा में भेद का व्यपदेश होने से सिद्ध होता है कि आनन्दमय जीव से भिन्न है । ‘तस्माद्वा’ इस विज्ञानमय से भिन्न अन्तर आत्मा आनन्दमय है । इस श्रुति में स्पष्टरूप से ‘विज्ञानमयो जीवः’ इससे भेद का कथन होने से मान्त्रवर्णिक जो परमात्मा वही आनन्दमय है जीव आनन्दमय नहीं है । अथवा ‘भेद व्यपदेशात्’ इस सूत्र से हेत्वन्तर को बतलाते हैं । तथा हि “ज्ञ परमात्मा अज्ञ जीवः” ये दोनों अज हैं । ईशानीश है । तथा ‘समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः’ । इत्यादि श्रुति में जीव परमात्मा में भेद का प्रतिपादन किया गया है । और भी इस शरीर से निकल करके परमज्योति परमात्मा को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है । इस श्रुति में आविर्भूत स्वस्वरूपक जीव को परमात्मा के

मात्मनश्च 'जगद्व्यापारवर्ज' मितिसूत्रेण जगत्कर्तृत्वतदकर्तृत्व-
रूपस्य भेदस्य व्यपदेशान्न मुक्तावस्थो जीव आनन्दमयो
भवितुमर्हति । जगद्व्यापारवर्जमितिसूत्रं परमात्ममुक्तजीवयो-
र्भेदमन्तरेणानुपपद्यमानं सत्तयोर्भेदमुपपादयति । अन्यथा मुक्तानां
परमात्मस्वरूपत्वेन जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या तद्विभाजकस्य जगद्व्या-
पारवर्जमिते सूत्रस्य प्रणयनप्रयास एव न कुर्यात्सूत्रकारः । कृते
त्वेवमुभयोर्भेदः स्पष्ट एव दर्शित इति ॥१८॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः—

५ कामाच्च नानुमानापेक्षा १।१।१९। ५

ननु यद्यानन्दमयपदवाच्यः परमात्मैवस्यात्तर्हि तस्यैवोत्तर-
किन्तु परमात्मैवेति । समाने वृक्षे जगद्व्यापारवर्जमितिश्रुतिस्मृताभ्यामपि
जीवपरेशयोर्भेदप्रतिपादनात् । नानन्दमयपदवाच्यो जीवः । परमात्मनि
जगत्कर्तृकत्वं जीवे तन्नास्ति तस्मात्तयोर्भेदः । यदि तावन्मिथौ भवेतां तदा सूत्र
कारस्य जगद्व्यापारवर्जमितिसूत्रप्रणयनमेव निरर्थकं भवेदिति ॥१८॥

ननु न तस्य कार्यं करणं च विद्यते इत्यादिश्रुत्या शरीरादिसर्ग
प्रयोजकसहायकस्याभावेन कथमीश्वरो जगत्सर्जकः स्यात्, स यदि सर्वानपेक्ष
साथ भेद व्यपदेश होने से तथा "जगद्व्यापार वर्जम्" इस सूत्र से परमेश्वर में जगत्कर्तृकत्व
तथा जीव में तदकर्तृकत्व स्वरूप भेद का कथन होने से मुक्तावस्थ जीव आनन्दमय नहीं
है । 'जगत् व्यापार वर्जम्' यह सूत्र परमात्मा तथा मोक्षकालिका जीव में भेद के बिना
अन्यथा अनुपपन्न होता हुआ परमात्मा तथा मुक्त जीव में भेद को सिद्ध करता है । यदि
दोनों में भेद न हो तो मुक्तजीव को परमात्म स्वरूप होने से जीव में भी जगत्कर्तृकत्व की
उपपत्ति होने से जगत् कर्त्ता तथा तदकर्त्ता में विभाग जनक जो "जगद्व्यापार वर्जम्" यह
सूत्र है । उसका निर्माण का प्रयास सूत्रकार न करते । और सूत्रकारने एतादृश सूत्र बनाया
है । इससे जीव परमात्मा में स्पष्ट रूप से भेद को बतलाया है ॥१८॥

यदि ब्रह्मण भागोक्त आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा ही हो तब तो तादृश परमात्मा
में ही उत्तर प्रकरण में श्रयमाण जगत्कर्तृत्व भी होगा । परमात्मा में जगत्कर्तृत्व संभवित नहीं

त्रजगत्कर्तृत्वमपि श्रूयते नत्वेतदस्ति । परमात्मसृष्टौ च प्रबलं
वैदिकं प्रमाणमपि नोपलभ्यते । किञ्च हस्तादीन्द्रियाभावात्त-
द्व्यापारसाध्यां सृष्टिमीश्वरो नैवकर्तुं शक्नुयात् । अनुमानं
प्रधानसृष्टिसामग्रीत्वेनापेक्ष्य जगत्कर्तृत्वे तु परमात्मनोऽपेक्षया
हिरण्यगर्भादिजीवस्य श्रूयमाणं जगत्कर्तृत्वमेव प्रत्यक्षसनाथीकृतं
कुतो न ग्राह्यम् । एवञ्च हिरण्यगर्भादेरिन्द्रियसम्बन्धसत्त्वात्
“प्रजापतिरकामयत” इत्यादिप्रमाणसद्भावाच्च सृष्टिरप्युपपद्यते ।
तस्मादानन्दमयपदवाच्यो जीव एवेत्याशङ्कायामाह—कामाच्चेति ।

एव सर्गं कुर्यात्तदानीषम्यादिदोषस्तस्मिन्नापतेत् । ततश्च करणकलेवरादिमान्
हिरण्यगर्भ एव सर्गं संपादयति । तदुक्तं “ततः स्वयंभूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः
प्रजा । अप एव ससर्जादौ तासुबीजमवासृजत्” तस्मान्नानुमानिकचिद्विशिष्टः
परमेश्वरो निर्विशेषचैतन्यरूपः सर्गं करोति नवा स आनन्दमयपदवाच्यः
किन्तु हिरण्यगर्भादिजीव एव सर्गसंपादक आनन्दमयपदवाच्य इत्यादिशङ्कां
समाधातुं प्रक्रमते ननु यद्यानन्दमय पदवाच्य इत्यादि । परमेश्वरस्यानन्दमय
है । तथा परमात्मा कर्तृक जगत् सृष्टि में कोई प्रबल वैदिक प्रमाण भी नहीं है । और करण
कलेवरादि का अभाव होने से करण कलेवरादि साध्य जगत् सर्ग को बनाने में परमेश्वर
समर्थ नहीं हो सकते हैं । आनुमानिक प्रधान को सर्ग सामग्री रूप से अपेक्षा करके पर-
मात्मा को जगत् का सर्जक माने तब तो परमेश्वरापेक्षया हिरण्य गर्भादि जो जीव है तादृश
जीव में ही जगत्कर्तृत्व मानना चाहिए । जो कि प्रत्यक्षविदित है । हिरण्यगर्भ का तो करण
कलेवरों का सम्बन्ध है । तथा ‘प्रजापतिरकामयत’ इत्यादिक प्रमाण से सर्ग उपपन्न होगा ।
इसलिए आनन्दमय पदवाच्य परमेश्वर नहीं है । किन्तु विशिष्ट शक्तिमान् कोई जीव ही
है । एतादृश शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “कामाच्च” इत्यादि सूत्र । परमेश्वर
जगत् सर्जक हैं इसमें प्रमाण बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं “सोऽकामयत” पर-
मेश्वर स्वकीय कामना मात्र से जगत् को बनाते हैं । एतदर्थक अनेक वैदिकावैदिक
प्रमाण उपलब्ध होता है । इसलिए सर्ग में आनुमानिक प्रधान की कोई भी आवश्यकता
नहीं है । परमेश्वर को तो किसी की आवश्यकता नहीं परन्तु तदितर हिरण्यगर्भादिक को

“सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय” [तै० २।६।] इत्यादिवैदिकान्येव परशतानिप्रमाणानीश्वरः स्वकामनयैव सृष्टिं विधत्त इत्येतदर्थकान्युपलभ्यन्त इति न सृष्टावानुमानिकस्य प्रधानस्यापेक्षा प्रत्यगात्मनस्तु तदपेक्षा वर्तत इति न सोऽत्रानन्दमयः ।

इदंत्वगन्तव्यम् । प्रकृतसूत्रे चानुमानिकस्य केवलस्य प्रधानस्य जगत्सर्गोऽपेक्षा नास्तीत्येतदुक्तं न तु परमात्मशरीरभूतस्याचिद्वस्तुनोऽप्यपेक्षा नास्तीति । तादृशाचिद्वस्तुनो ब्रह्मस्वरूपान्तः पातितया तदनपेक्षाया वक्तुमशक्यत्वात् । अन्यथा पदवाच्यत्वे तस्यैव सर्गकर्तृत्वमपि स्वीक्रियेत । परन्तु तस्य सर्जकत्वे प्रमाणाभावात् । नैषम्यादिदोषोपिभवेत्तस्मात्करणकलेवरादिमान् विशिष्टैश्वर्यसम्पन्नो हिरण्यगर्भादि वा तथेत्याशङ्क्य सूत्रकारः प्राह कामाच्चेत्यादि सूत्रम् परानपेक्ष परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वे सोऽकामयत इत्यादिवहूनि वैदिकानि प्रमाणानि समुपलभ्यन्ते । तस्मात्कामना मात्रेण सर्गं कुर्वन् परमेश्वर आनन्दमयपदवाच्यो भवत्येव । नतु हिरण्यगर्भादिस्तस्य तथात्वे प्रधानादिसापेक्षत्वादतो न हिरण्यतो प्रधान की अपेक्षा है । इसलिए आनन्दमय पदवाच्य हिरण्यगर्भादिक जीव नहीं है । किन्तु परमेश्वर ही कारण तथा आनन्दमय पदवाच्य हैं ।

सिद्धान्त में भगवान् के शरीर रूप जो अचिदात्मक प्रधान तादृश प्रधान में जगत् कारणता तो अभिमत है । तब प्रकृत सूत्र में जो प्रधान में जगत् कारणता का निषेध किया है वह तो सिद्धांत विरुद्ध है । इस आशंका का निराकरण करने के लिए, तथा सैद्धान्तिक मार्ग को परिष्कृत करने के लिए भाष्यकार कहते हैं “इदंत्वगन्तव्यमित्यादि” यहाँ यह वस्तु ध्यान देने के योग्य है । प्रकृत सूत्र में जो आनुमानिक प्रधान का निराकरण किया गया है । उसका यह तात्पर्य है कि आनुमानिक केवल प्रधान स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं है जगत्सर्ग में । किन्तु परमेश्वर का शरीरभूत जो अचिदात्मक प्रधान है उसका निराकरण नहीं किया जाता है । क्योंकि भगवान् के अवयव भूत आनुमानिक अचिद्वस्तु प्रधान, उसको ब्रह्मरूप के अन्तःपाती होने से, उसकी आत्यन्तिक अनपेक्षा तो सर्वथा अशक्य है । यदि कदाचित् अत्यन्त अनपेक्षा भगवत् अवयवभूत प्रधान

“अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्” [श्वे० ४।९।] इत्यादिश्रुतीनां तदुपबृहणीभूतस्मृतीनाञ्च विरोधात् । ताश्च स्मृतयः—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥गी० १३।२०॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥गी० १३।२१॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ गी० १४।३॥

गर्भादिर्जगत्कारणं न वा आनन्दमयपदवाच्य इति । किञ्च “हिरण्यगर्भः समवर्त्ताताग्रे” इत्यादिश्रुत्या हिरण्यगर्भस्यापि जन्यत्वात् ।

गतप्रकरणेन प्रधानस्य कारणता प्रतिक्षेपः कृतस्तन्नयुक्तम् ‘अस्मान्मायीसृजते’ इत्यादिश्रुतिविरोधात् अतः प्रधानस्य कारणता प्रतिक्षेपः स्वातन्त्र्येणैव कृतः परमेश्वरावयवतया तु तस्यापि कारणत्वमस्त्येवेति बोधयितुमाह “ईदन्त्ववगन्त व्यमित्वादि । न भवतु स्वातन्त्र्येण तत्त्वं प्रधानस्य किन्तु परमेश्वरावयवतया तु कारणत्वं भवत्येव । अन्यथा स्वरूपतो ब्रह्मणः परिणामित्वप्रसङ्गात् । परिणाम्य का किया जाय तब तो “अस्मान्मायी सृजते” [माया का आश्रयभूत भगवान् माया द्वारा जगत् को बनाते हैं ।] इत्यादि श्रुति तथा इन श्रुतियों के अर्थ पोषक स्मृतियों का विरोध होगा वे सब ये वक्ष्यमाण स्मृति है प्रकृति से जायमान विकार रूप इन सब गुणों को जानना । “करण कलेवर की उत्पत्ति में कारण प्रकृति है । सुख दुःख के भोक्तृत्व में कारण पुरुष होते हैं” “समीभूत प्रकृतिपुरुष कारणक है, मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक तथा विनाशक हूँ” । मेरे सम्बन्ध द्वारा प्रकृति से सभीभूतों का उत्पाद स्थिति और भंग होता है” । “सभी योनियों में भूतों की उत्पत्ति होती है । प्रकृति मूल कारण है और मैं वीर्यप्रद पिता हूँ” । इत्यादिक श्रुति स्मृति परमेश्वर पारतन्त्र्येण प्रकृति में जनकता के प्रतिपादक हैं । परमेश्वर माया को आश्रित करके प्रकृति के द्वारा समस्त जगत्सर्गका उत्पादक होते हैं । इस बात को पूर्वोक्त स्मृतिगण स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं]

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥गी० १४।४॥

इत्याद्याः । इमाश्च परमात्मा मायामाश्रित्य तत्सकाशादेव विश्वसृष्टिं करोतीति स्पष्टम्प्रतिपादयन्ति । न च काञ्चित्सृष्टिं काममात्रेण करोति काञ्चित्च मायासकाशादिति वाच्यम्, सृष्टेर्द्वैविध्यश्रवणात् । समेषां सृष्टिवाक्यानामेकवाक्यतामन्तरेण परस्परविरुद्धार्थकत्वेन तेष्वप्रामाण्यापत्तेश्च । न च मायामनाश्रित्य चिदेकरसात्मकस्वरूपादेव स जगत्सृजत इति साम्प्रतम् । परमात्मनि विकारित्वसुखदुःखभोक्तृत्ववैषम्यनैर्घृण्यादिदोषापत्तेः । चिद्विशिष्टतया परिणामित्वे तु विशेषणांशे एव परिणामित्वं नतु विशेष्यांशे तेन ब्रह्मणि परिणामित्वदोषो न भवति । नवा तस्मिन् विकारित्वं किन्तु विशेषणांशे-चित्त्वेव तथात्वमिति न कोपि दोषो नवा विवर्त्तवादः प्रभवति ।

परमेश्वराश्रितत्वेन मायाया जगत्कारणत्वे श्रुतिस्मृतयः प्रमाणम् । श्रुतिस्तु “अस्मान्मायीत्यादि” स्मृतयस्तु भाष्योक्ता एवानुसन्धातव्या इति । न चैवं विवर्त्त

नहीं कहो कि अमुक सृष्टि को परमेश्वर स्वकीय संकल्प मात्र से करते हैं । तथा अमुक प्रकारक सर्ग को माया द्वारा करते हैं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि दो प्रकार का सर्ग होता है । ऐसा कहीं नहीं सुना गया है । सभी सृष्टि प्रतिपादक वाक्य को एकवाक्यता के बिना परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक होने से अप्रामाणिकत्व भी हो जायगा ।

नहीं कहो कि माया का आश्रय न करके चैतन्यमात्र स्वरूप केवल परमेश्वर से ही जगत्सर्ग होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यदि परमेश्वर इतरानपेक्ष हो करके सर्ग बनावे तब तो ऊच नीच, सुखी दुःखी सर्ग को बनाने से परमेश्वर में विकारित्व तथा वैषम्य नैर्घृण्यादिक दोषों की आपत्ति होगी तो इष्ट नहीं है । तस्मात् अचित्पदार्थ सहकार से परमेश्वर जगत् का सर्जक हैं । नहीं कहो कि विवर्त्तवाद के आश्रय करने से कोई दोष नहीं होता है । अर्थात् जिस तरह शुक्तिका अज्ञान से जायमान रजत होता है वहाँ अज्ञान अथवा जगत् का जो दोषगुण है, उससे अधिष्ठान को कोई भी संपर्क नहीं है । उसी तरह प्रकृत में माया बल से जायमान वस्तु कृत

न च तर्हि विवर्तवादस्याश्रयणात्सर्वं समञ्जसमितिवाच्यम् । तस्य कुट्टष्टिकपोलकल्पनाकल्पितत्वेनाप्रामाणिकत्वात् । अतएव प्राङ्नि-
रस्तत्वाच्च । तस्मात्पूर्वोक्तार्थ एव सूत्रकृतां वृत्तिकृताञ्च तात्पर्यमित्यलं
पल्लवितेन ॥१९॥

इतश्चानन्दमयाज्जीवोऽन्य इत्याह—

॥ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १ । १ । २ ० ॥ ॥

“रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धानन्दीभवति” [तै० २।७]

श्रुतिरियं रसशब्दनिर्दिष्ट आनन्दमयेऽयं शब्दवाच्यस्य जीवस्यान-
वादापत्तिस्तस्याप्रामाणिकत्वेन पूर्वमेव निरस्तत्वात् । यद्यपि उभयमते समानतैव
प्रतिभातीति केचित् तथापि विशेषतायाः साम्प्रदायिकरीत्या पूर्वं बहुचर्चितत्वादि-
तिदिक् ॥१९॥

“रसं लब्धानन्दीभवतीति श्रुतेः परमात्मोपासको रसस्वरूपं परमात्मानं
प्राप्य मोक्षसुखवान् भवतीति मान्त्रवर्णिक एवानन्दमयो नतु तदतिरिक्तो बद्धो
दृग्विकारादि दोष से परमेश्वर में विकारित्वादिक दोष से परमेश्वर में कोई भी आपत्ति
नहीं होगी । इसलिए विवर्तवाद ही ठीक है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि
विवर्तवाद को कुट्टष्टि कपोल कल्पना मात्र कल्पित होने से वह विवर्तवाद अप्रामाणिक है
इसलिए विवर्तवादका निराकरण पूर्व में ही कर दिया गया है । इसलिए पूर्वोक्त अर्थ में
ही सूत्रकार तथा वृत्तिकार का तात्पर्य है । इसको यहाँ विशेष पल्लवित करना निरर्थक
ह क्योंकि इसका सप्रमाण बहुत स्थानों में निराकरण किया जा चुका है ॥१९॥

इस हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि जीव से भिन्न आनन्दमय है—“अस्मि-
न्यादि । इस आनन्दमय परमात्मा में इस उपासक जीव को आनन्द का योग होता
है । ऐसा शास्त्र बतलाता है । यह सूत्र का अर्थ होता है । कौन श्रुति आनन्द योग
को बतलाती है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं “रसो वै सः” इत्यादि
वह परमात्मा रस स्वरूप हैं । यह जीव रस स्वरूप परमात्मा को लाभ करके आनन्दित
होता है ।” यह तैत्तिरीय श्रुति है । रस शब्द प्रतिपाद्य आनन्दमय परमात्मा में इदं

न्दीभवतीतिवचनादानन्दमयप्राप्त्यनन्तरमानन्दयोगं शास्ति । यस्य प्राप्तेरनन्तरमानन्दयोगः प्रत्यगात्मनः स आनन्दमयस्तस्मादन्य एव मान्त्रवर्णिकः । रसपदाभिधेयपरमात्मनः सम्बन्धात्प्रत्यगात्मन आनन्दीभाव इत्युभयोर्वैधर्म्यं स्पष्टत एव शक्यमवगन्तुम् । अयमभिप्रायः । “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” [मु० ३।१।३] इति श्रुतेः “भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च” [ब्र०सू० ४।४।२१] इति सूत्राच्च मुक्तजीवस्य भोगमात्रे परमात्मसाम्यं भवति नतु जग-मुक्तो वा जीव आनन्दमयपदवाच्य इति दर्शयितुं प्रकृताधिकरणमुपसंहर्तुमुपक्रमते “इतश्चानन्दमयादित्यादि” अस्मिन् आनन्दमये परमेश्वरे अस्य तादृशपरमेश्वरोपासकस्य तद्योगम्—आनन्दयोगं शास्त्रं शास्ति प्रतिपादयति । “रसं लब्ध्वा आनन्दीभवतीति श्रुतौ उपासकस्य जीवस्य रसलक्षणपरमात्मप्राप्तौ सत्याम् जीवस्यानन्दयोगोभवतीति शास्त्रं प्रतिपादयति । एकश्चप्राप्त्योऽन्यश्चप्रापक शब्द वाच्य जीव आनन्दित होता है । इस कथन से आनन्दमय परमात्मा प्राप्ति के अनन्तर में आनन्द योग का कथन करती है । जिसके प्राप्ति के अनन्तर में प्रत्यगात्मा जीव को आनन्द का योग होता है । वह मान्त्रवर्णिक आनन्दमय जीव से अत्यन्त भिन्न है । रसपद वाच्य परमात्मा के सम्बन्ध से प्रत्यगात्मा को आनन्दीभाव होता है । इस प्रकार से जीव तथा आनन्दमय में भेद स्पष्ट रूप से जाना जाता है । अर्थात् लब्धि क्रिया का कर्म आनन्दमय है । तथा उस क्रिया का कर्त्ता जीव है और कर्त्ता कर्म से भिन्न होता है ऐसा नियम है । एक क्रिया के प्रति जो कर्त्ता होता है वह उसी के प्रति कर्म नहीं होता है ।

इस प्रकरण का यह अभिप्राय है कि “सर्वं दुःख रहित जीव मोक्षावस्था में परमात्मा के साथ परम समता को प्राप्त कर जाता है” । इस श्रुति से तथा “भोग मात्रसाम्यलिङ्गाच्च” इस ब्रह्मसूत्र से यह सिद्ध होता है कि मुक्त जीव को भोगमात्र में परमात्मा के साथ समता होती है । किन्तु जगत् सर्ग कर्तृत्व में समता नहीं होती है । क्योंकि “जगत् व्यापार वर्जम्” इस ब्रह्मसूत्र में जीव में जगत् व्यापार का प्रतिषेध किया है । तस्मात् आनन्दमय परमात्मा चेतन जो ब्रह्म अथवा मुक्त जीव शब्द वाच्य है उस से वस्तुतः भेद ही है । इसलिए प्रकृत में आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा ही है । किन्तु

सृष्ट्यादिकर्तृत्वे जगद्व्यापास्वर्जमिति मुक्तस्य जगद्व्यापास्त्व
प्रतिषेधात् । तस्मादानन्दमयस्य चेतनाद्बद्धमुक्ताद्यवस्थावतो
जीवशब्दवाच्याद्वस्तुतोऽर्थान्तरत्वादानन्दमयः परमात्मैवेति
सिद्धम् ॥२०॥

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रणीते श्रीआनन्दभाष्ये आनन्दमयाधिकरणं षष्ठम् ॥६॥

५ अथान्तरधिकरणम्-७ ५

एवं षड्भिरधिकरणैरखिलकल्याणगुणाकरः सर्वज्ञः सकल
जगदुभयकारणभूतः चिदचिद्विशिष्टः परमपुरुषः परमात्मा साधितः ।
अथोपासकानां मनोरथपूर्तये तस्यैव स्वरूपं विविच्यते । तत्राल्प-
पुण्यानां जीवानां स्वेच्छया यद्यपि जगत्सृष्टिरानन्दयोगश्च न
सम्भवति । तथापि विलक्षणपुण्यानामादित्येन्द्रप्रजापत्यादीनां
सम्भवत्येवेत्याशंकायामाह-

इति प्राप्यप्रापकयोर्भेदादवश्यं जीवाद् भिन्नः परमात्मा स एवानन्दमयो नतु
जीवः कोऽपि आनन्दमयो मान्त्रवर्णिकः । किन्तु परमात्मैव तथेतिदिक् ॥२०॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेष्टमानन्दमयाधिकरणम्

मर्यादाधाररूपादयोजीवे सन्ति न चेश्वरे । उपास्यस्तत एवात्र सूर्यो न चेश्वरः ।
स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः इत्यादौ परेशस्याधारोनिराकृतः एष सर्वेश्वरः इत्यादि
श्रुत्यामर्यादारहितैश्वर्यपरेशस्य श्रुतम् । अशब्दमस्पर्शम् इत्यादीनां रूपादीनां
बद्ध अथवा मुक्त जीव आनन्दमय नहीं है अर्थात् मान्त्रवर्णिक आनन्दमय परमात्मा उपास्य
प्राप्य ध्येय ज्ञेय है । तथा जीव प्रापक एवं उपासक हैं । इस प्रकार से दोनों में भेद
होने से आनन्दमय परमात्मा है । यह सिद्ध होता है ॥२०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्य

प्रकाशे षष्ठमानन्दमयाधिकरणम् ।

यद्यपि गत छ अधिकरण से परमेश्वर का विचार हुआ । तथापि साधक के अभीष्ट
तदीय स्वरूप विशेष का विचार करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "एवं षड्भिरधिकरणै
रित्यादि" इस प्रकार पूर्व छ अधिकरणों से समस्त कल्याण गुण का आकर सर्वज्ञ भगवान् चरा
चर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूप चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा का साधन किया गया
इसके बाद उपासक पुरुष का जो मनोभिच्छिन्न पदार्थ है उसके सिद्धि के लिए उसी परमात्मा

५ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १।१।२१। ५

छान्दोग्ये—“य एषोन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः” [छा० १।१।६।] “तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह नौ सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एवं वेद” [छा० १।६।७।] तस्यर्क्च साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम् “अथाध्यात्मम्” “य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते” [छा. १।७।५]

निरासस्तत्रकृतः । प्रकृते तु “हिरण्यश्मश्रुः” इत्यादिनोपास्ये रूपश्रवणं विद्यते य एषोन्तरादित्ये अन्तरक्षिणी इत्यादि आधारश्रवणं विद्यते । ततश्च प्रकृतश्रुता-बुपास्यत्वेनश्रुतः पुरुषः संसारी परमात्मावेति संशयः । तत्र जीव एवोपास्यः रूपादि श्रवणात् न परमेश्वरः तस्मिन् श्रुतस्य रूपादेरसंभवादिति पूर्वपक्षः । उत्तरपक्षस्तु परमेश्वर एवात्रोपास्यः पारमेश्वरधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनां श्रवणात् । नहि कर्म-पराधीने जीवेऽपहतपाप्मत्वादिका धर्मा भवन्ति । किन्तु स्वभावतः कर्मानधीने का जो स्वरूप विशेष है उसका विवेचन किया जाता है । उसमें अल्प पुण्यवान् जीव को स्वेच्छा से यद्यपि जगत सर्ग तथा आनन्द योग संभवित नहीं है । तथापि बिलक्षण प्राग् भवीय सुकृत समुदाय से इन्द्र प्रजापति आदित्य आदि देवों में जगत्सर्जकत्व तथा आनन्द योग हो सकता है । इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (आदित्य मंडल तथा चक्षुरादिक के अभ्यन्तरवर्ती जो पुरुष है वह परमात्मा है जीव नहीं । क्योंकि उस महापुरुष का जो असाधारण धर्म है उसका उपदेश है इति सूत्रस्य मुकुलितोर्थः) प्रकृत सूत्र का विशेष रूप से व्याख्यान करने के लिए कहते हैं “छान्दोग्ये इत्यादि । छान्दोग्य श्रुति में ‘जो यह आदित्य मंडल के अभ्यन्तर में हिरण्यमय पुरुष देखने में आता है सुवर्ण के समान देदीप्यमान केशवाला श्मश्रुवाला नख से लेकर के मस्तक पर्यन्त मुवर्ण वर्ण उसका सूर्य प्रकाशित रक्त कमल के समान नेत्र है उसका उदिति नाम है । यह सर्व पास से रहित है जो उपासक इस पुरुष को यथोक्त रूप से उपासन करता है, वह उपासक सभी प्रकार के पाप से रहित हो जाता है । उसका ऋक् तथा साम ही गोय है ।’ यह अधिदैवत रूप उस महापुरुष का है । अब उस का अध्यात्म रूप को बतलाते हैं ।’ जो यह नेत्र के अभ्यन्तर में पुरुष देखने में आता है

इत्यादिकं साम्नायते । अत्र हिरण्यमयो ज्योतिर्मयः, अत्रत्यं हिरण्यपदं सुवर्णपदञ्च विलक्षणज्योतिःपरम् । दृश्यते अवहितमनस्कैरुपासकैरिति शेषः प्रणखो नखाग्रं तेन सहेत्यभिविधावाङ् । चक्षुषोर्विशेषमाह तस्येति—कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यस्तेनास्यने विकास्यत इति कप्यासं पुण्डरीकं रक्ताम्बोजम् । कैश्चिदस्य वाक्यस्य मर्कटपश्चाद्भागवत् यल्लोहितं पुण्डरीकमिति विवरणं कृतं तदश्लीलत्वादिदोषदुष्टतयाऽनादरणीयम् तादृशपुण्डरीकवदस्य देवस्याक्षिणी नेत्रे । तस्य नामाह उदितिनामनिर्वक्ति स इति उदितः

परे एव ते धर्माः सन्ति । तस्मात् परमेश्वर एवात्रोपास्य इत्येतत्सर्वं दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानयोपक्रमते एवं षड्भिरधिकरणैरित्यादि गताधिकरणेनाभिन्ननिमित्तोपादानस्य चराचरशरीरस्य सर्वज्ञस्य भगवतः सिद्धिर्दर्शिता । इतः परं तस्यैव स्वरूपविशेषो विचारितो भवति । तत्र यद्यप्यल्पपुण्यभाजामुपास्यत्वं न संभवति । तथापि विलक्षणपुण्यवतामादित्यादीनामुपास्यत्वं संभवत्येवेति शङ्कां निराकर्तुं सूत्रकारः प्राह अन्तस्तद्धर्मोपदेशादिति “य एषोऽन्तरादित्ये” इत्यादि इत्यादिकं कहा गया है । यहाँ ‘हिरण्यमय’ इसका अर्थ है ज्योतिर्मय । इस मन्त्र में जो हिरण्यपद है तथा सुवर्ण पद है वह विलक्षण ज्योति परक है । प्रणिहित मन से उपासक लोग देखते हैं । प्रणख शब्द का अर्थ है नखाग्र उसके साथ यहाँ अभिविधि अर्थ में आङ् है । चक्षु में विशेषता बतलाते हैं ‘तस्येति’ का नाम है जल का उसको जो पान करे अर्थात् जल को स्वकिरण द्वारा शोषण करे उसको कहते हैं कपि अर्थात् सूर्य । उस सूर्य से विकाशित जो हो उसको कप्यास कहते हैं । एतादृश पुण्डरीक अर्थात् रक्त कमल तद्वत् नेत्र हैं जिनका एतादृश अक्षि तथा आदित्य के अन्तर्गत पुरुष हैं । यहाँ किसी ने कप्यास का मर्कट के गुदाभाग के समान रक्त है नेत्र जिनके ऐसा अर्थ किया है । परन्तु वह अर्थ एतादृश व्याख्याता के ईश्वर भक्ति राहित्य का द्योतक है तथा अश्लिल होने से वैदिक धर्मानुयायी सनातनीयों से अप्राप्त है । रक्ताम्बोज के समान आदित्य मण्डलवर्ती देव का नेत्र है । उसके नाम को कहते हैं “उदिति” नाम का निर्वचन करते हैं । ‘स एष इति सभी पाप से उद्धृत है । अर्थात् सब पाप से अस्पृष्ट है । ‘अधिदैवतमिति’ देवता को अधिकृत करके यह उपासना वाक्य है । यहाँ आदित्य मण्डल में रहने वाला तथा अक्षि के अभ्यन्तर में व्यवस्थित पुरुष

उद्गतः सर्वेभ्यः सर्वपापास्पृष्ट इत्यर्थः । अधिदैवतम्—देवतामधिकृत्योपास्तिवाक्यमित्यर्थः ।

अत्रादित्यान्तः स्थमक्ष्यन्तस्थञ्च पुरुषमधिकृत्य शरीरवत्त्वश्रुत्या सर्वपापास्पर्शवत्त्वश्रुत्या च संशयः । किमयं पुरुषः पूर्वकृततप आदि-प्रभावादीदृशमौत्कृष्ट्यं प्राप्तः कश्चिज्जीव उत परमात्मा सर्वान्तर्गत इति किं युक्तम् ? जीवः कुतः ? शरीरवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्च । अक्षिपुरुष स्यापि तदेव रूपं यदमुष्यरूपमिति यन्नामतन्नामेति तादृशरूपवत्त्वता-दृशनामवत्त्वश्रवणाच्च शरीरसंयोगो रूपसम्बन्धश्चादृष्टवशाज्जीवस्यैव तादृशादृष्टजन्यपुण्यपापरूपफलभोगाय, नतु परमेश्वरस्य, तस्य चाशरीरत्वारूपवत्त्वश्रवणादित्येवं प्राप्त आह—अन्तस्तद्धर्मोपदेशादिति । वाक्यं छान्दोग्ये श्रुतम् । तत्रादित्यमण्डले विद्यमानः सर्वसुवर्णो विलक्षः कश्चित् प्रतिभाति । सावधानमनसोषासकः पश्यत्यपि । तत्र शरीरवत्त्वं श्रुतं सर्वपापराहित्यमपि श्रुतमिति परस्परविरुद्धधर्मश्रवणात्संशयोभवति । यत् किमिह जीव एवोपास्यः परमात्मावेति । तत्रादृष्टवशाज्जीव एव शुभाशुभकर्मफलभोगाय शरीरं को अधिकृत करके शरीरवत्त्व श्रुत है तथा सर्व पाप रहितत्व का श्रवण होने से संशय होता है कि क्या आदित्य मण्डल के अन्दर में रहनेवाला पुरुष पूर्वजन्म में किया हुआ जो तप प्रभृतिक शुभ कर्म है उस के प्रभाव से एतादृश उत्कृष्टता को प्राप्त किया हुआ कोई जीव विशेष है अथवा सर्वान्तर्गत परमात्मा है ? तो इसमें क्या युक्त हैं ? कहते हैं एतादृश कोई जीव ही है । क्योंकि उसका शरीरवान् तथा रूपवान् हैं ऐसा श्रवण होता है । अक्षि पुरुष का भी वही रूप है जो आदित्य पुरुष का है । तथा वही नाम है । इस तरह रूपवत्त्व तथा नाम का श्रवण है । इस पुरुष में जो शरीर तथा रूप सम्बन्ध है वह तो तादृश अदृष्ट के सम्बन्ध से जीव को ही होता है । तादृश अदृष्ट जनित पुण्यपाप का जो फल है उसका उपभोग करने के लिए । किन्तु परमेश्वर का नहीं है । परमेश्वर में तो “अस्थूलम्” ‘अशब्दमस्पर्शमरूपम्’ इत्यादि श्रुतियों से नाम रूपाभावा का प्रतिपादन किया गया है । इसलिए अक्षि तथा आदित्यगत पुरुष कोई जीव ही हैं ! परमेश्वर नहीं है । इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं ‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्’ आदित्य तथा नेत्र के अन्तर्गत श्रयमाण जो पुरुष वह परमात्मा ही है जीव नहीं क्योंकि “वह सब पाप से रहित है” ।

आदित्यान्तगतोऽक्ष्यन्तर्गतश्च श्रूयमाणः पुरुषः परमात्मैव कुतः !
 स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदगतो निर्गत इत्यादिना तदसा-
 साधारणधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनामुपदेशात् । अपहतपाप्मत्वं हि
 अपहतकर्मतया सम्पद्यते । कर्मवश्यताराहित्येनेति स्पष्टोर्थः । कर्मा-
 धीनसुखदुःखभागिनः कर्मवश्या हि जीवा एव सन्ति । अतोऽपहत
 पाप्मत्वस्य बद्धजीवधर्मत्वानुपपत्तेर्मुक्तानामपि संसारदशायां कर्म-
 विभर्ति नतु कर्मापराधीनः परेशः शरीरं रूपादिकं वा धारयति । अशब्दमस्पर्श-
 मित्यादि श्रुतेः । तस्मादादित्यादिजीव एवात्रोपास्य इति पूर्वपक्षः । तत्रोच्यते
 अन्तस्तद्धर्मोपदेशादितिः सर्वान्तर्यामितापापरादित्याच्च परमेश्वरः उपास्यो भवती
 हात्र न च जीवः कथंचन । आदित्य मण्डलान्तः पाती भगवान् एवोपास्यः कुतः ?
 इत्यादि प्रकरण से परमेश्वर का जो अनन्य साधारण अपहत पाप्मत्वादि गुणों का उपदेश
 है । अपहत कर्म होने से परमात्मा अपहत पापक है । कर्म के अधीन सुख दुःख को प्राप्त
 करने वाला होने से कर्म पराधीन जीव ही होता है । इसलिए अपहत पाप्मत्व तो बद्ध जीव
 का धर्म नहीं है । मुक्त जीव को भी संसारकाल में कर्म पराधीन होने से निरुपाधिक
 अपहत पाप्मत्व अनुपपन्न है । तस्मात् परमात्मा का ही अपहत पाप्मत्वादि धर्मवान् होने
 से आदित्य तथा नेत्रस्थ पुरुष परमात्मा ही हैं किन्तु जीव नहीं है ।

“यत्तुक्तमित्यादि” पहले जो पूर्वपक्ष में कहा था कि रूप तथा शरीर का सम्बन्ध होने
 से आदित्य मण्डलस्थ पुरुष जीव ही है । परमात्मा नहीं यह दोष नहीं है । क्योंकि
 “अयं जीवः शरीरवत्वात् अयं कर्म पराधीनः शरीरवत्वात्” इस अनुमान में शरीर रूप जो हेतु
 है वह जीवत्वाभाव तथा कर्मवश्यत्वाभाव रूप साध्याभावाधिकरण परमेश्वर में विद्यमान होने
 से “धूमवान् वन्हेः एतत्स्थलीय धूमाभावाधिकरण अयोगोलक वृत्ति होने से जिस तरह
 व्यभिचरित है उसी तरह प्रकृत में हेतु द्वय व्यभिचारी है । तो अव्यभिचरित रूप से पक्ष
 में साध्य का साधक नहीं है । इसी विषय को भाष्यकार ने कहा है “त्रिपक्षेऽपि सत्त्वात्”
 त्रिपक्ष में अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में शरीरवत्त्व हेतु विद्यमान है ।

न ही कहो कि ‘अशब्दमस्पर्शमरूपम्’ इत्यादि श्रुति से परमेश्वर में स्वरूपासिद्ध है ।
 इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं ‘सत्य संकल्पस्य’ इत्यादि सत्य
 संकल्पादिक के बल से परमात्मा में स्वेच्छा से शरीर सम्बन्ध होता है । तो ‘अशब्दम्’

वश्यत्वेन निरुपाधिकापहतपाप्मत्वाद्यनुपपत्तेः । तस्मात्परमात्मन
एव तादृशधर्मवत्त्वादादित्याक्ष्यन्तः स्थः पुरुषः परमात्मैव न जीवः ।

यक्तूक्तं रूपवत्त्वशरीरवत्त्वश्रवणादयं जीव एवेति । नैष
दोषः । न हि शरीरवत्त्वं जीवत्वं कर्मवश्यताञ्च साधयितुमीष्टे ।
तस्य जीवत्वाभाववति कर्मवश्यत्वाभाववति च विपक्षेऽपि सत्त्वात् ।
सत्यसङ्कल्पस्य परमात्मनः स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धसम्भवात् । इयांस्तु
भेदः जीवानाङ्कर्मपाख्यत्वात्तदनुगुणप्राकृतस्यैव शरीरस्य सम्बन्धः ।
परमेश्वरस्य तु कर्मानधीनत्वेन स्वाभिमतप्राकृतदिव्यशरीरग्रहण

भगवतोऽसाधारणा अपहतपाप्मत्वादिका धर्माः शास्त्रे समुपदिष्टास्तेषामेवात्र
दर्शनात् । नहि कर्मभारभाराचिते जीवे कदाचिदपि ते धर्माः संभवन्ति, कर्मापराधीने-
परेशे एव ते संभवन्ति तस्मादत्रपरेश एवोपास्योऽनु विलक्षणपुण्यभागपि जीवः
“परात्परतरो निखिलहेयप्रत्यनीकगुणाकरो जगदादिकारणममिततेजोराशिर्ब्रह्मादिदेवै-
इत्यादि श्रुति प्रकृति जनित शरीर के सम्बन्ध का निराकरण करती है । किन्तु अप्राकृतिक
शरीर सम्बन्ध का निराकरण नहीं करती है । तो अप्राकृतिक शरीर के सम्बन्ध का निरा-
करण नहीं है । इसलिए हेत्वभाववान् विपक्ष नहीं है । नहीं कहो कि शरीरवत्त्व धर्म तो
दोनों में है । तब एक जगह जीवत्व का साधक होता है । अन्य स्थल में तत्साधक क्यों
नहीं होता है ? इस शंका का निराकरण विवरण पूर्वक करने के लिए भाष्यकार करते हैं
“इयांस्तु भेद” इति । यद्यपि शरीर सम्बन्ध जीव परेश दोनों में है । तथापि जीव को कर्म
पराधीन होने से कर्मानुगुण प्राकृतिक शरीर का ही सम्बन्ध होता है । और परमेश्वर को
कर्म पराधीन नहीं होने से स्वाभिमुखित अप्राकृत दिव्य मंगलमय शरीर भक्तों के ऊपर
अनुग्रह करने के लिए होता है । अर्थात् जीव तो कर्म फल भोग करने के लिए शरीर
ग्रहण करता है । और परमेश्वर का शरीर भोगायतन नहीं है अपितु शरीरमात्र है ।
इसलिए परमेश्वर को शरीरकृत दुःखादिक का अनुभव नहीं होता है । दुःखानुभव
जो है वह कर्म के अधीन प्रकृत शरीर के ग्रहण कर्त्ता जीव को ही होता है । इस
विषय में ये श्रुतियाँ होती हैं “जब यह जीव सुवर्णसम देदीप्यमान् जगत्के कर्त्ता सब
के योनिभूत इस परेश का साक्षात्कार करता है” ‘सुवर्ण सदृश स्वप्न ज्ञानगम्य परम

मिति । अत एव न तस्य शरीरकृतदुःखाद्यनुभवः । स च कर्माधी-
नप्राकृतशरीरगृहीतुर्जीवस्यैवेति दर्शनाविन्मतम् । तथा च श्रुतयः ।
“यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्”
[मु०३ १।३।] “रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्”
“ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः” [यजु०रु०११]
इत्याद्याः । यदापश्येति श्रुत्या जीवस्य तद्दर्शनानन्तरं पुण्यपापवि-
नाशपूर्वकब्रह्मप्राप्तिर्बोधिता । तत्र ब्रह्मयोनिरुक्मवर्णपदाभ्यां स्वना-
भिजपदमद्वारा कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य कारणत्वेन मुक्ताप्राप्त्यस्य
ब्रह्मणः शरीरस्वत्वं रूपवत्त्वञ्च बोध्यते । एवं “स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया

रप्युपास्यः स श्रीभगवान्दाशरथिरेव प्राप्यो दाशरथिरेवप्राप्यः” (मैथिलीमहोष-
निषत्) “शरण्यौ वेदनीयौ च भजनीयौ हि मुक्तये सीतारामौ” (वशिष्ठ संहिता)
इत्याद्युक्तेः । यदपि शरीरासंभवं भगवति प्रदर्शितम् तत् प्राकृतशरीरमधिकृत्योक्तम्
पुरुष को जानना’ इस परेश के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई । बाहु से क्षत्रिय उरु
जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र जाति की उत्पत्ति हुई । इत्यादिक । ‘यदापश्यः’
इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि जीव को परम पुरुष के साक्षात्कार के बाद में ही
पुण्यपापरूप सकल कर्म का विनाश पूर्वक साकेत प्राप्ति लक्षण मोक्ष होता है । यह
समुदाहृत श्रुति से सिद्ध होता है ।

और ‘ब्रह्मयोनि तथा रुक्म वर्ण पद से परम पुरुष के नाभिजन्य कमल द्वारा कार्य
ब्रह्म जो हिरण्य गर्भ उस कमलासन का कारण होने से मुक्त पुरुष से प्राप्य जो परम
ब्रह्म है जो उनका शरीर भी है तथा वर्ण है ऐसा बोधित होता है । [भगवान् के नाभि कमल
से समस्त जगत् का उत्पादन करने वाले ब्रह्माजी उत्पन्न हुये । तदनन्तर आकाशादिक भूतों
की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार से पुराणों में वर्णन किया है । इससे सिद्ध होता है कि
मुक्त प्राप्य परमात्मा का शरीर है । अन्यथा भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्मा का उत्पाद
कथन असंगत हो जाय शरीर के अभाव में कमल कहाँ । तथा कमल से उत्पाद किस तरह
अतः श्रीसाकेत विहारीजी विप्रहवान् हैं ऐसा सिद्ध होता है । उनका जो विप्रह है वह अप्राकृतिक
है । अस्मदादिवत् प्राकृतिक नहीं है । अस्मदादिवत् कर्म नहीं होने से ।]

च “[श्वे० ६।८।] इति श्रुत्या स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाशालिनस्त-
च्छरीरस्य तच्छरीरनिष्ठरूपस्य च स्वाभाविकत्वोपपत्त्या नित्यत्वसिद्धेः ।
अतएव श्रुत्युपबृंहणीभूतेतिहासपुराणादिषु बहुशस्तत्र तत्र भगवतो
दिव्यमङ्गलविग्रहस्योपवर्णनं सङ्गच्छते । तथा चादित्याद्यन्तर्गत
पुरुषः परमात्मैवेति ॥२१॥

ज्ञतश्च न जीवः—

५ भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १।१।२२। ५

जीवविशेषादादित्यादेर्भेदो व्यपदिश्यते परमेश्वरस्य “य
आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः
शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा” [बृ० ३।७।९।]
“यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोन्तरो य चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुश्शरीरं यश्च-
नत्वप्राकृतशरीराभिप्रायेण भगवतोऽप्राकृतिकदिव्यमङ्गलदेहसद्भावस्य शास्त्रो बहुशः
प्रतिपादितत्वादिति संक्षेपः । भाष्याक्षरार्थस्तु स्वयमेवोहनीयः ॥२१॥

आदित्यादिशरीरावच्छिन्नजीवभ्यः परमेश्वरस्य भेदेन प्रतिपादनात् नादि-
त्यादिशरीरको जीवोऽत्रोपास्यः किन्तु आदित्यादिजीवभ्योभिन्नस्तेषां नियामक-
एवं “स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रियाश्च” इत्यादि श्रुति से यह भी सिद्ध होता है कि स्वा-
भाविक ज्ञान बल क्रिया शाली भगवान् का शरीर तथा तद्रूप जो रूपादिक है उन सब में
स्वाभाविकत्व होने से नित्यत्व भी सिद्ध होता है । अत एव श्रुत्यर्थ का सहायक जो इतिहास
पुराणादिक उसमें अनेक बार भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह का जो वर्णन ‘दिव्यदेहगुणा-
न्नाय साञ्जनेयाय शेषिणे । सानुजाय ससीताय रामाय ब्रह्मणे नमः’ इत्यादिरूप से किया है
वह संगत होता है । तस्मात् आदित्य मंडल में तथा नेत्र में रहने वाला पुरुष परमात्मा ही है ।
किन्तु संसारी जीव नहीं है ।

‘सर्वान्तरत्वं निष्पाप हेतुभ्यां परमेश्वरः । उपास्योनात्र संसारी हेत्वभावाद्भिनिश्चितः ॥२१॥

इससे अर्थात् वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि आदित्यादि जीव उपास्य नहीं
हैं । किन्तु जीवों से भिन्न परमात्मा ही उपास्य हैं । “भेदव्यपदेशादिति” जीव विशेष आदि-
त्यादिक से परमेश्वर का भेद का व्यपदेश है । भेद व्यपदेश का स्पष्टीकरण करने के लिए श्रुति
को बतलाते हैं ‘य आदित्ये’ इत्यादि । जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य से अन्तर है ।

श्रुन्तरोयमयति” [बृ० ३।७।१८] “य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति” [बृ० ३।७।२२] इत्याद्याः श्रुतयः परमात्मनो भिन्नाँश्चिदचिदात्मकान्सर्वान् पदार्थानीश्वरस्य शरीरत्वेन तन्नियम्यत्वेन तस्य च शरीरत्वेन तत्तज्जीवान्तरात्मत्वेन नियमनकर्तृत्वेन च व्यपदिश्य चिदचितोर्नियामकतया भेदं साधयन्ति । तस्मादादित्यादिजीवविलक्षणः परमात्मादित्याद्यन्तर्वर्ती पुरुषोऽन्य एवेति सिद्धम् ॥२२॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽन्तराधिकरणम् ।

स्तेषां शरीररूपपरमात्मैवोपास्य आदित्यादिजीवेभ्यः परस्य भेदं प्रतिपादयति अन्तर्यामि ब्राह्मणम् तादृशब्राह्मणश्रुतिमुदाहरिष्यात् इत्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते इति च न जीवः इत्यादि । इतोभेदव्यपदेशात् जीवात्परमेश्वरस्य भेददर्शनात् जीवान्यः परात्मैवोपास्यो नतु आदित्यादिजीव इति संक्षेपः ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽन्तराधिकरणम् ।

जिसको आदित्य जीव नहीं समझ सकता है । जिसका आदित्य शरीर है । जो आदित्य को नियमित करता है ।” जो चक्षु में रहता हुआ चक्षु ने अन्तर है जिसको नेत्र नहीं समझता है । जिसका चक्षु शरीर है । जो चक्षु का नियामक है । जो जीवात्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्तर है । जिसको आत्मा नहीं समझता है । जिसका जीव शरीर है । जो जीव का नियामक है । इत्यादिक श्रुति परमात्मा से भिन्न जड चेतनात्मक सब पदार्थ परमेश्वर का शरीर है और परमेश्वर से नियम्य है । ईश्वर सब का शरीर है । तथा प्रत्येक जीव के आत्मरूपतया नियमन कर्तृतया व्यपदेश करके चित् अचित् के नियामक रूप से भेद की सिद्धि होती है । तस्मात् आदित्यादि शरीरावच्छिन्न जीवापेक्षया अति विलक्षण परमात्मा पुरुष भिन्न हैं यह सिद्ध होता है ॥२२॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽन्तराधिकरणम् ।



अथ आकाशाधिकरणम् ॥८॥

अथ सर्वेषां कारणवाक्यगतानां कारणवस्तुपराणां शब्दानां सर्वशाखा-
प्रत्ययन्यायेन सर्वकारणे पर्यवसानेन ब्रह्मवाचकत्वमिति स्पष्टयितुमाह-

५ आकाशस्तल्लिङ्गात् । १ । १ । २ । ३ । ५

छान्दोग्ये श्रूयते—“अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति
होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त
आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्”
[छा० १।१।१।] इति । तत्र संशयः । किमत्राकाशशब्देन भूता-
काशमभिधीयत आहोस्विद्ब्रह्मेति कुतः संशयप्रयोजकस्याकाशशब्द-

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणोऽसाधारणधर्मदर्शनात् तस्यैवोपासनं नत्वादित्यशरीराभि-
मानिनोजीवस्योपासनमिति । इहतु तस्यैवासाधारणधर्मस्योद्गीथादिकं संपाद्यपरस्यै-
वोपासनं नतु भूताकाशस्येति निरूपणार्थमिदं प्रकरणं भवति । तत्र अस्य लोकस्य का
गतिरिति । आकाश इति होवाचेति छान्दोग्ये श्रूयते । तत्राकाशपदस्य भूताकाशे
परब्रह्मणि च प्रयोगदर्शनात्कस्यग्रहणमिति संशयः । प्रसिद्धत्वात् वाद्यादिकारणा-
त्वात् भूतान्तरापेक्षयाज्यायस्त्वपरायणत्वाद्भूताकाशस्यैव ग्रहणमिति पूर्वपक्षः । सर्वाणि

आदित्य शरीरक जीव उपास्य नहीं है किन्तु तदन्तर्गत परमात्मा ही उपास्य है । इस
बात का स्पष्टीकरण पूर्व प्रकरण में किया गया । अब प्रकृत प्रकरण में भूताकाश आकाश
पद वाच्य नहीं है किन्तु परमात्मा ही आकाश पद वाच्य है । क्योंकि सर्व कारणत्वादिक
परमात्मा का अव्यभिचारी लिंग है । इस बात को बतलाने के लिए प्रकरणान्तर का उत्पादन
करते हुए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘अथ सर्वेषां कारण व्याक्यगतानामित्यादि’ । सर्व शाखा
प्रत्यय न्याय से कारण वाक्य घटक कारण वस्तुपरक प्रत्येक शब्द परम कारण ब्रह्म का वाचक
है । इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं ‘आकाशस्तल्लिङ्गात्’ छान्दोग्य श्रुति
में कहा गया है कि ‘इस लोक का गति कौन है ? तो आकाश है ऐसा कहा सभी ये भूत
आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही प्रलीयमान होते हैं । आकाश इन सब भूतों
से बड़ा है तथा परायण है’ इति ।

इसमें संशय होता है प्रकृत छान्दोग्य वाक्य में आकाश शब्द से भूताकाश ग्रहण
होता है । अथवा सर्वकारण ब्रह्म का ग्रहण होता है । क्योंकि संशय का प्रयोजक जो आकाश
शब्द है । उसका प्रयोग भूताकाश तथा ब्रह्म इन दोनों में होता है । उसमें भूताकाश में तो
आकाश पद रूढ है । इसीलिए भूताकाश का उपस्थापक है । और आकाश पद ब्रह्म का
भी उपस्थापक है ऐसा वेद में ही प्रयोग देखने में आता है । क्योंकि ‘कौन जीवित रह

स्योभयत्रप्रयुक्तत्वात् । तत्र भूताकाश आकाशपदस्यप्रसिद्धत्वा-
ल्लोकशास्त्रयोर्ब्रह्मण्यपि प्रयोगो दृश्यते । “को वान्यात्कः प्राण्यात्
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्” [तै० २।७।] इत्यादावाकाश-
स्यानन्दमय ब्रह्मपरत्वावगमात् । तथा चात्राकाशपदेन भूताकाश-
स्यैव ग्रहण युक्तम् । कुतः ? तत्र रूढत्वात् । श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य
दुर्बलत्वाच्च । वाक्यशेषेऽपि “आकाशाद्रायुरिति वाय्वादिक्रमेणा-
काशस्य कारणत्वं स्पष्टमेव । एवञ्चैतदानुगुण्ये “नात्मन आकाशः
सम्भूत” इत्यादावप्यात्मपदस्याकाशवाचकत्वम् । आप्नोतीत्या-

ह वा इमानि भूतानीति परमात्मलिङ्गदर्शनात्परब्रह्मण एवाकाशपदेन ग्रहणं नतु
भूताकाशस्यासंकुचितरूपेण भूतादिसकलप्रपञ्च कारणता परेशस्यैव भूताका-
शस्य तु संकुचितरूपेणेति तस्मान्नात्र भूताकाशस्य ग्रहणमित्येतत्संगृह्यनिरूपयितुं स्रष्टुं
व्याख्यातुं भाष्यकार उपक्रमते अथ समेषां कारणवाक्यगतानामित्यादि । यानि
सकता है कौन प्राणन क्रिया को कर सकता है । यदि यह आकाश आनन्द स्वरूप नहीं
होता’ इत्यादि स्थल में आनन्दमय ब्रह्म बोधकत्व आकाश शब्द में हैं । तो यहां आकाश पद
से भूताकाश का ग्रहण करना ही युक्त है । क्योंकि भूताकाश में आकाश पद रूढ हैं ।
और श्रुति के अपेक्षया लिङ्ग प्रमाण दुर्बल होता है । (अर्थात् वलावलाधिकरण में ‘श्रुति लिङ्ग
वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्या’ ये प्रमाण है । इनमें ‘निरपेक्ष वचन को श्रुति प्रमाण कहते
हैं । शब्द सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं । इत्यादि इन प्रमाणों में पूर्व पूर्वबलवान् होता है । तथा
उत्तरोत्तर दुर्बल होता है । अब प्रकृत में ब्रह्म का उपस्थापक लिङ्ग प्रमाण है । और भूता-
काश का उपस्थापक ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि’ इत्यादि श्रुति हैं । तो प्रकृत में श्रुति प्रमाण
से भूताकाश की उपस्थिति ही न्याय्य है और श्रुत्यपेक्षया दुर्बल लिङ्ग प्रमाण से ब्रह्मोपस्थिति
नहीं हो सकती है । इसलिए यहाँ आकाश पद वाच्य भूताकाश ही है । परमात्मा आकाश
पदवाच्य नहीं है ।) नहीं कहे की भूताकाश में कारणता तो श्रुत नहीं है । इसलिए
अत्रत्य आकाशपद ब्रह्म का ही बोधक हो इस आशंका को निराकरण करने के लिए भाष्य
कार कहते हैं । ‘वाक्य शेषेपीति’ वाक्य शेष में “आकाशाद्रायुः” (आकाश से वायु उत्पन्न
होता है । इस प्रकार से आकाश को वायु प्रभृति के प्रति कारणता का प्रदर्शन स्पष्ट

त्मासूक्ष्माकाशस्ततश्च स्थूलाकाशस्य सम्भृतिस्सम्भवत्येव । सदेव
सौम्येत्यादावपि सदादिपदबोध्यत्वं सूक्ष्माकाशस्यैवेति प्राप्त उच्यते—
“आकाशस्तल्लिङ्गात् । प्रकृतकारणवाक्य आकाशपदवाच्यं सर्वजग-
त्कारणं परंब्रह्मैव । कुतः ! तल्लिङ्गात् । तस्य ब्रह्मणो महाभूतसृ-
ष्ट्यादिकं सकलजगदेककारणत्वं सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं परायणत्वमि-
त्यादीनि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते । जगत्सृष्ट्यादिकं यदुब्रह्मणोऽव्यभि-
चारिलिङ्गं तस्य तदन्यलिङ्गत्वानुपपत्त्याऽनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन

यानि कारणवाक्यानि तद्गतकारणबोधकाः सर्वेऽपि शब्दाः ब्रह्मवाचका एव भवन्तीति
ब्रह्मवाचकत्वमेवेति स्पष्टयतीत्यर्थः । “अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इत्यादि
छान्दोग्येऽपठितम् । तत्रत्याकाशशब्दोभूताकाशपरको ब्रह्मपरकोवेति संशयः । कुतः ?
उभयत्रापि आकाशपदप्रयोगात् । तत्रोकाशपदं स्वशक्त्यैवभूताकाशमुपस्थापयति
रूप से किया है । इसके अनुरोध से ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ यहां जो आत्म पद है
वह आकाश का ही बोधक है । सबको व्याप्त जो करे उसको आत्मा कहते हैं । यह
आत्मपद की व्युत्पत्ति है । तब आत्मपद का अर्थ हुआ सूक्ष्माकाश तब उस सूक्ष्माकाश
रूप आत्मा से स्थूलाकाश की उत्पत्ति संभावित है ।

एतदुनुरोधेन, “सदेव सौम्येदमग्रे” इत्यादि स्थल में सत्पदवाच्यत्व सूक्ष्माकाश में
ही है । इसलिए आकाश पदवाच्य परमात्मा नहीं हैं किन्तु भूताकाश ही आकाश पद-
वाच्य हैं ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “आकाशस्तल्लिङ्गात्” सूत्रार्थ का स्पष्टी
करण भाष्यकार करते हैं “प्रकृत कारण वाक्ये” इत्यादि । “अस्य लोकस्य का गति”
इत्यादि कारण वाक्य में जो आकाश पद है, उसका वाच्य सकलस्थान्वर जंगम जगत्
का कारण परब्रह्म ही है । क्योंकि “तल्लिङ्गात्” सकल जगत् का कारण जो ब्रह्म, उस
ब्रह्म का, महाभूत सर्गकर्तृत्व, सकलजगदेक कारणत्व, सर्वापेक्षयाज्यायस्त्वं परायणत्व प्रभृति
का लिङ्ग उपलब्ध है । जगत् सर्ग कर्तृत्वादिक जो ब्रह्म का अव्यभिचारी लिङ्ग है वह
ब्रह्म भिन्न का कथमपि अनुमापक नहीं हो सकता है । अतः अनन्यथासिद्ध जगत्सर्जकत्व
हेतु से भूताकाश श्रुति का बाध होता है । इस दिग्गति में “अस्यलोकस्य का गतिः”

भूताकाशश्रुतेर्बाधात् । एवञ्च प्रकृतवाक्ये भूताकाशपरत्व-
 माकाशपदस्येत्यर्थस्यायुक्तत्वादानन्दमयाकाशस्य ब्रह्मण एव
 सर्वजगदुत्पत्तिरित्यर्थस्यैव युक्तात्वादाकाशशब्दवाच्यः परमात्मैव ।
 तथासत्येव सर्वस्माज्ज्यायस्त्वपरायणत्वादिगुणानामपि सामञ्जस्यम् ।
 परमपुरुषे ब्रह्मण्येव तादृग्गुणानां सम्भवो नान्यत्र भूताकाशाद्य-
 चिदस्तुनीति । न चाकाश इति प्रसिद्धवन्निर्देशाद्भूताकाश एव
 ग्राह्य इति वाच्यम् । प्रसिद्धवन्निर्देशस्यापि प्रमाणान्तरसापेक्षकत्वात्
 बहुप्रमाणविरोधासम्भवाच्च । परमात्मनः कारणत्वन्तु बह्वीभिः-
 गौणीवृत्त्या परमात्मानमप्युपस्थापयत्येवेति भवति संशयः । तत्राकाशपदेन भूता-
 काशस्य ग्रहणं यतो भूताकाशे तस्य रूढत्वात्, वाय्वादौ भूताकाशस्य कारणत्वाच्चेति
 पूर्वपक्षः । अस्य लोकस्य का गतिरित्यादिवाक्ये आकाशपदं न भूताकाशस्य बोधकम्
 किन्तु सर्वकारणस्य परमपुरुषस्यैव वाचकम्, यतः सर्वकारणस्य परमात्मनोय-
 दनन्यसाधारणलिङ्गगम् सर्वकारणत्वज्यायस्व परायणत्वादिकं तदन्यत्रासंभवस्थितिकंसत्
 परमात्मानमेव गमयति । नहि सर्वकारणत्वं भूताकाशस्य आत्मन आकाश संभूत
 इत्यादि वाक्य में “आकाश” पद भूताकाश परक है उक्त श्रुति का एतादृश अर्थ अयुक्त
 है, किन्तु आनन्दमयाकाश लक्षण ब्रह्म से सकल जगत् का उत्पत्त्यादिक होता है एतादृश
 अर्थ को युक्त होने से आकाश शब्द वाच्य परमात्मा ही है नतु अचेतन भूताकाश ।
 ऐसा मानने पर सर्वापेक्षयाज्यायस्त्व परायणत्वादि गुणों का भी सामंजस्य होता है ।
 अन्यथा भूताकाश में इन गुणों का समावेश असंभवित है । परम पुरुष ब्रह्म में ही इन
 सब गुणों का संभव है । किन्तु तदन्य अचिद् भूताकाश में नहीं । नहीं कहो कि
 “आकाशः” प्रसिद्धवत् निर्देश होने से भूताकाश का ही-ग्रहण होना चाहिए । तो यह
 कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रसिद्धवत् निर्देश भी प्रमाणान्तर सापेक्ष होता है । और
 आकाश पद का भूताकाशपरक मानने में अनेक प्रमाण का विरोध भी होता है यह
 अनुचित है । ऐसा कहा है “बहुभिर्निविरोधव्यं दुर्जनैरपि सज्जनैरिति” परमात्मा में कारणता
 का प्रतिपादन अनेक श्रुति करती है । तथाहि—“हे सोम्य ! यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व

श्रुतिभिस्सकृदाघोषितम् । तथा हि—“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमे-
 वाद्वितीयम् [छा० ६।२।१] “तदैक्षत बहुस्यामप्रजायेय” [छा० ६।
 २।३] “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” स इमाँल्लोकानमृजत’
 [ऐ० १।१] ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः [तै० २।१]
 इत्येवमादयोऽनन्ताः श्रुतयः परमात्मन एव सर्वजगत्कारणत्वम्प्रति-
 पादयन्ति । आकाशस्य तु “सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि
 आकाशादेव समुत्पद्यन्ते” [छा० १।१।१।] इत्येकमेव वाक्यम् ।
 ततश्चादिकारणत्वस्य द्विष्टत्वासम्भवाद्बहुश्रुतितदनुगुणतर्कानुरोधेन
 चेतनस्य ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वमास्थेयम् । तथा चासमन्तात्प्रकाशत
 इति व्युत्पत्त्याकाशः परमात्मेति सिद्धम् । किञ्च “यदेष आकाश
 आनन्दो न स्यादि” ति श्रुतादानन्दाकाशादात्मनः “तस्माद्वा
 इत्यादिश्रुत्यातस्य जन्यत्वावगमात् । नहि स्वस्योत्पादकं स्वंभवति दृष्टविरोधात् ।
 ततश्च भूताकाशस्य जन्यत्वे तज्जनकं किमप्यवश्यमेवान्यद्भविष्यति । एवं च मूल
 जनकस्यैव तथात्वमस्तु किमस्य भूताकाशस्य तथात्वं किन्तु सर्वकारणस्य ज्यायस्त्व
 परायणत्वादिविशिष्टस्य परमात्मन एव सर्वकारणत्वम् । अतएव प्रकृतश्रुतिबोध्यता
 परमात्मन एव नतु भूताकाशस्येति परमात्मैवोपास्यो नतु अचिदात्मको भूताकाश
 में सदात्मकथा” । “उस परमेश्वर ने ईक्षण किया, मैं एक भी अनेक रूप से होऊँ”
 उत्पत्ति के पूर्व में एक आत्मा ही था” “उसने इन लोकों को बनाया” इस आत्मा से
 आकाशादिक भूतों की उत्पत्ति हुई” इत्यादिक अनेक श्रुति वाक्य आत्मा ब्रह्म में जगत्
 कारणता का प्रतिपादन करते हैं । [यहाँ “अनन्ता श्रुतयः” में अनन्त पद अनेक का
 बोधक है] आकाश में जगत्कारणता प्रतिपादक तो, “सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि” इत्यादि
 एक ही छान्दोग्य का उपवाक्य है । तब मूल कारण तो हो नहीं सकता है असंभव होने
 से अतः अनेक श्रुति तथा तदनुमोदित तर्क से जगत् के प्रति चेतन ब्रह्म को ही कारण
 मानना चाहिए । और भी “यदि यह आकाश आनन्द रूप नहीं होता” इस प्रकार से
 श्रुत आनन्द का लक्षण आत्मा से, तथा “उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ” इसप्रकार

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' [तै०२।१] इतिभूताकाशस्यो-
त्पत्तिश्रवणात् सृष्ट्यन्तर्गतस्य भूताकाशस्य जगत्सृष्टृत्वानुपपत्तेः
कार्याकाशकारणाकाशयोर्मध्ये कारणाकाशस्यैव जगत्कारणत्वोप-
पत्तेश्चास्य जगत्कारणत्वेन श्रुतस्याकाशस्य परमात्मपरत्वमेव
युक्तम् ॥२३॥

इति श्रीआनन्दभाष्य आकाशाधिकरणम्

॥ अथ प्राणाधिकरणम् ॥९॥

५ अत एव प्राणः ।१।१।२४। ५

तत्रैवोद्गीथविद्यायां श्रूयते—“प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावम-
न्वायत्ता” इत्युपक्रम्य “कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच
इति प्रकरणस्याशयः । एतदन्यत्सर्वभाष्याक्षरेभ्य एवावगन्तव्यम् । भाष्याक्षराण्य-
तिरोहितार्थानीति ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे आकाशाधिकरणम् ।

छान्दोग्ये उद्गीथप्रकरणे प्राणदेवताप्रस्तावमन्वायत्ता । तत्र प्राणपदेन वायु
विकारस्य प्राणस्य ग्रहणं ब्रह्मणो वा ग्रहणं भवति । उभयव्रतत्प्रयोगदर्शनादिति संशयः ।
भूताकाश के उत्पत्ति का श्रवण होने से जगत् सर्ग के अन्तर्गत जो भूताकाश है । उसमें
जगत्सर्जकत्व अनुपपन्न है । कार्याकाश भूताकाश तथा कारणाकाश परमात्मा—इन दोनों
में से कारणाकाश में जगत्कारणत्व जब उपपन्न हो जाता है तब जगत् कारण रूप से
प्रकृत श्रुति में श्रुत जो आकाश पद है वह परमात्मा का ही बोधक है भूताकाश का
बोधक नहीं ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आकाशाधिकरणम् ।

ब्रह्मलिङ्ग सर्वजगत्कर्तृत्वादिक को देखकरके जिस तरह “अस्य लोकस्य का गतिः”
इत्यादि श्रुति घटक आकाश पद भूताकाश परक नहीं है किन्तु सर्वजगत्कर्तृत्वादी धर्म-
विशिष्ट ब्रह्म परक है ऐसा पूर्वाधिकरण में स्थिर किया गया है । उसी तरह उद्गीथ

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणामभ्यु-
 ज्जीहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो
 मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति” [छा० १।११।४-५ ।] तत्र
 प्राणवायुरितिलौकिकप्रसिद्धेः “प्राणस्य प्राणम्” [बृ० ४।४।१८।]
 “प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः” [छा० ६।८।२।] इत्यादिषु च प्राण-
 स्य ब्रह्मपरत्वावगमात्संशयः । किंपत्र प्राणशब्देन वायुविकार उच्यत
 उत परमात्मेति । तत्र वायुविकारस्य प्राणस्य लोकप्रसिद्धित एव
 शीघ्रोपस्थितकत्वाद्वायुविकार इति प्राप्ते-आकाशन्यायातिदेशेन
 प्राणशब्दस्य परमात्मपरत्वं ज्ञापयति सूत्रकारः । अत एव प्राण
 पूर्वपक्षस्तु वायुविकारे तत्रैवलोकप्रसिद्धेः न तु ब्रह्मणि । उत्तरपक्षस्तु परम
 कारणभूते परब्रह्मणि । कुतः ब्रह्मलिङ्गदर्शनात् । ज्यायस्त्वपरायणत्वसर्वजगत्क-
 र्तृत्वादिब्रह्मलिङ्गस्यानन्यथासिद्धस्य दर्शनेनाकाशपदेन परमब्रह्मण एव ग्रहणं न तु
 भूताकाशस्य तथैवेहापि सर्वजगत्कर्तृत्वादितालिङ्गस्यानन्यसाधारणस्य दर्शनात्
 प्राणपदेन परमकारणस्यैव ग्रहणं भवतीति दर्शयितुं सूत्रान्तमरभवतारयति तत्रैवोद्गीथ
 विद्यायामित्यादि । तत्रैव छान्दोग्ये एवेति शेषः । हे प्रस्तोत ! प्रस्तावे अनुगता
 या देवता सा का ! इति प्रश्ने “प्राण इति होवाच, उपस्त्यइचाक्रायणः । सर्वा-
 णीमान्याकाशादीनिभूतानि प्राणादेवोत्पद्यमानानि भवन्ति तथा तत्रैव विलीयमानानि
 भवन्ति प्रलय काले । सेयं प्रस्तावानुगता प्राणदेवता एतस्या स्वरूपं यदि न
 विद्या मे आगत प्राणपद ब्रह्म का ही बोधक है । किन्तु वायु विकार का बोधक नहीं
 है । इस बात को बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “तत्रैवोद्गीथविद्यायामित्यादि”
 तत्रैव=छान्दोग्य प्रकरण में ही उद्गीथ विद्या के प्रसंग में उपस्ति चाक्रायण के संवाद में
 सुना जाता है “प्रस्तोतयेत्यादि” हे प्रस्तोतागण ! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत है
 वह कौन है ! इत्यादि से उपक्रम कर के प्रस्ताव में आगत देवता प्राण है ऐसा
 कहा, सभी भूतवर्ग प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं तथा प्राण से ही उदित होते हैं वही
 यह प्राण देवता प्रस्तावानुगत है । हे प्रस्तोतागण उस देवता के स्वरूप को
 जानो जाने बिना यदि तुम स्तुति करोगे, तो तुम्हारा मस्तिष्क गिर जायगा ।’ उसमें लोक
 प्रसिद्धबल से प्राणपद प्राणवायुपरक है “प्राण का भी प्राण है ।” हे सौम्य यह मन

इति । अतएवाकाशवाक्य इव प्राणवाक्येऽपि सर्वभूतसृष्ट-
त्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शनादेव प्राणशब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः ।
यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं
चक्षुः प्राणं स्तोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणा-
देवाद्धि पुनर्जायन्ते” [श० ब्रा० १० ।३।३।६ ।] इति श्रुता-
वपि परमात्मरूपे प्राणे संवेशनादिकमुक्तं नतु महाभूतसंशना-
दिकम् । अत्र वाक्पदमनुक्तकर्मैन्द्रियोपलक्षकं चक्षुःश्रोत्रे ज्ञानेन्द्रि-
जानासि तदा अस्या उपासने कृते मूर्धापातस्ते भविष्यतीति । तत्र लोकप्रसिद्धवलेन
वायुविकारस्य प्राणस्य ग्रहणं भवति अथवा प्राणबन्धनम् इतिश्रुतिदर्शनेन सर्व
कारणस्य ब्रह्मण इत्युभयत्र प्रयोगदर्शनात् संशयः । तदत्र लोकप्रसिद्धेर्बलवत्त्वाद्
वायुविकारस्यैव तस्य ग्रहणं नतु परमकारणस्य परमात्मन इति पूर्वपक्षः । इत्या-
शङ्कायां प्राणशब्दः परमात्मवाचक एवेति ज्ञापयन्नाह सूत्रकारः अत एव प्राण इति ।
अतएव पूर्वप्रकरणवत् ब्रह्मलिङ्गस्य उपायस्त्व परायणत्वसर्वसर्जकत्वादि ब्रह्मलिङ्ग
दर्शनादेव प्रकृतप्रकरणे प्राणपदेन परमात्मन एव ग्रहणं न तु वायुविकारस्य तस्मिन्न
प्राण बन्धन है” । इत्यादि श्रुति में प्राणपद को ब्रह्मपरकत्व रूप से जाना जाता है ।
अतः यहां संशय होता है कि क्या यहाँ प्राण शब्द से वायु विकार कहा जाता है । अथवा
परमात्मा का कथन होता है । उसमें वायु विकार प्राण को लोक प्रसिद्धि से ही शीघ्रोप-
स्थितिक होने से वायु विकार रूप प्राण है एतादृश पूर्वपक्ष होने पर “आकाशन्यायाति”
देश से प्राणपद को परमात्मपरकत्व में ज्ञापित करते हैं सूत्रकार “अत एव प्राणः” इति ।
अतएव आकाश वाक्य की तरह प्राणवाक्य में सर्वभूत स्रष्टृत्वादि ब्रह्म लिङ्ग का दर्शन है
इसलिए प्राणशब्दवाच्य परमात्मा ही है । ऐसा सूत्र का अर्थ है । “जब यह पुरुष सो
जाता है, तब यह वाणी प्राण में लीन हो जाती है, तथा चक्षु श्रोत्र तथा मन सब प्राण
में विलीन हो जाते हैं और जब यह पुरुष जाग जाता है तब वागादिक सब करण प्राण
से पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ।” इस श्रुति में भी परमात्मरूप प्राण में संवेशनादिक को
बतलाया है । किन्तु महाभूत में संवेशनादिक को नहीं बतलाया है । यहाँ वाक्य

योपलक्षके । तस्मादत्रत्यप्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवोपास्यप्रस्तावे
देवतेति सिद्धिम् ॥२४॥

५ श्रीआनन्दभाष्यप्राणाधिकरणम् ५

अथ ज्योतिरधिकरणम् । १० ।

५ ज्योतिश्चरणाभिधानात् । १ । १ । २५ । ५

छान्दोग्ये सामान्नायते—“अथ यदतः परो दिवो ज्योति-
र्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोके-
ष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः [छा० ३।१३।७]
संकुचितसर्वकारणत्वपरायणत्व सर्वज्यायस्त्वादिधर्माणामनुपपत्तोः । तस्मात्प्राणपदेन
ब्रह्मणोग्रहणमिति संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्राणाधिकरणम्

अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते इत्यादिश्रुतौ यज्ज्योतिस्तत् किं भौतिकमा-
दित्यज्वलनादिरूपमथवा सर्वस्य प्रकाशकं परं ब्रह्म लक्षणं ज्योतिरिति संशये
आदित्यादिलक्षणमेव तत् प्रसिद्धिवलात्मर्यादादिश्रवणाच्च । नहि मर्यादारहितस्य
पद कर्मेन्द्रिय का उपलक्षक है । तथा चक्षुश्रोत्र पद सकल ज्ञानेन्द्रिय का उपलक्षक है ।
इसलिए इस प्रकृत प्रकरण में प्राणशब्दवाच्य परमात्मा ही उपास्य प्रस्ताव में देवता हैं
यह सिद्ध होता है ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्राणाधिकरणम् ।

जगत्कारणत्वव्याप्त जिस किसी निरतिशय उत्कृष्ट गुणों से युक्त अर्थान्तर में प्रसिद्ध
ज्योति इन्द्रादि पद से वाच्य ब्रह्म ही होते हैं इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं
“ज्योतिश्चरणेत्यादि” ।

सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “छान्दोग्य” इत्यादि
छान्दोग्य श्रुति में कहा जाता है कि “अथ परोदिव” इत्यादि । इस श्रुति के अर्थ को
भाष्यकार स्वयमेव बतलाते हैं “अस्या अर्थः” इति गायत्री पद बोध्य ब्रह्मोपासना के
अनन्तर उपासनान्तर के प्रतिपादनपरक अथ शब्द है धुलोक से ऊपर जो ज्योति प्रकाश

अस्या अर्थः, गायत्रीपदबोध्यब्रह्मोपास्त्यनन्तरमुपास्त्यन्तरार्थोऽथशब्दः । अतो दिवो द्युलोकात्परः परस्तात् यज्ज्योतिर्दीप्यते-विश्वतः पृष्ठेषु विश्वस्मात्प्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः । न केवलं विश्वतः पृष्ठेषु किन्तु सर्वतः पृष्ठेषु-सर्वस्माद्भूरादिप्रजापतिलोकपर्यन्तात्सर्वसंसारमण्डलादुपरीत्यर्थः । अनुत्तमेषूत्तमेषु - उत्तमा न विद्यन्ते येभ्यस्तेषु स्वाधिकोत्तमरहितेषु उत्तमस्थानविशेषेषु परब्रह्मधामस्वित्यर्थः । इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिरिति परमज्योतिषः कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशस्तु तदात्मकत्वानुसन्धानेन फलाधिक्यज्ञापनायेति न दोषः । उक्तं हि भगवता पुरुषान्तःस्थस्य ज्योतिषः स्वात्मकत्वम् ।

ब्रह्मणोमर्यादाकरणं युक्तियुक्तम् । तस्मात्कार्यस्यादित्यादिज्योतिष एव ग्रहणमिति पूर्वपक्षे 'आदित्यादि ज्योतिषोपि' "तस्य भासासर्वमिदं विभातीति सिद्धं प्रकाशकं ब्रह्मैवात्र ज्योतिः पदग्राह्यं भवतीति प्रश्नसामाधानाभ्यां विचार्य निश्चेतुमुपक्रममाक्रमते छान्दोग्ये समान्मायते इत्यादि । छान्दोग्यश्रुत्येत्यं प्रतिपाद्यते तथाहि यदतः परोदिव इत्यादि । उदाहृतश्रुतेरर्थं स्वयमेव विवृणोति भाष्यकारः अस्याः अर्थः इत्यादि । अनुत्तमेषु इत्यत्र न उत्तमोऽनुत्तम इतिनार्थः किन्तु अतिशयेन उत्तम दीप्त होता है । "विश्वतः पृष्ठेषु" सभी प्राणी वर्ग के ऊपर भाग में प्रकाशित होता है केवल विश्व के ऊपर ही में है ऐसा नहीं । किन्तु सबके ऊपर अर्थात् भू-भूतिक लोक से लेकर के प्रजापति लोक पर्यन्त सर्व संसार के ऊपर में । अनुत्तम में, उत्तम में जिसके अपेक्षया कोई उत्तम नहीं है । अर्थात् स्वाधिक उत्तमरहित उत्तमस्थान विशेष में अर्थात् ब्रह्म का जो परमवाम श्रीसाकेत में यह ज्योति है वही है जो इस पुरुष के अभ्यन्तरवर्ती ज्योति है । ब्रह्मज्योति तथा कौक्षेय ज्योति में एकत्व का उपदेश है वह अल्पज्योति को महान् ज्योतिरूपता का अनुसन्धान से महत्फल प्राप्ति प्रयोजनक है इसलिए कोई दोष नहीं है । भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि पुरुष के अभ्यन्तरस्थ जो ज्योति है वह परम ज्योतिष्ठम है । "मैं ही वैश्वानर रूप होकर के प्राणियों के देह में आश्रित हूँ" इति । ज्योति शब्द का प्रयोग लोक में तो सूर्य, अग्नि आदि में होता है

“अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः” [गी० १५। १४] इति तत्रलोकेऽग्निसूर्यादौ वेदे ब्रह्मणि च ज्योतिः शब्दप्रयोगात्संशयः किमत्र ज्योतिः शब्देन प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरभिधीयते । उत तस्यापि प्रकाशकममिततेजः परंब्रह्म । किं युक्तम् ? प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरिति । कुतः ? प्रसिद्धवन्निर्देशात्, दिव इति द्युसम्बन्धित्वनिर्देशात्परमात्मलिङ्गविशेषाश्रवणाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते—ज्योतिश्चरणाभिधानादिति । “वृक्ष इव स्तन्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं सर्वमि” त्युक्तं द्युसम्बन्धत्वेन निर्दिष्टमनुत्तमलोकेषु दीप्यमानत्वेनोक्तं निरतिशयज्योतिः शब्दवाच्यमादित्यादिप्रकाशकं परम्ब्रह्मैव । कुतः ? चरणाभिधानात् । पादाभिधानात् । ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वाभिधानात् ।

इत्यनुत्तम इत्येवार्थः । अर्थात् स्वावधिकोत्तमरहितः । अर्थात् तदपेक्षया तदन्यः कश्चिदुत्तमो नास्ति, तदुक्तं “अनुत्तमेनाध्युषितः प्रियेण चिरेण वामः समवेपताशु” (श्रीमद्रामायणम्) इत्यादौ स्वावधिकोत्तमरहिते अनुत्तमशब्दस्य प्रयोगदर्शनादिति । नित्यज्योतिषः कार्यं ज्योतिषश्चाभेदप्रतिपादनं फलाधिक्य प्राप्तये इति । लोके सूर्याग्निप्रभृतिषु ज्योतिः शब्दस्य प्रयोगो वेदे ब्रह्मणि च तस्य प्रयोगदर्शनेन संशयो भवति । किमयं और वेद में तो ज्योति शब्द का प्रयोग ब्रह्म में होता है । इसलिये यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ ज्योति शब्द से लोक प्रसिद्ध सूर्यचन्द्रादिक का ग्रहण होता है । अथवा सूर्य चन्द्रादिक तेजोघात का भी प्रकाशक ज्योति का ग्रहण होता है ? तो इसमें प्रसिद्ध जो सूर्यादिक ज्योति उसी का ग्रहण होना युक्त है । क्योंकि प्रसिद्धवत् निर्देश है । द्यु सम्बन्धित्व रूप मर्यादा का भी श्रवण है और परमात्मा का लिङ्ग विशेष का श्रवण भी नहीं है । इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—“ज्योतिश्चरणेत्यादि” सूत्र वृक्ष के समान स्तब्ध जड़ीभूत अर्थात् निश्चल प्रकाश स्थान में रहता है । उस पुरुष से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । इससे कथित सम्बन्धित्व से निर्दिष्ट अनुत्तम लोक देदीप्यमानत्वेन कथित निरतिशय ज्योतिः शब्दवाच्य एवं आदित्यादि ज्योति का भी प्रकाशक परम ब्रह्म ही ज्योति शब्द वाच्य है ! क्योंकि चरणवादवत्त्व का कथन होने से । अर्थात्

“एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वाभू-
तानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” [छा०३।१२।६।] इत्यत्र सर्वभूतानां
मृत्युग्रस्तानामेकपादत्वोक्त्या संसारमण्डलस्य न्यूनत्वं निर्दिश्य
त्रिपादस्येतिद्युशब्दनिर्दिष्टस्य परमपदस्य त्रिपादविभूतिपदाभिधेयस्य
त्रिपादिति बहुपादत्वकथनेन ब्रह्माण्डात्रिगुणाधिक्यनिर्देशेनाप्रमेय-
त्वमुक्तम् । तन्निवासिनाममृतपदेन मृत्युराहित्यमुपवर्ण्य नित्य-
मुक्तानां स्थितिस्तत्र सूचिता । एवञ्च ‘ततो ज्यायांश्च पुरुष’
इतितत्त्वामित्वबोधनाद्ब्रह्मण एव ज्योतिश्शब्दाभिधेयत्वमिति । २५।

ज्योतिः शब्दः कार्यस्य ज्योतिषः संग्राहकः परब्रह्मलक्षणज्योतिषोवेति । एवं संश-
यिते पूर्वपक्षयति कार्यज्योतिरेव तादृशं लोकप्रसिद्धेरित्याशङ्कायामाह ज्योतिश्चरणे-
त्यादि सूत्रकारः । ज्योतिः शब्दवाच्यं ब्रह्मैव कुतः चरणाभिधानात् पादस्य कथनात् ।
अर्थात् इतः पूर्ववाक्ये परमात्माचतुष्पादवानिति कथितम् । पादोऽस्य सर्वाभूतानीत्यादि ।
तदेवं परब्रह्मैव न तु कार्यज्योतिरिति संक्षेपः ॥२५॥

ज्योतिर्वाक्य का जो पूर्ववाक्य में चतुष्पाद रूप से ब्रह्म का कथन किया गया है “इतनी
बड़ी इसकी महिमा है” इससे वह पुरुष बड़ा है । सभी भूत उस पुरुष के एक पाद
स्थानीय हैं । अमृत रूपत्रिपाद उसका द्योतनात्मक स्थान में हैं ।” इस स्थान में
मृत्युग्रस्त सर्वभूत को एक पादत्व कथन से संसार मंडल में न्यूनता का निर्देश करके
“त्रिपादस्य” इससे द्यु शब्द निर्दिष्ट परम पदको जो कि विभूति पद प्रतिपाद्य है
उसको “त्रिपाद” इससे बहु पादके कथन से ब्रह्माण्ड के अपेक्षया त्रिगुण अधिक का
निर्देश कथन करने से अप्रमेयत्व कहा है । तादृश अप्रमेय स्थान निवासी व्यक्ति को
अमृत पद से मृत्यु रहितत्व का उपवर्णन करके नित्यमुक्त व्यक्तियों का निवास वहाँ होता
है ऐसा सूचित किया गया । “ततो ज्यायांश्च पुरुषः” इससे तादृश स्थान का स्वामित्व
ब्रह्म में बतलाया है । अब एतादृश परम ब्रह्म ही उक्त भ्रुति घटक ज्योतिः पद परम
तेजो रूप ब्रह्म का ही वाचक है । किन्तु कार्यज्योति सूर्यादि का वाचक नहीं है यह
सिद्ध होता है ॥२५॥

॥ छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतो

ऽर्पणानिगदात्तथाहिदर्शनम् । १ । १ । २६ । ॥

पूर्ववाक्ये “गायत्री वा इदं सर्वभूतं यदिदं किञ्च [छा० ३।१।२।१] इति गायत्र्याख्याच्छन्दसः प्रकृतत्वात्तस्यैव ‘पादोऽस्य सर्वाभूतानि’ इति सर्वभूतव्यपदेशस्योपपत्तेर्न ब्रह्मण इति चेन्न । तथा छन्दोद्वारेण तद्गते तत्प्रतिपाद्येऽक्षरसमुदायात्मकगायत्रीवाच्ये ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य चित्तप्रवेशनस्य निगदादभिधानात् तत्र दृष्टान्तमाह तथाहि दर्शनम् । अन्यत्रापि तत्तद्द्वारा तदन्तर्गतस्य ब्रह्मण उपासनं दृश्यते ‘एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः’ [ऐ० आ० ३।२।३।१२] इति । एवञ्च ‘गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च’ इत्युक्तस्य सर्वात्मकत्वस्याक्षरसन्निवेशरूपाया गायत्र्या अनुपपत्तेः । सर्वा-

ननु पूर्ववाक्ये न ब्रह्मणो निर्देशोयेनात्र ब्रह्मणोग्रहणं स्यात् किन्तु पूर्ववाक्ये गायत्री छन्दसः एव ग्रहणं गायत्री वा इत्यादिना कथितम् । इति न पूर्ववाक्य बलाद्ब्रह्मण उपस्थितिः स्यादित्याशङ्क्य तादृशशङ्काया निरासायोपक्रमते पूर्ववाक्य इत्यादि । पूर्ववाक्ये गायत्र्या एव ग्रहणं नतु ब्रह्मणस्तत्कथमित्थमिति चेत् न, गायत्री

पूर्ववाक्य में “गायत्री वा इदं सर्वम्” इस प्रकार गायत्री नामक छन्द का ही प्रक्रम है उसी छन्द का “पादोऽस्य सर्वाभूतानि” इत्यादि से सर्व भूतत्वोपदेश की निष्पत्ति होती है । अतः ब्रह्म पूर्व प्रकान्त नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं “तथा चेतोर्पणेत्यादि” गायत्री छन्द द्वारा तद्वत् अर्थात् तत्प्रतिपाद्य अक्षर समुदायात्मक गायत्री वाच्य ब्रह्म में ही चित्त प्रवेशन का कथन है । इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं “तथाहि दर्शनमिति” गायत्री छन्दो द्वारा ब्रह्म का चिन्तन यथा प्रकृत में है । उसी तरह अन्यत्र भी तत्तद् द्वारा तदन्तर्गत ब्रह्म का उपासन देखने में आता है । जिस तरह “एतं ह्येव” इत्यादि । इत्यादि अक्षर समुदायात्मक गायत्री के सर्वात्मकत्व अनुपपन्न है । और सर्वान्तर्गत जो ब्रह्म है वह तो सबका शरीरी हैं । इसलिए ब्रह्म में सर्वात्मकत्व उपपन्न है । इसलिए ब्रह्म में सर्वश्रुत पादत्व तथा त्रिपादमृत्त्व

न्तर्गतस्य ब्रह्मणः सर्वशरीरित्वेन सर्वात्मकात्वोपपत्त्या तस्यैव सर्व
भूतपादस्य त्रिपादमृतत्वस्य च निष्पत्तेः पूर्वसूत्रोक्तज्योतिः
शब्दवाच्यत्वं निष्पद्यते न तदन्यस्य । एतदेव दृढयति ॥२६॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । १।१।२७।

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य सैषा चतुष्पदेति गायत्र्या
श्चतुःपादत्वव्यपदेशस्य तद्वाच्ये ब्रह्मण्येवोपपत्तेः । अक्षरसन्निवेश-
रूपाया गायत्र्यास्तदनुपपत्तेः । एवं गायत्रीशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मैव
ज्योतिःशब्दवाच्यं भवतीत्यर्थः ॥२७॥

द्वारा ब्रह्मणि चित्तस्य प्रवेशाय तथाभिधानादिति न कापि क्षतिः । तस्माज्ज्योति
शब्दवाच्यं ब्रह्मैव न कार्यज्योतिरिति सिद्धम् । अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमेवेतिनेह
प्रतन्यते ॥२६॥

एवत्पूर्वोक्तमर्थमेव दृढयति भूतादीत्यादि । एतत्पूर्ववाक्ये ब्रह्मैव प्रकृतं नतु
तदन्यत् । यतस्तस्य भूतपृथिव्यादिपादं व्यपदिशति शास्त्रम् । नहि शब्दसमुदाय
रूपायागायत्र्या भूतादिकापादाः संभवन्ति तस्मात् पूर्ववाक्ये ब्रह्मैव प्रकृतमित्यादिकं
सर्वं निष्कृष्यदर्शयति भाष्यकारः भूतपृथिवीत्यादि । शिष्टं सुगमम् ॥२७॥

उपपन्न होता है । तस्मात् पूर्वसूत्र कथित जो ज्योतिः यद्द है तद्वाच्यत्व ब्रह्म में उपपन्न
होता है । किन्तु ब्रह्म भिन्न में ज्योतिः शब्द वाच्यत्व नहीं है । इति संक्षेपः ॥२६॥

पूर्व वाक्य में भी ब्रह्म ही प्रकृत है । किन्तु तदन्य नहीं । इसी बात को उत्तर
सूत्र से दृढ करते हैं “भूतादि पादेत्यादि” । भूत पृथिवी शरीर तथा हृदय का निर्देश
करके कहा है “सो यह चार पादवाली गायत्री है” इस प्रकार गायत्री में जो चतुःपादत्व
का व्यपदेश है । वह गायत्री वाच्य ब्रह्म में ही उपपन्न है । अर्थात् गायत्री शरीरक ब्रह्म
में ही चतुःपादत्व व्यपदेश होता है । अन्यथा अक्षर सन्निवेश रूप गायत्री में चतुः
पादत्व का कथन अनुपपन्न है । तस्मात् गायत्री शब्द से प्रतिपादित जो सर्वेश्वर श्रीराम
रूप ब्रह्म है वही ज्योति पदवाच्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥२७॥

५ उपदेशभेदान्नोति चेन्नोभयस्मिन्नप्य विरोधात् । १ । १ । २ । ८ । ५

पूर्वस्मिन् वाक्ये “त्रिपादस्यामृतं दिवि” इतिसप्तम्या दिवस्त्रिपादाधारत्वनिर्देशादथ यदतः परो दिव इतिपञ्चम्या ज्योतिषोवधित्वेन दिवोनिर्देशादुभयत्र विभक्तिभेदकृतस्योपदेश-भेदस्य सत्वान्न ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञोपपद्यत इतिचेन्न । कुतः ? प्रातिपदिकार्थेन प्रधानेन कारिणायाः प्रत्यभिज्ञाया गुणभूतेन विभक्त्यर्थेन प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेर्भेदेनोपदेशद्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञाया विरोधाभावात् । लोकेऽपि यथा ‘वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इत्युभयथाप्युपदिश्यते । तस्मात्परमात्मैव ‘दिवः परो ज्योतिर्दीप्यते’ इतिवाक्यात्प्रतिपाद्यत इतिनिश्चयम् ॥२८॥

इति श्रीआनन्दभाष्येज्योतिरधिकरणम्

ननु दिवीत्यत्र सप्तमी निर्देशः दिवः पर इत्यत्र पञ्चमी निर्देशः । न च सप्तमीपञ्चम्योः समानार्थता इत्यर्थभेदात्कथमुभयत्र ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानं किन्तु निर्देशभेदेनोभयत्रब्रह्मणोग्रहणमित्याशङ्क्य वृक्षाग्रेश्येनः, वृक्षाग्रात् परतः श्येन इति प्रयोगदर्शनात् उभयथापि ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायते एवेति मनसि निधायोपक्रमते भाष्यकारः पूर्वस्मिन् वाक्ये इत्यादि । तस्मात् सप्तमी पञ्चमी उपदेशभेदेऽपि विरोधोनास्तीति ज्योतिर्वाक्ये ब्रह्मण एव ज्योतिपदेन ग्रहणं भवति न तु कार्यज्योतिष इति ॥२८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपेज्योतिरधिकरणम्

पूर्ववाक्य में ‘त्रिपादस्य’ इस वाक्य में दिवि में सप्तमी विभक्ति के निर्देश से दिव में आधारत्व अर्थ प्रतीत होता है । और ‘यदतः परोदिवः’ यहाँ पञ्चमी विभक्ति से ध्रु लोक में अवधि अर्थ का निर्देश होता है । तो यहाँ दोनों स्थलों में विभक्ति में प्रयुक्त उपदेश भेद होने से ज्योतिर्वाक्य में ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता है । यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रधानभूत प्रातिपदिकार्थ कारित प्रत्यभिज्ञा का गुणभूत विभक्त्यर्थ से निषेध नहीं हो सकता है । जिस तरह लोक में वृक्ष पर पक्षी है ‘वृक्षाग्र के परे पक्षी है इस तरह दोनों प्रकार का प्रयोग होता है ।’ तस्मात् दिवः परोज्योतिर्दीप्यते’ इस वाक्य से परमात्मा ही प्रतिपादित होते हैं । विभक्ति भेद होने पर भी कोई क्षति नहीं है ॥२८॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेज्योतिरधिकरणम् ।

अथ प्राणानुगमाधिकरणम् ॥११॥

यद्यप्यनन्यथासिद्धतात्पर्यवद्ब्रह्मलिङ्गादाकाशज्योतिरादिपद-
घटितवाक्यानां ब्रह्मपरत्वे युक्तेऽपि प्रातर्दने प्रकरणेतद्घटकप्राणादि
पदार्थानामनेकेषामनेकलिङ्गदर्शनात्कथं तात्पर्यनिर्णय इत्याशङ्का-
यागाह-

ॐ प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥१॥१॥२९॥ ॐ

कौषीतकीब्राह्मणोपनिषदि श्रूयते—‘प्रतर्दनो ह वै दैवोदा-
सिस्त्रिदस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च’—इत्यारभ्य
‘स होवाच प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुस्मृतमित्युपास्व’ इति ।
तथाग्रेऽपि ‘अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’
[कौ० ३।१।२।३।] अन्ते च “स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽज-
रोऽमृतः” [कौ० ३।८।] इत्यादि । दिवोदासस्यापत्यप्रतर्दनो युद्धेन

आकाशज्योतिरित्यादिस्थलेषु अनन्यसाधारणलिङ्गदर्शनेनाकाशादिपदं परमा-
त्मपरकमिति निश्चित्य प्रतर्दनप्रकरणे प्राणजीवदेवताब्रह्मबोधकानेकलिङ्गेनानेक
विशेषस्थ ज्ञापकेन कस्य ग्रहणं कस्य वा न ग्रहणमिति निश्चयाभावेन कथं तत्र प्राण
पदस्य वायुविकारबोधकस्य ब्रह्मपरत्वमिति शङ्कामासाद्य तन्निराकरणाय प्रयतमान
उपक्रमते यद्यप्यनन्यथासिद्धेत्यादि । अनन्यथासिद्धेन अव्यभिचरितहेतुना आकाशादि
पदेन ब्रह्मपरिग्रहेऽपि प्रतर्दनप्रकरणस्थ प्राणपदेन कथं ब्रह्मणः परिग्रह इति शङ्कि-
तुरभिप्रायः । प्राण इत्यादिसूत्रम् । कौषीतकीब्राह्मणस्योपनिषदिप्रतर्दनोहवै

यद्यपि अनन्यथा सिद्ध तात्पर्यवान् जो ब्रह्म का लिङ्ग है उससे आकाश ज्योतिरादि
पद से घटित जो वाक्य हैं उन वाक्यों को ब्रह्म बोधक मानना युक्त है । क्योंकि तादृशार्थ
बोधक अनन्य साधारण पद है । किन्तु कौषीतकी प्रतर्दन प्रकरण में तादृश प्रकरणघटक
प्राणादि जो अनेक पदार्थ अनेक का लिङ्ग है उनका तात्पर्य निर्णय तो कैसे होगा ? इस
शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘प्राणस्तथानुगमात्’ [इस प्रकरण में प्राणपदवाच्य परमात्मा
है । क्योंकि ‘आनन्दोऽजरोऽमृतः’ इत्यादि अव्यभिचरित परमात्मा का लिङ्ग है । जो कि
अनन्य साधारण है”]

अब सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘कौषीतकी ब्राह्मणे
त्यादि । कौषीतकी ब्राह्मण के उपनिषद् में सुनने में आता है कि—‘दिवोदासी का पुत्र

तत्कारणेन पौरुषेण पुरुषकारप्रदर्शनेनेन्द्रस्य प्रियंघ्राम गृहं जगाम ।
 तं दृष्ट्वा इन्द्र उवाच प्रतर्दन ? वरं ने ददामि । महोवाच प्रतर्दनः
 हे इन्द्र ! त्वमेव वरं वृणीष्वेत्यादिर्न्यस्तत्र संशयः । किमिह प्राणशब्देन
 वाय्वात्मकः प्राण उक्तः, उत जीवोऽथवा परमात्मेति । किं युक्तम्
 जीवः । कुतः ? इन्द्रशब्दवाच्यस्य जीवत्वप्रसिद्धेः । प्राणशब्दस्य
 तत्सामानाधिकरण्येन तत्रैव पर्यवसानात् इति प्राप्ते ब्रूमः प्राणः
 प्राणशब्दाभिहितः प्राणस्य प्राणः यस्य प्राणः शरीरम् 'यस्यात्मा
 शरीरम्' 'अगत्प्राणायात्मने तस्मै नमः स्यादि' त्येवमादिश्रुत्युक्तः
 प्राणशरीरः प्राणनियन्तृत्वेन तत्स्थितिप्रवृत्तिहेतुभूतः परमात्मा । कुतः ?

इत्यादिश्रुतिः । तत्र प्रतर्दन इन्द्रसमीपं गतः । तत्र सन्तुष्ट इन्द्रः वरं प्रार्थय-
 स्वेति प्रोवाच ततो मनुष्याय हिततमं वरं त्वमेव प्रतिपादयेति कथिते इन्द्रः प्राणो-
 पासनं प्रदर्शितवान् । तत्र प्राणपदेन वायुविकारस्य देवस्य जीवस्य परमात्मनोवा स
 मुपासनमिति संशयः । अनेकस्थानेकलिङ्गदर्शनात् । तत्र प्रसिद्धिवलाद्वायुविकारस्य
 प्राणस्य ग्रहणमिति पूर्वपक्षः । वायुविकारस्य प्राणस्याजरामृतत्वादिधर्मत्वस्य पर-
 मात्मनिष्ठस्य वायूप्राणे सर्वथाऽसंभवात् । तादृशधर्मविशिष्टस्य परमात्मन एव ग्रहण
 मित्युत्तरपक्षः । एतत्सर्वपिण्डीकृत्य दर्शयितुं भाष्यकारः प्राह कौपतिकी ब्राह्मणोपनिषदी-
 त्यादि । "प्रतर्दनोह दैवोदासिरिन्द्रस्य" इत्यादिवाक्यम् । एतदर्थस्तुभाष्यानुसारेण
 प्रतर्दन इन्द्र के स्थान पर गया' यहां से आरम्भ कर के 'मैं प्राण हूं प्रज्ञात्मा हूं उसको तुम
 आयु अमृत रूप से उपासना करो' तथा आगे चल करके कहा 'प्राण ही प्रज्ञात्मा है जो
 इस शरीर को पकड़ करके उठाता है' अन्त में कहा है 'सो यह प्राण प्रज्ञात्मा है आनन्द
 अजर अमर है' इत्यादि । प्रकृत श्रुति के अर्थ को भाष्यकार स्वयं बतलाते हैं "दैवोदास
 का अपत्य प्रतर्दन युद्ध से तत्कारण पौरुष अर्थात् पुरुषकार के प्रदर्शन से इन्द्र
 का जो प्रियंघ्राम गृह है, वहां गया । उसको देखकर के इन्द्र बोले हे प्रतर्दन ?
 मैं तुमको वर देता हूं तब प्रतर्दन बोला हे इन्द्र आपही हिततमवर का वरण
 करो' । यह अर्थ उक्त श्रुति का है । इसमें संशय होता है कि क्या यहां वायुरूप प्राण
 शब्द से कहा जाता है । अथवा जीव कहा जाता है । अथवा परमात्मा प्राण पद वाच्य
 हैं । इसमें क्या मानना युक्त है । तो जीव को ही मानना । क्योंकि इन्द्र शब्द वाच्य में
 जीवत्व प्रसिद्ध है । क्योंकि प्राण शब्द को जीवत्व सामानाधिकरण्य होने से जीव में ही
 पर्यवसान होता है । इसके उत्तर में कहते हैं । कि प्राण का प्राण' जिसका प्राण शरीर

तथानुगमात् 'प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृत' इत्यादिपरमात्मनोऽव्यभि-
चारिलिङ्गैः प्राणस्य ब्रह्मपरत्वेनानुगमात् । न हि प्रज्ञात्मत्वमचेतनस्य
वायोः सम्भवति । तथोत्तरत्र 'एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न
साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येवैनं
साधुकर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधुकर्म कारयति
तं यमेभ्योऽनुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः'

ज्ञातव्यः । अत्र यत् प्राणपदं तदधिकृत्य संशयो भवति किमिह प्राणपदेन वायु
विकारस्य प्राणस्य ग्रहणमथवा प्राणसाहचर्यात् जीवस्य ग्रहणम् । अथवा सर्वशरीर-
कस्य परमात्मनो ग्रहणमिति । तत्र प्राणवायोरथवा प्राणसहचरित जीवविशेषस्यैव-
ग्रहणम् । न तु परमात्मनः । कुतः ? यथा वायुविकारस्य ग्राहकः प्रसिद्धहेतुरस्ति
यथावा इन्द्रजीवविशेषस्य प्राणसाहचर्यसंग्राहकं तथा परमात्मन उपस्थापकं न
किमपि लिङ्गमिति पूर्वपक्षः । उत्तरपक्षस्तु प्राणः प्राणादिसर्वशरीरकः परमात्मैव
प्राणपदवाच्यः । तस्यामितस्वासाधारणाजरत्वममरत्वादि लिङ्गानामिहवाक्यशेषे-
दर्शनात् । वाक्यशेषे च मोक्षात्मकं फलं प्रदर्शितम् स च मोक्षः "नान्यः
पन्था विद्यते यनायेत्यादि" श्रुत्या "शरण्यौ वेदनीयौ च भजनीयौ हि मुक्तये"
हैं जिसका आत्मा जीव शरीर हैं । जगत् के प्राण स्वरूप परमात्मा के लिए नमस्कार
हो' इत्यादि श्रुति कथित प्राणादि शरीरक तथा प्राण के नियन्ता रूप से प्राण के स्थिति
प्रवृत्ति में कारणीभूत परमात्मा ही प्राण शब्द के वाच्य हैं, तदितर तत्पद वाच्य
नहीं है ।

क्योंकि तथानुगमात् "प्रज्ञात्मा आनन्द अजर अमृत स्वरूप है" । इत्यादिक परमात्मा
का अव्यभिचारी लिङ्ग से प्राण पद परमात्मापरक है यह सिद्ध होता है । यह प्रज्ञात्म स्व-
रूपता अचेतन वायु विकार प्राण में संभवित नहीं है । किन्तु चेतन में ही संभवित है ।
उसमें निरुपाधिक अजरामृतत्वतो परमात्मा ही है । यद्यपि कथंचित् सावधिक आनन्दादिक
ऐश्वर्यशाली इन्द्रादिक में होने पर भी निरवधिक ज्ञानादिमत्त्व तो परमात्मा में ही है । इस
लिए भाष्यकार कहते हैं प्राण पद वाच्य परमात्मा ही है । किन्तु अचेतन अथवा
जीव इस प्रकरण में प्राण पद वाच्य नहीं है ।

[कौ० ब्रा० ३।९।] इति श्रुतिप्रतिपादितधर्माधर्मकारयितृत्वलोकाधि-
पतित्वसर्वस्वत्वादीनि लिङ्गानि प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्व एव संगच्छन्त
इति प्राणपदबोध्यम्ब्रह्मैव ॥२९॥

५ न वक्तुरात्मोपदेशादिति

चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यामिस्त्र। १।१।३०। ५

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति तन्न कुतः ! 'प्राणोस्मि तम्मामा-
युर्मृतमित्युपास्व' इति वक्तुरिन्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वेनो-
श्रीसीतारामौ इति शेषः (वशिष्ठमंहिता) इत्यादि स्मृत्या च परमात्मज्ञानादेव भविष्यति ।
तस्मादिह प्राणादिशरीरकः परमपुरुष श्रीराम एवात्र प्राणपदेन गृहीतव्यो न तु वायु
विकारो जीवोवेति परमात्म परिग्रहपक्ष एव श्रेयानिति संक्षेपः ॥२९॥

ननु प्रकरणेऽस्मिन् प्राणपदं ब्रह्मण एवोपस्थापकमिति कथितं परन्तु तन्न सं-
भवति यतः प्रकृते वक्ताहीन्द्रः स च विग्रहधर्मविशिष्टः स्वात्मानं ख्यापयामास

एवं उत्तर ग्रन्थ से भी सिद्ध होता है कि, 'यह प्रज्ञात्मा आनन्द अजर अमर है ।
वह शुभ कर्म से न बढ़ता है नवा अशुभ कर्म से छोटा होता है । यही प्राण लक्षण पर-
मात्मा उस व्यक्ति से साधु कर्म करवाता है । जिसको ऊपर ले जाना चाहता है । तथा
वही उस व्यक्ति से असाधुकर्म करवाता है । जिसको अधोलोक में ले जाना चाहता है ।
यही लोकपाल हैं यही लोकाधिपति है यह सर्वेश्वर है । इत्यादि श्रुति प्रतिपादित धर्माधर्म
कारयितृत्व लोकपालत्व सर्वेश्वरत्वादिक अव्यभिचारित लिङ्ग प्राण पद को ब्रह्मपरक होने से
संगत होता है । इसलिए इस प्रकरण में प्राणपदवाच्य परमात्मा ही हैं । किन्तु वायु विकार
प्राण नहीं है नवा सावधिक ऐश्वर्यशाली इन्द्रादिक जीव है । ऐसा सिद्ध होता है ॥२९॥

अव्यवहित पूर्वसूत्र में निश्चय किया गया कि प्राण पद वाच्य परमेश्वर हैं ।
किन्तु अचेतन वायु विकार अथवा चेतन जीवादिक प्राणपद वाक्य नहीं है ऐसा कहना ठीक
नहीं है । क्योंकि 'मैं प्राण रूप हूँ, उस प्राणरूप मेरा उपासन करो' इस प्रकार से वक्ता
इन्द्रने उपास्य रूप से स्वकीय स्वरूप का उपदेश दिया है । जब उपक्रम को इन्द्र पर-
कत्व का निश्चय हुआ तब उपसंहार को भी उपक्रम के अनुरोध से समन्वय करना पड़ेगा ।

पदेशात् । उपक्रमस्येन्द्रपरत्वे निश्चिते सति उपसंहारस्य तदनु-
 रोधेन नेतव्यत्वाच्च उपसंहारादुपक्रमस्य बलीयस्त्वात् ।
 उपक्रमे हि देवताविशेष इन्द्रोऽहंकारादेन स्वात्मानं
 ख्यापयामास प्रतर्दनाय 'मामेव विजानीहि' प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा'
 इत्यादिभिः । तथा 'त्रिशीर्षाणत्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीच्छाला-
 वृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्यादिभिश्च विग्रहधर्मैरेव स्वात्मानं प्रशशंस ।
 न चैते धर्मा ब्रह्मणि सम्भवन्ति । तस्मान्न प्राणो ब्रह्मेति चेन्न,
 अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि यस्मादस्मिन्नध्यायेऽध्यात्मसम्ब-
 न्धस्यात्मानमधिकृत्य वर्तमानस्य सम्बन्धस्य परमात्मसम्बन्धस्य
 भूमाबाहुल्यमुपलभ्यते । उपक्रमोपसंसारयोस्तराले परमात्मधर्मस-
 प्रतर्दनं पुरतः । न च शरीरसंबन्धिनस्तेधर्माः स्वभावतोऽशरीरे ब्रह्मणि संभवन्ति ।
 यदाचैवं तदा आनन्दादिका धर्मा अपि तत्रैव कथञ्चित्संयोजनीयाः । तस्मात् प्राण
 पदवाच्यो जीवविशेष एव न परमात्मेति शङ्कां निराकर्तुं प्रक्रमते यदुक्तं प्राणो
 ब्रह्मेतीति । पूर्वसूत्रे प्राणपदवाच्यत्वं ब्रह्मणः प्रदर्शितम्, तन्न संभवतीत्यर्थः । कुतो
 न संभवति तदुपपादयति भाष्यकारः प्राणोस्मीत्यादि । अत्र वक्ताहीन्द्रः स स्वा-
 त्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिशति । उपक्रमे देवविशेषस्य सद्भावात् उपसंहारेपि तथैव
 क्योंकि उपक्रम उपसंहारापेक्षया बलवान् होता है । उपक्रम में तो देव विशेष इन्द्रे अहंकार
 पूर्वक अपना ख्यापन किया है 'मुझको जानो' मैं प्राण परमात्मा हूं इत्यादि प्रकरण से ।
 एवं 'तीन शिखावाला त्वाष्ट्र को मैंने मार दिया और उरुमुख वगैरह यतियों को मारकर
 शृगालों को दे दिया' । इत्यादि स्थल में शरीर धर्म द्वारा स्वकीय प्रशंशन किया है । ये
 सब धर्म तो ब्रह्म में संभवित नहीं है । इसलिए प्रकृत में प्राणपदवाच्य ब्रह्म नहीं है ।
 किन्तु देवराज इन्द्र ही तत्प्रतिपाद्य है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'अध्यात्म सम्बन्ध
 भूमाह्यस्मिन्' इति । हि जिस कारण से इस अध्याय में अध्यात्म सम्बन्ध का अर्थात् पर-
 मात्मा को अधिकृत करके वर्तमान जो सम्बन्ध हैं उस परमात्मा के सम्बन्ध का बाहुल्य उपलब्ध
 होता है । उपक्रम उपसंहार के बीच में परमात्म धर्म सम्बन्ध का भूयस्त्व देखने में
 आता है । उपक्रम में "जो तुम मनुष्य के लिए हिततम समझते हो" ऐसा कहा है । ऐसा

म्बन्धस्य भूयस्त्वं दृश्यते । उपक्रमे 'यं त्व मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इत्युक्तं तद्धि हिततमत्वं परमात्मोपासनयैव संगच्छते । एतदुक्तं भवति । सर्वेषां प्राणजीवदेवादीनां परब्रह्मन्यूनत्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन प्राणादिविषयिण्या उपासनायाः हितत्वेऽपि हिततमत्वं नास्ति । तदपेक्षया सर्वदेवादिनियन्तृत्व सर्वफलदातृत्वादिकं परमात्मोपासनायामेवास्तीति तस्या एव हिततमत्वमिति राद्धान्तः । 'तद्यथा स्थस्यारेषु नेमिर्गर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः' [कौ० ३।१।] इति सर्वाधारत्वस्य 'एष ह्येव साधुकर्म कारयती' ति साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वस्यानन्दादेश्च सर्वलोकाधिपतित्वस्य तत्पालकत्वस्य च परमात्माऽसाधारणधर्मत्वनिष्पत्तेः प्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवेत्यवधेयम् ॥३०॥

भवितव्यम् । एवं विग्रहधर्मतयापि सस्वात्मानं प्रशशंस त्रिशीर्षाणमिति । नद्येतेषां धर्माणां निरवयवेसमावेशः संभवति । तस्मादत्र प्राणपदवाच्यो देवविशेष एव न तु परमेश्वर इति प्रश्नः । उत्तरयति अध्यात्मसम्बन्धेत्यादि । अस्मिन् प्रकरणे परमात्मसम्बन्धो बाहुल्येनोपलभ्यते तेन परमात्मपरत्त्वमेव प्रकृते प्राणशब्धो न तु देवविशेषे । तत्र परमात्मधर्मसम्बन्धस्यानुपपत्तेः ॥३०॥

हिततमत्वं तो परमात्मा की उपासना से ही संगत होता है । क्योंकि 'तमेवविदित्वातिमृत्युमेति' ऐसा श्रुति में कहा है । 'एतदुक्तं भवतीति' इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि 'सभी ये प्राण जीव और देव प्रभृतिक परमात्मा से न्यून हैं । तथा परमात्मा के अधीन स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिक होने से यद्यपि प्राणादिक का उपासन हित है भी तथापि इनमें हिततमत्वं नहीं है । प्राणादिक की उपासना के अपेक्षया सर्व देवादि नियन्तृत्व सर्वफलदातृत्व परमात्मा की उपासना में ही है । इसलिए परमात्मोपासना में ही हिततमत्वं है ऐसा सिद्धान्त है । 'जिस तरह रथ की आरा में नेमि अर्पित है नाभि में अरा अर्पित है । इसी प्रकार से ये भूतमात्रा प्रज्ञात्मा में अर्पित है । इत्यादि श्रुति से सर्वाधारत्व तथा 'एष एव साधुकर्म कारयति' इससे शुभाशुभ कर्म कारयितृत्व आनन्दत्व सर्वलोकाधिपतित्व तथा सर्व लोकपालकत्वादिक परमात्मा का असाधारण धर्म सिद्ध होता है । और इस प्रकरण में इन सब धर्मों का बाहुल्येन उपलब्धि होने से प्राण शब्द निर्दिष्ट परमात्मा ही है । यह सिद्ध होता है अतः इन्द्र प्राण शब्द वाच्य नहीं है ॥३०॥

कथं तर्हि इन्द्रकृतस्य 'मामुपास्व' 'मामेव जानीहि' इत्युप-
देशस्योपपत्तिरित्यत अह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् १।१।३१

“अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकृत्वाणि’
[छा० ६।३।२।] ‘अन्तः प्रविष्टा शास्ता जनानां सर्वात्मा’ [यजु०
आ०] ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’ [छा०
६।८।७।] ‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा
शरीरम्’ [बृ० ५।७।२२।] इत्येवमादिशास्त्रेण जीवात्मनः परमात्म-
शरीरत्वं परमात्मनश्च जीवशरीरित्वं नियन्तृत्वं जीवस्य तन्नियम्यत्वेन
तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितया तदभिन्नसत्ताकत्वं तेन तदभिन्न-

ननु यदि प्राणपदं परमात्मबोधकं नेन्द्रादिबोधकं तदा कथमिन्द्र उपास्यत्वेन
स्वमात्मानमुपदिशतीति शङ्कां समाधातुमुपक्रमते कथं तर्हीत्यादी । नहीन्द्रः
स्वकीयं शरीरमुपास्यत्वेन विनिर्दिशति किन्तु स्वात्मशरीरकपरमात्मनास्व-
स्याभेदमवगच्छन् शरीरपदेन शरीरिणं परमात्मानमेव विनिर्दिशतीति भावः । यदिह

यदि प्राण पद परमात्मवाचज है तब 'मेरी उपासना करो' मुझको जानो' इस प्रकार
से जो इन्द्रकृत उपदेश है तादृश उपदेश की उपपत्ति किस तरह से होगी ! इस शंका का
निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं शास्त्र दृष्टि को अनुसरण करके इन्द्र का उपदेश
है । वामदेवादि की तरह सूत्र के अर्थ का विवरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'अनेन
जीवेन' इत्यादि इस जीव स्वरूप आत्मा से प्रविष्ट करके नाम रूप का स्पष्टीकरण करता हूं सभी
के अभ्यन्तर में प्रविष्ट सर्वात्म स्वरूप परमात्मा सब का शासक है' । परमात्म स्वरूप ही ये सब
है । यह सत्य है । वह आत्मा है । हे श्वेतकेतु तुम उसीका शरीर रूप है' जो जीव के
अभ्यन्तरवर्ती है और जीव से अन्तर है । जिसको जीवात्मा नहीं जानता है और जिस
महापुरुष का जीवात्मा शरीर है । इत्यादि शास्त्र के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा का
शरीर तथा परमात्मा को जीव का शरीरी नियन्तृत्व तथा जीव को परमात्मा से नियम्यत्व
होने से परमात्मा के अधीन स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिक होने से परमात्मा से अभिन्न

त्वञ्चावगम्य जीववाचिनामहंममादिशब्दानां तच्छरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानत्वेन परमात्मनोहंममादिशब्दवाच्यत्वमवगम्य 'मामेव विजानीहि' 'मामुपास्व' इत्यादिभिः स्वशरीरिणि परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिष्टवानिन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाहवामदेववदिति । यथा जलसागरे तैलसमूहे च पतितस्य तूलकणस्य स्वेन रूपेण भानं न भवति अपितु जलादिरूपेणैव, तथैव सर्वव्यापकेन परमात्मनाऽन्तर्बहिर्व्याप्तस्य जीवस्य स्वेन रूपेण भानस्य प्रमोषेण परमात्मरूपेणैव भानम् । ब्रह्मणा बहिस्तर्बहिर्व्याप्तस्य जीवस्य तदपृथक्सिद्ध्या तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तदभिन्नसत्ताकत्वेन शरीरशरीरिणोरुभयोरप्येकशब्दवाच्यत्वमवगम्याहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्यया प्रतीतिरुपपद्यते । तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायेन मनुसूर्यादिसर्वजगदभिन्नं ब्रह्म तदभिन्नस्य स्वस्यमनुसूर्याद्यभिन्नत्वम्पश्यन् मनुसूर्यादिसर्वरूपो भूत्वाह वामदेवः परमात्मोपदेशस्तदादेवकृतोपदेशस्योपपत्तिः कथमित्यत आह शास्त्रदृष्टयेत्यादि शास्त्रदृष्टिमेवोपपादयति श्रुत्या अनेन जीवेनेत्यादि श्रुत्यर्थः । युक्तयश्च भाष्यानुसारेणैवावगन्तव्याः । दृष्टान्तप्रकारश्च भाष्यक्रमेणैवानुसंधेयः । परमात्मना सह शरीरसत्त्वाकत्वं तथा अभिन्न सत्ताक होने से परमात्मा से अभिन्नत्व को जान करके जीववाचक अहं मम प्रभृतिक शब्दों को जीव का शरीरी परमात्मा में पर्यवसान होने से परमात्मा को अहंममादि शब्दवाच्यत्व को जान करके 'मुझ को जानो 'मेरी उपासना करो' इत्यादि रूप से जीव का शरीरी परमात्मा का ही उपदेश इन्द्रने किया है । इस में दृष्टान्त बतलाते हैं 'वामदेव वदिति' जिस तरह जलराशि में अथवा तेल समूहमें पड़ा हुआ कपास तूलकण का स्वकीय रूप से भान नहीं होता है । किन्तु जल तैलादि रूप से ही भान होता है । इसी तरह सर्वव्यापक परमात्मा से अन्तः बहिः व्याप्त जीवका स्वस्वरूप से भान का प्रमोष होने से स्वरूप से जीव का भान नहीं होता है किन्तु परमात्म स्वरूप से भान होता है ब्रह्म परमात्मा से अन्तरबहिर्व्याप्त जीव को परमात्मा से अपृथक् सिद्ध होने से परमात्माधीन स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिक होने से परमात्मावीन सत्ताक होने

‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च [बृ० ३।४।१०।] एवञ्च तदात्म-
कत्वानुसन्धानेनैव ‘तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्’
[बृ० १।४।१०।] इत्यादयोऽपि प्रतीतय उपपद्यन्त इति सर्वं
स्पष्टम् ॥३१॥

❧ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रै

विध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् १।१।३२। ❧

ननु “न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्” [कौ० ब्रा. १।८।]

इति जीवलिङ्गात् वागादिकरणैर्वैष्टितस्य जीवस्य वक्तुर्ज्ञेयत्वावगमात्।
शरीरिभावावगमेनैव प्रतीतीनामुपपत्तिरिति प्राणपदवाच्यः परमात्मैव नतु देवो
जडो वा कश्चिदिति संक्षेपः ॥३१॥

यद्यपि प्रकृतप्रकरणे परमात्मसम्बन्धस्य बाहुल्येन दर्शनान्नेदं
प्रकरणं देवतात्मनः प्रतिपादकं तथापि अत्रत्यं वाक्यं न ब्रह्मण उपस्थापकं किन्तु
से शरीर लक्षण जीव तथा शरीरी रूप परमात्मा इन दोनों में एक शब्द वाच्यत्व
को जानकरके ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ‘मै ब्रह्म हूं’ इत्याकारक प्रतीती ब्रह्म विद्या के द्वारा होती
है। ‘तत्’ से अभिन्न जो तदभिन्न उस में तद् भिन्नत्व होता है’ इस न्याय से मनु-
सूर्यादिक सकल जगत् से अभिन्न जो परमात्मा। उससे स्व को अभिन्न होने से
सूर्यादिक के साथ स्व को अभिन्न जानता हुआ सूर्यादि रूप होकर के वामदेव ने कहा मैं
मनु हुआ सूर्य हुआ हूं एवम् परमात्म स्वरूपता का अनुसंधान करके तद्योयोदेवानाम् इत्यादि
प्रतीति भी उपन्यन होती है। इस प्रकार सब स्पष्ट है। तस्मात् परमेश्वर प्राणादि पद
वाच्य हैं। आदित्यादिक देव विशेष प्राण पदवाच्य नहीं हैं यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

प्रश्न—“वाणी की जिज्ञासा मत करो, किन्तु वक्ता को जानो” इस प्रकार जीव का
लिङ्ग होने से वागादि कारणों से युक्त जीवलक्षण वक्ता में ज्ञेयत्व ज्ञान होता है, अर्थात्
इस कौषीतकी वाक्य से जीव में ज्ञेयत्व तथा उपास्यत्व जाना जाता है। एवम् “प्राण
ही प्रज्ञात्मा है, जो इस शरीर को पकड़ करके उठाता है।” यह प्राण का बोधक
लिङ्ग है। देहधारण कार्य प्राण का लिङ्ग है। इस बात को छान्दोग्य में भी व्यक्त
किया है। “वे प्राणादिक प्राण पिता प्रजापति के पास में जाकर के बोले” यहाँ से
आरंभ करके “हे भगवन् आप सर्वदा स्वस्थिर हैं, इस शरीर से उत्क्रमण मत कीजिए”

एवं 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' [कौ० ब्रा० ३।१।]
इति प्राणलिङ्गात् । देहधारणस्य प्राणलिङ्गात् तच्चच्छान्दोग्येऽपि
व्यक्तम् "ते ह प्राणाः प्रजापतिपितरमेत्योचुस्त्यारभ्य 'भगवन्नेधि
त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्कामीस्त्यादिना प्राणेन्द्रियसंवादेनाप्यवग-
म्यते । अतो न ब्रह्मपरमिदं वाक्यमिति चेन्न, उपासात्रैविध्यात्
परमात्मन एव सर्वकारणभूतस्य स्वाकारेण सच्चिदानन्दस्वरूपेण
प्राणाद्यचेतनवर्गशरीरकत्वेन चेतनजीवब्रह्मेन्द्रादिशरीरत्वेन चानु-
सन्धानमित्युपासात्रैविध्याद्धेतोः प्राणेन्द्रादिशब्देन परमात्मनोऽभि-
धानमवगम्यते ।

अन्यत्रापि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" 'आनन्दो ब्रह्म' [तै०
३।६।] इत्यादिना स्वरूपेणानुसन्धानं 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'
तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" [तै० २।६।] "निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च
प्रकृतप्रकरणे किञ्चिद्वाक्यं जीवस्य किञ्चिच्च वाक्यं मुख्यप्राणस्यैवोपस्थापकं
तत्कथं ब्रह्मबोधकमिति शङ्कायाः समाधानायोपक्रमते ननु न वाचमित्यादि इदं
कौषीतकीवाक्यं जीवस्य ज्ञापकं तथा प्राण एव प्रज्ञात्मा इत्यादिवाक्यं मुख्यप्राण-
स्योपस्थापकमिति न कथमपि ब्रह्मणोबोध इति चेन्न उपासात्रैविध्यात् । अयमाशयः
इत्यादि प्राणेन्द्रिय संवाद से भी अवगत होता है । इसलिए वह वाक्य सब ब्रह्मपरक नहीं
है ? इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं, 'उपासात्रैविध्यात्' इस प्रकरण में उपासना तीन
प्रकार की है । तथाहि सर्वकारण रूप जो परमात्मा है उनकी उपासना एक तो सच्चि-
दानन्द रूप स्वकीय आकार से होती है एवं प्राणादिक जो अचेतन वर्ग है तत् शरीरक
रूप से और चेतन जो जीव प्रजापति इन्द्रादि शरीरकनया अनुसन्धान है । इस प्रकार
से परमेश्वर का तीन प्रकार से उपासना होने से प्राणादिक पदों से परमात्मा का ही
कथन है ऐसा जाना जाता है । तथा अन्यत्र भी "सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है"
इत्यादि क्रम से स्वरूपेण ब्रह्म के अनुसन्धान का प्रतिपादन किया है "उस को बना
करके परमात्मा उसमें अनुप्रविष्ट हो गये" उसमें प्रविष्ट होकर के पृथिव्यादिक तथा आकाशादि
रूप से हो गये" तथा "निरुक्त अनिरुक्तादि स्वरूप हो गये" इत्यादि प्रकरण में
भोक्ता भोग्य तथा भोगोपकरण रूप से परमात्मा का अनुसन्धान का प्रतिपादन किया है ।
"जो पृथिवी में रहता है जिसका पृथिवी शरीर है ।" जो जल में रहता है जिसका

निलयनञ्चानिलयनं च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्' [तै० २।६।] इत्यादिना भोक्तृभोग्यभोगोपकरणतयानुसन्धानम् “यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्’ [बृ० ३।७।३] ‘योऽसुतिष्ठन् यस्यापः शरीरम्’ [बृ० ३।७।४।] ‘प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्’ [बृ० ४।४।१८।] इत्यादिभिश्चेतनवर्गशरीरकत्वेन ‘य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्’ [बृ० ५।अ० ७। ब्रा० विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः] इत्यादिभिश्चेतनजीवेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसन्धानं बहुश उपलभ्यते ।

आश्रितत्वाच्च ‘प्राणवन्धनं हि मनः’ इत्यादिना ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमाद्ब्रह्मोपदेशोयमित्यवगम्यते । इहापि प्रकरणे “यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे’ इति हिततमोपक्रमादि प्रकृतप्रकरणे त्रिविधा हि उपासना काचित् स्वरूपेण सच्चिदानन्दादिरूपेण साक्षादेव ब्रह्मोपासनं प्रतिपादयति कानिचिद्वाक्यानि जडशरीरद्वारेण तदुपासना प्रतिपादकानि कानिचिच्च चेतनशरीरद्वारा ब्रह्मण उपासना परकाणि । तत्र यथा समुद्र एक एव प्राप्यो भवति मार्गभेदात् तथैव प्रकृते ब्रह्ममात्रमुपास्यम् । जल शरीर है” जो प्राण का भी प्राण है ।” चक्षु का चक्षु है तथा श्रोत्रादिक का श्रोत्र है ।” इत्यादि प्रकरण में अचेतन वर्ग शरीरकतया परमात्मानुसन्धान को बतलाया है । एवम् “जो आत्मा में रहता है, जिसका आत्मा शरीर है ।” इत्यादि स्थल में चेतन जीव इन्द्रादि शरीरकतया ब्रह्म का अनुसन्धान होता है । ऐसा उपलब्ध होता है ।

“आश्रितत्वाच्चेति” आश्रितत्व हेतु से भी सिद्ध होता है कि प्राणादि पदवाच्य ब्रह्म है । अर्थात् “प्राणवन्धनं मनः” इत्यादिक ब्रह्मलिङ्ग के बल से प्राणशब्द ब्रह्मपरक होने से ब्रह्म का उपदेश है ऐसा समझते हैं । इस प्रकरण में भी “यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे” [जो तुम मनुष्यों के लिए हिततम समझते हो ।] इस प्रकार से हिततम का उपक्रमादि रूप ब्रह्मलिङ्ग के योग होने से, यहाँ ब्रह्म का ही उपदेश है ऐसा जानना चाहिए । जिस किसी ने कहा था कि “प्राणः प्रज्ञात्मा” [प्राण ही प्रज्ञात्मा है, जो कि शरीर को पकड़ करके उठाया हुआ है ।] यह लिङ्ग मुख्य प्राण का है । इसलिए मुख्य प्राण का ही उपदेशपरक प्रकरण है यह ठीक नहीं है । क्योंकि, “कोई भी जीव प्राणापान से जीवित नहीं होता है । किन्तु इससे भिन्न परमात्मा से जीवित रहता

ब्रह्मलिङ्गयोगाच्च ब्रह्मोपदेशोऽयमित्यवधेयम् । यत्तु प्राणः प्राज्ञात्मेदं
शरीरं परिगृह्योत्थापयति' [कौ० ३।३] इति मुख्यप्राणलिङ्गात् तस्यैवाय
मुपदेश इत्युक्तं तन्न 'न प्राणेन नाप्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' [काठ० २।५।५] इति
श्रुत्या प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्तस्यापि परमात्मन्येव
प्रयुक्तत्वादिति सर्वमवदातम् ॥३२॥

५ इति प्राणानुगमाधिकरणम् ५

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया
आनन्दभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

किन्तु उपासना द्वारस्य बहुविधत्वेऽपि उपास्यैकत्वेन सर्वप्राप्यं ब्रह्मैवेति न कोपि
दोषः । कथं जडचेतनादिशरीरभेदेनोपासनं ब्रह्मण एव नतु प्राणादीनामिति
प्रक्रिया भाष्यानुसारेणैव ज्ञातव्येति संक्षेपः ॥३२॥

५ इति प्राणानुगमाधिकरणम् ५

प्रपन्नान्तेन रामेण योगिना यत्कृतं खलु । प्रीत्यै भवतु तत्सर्वं रघुनाथस्य सर्वदा ॥१॥
५ इति आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापकाचार्य काशीस्थ प्रधानपीठा-
चार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्रथमा
ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥ ५

है । जिस परमात्मा में ये दोनों प्राणापान आश्रित रहते हैं" इस श्रुति से सिद्ध होता
है कि प्राण व्यापार भी परमात्मा के अधीन है । अतः प्राणपद भी परमात्मा में ही
प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि परमात्माधीन व्यापारक होने से प्राण पद परमात्मा में प्रयुक्त
होता है । तो जीव में भी ऐसा होना चाहिए । इष्टापत्ति मानों तब तो परमेश्वर में
जैवीय सुखादि का भी उपभोग प्रसङ्ग होगा तथापि शुभाशुभ अदृष्ट न होने के कारण से
परमेश्वर में योगापत्ति नहीं होती है । ब्रह्म सर्व शरीरक है इसलिए सर्व पद वाच्यता
तो परमेश्वर में ही इष्ट है । क्योंकि शरीर वाचक पद का शरीर बोधकत्व तो सिद्धान्त
सिद्ध है । इत्यादिक विशेष विचार अन्यत्र देखें ॥३२॥

५ इति प्राणानुगमाधिकरणम् ५

इति श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्तमाचार्य
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र पट्टशिष्य
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते
श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

५ सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्राय नमः ५

श्रीमद्भगवद्भामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसायाः श्रीआनन्दभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

५ अथ सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥१॥ ५

प्रथमपादे श्रद्धापूर्वकाचार्योपसत्यादिभिर्धीतसाङ्गसशिर
स्कवेदस्य कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्मयथार्थविज्ञानस्य केवल
कर्मणामल्पास्थिरफलत्वज्ञानतया समुत्पन्नमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिर-
फलब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्तस्य मुमुक्षोरभीप्सितफलसिद्धये शास्त्रौकप्र-
माणकेऽनन्तकल्याणगुणगणैकराशौ निखिलजगज्जन्मादिहेतौ परे

आकाशादिप्रमुखस्य जडचेतनात्मकसमस्तस्य जायमानपदार्थस्य जन्मादि
कारणं ब्रह्मेति प्रथमपादीयद्वितीयादिस्त्रोत्रेण विनिर्णीतम् । तादृशजगत्कारणस्य
ब्रह्मणः सर्वव्याकृत्वानित्यत्वं सर्वज्ञत्वादयोऽसाधारणधर्मा अपि तस्येत्यधिकरण
सिद्धान्तन्यायेन समुपदिष्टाः । तत्रान्तरप्रसिद्धानां केषाचित् पदानां ब्रह्मविषयत्वं
प्रतिपादनद्वारेण स्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां संदिह्यमानानां वाक्यानां ब्रह्मपरत्वमिति

श्रद्धापूर्वक आचार्य के कुल में जाकर के व्याकरण छन्द प्रभृतिक अंग तथा वेदान्त
सहित समस्त वेद का अध्ययन करके कर्म मीमांसा का श्रवण से अधिगत समस्त कर्म
यथार्थ विज्ञान हो गया है जिसको ऐसा केवल कर्म को अल्प तथा अनित्य फलकत्व जान
करके “ब्रह्मविदामोतिपरम्” इत्यादि श्रुति श्रवण से उत्पन्न है मोक्ष विषयक अभिलाषा
जिसको ऐसा नित्य निरतिशय स्थिरफलक ब्रह्म जिज्ञासा में प्रवृत्त मुमुक्षु को अभिलषित
मोक्षरूप फल के सिद्ध्यर्थ शास्त्र मात्र प्रमाणक अनन्त कल्याण गुण का सागर समस्त
चराचर जगत के जन्म स्थिति प्रलय का निदान कारण परब्रह्म में “यतोवा” इत्यादि
श्रुतियों के समन्वय वा प्रतिपादन प्रथमाध्याय प्रथमपाद के “जन्माद्यस्ययतः” इत्यादि
प्रकरण से समर्थन किया गया है । तथा उसमें ब्रह्म भिन्न अर्थ के प्रतिपादन में प्रसिद्ध
जो वेद वाक्य है उसका भी तात्पर्य ब्रह्म में ही है इस बात का भी प्रतिपादन किया है
इसके बाद जो अस्पष्ट जीव लिङ्गक वाक्य हैं अथवा स्पष्ट जीव लिङ्गक वाक्य हैं ये
सब ब्रह्म का ही बोधक है इसका निर्णय के लिए द्वितीय तृतीय पाद का आरंभ किया
जाता है ।

ब्रह्मणि श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः । तत्र केषाञ्चिदर्थान्तरप्रसिद्धानां
श्रौतवाक्यानां परमात्मन एवाभिधायकत्वमित्यपि समर्थितम् ।

अथ कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचिच्च स्पष्टजी-
वल्लिङ्गकानि वाक्यानि तान्यपि ब्रह्मपराण्येवेति निर्णयाय
द्वितीयतृतीयपादावारम्येते—

५ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १ । २ । १ । ५

छान्दोग्ये “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मितलोके पुरुषो भवति तथेतः
निश्चितम् । ततो यानि अस्पष्टब्रह्मलिङ्गकानि वाक्यानि तानि ब्रह्मपरकाणि
जीवपरकाणीति विचारयितुं द्वितीयादिपादस्यारंभायोपक्रमते भाष्यकारः प्रथम-
पादे श्रद्धापूर्वकेत्यादि । अश्रद्धापूर्वककर्मणोऽसत्त्वात् ‘अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च
यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्यनोद्दह’ इति स्मृतेः श्रद्धापूर्वककृतस्यैव
फलजनकत्वादिति । सांगेति व्याकरणछन्दशिक्षादिषडङ्गसहितस्य वेदस्येत्यर्थः ।
केवलकर्मणामिति “तद्यथेहकर्मचितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यचितो लोकः क्षीयते”
इति श्रुतेः “ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्तीति स्मृत्या

“सर्वत्रेत्यादि सूत्रम्” छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय अध्याय में “सब ये पदार्थ ब्रह्म
रूप हैं, क्योंकि ब्रह्म से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं । तथा उसी ब्रह्म से सजीवित
एवं पाळित होता है और प्रलय समय में सब पदार्थ उसी ब्रह्म में लीयमान हो जाता है ।
ऐसा जान करके विषय से वितृष्ण होकर के, शान्त होकर के ब्रह्म का उपासन करना
चाहिए । यह पुरुष क्रतुमय है । इस लोक में यादृश क्रतुमय पुरुष होता है इसके
उपरान्त भी तादृश क्रतुमय होता है । इसलिए क्रतु को करें । “यह परमात्मा
मनोमय प्राण शरीरक प्रकाश रूप है” इत्यादि कहा है ।

अब यहाँ संशय होता है कि मनोमयत्वादि धर्मविशिष्ट कोई क्षेत्रज्ञ जीव उपास्य
रूप से कहा जाता है अथवा परमात्मा का ग्रहण होता है । तो इसमें क्या मानना ठीक
है । कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ ही तादृश गुण विशिष्ट हैं । क्योंकि मन तथा प्राण करण रूप से

प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः [छा० ३।१४।१।२] इत्यादिकमाम्नायते ।

तत्र संशयः । किमयं मनोमयत्वादिधर्मकः क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेन परिगृह्यत आहोस्वित्परमात्मेति । किन्तावदयुक्तम् । जीव इति । कुतः ? मनः प्राणयोर्ह्यत्रोपकरणत्वश्रवणात्तादृशोपकरणानि क्षेत्रज्ञस्यैव सर्वत्रप्रसिद्धतया ज्ञायन्त इति । परमात्मनस्तु “अप्राणोह्यमनाः शुद्धः” इत्यादिना मनः प्राणादिसम्बन्धस्य प्रतिषेधान्मनोमयत्वादेस्तत्सम्बन्धित्वानुपपत्तेः । ननु ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्मे’ ति पूर्ववाक्ये स्वरूपेणैव ब्रह्माभिहितम् तस्यैवोपासनेयमपि स्यादिति चेन्न तस्य केवलकर्मणोऽल्पास्थिरत्वमिति । कर्मणो यथोक्तरूपमाकलय्य संजातविषयवैराग्यो ब्रह्मविदामोतिपरमित्यादितो ब्रह्मज्ञानान्नित्यफलविषयकेच्छावानित्यर्थः । शास्त्रौकप्रमाणके इति । यथा यागादिजनितोऽपूर्वमात्रशास्त्रप्रमाणेनाधिगतो भवति तथा परमात्मापि केवलशास्त्रप्रमाणेनैवाधिगतो भवति । प्रमाणान्तरस्य तत्रानवकाशत् । अतएव शास्त्रयोनित्वादित्युक्तम् सूत्रकारेण तथैव जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्या अपि ‘ब्रह्मसत्त्वे प्रमाणञ्च शास्त्रमेव सुनिश्चितम् । तन्त्वोपनिषदञ्चैतच्छ्रुतिवाक्यप्रमाणतः ॥१३१॥ (श्रीबोधायनमतादर्शः) अथकानिचिदस्पष्टे त्यादि । कानिचिद् वाक्यानि स्पष्टरूपेण जीवं बोधयन्ति । कानिचिदस्पष्टरूपेणैव जीवं श्रुतं है । तो भोग में भोगकरण तो क्षेत्रज्ञ को आवश्यक रूप से जाना जाता है । परमात्मा का तो “अप्राणोह्यमनाः शुद्धः” इत्यादि श्रुति से प्राणादि सम्बन्ध का निषेध किया गया है । अतः परमात्मा में प्राणादि का सम्बन्ध अनुपपन्न है । अतः मनोमयत्वादि धर्मक परमात्मा नहीं है किन्तु जीव ही हैं । नहीं कहो कि—“सर्वं खलु” इत्यादि पूर्ववाक्य में कण्ठत एव ब्रह्म का कथन है इसलिए यहाँ ब्रह्म का ही उपासन है ! उत्तर—“सर्वं खलु” इत्यादिक जो वाक्य है वह उपासना के अङ्गरूप जो शान्ति उसके विधान रूप अर्थ में ही विनियुक्त है । और उत्तर वाक्य में मनोमयत्वादिक के साथ अन्वय होने में आकांक्षा का अभाव भी है । ऐसा हुआ तब “स क्रतुं कुर्वीत” इस वाक्य से विहित जो उपासन है वह पूर्व कथित ब्रह्म विषयक नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि

वाक्यस्योपासनाङ्गभूतशान्तिविधानरूपार्थे विनियुक्तत्वात् । उत्तर-
वाक्ये मनोमयादिपदार्थेन समं निराकाङ्क्षत्वाच्च । एवञ्च 'स
क्रतुं कुर्वीते' त्यनेन वाक्येन विहितस्योपासनस्य न पूर्वोदित-
ब्रह्मविषयत्वमितिप्राप्ते ब्रूमः— मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव ।
कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । सर्ववेदान्तवाक्येषु तस्मिन्नेव परे
ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात् । 'मनोमयः प्राणशरीर-
नेता' [मु० २।२।७] 'स एषोन्तहृदयाकाशः । तस्मिन्नायं पुरुषो
मनोमयः । अमृतो हिरण्यमयः' (तै० १।६।३) 'न चक्षुषा गृह्यते
नापि वाचा' 'मनसा तु विशुद्धेन' [मु० ३।१।८] इत्यादिषु हि
ब्रह्मणो मनोमयत्वादिगुणैः प्रसिद्धस्योपदेशात् । मनोमयत्वमत्र
बोधयन्ति । तानि सर्वाण्यपि ब्रह्मणः सर्वशरीरकस्यैव बोधकानीति दर्शयितुं
प्रकृतपादस्यारंभ इति भावः । सर्वं खल्विदम्—मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यादि
श्रूयते छान्दोग्ये । तत्र मनोमयत्वादिगुणविशिष्टो जीवः परमात्मेति संशयः ।
साधारणधर्मदर्शनस्य संशयजनकत्वात् । तत्र प्राणमनः सर्वं जीवस्य शुभाशुभ
फलोपभोगे उपकरणं भवतीति । तादृशगुणविशिष्टो जीव एव । नतु परमात्मा
तस्य अप्राणोद्गमनाः इत्यादिशास्त्रेण मनोमयत्वादिगुणकत्वस्यानिषेधात् । जीवोहि
शुभाशुभफलभोगाय प्राणादिकमपेक्षते । परमात्मनस्तु कर्माभावात् तादृशफलो-
मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा ही हैं । क्योंकि सर्वत्र गुणों का उपदेश है । अर्थात्
सर्व वेदान्त वाक्य में उस परब्रह्म में प्रसिद्ध जो मनोमयत्वादिक गुण हैं उसका उपदेश
है । "मनोमय तथा प्राण शरीरक सबका नेता" उस अन्तर्हृदयाकाश में यह मनोमय पुरुष
है अमृत स्वरूप हिरण्यमय है न वह पुरुष चक्षु से गृहीत होता है न वाणी से किन्तु
विशुद्ध मन से गृहीत होता है । इत्यादि स्थल में मनोमयत्वादि गुणवत्तया प्रसिद्ध ब्रह्म
का उपदेश है । यहाँ ब्रह्म मनोमय है । इसका मन का विकार ब्रह्म है ऐसा अर्थ नहीं
है, क्योंकि "अविकार्योऽयमुच्यते" इत्यादि स्मृत्यादिक से ब्रह्म में सर्व विकार के अभाव का
प्रतिपादन किया है । किन्तु तपस्यादि के द्वारा विशुद्ध जो मन है तादृश मन से परमात्मा
प्राप्त है । ऐसा मनोमय का अर्थ है । इसलिए "दृश्यतेत्वमया बुद्ध्यते" इत्यादि श्रुति भी

विशुद्धमनोग्राह्यत्वम्, प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वञ्च । तस्मान्मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवात्रोपास्यतया विहितो न जीव इति ।

यद्वा “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत” [छा० ४.१.४।१।] इति पूर्वोदितवाक्येनैवोपासनं विधीयते । सर्वशरीरकं ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति । तत्र गुणोपादानार्थं स क्रतुं कुर्वीतेत्यनुवादः । ते च गुणाः मनोमयत्वादयः । अर्थान्मनोमयत्वादिगुण विशिष्टं सर्वशरीरकं ब्रह्मोपासीतेति समुदितवाक्यार्थः । तत्र ब्रह्मशब्देन किमत्र प्रत्यगात्मोच्यत आहोस्वित् परमात्मेति संशयः । प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षस्तस्यैव सर्वपदार्थसामानाधिकरण्यात् । ब्रह्मणस्तु पभोगसाधनस्य प्राणादेरनुपयोगात् अतः परमात्मनस्तादृशसाधनस्यानुपयोगादिति पूर्वपक्षाशयः । तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाह सर्वत्रप्रसिद्धेत्यादि सूत्रम् । मनोमयत्वादिगुणविशिष्टः परमात्मैव भवति न जीवः । कुतः ? सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् । मनोमयः प्राणशरीरनेता मनोमय मनसा विशुद्धेन इत्यादिशास्त्रेण मनोमयत्वादिगुणविशिष्टतया परमेश्वरस्य प्रतिपादनात् । यद्यपि प्राकृतगुणरहिते भगवति प्राकृताः गुणाः न सन्ति तथापि अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तप्रकारेण सर्वशरीरके भगवति तथात्वस्य संभवेन मनोमयत्वादिगुणकतया परमेश्वरस्यैवोपास्यत्वं नतु संगतं होती है । प्राण शरीर शब्द का अर्थ है कि परमात्मा प्राणादिक का आधार है । तथा सबका नियन्त्रण करनेवाले हैं । इसलिए मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट रूप से परमात्मा ही इस प्रकरण में उपास्य हैं । किन्तु जीव उपास्य नहीं हैं ।

अथवा “सर्वं खलु” इत्यादि वचन का अर्थान्तर बतलाने के लिए भाष्यकार कहते हैं “यद्वा” इत्यादि । “सर्वं खलु” इस प्रकार से पूर्व कथित वाक्य से उपासना का विधान किया जाता है । अर्थात् जब चेतन सर्वशरीरक जो ब्रह्म है अर्थात् जब चेतन सर्वशरीरक जो ब्रह्म है । उसका उपासन शान्त होकर के करना चाहिए । उसमें उपासना के अनुकूल गुण का विधान करने के लिए “क्रतुं कुर्वीत” यह अनुवाद है । ‘अग्निर्हिमस्यमेषजम्’

तन्नोपपद्यते । अपहतपाप्मत्ववचनैर्ह्यगुणराहित्येन पुण्यपापसमन्वि-
तस्य सर्वपदग्राह्यस्य तस्याऽसंभवात् । तत्र सिद्धान्त उच्यते । सर्वत्र
प्रसिद्धोपदेशादिति “सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यनिर्दिष्टं सर्वशरीरि-
तया विधीयमानं ब्रह्मैव न क्षेत्रज्ञः । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात् । तज्ज-
लानितिहेतोः । यस्मात्सर्वमिदं जगत् ब्रह्मात्मकमेव तज्जत्वात्तल्ल-
त्वात्तदनत्वाच्चेति प्रसिद्धोपदेश उपलभ्यते । यतोवेत्यादिश्रुतय
उपदिशन्ति परस्य ब्रह्मणो अगत्कारणत्वम् । तत्र हि परमात्मनः
सकाशादेवोत्पत्तिस्तेनैव पालनं तत्रैव च लय इति स्पष्टमुक्तम् ।
एवञ्च सर्वपदार्थान्तर्गतस्य क्षेत्रज्ञस्यापि स एव परमात्मा कारणम् ।
‘सकारणकरणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधियः’

जीवस्योपास्यत्वमिति सिद्धान्ताशयः । पक्षान्तरं प्रकृतप्रकरणे दर्शयितुमाह
यद्वेत्यादि यद्वा सर्वं खल्विदम=शान्त उपासीत इत्यादिवाक्येन ब्रह्मण उपासनं विद-
धाति । यतो हि ब्रह्मसर्वचिदचिद्विशिष्टशरीरकं तस्माद् विषयेभ्यो विरक्तः
शान्तोभूत्वा परमात्मन उपासनं कुर्यात् । तत्रेतिकर्त्तव्यतांघोतयितुं गुणस्य
दर्शनाय सकृत् कुर्वीत इत्यादिना अपेक्षितगुणानामनुवादं प्रदर्शयति सकृत् कुर्वीत
इति । तत्र के गुणा उपासना प्रयोजका इति जिज्ञासायां मनोमयत्वादिकाः प्रतिपादिताः ।
अर्थात् विषयेभ्यः संजातवैराग्यो मनोमयत्वादिगुणकं परमात्मानमुपासीतेत्यर्थः ।
इत्यादि वाक्य के समान । वे गुण मनोमयत्वादिक हैं । अर्थात् मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट
सर्वशरीरक ब्रह्म उपासनीय है यह समुचित वाक्य का अर्थ है । तो क्या यहां ब्रह्मशब्द से
प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव कथित होता है । अथवा परमात्मा का कथन है । एतादृश संशय
होता है उपर्युक्त संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्मपदवाच्य
है । क्योंकि उसी को सर्व पदार्थ के साथ सामानाधिकरण्य है । पर ब्रह्म में तो सामा-
नाधिकरण्य नहीं है क्योंकि “ब्रह्म अपहत पाप्मा है” इन वचनों से सिद्ध होता है कि
ब्रह्म को पुण्य पाप रहित होने से पुण्यपाप से युक्त सर्वपद ग्राह्य सामानाधिकरण्य ब्रह्म
में असंभवित है । इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं सर्वत्रेत्यादि सर्व खलु इत्यादि वाक्य

[श्वे०३।१।] इति करणाधिपस्य क्षेत्रज्ञस्याधिपः परमात्मैव कारणम-
भिधीयते । एवञ्च सर्वशरीरकस्य सर्वप्रकारस्य परस्य ब्रह्मणः
शान्तः सन्नुपासनं कुर्यादिति श्रुतिः परमात्मनः सर्वात्मकत्वमुपपाद्य
सार्वदिकमुपासनं विदधाति । परमात्मा च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट-
तयास्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्यावस्थस्य कारणमित्यसकृदावेदितम् ।
अतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दाभिधेयो न क्षेत्रज्ञ इति ॥१॥

तत्र किमिह ब्रह्मशब्देन जीवस्य ग्रहणं परमात्मनोवेति संशयः । तत्र सर्वपदार्थ
सामानाधिकरण्यात् प्रत्यगात्मैव ग्राह्यो नतु परमात्मा । तस्यापहतपाप्मत्वेन प्राकृत
गुणसम्बन्धाभावादिति पूर्वपक्षाशयः । सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । अयमाशयः—
अन्तर्यामिब्राह्मणादितः सकलजडचेतनशरीरकः परमात्मेति विनिश्चितः । तत्र
यथा यतोवेत्यादिना सर्वजगत उत्पादकः परमात्मा जीवस्यापि कारणमिति सर्व
शरीरकस्य परमात्मन एव प्रकृते ग्रहणम् नतु क्षेत्रस्य ग्रहणम् । ततश्च सर्वशरीर-
कस्य परमात्मन एव शान्तोभूत्वोपासनं कर्त्तव्यमितिदिक् ॥१॥

से निर्दिष्ट सर्व शरीररूपत्वेन विधीयमान ब्रह्म ही है किन्तु क्षेत्रज्ञ नहीं । क्योंकि प्रसिद्धो
पदेशात् तज्जलान् इस हेतु से । जिस लिए सम्पूर्ण यह जगत् ब्रह्मात्मक है । क्योंकि ब्रह्म
से जायमान है । ब्रह्म से पालित है । ब्रह्म में लीयमान होता है । ऐसा प्रसिद्धोपदेश
उपलब्ध होता है । “यतो वा इमानि भूतानि” इत्यादिक श्रुतिगण ब्रह्म को जगत्कारण रूप
से बतलाते हैं । वही परमात्मा से ही उत्पत्ति होती है । परमात्मा से पालित होता है,
और परमात्मा में ही इन सबका लय होता है, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है । ऐसा हुवा
तब सर्व पदार्थ के अन्तर्गत क्षेत्रज्ञ का भी परमात्मा ही कारण है । ‘सकारणम्’ इत्यादि वेद वाक्य
करणाधिप क्षेत्रज्ञ का परमात्मा ही कारण हैं ऐसा कहते हैं तब सर्व शरीरक सर्व प्रकारक पर
ब्रह्म का शान्त होकर के उपासन करना । इस प्रकार से श्रुति परमात्मा को सर्वात्मकता
का उपपादन करके सार्वदिक उपासन का विधान करती है । परमात्मा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट
होने से स्थूल चिदचिद्विशिष्ट कार्यावस्थ जगत्का कारण है । यह विषय भी बारंवार कहा
जा चुका है इसलिए परमात्मा ही यही ब्रह्म शब्द का वाच्य है । किन्तु क्षेत्रज्ञ ब्रह्मशब्द
वाच्य नहीं है ॥१॥

५ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १।२।२। ५

‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः’ [छा० ३।१४ २।] इत्यादिना ब्रह्मासाधारणत्वेन वस्तुमिष्टानां सत्यसंकल्पत्वादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चायं मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु—मनोमयः— भगवन्निदिध्यासनादिसाधनैर्निर्मलीकृतमनसा ग्राह्यः । प्राणशरीरः—सर्वेषां प्राणानां धारकः “यस्य प्राणः शरीरम्” इति श्रुत्या प्राणस्य शरीरत्वनिर्देशादाधेयत्वविधेयत्वाद्भूत्वादयस्तस्मिन्फलन्ति । लोकेपि शरीरपदेनाधेयत्वादय एव गृह्यन्ते

मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवोपास्यत्वेनाभिमतो न तु जीव इति पूर्वसूत्रेऽभिहितम् । सम्प्रति परमपुरुषस्योपासनायामुपयोगिनोये गुणाः शास्त्रे प्रतिपादितास्तेषामुपपत्तिः परमेश्वरे एव भवति न तु जीवादीनाम् । ते च गुणाः सत्यसंकल्पत्वसत्यकामत्वादिकास्तेषामुपपत्तिरत्रैव नान्यत्रेति दर्शयितुमाह विवक्षितगुणत्वादि सूत्रन्यायानामुपक्रमते, मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः इत्यादि । अत्र मनोमयत्वादिरभ्योपासनायामभिमतानां सत्यसंकल्पत्वादीनां ब्रह्मासाधारण्येनोक्तानां परमपुरुषे

परमात्मा मनोमयत्वादि गुणाश्रय है । इस बात को प्रकारान्तर से बतलाने के लिए उपक्रम होता है ‘मनोमयः प्राणशरीर’ इत्यादि । इत्यादि श्रुति से ब्रह्म के असाधारण गुणरूप से विवक्षित जो सत्य संकल्पत्व सत्यकामत्वादिक गुण हैं उन गुणों की उपपत्ति ब्रह्म में ही संभवित है । इसलिए मनोमयत्वादिक गुणवान् परमात्मा ही है किन्तु क्षेत्रज्ञ नहीं । उदाहृत श्रुति का अर्थ इस प्रकार से होता है । परमात्मा मनोमय है अर्थात् परम पुरुष विषयक जो निदिध्यासन लक्षण साधन तादृश साधन द्वारा सकल मलरहित जो मन, तादृश मन से परमात्मा ग्राह्य होने से मनोमय है । प्राण शरीर प्राण है शरीर अङ्ग जिनका उनको प्राण शरीरक कहते हैं अर्थात् प्राण का धारक क्योंकि “यस्य प्राणः शरीरम्” [जिसका शरीर प्राण है] इस श्रुति से प्राण में परम पुरुष के शरीरत्व का निर्देश होने से प्राण में शरीरत्व विधेयत्व अंगत्व फलित होता है । लोक में शरीर पद से विधेयत्वादिक ही ग्रहण होता है । इसलिए प्राणादिक शरीर पद से बोध्य होते हैं । भारूप

इति तान्येव शरीरपदबोधानीति । भारूपः—प्रकाशस्वरूपः अप्राकृत
 दिव्यमङ्गलविग्रहवत्तया निरतिशयदीप्तियुक्त इति यावत् । सत्य
 संकल्पः—अप्रतिहतसंकल्पः । आकाशात्मा—आकाशस्याप्यात्मत्वेन
 ततोऽपि सूक्ष्मरूपः—‘अणोरणीयान्महतो महीया’ निति श्रुतेः ।
 सर्वकर्मा—सर्वे जगत्कर्म यस्यौसौ सर्वकर्मा सर्वजगत्कर्त्तेति यावत् ।
 यद्वा सर्वाणि जगत्प्राणिभिः क्रियमाणानि कर्माणि यस्य सः सर्वजग-
 त्प्राणिभिः सर्वकर्मकारयितेत्यर्थः । सर्वकामः—काम्यन्त इतिकामाः
 भोग्यभोगोपकरणादयस्ते दिव्याः सन्ति यस्य स सर्वकामः सर्व-
 गन्धोऽप्राकृतदिव्यगन्धः । सर्वरसः । दिव्यरसः । स्वभोग्यभूतनि-
 एव तेषामुपपत्तिर्भवति तस्मान्मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव भवति न क्षेत्रज्ञ इति ।
 समुदाहृतश्रुत्यर्थे स्वयमेव दर्शयितुं भाष्यकारः प्राह श्रुत्यर्थस्तु इत्यादि । मनोमयः
 विजातीयप्रत्ययानन्तरितसमानजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणनिदिध्यासनरूपकारणेन निर्मलं
 यच्चिचिं तेन विशुद्धेन मनसा ग्रहीतुं योग्य इत्यर्थः । एवमन्यविशेषणानाम-
 प्यर्थो भाष्योक्तप्रकारेण ज्ञातव्यः । आकाशात्मेति आकाश आत्मा शरीरं यस्य
 स आकाशात्मा आकाशादप्यतिसूक्ष्मः । पृथिव्याद्यपेक्षया आकाशः सूक्ष्मः परमा-
 अर्थात् प्रकाश स्वरूप है अर्थात् अप्राकृत दिव्यमंगल शरीरवान् होने से नित्यनिरतिशय
 दीप्ति प्रकाशवान् भगवान् हैं तथा सत्य संकल्पवान् हैं । अर्थात् अप्रतिहत संकल्पवान्
 है । आकाशात्मा आकाशका भी आत्माशेषी होने से आकाशापेक्षया भी परम पुरुष
 सूक्ष्म है । श्रुति भी कहती है “अणोरणीयान्” सूक्ष्म रूप से प्रसिद्ध पदार्थ के अपेक्षा
 से भी सूक्ष्म हैं । तथा महान् रूप से प्रसिद्ध पदार्थ के अपेक्षया भी महान् परमात्मा
 है । ‘सर्व कर्मा’ सम्पूर्ण जगत् कर्म कार्य है जिसका अर्थात् सम्पूर्ण जडचेतन साधारण
 जगत् का कर्त्ता, उसको सर्व कर्मा कहते हैं । अथवा जगदन्तर्गत प्राणियों से क्रियमाण
 सर्व कर्म है जिनका अर्थात् सब प्राणियों के द्वारा कार्य को करनेवाले पूर्व अर्थ में
 सर्व जगत् के प्रति साक्षात्कर्त्ता—यह अर्थ होता है । और यद्वा कल्प में सर्वकर्म के प्रति
 प्रयोजक कर्त्तृत्व बतलाया गया । “सर्वकामः” कामित हो अर्थात् अभिलाषा का विषयीभूत
 जो पदार्थ उसको काम कहते हैं । भोग्य भोगोपकरणादि—वह काम दिव्य है जिसको
 उसको सर्वकाम कहते हैं । सर्वगन्धः अप्राकृत दिव्यगन्धवान् ‘सर्वरसः’ दिव्य रसवान्

स्वद्यनिरतिशयकल्याणरूपाः सर्वविधाः गन्धरसाः स्वेच्छया सन्ति यस्य स इत्यर्थः ।

‘अशब्दमस्पर्शमगन्धवच्च’ इतितु प्राकृतशब्दस्पर्शादिनिषेधपरमिति ज्ञेयम् । सर्वमिदमभ्यात्तः । उक्तमिदं रसपर्यन्तं कल्याणगुणजातं सर्वं स्वीकृतवानित्यर्थः । अभ्यात्त इति कर्तरिक्तः । अवाकी-वाक् उक्तिः सोऽस्य नास्तीत्यवाकी । यतः अनादरः-अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्त्तव्याभावादादररहितः । अत एवावाकी । अजल्पाकः-परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वतृणीकृत्य तूष्णीमासीन इत्यर्थः । त एते विवक्षितगुणाः पर एव ब्रह्मण्युपपद्यन्त इति मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव न जीव इति ॥२॥

त्मातु ततोपि सूक्ष्म इति अतिशयेन सूक्ष्मः । यद्यपि अशब्दमस्पर्शम् इत्यादिना परमात्मनि निषेधक्रियते तथापि स निषेधः प्राकृतहेयगुणानामेव ज्ञातव्यो न तु दिव्यमंगलगुणानामिति । अन्यत्सर्वं भाष्योक्तदिशैव ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥२॥ स्वका भोग्यरूप निरवद्य निरतिशय कल्याण लक्षण सर्वप्रकारक गन्धरसादि स्वेच्छया है जिसके उसे सर्वगन्ध सर्वरस कहते हैं । यद्यपि परमात्मा में गन्धरसादिक का ‘अशब्दमस्पर्शम्’ इत्यादि श्रुति से अभाव का प्रतिपादन किया गया है । तथापि प्राकृत हेयरूप स्पर्शादिक का निषेध परक वह श्रुति है किन्तु दिव्य रूपादिक का निषेधपरक नहीं है । अन्यथा परस्पर व्याघात होने से तादृश श्रुतियाँ अप्रामाणिक हो जायगी । इसलिए विधायक श्रुतियाँ दिव्य गुणों का विधान करती हैं । तथा निषेधक श्रुतियाँ प्राकृत गुणादिकों के निराकरणपरक हैं । ऐसा मानने से दोनों श्रुति का सामंजस्य घटित होता है । ‘सर्वमिदमभ्यात्तः’ पूर्वोक्त रूपादिक रसपर्यन्त सर्वकल्याण गुणको स्वीकार करनेवाले । ‘अभ्यात्तः’ यहाँ कर्त्ता में क्त प्रत्यय हुआ है । इसलिए सर्वरसान्त का स्वीकार कर्त्ता यह अर्थ होता है । ‘अवाकी’ वाक्=उक्ति वह उक्ति लक्षण वाक् नहीं है जिसका उसको अवाकी कहते हैं । जिसलिये अनादर हैं समस्त काम को प्राप्त किया है । अतः प्राप्तव्य वस्तुओं का अभाव होने से वस्तुमात्र में आदर रहित है । इसलिए अवाकी हैं अजल्पाक हैं । अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्यवान् होने से ब्रह्मादि तृण पर्यन्त सर्व पदार्थों को उपेक्षित करके चुपचाप रहनेवाले । ये जो सत्य कामादिक विवक्षित गुण हैं वे सब परब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं जीव में नहीं । इसलिए मनोमयत्वादि कल्याण गुणक परमात्मा ही होते हैं । किन्तु जीव कथमपि तादृश गुणवान् नहीं है ॥२॥

५ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १ । २ । ३ । ५

पूर्वसूत्रेण विवक्षितानां गुणानां परमात्मन्युपपत्तिमभि-
धायानेन तु जीवेऽनुपपत्तिस्तेषामुच्यते । तु शब्दोऽवधारणार्थकः ।
उक्तन्यायात् परमात्मैव मनोमयत्वादिगुणको न शारीरो जीवः ।
कुतः ? मनोमयत्वप्राणशरीरत्वभारूपत्वसत्यसंकल्पत्वादीनां कल्याण-
गुणानां शरीरसम्बन्धनिबन्धनापरिमितदुःखनिमग्नजीवसम्बन्धि-
त्वानुपपत्तेः ॥३॥

सत्यसंकल्पादित्वादिगुणानां विवक्षितानां परमेश्वरे उपपत्तिं प्रदर्श्य
तेषामेव गुणानां शरीराधिष्ठानके जीवेऽनुपपत्तिं दर्शयितुमुपक्रमते पूर्वसूत्रेणेत्यादि
निरतिशयपरमैश्वर्यादिशालिनी ते उपपद्यन्ते किन्तु जीवस्य दुःखसंभिन्नपरिमित
सुखाद्याश्रये योग्यता विरहेणोपपत्तिर्न भवतीत्यर्थः । सूत्रघटकस्तु शब्दोऽवधारणार्थकः
परे एवैतेषामुपपत्तिर्न जीवे जीवे तु अनुपपत्तिरेव नैव कथमप्युपपत्तिरिति । अनुप-
पन्नत्वान्नशारीरो मनोमयत्वादिगुणक इति ॥३॥

पूर्वसूत्र से विवक्षित जो सत्यकामत्वादिक गुण है उसकी परमात्मा में उपपत्ति को
बतलाकर के इस सूत्र से उन गुणों की जीव में अनुपपत्ति बतलाते हैं । तु शब्द जो
सूत्रघटक है उसका अवधारणार्थ है । पूर्वोक्त कथित प्रकार से परमात्मा ही मनोमयत्वादि
गुणक है । किन्तु शारीर जो जीव वह मनोमयत्वादि गुणक नहीं है । क्योंकि मनोमयत्व
प्राण शरीरत्व भास्वरूपत्व सत्य संकल्पत्वादिक जो कल्याण गुण हैं उनका, शरीर सम्बन्ध-
मूलक अपरिमित जो दुःख समुदाय तादृश दुःखपंक निमग्न जीव में सम्बन्ध अनुपपन्न है ।
दुःखाश्रयीभूत जीव में तादृश कल्याण गुणों को सम्बन्ध कथमपि नहीं हो सकता है ॥३॥

हेत्वन्तरमाह-

ॐ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । १।२।४। ॐ

न शरीर इति पूर्वपदानुषङ्गः । शरीरो मनोमयत्वादिगुणको न भवितुमर्हतिः । कुत ? कर्मकर्तृव्यपदेशात् । “एतमितः प्रेत्याभि सम्भवितास्मि” [छा० ३।१४।४।] इतिप्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं परमात्मानं प्राप्यत्वेन कर्मत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्युपासकं जीवं कर्तृत्वेन व्यपदिशति । अतः प्राप्ता जीव उपासकः प्राप्यं ब्रह्मोपास्यं न च सत्यां गतावेकस्यैव कर्मकर्तृव्यपदेशो युज्यते । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदा-

शरीरो जीवो न मनोमयत्वादिगुणकस्तत्र परमात्मप्राप्तिक्रियायां जीवस्य कर्तृत्वं दिशति शास्त्रं परमात्मनस्तु कर्मत्वं नहि एकस्यां क्रियायामेकः कर्म कर्त्ता च भवति परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वस्य कर्मत्वात् क्रियायां स्वतन्त्रस्य कर्तृत्वादतो न जीवो मनोमयत्वादिगुणकोपितु स उपासकः परमेश्वरश्चोपास्यः प्राप्यश्चेति न संभवति यथोक्तगुणवानित्यावेदयितुमुपक्रमते हेत्वन्तरमाहेति । मनोमयत्वादिगुणानां जीवेऽनुपपत्तौ कारणान्तरमाहेत्यर्थः । स च कर्मकर्तृव्यपदेशरूपः । अवधारणार्थकस्तुशब्दः । पूर्वसूत्रेण न शरीर इत्यस्यानुकर्षः । जीवो न मनोमयत्वगुणकः कर्मकर्तृव्यपदेशात् । जीवे परस्मिन् कर्मकर्तृव्यपदेशो विद्यते तस्मान्मनोमयगुणको

मनोमयत्वादि गुणक परमात्मा ही है जीव नहीं । इसमें हेत्वन्तर को सूत्रकार बतलाते हैं “कर्मकर्तृव्यपदेशेति सूत्रम्” “नशरीर” इसका अनुवर्तन पूर्वसूत्र से किया जाता है । शरीर जो जीव वह मनोमयत्वादि गुणवाला नहीं हो सकता है । क्योंकि कर्म कर्तृका व्यपदेश है । “एवमितः” इस श्रुति में प्रकृत मनोमयत्व गुणक उपास्य परमात्मा को प्राप्य होने से कर्म रूप से कथन किया गया है । तादृश परमात्मा को प्राप्त करूंगा । इसप्रकार से उपासक जीव का कर्त्तारूप से कथन किया गया है । अतः प्राप्ता जीव उपासक है । और प्राप्य जीव से उपास्य हैं । यदि निर्वाह रहे तो एक क्रिया में एक ही कर्त्ता तथा कर्म हो ऐसा मानना ठीक नहीं है । एवं उपास्य उपासक भाव भी भेद घटित ही

धिष्ठान एवेति न शारीरो मनोमयत्वादिगुणकः । श्रुत्यर्थस्तु—प्राग्बध्
कर्मावसाने मुमुक्षुहं शरीरपातादूर्ध्वं प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमेतं
परमात्मानमभिसंभवितास्मि प्राप्तास्मीति ॥४॥

५ शब्दविशेषात् ॥१॥२॥५॥ ५

इतोऽपि मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा शारीराज्जीवात्म-
नोऽन्यः कस्मात्? शब्दविशेषात् 'एष म आत्मान्तर्हृदये' [छा० ३।१४।
३] इत्यत्र षष्ठ्या शारीरो निर्दिष्टः प्रथमया परमात्मा । भिन्न
विभक्तिनिर्देशेन तयोर्भेदः स्पष्ट एव । तथा समानप्रकरणे वाजिनां
श्रुतौ शब्दविशेषः श्रूयते जीवपरयोः । 'ब्रीहिर्वा यवोवा श्यामाको
जीवो न भवतीत्यर्थः । हेतुं विस्पष्टयति एवमितः प्रेत्येत्यादि [इतोमत्वा परमात्मानं
प्राप्स्यामीति श्रुत्यर्थः] अत्र प्राप्तिक्रियायाः कर्मोपास्यं ब्रह्म तत् क्रियायाः कर्ता-
जीवोऽव्यपदिष्टो भवति । एकस्यां क्रियायामेकः कर्त्ता कर्म च न भवति । तस्मान्म-
नोमयत्वादिगुणकः पर एव नतु जीव इतिसंक्षेपः ॥४॥

इतश्च मनोमयत्वादिगुणकः परमात्माशारीराज्जीवादिभिद्यते यतः तदुभययोर्वाचक
शब्दस्य परस्परं भेदात् शब्दबुद्ध्यादिभेदे वस्तुनो भेदस्यावश्यभावात् । उदाह्रियमाण
होता है जो उपास्य है वही उपासक होगा ऐसा तो नहीं देखने में आता है । अतः
शारीरक जीव वह मनोमयत्वादि गुणवाला नहीं है । किन्तु परमात्मा ही तादृश गुणवान्
है यह सिद्ध होता है । उपर्युक्त श्रुति का यह अर्थ होता है प्राग्बध् कर्म का भोग
से समाप्त हो जाने पर इस शरीर के पतन के बाद में मुमुक्षु में प्रक्रान्त मनोमयत्वादि
गुण विशिष्ट इस परमात्मा को प्राप्त करनेवाला हूँ ॥४॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा
शारीर जीव से भिन्न है क्योंकि शब्द में विशेषता पार्थक्य है । शब्द भेद का विवरण
करते हैं "एष मे" इत्यादि । इस श्रुतिस्थ षष्ठी विभक्त्यन्त अस्मत् शब्द से शारीर का
निर्देश होता है और प्रथमान्त एतत् शब्द से परमात्मा का निर्देश है । तो भिन्न-
भिन्न विभक्ति के निर्देश होने से परमात्मा तथा शारीर में भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत

वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा
ज्योतिरधूमम्' [शतपथ ब्राह्मण १।६।३] इति । अन्तरात्मन्निति
सप्तमी प्रकृतिकेन शारीरो निर्दिष्टः पुरुषो हिरण्मय इति प्रथमान्ते
नोपास्यः परः । अतस्तयोर्भेदप्रत्यायकशब्दविशेषान्मनोमयत्वादि
गुणकः परः शारीरादन्य इति ॥५॥

इतश्च शारीराद्भिन्नः—

ॐ स्मृतेश्च । १।२।६। ॐ

“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देर्ऽर्जुन ? तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥गी० १८।६१॥

श्रुतौ प्रथमान्तः पुरुषशब्दः परमात्मवाचकः शारीरस्य तु अन्तरात्मन्निति सप्तमी
प्रकृतिक इति तस्मादुभयोर्भेद इति सर्वं दर्शयितुमाह इतोपिमनोमयत्वादिक इत्यादि ॥५॥

न केवलां पूर्वोक्तयुक्तिभिर्जीवपरेशयोर्भेदोऽपितु स्मृतिभिरपितयोस्तथात्वं
सिद्ध्यत्येतद्वोधयितुमाह इतश्चशारीराद्भिन्नः इति । अत्र परमात्मेति पदं योजनीयम् ।
जीवाद्भिन्नः परमात्मा स्मृतेरिति हेतुः । स्मृतयश्च ईश्वरः सर्वभूतानामित्यादिका
होता है तथा समान प्रकरणक वाजि श्रुति में जीव परमात्मा का बोधक शब्द विशेष
देखने में आता है । “व्रीहिर्वा यवोवा” इत्यादि । यहाँ अन्तरात्मन् इस सप्तमी विभक्ति
प्रकृतिक शब्द शारीर का बोधक है । एवं ‘पुरुषो हिरण्मयः’ इस प्रथमान्त पुरुष शब्द से
उपास्य परमेश्वर का बोध होता है । इसलिए जीव परमेश्वर का भेद बोधक शब्द के भेद
होने से मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट परमेश्वर शारीर जीव से भिन्न हैं ऐसा सिद्ध होता है । ५।

वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि जीव से भिन्न परमात्मा स्मृति से अर्थात् “ईश्वरः
सर्वभूतानाम्” इत्यादि स्मृति से सिद्ध होता है कि जीव से परमात्मा भिन्न हैं । स्मृति को
बतलाते हैं “ईश्वर” इत्यादि । [हे अर्जुन ? सभी प्राणीयों के हृदय प्रदेश में अवस्थित
परमात्मा सबको घुमाते हैं मदारी की तरह ।] “हे भारत ! उसी परमात्मा के शरण में
जाओ जो मुझको सर्वत्र व्याप्त जानता है” मुझमें यह सब पदार्थ ओतप्रोत है” मैं सबके
हृदय प्रदेश में रहता हूँ मुझसे स्मृत्यादिक होता है” इत्यादिक स्मृति जीव परेश में भेद
साधक है । चकार से वक्ष्यमाण श्रुतियों का भी संग्रह होता है ‘ज्ञ अज्ञ ईशानीश दोनों

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ? ।

‘यो मां पश्यति सर्वत्र’ ‘मयि सर्वमिदं प्रोतम्’

‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च’
[गी० १५।१५।] इत्यादयः स्मृतयः । चकारात्—‘ज्ञाज्ञौ द्वावजावी-
शानीशौ’ ‘प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः’ [श्वे० ६।१६।] ‘नित्यो नित्यानां
चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्’ (श्वे० ६।१३)
‘पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति’ [श्वे० १,
६।] इत्यादयः श्रुतयोऽप्युपासकत्वेन जीवमुपास्यतया परमात्मान
मुपदिशन्ति । अतो जीवादन्त्यः परमात्मेति ।

भाष्यकारेण स्वयमेव प्रतिपादिता यथाक्रमं योजयितव्याः । सूत्रस्थश्चकारो
ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ इत्याद्यनेकश्रुतिमप्युपलक्षयति । अयं जीवपरयोर्भेदः पारमार्थिकः
स चात्र सूत्रकारसंमतः श्रुत्याद्यनुमोदितश्चेति । परमात्मैवोपाधिवलाजजीवभावं
अज है ‘प्रधान क्षेत्रज्ञपति गुणेशः’ जो नित्यों में भी नित्य है चेतनों में भी चेतन है ।
जो एक होकर के भी अनेक व्यक्तियों को अभिलषित वस्तु के दाता हैं ‘स्वभिन्न प्रेरयिता
है’ इत्यादिक श्रुति समुदाय उपासक रूप से जीव को तथा उपास्य रूप से जीवेश को
बतलाते हैं । इस तरह इस द्वितीयपाद में भगवान् सूत्रकार ने चार सूत्रों से जीव परमेश्वर
में भेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है । यह जीव परमेश्वर का भेद श्रुति स्मृतियों
में परम प्रसिद्धि को प्राप्त किया है । पदवाक्य प्रमाण निष्णात प्रत्यक्षादि प्रमाण प्राप्त मर्यादावान्
से अवश्य आदरणीय है ।

देह इन्द्रियादि उपाधि से परिच्छिन्न परमात्मा ही जीवभाव को प्राप्त करते हैं ।
जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है । “नान्योतोद्वष्टा” इत्यादि श्रुति कहती है उपाधि परि-
च्छिन्नांश को जीव कहते हैं । जिस तरह घटकरकादि लक्षण उपाधि के बल से अपरिच्छिन्न
भी आकाश परिच्छिन्नवत् अवभासित होता है । इसी प्रकार से औपाधिक भेद को लेकर
के कर्मकर्तृत्वादिक सब व्यवहार होता है । तब तक जब तक “तत्त्वमसीत्यादि” वाक्य से
आत्मैकत्व ग्रहण नहीं होता है । और जब आत्मैकत्व का उपदेश हुवा तब आबिष्टक सर्व
प्रपंच की निवृत्ति हो जाती है । इस प्रकार से स्वकीय निर्विशेष ब्रह्मवाद पक्ष के आवेश से
किसी ने जो कहा है वह समीचीन न्यायवेत्ता लोगों से सर्वथा उपेक्षणीय है ।

एवमत्रास्मिन्दितीये पादे भगवता सूत्रकारेण जीवपस्यो-
र्भेदश्चतुभिः सूत्रैः स्पष्टतयाऽभिहितः । अयञ्च भेदः श्रुतिस्मृतिषु
परमप्रसिद्धिमापन्नः पदवाक्यमाननिष्णातैरधिगतप्रत्यक्षादिप्रमाणम-
र्यादैरवश्यमेवाद्वियते ।

यत्तु पर एव त्वात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्य
मानोबालैः शारीरइत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छि-
न्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते । तथैवौपाधिकभेदमादाय
कर्मकर्तृत्वव्यवहारः प्राक् तत्त्वमसीत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् ।
गृहीते त्वात्मैकत्वे सर्वप्रपञ्चव्यावृत्तिरिति स्वपक्षावेशवशादुक्तम्,
तत्समीचीनन्यायविद्विरनादरणीयम् । सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिगुण
वतोऽनन्ताप्रतिहतज्ञानस्वरूपस्य स्वतन्त्रस्य परब्रह्मणोऽविद्याकल्पि
तोपाधियोगासम्भवात् ।

भजते यथा घटाद्युपाधिभिः परिवृत्तआकाशपरिच्छिन्नतां प्राप्नोति । एतादृशौपा-
धिकं रूपं परित्यजति विद्यावशात्कालान्तरे घटनाशे तदवच्छिन्नाकाशवदिति तन्मत
मुपपाद्यखण्डयितुमुपक्रमते यत्तु-तथाहि इत्यादि । उपाधेर्व्यापकत्वे तदुपहितस्य परमात्मनः
क्योंकि जिस परमात्मा की कृपा से सभी व्यक्ति स्वाभिप्रेत वस्तु को प्राप्त करते हैं ।
एतादृश सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित अनन्त अप्रतिहत ज्ञान स्वरूप सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रकाशलक्षण
परमात्मा में तमः स्वरूप अज्ञानात्मक उपाधि का संपर्क अयुक्त है । प्रकाश तथा तम
का सहभाव अत्यन्त असंभवित है । तथाहि परमात्मा ही उपाधि बल से जीवभाव को प्राप्त
करता है । यहाँ जो उपाधि अज्ञान है वह व्यापक है अथवा मध्यम परिमाणवान् है अथवा
अणुपरिमाणक है ? इसमें विभुत्व पक्ष तो ठीक नहीं है । क्योंकि व्यापक परिमाणवान्
उपाधि से परमात्मा के आवृत्त होने से जगत् में अन्धत्व दोष आ जाता है । और सर्वथा
तम लक्षण अज्ञान से आवृत्त होने से कोई प्रकाशक नहीं है । तब तो गत्यादि सर्वव्यवहार
का विलोप हो जायगा एवं सुक्तोपसृप्यत्व भी नहीं होगा । इन सब दोषों का परिहार
नहीं होता है । मध्यम परिमाणवत्त्व रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि आपका
सिद्धान्त है कि उपाधि के अणुत्व प्रयुक्त जीव में अणुत्व है इस सिद्धान्त का बाध हो
जाता है । एवम् आत्मा में चाक्षुषत्वापत्ति भी होगी । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है ।

तथाहि-परमात्मैवोपाधिवशाज्जीवत्वमुपगत इत्यत्रोपाधीनां विभुत्वं मध्यमपरिमाणत्वमणुत्वं वेति ? नाद्यः । सर्वस्यावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गात् प्रकाशकाभावेन गत्याद्यनुपपत्तेश्च । मुक्तोप-सृत्यभावप्रसङ्गश्च दुष्परिहरः । न द्वितीयः । उपाध्यणुत्वनिरूपित जीवाणुत्वस्य स्वकीयसिद्धान्तस्य बाधात् चाक्षुषत्वापत्तेश्च । नापि तृतीयः । उपाधिगमने तदवच्छिन्नाद्वितीयचिन्मात्रस्यात्मनः सर्व गतत्वेन घटगमने तदवच्छिन्नाकाशस्य गतेरभावादुपाधिना सह गमनाभावात् । क्षणे-क्षणे बन्धमोक्षौ च स्याताम् । अनाद्युपाध्य वच्छिन्नस्य साधनाभावेऽपि मुक्तिप्रसङ्गात् । निर्विशेषचिन्मात्रस्य तस्याकस्मिकबन्धप्रसक्तेश्च । एवमेव ब्रह्मविषयकजिज्ञासाचार्योप-सत्तिशास्त्रारम्भादिसाधनानां वैयाख्यापत्तिः ।

सर्वदा सर्वथाऽवृतत्वेन प्रकाशांशस्याप्यावृतत्वेन सर्वव्यवहारविलोपः प्रसज्येत । प्रकाशांशविहोयावृतत्वस्वीकारे परिभाषामात्रं तत् स्यात् । किञ्चोपाधेः सत्यत्वं क्योकि उपाधि के गमन होने से तादृशोपाध्यवच्छिन्न अद्वितीय चिन्मात्र स्वरूप आत्मा के सर्व व्यापक होने से उपाधि के साथ गमन असंभवित है । जिस तरह घटादि के चलने पर तदवच्छिन्न व्यापक गगन का गमन नहीं होता है । तदुक्तं “घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे । घटो गच्छति नाकाशं तद्वज्जीवोनभोपम” इति । और प्रत्येक क्षण में बन्धमोक्ष की भी आपत्ति होगी । एवं अनादि से अवच्छिन्न आत्मा को कारणाभाव रहने पर भी मोक्ष हो जायगा और निर्विशेष चैतन्यमात्र लक्षण आत्मा को आकस्मिक बन्धन भी हो जायगा । इसी तरह ब्रह्म जिज्ञासा, आचार्य समीप में गमन तथा शास्त्रारम्भादि साधन भी निरर्थक हो जायगा । इसलिए उक्तमत समीचीन नहीं है ।

और भी परिच्छेद लक्षण जो उपाधि अज्ञान है वह सत्य है अथवा मिथ्या ? इसमें सत्यता पक्ष ठीक नहीं है । क्योकि ब्रह्म व्यतिरिक्त सत्य पदार्थ के होने से द्वैतापत्ति होगी और सत्य पदार्थ में ज्ञान बाध्यत्व लक्षण मिथ्यात्व का अभाव होने में अनिमोक्षापत्ति भी होगी । द्वितीय मिथ्यात्व पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योकि अनुपपन्न है । अर्थात् स्वप्न-

किञ्च परिच्छेदस्योपाधेः सत्यत्वं मिथ्यात्वं वा ? नाद्यः । तस्य द्वितीयत्वेनाद्वैतसिद्धान्तभङ्गात् । सत्यस्य च ज्ञानबाध्यत्वाभावेना-
निर्मोक्षप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः । अनुपपन्नत्वात् । नहि स्वप्न-
निगडेन जाग्रदशायां बन्धो दृष्टचरः । तस्माच्छ्रुतियुक्तिविरुद्धत्वा-
दुपाधिपरिकल्पितो जीव इति मतमनुपादेयमेव ॥६॥

५ अर्भकौकस्त्वात्तदव्यपदेशाच्चेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १ । २ । ७ । ५

अर्भकमत्यल्पकमोको नीडं स्थानं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्
'एष म आत्मान्तर्हृदये' [छा० ३।१।४।३।] इत्यणीयसि हृदयायतने
मिथ्यात्वं वा ? आद्ये सिद्धान्तभङ्गः । द्वितीये सर्वसत्यत्वे मूलक्षतिरित्यादिको दोषो-
दुरुद्धर इति विशेषविचारो निरर्थक इति सर्वथैव तन्मतमनादरणीयमिति दिक् ॥६॥

हृदयायतनत्वात् प्रकृतप्रकरणे जीव एवोपास्यो न तु परमेश्वरः । यतस्तस्य-
व्यापकत्वादिति शङ्कां समाधातुं शङ्कानुवादपूर्वकमाह अर्भकमत्यल्पम् इत्यादि ।
कालिक बन्ध से जाग्रत् काल में बन्ध उपलब्ध नहीं होता है । तस्मात् श्रुति युक्ति
विरोध होने से उपाधि कल्पित जीव है यह कथन सर्वथैव अनुपादेय है । जिस तरह भ्रान्ति
परिकल्पित सर्प का "छोटा है बड़ा है" इत्यादि परिमाण चिन्तन निरर्थक है । उसी तरह
अनिर्वचनीय अज्ञान लक्षण उपाधि में विमुक्तादिक का चिन्तन तद्विषय प्रश्नोत्तरादिक सर्वथा
अनुचित है । एवं ज्ञानतो ज्ञापक हेतु है कारक नहीं है । तब ज्ञान द्वारा त्रिवि निषेध का
चिन्तन भी सर्वथा अनुचित है । अतः पर परिकल्पित पक्ष ठीक नहीं है ॥६॥

अर्भक अर्थात् अल्प ओकस स्थान है जिसका उसको कहते हैं अर्भकौकस उसका
जो भाव उससे "यह मेरी आत्मा अन्त हृदयमें है" इस प्रकार अत्यल्प हृदयरूप आयतन
में स्थित होने से । तथा "ब्रीहि से तथा जौ से भी छोटा है" इस श्रुति से स्वरूप से
भी अल्प परिमाणवत्त्व का व्यपदेश है । अतः शरीर जो जीव वही उपास्य है । ऐसा निश्चित

स्थितत्वात् । ‘अणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्वा’ [छा० ३।१।४।३।] इतिस्व
 रूपेणाणीयस्त्वस्य व्यपदेशात् । शारीरो जीव एवात्रोपास्यतया
 निश्चीयते । तस्यान्यत्राग्नमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः’ इत्यादावल्पी
 यस्त्वश्रवणात् न परमात्मा तस्य सर्वगतत्वेनापरिच्छिन्नत्वादिति
 चेन्न । निचाय्यत्वादेवम् । एवं स्वल्पपरिमाणहृदयस्थत्वेन निचाय्य
 त्वादुपास्यत्वात्परस्यात्मनस्तथात्वं व्यपदिश्यते । न पुनरणीयस्त्व-
 मेवास्य स्वरूपम् । सर्वगतस्यापि कयाचिदपेक्षया परिच्छिन्नत्वं
 व्यपदिश्यते । अत्र दृष्टान्तः व्योमवच्चेति । यथा सर्वगतमपि
 व्योमाल्पपरिमाणैकः सूचीपाशापेक्षयाव्यपदिश्यते । यथा चाखि-
 ललोकाधिपतेरयोध्याधिपतित्वेन व्यपदेशश्चक्रवर्तिकुलेवतीर्णस्य
 भगवतः श्रीरामस्योपपद्यते । एवमपरिच्छिन्नस्यापि परस्योपास-
 नार्थमल्पत्वव्यपदेशः । न चैतावताल्पप्रमाणापत्तिः ‘ज्यायान्पृथिव्या

एष मे आत्माऽर्तहृदये अणीयान् वा इत्यादिश्रुत्याऽणीयस्त्वव्यपदेशाज्जीवोपास्योनतु
 पर इति चेन्न, उपास्यत्वात्परमेश्वरस्य तथा कथनात् । व्यापकोपि परमेश्वरः
 परिच्छिन्नदेशस्थतया समुपास्यमानो भक्तेभ्यः प्रसीदति । व्यापकस्तु अपेक्षा
 विशेषात् कदाचित् परिच्छिन्नवद् भवति । नतु व्याप्योव्यापको भवति । यथा
 होता है । इस जीव के विषय में अन्यत्र भी “आराग्रमात्र” इत्यादि स्थल में परिच्छिन्नत्व
 का श्रवण होने से जीव ही उपास्य है । परमात्मा नहीं क्योंकि परमात्मा तो सर्वगत होने
 से परिच्छिन्न नहीं है । उत्तर—निचाय्यत्वात् । स्वल्पपरिमाणक हृदय में अवस्थित होकर
 के उपास्य होने से परमात्मा परिच्छिन्नत्व का व्यवहार होता है । नतु वास्तविक अणीय-
 स्त्व ही परमात्मा का स्वरूप है । सर्वगत भी वस्तु अपेक्षा विशेष से सद्रूपेण व्यवहियमाण
 होता है । इसमें दृष्टान्त होता है आकाश जिस तरह आकाश सर्वव्यापक होने पर भी
 प्रासादापेक्षया अल्पपरिमाणक कहलाता है । यथावा समस्त लोकाधिपति चक्रवर्ती कुलोत्पन्न
 भगवान् श्रीरामजी अयोध्यापति कहलाते हैं । इसी तरह सर्व व्यापक परमात्मा का उपास
 नार्थ परिच्छिन्नत्व व्यवहार होता है । एतावता अल्प प्रमाणता की आपत्ति नहीं होती है ।

ज्यायानन्तरिक्षा' दित्यादिना ब्रह्मणो महत्त्वाभिधानात् ।

एतदुक्तम्भवति-सर्वगतोऽपीश्वरो हृदयपुण्डरीके परिच्छिन्न रूपोऽध्यानयोगादुपास्यमानः प्रसीदतीति ॥७॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । १।२।८।

हृदयमनः प्राणेषु जीवपरमात्मस्थित्यभ्युपगमे जीवस्येवशरीर सम्बन्धप्रयुक्तसुखदुःखभोगावाप्तिः परमात्मनोऽपि प्रसज्येतेति चेन्न जीवपरयोर्वैशेष्यात् स्वार्थेष्यञ् । स्वतन्त्रपरतन्त्रज्ञानाश्रया-ज्ञानाश्रयत्वादिरूपेणोभयोर्विशेषवत्त्वात् । नहि शरीरान्तर्वर्तित्वं सुख समस्तपृथिवीपतिरपि श्रीसाकेताधिपतिरिति गीयते । तथैवात्रव्योमवदिति । यथा आकाशः सर्वगतोऽप्युपाशनाद्युपाधिवशात् परिच्छिन्नवद्भवतीति संक्षेपः ॥७॥

ननु गगनादिवत् सर्वव्यापकस्य परमात्मनः प्राणिमात्रहृदयसम्बन्धविद्यमानतया चेतनरूपतया च यथा जीवस्य दुःखाद्युपभोगः स्यात् यथा जीवः सुखाद्यधिकरणतावच्छेदके विद्यमानः सुखादिकं भुनक्ति तथैव शरीरे विद्यमानस्य परमेश्वरस्यापि सुखादिप्राप्तिः स्यात् ततश्च सर्वजीवशरीरान्तः प्रविष्टत्वाद्नेकविध सुखदुःखादिमत्त्वे संसारीणमपेक्ष्याप्यनेकदुःखबाधं प्रसज्येतेति महद्दुःखत्वम् इत्याशङ्कां शुभाशुभकर्मवत्त्वतद्रहितत्वं विशेषान्न जैवेनदुःखेनदुःखवत्त्वंपरस्येति दर्शयितुमाह क्योकि "ज्यायान् पृथिव्याः" इत्यादि से स्वाभाविक महत्त्व का प्रतिपादन किया है । इसमें यह कहा जाता है कि परमात्मा यद्यपि सर्वगत है । तथापि हृदय प्रदेश में ध्यान योग से उपास्यमान होने से उपासक के ऊपर प्रसन्न होते हैं ॥७॥

इसके पूर्व में परमात्मा का सद्भाव हृदय मन प्राणों में कहा गया है । इसमें पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि यदि हृदय मन प्राणों में जीव तथा परमात्मा की स्थिति मानते हैं तब तो हृदयादिक में अवस्थित रहने से जैसे जीवात्मा को शरीर सम्बन्ध प्रयुक्त सुखदुःखादिक का उपभोग होता है । उसी तरह परमात्मा को भी सुखदुःखादिक का उपभोग होना चाहिए ? इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं "वैशेष्यात्" जीववत् शरीरावस्थित परमेश्वर में दुःखाद्यनुभव प्रसङ्ग होने पर भी दोनों में विशेषता है वैशेष्यात् यहाँ स्वार्थिक प्यञ् प्रत्यय है । भावार्थिक प्रत्यय नहीं है ।

दुःखोपभोगहेतुः । शुभाशुभकर्मपास्वस्थतायास्तद्धेतुत्वेनाभ्युपगमस्य सर्वसम्मतत्वात् । एवं स्थिते 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति-अनश्नन्नन्यो-ऽभिचाकशीति' श्रुतिजीवस्य पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वेन सुखदुःखोप-भोगमपहतपाप्मनः परमात्मनस्तन्निवृत्तिञ्चाभिधत्ते ।

“तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ [वि० पु०]

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । [गी०]

हृदयमनः प्राणेषु इत्यादिभाष्यम् । जीवस्य कर्मवशत्वात्सुखाद्युपभोगो भवति परस्य तदभावात् न तथात्वमिति । अयंभावः समवायेन सुखोत्पत्तिं प्रतिसमवायिकारणं चेतनो जीवः, असमवायिकारणं संयोगः, निमित्तकारणं च शुभाशुभादृष्टम् । तथा-ऽवच्छेदकता सम्बन्धेन भोगायतनं शरीरं तदपि पाश्चर्भौतिकम् । एतादृशकारण सामग्रीतोदुःखादिकार्यमुत्पद्यते इतिस्थितिः । एतेषां सत्त्वे जीवे सुखदुःखादिकं जायते । परन्तु परमात्मनि तदुत्पत्तौ चेतनत्वात्समवायिकारणसद्भावेपि तदितर-कारणात्मकसंयोगादृष्टपाञ्चर्भौतिकशरीरलक्षणकारणसमुदायस्याभावात् परमात्मनि

जीवेश्वर में विशेषता को बतलाते हैं “स्वतन्त्र परतन्त्रोत्थादि” स्वाधीनत्व पराधीनत्व ज्ञानाश्रयत्व अज्ञानाश्रयत्वादि लक्षण विशेषता परेश तथा जीव में है । पूर्वपक्ष हुआ था कि शरीरावस्थित होने से जीववत् परेश में भी भोग प्राप्ति होनी चाहिए और उत्तर दिया कि स्वाधीनत्व पराधीनत्व लक्षण विदेषता है । यह उत्तर तो असम्बद्ध ज्ञात होता है । इसके समाधान करने के लिए भाष्यकार कहते हैं “नहि शरीरान्तर्वर्तित्वमित्यादि” सुखादिक के उपभोग में शरीराभ्यन्तरवर्तित्व को प्रयोजकता नहीं है । अर्थात् शरीरके अन्दर में रहता है इसलिए सुखादि का उपभोक्ता है यह नियम नहीं है किन्तु शुभाशुभकर्म जो है वह तादृशोपभोग में कारण है । यह नियम सर्व संमत है । तो प्रकृत में सुखाद्युपभोग का निमित्त कारण जो कर्म है तदभावात् परमेश्वर में सुखोपभोग नहीं होता है । कार्यमात्र के प्रति समवायिकारण असमवायिकारण निमित्तकारण का समवधानजनक होता है । जीव में यह तीनों कारण है । परमेश्वर में अन्तिम दो कारण नहीं हैं इसलिए परमेश्वर में तदापत्ति नहीं होती है । अतएव “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति” इत्यादिक श्रुति जीव को

इत्यादिस्मृतयोऽपि तस्यात्यन्तवैशेष्यं ब्रुवते । तस्माज्जीव
स्यैव सम्भोगप्राप्तिर्न परमात्मन इत्यतो मनोमयः प्राणशरीरः परमात्मौ
वेति सिद्धम् ॥८॥

॥ इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥

॥ अथासाधिकरणम् ॥२॥ ॥

पूर्वाधिकरणेन 'सर्वे खल्विदं ब्रह्मे' त्यादिश्रुतीनां समन्वयं
ब्रह्मणि प्रदर्श्य तस्य कर्मजन्यसुखदुःखोपभोगाभावोऽपि दर्शितः ।

दुःखादिसमुद्भवस्यसंभावनैव नास्तीत्येव रमणीयः पन्थाः । यदि शरीरे
परमात्मनः सद्भावात् सुखाद्युत्पत्तिः शङ्क्येत तदा तत्र तदितरानेकव्यापकपदार्थस्य
देशकालाकाशस्य सद्भावात्तेष्वपि तत्प्रसङ्गादित्यधिकं विशेषस्त्वन्यत्रेति संक्षेपः ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीये सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रमित्यादौ ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितसमस्तजगतोऽत्ताकश्चित् प्रतीयते ।
तत्र किं जीवोऽत्ता अग्निर्वा परमात्मावेति संशयः संशयहेतोर्विशेषानवधारणस्य
पुण्यपापलक्षण कर्माधीन होने से सुखादि के उपभोग को कलाली है तथा अपहृत
पात्मा परमात्मा में प्राकृतिक सुखाद्युपभोग निवृत्ति का प्रतिपादन करती है ।
"जीव ईश्वर के बीच जो परमात्मा है वह नित्य तथा निर्गुण है । वह पाप-
पुण्य के फलों से छिन्न नहीं है । जिस तरह कमल पत्र जल से छिन्न नहीं होता है ।
[वि० पु०] "मुझ परमेश्वर में कर्मफल का लेप नहीं होता है । नवा मुझको कर्मफल में
स्पृहा है" [गीता] इत्यादि स्मृति भी जीवापेक्षया आत्यन्तिक वैलक्षण्य का परमेश्वर में
प्रतिपादन करती है । इसलिए जीव को ही संभोग प्राप्ति होती है । परमात्मा को नहीं होती
है । अतः मनोमय प्राण शरीर परमेश्वर ही है यह सिद्ध होता है ॥८॥

इति आनन्दभाष्यसिंहासनासीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ।

पूर्व सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण से 'सर्वे खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति का परमात्मा में समन्वय
को बतलाकरके परमात्मा में शुभाशुभ कर्म जनित प्राकृत सुखदुःखोपभोग के अभावका भी
प्रतिपादन किया गया । इसके बाद अब 'यस्य ब्रह्म च' इत्यादि श्रुति का भी समन्वय पर-

इदानीं 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोमे भवत' इत्यादिश्रुतीनां समन्वयं तस्मिन्नेव ब्रह्मणि दर्शयंस्तस्य चराचरात्तत्वासंभवरूपां शङ्कां निराकरोति-

५ अत्ता चराचरग्रहणात् । १।२।९। ५

अथ कठवल्लीष्वेवाम्नायते 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोमे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' [काठ० १।२।२५] इत्यत्रौदनोपसेचनसूतितः कश्चिदत्ता प्रतीयते । स किमग्निः किं वा जीव उत परमात्मेति संशयः । विशेषानवधारणात् त्रयाणामपि संशयविषयत्वादिति । कियुक्तम् ? अग्निस्तावदत्तास्यात् 'अग्निन्नाद' इति श्रुतेः । ब्रह्मक्षत्रादिदहनसामर्थ्यप्रसिद्धेश्च । जीवोवात्तास्यात् । विद्यमानत्वादिति । तत्र श्रुत्यालोकप्रसिद्ध्या च वह्निः । अथवा जीवः, भोक्तृत्वात् अदनीयस्यभोग्यत्वात् । परन्तु न तथा अनश्नन् इत्यादिना तस्य तत्प्रतिषेदान् । तस्माज्जीव एव भोक्तृतेति प्रश्नः । उत्तरं चराचरग्रहणात् समस्तविकारस्य प्रलय काले संहरणात् परमात्मैव सर्वस्यात्ता नहि परमात्माभिन्नः कश्चिदत्तासंभवति मात्मा मे ही होता हैं किन्तु अग्नि जीव में समन्वय नहीं होता है इस बात को बतलाते हुए परमात्मा में चराचर भोक्तृत्व की असंभवाशंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'अत्तेत्यादि' कठोपनिषद् में कहा है 'ब्राह्मणक्षत्रियोपलक्षित समस्त जगत् जिसका ओदन स्थानापन्न है और सर्वभारक यमराज शक दाढ के स्थानापन्न है । एतादृश महामहिमशाली परमात्मा को कौन जान सकता है । जो तादृश सर्वशक्तिमान् कहा है' इस श्रुति में ओदन उपसेचन से सूचित कोई खाने वाला प्रतीयमान होता है । वह तादृश अत्ता अग्नि है । अथवा जीव है । अथवा सर्व जगत् का कारण भगवान् परमेश्वर हैं । ऐसा संशय होता है । क्योंकि एक किसी पक्ष का निर्णायक प्रमाण नहीं होने से यह तीनों ही संशय के विषय होते हैं । तो इसमें क्या युक्त है ? इसमें अग्नि को सर्व अत्ता होना चाहिए । क्योंकि 'अग्नि अन्नाद है' ऐसा श्रुति कहती है । और पदार्थ मात्र का दाहक शक्तिमान् अग्नि है । ऐसा लोक में प्रसिद्ध भी है । अथवा जीव अत्ता हो सकता है । क्योंकि जीव में कर्म

तस्य हि कर्मनिमित्तकभोक्तृत्वप्रसिद्धिः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
[मु० ३।१।१] इतिदर्शनात् । परमात्मनस्तु अनश्नन्नन्योऽभिचा-
कशीतीति तत्रैव निषेधादिति प्राप्ते ब्रूमः ।

अत्रात्ता खलु परमात्मा भवितुर्महति । कुतः ? चराचरग्रहणात् ।
कृत्स्नस्य चराचरस्यात्तृत्वं तस्यैव सम्भवति । ब्रह्म च क्षत्रञ्चेति
कृत्स्नं जगच्चराचरात्मकमिहादनीयत्वेन गृह्यते । उपसेचनं मृत्यु-
रूपसेवनं स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुर्भवतीति प्रसिद्धम् ।
तस्मादुपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य सर्वस्य
चराचरस्य जगत् ओदनत्वमत्रविवक्षितम् । तादृशस्याद्यस्यात्ता
परमात्मनोऽन्यो न सम्भवति । परमात्मा तु ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं चरा-
चरात्मकं जगत्संहरन् सर्वमत्तीति तस्यैवात्तृत्वमुपपद्यते । 'अनश्न-
चराचरग्रहणात् , इत्यावेदयितुमुपक्रमते पूर्वाधिकरणेनेत्यादि । सर्वत्र प्रसिद्धाधिकर-
णेनेत्यर्थः सर्वश्रुतीनां परमात्मन्येव समन्वयं दर्शयित्वा प्राकृतभोगस्यव्यतिरेकमपि
प्रदर्शितवान् । सम्प्रति यस्य ब्रह्म च इत्यादिश्रुतीनां परमात्मनि समन्वयं दर्शयितु-
माह अतोत्यादि । अग्निजीवपरमात्मनः संशयविषयाः । यथायथमग्निजीवावेवप-
जनित भोक्तृत्व की प्रसिद्धि है । 'इन दोनों के मध्य में स्वादु कर्मफल को जीव भोग करता
है ।' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है । परमात्मापक्ष तो नहीं हो सकता है । क्योंकि पर-
मात्मा में कर्मफल का प्रतिषेध उक्त मन्त्र में कहा है । अतः परमात्मा अत्ता नहीं है किन्तु
जीव ही सर्वका अत्ता है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं । प्रकृत में सर्व का अत्ता पर-
मात्मा ही हो सकते हैं । क्योंकि चराचर का ग्रहण है । संपूर्ण चराचर का संहार कर्तृत्वरूप
अतृत्व परमात्मा को ही हो सकता है । क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियादिक संपूर्ण चराचरात्मक
जगत् भक्ष्य रूप से गृहीत होता है । उपसेचन लक्षण मृत्यु स्वयं भक्ष्य होता हुआ अन्य के
अदन में कारण होता है ऐसा प्रसिद्ध है ।

तस्मात् मृत्यु को भी उपसेचन रूप होने से मृत्यु से उपसिच्यमान समस्त चराचर
जगत् में ओदनत्व विवक्षित है । एतादृश अद्यमान जगत् का अत्ता परमात्मा से भिन्न कोई
नहीं हो सकता है । परमात्मा तो ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित चराचर लक्षण जगत् का संहार करता

न्नन्योऽभिचाकशीति' [मु० ३।१।१।] एतद्दर्शनं कर्मणां फल-
भोगस्य प्रतिषेधपरम् सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन
ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात् । सर्वसंहतिरूपभोक्तृत्वेनात्ता परमात्मैव न
चान्य इति ॥१॥

५ प्रकरणाच्च ।१।२।१० ५

एवमपि परमात्मैवात्ता भवितुमर्हति यतस्तस्यैवेदं प्रकरणम्
'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [काठ० १।२।१८।] 'महान्तं विभु-
मात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [का. १।२।२२।] 'नायमात्मा
प्रबचनेन लभ्यो न मेधया' (का० १।२।२३।) इत्यादिषु ब्रह्मैव
रिगृहीतव्याविति पूर्वपक्षः । चराचरग्रहणात् परमात्मैव तथेति सिद्धान्तः । अन्य-
त्सर्वमतिरोहितार्थकमिति संक्षेपः ॥९॥

किञ्च अत्र परमात्मैवात्ता न जीवोऽग्निर्वा यत इदं प्रकरणं परमात्मन एव ।
यतः परमात्मनोज्ञानायैव यमराजेन प्रकरणमुत्थापितम् आसीनोदूरं व्रजति शयानोयाति दूरतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति "तंदुर्दर्शगूढमनुप्रविष्टम्" इत्यादिना परमात्मनः
स्वरूपमेव दर्शितम् । यस्योपासनयाकृतकृत्योभवत्युपासकः । यस्य कृपयैव तं विज्ञाय-
हुआ सब को खाता है । इसलिए परमात्मा में ही अतृत्व है । 'अनश्नन्नन्योऽग्नि' इत्यादि
श्रुति कर्मजनित फल का उपभोग परमात्मा को नहीं होता है इसका प्रतिपादन करती है ।
संपूर्ण वेदान्त में सर्ग स्थिति तथा संहार का कारण रूप से ब्रह्म ही प्रसिद्ध है । तस्मात्
सर्व संहार लक्षण भोक्तृत्व परमात्मा में ही है । किन्तु अग्नि अथवा जीव में नहीं है ।
विशेष अन्यत्र देखें ॥९॥

प्रकारान्तर से भी सिद्ध होता है कि परमात्मा ही अत्ता है । अग्नि अथवा जीव नहीं
है । क्योंकि यह प्रकरण परमात्मा का ही है । 'यह परमात्मा न तो उत्पन्न होते है न वा
मरते हैं' आदि तथा अन्तिम भाव विकार का प्रतिषेध करने से परमात्म स्वरूप का ही
निश्चय किया गया । 'महान् व्यापक इस आत्मा को जान करके उपासक हर्षशोकोपलक्षित

प्रकृतम् । 'क इत्या वेद यत्र सः' (का० १।२।२५) इति तत्प्रसादा-
भावे तस्य दुर्विज्ञानत्वरूपलिङ्गादपीहातृत्वं परमात्मन एवेति ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽत्ताधिकरणम्

५ अथगुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥३॥ ५

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् १।२।११

कठवल्लीषु पूर्ववाक्यानन्तरमेवं पठ्यते 'ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य
लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चा
ग्नयो ये च त्रिणाचिकेता' [का. १।३।११) इति । तत्र संशयः ।
किमत्र गुहां प्रविष्टौ बुद्धिजीवौ । आहोस्विज्जीवपरमात्मानौ ।
कृतार्थोभवति । तस्मात् परमात्मनः प्रकरणमिदमतः परमात्मैवेहात्ता नान्यस्तादृश
इहोपास्यतया विवक्षित इतिदर्शयितुमाह एवमपि परमात्मैवेत्यादि ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽत्ताधिकरणम् ।

ऋतं पिवन्तावित्यत्रबुद्धिजीवयोर्ग्रहणं जीवपरमात्मनोवेति संशयः । तत्र न प्रथम
पक्षः कर्मफलभोगस्य चेतननिष्ठत्वेनाचेतनायां बुद्धौतदसंभवात् । नापिद्वितीयः
संसार का परित्याग करता है 'यह आत्मा प्रवचन से लभ्य नहीं है' इत्यादि स्थल में सर्वत्र
परमात्मा ही प्रकृत है । 'कौन ऐसा है जो इस प्रकार के आत्मा को जानता है' इस तरह
परमात्मा की कृपा के बिना परमात्मा के दुर्विज्ञानत्व रूप लिङ्ग से भी सिद्ध होता है कि पर-
मात्मा में ही अमृतत्व है अन्य में नहीं ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽत्ताधिकरणम्

कठोपनिषत् में पूर्व वाक्य के अनन्तर में कहा गया है कि 'इस शरीर में कर्म जनित
फल का भोग करने वाले हृदयाकाश लक्षण गुहा में प्रविष्ट छाया तथा आतप के समान
परस्पर विलक्षण दो व्यक्ति हैं । इस बात को ब्रह्मज्ञानी पञ्चाग्निक गृहस्थ तथा नाचिकेत
अग्नि के उपासक कहते हैं' । इसमें संशय होता है कि क्या यहाँ गुहा में प्रविष्ट बुद्धि
जीव हैं । अथवा जीव परमात्मा हैं । तो इसमें क्या मानना युक्त है ? 'गुहा में प्रविष्ट

किं युक्तम् ? गुहां प्रविष्टाविति वचनात्सर्वगतस्य परमात्मनोऽपरि-
च्छिन्नत्वेन गुहाप्रवेशासम्भवात् । ऋतं पिबन्तावित्यपि न सम्भव-
त्याप्तकामस्य तस्य कर्मफलभोगेच्छाऽनुपपत्तेः । लोकयन्ते भुज्यन्ते
कर्मफलानीति लोकस्तस्मिन्लोके शरीरे संबन्धासम्भवान्च । किञ्च
जीवात्मा बुद्धेर्भिन्नस्तज्ज्ञानार्थं 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती-
त्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्' (का० १।१।
२०।) इत्येवं प्रश्नदर्शनाद् बुद्धिजीवावेवात्र प्रतिपाद्येते इति प्राप्त
आह "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादिति । गुहां प्रविष्टावृतं
पिबन्तावित्यत्र न बुद्धिजीवौ नवा प्राणजीवावुच्येते । अपितु
जीवपरमात्मानावेव ज्ञेयौ हि यतस्तद्दर्शनात् तयोरेवात्र स्थिति-
श्रवणात् । अस्यामेवोपनिषदि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि-
तिष्ठति । ईशानोभूतमव्यस्य' [का० २।४।१२।] इति स्वभक्तजन-

पक्षः जीवस्य कर्मफलोपभोगसंभवेऽपि परमेष्ट्वरे तदभावात् । इत्याशङ्क्यतन्नि-
रासायाह गुहां प्रविष्टादित्यादि । गुहाप्रविष्टत्वेनाभिमतौ जीवपरमात्मानावेव कुतस्तद्
दर्शनात् । यद्यपि परमेष्ट्वरे ऋतपानं न संभवति तथापि जीवे तस्य संभवेन परत्रा
हे' इस कथन से सर्वव्यापक परमात्मा को अपरिच्छिन्न होने से गुहा में प्रवेश असंभव
है । [जो व्याप्य पदार्थ है उसका किसी स्थल में प्रवेश होता है । जो सर्व व्यापक है
उसका प्रवेश तो सर्वथा असंभवित है ।] और 'ऋतं पिबन्तौ' यह भी परमात्मा में नहीं
हो सकता है । क्योंकि परमात्मा तो आस सर्व काम है । उनको कर्मफल भोग की इच्छा
अनुपपन्न है । कर्मफल का भोग किया जाय जिसमें उसको लोक कहते हैं । अर्थात् शरीर
उस शरीर में परमात्मा का संबन्ध असंभवित है । और भी जीवात्मा बुद्धि से भिन्न है ।
'उस जीवात्मा के ज्ञान के 'मनुष्य को मरने के बाद में संशय होता है कि वह है अथवा
नहीं है । उसमें कोई कहता है कि है कोई कहता है नहीं है । इस बात को मैं आपसे
अनुशिष्ट होकर के जानना चाहता हूँ' इस प्रकार से जीव की सत्ता विषयक प्रश्न देखने
से प्रकृत प्रकरण में बुद्धि जीव ही गुहा प्रविष्टत्व रूप से प्रतिपादित होते हैं । इस प्रश्न के
उत्तर में कहते हैं 'गुहां प्रविष्टावात्मानौहितदर्शनाद्' 'गुहां प्रविष्टौ' तथा 'ऋतं

हृदयगुहायां परमात्मनोऽवस्थानात् । तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति' [का० १।२।१२।] 'यो वेदनिहितं गुहायामित्यादि-भिश्च सर्वगतस्यापि ब्रह्मणो हृदयलक्षणगुहावर्तित्वं श्रुतम् । एवमेव 'या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत' [का० २।१।७।] इत्यादिना जीवस्यापि गुहाप्रवेशो व्यपदिष्टः । कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीवः प्राणेन सम्भवति-इन्द्रियाधीनभोगा । गुहां प्रविश्यतिष्ठन्ती-हृदयपुण्डरीकमध्यवर्तिनी । भूतेभिर्व्यजायत-पृथिव्यादिभूतैस्सहिता देवादिरूपेण बहुधा जायते । इति श्रुत्यर्थः । एवञ्च 'ऋतं पिवन्ताविति' व्यपदेशः छत्रिणो यान्तीतिवत्संगच्छते । कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिञ्चेतने निश्चिते संभवेपि लक्षणया छत्रिणो यान्तीतिवत् तत्संभवात् । अथवा कर्मफलं जीवं पिवति पाययति च परमात्मेति तत्रापि तदुपचर्यते पाययन्नपि पिवतीत्युच्यते । तस्मात् जीव परेशावेव गुहाप्रविष्टत्वेन संभवाविति । एतत्सर्वभाष्यकारेण प्रदर्शितम् स्वभक्तजन हृदयेत्यादि भक्तजनहृदये एव यदि परमात्माऽवस्थितस्तदा तदतिरिक्तजनगुहायामपिवन्ती' इन दोनों स्थलों में बुद्धि जीव विवक्षित नहीं है । नत्रा प्राण जीव कहे जाते हैं । अपितु जीव ही यहाँ ज्ञेय है । यहाँ 'हि' शब्द हेत्वर्थक है । अर्थात् क्योंकि इसलिये इन दोनों का ही अवस्थान श्रुत है । इसी काठकोपनिषद् में 'अंगुष्ठमात्रं प्रमाणकं पुरुषशरीरं के मध्य में अवस्थित है । जो कि वर्तमान भूत भविष्यत् पदार्थों का ईशान अथवा नियामक है ।' इस प्रकार से स्वकीय भक्तजन की हृदय गुहा में परमात्मा का अवस्थान है । तथा 'अकृत तपस्या वाले पुरुष से देखने के अयोग्य गुहा में अवस्थित पुराण ईश आत्मा को निदिध्यासनादिक के द्वारा जान करके उपासक लोग हर्षशोकोपलक्षित संसार का परित्याग करते हैं ।' एवं 'जो गुहा में निहित परमात्मा को जानते हैं' इत्यादि श्रुति प्रमाण से सर्वगत परमात्मा का हृदय लक्षण गुहा में अवस्थान श्रुत है । इसी तरह 'या प्राणेनेत्यादि' श्रुति से जीव को भी गुहा में प्रवेश श्रुत है । [कर्मफल का उपभोग करे उसको अदिति जीव कहते हैं । जो अदिति प्राण से होती है अर्थात् इन्द्रियाद्यधीनोपभोगवती है हृदय पुण्डरीक मध्यवर्ती है । पृथिव्यादि

द्वितीयेनापि समानस्वभावेन चेतनेनैव भाव्यम् । समानसंख्या
 न्वयश्च समानस्वभावेष्वेव लोके दृश्यते । तद्यथाऽस्य गोर्द्विती-
 योन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वोन गर्दभ इति । अथवा
 जीवः पिबति परमात्मा पाययति एवमपि पिबतीत्येवमुच्यते । पाच-
 यितर्यपि पकृतृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । अनन्यशरणभक्तार्पितकर्मफलस्या-
 ग्रभोक्ताय परमात्मेति प्रसिद्धेश्च । तस्मात्स्पष्टजीवपरमात्मलिङ्गा-
 जीवपरमात्मानावेव गुहाप्रविष्टाविति ॥११॥

५ विशेषणाच्च । १।२।१२। ५

इतश्च जीवपरमात्मानावेव गुहाप्रविष्टौ ज्ञेयौ तयोरेवाऽत्र-
 प्रवेशात्तदीयं सर्वगतत्वं व्याहन्येत तथापि सर्वगतत्वञ्च सूक्ष्मत्वमित्यादिस्वसम्प्रदाय-
 मनुरुद्धय भक्तिं पुरस्कृत्य तथोक्तमिति ध्येयम् ॥११॥

किञ्च जीवपरमात्मनोरेवान्न ग्रहणं न तु तदन्ययोः । यतस्तयोरेवविशेषण
 भूतों से युक्त होकर के देवादि अनेक रूप से जायमान होती है । यह इस श्रुति का अर्थ है ।
 ऐसा हुआ तब 'ऋतं पिबन्तौ' यह जो व्यवहार है वह छत्रिन्याय से संगत होता है । कर्मफल के
 भोक्ता रूप से एक चेतन को निश्चित होने पर द्वितीय तदीय समान स्वभावक चेतन को ही
 होना आवश्यक है । क्योंकि समान संख्या का अन्वय समान स्वभाववाले के साथ ही
 होता है ऐसा लोक में देखा जाता है । जैसे इस गाय के जैसी दूसरे को ले आओ' यह
 कहने पर द्वितीय गौ का ही आनयन होता है । न तु घोड़ा अथवा गदहे का आनयन होता
 है । अथवा जीव कर्मफल का भोग करता है । और परमात्मा तादृश फल भोग का प्रयोजक
 होते हैं । इससे परमात्मा में भी पिबति का प्रयोग किया गया है । पाचयिता में भी पाचक
 का व्यवहार होता है । अनन्यशरण भक्त से अर्पित कर्मफल का अग्र भोक्ता परमात्मा है ऐसा
 प्रसिद्ध भी है । अतः जीव परक स्पष्ट लिङ्ग होने से यह सिद्ध होता है कि गुहा प्रविष्ट
 जीवात्मा परमात्मा ही है किन्तु बुद्धि जीव नहीं है ॥११॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि गुहा प्रविष्टत्वेन रूप से जीव तथा परमात्मा
 ही ज्ञेय हैं । क्योंकि जीव परमात्मा का ही विशेषण है । तथाहि "आत्मा को रथी समझो तथा

विशेषणात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (कठ० १।३।३) इत्यादिना रथिरथादिरूपकल्पनया संसारान्मोक्ष-
 गन्ता जीवो निश्चितः । 'सोऽध्वनः परमाप्नोति । तद्विष्णोः परमं
 पद' मितिगन्तव्यत्वेन च परः । तथा च 'ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदि-
 त्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' (का० १।१।१७) ब्रह्मणो
 जातत्वाज्ज्ञत्वाच्च ब्रह्मजज्ञोजीवस्तं देवमीड्यं विदित्वेति जीवात्मान
 मुपासकं ब्रह्मात्मकतयावगम्येत्यर्थः । 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म-
 यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शक्रेमहि' (कठ० १।३।२)।
 इत्यत्रोपास्यः परमात्मोक्त इति जीवपरमात्मानौ गन्तृगन्तव्यभावेन
 मन्तृमन्तव्यत्वेनोपासकोपासनीयत्वेन चास्मिन्प्रकरणे विशिष्टतया
 विशेष्यत्वेन आत्मानं रथिनं विद्धित्यादिनारथिरथतुल्यतयासंसारमोक्षगन्तारं जीवं कल्प-
 यति । तथा सोऽध्वनः परमाप्नोतीत्यादिना जीवेगन्तृत्वं परमात्मनि गन्तव्यत्वमुपदिशति ।
 एवं तं दुर्दर्शमित्यादौमन्तृत्वमन्तव्यत्वमुपदिशति । तस्मादत्रजीवपरमात्मानावेव गृह्येते ।
 नतु बुद्धिजीवाविति दर्शयितुं सूत्रं च व्याख्यातुं ब्राह्म-इतश्चजीवपरमात्मानावेवेत्यादि
 शरीर को रथ जानो' इत्यादि श्रुति से रथी रथादिकल्पना से संसार से मोक्ष में गन्ता जीव
 को निश्चित किया है । तथा 'विष्णु का परम पद रूप अध्व के पार को प्राप्त करता
 है ।' यहाँ परमात्मा को गन्तव्य अर्थात् गमन क्रिया का कर्म रूप से कथन किया है ।
 'ब्रह्म से जायमान तथा ज्ञ रूप होने से ब्रह्मजज्ञ जीव है । उस जीवात्मा उपासक को
 ब्रह्म के शेष रूप से जानकर के 'यः सेतुरीजानानाम्' यहाँ उपास्य परमात्मा का कथन
 किया गया है । अतः जीव परमात्मा गन्तृगन्तव्यभाव से मन्ता मन्तव्य रूप से उपासक
 उपास्य रूप में इस प्रकरण में विशिष्ट रूप से भी जीव परमात्मा को ही कतलाया गया है ।
 इसलिए गुहा प्रविष्टत्व रूप से जीव परमात्मा का ही कथन है । किन्तु बुद्धि तथा जीव का

दर्शितौ तस्माद् गुहाप्रविष्टत्वेह जीवपरमात्मानावेवोच्येते नतु
बुद्धिजीवाविति सिद्धम् ॥१२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

५ अथान्तराधिकरणम् । ४ । ५

५ अन्तर उपपत्तेः ॥१२॥१३॥ ५

छान्दोग्ये-उपकोशलविद्यायां श्रूयते-‘य एषोऽन्तरक्षिणि
पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवान् । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म’
[छा० ४।१।५।१।] इति । तत्र संशयः किमयं प्रतिबिम्बात्मा ह्यक्षा-
धास्तया निर्दिश्यते । अथवा चक्षुरधिष्ठाता देवताविशेष उत जीवः ।
आहोस्वित्परमात्मेति । अत्र पूर्वः पक्षः । अत्राक्षाधास्तया प्रति-
इतश्चविशेषणादिहेतुतश्चापि जीवपरमेश्वरयोरेवात्र ग्रहणं भवति नतु बुद्धिजीवयोरिति
संक्षेपः ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

छान्दोग्योपनिषद् उपकोशलविद्यायामेवं श्रुतं यत् य एषोऽन्तरक्षिणि इत्यादि तत्र-
नेत्रान्तर्गतः पुरुषः प्रतिबिम्बरूपः, चक्षुषोधिष्ठातादेवोवा अथवा चक्षुषा पश्यन् जीवः
कथन नहीं है । क्योंकि बुद्धि का ग्राहक कोई भी विशेषण नहीं है ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेगुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

छान्दोग्योपनिषद् के उपकोशलविद्या प्रकरण में कहा है ‘जो यह चक्षु के अन्तर्गत
पुरुष देखने में आता है वह तुम्हारी आत्मा है । वह अमृत अभय है, यह ब्रह्म है ।’
इसमें संशय होता है कि क्या नेत्रधारक प्रतिबिम्बात्मा का निर्देश है । अथवा चक्षु के
अधिष्ठाता देव विशेष कोई है, अथवा जीव है । अथवा परमेश्वर है । एतादृश संशय के
बाद पूर्वपक्ष होता है कि यहाँ चक्षु है आधार जिसका एतादृश प्रतिबिम्बात्मा पुरुष है ।
क्योंकि ‘दृश्यते’ देखने में आता है । इस प्रकार से प्रसिद्धवद् निर्देश है । तथा जीव में
तादृशत्व नहीं प्रसिद्ध है । अथवा ‘रश्मि के द्वारा यह सूर्य इस चक्षु में प्रतिष्ठित है ।’

बिम्बात्मैव स्यात् । कुतः ? दृश्यत इति प्रसिद्धवदपरोक्षतयाभिधानात् । जीवादेर्दृश्यत्वप्रसिद्धेश्च । 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठित' (बृ० ७।५।१) इति श्रुतेः । चक्षुषोऽनुग्राहकश्चक्षुरधिष्ठातादित्यरूपो देवताविशेषो वा । चक्षुषा रूपं पश्यन् चक्षुषि सन्निहितो जीवोवात्र प्रतिपत्तव्यः । आत्मशब्दोऽयस्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति नतु परमात्मा सर्वगतस्य परमात्मनोऽक्षिस्थानत्वासम्भवात् । अत्रोच्यते । अन्तर उपपत्तेरिति । अन्तरः परमात्मा कुतः ? तत्रोपदिष्टगुणानां तस्मिन्नेवोपपत्तेः । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति श्रुतिदर्शितामृतत्वाभयत्वादिगुणानां तस्मादन्यत्राऽनुपपत्तेः । 'एतं संयद्राम इत्याचक्षते । एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनिः । एष हि अथवा सर्वस्याभ्यन्तर्वर्त्तिसर्वकारणः परमपुरुषोवेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु दृश्यते इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् प्रतिबिम्बरूपः, अथवा रूपादिदर्शनकाले नेत्रस्य सहायको देवविशेषः । अथवा रूपं पश्यन् चक्षुषा तत्संनिकृष्टो जीव एव नतु परमेश्वरः सर्वव्यापकस्य स्थानविशेषप्रतिपादनस्य अयुक्तत्वादित्येवं प्राप्ते उपपत्तेर्हेतुना परमात्मैव । अयंभावः परमात्मनोऽनन्यसाधारण अमृतत्वाभयत्वादिकास्ते तत्र प्रकरणे श्रूयमाणाः स्वाश्रयं बलादुपस्थापयन्ति नहि निरूपधिकममृतत्वादिकं जीवादौ इमं श्रुति से सिद्ध होता है कि चक्षु का अनुग्राहक तथा चक्षु के अधिष्ठाता आदित्य लक्षण देवता विशेष है ॥ अथवा चक्षु से रूप को देखता हुआ चक्षु में संनिहित जीव है । ऐसी समझना चाहिए । और जीव का ग्रहण करते हैं तो आत्म पद भी अनुकूल है । क्योंकि आत्म पद वाच्य जीव है । किन्तु परमात्मा पक्षतो कथमपि संभवित नहीं है क्योंकि सर्वगत परमात्मा को अक्षिस्थानत्व कथन असंगत है ।

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'अन्तर उपपत्तेरिति । चक्षु के अन्तर में परिदृश्यमान पुरुष परमात्मा है । क्यों उस उपकोशलविद्या के प्रकरण में उपदिश्यमान जो गुण है वह परमात्मा में ही उपपन्न होता है । "यह अमृत अभय है यह ब्रह्म है" इस श्रुति से प्रदर्शित जो अप्रतत्त्व अभयत्वादिक गुण समुदाय हैं उनकी उपपत्ति ब्रह्म व्यतिरिक्त में अनुपपन्न है ।

सर्वाणि वामानि नयति । एष उ एव भामनिः । एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' [छा०४।१५।३॥] इतिवाक्योक्तानां संयद्रामत्वादिनां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः परमात्मैवात्राक्ष्याधास्तयाभिधीयते । संयन्ति वामानि कर्मफलानि यस्मादिति संयद्रामः । एतं हि अक्षिगतं पुरुषमाश्रित्य सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, उत्पद्यन्त इति स एव सर्वकर्मप्रवर्तकस्तत्फलोदयहेतुश्च । वामानि नयतीति । एष वामानि कल्याणानि नयति जनं प्रापयति एष एव भामनिः सर्वलोकप्रकाशकदीप्तिमद्विग्रहस्तदेवाह एष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति श्रुत्यर्थः ॥१३॥

संभवति । नवा आधारं विहायाधेयस्यान्यत्रावस्थानं युक्तम् । तस्मात् परमेश्वर एव नेत्रान्तर्गतः पुरुषो न तदन्य इत्यादिभावमाविष्कर्तुं भाष्यकार उपक्रमते छान्दोग्ये उपकोशलविद्यायामित्यादि एतं संयद्राम इत्याचक्षते इत्यादिश्रुत्यर्थो भाष्यकृता स्वयमेव प्रदर्शितः । अन्यत्सर्वपूर्वोत्तरादिकं यथाग्रन्थमेवानुसन्धेयम् ॥१३॥

‘इस परमात्मा को संयत् वाम रूप से कहा जाता है । इससे सब वाम कल्याण गुण उत्पन्न होते हैं । यही सर्व के प्रापक हैं । यह भामानि यही सर्वलोक में प्रकाशित होता है’ इस श्रुति वाक्य से प्रतिपादित जो संयत् वामत्वादिक गुण है उसकी उपपत्ति परमात्मा में ही उपपन्न है । अतः नेत्राधिकरणतया परमात्मा का ही कथन होता है । कर्म फल प्राप्त होवे जिसमें उसको संयत् वाम कहते हैं । ऐसा हुवा तब तो नेत्रान्तर्गत पुरुष को आश्रित करके सब कल्याण गुण उत्पन्न होते हैं । वही परमात्मा सर्वकर्म फल का प्रवर्तक है । तथा उन कर्मफल के उदय में कारण भी है । ‘वामानि नयतीति’ यही परमात्मा सभी को कल्याण गुण के प्रापक हैं । यह भामनी है । अर्थात् सर्वलोक प्रकाशक दीप्तिमान् विग्रह विशिष्ट है । यही सर्वलोक में प्रकाशित होते हैं । तस्मात् नेत्र में परिदृश्यमान पुरुष परमात्मा है । किन्तु जीवादिक नहीं है । क्योंकि प्रकरणस्थ गुणों का समन्वय जीव में नहीं हो सकता है ॥१३॥

५ स्थानादिव्यपदेशाच्च १।२।१४। ५

अक्ष्यन्तरः परमात्मैव । कुतः ? स्थानादिव्यपदेशात् 'यश्चक्षुषितिष्ठ' न्नित्यादिना सर्वान्तरात्मनः सर्वकारणभूतस्य परस्य ब्रह्मणश्चक्षुः स्थानत्वचक्षुरन्तरत्वचक्षुः शरीरत्वचक्षुर्नियन्तृत्वादीनां व्यपदेशात् । 'य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते' अत्रापि स एव प्रतीयते । यथा सर्वगतो वह्निर्विद्युदादिरूपेण मेधादिषूपलभ्यते तथैव सर्वगोऽपि भगवान् स्वमहिम्ना स्वासाधारणशक्तिमत्तया चोपासककामपूर्णाय चक्षुरादिस्थानेषु दृश्यो भवतीति न काप्यनुपपत्तिः । अत एव दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्येति साक्षात्कारनिर्देशोऽपि

अथाकाशवत्सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्याल्पनेत्रादिस्थानं कथं स्यान् स्थानि नोऽपेक्षयास्थानस्य महत्त्वदर्शनात् घटापेक्षयातदीयस्थानपृथिव्यादेः । नतु स्थानापेक्षयास्थानिनि महत्त्वं भवति । प्रकृतेतु ज्यायान् पृथिव्याः इत्यादिश्रुत्या परममहत्त्वस्य सर्वगतत्वस्य सत्त्वेन तादृशस्य परमेश्वरस्य कथमक्षयादिकमल्पस्थानं संभवेदित्याशङ्कां सूत्रमुखेन समाधातुमाह स्थानादि व्यपदेशादिति व्यापकोपि परमात्मा भक्तपरवशोभक्तानामनुग्रहाय तत्तत्स्थानेषूपलब्धोभवति जलादिषु विद्युद्वदिति यथावा

अक्षि के अभ्यन्तर में परमात्मा ही है । क्योंकि स्थान का व्यपदेश है । अर्थात् श्रुति में भगवान् का स्थान का प्रतिपादन किया गया है । यथा 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादि 'जो चक्षुरादिक में रहते हैं' इत्यादि स्थान में सर्वान्तरात्मा सर्व कारणभूत परब्रह्म परमात्मा का चक्षुरादि स्थानत्व चक्षुरादि अभ्यन्तर्गतत्व चक्षुरादि शरीरत्व तथा चक्षुरादि नियन्तृत्वादि धर्म का कथन किया गया है । अतः 'य एषोक्षिणि पुरुष' इस वाक्य से भी प्रतीयमान होते हैं । जिस तरह सर्वगत भी वह्निर्विद्युतादिक रूप से मेधादिक स्थान विशेष में अभिव्यक्त होता है । उसी तरह भगवान् सर्वगत हैं तो भी स्व की महिमा से तथा स्वकीय असाधारण शक्ति से उपासक के मनोरथ सिद्धि के लिए चक्षुरादि परिच्छिन्न स्थानों में दृश्य होते हैं । अतः प्रकृत में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है ।

भावनाप्रकर्षाद्भक्तैर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते । अक्षिहृदयादिषु यथेष्ट
रूपेण भवनसामर्थ्यं चकारेण समुच्चीयते ॥१४॥

५ सुखविशिष्टाभिधानादेव च १।२।१५ ५

इतश्चाध्याधारः परमात्मा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेतीति
सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्ष्यन्तर्वर्तित्वेन संयद्रामत्वादिगुण
वत्तया चोपास्यत्वेनाभिधानात् । हेतुनैरपेक्ष्यद्योतनार्थ एवकारः ।
ननु 'अथैनं गार्हपत्योनुशशास' इत्यादिभिर्मध्येऽग्निविद्योपदेशात्
कथमक्षिस्थानः परमात्मेति चेन्न । 'तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं
ब्रह्म खं ब्रह्मेति' (छा०४।१०।४।) 'य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष
आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' (छा०४।१५।१।) इत्युपक्रमोप
संहारयोः श्रूयमाणेन ब्रह्मशब्देन मध्य उपदिष्टाया अग्निविद्याया
विष्णुरिव प्रतिभादिषु । अन्यत्सर्वं भाष्यदिशैवावगन्तव्यम् । भाष्याक्षरार्थस्तुनाति
रोहितः ॥१४॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म इत्यादिवाक्ये यत्सुखविशिष्टं ब्रह्मोपक्रान्तं तदेवात्र प्रति-
पादितं भवति नतु प्रतिबिम्बजीवदेवतादीनां ग्रहणं भवतीत्येतद्वोधयितुं सूत्रकारः प्राह
सुखविशिष्टाभिधानादिति सूत्राक्षरं विभजितुं भाष्यकार उपक्रमते इतश्च वक्ष्यमाणहेतुतोपि

अत एव "दृश्यते त्वग्रया" इत्यादि श्रुति से साक्षात्कार का निर्देश भी भावना की
प्रकर्षता से भक्त द्वारा दृश्यत्व भी उपपन्न होता है । सूत्रस्थ चकार से यह सूचित होता
है कि परमात्मा का चक्षुरादि स्थान में अवस्थान सामर्थ्य है । इति संक्षेपः ॥१४॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है ब्रह्म अक्षिस्थान में रहते हैं 'प्राण ब्रह्म है, क
ब्रह्म है, ख ब्रह्म है' इत्यादि श्रुति में सुख विशिष्ट प्रकृत परमात्मा को अक्षिमध्यवर्तित्व रूप
से तथा संयद्रामत्व गुण विशिष्टत्वेन उपास्यता का प्रतिपादन किया गया है । सूत्र घटक
जो एवकार है वह हेत्वन्तरनिरपेक्ष परमात्मा सुख स्वरूप हैं इस बात को बतलाता हैं ।
प्रश्न—'इसके बाद इस उपकोशक को गार्हपत्य अग्नि ने उपदेश दिया' इत्यादि से तो

ब्रह्मविद्याङ्गत्वावगमात् । एवञ्चाङ्गत्वेऽवगते सति फलानुकीर्तनमर्थ
 वाद इति निश्चीयते । ‘अपहृते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमा-
 युरेति’ [छा० ४।१९।२।] इत्यादिश्रुत्यधिगतानां फलानामपि
 मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । नह्यत्र मोक्षविरोधि किञ्चिदपि फलं
 श्रूयते । तत्र पापशब्दस्य ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरत्वं लोक-
 शब्दस्य च ब्रह्मलोकप्राप्तिमार्गभूताग्निलोकपरत्वमवगन्तव्यम् । अतः
 एव ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य गतवति गुरावरुचिर्माभूदिति स्वपरिचर्यया
 परमेश्वरस्याक्षयाधारत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः परमेश्वरे सुखवैशिष्ट्यं न तत् कारणान्तरा
 पेक्षमपितु स्वाभाविकमिति द्योतयितुमाह हेतुनैरपेक्ष्येत्यादि सूत्रघटक एवकारो यथो-
 क्तमर्थं बोधयतीति भावः । ननु अथैनंगार्हपत्येत्यादि ननु प्रकरणमिदमग्निविद्याया-
 मध्य में अग्नि विद्या का उपदेश हुवा है । तब अक्षिस्थान में परमात्मा रहते हैं यह
 कहना ठीक नहीं है । उत्तर—उस उपकोशक को गुहने कहा ‘प्राण ब्रह्म है, क विशिष्ट
 ख विशिष्ट ब्रह्म है’ ‘जो यह नेत्र में पुरुष देखने में आता है वह तुम्हारी आत्मा है
 ऐसा कहा वह अमृत अभय रूप है— यह ब्रह्म है’ इस प्रकार से उपकोशक विद्या प्रकरण
 के उपक्रम उपसंहार में [आद्यन्त में] श्रूयमाण ब्रह्म है । उसके मध्य में उपदिश्य मान जो
 अग्नि विद्या है वह भी ब्रह्मविद्या का अङ्ग है ऐसा निश्चित होता है । ऐसा हुवा तब
 अग्नि विद्या में ब्रह्मविद्याङ्गत्व का अवगम होने से अग्नि विद्या का जो फल कथन है वह अर्थ
 वाद है ऐसा निश्चित होता है । ‘पापकर्म को नष्ट करता है । लोकवान् होता है ।
 सर्व आयु को प्राप्त करता है’ इत्यादि श्रुत्यनुमोदित जो फल है वह मोक्षाधिकारियों के
 लिए अनुकूल ही है । क्योंकि यहाँ मोक्ष का विरोधी कोई भी फल सुनने में नहीं आता है ।
 तत्र—‘अपहृते’ त्यादि श्रुति घटक जो पाप शब्द है वह ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति होने में प्रतिव-
 न्धक पाप कर्म परक हैं । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः’ पाप कर्म का
 विनाश होने के बाद में ज्ञानोत्पत्ति होती है । इस वाक्य से सिद्ध
 होता है कि ज्ञानोत्पाद विरोधी पाप कर्म है । तादृश पापकर्म बोधक पाप
 शब्द है ।] और लोक शब्द जो है वह ब्रह्म लोक की प्राप्ति में मार्गभूत जो
 अग्निलोक है तादृश अग्निलोकपरक है । ऐसा जानना चाहिए । यहाँ श्रुति प्रतिपादित
 इस तरह की आख्यायिका है । कामलायन उपकोशक नामक ब्राह्मण सत्यकाम जाबाल के

परं सन्तोषमुपगताश्चाग्नयोऽन्तेवासिनमुपकोशलमुपचिकीर्षवो ब्रह्म
स्वरूपमात्रं तदङ्गभूतामग्निविद्याञ्चोपदिश्य 'आचार्याद्वैव विद्या विदि
तासाधिष्ठं प्रापत्' [छा०४।१।३।] इति श्रुतेराचार्य एवास्मै संय-
द्भामत्वादिगुणकं ब्रह्मतदुपासनस्थानमर्चिगादिकां गतिञ्चोपदिशत्विति
मनस्याकलय्य साधुतमत्वप्राप्तय "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता"
[छा० ४।१।१।] इत्युचुरिति । ततश्चाचार्योऽपि "अहन्तु ते तद्वक्ष्यामि
स्तत्कथं कं ख मित्यादिना ब्रह्मणः सुखविशिष्टतयाभिधानमिति चेत् सत्यम् उपक्रमो
पसंहारयोर्ब्रह्मशब्दश्रवणात् । मध्येऽग्निविद्यायाः उपदेशेऽपि सा विद्या ब्रह्मविद्याया
यहाँ विद्या ग्रहण के लिए निवास किया । वह सत्यकाम स्वकीयाचार्य के अग्नि की परि-
चर्या बारह वर्ष पर्यन्त किया । परन्तु वह आचार्य सत्यकाम अन्य छात्रों को बेद पढ़ा
करके समावर्तन कर दिया । तब आचार्य पत्नी ने उपकोशल को समावर्तन करने के लिए
पतिदेव से अनुरोध किया परन्तु पत्नी के वचन का अत्रगणन करके आचार्य अन्यत्र चले
गये । तब अत्यन्त दुःखी अग्नि परिचर्या में कुशल उपकोशल के पास में तीनो अग्नि
आकर के ब्रह्माशील उपकोशल को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया । "प्राण ब्रह्म है,
क ब्रह्म है ख ब्रह्म है" इसके बाद उपकोशल बोला मैं जानता हूँ प्राण ब्रह्म है
वह प्राण सूत्रात्मा अतिशयित विभूतिमान् होने से ब्रह्मरूप का आविर्भाव होने
से ब्रह्म है । किन्तु क ख ब्रह्म है इस बात को मैं नहीं जानता हूँ विषयेन्द्रिय सम्पर्क
जनित अनित्य सुख 'क' पद वाच्य है । तथा अचेतन भूताकाश तो ब्रह्म नहीं हो
सकता है । इसके बाद अग्नियों ने कहा जो ही क है वही ख है और जो ख है वही क है ।
इस तरह सबने मिलकर के कहा तथा एक-एक ने अपनी-अपनी विद्या का पृथक्
रूप से कथन किया, "पृथिवी अग्नि आदित्य रूप से । पुनः वे सब अग्नि मिलकरके
कहते हुए—“हे सोम्य उपकोशल ! यह मेरी विद्या है । स्व स्व विषयक जो तुमको
कहा है । आत्मविद्या तो वह है जिसको मिल करके हमलोगों ने कहा है । "प्राण
ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है" आचार्य तुमको गति कथन करेंगे । ब्रह्म विद्या का
उपदेश अवशिष्ट गतिमात्र को नहीं कहा । उसका कथन तो तुम्हारे आचार्य जाबाल
करेंगे, यह कह करके अग्नि चुप हो गये ।

“यथा पुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते” [छा० ४।१।४।३।] इत्युपक्रम्यसंयद्ब्रामत्वादिगुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिगतिञ्चोपदिष्टवान् । तथा च “कं ब्रह्म खं ब्रह्म” [छा० ४।१।०।५।] इतिसुखविष्टस्य प्रकृतस्य ब्रह्मणोऽत्राभिधानादक्ष्यन्तरः परमपुरुष एवेति ॥१५॥

ननु कंखमिति शब्दौक्रमशो लौकिकसुखभूताकाशयोर्थयोरेवाभिधायिनाविति कथं ताभ्यां निस्वच्छिन्नसुखविशिष्टं ब्रह्मेति निश्चेतुं शक्यमित्याशङ्क्याह—

अङ्गभूतेति न ब्रह्मणोऽक्षयाधारत्वे कश्चिद्विरोध इति । एतत्सर्वं श्रुतिसमन्वयं कृत्वा भाष्यकारः स्वयमेव प्रदर्शितवानिति संक्षेपः ॥१५॥

अथ कशब्दोलौकिकविषयेन्द्रियसंपर्कजनितनित्यसुखवाचकः खशब्दश्चभूताका-

अतएव ब्रह्म विद्या का उपदेश न देकर गुरु के चले जाने पर गुरु में अरुचि न हो । इसलिए स्वकीय परिचर्या से अत्यन्त संतुष्ट अग्नि लोग ब्रह्म स्वरूप का तथा उसके अंगभूत अग्नि विद्या का उपदेश देकर के आचार्य से समुदिष्ट विद्या ही फलवती होती है” इस श्रुति के अनुसार आचार्य ही इस शिष्य को, “संयद्ब्रामत्वादि” गुणविशिष्ट ब्रह्म का तथा ब्रह्मोपासना का स्थान और अर्चिरादि मार्ग का उपदेश देंगे । इस बात को मन में विचार करके विशिष्ट फल प्राप्त्यर्थ “आचार्य तुमको गति को कहेंगे” ऐसा कहा । उसके बाद आचार्य भी मैं उस वस्तु को कहता हूँ “जिस तरह पुष्करपलाश जल से संपृक्त नहीं होता है इसी तरह यथोक्त ब्रह्मज्ञानवान् में पापकर्म का संश्लेष नहीं होता है” यह उपक्रम करके संयद्ब्रामत्वादिक गुण विशिष्ट ब्रह्म जो कि अक्षिस्थान में उपास्य है तथा अर्चिरादि गति का उपदेश दिया । “यो कं ब्रह्म खं ब्रह्म” यहाँ सुख विशिष्ट प्रकृत ब्रह्म का अभिधान होने से अक्षि के अभ्यन्तर में अवस्थित परम पुरुष है । प्राण अथवा जीव नहीं है ॥१५॥

क शब्द तथा ख शब्द क्रमशः लौकिक सुख तथा लोक प्रसिद्ध भूताकाश का वाचक है । अर्थात् क शब्द से विषयेन्द्रिय संपर्क जनित सुख का तथा ख शब्द से भूताकाश का बोध होता है । अतः तादृश पदद्वय से निरच्छिन्न सुख विशिष्ट ब्रह्म का

॥ अत एव च तद्ब्रह्म ॥१॥२॥१६॥ ॥

यतस्तत्र ब्रह्मजिज्ञासार्थं “विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खञ्च न विजानामि” [छा० ४।१०।५।] इति पृच्छत उपकोशलाय “यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्” [छा० ४।१०।५।] इत्येवं परस्परौशिष्ट्य प्रतिपादनेन कश्चिदोक्तस्य खश्चिदोक्ताकाशवदपरिच्छिन्नत्वमग्निभिरभिहितमिति निरवच्छिन्नसुखविशिष्टं यदक्षयाधारतया स्थितं तद् ब्रह्मैव नचान्यद्वैषयिकं सुखं तस्य परिच्छिन्नत्वेन खश्चिदोद्बोधिते व्यापके वस्तुन्यन्वयासम्भवात् ॥१६॥

शेरुद्ध इति भूताकाशस्य च वाचक इति ताभ्यां क ख शब्दाभ्यां व्यापकनित्यनिरतिशय सुखात्मकब्रह्मवाचकत्वं कथमित्याशङ्क्यान्योन्यविशिष्टयोस्तयोरेव क ख शब्दयोर्नित्यनिरतिशयसुखबोधकत्वमिति द्योतयितुं भाष्यकार उपक्रमते ननु कं खमिति शब्दावित्यादि । शिष्टं सर्वं सुगमम् ॥१६॥

बोध किस तरह हो सकता है एतादृश शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “अत एव च तद् ब्रह्म” इति । जिसलिए छान्दोग्य के उपकोशल प्रकरण में ब्रह्म जिज्ञासार्थ “मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है परन्तु क को तथा ख को तो नहीं जानता हूँ । इसप्रकार से पूछने वाले उपकोशल को “जो क पदवाच्य है वही ख पदवाच्य है इस प्रकार से परस्पर में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने से क शब्द से कथित जो सुख है उसको ख शब्द प्रतिपाद्य आकाश की तरह अपरिच्छिन्नत्व का कथन किया है । अतः निरवच्छिन्न सुखविशिष्ट अक्षिरूप आधार में जो स्थित है वह ब्रह्म ही है । किन्तु तदतिरिक्त विषयेन्द्रिय संपर्क जनित सामय अनित्य सातिशय सुख नहीं है । क्योंकि वैषयिक सुख को उत्पाद विनाशी होने से उसमें परिच्छिन्नत्व है । अतः ख शब्द से बोधित व्यापक वस्तु में उसका समन्वय सर्वथा असंभवित है ॥१६॥

श्रुतोपनिषत्कगत्याभिधानाच्च । १।२।१७।

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमात्मैव यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्या-
धिगतपरमपुरुषविज्ञानस्य या गतिर्देवयानाख्याऽपुनरावृत्तिलक्षणा
प्रसिद्धा श्रुतौ-‘अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येणेत्याभ्य ‘एतस्मान्न
पुनरावर्तन्ते’ [प्र० १।१०।] इति सैवेहाक्षिवर्तिनं ज्ञातवत् उपको-
शलयाधीयमाना दृश्यते । एवमेव ‘अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति’
इत्याभ्य ‘तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तन्नावर्तन्ते’ [छा० ४।१५।५।] इति
गतिः श्रूयते । अतः परमात्मैवायमक्षिस्थ इति ॥१७॥

श्रुतवेदान्तरहस्यस्योपासकस्य या देवयानगतिरपुनरावृत्तिलक्षणावेदान्ते
श्रूयते सैव गतिरिहापि उपकोशलप्रकरणे विज्ञायते । अतोऽक्षिस्थानगततयोपास्यत्वेन
परिदर्शितः पुरुषः परमात्मैव नान्योजीवोदेव इच्छायात्मावेति प्रदर्शयितुं भाष्यकारः प्राह
इतश्चाक्षिस्थान इत्यादि । प्रकरणपर्यालोचनया अक्षिस्थानगतः परिदृश्यमानः पुरुषो-
भक्तैरुपास्यः परमपुरुष एव नान्य इति सिद्ध्यति ॥१७॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि अक्षिस्थान में परिदृश्यमान पुरुष
परमात्मा ही है । तदन्य जीव छायात्मा अथवा देव विशेष नहीं है । क्योंकि जो श्रुतो-
पनिषत्क है अर्थात् अधिगत परम पुरुष विज्ञानक पुरुष के लिए जो अपुनरावृत्तिलक्ष
देवयान नामक मार्ग प्रसिद्ध है श्रुति में “ब्रह्मचर्यं तपस्यादिक से उत्तर मार्ग द्वारा” यहाँ
से लेकर के “इस स्थान से पुनः लौटता नहीं है” इत्यादि से प्रसिद्ध है । वही मार्ग
यहाँ अक्षिस्थान में स्थित जो परमपुरुष तद्विज्ञानवान् उपकोशल से अधीयमान देखने
में आता है । एवम् “अर्चिस को प्राप्त करता है” यहाँ से लेकर के “वहाँ एक
अमानव पुरुष है जो इस उपासक को ब्रह्म पर्यन्त पहुँचाता है । यह देवयान मार्ग है
ब्रह्म मार्ग है । इस मार्ग को प्राप्त करके जानेवाला उपासक इस मानव आवर्त को पुनः
प्राप्त नहीं करता है” यह गति सुनने में आती है । इसलिए अक्षिस्थानवर्त्ता परम पुरुष
ही है यह सिद्ध होता है ॥१७॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८।

परमात्मन इतरच्छायात्मा देवतात्मा जीवात्मा वाक्षिस्थानो न भवितुमर्हति । कुतः ? अनवस्थितेः । तेषां चक्षुषि नियमेनावस्थानासम्भवात् । प्रतिबिम्बात्मनस्तावत्पुरुषान्तरसन्निधानाधीनत्वान्न नियमेन स्थितिसम्भवः । देवतात्मनोऽपि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' [बृ०७।५।१०] इति रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्नचक्षुष्यवस्थानत्वम् । तथैव जीवात्मनोऽपि सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिमत्त्वात्केवलं चक्षुषि नावस्थानम् तदन्यतमेऽमृतत्वाभयत्वसंयद्रामत्वादिनिरुपा-

यदुक्तं पूर्वं यदक्षिस्थानगतच्छायात्मा देवतात्माजीवात्मेति तन्न संभवति यतोऽनवस्थितेरिति नहि नियमतश्चक्षुषि समवस्थानं प्रतिबिम्बस्य यदाकश्चित्पुरुषः समीपमागच्छति तदैव प्रतिबिम्बोदयो भवति तदभावे तदभावात् । एवं तदन्ययोरपि समवस्थानं न सार्वदिकम् । एवं प्रकरणे प्रतिपादितानाममृतत्वाभयत्वादीनां गुणानां छायादावसंभवश्च । नहि जीवेऽमृतत्वं मरणधर्मकत्वात् नवा देवेपि तत्रापि सापेक्षामरत्वस्यैवश्रवणात् आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते इतिस्मृतेः । निरुपाधिकममृत-

परमात्मा से इतर अर्थात् परमात्मा से भिन्न छायात्मा देवतात्मा अथवा जीवात्मा अक्षिस्थान स्थित नहीं हो सकते हैं । क्योंकि अनवस्थित होने से अर्थात् प्रतिबिम्बादिकों का नियमतः चक्षु में अवस्थान असंभवित है । पुरुषान्तर के सामीप्य का अधीन होने से प्रतिबिम्ब का नियमतः सन्निधान नहीं हो सकता है । देवता का भी, रश्मि के द्वारा यह चक्षु में सन्निहित है" यह श्रुति में रश्मि द्वारा अवस्थान का कथन होता है । और देशान्तर में जो अवस्थित कोई भी इन्द्रियादि अधिष्ठानक होने से नियमतः चक्षु में अवस्थान अनुपपन्न है । जीवात्मा को समस्त शरीर में रहनेसे केवल चक्षु में ही अवस्थान युक्त नहीं है ।

एवम् प्रतिबिम्ब जीव देवों में अमृतत्व अभयत्व संयद् वामत्वादि जो निरुपाधिक गुण है वह असंभवित है । देवताओं में यद्यपि अमरत्व श्रूयमाण है । तथापि वह स्वभाविक नहीं

धिकगुणानामसम्भवाच्च । अक्ष्याधारपुरुषत्वेन परमात्मैवोपास्य
इतिसिद्धम् ॥१८॥

५ इति श्रीआनन्दभाष्येऽन्तराधिकरणम् ५

अथान्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

एवमक्ष्यन्तरपुरुषश्रुतिसमन्वयं प्रदर्श्यान्तर्यामिश्रुतेरपि ब्रह्म-
परत्वं दर्शयति-

५ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु
तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१॥२॥१९॥ ५

“य इमं च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो
त्वाभयत्वादिकं च परमात्मन्येव संभवति तस्मात्परमेश्वराद्भिन्नः प्रतिबिम्बो देवो जीवो
नाक्ष्यादिस्थानगतः किन्तु परमात्मैव भवति नान्य इत्यावेदयितुं भाष्यकारः प्रक्रमते
परमात्मन इतर इत्यादि ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽन्तराधिकरणम्

य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते इत्यादिश्रुतीनां यथा परमात्मबोधकत्वं नतु
प्रतिबिम्बादिबोधकत्वं तथोपवर्णनं बृहदारण्यकीयान्तर्यामिश्रुतिवाक्यानां परमात्म-
है । किन्तु चिरकालवस्थान लक्षण सावधिक ही है । “आभूतसंस्पृष्टस्थानममृत्वं हि भाष्यते”
इत्यादि स्मृति भाषित अमरत्व है । एवम भयराहित्य भी देवादिक में नहीं है “भीषात्मा-
द्वातः पवते” इत्यादि श्रुति से भयवत्त्व सिद्ध होता है । इसलिए अक्ष्यादि स्थानगत पर-
मात्मा ही उपास्य है । किन्तु प्रतिबिम्ब देव वा तदतिरिक्त कोई भी जीव उपास्य नहीं है ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अन्तराधिकरणम् ।

“य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते” इत्यादि श्रुतियों का परब्रह्म बोधन में तात्पर्य है । इसका
निर्णय करके अन्तर्यामि श्रुतियों का ब्रह्मबोधकता है न जीवादि बोधकत्व । इस बात को बत-
लाने के लिए बतलाते हैं ‘अन्तर्याम्यधि’ इत्यादि । ‘जो इस लोक को तथा परलोक एवं सब

यमयति” [बृ० ३। ७। १।] इत्युपक्रम्य “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या
अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः” [बृ० ३। ७। ३।] इत्यादिश्रूयते ।
‘यो विज्ञाने तिष्ठन्’ [बृ० ३। ७।] इत्यस्य स्थाने ‘य आत्मनि
तिष्ठन्’ इति पर्यायो दृश्यते माध्यन्दिनानाम् । तत्र संशयः ।
किमेभिर्वाक्यैः समुपदिश्यमानः कश्चिदन्तस्वस्थितो नियमनकर्ता-
न्तर्यामी प्राप्ताणिमादिसिद्धिः कश्चिज्जीवविशेष उत परमात्मेति ?
किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? अन्तर्यामिपदघटितश्रुत्युपसंहारे
‘एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता’ इत्यन्तर्यामिणश्चक्षुरादीन्द्रिया-
धीनरूपादिज्ञानवत्त्वश्रुत्या तस्य जीवत्वावगमादित्येवं प्राप्त आह—
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशादिति ।

चोघकत्वं न तु पृथिव्याद्यभिमानिदेवादिपरकत्वमिति बोधयितुं भाष्यकार उपक्रमते
एवमक्षयन्तरेत्यादि सर्वाणि भूतान्यन्तरोयमतीत्युपक्रम्य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर
इत्यादिकवाक्यं श्रुतं भवति बृहदारण्यके । तत्र कश्चिन्नियामकः सर्वेषामस्तीति ज्ञायते
स च पृथिव्याद्यभिमानिदेवोवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तोजीवोवा परमात्मावेति संशये
अभिमानिदेव एव कुतः ? उपसंहारवाक्ये करणकलेवरस्य श्रवणात् । करणकलेवर-
विशिष्टोऽभिमानि देव एव संभवति न तु परमात्मा तस्य अशब्दमस्पर्शमरूपम्
भूतो को अन्तरवस्थित नियन्त्रित करता है ।’ इत्यादि से उपक्रम करके ‘जो पृथिवी में रहता
हुवा पृथिवी से अन्तर है । जिसको पृथिवी नहीं समझती है, जो पृथिवी को
नियन्त्रित करता है यह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है अमृत अभय ब्रह्म
रूप है’ इत्यादि वाक्य सुनने में आता है । ‘जो विज्ञान में रहता हुवा’ इसके
स्थान में ‘जो आत्मा में रहता हुवा’ ऐसा पर्याय देखने में आता है माध्यन्दीन
शाखा में । इसमें संशय होता है कि क्या इन उपर्युक्त वाक्यों से समुपदिश्यमान कोई
अन्तरवस्थित नियमन करने वाला अणिमादि सिद्ध कोई जीव विशेष है अथवा परमात्मा
सर्व शक्तिमान् है । तो इसमें किसको होना युक्त है ? इसके उत्तर में कहते हैं एतादृश
कोई जीव ही है क्योंकि अन्तर्यामी पद घटित उपसंहार वाक्य में ‘यह द्रष्टा श्रोता मनन-

अत्र काण्वमाध्यन्दिनपाठयोरेकीकृत्याधिदैवादीत्यादिपदेन ग्रहणं सूत्रकारस्येष्टम् । ततश्चायमर्थो निष्पन्नः । अधिदेवादि पदान्वितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव भवितुमर्हति कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमात्मनो धर्मास्तद्धर्मास्तेषां सर्वान्तः स्थत्वसर्वाधारत्वसर्वशरीरित्वसर्वनियामकत्वसर्वात्मत्वसर्वान्तर्यामित्वामृतत्वादीनां परमात्मासाधारणधर्माणां तस्मिन्नेवोपपत्तेः । स एव चौकः सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा 'य इमं च लोकं पञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि योन्तरो यमयति' [बृ० ३।७।१।] इत्युपक्रम्य तमन्तर्यामिणं ब्रूहीति उद्दालकेन पृष्ठ आचार्यस्तस्योत्तरमाह 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नित्यादि । तस्मादेतत्सर्व भूत सर्वदेवसर्ववेदादियज्ञान्तानां नियमनं सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वञ्च

निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् अस्थूलमनणु इत्यादिश्रौतवाक्येन विग्रहरहितत्वावगमात् । अतः प्रकृते अन्तर्यामिपदेन न परमात्मनो ग्रहणं किन्तु कश्चिदभिमानिदेवोवा कश्चिद् योगीवेति शङ्कामपाकृत्य परमात्मैव तादृशस्तदीयासाधारणसर्वशक्तिमत्त्वादि धर्माणां तत्र दर्शनात् न तदितर इति सिद्धान्तयितुं सूत्रव्याख्यानार्थं यतते य इमं च लोकं पञ्च लोकमित्यादि । ग्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिज्जीव एव करणकलेवरादि सम्पन्नोऽन्तर्यामिपदबोध्य इत्यादिपूर्वपक्षोभाष्यादेवावगन्तव्यः । उपसंहारवाक्ये कर्ता तथा विज्ञाता है' इस प्रकार से अन्तर्यामी को इन्द्रिय जनित ज्ञानादिमत्त्व का श्रवण होने से वह जीव है ऐसा जाना जाता है । क्योंकि इन्द्रियाधीन ज्ञान तो जीवको ही होता है । परमात्मा का ज्ञान तो इन्द्रियाधीन नहीं होता है । एतादृश शंका के उत्तर में कहते हैं 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु' इत्यादि । यहाँ काण्व तथा माध्यदिन के पाठ को एक वाक्यता करके सूत्रघटक अधिदैवादि स्थित आदि पद से ग्रहण वारना सूत्रकार को अभिलषित है । तब सूत्र का यह अर्थ होता है कि अधिदेवादि पदान्वित वाक्यों में श्रूयमाण जो अन्तर्यामी है वह परमात्मा सर्व शक्तिमान् नहीं हो सकते हैं । क्योंकि परमात्मा का जो धर्म है उसका कथन किया गया है । उस परमात्मा का जो धर्म सर्वशक्ति मत्वादिक उसको तद्धर्म कहते हैं । वे सर्वान्तर्यत्व सर्वशरीरित्व सर्वनियामकत्व

सर्वशक्तेः पुरुषोत्तमादन्यस्यकस्यचिदपि न सम्भवति । तदन्ये हि शरीरेन्द्रियादीनि जडवस्तूनि नियमयन्ति तदप्यन्यदीयप्रेरणयैव । परमात्मा तु सर्गादिककाले शुद्धं चेतनजातं प्रकृतिञ्च प्रेरयति । तस्मान्निरुपाधिकं स्वेच्छया प्रेरणमन्तर्यामित्वं परमेश्वरस्यासाधारणं धर्मान्तरमप्यस्मिन् वाक्ये व्यपदिष्टमिति मन्तव्यम् । यत्तुक्तम् 'द्रष्टा श्रोतेतीन्द्रियाधीनज्ञानस्य परमात्मन्यनुपपत्तोस्तस्य जीवत्वमवगमयतीति तत्र, 'चक्षुषश्चक्षुरुत्प्राणस्य प्राणः' इत्यादिना चक्षुरादिजन्यरूपादि ज्ञानस्य परमात्माधीनत्वोपपत्तेः । परमात्मनस्तु द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिकं न

एष द्रष्टाश्रोता इत्यादिश्रुत्यान्तर्यामिणः इन्द्रियजनितज्ञानवत्वश्रवणेन तस्य जीवत्वावगतेः । इमं पूर्वपक्षं निराकरोति सूत्रेण अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्गम्यपदेशादिति । अधिदैवादिषु 'यमाणोऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् सर्वशरीरकः परमात्मैव भवति कुतः ? परमात्मनः श्रुतायेऽसाधारणाः सर्वान्तस्थत्वादिकाः शास्त्रोपदिष्टाधर्मास्तेषां परमात्मन्येव संभवात् । नहि सर्वभूतनियमनकर्तृत्वं परमेश्वरकृपाप्राप्ताल्पैश्वर्यवति जीवे संभवति । परमात्मनस्तु सर्वशक्तिमत्त्वेन सुतरां तत्संभवात् परमेश्वरस्य तु स्वाभाविकं तत्सर्वमिति श्रुतिप्रसिद्धम् ।

सर्वात्मत्व सर्वान्तर्यामित्व और अमृतत्व अभयत्वादिक जो परमात्मा के अनन्य साधारण धर्म हैं उन धर्मों की उपपत्ति अर्थात् समन्वय तो परमात्मा में ही हो सकता है । वह परमात्मा एक होते हुवे भी सभी लोक सर्वभूत सर्ववेद को नियमित करते हैं । तथा 'जो इस लोक को परलोक को तथा सर्वभूत को नियमित करता है' यह उपक्रम करके मुझ को अन्तर्यामी का उपदेश दीजिए ऐसा कहने पर उदात्त को आचार्य ने उत्तर में कहा 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि । तस्मात् सर्वभूत सर्वदेवादि कों का नियन्त्रण रूप कार्य सर्वशरीरक होने से सर्वात्मत्व सर्वशक्तिमान् परमात्मा से अन्य किसी को भी नहीं हो सकता है । परमात्मा से भिन्न जो जीवादिक हैं वह शरीरेन्द्रियादिक जड वस्तुओं का नियन्त्रण करते हैं सो भी परमात्मा की प्रेरणा से ही करते हैं परमात्मा तो सर्ग के आदिकाल में शुद्ध चेतन तथा प्रकृति को प्रेरित करते हैं । अतः निरुपाधिक स्वेच्छा मात्र प्रेरणा तथा अन्तर्यामित्व परमेश्वर का ही असाधारण धर्म है यह भी इस वाक्य से कहा जाता है ऐसा समझना चाहिए ।

चक्षुरादीन्द्रियाधीनम् । 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' [इवे० ३।१९]
 इत्यादिश्रुतेस्तस्य स्वाभाविकं द्रष्टृत्वादिकम् । कर्मतिरोहितस्वा-
 भाविकज्ञानस्य जीवस्य रूपादिसाक्षात्कारश्चक्षुरादिकरणजन्यः परस्य तु
 न तथा किन्तु स्वत एव । 'यं पृथिवी न वेद' 'यमात्मा न वेद' [बृ० ३।
 ७।३।२२] इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैस्तु पलभ्यमान
 एव तान्नियमयतीत्युक्तम् । 'अदृष्टो द्रष्टा श्रुतः श्रोता' [बृ० ३।७।२३]
 इत्येवं निगमस्य 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' [बृ०
 ३।७।२३] इत्यादिनाऽस्य जगतो नियन्त्रन्तरं निषिध्यते । 'एष त
 आत्मा' स त आत्मेत्यत्र च 'स त' इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य

यदप्युक्तम् द्रष्टाश्रोतेत्यादि श्रुत्या अन्तर्यामिणोऽपि इन्द्रियाधीनज्ञानवत्वमिति
 तदपि न समीचीनम् जीवस्य ज्ञानं परमात्मकृपाप्राप्तेन्द्रियजनितं भवति ।
 परमेश्वरज्ञाने जनयितव्ये परमेश्वरस्य नेन्द्रियाद्यपेक्षा पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण
 इत्यादिश्रुत्या पारमेश्वरज्ञानस्य स्वाभाविकत्वेन सहायकान्तरनिरपेक्षत्वात्
 लौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषादिकं प्रत्येव इन्द्रियस्वार्थाणां च यथायथं कारणत्वं

इसमें पहिले जो कहा था कि 'द्रष्टा श्रोता' इससे सिद्ध होता है कि अन्तर्यामी
 इन्द्रियाद्यधीन ज्ञानवान् है यह तो परमात्मा में संभवित नहीं है । क्योंकि परमात्मा का
 कारणकलेवर नहीं है । अतः परिशेषात् सिद्ध होता है कि वह जीव ही है । ऐसा कहना
 ठीक नहीं है । क्योंकि 'वह परमात्मा चक्षु का भी चक्षु है प्राण का भी प्राण है' इस
 श्रुति से सिद्ध होता है कि चक्षुरादिक जनित जो रूपादि विषयक ज्ञान होता है वह भी पर-
 मात्मा के अधीन ही है । और परमात्मा में जो द्रष्टृत्व श्रोतृत्व है वह इतर सहायक सापेक्ष
 नहीं है किन्तु 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि वह द्रष्टृत्वा-
 दिक स्वाभाविक है । जीव तो कर्म से तिरोहित स्वाभाविक ज्ञान बाछा है । इसलिए जीव को
 जो रूपादिक का साक्षात्कार होता है वह चक्षुरादिक कारण सापेक्ष होता है किन्तु परमात्मा
 को जो रूपादिक का साक्षात्कार होता है वह इन्द्रियादिक सापेक्ष नहीं है किन्तु स्वत एव

जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी परमात्मैव न प्रत्यगात्मेति ।
 अत्रान्तर्यामिवाक्येषु सर्वेषु परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तः स्थत्वसर्वशरीरि
 त्वसर्वनियामकत्वसर्वान्तर्यामित्वश्रवणात्सर्वस्य चिदचिदात्मक
 प्रपञ्चस्य परमात्माधेयत्वशरीरत्वनियम्यत्वस्यार्थतः सिद्धेजीवाधीन
 स्वशरीरस्थितिप्रवृत्तिवत् सर्वस्य चराचरस्य जगतः परमात्माधीनस्वरूप
 स्थितिप्रवृत्त्युपपत्ते श्रीरामाख्यस्य परब्रह्मणः सर्वनियन्तृतया सर्वस्वा-
 मित्वेन सर्वशेषित्वं तद्विन्नस्य सर्वस्य तच्छेषत्वमुपपन्नतरम् ॥१९॥
 भवति । अन्यथाऽन्धादेरर्थविरहितेपि तत्प्रसङ्गात् । नतु अलौकिकप्रत्यक्षे तेषां
 कारणत्वम् पारमेश्वरप्रत्यक्षां तु न लौकिकं तस्यालौकिकत्वात् तस्मात्परमेश्वर
 प्रत्यक्षादिकं स्वाभाविकं स्वाभाविकत्वाच्चनेन्द्रियादिकसहायकान्तरसापेक्षम् । जीवस्य
 तु तथा भवति तस्मान्नजीवोऽन्तर्यामिपदवाच्यः किन्तु परमेश्वर एव तथेति संक्षेपतः । १९
 होता है । क्योंकि परमात्मा सर्वशक्तिमान् तथा सर्व तन्त्र स्वतन्त्र है । 'जिसको पृथिवी नहीं
 जानती है' जिसको जीवात्मा नहीं जानता है' इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है कि इतर का
 नियामक पृथिवी जीवादि कौ से अनुपलभ्यमान ही कोई इन सबका नियामक है । ऐसा कहा
 गया है । 'अदृष्टो द्रष्टा श्रुतः श्रोता' इत्यादि । श्रुति निगमन करके 'नान्योऽनोदृष्टा' इस श्रुति
 से इस जगत् का परमेश्वरातिरिक्त नियन्ता का प्रतिषेध किया गया है । एवं 'एष ते आत्मा स
 ते आत्मा' यहाँ 'स ते' इस प्रकार विभिन्न विभक्ति से निर्दिष्ट जीव के आत्मरूप से उपदिश्यमान
 अन्तर्यामी परमात्मा ही है किन्तु प्रत्यगात्माजीव नहीं है । यहाँ अन्तर्यामी सब वाक्यों में पर
 ब्रह्म को सर्वान्तस्थत्व सर्व शरीरत्व सर्वनियामकत्व तथा सर्वान्तर्यामित्व का श्रवण होने से
 सम्पूर्ण इस चिदचित् लक्षण प्रपञ्च में परमात्माधेयत्व परमात्म शरीरत्व तथा परमात्मनियम्यत्व
 अर्थतः सिद्ध होता है । जीवाधीन जीव शरीर स्थिति प्रवृत्ति की तरह सम्पूर्ण चराचर में पर-
 मात्मा के अधीन स्वरूपस्थिती प्रवृत्ति की उपपत्ति होने से सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्र लक्षण परब्रह्म
 में सर्व नियन्तृत्व सर्वस्वामित्व तथा सर्वशेषित्व की सिद्धि होती है । तथा तद्विन्न सम्पूर्ण जगत्
 में परमात्म शेषत्व उपपन्नतर होता है ॥१९॥

न च स्मार्तमतद्वर्माभिलापात् । १ । २ । २० ।

स्मार्त सांख्यस्मृतिप्रतिपाद्यं प्रधानं न चान्तर्यामिपदवाच्यम् ।
कुतः ? अतद्वर्माभिलापात् तस्य धर्मस्तद्वर्मो न तद्वर्मोऽतद्वर्मश्चेतन
धर्म इतियावत् । तस्माभिलापात् कथनादित्यर्थः । यद्यप्यदृश्यत्वा-
दयोधर्माः प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्
सर्वविकारकारणत्वेन नियन्तृत्वमप्युपपद्यते । तथापि सर्वात्मत्वसर्व-
नियन्तृत्वसर्वद्रष्टृत्वामृतत्वादीनामचेतने तस्मिन्नसम्भवात् ।
परमात्मनस्तु स्वाभाविका एते धर्माः । “अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोता-

ननु अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्गतः इति स्मृत्या अदृष्टाश्रुत्वादयो धर्माः
प्रधाने सन्ति तथा सर्वविकारकारणत्वादन्तर्यामित्वं स्यादिति प्रकृते सांख्याभिमत
प्रधानस्यैवान्तर्यामिपदेन ग्रहणं नतु परमात्मन इत्याशङ्कानिरासाय सूत्रव्याख्याना-
योपक्रमतै स्मार्तमित्यादि । सांख्यस्मृतिकल्पितं प्रधानं नान्तर्यामिपदवाच्यम् तद-
तिरिक्तचेतनधर्मद्रष्टृत्वादेरिहप्रतिपादनात् । यद्यपि अदृष्टत्वादिका गुणास्तत्र

सांख्य परिकल्पित जो प्रधान है वह अन्तर्यामि पदवाच्य नहीं है । इस बात को
स्थिर करने के लिए प्रक्रम करते हैं ‘न च स्मार्तमित्यादि स्मार्त अर्थात् सांख्य स्मृति
परिकल्पित जो प्रधान है वह अन्तर्यामि पदवाच्य प्रतिपाद्य नहीं है । क्योंकि अतद्वर्म का
प्रकृत में कथन है । प्रधान का जो धर्म उसको तद्वर्म कहते हैं और प्रधान का धर्म जो
नहीं उसको अतद्वर्म कहते हैं । अर्थात् चेतन का जो धर्म है द्रष्टृत्व उसका यहाँ कथन
है । यद्यपि अदृश्यत्वादिक धर्म प्रधान में भी संभवित है । क्योंकि सांख्यवादी प्रधान को
रूपरसादि रहित मानते हैं । एवं सर्व विकार का महत्त्वादि कार्य का कारण होने से
प्रधान में स्वकार्य के प्रति नियन्तृत्व भी हो सकता है । तथापि सर्वात्मत्व सर्वनियन्तृत्व
सर्वद्रष्टृत्वामृतत्वामयत्वादिक जो चेतन धर्म हैं उन सब धर्म का अचेतन प्रधान में
समन्वय संभवित नहीं हो सकता है । परमात्मा का तो उपर्युक्त धर्म स्वाभाविक है । अदृष्टो
द्रष्टा’ इत्यादि वाक्य में उपर्युक्त धर्म का कथन होने से अन्तर्यामि पदवाच्य परमात्मा ही
है प्रधान नहीं यद्यपि ‘ईश्वतेर्नाशब्दम्’ इस सूत्र में प्रधान का स्वातन्त्र्येण जगत् कारणता

विज्ञातो विज्ञाता' [बृ० ३।७।२३।] इत्यादिवाक्येष्वभिज्ञापात्स
एवान्तर्यामिपदवाच्यः । ईक्षतेर्नाशब्दमित्यत्र निरस्तस्यापि प्रधान-
स्याद्रष्टृत्वादिधर्माणां सम्भवमाशङ्क्य पुनस्तत्र निरास इति
बोध्यम् ॥२०॥

ननु मास्त्वचेतनं प्रधानमन्तर्यामिपदवाच्यं शारीरस्तर्हि त्वन्त-
र्यामीभवतु । तस्य च चेतनत्वाद्द्रष्टृत्वादिकमप्युपपद्यते । प्रत्यक्त्वा-
च्चात्मत्वमपि तस्य सिद्धमेवेत्युत्तरं पठति—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते १।२।२ १

अत्र पूर्वसूत्रान्नेत्यनुवर्तते । शारीरः स्वकृतफलभोगायतने शरीरे
विद्यन्ते तथापि द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिकधर्माणामभावान्न प्रधानस्य ग्रहणम् । यद्यपि-
पञ्चमसूत्रेण निरासकृत एव प्रधानस्य तथापि तस्य संभवमाशङ्क्यपुनरपिनिरासः
कृत इति ॥२०॥

ननु जडत्वात्प्रधातस्यान्तर्यामित्वं नभवतु तथा आत्मत्वद्रष्टृत्वाद्यभावात् किन्तु
योयं चेतनो द्रष्टाश्रोतामन्ताविज्ञाताशारीरस्तस्यान्तर्यामित्वे काक्षतिस्तस्यैव तद्भवतु
का निराकरण करने से प्रधान कारण वाद का निरास हो चुका है । तथापि अद्रष्टृत्वादि
धर्म के संभव को शङ्का कर के पुनः यहाँ निराकरण किया गया है । अतः पुनरुक्ति
दोष का संभव नहीं होता है ॥२०॥

अचेतन होने के कारण से प्रधान भले ही अन्तर्यामी पद का वाच्य न हो किन्तु
शारीर जो जीव उसको अन्तर्यामी पद वाच्यत्व हो । क्योंकि शारीर को चेतन होने से
उसमें द्रष्टृत्व श्रोतृत्वादिक भी उपपन्न है । अदृष्टत्वादि कभी जीव में हो सकता है !
क्योंकि दर्शनादि क्रिया का विषयैवकर्म में होता है कर्ता में नहीं होता है । इस शंका
के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'शारीरश्चेत्यादि' शारीर अन्तर्यामी नहीं है । क्योंकि दोनों
शाखा में अन्तर्यामी से भेद पूर्वक शारीर का कथन किया गया है । शारीर को नियम्य
तथा अन्तर्यामी को निषामक कहा है । इसलिए शारीर अन्तर्यामी नहीं है । किन्तु परमात्मा

प्रविष्टः प्रत्यगात्मा नान्तर्यामी सेद्धुमर्हति । सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृ-
त्वसर्वद्रष्टृत्वादीनामतद्धर्मत्वात् । हि यतः काष्ठा माध्यन्दिनाश्चो-
भयेऽप्येनं शारीरमन्तर्यामिपरमात्मनः नियाम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैः
समं भेदेनाधीयते । 'यतो विज्ञानेतिष्ठन् विज्ञानादन्तरः' (बृ. ३।७
२२।) इत्यादिकाष्ठाः । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा
न वेद यस्यात्माशरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्त-
र्याम्यमृत' (बृ० ३।७।२२।) इति च माध्यन्दिनाः । तस्मादात्मपरमा-
त्मनो नियम्यनियामकभेदेनाध्ययनादधिदैवादिषु श्रूयमाणोऽन्त-
र्यामी परमात्मैव न शारीर इति । प्रकृतश्रुत्योर्विज्ञानपदवाच्य

इत्याशङ्कां निराकृत्य सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते भाष्यकारः ननु मास्त्वचेननंप्रधानमित्यादि
अस्मिन् सूत्रे पूर्वसूत्रान्नकारोऽनुवर्तनीयः । तस्य साध्यतया शारीरेऽन्वयः । तथा च
शारीरोनान्तर्यामी अत्र शरीरः पक्षः अन्तर्यामित्वाभावः साध्यम्, उभयत्रापि भेदेना-
ध्ययनादिति हेतुः । शरीर अन्तर्यामिणोर्भेदेन प्रतिपादनं काष्ठा माध्यन्दिनेचोभय-
त्रापि दृश्यते यदि जीव एवान्तर्यामी भवेत् तदातयोर्भेदप्रतिपादनं श्रुतौसंगतं नस्यात् ।
ही अन्तर्यामी है । यह सूत्रार्थ होता है । यहाँ पूर्व सूत्र से प्रतिषेधार्थक न का अनुवर्तन
किया जाता है । शारीर जीव स्वकृत कर्मफल को उपभोग का आयनन शारीर में प्रविष्ट
प्रत्यगात्मा अन्तर्यामी सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि सर्वात्मत्व सर्वनियन्तृत्व सर्वद्रष्टृत्वा-
दिक जीव का धर्म नहीं है । यतः काष्ठा माध्यन्दिन ये दोनों ने ही इस शारीर को अन्तर्यामी
जो परमात्मा उससे नियाम्यत्व रूप से अचेतन वागादिक के समान भेद पूर्वक कथन किया
है । "जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान से भिन्न है" ऐसा काष्ठावालों ने कहा है ।
'जो जीवात्मा में रहता हुआ जीव से भिन्न है । जिसको जीवात्मा नहीं जानता है । जिसका
जीवात्मा शरीर है । जीवात्मा को जो नियन्त्रित करता है । वह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत
आत्मा है । इस प्रकार भेद पूर्वक माध्यन्दिन में कथन किया गया है । इसलिये आत्मा
परमात्मा को नियम्य नियामक रूप भेद पूर्वक कथन होने से आधिदैवादिक में श्रूयमाण जो
अन्तर्यामी है वह परमात्मा ही है । किन्तु शारीरक जीव नहीं है । काष्ठा माध्यन्दिन दोनों
ही श्रुति में विज्ञान पदवाच्य तथा आत्म पद वाच्य शारीर जीव ही है । ऐसा समझना

आत्मपदाभिधेयश्च शारीर एवेति बोद्धव्यम् । तस्यैव विज्ञानमयत्वादिति ॥२१॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽन्तर्याम्यधिकरणम् ।

अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥६॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । १ । २ । २२ ।

आर्धवर्णिकैराम्नायते—“अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यदभूयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” (मु० १।१। ५।६।) एवमग्रे—“अक्षरात्परतः परः” इति तत्र संशयः । किमदृश्यत्वात्स्मात् शारीरोऽन्तर्यामी न भवति किन्तु तादृक्नस्तच्छरीरीपरमात्मैवान्तर्यामी भवतीति प्रकरणस्थाभिप्रायः ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽन्तर्याम्यधिकरणम् ।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमित्वादि तत्राद्रेश्यम् ज्ञानेन्द्रियस्या विषयः । अग्राह्यं हस्तादिकर्मेन्द्रियाविषयत्वम् । अगोत्रं कारणरहितम् । ब्राह्मणत्वादिजातिरहितमवर्णम् । अचक्षुः श्रोत्रम् इन्द्रियरहितमित्यर्थः । नित्यं व्याक्योकि जीव ही विज्ञानमय है । इसलिए अन्तर्यामि पदवाच्य न तो कोई देव विशेष है न वा अणिमाद्यैश्वर्य शाली कोई जीव विशेष है । नवा सांख्य परिकल्पित प्रधान है नवा शारीरक है । किन्तु परमात्मा ही अन्तर्यामी पदवाच्य है ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽन्तर्याम्यधिकरणम् ।

आर्धवर्णिक अर्थात् मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है कि ‘अथ=वह परा विद्या है जिसके द्वारा अक्षर पुरुष अधिगत होते हैं । जो अद्रेश्य है—ज्ञानेन्द्रिय चक्षुरादि से गृहीत नहीं होता है । जो कर्मेन्द्रिय का विषय नहीं है । ब्राह्मणत्वादि जाति रहित है । जो चक्षुरादि इन्द्रिय से रहित हैं । पाणिपादादिक कर्मेन्द्रिय से रहित हैं । नित्य विभु अनेक सेवादि रूप से ग्रहण न होने वाले सर्व गत सूक्ष्म है । अर्थात् अकृत तत्परचरण से

दिगुणकोजीवः प्रधानं वोत परमात्मेति ? तत्र पूर्वपक्षः । प्रधाने जीवे वादृश्यत्वादीनां सम्भवात् । प्रधानस्य भूतयोनित्वं निसर्गतोऽचेतनरूपस्य प्रपञ्चस्योत्पादनात्सिद्धम् । एवं स्वकृतेन कर्मणा नानाविधदेहधास्त्वेन जीवस्यापि भूतयोनित्वात्तावेवात्र प्रतीयेते । प्रधानस्य तादृशभूतयोनित्वन्तु 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति 'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' [मु.१।१।७] इत्यादिभिरचेतनानामेव दृष्टान्तत्वेनोपदानमपि द्रढयति । प्रकृतश्रुतावप्यदृश्यमिति पर्युदासाश्रयणेनस्थूलदृश्यभिन्नं सूक्ष्माख्यं तत्प्रधानमेव ज्ञायते । अतो पकमतिस्सूक्ष्मञ्च । एवं हि मुण्डके श्रूयते । तत्र संशयः, अत्रादृश्यत्वादिगुणकोभूतयोनि-प्रधानं जीवो वा परमात्मा वा । तत्र प्रधानमेवाचेतनं भूतयोनिः । यतो दृष्टान्त-स्याचेतनस्यैवदर्शनात् । अथवा शारीरोभूतयोनिः, तस्यापि शुभाशुभकर्मद्वारासर्वोत्पादकत्वात् । नतु परमात्मा तद्ग्राहकत्वहेतोरभावादित्याशङ्क्यतन्निराकरणायोप-क्रमते भाष्यकारः आथर्वणिकैरान्मायने इत्यादि । प्रधानस्य भूतयोनित्वंमहदादिसर्वं ग्राह्यं नहीं है । अव्यय सर्व भाव विकार रहित है । भूतमात्रों का निदान कारण है जिसको उपासक लोक देखते हैं इसी तरह आगे भी कहा है । 'अक्षर से भी परतः पर है' । इसमें संशय होता है कि ये जो आदृश्यत्वादिक हैं तादृश गुणवान् प्रधान है, अथवा जीव है, यद्वा परमात्मा है । त्रितय साधारण घर्म के दर्शन से संशय होता है । इसमें पूर्व पक्ष होता है कि प्रधान में अथवा जीव में अदृश्यत्वादि गुणकत्व हो सकता है । प्रधान में तो भूतयोनित्व हो सकता है । क्योंकि अचेतन समस्त जगत् वा प्रधान परिणामी उपादान कारण है । एवं जीव भी स्वकृत कर्म द्वारा अनेक प्रकारक देह का धारण करने से भूतयोनि हो सकता है ।

इसलिए भूतयोनि शब्द से प्रधान तथा जीव का ही यहाँ ग्रहण होता है । 'जिस तरह उर्णनाभि छूताकीट तन्तु को बनाता है । तथा संहरण कालेता है' 'जिस तरह पृथिवी से ओषधियों की उत्पत्ति होती है यथात्रा जीवित पुरुष के देह से नखलोमों की उत्पत्ति होती है उसी तरह अक्षर पुरुष से समस्त विश्व पैदा होता है' इत्यादि श्रुति वाक्य में

ऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रतिपाद्येते । इत्येवं प्राप्त आह—
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिर्क्षरः
परमात्मैव । कुतः ? धर्मोक्तेः । ‘यः सर्वज्ञः स सर्ववित्’ ‘यस्य
ज्ञानमयं तपः’ (मु० १।९) इति परमात्मासाधारणधर्माणां सर्वज्ञत्वादी
नामत्र प्रकरणेऽभिहितत्वात् । ननु “यया तदक्षरमधिगम्यात्”
इत्यक्षरमभिधाय पुनश्चाक्षरात्परतः पर इत्यनेनाक्षरमवधित्वेन प्रकल्प्य
ततोऽपि परतः कश्चिदभिधीयते । यदि चात्र पूर्वेणाक्षरपदेन पर-
मात्मा गृह्येत तर्हित्वक्षरात्परतः पर इति कथं संगच्छेत स्वस्य स्व-
स्मात्परत्वासम्भवात् । तस्मादत्राक्षरपदेन प्रधानमेव ग्रहीतव्यम्,
विकारजनकत्वेन सुप्रसिद्धमेव । जीवस्यापि कर्मद्वारा तत्त्वं सिद्धम् । अतः प्रधानपुरुष-
योरेवात्र ग्रहणं न परमात्मनो ग्रहणमिति पूर्वपक्षः । तत्रोच्यते अदृश्यत्वादिगुणक इति ।

प्रकृतप्रकरणे अदृश्यत्वादिगुणयुक्तः परमात्मैव भवति यतः परमात्मधर्मा-
णामिह दृश्यमानत्वात् । यः सर्वज्ञः स सर्ववित् इत्यादिना सर्वज्ञत्वसर्ववित्त्वादि
अचेतन पृथिव्यादिक के दृष्टान्त रूप से ग्रहण करने से सिद्ध होता है कि अचेतन उपादान
है । और प्रकृत श्रुति में ‘अदृश्यम्’ पद में पर्युदासार्थक नञ् से स्थूल व्यतिरिक्त सूक्ष्म
नामक वस्तु का ग्रहण होता है वह प्रधान ही है ऐसा सिद्ध होता है । इसलिए इस
प्रकरण में प्रधान पुरुष ही प्रतिपादित होता है । एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहने
हैं ‘अदृश्यत्वादि गुण को धर्मोक्तेः’ अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट भूतयोनि अक्षर पद वाच्य
परमात्मा ही है । क्योंकि प्रकृत में परमात्म धर्म का कथन है । ‘जो सर्व विषयक सामान्य
ज्ञानवान् है । वह सर्व विषयक विशेष रूप से ज्ञानवान् है’ इत्यादि श्रुति में परमात्मा का
असाधारण जो सर्वज्ञत्व सर्ववित्त्व सर्व शरीरत्वादिक धर्म है उसका कथन किया
गया है ।

प्रश्न—“जिस विद्या के द्वारा वह अक्षर जाना जाता है” इससे अक्षर का कथन करके
पुनः ‘अक्षर से परतः पर है’ इस वाक्य से अक्षर को अवधि रूप से कल्पना करके उस
अक्षर से परतः पर कोई कहा जाता है । यहाँ यदि प्रथम अक्षर पद से परमात्मा का यदि
ग्रहण करें तब तो अक्षर से परतः पर है ‘यह कथन संगत नहीं होगा क्योंकि स्व में स्व
से परत्व असंभवित है । भेद सादृश्यादि के समान पर शब्द भी सप्रतियोगिक होता है ।

जीवोवेति चेन्न । 'अक्षरात्परतः पर' इति द्वितीयाक्षरशब्दस्य परमात्मपरत्वाभावात् । तथाहि । 'द्वे विद्येवेदितव्ये परा चैवापरा चेति' तत्र ऋगादिलक्षणाया विद्याया अपरत्वमुक्त्वा 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' [मु० १।१।५] इतिपरस्याविद्यायाः कथने तद्विषयत्वेनाक्षरस्योक्तत्वात् । तद्यदि तत्र परमात्मनो भिन्नमन्यत्प्रकल्प्येत न सा परा विद्यास्यान् । अभ्युदयफला हि ऋग्वेदादिलक्षणा विद्या अपरा । निःश्रेयसफला सैव ब्रह्मविद्येति भण्यते । अभ्युदयनिःश्रेयसफलतयैवैतयोः परापराख्यो विभागोऽभिमतः । तस्माद् 'अक्षरात्परतः पर' । २३ पञ्चम्यन्तोक्षरशब्दः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं नाभिधत्तेऽपि तु भूतसूक्ष्ममचेतनं वक्षतीति ॥२२॥

परमात्मासाधारणधर्माणं दर्शनात् परमात्मैव भूतयोनिपदेन गृहीतो भवति । प्रधानेतु सर्वज्ञत्वादिकं न भवति जडत्वात् । नापि जीवे एते धर्माः अल्पज्ञत्वात् कर्मपराधीनत्वाच्च । अतः परमात्मैव प्रकृतप्रकरणे प्रतिपाद्यो न जीवप्रधानयोर्ग्रहणमिति संक्षेपः ॥२२॥

तो जिस तरह स्व का भेद अथवा स्व का सादृश्य स्व में अनुभव वाचित है । उसी तरह स्व में स्वार्पणया परत्व भी वाचित है । इसलिए यहाँ अक्षर पद से प्रधान का अर्थ जीव का ही ग्रहण करना चाहिए । उत्तर—'अक्षरात्परतः पर' अक्षर से भी परतः पर है' यहाँ द्वितीय अक्षर शब्द को परमात्मा परत्व का अभाव है । तथाहि 'दो प्रकार की विद्या है, एक परा तथा द्वितीय अपरा है' । उसमें ऋग्वेद यजुः सामाथर्वण अङ्गोपाङ्ग सहित विद्या को अपरा कह करके 'वह परा विद्या है जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म जाना जाता है ।' इस प्रकार से पर विद्या का विषय रूप से अक्षर का कथन किया गया है । अब यदि इस स्थल में परमात्मा से भिन्न प्रधान अथवा शरीर की तद्विषयत्वेन कल्पना करें तब तो वह परा विद्या नहीं कहलायगी । अभ्युदय स्वर्गादि फलक ऋग्वेदादि लक्षण विद्या अपरा कहलाती है । और वहीं निष्काम रूप से संपाद्यमान निःश्रेय सलक पराविद्या कहलाती है । अभ्युदयनिःश्रेयस फलोत्पादकत्वं रूप से ही परापर का विभाग अभिमत है । तस्मात् 'अक्षरात्परतः पर' यहाँ पञ्चमी विभक्तिक अक्षर शब्द से एतत्प्रकरण प्रतिपाद्य अदृश्यत्वादि गुणक परमात्मा का प्रतिपादन नहीं होता है किन्तु अचेतन सूक्ष्मभूत का ही प्रतिपादन होता है । इति संक्षेपः ॥२२॥

इतोऽपि न प्रधानजीवौ-

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ । १ । २ । २३ ।

चकारः पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिहेतुं समुच्चिनोति । इतरौ प्रधान-
जीवात्मानौ न भूतयोन्यक्षरशब्दवाच्यौ किन्तु परमपुरुष एव ।
कुतः ? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । सर्वगतमिति विदेषणं प्रधान
पुरुषाभ्यां भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयति । परतः पर इत्यादिना च भूत-
योन्यक्षरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां भेदो व्यपदिश्यते । उत्तस्वाक्येऽपि-
'दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः
शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' [मु० २।१।२।] इत्यादिनाऽमनस्त्वान्तं
विशेषणं भूतयोन्यक्षरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां व्यावर्तयति भेदञ्च व्यप-
दिशति । अक्षरात्परतः पर इत्यस्यायमर्थः अक्षरं प्रधानं तस्मात्

भूतयोन्यक्षरपदेन परमात्मन एव ग्रहणं भवति किन्तु प्रधानशरीर
योर्ग्रहणं न भवति तत्र हेत्वन्तरमपि दर्शयति विशेषणेत्यादि सूत्रम् सर्वव्यापकत्वं
सर्वशरीरित्वादिविशेषणवलात्परमात्मन एव ग्रहणं तद्विन्ने तादृशविशेषणस्य
सर्वथैवासंभवात् । तथाऽक्षरात्परतः पर' इत्यादिना तयोर्भेदव्यपदेशोपि व्यावर्तयति ।

इस चक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि भूतयोनि अक्षर पदवाच्य परमात्मा है ।
किन्तु प्रधान अथवा शरीर नहीं है 'विशेषण भेदेत्यादि' सूत्रघटक जो चकार है वह पूर्वकथित
सर्वज्ञत्वादिक हेतु का भी संप्राहक है । इतर-परमेश्वर व्यतिरिक्त प्रधान तथा जीवात्मा भूतयोनि
अक्षर शब्द वाच्य नहीं है किन्तु सर्वज्ञ सर्वगत सर्वजगत कारण परम पुरुष परमात्मा ही
भूतयोनि अक्षर पदवाच्य है । क्योंकि विशेषण तथा भेद व्यपदेश होने से । सर्वगतत्व रूप
जो विशेषण है वह भूत योनि अक्षर को प्रधान पुरुष से भिन्न कराता है 'भूतयोनिः प्रधान
पुरुषाभ्यांभिद्यते सर्वगत त्वात्' तथा 'परतः परः' इत्यादि से भूतयोनि अक्षर में प्रधान पुरुष
से भेद भी सिद्ध होता है । एवं अग्रिमवाक्य में भी 'दिव्योह्यमूर्तः' इसमें दिव्य से लेकर के

परतो जीवादपि पर इति परिणामिनित्यरूपाक्षरापेक्षया कूटस्थनित्य
स्याक्षरस्य जीवस्य परत्वं तदपेक्षयापि लयशून्यस्याक्षरस्य ब्रह्मणः
परत्वमुक्तमिति च । 'जुष्टं यदापश्यत्यन्यमीश' मित्यागामिवाक्ये
ष्वपि भेदव्यपदेशो दृश्यते ॥२३॥

प्रधानपुरुषयोर्दृश्यत्वादिगुणराहित्ये हेत्वन्तरं दर्शयति रूपेत्यादि-

५ रूपोपन्यासाच्च । १ । २ । २४ । ५

भूतयोनिर्क्षरपदाभिहितः परमात्मैव नेतरौ । कुतः ? रूपो-
पन्यासात् । अक्षरात्परतः पर इत्यस्यानन्तरं 'एतस्माज्जायते प्राणः'
इत्यादिना प्राणादिपृथिव्यन्ततत्त्वजातस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैवाक्षरस्य
सर्वविकारात्मकरूपोपन्यासो दृश्यते । 'अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्र-
दिव्योद्यमूर्त इत्यादिवक्ष्यमाणं दिव्याऽमनस्कत्वादिविशेषणादपि परमात्मैव भूतयो-
न्यक्षरशब्दवाच्योऽन्यजीवप्रधानाविति सर्वं प्रदर्शितं भाष्यकारेणेति संक्षेपः ॥२३॥

वक्ष्यमाणहेतुनापि भूतयोनेः परस्यैवाक्षरपदेन ग्रहणं भवति ननु प्रधान
पुरुषयोः । यतः अक्षरात्परतः परः एतद्वाक्यानन्तरम् एतस्माज्जायते प्राणोऽमनः
इत्यादिना प्राणादिपृथिवी पृथन्ततत्त्वानां सर्गं प्रतिपाद्य तादृशभूतयोनेः सर्व-
अमनस्त्वान्तं जो विशेषण है वह भूतयोनि अक्षर को प्रधान पुरुष से व्यावृत्तकराना है । तथा
भेद का भी प्रतिपादन करता है । 'अक्षरात्परतः परः' इस वाक्य का यह अर्थ होता है 'अक्षर
शब्द का अर्थ है प्रधान उस प्रधान से पर है जीव तादृश जीव से भी पर परमात्मा है ।
अर्थात् परिणामी नित्य रूप जो अक्षर तदपेक्षया कूटस्थ नित्य अक्षर रूप जीव में परत्व है ।
और एतादृश जीवापेक्षया भी लयादि शून्य अक्षर पर ब्रह्म में परत्व कहा जाता है । 'जुष्टं
यदा पश्यति' इस आगामी वाक्य में भी भेद व्यपदेश देखने में आता है ॥२३॥

प्रधान तथा पुरुष अदृश्यत्वादि गुणबाला नहीं है । किन्तु तादृश गुणक परमात्मा ही
है । इसमें पूर्वोक्त हेत्वपेक्षया अन्य हेतु को बतलाते हैं 'रूपोपन्यासेति' ।

अक्षर पद का वाच्य भूतयोनि परमात्मा ही है । क्योंकि परमात्मा का जो रूप
है उसका कथन इस प्रकरण में है । 'अक्षरात्परतः परः' इसके बाद में 'इस परमात्मा से'

सूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्विचृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्व-
मस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' [मु०२।१।४।] इति
परमात्मन एव सर्वचेतनाचेतनात्मकः प्रपञ्चो रूपत्वेनोपन्यस्यते ।
सर्वविकारकारणत्वात्तनुमहिम्नः शारीरस्य प्रधानस्य चायं रूपोप-
न्यासो न घटते । तयोः सर्वभूतान्तरात्मत्वस्यासम्भवात् । अतः
परमात्मैव भूतयोनिरक्षरो नेतराविति सिद्धम् ॥२४॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ।

विकारात्मकरूपस्य प्रतिपादनं कृतम् । तादृशरूपं परमात्मन एव संभवति सर्व
विकारकारणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च नेतरयोस्तथात्वाभावादतः परमात्मैव तथा नेतरा
वित्यादिकं सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते प्रधानपुरुषयोरित्यादि भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थान्येवेति
संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ।

इत्यादि वाक्य से प्राणादि से लेकर के पृथिव्यन्त तत्त्वों के सर्ग का प्रतिपादन करके उस
अक्षर परमात्मा का सर्वाधिकारात्मक रूप का उपन्यास देखने में आता है ।

तथाहि 'अग्नि जिसका शिरोभाग है । चन्द्रमा सूर्य चक्षु हैं । श्रोत्र दिशा है । विस्तृत
वेद जिसकी वाणी है । वायु प्राण है । हृदय संपूर्ण विश्व है । पादस्थानापन्न पृथिवी है ।
एतादृश सर्वभूतों का अन्तरात्मा परमेश्वर है ।' एतादृश जड चेतन साधारण सकल प्रपञ्च पर-
मात्मा का रूपत्वेन उपन्यस्यमान है । सर्वविकार कारण परमात्मा के अपेक्षया अत्यल्पमहिमा
शील शारीर अथवा प्रधान का यह रूप नहीं हो सकता है । क्योंकि इन दोनों में सर्वभूतान्त
रात्मत्व नहीं है । अतः परमात्मा ही भूतयोनि अक्षर है इतर नहीं है ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥१॥२॥२५

छान्दोग्ये इदमाम्नायते—‘कोनु आत्मा ? किम्ब्रह्मेति ।’
 ‘आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेवनो ब्रूहीति’ [छा० ५।
 १।१६] ‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
 स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति’ [छा० ५।१८।१]
 ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः
 प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलोबस्तिरेवरयिः पृथिव्येव पादावुर
 एव वेदिलोमानिबर्हिहृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्य-
 माहवनीयः’ [छा० ५।१८।२।] इत्यादि । तत्र संदिह्यते । किमिह

छान्दोग्योपनिषदि “कोन आत्मा किं ब्रह्म आत्मानं वैश्वानरमित्यादिश्रूयते ।
 तत्र संशयोभवति किमिहवैश्वानरशब्देनोपास्यतया कस्यग्रहणं कर्त्तव्यं किं जाठरा-
 ग्नेर्भूताग्नेरभिमानिदेवोवा जीवः परमेश्वरोवेति । तत्र वैश्वानरशब्दस्य जाठराद्य-
 नेकार्यबोधकत्वाज्जाठरादयस्त्रयः संशयिताभवन्ति आत्मपदसानिध्यात् जीवपरौच ।

‘कोनु आत्मा किं तद् ब्रह्म’ इत्यादि वाक्य घटक जो वैश्वानर पद है वह अनेकार्थ
 बोधक है तो प्रकृत में किसका बोध होता है । इस बात का विचार करने के लिए
 भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘छान्दोग्ये इदमाम्नायते’ इत्यादि, छान्दोग्योपनिषद् में वक्ष्यमाण
 प्रकार से कहा जाता है “आत्मा क्या है ?” ‘ब्रह्मक्या है ? इस वैश्वानर आत्मा को आप
 जानते हो, उसका उपदेश आप करो’ ‘जो उपासक इस प्रादेश परिमित वैश्वानर आत्मा
 का उपासन करता है । वह उपासक सर्वलोक में सर्वभूत में तथा सर्व आत्मा में अन्न को
 प्राप्त करता है ।’ ‘उस इस वैश्वानर आत्मा के उपासक का भूर्धा ही सुतेजा मूर्धा है,
 चक्षु विश्व रूप प्राण है इत्यादि’ आस्य आहवनीयाग्नि है’ इत्यादि । इसमें संशय होता है
 कि वैश्वानर शब्द से जाठर अग्नि का ग्रहण होता है अथवा भूताग्नि का ग्रहण होता है
 अथवा तद् अभिमानी देव का ग्रहण होता है । यहाँ जीव का ग्रहण होता है अथवा
 सर्वकारण परमात्मा है ? तो यहाँ संशय का कारण क्या है ? जिसलिए वैश्वानर शब्द

वैश्वानरशब्देन जाठराग्निर्वाभूताग्निरथ तद्देवता किं वा जीव
 उत परमात्मेति ? किम्पुनरत्र संशयकारणम् ? यस्माद्वैश्वानरशब्दः
 सर्वेषु साधारणतया निर्दिश्यमानो दृश्यते जाठराग्नौ तावदयमग्निर्वै-
 श्वानरो योयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नमपच्यते यदिदमद्यते' [बृ०
 ७।१।६।] इत्यादिभूताग्नावपि 'विश्वास्मा अग्निं भुवनाय देवा
 वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' [ऋ०सं०१०।८।१२।] अग्निशरीरा-
 यामपि वैश्वानरशब्दः । 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजाहि कं
 भुवनानामभिधीः' [ऋ०से०१।९।८।१।] एवं कोन आत्मेत्यात्मश-
 ब्दवशेन जीवात्मन्यपि भोक्तृत्वेन वैश्वानरशब्दो व्याख्येयः ।
 परमात्मनि च 'तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत' [अष्टक.३
 प्रश्न०११ अनु०८।] इति प्रश्ने "स एष वैश्वानरो विश्व रूपः
 प्राणोग्निरुदयते' [प्रश्न०१।७।] इत्येवमादिवाक्योपक्रमादिषु

तत्र जाठरेलोकप्रसिद्धिसत्त्वेन अन्यस्यापि तथात्वेन तेषामेव ग्रहणम् । आत्मपदस्य
 जीवेशकतत्त्वात्तस्यैव वा ग्रहणं नतु परमात्मनः तस्यव्यापकत्वेन प्रकृते तद्ग्रहणस्याशक्य-
 त्वादितिचेन्न वैश्वानरशब्दस्यव्युत्पाद्यमानस्य परमेश्वरबोधकत्वात् । किं च मूर्ध्वैव
 सुतेजा इत्यादिना सर्वात्मकत्वादिप्रतिपादनंक्रियते ततः परमेश्वरे एव संभवति नतु
 उपर्युक्तं सब में साधारण रूप से निर्दिश्यमान देखने में आता है । जाठर अग्नि में
 तो 'वह अग्नि यह वैश्वानर है जो यह पुरुष के अन्दर में वर्तमान है
 जिसके द्वारा अन्न खाया जाना है' पचाया जाता है' इत्यादि । एवं 'विश्वस्मै अग्निं'
 इत्यादि श्रुति से भूताग्नि में वैश्वानर का प्रयोग होता है । अग्नि शारीरिक
 देवता में भी प्रयोग होता है । 'वैश्वानरस्य सुमतौ' इत्यादि । एवं 'कोनु आत्मा'
 यहां जीव में वैश्वानर का प्रयोग है । एवं 'तदात्मन्येवहृदये' 'एष वैश्वानरोविश्वरूप'
 इत्यादि स्थल में परमात्मा में भी प्रयोग होता है । इसलिए संशय होता है कि किसका
 ग्रहण करना चाहिए । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'वैश्वानर' इत्यादि सूत्रम् । वैश्वानर
 पदवाच्य परमात्मा है । साधारण शब्द विशेष से अर्थात् यद्यपि जाठर भूतदेव जीव और
 परेश में साधारण समान भी वैश्वानर पद है तथापि परमात्मा का जो असाधारण धर्म है

समुपलभ्यमानानि लिङ्गानि सर्वानुगुण्येन व्याख्यातुं नेतुञ्च शक्यानीति प्राप्तेऽभिधीयते ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषादिति । वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः ? साधारणशब्दविशेषात् । विशेष्यत इति विशेषः । औदर्यभृताग्निदेवताजीवपरमात्मसु साधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मा साधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वात् । येन विशेषेण पर एव पुरुषो वैश्वानरशब्दस्य मुख्यार्थः स्यात् । स विशेषोऽत्र विद्यते । 'एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादिविशेषावगमादित्यर्थः । 'कोन आत्माकिम्ब्रह्मेति' सर्वात्म-भूतब्रह्मजिज्ञासायां प्रवर्तमानैरौपमन्यवादिमहर्षिभिर्वैश्वानरात्मज्ञमश्वपतिकेकयम्प्राप्य जिज्ञास्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मैवेति निश्चेतुं शक्यम् । जाठरादेर्द्युप्रभृतिपृथिवीपर्यन्ता अवयवानो-तदितरे संभवति तस्मात् साधारणशब्दविशेषात्परमात्मैवतादृशशब्दप्रतिपाद्यो भवति नतु तदतिरिक्तः कश्चिदिति स एवोपास्यतया परिगृहीतव्यः । किञ्च प्रकृतविद्यायाः फलं सर्वपापप्रदाहः श्रुतः स च परमात्मपरिग्रहे एवोपयुज्यते नान्यत्र । अहं वैश्वा-नरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः इत्यादिस्मृत्यापि परमात्मपरिग्रहपक्ष एवानुमोदितो उनसे विशेष्यमाण है । जिस विशेषण के द्वारा परमात्मा ही वैश्वानर शब्द का वाच्य होते हैं वह विशेषता प्रकृत में है । 'इस वैश्वानर आत्मा का सुतेजा मूर्धा है । 'कोनु आत्मा' यहाँ सर्वात्मभूत ब्रह्म जिज्ञासा में प्रवर्तमान औपमन्यवादि महर्षियों से वैश्वानर ज्ञानवान् अश्वपति केकय को प्राप्त करके जिज्ञासा विषय वैश्वानर परमात्मा ही है ऐसा निश्चय किया जाता है । यदि वैश्वानर शब्द से जाठरादिक का ग्रहण करे तो उसका बु प्रभृतिक पृथिव्यन्त अवयव तो प्रत्यक्ष बाधित है । क्योंकि जाठरादिक में सर्वात्मत्व का अभाव है । और 'किं ब्रह्म' इत्यादिक में प्रक्रान्त जो ब्रह्म है उसके स्थान में सर्वत्र वैश्वानर पद का प्रयोग से भी सिद्ध होता है कि वैश्वानर पद वाच्य परमात्मा ही है । एवं 'स सर्गेषु लोकेषु' यहाँ से आरम्भ करके 'पाप्मानः प्रदूयन्ते' इत्यादि से वक्ष्यमाण जो वैश्वानरात्म विज्ञान फल

पपद्यन्ते तस्य सर्वात्मत्वाभावात् । किं ब्रह्मेति प्रकान्तस्य ब्रह्म-
शब्दस्य स्थान उत्तरत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दस्य प्रयोगात्सोऽपि
ब्रह्मैवाभिदधाति । 'स सर्वेषु लोकेषु' इत्याभ्य 'एवं हास्य सर्वे
पाप्मानः प्रदूयन्त' इतिवक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलमपि वैश्वा-
नरात्मानं परमेव पुरुषं विबोधयति ॥२५॥

इतश्च वैश्वानरः परः पुरुष एव-

५ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति । १।२।२६ ५

वैश्वानरपदवाच्यः परमात्मैव । यतः परस्य ब्रह्मण एवा
'ग्निरास्य द्यौर्मूर्धे' तीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यमाणं दृश्यते ।
श्रुतिस्मृतिषु परमात्मन ईदृशं रूपमुपवर्ण्यते तत्र तत्र । तथाहि
'अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्चोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः
भवतीत्यादिकं सर्वं बोधयितुमुपक्रमते छान्दोग्ये इदमात्मनायते इत्यादि ।

अयं वैश्वानरः शब्दः अनेकार्थस्य बोधकः ।

तथापिशब्दसामर्थ्यात् उपास्यः पर एव हि ॥१॥ ॥२५॥

न केवलं पूर्वोक्तयुक्तिभिरेव वैश्वानरपदवाच्यः परमात्मा किन्तु वक्ष्यमाण
युक्तिभिरपि वैश्वानरपदवाच्यः परमात्मैव भवति यतः सर्वलोकशरीरकस्य
है उससे भी सिद्ध होता है कि वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा ही है । अर्थात् सर्वपाप का
प्रदाह लक्षण फल विशेष परमात्मा ज्ञान के बिना असंभवित है । इसलिए वैश्वानर पदवाच्य
परमात्मा ही हैं तदितर जाठर भूताग्नि देव जीव प्रकृत प्रकरण में वैश्वानर पदवाच्य
नहीं है ॥२५॥

प्रकारान्तर से वैश्वानर पदवाच्यत्व परमात्मा में उपपादन करने के लिए कहते हैं ।
वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा है । जिसलिए पर ब्रह्म के 'अग्निरास्य द्यौर्मूर्धा' इत्यादि एतादृश
त्रैलोक्यात्मक भगवान् के शरीर का स्मृति में प्रतिपादित देखने में आता है । श्रुतिस्मृतियों
में परमात्मा का एतादृश रूप का वर्णन तत्तत् स्थल में किया गया है । तथाहि—अग्निमस्तक

प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' [मु०२।१।४।] इति । तथा 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः'—[भारते शा० प०२।०५०] 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रौ । दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता' इत्यादिकाः श्रुतिस्मृतयः । एवञ्च द्युप्रभृति पृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपं स्मर्यमाणं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् । प्रयोगस्तु—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति, अभिविमानत्वे सर्वज्ञत्वे सर्वात्मत्वे च सति स्मृत्युक्तत्रैलोक्यशरीरत्वादिति । इति शब्दः प्रकारार्थः । औपमन्यवप्रभृतिभिर्महर्षिभिः 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं परमेश्वरस्याग्निर्मुखां द्यौर्मूर्धा' इत्यादिकत्रैलोक्यात्मकं स्वरूपं स्मृतौ स्मृत्यमाणं भवति । तदुक्तं यस्याग्निरास्यं मूर्धा इत्यादि । स्मृतिश्च श्रुत्यनुगामिनी भवतीति नियमेन एतादृशस्मृतेर्बुलभूतां श्रुतिमनुमापकपदस्य वैश्वानरपदस्य परमेश्वररूपत्वेऽनुमानं गमकं भवेदिति । यत इदं गमकं तस्मात् वैश्वानरः परमात्मैवेति एतत्सर्वसंक्षेपविस्तराभ्यां है । चन्द्रमा सूर्यनेत्र हैं दिशा श्रोत्र हैं वेद ही प्रकाशित वाणी है वायु प्राण है समस्त विश्व हृदय है पादस्थानापन्न पृथिवी है एतादृश त्रैलोक्य शरीर परमात्मा सर्वभूत का अन्तरात्मा है । तथा महाभारत में भी कहा है 'जिस का मुख अग्नि है द्यु अन्तरिक्ष लोक मस्तक है आकाश नाभि है पृथिवी चरण है सूर्यचन्द्र चक्षु है दिशा श्रोतेन्द्रिय है एतादृश सर्वलोक शरीरक परमात्मा के लिए नमस्कार हो' तथा 'जिसका मस्तक अन्तरिक्ष लोक है ऐसा विप्र क्रोग कहते हैं आकाश नाभि है चन्द्रमासूर्य नेत्र हैं दिशा श्रोत्र है पृथिवी पैर है' एतादृश सर्वभूत प्रणेता अचिन्त्य शक्ति शाली परमात्मा है' इत्यादिक श्रुतिस्मृति समुदाय प्रमाण है ।

ऐसा हुआ तब द्यु प्रभृतिक पृथिव्यन्त अवयव विभाग से स्मर्यमाण जो रूप है तथा 'तदेवेदम्' इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञायमान वैश्वानर का जो रूप है वह वैश्वानर को परमात्मा होने में अनुमान है । अनुमानाकार इस प्रकार से होता है— वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा ही हो सकता है । अभिविमानत्व सर्वज्ञत्व तथा सर्वात्मत्वादि विशिष्ट स्मृति प्रतिपादित त्रैलोक्य शरीरत्व होने से । सूत्रघटक इति शब्द प्रकारवाची है । औपमन्यव प्रभृतिक

सम्प्रत्यध्येषि तमेव नोब्रूहि' [छा० ५।१।६] इत्येवं पृष्ठः केकयस्तेभ्यो
 वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुर्विशेषप्रश्नानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः कि-
 ञ्चिज्ज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विदित्वा तेषामज्ञातांशपूर्तिकामनया
 तानेकैकशः पृष्ट्वोपदिदेश । औपमन्यव ! कन्त्वमात्मानमुपास्से'
 [छा० ५।१।८।१] स चाह 'दिवमेव भगवो राजन्नि' ति । ततस्तस्य
 दिवि पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तयन् 'दिवः सुतेजाः' इतिनामधे-
 यमुक्त्वा वैश्वानरांशत्वमसूचत् । एवं सत्ययज्ञादिभिरुपास्यमान-
 त्वेनोक्तानामादित्यवाय्वाकाशोपृथिवीनां 'विश्वरूप, पृथग्गर्मा
 बहुलोगयिः प्रतिष्ठा' इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुः
 प्राणसन्देहवस्तिपादावयवत्वञ्चोपदिष्टवान् । तस्मात्परमात्मन एव
 द्युमूर्धत्वादिविशिष्टस्य रूपस्योपपत्तौ वैश्वानरः स एवेति ॥२६॥

प्रतिपादयितुमुपक्रमते भाष्यकारः वैश्वानर पदवाच्यः परमात्मैवेत्यादि प्रयोगस्तु इति तत्र
 वैश्वानर इति पक्षः परमात्मरूपत्वं साध्यम् अभिविमानत्वादिविशिष्टस्मृतिप्रति-
 पादितत्रैलोक्यशरीरत्वं हेतुः । अनेन हेतुना यथोक्तं परमेश्वररूपमनुमानकं
 भवतीतिभावः ॥२६॥

महर्षियों से 'इस वैश्वानर आत्मा को आप जानते हैं अतः आप उसका उपदेश दीजिए' इस
 प्रकार से पूछा गया केकयराज उन ऋषियों को वैश्वानर आत्मा के उपदेश देने की इच्छा
 से ये लोग वैश्वानर के स्वरूप को अंशतः जानते हैं अंशतो नहीं जानते हैं । इस प्रकार
 से जान करके वैश्वानर के अज्ञात अंश को समझाने के लिए एक एक को पूछ करके उप-
 देश दिया । 'हे औपमन्यव ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? तब औपमन्यव
 ने कहा 'हे राजन् । मैं वैश्वानर रूप से बु की उपासना करता हूँ' तब वह राजा बु
 लोक में पूर्ण वैश्वानर बुद्धि को निवृत्त करते हुवे 'दिवः सुतेजा' यह नाम कह करके उस
 को वैश्वानर का एक अंश रूप से वर्णन किया । एवम् सत्य यज्ञादिक से उपास्यमान होने
 से पूर्वोक्त आदित्य वायु आकाश पृथिवी को 'विश्वरूप पृथग्गर्मा बहुलोरपि-प्रतिष्ठा' एक एक
 गुणनामधेय को वैश्वानरात्मा का प्राणादिक का उपदेश दिया । इसलिये परमात्मा का ही
 बु मूर्धत्वादि विशिष्ट रूप की उपपत्ति होने से वही वैश्वानर है । अर्थात् परमात्मा का
 रूप होने से वैश्वानर पदवाच्य परेश ही है ॥२६॥

इत्थं परमात्मन एव वैश्वानरपदाभिधेयत्वम्प्रसाध्यापि स्थूणा-
निखननन्यायेन पुनराशङ्क्यसमाधत्ते—

५ शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न
तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि
चैनमधीयते । १।२।२७ ५

वैश्वानरः परमात्मा न भवितुमर्हति । कस्मात् ? शब्दादि-
भ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावद्वैश्वानरप्रकरणे 'स एष वैश्वानरो
विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते' [प्रश्न० १।७।] इत्यग्निशब्दसामानाधि-
करण्याद्वैश्वानरस्य कौक्षेयार्त्तं बोधयति । सति शक्यार्थेऽर्थान्तर-
यदुक्तं वैश्वानरपदप्रतिपाद्यः परमात्मेति तन्न समीचीनं यतः शब्दादि-
भ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाद्वैश्वानरोग्निरेवतत्प्रतिपाद्योऽन परमात्मेति । वैश्वानरशब्दस्य
जाठरे प्रसिद्धत्वात् । तथा पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद इत्यनेन जाठरस्यैव तथात्वादिति
न परमेश्वरः किन्तु कौक्षेयान्निरेवेत्यं भूत इति । तथा दृष्ट्युपदेशात् अर्थात् जाठरशरीरकस्य-
परस्यैवोपासनस्यप्रतिपादनात् नहि पुरुषत्वं जाठरस्य संभवति सर्वशरीरकस्य तु
यथोक्त क्रम से परमात्मा में वैश्वानर पदवाक्यत्व को स्थिर करके स्थूणानिखनन
न्याय से उसी अर्थ को पुनः दृढ़ करने के लिये आशंका करके समाधान करने के लिए
कहते हैं 'शब्दादिभ्यः' इत्यादि । वैश्वानर पद प्रतिपाद्य परमात्मा नहीं हो सकता है ।
क्योंकि शब्दादिक तथा अन्तः प्रतिष्ठान होने से । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं "शब्द
स्तावदित्यादि" वैश्वानर प्रकरण में 'सो यह वैश्वानर विश्वरूप प्राणाग्नि उदित होता है' यह
शब्द अग्नि शब्द के सामानाधिकरण्य से वैश्वानर को जाठर अग्नि रूपत्व का बोधन करता
है । जहाँ तक शब्द शक्यार्थ संभवित हो सके तब तक अन्यार्थ कल्पना समुचित नहीं है ।
(शक्ति के अनेक ग लक्षण वृत्ति जघन्य है ।) और भी इस प्रकरण में 'हृदयगार्हपत्य अग्नि है
मन अन्वाहार्यपचन है और आहवनीय अग्नि मुख है' इस प्रकार से तीन अग्नि का कथन
है । 'प्रथम जो ओदन प्राप्त हो वह होमीय है जो प्रथमाहुति का इवन करे वह प्राण
के लिए' इत्यादि से प्राणाहुत्यधिकरणता का प्रतिपादन किया है । एवं वैश्वानर को अन्तः

कल्पनाया अन्याय्यत्वात् । किञ्चात्र प्रकरणे 'हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनः, आस्यमाहवनीयः' [छा० ५।१।२।] इत्यग्नि-
त्रयव्यपदेशः क्रियते । "तद्यद्वन्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथम-
माहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा" [छा० ५।१।१।] इत्यादिना
च प्राणाहुत्यधिकरणतोच्यते । एवमन्तः प्रतिष्ठत्वमपि वैश्वानरस्य
वाजसनेयिनामग्निरहस्ये श्रूयते 'स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं
पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदः इति । तथा चैवं विधेभ्यो
हेतुभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च न वैश्वानरः परमात्मा प्रत्येतव्य इति-
चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशात् । तथाभूतेऽर्थे परमात्मदृष्टेस्तद्रूपोपासनाया
उपदेशात् । 'यस्याग्निः शरीरम्' [बृ० ३।७।५।] इत्यन्तर्यामिश्रुतेर-
परमात्मनस्तथासंभवति सर्वात्मकत्वात् परमेश्वरस्य । 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' इतियत्
प्रतीकोपासनस्थलवदत्रापि सर्वशरीरकस्य परमेश्वरस्योपासनायैव तथा कथनं नतु
जाठरोपासनाय । नहि द्युमूर्द्धत्वादिधर्मकत्वं केवलस्य जाठरस्य संभवति । सर्व
शरीरकस्य परमेश्वरस्य तु संभवति । परमेश्वरसर्वात्मकत्वात् पुरुषान्तः प्रतिष्ठितत्वं
पुरुषत्वंचोपपद्यते । इत्यादिकं सर्वं प्रदर्शयितुं प्रक्रमते इत्थं परमात्मन एवेत्यादि यद्यपि
पूर्वसूत्रेण वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वं श्रुतिस्मृतियुक्तिभिः प्रतिपादित
प्रतिष्ठितत्वं वाजसनेयी के अग्नि रहस्य में कहा गया है । "सो जो उपासक इस वैश्वानर
अग्नि को पुरुषाकार तथा पुरुष के अन्तः प्रतिष्ठित जानता है" इति । इत्यादि पूर्वोक्त
हेतुओं से तथा अन्तः प्रतिष्ठान होने से वैश्वानर पद प्रतिपाद्य परमात्मा नहीं है । ऐसा
पूर्वपक्ष होता है ।

इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'तथा दृष्ट्युपदेशादिति' जाठर अग्नि रूप अर्थ में
परमात्मोपासक का उपदेश किया गया है । 'जिसका अग्नि शरीर है' इत्यादि बृहदारण्य
कीय अन्तर्यामा श्रुति से अग्निशरीर वैश्वानर परमात्मा का कथन किया है । इसलिए अग्नि
शब्दादिक के द्वारा केवल जाठर अग्नि का प्रतिपादन नहीं किया गया है । किन्तु
जाठर अग्नि शरीरक परमात्मा का ही उपासनार्थ प्रतिपादन किया गया है ।

अग्निशरीरत्वेन परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनोपदेशाग्निशब्दादिभिर्न केवलो जाठरप्रतिपाद्यत अपितु जाठराग्निविशिष्टः परमात्मैव । कथमिदमवगम्यते इति चेदसम्भवाम्-द्युमूर्धत्वादिधर्मस्य जाठरेऽसम्भवात् सर्वात्मकत्वात्तथात्वं परस्योपपद्यते इति त्रैलोक्यशरीरतया प्रतिपन्नवैश्वानरसमानाधिकरणो जाठरविषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो जाठरशरीरं परमात्मानमेवाभिधत्ते । तथा चोक्तं भगवता—‘अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्’ [गीता० १५।१४] इति । एवं ‘स एषोऽमेवेतिनावशिष्टं किञ्चिदवशिष्यते तथापि तस्यैवार्थस्यस्थूणानिखननन्यायेन दृढीकर्तुं पूर्वपक्षोत्तरपक्षाभ्यां पुनर्व्यवस्थापयतीत्यर्थः । तत्र प्रश्नः वैश्वानरशब्दवाच्यः परमात्मा न भवतीति । प्रश्नमेवोपपादयति कस्मादित्यादि । यथाभाष्यमेवप्रश्नस्वरूपादिकं ज्ञातव्यम् । उत्तरम् । तथा दृष्ट्युपदेशादिति नहि कुत्रचिदपि जाठरस्याग्नेरुपासनं हिततमफलप्राप्तये किन्तु परमात्मोपासनमेव तथा इति सर्वशरीरकस्य

केवल जाठर का प्रतिपादन नहीं है किन्तु जाठर शरीरक परमात्मा का उपासनार्थ प्रतिपादन है । इस बात को कैसे समझते हैं ? उत्तर करते हैं ‘असंभवात्’ क्योंकि द्युमूर्धत्वादि धर्म का जो उपदेश है वह केवल जाठर अग्नि में असंभवित है । परन्तु एतादृश धर्मवत्त्व सर्वात्मक परमात्मा में ही संभवित है । अतः त्रैलोक्य शरीरतया प्रतिपन्न वैश्वानर समानाधिकरण जाठराग्नि विषयत्वेन प्रतीयमान जो अग्नि शब्द है वह जाठर शरीरक परमात्मा का ही कथन करता है ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने गीता में कहा है, ‘मैं वैश्वानर अग्नि रूप होकर के प्राणियों के देहाभ्यन्तर अवस्थित होता हुआ प्राणापान वायु से युक्त होकर के भोज्य भक्ष्य चोष्य और लेह्य लक्षण चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ’ इति । महामहोपाध्याय पदविक्रम जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्त केसरीजाने भी गीतार्थ चन्द्रिका में इसी अर्थ को पुष्ट किया है ‘अहमपरिमित सामर्थ्य शाली सर्वेश्वानरो वैश्वानरो जाठराग्निभूत्वा सर्वेषां प्राणिनां देहमाश्रितस्तैरशितं चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चूष्यात्मकं सर्वमन्नं प्राणापान समायुक्तः सन् पचामि । मदीयशक्त्याऽयं वैश्वानरोऽग्निरन्नपाचक इति तात्पर्यम्’ इत्यादि रूप से । एवं ‘वह अग्नि वैश्वानर जो पुरुष है’ इत्यादि वाक्य में केवल जाठरानल में पुरुषत्व का कथन नहीं है किन्तु ‘सहस्र

भिवैश्वानरोयत्पुरुष' इत्यादिषु वाक्येषु न केवलस्य जाठरानलस्य पुरुष-
त्वमुपपद्यतेऽपितु 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' [क०१।३।११।] इत्यादिवा-
क्यतः परमात्मन एव निरुपाधिकं पुरुषत्वं सिद्धमिति ॥२७॥

ॐ अत एव न देवताभूतञ्च । १ । २ । २८ । ॐ

ननु प्रदर्शितमन्त्रोक्तेर्भूताग्निौ तच्छरीरायां देवतायां वैश्व-
र्ययोगात् द्युमूर्धत्वादिकं सम्भवतीत्याशङ्क्याह=अतएवेत्यादि सूत्रम् ।

अत एवोक्तैरभिविमानत्वात्मत्वत्रैलोक्यशरीरत्वनिरुपाधिक
पुरुषशब्दवाच्यत्वादिभिः परमात्माऽसाधारणलिङ्गैरत्रत्यवैश्वानरश-
ब्दस्य जाठरपरत्वबाधेन परमात्मपरत्वनिष्पत्तोरुक्तौरेव हेतुभिस्तस्य
परमात्मनो जाठरग्निशरीरकस्योपासनार्थमेव तथोपदेशो नतु केवलजाठरस्यो-
पासनायेति न कोपिदोषः ॥२७॥

ननु जाठरेषु मूर्धत्वादिधर्मा संभवात् वैश्वानरशब्देन तद्ग्रहणं न भवतु परन्तु
भूताग्नेस्तदभिमानीदेवस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनं तेन वैश्वानरपदवाच्यत्वं च भवतु
तत्र बाधकाभावादित्याशङ्कायाः समाधानायोपक्रमते ननु प्रदर्शितमन्त्रेत्यादि
भूताग्नीतदभिमानीदेवे च वैश्वानरपदवाच्यत्वं भवतु इति शङ्कार्थः । समाधानम्
शार्षापुरुषः' इत्यादि वाक्य से परमात्मा में ही निरुपाधिक पुरुषत्व की सिद्ध होती है ।
इस लिए वैश्वानर पद प्रतिपाद्य जाठर शरीरक परमात्मा का ही उपासनार्थ वहाँ प्रद्वेष होता
है यह सिद्ध हुआ ॥२७॥

पूर्व प्रदर्शित मंत्र भूताग्नि में अथवा तच्छरीरक तदभिमानी देव में ऐश्वर्य सम्बन्ध से
द्युमूर्धत्वादिक की कल्पना हो सकती है । तब वैश्वानर पद वाच्यत्व भूताग्नि में अथवा
तदभिमानी देवों में हो सकता है । इस पूर्व पक्षके उत्तर में कहते हैं "अतएवेत्यादि" अत
एव पूर्व प्रतिपादित अभिविमानत्व सर्वात्मत्व त्रैलोक्य शरीरत्व तथा निरुपाधिक पुरुष शब्द
वाच्यत्वादिक जो परमात्मा का अनन्य साधारण असाधारण जो परमात्माबोधक हेतु है
उससे अत्रत्य वैश्वानर शब्द को जाठराग्निपरत्व का बाध होने से इन पूर्वोक्त हेतुओं से
उस वैश्वानर शब्द को देवताभूतपरत्व का बाध होने से यहाँ वैश्वानर पद न तो भूताग्नि

देवताभूतपरत्वबाधान्न देवता नवा भूततृतीयोऽत्र वैश्वानरशब्द-
बोध्यः विकारभूतस्याग्नेर्विकारान्तरद्युलोकाद्यात्मकत्वासम्भवादग्न्य-
भिमानिदेवताया अपीश्वरायत्तैश्वर्यत्वेन तदसम्भवाच्च परमात्मैव
वैश्वानर इति ॥२८॥

॥ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १ । २ । २९ ॥ ॥

पूर्व सामान्यशब्दविशेषादिहेतुतो वैश्वानरशब्दः परे ब्रह्मणि
शक्त इति दर्शितम् । इदानीं यौगिकोऽपि वैश्वानरशब्दो
अत एकेयादि यत एव अभिविमानत्व सर्वात्मत्वादिकं भूते तदभिमानिनिदेवे न सम्भवति
तस्मात् न वैश्वानरपदवाच्यत्वं तयोरिति । नहि विकारे विकारान्तरात्मत्वं सम्भवति
नहि घटः घटात्मा भवति नवा विकारे निरुपाधिकमैश्वर्यम् तस्मान्नभूतस्य तदभि-
मानिदेवस्य वैश्वानरपदवाच्यत्वमपितु परमेश्वरस्यैव तथेति भावार्थः ॥२८॥

इतः पूर्व परमात्मनोऽग्निशरीरकत्वेन वैश्वानरपदबोध्यत्वं प्रदर्शितवान्
इदानीमग्निशरीरकत्वकल्पनामन्तरेणापि योगार्थमादाय वैश्वानरशब्दस्य परब्रह्मबोधकत्व
का बोधक है नवा तदभिमानि देवता का बोधक है स्वयं विकार रूप जो अग्नि है
उसको विकारान्तर जो द्युलोकादिक तदात्मकत्वं असंभवित है । पृथिवी विकार घटादिक
विकारान्तर घटादिक का तादात्म्यापन्न नहीं होता है । अग्नि के अभिमानी देव में जो
ऐश्वर्य है वह भी परमात्मा के अधीन है । इसलिए देवों में भी निरुपाधिक ऐश्वर्य नहीं
है । अतः परमात्मा ही वैश्वानर पदवाच्य है । जाठरभूत और देव कोई भी वैश्वानर
पदवाच्य नहीं है ॥२८॥

इससे पूर्व में सामान्य शब्द विशेषादि हेतु के द्वारा वैश्वानर शब्द परब्रह्म का
वाचक है ऐसा कहा गया । सम्प्रति यौगिक भी वैश्वानर शब्दब्रह्म का ही बोधक होता
है इस अर्थ को पुष्ट करने के लिए जैमिनि आचार्य के संमति को बतलाते हैं 'साक्षादपीत्यादि'

इसके पूर्व में अग्निशब्द जाठरअग्नि का बोधक है । एतादृश आशंकाकरके वैश्वानर
शब्द के सामानाधिकरण्य का निर्देश होने से जाठर अग्नि शरीरक परमात्मा का ही उपासन
है ऐसा कहा । जिस तरह वैश्वानर शब्द परमात्मापरक है । उसी तरह अग्नि शब्द

ब्रह्मण्येव वृत्तिमानिति तदर्थमाचार्यान्तरसम्प्रति दर्शयति—साक्षा-
दित्यादि ।

पूर्वमग्निशब्दस्य जाठरत्वमाशङ्क्य वैश्वानरशब्दसामानाधि-
करण्यनिर्देशेन जाठराग्निशरीरत्वेन तद्विशिष्टस्य परमात्मन
एवोपासनमुक्तम् । साम्प्रतमग्निशब्दस्य वैश्वानरशब्दवत्परमात्मप-
रत्वोपपत्तेः साक्षादव्यवधानेन परमात्मनो वाचकत्वे न कोऽपि
विरोध इति जैमिनिगचार्यो मन्यते । अयमत्राशयः । यथा
विश्वश्चासौ नरश्च सर्वात्मको विश्वेषां नरः नेता वा विश्वे नरा
नियम्या यस्य सर्वनियन्ता, विश्वानरः 'नरे संज्ञायाम्' [पा०सू०
६।३।१२९] इति दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः स्वार्थिकोऽण
बोध्यः । तथा चैवमादिगुणयोगेन साधारणोऽपि वैश्वानरशब्दः
परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चियते । तथैव हृत्पदमे ध्येयत्वे-
मिति दर्शयितुं सूत्रान्तरमवतारयितुञ्चोपक्रमते पूर्वं सामान्यशब्देत्यादि रूढधर्ममादायबोधकत्वं
प्रदर्श्य अवयवार्थयोगेनापि परमात्मबोधकत्वं वैश्वानरशब्दस्य दर्शयतीत्यर्थः । जाठरा
ग्निशरीरविशिष्टस्य परेशस्योपासनं कथितं सम्प्रतितच्छरीरकत्वकल्पनामन्तरेणापि
भी परमात्मपरकत्व की उपपत्ति होने से साक्षात् अर्थात् अव्यवधानेन परमात्मा का वाचक
होने में कोई विरोध नहीं है । ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । यहाँ का यह आशय
है कि जैसे विश्व शब्द तथा नर का कर्मधारय समास करने से विश्वानर का अर्थ होता
है सर्वात्मक सर्वस्वरूप । अथवा नरः अर्थात् नेताः उसको विश्वानर कहते हैं । अथवा
सर्वनर नियम्य है जिसका उसको विश्वानर कहते हैं । अर्थात् सर्वनियामक । यहाँ
विश्वानर में संज्ञा अर्थ में "नरे संज्ञायाम्" इस सूत्र से दीर्घ हुआ है । और विश्वानर
को ही वैश्वानर कहते हैं । यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है । तथा एवं प्रभृतिक
सर्वात्मकत्व सर्वनियामकत्वादि गुण योग से वैश्वानर शब्द परमात्मा अर्थ को समझाता है ।
ऐसा निश्चय होता है । इसी तरह अग्नि शब्द भी योगार्थ को लेकर के साक्षादेव परमात्मा
का बोधक होता है । तथाहि हृदयकमल में ध्येय रूपसे आविर्भूत जो हो उसको अग्नि

नाङ्गति गच्छत्याविर्भवतीत्यग्निः । 'अङ्गेनलोपश्च' [उणादि सू० ४९०]
इति निर्नलोपश्च । अथवाङ्गयति गमयति विश्वस्याग्रं जन्म प्रापय-
तीत्यग्निरभितोऽङ्गतीति वाग्निरित्यादिगुणयोगेन परमात्मधर्मविशेषि-
तोऽग्निशब्दोपि निरुपाधिकगुणयोगेन परे च ब्रह्मणि काष्ठाङ्गतसन्
तस्यैव वाचक इत्यग्निशरीरकत्वकल्पनां विनैव परमात्मानमभिधत्ते ॥२९॥

अथ परिच्छेदशून्यस्य ब्रह्मणो व्युत्पत्तिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्ब-
न्धिन्या मात्रया 'यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते' [छा० ५।१८।१॥] इतिपरिच्छिन्नत्वं कथं घटतेऽत्रा-
श्मरथ्याचार्यसम्मतिं दर्शयति—

जैमिनिराचार्यः परेशस्योपासनं वक्षतीतिभावः । वैश्वानराग्निशब्दयोर्गोमार्थं
दर्शयितुं ग्राह अयमत्राशय इत्यादि । शिष्टमतिरोहितार्थमिति ॥२९॥

यद्यपि त्रिविधपरिच्छेदरहितः सर्वव्यापको न परिमितप्रदेशमध्येऽवस्थातुं
शक्त इति कथमुच्यते तस्य परिच्छिन्नत्वं तथापि भक्तानुग्रहाय परिमितप्रदेशेऽभि-
कहते है । यहाँ गत्यर्थक अग्निघातु से औणादिक नि प्रत्यय होता है तथा नकार का लोप करके
अग्नि शब्द बनता है । अथवा सर्व के जन्म को प्राप्त जो करावे उसको अग्नि कहते हैं ।
इत्यादि गुण योग से परमात्म धर्म विशेषित अग्निशब्द भी निरुपाधिक गुण योग से ब्रह्म
में रहता हुआ ब्रह्म का वाचक है । अतः परमात्मा को आग्र शरीरकत्व कल्पना के बिना
भी परमात्मा का वाचक अग्निशब्द होता है ॥२९॥

परिच्छेद रहित जो ब्रह्म है उसको व्युत्पत्ति पृथिव्यन्त प्रदेश सम्बन्धी परिमाण से
“यस्त्वेतमेव” इत्यादि श्रुति बोधित परिमाण से परिच्छिन्नत्वं किस तरह घट सकता है ।
इस विषय में आश्मरथ्याचार्य की संमति को बतलाते हैं “अभिव्यक्तेरित्यादि” सर्वथा
विगतमान=परिच्छेद है जिसका उसको अभिविमान कहते हैं । यद्यपि भगवान् सर्वथा
परिच्छेद रहित है । तथापि सर्वव्यापक परब्रह्म को प्रादेशमात्रत्व अर्थात् अंगुष्ठवर्जनी प्रमाण
परिमितत्व हो सकता है क्यों ? तो अभिव्यक्ति हेतु से अनन्यगतिक जो उपासक है उनके
ऊपर अनुग्रह करने के लिए नित्यानन्द अप्राकृत स्वरूपसे भक्तों के हृदय में तदीय भावना

५ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः।१।२।३०। ५

अभितः परितो विगतो मानः परिच्छेदो यस्येत्यभिविमान-
स्तमित्यपरिच्छिन्नस्यापि परस्य पुरुषस्य ब्रह्मणः प्रादेशमात्रत्वमङ्ग-
गुष्ठतर्जनीप्रस्तारपरिमितत्वं सङ्गच्छते । कथमिति चेदभिव्यक्ते-
र्हेतोर्नन्यगतिकानामुपासकानामनुग्रहार्थं नित्यानन्दाप्राकृतस्वरूपेण
तेषां हृदि भावनानुसारेण स्तम्भेनृसिंह इवाभिव्यज्यते । इत्याश्म-
रथ्याचार्यो मन्यते । यद्वा स्थूलधियामुपासकानां स्थूलेष्वेव देशेषु
द्यौर्मूर्धाऽदित्यश्चक्षुर्वायुः प्राण आकाशो मध्यकाय आपो वस्तिः
पृथिवी पादाविति द्युलोकादिषु तद्बुद्ध्यनुसारेण सर्वगोऽपिमीयते ।
तत्र तत्राभिव्यज्यत इत्येवमभिव्यक्तेः प्रादेशमात्रत्वमपि तस्यो-
पपद्यत इति ॥३०॥

तस्याभिव्यक्तिर्भवतीतिदर्शयितुमुपक्रमते अथ परिच्छेदशून्यस्येत्यादि सर्वथा परिच्छेद-
रहितस्यप्रादेशपरिमितत्वं कथमित्याशङ्ककायाश्मरथ्याचार्यमताविष्करणेन समाधातु-
माहेत्यर्थः । अतिमात्रोपि सर्वोऽश्वरश्रीरामोभक्तानामुपासनार्थमात्रोभवतीतिभावः
शालिग्रामशिलायांविष्णुरिव यथा स्तम्भेनृसिंहइत्येति ॥३०॥

के अनुसार भगवान् अभिव्यक्त होते हैं । जिस तरह स्वभक्त प्रह्लाद के ऊपर कृपा करने
के लिए सर्वा-तारी सर्वेश्वर श्रीगणेशजी नृसिंह स्वरूप से अभिव्यक्त हुये थे । “रामो नैशाख-
शुक्लस्य चतुर्दश्यां तिथौ खलु । श्रीमन्नृसिंहरूपसन् हिरण्यकशिपुं व्यहन् ॥५०७॥
हिरण्यकशिपुं चाहन् रामो नृसिंहरूपधृग् । तस्मैनृसिंहरूपाय श्रीरामाय नमोनमः ॥६८२॥”
इत्यादिरूप से जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यजीने भी श्रीवोवायनमतादर्श में वर्णन किया है
इस प्रसङ्गको वहीं देखें । ऐसा आश्मरथ्याचार्य मानते हैं । अथवा स्थूलबुद्धिक जो उपासक
हैं उनके लिए स्थूल देश में “द्यौर्मूर्धादित्य” इत्यादि श्रुति प्रतिपादित द्युलोकादिक में
तत्त्वशक्त के बुद्ध्यनुसार सर्वव्यापक भी भगवान् परिच्छिन्न होते हैं । अर्थात् तत्त्व स्थान
में अभिव्यक्त होते हैं । इस तरह भगवान् में प्रदेश परिमाणत्व उपपन्न होता है ॥३०॥

॥ अनुस्मृतेर्वादरिः १।२।३१ ॥

प्रादेशमात्रहृत्पुण्डरीकस्थेन मनसा वैश्वानरानुस्मृतेरुपासक-
ध्यानानुसारेण प्रादेशप्रमाणाभिव्यक्त्या प्रादेशमात्रत्वमुच्यते इति
वादरिाचार्यो मन्यते । यथा घटावच्छिन्नस्य व्योम्नो घटाका-
शोक्तिस्तथा मूर्धादिपादान्तदेहकल्पनञ्चापरिच्छिन्नस्य बोध्यम् ।
परमात्मप्राप्तयेऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति वादरेराचार्यस्य
मतम् ॥३१॥

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य ब्रह्मणो वैश्वानरवाच्यत्वं सिद्धम् ।
पुनः उर एव वेदिर्लोमानि बहिर्हिरित्यादिकिमर्थमुरः प्रभृतीनां
वेदित्वादिपरिकल्पनमित्यर्थे जैमिनिसम्मतं दर्शयति—

प्रादेशमात्रपरिमितहृदयप्रदेशास्थितान्तः करणेनानुस्मृत्यमाणत्वाद्भवति परमे-
श्वरोपि प्रादेशपरिमितमित्यत्रार्थे वादरेराचार्यस्य संमतिं दर्शयितुमुपक्रमते अनुस्मृते-
रित्यादि यथा द्रोणपरिमितव्रीहिद्रोण इति व्यपदिश्यते यथावा घटावच्छि-
न्नोऽव्यापकोऽप्याकाशो घटाकाश इति व्यवहियमाणो भवति तथैव प्रकृतेऽपि मन्तव्यमिति ॥३१॥

परमेश्वरश्रीरामस्य या श्रुतिः प्रादेशमात्रतां सूचयति सा संपत्तिनिमित्तकैव ।

प्रादेशमात्र प्रमाणक जो हृदय कमल उसमें स्थित मन से वैश्वानर का अनुस्मरण
होता है । तो उपासक के ध्यानानुसार प्रादेश प्रमाणक भगवान् की अभिव्यक्ति होने से
सर्वव्यापक सर्वथा परिच्छेद रहित भी भगवान् प्रादेश परिमाणक कहलाते हैं । ऐसा वादरि
आचार्य मानते हैं । जिस तरह घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश कहते हैं । उसी
तरह मूर्धादिपादान्त शरीर का कल्पन अपरिच्छिन्न परमात्मा में होता है । परमात्मा के
प्राप्त्यर्थ जो उपासना है उसके लिए प्रादेशमात्र परिमितत्व है ऐसा वादरि का मत है ॥३१॥

पूर्वोक्त प्रकार से परब्रह्म परमात्मा जो त्रैलोक्य शरीरक है उनमें वैश्वानर पदवा-
च्यत्व की सिद्धि होती है यह सिद्ध हुआ । परन्तु पुनः 'उरस ही वेदी है लोम वेदि
कुश है' इत्यादि श्रुतियों से उरः प्रभृतिक देहावयव में वेदित्वादिक की जो कल्पना की
गई है उस का क्या अभिप्राय है । इस विषय में जैमिनि के मत को बतलाते हैं

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति १।२।३२

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहु-
तेरग्निहोत्रत्वसम्पादनाय तेषां वेद्यादिपरिकल्पनमिति जैमिनिरा-
चार्यो मन्यते । तथाहि—वैश्वानरोपासको मम मूर्धैव वैश्वानरस्य
मूर्धास्ति मम चक्षुर्वैश्वानरस्य चक्षुरित्यादि मनोरो वैश्वानरो
वेदिर्मम मन एव तदन्वाहार्यपचनो ममास्यमेव वैश्वानराहवनीयमास्यं
प्राणाद्याहुतय एवाग्निहोत्रमित्येवं स्वाङ्गेषु वैश्वानराङ्गानां सम्पत्तिं
कृत्वा स्वाङ्गानि वैश्वानराङ्गानि मत्त्वाहरहः प्राणाद्याहुतिभिः स्वहृत्पुण्डरी-
कस्थं वैश्वानरं परमात्मानमुपासीत । तथाहि परमात्मोपासनोचितमेव
फलं प्राणाहुत्याग्निहोत्रसम्पत्तिञ्च दर्शयतीयं श्रुतिः । ‘स य इदमविद्या-
नग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृकत्तत्स्यात् ।

मस्तकमारभ्यचुबुकान्तोदप्रदेशः प्रादेशमात्रपरिमितः । तेषु त्रैलोक्यशरीरकस्य
परमात्मनो वैश्वानरस्यावयवान् संपादयन् वैश्वानरस्यापि प्रादेशमात्रतां दर्शयती
“संपत्तेरित्यादि” परमेश्वर वैश्वानर के उपासक व्यक्तियों से क्रियमाण वैश्वानर विद्या के
अङ्गभूत जो प्राणाहुति उसमें अग्निहोत्र का संपादन करने के लिए उस देहावयव में वेदि
प्रभृति का परिकल्पन किया जाता है । ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । देहावयवों में
वेदि प्रभृति के परिकल्पन प्रकार को बतलाने के लिए कहते हैं “तथा हीत्यादि”
वैश्वानर का उपासक जो व्यक्ति है वह मेरा मस्तक ही वैश्वानर का मस्तक है, मेरा चक्षु
वैश्वानर का चक्षु है, मेरा उरस वैश्वानर का वेदी है । मेरा मन ही अन्वाहार्यपचन है ।
मेरा मुख ही वैश्वानर का आहवनीय आस्य है । प्राणाहुति है । इस प्रकार से उपासक
स्वकीय अङ्गों में वैश्वानरीय अङ्ग का संपादन करके स्वकीय अङ्ग को वैश्वानर का अङ्ग
है ऐसा मान करके प्रत्येक दिन प्राणाहुति से स्वकीय हृदय कमलरथ वैश्वानर की उपासना
करे । तथाहि परमात्मोपासनोचित एतादृश फल तथा प्राणाहुति में अग्निहोत्र सम्पत्ति को
श्रुति बतलाती है । “जो उपासक अविद्वान् अग्निहोत्र हवन करता है वह जिस तरह

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु हुतं भवति । तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' [छा० ५।२४।१।२।३।] इति ॥३२॥

५ आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३। ५

‘स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनमग्निर्वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदेति’ वाजसनेयिनः । ‘आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादि’ तिच्छन्दोगाः । एनं भगवन्तं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरं पुरुषमस्मिन्नुपासकशरीरे समामनन्ति । ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः’ [छा० ५।१८।२।] इति श्रुत्युक्तोर्थः । चकारेण वैश्वानरमूर्धाद्यवयवानामुपासकमूर्धाद्यवयवेषु सम्पत्तिश्च प्राणाद्याहुतिभिस्तदुपासनं संपत्तिनिमित्तकपरमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमिति दर्शयितुमुपक्रमते एवं त्रैलोक्यशरीरस्य ब्रह्मण इत्यादि ॥३२॥

वाजसनेयछान्दोग्यशाखाध्यायिनः परमेश्वरं वैश्वानरमुपासकशरीरे कथयन्तीति दर्शयितुं प्राह सूत्रकारः आमनन्तीत्यादि श्रुत्योः प्रदर्शनं समन्वयप्रकारं च भाष्यकारः स्वयमेव प्रतिपादयति । ततश्च त्रैलोक्य शरीरस्य श्रीरामरूप वैश्वानरपरमात्मन ‘धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गश्च नामतः । तस्य ध्यानेन वीराग्य अंगार को हटाकरके भस्म में हवन करें ऐसा वह होता है । और जो पूर्वोक्त होम को यथाविधि जान करके हवन करता है वह सबलोक सर्वभूत सब आत्मा में हवन करता है । जिस तरह ईषीका तूछ अग्नि में दग्ध होता है । उसी तरह इस अग्निहोत्री का सब पाप विनष्ट हो जाता है ॥३२॥

वह अग्नि वैश्वानर पुरुष है, जो उपासक पुरुषाकार पुरुषके अन्तः प्रतिष्ठित जानता है अर्थात् उसकी उपासना करता है’ ऐसा वाजसनेयी कहते हैं । ‘आत्मा में ही वह उपासन होता है जो वैश्वानर में हवन होता है’ ऐसा छान्दोग्य में है । इस भगवान् द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट वैश्वानर पुरुष को उपासक शरीर में कथन करते हैं । जो कि ‘उस वैश्वानर का मूर्धा सुतेजा है’ इस श्रुत्युक्त अर्थ का चकार से वैश्वानर मूर्धादि अवयवों का उपासक मूर्धादि अवयवों में सम्पत्ति तथा प्राणाहुति के द्वारा उपासन

तदुपासनाफलञ्चामनन्ति । तथाचोपासकः स्वमूर्धादीनेव वैश्वानरस्य परमात्मनो व्युप्रभृतीन् मूर्धादीन् प्राणाग्निहोत्रसमयेऽनुसन्धत्स्वस्योरः प्रभृतीनेव वैश्वानरस्य वेद्यादीन् परिकल्प्य प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेत् । 'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः' [छा० ५।१८।२] इति । एवं त्रैलोक्यशरीरस्य भगवतो वैश्वानरस्योपासनं विधीयतेऽतः परमात्मैव पुरुषोत्तमः श्रीरामो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम् ।

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।
मैश्वर्यं यस्य पूजनात् । तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः । रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥
चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना' इत्यादिरूपेण श्रुत्या उपासनां प्रादेशप्रमितत्वं च प्रतिपादितं भवति । शेषमतिरोहितार्थमिति संक्षेपः ॥३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम् ।

इति आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठाधीश्वर

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

तथा तादृशोपासना के फल का कथन किया है । अपने मूर्वादिक को वैश्वानर परमात्मा के व्युप्रभृति को मूर्धारूप से प्राणाग्निहोत्र के समय में अनुसन्धान करता हुआ स्वकीय उरः प्रभृति का वैश्वानर के वेदी की कल्पना करके प्राणाग्निहोत्र से परमात्मा वैश्वानर का आराधन करें । उर वेदा है" इत्यादि । इस प्रकार त्रैलोक्य शरीरक भगवान् वैश्वानर के उपासन का विधान है । अतः परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ही वैश्वानर पदवाच्य हैं यह सिद्ध हुआ ॥३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम्

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र पट्टशिष्य

आनन्दभाष्यसिद्धान्तसिद्धासनासीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

५ श्रीरामः शरणं मम ५

५ श्रीरामचन्द्राय नमः ५

श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ५

अथ द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

एवमुपक्रान्त एव विषये रूढपदप्रधानानां वाक्यानां ब्रह्मणि श्रीरामे समन्वयं प्रदर्श्याधुना यौगिकपदप्रधानानां तेषां समन्वयमभिधातुं तृतीयपाद आरभ्यते—

५ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।१।३।१। ५

द्यौश्च भूश्च द्युभूवौ द्युभुवावादी येषां तेषामायतनमिति विग्रहः । आथर्वणे श्रूयते 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मन

पदं चतुर्विधं भवति रूढं यौगिकं योगरूढं तथा यौगिकरूढश्च । तत्र समुदाय-शक्त्याबोधकत्वं प्रथमं योगार्थमादाय प्रवर्तमानं द्वितीयमवयवशक्तिभूते योगार्थसंवलनं तृतीयं चतुर्थन्तर्हिदादिपदम् । घट इतिप्रथमं कुशलादिकं द्वितीयं पंकजादिकं तृतीयमिति । तत्र यद्वाक्यं रूढपदघटितं तस्य समन्वयः सर्वेश्वरश्रीरामे एवेतिव्युत्पाद्य

इस तरह उपक्रान्त विषय में ही रूढपद प्रदान के पदघटित वाक्यों का परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी में समन्वय प्रकार का प्रतिपादन को बतला करके संप्रति यौगिक पद घटित वाक्यों का श्रीरामात्मक परम तत्त्व में समन्वय बतलाने के लिए तृतीय पाद का आरम्भ होता है । “द्युभ्वाद्यायतनमित्यादि” द्यु तथा भू है आदि में जिसके उसको द्युभ्वादि कहते हैं । इन सबका आयतन ऐसा विग्रह होता है । आथर्वण अर्थात् मुण्डकोपनिषत् में सुनने में आता है कि “जिस अधिकरण में द्यु पृथिवी अन्तरिक्ष ओतप्रोत है अर्थात् आश्रित है । तथा सब प्राण के साथ मन ओतप्रोत है । उसी एक आत्मा को जानो यह आत्मा अमृत का सेतु है । तदरिक्त सब बात को छोड़ो” यहाँ द्युप्रभृतिक को ओतप्रोतत्वेन इन सबका आयतन कोई पदार्थ है ऐसा जाना जाता है । तो इन सबका आयतन आधार जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ? उत्तर में कहते हैं जीव पक्ष ही युक्त है । क्योंकि “मन प्राण से रहित तथा शुद्ध है”

स्सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेकैकं ज्ञानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथा
मृतस्यैष सेतुः' [मु० २।२।५।] अत्र द्युप्रभृतिनामोतत्वेनायतनत्वं
कस्यचिदवगम्यते । तथा च तत्त्वेन श्रूयमाणो जीवः स्यादाहोस्वि-
त्परमात्मेति संशयः । किं युक्तम् । जीव इति । कुतः ? 'अप्राणो ह्यमनाः
शुद्ध' इति परमात्मनो मनः प्राणादिनिषेधात् । जीवस्य च मनः
प्राणादिमत्वसम्भवात् । किञ्च 'अरा इव स्थनाभौ संहता यत्र नाड्य-
स्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः' (मु० २।२।६।) इत्युत्तरवाक्ये
यत्रेति सप्तम्यन्तेन पुनरभिधाय तस्यैव नाड्याधारत्वमादिश्य बहुधा
जायमानत्वमुक्तम् ।

जीवस्यैवायं बहुधा जायमानत्वरूपो धर्मः सम्भवति ।
तस्माज्जीव एवात्राभिधीयते । तथा च द्युभ्वाद्यायनत्वादिकमपि
तत्रैव यथाकथञ्चित् समन्वयनीयमिति प्राप्ते ब्रूमः ।

द्वितीयादिपदघटितानामपि तेषां तत्रैव समन्वय इति दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः
एवमुपक्रान्तेत्यादि

अत्र यस्मिन् द्यौर्गित्यादिवाक्यं श्रूयते तत्र द्युप्रभृतीनामाधारोजीवो ब्रह्मेति
चा संशयः । तत्र जीव एवेति पूर्वपक्षः । यतो मनः प्राणादिसम्बन्धस्य तत्रैव
इस श्रुति में कहा है कि परमात्मा को प्राण मन के सम्बन्ध से रहित बतलाया है ।
तथा जीव में प्राण मन का सम्बन्ध संभवित है । इसलिए द्यु भू प्रभृति का आयतन
परमात्मा नहीं है । किन्तु जीवात्मा ही है । और भी "रथ के नाभि में अरा प्रतिष्ठित
है । उसी तरह जिसमें यह सब नाडी वर्ग संहत है । यह अनेक देव मनुष्यादि प्रकार
से होता हुवा अन्तः संचरण करता है" इस अग्रिम श्रुति वाक्य में यत्र इस सप्तम्यन्त
पद से पुनः उसका कथन करके उसी को नाडी के आधार रूप से कथन करके अनेक
प्रकार से जायमानत्व का कथन किया है । यह बहुधा जायमानत्व धर्म तो जीव को
ही संभवित है । इसलिए यहाँ जीव का ही कथन है । तो यह द्युभ्वाद्यायनत्व भी
यथाकथञ्चित् जीव में ही समन्वित होता है इति पूर्व पक्ष ।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दादिति । द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मा, कुतः स्वशब्दात् स्वस्य परब्रह्मणो वाचकोयमसाधारणशब्दस्तस्मात् । 'तमेवैकं जानथात्मानम्' [मु० २।२।५।] इति श्रवणात् । 'अमृतस्यैष सेतु' रिति ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दलिङ्गात् । जीवस्यात्मशब्दवाच्यत्वेऽपि अमृतस्यैष सेतुरित्युत्तरवाक्यशेषेऽमृतप्रापकतया प्रसिद्धस्य गुणस्य तत्राऽसम्भवात् । यथा नदीतडागादिकूलस्य प्रापकत्वेन सेतोः सेतुत्वव्यपदेशस्तथात्रापि सेतुस्त्रि सेतुः संसारसागरपारभूतस्यामृतपदबोध्यस्य प्रापकत्वेन परमात्मन एव तत्त्वम् । न च 'अप्राणो-ह्यमनाः' इति परमात्मनो मनः प्राणादीन् निषेधतीति वाच्यम् । सद्भावात् । ननु परमात्मनि अप्राणोऽह्यमना इत्यादिना तत्रातद्भावस्य प्रतिषेधात् ।

'तमेवैकं जानथ' इत्यादौ स्वशब्देनार्थात् आत्मपदस्य श्रवणात् आत्मपदस्य स्वाभाविकरूपेण परमात्मन एव बोधकत्वात् द्युभ्वाद्यायतनतया परमात्मन एव ग्रहणमिति सिद्धान्तानुसारिणां पन्थाः । एतत्सर्वं मनसिकृत्य पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां सूत्रं व्याख्यातुं

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "स्वशब्दादिति" द्युभ्वादि का आयतन सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित परमात्मा ही है । क्योंकि स्वशब्द का प्रयोग है । अर्थात् स्वका परमात्मा का वाचक यह अनन्य साधारण शब्द है । क्योंकि "उसी एक आत्मा को जानो" ऐसा परमात्मा वाचक शब्द का श्रवण होने से । और "अमृत का यह सेतु है" यह ब्रह्म का असाधारण शब्द लिङ्ग है । यद्यपि जीवात्मा भी आत्मशब्द वाच्य है । तथापि "अमृतस्यैष सेतुः" इस उत्तर वाक्य के शेष में प्रसिद्ध जो अमृतत्व प्रापकत्व गुण है वह परेश व्यतिरिक्त में नहीं क्योंकि "तमेवविदित्वा" इत्यादि श्रुत्यन्तर है । जिस तरह नदी तडागादिक में कूल प्रापकत्व होने से सेतु में सेतुत्व का व्यवहार होता है । उसी तरह प्रकृत में सेतु के सदृश सेतु है । संसार सागर के पारभूत अमृत पद का प्रापक होने से परमात्मा में ही अमृतत्व प्रापकता है । तदतिरिक्त में नहीं है । यद्यपि "अप्राणोह्यमना" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को मनप्राण के सम्बन्ध का निराकरण किया गया

तदाक्यस्य मनः प्राणाधीनप्रवृत्तिरहितत्वमेव परमात्मन इत्यर्थ
कत्वात् ॥१॥

५ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् १।३।२। ५

इतश्च परमात्मा बुभ्वाद्यायतनम् । मुक्तौरुपसृप्यं प्राप्यं मुक्तो
पसृप्यं भावप्रधानो निर्देशः । मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशादित्यर्थः ।
'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा
विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मु० ३।१।३]
पुण्यपापे विधूयनामरूपाद्रिमुक्तः । 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः
समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्रिमुक्तः
प्राह द्यौश्च भूश्चेत्यादि अत्र पूर्वोत्तरपक्षौयथासंभवयोजनीयौ । अक्षरार्थस्तु स्वयमेवो-
हनीयः ॥१॥

मुक्तपुरुषप्राप्यतया परमात्मैव बुभ्वाद्यायतनम् नतु जीवः प्रधानं वा नहि
कुत्रचिन्मुक्तप्राप्यता जीवस्य प्रधानस्य प्रदिपादिता परमेश्वरस्य तु मुक्तोपसृप्यताऽऽशक्य
प्रतिपादिता तस्मान्मुक्तोपसृप्यत्वात्परमात्मैव बुभ्वाद्यायतनमिति दर्शयितुमुपक्रमते
हे । तथापि परमात्मा में मन प्राणाधीन प्रवृत्ति के निषेधमात्र का तात्पर्य है । अर्थात्
जिस तरह जीव की प्रवृत्ति मन प्राण के अधीन है । तादृश प्रवृत्ति परमेश्वर की नहीं
है । एतदंश में "अप्राणोह्यमना" इस श्रुति का तात्पर्य है ॥१॥

प्रकारान्तर से भी सिद्ध होता है कि परमात्मा ही बुभ्वादिक के आयतन हैं । इस
ब्रत को बतलाते हैं "इतश्च परमात्मेत्यादि" इस वक्ष्यमाण हेतु से सिद्ध होता है कि
परमात्मा ही बुभ्वादि का आयतन है । क्योंकि मुक्तोपसृप्य होने से । मुक्त से पर-
मात्मा उपसृप्य है । अर्थात् प्राप्य है । यहाँ भाव प्रधानक निर्देश है । अर्थात् मुक्तो-
पसृप्यता का परमात्मा में व्यपदेश है । "जब जीव रुक्मवर्ण जगत् के कर्ता परमेश्वर
ब्रह्मयोनि पुरुषोत्तम का साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप को विनष्ट करके

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मु० ३।२।८] इति नामरूपाद्विमुक्तस्य परमपुरुषप्राप्तिश्रवणात् । तथा च श्रूयते 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु० २।२।८] इति हृदजग्रन्थिर्मिथ्याज्ञानरागद्वेषशोकमोहादयः दृष्टे भगवति तद्रहितो भूत्वा छिन्नसर्वसंशयो विनष्टसर्वकर्माभवतीत्यर्थः । पुण्यपापनिमित्तकाचित्सम्बन्धप्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेवास्य जीवस्य संसारः । तथा च पुण्यपापविधूननद्वारा नामरूपविमुक्तस्य नास्ति संसारः । तस्मान्मुक्तोपसृप्यत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परम्ब्रह्मैव ॥२॥

इतश्च परमात्मेत्यादि क्वचनः परमात्मनो मुक्तोपसृप्यतेति प्रदर्शनाय श्रुतिमुदाहरति यदापश्यः यथा नद्यः इत्यादि । यदा जीवः परमात्मानं साक्षात्करोति तदा पुण्यापुण्यं परित्यज्य पुण्यपापकार्यनामरूपभयमोहशोकजातं परित्यजतीत्येवं कारणाभावेन कार्याभाववान् भवतीत्यर्थः । तस्मात् मुक्तोपसृप्यत्वात् परमात्मैव द्युभ्वादीनामायतनं भवति नतु जीवस्तदन्योवा तदायतनमिति संक्षेपः ॥२॥

सर्वदुःखरहित भगवान् के साथ परम समता को प्राप्त कर जाता है । यहाँ पुण्य पापे विधूय इसका नाम रूप से विमुक्त होकर के यह अर्थ होता है । "जिस तरह चलने वाली नदी नाम रूप को छोड़करके समुद्र में मिल जाती है । उसी तरह परमेश्वर का साक्षात्कार करनेवाला उपासक नाम रूप से विमुक्त होकर के परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त कर जाता है" इस प्रकार नाम रूप रहित व्यक्ति को परम प्राप्ति होती है । ऐसा श्रुत है । "परात्पर पुरुष का साक्षात्कार होने से हृदयग्रन्थि भिन्न-टूट जाती है । सर्व संशय विनष्ट हो जाता है । तथा प्रारब्धेतर सकल कर्म भी विनष्ट हो जाता है" अर्थात् हृदयग्रन्थि मिथ्याज्ञानराग द्वेषशोकमोहादिक इन सबसे रहित होकरके सर्व कर्म का विनाश हो जाता, भगवत् साक्षात्कार के अनन्तर में । पुण्य पापमूलक जो अचित्पदार्थ उस के सम्बन्ध प्रयुक्त जो नाम रूप का संबन्ध होता है वही जीवका संसार है । और जब पुण्यादिक के विधूनन द्वारा नाम रूप रहित जीव के संसार का अभाव हो जाता है । क्योंकि कारण का अभाव कार्याभाव का प्रयोजक है । अतः मुक्तोपसृप्य होने से परब्रह्म ही द्युभ्वादिक का आयतन है । नवा जीव अथवा तदन्य कोई द्युभ्वादि का आयतन है ॥२॥

५ नानुमानमतच्छब्दात् । १ । ३ । ३ । ५

अनुमीयत इत्यनुमानमनुमेयं प्रधानं न द्युभ्वाद्यायतनम् ।
कुतः ? अतच्छब्दात् । न तस्य प्रधानस्य वाचकः शब्दोऽस्ति तस्मा
त्प्रधानवाचकशब्दाश्रवणादित्यर्थः ।

यद्यप्यात्मशब्दो जीवपरमात्मोभयसाधारणः प्रधानेऽपि च
यथाकथञ्चिद्योजयितुं शक्यस्तथाऽपि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम-
न्यावाचोविमुञ्चथ' [मु० २।२।५।] इतिवाग्विमोकपूर्वकमात्मनो
विज्ञेयत्वश्रवणात् परमात्मन एवात्रात्मपदग्राह्यत्वम् । तदतिरिक्तवि-
ज्ञेयत्वस्यानधिकप्रयोजनकत्वात् । एवञ्चैतत्समानार्थाभिधायिन्या

ननु यथा परमात्मनोद्युभ्वाद्यायतनत्वे प्रतिपादकः श्रुतिशब्दोविद्यते तथा
अनुमानप्रमाणगम्य प्रधानस्य सांख्यपरिकल्पितस्य वाचकः शब्दोनास्ति तस्माद्युभ्वाद्या
यतनं परमात्मैव भवति किन्तु अनुमेयं प्रधानं नतथेति बोधयितुमाह नानुमानमित्यादि

आनुमानिक प्रधान द्युभ्वादि का आयतन नहीं है । इस बात को बतलाने के लिए
अग्रिम सूत्र का उत्थान होता है 'नानुमानमित्यादि' सूत्र का विवरण करते हैं 'अनुमीयते'
इत्यादि । सर्वजगत् का कारण होने से परमात्मा को द्युभ्वादि का आयतन माना जाता
है । तो प्रधान भी तो सर्व विकार का कारण होने से सबका आयतन हो सकता है ।
इस शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं । अनुमान प्रमाणगम्य जो प्रधान है
वह द्युभ्वादि का आयतन नहीं है किन्तु परमात्मा ही आयतन है । क्योंकि 'अतच्छब्दात्'
अनुमेय जो प्रधान तादृश प्रधान का वाचक कोई भी शब्द इस प्रकरण में नहीं है ।
यद्यपि आत्मा शब्द जीव परमात्मा उभय साधारण है । तथा यथाकथञ्चित् लक्षणावृत्ति
से प्रधान में भी आत्मा पद की योजना कर सकते हैं । तथापि 'उसी एक आत्मा को
जानो, तदतिरिक्त बात को छोड़ो' इस श्रुति में इतरवाक् विमोक पूर्वक परमात्मा में ही
विज्ञेयत्व का श्रवण होने से केवल परमात्मा में ही विज्ञेयत्व का श्रवण होने से परमात्मा
ही यहाँ आत्मपद ग्राह्य है । परमात्म व्यतिरिक्त में विज्ञेयत्व का कोई विशेष फल नहीं
है । जब आत्मपद परमात्मा का ही वाचक है यह जब सिद्ध हुआ तब एतदर्थ समानार्थक

‘स्तमेवधीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्ब्रह्मच्छब्दान्
वाचो विग्लापनं हि तत् । [बृ० ४।४।२१] इत्यस्याः श्रुतेरपि सङ्गतिः
परमात्मन एव यथात्म्यावगमोत्तरकालिकध्रुवानुस्मृतिपदवाच्य
प्रज्ञाविषयत्वं न जीवस्येति । तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव ॥३॥

ॐ प्राणभृच्च १।३।४ ॐ

पूर्वसूत्रान्नेति पदमतच्छब्दादितिपदञ्चानुवर्त्तते । यथा
प्रधानाभिधायकशब्दाभावात्प्रधानं नास्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते तथा
प्राणभृदपि तत् एव हेतोर्न प्रतिपाद्यते । सर्वदाणुस्वरूपस्य प्राणभृतो
द्युपृथिव्याद्यायतनत्वाऽसम्भवाच्च । उत्तरसूत्रसौकर्यार्थं पृथग्योग-
करणम् ॥४॥

सूत्रं व्याख्यातुमाह अनुमीयते इत्यनुमानमित्यादि अनुमेयस्य प्रधानस्य वाचकः
कश्चिच्छब्दो नास्ति तस्मान्नानुमेयं द्युभ्वाद्यायतनमपि तु परमात्मैवेति शिष्टं सुगमम् ॥३॥

यद्यपि जीवे आत्मत्वं चेतनत्वश्चास्ति इतितद्ग्रहणं युक्तं तथापि अन्यापकस्य
तस्य सर्वकारणत्वाभावान्न द्युभ्वाद्यायतनत्वमिति दर्शयितुमाह प्राणभृदिति शेषमति-
रोहितार्थकमिति ॥४॥

“धीर ब्राह्मण प्रज्ञा को करे, तदतिरिक्त अनेक शब्दों का अनुध्यान न करें, क्योंकि वह
केवल वाणी का विग्लापन हनन मात्र है ।’ इस श्रुति का भी सामंजस्य होता है ।
परमात्मा का यथार्थावगमोत्तरकालिक ध्रुवानुस्मरण पदवाच्य जो प्रज्ञा तद्विषयता परमात्मा में
हो है । किन्तु जीवादिक में नहीं है । अतः द्युभ्वादि का आयतन परमात्मा ही है
अन्य नहीं ॥३॥

पूर्व सूत्र से न पद का तथा अतच्छब्दात् इस पद का अनुवर्त्तन किया जाता है ।
जिस तरह प्रधान का वाचक शब्द का अभाव है । इसलिए प्रधान इस प्रकरण में प्रतिपाद्य
नहीं है । उसी तरह इस प्रकरण में पूर्व हेतु से प्राणभूत जीव भी प्रतिपादित नहीं
होता है । अर्थात् जीव का वाचक कोई भी शब्द इस प्रकरण में नहीं है । क्योंकि सर्वथा
अणुपरिमाणक तथा सर्वथा कर्म पराधीन जीव में द्युभ्वादि का आयतनत्व सर्वथा असंभवित
है । तृतीय चतुर्थ सूत्र का जो योग विभाग किया है वह उत्तर सूत्र में सुलभता के लिए
है अन्यथा योग विभाग न करने पर भी निर्वाह हो सकता था ॥४॥

॥ भेदव्यपदेशात् १।३।५ ॥

यत्र प्रकरणे 'तमेवैकं जानथात्मानम्' [मु० २।२।५।] इति जीवानां ज्ञातृत्वेन तमेवैकमात्मानमिति च परमात्मनो ज्ञेयत्वेन तयोर्भेदस्य व्यपदेशात् । एवं तत्रैव 'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनी शया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' [मु० २।३।२। इत्युक्तम् । अस्य महिमानं महत्त्वं सर्वव्यापकत्वं सर्वजगन्नियन्तृत्वरूपं सर्वात्मकत्वं यदा जानाति तदा वीतशोको भवतीत्यर्थः । एवञ्चात्र सेव्यसेवकभावेन भेदव्यपदेशाद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव ॥५॥

॥ प्रकरणात् १।३।६ ॥

प्रकरणं चेदं परमात्मनोयतः 'कस्मिन्नुभगवो विज्ञाते सर्व

इस प्रकरण में "तमेवैकं जानथ" "उस एक परमात्मा को जानो" यहाँ जीव को ज्ञाता रूप से तथा "तमेवैकमात्मानम्" यहाँ द्वितीया विभक्त्यन्त परमात्मा को ज्ञान विषय होने से ज्ञेय रूपसे कथन करने से जीव तथा परमेश्वर में भेद का कथन किया गया है । अर्थात् जीव ज्ञानात्मक क्रिया का कर्त्ता है तथा परमात्मा उस क्रिया का कर्म है । और यह कर्त्तृ कर्म में भेद आवश्यक है । ज्ञातृ ज्ञेय भावभेद घटित होता है । इसलिए द्युभ्वादिक का आयतन परमात्मा ही है । जीवादिक नहीं है । एवं "समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नो" "जुष्टं यदा पश्यति" ऐसा कहा है । इस परमात्मा के महत्त्व सर्वव्यापकत्व सर्वजगत् नियन्तृत्व सर्वात्मकत्व लक्षण महिमा को जानता है । तब वह उपासक विगत शोक हो जाता है । अर्थात् सांसारिक बन्धन से रहित हो जाता है । ऐसा भी कहा है । तो यहाँ सेव्य परमात्मा को बतलाया है तथा सेवक जीव को बतलाया गया है । इस प्रकार लक्ष्मण में भेद व्यपदेश होने से द्युभ्वादि का आयतन परमात्मा ही है ॥५॥

जीव द्युभ्वादि का आयतन नहीं है किन्तु परमात्मा ही तादृश आयतन है । इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "प्रकरणात्" यह प्रकरण परमात्मा का है । 'क्योंकि

मिदं विज्ञातम्' [मु० १।१।३।] इत्युपक्रम्य प्रतिपिपादयिषितस्यैक विज्ञानेन सर्वविज्ञानस्याखिलजगत्कारणात्परमात्मनोऽतिरिक्तेऽसम्भवात्तस्यैवद्युभ्वाद्यायतनत्वमिति ॥६॥

॥ स्थित्यदनाभ्याञ्च १।३।७ ॥

न जीवो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्रहीतुं शक्यः । कुतः ? स्थित्य दनाभ्यामिति । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' [मु० ३।१।१।] इति मन्त्रो जीवस्य कर्मफलानुत्पत्तत्वं तदन्यस्य परमात्मनोऽनश्नतोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपेणावस्थितः श्रवणात् कर्मपरस्वशस्य जीवस्यानादिवद्धस्यामृतप्रापकत्वानुपपत्तेः । मुक्तजीवस्यापि तदश्रवणाच्च । कर्मपरतन्त्रत्वाभाववतः परमात्मनस्त्वमृतसेतुत्वस्यानेकश्रुतिसम्मतत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव न प्राणभृदिति सिद्धम् ॥७॥

इति श्रीआनन्दभाष्येद्युभ्वाद्यधिकरणम् ।

'हे भगवन् ! किस एक वस्तु का ज्ञान होने से सब पदार्थ ज्ञात होता है' यह उपक्रम करके प्रतिपिपादयिषित एक के विज्ञान से सब पदार्थ का विज्ञान समस्त जगत् कारण परमात्मा से अतिरिक्त में असंभवित है । अतः वही परमात्मा जिसके विज्ञान से सर्वविदित होता है । वही परमात्मा द्युभ्वादि का आयतन है ॥६॥

जीव को द्युभ्वाद्यायतन रूप से ग्रहण नहीं कर सकते हैं । क्योंकि स्थिति अदन से 'द्वासुपर्णा' इत्यादि मन्त्र में जीव को कर्मफल भोक्तृत्व और जीवातिरिक्त अभोक्तापरमात्मा का स्वयं प्रकाश रूप से अवस्थान का श्रवण होने से अन्नादि बद्ध जीव में अमृत प्रापकत्व अनुपपन्न है । मुक्त जीव में भी अमृत प्रापकत्व अश्रुत है । कर्म परतन्त्रताभाववान् परमात्मा में अमृत सेतुत्व अनेक श्रुति संमत है । तस्मात् द्युभ्वादि आयतन परमात्मा ही है । किन्तु प्राणमत् जीव नहीं है यह सिद्ध होता है ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपेद्युभ्वाद्यायतनाधिकरणम् ।

५ भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् १।३।८ ५

छान्दोग्ये श्रूयते 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमौव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति' [छा०७।२३।१।] इति । तथा 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' [छा०७।२४।१।] एतद्वाक्यमस्य विषयः । तत्र भूमशब्दस्य धर्मिपरत्वमेवास्थेयम् । तथाहि— 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' [पा० सू०५।१।१२२।] इति पाणिनीयानुशासनेन पृथ्वादिगणान्तः पातिनो बहुशब्दादिमनिचि

दुःखसागरादुद्विग्नमनानारदो निरतिशयसुखप्राप्तिकामनया आजानसिद्धं महर्षिं सनत्कुमारसमीपमागत्य प्रोवाच भगवन् संसारसागरादुद्धर मामिति ततः समहायोगी नामत आरभ्य प्राणान्तस्य प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां सुखमयत्वेनोपदेशं कृत्वा प्राणस्य सुखरूपत्वं भूमात्वं च दिदेश भूमैवसुखं नाल्पेसुखमित्यादि । तत्र संशयोभवति

"यो वै भूमा तत्सुखम्" इत्यादि श्रुति घटक भूमा पद का अर्थ जीव है अथवा परमात्मा है । इस बात का निश्चय करने के लिए तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "छान्दोग्ये श्रूयते" इत्यादि । छान्दोग्य के सप्तमाध्यायीय प्रकरण में आया है कि, जो भूमा है वह सुखलक्षण है जो अल्प है उसमें सुख नहीं है भूमा ही सुख है भूमा ही जिज्ञासनीय है हे भगवन् भूमा की जिज्ञासा करता रहूंगा" तथा "जिस अवस्था में अन्य को नहीं देखता है अन्य को नहीं सुनता है अन्य को नहीं जानता है वह भूमा है" और 'जहाँ अन्य को देखता है अन्य को सुनता है अन्य को जानता है वह अल्प है' यह विषय विचार का विषय है । यहाँ भूमा शब्द धर्मिपरक है । अर्थात् भूमपद शक्यतावच्छेदक विशिष्ट गुण का आश्रयपरक है । नतु धर्ममात्र बोधक है । तथाहि 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इस पाणिनीय अनुशासन से पृथ्वादि गण के अन्तःपाती बहु शब्द से इमनिच् प्रत्यय होता है । तथा 'बहोर्लोपो भू च ब हो' इस सूत्र से बहुका लोप तथा

‘बहोर्लोपोभू च बहोः’ [पा०सू६।४।१५८।] इति प्रकृतिप्रत्ययविकारे च तन्निष्पत्तेः । एवञ्चात्र भूमपदप्रवृत्तिनिमित्तं वैपुल्यमेव न तु संख्यादिकम् । कुतः ? अल्पस्य तत्प्रतियोगित्वेनोपादानात् । अत एव च धर्मिपरोऽपि भूमशब्दः सिद्ध्यति तच्च वैपुल्यं सर्वोत्कृष्टगुणवत्त्वम्, न तु परिमाणादिरूपमिति । तत्रायं सन्देहः । किमयं भूमशब्दावगतः प्राणादिविशिष्टः कश्चित् परमात्मावेति ? तत्र परमात्मव्यतिरिक्तः प्राणादिविशिष्टः कश्चिदिति पूर्वः पक्षः । कुतः ? प्राणो वा आशाया भूयानिति पूर्ववाक्ये प्राणस्यैव निर्दिष्टत्वात् । अत्र हि भगवता सनत्कुमारेण नामादिप्राणपर्यन्तान्युपास्यतया तत्त्वान्युपदिष्टानि । तत्र प्राचीनेषु वाक्येषु ‘अस्ति भगवोनाम्नोभूय’ किमयं प्राणसहचरितोजीवोगृह्यते परमात्मावेति तत्र जीव इति प्रश्नः तदनन्तरं प्रश्नप्रतिवचनयोरभावात्तस्यैव सुखादिस्वरूपत्वप्रतिपादनात् । न तु परमात्मा प्राणपर्यन्तस्यैव प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां प्रतिपादनात् । समाधानं तु भूमपदेन परमात्मन एव ग्रहणं यतस्तदन्यत्र निरुपाधिकसुखरूपत्वस्यासंभवादित्यादिकं तत्स्थानं मे भू का आदेश करके भूमन् ? शब्द निष्पन्न होता है । ऐसा हुआ तब भूमपद का प्रवृत्ति निमित्त शक्यतावच्छेदक है वैपुल्य किन्तु संख्यादिक अर्थ नहीं है । क्योंकि बहुत्व का विरोधी अल्पत्व का यहाँ कथन हुआ है । इसलिए यह भूमधर्मिपरक है नतु धर्म परक है । वैपुल्य का अर्थ है सर्वोत्कृष्ट गुणाधिकरण किन्तु परिमाणादिक अर्थ नहीं है । अब इसमें संशय होता है कि भूमपद से अवगत कोई प्राणादि विशिष्ट जीव है । अथवा परमात्मा है पूर्वपक्ष होता है कि परमात्मा से अतिविक्रत प्राणादि विशिष्ट जीव ही है । क्योंकि ‘प्राण आशा से बड़ा है’ इस पूर्व वाक्य में प्राण ही निर्दिष्ट है । इस प्रकरण में भगवान् सनत्कुमारजी ने नामादिक से ले करके प्राण पर्यन्त उपास्यतत्त्व का उपदेश दिया है । यहाँ पूर्ववाक्य में ‘हे भगवन् नाम से भी कोई बड़ा है’ इत्यादि नारद के प्रश्न के बाद ‘वाणी नाम के अपेक्षया उत्कृष्ट है’ इत्यादि उत्तर सनत्कुमार ने दिया [सनत्कुमार का ऐसा प्रतिवचन उपलब्ध होता है] एतादृश प्रश्न प्रतिवचन का प्रवाह प्राण पर्यन्त ही उपलब्ध होता है प्राणोपदेश के बाद में प्रश्न प्रतिवचन का प्रवाह नहीं उपलब्ध

इत्यादिनारदप्रश्नानन्तरं 'वाग्वाव नाम्नोभूयसी' इत्यादिकं प्रति-
वचनमुपलभ्यते । इयञ्च प्रश्नप्रतिवचनपरम्परा प्राणपर्यन्तैव समुपल-
भ्यते । प्राणोपदेशानन्तरं तस्या अभावात् प्राण एव भूमापदवाच्य
इति शक्यतेऽवगन्तुम् । अत्र प्राणशब्देन प्राणसहायोजीवात्माभिधी-
यते न वायुविशेषमात्रम् । 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा०७।१५।
१) इत्यादिवचनैस्तस्य चेतनत्वावगमात् । अत एव नारदप्रश्नस्याचार्य
कृतोत्तरस्य च सामञ्जस्यम् । तथा च प्राणज्ञापनानन्तर 'मस्ति
भगवः प्राणादभूय' इतिप्रश्नस्याभावात्स एव भूमेति प्राप्तेऽभिधी-
यते— भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशादिति । भूमा परमात्मैव न प्राणा
दिविशिष्टो जीवात्मा । कुतः ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । सम्यक्
प्रसादोयस्येति व्युत्पत्त्या सम्प्रसादो जीव उच्यते । 'एष सम्प्रसा-
दोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनि-
ष्पद्यते' (छा०८।१२।३) इतिश्रुतौ सम्प्रसादशब्दस्य प्रत्यगात्म

सर्वं दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते छान्दोग्ये श्रूयते इत्यादि 'यो वै भूमेति बहु-
शब्दादिमनिच् प्रत्ययः बहुशब्दस्य लोपस्तत्स्थाने भूरादेशे भूमा इति सिद्ध्यति
भूमपदशक्यतावच्छेदकं विपुलत्वं व्यापकत्वमिति । स च निरूपाधिकसुखस्वरूपः ।
होता है । इसलिए भूमपद वाच्य है यह जाना जाता है । यहां प्राण शब्द से संसार
यात्रा में सहायक जीवात्मा का कथन होता है । किन्तु प्राण शब्द से वायु विकार मात्र
का ग्रहण नहीं है । क्योंकि 'प्राण पिता है प्राण ही माता है' इत्यादि छान्दोग्योप-
वचनों से प्राण में चेतनत्व का अवगम होता है । अतएव नारद का प्रश्न तथा सनत्कुमार
के उत्तर सामंजस्य होता है । तथा प्राण के कथन के बाद में 'हे भगवन् प्राण से कोई
उत्कृष्ट है' एतादृश प्रश्न का अभाव है । इसलिए प्राणपदक जीव ही भूमापद वाच्य है ।
एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'भूमा सम्प्रसादेत्यादि' भूमा पदवाच्य सर्वात्मक
सर्वजगत् कारण परमात्मा ही हैं । किन्तु प्राणादिकरण विशिष्ट जीवात्मा नहीं है । क्योंकि
'सम्प्रसादादध्युपदेशादिति' समीचीन है प्रसाद जिसका एतादृश व्युत्पत्ति से सम्प्रसाद शब्द
जीव वाचक है । 'यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से निकल करके परमज्योति रूप परमात्मा

परत्वप्रसिद्धेः । तस्मात्प्राणशब्दबोधितात्सम्प्रसादादध्यूर्ध्वं भूमगुण
विशिष्टस्य सत्यशब्दाभिहितस्योपदेशादिति । 'यः सत्येनातिवदती'
ति सत्यशब्दाभिधेयं ब्रह्मैव भवति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।
१।१।] इति श्रुतेः । अयमभिप्रायः । अस्मिन्प्रकरणे नामाद्याशा
पर्यन्तानामचेतनानामुत्तरोत्तरपुरुषार्थभूयस्त्वेनोपदिष्टानामुपासकस्य
नातिवादित्वमुक्तम् । प्राणशब्दाभिहितप्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानवतस्तु
पुरुषार्थभूयस्त्वमिति मन्यमानेन 'प्राणो ह्येवैतानि भवति' 'सवा एषा
एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति' (छा० ७।१५
४।) इत्यतिवादित्वमुक्तम् । अतिवादित्वञ्चोपास्यत्वेनोक्तान्नामा
दीनतिक्रम्य स्वोपास्यमतिशयेन वदतीत्यर्थकम् । एवं प्रत्यगात्मो-
पासकस्यातिवादित्वमुक्त्वा तस्यापि सातिशयपुरुषार्थत्वान्निरतिशय
पुरुषार्थत्वेनोपास्यभूतब्रह्माधिक्यवादिन एव यथार्थाभिधायित्वेना-
तिवादित्वम् । 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति'

विपुलता च सर्वोत्कृष्टगुणात्मिका सर्वव्यापकतावेति । तस्या अभावादिनि । तस्या
इत्यत्र तत्पदेन प्रश्नप्रतिवचनपरंपराया ग्रहणं तथा च प्रश्नोत्तरपरंपराया
अभावादित्यर्थः । प्रश्ने प्राणपदेन वायुविकारमात्रस्य ग्रहणं न किन्तु प्राणसहचरित
में उपसम्पन्न छीन होने पर स्वस्वरूप से निष्पन्न हो जाता है' । इस श्रुत्यन्तर में जीव-
वचकत्व सम्प्रसाद शब्द की प्रसिद्धि है । इसलिये प्राणशब्द बोध्य सम्प्रसाद से अधिक ऊपर
व्यापक गुण विशिष्ट सत्यपदवाच्य परमात्मा का उपदेश है । 'जो सत्य बोधता है वह
अतिवादी है' इस प्रकरण में सत्य शब्द का वाच्य परब्रह्म ही है । क्योंकि 'सत्यज्ञान
अनन्त ब्रह्म है' ऐसा श्रुत्यन्तर भी कहता है ।

यहाँ का अभिप्राय यह है कि इस नारद सनत्कुमार प्रकरण में पुरुषार्थ के आधिक्य
से उपदिश्यमान नामादिक से लेकर के आशा पर्यन्त उपासक को अतिवादित्व का कथन
नहीं किया है । किन्तु प्राणपद बोध्य प्रत्यगात्म यथार्थ ज्ञानवान् को तो पुरुषार्थ की
अधिकता है । ऐसा मानते हुए तादृश उपासक को 'प्राण ही ये सब होते हैं' यह इसप्रकार
से देखना हुआ, ऐसा मनन करता हुआ, ऐसा जानता हुआ, अतिवादी होता है' इस प्रकार

(छा०७।१६।१) इत्युक्तम् । अत्र तु शब्देन पूर्वस्मादतिवादिनः परब्रह्मवादिनो भिन्नत्वमभिधाय नै शब्देनास्य सत्यवादिनो यथार्थवादित्वमुक्तम् ।

अत एव 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी' ति नारदेन प्रार्थितः सनत्कुमार 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य' मित्याह । पुनः 'सत्यं भगवोविजिज्ञास' इतिनारदेन प्रार्थिते ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूत ब्रह्मोपासनपर्यायभूतं ब्रह्मज्ञानं 'यदा नै विजानात्यथ सत्यं वदति विज्ञानन्त्वेव विजिज्ञासितव्य' मित्युपदिश्य विज्ञानोपायभूतं मननं 'यदा नै मनुतेऽथ विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये' त्युपदिश्या नन्तरं वस्तुश्रवणं विना तन्मननस्यानुपपत्तेः श्रवणस्याप्यर्थसिद्धत्वाच्छ्रवणोपायभूतां ब्रह्मश्रद्धां 'यदा नै श्रद्धात्यथ मनुते श्रद्धात्वेव जीवस्य तथा । अत एव प्राणोमातापितेत्यादि श्रुतेरपि सांगत्यं भवति । तथा च भूमपदवाच्योजीवः परोवेतिसंशयार्थः । उत्तरम् भूमापदेननिरुपाधिसुखविशिष्टः परमात्मैव गृह्यते किन्तु जीवस्य ग्रहणं न भवति सम्प्रसादादध्युपदेशात् । से प्रकृत उपासक को अतिवादी रूप से कथन किया है । उपास्यत्व रूप से कथित जो नामादिक उसको अतिक्रमण करके स्वकीय उपास्य को अतिशयेन कथन करे, उसको अतिवादी कहते हैं । इस प्रकार से प्रत्यगात्मा के उपासक को अतिवादित्व कह करके एतादृश उपासक को भी सातिशय पुरुषार्थता का कथन करके निरतिशय पुरुषार्थ प्रापक उपास्य भूत जो परब्रह्म तादृश परमात्मा के अतिशयेन बदनशील को यथार्थ का कथक होने से अतिवादित्व का कथन किया गया है । वही अतिवादी है जो सत्य से अतिबदन करता है' ऐसा कहा है । 'एष तु वा' यहाँ तु शब्द से पूर्व अतिवादी के अपेक्षा से परब्रह्मवादी को भेद बतला करके 'नै' शब्द से इस सत्यवादी को यथार्थ अतिवादित्व का कथन किया है ।

अत एव 'हे भगवन् ! सो मैं सत्य से अतिवदन करूँ' इस प्रकार नारद से प्रार्थित सनत्कुमार ने 'सत्य ही जिज्ञासितव्य है' ऐसा कहा । पुनः 'हे भगवन् ! सत्य की जिज्ञासा

विजिज्ञासितव्ये' त्युपदिश्य तदुपायभूतां तन्निष्ठां 'यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धधाति निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्ये' त्यवबोध्य तदुपायभूता-
 मिन्द्रियसंयमादिप्रयत्नरूपां कृतिं 'यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये' ति विनिर्दिश्य प्राप्यस्यसत्यशब्दोक्तस्य
 ब्रह्मणः सुखात्मकता ज्ञातव्येति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्यु-
 पदिश्यानन्तरं 'सुखं भगवो विजिज्ञास' इति जिज्ञासासमनन्तरमाहा-
 चार्यो 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव
 विजिज्ञासितव्यम्' [छा० ७।२३।१) इति । ततो 'भूमानं भगवो
 विजिज्ञास' इति नारदप्रार्थनया 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति
 नान्यद्विजानाति स भूमा' अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्वि-
 जानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्'
 इत्युपदिदेश । अनन्तरं तस्याप्याधारः कश्चिदन्यः स्यादित्याकाङ्क्ष-
 तत्र सम्प्रसादपदेम जीवस्य ग्रहणम् तत उपरिपुनरुपदेशात् । एष सम्प्रसाद
 इत्यादौ तस्यैव ग्रहणदर्शनात् । जीवादुपरिभूमगुणविशिष्टस्य सत्यादि पदवाच्यस्य
 करता हूं' इस प्रकार नारद से प्रार्थना करने पर ब्रह्म साक्षात्कार के उपायभूत
 ब्रह्मोपासना का पर्याय ब्रह्म विज्ञान का 'जब जानता है' तब सत्य बोलता है
 विज्ञान ही जिज्ञासितव्य है एनादश उपदेश दे करके विज्ञान का उपाय लक्षण
 मनन का 'जब मनन करता है तब जानता है इस लिए मति ही जिज्ञासितव्य है' ऐसा
 उपदेश देकरके इसके बाद वस्तु श्रवण के बिना उस पदार्थ का मनन अनुपपन्न है । अतः
 अर्थ सिद्ध श्रवण का उपाय भूत ब्रह्म श्रद्धा का 'जब श्रद्धा करता है तब मनन होता है
 श्रद्धा ही जिज्ञास्य है' ऐसा उपदेश देकर के तब श्रद्धा का उपायभूत तन्निष्ठा का 'जब
 निष्ठा करता है तब श्रद्धा होती है अतः निष्ठा ही जिज्ञासितव्य है' यह समझाकर के निष्ठाके
 उपायभूत इन्द्रिय संयमरूप कृति का 'जब करता है तब निष्ठा को प्राप्त करता है अतः कृति
 ही जिज्ञासितव्य है' इसप्रकार निर्देश करके सत्य शब्द वाच्य ब्रह्म में सुख रूपता ज्ञातव्य
 है । अतः सुख ही जिज्ञासितव्य है' यह उपदेश देकर के इसके बाद 'भगवन् सुख की

क्षायामाह स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । तत्समाधानञ्चाचार्येण
 'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति' [छा० ७।२४।१] इत्यादिकं कृतम् ।
 अतोऽत्राल्पे परिच्छिन्ने सुखं नास्ति । अपितु तत्प्रतियोग्यनल्पेऽ
 परिच्छिन्ने भूमपदवाच्य एव सुखम् । अत एव स एव सुखमिति
 भूमा परमात्मैव ॥८॥

॥ धर्मोपपत्तेश्च १।३।९ ॥

भूमपदाभिधेयस्यात्र प्रकरणे ये धर्माः समाप्तायन्ते ते
 सर्वेऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिम्नि
 परेशस्यैवोपदेशात् । नहि स्वस्मादुपरिस्वस्य निर्देशः संभवति । तस्मात् परेशस्यैव
 ग्रहणं भवति न तु जीवस्य ॥८॥

किञ्च भूमनि ये धर्माः कथितास्ते परमात्मन्येव संभवन्ति नजीवादौ तस्मात् भूम-
 पदवाच्यः परमात्मैव । प्रकरणमपि परमात्मन एव । तथा सुखस्वरूपत्व प्रति-
 प्रादनमपि तत्रैव संभवति निरुपाधिकसुखवत्त्वस्य स्वभावतः परमेश्वरे एव
 जिज्ञासा करता हूं इस जिज्ञासा के बाद आचार्य कहते हैं 'जो भूमा है वही सुख है अल्प
 सुख नहीं है भूमा ही सुख है भूमा ही जिज्ञास्य है' तदनन्तर हे भगवन् ! भूमाकी जिज्ञासा
 करता हूं' इस प्रकार नारद के प्रार्थना के बाद 'जिस समय मैं अन्य को नहीं देखता है
 अन्य को नहीं सुनता है अन्य को नहीं जानता है वह भूमा है' 'और जहाँ अन्य को देखता
 है अन्य को सुनता है अन्य को जानता है वह अल्प है जो भूमा है वह अमृत है जो अल्प में
 है सो मर्त्य है' ऐसा उपदेश नारद को सनत्कुमार ने दिया । इसके बाद उस भूमा का
 आचार कोई तदतिरिक्त होगा ? एतादृश आकांक्षा में कहते हैं 'हे भगवन् वह भूमा किस
 में प्रतिष्ठित है ?' इसका उत्तर आचार्य ने दिया 'अपने महिमा में रहता है अथवा
 महिमा में भी नहीं है' इत्यादिक समाधान दिया । अतः अल्पपरिच्छिन्न में सुख नहीं है ।
 किन्तु अल्प प्रतियोगी विरोधी अपरिच्छिन्न में जो कि भूम पदवाच्य है वही सुख है । अत-
 एव वही सुख है । इसलिए भूमा परमात्मा है ॥८॥

इस प्रकरण में भूमपदवाच्य में जो जो धर्म प्रतिपादित हुआ वे सब धर्म परमात्मा में
 ही उपपन्न होते हैं । तथाहि स्वाभाविक अर्थात् निरुपाधिकामृतत्वस्वकीय महिमा में ही

प्रतिष्ठितत्वदशदिग्व्यापकत्वसर्वात्मकत्वादयो धर्माः परमात्मन्येवा
नन्यसाधारणतयोपपन्ना भवन्तीति परमात्मैव भूमेति सिद्धम् ॥९॥

इति आनन्दभाष्ये भूमाधिकरणम् ।

अथाक्षराधिकरणम् ॥३॥

५ अक्षरमम्बरान्तधृतेः १।३।१० ५

बृहदारण्यके श्रूयते—‘कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति
सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ? ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनष्वहस्वमदी
र्घमलोहितमस्नेहम्’ [बृ० ५।८।८] इत्यादि । तत्र संशयः । किमत्रा
क्षरशब्दनिर्दिष्टमक्षरात्परतः पर’ इति श्रुत्युक्तं प्रधानमुत ‘क्षरं
प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशतेदेव एकः’ [श्वे० १।१०] इति
श्रुत्युक्तो जीव आहोस्वित् ‘यया तदक्षरमधिगम्यते (मु० १।१।५)
संभवात् जीवसुखस्य सामयत्वादल्पादिकं सर्वं बोधयितुमाह—धर्मोपपत्तेरिति । स्वमहिम्नि
प्रतिष्ठितत्वादिगुणानां परमात्मन्येव दर्शनात् भूमपदवाच्यः परमात्मैव न प्राणसहायो
जीव इति ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे भूमाधिकरणम् ।

कस्मिन् खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च इत्यादिश्रुतौ सर्वजगतः कारणं किमिति जिज्ञासाया
मक्षरं सर्वकारणमित्युत्तरम् तत्र संशयोऽक्षरशब्देन नक्षरतीति व्युत्पत्त्या प्रधानस्य ग्रहणं
परमात्मनोवेति । तत्र प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वात् प्रधानस्यैव ग्रहणमिति पूर्वपक्षः ।
प्रतिष्ठितत्व सर्वव्यापकत्व सर्वात्मकत्व सर्वनियन्तादिक ये सव धर्म तो परमात्मा में ही उपपन्न
होते हैं । किन्तु प्राण सहाय जीव में स्वभावतः समन्वित नहीं होते हैं । इसलिए भूमा पद
वाच्य परमात्मा हैं ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीते श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे भूमाधिकरणम् ।

‘एतद्वैतदक्षरमिन्यादि’ श्रुति घटक अक्षर शब्द से किसका ग्रहण होता है । प्रधान का
अथवा परमात्मा का इसका निश्चय करने के लिए अधिकरणान्तर का उत्थान करते हुए
भाष्यकार कहते हैं ‘बृहदारण्यके श्रूयते’ इत्यादि । बृहदारण्यकोपनिषत् में सुनने में आता

इत्यभिहितः परमात्मा ? किं युक्तम् ? प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वात्तदेव प्रतीयते । प्रकृतश्रुतौ च 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चे' त्यादिगार्गीप्रश्नस्याकाशकारणं किमित्यभिप्रायस्तदुत्तरतयोपरिष्ठादुक्तम् तथा चाकाशादीनामाधारतयाक्षरपदवाच्यप्रधानस्यैव सर्वत्र निर्दिष्टत्वात्तदेवेहाभिधीयते । अथवा 'अपरेऽयमित्स्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पशुम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्' [गी० ७।५] इति जीवस्यापि जगदाधारत्वकथनाज्जीवः । इति प्राप्तेऽभिधीयते—अक्षरमम्बरान्तधृतेरिति । अक्षरं परम्ब्रह्मैव । कुतः ? अम्बरान्तधृतेः । अम्बरस्य गगनस्यान्तः समाप्तिर्यत्र तदम्बरान्तमव्याकृतमम्बरस्य कारणम् । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां अम्बरान्तस्यधारणश्रवणात्परमात्मैवेति अम्बरान्तभ्यभूतसूक्ष्मपर्यन्त जगतोधारणश्रवणात् न प्रधानं न वा जीवोऽपितु परमात्मैव यतः स्तस्य सूक्ष्मभूतपर्यन्तविकारजातस्यधारकत्वादित्यादिकं पिण्डीकृत्य दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते बृहदारण्यके श्रूयते है कि 'किसमें यह आकाश ओतप्रोत है' तब याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे गार्गी ? अक्षर में जगत् ओतप्रोत है जिसको ब्राह्मण लोग अस्थूल अनणु' इत्यादि विशेषण युक्त कहते हैं । उसमें सन्देह होता है कि 'अक्षर परतः पर है' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित अक्षर पदवाच्य प्रधान है अथवा 'क्षर प्रधान है अमृत लक्षण हर अक्षर है' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित जीव है अथवा 'जिससे वह अक्षर ज्ञात होता है' इस श्रुति प्रतिपादित परमात्मा है' । इसमें क्या युक्त है ? प्रधान महादादि सर्वविकार का कारण है तो उभी प्रधान का ग्रहण करना युक्त है । प्रकृत श्रुति में 'किसमें यह आकाश ओतप्रोत है ?' इत्यादि गार्गी के प्रश्न का आकाश का कारण क्या है ? यह अभिप्राय है । इसके उत्तर रूप में ऊपर से कहा है । आकाशादिक के आधार रूप से अक्षर पदवाच्य प्रधान का ही सर्वत्र निर्देश होने से वह प्रधान ही यहाँ कथित होता है । अथवा 'अपरेऽयमित्स्वन्याम्' इत्यादि स्मृति प्रतिपादित जीव को भी जगदाधारता का कथन होने से जीव ही अक्षर पद प्रतिपाद्य है । इसके उत्तर में कहते हैं 'अम्बरान्तमित्यादि' सूत्रम् । अम्बर=अर्थात् उसका परिसमाप्ति है

व्याक्रियत' [बृ० १।४।६] इति श्रुतेः । प्रथममव्याकृतं भूतसूक्ष्मा-
सीत्तस्यैवाकाशादिनामरूपाभ्यां व्याकरणानन्तरं सर्वमिदं नामरूपा-
त्मकमाकाशादिकं जगदभवत्तेनाकाशस्य कारणमव्याकृतम् । कार्याणां
स्वकारणे समाप्तेर्ल्यस्य श्रवणादन्तशब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वेनोक्ता
र्थस्योपपत्तिः । त्रैलोक्यान्तवर्तितिनो द्युपृथिव्यादिविकारजातस्या
धारतयानिर्दिष्टस्याकाशस्य भूताकाशत्वानुपपत्तेश्च । यतस्तस्यापि
विकारान्तर्गतत्वेन सर्वविकाराधारत्वाऽसम्भवात् । तस्मादम्बरान्तपद
निर्दिष्टमव्याकृतं तस्य धृतेर्धारणात्तदाधारत्वादित्यर्थः । तस्मादम्बरा-
न्तस्याव्याकृतस्याधारत्वादक्षरं ब्रह्मैव न प्रधानमिति ॥१०॥

इत्यादि । आकाशादेराधारकः । अक्षरं सर्वस्य कारणम् । तत्राक्षरेण प्रधानस्य जीवस्य
परमात्मनो वा ग्रहणमिति संशयः सर्वविकारकारणत्वात् प्रधानं पक्षे जीवोवेति पूर्वपक्षः ।
भूतसूक्ष्मपर्यन्तस्य धारकत्वात्परमात्मैव नेतरे इत्युत्तरम् ॥१०॥

जिसमें उसका नाम है अम्बरान्त अव्याकृत अंबर का कारण 'यह पहिले अव्याकृत तथा,
उसका नाम रूप द्वारा स्पष्टीकरण हुआ' इसप्रकार से श्रुति कहती है । अर्थात् उत्पत्ति
के पूर्व में अव्याकृत भूत सूक्ष्म था । उसीका आकाशादि नाम रूप से व्याकरण स्पष्टी
करण के बाद में सब यह नाम रूपात्मक आकाशादिक जगत् पैदा हुआ इसलिए इस
भूताकाशादिक का कारण अव्याकृत है । और कार्य का स्वकारण में समाप्ति छय होता है
ऐसा श्रुत है । इससे अन्त शब्द के समाप्त्यर्थक होने से उक्तार्थ की उपपत्ति होती है ।
त्रैलोक्य के अन्तर्वर्ती द्यु पृथिव्यादि विकार समुदाय के आधार रूप से निर्दिष्ट जो आकाश है
वह भूताकाश नहीं हो सकता है । क्योंकि भूताकाश भी तो विकार के अन्तर्गत है ।
इसलिए वह सर्व विकार का आधार नहीं बन सकता है । स्व का कारण स्व नहीं होता है
आत्माश्रय दोष होने से । तस्मात् अम्बरान्त पदनिर्दिष्ट जो अव्याकृत है वह उसका
आधार है । इसलिए अम्बरान्त अव्याकृत का आधा होने से परब्रह्म ही अक्षर पदवाच्य
है । यद्यपि सूक्ष्मभूत के आधार होने पर भी प्रधान का निराकरण नहीं होता है ।
क्योंकि प्रधान तो सूक्ष्म स्थूल समस्त जगत् का आधार है । तथापि इसका उत्तर
अग्रिम सूत्र में मूत्रकार तथा माध्यकार स्वयं करेंगे ॥१०॥

अथापि 'यस्याऽव्यक्तं शरीरम्' 'यस्याक्षरं शरीरम्' 'क्षरं प्रधान-
ममृताक्षरं हरः' [इवे० १।१०] 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर
उच्यते' [गी० १५।१६] 'यस्मात् क्षमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः'
[गी० १५।१८] इत्येवमा श्रुतिस्मृत्युक्तोऽक्षरशब्दवाच्यो जीवोऽस्तु।
तस्य च 'ययेदं धार्यतेजग' दितिजगदाधारत्वस्मरणात्तस्यैवास्थूलत्वा-
दिधर्मकत्वोपपत्तोश्चेत्याशंकायामाह-

॥ सा च प्रशासनात् १।३।११ ॥

सा चाम्बरान्तधृतिरस्याक्षरशब्दबोध्यस्य परमात्मनः प्रशास-
नादेव सम्पद्यते । 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठतः' [बृ० ३।८।९] इत्याद्यक्षरस्य प्रशासनवैभवमाविष्कु-
र्वन्त्यः श्रुतयः परमात्मानमेवाक्षरपदाभिधेयत्वं द्रढयन्ति । प्रकृष्टत्व

इहाक्षरपदेन न प्रधानस्य जीवस्य वा ग्रहणं किन्तु परमेश्वरस्यैव कुतः प्रशास-
नस्येह श्रवणात् प्रशासनं च चेतनकार्यं नत्वचेतनस्य नहि भवति घटादिकं प्रति-
प्रशासनं मृत्तिकायाः तत्कस्य हेतोः ? अचेतनत्वात् । तदिह श्रूयमाणं प्रशासनं
परमेश्वरमेवाक्षरपदवाच्यमुपस्थापयति । यद्यपि जीवश्चेतनं तस्य तदिदं कार्यं
संभवेत्तथापि परिमितशक्तिकस्य तस्य सूर्यादिप्रशासकत्वस्यानुभवविरुद्धत्वादित्यादि
शङ्कामपाकर्तुं प्रक्रमते अथापीत्यादि यस्याव्यक्तं शरीरम् क्षरः सर्वाणिभूतानि इत्यादि

जीवात्मा अथवा प्रधान अक्षर पदवाच्य नहीं है । किन्तु परमात्मा ही अक्षर पदवाच्य
है । इसमें युक्त्यन्तर बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं 'अथापीत्यादि' जिसका अव्यक्त
शरीर है' 'जिसका अक्षर शरीर है' क्षर प्रधानम्' 'क्षरः सर्वाणि' इत्यादि श्रुति स्मृति प्रति-
पादित अक्षर पदवाच्य जीव को ही माना जाय । उस जीव में 'ययेदं धार्यते' इत्यादि
जगदाधारत्व कहा गया है । उस जीव में अस्थूलत्वादि धर्मवत्त्व भी हो सकता है । इस शंका
के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'सा च प्रशासनादिति' 'अम्बरान्त पदार्थों का धारण अक्षर
पद बोध्य परमात्मा के प्रशासन से ही सम्पन्न होता है । 'हे गार्गि ! इस अक्षर ब्रह्म के
प्रशासन से ही सूर्यचन्द्रादिक विधारित रहते हैं ।' इत्यादि श्रुति परमात्मा के प्रशासन

अत्र शासनेऽप्रतिहताज्ञत्वरूपम् तथा चाक्षरस्याबाधिताज्ञायां सूर्य-
चन्द्रमसोद्युपृथिवानिमेषमुहूर्ताहोरात्रार्धमासर्तुसंवत्सरादीनां विधुनि
तया स्थितेः श्रवणादस्य स्वाधीनशासनस्य चिदचित्सर्ववस्तुविधा-
रणस्य प्रत्यगात्मन्यसम्भवात् । प्रधानस्य त्वचेतनस्यासम्भवपराह
तत्वात्प्रशासनस्येति परिशेषात्तस्य परमात्मधर्मत्वमेवेति तदेवाक्षरपद-
वाच्यम् ॥११॥

इतश्च ब्रह्मैवाक्षरम्—

॥ अन्यभावव्यावृत्तेश्च १।३।१२ ॥

अन्ययोः प्रधानजीवयोर्भावो धर्मोऽन्यभावस्तस्य व्यावृत्तेः ।
तद्व्यावर्तकानां केवलपरमात्मधर्माणां वाक्यशेषे श्रवणात् । 'तद्वा
स्मृत्यापि जीवस्यैवाक्षरपदवाच्यत्वं भवत्विति प्रठनाशयः । प्रशासनं नाम अन्याह-
तज्ञत्वमेव तच्छाबाधितनिरंकुशाज्ञत्वं परमेश्वरस्यैव नतु जीवस्याचेतनस्य वा प्रधानस्य
किन्तु परमेश्वरस्यैव । तस्य चेतनत्वात्सर्वशक्तिमत्त्वाच्चेति समाधानाशयः ॥११॥

नात्राक्षरपदेन प्रधानस्य जीवस्य वा ग्रहणं भवति किन्तु परमात्मन एवाक्षरपदेन
ग्रहणम् । यतोऽन्यभावस्य जीवप्रधानधर्मव्यतिरिक्तधर्माणां द्रष्टृत्व श्रोतृत्वा
के वैभव को आविष्कृत करती हुई परमात्मा के अक्षर पद वाच्यत्व को दृढ़ करती है ।
प्रशासन में प्रकृष्टत्व जो है वह अप्रतिहत आज्ञा स्वरूप है । तो अक्षर पदवाच्य के अप्रतिहत
अबाधित आज्ञा में चन्द्रसूर्यादि संवत्सरान्त के स्थिति का श्रवण होने से स्वाधीन शासन जो
चिदचित्पदार्थ का विचारण है वह बाधित आज्ञावान् प्रत्यगात्मा में असंभवित है । और
अचेतन प्रधान का एतादृश प्रशासन तो सर्वथा असंभवित है । जब चेतन जीव में एतादृश
प्रशासन नहीं हो सकता है । तब अचेतन प्रधान में तो सर्वथा ही असंभवित है । क्योंकि
प्रशासन लक्षण कार्य चेतन का है अचेतन का नहीं है । 'परिशेषात्' वह एतादृश प्रशासन
परमात्मा का ही है यह सिद्ध होता है । और तादृश अक्षर पदवाच्य परमात्मा है ॥११॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि अक्षर पदवाच्य परमात्मा है । क्योंकि
अन्यभाव की व्यावृत्ति देखने में आती है । अन्य अर्थात् प्रधान तथा जीव उनका जो भाव
अर्थात् धर्म आदृश धर्म व्यावृत्ति देखने में आती है । जीव प्रधान के व्यावर्तक केवल पर-

एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं दृष्टश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृनान्यद-
तोऽस्ति द्रष्टृनान्यदतोऽस्ति श्रोतृनान्यदतोऽस्ति मन्तृनान्यदतो
ऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खत्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'
[बृ० ३।८।११] अत्र हि दृष्टत्वादिरूपैश्चेतनधर्मैश्चेतनप्रधानभावस्य
व्यावर्तनात् । एवं सर्वैरदृष्टत्वाद्यात्मकैः सर्वदृष्टत्वात्मकैश्च परमा-
त्मासाधारणधर्मैर्जीवभावस्य व्यावृत्तेः । किञ्च 'एतस्यवाक्षरस्य
प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवादर्वीपितरो-
ऽन्वायत्ताः' [बृ० ३।८।११] इति यस्य प्रशासनेऽन्वायत्ता यदाज्ञया
श्रौतं स्मार्तञ्च यागदानहोत्रादिकं कुर्वन्ति तदक्षरं परम्ब्रह्मैव । अत
एव 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः
अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः' [बृ०
३।८।१०] इतीयं श्रुतिर्यदज्ञानात्कार्पण्यं यज्ज्ञानाच्च ब्राह्मण्यं स्वय
दृष्टत्वादीनां परमात्मबोधकधर्माणामिहोपदेशात् । यद्यपि प्रधानेऽदृष्टत्वादिकधर्मो-
विद्यते जीवे द्रष्टृत्वादिकं भवति तथापि प्रधानस्याचेतनत्वात् द्रष्टृत्वादिकं नास्ति
जीवस्य चेतनत्वेऽपि अदृष्टत्वादीकं नास्ति इतितदुभययोर्व्यावृत्तिर्जायते परिशेषात्
पूर्वोक्तधर्माणां परमात्मन्येव संभवात् प्रकृतेऽक्षरपदवाच्यः परमात्मैवेति निश्चेतुमुपक्रमते
मात्म धर्मो का वाक्यशेष में श्रवण होता है । 'तद्वा' [हे गार्गि ! अद्रष्टा द्रष्टा है अश्रुत
श्रोता है अमत मन्ता विज्ञाता है इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है । हे
गार्गि ! इस अक्षर में ओकाश ओतप्रोत है ।] यहाँ द्रष्टृत्वादि रूप चेतन धर्मों से अचेतन
प्रधान भाव की निवृत्ति होती है । एवं अदृष्टात्मक तथा द्रष्टृत्वादि धर्म से जो कि परमात्मा
का असाधारण धर्म है उससे जीव भाव की व्यावृत्ति होती है । और भी 'इस अक्षर के
प्रशासन में ही दान देनेवालों की प्रशंसा होती है' इत्यादि । जिसकी आज्ञा से श्रौतस्मार्त
यागदानादिक कर्म करते हैं । वह अक्षर परब्रह्म ही है । अतएव 'जो व्यक्ति इस परमात्मा
को नहीं जान करके इस लोक से जाता है वह कृपण है । और जो जानकरके जाता है

मेवाभिदधाति तदक्षरपदवाच्यः परमपुरुषः परमात्मैवेति सिद्धम् । १२।

इति श्रीआनन्दभाष्येऽक्षराधिकरणम् ।

अथैश्वर्यकर्मधिकरणम् ॥४॥

ॐ ईश्वरकर्मव्यपदेशात्सः १।३।१ ३ ॐ

अथर्वणे सत्यकामप्रश्ने श्रूयते—‘यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्य सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवधनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते’ [प्र० ५।५] अत्र च पुरुषेक्षणरूपं फलमभिध्यानञ्च इतश्चब्रह्मैवाक्षरम् अन्यभावेत्यादि । भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थानीति संक्षेपः ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽक्षराधिकरणम् ।

प्रश्नोपनिषदि सत्यकामप्रश्ने श्रूयते एतद्वैसत्यकाम परंचापरंच ब्रह्मपदोकार इत्यादि प्रकृत्यश्रूयते यः पुनरेतम् परं पुरुषमभिध्यायीत अत्र संशयोभवति किमत्र हिरण्यगर्भोऽभिध्यातव्यतयोपदिश्यते परमात्मावेति । तत्र सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमित्यादिनाध्यातुः परिच्छिन्नफलप्राप्तिदर्शनात् हिरण्यगर्भ एव तथेति । नतु परमात्मनो ग्रहणम् वह ब्राह्मण है] यह श्रुति जिसके अज्ञान से कृपणता तथा जिसके ज्ञान से ब्राह्मण भाव को श्रुति बतलाती है । तादृश अक्षर पदवाच्य परमपुरुष परमात्मा श्रीरामजी ही है यह सिद्ध हुआ । १२।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽक्षराधिकरणम् ।

अथर्वण के सत्यकाम प्रश्न में सुनने में आता है कि ‘जो इस पुरुष का त्रिमात्र ओंकार रूप अक्षर से अभिध्यान करता है वह तेजोरूप सूर्य में सम्पन्न होता है ।’ जिस प्रकार पादोदरसर्पत्वचा [चुआ] से विनिर्मुक्त हो जाता है । उसी तरह अभिध्यातापुरुष सबप्रकार के पापों से विनिर्मुक्त हो करके साम के द्वारा ब्रह्मलोक में जाता है । तथा इस जीवधन से परात्पर पुरुष को देखता है’ यहाँ परमपुरुष का जो ईक्षण है वह फल है और अभिध्यान-फली फलवत् है । फल तथा फली ईक्षण तथा अभिध्यान में एक विषयत्व नियत है । अर्थात्

फलीति फलफलिनोरीक्षणध्यानयोरेकविषयत्वनियतत्वाद् ध्यात्रा
 योध्येयः स एवेक्षणीय इति ध्यानेक्षणविषयतया ज्ञायमानो योऽर्थः
 स एवेक्षणीय इति निश्चिते सति संशयः । किमत्र पुरुषपदवाच्यः
 प्रत्यगात्मा समष्टिपुरुषाभिमानी चतुर्मुख आहोस्वित्सर्वेश्वरः
 श्रीरामाख्यः परमात्मेति । किं युक्तम् ! समष्टिपुरुषश्चतुर्मुखः ।
 कुतः ? तद्विद् सातिशयलक्षणफलस्यात्रोच्यमानत्वात् । तथाहि—
 ‘स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोकारमभिध्यायीत कतमं
 वाव स तेन लोकं जयति’ [प्र. ५।१] इति प्रकृत्यैकमात्रप्रणवोपा-
 सकस्य मनुष्यलोकप्राप्तिरूपं फलं द्विमात्रप्रणवोपासकस्य चान्त-
 रीक्षलोकप्राप्तिकलमभिधाय ‘यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवा-
 क्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः’ [प्र० ५।५]

तदभिध्यानस्य नित्यनिरतिशयसुखप्राप्ति अजरापृतत्वोदिफलश्रवणादितिनात्रपर-
 मात्मनो ग्रहणं किन्तु हिरण्यगर्भस्यैवेति पूर्वपक्षः । उत्तरपक्षस्तु परमेव ब्रह्माभिध्यान
 विषयतयोपदिश्यमानं भवति ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् ईक्षणस्य यत् कर्मतदेवाभिधानस्यापि
 कर्म उभयोरविषयत्वात् । फलमपि वाक्यशेषेऽजरामरत्वादिकं श्रयमाणं बलात्पर-
 मात्मानमेवोपस्थापयतीत्यादिकं मनसि निधाय सविस्तरं सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते
 यद्विषयक अभिध्यान होता है तद्विषयक ही ईक्षण भी होता है । ध्याता के द्वारा जो ध्येय होता
 है वही ईक्षणीय दर्शन का भी विषय होता है । इस प्रकार ध्यान तथा ईक्षण का विषय
 कर्म रूप से ज्ञायमान जो पदार्थ होता है वही ईक्षणीय दर्शनीय भी होता है । ऐसा
 निश्चित होने पर संशय होता है कि समस्त जीव का अभिमानी चतुर्मुख हिरण्यगर्भ है ।
 तादृश पुरुष अथवा सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्मा भगवान् श्री साकेताधिपति अभिध्यातव्य
 तथा ईक्षतिकर्म है । यह संशय होता है । तो इसमें क्या होना युक्त है ? उत्तर—सम्पूर्ण
 जीव का अभिमानी चतुर्मुख का ग्रहण करना ठीक है । क्योंकि एतादृश पुरुष के उपासक
 को सातिशय फल का कथन किया है ।

तथाहि ‘हे भगवन् इस मनुष्य लोक में जो उपासक मरण पर्यन्त ओंकार का
 अभिध्यान करता है उससे वह किस लोक को प्राप्त करता है’ यह प्रकृत करके एक मात्रा-

इति त्रिमात्र प्रणवोपासकस्य प्राप्यत्वेनोच्यमानो ब्रह्मलोकस्तत्र च ध्यानेक्षणविषयो जीवसमष्ट्यभिमानी चतुर्मुख एव स्यात् । तस्यैव तल्लोकाध्यक्षतया स्थितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते— ईक्षति कर्मव्यपदेशात्स इति । प्रकृतश्रुतावीक्षतिकर्मक्षेत्रविषयः स परमात्मैव । कुतः ? व्यपदेशात् । ईक्षतिकर्मतयात्र व्यपदिश्यत एव परमात्मा । तदेवं प्रकृतमन्त्रो 'तमोँकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्च' (प्र० ५।७) इति प्रदर्शितं शान्तमजरत्वादिरूपं परमात्मन एव सम्भवति । एवं 'एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्' इति परात्परत्वव्यपदेशः परमान्प्रन एवनान्यस्य चतुर्मुखादेः । यतस्तस्यापि जीवघनशब्दग्राह्यत्वात् । यः कर्मनिमित्तदेहवान् स जीवघनः श्रूयते चतुर्मुखस्यापि कर्मनिमित्तकं जन्मादिकम् ।

आथर्वणे सत्यकाम प्रश्ने इत्यादि । पुरुषोक्षेणरूपमिति पुरुषस्य दर्शनं मुख्यं फलम् । अभिध्यानं च तज्जनकमवान्तरफलं द्वारात्मकं चक्रभ्रमिवदिति । चतुर्मुखः कमलासनसत्यलोकाधिपतिरिति । सातिशयेति उत्पादविनाशिफलश्रवणात् कमलासनस्यापि कर्मजन्यप्रतिसंचरेविनाशि च फलमिति स्मृत्यादौ दर्शनादिति । कथमनित्यवाला प्रणवोपासक को मनुलोक प्राप्ति लक्षण फल त्रिमात्र प्रणवोपासक को अन्तर्गति लोक प्राप्ति फल को बतला करके 'जो उपासक त्रिमात्र प्रणव अक्षर से परमपुरुष का अध्यान करता है वह सूर्य में सम्पन्न होता है' इस प्रकार त्रिमात्र प्रणवोपासक को प्राप्य जो ब्रह्मलोक है उसमें ध्यान तथा ईक्षण का विषय जीव समष्टि का अभिमानी चतुर्मुख को ही होना चाहिए । क्योंकि उस लोक के अध्यक्ष रूप से व्यवस्थित तो चतुर्मुख ही है । इति प्रश्नः ।

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्स' इति । प्रकृत श्रुति में ईक्षण का विषय परमात्मा ही है । क्योंकि व्यपदेश होने से अर्थात् ईक्षण के विषय रूप से परमात्मा का ही व्यपदेश होता है । इस प्रकार प्रकृत मन्त्र में 'उसको ओंकार रूप आयतन द्वारा विद्वान् उपासक प्राप्त करता है । जो वह प्राप्य है वह शान्त अजर अमर रूप है' ऐसा बतलाया है । एतादृश प्रदर्शित शान्त अमरत्वादिक जो धर्म है वह परमात्मा में ही संभवित है । इसी तरह 'इस जीवघन से परात्पर पुरिशय पुरुष को देखता है' इत्यादि वाक्य में जो परात्परत्व का व्यपदेश है वह परमात्मा का ही व्यपदेश है । किन्तु

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' [श्वे० ६।१८] इत्यादिवचनैः । तथा 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' [मु० ३।२।६] इति श्रुतौ 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मृतौ च परान्तकाल इति परस्यान्त इति च ब्रह्मणो मृत्युश्रवणाज्जन्ममृत्युमत्वेन च तस्य जीवत्वोपपत्त्या सर्वपापविनिर्मुक्तजीवप्राप्यत्वाज्जराश्रुतत्वादिधर्मकत्वानुपपत्तेः । परमात्मन एव तादृशधर्मकत्वोपपत्तावीक्षतिकर्मभूतः परमपुरुषः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥१३॥

इति आनन्दभाष्ये ईक्षतिकर्माधिकरणम् ।

फलं तत्राह सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं सत्यलोकमित्यर्थः । परमात्मदर्शनस्य फलमजरामरत्वादिकं वाक्यशेषसूचितम् । न चैतादृशं हिरण्यगर्भदर्शनजनितम् किन्तु परमात्मदर्शनजनितमेवेति । यद्यपि तत्राप्यमरत्वप्राप्तिस्तथापि चिरस्थेमानत्वलक्षणमेव नतु निरुपाधिकं तदिति भावः । तस्मान् परमात्मैवेक्षतिकर्मभूत इति सिद्धम् ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ईक्षति कर्माधिकरणम् ।

तदतिरिक्तं चतुर्मुखादिकं का नहीं है । क्योंकि चतुर्मुख भी तो जीव हैं । जो कर्म निमित्तक देहवान् होता है वह जीव घन है । ऐसा शास्त्रों में श्रुत है । चतुर्मुख का भी कर्मनिमित्तक जन्मादिक होता है 'सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया है' 'सर्व प्रथम ब्रह्मा को बनाते हैं' इत्यादिक वचनों से हिरण्यगर्भ का भी जन्मादिक श्रुत है । तथा 'वे लोक ब्रह्मलोक में उस हिरण्यगर्भ के अवसान काल में विमुक्त हो जाते हैं' 'प्रलयकाल उपस्थित होने पर वे लोक ब्रह्म निवासी उपासक लोक हिरण्यगर्भ के साथ—साथ हिरण्यगर्भ के अवसानकाल में परमपद को प्राप्त कर जाते हैं' इस स्मृति में हिरण्यगर्भ का भी मरणश्रुत है । तो जन्ममृत्युवान् होने से हिरण्यगर्भ में भी जीवत्व की सिद्धि होती है । अतः सर्वपापविनिर्मुक्तत्व अजरामरत्वादि धर्मवत्त्व हिरण्यगर्भ में असंभवित है । और पूर्वोक्त ये सब धर्म परमात्मा में ही उपपन्न हैं, अतः परम पुरुष परमात्मा ही ईक्षति कर्म हैं । यह सिद्ध होता है । इति सक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे ईक्षति कर्माधिकरणम् ।

अथ दहराधिकरणम् ॥५॥

॥ दहर उत्तरेभ्यः १।३।१४ ॥

छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तरं श्रूयते—‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्’ [छा० ८।१।१] अत्र संशयः । अत्र दहरे हृत्पुण्डरीके यो दहराकाशः श्रूयते स किं भूताकाशोऽथवा प्रत्यागात्मा ? आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? भूताकाश इति । कुतः ? आकाशपदस्य भूताकाशे प्रसिद्धिप्राचुर्यात् । ‘तस्मिन्यदन्तरि’ त्याधास्त्वप्रतीतिश्च । अथवा ब्रह्मपुरशब्देनाभिहितस्य देहस्य स्वामीजीवो हृदयनिवासी स्यादहराकाशपदवाच्यस्तस्यापि सूक्ष्मत्वादिति प्राप्त आह—दहर उत्तरेभ्य इति । दहराकाशः परमात्मैव भवितुमर्हति । कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—‘अथ यदिदमस्मिन्नि’ ति वाक्यस्या

छान्दोग्योपनिषदि श्रूयते अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरेदहरंपुण्डरीकंवेश्मदहरोऽस्मिन्नाकाशः इत्यादि तत्रातिसूक्ष्मे कमले यो दहर आकाशः स किं भूताकाशो जीवोवा परमात्मावेति संशयः । तत्राकाशस्यभूताकाशेऽतिरूढत्वादाकाशपदेन भूताकाशस्य ग्रहणम् अथवा पुर-

छान्दोग्योपनिषत् के भूमविद्या के अनन्तर में सुनने में जाता है कि ‘अथेत्यादि यहाँ अथ शब्द विद्यान्तर के आरंभ सूचक है । इस ब्रह्मपुर में जो दहर अत्यल्प पुण्डरीक वेश्म है इसके अन्दर दहर अति सूक्ष्माकाश है । उसके अन्दर में जो विद्यमान है वह अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्य है’ यहाँ संशय होता है । यहाँ दहराकाश श्रुत है वह क्या भूताकाश है । अथवा प्रत्यागात्मा है अथवा सर्वजगत् कारण परमात्मा है । तो इसमें क्या युक्त है ? यहाँ भूताकाश का हा ग्रहण होना चाहिए । क्योंकि आकाश पद का भूताकाश में प्रसिद्धि है । तथा ‘उसमें अन्तः अवस्थित है ।’ यहाँ सप्तमी विभक्ति से आधारता की प्रतीति होती है । अथवा ब्रह्मपुर शब्द से कथित जो देह उसका स्वामी हृदय में निवास करने वाला जीव है वह दहराकाश का वाच्य हो सकता है । क्योंकि स्वभावतः अनुपरि-

यमर्थः । विद्यान्तरारम्भार्थोयमथशब्दः अस्मिन्प्रत्यक्षे ब्रह्मपुरे ब्रह्म-
निवासस्थाने तत्प्राप्तिमाधनीभूत उपासकशरीरे यदिदं दहरं सूक्ष्मं
पुण्डरीकं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परब्रह्मवेश्मभूतं दहरः
सूक्ष्मोऽस्मिन् हृद्यन्तराकाशः सूक्ष्माकाशः परमात्मा सदातिष्ठती
त्यर्थः । 'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमि'
त्यग्रे परमात्मनो हृत्स्थत्वश्रवणात् । तस्मिन्परमात्मनि यदन्तस्तद-
न्तर्वर्त्यात्मत्वापहतपाप्मत्वसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिकं स्वाभावि-
कानवधिकापरिमितमङ्गलगुणजातं तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य
मेतद् गुणसहितं परं ब्रह्म विचार्य ज्ञानविषयीकर्तव्यञ्चेत्यर्थः । दह-
राकाशशब्दवाच्यः परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा
इतिकुतोऽवगम्यत इति चे 'तस्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधे-
स्वामित्वाज्जीवस्य ग्रहणं नतु परमपुरुषस्य तस्य व्यापकत्वेन परिमितप्रदेशेऽव-
स्थानासंभवात् । तस्माद्भूताकाशस्य जीवस्य वा ग्रहणमिति पूर्वपक्षः ।

उत्तरं तु दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव कुतः ? उत्तरेभ्यः उत्तरवाक्यम् इदं-
तावत् तदन्वेष्टव्यं तद्वाव जिज्ञासितव्यं मोक्षकामा मोक्षाप्राप्तये परमात्मानं तदीयगुणां
माणक होने से वह भी तो सूक्ष्म है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—
'दहर उत्तरेभ्य' इति । दहराकाशपदबोध्य परमात्मा ही हो सकते हैं । क्योंकि उत्तर
वाक्यशेषगत हेतु से । तथाहि 'अथ यदिदमस्मिन्' इत्यादि इस वाक्य का यह अर्थ होता है
यहाँ विद्यान्तर के आरम्भार्थक अथ शब्द है । इस प्रत्यक्षविषयीभूत ब्रह्मपुर में ब्रह्म के
निवास स्थान में अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति में साधन लक्षण उपासक का जो शरीर है उसमें जो यह
दहर सूक्ष्म पुण्डरीक पुण्डरीकाकार अल्पपरिमाणक जो हृदय रूप वेश्म है इस हृदय में अन्त-
राकाश सूक्ष्माकाश परमात्मा सदा अवस्थित रहते हैं यह अर्थ है । 'यद् परमात्मा हृदय में
है' इत्यादि अप्रिमवाक्य में परमात्मा को हृदय स्थित बतलाया है । उस परमात्मा में जो
अन्तर्वर्त्ती आत्मत्व अपहतपाप्मत्व सत्यकामत्व सत्य संकल्पत्वादिक स्वाभाविक अनवधिक
अपरिमित मंगल गुण समुदाय है वह अन्वेष्टव्य है वह विजिज्ञासितव्य है । उपर्युक्त गुण
विशिष्ट परब्रह्म विचार्य है तथा ज्ञानविषय करने के योग्य है । यह इसका अर्थ है । दहरा-

५ दहर उत्तरेभ्यः १।३।१४ ५

छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तरं श्रूयते—‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्’ [छा० ८।१।१] अत्र संशयः । अत्र दहरे हृत्पुण्डरीके यो दहराकाशः श्रूयते स किं भूताकाशोऽथवा प्रत्यागात्मा ? आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? भूताकाश इति । कुतः ? आकाशपदस्य भूताकाशे प्रसिद्धिप्राचुर्यात् । ‘तस्मिन्यदन्तरि’ त्याधास्त्वप्रतीतेश्च । अथवा ब्रह्मपुरशब्देनाभिहितस्य देहस्य स्वामीजीवो हृदयनिवासी स्यादहराकाशपदवाच्यस्तस्यापि सूक्ष्मत्वादिति प्राप्त आह—दहर उत्तरेभ्य इति । दहराकाशः परमात्मैव भवितुमर्हति । कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—‘अथ यदिदमस्मिन्नि’ ति वाक्यस्या

छान्दोग्योपनिषदि श्रूयते अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरेदहरंपुण्डरीकंवेश्मदहरोऽस्मिन्नाकाशः इत्यादि तत्रातिसूक्ष्मे कमले यो दहर आकाशः स किं भूताकाशो जीवोवा परमात्मावेति संशयः । तत्राकाशस्यभूताकाशेऽतिरूढत्वादाकाशपदेन भूताकाशस्य ग्रहणम् अथवा पुर-

छान्दोग्योपनिषत् के भूमविद्या के अनन्तर में सुनने में आता है कि ‘अथेत्यादि यहाँ अथ शब्द विद्यान्तर के आरंभ सूचक है । इस ब्रह्मपुर में जो दहर अत्यल्प पुण्डरीक वेश्म है इसके अन्दर दहर अति सूक्ष्माकाश है । उसके अन्दर में जो विद्यमान है वह अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्य है’ यहाँ संशय होता है । यहाँ दहराकाश श्रुत है वह क्या भूताकाश है । अथवा प्रत्यागात्मा है अथवा सर्वजगत् कारण परमात्मा है । तो इसमें क्या युक्त है ? यहाँ भूताकाश का ही ग्रहण होना चाहिए । क्योंकि आकाश पद का भूताकाश में प्रसिद्धि है । तथा ‘उसमें अन्तः अवस्थित है ।’ यहाँ सप्तमी विभक्ति से आचारता की प्रतीति होती है । अथवा ब्रह्मपुर शब्द से कथित जो देह उसका स्वामी हृदय में निवास करने वाला जीव है वह दहराकाश का वाच्य हो सकता है । क्योंकि स्वभावतः अणुपरि-

यमर्थः । विद्यान्तरारम्भार्थोयमथशब्दः अस्मिन्प्रत्यक्षे ब्रह्मपुरे ब्रह्म-
निवासस्थाने तत्प्राप्तिमाधनीभूत उपासकशरीरे यदिदं दहरं सूक्ष्मं
पुण्डरीकं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परब्रह्मवेश्मभूतं दहरः
सूक्ष्मोऽस्मिन् हृद्यन्तराकाशः सूक्ष्माकाशः परमात्मा सदातिष्ठती
त्यर्थः । 'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमि'
त्यग्रे परमात्मनो हृत्स्थत्वश्रवणात् । तस्मिन्परमात्मनि यदन्तस्तद-
न्तर्वर्त्यात्मत्वापहतपाप्मत्वसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिकं स्वाभावि-
कानवधिकापरिमितमङ्गलगुणजातं तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य
मेतद् गुणसहितं परं ब्रह्म विचार्य ज्ञानविषयीकर्तव्यञ्चेत्यर्थः । दह-
राकाशशब्दवाच्यः परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा
इतिकुतोऽवगम्यत इति चे 'त्सब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधे-
स्वामित्वाज्जीवस्य ग्रहणं नतु परमपुरुषस्य तस्य व्यापकत्वेन परिमितप्रदेशेऽव-
स्थानासंभवात् । तस्माद्भूताकाशस्य जीवस्य वा ग्रहणमिति पूर्वपक्षः ।

उत्तरं तु दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव कुतः ? उत्तरेभ्यः उत्तरवाक्यम् इदं-
तावत् तदन्वेष्टव्यं तद्वाव जिज्ञासितव्यं मोक्षकामा मोक्षप्राप्तये परमात्मानं तदीयगुणां
माणक होने से वह भी तो सूक्ष्म है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—
'दहर उत्तरेभ्य' इति । दहराकाशपदबोध्य परमात्मा ही हो सकते हैं । क्योंकि उत्तर
वाक्यशेषगत हेतु से । तथाहि 'अथ यदिदमस्मिन्' इत्यादि इस वाक्य का यह अर्थ होता है
यहाँ विद्यान्तर के आरम्भार्थक अथ शब्द है । इस प्रत्यक्षविषयीभूत ब्रह्मपुर में ब्रह्म के
निवास स्थान में अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति में साधन लक्षण उपासक का जो शरीर है उसमें जो यह
दहर सूक्ष्म पुण्डरीक पुण्डरीकाकार अल्पपरिमाणक जो हृदय रूप वेश्म है इस हृदय में अन्त-
राकाश सूक्ष्माकाश परमात्मा सदा अवस्थित रहते हैं यह अर्थ है । 'यह परमात्मा हृदय में
है' इत्यादि अग्रिमवाक्य में परमात्मा को हृदय स्थित बतलाया है । उस परमात्मा में जो
अन्तर्वर्त्ती आत्मत्व अपहतपाप्मत्व सत्यकामत्व सत्य संकल्पत्वादिक स्वाभाविक अनवधिक
अपरिमित मंगल गुण समुदाय है वह अन्वेष्टव्य है वह विजिज्ञासितव्य है । उपर्युक्त गुण
विशिष्ट परब्रह्म विचार्य है तथा ज्ञानविषय करने के योग्य है । यह इसका अर्थ है । दहरा-

नाऽस्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्' 'अस्मिन् कामाः समाहिताः'
 [छा० ८।१।४] इत्याकाशशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणोऽन्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्यान्
 कामान्निर्दिश्य कोऽयं ? दहराकाशशब्दोक्तः के च ? तदन्तर्वर्तिनः
 कामा इत्यपेक्षायां 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको
 विजिघ्रित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।४) इत्युत्तरं
 वाक्यमाकाशशब्दाभिहितः परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वा-
 दयो गुणा इति ज्ञापयति । किञ्च 'तद्य इहात्मानमननुविद्यब्रजन्त्ये
 तांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहा
 त्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु काम
 चारो भवति' (छा० ८।१।६) इत्युत्तरं वाक्यं स्वेच्छयासञ्चरणं स्वेप्सित
 सर्वभोगप्राप्तिं दर्शयदात्मनश्चकारेण सत्यकामानाञ्चोपास्यत्वं ज्ञाप
 यति । तस्मात्स्वशरीरान्तर्वर्तिहृत्पुण्डरीकान्तः स्थं ब्रह्मापहतपाप्मत्वादि
 गुणविशिष्टमन्वेष्टव्यमिति स्पष्टम् ।

इवान्वेषयन्ति तज्जिज्ञासां च कुर्वन्ति सत्यसंकल्पादि गुणविशिष्ट परमात्मन उपासनादेव
 परमपदप्राप्तेः श्रूयमाणत्वात् । तस्मात्परमात्मैव दहराकाशपदवाच्यतद्गुणाश्च तथेत्यादिकं
 सर्वं दर्शयितुमाक्षेपसमाधानाभ्यां सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते छान्दोग्येभूमविद्यानन्तरं श्रूयते
 वाशपदवाच्य परमात्मा है । तथा तदन्तर्वर्ति अपहतपाप्मत्वादिक तदीय गुण है । यह किस
 तरह जाना जाता है ? 'वह इस शरीर की जरा से यह जीर्ण नहीं होता है तथा इसके बंध
 से यह नहीं हत होता है यह ब्रह्मपुर सत्य है इसमें सब का समाहित है' इस वाक्य में
 आकाश शब्द प्रतिपाद्य ब्रह्म तथा तदन्तर्वर्ती अन्वेष्टव्य कामों का निर्देश करके यह कौन
 दहराकाश है तथा तदन्तर्वर्ती काम क्या है ? एतादृश जिज्ञासा होने पर 'यह आत्मा अपहत
 पाप्मा जरामृत्युशोकादि रहित सत्य संकल्पवान् है' यह जो उत्तर वाक्य है वह दहराकाश
 शब्द प्रतिपादित परमात्मा है तथा तदन्तर्वर्ती अपहतपाप्मत्वादिक गुण है इस बात को
 ज्ञापित करता है । और भी 'जो यहाँ इस आत्मा को नहीं जान करके जाता है तथा इन
 सत्यकामों को नहीं जान करके जाता है । उसको सभी लोक में अकामचार होता है और
 जो यहाँ इस आत्मा को जान करके तथा आत्माधिकरणक इन सत्यादिक कामों को जान

एवञ्चात्र तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्दपरामृष्टयोर्दहराकाशतदन्तर्वर्तिगुणजातयोरुभयोरप्यन्वेष्टव्यत्वमवगम्यते । 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेष्टम्' इति प्रागनूद्य 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति तस्य 'तस्मिन्यदन्तः' तस्मिन्दहराकाशपदवाच्यपरमात्मन्यन्तर्वर्तिगुणगणश्चेत्येतस्य चोभयोरपि 'तदन्वेष्टव्यतया विशिष्टविधानमि' ति निर्गलितार्थः । एतदुभयविधानं कथमवगम्यत इति चेदिदम्—पूर्वं हि 'सब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्यादिवाक्यं पुण्डरीकदहस्वदहस्त्वमन्तराकाशस्यापि समापन्नमपाकुर्वद्भूताकाशत्वमपि तस्य वास्यति । भूताकाशे प्रसिद्धस्याप्याकाशशब्दस्य स्वस्य स्वेनैवोपमा नोपपद्यत इति तस्य व्यावृत्तिः साधिता । अनन्तरं तेनैववाक्येन तस्य महत्त्वमभिधाय 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावभिश्च वायुश्च इत्यादि । उत्तरवाक्ये अजरामरत्वादिगुणानां परिकीर्तनम् न ते गुणा जडेभूताकाशे चेतने वा तस्मात् परमात्मैव तथेति शेषः । एवम् अस्मिन् कामाः समाहिता इत्यादिना तदीय करके जाते हैं । उनको सर्वत्र कामचार होता है' इत्यादिक उत्तरवाक्य स्वेच्छा से सर्वत्र संचरण तथा स्वामिलिखित भोग प्राप्ति को बतलाता हुआ आत्मा में तथा 'एताश्च सत्यान' यहाँ विद्यमान चकार से आत्मा के समान आत्मा के सत्यादिक गुणों में उपास्यत्व को ज्ञापित करता है । अर्थात् उपर्युक्त वाक्य आत्मा की तरह आत्मगुण सत्यादिक में भी उपास्यत्व को बतलाना है । तस्मात् स्वशरीर के अभ्यन्तरवर्ति जो हृदयपुण्डरीक उसमें अवस्थित अपहृतपाप्मत्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा उपास्य है यह स्पष्ट होता है । ऐसा हुआ तब 'तदन्वेष्टव्यम्' एतद्वा.य घटक तत् शब्द से परामृष्ट दहराकाश तथा तदन्तर्वर्त्ती गुण समुदाय इन दोनों में अन्वेष्टव्यत्व जाना जाता है । 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे' इत्यादिक का अनुवाद करके 'दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशः' दहर के अन्दर जो दहराकाश है उसका 'पुनः उस दहराकाशपदवाच्य परमात्मा के अभ्यन्तरवर्त्ति जो गुण है दोनों का अन्वेष्टव्यत्वरूप से

सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि' (छा० ८।१।३) इति प्रकृतस्यैवाकाशपदवाच्यस्यास्मिन्निति विश्वाधास्तामुक्त्वा 'यदै नज्जरा माप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यते' इति विचारे 'स ब्रूयान्नास्य जग्यैतज्जोर्यति न वधेनास्य हन्यते' इत्यादिभिर्देहस्य जराप्रध्वंसादौ सत्यपि तस्यातिसूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वं प्रदर्श्य ब्रह्मैवपुरं निखिलजगन्निवासभूतमिति तदेव सत्यं कालत्रयाबाध्यमिति 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर' मित्युपपाद्य 'अस्मिन् काणः समाहिताः' इति वाक्येनास्मिन्दहराकाशाख्ये परस्मिन्पुरुषे काम्यन्त इति कामाः वक्ष्यमाणा पहतपाप्मत्वादयो दिव्यगुणाः कात्स्न्येन वर्तन्त इत्यभिधाय 'एष आत्मापहतपाप्माविजरो विमृत्त्युरि' त्यादिना तेषां दिव्यगुणानामेव स्वरूपमाख्याय 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती' त्यनेन मंगलगुणानामपि परिकीर्तनमिति । अतस्तादृशगुणविशिष्टः परमात्मैवोपास्यतया परिकीर्तित इति नभूताकाशस्य जीवस्थावाऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं वेति । भाष्यान्तविधानं होता है यह निर्गलितार्थ है । उक्तप्रकरण का आत्मा तथा तदन्तर्वर्ति गुण इन दोनों का विधान है । यह कैसे समझते हैं ? उत्तर—इत्थं इस प्रकार से तथाहि—पहिले 'स ब्रूयाद्यावान् वा' इत्यादि 'अन्तर्हृदये आकाश' इत्यादि वाक्य हृदयपुण्डरीक में दहरवत् तदनन्तरवर्ति आकाश में प्राप्त दहरत्व को हटाता हुआ उसमें भूताकाशत्व का भी निराकरण करता है । भूताकाश में यद्यपि आकाश शब्द प्रसिद्ध भी है । तथापि स्व से स्व की उपमा अनुपपन्न है । अतः भूताकाश की व्यावृत्ति होती है । इसके बाद उसी पूर्ववाक्य में उसमें महत्त्व का प्रतिपादन करके 'उमे अस्मिन् द्यावा पृथिवी' इस वाक्य से उस आकाश पद वाच्य को 'अस्मिन्' इस पद में विश्वधारिता का प्रतिपादन करके 'यदै नज्जरा' इत्यादि विचार होने पर 'स ब्रूयान्नास्य जरया' इत्यादि वाक्य से शरीर के जरा प्रध्वंस होने पर भी अति सूक्ष्म होने से आत्मा में निर्विकारत्व को बतलाकर के 'ब्रह्म ही पुर है' समस्त जगत् का निवास रूप है वही कालत्रय में भी अबाध्य है 'एतत्सत्यं' इससे उपपादन कर के 'अस्मिन् कामाः' इत्यादि वाक्य से दहराकाशपदवाच्य परम पुरुष में वक्ष्यमाण अपहत पाप्मत्वादिक दिव्यगुण सम्पूर्ण रूप से रहता है यह कह करके 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इस

च दहराकाशपदाभिधेय परमात्मनस्तदन्तर्वर्तिनामपहतपाप्मत्वादीनां
गुणानामुपासनया तस्य पुरुषोत्तमस्यानुग्रहेणैवाखिलमनोरथपूर्ति
स्त्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वञ्चाविर्भवतीति प्राकरणिकार्थः । तस्मादत्र
दहराकाशपदाच्यः परमात्मापहतपाप्मत्वादिगुणाश्च तदन्तर्वर्तिन
इत्येतदुभयमन्वेष्टव्यमिति सिद्धान्तः ॥१४॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च १।३।१५

इतश्च परमात्मैव दहरपदवाच्यः । यतस्तस्यैवाभिधायकौ
गतिशब्दौ दृश्येते । तथा हि—‘अस्यैते सत्याः कामा अनृतापि
धानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्च-
न्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं
रापेक्षया यदिहवैलक्षण्यं तद्भाष्याक्षरैरेवज्ञातव्यमिति न पुनरुच्यते । अन्यत्सर्वमति-
रोहितार्थकमिति ॥१४॥

दहर उत्तरेभ्य इत्यत्रोत्तरेभ्योहेतुभ्य इति कथितम् तत्रोत्तरेभ्य इत्यस्य प्रपञ्च-
नायेदं सूत्रं प्रवर्तते सर्वोपि विद्वानविद्वान् वा जीवः स्थाप्रकाले ब्रह्मलोकं गच्छतोऽपि
वाक्य से उन दिव्य गुणों के स्वरूप के स्वरूप को कह करके ‘तेषां सर्वेषु लोकेषु’
इत्यादि वाक्य से दहराकाशपदवाच्य परमात्मा का तथा तदन्तर्वर्ति अपहतपाप्मत्व गुणों की
उपासना से उस परमपुरुष के अनुग्रह से सकल मनोरथ की सिद्धि होती है । तथा सत्य
कामत्वादिक गुणों का आविर्भाव होता है यह सम्पूर्ण प्रकरण का अर्थ है । इसलिए यहां
दहराकाशपदवाच्य परमात्मा है । तथा परमात्मा के अन्तर्वर्ति जो गुण जात है यही दोनों
अन्वेष्टव्य हैं ऐसा सिद्धान्त है ॥१४॥

ब्रह्मलोक में गति तथा शब्द लक्षण हेतु से दहरपदवाच्यत्व परमात्मा में प्रतिपादन
करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘इतश्च परमात्मैवेत्यादि’ इस वक्ष्यमाण हेतु से भी
सिद्ध होता है कि परमात्मा ही दहरपदवाच्य है । यतः परमात्मा का प्रतिपादक गति
तथा शब्द देखने में आता है । इस गति तथा शब्द को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं

ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूह' [छा० ८।३।२।] अस्यार्थः
 एतत्सत्यं ब्रह्मपुष्मस्मिन्कामाः समाहिता इत्युपक्रम्यतम्ब्रह्मपुरमात्मा-
 नमेतांश्च सत्यान्कामानननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मदर्शनाभावे-
 नाकामचारित्वमुक्त्वा सत्यान् कामाननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मलोकं
 गत्वा ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमाविर्भूतस्वरूपाणां सर्वलोककामचारित्व
 मुक्त्वाथ तादृशमात्मानमजानतां सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहराकाशब्रह्म
 समीपं गतानामपि तदप्राप्तिं वदति श्रुतिः । प्रत्यगात्मनः कर्मपखश-
 तया जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थाभिस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणत्वा
 दुक्तगुणविशिष्टं दहराकाशं परमात्मानं न विन्दन्ति तथाऽन्याः
 दहराकाशलक्षणं परमात्मानं न वेत्तीति इमा सर्वा प्रजा इत्यादिश्रुतिः प्रतिपादयति
 परन्तु तद्गमनं परमात्मानं च नावगच्छति सोऽयं ब्रह्मलोकश्च दस्तत्रगतिश्च दहरा-
 काशस्य ब्रह्मलोकतां दर्शयतीत्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते इतश्च दहरपदवाच्यः परमा-
 'तथाहीत्यादि' । 'इस परमात्मा का ये सत्यकामादिक गुण अनृत अविद्या कर्मरूप आच्छा-
 दक से आच्छादित है । जिस तरह पृथिवी में निहित हिरण्य का निधान को क्षेत्र को
 नहीं जानने वाले व्यक्ति उस निधि के ऊपर ऊपर चलते हुए भी उस निधि को प्राप्त
 नहीं करता है । ये सभी प्रजाये प्रतिदिन ब्रह्म लोक में जाते हुए भी नहीं सम्पन्न होती है'
 इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है 'एतत्सत्यम्' इत्यादि उपक्रम करके 'वह ब्रह्म पुर लक्षण
 आत्मा को तथा इन सत्य कामों को नहीं जान करके जाता है । उनको ब्रह्मदर्शन नहीं
 होने से अकामचारित्व का कथन करके और जो सत्यादिक कामों को जान करके जाते
 हैं वे ब्रह्मलोक में जाकर के ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर आविर्भूत है स्वस्वरूप जिनको
 तादृश व्यक्ति को सर्वलोक कामचारित्वका कथन करके एतादृश पूर्वोक्त गुणविशिष्ट परमात्मा
 को नहीं जानने वाले सुषुप्ति अवस्था में प्रतिदिन दहराकाश ब्रह्म सामिप्य को प्राप्त भी
 पुरुषको ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है इस प्रकार श्रुति कहती है । प्रत्यगात्मा जीवको
 कर्मपराधीन होने से जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था से तिरोहित अपहत पाप्मत्वादि गुणक
 होने से दहराकाश लक्षण परमात्मा का नहीं प्राप्त करता है । तथा अन्य प्रजा भी नहीं
 प्राप्त करती हैं इस बात को दृष्टान्त पूर्वक बतलाते हैं । 'तद् यथा हिरण्यनिचिमक्षेत्रज्ञा'

प्रजाश्च न विन्दन्तीति सदृष्टान्तमाह “तद्यथा हिण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा
 इत्यादिना, । अयमाशयः । यथा क्षेत्रतत्त्वापरिचितास्तदुपर्युपरि
 सञ्चरन्तोऽपि निहितं हिण्यनिधिं न विन्देयुर्न प्राप्नुयुस्तथेमाः
 सर्वाः प्रजाः सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहरब्रह्मसमीपं गच्छन्त्योऽप्येतं
 ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति न प्राप्नुवन्ति । ब्रह्मलोकमित्यत्र च
 पूर्वतन्त्रसिद्धनिषादस्थपतिन्यायेन सर्वसमासापेक्षया कर्मधारयसमास-
 स्य श्रेष्ठतयाब्रह्मवल्लोको ब्रह्मलोक इतिविग्रहः । इदञ्च हेतुगर्भितं
 वाक्यम् । ‘अनृतेन हि प्रत्यूढा’ इति च हेतुः । यतोऽनृततिरोहिताप-
 हतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टात्मस्वरूपा अतएव ताः प्रजास्तत्समीपं
 गत्वाऽपि तं न पश्यन्तीति श्रुत्यर्थः । अत्र प्रजाभिर्हरहर्गन्तव्यस्य
 मैवेत्यादि । यतो दहरपदवाच्यपरमात्मनः समुपस्थापकौ अतिशब्दौ विद्येते ।
 श्रुतिमेवोदाहरति अस्यैते सत्त्वाः इत्यादिश्रुत्यर्थस्वयमेव विवृणोति अस्यार्थ इत्यादि
 यथानिधिविषयकज्ञानरहितः इतस्ततः प्रतिदिनं संचरन्तोऽपि भूमिनिहितं निधिं न
 इत्यादि से । यहाँ कहने का यह अभिप्राय है कि जिस तरह क्षेत्रतत्त्वे के अपरिचित व्यक्ति
 ऊपर-ऊपर चलता हुआ भी पृथिवी में गडसुवर्ण निधि को नहीं प्राप्त करता है । उसी
 प्रकार से ये सब प्रजा सुषुप्ति काल में प्रतिदिन दहरब्रह्म समीप में जाते हुए भी इस
 ब्रह्म लोक को प्राप्त नहीं करते हैं ।

‘ब्रह्मलोकम्’ यहाँ पूर्वतन्त्र में सिद्ध निषादस्थपतिन्याय से सर्व समासापेक्षया कर्मधारय
 समास को श्रेष्ठ होने से ब्रह्म रूप जो लोक उसको ब्रह्मलोक कहते हैं ऐसा विग्रह माना
 जाता है । (अर्थात् तत्पुरुषादि समास में पूर्वपद में बहुव्रीहि में उत्तर पद में लक्षणा
 होती है । कर्मधारय में लक्षणा नहीं होती है । किन्तु कर्मधारय समास में प्रत्येक पद
 स्वशक्ति के द्वारा ही स्व स्व अर्थ का उपस्थापक होते हैं और आकांक्षा से तादात्म्य का
 बोध होता है । इसलिए नीलोघट इत्यादिवत् ‘निषादस्थपतिं याजयेत्’ यदि यहाँ निषादा
 ना स्थपति विग्रह करे निषादकी लक्षणा करनी पड़ेगी । इसलिए ‘निषादश्चासौस्थपतिः’
 ऐसा कर्मधारय करने पर लक्षणा नहीं करनी पड़ती है । उसी तरह प्रकृत में ‘ब्रह्मणोलोको

हृद्गतदहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्देन निर्दिष्टतया चेत्याभ्यां गतिशब्दाभ्यां दहराकाशस्य ब्रह्मत्वमवगम्यते । तथा हि दृष्टमिति सुषुप्त्यवस्थायामहरहः सर्वेषां जीवानां सच्छब्दवाच्यपरब्रह्मगमनं श्रुत्यन्तरेऽप्यभिधीयमानं दृष्टम् 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति' [छा० ६।१।२।] तथैव सत आगम्य सत आगच्छाम इति च न विदुस्त्यादिषु ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः । 'नास्य जस्यैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यके एतत्सत्यं ब्रह्मपुमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा' [छा० ८।१।५।] इत्यत्र पुरुषशब्दस्य लोकशब्दस्यचैकार्थकजानाति एवमेव सुषुप्तिसमये ब्रह्मलोकं गच्छन्नपि न जानाति परमात्मानमिति सोऽयं गतिशब्दौ दहरस्य परमात्मरूपत्वे उत्तरोद्देतुः । अज्ञाने कारणमाह अनृतेन प्रत्यूढा कर्मपरवशोजीवस्तत्रगन्त्वापि तं न जानातीत्यर्थः । ब्रह्मलोक इत्यत्र न ब्रह्मणो ब्रह्मलोकः' विग्रह करे तब ब्रह्म सम्बन्धी लोक यह अर्थ होगा । तब ब्रह्म तथा लोक में भेद होगा । अतः कर्मधारय मान करके ब्रह्माभिन्न लोक ब्रह्मलोक है । ऐसा अभेद प्रतिमान होने के लिए कर्मधारय मान लिया है भाष्यकार ने जो कि श्रुति सूत्र प्रकरण प्राप्त है । विशेष विचार अन्यत्र देखें। यह हेतु घटितवाक्य है । "अनृतेन प्रत्यूढा" यह हेतु है । यतः अनृततिरोहित अपहृतपाप्मत्वादि गुण विशिष्ट आत्म स्वरूप है । अत एव के सब प्रजा ब्रह्मसमीप में जाकर के भी उस परमात्मा को नहीं देखती है' यह श्रुति का अर्थ है । यहाँ प्रजाओं के द्वारा प्रतिदिन गन्तव्य हृदयगत दहराकाश का ब्रह्मलोक शब्द से निर्देश होने से गति तथा शब्द से दहराकाश ब्रह्म है ऐसा ज्ञात जाता है 'तथाहि दृष्टमिति' सुषुप्ति अवस्था में प्रतिदिन सभी जीवका सत शब्द वाच्य परब्रह्म के समीप में गमन होता है, यह अन्य श्रुति में भी प्रतिपादित है । ऐसा देखा गया है 'हे सोम्य ! ये सभी प्रजा प्रतिदिन सत्य परब्रह्म में सम्पन्न होकर के भी नहीं समझती है कि हम सत् में सम्पन्न हुए हैं, तथा प्रतिदिन सत् से आकर के भी नहीं समझती है कि हम सत् से आये हैं' इत्यादि

त्वाद्ब्रह्मणः द्युपृथिव्यग्निवायुसूर्यादिनिवासस्थानत्वेनोभयत्र
पुरलोकशब्दयोः प्रयोगस्य साफल्यत् । एव 'मेष ब्रह्मलोकश्च
सम्राडिति होवाचे' त्यत्र ब्रह्मलोकशब्दस्य ब्रह्मणि दृष्टत्वाच्च ।
लिङ्गञ्च । च शब्दोऽवधारणार्थको यदिदमस्मिन्दरप्रकरणे श्रूयते
प्रजानामहर्हर्ब्रह्मलोकगमनं तदेव दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽबाधित-
मव्यभिचारिलिङ्गं ज्ञापकं हेतुभूतमित्यर्थः । प्रयोगस्तु दहराकाशः
परमात्माहर्हः सर्वप्रजागतिस्थानत्वे सति तददृश्यत्वात्तदज्ञातत्वाच्चे-
त्यादिकः शक्यः कल्पयितुम् । नचान्यल्लोके प्रजानां प्रात्यहिक-
गमनं युक्तियुक्तमिति दहराकाशः परमात्मैव ॥१५॥

लोक इति षष्ठीतत्पुरुषस्तत्रलक्षणाश्रयणेगौरवात् किन्तु कर्मधारयः । नीलोघट इतिवत्
कर्मधारयस्ततश्च तत्राभेद एवार्थः । नात्र लक्षणा नातो गौरवम् । प्रायः कर्मधारयेतर
समासे लक्षणाया अवश्यश्रयणीयत्वात् । अतएव निषादस्थयतिषाजयेदित्यत्रकर्मधारयः
श्रुतः । तद्वदिहार्प ॥१५॥

स्थल में ब्रह्मलोक शब्द का प्रयोग परब्रह्म में देखने में आता है । तथा 'शरीर की जरा
से यह आत्मा जीर्ण नहीं होती है । एवं शरीर के बिनाश होने पर यह विनष्ट नहीं होती
है । यह सत्य ब्रह्मपुर है । इसमें सब कामसमाहित है यह आत्मा है' यहाँ पुर शब्द तथा
लोक शब्द को एकार्थक होने से ब्रह्म को द्युपृथिव्यादि का निवासस्थान होने से
दोनों जगह पुर तथा लोक शब्द का प्रयोग सफल होता है । एवम् 'हे सम्राट् यह
ब्रह्म लोक है ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा यहाँ ब्रह्म लोक शब्द का प्रयोग
ब्रह्म में देखने में आया है । तथा लिङ्ग से भी 'लिङ्गञ्च' यहाँ चकार अवधारणार्थक
है । जो यह दहर प्रकरण में प्रजाओं का प्रतिदिन ब्रह्मलोक गमन श्रूयमाण है वही
दहराकाश को परमात्मा स्वरूप होने में अबाधित अव्यभिचारी लिङ्गात्मक हेतु है ।
अनुमानाकार इस प्रकार होता है 'दहराकाश (पक्ष) परमात्म स्वरूप है (साध्य) प्रतिदिन प्रजा
मात्र के गति स्थानत्र विशिष्ट तददृश्यत्व अथवा तदज्ञानत्व (हेतु) होने से इत्यादिक प्रयोग
हो सकता है । ब्रह्म को छोड़ करके तदन्य कोई भी प्रजा का गमन स्थान नहीं है । अतः
दहराकाश परमात्मा ही है ॥१५॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः।१।३।१६

“एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण
 एषां लोकानामसम्भेदाय’ [बृ० ४।४।२२।] इत्यन्यत्र श्रुतस्यास्य
 परमात्मनो धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्दहराकाश उपलब्धेः । अथ
 य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय’ [छा० ८।४।१।]
 इयेवमत्र दहरप्रकरण अस्मिन्दहराकाशे धृत्याख्यस्य महिम्न
 उपलब्धेस्य दहराकाशशब्दामिहितः परमात्मैव । अत्र य आत्मा
 स सेतुः सेतुवत्संसारसागरात्प्रापकः । संसारसागरस्तणोपाय-
 भूतस्तत्पारस्थब्रह्मलोकाधिपतिश्चेति स्वयमेवायं दहराकाशः परमा-
 त्मोपाय स्वानन्यभक्तानामिति सेतुशब्दार्थः सङ्गत इति तदुक्तं
 गीताचार्यैः—

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।

अथ य आत्मा सेतुः इत्यादि श्रुत्याऽवगतस्य धृत्याख्यमहिम्नो दर्शनात् दहराकाशः
 परमात्मैव यथा लौकिकः सेतु पारगमनाय भवति तथैवायं दहरपरमात्मा संसार-
 सर्व विधारकत्वं लक्षणं हेतुं से दहराकाश परमात्मा ही है इस बात को स्पष्टीकरण करने
 के लिए उपक्रम करते हैं ‘एष सर्वेश्वर’ इत्यादि । अन्यत्र श्रुत्यन्तर में श्रूयमाण जो परमात्मा का
 सर्व विधारकत्वं लक्षणं माहात्म्य है वह दहराकाश में उपलब्ध होता है ‘अथ य आत्मा सेतु
 विधृतिः’ इत्यादि दहर प्रकरण में इस दहराकाश में धृति—सर्व विधारकत्वं महिमाकी उपलब्धि
 होती है । अतः दहराकाशशब्दवाच्य परमात्मा ही है । यहाँ जो आत्मा है वह सेतु (पूल) है,
 अर्थात् संसार सागर से पार का प्रापक है । संसार सागर के संतरण में उपायभूत तथा उसके
 पार में स्थित ब्रह्मलोक वा अधिपति भी स्वयमेव परमात्मा है अतः स्वयमेव यह दहराकाश
 परमात्मा संसार के पार गमन में उपाय भी है । तथा स्वयमेव उपाय प्राप्त भी है स्वकीय
 अनन्य भक्तों का इसलिए सेतु शब्द का अर्थ संगत होता है । गीताचार्य ने भी कतलाया
 है जो उपासक अनन्य योग से ध्यान करता हुआ मैं उपासित करता है । तथा मुझ परमेश्वर में

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसन्सारसागरात् ॥
 भवामि न चिरात्पार्थ ? मय्यावेशितचेतसाम् ॥ गी०१२।७॥
 मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
 निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ गी०१२।८॥

इति स्वस्यैव स्वानन्यभक्तानां संसारसागरस्तरणोपायत्वस्य
 तत्प्राप्यत्वस्य चोक्तत्वात् । अग्रे च तमेवार्थं स्पष्टयति 'तस्माद्वा
 एतं सेतुं तीर्त्वा एतच्छब्दपरामृष्टमात्मानं सेतुं तीर्त्वा लब्ध्वा
 'अन्धः सन्ननन्धोभवति' परमात्मप्राप्तिपूर्वककालेऽन्धवत्परमात्म-
 नोऽद्रष्टापि तत्प्राप्तिकाले द्रष्टा भवतीति । तथा चैषां लोकानां
 विधृतिर्विधारकः सेतुशब्दार्थः । न हि सर्वलोकविधारकत्वं
 स्वानन्यभक्तसंसारसागरतारकत्वं ब्रह्मणोऽन्यस्य सम्भवति । तस्मादयं
 दहराकाशः परमात्मा ॥१६॥

सागरादुत्तरणाय भवति नहि परमात्मव्यतिरिक्तः कश्चित् परंपारप्रापकः
 प्राप्यो वा संयत इति सर्वविधारकत्वलक्षणमहिमावान् दहराकाशः परमात्मैवेति
 दर्शयितुमुपक्रमते एष सर्वेश्वर इत्यादि ॥१६॥

संलग्न है मन जिनका एतादृश उपासक को बहुत जल्दी संसार सागर से उद्धार कर देता हूँ ।
 'मुझ में मन बुद्धि वा संवान करो इसके बाद मुझ में ही निवास करोगे इसमें कोई संशय नहीं
 है' इत्यादि प्रकरण में स्व को ही संसार सागर के संतरणोपायत्व तथा तादृश भक्त प्राप्यत्व
 का कथन किया है । आगे भी इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं । 'तस्माद्वाएतंसेतुम्'
 यहाँ एतत् शब्द प्रतिपाद्य आत्मा रूप सेतु को लाभ करके 'अन्ध होता हुआ अनन्ध हो जाता
 है' परमात्म प्राप्ति के पूर्वकाल में अन्ध के समान परमात्मा का द्रष्टा नहीं होता हुआ भी पर
 मात्मा के प्राप्तिकाल में द्रष्टा होता है । तत्र सेतु शब्द का यह अर्थ होता है कि इस सब
 लोकों का विधृति-विधारण करने वाला सर्वलोक विधारकत्व तथा स्वकीय अनन्य भक्तों को
 संसार सागर तारकत्व ब्रह्मव्यतिरिक्त में संभवित नहीं है । तस्मात् दहराकाशपदवाच्यत्व
 परमात्मा में ही है ॥१६॥

ॐ प्रसिद्धेश्च । १ । ३ । १ ७ । ॐ

‘आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता’ [छा० ८।१४।]
 ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ [छा०
 १।१।१।] ‘को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दोनस्यात्’
 [तै० २।७।] इत्यादिष्वआकाशशब्दस्य परमात्मनि प्रसिद्धेः । सर्व-
 भूतोत्पादकत्वादिपरमात्मधर्माणां भूताकाशेऽनुपपत्तोश्च दहराकाशः
 परमात्मैव ॥१७॥

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् १ । ३ । १ ८

“अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-
 रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच”

अपिच दहराकाशपदेन परमात्मैव गृह्यते यत आकाशशब्दः परमात्मनि प्रसिद्धः
 आकाशो वै नामरूपयोरित्यादौ आकाशशब्दस्य बहुलं परमात्मनि प्रयोगात् । इत्यादिकं
 दर्शयितुमाह आकाशोह वै इत्यादि ॥१७॥

ननु यथा वाक्यशेषबलाद्दहराकाशः परमात्मपरकोभ्युपेयेत तदा तथैव वाक्यबलेन

“अकाश न म रूप का निर्वाहक है” ये सब पृथिव्यादिक भूत आकाश से उत्पन्न
 होते हैं” कौन जीवित रहता कौन प्राणन क्रिया को कर सकता था यदि यह आनन्द स्व-
 रूप आकाश न होता’ इत्यादि अनेकों स्थल में आकाश शब्द का परमात्मा में प्रसिद्ध
 देखते हैं । जीव में तो आकाश शब्द का प्रयोग कही भी नहीं होता है । भूताकाश
 में यद्यपि आकाश शब्द का प्रयोग होता है । तथापि स्व में स्व का उपमानोपमेय
 भावादिक का असंभव होने से जीव अथवा भूताकाश का प्रकृत में अकाश शब्द से ग्रहण
 नहीं होता है किन्तु दहराकाश पद से परमात्मा का ही ग्रहण होता है । विशेष विचार
 पूर्व सूत्र में देखें ॥१७॥

वाक्यशेष बल से जिम तरह दहराकाश पदवाच्य परमेश्वर है उसी तरह वाक्यशेष बल
 से जीव भी तो दहराकाश पदवाच्य हो सकता है । इस शंका का समाधान करने के लिए

[छा०८।३।४] इत्यत्र वाक्यशेषे सम्प्रसादशब्दाभिहितस्येतरस्य जीवस्याप्यस्मिन् दहरप्रकरणे परामर्शात्स जीव एव दहराकाश पदवाच्यः स्यादिति चेन्न । असम्भवात् ।

जीवे द्युपृथिव्यादिसर्वजगदाधारत्वादीनां परमेश्वरासाधारण-धर्माणां पूर्वोक्तानामसम्भवात् दहराकाशः परमात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु य एष इति दहराकाशवित्तदुपासक उच्यते । स एव सुषुप्त्यवस्थायां सर्वपाप्मस्पर्शाभावेन सम्प्रसन्नो जीव एव सम्प्रसीदति सुषुप्त्यवस्थायामिति सम्प्रसाद इत्युक्तः । स च दहराकाशोपासनया प्रसन्नस्य ब्रह्मणः प्रसादेन कर्मबन्धादिमुक्ततया सम्प्रसाद-पदभाक् भवति । सोऽयमस्माच्छरीरात्समुत्थाय सुषुम्नया नाड्या जीव एव परिगृहीतो भवतु एष सम्प्रदाय इत्यादिषु सम्प्रसादपदेन समुत्थाने च जीवस्य परिग्रहः । सम्प्रसादोहि सुषुप्त्यवस्थायान् सेयमवस्था जीवस्य न तु परस्य तथा सूत्र के व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “अथ य एष सम्प्रसाद” इत्यादि । “यह सम्प्रसाद जीव इस भोगायतन शरीर से समुत्थित होकर के और परज्योति स्वरूप परमात्मा को उपसम्पन्न होकर के स्वकीय स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है । यह तुम्हारी आत्मा है । ऐम् आचार्य ने कहा “इस वाक्यशेष में सम्प्रसाद शब्दवाच्य परमात्मा से भिन्न जीव का भी इस दहर प्रकरण में प्रतिपादन होने से जीवात्मा ही दहरपद वाच्य है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि असंभव होने से । क्यों असंभव है ? उसका स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं “जीवेद्युपृथिव्यादीत्यादि” द्युपृथिव्यादिक सर्वजगदाधारत्व सर्वनियामकत्वादिक जो पूर्वोक्त परमेश्वर का असाधारण धर्म है उसका जीव में अभाव है । इसलिए दहराकाशपद बोध्य जीव नहीं है । किन्तु पूर्वोक्त अनन्यसाधारण गुणवान् होने से परमात्मा ही दहर पदवाच्य हैं ।

समुदाहृत “एष सम्प्रसाद इत्यादि” श्रुति का यह अर्थ है । “य एष” इस पद से दहराकाशवित्त दहराकाशोपासक कहलाता है वह उपासक सुषुप्तावस्था में सर्वपाप के सम्बन्धाभावे से वह जीव सुषुप्तावस्था में सम्यक् प्रसन्न होता हुआ सम्प्रसाद कहलाता है । वह

शरीराद्वह्निर्निर्गत्यार्चिर्गदिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तत्र परंज्योति-
रूपसम्पद्य परंब्रह्मसमीपं सम्प्राप्य तत्प्रसादेन स्वेन रूपेण
स्वाभाविकेनापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टसच्चिदानन्दरूपेणाभिनिष्प-
द्यतेऽभितः सर्वप्रकारेण निष्पन्नो भवतीति ।

इदञ्चात्र विचार्यते । कैश्चिदत्र परं ज्योतिरूपसम्पद्येत्यस्य
परे ब्रह्माणि लयम्प्राप्य तद्रूपो भवतीत्यर्थः क्रियते । स च
प्रकरणविरुद्धत्वादनुपपन्नः । तथाहि—ब्रह्मलीनस्य ब्रह्मैकताद्गतस्य
तस्य “जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानै” रित्यादि सर्व-
लोककामचास्त्वादिव्यवहारानामनुपपत्त्या तद्बोधकश्रुतीनां
वैयर्थ्यापत्तेर्जगद्व्यापाखर्ज्जमिति सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च ।

तस्माज्जक्षन् क्रीडन्नित्यादिश्रुतयोऽन्यथा स्वार्थमलभमाना
मुक्तजीवस्वरूपस्य ब्रह्मणः पार्थक्यमुपपाद्य स्वार्थं लभन्ते । अत एव
तथा समुत्थानमपिसाश्रयस्यैव भवति न तु निराश्रयस्य परेशस्य । तस्मादहराकाशपदेन
उपासक दहराकाश की उपासना से प्रसन्न जो परमेश्वर तादृश परमेश्वर की कृपा से कर्म
बन्ध से विमुक्त होने के कारण से सम्प्रसाद पदवाच्य होता है । यह सम्प्रसाद जीव इस
शरीर से समुत्थित होकर के अर्थात् सुषुन्नानाडी के द्वारा शरीर से बाहर निकल करके अर्चि-
रादि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाकरके वहाँ परब्रह्म के सामोप्य को प्राप्त करके स्वकीय रूप से
अर्थात् स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्ट सत् चित् आनन्द रूप से अभिनिष्पन्न होता
है । अर्थात् सर्वप्रकार से निष्पन्न युक्त होता है ।

इस श्रुति का किसी भाष्यकार ने प्रकारान्तर से अर्थ किया है जो कि इस विशिष्टा-
द्वैत मत का प्रतिकूल है । उसका निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “इदं-
चात्रविचार्यते” इत्यादि । यहाँ यह विचार किया जाता है । यहाँ कोई “परंज्योतिरूपसंपद्य”
इस पद समुदाय का यह अर्थ करते हैं कि “परब्रह्म में यह जीवलय को प्राप्त करके परब्रह्म
रूप हो जाता है” ऐसा अर्थ करते हैं । परन्तु यह प्रकरण विरुद्ध होने से यह अर्थ ठीक
नहीं है । तथाहि यदि वह ब्रह्म का तादात्म्य रूप ब्रह्म लीन हो गया तबतो “जक्षन् क्रीडन्”

‘निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ [मु० ३।१।३।] इति श्रुतेः परमात्मप्रसादेनाविर्भूतोक्तगुणविशिष्टात्मस्वरूपो मुक्तजीवो ब्रह्मसाम्यं प्राप्य तेन तत्समानभोगवान् भवतीति ‘भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च’ [ब्र० सू० ४।४।२१।] इति सूत्रनिर्णीतार्थः सङ्गच्छते ‘जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रान्तु ब्रह्मणो जगद्व्यापारकर्तृत्वेऽपि मुक्तानां तदभाव इति बोधनेन मुक्तजीवानां ब्रह्मणो न्यूनैश्वर्यकत्वं तद्विन्नत्वञ्च स्पष्टयति । एवञ्च मुक्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्माधीनत्वबोधनद्वारा तेषां तच्छेषत्वं परमात्मनश्च शेषित्वं ज्ञापयतीयं श्रुतिः । तदेव चानया श्रुत्या परज्योतिस्मत्पत्तिसमनन्तरं तत्प्रसादेन ज्ञानिभक्तानां स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते । तथा च स्वस्वरूपाविर्भावरूपमुक्तेरपि परमात्माधीनत्वसूचनेन बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य ग्रहणमिति चेन्न असम्भवात् सर्वेश्वरत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं द्युपस्थित्यादिसर्वजगदाधारत्वादिपरमेश्वरसाधारणधर्माणां जीवे संभवाभावात् दहराकाशपद-इत्यादि श्रुति बोधित सर्वलोक में स्वेच्छाचारित्वादिक जो व्यवहार है उसका अनुपपत्ति होने से तादृश स्वेच्छाचारित्वादिक प्रतिपादक श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायगी तथा ‘जगद्व्यापारवर्जम्’ यह सूत्र भी व्यर्थ हो जायगा । इसलिए “जक्षन् क्रीडन्” इत्यादि स्वार्थ को लाभ न करती हुई मुक्त जीव को ब्रह्म से पार्थक्य का उपपादन करके स्वार्थ को प्राप्त करती हैं । अतएव “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” [संसार बन्धन रहित मुक्त जीव परमेश्वर के परम समता को प्राप्त कर जाता है ।] ऐसी श्रुति है । परमात्मा के कृपा से आविर्भूत यथोक्त गुणविशिष्ट आत्मस्वरूपवाला मुक्त जीव ब्रह्म समता को प्राप्त करता है । अर्थात् परमेश्वर के भोग सदृश भोगवान् होता है । एवं “भोगमात्रेत्यादि” सूत्र निर्णीत अर्थ भी संगत होता है । “जगद्व्यापारवर्जम्” यह सूत्र परमात्मा में जगत् व्यापार कर्तृत्व होने पर भी मुक्तजीव में जगद्व्यपारकर्तृत्व का अभाव है ऐसा प्रतिपादन करने से मुक्तजीव में परमेश्वरापेक्षया न्यूनैश्वर्यत्व तथा परमेश्वरभिन्नत्व का स्पष्टरूप से प्रतिपादन होता है । ऐसा हुआ तब मुक्त स्वरूप के स्थिति प्रवृत्ति को परमात्मा के अधीनत्व ज्ञापन द्वारा जीव में परमेश्वर शेषत्व तथा परमात्मा में सर्व जीवादि शेषित्व का ज्ञापन यह श्रुति कहती है । इसी वस्तु को इस श्रुति से परज्योति

जीवस्य परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तच्छेषत्वं परमात्म-
नस्तच्छेषित्वं प्रतिपादयन्तीभिर्नेकश्रुतिभिस्तदर्थनिर्णायकेन
सूत्रेण च बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य परमात्मशेषत्वनिष्पत्तौस्तस्य
जगद्विधारकत्वतत्सेतुत्वादिव्यापारनिषेधेन तदम्सभवात् । अतोऽपि
सर्वजगद्धास्को दहराकाशः परमात्मैव ॥१८॥

५ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु १।३।१९ ५

उत्तरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवत्तावग-
मात्स एव दहराकाशो भवित्विति चेन्न । आविर्भूतस्वरूपस्तु-
तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । उत्तरस्मादपि वाक्याज्जीवस्य ग्रहणं
वाच्यो जीवो न संभवति किन्तु परमेश्वर एव तथेति संक्षेपः ॥१८॥

ननु प्रजापतिवाक्याज्जीवस्य सुषुप्तावस्थायामपहतपाप्मत्वादिगुणकतया स
एव दहराकाशपदवाच्यो भवत्विति शङ्का । समाधानं च आविर्भूतस्वरूपस्य
के सम्पत्ति के अनन्तर में भगवान् की कृपा से ज्ञानीभक्तों को स्वरूप से अभिनिष्पत्ती कही
जाती है । ननु सर्वथा ऐक्य का प्रतिपादन होता है । तब स्वरूपाविर्भाव रूप मुक्ति को
भी परमात्माधीनत्व का सूचना होने से बद्धमुक्त उभयावस्थ जीव को परमात्मा के अधीन
स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिक होने से परमेश्वर शेषत्व तथा परमात्मा में सर्वशेषत्व को प्रतिपादन
करनेवाली कनेक श्रुति से तथा तादृश श्रुत्यर्थक निर्णायक सूत्रों से बद्ध मुक्तोभयावस्थ जीव
में परमात्मा शेषत्व की निष्पत्ति होती है । इसलिए जीवात्मा को जगत् विधारकत्व जगत्
सेतुत्व विषयक व्यापार का निषेध होने पर जीव में इन सब वस्तुओं का असंभव है । इस-
लिए भी सर्वजगत् का धारक परमात्मा ही है जीव नहीं है ॥१८॥

उत्तर में जो प्रजापति वाक्य है उससे जीव में अपहतपाप्मत्वादि गुण का अवगम
होता है । अतः तादृश जीव ही प्रकृत में दहराकाश पदवाच्य है ऐसा मानिये । इस प्रश्न
के उत्तर में कहते हैं “आविर्भूतस्वरूपस्तु” इति सूत्रघटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष के
निराकरणपरक है । उत्तर प्रजापति के वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता है कि दहराकाशपद-
वाच्य जीव है । यहाँ पूर्वपक्ष का यह अभिप्राय है । दह/विद्या के अनन्तर [बाद में] एक

दहराकाशान्न सम्भवतीति । अत्रायमभिप्रायः पूर्वपक्षतयाभिमतः ।
दहरविद्यासमनन्तरं तदेकवाक्यतया तदेकार्थप्रतिपादिकायां
प्रजापतिविद्यायां फलतया 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्स
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स
उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्ममाणः स्त्रीभिर्वा
ज्ञातिभिर्वा नोषजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे
एवमेवायमस्मिंश्छरीरे प्राणो युक्तः' [छा० ८।१२।३] इति श्रूयते ।

अस्मिञ्च वाक्यशेष आविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यैव क्रीडना-
दिव्यहाराणां श्रवणादस्य वाक्यस्य जीवस्वरूपधर्मवर्णनपस्तवोप-
पत्तेर्जीवस्य चापहतपाप्मत्वादिगुणत्वोपपत्तेः स एव दहराकाश-
शब्दनिर्दिष्ट इति चेत् तत्राह— आविर्भूतस्वरूपस्त्विति ।

जीवस्य यद्यपि तादृशस्वरूपवत्त्वं भवति तथापि तस्य दहराकाशपदवाच्यत्वं न
संभवति यतो दहराकाशप्रकरणे श्रुतस्य सर्वविधारकत्वसेतुत्वादिपरमात्मासाधा-
रणतया श्रूयमाणधर्माणां बद्धे मुक्ते वा जीवे सर्वथा असंभवान्न दहराकाशपदवाच्यः
कोपिजीवः किन्तु परेश एव ।

वाक्यतारूप से एकार्थ प्रतिपादक प्रजापति वाक्य में फलरूप से "इस प्रकार यह सम्प्र-
साद इस शरीर से निकल करके परमज्योति परमात्मा को प्राप्त करके स्वस्वरूप से सपन्न
होता है । वह उत्तम पुरुष स्त्री प्रभृति के साथ रमणमाण घूमता है । जिस तरह वृषभ
शकट में नियुक्त होता है । उसी तरह यह प्राण इस शरीर में नियुक्त रहता है" इत्यादिक
फल श्रुत होता है । इस वाक्यशेष में आविर्भूत है स्वरूप जिसका एतादृश जीवका क्रीडनादि
व्यवहार का श्रवण होने से इस वाक्य का जीव स्वरूप के वर्णन परक है । और जीव
को अपहत पाप्मकत्वादि की उपपत्ति होने से वही जीव दहराकाश पदवाच्य है एतादृश प्रश्न
के उत्तर में कहते हैं "आविर्भूत स्वरूपस्त्विति" यहाँ आविर्भू स्वरूप शब्द हेतु घटित है ।
यह वाक्य आविर्भूत जीव स्वरूप का प्रतिपादन परक है । अतः एतद्वाक्य प्रतिपाद्य दहराकाश
नहीं है । यहाँ का निर्णय ऐसा है—इस प्रजापति प्रकरण में अनादिकाल से आगत जो पुण्यपाप
रूप कर्म तन्मूलक अवस्थात्रय से तिरोहित अपहत पाप्मत्वादि गुणक जीव का संसारी स्वरूप का

आविर्भूतस्वरूपशब्दो हेतुगर्भः । अस्य वाक्यस्याविर्भूतस्वरूप जीवस्य प्रतिपादनपरत्त्वान्नैतदाभिधेयो दहराकाशः । अयमत्र निर्णयः । अस्मिन्प्रजापतिप्रकरणेऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपापरूप-कर्ममूलावस्थात्रयैस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्य संसारिस्वरूपं प्रदर्श्यानन्तरं 'मधवन्मर्त्ये वा इदं शरीरमात्त' मित्यादि-नोपस्तितवाक्येन तस्यैव जीवस्य परमात्मोपासनाजनिततदुप सम्पत्त्याऽविर्भूतस्वरूपस्य क्रीडनादिधर्माणाञ्चोपदेशश्रवणात् । 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चे' तिसूत्रेण तस्य मुक्तजीवत्वावगमात् । जगद्व्यपारवर्जमिति च मुक्तानां जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयजग-द्विधारणत्वसेतुत्वादिपरमात्मव्यापाराणां प्रतिषेधात् । आविर्भूत-स्वरूपमुक्तव्यवहारेषु च 'जक्षन् क्रीडन्ममाण' इत्युक्तेषु जगद्विधारणत्व सेतुत्वाद्यप्रतिपादनात्तस्य दहराकाशपरमात्मत्वाऽसम्भवात् ।

यस्य भगवत उपासनां विधाय तदीय कृपयैव जीवोपि विगतकर्मबन्धनो भवति तस्यैव निरुपाधिकापहतपाप्मत्वादिकं न तु जीवस्य तत् स्वाभाविकमिति न दहराकाशपदवाच्योवद्वोवा मुक्तोवा जीवः किन्तु परमेश्वर एवेति सर्व मनसि वर्णन करके उसके बाद "हे मधवन् ? मर्त्य जो यह शरीर है वह मृत्यु से ग्रस्त है" इत्यादि पूर्ववाक्य से उस जीव को परमात्मा के उपासनाजनित भगवत्सामीप्य से आवि-र्भूत स्वरूपक जीव का क्रीडनादि धर्म का श्रवण है । और "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चे" इस सूत्र से उसमें मुक्त जीवत्व ज्ञात होता है । और "जगद्व्यपारवर्जम्" इस सूत्र से मुक्त जीवों में जगत् सर्गस्थिति में प्रलयादिक जगद्धारकत्वादि प्रतिषेध किया गया है । आविर्भूत स्वरूपक मुक्त व्यवहार में जो कि "जक्षन् क्रीडन्" श्रुति प्रतिपाद्य है । उसमें जगद्विधारकत्व सेतुत्व का प्रतिपादन नहीं होने से उसमें दहराकाश पदवाच्य परमात्मपरकत्व का असंभव है । सर्व-मलरहित जिसपर ज्योति को प्राप्त करके जीव भी सर्वकर्म बन्धन से विमुक्त होकर के आवि-र्भूत स्वरूपक हो जात है । तादृश स्वप्राप्य भूतपरज्योतिः शब्दप्रतिपाद्य परम ब्रह्म ही है । जीव तो कथमपि ज्योतिः पद प्रतिपाद्य नहीं है । क्योंकि प्राप्य प्रापक भाव स्व में नहीं होता है । किन्तु प्राप्य प्रापक भाव भेद घटित होता है "परज्योति रूप सम्पद्य" इस

एवञ्च यत्परज्योतिः प्राप्यजीवोपिकर्मबन्धाद्विमुच्याविर्भूतस्वरूपो भवति तत्स्वप्राप्यभूतं परज्योतिः पदप्रतिपाद्यं परब्रह्मैव नतरां जीवः । अत्र वाक्ये बद्धजीवस्य दहरब्रह्मोपासनया कर्मबन्धाद्विमुच्य स्वरूपाविर्भावो भवतीति बोध्यते । तस्मान्न बद्धमुक्तोभयावस्थो जीवो दहराकाशो भवितुमर्हतीति ॥१९॥

तर्हि दहराकाशवाक्य 'एष सम्प्रसाद' इत्यादिना जीव-प्रस्तावोऽथ च प्रजापतिवाक्य 'एष सम्प्रसाद' इतिजीवप्रस्ताव आविर्भूतस्वरूपोपदेशश्च किमर्थम् ? इति चेत्तत्राह—

५५ अन्यार्थश्च परामर्शः । १।३।२०। ५५

परज्योतिः स्वरूपदहराकाशोपासनया तत्प्रसादेनैष सम्प्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेति प्रतिपादनात्परज्योतिः समाधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते उत्तरात्प्रजापतिवाक्यादित्यादि । अवतरणेनैव भाष्याख्य-राणि व्याख्यातानि ॥१९॥

नन्वेहं तर्हि उभयत्रवाक्यशेषे जीवस्योपादानं निरर्थकमिवाभाति तथापि परमेश्वरप्रसादेन जीवस्य कर्मबन्धनाद्विमुक्तिः स्वस्वरूपाविर्भावश्च जीवनिर्देशमन्तरे-वाक्य में जो जीव कर्म बन्धन से युक्त है वह ब्रह्म की उपासना करके तादृश उपासना के बल से कर्म बन्धन से विमुक्त होकर के स्वरूप के आविर्भाव वाला हो जाता है ऐसा कहा गया है । इसलिए बद्धमुक्तोभयावस्थ जीव कथमपि दहर आकाश पदवाच्य नहीं है । किन्तु परमात्मा ही दहराकाश पदवाच्य है यह सिद्ध होता है ॥१९॥

अदि पूर्वोक्त स्थिति है तब दहराकाश वाक्य में "एष सम्प्रसाद" इत्यादि रूप से जो जीव का प्रस्ताव किया है । तथा प्रजापति वाक्य में "एष सम्प्रसाद" इत्यादि रूप से जो जीव का कथन है तथा आविर्भूत स्वरूप का उपदेश है उसका तो कोई भी प्रयोजन नहीं है । इस आशंका का उत्तर करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "अन्यार्थश्चेत्यादि" परज्योतिः स्वरूप दहराकाश की सुप्रसन्न परमात्म कृपा से यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से समुत्थित

पदाभिधेयदहराकाशसम्पत्त्याऽस्य जीवस्यानृतेन तिरोहितस्वरूपस्य
स्वरूपाविर्भावो भवतीत्येतज्ज्ञापनार्थं दहरविद्यायां जीवस्य
परामर्शः कृतः । एवं प्रजापतिवाक्येऽपि जीवप्रस्तावः परमपुरु-
षोपासनया तत्प्रसादेनास्य जीवस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरिति
ज्ञापनार्थमेवेति निर्णयः । तदेवं दहरप्रजापतिवाक्ययोः कृतानां
जीवपरामर्शस्वरूपोपदेशतद्व्यवहारोपदेशानामन्यार्थत्वेनापक्षीणत्वेन
दहराकाशस्वरूपसमर्पकत्वमिति दहराकाशः परमात्मैव ॥२०॥

५ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् १।३।२१ ५

प्रकृत श्रुतिघटकवाक्यं 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति विद्यते
तेन दहराकाशस्याल्पत्वं हृदयावच्छिन्नत्वञ्च बोध्यते । तादृश प्रादेशि-
कत्वञ्च परमात्मनोऽसम्भवदुक्तिकम् । 'महतोमहोयानि' ति तस्या
णान्यथानुपपन्न इति तदर्थमुभयत्र जीवस्य प्रस्तावः कृत इत्यादिकं प्रश्नममाधानाभ्यां
दर्शयितुं प्रक्रमते तर्हि दहराकाशेत्यादि ॥२०॥

होता है । ऐसा प्रतिपादन होने से प्रञ्ज्योतिः प्रतिपाद्य दहराकाश की सम्प्रतिपत्ति से इस
जीव को जो कि कर्म द्वारा तिरोहित स्वरूपवाला है । उस जीव के स्वरूप का आविर्भाव
होता है । इस वस्तु को ज्ञापित करने के लिए जीव का परामर्श दहरविद्या में किया गया
है । इसी तरह प्रजापति वाक्य में भी जो जीव का प्रस्ताव है वह परम पुरुष की उपासना
करने पर परम पुरुष की कृपा से जीव के स्व स्वरूप से अभिनिष्पत्ति होती है । इस बात को
ज्ञापित करने के लिए जीव का प्रस्ताव है । इस प्रकार से दहर वाक्य प्रजापति वाक्य में
जो जीव का परामर्श तथा तद्व्यवहार का उपदेश है वह अन्यार्थक होने से दहराकाश
स्वरूप का समर्पक है । इसलिए दहराकाश पदवाच्य परमात्मा है जीव नहीं है ॥२०॥

“दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश” एतादृश प्रकृत श्रुति घटक वाक्य है । इससे दहराकाश में अल्पत्व
तथा परिच्छिन्नत्व ज्ञात होता है । परन्तु एतादृश प्रादेशिकत्व तो परमात्मा में नहीं हो सकता
है । यह तो “महियानित्यादि” से उसमें अपरिच्छिन्नत्व सिद्ध होता है । इसलिए आराध

परिच्छिन्नत्वमेव श्रूयते । तस्मादाराग्रमात्रोपमितस्य जीवस्यैव दह-
राकाशत्वमुपपद्यते । तथा सति हृदयपुण्डरीकपरिच्छिन्नत्वमपि तस्यो-
पपन्नतरमिति चेत् । तदुक्तम् । तत्रोत्तरमुक्तम् । अर्भकौकस्त्वात्तद्
व्यपदेशादित्यत्र निचाय्यादेवं व्योमवच्चेत्युपासनार्थमल्पत्वं परमेश्व-
रेऽविरुद्धम् । ‘अणोरणीयान्महतो महीयान्’ (का० १।२।२०) इति
श्रुतेस्तस्याणोरप्यणोयस्त्वेन हृदिस्थत्वमुपपद्यते । तथा चोपासनार्थं
परमात्मनोऽल्पत्वं स्वभावतोऽपरिमितानन्तमहाविभूतिमतोऽपरिच्छिन्न-
त्वञ्चाघटितघटनापटीयस्या तच्छक्त्या सर्वमप्युपपद्यते । तस्माद्दह-
राकाशः परमात्मैव ॥२१॥

॥ अनुकृतेस्तस्य च १।३।२२ ॥

अनुकृतिरनुकरणम् । मुख्यं यत्तदनुकार्यम् । मुख्यस्याभावे
यदुपादीयमानं तदनुकरणमभवति । एवञ्च तस्य जीवस्य दहराकाश
अपि च तस्य जीवस्य परब्रह्मानुकरणदर्शनात् सर्वबन्धरहितोपिजीवोन
दहराकाशपदवाच्यः किन्तु परमात्मैव तथा । अनुकारश्च परब्रह्मणः समत्वम्
मात्रं से उपमित जीव में ही दहराकाशत्व उपपन्न होता है । तथा हृदय पुण्डरीक परिच्छि-
न्नत्व भी उपपन्न होता है । इस का उत्तर “अर्भकौकस्त्वात्” इस सूत्र में किया है । अर्थात्
उपासना के लिए अल्पत्व परिच्छिन्नत्व है । “अणोरणीयान्” इससे हृदयत्व भी होता है ।
उपासनार्थं परमेश्वर में परिच्छिन्नत्व है । स्वभावतः सर्वव्यापकत्व है । यह भगवत् शक्ति का
सहाय्य है । तस्मात् दहराकाश परमात्मा ही है जीव नहीं है ॥२१॥

अनुकृति से भी सिद्ध होता है कि परमात्मा दहराकाश पदवाच्य है किन्तु परमात्मा से
भिन्न जीव दहराकाश पदवाच्य नहीं है । अनुकृति कहते हैं अनुकरण को मुख्य जो होता
है वह अनुकार्य कहलाता है । अर्थात् अनुकरण क्रिया का एक कर्ता होता है ।
एक कर्म होता है कर्म को अनुकार्य तथा प्रतियोगी कहते हैं कर्ता जीव है अनुयोगी
उस जीव में दहराकाश वह प्रतियोगिक अनुकृति रूप हेतु से जीव दहराकाश

ब्रह्मानुकृते च हेतोर्नजीवो दहराकाश इत्यर्थो निष्पन्नः । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविशिष्टत्वादिति भावः । अत्रेदं तात्पर्यम् । संसारदशायां कर्ममूलाभिर्जाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्यानुकार्यं ब्रह्मोपासनेन तत्प्रसादादाविर्भूतस्वरूपस्याविर्भूतानामपहतपाप्मत्वादिगुणानाञ्च परमात्मस्वाभाविकस्वरूपस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणानुकृतित्वोपपत्त्याऽनुकर्तुर्जीवादनुकार्यस्य दहराकाशपरज्योतिषो भेदत्वोपपत्तेर्नतस्य दहराकाशपरमात्मत्वमुपपद्यते । अनुकृतिर्नामानुकार्यस्य साम्यावाप्तिः सैवात्र श्रूयते । ‘अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ (छा० ८।१।६) इत्यनुदिनभगवदुपासनजनिततत्प्रसादेन विमुक्तकर्मबन्धस्य जीवस्य परमेश्वरस्यैव संकल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिर्भवतीति । सैव च ‘स यदि पितृलोककामो भवती’ त्यापरमं साम्यमुचैतीति श्रुतेः । तस्मात्प्रजापतिवाक्यविनिर्दिष्टोऽनुकर्ता अनुकार्यश्च पर इति तयोर्द्वयोर्भेदात् न भवति जीवो दहराकाशवाच्यम् । एतमर्थं विवृत्य दर्शयितुं वाच्यं नहीं है । यह अर्थ निस्पन्न होता है । यहाँ ऐसा तात्पर्य है । संसारदशा में शुभाशुभ कर्ममूलक जाग्रदादिक अवस्थाओं से तिरस्कृत अपहत पाप्मत्वादि गुणक जो जीव है वह अनुकार्य ब्रह्म की उपासना करने से उस परेश की कृपा से आविर्भूत स्वरूप का तथा आविर्भूत अपहत पाप्मत्वादि गुणों का परमात्मा का जो स्वाभाविक स्वरूप तथा स्वाभाविक अपहत पाप्मत्वादि का अनुकृतित्व की उपपत्ति होने से अनुकर्ता जीव और अनुकार्य दहराकाश रूप ज्योतिष में भेद सिद्ध होता है । इसलिए जीव में दहराकाश पदवाच्यत्व नहीं होता है । अनुकार्य की जो समता तत्प्राप्ति रूप वनुकृति का ही यहाँ श्रवण होता है । “जो यहाँ परमात्मा तथा तदीय सत्यादिक कामों को जान करके जाता है । उसको सर्वलोक में अभिमत काम की प्राप्ति होती है । इस प्रकार अनुक्षणकृत भगवदुपासना से जायमान भगवान् की कृपा से कर्म बन्धन रहित जीव को भी परमेश्वर के सदृश संकल्पमात्र से सर्वकाम की प्राप्ति होनी है । इस बात को “स यदि पितृलोककामो

दिना महता प्रकरणेनोपरिष्ठादुद्धोषिता । तथा चात्र परमात्मन एव
दहराकाशत्वमिति ॥२२॥

५ अपि च स्मर्यते १।३।२३ ५

स्मर्यते चापीत्यन्वयः । 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमा-
गताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' (गी० १४।२।)
इति जीवस्य परमात्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन प्राप्तायास्तत्साधर्म्यरूपाया
स्तदनुकृतेः स्मरणान्न मुक्तजीवस्यापि दहराकाशत्वमुपपद्यते । साध-
र्म्यं समानधर्मत्वं धर्माश्चापहतपाप्मत्वादिगुणाः । अयमर्थः । दहर
ब्रह्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन परज्योतिर्ब्रह्मोपसम्पद्य तद्दर्शनेन कर्म-
बन्धविनिर्मुक्त आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको जीवः परमात्म
संकल्पायत्तसंकल्पवान् भवति । तदनुगुणानखिलान् दिव्याञ्छाश्व-
सूत्रव्याख्यातुं चोपक्रमते अनुकृतिरनुकरणमित्यादि अक्षरार्थस्तुकृतावतरणेनैव
संगृहीतः ॥२२॥

योहि संसारमनुभवन् जीवः सोपि भगवत्कृपया मुक्तावस्थामवाप्यतदा
परमसमत्वलक्षणब्रह्मानुकरणं लभते इति बहुशः स्मृतौ प्रदर्शितम् । 'इदंज्ञानमुपा-
भवति' इत्यादि प्रकरणे में कहा गया है । अतः परमात्मा ही दहराकाश पदवाच्य है किन्तु
जीव दहराकाश पदवाच्य नहीं है ॥२२॥

प्रकृत सूत्र का "स्मर्यते च अपि" ऐसा अन्वय है । मुक्तावस्था में जीव को भगवान्
के साथ परम समत्व का स्मृति में भी प्रतिपादन किया गया है "इस ज्ञान को प्राप्त करके
मेरे परमसमत्व को प्राप्त किया हुआ भक्त सर्गादि में न पैदा होता है । नवा प्रलय में मर-
णादि जन्म दुःख से दुःखी होता है" इसप्रकार जीव को परमात्म ज्ञानपूर्वक भगवान् की उपा-
सना से प्राप्त भगवत् साधर्म्य रूप भगवदनुकृति का स्मृति में प्रतिपादन होने से मुक्त जीव
में भी दहराकाशत्व नहीं हो सकता है । भगवत् साधर्म्य होता है अर्थात् समान धर्मवत्त्व होता
है । वह समान धर्म यहाँ अपहत पाप्मत्वादिक गुण ही है । इसका तात्पर्यार्थ यह है कि

तिकानवाप्नोति । मुक्तस्यापि भगवदायत्तसंकल्पतया परमात्मशेषत्व
मस्य नित्यमेव सिद्धं भवति । तथा चोभयावस्थस्यापि जीवस्य न
दहराकाशवाच्यत्वमित्यतः परमात्मैव दहराकाश इति सिद्धम् ॥२३॥

इति श्रीआनन्दभाष्येदहराधिकरणम् ॥

अथ प्रमिताधिकरणम् ॥६॥

५ शब्दादेव प्रमितः १।३।२४ ५

काठके श्रूयते—‘अद्गुणमात्रः पुरुषोमध्य आत्मनि तिष्ठति’
‘ईशानोभूतभवस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतत्’ तथा ‘अद्गुण-
धित्येत्यादि स्थलेषु । यद्यपि अत्र दहरप्रकरणमनुकृत्यधिकरणञ्च कल्पयति तथापि
अद्वयत्वाधिकरणेनैवगतार्थमितिनात्राधिकरणद्वयकृतमिति संशयः ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोमीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीर्घे दहराधिकरणम् ॥

“अतिप्रमाणकै विष्णौ नांशुष्ट्वं स्वभावतः । जीवै प्रशासकत्वं च
दहरपरब्रह्म ज्ञानपूर्वक परमात्मोपासना से परज्योतिब्रह्म सामीप्य को प्राप्त करके भगवान् के
साक्षात्कार से सर्व कर्म बन्धन से विनिर्मुक्त हो करके तथा आविर्भूत अपहृत पाप्मत्वादि गुणवाला
जीव भगवदधीन संकल्पवान् होता है । तथा तदनुगुण अखिल गुण को जो कि दिव्य तथा सा-
म्बतिक है उसको प्राप्त करता है । मुक्त जीव को भी भगवदधीन संकल्पवान् होने से जीव
में परमात्म शेषत्व नित्य सिद्ध होता है । अतः चाहे ब्रह्म हो अथवा मुक्त को किसी भी
जीव में दहराकाश पदवाच्यत्व नहीं होता है । किन्तु परमात्मा ही दहराकाश पद-
वाच्य है ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

आनन्दभाष्यप्रकाशे दहराधिकरणम् ॥

अग्रिम प्रकरण का उत्थान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “काठके श्रूयते” इत्यादि
कठोपनिषत् में सुनने में आता है कि “शरीर के मध्य में अङ्गुष्ठ प्रमाणक पुरुष है । जो

मात्रः पुरुषोऽज्योतिस्त्वाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ
 श्व एतद्वैतत् (का० २।४।१२।१३) इति । तत्र किमयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः
 श्रूयमाणो जीव आहोस्वित् परमात्मेति संशयः । तत्र पूर्वः पक्षः ।
 अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इत्युक्तश्रुत्या परिमाणकथनाज्जीवात्मैवात्र
 निश्चीयते । परमात्मनस्त्वङ्गुष्ठमात्रपरिमाणकत्वं कथमपि न
 सम्भवति । जीवस्य तु श्रुतिस्मृतिषु तथा स्वरूपमुपवर्ण्यते । 'प्राणा-
 धिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः' (श्वे० ५।७) 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः'
 (श्वे० ५।८) 'अथ सत्यवतः कायात्पाशवद्धं वशङ्गतम् । अङ्गुष्ठ
 मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः' (म० भा० ३।२९७।१७) इत्या-
 दयः । तस्मादत्राङ्गुष्ठमात्रो जीव इति प्राप्तेऽभिधीयते-

नास्ति तेन हि संशयः" अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इत्यादिश्रुत्या कश्योपास्यत्वं किं जीवस्य
 परेशस्य वा तत्रातिप्रमाणके भगवति कथिताल्पप्रमाणस्य स्वभावतोऽभावात्
 जीवस्य स्वभावतः परिच्छिन्नत्वश्रवणात्तस्यैवोपास्यतयेह ग्रहणमिति पूर्वपक्षे जीवस्य-
 चस्तुमात्रं प्रशासकत्वाभावात् अन्तर्यामिब्राह्मणादौ परेशस्य सर्वप्रशासकत्वप्रति-
 पादनात्परेश एवात्रोपास्यतया परिगृह्यते स्वपरिमाणकथने तु समुपासनायैवेति ।
 एतत्सर्वं मनसिकृत्य प्रश्नोत्तराभ्यां सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते काठके श्रूयते इत्यादि ।
 किं वल्लभ्य परिच्छिन्न पदार्थ मात्र का ईशान नियामक है ।" हे नचिकेता ? तुमने जिस
 परमेश्वर के विषय में प्रश्न किया है वह पुरुष यही है" एवम् "धूमरहित ज्योति के समान
 देदीप्यमान अकुष्ठ प्रमाणक पुरुष है । जो कि भूतभव्यादिक का ईशान है वही आज भी है,
 कल भी है" इत्यादि । इस वाक्य में अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणत्व रूपसे श्रूयमाण जो पुरुष है वह
 जीवात्मा है अथवा परमात्मा है । ऐसा संशय होता है । [अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणकत्व जीव में ही
 है परमेश्वर में नहीं है और भूतभव्यों का ईशित्व स्वभावतः परमेश्वर में ही है जीव में नहीं है ।
 इसलिए संशय होता है । यही संशय का कारण है ।] इसमें पूर्वक्षप होता है कि "अङ्गुष्ठमात्र
 इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति से परिच्छिन्न परिमाण का प्रतिपादन होने से अणु परिमाणवान् जीव
 ही उपास्य रूप से विवक्षित है । ऐसा निश्चित होता है । क्योंकि सर्वथाऽतिविस्तृत परमात्मा
 में अङ्गुष्ठमात्र प्रमितत्व असेम्भवित है ।

शब्दादेव प्रमित इति । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽत्र परमात्मैव ।
 कुतः ? शब्दात् 'ईशानो भूतभव्यस्ये' त्यपरोक्षतया श्रूयमाणशब्द-
 बलादेव । नहि तावज्जीवस्य कर्मपरतन्त्रप्रवृत्तिमतः स्वातन्त्र्येण
 भूतभव्यस्येशितृत्वं युज्यते । न वा कर्मबन्धविमुक्तस्य मुक्तस्यापि ।
 मुक्तव्यवहारपरश्रौतेषु वाक्येषु तस्य भूतभव्येशानत्वाश्रवणात् ।
 अत एव जगद्व्यापारवर्जमिति जगद्व्यापारस्यापि प्रतिषेध उपप-
 द्यते । एतद्वैतदिति पृष्ठस्योत्तरतयानुसन्धानमपि परमेश्वरोपादान-
 एव सङ्गच्छते । पृष्ठञ्चेह नचिकेतसा ब्रह्मैव । इत्येतद्वैतदिति पर-
 मात्मन एव ग्रहणम् ॥२४॥

शरीरमध्ये अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणकः सर्वस्येशिताविद्यते इति प्रथम श्रुत्यर्थः । संशयादि-
 प्रदर्शनं भाष्यदिशैव पूर्वपक्षोपि तथैवेति । स्वशब्दादिति परमात्मबोधक ईशान इति
 शब्दादेव नेदमीशानमितिपदं कथमपि जीवं बोधयति किन्तु परमात्मबोधकमेवतदिति
 निरङ्कुशेशितृत्वस्य तत्रैव संभवादिति । यद्यपि स्वभावतोऽङ्गुष्ठप्रमाणत्वं जीवस्यैव नतु
 परेशस्येति जीवग्रहणमुचितमिवाभाति तथापि उपासनार्थं यथाकथञ्चित्परमात्मनि तत्सं-
 भवति ईशित्वं तु जीवे नकथमपीतिभावः ॥२४॥

इस शंका के उत्तर में कहते हैं "शब्दादेव प्रमितः" इस प्रकरण में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष
 परमात्मा ही है क्योंकि शब्द से अर्थात् "ईशानो भूतभव्यस्य" इसप्रकार से अपरोक्षरूपेण
 श्रूयमाण जो शब्द उसके बल से । कर्माधीन प्रवृत्तिमान जीव में स्वतन्त्र रूप से भूतभव्या-
 दिक पदार्थों का ईशित्व नहीं हो सकता है । नका कर्मबन्धन रहित मुक्त जीव में भी ईशित्व
 त्व वन सकता है । मुक्त के व्यवहार का बोधक श्रौतवाक्य में भूतभव्य के प्रति ईशानत्व
 मुक्त पुरुष में श्रुत नहीं है । अतएव मुक्त पुरुष में "जगद्व्यापारवर्जम्" इस सूत्र से जो
 जगद्व्यापार का प्रतिषेध किया है वह भी उपपन्न होता है । और "एतद्वैतम्" इस वाक्य
 से प्रश्न के उत्तर का अनुसन्धान भी परमेश्वर के उपादान में ही संगत होता है । नचिकेता
 ने ब्रह्म विष्णुक ही प्रदन किया था । इसलिए "एतद्वैतम्" इससे परमात्मा का ही ग्रहण
 होता है ॥२४॥

किमर्थं तर्ह्यपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्र प्रमितत्वेन परिच्छि-
न्नत्वव्यपदेश इत्यत्राह-

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् । १ । ३ । २५

अपरिच्छिन्नस्यान्तर्यामितया सर्वत्रावस्थितस्यापि परमात्मनः
स्वाश्रितजनोपासनासिद्ध्यर्थमेवोपासकहृदयेऽधिष्ठितत्वात् । हृदयस्य
चाङ्गुष्ठप्रमाणत्वं सिद्धमेव तद्गतपरमपुरुषे भगवति समारोप्येदमङ्गु-
ष्ठमात्रप्रमितत्वं तस्योच्यते 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इत्यादिवचनैः ।
शक्तिमति विशेषार्थिनि च शास्त्राणि चरितार्थाभवन्तीति सिद्धान्ता-
न्मनुष्यानधिकृत्यैव शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्मनुष्याणामेव परमात्मोपास-
कत्वसम्भवात् । मनुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्तदपेक्षयेद-

ननु कथं परेशस्याङ्गुष्ठप्रमितत्वमिति प्रश्नः स्वशब्दादिति समाधानम् ।
परन्तु न यथावदुत्तरं जातमतिमात्रस्य तस्य व्यापकस्य तथात्वासंभवादित्याश-
ङ्कायाः समाधानायोपक्रमते किमर्थं तर्ह्येत्यादि सशक्तस्याधिकृतस्यमनुष्यस्यैवशास्त्रो-
धिकारः । मनुष्यहृदयं तदीयाङ्गुष्ठपरिमितम् तत्रोपासनार्थं भगवान् व्यक्तोभव-

सर्वथा परिच्छेद रहित ब्रह्म में अङ्गुष्ठमात्र प्रमितत्व से परिच्छिन्नत्व व्यवहार किस तरह होता
है ! इस शंका का समाधान करते हैं "हृद्यपेक्षयेत्यादि" अपरिच्छिन्न तथा अन्तर्यामी होने
से सर्वत्र अवस्थित जो परमात्मा है वह स्वकीयाश्रित भक्तजन की उपासना सिद्धि के लिए
उपासक के हृदय प्रदेश में अवस्थित रहते हैं अतः हृदय परिमाणक है ऐसा सिद्ध ही है ।
तादृश हृदय में अवस्थित परमपुरुष में अङ्गुष्ठमात्रप्रमित का आरोप करके भगवान् में अङ्गुष्ठ
मात्र प्रमितत्व शास्त्र में कहा गया है । "शक्तिमान् विशेषार्थी व्यक्ति में शास्त्र अर्पितान्
होता है" इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को अधिकृत करके ही शास्त्र को प्रवृत्त होने से
मनुष्य को ही परमात्मोपासकत्व संभवित है । मनुष्य का हृदय तत्तन्मनुष्य के अङ्गुष्ठ प्रमित

मभिहितमित्यत्र परमात्मैवाद्गुणमात्र इति सिद्धम् ॥२५॥

इति श्रीआनन्दभाष्येप्रमिताधिकरणम् ।

अथ देवताधिकरणम् ॥३॥

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् । १।३।२६।

पूर्वं मनुष्यानधिकृत्य शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्मनुष्याणां ब्रह्मोपासनेऽधिकार इत्युक्तम् । तत्प्रसङ्गेन देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संशयो बुद्ध्यारूढो भवति । तत्रायम्पूर्वः पक्षः । नास्ति ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारः । कुतः ? तेषां विग्रहादिप्रतिपादकवचनाश्रवणात् । मन्त्रार्थवादादीनामपि 'वायुर्वैश्वेपिष्ठादेवता [यजु० काण्ड० २ प्रश्न १ अनु० १ पं. १] इत्यादिनां 'वायव्यं श्वेत' इति परिच्छिन्नत्वमद्गुणमात्रपरिमितत्वं च तस्य कथ्यते नतु स्वरूपतः सपरिच्छिन्न इत्यादिकं सर्वं सूत्रभाष्याभ्यां स्पष्टीकृतमिति संक्षेपः ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेप्रमिताधिकरणम् ।

अंगुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षेतिमनुष्याणां ब्रह्मविद्यायामधिकार इत्येवं पूर्वनिर्धारितम् । तत्रत्यप्रसङ्गेन मनुष्यादुपरिनिवसतां देवानां ब्रह्मविद्यायामधिकारो होने से तःपेक्षया परमेश्वर में अंगुष्ठमात्र प्रमितत्व कहा गया है । स्वरूपतः परमात्मा तो व्यापक ही है ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीअनन्दभाष्य प्रकाशे प्रमितत्वाधिकरणम् ।

मनुष्य को अधिकृत करके शास्त्र प्रवृत्त हुआ है । अतः मनुष्य को ब्रह्मोपासना में अधिकार है । ऐसा पूर्वाधिकरण में स्थिर किया है । इस प्रसंग को लेकर के इन्द्रवरुणादि देवों को ब्रह्मविद्या में अधिकार है अथवा देवों को विद्या में अधिकार नहीं है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि देवताओं को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है । क्योंकि देवता के शरीर प्रतिपादक कोई वचन नहीं है । 'वायुर्वैश्वेपिष्ठादेवता' 'वायु बहुत

मालमेत भूतिकाम' इत्यादिविधिवाक्यैकवाक्यतया शेषभूतानां वायुस्तुतिमात्रपराणां वाय्वादिदेवता विग्रहादिसद्भावप्रकाशकत्वाश्रवणात् । करणकलेवरमन्तरेण च ब्रह्मानुध्यानलक्षणोपासनादिसामर्थ्यं न स्यात् । तदतिरेकेण चार्थित्वस्याप्यसम्भवात्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावादेव देवादीनां तत्राधिकारो नास्तीति प्राप्तेऽभिधीयते—तदुपर्यपि बादरायणसम्भवादिति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्ठाद्ये देवादयस्तेषामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? सम्भवात् । देवादीनामपि विद्याधिकारकारणत्वयोः सामर्थ्यार्थित्वयोस्सम्भवात् । तत्र सामर्थ्यं देहेन्द्रियादिमतः सम्भवति । तच्च देहेन्द्रियादिमत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिभिस्तेषामवगम्यते । तत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' [अष्टक०२ प्र०६ अ०७ पं.३४] 'तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्' [का०२ प्र०४ अ०१२] इत्यादिकर्मविधि भवति नवेति संशयः । न भवतीति पूर्वपक्षः । विग्रहवत्त्वप्रयोज्यार्थित्वसामर्थ्ययोस्तेषां त्वराशील देव है' इत्यादिक जो अर्थवाद है जो कि "वायव्यं श्वेतमालमेत" [भूतिकामनावान् पुरुष वायुदैवतश्चेत छागका आलम्बन करे'] इत्यादिविधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने से विधिवाक्य का अंगभूत वायु के स्तुतिमात्र परक तादृश अर्थवाद शास्त्र को वायुप्रभृतिक देवता के शरीर सद्भाव का प्रकाशकत्व नहीं है । अर्थात् अर्थवाद शास्त्र तो केवल स्तावक होता है । विधायक नहीं होता है । अतः देवता विग्रहवत्त्व का विधायक नहीं है । देवता को करण कलेवर [शरीरेन्द्रिय] के बिना ब्रह्मानुध्यान लक्षण उपासन सामर्थ्य नहीं हो सकता है । और शरीरादिक के बिना अर्थित्व का भी अभाव है । इसलिए सामर्थ्य तथा अर्थित्व का अभाव होने से देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ।

एतद्वा प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'तदुपर्यपीत्यादि' मनुष्य से ऊपर में रहने वाले जो देवगण हैं उन लोगों को भी ब्रह्मविद्या है अधिकार है ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं । क्योंकि संभव है देवता को भी विद्याधिकार में कारण जो सामर्थ्य तथा अर्थित्व है वह संभवित है । इसमें सामर्थ्य तो शरीरेन्द्रियादिमान को होता है । एतादृश करण कलेवर का

शेषभूत मन्त्रार्थवाद्देषु स्पष्टमेव विग्रहादिमत्त्वं देवानां श्रूयते ।
 स्तुतिर्हिस्तोतव्यनिष्ठासाधारणगुणाभिधानेन सम्पद्यते । तथाभूत
 गुणानामाधारश्च विग्रहादिमानेव स्यात् । न ह्येतेषामन्यपरत्वमेष्ट
 व्यम् । कर्मप्रवृत्तयेस्तोतव्यार्थसद्भावस्यावश्यकत्वात् कर्मविनियुक्ताश्च
 मन्त्राः प्रयोगकाल अनुष्ठेयार्थस्मारकत्वेन द्रव्यदेवतास्वरूपमुपवर्ण्य
 विशेषार्थमेव विदधते । न च 'अभ्यक्सात इन्द्र ऋष्टिः' [ऋ०सं०]
 सृण्येव जर्फरी तुर्फरीतू' [ऋ०सं०] इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रामाणिकः
 कश्चिदर्थ एव न बोध्यते । 'अद्यः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३द्'
 [ऋ०सं०] इत्यादीनां बोधकत्वेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषोवेति वाक्यवत्सं-
 दिग्धार्थबोधकत्वादप्रामाण्यमेव मन्त्राणाम् । तथा च कथं देवता
 विग्रहादिवर्णनस्य साधुत्वमितिवाच्यम् यास्काचार्येण निरुक्ते तेषां
 मन्त्राणां सम्यगर्थं निरूप्य प्रामाण्यं दर्शितम् । तत्पश्चियज्ञन्यैज्ञा

विग्रहाभावेनाभावात् । बादरायणमतेन तेषामप्यधिकारोविग्रहवत्त्वस्यार्थवादिभिः
 सिद्धत्वादित्यादिकं विचारयितुं प्रसङ्गागतमन्यदपिकिञ्चिद्विचारयितुमुपक्रमते
 सद्भाव देवताओं को श्रुतिस्मृति इतिहास तथा पुगणों से अवगत होता है । उसमें 'वज्रहस्त
 पुरन्दर हैं' इन्द्रने वृत्रासुर को वज्र से मांग' इत्यादि कर्मविधि का अंगभूत मन्त्र अर्थवादों
 में स्पष्टरूप से विग्रहवत्त्व का श्रवण होता है । 'स्तवन जो होता है वह जिसकी स्तुति की
 जाती है उसमें असाधारण का कथन पूर्वक ही सम्पन्न होता है । एतादृश गुण का आचार
 तो शरीरादिमान् ही हो सकता है । ये श्रुत्यादिक प्रमाण अन्यपरक अर्थात् अन्य अर्थ का
 बोधक है । ऐसा मानना ठीक नहीं है । क्योंकि कर्म में प्रवृत्ति के लिए स्तोतव्य अर्थ का
 सद्भाव आवश्यक है । कर्म में विनियुज्यमान जो मन्त्र है वह प्रयोग काल में अनुष्ठेय अर्थ
 का स्मारक होकर के द्रव्य तथा देवता के स्वरूप का वर्णन करके विशेष अर्थ का प्रतिपादन
 करता है । नहीं कहो कि 'अभ्यक् सात इन्द्रः' 'जर्फरी तुर्फरीतू' ये सब मन्त्र किसी प्रामाणिक
 अर्थ का प्रतिपादन तो नहीं करता है । तथा 'अद्यः स्विदासीतू' इत्यादिक वाक्य को अर्थ
 बोधकत्व होने पर भी 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि वाक्य के समान संदिग्ध अर्थ का बोधक

तत्त्वं न मन्त्राणां दोषमावहति । नैष स्थाणोऽपराधो यदेनमन्धो
 न पश्यति पुरुषापराधः स भवतीति लौकिकीयं गार्थैवात्र प्रसरति ।
 पूर्वतन्त्रोऽप्ययमर्थो वर्णित एव । 'सतः परमविज्ञानम्' (जै०सू० १।२।
 ५०) प्रस्फुट एवार्थः प्रमादादिभिर्न ज्ञायते अतो निरुक्तव्याकरणादि
 भिश्च धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । तथा च 'जर्फरीतुर्फरीतू' इत्ये-
 वमादीन्यश्विनोऽभिधानानि । 'आश्विनं चेदं सूक्तम्' (ऋ०स०)
 'अश्विनोः काममप्रा' इति दर्शनात् । द्विवचनान्तञ्च तत्र लक्ष्यते ।
 अत एव 'जर्फरी' भर्तारवित्यर्थः । तुर्फरी हन्तारवित्यर्थ इति निरुक्त
 उक्तम् । 'एव मभ्यक् सात' इत्यादावपि सङ्गमनीयम् । 'अघः स्विदा
 सीत्' इत्येषो न संशयार्थकः । अपितु जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽति
 गभीरत्वं सूचयितुमेव प्रवृत्तः । स्वाचार्यशास्त्रसम्प्रदायरहितैरगम्यत्व
 मधः स्विदित्यनया वचो भङ्ग्योपन्यस्यते । अयमेवाशयः 'क अद्धा
 पूर्व मनुष्यानघिहृत्येत्यादि तत्र नास्त्यधिकारोविग्रहादिप्रतिपादकवचनप्रत्यक्षयोरभावात्
 होने से इन मन्त्रों में तो अप्रामाणिकत्व है । तब इन सब मन्त्र को देवता के विग्रह का
 प्रतिपादन करने में प्रामाण्य कैसे होता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यास्क
 आचार्य ने निरुक्त नामक ग्रन्थ में इन सब मन्त्रों के सामर्थ्य का निरूपण करके इन सब
 मन्त्रों में प्रामाण्य का वर्णन किया है । निरुक्तादिक के परिचय रहित व्यक्ति मन्त्र के अर्थ
 को नहीं जानता है । तो यह दोष मन्त्रों का नहीं है । अन्धा आदमी स्थाणु को ठूँठ को
 नहीं देखता है । तो यह दोष स्थाणु का नहीं है । प्रकृत में इस लौकिक न्याय का अति
 क्रमण नहीं होता है । पूर्व तन्त्र कर्ष मीमांसा में भी इस विषय का वर्णन किया है ।
 'सतः परमविज्ञानम्' प्रस्फुट भी अर्थ यदि प्रमादादिक किसी कारण से ज्ञात न हो तो
 निरुक्त व्याकरणादिक से उन अर्थों को प्रस्फुट करना तथा 'जर्फरी तुर्फरी, इत्यादिक जो है
 वह अश्विन का नाम है । क्योंकि यह अश्विन सम्बन्धी सूक्त है ऐसा देखने में आता है ।
 अतः यह द्विवचनान्त प्रयोग है । जर्फरी का अर्थ भरण करने वाला तुर्फरी का अर्थ हनन
 करने वाला इस प्रकार निरुक्ति में कहा है । इसी प्रकार 'अभ्यक् सात' इसका भी अर्थ
 खाना चाहिए । 'अघः स्विदासीत्' यह वाक्य संशयार्थक नहीं है । किन्तु जगत् का

वेद' (ऋ० सं०) इत्युपरिष्ठान्मन्त्रेषु प्रदर्शितः । प्रयोगकाले मन्त्रो-
च्चारणं नियमत एव कर्तव्यमित्यदृष्टप्रयोजनकत्वमेव मन्त्राणामित्यपि
न तदर्थप्रत्यायकत्वरूपं दृष्टमपि प्रयोजनमस्मिन्कृतम् । न च दृष्टप्रयो-
जने न किमपि श्रौतं प्रमाणमुपलभ्यत इति वाच्यम् । लिङ्गोपदेश-
श्च तदर्थवत्' (जै० सू० १।२।५२) इत्यनेन निर्णीतमेवतत् । तथा हि
'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इन्द्रो देवता यस्या ऋचः सेयमैन्द्रीतया
गार्हपत्यमुपतिष्ठति । अत्रैन्द्रीत्वलिङ्गेनैवोपदेशः । तस्यामृचीन्द्रः प्राधा-
न्येन प्रतिपाद्यतेऽतस्तस्या ऋचः इन्द्रो देवतोपदिश्यते । अत एव
चैन्द्रयेति देवतावाचितद्वितान्तनिर्देश उपपद्यते । ततश्चायमुप-
देशस्तन्मन्त्रवाक्यमर्थवदिति ज्ञापयति । तस्माद्विवक्षितार्थप्रत्यायकत्वा-
न्मन्त्राणां प्रयोगकालिकमुच्चारणम्भवतीति । एवञ्च मन्त्रेण देवता
नहि तादृशं प्रत्यक्षं यत् तथात्वं साधयेत् । न चार्थवादादिभ्यस्तत्सिद्धिः, अर्थवाद-
कारणं जो परमत्त्वं है उसमें अत्यन्त मंगलत्व का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त है । स्वकीय
आचार्य सम्प्रदाय तथा स्वशाल रहित व्यक्ति से अगम्यत्व को "अद्यः स्वित्" इस वाक्य से
कहा जाता है । इसी आशय को 'क अद्वा वेद' इस मन्त्र में बतलाया है । प्रयोगकाल में
मन्त्र का उच्चारण नियमतः करना चाहिए । इस प्रकार अदृष्ट प्रयोजन ही मन्त्र का है ।
यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि तादृश अर्थ का प्रत्यायकत्व बोधकत्व दृष्ट प्रयोजन
भी माना गया है । मन्त्रों का दृष्ट प्रयोजन में कोई श्रौत प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है
ऐसा नहीं कहना क्योंकि "लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्" इस जैमिनि सूत्र में इसका निर्णय किया
है । तथाहि 'ऐन्द्रयागार्हपत्यमुपतिष्ठते' इन्द्र देवता है जिस ऋचा की उसको कहते हैं ऐन्द्री
उस ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करें, यहाँ 'ऐन्द्री' इसलिङ्ग से उपदेश है । उस
ऋचा में प्रधान रूप से इन्द्र का प्रतिपादन है । अतः उस ऋचा का इन्द्र देवता है ऐसा व्यप-
देश होता है । अत एव 'ऐन्द्रया' इस प्रकार से देवतावाची तद्वि- प्रत्ययात्त का निर्देश
उपपन्न होता है । अतः एतादृश उपदेश उस मन्त्रवाक्य का अर्थवत् है ऐसा ज्ञापित करता
है । इसलिए विवक्षित अर्थ का प्रत्यायक होने से प्रयोगकाल में मन्त्रों का उच्चारण होता
है । ऐसा हुआ तब मन्त्र से देवता का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है यह

स्वरूपं स्पष्टमेवाभिधीयत इति नाविदितं वैदिकानामतः प्रकृतमनुस-
रामः । तथा च 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्
कस्मिन्' (ऐ०ब्रा०३।८।१) इति वचनं देवताविषयकं मनोऽध्यानमा
विष्करोति । तच्च निर्विशेषायास्तस्या नोपपद्यते । तस्मात्सगुणदेव
तायाः कर्मविधावावश्यकत्वम् । फलकामिनाऽनुष्ठीयमानस्य कर्मणः
क्षणप्रवृत्तित्वात् कालान्तरभाविनः स्वर्गादिरूपस्य फलस्य च प्रयोजकः
कश्चिदपेक्षितः । विधिवाक्यविचारे च कृत्स्नानि कर्माणि स्वोपास्य
देवताप्रधानान्येव । तस्माद्देवानां देहेन्द्रियादिमत्त्वं सम्यगुपपन्नम् ।

तथोपनिषद्भागेऽपि सृष्टिप्रकरण उपासनाप्रकरणे च श्रूयते ।

स्य स्तावकत्वेन विधायकत्वाभावादिति समाधानं तु तेषामप्यधिकारः वज्रहस्त
बात वैदिकों को अविदित नहीं है । किन्तु ज्ञात ही है । अतः अब प्रकृत विचार का ही
अनुसरण किया जाता है । 'यस्यै देवतायै' यह वाक्य देवता विषयक मनोऽध्यान को आविष्कृत
करता है । यह ध्यान निर्विशेष [विग्रह रहित] देवता का नहीं उपपन्न हो सकता है ।
इसलिए कर्म विधि में समुण देवता की ही आवश्यकता है । फल का कामनावान् पुरुष
से अनुष्ठीय मान जो घणादिक कर्म है उसको क्षण विध्वंसी होने से कालान्तर में होने
वाला जो स्वर्गादिक फल है उस फल का प्रयोजक अवश्य कोई पदार्थ अपेक्षित है । 'स्वर्ग
कामोयजेत' इत्यादि विधिवाक्य के विचार में सभी कर्म स्वोपास्य देवता प्रधानक होता है ।
इससे सिद्ध होता है कि देवगण अग्रेन्द्रियादिमान् होते ही हैं ।

इसी तरह उपनिषद् भाग के सृष्टि प्रकरण तथा उपासना प्रकरण में देवता को देहेन्द्रि
यादिमत्त्व सुनने में आया है । सृष्टि प्रकरण में इस प्रकार से है । तथाहि 'सदेव सोम्येदमग्रे'
यहाँ से आरंभकर के 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' इस से वह देवता सब अचेतन तेज जल अन्नादि
की सृष्टि करके 'हन्ताहमिमाः' इत्यादि प्रकार से संकल्प करके नाम रूप वाच्य ब्रह्मादिस्था
वरपर्यन्त चतुर्विध जरायुजादिक भूत समुदाय के लिए तत्तत् पूर्वकर्मोचित तथाविध शरीरों को
बनाया । एतादृश नामरूप व्याकरण श्रुति से ही देवताओं में विग्रहत्व की सिद्धि होती है ।
नामरूप के सम्बन्ध का संपादन करने का ही तो नामरूप व्याकरणत्व देवादिक में है । इसी

सृष्टिप्रकरणे तावत् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि' त्याम्भ्य 'तदैक्षत
बहुस्यां प्रजायेयेति' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।१।३) इति सर्वमचेतनं
तेजोबन्नादिकं सृष्ट्वा 'हन्ताहमिमास्तिस्त्रोदेवताऽनेन जीवेना-
त्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकस्वाणि' (छा० ६।३।२) इति संकल्प्य
नामरूपाभिहितं ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तं भूतजातं चतुर्विधं तत्पूर्वकर्मो-
चितं तादृशं शरीरं व्याकरोदिति नामरूपव्याकरणश्रुत्यैव देवादीनां
विग्रहवत्त्वं निष्पद्यते। देवादीनां देहेन्द्रियादिसम्बन्धकरणस्यैव नाम
रूपव्याकणत्वम्। तथाष्टमप्रपाठकेऽपि छान्दोग्ये 'तौ ह संविदानावेव
समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः (छा० ८।७।२) इति श्रुत्या
हस्तादीनामवगमाद् विग्रहादिमत्तया तेषां सामर्थ्यनिश्चयात्। तथा
श्रीवाल्मीकीये श्रीरामं प्रति ब्रह्मणोवचनादपि ज्ञायते।

इत्यादिशास्त्रेण तत्त्वावगमात् । कर्मभागे विग्रहवत्त्वस्य श्रुत्यादिभिः सिद्धिः ।
तरह इस उपनिषद् के अष्टम प्रपाठक में 'तौ ह संविदानावेव' इत्यादि श्रुति से हस्तपादादिक
का अकाम होने से देवताओं का विग्रह सिद्ध होता है । और विग्रह मत्तया सामर्थ्य की भी
सिद्धि होती है । (यदि देवता का शरीर करणदिक न हो तब तो समित् पाणि होकर के प्रजा
पति के समीपममन किस तरह हो सकता है । और तदीय वचन का श्रवण तथा पद श्रवण
जनित पद ज्ञान पूर्वक पदार्थ स्मरण शब्द बोधादिक का अभाव होने से तदनुकूल प्रवृत्ति
निकृति नहीं हो सकती है । अतः एतादृश प्रवृत्ति निकृत्यादिक वज्रवहाराभ्यानुपपत्ति से भी
देवता का शरीरत्व सिद्ध होता है । और परस्पर कलह संग्रामादिक जो पुराण में वर्णित है
वह सब अनुपपन्न हो जायगा । अतः अकामेनापि देवता का विग्रह पक्ष अवश्य स्वीकार
करना चाहिए ।) तथा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में ब्रह्माजी के श्रीरामजी के प्रति जो वचना-
दिक हैं उससे भी सिद्ध होता है कि -

“हेममक्न ! पूर्वकाल में अपनी माया से इन भूरादि लोकों को संहत करके स्वयं
महार्णव के जल में शयन करते हुये मुझको आप ने उत्पन्न किया” दिव्य सूर्य के समान
नाभिपद्म में मुझको उत्पन्न करके मेरे ऊपर आप ने प्रजापति कर्म का भार दिया । “हे

संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
 महार्णवे शयानोऽसु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥ श्रीमद्रा.उ.स.१०४।४।
 पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
 प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥ श्रीमद्रा.उ.स.१०४।७।
 सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् ।
 रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ श्रीमद्रा.उ.स.१०४।८।
 ततस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्वात्सल्यतनात् ।
 रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् । श्रीमद्रा.उ.स.१०४।९।
 इति “नाभ्यामुत्पाद्य मामपि” “त्वामुपासे” “रक्षां विधत्स्वेति” च
 वाक्यैर्ब्रह्मणः शरीरवत्त्वं श्रीरामोपासकत्वञ्चावगम्यते ।

एवं देवादीनां सदा भोगशालित्वेऽपि भोग्यवस्तुनां क्षयातिशय-
 दोषग्रस्तत्वेन तत्रानित्यत्वबुद्ध्युत्पादेन नैराग्याद्युत्पत्तिपूर्वकनिर-
 तिशयानन्दस्य मोक्षस्यार्थित्वमपि सम्भवत्येव ।

उपनिषद्भागेषु तथात्वं सिद्ध्यत्येव । इतिहासपुराणादितोऽपि देवानां विग्रहवत्त्वं
 जगद्गुरु ! आपके द्वारा निवेशित कार्यभारवान् मैं आप का उपासन करता हूँ । मेरे तेज
 को बढ़ानेवाले आप सर्वभूतों की रक्षाकरो” उसके बाद आप अत्यन्त विलक्षण तेज के द्वारा
 लोगों की रक्षा करते हुए विष्णु नाम को प्राप्त किये हैं । [श्रीमद्रामायण उ० सर्ग १०४-९।]
 इन उपर्युक्त वाक्यों से ब्रह्मा में शरीरवत्त्व तथा श्रीरामोपासकत्व सिद्ध होता है ।

एवं देवता को सदा भोग युक्त होने पर भी भोग्य वस्तु के क्षयातिशय दोषग्रस्त
 होने से उन भोगों में अल्प बुद्धि की उत्पत्ति होने से नैराग्योत्पत्ति पूर्वक निरतिशय निष्ठ
 भोक्ष विषयक अर्थित्व भी देवता में हो सकता है । एवं बृहदारण्यक में “तद्योदेवानाम्”
 इत्यादि प्रकरण में ब्रह्मविद्यावत्त्व तथा तदीय फलवत्त्व का भी श्रवण होता है । तो जब देवता
 को ब्रह्मविद्या का जो फल है मोक्ष वह जब प्राप्त होता है तब अर्थतः सिद्ध होता है कि देवगण
 ब्रह्मविद्यावान् होते हैं । क्योंकि कारण जो ब्रह्मविद्या उसके बिना मोक्ष रूप जो कार्य है वह

तथा बृहदारण्यके “तद्योयोदेवानां प्रत्यवुध्यत स एव तद-
भवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्” [बृ० १।४।१०] इति देवानां
ब्रह्मविद्याफलान्तं विद्यावत्त्वं श्रूयते । एवञ्च तेषां ब्रह्मविद्याफल-
वतां कैमुत्यन्यायेनैव ब्रह्मविद्याधिकारित्वोपपत्तेरिति ॥२६॥

❧ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्र- तिपत्तेर्दर्शनात् । १।३।२७। ❧

ननु ब्रह्मविद्याधिकारत्वनिष्पत्तये देवादीनां विग्रहादिमत्त्वं
सप्रमाणमभ्युपगतम् । तथा सति कर्मणि विरोधः सम्पद्यते ।
कुतः ? विग्रहवत्त्वे तेषां यागादौ कर्मणि ‘इन्द्रागच्छ हस्वि आगच्छ’
‘त्वामुपासे’ इत्यादिना विदितमेवेति ध्येयम् ॥२६॥

ननु यदि देवताविग्रहवतीस्वीक्रियेत ब्रह्मविद्याधिकाराय तदा विग्रहवता युग-
पदनेकत्रोपस्थित्यभावेनानेकैः क्रियमाणयागादौ तदुपस्थितेरभावात् कर्मणि विरोधः
इत्याशङ्क्य योगप्रभावाद्यदायुगपदनेकशरीरधारणं मनुष्यादीनामपि भवति
तदाजानसिद्धानां माहात्म्यविशेषादनेकशरीरधारणं कृत्वा युगपदनेकक्रियमाण
नहीं हो सकता है । अतः मोक्ष तथा तदुपदेशान्ययानुपपत्ति से भी ब्रह्मविद्यावत्त्व देवों में
सिद्ध होता है । अतः सूत्रकार ने जो कहा है “तदुपर्यपि संभवात्” यह ठीक ही
कहा है ॥२६॥

ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध्यर्थ यदि शरीरादिमान् देवता को प्रमाण प्रदर्शनपूर्वक मान
लिया गया है । तब तो यागादिक कर्म में विरोध होता है । क्योंकि देवता के विग्रहवान्
होने पर यागादिक कर्म में “इन्द्रागच्छ” इत्यादि रूप से आहूत एक देवता का एक कालीक
कनेक यागादिक में संनिधान अनुपपन्न है । क्योंकि विग्रहवान् एक समय से एक ही जगह
रहता है । ऐसा लोक में प्रसिद्ध तथा दृष्ट है । इसलिए कर्म में देवता का उपकारकत्व
का विरोध है । उत्तर करते हैं ऐसा मतकहो कनेक प्रतिपत्ति देखने में आती है । योग-

[यजु० आ० प्र० १ अ० १२] इत्यादिनाऽहृतस्य तस्यैकस्य युगपदने-
कयागेषु सन्निधानाऽनुपपत्तेरिति कर्मणि देवताया उपकारकत्वविरोध
इति चेन्न । कुतः ? अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । सौभर्यादीनां
योगशक्तिभाजां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिदर्शनात् देवादीनां प्रभू-
तशक्तिमतां युगपदनेकशरीरधारणत्वोपपत्तेः । अथवा प्रतिपत्तिरङ्ग-
भावस्तस्य लोके दर्शनात् । यथाऽनेकैश्छात्रैर्युगपन्नमस्कुर्वाणैरेकोपि
गुरुर्नमस्क्रियमाणो दृश्यते । एवमेकां सविग्रहामेव देवतामुद्दिश्य
युगपत्सर्वे हवींषि त्यक्ष्यन्तीत्यतः कर्मणि देवताया उपकारकत्वे न
कश्चिद्विरोधः ॥२७॥

कर्मणि समुपस्थितौ न कोपिविरोधो भवतीत्यावेदयितुमुपक्रमते ननु ब्रह्मविद्येत्यादि
विग्रहवतामस्मदादीनामेककालेऽनेकग्रसंविधानं न भवति तथैव विग्रहवत्त्वाद्देवादी-
नामपि स्यादिति कथमनेकयागे एकस्येन्द्रादेः संविधानं कर्मणि यागादिस्यादिति
शङ्काशयः । एकस्यापि विग्रहवतः सौभर्यादेर्यथानेकदेहधारणं श्रुतं तथैवाजानसिद्ध
देवस्यापि तथात्वसंभवेन नास्ति कश्चिद्विरोधः । यथैकगुरुमुद्दिश्य युगपन्नमस्कारः-
पठद्भिरन्तेवासिभिः क्रियते तथैकं देवं समुद्दिश्यानेकयजमानैर्द्रव्यपरिक्षेप रूपोयागो
भवत्येवेति समाधानाशयः ॥२७॥

शक्तिमान् सौभरी प्रभृतिऋषियो को एक काल में अनेक शरीर धारण पुराणादिक में प्रसिद्ध
है । तो प्रभूत शक्तिमान् देवता को भी अनेक देह धारण एक कालमें हो सकता है ।
अर्थात् एक ही इन्द्रादिक देव अनेक शरीर को धारण करके अनेक याग में एक कालावच्छे-
देन उपस्थित हो सकते हैं । इसमें कोई विरोध नहीं है । अथवा प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ
है अंगभाव एतादृश अंगभाव लोकमें देखने को आता है । जैसे अनेक शिष्य से एक काल
में नमस्कार करने से एकगुरु नमस्क्रियमाण होते हैं । उसी तरह एक विग्रहवान् देवता को
उद्दिश्य करके सब यजमान द्रव्य त्याग करेंगे । अतः कर्म में देवता के उपकारकत्व में कोई
विरोध नहीं है ॥२७॥

५ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्र- त्यक्षानुमानाभ्याम् । १ । ३ । २८ । ५

विरोध इत्यनुवर्तते । ननु निरुक्तहेतोर्देवादीनां विग्रहादि-
मत्त्वेऽभ्युपगम्यमाते न स्यात्कर्मणि कश्चिद्विरोधः । किन्तु
देवादिवाचके शब्दे तु विरोधः स्यादेव । अर्थानामनित्यत्वेन
तदसम्बन्धात् । अयम्भावः । ‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन
सम्बन्धस्तस्य ज्ञानम्’ [जै०सू० १।१।५] इत्यादिसूत्रे ‘औत्पत्तिक
इति नित्यं ब्रूम’ इति शबरस्वामिन आहुस्तथा च शब्दस्यार्थेन
सम्बन्धो नित्य एवेति मतम् । सम्बन्धस्य द्विष्टत्वेन सम्बन्ध-
धीनमेव तस्य नित्यत्वं वाच्यम् । तथा च शब्दस्य तद्वाच्यस्य
च प्राङ्नित्यत्वं स्थिरीकृत्यैवान्वयस्य तत्त्वं परिरक्षणीयं भवेन्ने-

ननु देवादीनामनेकशरीरप्रतिपत्त्या कर्मणि विरोधः परिहृतः किन्तु
वैदिकशब्दे विरोधस्तुनापगतः । यतो देवानां विग्रहवत्त्वे सावयववत्त्वेन घटादिवदनित्य-

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से विरोध इस पद का अनुवर्तन होता है । निरुक्त हेतु से
अर्थात् अनेक प्रतिपत्ति से देवता को बिग्रहवान् स्वीकार करने पर कर्म यागादिक में भले कोई
विरोध न हो किन्तु देवादि वाचक वैदिक शब्द में तो विरोध होगा ही क्योंकि देवादिक तो
पदार्थ है । उसको अनित्य होने से तादृश नित्य शब्द के साथ सम्बन्ध असंभवित है अभिप्राय यह
है कि “औत्पत्तिकस्तु” इत्यादि जैमिनी सूत्र में “औत्पत्तिक अर्थात् नित्य ऐसा कहता हूं” ऐसा
शबर स्वामी ने कहा है । इसका मतलब हुआ कि शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है वह
नित्य है ऐसा अभिमत है । और सम्बन्ध द्विष्ट होता है । तो सम्बन्धी के अधीन सम्बन्ध में
नित्यत्व होता है अर्थात् प्रतियोगी तथा अनुयोगी यदि नित्य हो तो सम्बन्ध नित्य होता है
ऐसा नियम है । अब इन्द्रादि शब्द तथा इन्द्रादि रूप अर्थ को नित्य मान करके ही तादृश सम्ब-
न्ध में नित्यत्व होगा अन्यथा नहीं हो सकता है । वह तो अभी देवता को शरीरवान् कहते
हैं । तब वह सावयव होने से घटादि के समान अनित्यत्व दुर्निवार है । तब अनित्य देवादि

तरथा । तदिदानीं देवादीनां विग्रहवत्त्वेन सावयवत्वादिन्द्रादिरूपार्थस्य घटादिवदनित्यत्वमवर्जनीयं स्यात् । तथा सत्यनित्येनार्थेन नित्यस्य तद्वाचकरूपस्य शब्दस्य सम्बन्धमशक्यत्वादात्मना यशब्देऽन्वये च नित्यतया यत्प्रामाण्यं व्यवस्थितं तस्य विरोधः सुतरामापद्येतेति चेन्न । अतः प्रभवात् । त्रैकालिकसम्बन्धविशिष्टाद्वैदिकेन्द्रादिशब्दादेव पुनरिन्द्राद्यर्थसमूहस्योत्पत्तेः ।

अयमत्र निर्णयः । गवादियब्दानां न केवलं व्यक्तिमात्रवाचकत्वम् । व्यक्तिनामानन्त्येनानन्तशक्तिकल्पने गौरवात् । एकत्र व्युत्पत्तिग्रहे तु व्यक्त्यन्तस्वोधाऽसम्भवात् । न वा विशिष्टाभिधायित्वम् । अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वनियमात् । अतोनागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामतीति न्यायादाकृतावेवशक्तिः । गोत्वस्यशक्यतावच्छेदकत्वापेक्षया शक्यत्वस्यैव तत्त्वेलाघवाच्च । तुल्यविति वेद्यत्वादेव व्यक्तिबोधसम्भवः । तथा

त्वात् ततश्च वाच्यस्यानित्यत्वे तद्वाचकस्यापि तथात्वात् इति चेन्न, अत इन्द्रादिशब्दादेवेन्द्रादिरूपार्थस्योत्पत्तेः स्वीकारात् । अर्थात् यथा देवदत्तादिशब्दस्तत्तदर्थरूपार्थ के साथ नित्य वाचक देवादि का सम्बन्ध होना अशक्य है । तो नित्य वैदिक शब्द में तथा तदीय सम्बन्ध में नित्यता मूलक जो प्रामाण्य व्यवस्थित है उसका विरोध होता है कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अतः प्रभवात् त्रैकालिक नित्य सम्बन्ध विशिष्ट वैदिक इन्द्रादि शब्द से इन्द्रादि रूपार्थ समुदाय की उत्पत्ति होती है । यहाँ का निर्णय इस प्रकार का है । गवादिक शब्द केवल व्यक्ति का ही वाचक नहीं है । क्योंकि अगर केवल व्यक्ति वाचकता ही मानें तब तो व्यक्ति को अनन्त होने से अनेक व्यक्ति में शक्ति मानेंगे तब तो गौरव होगा । एवं एक व्यक्ति में शक्ति मानने से व्यक्त्यन्तर में शक्ति ग्रह नहीं होने से तादृश व्यक्ति का शब्द बोध नहीं होगा नवा जाति विशिष्ट व्यक्ति का वाचक कहते हैं । क्योंकि जो अनन्य लभ्य है वही शब्द का अर्थ कहलाता है । अतः “विशेषण में अगृहीत शक्ति बुद्धि विशेष्य पर्यन्त नहीं जाती है।”

च जैमिनीयं सूत्रम् 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' [१.३.१७.३३.] इति एवं स्थिते चेन्द्रादिरूपार्थानामुत्पत्तिमत्त्वेऽपि न वैदिकेन्द्रादिशब्दानामनित्यत्वम् । अपि त्वाकृतीनां नित्यतया तदभिधायिनां तेषां नित्यत्वमेवेति न काप्यनुपपत्तिः । सर्गादौ हि परमात्मप्रसादात्प्रतिभासितवेदः प्रजापतिर्विनष्टास्विन्द्रादिव्यक्तिषु तत्तदाकृतिवाचकानविनाशिन एवेन्द्रादिवैदिकाञ्छब्दान्हृदिस्थानाकलयन् प्राक्कल्पीयांस्तदार्थाश्च मनस्याकृतयन् गतकल्पीयाकारा एवेन्द्रादिव्यक्तीः समुत्पादयति । जगतः प्रवाहपरम्परस्यानादित्वादिदमुपपद्यते । उक्तार्थे प्रमाणाकाङ्क्षायामाह-प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति । प्रामाण्ये स्वातन्त्र्यात्प्रत्यक्षं श्रुतिः श्रुत्यपेक्षप्रामाण्यकत्वाच्चानुमानं स्मृतिः । ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ताभ्यां शब्दपूर्वासृष्टिशेषे नियमतः शक्तो न तथा वैदिकेन्द्रादिशब्दः किन्तु ते वैदिकाः शब्दा एतदृश न्याय से आकृति में ही गवादि पदों की शक्ति मानी जाती है । पदाशक्य गोत्वादिक को शक्यतावच्छेदक मानें तदपेक्षया शक्य गोत्वादिक को शक्यतावच्छेदक मानने में लाघव होता है । और यदि आकृति में शक्ति मानेंगे तब तो पदबोध्यत्व आकृति में ही होगा व्यक्ति का बोध नहीं होगा ऐसा नहीं कहना क्योंकि "तुल्यवित्तिवेद्यत्वेन" व्यक्ति का भी शब्द बोध हो सकता है । अथवा शक्ति द्वारा आकृति का बोध होता है । और व्यक्ति का बोध लक्षणावृत्ति से होता है । अथवा ज्ञायमान शक्ति जाती है और अज्ञाता शक्ति व्यक्ति में है अतएव अन्वय में अज्ञाता शक्ति है ऐसा नैयायिक ने मान लिया है । ऐसा होने से ज्ञायमान शक्ति विषय को ही शक्य कहते अतः पद शक्यत्व जाति में ही है । व्यक्ति में नहीं है । [यद्यपि घटत्व में पदशक्ति मानने से शक्यतावच्छेदक घटत्व होगा सो व्यक्ति घटित होने से गुरुभूत है । अतः जाति विशिष्ट व्यक्ति बोध अन्यथा अनुपपन्न है । इसलिए जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही पद शक्यत्व है । व्यक्ति में शक्यत्व होने से गौरव नहीं कहना क्योंकि शक्यनिष्ठ घटत्वादि द्वारा अनुगम होता है । वाच्य में वृत्ति हो वाच्य हो तथा वाच्योपस्थितोय प्रकार हो उसीको शक्यतावच्छेदक कहते हैं । इसलिए केवल जाति में शक्यत्व मानना यह पक्ष उचित प्राय नहीं प्रतिभासित होता है । तथापि वस्तु स्थिती का अनुरोध

स्वगम्यते । तथा हि 'वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः'
 'स भूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत्' [तै० ब्रा० २।२।४।२२] 'एते
 असृग्रमिन्दवरितरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभिसौभगे' त्येतन्मन्त्र-
 स्थपदैः स्मारं स्मारं ब्रह्मा देवादीनसृजत् । तथा चेयं श्रुतिः ।
 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्या निन्दव इति
 पितृस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्त्रोत्रं विश्वानीति
 शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजा' इति तथा 'स मनसा वाचं मिथुनं
 समभवत्' [बृ० १.२.४.] उपरिनिर्दिष्टाया श्रुतेरसंगतिः ।
 'एत इत्यस्य पदस्यार्थाकारं स्मृत्वेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानसृजत्' ।

आकृति विशेषस्यैव वाचकाः । एक व्यक्ति विनाशेऽपि अपरानर्थान् इन्द्रादिकान्
 करके मीमांसक मत को लेकर के भाष्यकार ने ऐसा कहा है । क्योंकि व्यवहार में भट्टमत
 को ही वेदान्तियों ने मान लिया है । अतएव पदार्थोपस्थिति पूर्वक होनेवाले शब्द बोध को
 लाक्षणिक मान लिया है । "वाक्यार्थोल्लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः" इति । इस विषय
 पर विशेष विचार अन्यत्र देखें यहाँ संक्षिप्त रूप से विचार किया है ।]

जैमिनीय सूत्र में भी कहा है, आकृतिस्तु क्रियार्थत्वादिति, ऐसी स्थिति में अर्थात्
 आकृति को पद शक्यत्व होने से इन्द्रादि रूप पदार्थ को अनित्य होने पर भी वैदिक जो
 इन्द्रादिक शब्द हैं उसमें अनित्यत्व नहीं होता है ! अपितु आकृति को नित्य होने से आकृ-
 तिवाचक वैदिक इन्द्रादि शब्द में नित्यत्व ही होता है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं होती है ।
 सर्ग के आदिकाल में परमात्मा की कृपा से प्रतिभासित है समग्र पदार्थ जिनको एतादृश प्रजा-
 पति ब्रह्मा अनित्य होने से प्रलय काल में इन्द्रादि रूप अर्थ को विनष्ट हो जाने पर भी
 तत्तत् आकृति का वाचक स्वरूपतः अविनाशी वैदिक इन्द्रादि शब्द को जो कि हृदिस्थ है
 उसको तथा पूर्व कल्पावस्थित तदीय अर्थ को मन से स्मरण करते हुए पूर्व कल्पस्थित व्यक्ति
 के सजातीय इन्द्रादि रूप अर्थ को उत्पन्न करते हैं ।

नहीं कहो कि यह स्थिति तो द्वितीय तृतीयादिक कल्प में कदाचित् संभवित हो भी
 सकती है । परन्तु प्राथमिक कल्प में किस तरह निर्वाह होगा ? इस जिज्ञासा के उत्तर में
 भाष्यकार कहते हैं "जगतः प्रवाहपरंपरयेत्यादि" यह संसार प्रवाह परंपरा से अनादि है ।

‘असृग्शब्दार्थाकारं स्मृत्वाऽसृक्छन्दवाच्यरधिप्रधानदेहरमणान्म-
नुष्यानसृजदि’ त्यादिप्रकारेणावगन्तव्या । तथा स्मृतिरपि—

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवर्तयः ॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ॥

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥म०अ०१।२१॥

नामरूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रवर्तनम् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥वि०पु०१.५.६३॥

पूर्व वैदिकानेव ‘सौर्यं चरुं निर्वपेत्’ ‘आग्नेयमष्टाकपालं
निर्वपति’ ‘सारस्वतं चरुम्’ ‘खादिरो यूषो भवति’ इत्यादिशब्दान्
स्मृत्वा प्रजापतिस्तत्तदर्थजातमुत्पादयति । तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं च प्रत्यक्षवत्
स्वप्रामाण्ये इतरानपेक्षरूपाश्रुतिः । श्रुतिसापेक्षास्मृतिरनुमानम् । तथा च श्रुतिं
अतः यह सब उपपन्न होता है । अर्थात् यह जो संसार है वह अनादि है । सादि वस्तु में
प्रथम द्वितीय व्यवहार होता है अनादि में नहीं । उदयनाचार्य ने भी कहा है “प्रवाहोनादि
मानेष न विजात्येक शवितमान्” इति । “अलाबुलतामिव भगवाच्छुक्तिरुतायां सहस्त्रशोऽण्डान्यनु-
स्यूतानि” इति । अतः जल प्रवाहवत् संसार प्रवाह भी अनादि है । इसीको प्रवाह नित्यता भी
कहते हैं । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रकृत विषय में सूत्रकार प्रमाण वतलाते हैं “प्रत्यक्षानुमानाभ्यामितीति” यहाँ प्रत्यक्ष अनु-
मान शब्द का अर्थ है श्रुतिस्मृति “स्वप्रामाण्य में इतरानपेक्ष होने से प्रत्यक्ष रूप है श्रुति
और श्रुति सापेक्ष प्रामाण्यक होने से अनुमान पदबोध्य है स्मृति, एतादृश श्रुतिस्मृति के द्वारा
पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध होता है, अर्थात् श्रुतिस्मृति प्रमाण द्वारा शब्द पूर्वक समं होता है ऐसा
जाना जाता है । तथाहि “वेदेन नामरूपे” इत्यादिक मन्त्रस्थ पदों से ब्रह्माजी गतकल्पीय
अर्थों का स्मरण करके देवादि अर्थों का समुत्पादन करते हैं । अतएव “एतदिति प्रजापतिः”
इत्यादि ऊपर निर्दिष्ट श्रुतियों का अर्थ संगत होता है । “एत” इस पदार्थ के आकार को
स्मरण करके ब्रह्माजी ने इन्द्रियाधिष्ठान् देवों को बनाया । तथा असृक् शब्द के अर्थाकार का
स्मरण करके असृक् पदवाच्य रुचिर प्रधानक मनुष्यादिक को बनाया” इत्यादि रूप से ऊप-
र्युक्त श्रुति द्वारा देवादि अर्थों की उत्पत्ति को जानना इति । प्रकृत अर्थमें स्मृति भी प्रमाण है

संस्मृत्य नामरूपकृत्यानि कृतवान् प्रजापतिरित्यादिरर्थः । अतो
वैदिकशब्देभ्य एव देवादिसृष्टिकरणाद्देवादिसृष्टिहेतुत्वेन तेषां
साधक्याद्देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि न वेदस्यानित्यत्वप्रयोजकः
कश्चिच्छब्देऽपि विरोधः ॥२८॥

॥ अत एव च नित्यत्वम् १।३।२९ ॥

यतो वैदिकेभ्य इन्द्रादिशब्देभ्यस्तदाकृतिं सम्प्रधार्यतत्तद-
र्थाश्च संस्मृत्य सृष्टिं करोति । तत एव 'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः'
[आरण० प्र७ अ० १] 'अयं सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति'
स्मृतिभ्यामयमर्थः संपन्नो भवतीति मनसि निधाय सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते
विरोध इत्यनुवर्तते इत्यादि ॥२८॥

ननु परिदृश्यमानं वाच्यवाचकभिन्नं जगदिदमनित्यात् कारणादुत्पत्तुं प्रभवति यतः
कारणत्वेनाभिमतस्य कार्यत्वे तस्यापि सापेक्षत्वेन अनवस्थाप्रसङ्गात् तस्मान्नित्य
तथाहि 'अनादि निघ्न वेद मयी दिव्य वाणी का सर्वाप्रथम प्रजापति ने उत्पादन किया । जिस
वेद के द्वारा सांसारिक सकल प्रवृत्तियाँ होती है" "सर्गादिकाल में सभी पदार्थ के नाम तथा
कर्म को पृथक् पृथक् रूप से प्रजापति ने वेद के द्वारा ही उत्पन्न किया" "प्रजापति ने
सर्गादि के वेद शब्द के द्वारा देवों के नामरूपादिक को बनाया" [वि० पु०] पूर्वमें वैदिक
शब्दों से ही "सौख्यं चरुं निर्वायेत्" "खादिरोधूयः" इत्यादि शब्द को स्मरण करके प्रजापति ने
नाम रूप तथा कृत्य को किया । अतः वैदिक शब्द से ही देवादि सृष्टि को करने से दे-
वादि कारण रूप से शब्दों की सार्थकता होने से देवता को विग्रहवान् होने पर भी वेद के
अनित्यत्व प्रयोजक शब्द में कोई विरोध नहीं है ॥२८॥

जिसलिए वैदिक इन्द्रादि शब्द के द्वारा तत्तदाकृति को मन से निश्चित करके तथा
गतकल्पीय तत्तद् अर्थ का स्मरण करके प्रजापति सृष्टि करते हैं । इसी कारण से "निमः-
ऋषिभ्य" इत्यादि स्थल में प्रतीयमान विश्वामित्र प्रभृति की नित्याकृति को जान करके उन
अर्थों का संवादन करने से वेद का नित्यत्व भी उपपन्न होता है । इस प्रकरण का भाव
यह है "सर्ग के आदिकाल में प्रजापति सम्प्रदाय प्रवर्तक विश्वामित्रादि ऋषियों की आवृत्ति

[यजु०का० ५ प्र० २ अ० ३।] इत्यादौ विश्वामित्रादीनां प्रतीयमानानां नित्याकृतिमवगम्य तत्सम्पादने वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते । अयम्भावः । प्रजापतिस्तावदादौ सम्प्रदायप्रवर्तकानामृषिणामाकृतिमवधार्य तच्छक्तियुक्तास्तदाकारानेव समुत्पाद्य तत्तन्मन्त्रादिप्रवर्तने तानेवर्षान् प्रेषयति । तेऽपि स्वाधिकारोचितं सामर्थ्यमवाप्य पूर्व-वद्वेदांश्चाधीत्य तथैव स्ववर्णानुपूर्वियुक्तान्साम्प्रदायिकान्मन्त्रान् संस्थापयन्ति । अतस्तेषां मन्त्रकृत्वं वेदानाञ्च नित्यत्वं सम्यगुपपद्यते ।

न च वेदानां पुरुषोच्चरित्वाच्च पौरुषेयत्वम् “सतपोऽस्तप्यत्” तेभ्यस्तपस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त’ इत्यादिश्रुतेश्च कार्यत्व एव वेदः जगदुत्पादकत्वात्सर्वज्ञवदित्यादिना वेदस्य स्थितमेव नित्यत्वं दृढीकर्तुमुपक्रमते यतो वैदिकेभ्य इत्यादि । यतः शब्दस्य शक्तिर्नव्यकृत्या किन्तुः आकृत्याऽतः का अवधारण करके तत्तत् शक्ति युक्त तत्तदाकारक विश्वामित्रादिक को उत्पन्न करके तत्तत् मन्त्र प्रवर्तन में उन ऋषियों को प्रवृत्त कराते हैं । प्रजापति से समुत्पन्न हुये ऋषि लोग स्वकीय अधिकारोचित सामर्थ्य को भगवत्प्रसाद से प्राप्त करके पूर्ववत् वेद का अध्ययन करके पूर्वाकल्पीय स्वर वर्णादि युक्त साम्प्रदायिक मन्त्र का संस्थापन करते हैं । इसलिए उन ऋषियों में मन्त्र कर्तृत्वं तथा वेद में नित्यत्व उपपन्न होता है ।

नहीं कहो कि पुरुष से उच्चरित होने के कारण वेद में पौरुषेयत्व होता है । तब पौरुषेय अस्मदादि वाक्यवत् स्वतः प्रामाण्य नहीं होगा । तथा “त्रयोवेदा अजायन्त” इत्यादि श्रुति से वेद में कार्यत्व सिद्ध होता है । तब वेद में नित्यत्व तो नहीं होता है ! ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि पुरुष से उच्चरित है एतावन्मात्र पौरुषेयत्व का प्रयोजक नहीं है । क्योंकि सुषुप्तिकालिक श्वास प्रश्वास में पौरुषेयत्व का व्यवहार नहीं होता है । किन्तु बुद्धि पूर्वक पुरुष कर्तृकत्व रूपसे ही पौरुषेयत्व होता है । वेद तो पुरुष श्वासादिक के समान ही उस परमात्मा से उत्पन्न होता है । [प्रार्दुभूत होता है] “इस महापुरुष के निः-श्वास रूप ऋग्वेदादिक है । परमेश्वर से अनायास देव वेदों का प्रार्दुर्भाव होने से वेदमें न पौरुषेयत्व है नवा जन्यत्व होता है । [वस्तुस्तु पुरुष से उच्चार्यमाणत्व पौरुषेयत्व का प्रजो-जक नहीं है । क्योंकि मीमांसक मतमें अध्यापक परंपरा से पौरुषेयत्वापत्ति हो जायगी किन्तु सजातीय उच्चारण के अनपेक्ष उच्चारण विषयत्व पौरुषेयत्व का प्रयोजक है और सजातीयो-च्चारण सापेक्ष उच्चारण विषयत्व अपौरुषेयत्व का प्रयोजक है । प्रकृत में प्रजापति पूर्व

मिति वाच्यम् । न केवलपुरुषोच्चरित्वमात्रेण पौरुषेयत्वम्
श्वासप्रश्वासयोः सुषुप्तिकालयोः पौरुषेयत्वव्यवहाराभावात् । किन्तु
प्रज्ञापूर्वकत्वेनैव तत्त्वं वाच्यम् । वेदास्तु निश्वासवदेवास्य परमात्मनः
सकाशात्प्रादुर्भवन्ति । तथा च श्रुतिः । 'अस्य महतोभूतस्य निः
श्वसितमेतद्गवेदो यजुर्वेदः' इत्यादिरिति । तथा चानायासादेव तेषां
प्रादुर्भावान्न पौरुषेयत्वम्, न वा कार्यत्वम् । 'वाचा विरूप नित्य
या' [तै०सं. २।६।११] इति श्रुत्या च नित्यत्वस्य स्पष्टमभिधाना-
दिति स्पष्टीकृतं चैतत्पूर्वतन्त्रो 'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्' [जै० सू. १।१।
२९] इति सूत्रे । एतच्च तत् एवावगन्तव्यमतोत्र सङ्क्षेपः ॥२९॥

॥ समाननामरूपत्वाच्चावृतावप्य

विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च १।३।३० ॥

नन्वेवमवान्तरप्रलये सतीन्द्रादिव्यक्तोर्वेदशब्देभ्य एव प्रजा-
इन्द्रादिनैदिकशब्दानां नित्यत्वमेवेति । कृततपस्यः प्रजापतिपूर्वकल्पस्थितार्थान्
भगवत्कृपया संस्मृत्य सर्वमुत्पादयति वेदस्य नित्यत्वमयोरुपेयत्वं च सिद्धयतीत्यादिकं
सर्वं भाष्यकारो निरूपयामास ॥२९॥

ननु प्रलयस्त्रिविधो नित्यो नैमित्तिकः प्राकृतिकश्च । तत्र सुषुप्तिनित्यः
कल्पाधीत तत्तत् स्वरवर्णानुपूर्वीं विशिष्ट वेद का स्मरण कर के तादृशानुपूर्वीक वेद का उच्चारण
करते हैं । इसलिए वेदमें पौरुषेयत्व नहीं होता है । एवं कल्प के आदि में आकाशादिवत्
वेद प्रादुर्भूत होता है । तथा कल्पान्त में जाता है । तथा मीमांसक मत से वर्ण नित्य है ।
इसलिए वर्णराशि रूप वेद उत्पन्न नहीं होता है । केवल कण्ठतात्वाद्यभिधात से अभिव्यक्त
मात्र होता है । इसलिए वेद में कार्यत्व नहीं है । इसी बात को भाष्यकारजी ने "वाचावि-
रूप नित्यया" यहाँ से लेकरके "संक्षेपः" एतदन्त ग्रन्थ से अभिव्यक्त किया है । विशेष
विवरण इस विषय पर अन्यत्र देखें । इहात्र संक्षेपः ॥२९॥

अवान्तर प्रलय में अर्थात् नैमित्तिक प्रलय के अनन्तर में प्रजापति वेद शब्द द्वारा
इन्द्रादि व्यक्त को स्मरण करके और तत्तदर्थ को जान करके इन सब की सृष्टि को करे

पतिस्संस्मृत्य तत्तदर्थश्चावगम्य विरचयेत तथा सृष्टौ वेदनित्यत्वमप्युपपद्यते परं प्रकृतप्रलये तु भूराद्यखिललोकतत्कारणीभूत महदहङ्का रादीनां समेषां विनष्टत्वात्तदानीं सृष्टुरप्यभावात्कथं वेदशब्देभ्यो जगद्रचनावैचित्र्यम् ? कथन्तरां विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वम् ? तथा च कथं वेदशब्दपूर्वकत्वं सृष्टेः स्यादिति शङ्कायामाह—समानेत्यादिकम् । प्राकृतप्रलयावसाने पुनर्जगत्सृष्ट्यावृत्तावपि न कश्चिद्विरोधः । कुतः सृज्यानां पूर्वोक्त समाननामरूपत्वात् । आदिसर्गेऽपि परमात्मास्वस्मितलीनस्य जगतः पूर्वसंस्थानं स्मरन् 'बहुस्याम् प्रजायेय' [छा० ६।२।३] इति संकल्प्याखिलचिद्रूपं जगत्सूक्ष्मरूपेणावस्थितं यत्तन्महदादिब्रह्माण्डं चतुर्मुखान्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा प्राक्कल्पीय प्रलयस्तत्र सर्वेषां प्रलयात् । नैमित्तिको ब्रह्मणोदिवसावसानप्रयुक्तः । तत्र चतुर्युगसहस्रं ब्रह्मणोदिनकालः, तावत्प्रमाणकमेवरात्रिः । तदीयरात्रौसर्वेषां विनाशः पुनरुदयवत् पुनः सृष्टिः । तृतीयस्तु प्रजापतेरवसानजनितः । तदामहदहङ्कारादीनामप्यभावादिति । तत्र नैमित्तिकप्रलयान्ते प्रजापतिः गतकल्पीय सर्वस्मृत्वापुनारचतथा इसप्रकार से सृष्टि होने पर वेद में नित्यत्व भी उपपन्न हो, परन्तु प्राकृत प्रलय में तो भूरादि समस्तलोक तथा तादृशलोक का कारण जो महत्तत्त्व अहङ्कारादिक सकल पदार्थ का निवाश हो जाने से तथा सर्जक प्रजापति का भी विनाश हो जाने से किस तरह वेदशब्द जगत् की रचना होती है । और विनष्ट वेदमें नित्यत्व भी किस तरह से होता है । एतादृश शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं— "समानेत्यादि" प्राकृत प्रलय के बाद पुनः सृष्टि में कोई विरोध नहीं है । क्योंकि प्राकृत प्रलय के पूर्वकालिक जो सर्ग था उसमें सृज्य पदार्थ का नाम रूप था तत्सदृश ही नामरूप प्राकृत प्रलय के अनन्तर सृज्यमान पदार्थ का भी होता है । आदि सर्ग में भी परमात्मा स्व में विलीयमान जगत् के संस्थान का स्मरण करके "बहुस्याम्" इस प्रकार संकल्प करके समस्त चिदचिद् रूप जगत् जो सूक्ष्म रूप से अवस्थित है उन सब महत्तत्त्व से लेकरके चतुर्मुख पर्यन्त ब्रह्माण्ड को यथा पूर्व सृष्ट करके पूर्वकल्पावस्थित स्वर वर्ण तथा आनुपूर्वीवान अनादि सिद्ध वेद को प्रकट करके तथा हिरण्यगर्भ को तादृश वेद का उपदेश देकर उस हिरण्यगर्भ को देवाद्याकार जगत् सर्ग में नियुक्त करके और

स्वस्वर्णानुपूर्विमतो वेदाननादिसिद्धानेव प्रकटीकृत्य हिण्यगर्भा-
 योपदिश्य देवाद्याकारजगत्सर्गे यथापूर्वं नियुज्य तदन्तर्यामिस्वरू-
 पेण स्वयमवस्थायाखिलजगन्मण्डले व्याप्नोति । सत्कार्यवादमभ्युप-
 गच्छतामयं वैदिकः पन्थाः । गतकल्पीयवेदस्य तादृशानुपूर्विमत
 एवास्यां सृष्ट्यावपि संस्मृत्योपदिष्टत्वादपौरुषेयत्वमप्यक्षतम् । अपरि-
 मितानन्त शक्तिमतः परमात्मनः कारणत्वे सर्वमिदमुपपद्यते । एत-
 त्सर्वं श्रुतिस्मृतिभिश्चावगम्यत इत्याह—दर्शनात्स्मृतेश्चेति दर्शन
 श्रुतिः ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ [तै०२।६] यो ब्रह्माणं विदधाति
 पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै’ [श्वे० ६।१८] इति श्रुतिर्ब्रह्माण
 मुत्पाद्य तस्मै वेदानुपदिशतीत्यर्थं स्पष्टमाह तथा ‘सूर्याचन्द्रमसौधाता
 यथापूर्वमकल्पयत्’ [ऋ.सं.१०।१९०।३] इति श्रुतिर्यथा पूर्वप्रलयात्पूर्वं
 यति सर्वं जगत् प्राकृतप्रलयेत्त्वादकस्योत्पाद्यस्य च विनाशात् कथंकारं पुनः सर्गः
 कथमिन्द्रादिव्यवहारो लौकिको व्यवहार इत्याशङ्कां समाधातुं सूत्रमवतारयितुमुप-
 क्रमते नन्वेवमवान्तर प्रलये इत्यादि । आवृत्ताविति प्राकृतप्रलयान्ते पुनः सर्गे इत्यर्थः ।
 सृष्ट् उन सव में स्वयं अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित होकर के जगन्मंडल में व्याप्त होकर के
 परमात्मा रहते हैं । सत्कार्यवादियों का यह वैदिक मार्ग है जिसको जगद्गुरु श्रीपूर्णानंदाचार्यजी
 ने “यो ब्रह्माणं विदधाति’ इत्येतच्छ्रुतिमानतः । रामोविधिं विवायादौ तस्मै वेदं हि दत्तवान्” इत्यादि
 रूप से सहस्र श्लोक की अतिगंभीरता से विवेच किया है । [“वैदिकः पन्थाः” तथा “स-
 त्कार्यवादः” इससे अवैदिक आरंभवाद अस्तकार्यवाद” इत्यादि का निराकरण करने के तरफ
 संकेत किया है । अर्थात् आरंभवादी के मतमें प्रागभाव प्रतियोगी कार्य कहलाता है । उन
 पदार्थों की स्थिति कारण व्यापार के अनन्तर में होता है । उत्पत्ति के पूर्व में पदार्थ का
 अस्तित्व नहीं रहता है । वे लोग कहते हैं कि यदि उत्पत्ति के पूर्व में पदार्थ का अस्तित्व
 हो तो कारण व्यापार अनर्थक हो जायगा । इसलिए पूर्ण में पदार्थ नहीं रहता है । उनके
 मत में वाच्य वाचक जगत् का प्रलय में विनाश होने से पुनः नवीनापूर्ण ही जगत्
 उत्पन्न होता है । सत्कार्यवादी का कथन यह है कि सर्वथा अपूर्व पदार्थ यदि उत्पन्न हो
 तब तो कूर्मरोमादिक का भी समुत्पाद होगा । परन्तु तिल में वर्तमान ही तेल कारण व्या-
 पार से आविर्भूत होता है । यदि सर्वथा अपूर्ण की उत्पत्ति मानें तब तो सिकता से भी
 कदाचित् तैल का आविर्भाव होगा । तस्मात् कारण रूप से अवस्थित ही पदार्थ का कार्या-

सृष्टौ यथा सूर्यचन्द्रमसादिसर्वं जगदासीत्तथैवोत्तरसृष्टौ तत्सर्वमकल्प
यद् ब्रह्मेत्यभिधत्ते । तथा 'तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत
तस्मिन्पद्मे महाभाग ! वेदवेदाङ्गपारागः ।

ब्रह्मोत्पन्नस्स तेनोक्तः प्रजा सृज महामते ? ।
इत्याद्याः स्मृतयः ।

एवं श्रीवाल्मीकीये-

“संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि ।

महार्णवे शयानोऽसु मां त्वं पूर्वमजीजनः । श्रीमद्रामा. उ० स. १०४।४

पद्मे दिव्यार्कं संकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।

प्राजापत्यं त्वयाकर्ममयि सर्वं निवेशितम् । श्रीमद्रामा. उ० स. १०४।७

सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् ।

रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् । श्रीमद्रामा. उ० स. १०४।८

पादशनामरूपादिकं प्राकृतं प्रलयात्पूर्वं पदार्थानामासीत् तत्समानयोरेवनामरूपयोस्त-
दवसानेऽपि दर्शनात् नास्ति कश्चिद्विरोध इति । आदि सर्गेऽपीत्यादि प्राकृतप्रलयात्पूर्वं
यथापदार्थाः सन्तस्तान् सर्वान् सूक्ष्मरूपतया स्वस्मिन् विद्यमानान् परमात्मा साक्षा-
कारेण आविर्भूत होता है । अतः प्रलय में सूक्ष्म रूप से अवस्थित पदार्थ का आविर्भाव
परमात्मा से होता है । इस सत्कार्यवाद का विशेष विवरण संस्कृत श्रीवैष्णवमतार्जुनभास्कर टीका
तथा सांख्यकारिकादि विवरण में देखिये ।

गतकल्प का जो वेद है जो कि गतकल्पीय आनुपूर्व्यामान् है । उसी वेद का इस
सृष्टि में स्मरण करके उसी का उपदेश होने से वेद में अपौरुषेयत्व भी अक्षत है । अपरि-
मित अनन्त शक्तिमान् परमात्मा को कारण मानने से यह सब उपपन्न होता है । अर्थात्
परमकारण परमात्मा को जब सम्पूर्ण जगत् का सर्जक मानते हैं तब ही प्राकृत प्रलय के बाद
में भी सर्ग का प्रवाह अनवरत चलता रहता है । परिमित शक्तिमान् से यह कार्य नहीं बन
सकता है । यहाँ का यह निष्कर्ष है कि नैमित्तिक प्रलय के बाद जो पुनः सर्ग होता है
उसमें परमेश्वर कृपा प्राप्त प्रजापति ही कर्त्ता रहते हैं । और प्राकृत प्रलय के बाद होने
वाला जो सर्ग है उसमें प्रजापति का भी विनाश हो जाने से अपरिमित
शक्तिमान् परमात्मा ही कारण होते हैं । इसलिए सर्ग प्रलय का प्रवाह अनादि
अनन्त रहता है यह जो उपर्युक्त कथन है वह केवल श्रद्धागम्य ही नहीं है

ततस्त्वमसि दुर्धवात्तस्माद्वावात्सनातनात् ।

रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥ श्रीमद्.रा.उ.सू.१०४।१.

अदित्यां वीर्यवान् गर्भः भ्रातृणां हर्षवर्धनः ।

समुत्पन्नेषु कार्येषु तेषां साहायकल्पसे । श्रीमद्.रा.उ.सू.१०४।१०.

सत्त्वं वित्रास्यमानासु प्रजासु जगतां वर ।

रावणस्य वधाकांक्षी मानुषेषु मनो दधाः । श्रीमद्.रा.उ. १०४।११.

इत्येवं महता प्रकरणेनोक्तम् । तदर्थश्च प्राकृतप्रलयान्त आदि सर्गार्थत्वं महार्णवेशयानस्सन् नारायण संज्ञामवाप्य नाभ्यां मामुत्पाद्य प्राजापत्यं सर्वकर्ममयि निवेश्य ततस्त्वदुपासकेन मया प्रजारक्षणार्थं प्रार्थितो विष्ण्वादिरूपेणात्राविर्भूय तद्रूपेणावध्यस्य रावणस्य वधाकांक्षी कृत्य पुनः सर्गादौ सृज्यमानपदार्थसहकृत उत्पादयति । इयानेवविशेषो नैमित्तिकप्रलयान्ते प्रजापतिः परमात्मकृपया लब्धशक्तिस्तानुत्पादयति यथा पूर्वमासीत् किन्तु यह सः श्रुतिस्मृति प्रमाणों से जाना जाता है । इस बात को बतलाते हैं— “दर्शनात् स्मृतेश्चेति” ।

सूत्र घटक दर्शन शब्द का अर्थ है श्रुति अर्थात् जिसतरह प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है । उसी तरह स्वेतरानपेक्षत्व लक्षण प्रामाण्य होने से दर्शन समान श्रुति है “तत्सृष्टातदेव” इत्यादि श्रुति है । ब्रह्मा को बना करके उसको वेदका उपदेश देते हैं परमात्मा इस विषय को यह श्रुति स्वरूप से बतलाती है । इसी तरह “सूर्याचन्द्रमसौ” इत्यादि श्रुति प्रलय के पूर्ण में चन्द्रसूर्यादिक जगत् जिस प्रकार का था उसी तरह प्रलयोत्तर कालिक सृष्टि में भी उन सब पदार्थ का निर्वाण ब्रह्माजी ने किया” इस अर्थ का प्रतिपादन करती है उपर्युक्त श्रुति । इसी तरह “हे महाभाग ! सुप्तविष्णु देव के नाभि में एक कमल उत्पन्न हुआ उस कमल में वेदवेदांगपारंग ब्रह्माजी उत्पन्न हुए उस ब्रह्मा को विष्णु ने कहा कि ‘-आप प्रजा सर्ग करो’” इत्यादि स्मृति भी उपर्युक्त अर्थ का अनुमोदन करती हैं । श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में “संक्षिप्यहि पुरालोकान्” इत्यादि से लेकरके “मानुषेषु मनोदधाः” एतदन्त प्रकरण से उपर्युक्त अर्थ का प्रतिपादन किया है । उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ भाष्यकार स्वयमेव बतलाते हैं “तदर्थश्चेत्यादि” इन श्लोकों का यह अर्थ होता है प्राकृत प्रलय के अन्त में आदि सर्ग बनाने के लिए महासमुद्र में शयन करते हुवे आप नारायण नाम को प्राप्त करके स्वकीय नाभि कमल में मुझ ब्रह्मा को उत्पन्न करके और प्रजापति सम्बन्धी सर्ग कर्म का भार मेरे

त्वं मानुषेषु मनोदधाः । स्वनैव सनातनेन रूपेणाविर्भूतोसीति श्रीरामं प्रति ब्रह्मणो वचनाच्च परमात्मनियोगपूर्वक एव प्रजाप-
तेर्गर्गापारस्तत्कर्तृकञ्चेदमिन्द्रादिरूपं जगदित्यवगम्यते ।

एवमेवमन्याः स्मृतयोऽप्याहुः ।

ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदश्रुतानि वै ।

तथा नियोगयोग्यानि ह्यन्येषामपि सोऽकरोत् ॥वि.पु.१।५।६४॥

यथर्तुष्वतुलिङ्गानि नामरूपाणि पर्यये ।

दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥वि.पु.१।५।६५॥

करोत्येवं विधां सृष्टि कल्पादौ स पुनः पुनः ।

सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः । वि.पु.१।५।६६॥

एवमनेक श्रुतिस्मृतिप्रमाणाद्देवादीनामप्यर्थित्वं सामर्थ्ययोः
सम्भवात्तेषामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥३०॥

इति आनन्दभाष्येदेवताधिकरणम् ।

तथैवाविर्भावयति प्राकृतप्रलयान्ते तु पुनः परमात्मा स्वयमेव सर्वसृज्यमाविर्भावयति
इति नास्ति विरोधोविपर्ययोवेति । एतदर्थं श्रुतयः स्मृतय एव प्रमाणमिति श्रुति
स्मृतीः प्रदर्शिताः भाष्यकारेणेति संक्षेपः ॥३०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य धीमन्त्रे प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे देवताधिकरणम् ।

ऊपर मैं देकर के तदनन्तर भगवदुपासक मुझ से प्रजा रक्षण के लिए प्रार्थित होने पर विष्णु
प्रभृति रूप से यहाँ आविर्भूत होकर के तद्रूप से अर्क्य रात्रण के वध की इच्छा से आप
ने मनुष्य में मनको दिया अर्थात् स्वकीय सनातन रूप से आप आविर्भूत हुए हैं” इस तरह
श्रीराम के प्रति ब्रह्म का वचन है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि परमात्मा के आदेशा-
नुसार प्रजापति का व्यवहार होता है तथा प्रजापति कर्तृक इन्द्रादि जगत् की उत्पत्ति होती
है ऐसा ज्ञात होता है । इसीतरह एतदग्य स्मृति भी कहती हैं “ऋषीणां नामधेयानि=सृज्य-
शक्ति प्रचोदितः” एतदन्त अनेक श्रुति स्मृति प्रमाण से देवताओं में अर्थित्व सामर्थ्य का
संभव होने से देवता को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है यह सिद्ध होता है ॥३०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे देवताधिकरणम् ।

मध्वादिष्वसम्भवादनाधिकारं जैमिनिः १।३।३१

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकार इति सामान्येन प्राक्चिन्ति तम् । परं यत्र मध्वादिषु विद्यास्वेकस्या देवताया उपास्यत्वं तस्या एव चोपासकत्वमिति श्रूयते तत्र तासामनाधिकार इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? असम्भवात् ।

‘असौ वा आदित्यो देवमधु’ [छा. ३।१।१] इत्यादावादित्यादीनामेव देवमधुत्वादुपास्यत्वं तेषामेव च देवतात्वादुपासकत्वमित्येकस्यैवोभयरूपत्वं न सम्भवति । विरुद्धत्वात् न हि प्राप्यस्य प्रापकत्वं क्वचिदपि दृष्टचरम् । मनुष्यादीनान्तुपासकत्वं फलावाप्तये सम्भवतीति मध्वादिबिद्यासु नास्ति देवादीनामधिकार इति जैमिनेराचार्यस्य मतम् । मध्वादिष्वित्यादिपदेन यासु विद्यासु देवाना-

ब्रह्मविद्यायामुपास्य ब्रह्म समुपासकश्चतदन्यो देवादिरिति तादृशब्रह्मविद्यायां देवस्याप्यधिकारोऽर्थित्वं सामर्थ्याभ्यां निरूपितः । परन्तु यादृशविद्यायां देव एवोपास्यस्तादृशविद्यायां तस्यैव देवस्याधिकारोऽस्ति नवेति संशये नास्ति तत्र तस्याधि-

ब्रह्मविद्या में देवता को भी अर्थित्व तथा सामर्थ्य की सद्भाव में अधिकार है ऐसा सामान्य रूप से निर्णय देवताचिकरण में किया गया है । किन्तु जिस मध्वादि विद्या में एक को ही उपास्यत्वं तथा उपासकत्वं श्रवण है उस विद्या में उस देवता को अधिकार है अथवा नहीं है । एतादृश संशय होने से तादृश विद्या में देवता को अधिकार नहीं है । ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं असम्भवात्—असंभव होने से । अर्थात् “असौ वा आदित्यो देवमधु” इत्यादि स्थल में आदित्यदेव को देवमधुरूप से उपास्य कहा है । तथा उसी आदित्य को देवता रूप होने से उपासक कहा है । इस तरह उभय रूपत्वं एक को नहीं हो सकता है विरुद्ध होने से क्योंकि जो प्राप्य है वही प्रापक नहीं होता है । और जो प्रापक है वही प्राप्य नहीं

मुपास्यत्वं प्रतीयते 'आदित्योब्रह्मेत्यादेशः' (छा.३।१।१) इत्येव-
माद्यासु ताः सर्वा गृह्यन्त इति ॥३१॥

ॐ ज्योतिषि भावाच्च १।३।३२ ॐ

‘तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’ [बृ.६।४।१४]
इति ज्योतिषां ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि देवानामुपासनायाः सद्भा-
वाच्च परब्रह्मोपासकानां सूर्याद्युपासनानुपपत्तेर्नास्ति देवानां मध्वा-
दिविद्यास्वधिकार इति पूर्वोदितस्य जैमिनेर्मतम् ॥३२॥

ॐ भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि १।३।३३ ॐ

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । मध्वादिविद्यास्वपि तदुपास-
कारोऽसंभवात् नहि स्वस्यैवोपासकत्वमुपास्यत्वं कर्तृकर्मभावस्यैकत्रविरोधादिति
जैमिनिमतं दर्शयितुमुपक्रमते ब्रह्मविद्यायां देवादीनामित्यादि ॥३१॥

मात्रपरब्रह्मोपासनेऽधिकृतस्य देवस्याल्पफलकोपासनेनाधिकारो नवा प्रवृत्तिरिति
दर्शयितुमाह तं देवा इत्यादि ॥३२॥

देवोपास्यकमधुविद्यासु देवानामधिकारो नास्ति असंभवादिति पूर्वपक्षं
होता है । मधुविद्या का जो फल है उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य उपासक हो सकता है
परन्तु देवता नहीं । अतः मधुविद्यादिक में देवता को अधिकार नहीं है ऐसा जैमिनि आचार्य
का आशय है । आदि पद से एतादृश विद्यान्तर का संप्रह होता है “आदित्योब्रह्म”
इत्यादिका ॥३१॥

‘देवतालोग ज्योति का भी ज्योति परब्रह्म का आयु अमृत रूप से उपासन करते हैं’
इस श्रुति से परब्रह्म में देवतोपासना का सद्भाव होने से परब्रह्ममात्रोपासक देवों को
देवोपासना की अनुपपत्ति होने से मधुविद्यादिक में अधिकार नहीं है । ऐसा जैमिनि
मत है ॥३२॥

सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्व पक्ष का निरावर्णन परक है । मधुविद्यादिक
में मधुविद्या का उपासक आदित्य वसु प्रभृतिक को अधिकार है ऐसा भगवान् बादरायण

कानामादित्यवस्वादीनां देवानामधिकारभावं भगवान् बादरायणा-
चार्यो मन्यते । हि यस्मादादित्यवस्वादीनामपि स्वान्तर्यामिपरमा-
त्मोपासनजन्यादित्यादिप्राप्तिपूर्वकमस्त्येव परब्रह्मणः प्राप्तिकामना ।
'स यावदादित्यः परस्तादेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधि-
पत्यं स्वाराज्यं पर्येता' [छा.३।६।४] इति वस्वाद्याधिपत्यं स्वाराज्यस्य
सूर्योदयास्तप्रदेशपर्यन्तत्वश्रवणात् । वस्वादीनां भोग्यस्य परिमि-
तत्वेन सातिशयत्वेन च ततोऽपि विरागपूर्वकं निरवधिकनिरतिशया
नन्दावाप्तये ब्रह्मप्राप्तीच्छया तदुपासनेन कल्पान्तरे वस्वादित्यं
प्राप्य तदन्ते परब्रह्मप्राप्त्यवगमात् । तस्मादत्र कार्यकारणोभयावस्थ
ब्रह्मोपासनमेव विधीयते । 'अथ तत् ऊर्ध्वम् उदेत्य' (छा.३।१।१)
इत्यतः प्राक्कार्यावस्थस्य तद्वाक्येन च कारणावस्थस्य ब्रह्मण एवो-
पास्यत्वमुपदिश्यते । एवं 'एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा.३।१।३)

निरस्य तेषामपि तत्राधिकार इति बादरायणमतं दर्शयितुमुपक्रमते तु शब्द इत्यादि
सूत्रस्थ तु पूर्वमतस्य निराकरणपरक इति । अयंभावः सर्वत्रोपासनाप्रकरणे उपा-
स्यतया ब्रह्मोपादिश्यते । तदुपासनं कचित्साक्षात् क्वचित् परंपरया तत्र प्रथमे साक्षादेव
नित्यफलाभासिः, अन्यत्र परंपरयाः परन्तुभयोपास्यत्वं तु तस्यैव । इहापि विशिष्ट
आचार्ये मानते है । यतः आदित्य वसु वगैरह देवों को भी आदित्यादि अन्तर्यामी जो
परमात्मा तादृश परमात्मा के उपासन से जायमान आदित्यादि प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म की
प्राप्ति की कामना है । "सयावदादित्य" इत्यादि श्रुति से वस्वादिपत्यस्वाराज्य
सूर्योदयास्तमधे पर्यन्त फल का कथन किया है । वस्वादि देवों का जो भोग [भोग्य]
है वह परिमित तथा सातिशय है । इसलिए तादृश भोग जात से वैराग्यपूर्वक निरव-
धिक निरतिशय आनन्द प्राप्ति के लिए ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा से वस्वादि शरीरक ब्रह्म
की उपासना से कल्पान्तर में वसु आदित्यादि रूप को पुनः प्राप्त करके उसके अन्त
में परब्रह्म को प्राप्त करेंगे । इसलिए प्रकृत में कार्यकारणोभयावस्थ ब्रह्मोपासन का ही
विधान किया जाता है । "अथ तत् ऊर्ध्वम्" इसके पूर्व कार्यावस्थ ब्रह्म का तथा
इस वाक्य से कारणावस्थ ब्रह्म में ही उपास्यत्व का उपदेश किया जाता है "एवम्"

इत्यनेन समग्राया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषदत्वश्रवणाद् ब्रह्मप्राप्तिपर्य-
न्ततत्फलस्य श्रवणाच्चादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं ब्रह्मण
एवेति निश्चीयते । तथा सति 'तं देवा ज्योति' स्तित्यस्यापि साम-
ञ्जस्यम् । तस्मादस्त्येव मध्वादिषु विद्यासु देवादीनामप्यधिकार
इति सिद्धम् ॥३३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये मध्वधिकरणम् ।

अथापशूद्राधिकरणम् ॥९॥

उक्तं ह्येतन्मनुष्याणां देवादीनाञ्च ब्रह्मविद्यायामधिकार इति
इदानीं शूद्रस्यापि मनुष्यत्वाविशेषात्तस्याप्यधिकारः स्यान्न केवलं
त्रैवर्णिकस्यैवेतीमां शङ्कामपाकर्तुमधिकरणमिदमारभ्यते—

फलावाप्तये कार्यकारणोभयावस्थस्य ब्रह्मण एवोपासनं तत्र मनुष्यवद्देवादीनामप्यधिकार
इति बादराणमतमिति संक्षेपः ॥३३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यर्द पे मध्वधिकरणम् ।

त्रैवर्णिकानामेवोपनयनवेदाध्ययनादावधिकार इति तेषामेव ब्रह्मविद्यायामपीति
नियमं परित्यज्य यदा देवादीनामपि तत्राधिकारः प्रदर्शितस्तदा शूद्रस्यापि ब्रह्म-
'एतामेव' इत्यादि से समग्र मधुविद्या को ब्रह्मोपनिषत् का कथन करने से और ब्रह्म प्राप्ति
पर्यन्त उसके फल का कथन कर आपाततः आदित्यांश का विधीयमान भी उपासन
ब्रह्म का ही है ऐसा निश्चित होता है । अतएव 'तं देवा ज्योतिः' इत्यादि वाक्य भी
सुसंगत होता है तस्मात् मधुविद्यादिक में भी देवताओं को अधिकार है यह सिद्ध हुआ ॥३३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे मध्वधिकरणम् ।

जाति शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार है अथवा अधिकार नहीं है । इस बात
का विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं "उक्तं ह्येतन्मनुष्याणामित्यादि" इससे पूर्व
देवताधिकरण में निश्चित किया है कि ब्रह्मविद्या में मनुष्य तथा देवता विगरे को
अधिकार है । तो शूद्र भी तो मनुष्य ही है तो शूद्र को भी अधिकार है नतु
केवल द्विजाति को ही अधिकार है । इस आशंका के निराकरण करने के लिए अप-

॥ शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्र-

वणात्सूच्यते हि १।३।३४। ॥

यथा किलार्थित्व सामर्थ्ययोः सत्त्वात्रैवर्णिकानां मनुष्याणां देवादीनाञ्चाधिकारस्तथैव शूद्रस्याप्यधिकारो ब्रह्मविद्यायां स्यात् तस्यापि तत्सम्भवात् । किञ्च 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकलृप्तः' [तै.सं. ७।१।१।६] इति कर्मणि निषेधवत् 'शूद्रो ब्रह्मविद्यायामनवकलृप्तः' इतिविशेषेण निषेधस्याश्रुतत्वात् । वेदाध्ययनसाध्याहवनीयाद्यभावे नाग्निसाध्यकर्मानधिकारेऽपि ब्रह्मोपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेन शूद्रस्यापि देवादिवदेवाधिकारस्य सम्भवात् । न चानधीतवेदान्त-स्यनवगतोपासनक्रियाकलापस्य कथमुपासनेऽपि प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । वेदान्ताद्यध्ययनाभावेऽपीतिहासपुराणश्रवणादिभिरप्युपासनावगतेस्तत्सामर्थ्यस्य सम्भवात् । इतिहासादिश्रवणन्तु शूद्रस्यापि विद्यायामाधिकारो भवतु । न च शूद्रस्य तत्र निषेधकं किमपि वचनमस्ति नहि यागादिनिषेधकवचनवदत्रापि किञ्चिद्वचनान्तरं विद्यते प्रत्युत सवर्गादिविद्यायां शूद्राधिकरण का आरंभ करते है— "शुगस्येतादिसूत्रम् जैसे अर्थित्व तथा सामर्थ्य के सद्भाव रहने से द्विजाति मनुष्य तथा देवता को ब्रह्मविद्या में अधिकार है । उसी तरह जाति शूद्र को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार होना चाहिए । क्योंकि अर्थित्व सामर्थ्य के सद्भाव से विद्या में अधिकार संभवित है । नहीं कहोकि ब्राह्मणादि के लिए निषेधक वचन नहीं है । तब अधिकृत होता है । शूद्र में तो निषेधक वचन है । इसलिए उसको अधिकार नहीं है । इस जिज्ञासा के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं "किञ्च" इत्यादि । "शूद्रो यज्ञेऽनवकलृप्तः" [शूद्र यागादिक कर्म में अधिकारी नहीं है ।] [इस प्रकार निषेधवचनवत् (शूद्रो ब्रह्म) शूद्र ब्रह्मविद्या में अनधिकृत है ।] इस तरह विशेष रूप से ब्रह्म विद्या में निषेधक वचन नहीं है । वेद का जो अध्ययन तत्पूर्वक आहवनीयादिक अग्नि के अभाव होने से अग्नि के द्वारा संपाद्यमान यज्ञादिक कर्म

सम्भवति । तथा च भारते 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (शा. मो.) इति । अर्थित्वन्तु परमपुरुषार्थलक्षणनिरतिशयानन्दे मोक्षे कस्य नाम चेतनावतो न भवेत् । दृश्यतेऽपि चेतिहासपुराणेषु विदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठत्वम् । एवं छान्दोग्ये श्रुतावपि संवर्गविद्यायां ब्रह्मविद्याधिकारः शूद्रस्याप्यवगम्यते । 'अहं हारंत्वा शूद्रं तनूव सह गोमिस्तु' (छा. ४।२।३) इति जानश्रुतिः शूद्रशब्देनामन्य तम्प्रतिब्रह्म विद्योपदेशश्रवणाच्छूद्रस्यापि ब्रह्मविद्यायामधिकार इति प्राप्ते—

अभिधीयते । न हि शूद्रस्योपनयनाभावेनानधीतवेदस्य वेदवाक्यविचारसाध्यब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति । उपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेऽप्यनधीतवेदस्य शूद्रस्य वेदवाक्यविचारैकलभ्यब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपाययाथात्म्यज्ञानासम्भवेन शास्त्रीयसामर्थ्याभावात् । न जानश्रुतेः शूद्रपदबोधस्यापि प्रवेशश्रवणात् । अर्थित्वं तु मोक्षं प्रति जीवमात्रस्यैव भवति । अत एवेदानीमपि मालाकण्ठीधारिणो बहवो द्विजातिभिन्ना आत्मनि में शूद्र का अधिकार नहीं होने पर भी ब्रह्म की उपासना तो अग्नि साध्य कर्म नहीं है । किन्तु मनोमात्र से संपाद्यमान है । अतः देवता की तरह शूद्र को भी ब्रह्मोपासना में अधिकार का संभव है । नहीं कहो कि जिसने वेदान्त का अध्ययन नहीं किया है तथा उपासन क्रिया कलाप को भी नहीं जान सका है । उस व्यक्ति की उपासना में प्रवृत्ति किसतरह से होगी ! ऐसा मत कहना क्योंकि वेदान्ताध्ययन के अभाव होने पर भी इतिहास पुराणाणि के श्रवण से उपासन प्रकार के ज्ञान होने से उपासना का सामर्थ्य संभवित हो सकता है । वेद के श्रवण में शूद्र को अधिकार नहीं है किन्तु इतिहासादि का श्रवण तो शूद्र को भी हो सकता है । ऐसा महाभारत में कहा है । "ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्णों को श्रवण करावें" और निरतिशय निरवधिक सुख रूप मोक्ष विषयक अभिलाषा तो प्राणीमात्र को संभवित है । अतः अर्थित्वं भी शूद्र में संभवित ही है । इतिहास पुराणादिक में भी देखने में आता है कि विदुर प्रभृतिक अब्राह्मण भी ब्रह्मनिष्ठ हुए हैं । अभी भी प्रायः ज्ञानादिक का चलाचलती शूद्र जातीयक में है । एवं छान्दोग्योपनिषत् के संवर्ग विद्या का अधिकार शूद्र को भी अवगत होता है ।

चैवं सति देवानामप्यनधिकार इति वाच्यम् । तेषां स्वयं प्रभातवेद-
त्वान्न दोष इति ब्रूमः । ब्रह्मविद्यायाश्च 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'
(बृ.३।१।२६) इत्युपनिषद्रूपवेदान्तभागैकगम्यत्वश्रवणात् । 'नावेद-
विन्मनुते तम्बृहन्तम्' इत्याम्नायानधिगतवतो ब्रह्मयाथात्म्यज्ञाननिषे-
धाच्च । यत्तूक्तमितिहासपुराणश्रवणादिभिः सामर्थ्यं ब्रह्मविद्यायां
भविष्यति शूद्राणाम् । तदपि न । इतिहासादेः श्रवणस्य केवलं
दुस्तिनिवर्तकत्वेन ब्रह्मविषयकयथार्थज्ञानाजनकत्वात् । दुर्धिगमवे-
दार्थविशदीकरणैकप्रयोजनप्रवृत्तयोरितिहासपुराणयोरपि वैदिकाधि-
कारानुगुण्येनैव ब्रह्मोपासनसामर्थ्यम् न तु स्वातन्त्र्येणेति । विदुर
प्रभृतीनान्तु जन्मान्तस्वासनया ज्ञानलाभाद् ब्रह्मनिष्ठत्वम् ।

ब्रह्मवित्त्वं ख्यापयमानाः परिभ्रमन्तो मठादौ निवसन्तश्च दृश्यन्ते । तस्मात् जाते
शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति शङ्कां समाधातुमुप्रक्रमते उक्तं ह्येतन्मनुष्याणां
“अरे शूद्र इन सब वस्तु को लेजा, ये सब तुम्हारे यहाँ ही रहें” इस तरह जानश्रुति पौत्रा-
यण को सम्बोधित करके उसके प्रति विद्योपदेश का श्रवण होने से शूद्र को भी ब्रह्मविद्या में
अधिकार है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । अर्थात् यागादिक में शूद्र को अधिकार न होने पर
भी देवतादि की तरह ब्रह्मविद्या में तो विदुर व्याधादिक की तरह अधिकार है एतादृश पूर्वपक्ष
के उत्तर में कहते हैं “अभिधीयते” शूद्र को उपनयनादिक नहीं होने से वेद का अध्ययन
नहीं होता है । और वेदाध्ययन नहीं होने से वेद वाक्य विचारमात्र साध्य ब्रह्मविद्या में अधिकार
नहीं है । यद्यपि उपासन मनोमात्र साध्य है । तथापि वेदाध्ययन रहित शूद्र को वेद वाक्य
का जो विचार तावन्मात्र लभ्य ब्रह्म स्वरूप तथा तदुपासन का उपाय जो आत्मा का यथार्थ
ज्ञान उसका अभाव होने से शूद्र को शास्त्रीय सामर्थ्य का अभाव है । नहीं कहो कि देवता
को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं होगा । क्योंकि देवता का भी तो वेदाध्ययन नहीं है ।
यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि देवता को स्वयं प्रतिभात वेद होने से यह दोष नहीं
होता है । और ब्रह्मविद्या जो है वह तो “तं त्वौपनिषदम्” इत्यादि उपनिषत् रूप जो वेदान्त
भाग है तावन्मात्र से गम्य है ऐसा सुनने में आता है । एवम् “नावेदविन्मनुते” इत्यादि
श्रुति से यह सिद्ध होता है कि अनविगत वेदवान् पुरुष को ब्रह्म यथार्थ ज्ञान का निषेध
भी किया गया है ।

श्रीभगवद्गीताया ब्रह्मविद्यात्वेऽपि 'इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यम्' (गी० १८।६७) इति तपोऽधिकाररहितं शूद्रम्प्रति तदुपदेशवर्जनात् ।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैति न संशयः ॥ (गी० १८।६८)

इति भगवद्भक्तेषु तदभिधानत्वोपदेशाच्च । श्रुतावपि 'अहं हारेत्वा शूद्रतवैव सह गोभिरस्तु' आजहारेमाश्शूद्रातेनैव मुखेनालपयिष्यथाः' (छा० ४।२।५) इतीदं गवादिरूपं धनं तवैवास्तु नापेक्षितमित्यर्थः अनेनैव द्वारेण सेवनादिकमन्तरेण त्वद्वाञ्छितमिदं ब्रह्मोपदेशवाक्यमालापयिष्यसीति भावः । अत्र शूद्रेत्यामन्त्रणमपि न चतुर्थवर्णाभिप्रायेण । किन्तु हंसोक्तात्मानादरश्रवणादस्य जानश्रुतेः शुग् संजाता । तदैव हंसकृतात्मानादरकाले

मित्यादि । अयमर्थः यत्र क्वचन शूद्रशब्दब्रह्मविद्याधिकारे दृश्यते न स जातिशूद्रवाचकः, तस्य निषेधात् किन्तु योगार्थमादाय प्रयुज्यते प्रकरणबलात् । अमुमर्थं भाष्यकारः स्वयमेव

पहले जो कहा था कि इतिहास पुराण के श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या में सामर्थ्य शूद्र को होगा सो कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इतिहासादिका जो श्रवण है वह केवल पाप कर्म का निवर्तक मात्र है । ब्रह्मविषयक यथार्थज्ञानजनकता उसमें नहीं है । सर्व साधारण से समझने में अशक्य जो वेद का अर्थ है तादृश अर्थ के विशदीकरण रूप प्रयोजन को लेकर इतिहास पुराण की प्रवृत्ति होती है । अतः वेद के अनुरोध से ही ब्रह्मोपासना का सामर्थ्य इतिहासादिक में है । किन्तु स्वतन्त्र रूपसे सामर्थ्य नहीं है । विदुरादिक में जो ब्रह्मनिष्ठत्व है वह जन्मान्तरीय वासना के बल से ज्ञान प्राप्त द्वारा है अतः कोई क्षति नहीं होती है । भगवद्गीता ब्रह्मविद्या है परन्तु "इदं ते नातपस्काय" इत्यादि से तपोधिकार रहित शूद्र के प्रति गीतोपदेश का निषेध किया गया है । भगवद् भक्तों में तो "य इदं परमं गुह्यम्" इत्यादि से गीतोपदेश का कथन किया है ।

'अहं हारेत्वा शूद्र' इत्यादि स्थल में तो शूद्र इत्याकारक सम्बोधन है वह जाति शूद्र जो चतुर्थ वर्ण है तदभि प्रायक नहीं है । किन्तु हंस से स्वकीय अनादर वाक्य के श्रवण से इस राजा जानश्रुति को हृदय में शोक उत्पन्न हुआ । उसी समय में अर्थात् हंसकृत स्वकीयानादर

रैक्वम्प्रत्याद्रवणात् स च रैक्वर्षिस्तस्या द्रवणं शोकेनाभूदिति
स्वयोगवलेनावगम्य तदेव हेतुकृत्य स्वसर्वज्ञत्वज्ञापनाय शूद्रे
त्यामन्त्रितवान् न चातुर्थिकवर्णतयेति स्पष्टमेवावगम्यते ।
शूद्रशब्दश्च शोकार्थकशुच्चातोरीणादिके 'शुचेर्दश्च' (३०
सू०सं०१८६) इति शक्ति चस्य दत्त्वे दीर्घे च शोचतीति
शूद्र इति व्युत्पत्तिको निष्पद्यते । तस्मै 'वायुर्वाव संवर्गो यदा वा
अग्निरुद्भायति वायुमेवाप्येति' (छा०४।३।१) इत्यादिकमुपदिदेश ।
यतः शोकेन जानश्रुतीरैक्वम्प्रतिदुद्राव तत एव शूद्र इति तेनोक्त
न चतुर्थवर्णापेक्षयेति ॥३४॥

विभज्य यथाप्रकरणं दर्शयिष्यति रूढ्यर्थासंभवे एव यौगिकार्थस्य ग्रहणात्
कुशलादिपदवदिति संक्षेपः ॥३४॥

काल में ही रैक्व के समीप गमन किया । वह रैक्व ऋषि उसका आगमन शोकमूलक है
इस बात को स्वकीय योगबल से जान करके स्व में सर्वज्ञत्व का ख्यायन करने के लिए
शूद्र ! ऐसा संबोधन किया नतु चतुर्थ वर्णाभिप्रायक है । ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।
शूद्र शब्द शोकार्थक शुच्चातु से "औणादिक" "शुचेर्दश्च" इस सूत्र से रक् प्रत्यय करके
तथा च को द आदेश और दीर्घ करने पर शूद्र शब्द निष्पन्न होता है । "शोचतीतिशूद्रः"
जो शोक करे उसको शूद्र कहते हैं । अर्थात् यहाँ शूद्र शब्द रूढार्थक नहीं है किन्तु यौगिक
है । जहाँ रूढ्यर्थ का बाध हो वहाँ यौगिक अर्थ से निर्वाह किया जाता है । एतादृश हंस
वाक्य से शोक युक्त जानश्रुति राजा को जो कि विनयादि पूर्वक ऋषि के शरण में आया है
उसको ऋषि ने कहा "वायुर्वासंवर्गः" इत्यादिक विद्याओं का उपदेश दिया । जिसलिए शोक
पूर्वक जानश्रुति राजा का गमन रैक्व समीप में हुआ । इसी कारण से रैक्व ऋषि ने शूद्र ऐसा
कथन किया किन्तु चतुर्थवर्ण के अभिप्राय से तादृश प्रयोग नहीं किया है । अर्थात् जानश्रुति
पौत्रायण जाति से शूद्र नहीं थे । किन्तु मानसिक शोक से संतप्त होकर के रैक्व के पास
ब्रह्मविद्या के प्राप्ति के लिए गये । ऐश्वर्याभिमानि राजा का स्व समीप में आगमन को शोक
मूलक योगबल से जान करके स्वमाहात्म्य का ख्यापित करते हुए शूद्र सम्बोधन किया है ।
अर्थात् मैं तुम्हारे आगमन का कारण समझता हूँ । इसको व्यञ्जनावृत्त्या समझाया । विशेष
चित्रण आगे होगा ॥३४॥

५ क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन

लिङ्गात् १।३।३५। ५

इतश्च न जानश्रुतिर्जातिशूद्रः । कुतः ? उपक्रमवाक्य एव क्षत्रियत्वावगतेः । 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहु पाक्य आस' [छा.४।१।१] इत्युपक्रम एव श्रद्धादायित्वबहुपक्वान्न दायित्वरूपक्षत्रियधर्मप्रतीतेः । एवं 'स ह सज्जिहान एव क्षत्तार मुवाचे' ति क्षतृप्रेषणात् गोनिष्करथकन्यादिदानाच्च क्षत्रियत्वमव गम्यते न शूद्रत्वम् । एवमुपक्रमवाक्यगतानि क्षत्रियत्व साधकानि लिङ्गान्युक्तोपसंहारवाक्यस्थान्यपि तानि दर्शयति । उत्तरत्र चैत्ररथे नेत्यादिना । जानश्रुतिः क्षत्रिय एव । कुतः ? उत्तरत्र संवर्गविद्या-वाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्धक्षत्रियेणाभिप्रतारिसंज्ञकेन सह समभि व्याहारात्मकलिङ्गात् । प्रायेण सहचारः सजातीयानामेव भवतीति

राजाजानश्रुतिर्नासीज्जात्याशूद्रः किन्तु क्षत्रिय एव यतः प्रकरणनिरूपणे कृतेमति चैत्ररथलिङ्गेन तस्य तथात्वमवगतं भवति उत्तरसंवर्गविद्याशेषे निश्चितक्षत्रियेण चैत्ररथेन

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि राजा जानश्रुति जाति शूद्र नहीं था किन्तु क्षत्रिय ही था क्योंकि उपक्रमवाक्य में क्षत्रियत्व का निश्चय होता है । 'पौत्रायण जानश्रुति श्रद्धापूर्वक बहुत देनेवाला तथा बहुपाकी राजा हुआ' इस उपक्रम में ही प्रभूत दानकर्तृ प्रभूत पक्वान्न दायित्व लक्षण क्षत्रिय धर्म प्रतीयमान होता है । एवम् 'वह प्रातः उठने के बाद ही क्षत्रिय को बुलाया तथा रैक्व के अन्वेषण में नियुक्त किया' इत्यादिक प्रकरण में प्रतिपादित क्षत्रियों का प्रेषण तथा सोना कन्यादिक दान से ज्ञात होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय थे किन्तु जाति शूद्र नहीं थे । क्योंकि उपर्युक्त घमों का समाहार क्षत्रिय में ही संभवित है तदतिरिक्त में नहीं । इस प्रकार से उपक्रमवाक्यगत जानश्रुति में क्षत्रियत्व सार्थक अव्यभिचरित हेतु का कथन करके उपसंहार वाक्यगत क्षत्रियत्व साधक हेतु को बतलाते हैं "उत्तरत्रचैत्ररथेनेत्यादि" जानश्रुति राजा क्षत्रिय ही थे । क्योंकि उत्तर में अर्थात् संवर्ग-

भावः । संवर्गविद्यावसाने श्रूयते—‘अथ ह शौनके च कापेयमभि
 प्रतारिणं च काक्षसेनि परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे’ [छा.४।५।
 ३] इति । अत्राभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं कापेयसाहचर्यादवगम्यते ।
 कापेययोगश्चोपात्तवाक्येभिलक्ष्यत एव । एवं ‘एतेन वै चित्ररथं
 कापेया अयाजयन्’ [ताण्ड्य ब्रा.२०।१२।५] इत्यस्याञ्च श्रुतौ
 कापेयानां चित्ररथपुरोहितत्वं प्रसिद्धम् । एतेन द्विरात्रेणेत्यर्थः ।
 प्रायेण समानान्वया एव समानान्वयानां याजका भवन्तीति कापे
 यस्य चित्ररथपुरोहितस्य संयोगादभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वमवगम्यते ।
 भवत्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वेऽपि कथं क्षत्रियत्वमिति चेत्तदुच्यते ।
 ‘तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत’ (शतपथ ११।५।३।१३)
 इति श्रुतौ तत्क्षत्रियत्वस्य प्रसिद्धत्वात् । तदेवमभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वे
 समानविद्यायां समभिव्याहारेण तस्य क्षत्रियत्वनिश्चयेनास्यापि क्षत्रियत्वमेव निश्चितं
 भवति नतु कदाचिदपि शूद्रत्वं तस्येति उपक्रमोपसंहारादि प्रकरणपर्यालोचनान्निश्चितं
 भवतीति प्रदर्शयितुमुपक्रमते “इतश्च नजानश्रुतिरित्यादि” तत्र श्रद्धादायित्वादिक्षत्रियत्व
 विद्यावाक्यशेषे में चैत्ररथ से प्रसिद्ध क्षत्रिय अभिप्रतारी नामक क्षत्रिय के साथ समभिव्याहार
 लिङ्ग से प्रायः सहचार समान जातीयक में ही होता है । संवर्गविद्या के उपसंहार में “शौनक
 कापेय तथा अभिप्रतारी को परोसने के समय में ब्रह्मचारी भिक्षा का याचन किया” ऐसा
 श्रुत होता है । यहाँ आपेय के साहचर्य से अभिप्रतारी राजा में चैत्ररथत्व अवगत होता है ।
 और कापेय का सम्बन्ध प्रक्रान्त वाक्य में लक्षित होता ही है । “द्विरात्रनामक भाग से चित्ररथ
 को कापेय ने यज्ञ कराया” एतादृश ताण्ड्य ब्राह्मण श्रुति में कापेय चित्ररथ का पुरोहित है
 ऐसा प्रसिद्ध है । समुदाहृतताण्ड्य श्रुतिघटक “एतेन” इसपद का अर्थ है द्विरात्रिनामक
 याग प्रायः समान गोत्र प्रवरवालों का समान गोत्र प्रवरवाला ही याजक होते हैं । अतः चित्र
 रथ के पुरोहित कापेय का सम्बन्ध से अभिप्रतारी में चैत्ररथत्व जाना जाता है । मानलिया
 जाय कि अभिप्रतारी में चैत्ररथत्व सिद्ध हुआ, एतावता क्षत्रियत्व की सिद्धि किसतरह हुई !

निश्चिते तेन सह समानविद्यायां पठितत्वरूपलिङ्गाज्ज्ञानश्रुतेरपि
क्षत्रियत्वं निर्विवादसिद्धम् ॥३५॥

इतोऽपि न जातिशूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकार इत्याह—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च १।३।३६

पूर्वत्रासामर्थ्यान्नाधिकारो ब्रह्मविद्यायामिति युक्त्यादिभि
स्समर्थितमिदानीन्तु ब्रह्मविद्याङ्गोपनयनाभावान्न तत्राधिकार
इत्युच्यते । ‘तं होपनिन्ये’ (आ. श्रौ.) ‘उपत्वानेष्ये न सत्यादगा
इति तमुपनीय’ (छा. ४।४।५) इत्येवमादिषु विद्याङ्गोपनयनादि
संस्कारपरामर्शात् । ‘न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति’
[मनु. १०।१२६) ‘शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति’
व्याप्तधर्मेण धर्मिणो ज्ञानमनुपादानादेव प्रकरणसहकृतेनावगतं भवतीति ॥३५॥

ब्रह्मविद्या प्रकरणे तत्र तत्र तादृशविद्याङ्गतयोपनयनादिसंस्काराः श्रुताः नच ते
संस्काराः शूद्रस्य सन्तिः प्रत्युत “नच संस्कारमर्हतीत्यादिस्मृत्या तेषां तादृशसंस्काराभ-
इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं “तस्माच्चैत्ररथ” इत्यादि “चैत्ररथ नामक क्षत्रपति हुए”
इस श्रुति से सिद्ध होता है वह क्षत्रिय था । इस प्रकार से अभिप्रतारी में क्षत्रियत्व का
निश्चय होने से उसके साथ समान विद्या में पाठरूप लिङ्ग से जानश्रुति में भी क्षत्रियत्व
सिद्ध होता है । इसलिए जान श्रुति जाति से क्षत्रिय थे । किन्तु जाति शूद्र नहीं थे ॥३५॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि जातिशूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं
है । इस बात को बतलाते हैं “संस्कारेत्यादि” पूर्वमें सामर्थ्याभाव कारण से जाति शूद्र को
ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है इस बात का युक्त्यादि द्वारा समर्थन किया गया । अब ब्रह्मविद्या
के अंगभूत उपनयनादि संस्कारोपासनाव्रत ब्रह्मविद्या में जातिशूद्र का अधिकार नहीं है इस
बात को बतलाते हैं । ‘तंहोपनिन्ये उपलभे’ इत्यादि स्थल में विद्या का अंग जो उपनयनादि
संस्कार है उसका कथन होने से । “न शूद्रे पातकं” इत्यादि स्मृति से शूद्र को उपनयनादि

(गौत. १० अ०९ सू०) इत्यादिना तदभावाभिलाषाचोपनयनादि संस्काराभावाभिलाषात्कथनाच्चेत्यर्थः ॥३६॥

५ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः १।३।३७ ५

‘नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये’ (छा० ४।४।५) इति । तस्य शूद्रत्वस्याभावनिर्धारणे सत्येव जाबाल प्रति गौतमस्य विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्य विद्यायामधिकारः ॥३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च १।३।३८

इतोऽपि नाधिकारः शूद्रस्य । यतस्तस्य वेदश्रवणतदध्ययन तदर्थज्ञानतदनुष्ठानप्रतिषेधः स्मर्यते । तत्र श्रवणप्रतिषेधः—‘अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रापुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वो-
वस्य प्रतिपादनात् न भवति जातिशूद्राणां तत्राधिकार इति द्योतयितुमुपक्रमते इतोऽपि न जातिशूद्रस्येत्यादि ॥३६॥

वेदश्रवणाध्ययन तदर्थज्ञानस्य प्रतिषेधात् तथा स्मृत्यादावपितत्प्रतिषेधात् न शूद्र-
संस्कार के अभाव का कथन होने से जाति शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकाराभाव का प्रतिपा-
दन किया है । अतः जाति शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ॥३६॥

“ब्राह्मणेतर” इसप्रकार से स्पष्ट तथा सत्यवचन को नहीं बोल सकता है । हे सोम्य !
कुशादिक छात्रों में तुमको उपनयन संस्कार करता हूँ । इस प्रकार जबाल के पुत्र में शूद्रत्वा
भाव का निर्णय होने पर ही जाबाल के प्रति गौतम को विद्योपदेश में प्रवृत्ति देखने से सिद्ध
होता है कि जातिशूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ॥३७॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ।
इसमें हेतु को बतलाते हैं “यतस्तस्य वेदश्रवणेत्यादि” क्योंकि वेद श्रवण वेदाध्ययन तदर्थज्ञान
तथा वेदार्थानुष्ठानादिक का प्रतिषेध शास्त्र में प्रतिपादित है । उसमें श्रवण प्रतिषेध को बतलाते
हैं “अथहास्यनेदमुपशृण्वत” इत्यादि । अध्ययन प्रतिषेध “पद्युहवा” इत्यादि से अर्थज्ञान का
प्रतिषेध किया गया है । यहाँ दातु शब्द का अर्थ है नित्यदान । शूद्रों के लिए नित्यदान

च्छेदो धारणे शरीरभेदः' (गौतमस्मृ. २।१२।३) इति । अध्ययन प्रतिषेधोऽपि 'पद्यु ह वा एतच्छ्रमशानं यच्छ्रद्धस्तस्माच्छ्रद्धममीपे नाध्येतव्यमि' ति । 'न शूद्राय मातृदद्यात्' 'न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्' (मनुस्मृ० ४।८०) इत्यर्थज्ञानप्रतिषेधः । एवं 'द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानं' मित्यनेन तदर्थानुष्ठानस्यापि प्रतिषेधात् । दानशब्दोत्र नित्यदानपरो नैमित्तिकदाने शूद्रस्याप्यधिका-
गतः । विदुरधर्मव्याधादीनान्तु पूर्वजन्मानुष्ठितश्रवणादिना स्वतो भगवदुपासनारूपज्ञानोत्पादान्न विरोधः । तस्मान्नाधिकारो शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामिति सिद्धम् ॥३८॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽपशूद्राधिकरणम् ।

अथ कम्पनाधिकरणम् ॥१०॥

ॐ कम्पनात् १।३।३९ ॐ

एवं प्रासङ्गिकमधिकारविचारं परिसमाप्य प्रकृतमेववाक्यार्थस्य ब्रह्मविद्यायामधिकार इत्यावेदयितुमधिकारप्रकरणमुपसंहर्तुमुपक्रमते इतोपिनाधिकार इत्यादि भाष्यम् । कथं श्रवणादीनां निषेधः शूद्रस्येतिविविच्यभाष्यकारः स्वयमेव दर्शयति यतस्तस्येत्यादि ॥३८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽपशूद्राधिकरणम् ।

प्रसङ्गादापतितं मध्येऽधिकारविचारं समाप्य पुनः प्रकृतमेवानुविचारयितुमुपक्रमते का निषेध है । नैमित्तिक दान में तो शूद्र का भी अधिकार है । विदुर धर्म व्याघ्रकिमेरे को तो पूर्व जन्मादिक में अनुष्ठित जो श्रवणादिक कर्म उसके द्वारा स्वत एव उपासना लक्षण ज्ञान का उत्पाद होने से विरोध नहीं है । इसलिए जाति द्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है । किन्तु द्विजाति मात्र को अधिकार है यह सिद्ध हुआ ॥३८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽपशूद्राधिकरणम्

पूर्वोक्त अपशूद्राधिकरण से प्रासंगिक अधिकार विचार को समाप्त करके प्रकृत वाक्यार्थ विचार को ही प्रवृत्त करते हैं । "यदिदं किंच" इत्यादि काठक श्रुति में कहा है । इसमें

विचारं प्रवर्तयति । तत्र काठके श्रूयते 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणे
 एजति निः सृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'
 इति । (काठ० २।३।२) तत्र संशयः । किं प्राणशब्देन मुख्यः प्राण
 उच्यते आहोस्वित् जगत्कारणं ब्रह्मेति । किं युक्तम् ? प्राणश्रुति
 बलान्मुख्यप्राण एव । कुतः ? एजृ कम्पने इत्यस्माद्धातोरेजतीति
 रूपम् । कम्पनधर्मश्च वायोरेव दृष्टः । वज्रमितिचाशनेः प्रसिद्धिः ।
 तथा च वायुर्यदापर्जन्यप्रापकतयातिष्ठति विद्युदःस्वभावादेव
 संभवन्ति । इति वायोऽत्र महत्त्वं प्रतिपाद्यमानत्वात्प्राण एवोक्त
 इति प्राप्ते-अभिधीयते-अस्मिन् वाक्ये परमात्मा साधारण
 लिङ्गानां सर्वचेष्टाहेतुत्वसर्वोत्पादकत्ववाद्यादिभयजनकत्वमोक्ष
 प्रदत्वादीनां श्रवणात्प्राणशब्दाभिहितः परमात्मैव । कुतः ?

एवं प्रासङ्गिकमित्यादि ननु "यदिदं किञ्चेत्यादि" काठकश्रुतौ श्रुतम् । तत्र प्राणपदेन
 वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्य ग्रहणं परमात्मनोवेति संशयः । वायुमहात्म्यस्य श्रव-
 णात् प्राणस्यैव ग्रहणं युक्तम् यद्यपि सर्वविकारराहित्यत्वां सर्वथामृतत्वां च वायौ नास्ति
 संशय होता है कि यहाँ प्राण शब्द से वायु का विकार रूप मुख्य प्राण का ग्रहण होता है ।
 अथवा सर्व जगत् का कारण जो परमात्मा है तादृश परमात्मा का ग्रहण होता है । ऐसा संशय
 होता है । तो इसमें क्या मानना युक्त होगा ! इसमें प्राण प्रतिपादक श्रुति के बल से पञ्च
 वृत्तिक वायु विकार रूप मुख्य प्राण का ग्रहण करना ही युक्त हैं । क्योंकि "एजृकम्पने"
 इश घातु से एजति यह रूप सिद्ध होता है । और कम्पन धर्मवायु का ही होता है । एवं
 वज्र शब्द अशनि में प्रसिद्ध है । जब वायु पर्जन्य के स्वरूप का संपादन करने के लिए
 व्यवस्थित होता है तब स्वभावतः विजली शब्द विशेष उसमें होता है । तो इस प्रकार से
 वायु का महत्त्व यहाँ प्रतिपाद्यमान होने से प्राणपद का अर्थ पञ्चवृत्तिक मुख्य प्राण है ऐसा
 पूर्वपक्ष होता है । इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकृत वाक्य में परमात्मा का जो अशा-
 धारण लिङ्ग सर्वचेष्टा कारणत्व सर्वोत्पादकत्व वायु प्रभृति सर्व जगत् का भय कारणत्व मोक्ष
 प्रापकत्वादिक अव्यभिचरित हेतु है । तादृश हेतु का यहाँ श्रवण होने से प्राण शब्द प्रति-
 पाद्य परमात्मा ही है किन्तु वायु विकार लक्षण मुख्य प्राण नहीं है । क्योंकि कम्पन होने से

‘कम्पनात्’ मुख्यप्राणादिसहितस्य कृत्स्नस्य जगत् कम्पनात् जीवनादिचेष्टाहेतुत्वात् । ‘यस्य प्राणः शरीरम्’ (बृ.३।७।१५) इति श्रुतिः शरीरिणः परमात्मन आयत्ताः शरीररूपप्राणस्य स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिराह । तथा ‘प्राणस्य प्राणम्’ (बृ.४।४।१८) इत्यनया श्रुत्या- मुख्यप्राणस्यापि प्राणं ब्रह्मेत्युच्यते । एवं ‘न प्राणेन नाप्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चनः । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ’ (का० २।४।५) इति प्राणापानयोः सर्वजगच्चेष्टाहेतुत्वम्प्रतिपिध्य परमात्मन एवतदिति स्पष्टमभिहितम् । किञ्चास्य वाक्यस्य पूर्वं ‘तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन एतद्वैतत्’ (का. २।६।१) इति मन्त्रे ब्रह्मपदश्रवणादत्र प्राणपदार्भिहितः परमात्मैव । उत्तरत्रापि ‘भयादस्या तथापि संकुचितवृत्तिमादायतथात्वसंभवादतः प्राण एव गृहीतव्यो नतु परमात्मेति पूर्वपक्षः । परमात्मन एव ग्रहणम् यतः परमात्मा साधारणसर्वजनकत्वसर्वनियन्तृत्वादीनामन्यत्रासंभवद्वृत्तिकानां दर्शनात्परमात्मैवात्रग्राह्य इत्यादिकं मनसि निधाय अर्थात् मुख्य प्राणादि सहित सम्पूर्ण विकारात्मक जगत् की जो चेष्टा है उसका कारण होने से । “जिस परमात्मा का शरीर प्राण है” यह श्रुति शरीरी जो परमात्मा तादृश परमात्मा के अधीन शरीर लक्षण प्राण के स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति को बतलाती है । तथा “परमात्मा प्राण का भी प्राण है” यह श्रुति कहती है परमात्मा मुख्य प्राण का भी प्राण हैं । एवम् कोई भी प्राणी प्राण से अथवा अपान वायु से जीवित नहीं रहता है । किन्तु प्राणपान व्यतिरिक्त किसी के द्वारा जीवित रहता है । जिसमें यह दोनों प्राणापान आश्रित हैं” यह श्रुति प्राणापान में सर्व जगत् के चेष्टा कारणत्व का निराकरण करके परमात्मा में ही सम्पूर्ण जागतिक चेष्टा कारणत्व का स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करती है । और भी “वही अति शुभ्र है वही ब्रह्म है वही अमृत पदवाच्य है । उसी में सकल लोक आश्रित है । तादृश महापुरुष की आज्ञा का कोई भी अतिक्रमण नहीं करता है । हे नचिकेता ? तुमने जिसके विषय में प्रश्न किया था वह वही है” इस मन्त्र में ब्रह्मपद का श्रवण होने से प्राणपदबोध्य परमात्मा ही हैं । यह सिद्ध होता है । एवम् अपि—“इस परमात्मा के भय से अग्नि तप्त होता है । इसीके भयसे

ग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' [का.२।६।३] इति श्रूयते । अस्य ब्रह्मणोभयादग्न्यादयः स्वस्ववर्णपारे नियमेनानुवर्तन्ते राज्ञोभयाद्भृत्यादयो यथा । तथा च कम्पनवाक्यपूर्वोत्तरवाक्ययो ब्रह्मपरत्वदर्शनात्तयोर्मध्यगतस्यापि संदंशपतितन्यायेन ब्रह्मपरत्वमभ्युपेयम् । तस्मादेतद्वाक्यं जगत्कारणोपास्य ब्रह्मपरमिति सिद्धम् ॥३९॥

इति श्रीआनन्दभाष्येकम्पनाधिकरणम् ।

अथ ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ॥११॥

卐 ज्योतिर्दर्शनात् १।३।४० 卐

छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां श्रूयते—'एवमेवैष सम्प्रसादो-
कम्पनसूत्रं व्याख्यातवान् भाष्यकारः । श्रुतियुक्त्यादिकं भाष्यदिशा सर्वं द्रष्टव्यमिति संक्षेपः ॥३९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेकम्पनाधिकरणम् ।

एष सम्प्रसाद इत्यादिकाश्रुतिः छान्दोग्यस्य प्रजापतिविद्यायां श्रूयते । तत्र यथाकालं नियमित रूपसे सूर्य प्रकाश कार्य को करते हैं एवं इन्द्रवायु और यमराज भी इसके भय से अतन्द्रित होकर के अपने अपने कार्य में संलग्न रहते हैं" यह वाक्य सुनने में आता है । इसब्रह्म के भय से अग्नि प्रभृतिक देवगण स्वकीय स्वकीय कार्य में नियमतः अनुवर्तित होते रहते हैं । जिस तरह राजा के भय से राजभृत्य स्वकीय कार्य में संलग्न रहता है । ऐसा होने से कम्पन वाक्य के पूर्व तथा परवाक्य को ब्रह्मपरक होने से तदुभय मध्यवर्ती कम्पन वाक्य भी संदंश न्याय से ब्रह्मपरक है ऐसा मानना ही उचित है । इसलिए यह कम्पन वाक्य जगत् का कारण जो उपास्य परब्रह्म भगवान् श्रीराम हैं उन्हीं का बोधक है । मुख्य प्राणादि का बोधक नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥३९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे कम्पनाधिकरणम् ।

छान्दोग्य श्रुति के प्रजापति विद्या में आया है कि "यह सम्प्रसाद इस शरीर से समुत्थित होकर के परज्योति परब्रह्म को प्राप्त करके स्व स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है

ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनि-
ष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' [छा० ८।१२।३] इत्यादि। तत्र संशयः।
किमत्र ज्योतिः शब्देन सूर्यादितेज उच्यत आहोस्विद् ब्रह्मेति।
किं युक्तम् ? सूर्यादितेज एव प्रसिद्धत्वात्। यथा 'यदतः परो
दिवो ज्योतिर्दीप्यते' [छा. ३।१३।७] इत्यादौ प्रकरणादिना ज्योतिः
शब्दो ब्रह्मणि वर्तते तथाऽत्र प्रकरणादिकं किमपि ब्रह्माभिधायकं
गमकं नास्तीति प्राप्तेऽभिधीयते।

परमात्मैव ज्योतिः शब्दाभिहितः। कुतः ? दर्शनात्। उपक्रम
वाक्ये 'एष आत्माऽपहतपात्मा' (छा. ८।७।१) इति ब्रह्मणः श्रवणात्।
प्रकृतवाक्येऽपि 'परं ज्योतिः' इति ज्योतिषः परत्वं 'उत्तमः पुरुषः'
संशयः किमत्र ज्योतिः पदेन चक्षुरादिसहायकं सूर्यादितेजः किंवा ब्रह्मात्मकमेव तेज
इति। तत्र सूर्यादौ ज्योतिः पदस्य प्रसिद्धत्वात्तदेव ग्राह्यः, तदुपस्थापकहेतोरभावादिति
प्रथमः पक्षः। परं ब्रह्मैव ग्राह्यं यतः परं ज्योतिः पदेन प्रकरणे तस्यैव श्रवणात् एष आत्मा-
वह उत्तम पुरुष है" इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या प्रकृत श्रुतिमें ज्योति पद से
सूर्यादि तेज का कथन होता है। अथवा परं ज्योति पद से ब्रह्म का कथन होता है ! तो उसमें
क्या युक्त है ? सूर्यादि भौतिक तेज का ही ग्रहण होता है। क्योंकि ज्योति पद सूर्यादिक में
प्रसिद्ध है। जो कि चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में सहायक है। जिस तरह "यदतः परोदिवो ज्योतिः"
इस स्थल में प्रकरणादिक के बल से ज्योति शब्द ब्रह्म का उपस्थापक होता है। उस तरह
प्रकृत में कोई भी प्रकरणादिक प्रमाण नहीं है जो कि ब्रह्म का वाचक हो इसलिए यहाँ
ज्योतिः पद सूर्यादिक ज्योति का ही वाचक है किन्तु ब्रह्म का उपस्थापक नहीं है। इस
प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ सकल जगत् का कारण परमात्मा ही ज्योतिशब्द का
वाच्य है। क्योंकि उपक्रम वाक्य में "एष आत्माऽपहतपात्मा" इसमें ब्रह्मशब्द का श्रवण होने
से। एवम् प्रकृत "एष सम्प्रसादः" इस वाक्य में "परं ज्योतिः" में ज्योतिः परत्वं तथा
"उत्तमः पुरुषः" इसप्रकार जो पुरुषोत्तमत्व का कथन है इससे परमात्मा का ही ग्रहण होता

इति च पुरुषोत्तमत्वं परमात्मन एव सम्भवति । ‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ (का० २।५।१५) इति श्रुत्या सूर्यचन्द्रादीनामपि स एव प्रकाशक इति तस्यैव परज्योतिः स्वरूपत्वम् । एवं ‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते’ (छा. ३।१३ ७) ‘तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’ बृ. ६।४।१६) इत्येवमादिषु ब्रह्मण एव ज्योतिः शब्दवाच्यत्वदर्शनादिति । तस्मादत्र ज्योतिः पदेनाऽभिधेयम्ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥४०॥

इति श्रीआनन्दभाष्येज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।

ऽपहतपाप्मेति श्रुतेरित्युत्तरपक्षः । तत्र द्वितीयपक्षमेव विद्वान्तयितुं भाष्यकार उपक्रमते छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायामित्यादि ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।

है । क्योंकि पुरुषोत्तमत्वादिक विशेषण परमात्मा पक्ष में ही अनुकूल होता है । तथा “वहाँ चन्द्र सूर्यादिक प्रकाशित नहीं होते हैं । नवा विद्युत प्रकाशिता होती है । अग्नि की तो कथा ही क्या, उसी परम तेज के प्रकाशित होने से सब अनुभासित होते हैं । परमात्मा प्रकाश से सब प्रकाशित होता है ।”

इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि सूर्यचन्द्र का भी प्रकाशक परमात्मा ही है । अतः परमात्मा ही परम ज्योतिः स्वरूप है । एवम् “अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः” तथा “तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः” इत्यादि स्थल में भी परम ब्रह्म में ही ज्योतिः शब्द वाच्यत्व देखने में आता है । इसलिए यहाँ प्रकृत प्रकरण में ज्योति शब्द का वाच्य पुरुषोत्तमपदाभिहित पर ब्रह्म श्रीराम ही है यह सिद्ध होता है ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।

अथार्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ॥१२॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् १।३।४१

‘आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरातद्ब्रह्मतदमृतं स आत्मा’ (छा. ८।१४।१) इति छान्दोग्ये समाप्नायते । तत्र सन्देहः । किमत्राकाशपदाभिधेयो भूताकाश उत मुक्तात्मा आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? रूढ्या भूताकाशः । नामरूपयोर्निर्वहणमपि तस्यावकाशदानेन सम्भवत्येव । मुक्तात्मा वा स्यात् । कुतः ? अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरम् कृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि’ (छा. ८।१३।१) इति पूर्वं मुक्तात्मन एव प्रकृतत्वात् । तस्यैव च नामरूपविनिर्मुक्तस्य ‘ते यदन्तरा’ इत्यभिहितत्वात् । पूर्वावस्थायां नामरूपनिर्वहणमपि तस्य सम्भवत्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते—

ननु—आकाशो ह वै नामरूपयोरित्यादि छान्दोग्ये श्रूयते तत्राकाशपदेन भूताकाशस्य मुक्तात्मनः परब्रह्मणो वा ग्रहणमिति संशय प्रसिद्धत्वाद्भूताकाशस्यैव प्रसिद्धेः सर्वतोबलवत्त्वात् । अथवा मुक्तात्मन एव ग्रहणम् अश्व इव रोमाणि विधूयेत्यादौ

आकाश नाम रूप का अर्थात् सकल विकार का निर्वाहक —“वह ब्रह्म है वह अमृत स्वरूप तथा आत्मा है” ऐसा छान्दोग्य श्रुतिमें कहा है । इसमें संशय होता है कि क्या यहाँ आकाश पदवाच्य वायु प्रभृति का उत्पादक भूताकाश है । अथवा मुक्तात्मा है । अथवा सर्व जगत् का निर्वाहक परमात्मा है । इसमें पूर्वपक्ष होता है कि आकाशपदवाच्य भूताकाश है । क्योंकि भूताकाश आकाश पद में रूढ़ है । और रूढ़ी सर्वतो बलवती है । भूताकाश में नाम रूप का निर्वाहकत्व भी है । क्योंकि अवकाश दान द्वारा वह निर्वाहक होता है । अथवा यहाँ आकाशपदवाच्य मुक्तात्मा है । क्योंकि, जिस तरह अश्व रोम का परित्याग करता है उसी तरह पाप को निरस्त करके यथाज्ञ राह मुख से चन्द्रमा विनिर्गत होता है” इत्यादि से इसके पूर्वमें मुक्तात्मा ही प्रकान्त है । उसी नाम रूप विनिर्मुक्त आत्मा का पूर्व में कथन

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादिति । आकाशः परमात्मा कुतः ? ‘आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहता’ (छा. ८।१।१) ‘ते यदन्तरा’ ‘तद्ब्रह्म’ इत्यादिनिर्देशादस्याकाशस्य नामरूपभिन्नत्वार्थान्तरत्व व्यपदेशात् । नामरूपभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वव्यपदेशाच्च । न हि नामरूपान्तः पातिनो भूताकाशस्य नामरूपार्थान्तरत्वमुपपद्यते । तथा ‘तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत’ (बृ. १।४।७) ‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकृषाणि’ (छा. ६।३।३) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टस्य परमात्मनिष्ठनामरूपनिर्वोदृत्व रूपस्य जगद्व्यापारस्य ‘जगद्व्यापारवर्ज’ मिति मुक्तानां प्रतिषेधात् । बद्धानान्तु स्वयं कर्म परवशानां नामरूपभजमानत्वान्नात्रत्याकाशपदबोध्यत्वमपि तु तन्निर्वोदृत्वं परमात्मन एव । यदुक्तं ‘अश्व इव रोमाणी’ ति मुक्तात्मनः प्रक्रान्तत्वात् । ननु परब्रह्मणः, यतः स्रष्टृत्वादिलिङ्गोऽन्यतमस्यापि स्पष्टरूपेणादर्शनादिति चेत्सत्यम्, जन्यजनकयोर्भेदस्य सर्वसिद्धत्वात् । यदि नामरूपान्तर्गतभूताकाश एव जनकाकाशरूपोभवेत्तत्कथं तस्यैव जन्यत्वां च संभवेत् तस्मात् तदतिरिक्त एव कश्चिज्जनकः । न च मुक्तात्मनो वा ग्रहणम् अश्व इव रोमाणीत्यस्या- है । पूर्वावस्था में वह आत्मा नामरूप का निर्वाहक था । किन्तु परमात्मा का कोई भी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लिङ्ग नहीं है । जिससे कि परमात्मा का ग्रहण हो । एतादृश आशंका के उत्तर में कहते हैं “आकाशोऽर्थान्तरत्वादीत्यादि” यहाँ आकाशपदवाच्य परमात्मा हैं । क्योंकि “आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहता” इत्यादि निर्देश होने से आकाश को नामरूप से भिन्नत्व पदार्थान्तरत्व का व्यपदेश हुआ है । और नामरूप से भिन्न रूपसे ब्रह्म का व्यपदेश है । नामरूप के अन्तःपाता भूताकाश नामरूप से अर्थान्तर नहीं हो सकता है । एवम् “तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते” “अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य” इत्यादि श्रुति से निर्दिश्यमान परमात्मा निष्ठ नामरूप निर्वाहकत्व रूप जो जगत् व्यापार है तादृश व्यापार का प्रतिषेध मुक्तात्मा में “जगत् व्यापार वर्जम्” इससूत्र में किया है । और वह जो जीव है वह तो स्वयं कर्मपराधीन होने से नामरूपात्मक ही है । इसलिए वह नामरूप का निर्वाहक नहीं हो सकता है । अतः वह अत्रत्य आकाशपदबोध्य नहीं है । किन्तु परमात्मा नामरूप का निर्वाहक है ।

श्रुत्यनन्तरमस्य वाक्यस्योक्तत्वादत्र मुक्तात्मैवाकाशपदग्राह्य इति । तन्न ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीति ब्रह्मलोकपदवाच्यपरब्रह्मणोऽनन्तमेवाभिहितत्वात् । आदिशब्देन 'तद्ब्रह्म' 'तदमृत' मित्याद्युक्तो ब्रह्मत्वादिव्यपदेशो ज्ञेय इति ॥४१॥

'नन्वयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'नेह नानास्ति किञ्चने' त्वेवमादिभिः श्रुतिभिर्जीवपरमात्मनोरैक्योपदेशान्नानात्वनिषेधेन द्वैतप्रतिषेधान्न जीवादर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याशङ्क्याह—

॥ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन १।३।४२ ॥

व्यपदेशादित्येकदेशोऽनुवर्तते । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनार्थान्तस्त्वेन परमात्मनो व्यपदेशाद् भिन्न एव प्रत्यगात्मनः परमात्मा तथा चान्नायते 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' नन्तरं पार्थक्येन ब्रह्मलोकपदवाच्यब्रह्मणोऽदभिधानं तस्यासामञ्जस्य प्रसङ्गात् । तस्मात्परमात्मैवाकाशपदवाच्यः । एतत्सर्वं मनसि कृत्याह आकाशो ह वै इत्यादि ॥४१॥

स्यादेतत् यदि जीवभिन्नः परमात्माभवेत्तदा प्रकृते आकाशपदेनचन्द्रस्य मुक्तस्य वा जीवस्याकाशपदेन ग्रहणं न किन्तु परमात्मन एव ग्रहणं भवेत् परन्तु यदातत्त्वमस्यादि किसी ने कहा था कि "अश्व इव रोमाणि" इत्यादि श्रुति के अनन्तर में "आकाशोऽहौ" इत्यादि वाक्य का कथन होने से यहाँ मुक्तात्मा ही आकाशपदवाच्य है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि "ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" यहाँ ब्रह्मलोक पदवाच्य परम पुरुष के कथन के अनन्तर में "आकाशोऽहौ" इत्यादि का कथन है । आदि पद से "तद्ब्रह्म तदमृतम्" इत्यादि से कथित ब्रह्मत्व व्यपदेश को भी जानना चाहिए ॥४१॥

"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि" तथा "नेह नानास्ति" इत्यादि श्रुतियों से जीव तथा परमात्मा में ऐक्य का उपदेश होता है । तथा द्वैतमात्र का प्रतिषेध होने से जीव भिन्न परमात्मा तो नहीं है । तब प्रकृत में आकाशपदवाच्य परमात्मा में किसतरह से होगा ! इस शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "सुषुप्तीत्यादि" सूत्रम् । यहाँ पूर्व सूत्र से व्यपदेशात् इस पद का अनुवर्तन होता है । सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति में जीव भिन्नत्वेन परमात्मा

(बृ०४।३।७) इत्युपक्रम्य 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ०४।३।२१) इत्यनेन वाक्येन सुषुप्तौ प्रत्यगात्मनः परमात्मना परिष्वङ्गोभिधीयते । एवमुत्क्रान्तौ श्रूयते 'एवमेवायं शरीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढमुत्सर्जन्याति' (बृ०४।३।३५) इति । अत्रापि प्रत्यगात्मनो व्यपदेशान् । तस्मात्प्रत्यगात्मनो भिन्नोऽर्थान्तरभूत एव परमात्मा ॥४२॥

५ पत्यादिशब्देभ्यः । १ । ३ । ४ ३ ५

इतः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मा यत उपसंहारवाक्ये 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष श्रुतिभिर्जीवपरमेश्वरयोरभेदः प्रतिपाद्यते नेह नानास्तिकिञ्चन इत्यादिना द्वैतमात्रस्य प्रतिषेधः प्रतिपाद्यते तदाकथमित्थं प्रभवेदित्याशङ्कानिरासाय जीवपरमात्मनोर्भेदप्रदर्शनायोपक्रमते ननु अयमात्माब्रह्मेत्यादि ॥४२॥

वक्ष्यमाणसर्वनियन्तृत्वाधिपतित्वादिकपरमात्मा साधारणधर्मेभ्योपि जीवपरमात्मनोर्भेदः प्रसिद्ध्यति । तथा जीवः परात्मभिन्नः, अल्पज्ञत्वादित्याद्यनुमानेन प्रत्यक्षेणाका व्यपदेश कथन होने से जीव से भिन्न ही परमात्मा है ऐसा श्रुतिमें कहा है । "कृतम आत्मा" कौन आत्मा है ? जो यह विज्ञानमय प्राण में है" यहाँ से उपक्रम करके "जिस तरह अतिप्रिय पत्नी से संपरिष्वक्त" इत्यादि वाक्य से सुषुप्ति काल में परमात्मा के साथ जीव के सम्बन्ध का कथन किया गया है । एवं उत्क्रान्ति में सुनने में आता है "इसीतरह यह शारीर आत्मा प्राज्ञ से अन्वारूढ होकर के जाता है ।" यहाँ भी जीव से भिन्नरूपेण परमात्मा का कथन किया गया है । अतः जीव से भिन्न परमात्मा आकाशपदवाच्य है ऐसा सिद्ध होता है । ॥४२॥

इससे भी यह सिद्ध होता है कि जीव से भिन्न परमात्मा है क्योंकि उपसंहार वाक्य में वह सबको अपने वस में रखनेवाला है । सबके ऊपर नियन्त्रण रखनेवाला है । सबका अधिपति है । वह शुभ कर्म से बढता नहीं है नवा अशुभ कर्म से छोटा होता है । वह सर्वेश्वर भूताधिपति है । वह भूतापाल है" इत्यादि उपसंहारस्थ पत्यादि शब्दों से सिद्ध होता

भूतपालः [बृ.४।४।२२] इति श्रूयते । एतेभ्यः पत्यादिशब्देभ्यश्चायं
परमात्मा प्रत्यगात्मनोऽर्थान्त-भूत एव । न हि सर्वाधिपतित्वादयः
परमात्मासाधारणधर्मा मुक्तावस्थेऽपि प्रत्यगात्मनि सम्भवन्ति ।
अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्माकाश इति सिद्धम् ॥४३॥

५ इत्यर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ५

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसायाः श्रीआनन्दभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

रथापत्या च तयोर्भेदः प्रसिद्ध एवेति दर्शयितुमुपक्रमते इतः प्रत्यगात्मनः इत्यादि ।
अन्यत्स्पष्टम् ॥४३॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

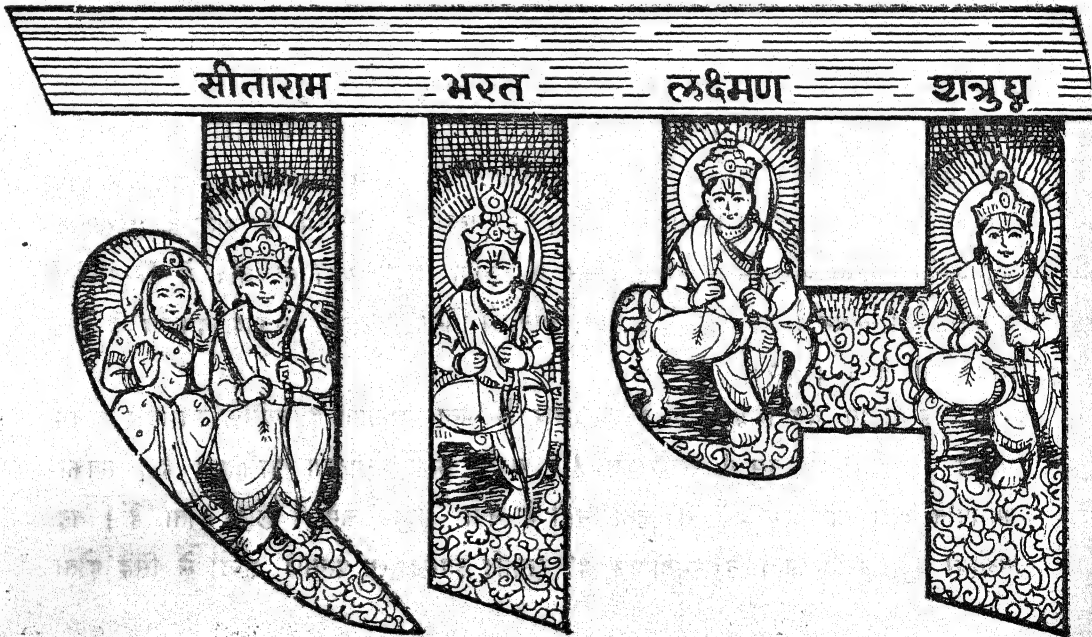
श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

हे किं परमात्मा जीव से भिन्न है । यह सर्वाधिप.तेस्वादिक परमात्मा का साधारण धर्म है ।
वह मुक्तावस्थ जीवमें भी नहीं है । इसलिए मुक्तावस्थ जीव से भी परमात्मा भिन्न है ।
अतः आकाशपदवाच्य परमात्मा है यह सिद्ध हुआ ॥४३॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वरजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रपट्टशिष्य
श्रीआनन्दभाष्यसिंहासनासीनजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

५ श्रीरामः शरणं मम ५



श्रियः श्रियै नमः

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ५

अथानुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

एवं त्रैपादिकेन ग्रन्थेनाखिलहेयप्रत्यनीकं जगज्जन्मादिकारणमचिद्वस्तुनः प्रधानादेर्बद्धमुक्तादिरूपचेतनाच्च विलक्षणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सत्यसङ्कल्पं समस्तकल्याणगुणसागरं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यं स्वाभिमतानुरूपैकरूपमचिन्त्यदिव्याद्भूतनित्यनिखद्यनिरतिशयौज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यदेहपुण्डरीकदलाममलायतेक्षणं पुंस्त्रीक्लीवलक्षणानामजडात्मकानां सर्वोषां चेतनानामविशेषेण दृष्टचित्तापहारकपरमपुरुषं श्रीरामाख्यम्परं ब्रह्मैवोपेयं तदनुभवलक्षणविलक्षणमोक्षोपायतयातदेव जिज्ञास्यमित्यभिहितम् । ब्रह्मकारणवाद एव वेदान्तवाक्यानां सामञ्जस्यमित्यपि सुनिश्चितम् ।

अथनित्यनिरतिशयसुखावासिलक्षणसाकेतनिवासलक्षणमोक्षकारणतया जगज्जन्मादिकारणं श्रीरामाख्यं परंब्रह्मैव जिज्ञास्यमिति पादत्रयेण समर्थितम् । ततः सांख्य-

पूर्वक्रम से प्रथमाध्याय के पादत्रयान्तः प्रकरण से अखिल हेय प्रत्यनीक जगज्जन्मस्थिति प्रलय का कारण अचित् वस्तु जो प्रधानादिक तथा बद्धमुक्त लक्षण चेतन से विलक्षण सर्वज्ञ शक्तिमान् सत्य संकल्पक समस्त कल्याण गुण का सागर सबके अन्तरात्मभूत निरङ्कुश ऐश्वर्य-शाली स्वाभिप्राय के अनुकूल रूपवान् अचिन्त्य दिव्य अद्भूत [सर्वाश्चर्यकारी] नित्य निरवद्य निरतिशय उज्ज्वल सौन्दर्य सुगन्ध सुकुमार लावण्ययुत यौवनादि अनन्त गुण का निधान दिव्य देहवान् कमल दल के समान नेत्रयुत स्त्री पुरुष निपुंसक लक्षण अजडात्मक सकल चेतनों को समान रूप से चित्तापहारक जो परमपुरुष श्रीरामाख्य ब्रह्म है वही सब के लिए उपेय प्राप्त व्य है और एतादृश महापुरुष का जो साक्षात्कारी अनुभव लक्षण विलक्षण मोक्ष के उपाय होने से भगवान् श्रीराम ही जिज्ञास्य हैं ऐसा कहा है । और ब्रह्म कारणवाद में ही समस्त वेदान्त का सामञ्जस्य घटता है यह भी निश्चित है । सम्प्रति किसी-किसी शाखाओं के किसी

इदानीं कासाञ्चिच्छाखानां केषुचिद्वाक्येषु ब्रह्मकारणत्व प्रतिपादनपरेष्वेव कापिलतन्त्राभ्युपगतप्रधानकारणत्वप्रतिपादक-
लिङ्गाभासोऽप्युपलभ्यत इति तन्निराकृत्य परस्य ब्रह्मणः कारणत्व
एव तेषां सामञ्जस्यामिति तुरीयेण पादेन व्यवस्थाप्यते ।

तत्रानुमानिकपदबोधितस्य कापिलतन्त्रसिद्धस्य प्रधानस्य
शब्दप्रतिपाद्यत्वमेव न सम्भवतीत्यनेनादिमेनाधिकरणेनाभिधीयते—

**॥ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्नशरी-
ररूपकविन्यस्तगृहीतेदर्शयति च १।४।१ ॥**

काठके हि श्रूयते—इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरगत्मा महान्परः । [का०१।३।१०)

महत् परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः । (का.१।३।११)

मतसिद्धाब्रह्मात्मकप्रधानपुरुषादिपदार्थद्वारेण प्रधानकारणता प्रतिपादकवचनानि सन्ति
इत्याशङ्क्य ब्रह्मण एव सर्वजगत्कारणत्वां स्थिरीकर्तुं चतुर्थपादमवतारयितुमुपक्रमते
किसी वाक्य में जो कि ब्रह्म कारणता का प्रतिपादक है उसमें सांख्य का अभिमत प्रधान
कारणता का प्रतिपादक लिङ्गाभास भी उपलब्ध होता है । उनका निराकरण करके ब्रह्मकार-
णता में ही उन वाक्यों का सामञ्जस्य है इस बात को चतुर्थपाद से व्यवस्थित करते हैं ।
उसमें आनुमानिक पद से बोधित कपिलमत सिद्ध प्रधान को शब्द प्रतिपाद्यत्व ही संभवित
नहीं है इस बात को इस प्रथम अधिकरण से बतलाते हैं । “आनुमानिकमप्येकेषामित्यादि”
वाक्य श्रुतिमें कहा है “इन्द्रिय से उत्कृष्ट=परशब्दादिक अर्थ है । अर्थ से पर मन है, मन
से पर बुद्धि है । बुद्धि से पर महान् आत्मा है महत् से पर अव्यक्त है और अव्यक्त
से पर पुरुष है । पुरुष से पर कोई नहीं वही परम सीमा है, वह परागति है” इति ।

इसमें सांख्य शास्त्र में प्रसिद्ध जो प्रधान है वही अव्यक्त पदका वाच्य है । क्योंकि
“महत् परमव्यक्तम्” इत्यादि स्थल में सांख्याभिमत प्रक्रिया का ही कथन किया गया है ।

इति । तत्र सांख्यस्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमेवाव्यक्तपदेनेहाभिधीयते । कुतः ? 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्यत्र तन्मतप्रक्रियोपन्यासात् । न व्यक्तमव्यक्तं शब्दादिरहितमेवाव्यक्तमिति तत्स्मृतिप्रसिद्धमेवोच्यते । पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वनिषेधाच्चाव्यक्तमिह प्रधानमेव । जगत्कारणमभिधीयतेऽतः स्मृतिन्यायावप्यत्रैवानुग्राहकाविति चेत् । नैवम् । न तावदिहाब्रह्मात्मकं प्रधानमव्यक्तपदेनोच्यते । कस्मात् ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरस्यैव रूपकेण विन्यस्तस्यात्राव्यक्तपदेन गृहीतेर्ग्रहणात् । प्रकरणेऽस्मिन्नात्मनो भोक्तृतया रथित्वेन शरीरेन्द्रियादीनाञ्च रथादिरूपेण रूपकम्परिकल्प्योपदेशो दृश्यते । तथा हि—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।

बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । (काठ. १।३।३)

एवं त्रीपादिकेनेत्यादि तत्रानुमानिकपदज्ञाप्यस्य स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य कारणतैव न जो व्यक्त न हो उसको अव्यक्त कहते हैं अर्थात् शब्दादि रहित अव्यक्त है जो सांख्यस्मृतिप्रसिद्ध है जिसका अव्यक्त शब्द से कथन किया है पचीस पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व का निषेध होने से अव्यक्त पदवाच्य प्रधान ही है वही एक शाखियों के शाखा में प्रतिपाद्य आनुमानिक प्रधान ही है जो कि जगत् का कारण रूप से कहा गया है । स्मृति तथा न्याय [युक्ति] भी उसी प्रधान वा अनुग्राहक है । उत्तर—ब्रह्म भिन्न प्रधान यहाँ अव्यक्त पदवाच्य नहीं है । क्योंकि शरीर के रूपक से विन्यस्त का ही यहाँ अव्यक्त पद से ग्रहण होता है । इस प्रकरण में आत्मा को भोक्ता होने से रथी रूप से तथा भोग्य शरीरादिक को रथ रूप से रूपक का परिकल्पन करके उपदेश देखने में आता है । तथा हि 'आत्मा जीव को रथी समझो तथा शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी रूप से और मन को प्रग्रह लगाम रूप से जानो । और इन्द्रियों को अश्व समझो, शब्दादिक विषय उस अश्व का गमन स्थान है । विद्वान् लोग शरीरेन्द्रिय मन युक्त को भोक्ता मानते हैं । जो विज्ञानवान् होता है । समनस्क तथा सदाशुचि होता है । वह उपासक उस पद को प्राप्त करता है । जो कि

इदानीं कासाञ्चिच्छाखानां केषुचिद्वाक्येषु ब्रह्मकारणत्व प्रतिपादनपरेष्वेव कापिलतन्त्राभ्युपगतप्रधानकारणत्वप्रतिपादक-
लिङ्गाभासोऽप्युपलभ्यत इति तन्निराकृत्य परस्य ब्रह्मणः कारणत्व
एव तेषां सामञ्जस्यामिति तुरीयेण पादेन व्यवस्थाप्यते ।

तत्रानुमानिकपदबोधितस्य कापिलतन्त्रसिद्धस्य प्रधानस्य
शब्दप्रतिपाद्यत्वमेव न सम्भवतीत्यनेनादिमेनाधिकरणेनाभिधीयते—

**५५ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्नशरी-
ररूपकविन्यस्तगृहीतेदर्शयति च १।४।१ ५५**

काठके हि श्रूयते—इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरगत्मा महान्परः । [का०१।३।१०]

महत्तः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः । (का.१।३।११)

मतसिद्धाब्रह्मात्मकप्रधानपुरुषादिपदार्थद्वारेण प्रधानकारणता प्रतिपादकवचनानि सन्ति
इत्याशङ्क्य ब्रह्मण एव सर्वजगत्कारणत्वां स्थिरीकर्तुं चतुर्थपादमवतारयितुमुपक्रमते
किसी वाक्य में जो कि ब्रह्म कारणता का प्रतिपादक है उसमें सांख्य का अभिमत प्रधान
कारणता का प्रतिपादक लिङ्गाभास भी उपलब्ध होता है । उनका निराकरण करके ब्रह्मकार-
णता में ही उन वाक्यों का सामञ्जस्य है इस बात को चतुर्थपाद से व्यवस्थित करते हैं ।
उसमें आनुमानिक पद से बोधित कापिलमत सिद्ध प्रधान को शब्द प्रतिपाद्यत्व ही संभवित
नहीं है इस बात को इस प्रथम अधिकरण से बतलाते हैं । “आनुमानिकमप्येकेषामित्यादि”
काठक श्रुतिमें कहा है “इन्द्रिय से उत्कृष्ट=परशब्दादिक अर्थ है । अर्थ से पर मन है, मन
से पर बुद्धि है । बुद्धि से पर महान् आत्मा है महत् से पर अव्यक्त है और अन्यक्त
से पर पुरुष है । पुरुष से पर कोई नहीं वही परम सीमा है, वह परागति है” इति ।

इसमें सांख्य शास्त्र में प्रसिद्ध जो प्रधान है वही अव्यक्त पदका वाच्य है । क्योंकि
“महत्तः परमव्यक्तम्” इत्यादि स्थल में सांख्याभिमत प्रक्रिया का ही कथन किया गया है ।

इति । तत्र सांख्यस्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमेवाव्यक्तपदेनेहाभिधीयते । कुतः ? 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्यत्र तन्मतप्रक्रियोपन्यासात् । न व्यक्तमव्यक्तं शब्दादिरहितमेवाव्यक्तमिति तत्स्मृतिप्रसिद्धमेवोच्यते । पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वनिषेधाच्चाव्यक्तमिह प्रधानमेव । जगत्कारणमभिधीयतेऽतः स्मृतिन्यायावप्यत्रैवानुग्राहकाविति चेत् । नैवम् । न तावदिहाब्रह्मात्मकं प्रधानमव्यक्तपदेनोच्यते । कस्मात् ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरस्यैव रूपकेण विन्यस्तस्यात्राव्यक्तपदेन गृहीतेर्ग्रहणात् । प्रकरणेऽस्मिन्नात्मनो भोक्तृतया रथित्वेन शरीरेन्द्रियादीनाञ्च स्थादिरूपेण रूपकम्परिकल्प्योपदेशो दृश्यते । तथाहि—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।

बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । (काठ. १।३।३)

एवं त्रैपादिकेनेत्यदि तत्रानुमानिकपदज्ञाप्यस्य स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य कारणतैव न जो व्यक्त न हो उसको अव्यक्त कहते हैं अर्थात् शब्दादि रहित अव्यक्त है जो सांख्यस्मृतिप्रसिद्ध है जिसका अव्यक्त शब्द से कथन किया है पचीस पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व का निषेध होने से अव्यक्त पदवाच्य प्रधान ही है वही एक शाखियों के शाखा में प्रतिपाद्य आनुमानिक प्रधान ही है जो कि जगत् का कारण रूप से कहा गया है । स्मृति तथा न्याय [युक्ति] भी उसी प्रधान का अनुग्राहक है । उत्तर=ब्रह्म भिन्न प्रधान यहाँ अव्यक्त पदवाच्य नहीं है । क्योंकि शरीर के रूपक से विन्यस्त का ही यहाँ अव्यक्त पद से ग्रहण होता है । इस प्रकरण में आत्मा को भोक्ता होने से रथी रूप से तथा भोग्य शरीरादिक को रथ रूप से रूपक का परिकल्पन करके उपदेश देखने में आता है । तथा हि 'आत्मा जीव को रथी समझो तथा शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी रूप से और मन को प्रग्रह लगाय रूप से जानो । और इन्द्रियों को अश्व समझो, शब्दादिक विषय उस अश्व का गमन स्थान है । विद्वान् लोभ शरीरेन्द्रिय मन युक्त को भोक्ता मानते हैं । जो विज्ञानवान् होता है । समनस्क तथा सदाशुचि होता है । वह उपासक उस पद को प्राप्त करता है । जो कि

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ [काठ. १।३।४]

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदाऽशुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते । (काठ. १।३।८)

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । काठ. १।३।९)

इत्यादिवचनैर्जितेन्द्रियस्य विष्णुपरमपदप्राप्तिमुक्त्वा तमेव जितेन्द्रियपुरुषप्राप्यभूतमिन्द्रियाद्यव्यक्तान्तेभ्यः परं सर्वान्तरात्मभूतं विष्णुपरमपदशब्दाभिहितं पुरुषं दर्शयति 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः' इत्याख्य पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति' रित्यन्तेन । आत्मानमित्यादेरर्थः । भोक्तृत्वेन प्राधान्यादात्मनो रथित्वं रथस्वामित्वमुक्तं स्थूलशरीरस्य च भोगस्थानतया गौणत्वेन रथसमत्वमुक्तं संभवतीति बोधयितुमाह आनुमानिकमित्यादि सूत्रम् । कानिचिद्वाक्यानि प्रधानस्यैव कारणतामावेदयन्तीति । तथाहि इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था इत्यादिकानि परन्तु तानि आवागमन से रहित है । जो विज्ञान लक्षण सारथीवान् तथा मनरूप प्रग्रहवान् है वह ऊर्ध्व से भी पार जो विष्णु का परमपद है उसको प्राप्त करता है' इत्यादि वचनों से जितेन्द्रिय व्यक्त को विष्णु के परमपद प्राप्त का कथन करके उस जितेन्द्रिय पुरुष से प्राप्यभूत इन्द्रियादि से लेकर के अव्यक्तान्त की अपेक्षया पर सर्वतः उत्कृष्ट सबके अन्तरात्मा विष्णु परमपद शब्द का वाच्य जो पुरुष है उसी का प्रदर्शन श्रुति करती है "इन्द्रिय से पर अर्थ है' इत्यादि से लेकर के "पुरुष से पर कोई नहीं है वह पराकाष्ठा परमगति है' एतदन्त प्रकरण से कहा गया है । "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि श्रुति के अर्थ को भाष्यकार स्वयमेव बतलाते हैं "आत्मानमित्यादेरर्थः" इत्यादि । भोक्तृत्व तथा चेतनत्वेन प्रधान होने से आत्मा को रथी अर्थात् रथ के स्वामी रूप से कथन किया गया है । स्थूल शरीर भोग का आयतन होने से गौण है । इसलिये स्थूल शरीर को रथ के समान बतलाया गया है । विवेक अविवेक वृत्ति द्वारा ही बुद्धि शरीर इन्द्रियादिक से भोक्ता आत्मा सुखदुःखादिक को प्राप्त कराती है । इसलिये बुद्धि को सारथी रूप से कथन किया गया है । अश्व रथना [लगाम]

विवेकाविवेकवृत्तिभ्यां बुद्धिरेव शरीरेन्द्रियद्वाराभोक्तात्मानं सुखे दुःखे वोपनयतीति बुद्धेः सारथित्वम् । एवं मनसा प्रग्रहेणाश्वरशना स्थानीयेन युक्तानि ह्यरूपाणीन्द्रियाणि तेष्विति तेषामीन्द्रियाणां गोचरान् शब्दादिविषयान्प्रतिधावन्ति तदन्ते मनोऽपितान्धावति । 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावपि वाम्भसि' (गी. २।६७) इति स्मृतेः । एवमजितेन्द्रियस्य संसरणं 'यस्त्वविज्ञानवान्भवती' त्यभिधाय जितेन्द्रियस्य वैष्णवपदप्राप्तिर्विज्ञानसारथिर्यस्त्वित्यनेनाभिहिता । तथाभूतस्य वैष्णवपदस्य सर्वोत्कृष्टत्वद्योतयनायेन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति च प्रोच्यते । तत्र यद्यप्यन्तरङ्गत्वादिन्द्रियाणामर्थापेक्षया परत्वं तथापीन्द्रियाणां ग्रहत्वं शब्दाद्यर्थानान्त्वतिग्रहत्वं बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यार्तभागसंवादेऽभिहितम् । तस्मादतिग्रहत्वेनार्थानां प्राधान्यमुच्यते 'पराह्यर्था'

न तत्परकाणि तस्य शब्दाप्रतिपाद्यत्वादिति निवेदयितुमाह काठके श्रयते इत्यादि । इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः इत्यादि । अत्र खलु अव्यक्तपदेन प्रधानमेव परिगृह्यते तदीयस्थानीय मनोरूप प्रग्रह से युक्त अश्व स्थानीय इन्द्रिय समुदाय शब्दादिक विषय के प्रति गमन करता है तो उसके बादमें मन का भी गमन विषय शब्दादि के प्रति होता है । क्योंकि विषय के प्रति जाते हुवे इन्द्रिय का अनुगमन मन करता है । इसलिए तदीय प्रज्ञा को अस्तव्यस्त करदेता है । "जल में जिसतरह वायु नौका को अस्तव्यस्त करदेता है" इस प्रकार से स्मृति में कहा है । इसप्रकार से "यस्त्वाविज्ञानवान्भवति" इसप्रकरण से अजितेन्द्रिय व्यक्ति को संसार में आगमन होता है इसबात को बतलाया तथा "विज्ञान सारथिर्यस्तु" इससे जितेन्द्रिय व्यक्ति को वैष्णव पद की प्राप्ति होती है इस बात का भी कथन किया गया उपर्युक्त वैष्णवपद में सर्वोत्कृष्ट को बतलाने के लिए "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था" यह कहा गया है ।

इसमें यद्यपि अन्तरंग होने से अर्थापेक्षया इन्द्रिय में ही परत्व सिद्ध होता है । तथापि बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य आर्तभाग के संवाद में इन्द्रिय को ग्रह बतलाया है । तथा शब्दा-

इति । मनसः सर्वेन्द्रियार्थव्यवहारमूलत्वादर्थेभ्यः परत्वं ततोऽपि च निश्चयात्मकबुद्धिद्वारा विषया भोक्तुरुपकुर्वन्ति न तु संशयात्मक मनो द्वारा । तस्मान्मनसः बुद्धेः परत्वम् । तथा पूर्वं स्थित्वेन भोक्तृत्वेन चोक्तस्यात्मनश्च भोगोपकरणभूताया बुद्धेः परत्वं भोगोपकरणस्य भोक्तृपारतन्त्र्याद् बुद्ध्यादेः स्वामित्वाच्चात्मन एव परत्वमुक्तम् । बुद्ध्यादेरध्यक्षत्वादेवात्मनो महत्वमुक्तम् । मह्यते पूज्यते बुद्ध्यादिभिः शब्दादिविषयप्रापणद्वारेति महानात्मा । नतु महत्परिमाणश्रयतयेति बोद्धव्यम् । एवमात्मनोऽपि भोगसम्पादनाय भोगायतनस्याव्यक्तपदाभिधेयस्य शरीरस्य प्रयोजनमस्त्येवेति ततोऽपि परतया स्वरूपितं शरीरमुक्तम् । ततोऽपि च सर्वान्तर्यामितया सर्वनियन्तृत्वेन मुमुक्षूपायोपेयस्वरूपत्वेन चाध्वनः पारभूतस्य परमपुरुषस्य परत्वम् । एवञ्च परमपुरुषसङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वात्समस्तस्य यथोक्तस्येन्द्रियाद्यव्यक्तान्तस्येति तदपेक्षयाऽकिञ्चित्करत्वम् । अतः 'सा काष्ठा सा परा गति' रित्युक्तम् । परमात्मन एव प्रक्रियाया एवोपलम्भादतः अव्यक्तपदेन प्रधानस्य ग्रहणमिति पूर्वापक्षः । शरीररूपदिक विषय लक्षण अर्थ को अतिग्रह रूपसे कथन किया है । तस्मात् इन्द्रियापेक्षया अर्थ में प्रधानत्व कहा गया है "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इति । इन्द्रिय अर्थादिक का जो व्यवहार है वह मनोमूलक है । इसलिए अर्थापेक्षया मनमें उत्कृष्टत्व कहा है निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा विषय भोक्ता को उपकृत करते हैं । इसलिए मनके अपेक्षा से बुद्धि श्रेष्ठ है । और भोग का जो उपकरण [सहायक] है सो भोक्ता के अधीन होता है । तथा स्वामित्व होने से बुद्धि की अपेक्षया आत्मा में परत्व होता है । और बुद्ध्यादिक के अपेक्षा से आत्मा में महत्त्व है क्योंकि आत्मा इनका अध्यक्ष है । इसलिए बुद्ध्यादि के द्वारा शब्दादिक से पूजित होता है । इसलिए महान् आत्मा है किन्तु महत्परिमाण का आश्रय होने से आत्मा महान् नहीं कहलाता । क्योंकि जीव अणु है । एवं आत्मा के भोग को संपादन करने के लिए अव्यक्त पदवाच्य शरीर का प्रयोजन है । इसलिए आत्मा से रथोपमित शरीर का कथन

परत्वं श्रुत्यन्तरेऽप्यभिहितम् । 'तमः परे देव एकीभवन्ति' (सुबाल)
 इति । प्रलये तस्मिन्नेव परस्मैल्लय उक्तः । तथा सर्गादौ जगत्सि
 सृक्षया 'तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय' (छा.६।२।३) इति संकल्प्य 'हन्ता ह
 मिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्या-
 कस्वाणि' (छा०६।३।२) इति च पुनः संकल्प्य सर्वस्य नामरूपे
 ऽवगकृत्य स एव सर्वान्पालयति संहरति चेत्यतः सृष्टिस्थितिप्रलया
 न्तर्गतस्य सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां पर-
 मपुरुषाधीनत्वावगमात् । तथा च मुमुक्षुः सर्वेन्द्रियाणि संयम्य तमे
 वैकं स्वान्तर्यामिणं परमपुरुषं चिन्तयन्नध्वनः पारं विष्णोः परमपद
 पदाभिधेयं प्राप्नोतीत्यभिधीयते 'सो ध्वनः पारमाप्नोती' त्यन्तैर्वा
 क्यैरिति । दर्शयति च तदनन्तरम्—'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न
 केत्याद्युत्तरपक्षः । अत्र भोक्तुः रथित्वेन शरीराद्युपकरणलक्षणरथादिरूपेण रूपकस्य
 क्रिया है । उसके अपेक्षया सर्वान्तर्यामितया सर्वनियन्तृत्व तथा मुमुक्षु के उपाय एवं उपेय
 स्वरूप होने से अध्व के पारभूत परमपुरुष में परत्व है । इन्द्रियादिक से लेकर के अव्य-
 क्तान्त सब पदार्थ परमपुरुष के संकल्पाधीन स्थिति प्रवृत्तिक है । अतः परम पुरुषापेक्षया
 ये सब अक्रिञ्चित्कर है । इसलिए "सा काष्ठा सा परागति" ऐसा कहा है । परमात्मा सर्वा-
 पेक्षया पर है । इस बात को श्रुत्यन्तर में भी कहा है "तम से पर देव में एकीभूत होजाते
 हैं [सुबाल] श्रुति । तथा इन सब पदार्थों का लय प्रलय में उसी परमपुरुष में हो जाता है ।
 तथा सर्ग के आदि में "तदैक्षत" इसरूप से संकल्प करके "हन्ताहमिम" इस प्रकार पुनः
 संकल्प करके सब के नाम रूप को बना करके वही भगवान् सबका पालन करते हैं । तथा
 प्रलयकाल में सबका संहार करते हैं । अतः सृष्टि स्थिति प्रलय के अन्तर्गत सभी चिदचिदा-
 त्मक जगत् की स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति को परमात्मावीनत्व अवगत होता है ।

अतः मुमुक्षु सर्व इन्द्रिय को संयत करके उसी एक स्वान्तर्यामी परमपुरुष का ध्यान
 करता हुआ अध्व का पार विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है । इस बात को "सो ध्वनः
 पारमाप्नोति" इत्यन्त वाक्यों से कहा जाता है । इसके बादमें भी बतलाया है "एष सर्वेषु

प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (का० १।३।१२) इति विशुद्धया सूक्ष्मया बुद्धया तस्य दृश्यत्वमुपदिश्य बुद्धेः सूक्ष्मत्वोपायभूतमिन्द्रियवशीकरणप्रकारमाह । 'यच्छेद्वाङ्मनसीप्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' । [का. १।३।१३] इत्यादिना । वाक्छन्दे द्वितीयायाः सुपां सुलुगिति लुक् । मनसीति सप्तम्यैकवचनं दीर्घ छान्दसः । तथाचायमर्थः । वाक्छन्दोपलक्षितानि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेत् । तन्मनो बुद्धौ । ज्ञानञ्चात्र बुद्धिः । 'बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि' इति पूर्वं बुद्धेः सारथित्वमुक्त्वा 'विज्ञानसारथिर्यस्तु' इति बुद्धेरेव विज्ञानपदेनोक्तत्वात् । ज्ञानं बुद्धि कर्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत् तदिति लिङ्गव्यत्ययेन तत्कर्तारं महान्तमात्मानं शान्त आत्मनि परस्मिन्पुरुषप्रकरणोपात्त एव नियच्छेत् । एवं भूतया सारथिरूपया सूक्ष्मया बुद्ध्या परमपुरुषमन्त-प्रतिपादनात् । एतदेव तथाहीत्यादिना प्रदर्शयति । आत्मानं रथिनंविद्धीत्यादि श्रुतीनामर्थो भूतेषु' इत्यादि । इस प्रकार विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा को दृश्यत्व का उपदेश करके बुद्धि में सूक्ष्मता के उपायभूत इन्द्रिय वशीकरण प्रकार को "यच्छेद्वाङ्मनसी" इत्यादि से बतलाया है । इस श्रुति घटक वाक् शब्द में द्वितीयाविभक्ति का "सुपांसु लुक्" इस सूत्र से लोप हुआ है । 'मनसी' यहाँ सप्तमी विभक्ति का एक वचन है । "और छान्दसत्वात्" दीर्घ हुआ है । तब उपर्युक्त श्रुति का यह अर्थ होता है वाक् छान्दोपलक्षित कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय को मनमें देवें सम्बन्ध करें । उस मन को बुद्धि में यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ है विज्ञान क्योंकि "बुद्धिं तु सारथिं" इससे बुद्धि में सारथित्व का कथन करके "विज्ञान सारथिर्यस्तु" इत्यादि से बुद्धि का ही विज्ञान पद से कथन किया गया है । ज्ञान को बुद्धि के कर्ता महान् आत्मा में प्रविष्टापित करना । "तद्यच्छेत्शान्त आत्मनि" यहाँ तत् पदग्राह्य आत्मा पुल्लिङ्ग है । इसलिए भाष्यकार ने कहा है "तदिति लिङ्गव्यत्ययेनेति" बुद्धि के कर्ता महानात्मा जीव को प्रकरणोपात्त शान्त आत्मा=अर्थात् परणपुरुष में विलीन करें ।

र्यामिणं गोचरीकृत्य तम्प्राप्नुयादितिभावः । तथा चात्र कपिलकल्पितं प्रधानं न प्रतिपाद्यते पूर्वापरसन्दर्भविरुद्धत्वादिति ॥१॥

ॐ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् १।४।२ ॐ

अव्यक्तपदेन प्रत्यक्षतोऽतिव्यक्तस्य शरीरस्य कथं ग्रहणमित्यत आह सूक्ष्मन्त्विति । तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः । स्थूलशरीरागम्भकं मूलकारणं भूतसूक्ष्ममव्याकृतमेव शरीरावस्थमव्यक्तशब्देनाभिधीयते । भाष्यदिशैव ज्ञातव्यः । तस्मात् कापिलं प्रधानं न प्रतिपादितं भवति पूर्वापर प्रकरणविरुद्धत्वादिति संक्षेपः ॥१॥

ननु गत प्रकरणेनाव्यक्तशब्दार्हशरीरमेवेति परन्तु तत्कथं युज्यते यतः स्थूल शरीरस्य चक्षुरादिभिर्ग्रहणात्, अव्यक्तस्य च तदनर्हत्वमित्याशङ्क्यानिरासायाह सूक्ष्मन्तु इत्यादि । यद्यपि स्थूलशरीरं नाव्यक्तपदवाच्यं तथापि तत्कारणीभूतं

एतादृश सारथी रूप सूक्ष्म बुद्धि से अन्तर्यामी परमपुरुष को गोचरीकृत्य=अर्थात् साक्षात् करके उस परमपुरुष को प्राप्त करें । इससे फलितार्थ यह हुआ कि यहां अव्यक्त पदसे सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं होता है । क्योंकि अव्यक्त पदसे प्रधान का परिग्रह करने से पूर्वापर प्रकरण का विरोध होता है ॥१॥

चाक्षुषादि प्रत्यक्ष द्वारा अतिव्यक्त स्पष्ट रूप से ज्ञायमान जो स्थूल शरीर उसका अव्यक्त शब्द से वाच्यत्व किसतरह हो सकता है । पूर्व प्रकरण में अव्यक्त शब्द से स्थूल-शरीर का ग्रहण किया है यह संगत नहीं है ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “सूक्ष्मन्तु” इत्यादि सूत्र घटक जो तु शब्द है वह अवतरण प्रतिपादित शंका का निराकरण-परक है । प्रत्यक्षादि ग्राह्य जो यह स्थूलशरीर है तादृश स्थूलशरीर का आरंभक अर्थात् उत्पादक मूल कारण समवायि कारणोभूत सूक्ष्म अव्याकृत है । वही स्थूल शरीरावस्थ होता हुआ अव्यक्त शब्द से कथित होता है । एक ही अव्यक्त शब्द जन्य स्थूलशरीर तथा जनक सूक्ष्मभूत उभय का वाचक होने से भूत सूक्ष्म लक्षण कारण की अपेक्षा से अव्यक्त शब्द का वाच्य होता है । यद्यपि स्थूलशरीर स्वरूपतः अव्यक्त नहीं है । तथापि कार्यकारण के

एकस्यैवाव्यक्तशब्दस्य जन्यजनकोभयवाचकत्वेन भूतसूक्ष्मरूपकारण-
त्वापेक्षया स्थूलशरीरस्याप्यव्यक्तशब्दवाच्यत्वाहत्वात् ॥२॥

५ तदधीनत्वादर्थवत् १।४।३ ५

नन्वव्याकृतस्यैव सांख्यैः प्रधानत्वाङ्गीकारादव्यक्तशब्देन
तस्यैव स्वीकारे प्रधानकारणत्वापत्तिः । 'अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषा
न्न परं किञ्चिदि' ति पुरुषायत्तत्वमव्यक्तस्येति कथं सङ्गच्छेतेति
चेन् नैवम् । 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्य विज्ञानं शरीरम्' (बृ०
३।७।३।३२) 'यस्याव्यक्तं शरीरम्' (सुबाल. ७ खं) इत्येवमाद्याभिः
श्रुतिभिरव्यक्तादेः सर्वचराचरस्य जगतः परमपुरुषपरमकारणान्तर्या
मिशरीस्त्वतन्नियम्यत्वाभिधानात् । न परपरिकल्पितस्य स्वातन्त्र्येण
कारणत्वम् । यतः 'तदैक्षत बहुस्यामि' ति तदीक्ष्यैवाकाशादिजग-
दुत्पत्तेः श्रवणात्परमपुरुषशरीरत्वेन च तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तयः
तु तथा भवतीति कार्यकारणयोरनन्यत्वात्कारणधर्मेण कार्यस्यापितथात्वं भवतीति न
कोपि दोष इति भावः ॥२॥

ननु यदि सूक्ष्मभूतस्याव्यक्तपदेन ग्रहणं निर्वहसि तदासांख्यमतस्य कथं निराकरणम्
तैरपि तथा भूतस्यैव प्रधानरूपतायाः स्वीकृतत्वादिति चेत्सत्यम् न सर्वथा प्रधानस्य
अभेद होने से वही स्थूलशरीर स्वकारण रूपसे अव्यक्त कहलाता है । कार्यकारण में तादा-
त्म्य होता है अतः औपचारिक अव्यक्तता स्थूल में है । वास्तविक अव्यक्तता तो सूक्ष्मभूत
में ही है उसीका यहाँ ग्रहण होता है ॥२॥

प्रश्नः—सांख्यवाद भी तो अव्याकृत को ही प्रधान कहते हैं तब अव्यक्त शब्द से
आप भी यदि उसीको कारण मानते हों तो प्रधान कारणतावाद ही पुनः उपस्थित होता है ।
अतः “भक्षितेपि लशुने नशान्तोव्याधिः” इस न्याय विषयता का अतिक्रमण नहीं होता है ।
अपितु “पुनस्तत्रैवावलेखते वेतौलः” यह न्याय आपत्ति होता है । “अव्यक्त से पर पुरुष
है, पुरुष से पर कोई नहीं है” इससे पुरुषाधीनत्व जो अव्यक्त को कहा है वह संगत
किसतरह होगा ? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि “यस्य पृथिवी शरीरम्” इत्यादि

प्रधानादयस्तदिच्छानुसारेणैव तत्तत्कार्यं कुर्वन्तीति न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् । अतस्तन्मतनिराकरणं वेदान्तदर्शने कृतम् ।

परमपुरुषायत्ताव्यक्तात्तु जगदुत्पत्तिरिष्यत एव । तथा च श्रुतिस्मृतयः

‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्’ ।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ गी० १४ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतोयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गी० ७ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ गी० ७ ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ गी० ७ ॥

निराकरणं करोमि किन्तु स्वातन्त्र्येण प्रधानस्य कारणत्वं निराकरोमि । पदार्थमात्रस्य भगवच्छरीरतया कारणत्वं ब्रवीम्येव । अस्मान्मायी सृजते इत्यादिश्रुतिर्मायाविशिष्ट कारणतां प्रतिपादयन्ती अवच्छेदकविधयामायाया अपि तथात्वं ब्रवीति । अवच्छेदकस्य च न स्वातन्त्र्येणकारणत्वं किन्तु आश्रयद्वारेणैव । अतः प्रधानस्यापि कारणत्वम् । अनेक श्रुतियों से अव्यवतादि सर्व चराचर जगत् को परमपुरुष परमकारण सर्वान्तर्यामी का शरीरत्व तथा तन्नियाम्यत्व का कथन किया गया है । सांख्य परिकल्पित जो प्रधान है उसमें स्वातन्त्र्येण कारणता नहीं है । इसलिए इस वेदान्त में सांख्य मत का निराकरण किया गया है । परमपुरुष के अधीन जो अव्यक्त है वह तो जगत् का कारण है इस बात को तो मैं भी मानता हूँ । क्योंकि श्रुतिस्मृति इसप्रकार कहती है “इस कारण से मायी इस जगत् को बनाते हैं” जगत् को माया समझो तथा महेश्वर को मायी जानो । प्रकृति निदान कारण है । उसमें गर्भ धारण होने से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है । ‘पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है ।’ ‘एतत्कारणकं सर्वभूतं है’ “मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक तथा प्रलय स्थान हूँ, मुझसे बड़ा कोई दूसरा नहीं है ।

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । वि.पु. ६।४।३९
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ।

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ॥ वि.पु. ६।४।४०।

इत्यादिवचनैः परमात्मानमेवाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व
माहुः । अव्यक्तादीनां परमपुरुषाधीनत्वादेव जगत्कारणत्वेनार्थ
वत्वमिति ॥३॥

इतश्च नानुमानिकं प्रधानमव्यक्तशब्देनाभिधीयते-

५ ज्ञेयत्वावचनाच्च १।४।४ ५

‘व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्धि कैवल्यमिति सांख्यमतम् । सत्त्वं
पुरुषान्यताख्यातिमन्तरेण न पुरुषस्य कैवल्यं शक्यं विज्ञातुमिति
एतावानेवोभयोर्भेदोयदेकः स्वातन्त्र्येण तस्य कारणत्वमभ्युपैति परश्च विशेषणविधये-
त्यादिकं निवेदयितुं सूत्रं व्याख्यातुंचोपक्रमते भाष्यकारः नन्वव्याकृतस्यैवेत्यादि ॥३॥

प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानेन मोक्षो भवतीतिवदन् सांख्यः, अव्यक्तस्य ज्ञेयत्वं प्रति-
पादयति परन्तु अव्यक्तं जानीयताम् अव्यक्तमुपासीत इत्यादिकं वाक्ये तदीयज्ञापक-
सूत्रमें मणिगण के समान मुझमें यह परिदृश्यमान सकल पदार्थ है ।’ ऐसा गीता में भी कहा
है । तथा व्यक्त अव्यक्त स्वरूप का प्रकृति का जो मैं कथन किया हूं तथा पुरुष-ये दोनों
परमात्मा में लीयमान हो जाते हैं । इन सब पदार्थ का आधार परमपुरुष परमेश्वर है ।
इसप्रकार से विष्णुपुराण में भी बतलाया है । । पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति उदाहृत वचन के द्वारा
परमात्मा को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं । अर्थात् जगत् का निमित्त
कारण तथा उपादान कारण परमात्मा ही है । नतु न्यायमत के समान परमेश्वर केवल निमित्त
कारण है । और समवायि कारण तदतिरिक्त परमाणु प्रभृतिक है । और अव्यक्तादिक में
जो कारणता है वह परमात्मा के अधीन ही कारणता है । इसलिए अव्यक्तादिक भी प्रयोज-
नवान् होते हैं ॥३॥

इस ज्ञेयत्वावचन से भी सिद्ध होता है कि अव्यक्त पदवाच्य सांख्याभिमत प्रधान
नहीं है “ज्ञेयत्वावचनाच्चेति” व्यक्त पृथिव्यादिक तथा अव्यक्त प्रधानादिक तद्विषयक भेद

ज्ञेयत्वं तेषां सिद्ध्यति । अस्मिन् प्रकरणे तु ज्ञेयत्वमव्यक्तस्यनो-
क्तम् । अव्यक्तशब्दमात्रमत्र पठ्यते । तस्मान्न तान्त्रिकस्याव्य-
क्तस्येह ग्रहणमिति ॥४॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् १।४।५

ननु कापिलमेवाव्यक्तमत्र ज्ञेयत्वेन श्रुतिर्वदति । ‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथासं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते’ (का.१।३।१५) इति । अत्र शब्दादिहीनमेव प्रधानं निचाय्यतया निरूपितं तथाचास्त्येव ज्ञेयतापरक्रमस्मिन् प्रकरणे न कुत्रचिदप्युपलभ्यते तस्मान्नात्राव्यक्तशब्दः सांख्याभिमत प्रधानपरक इत्यावेदयितुमुपक्रमते इतश्चनानुमानिकमित्यादि अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥४॥

प्रधानं नाव्यक्तशब्दवाच्यम् ज्ञेयत्वावचनात् अत्रसांख्यपरिकल्पितं प्रधानं पक्षः अव्यक्तशब्दवाच्यत्वाभावः साध्यं ज्ञेयत्वावचनमिति हेतुः । तथा च ज्ञेयत्वावचनहेतुना साध्यसिद्धिः प्रदर्शिता परन्तु तन्न युक्तं हेतोः स्वरूपासिद्धत्वान् । तथाहि हेत्वभाववान् पक्षः स्वरूपासिद्धिरितितल्लक्षणम्, तथा च ज्ञेयत्वावचनलक्षणहेतोरभावप्रधानेति कुतः अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमित्यादिश्रुत्या सांख्याभिमतस्य प्रधानस्य स्वरूपज्ञान से मोक्ष होता है ।’ ऐसा सांख्यमत है । एतादृश मोक्ष प्रकृति पुरुष के मेदज्ञान के बिना पुरुष को कैवल्य होता है ऐसा जान सकते हैं । अतः प्रकृति पुरुष में ज्ञेयत्व सिद्ध होता है । परन्तु इसप्रकरण में तो अव्यक्त को ज्ञेयरूप से कथन नहीं किया है । यहाँ तो केवल अव्यक्त शब्दमात्र का कथन है । किन्तु ज्ञेयत्व का कथन नहीं किया है । तस्मात् यहाँ अव्यक्त शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का ग्रहण नहीं है किन्तु शरीर का ही ग्रहण होता है ॥४॥

“ज्ञेयत्वावचनात्” यह जो हेतु बतलाया उसमें स्वरूपासिद्धि रूप हेत्वाभास का प्रतिपादन करके तत्समानार्थ सूक्ष्म का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “ननु कापिलमेवाव्यक्तमित्यादि” यहाँ कपिल मत सिद्ध जो अव्यक्त है उसको ही ज्ञेयरूप से श्रुति कहती है “जो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध रहित है । अव्यय है । आद्यन्त रहित महत्त्व से

त्वेन कथनमिति चेन्न । प्राज्ञः परमपुरुषो ह्येवात्र निचाय्यत्वेना
 मिधीयते । कुतः ? प्रकरणात् । प्राज्ञस्य परमात्मन एवेदं प्रकरणम् ।
 'सोऽध्वनः पारमानोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का.१।३।९)
 पुरुषान्न परं किञ्चित्' (का.१।३।११) इति परमात्मनः परत्वमुप-
 पाद्य 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते' (का.१।३।१२) इति
 पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वं विनिर्दिश्य 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म
 दर्शिभि' रित्युत्तरार्धेन प्रकृतस्य तस्यैव सूक्ष्मधीवेद्यत्वं प्रतिपादितम् ।
 परमात्मनोऽपि 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मु.१।६) इत्यन्यत्रादृश्यत्वादयो

विनिर्देशेन तस्य ज्ञेयत्वकथनादिति कथमुच्यते ज्ञेयत्वावचनत्वमपितु ज्ञेयत्ववचनत्वमेव
 सिद्ध्यतीत्याशङ्काया निरासायाह ननु कापिलमेवाव्यक्तमित्यादि सूत्रेणैव पूर्वोत्तरपक्षौ-
 विनिर्दिष्टौ । नेयमुदाहृतश्रुतिः प्रधानस्वरूपं निर्वक्ति येन स्वरूपासिद्धिः स्यादपितु
 अन्यत्रधर्मादन्यत्रधर्मात् इत्यादि महता प्रकरणेन परमात्मन एव स्वरूपं निरुच्य तज्ज्ञानेन
 परमपदप्राप्तिलक्षणं फलं प्रदर्शितं नहि प्रधानज्ञानेनैतादृशविलक्षणं फलं दृष्टं
 पर तथा ध्रुव है । एतादृशाव्यक्त की उपासना करके उपासक मृत्यु मुख से सुवत हो जाता
 है । इस श्रुति में शब्द स्पर्शादि रहित प्रधान ही उपास्यतया निरूपित हुआ है । तब तो
 तादृश अव्यक्त का ज्ञेयत्व रूपसे कथन है ही तब ज्ञेयत्वावचन असिद्ध है । इस प्रश्न के
 उत्तर में कहते हैं "प्राज्ञोहि प्रकरणात्" इसप्रकरण में प्राज्ञ अर्थात् परमपुरुष परमात्मा ही
 उपास्य रूपसे कथित है अर्थात् परमपुरुष ही उपास्य रूपसे प्रतिपादित होते हैं । क्योंकि
 प्रकरण से अर्थात् प्राज्ञ जो परमात्मा उन्हीं का यह प्रकरण है । "अध्व का पार जो विष्णु
 का परमपद है उसको प्राप्त करता है" 'पुरुष से पर कोई नहीं है, इसप्रकार से सर्वापेक्षया
 परमात्मा में परत्व का उपपादन करके "यह आत्मा सर्वभूतों में गूढ़ होने के कारण से दृश्य
 नहीं होता ?" इसप्रकार पूर्वार्ध से परमात्मा में दुर्विज्ञेयत्व का प्रतिपादन करके "सूक्ष्मदर्शी
 लोके सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उस परमात्मा को जानते हैं" इत्यादि उत्तरार्ध से प्रकृत उसपरमात्मा
 में सूक्ष्मबुद्धि वेद्यत्व का प्रतिपादन किया है । "यत्तदद्रेश्यम्" इत्यादि से परमात्मा का
 अदृश्यत्वादिक जो धर्म है वह विशुद्धान्तः करणवान् उपासक से दृश्यत्वेन प्रतिपादित हुआ है ।
 अर्थात् अदृश्यत्वादिक धर्म परमात्मा का भी है । तादृश धर्म विशिष्ट परमात्मा उपासना के

धर्माह्वभीक्ष्णोपासनानिर्मलीकृतान्तकरणेन दृश्यतया प्रतिपादिता
इति सर्वं समञ्जसम् ॥५॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च १।४।६

इतोऽपि न सांख्यतन्त्राभिमतं प्रधानमत्राव्यक्तशब्देन प्रति-
पाद्यते । यस्मादत्रप्रकरणे पितृसुमनस्कत्वोपायोपेयानां त्रयाणामेवो-
पन्यासं ज्ञेयत्वेन श्रूयते तद्विषयकः प्रश्नश्च । न प्रधानादेः । अतो
न सांख्यमतसिद्धं प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यम् ।

तत्र नचिकेता मृत्योः प्राप्तव्ये वरत्रये प्रथमवरेणात्मनः
पुरुषार्थयोग्यतां पितुः सुमनस्कत्वादिरूपां द्वितीयेन मोक्षसाधनीभू-
तामग्निविद्यां तृतीयेन च मोक्षस्वरूपमुद्दिश्योपेयोपायस्वरूपमप्राक्षीत्
तथाहि— नचिकेतानामर्षिकुमारोतिथिरूपेणानश्नन्नेव तिस्त्रो रात्री-
र्यावन्मृत्युगृहेऽवात्सीत् । ततस्तुष्टो मृत्युस्तमाह—‘त्रीन्वरान् वृणीष्वे’
श्रुतमुपपन्नंवेति न सांख्यीयप्रधाने ज्ञेयत्वावचनात्मको हेतुः स्वरूपासिद्ध इति
संक्षेपः ॥५॥

पूर्वं यदुक्तं सांख्याभिमतप्रधानविषयकोऽव्यक्तशब्दस्तन्न युक्तं यतोऽत्रप्रकरणे
त्रयाणां जीवाग्निपरमात्मात्मनामेवोपन्यासः प्रश्नश्च विद्यते तत्र सत्त्वमग्निमित्यादिना-
ऽग्निलक्ष्णोपायविषयकः ये यं प्रेतैर्विचिक्षित्सेत्यादिनोपासकविषयकः, अन्यत्रधर्मादि-
द्वारा निर्मल चित्तवाले पुरुष से दृश्य होते हैं ऐसा अन्यत्र कहा गया है । इसलिए ज्ञेयत्वा-
वचन रूपहेतु स्वरूप सिद्ध नहीं है । अतः कपिल तन्त्र प्रतिपादित प्रधान अव्यक्त पदवाच्य
नहीं है यह सिद्ध हुआ इति संक्षेपः ॥५॥

सांख्य संमत प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं है इसमें युक्त्यन्तर बतलाने के लिए
उपक्रम करते हैं “इतोपिनेत्यादि भाष्यम्” साधन साध्यादिभ्रम का ही उपन्यास तथा प्रश्नात्मक
हेतु से सिद्ध होता है कि सांख्याभिमत प्रधान यह अव्यक्त शब्द से प्रतिपादित नहीं होता
है । जिस लिए कि इसप्रकरण में पिता के सौमनस्य उपाय तथा उपेय रूप तीन का ही
उपन्यास ज्ञेयत्व रूपसे श्रुत होता है । तथा तद्विषयक प्रश्न भी श्रुत है । नतु प्रधानादिक

ति । ततः 'शान्तसंकल्पः सुमना यथास्याद्वीतमन्युर्गौतमोमाभि-
मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे' (का.
१।१।१०) इति पितुः पस्तिषणं प्रथमं वृत्वा द्वितीयेन वरेण मोक्ष-
साधनभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वब्रे । 'स त्वमग्निं स्वर्गमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि तं श्रद्धानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्
द्वितीयेन वृणे वरेण' (का.१।१।१३) इति । अत्र 'स्वर्गे लोके न भयं
किञ्च नास्ति न तत्र त्वं जग्या बिभेति' (का.१।१।१२) इति स्वर्ग
स्थस्य भयजराशनापिपासरहितत्वविगतशोकत्वादिश्रवणात् स्वर्ग
शब्देन परमपुरुषार्थोमोक्षोभिधीयते 'अमृतत्वं भजन्त' इति तत्र
स्थितस्यामृतत्वश्रवणाच्च । अस्यैव च प्रतिवचनम् 'त्रिणाचिकेतस्त्रि-
त्यादिनोपेयपरमात्मविषयक इति साध्यसाधकसाधनानामेवोपन्यासप्रश्नयोर्दर्शनात्
तदतिरिक्तसांख्याभिमतान्यक्तविषयकोपन्यासस्य प्रश्नस्य चादर्शनात् तथा ज्ञेयत्वा-
प्रतिपादनात् सांख्याभिमतान्यक्तस्य न ग्रहणमपितु तदितराणामेवेति दर्शयितुं सूत्रं
व्याख्यातुं चोपक्रमते इतोपि न सांख्यतन्त्राभिमतं प्रधानमित्यादि कुतो न तदभिमतस्य प्रधा-
नस्य नाव्यक्तशब्दवाच्यता तत्राह यस्मादत्र प्रकरणे इत्यादि । यत्संख्याणामेवात्रोप-
का उपन्यास है । इसलिए सांख्यमत सिद्ध प्रधान प्रकृत में अव्यक्त शब्दवाच्य नहीं है ।
इसमें मृत्यु से प्राप्त जो तीन वर हैं उसमें से स्वकीय पुरुषार्थ साधन योग्यता रूप पिता
के सौमनस्य रूप प्रथम वर से तथा द्वितीय वर से मोक्ष का कारणीभूत अग्नि विद्या को
तथा मोक्ष स्वरूप को उद्देश करके उपेय तथा उपाय स्वरूप को पूछा । तथा हि नचिकेता
नामक ऋषिकुमार अतिथि रूपसे भोजन किये विना ही तीन रात्रि पर्यन्त यमराज के गृह
में निवास किया । तब नचिकेता का एतादृश साहस से सन्तुष्ट यमराज ने नचिकेता से कहा
“हे नचिकेता ! तुम हमसे तीन वर माँगो । तब नचिकेता “शान्त संकल्प” इत्यादि रूपसे
पिता के सौमनस्य रूप प्रथम वर माँग करके द्वितीय वर से मोक्ष का साधन नाचिकेत अग्नि
विद्या का वर माँगा [हे मृत्यो स्वर्ग के कारण लक्षण अग्नि को आप जानते हो, तो श्रद्धा-
शील मुझको उसका उपदेश दो, जिसके बल से स्वर्ग में रहनेवाले व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त
किये हैं । यह द्वितीय वर से माँगता हूँ ।] यहाँ “स्वर्गलोक न भयं किञ्चन” यहाँ स्व-
र्गस्थ व्यक्ति को भय जरा अशन पिपासा रहितत्व शोकत्वादि रहितत्व का श्रवण होने से स्वर्ग

परेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू' (का.१।१।१७) इत्यादिना कृतम् । 'शान्तिमत्यन्तमेती' त्युक्तात्यन्तशान्तिश्च मोक्षावस्थाया मेवेति निश्चयः ।

एवं तृतीयेण वरेण मोक्षस्वरूपावगमपूर्वकमुपेयोपेतृस्वरूपमुपायभूतोपासना स्वरूपञ्च वृतम् 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः' (का.१।१।२०) इति मोक्षस्वरूपे पृष्ठे तज्जिज्ञासायां तस्य दार्ढ्यमवगत्यात एव तम्प्रशंस्योपदिदेश । 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' [का.१।१।१२] धीर उपासक आत्मानन्यासोनातः सांख्याभिमतस्य प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यतेतिभावः । तत्र त्रयाणामेवोपन्यासप्रकारं दर्शयितुमुपक्रमते तत्र नचिकेता मृत्योरित्यादि । इदमीयप्रकरणस्य विशेष चर्चातु "अशब्दं तु प्रधानं न जगत्कारणमीक्षतेः । अचैतन्यात्प्रधाने तु नैवाशब्द परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष का बोधक है । क्योंकि "अमृतत्वं भजन्ते" इससे सर्ग स्थित व्यक्ति को अमृतत्व का श्रवण है । इसी का प्रतिवचन 'त्रिणाचिकेत' इत्यादि से किया है । 'शान्तिमत्यन्तमेति' इत्यादि से कथित जो अत्यन्त शान्ति है वह मोक्षावस्था में ही होती है यह निश्चित है ।

एवं तृतीय वर से मोक्ष स्वरूप के अवगम पूर्वक उपेय उपेत के स्वरूप तथा उपायभूत उपासना के स्वरूप का वरण किया । "येयं प्रेते विचिकित्सा" इत्यादि से मोक्ष स्वरूप को पृष्ठने पर तद्विषयक जिज्ञासा होने पर उसकी दृढ़ता को जानकर के उस मोक्ष तथा तदभि-
लाषी नचिकेता का प्रशंसन करके मोक्ष का उपदेश नचिकेता को दिया । "तं दुर्दर्शगूढमित्यादि" [धीर उपासक आत्मा को अधिकृत करके जो योग होता है । उसको अध्यात्मयोग कहते हैं । अर्थात् परमात्मैक चिन्तनरूप उसका अधिगम लाभ से । इससे उपासन कथन किया । एतादृश उपासन से देव उपास्य को अर्थात् प्राप्य लक्षण परमात्मा को जान करके

मधिकृत्यवर्तते यो योगः स अध्यात्मयोगः परमात्मैकचिन्तनरूपस्तदधि
गमेन तत्लाभेनेत्युपासनमुक्तं तेन देवमुपास्यं प्राप्यं मत्वा हर्षशोकौ
जहाति हर्षशोकरहितत्वेन मुक्तोभवतीत्यर्थः । तदेवं नचिकेता
उपास्यमुपेयं देवतप्राप्त्युपायं तदुपासनञ्च सामान्येन श्रुत्वा विशेष-
तस्तज्ज्ञानायभूयः पृष्ठवान् ‘अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृ-
ताकृतात् । अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यति तद्वद’ (का. १।२।१४)
इति । एवं भूतभविष्यत्साध्यसाधनादिविलक्षणे पृष्ठेप्रागुपायस्वरूपमेव
पुनः कथयामास ‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती’ त्यागभ्य ‘एतदालम्बनं
ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते’ (का. १।२।१७) इत्यन्तेन श्लोकद्वयेन
प्रणवोपासनस्याप्युपायत्वात्तत्प्रशस्यानन्तरमुपासकस्य प्रत्यगात्मनः
स्वरूपम् ‘न जायते म्रियते वा विपश्चिदि’ त्यादिश्लोकद्वयेनोपदिष्टम् ।

स्तीक्ष्णसम्भवः” (प्रमिताक्षरासारः १।१।१९) “सिद्धान्ते कपिलानां च कार्याभिन्न्यक्ति-
वादिनाम् । मृत्तिका घटयोर्नस्यादन्वयस्तिलतैलवत् ॥ रचनानुपपत्तेश्च माया रामा-
नधिष्ठिता । जडा हि जगतो हेतुर्मन्यते न मनीषिभिः ॥ प्रधानस्य प्रवृत्तिर्हि स्वभा-
हर्षशोक का परित्याग करता है । अर्थात् एतादृश उपासक उपासना द्वारा प्राप्य को प्राप्त
करके मुक्त हो जाता है । यह श्रुति का अर्थ है ।] इस प्रकार से नचिकेता—उपस्य उपेय
देव को तथा उसकी प्राप्ति में साधन तदीय उपासन को सामान्य रूपसे जान करके विशेष
रूपसे इन सब वस्तु को जानने के लिए पुनः यमराज से पूछा । “अन्यत्रधर्मादित्यादि” [या-
गादि जनित स्वर्ग प्रापक धर्म से भिन्न निषिद्ध कर्म जनित नरकादि प्रापक अधर्म से भिन्न
जन्य तथा अजन्य अनादि प्रवाहागत से भिन्न भूत भविष्य वर्तमानिक कालत्रय परिच्छिन्न
से भिन्न जिस परमत्व को आप जानते हो उसका उपदेश हमको दो ।] इति । इसप्रकार
भूत भविष्यत् साध्य साधनसे विलक्ष वस्तु को पूछने पर सर्वप्रथम उपाय स्वरूप का ही कथन
किया । क्योंकि उपाय ज्ञान के अभाव में उपेय ज्ञान अकिञ्चित्कर प्राय ही हो जाता है ।
“सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति” यहाँ से आरंभ करके “एतदालम्बनंज्ञात्वा” एतदन्त श्लोक द्वय से
प्रणव के उपासन को उपाय साधन होने से उसका प्रशंसन करके तदनन्तर उपासक जीव के

इदञ्च श्लोकद्वयं जीवस्वरूपपरमेव 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'
 इति तस्य हन्यमानप्राकृतशरीरसम्बन्धित्वनिर्देशात् । 'उभौ तौ न वि-
 जानीत' इति तस्याज्ञेयत्वोक्तेश्च । अनन्तरम् 'अणोरणीयान्महतो मही-
 यानि' त्याग्भ्य 'क इत्थावेद यत्र स' इत्यन्तेन प्राप्यस्य परस्य
 ब्रह्मणः परमपुरुषस्य स्वरूपमुपदिशन् तदनन्यभक्त्यैवेदृशस्वरूपं
 सुसाध्यमिति तस्या अनन्योपायताप्रदर्शनार्थं मध्य एवोपासनापर-
 पर्यायभक्तेः स्वरूपमाह ततश्च 'आत्मानं रथिनं विद्धी' त्याग्भ्य
 'दुर्गं पथस्तत्कवयोवदन्ती' त्यन्तेनोपासनप्रकारमभिदधत् 'निचा-
 य्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते [का. १।३।१५] इत्यन्तवाक्येन फलनिर्दे-
 शपूर्वकमुपसज्जहार एवञ्चास्मिन् प्रकरणे त्रयाणामेव ज्ञेयत्वेनोपन्या-
 यान्ननु सम्मता । चित्रसृष्टिस्ततो जाता नारिकेलादिनीरवत् ॥ मैवं यतः प्रवर्त्तत स्व-
 भावात्प्रकृतिर्यदि । प्रलयोनोपपद्येत सृष्टिरेव भवेत्सदा' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका १।९२
 स्वरूप का "न जायते" इत्यादि श्लोक द्वय से उपदेश दिया । यद्यपि इस श्लोक द्वय को
 परमात्म स्वरूप प्रतिपादन परक कोई मानते हैं । उसका निराकरण करने के लिए भाष्यकार
 कहते हैं "इदं च श्लोकद्वय" मित्यादि "न जायते" इत्यादि श्लोक द्वय परमात्म स्वरूप का
 प्रतिपादन परक नहीं है । किन्तु जीव स्वरूप का ही निरूपण परक है । क्योंकि "न हन्यते
 हन्यमाने शरीरे" इस श्लोक के अन्तिम चरण से हन्यमान जो प्राकृत शरीर के संबन्धित्व का
 निर्देश है । प्राकृत शरीर सम्बन्ध परमात्मा में नहीं है किन्तु जीव का ही होता है । अतः
 पूर्वोक्त श्लोक द्वय जीव स्वरूप का ही निर्देश परक है । परमात्म स्वरूप निरूपण परक नहीं
 है । एवम् "उभौ तौ न विजानीतः" इसमें अज्ञेयत्व का भी कथन है । इसके बाद "अणो-
 रणीयान्" यहाँ से प्रकृत करके "क इत्थावेदयत्र सः" इत्यन्त प्रकरण से प्राप्य जो परमपुरुष
 परब्रह्म उसका उपदेश करते हुए एतादृश भगवान् का स्वरूप अनन्या भक्ति से ही प्राप्त होता
 है । क्योंकि "भक्त्या त्वनन्यया लभ्य अहं मेवं विधोऽर्जुन ! ज्ञातुं द्रु च परंतप" इत्यादि स्मृति
 कहती है । एतादृश भक्ति में अनन्योपायता का प्रदर्शन करने के लिए उपासन का अपर-
 पर्याय भक्ति के स्वरूप को कहा । इसके बाद "आत्मानं रथिनं विद्धि" यहाँ से आरम्भ करके
 "दुर्गं पथस्तत्कवयोवदन्ति" इत्यन्त प्रकरण से उपासना के प्रकार को बतलाते हुए "निचाय्य-

सः प्रश्नश्चोपलभ्यते । न ह्यत्र सांख्यतन्त्राभिमतस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ॥६॥

ॐ महद्वच १।४।७ ॐ

अत्र सांख्यसिद्धं बुद्धितत्त्वमपृथक्कृत्य ततोप्यात्मनः परस्त्वमभिहितम् 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का.१।३।१०) इत्यनेन तथा 'ज्ञान-९५) इत्यादिरूपेण पूर्वाचार्यप्रसादितदिव्यप्रबन्धतोऽनुसन्धेयो विशेषार्थिभिरितिदिक् । ६॥

बुद्धेरात्मा महान् परः इत्यादिस्थले महत् आत्मपदसामानाधिकरण्यात् आत्मपरकत्वं नतु सांख्यीयमहत्तत्त्वपरकत्वं तथैवाव्यक्तपदमपि न सांख्यीयप्रधानपरकमपितु शरीरपरकमेवेत्यत आह अत्र सांख्यसिद्धमित्यादि ।

अत्रानुसन्धेया निम्नदिव्यप्रबन्धानुगताः श्लोकाः—

सांख्यास्तु जगतोहेतुं मन्यन्ते प्रकृतिं किल ।

सुखदुःखात्मकं चाथमोहात्मकं जगद्व्यतः ॥४२॥

वर्त्तते च जगत् तस्मात् सत्त्वादित्रिगुणात्मकम् ।

प्रधानं त्रिगुणं तस्मादुपादानं च तस्य हि ॥४३॥

मृदात्मकघटस्यात्रोपादानं च मृदेव हि ।

सद्वाच्यप्रकृतिज्ञानाद्विश्वज्ञानं भवेदपि ॥४४॥

इति चेद् युक्ततानास्य रचनानुपपत्तिः ।

अचेतनप्रधानस्योपादानावगमः कथम् ॥४५॥

तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" एतदन्त वाक्य से फल निर्देशपूर्वक प्रकरण का उपसंहार किया । इसप्रकार इसप्रकरण में तीन का ही ज्ञेयत्वेन उपन्यास है । तथा तीन का ही प्रश्न भी उपलब्ध है । किन्तु सांख्यमत सिद्ध प्रधान का न उपन्यास है नवा प्रश्न है । इसलिए प्रधान का अव्यक्त शब्द से ग्रहण नहीं होता है ॥६॥

यहाँ सांख्य सिद्ध बुद्धि तत्त्व को पृथक् करके तदपेक्षया भी आत्मा में परस्त्व कहा गया है "बुद्धेरात्मा महान् परः" इसमन्त्र से । एवम् "ज्ञानमात्मनि महति, इससे ज्ञानपदवाच्य बुद्धि को आत्मा से पृथक् निर्देश किया है । तो इसप्रकार से यहाँ श्रुत जो महत् शब्द है

मात्मनि महति' (का. १।३।१३) इत्यनेनापि ज्ञानपदाभिधेय बुद्धे
रात्मनो महतः पृथङ्निर्देशः । तथा चेह श्रुतस्य महच्छब्दस्यात्मशब्द
सामानाधिकरण्यादात्मपरत्वमेवेष्टव्यम् । न तान्त्रिकमहत्तत्त्वपरम् ।
तथाऽव्यक्तमपि नाऽप्रासङ्गिकप्रधानपरमपि तु स्वरूपकशरीरपरमेवेति

वैषम्यं च कथं सृष्टेः कर्माज्ञानाच्चदेहिनाम् ।

रजः सत्वसुयोगाच्च क्रियाज्ञानोभयं नहि ॥४६॥

चेतन एव तद्योगात् क्रियाज्ञानद्वयं यतः ।

अचिज्ज्ञानात्कथं ज्ञानं भवेच्चिदचिदात्मकम् ॥४७॥

नाचेतनं जगत् किन्तु चेतनाचेतनात्मकम् ।

अचेतनं प्रधानस्याच्चेतनकारणं कथम् ॥४८॥

कथं नु चेतनं ब्रह्माचेतनकारणं भवेत् ।

मैवं चिताऽचिता यस्माद् विशिष्टं ब्रह्मसंमतम् ॥४९॥

उपादानं मतं ब्रह्म चिदचिद्भारकं यतः ।

प्रकारांशे विकारस्तद् ब्रह्मणो निर्विकारता ॥५०॥

चेतनेनानधिष्ठाने प्रवृत्तिः प्रकृतौ कथम् ? ।

दधिस्वरूपतां याति चेश्वराधिष्ठितं पयः ॥५१॥

सर्वस्येशनियन्तृत्वं योऽप्स्वादिकश्रुतौ श्रुतम् ।

अचेतनगुणानां तु मिथश्चाङ्गाङ्गिता कथम् ॥५२॥

पुरुषसन्निधौ चेत्सा तथा स्यात् सृष्टिनित्यता ।

पुंसः प्रवर्तकत्वे तस्यौदासीन्यं न सम्भवेत् ॥५३॥

नस्यात्साम्यदशातेषां गुणानां च स्वतः च्युतौ ।

तदानीमितराभावाच्चेतरस्यान्न सा च्युतिः ॥५४॥

मतं सर्वत्र वेदान्ते जगतो ब्रह्मकारणम् ।

सद्वाच्ये लीयते चात्मासद्वाच्या प्रकृतिर्नतत् ॥५५॥

उसको आत्मा पदके साथ सामानाधिकरण्य होने से महत् शब्द आत्मपरक ही है । नतु
साक्षात्प्रामाण्यमिमत महत्तत्त्वपरक है । तथा अव्यक्त पद भी अप्रासंगिक प्रधानपरक नहीं है
किन्तु रथोपमित शरीरपरक है । इसलिये स्वातन्त्र्येण प्रधान को जगत् कारणता नहीं है ।
परन्तु परमपुरुष को ही जगत् कारणत्व है । यहाँ जो प्रधान में जगत् कारणता का प्रतिषेध

नानुमानिकप्रधानस्य जगत्कारणत्वं किन्तु परमपुरुषस्यैव तदिति
निश्चयम् ॥७॥

इति श्रीआनन्दभाष्य आनुमानिकाधिकरणम् ।

अथ चमसाधिकरणम् ॥२॥

५ चमसवदविशेषात् १।४।८ ५

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—‘अजामैकां लोहितशुक्लकृष्णां
‘तदैक्षते’ तिसद्वाच्य ईक्षणं हि यतः श्रुतम् ।

सद्वाच्याप्रकृतिस्तस्यादीक्षणाभावतो नहि ॥५६॥

चेतनस्य हि धर्मस्य सर्वसम्मतमीक्षणम् ।

कदाचिच्च कथञ्चिन्न प्रकृतौ तस्य सम्भवः ॥५७॥

तेजस्य चेतने चापि ‘तत्तेज ऐक्षते’, इति ।

ईक्षणं च मतं गौणं प्रकृतौ तद्वदेव नु ॥५८॥

मैवमुत्तरवाक्येषु चात्मशब्दः श्रुतो यतः ।

स चेतनस्ततस्तस्य चैक्षणं मुख्यमेव हि ॥५९॥

‘तत्तेज ऐक्षताच्चादावन्तर्यामिण ईक्षणम् ।

मुख्यमेव तु तच्चापि तेजोऽन्तस्थोहि चेतनः ॥६०॥

सच्छब्दवाच्यनिष्ठस्य मोक्षस्य चोपदेशतः ।

जगद्धेतुः परब्रह्म सद्वाच्यं प्रकृतिर्नहि ॥६१॥ इति ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आनुमानिकाधिकरणम् ।

ननु अजामैकमित्यादि कथितस्य न जायते इत्यर्जुनोक्त्योक्तं संगृहीतस्य प्रधान-

किया है वह स्वातन्त्र्येण जगत् कारणता का निषेध है । परमपुरुष शरीर रूप से तो प्रधान
में भी कारणता है । “आत्मन्मायीसृजते” इसश्रुति से भगवान् के शेष रूपसे तो कारणता
है ही यह केवल स्वातन्त्र्येण निषेधपरक प्रकरण है ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आनुमानिकाधिकरणम्

श्वेताश्वतरोपनिषत् में सुनने में आता है “जो अनुत्पन्न अज एक सत्त्व रजस्तमोगुणा-
त्मक समान रूपक प्रज ओ उत्पन्न करनेवाली प्रकृति है । एक अजपुरुष भोगापवर्ग की

वह्नीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे. ४।५) इति संशयः । किम-
त्राप्यजाशब्देन सांख्योक्तस्वातन्त्र्येण प्रधानमुच्यत आहोस्विद्
ब्रह्मात्मकमिति । किं युक्तम् ? सांख्याभिमतं केवलं प्रधानम् । कुतः ?
अजामिति तस्याजाततयाऽन्यकार्यत्वाऽनुपपत्तेः । लोहितशुक्ल
कृष्णामिति रजः सत्त्वतमोगुणात्मकस्य तस्य सरूपाः रजः सत्त्वतमो-
रूपाः प्रजाः सृजमानामिति स्वातन्त्र्येण स्वसमानरूपसर्वप्रजास्रष्टृ-
त्वश्रवणाच्चेत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

चमसवदविशेषादिति । यथा 'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'
(बृ. ४।२।३) इति मन्त्रोक्तश्चमसशब्दः कस्य पदार्थविशेषस्य वाचक
इति न निश्चयो भवति । 'यथेदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्व
बुध्नः' (बृ. ४।२।३) इति वाक्यशेषाच्चमसशब्दः शिरोवाचक इति
निर्णयो भवति । तथा न जायत इत्यजेति यौगिकत्वेनाजेति सामा-
न्यशब्दः सांख्याभिमतं प्रधानं वदति ब्रह्माधीनाम्प्रकृतिं वेति न
स्यैव ग्रहणं नतु ब्रह्मात्मिकाया ब्रह्मशक्तेर्ग्रहणमिति सांख्याभिमतस्यवेति पूर्वपक्षस्य निरा-
साय चमसवदविशेषानेयं श्रुतिः प्रधानस्याजात्वं बोधयति किन्तु ब्रह्मशक्तिरूपाया
एव ग्रहणमिति बोधयितुमुपक्रमते श्वेताश्वरोपनिषदीत्यादि अजामेकामिति श्रूयते । तत्र
सिद्धि के लिए उस प्रकृति का अनुसरण करते हैं । और कोई तदन्य भुक्त भोगी पुरुष
उसका परित्याग करता है' । यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ अजाशब्द से सांख्याभिमत
स्वतन्त्र प्रधान का कथन होता है अथवा ब्रह्म शक्तिभूत ब्रह्मभिन्न प्रकृति शब्द का कथन
होता है ! यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि योगार्थ को लेकर के अजापदवाच्य सांख्याभिमत प्रधान
है । क्योंकि अजाशब्द अजन्यत्व रूप अर्थ को कहता है । तो अजन्य है वह जो किसी
से जन्य नहीं होता है जैसे न्याय मतमें आकाशादि । तथा लोहित शुक्ल कृष्णाम रजो-
गुणात्मक अनेक प्रजा का उत्पादन करने पैदा करनेवाला प्रधान है । अर्थात् सजातीय सर्व
प्रजा का स्वातन्त्र्येण उत्पादन कर्तृत्व का श्रवण है । इससे सिद्ध होता है कि यहाँ अजा

निश्चीयते । परन्तु 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे. ६।३) इत्युपक्रमवाक्यात् 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिञ्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' (श्वे. ४।९) इत्यादि वाक्यशेषाच्चाजाशब्देन ब्रह्मशक्ति-भूता ब्रह्मात्मिका प्रकृतिरभिधीयते । इत्येतच्च प्रकरणादिभ्य एवावगम्यते । तस्मादत्र मन्त्रोऽजाशब्देन न सांख्यमतसिद्धं प्रधानमभिधीयते ॥८॥

परमात्मशरीरभूता प्रकृतिरेव प्रकृतेऽजाशब्देन गृह्यत इति हे त्वन्तरेणापि द्रष्टव्यम्—

ज्योतिरूपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके १।४।९

तु शब्दोऽवधारणार्थकः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा. ६।२।१) इत्यत्र सच्छब्दवाच्यं ज्योतिः स्वप्रकाशब्रह्मैव 'ज्योतिषां ज्योतिः' सांख्याभिमतस्य प्रधानं ब्रह्मशक्तिभूताया वा ग्रहणमिति । अजाशब्देन प्रधानस्यैव ग्रहणमिति निश्चायकाभावात् वाक्यशेषाच्च ब्रह्मशक्तेरेव ग्रहणमिति सिद्धान्तं दर्शयति चमसवदित्यादि ॥८॥

श्वेताश्वतरीयमन्त्रे अजाशब्देन न प्रधानस्य ग्रहणं तन्निर्णायकप्रमाणाभावात् । पदवाच्य स्वतन्त्र प्रधान है । इसके उत्तर में कहते हैं "चमसवदित्यादि" जिसतरह "अ-वांगूविलः" इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित चमसशब्द किसी पदार्थ विशेष का निश्चायक नहीं है । तथा "यथेदं तच्छिः" इत्यादि वाक्यशेष से विशेष वाचक है ऐसा निश्चय होता है । इसीतरह प्रकृत में "न जायते इति अजा" इसप्रकार यौगिक अजा यह समान्य शब्दसांख्याभिमत प्रधान अथवा ब्रह्माधीन प्रकृति का निश्चायक नहीं है किन्तु "देवात्मशक्तिम्" इस उपक्रम वाक्य "अस्मान्मायी सृजते" इस वाक्यशेष के बल से ब्रह्मशक्ति लक्षण ब्रह्मात्मक प्रकृति को बतलाता है । यह सब प्रकरणादि से अवगत होता है । इसलिए श्वेताश्वतर के मन्त्र में अजाशब्द से सांख्योक्त प्रकृति का कथन नहीं है । किन्तु यथोक्त ही है ॥८॥

सांख्यतन्त्राभिमत प्रधान का अजा शब्द से ग्रहण नहीं होता है । किन्तु सर्वे चिद-चिच्छरीरक परमात्मा के अवयव भूत मायादि पर्याय रूप प्रकृति का ही प्रकृत में अजाशब्द

(बृ.६।४।१६) ‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते’ (छा.३।१३।७) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः । तदेव चोपक्रम आदिकारणं यस्या लोहित शुक्लकृष्णरूपाया अजायाः सा ज्योतिरूपक्रमाब्रह्मशक्तिभूता ‘देवात्मशक्ति’ मिति श्रुतेर्ब्रह्मकारणिका लोहितादिरूपैवेहाजा निर्धारणीया न सांख्याभिमतं स्वतन्त्रं प्रधानम् । तथा ह्यधीयत एके । हि यस्मादेके छन्दोगा यथाऽजायालोहितशुक्लकृष्णरूपत्वादिकं प्रकृते ‘अजामेकामि’ति मन्त्रेऽभिहितं तथा लोहितादिरूपत्वादिकं तस्याः ब्रह्मकारणिकाया मायाया अधीयन्ते । मायिना सदाख्येन किन्तु चमसवत् परमात्माधीनमायाया एवाजाशब्देन ग्रहणं भवति तत्र हेत्वन्तरेण तं द्रव्यितुमुपक्रमते परमात्मशरीरभूतेत्यादि अत्र परमात्मनोऽवयवभूतातेजोऽन्नादिलक्षणा से ग्रहण होता है । इस बात को हेत्वन्तर से दृढ करने के लिए सूत्रकार कहते हैं “ज्योतिरूपक्रमात्” इत्यादि । सूत्रघटक जो तु शब्द है वह सूत्र से बहिर्भूत पूर्वपक्ष के निराकरण परक है । प्रश्न के स्वरूप को भाष्यकार ने अवतरण ग्रन्थ से ही संकेत किया है । सूत्रार्थ को बतलाने के लिए कहते हैं “सदेवेत्यादि” “हे सोम्य ! जडचेतन लक्षण यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व में सदात्मक अर्थात् सत्त्वक्षण ब्रह्म से अभिन्न रूपसे अवस्थित था । इस श्रुति से वाच्य स्व प्रकाश लक्षण ब्रह्म ही है ।” “ज्योतियों का भी ज्योति” इसके ऊपर जो दीत होता है इत्यादि श्रुति प्रदिष्ट ब्रह्म ही सत्पद वाच्य हैं । तादृश ब्रह्म उपक्रम आदि कारण जिस लोहित शुक्ल कृष्ण रूप अजा का उसको ज्योति रूपक्रमा ब्रह्म की शक्तिभूता देवात्मशक्ति” इत्यादि श्रुति है । श्रुतिसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म कारिणी का लोहितादि रूपा अजा ही निर्धारित होता है । नतु सांख्याभिमत स्वतन्त्र प्रधान अजा पद वाच्य है । “तथा ह्यधीयते एके” यस्मात् एक छान्दोग शाखावाले जिसतरह लोहित शुक्ल कृष्ण रूपक “अजामेकाम्” इसप्रकृत मन्त्र में कहते हैं । उसीतरह ब्रह्म कारण का माया का भी शुक्ल कृष्णादि रूपक कहते हैं । मायी सदाख्य ब्रह्म भी अजा माया के द्वारा ही सृष्टि का विस्तार करते हैं । तथाहि—“तदैक्षत” यह उपक्रम करके तेज जल अन्न का कारण तथा भौतिक कार्यों का प्रकृति [उपादान] लक्षण उसी लोहितादि रूप अजा का ही स्फुट रूपसे कथन किया है । “यदनेलौहितम्” इत्यादि कार्य में भी लोहितादि रूपकी प्राप्ति कारणावस्थ अजा के कारणता पक्षमें ही हो सकती है । इसलिए ब्रह्मलक्षण शक्ति ही का प्रतिपादन किया जाता है । तथा प्रकृत में भी

ब्रह्मणा च तस्याः सकाशादेव सृष्टिर्वितन्यत इत्यपि । तथा हि—
 'तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय' इत्युपक्रम्य तेजोऽबन्नानां कारणभूतां भौति
 ककार्यप्रकृतिभूतां तामेव लोहितादिरूपां स्फुटमधीयन्ते । 'यदग्ने
 रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदमां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा.
 ६।४।१) इत्यत्र कार्येषु लोहितादिरूपावाप्तिः कारणावस्थायास्तथा
 त्व एवेति ब्रह्मात्मिका शक्तिरेवात्र प्रतिपाद्यते । तथा प्रकृतेऽपि
 "किं कारणं ब्रह्म (श्वे. १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अप-
 श्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् [श्वे. १।३] इति जगदुत्पत्तौ
 किमुपकरणवद् ब्रह्मेति विमृश्यते ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्येन योगे-
 नानुगताः परमात्मानमनुप्रविष्टास्सन्तस्तस्यैव देवस्यात्मभूतामैक्येन
 स्थितां मायाशक्तिं सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयवतीं परमात्मनो जगन्नि-
 र्माणे सहकारिणीमपश्यन्ति । परमात्मशक्तेरजाशब्दाभिहिताया

परमात्मनः कार्यकरणे तत्सहकारिलक्षणाततोऽभिन्ना परमात्मनः शक्तिरूपैवाजाशब्द-
 वाच्या नतु सांख्यमतसिद्धा स्वतन्त्रा काचित् प्रधानापरपर्यायेति यदग्रेरोहितम् इत्यादि
 "किं कारणं ब्रह्म" यह उपक्रम करके 'ते ध्यानयोगतः' इति जगत् के उत्पादन करने में कीदृश
 उपकरण विशिष्ट ब्रह्म है ये ब्रह्मवादी लोग ध्यानाख्य योग से अनुगत होकर के अर्थात् योग
 माहात्म्य से परमात्मा में अनुप्रविष्ट होते हुए उसी परमात्मा के आत्मभूत एकरूप से व्य-
 वस्थित सत्त्व रजस्तमोगुणत्रयवती माया शक्ति को जगत् निर्माण करने में सहकारिणी परमात्मा
 की माया शक्ति का साक्षात्कार किया है । अर्थात् परमात्मा जगत्का निर्माण करते हैं । उस
 समय में देवात्मभूत परमात्मा की शक्ति ही सहकारिका है ऐसा निश्चय वे लोग किये ।
 जिसतरह घटोत्पादन में कुलाल का सहकारी दण्डादिक भी तादृश घटादि कार्य का जनक
 होता है । उसीतरह सहकारिणी परमेश्वर के सहकारिणी शक्ति भी जनक है । इसतरह अजा
 शब्दवाच्य परमात्मा शक्ति को जो कि जगत् कारण रूपसे कथित है उस शक्ति में
 तादृश शक्तित्व रूपसे परमात्मकत्वं तथा परमात्माधीन स्वरूप स्थितिकत्वं का निर्देश करके वाक्य
 शेषमें "अस्मान् मायी" इससे परमात्मा को मायावान् होने से मायाधीशत्व अवगत होता है ।
 अतः एतादृश परमात्म शक्तिभूत प्रकृति शब्दवाच्य का 'अजामेकाम्' इस मन्त्र से कथन

जगत्कारणत्वेनोक्ताया परमात्मशक्तित्वेन तदात्मकत्वं तदधीनत-
त्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वञ्च निर्दिश्य वाक्यशेषे 'अस्मान्मायी सृजते
विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्योमाययासन्निरुद्धः' [श्वे०४।९।] 'मायान्तु प्रकृ-
तिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' [श्वे०४।१०।] इति परमात्मनो मायि-
त्वेन मायाधीशत्वावगमात् । अतस्तस्या एव मायायाः प्रकृतिश-
ब्दाभिहिताया परमात्मशक्तेः 'अजामेकाभि' तिमन्त्रेणाभिधानात्
नहि परतन्त्रसिद्धं केवलं प्रधानमत्र जगत्कारणतया प्रतिपाद्यते ॥९॥

नन्वजाया ज्योतिरुपक्रमात्वे ब्रह्मकार्यत्वात्तस्या ह्यजात्वमेव
न स्यादित्याह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः।१।४।१०

च शब्दः शङ्कापरिहारार्थः । परमात्मायत्तप्रकृतेर्ज्योतिरुपक्रमा-
विविधश्रुत्यनुमोदितं साधयितुं भाष्यकारः सूत्राभिप्रायं स्वशब्देन प्रकाशयितुमाह तु शब्दो
ऽवधारणे इत्यादि ॥९॥

ननु येयं परमेश्वराश्रिता प्रकृतिः सा जन्या अजन्या वा । प्रथमे पक्षे अजामेका-
किया है । नतु सांख्याभिमत स्वतन्त्र प्रधान में जगत् कारणता का प्रतिपादन किया जाता
है । अर्थात् परमेश्वर, शक्तिभूत माया में परमेश्वराश्रितत्वं जगत् कारणता का प्रतिपादन
'अजामेका' मन्त्र करता है । नतु केवल प्रधान में 'अजामेका' यह मन्त्र कारणता का प्रतिपादन
करता है । अतः मन्त्रोक्त अजाशब्द से सांख्योक्त प्रधान का ग्रहण नहीं होता है । किन्तु
वेदान्तोक्त माया ही अजा शब्दवाच्य है ॥९॥

यदि परमेश्वर शक्ति रूप प्रकृति को अजा नित्यमाने तब तो उसशक्ति में ज्योति
रूपक्रमात्वे ब्रह्मरूप कारण जन्यत्व होने से अजात्व नित्यत्व नहीं होगा । क्योंकि जो कार्य
होता है वह तो अजन्य नहीं होता है । इस आशंका के उत्तर में सूत्रकार करते हैं "कल्प
नोपदेशादित्यादि" सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम कहते हैं "च शब्दः"
इत्यादि । सूत्र घटक जो च शब्द है वह शंका का परिहारपरक है । सर्वज्ञ परमकारण जो

त्वेऽप्यजात्वमस्येव । कुतः ? कल्पनोपदेशात् । कल्पनस्य सर्गस्यो-
पदेशात् । ‘धाता यथा पूर्वमकल्पयत्’ [शु०५०] ‘सर्गादौ भगवान्
धाता यथा पूर्वमकल्पयत्’ इत्यादौ कल्पयतेः सृष्टावपि प्रयोगदर्श-
नात् । सर्गः सृष्टिः । तथा च ‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्’
[श्वे०४।१।] इत्यादिषु जगत्सर्ग उपदिश्यते । एतदुक्तमभवति ।
परमपुरुषाधिष्ठितायाः प्रकृतेर्कार्यकारणरूपेणावस्थाद्वयं वेदान्तेषूप-
दिश्यते । तत्र स्वाविभक्तनामरूपादस्मादव्याकृतात्कारणावस्थात्का-

मित्यादिश्रुतिविरोधः स्यात् । द्वितीये ज्योतिरूपक्रमत्वं न स्यात् नहि नित्यस्य ब्रह्मजन्य-
त्वं युक्त्यादिसिद्धम्, इत्याशङ्कान्वयवच्छेदायोपक्रमते नन्वजायाज्योतिरूपक्रमत्वे इत्यादि
अयमाशयः येयमीश्वराश्रिताप्रकृतिः सा अविभक्तनामरूपा अजन्या सैव च विभक्तनाम-
रूपा सा जन्या तथा चैकत्रैवावच्छेदकभेदेनोभयोर्यजन्यत्वाजन्यत्वयोः समावेशे नक्षति-
परमात्मा उनके अधीन जो प्रकृति है उसको ब्रह्म जन्य होने पर भी उस प्रकृति में अजात्व
का व्याघात नहीं होता है । क्योंकि कल्पना का उपदेश होने से यहाँ कल्पन शब्द
का अर्थ है सर्ग अर्थात् कल्पन पदवाच्य सृष्टि का उपदेश होने से तादृश अजा में अजात्व
है ही । जब उक्त प्रकृति ब्रह्म कार्य हैं तब उसमें अजात्व किसतरह से हो सकता है !
इस बात को स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं “धातायथेत्यादि” “जगत् सर्जक
धाता प्रजापते ने पूर्व सर्ग सदृश सर्ग को बनाया” सर्ग के आदि काल में भगवान् धाता ने
यथा पूर्वक अल्पन किया है । इस श्रुति में कल्प धातु का प्रयोग सर्ग रूप अर्थ में भी
किया गया है ऐसा देखने में आता है । सर्ग का अर्थ है सृष्टि “अस्मान्मायी” [मायी
भगवान् माया के बल इस विश्व को सृजित करते हैं] इत्यादि स्थल में जगत् सर्ग का उपदेश
देखने में आता है । इससे यह कहा जाता है कि परम पुरुष से अधिष्ठित जो प्रकृति तादृश
प्रकृति का कार्य तथा कारण रूपसे अवस्थाद्वय का वेदान्त में उपदेश देखा जाता है । उसमें
स्व से अविभक्त नामरूपक अव्यक्त कारणावस्थ लक्षण कारण से मायो परमेश्वर विश्व को
उत्पन्न करते हैं । उसके बाद उपचित सत्त्वरजस्तमोगुणक होने से वही अव्यक्त शब्दवाच्य
प्रकृति कार्यावस्था को प्राप्त करके विभक्त नाम रूपक होने से तेज जल तथा अन्न लक्षण
परिणाम को प्राप्त करके लोहित कृष्णरूपा हो जाती है । तब एतादृश भगवदधिष्ठित प्रकृति

रणान्मायी परमेश्वरो विश्वमुत्पादयति । तदनन्तरमुपचितसत्वरज-
स्तमोगुणतया सैवाव्यक्तशब्दवाच्या कार्यावस्थाम्प्राप्य विभक्त-
नामरूपतया तेजोवन्नादिलक्षणपरिणतिमवाप्य लोहित शुक्ल
कृष्णरूपासम्पद्यते । एवञ्चास्या भगवदधिष्ठितप्रकृतेः कारणा-
वस्थाया अजात्वेन व्यपदेशः कार्यावस्थायाश्च ज्योतिरुपक्रमात्वेनेति
न कश्चिद्विरोधः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—मध्वादिवदिति—यथा
'असौ वा आदित्योदेव मधु' [छा०३।१।] इत्यादावादित्यादेः कार-
णावस्थायां मध्वादिव्यपदेशानर्हात्यन्तसूक्ष्मरूपेण स्थितस्य कार्याव-
स्थायां वस्वादिभोग्यरसाधारत्वेन मधुत्वं कार्यत्वञ्च न विरोधावहम् ।
एवमेकस्या एव प्रकृतेरवस्थाभेदाद्विरोधः तस्मादस्मिन्मन्त्रे ब्रह्म-
कारणिकैवाजाभिधीयते न तन्त्र सिद्धेति सिद्धम् ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये चसमाधिकरणम् ॥२॥

घटादिवदिति । यथा द्रव्यत्वेन नित्यत्वं घटत्वेनानित्यत्वं तथैव प्रकृते । यथावा पृथिवी
त्वाव्याप्यधर्मापेक्षया द्रव्यत्वे परत्वं सत्तापेक्षया अपरत्वं तथैवात्रापीति । नचानेकान्त
वादापत्तिः तस्य समाध्यास्यमानत्वादितिदक् ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपेचमसाधिकरणम् ॥२॥
की जो कारणावस्था है उसका अजा शब्द से व्यवहार होता है । और उस प्रकृति का जो
कार्यावस्था है उसको ब्रह्मजन्य अर्थात् ब्रह्म कारणीका कहते हैं । इसलिए अजात्व तथा ब्रह्म
कारणिकत्व में कोई विरोध नहीं है ।

इस विषय में दृष्टान्त बतलाते हैं “मध्वादिवदिति” जिसतरह “असौ वा आदित्य” इस
जगह में आदित्यादिक को कारणवस्था में मधुव्यपदेशायोग्य अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे स्थित को
कार्यावस्था में वस्वादि के भोग योग्य साधारण रूपसे मधुत्व तथा कार्यत्व विरोध जनक
नहीं होता है । उसीतरह एक ही परमेश्वराधिष्ठित प्रकृति के अवस्था भेद से विरोध नहीं
होता है । इसलिए “अजामेकमित्यादि” मन्त्र में ब्रह्मकारणिक अजा का ही कथन किया
जाता है किन्तु सोख्यमत सिद्ध प्रकृति का ग्रहण नहीं होता है । स्वतन्त्र रूपसे प्रधान में
कार्यकारित्व का निराकरण किया गया है । किन्तु ब्रह्माश्रितगुणभूत रूपसे
निराकरण नहीं है ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेचमसाधिकरणम् २

अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

न संख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च

॥१॥४॥१॥१॥

बृहदारण्यके 'तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' इत्यस्यानन्तरं श्रूयते 'यस्मिन् पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं वदन् ब्रह्मा मृतोऽमृतम्' [बृ० ४।४।१७] 'प्राणस्य प्राणम्' [बृ० ४।४।१८] इति । तत्र संशयः । किमत्र पञ्चपञ्चजना इति सांख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ग्राह्याणि, आहोस्विद्राक्ष्यशेषे श्रुतावेदान्ताभिमतः प्राणादय इति । किं युक्तम् ? तान्त्रिकाणि पञ्चविंशतितत्त्वानीति । कुतः ? पञ्चपञ्चजना इति नियतसंख्यया पञ्चशब्दविशेषितपञ्चजनवाच्यघटक्या पञ्चविंशतितत्त्वाना-

अथ यस्मिन् पञ्चपञ्चजना इत्यादिमन्त्रपञ्चविशेषितपञ्चजनपदेन पञ्चविंशति

यद्यपि अज्ञा मन्त्र से सांख्यमत का निराकरण होगया तथापि मन्त्रान्तर के बल से पुनः सांख्यवादी उपस्थित होते हैं । उनका निराकरण तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "बृहदारण्यके श्रूयते" इत्यादि । बृहदारण्यकोपनिषत् में सुनने में आता है कि "ज्योतिषों का ज्योति आयु और अमृत ब्रह्म का उपासन करते हैं" इसके बाद पुनः सुनने में आता है "जिसमें पाँच पाँचजन तथा आकाश प्रतिष्ठित है । उसी को मैं आत्मा समझता हूँ जो कि अमृत स्वरूप है" प्राण का भी प्राण है" इत्यादि । इसमें संशय होता है कि यहाँ 'पञ्च पञ्चजना' इस वाक्य से सांख्याभिमत पचीस तत्त्वों का ग्रहण होता है । अथवा वाक्यशेष में श्रुत वेदान्ताभिमत प्राणादिक तत्त्वों का ग्रहण होता है । इसमें सांख्याभिमत पञ्चविंशति तत्त्वों का ग्रहण करना ही ठीक है । क्योंकि 'पञ्च पञ्चजना' यहाँ पञ्च शब्द से विशेषित पञ्चजन वाच्य घटक नियत संख्या से पञ्च विंशति तत्त्वों का ही नियतः प्रतीति होती है । कपिल सिद्धान्तवादियों ने मूल प्रकृति सात प्रकृति विकृति सोलह विकार तथा पुरुष इन पचीस तत्त्वों का स्वरूप कथन तथा परिगणन किया है । उसमें जो

मेव प्रतीतेः । कापिलाश्च 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः
सप्ताषोडशकस्तु विकारेण न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः' [सांख्यका० ३] इति
तत्त्वानां परिगणनं स्वरूपञ्चाहुः तत्राकार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृ-
तित्वम् । कार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृतिविकृतित्वम् । प्रकृतिविकृत्योः
साक्षात्कार्यत्वं विकृतित्वमकार्यत्वे सत्यकारणत्वञ्च पुरुषत्वमिति तल-
क्षणानि विनिर्दिश्य मूलप्रकृतिरेका प्रकृतिविकृतयः सप्त । कारिकायां
तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च तथा च विकृतय एव षोडश पुरुषश्चैक
इति विभज्य पञ्चाविंशतितत्त्वान्यभिदधुः । तत्र पञ्चपूर्य इतिवत्प-
ञ्चानां जनानां समूहाः पञ्चजनाः । पुंनिर्देशश्छान्दसः । कति
संख्याकास्ते समूहा इति निर्णयाय पूर्वपठितपञ्चशब्दार्थेन ते
विशेष्यन्ते । तथा च पञ्चजनशब्दबोधिताः पञ्चेत्यन्वये पञ्चपञ्चजना

संख्या प्राप्यते पञ्चपूर्यवत् संख्याया संख्येयाश्रितत्वात् पञ्चाविंशतिपदार्थाः संगृहीता
भवन्ति तानि च तत्त्वानि प्रकृत्यादिकानि सांख्ये तन्त्रे प्रतिपादितानि भवन्तीति, न
किसी का कार्य न हो नया सब का कारण होता हो उसको प्रकृति कहते हैं । जो किसी
का कार्य होकर के जो कारण हो उसको प्रकृति विकृति कहते हैं । महदादिक प्रकृति विकृति
का जो साक्षात् कार्य हो उसको विकृति कहते हैं । तथा जो किसी का कार्य न हो नया
किसी का कारण हो उसको पुरुष कहते हैं । इसप्रकार से इन तत्त्वों का लक्षण को बतला
करके मूल प्रकृति एक है । प्रकृति विकृति सात हैं । विकार सोलह हैं । कारिका में 'तु'
शब्द अवधारणार्थक तथा भिन्न क्रमार्थक है । इससे यह फलित होता है । विकृति सोलह
ही हैं और पुरुष एक प्रकारक ही है । इसप्रकार विभागपूर्वक पञ्चाविंशति तत्त्वों का कथन
किया है । उसमें पञ्चपूरी की तरह पाँचजन का जो समूह उसको पञ्चजन कहते हैं ।
समाहार समास होने पर यद्यपि नपुंसक लिङ्ग होता है । तथापि प्रकृत में जो पञ्चजना ऐसा
पुंलिङ्ग निर्देश है वह छान्दस होने से इसलिए भाष्यकार ने कहा है 'पुंनिर्देशश्छान्दसः' पञ्च
जन का जो समूह है वह कितनी संख्या का है ! इसके निर्णय करने के लिए पूर्वपठित पञ्च शब्द से
पञ्चजन को विशेषित किया गया है । तब जनशब्दोपबोधित जो पाँच इसप्रकार से अन्वय कर
'पञ्च पञ्चजना' यह प्रयोग है । 'पञ्च पञ्च पूर्यः' इसके समान सोख्य तन्त्राभिमत

इति पञ्चपञ्चपूल्य इतिवत्पञ्चविंशतिसंख्याकानि तत्त्वानि सांख्याभि-
मता न सिद्ध्यन्तीति प्राप्तेऽभिधीयते-

‘न सांख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्चेति । अत्र
पञ्चपञ्चजना इत्यनेन सांख्यतन्त्रानुसारेण पञ्चविंशतिसंख्योपस-
ङ्ग्रहादपि न तत्तन्त्राभिमततत्त्वानि प्रतीयन्त अपितु प्राणादय एव
कुतः ? नानाभावात् । कापिलतन्त्राभिमतैभ्यस्तत्त्वैभ्य एषां पञ्च
विशेषितपञ्चपञ्चजनानां पृथग्भावात् । तथाहि-‘यस्मिन् पञ्चजना
आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्’
इत्यत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यस्मिन् पञ्चपञ्चजना प्रतिष्ठिता इति
यच्छब्दावगतब्रह्माधारतयोक्तानां तेषां ब्रह्मात्मकत्वं निश्चीयते ।
‘तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मे’ ति तच्छब्दपरामर्शेन यच्छब्दा-
वगतं ब्रह्मैव । सांख्यमते तेषां ब्रह्माधारत्वाऽनङ्गोकारेण तदभिमत
तत्त्वानामत्र प्रतिपादकत्वासम्भवात् । एवं सर्वाधारब्रह्माकाशयोः
पञ्चविंशतितत्त्वभिन्नत्वेनाभिहितयोः पञ्चविंशतिसंख्यातिरेकाच्च
पञ्चविंशतिसंख्यापरिग्रहेपि न सांख्यसिद्धतत्त्वस्यात्र समावेशः, नानाभावादति-
रेकाच्च । अयमाशयः यदि पञ्चपञ्चजनेन सांख्योक्तस्य ग्रहणं तदा तत्पार्थक्येनात्मा-
पञ्चविंशति संख्याक प्रकृति प्रभृतिक तत्त्वों की सिद्धि होती है । ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।

इसके उत्तर में कहते हैं ‘न सांख्योपसङ्ग्रहादपीत्यादि’ प्रकृत में ‘पञ्च पञ्चजना’ इस
से सांख्य सिद्धान्तानुसार से पञ्चविंशति संख्या का संप्रह होने पर भी सांख्यतन्त्राभिमत
प्रकृति प्रभृति तत्त्वों का संप्रह नहीं होता है । अपितु प्राणादिक का ही ग्रहण होता है ।
क्योंकि नानाभाव होने से अर्थात् कापिलतन्त्राभिमत तत्त्वों से इन पञ्च विशेषित पञ्चजनों
को पृथक् होने से । तथाहि ‘जिसमें पञ्चजन पाँच तथा आकाश प्रतिष्ठित है उसको आत्मा
समझना हूँ जो कि विद्वान् अमृत ब्रह्म है।’ यत् तथा तत् शब्द को नित्य सम्बन्ध होने से अर्थात् यत्
पद से जिसका ग्रहण होता है नियमतः तत्पद से भी उसी का संप्रह होता है । तो ‘यस्मिन् पञ्च
पञ्चजना’ इसमें यत् शब्द से अवगत ब्रह्म है । आचार ‘जिनका तेन रूपेण कथित उन
पदार्थों में ब्रह्मरूप का निश्चय होता है । अब ‘तमेवमन्य आत्मानम् तत् शब्द के परामर्श’

न तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादकत्वं तेषाम् ।

एतदुक्तम्भवति । ब्रह्माधारतयोक्तानां पञ्चानां पञ्चजनानां ब्रह्माधेयत्वेन तदाश्रितत्वात्तत्परतन्त्राणां प्रकृत्यादीनां सांख्यैरनङ्गीकारेणापसिद्धान्तात् । पुरुषशब्दाभिहितस्यात्मन आकाशस्य च पृथक्कथनवैयर्थ्याच्च । तयोरपि पञ्चविंशतितत्वान्तर्गतत्वेनाभ्युपगमात् नास्मिन् मन्त्रो सांख्यतत्त्वप्रतिपादनमपि तूत्तखाक्ये श्रूयमाणप्राणादीनामेवा यस्मिन्निन्युक्ते ब्रह्मण्यात्मनि प्राणादीनां सम्बन्धस्य सम्भवात् । 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिवाक्यैः परमात्मनः प्राणादिनियामकत्वाभिधानात् प्राणेश्वरयोर्नियम्यनियामकभावाद् ब्रह्माधारत्वं तेषां सुतरां सम्पद्यत इति ।

न संख्योपसङ्ग्रहादपीत्यपिशब्देन वस्तुतोऽत्र पञ्चविंशति

काशयोः पार्थक्येन ग्रहणानुपपन्नमापद्येत तस्मानात्र समाहारः किन्तु संज्ञार्या समासः से यत् शब्दावगत ब्रह्म हो है । परन्तु सांख्यमत से उन पदार्थों को ब्रह्माधारक नहीं मानते हैं । अतः सांख्याभिमत पदार्थों का प्रतिपादन संभवित नहीं है । एवं 'पञ्चविंशति तत्त्वों से भिन्नत्वेन अभिमत ब्रह्म तथा आकाश को पञ्चविंशति से भिन्न होने से सांख्य सिद्धान्त सिद्धतत्त्व का प्रतिपादकत्व समुदाहृत वाक्यों को नहीं है ।

इससे यह कहा जाता है कि ब्रह्माधारतया उक्त जो पाँच पञ्चजन उसको ब्रह्माधेयक होने से ब्रह्ममें आश्रित है । तो ब्रह्माश्रितत्व होने से तदधीन प्रकृत्यादिक को सांख्य तो नहीं मानते हैं । इसलिए अपसिद्धान्त दोष होगा । और पुरुष शब्दवाच्य आत्मा तथा आकाश का पृथक् कथन भी व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि आत्माकार को भी तो सांख्य लोग पञ्चविंशतितत्त्व के अन्तर्गत ही मानते हैं । अतः इस मन्त्र में सांख्याभिमत पचीस तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं है । अपितु अग्रिम वाक्य में श्रूयमाण प्राणादिक तत्त्वों का ही प्रतिपादन होता है । यस्मिन् इसरूप से कथन करने से ब्रह्मरूप आत्मा में प्राणादिक तत्त्वों का सम्बन्ध संभवित है । 'प्राणस्य प्राणः' इत्यादि वाक्यों से परमात्मा को प्राणादि तत्त्वों का सम्बन्ध संभावित है । 'प्राणस्य प्राणः' इत्यादि वाक्यों से परमात्मा को प्राणादि का नियामक कहने से प्राण तथा परमेश्वर में नियम्य नियामक भाव होने से प्राणादिकों में ब्रह्माधारत्व सिद्ध होता है ।

संख्याप्रतिपत्तिरेव न सम्भवतीत्याशयः । तथाहि—प्रकृतेपञ्चविंशति संख्या कथं निष्पद्यते ? पञ्चपञ्चेति तदवयवद्वारेण समुदायलक्षणाश्रयणेन पञ्चकद्वयाद्वावीप्सावशाद्वाऽहोस्वित्समाहारसमासाश्रयणाद्धेति चेन्न तत्राद्यः पक्षः पञ्चकद्वयोच्यमाने दशसंख्यैव सम्पद्यते । यथा ‘पञ्चसप्त च वर्षाणि नववर्षशतक्रतु’ इत्यादौ द्वादशसंख्यैव प्रतीयते तथा प्रकृतेऽपि । न द्वितीयः यदि जनानामधिकरणानि पञ्चस्युस्तदा प्रत्यधिकरणमाधेयाजनाः पञ्चसंख्यया प्राप्नुयुस्तदा स्यादप्युक्तसंख्या परं न ह्यत्राधिकरणपञ्चकश्रवणमस्ति ‘दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति’ इत्यादौ यथानुप्रसर्पकाणां पुरुषाणां शतसंख्या समासाद्यते । न तृतीयोऽपि पञ्चभिरारब्धस्य समूहपञ्चकस्यैवाभावात् नहि कापिलतन्त्रासिद्धं पञ्चस्वनुगतं पञ्चसंख्याप्रवेशहेतुभूतं जात्यादिकं किमप्यत्रोपलभ्यते । आकाशस्य पृथङ्निर्देशात्पञ्चभूतानां पञ्चकस्यैवासिद्धेः । तस्मादत्र न समाहारः । किन्त्वत्र ‘दिक्संख्ये संज्ञायाम्’ [पा.सू.२।१।५०] इतिसंज्ञाविषयः समासः ।

अतएव न लिङ्गव्यत्ययदोषोऽपि । पञ्चजनाः कतीत्यपेक्षासप्तर्षयः सप्तेतिवदिति । तस्मादत्र न सांख्यसिद्धतत्त्वस्य ग्रहणं किन्तु तद्भिन्नस्यै-

“न संख्योपसंग्रहादपि” यहाँ अपिशब्द से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः पञ्चविंशति संख्या का बोध ही नहीं हो सकता है । तथा हि प्रकृत में पञ्चविंशति संख्या की सिद्धि किसतरह होगी । क्या पञ्च पञ्च में अवयव द्वारा समुदाय में लक्षण करके होगा । अथवा दो पञ्च के वीप्सा द्वारा अथवा समाहार समास के आश्रय करने से ? इसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है । क्यों दो पञ्च पद के संकलन करने से तो दश ही होगा । पचीस नहीं । जिस तरह “पाँच तथा सात वर्ष पर्यन्त शतक्रतु ने वर्षण नहीं किया” यहाँ पाँच तथा सात के संकलन से बारह संख्या होती है । उसी तरह प्रकृत में भी होगा । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि जनों का अविकरण पाँच हो तो प्रत्येक अविकरण में आधेयजन पञ्च संख्या से युक्त हो सकता है । परन्तु पाँच अविकरण तो श्रवण नहीं है । दशदशै-

यामुच्यते पञ्चेति सप्तसप्तर्षय इतिवत् । तस्मादत्र न सांख्यसिद्धा न पञ्चविंशतितत्त्वानीति ॥११॥

५ प्राणादयो वाक्यशेषात् । १।४।१२। ५

पञ्चपञ्चजना इत्यत्र समाहारविषयः समासो नोपपद्यते लिङ्ग-
व्यत्ययदोषग्रस्तत्वादपि तु 'दिक्संख्ये संज्ञायामिति' संज्ञाविषयक
एव समासस्तेन पञ्चपञ्चजना इत्यस्य पञ्चजनसंज्ञकाः पञ्च इत्यर्थे
उपपद्यते । ते के पञ्चजनसंज्ञिताः पञ्चेत्यपेक्षायामाह 'प्राणादय'
इति । पञ्चजनसंज्ञिताः पञ्चपदार्थाः प्राणादयः एव । कुत इदमव-
चेति नास्मिन् मन्त्रो तेषां ग्रहणमित्यादिकं संक्षेपविस्ताराभ्यां प्रतिपादयितुमाह
बृहदारण्यके श्रूयते इत्यादि ॥११॥

ननु यदि सांख्याभिमततत्त्वानां पञ्चजनशब्देन न ग्रहणमप्रामाणिकत्वात्तदाकेषां
कैकम् इस स्थल में जिसतरह अनुसर्पक पुरुषों का शत संख्या प्राप्त होती है । तृतीय पक्ष
भी ठीक नहीं है । क्योंकि पाँच से आरब्ध समूह पञ्चक का अभाव होने से । यहाँ कपिल
मतसिद्ध पाँच में अनुगत पञ्च संख्या प्रवेश का हेतुभूत जात्यादिक कोई उपलब्ध नहीं है ।
इसलिए यहाँ समाहार समास नहीं है किन्तु "दिक् संख्ये संज्ञायाम्" इस पाणिनी सूत्र से
समास है । अतः संज्ञा विषयक समास है । समाहार समास नहीं । इसलिए 'पञ्चपञ्चजनाः'
यहाँ छान्दसत्वात् लिङ्ग व्यत्यय करने का भी क्लेश नहीं करना पड़ता है । पञ्चजन कितने
हैं इस जिज्ञासा में कहते हैं पञ्चजन पाँच हैं । सप्तसप्तर्षयः के समान । इसलिए पञ्च पञ्चजन
शब्द से सांख्याभिमत पचास तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं होता है ॥११॥

'पञ्चपञ्चजना' यहाँ समाहार समास नहीं हो सकता है । क्योंकि समाहार समास में
नपुंसक लिङ्ग होता है । छान्दसत्वात् पुलिङ्ग का समर्थन करने से लिङ्ग व्यत्ययदोष होता है ।
इसलिए प्रकृत में संज्ञा विषयक समास होता है । अतः 'पञ्चपञ्चजना' इसका पञ्चजन
नामक पाँच यह अर्थ होता है । तो यहाँ प्रश्न होता है कि पञ्चजन नामक पाँच कौन
है ! इसके उत्तर में कहते हैं 'प्राणादय' इत्यादि । पञ्चजन नामक पाँच पदार्थ गर्भवा-
दिक अथवा प्राणादिक पाँच ही है । किसतरह समझते हैं कि प्राणादिक ही है ! इसके

गम्यते ? वाक्यशेषात् । संदिग्धार्थनिर्णयस्य वाक्यशेषाधीनत्वात् । स च वाक्यशेषस्तावत् 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' [बृ० ४।४।१८] इति वाक्यशेषे ब्रह्माधारतया नियम्यतया श्रुताः प्राणादयः पञ्चपञ्चजनशब्दस्यार्थो ज्ञेयः । नान्यः । माध्यन्दिनशाखायां पञ्चजनमन्त्रानन्तरमन्त्रो 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनोविदुः' [बृ० ४।४।१८] इति वाक्यशेषे श्रूयमाणानि प्राणचक्षुः श्रोत्रान्नमनांसीती मानि पञ्चैव पञ्चजनशब्देनोक्तानि । तत्राद्यतेऽनेनेत्यन्नशब्देन रसनेन्द्रियमुच्यते ॥१२॥

ननु काण्वानां माध्यन्दिनानां च शाखायां 'यस्मिन्पञ्चपञ्च-ग्रहणं भवतीति जिज्ञासायां प्राणादीनामिन्युत्तरम् कुतोवाक्यशेषवलेन प्राणादीनामेव ग्रहणम् । तत्र प्राणस्य प्राणमित्यादिवाक्यशेषेण तेषामेव विनिश्चय इतिद्योतयितुमुपक्रमते पञ्चपञ्चजना इत्यत्रेत्यादि ॥१२॥

पञ्चजनसंज्ञिताः के पञ्च इत्यपेक्षायां केचन ज्योतिषा इन्द्रियेणैव तां संख्यां उत्तर में कहते हैं 'वाक्यशेषात्' संदिग्धमान जो पदार्थ उसका निर्णय वाक्यशेष के अधीन होता है वह वाक्यशेष इसप्रकार का है 'प्राण का प्राण' चक्षु का चक्षु और श्रोत्र का श्रोत है परमात्मा इस वाक्यशेष में ब्रह्माधार तथा ब्रह्मनियम्य रूपसे [ब्रह्म है आधार जिसका इसतरह बहुव्रीहि समास है नतु ब्रह्म का आधार ऐसा षष्ठी तत्पुरुष है] श्रुत जो प्राणादिक है वही पञ्च पञ्चजन शब्द का अर्थ है । किन्तु प्राणादि से भिन्न कोई अन्य पञ्चजन शब्द का अर्थ नहीं है । और माध्यन्दिन शाखा में पञ्चजन मन्त्र के अनन्तर मन्त्र में 'प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और अन्न का अन्न, मन के मन को जो जानते हैं' इसवाक्य के शेष में श्रूयमाण जो प्राणचक्षु श्रोत्र अन्न [रसना] और मन, ये पाँच ही पञ्चजन शब्द से कथित होते हैं । अर्थात् मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही पञ्चजन पदवाच्य हैं । स्वायां जाय जिसके द्वारा उसको अन्न कहते हैं । अर्थात् रसनेन्द्रिय का तो इन पाँच ज्ञानेन्द्रिय के ही पञ्चजन शब्द से ग्रहण होता है । किन्तु कापिल पचीस तत्त्वों का पञ्चजन शब्द से ग्रहण नहीं होता है ॥१२॥

काण्व तथा माध्यन्दिन की शाखा में 'जिसमें पञ्चजन पाँच तथा आकाश प्रतिष्ठित

जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्ययं मन्त्रः समानः श्रूयते । काण्वानां वाक्यशेषेत्वन्नस्य पाठो न श्रूयतेऽतस्तेषां पक्षे चतुर्णां प्राणादीनां पञ्चजनशब्दवाच्यत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

५५ ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।१।४।१३। ५५

एकेषां काण्वानां वाक्यशेषेऽसत्यन्ने शब्दे वाक्योपक्रमगतेन 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' इति ज्योतिषा पञ्च संख्या पूरणीयेति । तत्र वाय्वात्मकप्राणवाचकेन प्राणशब्देन वायु सम्बन्धिस्पर्शनेन्द्रियमन्नशब्दाभिहितपृथिवी सम्बन्धित्वाद् घ्राणस्यान्नशब्देन घ्राणेन्द्रियञ्च गृह्यते । तन्त्रोण तु रसनेन्द्रियमद्यतेऽन्नेनेत्यन्नमिति व्युत्पत्त्या तद्ग्राह्यत्वोपपत्तेः । तदेवं स्पर्शनेन्द्रियस्य घ्राण रसनयोरन्यतरस्य च प्राणान्नयोरन्तर्गतत्वेन प्राणचक्षुः श्रोत्रमनां सीमानि वाक्यशेषे श्रूयमाणानि पञ्चजनसंज्ञितानि पञ्चज्ञेयानीति 'प्राणादयः वाक्यशेषादि' ति सूत्रेण दृढीकृतत्वादत्र तन्त्रसिद्धपञ्चाविंशतितत्त्वप्रसङ्गाभावेन न तद्ग्रहणम् ॥१३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये संख्योपसंग्रहाधिकारणम् ॥३॥

पूरयन्ति तन्मतं युक्त्युपपत्तिभ्यां दर्शयति भाष्यकारः एकेषामित्यादि एकेषां काण्वमत प्रतिष्ठितानामन्नपदाभावेऽपि ज्योतिषा पञ्चेन्द्रियेणैव तां पूरयति । भाष्यप्रदर्शितदिशा है' यह मन्त्र समान रूपसे श्रुत है । काण्व के वाक्यशेष में अन्न का पाठ नहीं सुनने में आता है । उनके पक्षमें चार प्राणादिक में पञ्चजन शब्दवाच्यत्व उपपन्न नहीं हो सकता है ! इस आशंका के उत्तर में कहते हैं 'ज्योतिषेत्यादि' एक काण्व शाखियों के वाक्यशेष में अन्न पद का पाठ नहीं होने पर भी वाक्य के उपक्रम से 'तद्देवाज्योतिषां' इत्यादि से पञ्च संख्या की पूर्ति की जाती है । उसमें वायु लक्षण प्राण का वाचक प्राण शब्द से वायु सम्बन्धित्वगिन्द्रिय अन्न शब्दवाच्य जो पृथिवी तत्सम्बन्धी घ्राण अन्न शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण होता है एवम् 'अद्यते इति अन्नम्' इस व्युत्पत्ति से रसनेन्द्रिय का ग्रहण होता है । इसतरह स्पर्शनेन्द्रिय का घ्राण रसन अन्यतर को प्राण अन्न के अन्तर्गत होने से प्राण चक्षुः श्रोत्र और मन ये सब जो वाक्यशेष में श्रूयमाण हैं । इन सबको पञ्चजन शब्दित

अथ कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः

११।४।१४।

अत्र कारणाविधायिनां वाक्यानां प्रधानपरत्वनिर्गम्ये ब्रह्मणि समन्वयप्रदर्शनद्वारैकस्यैव ब्रह्मणः सर्वजगन्मूलकारणत्वमुपपादितं तन्न सम्भवति । कुतः ? तेषां वेदान्तवाक्यानामनेककारणत्वबोधकत्वेन परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनतया ब्रह्मणि समन्वयाऽनुपपत्त्या ब्रह्मणो जगन्मूलकारणत्वानुपपत्तेः । तथाहि—‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन तदव्ययेयमन्यत्सर्वं स्पष्टार्थक्रमेवेति संक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे संख्योपसङ्गग्रहाधिकरणम् ॥३॥

इतः पूर्वं जन्माद्यस्य यत् इत्यनेन ब्रह्मणो लक्षणं प्रतिपादितं वेदान्तवाक्यानां तत्र समन्वयोपि प्रतिपादित एव । तथापि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न निर्णेतुं शक्यते यतः पाँच समझना चाहिए । इसतरह ‘प्राणादयोवाक्यशेषात्’ इस सूत्र से दृढीकृत होने से कपिल मत से पचीस तत्त्वों के प्राप्त नहीं होने से उन पञ्चविंशति तत्त्वों का ग्रहण नहीं होता है । किन्तु प्रकृत सूत्रोक्त का ही ग्रहण होता है ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे संख्योपसङ्गग्रहाधिकरणम् ॥३॥

अतीत ग्रन्थ से ब्रह्म का लक्षण करके ब्रह्ममें कारणता प्रतिपादक वाक्यों का प्रधान परत्व का निराकरण करके सर्ववाक्यों का ब्रह्ममें प्रदर्शन द्वारा एक ब्रह्ममें सर्वजगत् के मूल कारणता का उपपादन किया गया है । परन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि वे सब वेदान्त वाक्यों के अनेक में कारणता बोधक होने से परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक होने से सब वाक्यों का ब्रह्ममें समन्वय अनुपपन्न हो कर ब्रह्ममें जगत् के प्रतिमूल कारणत्व अनुपपन्न है । तथाहि ‘इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु उत्पन्न होता है’ इत्यादि । इस श्रुति में जगत् का मूल कारण आत्मा है ऐसा कहा गया है । ‘हे सोम्य ! यह जगत्

आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः' [तै० २।१।] इत्यत्रात्मनो जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं श्रूयते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' [छा० ६।२।३।] इत्यत्र सच्छब्दवाच्यस्य जगत्कारणत्वं श्रूयते । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' [बृ० १।४।११।] इत्यत्र ब्रह्मणः कारणत्वं श्रूयते । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' [तै० २।७।] इत्यत्रासतः कारणत्वं श्रूयते । क्वचिदाकाशाज्जगतः सृष्टिर्भिधीयते क्वचित्प्राणात् । तथा 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' [बृ० १।४।७।] इत्यत्राव्याकृतस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं श्रूयते । अव्याकृतमव्यक्तमेव नामरूपाभ्यां न व्याक्रियते न व्यज्यत इत्यव्याकृतम् । तस्मिंश्च 'तद्धेतं तर्ह्यव्याकृतमासीदि' ति जगतः प्रलयमभिधाय 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इति तस्मादेव सृष्टिर्भिधीयते । इत्येवं तत्तत्कारणवाक्यगतस्य तस्य तस्य च शब्दस्य स्वस्ववाच्यजगत्कारण क्वचिद् ब्रह्मणः कारणत्वं क्वचिदात्मनः क्वचित्सतः क्वचित्प्रधानस्याव्यक्तपदवाच्यस्य क्वचिदशत एव तथात्वमावेदयतीति कारणविषये विवाददर्शनात् । नचागमस्याप्रामाण्यं उत्पत्ति के पूर्वकाल में सदात्मक था । उस सत् ने ईक्षण किया तब तेज उत्पन्न हुआ' यहाँ सत् में जगत् कारणत्व का प्रतिपादन किया है । 'यह परिदृश्यमान जगत् उत्पत्ति के पूर्वमें ब्रह्मरूप था' यहाँ ब्रह्ममें जगत् कारणता का श्रवण होता है । 'उत्पत्ति के पूर्वमें असत् था' यहाँ असत् में कारणत्व का प्रतिपादन होता है । किसी स्थल में आकाश से सृष्टि का कथन है । तो कहीं प्राण से जगत्सर्ग का प्रतिपादन किया गया है । 'उस समय में यह अव्याकृत था, तदन्तर नाम रूप के द्वारा व्याक्रियमाण किया जाता है' इस स्थल में अव्याकृत प्रधान में जगत् कारणता का श्रवण होता है । अव्याकृत शब्द का अर्थ होता है अव्यक्त नामरूप से व्याक्रियमाण=व्यक्त जो न हो उसको अव्यक्त कहते हैं । उस प्रधान व्याकृत में 'वह उस समय में अव्याकृत था' इस श्रुति से जगत् का प्रलय करके 'नामरूपाभ्यां व्याक्रियते'

स्वप्रतिपादकस्य स्वस्ववाच्ये समन्वयादेकस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वेषां
कारणवाक्यगतानां शब्दानां समन्वयस्यासम्भवान्न ब्रह्मणो मूलकार
णत्वमुपपद्यत इति प्राप्त आह 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदि
ष्टोक्तेरिति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्याद्यनेकाभिः
श्रुतिभिर्जगत्कारणत्वेन प्रतिपादितस्य ब्रह्मणो जगत्कारणपरेष्वाका
शादिवाक्येषु सृष्ट्याद्यसाधारणलिङ्गदर्शनेनाकाशप्राणादिशब्दानां
ब्रह्मपरत्वं निश्चित्याकाशप्राणादिशब्दैस्तस्य ब्रह्मणो जपत्कारणत्वेन
व्यपदिष्टत्ववदात्मसदादिकारणपरवाक्येष्वपि जगत्सृष्ट्यादि ब्रह्मासाधार
णलिङ्गदर्शनात्तत्तद्गतात्मसदादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वनिश्चयेन
तेन तेन च शब्देन जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणो व्यपदिष्टत्वोक्तेः ।
ब्रह्मणो व्यपदेशादित्यर्थः । तथा च सर्वेषां कारणपरशब्दानां ब्रह्मणि
समन्वये ब्रह्मण एवादिकारणत्वमुपपद्यत इति तत्त्वम् ।

एतदुक्तम्भवति । सर्वेषां कारणवाक्यानामेकवाक्यतासत्त्वा-
कस्यचित् स्वतः प्रमाणत्वात्सर्वेषाम् । तथा चान्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभ्यां ब्रह्मण
एव सर्वजगत्कारणत्वमिति न निश्चेतुं शक्यमित्याशङ्क्यायामाह कारणत्वेन चाकाशादिषु
इससे पुनः उसी अव्याकृत प्रधान से जगत् के उत्पाद का कथन किया गया है । इसप्रकार
तत्तत् कारण वाक्यगत तत्तत् शब्द को स्ववाच्य जगत् कारणता प्रतिपादक को स्व स्व वाच्य
में ही समन्वय होने से एक ब्रह्ममें सभी कारण वाक्यगत शब्दों को समन्वय का असंभव होने
से ब्रह्ममें मूलकारणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'कारणत्वेन' इत्यादि 'यतो वा इमानि' इत्यादि
अनेक श्रुतियों से जगत् कारण रूपसे प्रतिपादित ब्रह्मको जगत् कारणता परक आकाशादिक
वाक्यों में सर्गादि के असाधारण लिङ्ग दर्शन से आकाश प्राणादि शब्दों को ब्रह्मपरत्व का
निश्चय करके आकाश प्राणादि शब्दों से उस ब्रह्मका जगत् कारण रूपसे व्यपदेश होता है ।
उसीतरह असदादि कारणपरक वाक्यों में भी जगत्सृष्ट्यादि लक्षण ब्रह्मका असाधारण लिङ्ग का
दर्शन होने से कारण वाक्यगत आत्मा सदादि शब्द को भी ब्रह्मपरत्व का निश्चय होने से

त्कारणवाक्यगतकारणवाचकशब्दानां सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनैकस्मिन्परमकारणे पर्यवसानत्वस्योचितत्वात्सर्वेऽपि कारणवाक्यगताः सदा त्माकाशप्राणादिशब्दा एकस्मिन्नादिकारणे ब्रह्मणि संगत्य तस्यैव समस्तचिदचिज्जगत्कारणत्वमभिदधते । तथा च समेषां सदात्माकाशप्राणादिशब्दानां परस्मिन्ब्रह्मण्येव समन्वयस्य सत्त्वादादिकारणत्वमेकस्यैव ब्रह्मण इति निर्णयः ।

एवं 'मननान्त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः' [श्रीरामता० १।१२।] इति श्रुतिरपि परस्य ब्रह्मणः श्रीरामस्य सर्वशब्दवाच्यत्वाभिधानेन तस्मिन्सर्वेषां शब्दानां समन्वयं ज्ञापयति । तथैव विश्वरूपस्य ते राम ? विश्वे शब्दा हि वाचकाः । तथापि रामनामेदं सर्वेषां बीजमक्षयम् । इति स्मृतिरपि श्रीरामस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वमभिधत्ते । एवञ्च श्रीरामनाम्नः सर्वशब्दकारणत्वाभिधानेन तद्वाच्यस्य श्रीरामस्य इत्यादि यद्यपि सर्गक्रमे क्वचिद्विरोधो विद्यतेऽपि किन्तु कारणेनास्ति विरोधो नतु मूलकारणे विरोधो विद्यते । यादृशो हि सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत् कारणरूपे तत्तत् शब्दों से कारण रूपसे ब्रह्मका ही व्यपदेश होता है । इसप्रकार सभी कारणता प्रतिपादक शब्दों का ब्रह्म में समन्वय होने से ब्रह्ममें ही जगत् के प्रति आदि कारणत्व उपपन्न होता है । किन्तु प्रधानादिक में नहीं होता है ।

इससे यह कथित होता है कि—सभी कारणता प्रतिपादक वाक्यों में एक वाक्यता होने से कारण वाक्य घटक कारण वाचक शब्दों को सर्व शाखा प्रत्यय न्याय से एक परम कारण में पर्यवसान को उचित होने से सभी कारण वाक्यगत सत् आत्मा आकाश और प्राण शब्दों को एक कारण ब्रह्ममें संगत होकर के उसी को समस्त चिदचित्त्वक्षण जगत् के कारणता का कथन करते हैं । इस प्रकार सत् आत्मा आकाशादि शब्दों को परब्रह्म में ही समन्वय होने से आदि कारणत्व एक ही ब्रह्ममें है यह निर्णय होता है । जिसको महर्षि वाल्मीकि ने 'परं ब्रह्म परं सत्यं परं ज्ञानं परं तपः । परं बीज परं क्षेत्रं परं कारणकारणम्' (श्रीमद्दूरामायण ५।२७।२६) इत्यादि शब्दों से सगौश्वर श्रीरामजी में ही एकमात्र सर्वादिकारणत्व स्थिर किया है । एवं 'मनन करनेवाले को

ब्रह्मणोऽन्यनिखिलशब्दवाच्यानां सर्वेषां बीजत्वोपपादनद्वारातस्य सर्वशब्दवाच्यादिकारणत्वं बोधितम् ।

‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासी’ दित्यादिकारणवाक्यप्रतिपाद्यत्वं ब्रह्मणः कथमिति चेदित्थम् । ‘अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः’ इति । तथा ‘महानव्यक्ते लीयते, अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवन्ति’ [सुवा०] इत्येवमादिषु पुरुषस्याव्यक्तात्परत्वश्रवणात् । महदव्यक्ताक्षरतमसां परे देवे परस्मिन्ब्रह्मणि लयत्वाभिधानात्प्रलयावसाने च तत एव तदुत्पत्तावस्यैव ब्रह्मणस्तदुत्पादकत्वोपपत्तेः । एवं ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म योदेवनिहितं गुहायाम्’ [तै० २।१।] इत्युपक्रम्य ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः’ [तै० २।१।] इत्येवमादिषु तस्यैव ब्रह्मणः सृष्टृत्वश्रवणात् । अतएव ‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्’ णैकत्र व्यपदिष्टः कारणतया तथैवान्यत्र सर्वत्रापि व्यपदिश्यते । यद्यपि क्वचिदात्मपदेन क्वचित्सदादिपदेन निर्दिश्यते तथापि सर्ववाक्यानां समन्वये ब्रह्मण्येव पर्यवसानं त्राण करने के कारण ही मन्त्र कहलाता है वह सभी वाच्य का वाचक है, यह श्रुति भी परब्रह्म श्रीरामजी को सर्वशब्दवाच्यत्व का प्रतिपादन करने से तादृश भगवान् श्रीराम में सभी शब्दों के समन्वय को बतलाते हैं । इसीतरह ‘हे भगवन् विश्वरूप आपका यद्यपि सभी शब्द वाचक हैं तथापि सबका अक्षयबीज श्रीरामनाम ही है’ यह स्मृति श्रीराम को ही सर्वशब्द वाच्यत्व का कथन करती है ।

इसप्रकार श्रीरामनाम को सर्वशब्द के प्रति कारणता का प्रतिपादन होने से श्रीरामात्मक ब्रह्मको तदन्य समस्त शब्दवाच्य सब पदार्थ का बीजत्व के उपपादन द्वारा भगवान् को सर्वशब्दवाच्यादि कारणत्व बोधित होता है । ‘तद्धेदं’ इत्यादि कारण वाक्य प्रतिपाद्यत्व ब्रह्मका किसतरह होता है ? तो इस प्रकार से ‘अव्यक्त से पुरुष पर है । पुरुष से अन्य कोई पर नहीं है’ ‘महान् अव्यक्त में लीयमान होता है’ ‘अक्षर तम में और तम परदेव में एकीभूत हो जाता है’ इत्यादि स्थल में अव्यक्तापेक्षया भी परत्व पुरुष में श्रुत है । महत् अव्यक्त और अक्षर तम का परब्रह्म में लय का प्रतिपादन होने से प्रलय के अवसान में पुनः

[इवे०४।१।] इत्यादिश्रुतिभिः स्वोत्पन्नस्वशेषभूताव्यक्तादिद्वारा
ब्रह्मणश्चराचरजगदुत्पादकत्वमभिधीयते ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भास्त ॥गी०॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥गी०॥

इत्यादिस्मृतयोऽपि ब्रह्मणोऽव्यक्ताद्युत्पादकत्वेन तद्द्वारा
चराचरजगदुत्पादकत्वमित्यव्यक्तादिकारणतयाऽव्यक्तादिपरवाक्यप्रति
पाद्यत्वं परब्रह्मण एवेति ॥१४॥

तर्ह्यसदादिशब्दानां कथं ब्रह्मण्यन्वय इत्याशङ्कायामाह-

ॐ समाकर्षात् ।१।४।१५। ॐ

‘असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्’ [तै. २।६]

भवति । यद्यपि ब्रह्म आत्म सदादि शब्दा विभिन्ना इवाभान्ति तथापि पर्यायतया
समाना एवेति । एतत्सर्वं संक्षेपविस्तराभ्यां भाष्यकारः स्वयमेव दर्शयति ॥१४॥

उसी ब्रह्म से सब वस्तुओं की उत्पत्ति होने से ब्रह्ममें सर्वोत्पादकत्व सिद्ध होता है । एवम्
‘सत्यं ज्ञानम्’ यह उपक्रम करके ‘तस्माद्वा एतस्मात्’ इत्यादि स्थल में उस ब्रह्ममें ही सर्व
सर्जकत्व का श्रवण होता है । अतएव ‘अस्मान्मायी’ इत्यादि श्रुति से स्वोत्पन्न स्वशेषभूत
अव्यक्तादि द्वारा ब्रह्ममें ही चराचर जगदुत्पादकत्व का कथन होता है । ‘ममयोनिः’ ‘सर्वयो-
निषु’ इत्यादि स्मृति से भी ब्रह्मके अव्यक्तादि का उत्पादक होने से समस्त चराचर जगदुत्पा-
दकत्व उसीमें होता है यह सिद्ध होता है । अतः अव्यक्तादि का कारण होने से अव्यक्तादि
के कारणता परक जो वाक्य हैं तादृश वाक्य प्रतिपाद्यत्व परब्रह्म श्रीरामजी में ही
है । अन्य में नहीं ॥१४॥

भाववाचक सदात्माकाशादि पद का ब्रह्ममें तो समन्वय होता है यथाकथंचित् परन्तु
अभाववाचक जो अस्तपद है उसका समन्वय ब्रह्ममें किसतरह होगा ! क्योंकि सत् अस्त
का सम्बन्ध तो संभविता नहीं है । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं ‘समा-

इत्यसद्वादं विनिन्द्य 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्रेद सन्तमेनं ततो विदुः' [तै. २।६] इत्यङ्गीकृतं सद्वादमुपवर्ण्य 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' 'इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत्' [तै० २।६] इति सतो ब्रह्मणः सकाशादेव सृष्टि रभिहिता । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' [तै. २।७] इत्यत्रापि सृष्टिकर्तु स्सत्पदवाच्यस्य ब्रह्मण एव समाकर्षादिति । कुतः ? उक्तश्लोकस्या नन्तरं 'तदात्मानं स्वयमकुरुते' त्याग्य 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' [तै. २।८] इत्युत्तरस्थेन परमात्मपरानन्दशब्देन सत् एव समाकर्षात् । तथा च पूर्वोत्तरपरमात्मपरवाक्यानां मध्ये पतितस्य 'असद्वा इदमग्र आसी' दिति श्लोकस्य संदंशन्यायेन परमात्मपर-त्वमुपपद्यते ।

अयम्भावः । प्रलयदशायां परब्रह्मणि लीनानामव्यक्तादीनां नामरूपविभागाभावेन तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावाद् ब्रह्मण्यप्य सच्छब्दस्य प्रयोग उपपद्यते । तथा चासच्छब्दवाच्यब्रह्मण एव कारण त्वमिति । अत एवान्यत्र 'कथमसतः सज्जायतेति सदेव सोम्येदमग्र कर्षात्' जो ब्रह्मको असत् जानता है वह स्वयं असत् होता है' इसप्रकार से असत्वाद की निन्दा करके 'ब्रह्म सत् है, ऐसा जो जानता है, उसको लोग सत् कहते हैं' इसतरह अङ्गीकृत सद्वाद का वर्णन करके "सोऽकामयत" इत्यादि प्रकरण द्वारा सत् ब्रह्मसे सम्पूर्ण जगत् सृष्टि का कथन किया गया है । 'असद्वा इदमग्रे' इस स्थल में भी सत्पदवाच्य सर्जक परब्रह्म का ही समाकर्ष [अनुवर्तन=ग्रहण] होता है । क्योंकि उक्त श्लोक के अनन्तर में 'तदात्मानम्' 'सैषानन्दस्य मीमांसा' इत्यादि अग्रिम प्रकरणस्थ परमात्म पद तथा आनन्द पद से ब्रह्मका ही समाकर्ष होता है । पूर्व उत्तर परमात्म बोधक वाक्यों के मध्य में समागत जो 'असद्वा' इत्यादि श्लोक है वह भी संदंश न्याय से परमात्मा का ही बोधक है । यहाँ का आशय यह है कि प्रलयदशा में परब्रह्म में लीन जो अव्यक्तादिक पदार्थ है उनका नामरूप के विभाग नहीं रहने से तत्सम्बन्धी रूपसे ब्रह्मकी भी अस्तित्वा की प्रतीति नहीं होने से ब्रह्ममें तत्काल में असत् पदका कथंचित् प्रयोग होता है । ऐसा होने से असत्पद बोध्य ब्रह्ममें ही जगत् कार-

आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा.६।२।२) इत्यनेनासद्वादमपाकृत्य सतः
समाकर्षात् सत एव ब्रह्मणः कारणत्वमिति सिद्धम् ॥१५॥

इति श्रीआनन्दभाष्यकारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

५ जगद्वाचित्वात् ॥१॥४॥१६ ५

कौषीतकिब्राह्मणे समाम्नायते—'यो वै बालाक एतेषां पुरु-
षाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्य' [कौ.ब्रा.४।१८] इति।
अत्र संशयः । किं वेदितव्यत्वेनोपदिष्टः सांख्यतन्त्रसिद्धः पुरुषः

एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म इत्यादिकौषीतकिब्राह्मणे श्रूयते । तत्र संशयो
भवति किमत्र ज्ञातव्यत्वेन तत्र सिद्धः पुरुषः प्रधानम् परमात्मावेति । तत्र पुण्यपाप
लक्षणकर्मणकर्तृत्वात् पुरुष एवेति सर्वोत्पादकत्वात्प्रधानस्य तथात्वं नतु परमात्मनो
ग्रहणं निस्क्रियत्वान्निर्लेपत्वाच्चेत्याशङ्क्यामाह जगद्वाचित्वादिति ।

यस्य वा एतत्कर्म इत्यत्र कर्मपदस्य चराचरबोधकतया तत्कर्तृत्वस्य परमात्म-
न्येव संभवात् तस्यैव परमात्मनः प्रकृते वेदितव्यतया ग्रहणं नतु पुरुषस्य असर्वज्ञ-
णत्व होता है । अतएव 'कथमसतः सज्जायते' इत्यादि प्रकरण में असद्वाद का निराकरण
करके सत् का समाकर्ष करके सत् ब्रह्ममें ही जगत्कारणत्व है ऐसा सिद्ध हुआ ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

कौषीतकि ब्राह्मण में कहा है कि 'हे बालाक ! जो इन पुरुषों का कर्ता है । जिस
का समस्त चराचरात्मक जगत् कर्म=कार्य है । वह पुरुष ज्ञातव्य है' इति । यहाँ संशय
होता है कि वेदितव्य रूपसे उपदिश्यमान जो है वह सांख्याभिमत पुरुष है । अथवा तदीय
प्रधान है । अथवा परमात्मा है ? इसमें पुरुष को ही तादृश वेदितव्य मानना युक्त है ।
क्योंकि पुण्यपापलक्षण शुभाशुभ कर्म का संपादकत्व पुरुष में ही है । और कर्मपद को जगत्
वाचकता है । इस पक्षमें प्रधान ही वेदितव्यतया वांछित होता है । क्योंकि प्रधान जगत्
का कारण है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'जगद्वाचित्वादिति'=कर्मपद जगत् का वाचक
है । इस वाक्य में 'जिसका यह कर्म है' वेदितव्य को जगत्कर्ता का कथन होने से उसमें
कारणता का प्रतिपादन किया गया है । इस वाक्य को, पुरुष को कार्य कारण नहीं मानने
वाले सांख्य शास्त्र के विरोधी होने से सांख्याभिमत पुरुषों में वेदितव्यत्व निष्पन्न नहीं होता

प्रधानं वाऽहोस्वित्परमात्मेति किं युक्तम् ? पुरुषः यस्य वै तत्कर्मेति पुण्यपापरूपकर्मकर्तृत्वस्य पुरुषनिष्ठत्वात् । कर्मपदस्य जगद्वाचित्वपक्षे प्रधानं वेदितव्यत्वेनोक्तं तस्य जगत्कारणत्वादिति प्राप्त आह-जगद्वाचित्वादिति । कर्मपदस्य जगद्वाचित्वात् । अस्मिन् वाक्ये यस्यै तत्कर्मेतिवेदितव्यस्य जगत्कर्तृत्वेन तत्कारणत्वाभिधानादस्य वाक्यस्य पुरुषस्य कार्यकारणत्वानभ्युपगच्छत्सांख्यतन्त्रविरोधित्वान्न तत्तन्त्राभिमतपुरुषस्यात्र वेदितव्यत्वं निष्पद्यते । न च प्रधानस्यापि तत्त्वम् । कुतः ? अत्र यः कर्त्ता स वेदितव्य इत्युभयत्र पुल्लिङ्गत्वदर्शनात् । प्रधानप्रकृतिप्रतिपादकानां शब्दानां पुल्लिङ्गत्वाददर्शनादचेतनत्वेन प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वाऽसम्भवाच्च । कारणवादिषु वेदान्तवाक्येषु प्रधानस्य जगत्कारणत्वानभिधानाद् वेदितव्यत्वाश्रवणाच्च न तस्य तदुभयमुपपद्यते परमात्मनस्तु सर्वजगत्कर्तृत्वस्य तदन्तर्गत सर्वपुरुषकर्तृत्वस्य तद्वेदितव्यत्वस्य चानेकवाक्येषु प्रसिद्धत्वात् । तस्य 'यः कर्त्ता स वेदितव्य' इति पुल्लिङ्गत्वेन निर्दिष्टयोर्यत्तच्छब्दयोर्वाच्यत्वोपपत्तेश्च परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तो नान्यः ॥१६॥

त्वादल्पशक्तिमत्त्वाच्च । नवा प्रधानस्य ग्रहणं तस्याचेतनतया तस्मिन् कर्तृत्वस्यासंभवाच्च । न च तस्मिन् तदपि सिद्धान्तविरोधादिकबहुतरदोषसंभवादित्यवगन्तव्यम् ॥१६॥

हे ॥ एवं प्रधान में भी इस वाक्य से वेदितव्यत्व नहीं होता है । क्योंकि यहाँ 'जो कर्त्ता है वह वेदितव्य है' यहाँ दोनों जगद् में पुल्लिङ्ग का निर्देश है । और प्रधान प्रकृति प्रतिपादक शब्दों में पुल्लिङ्ग नहीं देखने में आता है । एवं प्रधान को अचेतन होने से उसमें जगत्कर्तृत्व असंभवित है । कारणता का प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों में प्रधान को जगत् कारण रूप से कथन नहीं किया गया है । तथा वेदितव्यत्व का भी श्रवण नहीं होने से प्रधान में कारणता तथा वेदितव्यत्व उपपन्न नहीं हो सकता है । परमात्मा में तो सर्वजगत्कर्तृत्व तथा जगदन्तर्गत सर्वपुरुष कर्तृत्व एवं उसमें वेदितव्यत्व अनेक वाक्यों में प्रसिद्ध है । 'तस्य यः कर्त्ता स वेदितव्यः' इस वाक्य में पुल्लिङ्ग शब्द से निर्दिष्ट जो यत् तत् शब्द है 'तद्वाच्यत्व' परमात्मा में उपपन्न है । अतः परमात्मा ही वेदितव्य है अन्य नहीं ॥१६॥

५ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति

चेत्तद्व्याख्यातम् १।४।१७। ५

ननु 'यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्य' इत्यस्य वाक्यशेषे 'तद्यथाश्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा' [कौ.ब्रा. ४।२०] एवमभिहितम् । अत्र भोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात् 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' [कौ. ब्रा.४] इति प्राणशब्दश्रवणाच्च 'यस्य चैतत्कर्म' इति वाक्यस्य न परमात्मपरत्वमुपपद्यत इति चेत्तद्व्याख्यातम् । एतच्च प्रतर्दनविद्याप्रकरणे उक्तम् । 'उपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगा' दित्यत्र जीवमुख्यप्राणलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वं व्याख्यातम् ।

अयमभिप्रायः । यत्रोपक्रमाभ्यासादिलिङ्गैर्वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं निश्चीयते तत्रान्यलिङ्गानि ब्रह्मपरवाक्यानुरोधेन ब्रह्मपरत्वेन ने

एतदीयतत्वं प्रतर्दनविद्याधिकरणे एव व्यास-समासरूपेण व्याख्यातम् 'जिसका यह कर्म है वह वेदितव्य है' इसमन्त्र के वाक्यशेष में 'जिसतरह कोई श्रेष्ठी अपने परिवारों के साथ उपभोग करता है यथा स्वकीय परिवार श्रेष्ठी का उपभोग करते हैं' कहा है । यहाँ भोक्तृत्व रूप जीव का लिङ्ग है । 'इसके बाद सब इसी मुख्य प्राण में एक रूप हो जाते हैं ।' यहाँ प्राण शब्द का श्रवण है । इसलिए 'यस्य चैतत्कर्म' इस वाक्य को परमात्मपरकत्व नहीं उपपन्न होता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । इसका व्याख्यान हो गया है । अर्थात् इस विषय का कथन प्रतर्दन विद्याधिकरण में कहा गया है । 'उपासात्रैविध्यात्' इस प्रकरण में जीवलिङ्ग मुख्य प्राणलिङ्ग को ब्रह्मपरकत्व का निश्चय कर दिया गया है ।

यहाँ का यह अभिप्राय है । जिस स्थल में उपक्रमाभ्यासादिक लिङ्ग द्वारा वाक्य का निश्चय होता है । उस स्थल में तदन्य लिङ्ग का ब्रह्मबोधक वाक्य के अनुरोध से ब्रह्मपरक ही मानना चाहिए । प्रकृत में 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इसतरह ब्रह्मपद से उपक्रम होने से मध्य में भी 'एतेषां पुरुषाणां कर्ता' इस प्रकार सर्वजगत् कारण ब्रह्म का अभ्यास है । तथा 'स्वाराज्यमाविपश्यम्' इससे ब्रह्मज्ञानी उपासक को विलक्षण स्वाराज्य प्राप्तिरूप फल से उपसंहार होने से

तव्यानि । प्रकृते तु 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' [कौ. ब्रा. ४।१] इति ब्रह्मपदे-
नोपक्रमात् 'एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता' इति मध्येऽपि सर्वजगत्कारणत्वेन
ब्रह्मणोऽभ्यासात् । तथा 'स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद'
इति ब्रह्मविदस्तदुपासकस्य स्वाराज्यादिप्राप्तिरूपफलत्वेनोपसंहारा
चास्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चयात् । तस्मादत्र 'अस्मिन्प्राण एव
एकधा भवती' ति सामानाधिकरण्यादस्मिन् शब्दस्य प्राणशब्दस्य
चैकवस्तुपरत्वनिश्चयेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमात् । प्राणशरीर
ब्रह्मोपासनार्थमत्र प्राणपदेन निर्देश उपपद्यते ॥१७॥

५५ अन्यार्थन्तु जैमिनि प्रश्नव्याख्याना

भ्यामपि चैवमेके ।१।४।१८। ५५

तु शब्दः शङ्काव्यावर्तकः । अस्मिन्प्रकरणे जीवपरामर्शोन्यार्थ
तस्तत् एव द्रष्टव्यम् ॥१७॥

जीवप्राणयोरत्र प्रकरणे लिङ्गदर्शनात्तयोरेवात्र वेदितव्यतयोपदेशो न परमात्मनो
यह वाक्य ब्रह्मपरक है । ऐसा निश्चित होता है । इसलिए यहाँ 'अस्मिन् प्राणे' इसप्रकार
सामानाधिकरण्य होने से इदं शब्द तथा प्राण शब्द को ब्रह्मपरकत्व का निश्चय होता है ।
प्राण शरीरक ब्रह्मकी उपासना के लिए यहाँ प्राणपद से ब्रह्मका निर्देश उपपन्न होता है ॥१७॥

इस प्रकरण में जीव का लिङ्ग है इसलिए वेदितव्य रूपसे जीव का ही ग्रहण होता
है । किन्तु परमात्मा का ग्रहण वेदितव्य रूपसे नहीं है । इस शंका का निराकरण करने
के लिए उत्तर सूत्र का उत्थान होता है । 'अन्यार्थमित्यादि' प्रकृत सूत्रघटक 'तु' शब्द पूर्व-
पक्ष का निराकरणपरक है । इस प्रकरण में जो जीव का आधारभूत जो ब्रह्म तादृश ब्रह्मके
स्वरूप का ज्ञापन परक है । इस बात जो प्रश्नोत्तर से जैमिनि आचार्य मानते हैं । बालाकी अज्ञात
शत्रु ने सोये हुए पुरुष के समीप जाकर के उस सुषुप्त पुरुष को हे सोमराजा ! इसप्रकार
से सम्बोधन किया । परन्तु नहीं सुनने से प्राणादिक में अभोक्तृत्व का प्रतिपादन करके डंडा
मार करके प्राणादि व्यतिरिक्त जीव को जगाया । तदन्तर वे दोनों पुनः जीव व्यतिरिक्त
जीव का आधारभूत परमात्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर करने लगे । उसमें यह प्रश्न किया 'हे
बालाकी ! उस समय में वह पुरुष कहाँ सो गया था । कहाँ से प्रादुर्भूत हुआ ? कहाँ

जीवातिरिक्तजीवाधारभूतब्रह्मस्वरूपज्ञापनार्थमिति प्रश्नव्याख्यानाभ्यां जैमिनिराचार्यो मन्यते । वालाक्यजातशत्रुसुप्तपुरुषसमीपं गत्वा हे सोमराजन्निति सम्बोधनं कृत्वा तदश्रवणेन प्राणादीनामभोक्तृत्वम्प्रतिपाद्य यष्टिघातेन प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवम्प्रतिबोध्य पुनर्जीवव्यतिरिक्ततदाधारभूतब्रह्मसम्बन्धिप्रश्नव्याख्याने चक्रतुः । तत्र प्रश्नः 'कौष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ठ क्व वा एतदभूतकुत वा एतदागत' इति । एतत्प्रश्नत्रयोत्तरानभिज्ञं बालार्किं ज्ञात्वा स्वयमेवोत्तरमाह 'यथा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति' इत्यादिभिः । अत्राधास्त्वेनापादानत्वेन च निर्दिष्टः प्राणशब्दाभिहितः परमात्मैवेत्युत्तरवाक्यार्थः । सुषुप्त्यवस्थायां जीवस्य परमात्मना परिष्वक्तत्वमाह श्रुतिः 'सता सोम्यतदासम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' वेदितव्यतया ग्रहणमिति शङ्कानिरसितुमाह अन्यार्थमित्यादि जीवव्यतिरिक्तपरमात्मनो वेदितव्यतयोपदेशाय जीवसंकीर्तनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ! प्रश्नव्याख्यानाभ्यां प्रश्नोत्तराभ्याम् । वालाक्यजातशत्रुसंवादे प्रश्नोत्तरयोः स्वरूपमन्वेषणीयम् तस्मादत्र न जीवस्य वेदितव्यतेति । किञ्च शाखान्तरेपि विज्ञानमयपदवाच्यजीगया ! इति । इन तीनों प्रश्न के उत्तर को नहीं जाननेवाले बालाकी को समझ करके स्वयमेव राजा ने उत्तर दिया । 'जब सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता है' इत्यादि प्रकरण से । यहाँ आधार तथा अपादान रूपसे निर्दिष्ट प्राण शब्द वाच्य परमात्मा ही है । यह उत्तर वाक्य का अर्थ है । जीव सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा से परिष्वक्त हो जाता है । इस बात को श्रुति कहती है । 'हे सोम्य ! उस समय में परमात्मा में सम्पन्न हो जाता है । 'प्राज्ञ परमात्मा से सम्परिष्वक्त हो जाता है ।' इसलिए सुषुप्ति समय में जीव के आधार रूपसे निर्दिश्यमान परमात्मा जीव से भिन्न ही है । क्योंकि अभेद में आधाराधेय भाव नहीं होता है । और भी एक वाजसनेयी लोग बालाकी अजाशत्रु संवाद में स्पष्ट रूपसे विज्ञानमय वाच्य जीव से भिन्न जीवाधारभूत परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं । 'जो यह विज्ञानमय पुरुष है वह उस समय में कहा था, कहाँ से आया' इस प्रश्न के उत्तर में 'जो यह हृदय के अभ्यन्तर आकाश है उसमें सोता है' ऐसा उत्तर दिया ।

इति । तस्मात्सुषुप्तौ जीवस्याधारतया निर्दिष्टः प्राज्ञः परमात्मा जी-
वादर्थान्तरभूत एवेति ।

अपि चैवमेके वाजसनेयिनो बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्ट
मेवं विज्ञानमयाज्जीवाद्भेदेन तदाश्रयभूतं परमात्मानमामनन्ति
'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' [बृ. २।१।
१६] इति प्रश्नस्योत्तरं 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेत'
इति । आकाशपदस्य 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति दहरविद्यायां
परमात्मपरत्वेन निर्णीतत्वादाकाशः परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तः ।
जीवसंकीर्तनन्त्वजीवस्य प्राणशब्दाभिहितपरमात्मनोऽर्थान्तरत्व
ज्ञापनार्थमिति नात्र सांख्योक्तपुरुषादिप्रतिपादनम् । परमात्मनो
जगत्कारणभूतस्यैवात्र वेदितव्यत्वमिति सिद्धम् ॥१८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

वाद्विभिन्नं परमात्मानमेव वेदितव्यतया प्रतिपादनं कृतम् । तस्मादत्र जीवस्य कथनं
तदर्थान्तरभूतस्य परमात्मनोज्ञापनार्थमिति ज्ञायते । अतोस्मिन् वाक्ये पुरुषाद्विन्नस्य
समस्तचराचरजगत्कारणस्य परस्यैव ब्रह्मणोवेदितव्यतया कथनात् सांख्यमतसिद्ध
पुरुषस्य तदधिष्ठितप्रधानस्य च न कारणत्वं क्वापि वेदान्ते ज्ञायते इति निश्चयं
दर्शयितुमुपक्रमते । अन्यार्थमित्यादि भाष्यग्रन्थश्चातिरोहितार्थकः स्वयमेवोहनीय
इति संक्षेपः ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेजगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

यहाँ आकाश पद 'दहरोस्मिन्' दहरविद्या में परमात्मपरक है ऐसा निर्णय किया है ।
इसलिए आकाश पदबोध्य परमात्मा ही वेदितव्य रूपसे कथित है । यहाँ जो जीव का कथन
है वह प्राणपद बोध्य परमात्मा से भिन्न है । इस बात को ज्ञापित करने के लिए है । अतः
यहाँ सांख्योक्त पुरुष का प्रतिपादन नहीं है । किन्तु जगत् कारणीभूत परमात्मा ही
वेदितव्य रूपसे सिद्ध होते हैं ॥१८॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

अथ वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

५ वाक्यान्वयात् १।४।१९ ५

मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते—‘सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता
स्यां किमहं तेन कुर्याम’ (वृ. २।४।३) ‘स होवाच न वा अरे पत्युः
कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति’
[वृ. २।४।५) इत्युपक्रम्य ‘आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यः’ (वृ. २।४।५) इति श्रूयते । अत्र संशयः । किं
प्रत्यगात्माऽत्र द्रष्टव्यत्वादिनोपदिष्ट आहोस्वित्परमात्मेति । किं
युक्तम् ? जीवात्मा । कुतः ? परमात्मा द्रष्टव्य इत्यश्रवणात् । आत्मेति
पदश्रवणाच्च । लोक आत्मपदस्य जीवपरत्वप्रसिद्धेः पतिजायापुत्र
पशुवित्तानां जीवभोग्यानां भोगोपकरणानाञ्चोपक्रमेण तद्वोक्तुर्जी

बृहदारण्यके मैत्रेयी ब्राह्मणे आत्मावारे द्रष्टव्यः इति श्रूयते । तत्रात्मपदेन जीवस्य
परमात्मनो वा ग्रहणम् । तत्र नाद्यः जीवज्ञानस्यामृतत्वासाधकत्वात् नहि अल्पजीवज्ञानं
कदाचिदपिमोक्षसाधनमिति प्रदर्शितम् । न द्वितीयः प्रकरणविरोधात् ‘नवारे पत्युः

बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा है कि—जिससे मुझको मोक्ष प्राप्त नहीं होगा
उस वस्तु को प्राप्त करके भी मैं क्या करूंगी’ तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा ‘अरे मैत्रेयी !
पति की प्रसन्नता के लिए पतिप्रिय नहीं होता है । किन्तु स्वार्थ के लिए पतिप्रिय होता है’ इस
तरह से उपक्रम करके ‘हे मैत्रेयी ! आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा ध्यान करने के योग्य है’ ऐसा
सुनने में आता है । इसमें संशय होता है कि क्या यहाँ जीवात्मा द्रष्टव्य रूपसे उपदिश्यमान
होता है । अथवा परमात्मा द्रष्टव्य रूपसे उपदिश्यमान होता है । तो इसमें कौन पक्ष ठीक
है ? तो पूर्वपक्षी कहते हैं जीव का परिग्रह ही युक्त है । क्योंकि ‘परमात्मा द्रष्टव्य’ ऐसा
तो कथन नहीं किया है । किन्तु आत्मा मात्र का कथन है । लोक में आत्मपद तो जीव में
भी प्रसिद्ध है । जीव भोग्य पतिजाया वित्तादिक तथा भोग का उपकरण करण कलेवर का
उपक्रम होने से इन सबका भोक्ता का उपक्रम है । मध्य में भी ‘अरे मैत्रेयी ! यह महान्
भूत अनन्त अपार विज्ञानधन है जो इन सब भूतों से प्रादुर्भूत होता है । तथा इन सब

वस्योपक्रमान्मध्येऽपि 'एवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' (वृ. २।४ १२) इति प्रकृतस्य जीवस्य विज्ञानघनस्य भूतेभ्यः समुत्थानं तदनुविनाशञ्च वदन् तस्यैव द्रष्टव्यत्वं दृढयतीति प्राप्तेऽभिधीयते—वाक्यान्वयादिति । परमात्मैवास्मिन् वाक्ये द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टो भवति । कुतः ? उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलादिभिः शास्त्रतात्पर्यनिर्णाय कैलिङ्गैरस्य वाक्यस्य ब्रह्मण्येव समन्वयदर्शनात् ।

उपक्रमे तावद—'मृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेने' ति याज्ञवल्क्यवचनं श्रुत्वा मैत्रेयी मोक्षसाधनं पृष्ठवती 'येनाहं नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि—इत्यमृतसाधनमेव मे ब्रूहीति यावत् । एवं पृष्ठो याज्ञवल्क्यकामायेत्यादिनापतिनामादिसम्बन्धेन जीवस्यैवोपक्रमात् परमात्मनः पतिजायादिसम्बन्धस्याभावात् । तस्माज्जीव एवात्रात्मशब्देन गृहीतोभवति नतु परमात्मा, आत्मशब्दस्य जीवे एव प्रयोगात् तस्मान्नात्रपरमात्मनो ग्रहणमित्याशङ्कां समाधातुं सूत्रं भूतो का विनाश होने पर यह भी विनष्ट हो जाता है । क्योंकि कारणाभाव होने पर कारकाभाव को होना लोकसिद्ध है । मृदादिक का अभाव होने पर घटावस्थान नहीं देखने में आता है । इत्यादि प्रकरण से विज्ञानघन भूत प्रकृत जीव का भूतो से समुत्थान तथा भूतो के विनाश के समनन्तर विनाश का कथन करने से जीव में ही द्रष्टव्यत्व का दृढीकरण किया गया है ।

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'वाक्यान्वयात्' 'आत्मावारे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य में आत्मपद से परमात्मा ही द्रष्टव्यत्व रूपसे उपदिश्यमान होते हैं । क्योंकि उपक्रमोपसंहार अभ्यास अपूर्वता फलादि के द्वारा जो कि शास्त्र के तात्पर्य का निर्णायक लिङ्ग है । उससे इस वाक्य को परब्रह्म में ही समन्वय देखने में आता है ।

उपक्रम में 'वित्तादि उपकरण से अमृत मोक्ष की आशा नहीं की जा सकती है' एतादृश याज्ञवल्क्य के वचन को सुन करके मोक्ष के साधन को पूछती हुई जिससे मुझको मोक्ष

आत्मदर्शनस्यामृतसाधनत्वमुपदिष्टवान् 'आत्मावारे द्रष्टव्य' इति । अत्र परमात्मदर्शनस्यैवामृतसाधनत्वमभिहितम् । एवं 'आत्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ. २।४।५) इत्यात्मदर्शनेनादिभिः सर्वज्ञानं वदन् कारण-विज्ञानेन तत्कार्यस्य सर्वस्य विज्ञेयत्वम्बोधयन्नात्मन एवाखिलकारणत्वं साधयति । न हि परिच्छिन्नस्य जीवस्य दर्शनेन सर्वपदार्थस्य ज्ञानं सम्भवति । तदेव सर्वकारणत्वं दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैः स्पष्टीकृतम् । तथा 'एवं वा अरे अस्य महतो निःश्वसितमेतद्ग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गीरसः' (बृ. २।४) इत्यात्मन ऋग्वेदाद्युत्पत्तिकथनद्वारा सर्वचराचरजगदुत्पत्तिं बोधयन्नस्य सर्वकारणत्वेन

व्याख्यातुं च भाष्यकार उपक्रमते मैत्रेयी ब्राह्मणे इत्यादि । संशयपूर्वपक्षौ भाष्योक्त दिशाज्ञेयौ । उत्तरयति वाक्यान्वयात् वाक्यतात्पर्यनिर्णायकोपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैः प्रकरणस्य परमात्मबोधकत्वात् परमात्मज्ञानमेव मोक्षसाधनम् अमृतत्वस्य तु नाशवित्तेन इत्या-प्राप्त नहीं होगा । उसको लेकर के मैं क्या करूँगी । आप जिसको हित साधक समझते हैं उसी का उपदेश दीजिए । अर्थात् अमृत=मोक्ष का सक्षात् साधन जो भक्ति प्रपत्ति है । उसी का उपदेश हमको दें जिससे मैं भी संसार महोदधि से पारभूत साकेत को प्राप्त कर सकूँ । मैत्रेयी ने जब इसप्रकार याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया तब याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन को ही मोक्ष के साधन रूपसे उपदेश दिया । 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इति । यहाँ आत्मदर्शन को ही अमृत का साधन कहा गया । एवम् 'मैत्रेयी ? आत्मा के दर्शन श्रवण, मनन तथा विज्ञान से ये परिदृश्यमान सब पदार्थ विदित होता है' इत्यादि । इसप्रकार आत्मदर्शनादिक से सर्वज्ञान का कथन करते हुए कारण परमेश्वर के ज्ञान से परमेश्वर के कार्यभूत सब पदार्थ में विज्ञेयत्व को बतलाते हुए परमात्मा में समस्त जगत्कारणता को सिद्ध किया जाता है । क्योंकि परिच्छिन्न जो जीव उसके ज्ञान से सर्वचराचर का ज्ञान संभवित नहीं है । परमात्मा में दुन्दुभि विगोरे दृष्टान्त से सर्वकारणत्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है । एवम् 'हे मैत्रेयी ! यह जो महान् भूत परमेश्वर हैं ।' इत्यादि प्रकरण से आत्मा से ऋग्वेदादि के उत्पत्ति स्थिति प्रतिपादन द्वारा सर्वचराचर के उत्पत्ति का बोधन करते हुए इस आत्मा को सर्वकारण कहते हुए इसमें पर-

परमात्मत्वं द्रष्टव्यमास । तस्मादत्रात्मशब्देन परमात्मैव गृह्यते स
एव द्रष्टव्यत्वेनोक्त इति । एवं 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन
विजानीयाद्विज्ञातास्मरे केन विजानीयात्' (वृ. २।४।१४) इत्युप
संहास्वाक्येऽपि परमात्मन एव द्रष्टव्यत्वं निष्पद्यते । एवमुपक्र
मादिभिरस्य प्रकरणस्य परमात्मपरत्वमेवेति निर्णयः ॥१९॥

ननु पतिजायादिभोग्यजातस्य 'विज्ञानधन एतेभ्योभूतेभ्यः
समुत्थायतान्येवानुविनश्यति' इत्यस्य च जीवलिङ्गस्य का गतिरि-
त्यत आह—

दिना परमात्मज्ञानव्यतिरिक्तस्य मोक्षासाधकत्वात् । तस्मात् प्रकृते आत्मपदेन परमात्मन
एव ग्रहणम् ननु तदन्यस्य । अतः आत्मपदेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं यदीयदर्शनादिकं
परमप्रयोजनस्य धनमिति संक्षेपः ॥१९॥

ननु कारणापेक्षया कार्यं न सर्वथा भिन्नं कारणनिरूपणाधीननिरूपणकत्वात्
नाप्यत्यन्तमभेदः परस्परव्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात् । एवं जीवोपि परमात्मांशो नात्यन्तं पर-
मात्मभिन्नचैतन्यरूपत्वाभावप्रसङ्गात् नाप्यत्यन्तमभिन्नः परस्परं व्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात्
मात्मत्वं का दृढ़ क्रिया अर्थात् 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' यहाँ आत्मपद परमात्मपरक है । एवम्
'जिसके ज्ञान से सर्वपदार्थ जाना जाता है । उसको किसके द्वारा जान सकते हैं । अरे
विज्ञाता को किससे जाना जा सकता है' इस उपसंहार वाक्य में भी परमात्मा में ही द्रष्ट-
व्यत्व उपपन्न होता है । उपर्युक्त प्रकार से उपक्रमादि तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग द्वारा प्रकृत
प्रकरण को परमात्मपरत्व का ही निर्णय होता है । क्योंकि अमृतत्व का साधन जीव का दर्शन
नहीं है । किन्तु परमात्मदर्शन ही है । इति संक्षेपः ॥१९॥

पतिजायादिक जो भोगवस्तु तथा 'एतेभ्योभूतेभ्यः' इत्यादिक जो जीव लिङ्ग है उसकी
क्या गति हो, यदि 'द्रष्टव्यः' इस स्थल में परमात्मा द्रष्टव्य हो । इस शङ्का का निराकरण
करने के लिए कहते हैं 'प्रतिज्ञासिद्धेरित्यादि 'हे मैत्रेयी ? आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन
और विज्ञान से यह सब विदित होता है' इस प्रकार आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान की जो
प्रतिज्ञा है उसकी जीव को परमात्मा का कार्य होने से उन दोनों में जीव पर में अन्यत्व

५५ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः १।४।२० ५५

‘मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्’ [वृ. २।४।५] इत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा या जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदनन्यत्वोपपत्त्या कारणविज्ञानेन तत्कार्यविज्ञानात्सिद्धेर्जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तित्वज्ञापनार्थं जीवलिङ्गं निर्दिष्टमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः १।४।२१

‘न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमी’ ति मुक्तजीवस्य संसाररहित अतोयथाकथञ्चिद्भेदोऽभेदश्च । तत्र परमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं जीवपरयोरभेदमादायपरमात्मनिर्देशयितव्ये जीवस्योपक्रमकृतो नातो जीवलिङ्गप्रदर्शनं विरुद्ध्यतीति प्रतिज्ञा सिद्धये तत्कथनमिति आश्मरध्यो मन्यते इति दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः ननु पतिजायेत्यादि ॥२०॥

प्रकारान्तरेण प्रकृतप्रकरणे जीवलिङ्गस्य सार्थकतां दर्शयितुमाह न प्रेत्यसंज्ञेत्यादि कथंचित् अमेद होने से तथा कारण के विज्ञान से कार्य का विज्ञान हो जाता है । इसलिए पूर्व प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है । अतः जीव को परमात्मा का कार्यरूप होने से जीव में परमात्मा के अधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तित्व का ज्ञापन करने के लिए जीवलिङ्ग का प्रकृत प्रकरण में निर्देश किया गया है । ऐसा आश्मरध्यायार्थ मानते हैं । अर्थात् जीव परमात्मा का कार्य है । और कार्यकारण में अमेद होता है । तो कारण रूप परमात्मा के ज्ञान से कार्यरूप जीव का ज्ञान होता है । तब पूर्वोक्त प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है । इस बात को बतलाने के लिए परमात्म प्रकरण में जीव के लिङ्ग का निर्देश है ऐसा उक्त आचार्य का मत है ॥२०॥

‘इस जीव की प्रेत्य संज्ञा नहीं है ऐसा कहता हूँ’ इसप्रकार से मुक्त जीव में संसार रहितत्व का उपदेश किया गया है । एवम् ‘विद्वान् नामरूप से विमुक्त होकर के परात्पर पुरुष को प्राप्त करता है ।’ इत्यादि श्रुति से मुक्त जीव को नामरूपराहित्य ज्ञात होता है ।

त्वोपदेशात् 'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति श्रुत्या मुक्तस्य नामरूपाद्विमुक्तत्वावगमात्तन्मोक्षसाधनत्वेन श्रवणमननपूर्वकपरमात्मनिदिध्यासनस्योपदेशाच्च 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वैन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा.३।१२।३) इति शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावाद् ब्रह्मणो यो भावोऽपहतपाप्मत्वादिरूपस्तेनैव भावेन मुक्तस्य स्थितिः श्रवणाज्जीवपरमात्मानमुपसम्पद्याविर्भावस्वरूपः सन् ब्रह्मभावप्राप्नुयादित्येतदर्थं तत्र जीवलिङ्गनिर्देश इत्यौडुलोमिगचार्यो मन्यते ॥२१॥

५ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः १।४।२२ ५

‘य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यम-
अयं च जीवः स्वभावतः परमात्मभिन्नोपि भगवदुपासनयाविशुद्धो ब्रह्मभावमासाद्य
परमात्मसमानतां भजते इति तदवस्थायामभेदमवाप्यमुक्तोभवतीति द्योतयितुं जीवलिङ्ग
प्रदर्शनमित्यौडुलोम्याचार्यस्यमतमितिभावः ॥२१॥

अन्तर्यामिब्राह्मणे पृथिवीजीवादिकः सर्वोपिजडचेतनः परमात्मनः शरीरमिति
तथा मोक्ष साधन रूपसे श्रवण मननपूर्वक परमात्मोपासना का उपदेश भी है । ‘यह जीव इस
शरीर को छोड़करके परमज्योति को प्राप्त करके स्वकीय रूपसे अभिनिष्पन्न होता है’ इस
प्रकार शरीर से उत्क्रान्त जीव को ब्रह्मभाव होता है । अर्थात् ब्रह्मका जो भाव अपहतपाप्म-
त्वादिरूप है उसीभाव से मुक्त जीव की स्थिति का श्रवण होने से जीव परमात्मा को
प्राप्त करके आविर्भूत स्वरूपक हो करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करेगा । इसलिए परमात्मप्रकरण
में जीवलिङ्ग का निर्देश है । ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है ॥२१॥

‘जो आत्मा में रहता हुआ, जिसका जीव शरीर है, जो आत्मा को नियन्त्रित करता
है ।’ इत्यादि श्रुति में जीव के आत्मभाव से परमेश्वर के अवस्थान का श्रवण होने से । ‘शरीर
वाचक शब्दों का शरीर में पर्यवसान होता है’ जीववाचक शब्द को जीव का शरीरी परमात्मा

यति' (वृ. ३।७।२२) इत्येवमादिषु जीवस्यात्मभावेन परमात्मनोऽवस्थितेः श्रवणात् 'शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानत्वा' ज्जीववाचकस्य शब्दस्य तच्छरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानात्तत्र जीवशब्देन परमात्मैवाभिहित इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । एतदेव सूत्रकारीयं मतम् । शरीरात्मभावस्यैव सर्वत्र श्रुतिषूपदिष्टत्वादिति ॥२२॥

इति श्रीआनन्दभाष्येवाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

अथ प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् १।४।२ ३

प्राग् 'जन्माद्यस्य यत' इति शास्त्रेण ब्रह्मणो जगत्कारणत्व प्रतिपादितमिति शरीरवाचकशब्दानां शरीरिणि पर्यवसाननियमात् एवं जगत्सर्वं शरीरं ते इति स्मृतेः शरीरतद्वतोऽच्चाभेदात् परमात्मप्रकरणे जीवपदेनापि परमात्मन एव ग्रहणमिति द्योतयितुं जीवग्रहणमिति काशकृत्स्नमतमितिभावः ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

ब्रह्मणोलक्षणावसरे जन्माद्यस्ययतः इति सूत्रेण जगतोजन्मादिकारणत्वमेवतत्लक्षणमिति कथितम् । तत्र कीदृशं कारणत्वं किमुपादानकारणत्वं निमित्तकारणत्वं वा । में पर्यवसान होने से इस प्रकरण में जीवशब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है । ऐसा आचार्य काशकृत्स्न का मत है । यही मत सूत्रकार का भी है । क्योंकि शरीरात्मभाव ही सर्वश्रुति में उपदेश है ॥२२॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यप्रकाशे वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

इसके पूर्वमें 'जन्माद्यस्य यतः' [परिदृश्यमान चराचर जगत् का उत्पाद स्थिति विनाश जिससे होता है वह ब्रह्म है] इस सूत्र से ब्रह्ममें जगत्कारणत्व कहा गया है । तो जो ब्रह्ममें

मभिहितम् । तत्किं तस्य निमित्तकारणत्वमुक्तमाहोस्विदुपादानत्व-
मपीति संशयः । तत्र निमित्तत्वमेवोक्तम् । कुतः ? 'तदैक्षत बहुस्यां
प्रजायेय' (छा. १।२।२) इतीक्षणमात्रेण जगत्कर्तृत्वश्रवणात्सत्यसंकल्प
स्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रेण जगत्सृष्ट्युपपत्तेरिति प्राप्तेऽमिधीयते-
प्रकृतिश्चेति । ब्रह्मजगतः प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तका-
रणमप्युक्तम् । कुतः ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । 'येनाश्रुतं श्रुतं
भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रति-
ज्ञायाः 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचार-

तत्र नाद्यस्तथात्वे ब्रह्मगतचेतन्यस्य जगति कार्ये समानजातीयगुणोत्पादकत्वप्रसङ्गात् ।
कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति नियमात् । तथा यथा ब्रह्मचेतनं तथैव तज्जनितं
जगदपिचेतनगुणकस्यात् तत्तु न संभवति नवोपपद्यते । तस्माद् यथा घटादिकार्ये जनयि-
तव्ये चेतनत्वात् कुलालो नोपादानमपितु निमित्तमेव तथैव परमेश्वरोपि जगतः कर्तृरूप
निमित्तमेव नोपादानं पूर्वोक्तदोषादित्याशङ्काया निराकरणायप्राह प्रकृतिश्चेत्यादि यथा
परमेश्वरो निमित्तकारणं तथैवोपादानमपि तदन्यस्य तथात्वासंभवात् । ततश्चाभिन्ननि-
मित्तोपादानं जगतः परेश एव लूताकीटवत् । न च कारणगुणस्य कार्ये संक्रमः ।
आरंभवादानभ्युपगमात् ।

“उपादानं निमित्तं च जगतो राधयो मतः ।

श्रुतयो निर्विकारत्वं वदन्ति ब्रह्मणो ननु ॥२॥

जगत् कारणत्व है वह निमित्त कारणत्व है अथवा उपादान कारणत्व भी है ! ऐसा संशय
होता है । परमेश्वर में निमित्त कारणता ही है । क्योंकि 'तदैक्षत' इस श्रुति में ईक्षण मात्र
से जगत्कर्तृत्व का श्रवण होने से सत्य संकल्पवान् ब्रह्म के संकल्पमात्र से जगत् का सर्ग
उपपन्न होता है [यदि कदाचित् ब्रह्मको जगत् के प्रति उपादान कारण मानेंगे तब तो
कारणगत जो चेतना है उससे तत्समान ज्ञानान्तर की उत्पत्ति कार्य में होने से जगत् जड़ न
होकर के वह भी चेतन हो जायगा. 'कारण गुणाः कार्यगुणानारभन्ते' ऐसा नियम है ।]
इसलिए परमेश्वर में कुलाळ की तरह कर्तृत्व रूप निमित्तत्व ही है । उपादान कारणत्व नहीं
है । इसशङ्का के उत्तर में कहते हैं सूत्रकार कि 'प्रकृतिश्चेत्यादि' ब्रह्मजगत् के प्रति प्रकृति

म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छा. ६।१।४] इति मृज्ज्ञा-
नेन मृण्मयज्ञानस्य दृष्टान्तस्य चानुपरोधाद् ब्रह्मणो जगदुपादानत्व
मप्युपपद्यते । यत्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं कारणावस्थं ब्रह्म तदेव सृष्टि-
काले स्थूलचिदचिद्विशिष्टं भवतीत्युपादानत्वं निष्पन्नतरम् । तत्र
प्रकृतिजीवयोर्जगदुपादानत्वे सत्यपि तत्र ब्रह्मणः प्रधानत्वाद् वैशे-
ष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' [ब्र.सू. २।४।१९] इति न्यायाद् ब्रह्मोपादानं
जगदिति वचनमुपपद्यते । न च मृण्मात्रज्ञानेन मृण्मयघटादिज्ञान

व्याकुप्येयुर्हि तादृचैवं कुतश्चेदुच्यते यतः ।

विकारीति मतं सर्वैरुपादानं विचक्षणैः ॥३॥

इति चेदुच्यते ह्यत्र नैवं वाच्यं कुतो यतः ।

प्रतिज्ञातं श्रुतौ सर्वज्ञानमेकस्य ज्ञानतः ॥४॥

दृष्टान्तः कथितश्चापि मृत्कार्याणां मृदस्तथा ।

उपादानं घटादेर्हि मृत्तिका परिकीर्तिता ॥५॥

परिणता यतो मृद्धि घटादिरूपतः खलु ।

उपादानस्य विज्ञानादुपादेयावबोधतः ॥६॥

मृज्ज्ञानेन घटादीनां विज्ञानं सम्मतं यथा ।

एकस्य ब्रह्मणो ज्ञानाद् विज्ञानं जगतस्तथा ॥७॥

उपादानं यतो ब्रह्म जगतोऽस्य मतं बुधैः ।

परिणतं यतो ब्रह्म जगद्रूपेण सम्मतम् ॥८॥

अर्थात् उपादान कारण है । तथा चकारात् निमित्त कारण भी है । क्यों दोनों काहण है ।
इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं 'प्रतिज्ञेत्यादि' जिसके ज्ञान होने पर अश्रुत पदार्थ श्रुत होता है
अमत मत हो जाता है' इसप्रकार ब्रह्म विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का तथा 'हे सोम्य ! जिस
तरह एक मृत्पिण्ड का ज्ञान हो जाने से सर्वमृन्मय घटादिक विज्ञात होता है । कार्यघट
केवल वाचारंभण मात्र है । सत्य तो कारण लक्षण मृत्तिका ही है' इसप्रकार कारण मृत्तिका
के ज्ञान से घटादि कार्य के ज्ञान रूप दृष्टान्त के अनुरोध से ब्रह्म में जगदुपादानत्व भी उप-
पन्न होता है । सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट कारणावस्थ जो ब्रह्म है वही सर्गकाल में स्थूल चिदचिद्वि-
शिष्ट हो जाता है । अतः ब्रह्म में उपादानत्व निष्पन्न होता है । यद्यपि प्रकृति तथा जीवमें

दृष्टान्तासङ्गतिः । तत्रापि मृण्मयस्य च कार्यस्य त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूता
त्मकत्वे सत्यपि मृदः प्राधान्यान्मृण्मयमिति वचनमुपपद्यते यथाऽत्र
त्रिवृत्कृते पृथिव्याः प्राधान्यं तत्पृथिवीत्युच्यते । यत्र जलस्य प्राधा-
न्यं तज्जलमित्युच्यते । तथैव चिदचिद् ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि जगत्
स्तत्र ब्रह्मणः प्राधान्याद् ब्रह्मोपादानं जगदित्युच्यते । विकारः कार्य-
व्यासेन 'प्रकृतिश्चे' त्यादिकं हि सूचितं ततः ।

श्रीबोधायनवृत्तौ तद् व्याख्यातमेवमेव हि ॥९॥

ब्रह्मणः परिणामो हि प्रकारद्वारको जगत् ।

विकारित्वं ततो द्वारे प्रकृतिपुरुषद्वये ॥१०॥

स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु ।

स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो बुधैः ॥११॥

ब्रह्मणस्तु विकारो यन्न स्वरूपस्वभावयोः ।

व्याकोपावसरः कश्चिच्छ्रुतीनां वर्तते न तत् ॥१२॥

जीवस्य प्रकृतेश्चापि सत्ता न प्रलये ननु ।

तद् द्वारिका कथं सृष्टिर्जगतस्तद् विभावय ॥१३॥

मेवं वाच्यं यतः सत्ता सूक्ष्मजीवप्रधानयोः ।

प्रलये वर्तते तस्मात् सिद्धान्तो मे न दोषमाह ॥१४॥

'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि' ।

उक्तं भगवता चैवमनादित्वं द्वयोस्तयोः ॥१५॥

भी जगदुपादानता है तथापि उसमें ब्रह्मका ही प्रधान होने से 'नैशेष्यात्' इस न्याय से ब्रह्मोपादानक जगत् है, यह वचन उपपन्न होता है । नहीं कहो कि मृत्तिका मात्र के ज्ञान से मृण्मय घटादि का ज्ञान तो नहीं होता है । अतः दृष्टान्त असंगत है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्यों मृत्तिका तथा घटादि कार्य को त्रिवृत्कृत होने से भूत त्रयात्मक है । तथापि मृत्तिका की प्रधानता होने से मृण्मय कहलाता है । त्रिवृत्कृत में जहाँ पृथिवी की प्रधानता है उसको पृथिवी कहते हैं । जल के प्रधानता में जल इत्यादि । 'पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नाम तत्' इत्यादि रूप से जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यजी ने श्रौतत्रिवृत्करण को पञ्ची

जगच्चराचरं तन्नामधेयञ्च वाचास्मभणं वागालम्बनमात्रं चिदचिद्
ब्रह्मैव सत्यमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोः समानत्वान्मृण्मयस्य सर्वस्य
मृदुपादानकत्ववत्सर्वस्य जगतो ब्रह्मोपादानकत्वं निष्पन्न
तरमेव ॥२३॥

ततो “नात्मा श्रुते” रादिसूत्रं व्यासेन निर्मितम्

अव्याकृतं जगत् तर्हि चासीच्छ्रुतिर्वदत्यपि ॥२६॥

उक्तं ब्रह्मशरीरत्वं जीवप्रधानयोः श्रुतौ ।

शरीरत्वात्प्रकारत्वं तयोस्तद् ब्रह्मणो मतम् ॥२७॥

सूक्ष्माचिच्चिद्विशिष्टं हि सद् ब्रह्मकारणं तथा ।

स्थूलाचिच्चिद्विशिष्टं तद् ब्रह्मकार्यं मतं बुधैः ॥२८॥

प्रकारांशे विकारित्वं विशेष्यांशे तु नैव तत् ।

ब्रह्मणः सम्मतं, तस्मात् कश्चिद्दोषो न विद्यते ॥२९॥

‘स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च परमेश्वरः’ ।

इति विष्णुपुराणेऽपि ब्रह्म कार्यं च कारणम् ॥३०॥

इत्यादिरूपेण परिणामविमर्शे जगद्गुरु श्रीद्वारानन्दाचार्यप्रतिपादितदिशावेदैकपक्ष-
पातिभिः परिणामवादस्यैव स्वीकारात् । न चारंभवादेऽपि स नियमः द्वयणुकादिपरिमाणे
तादृशनियमस्य त्यागात् । न च परिणामवादे ब्रह्मणोऽनित्यत्वम् कार्यावस्थस्यानित्य-
त्वेऽपि कारणावस्थस्य नित्यत्वात् । प्रवाहरूपेण स्थावरजंगममात्रस्य नित्यत्वमित्यादिकं
सर्वं बोधयितुं सूत्रान्वयारब्धातुं चोपक्रमते प्राग्जन्माद्यस्येत्यादि ॥२३॥

करणोपलक्ष्यक होने से पञ्चीकरण का प्रपञ्चपूर्वक निरूपण किया है विशेषार्थी को वहीं
स्वामी श्रीत्रैलोक्यवाचार्यजी की प्रभा टीका से अनुसन्धान करना चाहिये । इसी तरह
जगत् को चित् अचित् तथा ब्रह्मोपादानक होने पर भी ब्रह्म की प्रधानता होने
से ब्रह्मोपादानक जगत् कहलाता है । विकार अर्थात् चर अचर लक्षण जगत् कार्य तथा
नामधेय यह सब वाचारंभण मात्र है । वागालम्बन मात्र है । चिदचिद् ब्रह्म ही सत्य है ।
इस प्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक को समानता होने से घटादिक में मृत्तिकोपादानकता की
तरह समस्त जगत् में ब्रह्मोपादानकत्व सिद्ध होता है । अर्थात् ब्रह्म कुलाल के समान केवल
निमित्तकारण ही नहीं है किन्तु उत्पादकीटवत् निमित्त भी है । तथा उपादान भी है ॥२३॥

५ अभिध्योपदेशाच्च १।४।२४ ५

‘सोऽकामयत’ [तै.२।६] इति ध्यानोपदेशाद्ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं ‘बहुस्यां प्रजायेय’ इति जगदाकारेण बहुभवनचिन्तनोपदेशाच्च तस्य जगदुपादानत्वञ्चेति निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चैकस्यैव ब्रह्मणो निष्पद्यते ॥२४॥

५ साक्षाच्चोभयाम्नानात् १।४।२५ ५

‘ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्’ ‘ब्रह्माद्यतिष्ठद्भुवनानिधारयन्’ (अष्ट. २।८।७।८) इति साक्षाद् ब्रह्मणो जगदुपादाननिमित्तत्वयोरुभयोरात्मनादुभयं चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव ॥२५॥

५ आत्मकृतेः १।४।२६ ५

‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’ (तै० २।७) इति प्रलये सूक्ष्मचिदब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे युक्त्यन्तरं दर्शयति अभिध्येत्यादि ॥२४॥

आत्मानमित्यत्र द्वितीयाकर्मोपस्थापिका कर्मत्वेनोपादानत्वम्, अकुरुतेतिक्रियया

“सोऽकामयत” इस प्रकार ध्यान का उपदेश होने से ब्रह्म में जगत्कर्तृत्व तथा ‘बहु-स्यां’ इस प्रकार जगदाकारेण बहुभवन चिन्तनोपदेश से ब्रह्म में जगत् के प्रति उपादानत्व एक ही ब्रह्म में सिद्ध होता है इति संक्षेपः ॥२४॥

‘ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्’ इत्यादि श्रुतियों में साक्षात् स्व कण्ठ स्व से ही ब्रह्म को जगत् के प्रतिनिमित्तकारण तथा उपादान कारणता का प्रतिपादन होने से चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही संसार का अभिन्न निमित्तोपादानकारण यह सिद्ध होता है ॥२५॥

‘उसने अपने को स्वयं बनाया’ इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि-प्रलय में सूक्ष्मचिच्छरीरकतया अवस्थित जो परमात्मा वह प्रलयावस्थान के अंत में स्व को स्थूल चिदचिच्छरीरकतया बनाया जीव के भोगोपवर्ग के साधन के लिए । इस तरह एक ब्रह्म में जगद्

चिच्छरीस्त्वेनावस्थितमात्मानं तदन्ते स्थूलचिदचिदचिच्छरीरकं स्व-
यमकुरुत जीवानां भुक्तिमुक्त्यर्थमित्युपादाननिमित्तत्वमुभयमेकस्यैव
ब्रह्मणः स्पष्टमुक्तम् । ये तु विशुद्धं ब्रह्मैवात्मानं स्वयमकुरुत सुखदुः-
खादिभागभवदित्याहुस्तन्नोपपद्यते । ब्रह्मणि विकारित्वाद्यनेकदोषा
पक्षेस्तदपाकरणार्थं मायाशबलितस्यैव जगद्रूपत्वमङ्गीकरिष्यते चेदुपा-
दानताभङ्गप्रसङ्गः । न च कल्पितत्वं जगत् इत्युक्तावपि निस्तारः ।
केनकिमर्थं कल्पितमिति प्रश्नस्योत्तरानुपपक्षेस्तस्मात्सूक्ष्मचिदचिच्छ-
रीरकस्य कारणावस्थस्यैव ब्रह्मणः कर्तृत्वादिव्यपदेशादुपादाननिमि-
त्तत्वमुभयमपि सङ्गतम् ॥२६॥

इतश्च जगत्प्रकृतिर्ब्रह्मैव-

५ परिणामात् १।४।२७। ५

‘निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञा-
आक्षिप्यमाणकर्तृत्वेन निमित्तमित्युभयमपि कारणत्वमेकस्यैव ब्रह्मण इति दर्शयितुमाह
आत्मकृतेरिति एकमेव ब्रह्मकारणावस्थमुत्पादकं तदेव च कार्यौवस्दमुत्पाद्यमित्याकार-
भेदादेकस्य बोधयरूपत्वमिति न कोपि विरोधस्तस्मादुभयविधकारणत्वं ब्रह्मण
एवेतिभावः ॥२६॥

पूर्वपूर्वतरसूत्रैः परमात्मनः जगत् प्रकृतित्वं प्रतिपाद्य परिणामादपि हेतोः
पादानत्व तथा जगत्कर्तृत्व का कथन स्पष्ट रूप से किया है । जो व्यक्ति विशुद्ध ब्रह्म अपने
को स्वयं बनाया अर्थात् सुख दुःखादिमान् हुए ऐसा अर्थ करते हैं यह ठीक नहीं है ।
क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म में विकारित्वादि अनेक दोष होता है । इस दोष का निराकरण
करने के लिए मायाशबलित ब्रह्म को जगद्रूप मानें तब तो ब्रह्म में उपादानत्व का भङ्ग
होगा । नहीं कहो कि जगत् तो कल्पित ही है तो यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि
किसने जगत् को कल्पित किया । क्यों कल्पित किया ? इत्यादि प्रश्न तथा उसका उत्तर
अनुपपन्न है । तस्मात् सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक कारणावस्थ ब्रह्म में कर्तृत्व का व्यपदेश होने
से ब्रह्म में उपादानत्व तथा जगत्कर्तृत्व यह दोनों उपपन्न होता है ॥२६॥

वक्ष्यमाण परिणाम हेतु से भी सिद्ध होता है कि जगत् का प्रकृति उपादान कारण

नञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते
 (तै० २।६) इत्यविभक्तनामरूपातिसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकस्य कार-
 णावस्थस्य ब्रह्मणो विभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन परिणा-
 माज्जगदुपादानं निमित्तञ्च ब्रह्मैव । सूक्ष्मावस्थस्य सर्वस्य चिदचिद्व-
 स्तुनो ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वञ्च 'यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथि-
 वीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' 'यस्यात्मा शरीरम् य-
 आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत' (बृ० ३।७।२२)
 इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः सिद्धमेव । मायिमतेऽस्य सूत्रस्यासङ्गतत्वं
 दुष्परिहरम् । यतस्तैः शुद्धस्य ब्रह्मण एव परिणामोऽभ्युपेयस्तथा च
 विकारित्वेन निर्विकारश्रुतिव्याकोपोऽनिवार्यः । यच्चात्र व्याख्यातं
 परिणामो विवर्त इति तदपि न विचारसहम् । दुग्धस्य ददध्याका-
 रेण परिणामवद्ब्रजोः सर्पाकारेण परिणामत्वासम्भवात् । तात्त्विको

परमात्मनः प्रकृतित्वं निमित्तकारणत्वं च दर्शयितुमुपक्रमते इति च जगत् प्रकृतिब्रह्मैवेतीति ।
 अयमाशयः । अन्तर्याम्यधिकरणस्थश्रुत्यादिदर्शनेनेदं ज्ञायते यत् ब्रह्मजगत् परिणा-
 म्युपादानं चेतनत्वात् कुलादिवत् कर्तृरूपनिमित्तकारणमपि । यथामृदुपादानंकृत्वा-
 मृदिघटो जायमानो मृत्तिका मेवोपादानभूतां करोति, तथैव सूक्ष्मचिद्विशिष्टं
 ब्रह्मकारणावस्थं तदेव स्थूलचिदचिद्विशिष्टजगदाकारेण परिणमते । इति ब्रह्मणः
 तथा निमित्त कारण ब्रह्म ही है । 'निरुक्तम्' यहाँ से आरम्भ करके 'तत्सत्यमित्याचक्षते'
 इत्यन्त प्रकरण से 'अविभक्त नामरूपक अति सूक्ष्म जड चेतन शरीरक कारणावस्थ ब्रह्म का
 विभक्तनाम रूप स्थूल चेतन जड शरीर रूप से परिणाम होने से ब्रह्म ही जगत् का परिणामी
 उपादान कारण तथा निमित्तकारण भी ब्रह्म ही है । सभी सूक्ष्मावस्थ जड चेतन पदार्थ ब्रह्म
 का शरीर है । तथा ब्रह्म तदात्मक है । यह बात 'जिसका पृथिवी शरीर है, पृथिवी को
 नियंत्रित करता है वह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है' जिसका आत्मा जीव
 शरीर है' इत्यादिक श्रुतियों से सिद्ध ही है' माया वादियों के मत में इस सूत्र में असंगतत्व
 दोष सर्वथा अपरिहरणीय ही होता है । क्योंकि वे भोग तो शुद्ध ब्रह्म का ही परिणाम
 मानेंगे । तब तो ब्रह्म को विकारी होने से निर्विकारता प्रतिपादक श्रुति विरोध होगा । यहाँ

ऽन्यथाभावः परिणामोऽतात्त्विकोऽन्यथाभावस्तु विवर्त इति परिणाम
विवर्तयोर्विभिन्नार्थकत्वान्न विवर्तवादस्यात्र प्रसरः । एवमवच्छेद-
प्रतिबिम्बादिवादानामपि प्रकृतार्थविघातकत्वम् । अस्मन्मते तु 'तत्सृ-
ष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे
व्याकरवाणि' 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत'
इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः परिणामो विशेषणांश उपपद्यतेतराम् ।
विशेष्यांशे निर्विकारत्वमप्यक्षतम् ।

‘स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु ।

स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो बुधैः ॥

ब्रह्मणस्तु विकारो यन्न स्वरूपस्वभावयोः ।’

इत्याचार्योक्तेः ।

परिणामभूतं जगद्ब्रह्मोपादानकं भवति परिणामाच्च जगद्ब्रह्मोपादानकमिति सिद्धम् ।
“उपादानं निमित्तं च सर्वस्यैको हि राघवः । ऊर्णनाभिर्यथा तन्तोर्मन्यते कारणद्वयम् ।
उपादानत्वमेतस्य विश्वस्य ब्रह्मणि किल । सदेववौम्येदमग्र इत्यादि श्रुतिसम्मतम् ।
न ब्रह्मा नापि विष्णुश्च नोतदासीन्महेश्वरः । तदासीद्भगवानुरामः सूक्ष्मचिदचिच्छरी-
रकः । उपादानतयारामे विकारः संभवेन्ननु । मैवं विशिष्टरामस्य मतः स च प्रका-
रयोः । स्वभावे च स्वरूपे च विकारः प्रकृतेः खलु । विकारः सोऽथ जीवस्य स्वभाव
एव मन्यते ॥ विशेष्य ब्रह्मणः सोऽथ न स्वरूपस्वभावयोः । ब्रह्मोपादानतावादि
परिणाम शब्द का अर्थ विवर्त है । ऐसा जो कहा है वह भी विचारासह नहीं होने से असं-
गत ही है । क्योंकि जिस तरह दूध का परिणाम दही है । उसी तरह रज्जुका परिणाम सर्प
नहीं होता है । तात्त्विक अन्यथाभाव का नाम होता है परिणाम तथा अतात्त्विक अन्यथाभाव
का अर्थ होता है विवर्त । इस प्रकार परिणाम विवर्त को विभिन्नार्थक होने से विवर्तवाद का
अवसर नहीं है । एवं प्रतिबिम्बवाद अवच्छेदवाद का भी समावेश नहीं होता है । विशिष्टा
द्वैत मत में तो 'तत्सृष्ट्वा' 'अनेन जीवेन' इत्यादि श्रुतियों से विशेषणांश
में परिणाम तथा विशेष्यांश में निर्विकारत्व भी उपपन्न होता है । क्योंकि दोनों ही

उभयोरपि ब्रह्मस्वरूपत्वमेवेत्येकस्यैवोपादानतापि सम्पन्नेति
वस्तुतस्तु—अव्याकृतनामरूपयोर्व्याकरणमात्रमेव सृष्टिः सैव च परि-
णामशब्देनोच्यत इति सर्वं समञ्जसम् ॥२७॥

५ योनिश्च हि गीयते १।४।२८ ५

‘तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’ (मु.१।१।६) ‘कर्त्तारमीशं
पुरुषं ब्रह्मयोनिम्’ (मु.३।१।३) इति ब्रह्मैव सर्वभूतयोनिशब्देन
गीयते । हि यस्मात्तस्मात्सर्वभूतयोनित्वाज्जगदुपादानं निमित्तञ्च
ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥२८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

श्रुतिकोपोऽपि नो भवेत् ॥’ (श्रीवोधायनमतादर्शः ३६-४१) इत्यादिरूपेणाचार्योक्तेः ।
विवर्तादिवादादीनां निराकरणं यथाभाष्यं ज्ञातव्यम् । परिणामकारणवाद एव
सूत्रकारसंमतः । अन्यथा परिणामादिति सूत्रमकृत्वा विवर्तादित्येव ब्रूयात् । तदभावा-
न्नतथेति संक्षेपः ॥२७॥

ब्रह्मस्वरूप ही है । इसलिए एक में ही उपादानता एवं निमित्तकारणता भी उपपन्न होती है ।
वस्तुतस्तु अव्याकृत नाम रूप का जो स्पष्टीकरण तावन्मात्र का नाम है सर्ग । वही
परिणाम शब्द से कहा जाता है । प्रकृत विषय का विशेष विचार “स्वरूपे च” आदि
जगद्गुरु श्रीद्वारानन्दाचार्यजी के परिणाम विमर्श प्रबन्ध विवरण में किया गया है अतः
विशेषार्थि वहीं से अनुसन्धान करें ॥२७॥

ब्रह्म में योनि शब्द का प्रयोग होता है । योनि का अर्थ होता है प्रकृति ।
“ये धीरं लोके भूतयोनिं ब्रह्म को देखते हैं” “कर्त्तारमीशमित्यादि” श्रुति से ब्रह्म ही
योनि शब्द से कहे जाते हैं । हि शब्द हेत्वर्थक है । जिसलिए ऐसा है इसलिए
सर्वभूतयोनि होने के कारण जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण ब्रह्म ही है ।
यह निश्चित होता है ॥२८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

एतेन सर्वव्याख्याता व्याख्याताः १।४।२९

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इति सर्वज्ञसर्वशक्तिपरम-
पुरुषपरत्वेनोपक्रमान्मध्येऽपि जगत्कारणपरवाक्यानामभ्यासात् ‘तद्
भूतयोनिम्’ इत्यादिना ब्रह्मादिसर्वचराचरभूतकारणपरमात्मपरत्वेनोप-
संहारात् सर्वेषां वेदान्तानां जगत्कारणे परमपुरुषे समन्वयत्वसिद्धेः ।
‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ (का. १।२।१५) इति समेषां वेदान्तानां
तत्रैव ब्रह्मणि समन्वयस्य श्रुतत्वात् ‘जन्माद्यस्य यतः’ (ब्र०सू०१।१
२) इत्यारभ्य ‘योनिश्च हि गीयते’ (ब्र.सू.१।४।२८) इत्यन्तेनोक्तेन

एतेन पूर्वप्रपञ्चितपादचतुष्टयेषु प्रथमे परान्नायायणाच्चैव कृष्णात्परतरादपि ।
यो वै परतमः श्रीमान् रामोदाशरथिः स्वराट् । राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम् । इत्यादिरूपेण श्रुतिप्रतिपादितदिशा परम
कारणभूतचिदचिद्विलक्षणपरमपुरुषसर्वेश्वरश्रीरामविशेषनिर्णयेन द्वितीये तस्यैव
जगच्छरीरकत्वं प्रतिपादनेन तृतीयेऽपि सर्वेश्वरश्रीरामस्यैव सर्वात्मकत्वेन निरूपणेन

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादि श्रुति समूह से सर्वज्ञ सर्व शक्तियों से
सम्पन्न कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ परम पुरुष सर्वेश्वर श्रीरामजी ही सर्व जगत्के अभिन्न
निमित्तोपादान कारण हैं तथा मध्य में जगत्कारण वाक्यों का पुनः पुनः अभ्यास होने से
और ‘तद्भूतयोनिम्’ इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मादि स्थावरान्त सम्पूर्ण चराचर भूतसमूहों का
कारण परम पुरुष श्रीराम शब्द से कहे जाने वाला परब्रह्म ही है इस प्रकार उपसंहार होने
से सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का जगत्कारण परम पुरुष श्रीराम में ही समन्वयसिद्ध होता है
अन्य में नहीं क्योंकि ‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ इस काठक श्रुति के द्वारा सब वेदान्त
वाक्यों का उसी सर्व जगत्कार ‘राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः । राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो
ब्रह्मकारणम्’ इत्यादि श्रुतियों से निरूपित परब्रह्म श्रीराम में ही समन्वय देखने में तथा सुनने

न्यायकलापेन सर्वे वेदान्ताः सर्वज्ञसर्वशक्त्याद्यनवधिकातिशयानन्त
कल्याणगुणविशिष्टस्वानन्यचिन्तकभक्तोपायोपेयभूतजगदुत्पादकरक्षक
परमपुरुषश्रीरामाख्यपरब्रह्मपरत्वेन व्याख्याताः । पदाभ्यासो-
ऽध्यायपरिसमाप्तिज्ञापनार्थः । अत्रानेन सूत्रेणैतदध्यायगतसूत्र
श्रुतीनामर्थान् सम्यगवगत्यावशिष्टानि वेदान्तवाक्यान् येतदानुगुणे
नैव ज्ञेयानीत्यपि ज्ञापितम्भवतीति ॥२९॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥१॥

५ समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ॥१॥ ५

तथा चतुर्थेऽतत्कार्यात्तच्छरीरात्तदात्मकपदार्थभावत्वं प्रतिपादनेन च प्रकृत
व्याख्यानेऽनुदाहृतवाक्यविशेषा अपि पूर्वव्याख्यानप्रकारेणैव व्याख्येयाः ।
ततश्च एतेन प्रधानकारणवादनिरासेन सर्वे परमाणवादिकारणवादा हेयतया व्याख्या
तेत्यादि सूत्रव्याख्यानं हेयमेव तर्कपदादिस्थलेषु विरोधात् परमपुरुषश्रीरामाख्यपरब्रह्म
में आता है अतः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र. सू. १।१।२) से लेकर 'योनिश्च हि गीयते'
(ब्र.सू. १।४।२८) यहाँ तक के ब्रह्म-वेद वाक्य समूहों से समुपवर्णित सब वेदान्त वाक्य
सर्वज्ञ सर्वशक्ति आदि अवधि रहित अतिशय सर्वोत्कृष्ट अनन्त कल्याण गुण समूह से सर्व
दायुक्त स्वानन्यचिन्तक अपने सर्वेश्वर के अनन्य रूप से चिन्तन करने वाले अनन्य गति
होकर अपने शरण में आये हुये जनों के उपाय तथा उपेय प्राप्ति के साधन तथा प्राप्य
स्वरूप जगत् को उत्पन्न रक्षण तथा अन्त में उपसंहार करने वाले परमपुरुष सर्वेश्वर श्रीराम-
रूप पर ब्रह्म के निरूपण परक ही हैं इस प्रकार से समझ लेना चाहिये । सूत्र में व्या-
ख्याता व्याख्याता इस प्रकार आवृत्ति अध्याय समाप्ति का बोधक है ।

प्रकृत सूत्र से यह भी विशेषतया बोधित होता है कि इस प्रथमाध्याय में समाप्त तथा
व्याख्यात सूत्र तथा श्रुतियों के अर्थों को अच्छी प्रकार से अवगम कर के आगे के तीन
अध्यायों में आने वाले सब सूत्र तथा श्रुतियों का भी पूर्व प्रकरण में जैसी व्याख्या सूत्र या
श्रुतियों की की गई है उसी के अनुरूप करना चाहिये । इस विषय का ज्ञापक सूत्र का

परत्वेन व्याख्याताः, इत्यादिभाष्याक्षरस्वरस्यविरोधाच्चेतिदिक् ॥२९॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठसंस्थापकाचार्य

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्तयाचार्य

श्रीआनन्दभाष्यसिंहासनासीन श्रीमत्परमहंस

परिब्राजकाचार्य श्रीत्रीयब्रह्मनिष्ठजगद्गुरु

श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेप्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

卐 श्रीसीतारामार्पणमस्तु 卐

ॐ श्रीरामः शरणं मम ॐ

व्याख्याता यह पुनरुक्त वाक्य है ॥२९॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापकाचार्य

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्तयाचार्य श्रीआनन्दभाष्यसिंहासनाधीश्वरानन्त

श्रीविभूषित जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रपट्टशिष्य

कान्यकुब्जकुलावतंशवशिष्टगोत्रीयत्रिप्रवरान्वित शुक्लयजुर्गेदीय

बाजसनेयभाष्यन्दिनशाखाध्यायी विश्रामद्वारकास्थ पश्चिमाभ्याय

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर स्तथा कर्णावतीस्थ

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाधिपति आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

ॐ सगैश्वर श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॐ

卐 श्रीरामः शरणं मम 卐

श्रीहनुमते नमः

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ५

अथ स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

व्याख्याते समन्वयाख्ये प्रथमेऽध्याये समेषां वेदान्तानाम-
खिलकल्याणगुणसागरे परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयमभिधाय तन्त्राभि-
मतप्रधानादेः स्वातन्त्र्येण कारणस्यागैदिकत्वेनाप्रामाण्यमभिहितम् ।
राद्धान्तितञ्चैतस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वम्परमात्मन
एवेति । इदानीमस्मिन्नविरोधाख्ये द्वितीयेऽध्याये स्मृत्यादिविरोध
माशङ्क्य परिह्रियते । तत्र प्रथमे पादे सांख्यस्मृतिविरोधमाशङ्क्य
श्रुतिमूलकस्मृतिविरोधेन वेदार्थप्रतिकूलतया सांख्यस्मृतेर्न गैदि-
कार्थनिश्चयने प्रामाण्यमित्यनुगमस्य तत्तर्कोपतर्कितदुर्वादमपाकृत्य
स्वमतं व्यवस्थाप्यते । तत्रानेनादिमेनाधिकरणेन सांख्यस्मृतिविरो-
धमेवोपन्यस्य समाधीयते ।

जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो जन्माद्यस्य यत् इत्यादिना लक्षणं कृतम् ततः स्पष्टास्पष्ट
लिङ्गकवाक्यानां जिज्ञास्ये ब्रह्मणि समन्वयोपि प्रदर्शितः । परन्तु विरोधे

व्याख्यात समन्वय नामक प्रथम अध्याय में सकल वेदान्त वाक्यों का अखिल
कल्याणगुणसागर परम पुरुष पुरुषोत्तम श्रीरामाख्य ब्रह्म में समन्वय का प्रतिपादन करके
सांख्य सिद्धान्ताभिमत प्रधान में स्वातन्त्र्येण जो कारणता है वह अवैदिक है अतः वह अप्रामा-
णिक है ऐसा प्रथमाध्याय में कहा गया । और सिद्धान्त किया कि इस जगत् के प्रति अभिन्न
निमित्तोपादानकारणत्व ब्रह्म में है ऐसा प्रकृतिश्चेत्यादि सूत्र से बतलाया । इसके बाद अब
इस अविरोध नामक द्वितीय अध्याय में स्मृति विरोध की आशंका करके परिहार करते हैं ।
तादृश विरोध का इस द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में सांख्य स्मृतीय विरोध की शंका करके
श्रुति मूलक मन्वादि स्मृति के विरोध होने से वेदार्थ के प्रतिकूल जो सांख्य है उसके
विरोध होने से गैदिकार्थ विचार में सांख्यस्मृति को प्रामाणिकत्व नहीं है । ऐसा
अनुगम करके सांख्यपादि तर्कोपतर्कित दुर्वाद का निराकरण करके स्वकीय मत [विशिष्टाद्वैत

५ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति

चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्गात् २।१।१ ५

अत्रायं संशयः समुदेति । किं वेदान्तानां योऽयं ब्रह्मणि समन्वयः सम्पाद्यते तस्य च सांख्यादिस्मृतयो बाधिका आहोस्विन्नेति । किं युक्तम् ? बाधिका इति । कुतः ? अबाधकत्वे स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । प्रमाणान्तरावेद्यस्य शब्दमात्रैकगम्यस्य निरतिशयानन्दलक्षणमोक्षस्य च साधने प्रवृत्तानां तेषामनवकाशता स्यादिति दोषः । सांख्यादिस्मृत्यसम्मतवेदार्थोपवर्णने तथैव च मोक्षादिरूपप्रमेयस्वीकारे तासां नैर्थक्यं स्पष्टमेव । उभयोरेकार्थप्रतिपादकत्वादेकस्यानिवकाशत्वमेव समापन्नमिति । तच्चायुक्तम् । 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रेज्ञानैर्विभर्त्तिजायमानञ्च पश्येत्' तादृशवाक्यानां स्वार्थं प्रामाण्यं न स्यादिति स्मृतितर्कादिमूवकविरोधपरिहाराय द्वितीयाध्यायस्योपक्रमं करोति व्याख्याते समन्वयाख्ये इत्यादि । तत्रापि सांख्यादि स्मृतिप्राप्तविरोधस्य समाधानाय प्रस्तौति स्मृत्यनवकाशेत्यादि । तत्र ब्रह्मणि समन्वये वेदान्तमत] को व्यवस्थापित करते हैं । उसमें इस प्रथम अधिकरण से सांख्य स्मृति के विरोध का उद्घाटन करके समाधान करते हैं "स्मृत्यनवकाशेत्यादि" सूत्रम् [यदि ब्रह्म कारणवाद को मानते हैं तो प्रधानतया प्रधान कारणवाद का समर्थक सांख्यतन्त्र में अनवकाशदोष प्रसङ्ग होगा । अतः ब्रह्मवाद ठीक नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मकारणता प्रतिपादक वेदानुकूल मन्वादि स्मृति का भी अनवकाश प्रसङ्ग दोष होता है । इसलिए सांख्यस्मृति में अनवकाश दोष अकिञ्चित्कर है" इति सूत्राक्षरार्थः ।]

यहाँ इसप्रकार संशय उदित है । क्या वेदान्त का जो ब्रह्म में समन्वय का संपादन करते हैं उसका सांख्यतन्त्रबाधक है अथवा बाधक नहीं है इसमें कौनसा पक्षको मानना युक्त है ? तो सांख्य तन्त्र बाधक है । यह मानना ही ठीक है । तन्त्र बाधक है यह मानना ही ठीक है । बाधक न हो तब तो बाध्य होगा । तब उक्त तन्त्र में अनवकाशदोष प्रसङ्ग होता है ।

(श्वे० ६।२) इति श्रुत्या सर्वज्ञतयोक्तस्य कपिलर्षेः प्रणीतत्वेन तासां प्रामाणिकत्वात् । तस्मान्न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमास्थेयम् । कपिलर्षिप्रणीतप्रधानकारणवादिस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गादिति चेन्न । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । अन्यासां श्रुतिमूलकस्मृतीनां तथा सत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् । तथा हि— ‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्’ (श्वे० ४।९) ‘मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्’ (श्वे० ४।१०) ‘प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश’ (श्वे० ६।१६) ‘सकारणं कर्णाधिपाधिपोनचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः’ (श्वे० ६।९) इत्यादि श्रुतिमूलानां परमात्मकारणवादिनीनामुपरोधात् । तत्र मानवस्मृतौ च ‘आसीदिदं तमोभूतम्’ (म० १।५) इति प्रकृत्य ‘ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुगसीत्तमोऽनुदः’ (म० १।६) ‘सोभिध्याय शरी-
क्रियमाणे सांख्यस्मृतिर्वाधिका भवति नवेति संशयः । तत्र सांख्यस्मृतिर्वाधि-
केति प्रथमः पक्षः । तथाहि सांख्यशास्त्रं केवलं मोक्षस्वरूपं तदुपायं च प्रतिपादयति
यदि तत् तन्न प्रतिपादयेत् तदा तस्य वैयर्थ्यमेवायातः । नहीदं तत्र मन्वादिस्मृतिवत्
परमपुरुषार्थोत्तरवस्तुप्रतिपादनं करोति येन तत्र सावकाशा स्यात् तस्माच्चद्वैयर्थ्यं
अर्थात् सांख्य दर्शनं तो केवलं मोक्ष प्रयोजन के लिए प्रवृत्त है । अगर यदि वह
उसमें भी चरितार्थ नहीं होगा प्रतिबद्ध होने से तब उसका नैयर्थ्य स्पष्ट ही हो जायगा ।
इसलिए सांख्यतन्त्र बाध्य नहीं है किन्तु बाधक ही है । प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से अज्ञात
केवल शब्द प्रमाण वेद्य जो मोक्ष उसके साधन करने में प्रवृत्त जो सांख्यतन्त्र उसमें
अनवकाशता रूपदोष होता है । यदि कदाचित् सांख्यादि स्मृत्यसंमत वेदार्थ का वर्णन
किया जाय तथा सांख्य स्मृत्यनपेक्ष हो करके मोक्षादि रूप पदार्थ का स्वीकार करें तब तो
सांख्य स्मृतियों का नैयर्थ्य स्पष्ट ही होता है । एकार्थ प्रतिपादक दो में से एक का
निवकाशत्व ही प्राप्त हो जाता है यह तो ठीक नहीं है । क्योंकि ‘ऋषिं प्रसूतं कपिलम्’
इत्यादि श्रुति से सर्वज्ञ रूप से कथित कपिल ऋषि से प्राणीत होने से सांख्य स्मृति में

रात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासुवीर्यमवासृ-
जत्' (म०१।८) ।

‘अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ? ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ? ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय ? मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ गी०॥

इत्यादीनां चेतनब्रह्मकारणवादिनीनामाप्ततमप्रणीतानां स्मृ-
तीनां तथा ‘अव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः
प्रसङ्गादिदोषात्सा तदन्यं बाधते इति बाधकप्रमाणोपनिपातात् कथं प्रामाण्यं
वेदान्तस्येति ।

यदि अनवकाशतामात्रेण बाधकं तदा वेदमूलिकामन्वादिस्मृतयोप्यनवकाशा
प्रामाणिकत्व है । इसलिए ब्रह्म में जगत् कारणत्व मानना युक्त नहीं है । यतः कपिल ऋषि
प्रणीत प्रधान कारणवादी स्मृतियों में निरवकाशत्व दोष हो जाता है । इस शंका के उत्तर
में कहते हैं “अन्य स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति” अगर ऐसा मानें तब तो श्रुतिमूलक मन्वादि
स्मृतियों में अनवकाशत्व दोष हो जाता है । तथाहि “मायी परमेश्वर इस विश्व को बनाते
हैं” “माया को प्रकृति समझो और परमेश्वर को मायावान् जानो” “प्रधानेति” “वह सबका
कारण है । करणाधिप जीव का स्वामी है । इसको कोई बनानेवाला नहीं है और इसका
कोई स्वामी नहीं है” इत्यादि श्रुतिमूलक स्मृतियों का बाध हो जायगा !

उस मानव स्मृति में “यह जगत् तमोभूत था” इत्यादि प्रकृत करके “उसके
बाद स्वयं भू भगवान् इस परिदृश्यमान जगत् को व्यक्त करते हुये प्रादुर्भूत हुए तथा
संकल्प करके अनेक प्रकारक प्रजा के सगर्भ प्रथमतः=जल को बनाया और उसमें
बीयोत्सर्ग किया” ।

परे देव एकीभवति' (सुबा०२) इति श्रुतिनिर्दिष्टस्य प्रलये परे देवे लीनस्याव्यक्तस्य प्रलयान्ते तस्मादुत्पत्युपपत्तेस्तन्मूलिकायाः 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' (भा०शा०मो०) 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्कले सम्प्रलीयते' [भा०शा०मो०] इति स्मृतेश्चानवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

अयम्भावः । द्वयोः स्मृतयोः परस्परं विरोधे सत्येकस्या अवकाशोऽपरस्या अनवकाशता च स्पष्टैव । न च प्रतिपाद्यविषयभेदान्नानवकाशता । मन्वादिस्मृतयो ही कर्मस्वरूपं दर्शयन्त्यः स्वांशे प्रसरतामुपलभन्ते । सांख्यादिस्मृतयश्च मोक्षमधिकृत्य प्रवर्तमानाः स्वकीयप्रतिपाद्यांशे सावकाशा इति कथमनवकाशत्वमिति वाच्यम् ।

एव भवेद्युरित्यन्यस्मृत्यवकाशप्रसङ्गात्सांख्यशास्त्रस्य नवाधकत्वमित्युत्तरम् । अयमाशयः स्मृत्यो विरोधे वेदमूलिका स्मृतिर्वलवतीति प्रामाणिकी संग्राह्या च । या च-

“मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति प्रलय स्थान हूँ” “हमसे परतर अन्य वस्तु नहीं है” “मुझमें सम्पूर्ण जगत् सूत्र के समान ओतप्रोत है” “यह प्रकृति योनि स्वरूप है उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ” “उससे सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है” सब योनियों में जो भूतों की उत्पत्ति होती है । “उसमें प्रकृति योनि है और मैं बीजप्रद पिता हूँ” इत्यादि स्मृतियों का तथा “अव्यक्त अक्षर में विलीयमान होता है । अक्षर तम में विछीन हो जाता है तम परदेव में एकीभूत हो जाता है” इत्यादि श्रुति निर्दिष्ट प्रलयकाल में परदेव में विलीयमान अव्यक्त के तथा प्रलयोत्तर काल में उस अव्यक्त से उत्पत्ति की उपपत्ति होने से एवं तन्मूलक “हे द्विजसत्तम ! उस परदेव से त्रिगुण अव्यक्त उत्पन्न हुवा” यह अव्यक्त निष्कल ब्रह्मपुरुष में प्रलीन हो जाता है” इत्यादि स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसङ्ग हो जायगा । यदि सर्व कारणत्व ब्रह्म में नहीं मानें तब । इसलिए सांख्य स्मृति का विरोध चेतन कारणता पक्ष में नहीं होता है ।

यहाँ का अभिप्राय यह है कि दो स्मृतियों में परस्पर विरोध होनेसे यदि सावकाशित हो तब तो दूसरे में अनवकाशत्व स्पष्ट है । नहीं कहोकि प्रतिपाद्य जो विषय तादृश विषय के भेद होने से दोनों स्व स्व विषय में चरितार्थ हैं तो एक में भी निरवकाशता नहीं है । क्योंकि

कर्मणामपि परमपुरुषार्थसाधनत्वं भगवदाराधनौपयिकयेति राद्धान्तः ।
‘यतः प्रवृत्तिर्भूतानां’ मित्यादिभगवद्वचनमेवात्र प्रमाणम् । तथा च
तदभिधायिनीनां स्मृतिनामस्त्येव समानविषयत्वम् । एवञ्चैतस्या
अनवकाशत्वं सुतरामापन्नम् । तदेवं परस्परविरोधे श्रुत्यविरुद्धास्मृतिः
प्रमाणमित्याह जैमिनिः ‘विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्’
(जै०सू० १।३।३) प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सति स्मृतिवाक्यमुपेक्ष्यमनादर-
णीयमसति श्रुतिविरोधेस्मृतिमूलभूतं श्रुतिवाक्यमनुमेयमिति तदर्थः ।
एवञ्चापक्षीणमांख्यस्मृतिर्हेयैव श्रुतिविरुद्धत्वात् ‘ऋषिं प्रसूत’ मित्या-
दिश्रुतिर्हि सांख्यकर्तृकपिलान्यकपिलर्षिविषयाऽवगन्तव्येति न काचि
वेदसहकारविरहिता सा त्याज्या । मन्वादि स्मृतौ च वेदसाहाय्यं विद्यते सांख्य
स्मृतौ च श्रुतेः सहकारो नास्ति तस्मात् मन्वादिस्मृतिर्वलवती नान्येति नतयासमन्वये-
मन्वादि स्मृति कर्म स्वरूप को बतलाती हुई स्वकीय अंश में चरितार्थ है । सांख्य स्मृति
तो मोक्ष को अधिकृत करके प्रवर्तमान स्वकीय अंश में सावकाशित है, तो उसमें अनव-
काशत्व किस तरह कह सकते हैं ! ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि कर्म में भी परम
पुरुषार्थ साधनता भगवदाराधन द्वारा होती है ऐसा सिद्धान्त है । क्योंकि “यतः
प्रवृत्तिर्भूतानाम्” इत्यादि गीता वचन ही इसमें प्रमाण है । तब प्रतिपादक स्मृतियों में भी
समान विषयता है ही । ऐसा हुआ तब मन्वादि स्मृतियों में अनवकाशत्व स्वतः प्राप्त हो जाता
है । इस प्रकार स्मृतिद्वय में परस्पर विरोध हो तो श्रुति के अविरुद्ध स्मृति में ही प्रामाण्य
माना जाता है ऐसा जैमिनि ने कहा है । “विरोधेत्वनपेक्ष्यम्” इत्यादि [प्रत्यक्ष श्रुति
का विरोध हो तो स्मृति वाक्य अनादरणीय है । और यदि प्रत्यक्ष श्रुति विरोध न हो तो
स्मृति का मूलभूत श्रुति वाक्य अनुमेय होता है । ऐसा हुआ तो विरोध होने से सांख्य
स्मृति उपेक्षणीय है । “ऋषिं प्रसूतम्” इत्यादि श्रुति सांख्य स्मृति कर्तृकपिल से अन्य
कपिल विषयक है । इसलिए कोई भी अनुपपत्ति नहीं होती है । श्रुति प्रतिपादित

दनुपपत्तिः । श्रुतिप्रतिपादितस्य भगवतः कपिलस्य श्रुतिविरुद्धार्थ
प्रतिपादकत्वानुपपत्तेरिति सर्वं समञ्जसम् ॥१॥

ननु योगेन साक्षात्कृततत्त्वस्वरूपैः कपिलादिभिर्योऽर्थो व्यव
स्थापितः स एवार्थोऽन्यैर्मन्वादिभिरप्यङ्गीक्रियत इति कथं मन्वादि-
स्मृतीनामेव वेदानुसारित्वमित्याशङ्कयामाह—

५ इतरेषाञ्चानुपलब्धेः २।१।२ ५

इतरेषां वेदार्थयाथात्म्यविदां 'यद्वै मनुष्वदत्तद्भेषजम्' (तौ० सं०
२।२।१०।२) इत्यादिश्रुत्या भेषजवज्जगद्धिताय प्रवचनकर्तृणां मन्वा
दीनां प्रधानकारणवादित्वाऽनुपलब्धेः । अतः श्रुतिविरुद्धत्वात्त-
दनुसारिमन्वादिस्मृतिविरुद्धत्वाच्च कपिलादिस्मृतेर्भ्रान्तिमूलकत्वनि
कोपि विरोध आपततीति विज्ञेयम् ॥१॥

ननु प्रधानकारणता प्रतिपादकवचनाभासस्यैवचिद्दृष्टत्वेपि तद्विकारमहदादि-
तत्त्वानां कारणता प्रतिपादकवचनाभासस्याप्यभावान्न तेषां कथमपि संभविष्यति
कपिले मे श्रुति विरुद्धार्थ प्रतिपादकत्व अनुपपन्न है । एतादृश व्यक्ति श्रुति विरुद्धार्थ का
प्रतिपादक नहीं हो सकसा है ॥१॥

योग द्वारा साक्षात्कृत है तत्त्व स्वरूप जिनको एतादृश कपिलादिक से जो पदार्थ व्य-
वस्थापित है उसी पदार्थ को मनु वगैरह भी स्वीकार करते हैं । तब मन्वादिक में वेदा-
नुसारित्व किस तरह से होता है । एतादृश शंका के उत्तर हैं कहते हैं, 'इतरेषामित्यादि'
'मनु ने जो कहा है वह भेषज वत् है इत्यादि श्रुति से औषधि के समान जगत् हित
का प्रवचन कर्त्ता वेद के यथार्थता को जानने वाले मनु वगैरह को प्रधान कारणवादित्व
अनुपलब्ध है । अर्थात् वेद याथात्म्य के ज्ञाता महापुरुषो ने कहीं भी प्रधान कारणवाद
को स्वीकार नहीं किया है ।

अतः श्रुति विरुद्ध होने से तथा श्रुत्यनुसारी मन्वादि स्मृति विरुद्ध होने से कपि-
लादि स्मृति में भ्रममूलकत्व का निश्चय से अप्रामाणिक होने से कपिलादि स्मृति से वेदान्त

श्चयेनाप्रामाण्यान्नताभिर्वेदान्तसमन्वयशक्यो बाधयितुमिति ॥२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

५ एतेन योगः प्रत्युक्तः २।१।३ ५

योगस्मृतिः किं वेदान्तानामुपबृंहणभूताऽहोस्विन्नेति संशयः । उपबृंहणभूतेति पूर्वः पक्षः । उपबृंहणं हि तत्समानार्थकैः पदैर्वाक्यै र्वा तदर्थप्रकाशनम् । श्रुतिसिद्धार्थस्य विशदीकरणं वेति वैदिकसि-
द्धान्तस्यैव योगशास्त्रोऽपि दर्शनात् । वेदान्तप्रवर्तकहिरण्यगर्भप्रणी तत्वात्सेश्वरत्वाच्च योगस्य वेदान्तोपबृंहणत्वं न्याय्यम् । तथा च सत्त्वं तेन वा वेदान्तसमन्वये विरोध इत्याशयेन सूत्रव्याख्यानाय चोपक्रमते ननुयोगेनेत्यादि अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमेवेति संक्षेपः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

ननु यथा सांख्यदर्शनं कापिलं वेदान्तदर्शनस्य सहकारकं न भवति वेदविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वा तथा योगदर्शनं वेदान्तदर्शनस्य सहकारकं भवति नवेति संशयः । सहकारकं भवतीति पूर्वपक्षः । यतो वेदान्ते योगस्यात्मज्ञाने सहकारकत्वं दृश्यते तथैव योगदर्शनेपि तस्यैव निरूपणं बाहुल्येन प्रतिभातीति । समन्वय का वाच अशक्य है । अर्थात् सांख्यतन्त्र वेदानुसारी नहीं है इसलिए उससे वेदान्त समन्वय में कोई भी बाधक नहीं है । इति संक्षेपः ॥२॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

क्या योगदर्शन वेदान्त का उपबृंहणरूप होता है अथवा नहीं होता है । ऐसा संशय होता है । इसमें योगदर्शन वेदान्त का सहकारक है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । तत्समा-
नार्थक पद से अथवा समानार्थक वाक्यों से तदर्थ का प्रकाशन करना यही उपबृंहण शब्द का अर्थ होता है । यथा 'घटोस्ति' घट है इसका कलशोस्ति से अर्थ प्रकाशन किया जाता

तस्मृते प्रधानपरत्वेन वेदान्तानामपि प्रधानोपादानप्रतिपादकत्वमे
ष्ट्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते—

‘एतेन योगः प्रत्युक्त इत्यतिदेशः । एतेन प्रधानकारणत्ववा-
दिकपिलस्मृतिनिराकरणेन प्रधानपरायोगस्मृतिरपि प्रत्युक्तानिराकृता
वेदितव्येत्यर्थः । अतिदेशस्तु वैदिकहिरण्यगर्भप्रणीतत्वेन सेश्वरत्वेन
प्रमाणत्वशङ्कानिराकरणाय कृतः । योगस्मृतावीश्वरस्वीकारेऽपि तस्य
इत्याशङ्कां समुच्छेत्तुं सूत्रकारः प्राह एतेन योग इत्यादि । अवैदिकप्रधानकारणत्व
प्रतिपादकं सांख्यशास्त्रं कापिलं निराकृतं तथैव योगस्यापि तथात्वात् तथैव
तस्यापि निराकरणं भवत्येव । न च तर्हि पूर्वमतखण्डनेनैव प्रकृतस्यापि
खण्डनात् सूत्रान्तरप्रदर्शनं निरर्थकमिवाभातीति वाच्यम्, सांख्यदर्शनं सर्वथा
वेदान्तविरुद्धं प्रकृतदर्शनं तु परमेश्वरांशेनाविरुद्धमतः पुनर्निराकरणाय
है । अथवा श्रुति सिद्ध अर्थ का विशदीकरण को उपबृंहण कहते हैं । तो यहाँ वैदिक
सिद्धान्त का ही योगशास्त्र में भी प्रतिपादन किया गया है । और वेदान्त का प्रवर्तक जो
हिरण्य गर्भ है उस से ही योग शास्त्र प्रणीत है । तथा परमेश्वर का प्रतिपादक भी है ।
इसलिए योग शास्त्र को वेदान्त का उपबृंहण मानना उचित है । योग स्मृति प्रधान परक
है तो वेदान्त को भी प्रधानोपादान प्रतिपादक होना ही उचित है ।

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ‘एतेन योगः’ इत्यादि । प्रधान कारणता प्रतिपा-
दक कपिल दर्शन का निराकरण करने से प्रधान कारणता प्रतिपादन परक योग दर्शन
का भी निराकरण हो जाता है ऐसा जानना चाहिए । प्रश्न—तब तो सांख्य का निराकरण
करने से ही योग का निराकरण हो जाता है । तब पुनः अति देश करने की क्या
आवश्यकता है । उत्तर—यह योग दर्शन वैदिक हिरण्य गर्भ से बनाया गया है और
ईश्वर का प्रतिपादक होने से इसमें प्रमाणत्व की शङ्का होती है । तादृश शङ्का का निराकरण
करने के लिए अतिदेश किया गया है । अर्थात् योग स्मृति का निराकरण तो पूर्व प्रकरण
से ही हो जाता है । तथापि अतिदेश से तो केवल प्रमाणत्व शङ्का का निराकरण किया
है । यद्यपि योग स्मृति में ईश्वर को मान लिया है । तथापि न्याय सिद्धान्त की तरह योग
में भी ईश्वर को जगदुत्पत्ति में घटोत्पत्ति के तरह केवल निमित्त कारण ही परमेश्वर को
माना है । उपादान कारण तो प्रधान मात्र को मानते हैं ईश्वर को नहीं मानते हैं । इस-

निमित्तकारणत्वम् । उपादानत्वन्तु प्रधानस्यैवेति न तस्या वेदान्तो
पबृंहणत्वं न्याय्यम् ॥३॥

इति आनन्दभाष्ये योग्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

अथ विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् २।१।४

स्मृतिविरोधे परिहृतेऽपि तर्कमाश्रित्य पुनराक्षेपः क्रियते
यदुक्तं सर्वैर्वेदान्तैर्ब्रह्मण उपादानत्वञ्जगतश्चोपादेयत्वमभिधीयत
इति तन्नोपपद्यते । चित्स्वरूपान्निगतिशयानन्दादखिलहेयप्रत्यनीका
त्स्वाभाविकनित्यनिगतिशयनिस्वधिकासंख्येयकल्याणगुणविशिष्टादुब्र-
ह्मणोऽज्ञत्वेन दुःखभोक्तृत्वेन जन्ममरणादिभाक्त्वादिना दृश्यमानस्य
प्रयत्नः कृतः । प्रकृतप्रकरणीयप्रपञ्च मत्प्रणीतयोगसूत्रविवरणतोऽनुसन्धेय
इतिदिक् ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

ब्रह्मकारणवादे सांख्यस्मृतिभूलविरोधस्य निराकरणे जातेपि पुनस्तदनुयायी
तर्कनिमित्तकविरोधमुद्गावयति न विलक्षत्वादित्यादि । अयंभावः कार्यकारणभावश्च
ल्लिए योग दर्शन में वेदान्त का उपबृंहणत्व मानना उचित नहीं है । वेदान्त में तो परमे-
श्वर को अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है । अतः योगदर्शन वेदान्त का सह-
कारक नहीं है किन्तु निराकरणीय ही है ॥३॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

स्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्ग से जो पूर्वपक्ष किंचा था उसका सांख्य योगेतर स्मृत्यनवकाश
दोष प्रसङ्ग से समाधान हो जाने पर भी पुनः सांख्यवादी तर्क का आश्रय लेकर के वेदान्त
पक्ष में आक्षेप करता है । पहले जो ब्रह्मवादियों ने कहा है कि वेदान्त से यह सिद्ध होता है
कि जगत् के प्रति ब्रह्म उपादान कारण है और ब्रह्म का जगत् उपादेय-कार्य है । ऐसा कहा

चिदचिदात्मकस्य जगतोविलक्षणत्वाद् ब्रह्मोपादानकत्वाऽसम्भवात् ।
यद्यस्माद्विलक्षणं न तत्तत्कार्यमिति नियमः । यथा मृद्विलक्षणस्य पट
स्य न मृत्कार्यत्वं यथा वा गोधूमविलक्षणस्य कोद्वस्य न गोधूम
कार्यत्वम् । तथा चैतन्यानन्दशालिब्रह्मणो विलक्षणत्वादचैतन्यासुख
विशिष्टस्य जगत् इति न जगतोऽपि ब्रह्मकार्यत्वम् ।

एतद्वैलक्षण्यञ्च कुतोऽवगतमित्यत आह 'तथात्वञ्च शब्दादिति ।
न केवलं प्रत्यक्षादिना वैलक्षण्यमवगम्यते किन्तु शब्दादप्यवगम्यते ।
त्रिधा भवति, उपादानकार्ययोः प्रथमः । असमवायिकारणकार्ययोरपरः ।
निमित्तकारणकार्ययोस्तृतीयः । तत्रान्तिमद्विके कार्यकारणः साजात्ये कामचारः ।
प्रथमे तु तयोः साजात्यमत्यावश्यकमेव । दृश्यते मृत्तिकाजातघटस्य मृद्रूप्यत्वात् ।
सुवर्णजातस्य सौवर्ण्यत्वात् न तु मृत्तिकयाजातः सौवर्णोभवति नवा सुवर्णजातो
मृज्जोभवति । तत्कस्य हेतोः ? उभयोः समानजातीयत्वात् विजातीये तददर्शनात् ।
तदिहजगद् ब्रह्मणोः सर्वथा विजातीयत्वात् । विजातीयेषुपादानोपादेयभावे जगति
प्रत्यक्षदृष्टकार्यकारणयोरनन्यत्वस्य विलोपप्रसङ्गात् तयोः साजात्येव तथात्वम् ।
या वह ठीक नहीं है । क्योंकि चित्स्वरूप नित्यनिरतिशयानन्दशाली अखिल हेयप्रत्यनीक स्वा-
भाविका नित्यनिरतिशय निरवधिकासंख्येय कल्याण गुण विशिष्ट जो परम पुरुष परमात्मा से
अल्पज्ञ होने से दुःखभोतृत्वेन जन्ममरणादि रूप से दृश्यमान जो जड चेतनात्मक जगत् को तादृश
ब्रह्म से अति विलक्षण होने के कारण यह जगत् ब्रह्मोपादानक नहीं हो सकता है । 'जो जिससे
अत्यन्त विलक्षण अति विजातीय होता है वह उसका कार्य नहीं होता है । अर्थात् कार्य
कारण में साजात्य होना आवश्यक है । विजातीय में कार्य कारण भाव नहीं होता है । जिस
तरह मृत्तिका से विलक्षण-विजातीय जो पटादिक है वह मृत्तिका का कार्य नहीं होता है ।
यथावा गोधूम-गेहूं से विलक्षण कोदो वह गोधूम का कार्य नहीं कहलाता है । क्योंकि
कार्यत्वेन कारणत्वेन अभिमत गेहूं में कोदो में साजात्य नहीं है । उसी तरह चैतन्य आन-
न्दशाली ब्रह्म से अतिशय विलक्षण जड दुःखादिमान जगत् है । अतः जगत् ब्रह्म का कार्य
नहीं हो सकता है ।

प्रकृत में कार्य जगत् तथा कारण ब्रह्म में कार्य कारणभाव का विधातक वैलक्षण्य है
यह किस तरह समझते हैं ! इस शंका के समाधान में कहते हैं 'तथात्वं च शब्दादिति' केवल

तथाहि 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' [मु.३।१।१) 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमे तत्' [श्वे०४।९] 'विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च' [तै०३।६।३] 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्चमत्त्वा' [श्वे. १।१२] इत्येवमादिभ्यस्तयोर्वैलक्षण्य-स्य स्पष्टमवगमात् ।

अतः प्रधानसालक्षण्यानुरोधेन जगतः प्रधानोपादानकत्व मेव । अयम्भावः । केषाञ्चित् प्रमाणानां तर्कप्रसादितानामेव कार्य प्रयोजकत्वेन तर्कोप्यङ्गीकरणीय एव भवति । अत एव 'यस्तर्केणानु-प्रकृते तु जगद्ब्रह्मणोर्नैजात्यस्य प्रत्यक्षशब्दादिनिवेदितस्य विद्यमानत्वेन न कथमपितयोः कार्यकारणभावः ब्रह्मचेतनं सुखादिमच्च जगदचेतनं दुःखादिमच्चेति तयोरत्यन्तवैलक्षण्यात् कथमपि कार्यकारणभावो न संभवति । किन्तु प्रधानस्य जडत्वात् तत्कार्यस्य जगतोपि तथात्वात्तयोरेव कार्यकारणभावो नतु तदन्यस्य । प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही कार्य कारण रूप ब्रह्म तथा जगत् में वैलक्षण्य अवगत होता है ऐसा नहीं किन्तु शब्द प्रमाण से भी ब्रह्म तथा जगत् में वैलक्षण्य अवगत होता है । तथाहि 'ज्ञ एवं अज्ञ ये दोनों अज हैं जिसमें एक परमेश्वर हैं तथा एक जीव है' 'दो समान पक्षी है, जो परस्पर मित्र भाव को प्राप्त किये हुए एक शरीर रूप वृक्ष पर समासीन हैं' इस सम्पूर्ण जगत् को मायावान् परमेश्वर बनाते हैं । 'विज्ञान तथा अविज्ञान' 'भोक्ता भोग्य तथा प्रेरयिता को जान करके इत्यादि श्रुति प्रमाणों से ब्रह्म तथा जगत् में स्पष्ट रूप से वैलक्षण्य अवगत होता है । इस प्रकार ब्रह्म जगत् में वैलक्षण्य है तो कार्य कारण भाव नहीं हो सकता है । औः प्रकृति के साथ जगत् में समान जातीयता है । अतः जगत् प्रधानोपादानक ही है ।

इसका अभिप्राय यह है कि तर्कानुगृहीत जो प्रमाण वही कार्य का प्रयोजक होता है । इसलिए तर्क का स्वीकार करना भी आवश्यक ही है । अत एव 'जो तर्क के द्वारा अनु-सन्धान करता है वही धर्म को जानता है । तदितर धर्म को नहीं जान सकता है' इस तरह मनुवचन भी प्रमाण है । अर्थात् यद्यपि तर्क स्वतन्त्र रूप से किसी पदार्थ का साधक अथवा बाधक नहीं होता है । अप्रतिष्ठित होने से तथापि-प्रमाण का सहकारी होने से वह

चिदचिदात्मकस्य जगतो विलक्षणत्वाद् ब्रह्मोपादानकत्वाऽसम्भवात् ।
यद्यस्माद्विलक्षणं न तत्तत्कार्यमिति नियमः । यथा मृद्विलक्षणस्य पट-
स्य न मृत्कार्यत्वं यथा वा गोधूमविलक्षणस्य कोद्वस्य न गोधूम-
कार्यत्वम् । तथा चैतन्यानन्दशालिब्रह्मणो विलक्षणत्वादचैतन्यासुख-
विशिष्टस्य जगत इति न जगतोऽपि ब्रह्मकार्यत्वम् ।

एतद्वैलक्षण्यञ्च कुतोऽवगतमित्यत आह 'तथात्वञ्च शब्दादिति ।
न केवलं प्रत्यक्षादिना वैलक्षण्यमवगम्यते किन्तु शब्दादप्यवगम्यते ।

त्रिधा भवति, उपादानकार्ययोः प्रथमः । असमवायिकारणकार्ययोरपरः ।
निमित्तकारणकार्ययोस्तृतीयः । तत्रान्तिमद्विके कार्यकारणः साजात्ये कामचारः ।
प्रथमे तु तयोः साजात्यमत्यावश्यकमेव । दृश्यते मृत्तिकाजातघटस्य मृद्रूपत्वात् ।
सुवर्णजातस्य सौवर्णत्वात् न तु मृत्तिकयाजातः सौवर्णो भवति न वा सुवर्णजातो
मृज्जो भवति । तत्कस्य हेतोः ? उभयोः समानजातीयत्वात् विजातीये तददर्शनात् ।
तदिह जगद् ब्रह्मणोः सर्वथा विजातीयत्वात् । विजातीयेषु उपादानोपादेयभावे जगति
प्रत्यक्षदृष्टकार्यकारणयोरनन्यत्वस्य विलोपप्रसङ्गात् तयोः साजात्येव तथात्वम् ।
या वह ठीक नहीं है । क्योंकि चित्स्वरूप नित्यनिरतिशयानन्दशाली अखिल हेयप्रत्यनीक स्वा-
भाविका नित्यनिरतिशय निरवधिकासंख्येय कल्याण गुण विशिष्ट जो परम पुरुष परमात्मा से
अल्पज्ञ होने से दुःखमोतृत्वेन जन्ममरणादि रूप से दृश्यमान जो जड चेतनात्मक जगत् को तादृश
ब्रह्म से अति विलक्षण होने के कारण यह जगत् ब्रह्मोपादानक नहीं हो सकता है । 'जो जिससे
अत्यन्त विलक्षण अति विजातीय होता है वह उसका कार्य नहीं होता है । अर्थात् कार्य
कारण में साजात्य होना आवश्यक है । विजातीय में कार्य कारण भाव नहीं होता है । जिस
तरह मृत्तिका से विलक्षण-विजातीय जो पटादिक है वह मृत्तिका का कार्य नहीं होता है ।
यथावा गोधूम-गेहूं से विलक्षण कोदो वह गोधूम का कार्य नहीं कहलाता है । क्योंकि
कार्यत्वेन कारणत्वेन अभिमत गेहूं में कोदो में साजात्य नहीं है । उसी तरह चैतन्य आन-
न्दशाली ब्रह्म से अतिशय विलक्षण जड दुःखादिमान जगत् है । अतः जगत् ब्रह्म का कार्य
नहीं हो सकता है ।

प्रकृत में कार्य जगत् तथा कारण ब्रह्म में कार्य कारणभाव का विधातक वैलक्षण्य है
यह किस तरह समझते हैं ! इस शंका के समाधान में कहते हैं 'तथात्वं च शब्दादिति' केवल

तथाहि 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते' [मु.३।१।१) 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमे
तत्' [श्वे०४।१] 'विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च' [तै०३।६।३] 'भोक्ता
भोग्यं प्रेरितारञ्चमत्त्वा' [श्वे. १।१२] इत्येवमादिभ्यस्तयोर्वैलक्षण्य-
स्य स्पष्टमवगमात् ।

अतः प्रधानसालक्षण्यानुरोधेन जगतः प्रधानोपादानकत्व
मेव । अयम्भावः । केषाञ्चित् प्रमाणानां तर्कप्रसादितानामेव कार्य
प्रयोजकत्वेन तर्कोप्यङ्गीकरणीय एव भवति । अत एव 'यस्तर्केणानु-
प्रकृते तु जगद्ब्रह्मणोर्जीवात्यस्य प्रत्यक्षशब्दादिनिवेदितस्य विद्यमानत्वेन न
कथमपितयोः कार्यकारणभावः ब्रह्मचेतनं सुखादिमच्च जगदचेतनं दुःखादिमच्चेति
तयोरत्यन्तवैलक्षण्यात् कथमपि कार्यकारणभावो न संभवति । किन्तु प्रधानस्य
जडत्वात् तत्कार्यस्य जगतोपि तथात्वात्तयोरेव कार्यकारणभावो नतु तदन्यस्य ।
प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही कार्य कारण रूप ब्रह्म तथा जगत् में वैलक्षण्य अवगत होता है
ऐसा नहीं किन्तु शब्द प्रमाण से भी ब्रह्म तथा जगत् में वैलक्षण्य अवगत होता है । तथाहि
'ज्ञ एवं अज्ञ ये दोनों अज हैं जिसमें एक परमेश्वर हैं तथा एक जीव है' 'दो समान
पक्षी है, जो परस्पर मित्र भाव को प्राप्त किये हुए एक शरीर रूप वृक्ष पर समासीन हैं'
इस सम्पूर्ण जगत् को मायावान् परमेश्वर बनाते हैं । 'विज्ञान तथा अविज्ञान' 'भोक्ता भोग्य
तथा प्रेरयिता को जान करके इत्यादि श्रुति प्रमाणों से ब्रह्म तथा जगत् में स्पष्ट रूप से वैलक्षण्य
अवगत होता है । इस प्रकार ब्रह्म जगत् में वैलक्षण्य है तो कार्य कारण भाव नहीं हो सकता
है । औः प्रकृति के साथ जगत् में समान जातीयता है । अतः जगत् प्रधानोपादानक
ही है ।

इसका अभिप्राय यह है कि तर्कानुगृहीत जो प्रमाण वही कार्य का प्रयोजक होता है ।
इसलिए तर्क का स्वीकार करना भी आवश्यक ही है । अत एव 'जो तर्क के द्वारा अनु-
सन्धान करता है वही धर्म को जानता है । तदितर धर्म को नहीं जान सकता है' इस
तरह मनुवचन भी प्रमाण है । अर्थात् यद्यपि तर्क स्वतन्त्र रूप से किसी पदार्थ का साधक
अथवा बाधक नहीं होता है । अप्रतिष्ठित होने से तथापि-प्रमाण का सहकारी होने से वह

सन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' [मनु० १२] इति मानवं वचः । श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ० ६।५।६) इत्यादिना तर्कस्य वस्तु नोऽध्यवसायजनकत्वमभिधत्ते । न च जगत्चेतनस्य ब्रह्मण एव कार्यत्वं चैतन्योपलब्धिस्त्वनुद्भूतत्वात् । सुषुप्तौ जीवेष्वनुपलम्भवदिति वाच्यम् । दृष्टान्ते स्वापापगमदशायामुपलम्भादसिद्धिः । नित्यानुपलम्भस्त्वसत्त्वमेव गमयति नरविषाणवदिति न सर्वस्य जगत्पदाभिधेयस्य चैतन्यसत्त्वं शक्यमातर्कितुमिति न विपरीततर्कावकाशस्तस्माद्विलक्षणत्वान्न ब्रह्मकार्यत्वञ्जगत इति ॥४॥

तस्मात्प्रधानोपादानकमेव जगत् दर्शयितुं पूर्वपक्षं सूत्रं च व्याख्यातुं भाष्यकार उपक्रमते स्मृतित्रिरोधे परिहृतेपि तर्कमाश्रित्येत्यादि । यद्यपि तर्केति स्वतन्त्रतया प्रमाणं भवत्कमप्यर्थं साधयति निराकरोति वा तथापि प्रमाणमूलकस्य तस्य सर्वैरुपगमात् श्रोतव्यो मन्तव्यः, यस्तर्केणानुसंधरो इत्यादि । तदिह प्रमाणमूलकतर्कमाश्रित्यपुनराक्षेपः सङ्गत एवेति ॥४॥

तर्क भी साधक बाधक होता है । अतः तर्क मूलक आक्षेप युक्त ही है । 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादि श्रुति भी पदार्थ विषय ज्ञान जनकत्व का कथन करती हैं । नहीं कहो कि चेतन जो ब्रह्म उसका कार्य जगत् है । तब तो जगत् में चैतन्य की उपलब्धि होनी चाहिए तथापि जगत् में चैतन्य अनुद्भूत रहने के कारण उपलब्ध नहीं होता है । जैसे ज्ञानवान् जीव है । परन्तु सुषुप्ति तथा मूर्छावस्था में अनुद्भूत रहने से उपलब्ध नहीं होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रकृत दृष्टान्त में असिद्धि दोष है । अर्थात् जीव में चैतन्यानुपलब्धि असिद्ध है । क्योंकि स्वापादि के अपगम दशा में अर्थात् जाग्रत् काल में ज्ञान की तो उपलब्धि होती है । और जगत् में तो सार्वदिक ज्ञानानुपलब्धि है । इससे जगत् में सर्वदैव ज्ञानाभाव की ही सिद्धि होती है । जिस तरह नरविषाण कूर्मरोमादिक की अनुपलब्धि सार्वदिक है । अतः समस्त जगत् पदवाच्य में चैतन्य सत्त्व का तर्क कर सकते हैं । इसलिए विपरीत तर्क का अवकाश प्रकृत में नहीं होता है । तस्मात् ब्रह्म और जगत् में अत्यन्त विलक्षणता होने से इन दोनों में कार्य कारणभाव अदभविता है । इसलिए ब्रह्मोपादानक जगत् नहीं है । किन्तु जडत्व धर्म से सजातीयत्व होने से प्रधानोपादानक ही जगत् है ॥४॥

नन्वचेतनत्वेनावगतानामिन्द्रियादीनामपि चैतन्यमुपवर्ण्यते
 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति [बृ.१।३।२।] 'ते हे मे प्राण अहं-
 श्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः' 'तं ह पृथिव्यब्रवीत्' [यजु.५।५।२।]
 'आपोऽब्रुवन्' [शत० प० ब्रा० ६।१।३।२।४।] इति । एवं सागरादि
 विशेषपदार्थानामपि चैतन्यं पुराणेषूपलक्ष्यत इति कथं वैलक्षण्यमि-
 त्यत आह-

॥ अभिमानिव्यपदेशस्तु

विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५। ॥

तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः । न पृथिव्यादिमात्रस्यायं व्यपदेशः ।

ननु ब्रह्मविलणत्वान्नेदं जगत्ब्रह्मप्रकृतिकमिति तन्नमृद्व्रवीतीत्यादौचेतनोचित
 अभिवदनादिव्यवहारस्य दर्शनेन जगत्पिचैतन्यस्य संभवनेन कार्यकारणयोः
 समानत्वादिति चेन्न न खलु जडे तादृग्व्यवहारोऽपितु तदनुगतदेवतादीनामेव
 तादृग्व्यवहारो नतु जडांशे येन वैलक्षण्यं स्यात् । यथा शरीरे

अचेतन रूप से अवगत जो इन्द्रियादिक उसमें भी चैतन्य का सद्भाव देखा जाता
 है 'वे प्राणादिक वागिन्द्रिय से तुम मेरे लिए उद्गान करो' 'वे प्राण, मैं बड़ा हूं, इस प्रकार
 विवाद करके निर्णय करने के लिए पितामह प्रजापति के पास गये' पृथिवी बोली, जल बोली'
 इत्यादि स्थल में चेतनोचित व्यवहार देखने में आता है । एवं सागर पर्वतारिक में भी
 चैतन्य है यह पुराणेतिहासादिक में वर्णित है । तब ब्रह्म विलक्षणत्व जगत् में किस तरह
 कहते हैं । अतः कार्य कारण को समान होने से ब्रह्मोपादानकत्व जगत् में हो सकता है ।
 इस शङ्का के उत्तर में पूर्वपक्षवादी कहते हैं । 'अभिमानित्यादि' सूत्रम् । इस सूत्र में जो
 तु शब्द हैं वह अवान्तर पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । 'मृद्व्रवीत्' इत्यादि जो
 व्यवहार है वह जड पृथिवी मात्र का नहीं है । अपितु पृथिव्याद्यभिमानो देवताओं का

अपितु पृथिव्याद्यभिमानिदेवतानाम् । कुत इदमवगम्यते । विशेष-
 षानुगतिभ्याम् । विशेषो विशेषणम् । ‘हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवताः’
 [छा० ६।३।१।] इति देवतापदस्य पृथिव्यादिविशेषणत्वश्रवणात् ।
 छान्दोग्ये बृहदारण्यके च प्राणानां विवादः श्रूयते कौषीतकिब्राह्मणे
 तु ‘एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना’ [कौ० ब्रा०] इति
 प्राणानामेव देवतापदेन विशेषितत्वात् । ‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रावि-
 शत्’ [ऐ० १।२।४।] ‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्’ [ऐ० १।२।
 ४।] इत्यादावग्न्यादित्यादीनां मुखादिष्वनुगतेरनुप्रवेशस्य श्रवणात् ।
 ‘पृथिव्यब्रवीदि’ त्यादेस्तदभिमानिनी देवता ह्यब्रवीदित्यर्थस्तथा च
 जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वमेवेति प्रधानकार्यत्वमेव वेदान्तनियतमिति । ५।
 विद्यमानो वचनादिव्यवहारो देहाद्यवच्छिन्न जीवस्य नतु देहस्य जाडस्य, तथैव
 प्रकृतो मृदादिजाडानां न तादृशो व्यवहारः किन्तु मृदाद्यवच्छिन्न देवतायाः ।
 तस्माद्ब्रह्मजगतोर्वैलक्षण्यात् न ब्रह्मप्रकृतिकं जगत् किन्तु जाडप्रधानो-
 पादानकमेवेति भावः ॥ ५ ॥

व्यपदेश है । किस कारण से ऐसा समझते हैं ! विशेषानुगति से विशेष शब्द का अर्थ
 है विशेषण । “हन्ताहमिमाः” यहाँ देवतापद में पृथिव्यादिक रूप विशेषण का श्रवण है ।
 छान्दोग्य बृहदारण्यक में प्राणों का परस्पर विवाद भी श्रवण होता है । कौषीतकि ब्राह्मण
 में ‘एता ह वै देवता’ इत्यादि स्थल में प्राण को ही देवतापद से विशेषित किया है । एवं
 ‘अग्निर्वाणी रूप होकर के मुख में प्रविष्ट हुआ’ आदित्य चक्षुरूप होकर के अक्षि में प्रविष्ट
 हुआ, इत्यादि स्थल में अग्नि आदित्यों का मुखादिक में अनुप्रवेश का श्रवण है । पृथिवी
 बोलती है । इसका अर्थ है कि पृथिवी के अभिमानी देवता बोलती हुई । इस प्रकार से
 जगत् में ब्रह्म की विलक्षणता होने से कार्य कारण में साजात्य का अभाव होने से ब्रह्मो-
 पादानक जगत् नहीं है किन्तु प्रधानोपादानक ही है ॥ ५ ॥

एवमातर्किते समाधानमाह—

५ दृश्यते तु । २।१।६। ५

तुना पक्षो व्यावर्त्यते । चेतनप्रसिद्धपुरुषाच्च विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिरचेतनाद्द्व्यादेश्च कृम्यादीनामुत्पत्तिर्गोमया-
च्चेतनस्य वृश्चिकस्योत्पत्तिर्दृश्यते । तस्मान्नायं नियमो यस्य
यत्कार्यं तत्तस्मादविलक्षणमिति । विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावदर्श-
नात् । नहि केवलेन तर्केण कश्चिदपि वैदिकोऽर्थोऽवधारयितुं
शक्यः श्रुतिनिसिद्धत्वात् । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' [का० १।

अविलक्षण्ये एव कारणकार्यभावोभवतीति नायमैकान्तिको नियमः क्वचिद्वैलक्ष-
ण्येपि कार्यकारणभावस्य दर्शनात् । यथा केशपुरुषयोर्विजातीयत्वेपि पुरुषात्केशस्यो-
त्पत्तिर्दर्शनात् । यथा वा चेतनस्यापि वृश्चिकस्य धान्यमूलगोमयगर्दभमूत्राद्य
चेतनेनापि समुद्भवात् । यथा वा वलीवर्दमूत्रेण शुक्लकीटस्य दीमक उच्चै इति लोक
प्रसिद्धस्य समुद्भवात् तथैव विलक्षणादपि ब्रह्मणो विलक्षणस्य जगतः समुत्पत्तौ बाधका-
भावात् । किञ्च कार्यकारणयोः सर्वथैक्ये तन्तुपटयोरपि कार्यकारणभावो न स्यात् । न च
तन्तुत्वपटत्वाभ्यां भेदेऽपि द्रव्यत्वेन साजात्यमासाद्य कार्यकारणभावो निर्वहेत्तदा प्रकृतेऽपि सत्त्वेन

'न विलक्षणत्वात्' इत्यादि सूत्र से जो पूर्व पक्ष हुआ है उसका उत्तर करने
के लिए सूत्रकार कहते हैं 'दृश्यते तु' सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्व पक्षका निराकरण
परक है । चेतनतया प्रसिद्ध जो पुरुष है उससे पुरुषापेक्षया विलक्षण अर्थात् विजातीय जो
केश नखादिक उसकी उत्पत्ति होती है । तथा अचेतनतया लोक प्रसिद्ध जो दधि उससे कृमि
की उत्पत्ति होती है । एवं अचेतन गोमयधान्य मूलादिक से चेतन वृश्चिकादिक की उत्पत्ति
होती है । ऐसा लोक में देखने में आता है । इसलिए यह ऐकान्तिक नियम नहीं है कि
'जो जिसका कार्य है वह उससे विलक्षण ही हो' क्योंकि केशनखादिक में व्यभिचार है ।
किन्तु आंशिक विलक्षण में भी कार्यकारणभाव होता है । अन्यथा घटत्वेन कपालत्वेन विलक्षण
घटकपाल में भी उपादानोपादेय भावका व्याघात हो जायगा । केवल तर्क से किसी वैदिक
अर्थ का निश्चय करना उचित नहीं है । क्योंकि श्रुतिने केवल तर्क का निषेध किया

२।९।] इति । तर्कश्च स्वमनीषोपकल्पिता युक्तिः सा च न सर्वथा प्रामाणिकमेव प्रत्ययं जनयेत् । क्वचिद्विपरीतार्थप्रत्ययस्यापि सम्भवात् । परिमितत्वादोषसहकृतत्वाच्च पुरुषबुद्धीनाम् । तस्माद् ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुपपन्नतरम् ॥६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् । २।१।७।

ननु पुरुषात्तदुत्पन्नकेशनखादीनां विलक्षणत्ववत् गोमयाच्चोत्पन्नस्य वृश्चिकादेर्वैलक्षण्यवत्कारणाद्ब्रह्मणः कार्यभूतं जगद्विलक्षणजगतोरपि साजात्याव्यावर्तकधर्मेण वैजात्यमापाद्यकार्यकारणभावस्य निर्वाहो भवत्येवेत्यादिकं सर्वं मनसि निधाय सूत्रं व्याख्याति दृश्यते तु इति । विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावो दृश्यते पुरुषे केशनखादीं वृश्चिके गोमयादाविति ॥६॥

ननु यदि कारणात्कार्यं विलक्षणं विलक्षणत्वाच्चततोऽन्यस्यात् ततश्च सद्भिन्नत्वात् है । 'नैषा तर्केण' इत्यादि । नहीं कहो कि यह श्रुति निषेध केवल वेद गम्य घर्मादिक विषयक है ऐसा कहना ठीक नहीं है । ब्रह्मकारणवाद भी केवल श्रुति प्रमाण का ही विषय है । रूपाद्यभावात् प्रत्यक्ष विषय नहीं है । नवा अनुमानगम्य है । अव्यभिचरित लिङ्ग के अभाव होने से अतः यह भी केवल आगमगम्य ही अर्थ है—इसमें तर्क का अवकाश नहीं है । स्वकीय बुद्धि से कल्पित युक्ति विशेष तादृश युक्ति विशेष रूपतर्क सर्वत्र यथार्थ ज्ञान का ही उत्पन्न करावे ऐसा नियम नहीं स्थल विशेष में अयथार्थ ज्ञान का भी उत्पादक होता है । क्योंकि पुरुष का ज्ञान परिमित तथा करणापाटवादि दोष सहकृत होता है । इसलिए ब्रह्म विलक्षण भी जड़ चेतन साधारण जगत् ब्रह्मोपादानक है नतु प्रवानोपादानक ऐसा सिद्ध हुआ ॥६॥

यदि पुरुष में उत्पन्न केशनखादिक में जिस तरह वैलक्षण्य है । यथा वा गोमय से उत्पन्न वृश्चिकादिक में वैलक्षण्य है । उसी तरह कारण ब्रह्म से जायमान कार्यभूत जगत् में वैलक्षण्य हो तब तो कारणीभूत ब्रह्म से कार्यलक्षण जगत् को द्रव्यान्तर होने से कारण ब्रह्म में कार्याभूत जगत् को अविद्यमान होने से असत् की उत्पत्ति प्राप्त होगी । [तंतु घट में वैलक्षण्य होने से परस्पर विभेद है । तब यदि कदाचित् तंतु से घट की उत्पत्ति हो ऐसा मानें तब तो कारण में अविद्यमान घट का प्रादुर्भाव होने से बौद्धाभिमत असत्कार्य

क्षणं चेत्तर्हि कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वेन कारणे ब्रह्मणि कार्यस्य जगतोऽविद्यमानत्वेनासत् एव जगत उत्पत्तिः प्रसज्येतेति चेन्न, निरुक्तदृष्टान्तानां कार्यकारणयोः सालक्ष्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात् । नतु तयोर्नन्यत्वस्य सालक्ष्यस्य वा । मृच्छसुवर्णकुण्डलादीनां कारणकार्याणां सालक्ष्यदर्शनात् ।

अयम्भावः । यथा मृत्सुवर्णादीनां त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मकत्वेऽपि मृदादीनामेव तत्र प्राधान्यात्तत्सर्वमेकेन मृच्छब्देनोच्यते एवं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य कारणावस्थस्य ब्रह्मणः तत्त्वत्रयात्मकत्वेऽपि तत्र ब्रह्मणः प्रधानत्वात् तत्त्वत्रयमप्येकेन ब्रह्मशब्देनोच्यते 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' [बृ० १।४।१०] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० ३।१४।१] इत्येवमादिभिः । यथा च तत्र घट इति नामधेयं विकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं मृत्तिकैव सत्यम् तथा जगदिति कार्यस्यासत्त्वेनासत्कार्यवादः प्रसज्येत । नचासत्कार्यवादः सत्कार्यवादिनामभिमतस्तथात्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया दृष्टान्तस्य च बाधप्रसङ्गादिति चेन्न प्रतिषेधवाद प्राप्त होगा जो कि वेदान्त सिद्धान्त के प्रतिकूल है ? उत्तर=केशनखादिक जो दृष्टान्त है वे सब कार्यकारण के आत्यन्तिक साजात्य के निराकरण परक है । अर्थात् आत्यन्तिक साजात्य का प्रतिषेध करता है । नतु कार्यकारण में जो अमेद है उसका निराकरण करता है । नवा आंशिक सालक्ष्य का निराकरण करता है । क्योंकि कार्यकारण रूप जो मृद घट तथा सुवर्ण कुण्डल इनमें सालक्ष्य तो देखने में आता है । यहाँ सूत्रकार का जो अभिप्राय है उसको भाष्यकार बतलाने के लिए कहते हैं 'अयं भाव' इत्यादि । यहाँ का अभिप्राय यह है कि जैसे मृत्तिका सुवर्ण विगेरे पदार्थ त्रिवृत्कृत अर्थात् जल तेजो भाग से भी युक्त है । किन्तु घटोत्पादन कार्य में मृत्तिका को ही प्रधानता है । जलांश में अथवा तेजोश में प्रधानता नहीं है । परन्तु वहाँ पृथिवी जल और तेज इनका ग्रहण मृत्तिका शब्द से ही होता है । इसी तरह प्रकृत में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट कारणावस्थ ब्रह्म को चित्त अचित् ब्रह्मलक्षण तत्त्वत्रयात्मक होने पर भी उसमें ब्रह्म की प्रधानता है । कारणकूटजन्य होने पर भी घटादिक कार्य में समवायि कारण में प्रधानता रहती है । उसमें ब्रह्म को प्रधान होने पर भी तीनों

नामधेयं जगदाकारोविकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्ब-
 नमात्रं वस्तुतश्चिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैव सत्यमिति सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं
 ब्रह्मैव कारणम् । तदेव स्थूलचिदचिच्छरीरं कार्यमिति
 कारणकार्यावस्थश्च सर्वं ब्रह्मैवेतीममेवार्थं 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' 'सर्वं
 खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'सदाशमोहमित्येतत्तत्त्वतः
 प्रवदन्ति ये । न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः' इत्येवमाद्याः
 श्रुतयो ज्ञापयन्ति । तदेवं ब्रह्मतत्कार्ययोः सालक्षण्यादेव ब्रह्मणः
 सर्वजगत्कारणत्वम् । तज्ज्ञानेन सर्वजगज्ज्ञानञ्चोपपद्यते न तयोर्वैल-
 क्षण्येन । तथा स्वीकारे कारणज्ञानेन तत्कार्यज्ञानानुपपत्तेः । 'आ-
 त्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं भवति'
 मात्रत्वात् । अर्थात् साजात्यमात्रस्य निषेधे तात्पर्यम् । नतु वैजात्यात् कार्यकारणयो-
 र्भेदप्रतिपादने तात्पर्यम् । मृद्घटयोः साजात्येनान्यत्वाभावात् । अभिप्रायविशेषं दर्शयति
 अयंभाव इत्यादि यथा मृदः त्रिवृत्कृतत्वान् भूतत्रयात्मकत्वं तथापि वैशेष्याद् मृद्घट्य-
 तस्व चित् अचित् ब्रह्म ये तीनों एक ब्रह्म शब्द से वाच्य होते हैं 'ब्रह्म वा इदमग्रे आसीत्'
 इत्यादि श्रुतियों से जिस तरह वहाँ दृष्टान्त घट इत्याकारक नामधेय=विकार रचना विशेष
 वाचारंभण-वागालम्बनमात्र है । श्रुतिका अर्थात् कारण द्रव्य ही सत्य है । उसी तरह जगत्
 इत्याकारक नामधेय अर्थात् जगदाकार रचना विशेष वाचरंभण वागालम्बन मात्र है । वस्तुतः
 चिदचिच्छरीरक ब्रह्म ही सत्य है । अतः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही कारण हैं । और वही
 ब्रह्म स्थूल चिदचिच्छरीरक ब्रह्मकार्य हैं । अतः कारणावस्थ कार्यावस्थ सब ब्रह्म ही है । इसी
 विषय को 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'मैं ही श्रीराम स्वरूप हूँ' इस बात
 को सर्वदा जो तत्त्वतः बोलते हैं । जैसे महापुरुष संसारी नहीं हैं निश्चित वे श्रीराम स्वरूप ही हैं'
 'इसमें कोई भी संशय नहीं है' इत्यादिक श्रुति इस बात को ज्ञापित करती हैं । इस प्रकार
 ब्रह्म तथा ब्रह्मकार्य जगत् में सजातीयता होने से ब्रह्म में सर्व जगत् का कारणत्व सिद्ध होता
 है । और तादृश ब्रह्म के ज्ञान से सर्वज्ञ विज्ञान भी उपपन्न होता है । यदि कार्य कारण में
 वैलक्षण्य मानेंगे तो कारण के विज्ञान से कारण विच्छेदन कार्य का विज्ञान नहीं होगा ।
 तथा 'आत्मनि खल्वरे' 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादि श्रुति समर्थित सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा

इत्येकज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञायाः 'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेने' त्या-
दिदृष्टान्तानाञ्च वैयर्थ्यं स्यात् । एवञ्चासत्कार्यवादस्य न ब्रह्मकार-
णवादे प्रसरो वेदान्तेषु सत्कार्यवादस्यैवाभ्युपगमात् । तथा च
नासदुत्पत्तिरिति ॥७॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।२।१।८।

पुनराशङ्कते । ननु ज्ञानशक्त्यादिगुणकं ब्रह्मैव स्वस्माद्विलक्षण
जगदाकारेण परिणमते तदेव चोपादानमस्य जगत इति यदुक्तं तद
समञ्जसम् । कुतः ? अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात् । अपीतिः प्रलयः सृष्ट्या
देरुपलक्षकः । जगतो ब्रह्मणि प्रलये तत् उत्पत्तावपि जगद्वदज्ञत्व
वहारे इतरद्वयोरपि मृत्तिकयैव ग्रहणं भवति तथा प्रकृतेषु ब्रह्मणि चिदचितोर्विशेषणतया
विद्यमानत्वेपि ब्रह्मपदेनैव ग्रहणमिति संक्षेपः ॥७॥

ननु यदि जडत्वात्तत्वादिविशिष्टं जगत्कार्यब्रह्मपरिणामकं स्वीक्रियेत तदाप्रलय-
समये कारणेन सहतादात्म्यभावगतकार्यधर्मेण ब्रह्मणोपिसम्बन्धात् जगद्वदेवब्रह्मापि
तथा दृष्टान्त का वैयर्थ्यं हो जायगा । इस तरह ब्रह्म कारणवाद में ब्रह्माद्यभिमत असत्कार्य
वाद का समावेश नहीं होता है । ऐसा होने से असत् पदार्थ की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं
होता है । असदुत्पत्ति में कोई भी दृष्टान्त नहीं है । सत् की उत्पत्ति=आभिर्भाव में अनेको
दृष्टान्त तथा युक्ति है इति संक्षेपः ॥७॥

ब्रह्म कारणवाद में पुनः शङ्का करते हैं । निरतिशय ज्ञान शक्त्यादि गुण विशिष्ट
परब्रह्म ही यदि स्व से विलक्षण जगदाकार से परिणमित होते हैं । तथा वेही ब्रह्म इस
चराचर जगत् का उपादान कारण हैं । ऐसा जो कहा है यह ठीक नहीं है । क्योंकि
अपीति प्रलय में तत् वत् प्रसङ्ग हो जाता है । अर्थात् कार्य जब कारण का स्वरूप प्रलय
में हो जाता है तब कार्य के धर्म से कारण भी तद्वात् हो जायगा । यहाँ प्रलय शब्द
सर्ग का भी उपलक्षक है । प्रलय में जगत् को ब्रह्म में लीन मानें तथा तादृश ब्रह्म से

कर्मपस्वशत्वदुःखित्वादिजगद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रसङ्गात् । वेदान्तवाक्यानि च ब्रह्मणो दिव्यगुणवत्त्वमभिदधते । तस्माद्वेदान्तवाक्यानामसामञ्जस्यान्न ब्रह्मकारणवाद इति ॥८॥

अत्र समाधानमाह—

५ न तु दृष्टान्तभावात् २।१।९ ५

तु शब्दः प्राप्तांशङ्काम्परिहरति । प्रदर्शितार्थे दृष्टान्तभावान्नास्त्यसामञ्जस्यम् । कार्यकारणभावेनावस्थितावप्येकस्यैव ब्रह्मणो न दोषसम्बन्धोदृष्टान्तस्यात्र सद्भावात् ।

अयमभिप्रायः । 'यथा सर्वगतः सौक्ष्म्यादाकाशोनोपलिप्यते । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय तथात्मा नोपलिप्यते' (गी०) इति स्मृतेः । यथा बालत्वयुवत्वस्थाविरादयः शरीरस्यावस्थाविशेषास्तच्छरीरिण्यात्मजडमज्ञत्वादिविशिष्टस्यादित्यसामञ्जस्यान्नब्रह्मकारणवादेयुक्त इति पूर्वपक्षं मनसिनिधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते पुनराकाशं कते इत्यादि ॥८॥

ननु प्रलयसमये कार्यं कारणे विलीनं भवत् स्वधर्मेण स्थौल्यादिनाकारणं संबद्धं करिष्यतीत्यादिकं तन्न युक्तम् दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात् । अर्थात् कार्यं स्व स्वरूपमास्था यैव कारणप्राप्तं भवेत्तदाकदाचित् स्यादपिशंका यत् कार्यधर्मस्य कारणे संक्रमः स्यात् । उत्पत्ति होने पर जगत् की तरह अज्ञत्व कर्म पराधीनत्व दुःखित्वादिक जो जगद्धर्म हैं उन का ब्रह्म में भी प्रसङ्ग हो जायगा । और वेदान्त तो ब्रह्म में दिव्य गुणवत्त्व का प्रतिपादन करते हैं । इसलिए वेदान्त वाक्य को असंमजस होने से ब्रह्म कारणवाद ठीक नहीं है । यह शङ्का का अभिप्राय है ॥८॥

प्रलयावस्था में कार्य धर्म से कारण सम्पृक्त होगा ऐसा प्रश्न जो था उसके समाधान में कहते हैं 'नतु दृष्टान्तेत्यादि' सूत्र घटक तु शब्द तु शब्द प्राप्त जो शंका तादृश शंका का परिहारपरक है । प्रदर्शित अर्थ में दृष्टान्त का सद्भाव होने से वेदान्त मत में असामञ्जस्य नहीं है । कार्य कारण कारणरूप से अवस्थित होने के कारण एक भी ब्रह्म में

नि न सम्बद्ध्यन्ते । ज्ञानसुखादयश्चात्मधर्मा न शरीरे तथा
 ब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताः कर्मवश्यत्वाज्ञत्वादयो धर्माश्चिद
 चिच्छरीरिणि कार्यकारणोभयावस्थान्वयिनि परस्मिन्ब्रह्मणि न सम्ब-
 द्ध्यन्ते । ब्रह्मगताश्चापहतपाप्मत्वादयो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यते
 जस्त्वादयो धर्मा न तच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनीति सुगमः पन्थाः ।
 विशिष्टस्य च ब्रह्मणो धर्मित्वेन चिदचिद्रूपयोर्धर्मभूतयोः स्वरूपेण
 भिन्नत्वेऽपि नित्यविशेषणतयाऽपृथक्सिद्धतया ह्यभिन्नत्वमित्येकमे-
 वोभयावस्थं ब्रह्म तिष्ठति । अत एव विशेषणानां व्यावर्तकत्वनिय-
 परन्तु नास्त्येवम् कार्यन्तुस्वस्वरूपं स्वधर्माश्चपरित्यज्यैवकारणमासादयति । नहि घट
 विनाशसमये कपालतन्त्रादिकं घटपटादिरूपस्पर्शादिना संसृज्यमानं भवतीति यदि कार्यं
 स्वस्वरूपकमेव भवेत्तदा तन्नाश एव नभवेत् । यथा वा नहि शरीरविनाशानन्तरं शरीर
 किसी प्रकार का दोष सम्बन्ध नहीं होता है । क्योंकि दृष्टान्त का सद्भाव है । सूत्र का
 अभिप्राय यह है कि 'जिस तरह सर्व व्यापक आकाश अति सूक्ष्म होने के कारण पृथिवी
 जलादिक से उपलब्ध नहीं होता है । (ऐसा कहा है 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्तितयो
 फलमिति ।' वर्षा आतपादिक दोषों से आकाश उपलब्ध नहीं होता है । क्योंकि आकाश निरव-
 यवाति सूक्ष्म है । रूप स्पर्शादिमान् सावयव पदार्थ में दोष गुण का सम्बन्ध होता है ।
 आकाश रूप स्पर्शादिरहित निरवयव सूक्ष्मतम है । अतः इस आकाश में दोष गुण का
 सम्बन्ध नहीं होता है] हे कौन्तेय । इसी तरह स्वकर्मोपाजित शरीर में विद्यमान भी आत्मा
 स्वविशेषण शरीरकृत गुण दोष से सम्पृक्त नहीं होता है । इस प्रकार गीताजी में कहा है ।
 यथावा जीव का विशेषण शरीरस्थित बालत्व युवत्व वृद्धत्वादिक घर्म शरीर का अवस्थाविशेष
 तादृश शरीरवान् जीवात्मा रूप शरीरी में सम्बद्ध नहीं होता है । अर्थात् बाल शरीरगत बाल
 त्वादिक घर्मका सम्बन्ध जीव में नहीं होता है—अन्यथा बालो जीवोमृतो जीवः' इत्यादि
 व्यवहार होगा परन्तु एतादृश व्यवहार नहीं होता है । एवम् शरीर आत्मगत ज्ञान
 सुख अदृष्टादिक जो जीव सममेत गुण है वह जीव विशेषण शरीर में सममेत नहीं होता है ।
 इसी तरह ब्रह्म का शरीर विशेषण जो चिदचित् वस्तु है उसमें रहनेवाला कर्म पराधीनत्व तथा
 अज्ञत्व जड़त्वादिक घर्म है वह चिदचित् का शरीरी कार्यकारणोभयावस्थ परब्रह्म में सम्बद्ध

मादत्र परस्परं व्यावृत्तिरपि कलिता भवति । सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः परमात्मशरीरत्वं परमात्मनस्तदात्मत्वञ्चासकृच्छ्रुतिषूपदिष्टम् । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' [बृ. ३।७।३] इत्यारभ्य 'यो विज्ञाने तिष्ठन् यस्य विज्ञानं शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्' [बृ. ३।७।२२] इत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणादिषु प्रसिद्धम् 'जगत्सर्वं शरीरन्ते' (श्रीमद्वा.रा.यु.) इति सर्वस्य चिदचिन्मयस्य जगतोरामाख्यपरब्रह्मशरीरत्व स्मरणान्नोक्तदोषावकाशः ॥९॥

धर्मेण युवत्वकुमारत्वादिना जीवः कदाचिदपि सम्पृक्तो भवति नवाजीवधर्मेण देहधर्मस्य धर्मिपराधीनत्वात् धर्मिणश्च तदानीमभावात् । नहि अविद्यमानहरिद्रयातदीयधर्मेणपीतत्वादिना वस्त्रे पीतं भवति । एवं चिदचिद्गतेन धर्मेणातिसूक्ष्मत्वादात्मा न सम्पृक्तो भवतीति न कश्चिदपि दोषो वेदान्तमते । एतत्सर्वं बोधयितुमाह सिद्धान्तसूत्रम् ननु दृष्टान्तभावादिति ॥९॥

नहीं होता है युक्ति व्यवहार को समान होने से । एवम् ब्रह्म समेत जो अपहृत पाप्मत्वादिक तथा ज्ञान शक्ति वल ऐश्वर्य तेजस्वादिक धर्म है वह ब्रह्मका शरीरभूत जो चिदचिद्वस्तु है उसमें सम्बद्ध नहीं होता है । यह अति सरल राजमार्ग है ।

विशिष्ट ब्रह्मको धर्मी होने से धर्मरूपचिदचिद्वस्तु को स्वरूप से भिन्न होने पर भी नित्य विशेषणतया अपृथक् सिद्ध होने से ब्रह्मके साथ अमेद है । इसप्रकार एक ही ब्रह्म उभयावस्थ होकर के रहते हैं । अतएव विशेषण को व्यावर्तक होने से परस्पर में व्यावृत्ति भी फलित होती है । सभी चिदचित्पदार्थ परमात्मा का शरीर है और परमात्मा तदात्मक है इस बात को श्रुतिमें अनेक बार कहा गया है । 'जो पृथिवी में रहता हुआ' इत्यादि से आरंभ करके 'जो विज्ञान में आत्मा में रहता हुआ' इत्यादि अन्तर्यामि ब्रह्मण में प्रसिद्ध है । 'हे श्रीराम ! यह सम्पूर्ण जगत् आप का शरीर है' इत्यादि प्रकरण से सभी चिदचिन्मय जगत् को श्रीरामाख्य परब्रह्म का शरीर है ऐसा कहा है । इसलिए कोई भी दोष नहीं होता है ॥९॥

॥ स्वपक्षदोषाच्च ॥२॥१॥१०॥ ॥

सांख्यादिपूर्वपक्षिभिर्ये दोषा ब्रह्मकारणवादे समुद्रावितास्तेषां
मदोषत्वाद्देदान्तमतस्य स्वीकृतौ न काचिदनुपपत्तिः । परं सांख्यादि
मते तु तेषां दुष्परिहरत्वात्तन्मतपरित्यागः । तथा हि—प्रधानस्याचेतन
त्वान्न चिदचिन्मिश्रस्य जगतस्तत् उत्पत्तिः सम्भवति । पुरुषसन्नि-
हितप्रधानादपि न असङ्गत्वात्पुरुषस्य । पुरुषोपरागादिति चेन्न
निष्क्रियस्योपरञ्जकाभावात् । प्रकृतिपुरुषयोरनादिभूत एवोपराग-
इत्यपि नानिर्मोक्षप्रसङ्गात् । प्रलयाभावप्रसङ्गाच्च । तस्मान्न सांख्या
भिमतप्रधानकारणवादस्य प्रसर इति ब्रह्मकार्यत्वमेव जगत इति ॥१०॥

प्रधानकारणवादिभिर्ये ब्रह्मकारणवादे दोषाः समुद्रावितास्तेषांसमाहितत्वान्नते
दोषा दोषाः परन्तु ते दोषास्तानेववदन्तीति दर्शयितुमाह स्वपक्षेत्यादि मत्पक्षे ब्रह्म-
कारणवादे तेषां समाधानमभूत् परन्तु तन्मते पुरुषस्याकारणत्वात् केवलायाः
प्रकृतेश्च जडत्वेन स्वातन्त्र्येण कार्यकारित्वस्यासंभवादिकं बहुतरं दूषणजातं
द्रष्टव्यमिति संक्षेपः ॥१०॥

सांख्य प्रभृतिक पूर्वपक्षवादियों ने जो जो दोष ब्रह्मकारणवाद में बतलाया उन दोषों का
समाधान हो जाने से वेदान्तमत का स्वीकार करने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । परन्तु
सांख्यादि के मतों में उन दोषों को दुरुद्धर होने से सांख्यादिमत का परित्याग ही उचित
है । तथाहि प्रधान स्वयं अचेतन जड है । इसलिए चिदचित् मिश्रित जगत् की उत्पत्ति
उससे नहीं हो सकती है । नहीं कहो कि पुरुष के संबन्ध से प्रधान से प्रधान में कार्य
कारित्व होगा ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'असंगेह्यं पुरुषः' इस श्रुति से सिद्ध
होता है कि पुरुष तो असंग है । नहीं कहो कि पुरुष का उपराग से होगा । यह कहना
भी ठीक नहीं है । क्योंकि निष्क्रिय का कोई उपरञ्जक नहीं होता है । नहीं कहो कि
अनादि प्रकृति पुरुष का उपराग भी अनादि होगा । यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि यदि
अनादि मानेंगे तो सर्वदा पुरुष को संसार ही बना रहेगा । मोक्ष कभी नहीं होगा । और
प्रलयाभाव प्रसङ्ग भी हो जायगा । इसलिए प्रकृत में प्रधान कारणवाद का अवसर नहीं
है । अतः यह जड़ चेतनात्मक जगत् ब्रह्मका ही कार्य है । प्रधान का नहीं है ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्य विमोक्षप्रसङ्गः । २ । १ । १ । १ ।

इतश्च ब्रह्मकारणवादस्यैवाभ्युपगम्यत्वात् । यतः परमवैदिकेर्धे
न केवलं शुष्कतर्काणामवबोधकत्वम् । तेषामप्रतिष्ठानात् । स्वकीय
बुद्ध्या हि तस्यार्थस्य परेण निराकृतत्वसम्भवात् । न च कपिला-
दीनां विशेषदर्शित्वान्न तर्काणामप्रतिष्ठेति वाच्यम् । विशेषदर्शित्वा
विशेषेण कणादगौतमादिप्रयुक्ततर्काणामपि तथात्वावगमात् । तथा
च तत्तदाचार्यो हि तत्तर्काणामन्योन्यविरोधिनामानन्त्यादनवस्थादौ
स्थ्यम् । अप्रतिष्ठितत्वञ्चानुमिति विघटनद्वारा । यथार्थज्ञानाजनक
त्वेन चाप्रामाण्यं निष्पन्नतरमेव । नन्वन्यथानुमानेनाप्रतिष्ठितत्व
दोषः । तर्काणां प्रतिष्ठितत्वाप्रतिष्ठितत्वे अपि तर्कव्यवस्थाप्ये इति

ननु तर्कबलेन प्रधानकारणवादः प्रतिष्ठापितः स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति
तर्काप्रतिष्ठानादपीति । उत्प्रेक्षामूलकैकतार्किकैः प्रतिष्ठापितस्य वाद्यन्तरेण निराकरणदर्श
नात् । तर्कमूलकवादस्य न सर्वथाऽदुष्टत्वमिति । अन्यथानुमेयं प्रकारान्तरेण प्रधान-
कारणवादस्यानुमानं स्यात्तत्र च ब्रह्मवादं निराकृत्य तद्वादस्य प्रतिष्ठास्यात्तदपि न समी-

इस तर्काप्रतिष्ठान रूप कारण से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मकारणवाद ही उपादेय है
प्रधान कारणवाद युक्ति संमत नहीं है । क्योंकि परमवैदिक अर्थात् वेदमात्रगम्य विषय में
केवल शुष्कतर्क को बोधकता नहीं है । क्योंकि शुष्कतर्क अप्रतिष्ठित होता है । एक से
प्रतिष्ठापित तर्कसिद्ध अर्थ का तदन्यस्य निराकरण संभवित होता है । नहीं कहो कि कपि-
लादि तीर्थंकर तो विशेषदर्शी हैं । इसलिए उन लोगों के तर्क में अप्रतिष्ठान दोष नहीं होगा !
तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि तब तो विशेषदर्शित्व जैसे कपिल में है उसी तरह
विशेषदर्शित्व तो कणाद गौतमादिक में भी है । तदीय तर्कों में भी अप्रतिष्ठानत्व नहीं होगा ।
परन्तु तत् तत् आचार्य श्वेतर तर्कों में अन्योन्य विरोधित्व आनन्त्य अनवस्थादिदोष बतलाते
हैं । तर्क में जो अप्रतिष्ठितत्व है वह अनुमिति विघटन द्वारा है और यथार्थ ज्ञान के अजनक

शक्यत एव प्रतिष्ठितत्वं तर्कनिष्ठं कल्पयितुम् । तर्के प्रतिष्ठितत्वञ्च प्रतिज्ञाद्यन्यतमन्यायावयवसमन्वितत्वम् । सर्वथापि तर्काप्रतिष्ठाया मुपरुन्धेत लौकिकोऽपि व्यवहारोऽतः सत्तर्काणान्तु प्रतिष्ठितत्वमन्येषामप्रतिष्ठितत्वमिति व्यवस्थाया जागरूकत्वान्नाखिलतर्कनिराकरणे नोपपादयितुमलं ब्रह्माकारणवाद इति चेत् एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वान्महानसादौ प्रत्यक्षेण धूमधूमध्वजयोर्नियतसम्बन्धमाकलय्य तयोर्व्याप्यव्यापकभावञ्च विनिश्चित्य गिरिमूलादविच्छिन्नमूलां निस्सरन्तीं धूमलेखां साक्षात्कुर्वस्तेन लिङ्गिनं वह्निमनुमिनोति कश्चित्तार्किकः । अत्र तु ब्रह्मतल्लिङ्गयोरप्रत्यक्षत्वेन तद्व्याप्तिज्ञानाभावात्परामर्शासम्भवेनानुमित्यसम्भवान्न ब्रह्मणस्तर्कगम्यत्वमुपपद्यते ।

चीनम् । एवमपि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वदोषाद्विनिर्मोक्षो न भवतीति द्योतयितुमाह अनिमोक्षेति प्रमाणान्तरगम्य एवार्थः, तर्केण प्रतिष्ठापितो भवति । न च ब्रह्मवादे प्रत्यक्षगम्यता अप्रत्यक्षत्वात्तस्य नानुमानादिगम्यतापि । अव्यभिचरितलिङ्गाभावात् किन्तु शास्त्रमात्रहेने से वह अप्रामाणिक है । नहीं कहे कि अन्यथा अनुमान से अप्रतिष्ठितत्व दोष नहीं होता है । तर्क में प्रतिष्ठितत्वाप्रतिष्ठितत्व जो है वह भी तो तर्क द्वारा ही व्यवस्थापित होता है । इसलिए तर्क में प्रतिष्ठितत्व की कल्पना कर सकते हैं । तर्क में प्रतिष्ठितत्व क्या है ! तो प्रतिज्ञाद्यन्यतमन्यायावयवयुक्तत्वं रूप ही हैं । यदि सर्वथा तर्क में अप्रतिष्ठितत्व ही हो तब तो लौकिक व्यवहार भी उच्छिन्न हो जायगा । इसलिए सत्तर्क में प्रतिष्ठितत्व है और असत्तर्क में प्रतिष्ठितत्व नहीं है । इसप्रकार की व्यवस्था को विद्यमान रहने से समस्त तर्क का निराकरण द्वारा ब्रह्मका कारणवाद का समर्थन नहीं हो सकता है । ऐसा कहो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा कहने पर भी तर्कमें अप्रतिष्ठितत्व दोष का निराकरण नहीं होता है । अनुमान प्रत्यक्ष सापेक्ष होता है । यथा महानसादिक में चक्षुरादि द्वारा धूम तथा धूमध्वज वह्नि का नियत सम्बन्ध व्याप्ति का निश्चय करके तथा धूम वह्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निश्चय करके व्यापक सामानाधिकरण्य लक्षण व्याप्ति का निश्चय करके तदनन्तर पर्वतमूल से निकलती हुई अविच्छिन्नमूल धूमरेखा को देखकर के तादृश

अपि चान्यत्र प्रतिष्ठितस्यापि श्रुतिविरोधिनस्तर्कस्य प्रकृते
प्रतिष्ठानात् । श्रुत्यनुकूलस्य तर्कस्य तु श्रुत्यर्थनिश्चायकत्वादु-
पादेयत्वमेवेति हृदयम् । तथा च—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता । मनु० १२।१०५।

आर्षे धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः । मनु० १२।१०९।

इत्यादिवचनैर्वेदाविरोधितर्कस्यैव तत्त्वनिर्णयसहकारित्वमुक्तम् ।

प्रकृते तु केवलं तर्कवादमाश्रित्य प्रधानकारणतायां नाप्रतिष्ठितत्व
रूपदोषान्मोक्ष इति शुष्कतर्कनिरासः । अत एव 'अचिन्त्या खलु ये
गम्यः ततश्च न शास्त्रप्रमाणके केवलतर्कस्यावसरः । किञ्च तर्कस्य व्याप्तिमूलकत्वेन तत्र
व्यभिचारशङ्कायां पुनस्तर्कान्तरानुसरणस्यावश्यकत्वेनानवस्थया न केवलतर्केण-
कस्यचिदप्यर्थस्य सिद्धिर्वाधोवेत्याकलयोपक्रमते इतश्च ब्रह्मकारणवादेत्यादि तर्कादि-
बहि व्यक्त धूमात्मक हेतु से लिङ्गी बहि का अनुमान तार्किक लोग करते हैं । अर्थात् दृष्टान्त
में हेतु साध्य का प्रत्यक्ष रूप से हेतु निष्ठ हेतु व्यापक साध्य सामानाधिकरण्य का निश्चय
करके कालान्तर में गृहीत व्याप्तिक प्रत्यक्ष धूम से परोक्ष साध्य का ज्ञानात्मक अनुमान होता
है । प्रकृत में तो ब्रह्म तथा ब्रह्मका साधक हेतु दोनों अप्रत्यक्ष है । तो इनमें व्याप्ति ज्ञान
नहीं होता है और व्याप्ति ज्ञान के अभाव में साध्य व्याप्य हेतुमान् पक्ष लक्षण परामर्श
के अभाव होने से अनुमिति का अभाव होने से ब्रह्ममें तर्कगम्यत्व नहीं
हो सकता है ।

और भी अन्यत्र प्रतिष्ठित भी तर्क है । परन्तु प्रकृत में तर्क को श्रुति विरोधी
होने से अप्रतिष्ठितत्व ही होता है । परन्तु जो तर्क श्रुति के अनुकूल अर्थात् श्रुति का
सहकारक है वह तो श्रुति प्रतिपादित अर्थ का निर्णय में सहकारक है तादृश तर्क तो उपा-
देय ही होता है । तथाहि 'धर्मशुद्धि के चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि प्रत्यक्ष अनुमान
और विविध आगम प्रमाण को सुविदित करे । 'वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा जो
अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है । इत्यादि वचनों से वेदाविरोधी तर्क को ही

भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिकनिषेधोऽपि दृश्यते । तस्माच्छ्रौतमार्गमवलम्ब्य ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वमास्थेयमितिदिक् ॥११॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

ॐ एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि

व्याख्याताः ।२।१।१२। ॐ

एतेन तर्कमूलकपिलस्मृतिनिराकरणेन शिष्टैर्न परिगृह्यन्त इति शिष्टापरिग्रहाः शिष्टैरपरिग्रहीताः पतञ्जलिकणादगोतमादिस्मृत विषये-अध्यासध्वंसलेय-खण्डनोद्धारव्यधिकरणजागदीशी-न्यायदीपिकादि प्रबन्ध व्याख्यानावसरे बहुप्रपञ्चितत्वादिरम्यते प्रपञ्चान् ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

अंशतोमन्वादिभिः परिगृहीतस्यापि वेदविरोधितर्कमूलककपिलशास्त्रस्य तत्त्व निर्णय में सहकारी कहा गया है । प्रकृत में तो केवल तर्कवाद के आश्रय करके प्रधान कारणता को मानें तो अप्रतिष्ठितत्व रूप दोष से छुटकारा नहीं होता है । इसप्रकार से शुष्क तर्क का निरास होता है । अतएव "अचिन्त्या खलु ये भावा" इसप्रकार से आग मार्थ के निर्णय में शुष्कतर्कों का निराकरण पुराणों में किया गया है । इसलिए श्रौत मार्ग का अवलम्बन करके ब्रह्म को ही चराचर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानना चाहिए किन्तु प्रधान में जगत्कारणता नहीं है ॥११॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यप्रकाशे विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

'एतेन' अर्थात् तर्कमूलक कपिल स्मृति का निराकरण होने से शिष्ट व्यासादिकों से

योऽपि व्याख्याता निरस्ता इत्यर्थः । वेदविरुद्धार्थपराणां सर्वेषां
तर्काणां वेदबाधितत्वेनाप्रमाणत्वादिति भावः ॥१२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

अथ भोक्त्रापत्यधिकरणम् ॥५॥

॥ भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्या-

ल्लोकवत् २।१।१३ ॥

पुनरपि ब्रह्मकारणवादो यौक्तिकमतमास्थाय सांख्यैराक्षिप्यते ।
यदुक्तं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकम्ब्रह्मकारणावस्थमुपादानं तदेव च
स्थूलचिदचिच्छरीरं सदुपादेयमिति तन्नोपपद्यते । सशरीरत्वे तस्य
जीवस्येव शरीरप्रयुक्तसुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेः । ततश्च प्रत्यागात्म-
नोऽविभागो विभागाभावाद्ब्रह्मणोऽपि जीवभावापत्तिस्स्यात् ।
ननूक्तमेव बालत्वस्थविस्त्वादयः शरीरधर्मा न प्रत्यागात्मनि न
वाक्यत्वादयस्तद्धर्माः परमात्मनि सम्बद्ध्यन्त इति चेत्सत्यम्
निराकरणं सर्वथा व्यासादिशिष्टापरिगृहीतस्य केवलतर्कमूलकस्य कणादादि
स्मृतिनामपि निराकरणमर्थत एव भवतीति दर्शयितुमाह एतेनेत्यादि ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नार्चार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

ननु परमात्मनः स्थूलसूक्ष्मजडचेतनशरीरस्य कार्यकारणरूपत्वेन जीवेशयोः
अंश से भी अपरिगृहीत जो पतञ्जलि कणाद गोतमादि स्मृति है वह भी निरस्त हो गया ।
क्योंकि वेद विरुद्धार्थ प्रतिपादक तर्कों का वेद से वाध होने से सब अप्रामाणिक है ॥१२॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

यौक्तिक मत को लेकर के सांख्यवादी पुनः ब्रह्मकारणवाद का आपेक्ष करते हैं ।
सूक्ष्म चिदचित् शरीरक जो परब्रह्म वह कारणावस्थ होते हुए सकलस्थावर जंगम

शरीरगतबालत्वादिविकाराणामात्मन्यसम्भवेऽपि शरीरधातुसाम्यवैष-
म्यहेतुकस्यात्मनि सुखदुःखसंयोगम्यावश्यम्भावात् ।

तथा चोक्तम्—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । गी० ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । गी० । इति ।

तथा 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति'
[छा०८।१२।१।] इति श्रुतिः । तथा च परमात्मनोऽपि शरीरसामा-
न्यात्तस्यापि जीवस्येव सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेर्जीवेश्वरयोरविभागापत्तिः
स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—स्याल्लोकवत् कर्मपञ्चशतया भोक्तुर्जी-
वाद्दिव्यकल्याणगुणसागरस्य परमात्मनो विभागः स्यादेव । नहि
स्वरूपविभागोभवतीति कथितम्, परन्तु तन्न युक्तम् । यतो यथा शरीरवान् जीवः
सुखदुःखयोर्भोक्ता भवति तथा परमेश्वरस्यापि शरीरवत्त्वेन जीववद्भोगापत्तेर्दुष्प-
रिहारत्वादित्याशङ्ककाया निरासायोपक्रमते पुनरपि ब्रह्मकारणवाद इत्यादि । परिहरति
स्याल्लोकवदिति । नहि जीवस्य सुखदुःखोपभोगे शरीरसम्बन्ध एव हेतुर्येन शरीर
लक्षण जगत का उपादान कारण है और वही ब्रह्म स्थूलचिदचित् शरीरक उपादेय
कार्य कहलाते हैं । इस प्रकार एक ही ब्रह्म कारण कार्य दोनों होते हैं । ऐसा जो
पूर्व में कहा है वह ठीक नहीं है । क्योंकि भगवान् को सशरीर मानें तब तो जीव की
तरह परमेश्वर को भी शरीर सम्बन्ध प्रयुक्त सुख दुःख का भोक्तृत्व होगा । अर्थात् जीव
जिसलिए शरीरवान् है । अतएव उसको शरीर प्रयोज्य सुखादिमत्त्व होता है । इसी तरह
परमेश्वर को भी यदि शरीरी मानेंगे तब तो परमात्मा में भी दुःखादिमत्त्व होगा ? तब तो
प्रत्यगात्मा जीव के साथ विभाग अर्थात् भेद नहीं रहने से ब्रह्म में भी जीवभावत्व प्राप्त
होगा । नहीं कहो कि पहिले कह आया हूं कि बालत्व स्थविरत्वादिक जो धर्म है उसका
जीव में सम्बन्ध नहीं होता है । नत्रा बालत्वादिक अन्यदीय धर्म परमात्मा में सम्बद्ध होता
है, यह कहना ठीक है । परन्तु शरीरगत जो बालत्वादिक विकार है उसका आत्मा में सम्ब

शरीरसंयोगहेतुकः सुखदुःखोपभोगोऽपितु पुण्यपापरूपकर्महेतुक इति न शरीरसंयोगनिबन्धनः सुखदुःखयोस्संसर्गः । श्रयते चैकस्मिच्छरीरे वसतोऽपि जीवेश्वरयोः कर्मफलभोक्तृत्वेन स्वरूपस्वभावयोर्विभागः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनन्ननन्योऽभिचाकशीति' [मु० ३।१।१] इति । यथा लोके समानाधिकरणयोरपि स्वस्वामिनोर्मध्य एको रोगी दग्धिश्चापस्तु धनी नीरोग इति स्पष्टमेव तयोर्विभागः ।

एवञ्च ब्रह्मणो जगदुपादानत्वेऽपि न विकारित्वाज्ञत्वादि दोषापत्तिः । चिदचिच्छरीरकस्यैव तस्य जगदुपादानत्वस्वीकारात् । "विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" [गी०] इति प्रामाण्यादिकारित्वादीनां ब्रह्मशरीरभूताचित्पदार्थे पर्यवसानात् । अज्ञत्वसुखदुःखभोक्तृत्वादीनान्तु तच्छरीरभूतचित्पदार्थे जीवे पर्यवसानाद् सम्बन्धात् जीवपरमेश्वरस्यापि भोगापत्तिः स्यात् । किन्तु पुण्यपापलक्षणकर्मप्रयुक्तोभोगः । तच्च कर्म विहितप्रतिषिद्धक्रिया जनितम् । न च तादृशजनकत्वं परमेश्वरस्यापितु जीवस्यैव, ततश्च परमेश्वरस्य संनिधिमात्रेण शरीरवत्त्वेऽपि प्रयोजकाभावेनादृष्टाभावात्, कथमपिभोगप्रसङ्गोनास्तीति न जीवपरेशविभागस्य न्व नहीं है । किन्तु शरीरगत कफादि के समता विषमता मूलक आत्मा में सुखदुःखादिक का सम्बन्ध तो होता ही है । यद्यपि भाष्यकार ने सुख का संयोग आत्मा में कहा है यह तो ठीक नहीं है । क्योंकि संयोग तो द्रव्यद्वय में होता है । गुण का संयोग तो बाधित है । तथापि संयोग शब्द सम्बन्ध मात्र का बोधक है ऐसा कहा है गीता में यह तदभि प्रायक है जैसा कि 'विकार तथा गुण को प्रकृति से जन्य समझो' कार्य करण के उत्पादन में प्रकृति हेतु है' और पुरुष तो सुखदुःखादि के भोक्तृत्व में हेतु है' इति । 'सशरीर चेतन को प्रिय अप्रिय का अभाव नहीं होता है । तब परमात्मा को भी शरीरवान् होने से जीव की तरह सुखदुःख का भोक्तृत्व होने से जीवेश्वर में अविभागापत्ति होगी । एतादृश शंका के उत्तर में कहते हैं "स्याल्लोकवत्" कर्म पराधीन सुखादि भोक्ता जीव से दिव्य कल्याण गुण का सागर परमात्मा को विभाग हो सकता है । शरीर संयोग हेतुक सुखादिक का भोग नहीं होता है ।

ब्रह्मणः सर्वान्तर्यामितया सर्वात्मत्वाच्छरीरभूतप्रकृतिजीवगतानां विकारित्वाज्ञत्वादितोषाणामाश्रयत्वस्याभावात् ।

तर्हि “ब्रह्म वा इदमग्र आसीदिति श्रुतिसिद्धं ब्रह्मोपादानं जगदिति वचनं कथमुपपद्यताम्, प्रकृतिजीवपरमात्मनां त्रयाणामपि जगदुपादानत्वादिति चेदुच्यते । यथा पृथिव्यास्त्रिवृतकृतत्वेन त्रिभूतात्मत्वेऽपि तत्र पृथिव्या एव प्राधान्यात्सर्वं त्रिभूतात्मकमपि पृथिवीशब्देनोच्यते । तथा जगदुपादानत्वस्य तत्त्वत्रयनिष्ठत्वेऽपि तत्र ब्रह्मण एव प्राधान्यात्तत्त्वत्रयमपि ब्रह्मशब्देनैवोच्यते । यथा च “तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां कखाणि” [छा० ६।३।२] इति श्रुत्या विलोपगन्धोपि । अयमाशयः । सुखाद्युपभोगे समवायिकारणे चेतनमसमावायिकारणं मनः संयोगोनिमित्तकारणमद्यादिकम् । तदिह जीवे सर्वकारणसंवलनात् भवति सुखाद्युपभोगः परमेश्वरे निमित्तकारणादृष्टस्याभावान्न तस्य तथोपभोगः । शरीरमपि हेतुः सत्त्ववच्छिन्नभोगवत्त्वसम्बन्धेन परमेश्वरे एतादृशसम्बन्धेन शरीरं किन्तु पुण्यपाप लक्षणं जो कर्म है तन्मूलक सुखदुःखादि का भोग होता है । इसलिए संयोग जनित सुखदुःख का सम्बन्ध नहीं होता है । श्रुति में श्रुत है कि एक शरीर में निवास करते हुए भी जीवेश्वर को कर्मफल भोक्तृत्वेन स्वरूप तथा स्वभाव का विभाग है । ‘द्वासुपर्णा’ इत्यादिक मन्त्र में । जिस तरह लोक में समान अधिकरण में रहनेवाले स्वामी भृत्य के मध्य में एक रोगी दरिद्र रहता है । और अन्य बनवान् नीरोग होता है । ऐसा स्पष्ट विभाग देखने में आता है । अतः जीवेश्वर में विभाग होता है ।

ऐसा हुआ तो ब्रह्म को सर्व जगत् के उपादान होने पर भी विकारित्व तथा अज्ञत्वादिक दोष नहीं होता है । क्योंकि चिदाचित् शरीरक ब्रह्म में ही जगदुपादानत्व माना गया है ।

“विकाराश्च गुणाश्चैव” इत्यादि गीता वचन के प्रामाण्य से विकारित्वादिक जो दोष है वह ब्रह्म का शरीररूप जो चित् अचित्पदार्थ है उसी में रहता है ‘शिखीध्वस्त’ यहाँ जिस तरह विशिष्ट में निधीयमान जो नाश वह अयोग्यत्वात् विशेष्य में सम्बद्ध न होकर के विशेषण शिखा में पर्यवसित होता है । उसी तरह निर्विकार परमेश्वर में विकारित्वादिक दोष सम्बद्ध नहीं होकर के विशेषणांश में ही समन्वित होता है ।

पृथिव्यप्तेजसां त्रिवृत्करणत्वनिश्रयात् दृष्टान्तरूपस्य “यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वमृण्मयं विज्ञातं स्यात्” इत्यस्याप्तेजोविशिष्टं मृण्मय-मस्तीति विज्ञातं स्यादित्यर्थस्य निष्पन्नत्वात् । तथा दार्ष्टान्तस्यापि चिदचिद्विशिष्टस्य कारणस्य ब्रह्मणो विज्ञानेन सर्वं तत्कार्यं जगत् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयमितिराद्धान्त इति सर्वमनवद्यम् ॥१३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये भोक्त्रापत्यधिकरणम् ॥५॥

सम्बन्धाभावान्न तदापत्तिरिति जीवेश्वरस्वरूपविभागे न कापिक्षतिरित्यधिकमन्यत्र-द्रष्टव्यम् । सूत्राक्षरार्थस्तु न तिरोहित इति संक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे भोक्त्रापत्यधिकरणम् ॥५॥

एवं अज्ञत्वं सुखदुःखादि भोक्तृत्वं परमेश्वर का विशेषण चिदंश में ही सम्बद्ध होता है । ब्रह्म के सर्वान्तर्यामी होने से सर्वात्मक होने से ब्रह्म शरीरभूत प्रकृति तथा जीवगत विकारित्व अज्ञत्वादि दोषों का आश्रयत्व असंभव है । इस विषय की चर्चा जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रणीत परिणाम विमर्श के विवरण में देखें । प्रश्न—यदि ब्रह्म के अन्तर्गत तत्त्वत्रय का समावेश है तब ‘ब्रह्म वा इदमग्र’ इत्यादि श्रुति सिद्ध ब्रह्मोपादानक जगत् है । इत्यादि वचन किस तरह उपपन्न होगा ! क्योंकि यथोक्त क्रम से तो प्रकृति जीव परमात्मा, इन तीनों में जगत् उपादानत्व को मान लिया है । उत्तर—यथा पृथिवी को त्रिवृत्कृत होने से भूतत्रयात्मक होने पर भी पृथिवी की प्रधानता होने से त्रिभूतात्मक सब पृथिवी शब्द से व्यवहियमाण होते हैं । उसी तरह यद्यपि जगदुपादानत्व तत्त्वत्रय में वृत्ति होने पर भी ब्रह्म की प्रधानता होने से तत्त्वत्रयों का ब्रह्म शब्द से ही व्यवहार होता है । जिस तरह “तासां त्रिवृत्तमित्यादि” श्रुति ने पृथिवी जल तेज में त्रिवृत्कृतत्व का निश्चय होने से “यथा सोम्यैकेन” इत्यादि दृष्टान्त रूप श्रुति का जल तेजो विशिष्ट मृण्मय है जो विज्ञात होता है, यह अर्थ निष्पन्न होता है । तथा दार्ष्टान्तिक में भी चिदचिद्विशिष्ट कारण ब्रह्म के विज्ञान से तत्कार्य सर्व जगत् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही है वह विज्ञेय है यह सिद्धान्त है ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे भोक्त्रापत्यधिकरणम् ॥५॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २।१।१४।

किं कारणाद्ब्रह्मणस्तत्कार्यं जगदन्यदाहोस्विदनन्यदिति संशये कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यदेव जगत् । कुतः ? ज्ञानशक्तिवलैश्वर्यते जोवीर्यादिनिस्वधिकनिरतिशयासंख्येयकल्याणगुणविशिष्टादानन्दम-याद्ब्रह्मणोऽज्ञत्वानीशत्वकर्मवश्यत्वदुःखित्वादिधर्मवतो जगतोऽन्यत्वा वगमात् । कार्यकारणबुद्धेरेकरूपत्वाऽनुपपत्त्याऽनेकरूपत्वनिष्पत्तेः । न हि मृच्छदेन घट उच्यते घटशब्देन मृद्रा तथा शब्दभेदादपि कार्यकारणयोर्भिन्नत्वमेव तस्मान्नब्रह्मणोऽनन्यत्वञ्जगत् इति प्राप्तं

कार्यकारणयोरनन्यत्वमिति असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वादिनाप्रसाधितं तदेव विस्तररूपेणविचारयति । तत्र संशयस्य विचाराङ्गत्वात् संशयं प्रदर्श्य पूर्वपक्षयति “किं-मिदं कारणादनन्यदिति । तत्र प्रथमः पक्षोनैयायिकादेर्द्वितीयस्तु सत्कार्यवादिनः ।

कारणीभूत ब्रह्म से जायमान जो जगत् रूप कार्य है वह कारण ब्रह्म से अन्य अर्थात् भिन्न है । अथवा अभिन्न है ? इसमें कारण रूप ब्रह्म से कार्य भिन्न है ऐसा पूर्व पक्ष होता है । क्योंकि ज्ञानशक्ति बल ऐश्वर्य तेजो वीर्यादिक निस्वधिक निरतिशय असंख्येय कल्याण गुणविशिष्ट आनन्दमय परमात्मा से अज्ञत्व अनीशत्व कर्म पराधीनत्व दुःखत्वादि धर्मवान् जगत् से भेद अवगत होता है अर्थात् यथोक्त गुणविशिष्ट कारण से यथोक्त गुणविशिष्ट जगदात्मक कार्य में भेद प्रतीत होता है । कारण तथा कार्य विषयक बुद्धि शब्दादिक में एकरूपत्व की अनुपपत्ति होने से अर्थतः इन दोनों में अनेक रूपत्व अर्थात् परस्पर भेद सिद्ध होता है । घटपटादिवत् । मृत्तिका बुद्धि से कथमपि घट का बोध नहीं होता है । नवा घट इत्याकारक ज्ञान से मृत्तिका विषयक होता है । क्योंकि अनुभव विरोध होने से, एवं शब्द भेद होने से अर्थात् कारण का प्रतिपादक शब्द अन्य है । तथा कार्य का प्रतिपादक शब्द भिन्न है । इससे भी कार्यकारण हैं भेद सिद्ध होता है । तथा कार्य भेद से भी कार्य कारण में भेद होता है । यथा पटरूप कार्य से प्रावरण होता है और कारण रूप तन्तु से बन्धनादिक होता है । यदि कार्य

आह 'तदनन्यत्वमास्मभणशब्दादिभ्य' इति । तयोः कार्यकारणयो-
 र्जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वमेव । यद्वा तस्मात्कारणाद् ब्रह्मणस्तत्कार्यभूतस्य
 जगतोऽनन्यत्वमेव कुतोऽवगम्यते तत्राह- आस्मभणशब्दादिभ्य
 इति । आस्मभणशब्द आदिर्येषां वाक्यानान्तेभ्य इति विग्रहः ।
 यथा 'सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचास्मभणं
 विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छा०१।१।४।] 'सन्मूलाः
 सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः [छा०६।८।४।]
 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छा०
 ६।८।७।] इत्यादिभ्यो वाक्येभ्यः परस्माद् ब्रह्मणो जगतोऽनन्य-
 त्वमवगम्यते । यथैकेन मृत्पिण्डेन समाख्या घटशरावादयः कारण-
 भूतात्तस्मान्मृत्पिण्डाद् द्रव्यान्तस्त्वेन नातिरिच्यते ।

तत्र प्रथमपक्ष एव भेदसाधकस्य बुद्धिशब्दकार्यस्य विभेदात् भवति हि बुद्धिः पटस्तन्-
 तुश्च घटपटबुद्धिवादिति शब्दभेदोपि तन्तुपटशब्दयोर्भेदात् । कार्यश्चोभयोर्भिन्न
 भिन्न एव प्रावरणपटकार्यम्, तदन्यत्तन्तु कार्यम् । यदि कार्यकारणयोरभेदः स्या-
 कारण में अभेद हो तब तो प्रावरण भी तन्तु से हो तथा बन्धन पट से हो ऐसा
 तो देखने में नहीं आता है । एवं यदि कार्य कारण में अभेद हो तब तो कार्य
 परवर्ति होता है । कारण पूर्ववर्ती होता है । यह नियम भी भक्त हो जायगा एवं
 यदि अभेद हो तब तो पटोत्पत्ति के लिए तन्तुवाय का व्यापार निरर्थक हो जायगा ।
 क्योंकि पटाभिन्न तन्तु तो निष्पन्न ही है । निष्पन्न पदार्थ कृति का विषय नहीं होता
 है । पूर्व सिद्ध कारण होता है । तथा परकाष्ठवर्ती असिद्ध कार्य कहलाता है । इत्यादि
 नियम सब अस्तव्यस्त हो जायगा । इसलिए कार्य तथा कारण में गवाश्वत् सर्वथा
 भेद ही है गवाश्व के समान । तस्मात् कारणरूप ब्रह्म से कार्य रूप जो जगत् वह
 भिन्न है अभिन्न नहीं है । इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर सूत्रकार करते हैं 'तदनन्यत्व
 मित्यादि' सूत्रम् । कार्य जगत् तथा कारण ब्रह्म में परस्पर अनन्यत्व है । अर्थात्
 अभेद है । अथवा उस कारण रूप ब्रह्म से तत्कार्यभूत जो जडचेतनात्मक जगत् इन
 दोनों में परस्पर अभेद ही है । कार्य कारण जगत् ब्रह्म में अभेद है । इसमें कारण

‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य’ मित्यत्रारम्भ्यते आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणम् । बाहुलकात्कर्मणिल्युट् । वाचा-वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । उदकाहरणादिव्यवहारार्थं मृदेव नामधेयान्तरसंस्थानान्तरभागभवति । तस्मादेवोक्तं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । मृदेव प्रमाणेनोपलभ्यते । नतु द्रव्यान्तरम् । यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्थाभेदैर्बालो युवास्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् । अतो न कार्यकारणविषयाया बुद्धेरेकरूपत्वानुपपत्त्यानेकरूपत्वसिद्धिः । अत एव न वाच्यवाचकशब्दभेदोऽपि ।

तदापटनिष्पाद्यं कार्यं तन्तुभ्योपि स्यात् । परन्तु नैवं भवति तस्मात् कार्यकारणयोर्भेद एव । किञ्च यदि तयोरभेदस्तदापटोत्पादनाय तन्तुवायोनप्रयतेतकारणस्यनिष्पन्नजिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं “आरंभण शब्दादिभ्यः” इति । आरंभण शब्द है आदि में जिन वाक्यों का उसका नाम होता है आरंभण शब्दादि उससे इस प्रकार आरंभण शब्दादिक में विग्रह है यथा हे सोम्य ! एक मृत्तिका पिण्ड के ज्ञान होने से सभी मृण्मय घटशरावादिक विज्ञात हो जाता है । विकारनाम धेय तो वाचारंभण वागलम्बन मात्र है । वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है । हे सोम्य ये सब प्रजा सन्मूलक हैं । सदधिकरणक सत्प्रतिष्ठित है” परिदृश्यमान सब पदार्थ आत्म तादात्म्यापन्न है । वह आत्मा त्रिकाल सत्य है । “हे श्वेतकेतु ! तुम भी उसी परमात्मा का शेष हो” इत्यादि वाक्य से यह सिद्ध होता है कि जगत् परब्रह्म से अभिन्न है । जिस तरह एक मृत्पिण्ड से आरम्भ्यमाण घटशरावादिक कार्य कारणीभूत उस मृत्पिण्ड से अतिरिक्त द्रव्यान्तर नहीं होता है । इसी तरह प्रकृत में सदात्मक कारण से जायमान जगत् कार्य कारणीभूत उस ब्रह्मरूप कारण से अतिरिक्त द्रव्य नहीं है । किन्तु तदात्मक ही है । इसलिए कारण कार्य में अनन्यत्व सिद्ध होता है । “वाचारंभणं विकारः” यहाँ आरब्ध आलभ्य हो अर्थात् स्पृष्ट हो जो उसको आरंभण कहते हैं । यहाँ कर्म अर्थ में बाहुलकात् आङ्पूर्वक रम घातु से ल्युट् प्रत्यय करके आरंभण शब्द बनता है । किन्तु

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ [छा.६।२।२)
 इत्यत्र सदेवासीदिति सृष्टिप्राक्काले ब्रह्माभेदप्रतिपादनमुखेन
 सत्कार्यवादमुक्त्वा तद्विरोध्यसत्कार्यवादं नैयायिकाभिमतं वाचारम्भण
 मित्यादीना प्रतिक्षिप्तमपि कण्ठतः प्रतिक्षेप्तुं तन्मतं ‘तद्वैक आहुरस
 देवेदमग्र आसीत्’ (छा.६।२।१) इत्यादिनोपन्यस्य ‘कथमसतः सज्जा
 यत’ (छा०१।२।२) इत्यादिना निराकृतम् । तदेतत्कार्यावस्थस्य कार-
 णावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरत्वम् ।
 त्वेतदभिन्नस्य कार्यस्यापि निष्पन्नत्वात् । तस्मात् कारणकार्ययोः सर्वथा गवाश्चवद्भेद
 एवेति शङ्कां समाधातुमुपक्रमते किं कारणवदित्यादि तदनन्यत्वमित्युत्तरम् । तत्र हेतुः
 आरंभणशब्दादिभ्यः । अयंभावः बुद्धिशब्दादिभेदस्य किञ्चित्करत्वात् दृश्यते एकस्मिन्न
 अधिकरणार्थकं व्युद् प्रत्यय नहीं है । “वाचा” अर्थात् वाक्पूर्वक व्यवहार हेतु से ।
 अर्थात् जो मृत्पिण्ड है वह उदकादिका आहरण व्यवहार के लिए नामधेयान्तर
 संस्थानभाक् होता है । अर्थात् जो मृत्पिण्ड है वह स्वकीय रूप से जलाहरणादि कार्य
 को नहीं कर सकता था । किन्तु घटाकारेण परिणत होकर के जलाहरण कार्य को करता
 है । अतएव मृत्तिका भिन्न घट नहीं है । किन्तु मृत्तिका का संस्थानान्तर ही घडा
 है । अतएव कहा है मृत्तिका ही सत् है । घटकाल में प्रमाण से मृत्तिका ही उपलब्ध
 होती है । द्रव्यान्तर कोई उपलब्ध नहीं होता है । जैसे एक ही स्त्री अमुक की
 लड़की थी । वही समयादि भेद से पुत्रवधू कहलाती है । किन्तु वह द्रव्यान्तर नहीं
 होती है । यथा एक ही देवदत्त का अवस्थादि भेद से बालक युवान और बृद्ध रूप
 से व्यवहार होता है । किन्तु वहाँ द्रव्य का भेद नहीं होता है । उसी तरह प्रकृत
 में भी समझना चाहिए । अर्थात् जिस तरह दूध का परिणाम विशेष दही है । नतु
 दूध भिन्न द्रव्यान्तर दधिकार्य है । तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिए । अतः कार्य
 कारण विषयक बुद्धि के एकत्वानुपपत्ति होने से अनेकरूपता की सिद्धि नहीं होती है ।
 नवा वाच्यवाचक शब्दादिका भेद होता है । अर्थात् बुद्धि भेद कार्यकारण का भेद नहीं
 है । उसी तरह शब्दादि भेद में कार्यकारण का भेद नहीं होता है । एवं प्रत्येक
 तन्तु प्रावरण कार्य को न करता हुआ भी मिलित होकर के अर्थात् विलक्षण विशिष्ट

परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वमन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धं स्मास्तिम् ।
अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयावस्थिते नामरूपव्याकरणवचना
च्चिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यम् । सदेवेदमग्र एकमेवासी
दित्यादिसर्वमुपपन्नतरम् । शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतास्सर्वे विकारा
श्चापुरुषार्था इति ब्रह्मणो निखद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वञ्च सुस्थितम् ।

अत्रेदं तत्त्वम् । चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्व
शब्दाभिधेयम् । तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्ह
सूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् । तत्कारणावस्थं ब्रह्म कदाचिच्च
प्यनेकबुद्धिर्न तेन वस्तुभेदोभवति यथा एकोदेवदत्तोऽवस्थागुणक्रियादिभिरभिन्न
एव बालोयुवाश्चालः श्वशुरोवदान्यविद्वांश्च । एकोविष्टिः शिविका वहनं न
करोति परन्तु मिलितास्तेतत्करोति । इत्यादि युक्तिभिस्तयोरनन्यत्वमेवसिद्धं भवति ।
होकर के पट शब्दवाच्य होता हुआ तादृश प्रावरणादि कार्य को संपादन करता हुआ
द्रव्यान्तर नहीं है । किन्तु आतान वितान युक्त तन्तु ही है । “सदेव सोम्येदमग्र”
यहाँ “सदेवासीत्” उत्पत्ति के पूर्व में सत् ही था । इस प्रकार सृष्टि से पूर्वकाल में
जगत् में ब्रह्मामेद के प्रतिपादन द्वारा सत्कार्यवाद का कथन करके सत्कार्यवाद का विरोधी
नैयायिकाभिमत असत्कार्यवाद का ‘वाचारम्भणम्’ इत्यादि प्रकरण से यद्यपि प्रतिक्षेप किया
गया है तथापि कण्ठतः पुनः खण्डन करने के लिए उस मत का “तद्ध्येक
आहु” इत्यादि प्रकरण से उपन्यास करके “कथमसतः सजायते” इत्यादि से निराकरण
किया । इस प्रकार से कार्यावस्थ तथा कारणावस्थ जो स्थूल सूक्ष्मचिदचिद्वस्तु है वह
परब्रह्म का शरीर है । और परब्रह्म में आत्मत्व जो अन्तर्यामी ब्राह्मणादिक में प्रसिद्ध है
उसका यथा यथोक्त रूप से स्मरण कराया गया । अचिद्वस्तु सजीव में जो कि ब्रह्म
में आत्मरूपेण अवस्थित है । उसमें नाम व्याकरण का कथन होने से चिद्वस्तु शरीरक
जो ब्रह्म है वही जगत् शब्द वाच्य है । तब “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम्” इत्यादि सब उपपन्न होता है । ब्रह्म के शरीरभूत चिदचिद्वस्तु सब विकार
अपुरुषार्थ है । इसलिए निर्दोषत्व तथा सर्व कल्याणगुणाकरत्व सिद्ध होता है । इस प्रकरण

विभक्तनामरूपव्यवहारहस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् तच्च कार्या-
वस्थमिति कारणात्परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यच्छरीरभूतचिद-
चिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायाञ्च श्रुति
शतसिद्ध्या स्वभावव्यवस्थाया च गुणदोषव्यवस्था 'न तु दृष्टान्त
भावात्' (ब्र.सू. २।१।९) इत्यत्रोक्ता बोध्येति सर्वमवदातम् ।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयणेन वर्णय-
न्ति न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्ध्यति । सत्यमिथ्यार्थयोरै-
क्यानुपपत्तेः । तथा सति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात् ।
तस्मादस्मदुपवर्णितप्रकारेणैवानन्यत्वं जगद्ब्रह्मणोरिति सिद्धम् ॥१४॥

तदेतत् सत्कार्ये वादे एव भवति नतु विवर्तवादादौ । तत्र कारणस्य सत्त्वेन कार्यस्य तु
मिथ्यात्वेन । भेदासंभवादित्यादिदूषणजातं तत्पक्षे द्रष्टव्यम् । तस्माद्भाष्यकारपद्धत्यैव
सर्वं ज्ञातव्यमिति ॥१४॥

का तत्त्व यह है कि चिदचिद्वस्तु शरीरक होने से चिदचिद्वस्तु प्रकारक ब्रह्म ही सर्वदा
सर्व शब्द के वाच्य हैं । वह कदाचित् स्व से स्व शरीर रूप से पृथक् व्यवहारानर्ह
सूक्ष्मदशापन्न चिदचिद्वस्तु शरीरक है । वही कारणावस्थ ब्रह्म है वही ब्रह्म विभक्त नाम
रूपक व्यवहार योग्य स्थूल दशा प्राप्त चिदचिद्वस्तु शरीरक होते हैं । तब वह
कार्यावस्थ हैं । इस तरह कारण जो परब्रह्म उसका कार्यरूप जगत् अनन्य शरीरभूत
चिदचिद्वस्तु का तथा शरीरी ब्रह्म के कारणावस्था तथा कार्यावस्था में श्रुतिशत सिद्ध
स्वभाव व्यवस्था से गुणदोष की व्यवस्था होती है । यह बात "नतु दृष्टान्तभावात्"
इस सूत्र के अनुसार समझना चाहिए । जो कोई कार्य को मिथ्या मान करके कार्य
कारण में अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हैं । उनके मत में कार्य कारण के अनन्यत्व
सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि सत्य मिथ्या में अमेद वाचित है । तम प्रकाश के समान
अगर अमेद हो तब तो ब्रह्म में मिथ्यात्व अथवा जगत् में सत्यत्व हो जायगा ।
इसलिए यदुक्त प्रकार से ही जगत् ब्रह्म में अनन्यत्व सिद्ध होता है । इति संक्षेपः ॥१४॥

ॐ भावे चोपलब्धेः २।१।१५ ॐ

इतश्च कार्यस्य कारणादनन्यत्वमुपपद्यते । घटशरावादिरूप कार्यस्य सद्भावे कारणभूतमृदादेरुपलब्धेः । तथा च श्रुतिः । 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६। ८।४) इति ॥१५॥

ॐ सत्वाच्चावरस्य २।१।१६ ॐ

अवरस्य कार्यस्य घटादेर्घटाद्युत्पत्तेः प्राङ्मृदादौ सत्वान्मृदोऽन्यत्वं यदोपलभ्यते तथा कार्यस्य जगतः सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मणि सत्वाच्च ब्रह्मानन्यत्वं निष्पद्यते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति श्रुतेः ॥१६॥

यत्र समवायसम्बन्धेन कार्यं तत्र तादात्म्येनावश्यमेव कारणं भवतीति कार्यसद्भावे कारणोपलब्धिर्भवत्येव न ह्यन्यसद्भावेऽन्य उपलभ्यते तस्मात्कारणकार्ययोरनन्यत्वमिति दर्शयितुमुपक्रमते इतश्च कार्यस्येत्यादि अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥१५॥

यद्यत्र भवति तदेव ततोऽभिन्वय्यते यथा तिलेषु तैलम् यद् यत्र नास्ति न तत्ततोऽभिन्वय्यते यथा सिकतासु तैलम् अभिन्वय्यतश्च ब्रह्मणि जगदिति तयोरभेद इत्याशयेनाह सत्वाच्चेति ॥१६॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि कार्य को कारण से अनन्यत्व है । घटपटादि रूप जो कार्य है उसके सद्भाव विद्यमानता में कारणीभूत मृत्तिकादि का अवश्यमेव उपलब्धि होती है । अर्थात् जब समवाय सम्बन्ध से कार्य उपलब्ध होता है उस अधिकरण में तो तादात्म्य सम्बन्ध से उपादान कारण अवश्यमेव उपलब्ध होता है । यह नियम उपयुक्त ही हो सकता है जबकि कार्यकारण अनन्य हो । अतः कार्य कारण में अभेद सिद्ध होता है । इसी प्रकार श्रुति भी कहती है 'सन्मूलाः' इत्यादि ॥१५॥

अवर परकालिक जो कार्य घटादिक वह स्वोत्पत्ति के पूर्व में मृदादिक में रहता है इसलिए घट मृत्तिका से अनन्य है । इसी तरह कार्य जो जगत् उसको सृष्टि के पूर्वकाल में ब्रह्मसत्ता होने से दोनों में अभेद होता है यह "सदेव सोम्येदम" श्रुति से विदित हो रहा है अतः कार्य कारण में अनन्यत्व है ॥१६॥

५ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् २।१।१७ ५

यच्च कार्योत्पत्तेः प्राक् कारणे सद्भावः कार्यस्याभिहितस्तदसत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (श० ब्रा० ६।१।१) इत्यादिनोत्पत्तेः प्रागसत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न । आसीदिति क्रियायास्तत्सत्त्वबोधकत्वेनासदिति पदस्य नामरूपरहितवस्तुपरत्वावगमात् शिखाया ध्वस्तत्वे 'शिखीध्वस्त' इतिवन्नामरूपासत्त्वे वस्तुनोप्यसत्त्वव्यपदेशस्योपपत्तेः ।

एतदेव स्फुटयति । धर्मान्तरेणेति । व्याकृतनामरूपधर्मापे-

ननु कार्यकारणयोः कथमनन्यत्वमुच्यते यावता कार्योत्पत्तेः पूर्वमसत्पदेन कार्यस्य असदेव इत्यादावसत्त्व प्रतिपादनात् तस्मादुत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्यासत्त्वादसत्ताकार्येण कारणस्यानन्यत्वमसंभवेत्याशङ्क्याह यच्च कार्योत्पत्तेरित्यादि उत्तरयति धर्मान्तरेणेत्यादि अयमर्थः उत्पत्तेः पूर्वं यत् असत्त्वं कार्यस्य कथितं न तत्सर्वथा असत्त्वाभिप्रायेण किन्तु विभक्तनामरूपरहितत्वलक्षणसूक्ष्मत्वाभिप्रायेण । अन्यथा असतः क्रियासम्ब-

घटादि कार्य के उत्पत्ति के पूर्व में कार्य का कारण में उपादान में सद्भाव रहता है ऐसा जो कहा गया है यह तो युक्त नहीं है । क्योंकि 'असदेव' इत्याद्यनेक श्रुति से कार्योत्पत्ति के पूर्व में कार्य में असत्त्व का व्यपदेश प्रतिपादित है । उत्तरः— क्रिया भावात्मक पदार्थ है । उसको भाव के साथ ही तादात्म्य अथवा सम्बन्धान्तर हो सकता है । सर्वथा असत् के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है "आसीत्" जो क्रिया वाचक पद है वह कार्य के सत्त्व का बोधक है । अतः असत् पद है वह नाम रहित वस्तु का बोधक है ऐसा अवगत होता है । शिखा रूप विशेषण का विनाश हो जाने पर "शिखीध्वस्तः" इसके समान नाम रूपात्मक विशेषण के अभाव से विशेष्यरूप वस्तु में भी असत्त्व व्यपदेश उपपन्न होता है । अर्थात् 'शिखीध्वस्तः' यहाँ शिखा रूप

क्षयाह्यव्याकृतनामरूपत्वस्य धर्मान्तरत्वात् । तेन धर्मान्तरेणाव्याकृत
 नामरूपत्वेनास्यासदिति व्यपदेशो न ह्यसदित्यन्यन्तासत्वस्य बोधकम् ।
 अपि त्वव्याकृतनामरूपवस्तुपरत्वमेव । कुत इदमवगम्यते ? वाक्य
 शेषात् । 'तस्मादसतः सज्जायत' (छा० ६।२।१) 'ततो वै सदजायत'
 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २।७) इति वाक्यशेषेऽसच्छब्दाभिहि
 तस्य वस्तुन एव सच्छब्देनाभिधानात् । तत एव च सृष्ट्याभिधा
 नात् न ह्यत्यन्तासतः सत्त्वं शक्यं वक्तुम् । नवाऽत्यन्ततुच्छादसतः
 न्धाभावेन आसीदितिकथनमनुपयुक्तं स्यात् । नहि असतः क्रिया सम्बन्धो निर्धार
 यितुं शक्यो भावाभावयोर्विरोधात् । वस्तुमात्रस्य सत्त्वासत्त्वे धर्मो भवतः । तत्रोत्पत्त्यन-
 त्तरं प्रथमः । उत्पत्तेः पूर्वं द्वितीयः । यस्य सूक्ष्मावस्थेति नामान्तरम् । तदिहोत्पत्ति
 कालपूर्ववृत्तिरवस्थामादाया सत्त्वव्यवहारः उत्पत्त्यनन्तरावस्थामादाय च सत्त्वव्यवहारः ।
 विशेषण का अभाव रहने से विशेष्य पुरुष का सद्भावकाल में विशेषणाभाव प्रयुक्त
 विशिष्टाभाव रहता है मात्र विशेष्य के सत्ताकाल में । इसीतरह नामरूपात्मक जो विशेषण
 उसका अभावकाल सृष्टि प्राक्काल में घटादिवस्तु के सद्भाव समय में विशेषणाभाव प्रयुक्त
 विशिष्टाभाव होना है । अतः सृष्टि के पूर्व में कारण से अनन्य कार्य का सद्भाव रहने
 पर भी नामरूपात्मक विशेषण के अभाव रहने से विशेष्य में भी असत्त्व व्यपदेश होता
 है । वस्तु के सद्भाव में भी असत्त्व व्यपदेश किस तरह होता है इसका स्पष्टीकरण करते
 हैं "धर्मान्तरेणेति" व्याकृत नाम रूपात्मक धर्म की अपेक्षा से अव्याकृत नाम रूपत्व
 धर्मान्तर है । उस अव्याकृत नामरूपत्वात्मक धर्म से उत्पत्ति के पूर्वकाल में कार्यका असत्
 पद से व्यपदेश होता है । ननु असत् पद अत्यन्तासत्त्व का जो कि बन्ध्यापुत्रादि के
 समान निरूपाख्यत्व का बोधक है । अपितु अव्याकृत नामरूपात्मक वस्तुपरक असत् पद है ।
 असत् शब्द अव्याकृत नामरूपक वस्तुपरक है इस बात को किस तरह समझते हैं । इस
 जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "वाक्यशेषात्" "तस्मादसतः सज्जायते" "ततो वै सदजायत"
 इत्यादि वाक्यशेष में असत्पदवाच्य वस्तु का ही सत् शब्द से कथन किया गया है । और
 उसी से असत् से सृष्टि का कथन होने से अत्यन्त असत् की सत्ता को नहीं कह सकते
 हैं । नवा कूर्मरोमादि के समान अत्यन्त तुच्छ से सृष्टि हो सकती है । इसलिए प्रकृत में
 अव्याकृत नामरूपात्मक व्यवहारानर्ह कार्य की सूक्ष्मावस्था का ही असत्पद से कथन किया

सृष्टिः सम्भवतीति प्रकृतेऽसत् पदेनाव्याकृतनामरूपात्मिका व्यप-
देशानर्हा सूक्ष्मावस्थैवाभिधीयते ॥१७॥

५ युक्तेः शब्दान्तराच्च २।१।१८ ५

युक्तिस्ताद् 'तस्मादसतः सज्जायत' [छा० ६।१।१।] इत्यस-
च्छब्दोऽव्याकृतनामरूपवस्तुपरः सत एव सदुत्पत्तेर्दर्शनात् । असतः
सदुत्पत्तौ कोद्रवादिभ्यो गोधूमचणकादीनामपि कदाचिदुत्पत्तिः-
स्यात् । सर्वेषु सर्वाभावस्य सत्वात् । तस्मादसतः सदुत्पत्तेरस-
म्भवादसच्छब्दोऽसन्नामरूपसद्वस्तुपर एव । शब्दान्तराच्च 'सदेव
सोम्येदमग्र आसी' दति सच्छब्देनोपक्रमाच्च सदेवासीत् तत एव
च जगदुत्पत्तेरिति ॥१८॥

तस्मान्नास्ति कार्यकारणयोरनन्यत्वे कश्चिद्विरोध इति ॥१७॥

सत एवोत्पत्तिर्भवति नतु कदाचिदसतः तथात्वेऽभावस्य सर्वत्राविशेषात् सर्वकार्य
जातं सर्वस्मादुत्पद्येत नत्वेवं दृश्यते उपपद्यते वा तस्मान्नासतः कदाचित्कुत्रचिदप्युत्पत्तिः
किन्तु सत एव । यदि कदाचिदसत उत्पत्तिः तदा कार्यविशेषाय कारणविशेषोपादानं
निरर्थकं स्यात् । यद्यपि सत उत्पादोपि न युक्तः पिष्टपेषणात्तथाप्याविर्भावस्य संभ-
वात् । तस्मात्सत एवोत्पत्तिरिति । अधिकं स्थलान्तरे द्रष्टव्यम् ॥१८॥

जाता है । इस तरह सूक्ष्मरूपेण विद्यमान कार्य को कारण के साथ अनन्यत्व ही है । नतु
आरंभवाद के समान कारण से भिन्न कार्य है । इति संक्षेपः ॥१७॥

युक्ति को बतलाते हैं 'तस्मात् असत् से सत् समुत्पन्न होता है' इत्यादि स्थल में
असत् शब्द अव्याकृत नामरूपक वस्तु का बोधक है । क्योंकि सत् से ही सत् की उत्पत्ति
देखने में आता है । नतु असत् से असत् की अथवा असत् से सत् की उत्पत्ति होती है ।
यदि असत् से सत् की उत्पत्ति हो तब तो कोदो से गेहूं चना विगेरे विजातीय वस्तु का भी
कदाचित् प्रादुर्भाव हो । क्योंकि सर्वत्र सबका अभाव समान रूपसे रहता है । तस्मात् असत्
से सत् की उत्पत्ति की असंभावना होने से असत् शब्द असत् नामरूपक सद्वस्तुपरक है ।
शब्दान्तर से भी सत् शब्द से उपक्रम होने से पूर्वकाल में सत् ही था । उसी सत् से
जगत् की उत्पत्ति होती है ॥१८॥

॥ पटवच्च २।१।१९ ॥

यथा कारणभूतास्तन्तव एवातानवितानवन्तो विलक्षणसंयो-
गवन्तश्च पट इत्यभिधां लभन्ते । तत्र नामरूपावस्थाविशेषस्यैव
भेदो न तु वस्तुतो भेदः । एवं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरं ब्रह्मैव स्थूलचिद-
चिच्छरीरकं जगदित्युच्यते । अत्रापि नामरूपावस्थाविशेषस्यैव भेदो
वस्तुतस्त्वभेद इति जगतो ब्रह्मानन्यत्वमेव ॥१९॥

॥ यथा च प्राणादिः २।१।२० ॥

यथा वायुरिति त्रिवृत्कृतो वायुरेक एव स्थानविशेषमास्थाय
प्राणापानादि संज्ञां लभमानः कार्यान्तराणि विधत्ते । तथैव सूक्ष्मचि-
दचिच्छरीरं ब्रह्मापीह स्थूलचिदचिच्छरीरं भवज्जगदित्याख्यां

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य यथा क्षीरमवस्थान्तरमापद्यमानं दधि
नतु क्षीराद्यतिरिक्तं किञ्चित् यथावा विलक्षणसंयोगसहकृततन्तुरेवपटोनतु
द्रव्यान्तरं तथैव प्रकृतेषीति ॥१९॥

यथावा वायुः स्वरूपत एकः सन्नपिमुखनासिकादिस्थानभेदप्रयुक्तप्राणापानादि

जिसतरह कारण लक्षण तन्तु समुदाय आतान वितानवान् तथा विलक्षण संयोगवान् पट
एतादृश नाम को धारण करता है । उसमें नामरूप अवस्था विशेष में ही भेद है । किन्तु
वस्तुतः भेद नहीं है । उसीतरह सूक्ष्मचिदचित् शरीरक ब्रह्म ही स्थूल चिदचित् शरीरक जगत्
पदवाच्य है । यहाँ भी नामरूप अवस्था विशेष का ही भेद है । वस्तुतस्तु अभेद ही है ।
अतः कार्यरूप जगत् कारण ब्रह्म से अनन्य है यह सिद्ध होता है ॥१९॥

जिसतरह त्रिवृत्कृत महावायु स्वरूपत एक होता हुआ भी मुखादि स्थान विशेष में
स्थित होकर के प्राणापानादि संज्ञा को प्राप्त करता है । इसीतरह सूक्ष्मचिदचित् शरीरक ब्रह्म

लभत इति जगतो ब्रह्मानन्यत्वं सिद्धम् ॥२०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

अथेतख्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

५ इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोष

प्रसक्तिः २।१।२१ ५

इतरस्य जीवस्यारम्भणशब्देन 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसीत्यादिभिर्ब्रह्माभेदेन तदनन्यत्वव्यपदेशात् । ब्रह्मणश्च 'यतो वा इमानि' (तै०३।१) इति नामरूपव्याकरणपूर्विकायाः सृष्टेः श्रवणात् । तत्र जीवस्य जगामरणादिरूपक्लेशसंकुलत्वं ब्रह्मणश्च तद्रहितत्वमयुक्तम् । कुतः ? तस्य ब्रह्मानन्यत्वात् । तथा च हिताकरणादिदोषप्रसक्तिर्ब्रह्मसंज्ञां लभमानोपि तत्त्वतो न विभिद्यते तथैव प्रकृतेपीति संक्षेपः ॥२०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेआरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

ननु जीवब्रह्मणोरेकत्वात् जीवाभिन्न ब्रह्मसर्वहितप्रयोजकमेव कुर्यात् अहितसर्गकरणे न प्रवर्तेत परन्तु नैवं दृश्यते तस्माद्विताकरणादिदोषप्रसक्त्या न जीवस्थूलचिदचित् शरीरक होकर के जगत्संज्ञा को प्राप्त करता है । इसप्रकार ब्रह्म तथा जगत् में अभेद है ॥२०॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

इतर जो जीव को आरम्भण शब्द से 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' इत्यादि से ब्रह्माभेद से अनन्यत्व का प्रतिपादन किया गया है । और ब्रह्मसे 'यतोवा इमानि' इत्यादि श्रुति द्वारा नामरूप व्याकरणपूर्वक सर्ग का श्रवण है । इस स्थिति में जीव को जरामरणादि क्लेश संयुक्तत्व तथा ब्रह्ममें दुःशादि रहितत्व है यह कहना ठीक नहीं है । [अर्थात् तत्त्वमस्यादि वाक्य से जीव ब्रह्ममें अभेद होने से जीवमें अकर्तृत्व प्राप्त होता है । तब स्वतन्त्र जीव स्व को बन्धन

ह्यणि सम्पद्यते । अयम्भावः । ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे जीवहितम्याकरणात्तदहितस्य च करणाद् ब्रह्मणि पक्षपाताज्ञत्वादयो दोषाः स्युरिति न ब्रह्मणोजगत्कारणत्वं जगतस्तदनन्यत्वम् ॥२१॥

इतिपूर्वपक्षेसिद्धान्तमाह—

५ अधिकन्तु भेदनिर्देशात् २।१।२२ ५

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । जन्मजरामरणादिदुःखराशेर्जीवादधिकमर्थान्तरभूतम्ब्रह्म । कस्मात् ? भेदनिर्देशात् । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावी शानीशौ' (श्वे० ६।९) 'सकारणं करणाधिपाधिपः' (श्वे० ६।९) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' (श्वे० ६।९) 'पृथगात्मानं प्रेस्तास्त्रमत्वा' (श्वे०) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मु० ३।१।१) ब्रह्मणोरेकत्वं नवा ब्रह्मणो जगदनन्यत्वमिति पूर्वपक्षं दर्शयितुमाह इतरस्येत्यादि ॥२१॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपादितजीवब्रह्मणोरभेदं पुरस्कृत्य हिताकरणादि दोषमाशङ्क्य श्रुतिशतप्रतिपादितयोर्भेदमादाय तादृशदोषनिराकरणाय प्राह अधिकमित्यादि । इदमीयसूत्रघटित तु शब्दः पूर्वप्रदर्शितशङ्कायानिराकरणपरकः । मैं क्यों डालेगा । सर्वदा स्वकीय हित को ही करेगा । परन्तु ऐसा होता तो नहीं] क्योंकि जीव को तो ब्रह्मसे अभेद है । तब हिताकरणादि दोषब्रह्म में प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि ब्रह्ममें जब जगत्कर्तृत्व है, तो जीव के हित को नहीं करता और अहित को करने से ब्रह्म में पक्षपात तथा अज्ञत्वादिक दोष होता है । इसलिए ब्रह्ममें जगत्कारणत्व तथा जगत् के साथ अनन्यत्व नहीं होता है यह पूर्वपक्ष है ॥२१॥

जीव परमेश्वर में अभेदमूलक प्रसक्त दोष का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'अधिकं तु भेदेत्यादि' सूत्र में जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । जन्म जरामरणादि दुःख विशिष्ट जो जीव है तादृश जीव से अधिक अर्थान्तरभूत विभिन्न परमात्मा है । क्योंकि जीव परमेश्वर में भेद का प्रतिपादन श्रुति में किया गया है । 'ज्ञ. अज्ञ. ये दोनों अज एवं ईश अनीश हैं' 'वह सबका कारण है तथा करणाधिप जीव का भी अधिप स्वामी

‘यस्यात्मा शरीरम्’ (बृ० ३।७।२२) इत्येवमादिभिः सर्वज्ञत्वेशत्वतत्प-
तित्वतत्स्रष्टृत्वाकर्मवश्यत्वतत्सेव्यत्वादिधर्मैर्ज्ञत्वादिधर्मवतः प्रत्यगा-
त्मनो ब्रह्मणो भेदेन निर्देशात् । व्याप्यत्वेनाल्पदेशवर्तिनः प्रत्यगा-
त्मनो व्यापकत्वेनाधिकदेशवर्तिनः परमात्मन आधिक्यनिर्देशाच्च ।
तथा च तत्त्वमस्यादिश्रुतयोजीवस्य ब्रह्मव्याप्यत्वेन तदपृथक्सिद्धे-
स्तदभिन्नसत्ताकत्वादनन्यत्वं ज्ञापयन्ति । ज्ञाज्ञावित्येवमाद्याः श्रुतयो
जीवब्रह्मणोः स्वरूपभेदं बोधयन्ति ।

एवञ्च जीवपरयोर्भेदस्य श्रुतिशतसिद्धत्वाज्जीवानां प्राक्तनक-
र्मानुगुण्येन ब्रह्मतद्विलक्षणां सृष्टिं करोति । तथाविधकर्मानुसारेण
जीवेशाभेदमूलकदोषापनुत्तयेतत्प्रतिद्वन्दीभेदसमर्थनाय सूत्रावयवं विवृणोति जन्मजरे-
त्यादि । अधिकपदस्य सादृश्यादिवत् प्रतियोगिसापेक्षतया तत्प्रतियोगिनमुपस्थापयति
जीवादिति पञ्चभ्यन्तं पदम् आध्यात्मिकादिदुःखसंवलितजीवात् अधिकं विभि-
है’ प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ जीव का अधिपति तथा गुण का ईश ‘श्वेतर प्रेरयिता परमात्मा को
जानकारके’ उन दोनों के मध्य से एक तो सुखादु कर्मफल का उपभोग करता है और तदन्य
फलभोग के बिना ही प्रकाशित होते हैं’ ‘आत्मा जीव जिसका शरीर है’ इत्यादि श्रुतियों से
संपंज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सर्वपतित्व अकर्मवश्यत्व सर्वसेव्यत्वादि धर्मों के द्वारा ब्रह्म को अज्ञत्वादि
धर्म विशिष्ट जीव से भेद का निर्देश है । [ब्रह्म जीव से भिन्न है, सर्वेश्वरत्वादिक धर्मवान्
होने से । जीव परमेश्वर से भिन्न है, अल्पज्ञत्वादि धर्मवान् होने से’ इत्यादि अनुमान से ।
एवं मैं परमेश्वर नहीं हूँ’ इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जीव परमेश्वर में भेद सिद्ध होता है
इसलिए हिताकरणादि दोष नहीं होता है ।] एवं व्याप्यत्वेन अल्पदेशवर्ती जीव से व्यापक-
त्वेन अधिक देशवर्ती परमात्मा में भेद का निर्देश है । ऐसा हुआ तब, तत्त्वमस्यादिक जो
श्रुति है वह जीव में ब्रह्मव्याप्य होने से ब्रह्म से अपृथक् सिद्धत्वेन परमेश्वर से अभिन्न सत्ता
की सिद्धि होने से अनन्यत्व जीव परमेश्वर में ज्ञापित कराती है । इसतरह जीव परमात्मा
का जो भेद उसको सैकड़ों श्रुति द्वारा सिद्ध होने से तथा जीव को पूर्व पूर्वातर भवोपाजित
कर्म के अनुकूल परमेश्वर हीन मध्यम और उत्तम सर्ग का निर्माण करते हैं । तथा पूर्वोक्त
कर्म के अनुसार सुखदुःखादिमान् जीव समुदाय होते हैं । अतः कथमपि परमेश्वर में पूर्वोक्त

सुखदुःखादिभाक्त्वं जीवानामिति न कथमपि ब्रह्मण्युक्तदोषप्रसक्तिः । न वा तस्य तदनन्यत्वविरोधो न च स्वरूपभेदबाधोऽपि सम्भवति ।

परैर्भेदश्रुतीनामौपाधिकत्वमभेदवादिनीनान्तु पारमार्थित्वमित्युच्यते । तदयुक्तम् । तथा सति हिताकरणादिदोषस्यानिवार्यत्वं स्यात् । अभेदश्रुतीनां पारमार्थिकत्वं भेदश्रुतीनान्तवौपाधिकत्वमित्युक्तौ प्रमाणाभावश्च । विनिगमनाविरहाद् विपरीतमेव किं न स्यात्तस्मादधिकबलवत्त्वाद्भेदश्रुतेरभ्यर्हितत्वाद् भेदस्यैव प्रामाणिकत्वमिति ।

न्नम् ब्रह्मेति साध्यम् । तत्रहेतुं दर्शयति भेदनिर्देशादिति ज्ञाज्ञावित्यादिश्रुतिस्तैर्जीवात् परमेश्वरभेदस्य सिद्धत्वेन जैवीयसुखदुःखाभ्यां परमेश्वरो न स्पृष्टो भवति नवा परमेश्वरजगत्कर्तृत्वधर्मेण जीव एव परामृष्टो भवति, अन्यधर्मस्यान्यत्र दोष नहीं होता है, नवा जीवेश्वर में अनन्यत्व का कोई विरोध होता है । नवा स्वरूप भेद भी बाधक होता है ।

जो कोई वादी भेद प्रतिपादक श्रुति से प्रतिपादित भेद को औपाधिक मानते हैं घटा काश पटाकाश के समान तथा अभेद प्रतिपादक श्रुति को पारमार्थिक मानते हैं, यह ठीक नहीं हैं क्योंकि इनके पक्षमें हिताकरणादिक दोष का निवारण अशक्य हो जाता है । और अभेद प्रतिपादक श्रुति पारमार्थिक है तथा भेद प्रतिपादक श्रुति औपाधिक है, एतादृश कथन में प्रमाणाभाव भी है । तथा एकतर पक्षपातिनीयुक्ति विशेष रूप विनिगमना का अभाव हो करके विपरीत ही क्यों न होगा, अर्थात् अभेद श्रुति में दौर्बल्य तथा भेद श्रुति में प्रावल्य क्यों नहीं होगा ! तस्मात् अधिक बलवान् एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संवादित होने के कारण से तथा अभ्यर्हित होने से भेद पक्ष ही प्रामाणिक है ।

एवञ्च 'तदनन्यत्वमारभण' इत्यादि श्रुति से ब्रह्म में जगत् का उपादान कारणता तथा उपादान के साथ का कार्य जगत् को अनन्यत्व का प्रतिपादन किया, उसमें शुद्ध ब्रह्म में जगत् उपादानता है, अथवा सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट में जगत् उपादनत्व है ! इस शंका

एवञ्च 'तदनन्यत्वमास्मभणशब्दादिभ्य' (ब्र०सू० २।१।१४) इत्यनेन जगतो ब्रह्मोपादानत्वं तेन तदनन्यत्वमुपपाद्य तत्र केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं चिदचिद्विशिष्टस्य वेत्याशङ्कानिवृत्तये केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे जगद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिमभिधायाधिकन्तु भेदनिर्देशादिति चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं स्फुटीकृतम् । ततश्च तत्त्वमस्यादिश्रुतीनां ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्व बोधनेन चिदचिद्विशिष्टस्यैव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्फुटीकरणत्वेन सार्थक्यादुभयविधश्रुतीनां सार्थक्यं निष्पद्यते । जीवब्रह्मणो भेदस्य समवायाभावस्य घटपटादौ दर्शनात् । तत्त्वमस्यादिवाक्यंतु नात्यन्तिकाभेदं दर्शयति किन्तु अपृथक् सिद्धतया तदभिन्नसत्ताकत्वमात्रं बोधयति तावतैवकार्यकारणभावोपयोगी अनन्यत्वं सिद्ध्यति । अर्थात् स्वस्वस्वरूपतोभिन्नोपि तदभिन्नो भवतीति । के निवृत्ति करने के लिए यदि केवल ब्रह्म को जगदुपादान मानें तब तो हिताकरणादिक दोष प्रसङ्ग होगा. यह कह करके 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' इस सूत्र से चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्ममें जगत् उपादानता है, इस द्वितीय पक्षका स्फुटीकरण किया । अर्थात् शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है । किन्तु विशिष्ट में ही जगत् के प्रति उपादानता है । उसमें विशेषणांश में कारणता है, विशिष्ट घटक विशेष्याश में तो घटकत्व मात्र से उपादानता है ।

इस स्थिति में "तत्त्वमस्यादि" अभेद प्रतिपादक श्रुति ब्रह्म में जगत् उपादानता मात्र के बोधन करने से सफल होती है । [यद्यपि 'तत्त्वमस्यादि' श्रुति जीव ब्रह्म के अभेद प्रतिपादन मात्र में समर्थ है उपादानता बोधन में शक्त नहीं है यदि अभेद तथा उपादानता इन दोनों का बोधन करें । तब वाक्य भेद होगा तथापि पूर्वापर प्रकरण का विवेचन करने से उपर्युक्तार्थ में ही पर्यवसान होता है । केवल ब्रह्म को जगत् कारणता मानें तब हिताकरणादिक दोष होने से चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में जगदुपादानत्व स्पष्ट करके भेद प्रतिपादक श्रुति सफल होती है इस प्रकार अभेद तथा भेदोभय प्रतिपादक दोनों श्रुतियों का सार्थक्य होता है । जीव प्रतियोगिक ब्रह्मानुयोगिक तथा ब्रह्म प्रतियोगिक जीवानुयोगिक भेद को वास्तविक पारमार्थिक होने से लौकिक वैदिक व्यवहारों का तथा कर्म ज्ञान और

वास्तविकत्वेन लौकिकगौदिकव्यवहाराणां कर्मज्ञानभक्तियोग
प्रतिपादकश्रुतीनामर्थपञ्चकबोधकानां सर्वेषां वेदान्तानां वेदोपबृंहणी
भूतस्मृतीतिहासपुराणादीनाञ्च सर्वेषां सार्थक्यमुपपद्यतेतराम् । जीव
स्वरूपस्य काल्पनिकत्वे तु सर्वमिदमसङ्गतं स्यात् । तस्माद्गैदिकप्रमा
णवद्भिः सर्वेषां वेदान्तानां सार्थक्यनिष्पत्तयेऽवश्यं ब्रह्मणो भिन्नस्य
जीवस्वरूपस्य वास्तवत्वमङ्गीकर्त्तव्यमिति ॥२२॥

५ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः २।१।२३ ५

यथा पृथिवीविकाराणामश्मनां वज्रवैदूर्येन्द्रनीलपद्मरागादीनां
परमेश्वरात्कथञ्चिदभिन्नो पूर्वोपाजितकर्मसहकारेणैव तयोस्तत्रप्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा भवति ।
जीवेश्वरयोरभेदमूलकदोषनिराकरणं भाष्याक्षरैरेवावगन्तव्यम् । अनिरोहितार्थक
मन्यदिति संक्षेपः ॥२२॥

यथाऽचिद्विशेषाणां पृथिव्येकजातीयानां विज्ञानघनलक्षणब्रह्मस्वरूपैक्यं-
भक्तियोग प्रतिपादक श्रुतियों का तथा अर्थपञ्चक बोधक वेदान्तों का तथा वेद के उप-
बृंहणीभूत स्मृति इतिहास और पुराणादिकों का सार्थकत्व सर्वथा उपपन्न होता है । यदि
कदाचित् जीव स्वरूप को काल्पनिक मानें तब तो शुक्तिरजत के समान जीव को मिथ्या
होने से ऐहिक पारलौकिक व्यवहार तथा बन्ध मोक्षादिक सब व्यवस्था अस्तव्यस्त हो
जायगी । बन्धमोक्षादि व्यवस्था को उपपादन करने के लिए वेद प्रामाण्य वादियों को चाहिए
कि भेदाभेद प्रतिपादक सब वेदान्तों का सार्थकता के लिए ब्रह्मभिन्न जीव स्वरूप को
अवश्य वास्तविक पारमार्थिक मानें । व्यापक रूप से अभेद होने पर भी व्याप्य धर्म से
अवश्य भेद मानना चाहिए । और भेद मात्र नित्य है घटपट भेद के समान अतः ब्रह्म
जीव का भेद भी पारमार्थिक है । अन्यथा पूर्वोक्त व्याघात होगा ॥२२॥

जिस तरह पृथिवी विकार जो प्रस्तर वज्रवैदूर्य इन्द्रनील पद्मरागादि इन सब में पृथिवी
जातीयता ऐक्य उपपन्न होता है यथावा काष्ठ विशेष तृणादिक अचित्यदार्थ उन सब में
अचित् रूपेण एकत्व उपपन्न होता है किन्तु निखिल हेय प्रत्यनीक अनन्त कल्याण गुणका
सागर ब्रह्म स्वरूप से ऐक्य नहीं होता है । उसी तरह चेतन जीव को भी कर्मपराधीनत्व

पृथिव्यैक्यमुपपद्यते । यथा काष्ठभेदानां तृणादिनामचिद्विशेषाणाम-
चिदैक्यञ्चोपपद्यते न तु निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणसागर
ब्रह्म स्वरूपेणैक्यम् । तथा चेतनस्यापि कर्मपरतन्त्रात्वाज्ञत्वानी-
शत्वनियम्यत्वादिधर्मकस्यापहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियामक-
त्वादिधर्मविशिष्टेन ब्रह्मस्वरूपेणैक्यानुपपत्तिस्वगन्तव्येति । 'अयमा-
त्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसीत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशस्तु 'यस्यात्मा
शरीरम्' इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मप्रकारत्वावगमार्थ
इति सर्वं समञ्जसम् ॥२३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

नोपपद्यते विरुद्धधर्मवत्वात् तथा चेतनलक्षणस्यापि जीवजातस्यानीशत्वादिधर्मवतो-
ऽपहतपाप्मत्वादिगुणकब्रह्मणैक्यंनोपपद्यते इत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायाह यथापृथिवी-
विकारेत्यादि शेषसुगममिति ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्यशोमीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

अज्ञत्व अनीशत्व नियम्यत्वादि धर्मक जीव को अपहत पाप्मत्व सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सर्व
नियामकत्वादि धर्म विशिष्ट ब्रह्म स्वरूप से ऐक्यानुपपत्ति को जानना चाहिये । अर्थात्
चेतनत्वेन जीवेश में समान धर्मवत्त्व होने पर भी अनीशत्व सर्वेश्वरत्वादि विरुद्ध धर्म पुर-
स्कारेण ऐक्यानुपपत्ति को जानना चाहिए । "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसीत्यादि" श्रुति से
जो जीव परमेश्वर में सामानाधिकरण्य का कथन है वह "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि श्रुति
से ब्रह्म शरीरभूत जीव में ब्रह्म प्रकारता को बतलाने के लिए है । अर्थात् अन्तर्यामी श्रुति
के सहकार से जीव ब्रह्म में शेषशेषी भाव प्रकार प्रकारी भाव मात्र का बोधन होता
है सर्वथा भेदासहिष्णु अभेद का प्रतिपादन नहीं होता है किन्तु भेद सहिष्णु तादात्म्य
का बोधन कराया जाता है ॥२३॥

जगद्गुरु श्रीरादानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

अथोपसंहारदर्शनाविकरणम् ॥८॥

५ उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न

क्षीरवद्धि २।१।२४ ५

सत्यसङ्कल्पस्य परमात्मनोऽखिलचिदचिद्वर्गकारणत्वं सर्वावस्थस्य जगतो नियाम्यत्वेन ब्रह्मणश्च नियामकत्वेन तद्वैलक्षण्यमभिधाये-
दानीं सत्यसङ्कल्पस्य तस्य सङ्कल्पमात्रेणैव जगत्सर्गो युज्यत न
सहायान्तरप्रयोजनमित्युच्यते-

लोके कुलालादेर्दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनादुपादानस्य मृदः स्व-
भिन्नकुलालाद्युपसंहर्तृदर्शनाद्वाऽसहायस्य ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं

ननु यथा घटादिकार्योत्पादने सशक्तोपि कुलालः दण्डचक्रादिसहाय
मन्तरेण कार्यं घटादिकं नैवोत्पादयति सहायकसत्त्वे कार्यदर्शनात्तदभावे तदभावात्
इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यापि तथात्वमिहतु सहायकनिरपेक्षस्य भगवतः कथं
कार्योत्पादकत्वमुपसंहाराभावादिति चेत् क्षीरवत्तथासंभवात् । यथा क्षीरं जलं वा

सत्य संकल्पवान् जो परमात्मा वह जड चेतन सकल जगत् का कारण है । सर्वा-
वस्थ जगत् में नियाम्यता भगवान् में सर्व नियामकत्व होने से जगदपेक्षया वैलक्षण्य का
कथन करके सम्प्रति सत्य संकल्पवान् परमेश्वर के संकल्प मात्र से जगत् सर्ग होता है
किन्तु कुलालादिवत् सहायकान्तर की अपेक्षा नहीं है इस बात को बतलाने के लिए कहते
हैं “उप संहारेत्यादि” लौकिक कार्य में कुलालादिक जो कर्त्ता है उसको दण्डादिक सहायता
आवश्यक देखने में आता है यथा वा उपादानकारण मृत्तिका को निमित्तकारण कुलाल
लक्षण कर्त्ता का साहाय्य देखने में आता है प्रकृत में तो सर्वथा सहायक रहित ब्रह्म में
कर्तृत्व वा उपादानत्व उपपन्न होता है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं “क्षीरवद्धीति”
जिस तरह दूध सहायक रहित होकर के दही के रूप में परिणत होता है उसी तरह
जडचेतन शरीरक परब्रह्म भी जगदाकार से परिणत होता है । दृष्टान्त रूप जो दूध है वह

तदुपादानत्वञ्चोपपद्यत इति प्राप्त आह 'इति चेन्न 'क्षीरवद्धी' ति । यथा क्षीरमसहायं दध्याकारेण परिणमते तद्वच्चिदचिच्छरीरं ब्रह्मापि जगदाकारेण परिणमते । दृष्टान्तभूतस्य क्षीरस्य त्रिवृत्कृतत्वेन त्रयात्मकत्वान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विरोधः । श्रुतिरपि जगत्सृष्टौ निरपेक्षत्वमेव ब्रह्मणोऽभिधत्ते 'सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति । अत्र यथा क्षीरादेर्दध्याकारेण परिणामेऽधिश्रयणातञ्चनादियोगोऽपेक्षितस्तथा ब्रह्मापि प्रकृतियोगमाश्रित्य जगज्जनयतीति दृष्टान्तसाम्यम् । परमत्र सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकमेव ब्रह्मजगज्जनयति तस्य च विशेषणविशिष्टस्यैव ब्रह्मपदवाच्यत्वमिति तु न विस्मर्तव्यम् । ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदपि नापेक्ष्यत सहायकसापेक्षमन्तरेणापि स्वभावत एव दधिहिमादिकं करोति न तत्र सहायकस्य सहाय्यमपेक्षते तद्वदेव ब्रह्मापीति । न च तत्रापि आम्लद्रव्यस्य पदार्थान्तरस्य वा साहाय्यमपेक्षते एवेति वाच्यम् तत्र क्षीरादिनिष्ठसामर्थ्यविशेषाधायकत्वमेव नतु सामर्थ्याभिधानम् यावताकालेनक्षीरदधिभावेन परिणमते ततोत्पत्तिकालेनैव तञ्चनादित्रिवृत कृत प्रक्रिया में त्रयात्मक है इसलिए दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में कोई त्रिविध नहीं है । श्रुति भी कहती है कि जगत् सर्व में परमेश्वर निरपेक्ष रहते हैं । सकारणं करणाधिपायचिप" इत्यादि ।

यहाँ जिस तरह दूध को दध्याकारेण परिणाम होने में अधिश्रयण [गरम करना] तथा खटाई का संयोग अपेक्षित है उसी तरह ब्रह्म भी प्रकृति योग का आश्रय करके जगत् के सर्ग को करता है । इस प्रकार प्रकृत में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में समता होती है । परन्तु यहाँ सूक्ष्मचिदचित् शरीरक ब्रह्म ही जगत् को उत्पन्न करता है उस विशेषण विशिष्ट को ही ब्रह्मपदवाच्यता है इस बात को नहीं भूलना चाहिए इसका अभिप्राय यह है कि स्वकीय विशेषणातिरिक्त की अपेक्षा नहीं रखता है । बह और अधिश्रयणादिक को परिणाम में कारणता नहीं है अपितु रस विशेष के उत्पादन में प्रयोजकत्व है । यद्यपि विशिष्ट में कारणता मानने पर विशेषणांश में भी कारणत्व होता

इत्यत्र तात्पर्यम् । अधिश्रयणातञ्चनादीनां पुनर्नपरिणामे कारणत्व
मपितु रसविशेषोत्पादकत्वमेवेति तत्त्वम् ॥२४॥

॥ देवादिवदपि लोके २।१।२५ ॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके स्वसङ्कल्पमात्रेणैव वस्तुनि
सहकारेण परिणमते इति । ब्रह्मणस्तु सर्वसामर्थ्यवतो न भवति कस्याप्यपेक्षेति ॥२४॥
ननु स्वभावतोऽचेतनदुग्धादिकं सहायकान्तरनिरपेक्षं भवतुनाम चेतन
कुलालादिकं तु न सहायकान्तरनिरपेक्षं भवत्कार्यं घटादिकं करोति इत्यचेतने तथा
संभवेपि चेतनेतु सहायकसद्भाव आवश्यक इति ब्रह्मापि चेतनत्वाच्चेतननियमविरहितं
कार्यं करिष्यतीत्याशङ्कानिवारणायाह यथा देवादय इत्यादि । यथाऽज्ज्ञानदेवःश्चेतनोपि
सहायकान्तरनिरपेक्ष एव संकल्पमात्रेण स्वसङ्कल्पितपदार्थविशेषमुत्पाद्यतदुपभोगं
करोति तत्र चेतनोपि स्वसामर्थ्यविशेषात् उपसंहारविहीनोपि सर्वमुत्पादयति ।
यदासीमितशक्तिकस्य देवस्येयं वार्ता तदा का कथा अपरिमितानन्तशक्तिवीर्यावतः
है तो स्व में स्व का कारणत्व होने से आंशिक आत्माश्रय दोष होता है तथापि विशिष्ट
को अतिरिक्तत्वमान करके इस पक्ष का आश्रयण लेकर के पूर्वोक्त कथन है । विशेष
विवरण अन्यत्र होगा ॥२४॥

दूध तो अचेतन है स्वभाव विशेषात् सहायकान्तर निरपेक्ष होने पर भी कार्य
करें । परन्तु जिस तरह कुलालादिक चेतन है तो वह सहायक सापेक्ष होकर के ही
कार्य करता है । उसी तरह ब्रह्म तो चेतन है तब वह सहायक निरपेक्ष होकरके किस
तरह कार्य करेगा ? इस शंका के निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं “यथा
देवादयः” इत्यादि जिस तरह देवतालोग स्वकीय लोक में स्वकीय संकल्पमात्र से स्वाभि-
लषित पदार्थ का सर्जन करते हैं तादृश सर्जन करने में सहायकान्तर की आवश्यकता नहीं
रहती उसी तरह सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी स्वकीय सत्य संकल्पमात्र से स्थावर जङ्गम
साधारण सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करते हैं । यह कोई नियम नहीं है कि एक पदार्थ
का जैसा स्वभाव है उसी तरह सभी पदार्थ का सामर्थ्य हो अन्यथा जगद्वैचित्र्य का भङ्ग
हो जायगा । अतः भले ही चेतन कुलालादिक सहाय सद्भाव के बिना कार्य नहीं कर

सृजन्ति । तथा परमात्मापि स्वसङ्कल्पमात्रेण सर्वजगदुत्पा-
दयतीति ॥२५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

॥ कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व

शब्दकोपो वा २।१।२६ ॥

ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न सम्भवति । कुतः ? तस्य साव-
यवत्वे कृत्स्नस्य दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामवत्कृत्स्नस्य ब्रह्मणो
जगदाकारेण परिणामप्रसक्तेः । ततश्च तस्य कार्यातिरिक्तत्वानुप-
परमेश्वरस्य । यथावा पद्मिनी बाह्यसाहाय्यमनासाद्यैव सरोन्तरात्सरोन्तरं गच्छति
तथैव प्रकृते ज्ञेयमिति न कोपि विरोधः ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

ब्रह्मपरिणामरूपं जगत्क्षीरपरिणामदधिवदित्युक्तं यत् तत्र पूर्वपक्षवादी प्रत्य-
वतिष्ठते ब्रह्मपरिणामकत्वं जगतोनोपपद्यते यस्मात् परमात्मा सावयवो निरवयो वा ?
सके परन्तु देवादि चेतन की तरह परमात्मा स्वसामर्थ्य से सब करते हैं जब सीमित
शक्तिक देवतालोग स्वकीय संकल्प से कार्य करते हैं तब अनन्त शक्तिमान् परमात्मा की तो
कथा ही क्या है । इति संक्षेपः ॥२५॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे उपसंहाराधिकरणम् ॥८॥

प्रश्नः—ब्रह्म में जगत् कारणत्व नहीं हो सकता है ! क्योंकि ब्रह्मको यदि सावयव मानें
तब तो जिस तरह सर्वात्मना दूधका दधि रूपसे परिणाम होता है, उसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्मका
जगदाकार से परिणाम हो जायगा । तब कार्य के अवस्थान कालमें कार्य से अतिरिक्तत्व ब्रह्म

पक्षेः । चिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणः कारणत्वपक्षेऽपि शरीर्यशस्यापि तस्य कार्यत्व प्रसङ्गः । तस्य निरवयवत्वपक्षे चिदंशजीवविभागयुक्तो-
ऽचिदंशश्चाकाशादिविभागविभक्त इत्युक्तौ निष्कलमित्यादिनिरवय-
वत्वशब्दकोपप्रसक्तेरिति न ब्रह्मणोजगत्कारणत्वमिति पूर्व-
पक्षः ॥२६॥

सिद्धान्तयति-

॥ श्रुतेस्तु शङ्खमूलत्वात् २।१।२७ ॥

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । नैवं कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतोऽव-
गम्यते ? श्रुतेः । 'एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः' (यजु.)
आद्येक्षीरसर्वात्मनापरिणामे कार्यकालेतदवस्थानं पार्थक्येन तस्य स्यात् विशेषणांशमात्रस्य
परिणामे ब्रह्मपरिणामवादस्य तथा निष्कलमित्यादिश्रुतिविरोधश्च स्यात् । निरवय-
वत्वपक्षे आकाशादिवत् परिणामित्वं न स्यादिति गतं परिणामवादेन इत्यादिशङ्कां स्पष्ट-
यितुमाह ननु ब्रह्मण इत्यादि ॥२६॥

पूर्वसूत्रकृतदोषनिराकरणाय सूत्रान्तरमाह श्रुतेरित्यादि । पूर्वपक्षनिराकरणपर-
कस्तु शब्दः । ब्रह्मणः कारणत्वमस्त्येव कुतः श्रुतेः श्रुतिरेवतावदेवं तस्य कारणत्वं
में अनुपपन्न होगा । यदि चिदचिद् शरीरक ब्रह्ममें कारणता है ऐसा मानें तब इस पक्ष में
अवयवांश की तरह अवयवी अंश में भी कार्यत्व प्रसङ्ग हो जायगा । अर्थात् अवयव के
समान अवयवी ब्रह्ममें उत्पाद्यत्व हो जायगा । और ब्रह्मके निरवयवत्व पक्षमें चिदंश जीव
विभाग युक्त है । और अचिदंश आकाशादि विभाग युक्त है, ऐसा कहें तब 'निष्कलं निष्क्रियं
शान्तम्' इत्यादि ब्रह्मके निरवयवता प्रतिपादक वाक्य है उसका विरोध होगा । इसलिए ब्रह्म
में जगत्कारणत्व नहीं हो सकता है ! यह पूर्वपक्ष हुआ ॥२६॥

पूर्वसूत्र कृत पूर्वपक्ष का सिद्धान्त वतलाते हैं—'श्रुतेस्तु' इत्यादि । सूत्रघटक तु शब्द
पूर्व पक्ष का निराकरण परक है । ब्रह्म का जगदाकार से परिणाम होने पर कृत्स्नप्रसक्ति दोष
नहीं होता है । कैसे समझते हैं कि कृत्स्न प्रसक्ति नहीं होती है ? इसके उत्तर में कहते
हैं 'श्रुतेः' 'इतना बड़ा इसका महात्म्य है' 'इस महात्म्य से भी बड़ा यह पुरुष है, इस ब्रह्म

‘पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ ‘स भूमिं सर्वतस्पृत्वा
 स्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्’ (यजु०) इत्येवं कृत्स्नस्य जगतस्तत्पादमात्रत्व
 श्रवणात् । ब्रह्मणो जगद्व्यतिरिक्तत्रिपादत्वेनाधिक्यश्रवणाच्च । ‘विष्ट
 म्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि’ ति गीतास्मृतेश्च । ननु
 दुग्धदध्यादिन्यायेन श्रुतेर्बाधितत्वान्न तदुक्तमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह
 ‘शब्दमूलत्वादिति । ‘नैषातर्केण मतिरापनेया’ (का० १।२।९) इति
 श्रुतेस्तर्काप्रतिष्ठानादित्यादिन्यायाच्च ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’
 (बृ० ३।१।२६) इति तस्योपनिषन्मात्रगम्यत्वस्यैवाभिधानात् । ‘नावेद
 विन्मनुते तम्बृहन्तम्’ (तै० ब्रा० ३।१।२।७) इति च ब्रह्मणो वेद-
 मनधिगतवतोऽज्ञेयत्वबोधनेन तस्य वैदिकप्रमाणत्वं निष्पद्यते । एव
 त्रवीति तस्मात्तस्य तथात्वम् । शब्दगम्यर्थो न तर्कादेरवकाशः । अतस्तर्कमूलकदोष-
 स्यात्र नावकाशः । यद्ययमर्थः प्रमाणान्तरमूलकोभवेत् तदा पूर्वपक्षः शोभेत नावेद
 के समस्त भूतवर्ग एक पाद स्थानापन्न है, द्योतनात्मक स्थान में त्रिपाद है’ यह सम्पूर्णभूमि
 को स्पर्श करके दशाङ्गुल मात्रा से अतिक्रान्त है’ इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म का एक
 पाद स्थानापन्न है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है । और जगत् से अतिरिक्त तीनपाद अधिक
 है ऐसा भी सुना गया है । ‘एक अंश से सम्पूर्ण जगत् को आक्रान्त करके मैं अवस्थित
 हूँ’ ऐसा गीता में कहा है । क्षीरदधिन्याय से श्रुति को बाधित होने से श्रुत्युक्त युक्त नहीं
 है । अर्थात् जिस ‘अग्निं रुष्णः’ इत्यादि स्थल में प्रमाणान्तर का बाध होने से उस विषय
 में श्रुति को निरवकाश होना पड़ता है, प्रकृत में भी तो ऐसा ही है ? एतादृश शङ्का के
 उत्तर में कहते हैं ‘शब्दमूलत्वादिति’ इस आत्म विषयक ज्ञान का तर्क से निराकरण नहीं
 करना’ इत्यादि श्रुति, तथा ‘तर्काप्रतिष्ठानात्’ इत्यादि न्याय से ‘उस औपनिषत् पुरुष को
 पूछता हूँ’ इसप्रकार से ब्रह्मको उपनिषन्मात्रगम्यत्व का ही कथन किया है ‘नावेदवित्’ वेदको
 नहीं जानने वाला व्यक्ति उसको नहीं समझता है, इत्यादि क्रम से ब्रह्म को वैदिक प्रमाण
 मात्रगम्य कहा गया है । ऐसा हुआ तब उभय प्रकारक वचन के बल से ब्रह्म में जगदुपादा-

ओभयविधवचनवलाद् ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमवश्यमस्त्येव । तथा सावयवनिश्चयवत्त्वादिभिर्वचनैरपि न विरोध इति ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि २।१।२८

विचित्राश्च यथाग्न्येकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुकरणेनानेकधा शक्तिदृश्यते । यथा जलैकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुपिण्डीकरणेनानेकधा शक्तिस्वगम्यते । एवं ब्रह्मण्यपि विचित्रसृष्टिरचनाहेतुभूता विचित्राः शक्तयः सन्ति । तथा च 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्य ज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्ता तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता' (वि०पु०अ०१ अ०३।२।३) इति विदित्यादिना पादोस्य विश्वाभूतानीत्यादिना ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य समर्थनात्तस्मान्नास्त्यत्र कस्यचिदपि दोषस्यावसरः ॥२७॥

ननु वस्तुमात्रे प्रतिनियतैवशक्तिर्दृश्यते नत्वेकस्मिन्ननेकाशक्तिरदृष्टचरत्वादिति कथं ब्रह्मणि ता अनेका ? इत्याशङ्कामपनेतुमाह आत्मनीत्यादि यथैकस्याग्निकणस्यानेकप्रकारिकादाहादिशक्तिरनुभूयते यथावा जलस्य तथैव ब्रह्मण्यप्यनेका जगद्रचनत्व अवश्य ही है । 'ब्रह्म सावयव है अथवा निश्चयव हैं' इत्यादि वचनों से भी कोई विरोध नहीं है ॥२७॥

जिस तरह वह्नि का एक कण अनेक प्रकारक कार्य को करता है तो उसमें अनेक शक्ति है, यथावा जल का जो एकदेश, वह अनेक प्रकारक वस्तु के पिण्डीकरण करने से उसमें अनेक शक्ति है ऐसा जाना जाता है । इसी तरह ब्रह्म में भी विचित्र सृष्टि रचना में कारण विलक्षण अनेक शक्तियाँ हैं । 'शक्तयः सर्वभावानाम्' इत्यादि विष्णुपुराणादि वचनों से अवगत होता है । इसतरह सूक्ष्म चिदचित् शरीरक ब्रह्म को भी विचित्र रचना चातुर्य तथा समस्त जगत् के प्रति उपादान कारणत्व भी सिद्ध होता है । यद्यपि एक ही पदार्थ निमित्त कारण भी हो तथा उपादान कारण भी हो ऐसा अन्यत्र कुलाद्यादिक में नहीं देखने में आता है नवा युक्ति संगत भी है तथापि भुक्तिमात्रगम्य परमेश्वर में अनन्त बलवीर्य शक्ति

विष्णुपुराणवचनादवगम्यते । एवञ्च सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणो
ऽपि विचित्रजगद्रचनाचातुर्यमुपादानत्वञ्चोपपद्यते ॥२८॥

इतश्च ब्रह्मण एव जगत्कर्तृत्वम्—

॥ स्वपक्षदोषाच्च २।१।२९ ॥

सांख्यानां स्वपक्ष एवायं दोषो दुरुद्धरः । तथाहि—शब्दादि
हीनं निरवयवमेव प्रधानं तैरभ्युपगम्यते । ततः सावयवस्य जगत
उत्पत्तिसम्भवदुक्तिका । प्रधानस्य सावयवत्वे तु निरवयवशब्दकोप
एव समापन्नः । अथ सत्त्वजस्तमसां साम्यावस्थैव प्रधानं तच्च न
निरवयवं सावयवं वेति न कृत्स्नप्रसक्तिदोष इति चेत्तदप्ययुक्तम्
नानुक्ला अनेकाशक्तयः सन्ति यद्वलेन विचित्रकार्यं संपादयति परेशः श्रीरामः ।
पुराणादिवचनेनापि तत् सिद्ध्यति शक्तयः सर्वभावानामित्यादिना ॥२८॥

ब्रह्मसावयवं निरवयवं वेति विकल्पजनितदोषस्य समाधानं श्रुतिवलेन समाधाय
सांख्यादिमते प्रकृतदोषस्य समानं न भवति तस्मात्प्रधानपक्षो न वेदसंमतः किन्तु
ब्रह्मकारणपक्ष एवाभिमत इति दर्शयितुमुपक्रमते इतश्च ब्रह्मण एव जगत् कर्तृत्वम् इत्यादि ।
सांख्यपक्षे दोषस्तु भाष्यदर्शितपद्धत्यैव ज्ञातव्य इति न तद्विवरणमावश्यकम् ।

एवं परमाण्वादि पक्षेऽपि अयमाशयः परमाणुद्वयं संयुज्यद्वयणुकमेवमारभते
द्वयणुकत्रयं संयुज्यत्रसरेणुमुत्पादयतीति तदीयप्रक्रिया । तत्रावयवरहितयोगतयोः संयोगो
होने से उभयविध कारणत्व अर्थात् चिदचित् शरीरक श्रीरामजी में अभिन्ननिमित्तोपादानत्व
की सिद्धि होती है इति संक्षेपः ॥२८॥

इस वक्ष्यमाण दोष से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म कारणक पक्ष ही समुचित है
'स्वपक्षेत्यादि सूत्रम् । सांख्यवादी ब्रह्मकारण पक्षमें निरवयवत्व सावयवत्व जो दोष देते हैं, वह दोष
तो उनको स्वपक्ष में भी होता है । उस दोष का वे उद्धार नहीं कर सकते हैं । तथाहि
वे शब्द स्पर्शादि रहित निरवयव प्रधान को मानते हैं, इस हालत में निरवयव कारण से
सावयव कार्य की उत्पत्ति सर्वथा असंभवित है । यदि कदाचित् प्रधान को सावयव माने तब
तो प्रधान के निरवयवता प्रतिपादक शब्द का व्याकोप होगा । अथ यदि सत्त्वजस्तमोगुण
के साम्यावस्था ही प्रधान है और वह न निरवयव है नवा सावयव है, इसलिए कृत्स्न

नैवं विधं कञ्चिदपि पदार्थं पश्यामो यश्च निरवयवः सावयवोवा न स्यात् । व्याहतत्वात् । किञ्च सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थैव नस्यात् स्यादपि सार्वदिकं साम्यमेव भवेन्न जात्वपि वैषम्यम् । वैषम्य प्रयोजकस्य कारणस्याभावात् । प्रधानस्य तत्त्वे शब्दं वैषम्य प्रसङ्गः । एवं परमाण्वादिपक्षेऽप्ययं दोषः समान इति ब्रह्मकारणकपक्ष एव ज्यायान्निर्दोषश्चेति ॥२९॥

द्वयणुकं व्याप्नोति नवा यदि न व्याप्नोति तदा तत्र न वर्तते नहि संभवो भवति स एव तदानीं वर्तते न च वर्तते । तथोपर्यधः षोडशस्थाः षडपिपरमाणवः समानदेशा इति तत्र प्रथिमानुपपत्तेः । अणुमात्रत्वमेव द्वयणुकादेः स्यात् कार्यप्रत्यक्षानुपपत्तिरेव स्यात् । तदुक्तं षट्केन युगपदयोगात्परमाणोः षडेशता । षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रक इति । अर्थात् एकः परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुज्यते यदा तदा परमाणोर्निरवयवत्वेन कात्स्न्यं न संयोगे प्रथिमानुपपत्तिः । एकदेशेन संयोगे सावयवत्वमिति निरवयवत्वव्याक्रोपः इत्यादिकोदोषो नैयायिकस्याप्यपरिहार्य एवेति दिक् ॥२९॥

प्रसक्ति दोष नहीं होगा ! ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि निरवयव अथवा सावयव नहीं हो, इसमें व्याघात दोष होता है जो पदार्थ निरवयव नहीं होगा तो अवश्य वह सावयव होगा । सावयव नहीं होगा तो निरवयव अवश्य होगा, उभय व्यतिरिक्त पक्ष तो असंभवित है ऐसा कहा है 'परस्पर विरोधेन न प्रकारान्तरस्थितिः' । और भी देखिए, नियामक का अभाव होने से सत्वरजतम की साम्यावस्था नहीं होगी । यदि साम्य होगा तो सर्वदा साम्य ही होगा कभी भी वैषम्य नहीं होगा क्योंकि वैषम्य का प्रयोजकीभूत कारण का अभाव होने से । यदि प्रधान को प्रयोजक कहें तो सर्वदा वैषम्य को ही होने से भोग ही होगा, मोक्ष कथा का अस्तमय हो जायगा । एवं परमाणु कारण पक्षमें भी यह दोष समान है । अतः ब्रह्मकारण पक्ष ही युक्ति युक्त है ॥२९॥

५ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् २।१।३० ५

पूर्वं परादेवता सर्वशक्तियुक्तेत्यभिहितम् । तस्माच्च सर्वशक्ति युक्तत्वमिदानीमनेन दर्शयति । सर्वोपेता सर्वशक्तियुक्ता । परा-
देवता कुतः ? तद्दर्शनात् । 'सर्वकर्मा सर्वगन्धः' 'परास्य शक्ति
विविधैव श्रूयते' (श्वे० ६।८) इत्येवमादिश्रुतिषु तस्याः सर्वशक्तियोगः
स्पष्टमभिधीयते ॥३०॥

एक एव परमात्मा विलक्षणानेकशक्तियोगात् विविधप्रपञ्चप्रपञ्चयति,
इतिपूर्वं प्रतिपादितम् तादृशशक्तियोगं दर्शयितुमाह सर्वोपेताचेत्यादि सा ब्रह्मरूपा परा-
देवता विविधविलक्षणशक्तिसम्पन्ना तद्दर्शनात् परास्यशक्तिविविधैव श्रूयते सर्वकर्म-
त्यादि श्रुतेस्तथाश्रवणात् 'सर्वस्याधारभूतौ च त्वावामेव हि मारुते । स्वे महिम्नि स्थिता
वावामन्याधारो नचावयोः । सच्चिदानन्दरूपश्च मादृशो राघवोऽपि हि । मादृशो
राघवश्चापि सर्वस्याधारतांगतः ॥ सर्वफलप्रदौचावां नित्यौ च सर्वशेषिणौ । नित्य-
लीलाविभूत्योस्तच्चावां नाथौ श्रुतौ श्रुतौ ॥ दिव्यदेहगुणोरामो दिव्यदेहगुणाह्वहम् ।
भक्त्या मुक्तिप्रदो रामो तथा चाहं मता बुधैः ॥ पूज्यौस्तुत्यौ तथाऽमोघौ कीर्तनीत्रौ
समावथ । चिन्तनीयौ प्रणामार्हावां दृश्यावभीष्टदौ ॥ आवां तौ हि यतः कश्चि-
न्नाधिको न च यत्समः । सर्वात्मानौ मतौ चावां सर्वेषां प्रेरकौ तथा ॥' (वशिष्ठ
संहिता) इत्याद्यागमोक्तेश्च ॥३०॥

परमेश्वर विलक्षण शक्ति के सम्बन्ध से विचित्रानेक प्रकारक सर्ग को बनाते हैं. ऐसा
पूर्व में कहा, इदानीं तादृश विलक्षण शक्तियोग को बतलाने के लिए कहते हैं 'सर्वोपेतेत्यादि'
परादेवता सर्वशक्ति युक्ता है ऐसा पूर्वमें कहा है. उस परादेवता में सर्वशक्ति संयुक्तत्व को
अभी इस सूत्र से बतलाते हैं । वह परादेवता सर्वशक्ति संयुक्ता है. क्योंकि 'सर्वकर्मा'
'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते' इत्यादि श्रुतिमें उस परादेवता में सर्वशक्ति का योग स्पष्ट रूप
से बतलाया गया है ॥३०॥

॥ विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् २।१।३१ ॥

‘न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते’ (श्वे० ६।८) इति ब्रह्मणः करणरहितत्वश्रवणान्न जगत्कारणत्वमुपपद्यत इति चेत्तदुक्तम् । यदत्रोत्तरं वक्तव्यं तत्पूर्वमेवोक्तम् ‘विलक्षणत्वात्’ ‘देवादिवदपि लोके’ ‘श्रुतेश्च शब्दमूलत्वात्’ [ब्र० सू०] इत्यादिषु । ‘सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः’ (श्वे० ६।९) ‘प्रथान क्षेत्रज्ञनियामकस्य च स कारण’ मिति सर्वकारणत्वश्रवणात् । ‘न

ननु यः कर्ता भवति करणकलेवरवानेव कार्यं करोतीति कुलालादौ देवादौ तथा दृष्टत्वात् परमेश्वरस्य तु न तस्य कार्यं करणं च विद्यते इत्यादिश्रुत्या कार्यकरणरहितत्वस्य प्रतिपादनेन तद्रहितः परमेश्वरः कथं जगद्रचनां संपादयेत् दृष्टविरोधस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह विकरणत्वादित्यादि अचिन्त्यानन्तशक्तिमतिपरमपुरुषेऽदोषात् । अयमाशयः । अस्य प्रश्नस्य न विलक्षणत्वादित्यादिसूत्रोद्देशोत्तरंदत्तम् । स च भगवान् परमेश्वरो विलक्षणशक्तिमान् यद्विषये अपाणिपादौजवनो गृहीतापश्यत्यचक्षुरित्यादि श्रुतिः

“उस परमेश्वर का कार्यं शरीरकरण इन्द्रियादिक नहीं है” इस श्रुति से ब्रह्म में करण कलेवर रहितत्व का श्रवण होने से ब्रह्म में जगत् कारणत्व नहीं हो सकता है क्योंकि कुलालादि घटकर्ता तथा देवादिक में कार्यकरण के सद्भाव रहते ही कार्य कर्तृत्व देखने में आता है तो परमेश्वर में कर्तृत्व व्यापक करणादिक का अभाव होने से व्याप्य जगदुत्पादत्व का अभाव भी सिद्ध होता है” इसके उत्तर में कहते हैं “तदुक्तमिति” इस प्रश्न का जो उत्तर कहना चाहिए वह “न विलक्षणत्वात्” श्रुतेश्च इत्यादि सूत्र में पहले ही कह दिया गया है एवम् “सकारणं करणाधिपाधिपः” इत्यादि श्रुति से प्रथान क्षेत्रज्ञ का नियामक उस परमेश्वर में सर्व कारणत्व का प्रतिपादन किया है ।

‘न तस्य कार्यम्’ इत्यादि श्रुति का तात्पर्य यह है कि विलक्षण विविध शक्तिमान् परमेश्वर जो जगद्रचना करते हैं वह प्राकृतकरण कलेवराधीन नहीं है । इस बात को “अपाणिपादौजवन” इत्यादि श्रुतिपुष्ट करती है । अन्यथा “सकारणं करणाधिपाधिपः”

तस्य कार्यं कारणञ्च विद्यत' इति तु विलक्षणविविधशक्तेस्तस्य
करणाधीना जगद्रचना नास्तीति ज्ञाप्यते । अन्यथा 'स कारणं
करणाधिपाधिप' इति श्रौतवाक्येन समं विरोधस्यादेकस्याऽप्रामाण्यं
वेति यथोक्तमेव मन्तव्यमिति ॥३१॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥१०॥

५ न प्रयोजनवत्त्वात् २।१।३२ ५

स्वत एवावाप्तसमस्तकामस्य ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादिव्यापारो न
स्वयंवक्ति । हस्तपादादीनां सत्त्वं प्रतिषिध्यापितत्साध्यकार्यसत्त्वमावेदयति । प्राकृत
करणकलेवरविरहेऽपि अबाधितरूपेण कार्यकारित्वं प्रदर्शनात् । इदमेव सर्वतोवैलक्ष-
ण्यं भगवति यदितरेतरविरुद्धकार्यकर्तृत्वमिति संक्षेपः ॥३१॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

ननु बुद्धिमान् कश्चिदपि पुरुषो निष्कले कर्मणि न प्रवर्तते जलताडनादौ तद
दर्शनात् । तदिदं अवाप्तसकलकामः पुरुषविशेषः परमेश्वरः कथमिव जगद्रचनायां
प्रवर्तते । न च लौकिकपरिस्थितिमासाद्य परमेश्वरस्यापि किञ्चित्प्रयोजनं परिक-
ल्प्येत तदा सम्प्राप्तसकलकामत्वश्रुतिव्याकोपात् तथा च प्रवृत्तिव्यापकस्य प्रयो-
गस्यादि श्रुत्यन्तरं वाक्य के साथ विरोध होगा । अथवा यदि परस्पर विरोध को यदि कदाचित्
मान लेतो अन्यतर श्रुति में अप्रामाण्य प्रसक्ति होगी । अर्थात् जो सावकाशित होगी उसका
प्रामाण्य तो ठीक रहेगा इतर श्रुति अप्रामाणिकी होगी । इसलिए भाष्य कारने जो समन्वयके
प्रकार को बतलाया है वह उचित है ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

स्वभावतः संप्राप्त है समस्त काम जिसको एतादृश जो परम पुरुष उसको जगत्
सृष्टि विषयक व्यापार नहीं हो सकता है । क्योंकि व्यापार मात्र प्रयोजनवान् होता है ।

सम्भवति । कुतः ? सृष्ट्यादिव्यापारस्य प्रयोजनवत्त्वात् । प्रयोजन
मन्तरेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तस्मान्न जगत्कारणत्वमिति पूर्व-
पक्षिते ॥३२॥

विद्वान्तमाह-

॥ लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् २।१।३३ ॥

यथा राजादेर्लोके कन्दुकादिक्रीडाविशेषाः केवलं लीला
रूपा एवोपलभ्यन्ते तथाऽवाप्तसमस्तकामस्यापि ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्या
दयो व्यापारलीलाकैवल्यमेव लीलामात्रमिति भावः ॥३२-३३॥
जनस्य परमेश्वरेऽभावेन जगद्ग्रचनाया अप्पनुपपत्तिरिति न परमेश्वरो जगद्-
चनां करिष्यतीति पूर्वपक्षाशयं मनसि निधायान्न स्वत एवावाप्त कामस्येत्यादि
पूर्वपक्षः ॥३२॥

यथा लोके सर्वसमृद्धस्याप्रतिहताज्ञस्यापि राजादेरनपेक्ष्यैव प्रयोजनान्तरं
वाटिकादिषु विहारो लीलामात्रमेव भवति, तथैव सर्वशक्तेः सर्वज्ञस्य परमेश्वरः प्रयोज-
नान्तरमनपेक्ष्यैव लीलामात्रमेव जगद्ग्रचना व्यापारः । यद्यपि लौकिककन्दुकादिव्यापारे
सूक्ष्मं किञ्चित्प्रयोजनं कल्प्येत नोचेत्प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम्, तथापि नेद्वरे तथा-
आप्ततमत्वश्रुतेः सृष्टिश्रुतेश्चेत्यादिकभाष्यग्रन्थानुसारेणैवं ज्ञेयमिति संक्षेपोविस्तर-
स्त्वन्यत्रेति ॥३३॥

प्रयोजन के बिना प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं होती है । इसलिए परमेश्वर में जगत्कारणत्व
नहीं होगा । अर्थात् व्यापक प्रयोजन के अभाव होने से व्याप्य का अभाव अवश्य होगा
वन्द्यभाव से धूमाभाव की तरह ऐसा पूर्वपक्ष होता है ॥३२॥

जिस तरह इसलोक में राजा अथवा राजादि मन्त्रियों का कन्दुकादि क्रीडा विशेष
केवल लीला रूप ही होता है कोई अन्य प्रयोजन नहीं रहता है उसी तरह अवाप्त सकल काम
परमेश्वर का जो जगत् कर्तृत्वादि व्यापार होता है वह लीला मात्र ही होता है ॥३३॥

ब्रह्मणो लीलार्थमपि जगत्सृष्ट्यादिकं न सम्भवति देवमनुष्य
पशुपक्षिकृमिकीटादिविषमसृष्ट्या तत्रैव वैषम्यप्रसक्तेः । सर्वसंहर्तु
त्वेन च नैर्घृण्यप्रसक्तेस्तियाशङ्क्याह—

॥ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि

दर्शयति २।१।३४ ॥

ब्रह्मणो विषमसृष्टिजगत्संहारप्रयोजके वैषम्यनैर्घृण्ये न स्या-
ताम् । कुतः ? सापेक्षत्वात् । जीवानां पूर्वकर्मसापेक्षत्वात् । परमेश्वरो
जीवकृतपूर्वशुभाशुभकर्मानुसारेण देवमनुष्यादिरूपां विषमां सृष्टिं

ननु यदि स्वतन्त्रो जगदीश्वरो जगत्सृजति स्वसामर्थ्यात् तदा हीनमध्यमोत्तम
पशुमनुष्यदेवान्, सुखदुःखादिकान् सृजन् वैषम्यं भजेत्, एवं प्रलयसमये सर्वानेव
संहरन्, अतिक्रूरवत्, नैर्घृण्यमपि प्राप्नुयात् । नचेश्वरे एतत्संभवति, सर्वेश्वरस्याकारण
सर्वमित्रत्वश्रवणादित्यादिदोषं मनसि निधियाह वैषम्येत्यादि । परिहरति, न सापेक्षत्वा-
दिति । नहि स्वतन्त्रो भगवान् सुखदुःखभागं सृजन् दोषसंसृष्टो भवति, कुतः ? जीवसं-
पादितशुभाशुभकर्मसापेक्षत्वात्, यस्य यादृशं पूर्वोपाजितं कर्म तदनु रूपेणैव फलं प्रयच्छति

लीलामात्र के लिए भी परमेश्वर से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती है । क्योंकि देव
मनुष्य, पशु—पक्षी, कृमि—कीटादि विषम जन्तु का निर्माण करने से परमेश्वर में वैषम्य दोष
होता है । तथा प्रलय के समय में युगपत् सबका संहार करने से नैर्घृण्य दोष भी होगा,
ऐसी शंका क.के कहते हैं—“वैषम्येत्यादि” विषम सृष्टि तथा जगत् का प्रयोजक वैषम्य
नैर्घृण्य दोष ब्रह्म में नहीं होता है क्योंकि सापेक्ष होनेसे, अर्थात् जीवका जो पूर्वमन्त्रोपाजित
कर्म में तत्सापेक्ष विषम सर्ग तथा जगत्संहार है वह परमेश्वर जीवकृत पूर्व शुभाशुभ कर्मा-
नुसार विषम सर्ग तथा जगत्संहार को करते हैं । अतः जीवका जो कर्म है वही विषमता
तथा जगत्संहार में कारण है परमेश्वर कारण नहीं है तथाहि दर्शयति “पूर्व भवोपाजित
शुभाशुभ कर्म के अनुसार शुभाशुभ सृष्टि को श्रुतिबतलाती है “पुण्यः पुण्येनेत्यादि” । नहीं
कहे कि तब तो कर्मही देवमनुष्यादि सर्ग का कारण है तो परमेश्वर की क्या आवश्यकता है ।

तत्संहारञ्च करोति । 'विकारश्चरामोदयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति । प्रकारे विकारस्तथाचित्रसृष्टौ च हेतुर्ययः प्रणिनां प्राच्यकर्म' इत्याचार्योक्तेः । अतस्तत्तत्कर्मैव तत्तद्वैषम्ये तत्संहारे च हेतुर्न परमेश्वरः श्रीरामः । तथाहि दर्शयति । पूर्वार्जितकर्मानुसारेण शुभाम-
शुभाञ्च सृष्टिं दर्शयति श्रुतिः । 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ४।४।५) इति न चात्र कर्मैव देवमनुष्यादिसृष्टेर्हेतु इवेत्तर्हि किमीश्वरेणेति वाच्यम् । बीजे सत्यपि पर्जन्यमन्तरेणाङ्कु रोत्पत्तिर्यथा न भवति तथा कर्मसु सत्स्वपि परमात्मानमन्तरेण न देवमनुष्याद्याकारा जगत्सृष्टिरूपपद्यते इति ॥३४॥

न च तावता तस्य स्वातन्त्र्यं विलुप्तं भवति. सेवानुरूपेण फलं वेतनलक्षणं विभज्ययच्छन् राजवत् । एतत्सर्वं भवगती श्रुतिरेव वदति पुण्यः पुण्येन कर्मणेत्यादि । तस्मात् सकलकलां क विरहिते भगवति वैषम्यादिदोषस्य संभावना न भवति । न च प्राथमिकसृष्टौ का गतिरिति वाच्यम्. संसारस्यानादित्वात् । संसारस्यानादिता सर्वशास्त्रसंमता. यदा च कार्यस्यानादिता. तदा तत् कारणस्य शुभाशुभकर्मणोऽप्यनादित्वात् । पूर्वपूर्वतरादि कर्मसापेक्षतया सृजन् वैषम्यादिदोषवान् परमेश्वरश्रीरामो न भवति । विशेषविचारस्तु मत्कृतभक्तिमालायां द्रष्टव्यः ॥३४॥

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस तरह कोदवादि बीज के रहते हुए भी मेघ वर्षण के बिना बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है उसी तरह शुभाशुभ कर्म के रहते हुए भी परमात्मा श्रीरामजी के बिना देवमनुष्यादि विचित्रानेक प्रकारक जगत् सृष्टि नहीं हो सकती है । अर्थात् कार्यमात्र की उत्पत्ति में निमित्त कारण अदृष्ट है उस अदृष्ट के बिना कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, उसी तरह कार्यमात्र के प्रति परमेश्वर भी निमित्त कर्तारूप कारण है तो परमेश्वर के बिना तदितर सकल कारण का सद्भाव काल में भी परमेश्वर घटित कारण समुदाय लक्षण सामग्री के अभाव काल में कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती है । अर्थात् जैसे दण्डचक्रादि सकल कारण के सद्भाव में भी चेतन कुलाल लक्षण कर्ताकारण के बिना घटादि कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है. उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥३४॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च २।१।३५

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छा० ६।२।१)
इत्यादिना सृष्टेः पूर्वं कर्माविभागनिश्चयान्न तदानीं कर्मास्तीत्य
तस्तत्सापेक्षाविषमा सृष्टिर्नोपपद्यते । अथेश्वरस्यैव तत्तत्कर्मणोऽपि
कर्तृत्वमभ्युपेयत इति चेत्तत्तत्कर्मात्पादनहेतुका तत्र वैषम्यनैर्घृण्या
पत्तिस्तदवस्थैवैति चेन्न जीवानां कर्मणाञ्चानादित्वाद्बीजवृक्षवत्
कर्मणां देवमनुष्यादीनाञ्च हेतुहेतुमद्भावस्यानादित्वावगमात् ।

सृष्टेः पूर्वं पूर्वसर्गीयकर्मापेक्षः परमेश्वरो विषमां सृष्टिं करिष्यति परन्तु
सृष्टेः पूर्वम् सदेव सोम्येदमग्र इत्यादिना कर्मविभागस्याश्रवणात् कर्मापेक्षो विषमां सृष्टिं
करोतीति कथनमयुक्तमित्याशङ्क्यानिरासायोपक्रमते सदेव सोम्येदमग्र इत्यादि ।

‘हे सोम्य ! परिदृश्यमान यह जगत् उत्पत्ति के पूर्वमें एक अद्वितीय सदात्मक ही था’
इत्यादि श्रुति से सृष्टि के पूर्वमें कर्म के विभाग का निश्चय नहीं होने से, उस समय में
कर्म नहीं था, तब कर्म सापेक्ष विषमासृष्टि होती है, यह कथन उपपन्न नहीं होता है ।
यदि कहो कि जिसतरह देवादि का उत्पादक परमेश्वर है उसीतरह कर्म का कर्ता भी पर-
मेश्वर है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो तत्तत् कर्म के उत्पादन हेतुक परमेश्वर
में वैषम्य नैर्घृण्य दोष का उद्धार नहीं होगा ? उत्तर करते हैं, ‘इति चेन्न’ ऐसा मत कहो
क्योंकि जीव तथा जीव का जो शुभाशुभ कर्म है वह अनादि है, बीजवृक्ष के समान कर्म
तथा देवादिकों में कार्यकारणभाव होने से अनादित्व अवगत होता है । संसार में अनादित्व
क्यों है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं ‘उपपद्यतेक्यादि यदि सृष्टि को आकस्मिक
अर्थात् अकारणक मानें तब उत्तर सृष्टि में पूर्व सृष्टि का सादृश्य नहीं होगा तथा मुक्त पुरुष
का भी पुनः सृष्टि होगी । [अर्थात् जो पदार्थ कारण निरपेक्ष होता है वह प्रायः सर्वदा ही
रहेगा, यथा आकाशादिक अथवा जो अकारणक है वह कभी नहीं होता है, यथा सप्तमरस,

कुतः संसारस्यानादित्वमित्यत आह—उपपद्यते चाप्युपलभ्यते चेति । अस्मादेव सृष्टिस्वीकारे पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तिः । मुक्तस्यापि पुनः सृष्टिप्रसङ्गोदुर्निवारः । तस्माज्जगतोऽनादित्वमभ्युपेयम् । श्रुतिस्मृत्योरप्यस्यानादित्वमुपलभ्यते । ‘अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येकोजुषमाणोऽनु शेते’ (श्वे० ४।५) इति प्रकृतिपुरुषयोरजत्वश्रुतेः । ‘धाता यथा पूर्वमकल्पयत्’ (यजु०) इत्युत्तरसृष्टेः पूर्वसृष्टिसादृश्यश्रवणाच्च जग तोऽनादित्वं सिद्धम् । ‘प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (गी०) इति प्रकृतिपुरुषयोस्तत्संसर्गरूपसंसारस्यानादित्व स्मरणात् ॥३५॥

उत्तरयति—अनादित्वात् इति । भवेदयं दोषो यदि संसार आदिमान् भवेन्नत्वेवमस्ति, किन्तु संसारोऽनादिः, तत्कारणं कर्माप्यनादिमदेव अतो न पूर्वोक्तो दोषः संभवति । अजामेकामित्यादिश्रुत्या धाता यथा पूर्वमकल्पयदित्यादिश्रुत्या च तथा प्रकृतिं पुरुषं चैवेत्यादि स्मृत्या च संसारस्य तत्प्रयोजककर्मणश्चानादित्वमिति ॥३५॥

और जो कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता है वह कारणाधीन होता है, यथा घटादिक- इसको कदाचित्क कहा जाता है, अर्थात् जब कारण का सद्भाव रहता है तब होता है जब कारण का सद्भाव नहीं रहता है तब नहीं होता है । तो कारण रूप नियामक रहने से कार्योत्पाद नियत होता है, अगर आकस्मिक मानेंगे तब तो यह व्यवस्था नहीं होगी । इसी विषय का भाष्यकार ने दिग्दर्शन कराया है ‘मुक्तस्यापि पुनः सृष्टि प्रसङ्ग’ इस ग्रन्थ से । तदुक्तम् ‘भवेद्भानाथवा भावोनियमेऽन्यानपेक्षया । नियामकाद्विभावानां क्वाचित्कत्वस्य संभव’ इति ।] इसलिए संसार को अनादि अवश्य मानना चाहिए । श्रुतिस्मृति में संसार का अनादित्व उपलब्ध होता है ‘अजामेकाम्’ ‘धातायथापूर्वमित्यादि’ पूर्णश्रुति से प्रकृति पुरुष में अजत्व सिद्ध होता है । तथा द्वितीय श्रुति से उत्तर सृष्टि में पूर्ण सृष्टि का सादृश्य अवगत होता है, इस प्रकार जगत् में अनादित्व सिद्ध होता है । ‘प्रकृति पुरुष में तथा तत्संसर्गी जगत् में अनादित्व सिद्धि ‘प्रकृतिपुरुषम्’ इस स्मृति से सिद्ध होता है ॥३५॥

॥ सर्वधर्मोपपत्तेश्च २।१।३६ ॥

प्रधानकारणतायां येषां धर्माणामनुपपत्तिरुक्ता तेषां कारणत्वो
पपादकानां धर्माणां समेषामेव पूर्वोक्तानामनुक्तानामप्यनवधिक-
निरतिशयासंख्येयज्ञानशक्त्यादिगुणविशिष्टे ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव
जगत्कारणमिति निश्चयम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया

आनन्दभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

सर्वांशं सर्वशक्तिसमन्वितं चेतनं ब्रह्मैव जगतोनिमित्तकारणं मृदावदुपादान
कारणं च भवतीति प्रतिष्ठापितम् । तथा चेतनकारणवादे ये विलक्षणत्वादिका दोषा
उद्भावितास्तेषां निराकरणमपि कृतवान् । सम्प्रति येषां धर्माणां चेतनत्वादीनां
प्रधानपरमाणुकारणवादेऽनुपपत्तिः प्रदर्शिता स्तेषां ब्रह्मकारणवादे उपपत्तिं दर्शयितुं
पदार्थमुपसंहरन्नाह सर्वधर्मोपपत्तेरिति । येषां प्रधानादावनुपपत्तिस्तेषां ब्रह्मकारणवादे
समुपपत्तिर्भवतीतिभावः ॥३६॥

प्रपन्नेन तु रामेण यत्कृतं गुरुसेवाया । परे रामात्मके सर्वमर्प्यते भक्तिभावतः ॥१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

द्वितीयाध्याय प्रथम पादार्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं 'सर्वधर्मोपपत्ति-प्रधान
तथा परमाणु कारण पक्षमें जिन धर्मों का चेतनत्व सर्वज्ञत्व सर्वशक्ति समन्वितत्वादिकों की
अनुपपत्ति कही गयी है. उन सब कारणता के उपपादक धर्मों का जो पूर्वमें कथित है
अथवा अकथित है, उन सब का-अनवधिक निरतिशय असंख्येय ज्ञान शक्त्यादि गुण विशिष्ट
साकेताधिपति श्रीरामात्मक परमब्रह्म में उपपत्ति अनायास से हो जाती है । इसलिए श्रीरामा-
त्मक ब्रह्म ही स्थावर जङ्गम सूक्ष्म स्थूल सकल जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है
यह सिद्ध हुआ ॥३६॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीत शारीरक मीमांसाया आनन्दभाष्ये

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्री आनन्दभाष्यप्रकाशे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

॥ श्रीरामार्पणमस्तु ॥

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ५

अथ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

समतीतेन ग्रन्थेन सांख्यादिकल्पितानर्थनिरासेन वेदान्त वाक्यानां परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्शितः । समभिहितञ्चास्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणमपि ब्रह्मैवेति । अथैवं स्वमतव्यवस्थाप्यमाने परपक्षनिराकरणमत्यावश्यकमापद्यते न हि पराभिमतमतमनपाकृत्यानपवाद्य च पराभ्यूहिततर्कजालं शक्यं ग्राहयितुं स्वमतस्य सामञ्जस्यमतो मुमुक्षूणां सम्यग्ब्रह्मस्वरूपावगमाय सांख्यादिमतदूषणप्रधानो द्वितीयपाद आरभ्यते—

श्रुतिश्रुतमार्गेण सांख्यादिमतनिराकरणपूर्वकस्वमतव्यवस्थापनं द्वितीयाध्याय प्रथमपादान्तग्रन्थेनकृतम् । परमेश्वरश्चैव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानमित्यपि प्रतिपादितम् परन्तु यावत् परपक्षस्य निराकरणं न स्यात् तावत् स्वपक्षस्थापनमपि सम्यगूनस्यादिति स्वतन्त्रतर्कमाश्रित्योपस्थापितसांख्यादिमतस्य निराकरणाय द्वितीयपादारंभोभवति । यद्यपि विगतरागस्य मुमुक्षोः स्वपक्षप्रदर्शनमात्रमावश्यकं परप्रद्वेषकरणंनोपयुक्तं तथापि स्वेतरपक्षप्रतिक्षेपमन्तरेण स्वपक्षस्थापनमपि स्थापितमिवनस्याद

अतीत ग्रन्थ से सांख्यादि कल्पितमक का निराकरण पूर्वक वेदान्त वाक्यों का परम पुरुष ब्रह्ममें समन्वय बतलाया गया । एवं सम्पूर्ण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है, यह भी बतलाया गया । अनन्तर स्वमत को व्यवस्थित करते हुए परपक्ष का निराकरण अत्यावश्यक हो जाता है । क्योंकि परमत का निराकरण नहीं करें तथा पर समत तर्क जाल का निराकरण नहीं करने पर स्वमत का सामञ्जस्य नहीं हो सकता है अतः मुमुक्षु को समीचीन रूपसे ब्रह्म स्वरूप का अवगम कराने के लिए सांख्यादिमत दूषण प्रधानक द्वितीयपाद का आरंभ किया जाता है—‘रचनानुपपत्तेरित्यादि’

पूर्वमें वेदान्त को प्रधानपरकत्व का निराकरण करके ब्रह्मपरकत्व को दृढ किया अर्थात् सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं है । किन्तु ब्रह्मका प्रतिपादन करता है, इस बात को द्वितीयाध्याय के प्रथम पादान्त प्रकरण से निश्चित किया जा चुका है । और इस

॥ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् २।२।१ ॥

पूर्वं वेदान्तानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मपरत्वमेव दृढीकृतमिह तु वेदविरुद्धानां प्रधानसाधकयुक्तीनां मृषात्वमुच्यत इति न पौनःस्त्र्यम् । तत्र सांख्याभिमतः केवलमचेतनं प्रधानं जगतः कारणमिति वादः किं सद्युक्तिमूल आहोस्विदसद्युक्तिक इति संशयः । किं युक्तम् ? सद्युक्तिमूल इति । तथाहि गुणत्रयात्मकं जगत्प्रधानोपादानकमेव स्यात् । जगतः सुखदुःखमोहमयत्वात् सुखादीनाञ्च सत्त्वादिगुणानां कार्यत्वात् । यद्यन्मयं तत्तदुपादानकमेव लोके दृष्टम् । यथा मृण्मयो घटो मृदुपादानक एवेति निश्चीयते ।

तस्तदर्थमयमारंभं कर्तुकामोनुक्रमते समतीतेन ग्रन्थेनेत्यादि यद्यपि वेदान्तवाक्यानां प्रधानादिपरत्वनिराकृतमिति पुनस्तदर्थः प्रयासोनावश्यकस्तथापि प्रधानादिसाधकयुक्त्यादीनामाभासत्वोपपादनायायमारंभः क्रियते । तत्र प्रधानादिकारणवादो युक्तियुक्तो न वेति संशयः । युक्तियुक्त इति प्रथमपक्षः । यत् कार्यं तत्कारणपूर्वकम्, कार्यं च जगत् त्रिगुणात्मकमिति तत्कारणमपि तथैव स्यात्, तत् त्रिगुणात्मकं प्रधानं द्वितीयपाद से वेद विरुद्ध प्रधान साधक युक्ति युक्ति नहीं है किन्तु युक्त्याभास है, इस बात का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए पुनरुक्ति दोष का अवसर नहीं होता है । उसमें सांख्याभिमत केवल अचेतन प्रधान जगत् का कारण है, यह जो पक्ष है वह सद्युक्तिमूलक है, अथवा असद्युक्तिमूलक है । ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ! पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सांख्यपक्ष सद्युक्तिमूलक है ? तथाहि सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक जगत् सत्त्वादि गुण लक्षण प्रधानोपादानक है, क्योंकि जगत् सुखदुःख तथा मोहमय है, और सुखादिक सत्त्वादिक गुणों का कार्य है । जो यादृश होता है, वह तादृश उपादान से ही उत्पन्न होता है, जैसे मृत्तिका का विकार घट मृदुपादानक ही होता है सुवर्णोपादानक नहीं होता है, यह निश्चित है । तब सुखदुःख मोहात्मक रूप से परिदृश्यमान जो जगत् वह सत्त्वादि गुणत्रयात्मक ही है । इस प्रकार से सद्युक्तिक प्रधानकारण है । इस तरह का जो पूर्वपक्ष होता है, उसका निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'रचनानुपपत्तेश्च' आनुमान=अर्थात् कार्यमूलक जो

एवञ्च सुखदुःखमोहात्मकत्वेन दृश्यमानं सर्वं जगत्सत्त्वादि
गुणत्रयात्मकमेवेति सद्युक्तिकः प्रधानकारणवाद इति प्राप्त आह—
‘रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमिति । आनुमानमनुमानगम्यं प्रधानं न
जगतः कारणम् । कुतः ? रचनानुपपत्तेः । अचेतनस्य प्रधानस्य सर्वं
ज्ञत्वसर्वशक्तित्वाभावेन स्रष्टव्यज्ञानतद्रचनाशक्त्यसिद्ध्या विचित्र
जगद्रचनानुपपत्तेः । चकारात्प्रधानस्याचेतनत्वेन जीवैर्जन्मान्तरानु-
ष्ठितयोः पुण्यपापयोस्तद्गतबहुत्वाल्पत्वयोर्ज्ञानमेव न स्यात् । तद
भावे च सृष्टिवैषम्यमपि दुःशकम् । आकस्मिकविषमसृष्टौ च
तदेव सर्वजगतः कारणमिति प्रधानपूर्वकत्वमेव तदनुरूपसर्वजगत इति पूर्वपक्षः ।
उत्तरपक्षस्तु प्रधानं यदनुमानगम्यं न तत् सर्वजगतः कारणं जगतोश्चानुपपत्तेः ।
जानाति इच्छति ततो यतते इति क्रमः । इह च प्रधाने ज्ञानशक्यादीनामभावान्नतेन
अनुमान तादृश अनुमान गम्यं जो प्रधान वह जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि “रचना-
नुपपत्तेः” प्रधान अचेतन है तो उसमें रचकाका जो प्रयोजक सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व का अभाव
होने से सृज्यमान पदार्थ विषयक ज्ञान तथा स्रष्टव्यवस्तु विषयक शक्ति के नहीं होने से
चिह्नक्षण जगत् की रचना नहीं हो सकती है । अर्थात् “जानाति इच्छति यतते” यह नियम
है जैसे कुलाल पहिले घट को जानता है तब तद्विषयक इच्छा होती है तदनन्तर वह कुलाल
तदर्थ प्रयत्न करता है तो ज्ञानादिक चेतन का धर्म है वह तो अचेतन प्रधान में संभवित
नहीं है, तब विविध रचना का प्रयोजक ज्ञानादिक का अभाव होने से प्रधान में जगदु-
त्पादकत्व नहीं हो सकता है । तथा प्रधान को अचेतन होने से जीव से पूर्व पूर्वतरादि
जन्मान्तर में अनुष्ठित जो शुभाशुभ कर्म है तादृशकर्म का तथा तादृश कर्मगत बहुत्व
अल्पत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है और उसका ज्ञान नहीं रहने से सृष्टि में विषमता नहीं
हो सकती है । यदि अकारणक विषम सृष्टि मानें तब तो प्रधान में वैषम्य तथा नैर्घृण्य
दोष प्रसक्त होगा । यह दोष “अनुपपत्तेश्च” यहाँ जो चकार है उससे सूचित होता है ।
तथा सुखदुःख मोहात्मक हेतु भी प्रधान में अनुपपन्न है यह भी सूचित होता है, क्योंकि
सुखदुःख और मोह जो हैं ये अन्तःकरण अथवा आत्मा का धर्म है वह शब्दादिक बाह्य

सम्पन्नयो वैष्मन्यैर्घृण्ययोः प्रधान एव समन्वयः स्यात् । किञ्च
सुखदुःखमोहात्मकस्य हेतोरसिद्धिरपि चकारेण समुच्चीयते । सुख-
दुःखमोहविषादादीनामान्तरिकत्वेन न वस्तुधर्मत्वम् । अन्यथा यदे-
कस्य सुखरूपं तदन्यस्यापि स्यात् । न हि क्रमेलकप्रेयसः कण्टकादे-
रितरेष्वपि प्रेयस्त्वं दृष्टचरम् । तस्मादयं समन्वयोऽसिद्ध एव भावेष्विति
न प्रधानस्य कारणत्वं जगतः शक्यमनुमातुम् ॥१॥

卐 प्रवृत्तेश्च २।२।२ 卐

अनुपपत्तेरित्यनुवर्तते । सत्त्वादीनां साम्यावस्था प्रधानमित्यु-
जगतः समुत्पादः । अपि च न पदार्थोस्तादृशगुणत्रयसुखाद्यात्मकः किन्तु सुखादीनां
निमित्तरूपः शब्दादिपदार्थः । नहि निमित्तनैमित्तिकयोस्तादात्म्यम् । सुखादीनामान्तरत्वात्
शब्दादिविषयाणांतद्विन्नत्वात् । तस्मात् प्रधानस्य जगत्कारणत्वं नानुमानगम्यमिति ॥१॥

न केवलं जगद्रचनानुपपत्त्या प्रधानकारणवादस्य निराकरणमपितु प्रवृत्तिरपि-
पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता है । अन्यथा जो पदार्थ एकके लिए सुखरूप है उसको
सबके लिए सुखरूप ही होना चाहिए किन्तु ऐसा तो नहीं होता है । यथा ऊंट को
बबूल वा पत्र फण्टक सुखकारक होता है तो तदन्य सचेतन को सुखकारक न हो कर के
दुःखप्रद होता है । यथावा स्वस्थ पुरुष के लिए धृत आयु प्रयोजक है परन्तु वही उवराक्रान्त
के लिए कमला रोगजनक हो जाता है । और भी शब्दादि विषय सुखादिका जनक है तो
जन्य जनक में तादात्म्य सर्वथा अनुपपन्न है । अतः सांख्यमत तर्क सिद्ध नहीं है नवा प्रवान
सुखादि लक्षण जगत् का उपादान है किन्तु ब्रह्मोपादानक जगत है ॥१॥

“प्रवृत्तेश्च” इस सूत्र में पूर्व सूत्र से ‘अनुपपत्तेः’ इसका अनुवर्तन होता है । प्रधान
की जो जगद्रचना के लिए प्रवृत्ति होती है वह अचेतनत्वात् अनुपपन्न है । सत्त्वादि गुण-
त्रयवर्ती जो साम्यावस्था उसका नाम होता है प्रधान यह जो साम्यावस्था वह क्रिया के
अन्तर में ही होती है ये सब गुण अङ्गाङ्गीभाव को प्राप्त करके कार्य को उत्पन्न करते हैं
ऐसा सांख्यो का सिद्धान्त है । परन्तु यह सिद्धान्त अनुपपन्न है क्योंकि लोक में देखने में

च्यते । तत्साम्यावस्थास्पन्दनानन्तरमेव गुणैरङ्गाङ्गिभावमासाद्यकार्यं
जन्यत इति सांख्यसमयः । स चानुपपन्नः । लोके चेतनानधिष्ठि
तस्याचेतनस्य प्रवृत्त्यदर्शनात् । चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य विचित्र
जगद्रचनाचातुर्यमेव न स्यात् । तच्च वैषम्यमाकांक्षते । वैषम्यञ्च
साम्यावस्थायाः प्रच्युतिः । सा चाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतो न
स्यात् । प्रवृत्तेश्चेतनाधिष्ठितिनियतत्वात् ॥२॥

५ पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि २।२।३ ५

अथ पयसः स्वयमेव दध्यादिरूपेण परिणतिस्म्बुनोऽप्यङ्कुरा-
दिषु तत्तद्रूपेण स्वत एव परिणाम इति कथमुच्यते चेतनाधिष्ठितानां
तस्यानुपपन्ना. साम्यावस्थागुणानां प्रधानं तथा येयं विषमावस्था सा महदादिसृष्टिः सेयं
वैषम्या प्रवृत्तिः सा अनुपपन्ना चेतनाधिष्ठितस्यैवाचेतनस्य प्रवृत्तिदर्शनान्नतु स्वतन्त्रस्या
चेतनस्य क्वचिदपि प्रवृत्तिर्दृष्टा, तस्मात् सांख्यमतं न सम्यगित्याशयेनाह प्रवृत्तोस्वेति । २।

ननु अचेतनस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव प्रवृत्तिर्भवतीति यदुक्तं तन्न सम्यक्. अचेत-
नात्ता है कि चेतन से अनधिष्ठित जो अचेतन उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है जैसे अश्व-
से अनधिष्ठित रथादि अचेतन स्वयमेव गतिकार्य को नहीं करता है । इसी तरह चेतन से
अनधिष्ठित जो प्रधान है उसमें जगद्रचना चातुर्य हो नहीं सकता है क्योंकि यह वस्तु
वैषम्यापेक्ष है । साम्यावस्था से प्रच्युति को वैषम्य कहते हैं । यह प्रच्युति अचेतन
प्रधान में स्वतः असंभवित है । क्योंकि प्रवृत्ति में चेतनाधिष्ठितत्व नियत है । अर्थात्
चेतन से अधिष्ठित होकर के ही अचेतन रथादिक प्रवर्तमान होता है ॥२॥

अचेतन पदार्थ चेतनानधिष्ठित होकर के स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त नहीं होता है इस नियम
में व्यभिचार बतला करके उसका समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं, “अथ पयसः”
इत्यादि । दूध अचेतन है परन्तु वह स्वयमेव अर्थात् चेतन से अनधिष्ठित होकर के
दधिरूप से परिणत होता है । यथावा जलका भी अङ्कुरादिक में तत्तद्रूप से स्वयमेव
परिणाम होता है तब आप किस तरह कहते हो कि चेतनाधिष्ठित होकर के ही अचेतन
की प्रवृत्ति होती है ! इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि”

मेवाचेतनानाम्प्रवृत्तिरिति तत्राह— तत्रापीति । तत्रापि परमात्मन एव प्रेरकत्वश्रवणात् । ‘योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम् योऽपोन्तरोयमयति’ (बृ०३।८।४) ‘यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति’ (३।७।१५) इत्यादि श्रुतयः परमपुरुषस्यैव तत्र तत्र नियामकत्वमभिदधते । तथाच क्षीरादिकं यद्दृष्टान्ततयाभिहितम् तत्रापि चेतनानधिष्ठितेषु प्रवृत्त्यदर्शनात् । ‘उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि’ (ब०सू०२।१।२४) इत्यादि न चेतनानधिष्ठितत्वमुच्यतेऽपितु बाह्यनिमित्ता नपेक्षमेव स्वाश्रयपरिणतिरूपं कार्यमभिधीयत इति न विरोधः । ३। नयोरपि जलदुग्धयोः प्रवृत्तिदर्शनात् तत्रापि परमेश्वराधिष्ठितयोरेवतयोः प्रवृत्तेः । न च तत्रापि जलादिकं स्वतः भावेन प्रवर्तते किन्तु परमेश्वरप्रेरितयोरेव तथात्वम् । यदपि उपसंहारदर्शनादिना प्रतिक्षेपः स च बाह्यसाहाय्यपेक्षोनतु परमेश्वरप्रवर्तकत्व प्रतिक्षेपपरक इत्याशयेनाह पयोऽम्बुवदित्यादि ॥३॥

जल तथा दूध का जो हिमदध्यादि रूप से परिणाम होता है उसमें इतरजीव को यद्यपि प्रवर्तकत्व तो नहीं है किन्तु तादृश स्थूल में साक्षात् परमात्मा को ही प्रवर्तकत्व है ऐसा शास्त्र में श्रुत है । तथाहि शास्त्रम् “जो जल में रहता हुआ जिसका जल शरीर है जो जल का नियामक है ” । “जिसका सब भूत शरीर है जो सर्गभूतों का नियामक है” इत्यादि श्रुति वाक्य तत्तत्स्थल में परम पुरुष परमात्मा को नियामक बतलाते हैं । तो क्षीरादिक को आपने दृष्टान्त रूप से कथन किया है तादृश स्थल में भी चेतनाधिष्ठित में प्रवृत्ति नहीं देखने में आती है । अर्थात् यद्यपि आपाततः जलादिक में कोई प्रत्यक्ष चेतन नियामक रूप से नहीं देखने में आता है तथापि उन स्थलों में परमेश्वर ही नियामक है यह शास्त्र से निश्चित होता है । यद्यपि “उपसंहार दर्शनात्” इस सूत्र में सहायकान्तर निरपेक्षत्वका कथन है तथापि यावत् चेतन निरपेक्षत्व का कथन नहीं है किन्तु बाह्य निमित्तान्तर निरपेक्ष कार्यकारित्व है एतावन्मात्र कहा गया है इसलिये कोई विरोध नहीं होता है । अर्थात् बाह्य सहायक नहीं है किन्तु कार्यमात्र के प्रति जो परमेश्वर तथा तदीय इच्छादिक कारणता है उसका निराकरण नहीं किया जाता है ॥३॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।४

‘व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादिति’ सांख्यवचनात् ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत’ इति श्रुतेश्चाव्याकृतनामरूपस्य कृत्स्नस्य प्रधानस्य व्याकृतनामरूपात्मकव्यक्तशब्दवाच्यजगद्रूपत्वा-
वगमात्स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य कारणत्वे तस्य कार्यव्यतिरेकेणानव-
स्थितेश्चस्थितेरभावप्रसंगात् । ननु ज्ञशब्दवाच्यस्य पुरुषस्य कार्यव्यति-
रेकेण कारणतयाऽवस्थितिरस्त्वित्याशङ्क्याह ‘अनपेक्षत्वात्’ न प्रकृति-
नैविकृतिः पुरुष’ [सां०का०] इति सांख्यैः पुरुषस्य कारणत्वकार्यत्व-
योरुभयोर्निषेधेन तस्य कार्यस्वनानपेक्षत्वादनभ्युपगमादित्यर्थः ।
तस्मान्न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वमुपपद्यते । ब्रह्मणः
कारणत्वे तु ‘पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ [यजु०]

समानरूपेणावस्थितास्तयो गुणा एव प्रधानम्, गुणत्रयातिरेकेण प्रधानस्य कार्ये
प्रवर्तकं निवर्तकं वा तदयन्नास्ति । सन्नपि पुरुष उदासीनत्वान्न प्रवर्तको नवा निवर्तक
इति सर्वथैवानपेक्षं प्रधानम् । ततश्च निरपेक्षत्वात् कदाचित्प्रवर्तेत कदाचिन्निवर्तेत
अर्थात् कदाचित्परिणामः स्यात्कदाचिन्नस्यादिति न युक्तम् । यद्यपि सांख्यमतेपि
शुभाशुभं वा कर्मविद्यते तदपेक्षा विद्यते, तथापि तस्य कर्मणः प्रतिबन्धकापनयने

“व्यक्त पृथिव्यादिक अव्यक्त प्रकृति तथा ज्ञ पुरुष’ इनके विज्ञान से मोक्ष होता
है” इस सांख्यवचन से तथा “यह परिदृश्यमान जगत् उत्पत्ति के पूर्व में अव्याकृत रूप
में था पश्चात् नामरूपद्वारा व्याक्रियमाण होता है” इत्यादि श्रुति से अव्याकृत नामक
सम्पूर्ण प्रधान को व्याकृत नाम रूपक शब्द वाच्य जगद्रूपत्व का अवगम होने से स्वतन्त्र
प्रधान को कारणता मानें तो उस प्रधान को कार्य भिन्नत्व रूप से अवस्थानाभाव प्रसङ्ग
होगा । प्रश्न ज्ञ शब्दवाच्य जो पुरुष उसका कार्यव्यतिरेक से कारण रूप से अवस्थान
माना जाय ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं “अनपेक्षत्वात्” इति । “पुरुष न तो प्रकृति

‘अत्यतिष्ठदशांगुलम्’ [यजु०] इत्येवणादिश्रुतिभ्यः ‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्’ [गी०] इति स्मृतेश्च ब्रह्मणः पादांशमात्रेण जगदुपादानत्वावगमादवशिष्टस्य कार्यव्यतिरेकेणावस्थितेर्नोक्तदोषावकाश इति बोध्यम् ॥४॥

॥ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् २।२।५ ॥

यथा धेन्वादिभक्षितं तृणादिकं स्वयमेव क्षीराकारेण परिणमते तथा प्रधानमपि स्वयं जगदाकारेण परिणमते इति चेन्न । एव प्रजोजकत्वं नतु प्रधानप्रवृत्तौ निवृत्तौ वा प्रयोजकत्वमिति न प्रधानकारणवादः श्रेयानिति । तस्माद्ब्रह्मकारणवादः श्रेयानित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते व्यक्ताव्यक्तज्ञ इत्यादि ॥४॥

यथा तृणादिकमुपभुज्यमानं चेतननिरपेक्षतयैव दुग्धाकारेण परिणमते तथैव प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणमते नतु तत्र निमित्तान्तरमस्तीति शङ्कार्थः । तृणादावपि परमेश्वरापेक्षा विद्यते एव तथा चेतनान्तरनिमित्तान्तरापेक्षा विद्यते कथमन्यथा प्रणष्टं वृषभादिभुक्तं वा कथं न दुग्धाकारेण परिणमते । तस्मान्नस्वाभाविकः परिणामः कारण है नवा विकृति कार्यरूप है” इस प्रकार से सांख्यवादियों ने पुरुष में कार्यत्व तथा कारणत्व उभय का निषेध किया है अतः पुरुष को रचना में कारण नहीं माना है । इसलिए प्रधान में स्वतन्त्र रूपसे जगत् कारणत्व नहीं हो सकता है । सर्वशक्तिमान् सर्वाज्ञ ब्रह्म के कारणता पक्ष में “पादोस्य विश्वाभूतानि” इत्यादि श्रुति से तथा “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्” इत्याद्यनेक स्मृतियों से सिद्ध होता है कि ब्रह्म में पादलक्षण अंशमात्र से जगत् उपादानत्व है तथा अवशिष्ट ब्रह्म का कार्यरूपेण अवस्थान भी रहता है । इसलिए पूर्वोक्त दोष का अवकाश नहीं होता है, ऐसा जानना ॥४॥

जिस तरह गाय महिष अजादिकों से उपभुज्यमान जो तृण पल्लवादिक वस्तु है, वह सब स्वयमेव अर्थात् निमित्त निरपेक्ष होकर के दुग्धाकार से परिणत हो जाता है, उसी तरह इतरानपेक्ष प्रधान स्वयमेव जगदाकारेण परिणाम को प्राप्त करता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि तृणादि स्थल में जो तृणादिक का दुग्धाकार से परिणाम होता है उसमें यद्यपि

तत्र तृणादेः क्षीराकारपरिणामे परमेश्वरस्य हेतुत्वात् । अन्यथा बलीवर्दादिभुक्तस्यापि तृणादेः क्षीराकारेण परिणामः स्यादित्याह—
अन्यत्राभावाच्चेति । अन्यत्रानडुहादौभुक्तस्य तृणादेः क्षीराकारेण परिणामाभावात् गोमयाद्याकारेण परिणामस्यदर्शनाच्च ॥५॥

५ अङ्गित्वानुपपत्तेश्च २।२।६ ५

गुणत्रयसाम्यावस्था हि प्रकृतिस्तस्याः कूटस्थत्वपक्षे गुणानामङ्गांगिभावानुपपत्तेः सृष्टिप्रवृत्त्यभावः कुतः ? गुणानामचेतनत्वेन कूटस्थतयाऽन्योन्यनिरपेक्षत्वेन तत्साम्यावस्थाप्रच्युतेरभावात् । कथञ्चित् तेषां प्रच्युतिस्वीकारे कौटस्थ्यहानिः । प्रकृतेर्विकारित्वे तु स्वतः साम्यावस्थायाः प्रच्यवस्वीकारेण सर्वदा सृष्टिप्रसंगः । न च पुरुष किन्तु परमेश्वरापेक्ष एवेति भावः । एतदेव विभज्य दर्शयति यथाचेन्वेत्यादि अन्यत्सर्वसुगमम् ॥५॥

ननु येयं गुणत्रयस्य साम्यावस्थाप्रकृतिः सा सर्वथानित्या परिणामिनित्यावेति। आद्ये तस्या प्रच्युतौ अनित्यत्वप्रसंगात् । परिणामित्वचरमपक्षस्वीकारे. बाह्य-बाह्य कोई निमित्तान्तर तो नहीं है किन्तु उसमें परमपुरुष सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में ही कारणता है । अन्यथा यदि निमित्तान्तरापेक्ष नहीं हो तब तो जो घास विनष्ट हो गया अथवा वृषभादि भक्षित है तादृश घास का भी क्षीराकार से परिणाम होना चाहिए. प्रत्युत वृषभादि भुक्त तृणादिक गोमयाकार [छाण] रूप से ही परिणत होता है । तस्मात् चेतनान्तरानपेक्ष प्रकृति का परिणाम होता है यह कथन उपयुक्त नहीं है । किन्तु सर्वव्यापार परमेश्वराधीन है ॥५॥

गुणत्रय की जो साम्यावस्था है उसको प्रकृति कहते हैं । वह यदि कूटस्थ हो तब गुणों में अङ्गांगीभाव की अनुपपत्ति होने से सर्गाभाव हो जायगा । क्योंकि गुणके अचेतन कूटस्थ होने से परस्परनिरपेक्ष होकर साम्यावस्था से प्रच्युति नहीं होगी । कथञ्चित् प्रच्युति मानें तो नित्यत्व का व्याघात होगा । विकारित्व मानें तब तो सर्वदा सर्ग ही होता रहेगा ।

सन्निधानादेव साम्यावस्थाभंग इति वाच्यम् । तस्यौदासीन्याद-
कर्तृत्वाच्च । सन्निधिमात्रेण कार्यसत्त्वे तु प्रकृतिपुरुषयोरुभयोरपि
नित्यत्वात्सर्वदा सान्निध्ये शश्वत्सृष्टिप्रसंगः । तस्मादंगांगिभावानुप-
पत्तेः सृष्ट्यभावाद्यनेकदोषापत्त्या न प्रधानस्य जगत्कारणत्व-
मुपपद्यते ॥६॥

५ पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि २।२।७ ५

अचेतनमपि प्रधानं चेतनः पुरुषो निष्क्रियोऽपि स्वसन्निधान
मात्रेण सर्गादौ प्रवर्तयति यथा सचक्षुः पङ्गुः पुरुषोऽन्धमपङ्गुम्प्र-
वर्तयति । यथा वायस्कान्ताश्मस्वसन्निधानमात्रेणायः प्रवर्तयति
स्यश्चोभपितुरभावाद्द्वैषम्यं न स्यात् । अनपेक्ष स्वत एव वैषम्यस्वीकारे कदाचित्सांख्य
मेव न स्यादित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते गुणत्रयसाम्यावस्थेत्यादि । अतो न
प्रधानस्य कारणत्वमिति ॥६॥

यथा दर्शनशक्ति समन्वितः क्रियाशक्तिविरहितः पङ्गुः क्रियाशक्तिसमन्वितं
दर्शनविरहितमन्धं प्रवर्तयति स्वसान्निध्यात् तथा जडप्रधानं दर्शनविरहितं दर्शनशक्ति
विशिष्टः क्रियाशक्तिसमन्वितः पुरुषः प्रवर्तयिष्यति ततश्च सांख्यपरिभाषा
पुरुष सामीप्य से प्रच्युति मानें यह भी ठीक नहीं क्योंकि पुरुषकर्ता नहीं है वह उदासीन
है । तथा सामीप्यमात्र से कार्य मानें तो दोनों को नित्य होने से सर्गदैव होता रहेगा ।
तस्मात् अंगांगीभाव की अनुपपत्ति होने से तथा सृष्ट्याद्यभाव रूप दोष होने से प्रधान
जगत्का कारण नहीं है ॥६॥

अचेतन प्रधान है, उसको क्रिया शक्ति विरहित भी चेतन पुरुष सर्ग के आदिकाल में
प्रवृत्त करावेगा । जिसतरह आँखवाला अर्थात् दर्शनशक्ति सम्पन्न पंगु पुरुष क्रिया शक्ति
विशिष्ट दर्शन शक्ति रहित अन्ध को स्वसम्बन्ध से प्रवृत्त कराता है । ऐसा कहा है कि
'पङ्गुवन्धवदुभयोः संयोगस्तत्कृतः सर्गः' इति । यथावा अयस्कान्त लोह स्वसंनिधान मात्र से
साधारण लोह को प्रवृत्त कराता है । उसी तरह प्रकृत में भी हो सकता है इस शंका का

तद्वदिति चेत् पश्हिरति 'तथापीति । तथापि दोषसद्भावात् । तथा हि प्रधानस्य पुरुषप्रवर्त्यत्वे तत्स्वातन्त्र्यहानिः पुरुषस्य प्रवर्तकत्वे तस्यौदासीन्याकर्तृत्वयोर्भेदः । स्वव्यापारमन्तरेण प्रवर्तकानुपपत्तेः । अयस्कान्तस्यायः सान्निध्यव्यापारस्तु कदाचित्कत्वेनानित्य इति दृष्टान्तासिद्धेः । प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वेन तत्संसर्गस्यापि नित्यत्वात्सृष्टेः सार्वदिकत्वेन मोक्षाभावप्रसंगः । एकस्य जडत्वादपरस्य चौदासीन्यान्निर्व्यापारित्वे तु पुनः स एव सर्गाभावप्रसंग इति न तथापि दोषनिर्मुक्तिः ॥७॥

समीचीनैवेति तथापि दोषान्निर्मुक्तिनास्ति । तथाहि प्रधानस्य स्वातन्त्र्येणैव प्रवृत्तिनास्ति तस्य प्रवर्तक इति सिद्धान्तविरोधात् पुरुषस्य निष्क्रियत्वेन प्रवर्तकत्वानभ्युपगमाच्च । अयस्कान्तादौ च संनिधानरूपोऽनित्यो व्यापारो विद्यते इह तूभयोर्नित्यत्वेन सर्वदा संनिधानेन सर्वदैव सर्गप्रसंगेन मोक्षाभावप्रसंगात् । तस्मात् नास्ति प्रधानकारणवादः समीचीन इति ॥७॥

निराकरण करने के लिए कहते हैं 'तथापीति' । ऐसा मानने पर भी दोष होता ही है । तथाहि यदि प्रधान पुरुष से प्रवर्त्य हो तो प्रधान की जो स्वतन्त्रता है उसका विलोप हो जायगा और पुरुष को प्रवर्तक मानेंगे तब पुरुष में औदासीन्य तथा अकर्तृत्व का भी वाच हो जायगा । व्यापार निरपेक्ष होने से प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है । अयस्कान्तमणि का व्यापार तो कदाचित्क होने से अनित्य है । इसलिए दृष्टान्त असिद्ध है । प्रकृति पुरुष तो दोनों नित्य हैं अतः उन दोनों का सम्बन्ध को भी नित्य होने से सर्वदा सर्ग ही होगा तो मोक्षाभाव प्रसङ्ग रूपदोष होगा । प्रधान जड है और पुरुष उदासीन होने से व्यापार रहित होने से सर्गाभाव रूप दोष होगा । अतः तथापि दोष से छुटकारा नहीं होता है ॥७॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् २।२।८

एवमपि वयमन्यथानुमानं करिष्यामः । गुणानां चलत्वादेव प्रवृत्तिरप्युपपत्स्यते । कार्यमालक्ष्य गुणस्वभाववैषम्यमवगमिष्याम इति न जगत्सृष्टौ काचिदनुपपत्तिरिति चेत् । तदपि न । ज्ञशक्तिवियोगात् । गुणानां ज्ञानशक्तिसंयोगरहितत्वात् । एतदुक्तम्भवति । गुणानां स्वतः साम्यावस्थातः प्रच्यवो निमित्तान्तरेण वा । न तत्राद्यः सर्वथा वैषम्यप्रसंगात् साम्यावस्थाया एवाभावप्रसंगात् । न द्वितीयः ।

ननु निश्चितस्वभावकाः गुणाः किन्तु कार्यवशेनैषां स्वभावोऽवधारितो भवति तत्र रजसो चलत्वात् तद्वष्टितं प्रधानं साम्यावस्थायामपि वैषम्ययोग्यतावदेवेति न पूर्वोक्तदोष इति यद्युच्यते तदापि पूर्वोक्तदोषः प्रसक्त एव । तथाहि प्रधाने

अब मैं इस विषय में प्रकारान्तर से अनुमान कढूंगा, जिससे अनन्तरोक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि ये जो सत्वादिक गुण हैं वह सर्वदा चलनशील हैं, इसलिए चल होने से इन गुणों की प्रवृत्ति होगी । कार्य को लक्षित करके गुण के स्वभाव में वैषम्य को जानेंगे । इसलिए जगत्सृष्टि में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञ शक्ति का गुणों में अभाव है । अर्थात् गुणों में ज्ञान शक्ति सम्बन्ध का अभाव है । इससे यह कहा जाता है कि साम्यावस्था से जो सत्वादि गुणों का प्रच्यव होता है वह स्वतः एव होता है अथवा किसी निमित्तान्तर के बल से वैषम्य होता है । इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि यदि स्वभाव से ही विषमता हो तब तो सर्वदा वैषम्य ही होता रहेगा, कभी भी साम्यावस्था गुणों की नहीं होगी । एवं द्वितीय पक्ष जो निमित्तान्तर से वैषम्य होता है यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि उस समय में कोई निमित्तान्तर नहीं है । यदि कोई निमित्तान्तर है तो उसका कोई प्रयोजक है अथवा कोई प्रयोजक नहीं है । द्वितीय पक्ष में सर्वदा वैषम्यापत्ति होगी । यदि प्रथम पक्ष मानें तब निमित्तान्तर का भी निमित्तान्तर का अनुसरण करने से अनवस्था दोष होगा । गुणों के साम्यावस्था काल में प्रकृति पुरुष से अतिरिक्त तो कोई पदार्थान्तर है नहीं । यदि तदतिरिक्त किसी को मानें

निमित्तान्तरस्य तदानीमसत्वात् । सत्त्वेतु तस्यापि निमित्तं तस्या-
पीत्यनवस्थादौस्थ्यम् । प्रकृतिपुरुषव्यतिरेकेण पदार्थान्तरस्वीकारे
त्वपसिद्धान्तस्तस्मान्न प्रधानस्य कारणत्वम् ॥८॥

५ अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावः २।२।९ ५

अथ कथञ्चिदचेतनेऽपि प्रधाने 'तुष्यतु पर' इतिन्यायमाश्रि-
त्यस्वीक्रियमाणायाम्प्रवृत्तौ दोषमाह 'अभ्युपगमेपीत्यादि' । प्रधान-
स्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि प्रयोजनाभावान्नोपपद्यते सेत्यर्थः ।
तथाहि येयं प्रधानप्रवृत्तिः सा च स्वार्था पुरुषभोगार्था उभयार्था
ज्ञानशक्तिरहितत्वेन रचनानुपपत्त्यादयो दोषाः प्रसक्ता एव भवन्तीति आशयमनसि
निधाय सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते एवमपि वयमन्यथेत्यादि ॥८॥

अचेतयस्य प्रधानस्य प्रवृत्तिर्भवतीति व्यवस्थापितम् । परन्तु तुष्यतु दुर्जन इति
न्यायेन कदाचित् तदीयप्रवृत्तेः स्वीकारेपि तस्यास्तादृशप्रवृत्ते प्रयोजनं किमिति भवति
जिज्ञासा तत्र प्रकृतिः प्रवर्तते तत्र स्वार्था वा परार्था वा उभयार्था वा ? नाद्यः, अचेत-
नस्य तस्य स्वप्रयोजनाभावात् । न द्वितीयः पुरुषस्याकर्तृत्वात् । नापि तृतीयोविचारा
तब तो अपसिद्धान्त दोष होगा । अर्थात् सांख्यवादियों ने उस समय में प्रकृति पुरुषातिरिक्त
पदार्थों के सद्भाव को नहीं माना है । तस्मात् प्रधान को स्वातन्त्र्येण जगद्रचना में
कारणत्व नहीं है ॥८॥

अथ कथंचिद् अचेतन प्रधान में "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय का आश्रय करके
प्रवृत्ति को मान लें तथापि सांख्यमत में दोष होता है इस बात को बतलाने के लिए कहते
हैं "अभ्युपगमेपीत्यादि [प्रधान में स्वतः प्रवृत्ति को मान लेने पर भी प्रयोजनाभाव से
प्रवृत्ति अनुपपन्न ही है ।] प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति को स्वीकार करने पर भी प्रयोजन के
अभाव होने से प्रवृत्ति अनुपपन्न होती है । तथाहि जो यह प्रधान की प्रवृत्ति है वह स्वार्थ
प्रवृत्ति होती है अथवा पुरुषार्थ प्रवृत्ति होती है अथवा उभयार्थक प्रवृत्ति होती है ? इसमें
प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान तो स्वतः जड है तो उसको अपेक्षा का अभाव

वेतिविचारणीयम् । तत्र न प्रथमः पक्षः । प्रधानस्याचेतनत्वेनापेक्षाभावात् । न द्वितीयः । पुरुषस्याकर्तृत्वादौदासीन्याच्च प्रयोजनाभावेन कस्य मोक्षः स्यात् । किञ्च प्रयोजनाभावादेव प्रवृत्तिरपि न स्यात् । तदभावे च पुरुषस्य स्वत एव कैवल्यम्फलति । कैवल्यार्थमस्ति प्रवृत्तेः प्रयोजनमिति न प्रधानस्य कारणत्वम् ॥९॥

५ विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् २।२।१० ५

सांख्या हि प्रधानस्य पारार्थ्यमभिधाय पुरुषभोगार्थमेव प्रवृत्तिमाहुः । पुरुषस्य चैतन्यमात्रवपुषो नित्यत्वं निर्विकारत्वञ्चाहुः सहत्वान् । नापि औत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः, अचेतने तदसंभवात् । नवा पुरुषस्य ज्ञस्यापरिणामित्वात्तस्मान्न सांख्यवादः समीचीनः । एतत्सर्वं मनसि निधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते भाष्यकारः अथकथञ्चिदचेतनेपि प्रधाने इत्यादि । अवतणेनैव भाष्यग्रन्थो व्याख्यातो भवतीति नातः परं विचारः प्रवर्तते ॥९॥

यदिदं सांख्यदर्शनम् तत् परस्परविरोधादसमञ्जसमेव तथाहि तत्र क्वचित्स्थल है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है—क्योंकि पुरुष कर्ता नहीं है तथा उदासीन है तो उसको भी किसी भी प्रकार का कोई प्रयोज नहीं है । इसलिए तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है । चतुर्थ पक्ष तो कोई संभवित ही नहीं है । तथा स्वकीय अथवा परकीय प्रयोजन का अभाव होने से किसको मोक्ष होगा । अर्थात् किसी को भी मोक्ष नहीं होगा और प्रयोजन का अभाव होने से प्रवृत्ति नहीं होगी तो स्वतः सिद्ध कैवल्य मोक्ष फलित होता है कैवल्य के लिए प्रवृत्ति का प्रयोजन है । इसलिए प्रधान में कारणतावाद युक्त नहीं है ॥९॥

सांख्यलोक प्रकृति को परार्थ कहकरके पुरुष के भोगापवर्ग को साधन करने के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति होती है ऐसा कहते हैं । और चैतन्यमात्र स्वरूपक पुरुष की नित्य तथा निर्विकार कहते हैं तो यह विप्रतिषिद्ध है । क्योंकि नित्यनिर्विकार में भोगाप वर्ग बाधित है । निर्विकार को अध्यास से भोग तथा विवेकरूप मोक्ष होता है यह विप्रतिषिद्ध है । क्योंकि एक ही पुरुष में सबसे औदासीन्य तथा पुनः उसी को भोग और मोक्षाधिकारित्व नहीं हो सकता है तो ऐसा कहने से परस्पर विप्रतिषेध होता है । तथा किसी

रिति विप्रतिषिद्धमिदम् नित्यनिर्विकारस्याध्यासादेव भोगस्तद्विवेक
रूपो मोक्षश्चेति परस्परं विरोधः । न ह्येकस्यैव पुरुषस्य सर्वस्मादौदासीन्यं
तस्यैव च पुनर्भोगमोक्षाधिकारित्वं सम्भवतीति तथाभिधानाद्विप्रति-
षेधः परस्परम् । तथा क्वचिन्महत्तन्मात्रासर्गं क्वचिच्चाहंकारात् ।
क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि क्वचित्त्वगिन्द्रिये ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तर्भा-
व्यैकं त्वगिन्द्रियं पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्तेन्द्रियाण्याहुस्त्येव
मन्योन्यप्रतिषेधात्तेषां दर्शनमसमञ्जसम् । एतेन मायिमतमप्यपाकृतं
वेदितव्यम् । न हि निः संगस्य निर्विकारस्यागुणस्य ब्रह्मणोजग-
त्सर्गोयुज्यते न वा नित्यमुक्तस्य तस्यैव मोक्षः । सर्वस्यासङ्गे ब्रह्म-
ण्यध्यस्तत्वात्स्वाप्नप्रत्ययवदुपनिषदादीनामपि भ्रान्तिप्रयुक्तत्वात्तदु-
विशेषे सप्तेन्द्रियाणां कथनं कृतं क्वचिदेकादशेन्द्रियाणाम्, कुत्रचित् त्रीणि अन्तः
करणानि क्वचिदेकमेव क्वचिन्महत्तत्वात् तन्मात्रासर्गं दर्शयति, तथा कुत्रचिदहङ्कारादेव ।
स्थल में प्रकृति कार्य महत्त्व से आकाशादि तन्मात्रा के सर्ग को बतलाया है और किसी
स्थल में महत्त्व का कार्य जो अभिमान लक्षण अहंकार पञ्चतन्मात्रा सर्ग का प्रतिपादन
करते हैं । “अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः” इस नियम से । एवं कहीं तो
पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय एकादश मन इस तरह एकादश का कथन किया है ।
तथा कहीं तो त्वगिन्द्रिय में ज्ञानेन्द्रिय को अन्तर्भाव कर के एकत्वगिन्द्रिय
पाँच कर्मेन्द्रिय और एकमन इस प्रकार सात इन्द्रिय को मानते हैं । तो इस प्रकार
परस्पर विप्रतिषेध होने से सांख्यो का दर्शन अयुक्त है । सांख्य दर्शन का विप्रतिषेध
होने से जो असमञ्जस्य का कथन किया गया उससे मायावादियों का मत भी निराकृत
किया गया है ऐसा जानना क्योंकि असंग निर्विकार तथा गुण रहित ब्रह्म से जगत्सर्ग
होता है यह कथन उपयुक्त नहीं है नवा नित्यमुक्त आत्मा का मोक्ष होता है यह
कथन भी युक्त है और सभी पदार्थ असंग ब्रह्म में अध्यस्त होने से स्वाप्निक वेद्य वत्
उपनिषदादि शास्त्र को भी भ्रान्ति प्रयुक्त होने से तादृश शास्त्र प्रतिपाद्य अभेद का भी

पदिष्टस्याभेदस्यापि मिथ्यात्वमित्यनेकदोषसमन्वितत्वेन विरोधाद्
समञ्जसमितिदिक् ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

अथ महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् २।२।११

एवं प्रधानकारणवादं समालोच्य परमाणुकारणवादः समा-
लोच्यते । तत्रायं संशयः । किम्परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यमा-
होस्विदसामञ्जस्यम् ? तत्र सामञ्जस्यमिति पूर्वः पक्षः । कुतः ?
इत्यादि परस्परविरोधान्नतन्मतं युक्तमिति । तथा श्रुतिविरोधः श्रुत्यकूलस्मृतिविरोध-
श्चापि । इत्यादिदोषं दर्शयितुमाह विप्रतिषेधादित्यादि ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यदीपे रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

यथा सांख्यीयप्रधानकारणवादो ब्रह्मकारणविरोधी तथैव परमाणुकारणवादो
वैशेषिकाभिमतो ब्रह्मकारणविरोधित्वान् प्रत्याख्येय एवेति तन्निराकरणायोपक्रमते
मिथ्यात्व होता है इत्यादि अनेक दोषयुक्त होकर बिरोध होने से यह भी असमंजस
ही है । इसप्रकार सांख्य तथा मायिमत में असामञ्जस्य है ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यप्रकाशे प्रकाशे रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रधानकारणवाद की समालोचना करके उसके बाद परमाणु
कारणवाद का समालोचन करते हैं अर्थात् जिस तरह प्रधानकारणवाद ब्रह्मकारणवाद का
विरोधी है तो उसका निराकरण किया गया है उसीतरह परमाणु कारणवाद भी ब्रह्मकारणवाद
का विरोधी है अतः इस परमाणु कारणवाद का भी निराकरण करते हैं । इस परमाणु कारण-
वाद में संशय होता है क्या यह परमाणु कारणवाद समंजस अर्थात् युक्ति युक्त है
अथवा असमंजस है युक्त नहीं है । तो उसमें युक्ति युक्त है ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।
क्योंकि तन्तु कपालादि रूप अवयवों से पट घटादि रूप कार्य का उत्पाद होता है ऐसा

अवयवेभ्योऽवयव्युत्पत्त्यङ्गीकारात् । सर्षपमेरुपर्वतादिवैषम्यस्याल्पाव
यववह्वयवकृतत्वदर्शनाच्चावयवाल्पत्वकाष्ठापरमाणुरिति परमाणुसिद्धिः ।

ते च परमाणवो द्व्यणुकाद्युत्पादनक्रमेणाखिलं ब्रह्माण्डं
जनयन्तीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह 'महदीर्घवदिति । असमञ्जसमित्य
नुवर्तते । वाशब्दश्चार्थकः । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां

एवं प्रधानकारणवादमित्यादि । यदि आकाशादिपृथिव्यन्तो जडकार्यचेतनपरमात्मकारणकं
भवेत्तदा, कारणगुणः कार्यगतं समानजातीयं गुणान्तरमुत्पादयतीति नियमेन परमात्म
गतं चैतन्यं कार्य आकाशादौ चैतन्यान्तरमुत्पादयिष्यतीति जगदपि चेतनं स्यात् परन्तु
प्रत्यक्षादिविरोधानेन भवति । तस्मात्परमेष्ठिनो न जगत उपादकः किन्तु अचेतन-
मेव तादृशं किञ्चिदचेतनस्य जगत उपादानं मृद्वत् । ततश्च योऽचेतनोऽचेतनस्य
कारणं स परमाणुर्निर्वयवः । तौ च परमाणू अदृष्टादिवलेन संयुज्यक्रमेण सावयवं
कार्यमारभेते । ततश्च द्व्यणुकोदारभ्य महाऽवयवविघटादिपर्यन्तकार्यस्योत्पत्तिर्भवति ।
माना गया है । कपाल से घट कपालिका से कपाल त्र्यसरेणु से कपालिका द्व्यणुक से कपाल
त्र्यसरेणु से कपालिका द्व्यणु से त्र्यसरेणु परमाणु से द्व्यणुक उत्पन्न होता है । सरसों
बहुत छोटा होता है तो सुमेरु पर्वत बहुत बड़ा होता है इनमें जो विषमता है वह अवयव
के अल्पत्व बहुत्व प्रयुक्त है ऐसा देखने में आया है । इस अवयवचारा का जहाँ विश्राम
होता है उसको अगर अनित्य मानें तब असमवेत भावकार्य का उत्पाद प्रसंग हो जायगा
अर्थात् वह यदि अनित्य है तब अवश्य जन्य होगा तब आगे अनवस्था भय से तो कोई
अवयव है नहीं जिसमें वह समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होगा ओर जन्यत्वात् उत्पाद होना
आवश्यक है तो समवायिकारण के बिना भी उत्पाद प्रसंग हो जायगा । अब वह नित्य है
तथा सर्वान्त में अवस्थित वही परमाणु है इसप्रकार से परमाणु की सिद्धि है । वह परमाणु
पार्थिव जलीय तैजस वायवीय चार प्रकार का है । इसी से रूपस्पर्शादि मान सावयव
सम्पूर्ण जगत् की जो जड है उसकी उत्पत्ति होती है । ये परमाणु द्व्यणुक त्र्यसरेणुविगेरको उत्पाद
क्रम से अखिल ब्रह्माण्ड को उत्पादित करते हैं ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं "महदीर्घवदित्यादि" महदीर्घवद्वा इत्यादि सूत्र में
"असमञ्जसम्" इसका अनुवर्तन होता है विप्रतिषेधादित्यादि सूत्र से । तथा घटक "वा शब्द-

महद्दीर्घवत् त्र्यणुकद्व्यणुकोत्पत्तिवदन्यत्सर्वं च तदभ्युपगतमसञ्जसम् ।
 तत्र काणादा द्वयोः परमाण्वोः संयोगात् द्व्यणुकं जायते त्रयाणां
 द्व्यणुकानां संयोगात् त्र्यणुकमुत्पद्यते । एवं चतुरणुकादिकमपि
 ज्ञेयम् । तत्र परिमण्डलात् द्व्यणुकमणुजायते परिमण्डलगतं परिमा-
 ण्डल्यन्तु न द्व्यणुके परिमाण्डल्यपरिमाणञ्जनयति । किन्तु
 परमाणुसमवेतद्वित्वसंख्यैव द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते । एवं द्व्यणुक
 तत्र समवायिकारणं परमाणुरसमवायिकारणं तदीयः संयोगोनिमित्तकारणमदृष्टादि-
 कमचेतनं चेतनः परमेश्वरश्च कुलालादिवदेवनिमित्तम् । नतु परमेश्वरः समवायिकार-
 णम्-द्रव्यात्मककार्यं क्वचिदपि चेतनस्य क्वचिदपि पटादौ समवायिकारणत्वस्या-
 दृष्टत्वादनुपपन्नत्वाच्च । तथात्वस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वात् । तदेतत्सर्वं भाष्यकारो
 दर्शयति किं परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्य मित्यादिना । पूर्वपक्षं व्यवस्थितं करोति
 कुतः ! अवयवेभ्य इत्यादिना ।

तमेतं परमाणुकारणवादं तदीयप्रक्रियैव दूषयितुमाह महद्दीर्घवदिति । परमाणु-
 कारणवादं विभज्यदर्शयति तत्र काणादा द्वयोः परमाण्वोरित्यादि एतन्मतं दूषयितुमाह
 विकल्पार्थक नही है च अवयव के अर्थ में है । ह्रस्व परिमण्डल से अर्थात् द्व्यणुक तथा
 परमाणु से महत् दीर्घवत् त्र्यणुक द्व्यणुक की तरह एतदन्य नैयायिकाभिमत सब
 असमञ्जस है ।

यहाँ दो परमाणु के संयोग से द्व्यणुक उत्पन्न होता है । और तीन द्व्यणुकों
 से त्र्यसरेणु की उत्पत्ति होती है । इसी तरह चतुरणुक से लेकर के घटादि महावयवी
 पर्यन्त अवयवी की उत्पत्ति होती है और कारणगुण द्वारा कार्यगत गुणादिकों की उत्पत्ति होती
 है इस प्रकार तदीय सिद्ध उत्पाद क्रिया को जानना चाहिए ।

उसमें परिमण्डल जो परमाणु उससे द्व्यणुक रूप द्रव्य तो उत्पन्न होता है परन्तु
 परमाणु रूप समवायिकारणगत जो परिमाण्डल्य अणुपरिमाण सो कार्य जो द्व्यणुक तद्गत
 परिमाण्डल्य परिमाण को उत्पन्न नहीं करता है । किन्तु परमेश्वरीयापेक्षा बुद्धि से जायमान
 जो द्वित्वसंख्या वही द्व्यणुक में परिमाणान्तर का जनक होता है । [तीन प्रकार से कार्य
 में परिणाम की उत्पत्ति होती है कारण कि बहुत्व से ! परिमाण से तथा शिथिलाख्य

गतह्रस्वाणुत्वे परिमाणे त्र्यणुके स्वसमानजातीये ह्रस्वाणुत्वेनारभेते
ऽपि तु द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्यैव महत्वदीर्घत्वे आरभत इति
वदन्ति ।

तदेतदसमञ्जसम् । यथा कारणभूता अवयवाः संयुज्यमाना
अवयविनं कार्यरूपं महान्तं जनयन्ति तथाऽवयवगते ह्रस्वत्वाणुत्व
तदेतदसमञ्जसमित्यादि । अयंभावः । यथा कारणे परमाणौ विद्यमानः शुक्लादिगुणः
समानजातीयपरं शुक्लान्तरमारभते किन्तु कारणगतं परिमाणं कार्यपरिमाणान्तरं
नोत्पादयति किन्तु कारणे विद्यमानापरमेश्वरीयापेक्षा बुद्धिं जनिता संख्यैव विसजातीय
परिमाणस्य प्रयोजिका भवति, तत्रैव कारणगतागुणा इत्यादि नियमस्य व्यभिचार इति.
एवं परमेश्वरे विद्यमानमपि चैतन्यं कार्यं जगति प्रात्यक्षिकाचेतने विरोधिनमचैतन्यं
नोत्पादयति । तत्र न कोपि दोषो ब्रह्मकारणवादे समापतति । अपि च परमाणुकारण
वादः केवलतर्कमात्राश्रितः ब्रह्मकारणवादस्तु श्रुत्यनुमोदित इति स एव श्रेयान्नतु पर-
संयोग से जैसे कपाल के परिमाण से घट का परिमाण उत्पन्न होता है । शिथिलाख्य संयोग
से तूलपिण्ड में परिमाण उत्पन्न होता है । और परमाणुगत तथा द्व्यणुकगत द्वित्व त्रित्व
संख्या से द्व्यणुकगत तथा त्र्यणुकगत संख्या की उत्पत्ति होती है परमाणु के परिमाण से
द्व्यणुक का परिमाण तथा द्व्यणुक के परिमाण से त्र्यसरेणु का परिमाण उत्पन्न नहीं होता
है क्योंकि परिमाण का नियम है कि स्वसमान जातीय तथा स्वोत्कृष्ट परिमाणान्तर जनक
होता है ऐसा नियम है । तो यदि परमाणु का परिमाण कार्य द्व्यणुकगत परिमाण को
तथा द्व्यणुक का परिमाण त्र्यसरेणु परिमाण का जनक होगा तो अणुत्व का सजातीय तथा
तदपेक्षया उत्कृष्ट परिमाण का जनक होगा तब महत् परिमाण से आरब्ध घटका
परिमाण महत्तर होता है उसी तरह अणु में जायमान अणुतरत्व होने से घटादिक पदार्थ
चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा । अतः परमाणु का परिमाण से द्व्यणुक परिमाण की उत्पत्ति
नहीं होती है किन्तु कारणगत द्वित्वत्रित्व संख्या से द्व्यणुक त्रसरेणुगत की उत्पत्ति होती है ।]

किन्तु परमाणु में समवाय सम्बन्ध से द्वित्व संख्या ही द्व्यणुक में परिमाणान्तर
की उत्पादिका होती है । एवं द्व्यणुक में समवेत जो ह्रस्वत्व अणुत्व परिमाण वह
त्र्यसरेणु में स्वसमान जातीय अणुत्व ह्रस्वत्व को उत्पन्न नहीं कराता है किन्तु त्रसरेणुगत

परिमाणे संयुज्यमाने अवययिनि महत्वदीर्घत्वपरिमाणे किन्नजन यतः । यथा वावयवानां बहुत्वे तदवयविकार्यं बृहज्जायते तथा वयवपरिमाणबहुत्वेऽवयविपरिमाणमपि महद्दीर्घं वा जायताम् । त्रित्वसंख्यायास्त्र्यणुकगतमहत्परिमाणकारणत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वाच्च ।

किञ्च जगत्कारणत्वेन स्वीकृतानां परिमाणानामपि जडत्वेन चेतना धृष्टितिमन्तरेण कार्योत्पादकत्वानुपपत्तेः । परिमाणसमूहभूतानां पृथिव्यादीनाञ्च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै.२।१)

माणकारणवादः । किञ्चाचेतनस्य कपालादेः कुलालाद्यनधिष्ठितस्य कार्याक्षमत्वं तथैव परिमाणोरपि न कार्यक्षमतेति । इष्टापत्तौ ब्रह्मकारणवादः समापततीति 'ईशाधिष्ठितमायायाः कारणत्वं श्रुतौ श्रुतम् । ततश्च परमाणूनां कारणत्वं न मन्यते ॥ शून्याश्चावयवैस्ते वा संयुताः परमाणवः ? । न द्वयं हि यतश्चाद्ये संयोगो न भवेन्मिथः ॥ संयोगः किञ्चिदंशवच्छेदं विना न जायते । मतेऽवच्छेदके चांशेऽवयवौः शून्यता कुतः ? । अनवस्था भवेदन्येऽवयवावयवित्वतः । जगत्स्तन्न मन्यन्ते हेतवः परमाणवः ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्न सिद्ध्यन्ति परमाणवः । ततस्तेषु न हेतुत्वं जगतः संमतं बुधैः ॥ द्व्यणुकाः सावयवा नु महदारंभकत्वतः । इत्यनुमानतः सिद्धास्तन्तुवत्परमाणवः ॥ जो त्रित्व संख्या वही महत्व दीर्घत्व रूप परिमाणान्तर की उत्पादिका है ऐसा कणादानुयायी कहते हैं ।

परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि [जिस तरह परिमाण रूप कारण में विद्यमान भी परिमाण कार्यरूप द्व्यणुक में परिमाणान्तर का उत्पादक नहीं होता है उसी तरह परमेश्वरगत चैतन्य कार्यरूप जगत् चैतन्यान्तर का उत्पादक नहीं होता है इसमें आपको क्या क्षति है] जिस तरह कारणभूत अवयव समुदाय परस्पर संयुक्त होकर के स्वापेक्षया महत्तर कार्य घटादि लक्षण को उत्पादित करते हैं उसी तरह परमाणु प्रभृति कारण में समवेत अणुत्व ह्रस्वत्व परिमाण कारण द्वारा सम्बद्ध होकर के अवयवी द्व्यणुक त्रसरेणु में महत्व दीर्घत्व परिमाण को क्यों नहीं पैदा करते हैं ? यथावा अवयवों का जो बहुत्व है वह स्वकीय अवयवी रूप कार्य को बृहत् बनाता है उसी तरह अवयव परिमाण तथा बहुत्व होने पर अवयवी का परिमाणभी महत् अथवा दीर्घ होवे । और त्रसरेणुगत जो त्रित्व संख्या है उसको त्र्यणुकगत महत्परिमाण के प्रतिकारणत्व कल्पन उचित नहीं

इत्येवमादिसृष्टिवाक्येषु परमात्मनः एवोत्पत्तेः श्रवणाच्च परमाणु
कारणवादस्य स्पष्टमसामञ्जस्यं श्रुत्यमूलकत्वञ्च ॥११॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः २।२।१२

यच्च सृष्टेः पूर्वं निश्चलेषु परमाणुष्वद्यं कर्मजायते तच्च
स्वाश्रयभूतं परमाणुमपरेण परमाणुना संयुनक्ति तदेव द्व्यणुकम् ।
एवं क्रमेण चतुर्णां महाभूतानामुत्पत्तिरिति वैशेषिकसमयः । स
चासम्भवः । कुतः ? परमाणुगताद्यकर्मणोऽभावात् । कर्मणश्च
वक्तुं न शक्यते चैवं द्व्यणुकास्वीकृतेः खलु । सावयवं रजश्चास्ति जालसूर्यमरीचिगम् ॥
चाक्षुषद्रव्यतावत्त्वात्तदंशो द्व्यणुको ननु । मैवं वाच्यं यतश्चायं हेतुरस्त्यप्रयोजकः ॥
सर्वगतं सुसूक्ष्मं च इत्येतच्छ्रुतिगोचरः । ईद्वरोऽस्ति ततोनास्या विषयः परमाणवः'
(श्रौत प्र. च. १।८३-९१) इत्यादिरूपेणाचार्योक्तेः ॥११॥

परमाणुकारणवादनिरासाय द्वितीयसूत्रमवतारयति । स च परमाणुकारणवाद
इत्थं समुपस्थितो भवति । पटादिलक्षणंजन्यद्रव्यं स्वानुगतसंयोगात्मका समवायि
कारणनिमित्तकारणादिसहकृतसमवायिकारणतन्तुभिः समुत्पद्यमानं भवति, तन्तुश्चां
है । और भी जगत् के कारण रूप से स्वीकृत जो परमाणु है उसको अचेतन होने से
चेतनाधिष्ठान के बिना कपाळादिवत् कार्योत्पादकत्व अनुपपन्न है । और परमाणु का समूह
रूप जो पृथिवी जलादिक उसका "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों
में परमात्मा से ही उत्पत्ति का श्रवण है । अर्थात् यदि पृथिव्यादि जगत् का उत्पादक
परमाणु हो तब श्रुति में जो आत्मा से पृथिव्यादि जगत् का उत्पाद कहा है वह असंगत
होगा । श्रुति को अप्रामाणिक कह नहीं सकते क्योंकि श्रुति तो स्वतः प्रमाण है । अतः
जडचेतन साधारण जगत् की उत्पत्ति परमेश्वर से होती है परमाणु से नहीं होती है ।
तस्मात् परमाणु कारणवाद समंजस नहीं है । तथा परमाणु कारणवाद श्रुतिमूलक नहीं है
प्रत्युत श्रुतिविरोधी है । अतः यह मत समीचीन नहीं है ॥११॥

परमाणु कारणवाद का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "यच्च
सृष्टेरित्यादि" सृष्टि के अव्यवहित पूर्वकाल में सर्वथा क्रिया रहित परमाणु में जो क्रिया
उत्पन्न होती है वह कर्म स्वभा आश्रय भूत परमाणु को तद् भिन्न द्वितीय परमाणु के

कार्यतया निमित्तमन्तरेण तस्यानिष्पत्तेः । नहि तदानीमात्मगुणभूतं प्रयत्नादिकं निमित्तं सम्भवति । शरीरनिबन्धनः प्रयत्नस्तदभावाच्चोत्पत्तुमीष्टे । अतएव नाभिघातादिकमपि कारणान्तरम् । अतो न केवलकर्मपूर्वकत्वञ्जगदुत्पत्तेः सम्भवति । न चादृष्टमेव सर्गादौ कर्मणो निमित्तं भविष्यतीति वाच्यम् । तस्य परमाणुनिष्ठत्वे जीवनिष्ठत्वे बोधयथाप्यचेतनस्यादृष्टस्य कर्मप्रेरकत्वाभावान्नाद्यं कर्म

शुभ्यः, एवं क्रमेण संयोगसहकृतपरमाणुभ्यां द्व्यणुकं तदनन्तरं कर्मपरंपरया सर्वस्यान्तिमावयविनः सगुत्पत्तिर्भवति । स एव जन्यद्रव्याधिकरणलक्षणः कालः सर्गः । पुनरदृष्टवशात् परमाणौ क्रिया ततो विभाग इति असमवायिकारणसंयोगनाशात् चरमावयवीविनाशेन जन्यद्रव्यानधिकरणकालविशेषः प्रलयो भवति । एवं हि वैशेषिकः सिद्धान्तः । तत्र प्रतिविधीयते सर्गाय प्रलयाय वा योयं संयोगोविभागोवा स च साथ संयुक्त करता है वही द्व्यणुक रूप द्रव्य है अर्थात् परमाणु द्वय समवायि कारण है और उन दोनों का जो क्रियाजन्य संयोग है उसको असमवायिकारण बना करके तथा अदृष्टादि रूप निमित्त कारण के बल से द्व्यणुक उत्पन्न होता है । [यद् अभिप्राय है “संयुक्ति तदेव द्व्यणुकम्” इस भाष्य का अभिप्राय है अन्यथा यथा श्रुतार्थ मानें तब तो संयोग लक्षण द्व्यणुक होगा वह तो द्रव्य गुण का तादात्म्य का बाध है और यदि संयोगात्मक द्व्यणुक हो तब तो तादृश संयोग तथा द्व्यणुक में जन्यजनकभाव नहीं होगा क्योंकि पूर्वापार कालवृत्तित्व कार्यकारण में होता है । एवं संयोग द्व्यणुक ही एकता हो तो असमवायिकारण संयोग नाशोन्तर काल में द्व्यणुक नाश का जो नियम है उसका अभाव हो जायगा ।] इस प्रकार क्रमिक महाभूतों की उत्पत्ति तत्तत् अवयव द्वारा होती है । अर्थात् संयोग सहकृत परमाणु से द्व्यणुक तीन द्व्यणुक से त्रयसरेणुः इत्यादि क्रम से अन्तिमावयवी द्रव्य तथा शरीरादि का उत्पाद होता है ऐसा वैशेषिक का सिद्धान्त है ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं “स चासंभव इति” वह पूर्वोक्त वैशेषिक सिद्धान्त असंभवित है । क्योंकि परमाणु में होने वाला जो प्राथमिक कर्म उसका अभाव होने से यतः प्राथमिक जो कर्म है वह जन्य है तो उसका कोई निमित्त कारण नहीं होने से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । उस समय में आत्मका गुणभूत प्रयत्नादिक

समुत्पद्येत । प्रलये जीवस्य मनः संयोगं विना ज्ञानवत्त्वाभावेनादृष्ट
प्रेरकत्वानुपपत्तोश्च न सर्गाद्यकालिकं कर्म सम्भवति । तस्मात्
संयोगविभागहेतुकर्माभावात् संयोगविभागहेतुकयोः सृष्टिप्रलय-
योरभावः ॥१२॥

कार्यत्वात् निमित्तसाध्यः, तच्च निमित्तं प्रयत्नादिकं न संभवति तत्कारणशरीराद्य-
भावात्, नापि अदृष्टं तस्य विकल्पासहत्वात् । तदात्मसमवेतं पदार्थसमवेतं वा, नाद्यस्त-
दानीमात्मनोऽनुत्पन्नचैतन्यात्, न द्वितीयोचेतनेदृष्टानभ्युपगमात् । तस्मात् कर्म-
कारणाभावात् कर्माभावस्तदभावे संभोगविभागयोरभावः । तदभावात्सर्गप्रलययोरभाव
इति न स वादो युक्तियुक्त इत्यादि वेदयितुं सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते यच्च सृष्टेः पूर्वनिश्च
लेष्वित्यादि अतिरोहितार्थोभाष्यग्रन्थः ॥१२॥

तो संभवित नहीं है क्योंकि प्रयत्न शरीर मूलक होता है और उस समय में तो
शरीर नहीं है अतः शरीर जन्य प्रयत्न उत्पन्न नहीं हो सकता है । अतएव शरीरमूलक
अभिधातादिक भी कारणान्तर संभवित नहीं है । अतः केवल कर्मक्रिया पूर्वक जगत् का
उत्पाद नहीं हो सकता है ।

नहीं कहो कि सर्ग आदि में कर्म का निमित्त कारण अदृष्ट है यह कहना भी
ठीक है क्योंकि उस कर्म को परमाणु वृत्तित्व हो अथवा जीवात्मवृत्तित्व हो उभयथापि
अचेतन अदृष्ट को कर्म प्रेरकत्व नहीं हो सकता है । तस्मात् प्राथमिक कर्म उत्पन्न नहीं
हो सकता है । और प्रलय में जीव को मनः संयोग के बिना ज्ञानाश्रय नहीं होने से
अदृष्ट का प्रेरकत्व अनुपपन्न है इसलिए सर्ग के आद्यकालिक कर्म नहीं हो सकता है ।
तस्मात् संयोग विभाग के हेतुभूत जो कर्म उसका अभाव होने से संयोग विभाग कारणक
सर्ग प्रलय का अभाव प्राप्त हो जाता है । इसलिए नैशेषिकाभिमत परमाणु कारणवाद
समीचिन नहीं है ॥१२॥

५ समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१३ ५

तदभाव इत्यनुवर्तते । परमाणुकारणवादस्याभावोऽसम्भव इति यावत् । कुतः ? समवायस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाभावेभ्यः पार्थक्येन पदार्थान्तरत्वेन स्वीकारात् । वैशेषिका ह्यवयवावयविनो- गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः

समवायसम्बन्धनिराकरणद्वारेण परमाणुकारणवादं निराकर्तुमाह समवायाभ्युप- गमादित्यादि तत्र विशिष्टबुद्धिनियामकत्वं सम्बन्धत्वं यथा घटवद्भूतलमित्यत्रघटोविशेषणं विशेष्यं भूतलं सम्बन्धद्वयोर्द्रव्यत्वाद् योग्यतावलेन संयोगः । तत्रैव नित्यत्वे सति-

संयोगादि सम्बन्ध के समान एक विलक्षण समवाय सम्बन्ध मानते हैं. तादृश समवाय का निराकरण द्वारा परमाणु कारणवाद का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'समवायाभ्युप- गमादित्यादि' पूर्व सूत्र से, इस सूत्र में 'तदभावः' इसका अनुवर्तन किया जाता है । अर्थात् परमाणु कारणवाद का अभाव असंभव है । क्यों ! तो समवाय को द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष तथा अभाव नामक परिगणित पदार्थ से पार्थक्येन स्वीकार करते हैं । द्रव्यत्वजातिमान् अथवा समवायिकारण जो हो उसको द्रव्य कहते हैं । रूपादिक चौविस गुणत्व जातिमान् को गुण कहते हैं । उत्क्षेपणादिक पाँच कर्म है, चलतीत्यादि प्रतीति नियामक कर्म हैं । अनुगत प्रत्यय का नियामक जो है, उसको सामान्य कहते हैं. यह दो प्रकार का होता है पर तथा अपर सर्वापेक्षया व्यापक को सत्ता कहते हैं. घटत्वादि सामान्य को अपर कहते हैं । पृथिवीत्व द्रव्यत्व गुणत्वादिक को परापर सामान्य कहते हैं. पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापक- त्वाधिक देश वृत्ति होने से द्रव्यत्वादिक को पर सामान्य कहते हैं. तथा सत्ता की अपेक्षा से व्याप्य तथा अल्पदेश वृत्ति होने से अपर सामान्य कहते हैं । यद्यपि परत्व अपरत्वधर्म परस्पर विरोधी है, तथापि अपेक्षाविशेष को लेकरके उभय धर्म का समावेश होने से कोई विरोध नहीं होता है । जिस तरह प्रतियोगि भेद से एक ही पदार्थ पूर्व पश्चिम दक्षिणोत्तर भेदभाक् होता है । यथावा प्रतियोगी के भेद से एक ही व्यक्ति पण्डित बदान्य पितामह कहलाता है । व्यावृत्ति प्रत्यय के नियामक स्वतो व्यावर्तक को विशेष कहते हैं, अथवा नित्य

सम्बन्धः स एव समवायः सम्बन्धिभ्यां भिन्नाः सन् स्वरूपेण सम्बद्ध-
 ध्यत इत्यभ्युपयन्ति । तदसमञ्जसम् । कुतः ? यथा गुणगुणिनो
 भिन्नावेव समवायेन सम्बद्धेते तथा समवायस्यापि भिन्नत्वाविशे-
 षात्सम्बन्धान्तरं वाच्यम् । तथा च समवायस्य समवायान्तरेण सम्बद्ध-
 सम्बन्धत्वां समवायत्वम्, समवायलक्षणम् । अयं द्रव्यगुणादीनां भवति, यथा रूप-
 वान् वायुरित्यपि प्रतीतिः प्रसंग इति वाच्यं, वायौ विशेषणीभूतरूपाभावेन तथा
 प्रतीतेरभावात् । न च सम्बन्धसत्तायाः सम्बन्धिसत्ता नियामकत्वेन रूपवान्
 वायुरिति प्रत्ययः स्यादिति वाच्यं, रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायस्य विशेषणा-
 हो नित्यवृत्ति तथा व्यावर्तक हो उसको विशेष कहते हैं । किसी का मत है कि पदार्थ
 स्वभाव विशेष से अनुवृत्त व्यावृत्त होता है, नतु अवृत्ति व्यावृत्ति पदार्थान्तर साध्य है,
 तथापि यदि स्वभाववाद का अनुसरण करें तब तो कार्यकारणादि व्यवस्था का विलेप होता
 है । इसका विशेष विवरण 'नैकस्मिन्नसंभवात्' इस सूत्र के भाष्य टीकादि में देखें ।
 नञ् पदजन्य प्रतीति का जो विषय हो उसको अभाव कहते हैं । यह दो प्रकार का होता
 है, अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव । उसमें तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को
 प्रथम कहते हैं, यह प्रायः समान विभक्तिक पदोपस्थाप्य तथा क्रियाविरहितस्थल में अभि-
 व्यक्त होता है, 'घटः पटो न' इति संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को संसर्गाभाव कहते
 हैं, यह प्रायः विभिन्न विभक्तिक पद स्थल में क्रिया समभिव्याहारस्थल में अभिव्यक्त होता
 है, 'भूतले घटोनास्ति' इत्यादि स्थल में । यह प्रागभाव प्रध्वंस अत्यन्ताभाव के भेद से चार
 प्रकार का होता है । उसमें प्रतियोगी के समवायीकारण में वृत्ति हो प्रतियोगी का उत्पादक
 तथा प्रतियोगी के पूर्वकाल में अवस्थित प्रतियोगी से विनाश्य हो उसको प्रागभाव कहते हैं,
 वह 'इहघटो भविष्यति समुत्पद्यते' इत्यादि प्रत्यय गम्य होता है । प्रतियोगी के समवायीकारण
 में वृत्ति प्रतियोगिपश्चिमोत्तरकाल वृत्ति प्रतियोगी के विनाशक अभाव को ध्वंस कहते हैं, यह
 'ध्वस्तः' इत्याकारक प्रत्ययगम्य होता है, एतदीय प्रतियोगिता सम्बन्धावच्छिन्न नहीं होती है,
 कोई-कोई इसका प्राक् काल उत्तरकाल को ही सम्बन्ध मानते हैं । और त्रैकालिक संसर्गा-
 वच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, इसकी प्रतियोगिता संयोगादि
 सम्बन्ध से अवच्छिन्ना होती है । यद्यपि अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, तो घटकाल में
 घटाभाव की प्रतीति होनी चाहिए, तथापि घटकाल में घटाभावकाल का अभाव होने से

त्वे तस्यापि समवायान्तरेणेत्यनवस्थितिः । न च स्वरूप एव सम्बन्धः
समवायस्येति साम्प्रतम्, तस्य तान्त्रिकैः सम्बन्धानङ्गीकारात् ।

किञ्च समवायतत्सम्बन्धिनोर्यदि स्वरूपसम्बन्धस्तर्हि गुणगुणिनामेव
भावेनाभावात् । न च विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकात् तथा प्रतीतिरापद्यते इति वाच्यं,
विशिष्टस्यातिरिक्तत्वात् विशेषणीभूतरूपादावनित्यत्वस्य पर्यवसानाद्वा । नवा आध्या-
सिकतादात्म्यं तादात्म्यं वा अपृथगू भावादिसम्बन्धेन समवायस्य गतार्थता, तथा
सति संज्ञामात्रे विवादात् । साम्प्रदायिकाभिनीवेशोवा नैयायिकैः प्रद्वेषोवेति । तस्मात्
सम्बन्धाभाव रहने से घटाभाव की प्रतीति नहीं होती है । इसमें प्रागभाव तथा ध्वंस अनित्य
होता है और अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य है । मीमांसक लोग अभाव को अविक-
रण स्वरूप मानते हैं आपाततः लाघव को देखकर के, परन्तु प्रतियोगि ग्राहक इन्द्रिय वेद्य
अभाव के होने से गन्धाभावादिक का प्राणादि इन्द्रिय ग्राह्यता के अनुरोध से अभाव को भाव
से अतिरिक्त मानते हैं, प्रथम अभाव प्रतियोगी का विरोधी होता है । द्वितीयाभाव पुनः
प्रतियोगी का ही स्वरूप हो जाता है 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' इस आचार्य
के नियम से । इस विषय पर अधिक विवरण अन्यत्र देखें, ग्रन्थ गौरवभय से संक्षेप
किया जाता है

'वैशेषिका' इत्यादि वैशेषिक लोग अवयवावयवी घट कपाल द्रव्यणुक परमाणु गुण
गुणवान् क्रिया क्रियावान् घटत्वादि जाति तथा घटादि व्यक्ति नित्य द्रव्य चार परमाणु
आकाशादि मन पर्यन्त नित्य द्रव्य तथा विशेष इन सबका जो सम्बन्ध उसको समवाय
कहते हैं । अर्थात् घटादि प्रतियोगिक कपालाद्यनुयोगिक गुणादि प्रतियोगिक द्रव्यानुयोगिक
क्रियाप्रतियोगिक व्यापकद्रव्येतर द्रव्यानुयोगिक जाति प्रतियोगिक व्यक्ति अनुयोगिक और
विशेष प्रतियोगिक नित्य द्रव्यानुयोगिक जो सम्बन्ध उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं ।
इन वस्तुओं में संयोगादि सम्बन्ध का संभव नहीं होता है । एतादृश समवाय सम्बन्धी
प्रतियोगी अनुयोगी से भिन्न है और स्वरूप सम्बन्ध अर्थात् प्रतियोगिता अनुयोगि
तान्यतर सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है आचाराधेय में । एतादृश न्यायमत समंजस नहीं है
अर्थात् युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि जिस तरह गुणगुणी परस्पर भिन्न होकर के समवाय
सम्बन्ध से परस्पर में सम्बद्ध होता है उसी तरह समवाय भी समवायी से भिन्न है तब
वह समवाय भी समवायान्तर सम्बन्ध से समवायी के साथ सम्बद्ध होगा । तथा सम्बन्ध

स्वरूपेणान्वियातां किमन्तर्गडुना समवायेन । न च समवायिभ्यो भिन्नाः समवायः स च नित्य एवेति वाच्यम् । तथा सति संयोग स्यापि संयोगिभ्यां भिन्नात्वान्नित्यत्वं स्यात् । तथा च न तस्यापि गुणादिप्रतियोगिकद्रव्याद्यनुयोगिकविशिष्टप्रतीतेः गुणाद्यनुयोगिकगुणत्वसत्तादि प्रतियोगिकविशिष्टबुद्धेः सिद्धत्वान्यथाऽनुपपत्त्या परिगणितसम्बन्धातिरिक्तसमवाय सम्बन्धोनैयायिकैः स्वीकृतः स च विशिष्टबुद्धिनियामकः । सम्बन्धान्तरानपे-
रूप समवाय को सम्बन्धी के साथ सम्बद्ध करने के लिए सवायान्तर को मानना पड़ेगा । तब पुनः समवायान्तर को पुन सम्बद्ध करने के लिए पुनः सम्बन्धान्तर की आवश्यकता होगी तो इस प्रकार सवाय की अनन्त अप्रामाणिक समवाय मानने से अनवस्था दोष होगा । (नहीं कहोकि अनेक समवाय मानने पर क्या क्षति होगी ? उत्तर=अनवस्था को स्वीकार करनेवाले को प्रागूलोप अविनिगम्यत्व तथा प्रमाणाभाव यह त्रिदोष अपरिहार्य होता है । इसलिए अनवस्था स्वीकार उचित नहीं है ।)

नहीं कहो कि समवायी तो समवाय सम्बन्ध से प्रतियोगी तथा अनुयोगी में सम्बन्ध होता है परन्तु समवाय तो समवायी के साथ स्वरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध होगा ? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्बद्ध द्विष्ट होता है ऐसा नियम है परन्तु स्वरूप तो द्विष्ट नहीं है इसलिए तान्त्रिकों ने स्वरूप को सम्बन्ध नहीं माना है । और यदि समवाय तथा समवायी को स्वरूप सम्बन्ध मानें तब तो उसी तरह गुण गुणी को भी स्वरूप सम्बन्ध से आधाराधेयभाव सिद्ध हो जायगा तो निरर्थक समवाय को सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है ।

नहीं कहो कि समवायी से अर्थात् गुणगुणी से समवाय भिन्न है और नित्य है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा यदि हो तब तो समवाय समवायी से भिन्न होने से नित्य है तो उसी तरह संयोग भी घटमूलादि रूप संयोगी से भिन्न है तब संयोग भी नित्य हो जायगा । ऐसा हुआ तब जैसे समवाय सम्बन्धान्तर निरपेक्ष है उसी तरह संयोग को भी सम्बन्धान्तर समवायादि से निरपेक्ष मानना होगा । नहीं कहो कि समवायवत् संयोग भी नित्य हो तो क्या क्षति है ? इस शंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं 'स्याच्चघटाभाववतीत्यादि' यदि संयोग को नित्य मानें तब घटाधिकरण में घटापनयन से

सम्बन्धान्तरापेक्षा स्यात् । स्याच्च घटाभाववति भूतले घटवत्ता प्रतीतिर्दुर्वाण तयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वात् । तस्मान्न संयोगस्य नित्यत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् । ततश्च समवायासिद्ध्या समवायित्वासिद्धौ द्व्यणुकाद्युत्पत्त्यभावेन जगद्रचनासिद्धेः परमाणुकारणवादस्यासिद्धिः ॥१३॥

क्षोऽन्यथाऽनवस्थितेरिति । एतादृशसमवायस्य खण्डनप्रकारस्तु इत्थम्, तत्तत्स्थलविशेषे परिगणितसम्बन्धविशेषादेव यथा कथञ्चिन्निर्वाहसंभवेऽतिरिक्तपारिभाषिकसमवायकल्पना कल्पनामात्रमेव । किञ्च समवायस्यैकत्वे सिद्धान्तहानिरनेकत्वे संयोगसमशीलत्वापत्तिः । अनित्यत्वे सिद्धान्तभङ्गः । नित्यत्वेऽन्यदीयविशेषणस्याप्यन्यत्र यथोक्तसम्बन्धबलेन विशिष्टप्रत्ययः प्रसज्येत । तस्मान्न समवायोन वा तन्मूलकः परमाणुकारणवादोऽतिशोभनः । अन्यदूषणजालं यथाभाष्यं ज्ञातव्यमिति शम् ॥१३॥

जो घटाभाव की प्रतीति होती है उस समय में भी घटवत्ता प्रतीति हो जायगी क्योंकि घट तथा भूतलका जो संयोग सम्बन्ध है वह आपके कथनानुसार नित्य है और सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी सत्ता का नियामक है इसलिए संयोग सम्बन्ध को नित्य होने की शंका निर्मूलक है । उस संयोग को नित्यत्व सर्वथा असंभवित है । एवं संयोग क्रियाजन्य है इसलिए भी उस संयोग को नित्य मानना उचित नहीं है । नहीं कहो कि संयोग तो गुण है इसीलिए संयोगी निष्ठ होने के समय में सम्बन्धान्तर सापेक्ष होता है समवाय तो गुणादि रूप नहीं है अतः उसमें सम्बन्धान्तर सापेक्षत्व नहीं होता है । यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि गुणगुणी से भिन्न नहीं है क्योंकि “शुक्लः केवल” इत्यादि स्थल में सामानाधिकरण्य प्रत्यय होने से द्रव्य का परिणाम विशेष ही गुण है द्रव्य व्यतिरिक्त नहीं है और गुणगुणी परिभाषा तो स्वगृह मात्र चर्चा का विषय है । उपयुक्त कम से अतिरिक्त समवाय की सिद्धि जब नहीं होती है तब समवायाधीन समवायी भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि तद्वर्तित पदार्थ तदधीन होता है । इस द्व्यणुकादि जन्य वस्तुओं का उत्पाद के अभाव होने से जगद्रचना की सिद्धि नहीं होने से परमाणु कारणवाद शोभनीय नहीं है । समवाय के विषय में विशेष विचार मत्कृत “न्यायाभिमत समवाय परीक्षा” नामक निबन्ध में देखें । इति संक्षेपः ॥१३॥

॥ नित्यमेव च भावात् २।२।१४ ॥

समवायोनित्य इति चेत्तर्हि समवायिनोः परमाणुद्वयणुकयो-
नित्यत्वं विना समवास्य नित्यत्वानुपपत्तेः । समवायिनोः परमाणु-
द्वयणुकयोर्द्वयोरपि नित्यमेव भावात्तयोः कार्यकारणाभावासिद्धेः
परमाणुकारणवादाऽसिद्धिः ॥१४॥

समवायोऽनित्योनित्योवेतिमतद्वये समानो दोषः । यश्च समवायस्य नित्यमेकत्व
आभ्युपैति तन्मते दोषं दर्शयितुमुपक्रमते समवायोनित्य इतीत्यादि सम्बन्धिनो विनाशात्
सम्बन्धस्य विनाशित्वं सेवादाबुपलब्धम्, संयोगादौ, समवायोऽपि सम्बन्धत्वात्तेनापि
तथैव भाव्यमिति समवायस्य नित्यत्वमुपपादयितुं सम्बन्धिनोपि तथात्वं वक्तव्यम् ।
ततश्च नित्ययोः परस्परं कार्यकारणभावाभावेन परमाणुकारणवादो न
सिद्ध्यतीति संक्षेपः ॥१४॥

परमाणुकारणवाद में दोषान्तर को बतलाने के लिए कहते हैं “नित्यमेव भावादिति”
जो लोग समवाय को नित्य तथा एक बतलाते हैं “समवाय नित्य” इत्यादि समवाय सम्बन्ध
नित्य मानें तब तो उस समवाय का सम्बन्धी जो परमाणु तथा द्वयणुक इन दोनों को
नित्य मानना चाहिए अन्यथा समवाय में नित्यत्व अनुपपन्न हो जायगा क्योंकि सम्बन्ध का
नित्यत्व अथवा अनित्यत्व सम्बन्ध के नित्यत्व अथवा अनित्यत्व पर निर्भर रहता है यह
बात संयोग में देखा गया है । तथाहि घट भूतल का अनित्य होने से तदीय संयोग भी
अनित्य होता है एवं आकाश कालादि रूप प्रतियोगी अनुयोगी के नित्य होने से तदीय
संयोग भी नित्य होता है तो प्रकृत में समवाय भी सम्बन्ध है सम्बन्ध होने से इसमें भी
नित्यत्व सम्बन्धि द्वय के नित्यत्व सापेक्ष है तो समवायी जा परमाणु तथा द्वयणुक इसमें भी
नित्यत्व होगा तभी ही समवाय नित्य होगा । सम्बन्धी द्वय को नित्य मानते हैं तो उन
दोनों को नित्य होने से कार्य कारणभाव नहीं होगा । कार्यकारण भाव नहीं होगा तो
परमाणु कारणवाद भी असिद्ध हो जाता है । अतः यह असमंजस्य परमाणु कारणवाद में है ।

और भी परमाणु प्रवृत्ति स्वभावक है अथवा निवृत्ति स्वभावक है
अथवा उभय स्वाभावक है या अनुभय स्वभावक है यदि प्रथम पक्ष मानें तब तो
सर्वदा संसार ही होता रहेगा मोक्ष तथा मोक्ष साधन का उपदेश निरर्थक हो जायगा । द्वितीय
पक्ष मानें तब तो सृष्टि प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा । तृतीय पक्ष तो परस्पर विरुद्ध
होने से व्याहत है । चतुर्थपक्ष भी अदृष्टचर होने से अनुपपन्न हैं । तस्मात् परमाणु कारणवाद
युक्ति युक्त नहीं होता है । अतः यह वाद सर्वथात्याज्य है । इति संक्षेपः ॥१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् २।२।१५

वैशेषिका हि परमाणूनामणुत्वं नित्यत्वं रूपस्पर्शादिमत्त्वञ्च मन्यन्ते । तेषाञ्च परस्परविरुद्धत्वात्तन्मतमसङ्गतम् । कुतः ? रूपस्पर्शादिमत्त्वविरोधेन परमाणूनामणुत्वनित्यत्वयोर्विपर्ययः । अणुत्वस्य नित्यत्वस्य विपर्ययः स्थूलत्वमनित्यत्वञ्चेति बोध्यम् । तथा हि जगत्कारणत्वेन स्वीकृतानां परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः स्थूलत्वमनित्यत्वञ्च भवितुमर्हति । तेषां रूपादिमत्त्वाच्च । यद्यद्रूपादिमतं तत्तु स्थूलमनित्यञ्च लोके दृष्टम् । रूपादिमतः पटादेः स्थूलत्वानित्यत्वयोर्दर्शनात् । तस्मान्न परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यम् ॥१५॥

परमाणवोऽनित्याः स्थूलाश्च रूपादिमत्त्वात् घटादिवत् । यो हि रूपस्पर्शादिमान् भवति सोऽनित्यः स्थूलश्च यथा घटादि । घटे विद्यमानं रूपस्पर्शादिमत्त्वं तत्रानित्यत्वं स्वकारणापेक्षया स्थूलत्वां च सिद्ध्यति । न च रूपादिमत्त्वं हेतुः स्वरूपासिद्ध इति वाच्यम्, परमाणौ रूपादीनामभावे घटादिषु रूपाद्यभावप्रसक्तेः कारणपरंपरया कार्ये रूपाद्युपलब्धेस्तदभिमतत्वात् । तथा च परमाणावणुत्वविपर्ययं स्थूलत्वं नित्यत्वविपर्ययोऽनित्यत्वमापद्यते इति दर्शयितुमुपक्रमते वैशेषिका हि परमाणूनामित्यादि ॥१५॥

परमाणु कारणवाद का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं “वैशेषिकाहीत्यादि” वैशेषिक लोग परमाणु को अणु तथा नित्यमानते हैं तथा तद्विरुद्ध रूपस्पर्शादिमान् भी मानते हैं परन्तु इन सबको परस्पर विरुद्ध होने से उनका मत बिल्कुल असंगत है क्यों ? रूप स्पर्शादिमत्त्व का विरोध होने से परमाणु में अणुत्व नित्यत्व का विपर्यय होता है तत्र अणुत्व का विपर्यय स्थूलत्व तथा नित्यत्व का विपर्यय अनित्यत्व होता है । तथाहि जगत् के कारण रूप से स्वीकृत जो परमाणु उसमें अणुत्व नित्यत्व का विपर्यय अनित्यत्व स्थूलत्व होना चाहिये क्योंकि परमाणु रूपादिमान् है । जो जो यथार्थ रूपस्य स्पर्शादिमान् होता है वह सब स्थूल तथा अनित्य होता है ऐसा लोक में देखने में आता है । रूपादिमान् जो पटादिक कार्य है उसमें स्वकारण तन्तु के अपेक्षया स्थूलत्व तथा अनित्य देखने में आता है । तो यहाँ परमाणु में रूपादिमत्त्व हेतु है तो उसमें अवश्य अनित्यत्व स्थूलत्व होगा । इसलिए परमाणु कारणवाद समंजस नहीं है ॥१५॥

॥ उभयथा च दोषात् २।२।१६ ॥

परमाणूनां रूपादिमत्वपक्षे तत्र स्थूलत्वानित्यत्वप्रसक्तिः ।
तेषां रूपादिरहितत्वपक्षे रूपादिमतां त्र्यणुकादीनां पृथिव्यादीनाञ्च
तत्कार्यत्वासिद्धिः । कार्यगुणस्य कारणगुणपूर्वकत्वमिति हि तन्नय-
स्तथा चोभयथा दोषादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

॥ अपरिग्रहाचात्यन्तमनपेक्षा २।२।१७ ॥

सांख्यतन्त्रस्य सत्कार्यत्वाद्यंशेन शिष्टैर्मन्वादिभिः परिगृही-

प्रकारान्तरेण परमाणुकारणवादे दोषं दर्शयितुमुपक्रमते परमाणूनामित्यादि अय-
मर्थः परमाणवो रूपादिमन्तो भवन्ति न वा ? प्रथमे रूपादिमत्वेन घटादिवदनित्यत्वं
स्थूलत्वं च तत्र स्यात्, स च नेष्टः सिद्धान्तविरोधात् । नापि द्वितीयः पक्षः । परम
कारणस्य परमाणो रूपादिरहितत्वे स्पर्शादिरहितत्वे च. तज्जनितकार्येष्वपि रूपा-
दीनामुपलब्धेरभावात्तेषां चाक्षुषत्वानुपपत्तेः । अपि च रूपादिरहितत्वे त्र्यणुकाद्यारंभ
कत्वं परमाणोर्नस्यात्, मनोवदिति तदुभयपक्षे दोषसत्त्वान्न परमाणुकारणवादः
श्रेयानिति ॥१६॥

परमाणुकारणवादोऽत्यन्तमनपेक्षः शिष्टैरपरिग्रहात् । तत्र हेत्वसिद्धिं परिहर्तुमाह

परमाणु कारणवाद में दोषान्तर को बतलाते हैं “उभयथेत्यादि” परमाणु रूपादिमान
है अथवा नहीं है ? ऐसा दो पक्ष होता है । । इसमें परमाणु रूपादिमान है यह जो प्रथम
पक्ष है उसमें रूपादिमत्व को हेतु बनाकरके परमाणु में अनित्यत्व तथा स्थूलत्व दो दोष देते
हैं । यदि इस दोष का परिहार करने के लिए रूपादि रहित परमाणु है इस द्वितीय पक्ष
को माने तब रूपादिमान जो त्र्यणुकादिक तथा पृथिवी प्रभृतिक परमाणु का कार्य है
उसमें परमाणु कार्यत्व नहीं होगा । क्योंकि कार्यनिष्ठ जो गुण है वह कारणगुण पूर्वक होता
है ऐसा नैयायिकों का मत है । अतः दोनों पक्षों में दोष होने से परमाणु कारणवाद समी-
चीन नहीं है । किन्तु परिणाम कारणवाद ही ठीक है ॥१६॥

सत्कार्यवादांश से सांख्यतन्त्र शिष्ट व्यासादिक परिगृहीत है भी पर परमाणु कारणवाद

तत्वात् परमाणुकारणवादस्य तु केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरि-
गृहीतत्वादनूपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा कार्या परमाणुकारणवादे
मुमुक्षुभिरिति ॥१७॥

इति श्रीआनन्दभाष्यमहदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

५ समुदायाधिकरणम् ॥३॥ ५

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः २।२।१८

अर्धवैनाशिकवैशेषिकमतनिरसनानन्तरं सर्ववैनाशिकबौद्धमतं
बुद्धिस्थम्भवतीति तन्निरस्यति । ते च बौद्धाश्चत्वारो वैभाषिक
अपरिग्रहादित्यादि हेत्वंशंविशिष्यदर्शयति साख्यतन्त्रस्येत्यादि शिष्टोहि व्यासादिः सत्कार्य
वादांशेन सांख्यदर्शनं कदाचित्परिग्रहीतमपि न्यायमतं तु केनाप्यंशेन न परिगृहीतं
तस्मान्नसमीचीनमिति ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे महदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

न्यायाभिमतपरमाणुकारणवादनिराकरणानन्तरं बौद्धाभिमतपरमाणुकारणवाद
निराकरणमभिमतम् । पूर्वस्तु पदार्थविशेषमाकाशादिकं नित्यं कथयति तदन्यदनित्य-
तो किसी अंश में किसी भी शिष्ट ने ग्रहण नहीं किया है तथा अनुपपन्न होने से परमाणु
कारणवाद सर्वथा त्याज्य है ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे महदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

अर्ध वैनाशिक न्यायमत का निराकरण करके सर्व वैनाशिक बौद्धमत का निराकरण
करने के लिए उपक्रम करते हैं “अर्धवैनाशिक” इत्यादि अर्धवैनाशिक वैशेषिक मत के
निरास करने के बाद में वैनाशिकत्व रूप से समता होने के कारण सर्व वैनाशिक बुद्धमत-
बुद्धिस्थ होता है, अतः पूर्वमत बुद्धमत का निरास करते हैं । अर्थात् परमाणु आकाश
काल दिशा आत्मा और मन को न्यायमत में नित्यस्थिर माना गया है और अन्य द्रव्य गुण
क्रिया प्रभृति कतिपय पदार्थ को अनित्य मानते हैं, ज्ञान शब्दादिक कतिपय पदार्थ को क्षणिक

सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकाख्या सुगतोपदिष्टमतं स्वानुभवरूपेण परिणमस्य पार्थक्येन जगृहुः । तत्र प्रथमः सर्वार्थान् प्रत्यक्षानुमानगम्यान् क्षणिकान् मन्यते । द्वितीयस्त्वर्थजातं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च क्षणिकमनुमेयमेवावगच्छति नाध्यक्षम् । तृतीयस्तु प्रमेयप्रमाणादिसर्वमप्यर्थजातमान्तरिकविज्ञाने कल्पितं न वास्तविकम् । स्वापिकप्रत्ययवदिति समाचष्टे । तुरीयस्तु स्वात्मसमाराधनीं सर्वशून्यतामेवोरीमिति प्रतिपादयतीति सोऽर्धवैनाशिकः । द्वितीयस्तु सर्वमेववस्तु निरन्वयविनाशीति मन्यते । तत्र यद्यप्युपदेशा भगवान् बुद्ध एकरूपामेव देशनामदात् तथापि शिष्यभेदादनेकधा सा जाता । तदुक्तं देशनालोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः । भिन्नापि देशनाऽभिन्नाशून्यताद्वयलक्षणा तदिदं बौद्धमतं विविच्यनिराकर्तुमुपक्रमते अर्धवैनाशिक इत्यादि । ते च बुद्धमतानुयायिनश्चत्वारः वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार माध्यमिकाः । तत्र प्रथमः मानने से अर्धवैनाशिक अंशतो वैनाशिक है और बौद्ध लोग आकाशादिक पदार्थ को अनित्य क्षणिक मानते हैं, इसलिए इनको सर्ववैनाशिक माना गया है । यद्यपि न्यायमत तथा बौद्ध मत में कतिपय अवान्तर भेद है तथापि वैनाशिकत्व दोनों में है, अतः एक वैनाशिक की चर्चा होने से द्वितीय वैनाशिक स्मृत होते हैं, स्मृत का उपेक्षानर्हत्व लक्षण प्रसंग संगति को लेकर के न्याय मतान्तर बौद्धमत का निराकरण आवश्यक है यह मान करके सूत्रकार तदर्थ प्रयत्न करते हैं । जिनका इस प्रकरण में निराकरण किया जायगा, वे चार हैं वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक उन लोगों ने भगवान् सुगत से प्रतिपादित जो मत उसको स्वकीय अनुभव से स्वानुकूल रूप से परिणत करके पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण किया । इनमें सर्वप्रथम जो वैभाषिक हैं वह बाह्य आभ्यन्तर सर्व पदार्थ की अस्तित्व को मानते हैं प्रत्यक्षानुमान प्रमाण मानते हैं तथा एतादृश प्रामाण्य तथा क्षणिक मानते हैं और सौत्रान्तिक सब बाह्यमाभ्यन्तर पदार्थ को क्षणिक तथा केवल अनुमानगम्य मानते हैं । योगाचार प्रमाण प्रमेय सब पदार्थ को ज्ञान में कल्पित मानते हैं, पदार्थ सत् नहीं है, जिस तरह स्वामिक पदार्थ ज्ञान कालिक ही होता है तदन्यकाल में उपलब्ध नहीं होता है तद्वत् और माध्यमिक तो सर्वशून्यता को ही तत्त्व मानते हैं ।

तत्वात् परमाणुकारणवादस्य तु केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरि-
गृहीतत्वादानुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा कार्या परमाणुकारणवादे
मुमुक्षुभिरिति ॥१७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये महदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

५ समुदायाधिकरणम् ॥३॥ ५

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः २।२।१८

अर्धगैनाशिकगौशेषिकमतनिरसनानन्तरं सर्वगैनाशिकबौद्धमतं
बुद्धिस्थम्भवतीति तन्निरस्यति । ते च बौद्धाश्चत्वारो गौभाषिक
अपरिग्रहादित्यादि हेतुवंशंविशिष्यदर्शयति सांख्यतन्त्रस्येत्यादि शिष्टोहि व्यासादिः सत्कार्य
वादांशेन सांख्यदर्शनं कदाचित्परिग्रहीतमपि न्यायमतं तु केनाप्यंशेन न परिगृहीतं
तस्मान्नसमीचीनमिति ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे महदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

न्यायाभिमतपरमाणुकारणवादनिराकरणानन्तरं बौद्धाभिमतपरमाणुकारणवाद
निराकरणमभिमतम् । पूर्वस्तु पदार्थविशेषमाकाशादिकं नित्यं कथयति तदन्यदनित्य-
तो किसी अंश में किसी भी शिष्ट ने ग्रहण नहीं किया है तथा अनुपपन्न होने से परमाणु
कारणवाद सर्वथा त्याज्य है ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे महदीर्घाधिकरणम् ॥२॥

अर्ध वैनाशिक न्यायमत का निराकरण करके सर्व गैनाशिक बौद्धमत का निराकरण
करने के लिए उपक्रम करते हैं “अर्धवैनाशिक” इत्यादि अर्धगैनाशिक वैशेषिक मत के
निरास करने के बाद में वैनाशिकत्व रूप से समता होने के कारण सर्व गैनाशिक बुद्धमत-
बुद्धिस्थ होता है, अतः पूर्वमत् बुद्धमत का निरास करते हैं । अर्थात् परमाणु आकाश
काल दिशा आत्मा और मन को न्यायमत में नित्यस्थिर माना गया है और जन्य द्रव्य गुण
क्रिया प्रभृति कतिपय पदार्थ को अनित्य मानते हैं, ज्ञान शब्दादिक कतिपय पदार्थ को क्षणिक

सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकाख्या सुगतोपदिष्टमतं स्वानुभवरूपेण परिणमय्य पार्थक्येन जगृहुः । तत्र प्रथमः सर्वार्थान् प्रत्यक्षानुमानगम्यान् क्षणिकान् मन्यते । द्वितीयस्त्वर्थजातं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च क्षणिकमनुमेयमेवावगच्छति नाध्यक्षम् । तृतीयस्तु प्रमेयप्रमाणादिसर्वमप्यर्थजातमान्तरिकविज्ञाने कल्पितं न वास्तविकम् । स्वाप्निकप्रत्ययवदिति समाचष्टे । तुरीयस्तु स्वात्मसमाराधनीं सर्वशून्यतामेवोरीमिति प्रतिपादयतीति सोऽर्धवैनाशिकः । द्वितीयस्तु सर्वमेववस्तु निरन्वयविनाशीति मन्यते । तत्र यद्यप्युपदेशा भगवान् बुद्ध एकरूपामेव देशनामदात् तथापि शिष्यभेदादनेकधा सा जाता । तदुक्तं देशनालोकनाथानां सत्वाशयवशानुगाः । भिन्नापि देशनाऽभिन्नाशून्यताद्वयलक्षणा तदिदं बौद्धमतं विविच्यनिराकर्तुमुपक्रमते अर्धवैनाशिक इत्यादि । ते च बुद्धमतानुयायिनश्चत्वारः वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार माध्यमिकाः । तत्र प्रथमः मानने से अर्धवैनाशिक अंशतो वैनाशिक है और बौद्ध लोग आकाशादिक पदार्थ को अनित्य क्षणिक मानते हैं. इसलिए इनको सर्ववैनाशिक माना गया है । यद्यपि न्यायमत तथा बौद्ध मत में कतिपय अवान्तर भेद है तथापि वैनाशिकत्व दोनों में है. अतः एक वैनाशिक की चर्चा होने से द्वितीय वैनाशिक स्मृत होते हैं. स्मृत का उपेक्षानर्हत्व लक्षण प्रसंग संगति को लेकर के न्याय मतान्तर बौद्धमत का निराकरण आवश्यक है यह मान करके सूत्रकार तदर्थ प्रयत्न करते हैं । जिनका इस प्रकरण में निराकरण किया जायगा. वे चार हैं वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक उन लोगो ने भगवान् सुगत से प्रतिपादित जो मत उसको स्वकीय अनुभव से स्वानुकूल रूप से परिणत करके पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण किया । इनमें सर्वप्रथम जो वैभाषिक हैं वह बाह्य आभ्यन्तर सर्व पदार्थ की अस्तित्ता को मानते है प्रत्यक्षानुमान प्रमाण मानते हैं तथा एतादृश प्रामाणगम्य तथा क्षणिक मानते हैं और सौत्रान्तिक सब बाह्याभ्यन्तर पदार्थ को क्षणिक तथा केवल अनुमानगम्य मानते हैं । योगाचार प्रमाण प्रमेय सब पदार्थ को ज्ञान में कल्पित मानते हैं. पदार्थ सत् नहीं है. जिस तरह स्वाप्निक पदार्थ ज्ञान कालिक ही होता है तदन्यकाल में उपलब्ध नहीं होता है तद्वत् और माध्यमिक तो सर्वशून्यता को ही तत्त्व मानते हैं ।

करोति । चतुर्भिरपि स्थिरः कश्चिज्ज्ञाता भोक्ता वात्मा चेतनोधर्मी-
नाङ्गीक्रियते । निरन्वयविनाशस्तु परमाभिमतश्चतुर्णाम् । उपदेष्टुरे-
कस्यापि बुद्धस्य ग्रहितृशिष्यमतिगौचित्र्यान्मतगौलक्षण्यम् ।

तत्रायं सौगतः सिद्धान्तो युक्तो न वा ? युक्त इति पूर्वः
पक्षः । अयञ्च तदभिप्रायः । समुदायद्वयात्मकमेवेदं जगत् । तच्च
समुदायद्वयं बाह्यान्तररूपम् । तत्र बाह्यः समुदायो भूतभौतिकरूपः ।
आन्तरश्च चित्तचैत्तिकरूपः । बाह्यसमुदायस्य परमाणवः कारणम् ।
पुञ्जीभूतेभ्यस्तेभ्य एव बाह्यज्जगज्जायते । आन्तरस्य समुदायस्य तु
रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काररूपं स्कन्धपञ्चकं कारणम् ।

प्रत्यक्षगम्यबाह्यार्थसत्त्ववादी द्वितीयोऽनुमेयान् सर्वान् मन्यते, तृतीयोज्ञानमात्रा-
स्तित्ववादी, चतुर्थस्तु सर्वशून्यतावादी सर्वेषां मते क्षणिकत्वं तु तुल्यमेव । एत-
न्मते द्विविधः समुदायः परमाणुकारणकोवाह्यार्थसमुदायः । चित्तचैत्तसमुदायोद्वितीयः ।
अन्यमतवत् अतिरिक्तः कश्चिदात्मानास्ति किन्तु आलयविज्ञानलक्षणः । तदुक्तं
तत्स्यादालय विज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् । तदे-

बाह्य आभ्यान्तर पदार्थ तो केवल अविद्या परिकल्पित है । इन चारों में से एक भी
किसी ने स्थिर ज्ञाता भोक्ता संवातातिरिक्त चेतन आत्मा को नहीं स्वीकार किया है । इन
चारों के मत में पदार्थों का जो विनाश होता है वह निरन्वय विनाश ही मानते हैं यद्यपि
उपदेश देने वाले बुद्ध एक है तथापि विनेय तथा उनकी बुद्धि के विचित्रता के कारण से
मतों में चार भेद हो गया है, जैसे आकाश से गिरा हुआ जल एकरस रहता है किन्तु तत्तत्
स्थान को प्राप्त करके मधुर कटु आम्लादि रूप से परिणत होकर के अनेक प्रकारक हो
जाता है उसी तरह प्रकृत में भी समझना । यह संक्षेप से बौद्ध मत का प्रदर्शन किया गया ।

इसमें यह संशय होता है कि यह जो बौद्ध सिद्धान्त है युक्ति युक्त है अथवा युक्त
नहीं है ? उसमें पूर्वपक्ष होता है कि उक्त सिद्धान्त युक्ति संगत ही है । बौद्धों का
कहने का अभिप्राय यह है कि यह परिदृश्यमान जो स्थावर जंगमात्मक जगत् है वह समु-
दायात्मक है वह समुदाय दो प्रकार का है. एक बाह्य समुदाय दूसरा आन्तर समुदाय ।
उसमें बाह्य समुदाय भूतभौतिक रूप है और दूसरा चित्तचैत्त लक्षण आन्तर समुदाय है । बाह्य

समुदितेभ्यः पञ्चस्कन्धेभ्य आन्तरं चित्तचैत्तिकरूपं जगदुत्पद्यते । तस्मात्समुदायद्वयकारणवादप्रसादपरिपुष्टः सौगतः समयो युक्त इति प्राप्तेऽभिधीयते-समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिरिति । समुदायद्वयकारणवादो न युक्तः । कुतः ? तदुभयहेतुकेऽपि समुदाये स्वीक्रियमाणे तदप्राप्तिर्न समुदायसिद्धिः । तत्कारणभूतानां परमाण्वादीनां क्षणिकत्वाभ्युपगमात् । कार्योत्पत्तोः प्राक्क्षणावच्छेदे नैव कारणस्य विनष्टत्वादिति ॥१८॥

तन्मतं दूषयति समुदाय इत्यादि उभयहेतुके भूतभौतिककारणकेचित्तचैत्तिककारणके समुदाये स्वीकृतेपि तदप्राप्तिस्तादृशसमुदायाप्राप्तिः समुदायिनः कस्यचिदप्यभावात् भवेदयं समुदायो यदि एतस्य सञ्चालकश्चेतनः स्थिरोभवेत् स तु न कश्चिदपि स्वीकृतस्तथा पदार्थोपि क्षणिक इति कार्यकारणयोर्विभिन्नकालिकत्वात् कार्यकारणभावो न स्यात् तदभावे सर्वापि लोकयात्राविलुप्येत । तस्माद्वाच्यार्थवादिनां बौद्धानां मतं न समीचीनमिति ॥१८॥

समुदाय का कारण पृथिवी जल तेज वायुओं का परमाणु है । उसमें स्वरसस्वभावक पृथिवी परमाणु स्नेह स्वभावक जल उष्ण स्वभाव तेज सदा ईरण त्वभावक वायु परमाणु है ।] पुञ्जभूत परमाणु से बाह्य घटपटादि जगत् उत्पन्न होता है और आन्तर समुदाय का रूप विज्ञान वेदना संज्ञा संस्कार लक्षण पाँच स्कन्ध कारण है । समुदित इन पञ्च स्कन्धों से आन्तर चित्तचैत्तिक रूप जगत् उत्पन्न होता है । तस्मात् समुदाय द्वय कारणवाद से परिपुष्ट बौद्धमत सर्वथा युक्ति युक्त है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं “समुदाये” इत्यादि । समुदाय द्वय रूप जो कारणवाद है वह युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि परमाणु हेतुक पञ्चस्कन्ध हेतुक समुदाय को मानने पर भी तदप्राप्ति अर्थात् समुदाय की उपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि समुदाय का कारण रूप जो परमाणु वगैरह है उसको आपने क्षणिक मान लिया है, यतः कार्य के उत्पत्ति क्षण के पूर्व में ही कारणत्वेन अभिमत कारणक्षणिक विनष्ट हो जाता है, यदि कार्याव्यवहित पूर्वलाह में कारण का अवस्थान रहे तब ही तदुत्तर क्षण में कार्य होता है । आपके मत में विनष्ट अथवा विनाशप्रस्त कारण में उत्पादकत्व नहीं हो सकता है । यदि अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मानें तब तो अभाव को सर्वत्र सुलभ होने से सर्वदा सर्वत्र सर्व कार्य की उत्पत्ति होगी । तब घटार्थी नियमतः मृत्तिका का संग्रह नहीं करेगा, नवा तन्तु वाय तुरी वेमादिक का संग्रह करेगा । इस प्रकार कार्यकारण भाव की अव्यवस्था होने से लोक यात्रा का विलोप हो जायगा । तस्मात् बौद्धमत युक्त नहीं है । १८।

॥ इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात् २।२।१९ ॥

ननु क्षणिकेष्वपि सर्वेषु भावेषु येयमविद्याऽस्थिरेषु स्थिरत्व बुद्धिरूपा तथा चैतदुपपन्नं स्यादेवेति चेन्न, नह्यविद्यया समुदायः शक्यते समुत्पादयितुम् । तस्याः संघातभावस्यानिमित्तत्वात् । विप-

ननु पदार्थानां क्षणिकत्वादापाततः कार्यकारणभावो न संभवति अविद्या संस्कारो विज्ञानं नामरूपादिकाः पदार्थाः सति तेषां परस्परनिमित्तकभावेन व्यवस्थितानां परस्परकार्यकारणभावः स्यादन्तरेणापि चेतनसत्त्वे. अन्यथा लोकयात्रा निर्वाहो न स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या संघातसिद्धिः स्यादित्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते ननु क्षणिकेष्वपि इत्यादि । अस्मिन् मते कार्यकारणभावो द्विधा हेतूपनिबन्धः प्रत्ययोपनिबन्धश्च । तत्रैकं प्रति एकं कारणं हेतूपनिबन्धः । एककार्यं प्रतिकारणसमुदायलक्षणं कारणं प्रत्ययोपनिबन्धः । तत्राविद्यासंस्कारस्य कारणं संस्कारश्च स्वाग्रिमस्य कारणमित्येवं क्रमेण क्षणिकेष्वपि निर्वाहसंभवेन कथमेतस्य निराकरणमिति चेन्न । अविद्यया संस्कारादीनां

पदार्द मात्र को क्षणिक होने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है, अतः समीचीन नहीं है संघात पक्ष. इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि प्रत्ययोपनिबन्ध रूप कारण नहीं हो सकता है हेतूपनिबन्ध रूपतो हो सकता है । एक कारण से जहाँ कार्य होता है वहाँ हेतूप निबन्ध कारण कहते हैं और जहाँ अनेक कारण मिलकरके कार्य करते हैं उसको प्रत्ययोपनिबन्ध कारण कहते हैं । तो प्रकृत में अविद्या से संस्कार विज्ञान नाम रूप षडायतन स्पर्श वेदना तृष्णा उपादानभव जाति जरादि परिवेदनान्त पदार्थों में इतरेतर हेतुक कार्य कारणभाव होने से लोक यात्रा का निर्वाह होने में कोई बाधक क्षणिक पक्ष में भी नहीं है इस शंका को निराकरण करने के लिए तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'ननु क्षणिकेष्वपि' यद्यपि समभाव पदार्थ में जो यह अविद्या है, वस्तुतः अस्थिर पदार्थ में स्थिरत्व बुद्धि रूपा है, तादृश अविद्यादिक के द्वारा यह संघता उपपन्न हो सकता है तब संघातानुपपत्ति रूप दोष से बौद्धमत खण्डन युक्त नहीं है ! उत्तर, यह कहना ठीक नहीं है. क्योंकि अविद्या से उपर्युक्त संघातद्वय का उत्पाद अशक्य है यतः अविद्या संघातभाव का

रीतार्थग्राहिकयाऽविद्यया नहि वास्तविकं कार्यं शक्यते जनयितुम् ।
शुक्तिरजतादिषु तथाऽदर्शनात् ॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् २।२।२०

नेतोऽपि क्षणिकत्वपक्षे समुदायसिद्धिः । उत्तरकार्यक्षणोत्पत्ति
संभवेपि संघाते निमित्ताभावान्नतत्सिद्धिः । नवाऽविद्या संस्कारादिकार्यस्य संपादनम् ।
अविद्या नाम अतस्मिन् स्तद्बुद्धिः, नहि असत्यरूपया तया समीचीनलोकप्रवाहस्य
संपादनम्, नहि भवति शुक्तिरजतेन व्यावहारिककटकादीनामुत्पत्तिस्तस्मान्नैतत्सम्य-
गिति संक्षेपः ॥१९॥

क्षणभङ्गवादिनः सिद्धान्तस्तु यदाकार्यक्षणे जायते तदापूर्वकालिकः कारणक्षणे
विनष्टो भवतीति सिद्धान्तः परन्तु यद्येवं स्वीक्रियते तदा पूर्वोत्तरकालवर्तिनोः कार्य-
निमित्त नहीं हो सकती है । क्योंकि विपरीत पदार्थ को ग्रहण करानेवाली अविद्या है तादृश
अविद्या से वास्तविक अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है. शुक्ति रजत से व्यावहारिक कटक
कुण्डलादिक की उत्पत्ति देखने में नहीं आती है । अर्थात् भ्रमज्ञान जो पदार्थ जिस तरह है
उससे विपरीत रूप से उसका प्रदर्शन करावे एतावन्मात्र लोक दृष्ट है, किन्तु वास्तविक किसी
पदार्थ का उत्पादन करे ऐसा तो देखने में नहीं आता है । जतः अविद्यादि समुदाय से
संघात का उपपादन नहीं होने से सुगत मत युक्त नहीं है ॥१९॥

प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पादका निराकरण करके हेतुपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पाद
का खण्डन करने के लिए उपक्रम करते हैं । अर्थात् कारण समुदाय से कार्य की उत्पत्ति
क्षणभंगवाद में असंभवित है. उसी तरह एक कारण से तदग्रिम क्षण में कार्य की उत्पत्ति भी
क्षणभंगवाद में उपपन्न नहीं हो सकता है. इस बात को बतलाने के लिए तथा सूत्रव्याख्यान
करने के लिए उपक्रम करते हैं 'नेतोपि क्षणिकत्वपक्षे' इत्यादि । इस वक्ष्यमाण कारण से भी सिद्ध
होता है कि क्षणभंगवाद में बाह्याभ्यन्तर संघात की सिद्धि नहीं हो सकती है । तथाहि उत्तर
कालिक कार्योत्पत्ति क्षण में पूर्वकालिक जो कारण क्षण है वह विनष्ट हो जाता है । अर्थात्
जिसकाल में कार्य उत्पन्न होता है उस समय में कारण का सद्भाव आवश्यक है । अन्यथा
वासंतिक कपाल से हैमन्तिक घट का भी प्रार्दुभाव अनिवार्य हो जायगा । परन्तु आपके

समये पूर्वतनस्य कारणस्य नष्टत्वान्नोत्तरक्षणोत्पत्तौ तस्य हेतुत्वम् ।
अभावस्योत्पादकत्वे तु सर्व सर्वत्र सर्वदा समुत्पद्येत । निष्कारणो-
त्पत्तिस्वीकारे स्वसिद्धान्तहानिश्च ॥२०॥

कारणभाव एव न स्यात्, यतो निरुद्धस्य पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वेन कारणत्वानुपपत्तो-
र्विद्यमान एव कारणं भवति नाविद्यमानः । न च निष्पन्नस्वरूपः पूर्वक्षणः स्वोत्तरक्ष-
णस्य जनको भवतीति वाच्यम्, तदास्थित्याव्यापारवत्त्वे क्षणान्तरसम्बन्धे क्षणिकत्व
व्याघातात् । किञ्च पदार्थस्य घटादेः उत्पादननिरोधौ स्वरूपभूतौ अवस्थान्तरं वा पदा-
र्थान्तरमेव वा । नाद्यः, तथा सति पदार्थस्योत्पादननिरोधयोश्च पर्यायस्यात् ।
द्वितीये क्षणभङ्ग हानिः । न तृतीयः उत्पादननिरोधाभ्यां घटादेः सम्बन्धाभावान्नित्यत्वं
स्यादिति न क्षणभङ्गवादोयुक्त इत्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते नेतोपि क्षणिकत्वपक्षे
इत्यादि । कारणास्याभावग्रस्तत्वेन कारणता न स्यात् । अभावस्य हेतुत्वे सर्वदा
सर्वोत्पत्तिः । अकारणकत्वे सिद्धान्तहानिः चतुर्विधान हेतुप्रतीत्यकार्योत्पादस्वीका-
रादिति संक्षेपः ॥२०॥

मत में पदार्थ क्षणिक है तो पूर्णकालिक कारण तो उसी समय में विनष्ट हो गया है तब वह
उत्तरकालिक कार्य का उत्पादक नहीं बन सकता है । नहीं कहे कि अभाव ही कार्य का
उत्पादक होता है जिस तरह प्रागभाव घटित दण्डचक्रादि सामग्री से घटोत्पादन समय में
प्रागभाव का विनाश हो जाने पर सामान्याभाव से घटोत्पत्ति की तरह । यह कहना ठीक
नहीं है, क्योंकि अभाव से यदि कार्योत्पत्ति मानेंगे तब तो अभाव सर्वत्र समान रूपसे विद्य-
मान रहता है, तब सर्वत्र सर्वदा सर्व कार्य का उत्पाद हो जायगा । अर्थात् जब कार्य को
कारण से नियन्त्रित मानते हैं तब कारण से कार्य होता है, और जब अभाव से कार्योत्पाद मानेंगे
तब तो अभाव सर्वत्र शुद्ध है तब सर्वदा सर्वकार्योत्पाद होगा । नहीं कहे कि पदार्थ का
स्वभाव है कि विना कारण से ही उत्पन्न होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि
अकारण कार्योत्पत्ति मानें तब तो बौद्ध सिद्धान्त का भंग होता है 'चतुर्विधातहेतुप्रतीत्यचित्त-
चैत्ताजायन्ते' इत्याकार सिद्धान्त का भंग हो जाता है । अतः क्षणभङ्गवाद में संघातोत्पत्ति
असंभवित ही है ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा २।२।२१

अथासति कारणे कार्योत्पत्तौ सर्वत्रसर्वदा विलक्षणकार्योत्पत्तिः
स्यात् । एवञ्च प्रतिज्ञोपरोधः समापन्नः । विषयकरणसहकारिसं-
स्काररूपान् हेतून् प्रतीत्य चित्तं रूपादिविज्ञानं चैत्तिकाः सुखादयश्च

ननु कार्योत्पत्तिकाले क्षणिकत्वेन कारणाभाव इति कथं संघातोत्पत्तिरिति न
वक्तव्यं कारणविनाशेनैव तदुत्पत्तिसंभवादिति यदि कश्चिद्ब्रूयात्तं प्रतिब्रूयात्, तदा
सर्वत्र सर्वकार्योत्पादप्रसङ्ग इति । न केवलमभावस्य कारणत्वे दोषोऽपितु सुगत
प्रतिज्ञाया अपि समुपरोधोभवेत् । इत्यादिकं मनसि निधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते
अथासतिकारणे इत्यादि । विषयकरणेत्यादि । अयमाशयः एतन्मते कार्यमात्रं प्रति 'अधिपति
प्रत्ययसहकारिप्रत्ययालंबनप्रत्ययसमनन्तरप्रत्ययाः कारणम् । यथा घटादि
विज्ञानोत्पत्तौ अधिपति प्रत्ययश्चक्षुरादिकरणम्, सहकारिप्रत्ययः आलोकसंयोगादि,
आलंबनप्रत्ययो विषयो घटादिसमनन्तरप्रत्ययश्च पूर्वविज्ञानम्, एभिर्ययोक्त
हेतुभिः कार्यं जायते इति तदीया प्रतिज्ञा, सा च निहर्तुककार्योत्पादस्वीकारे समुपरोध्येत

यदि क्षणभङ्गवादी कारण कपालादि के बिना ही कार्य घटादि के उत्पत्ति को स्वीकार
करें तब तो सभी स्थल में सर्वकाल में विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होगी । यदि ऐसा मानें
तो बौद्ध सिद्धान्त की जो प्रतिज्ञा, उसका विरोध होगा । विषय अवलंबन कारण अधिपति
प्रत्यय सहकारी प्रत्यय और संस्कार अर्थात् समनन्तर प्रत्यय इन चार कारण को प्राप्त
करके चित्त=रूपादि विज्ञान चैत्तचित्त प्रभव सुखदुःखादिक पदार्थ उत्पन्न होता है, ऐसी
जो प्रतिज्ञा उसका विलोप हो जायगा । अर्थात् जो कोई घटादि विज्ञान पैदा होता है,
उसमें अवलंबन रूप में घटात्मक विषय कारण होता है, यह ज्ञान को विषयता नियामक
होता है, अधिपति प्रत्यय चक्षुरादिक करण होता है इसी के द्वारा घटज्ञान उत्पन्न होता है
सहकारीकारण आलोक संयोगादिक कारण होता है । और विज्ञान समनन्तर प्रत्यय कहलाता
है । इन चार कारण को लेकर के पदार्थ उत्पन्न होता है, यह जो बौद्ध की प्रतिज्ञा है
उसका तिरस्कार हो जायगा.. यदि आप कारण के बिना ही कार्योत्पाद मानते हैं पब ।
अत एव "अकारणक पदार्थों की उत्पत्ति होती है" यह जो आपका कथन है यह भी निरा-

जायन्त इति प्रतिज्ञातस्याश्चोपरोधः समापद्यते । अतएव निर्हेतु
कोत्पत्तिरित्यपि निराकृतम् । न च कार्योत्पत्तिकालं यावत् कार-
णमवतिष्ठत इतिवाच्यम् । कारणकार्ययोर्यौगपद्यप्रसङ्गात् क्षणिकत्व-
हानिप्रसङ्गात् प्रतिज्ञाहानिरित्युभयतः पासारज्जुः ॥२१॥

५५ **प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधा-**

प्राप्तिरविच्छेदात् २।२।२२ ५५

किञ्च बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकञ्चेति वौनाशिक
न च यावत् कार्यकालं कारणमवतिष्ठते इति वाच्यम् । तथा सति यौगपद्यप्रसङ्गात् ।
अर्थात् कार्यकारणयोः समानकालिकत्वं स्यात् । न च कार्यकारणयोः समानकालिकत्वे
कोदोष इति चेत् कार्यानुत्पत्तिरेवेति गृहाण । अयमाशयः, योहि सामानकालिकस्त-
योर्जन्यजनकभावाभावात्, नहि भवति युग्मजातयोर्यमलयोः परस्परं जन्यजनकभावः ।
एवं कार्यकालं यावत् कारणावस्थाने क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति प्रतिज्ञोपरोधोऽपिदुर्निवारः
स्यात् । तस्मात् क्षणवादिनां मते सङ्घातोत्पत्तिर्नैव संभवेदिति संक्षेपः ॥२१॥

बुद्धिपूर्वकभावविनाशः प्रतिसंख्यानिरोधस्तदन्योऽप्रतिसंख्यानिरोधः आका-
कृत होता है क्योंकि शास्त्र का नियम है कि चार कारणों से कार्य का उत्पादन होता है।
इसका बाध अकारणक उत्पत्ति होती है ऐसा मानने से ।

नहीं कहो कि कार्य के पूर्वकाल में कारण का विनाश नहीं होता है किन्तु
कार्य के उत्पादकाल पर्यन्त कारण का अवस्थान रहता है, तब पूर्वोक्त दोष नहीं
होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि कार्यकाल पर्यन्त कारण कपालादि
का अवस्थान मानें तब तो कार्यकारण में यौगपद्य समान कालिकत्व हो जाने
से “क्षणिकाः सर्व संस्काराः” यह जो बौद्ध की प्रतिज्ञा है, उसका बाध हो
जायगा । इस तरह “उभयतः पासारज्जुः” इस न्याय विषयता का अतिक्रमण नहीं
होता है । अतः क्षणवाद में संघात का उत्पाद नहीं होने से यह मत असमंजस
है ऐसा समझना ॥२१॥

और भां बुद्धिबोध्य तीन से भिन्न संस्कृत और क्षणिक वह तीन ये हैं, प्रतिसंख्या
निरोध अप्रतिसंख्यानिरोध और शब्द गुणक आकाश । ये तीनों अवस्तुभूत निरूपाख्या अर्थात्

समयः। तच्च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशञ्चेति । त्रय मप्यवस्तुभूतं निरूपाख्यम्, तत्र प्रतिसंख्यानिरोधो नामबुद्धिपूर्वको भावविनाशः । तद्विपरीतश्चाप्रतिसंख्यानिरोधः । आकाशश्चावरणा भावरूपमेवेति तन्मतम् । तत्र निरोधद्वयमिदानीमनेन सूत्रेण निरा-
क्रियते । उक्तनिरोधयोः प्राप्तिरसम्भवः । कुतः ? अविच्छेदात् । भावानां हेतुफलभावेन योऽयं सन्तानस्तस्याविच्छेदात् । निरन्वय विनाशश्च न कस्यापि भावस्य शक्यं प्रतिपत्तुम् । धर्मिणः कार्य-
स्यावस्थान्तरेण व्यवहितत्वमेव प्रत्यभिज्ञया चान्वयिनोऽविच्छेददर्शनात् । सत्कार्यवादस्यैवोपनिषत्प्रतिपाद्यत्वात् । अतो न निरोध-
द्वयस्वीकारस्य सामञ्जस्यम् ॥२२॥

शङ्केति वस्तुत्रयम् । तत्र प्रतिसंख्यानिरोधेन तदन्योपि संभवति कार्यकारणभावेन व्यवस्थिता चापि भावस्य विच्छेदस्य सत्कार्येऽसंभवात् । सत्कार्यवादश्च श्रुत्यादिभिः प्रतिपादितः । तस्मान्नाकारणको भावोत्पादोनवा सतां निरन्वयोविनाशः संभवतीत्या-
वेदयितुमुपक्रमते किञ्च बुद्धिबोध्यमित्यादि ॥२२॥

नामजाति रहित अत्यन्ताभाव प्रतियोगी निरूपाख्य तुच्छ हैं । उसमें बुद्धिपूर्वक भाव विनाश को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं । तद्विपरीत=अर्थात् अबुद्धिपूर्वकभाव विनाश को अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं । और आवरणाभाव रूप आकाश है. ऐसा बौद्धों का मत है । उसमें प्रति संख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध इन दोनों का अभी इस सूत्र से निराकरण करते हैं । पदार्थों का प्रतिसंख्या अप्रतिसंख्या निरोध असंभवित है । क्योंकि—पदार्थों का कार्यकारण रूप से जो यह संतान है उसका बिच्छेद विनाश नहीं होता है । किसी भाव पदार्थ का निरन्वय विनाश प्रदीप कलिकावत् आत्यन्तिक विनाश नहीं जाना जा सकता है । धर्मी जो कार्य उसको अवस्थान्तर से व्यवहित होना ही प्रत्यभिज्ञा से अन्वयी का अविच्छेद देखने में आता है । अर्थात् 'सोऽयं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से अन्वयी का विच्छेदाभाव होता है. विनाश शब्द का अर्थ है. एक अवस्था को छोड़ करके अवस्थान्तर की प्राप्ति, नतु आत्यन्तिक विच्छेद अर्थ है । क्योंकि सत्कार्यवाद ही श्रुति प्रतिपाद्य है । इसलिए निरोधद्वय संगत नहीं है ॥२२॥

॥ उभयथा च दोषात् २।२।२३ ॥

अपि च प्रतिसंख्यानिरोधान्तर्निविष्टोऽविद्यानिरोधस्तत्सत्त्वे मुक्तिरित्यपि निस्सारम् । तस्य निरोधस्य सकारणकत्वे निर्हेतुकविनाशसिद्धान्तहानिः । निष्कारणकनिरोधाभ्युपगमे तु तदुपायोपदेशनैयर्थ्यम् । तस्मादसङ्गतोऽयं क्षणिकमतीनां क्षणिकवादः ॥२३॥

॥ आकाशे चाविशेषात् २।२।२४ ॥

त्रयाणां निरुपाख्यत्वमिति सौगतः समयस्तत्र द्वयोर्निरुपाख्यत्वं पूर्वं निराकृतमिदानीमाकाशस्य तुच्छत्वमिति मतमाक्षिप्यते ।

यद्यपि प्रतिसंख्यानिरोधान्तर्गतोऽविद्यानिरोधः प्रतिपादितः स यमनियमादिसहितसम्यग् ज्ञानेन भवति, स्वयमेव वा भवति, । तत्र नाद्योनिर्हेतुकविनाश इति सिद्धान्तविरोधात् । न द्वितीयः, मोक्षार्थनैरात्म्यक्षणिकत्वादिभावनोपदेशस्य शास्त्रप्रतिपादितस्य नैयर्थ्यप्रसङ्गात्, तस्मान्नेदं मतं सम्यगिति दर्शयति अपि च प्रतिसम इत्यादि ॥२३॥

निरोधद्वये निरुपाख्यत्वं निराकृत्य आकाशस्य निरुपाख्यत्वं निराकर्तुमुपक्रमते त्रयाणामित्यादि यथाघटपटादयोभावाः प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयतयानिरूप्यमाणाः सदिति

‘अपि च’ जो यह प्रतिसंख्या निरोध के अन्तर्गत अविद्या निरोध है, जिसके सद्भाव में मोक्ष होता है, वह अविद्या निरोध सकारणक है अथवा अकारणक है । यदि अविद्या निरोध को सकारणक मानें तब तो निर्हेतु विनाश का जो सिद्धान्त है उसका विरोध होगा । यदि अकारणक अविद्यानिरोध को मानें तब तो अविद्यानिरोध लक्षण मोक्ष का कारण सपरिहर सम्यग् ज्ञान का जो शास्त्र में उपदेश दिया गया है वह निरर्थक हो जायगा । इसलिये क्षणिक मतिक बौद्ध का जो क्षणवाद है वह सर्वथा असंगत है ॥२३॥

तीन पदार्थों में निरुपाख्यत्व है, ऐसा बौद्ध का सिद्धान्त है । उसमें प्रतिसंख्या अप्रतिसंख्यानिरोध में निरुपाख्यत्व का निराकरण पूर्वसूत्र में किया गया है । इसके बाद आकाश निरुपाख्य तुच्छ है ऐसा जो मत है उसका निराकरण करने है । आकाश निरुपाख्य नहीं

नह्याकाशस्य निरुपाख्यत्वम् । पृथिव्यादिवदाकाशस्याप्यबाधित
प्रतीतिसिद्धत्वात् । अत्र श्येनः पततीत्यादिप्रतीतिरेवाकाशस्य
वस्तुसत्त्वे मानम् ॥२४॥

ॐ अनुस्मृतेश्च २।२।२५ ॐ

पुनः क्षणिकत्वनिराश एव युक्त्यन्तरं दर्शयति । अनुदर्शनाद
नन्तरं स्मृतिरनुस्मृतिस्तस्या अनुस्मृतेश्च बलात्स्मर्तुरात्मनः क्षणिकत्वं
परिभाषां लभमानानो निरुपाख्यास्तथैवानुमानागमप्रमाणेन सद्बुद्धिविषयतया गृह्य-
माणोनोनिरुपाख्यः । अपि च बौद्धागमेपि वायुः आकाशसंमिश्रम् इत्यादिप्रकारेण
वाय्वधिकरणतया प्रतीयमानः सन्नेव नोनिरुपाख्यः ॥२४॥

अयं हि क्षणभंगवादी सर्वस्य पदार्थस्य क्षणभंगमिच्छन् आत्मनोपि क्षणिकत्वमेव
स्वीकुर्यात्, परन्तु तन्न संभवति, यतः कालान्तरे दृष्टस्य पदार्थस्य कालान्तरे तस्यैव
द्रष्टुः स्मरणं भवति, नान्यस्य । नान्यदृष्टं स्मरत्यन्योनैकं भूतमपक्रमात् इति । अनुभव
स्मरणयोः सामानाधिकरण्यं भवति वैयधिकरण्ये स्मरणादर्शनात् । नहि देवदत्तदृष्टस्य
वस्तुनः स्मरणं कदाचिदपि चैत्रस्य भवति । ततश्च द्रष्टृक्षणस्यचिरविनष्टत्वेन क्षणान्तरस्य
स्मरणं न स्यादात्मभेदे । भवति च स्मरणमतोनात्माक्षणिकः किन्तु प्रथमश्वासादा-
रभ्यान्तिमश्वासकालस्थायी, तथा जन्मान्तरस्थायीपरलोकमोक्षयोर्गन्ता कश्चित्
स्थिरोऽवश्यमेव मन्तव्यः । अतो नात्मनः क्षणिकत्वमित्यावेदयितुमुपक्रमते पुनः क्षणि-
है, जिस तरह “पृथिव्यादिक पदार्थ ‘पृथिवी सती घटः सन्’ इत्यादि अबाधित प्रतीति सिद्ध
है, उसीतरह “आकाशः सन्” इत्यादि अबाधित प्रतीति से आकाश का सत्त्व सिद्ध होता है ।
एवं “अत्र श्येनः पतति” इस प्रतीति से आकाश में सत्त्व सिद्ध होता है ॥२४॥

पूर्वोक्त अनेक युक्तियों से क्षणिकत्व का निराकरण करके पुनः उसी क्षणिकत्व का
निरास करने के लिए युक्त्यन्तर को बतलाते हैं “अनुस्मृतेरितिः” अनु-अर्थात्-दर्शन अनुभव
के अनन्तर में जायमान स्मृति-अनुस्मरण तादृश अनुस्मरण के बल से स्मरण करनेवाला जो
आत्मा, तादृश आत्मा में क्षणिकत्व उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि अनुभव तथा स्मरण
में समान कर्तृत्व होता है, अतः अन्य से दृष्ट पदार्थ का स्मरण अन्य को अनुपपन्न
है । अर्थात् जैसे देवदत्त दृष्ट पदार्थ का स्मरण चैत्र को नहीं होता है, उसी तरह यदि

नोपपद्यते । अनुभवस्मरणयोस्समानकर्तृकत्वेनान्यदृष्टस्यान्येन
स्मरणानुपपत्तेः ॥२५॥

५ नासतोऽदृष्टत्वात् २।२।२६ ५

पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात्तदभावान्निरुपाख्यात्कार्योत्पत्तिर्न
सम्भवति । कुतः ? असत् शशविषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात् ।
अथवा दृष्टत्वादितिच्छेदः । सत् एव मृदादेः घटादिकार्योत्पत्ते
र्दृष्टत्वादित्यर्थः ॥२६॥

वत्त्व निराश इत्यादि । अनुभवस्मरणयोरिति । योहि यं पदार्थं पश्यति स तादृशानुभव
जनितसंस्कारबलेनोद्बोधकसमवधाने कालान्तरे स्मरति, किन्तु अन्य दृष्टनान्यः स्मरति
किन्तु यस्मिन्नेवाधिकरणे आत्मनि दर्शनं जायते तस्मिन्नेवाधिकरणे तद्विषयकस्मरणं
भवति । तस्मात् स्थिर आत्मा नतु क्षणिक इतिभावः ॥२५॥

अथ विनष्टादेवक्षीराद्वीजादधि, अंकुरादि कार्यदर्शनादर्थान्नाभावाद्भावोत्पत्तिं स्वी
कुर्वन्ति बौद्धास्तदीयमतमसाधु इति द्योतनायोपक्रमते पूर्वस्य क्षणिकत्वेन इत्यादि ।
पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वादभावग्रस्तत्वाद्वा, अर्थान्नाभावाद्भावोत्पत्तिस्तदा अभावस्य तुच्छत्वेन
शशविषाणादिभ्य इव भावोत्पत्तिर्न स्यात्, अन्यथा शशविषाणादपि तदुत्पत्तिः स्यात्
परन्तु तन्न दृश्यतेऽतोनाभावाद्भावोत्पत्तिरिति संक्षेपः ॥२६॥

आत्मा को क्षणिक मानें तब अनुभव कालिक आत्मा की अपेक्षा से स्मरण कालिक आत्मा
के भिन्न होने से स्मरण नहीं होगा, और स्मरण होता है ऐसा देखा जाता है, तस्मात्
आत्मा क्षणिक नहीं है किन्तु स्थिर है यह सिद्ध होता है ! अत बौद्धों का क्षणभंगवाद भी
क्षणिक ही है । इसलिए वह आदरणीय नहीं है ॥२५॥

पूर्व क्षण को क्षणिक होने से वह विनष्ट हो जाता है, तब निरुपाख्य जो अभाव
उससे सत् जो कार्य उसकी उत्पत्ति नहीं होगी । क्योंकि असत् निरुपाख्य जो शशवि-
षाणादि उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं देखने में आती है । अथवा 'दृष्टत्वात्' इस तरह छेद
करना चाहिए, तब ऐसा अर्थ होता है कि असत् से कार्य नहीं होता है किन्तु सत् जो
मृत्तिकादि पदार्थ उससे घटादि रूप कार्य का उत्पाद देखने में आता है । इसलिए अभाव
से भावोत्पाद होता है ऐसा जो मत है वह युक्ति युक्त नहीं है ॥२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः २।२।२७

एवमसतोऽभावाद् भावोत्पत्त्यङ्गीकारे केषाञ्चिदुदासीनानां तूष्णीमुपविष्टानां लौकिकवैदिकव्यापारेषु कृषियज्ञादिषु प्रवृत्तिरहितानामपि स्वाभीष्टस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वार्थस्य सिद्धिः स्यात्तस्माद्वाह्यार्थस्य क्षणिकत्वानुमेयत्ववादिनोर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतस्य भ्रान्त्यैकमूलत्वादसामञ्जस्यमिति ॥२७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये समुदायाधिकरणम् ॥३॥

यदि अभावादेवभावोत्पत्तिं स्वीकुर्यात्तदाऽभावस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सप्रकारकक्रियारहितानामप्यनुत्पादकवर्गणामपि स्वाभिमतपदार्थस्यसिद्धिः सुलभा स्यात्तदा च व्यापारशतेन संपाद्यमानस्य कार्यस्याभिलाषामात्रेणैव संपादनसंभवेन तदर्थं व्यापारजालो निरर्थक एव स्यात् । नत्वेदं दृश्यतेऽपितु मृदादिक्रियायामासक्तस्यैव घटादिनिष्पत्तिर्भवति नतु तदन्यथेति सौत्रान्तिकवैभाषिकमतं न समीचीनम् ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यदीपे समुदायाधिकरणम् ॥३॥

यदि असत् जो अभाव शशविषणकल्प है. उससे भावघटादिक की उत्पत्ति माने. अर्थात् अभाव से भाव का उत्पाद मानें तब तो जो उदासीन है चुपचाप बैठे रहते हैं लौकिक वैदिक व्यापार में कृषि यागादिक में प्रवृत्ति रहित हैं अर्थात् सर्वथा जो निष्क्रिय व्यक्ति हैं, उनको भी इहलोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कृषि व्यापारादि जनित यागादि जनित जो स्वर्गादिक फल है उसकी प्राप्ति आयास के बिना भी हो जाना चाहिए, क्योंकि फल निष्पत्ति में साधक जो अभाव वह तो सर्वत्र अति सुलभ है । तो सर्वदा क्रिया में संलग्न व्यक्ति को जो कार्य प्राप्त होता है वह कार्य लग्न नहीं होने वाले को भी प्राप्त होना चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं है । इसलिए अभाव से भाव का उत्पाद होता है. यह कथन जो बाह्यार्थवादी वैभाषिक सौत्रान्तिक का अभिमत है, सर्वथा अनुपपन्न है । एवं उपर्युक्तवाद सर्वथा भ्रममूलक है । अतः शिष्टों से सर्वथा अनादरणीय है । इस पर विशेष चर्चा मेरे चिदात्ममीमांसादि अन्य प्रवन्धों में देखें ॥२७॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे समुदायाधिकरणम् ॥३॥

ॐ नाभाव उपलब्धेः २।२।२८ ॐ

निरुक्तेनाधिकरणेन बाह्यार्थक्षणिकत्ववादिमतं निरस्य विज्ञानातिरिक्तं किञ्चिन्नास्तीति विज्ञानवादिनो योगाचारस्य मतमपाक्रियते । तद्योगाचारमतं समीचीनयुक्तिमूलमाहोस्विद्भ्रान्तिमूलमिति संशये समीचीनयुक्तिमूलमिति पूर्वः पक्षः । कुतः ? बाह्यार्थास्तित्ववादिनापि तत्तज्ज्ञानेनैव विषयव्यवस्था तत्पार्थक्यञ्चाभ्युपेयम् । तथा चावश्यस्वीकरणीयविज्ञानेनैवेष्टसिद्धावर्थाङ्गीकास्यायुक्तत्वात् । घटपटादयोऽर्थाश्च विज्ञानस्यैवाकारभेदाः । वासनावशाज्ज्ञानस्यैव तथासन्तानः । नीलपीताद्याकाराणामपोहरूपत्वाद्विज्ञान एवाहित

ननु न बाह्यार्थवादो बुद्धसंमतः किन्तु विज्ञानमात्रवाद एव । तदेव विज्ञानं प्रमाण प्रमेयप्रमितिप्रभात् भेदेन प्रथते, ननु तदतिरिक्तोबाह्यार्थोऽसंभवात् स च परमाणुरूपोवा तत्तत्समूहो वा ! नाद्यः तदा घट इति ज्ञानं न स्यादपितुपरमाणुरिति स्यात् । नवा परमाणुसमूहोभेदाभेदाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात् । किञ्च ज्ञानस्वरूपेण समानस्य ज्ञानस्य योयं प्रतिविषयं पक्षपातः स ज्ञानगतविशेषमन्तरेण न संभवतीति ज्ञानाकारेणैवार्थस्य परिक्षयादतिरिक्तार्थसद्भावो नास्ति । अपि च ज्ञायज्ञेययोः सहैवोपलम्भान्नज्ञानातिरिक्तोऽर्थः । तदुक्तं सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्वियो । भेदश्च भ्रान्ति विज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये इति । अपि च स्वप्नेर्याऽर्थाभावेपि ज्ञानं भवति, ज्ञानभावेऽतिरिक्तोऽर्थो

निरुक्त समुदायाधिकरण से बाह्यार्थ क्षणिकत्ववादी वैभाषिक सौत्रान्तिक मत का निराकरण करके विज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय पदार्थ कोई नहीं है किन्तु ज्ञान ही ज्ञाता ज्ञेय प्रमाण प्रमिति रूप से विवर्तित होता है, ऐसा जो विज्ञानवादी योगाचार का मत है उसका निराकरण करने के लिए प्रयत्न करते हैं । यह जो योगाचार बौद्ध विशेष का मत है वह समीचीन युक्तिमूलक है ? अथवा भ्रान्तिमूलक है ! ऐसा संशय होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि विज्ञानवाद समीचीन युक्तिमूलक है क्योंकि जो बाह्यार्थवादी हैं उनके मत में भी तो बाह्य अर्थ की व्यवस्था तत्तत् ज्ञान के बल से ही होता है तथा घटव्यतिरिक्त पट है ॥ इस प्रकार से विषय में परस्पर भेद भी तत्तत् ज्ञानमूलक ही है ।

संस्कारस्त्वेनाखिलविषयकवित्तेरुपपत्तेस्तदतिरिक्तपदार्थसद्भावस्यानुपपत्तेः । इतिप्राप्तेऽभिधीयते—‘नाभाव उपलब्धेरिति । विज्ञानातिरिक्तानामर्थानामभावो नोपपद्यते । कुतः ? उपलब्धेः । ज्ञानातिरेकेण पदार्थोपलब्धिः सर्वधीसाक्ष्येणात्मानमासादयन्ती कथमपवास्तास्याद् । ‘घटमहं जानामी’ ति प्रतीतिरेव समुपस्थापयति घटं कर्मतयाकर्तृतया च पार्थक्येन ज्ञानाश्रयम् । न च स्वप्नप्रत्ययवन्नीलाद्यर्थ न दृश्यते । तथा च ज्ञानमर्थरहितं ज्ञानत्वात् स्वामिकज्ञानादिवदित्यनुमानेनापि ज्ञानज्ञेययोरैक्यमेव सिद्ध्यतीत्याशयेन विज्ञानवादमतं निराशयोपक्रमते भाष्यकारः निरुक्तेनाधिकरणेनेत्यादि पूर्वतनसमुदायाधिकरणेन वैभाषिक सौत्रान्तिक क्षणिकार्थवादिनोर्मतस्य निरासः कृतः । इतः परं केवलविज्ञानवादं निरसितुं यतते । स च वाद इत्थम्, एतन्मतेऽसंभवाद्वाह्यार्थो नास्ति केवलं विज्ञानमेव प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रमातृत्वरूपेणान्तरेणावनिष्पन्दते । यदाचार्थः समुपलभ्यते तदाज्ञानमुपलभते एव, यदा च तब तो अवश्यस्वीकरणीय विज्ञान द्वारा ही अर्थ व्यवस्थादि रूप इष्ट की सिद्धि हो जाती है तब पुनः ज्ञान व्यतिरिक्त अर्थ का सद्भाव मानना युक्त नहीं है । तथा जिस तरह स्वप्न में बाह्यार्थ नहीं रहने पर भी तत्तदर्थ का व्यवहार होता है उसी तरह जाग्रत्काल में अर्थ व्यवहार उपपन्न हो जाता है तब ज्ञान व्यतिरिक्त अर्थ कल्पना निरर्थक है । घट पटादिक जो पदार्थ है वह विज्ञान का आकार विशेष ही है । वासना के बल से ज्ञान का ही घटादि संतान है । नीलपीतादिक जो आकार है वह अपोह रूप है इसलिए विज्ञानाहित संस्कार से समस्त पदार्थ विषयक ज्ञान की उपपत्ति हो जाती है तो ज्ञानातिरिक्त पदार्थ का सद्भाव अनुपपन्न है ? इस प्रकार के पूर्वपक्ष में उत्तर कहते हैं “नाभाव उपलब्धेः” विज्ञान व्यतिरिक्त पदादि लक्षण अर्थ का अभाव युक्त नहीं है क्योंकि ज्ञानव्यतिरिक्त रूप से पदार्थ की उपलब्धि होती है जो कि सर्वानुभव सिद्ध है । एतादृश सर्वानुभव सिद्ध पदार्थ का अपलाप उचित नहीं है । “घटमहं जानामि” घट को मैं जानता हूँ यह ज्ञान घट

मन्तरेणैव ज्ञानस्य निरालम्बनत्वमिति वाच्यम् । न स्वप्नप्रत्ययानां निरालम्बनत्वं प्रबुद्धावस्थानुभूतार्थसंस्कारस्यैव तत्र कारणत्वात् । न हि त्वन्मते संस्कारोऽपि युज्यते । तदुपधायकार्थानामभावात् ।

किञ्च यदि विज्ञानातिरिक्तः कश्चित्पदार्थ एव न स्यात्तर्हि कस्य किमर्थं विज्ञानं नीलाद्याकारतामुपयातीति वक्तव्यम् । न हि विज्ञानमेव स्वयं स्वार्थस्तत्तद्रूपतामुपैति प्रयोजनाभावात् ॥२८॥

ज्ञानं तदा न नियममर्थोद्बुधुपलभते स्वप्नादावदर्शनादित्याद्यनेकयुक्तिभिर्वाह्योर्थो निराक्रियते विज्ञानैकस्कन्धमात्रं मनुते । तत्र संशयपूर्वपक्षौ भाष्यदर्शितदिशैव परिज्ञेयौ । उत्तरम्, 'नाभाव इति सूत्रम् । न खलु बाह्यस्य घटादिलक्षणार्थस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन सम्प्राप्तस्य, सर्वथाऽभावोवक्तुं शक्यते । यतः उपलब्धेः ज्ञानव्यतिरेकेणार्थसद्भावावश्यदर्शनात् । यदि बाह्यार्थो न भवेत्तदा घटपटविज्ञानयोर्भेदो न स्यात् । न च वासनावलात् तथा संभवति, वासनायाज्ञानमूलत्वात् ज्ञानस्य चार्थनियतत्वात् । न च सहोपलम्भस्योपायापेयहेतुकत्वान्नत्वभेदादित्यादिकं स्वमनीषयैव ज्ञातव्यमिति संक्षेपः । २८ ।

को कर्म रूप से तथा कर्ता रूप से ज्ञानाश्रय को बतलाता है नतु तत्कर्म तत्कर्ता के अमेद को बतलाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञान का कर्म विषय है तथा ज्ञान का आश्रम कर्ता है । नहीं कहो कि जिस तरह स्वाप्तिक ज्ञान अर्थ के बिना ही भासित होता है । उसी तरह जाग्रत् ज्ञान भी अर्थ शून्य है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि स्वाप्तिक ज्ञान भी निरालम्बनक अर्थात् निर्विषयक नहीं होता है किन्तु जाग्रत्कालिक अनुभूत पदार्थ विषयक संस्कार से स्वप्नावस्था में ज्ञान होता है । अतः स्वप्नवत् दृष्टान्ता सिद्धि है । और आपके मत में संस्कार नहीं बन सकता है क्योंकि तादृश संस्कार का उत्पादक बाह्य अर्थ नहीं है । और भी यदि विज्ञान से अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है तो किसका किस अर्थ विषयक ज्ञाननीलाद्याकरता को प्राप्त करेगा । विज्ञान स्वयमेव स्वके लिए विज्ञानाकारता को धारण करेगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इसमें उसको कोई प्रयोजन नहीं है । अतः विज्ञानवाद युक्त नहीं है ॥२८॥

॥ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् २।२।२९ ॥

स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानस्य निरालम्बनत्वं न शक्यते
वक्तुम् । कुतः ? वैधर्म्यात् । स्वप्नादिज्ञानस्य मनः कल्पना
मात्रत्वेन बाधितविषयत्वाज्जागरितज्ञानस्य तु प्रत्यक्षप्रमाणजन्यत्वे
नाबाधितविषयत्वात् । इत्युभयोर्ज्ञानयोर्वैधर्म्यात् । चकाराद्दृष्टा-

सर्वोपि प्रत्ययोनिरालम्बनकः प्रत्ययत्वात् स्वात्मिकप्रत्ययवदित्यनुमानेन
यत् जाग्रत्प्रत्ययस्य निर्विषयत्वं प्रसाधितं तद्दूषणाय दृष्टान्तवैधर्म्यं दर्शयति स्वप्नज्ञाने
त्यादि स्वप्नज्ञानं यथा निरालम्बनकं तथा जागरितज्ञानम्, उभयोर्वैधर्म्यात् स्वप्नज्ञान-
स्य मनः कल्पनारूपत्वेन बाधितत्वात् । जागरितज्ञानस्य प्रमाणजनितत्वेनाबाधि-
तत्वात् । बाधितश्च भवति स्वप्नप्रत्ययो न तु जागरितप्रत्ययस्तथेति न तद् दृष्टा-
न्तेन जागरिते विज्ञाने निर्विषयत्वमिति । अपि च न सर्वोपि स्वप्नः प्रत्ययो मिथ्या
क्वचित्सत्यार्थस्यापि स्वप्नेन प्रकाशनात् । स्वप्नो हि त्रिविधो धातुवैषम्यजनितः संस्कार
जनितोऽदृष्टजनितश्च । तत्राद्ययोर्द्वयोर्मिथ्यार्थकत्वम् । अन्तिमस्य तु शुभाशुभ
कर्मानुसारेण सत्यार्थप्रकाशकत्वमिति न सामान्यरूपेण निरालम्बनत्वमिति न तद्

योगाचार बौद्धों ने स्वप्नज्ञान को दृष्टान्त करके जागरित ज्ञान में भी निरालम्बन का
प्रतिपादन किया था उसका निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं “स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन
त्यादि” स्वप्नज्ञान को दृष्टान्त करके प्रत्ययत्व हेतु से जागरित ज्ञान में भी निरालम्बनत्व
को सिद्ध नहीं कर सकते हैं । क्योंकि वैधर्म्य होने से अर्थात् स्वप्नज्ञान तथा जागरित ज्ञान में
परस्पर वैधर्म्य है । तथाहि स्वात्मिक ज्ञान मन की कल्पना रूप होने से बाधित विषयक है
स्वप्न पृष्ठ अर्थ का जागरितकाल में बाध देखने में आता है और जागरित कालिक जो
ज्ञान है वह प्रत्यक्षादि प्रमाण जन्य होने से अबाधित विषयक होता है । इस प्रकार से
इन दोनों ज्ञानों में बाधाबाध रूप वैषम्य है सूत्रघटक च शब्द से यह सिद्ध होता है
कि स्वप्नप्रत्यय भी सर्वथा बाधित ही होता है, ऐसा कोई एकान्तिक नियम नहीं है, क्योंकि

न्तभूतस्वप्नप्रत्ययोऽपि न सर्वथा मिथ्याभूतः क्वचित्तस्यापि साफल्यदर्शनात् ॥२९॥

॥ न भावोऽनुपलब्धेः २।२।३० ॥

बाह्यार्थानां घटादीनामभावे केवलस्यार्थविहीनस्य ज्ञानस्य भावो नोपपद्यते । कुतः ? अनुपलब्धेः । प्रत्यक्षसिद्धस्य विषयस्याभावेऽप्रत्यक्षस्य विषयिणो ज्ञानस्याप्यनुपलब्धेः । विषयिणो विषयपदार्थनिरूपितत्वेनैकस्याभावेऽपरस्याप्यभावत्वनिष्पत्तेर्न ज्ञानोपलब्धिः स्यादिति ॥३०॥

॥ क्षणिकत्वाच्च २।२।३१ ॥

योगाचारमतेऽपि क्षणिकत्वमेव सर्वेषाम् । तथा च यदभिहितं दृष्टान्तेन ज्ञानमात्रस्य निरालम्बनत्वसाधनं युक्तमिति भावः ॥२९॥

ज्ञानेच्छा प्रयत्न संस्काराणां विषयाधीननिरूपणत्वम् विषयाभावे निर्विषयतया ज्ञानादीनां निरूपस्यासंभवात् । इति निरूपकस्य विषयस्य व्यापकस्याभावे व्याप्यस्य ज्ञानादेर्निरूपणाभावेन तत्सत्त्वमेव विलुप्येत, वन्ध्यभावे धूमाभाववदित्याशयेन विषयाभावे विषयिणो निरूपणं सत्त्वं च विलुप्तं स्यादिति आह—बाह्यार्थानामित्यादि ॥३०॥

ननु योगाचारोपि क्षणिकत्ववादी, अतः क्षणवादे उत्तरोत्पादे पूर्वनिरोधुभाशुभ कर्मजनित जो स्वाप्रिक ज्ञान होता है वह सत्य अर्थ का प्रकाशक होता है । इसलिए योगाचार का मत भी विशुद्ध नहीं है ॥२९॥

बाह्य अर्थ=प्रत्यक्षग्राह्य जो घटपटादि विषय उसका यदि सर्वथा अभाव हो तब अर्थ विहीन जो केवल ज्ञान उसका भाव सद्भाव उपपन्न नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध विषय का अभाव रहेगा । तब अप्रत्यक्ष जो विषयी ज्ञान उसकी उपलब्धि नहीं होगी क्योंकि विषयी जो ज्ञानादिक वह विषयाधीन निरूपणक है तो निरूपक व्यापक जो विषय तदभाव में व्याप्य जो विषयी ज्ञान उसका भी अभाव हो जायगा ॥३०॥

योगाचार के मत में भी पदार्थ मात्र क्षणिक है इसलिए पहिले जो कहा था कि बाह्यार्थ के न होने पर भी वासना के बल से सब उपपन्न होता है यह ठीक नहीं है क्योंकि

पूर्ववासनातः सर्वं सम्पत्स्यत इति तदपि दुरुपपादम् । तस्या आधारमन्तरेण स्थातुमुत्पत्तुञ्चाशक्यत्वात् । आलयविज्ञानस्यापि तन्मते क्षणिकत्वात् । न च कारणीभूतज्ञानक्षण एव कार्यज्ञानमुत्पत्स्यत इति वाच्यम् । असम्भवात् । न हि कारणमनासादयत्स्वकीयमात्मानमपरं प्रति शक्नोति निर्वाहयितुं कारणतामिति विज्ञानवादिमतमप्यसङ्गतम् ॥३१॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये उपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

धादिका ये ये दोषा उद्भावितास्ते सर्वेपि दोषा इहाप्यनुसन्धेया । किञ्च ज्ञानमिह द्विविधम् नीलादिविषयकं प्रकृतिविज्ञानम् । अहमादिविषयकमालयविज्ञानम् तदपि क्षणिकमेवेति वासनानिमित्तकं विज्ञानमिति तादृशवासनायाः स्थिराधिकरणस्याभावेन कं निमित्तमासाद्य वासनादिविषयकं ज्ञानं जायते इति न योगाचारमतं समीचीनमिति दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते योगाचारमतमित्यादि सुगममन्यत् ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे उपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

आधार के बिना वह वासना न उत्पन्न हो सकती है नवा अवस्थित हो सकती है । नहीं कहो कि आलय विज्ञान जो कि अहमास्पद है वही वासना का आधार होगी यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब पदार्थ मात्र क्षणिक है तब तो आलय विज्ञान भी क्षणिक ही है । नहीं कहो कि कारणीभूत ज्ञान क्षण से कार्यरूप ज्ञान क्षण उत्पन्न होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं इसमें असंभव दोष होता है किसी स्थिर कारण को प्राप्त किये बिना कोई दूसरे को उत्पन्न नहीं करा सकता है । इसलिए विज्ञानवादी का मत सुसंगत नहीं है ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे उपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

अथ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥

॥ सर्वथानुपपत्तेश्च २।२।३२ ॥

अथ शून्यवादिनो माध्यमिकस्य मतं सद्युक्तिमूलं नवेति संशये सद्युक्तिमूलमिति पूर्वः पक्षः । तथा हि—उत्तममध्यमाधिकारि भेदेन तत्तदर्थानां विज्ञानरूपत्वानुमेयत्वप्रत्यक्षत्वादिकं बोध्यम् । तदपि च क्षणिकतयातिदिष्टम् । वस्तुतस्तु शून्यमेव तत्त्वमित्येव सौगतोऽभिप्रायः । सर्वस्य पदार्थजातस्य सत्त्वमसत्त्वं सदसद्रूपत्वमनुभयरूपत्वं वेति विवेचनीयम् । तत्र नाद्यः पक्षः क्षेमतां लभते बाधितत्वात् । न द्वितीयोऽस्तीत्येवोपलभ्यमानत्वात् । न तृतीयः

बाह्यार्थवादिनोर्योगाचारस्य च मतं व्युदस्य माध्यमिकमतं निरसितुमुपक्रमते अथ शून्यवादिनोमाध्यमिकस्येत्यादि योयं भगवतोबुद्धस्य चरमशिष्योमाध्यमिकस्तदीयं मतं सद्युक्तियुक्तं नवेति संशयः । सद्युक्तिकमेवेति पूर्वपक्षस्तस्यायमभिप्रायः । यद्यपि

इसके अनन्तर माध्यमिक का मत सद युक्तिमूलक है अथवा नहीं ऐसा संशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सद्युक्ति मूलक ही है । अब पूर्वपक्ष का उत्पादन करते हैं तथाहि उत्तम मध्यमाधम तीन प्रकार के अधिकारी भेद से सुगत प्रतिपादित विज्ञान रूप प्रत्यक्ष अनुमेयादिक है ऐसा समझना । वह सब क्षणिक रूप से कहा गया है वस्तुतस्तु शून्यता ही सुगत मत सिद्ध है ऐसा कहा है “भिन्नापि देशना भिन्ना शून्यताद्वय-लक्षणेति” माध्यमिक कहते हैं कि पदार्थमात्र सत् है वा असत् वा सदसत् है अथवा अनुभयरूप है ऐसा विवेचन करना चाहिए । इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि पदार्थ का सद्रूपत्व प्रमाण बाधित है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि सत् रूपसे प्रतीयमान होता है असत् रूप होता तो नञादि पदजन्य प्रतीतिका विषय होता । नवा तृतीय पक्ष भी ठीक है क्योंकि इसमें तो परस्पर विरोध है अर्थात् जो सत् होगा वह असत् नहीं होगा और जो असत् होगा वह तो सत् नहीं होगा सत्त्व असत्त्व परस्पर विरुद्ध है । तदुक्तम् “परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः । नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्र विरोधतः” इति । अतः एक अधिकरण में एक काल में सत्त्व असत्त्व को नहीं रहने से विरोध है ।

परस्परविरोधात् । नापि तुरीयोऽसम्भवात् व्याहतत्वाच्च । तस्माच्छून्यमेव तत्त्वमिति मतं युक्तम् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते— सर्वथानुपपत्तेश्चेति । सर्वप्रकारेण सर्वशून्यत्वरूपं तुच्छत्वं नोपपद्यते । किन्तु प्रमाणप्रमेयादिपदार्थास्स तत्तमुपलभ्यमानास्सन्त्येव । अयमभिप्रायः । शून्यवादिना सर्वस्य शून्यत्वं व्यवस्थाप्यते । तत्केनचित्प्रमाणेन तदतिरिक्तेन वा ? । तत्र नाद्यः । कृत्स्नानां प्रमाणानां तन्मते तुच्छत्वात्तेषां वस्तुव्यवस्थापनासामर्थ्यात् । नान्तिमः । प्रमाणातिरिक्तेन व्यवस्थाप्यमाने सुगतवचनं श्रुत्वास्वस्वबुद्ध्यनुसारेण तत्तन्मतमेव बाह्यार्थवादज्ञानवाद एव श्रेयानिति निश्चितवन्तः परन्तु सर्वतत्त्वरूपाशून्यतैव सुगतानुमोदितेति माध्यमिकः । युक्त्या सत्त्वपक्षस्योभयपक्षस्यानुभयपक्षस्य निराकरणात्तदेव तत्त्वमिति तस्मात् स एव पक्षः यदि कदाचित् इन दोनों को एकाधिकरण वृत्तिता हो तो विरोध ही क्या होगा यतः सद्धानवस्थान का नाम ही तो विरोध होता है यदि सद्धानवस्थान हो जावे तब तो उन दोनों में विरोध न होकर के घटत्व पृथिवीत्ववत् अविरोध होगा नतु गोत्व अश्वत्ववत् विरोध होगा । इसलिए तृतीय पक्ष सत् असत् रूप ठीक नहीं हैं । नवा अनुभय रूपत्व लक्षण चतुर्थ पक्ष ठीक है क्योंकि असंभव तथा व्याघात रूप दोष होगा अर्थात् न सद्रूप है नवा असत् रूप यह है भी ठीक नहीं क्यों जो सत् रूप नहीं होगा वह अवश्य असत् होगा और जो असत् रूप नहीं होगा वह अवश्य सत् होगा । तदुक्तं 'यथायथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा । यदेतत्स्वयमर्थेभ्योरोचते तत्र के वयमिति' अतः शून्यता ही तत्त्व है कोई भी पदार्थ विचार को सहन नहीं करता है इति पूर्वपक्षाशयः ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "सर्वथानुपपत्तेश्चेति" सभी प्रकारों से सर्वशून्यता रूप तुच्छत्व पदार्थ में उपपन्न नहीं होता है । किन्तु प्रमाण प्रमेयादि सकल पदार्थ सद्रूप हैं । अर्थात् कहने का अभिप्राय यह है कि शून्यवादी जो सब पदार्थ में शून्यता को स्थिर करते हैं वह किसी प्रमाण से सिद्ध करते हैं अथवा प्रमाण व्यतिरिक्त से स्थिर करते हैं, अर्थात् प्रमाण के बिना ही सिद्ध करते हैं ? इसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि प्रमेय की तरह सभी प्रमाण को तुच्छ होने से तादृश प्रमाण में सर्वशून्यता व्यवस्थापन करने का

गगनकुसुमायिते वस्तुनि प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न च शून्यव्यवस्था पकस्य प्रमाणस्य सत्त्वमभ्युपेयत इति साम्प्रतम् । प्रतिज्ञाविरोधाद् व्याघाताच्च । नास्ति चेन्न शून्यत्वसंस्थितिर्जगति । अपि चाबाल- गोपालमनुभूयमानस्य महीमहीधरमहार्णवादिविचित्रसंस्थानसंस्थि- तस्य जगतः केन शून्यत्वमभिधीयेते शून्यवादिनः । यश्च सर्वस्य शून्यत्वमपि प्रतिजानाति प्रलपति च स्वयमिति स्ववचसां व्याह- तिमपि नावधारयति । किञ्चैतस्मिन्दर्शने दर्शनस्थानादिपदानां स्थाने पश्यनातिष्ठनेत्यादिशब्दानां प्रयोगोऽप्यशुद्ध एव । तस्मादिदं मतं सर्वथानुपपन्नमिति सिद्धम् ॥३२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥

श्रेयानिति वदति तन्न मनोरमम् शून्यता साधकप्रमाणस्य शून्यत्वेऽसाधकत्वात् सत्यत्वे सिद्धान्तविरोधादित्यादिविरोधदर्शनायाह इति प्राप्तेऽभिधीयते इत्यादि ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥

सामर्थ्य नहीं है । अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं है । प्रमाणातिरिक्त से व्यवस्थाप्यमान गगन- कुसुमायमान पदार्थ में प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति अनुपपन्न है । नहीं कहो कि शून्यता का व्यवस्थापक प्रमाण की सत्ता मानते हैं ? यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रतिज्ञा विरोध तथा व्याघात होगा । यदि प्रमाण नहीं है तो शून्यता की सिद्धि नहीं होगी । और भी आपामर साधारण प्रत्येक व्यक्ति से अनुभूयमान पृथिवी पर्वत समुद्रादिक पदार्थ है इन सबकी शून्यता का प्रतिपादन किससे किया जायगा । जो सबके शून्यत्व को प्रतिज्ञा करता है तथा उसका प्रलाप भी करता है वह अपने वचन में व्याघात दोष को नहीं देखता है । और भी इस बौद्धदर्शन में दर्शन तथा स्थानादि वाचक पद के स्थान में पश्यना तिष्ठनादि शब्दों का प्रयोग भी अशुद्ध प्रयोग ही है । इसलिए यह माध्यमिक का मत सर्वथा अनुपपन्न है यह सिद्ध हुआ ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥

अथैकस्मिन्नसम्भवाचिकरणम् ॥६॥

॥ नैकस्मिन्नसम्भवात् २।२।३३ ॥

मुक्तकच्छसौगतसमयनिरासानन्तरं विवसनानामार्हतानां मतमपाक्रियते । तत्र जिनमतं सद्युक्तिमूलमाहोस्विदसद्युक्तिकमिति संशये सद्युक्तिकमिति पूर्वः पक्षः । तथा हि जीवाजीवास्रव संवरनिर्जस्वन्धमोक्षाख्याः सप्तपदार्था आर्हतमतसिद्धाः । तत्र जीवः

बौद्धमतनिरासानन्तरं जैनमतं निरसितुमुपक्रमते मुक्तकच्छसौगतेत्यादि एषा हि तेषां प्रक्रिया समयश्च । एतन्मते सप्तपदार्थाः जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जस्वन्धमोक्षाः । संक्षेपेण द्विविधा एव जीवाजीवौ तत्र ज्ञानलक्षणो जीवस्तद् भिन्नो-जड़ोऽजीवः । तयोरयमपरः प्रकारः जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायः धर्मास्तिकायो-धर्मास्तिकाय आकासश्चेति । तत्र जीवास्तिकायस्त्रिविधः बद्धोमुक्तो नित्यसिद्धश्च । पुद्गलास्तिकायः षड्भेदभिन्नः । पृथिव्यादीनि चत्वारिभूतानि स्थावरजङ्गमं धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यानुमीयतेऽधर्मास्तिकायश्च स्थित्यानुमीयते । आकाशास्तिकायोद्विविधः लोकाकाशोऽलोकाकाशश्च । तत्र सार्द्धद्वीपाकाशोलोकाकाशः एतावत्प्रदेशे एव लोकानां संभवः । ततो वहिराकाशोऽलोकाकाशस्तत्र धर्मास्तिकायादीनामभावात् । आस्रवादीनां स्वरूपन्तु इत्थम् तत्रास्रवसंवरनिर्जरास्त्रयः पदार्थाः प्रवृत्तिलक्षणाः सा च-

मुक्तकच्छ बौद्ध के मत का निरास करने के बाद दिगम्बर जैनों के मत का निरास कहने के लिए उपक्रम करते हैं । तत्र जैनों का जो मत है वह सद् युक्तिमूलक है अथवा युक्तिमूलक नहीं है ऐसा संशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यह मत समीचीन युक्तिमूलक है, तथाहि जैनमत में जीव अजीव आस्रव संवर निर्जर बन्ध तथा मोक्ष ये सात पदार्थ हैं । उसमें शरीराकारपरिमाणक ज्ञानदर्शन लक्षण जीव है । भोग्य वर्ग को अजीव कहते हैं । शब्दादिक विषयों में इन्द्रिय प्रवृत्ति को आस्रव कहते हैं इन्द्रियों के विषय के प्रति प्रवृत्ति को रोके उसको संवरक कहते हैं । यम नियमादिक कषाय विनाश कर्म को यथा छट्ठ अट्ठम केशलुंचन तप्तशिलाविरोहण परिषद् सहन को निर्जर कहते हैं । बन्ध शब्द से

कार्यपरिमाणकश्चेतनः । अजीवो भोग्यवर्गः । विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्ति
रास्रवः । संवृणोतीन्द्रियधावनमिति संवरो यमनियमादिः । निर्जर-
स्तपस्तप्तशिलारोहणादिरूपम् । बन्धपदेन तद्धेतुभूतं कर्मोच्यते ।
मोक्षः कर्मोच्छित्या सततोर्ध्वगमनम् । एवमणुव्यतिरिक्तद्रव्याणामस्ति
कायपदेन ग्रहणम् । तेषां च पञ्चभेदाः । जीवधर्माधर्मपुद्गलाका-
शास्तिकाया इत्येतेषामवान्तरानन्तभेदा आर्हतदर्शने प्रदर्शिताः । तेषां

प्रवृत्तिर्द्विविधा सम्यग्मिथ्या च । तत्र मिथ्याप्रवृत्तिरास्रवः सम्यक् प्रवृत्ती संवरनि-
र्जरौ । आस्रावयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः । इन्द्रियद्वारा पौरुषं
ज्योतिर्विषयान् स्पृशत् रूपादिज्ञानाकारेण परिणमते । अन्येतु कर्माण्यास्रवमाहुः ।
तानि कर्तारमभिव्याप्यस्रवन्ति कर्तारमनुगच्छतीत्यास्रवः । सेयमनर्थकारणत्वान्मि-
थ्या प्रवृत्तिरिति । संवरनिर्जरौ च सम्यक् प्रवृत्ती । तत्र शमदमादिलक्षणा प्रवृत्तिः
संवरः । सा चास्रवस्रोतसोद्धारं वृणोति तस्मात्संवरा इत्युच्यते । अनादिभवसञ्चि-
तकर्मविनाशस्त्रिविधं तप एव निर्जरः । स च सुखाद्युपभोगेन पुण्यापुण्यं जरयति
ततो निर्जरः । बन्धोऽष्टप्रकारकं कर्मतस्यावान्तरोद्विधोभवति घाति अघाति च ।
तत्राद्यं ज्ञानावरणीप्रदर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायभेदाच्चतुर्विधम् । अघाति कर्माण्यपि
चत्वारि वेदनीयनामिकगोत्रिकायुष्कभेदात् । तत्र सम्यग् ज्ञानं मोक्षसाधनं मोक्ष
साधनं न भवति तावन्मात्रस्य तथात्वेऽति प्रसङ्गादिति ज्ञानविपर्ययो ज्ञानावरणीयं
कर्मकथ्यते (एतन्मते सम्यग् ज्ञानदर्शनचारिव्याणामेवमोक्षसाधकत्वादिति । जैनमत
बन्ध का कारणीभूत कर्म कहलाता है । कर्म का उच्छेद हो जाने पर सतत ऊर्ध्वगमन को
अथवा सिद्ध शिलारोहण को मोक्ष कहते हैं । एवं परमाणु व्यतिरिक्त द्रव्य को अस्तिकाय
शब्द से ग्रहण होता है । इन अस्तिकायों का पाँच भेद है । जीवास्तिकाय धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय । इन सबका भेद प्रभेद अनेक होते हैं
जिनका जैन शास्त्र में विस्तार किया गया है दण्डक संग्रहणी कर्मग्रन्थ भगवती सूत्र विगोरे
४५ आगमों में । सप्तमङ्गी न्याय से इन सब पदार्थ को व्यवस्थित करते हैं । “स्यादस्ति
घटः” [स्वदेश स्वकाल स्वस्वरूप से घट है] “स्यान्नास्तिघटः” [परदेश परकाल पर स्वरूप
से घट नहीं है ।] “स्यादस्ति च नास्ति च” [स्वदेशकाल भाव से है भी तथा पर रूप से
तदानीमेव नहीं भी है ।] युगवत् वृत्तित्ता को लेकर के कहते हैं “स्यादवक्तव्यः” समुच्चाय

सर्वेषां सप्तभङ्गीन्यायेन व्यवस्थितिः क्रियते । स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं स्यादस्ति चावक्तव्यम् स्यान्नास्ति चावक्तव्यं स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति तत्स्वरूपम् । एकस्यैव पदार्थस्य कथञ्चिदवस्थाभेदेन देशादिभेदेन च सत्त्वं तस्यैव च प्रकारान्तरेणासत्त्वम् । एवमेव सर्वत्रानैकान्त्येन पर्यवस्थानमिति ।

अत्रोच्यते—नैकस्मिन्नसम्भवादिति । न युक्तोऽनेकान्तवादो जैनानामिति । कुतः ? एकस्मिन् वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वसत्त्वादर्शनाभ्यासान्नमोक्ष इति ज्ञानं दर्शनावरणीयम् कर्म । बहुषु विप्रतिषिद्धेतीर्थकरैरुपदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं मोहनीयं कर्माभ्यासपथिकानां विघ्नजनकं ज्ञानमन्तराय कर्म । एतानि मोक्षविघातकत्वाद्वाति कर्माणीति कथ्यन्ते । अघाति कर्माणि चत्वारि तानीमानि—वेदनीयगोत्रिकनाभिकायुष्कभेदात् । तत्र शुक्लपुद्गलविपाककारणं कर्मवेदनीयम् तद्विबन्धोपनिश्रेयसनिःश्रेयसविरोधि न भवति तत्त्वज्ञानस्याविघातकत्वादिति । शुक्लपुद्गलारंभकवेदनीयकर्मानुगुणं कर्मानाभिकं कर्म तत् शुक्लपुद्गलस्याद्यावस्थां कललादिमारभते । गोत्रिकमव्याकृतं ततोऽप्याद्यं शक्तिरूपेणावस्थितम् । आयुष्कं तु आयुषोजनकं कर्म । तानीमानि शुक्लपुद्गलाश्रयत्वाद्वाति कर्माणीति । तदितं बन्धाजनकत्वात् बन्धापदेन व्यपदिश्यते । सिद्धशिलाधिरोहणं मोक्षः । अन्योस्तृध्वगमनशीलोहि जीवः धर्माधर्मास्तिकायेन वद्वस्तद्विमोक्षादूर्ध्वपक्ष में “स्यान्नास्तिचावक्तव्यं च स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यं च” यह सप्तभङ्गी का स्वरूप है । एक ही पदार्थ में कथंचित् अवस्था भेद से देशकालभावादि भेद से सत्त्व है । उसी में प्रकारान्त से असत्त्व भी है । इसी प्रकार सर्वत्र अनेकान्तवाद से स्वकीय मत का उपपादन करते हैं ।

इसप्रकार का जो प्रश्न उसका समाधान करते हैं “नैकस्मिन्नसंभवादिति” जैनीयों का जो यह अनेकान्तवाद है वह युक्त नहीं है क्योंकि एक वस्तु में नित्यत्व अनित्यत्व सत्त्व असत्त्व वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्वादिक परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश असंभव है गोत्व महिषत्व की तरह सभी पदार्थों में विरुद्धधर्माक्रान्तत्व नहीं हो सकता है । क्योंकि जो यह विरुद्ध धर्म है वह योगपथ से रहता है अथवा अवस्था भेद से रहता है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक

सत्त्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वादीनां परस्परविरुद्धानां धर्माणामसम्भवात् । न हि समेषां पदार्थानां विरुद्धधर्माक्रान्तत्वं सम्भवति । तद्धि यौग-
पद्येन देशकालावस्थाभेदेन वा ? आद्येऽसम्भवात् । द्वितीये सिद्ध-
साधनात् । नित्यपदार्थानाञ्च प्रकारद्वयेनापि नानैकान्त्यम् । तस्मा
दसङ्गतमयुक्तञ्च जैनदर्शनम् ॥३३॥

५ एवं चात्माकात्स्न्यम् २।२।३४ ५

यथैषां मते विरुद्धधर्मावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि न सम्भवति ।

गच्छत्येवेति मोक्षः । ते इमे जीवादयः पदार्थाः अवान्तरभेदप्रभेदैः शास्त्रे समु-
पदिष्टाः सर्वत्र सप्तभङ्गो हि भवति स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति च नास्ति च
स्यादवक्तव्यः स्यादस्तिचावक्तव्यश्च स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च स्यादस्तिच नास्ति
चावक्तव्यश्चेति । एवमेकवस्तुनि नानाधर्मावस्थानं दर्शयति जैनः । तन्मतखण्डनाय
प्राह नैकस्मिन्नसंभवादिति ॥३३॥

यथा परस्परविरुद्धधर्माक्रान्तत्वं दोषोजिनमते तथैव जीनस्याव्यापकत्वमपि
दोषो भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते यथाचैषामते इत्यादि । एतन्मते जीवस्य परिमाणः
शरीरपरिमित इति नियमः । ततश्च कर्मवशाद् यदामनुष्यशरीरं परित्यज्यजीवो
हस्तिशरीरेगच्छन् समस्तशरीरं न व्यानपुयात् एवं हस्तिशरीरं परित्यज्यमशकशरीरं
नहीं है क्योंकि असंभव होने से एक अधिकरण में एककाल में विरुद्धधर्म द्वय का समावेश
अनुभव बाधित है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें तो सिद्ध साधन दोष होता
है जो पदार्थ सिद्ध है उसका पुनः सिद्ध करना पिष्टपेषणवत् निरर्थक है । और नित्य जो
पदार्थ है उसमें दोनों ही प्रकार से अनेकान्त नहीं घटता है । इसलिए जैनाभिमत अनेकान्त-
वाद असंगत तथा अयुक्त है । विशेष विवरण अन्यत्र मेरे निबन्ध में देखें ॥३३॥

जिस तरह जनमत में विरुद्ध धर्मों का अवस्थान एक वस्तु में नहीं होता है इसी
तरह आत्मा में कृत्स्नता का भी असंभव होता है । इस मत में जीव को शरीर परिमाणक
मानते हैं तो कर्म के बल से मनुष्य जीव को मशकादि क्षुद्रजन्तु शरीर में संपूर्ण रूपसे प्रवेश
अनुपपन्न हो जाता है । अल्पशरीर परिमाणक मशक जीव को गजादिवृद्ध शरीर में

एवमात्मनः कात्स्न्यस्याप्यसम्भवः । आत्मनो देहपरिमाणत्वे कर्म वशान्मनुष्यात्मनो मशकादिक्षुद्रजन्तुशरीरे कृत्स्नस्य प्रवेशानुपपत्तेः । अल्पशरीरकमशकाद्यात्मनश्च गजादिबृहच्छरीरे कात्स्न्येनावस्थानानुपपत्तेश्चासङ्गतमार्हतमतम् ॥३४॥

५ न च पर्यायादप्यविरोधो

विकारादिभ्यः २।२।३५ ५

न चैवं पर्यायपदवाच्यसंकोचविकाशाश्रयतयात्मनोऽवस्था भेदाङ्गीकारेणापि विरोधपरिहारः । आत्मनः संकोचविकाशधर्मवत्त्वे प्राप्तो न सम्पूर्णरूपेण व्याप्तः स्यात् । तदाहुर्जगद्गुरवः श्रीअनुभवानन्दाचार्याः “स्थूलदेहमपहाय सूक्ष्मच्छेहोपपादनकाले सकलस्यावकाशाभावात् स्वरूपशैथिल्य प्रसङ्गाद्वैय एव सर्वथा जीवमध्यमपरिमाणवादः । ननु सङ्कोचविकाशावङ्गीकृत्य स्थूलसूक्ष्मजीवानां क्रमात् सूक्ष्मस्थूलदेहप्रवेशस्योपपन्नत्वेन समीचीन एव जीवमध्यमपरिमाणवाद इति चेन्न तथात्वे जीवानां सावयवत्वेनानित्यत्वापत्तेः” (श्रौतार्थसंग्रहः) तस्मात् जिनमतं न समीचीनमिति भावः ॥३४॥

संपूर्ण रूप से अवस्थान अनुपपन्न हो जायगा । इसलिए आर्हतमत समंजस नहीं है । नहीं कहोकि जीव तो अनन्त अवयव वाला है उसका अवयव संकोच विकाशशील है तो बृहत् शरीर गमन समय में विकशित हो जाता है और क्षुद्रशरीर गमन के समय में कर्मवशात् संकुचित हो जाता है इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मानो तब तो संकोच विकाशशील चमड़े के समान जीव में अनित्यत्व हो जायगा । अगर इष्टापत्ति कहें तब तो मोक्षबन्ध में नैयविकरण्य हो जायगा सावयव घटादि के समान जीव में अनित्यत्व अनिवार्य हो जायगा । इस विषय की विशेष चचा मैंने श्रौतार्थसंग्रह प्रकाश में की है अतः विशेषार्थी वहीं देखें ॥३४॥

पर्याय पद वाच्य जो संकोच विकाश उसके आश्रय रूपसे जीव के अवस्था भेद को मानने पर भी द्रव्यरूप से नित्य होने से विरोध का परिहार होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवात्मा के संकोच विकाश धर्मक होने से उसमें विकारित्वादि दोष

तत्र विकारित्वादिदोषप्रसङ्गात् । विकारित्वेऽस्य नित्यत्वापत्त्या
तद् बन्धमोक्षाभ्युपगमस्य बाधात् ॥३५॥

॥ अन्त्यावस्थितेश्चोभय-

नित्यत्वादविशेषः २।२।३६ ॥

अन्त्यं मोक्षावस्थस्यात्मनो यत्परिमाणं तस्यैव स्वाभाविकस्य
नित्यस्य परिमाणस्य बद्धमोक्षावस्थायामप्यवस्थित्यात्मतत्परिमाणयो-
रुभयोरुभयावस्थायामपि नित्यत्वादविशेषान्न्यूनाधिकभावानुपपत्ते
र्नात्मनः शरीरपरिमाणकत्वमुपपद्यते । तस्मादसमञ्जसमेव विवसन
दर्शनम् ॥३६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये असंभवाधिकरणम् ॥६॥

अथ पत्यधिकरणम् ॥७॥

॥ पत्युरसामञ्जस्यात् २।२।३७ ॥

पूर्वाधिकरणे गैदिकाचारविधुराणां लुञ्चितकेशानां दिगम्बराणां
इतः पूर्वाधिकरणे वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृणां सुगतजिनानां मतमपाकृतम् ।
चर्मवत् हो जायगा । और विकारी होगा तो अवश्य अनित्य होगा तब बन्ध मोक्षाभ्युपगम
बाधित हो जायगा । अर्थात् सर्ववादी संमत जीव की बन्ध मोक्ष व्यवस्था नहीं हो पायेगी ३५
मोक्ष कालिक आत्मा का जो अन्तिम परिमाण है वह स्वाभाविक नित्य है तादृश
परिमाण को ही बन्ध मोक्षावस्था में भी अवस्थित होने से आत्मा तथा उसका जो परिमाण
उनदोनों को उभयावस्था में नित्य होने से समानता है, तब न्यूनाधिकभाव अनुपपन्न है ।
अतः आत्मा में शरीर परिमाणकत्व नहीं होता है । अतः जैन दर्शन असंगत है ॥३६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्री आनन्दभाष्य प्रकाशे असंभवाधिकरणम् ॥६॥

इससे पूर्ण अविकरण में गैदिकाचार रहित लुञ्चित केशक दिगंबर जैनादिक के मत
का निराकरण किया गया । उसीतरह गैदिक आचार रहित शैवों का मत भी बुद्धिस्थ

मतमपाकृतम् । तद्वद्वैदिकाचारहितानां शैवानां मतं मतिस्थमायातीति तन्निरस्यते । तत्र केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादिनां कापालकालामुख-पाशुपतानां शैवानामन्येषाञ्च नैयायिकादीनां मतस्य सामञ्जस्यमा-होस्विन्नेति संशये सामञ्जस्यमिति पूर्वपक्षः ।

तथाहि—पशुपाशविमोक्षणार्थं कापालिकी पाशुपती च दीक्षा वश्यं ग्राह्या । तत्र निमित्तोपादानयोर्भेदो निमित्तकारणञ्च पशु-पतिः । मुद्रिकाषट्कधारणादिकमेव मोक्षसाधनम् । तथा चोक्तं शैवागमे—

कण्ठिका रुचकञ्चैव कुण्डलञ्च शिखामणिः ।

भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कम्प्रचक्षते ॥

मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः ।

भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति ॥

कापालिकप्रमुखाः शैवा अतिवेदविरुद्धा एव ते च परमेश्वरमभिन्नोपादानं जग-त्कारणत्वं नाभ्युपयन्ति किन्तु केवलं कुलालादिवत् कर्तृकारणमेव ब्रुवते । अतस्तदी यमपि मतं निराकर्तुमुपक्रमते पूर्वाधिकेणैवैदिकाचारेत्यादि कापालिकादीनां मतं सयुक्तिकं नवेति संशयः । सयुक्तिकमेवेति पूर्वपक्षः । कथं तस्य सयुक्तिकत्वमिति भगवद्भाष्य कारप्रदर्शितक्रमेणैव ज्ञातव्यम् । उत्तरम् पत्युरसामञ्जस्यादिति यथा घटादिकार्ये जन होता है. इसलिए शैव मत का भी निराकरण करते हैं उसमें केवल परमेश्वर को अधिष्ठा-तृवादी जो कापालिक कालमुख पाशुपत और शैवों का तथा तदन्य नैयायिक विगरे हैं. उन लोगों का जो मत है वह समञ्जस युक्ति युक्त है अथवा नहीं है ऐसा शंशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि उक्तमत सयुक्तिक ही है । तथाहि पशु अर्थात् जीव उसका जो पाश संसार बन्धन तादृश बन्धन का विमोक्षण के लिए कापालिकी पाशुपति दीक्षा का ग्रहण अवश्य करना चाहिए । इनके मतमें संसार के प्रति निमित्तकारण तथा उपादान कारण इन दोनों में भेद है नतु अमेद मानते हैं, यहाँ निमित्तकारण कर्त्ता पशुपति भगवान् परमेश्वर हैं ।

छः प्रकार के मुद्रा का धारण ही मोक्ष का साधन है । इसी तरह शैवागम में कहा है । तथाहि “कण्ठीरुचककुण्डलशिखामणि भस्म और यज्ञोपवीत” इसी को छः मुद्रा कहते

एवं गणकारिकायाम्—

लाभामला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्ध्यः ।

दीक्षाकाखिलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः । इति ।

धर्मार्थादिसाधकव्यापारस्य विधेर्द्वैविध्यम् । प्रधानभूतत्वं गुणभूतत्वञ्च । तत्र प्रधानभूता साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या । साऽपि द्विविधा । व्रतरूपा द्वाररूपा च । तदुक्तं नकुलीशेन 'भस्मस्नानशय्योपहार जपप्रदक्षिणानि व्रतम् 'भस्मना त्रिपवणं स्नायीतेत्यादिकम् । काथ नस्यन्दनमन्दनशृङ्गारणावितत्करणावितद्वाषणानि द्वाराणि । स्पष्टमे तत्तन्त्रे । एवं कालामुखागमेकपालपात्रभोजनशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनानि कुम्भे देवाराधनानि चाभीष्टफलो पलम्भकानि । एवञ्च कापालिकादिदर्शनानां सामञ्जस्यम् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—पत्युरसामञ्जस्यादिति । पूर्वाधिकरण सूत्रान्नेत्यनुवर्तते । पत्युः परमेश्वरस्य केवलमधिष्ठातृतया कारणत्वं यितव्ये उपादानकारणं कपालम् चेतनमचेतनकार्यस्य निमित्तकारणं चेतनं कुलालः तथैव जगत्कार्ये जनयितव्ये उपादानं किमपि अचेतनमेव परमेश्वरस्तु चेतनत्वात्सर्व ज्ञत्वात् सर्वनियामकत्वात् कुलालवन्निमित्तमात्रं भवति तस्यैवोपादानत्वेधिस्वीकृते हैं । [ययोपवीत को मोक्ष साधन का कथन से सिद्ध होता है कि द्विजाति को ही मोक्षाधिकारी माना गया है । शूद्र को नहीं जबकि मोक्षाधिकार मानव मात्र को है] छः मुद्रा तत्त्व को जाननेवाला परमुद्रा का विशारद भगवन्स्थ अपने को जान करके मोक्ष को प्राप्त करता है । इसी तरह गणकारिका में भी कहा है 'लाभामला' इत्यादि । धर्मार्थ साधक विधि वाक्य का दो भेद होता है । एक प्रधानभूत द्वितीय गुणभूत । उसमें साक्षाद्धर्म के कारणचर्या को प्रधान कहते हैं । वह भी दो प्रकार का है व्रत रूप तथा द्वारभूत है । ऐसा नकुलीश ने भी कहा है, भस्मस्नानशय्योपहार जप प्रदक्षिणा, इसको व्रत कहते हैं । काथन स्यन्दन मन्दन शृङ्गारणादि का ये सब विषय तन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा है । इसी तरह कालामुख के आगम में कहा है "कपालपात्र में भोजन" इत्यादि देवाराधनपर्यन्त कर्म स्वाभीष्ट फलप्रद होता है । इस तरह कापालिक विगरे का जो मत है वह समञ्जस है ।

नोपपद्यते । अतो निमित्तकारणत्वमेवेश्वरस्येति वदतां मतस्या
सामञ्जस्यम् । ‘तदैक्षत बहुस्यामप्रजायेय’ (छा.६।२।३) तदात्मानं
स्वयमकुरुत’ (तौ०३।७) ‘सच्चत्यच्चाभवत्’ (तौ.२।६) ‘तमेव विदित्वा-
तिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय’ (पु०सू०) इत्यादिश्रुतय
श्चैकस्यैव परमपुरुषस्य जगदुपादानत्वं निमित्तत्वञ्चाभिदधते ।
तस्यैव च वेदनस्य मोक्षोपायत्वमपि दर्शयन्ति । तस्माद्वेदविरुद्ध
प्रक्रियाश्रयणादनुष्ठानाद्यभिधानाच्चासामञ्जस्यमेव कापालिकापाशु-
पतादीनां मतस्येति ॥३७॥

॥ सम्बन्धानुपपत्तेश्च २।२।३८ ॥

इतश्चासामञ्जस्यम् । असम्बद्धस्य प्रधानादेः प्रेर्यत्वायोगा-
कार्येपि चैतन्यं समवेयात् कारणगुणस्य कार्यसमानजातीयगुणारंभकत्वस्य नियमात् ।
एवं क्रमेण पत्युः परमेश्वरस्य केवलं निमित्तकारणत्वमेवेति तन्न सामञ्जसम् कुतः ?
श्रुतिविरोधात् । तदैक्षत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, यथोर्णनाभिः सृजते इत्यादिश्रुत्योभय
कारणत्वस्य विनिर्देशात् । इहच तद्विरुद्धप्रतिपादनान्नतदीयं मतं शोभनमिति ।
किञ्चपरमेश्वरज्ञानादेवमोक्षोभवतीति श्रुतिमर्यादा, इह च तद्विरुद्धप्रतिपादनात् समुपे-
क्षणीया एवेति ॥३७॥

प्रधानपुरुषाभ्यामतिरिक्तः परमेश्वरः सम्बन्धं विना प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता न
एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं “पत्युरसामञ्जस्यादिति” इस सूत्र में पूर्वा-
धिकरण सूत्र से नञ् पद का अनुवर्तन किया जाता है । परमेश्वर केवल अधिष्ठाता रूपसे
कारण नहीं हो सकते हैं । अतः परमेश्वर निमित्त कारणमात्र है ऐसा कहनेवाले का मत
में असामञ्जस्य है । “तदैक्षत” “तदात्मानं स्वयमकुरुत” “तमेव विदित्वाति मृत्युमेति”
इत्यादि अनेक श्रुति वाक्य परम पुरुष में जगदुपादानत्व तथा निमित्तकारणता का मृतिपादन
करते हैं । तथा परमेश्वर के ज्ञान को ही मोक्षोपायता का प्रदर्शन करते हैं । तस्मात् वेद
विरुद्ध प्रक्रिया का आश्रय करने से तथा वेद विरुद्ध अनुष्ठानादि का प्रतिपादन करने से
कापालिकादि का मत असमञ्जस है ॥३७॥

दीश्वरेण कश्चित्सम्बन्धो वाच्यः । तत्र समवायसंयोगौ न सम्भवतः ।
ईश्वरस्य तन्मतेऽशरीरत्वात् । नापि सम्बन्धान्तस्मनुपपत्तेः ॥३८॥

५ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च २।२।३९ ५

सशरीराणां कुलालादीनामधिष्ठानत्वदर्शनमवलम्ब्यानुमाना-
दीश्वरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुच्यते । नच पशुपतेर्निमित्तभूतस्य
स्यात् । तत्र तावत्तयोः संयोगो न संभवति, सर्वेषां निरवयवत्वाद्ब्यापकत्वाच्च ।
नापि समवाय सम्बन्धः संभवति, आधाराधेयभावस्य निरूपणात् । नापि तादा-
त्म्यम्, परस्परंभिन्नत्वात्, नवा कालिकः नित्यानुयोगिककालिकसम्बन्धस्यानभ्युप-
गमात् । इति प्रधानपुरुषयोः परमेश्वरेण सम्बन्धाभावात् न परमेश्वरयोरधिष्ठाता
संभवतीत्याशयेनाह सम्बन्धानुपपत्तेरिति अन्यत्सर्वं सुगममिति संक्षेपः ॥३८॥

दृष्टान्ते कुलालादिरधिष्ठाता सशरीरः परमेश्वरस्तु भवन्मतसिद्धः शरीररहित

इस वक्ष्यमाण सम्बन्धानुपपत्ति रूप हेतु से भी सिद्ध होता है कि यह कापालादिकों
का मत समीचीन नहीं है । परमेश्वर के साथ सम्बन्धरहित जो प्रधानादिक पदार्थ हैं, उनमें
परमेश्वर से प्रेर्यत्व नहीं हो सकता है, अतः ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए ।
उसमें समवाय सम्बन्ध तो हो नहीं सकता है, क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव गुण गुण्यादिक में ही
समवाय सम्बन्ध होता है तो प्रकृत में आश्रयाश्रित भाव न होने से समवाय अनुपपन्न है ।
नवा संयोग सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि इन के मत में परमेश्वर शरीर रहित हैं तो
निरवयव में संयोग नहीं हो सकेगा । नवा अन्य कोई सम्बन्ध हो सकता है अनुपपत्ति होने
से । अर्थात् कालिक सम्बन्ध भी संभवित नहीं है, क्योंकि नित्यानुयोगिक कालिक कालिक
सम्बन्ध नहीं होता है । नवा तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि अत्यन्त भेद में तादा-
त्म्य सम्बन्ध नहीं होता है, 'नीलोघटः' इत्यादिस्थल में तादात्म्य होता है नतु गवाश्व में
तादात्म्य होता है । तो प्रकृत में गवाश्व के समान ईश्वर प्रधानादिक में आत्यन्तिक भेद
होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है । एतदतिरिक्त सम्बन्ध कोई उपलब्ध नहीं
होता है । इसलिए पाशुपतादि शैवोंका जो आगम है वह सर्वथा असमञ्जस है इति संक्षेपः ३८

शरीर विशिष्ट कुलालादिक का ही अधिष्ठानत्व होता है इस बात को देख करके
अनुमान के द्वारा ईश्वर को प्रधानादिक का अधिष्ठानत्व कहते हैं । परन्तु निमित्त कारण

कुलालादिदृष्टान्तेन प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यते । कुलालस्य सशरीरत्वात्त्वदीयमतानुमितस्येश्वरस्याशरीरत्वाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यात् ॥३९॥

५ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः २।२।४० ५

भोक्तुः क्षेत्रज्ञस्याशरीरस्यैव करणकलेवराद्यधिष्ठानत्ववदीश्वरस्याप्यशरीरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यत इति चेन्न, भोगादिभ्यः । न जीवदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रधानाधिष्ठितत्वमुपपद्यते । जीव इव पशुपतावपि पुण्यपापफलभोगापत्तेः । अदृष्टाभोगार्थमेव करणकले इति कथमशरीरः प्रधानादिकमधिष्ठातास्याद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यादतो, नत्वदभिमतपरमेश्वरस्याधिष्ठापकत्वमित्याशयेनाह सशरीराणां कुलालादीनामित्यादि सुगममन्यदिति ॥३९॥

ननु यथा स्वभावतः शरीररहितोजीवः करणादिकर्माधितिष्ठति तथा शरीररहितोपि पशुपतिः प्रधानादिकमधिष्ठास्यति ततो न पूर्वोक्तदोष इति चेन्न भोगादिभ्योऽर्थाञ् जीवोहि करणकलेवरस्याधिष्ठाता पापपुण्यफलोपभोगाय, भवति पशुपतेरपि रूप पशुपति को कुलालादि दृष्टान्त से प्रधान का अधिष्ठायक नहीं हो सकता है क्योंकि भवदनुमित पशुपति में सशरीरत्व नहीं है और कुलाल तो सशरीर है अतः दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में विषमता है । इसलिए अनुमान द्वारा पशुपति में निमित्त कारणत्व मात्र की सिद्धि नहीं हो सकती है अतः पाशुपत मत समीचीन नहीं है ॥३९॥

जिस तरह भोक्ता जीव शरीरादि रहित होकर के भी करणकलेवर को अधिष्ठित करता है उसी तरह शरीर रहित पशुपति भी प्रधानादिक का अधिष्ठाता बनेगा । ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि “भोगादिभ्यः” जीव के दृष्टान्त से पशुपति में प्रधानाधिष्ठितत्व नहीं हो सकता है यतः जीव की तरह पशुपति में शुभाशुभ कर्मफल सुखादिक भोग की आपत्ति हो जायगी । जीव जो करण ग्राम का अधिष्ठाता होता है वह फल भोग के लिए ही ।

वराधिष्ठानत्वं जीव व दीमतसिद्धेश्वरस्यापि तथात्वापत्तेर्नाधि-
ष्ठानत्वमपि परमेश्वरस्येति ॥४०॥

॥ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा २।२।४१ ॥

वा शब्दश्चार्थे पशुपतेः पुण्यपापरूपादृष्टवशात्प्रधानाधिष्ठान-
त्वस्वीकारे जीववदन्तवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वमसर्वज्ञता च स्या-
दित्यसमञ्जसमेवेदंमतम् । शैवागमे वेदाविरोधिनामपि कियतां
धर्माणामुपलब्धिर्हस्ति तथापि निमित्तोपादानभेदशवभस्मस्नानभ-
गस्थात्मध्यानादीनां वेदविरुद्धानां धर्माणां तद्दर्शने बाहुल्याद-
सामञ्जस्यं सिद्धम् ॥४१॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये पत्यधिकरणम् ॥७॥

तथात्वस्वीकारे जीववत् पशुपतेरपि फलभोक्तृत्व प्रसङ्गस्यात्तस्मान्नेदं मतं समीचीनमि-
त्याशयेनाह भोक्तुः क्षेत्रज्ञस्येत्यादि अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥४०॥

यथा जीवोऽदृष्टप्रेरितः शरीरादिकमधितिष्ठति तथैव पशुपतेरपि स्वीकारे यथा
जीव उत्पादविनाशशाली, यथावा जीवोऽसर्वज्ञस्तथैव पशुपतेरपि, उत्पादविनाशशाली
असर्वज्ञश्च स्यादिति नेदं मतं समीचीनमित्युपसंहरन् उपक्रमते अन्तवत्त्वमित्यादि भाष्या-
शयोऽतिरोहितार्थक एवेति संक्षेपो विशेषस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे पत्यधिकरणम् ॥७॥

तो भवन्मत सिद्ध परमेश्वर में भी फलभोग प्रसङ्ग हो जायगा । अतः प्रधानादि का अधिष्ठाता
पशुपति नहीं हो सकते हैं ॥४०॥

सूत्र घटक वा शब्द च शब्द के अर्थ में है । यदि पुण्यपापलक्षण अदृष्ट के बल से
पशुपति को प्रधानादि का अधिष्ठानत्व मानें तब तो जीव के समान अन्तवत्त्व अर्थात् सृष्टि
संहारास्पदत्व, उत्पादविनाशकत्व एवं असर्वज्ञत्व भी हो जायगा । इस प्रकार असञ्जस यह
मत है । और शैवागम में वेदविरोधी अनेक वस्तुओं की उपलब्धि होती है, तथा निमित्तो
पादान में भेद शवभस्म स्नानादिक वेद विरुद्ध धर्मों का तदीय दर्शन में बाहुल्य होने से
असमञ्जस यह दर्शन है यह सिद्ध होता है ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे पत्यधिकरणम् ॥७॥

अथोत्पत्त्यसम्भवाचिकरणम् ॥८॥

॥ उत्पत्त्यसम्भवात् २।२।४२ ॥

एवं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादस्य शैवविशेषस्य पाशुपत-
मतस्य श्रुतिविरुद्धत्वादसामञ्जस्यमुक्तम् । तन्निराकरणेन च पञ्च-
रात्रप्रतिपाद्यवैष्णवमतं मतिस्थमापद्यते इति तत्र विचारः क्रियते ।
तत्र भागवतमतस्य सामञ्जस्यमस्ति न वेत्याद्या विप्रपत्तिस्तदर्थं तद्
भिधायकपञ्चरात्रतन्त्रस्य सर्वथाप्रामाण्यमुतांशिकाप्रामाण्यमाहोस्वि-
त्कात्स्न्येन प्रामाण्यमेवेति संशयः । तदर्थमपि केषाञ्चित्पाञ्चरा-
त्रिकाणां वचनानां जीवोत्पत्तौ तात्पर्यमस्तिनवेति च विषयः ।

तत्र पाञ्चरात्रिकाणां केषाञ्चिदपि वचनानां जीवोत्पत्तौ
तात्पर्यस्यात्तर्हि तेषामसम्भवार्थाभिधायकत्वेनांशिकमप्रामाण्यमपि

सर्वान्शेन वेदविरुद्धानामंशतो वा वेदविरुद्धानां कपिलादीनां तन्त्रां प्रत्याख्याय,
पाञ्चरात्रतन्त्रमपि वेदविरुद्धमिति तदपि निराकरणीयमिति भ्रमवतो भ्रमनिरासाय
सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते एवं केवलाधिष्ठात्रीश्वरेत्यादि “परमकारणात्परब्रह्मभूताद्वासुदेवात्सं-

इस तरह केवल अधिष्ठाता ईश्वर कारणवादी शैव विशेष पाशुपत मत को वेद विरुद्ध
होने से असमञ्जस है ऐसा पूर्व प्रकरण में कहा गया है । तादृश शैव मत के निराकरण
करने से पञ्चरात्र तन्त्र प्रतिपादित जो वैष्णव मत है वह भी बुद्धि विषयीकृत होता है ।
इसलिए उसके विषय में विचार किया जाता है । उसमें भागवत मत समञ्जस है अथवा
नहीं, इत्यादिक विप्रतिपत्ति होती है [संशयोपस्थापक शब्द को विप्रतिपत्ति कहते हैं] इसके
लिए वैष्णवमत का प्रतिपादक पाञ्चरात्रतन्त्र में सर्वथा अप्रामाण्य है अथवा आंशिक अप्रामाण्य
है अथवा संपूर्ण रूपसे प्रामाण्य है, ऐसा संशय होता है । तथा कोई कोई जो पाञ्चरात्रिक
वचन है, उसका जीवोत्पत्ति में तात्पर्य है अथवा नहीं है ऐसा संशय होता है । यदि कदा-
चित् पाञ्चरात्रिक वचन विशेष को जीवोत्पत्ति में तात्पर्य हो तब तो असंभवित पदार्थ प्रति-

पञ्चरात्रस्य दुर्वारं स्यात्तथासति तन्मूलकस्य वैष्णवमतस्याप्य
सामञ्जस्यं सुतरां समापन्नं स्यादिति मनसि निधाय पूर्वपक्षयति
अस्यैव “परमकारणात्परब्रह्मभूताद्वासुदेवात्सङ्कर्षणो नामजीवोजायते
सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनोजायते तस्मादनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो जायते”
[परम संहितायाम्] इत्यादिप्रक्रियाप्रतिपादकवचसां जीवोत्पत्तौ
तात्पर्यमिति ।

तत्र सिद्धान्तयति—उत्पत्त्यसम्भवादिति । नैषां पाञ्चरात्रिकाणां
वचनानां जीवोत्पत्तौ तात्पर्यम् । कुतः ? जीवोत्पत्तेरसम्भवस्तस्मा-
दिति । जीवोत्पत्तिः श्रुतिषु नोपलभ्यते । प्रत्युतश्रुतयो जीव
स्यानादित्वं नित्यत्वञ्चामनन्ति । ‘न जायते म्रियते वा विपश्चित्’
कर्षणोनामजीवो जायते संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनोजायते तस्मादनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो
जायते” इत्यादिकं पाञ्चरात्रनिबन्धः । तस्य वासुदेवाज्जीवस्योत्पत्तिः श्राविता, परन्तु
तत्र श्रुतिसंमतम्, श्रुतौ तु जीवस्यनित्यता श्रावितं श्रुतिविरुद्धत्वात्पाञ्चरात्रतन्त्रमप्रामाणि-
पादक पाञ्चरात्रिक वचन को अप्रामाण्य अवश्य होगा । और पञ्चरात्रतन्त्र अप्रामाणिक
होगा तब तो तन्मूलक वैष्णवमत में असामञ्जस्य सुतरामेव होता है । इस बात को मनमें
रख करके पूर्वपक्ष करते हैं— ‘परमकारण परब्रह्म लक्षण वासुदेव से संकर्षण नामक जीव
उत्पन्न होता है । संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन उत्पन्न होता है, उस प्रद्युम्न से अनिरुद्ध
नामक अहंकार उत्पन्न होता है” इत्यादि प्रक्रिया प्रतिपादक वचन को जीवोत्पत्ति में तात्पर्य
है— इति पूर्वपक्षः ।

इसमें सिद्धांत को बतलाते हैं— ‘उत्पत्त्यसंभवादिति’ ये जो पञ्चरात्रतन्त्रस्थ वचन है,
इनको जीव को उत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है । क्योंकि जीव की उत्पत्ति असम्भव है ।
जीवोत्पत्ति श्रुति में श्रुत नहीं है । प्रत्युत श्रुति में तो जीव के अनादित्व तथा नित्यत्व का
ही प्रतिपादन किया गया है । तथाहि श्रुतयः । ‘यह विपश्चित् जीवका न तो उत्पादन होता
है नवा मरता है अर्थात् शरीर के विनाश होने पर भी स्वभावतः नित्य जीव का उत्पाद

[का० २।१८।] 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' [श्वे० १।९।] 'नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनानाम्' [श्वे. ६।१३।] 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते' [का० २।८।] इति । तस्मान्नौषां पाञ्चरात्रिकाणां वचनानां जीवोत्पत्तौ तात्पर्यम् । तथा चासम्भवार्थानभिधायकत्वा न्नांशिकमपि पाञ्चरात्रस्याप्रामाण्यमिति तन्मूलकस्य वैष्णवमतस्यापि नासामञ्जस्यम् ॥४२॥

॥ नच कर्तुः करणम् २।२।४३ ॥

एवं 'सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते' [परम सं०] इत्यस्यापि कर्तुर्जीवात् करणं मनो नोत्पत्तुमीष्ट इति नास्यापि वाक्यस्य जीवात्मनः सकाशादन्तः करणस्वरूपस्य मनस उत्पत्तिरित्यत्र तात्पर्यम् कमिति ये भ्रान्तास्तन्मतं निरासितुं सूत्रकारः ग्राह उत्पत्त्य संभवादिति न जीवस्योत्पत्तिः संभवति, असंभवात् श्रुत्या नित्यत्वेन प्रतिपादनात्, पाञ्चरात्रवचनानामपि जीवोत्पत्तौ न तात्पर्यं किन्त्वन्यत्रेति यथासमयं दर्शयिष्यते ॥४२॥

सङ्कर्षणान्मनसः करणस्योत्पत्तिर्भवतीत्यर्थकं परमसंहितावचनम् न कर्तुः सकाशात् करणस्योत्पत्तिं दर्शयति अन्यत्र तथाऽदर्शनात् एतस्माज्जायते इत्यादि श्रुतौ साक्षात् विनाश नहीं होता है । 'ज्ञ अज्ञ जीव परेश ये दोनों अजन्मा हैं' नित्यो में भी नित्य हैं चेतन का भी चेतन हैं 'शरीर का विनाश होने पर भी अज्ञ नित्य शाश्वत पुराण जीव विनष्ट नहीं होता है' । इसलिए इन पाञ्चरात्रिक वचनों को जीवोत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है । अतः असंभवित् अर्थ का प्रतिपाद नहीं होने से आंशिक भी अप्रामाण्य पाञ्चरात्रतन्त्र को नहीं है । नवा तन्मूलक वैष्णवमत में भी कपिलादिमतवत् असामञ्जस्य होता है ॥४२॥

एवं 'सङ्कर्षण जीव से प्रद्युम्न संज्ञक मन की उत्पत्ति होती है' इस परम संहिता वचन से, कर्ता जीव से करण मन उत्पन्न नहीं हो सकता है इस वाक्य का भी 'जीवात्मा से करण मन की उत्पत्ति होती है' इस अर्थ में तात्पर्य नहीं है । 'इस परम कारण परमात्मा से प्राण मन तथा सर्व इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इस श्रुति से सिद्ध होता है । इन

‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च’ [मु०२।१।३] इति परब्रह्मण एव तदुत्पत्तेः श्रूयमाणत्वात् । तस्माच्छ्रुतिविपरीतार्थेनैषां वेदानुसारिणां पाञ्चरात्रिकवचसां तात्पर्यं सम्भवतीति न तत्तन्त्रस्य लेशतोऽप्यप्रामाण्यमिति ॥४३॥

कुत्र तर्ह्येतेषां वाक्यानां तात्पर्यमित्यत्राह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः २।२।४४

वा शब्दस्त्वर्थे तर्कितामाशङ्कां निवर्तयति। ‘वासुदेवात्सङ्कर्षणो नामजीवोजायते’ [परमसं.] इत्यादिवाक्यानां न जीवोत्पत्तौ तात्पर्यमपितु सङ्कर्षणादिनां विज्ञानादिभावे परब्रह्मभावे सति परमात्मनः सकाशादेव तदुत्पत्तेर्दर्शनात् । परमसंहिता वचनं तु श्रुत्यनुसारि तस्मान्नास्य तथाभूतेऽर्थेतात्पर्यम् । अतो न तादृशवचनानां लेशतोऽप्यप्रामाणिकत्वमिति । अत्रत्योविषयः सम्प्रदायविद्धिर्यथाशास्त्रं ज्ञातव्यः ॥४३॥

सम्प्रति श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादकतया प्रतिभासमानानां पाञ्चरात्रवचनानामप्रामाण्यमपवादितुमुपक्रमते कुत्रतर्हीत्यादि परमात्मनः सकाशात् जीवस्योत्पत्तिर्भवतीति सब पदार्थों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है जीव से नहीं उत्पत्ति होती है । तस्मात् श्रुति विपरीत अर्थ में इस वेदानुसारी पाञ्चरात्र वचनों का तात्पर्य नहीं है । इसलिए पञ्चरात्रतन्त्रा में इषदपि अप्रामाण्य नहीं है । ४३।

यदि श्रुति विरुद्ध जीवोत्पत्ति में पाञ्चरात्रवाक्यों का तात्पर्य नहीं है तब किस अंश में तादृश वाक्य का तात्पर्य है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘विज्ञानादिभावे’ इत्यादि । सूत्र घटक जो वा शब्द है वह तु शब्द के अर्थ में है । तथात्वर्थक वा पूर्वोक्त प्रकार से तर्कित शङ्का का निवर्तक है । ‘वासुदेव से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है’ इत्यादि जो परमसंहिता का वाक्य है उनका जीव की उत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है, किन्तु संकर्षणादिक को विज्ञानभाव अर्थात् परब्रह्मभाव होने पर स्वेच्छया

स्वेच्छावतारग्रहण एव तात्पर्यम् । एवञ्च 'जायते' इति न जीवा-
दीनामुत्पत्तिरभिधीयते, अपितु 'अजायमानो बहुधा विजायते' [पुरु-
षसूक्तम्] इत्यादिश्रुतिभिस्वाप्तसमस्तकामस्याजन्मनोऽपि परस्य पुंसः
स्वेच्छावतारो यथोदीर्यते तथा प्रकृतेऽपि संकर्मण प्रभृतीनां परमपुरुष-
स्यैव स्वेच्छावतारत्वमभिहितम् । जीवमनोऽहङ्कारादिशब्दानाञ्च तद-
धिष्ठातृसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाभिधायकत्वं प्राणाकाशादिशब्दवदिति
तु न विस्मर्तव्यम् । तस्मात्तदभिधायिपञ्चरात्राप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः ।

अयमभिसन्धिः—परंब्रह्मैव प्रपन्नजनमनोरथपूरणाय स्वानितर-
साधारणानुक्रमया स्वेच्छयाऽऽत्मानं चतुर्व्यूहस्वरूपेण विधाय जगद्रक्ष-
यति तथा चोक्तं—'कर्तव्यत्वेन वै अत्र चातुरात्म्यमुपास्यते । क्रमा-
पाञ्चरात्रवाक्यं न जीवस्योत्पत्तौ, आदरं दर्शयति, किन्तु सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य सर्व-
शक्तिमतो भगवतो भक्तजनमनोरथपूत्यै, बहुविधावतारग्रहणं दर्शयति । अनेक-
प्रकारकावतारं गृहीत्वा प्रपन्नान् रक्षयतीति न पाञ्चरात्रवचनस्य लेशतोऽप्यप्रामाण्यं
अवतारग्रहणं मे तात्पर्यं है । ऐसा हुआ तब 'संकर्मण नामक जीव उत्पन्न होता है' इस
परम संहिता वाक्यों से जीवोत्पत्ति का कथन नहीं होता है अपितु 'अजायमान, सर्वा-
जन्मादिभाव विवर्जित परमेश्वर अनेक प्रकार से देवमनुष्य तिर्यगादिभेद से जायमान होते हैं'
इत्यादि श्रुतियों से सम्प्राप्त है समस्त कमनीय पदार्थ जिसको एतादृश जन्मरहित भी परम
पुरुष परमात्मा का स्वेच्छावतार कहा गया है उसी तरह प्रकृत में भी संकर्मण प्रभृतिक जो
हैं वे परमपुरुष के स्वेच्छावतार रूप हैं ऐसा कहा गया है । जीव मन अहंकारादि विगरे
जो शब्द है वह तत्तत् के अधिष्ठाता संकर्मण प्रद्युम्न अनिरुद्धादि का वाचक है । जिस तरह
प्राणशब्द आकाशादिक शब्द अधिष्ठाता का वाचक होता है इस बात को विस्मृत न करना
चाहिए । अतः संकर्मणादि का बोधक पाञ्चरात्र वाक्य के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं होता
है किन्तु भगवान् के अवतार का वाचक होने से प्रामाणिक हैं ।

यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि 'परमपुरुष परमात्मा स्वभक्तजन के मनोरथ को
पूर्ण करने के लिये अनन्य साधारण अनुकम्पा से अपनी इच्छा से अपने स्वरूप को संकर्म-
णादि चारव्यूह से बना करके समस्त जगत् का पालन करते हैं । तथा चोक्तं 'कर्तव्यत्वेन

गतैः स्वसंज्ञाभिर्ब्राह्मणैरागमन्तु तत् (पौष्करसंहितायाम्) इति ।
तस्मात् परमस्वतन्त्रस्य परमपुरुषस्य सङ्कर्षणादिस्वरूपेणावतारः सम्भ-
वत्येवेति न पाञ्चरात्रप्रामाण्यस्य प्रतिषेधः ॥४४॥

५ विप्रतिषेधाच्च २।२।४५ ५

जीवोत्पत्तौ न तात्पर्यं तेषां वाक्यानामित्येतावतैव न सन्तो-
ष्टव्यमपितु जीवोत्पत्तेः विप्रतिषेधोऽपि दृश्यते तस्मिन्नेव तन्त्रे । तथाहि-

अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया ।

त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रे प्रकृते रूपमुच्यते ॥

व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च ।

सह्यनादिस्मन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥ [परमसं०]

भवतीति । अत्रत्यविशेषविवरणं जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यप्रणीत श्रीबोधायन मता-
दर्शप्रभृतिदिव्यसाम्प्रदायिकग्रन्थेभ्य आचार्येभ्यश्च ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥४४॥

पाञ्चरात्रतन्त्रस्य वेदविरुद्धजीवोत्पत्तिप्रतिपादकतयाऽप्रामाण्यमिति तस्य
निराकरणमनेनाधिकरणेन क्रियते इति तदीयभ्रममूलकशंकाया निराकदणायोपक्रमते
जीवोत्पत्तौ न तेषामित्यादि न पाञ्चरात्रशास्त्रं जीवस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति किन्तु
नै यत्र' इत्यादि पौष्कर संहिता में कहा है । इसलिए परम स्वतन्त्र परमपुरुष का संकर्षणादि
रूपसे अवतार हो सकता है अतः पाञ्चरात्र के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं
होता है ॥४४॥

जीव की उत्पत्ति में पाञ्चरात्र वाक्यों का तात्पर्य नहीं है एतावन्मात्र से संतोष
नहीं करना चाहिए अपितु उस पाञ्चरात्र में जीवोत्पत्ति का निषेध भी किया गया है ।
तथाहि 'प्रकृत अचेतन जड है पुरुष का जो भोगापवर्ग कार्य का संपादन करना ही
उसका कार्य है वह नित्या है तथा क्रियाशील है क्षणमपि निष्क्रिय होकरके नहीं रहने
वाली है सत्त्वरजः तमगुण स्वरूपा है और कर्मियों का क्षेत्र है यह प्रकृति का स्वरूप है'
एतादृश प्रकृति तथा पुरुष का व्याप्ति रूपसे सम्बन्ध है, वह प्रकृति तथा पुरुष अनादि
अनन्त है, [परमसंहिता] जहाँ ग्रन्थ कर्त्ता ही इस प्रकार जीवोत्पत्ति का प्रतिषेध करते हैं
तो वह स्वयं स्वकण्ठ से जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ? अपि च—पूर्वापर
प्रकरण के विचारने से एक ही पाञ्चरात्रिक संहिता में परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादन

यस्तदग्रन्थकर्तृवं जीवोत्पत्तिं विप्रतिषेधति कथं स एव स्वकण्ठ-
स्वेण तदुत्पत्तिं ब्रूयात् । अपि च पूर्वापरपर्यालोचनायामेकस्यामेव
पाञ्चरात्रिकसंहितायां मिथोविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन व्याहृतिर्दुर्वासा
स्यात् । तस्मान्नह्यस्मिन् तन्त्रे क्वापि जीवोत्पत्तिर्वेदविरोधश्चोपल-
भ्यते येनास्याप्रामाण्यं स्यात् । यत्तु 'सांगेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः
शाण्डिल्यः पञ्चरात्रशास्त्रमधीतवान्' इत्यादिनात्र वेदनिन्दोपलम्भा-
न्नेदं शास्त्रं प्रामाण्यतामध्यास्त इत्याहुस्तदध्यविचारितरमणीयम् ।
'नहि निन्दानिन्दितु' मिति न्यायेन गृह्यमाणार्थप्रशंसायामेव तस्य
तात्पर्यम् । यथा छान्दोग्ये भूमविद्यायां नारदस्य 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि'
[छा०७।१।२।] इत्यादिभिः कानिचिद्विद्यासाधनान्यभिधाय 'सोऽहं
भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्' [छा०७।१।३।] इति स्वात्मश्रेयो-
तस्मिन्, एव शास्त्रे जीवोत्पत्तेः प्रतिषेधात्, कथं कोपि स्वस्थात्मा स्वकीय निबन्धो
परस्परविरुद्धमभिदध्यात् तस्मात् प्रकृतशास्त्रं जीवोत्पत्तिं न प्रतिपादयति प्रत्युत
होने से व्याघात दोष का निवारण नहीं होता है । इसीलिए पाञ्चरात्र मन्त्र में किसी
भी स्थल में जीव का उत्पाद तथा वेद विरोध उपलब्ध नहीं होता है, जिससे की प्रकृत
मन्त्र में अप्रामाण्य हो ।

जिस किसी ने 'साङ्ग वेद में निष्ठा को प्राप्त नहीं करके शाण्डिल्य ने पाञ्चरात्र
शास्त्र का अध्ययन किया' इत्यादि प्रकरण से वेद निन्दा होने से यह शास्त्र अप्रामाणिक
है ऐसा कहा है ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि 'निन्दा वाक्य निन्दा करने के लिए
प्रवृत्त नहीं है' इस न्याय से गृह्यमाण अर्थ के प्रशंसा में ही उसका तात्पर्य है ।
जिसतरह छान्दोग्य में भूमविद्या में नारद को 'ऋग्वेद का अध्ययन करता हूँ' इत्यादि प्रक-
रण से अमुकामुक् विद्या साधन का कथन करके 'हे भगवन् मैं केवल मन्त्रवित् ही हूँ'
आत्मवित् नहीं हूँ' इससे स्वकीयाभिलषित वस्तु की अप्राप्ति का कथन करके भूमविद्या की
प्रशंसा बनलायी है नतु तदितर का निषेध किया है—निन्दा किया गया है ।

एवं प्रकृत में वेदार्थ को परमदुर्विज्ञेय होसे से सुखावबोध के लिए शास्त्रान्तर को छोड़
करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र का ग्रहण किया यह उपयुक्त ही है । वहां गृहीतव्य अर्थ में
अतिशयित प्रेम को बतलाने के लिए प्रशंसा भी उपयुक्त ही है । एतावता उस वाक्य का
वेद निन्दा में तात्पर्य नहीं है । परमसंहिता में कहा है 'हे भगवन् अङ्ग उपाङ्ग सहित

ऽनवाप्तिकथनमुपदिश्यमानाभूमविद्याप्रशंसार्थकमेव न तूदीरितविद्या निन्दार्थम् । एवं प्रकृते वेदार्थस्य परमदुर्ज्ञेयत्वेन सुखावबोधार्थमस्य शास्त्रस्य शाण्डिल्येन शास्त्रान्तराण्यपहाय ग्रहणं कृतमिति युज्यत एव । तत्र च गृहीतव्येऽर्थे प्रेमातिशयद्योतनाय प्रशंसापि युज्यत इत्येतावता न तद्वाक्यस्य वेदनिन्दायां तात्पर्यम् । तथैवोक्तं परम संहितायाम्—

अधीता भगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।

श्रुतानि च मयाङ्गानि वाकोवाक्ययुतानि च ॥

न चैतेषु सभस्तेषु संशयेन विना क्वचित् ।

श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति ॥ [परम सं.] इति ।

तस्मान्नास्य तन्त्रस्य वेदविरुद्धार्थाभिधायित्वेनाप्रामाण्यं लेशतोऽपीति सर्वं निखद्यम् ॥४५॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया

श्रीआनन्दभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

तन्निराकरणमेवकरोति । यच्च सम्प्रदायमर्मानभिज्ञः प्रकृते शास्त्रे जीवस्योत्पत्तिर्दृश्यते इति कथयति तदीयभ्रमनिवृत्तये तदभिप्रायमनूयतन्निराकरणाय प्रतिषेधमेव करोतीति न प्रकृतस्य तन्त्रस्य सर्वथाऽप्रामाण्यमांशिकाप्रामाण्यवेत्यादिकं दर्शयितुं भाष्यकारोऽकरो दनन्यसाधारणां सूत्रव्याख्यामितिदिक् ॥४५॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापकाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

वेदों का अध्ययन मैंने किया, अङ्ग सब का यथावत् श्रवण किया इन सब में मोक्षमार्ग मैंने नहीं देखा जिससे मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो' इति । इसलिये पाञ्चरात्र तन्त्र में वेद विरुद्धार्थ प्रतिपादकत्व नहीं होने से लेशतोपि अप्रामाण्य नहीं है यह सिद्ध होता है । ४५।

इति अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापक

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र शिष्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशेद्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

॥ श्रियः श्रियै नमः ॥

भगवत्पाद श्रीरामानन्दाचार्य प्रणीत शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

॥ अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथवियदविकरणम् ॥१॥

श्रुतिविरुद्धत्वेन परपक्षाणां भ्रममूलकत्वेनाप्रामाण्यमभिधाय
श्रुतीनामपि परस्परविरुद्धत्वेनाप्रामाण्यशङ्कां स्यादिति तदपाकरणार्थं
पश्चात्तनं पादद्वयमारभ्यते । तत्रादौ सृष्ट्यादिवाक्यानामविरोधं
प्रतिपादयितुमाकाशमधिकृत्य पूर्वपक्षयति—

॥ न वियदश्रुतेः २।३।१ ॥

आकाश उत्पद्यते नवेति संशये नोत्पद्यत एवाकाशः । कुतः ?

न्यायाभासोपबृंहितसांख्यादिवेदविरुद्धप्रमाणविरोधं परिहृत्य श्रुतीनां परस्पर
विरोधात्तया सम्प्राप्ताप्रामाण्यनिरासायोपक्रमते श्रुतिविरुद्धत्वेनेत्यादि भाष्यम् । उत्पत्ति
प्रतिपादकाः श्रुतयोपि विभिन्ना दृश्यन्ते तासां परस्परं विरोध इवाभाति, तासां
परस्परविरोधनिरासाय, तृतीयचतुर्थयोः पादयोरारंभः क्रियते तत्रादौ सृष्ट्यादीत्यादि
तत्र सृष्टिप्रकरणे क्वचिदाकाशस्योत्पत्तिर्भवतीति दृश्यते, क्वचिन्न भवतीत्यपि दृश्यते,
तस्मादाकाश उत्पद्यते नवेति संशयः । नोत्पद्यते आकाश इति पूर्वः पक्षः । कुतः ?

सांख्यादि विवसनान्त परपक्ष को श्रुति विरुद्ध तथा भ्रममूलक होने से वह अप्रामा-
णिक है, इस बात को द्वितीयपादान्त प्रकरण से कथन कर के उत्पत्त्यादि प्रतिपादक श्रुतियां
भी परस्पर विरुद्ध होने से श्रुतियों में भी जो अप्रामाण्य की शंका होती है तादृश शंकाका
निराकरण करने के लिए इसके आगे इदमीय तृतीय चतुर्थपाद का आरंभ होता है । उसमें
भी प्रथमतः सृष्ट्यादि प्रतिपादक जो अनेक वाक्य हैं उनमें परस्पर अविरोध का प्रतिपादन
करने के लिए आकाश को अधिकृत करके पूर्वपक्ष करते हैं—“न वियदश्रुतेः” तैत्तरीयोत्पत्ति
प्रकरण में आकाश का कथन है और छान्दोग्य के छठे अध्याय के उत्पत्ति प्रकरण में तेजः
प्रभृति की सृष्टि को बतलाया है आकाश का उसमें कथन नहीं है, अतः उभय कोटि
के उपस्थापक होने से संशय होता है कि आकाश उत्पन्न होता है अथवा आकाश की
उत्पत्ति नहीं होती है । इसमें विभि कोटि वेदान्तिका है और निषेध कोटि न्यायवादियों का है

अश्रुतेः । श्रुतावुत्पत्तेरश्रुतेः । छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र असीत्'
'तदैक्षत बहुस्यामप्रजायेय' 'तत्तेजोऽसृजत' [छा० ६।२।३] इतिसृष्टि-
वाक्येगगनस्योत्पत्तिर्न श्रूयते । असम्भवदुक्तिका ह्याकाशस्योत्पत्तिः ।
निखयवत्वात् । यथा निखयस्यात्मन उत्पत्तिर्न सम्भवति तथा

अश्रुतेः तत्तेजोऽसृजत इत्यादिप्रकरणे गगनोत्पत्तेरश्रवणात् । संभावितस्य श्रवणं भवति,
नत्वसंभावितस्य कूर्मरोमादिवत् । नच तस्माद्वा एतस्मादिति तैत्तरीयश्रुतौ तदुत्पत्तिः
श्रूयते इति वाच्यम्, निखयवतया आत्मावदेवगगनोत्पत्तेरर्थतोवाधेन तैत्तरीयश्रुतेर
ग्रामाण्यात् । अयमाशयः जायमानं द्रव्यं समवायिकारण असमवायिकारणनिमित्त
कारणानां संबलेन समुत्पद्यते इति नियमः तदिहाकाशस्य निखयतया तत्सजातीयव-
यवानां समवायिकारणत्वेनाभिमतानामभावात्, तदभावेतदनुग्रहवृत्तावयवसंयोगलक्षणा
समवायिकारणस्याप्यभावः । अनयोरभावे नित्यतया तदुत्पादकादृष्टादृष्टसाधारणनिमि-
त्तकारणस्याभावेन गगनस्योत्पत्तिरसंभवग्रस्तत्वेन बाधितेति बाधितार्थप्रतिपादकत्वेन
इसमें पूर्वपक्षवादी नैयायिकादि कहते हैं कि आकाश उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उत्पत्ति
प्रकरण में उत्पाद्य रूप से आकाश का श्रवण नहीं है । छान्दोग्य के छठे अध्याय में
“हे सोम्य ! उत्पत्ति के पूर्व सब सदात्मक ही था” उस परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैं
एक हूं परन्तु अनेक रूप हो जाऊँ” एतादृश ईक्षण के अनन्तर में “उस परमात्मा ने तेज को
उत्पन्न किया” इस प्रकार के जो सृष्टि वाक्य है उसमें तेजः प्रभृति के समान आकाश
का सर्ग अर्थात् आकाश की उत्पत्ति श्रुत नहीं है । आकाश के उत्पत्ति का कथन असं-
भवित है क्योंकि जो द्रव्य सावयव होता है वही कारण से उत्पन्न होता है जिस तरह
घटादिक और जो निखयव द्रव्य होता है वह उत्पन्न नहीं होता है जैसे आत्मा काल-
मन प्रभृति का तो प्रकृत में आकाश को निखयव द्रव्य होने से उसकी उत्पत्ति अनुपपन्न
है । जिस तरह निखयव आत्म द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है उसी तरह निखयव
आकाश की भी उत्पत्ति नहीं होती है । नहीं कहो कि ‘एतस्मादात्मन’ इस आत्मा से
आकाश उत्पन्न होता है । इस श्रुति वाक्य में आकाशोत्पत्ति का श्रवण है तब किस तरह
कहते हैं कि उत्पत्ति प्रकरण में अश्रुत है ?

उत्तर=उपर्युक्त तैत्तरीय वाक्य तो विरुद्धत्वात् अप्रामाणिक हैं, अर्थात् “आकाशवत्स-
र्वगतश्च नित्य” इत्यादि श्रुति से लोक प्रसिद्धि से तथा आकाश का उत्पादक समान जातीया-

काशस्यापीति । 'एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' [तै० २।१।]
इत्यादिवचनन्तु विरुद्धत्वादप्रमाणमिति पूर्वपक्षः ॥१॥

५ अस्ति तु २।३।२ ५

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । अस्त्येवाकाशस्योत्पत्तिः ।
'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' [तै० २।१।] इति श्रुतेः ।
न चास्याः स्वर्वेणोत्पत्तिमाकाशस्याभिदधत्याः श्रुतेः प्रामाण्यं
शक्यमुपकल्पयितुम् । न ह्यस्ति परस्परं विरोधो येनैकस्या अप्रा-
माण्यं स्यात् । छान्दोग्ये तु तेजः आरभ्य सृष्टिरुपन्यस्यते । ततः
तैत्तिरीयश्रुतेरप्रामाण्यान्नतद्वलेनाकाशोत्पत्तिः संभवतीति पूर्वपक्षाशयः । सूत्रार्थस्तु
वियद्गगननोत्पद्यते, अश्रुतेः सृष्टिप्रतिपादकतत्तेजोऽसृजतेत्यादिस्थले तस्या
श्रवणादिति ॥१॥

प्रथमसूत्रेण कृतपूर्वपक्षस्योत्तरं द्वितीयसूत्रेण प्रतिपादयति अस्ति तु इति । अत्र सूत्रे
तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । भवत्येवाकाशस्यापि समुत्पत्तिः तस्माद्वा एतस्मादित्यादि
श्रुतेः । नच तत्तेजोऽसृजत इति श्रुतिविरोधादप्रामाण्यमिति वाच्यम्, परस्परविरोधा
भावात्, सति विरोधेत्येकस्याप्रामाण्यं संभवेत् । यदा खलु छान्दोग्यश्रुतिस्तेजसः
सृष्टिमभिदधाति तत्पूर्वं तैत्तिरीयश्रुत्या नभस उत्पत्तिं शक्यते एव प्रतिपादयितुम् । नच
वयव तदीय संयोगादि रूपकारण सामग्री के अभाव होवे से आकाश का उत्पाद संभवित
नहीं है, इसलिये आकाश के उत्पत्ति प्रतिपादक 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' यह श्रुति
विरोध होने से अप्रामाणिक है । तस्मात् आकाश उत्पन्न नहीं होता है इति पूर्वपक्षः ॥१॥

आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है इत्याकारक पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिये
सूत्रकार कहते हैं "अस्ति तु" । इस सूत्र में जो "तु शब्द है, वह पूर्वपक्ष का निराकरण
परक है । आकाश की उत्पत्ति होती ही है क्योंकि "उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न
हुआ" इत्यादि श्रुति का कथन है । नहीं कहो कि श्रुत्यन्तर के साथ विरोध होने से यह
तैत्तिरीय श्रुति अप्रामाणिक है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि आकाशोत्पत्ति प्रतिपादक तैत्तिरीय
श्रुति को छान्दोग्य श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं है, यदि परस्पर में विरोध होता तब

प्रागाकाशस्य तैत्तिरीयश्रुतिसम्मतता सृष्टिस्वगन्तुं शक्यैवेति न कश्चि-
द्विरोधः । निस्वयवत्वेन गगनस्यानुत्पत्तिरिति मतन्तु श्रुतिपराह-
तत्वाद्धेयमिति सिद्धान्तः ॥२॥

भूयः समाशङ्कतेः—

ॐ गौण्यसम्भवात् २।३।३ ॐ

यदुक्तं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इति श्रुत्याकाशस्योत्पत्ति-
स्वगम्यत इति तदयुक्तम् तस्याः श्रुतेर्गौणत्वात् । कुतः ? 'तत्तेजो-
ऽसृजत' [छा० ६।२।३] इत्यन्यत्र तेजस एव प्रथमसृष्टिः श्रूयते,
निरवयवत्वादुत्पत्तेरभावः, महदादौ व्यभिचारात् । नच श्रुत्याकाशस्य नित्यता, तथात्वे
एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवापातात् । नच समवायादिकारणाभावादेवाकाशस्य
नोत्पत्तिरिति वाच्यम् परिणामवादाभ्युपगमात्, आरंभवादे सनियमः परन्तु सोपि
श्रुतिविरोधात्, हातव्य एव । तस्माच्छ्रुतिप्रामाण्यादुत्पद्यते एव नभ
इति सिद्धमिति संक्षेपः ॥२॥

ननु तस्माद्वा एतस्मादित्याकाशोत्पादकश्रुतिर्न मुख्या किन्तु गौणी भवितुमर्हति
यतः तत्तेजोऽसृजत इत्यत्र तेज उत्पत्तेः प्राथम्यश्रवणात् । ततः परमाकाशोत्पादनस्या
एक में अप्रामाणिकत्व होता ऐसा तो नहीं है । छान्दोग्य में तेजः प्रमुख के सर्गका प्रति-
पादन है उसके पहिले आकाश के तैत्तिरीय श्रुति संमत सृष्टि हो सकती है इसमें कोई विरोध
नहीं है । अर्थात् छान्दोग्य में तेज से लेकर पृथिव्यन्त के सर्ग का निरूपण है परन्तु
तैत्तिरीय श्रुति संमत आकाश सर्ग का निराकरण तो नहीं किया गया है यदि निराकरण किया
गया होता तब परस्पर विरोध होने से अप्रामाणिकत्व दोष की शंका होती । आकाश
निरवयव है इसलिए उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा जो मत है वह श्रुति विरुद्ध होनेसे त्याज्य
है यह सिद्धान्त है । विशेष विवरण आगे देखें ॥२॥

इस विषय में पुनः प्रश्न करते हैं "गौण्यसंभवादिति" इससे पूर्वसूत्र में कहा है कि
'तस्माद्वा एतस्मादित्यादि' श्रुति से अवगत होता है कि आकाश उत्पन्न होता है ऐसा कहना
ठीक नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति गौणी है । क्यों "तत्तेजोऽसृजत" इसश्रुत्यन्तर में तो

तदानुगुण्येन वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौण्येव । तर्केण दृढीकृतस्यैवार्थस्य
श्रुतिप्रतिपाद्यत्वात् । तर्कश्चाकाशस्य सर्वगतत्वेन विभुत्वेनात्मवदु-
त्पत्तेरसम्भवमाह । प्रत्युत विभुरूपस्यात्मनो यथा नित्यत्वं तथाकाश
स्यापीत्यनुमानान्नित्यत्वमेव ॥३॥

ॐ शब्दाच्च २।३।४ ॐ

‘वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्’ [बृ० ४।३।३] इति श्रुतिशब्दा-
च्चाकाशस्यामृतत्वमुच्यते तस्मान्न वियदुत्पत्तिः सम्भवति ॥४॥

संभवात् । आकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादने गगननित्यता प्रतिपादकप्रमाणान्तरविरोधेन
तस्यामुख्यत्वात्प्रच्याव्य तां गौणत्वे व्यवस्थापयतीत्याशयेनोपक्रमते भूयः समाशङ्कते
इत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगमम् । विशेषोऽन्यत्रेति ॥३॥

गगनेऽमृतत्वश्रवणमपि तस्य नित्यतां दर्शयतीति ॥४॥

प्राथमिक सृष्टि तेज की ही है तो तदनुकूल रूप से छान्दोग्य श्रुति के अनुकूल ही तैत्तिरीय
श्रुति के अर्थ करने से उक्त श्रुति मुख्यार्थक नहीं होती है किन्तु गौणी है । तर्क से
दृढीकृत अर्थ का ही श्रुति से प्रतिपादन होता है । तर्क तो सर्वगत व्यापक आकाश में
आत्मा की तरह उत्पत्ति के असंभव का ही प्रतिपादन करता है । प्रत्युत व्यापक आत्मा
में जिस प्रकार से नित्यत्व है उसी तरह आकाश में भी अनुमान से नित्यत्व सिद्ध होता है
“आकाशो नित्यो व्यापक द्रव्यत्वात् आत्मकालादिवत्” “आकाशो नित्यः आकाशवत्
सर्वगतश्चनित्यः” इत्यादि श्रुतिभिर्नित्यत्वेन प्रतिपादनात् । इत्यादि अनुमान श्रुति तथा लोक
प्रसिद्धि से आकाश में नित्यत्व सिद्ध होता है । तब “एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः”
इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति गौणी है मुख्यार्थक नहीं है यह सिद्ध होता है ॥३॥

‘वायु तथा अन्तरिक्ष=आकाश ये अमृत है’ इस श्रुति शब्द से भी आकाश में अमृतत्व
का कथन है यदि आकाशजन्य हो तो उसमें अमृतत्व नहीं उपपन्न होता है इसलिए
आकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अपितु आकाश नित्य है । तस्मात् तैत्तिरीय
श्रुति गौणी है ॥४॥

ननु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य सम्भूत पदस्यैकस्यैवाकाशे गौणत्वमग्न्यादौ च प्राधान्यमिति कथं संगच्छत इत्याशङ्कयामाह—

५ स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् २।३।५ ५

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' [तौ.२।१] इत्य-
त्रैकस्यैवाकाशाद्वायुः वायोरग्निरिति सर्वत्रानुषक्तस्य सम्भूतपदस्या
काशेगौणत्वेऽपि वाय्वादौ मुख्यत्वं स्यादेव ब्रह्मशब्दवत्। यथा
ब्रह्मशब्दस्य 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' [तौ.३।१] इत्यादिष्वन्नादिषु
गौणत्वं 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्' (तौ.३।६) इत्यत्र च मुख्यत्वम्।

तैत्तिरीयश्रुतिघटकैक एव सम्भूतशब्द आकादे सम्बन्धमधिगतगौणः स एव
च तेजः प्रभृतिष्वन्वीयमानोमुख्य इति भेदः कथमिति न शङ्कनीयं ब्रह्मादिशब्दवत्
तत्संभवात्, यथा तपोब्रह्मेत्यत्र तपसि समवचीयमानो ब्रह्मशब्दोऽगौणः । आनन्दं

प्रश्न—“तस्माद्वा एतस्मादित्यादि” श्रुति में श्रूयमाण जो संभूत पद है वह आकाश
में गौण होता है और वही अग्नि प्रभृति में अन्वीयमान होता है तो मुख्य कह
लाता है यह किस तरह होगा ? अर्थात् संभूत यहाँ संपूर्वक भू धातु का अर्थ
है उत्पत्ति और क्त प्रत्यय का अर्थ है आश्रय तब उत्पत्ति का आश्रय गगन है
यह अर्थ होता है, संभूत पदका अर्थ युक्त नहीं है जबकी आकाश में प्रमाणान्तर
से नित्यता सिद्ध है तब “संभवतीति संभवनम् शब्दः” यहाँ उपसर्ग सहितधात्वर्थ होता है,
उत्पत्तिमान् शब्द तदाश्रयताक्त प्रत्यय के बल से उपलब्धि होती है । इसतरह संभूत शब्द
गौणवृत्ति से आकाश में सम्बद्ध होता है और मुख्यवृत्ति से तेजः प्रभृति में यह तो ठीक नहीं
है ? इस शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं “स्याच्चैकस्येत्यादि” सूत्रम् ।
“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” यहाँ एक ही संभूत पद का जोकि आकाशवायु
प्रभृति सब में सम्बद्ध है तादृश संभूत पद को आकाश में गौण होने पर भी वायु तेज
प्रभृति में तो मुख्यत्व हो सकता है । ब्रह्म शब्द की तरह जिस तरह ब्रह्मशब्द को “अन्न
को ब्रह्मरूप से जाना” इत्यादि स्थल में अन्नादिक में गौण प्रयोग होता है और “आनन्द
को ब्रह्मरूप से जाना” इत्यादि स्थल में आनन्द में ब्रह्मपद का मुख्य प्रयोग होता है ।

तथा प्रकृते सम्भूतपदस्यापि मुख्यत्वं गौणत्वञ्च सम्भवति ॥५॥

सिद्धान्तयति—

५ प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् । २ । ३ । ६ ५

‘येनाश्रुतं श्रुतम्भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्’ इतिच्छान्दोग्यादिष्वेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रतिपादिता । तस्याश्चाहानिराकाशस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैव भवति । कारणभूस्स्यैकस्य ब्रह्मण एव नित्यत्वेन तदव्यतिरेकात् ब्रह्मकार्यभूतानामाकाशादीनामिति । ६ । ब्रह्मेत्यत्र मुख्य इतिभेदेन व्यवस्था तथैवप्रकृते । उभयत्रापि गौणमुख्यभेदेन प्रयोग सम्भवादिति ॥५॥

ननु यदि आकाशोनित्यः सर्वगतो ब्रह्मवदेव भवेत् । यदि ब्रह्मकार्यं न भवेत् तदा, कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति जिज्ञासानन्तरं ब्रह्मविदिते सर्वमिदं विदितं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा कृता । सेयं प्रतिज्ञा तदैव सामञ्जस्यमीयात्, यदि ब्रह्मकार्यमाकाशादिकं भवेत् । ततश्च कार्यकारणयोरभेदात्कारणे विदिते तत्कार्यं सर्वं विदितं स्यादिति । एवं प्रतिज्ञाया अनुपरोधाय न नित्यता गगने किन्तु ब्रह्मकार्यत्वमेवेति विज्ञापयितुमुपक्रमते येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादि सुगममन्यत् ॥६॥

उसीतरह प्रकृत में भी संभूत पद स्थान भेद से गौण प्रयोग का विषय होता है तथा मुख्य प्रयोग का भी विषय होता है इति पूर्वपक्ष संक्षेपः ॥५॥

उपर्युक्त शंका के उत्तर में सिद्धान्त बतलाते हैं “प्रतिज्ञाहानिरित्यादि” जिसका ज्ञान होने पर अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है. अमत पदार्थ भी मति विषय होता है और अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का प्रतिपादन किया गया है । एतादृश प्रतिज्ञा का समर्थन तभी हो सकता है यदि आकाशादिक सर्व पदार्थ ब्रह्म का कार्य हो कारणभूत एक ब्रह्म को नित्य होने से उस ब्रह्म के साथ अव्यतिरेक अमेद ब्रह्म कार्यभूत आकाशादिक पदार्थ का है । अर्थात् ब्रह्मकार्य आकाशादिक ब्रह्म से अभिन्न होने से ब्रह्म विज्ञान से तदभिन्न सब पदार्थ का ज्ञान हो जाता है । यदि आकाश ब्रह्मव्यतिरिक्त ब्रह्मकार्य न हो तब उपर्युक्त प्रतिज्ञा का समर्थन नहीं होगा । अतः ब्रह्मजन्य आकाश है ॥६॥

॥ शब्देभ्यश्च २।३।७ ॥

छान्दोग्याद्युपनिषत्सु वियदादीनामुत्पत्तिर्दृश्यते । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छा० ६।२।१) इतिसृष्टेः प्रागेकत्वमभिधाय ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् (छा. ६।८।७) इत्यादिशब्देभ्यश्च ब्रह्मात्मकत्वेनाव्यतिरेकः कार्यभूतेष्वाकाशादिषु प्रतीयते । तेजस उत्पत्तिर्नाकाशोत्पत्तिं प्रतिषेधति ॥७॥

यावद् विकारन्तु विभागो लोकवत् २।३।८

तु शब्दश्चार्थे । यद्यपिच्छान्दोग्ये ‘तत्तेजोऽसृजत’ इत्यत्राकाशस्योत्पत्तिर्न स्पष्टमभिहिता तथापि ‘सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः तैत्तिरीये आकाशस्योत्पत्तिः आत्मन आकाशः संभूतः इत्यादिना मुखत एव प्रतिपादिता । यद्यपि छान्दोग्ये आकाशोजातः इत्यादिशब्दाभावेन साक्षात्तदुत्पत्तिर्न दर्शिता तथापि ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्यादिनाऽर्थतस्तदुत्पत्तिस्तु प्रदर्शितैव । नवा छान्दोग्ये तेजसः प्राथम्यश्रवणमन्यत्र प्रतिपादिताकाशोत्पत्तिं वारयति, विभिन्न विषयत्वात्, समानविषये बाध्यबाधकभावो भवति, अर्थद्वयकरणे वाक्यभेदप्रसङ्गादित्याशयेन सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते छान्दोग्यादीत्यादि ॥७॥

आकाशे ब्रह्मकार्यत्वसिद्ध्यर्थं सूत्रान्तर्गमवतारयति, यावद्विकारमित्यादि अयंभावः यद्यपि छान्दोग्येमुखतो वियत उत्पत्तिर्नप्रदर्शिता, तथापि प्रकारान्तरेणतु प्रतिपादितैव ।

केवल तैत्तिरीयक में ही आकाश की उत्पत्ति श्रुत है ऐसा नहीं किन्तु छान्दोग्यादि उपनिषदन्तर में भी आकाशोत्पत्ति का श्रवण है “हे सोम्य, परिदृश्यमान सर्व पदार्थ एक अद्वितीय सद्रूप ही था ।” इससे सृष्टि की पूर्व में एकत्व का कथन करके “ब्रह्मात्मक यह सब पदार्थ है” इत्यादि शब्द से ब्रह्मात्मकत्वेन आकाशादिक में अव्यतिरेक प्रतीयमान होता है । छान्दोग्य में तेज की उत्पत्ति आकाशोत्पत्ति का निवारक नहीं है । अर्थात् तेज की उत्पत्ति तदन्य का निवारक नहीं है. घटोत्पत्ति तदन्य का निवारक नहीं होता है. घटोत्पत्ति का प्रतिपादन करने से पटादि तदितर पदार्थका उत्पादन निवारित नहीं होता है । ७।

प्रकारान्तर से आकाश में ब्रह्मजन्य की सिद्धि के लिए कहते हैं “यावद्विकारमित्यादि” सूत्र घटक तु च शब्द के अर्थ में है । यद्यपि छान्दोग्य श्रुति में “तत्तेजोऽसृजत” इस उत्पत्ति

प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ८।६) 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्याकाशादेः सर्वस्य ब्रह्मविकारत्ववचनेन सर्वस्य ब्रह्मणो विभाग उत्पत्तिरभिहितैवेत्यवगन्तव्यम् लोकवत् । यथा लोके मृदो विभागो-मृदः उत्पन्नस्तथा प्रकृतेऽपीति ॥८॥

५ एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः २।३।९ ५

एतेन ब्रह्मणो वियदुत्पत्तिरिति व्याख्यानेन वायुरपि वियदन्तर्गतादाकाशभावमापन्नाद् ब्रह्मणः सम्भूत इति वायुरप्युत्पत्तिमत्तया व्याख्यातः । वायोर्लयप्रतिषेधस्तद्विषयकामृतत्ववचनञ्चापेक्षिकम् । प्रकारान्तरमेव दर्शयति सम्मूलाः इत्यादि । आकाशादिसर्वजगतो ब्रह्मविकारत्वकथनेन तत्कार्यत्वं स्पष्टत एव प्रतीयते । यो यस्य विकारः स तज्जन्यो यथा मृद्विकारो घटोमृज्जोभवति, यथावा सुवर्णविकारः सुवर्णजन्य इति ॥८॥

वायोरमृतत्वश्रवणात् लयप्रतिषेधाच्च वायुरुत्पद्यते नवेति संशयः । तत्र नोत्पद्यते इति पूर्वपक्षः । यतस्तत्रामृतत्वश्रवणेन लयप्रतिषेधाच्चेति । उत्पद्यते इत्युत्तरम् । यथाकाश उत्पद्यते तथा वायुरप्युत्पद्यते एव । अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया बाधप्रसङ्गात् । अमृतत्वश्रवणम् अमृतादिवैकस्य इति वदापेक्षिकम् । लयप्रतिषेधस्तु प्रकरणे स्पष्ट रूप से आकाशोत्पत्ति का कथन नहीं किया गया है, तथापि "सम्मूलाः" इस स्थल में आकाशादिक सब पदार्थ में ब्रह्म विकारत्व का कथन होने से पदार्थ मात्र ब्रह्मजन्य है, ऐसा कहा गया है ऐसा समझना जिस तरह मृद्विकार घट मृत् कार्य होता है । तद्वत् प्रकृत में भी समझना ॥८॥

एतेन=ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति होती है, इस कथन से वायु भी अर्थात् वियदन्तर्गत आकाश भाव प्राप्त ब्रह्म से वायु उत्पन्न होता है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । वायु का जो स्थल विशेष में लय का प्रतिषेध किया गया है, तथा वायु में अमृतत्व का वचन है, वह आपेक्षिक है । अर्थात् पृथिव्याद्यपेक्षयाचिरस्थेमानता मात्रका प्रतिपादन किया गया है । यदि कदाचित् सर्वथा नित्य वायु को मानें तब तो एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का बाध हो जायगा । अतः आकाशावच्छिन्न ब्रह्म से वायु की उत्पत्ति होती है, किन्तु वायु नित्य अजन्मा नहीं है । यद्यपि वियत्कथन से वायु का भी कथन

वायोर्नित्यत्वे तस्या एवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया हानिः
स्यात् । वायोः पृथग्व्याख्यानान्तूत्तरार्थम् ॥९॥

॥ असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः २।३।१० ॥

तु शब्दोऽवधारणार्थकः । सतः सदा विद्यमानस्य परमकारणस्य
परस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यसम्भवः । कुतः ? अनुपपत्तेः । ब्रह्मणः कारण-
त्वान्वेषणे तस्यापि कारणमिति स्यादनवस्था । अपहतपाप्मत्वादिगुण
पृथिव्याद्यपेक्षयाचिरस्थेमानतामात्रमेव दर्शयति । इत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायाह एतेन
ब्रह्मण इत्यादि भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थकानीति संक्षेपः ॥९॥

सर्वथाऽसंभाव्यमानस्याकाशस्यवायोऽद्योत्पत्तिं श्रुत्वा भवति मन्दमतीनां विषयो
यत् कदाचित्सर्वकारणस्य ब्रह्मणोऽपि कुतश्चित्कारणविशेषादुत्पत्तिः स्यादित्याशङ्क्य
तन्निराकरणायाह सूत्रकारः असम्भव इत्यादि । सर्वथासर्वदाविद्यमानस्य त्रिकालावा-
धितस्य सत्तया सर्वत्राभ्युत्स्यूतस्य परमकारणस्य ब्रह्मण आकाशादिवदुत्पत्तेरसंभवः ।
कुतः ? अनुपपत्तेः । अर्थात् सत् उत्पादककारणस्य निरूपणात्, यथा घटकारणे कपा-
लादिसमवधाने घट उत्पद्यते तथैव ब्रह्मण उत्पादककारणसद्भावोभवेत्तदातदुत्पत्तिः
स्यान्नित्येवम्, प्रत्युत 'नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप' इत्यादिना तत्प्रतिषेधात् ।
हो जाता है, पुनः द्वितीय सूत्र का निर्माण निरर्थक प्रायः है तथापि "तेजोऽतः" इत्यादि
सूत्र में अनुवृत्त्यर्थं योग विभाग किया गया है ॥९॥

नित्य रूप से लोक वेद प्रसिद्ध आकाश वायु की उत्पत्ति को देखकरके ब्रह्म की
भी उत्पत्ति होती है, ऐसा भ्रान्त पुरुष के पूर्वपक्ष को आलक्षित करके उसका निराकरण
करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "असम्भव" इत्यादि । इस सूत्र में जो तु शब्द है वह
अवधारणार्थक है । सत् अर्थात् सर्वदा विद्यमान त्रिकालावाध्य परमकारण परब्रह्म की उत्पत्ति
असंभव है क्योंकि अनुपपत्ति होने से अर्थात् परब्रह्म का भी यदि कारणान्तर का अन्वेषण
किया जाय तब तो उसका भी कारणान्तर का अन्वेषण करने पर अनवस्था दोष
होगा । अपहतपाप्मत्वादि गुणक जो परमेश्वर उसको जन्म का कारणीभूत पुण्यपाप के
अभाव होने से उत्पत्ति अनुपपन्न है, कारण के सद्भाव में ही कार्य होता है अदृष्ट कार्य
मात्र का कारण है तो परमेश्वर में शुभाशुभ कर्म का अभाव होने से तदुत्पत्ति रूप कार्य
का भी अभाव होता है । एवं "इस परमेश्वर का कोई उत्पादक नहीं है, इसका कोई

कस्य तस्य जन्महेतुकपुण्यपापाभावेनोत्पत्त्यनुपपत्तेः । 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे.६।९) इतिस्फुटं तज्जनकत्वनिषेधाच्च तज्जन्मानुपपत्तेरिति ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये वियदधिकरणम् ॥१॥

अथ तेजोविकरणम् ॥२॥

॥ तेजोऽतस्तथाह्याह २।३।११ ॥

छान्दोग्ये ब्रह्मणस्तेजस उत्पत्तिः श्रूयते तैत्तिरीये तु वायो-
स्तदुत्पत्तिरित्युभयोर्वाक्ययोरस्ति परस्परं विरोधो न वेति संशये न
ह्येकेन पदार्थेन युगपद् द्वाभ्यां शक्यमुत्पत्तुमित्यस्ति विरोध इति
प्राप्त आह 'तेजोऽतस्तथाह्याहेति' अतः वायोः सकाशात्तेज उत्पद्यते
तथा ह्याह श्रुतिः 'वायोरग्नि' (तै.२।१) अचेतनाद्वायोस्तत्सजातीय-
अनवस्था च स्यात् । नहि कोऽपि दार्शनिकोमूलकारणस्य परमाणोः प्रकृत्यादीनां वा
पुनः कारणान्तरं समीहते । अनवस्थयाऽन्यवस्था प्रसक्तेस्तस्मात् परमकारणीभूतं
ब्रह्मकारणान्तरेणाकाशादिवन्नेवोत्पद्यते ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नार्थ योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वियदधिकरणम् ॥१॥

क्वचित्तेजसः उत्पत्तिर्ब्रह्मणोभवतीति प्रतिपादयति, क्वचिद्वायोरिति, तदुभययोः
परस्परं विरोधोऽस्ति नवेति संशयेऽस्ति विरोध इति प्राप्ते कथयति, तेजोऽत इत्यादि ।
नियन्ता नहीं है.' इत्यादि श्रुति वाक्य में रफुट रूप से परमेश्वरोत्पाद का निषेध किया
है, अतः सदात्मक ब्रह्म का आकाशादिक उत्पादक नहीं होता है यह सिद्ध हुआ ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे वियदधिकरणम् ॥१॥

छान्दोग्य श्रुति में ब्रह्म से तेज की उत्पत्ति कही गयी है, तो इन दोनों वाक्यों में
परस्पर विरोध है अथवा नहीं है. एतादृश संशयोत्तर में एक पदार्थ से युगपद् दो वस्तु
उत्पन्न नहीं हो सकता है. इसलिए विरोध है. इस शंका के उत्तर में कहते हैं "तेजोऽत"
इत्यादि । इस वायु से तेज उत्पन्न होता है. क्योंकि वायु से अग्नि उत्पन्न होता है, ऐसा
श्रुति कहती है । अचेतन वायु से चेतन तेज की उत्पत्ति संभवित है । नतु विजातीय चेतन

स्याच्चेतनस्य तेजस उत्पत्तिः सम्भवति न तु विजातीयाच्चेतनाद्
ब्रह्मणः । तस्माद्वायोस्तदुत्पत्तेर्मुख्यत्वाद् ब्रह्मणस्तदुत्पत्तेश्च गौणत्वा-
न्नास्ति विरोध इति पूर्वपक्षाद्यसूत्रम् ॥११॥

ॐ आपः २।३।१२ ॐ

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्तते । 'तदपोऽसृजत' (छा० ६।२।३)
इत्यादिछान्दोग्यवाक्यस्य 'अग्नेराप' (तौ. २।१) इतितैत्तिरीयवा-
क्येनविरोधोऽस्ति न वेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु अतस्तेजस एवाप
उत्पद्यन्ते हि यस्मात्तथा तेजसोऽपामुत्पत्तिमग्नेराप इति श्रुति
राहेति ॥१२॥

ॐ पृथिवी २।३।१३ ॐ

अत्राप्यतस्तथाह्याहेत्यनुवर्तते । अतः अद्भ्यः पृथिवी जायते
हि यस्मात्तथा पृथिव्या अद्भ्य उत्पत्ति 'ता अन्नमसृजन्त' (छा०
६।२।३) इतिश्रुतिराहेति ॥१३॥

अतः वायोः सकाशादेव तेजसः उत्पत्तिर्यतः कारणस्याच्चेतनत्वे एव कार्यस्यापि
तथाभावसंभवात्, चेतनमूलकत्वे तथा न स्यादिति दर्शयति । इदं च
पूर्वपक्ष सूत्रम् ॥११॥

ब्रह्म से तेज की उत्पत्ति संभवित है । पसलिए वायु से तेज की उत्पत्ति मुख्य है और
ब्रह्मसे तेजकी उत्पत्ति गौण है, इसलिए कोई विरोध नहीं है यह पूर्वपक्षका प्रथमसूत्र है । ११।

अतस्तथाह्याह. इसका यहाँ अनुवर्तन होता है "उसने जल तेज को उत्पन्न किया"
इत्यादि छान्दोग्य वाक्य को "अग्नेरापः" इस तैत्तिरीय वाक्य के साथ विरोध है या नहीं
है. ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्ष होता है, इस तेज से जल की उत्पत्ति होती है,
क्योंकि श्रुति इसी प्रकार से कहती है "अग्नेराप" इति । १२॥

यहाँ भी "अतस्तथाह्याह" इसका अनुवर्तन किया जाता है । अतः इस जल से
पृथिवी उत्पन्न होती है । जिसलिए जल से ही पृथिवी की उत्पत्ति को "ता अन्नमसृजन्त"
यह श्रुति कहती है ॥१३॥

॥ तदधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः २।३।१४ ॥

पूर्वसूत्रमनुवर्तते । ‘ता अन्नमसृजन्त’ (छा० ६।२।३) इत्यादावन्नशब्देन पृथिव्या ग्रहणं कुत इति चेत्तादाह ‘तदधिकारेत्यादि । तदन्नम् पृथिव्येव । कुतः ? अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । ‘तत्तेजो ऽसृजत’ इति महाभूतसृष्ट्यधिकारात् ‘यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य’ (छा० ६) इति रूपकथनादन्नशब्देनाप्तेजसोः सजातीयाया पृथिव्या एवाभिधानमुच्यते तथा तैत्तिरीये समानप्रकरणे ‘अद्भ्यः पृथिवी’ (तै० २।१) इत्यद्भ्यः पृथिव्या एवोत्पत्तिरभिधीयते । तथा चादनीयजातस्य पृथिवी

ननु पूर्वं ता अन्नमसृजन्त अन्नशब्देन ब्रीहियवाद्यदनीयस्यान्नस्य ग्रहणं भवति, पृथिव्या वा ग्रहणं भवतीति संशयः । तत्रान्नशब्देनादनीयब्रीहियवादेरेवलोके प्रसिद्धत्वेन, तथा यत्र क्वचन वर्षति भूयिष्ठमन्नं जायते इति श्रुतेर्ब्रीहियवादेरेव ग्रहणं भवतीति पूर्वपक्षे ग्राह्यं तदधिकारेत्यादि । यद्यपि लोके अन्नशब्देन ब्रीहियवादेर्ग्रहणं तथापि प्रकृतेऽन्नशब्देन पृथिव्या एव ग्रहणं भवति । कुतः ? महाभूताधिकारात् महाभूतरूपश्रवणात्, अद्भ्यः पृथिवीत्यादिश्रुतिनिर्देशाच्च । तस्माद् ब्रीहियवादेरदनीयस्यान्नस्य पृथिवी

“पृथिवी” इत्याकारक पूर्वसूत्र का यहाँ अनुवर्तन किया जाता है । “ता अन्नमसृजन्त” इस श्रुति में अन्नशब्द से ब्रीहि यवादि का ग्रहण नहीं होता है किन्तु महाभूतलक्षण पृथिवी का ही ग्रहण होता है । ऐसा क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं तदधिकारेत्यादि” यहाँ अन्न शब्द महाभूत पृथिवी ही है किन्तु पृथिवी विकार यवादिक नहीं है, क्योंकि अधिकार रूप शब्दान्तर होने से । उसमें “तत्तेजो सृजत” इस प्रकार महाभूत का प्रकरण है. अतः अन्न शब्द से पृथिवी का ही ग्रहण होता है । ब्रीहि यवादिक तो महाभूत पृथिवी का कार्य है । तथा “यदग्नेरोहितं रूपं” इत्यादि रूप से पृथिवी रूप का कथन होने से पृथिवी का ही ग्रहण होता है । एवं “अद्भ्यः पृथिवी” इस श्रुति से जल तेज के महाभूतत्वेन सजातीय पृथिवी का ही कथन होता है । तथा समान प्रकरण तैत्तिरीय में “अद्भ्यः पृथिवी” इस श्रुति में जल से महाभूत पृथिवी के ही उत्पत्ति का कथन किया गया

विकारतया कार्यमभिधानोऽयमन्नशब्दः कारणभूताम्भुवमेवा-
भिधत्ते इति ॥१४॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः २।३।१५

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । तदभिध्यानरूपादेव तल्लिङ्गात्सो
ऽभिध्यानकर्त्ता परमात्मैव तेजोवन्नादीनां सर्वेषां सृष्टिकर्त्ता । अभि-
ध्यानमीक्षणं बहुस्यामिति संकल्प एव । अयमाशयः 'तदैक्षतबहुस्या-
म्प्रजायेय' [छा० ६।२।३।] इतिसंकल्प्य 'तत्तेजोऽसृजत' एवं 'तत्तेज-
ऐक्षत बहुस्याम्प्रजायेयेति तदपोऽसृजत' 'ता आप ऐक्षन्त वह्नयः स्याम
प्रजायेमहि' [छा० ६।२।४।] इत्यात्मनो बहुभवनसंकल्परूपेक्षणस्य
तेजः प्रभृतिशरीरत्वेनात्मसृष्टिकरणसामर्थ्यस्य च परमात्मन एव सम्भ-
कार्यत्वात्पृथिव्या एव ग्रहणमित्याह पूर्वसूत्रमनुवर्तने इत्यादि सुगममन्यदिति ॥१४॥

ननु किमेतान्याकाशादिकभूतानि स्वकीयान् उत्तरोत्तरान् विकारान् स्वयमेव
सृजति, अथवा आकाशादिशरीरावच्छिन्नः परमात्मा तांस्तान् विकारान् सृजति,
किमत्र युक्तम् ? स्वयमेव तथा करोति तत्र तेषामितरानपेक्षत्वादिति चेन्न, आकाशादि
शरीरावच्छिन्नः परमात्मासर्वसर्गशक्तिमान् तत्तद्विकारान् उपादानीकृत्याधिष्ठाय च तान्
है । ऐसा हुआ तब जो ब्रह्मि यवादिक को महाभूत पृथिवी का कार्य होने से कार्य बाचक
जो अन्न शब्द है यह ब्रह्मि यवादिक के कारण पृथिवी का ही बोधक होता है ॥१४॥

आकाशादिक विकार अग्रिम विकार को स्वयमेव उत्पन्न करता है अथवा आकाशादि
शरीरावच्छिन्न परमात्मा वायुप्रभृति विकारान्तर उत्पादन करता है, इस जिज्ञासा के उत्तर
में कहते हैं "तदभिध्यानादित्यादि" सूत्र व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "तु
शब्द" इत्यादि । सूत्रघटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का व्यावर्तक निराकरण परक है ।
अभिध्यान रूप हेतु से अभिध्यान कर्त्ता परमात्मा ही जलादिसर्व पदार्थ का कर्त्ता है । अभिध्यान
शब्द का अर्थ है ईक्षण संकल्प । यहां प्रकरण का आशय यह है कि "उस परमात्मा ने
ईक्षण किया मैं अनेक हो जाऊँ एतादृश संकल्प करके "उसने तेज को बनाया" एवं उस
तेज ने ईक्षण किया मैं अनेक हो जाऊँ" उसने जल को बनाया, उस जल ने ईक्षण किया
इस प्रकार आत्मा के बहुभवन संकल्प रूप ईक्षण को तेजः प्रभृति शरीरकतया आत्मसृष्टि
करण का सामर्थ्य परमात्मा में ही संभवित है । किन्तु अचेतन तेज प्रभृति में वह

वात् । तेज आदीनामचेतनानां तदसम्भवात् । तथा च तेज आदी
नामबाद्युत्पादकत्वानुपपत्तिः । परमात्मनस्तु 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि'
त्याभ्य 'य आकाशे तिष्ठन्' यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो-
यमयति' [बृ० ३।७।१२] इत्येवमाद्यन्तर्यामिश्रुतिसिद्धाकाशादिसर्व-
शरीरस्य सत्यसङ्कल्पस्य विचित्रसृष्टिर्चनाशक्तिमतः सर्वज्ञस्याकाश
वायुतेजोऽबाद्युत्पादकत्वोपपत्तेः । स एव परमात्माकाशादिशरीर
ईक्षणपूर्वकमाकाशादीनामुत्पादक इति सिद्धम् ॥१५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये तेजोऽधिकरणम् ॥२॥

अथ विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च २।३।१६

एवं भौतिकमुत्पत्तिक्रममभिधाय प्रलयक्रममभिधत्ते । उत्पत्ते-
सृजति, अचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य कार्यत्वाभावात् । तस्मात् य आकाशे तिष्ठन्
इत्यादि श्रुत्याकाशादि शरीरावच्छिन्नः परमात्मैव तदग्रिमान् विकारान् सृजतीत्याशयं
मनसिनिधयाह तदभिध्यानादित्यादि । सूत्रार्थं पूर्वपक्षोत्तरपक्षाभ्यां विवृणोति तु शब्दः
पूर्वपक्ष इत्यादिप्रबन्धेन अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमिति संक्षेपः ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तेजोऽधिकरणम् ॥२॥

भूतानामाकाशादीनामुत्पत्तिक्रमो गतप्रबन्धेन निरूपितः । ततः परं प्रलयक्रमः
असम्भव है अतः तेज प्रभृति में उत्पादकत्व अनुपपन्न है । परमात्मा को तो "य
आकाशे तिष्ठन्" इत्यादि अन्तर्यामिश्रुति सिद्ध आकाशादि शरीरक सत्य संकल्प विचित्र
सृष्टि रचनाशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर को आकाश प्रभृतिक पदार्थ जनकत्व हो सकता
है । वही परमात्मा आकाशादि सर्वशरीरक ईक्षणपूर्वक आकाशादिक का उत्पादक
है यह सिद्ध होता है ॥१५॥

इसि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकासे तेजोऽधिकरणम् ॥२॥

गत प्रकरण से भूताकाशादिक का सर्गक्रम को बतला करके इस के बाद प्रलयक्रम

योऽयं क्रमस्तथा न प्रलयक्रमः । किन्तु विपर्ययेण अतः सृष्टिक्रमा-
त्प्रलयक्रमोऽवगन्तव्यः । कुतः ? उपपद्यते च । प्रातिलोभ्येन प्रलय
उपपद्यते । लोके नहि प्रवेशानुरूपं निष्क्रमणमुपलभ्यतेऽपितु विपर्यये-
णैव । तथा प्रलयक्रमोऽपि वेदितव्यः 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि'

चिन्तयितव्यः । किं येन क्रमेणोत्पद्यते तेनैव क्रमेण प्रलयः तद्विपरीतक्रमेण वा, अनि-
यतक्रमेण वेति संशयः । तत्र नैयायिकमते यथा जीवादृष्टवशात् परमाणौ क्रिया ततः
परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुज्यद्व्यणुकमारभते, ततः त्र्यणुकं ततो घटादिमहावयवि-
नामुत्पत्तिः । एवं प्रलयसमये जीवादृष्टवशात्, परमाणौ क्रिया ततः परमाण्वन्तरेण
विभागो विभागात् क्षणानन्तरं द्व्यणुकविनाशस्ततः क्षणान्तरे त्र्यणुकविनाशस्ततः तेन
क्रमेण महावयविपर्यन्तजन्यद्रव्याणां विनाशः सोऽयं प्रलयः । स च न्यायमतोऽसर्गक्रमे-
णैव भवति तद्वदिहापि तथैवस्यादित्याशंका निरासायोषक्रमते एवं भौतिकमुत्पत्तिक्रममित्यादि
योऽयं सर्गक्रमः उपपादितो ब्रह्मण आकाशस्याकाशादाद् वाय्वादीनां तेनैव क्रमेण विनो-
शोऽपि भवति, यथा सोपानेन प्रासादमधिरोहित, तदा पुनरवतरणसमये विपरीतक्रमे-
णैव तत आगच्छति, आरोहणसमये यः प्रथमः सोपानः सोऽवतरणसमयेऽन्तिमो
भवति, नतु य आरोहणसमये प्रथमः स एवावरोहणसमये प्रथमो भवति किन्तु चरमः ।
एवमिहापि सर्गसमये प्रथम आकाशः स च प्रलयकाले चरम एव भवति । शास्त्रमपि
प्रलयकालमभिलक्ष्य कथयति जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते
ज्योतिर्वायौ प्रलीयते इति । तदेवं विपरीतक्रमेणैव भूतानां लयो भवति, नतु सर्गक्रमेणा-
नियतक्रमेण भवतीत्येतत्सर्वं सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां प्रदर्शितम् । तदेवोपपादयति उत्पत्ते-
को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "एवं भौतिकमुत्पत्तिक्रममित्यादि" एवं उपयुक्त क्रम
से भौतिक पदार्थों का उत्पत्तिक्रम का कथन करके इन सबके प्रलयक्रम को बतलाते हैं । जो
यह उत्पत्ति का क्रम है वह क्रम प्रलय का नहीं है । किन्तु सर्गक्रमापेक्षया विपरीत क्रम
से प्रलय के क्रम को जानना चाहिए क्यों उपपद्यते च विपरीत क्रम से ही प्रलयक्रम
उपपन्न होता है । लोक में भी प्रवेश के अनुरूप निष्क्रमण उपलब्ध नहीं होता है किन्तु
विपरीत क्रम से ही उपलब्ध होता है । इसी तरह सर्गक्रमापेक्षया विपरीत क्रम से ही
प्रलयक्रम को जानना चाहिए । सुबालोपनिषद् में भी ऐसा ही बतलाया है "पृथिवी
जल में विलीयमान होती है, जल तेज में तेज वायु में वायु आकाश में आकाश अहंकार

[सुबा०२ ख०] इत्यादिश्रुतेः ॥१६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

अथान्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

५ अन्तराविज्ञानमनसीक्रमेण तद्धि-

ज्ञादितिचेन्नाविशेषात् २।३।१७ ५

‘एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत’ [तै०२।१।] इत्यात्मन आकाशाद्युत्पत्तिक्रमस्य ‘एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च’ [मु.२।१।३] इत्युक्तेनात्मन इन्द्रियाद्युत्पत्तिक्रमेण विरोधोऽस्ति नवेति संशयोऽस्ति विरोध इत्याह-अन्तरेति । विज्ञायतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्देन बुद्धीन्द्रियाणि गृहीतानि स्युः । सर्वेन्द्रियाणि चेति-श्रुत्यनुसारात् । संशयात्मकान्मनसो निश्चयात्मिकाया बुद्धेर्मेदाद् बुद्धेरपि ग्रहणम् ।

यौयंक्रम इत्यादि-अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

क्वचिदाकाशस्योत्पत्तिः साक्षाद्ब्रह्मणः सकाशादेवश्राविता क्वचिच्चेन्द्रियाणामुत्पत्तिः साक्षादात्मनः श्राविता तत इन्द्रियानन्तरमाकाशादीनामुत्पत्तिः इति विरोधोऽस्ति नवा तत्र विरोधः स्पष्ट एवेतिपूर्वपक्षः । नास्तिविरोध इत्युत्तरम् । यत्रामे अहंकार तत्त्व अव्यक्त मे लीन होता है” । अतः सर्ग क्रमापेक्षया विपरीत क्रम प्रलय मे होता है यह सिद्ध हुआ । विशेष अन्यत्र देखें ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

साक्षात् आत्मा से आकाशादि के उत्पत्ति क्रम कहा गया है, उसको प्राणाद्युत्पत्ति क्रम से विरोध है अथवा विरोध नहीं है. इसका स्पष्टीकरण करने के लिए तथा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “एतस्मादात्मन” इत्यादि ।

तत्रात्मन इन्द्रियाणामुत्पत्तिस्तदनन्तरमाकाशवायुज्योतिराद्युत्पत्तिस्तियात्मनो भूतानाञ्चान्तराल इन्द्रियाणामुत्पत्तौ 'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३।] इतीदं वाक्यमेव लिङ्गं ज्ञापकं तस्माल्लिङ्गादात्मन इन्द्रियप्राणबुद्धिमनांसि समुत्पद्यन्ते । तेभ्यो भूतानीत्यनेन क्रमेणात्मन आकाशः सम्भूत इति साक्षादात्मन आकाशाद्युत्पत्ति क्रमस्य विरोधोस्तीति चेन्न । कुतः ? अविशेषात् 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्यापः शरीरम्' इत्याद्यन्तर्यामिश्रुतिभ्यः सर्वेषां भूतेन्द्रियादीनां परमात्मशरीरत्वावगमात् । शरीरवाचकशब्दानां शरीरिणि सूर्यवसानादिति सिद्धान्तात् । एवञ्च भूतेन्द्रियादिपदानां भूतेन्द्रिपीन्द्रियानन्तरं खादीनामुत्पत्तिस्तत्रापि साक्षादात्मप्रभवत्वेकोपि विशेषो नास्ति, यतस्तत्रापि ब्रह्मण एव तदुत्पत्तिः । इन्द्रियादीनां सर्वेषामात्मशरीरत्वेन, शरीरवाचकपदानां शरीरिण्येव पर्यवसानमिति नियमादात्मजन्यत्वमेव । अन्यथा एकविज्ञानप्रतिज्ञाया हानि

“इस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है” इस प्रकार आत्मा से आकाशादि की उत्पत्ति होती है यह क्रम है उसको “इस आत्मा से प्राण मन सर्व इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं” एतदनुसार आत्मा से इन्द्रियादि का जो उत्पत्ति क्रम है, उससे विरोध है अथवा नहीं है, एतादृश संशय के अनन्तर इन दोनों क्रम में परस्पर विरोध है इस बात को बतलाते हैं “अन्तरा विज्ञान” इत्यादि । जाना जाय जिस के द्वारा एतादृश व्युत्पत्ति करने से विज्ञान पद से बुद्धीन्द्रिय का ग्रहण होता है । आगे “सर्गेन्द्रियाणि” यह कहा गया है । संशयात्मक जो मन तदपेक्षया निश्चात्मक बुद्धि का भेद होने से बुद्धि का भी ग्रहण होता है । आत्मा से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर आकाशवायु तेज जल पृथिवी की उत्पत्ति होती है, इस तरह आत्मा तथा आकाशादि भूतों के अन्तराल मध्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति में “एतस्माज्जायते प्राण” त्यादि जो वाक्य है वही लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक है । इसी ज्ञापक से सिद्ध होता है कि आत्मा से इन्द्रिय चक्षुरादिक प्राणबुद्धि और मन ये सब उत्पन्न होते हैं । उन इन्द्रियों से भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं इस क्रम से “आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ इस प्रकार साक्षात् आत्मा से भूतों की उत्पत्ति होती है,” इत्याकारक जो क्रम है उसका विरोध होता ही है ऐसा मत कहना क्योंकि अविशेष समानता ही है । “जिसका पृथिवी शरीर है” जिसका जल शरीर है” इत्यादि अन्तर्यामि श्रुतियों से सिद्ध

यादिशरीरकब्रह्माभिधायकत्वात्सर्वेषामपि साक्षाद्ब्रह्मण उत्पत्तेरविशेषात् । ब्रह्मणोऽन्यस्मादुत्पत्तिस्वीकारे तस्य ब्रह्मानन्यत्वानुपपत्त्या कारणात्कार्यस्य व्यतिरेकत्वनिष्पत्तेः कारणैकज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानप्रतिज्ञायाः हानिः स्यात् । तस्मादुक्त एवार्थोऽवगन्तव्य इति ॥१७॥

तत्तद्वस्तुवाचकत्वेन शब्दानां ब्रह्मणि कथं मुख्यवृत्त्या प्रवृत्तिरित्याह—

५ चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो

भावतस्तदभावभावित्वात् २।३।१८ ५

तत्तद्वस्तुवाचकत्वेन शब्दानां ब्रह्मणि कथं मुख्यवृत्त्या प्रवृत्तिरित्याह 'चराचरेत्यादि' तु शब्दः शंकाव्यावर्तकः । चराचरवस्तुव्यपाश्रयसङ्गात् । अतः सर्वस्यापि सर्वाथाब्रह्मप्रभवत्वमेवेति दर्शयितुमुपक्रमते एतस्माज्जायते इत्यादि । एतदन्यः सर्वोपिभाष्यग्रन्थोऽतिरोहितार्थक इति न पुनर्व्याख्यातः ॥१७॥

ननु यदि सर्वेशब्दाः परमात्मानमेव बोधयन्ति तदा घटादिपदानां कंबुग्रीवादि मत्वबोधकत्वं सर्वथैवानुपपन्नम्, नहि कोपि घटादिरूपार्थबोधनाय पटपदं प्रयोक्ष्यति होता है कि सब भूत इन्द्रियादि वर्ग परमात्मा का शरीर है । और शरीर वाचक जो शब्द हैं उनका शरीरी परमात्मा में पर्यवसान होता है अर्थात् जो जो शरीर वाचक शब्द हैं वे सब परमात्मा रूप शरीरी को भी समझाते हैं ऐसा सिद्धान्त है । तो निष्कर्ष यह होता है कि आकाशादिक भूत तथा इन्द्रियादि का वाचक जो पद हैं वे सब भूतेन्द्रियादि शरीरक ब्रह्म का भी वाचक है. अतः सब सभी पदार्थों का उत्पाद साक्षात् ब्रह्म से होने में कोई विशेषता नहीं है. अर्थात् सब पदार्थ साक्षात् ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं । यदि कदाचित् ब्रह्मभिन्न से भूतोत्पत्ति को मानें तब तो उन पदार्थों को ब्रह्म के साथ अनन्यत्व नहीं होने से कारण से कार्य में व्यतिरेक हो जायगा, तब एक कारण मात्र के ज्ञान से सर्व कार्य का विज्ञान हो जाता है, ऐसी जो प्रतिज्ञा है उसका बाध हो जायगा । अतः ययोक्त अर्थ को ही जानना चाहिए ॥१७॥

पृथिवी जलादि रूप तत्तदर्थ का वाचक जो शब्द है, उसको मुख्य वृत्ति से परमात्म बोधकत्व किस तरह से हो सकता है, इस शंका के निराकरण करने के लिए कहते हैं 'चराचरेत्यादि' सूत्र घटक तु शब्द उपर्युक्त शंका का निराकरणपरक है । चराचर व्यपाश्रय, अर्थात्

श्रयस्तद्व्यपदेशस्तद्वाचकः शब्दो ब्रह्मण्यभाक्तो मुख्य एव स्यात् ।
 कुतः ? तद्भावभावित्वात् । चराचराणां तदन्तर्गतानां तेजः प्रभृतीनां
 ब्रह्मशरीरतया ब्रह्मभावेन भावितत्वात् । ब्रह्मणः शरीरतया मुख्य-
 त्वात् । चराचरस्य तच्छरीरतया तदीयत्वेन गौणत्वात् । यथा च यस्य
 भावेन यो भावितो भवति स तस्माद् गौण एव भवति । यथा
 शिष्यं पुत्रत्वेन पश्यतीत्यत्र पुत्रभावेन भावितो दृष्टः शिष्यो गौण एव
 पुत्रस्तु मुख्यः । एवं चराचराणां ब्रह्मभावभावितत्वाद् ब्रह्मणि मुख्य-
 तेषां तदवाचकत्वादिति चेत्सत्यम्, द्वेवृत्तीभवतो मुख्यागौणी च, यथा गङ्गापदं मुख्य
 वृत्त्या प्रवाहं बोधयति द्वितीयया च घोषम्, तथैवात्र सर्वोपि शब्दोमुख्ययाशरीरिणं
 परमात्मानं बोधयति द्वितीयया च तत्तदर्थमिति मनसिनिधायाह चराचरेत्यादि । सूत्रार्थं
 चराचर का वाचक जो तत्तत् शब्द है वह ब्रह्ममें अभाक्त अर्थात् मुख्य है, अर्थात् आका-
 शादि वाचक शब्द का मुख्य अर्थ है ब्रह्म । क्यों ? तद्भाव भावित होने से । चराचर के
 तदन्तर्गत जो तेजः प्रभृतिक पदार्थ हैं, उनको ब्रह्म शरीरक होने से वे सब ब्रह्मभाव से भावित
 हैं, ब्रह्म शरीरी होने से मुख्य है, और चराचर ब्रह्म का शरीर होने से ब्रह्म सम्बन्धीतया गौण
 है । जिसके भाव से जो भावित होता है वह तदपेक्षया गौण ही होता है । जिस तरह
 'शिष्यं पुत्रत्वेन पश्यति' इस स्थल में, यहाँ पुत्र भाव से भावित, अर्थात् देखागया शिष्य गौण
 ही होता है और पुत्र मुख्य होता है । इसी तरह चराचर को ब्रह्मभाव भावित होने से
 ब्रह्ममें मुख्यत्व होता है और चराचर में गौणत्व होता है । इससे फलितार्थ यह हुआ कि
 एक ही शब्द मुख्य वृत्ति से ब्रह्म का वाचक होता है और गौणी वृत्ति से चराचर का बोधक
 होता है, इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

यद्यपि प्रत्येक दार्शनिकों का नियम है जो कोई भी शब्द है वह मुख्य वृत्ति से
 स्वकीय अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ वाचक कहलाता है और गौणवृत्ति से स्वेतर अर्थ
 को समझाता हुआ बोधक कहलाता है वाचक नहीं, यथा गङ्गापद प्रवाह रूप अर्थ का
 वाचक कहलाता है, और घोष का बोधक होता है गौणीवृत्ति से । परन्तु प्रकृत में तो
 विपरीत क्रम को भाष्यकार ने बतलाया, अर्थात् प्रत्येक शब्द मुख्य वृत्ति से ब्रह्मका वाचक
 है और गौणवृत्ति से स्वार्थ का बोधक होता है अतः सकल तन्त्र विरुद्ध प्रायः जैसा होने
 से उपर्युक्त कथन विरुद्धाभाससा जान पड़ना है, तथापि अन्तर्यामि श्रुति के अनुरोध से भाष्यकार

त्वोपपत्तेः । चराचराणां गौणत्वम् । तथा चैकस्यैवशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या ब्रह्माभिधायकत्वं गौण्या च वृत्त्या चराचरबोधकत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति ॥१८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

अथात्माधिकरणम् ॥५॥

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः २।३।१९

एवं परब्रह्मणोऽखिलस्य वियदादिप्रपञ्चस्योत्पत्तिमभिधाय जीवात्मविषये शास्त्रार्थः प्रस्तूयते । तत्राकाशस्योत्पत्तिरिव जीवस्यापि ब्रह्मण उत्पत्तिरस्ति न वा ? किं युक्तम् ? अस्तीत्येव । कुतः ? विवृणोति' तु शब्दः शंका व्यावर्तकः, इत्यादि । भाष्याशयः स्वमनीषयोहनीयः सुगमत्वादिति ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नचार्य योगेन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

एतावता प्रबन्धेन वियदादिसकलप्रपञ्चस्य निरतिशयसर्वज्ञसर्वशक्तिसमन्वितपरमेश्वराज्जन्मादिकं भवतीति प्रसाधितमिति सर्वप्रपञ्चान्तर्गत इहलोकपरलोकने आकाशादिक सर्वशब्द को मुख्य वृत्ति से ब्रह्म वाचकत्व कहा है गौणीवृत्ति से स्वार्थ बोधकत्व का प्रतिपादन किया है । 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्' इत्यादि इतिहास पुराणादिक को वेदार्थ का उपबृंहकमान करके इसी मत को वैदिकमत के रूपमें जगदाचार्य जीने निर्धारित किया है । अतः कोई विरोध नहीं ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

गत प्रकरण से संपूर्ण विषयादिक प्रपञ्च की उत्पत्ति परब्रह्म से होती है. इस बात का प्रतिपादन करके सम्पूर्ण जगदन्तर्गत तो जीव भी है, तो जीव विषय को लेकरके तदुत्पत्त्यादिक विचार को प्रस्तुत किया जाता है । लोकदेद प्रसिद्धि से नित्यतया अवगत आकाश की उत्पत्ति परमात्मा से होती है. उसी तरह ब्रह्म से जीव की भी उत्पत्ति होती है अथवा नहीं होती है. ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या मानना युक्त है, अर्थात् जीव उत्पन्न

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ । [छा. ६।२।२] इति सृष्टेः प्राक्काल एकत्वनिश्चयात् । एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च तथा सत्येवोपपत्तेः । वियदादेस्वि जीवस्याप्युत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयश्च सन्ति । ‘प्रजापति प्रजाः असृजत’ [यजु० २ अ०] ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ (तै० ३।१) इत्यादिभिश्चराचरजगत् उत्पत्तिकथनाज्जगदन्तर्गतस्य जीवस्याप्युत्पत्तिमत्वमवगम्यते । न च ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इत्यादिवाक्यैर्जीवस्य ब्रह्मत्वबोधनात्तस्य च नित्यत्वाज्जीवस्यापि तथास्त्विति वाच्यम् । ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ (छा० ३।१।४।१) इत्यादिभिश्चाकाशस्यापि ब्रह्मत्वप्रतिपादनात्तस्यापि यात्रानिर्वाहककर्मफलभोक्तृशरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षस्य जीवस्य तादृशब्रह्मणः सकाशादुत्पत्तिर्भवति नवेतिसंशयस्तत्रविधिकोटिर्वैनाशिकादेर्निषेधकोटिरखिलदार्शनिकस्य परलोकसम्बन्धमिच्छतः । तत्रैकविज्ञानेन प्रतिज्ञायाः समर्थनाय सर्वशब्दमर्यादया च जीवस्यापि समुत्पत्तिर्भवत्येव, अन्यथापूर्वप्रतिज्ञायाः समुपरोधादिति पूर्वापक्षाशयं निराकृत्यबन्धमोक्षव्यवस्था सिद्धये जीवस्य नित्यत्वसाधनाय सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते एवं परब्रह्मणोऽखिलस्येत्यादि संशयपूर्वपक्षौ भाष्यानुसारेणैव ज्ञातव्यौ । उत्तरयति नात्माऽश्रुतेरित्यादि जीवात्मनः करणकलेवराध्यक्षस्योत्पादविनाशौ न संभवतः । श्रुतौ तथाऽश्रु होता है, यह पक्ष युक्त है, प्रथवा उत्पन्न नहीं होता है, यह पक्ष युक्त है ? इसमें पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि जीव उत्पन्न होता है, इत्याकारक विधिकोटि ही युक्त है । क्योंकि ‘सदेव सोम्येदमग्रे’ इत्यादि श्रुति से सृष्टि के पूर्वकाल में एकत्व का निश्चय किया गया है ! तथा एक विज्ञान में सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा है, उसकी उपपत्ति भी जीव को ब्रह्मजन्य मानें तभी उपपन्न होगी, इसलिए ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति होती है, इसपक्ष को अवश्य मानना चाहिए । एवं जिसतरह आकाशादिक की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है, उसी तरह जीव की भी उत्पत्ति होती है, इस बात को श्रुति भी प्रतिपादन करती है । ‘प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया’ ‘जिस परमात्मा से ये आकाशादिक भूतों की उत्पत्ति होती है’ इत्यादि श्रुतियों से स्थावर जङ्गम लक्षण सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति का कथन होने से जगत् के अन्तर्गत जीव की भी उत्पत्ति परमकारण परमपुरुष से ही होती है ऐसा माना जाता है । नहीं कहो कि ‘तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि’ इत्यादि श्रुतियों से जीवमें ब्रह्म का कथन होता है और

नित्यत्वप्रसक्तेः । तस्मादाकाशादिवज्जीवस्याप्युत्पत्तिरस्तीति प्राप्ते समाधीयते-नात्माऽश्रुतेः । न जीवात्मोत्पद्यते । कुतः ? अश्रुतेः । तथाऽश्रवणात् । न तादृशी काचिदपि श्रुतिरस्ति यत्र जीवोत्पत्तिः श्रुताभवेत् । प्रत्युत श्रुतिभ्यो नित्यत्वमेवावगम्यते । तथाहि-‘अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते’ (का.२।१८) ‘न जायते म्रियते वा विपश्चित्’ (का०२।१८) ‘ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ’ (श्वे०१।९) ‘नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्’ (श्वे०६।१३) इत्याद्यनेक श्रुतिभ्य आत्मनोनित्यत्वमेवावगम्यते ।

यत्तु ‘एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एतैतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति’ (बृ०४।५।१३) वणात् । यदिशरीरेन्द्रियाणामुत्पादविनाशानुविधायिजन्ममरणादिकं कल्प्येत तदा अश्रौत-मिदं मतं प्रवर्तितं भवेत्, परन्तु तन्नेष्टं वैदिकानाम् । किञ्च जीवस्य विनाशित्वे अकृ-ताभ्यागमकृतप्रणाशौस्याताम् । नहि जीवानित्यत्वमनुसंधातोमोक्षाय प्रवर्तते मुमुक्षोर नित्यत्वेन मोक्षकालपर्यन्तावस्थानाभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तिस्तदर्थस्यात् । श्रुतिरपितस्य नित्यतां प्रतिपादयतीत्यादिकं सर्वमूहनीयम् । यत्रक्वचनजीवविनाशादिकोवगतोभवति स नस्वरूपनाशनिबन्धनोऽपितुपरिकरविनाशमूलकमिति । एकविज्ञानप्रतिज्ञा यद्यपि तन्नित्यत्वेऽयुक्त इवाभाति, तथापि तदुपपादनं भाष्यकारः स्वयमेव करिष्यति सति ब्रह्म तो नित्योपाद विनाश रहित है तो जीवमें भी नित्यत्व तथा उत्पाद विनाश रहितत्व सिद्ध होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ‘सर्वखल्विदं ब्रह्म’ यह श्रुति तो सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मभाव का प्रतिपादन करती है, तब तो आकाशादि प्रपञ्च में भी नित्यत्व होने से आकाशादिक की भी उत्पत्ति नहीं होगी ? ‘अतः तत्त्वमस्यादि’ श्रुति को अभेद प्रतिपाद-नाश में तात्पर्य नहीं है किन्तु ये सब श्रुति उपासना मात्र के विधानपरक हैं । ‘सर्वखल्वि-दम्’ यह श्रुतिशमविधानार्थक है ‘शान्त उपासीत’ इस तरह वाक्यशेष में कहा है । तस्मात् जिस तरह परमात्मा से आकाशादिक की उत्पत्ति होती है, उसी तरह परमकारण परमात्मा से जीवराशि की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं ‘नात्माश्रुतेरिति’ परमपुरुष परमात्मा से आकाशादिबत् जीव उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि अश्रुत है अर्थात् उत्पत्तिप्रकरण में जीवोत्पत्ति

इत्यनयाश्रुत्याऽत्मनो विनाशः श्रूयत इति । तन्न । उत्तरवाक्यशेषे
 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ०४।५।१५) इतिसंज्ञामात्रस्यैव विनाशोऽभि-
 हितो न जीवस्वरूपस्य । अत एव 'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्य
 विनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृ०४।५।१४) इति
 श्रुत्या स्पष्टमेवात्मनोऽविनाशित्वमनुच्छित्तिधर्मत्वमभिहितम् । तस्मा-
 न्नात्मन उत्पत्तिमत्त्वम् । यथा चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया
 उपपत्तिस्तथा वक्ष्यत उपरिष्ठादिति सर्वमुपपन्नम् ॥१९॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आत्माधिकरणम् ॥५॥

समये । तस्मान्न जीव उत्पद्यते विपद्यते वा किन्तु नित्योऽणुपरिमाणकश्चेति । 'एषोऽणु-
 रात्मैषद्रष्टा इत्यादिश्रुतिमानतः । अणुश्च चेतनोजीवो द्रव्यरूपोमतोबुधैः' (श्रीबोधायन
 मतादर्शः ८६०) 'तत्राणुचेतनोजीवः सच्चिदानन्दलक्षणः । एषोऽणुरात्मा चेतसावेदि-
 तव्य' इतिश्रुतेः । अणुरात्मा मनोग्राह्यः स्वीकृतोऽदिकैर्बुधैः' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ५।१
 १७) 'स चाणुचेतनः' (श्रौतार्थसंग्रहः) इत्यादिदिव्यप्रबन्धानुसन्धानाज्ज्ञायत इतिशम् ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आत्माधिकरणम् ॥५॥

का श्रवण नहीं है, कोई भी ऐसी श्रुति नहीं है जिसमें जीवोत्पत्ति का श्रवण हो । प्रत्युत श्रुति
 से तो यह सिद्ध होता है कि जीव नित्य है । तथाहि—'अजोनित्यः' 'न जायते म्रियते'
 'ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ' इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है कि जीव नित्य है ।

जिस किसी ने कहा कि 'अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा अनन्तर अवाह्य कृत्स्न प्रज्ञान है,
 वह इन सब भूतों से उत्पन्न होकर के इन भूतों के विनाशोत्तर काल में अनुविनष्ट हो जाता
 है: इस श्रुति से सिद्ध होता है कि जीव का विनाश होता है । यह कहना ठीक नहीं है,
 क्योंकि अग्रिम वाक्यशेष में 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इससे नाम मात्र के विनाश का प्रतिपादन
 किया है नतु जीव के स्वरूप का विनाश प्रतिपादन किया है । अतएव 'न वारेमोहं' इत्यादि
 से अविनाशित्व का स्पष्ट रूप से कथन किया है । इसलिए जीव उत्पत्तिमान नहीं है, यह
 सिद्ध होता है । जीव का अजन्यत्व तथा सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का समर्थन किसतरह होता है,
 उसका उपपादन अग्रिम ग्रन्थ में किया जायगा तथा पूर्व में भी किया है ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे आत्माधिकरणम् ॥५॥

अथ ज्ञाधिकरणम् ॥६॥

५ ज्ञात एव २।३।२० ५

आकाशादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्यभिहितम् । इदानीं तत्स्वरूपं निरूप्यते । तत्र कणभुजाभिमतं स्वयमचेतनं कादाचित्कचैतन्यगुणकमित्येकः पक्षः । कपिलाद्यभिमतं चिन्मात्रमिति द्वितीयः । ज्ञातृत्वमेवेति तृतीयः । तत्र किं युक्तम् ? कादाचित्कचैतन्यगुणकमिति । कुतः ? आत्ममनः संयोगजमेवागन्तुकं चैतन्यम् । नित्यचैतन्ये तु सुषुप्तिमूर्च्छादिष्वपि तदुपलब्धिरविकलं स्यात्तस्मादागन्तुकचैतन्यगुणकमेवात्मनः स्वरूपमिति । तदयुक्तम् । श्रुतिभ्यश्चिन्मात्रमेवात्मनः स्वरूपमवगम्यते । 'यो विज्ञानेतिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) 'विज्ञा

जीवोगगनादिवदुत्पद्यते नवेति संदिह्यतन्निर्णयः कुतः । सम्प्रतिजीवः किं स्वरूप इति विचार्यते । किमयं स्वभावतो जड़ आगन्तुकचैतन्यगुणकः नित्यचैतन्यः ज्ञातृरूपोवेतिवादिप्रतिपत्तेः संशयः । तत्र न चैतन्यरूपत्वं सुषुप्तिमूर्च्छादावपि ज्ञानमुपलभ्येत, नतूपलभ्यते तस्मान्नतद्रूपोऽपि, आगन्तुकचैतन्यगुण इति मतं तथा ज्ञानमात्र

जिस प्रकार ब्रह्म से आकाशादि भूतों की उत्पत्ति होती है, उस तरह जीव की उत्पत्ति ब्रह्मसे नहीं होती है क्योंकि जीव नित्य है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है । इस प्रकार से आत्माधिकरण में कहा गया है । अब उस जीव के स्वरूप का निरूपण किया जाता है । उसमें कणाद का अभिमत है, जीव स्वयं अचेतन है, कादाचित्क, आत्ममनः संयोग जनित चेतना गुणवाला है, यह प्रथम पक्ष है । केवल चैतन्य मात्ररूप जीव है, यह सांख्याद्यभिमत द्वितीय पक्ष है । और जीव ज्ञाता है, यह तृतीय पक्ष है । इन तीन पक्षों में से कादाचित्क चैतन्य गुण जीव है, यह जो प्रथम मत है वह ही ठीक है, क्योंकि आत्मारूप समवायि कारण में आत्ममनः संयोग लक्षण असमवायि कारण तथा अदृष्टादि के सहकार से जायमान आगन्तुक ज्ञान है । यदि कदाचित् जीव ज्ञान को नित्य माना जाय तब तो सुषुप्ति मूर्च्छाद्यवस्था में भी ज्ञान की उपलब्धि होना चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं होता है, एवं यदि नित्य ज्ञान हो तब तो चक्षुरादिकरण का भी वैयर्थ्य हो जायगा । तस्मात् आगन्तुक जन्य चैतन्यगुणक ही जीवात्मा का स्वरूप है यह जो न्याय मत है वह युक्त नहीं है ।

नमानन्दब्रह्म' (बृ०३।१।२८) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०२।१।१)
 'अनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ०४।५।१३) इति । तथा
 'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः' (वि०पु०१।२।६) इति स्मृति
 भ्यश्च ज्ञानस्वरूपमेवोच्यते । क्वचिदुपाधीनामुत्पत्तिविनाशौ श्रूयेते
 तद्वशाच्च ज्ञानस्वरूपे जीवैऽपि लाक्षणिकः प्रयोगः । 'प्रज्ञानघन
 एवैतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' (बृ०९।५।१३)
 इत्यादौ । न च जीवात्मनो ज्ञानत्वे ज्ञातृत्वे वा स्वाभाविकेऽभ्युपग
 स्वरूप इत्यपिमतं निरस्य श्रुतिस्मृतिबलात् ज्ञातृस्वभावक इति दर्शयितुमुपक्रमते आकाशादि
 वज्रजाव इत्यादि । नित्यचैतन्ये तु इत्यादि, यदि जीवो नित्यचैतन्यः स्यात्तदा तस्यापेक्षा
 णीयान्तराभावे सुषुप्तिमूर्छादावपि ज्ञानं भवेन्नतु तदा तस्य तद्भवति तस्मान्न स तथेति
 भावः । तदयुक्तमिति ज्ञानमात्र स्वरूपवादी तदीयमन्तं निराकरोति, श्रुतिबलेन तस्य तथा
 क्योकि श्रुति से तो चिन्मात्र स्वरूप आत्मा का है ऐसा अवगत होता है । तथाहि—'जो
 विज्ञान=अर्थात् जीव में रहता हुआ' । विज्ञान तथा आनन्द लक्षण ब्रह्म है' 'सत्यज्ञान अनन्त
 लक्षण ब्रह्म है' 'बाह्य आभ्यन्तर सर्वात्मना प्रज्ञानघन लक्षण ही है' । तथा 'परमार्थ रूपसे
 आत्माज्ञान स्वरूप तथा अत्यन्त निर्मल है' [वि०पु०] इत्यादि स्मृतियों से भी सिद्ध होता है
 कि आत्मा ज्ञान स्वरूप हैं । कहीं कहीं जीव का उपाधि जो करण कलेवर उसमें उत्पत्ति
 विनाश श्रूयमाण है, उसके बल से ज्ञान लक्षण जीव में भी उत्पाद विनाश का लाक्षणिक
 प्रयोग होता है । यथा 'प्रज्ञान घन जीव' इन भूतों से उत्पन्न होकरके उन भूतों के
 विनाश के अनन्तर अनुविनष्ट होता है' इत्यादि स्थल में ।

नहीं कहो कि यदि जीव में ज्ञानत्व, यद्वा ज्ञातृत्व स्वभाविक धर्म मान लें तब तो
 सर्वव्यापक उसका सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि होनी चाहिए, अर्थात् ज्ञान लक्षण जीव व्यापक
 सदा सर्वत्र विद्यमान हैं तब उसका सर्वदा सर्वत्र उपलम्भ होना चाहिए, तथा घटादि विज्ञान
 के लिए जो चक्षुरादि इन्द्रिय की आवश्यकता पड़ती है, उन इन्द्रियादिकरण का स्वीकार भी
 निरर्थक हो जाना चाहिए, क्योंकि उसका ज्ञान अनावृत्त गगनादिवत् सर्वत्र विद्यमान है ।
 सिद्धान्त के अनुकूल इसका समाधान आगे चल करके किया जायगा । इसलिए विज्ञान रूप
 ही जीवात्मा का स्वरूप हैं । यहाँ तक जो केवल विज्ञान रूप जीव को मानते हैं, उनका
 पूर्वपक्ष निष्पन्न हुआ ।

म्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वत्र सर्वदोषलब्धिप्रसङ्गः करणानाञ्च 'वैय-
र्थ्यमिति वाच्यम् । अग्रे समाधास्यमानत्वात् । अतो विज्ञानमेवात्मनः
स्वरूपम् । इति प्राप्तेऽभिधीयते-ज्ञोऽत एवेति । ताभ्य इति पूर्व
सूत्रादनुवर्तते । अतो विद्यदामिवदुत्पत्तिमत्त्वाभावान्नित्यत्वाच्चो-
त्पत्तिमत्त्वाभावेनाचित्तत्त्ववत्परिणामित्वमपि नास्त्यतो नित्यत्वेन सदै-
करसत्वाच्च । अयमात्मा ज्ञस्वरूप एव न ज्ञानमात्रस्वरूपः । ताभ्यः
श्रुतिभ्यः । 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० ८।१।२।४)
'मनसैवेतान् कामान् पश्यन् रमते' [छा० ८।१।२।५] 'नोपजनं स्मर-
न्निदं शरीरम्' [छा० ८।१।२।३] 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।

साधनात् सर्वदा ज्ञानानुपलब्धिस्तु ज्ञातव्यविषयाभावान्नतु स्वरूपाभावादिति यथा प्रकाशः
सर्वत्र विद्यमानोपि प्रकाशयान्नप्रथते तथाऽयमपीति । एतदुभयमपि मतं निरसितुमाह ज्ञोऽत
एवेति अयं जीवो ज्ञातृरूपोऽपि नतु ज्ञानमात्ररूपः कुतः ? अत एव श्रुतिभ्यस्तथा
प्रतिपादनादेव यो वेदेदं जिघ्राणीत्यादि श्रुतिभिस्तस्य तथा निर्णयात् 'एष द्रष्टा स्पृष्टा

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'ज्ञोऽत एवेति' 'ताभ्य' इसका अनुवर्तन पूर्वसूत्र से
किया जाता है । अतः विद्यदादि के समान उत्पत्ति का अभाव होने से तथा नित्य होने से
इस जीव के उत्पाद के अभाव होने से, अचित् जो पृथिव्यादिक पदार्थ तद्वत् इस जीव को
परिणामित्व भी नहीं है । अतः नित्य होने से सर्वदा एक रस है । इसलिए यह आत्मा सर्वदा
ज्ञ स्वरूप ही है. किन्तु ज्ञानमात्र स्वरूप नहीं है । क्योंकि यह बात उन श्रुतियों से
ही सिद्ध होता है ।

'जो यह समझता है कि मैं सुंघता हूँ वह आत्मा है ।' मन से ही इन कमनीय
पदार्थ को देखता हुआ रमण करता है । 'इन शरीर विगोरे का रमण नहीं करता हुआ'
'सत्यकाम सत्य संकल्पवान् है' इन पूर्वोदाहृत श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि चाहे आत्मा
बद्ध हो अथवा मुक्त हो सर्वदा वह ज्ञाता है. 'ज्ञातृत्व स्वभावक है. नतु केवल ज्ञान लक्षण
है नवा आगन्तुक ज्ञान गुणक है । एवं 'पश्य जीव मृत्यु को नहीं देखता है' 'अरे मैत्रेयी !
विज्ञाता जो जीव है वह किस कारण के द्वारा देखा जा सकता है' । 'यह पुरुष जानता
है' 'यही आत्मा दर्शन क्रिया का कर्त्ता है-श्रोता धाता रसानुभव कर्त्ता मनन करनेवाला
बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा है' 'इसप्रकार इस सर्वतोभावेन द्रष्टा इस आत्मा की ये कलायें' ।

१] इत्यादि श्रुतिभ्यो बद्धमुक्तोभयावस्थात्मनोज्ञातृत्वावगमात् । एवं 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' [छा०७।२६।२] 'विज्ञातात्मरे केन विजानीयात्' [छा.६।५।१५] 'जानात्येवायं पुरुषः एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा' [प्र०४।९] 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाषोडशकला' [प्र०६।५] इत्यादिश्रुतिभ्यः स्पष्टमस्य ज्ञातृत्वमवगम्यते । 'योविज्ञाने तिष्ठन् 'विज्ञानं यज्ञं तनुते इत्यादौ ज्ञानमात्रव्यपदेशस्तु ज्ञानस्य प्रधानगुणत्वात्स्वरूपानुसम्बन्धित्वेन स्वरूपनिरूपकगुणत्वाज्ज्ञानवत्स्वयं प्रकाशकत्वाद्बोपपद्यते ॥२०॥

आत्मनः सर्वगतत्वं निराकरोति—

५ उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् २।३।२१ ५

ताभ्य इत्यनुवर्तते । नायमात्मा सर्वगतः किन्त्वणुरेव । उत्क्रा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र०५।९) इत्यादिश्रुति प्रामाण्याज्ज्ञानाश्रयोऽपि जीवः सिद्धान्ते ज्ञानरूपतयाऽङ्गीकृतोऽत एव स ईश्वरवत् प्रत्यक् पदवाच्यः । यः स्वस्मै स्वयमेव प्रकाशते स प्रत्यक् एवकारेण नित्यविभूतिधर्म-भूत ज्ञानयोव्यावृत्तिः' इत्यादिरूपेण जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्योवतेदचेतिशम् ।२०।

इतः पूर्वं जीवस्योत्पत्तिमत्त्वंनिवारितम्, जीवस्वरूपनिश्चयश्चापि कृत एव । इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट रूपसे अवगत होता हैं कि यह आत्मा ज्ञाता है अर्थात् ज्ञातृत्व ही इसका स्वरूप है । अर्थात् यह जीवन तो आगन्तुक चैतन्य गुणबाला है नवा केवल ज्ञान स्वरूप है, किन्तु सर्वदा ज्ञातृत्व स्वभावक है, यह बात श्रुति प्रमाणादि के द्वारा अवगत होता है यह विशुद्ध वैदिक मत है ।

इस आत्मा जीव में 'जो विज्ञान में रहता हुआ' 'विज्ञान यज्ञ का संपादन करता है' । इत्यादि स्थल में जो ज्ञान मात्र का व्यपदेश है वह भी ज्ञान को आत्मा का प्रधान गुण होने से और ज्ञान आत्मस्वरूप का सम्बन्धी है, तथा आत्म स्वरूप के निरूपक गुण हैं, अथवा आत्मा ज्ञान की तरह स्वयं प्रकाशक है, इसलिए पूर्वोक्त व्यपदेश उपपन्न होता है ।२०।

यदि आत्मा में स्वभाविक ज्ञातृत्व हो तब तो सर्वदा सर्वत्र उपलब्धि होगी ? इस प्रश्न के समाधान करने के लिए प्रथमः आत्मा के परिमाण का विचार करते हैं । क्या यह

सर्वगतस्यविभोः गतिश्चागतिश्च नोपपद्यते । तस्मादात्म-
नोऽणुत्वमेव ॥२१॥

५ स्वात्मना चोत्तरयोः २।३।२२ ५

चोऽवधारणार्थः । देहस्यात्मसकाशादपाकरणरूपाया देहात्म-
वियोगरूपाया उत्क्रान्तित्वस्वीकारे स्यात्कथञ्चिदियमुत्क्रान्तिः ।
अथवा देहस्वामित्वनिवृत्तिरेवोत्क्रान्तिः सा च विभुत्वेऽप्यात्मनः
सम्भवति । उत्तरयोर्गत्यागत्योस्तु न कथञ्चिदपि सम्भवः । स्वात्मना
न व्यापकपरिमाणवान् जीवस्यव्यापकत्वे श्रुतिप्रतिपादितोत्क्रान्त्यादीनामसंभवप्रसङ्गात्-
तस्माज्जीवो न व्यापको नवा मध्यमपरिमाणोपितु परमाणुरन्यत्सर्वसुगममिति संक्षेपः २१

जीवस्य व्यापकत्वे उत्क्रान्त्यादयो न संभवेयुरतोऽणुजीव इति कथितः । परन्तु
यथाचलनादिरहितस्यापि ग्राम्यस्वाम्यनिवृत्त्याग्रामादुत्क्रान्तिर्भवति, तथैव व्यापकत्वेन
सर्वथाचलनविवर्जितस्यापि जीवस्य शरीराभिमाननिवृत्त्यादेहादेहावयवभ्योवोत्क्रान्तिः
संभवतीति चेन्न, तथाप्यनिर्वाहात् । तथाहि चलनवर्जितेऽपि जीवे कदाचिदुत्क्रान्तिः
संभवति किन्तु गत्यागती व्यापकत्वे न संभवति, गमनादिक्रियायाः कर्तृस्थक्रिया-
व्यापक में असंभावित है । इसलिए आत्मा सर्वव्यापक नहीं है किन्तु अणुपरिमाणवान् है ।
यद्यपि गमनागमन मध्यम परिमाणवान् में घट सकता है तथापि यदि मध्यम परिमाण जीव
में मानें तब शरीरादिवत् जीव में अनित्यत्व हो जायगा. इस बात को जैनमत खण्डनावसर
में प्रतिपादन किया गया है । तथा श्रौतार्थ संग्रहादि अन्य प्रबन्ध विवरण में विशेष चर्चा
हुई है अतः वही देखें ॥२१॥

ग्राम्य स्वाम्य निवृत्तिवत् देहस्वाम्य निवृत्त्या चलनवर्जित भी जीव में कदाचित् उत्क्रमण
तो संभावित हो सकता है परन्तु उत्तर जो गमनागमन क्रिया वह व्यापक में सर्वथा असंभ-
वित है. इसलिए जीव व्यापक नहीं है किन्तु अणुपरिमाणक है. इस बात को बतलाते हैं
'स्वात्मनाचेत्यादि' सूत्र घटक च शब्द अवधारणार्थक है, देह से आत्मा का अपाकरण रूप
अर्थात् देहात्म वियोगरूप को उत्क्रमण मानने पर भी कथञ्चित् जीव का उत्क्रमण संभवित
है भी अथवा देह स्वामित्व निवृत्ति ही उत्क्रमण है, यह तो जीव को व्यापक होने पर भी
कदाचित् हो सकता है, परन्तु अग्रिम जो गमनागमन है, वह तो जीव के व्यापकता पक्ष में

सम्बद्धत्वात् । अतस्ते स्वात्मनैव सम्भवतस्तस्मादणुरेवात्मा ॥२२॥

५ नाणुरतच्छ्रुतेरिति

चेन्नेतराधिकात् २।३।२३ ५

‘स वा एष महानज आत्मा’ [बृ०६।४।२५] इतिमहत्त्वश्रुतेर्न जीवोऽणुरिति चेन्न, इतराधिकात् । जीवादितस्य परमेश्वरस्य तत्राधिकात् । ‘यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा’ [बृ०६।४।१३] इति मध्ये परमात्माप्रतिपाद्यते । तस्यैवेदं महत्त्वमुपदिश्यते न जीवात्मनः ॥२३॥

५ स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च २।३।२४ ५

‘एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधासंविवेश’ त्वात् तस्मान्नजीवो व्यापकः किन्तु सर्वाथा सर्वादाऽणुपरिमाणवानेव भवतीति द्योतयितुमाह स्वात्मनेत्यादि । भाष्यग्रन्थस्तु, अतिरोहितार्थकः ॥२२॥

ननु महतापरिकरेण जीवस्याणुत्वं प्रसाधितं परन्तु तन्न युक्तं यतोऽणुत्वविरोधिनो परममहत्त्वपरिमाणान्तरस्य स वा एष महानज इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादनादिति चेन्न- नेदं प्रकरणं जीवस्य किन्तु जीवभिन्नपरमात्मन एव प्रकरणमतो न जीवनिष्ठाणुत्वस्य कथमपि विरोधो भवतीत्यतोऽणुरेव जीव इत्याशयेनाह नाणुरतच्छ्रुते रित्यादि भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थकानि ॥२३॥

किञ्च जीवस्याणुपरिमाणवाचकः शब्दोपि विद्यते एषोणुरात्मेत्यादि तथा मनो-कथंचिदपि संभवित नहीं है, क्योंकि गमनागमन को स्वात्मा के साथ सम्बन्ध होता है, अतः वे दोनों तो स्वात्मा से ही हो सकते हैं तस्मात् जीव व्यापक नहीं है किन्तु अणु है ॥२२॥

‘यह जीवात्मा महान् है महत्त्वपरिमाणवान् है’ इत्यादि श्रुति से जीव में महत्त्व परिमाण का श्रवण होने से जीव अणु नहीं है किन्तु नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार सर्वव्यापक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इतराधिकात्, अर्थात् जीवात्मा से भिन्नजो परमात्मा है उसका वह प्रकरण है । उस प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा महान् है, किन्तु वह प्रकरण जीव का नहीं है, अतः जीव व्यापक नहीं है किन्तु अणु परिमाणवान् ही है ॥२३॥

[मु०३।१।९] स्वस्याणुत्वस्यवाचको योऽणुशब्द आत्मपदसामानाधिकरण्येन निर्दिष्टस्तस्मादुन्मानाच्च सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उद्घृत्यमानमुन्मानमत्यन्तापकृष्टपरिमाणमितियावत्तस्मात् । 'बालाग्रशत भागस्य शतधाकल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' [श्वे०५।९] 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' [श्वे०५।८] इत्याराग्रमात्रोन्मान्नाच्च जीवोऽणुरेव ॥२४॥

नन्वात्मनोऽणुत्वे देहव्यापिसुखाद्यनुभवविरोध इत्याशङ्कां मतान्तरेण परिहरति—

॥ अविरोधश्चन्दनवत् २।३।२५ ॥

यथा चन्दनविन्दुः शरीरैकदेशस्थः शरीरव्यापि सुखञ्जनयति । न्मानाभ्यामपि जीवस्याणुत्वमेव सिद्ध्यति नतु तस्य कथमपि व्यापकपरिमाणवत्वमिति ॥२४॥

ननु यदि जीवः स्वभावतोऽणुस्तदाशरीरैकदेशे एव विद्यते ततश्च सकल देहगतं वेदनादिकं कथमनुभविष्यतीत्याशङ्काया निराकरणायोपक्रमते नन्वात्मनः अणुत्व वाचक साक्षात् शब्द श्रूयमाण है इसलिए जीव अणु है व्यापक नहीं है, इस बात को वतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एषोणुगत्मेत्यादि' यह आत्मा अणु है, अतिशयित सूक्ष्म परिमाणवान् है, अतएव केवल मनोग्राह्य ही है, जिसमें यह प्राणापानादिक संनिविष्ट है' इस तरह अणुत्व का वाचक जो अणु शब्द है जो कि आत्मपद के समानाधिकरण्य रूप से निर्दिश्यमान है उससे, तथा उन्मान से सभी स्थूल परिमाणों से उद्घृत जो मान उसका नाम है उन्मान अर्थात् अत्यन्त अपकृष्ट परिमाण उससे अणुत्व सिद्ध होता है । एवम् 'बाल-केश का जो अग्रभाग उसका जो सौत्रा भाग है, तत्तुल्यपरिमाणक जीव है । एवं 'आराग्रमात्र' इत्यादि स्थल में भी आराग्र सूई के अग्रमात्र के सादृश्य का प्रतिपादन किया है । इसलिए जीव व्यापक नहीं है किन्तु अणुपरिमाण मात्र है ॥२४॥

जीव के अणु पक्ष में प्राप्त दोष को निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं 'नन्वात्मनः' इत्यादि । यदि जीव को अणु मानते हैं तब सम्पूर्ण देह व्याप्त सुखादिक का जो अनुभव होता है, उसका समर्थन किस तरह से होगा । देखने में आता है कि निदाघ समय में

तथाऽणुजीवोऽपि देहव्यापिसुखादिकमनुभवतीत्यविरोधः ॥२५॥

५ अवस्थिति वैशेष्यादिति

चेन्नाभ्युपगमादधृदिहि २।३।२६ ५

ननु चन्दनविन्दोर्देशविशेषेऽवस्थितिर्दृश्यते । आत्मनस्त्वणुत्वेन काप्यवस्थितिर्नोपलभ्यत इति चेन्न जीवस्यापि तदभ्युपगमात् । 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यन्तर्ज्योतिः' [बृ० ६।३।७] 'हृदि ह्ययमात्मा' इत्यादि । यथा शरीरैकदेशसम्बद्धं सुगन्धिद्रव्यं सकलदेहगतमाह्लादं जनयति । यथा-वा गृहकोणेऽवस्थितो दीपः सकलगृहगतमन्धकारं निरस्य सम्पूर्णमपवरकं प्रकाशयति तथैवाणुरपि जीवः शरीरैकदेशे विद्यमानोऽपि सकलदेहगतसुखादिकमनुभवतीति न कोपि विरोध इति ॥२५॥

ननु योत्र चन्दनदृष्टान्तो दर्शितः स न युक्तो यतश्चन्दनस्य शरीरैकदेशवृत्तित्वं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते जीवस्य तु तदेकदेशवृत्तित्वं न प्रत्यक्षदृष्टं न वानुमेयमव्यभिचरितहेतोरभावात् । नापि प्रमाणान्तरम्, तदनुपलब्धेः तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वान्न तेन दृष्टान्तेन तत्सिद्धिरिति चेन्न अत्रापि देहैकदेशवृत्तिमाह्लादादिकं मे निमग्न पुरुष को सकल देहगत सुखाद्यनुभव होता है । इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'अविरोध इत्यादि' जिस तरह श्रीखण्डचन्दन यथावा सुगन्धिद्रव्य शरीर के एक देश में रहता हुआ भी शरीर व्यापि सुखादि को उत्पन्न करता है, उसी तरह शरीर के एक देश में विद्यमान भी जीव त्वचा के सम्बन्ध से सम्पूर्ण शरीरवच्छेदेन सुखाद्यनुभव को उत्पन्न करता है । एतावन्मात्र से जीव को व्यापक मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है । अतः जीव अणु है व्यापक नहीं ॥२५॥

चन्दन विन्दु की शरीरादि के एकदेश में प्रत्यक्ष से अवस्थान देखने में आता है, आत्मा जीव का अणु रूप से अवस्थान तो कहीं भी देखने में नहीं आता है, क्योंकि जीव तो चक्षुरादि गम्य नहीं है, नवा अनुमान प्रमाण से देश विशेष में तदवस्थान उपलब्ध हो सकता है, अव्यभिचरित हेतु नहीं है । प्रमाणान्तर भी नहीं कह सकते हैं तादृश प्रमाणान्तर कोई उपलब्ध नहीं है, अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में अतुल्य है ऐसा कहना ठीक नहीं है

तत्रैकशतं नाडीनाम्' (प्र० ३।६) इत्यल्पपरिमाणे हृदि जीवस्यावस्थित्यभ्युपगमवचनेनाणुत्वमिति ॥२६॥

॥ गुणाद्वाऽलोकवत् २।३।२७ ॥

इदानीं स्वमतमाह 'गुणाद्वेति' । वा शब्देन मतान्तरं व्यवच्छिद्यते । स्वमते तु जीवात्माणुहृत्स्थोऽपि स्वगुणेन ज्ञानेन कृत्स्नं देहं व्याप्यावस्थितः । आलोकवत् । व्यापिप्रभागुणकप्रदीपवत् । यथाल्पोऽपि गृहैकदेशस्थो दीपः प्रभात्मकेन व्यापकेन स्वगुणेन त्वस्य शास्त्रेणावगमात् । श्रूयते हि जीवस्यावस्थानमिति । तस्मात्पूर्वदृष्टान्तेन सिद्धयति जीवस्य हृदयवस्थानमूलकमणुत्वमित्याशयं द्योतयितुमुपक्रमते ननु चन्दनविन्दोरित्यादि । भाष्यार्थोऽनातिरोहितः ॥२६॥

ननु चन्दनविन्दोः सावयवतया अवयवविसर्पणद्वारेण सकलदेहव्याप्त्याल्हादकत्वं संभवेदपि किन्तु जीवस्य त्वणुतया तदवयवाभावेन तद्द्वारादेहव्याप्तसुखाद्युत्पादनं न संभवतीत्याशयेन पूर्वोक्तशंकानिराकरणाय स्वमतं दर्शयितुमाह गुणाद्वेति अत्रत्योवा शब्दोमतान्तरमपाकरोति । मन्मते जीवोणुरपि सर्वत्रव्याप्तधर्मभूतज्ञानगुणेन सुखादिकं जनयति । यथा प्रदीपोवरकमध्यान्तरे एकत्रावस्थितोपि प्रकाशद्वारा गृहमात्रं क्योकि जीव का भी स्थान विशेष उपलब्ध होता है । 'जो यह विज्ञानमय हृदय के अन्तर्गत उद्योतिः स्वरूप है' 'हृदय में यह जीव रहता है, उस हृदय में एक सौ एक मुख्य नाडीयाँ हैं' इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि अल्पपरिमाणक हृदयरूप स्थान में भी जीव का अवस्थान है । इसलिए जीव अणुपरिमाणक है, परन्तु व्यापक परिमाणक नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥२६॥

मतान्तर से समाधान करके अर्थात् जीवाणुत्व पक्षीय शंका का अन्य मत से समाधान करके अब सिद्धान्त मत से समाधान करते हैं 'गुणाद्वेत्यादि' सूत्रघटक वा शब्द मतान्तर का निराकरणपरक है । स्वकीय मतमें तो, यद्यपि जीवात्मा अणु हृदयावस्थित भी है, तथापि स्वकीय गुण जो धर्मभूत ज्ञान है उसके द्वारा सम्पूर्ण देह को व्याप्त करके अवस्थित रहता है । व्यापी प्रभा गुणक प्रदीप के समान यथा गृह के एकदेश में अवस्थित छोटा भी प्रदीप व्यापक प्रभा लक्षण स्वकीय गुण से सम्पूर्ण गृह को प्रकाशित करता है, उसी तरह जीवात्मा भी

कृत्स्नं गृहं प्रकाशयति । तद्वदात्माऽपि ज्ञानेन कृत्स्नं देहं व्याप्य
तद्वेदनादिकं जानाति ॥२७॥

व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति २।३।२८

ननु गुणस्य गुणिव्यतिरिक्तदेशेष्ववस्थानादर्शनाद्विज्ञानं यज्ञं
तनुत इत्यादौ च ज्ञानस्यैवात्मस्वरूपत्वश्रवणात्कथं ज्ञानस्य स्वरूप-
व्यतिरिक्तगुणत्वं कथंवा देशान्तरे व्याप्यावस्थानमित्याशङ्कयामाह
व्याप्नोति । यद्यपि प्रदीपप्रभाप्रविरलतेजो रूपानव्यापिका तस्याः सकलमूर्तसम्बन्धा
भावात् । तथापि स्वल्पापि ज्ञानगुणात्मकत्वेन बृहत्कार्यं करोति तद्वत्प्रकृतेपीति ॥२७॥

ननु यथा घटादिगुणो रूपादिकं घटादिद्रव्यं परित्यज्यान्यत्र गच्छति ।
नच प्रदीपगुणस्तदीया प्रभास्वाश्रयं परित्यज्यान्यत्र गच्छतीति वाच्यं प्रभाया-
गुणत्वानभ्युपगमात् निविडावयवं तेजो द्रव्यं प्रदीपादिकं प्रविरलावयवं तदेव तेजोद्रव्ये
प्रभेति नियमात् । तत्कथं ज्ञानगुणोजीवं परित्यज्यान्यत्रावस्थानं लभेतेत्याशंका
निराकरणायाह ननु गुणस्यगुणिव्यतिरिक्तदेशे इत्यादि । अर्थात् गुणस्यावस्थानं
द्रव्यं परित्याज्यान्यत्र न भवति रूपादौ तथा दर्शनादिति । किञ्च प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यादि
श्रुत्या ज्ञानात्मनोरभेदात्कथं ज्ञानमात्मनो गुण इत्यर्थः । उत्तरयति व्यतिरेकोगन्धव-
दित्यादि नहि सर्वोपि पदार्थः समानस्वभावको भवति, वस्तुनैचिद्रव्यभङ्गप्रसङ्गादिति ।
ज्ञान गुण के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके समस्त शरीरगत वेदनादिक को जानता है,
इसलिए जीवात्मा अणु है, व्यापक नहीं है, इति संक्षेपः ॥२७॥

रूपादिक जो गुण है उसको समवेत द्रव्य व्यतिरिक्त देश में अवस्थान तो देखने
में नहीं आता है । तथा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि स्थल में ज्ञान को ही आत्म स्वरूप से
कथन किया है तब ज्ञान आत्म स्वरूप व्यतिरिक्त गुण किस तरह से हो सकता है, तथा
उस ज्ञान का देशान्तर में अवस्थान हो सकता है ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते
हैं 'व्यतिरेक' इत्यादि । फूल के साजी से दूरस्थ जो पुरुष है, यथावा उपवन के समीपस्थ
जो पुरुष है, उसको देशव्यवधान होने पर भी पुष्पलक्षण पृथिवी के गुण जो गन्ध है
उसका व्यतिरेकेण देशान्तर में उपलब्ध होता है, उसी तरह ज्ञान भी स्वगुणी जो जीव है
उससे व्यतिरेकेण उपलभ्यमान होता है ।

‘व्यतिरेक इत्यादि’ पुष्पपेटिकातो दूरस्थस्यापि पुंसः पुष्पात्मकपृथिवीगुणस्य गन्धस्य व्यतिरेकेण देशान्तर उपलम्भदर्शनाज्ज्ञानस्यापि तद्गुण्यात्मव्यतिरेको निष्पद्यते । नच ‘विज्ञानं यज्ञं तनुत’ (तै०२।५।१) इति श्रुतिविरोधेनोक्तयुक्त्या ज्ञानस्यात्मव्यतिरेको नोपपद्यत इति वाच्यम् । तथा च दर्शयति श्रुतिः । आत्मनो हृदयात्तद्वत्तत्त्वादिगुणो यथा आश्रयव्यतिरेकेण नावस्थितो भवति, तत्र तथा दृष्टत्वात् तद्भवतु गन्धोपि गुण एव तथापि स यथा स्वाश्रयं परित्यज्यान्वत्रावस्थितो भवति, तथैव ज्ञानगुणस्यापि नियमो भविष्यति । नच गन्धोपि स्वाश्रयं परित्यज्य नान्यत्र स्वातन्त्र्येण गच्छति, परन्तु तत्र गन्धद्रव्यस्यैव गमनं भवतीति वाच्यम्, तथा सति पूर्वावस्थितद्रव्यस्य क्षयप्रसङ्गात्, कुसुमादीनां सच्छिद्रत्वापत्तेश्च । तस्मादाश्रयमन्तरेणान्यत्र गच्छन् गन्धो नासिकापुटं प्राप्योपवनप्रान्तवर्तिनामामोदमाघ्रापयतीति यथा तथा आत्मस्थले ज्ञानस्यापि भवतीति न कोपि दोषः । नच विज्ञानं यज्ञं तनुते इत्यादिश्रुत्या युक्त्यादिभिश्च जीवस्य ज्ञानरूपत्वविश्वयात् कथं ज्ञानगुणकत्वमिति वाच्यम्, आलोममात्र आच नखेभ्य इत्यादिजीवस्य ज्ञानगुणे सर्वशरीरव्यापकत्वसिद्धेः ।

[नहीं कहो कि पुष्पादि स्थल में केवल गन्ध द्रव्य को छोड़कर के देशान्तर में नहीं जाता है, क्योंकि गुण में स्वातन्त्र्येण क्रिया का सङ्भाव नहीं माना गया है, किन्तु पुष्प के जो सूक्ष्मावयव हैं तत्सम्बन्ध गन्ध का ही गमन होता है ? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि द्रव्य का गमन हो तब तो पूर्व द्रव्य का क्षय हो जायगा तथा कुसुमादिक में सच्छिद्रत्व भी हो जायगा । तस्मात् मात्र गन्ध स्वद्रव्य को छोड़ करके देशान्तर में उपलब्ध होता है उसी तरह ज्ञान गुण भी द्रव्यव्यतिरेकेण अन्यत्र अवस्थित हो सकता है । यद्यपि पुष्पादि स्थल में जितना अवयव निकल करके जाता है, वहाँ पूर्वस्थान में अदृष्ट के बल से उतना अवयव पुनः सम्बद्ध हो जाता है, इसलिए पूर्व द्रव्य का विनाश अथवा पुष्प में सच्छिद्रत्व नहीं होता है, जिस स्थल में अदृष्ट का सहकार नहीं रहता है वहाँ कर्पूरादिक में विनाश तथा फूलों में सच्छिद्रत्व भी देखने में आता है । कार्य से अदृष्ट रूप कारण का अनुमान किया जाता है । अतः द्रव्य से व्यतिरेकेण गुण का अवस्थान नहीं होता है । तथापि सूत्रकार भाष्यकार ने जो द्रव्यव्यतिरेक से गुणावस्थान का कथन किया है वह श्रुति के बल से किया है जो सर्व प्रमाण सिद्ध बलवती होने से युक्ति युक्त है । विशेष अन्यत्र देखें ।]

यतनत्वमणुपरिमाणत्वञ्चाभिधाय 'आलोमभ्य आनखेभ्य' इतिज्ञान-
गुणेनात्मनः सर्वदेहव्यापित्वं दर्शयतिश्रुतिस्तस्मान्नश्रुतिविरोधः॥२८॥

५ पृथगुपदेशात् २।३।२९ ५

'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ०६।३।३०) इति
विज्ञातुरात्मनोविज्ञातेर्ज्ञानगुणस्य विपरिलोपोविनाशो न विद्यते ।
इतिज्ञातुरात्मानस्तद्गुणभूतस्य ज्ञानस्य पृथक्व्यपदेशात् । किञ्च
'प्रज्ञयाशरीरं समारूढ्य' (कौषी० ३।६) इत्यात्मनः कर्तृत्वेन ज्ञानस्य

नच ज्ञानस्वरूपत्वां जीवस्य द्रव्यगुणयोरेकत्वानुपपत्तेः । यदि तयोस्तथात्वमिष्येत
तदा जानामीति प्रतीतिर्नोपपद्येत, अत्र ज्ञानजीवयोराधाराधेयभावः प्रतीयते स चाभेदे
बाधितः स्यात्, तस्मान्नज्ञानजीवयोरभेदः किन्तु ज्ञानगुणक एव जीवः । ततश्च प्रदीप
प्रभावतुल्यापिज्ञानगुणेनात्मनश्शरीरव्याप्तवेदनाद्यनुभवति, गन्धादिगुणवदाश्रयव्यतिरे
कोपि भवत्येवेति नास्ति कश्चित्कुत्रचिद्विरोधः कस्यापीति संक्षेपः ॥२८॥

यत्तूक्त्वां ज्ञानात्मनोरभेदान्नज्ञानगुणकत्वमात्मनो नवा ज्ञानगुणेनात्मनः शरीर
व्यापितेतितत्परिहर्तुमात्मज्ञानयोः पार्थक्यं नतु तादात्म्यमिति दर्शयितुमाह पृथगुपदेशा-
दिति । अयमर्थः 'नविज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वात्' अत्र विज्ञातुरात्मनो-
विज्ञातेर्ज्ञानस्य विपरिलोपोविनाशो न भवति, अत्र विज्ञातुरित्यस्य षष्ठीविभक्त्या विज्ञा-

नहीं कहो कि 'विक्षानं यज्ञं तनुते' इत्यादि श्रुति विरोध होने से पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञान
को आत्म व्यतिरेक उपपन्न नहीं हो सकता है । इसके उत्तर में कहते हैं 'तथा च दर्शयति'
जीवात्मा को हृदयस्थानावस्थान तथा अणुपरिमाणत्व का कथन करके 'आलोमभ्य' इत्यादि ।
इस तरह ज्ञान गुण से जीवात्मा को सर्वशरीर व्यापित्व को श्रुति बतलाती है । इसलिए श्रुति
विरोध का प्रकृत में समावेश नहीं है । अतः गुण का गुणिदेश व्यतिरिक्त में अवस्थान
असंभवित नहीं है ॥२८॥

ज्ञान तथा आत्मा में युक्ति बल से अमेद सिद्ध होता है तथामूलक अणुत्ववाद में जो
दोष दिया था उसका उद्धार करने के लिए कहते हैं 'पृथगित्यादि' विज्ञाता जो आत्मा उसका
जो विज्ञान उस विज्ञान का विपरिलोप नहीं होता है । इस प्रकार ज्ञाता जो आत्मा उसका
गुणभूत जो विज्ञान उन दोनों में पार्थक्य का उपदेश है । तथा 'प्रज्ञा के द्वारा शरीर पर

करणत्वेन पृथगुपदेशाद्व्यापिज्ञानगुणद्वारास्य जीवस्य शरीरादिव्याप्तिस्वगम्यते ॥२९॥

५ तद्गुणसारत्वात्तु

तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २।३।३० ५

तर्हि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इतिविज्ञानस्वरूप आत्मेत्युपदेशः कथमुपपद्यतामित्यत्राह—'तद्गुणेत्यादि' । तु शब्दः शंकाव्यावर्तकः । आत्मनोविज्ञानगुणसारत्वाद्विज्ञानमिति व्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतगुण इति । प्राज्ञवत् । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९) इतिसर्वज्ञातृत्वेन श्रुतः प्राज्ञोज्ञानगुणसारत्वात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' नस्य भेदः प्रदर्श्यते, अभेदे षष्ठ्या असंभवात् । तत्रोभयोर्भेदप्रतिपादनात् ज्ञानात्मनोर्भेद एव नत्वभेदस्ततश्च व्यापिज्ञानगुणद्वारा आत्मनः सर्वशरीरव्यापित्वं निश्चीयते, इति सर्वथाणुरेवात्मा न व्यापक इति सिद्धम् ॥२९॥

ननु योयस्यासाधारणो गुणः स तेनासाधारणगुणेनव्यवहारभाग् भवति, यथा गन्धासाधारणगुणेन पृथिवी व्यपदिश्यते, यथावा शब्देनाकाशः तथैव ज्ञानस्यात्मा साधारणगुणत्वात्, तेन तस्यापि व्यपदेशोभवति । अतएव यथा परमेश्वरोज्ञानानन्द सत्यादि, स्वकीयासाधारणगुणैर्व्यपदिश्यते, तमिममर्थदर्शयितुं भाष्यकार उपक्रमते आरूढ होकर के' इस तरह आत्मा को कर्ता रूप से और ज्ञान का कारण रूपेण पृथक् निर्देश किया गया है । इसलिए व्यापिज्ञान रूप गुण द्वारा इस जीव को शरीर व्याप्तत्व अवगत होता है । अर्थात् आत्मा तो अणु है किन्तु इसका ज्ञानगुण सर्वतोव्याप्त है इसलिए कोई क्षति नहीं है ॥२९॥

यदि आत्मा विज्ञान स्वरूप नहीं है तब "विज्ञान [जीवात्मा] यज्ञ को विस्तृत करता है, अर्थात् यज्ञ करता है" इत्यादि स्थल में विज्ञान स्वरूप आत्मा है, इस प्रकार का जो उपदेश किया है वह संघटित किस तरह होगा ! इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "तद्गुणसारत्वादित्यादि" [ज्ञानगुणसारक होने से आत्मा का विज्ञान पद से व्यपदेश होता है प्राज्ञ के समान- इति सूत्रार्थः] सूत्र घटक तु शब्द पूर्व पक्ष का निराकरणपरक है । आत्मा

इतिज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते । यथा च 'आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान् न विभेति कुतश्चन' (तै०२।९) 'स एकोब्रह्मण आनन्दम्' इत्यानन्दगुण-
कत्वेन श्रुतस्य प्राज्ञस्यानन्दगुणसारत्वादानन्दादिपदेन आनन्दो
ब्रह्मेतिव्यजानादिति व्यपदेशस्तद्वदिति ॥३०॥

ॐ यावदात्मभावित्वाच्च

न दोषस्तद्दर्शनात् २।३।३१ ॐ

विज्ञानस्य यावदात्मस्वरूपभावित्वेन तत्स्वरूपनिरूपणधर्मत्वा-
त्तर्हि विज्ञानमित्यादि यदि न विज्ञानस्वरूप आत्मा किन्तु विज्ञानगुणकस्तदा विज्ञानपदेन
कथं तस्य निर्देशः विज्ञानं यज्ञं तनुते इत्यादौ कृत इति पूर्वपक्षः । तद्गुणसारत्वादिति
समाधानम् । प्राज्ञवदिति दृष्टान्तः । यथा परमेश्वरस्यासाधारणाः सत्यानन्दविज्ञा-
नादिकाः गुणास्तत्तत्स्थले तेन तेन रूपेण तमेव व्यपदिशति, तथैव प्रकृतेः विज्ञानगुणकस्या-
त्मनोऽसाधारणो गुणो भवन् ज्ञानगुणः स्वशब्देन स्वाधिकरणमपि व्यपदिशति विज्ञानं
यज्ञादिकं संपादयतीति सूत्रस्य भावार्थः ॥३०॥

ननु यदि ज्ञानात्मनोर्भेदस्तथाऽत्मनो ज्ञानगुणसारत्वे, कदाचिद्बुद्ध्यादिवियोगे
के विज्ञान गुणसार होने से विज्ञान पद से व्यपदेश होता है । इस आत्मा का विज्ञान ही
सारभूत अर्थात् असाधारण गुण है प्राज्ञ के समान "जो सर्व विषयक ज्ञानवान् है वह सर्व
वित् है" इत्यादि स्थल में सर्व विज्ञाता रूपसे श्रुत जो प्राज्ञ परमेश्वर है वह ज्ञान गुणसारक
होने से 'सत्यज्ञान अनन्त ब्रह्म हैं' इत्यादि स्थल में ज्ञान शब्द से व्यपदिश्यमान होते हैं ।
यथावा "ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला । कहीं से भयभीत नहीं होता है" 'सो यह ब्रह्म
का एक आनन्द हैं' इस प्रकार आनन्द गुण रूप से श्रुत जो प्राज्ञ है- उनको आनन्द
गुण सारक होनेसे आनन्द पद से "आनन्द रूप ब्रह्म को जाना" इत्यादि स्थल में आनन्द
पद से व्यपदेश होता है, उसी तरह ज्ञानगुण प्रधान होने से "विज्ञानं यज्ञं तनुते"
इत्यादि स्थल में विज्ञानपद से व्यवहार होता है, किन्तु जीव ज्ञानरूप नहीं है, किन्तु
विज्ञाता है ॥३०॥

तच्छब्देनात्मव्यपदेशे न दोषः । खण्डादिषु तथा दर्शनात् । खण्डा-
दयोयावत्स्वरूपभाविगोत्वादिधर्मवत्त्वेन खण्डो गौरिति शब्देन व्य-
पदिश्यन्ते । एवमत्रापि जीवस्यविज्ञानपदेन व्यपदेशः । ज्ञानव-
दात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानव्यपदेशो न दोषायेति चका-
रेण समुच्चयः ॥३१॥

आत्मस्वरूपनिरूपणं कथंभवेदित्यत आह यावदात्मेत्यादि । अयमर्थः लक्षणं द्विविधम्,
स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं च । तत्र तटस्थलक्षणं लक्ष्यकालंव्यभिचरत्यपि यथागन्धगुणः
प्रलये पृथिवीम् । स्वरूपलक्षणं तु न कदाचिदपि धर्मिणं व्यभिचरति यथा पृथिवीत्वं
न परित्यजति कदाचिदपि पृथिवीम्, तदिह ज्ञानगुणः स्वरूपगुणोभवन् कदादिदप्या-
त्मानं नो जहाति, तत्रोक्तं यावदात्मभावित्वात्, यावत्पर्यन्तमात्मा भवति, अर्थात्
यावानात्मकालस्तावत् पर्यन्तं ज्ञानात्मनोर्योगोभवत्येव । इतियावदात्मभाविस्वरूपगुणेन
व्यपदिश्यमानो भवति । यथा खण्डोगौरित्यादौ स्वरूपधर्मत्वेन गोत्वादिना खण्डादि
गवानिरूपणं भवति । किञ्च यथा ज्ञानं स्वप्रकाशात्मकं तथा आत्मापि स्वप्रकाश
इति भवत्येव ज्ञानशब्देनात्मनोव्यपदेश इति न कोपि दोषः प्रसरतीत्यादिकबहुतर-
मन्यत्रविभावनीयमिति संक्षेपः ॥३१॥

आत्मा का आसाधारण गुण जो विज्ञान वह यावत् आत्मभावी है, अर्थात् आत्म
स्वरूप का निरूपक धर्म है इसलिए ज्ञान शब्द से आत्मा का व्यपदेश होने में कोई भी
क्षति नहीं होती है क्योंकि खण्ड मुण्ड गवादिक में ऐसा देखने में आत्मा है । जिस तरह
खण्ड मुण्ड गवादिक व्यक्ति, यावत् गोस्वरूपभावि गोत्वादि धर्मवान् होने से गोत्वधर्माधि-
करण रूप से व्यपदिश्यमान होता है खण्डो गौः मुण्डो गौः इत्यादि शब्दों से व्यपदि-
श्यमान होते हैं । इसी तरह प्रकृत में विज्ञान यावदात्मभावी गुण है इसलिए विज्ञान
पदसे आत्मा का भी कथनादि व्यवहार होता है । सूत्रस्थ च शब्द से यह भी
सूचित होता है कि जिस तरह ज्ञान स्वप्रकाश है उसी तरह आत्मा भी स्वप्रकाश है स्व-
प्रकाशत्व साधर्म्य होने के कारण से विज्ञान पद से आत्मा का भी व्यपदेश होता है
स्थल विशेष में आत्म पद से कचित् विज्ञान पद से भी आत्मा का कथन होता है
यथा जलधारकत्व साधर्म्य से घट कलश पद से घटकलश का बोध होता है ॥३१॥

॥ पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभि- व्यक्तियोगात् २।३।३२ ॥

ननु सुषुप्त्यादिषु ज्ञानस्यानुपलब्धेः कथं यावदात्मभावित्व-
मित्यत आह—‘पुंस्त्वादिवत्त्वस्येत्यादि’ तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति ।
यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिः । एवं सुषुप्त्यादिष्वपि
सत एव ज्ञानस्यानभिव्यक्तस्य जागरितादिष्वभिव्यक्तिसम्भवात्
स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वोपपत्तिरिति न दोषः ॥३२॥

॥ नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्य- तरनियमोवाऽन्यथा २।३।३३ ॥

एवमात्मनो ज्ञातृत्वमणुत्वञ्चाभिधाय पक्षान्तरे दोषं दर्शयति
ननु ज्ञानस्य यावदात्मभावित्वं कथं स्यात् यतः सुषुप्तिप्रलयदशायां तदनुप-
लब्धेः । तदा तस्य परस्मिन् प्रलयात्, समस्तविकारजातस्य लयादित्याशयेन सूत्र
व्याख्यातुमुपक्रमते ननु सुषुप्त्यादिषु इत्यादि । यथा पुरुषे विद्यमानमेवपुंस्त्वादिकं बाला-
वस्थायामनभिव्यक्तं सदेव समये युवादिषु, अभिव्यक्तं भवति देशकालादिसहकारात्
तथैवात्मनि विद्यमानमेव ज्ञानं प्रलयाद्यवस्थायामनभिव्यक्तं जागरितादिकाकेऽभि-
व्यक्तं भवति । यदि आत्मनि न भवेत्, पुरुषे पुरुषत्वं न भवेत्तदाऽपूर्वप्रादुर्भावः कस्मात्
स्यात् । तस्माद् यावदात्मभावित्वं ज्ञानगुणस्य भवत्येवेति ॥३२॥

सुषुप्तिकाल में आत्मा में तो ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है तब आत्मा का यावदात्म
भावी गुण ज्ञान है यह संगत किस तरह से होता है इस शंका के उत्तर में कहते हैं
‘पुंस्त्वादीत्यादि’ सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । जिस तरह बालावस्था
में विद्यमान ही पुंस्त्वादिक युवावस्था में अभिव्यक्त होता है ननु अपूर्व का प्रादुर्भाव होता
है । अन्यथा यदि आकस्मिक हो तब तो नपुंसक में भी पुरुषशक्ति का प्रादुर्भाव होना
चाहिए । इसी तरह सुषुप्ति में विद्यमान अनभिव्यक्त यो ज्ञान है वह जागरित अवस्था में
अभिव्यक्त होता है । इसलिए यावदात्मभावी आत्मा का स्वरूपानुबन्धी धर्म ज्ञान कहलाता है
इसलिए पूर्वोक्त कोई भी दोष नहीं होता है ॥३२॥

‘नित्योपलब्धीत्यादि’ अन्यथा ज्ञानमात्रात्मस्वरूपस्वीकारे सर्वगतत्वपक्षे च उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्द्वयोर्नित्यत्वप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वा स्यात् । तत्र ज्ञानात्मपक्षे ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्वभावत्वात्प्रकाशपर्यायाय । अनुपलब्धेर्वक्तुमयोग्यत्वाज्ज्ञानमेवानुपलब्धेरपि हेतुरिति चेत्तर्हि ज्ञानस्य सर्वदाविद्यमानत्वात् सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः । अथ विरुद्धकार्ययोर्युगपज्जननायोगाज्ज्ञानोपलब्ध्योऽन्यतरहेतुः स्थाप्यते तदाऽन्यतरनियमः स्यात् । एवमात्मनः सर्वगतत्वपक्षे यथा ज्ञानात्मवादिनस्तथैव हेतुजन्यज्ञानवादिनोऽपि समानोदोषः । तथाहि

आत्माज्ञाताऽणुश्चेति प्रतिपाद्य ज्ञानमात्रात्मपक्षे आत्मनो जड़स्य सर्वगतत्वादपक्षे च दूषणं दातुमुपक्रमते एवमात्मनो ज्ञातृत्वमित्यादि स्वमते आत्माज्ञाता भवति नतु ज्ञानमात्रस्वरूपः । तथा आत्माणुपरिमाणको नतु शरीरपरिमाणोऽव्यापकपरिमाणोवेति

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा में ज्ञातृत्व तथा अणुत्व को व्यवस्थित करके शून्यदीय पक्षमें अर्थात् ज्ञानमात्र स्वरूप तथा व्यापक पक्ष में दोष बतलाते हैं ‘नित्योपलब्धीत्यादि’ अन्यथा आत्मा को ज्ञानमात्र स्वरूपकत्वमान होने से तथा व्यापक मानने के पक्ष में उपलब्धि अनुपलब्धि; इन दोनों में नित्यत्व प्रसङ्ग होगा, अन्यतर नियम होगा । उसमें जो आत्मा को ज्ञानरूप मानते हैं मायावादी तथा सांख्यवादिक- उनके मत में ज्ञान को स्वप्रकाश स्वभावक होने से प्रकाश के पर्यायवाची अनुपलब्धि का कथन को अयोग्य होने से ज्ञान को ही अनुपलब्धि का भी कारण कहना पड़ेगा, तब तो ज्ञान को सर्वदा विद्यमान होने से सर्वदा उपलब्धि तथा अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा । यदि ऐसा कहो कि विरुद्ध दो पदार्थ का एक काल में तो उत्पत्ति नहीं हो सकती है, तब तो इन दोनों के अन्यतर कारण को व्यवस्थित करने पर अन्यतर का नियम होगा । इसी तरह जो आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं उनके मतमें भी दोष है । जिस तरह ज्ञानात्मवादी को दोष होता है उसी तरह कारणजन्य ज्ञानवादी के मतमें भी समान ही दोष होगा । तथाहि सब आत्मा के सर्वगत होने से सभी आत्मा का सबके साथ संयोग रहेगा, तब तदुपलब्धि में नित्यत्व प्रसङ्ग होगा, सर्वगत को सर्वदा विद्यमान रहने से, तदनुपलब्धि अनुपपन्न है । सर्वगतत्व को ही यदि अनुपलब्धि में भी हेतु मानें तो सर्वगतत्व को सर्वदा विद्यमान रहने से सर्वदा अनुपलब्धि होगा, इसप्रकार सर्वदा उपलब्धि अनुपलब्धि का प्रसङ्ग हो जायगा । अथ यदि कहोकि एक काल में विरुद्ध

सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वे सर्वस्याप्यात्मनः सर्वसंयोगात्तदुपलब्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः । सर्वगतस्य विद्यमानत्वे तदनुपलब्धेरनुपपत्तेः । सर्वगतत्वमेवानुपलब्धेरपि हेतुरिति चेत्सर्वगतत्वस्य सर्वदावर्तमानत्वात्सर्वदानुपलब्धिप्रसङ्गात्सर्वदोषलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः । अथ युगपद्विरुद्धकार्यजननायोगात्सर्वगतोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरन्यतरहेतुस्थापनेऽन्यतरनियमस्यादित्युभयपक्षेऽपि समान एवोक्तदोषप्रसङ्गः ।

कर्णायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वेन सर्वैः कर्णैः सर्वदा संयुक्तत्वात्सर्वदा तदुपलब्ध्यनुपलब्ध्यादिप्रसंगः समानः । अदृष्टात्मकहेतोरपि सर्वसाधारणत्वादुक्तदोषः समानः । अस्माकन्तु स्वकीयहृत्पुण्डरीकेऽवस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्वकीयं मतं प्रदर्श्य यश्च ज्ञानाभिन्नं जडं वा सर्वव्यापकमनुते तन्मतं निरसितुमाह नित्येत्यादि सूत्रम् । अन्यथेति आत्मनोव्यापकत्वमते तस्यैवञ्च ज्ञानमात्र स्वरूपत्वमते च युगपदेव उपलब्ध्यनुपलब्धीभवेताम्, अथवा अन्यतरनियमः स्यात्, नियमत उपलब्धिदो कार्य का उत्पाद तो होगा नहीं तब सर्वगत उपलब्धि का तथा अनुपलब्धि का अन्यतर कारण का स्थापन करने से अन्यतर नियम होगा । इसप्रकार दोनों पक्ष में समान ही दोष प्रसङ्ग होता है ।

चक्षुरादि कारण के अधीन उपलब्धि को भी सभी आत्मा के सर्वगत होने से सर्वकारण के साथ सर्वदा संयुक्त रहने से सर्वदा उपलब्धि अनुपलब्धि का प्रसङ्ग समान ही हैं । यदि कदाचित् शुभाशुभ कर्मरूप अदृष्ट को कारण मानें तब भी तो अदृष्ट रूप जो कारण है उसको सर्वगत सब आत्मा के साथ सर्वदा सम्बन्ध रहने से उपलब्धि अनुपलब्धि दोष समान रूप से होता है । इसलिए आत्मा न तो ज्ञान मात्र रूप है नवा सर्वव्यापक है किन्तु अणुपरिमाणक है परिमित प्रदेश में सर्वदा अवस्थित रहता है । इसी बात को भाष्यकार बतलाते हैं 'अस्माकं तु' इत्यादि मेरे मत में तो स्वकीय हृदयकमल में आत्मा का सर्वदा अवस्थान रहने से नियमतः हृदय में ही उपलब्धि तथा अनुपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं होती है, एतादृश व्यवस्था की सिद्धि होने से किसी भी प्रकार का दोष नहीं होता है । इसलिए आत्मा ज्ञाता तथा अणुरूप है किन्तु व्यापक अथवा सर्वथा ज्ञानरूप नहीं है । इसका विशेष विवरण

स्था सिद्धेर्नोक्तदोषप्रसङ्गः ॥३३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये ज्ञाधिकरणम् ॥६॥

अथ कर्त्तृधिकरणम् ॥७॥

५ कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् २।३।३४ ५

आत्मनो ज्ञातृत्ववत्कर्तृत्वमप्यस्ति नवेति संशये नास्तीति पूर्वः पक्षः । कुतः ? 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतोनायं हन्ति न हन्यते' (का०२।१९) इत्यादिभिर्गा-
त्मनो हननक्रियाकर्तृत्वं प्रतिषिध्य 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते' (गी०३।२७) 'नान्यं रेव वा स्यादनुपलब्धिरेव वा भवेत् । इत्यादिकं दूषणजालं यथायथमनुसन्धेयं विशेष-
स्त्वन्यत्रेति दिक् ॥३३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ज्ञाधिकरणम् ॥६॥

आत्मनोज्ञातृत्वम्, अणुपरिमाणवत्त्वं च व्यवस्थापितम् । तदन्तरमयमात्मा स्वाभाविककर्तृत्वाश्रयः परोपाधिजनितकर्तृत्वधर्माश्रितोवेति विचार्यते यथा स्फटिकस्य स्वाभाविकी स्वच्छता, आरुण्यं च जपाकुसुमाद्युपाधिकृतम् । इति संशयः । तत्र सोपाधिकमेव कर्तृत्वम् न जायते न म्रियते इत्यादिना प्रकृतिजनितजननादिकं निषिध्य स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक अन्य भेदे प्रवृत्तौ से जानें ॥३३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे ज्ञाधिकरणम् ॥६॥

आत्मा में केवल ज्ञान रूपत्व तथा सर्वव्यापकत्व का निराकरण करके ज्ञातृत्व तथा अणु परिमाणवत्त्व को व्यवस्थित किया गया । इसके बाद आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है स्फटिक के स्वच्छता के समान । अथवा परोपाधिप्रयुक्त कर्तृत्व है जपाकुसुम संपर्कजनित अरुण के समान प्रधान संपर्क जनित कर्तृत्व है. इस बातका विचार करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'आत्मनो ज्ञातृत्ववदित्यादि' आत्मा में जिस तरह ज्ञातृत्व तथा अणुत्व है उसी तरह आत्मा में कर्तृत्व धर्म है अथवा नहीं है, अर्थात् आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व है, अथवा गुण सम्बन्धकृत परोपाधिक कर्तृत्व है ऐसा संशय होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष

गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति' (गी०१४।१९) इतिप्रकृति गुणानामेवकर्तृत्वप्रतिपादनात् । तस्मात्स्वगुणद्वारा प्रकृतेरेव कर्तृत्वं नात्मनः । इतिप्राप्तेऽभिधीयते-कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति । आत्मैव कर्ता न गुणाः । अचेतनानां गुणानां कर्तृत्वासम्भवात् । कुतः आत्मैव कर्ता ? शास्त्रार्थवत्त्वात् । 'यजेत' 'जुहोति' 'उपासीत' इत्येवमादीनां स्वर्गमोक्षादिकलसाधनेषु प्रवर्तकानां शास्त्राणामर्थवत्त्वात् । शास्त्रस्य तत्तत्प्राप्त्युपायज्ञानजननद्वारा तत्तदनुष्ठाने प्रवर्तकत्वं तत्तु चेतनस्य जीवस्यैव तत्तदुपायज्ञानं तदनुष्ठानञ्च सम्भवति नत्वचेतनस्य प्रधानस्य । अतस्तत्तत्फलभोक्तुश्चेतनस्यैव तत्तत्प्राप्ति उभौ तौ न विजानीतो इत्यादिना हननादिकर्तृत्वस्य प्रतिषेधं कृत्वा जीवस्याकर्तृत्वमेव प्रतिपादितम् । जीवो न कर्ता किन्तु प्रधानं कर्तुं, तत्सम्बन्धादेवायं कर्तेति पूर्वपक्षः तत्रोत्तरं जीवः कर्ता अन्यथा स्वर्गकामो यजेत इत्यादिकर्तृत्वप्रतिपादकशास्त्राणामर्थ-होता है कि आत्मा में कर्तृत्व नहीं है ? क्योंकि 'हनन करनेवाला यदि समझता है कि मैं मारता हूँ' और मरनेवाला यदि समझता है कि मैं मारा गया हूँ ये दोनों नहीं समझते हैं वस्तुतः न मारनेवाला है नवा कोई मरता है' इत्यादि श्रुति से आत्मा में हनन क्रिया के कर्तृत्व का निराकरण करके [यहाँ क्रियामात्र के प्रति कर्तृत्व का निराकरण किया है. हनन क्रिया उपलक्षण है अतः सर्वक्रिया कर्तृत्व का प्रतिषेध किया गया है ।] 'प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से क्रियमाण सभी कर्म को अहंकार विमूढ आत्मा अपने को कर्ता समझता है जब द्रष्टा गुण से भिन्न कर्ता को नहीं जानता है' इत्यादि शास्त्र से प्रकृति के गुण को ही कर्ता रूप से प्रतिपादन किया है । अतः सत्त्वादि गुण द्वारा प्रकृति में ही कर्तृत्व है आत्मा में कर्तृत्व नहीं है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' आत्मा ही कर्ता है किन्तु सत्त्वादिक गुण समुदाय कर्ता नहीं है क्योंकि गुण समुदाय जो है वह अचेतन है तो उसमें चेतन साध्य कर्तृत्व असंभवित है उपादान विषयक अपरोक्षज्ञान चिकीर्षा कृत्तिमत्त्व रूप कर्तृत्व का अचेतन में बाध है । गुण कर्तृत्व नहीं है । आत्मा ही क्यों कर्ता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं आत्मा को कर्ता मानने से 'जुहोति यजेत' इत्यादि शास्त्र अर्थवान् प्रयोजवान् होता है । 'स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'आत्मानमुपासीत'

साधनकर्तृत्वेन तदुपदेष्टृणां शास्त्राणामर्थवत्त्वम् । तस्माच्चेतनो जीव एव कर्त्ता नत्वचेतनं प्रधानम् ।

यत्तु—हन्ताचेन्मन्यते हन्तुमित्यादिभिरकर्तृत्वमेवात्मनोऽभिहितम् । तच्चात्मनो नित्यतयोपपद्यते । प्रकृतेः क्रियमाणानीत्यादिकन्तु सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम् । न स्वरूपप्रयुक्तमतस्तदेवास्य जन्ममरणहेतुर्भवतीत्यभिहितं तत्रैव 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गी० १३।२१) अतोविवेकीगुणसंसर्गकृतकर्मस्वाशक्तिं विहाय तत्राहंबुद्धिपरित्यागपूर्वकं तत्तत्कर्म कुर्वन्नपि तज्जन्यपुण्यपापाभ्यां न लिप्यत इत्याह 'तत्त्ववित्तु महाबाहो वत्वं न स्यात् । कृतिमत्त्वरूपकर्तृत्वस्याचेतने प्रधानेऽसंभवेन चेतने आत्मन्येव तत्संभवात् । शास्त्रं च ज्ञापकं भवति, चेतन एव हिताहितं ज्ञात्वा तत्तत् क्रियासु प्रवर्तते, नहि अचेतनो ज्ञात्वा कमप्युपादत्ते जहाति च । तस्मात् चेतनो जीव एव स्वभावतः कर्त्ता नतु इत्यादिक स्वर्गमोक्षादि फल के प्रति साधनीभूत जो याग हवन उपासन लक्षण साधन में प्रवर्तक शास्त्रों का अर्थवत्त्व होता है । यतः तत्तत् फल के प्रति उपाय के ज्ञानोत्पादन द्वारा तत्तत् क्रिया के अनुष्ठान में पुरुष को प्रवर्तक होने से सफलता होती है एतादृश प्रवर्तकत्व चेतन जीव में ही तत्तत् उपायज्ञान तथा तत्तत् क्रिया का अनुष्ठान के द्वारा हो सकता है । किन्तु अचेतन प्रधान में नहीं हो सकता है । अतः तत्तत् फल के भोक्ता चेतन जीव में ही तत्तत्फलसाधन कर्तृत्वेन तदुपदेष्टाशास्त्र में अर्थवत्त्व है इसलिए चेतन जो जीव कर्त्ता है किन्तु अचेतन प्रधान में कर्तृत्व नहीं है । इससे यहाँ सिद्ध होता है कि जीव में ही कर्तृत्व है ।

“हन्ता चेन्मन्यते” इत्यादि प्रकरण से जो आत्मा को अकर्त्ता कहा गया है, वह तो आत्मा के नित्य होने के कारण से अर्थात् आत्मा नित्य है इसलिए वह इनन क्रिया का कर्म नहीं होता है, इस अभिप्राय से और “प्रकृतेः क्रियमाणानि” इत्यादिक जो वचन है वह सांसारिक प्रवृत्तियों में जो जीव का कर्तृत्व है, वह सत्त्वादि गुण के सम्बन्ध प्रयुक्त है किन्तु स्वरूप प्रयुक्त नहीं है । सत्त्वादि गुणकृत जो कर्तृत्व है वही जीव के जन्म मरणादिक में कारण होता है, ऐसा कहा है उसी में 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इस प्रकरण में । अतः विवेकवान् पुरुष गुण संसर्गकृत कर्म में आसवित को छोड़ करके उनमें अहंकार परित्यागपूर्वक तत्तत् इष्टानिष्ट कर्म को करता हुआ भी तादृश क्रिया जनित पुण्यपापसे छि

गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।
यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' (गी०) तस्माज्जीवः
कर्तैव । तथा च श्रुतिः 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धाकर्त्ता विज्ञा-
नात्मा पुरुषः' (प्र०४।९) इति स्पष्टमेव कर्तृत्वमभिधत्ते ॥३४॥

५ उपादानाद्विहारोपदेशाच्च २।३।३५ ५

इत्श्चात्मन एव कर्तृत्वम् । 'तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन
विज्ञानमादाय' (बृ०४।१।१७) 'एवमेवैष एतान् गृहीत्वा' (बृ०४।१
१८) इत्यात्मनो ग्रहणशक्त्युपादानत्वश्रवणादकर्तृरुपादानायोगा-
अन्योपाधिप्रयुक्तकर्तृत्वाश्रयः । गीतावचनं जीवस्य नित्यतामभिलक्ष्योक्तम्, इत्यादिकं
सर्वं मनसि निधायोपक्रमते आत्मनो ज्ञातृत्ववदित्यादि ॥३४॥

उपादानविहारयोः शास्त्रेश्रवणात् जीवस्य कर्तृत्वं सिद्ध्यतीत्येतद्दर्शयति उपादा-
नेत्यादि । स्वेशरीरे इत्यादिश्रुतौ विहारोपदेशादात्मनः कर्तृत्वमिति भावः । तदाहुर्भाष्य-
काराः प्रकृतश्रुति व्याख्याने 'यथाकामं परिवर्त्यते इत्यादिना जीवस्य कर्तृत्वसमर्थनात् ।
बुद्धिनिष्ठं स्वाभाविककर्तृत्वं जीवेऽध्यस्यते इति कियन्तोमिथ्यावादिनः परस्ताः ।
बुद्धेः करणतया लोकेप्रसिद्धत्वात्कर्तृत्वस्य सर्वथैवासंभवात् । यदिकदाचिद्बुद्धौ कर्तृशक्तिः
स्वीक्रियते तदासर्पार्थसम्पादकमन्यत्करणं कल्पितं स्यात् समर्थस्यापि कर्तृलोकैकरण-
मादायैव प्रवृत्तिदर्शनात् । एवं च संज्ञामात्रे विवादः पर्यवस्येत न त्वर्थभेदः स्यात् ।
नहीं होता है । इस बात को कहा है गीता में 'तत्त्ववित्तुमहाबाहो ?' इत्यादि से । इसलिए जीव
स्वभावतः कर्त्ता है- प्रधान में कर्तृत्वमूलक कर्तृत्व जीव में नहीं है । अर्थात् जीवमें स्वाभाविक
कर्तृत्व ज्ञातृत्वादि है किन्तु अन्योपाधिक कर्तृत्व नहीं है, अन्यथा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि
वाक्य व्यर्थ हो जायगा । श्रुति भी जीव को कर्त्तारूप से प्रतिपादन करती हैं 'यह जीव
द्रष्टा है श्रोता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष है इस प्रकार स्पष्ट रूप से कर्तृत्व का
प्रतिपादन किया गया है ॥३४॥

इस वक्ष्यमाण विहारोपादान से भी आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व सिद्ध होता है ।
इन प्राणों का विज्ञान से विज्ञान को लेकर' के इसप्रकार यह जीव इन सबको ग्रहण करके
इस तरह आत्मा को ग्रहण शक्ति तथा उपादानत्व का श्रवण है और जो कर्त्ता नहीं होता

तास्यकर्तृत्वमेव । तथा तत्रैव 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते । (बृ. ४।१।८) इतिविहारोपदेशाच्चात्मनः कर्तृत्वम् ॥३५॥

५ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश- विपर्ययः २।३।३६ ५

इतश्चजीवस्यैव कर्तृत्वम् । 'विज्ञानंयज्ञंतनुते कर्माणि तनु तेऽपि च' (तै० २।५।१) इतिलौकिकवैदिकक्रियायां विज्ञानशब्द वाच्यस्यात्मनः कर्तृत्वव्यपदेशाज्जीवः कर्ता । विज्ञानशब्देन बुद्धेर्व्यपदेश इति चेन्न निर्देशविपर्ययः स्यात् । विज्ञानमितिकर्तृत्वेन तस्माद्वरं लोकवेदसमर्थितमात्मन एव कर्तृत्वं नतु बुद्धेस्तस्याः करणरूपेणैव चारितार्थ्य-संभवात्' इत्यादिकम् ॥३५॥

जीव एव कर्ता नतु प्रधानम्, शास्त्रे लौकिकवैदिकप्रक्रियायां जीवस्यैवकर्तृत्वेन व्यपदेशात् विज्ञानं यज्ञं तनुते इत्यादौ विज्ञानमित्यत्र प्रथमाविभक्त्या जीवस्य कर्तृत्व कथनात् । नतु विज्ञायते अनेनेति व्युत्पत्त्या विज्ञानपदेन कारणीभूतबुद्धेरेव ग्रहणमिति-चेत्, तथा सति करणबोधकतृतीयाविभक्तेर्निर्देशमकरिष्यत्, नो कृतम्, तस्मा-है उसमें उपादानता का संभव नहीं होने से आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होता है । एवं उसी प्रकरण में 'अपने शरीर में यथाकाम=स्वेच्छया विपरिवर्तित होता है' इस प्रकार विहार का उपदेश होने से आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होता है ॥३५॥

वक्ष्यमाण कारण से भी जीव में ही कर्तृत्व सिद्ध होता है । "विज्ञानपदवाच्य जीव यज्ञ क्रिया को करता है तथा अनेक प्रकार कर्म को भी करता है" इत्यादि लौकिक वैदिक क्रिया में विज्ञानपद वाच्य आत्मा में कर्तृत्व का व्यपदेश होने से जीव ही कर्ता है यह सिद्ध होता है । नहीं कहो कि 'विज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से विज्ञान पद से बुद्धि का ही ग्रहण होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि तब तो निर्देश का विपर्यय होना चाहिए अर्थात् 'विज्ञानं' ऐसा प्रथमा विभक्ति के बदले तृतीया विभक्ति का निर्देश होना चाहिए । कर्तृ प्रत्यय स्थल में कर्ता का बोध होता है तृतीया विभक्ति करण का बोधक है । तो यदि यहाँ करण रूप विज्ञान का ग्रहण हो तब तृतीया विभक्ति होनी चाहिए । परन्तु ऐसा

व्यपदेशो न स्यात् स्याच्च विज्ञानेनेति करणत्वेन । तस्याश्च
करणत्वात् ॥३६॥

॥ उपलब्धिवदनियमः २।३।३७ ॥

प्रधानस्य तत्कार्यस्य वा कर्तृत्वे तस्य सर्वपुरुषसाधारणत्वा-
दात्मनश्च सर्वगतत्वेन सर्वत्र सन्निधानाच्च सर्गाणि कर्माणि प्रधा-
नादिकृतानि सर्वेषां भोगाय स्युरिति पूर्वोक्तोपलब्धिवदनि-
यमः स्यात् ॥३७॥

॥ शक्तिविपर्ययात् २।३।३८ ॥

इतश्चात्मन एव कर्तृत्वम् । प्रकृतिकार्यभूताया बुद्धेः कर्तृत्वे
द्विज्ञानपदेनात्मनो ग्रहणं तस्यैव च सर्वक्रियायां कर्तृत्वंचेत्यावेदयितुमाह व्यपदेशाच्चे-
त्यादि । भाष्यग्रन्थो न तिरोहितार्थकः ॥३६॥

यदि आत्माजीवः क्रियायाः कर्त्ता न भवेत्, तदन्यस्य तत्त्वे प्रधानस्य तत्कार्यस्य
वा तथात्वमेष्टव्यम् । ततश्च प्रधानस्य सर्वपुरुषसाधारणत्वादात्मनश्च सर्वव्यापकत्वेन
सर्वत्रावस्थानात् सर्वाधिक्रिया, उपलब्धिवत् सर्वपुरुषसंपाद्यास्यात् । नियमोनस्यात्तस्मा
जीवस्यैव कर्तृत्वमेष्टव्यं नतु तदन्यस्य प्रधानस्य तद्गुणस्य वेति मनसि निधायाह
उपलब्धिवदनियम इति ॥३७॥

ननु प्रकृतिजन्या बुद्धिरेवकर्त्री भवतु तावता का क्षतिरित्यत आह शक्ति विपर्ययादिति
अयमाशयः यदि बुद्धेः कर्तृत्वं स्यात्, तदाकर्तुरन्यत् किमपि करणमन्वेष्टव्यम्, करणरहित
तो नहीं है । इसलिए विज्ञान पद से कर्त्ता जीव का ही ग्रहण होता है । तस्मात् जीव
ही कर्त्ता है यह सिद्ध हुआ ॥३६॥

प्रधान को अथवा प्रधान का जो कार्य है उसको अगर कर्त्तामाने तो प्रधान के
सर्व पुरुष साधारण होने से तथा पुरुष तो सर्व व्यापक है तो सर्वत्र सामीप्य होने से प्रधान
कृत सर्ग कर्म का फलोपभोग सबको समान रूप से हो जायगा पूर्वोक्त उपलब्धि के
समान अनियम हो जायगा 'जो जिस कार्य को करता है उसका फलोपभोग वही करता
है' इस नियम का विघात हो जायगा तस्मात् जीव कर्त्ता है तदन्य नहीं है ॥३७॥

कर्तुरेव भोक्तृत्वमिति नियमाद्भोक्तृत्वमपि तस्या एव स्यात् ।
ततश्चात्मनो भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययो हानिः स्यात् तथा सत्यात्मा
भ्युपगमो निष्प्रमाणकः स्यात् । स्याच्च 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्'
(सां०का०२७) इति स्वोक्तिविरोधः ॥३८॥

॥ समाध्यभावाच्च २।३।३९ ॥

इतोऽप्यात्मनः कर्तृत्वम् । मोक्षोपायतया स्वदर्शनाभिमत
समाधावपि बुद्धेरेव कर्तृत्वं विज्ञानस्य कर्तृत्ववादिना स्वीकार्यम् । समा
धिश्च प्रकृतितत्कार्यतो भिन्नोऽहमित्यनुसन्धानरूपः । तथा भूतमनु
कर्तुः कार्याकारणस्य दृष्टत्वात् । तथा यः कर्त्ता स एव भोक्ता भवति इति नियमेन
बुद्धेरेव भोक्तृत्वमिति नियमेन पुरुषकल्पनं सर्वथैव विफलं ततश्च महताडं वरेण पुरुषसिद्धि
कृतेति स्वाभ्युपगमो निरर्थक एव स्यादित्याशयेनाह इतश्चात्मन एव कर्तृत्वमित्यादि ।
अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥३८॥

अहं बुद्धिरूप समाधश्चेतनगतस्याचेतनेऽसंभवात्, बुद्धः कर्तृत्वे समाधिरपि तस्या
एव स्वीक्रीयते परन्तु तदसंभवान्न प्रधानस्य तत्कार्यस्य वा कर्तृत्वं किन्तु चेतनस्यैव,

इस वक्ष्यमाण शक्ति विपर्यय हेतु से भी सिद्ध होता है कि आत्मा में ही कर्तृत्व है ।
यदि प्रकृति का कार्य लक्षण बुद्धि को कर्त्ता मानेंगे तब 'कर्त्ता ही भोक्ता है' एतादृश
नियम होने से बुद्धि में ही भोक्तृत्व भी होगा । तब आत्मा में जो भोक्तृत्व शक्ति है उसका
विपर्यय अर्थात् विनाश हो जायगा । इस स्थिति में भोक्ता रूप से जो आत्मा का स्वीकार
किया गया है वह अप्रामाणिक हो जायगा । एवं पुरुषोस्तिभोक्तृभावात्' एतादृश जो सांख्य
सिद्धान्त है उसका विच्छेद भी हो जायगा । तस्मात् जीव ही कर्त्ता है किन्तु प्रकृति कार्य
बुद्धि में कर्तृत्व नहीं है । और सभी दार्शनिक कर्त्ता को नित्य मानते हैं बुद्धि तो जन्य है
तब उसमें कर्तृत्व नहीं हो सकता है ॥३८॥

इस वक्ष्यमाण समाध्यभाव हेतु से भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा ही कर्त्ता है
प्रधानादिक कर्त्ता नहीं है । समाध्यभाव का ही उपपादन करते हैं 'मोक्षोपायतयेत्यादि'
अशेषवन्धन निवृत्ति पूर्वक निरतिशयानन्द लक्षण मोक्ष के कारण स्व स्वदर्शनाभिमत समाधि
में बुद्धि को ही कर्त्ता विज्ञान के कर्त्तावादी लोग मानेंगे । प्रकृति तथा प्रकृति कार्य भिन्न

सन्धानं नहिप्रकृतितत्कार्यात्मना कर्त्राशङ्क्यमनुष्ठानम्, तस्मात् प्रकृत्यादितोभिन्न आत्मैव कर्त्ता ॥३९॥

॥ यथा च तक्षोभयथा २।३।४० ॥

आत्मनः कर्तृत्वे करणकलेवरादिसम्पन्नोऽपि स यदेच्छति तदा करोति । अन्यदा नकरोतीत्येवंरूपा व्यवस्था स्वीयेच्छायां सत्यामसत्याञ्च सम्भवत्येव । यथा वाश्यादिसाधनसन्निधानेऽपि तक्षा स्वकीयेच्छामनुसृत्यकरोति नकरोति च । अचेतनात्मिकाया बुद्धेस्तु कृतिचैतन्यभोगादीनां सामानाधिकरण्यनियमादित्यादिकं सर्वं दर्शयतुमाह इतोऽप्यात्मनः कर्तृत्वमित्यादि । समाध्यभावमेवोपपादयति मोक्षोपायतयेत्यादि सुगममन्यदिति ॥३९॥

यथा चेतनस्तक्षा यदा कार्यकर्तुमिच्छति तदावास्यादिकरणसहितः स्वाभिलषितं कार्यं करोति, यदातु कार्यं कर्तुनेच्छति तदावास्यादिकरणं विहाय स्वस्थोनिवृत्तः सुखीभवति । एवमेव चेतनः कर्त्ता आत्मा यदा यादृशं कार्यं कर्तुमिच्छति तदनुकूलकरणान्युपादाय तत् तत्कार्यं करोति, यदातु नेच्छति कार्यं कर्तुं तदा कार्यानुकूलकरणजातं विहाय कार्यं न करोति । यदिचेतनस्य कर्तृत्वं तदैव स स्वेच्छानुसारेण करोति नवा करोति, यद्यत्रा चेतनस्य प्रधानस्य कर्तृत्वं स्यात् तदा तस्याऽचेतनतया, इच्छाया अभावात् स्वकीयेच्छानुसारेण करिष्यति नवा करिष्यतीत्यादिलोकप्रसिद्धव्यवस्था न सिद्ध्येत् । तस्मादचेतनस्य प्रधानस्य तत्कार्यस्य न कर्तृत्वं किन्तु चेतनस्य सत आत्मनः कर्तृत्वं सिद्ध्यतीत्याशयेनाह यथा च तक्षोभयथेति ।

अहं इत्याकारक अनुसंधान रूप ही समाधि है । एतादृश अनुसंधान का संपादन प्रधान अथवा प्रधान का जो कार्य है एतादृश समाधि का अनुष्ठान नहीं कर सकेगा अचेतन होने से । तस्मात् प्रधान तथा तत्कार्य से भिन्न जो आत्मा वही कर सकता है अतः आत्मा ही कर्त्ता है न तो प्रधान कर्त्ता है नवा प्रधान का कार्य बुद्ध्यादिक कर्त्ता है ॥३९॥

चेतन जो आत्मा वही कर्त्ता है किन्तु अचेतन प्रधान अथवा तत्कार्य बुद्ध्यादिक में कर्तृत्व नहीं है इस बात को स्थिर करने के लिए पुनः उपक्रम करते हैं 'आत्मनः कर्तृत्वे' इत्यादि । आत्मा को जब कर्त्ता मानते हैं तो वह चेतन करण कलेवर (शरीरेन्द्रिय) युक्त होता हुआ जब जिस विषयक इच्छा करता है उस समय में उस कार्य को करता है और जब

भोगादीच्छाया अभावान्नस्याद्व्यवस्था । अतश्चात्मन एव कर्तृत्वं
न प्रकृतेस्तत्कार्यस्यवेति सिद्धम् ॥४०॥

इति श्रीआनन्दभाष्येकर्त्रधिकरणम् ॥७॥

अथ परायत्ताधिकरणम् ॥८॥

ॐ परात्तु तच्छ्रुतेः २।३।४१ ॐ

एवं गतेन ग्रन्थेनात्मनो ज्ञातृत्व कर्तृत्वञ्चाभिहितम् । इदानीं
तदेव कर्तृत्वमधिकृत्य किञ्चिद्विचार्यते । किमिदं जीवस्य कर्तृत्वं

आत्मनः स्वाभाविकं कर्तृत्वं परोपाधिनिमित्तकमिति संशयः । तत्र स्वाभाविकमेवेति
पूर्वपक्षः शास्त्रार्थवत्त्वात्, अन्यथा तेषां वैयर्थ्यमिति । परोपाधिनिमित्तकमित्युत्तरम्, कर्तृ-
त्वस्य दुःखरूपतया तद्विनाशाभावेन मोक्षो न स्यादिति । परन्तु नैतत् शोभनः आत्मनः
कर्तृत्वाभावे मोक्षप्रतिवादकशास्त्राणां वैयर्थ्यात्, इत्यादिकदूषणस्य सद्भावादिति ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे कर्त्रधिकरणम् ॥७॥

एतावता प्रबन्धेन जीवस्य ज्ञातृत्वमणुपरिमाणवत्त्वं तस्य कर्तृत्वमपि व्यवस्थापितम् ।
यदिदं शुभाशुभकर्मसु प्रवर्तकमिदमीयं कर्तृत्वं तदस्य स्वाधीनं पराधीनं वेति, उभयथापि
जिसकी इच्छा नहीं करता है तब उस कार्य को नहीं करता है । इस तरह की व्यवस्था
स्वकीय इच्छा के भावाभाव में होती है । जिस तरह वास्यादि—वसूला विगेरे साधन के
संनिधान में भी तक्षा—वडही स्वकीय इच्छा के अनुसार कार्य करता है । अथवा नहीं भी
करता है । यदि अचेतन प्रधान अथवा प्रधान का कार्य जो बुद्धि उसको कर्त्ता मानें तब
ता बुद्धि में भोगादि विषयक इच्छा के अभाव होने से पूर्वोक्त लोक प्रसिद्ध व्यवस्था सिद्ध
नहीं होगी । इसलिए चेतन आत्मा में ही कर्तृत्व है नतु प्रकृति में अथवा तत्कार्य में कर्तृत्व
है यह सिद्ध हुआ ॥४०॥

इसि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे कर्त्रधिकरणम् ॥७॥

इस तरह पूर्वग्रन्थ से आत्मा में ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया । अब
उसी कर्तृत्व विषय को अधिकृत करके कुछ विचार किया जाता है । क्या जो यह

जीवायत्तं स्वतन्त्रमेवाहोस्वित्परमात्मायत्तमिति संशयः । किं युक्तम् ? स्वातन्त्र्येण जीवायत्तमेव । कुतः ? योहि स्वबुद्ध्याशुभमशुभं वा कर्म करोति स एव तत्फलमश्नुते । परमात्मायत्तकर्तृत्वे तु तत्फलभोक्तृत्वमपि परमात्मन एव स्यान्नतु जीवस्य । 'फलं प्रयोक्तरीति' न्यायात् । परमात्मायत्तकर्तृत्वे विधिनिषेधशास्त्राणां वैयर्थ्यमप्यनिवार्यं स्यात् । तस्माज्जीवस्यैव कर्तृत्वम् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते-परात्तुतच्छ्रुतेरिति । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तत्कर्तृत्वं जीवस्य परात्-जीवान्तर्यामिणः परमात्मन एव दर्शनात् क्वचित् कोपि स्वेच्छयेव प्रवर्तते क्वचित्कोपि परेच्छया यतमानोद्दश्यते । तदिह तस्य स्वाधीनं पराधीनमिति संशयः । तदेतत्कर्तृत्वं स्वाधीनमेव तत्र परमेश्वरप्रवर्तकत्वेऽति प्रसङ्गात् । नहि रागद्वेषरहितः परः शुभाशुभकर्मसु प्रवर्तयितुमर्हति, येन कर्मापेक्षया जगतो वैचित्र्यमुपपद्येत । स च सर्वथा स्वतन्त्रः करुणासागरः शुभे एव जीवान् प्रवर्तयेत् ततश्च तत्प्रेरिताः शुभमेव कुर्युः सुखिन एव भवेयुर्नतु दुःखभाजो भवेयुः । यदा तु स्वतन्त्रस्तदा रागद्वेषप्रेरितो धर्माधर्मसहकृतो वैचित्र्यमनुभवति । तथा विधिनिषेधशास्त्रमपि सफलं भवति, पराधीनत्वे तेषां वैयर्थ्यमेव भवेत्, एष एव साधुकर्म कारयतीति श्रुतिः परमेश्वरस्य प्रशंसाबोधिका नतु परमात्माधीनत्वं जीवस्य दर्शयति । तस्मात् जीवस्य कर्तृत्वं स्वाधीनमेव नतु परमेश्वराधीनमिति सर्वं मनसिनिधायसूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते एवं गतेन ग्रन्थेनेत्यादि । यदिदं जीवस्यकर्तृत्वं न तत्स्वतन्त्रं किन्तु परमात्माधीनमेव श्रुत्यनुशासनात् । अन्तः प्रविष्टः एष एव साधु इत्यादि । यद्यपि परमात्माधीनकर्तृत्वेऽभिप्रेयमाणे परमेश्वरे वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिरापतति तथापि पूर्वपूर्वजन्मकृतकर्मापेक्षं जीव में कर्तृत्वं है वह जीव के अधीन है अर्थात् उस कर्तृत्वं में जीव स्वतन्त्र है अथवा जीवनिष्ठ कर्तृत्वं परमात्मायत्त=अर्थात् परमात्मा के अधीन है ? ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि पूर्वोक्त कर्तृत्वं के प्रति जीव स्वतन्त्र है । क्योंकि जो व्यक्ति स्वकीय बुद्धि के अनुसार इष्ट अथवा अनिष्ट कर्म करता है, वही तादृश कर्म का शुभ अथवा अशुभ फलको प्राप्त करता है । यदि जीव निष्ठ कर्तृत्वं परमात्मा के अधीन हो तब तो तादृश कर्म का फलभोक्तृत्व परमेश्वर में ही होगा जीव में फलभोक्तृत्व नहीं होगा "शास्त्रविहित कर्म का फल अनुष्ठान कर्त्ता पुरुष को ही प्राप्त होता

भवति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । तस्य जीवकर्तृत्वस्य परमात्मायत्तात्वश्रुतेः
 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा' (तै०आ०३।११।१०) 'य
 आत्मानमन्तरोयमयति' (बृ०३।७।२२) 'एष ह्येवैनं साधुकर्मकारयति
 तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो
 ननुत्सते' (कौषी.३।९) इति । तस्माज्जीवकर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमेव ॥४१॥

५ कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रति-

षिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४२ ५

अथैवं जीवकर्तृत्वस्य परमात्मन आयत्तत्वे तस्य नैषम्यनैर्घृण्ये
 या जीवराशिं धर्माधर्मप्रयोजककर्माणि प्रेरयन् न द्वेषपक्षपाताभ्यां विषमः निर्वृणोवा
 भवति । नच कर्मसमुदाय आदिमान्, अनादित्वात्संसारप्रवाहस्य । नच परमेश्वरा-
 धीनस्य विधिनिषेधाभ्यामलमिति वाच्यम्, नहि स्वतन्त्रपरमेश्वरस्तान् प्रवर्तयति
 किन्तु तदीयकर्मानुरोधेन रागादिदोषोपहारेणैवेति 'विकारञ्चरामो दयाब्धिस्तथात्वे
 दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति । प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्य
 कर्म' इत्यादिरूपेण जगद्गुरु श्रीश्रुतानन्दानन्दाचार्योक्तेरितिदिक् ॥४१॥

ननु यदि जीवगतकर्तृत्वं परमात्मन एवाधीनं तदा शुभाशुभे जीवं प्रवर्तयन्
 परमेश्वरोनैषम्यनैर्घृण्यदोषाभ्यां संयुज्येतेति चेन्न परमेश्वरस्यादृष्टापेक्षत्वात् । अर्थात्
 है' ऐसा नियम मीमांसा को अनुमत है । एवं जीव निष्ठ कर्तृत्व परमात्मा के अधीन हो
 तब 'स्वर्गकामोयजेत' इत्यादि विधि शास्त्र तथा 'न कमञ्जंभक्षयेत्' इत्यादि निषेध शास्त्र भी
 निरर्थक हो जायगा । इसलिए कर्तृत्व जीवाधीन है, परमात्मा के अधीन नहीं है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "परात्तुच्छुरिति" इस सूत्र घटक जो तु शब्द
 है वह पूर्वपक्ष के व्यावृत्ति=अर्थात् निराकरणपरक है । जीव में जो कर्तृत्व है वह जीव के
 अन्तर्यामि परमात्मा के अधीन है । क्योंकि श्रुति इसी प्रकार से कहती है, वह जीव निष्ठ
 कर्तृत्व में परमात्माधीनत्वश्रुत है । यही परमात्मा उस व्यक्ति के द्वारा शुभ कर्म करवाते हैं
 जिसको वह ऊपर ले जाना चाहते हैं और उस पुरुष से अशुभ कर्म करवाते हैं जिसको
 अधोलोक लेजाना चाहते हैं' इसलिए जीवनिष्ठ कर्तृत्व परमात्माके अधीन है' यह सिद्ध हुआ ४१।

स्यातां जीवस्य तु विधिप्रतिषेधयोर्वैयर्थ्यमित्यत आह 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इत्यादि। तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः। जीवेन स्वबुद्ध्याकृतं शुभाशुभं प्रयत्नमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तादृशीमेव जीवप्रयत्नानुगुणां स्वकीयामनुमतिं प्रदाय तथा जीवं प्रवर्तयति। सर्वेष्वपि शुभाऽशुभकर्मसु परमपुरुषानुमतिमन्तरेणास्य जीवस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। कुतः? विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः। 'यजेत' 'उपासीत' 'न हन्तव्य' इत्येवमादीनां विहितप्रतिसिद्धवाक्यानामवैयर्थ्यादिभ्यः। तथा च तत्तत्कर्मसु जीवः परमात्मसहाय एव प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा विदधाति। तेन च स्वयमेव विधिप्रतिषेधयोग्यो भवति न परमात्मा। जीवकृतप्रयत्नानुगुणप्रवर्तने फलप्रदाने च न परमात्मनोऽपि वैषम्यनैर्घृण्ये इति। उक्तञ्च स्वयमेव भगवता—'तेषां सततयुक्तानां भजतां जैवीयादृष्टमनुसरन् परेशोजीवं शुभाशुभे प्रवर्तयन् ताभ्यां न संयुज्यते। तदीयादृष्टं पश्यन् परेशः तं तदनुगुणकर्मणि प्रेरयति, शुभमशुभं तु स्वयमेव करोतीत्यतस्तत्फलं स यदि जीव का कर्तृत्वं परमात्मा के अधीन है तब तो परमात्मा में वैषम्य नैर्घृण्य दोष होगा। तथा त्रिविशास्त्र और निषेवशास्त्र भी निरर्थक हो जायगा? इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इत्यादि। सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष के निराकरणपरक है। जीवसे स्वबुद्धि द्वारा कृत जो शुभाशुभ कर्म के तद्रूप प्रयत्न की अपेक्षा करके अन्तर्यामी परमात्मा जीव प्रयत्न के अनुकूल स्वकीय अनुमति देकर के उस प्रकार से जीव को प्रवृत्त कराते हैं। सभी शुभाशुभ कर्मों में परमपुरुष के अनुमति के बिना इस जीवको स्वतंत्र रूपसे प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि 'विहित प्रति' इत्यादि।

'यजेत' 'उपासीत' 'न हन्तव्यः' इत्यादि जो विहित प्रतिषिद्ध वाक्य हैं उनका अवैयर्थ्य होने से। ऐसा हुआ तब परमात्मा के सहायता से जीव तत्तत् कर्ममें प्रवृत्ति वा निवृत्ति करता है। इसलिए स्वयमेव विधि प्रतिषेध का योग्य होता है परमात्मा नहीं। और जीव प्रयत्न के अनुकूल प्रवृत्ति तथा फलप्रदान करने से परमात्मा में वैषम्य नैर्घृण्य नहीं होता है। गीता में स्वयमेव भगवान् ने कहा है 'प्रेमपूर्वक भजन करने वाले उन सतत युक्त पुरुषों को उस बुद्धि योग को देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त कर जाते हैं' और मेरे साथ द्वेष करनेवाले, उन नराधम को मैं बारंवार आसुरी योनियों में फेंकता हूँ ॥

प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी० १०।१०) 'तानहं द्विषतः क्रूरां संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्य-जलमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' [गी० १६।१९] इति । यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्मम कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सदबुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति । यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्धकर्माण्याचरति तच्च तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीतिभावः । तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि नवा विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निखद्यम् ॥४२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये परायत्ताधिकरणम् ॥८॥

अथाशाधिकरणम् ॥९॥

५ अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके २।३।४ ३ ५

परमात्मानुमोदितस्यैव जीवस्य कर्तृत्वं न स्वत इति निरूपि-
एव भुङ्क्ते, परमेश्वरस्तु केवलमनुमतिप्रदातेति न कोपि दोष एतत्सर्वं बोधयितुमाह
अथैवं जीवकर्तृत्वस्येत्यादि भाष्याशयोक्तिरोहितः ॥४२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे परायत्ताधिकरणम् ॥८॥

जो परम भक्त परमपुरुष का आराधन करता हुआ स्वयं ममत्व रहित होकर के कर्मों का अनुष्ठान करता है उसको तत्तत् कर्म में अभिरुचि को उत्पन्न कराते हुए सदबुद्धि प्रदान द्वारा परमात्मा कर्म में प्रेरित करते हैं । जो स्वयं अभिमानवान् होकर के हिंसादि रूप निषिद्ध कर्मका आचरण करता है उसको तादृश निषिद्ध कर्म में ही प्रेम उत्पन्न कराते हुए उसी कर्म में प्रवृत्त कराते हैं । इस तरह परमात्मा में किसी प्रकार का दोष नहीं होता है । नवा विहित प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य होता है ॥४२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे परायत्ताधिकरणम् ॥८॥

तम् । अथावशिष्टं जीवस्वरूपं विचार्यते । यद्यपीदमारम्भणसूत्रे चिन्तितम् । तथापि श्रुतीनां वैविध्यद्विप्रतिपत्तेर्भूयस्संशयमुद्भाव्य प्रागुपदिष्टब्रह्मानन्यत्वसिद्धय एव जीवस्य तदंशत्वं प्रतिपादयति । तत्राऽयं जीवो ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न उत्तरोपहितं ब्रह्मैवाहोस्विद्ब्रह्मांश एवेति संशयः । किं युक्तम् ? अत्यन्तभिन्न इति । कथमवगम्यते ? 'पृथगात्मानं प्रेस्तारञ्च मत्वा' (श्वे.१।६) 'तगोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य- नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (श्वे०४।६) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजाबीशानीशौ' (श्वे०१।९) इत्यादिषु भेदस्यैव ध्वणात् । अथवा तत्त्वमस्यादिश्रुति विरोधेनात्यन्तभेदानुपपत्तेरुपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मैवाल्पदेशवृत्तित्वेनांशः

जीवात्मनियतकर्तृत्वं तत् न स्वतोऽपितु परमात्माधीनमेव तदिति पूर्वसूत्रे विचारितम् तत्राक्षिप्तादोषा अपि समाहिताः । इदानीमवशिष्टजीवस्वरूपमेव विचारयितु

अंशाधिकरणीय सूत्रों का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं 'परमात्मानुमोदि- तस्येत्यादि' जीवमें जो विविध क्रिया वर्तुत्व है वह परमात्मानुमोदित ही है, अर्थात् परमात्मा के अधीन वर्तुत्व जीवमें है किन्तु स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है. इस बात का विचारगत अधिकरण में किया गया है । इसके अनन्तर अवशिष्ट जीवस्वरूप का विचार किया जाता है । यद्यपि इसका विचार आरंभणाधिकरण में किया गया है, तथापि श्रुति के अनेक प्रकारक होने से विप्रतिपत्ति होती है, अतः पुनः उस विषय पर संशय को उद्भावित करके पूर्व प्रदर्शित ब्रह्म के साथ जीवमें अनन्यत्व अभेद सिद्धि के लिए जीवमें ब्रह्मांशत्व का प्रतिपादन करते हैं । तो क्या यह जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है, अथवा अविद्योपहित ब्रह्म ही जीव है, अथवा ब्रह्म का अंश=अवयव जीव है, ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या मानना ठीक है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है गवाश्व के समान । इस बात को किस तरह जानते हैं ? उत्तर स्व से भिन्न प्रेरयिता आत्मा को जान करके 'उन दोनों के मध्य में एक तो स्वकृत कर्मफल का उपभोग करता है, और तद्विन्न बिना उपभोग किये हुए ही प्रकाशित होते हैं' ज्ञ अज्ञः ये दोनों अज हैं जो कि जीव परमेश्वर हैं' इत्यादि, श्रुतियों में जीव तथा परमेश्वर में भेद का ही प्रतिपादन किया गया है ।

अथवा 'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रुति से विरोध होने से आत्यन्तिक भेद के अनुपपन्न होने से अविद्यादि लक्षण उपाधि से युक्त ब्रह्म ही अल्पदेश वृत्ति होने से अंश है, और प्राणधारण

प्राणधारणत्वेन च जीव इति व्यापदिश्यते । परमार्थतस्तु न ब्रह्मणोऽतिरिक्तो जीवः ।

इत्येवम्प्राप्तेऽभिधीयते—‘अंशो नानाव्यापदेशादिति । अयं जीवो ब्रह्मांश एव । कुतः ? नानात्वव्यपदेशादेकत्वव्यपदेशाच्च । ‘नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्’ [इवे० ६।१३] ‘य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्’ [बृ० ३।७।२२] ‘पतिं विश्वस्यात्मेऽश्वरम्’ इत्येवमादिश्रुतिभिर्जीवेश्वरयोरुभयोर्नित्यत्वेन जीवकामविधातृत्वेन तयोः शरीरशरीरित्वेनोपास्योपासकत्वेन नियम्यनियन्तृत्वेन भृत्यस्वामित्वेन सृज्यस्रष्टृत्वेन रक्ष्यरक्षकत्वेन च जीव परमात्मनोर्नानात्वेन व्यपदेशात् । तत्त्वमस्यादिभिश्चैकत्वेन व्यपदेशे मुपक्रमः क्रियते । तत्र गवाश्चवज्जीवपरात्मनोऽत्यन्तं भेदोऽथवा, विगलितबन्धनः सर्वकरने से जीव है । ऐसा व्यवहार मात्र होता है । परमार्थ रूप से देखें तो ब्रह्म से अतिरिक्त जीव नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ‘अंशोनानाव्यपदेशादिति’ ।

यह जीव ब्रह्म का अंश है । क्यों ! शास्त्र में “ज्ञाज्ञौ” इत्यादि स्थल में नानात्व का व्यपदेश है तथा ‘तत्त्वमस्यादि’ श्रुति में एकत्व का भी व्यपदेश है । ‘जो नित्यत्वेन अभिमत वस्तुओं में नित्य है, चेतनों में भी चेतन है, एक हो करके भी अनेक व्यक्तियों के अनेकों काम को संपादन करते हैं ‘जो आत्मा में रहता हुआ जिसका आत्मा शरीर है’ ‘जो सबका पति आत्मा ईश्वर है’ इत्यादि श्रुतियों से जीव परमेश्वर इन दोनों में नित्यत्व होने से जीव कामविधातृत्व तथा जीव परमेश्वर में शरीर शरीरीभाव उपास्य उपासकभाव नियम्यत्व नियन्तृत्व भृत्य स्वामित्व सृज्य स्रष्टृत्व रक्ष्य रक्षकत्व रूपसे जीव परमात्मा में नानात्व अर्थात् भेद से रूप व्यपदेश होता है । और ‘तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि’ इत्यादि श्रुतियों से जीव परमात्मा में अभेद का भी प्रतिपादन होता है । अपहृत पाप्मा अविद्या विरोधी निरवय निरञ्जन मायावीश सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वदा ज्ञानैकरस जो परमात्मा उनमें उपाधि के सम्बन्ध से जीवभाव सर्वथा अनुपपन्न है, अर्थात् परमात्मा उपाधिबल से जीव कभी भी नहीं हो सकता है ।

एवम् एक कोई अथर्वण शाखा बाले कहते हैं ‘ब्रह्मदासा’ इत्यादि इस दासकितवादि का कथन करते हैं । इस तरह ब्रह्मको सर्वव्यापिता का कथन से सबके साथ ब्रह्म का अभेद ज्ञापित किया गया है ‘सर्व पदार्थ को प्राप्त किये हैं इसलिए आप सर्वस्वरूप हों’ इसप्रकार

शात् अपहतपाप्मनोऽविद्याप्रत्यनीकस्य निखद्यनिरञ्जनस्य मायाधी-
 शस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वदैकरसज्ञानस्योपाधिसम्बन्धकृतजीवत्वानुप-
 पत्तेः। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके। एके शाखिन आथर्वणि-
 कास्तथाऽमनन्ति 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' [ब्रह्मसूक्तम्]
 इति ब्रह्मणो दाशकितवादित्वाध्ययनेन तस्य सर्वजीवव्यापित्वेन
 सर्वाऽभेदं ज्ञापयन्ति। 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' [गी०११]
 इति च सर्वव्यापकत्वेन ब्रह्मणः सर्वाभेदत्वस्मरणात्। न च 'एकोहं
 बहुस्याम' इत्येकस्यैव ब्रह्मणो बहुभवनत्वश्रुतेर्ब्रह्मण एव जीवभावाऽव-
 थाऽभिन्न एव, अथवा ब्रह्मणोऽशभूतोवेति, श्रुतिवादिविप्रतिपत्तेर्विशयोभवति। तत्रानेक
 सर्व व्यापक रूपसे सर्वपदार्थ के साथ अभेद का कथन किया गया है। नहीं कहो कि
 'मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ' इस तरह एक ही ब्रह्मको ही जीवभाव का अवगम होने से
 सर्वथा जीव ब्रह्म में अभेद होने से जीवमें ब्रह्मांशत्व का व्यपदेश किसतरह होगा ? ऐसा
 कहना ठीक नहीं है क्योंकि केवल ब्रह्मको बहुभवन संकल्प पूर्वक यदि संसार का कारणता
 को मानें तब तो ब्रह्ममें विकारित्व सुखदुःख भोक्तृत्वादि दोष की आपत्ति हो जायगी और
 सर्ग क्रम भी व्यर्थ हो जायगा। अतः चिदचित् शरीरक ब्रह्म ही जगत् का कारण है, तथा सति
 विकारित्वादिक जो दोष है वह अचिदंश में ही पर्यवसान होता है, और सुखदुःख भोक्तृत्वा-
 दिक चिदंश में ही पर्यवसित होने से ब्रह्ममें निर्दोषत्व सिद्ध होता है। नवा सर्गक्रम ही
 व्यर्थ होता है, क्योंकि जीवका भोगमोक्ष प्रयोजनकतया सर्ग सार्थक होता है। तस्मात् जीव
 ब्रह्ममें स्वरूप तथा स्वभाव से भेद होने से नानात्व का व्यवहार होता है, और व्याप्य
 व्यापक रूपसे जीव ब्रह्ममें अपार्थक्य=अभेद होने से अव्यतिरेक होने से अनानात्व अर्थात्
 अभेद व्यपदेश होता है, इस तरह दोनों प्रकारक व्यपदेश के सिद्धयर्थ ब्रह्मका अंश यह
 जीव है, यह कथन उपपन्नतर होता है। अर्थात् जीव ब्रह्ममें न सर्वथा भेद है नवा सर्वदा
 अभेद ही है किन्तु अंशांशी भाव है, जीव अंश प्रकार है और ब्रह्म अंशी अर्थात् प्रकारी हैं।

अथ यदि जीव ब्रह्मके नित्य होने से भेद का समर्थन करते हैं तब तो एक विज्ञान
 से जो सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा है उसका बाध होना, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर भी ब्रह्मभिन्न
 नित्य जीव का ज्ञान तो नहीं होगा जैसे घट ज्ञान होने से पट ज्ञान नहीं होता है उसी
 तरह ब्रह्म से अतिरिक्त जीव नित्य है।

गमात्सर्वथा तयोरभेदेन जीवस्य ब्रह्मांशत्वव्यपदेश इति वाच्यम् ।
 केवलब्रह्मणो बहुभवनसंकल्पपूर्वकजगत्कारणत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणि विका-
 स्त्विमुखदुःखभोक्तृत्वादिदोषाणामापत्तेः । सृष्टेर्वैयर्थ्यापत्तेश्च ।
 तस्माच्चिदचिद्वस्तुशरीरकस्यैव ब्रह्मणोजगत्कारणत्वम् । तथा सति विका-
 स्त्वादिदोषाणामचिदंशे पर्यवसानात्सुखदुःखभोक्तृत्वादीनाञ्च चिदंशे
 जीवेपर्यवसानाद्ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्धेः । नवा सृष्टेर्वैयर्थ्यम् । जीव
 भुक्तिमुक्त्यर्थकत्वेन सार्थक्यात् । तस्माज्जीवब्रह्मणोः स्वरूपतः स्व-
 भावतश्च भेदान्नानात्वव्यपदेशस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वेन जीवस्य-
 ब्रह्मणोऽपार्थक्यात्तदव्यतिरेकादनानात्वव्यपदेश इत्युभयविधव्यप-
 देशोपपत्तये ब्रह्मांशोऽयं जीव इत्युपपन्नतरम् ।

श्रुतिवलेन तयोरत्यन्तं भेद एव अन्यथा श्रुतीनां लोकप्रसिद्धीनां बाधप्रसङ्गात् । तथा
 इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'इति चेदुच्यते' इति । पूर्वोक्त एक विज्ञान से सर्व
 विज्ञान का बाध नहीं होता है । क्योंकि आकाशादिक पदार्थ जिस तरह ब्रह्म का कार्य है
 उसी तरह जीव को भी ब्रह्मकार्यत्व माना गया है । और कार्यकारण में अनन्यत्व होता है ।
 तब कारण लक्षण ब्रह्म का ज्ञान होने से ब्रह्मकार्य जीव का भी ज्ञान हो जाता है, इसलिए
 एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता है । नहीं कहो कि तब तो
 आकाशादिक की तरह जीवमें भी कार्यत्व होगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस
 तरह आकाशादि पदार्थ की उत्पत्ति श्रुत है, उस तरह जीव की उत्पत्ति श्रुत नहीं है ।
 प्रश्न=यदि जीवोत्पत्ति श्रुत नहीं है तब जीव को ब्रह्मकार्य किस तरह मानते हैं, इस जिज्ञासा
 के उत्तर में कहते हैं 'कार्यत्वन्तु' इत्यादि । यद्यपि जीवोत्पत्ति श्रुत नहीं है, तथापि अनेक
 प्रमाण के अनुरोध से जीवमें कार्यत्व माना जाता है । जीव की उत्पत्ति श्रुत नहीं है और
 जीवमें कार्यत्व अभिमत है, यह दोनों बात तो विरुद्ध प्रायः मालूम पड़ता है, इसलिए की
 दृश कार्यत्व है जो विरुद्ध न हो उसका स्पष्टीकरण करते हैं 'तच्चावस्थाविशिष्टस्येत्यादि' यहाँ
 कार्यत्व उत्पत्तिमत्त्व रूप नहीं है किन्तु एक अवस्था विशिष्ट द्रव्य का जो अवस्थान्तर की
 प्राप्ति है उसको कार्य कहते हैं, जीवमें भी अवस्थान्तरावृत्ति लक्षण परिणाम को स्वीकार
 करने से कार्यत्व होता है, अर्थात् जिस तरह कुण्डलावस्थ सुवर्ण का कटक रूपसे अवस्था-
 न्तर मात्र होता है नतु सुवर्ण का उत्पाद होता है उसी तरह पूर्ववस्थ जीव अवस्थान्तर को

अथैवं जीवपर्योर्नित्यत्वेन नानात्वे समर्थिते सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा हीयेत । ब्रह्मातिरिक्तस्य जीवस्यापि नित्यत्वात् । इति चेदुच्यते । न तावदुक्तप्रतिज्ञाहानिः । जीवस्यापिकार्यत्वाभ्युपगमात् । कार्यकारणयोरनन्यत्वात् । तथा च कारणस्वरूपब्रह्मज्ञानेन कार्यभूतस्याखिलस्य ज्ञानमुपपद्यते । न च तर्हि जीवस्याप्याकाशादिवदेवोत्पत्तिमत्वमप्यस्त्विति वाच्यम् वियदादिवदुत्पत्तेश्रवणात् । कार्यत्वन्तु बहुप्रमाणानुरोधाज्जीवस्याप्यक्षुण्णम् । तच्चावस्थाविशिष्टस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव । जीवस्यापि तथाऽवस्थान्तरापत्तिलक्षणपरिणामाभ्युपगमात्कार्यत्वम् । तत्राकाशाद्यचेतनानां यथा स्वरूपपरिणामोऽभ्युपेयते न तथा जीवात्मनः स्वरूपपरिणामः । किन्तु ज्ञानसंकोचविकाशरूपोऽन्यथाभाव एव । एवञ्च स्वरूपाऽन्यथाभावरूपोत्पत्तिर्जीवे निषिद्ध्यते । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० २। १८) इत्यादिश्रुतिभिः ।

तत्त्वमस्यादिश्रुतिबलेन वादिविप्रतिपत्त्या च सर्वथा तयोरभेद एव । इमावुभावपिपक्षौ प्राप्त करता है, केवल पूर्वाकार का विनाश तथा उत्तराकार का उत्पाद होता है । इसीका नाम है कार्यत्व नतु नवीनोत्पाद रूप कार्यत्व अभिमत है । अर्थात् अवस्थान्तर से परिणाम रूप कार्यत्व जीव में अभिमत है नतु घटादिवत् उत्पाद अभिमत है । जगद्गुरु श्रीद्वारानन्दाचार्य जी ने स्वनिबन्ध परिणामविमर्श में 'स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतोबुधैः ॥ ब्रह्मणस्तु विकारोयन्न स्वरूप स्वभावयोः' इत्यादि रूपसे जीवात्मा में केवल स्वभाव मात्र की अवस्थान्तरापत्ति का निरूपण किया है अतः यथोक्त ही शास्त्र संमत है ।

'तत्राकाशाद्यचेतनेत्यादि' जिस तरह आकाशादि अचेतन पदार्थ का स्वरूप परिणाम माना जाता है उस तरह जीवात्मा का स्वरूप परिणाम नहीं होता है किन्तु ज्ञान का संकोचविकास रूप अन्यथाभाव मात्र होता है, अर्थात् परिणाम दो प्रकार का होता है, स्वरूप परिणाम प्रथम धर्म परिणाम द्वितीय है, उसमें आकाशादि अचेतन पदार्थों का स्वरूप परिणाम होता है, जिसको अन्यतन्त्र वाले उत्पत्ति कहते हैं । और जिस स्थल में धर्मों तो जैसा का

अयमभिप्रायः । श्रुतयस्तावत्प्रकृतिजीवेश्वराणां भोग्यभोक्तृ-
नियन्तृरूपान् पृथक् स्वभावानभिधाय स्वरूपान्यथाभावलक्षणां
भोग्योत्पत्तिं भोक्तरि जीवात्मनि नित्यत्वव्यवस्थापनेन निराकृत्य
भोग्यवर्तिस्वरूपपरिणामस्य भोक्तृगतज्ञानसंकोचविकाशरूपपरिणा-
मस्य च नियन्तरि परमात्मनि प्रतिषिध्य तस्य स्वाभाविकसर्वज्ञत्वं
सर्वशक्तिमत्त्वं निरवद्यत्वं नित्यत्वञ्च प्रतिपाद्य सर्वदाचिदचितोर्ब्रह्मश-
रीरत्वं ब्रह्मणश्चात्मतया तदन्तर्यामित्वमभिदधते । तथा च सर्वदा
चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव कारणावस्थं कार्यावस्थञ्चेति
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. ३।१४।१) इत्यादिभिः प्रतिपादितम् ।
तदेव ब्रह्माविभक्तनामरूपसूक्ष्मचिदचिच्छरीरं तत्प्रकारं कारणाव-
स्थं प्रलये तिष्ठति । सृष्टिकाले तु विभक्तनामरूपस्थूलचिदचिच्छरीरं
तत्प्रकारं कार्यावस्थं तदेव वर्तते । तत्राचिदंशः कारणावस्थायां

परस्परव्याहृतात्, नैवश्रेयस्करो, तस्मात् श्रुतितत्त्ववेत्तारः परमात्मांशत्वमेव जीवस्य
प्रतिपादयन्ति, तथा सति सर्वसांमजस्योपपत्तेरित्येतत्सर्वं बोधयितुं भाष्यकारः सूत्रव्या-
तैसा ही बना रहे. परन्तु घर्मांश में अन्यथा भाव हो उसको घर्मपरिणाम कहते हैं जिसतरह
कुण्डलावस्थ सुवर्ण का कटक रूप से जो परिणाम है वह घर्म परिणाम है. इसी तरह जीव
का घर्म जो ज्ञान है वह कभी संकुचित होता है तो कभी विकशित होता है नतु जीव का
उत्पाद विनाश होता है । तो एतादृश धर्मपरिणाम लक्षण कार्यत्व जीवमें अनेक प्रमाणों से
सिद्ध होता है. इसलिए एतादृश कार्यत्वाक्रान्त जीव है किन्तु स्वरूप परिणामात्मक कार्यत्वा-
क्रान्त नहीं है । ऐसा हुआ तो स्वरूप का जो अन्यथा भाव तद्रूप उत्पत्ति का जीवमें निषेध
किया जाता है 'न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं कुतश्चिन् न वभूव' इत्यादि श्रुति
समुदायों से ।

इस प्रकरण का यह अभिप्राय है कि आगम वाक्य प्रकृति जीव परमेश्वर का भोग्य-
भोक्तृ नियन्तृत्व लक्षण पृथक् पृथक् स्वभाव का कथन करके स्वरूपान्यथा भाव लक्षण भोग्यो-
त्पत्ति का भोक्ता जीवात्मा में नित्यत्व व्यवस्थापन द्वारा निराकरण करके भोग्य निष्ठ स्व
परिणाम का भोक्ता जीवगत ज्ञान संकोच विकाश परिणाम का नियन्ता परमात्मा में प्रतिषेध
करके उस परमेश्वर में स्वाभाविक सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व निरवयवत्व का प्रतिपादन करके

शब्दादिहीनोऽपि स्वस्मिन् भोग्यत्वनिर्वाहाय शब्दादिमत्तया स्वरूपेण परिणमते । चिदंशोजीवस्तु स्वकर्मफलभोगाय भोक्तृत्वानुगुणज्ञान विकासरूपपरिणतिमान् भवति । प्रकारिणि नियन्त्रंशे च तदवस्थतदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवतीति कारणावस्थाया अवस्थान्तरापत्तिलक्षणस्य विकारस्य चित्यचितिरूपे प्रकारद्वये तत्प्रकारिणि ब्रह्मणि च समानत्वात् । उभयावस्थायां प्रकारिणो ब्रह्मण एकत्वात् प्रकारज्ञानस्य प्रकारिज्ञानान्तर्गतत्वात् । एवञ्चैकस्यैव कारणावस्थस्य ब्रह्मणोऽवस्थान्तरापत्तिलक्षणविकारमादायैकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपद्यतेतराम् । तथा च जीवस्योत्पत्तिमरणवादिनीनां 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' (यजु०२ अ०) इत्यादिश्रुतीनां ज्ञानविकास संकोचशालिदेहसम्बन्धविच्छेद एव तात्पर्यम् । तदुत्पत्तिप्रतिषेधवादिनोनां तन्नित्यत्ववादिनीनां 'न जायते म्रियते' (का०२।१८)

ख्यानाय प्रयतते परमात्मानुमोदितस्येत्यादि । भाष्याशयस्तु सम्प्रदायानुसारेणैव ज्ञातव्यः । सर्वचित् अचित् में ब्रह्म शरीरत्व और ब्रह्म में चिदचित् के अन्तर्यामित्व का प्रतिपादन करते हैं । तथा च सर्वदा चिदचिद्वस्तु शरीरक होने से चिदादि वस्तु प्रकारक जो ब्रह्म वही कारणावस्थ है तथा कार्यावस्थ भी है । इस वस्तु का "सर्वं खल्विदम्" इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन किया गया है । वही उभयावस्थ ब्रह्म अविभक्त नामरूपक सूक्ष्मचिदचित् तत् शरीरक तथा चिदचित् प्रकारक कारणावस्थ प्रलयकाल में अवस्थित रहते हैं । वही सृष्टिकाल में विभक्त नामरूपक स्थूल चिदचित् शरीरक तथा तत्प्रकारक कार्यावस्थ होकर के अवस्थित रहते हैं । उसमें जो अचिदंश है वह कारणावस्था में यद्यपि शब्द स्पर्शादि रहित है तथापि स्व में भोग्यत्व का निर्वाहार्थ शब्दादिमत्त्व रूप से स्वरूपता परिणत होता है । और चिदंश में जो जीव है वह स्वकीय कर्मफल का भोग करने के लिए भोक्तृत्व के अनुकूल ज्ञान विकास रूप परिणामवान् होता है । और प्रकारी नियन्त्रा रूप अंश में तदवस्थ तदुभयविशिष्टत्व रूप विकार होता है । इस तरह कारणावस्था के अवस्थान्तरापत्ति लक्षण विकार जब चेतन रूप दोनों प्रकार में तथा तत्प्रकारी ब्रह्म में समान रूप से रहता है । दोनों अवस्था में प्रकारी जो ब्रह्म है उनको एक होने से प्रकार का ज्ञान प्रकारी के अन्तर्गत ही होता है । ऐसा होने से एक ही कारणावस्थ ब्रह्म के अवस्थान्तरापत्ति लक्षण विकार को लेकर के एक विज्ञान से

‘नित्योनित्यानाम्’ (श्वे० ६।१३) इत्यादीनान्त्वचिदंशवत् वरूपपरिणा
माभाव एव तात्पर्यम् । एवं ‘स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृ-
तोऽभयो ब्रह्म’ (बृ. ४।४।२५) इत्यादिरूपबोधिनीनां श्रुतीनां निरु-
क्तोभयप्रकारविकाराहित्य एव तात्पर्यम् । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसी
देकमेवाद्वितीय’ मिति श्रुत्युक्तं सर्वचिदचिद्वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मणः
सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणञ्च नामरूपविभागानर्हतयोपपद्यते । अत
एव ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते’ (बृ. १।
४।७) इतिसृष्टेः प्रागेकत्वं नामरूपविभागानन्तरञ्च नानात्वं
श्रूयते । सर्वशक्तिमतः परमात्मनोऽंश एव जीव इति सर्वमुपपद्यते ।
येषां सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्मस्वयमेव सृष्टिकाले भोग्यभोक्तृनियन्तृरूपेण-
त्रिधा परिणमते इति मतं तेषामचिदंशगतानां विकारत्वादिदोषाणां
अत्रत्योहि विषयः प्राय आरंभणाधिकरणे पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां विस्तरेण निरूपित इति विशेष
सर्व विज्ञान की जो प्रतिज्ञा है वह उपपन्न होती है । ऐसा हुआ तब जीव के उत्पत्ति
मरणवादी “प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया” इत्यादि श्रुतियों का ज्ञान विकाश संकोच-
शाली देह का जो सम्बन्ध तद्विच्छेद को बतलाने में ही तात्पर्य है । एवं जीव के उत्पत्ति
का प्रतिषेध तथा जीव नित्यत्ववादी “न जायते म्रियते” “नित्यो नित्यानाम्” इत्यादि श्रुति
वाक्यों का अचिदंशवत् स्वरूप परिणामाभाव में तात्पर्य है । एवं “स वा एष महानजः”
इत्यादि जीव के स्वरूप बोधक श्रुतियों का उभय प्रकार विकार रहित अंश में तात्पर्य है ।
और “सदेव सोम्येदम्” एतत् श्रुति प्रतिपादित सर्व चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म का सर्ग के पूर्व
में जो एकत्व का अवधारण है वह नाम रूप विभागानर्हता रूप से उपपन्न होता है ।
अतएव “तद्धेदं तर्हि” इत्यादि से जो सृष्टि के पूर्व में एकत्व तथा नामरूप विभाग के अनन्तर
में नानात्व भी श्रुत होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्वशक्तिमान् अनन्त दिव्य
कल्याण गुणक परमात्मा का अंश ही जीव है ।

जिनका सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म स्वयमेव सृष्टिकाल में भोग्य भोक्ता नियन्ता रूप से
परिणमित होते हैं ऐसा मत है, उनके मत में अचिदंशगत विकारत्वादि दोष चिदंशगत
भोक्तृत्वादि दोष की ब्रह्म में आपत्ति होती है, इसकी कोई भी व्यवस्था नहीं होती है ।
एवं जो अविद्योपाधिक जीव को मानते हैं, एवं जो पारमार्थिकोपाधिक जीव को मानते हैं

चिदंशगतानाञ्च सुखदुःखभोक्तृत्वादिदोषाणां ब्रह्मण्यापत्तेर्न काचि
दव्यवस्था । एवमविद्योपाधिके जीवत्वे पारमार्थिकोपाधिके च जीव
त्वे स्वीक्रियमाणेऽपि तुल्यो दोषः । ब्रह्मण एव स्वयं मोहो बन्ध-
श्च स्याताम्, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् ।
अस्माकं पुनः सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं कारणावस्थं स्थूलचिदचिद्वस्तु
शरीरञ्च कार्यावस्थं ब्रह्मसर्वदा ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यसत्य-
कामत्वसत्यसंकल्पत्वकारुण्याद्यनन्तगुणविशिष्टं निरस्ताशेषदोषञ्चा-
वतिष्ठते । कुतः ? विकारादिदोषाणां प्रकारभूतेऽचिदंशे पर्यवसा-
नात् । सुखदुःखभोक्तृत्वादीनां प्रकारभूते चिदंशे पर्यवसानात् ।
नियन्तृत्वादीनान्तु परमात्मधर्मत्वात्तस्मिन्नेवावस्थितिरिति ब्रह्मां
शोऽयं जीव इति वादे न कश्चिद्दोषलेशः ॥४३॥

॥ मन्त्रवर्णाच्च २।३।४४ ॥

‘पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (पु०सू०) इति
जिघृक्षुभिस्त एव ज्ञातव्यः । पुनरत्र तद्विचारः कृतकरणतांतातिक्रामेदिति ॥४३॥

‘पादोऽस्य विश्वाभूतानीत्यादि’ मन्त्रवर्णैरपि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं सिद्ध्यति । अंशो
उन मत में भी विकारित्वादि दोषापत्ति ब्रह्म में तुल्य है । और स्वयं ब्रह्म को मोह तथा
बन्ध भी होगा, क्योंकि उपाधि से अतिरिक्त कोई वस्तु तो है नहीं । और इस श्रुति विशि-
ष्टाद्वैत मत में तो सूक्ष्मचिदचिद्वस्तु शरीरक कारणावस्थ तथा स्थूलचिदचिद्वस्तु शरीरक कार्या-
वस्थ परमब्रह्म सर्वदा ज्ञानशक्ति बलवीर्य तेज सत्यकामत्व सत्यसंकल्पत्व कारुण्यादि अनन्त
करुणा गुणविशिष्ट तथा निर्गत है अशेष दोष जिसमें एतादृश सर्वदा विद्यमान रहते हैं ।
क्योंकि विकारादि सकल दोष तो प्रकार भूत अचिदंश में ही रहता है । और सुखदुःख
भोक्तृत्वादि दोष प्रकारभूत चिदंश में रहता है और नियन्तृत्वादिक जो धर्म हैं वे तो पर-
मात्मा का धर्म है वह तो उसी परमात्मा में रहता है । इसलिए जीव ब्रह्म का अंश है इस
पक्ष में कोई भी दोष लेश नहीं है अतः जीव ब्रह्म का अंश है यह शास्त्र संमत मत है ॥४३॥

“पादोऽस्य विश्वाभूतानीत्यादि” मन्त्र वर्ण से भी सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म का
अंश है, मन्त्र में पाद शब्द अंशवाचक है । गत सूत्र में अंशः में जो एकत्व है वह

मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मांशा जीवाः । मन्त्रे पादशब्दो ह्यंशवाची । सूत्रेऽश
इत्येकत्वं जात्यभिप्रायकम् ॥४४॥

५ अपि स्मर्यते २।३।४५ ५

इतश्च ब्रह्मणोऽंशो जीवः । 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः'
(गी० १५।७) इति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः ॥४५॥

५ प्रकाशादिवत्तु नैवं परः २।३।४६ ५

जीवस्य ब्रह्मांशतया ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवदोषाणां ब्रह्मणि प्रस-
क्तिमाशङ्क्याह 'प्रकाशादिवदित्यादि' । तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः ।
ब्रह्मैकदेश इति । अंश इत्यत्रैकवचनेन यद्यपि जीवे एकत्वमेवायाति, तथापि जात्यभिप्रायेण
तथा निर्देशोवस्तुतस्तु जीवानां बहुत्वमेव । जीवबहुत्वस्याग्रे विचारणीयत्वादित्यादिकं
दर्शयितुमुपक्रमते 'पादोऽस्य विद्वाभूतानीत्यादि' ॥४६॥

ननु यदि ब्रह्मणोऽंशो जीवस्तदा यथा देवदत्तस्य हस्तपादाद्यवयवगतदुःखादि-
नाऽवयवीदेवदत्तो दुःखवान् भवति, तद्वत् स्वावयवजीवगतदुःखादिनाऽवयीपरमा-
"सम्पन्नो ब्रवीह" के समान जात्यभिप्रायक है । क्योंकि जीव एक नहीं अनेक है । जीव
बहुत्व का प्रतिपादन आगे किया जाता है । इससे अंशः में एक वचन को देख करके जो
जीवैकवाद को मानते हैं वे परास्त हो गये "असंततेश्चा व्यतिकरः" २-३-४९ इस सूत्र में
जीव बहुत्व का प्रतिपादन है ॥४६॥

इस वक्ष्यमाण प्रकार से भी सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म का अंश है. ननु ब्रह्म से
अत्यन्त भिन्न है नवा अत्यन्त अभिन्न है. क्योंकि भेदाभेद पक्ष में अन्यतर श्रुतियों का
बाध होने से अप्रामाणिकत्व हो जायगा । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है "इस जीव
लोकमें सनातन जीव मेरा ही अंश है" इसप्रकार से स्मृतियों में प्रतिपादन किया गया है । ४५।

जीव ब्रह्म का अंश होने से वह ब्रह्म का एक देश स्वरूप है, तब अवयव रूप
जीवगत जो दोष दुःखादि भोक्तृत्वादिक है. उन दोषों से ब्रह्म भी सम्बद्ध होंगे. अर्थात् जिस
तरह देवदत्त के अवयव हस्तपादादिगत दुःखसे अवयवी देवदत्त दुःखी होता है तद्वत् प्रकृत
में भी जीव लक्षण अवयवगत दोष से अवयवी परमात्मा भी सम्बद्ध होंगे ? इस आशंका के

प्रकाशादिवज्जीवो ब्रह्मांशः । यथा सूर्यादेः भारूपप्रकाशवान् सूर्यादिरिति विशेषणत्वेनोपपन्नः सूर्यादीनामंश इत्यभिधीयते । यथा च देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोऽंशः । तद्वदेकदेशस्य तद्वस्तुनोऽंशत्व व्यवहारः । विशिष्टस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । एवं जीवस्य परमात्मशरीरत्वेन विशेषणत्वात्परमात्मनोऽंश एव जीवः । अस्ति च शास्त्रीयोव्यवहारो विशेषणो 'विशेष्यांशोऽयम्' इति । जीवपरमात्मनोः स्वरूपस्वभावयोर्भेदान्नजीवदोषाणां परमात्मनि प्रसक्तिरित्याह-नैवं पर इति । यथा स्वभावोजीवस्तथा न परः परमात्मेत्यर्थः ।

त्मापि दुःखादिमान् स्यात्, नचैतदिष्टम्, अपहृतपाप्मकतया परमेश्वरस्य पापकार्यदुःखादि सम्पर्कस्य श्रुतिबाधितत्वादित्याशङ्क्यानिरासाय सूत्रं व्याख्यातमुपक्रमते भाष्यकारः जीवस्य ब्रह्मांशतयेत्यादि यथा प्रकाशधर्मकस्य सूर्यस्य प्रकाशसंबन्धदेशगतामेध्यपदार्थ संसर्गजनितदोषो न भवति तथा स्वरूपतः स्वभावतः परमात्माभिन्नजीवरूपविशेष-उत्तर में कहते हैं 'प्रकाशादि वदिति' सूत्रघटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । प्रकाश के समान जीव ब्रह्म का अंश है । जिस तरह प्रकाश रूप सूर्यादिक का भारूप प्रकाश अंश कहलाता है, अर्थात् सूर्यादिक का प्रकाश सूर्य का अंश कहलाता है । यथावा देहवान् जो मनुष्य देवादिक उनका शरीर उनका अंश कहलाता है उसी तरह प्रकृत में समझना । पदार्थका जो एक देश होता है वह उसका अंश अवयव विशेषण कहलाता है । विशिष्ट पदार्थ का विशेषण अंश ही है । जिस तरह दण्डी का विशेषण जो दण्ड है वह दण्डी का अंश है । इसी तरह जीव परमात्मा का शरीर होने से परमात्मा का विशेषण है, अतः जीव परमात्मा का अंश है । शास्त्रीय व्यवहार भी है कि विशेषण में यह विशेष्य का अंश है, अर्थात् विशेष्य का विशेषण है ।

जीव तथा परमात्मा के स्वरूप तथा स्वभाव का भेद होने से जीवगत दोष का परमात्मा में संक्रम नहीं होता है, इस बात को बतलाते हैं, 'नैवं परः' इति । यादृश सुखदुःखादि भोक्तृ स्वभावक जीव है तादृश स्वभाववाला परमेश्वर नहीं है । जिस तरह प्रकाश से प्रकाशवान् सूर्य पृथक् है, इन दोनों में परस्पर अंशांशीभाव है उसी तरह जीव परमेश्वर में भी परस्पर अंशांशीभाव है अर्थात् अवयवावयवीभाव है और स्वरूप स्वभाव से अंशांशी में पार्थक्य भी है । अत एव एतादृश भेद को अग्रसर करके 'द्वासुपर्णा' 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादि भेद प्रतिपादक अर्थात् जीवेश में भेद प्रतिपादक श्रुतियों की प्रवृत्ति होती है । और जीव परमात्मा को व्याप्य व्यापक भाव होने

यथा प्रभायाः प्रभावानर्थान्तरभूतस्तथा प्रकृतेऽप्यंशान्शिभावः । तथा चेममेव भेदमवलम्ब्य भेदश्रुतीनाम्प्रवृत्तिः । जीवपरमात्मनोर्व्याप्य व्यापकत्वेन जीवस्य परमात्मनोऽपृथक्सिद्धतयाऽपृथक्सिद्धविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वं स्वीकृत्य 'तत्त्वमसि' इत्याद्यभेदश्रुतीनामपि मुख्या- र्थत्वेनैव सार्थक्यमिति ॥४६॥

५ स्मरन्ति च २।३।४७ ५

स्मरन्ति चांशिनः परमात्मनोऽंशभूतजीवगतदोषाणामप्रसक्तिम् । पराशरदयः । 'तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा' (वि.पु.) कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते' इत्यादिना । च शब्देन 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (श्वे०४।६) इत्यादि श्रुतयः परिगृहीता भवन्ति ॥४७॥

णगतदुःखादिना परमात्मापिसंसृष्टो न भवतीत्यादिकं सर्वं दर्शयति प्रकाशवज्जीवो ब्रह्मांश इत्वादिभाष्यम्, अतिरोहितार्थतया भाष्याक्षराणिनो व्याख्यातानि ॥४६॥

न केवलं श्रुत्यैव युक्त्या वा जीवस्य ब्रह्मांशत्वं किन्तु पराशरप्रमुखामहर्षयोपि ब्रह्मांशत्वं जीवानां प्रतिपादयन्ति । तदेव दर्शयितुमाह स्मरन्ति चेति सूत्रघटकश्चकार श्रुतिश्रौतयुक्तिमपि स्मारयति तयोरन्यः पिप्पलमित्यादि ॥४७॥

से जीव को परमात्मा से अपृथक् सिद्धत्व है, तथा अपृथक् सिद्ध विशेषण विशेष्य पर्यन्त उसकी गति होती है. इस बातको स्वीकार करके 'तत्त्वमसि, "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि अमेद प्रतिपादक श्रुतियों में मुख्यार्थ रूप से सार्थक्य होती है । अर्थात् जीव को ब्रह्म का अंश मानने से भेद अमेद प्रतिपादक दोनों श्रुतियों का भी सामञ्जस्य होता है । इतिसंक्षेपः । ४६।

पराशर प्रभृतिक ऋषिगण भी अंशी परमात्मा का अंशभूत जीवात्मगत दुःखादि दोषों की अप्रसक्ति का प्रतिपादन करते हैं "उसमें जो परमात्मा है वह नित्य तथा निर्गुण है अर्थात् प्राकृतिक हेयगुण से रहित हैं । वह परमात्मा कर्मजन्य सुखदुःखादि फल से सम्बद्ध नहीं होता है जिस तरह जल के अन्तर्गत कमलपत्र जलकृत दोष से संस्पृष्ट नहीं होता है" "और जो कर्मात्मा जीव ब्रह्म का अंश है वह बन्धमोक्ष से युक्त होता है" इत्यादि प्रकरण से । सूत्र घटक च शब्द से "तयोरन्यः" इत्यादि श्रुतियों का संग्रह होता है ॥४७॥

५ अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धा

ज्ज्योतिरादिवत् २।३।४८ ५

ननु सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वे समाने कस्यचिद्वेदाध्ययना-
दिष्वनुज्ञा कस्यचित्परिहार इति कथमत आह-अनुज्ञेत्यादि । सर्वेषां
जीवानां ब्रह्मांशत्वेनैकरूपत्वेऽपि ब्राह्मणशूद्रयोः पुण्यपापदेहसम्बन्ध
हेतुकावनुज्ञापरिहारौ । यथाऽग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि यज्ञीयादेरग्ने
ग्रहणानुज्ञा श्मशानसम्बन्धिनोऽग्नेः परिहारस्तथा ब्राह्मणस्य वैदिके-

ननु यदि सर्वोपिजीवो ब्रह्मणोऽंशस्तदाकथमेकस्य वस्तुनोऽनुज्ञाक्रियते तस्यैवेतरत्र
परिहारो भवति, यथा यागादौ ब्राह्मणानामनुज्ञा 'ब्राह्मणेन निष्कारणोवेदोऽध्येयः' इत्य
नुज्ञा तस्यैव च वेदाध्ययनादेः न शूद्राय मतिं दद्यादित्यादिना परिहारः क्रियते तदिदं वैपम्यं
कुत इत्यत आह अनुज्ञेत्यादि इमौ अनुज्ञापरिहारौ जीवस्य ब्रह्मांशत्वे समानेपि स्यातां देह
सम्बन्धात् । अयमाशयः यथा बन्हेर्वन्हित्वेन व्यापकधर्मेण समानत्वेपि याज्ञीयोवन्हि-
राद्रियते, स एव श्मशानसम्बन्धीपरिहृतो भवति, तथैव ब्राह्मणत्वाद्यवच्छिन्नो वेदाध्ययन
दानादौ समाह्रियते शूद्रादिश्च परिहृतो भवति । यथावा शुचिभूमिस्थितः सूर्यप्रकाशः
समादृतोभवति; अशुचिदेशस्थितोनाद्रियते । यथावा गवां मूत्रपुदीषौ समाद्रियेते, तावे-

यदि सभी जीवों में ब्रह्मांशत्व समान रूप से है, तब तो किसी जीव को वेदाध्ययन
परिग्रहादिक में अनुज्ञा है और किसी को अर्थात् शूद्र को वेदाध्ययन परिग्रह का परिहार है
निषेध है, तो यह अनुज्ञा परिहार किस तरह उपपन्न होगा ? एतादृश शंका के समाधान
के लिए कहते हैं "अनुज्ञा परिहारावित्यादि" सभी जीवों में ब्रह्मांशत्वेन समानता होने पर भी
ब्राह्मण शूद्र को पुण्यपाप देह के सम्बन्ध से अनुज्ञा परिहार उपपन्न होता है । यथा
अग्नित्व लक्षण व्यापक धर्म को लेकर के सभी अग्नि को समान होने पर भी यज्ञशालास्थित
अग्नि के ग्रहण की अनुज्ञा होती है और श्मशान सम्बन्धी जो अग्नि है उसका परिहार
होता है, उसी तरह ब्राह्मत्वजात्यवच्छिन्न को वैदिक कर्म में अनुज्ञा है, और शूद्र को अनु-
ज्ञा न होकर के उसका परिहार होता है । "नशूद्राय मतिदद्यात्" इत्यादि शास्त्र से वैदिक
कर्म में शूद्र को अनधिकार बतलाया गया है । यथावा भौमत्वेन समान होने पर भी, मणि

ऽनुज्ञा शूद्रादेः परिहार इत्युपपद्यते ॥४८॥

५ असन्ततेश्चाव्यतिकरः २।३।४९ ५

एवं ब्रह्मांशत्वेन साम्येऽप्यात्मनोऽणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् परस्परमसन्ततेरसम्बन्धाज्ज्ञानसुखादिधर्माणामव्यतिकरोऽसाङ्कर्यमेवेति व्यवस्था । उपहितब्रह्मजीववादे विवर्तवादे च जीवपर्योः स्वरूपस्याभेदाज्जीवानां विभुत्वेन परस्परमभेदाच्च धर्माणां व्यतिकरोऽनिवार्यः स्यात् ॥४९॥

वान्यदीयौ परिह्रियेते । तद्वत् प्रकृतेऽपि ब्रह्मांशत्वस्य समानत्वेऽपि पुण्यपापशरीरसम्बन्धिनौ समाद्रियेते परिह्रियेते इति संक्षेपः ॥४८॥

ननु देहसम्बन्धादनुज्ञापरिहारयोः संभवेऽपि, ब्रह्मांशत्वेन समानत्वात् सर्वेषां कर्मफलभोगः समानः स्यादित्याशङ्क्यामाह असन्ततेरित्यादि सम्यक् ततिः सन्ततिर्व्याप्तिस्तदभावोऽसन्ततिः, अणुत्वमित्यर्थः । ततश्च ब्रह्मांशत्वेन समानत्वेऽपि, असन्ततेरणुत्वेन प्रतिशरीरं भेदात्, कर्मफलसांकर्यं न भवतीति । उपहितब्रह्मजीवपक्षे विवर्तवादिपक्षे च जीवस्य व्यापकत्वेन कर्मफलसांकर्यपरिहारो न भवतीति भावः ॥५०॥

प्रभृति का संचय होता है. परन्तु मृतमनुष्यादि शरीर का परित्याग होता है । इसी तरह अनुज्ञा परिहार उपपन्न होता है ॥४८॥

एवं सर्व जीवों के ब्रह्मांश होने पर भी जीव को अणु होने के कारण प्रति शरीर में भेद होने से परस्पर सम्बन्ध नहीं होने से ज्ञान सुखादिक जो जीव का धर्म है उसमें सांकर्य नहीं होता है. अर्थात् अन्यदीय कर्मफल से अन्य जीवको फल का भोग नहीं होता है । उपहित ब्रह्मजीववाद में अथवा विवर्तवाद में जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद होने से तथा जीव को व्यापकतया परस्पर भेदाभाव होने से धर्मों का सांकार्य का निराकरण नहीं होता है । मेरे सिद्धान्त में तो यह दोष नहीं होता है ॥४९॥

५ आभास एव च २।३।५० ५

नन्वज्ञाननिबन्धनोपाधिभेदान्न धर्मव्यतिकर इत्यत्राह—‘आभास’ इत्यादि । नित्यस्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानोपहितत्वप्रतिपादने हेतव आभासा एव स्युः । कुतः ? प्रकाशस्वरूपस्य तस्याविद्यया स्वरूपतिरोधानं स्वरूपनाश एव पर्यवस्यति । उपाधीनां भेदेऽपि उपधेयगतधर्माणां पुनः सांकर्यमवश्यमेव दुष्परिहरम् । चकारात् ‘पृथगात्मानं प्रेस्तिारश्चमत्वा’ (श्वे०१।६) इत्यादिश्रुतिविरोधोऽपि ॥५०॥

अथ अज्ञानकृतान्तः करणादिलक्षणोपाधिभेदाद्भोगव्यवस्था भविष्यति, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्, ततश्च न जीवानां भोगसांकर्यमिति चेत्तत्राह आभास इति । प्रकाशलक्षणस्य परमात्मनः प्रकाशलक्षणस्वरूपमाच्छादयति, ततश्च स जीवभावमाप्नोति, ततश्च यदि अविद्यया स्वरूपस्य तिरोधाने धर्मिणोपितिरोधानं विनाश एव स्यादिति न भ्रान्तब्रह्मजीववादेभोगसांकर्यदोषस्य निवारणम् । किञ्च पृथगात्मानमित्यादिश्रुतिविरोधोऽप्यस्मिन्पक्षे समापततीति संक्षेपः ॥५०॥

अज्ञानमूलक उपाधि भेद से जीव का ब्रह्मांशत्व समान होने पर ज्ञान धर्मादि रूपधर्म का सांकर्य नहीं होगा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं—“आभास एव चेति” नित्य स्वरूप ब्रह्म को अज्ञानोपहितत्व का प्रतिपादन करने में जो हेतु है वह हेत्वाभास है । क्यों ? प्रकाश स्वरूप उस ब्रह्म का जो स्वरूपका तिरोधान अविद्या द्वारा होगा या ब्रह्म स्वरूप के विनाश में ही पर्यवसित होता है । उपाधि के भेद होने पर भी उपधेयजीव तद्गत ज्ञानादि धर्मों का सांकर्य निवारित नहीं होता है सूत्र घटक च शब्द से “पृथगात्मानं प्रेस्तिारं च मत्वा” “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्ति” “ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ” इत्यादि श्रुतिका जो विरोध है उसका भी समाधान विवर्तवाद में नहीं हो सकता है । अतः विवर्तवाद ठीक नहीं है ॥५०॥

॥ अदृष्टानियमात् २।३।५१ ॥

अदृष्टैस्तद्धेतुकोपाधिभिश्च देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य
ब्रह्मणश्छेदाऽसम्भवात्तत्कृतानां दोषाणां ब्रह्मणि प्रसक्ति
रनिवार्या ॥५१॥

॥ अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् २।३।५२ ॥

तत्तदन्तः करणोपहितात्मप्रतिनियतादृष्टजन्मस्वभिप्रायविशे-
षेषु स्वीक्रियमाणेष्वपि परिच्छिन्नोपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचि-
दपि पदार्थस्याभावादुपाधिविशिष्टब्रह्मैवेति न दोषनिर्मुक्तिः ॥५२॥

यद्यपि ब्रह्माभिन्नः सर्वोपिजीवोव्यापक इति धर्मसांकर्यस्य निवारणं न
भवति तथापि यो जीवस्वनिवर्तितक्रियया यददृष्टमुपार्जितवान् तादृशादृष्टबलेन
तत्फलं तस्यैव भविष्यतीति जीवानां व्यापकत्वे धर्मव्यवस्था स्यात् अन्यदीयकर्म
फलेनान्यः स्यादित्याशङ्कांसमाधातुमाह अदृष्टानियमादिति सत्यमदृष्टबलेन व्यवस्था-
स्यात्, परन्तु अदृष्टमपि सर्वात्मसन्निधौजायमानं सर्वस्य कृते समानमेवेति न
तद्वलेन व्यवस्थाव्यापकजीववादे भवतीति न तन्मतं समीचीनमिति भावः ॥५१॥

ननु संकल्प विशेषात्कार्यं करोति तेन चादृष्टं जायते तस्य च तदात्मसम्ब-
न्धः प्रतिनियत इति प्रतिनियतादृष्टेन सर्वोपपत्तिसंभवः स्यादित्यत आह अभिसन्धी-
त्यादि । अभिसन्धिः संकल्पः सोपि सर्वात्मसंनिधौ जायमानो न व्यवस्थाहेतुभूत
इतिव्यवस्थापकाभावान्न पूर्वदोषस्य निराकरणमिति भावः ॥५२॥

अदृष्ट शुभाशुभ कर्म तथा तादृश कर्ममूलक जो उपाधि उससे देश काल वस्तु
परिच्छेद रहित ब्रह्म के परिच्छेद का असंभव होने से उपाधि कृत दोषों का ब्रह्म में
प्रसक्ति का निराकरण नहीं हो सकता है इसलिए विवर्तवाद उचित नहीं है ॥५१॥

तत्तत् अन्तः करण से उपहित आत्म प्रतिनियत अदृष्ट का जनक जो संकल्पविशेष
है उसके नियामकतया स्वीकार करने पर भी परिच्छिन्नोपाधि ब्रह्म व्यतिरिक्त किसी भी पदार्थ
के अभाव होने से उपाधि विशिष्ट ब्रह्म ही होंगे तो पूर्वदोष का निराकरण नहीं
होता है ॥५२॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् २।३।५३

उपहित ब्रह्मजीवप्रदेशभेदाद्व्यवस्था स्यादिति चेन्न, उपा-
धीनां सर्वेषु प्रदेशेष्वविशेषेणावस्थितत्वात्प्रदेशानाञ्च तदन्तर्भावान्न

यद्यपि उपहितं ब्रह्मैव जीव इत्युपाधिप्रदेशस्य परस्परं विभेदात् तदा योऽनुप-
हितोऽशः स तु सर्वथाविशुद्ध एवेत्येवं प्रक्रमेण व्यवस्था स्यान्नाम तथाप्युपाधिदेशा
नामननुगतत्वेन सर्वत्र पदार्पणं कुर्वन्नुपाधिः सम्पूर्णब्रह्मविषयीकुर्यात् । ततश्चोपहित
प्रदेशस्यापि ब्रह्मण्येवान्तर्भावात्पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ एव । तस्माद् ब्रह्मणोऽश
एव जीवः ।

प्रकृतविषये प्रपञ्चस्तु समाराधनीयास्मद्गुरुचरणमहामहोपाध्यायपदविक्र
जगद्विजयी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेशरी प्रणीते गीतार्थ
चन्द्रिकायामवध्येयम्—तत्र हि 'नन्वात्मनो भगवदंशत्वे तस्य कर्मबन्ध एव नोपपद्यते
कुतस्तरां बन्धान्मुक्तिर्भगवत्स्वरूपवदेव नित्यनिरवद्यत्वादिकं स्वाभाविकं स्यात्तथा
सति बद्धमुक्तादिव्यवस्थालोपप्रसङ्गोमुक्तिप्रतिपादकशास्त्राणाञ्च त्रैयर्थ्यप्रसङ्ग
इत्याशङ्क्याह—ममेति । सनातनः सदा भवः सनातनः सदा ज्ञानैकाकारतयाऽवस्थि
तो ममैवांशो मदंशभूत एव सन्ननादिकालप्रवृत्तकर्मरूपाविद्यया जीवभूतो जीवलोके
वर्तमानः प्रकृतिस्थानि प्रकृतिपरिणामक्षेत्रसमाश्रितानि मनः षष्ठानि मनः षष्ठं
येषामिन्द्रियाणां तानि मनः षष्ठानि षड् ज्ञानेन्द्रियाणि । एतेन मनस इन्द्रियत्वं
नास्तीति मायिमत्तं व्युदस्तं पूरणार्थकप्रत्ययेन समभिब्याहृतसजातीयपदार्थसंख्याया
एव पूरणात् । न च यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति विजातीयेनापि संख्यापूर्तिर्दृष्टा
ऽतोनायं गमक इति वाच्यम् । एका कन्या दशेन्द्रियाणि, दशमे पुरुषे प्राणा आत्मै-

ब्रह्म से उपहित तथा जीव से उपहित प्रदेश में भेद होता है अतः उपाधि से युक्त
ब्रह्म को मानने से व्यवस्था हो जायगी प्रकृत में कोई दोष नहीं होगा ऐसा कहना भी
ठीक नहीं है क्योंकि उपाधियों को सवस्थानों में अविशेष रूप से अवस्थित रहने से
यानी उपाधि से रहित कोई स्थान ही नहीं है तब प्रदेश विशेष भी तो उसी के अन्तर्गत
होगा उपाधि के सर्व व्याप्त होने से प्रदेश को अवकाश रहेगा ही नहीं अतः प्रकृत कल्पना

दोषनिर्मुक्तिरतः सत्यमिथ्योपाधिपरिच्छिन्नब्रह्मजीवपक्षौ न निर्दु-
कादश (श्रुतिः) इन्द्रियाणि दशैकञ्च (वि.पु.) इत्यादिवचनप्रामाण्यान्मनस इन्द्रिय-
त्वावगमात् अत एव शब्दाश्रयान्यत्वे सति आत्मप्रयत्नजन्यव्यापारवत्त्वरूपजीवात्मो
पकरणत्वस्येन्द्रियसामान्यलक्षणस्य मनस्यपि सत्त्वादिन्द्रियत्वं सुतरां सिद्धम् । कर्षति
कर्मफलभोगाय सेन्द्रियदेहमुपादाय सर्वत्र गच्छतीत्यर्थः ।

यच्चत्र मायिनोऽविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्नोऽश इव कल्पितोऽत एव जीवभूतः
परमार्थतः परमात्मैव सनातनः । यथा जलसूर्यको यथा वा घटाकाशो घटादिनिमि-
त्तापाये आकाशं प्राप्य न निवर्तते तद्वत् यद्गत्वा न निवर्तन्त इत्युक्तमुपपद्यत
इत्याहुस्तदयुक्तम् । नह्यनाद्यविद्योपाधिवशादपि ब्रह्मण एकदेशता सम्भवति निरवय-
वत्वात् । किञ्चायमुपाधिर्निरवयवः सावयवो वा ? नाद्यः निरवयवत्वे प्रतिबिम्बानुप-
पत्तिः, सावयवत्वे कोऽसौ पदार्थ इति विवेचनीयम् । अन्तः करणमन्योवा ?
यद्यन्तः करणं तदा तन्निरवयवत्वसावयवत्वविचारे पुनर्घट्टकुटीप्रभातन्यायं स्मार-
यत्युक्तदूषणम् । यद्यन्यः कलेवरादिरूपस्तर्हि तस्य न प्रतिबिम्बग्रहित्वमिति निर्मूलैवेयं
बिम्बप्रतिबिम्बकल्पना । एवं घटाकाशमहाकाशादिकल्पनाऽपि जीवब्रह्मविषये
गगनकुसुमायते । त्वन्मते घटाकाशयोरुभयोरपि व्यावहारिकत्वात् । न हि परमार्थव-
स्तुनो ब्रह्मणो व्यावहारिकेण प्रातिभासिकेन पदार्थेन समं कश्चित्सम्बन्धो घटते त्वन्मते
व्यावहारिकप्रातिभासिकपदार्थानां मिथ्यात्वान्नहि सत्यमिथ्यात्वयोः सम्बन्धो युक्ति-
सहः । यदपि च स्वदुर्वादप्रसाराय पारमार्थिकव्यावहारिकप्रातिभासिकभेदैः सत्ता-
त्रयं भवताऽङ्गीक्रियते तदपि श्रुतिषु क्वाप्यनुपलम्भेन मनो मोदकक्षुन्निवर्तनम् । नापि
वेदविदग्रेसरेण भगवतावादरायणेन निगूढनिखिलवेदरहस्यं निष्कासयता प्रणीते
शारीरकशास्त्रे वा क्वचित्पश्यामः । शास्त्रज्ञैस्तु प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानं जगत् पारमा-
र्थिकमेव मन्यते । शुक्ताविदं रजतमित्यादिस्थलेष्वपूर्वपदार्थोत्पत्तिमस्वीकृत्यैव दोष-
से भी दोष से छूट नहीं सकते हैं । इसलिये सत्यत्व मिथ्यात्व उपाधि से परिच्छिन्न जीव
तथा ब्रह्म को मानकर निर्वाह करने का पक्ष दोष रहित नहीं है । अर्थात् श्रुति स्मृतियों
से तिरस्कृत पक्ष होने से उक्त पक्ष हेय है उपादेय नहीं अतः जीवात्मा ब्रह्मका अपृथक्
सिद्ध विशेषण के रूप में जीवात्मा ब्रह्मका अंश है यही पक्ष युक्ति युक्त तथा 'ममैवां

ष्टाविति जीवस्य ब्रह्मणोऽपृथक्सिद्धविशेषणत्वेनांशत्वमेवेति युक्तः
पक्षः ॥५३॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया

आनन्दभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

५ शुभमस्तु सर्वजगतः ५

वशाज् ज्ञानमात्रमेव भ्रमात्मकमुत्पद्यमानं मन्यते । व्यावहारिकत्वं शब्दजन्यबोध
विषयत्वादन्यद्दुर्वचं प्रातिभासिकत्वं प्रतीतिगोचरत्वादन्यद्दुर्वचमिति तदुभयस्य
पारमार्थिकव्यावृत्तत्वासम्भवेन भवदुक्तं पारिभासिकं कूटस्थत्वमपि ब्रह्मणो दुर्ल-
भमेव । तन्निर्वाहाय विकारस्य पारमार्थिकत्वमकामेनापि भवताऽभ्युपगन्तव्यमेव ।
एतत्सर्वमभिप्रेत्य भगवदंशभूतोऽयं जीवः सनातनत्वेविशिष्यते । सनातनत्वञ्च
कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेद
वत्वसम्बन्धेन कालविशिष्टान्यत्वरूपं नित्यत्वमेव । एतादृशं नित्यत्वं भगवदंश
भूते जीवे वर्तते । भवमन्ते त्वेतन्नैव संगच्छत इतिदिक् ॥५३॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापकाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

५ श्रीरामः शरणं मम ५

शो जीव लोके' आदि शास्त्र समर्थित है । प्रकृत विषय में 'अंशोनाना व्यपदेशात्' (ब.सू.
२।३।४३) के प्रकाश तथा गीतार्थचन्द्रिकादि ग्रन्थ विवरण में बहुत चर्चा की गई है
अतः विशेषार्थी वहीं से अवगतकरें ॥५३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

५ शं भवतु सर्वजगतः ५

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरिकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

ॐ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॐ

अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

ॐ तथा प्राणाः २।४।१ ॐ

एवमतिक्रान्ते पादे जीवस्य भोगायतनभूतस्थूलदेहोत्पादकानामाकाशादिभूतानामुत्पत्त्यादिकं विचिन्त्य जीवस्वरूपं तद्धर्मश्च विचिन्तिता । अथ सूक्ष्मशरीरव्यवस्थापकानामिन्द्रियादीनां विचारोऽवशिष्यत इ त स एवेदानीं प्रस्तूयते । तत्र प्राणाः जीववन्नोत्पद्यन्त आहोस्विद्विद्यदादिवदुत्पद्यन्त इति संशयः । किं युक्तम् ? नोत्पद्यन्त इत्येव । कुतः ? 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः

आकाशादयःसमुत्पद्यन्ते नवेति संशये वियद् विषयकश्रुतिवैमत्यं तृतीयपादेन निराकृतम् तदनन्तरं जीवोपकरणानां प्राणादीनां विषये यः श्रुतिविप्रतिषेधस्तन्निराकरणाय चतुर्थपादं प्रवर्तयितुमुपक्रमते एवमतिक्रान्तेपादे इत्यादि । अतिक्रान्ते इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे इत्यर्थः । स एवेदानीमिति इदानीमिदमीयाध्यायस्य चतुर्थपादेनेत्यर्थः । तत्र प्राणा इति यथा जीवस्य स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिर्भवति

प्राण विषयक श्रुति विप्रतिषेध का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं 'एवमतिक्रान्ते' इत्यादि । उपर्युक्त क्रम से द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद में जीव के भोगाधिष्ठान जो यह परिदृश्यमान यह स्थूल शरीर तादृश शरीर का उत्पादक आकाशादिभूतों के उत्पत्त्यादिक के विषय में विचार करके जीव का स्वरूप तथा जैवीय घर्मों का भी विचार किया गया । इसके बाद सूक्ष्म शरीर का व्यवस्थापक इन्द्रियादिकों का विचार अवशिष्ट रहता है अतः अभी इन्द्रिय विचार को ही प्रस्तुत करते हैं । उसमें प्राण जीव के समान उत्पन्न नहीं होता है अथवा आकाशादिक के समान परमात्मा से उत्पन्न होता है ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या होना युक्त है ? अर्थात् जिस तरह स्वरूपान्यथाभाव लक्षण जीवोत्पत्ति नहीं होती है उसी तरह प्राण की भी उत्पत्ति नहीं होती है । अथवा जिस तरह आकाशादि जड पदार्थ का उत्पाद परमात्मा से होता है उसीतरह इस का भी उत्पाद होता है ऐसा संशय होता है । इसमें निषेध कोटि पूर्वपक्षी का है और विधि कोटि सिद्धान्त का है ।

सम्भूतः' (तौ०२।१) इत्यादावुत्पत्तिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रवणात् । एव
मन्यत्रापि 'असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयोवा-
व ते अग्रेसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषय इति
(शतप०६।१।१) इतिऋषिपदाभिधेयप्राणानामुत्पत्तेः प्रागपि श्रूय-
माणत्वात् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—तथा प्राणा इति । वियदादिवदेव
प्राणा उत्पद्यन्ते । कुतः ? “एतस्माज्जायते प्राणः मनःसर्वेन्द्रियाणि
च” [मु० २।१।३।] इतिप्राणादीनामपिपरमात्मन उत्पत्तिश्रव-
णात् । “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” [ऐत०१।१।१।] इति
सृष्टेः प्रागेकस्यैव ब्रह्मणोऽवस्थितेस्वधारणात् । एतस्याः श्रुतेरेकवा-
तथा प्राणादेरुत्पत्तिर्न भवति अथवा यथा वियदादेरुत्पत्तिर्भवति तथा प्राणादेरुत्प-
त्तिर्भवति नवेतीति संशयः । तत्र नोत्पद्यते उत्पत्तिप्रकरणे वियदादिवत्प्राणादेर-
श्रवणात् । यदि प्राणादेरुत्पत्तिरभिमतभवेत्तदावश्यमेवोत्पत्तिप्रकरणेवियदादिवत्तत्
श्रवणमपि भवेन्नतु तत् क्वचिदपिश्रुतम् । प्रत्युत प्राणा वाव ऋषय इत्यादिस्थले उत्पत्तेः
पूर्वमपितस्य सद्भाव एव ज्ञायते । न च प्राणोत्पादकश्रुतेर्गौणत्वं तस्यामुख्यत्वे बाध-
काभावात् तस्मान्नोत्पद्यते प्राणादिरिति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरम् तथा प्राणाः प्राणा-
दयोवियदादिवदुत्पद्यन्ते एष कुतः ? एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च इत्यादि
इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्राणों की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि ‘तस्माद्वा एतस्मा-
दात्मनः’ इत्यादि उत्पत्ति प्रकरण में प्राणों के उत्पाद का श्रवण नहीं है [यदि प्राण का सर्ग
श्रुति संमत हो तबतो जिस तरह आकाश का श्रवण है उसी तरह प्राण का उत्पाद भी
श्रुत होता वह तो श्रुत नहीं है । इसलिए आकाशोत्पत्ति के समान प्राण का उत्पाद नहीं
होता है] इस तरह प्रकृत प्रकरण में प्राणोत्पत्ति श्रुत नहीं है उसी तरह अन्यत्र भी
“यह परिदृश्यमान जगत् असत् था तो उत्पत्ति के पूर्व में क्या था ? ये ऋषि लोग उत्पत्ति
के पूर्व में सदात्मक थे । वे कौन से ऋषि लोग थे ? ये प्राण ही ऋषि पदवाच्य थे’
इस तरह उत्पत्ति के पूर्व में भी ऋषिपदवाच्य प्राणों का अवस्थान उत्पत्ति के पूर्व में
भी सुना गया है ।

क्यतासम्पादनार्थमृषिश्रुतेः परमात्मपरत्वेन नेतव्यत्वात् । ‘सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते’ (छा० १।१।५) इत्यादौ प्राणशब्देन परमात्मन एव ग्रहणात् । एवमृषिशब्दश्च परमेश्वरस्यैव वाचको नेन्द्रियादीनाम् ॥१॥

॥ गौण्यसम्भवात् २।४।२ ॥

अथैवं ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः’ (तौ०२।१)

स्थले सर्वशक्तिसमन्वितपरमेश्वरात्प्राणाद्युत्पादस्य श्रवणात् । यद्यपि ऋषिश्रुतय उत्पत्तेः पूर्वमपि तत्सद्भावं श्रावयन्ति तथापि तत्र प्राणादिपदानां परमात्मपरत्वात् तत्रावयवेनावयविन एव ग्रहणात् । शरीरवाचकपदानां शरीरिपर्यन्तगतत्वस्यान्यत्र निश्चितत्वादुत्पद्यन्ते एवेन्द्रिया परनामानः प्राणादय इति सिद्धान्तसारः । १।

ननु प्राणनित्यताप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधात्प्राणोत्पादकश्रुतिवाक्यस्य गौणत्वं स्या

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं ‘तथा प्राणाः’ इति । जिसतरह आकाशादि भूतो की उत्पत्ति होती है उसी तरह प्राणों की भी उत्पत्ति होती है । क्यों “इस सर्वशक्तिमान् परमात्मा से उत्पत्ति होती है ।” इस श्रुति में परमात्मा से प्राणोत्पत्ति श्रुत है “उत्पत्ति के पूर्व में आत्मा ही केवल एक था” इस प्रकार सृष्टि के पूर्व में केवल परमात्मा का अवस्थान का निश्चय किया है । इस श्रुति के साथ एक वाक्यता को संपादन करने के लिए ऋषि श्रुति परमात्मपरक है ऐसा मानना चाहिए । “सभी ये भूतवर्ग प्रलयकाल में प्राणों में विहीन हो जाते हैं और सर्गकाल में प्राण से प्रादुर्भूत होते हैं” इत्यादि स्थल में प्राण शब्द से परमात्म का ही ग्रहण किया है । इसलिए “प्राण वाव ऋषयः” इस मन्त्र में ऋषि शब्द परमात्मा का ही बोधक है इन्द्रियों का बोधक नहीं है “अवयव वाचक शब्द अवयवी में पर्यवर्तित होता है ऐसा नियम है, प्रकृत में प्राणादिक परमात्मा का विशेषण प्रकार है और परमात्मा अवयवी प्रकारी है, इसलिए प्राणशब्द स्वावयवी का ही बोध कराता है, “एतस्माज्जायते प्राणः” “प्राणा वाव ऋषयः” इन दोनों श्रुतियों के एकवाक्यता के वल से ॥१॥

प्रश्न=प्राण की उत्पत्ति सर्गादि में आकाशादि के समान ही होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि “तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः” यह जो उत्पत्ति प्रकरण है, उसमें आकाशादि की तरह प्राणोत्पत्ति का श्रवण नहीं है । अतः प्राणोत्पादक जो ‘एत-

इत्युत्पत्तिप्रकरणे प्राणानामुत्पत्त्यश्रवणादुत्पत्तिश्रुतिगौणी स्यात्
तत्राह—गौण्यसम्भवात् । गौण्या असम्भवस्तस्मात् । न हि प्राणोत्पत्ति
श्रुतिगौणी सम्भवति । बाहुल्येन तत्र तत्र प्राणोत्पत्तेः श्रवणात् । एक
विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च ॥२॥

॥ तत्प्राक् श्रुतेश्च २।४।३ ॥

इतोऽपि प्राणोत्पत्तिश्रुतिमुख्यैव । ‘एतस्माज्जायते प्राणो
मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी’
[मु० २।१।३] इतिश्रुतावेकमेव ‘जायते’ इति पदं सर्वत्रान्वेति तत्र
दिति चेन्न- असंभवात् । अर्थात् न हि उत्पत्तिश्रुतिगौणीसंभवति यतो बहुषु स्थलेषु तदु-
त्पत्तेः श्रवणात् । अश्रवणन्तु क्वचिदेव । तथा च बहुविरोधस्यान्याय्यत्वात् । अन्यथा
यदि उत्पत्तिश्रुतिगौणीस्यात्- अर्थात् प्राणोत्पत्तिर्न भवेत्तदा एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान
प्रतिज्ञाकदर्थितास्यादिति प्रतिज्ञायाः सार्थक्यायाश्रुतस्यापि समुत्पत्तिः कल्पनीया किम-
ङ्गपुनः श्रुतस्य गौणत्वकथनमित्याशयेनोपक्रमते अथैवं तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यादि ।
सुगममन्यदिति ॥२॥

अथ एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिश्रुतौ जन्मवाचकं जायते इति पदमेकमेव, तदेव
प्रथमतः प्राणे श्रूयते तदनन्तरमाकाशादौ ततश्च प्रथमोपात्ते गौणत्वं द्वितीयादौ मुख्यत्वं
स्माज्जाये प्राणः” इत्यादि प्राणोत्पाद बोधक श्रुति जो है वह गौणी है ? इस आशंका के
के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “गौण्यसंभवादिति.” उत्पत्ति श्रुति में गौणत्व पक्ष असंभवित
है । अर्थात् प्राणोत्पत्ति श्रुति को गौणी नहीं कह सकते हैं. क्योंकि कनेक स्थल में प्राण
का सर्ग श्रुत है । यदि कदाचित् प्राण को ब्रह्मजन्य न मानें तब तो ब्रह्म के ज्ञान से प्राण
विज्ञात नहीं होगा, तब जो शास्त्र में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा है. उसका ब घ
हो जायगा । अतः तदन्यथानुपपत्ति से प्राणोत्पत्ति को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, उत्पत्ति
श्रुति गौणी नहीं है किन्तु मुख्य ही है ॥२॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि प्राणोत्पत्ति श्रुति मुख्या है गौणी नहीं
है “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” इस श्रुति में एक ही “जायते” इस पदका
सर्वत्र अन्वय होता है, उसमें प्रथमतः जायते पद का प्राण में ही अन्वय होता है. आका-

प्राणेष्वेव प्राक् श्रुतम् । खादिषु तु पश्चादन्वेति न हि प्राक् श्रुतस्य पदस्याव्यवहितसमनन्तरभाव्यन्वयस्तदव्यवहितेष्वेव स्यात् । किञ्च न ह्येकमेव पदं सकृदुच्चरितं क्वचिद्गौणं क्वचिच्च मुख्यं स्यात् । वैरूप्यप्रसङ्गात् । तस्मात् प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्मुख्यैव ॥३॥

५ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः २।४।४ ५

प्राणानामाकाशादिवदुत्पत्तिरस्त्येव । कुतः ? वाचोब्रह्मेतरना नानुकूलतां भजते । तस्मात्पूर्वश्रुतत्वान्मुख्यमेव जायते इति पदं प्राणे इति न प्राणोत्पत्तिप्रतिपादक श्रुतिः स्वार्थप्रतिपादनेन गौणी, अपितु मुख्यैवेति दर्शयितुमाह तत्प्रागित्यादि । भाष्यार्थो नतिरोहितः ॥३॥

“तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्यक्रियत” (बृ० ३।४।७) ‘अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक्’ (छा० ६।५।४) इत्यादिश्रुतौ वागादीनां प्राणशब्दाभिहितानामिन्द्रियाणां परब्रह्मकारणकतेजोऽवन्नपूर्वकत्वाभिधानादाकाशादिवदुत्पत्तिरस्त्येवेत्याह प्राणानामित्यादि । तथैव स्मृतिकारा अपि ‘ततो लीलार्थमात्मानं बह्वकल्पयदीश्वरः । अथ प्रधानमसृजत् पुरुषाधिष्ठितं स्वतः ॥ ततो महान्तमव्यक्ताज् जनयामास नारद ? । गुणत्रयात्मकं तस्मादहङ्कारमतः परम् ॥ इन्द्रियाणि दशैतानि ज्ञानकर्मात्मकानि वै । मनश्च सात्विकात्तस्मादहङ्काराज्जनार्दनः’ इति (अहिर्बुध्न्यः हिता) तथा च जगद्गुरु श्री श्रियानन्दाचार्यचरणाः श्रौतप्रमेयचन्द्रिकायाम्—

‘इन्द्रियाणि हि जातानि चाहङ्कारात्तु सात्विकात् ।

अनुग्राहकताचाथ राजसाहङ्कृतेरिह ॥

‘इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु’ इत्येतच्छ्रुतिवाक्यतः । विरुद्धैवेन्द्रियाणां नन्वहङ्कारिकता खलु ॥ शादिक में उसके बाद अन्वय होता है । पूर्वं श्रुत जो पद है उसको अव्यवहित अनन्तर-भात्री में अन्वय न हो किन्तु व्यवहित में अन्वय तो उचित नहीं है । किञ्च सकृत् उच्चरित एक पद कहीं गौण हो कहीं मुख्य हो ऐसा ठीक नहीं क्योंकि वैरूप्य प्रसङ्ग हो जायगा । अतः प्राणोत्पत्ति श्रुति मुख्य है ॥३॥

जिस तरह ब्रह्म से आकाशादि पदार्थ की उत्पत्ति होती है उसी तरह उस पर ब्रह्म से प्राणों की भी उत्पत्ति होती है । क्योंकि वाचः=ब्रह्म भिन्न सकल नामों को ब्रह्म पूर्व-

अस्तपूर्वकत्वात् । “तद्धेदंतर्ह्यव्याकृतमासीदित्यादि श्रुतौ ब्रह्मकारणका
काशादिसृष्टिपूर्वकत्वाभिधानादित्यर्थः । तस्मात्प्राणपदबोध्यानामि-
न्द्रियाणामुत्पत्तिरस्त्येव ब्रह्मण इति सिद्धम् ॥४॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

मेनं लयपदाभावाल्लयोनानुषज्यते । तन्मात्रेणैव इन्द्रियाणां च किन्तु संसर्गितैव हि ॥

‘इन्द्रियाणि मनश्चापि लीयन्तेऽहङ्कृतौ ततः ।’

पुराणेऽपीन्द्रियाणां हि हेतुताऽहङ्कृताविति ॥’

(१ १००-१०२) तथैव च प्रमेयोद्देशभास्करे जगद्गुरु श्रीचिदानन्दाचार्याः—

“प्रकृतिर्जडद्रव्यं हि सत्त्वादित्रिगुणाश्रयः । अव्यक्तं सेशसंकल्पाद्गुणानां विषमत्वतः । ४९।
त्रिधा सत्त्वादिभेदाच्च जायतेऽव्यक्ततो महान् ।

अहङ्कारस्ततो जातास्त्रिधा सत्त्वादिभेदतः ॥५०॥

जायत इन्द्रियश्चाथ त्वहङ्काराच्च सात्त्विकात् ।

ज्ञानकर्मेन्द्रियत्वाभ्यामिन्द्रियं द्विविधं मतम् ॥५१॥”

इति । प्रकृतप्रसङ्गे जगद्गुरु श्रीअनन्तानन्दाचार्या अपि प्रोचुः श्रुतिसिद्धान्तभास्करे—
“सात्त्विकाहङ्कृतेर्जातमिन्द्रियं द्विविधं किल ।

मनः श्रोत्रादिषट् तत्र ज्ञानेन्द्रियं प्रकीर्तितम् ॥” इति ।

तथैव जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्याः श्रौतार्थसंग्रहे—‘अव्यक्तपदवाच्यायाः
प्रकृतेर्यः प्रथमो विकारः स महान् । स च त्रिविधः सात्त्विकराजसतामसभेदात् । महतः
प्रथमो विकारोऽहङ्कारः सोऽपि सात्त्विकादिभेदात् त्रिविधः । एते सात्त्विकराजसताम-
साख्या अहङ्काराः क्रमाद्वैकारिकतैजसभूतशब्दैरप्यभिधीयन्ते । राजसाहङ्कारशहङ्कृतात्
सात्त्विकाहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्ते । तानि द्विविधानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रि-
याणि च’ इत्यादि । अतो ब्रह्मणः प्राणपदबोध्यानामिन्द्रियाणां समुत्पत्तिर्भवत्येवेति दिक् ४।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

कत्व कां कथन किया गया है “यह जगत् उत्पत्ति पूर्वकाल में अव्याकृत नाम रूपवाला
था । तत्पश्चात् व्याकृत नाम रूपवाला हुआ” इत्यादि श्रुति में ब्रह्मकारण जो आकाशादि
उसका सृष्टि पूर्वकत्व का कथन होने से । अतः इस प्राण पद बोध्य जो इन्द्रिय समुदाय है
उनकी उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, यह सिद्ध हुआ ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

अथ सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

ॐ सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च २।४।५ ॐ

एवमिन्द्रियाणां ब्रह्मकार्यत्वमभिधायेदानीं तेषां संख्याया विचारः प्रस्तौति । तत्रेन्द्रियाणि सप्तैवाहोस्विदेकादशेत्युभयथा वचनोपलम्भात् संशयः । तत्र सप्तैवेति पूर्वपक्षः । कुतः ? गतेः । विशेषितत्वाच्चा 'सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता स्सप्त सप्त । [मु० २।१।८] इतिसप्तानामेव गतिरुपलभ्यते । तेषां स्वरूपतो निर्देशस्तु 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानिमनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्' (का० ५।६।१०) इतिसप्ताना

प्राणाः समुत्पद्यन्ते नवेति संशय्य तद्विषये श्रुतिविप्रतिपत्तिं निरस्य सम्प्रति तदीय संख्याविषयकश्रुतिविप्रतिषेधं निरासितुमुपक्रमते एवमिन्द्रियाणामित्यादि तत्र श्रुतिविप्रतिपत्यासंख्याविषये संशयोभवति, । क्वचित्सप्तप्राणाः प्रतिपादिताः क्वचिदष्टौ महत्त्वगुणेन कीर्तिताः । क्वचिन्नव क्वचिद्दश, क्वचिदेकादशः क्वचिद्वादशत्रयोदशेति संशयो भवति यदिमे कियन्तः । तत्र पूर्वपक्षः तत्र सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् इत्यादौ सप्तानामेव गतिश्रवणात् सप्तैव ते । विशेषिता अपि सप्त इमे लोका इत्यादौ तस्मात् सप्तैव

पूर्व प्रकरण में प्राणोत्पत्ति विषयक श्रुति विप्रतिषेध का निराकरण करके सम्प्रति प्राणों के संख्या विषयक श्रुति विप्रतिषेध का निराकरण करके तृतीय संख्या का निश्चय करनेके लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "एवमिन्द्रियाणामित्यादि" पूर्वोक्त अविकरण से इन्द्रिय में ब्रह्म कार्यत्व का कथन करके अर्थात् ब्रह्म से इन इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है नतु जीववत् प्राण नित्य है इस बात का प्रतिपादन करके सम्प्रति प्राणों की संख्या सात है या आठ है, इत्यादि रूपा विप्रतिपत्ति है तद्विषयक विचार को प्रस्तुत करते हैं । उसमें इन्द्रिय सात है अथवा एकादश है इस प्रकार दोनों तरह के वचन का उपलब्ध होने से संशय होता है । इसमें सात ही प्राण हैं ऐसा पूर्वपक्ष होता है । क्योंकि सात ही अवगत होता है तथा सात ही विशेषित है "सात ये लोक है, जिसमें ये प्राण संचरित होते हैं, ये सातों सात गुहा में निहित हैं ।" इत्यादि स्थल में सात प्राण की ही गति उपलब्ध है । इन सातों प्राण का स्वरूप से निर्देश किया है "जिस समय में पाँचों ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ बुद्धि में व्यवस्थित हो जाते हैं और बुद्धि निश्चल होकर के व्यवस्थित रहती है उसको परमागति कहते हैं" । इस स्थल में सात प्राणों का ही निर्देश किया गया है । तथा

मेव निर्देशः । तथा 'सप्त ते शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ' (तौ०सं० ५।१।७।१) इत्यादौ सप्तैव विशेषितास्तस्मात्सप्तैवेन्द्रियाणीति पूर्वपक्षः ॥५॥

अथ सिद्धान्तः—

❧ हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् २।४।६ ❧

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । हस्तादयोपीन्द्रियाणीतराणि सन्तीत्यतो नैव सप्तैवेन्द्रियाणीति । किन्त्वेकादशेन्द्रियाणि । तथा च प्राणा भवन्ति नन्यूनानाप्यधिका इति पूर्वपक्षः । एतदेव दर्शयितुमाह तत्रोन्द्रियाणि सप्तैवेत्यादि अतिरोहितार्थमन्यत् ॥५॥

अत्र सिद्धान्तयति- हस्तादयः इत्यादि । न सप्तैवेन्द्रियाणि किन्तु एकादशेन्द्रियाणि । तत्र रूपादिविषयग्रहणाय चक्षुरादीनिपञ्चज्ञानकारणानि वचनादानादिविषयोपलब्धये वागादीनिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि सर्वार्थविषयकमेकं मन इति संकलनया एकादशानीन्द्रियकरणानि सर्वथैव संग्राह्याणि, अतो न सप्तैवेन्द्रियाणि किन्त्वेकादशानि तानि । यद्यपि स्तोककल्पना लघीयसीभवति प्रथमपक्षे तथापि तत्तत्कार्यसंपादनाय तानि तानि स्वीकर्तव्यानि । न्यूनाधिकसंख्यासंशये अधिकैव संग्राह्या, तत्र न्यूनानामन्तर्भावस्य संपादनीयत्वात्, नतु न्यूनायामधिकानां संग्रहः । नच तदाद्वादशत्रयोदशापि 'सात शिरो भागस्थ प्राण हैं तथा नीचे दो हैं ।' इत्यादि स्थल में सात ही प्राण विशेषित हैं । तस्मात् सत ही इन्द्रिय है यह पूर्वपक्ष हुआ ॥५॥

इन्द्रिय संख्या को निश्चित करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "अथ सिद्धान्त" इत्यादि. अब इस विषय में सिद्धान्त बतलाते हैं "हस्तादय इत्यादि सूत्रम् । इस सूत्र में जो तु कब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । सात से अतिरिक्त हस्तादिक अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रिय भी है, इसलिए सात ही इन्द्रिय हैं यह कहना ठीक नहीं है किन्तु एकादश इन्द्रिय हैं, स्पर्शादि विषय का ग्राहक पाँच चक्षुरादिक ज्ञानकरण तथा वचनादानादि विषय ग्राहक पाँच हस्तादिक कर्मेन्द्रिय एवं सर्वार्थ ग्राहक दश इन्द्रिय का अध्यक्ष ग्यारहवाँ मन है । श्रुति इसी तरह से कहती है "ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच, ये दश इन्द्रिय पुरुष में हैं तथा आत्मा अन्तःकरण यह ग्यारहवाँ हैं" इस श्रुति में आत्मशब्द से जीव का सर्वार्थकारी मन का ग्रहण होता है, [प्रत्येक पदार्थ का ग्रहण करने में मन ही जीव का सहायक है. इसलिए जीव का अतिसमीपवर्ती मन का भी आत्म शब्द से स्थल विशेष में

श्रुतिः । 'दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश' (बृ०३।९।४) अत्रात्मशब्देन मनो गृह्यते । स्मृतिश्चास्मिन्नर्थेऽनुसरति श्रुत्यर्थम् । 'इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्चचेन्द्रियगोचराः' (गी०१३।६) बुद्ध्यादीनां मनोवृत्तिवान्न पृथग्गणनम् । सप्तानां विशेषतो गतिश्रवणात्क्वचित्सप्तोपादानम् । न तत्सप्तत्वसंख्यैवेन्द्रियाणामित्यवधारणपरम् । तस्मादेकादशैवेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

तदीयसंख्याऽभ्युपेतव्येतिवाच्यम् विषयाभावात् । अयंभावः विषयोपलब्धये करणस्वीकारः विषयास्तु शब्दादय एकादशैव तदर्थमेकादशकरणकल्पनंभवति । यदितोप्यधिकाविषयाभवेयुस्तदातदर्थं करणान्तरं कल्पनीयं भवेत्, परन्तुनतवेवमस्ति, तस्मात्, हस्तादिकर्मैन्द्रियाण्यन्तर्भाव्यैकादशैवेन्द्रियाणि नतु सप्तैवेति तदाहुरस्मद्गुरुचरणा गीतार्थचन्द्रिकायाम् 'त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वाश्रोत्रमत्र च पञ्चमम् । शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि च द्विज ॥ पायूपस्थौकरौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी ॥ विसर्गशिल्पगत्युक्तिः कर्मतेषाञ्चकथ्यते । एकादशं मनश्चात्र, (वि०पु०) इति वैष्णवपुराणवचनानुसारान् ज्ञानकर्मोभयरूपाणामिन्द्रियाणामेकादशत्वमुपपद्यते' इति । एतत्सर्वं सप्रमाणं दर्शयितुमाह भाष्यकारः हस्तादयोपीत्यादि अन्यत्सुगमम् ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीगमप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

ग्रहण किया जाता है । इस विषय में स्मृति भी श्रुत्यर्थ का अनुसरण करती है "इन्द्रिय दश है तथा एक है, अर्थात् एकादश हैं ।] बुद्धि चित्त अहंकार ये सब मन का ही वृत्ति विशेष है, इसलिए मन से पार्थक्येन बुद्ध्यादिक का पृथक् परिगणन नहीं किया ।] "मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे" इस नियम से यद्यपि अन्तःकरण चार है तथापि वृत्ति मात्र के भेद से अन्तःकरण में भेद व्यवहार होता है, वस्तुस्त अन्तःकरण एक ही है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है "बुद्ध्यादीनां मनोवृत्तिवान्नपृथग्गणनमिति" । तब सात ही प्राण का कथन क्यों किया ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं भगवान् भाष्यकार "सप्तानामित्यादि" सात इन्द्रियों का विशेष रूप से गतिश्रवण होने से कहीं कहीं सात का कथन किया है किन्तु इन्द्रियों की सात ही संख्या है, एतादृश अवधारणा नहीं है । इसलिए एकादश इन्द्रिय हैं, यह सिद्ध होता है नतु सातही है अथवा बारह तेरह है । इति इन्द्रिय संख्यानिर्धारणम् ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सप्तगत्यधिकरणम् ॥२॥

अथ प्राणणुत्वाधिकरणम् ॥३॥

५ अणवश्च २।४।७ ५

ते हीन्द्रियशब्दाभिलष्याः प्राणा विभव आहोस्विदणव इति पूर्वः पक्षः । कुतः ? 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ०१।५।१३) इति श्रुतेः । इति प्राप्तेऽभिधीयते—अणवश्चेति—अणव एव प्राणाः । 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति' (बृ०४।४।२) इति तेषामुत्क्रान्तिश्रवणादणुत्वमेव । विभूत्वे तूत्क्रान्त्यसम्भवात् ।

योयं प्राणस्तस्य संख्याविषयको विप्रतिषेधो निराकृतः सम्प्रतितस्य परिमाणविषयक विप्रतिषेधं निराकर्तुमुपक्रमते ते हीन्द्रियशब्दाभिलष्या इत्यादि । ते प्राणाः व्यापकपरिमाणवन्तोऽणवोवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः । [सांख्यमते इन्द्रियमाहङ्कारिकम्, अहङ्कारश्च प्रायोजगन्मण्डलवृत्तिरिति । अन्येतु अणव एवेति कथयन्ति इति वाधिविप्रतिपत्त्या संशयः । तत्र व्यापकत्वमिति पूर्वपक्षः । कुतः ! 'सर्वे ते समाः सर्वे ते अनन्ता इति श्रुतेः । अणव इति सिद्धान्तः कुतः ! विभूत्वे उत्क्रान्तिगत्यागतीनस्यात् तस्मादणुः । अणुत्वमपि न परमाणुतुल्यत्वम् किन्तु सूक्ष्मत्वमेव, अन्यथा शरीरव्यापिकार्यानुपलब्धेः सूक्ष्मा एवैते

प्राणों के संख्या विषयक विप्रतिषेध का पूर्वाधिकरण से निराकरण करके प्राण के परिमाण विषयक प्रतिषेध का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं "ते हीन्द्रियेश्यादि" सांख्यवादी इन्द्रिय को अहंकारजन्य मानते हैं और अहंकार जगन्मण्डलव्यापी है । अतः इन्द्रिय में व्यापकत्व है । अन्यव्यक्ति इन्द्रिय को अति सूक्ष्म मानते हैं अर्थात् अणु मानते हैं तो इसतरह भिन्न मतक होने वाले का निराकरण करना आवश्यक समझ करके अधि-करणान्तर का प्रारंभ होता है । पूर्वोक्त इन्द्रिय शब्द वाच्य जो प्राण हैं वे व्यापक परिमाण वाले हैं अथवा अणु परिमाणवान् है । ऐसा संशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्ष होता है कि ये व्यापक परिमाणवान् है । क्योंकि "वे सब समान हैं वे सब प्राण अनन्त हैं" इसप्रकार से श्रुति कहती है । अतः प्राण व्यापक परिमाणवाला है किन्तु अणु परिमाणवान् नहीं है

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'अणवश्चेति' ये सब प्राण अणु परिमाणक है । क्योंकि मुख्य प्राण के शरीर से उत्क्रमण करने के पश्चात् तदितर सब प्राण उत्क्रान्त हो जाते हैं' इस तरह श्रुति में प्राणों का उत्क्रमण कहा गया है तो यह जो उत्क्रमण होता है

प्राणानां गतावपि पार्श्वस्थैरदृश्यमानत्वादणव एव प्राणाः । इन्द्रिया-
णाम्प्राप्यकारित्वाच्चक्षुरादेर्गतिमत्त्वमप्यत्र मानम् ॥७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥७॥

अथ श्रेष्ठ्याधिकरणम् ॥८॥

ॐ श्रेष्ठश्च २।४।८ ॐ

वागादीन्द्रियाणां स्वरूपस्थितेः प्रवृत्तेश्च मुख्यप्राणाधीनत्वस्य
छान्दोग्यादिश्रुतिषूपदिश्यमानत्वाद्वागादिभ्यस्तस्य श्रेष्ठत्वात् । 'प्राण
स्थूला भवेयुस्तदामरणकालेशरीरान्तिर्गन्तं पार्श्वस्थाः पश्येयुर्नतु पश्यन्ति । तस्मादणव
एवेतिदर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुमाह विभवोऽणव इत्यादि । भाष्याक्षरार्थस्तु न तिरोहितः । ७।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥३॥

योयं मुख्यप्राणः स स्वेतरप्राणापेक्षया श्रेष्ठ इतिवागादिकलहप्रकरणे व्यवस्था-
इससे सिद्ध होता है कि प्राण का परिमाण अणु है. यदि वह व्यापक परिमाणवान् होगा तब
उसका उत्क्रमण नहीं होगा । व्यापक परिमाणवान् निष्क्रिय होता है. निष्क्रिय का उत्क्रमण
असंभवित होता है । त्रियमाण पुरुष के प्राण को शरीर से गमन समय में पार्श्वस्थ पुरुष
से अदृश्यमान होने से वह प्राण अणु है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है । अन्यथा शरीर व्याप्ति
सुखादि की उपलब्धि नहीं होगी । और चक्षुरादिक जो इन्द्रिय है वह प्राप्यकारी है, अर्थात्
चक्षु स्वगोलक से निकल करके विषय प्रदेश में जाकर के विषय संयुक्त होकर के वस्तु को
ज्ञापित करता है, इसी को कहते हैं प्राप्यकारी । तो यदि चक्षुरादिक इन्द्रिय विभु वा
मध्यम हो रूपस्पर्शादिमान् हो तो उस समय में चक्षु का चाक्षुष भी दुर्निवार हो जायगा ।
तो चक्षुरादि का गतिमत्त्व जो है, इससे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रियादिक प्राण अणु है
विभु वा मध्यम नहीं है ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥३॥

मुख्य प्राण में उत्पत्तिमत्त्व का निरूपण करने के लिए उपक्रम करते हैं 'वागादी-
न्द्रियाणामित्यादि' वागादिक इन्द्रियों की स्वरूपस्थिति तथा प्रवृत्ति मुख्य प्राण के अधीन है.
इस बात को छान्दोग्यादिक में कहा गया है इसलिए इतर प्राणापेक्षया मुख्य प्राण श्रेष्ठ है ।
प्राण के उत्क्रमण के अनन्तर सब इतर प्राण उत्क्रान्त होते हैं' इसप्रकार पञ्चवृत्त्यात्मक मुख्य

मनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति' इति च मुख्यप्राणस्य पञ्चवृत्यात्मनः श्रेष्ठत्वदर्शनात् श्रेष्ठः सनोत्पद्यत आहोस्विदुत्पद्यत इति संशयः । तत्रोद्भिद्यरूपप्राणेभ्योऽस्य प्राणस्य श्रेष्ठत्वञ्चानुत्पत्तिमत्वेनैव स्यात् । तथा च नासदासीयसूक्ते 'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्द्वान्यन्न परः किञ्च नास' (ऋ०सं.८।७।१७) इतिप्रलयेऽपि प्राणनव्यापारस्य श्रवणादिति पूर्वपक्षोत्थाने सिद्धान्तयति । श्रेष्ठः प्राणोऽप्युत्पद्यते । 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु०२।१।३) इतिखादिवदस्याप्युत्पत्तिश्रवणात् । आनीदवातमिति न प्राणमभिधत्ते किन्तु तत्समये परमात्मनः सत्तामेवेति तत्त्वम् ॥८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये श्रेष्ठयाचिकरणम् ॥४॥

पितवान् सोमुख्यः, नोत्पद्यते जीवत् अथवा इतरप्राणबहुत्पद्यते इति संशयः । नोत्पद्यते इति पूर्वपक्षः । कुतः ? यद्युत्पद्यते तदा स्वेतरप्राणापेक्षयाऽस्य श्रेष्ठत्वं किंस्यात्, अनुत्पत्तिमत्त्वमेवेतरेभ्यः श्रेष्ठत्वम् आनीदवातमिति श्रुतेश्चेति चेन्न, एतस्माज्जायते इत्यादिना तस्याप्युत्पत्तेः श्रवणात् । आनीदवातमिति मूलप्रकृतिपरमित्येतद्दर्शयितुमाह श्रेष्ठश्चेति । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे श्रेष्ठयाचिकरणम् ॥४॥

प्राण को श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया है । श्रेष्ठ जो मुख्य प्राण जीवत् अनुत्पन्न होता है अथवा आकाशादि वत् परब्रह्म से उत्पन्न होता है । ऐसा संशय होता है इसमें पूर्वपक्ष होता है कि इन्द्रिय रूप प्राणों से इस प्राण को जो श्रेष्ठत्व है वह तो अनुत्पत्तिमत्वेनैव होगा अर्थात् इन्द्रियान्तर के अपेक्षया मुख्य प्राण में यही श्रेष्ठता है कि यह उत्पन्न नहीं होता है इतर प्राण उत्पन्न होता है । और 'आनीदवातम्' इत्यादि श्रुति से प्रलयकाल में भी प्राणनव्यापारश्रुत है, अतः मुख्य प्राण अजन्य है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि श्रेष्ठ प्राण भी उत्पन्न होता है 'एतस्माज्जायते' इत्यादि श्रुति से वियदादिवत् इसकी उत्पत्ति भी श्रुत है 'आनीदवातम्' यह श्रुति प्रलय में प्राण सत्ता को नहीं बतलाती है किन्तु उस समय में इस श्रुति से परमात्म सत्ता का प्रतिपादन होता है ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे श्रेष्ठयाचिकरणम् ॥४॥

अथ वायुक्रियाचिकरणम् ॥५॥

५ न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् २।४।९ ५

किमयं मुख्यः प्राणो भूतवायुरेवोत क्रिया विशेष आहोस्वि-
त्कामप्यवस्थामापन्नो विशिष्टो वायुरिति संशये-भूतपरिगणितो
वायुरेवायम् । कुतः ? 'वायुरेव प्राणः' इतिलौकिकवैदिकानां व्य-
वहारात् । यदि तूच्छवासनिश्वासादिषु प्राणव्यपदेश इत्युच्यते तदा
क्रियैवायं प्राणः । इतिप्राप्तेऽभिधीयते 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशादिति ।
नायं पञ्चवृत्त्यात्मा मुख्यः प्राणो वायुर्वाक्रियावेति किन्तु ततो भिन्ना
एव । कुतः ? पृथगुपदेशात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रि-
याणि च खं वायुर्ज्योतिरापः' (मु०२।१३) इतिभूतात्मनो वायोः
पार्थक्येनोपदेशात् । न क्रिया तस्या अपि पृथगुपदेशाऽसम्भवात्

योयं मुख्यप्राणः स किं द्वितीयभूतरूप एव, अथवा तदीयक्रियाविशेष इति संशये
भूतरूप एव श्रुतौ तथा प्रतिपादनात् निःश्वासादिरूप एव वा लोकप्रसिद्धेस्तमिमं पूर्व-
पक्षानिराकरोति, योयं मुख्यप्राणोभूतवायुरूपो न नवा क्रिया रूपः, ताभ्यां पार्थक्येन

जो यह मुख्य प्राण है वह क्या भूत वायु रूप है अथवा क्रिया विशेष रूप है ?
यहाँ किसी अवस्था विशेष को प्राप्त विशिष्ट वायु रूप है । यह संशय होता है । इसमें पूर्व-
पक्षवादी कहते हैं कि भूतों की गणना में परिगणित वायु रूप ही यह प्राण है । क्यों ?
'वायु ही प्राण है' इस तरह लौकिक वैदिकों का व्यवहार देखने में आता है । यदि
कदाचित् कहो कि श्वाशोच्छ्वास में ही प्राण का व्यवहार होता तब तो यह प्राण क्रिया
रूप ही है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'न वायु क्रिया इत्यादि । जो यह प्राणस्था-
नादि पञ्चवृत्ति लक्षण प्राण है वह न तो भूत वायु रूप है नवा क्रिया रूप है किन्तु
इन दोनों से अतिरिक्त ही है । क्योंकि इन दोनों से पार्थक्येन इसका व्यपदेश है ।
'इस परमात्मा से प्राण मन सर्वेन्द्रिय आकाश वायु तेज और जलादिक उत्पन्न होते हैं'
इस श्रुति में भूत वायु से पृथक् रूप से निर्देश किया गया है । नवा क्रिया रूप प्राण
है । क्योंकि अगर क्रिया रूप प्राण हो तब तो क्रिया से पार्थक्येन जो उपदेश है वह

तस्मात्ताभ्यां भिन्न एव प्राणः । 'वायुरेव प्राण' इतिव्यवहारस्तु देहधारणयोग्यतामापन्नो न तत्त्वान्तरमिति न वा वायुमात्रमिति सामान्येन सूचयितुम् ॥९॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः २।४।१०

ननु सर्वेन्द्रियेभ्यः प्राणस्य श्रेष्ठत्वात्तस्य च वायुक्रियत्वाभावाच्च तेजोवद् भूतान्तरत्वस्वातन्त्र्येण स्यादित्यत्राह 'चक्षुरादिवदित्यादि । तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । नायं प्राणोऽग्न्यादिवत्तत्त्वान्तरं किन्तु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणमेव । कुतोऽवगम्यते ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । जीवोपकरणभूतैश्चक्षुरादिभिस्सह प्राणस्य शिष्टिरूपदेशोऽवगम्यते प्राणसंवादादिषु । सा च शिष्टिः समानजातीयत्वे समानकार्यो व्यपदेशादेतमर्थदर्शयितुमाह किमयं मुख्यप्राण इत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥९॥

ननु छान्दोग्यादिश्रुतिषु करणकलहप्रस्तावे चक्षुरादिकरणान्तरापेक्षया प्राणस्य श्रेष्ठत्वं, वायुरूपक्रियारूपाभावाच्च, जलादिभूतवत् तस्य तत्त्वान्तरत्वं कथंनेति शंकायाः समाधानायोपक्रमते ननु सर्वेन्द्रियेभ्य इत्यादि न प्राणो जलादिवत् तत्त्वान्तरं यतो जीवोप-असंभविता हो जायगा । तस्मात् भूतवायु तथा तदीय क्रिया इन दोनों से प्राण भिन्न है । 'वायु ही प्राण है' यह जो व्यवहार है 'यह तो देह धारण योग्यता को प्राप्त किया हुआ वायु ही प्राण है नकी तत्त्वान्तर है नवा वायुमात्र रूप है इस बात को सूचित करने के लिए पूर्व व्यवहार है ॥९॥

चक्षुरादि सर्व कारणापेक्षया प्राप्त को श्रेष्ठ होने से तथा वायु क्रिया रूप नहीं होने से तेजः प्रभृतिक भूतवत् प्राण भी स्वातन्त्र्येण भूतान्तर होगा ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं 'चक्षुरादिवदित्यादि' सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । यह मुख्य प्राण तेजः प्रभृतिक भूतों के समान तत्त्वान्तर नहीं हैं किन्तु चक्षुरादि इन्द्रिय के समान जीव का उपकरण है, अर्थात् जिस तरह रूपादि विज्ञान को उत्पादन करके जीव के भोग में सहायक होने से जीवका उपकरण है उसी तरह जीव के भोग में प्राण भी सहायक हैं इसलिए प्राण भी जीवोपकरण है तत्त्वान्तर नहीं है । प्राण चक्षुरादि के समान जीव का उपकरण है इस

पपादकत्वे हि उपपद्यते । नेतरथा । आदिना प्राणस्वातन्त्र्यनिरा-
सहेतवो गृह्यन्ते ॥१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति २।४।११

ननु यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्यापि करणत्वमिष्यते तर्हि विषया
न्तरमपि पृथङ्निर्वाच्यम्, नहि रूपादिभ्यः कश्चिद्विन्नो विषयस्समु-
पलभ्यत इतिकथं चक्षुरादिवत्करणत्वमस्येत्यत आह 'अकरणत्वादि-
त्यादि' नहि विषयान्तरप्रसङ्गरूपो दोषः शक्यः समुद्भावयितुम् ।
प्राणस्य चक्षुरादिवदकरणत्वात् । न हि तावद्विषयविशेषपरिच्छेदक-
तया चक्षुरादेर्यथा करणत्वं तथास्य करणत्वम् । किन्तु विषयव्यापारा-
भावेऽपि स्वरूपेणैवास्य जीवोपकारकत्वम् । तथा हि दर्शयति श्रुतिः

करणभूतचक्षुरादिकरणग्रामेण सह तस्य प्राणसंवादप्रकरणे पाठात् । समानजातीयानामेव
प्रायः सहचारो भवति । ततश्च जीवोपकरणचक्षुरादिभिः सहचारस्य दर्शनात् जीवो
पकरणरूपत्वमेव नतुतस्य जलादिवत्तत्त्वान्तरमित्येतद्दर्शयति नायं प्राणोऽन्यादिवदित्यादि ।
कुत एतदिति साहचर्यादित्यन्यसर्वं सुगमम् ॥१०॥

ननु यदि प्राणः चक्षुरादिकरणैः सहपाठात् करणं भवेच्चेत्तदा चक्षुरादिविषयरूपस्य
शरीरवत् प्राणस्यापि विषयान्तरं स्वातन्त्र्येणावश्यमेव वक्तव्यम्, तथा एकादशैव करणमिति
बात को किसतरह समझते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं 'तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः' इति । जीव के
उपकरणभूत चक्षुरादि प्राणान्त इन्द्रियों के साथ प्राण का उपदेश है छान्दोग्य के प्राण संवाद
प्रकरण में । तादृश सह चरितोपदेश समान जातीय तथा समान कार्योपपादकत्व में ही उपपन्न
हो सकता है, अन्यथा नहीं । आदि पद से प्राण के स्वातन्त्र्य के निरासक हेतुओं का
संग्रह होता है ॥१०॥

यदि चक्षुरादि करण की तरह प्राण को भी करण मानें तब तो चक्षुरादि का विषय
जिसतरह रूप रस गन्ध स्पर्श शब्दादिक विषय हैं, उसी तरह प्राण का भी विषयान्तर का
पार्थक्येन निर्वचन करना पड़ेगा । परन्तु रूपरसादिक से भिन्न विषयान्तर तो उपलब्ध नहीं
होता है, तब प्राण को चक्षुरादिवत् करण किस तरह कहते हैं ? इस शंका के उत्तर में

‘यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत सः श्रेष्ठ इति’ (छा० ५।१।७) इति प्रदर्श्य प्राणोत्क्रमणवेलायां वागादीन्द्रियाणां शैथिल्यं शरीरविनाशप्रसङ्गमाभिदधती श्रुतिः प्राणायत्तमेव शरीरेन्द्रियावस्थानं दर्शयति तथा च प्राणापानादिभेदेन भिन्नव्यापारं कुर्वन्नयं प्राणो देहधारणादिना जीवमत्यन्तमुपकरोति । ततश्चोपकारकत्वमेवात्र-
करणत्वं वेदितव्यम् ॥११॥

परिगणनमपि व्याकुप्येत, इत्यादिदोषपरिहारायाह अकरणत्वादित्यादि न प्राणः केवलं परिच्छेदधारणादिकारणं स्वीक्रियते येन चक्षुरादिवदस्य प्राणस्यापि विषयान्तरस्या-
न्वेषणमावश्यकं स्यात्, देहेन्द्रियविधारणमात्रं प्राणस्तत् श्रुत्यैव दर्शितं न केवलं शरीरादि-
धारणमात्रमस्य कार्यमित्यादिकं सर्वं भाष्यकारो दर्शितवान्—नहि विषयान्तरेत्यादिना ॥११॥
कहते हैं ‘अकरणत्वादित्यादि’ सूत्रम् । प्रकृत में अर्थात् प्राण को करण मानेंगे तब चक्षुरादि-
वत् विषयान्तर प्रसङ्ग रूप दोष होगा— ऐसी संभावना कर सकते हैं । क्योंकि चक्षुरादि के
सदृश प्राण को करण नहीं मानते हैं । जिस तरह रूपादि लक्षण विषय विशेष के परिच्छेदक
[बोधक] होने से चक्षुरादि को करण मानते हैं, उसी तरह प्राण को करण नहीं मानते हैं,
अर्थात् क्रिया जनकत्व लक्षण करणत्व चक्षुरादिवत् इस प्राण में करणत्व नहीं है । किन्तु विषय
विषयक व्यापार के अभाव होने पर भी स्वरूप से ही प्राण जीव का उपकारक । अर्थात्
क्रियाजनकत्वेन प्राण में करणत्व नहीं है, जिससे चक्षुरादिवत् विषयान्तर सद्भाव की कल्पना
किया जाय, किन्तु स्वरूपत एव प्राण जीव का उपकारक होता है, इसलिए विषयान्तर कल्पना
की आवश्यकता नहीं होती है । इसी बात को श्रुति बतलाती है ‘जिसके शरीर से उत्क्रमण
हो जाने पर यह शरीर पापिष्ठतर अर्थात् अशुचि हो जाता है, वह आप सबके मध्य में
श्रेष्ठ हैं ।’ इस तरह बतला करके प्राणोत्क्रमण समय में वागादि इन्द्रियों में शिथिलता तथा
शरीर नाश का प्रतिपादन करती हुई श्रुति, प्राण के अधीन ही शरीरेन्द्रियादि के अवस्थान
को बतलाती है । ऐसा होने पर प्राणापान उदान व्यान तथा समान लक्षण व्यापार को
करता हुआ यह मुख्य प्राण देह धारण लक्षण कार्य द्वारा जीवों को अत्यंत उपकृत करता
है । इससे फलित होता है कि उपकारकत्व रूप करणत्व है नतु क्रियाजनकत्व रूपकरणत्व
प्राण में है, अर्थात् एक दृष्टि से करणत्व है तथा दृष्टयान्तर से अकरणत्व भी है । अतः क्रिया-
जनकत्व रूप करणत्व के अभिप्राय से पूर्वपक्ष है, तथा उपकारकत्व रूप अभिप्राय से अका-
रणत्व है ऐसा सिद्धान्त हुआ । विशेष अन्यत्र देखें ॥११॥

५ पञ्चवृत्तिर्मनोवदव्यपदिश्यते २।४।१२ ५

प्राणापानादिनामभेदान्निश्वासादिकार्यभेदाच्च पृथक् तत्त्वानि प्राणादयः स्युरिति शङ्कामपाकरोति । यथा 'कामः संकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्हीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इत्यादौकामादीनां नाम्नः कार्यस्य च भेदेऽपि न तत्वान्तरत्वम् । किन्तु मनोवृत्तिरूपत्वमेव । तथा 'प्रणोऽपानोव्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एव' (बृ० १।५।३) इत्यपि प्राणवृत्तय एवेति सर्वं सुस्थम् ॥१२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये वायुक्रियाधिकरणम् ॥५॥

यद्यपि प्राणापानादिकानामभेदाः सन्ति निःश्वासादिकार्यभेदोपि विद्यतेऽतः प्राणस्य तत्त्वान्तरेण भाव्यम् तथापि तन्निराकरणाय सूत्रमुदाहरति पञ्चवृत्तिरित्यादि, । संकल्पादिका मनसोवृत्तिविशेषाः वृत्तिवृत्तिमतोश्च तादात्म्यमिति न तयोर्भेदो न तस्मात्तत्त्वान्तरत्वं ततस्तेषाम् । एवमेव प्राणापानादीनां प्राणवृत्तित्वान्नतयोर्भेद इति न तत्त्वान्तरत्वमिति । तदेतत्सर्वं भाष्यकारो दर्शयति यथाकामः सङ्कल्प इत्यादिप्रकरणेन १२

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वायुक्रियाधिकरणम् ॥५॥

प्राण अपान व्यान समानादि नामभेद होने से तथा श्वास निःश्वासादि कार्य का परस्पर भेद होने से प्राणादिक पृथक् तत्व है, इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'पञ्चवृत्तिरित्यादि' जिसतरह 'काम सङ्कल्प विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृति अधृति लज्जा भय ये सब मन ही है' इत्यादि स्थल में कामादिक नाम तथा कार्य के भेद होने पर तत्त्वान्तरत्व नहीं है किन्तु मनोवृत्ति रूपत्व है [और वृत्ति वृत्तिमान् में अभेद होता है] उसी तरह 'प्राण अपान व्यान समान उदान और मन ये सब प्राण की ही वृत्ति है । इसलिए प्राणादिक में भी प्राणवृत्तित्व तत्त्वान्तरत्व नहीं है ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे वायुक्रियाधिकरणम् ॥५॥

अथ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥६॥

ॐ अणुश्च २।४।१३ ॐ

अयं मुख्यः प्राणो विभुर्णुर्वेति विशये 'सम एभिस्त्रिभिर्लो-
कैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ०१।३।२२) 'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' इत्येव-
मादिवचनैर्विभुरेवेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह- अणुश्चेति । 'तमुत्क्रा-
मन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ०४।४।२) इत्यादिवचनादणुरेव मुख्यः

योयं मुख्यः प्राणः स व्यापकोऽणुर्वा, तत्रोभयविधवचनदर्शनाद्द्विकोटिकः संशयो
जायते । तत्र समः प्लुषिणा समोनागेनेत्यादिश्रुतिवलादस्यव्यापकत्वमेवेति पूर्वपक्षः ।
व्यापकस्य निस्क्रियतयोत्क्रान्त्यादिर्न स्यात्, मध्यमत्वेशरीरनाशादनुविनाशित्वं स्यात्-
स्मादणुरेव मुख्यप्राणः, इत्येतद्दर्शयितुमुपक्रमते अयं मुख्य प्राणः इत्यादि, भाष्याशस्य

जो यह पञ्चवृत्तिक मुख्य प्राण है उसके विषय में स्वरूपादिक विप्रतिषेध का निरा-
करण करके परिमाण विषयक श्रुति विप्रतिषेध का निराकरण करने के लिए भाष्यकार उपक्रम
करते हैं 'अयं मुख्य प्राणः' इत्यादि । जो यह पञ्चवृत्तिक मुख्य प्राण है वह व्यापक परि-
माणवान् आकाशादिक की तरह है, अथवा जीव के समान अणुपरिमाणक है. उसमें दोनों
प्रकारक वचन को देखने से संशय होता है 'किमयंव्यापकोऽणुर्गति' इसमें पूर्वपक्षवादी कहते
हैं 'समः प्लुषिणा' अत्यन्त क्षुद्र जन्तु के तथा नागादिक के समान है' एवं 'प्राण में सब
प्रतिष्ठित है' इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि यह मुख्य प्राण व्यापक परिमाणवान् है
किन्तु अणुपरिमाणवान् नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में लिखते हैं 'अणुश्चेति' यह मुख्य
प्राण व्यापक परिमाणक नहीं है किन्तु अणुपरिमाणक ही है । क्योंकि 'मुख्य प्राण को इस
शरीर से उत्क्रान्त होने पर तदितर सब प्राणादिक प्राण उत्क्रान्त होते हैं' इत्यादि वचनों से
सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण अणु है व्यापक नहीं है । यदि कदाचित् मुख्य प्राण को
व्यापक मानें तब तो व्यापक में क्रिया का अभाव होने से उत्क्रमण नहीं होगा, तब उत्क्रान्ति
प्रतिपादक श्रुति में अप्रामाण्य होजायगा । तब विभुत्व प्रतिपादक श्रुति की क्या गति होगी ?
इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं 'सर्वेषामित्यादि प्रत्येक प्राणियों

प्राणः । सर्वेषां देहावस्थानस्य प्राणाधीनत्वात्क्वचिद्विभुत्वोक्तिर्न दोषायेति ॥१३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये श्रेष्ठाणुत्वाभिकरणम् ॥६॥

अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् २।४।१४

अथेन्द्रियरूपप्राणा मुख्यश्चप्राण इतीमे सर्वे स्वकर्मणि स्वयमेव स्वातन्त्र्येण प्रवर्तन्त आहोस्विदन्यदेवताधिष्ठिता एव प्रवर्तन्त इति संशये स्वाधिकारोचितकार्ये स्वयमेव प्रवर्तन्त इति पूर्वपक्षिते सिद्धान्तयति—ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननादिति । तु शब्दः पूर्वपक्षं प्रत्या चष्टे । ज्योतिरादिरग्न्यादिरूपदेवताभिरधिष्ठितः करणकलापः स्वरलत्वान्नोव्याख्यात इति संक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥६॥

प्राणादीन्द्रियाणां मुख्यप्राणस्य च स्वरूपं परिमाणं च प्रदर्श्यततः परमेषां स्वकार्यकरणाय, या प्रवृत्तिः संभवति सा स्वाधीनापराधीनावेतिविचारयितुं प्रवर्तते स्वकर्मणि दक्षोपि परकीयसाहाय्यमपेक्षते, क्वचित्कश्चित् स्वान्यंनपेक्षते, इत्याशयेनाह भाष्यकारः अथेन्द्रियरूपप्राणा इत्यादि । इन्द्रियादीनां स्वप्रयाससाध्ये कर्मणि स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिरन्याधिष्ठिततयावेति संशयः । तत्र स्वप्रयाससाध्यकार्ये स्वयमेव प्रवर्तमानोभवति का जो शरीरावस्थान है वह प्राण के अधीन है, इसलिए स्थल विशेष में विभुत्व का कथन किया है । तादृश कथन दोषाघायक नहीं है इति ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥६॥

इन्द्रिय रूप प्राणों का तथा मुख्य प्राण का स्वरूप तथा परिमाण को बतला करके इन सबकी प्रवृत्ति स्वकीय कार्य में स्वातन्त्र्य रूप से ही होती है अथवा अन्याधिष्ठित हो कर के प्रवृत्ति होती है इस बात का विचार करने के लिए भाष्यकार उपक्रम कहते हैं 'अथेन्द्रिय रूप प्राणा' इत्यादि । प्राणादिरूप प्राण तथा मुख्य प्राण ये सब स्वकार्य में स्वयं

कार्ये प्रवर्तत इति । कुतः तदामननात् । 'अग्निर्वाग्भूत्वामुखं प्रावि-
शत्' [ऐत० २।४।] इत्यादिषु तत्तत्करणस्य तत्तद्देवताधिष्ठानमामन्यते ।
तस्मान्न स्वातन्त्र्येणकरणानां प्रवर्तनम् । किन्तु देवताधिष्ठितानामेव
तेषामिति ॥१४॥

लोकोनतु तत्र स्वभिन्नस्य साहाय्यापेक्षोभवतीति दृश्यते, तथैव प्रकृते स्वयमेव प्राणानां
स्वकार्येप्रवृत्तिरिति पूर्वपक्षः । तत्र समीचीनम् अग्निर्वाग्भूत्वामुखं प्राविशत् इत्यादिश्रुत्या
ऽधिष्ठातृदेवताधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिर्भवतीति समधिगम्यते । नहि देवभावमन्तरेण
बह्व्यादेर्मुखप्रवेशः संभवति । लोकेऽपि दृश्यते वडवाद्यधिष्ठितानामेव रथादीनां स्वकार्ये
प्रवृत्तिः । चेतनोपिपाचकस्तण्डुलादिसापेक्ष एव पाके प्रवर्तमानो दृश्यते । तस्मादन्या
धिष्ठिता एव प्राणादयः स्वस्वकार्येप्रवर्तमानाभवन्तीति संक्षेपोविस्तरस्त्वन्यत्रद्रष्टव्यः १४
स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होते हैं अथवा स्वेतर देवताधिष्ठित होकर के प्रवर्तमान होते हैं ऐसा
संशय होता है । तब इसमें कहते हैं कि स्वाधिकारोचित कार्य में स्वयमेव लोगों की प्रवृत्ति
होती है, जिस तरह कृषीवल स्वकीय कार्य को स्वयमेव करता है उसमें अन्यापेक्ष नहीं होता
है । इसप्रकार के पूर्वपक्ष को सूत्रकार सिद्धान्तरूप बतलाते हैं 'ज्योतिराद्यधिष्ठानमित्यादि । सूत्र
घटक तु शब्द का अर्थ पूर्वपक्ष निराकरणपरक है । ज्योतिरादिक अर्थात् अन्यादि लक्षण
देवताओं से अधिष्ठित होकर के ही प्राणादिक करण समुदाय स्वकीय स्वकीय कार्य में प्रवृत्त
होते हैं । क्यों तो ऐसा ही श्रुति में कहा गया है 'अग्नि वाणीरूप होकर के मुख में प्रविष्ट
हुआ वायु पाणरूप होकर के नासिका में प्रविष्ट हुवा । इत्यादि प्रकरण में तत्तत् करण समु-
दाय को तत्तत् देवाधिष्ठितत्व बतलाया गया है । इसलिए करणों की जो प्रवृत्ति स्वकीय कार्य
में होती है वह देवताधिष्ठित रूप से ही होती है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति नहीं होती
है । यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति स्वप्रयत्न साध्य कार्य में स्वतः प्रवृत्त होता है अधिष्ठानान्तर की
आवश्यकता नहीं होती है तथापि जिस तरह सेना स्वकार्य करने में समर्थ होते हुए भी सेना-
ध्यक्ष से अधिष्ठित होकर के ही युद्धादि कार्य को करती है, उसी तरह स्वस्वकार्य में समर्थ
भी प्राणादिक अन्यादि देवताधिष्ठित होकर के ही प्रवृत्त होते हैं, स्वातन्त्र्येण इनकी प्रवृत्ति
नहीं होती है ॥१४॥

॥ प्राणवता शब्दात् २।४।१५ ॥

एवमधिष्ठातृभूतानां देवतानां सत्वेऽपि प्राणेन्द्रियाध्यक्षेण जीवे-
नैव सर्वेषां प्राणादीनामधिष्ठातृतया सम्बन्धोऽवगम्यते शब्दश्चात्र
श्रुतिः “अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुः पुरुषोदर्शनाय

नन्वेवं तर्हितत्तद्देवा अधिष्ठातारस्तदा त एव भोक्तारो भविष्यन्ति ततश्चैकदेहे
अनेके भोक्तारो भविष्यन्ति नत्वेको जीवो भोक्ता भविष्यतीत्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते
यद्येवं देवानामित्यादि एकस्मिन् देहे एक जीव एव भोक्ता नत्वेके भोक्तारः स च जीव एव
यतः स चाक्षुषः पुरुषोदर्शनाय चक्षुरित्यादिश्रुत्या च चक्षुरादिकरणेन जीवस्यैव सम्ब-
न्धोऽवगतो भवति नतु अग्न्यादिदेवानाम्, तस्मादेक एव जीवो भोक्ता नतु ते देवा
भोक्तारः । किञ्च योहमश्रुणो स एवाहं पश्यामि स्पृशामीत्याद्यनुसन्धानं जीवस्यै

यदि तत्तद् देवों को अधिष्ठाता मानें तब तो अनेक देवताओं में ही भोक्तृत्व होगा,
जीव में भोक्तृत्व नहीं होगा, यह तो ठीक नहीं है क्योंकि अन्यत्र तो जीव को ही अधि-
ष्ठाता भोक्ता माना गया है ? इस शंका के निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं
‘प्राणवता’ इत्यादि । पूर्वोक्त क्रम से अधिष्ठातृ लक्षण अग्न्यादि देवता का सङ्भाव होने पर
भी प्राण तथा प्राणादि इन्द्रियों का अध्यक्ष जीव के साथ ही सभी प्राणादिक को अधिष्ठाता
रूप से सम्बन्ध अवगत है । सूत्रस्थ शब्द शब्द का अर्थ होता है, श्रुति=आगम जिसमें
आकाश अनुविषण्ण चाक्षुष है, दर्शन के लिये चक्षु है आघ्राण के लिए नासिका है शब्द ग्रहण
के लिए श्रोत्रेन्द्रिय है’ इस श्रुति से जीवके साथ ही चक्षुरादि करण समुदाय का सम्बन्ध है,
ऐसा निश्चित होता है, नतु तत्तद् देवता के साथ करण का सम्बन्ध देखा गया है । यदि
देवता को भोक्तृत्व हो तब तो देवता के साथ करण के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया
होता, परन्तु यह तो नहीं किया गया है किन्तु जीव के साथ करण सम्बन्ध का प्रतिपादन
है । इसलिए जीव में ही भोक्तृत्व है परन्तु अनेक देवताओं में भोक्तृत्व नहीं है । अपि च
यदि अनेक देवता को भोक्ता मानें तथा देवता के साथ करण ग्राम का सम्बन्ध होगा, तब
तो ‘जो मैंने आँख से देखा था उसी को श्रोत्र के द्वारा जान रहा हूँ’ यह प्रत्यभिज्ञान नहीं
होगा, क्योंकि अन्य दृष्ट का स्मरण अन्य को नहीं होता है । इसलिए विभिन्न देवताओं में
भोक्तृत्व नहीं है । और यदि एक शरीर में अनेक कर्त्ता भोक्ता का सद्भाव माना जाय तब
तो सब को एक मर्त्य नहीं होने से सर्वप्रकारक लौकिक वैदिक व्यवहार का विलोप हो

चक्षुः' [छा०८।१२।४] इति जीवस्यैव करणग्रामेण सम्बन्धो निश्ची-
यते । तथा च नानेकदेवतानां भोक्तृत्वादिकमापद्यते ॥१५॥

॥ तस्य च नित्यत्वात् २।४।१६ ॥

तस्य जीवात्मनोस्मिन् भोगायतने शरीरेभोक्तृतया नित्यत्वात् ।
स्वार्जितकर्मणा फलरूपेण समापन्नसुखदुःखादीनां भोक्तृत्वं नित्यत्वात्
जीवस्यैव सम्भवति नान्येषां केषामपीति जीवेनैव करणादीनां सम्बन्धो
न देवताभिरिति ॥१६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

वकरणसम्बन्धं दर्शयति नतु देवानां करणेन सम्बन्ध इति न पूर्वोक्तदोष इति संक्षेपो
विस्तरस्त्वन्यत्रेति ॥१५॥

इतोपि न देवतानां भोक्तृत्वं किन्तु जीवस्यैव भोक्तृत्वं नित्यत्वात् । एतस्य
खलु जीवस्य भोगाय ते नित्यत्वेन नियतसम्बन्धसद्भावेनानेकानेकपूर्वपूर्वातरादिभवो-
पार्जितदुःखसंमिश्रितसुखानां भोगोभवति नतु देवतानाम् । देवाः परमैश्वर्यपदे
निविशमाना दुःखमयनरादिशरीरभोक्तृत्वं नावाप्नुवन्ति तेषां पुण्यफलस्यैव श्रूयमाण
त्वात् । तथा प्राणादीनां जीवेनैव सम्बन्धो नतु देवेन । उत्क्रान्त्यादिषु जीवेन सह
प्राणादीनां सम्बन्धस्य दर्शनात् । तस्मात् देवतायाः, सद्भावेपि जीवस्यैव भोक्तृत्वं नतु
तस्य तदपगच्छतीत्यादिकं निष्कृत्य दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुं च भाष्यकार उपक्रमते
तस्य जीवात्मन इत्यादि । सुगमं भाष्यम् ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ज्योतिराद्यधिकरणम् ॥७॥

जायगा । । इसलिये जीव ही भोक्ता है, उसी का करण कलाप के साथ सम्बन्ध है । किन्तु
अनेक देवताओं में भोक्तृत्व नहीं है नवा उनका करण के साथ सम्बन्ध है ॥१५॥

जीवात्मा में भोक्तृत्व है किन्तु अनेक देवता में भोक्तृत्व नहीं है, इस बात को पुनः
प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिए कहते हैं 'तस्य च नित्यत्वादिति' उस जीवात्मा को इस
भोगायतन शरीर में भोक्ता रूप से नित्यत्व है । अर्थात् नैयत्य है अनेक भव परम्परा से
स्वोपार्जित कर्म का फल रूप से सम्प्राप्त सुखदुःखादिक का भोक्तृत्व नित्यत्वात् जीव को ही
है । अन्य किसी को नहीं होता है । अतः जीवात्मा में ही करण का सम्बन्ध है देवता से
नहीं है इति संक्षेपः ॥१६॥

इसि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

अथेन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

॥ त इन्द्रियाणि तद्व्यपदे-

शादन्यत्र श्रेष्ठात् २।४।१७ ॥

किं प्राणपदेनावगतानि सर्वाणीन्द्रियाणि आहोस्विच्छ्रेष्ठप्राण-
व्यतिरिक्तानि तानीति संशये करणत्वाविशेषात्सर्वाण्यपीन्द्रियाण्येवेति
पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु-श्रेष्ठप्राणभिन्नान्येवेन्द्रियाणि । श्रेष्ठादन्ये
ये प्राणास्तेषु चक्षुरादिष्वेवेन्द्रियत्वव्यपदेशात् 'एतस्माज्जायते प्राणो

प्राणपदेन ज्ञातानि यानि चक्षुरादीनि, एकादशतान्येव, इन्द्रियाणि, अथवा श्रेष्ठ
प्राणोपि तदन्तर्गत एवेति संशयः । अर्थादिन्द्रियेभ्योऽनतिरिक्तत्वं मुख्यप्राणस्य तत्त्वान्त-
रत्वं वा तस्येति संशयः । तत्र इन्द्रियान्तर्गतत्वमेव, कुतः ! करणत्वाविशेषात् । यथा
चक्षुरादिकानि करणानीन्द्रियाणि तथैव करणत्वान्मुख्यप्राणोपि, इन्द्रियान्तर्गत एवेति
पूर्वपक्षः । मुख्यप्राणव्यतिरिक्तैकादशेन्द्रियेष्वेवेन्द्रियत्वम्, नतु मुख्यप्राणे तथात्वम्
यतः इन्द्रियेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो मुख्यप्राणस्य पार्थक्येन एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-
न्द्रियाणि चेत्यादौ व्यपदेशात् । यद्येकमेव तत्त्वमुभयं भवेत्तदा तयोः पार्थक्येन कथनं

इतर प्राणापेक्षया मुख्य प्राण में वैलक्षण्य बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते
हैं "किं प्राणपदेनावगतानि त्यादि" क्या प्राणपद से अवगत जितने हैं वे सब इन्द्रिय हैं
अर्थात् प्राणादिक से लेकर मुख्य प्राणान्त सब इन्द्रिय हैं, अथवा मुख्य प्राण से अतिरिक्त
प्राणपद बोध जितने हैं वे ही चक्षुरादिक इन्द्रिय है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्ष
वादी कहते हैं कि जिस तरह चक्षुरादिक करण है तो वे इन्द्रिय पद वाच्य हैं उसी तरह
मुख्य प्राण भी तो करण है, अर्थात् जीव के उपभोग में साधन जो हो उसको करण कहते
हैं तो एतादृश करणत्व तो मुख्य प्राण भी है तो मुख्य प्राण भी इन्द्रिय ही है, किन्तु इन्द्रिय से
तत्त्वान्तर मुख्य प्राण नहीं है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्येष्ठ श्रेष्ठ
प्राण से भिन्न जो चक्षुरादिक एकादश हैं वे ही इन्द्रिय हैं किन्तु मुख्य प्राण इन सबसे भिन्न
तत्त्वान्तर है क्योंकि श्रेष्ठ प्राण से भिन्न जो प्राण है चक्षुरादिक उनमें ही इन्द्रियत्व का
व्यपदेश किया गया है "इस परमात्मा से सर्ग के आदि में मुख्य प्राण उत्पन्न होता है

मनः सर्वेन्द्रियाणि च' [मु०२।१।३] इतिहीन्द्रियाणां मुख्यप्राणात् पार्थक्येन व्यपदेशो भेदसाधकः ॥१७॥

५ भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च २।४।१८ ५

इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य भिन्नात्वेन श्रुतेः । 'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १ ३।२) इतिवागादीन्द्रियाणामुपादानम् 'अथहेममासन्यं प्राणमूचु' इति च पृथक्प्राणस्यश्रवणम् । वैलक्षण्यञ्च श्रेष्ठप्राणस्येन्द्रियेभ्यः । सुषुप्तौ हीन्द्रियाणामुपरामो दृश्यते प्राणस्य तूच्छवासनिश्वासादिकथमिवसङ्गतं स्यात् । तस्मान्मुख्यप्राणभिन्नानामेव चक्षुरादीनामिन्द्रियत्वं नतु मुख्यप्राणस्य तथात्वं, किन्तु तेभ्योभिन्नत्वमेवेति निष्कृष्य दर्शयितुं भाष्यकार उपक्रमते किं प्राणपदेनावगतानीत्यादि । शेषमतिरोहितार्थकमिति ॥१७॥

वागादीन्द्रियाद्यपेक्षयाऽस्य मुख्यप्राणस्य भेदः बार्हदारण्यकीय ते ह वाचमुचुरित्यादिक्रमेणोपक्रम्यत अथ हेममासन्यंप्राणमिति कथयित्वावागादीनां पापप्रतिवध्यत्वं मुख्यस्य पापविनाशकत्वप्रतिपादनेन स्पष्टत एव भेदः कथितः । तस्मादिन्द्रियेभ्यो भिन्न एव प्राणः । तथा इन्द्रियाणां प्राणस्य च वैलक्षण्यमपि कथितम्, स्वापसमये वागादीनां वृत्तयोविलुप्ता भवन्ति मुख्यश्चप्राणस्तदापि जागर्त्येव । अन्यथा, प्राणसाध्यश्वासादिक्रियाया अभावे मरणमेवस्यात्, किञ्च योयं मुख्यः प्राणः स शुक्रशोणितसंयोगकालादारभ्यान्तिमश्वा- तथा मन और सर्व इन्द्रिय चक्षुरादिक उत्पन्न होते हैं' इस प्रकार मुण्डक श्रुति में कहा गया है । यदि मुख्य प्राण इन्द्रियों से तत्त्वान्तर न हो तब प्राण "सर्वेन्द्रियाणि" इस प्रकार से पार्थक्येन कथन असंभवित हो जायगा । इसलिए चक्षुरादिक एकादश में इन्द्रियत्व है, और इन सबसे भिन्न मुख्य प्राण में इन्द्रियत्व नहीं है किन्तु मुख्य प्राण तत्त्वान्तर है । अन्यथा श्रुति में पुनरुक्ति दोष अनिवारित हो जायगा, तथा तद् द्वारा श्रुति में असम्बद्ध प्रलापित्व अप्रामाणिकत्व हो जायगा । इसलिए मुख्यप्राण चक्षुरादिक इन्द्रियों से तत्त्वान्तर है यह सिद्ध हुआ ॥१७॥

वक्ष्यमाण हेतु द्वय से भी इन्द्रिय से मुख्य प्राण के भेद का उपपादन करते हैं । 'इन्द्रियेभ्यः' इत्यादि इन्द्रियों से प्राण भिन्न है ऐसा श्रुति में श्रुत है । 'वे सब वाणी से कहे तुम हमारे लिए उगदान करो इस प्रकार से वागादिक इन्द्रियों का कथन है ।' इसके

रूपा वृत्तिरूपलभ्यत एव । अतएव 'इन्द्रियाणि दशैकञ्च' [गी.१३।६]
इत्यत्रैकादशेन्द्रियाणि परिगणितानि । न प्राणस्येन्द्रियत्वम् ॥१८॥

इति श्रीअनन्दभाष्ये इन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

अथ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥९॥

ॐ संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत

उपदेशात् २।४।१९ ॐ

एवं भूतेन्द्रियप्राणानां समष्टिसृष्टिमभिधाय व्याष्टिसृष्टिर्दिानीं
सपर्यन्तं तिष्ठति, अन्यथा योनौ स्त्रीणां पुंसां निषिक्तं वीर्यं प्राणाभावे पूयेत । तस्मादे
तादृशौ लक्षणस्य विद्यमानत्वेनेन्द्रियेभ्यो विभिन्न एव मुख्यप्राण इत्येतत्सर्वं संगृह्यद
र्शयितुं सूत्रव्याख्यातुमाह भाष्यकारः इन्द्रियेभ्यः प्राणस्येत्यादि भाष्यं निगदव्याख्यानेन
व्याख्यातम् ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे इन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

एतावता प्रबन्धेनाकाशादिभूतचक्षुरादिकरणग्रामप्राणानां समुदायसृष्टिः परमे-
बाद मुखस्थ प्राण से कहा आप हमलोगों के लिए 'उद्गा न करें' इस तरह इन्द्रिय से
पार्थक्येन मुख्य प्राण का श्रवण है । मुख्य प्राण को इन्द्रियों से वैलक्षण्य भी है क्योंकि
सुषुप्ति काल में सब इन्द्रिय अपने अपने कार्य से उपरत हो जाते हैं, परन्तु मुख्य प्राण
का श्वाशनिःश्वासादिक कार्य तो सुषुप्ति काल में भी उपलब्ध होता है । [अगर क्रिया
शक्ति का सुषुप्ति काल में उपलब्ध न हो तब तो सुषुप्त तथा मृतक में समानता हो जायगी
शुक्रनिषेक कालसे प्राणवृत्ति का संचार हो जाता है, और तत्तद् गोलक स्थान की निष्पत्ति
होने के बाद ही इन्द्रियों का व्यापार होता है, अतः इन्द्रिय से प्राण में विलक्षणता होने से
दोनों में परस्पर भेद है ।] अतएव "इन्द्रियाणि दशैकञ्च" इत्यादि गीता में एकादश इन्द्रिय
का ही परिगणन किया है । तस्मात् मुख्य प्राण इन्द्रिय से भिन्न है, प्राण में इन्द्रियत्व
नहीं है । प्राण क्या है ? इस का विचार स्थलान्तर में देखें यहां तो अक्षरार्थ विन्यास मात्र
है या विशेष विचार मत्कृत प्राण परीक्षा में देखें ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे इन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

चिन्त्यते । तत्र यदिदं नामरूपव्याकरणं तत्समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्माहोस्वित्छरीरकस्य परमात्मन इति संशयः । तत्र समष्टिजीवस्यैवेतत्कर्मभवितुमर्हति । कुतः ? 'अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि' (छा० ६।३।४) इतिजीवस्यैव तत्कर्तृत्वश्रवणात् । नच व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषः कर्तृस्थक्रियश्च प्रविशति-लक्षणिकः स्यात् "चारेणानुप्रविश्य पस्वलं सङ्कलयानीतिवदिति वाच्यम् । तत्रोभयोः स्वरूपभेदात्लाक्षणिकत्वम् । अत्र तु जीवस्य परमात्मनोऽंशतयैकस्यैवात्मनस्तदिति न दोषः ।

इवराद्भवतीत्यवगतम्, परन्तु येयं व्यष्टिसृष्टिर्नामरूपादीनां तत् प्रथमजीवादेव जायते अथवा हिरण्यगर्भशरीरकपरमेश्वराद्भवतीति संशयः । तत्रानेन जीवेनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणीत्यादिश्रुत्या हिरण्यगर्भादेव जायते 'सन्निशरीरी प्रथमः सन्नि पुरुष उच्यते । आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्नेसमजायत हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्यादिश्रुत्या व्यष्टिः सर्गः हिरण्यगर्भादेवेति निश्चयः । हिरण्यगर्भस्योत्पादको परेशः श्रीरामः तदनन्तरजायमानसर्गं प्रतिनस्यैवकारणत्वमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु समष्टिर्वा भवतु व्यष्टिसर्गोवा भवतु, सर्वोपिसर्गः परमेश्वरश्रीरामादेवेति । यतस्तस्य सर्वशरीरकत्वात् ।

समष्टि सर्ग परमेश्वर कर्तृक है इसका निश्चय करके व्यष्टि सर्ग भी जीव कर्तृक नहीं है किन्तु परमेश्वर कर्तृक ही है इस बात को संशय पूर्वपक्षोत्तरपक्ष प्रदर्शन द्वारा-स्थिर करने के लिए उपक्रम करते हैं "एवं भूतेन्द्रिय प्राणानामित्यादि" गत प्रकरण से आकाशादि भूत चक्षुरादिक करणप्राप्त तथा प्राणों समष्टि सर्ग समुदित सर्गका कथन करके इसके बाद व्यष्टि=प्रातिस्विक सर्ग के विचार को प्रस्तुत किया जाता है । उसमें जो यह नामरूपका उत्पादन है वह समष्टि जीव, जीवघन लक्षण सर्व प्रथमोत्पन्न विलक्षणत्वादिमान हिरण्य गर्भ का कार्य है अथवा हिरण्यगर्भ शरीरक परमात्मा का नामरूपादिक कार्य है ? ऐसा संशय होता है इसमें पूर्वपक्ष होता है कि नामरूप का उत्पादन कार्य हिरण्यगर्भका ही कार्य होना चाहिये । क्योंकि 'अनेन जीवेन' [इस जीव रूप आत्मा से अनुप्रविष्ट हो कर के नाम घटादिक रूप कम्बु प्रोवादि को बनाता हूं] इस श्रुति से हिरण्यगर्भ रूप प्रथम जीव में ही कर्तृत्व सिद्ध होता है । नहीं कहो कि 'करवाणि इत्याकारक

इति प्राप्तेऽभिधीयते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्त्विति । तु शब्दोजीव-
कर्तृकत्वनिरासार्थः । ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां कखाणि’ (छा० ६।
३।४) इति त्रिवृत्कुर्वतः परमात्मन एव संज्ञामूर्तिक्लृप्तिर्नामरूपव्याकरणं
कार्यं भवितुमर्हति । कुतः ? उपदेशात् । ‘सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्ति
स्रोदेवता, अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि ।
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां कखाणि’ (छा० ६।३।४) इति नामरूपव्या-
करणस्य च परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् । अत्र त्रिवृत्करणं परस्यैव ब्रह्मणो
हिरण्यगर्भक सर्गेऽपि नामरूपव्याकरणे तस्यैव परमेश्वरस्य तथात्वात् ‘जगज्जन्मादिहेतुश्च
ब्रह्मवेदान्तबोधितम् । बहुस्यामिति सङ्कल्पकारको जानकीश्वरः । जगत्सृष्ट्यादिकर्ता
श्रीरामो ब्रह्मपरात्परम्’ (बीबोधायनमतादर्शे २५-२६) ‘शेषी चाथ निमिरां चोपादानं
जगतोऽस्य हि । महाविष्णुर्निराधारो रामो ब्रह्माखिलेश्वरः ॥ जगद्वेतुः परब्रह्म श्रीरामः
सकलेश्वरः’ (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ६।४-५९) इत्याद्याचार्योक्तेः । अन्यथा कखाणीत्युक्तं
मपुरुषप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । यदपि घटादौ कुलालादेः सर्जकत्वं तथापि कुलादीनामपि
उत्तमपुरुष प्रयोग तो कर्तृस्थ क्रियारूप है, इसलिए परमेश्वर का अनुप्रवेश लाक्षणिक है,
चार=गुप्तचर के द्वारा अनुप्रविष्ट होकर के परकीय सेना का संकलन करता हूँ’ इत्यादि के
समान । ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि राजाचार स्थल में इन दोनों का स्वरूप भेद
होने से लाक्षणिकत्व संभवित है, प्रकृत में तो जीव परमात्मा का अंश है, अतः दोनों में
तादात्म्य अंशांशीभाव से ऐक्य होनेसे अभेद है इसलिए परमेश्वर का अनुप्रवेश लाक्षणिक नहीं
है इति पूर्वपक्षः ।

इस तरह पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं “संज्ञामूर्तिरित्यादि” सूत्रस्थ जो तु शब्द है
वह नामरूपात्मक कार्य के प्रति जीव कर्तृकत्व का निरास परक है । संज्ञा नामरूप स्वरूप
एतदात्मक कार्य के प्रति हिरण्यगर्भ अथवा तदितर जीव कोई जीव कर्त्ता नहीं है । क्योंकि
“तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्” इस श्रुति से त्रिवृत्करण करने वाले परमात्मा का ही नामरूप
लक्षण कार्य हो सकता है, अन्य का नहीं । क्योंकि “सेयं देवता” वह परा देवता ने ईक्षण
किया, मैं तथा अन्नादि लक्षण तीनों देवता इस आत्म स्वरूप जीव में अनुप्रविष्ट होकर के
नाम रूप को बनाता हूँ” इन तीनों में से एक एक को त्रिवृत त्रिवृत करता हूँ
इत्यादि स्थल में नाम रूपात्मक कार्य में परदेवता कर्तृत्व का उपदेश है । यहाँ
त्रिवृत्करण जो कार्य है वह परम ब्रह्म का ही है किन्तु हिरण्य गर्भ का नहीं है,

ननु हिरण्यगर्भस्य तस्य तदानीमसत्त्वात् । एवञ्च तत्समानकर्तृकत्वा
न्नामरूपव्याकरणं परमात्मन एव कर्मेति निश्चीयते ॥१९॥

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च २।४।२०

नन्वेवमपि प्रजापतिकर्तृकत्वमेव त्रिवृत्करणस्य सम्भवति ब्रह्मा
ण्डसृष्ट्युत्तरकालं प्रजापतिसृष्टजीवेषु त्रिवृत्करणमुपदिश्यते । ‘यथा
सौम्येमास्तिस्त्रोदेवताः पुरुषं प्राप्यत्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजा
नीहीति’ ‘अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पु-
रीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठं तन्मनः [छा० ६।५।१] इत्या
दिवाक्येन । तस्माज्जीवकर्तृकत्वमेव स्यादित्यत्राह-‘मांसादीत्यादि ।
परमेश्वराधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वादित्यादिकं सर्वं द्योतयितुमुपक्रमते एवं भूतेन्द्रिय
प्राणानामित्यादि । एतदधिकरणीयसंशयपूर्वोत्तरपक्षा यथाभाष्यमनुसन्धेयाः ॥१९॥

ननु प्रजापतेः सर्गात् पूर्वं त्रिवृत्कृतत्वस्य दर्शनेन तत्समानकर्तृकनामरूपोत्पादनस्य
परमेश्वरकर्तृकत्वमिति निश्चितं परन्तु प्रजापतेर्जननान्तरं चतुर्मुखसृष्टः पुरुषेषु पुनस्त्रि
क्योकि त्रिवृत् करण के पूर्व में हिरण्य गर्भ का सद्भाव नहीं था । तस्मात् त्रिवृत्
करण के समानकर्तृक नामरूप व्याकरण होने से नामरूप व्याकरण भी परमेश्वर कर्तृक
ही है और तदितर जीव कर्तृक नहीं है । और अन्तर्यामी ब्राह्मण से सिद्ध होता है कि कार्य
मात्र परमेश्वराधीन है, इसलिये कोई कार्य है सब साक्षात्परपरया वा परमेश्वराधीन ही है,
परमेश्वर सर्वत्र प्रयोजक कर्त्ता है ‘शत्रूनगमयत्स्वर्गम्’ इत्यादि के समान ॥१९॥

नाम रूप सृष्टि को परमेश्वर कर्तृक होने पर भी वस्तुतः हिरण्यगर्भ कर्तृकत्व ही
त्रिवृत्करण में सिद्ध होता है, क्योंकि हिरण्यगर्भ के सर्गान्तर काल में प्रजापति सृष्ट जीवों
में त्रिवृत्करण का उपदेश किया है । ‘हे सोम्य ! जिस प्रकार से ये तीन पृथिव्यादिक
देवता पुरुष से उपभुक्त होकर के एक एक त्रिवृत् कृत् हो जाते हैं, उस बात को तुम हमसे
जानो’ पुरुष से भुक्त अन्नों का तीन प्रकार से परिणाम होता है । उसमें सर्वापेक्षया जो
स्थूल भाग होता है, वह पुरीष कहलाता है जो मध्यम भाग है वह मांस रूप से परिणत
होता है, और जो सर्वतः सूक्ष्मभाग है वह मन कहलाता’ इत्यादिवाक्य से । इसलिए जीव
कर्तृक ही त्रिवृत् करण है इस शङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं ‘मांसा-

न ह्यत्र त्रिवृत्करणमुपदिश्यते । किन्तु जगदन्तर्वर्तिप्राणिभु-
क्तान्नादीनां पाचनसमनन्तरं परिणतिप्रकारोऽभिधीयते । ‘अन्नम-
शितं त्रेधा विधीयते’ (छा० ६।४।७) इति । अयञ्च प्रागुपदिष्टात्त्रि-
वृत्करणादन्य एव । त्रिवृत्करणोपदेशे तु मांसमनसोः पुरीषादणीय-
स्त्वेन कारणानुगुण्येनाप्यतैजसत्वप्रसङ्गात् । ‘अन्नमशितं त्रेधा-
विधीयते’ इति भूमेरेव त्रिधोपक्रमो बाध्येत ।

‘अन्नमयं हि सोम्यमनः’ (छा० ६।५।४) इति मनसो भौम-
त्वञ्च विरुद्धयेत । एवमितरयोश्चाप्तेजसोरपि त्रैविध्यं व्याह्रन्यत ।
तस्मान्नात्र पुनस्त्रिवृत्करणमुपदिश्यते । एवञ्च ‘अन्नमशितं त्रेधा
विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मां
सं योऽणिष्ठं तन्मनः’ (छा० ६।५।१) इत्यत्रोपदिष्टे मांसमनसी पुरीष
वद्भौम एवेत्युच्यते । तथान्यत्रापि बोध्यम् । तस्मात्परमात्मन एव
त्रिवृत्करणम्, तत्कर्तृकमेव नामरूपव्याकरणम्, न जीवकर्तृकमिति । २०।
वृत्कृतत्वदर्शनेन पुनः प्रजापतिकर्तृकत्वं स्यादित्याशङ्कानिरासायोपक्रमते नन्वेवमपि प्रजा-
पतीत्यादि । नहि ब्रह्माण्डोत्पत्त्यनन्तरं त्रिवृत्करणस्योपदेशः किन्तु ब्रह्माण्डोदरे निविशमान
जीवानां भोजनपरिपाकप्रकारमात्रं प्रदर्शित अन्नमशितं त्रेधाभवतीति । एतत्सर्वनिष्कृष्य
भाष्यकारः प्रदर्शितवानिति संक्षेपः ॥२०॥

दीत्यादि’ इस प्रकरण में त्रिवृत्करण का उपदेश नहीं है किन्तु ब्रह्माण्ड के अन्तर्वर्त्ती जीवोंसे
उपभुज्यमान अन्न के परिपाक के बाद परिणाम प्रकार का कथन किया है ‘भुक्त अन्नका
परिणाम तीन प्रकार का होता है । यह प्रकार पूर्वोक्त त्रिवृत्प्रकार से भिन्न वस्तु है ।
अगर त्रिवृत्करण का उपदेश हो तब तो मांस तथा मन को पुरीषापेक्षया अति सूक्ष्म होने से
कारणानुकृत्वेन जलीयत्व तैजसत्व की भी आपत्ति होगी । एवं ‘अन्नमशितं’ इस ग्रन्थ से
भूमिमात्र का जो त्रिधा उपक्रम है उसका भी बाध हो जायगा । और ‘अन्नमयं’ इससे मन
में भौमत्व कथन भी विरुद्ध होगा । एवं जल तेज का त्रैविध्य भी बाधित होगा ।
तस्मात् यहाँ त्रिवृत्करण का उपदेश नहीं है । ऐसा हुआ तब ‘अन्नमशितं त्रेधा’ इस प्रकरण
में उपदिष्ट मांस मन के पुरीष की तरह भौम ही है, ऐसा कहा जाता है । इसी प्रकार
अन्यत्र भी जानना । अतः परमात्मा से ही त्रिवृत्करण होता है और परमेश्वरकर्तृक ही नाम
रूप का कारण है हिरण्य गर्भ रूप जीवकर्तृक नहीं है ॥२०॥

॥ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः २।४।२१ ॥

ननु 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते' इत्यादावन्नादीनां त्रिवृत्कृतानामेव यदि त्रिः परिणतिरभिधीयते तर्हि कथमन्नमापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश इत्यत्राह 'वैशेष्यादित्यादि ।

तु शब्द उक्तशङ्कानिवर्तकः । सर्वेषां पृथिव्यप्तेजसां त्रिवृत्करणत्वाविशेषेऽपि वैशेष्यात्स्वस्वभागाधिक्यात्तद्वादः अन्नादिवादः ।

ननु त्रिवृत्कृतत्वे सर्वत्रसर्वांश संभवात् कथमियं पृथिवीदं जलमित्यादिरूपेण स्वातन्त्र्येण पृथिव्यादीनां व्यवहार इत्याशंकां समाधातुं सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते ननु अन्नमशितमित्यादि । अयंभावः यद्यपि सर्वत्र सर्वस्य सत्त्वं विद्यते तथापि यत्र यस्याधिक्यं तत्र तद्व्यवहारः 'प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणार्धाद्वयं कृतम् । एकैकार्धाचतुर्थीशाः स्वेतरार्धेषु योजिताः ॥ पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नामतत् । पञ्चीकृतैश्चभूतैश्च रामश्चाण्डं ससर्ज हि ॥' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका १।१५६-१५७) इत्याचार्योक्तेः । यथा पृथिव्या अर्द्धौशोविद्यते तेजजलादीनां चतुर्थोभाग इति पृथिव्यां पृथिव्यंशस्याधिक्यादियं पृथिवीतिव्यवहारः । एवंजलादावपिवोध्यम् । द्विधाकथनन्तु अध्यायस्य

यदि पृथिव्यादि सब में सब का अंश है तब पृथिवी में पृथिवी का जल में जल का स्वातन्त्र्येण व्यवहार किस तरह होगा इस शंका का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं 'ननु अन्नमशितमित्यादि' 'अन्नमशितम्' इत्यादि स्थल स्थल में त्रिवृत्कृत अन्नादिक का ही यदि त्रिधा परिणाम होता है, तब 'इदमन्नमिदं जलम्' इत्यादि एक एक रूपेण व्यवहार किस तरह होगा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'वैशेष्यादिति' सूत्रघटक तु शब्द उक्त शंकाका निवर्तक है सब पृथिव्यादिक में त्रिवृत्करणत्वका समंत्व होनेपर भी स्वभागके आधिक्य होनेसे अन्नादि व्यवहार होता है इस विषय को श्रौत प्रमेय चन्द्रिकादि दिव्य

अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥२१॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरक मीमांसाया आनन्दभाष्ये

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

५ समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ५

समाप्तिं द्योतयतीतिसंक्षेपः ॥२१॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यदीपे

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

५ श्रीरामः शरणं मम ५

प्रबन्धौ मे देखें । अभ्यास अध्याय परिसमाप्ति बोधक है ॥२१॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठाचार्य

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रशिष्य

आनन्दभाष्यसिंहासनासीनजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

५ समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ५

सीताराम

भरत

लक्ष्मण

शत्रुघ्न



श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

॥ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

एवमध्यायद्वयेनाखिलजगदेककारणे परमपुरुषे ब्रह्मण्येव समेषां वेदान्तानां समन्वयम्प्रदर्श्य तत्र परैस्वबुद्धिगैषम्यात्समुद्भा वितान्विरोधानपि परिहृत्य सकलेतरविलक्षणं ब्रह्मस्वरूपं तदायत्तकर्तृत्वादिविशिष्टं तच्छेषभूतं प्रत्यगात्मनः स्वरूपञ्चचिन्तितम् । इदानी न्त्वस्मिन् साधनाख्येतृतीयेऽध्याये प्राप्त्युपायो प्राधान्येन विचिन्त्यते । तत्र जीवस्य देहान्तरगतिस्तदवस्थाप्रकारो गुणोपसंहारानुपसंहारफ-

प्राथमिकाध्यायद्वयेन ब्रह्मणः स्वरूपं लक्षणं चाभिधाय वादिप्रत्युपस्थापित तर्कजालं परपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकं निरासं कृत्वा ततः फलाध्याये उपासना प्रकारं दर्शयति । अन्यदनेकमपि वस्तु विचारायौपस्थापयिष्यते । तत्र जीवस्य संसाराद्वैराग्योत्पादनाय पूर्वं शरीरत्यागानन्तरं परशरीरप्राप्ती कियान् क्लेशः किं किं च भवतीत्यादिकं दर्शयितुमवतरणिकामाह एवमध्यायद्वयेनेत्यादि तत्र प्रथमाध्यायेन ब्रह्मणोलक्षणं स्वेतर

इसतरह प्रथम द्वितीय अध्याय से जगदेक कारण परम परमात्मा में ही सकल वेदान्त का समन्वय को बतला करके उस समन्वय में स्वकीय बुद्धि की दुर्बलता के कारण परोद्धावित विरोध का परिहार करके सकल स्वेतर विलक्षण ब्रह्मस्वरूप का तथा परमेश्वराधीन कर्तृत्वादि विशिष्ट तथा परमात्मा का अंशभूत जो जीव उसके स्वरूप का भी यथावत् विचार किया गया है । सम्प्रति इस साधनाख्य तृतीय अध्याय में सर्वेश्वर श्रीरामजी की प्राप्ति में उपायभूत उपासना का प्रधान रूप से विचार किया जायगा । इसमें जीव के देहान्तरगति देहान्तर का अवस्था प्रकार गुण का उपसंहार अनुपसंहार फलक विद्या की एकता अनेकता की चिन्ता की जायगी तदनन्तर पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति इत्यादि विषय का विचार होगा । प्रसङ्गागत अन्य पदार्थ भी विचिन्तित होगा । कब इस प्रथम अधिकरण से जीव के देहान्तर प्राप्ति प्रकार का विचार होता है । 'तदन्तर प्रतिपत्तावित्यादि' [पूर्व शरीर के त्याग के अनन्तर पूर्व संचित कर्मफल का भोग करने के लिए जो देहान्तर की प्राप्ति होती है उस समय में सूक्ष्मभूत से परिवेष्टित होकरके ही जीव जाता है] क्योंकि यह बात जैबल्लिके प्रश्न प्रतिवचन से सिद्ध होता है । इति सूत्रस्य संक्षिप्तार्थः ।]

लिका विद्यैकत्वनानात्वचिन्ता ततश्च पुरुषार्थावाप्तिरित्येतेऽर्थाविचार्यन्ते । प्रसङ्गागतञ्चान्यदपि । अथानेन प्रथमेनाधिकरणेन जीवस्य देहान्तरप्राप्तिप्रकारो विचार्यते—

॥ तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः

प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ३।१।१ ॥

किमयं जीवो देहान्तरारम्भकैर्भूतसूक्ष्मैर्मुख्यप्राणादीनामाधारभूतैरसंयुक्त एव देहान्तरं गच्छत्याहोस्वित्सम्परिष्वक्त इति संशये । असम्परिष्वक्त एव गच्छति । देहान्तरारम्भकाणां भूतसूक्ष्माणां सर्वत्र सुलभत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते—‘तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्यामिति । पूर्वाधिकरणे मूर्तिशब्दाद्देह उच्यते स्वरूपं दर्शितवान् । द्वितीयाध्यायेन वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वये यः स्मृतिविरोध उद्भावितस्तत्प्रतिषेधं कृत्वा परकीय पक्षस्य निराकरणं कृतवान् । द्वितीयपादेन तर्कविरोधः परिहृतः । प्रसङ्गागतमन्यत्किमपि चिन्तितम् । तृतीयाध्याये परमपुरुषोपासनायाः प्रकारं दर्शयिष्यति । इदमीयप्रथमाधिकरणेन शरीरान्तरप्राप्तिमेव दर्शयति

सम्प्रति संशय पूर्वपक्षादि प्रदर्शन द्वारा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “किमयं जीवो देहान्तरेत्यादि” देहान्तर का उत्पादक जो भूत सूक्ष्म जो कि प्राणादि का आधारभूत है उससे अपरिवेष्टित होकर के देहान्तर में जाता है । अथवा भूत सूक्ष्मों से परिष्वक्त होकर के जाता है, एतादृश संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ? इसमें पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि देहान्तर के आरंभ समय में इन भूत सूक्ष्मों से अपरिष्वक्त ही जीव जाता है, क्योंकि वे सूक्ष्मभूत तो सर्वत्र विद्यमान हैं तो जहाँ जायगा उसी स्थल में प्राप्त हो जायगा ही तब साथ में ले जाने की आवश्यकता नहीं है ऐसा अभिप्राय पूर्वपक्ष का है । इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “तदन्तर प्रतिपत्ताकित्यादि” [देहान्तर प्राप्ति के लिए भूतसूक्ष्म से युक्त होकर के ही जीव जाता है, क्योंकि छान्दोग्य के पञ्चमाध्याय के प्रकरण में जैबलि इवेतकेतु प्रश्नोत्तर से यह सिद्ध होता है, इति सूत्रार्थः] द्वितीयाध्याय के चतुर्थपादान्त में ‘संज्ञामूर्ति’ इत्यादि अधिकरण में मूर्ति शब्द से देह का

तस्यैवात्र सूत्रे तत्पदेन ग्रहणम् । तथा च देहान्तरगमने तदारम्भकैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव जीवोरंहति गच्छति । कुतश्चै तदवगम्यते ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । प्रश्नेन तदुत्तरेण चावगम्यते । पञ्चाग्निविद्यायां छान्दोग्ये श्रूयते 'श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच' 'वेत्थ यथा पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति' (छा० ५।३।३) इत्यादिकम् । तत्र प्रावहणेन राज्ञारुणोयं श्वेतकेतुम्प्रति पञ्च प्रश्नाः कृताः । तेष्वन्तिमः प्रश्नः 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति वर्तते अस्य च प्रतिवचनं 'असौवाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५।४।१) इत्यादिना कृतम् । तत्र हि द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषारूपास्वग्निषु श्रद्धासोमवर्षान्नरेतसामाहुतीः समुपवर्ण्यो तदन्तरप्रतिपत्तावित्यादि । तत्र शरीरान्तरप्राप्तिसमये जीवः सूक्ष्मभूतैरपरिवृत एव गच्छति परिवृतोवेतिसंशयः । असंपरिवृत एव गच्छतीति पूर्वपक्षः । यत आकाशादिभूतानां सर्वत्र समुपलंभात् तदेवादाय गच्छति पुरुषोयदन्यत्र न मिलति तदादायैव गच्छति, अन्यथा-मुधैव परिश्रमो भविष्यतीति । संयुक्त एव भूतसूक्ष्मैर्गच्छति श्रुत्यनुशासनात् प्रवाह-णश्वेतकेतु संवादे राज्ञा प्रश्नः कृतः किन्तुत्तरं न ज्ञातवान् स ततः पित्रा सहित कथन किया गया है। उसी देह का इस सूत्र घटक तत्पद से ग्रहण होता है । अब ऐसा अर्थ होता है कि देहान्तर के गमन समय में तदारंभक अर्थात् देहान्तर के आरंभक उत्पादकभूत सूक्ष्मों से परिवेष्टित ही जीव जाता है । किसतरह इस बात को समझते हैं तो प्रश्न निरूपण से—प्रश्न से तथा प्रश्न के उत्तर से जाना जाता है । छान्दोग्य के पञ्चमाध्यायस्थ पञ्चाग्नि विद्या प्रकरण में कहा है 'आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चाल के सभा में गया- उसको राजा जैबलि ने पूछा 'यह जल पाँचभी आहुति में पुरुषाकार हो जाता है इस बात को तुम जानते हो ?' इत्यादि। उस सभा में राजा प्रवाहण ने अभिमानी श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न किया। जिसमें पाँचवाँ प्रश्न था 'तुम जानते हो जिस तरह यह जल पञ्चम आहुति में पुरुष पद वाच्य हो जाता है ! यह है । इसके पूर्व में यह विद्या ब्राह्मण कुल में नहीं थी, इसलिये श्वेतकेतु ने इसका उत्तर नहीं दिया । तब राजा ने इसका उत्तर स्वयं दिया कि 'हे गौतम

क्तम् 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।११) इति । इत्थं पूर्वोदितासु सर्वांस्त्वप्याहुतिषु सूक्ष्मरूपेणानुवर्तमानानां श्रद्धापदव्यपदेश्यानामेवापां पुरुषशब्दबोध्यत्वमभिहितम् । एवञ्चाभ्यां प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देहारम्भकहेतुभिर्भूतसूक्ष्मैः सहैव जीवो देहान्तरमुपयातीति निश्चीयते ॥१॥

५ त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ३।१।२ ५

ननूक्तप्रश्ननिरूपणाभ्यामद्भिः परिष्वक्तो जीवो गच्छति 'आपः पुरुषवचसोभवन्ति' इत्यभिधानात् । परन्तु तस्याबितरभूत परिष्वङ्गः कथमित्याशङ्क्याह—'त्र्यात्मकत्वादित्यादि' तु शब्द शङ्का आगताय तदुत्तरमपिन्यरूपयत् तादृशप्रश्नप्रतिवचनदर्शनेन भूतसूक्ष्माणां सहैव गमनमिति निश्चीयते । अन्यत् सर्वं भाष्योक्तप्रकारेणैव ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥१॥

यद्यपि पूर्वं प्रश्न प्रतिवचनाभ्यां जलस्यैव नयनं ज्ञायते तथापि पञ्चकृतत्वात् भूत मात्रस्य संग्रहो भवति

“रामेण सर्वभूतानां कृत्वा भागद्वयं समम् ।

अर्धभागचतुर्थांशाः स्वभिन्नर्धेषु योजिताः ॥७६८॥

यह लोक अग्नि है उसका आदित्य ही इन्धन है' इत्यादि प्रकरण से उत्तर दिया । उसमें बुलोक पर्यन्त पृथिवी पुरुषयोषा रूप करिपत अग्नि में श्रद्धा सोम वर्षा अन्नरेतसों की आहुति का कथन करके कहा 'इस प्रकार पञ्चम आहुति में जल पुरुष पद वाच्य हो जाता है' इति । इसतरह पूर्वोदित सभी आहुतियों में सूक्ष्मरूप से अनुवर्तमान श्रद्धापद व्यपदेशमान जल में ही पुरुष पद वाच्यत्व को कहा है । इस तरह दोनों पद तदुत्तरों से सिद्ध होता है कि देहोत्पाद में कारणीभूत जो सूक्ष्मभूत उनसे युक्त होकर के ही जीव देहान्तर में जाता है, ऐसा निश्चित किया जाता है ॥१॥

पूर्व प्रश्न प्रतिवचन से यह सिद्ध होता है कि मात्र जलवेष्टित जीव जाता है क्योंकि 'जलपुरुषाकार होता है' ऐसा कहा गया है । परन्तु जलेतर भूतों से वेष्टित होकर के जाता है, यह कैसे कहते हैं, इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'त्र्यात्मकत्वादिति' सूत्रस्थ तु शब्द शंका का निवर्तक है । जल में त्रिवृत्करण श्रुति से वह त्र्यात्मक है, इसलिए भूतान्तर संसृष्ट

निवर्तकः । अपां त्रिवृत्करणश्रुत्या त्र्यात्मकत्वात् । 'आपः पुरुषव-
चस' इति च भूतान्तरसंसृष्टा आपोऽभिधीयन्ते । तत्रापां भूयस्त्वा-
दाधिकात्केवलापशब्देनैवाभिधानमुपपद्यते ॥२॥

ॐ प्राणगतेश्च ३।१।३ ॐ

इतोऽपि भूतसूक्ष्मैस्सह गमनमुपपद्यते । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणो
ऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ.६।४।२)
इति । तथा 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि
संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्' (गी०) इति स्मृतेश्च । जीवोत्क्रमण

पञ्चीकृतं हि रामेण भूतं जगत् सिसृक्षुणा ।

स्वभागस्याधिकत्वाच्च स्वनाम्ना व्यपदिश्यते ॥७६९॥"

इत्यादिरूपेण श्रीबोधायनमतादर्शे जपद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्योक्तैरिति न काप्य-
नुपपत्तिरिति बोधयितुं सूत्रान्तरमवतारयति ननूक्त प्रश्न निरूपणाभ्यामित्यादि अतिरोहितार्थ
मन्यदिति ॥२॥

यदा हि जीवः कर्मफलमुपभुज्य पूर्वशरीरं परित्यजति त्यजंश्च देहान्तरमादत्ते
तदापूर्वशरीरान्निष्क्रमणकाले मुख्यप्राणेन सहैव गच्छतीति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते ।
प्राणश्च शरीराश्रितः शरीरं स्वारंभकावयवैः सहैव गमिष्यति तदभावे तदभावात् ।
जल का ही कथन होता है । परन्तु उसमें जलभाग की अधिकता होने से केवल जल शब्द
से कथन उपपन्न होता है । 'पञ्चीकृतेषु भूनेषु यदर्घं तस्य नाम तत्' (श्रौतप्रमेयच-
न्द्रिका १५७) इस आचार्यजी के कथनानुसार ॥२॥

पूर्वशरीरावगान काल में जीव के साथ जो मुख्य प्राण का तथा तदनन्तर तदितर प्राणों
का गमन होता है, उससे भी सिद्ध होता है कि सूक्ष्मभूत से युक्त ही जीव शरीर से गमन
करता है, इस अभिप्राय से तृतीय सूत्र का उत्थान होता है 'इतोऽपिभूत सूक्ष्मैरित्यादि' इस
वक्ष्यमाण हेतु से भी सूक्ष्मभूत के साथ जीव का गमन उपपन्न होता है । 'जीव के शरीर
से उत्क्रमण करने पर मुख्य प्राण उत्क्रान्त होता है, और मुख्य प्राण के उत्क्रमण के अनन्तर
तदितर प्राण भी उत्क्रान्त हो जाता है' तथा 'यह जीव, इस शरीर को जो प्राप्त करता है,
तथा जो छोड़ता है, तब इन सब प्राण को ग्रहण करके ही जाता है, जिस तरह वायु

काले मुख्यप्राणसहितानामिन्द्रियाणामपि तेन सह गतिश्रवणात्म-
रणाच्चेन्द्रियाणां देहाश्रितत्वेन देहारम्भकाणां भूतसूक्ष्माणामपि
गमनाद् भूतपरिष्वक्त एव जीवो रंहतीति ॥३॥

५ अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिच्चेन्न

भाक्तत्वात् ३।१।४ ५

ननु 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्च
क्षुरादित्यम्' (बृ.५।२।१३) इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिषु लयस्य
श्रवणात्तेषां मरणकाले जीवेन सह गतिर्नोपपद्यत इति चेन्न 'तमु-
त्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इतिजीवेन सह वागाद्युत्क्रान्तिश्रुति
विरोधेन तेषामग्न्यादिदेवतासु लयाऽनुपपत्तेः । तथा च 'यत्रास्य
तस्मात्प्राणगत्यन्यथानुपपत्त्या सूक्ष्मभूतैः सहैव गमनमिति दर्शयितुमुपक्रमते इतोपि
भूतसूक्ष्मैः सहैवेत्यादि अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥३॥

स्यादेतत् वागादिप्राणानां मरणानन्तरंतदभिमानिदेवतासु लयस्य श्रवणात्
प्राणानां जीवेन सहोत्क्रमणकथनमयुक्तमिवाभातीति तन्न तादृशश्रुतेर्भाक्तत्वात्-
गौणत्वात् । क्वचित्केशादीनां गमनं वनस्पत्यादिषु श्रुतं तद्यथा प्रत्यक्षवाधात् तादृशश्रु-
तेर्गौणत्वं तथैवोत्क्रान्तिश्रुतिविरोधेन देवतासु लयप्रतिपादकस्यापि गौणत्वमेवेत्यादिकं
आशय से गन्व को लेकर के जाता है' । जीवके उत्क्रमण काल में मुख्य प्राण सहित तदि-
तर प्राणों का भी उसके साथ गति का श्रवण तथा स्मरण होने से देहारम्भभूत सूक्ष्मों का
भी गमन होता है । इसलिए भूतसूक्ष्म से परिष्वक्त ही जीव गमन करता है ।
यह सिद्ध हुआ ॥३॥

'मृत' इस पुरुष का वागात्मक प्राण अग्नि को प्राप्त कर जाता है, प्राणवायु को चक्षु
आदित्य को प्राप्त करता है अर्थात् उन सब में ये सब लीन हो जाते हैं' इत्यादि से वागा-
दिक का अग्न्यादिक में लय श्रवण होने से उन प्राणों का मरण काल में जीव के साथ
गमन उपपन्न नहीं हो सकता है यह प्रश्न हुआ । यह मरण श्रुति भाक्त है अर्थात् गौणी
है । उत्क्रान्ति श्रुति से विरोध होने से अग्न्यादि देवता में प्राण का लय अनुपपन्न है । अतः

पुरुषस्याग्नि' मित्यादिश्रुतेर्भाक्तत्वावगमात् । नहि मृतस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानानां लोम्नां केशानां श्रौषधिषु वनस्पतिषु च लयो दृश्यते । अतोऽग्न्यादिषु वागादिलयश्रुतेरौपचारिकत्वम् ॥४॥

५ प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता

एव ह्युपपत्तेः ३।१।५ ५

प्रथमे द्युलोकाख्याप्तावपामाहुतेरश्रवणात्किन्तु 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५।४।२) इति प्रथमेऽग्नौ श्रद्धाया एवाहुतेः श्रवणादापो भूतान्तस्संसृष्टा गच्छन्तीति नोपपद्यत इति चेन्न यस्मात्ता एवापः श्रद्धाशब्दवाच्या भवन्ति । कुतः ? उपपत्तेः । श्रद्धाशब्देनापामेव ग्रहणम् तथा सत्येव प्रश्नस्य तन्निरूपणस्य चोपपत्तिः । तथाहि—'वेत्थ यथा पञ्चभ्यामाहुतावापः पुरुषवचसो दर्शयितुमुपक्रमते ननु यत्रास्य पुरुषस्येत्यादि भाष्याशयोऽतिरोहित इति ॥४॥

ननु द्युलोकाग्निरूपेऽधिकरणे जलाहुतेः श्रवणं न विद्यते तत्र तु श्रद्धेवाहवनीयतया कथिता श्रद्धा नाम अस्तिक्यबुद्धिरूपा अतो न जलस्याहवनीयत्वं श्रुतम्, तत्कथं जलस्य पुरुषवचसत्त्वमिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः । उपसंहारानुरोधेनोपक्रमेऽपि जलस्यैव ग्रहणं युक्तमन्यथा प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैरूप्यं भवेत् । इत्यादिकं सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते 'यत्रास्य' इत्यादि भाक्त है मृत पुरुष के प्रत्यक्ष दृश्यमान लोमकेशों का औषधिवनस्पति में लय नहीं देखने में आता है । अतः अग्न्यादिक में वागादिलय श्रुति औपचारिकी है ॥४॥

प्रथम द्युलोक रूप अग्नि में जलाहुति का तो श्रवण नहीं है किन्तु 'उस प्रथम अग्नि में देवता लोग श्रद्धा का हवन कहते हैं' इस तरह प्रथम अग्नि में श्रद्धा का ही आहुति रूपसे श्रवण है । तब जलभूतान्तर सम्बद्ध होकर के जीव के साथ जाता है, यह कथन तो अयुक्त है ! उत्तर=श्रद्धा शब्द वाच्य जल ही है, क्योंकि तभी ही उपपत्ति होती है । श्रद्धा शब्द से जल का ही ग्रहण होता है, ऐसा करने से ही प्रश्न तथा उत्तर का निरूपण उपपन्न होता है । तथाहि छान्दोग्य में 'तुम समझते हो जिस तरह पञ्चम आहुति में जल पुरुषाकार होता है ।' यहाँ उद्देश्य रूपसे जल में ही पुरुष सत्त्व प्रश्नकर्त्ता को अभिमत है ।

भवन्ति (छा० ५।३।३) इत्यत्रोद्देश्यतयाऽपामेव पुरुषवचस्त्वं प्रष्टु-
भिमतम् । तथा तत्प्रतिवचनासम्भे तु द्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रद्धाधि-
गता । तत्र श्रद्धाया एवाब्रूपत्वमेष्टव्यम् । नो चेत्प्रश्नप्रतिवचनयो-
र्विषयभेदः स्यात् । । ‘श्रद्धा वा आपः’ (अष्टक.२।४।३२) इति श्रुतेः
श्रद्धाशब्देनाप एवोच्यन्ते । तथा च भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव
गच्छतीति ॥५॥

५ अश्रुतत्वादिति चन्नेष्टादि

कारिणां प्रतीतेः ३।१।६ ५

ननु ‘देवाः श्रद्धां जुह्वति’ (छा.५।४।२) इत्यादिप्राकरणिकेषु
वाक्येष्ववादिभूतपरिष्वक्तस्य जीवस्य ग्रहणत्वं नोपपद्यते । कुतः ?
प्रश्नप्रतिवचनवाक्ययोरश्रुतत्वात् । इति चन्न । इष्टादिकारिणां
प्रथमे द्युलोकाख्य इत्यादि । न केवलं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेव श्रद्धया जलग्रहणं किन्तु
श्रुत्यापि तथैव सिद्ध्यति तामेवोदाहरति श्रद्धावेति प्रथमेऽपि जलस्य ग्रहणात् तज्जलं
भूतान्तरोपसंसृष्टं सदेव जीवेन सह गच्छतीति संक्षेपः ॥५॥

जलादिभूतपरिवेष्टितो जीवोगच्छतीति पूर्वप्रकरणे साधितम्, परन्तु तन्न
युक्तम् यतः प्रश्न प्रतिवचनयोरश्रवणात् जलस्य । यदि जलस्यात्र श्रवणं स्यात्तदापूर्वोक्तं
तथा उसके प्रतिवचन के आरम्भ में द्युलोक रूपाग्नि में द्रव्य रूपसे श्रद्धा का कथन है,
तब वहाँ श्रद्धा को ही पुरुषाकारत्व अभिमत है, नहीं तो प्रश्न प्रतिवचन में विषयभेद हो
जायगा । ‘श्रद्धा वा आपः’ इसप्रकार श्रुति कहती है यहाँ श्रद्धा शब्द से जल का ही कथन
होता है । इसप्रकार भूतसूक्ष्मों से सम्बद्ध होकर के जीव जाता है यह सिद्ध हुआ ॥५॥

प्रश्न=“देवता लोग श्रद्धा का हवन करते हैं” इत्यादि प्राकरणिक वाक्यों में जलादि
लक्षणाभूत संवेष्टित जीवका गमन होता है यह तो सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि प्रश्न तथा
प्रतिवचन वाक्यों में जलादि परिवेष्टित जीव गमन तो श्रुत नहीं है । उत्तर—इन वाक्यों में
इष्टादिकारियों की प्रतीति होती है “जो व्यक्ति इष्टापूर्तादिक कर्म को करते हैं वे धूममार्ग
को प्राप्त करते हैं” इस प्रकार से इष्टादि कर्मकारी को धूममार्ग से चन्द्रलोक में गमन सुना

प्रतीतेः । ‘अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति’ (छा० ५।१०।३) इतीष्टादिकारिणां धूममार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिः श्रूयते । ‘आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति’ (छा० ५।१०।४) इति । एवमत्रापि ‘देवाः श्रद्धां जुहति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति’ (छा० ५।४।२) इति समानोर्थो निश्चीयते ।

अयम्भावः । दर्शपूर्णमासादिकर्मसु दध्यादयः प्रत्यक्षेणैव द्रवद्रव्यप्राचुर्यादापस्ताश्चेष्टादिकारिणं फलाधिकारिणं सूक्ष्मरूपेण व्याप्नुवन्ति । ततश्च स्वर्गलोकं फलप्रत्यर्पणाय ता एवापोनयन्तीत्यनेनोच्यते ‘देवाः श्रद्धां जुहति’ (छा० ५।४।२) श्रद्धा पूर्वकं हुतास्ता एवापः श्रद्धाख्याहुतित्वमापन्ना सोमाख्यदेहात्मना परिणमन्ते । तस्मादाहुतिरूपाणामपां सम्परिष्वङ्गो जीवस्यास्त्येवेत्यवगम्यते । ६। परिकल्पयेत् किन्तु तस्य श्रवणमेव न विद्यतेऽपितु श्रद्धा तत्र प्रथमाहुतौ श्रुतातत्कथमित्यमिति चेत्सत्यं श्रद्धैव तत्र श्रुता किन्तु तत्रापि जलाधिकद्रव्याणां दध्यादीनां श्रवणं तत् श्रद्धापूर्वकं क्रियमाणमिति तदपि श्रद्धैवेतिकृत्वा जलस्योन्नयनं तेन जलेन परिचेष्टितस्य जीवस्य गमनमिति प्रकरणपर्यालोचनया विनीद्वीयते । अतो न काप्यनुपपत्तिरित्यादिकं सर्वं दर्शयितुमाह ननु देवा श्रद्धामित्यादि अन्यत्सर्वं भाष्यदिशैवावगन्तव्यमिति संक्षेपः ॥६॥

जाता है । “आकाश से चन्द्रमा में जाता है, यहाँ यह सोम राजा है, वह इष्टाधिकारी देवों का अन्न है उसको देवता लोग भक्षण करते हैं” । इसी तरह यहाँ भी “देवता लोग श्रद्धा का हवन करते हैं, उस आहुति से सोमराजा होता है” इस तरह समान ही अर्थ निश्चित होता है ।

अभिप्राय यह है कि—दर्शपूर्ण मासादि कर्मों में द्रव द्रव्य बहुल दध्यादि द्रव्य प्रत्यक्षावगत है, वे इष्टादिकारियों को स्वर्गादि प्राप्ति के लिए सूक्ष्म रूप से व्याप्त करते हैं । तदनन्तर फल देने के लिए इष्टादि कारियों को ले जाते हैं । यह बात इस वाक्य से कहा जाता है । “देवता श्रद्धा का हवन करते हैं” श्रद्धापूर्वक हुयमान वे जल श्रद्धाख्या हुतित्व को प्राप्त करके सोमरूप देह से परिणत होते हैं । तस्मात् आहुति रूप जल से सम्परिष्वक्त जीव है यह जाना जाता है ॥६॥

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ३।१।७

एवमपि 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति देवानामन्नस्थानीयः सोमो राजा भक्षयत्वेन निर्दिष्टो न जीवः स्यादित्यत आह—'भाक्तं वेत्यादि । वा शब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । जीवस्य स्वर्गसुखावाप्त्यर्थं 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिविधिवाक्यानां सार्थक्याय न प्रकृतेऽन्नपदेनादनकर्मत्वमवगन्तव्यम् । तथा चेष्टादिकारिणामन्नत्वस्य मुख्यत्वाभावाद् भाक्तत्वमेव । देवानां किङ्करादिभोगोपकरणत्वमात्रेणान्नत्ववचनं भाक्तमेव । न हि देवा मोदकादिवन्निगणं कुर्वन्ति । इष्टादिकारिभिस्सह सुखेन विहरणमेव हि तेषां भक्षणम् । तथा च श्रुतिः

अथ स्वकीयकर्मफलोपभोगाय चन्द्रलोकगमनं भवतीति कथमुच्यते । यतश्चन्द्रमण्डलं योयाति तं देवा भक्षयन्तीति श्रुतिभिः प्रतिपाद्यते इति भक्ष्यमाणस्य फलोपभोगः स्यादित्याशङ्कामपनेतुं सूत्रं व्याख्यातुमाह एवमपि आकाशादित्यादि नात्र मुख्यं भक्षणं किन्तु भाक्तमेव भक्षणम् । यदि कदाचित् चन्द्रमण्डलगतस्य भक्षणमेव देवैर्भवेत् तदा स्वर्गार्थं कः यागादि कर्म करिष्यति ततश्च स्वर्गकामो यजेतेत्यादि श्रुति

ऐसा होने पर भी "आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होता है यह सोमराजा वह देवता का अन्न है इस को देवता लोग खाते हैं" इस प्रकार देवों का अन्न स्थानीय सोमराजा देवभक्षयत्वेन निर्दिष्ट है, तब उसकी क्या स्थिति रही ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं "भाक्तं वा" इत्यादि सूत्रम् । सूत्र घटक वा शब्द पूर्वपक्ष का निरासपरक है किन्तु विकल्पादि अर्थ का बोधक नहीं है । जीवका स्वर्ग रूप विलक्षण सुख प्राप्ति के लिए "यजेत स्वर्गकामः" [स्वर्गकामनावाला पुरुष दर्शपूर्ण मास विगरे याग को करें] इत्यादिक जो विधिवाक्य हैं, उनमें सार्थकत्व का संपादन करने के लिए प्रकृत में अन्न पद का अदन कर्मत्व रूप अर्थ नहीं समझना [यहां अन्नपद वस्तुभूत अन्न का बोधक नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ मानने पर स्वर्गकाम इत्यादिश्रुति निरर्थिका हो जायगी] इसलिए इष्टादिकारी में जो अन्नत्व है वह मुख्य नहीं है किन्तु गौण ही है । देवों का किङ्कर-दासादि उपकरणमात्र से अन्नत्व का कथन भाक्त=गौण है । देवता लोग

‘न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति’ (छा० ३। ६। १) इति प्रीतिरेव देवानामशनम् । कुतश्चैतदिष्टादिकारिणां भोग्यत्वमत आह—अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति । यतस्तेन प्रकारेण तेषामनात्मवित्त्वेन देवभोग्यत्वं दर्शयति श्रुतिः ‘अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्’ [बृ० ३। ४। १०] इत्यनात्मविदो देवभोग्यत्वं पशुवदवगम्यते । तस्माद् भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव जीवो रंहतीति सिद्धम् ॥७॥

श्रीआनन्दभाष्ये तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

निरर्थिकैव स्यात्, तस्मात्स्वेन सह सुखविहरणमेवभक्षणं गौणम् । यथा राज्ञोन्नं वैश्यः इत्यत्र साधनत्वं तथा प्रकृतेऽपि देवतानां सुखविहारादौ साधनता इष्टादिकारिणामितिदिक् ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

मोदकादि की तरह निगल नहीं जाते हैं इष्टादि कारियों को किन्तु उन लोगों के साथ जो सुख विहारादिक है, वही उनका भक्षण है । श्रुति भी कहती है “देवता लोग न खाते हैं नवा पानी पीते हैं किन्तु इस अमृत को देख करके ही तृप्त हो जाते हैं” देवताओं की प्रीति ही अशन बोध्य है । इस तरह का भोग्यत्व क्यों होता है, इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं “अनात्मवित्त्वादित्यादि” इसप्रकार अनात्मवित् होने के कारण उनमें देवभोग्यत्व को श्रुति बतलाती है । “अथयोन्यामित्यादि इसप्रकार यह श्रुति अनात्मवित् को देव भोग्यत्व बतलाती है पशु के समान । तस्मात् जलादि भूत सूक्ष्म से सम्परिष्वक्त अर्थात् परिवेष्टित होकर ही जीव पूर्व शरीर के परित्याग के अनन्तर में शरीरान्तरारंभ के लिए चन्द्रलोकादि में जाता है तथा पुनः फलोपभोग करने के बाद इस लोग में आता है यह सिद्ध हुआ ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

५ कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ३।१।८ ५

केवलमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलभोगार्थं धूमादिमार्गेण सोम-
लोकप्राप्तानां तत्र च भुक्तकर्मफलानां ततो निवर्तनं श्रूयते 'तस्मिन्
यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' [छा.५।१०।५]
इत्यादि तत्र संशयः । किं चन्द्रमण्डलान्निवर्तमानास्ते जीवा निरनु-
शया एव निवर्तन्त आहोस्वित्सानुशया इति ? तत्र निरनुशया एवा-
वरोहन्तीति पूर्वः पक्षः । प्रकृतेऽनुशयशब्द आमुष्मिकफलप्रदकर्माति-
रिक्तकर्मवाचकः । श्रुतौ सम्पतन्त्यनेन स्वर्गलोकं फलभोगायेति
सम्पातोऽत्र कर्माऽभिधीयते । एवञ्च 'यावत्सम्पातमुषित्वा' इति
वाक्येनाखिलकर्मणामुपभोगस्तत्रैव निश्चीयते । तथा च श्रुतिः

यस्तु कश्चित्स्वगार्थी इष्टापूर्तादिकर्मकृत्वा तदीयफलभोगाय चन्द्रमण्डलं गच्छति।
तत्र गत्वा कर्मफलमनुभूय पुनरपि संसारमाविशति । पुनरत्र सुकृतं सम्पाद्यफलभोगाय
गच्छतीति घटीयन्त्रवद्गमनमागमनं भवतीति स्थितिः । तत्र चन्द्रमण्डले निरवशेषं
कर्मभुक्ता प्रत्यावर्तते अथवा अविशिष्टकर्मशेषः प्रत्यावर्तते इति संशयः । तत्र यावत्स-

जो केवल इष्टापूर्तादि करने वाले हैं स्वकीय कर्मफल भोग के लिए धूममार्ग दक्षिणमार्ग से
चन्द्रलोक को प्राप्त करनेवाले हैं, और चन्द्र मण्डल में कर्मफल भोगकर चुके हैं उन लोगों का
चन्द्रमण्डल से प्रत्यावर्तन सुनने में आता है "उस चन्द्रमण्डल में जब तक संपात कर्म है
तब तक निवास करके तादृश कर्मफल भोग के बाद इसी मार्ग से [गमन विपरीत मार्ग से]
पुनः निवृत्त होते हैं" इत्यादि । अब इसमें संशय होता है कि चन्द्रमण्डल से प्रति निवृत्त
जो जीव हैं वे निरनुशय कर्म शेष रहित होकर के लौटते हैं, अथवा सानुशय पर कर्मशेष
सहित होकर के लौटते हैं ! उसमें पूर्वाक्ष होता है कि निरनुशय होकर के ही निवृत्त
[लौटते] होते हैं । प्रकृत में अनुशय शब्द परलोक में फल को देनेवाला जो कर्म है तद-
तिरिक्त कर्म का वाचक है । स्वर्गलोक में कर्मफल भोग करने के लिए जाय जिसके द्वारा

‘प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्य-
स्मै लोकाय कर्मणे’ [बृ०४।४।६] इतितस्मात्सर्वकर्मफलभोगानन्तरमे
वावरोहणान्निरनुशया एव निवर्तन्ते ।

इतिप्राप्तेऽभिधीयते “कृतात्ययेऽनुशयवानिति । कृतस्य स्वर्ग-
प्राप्तये कृतस्य पुण्यकर्मणो भोगेनात्यये नाशे सत्यनुशयवान् भुक्त-
शिष्टकर्मवानेव निवर्तते । चन्द्रमण्डलात्प्रत्यवरोहति । कुतोऽवगम्यते ?
दृष्टस्मृतिभ्याम् । दृष्टा श्रुतिः । सा च ‘तद्य इह स्मणीयचरणा अभ्या
सोह यत्ते स्मणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा
म्पातमिति विशेषणात् सर्वकर्मावसाने एव प्रत्यारोहणमिति प्रथमपक्षः । सानुशयानामेव
प्रत्यावर्त्तनमिति द्वितीयपक्षः । अन्यथा सर्वकर्मफलभोगे कर्मात्मककारणाभावादागतानां
विशिष्टदेशादिषु जन्मासंभवेन संसारचक्रविरामो भवन् मोक्षमेव सर्वोपि प्राप्नुयात्
तस्मात्सानुशयानामेव प्रत्यावर्त्तनमिति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते केवलमिष्टादि कर्म-
कारिणमित्यादि । केवलमितिपदं दक्षिणपथागमनकर्तृणां ज्ञानिनां व्यवच्छेदं करोतीति
उसको सम्पात कहते हैं अर्थात् सम्पात का अर्थ है कर्म । ऐसा हुआ तब “यावत् सम्पा-
तमुषित्वा” इस श्रुति वाक्य से समस्त कर्म का फल का उपभोग चन्द्रमण्डल में ही हो
जाता है. ऐसा निश्चित होता है ।

श्रुत्यन्तर में भी कहा है “उस कर्म के अन्त को प्राप्त करके जो कुछ यह करता है,
उस लोक से पुनः इस लोक में कर्म करने के लिए” । अतः सर्व कर्मफल भोग के अनन्तर
में ही अवरोहण होता है, तस्मात् निरनुशय होकर के ही प्रतिनिवृत्त होता है. इति पूर्वपक्षः ।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं “कृतात्यये इत्यादि । कृत=अर्थात् स्वर्गप्राप्ति के
लिए कृत सम्पाद्यमान जो इष्टादिक पुण्य कर्म है, उन कर्मों का भोग से विनाश हो जाने
पर अनुशयवान् अर्थात् भुक्तावशिष्ट कर्मवान् ही इष्टादि कर्मकारी पुरुष चन्द्रमण्डल से लौटता
है । इस बात को किस तरह जानते हैं ? दृष्ट तथा स्मृति से । दृष्ट शब्द का अर्थ है श्रुति
आगम वाक्य । अनुशयवान् चन्द्रमण्डल से लौटता है इसमें श्रुति प्रमाण है । तथाहि—‘जो
पुण्य कर्मवान् होते हैं वे लोग चन्द्रमण्डल से आकर के पुण्य योनि में पुनः जन्म लेते हैं
ब्राह्मण योनि को प्राप्त करते हैं जो कि स्वभाव से पवित्र हैं तथा सर्वदा तपश्चरणादिक
में संलग्न रहते हैं । तथा क्षत्रिय योनि वैश्य योनि को प्राप्त करते हैं इन योनियों में

वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनि
मापद्येन् स्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' (छा० ५।
१०।७) इत्येवंरूपा । येऽत्र कर्मभूमौ रमणीयं पुण्यं कृतवन्तस्ते चन्द्र-
मण्डलादवरोहन्तो रमणीयां पुण्यां ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते । ये च
कपूयं कुत्सितं पापं कृतवन्तस्ते कपूयां कुत्सितां स्वशूकरादियोनि-
मापद्यन्ते । इतिपुण्यपापकर्मकारिणां स्वर्गात्प्रत्यवरूढानां प्राक्तनक-
र्मयोगात्पुण्यपापरूपजन्मनाम्प्राप्तिं दर्शयन्ती श्रुतिर्भुक्तशिष्टं कर्मा-
स्तीति स्पष्टयति । तथा स्मृतिरपि 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः
प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः

तेषामक्षयफलभोक्तृत्वादिति । सम्पातमिति सम्पतन्ति अस्माच्छोकात्परलोकं गच्छन्ति
फलभोगाय येन स सम्पातः कर्मविशेषरूप एवेति नतु पदार्थान्तरमिति । निरनु-
शयाः सानुशना वा निवर्तन्ते इति विषयः । तत्र निरनुशया एवेति कुतः ? यावत्
सम्पातमिति वचनात्, अन्यथा सम्पातमात्रमुच्येत । एवञ्च यावत्सम्पातमिति
वचनं सर्वकर्मणां फलोपभोगं निश्चाययति । ततश्च निखिलकर्मणः फलं तत्रैवोप-
भोगेन समाप्य तदनन्तरमवरोहन्ति इति निरनुशयानामेव प्रत्यावर्तनं भवति नतु
किञ्चित्कर्मफलं तत्र भुनक्ति अवशिष्टं च तदादाय पुनस्ततोनिवर्तन्ते इति पूर्वपक्षाशयः ।
उत्पन्न होनेवाले प्रायः वेदाध्ययन यजन दानादिक सत्कर्म में संलग्न रहते हैं, इसलिए इसको
पुण्ययोनि कहते हैं और जो अशुभ कर्मवाले होते हैं वे चन्द्रमण्डल से छूट करके अशुभ
योनि स्व योनि शूकर योनि चाण्डालादि नीच योनि को प्राप्त करते हैं" इत्यादि रूपाश्रुति
प्रमाण है । इस समुदाहृत श्रुति के अर्थ को भाष्यकार स्वयमेव स्पष्ट करते हैं । जो व्यक्ति
इस कर्मभूमि में रमणीय पुण्य कर्म का संचय करते हैं वे चन्द्रमण्डल में यथा सथय सुखा-
नुभव करके उस चन्द्रमण्डल से नीचे आकर के पुण्य प्राप्य तथा पुण्य प्रयोजक ब्राह्मणादि
अन्यतम योनि को प्राप्त करते हैं और जो कपूय कुत्सित पाप कर्म किये हुए हैं वे कपूय
कुत्सित पापजन्य पाप प्रयोजक स्वाशूकरादि योनि को प्राप्त करते हैं । इस तरह पुण्यकर्म
करने वाले को जोकि स्वर्ग से नीचे आनेवाले हैं उनको पूर्वोपार्जित कर्म के योग से पुण्य-
पाप प्रयोजक जन्म के प्राप्ति को बतलाती हुई उपर्युक्त श्रुति भुक्त कर्म से अवशिष्ट सत्कर्म
के सद्भाव की स्पष्ट करती है अर्थात् अवशिष्ट पुण्य कर्म है इस बात की स्पष्ट रूप से

श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्मप्रतिपद्यन्ते' (गौतम०) इति ततः शेषेणेत्यनेन सानुशयानामेव स्वर्गादवरोहणं वदति । 'यावत्सम्पातमुपित्वा' इत्यस्य सकलकर्मभोगानन्तरं निवर्त्तन्त इति नार्थः । किन्तु स्वर्गलोकभोक्तव्यानि कर्माणि तान्यशेषेण भुक्त्वेत्याद्यर्थः । सकलकर्मफलभोगपरत्वे तु सर्वेषां कर्मणां तत्फलभोगेन विनाशादुत्तरजन्महेत्वभावेन पुनरिह लोके प्रत्यावर्तनाऽसम्भवात् 'रमणीयां योनिमापद्येन्' इत्यादिश्रुतेः 'ततः शेषेण' इत्यादि स्मृतेश्च वैयार्थ्यं स्पष्टमेव । तस्मात्सानुशयानामेवावरोहणमिति ।

समाधत्ते कृतात्यये इत्यादि । कृतस्य चन्द्रमण्डले फलभोगाय सम्पादितस्येष्टादि कर्मणः अत्यये फलोपभोगेन विनाशे सति । तावदेव कर्मावतिष्ठते यावत् स्वकीयं फलं न ददाति फलं प्रदाय तु तत्कर्मविनश्यति कदलीस्तंभवत् । यदा कदलीस्तंभ फलं न ददाति तावदेव प्राणधारणं करोति फलं प्रदाय तदैव विनश्यति औषध्यः फलपाकान्ता इति । तद्वत् प्रारब्धकर्मापि फलं दत्त्वा विनश्यत्येवेतिभावः । चन्द्रमण्डले फलभोगानन्तरमप्यवशिष्टं कर्मावतिष्ठते तत्र श्रुतिरेव प्रमाणं भवति तदिहव्याघ्रोवा वराहोवा दंशो वा मशकोवेत्यादि । श्रुतिप्रतिपादनं करोतीति । इसलिये यह सिद्ध होता है कि अनुशयवान् ही पुरुष चन्द्रमण्डल से नीचे आता है ।

एवं स्मृति भी इस बात को पुष्ट करती है "स्वकीय कर्म में सदानिरत बर्णाश्रमवान् पुरुष यहां से मर करके स्वकीय कर्मफल का अनुभव करके तादृश कर्म के शेष कर्म से त्रिशिष्ट देश जाति कुल त्रिशिष्ट रूप आयु विद्याध्ययनादि घन सुख और त्रिशिष्ट मेघावान् जन्म को प्राप्त करते हैं" इस गौतम वचन घटक "शेषेण" इस पद से अनुशयवान् का स्वर्ग से अवरोहण का प्रतिपादन होता है । "यावत्सम्पातं" इस श्रुति का सकल कर्म के भोग के अनन्तर चन्द्रमण्डल से छोटता है" ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु चन्द्रलोकात्मक स्वर्ग में भोक्तव्य जो कर्म है उन सबका भोग करके शेष कर्म से चन्द्रमण्डल से छोटता है ऐसा अर्थ है । यदि कदाचित् असंकुचित रूपेण सकल कर्मभोगपरक यथोक्त श्रुति को मान लिया जाय तब तो सभी कर्म का फलभोग होने से विनाश हो गया, तब तदुत्तर जन्म का कारण कर्म के अभाव होने से पुनः इस लोक में इष्टादि कर्मकारियों का आगमन नहीं होगा । तब तो 'रमणीयां योनिम्' इत्यादि श्रुति तथा 'ततः शेषेण' इत्यादि स्मृति वाक्य का वैयार्थ्य

ते च येन क्रमेणारूढास्तेनैव क्रमेणावरोहन्ति क्रमान्तरेण वेति सन्देहं निरस्यन्नाह-‘यथेतमनेवञ्च । आरोहणप्रकारेण तद्विपर्ययेण च निवर्तन्त इति तदर्थः । अयं भावः । आरोहणे श्रुतयोर्धूमाकाशयो-
वरोहणेऽपि श्रुतत्वाद्यथेतं यथागतमिति । अवरोहणे तु वाय्वादिनि-
र्देशाद्रात्र्याद्यनुपदेशात्तद्विपर्ययेणेत्यनेवमिति ॥८॥

५ चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्णाजिनिः ३।१।९ ५

ननु ‘रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येन्’ इति श्रुतस्य चन्द्रमण्डले गमनस्य यः क्रमस्तद्विपरीत एव क्रमोभवत्यागमनस्य यथा प्रासादावरोहण समवे यः प्रथमः सोपानः सोऽवतरणकाले चरमः यदचात्र चरमः सः प्रथम इति विवेकः । तस्मात्सानुशया एवागच्छन्ति । अन्यत्सर्वं सुगममिति संक्षेपः ॥८॥

अथ रमणीयमित्यादिश्रुतौ नानुशयात् शुभादियोनिर्भवति, किन्तु चरणात्तद् भवति न च चरणमनुशयश्च पर्यायवाची चरणमाचारः शीलमित्येते पर्यायाः । तस्मा-
स्पष्ट रूप से हो जायगा । तस्मान् अनुशयवान् कर्मियों का ही चन्द्रमण्डल से प्रत्यावर्तन होता है, यह सिद्ध होता है, यथोक्त श्रुतिस्मृतियों से इति ।

जिस क्रम से चन्द्रमण्डल में जाता है उसीक्रम से वहाँ से लौटता है, अथवा अन्यक्रम से लौटता है, इस संशय का निराकरण करने के लिए कहते हैं ‘यथेतमनेवं च’ इति । आरो-
हण का जो प्रकार है उससे तथा विपरीत प्रकार से भी निवृत्त होते हैं, यह अर्थ है ।
इसका यह भाव है—

आरोहण में श्रुत धूमाकाश को अवरोहण में श्रुत होने से, यथेतम्, इसका अर्थ होता है, जिसतरह से गया । अवरोहण में वायु विगेरे का निर्देश है तथा रात्रि विगेरे का उपदेश नहीं होने से, उसको विपरीत क्रम से अतः ‘अनेवं’ ऐसा कहा ॥८॥

प्रश्न—‘रमणीयचरणाः’ इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण जो चरण शब्द है उसको अनुशय-
लक्षण कर्मार्थक मान करके तादृश अनुशयवान् का ही चन्द्रमण्डल में गमन तथा पुनरागमन होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि आचार लक्षण जो चरण कर्म, जो ब्राह्मणादि योनि

चरणपदस्यानुशयकर्मार्थकत्वमङ्गीकृत्य सानुशयानामवरोहणं यदुक्तं तन्नोपपद्यते । कुतः ? चरणस्याचारात्मकस्य कर्मणो ब्राह्मणादियो निप्राप्तिहेतुभूतस्यानुशयादतिस्मितत्वादिति चेन्न, इयं चरणश्रुतिरनुशयकर्मोपलक्षणार्थेतिकाष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ३।१।१०

ननु श्रुतस्य चरणस्यैव सदाचारदुराचारात्मकस्य ब्राह्मणादि श्वशूकरादिसदसद्योनिप्राप्तिहेतुत्वेन श्रुतस्यानुशयकर्मोपलक्षकत्वे त याकिञ्चित्कस्त्वेनानर्थक्यं स्यादिति चेन्न, तदपेक्षत्वात् । सुखसाधनस्येष्टापूर्तादेः पुण्यकर्मणश्चरणपदाभिहिताचारनिवर्त्यत्वेनाचारापेक्षत्वात्तस्य चार्थवत्वादिति । 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' न्नानुशयाद्योन्यापत्तिरपितु चरणादिति चेन्न. चरणस्याचारादिपर्यायस्यानुशये लाक्षणिकत्वात् । यथा गङ्गा पदं लक्षणावृत्त्यातीरमुपस्थापयति तथैव चरणपदं लक्षणावृत्त्याऽनुशयमेवोपस्थाप्यानुशयाद् योन्यापत्तिं दर्शयतीति काष्णाजिनिमुने र्मतमित्येतत्सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते ननु रमणीय चरणा इत्यादि । शेषमतिरोहितार्थम् ॥९॥

ननु यदि चरणपदं कर्मणि लाक्षणिकं तदा श्रौतशीलबोधकचरणस्य वैयर्थ्यमेव भवेदिति न, सापेक्षत्वात् । शुभाशुभजनकस्य कर्मण आचारापेक्षत्वेनाचारस्यापि सार्थप्राप्ति में कारण है वह अनुशय से भिन्न वस्तु है । चरण अनुशय यह तो पर्यायवाची नहीं है किन्तु परस्पर घटपटादि की तरह भिन्न-भिन्न है ? उत्तर=उक्त श्रुति में चरण शब्द अनुशय का लक्षक है अर्थात् लक्षणावृत्ति द्वारा चरणपद अनुशय कर्म का बोधक है, ऐसा काष्णाजिनि आचार्य का अभिमत है । इसलिए पूर्वपक्ष को निर्मूलक ही समझना चाहिए ॥९॥

प्रश्न='रमणीय चरणा' इत्यादि स्थल में श्रुत जो चरण है जो कि सदाचार दुराचारात्मक है ब्राह्मणादि श्वशूकरादि सत् असत् योनि के प्रापकतया श्रुत है उसको यदि अनुशयात्मक कर्मोपलक्षक मान लिया जाय तब तो आचारादिक में आनर्थक्य हो जायगा ? उत्तर='तदपेक्षत्वात्' सुख का साधन इष्टापूर्तादिक जो पुण्यकर्म है उसको चरणपद आचार द्वारा सम्पाद्यमान होने से आचारापेक्षत्व है, इसलिए चरणपद वाच्य आचर सप्रयोजनक होता है । 'जो सन्ध्या वन्दनादि रहित है अपवित्र है, वह सर्वदा सर्वकर्म का अयोग्य है' इत्यादि

इतिस्मृतेः सर्वस्य पुण्यकर्मणः आचारापेक्षत्वात् 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्याचारहीनस्याशुचित्वाभिधानाच्च । तस्मात्कर्माप लक्षणार्थेति काष्ण्णजिनेर्मतम् ॥१०॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ३।१।११

तु शब्दः काष्ण्णजिनिमतमपाकरणार्थः । चरणशब्देन सुकृत-दुष्कृत एवाभिधीयेत इतिबादरिचाचार्यो मन्यते । न हि सुकृतदुष्कृत साधनरूपाचारे चरणशब्दः । कुतः ? पुण्यं कर्म करोतीति वाक्यस्थाने 'धर्मं चरतीत्येवमपि प्रयुज्यते । तस्मान्मुख्य एव चरणशब्दः कर्माभिव्याप्तौ, आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः इत्यादिना आचाररहितस्य वैदिककर्मादावनधिकृतत्वेन शीलस्य वैयर्थ्याभावेन चरणपदं कर्मण्यनुशयादौ लाक्षणिकमेवेति काष्ण्णजिनेरभिमतमिति संक्षेपः । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१०॥

सुकृतदुष्कृतकारणीभूताचारबोधको न चरणशब्दः किन्तु सुकृतदुष्कृतयोरेवबोधकश्चरणशब्दः वेदः स्मृतिः सदाचार इत्यादिस्मृदौ सदाचारेपि धर्मशब्दस्य प्रयोग-स्मृति से सिद्ध होता है कि सभी पुण्यकर्म आचार सापेक्ष है । 'आचार रहित व्यक्ति को वेद पवित्र नहीं कर सकता है' इस तरह आचार रहित व्यक्ति में अशुचित्व का भी प्रतिपादन किया गया है । इसलिये चरणपद कर्म का उपलक्षक है ऐसा काष्ण्णजिनि का मत है । १०।

श्रुति घटक चरण शब्द साक्षात् धर्माधर्म का ही बोधक है किन्तु धर्मादि कारण सदा चारादि बोधक नहीं है इस बात को आचार्य विशेष के मत से पुष्ट करने के लिए सूत्र का उत्थान होता है, 'सुकृतदुष्कृते' इत्यादि । प्रकृत सूत्र घटक जो तु शब्द है वह काष्ण्णजिनि मत का निराकरणपरक है । चरण शब्द से सुकृत पुण्य दुष्कृत पाप का ही बोध होता है अर्थात् सुकृत दुष्कृत का वाचक चरण शब्द है नतु सुकृत दुष्कृत का कारण रूप आचार में चरण शब्द शक्त है । क्योंकि 'पुण्यकर्म करता है' इस वाक्य के स्थान में 'यह धर्माचरण करता है' ऐसा भी प्रयोग देखने में आता है । इसलिए मुख्यरूप से ही चरण शब्द शुभाशुभ कर्म का वाचक है । क्योंकि यदि मुख्यार्थ बोधकत्व संभवित हो तब तक लक्षणावृत्ति का आश्रय नहीं किया जाता है. मुख्यार्थ का प्रमाणान्तर से बाध हो तभी जघन्यवृत्ति का आश्रय लिया जाता है । 'गङ्गायां पादांसि' इत्यादि स्थल में लाक्षणिक गङ्गापद नहीं होता है किन्तु

धायकः । सति मुख्यार्थे लक्षणाया अन्याय्यत्वात् । तथा च चरणम-
नुष्ठानं कर्मेति च समानार्थकानि । आचारोऽपि धर्मविशेष एव ।
कर्मचरणयोर्भेदव्यपदेशस्तु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनोपपद्यते ।
तस्मात्सानुशया एव निवर्तन्त इति सिद्धम् ॥११॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

दर्शनात् तथा सत्कर्मनितरे नरे धर्मचरत्येष महात्मेति लोकप्रयोगदर्शनाच्च । तस्मात्
साक्षात् धर्मबोधक एव चरणशब्द इति बादरिराचार्याभिमतमित्यनेन पूर्वमतमपहस्तितं
भवतीत्येतत्सर्वं दर्शयितुमाह सुकृतदुष्कृते इत्यादि । शेषमतिरोहितार्थकमिति संक्षेपः ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

घोषपद समभिव्याहार में ही जघन्यवृत्तिक गङ्गापद होता है । तदुक्तं 'प्रमाणान्तर विरोधे तु
मुख्यार्थस्य परिग्रहे । वाच्यस्यार्थाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते' इति । यदि कारणवशात् स्वकीय
वाच्य अर्थ का शब्द प्रतिपादन न कर सके, तब वाक्य प्रामाण्य का उपपादन करने के लिए
लक्षणा की जाती है, जिस तरह 'सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः । शूरश्च कृतविद्यश्च
यश्च जानाति सेवितुम्' यहाँ वाक्य प्रामाण्य अन्यथानुपपत्ति होने से लक्षणा द्वारा शूरादित्व
में सम्पत्ति उपार्जकत्व सिद्ध होता है । परन्तु यह सब मुख्यार्थ के असंभव में ही होता है ।
अतः मुख्यार्थ के संभावना नहीं होने से लक्षणा होती है प्रकृत में जब मुख्यार्थ संभवित है
तब चरण शब्द को लाक्षणिक मानना उचित नहीं है तब चरण आचार कनुष्ठान कर्म ये
सब शब्द समानार्थक हैं, अङ्गना वनिता बाला मनोरमा शब्द के समान । [यद्यपि अङ्गनादि
पदानां सूक्ष्मेर्थकमेदो भवति तथापि सामान्येन समानार्थकत्वं तथा प्रकृतेऽपि चरणादिपदानां
समानार्थतेति ।]

आचार भी धर्मविशेष रूप है 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एत-
च्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्' । किसी किसी स्थल में कर्म चरण का भेद व्यपदेश
ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से समझना । अब प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं 'तस्मा-
त्सानुशया' इत्यादि । इससे यह सिद्ध हुआ कि अनुशय युक्त ही चन्द्रमण्डल से लौटता है ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

अथानिष्टादिकार्याधिकरणम् ॥३॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ३।१।१२

इष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डलगमनमुपवर्णितम् । अथानिष्टादिकारिणां पापकर्मणां गतिश्चिन्त्यते । तेषां किं चन्द्रलोके गमनमस्ति न वेति संशये अस्ति चन्द्रलोके गमनम् । कुतः ? तेषामपि तत्र गमनं श्रुतमस्ति 'ये वै के चास्मालोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १।२) इतिसर्वेषामेव चन्द्रलोके गमनं विशेषेण श्रूयते ॥१२॥

पुण्यकर्मवन्तो जनाः पुण्यं कर्म कृत्वा तत्फलभोगाय च चन्द्रमण्डलं गच्छन्ति तत्र फलोपभोगं कृत्वा कर्मावसानेऽवशिष्टकर्म पाथेयं नीत्वाऽनुशयानुकूलयोनौ समुत्पद्यन्ते इति पूर्वप्रकरणे विचारितम् । अतः परं ये इमेऽनिष्टकर्मकारिणस्ते चन्द्रमण्डलं गच्छन्ति न वेति संशयः । शुभकर्मकर्तृवत् तदपरेऽपि गच्छन्ति कौपीतकि श्रुतिबलात् चन्द्रमण्डलगमनमन्तरेण जायमानानां देहारंभोऽपि न स्यात् पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्या नियमात् । तस्मात् सर्वेऽपि चन्द्रमण्डलं गच्छन्त्येव । न च यदि उभयोश्चन्द्रमण्डले गमनं तदा तयोर्भेदो न स्यादिति वाच्यम् । पुण्यकर्मकारिणां तत्र पुण्यकर्मफलभोगो जायते इतरेषां भोगाभावादिति पूर्वपक्षः ॥१२॥

इष्टादि कर्मकारी का चन्द्रमण्डल में गमन होता है उसी तरह अनिष्ट कर्मकारी का भी चन्द्रमण्डल में गमन होता है इस बात का विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं 'इष्टादिकारिणामित्यादि' इष्टापूर्तादि कर्मकारी का चन्द्रमण्डल में गमन होता है ऐसा पूर्वप्रकरण में निश्चित किया गया है । अब अनिष्टादिकर्मकारी जो पाप कर्मा हैं, उनके गति प्रकार का विचार किया जाता है । उन अनिष्टादि कर्मकारियों का चन्द्रमण्डल में गमन होता है अथवा गमन नहीं होता है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि चन्द्रमण्डल में उनका भी गमन होता है, क्योंकि उन लोगों का गमन भी वहाँ श्रुत है, 'जो कोई प्रजा यहाँ से जाती है वे सब चन्द्रमण्डल में जाते हैं' इस श्रुति में इष्टकारी अनिष्टकारी सबका अविशेष रूप से चन्द्रमण्डल में गमन श्रुत है । और यदि सोम मण्डल में नहीं जायगा तब पुनः जायमान प्रजा का देहारंभ नहीं होगा, क्योंकि देहारंभ पञ्चम आहुति संख्या का नियम है । इसविये इष्टादिकारी के समान अनिष्टादिकारियों का भी चन्द्रमण्डल में गमन होता ही है इति पूर्वपक्षः ॥१२॥

५ संयमनेत्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ३।१।१३ ५

अथैवमिष्टानिष्टकारिणोरविशेषेणैव चन्द्रलोकगमनं तर्हि कथं 'रमणीयां योनिमापद्येस्व' 'कपूयचरणाकपूयां योनि' मितिपश्चात्तन वा क्ये फलभेदः ? इतिशङ्कायामाह—संयमनेत्वित्यादि । तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । संयमने यमालये स्वपापानुरूपां यामीं यातनामनुभूयैवे-तरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोक आरोहावरोहौ नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात् । यमलोकगतेः श्रुतौ दर्शनात् । 'न सांपरायः प्रति

न सर्वे शुभकर्मणोऽशुभकर्मणश्च चन्द्रं गच्छन्ति यश्चन्द्रे गमनं भोगाय भवति नतु निः प्रयोजनकं गमनम्, नवा केवलं प्रत्यवरोहायैव । अनिष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डले नास्ति भोगः तस्मात् शुभकर्मवतामेव तत्र गमनं भवति नेतरेषामिति ।

अथ यदि शुभकर्मकारी तथा अशुभकर्मकारी. इन दोनों को समान रूप से चन्द्रलोक में गमन हो तब तो 'रमणीय चरण=पुण्यकर्मवान् पुण्ययोनि को प्राप्त करते हैं, तथा अशुभ कर्मवान् कपूययोनि शूकरादिभवं को प्राप्त करते हैं' इस प्रकार पश्चात् कालिक वाक्य में जो दोनों के लिए फलभेद कहा है, वह किस तरह संगत होता है ! इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'संयमनेतु' इत्यादि सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । शुभकर्मवन् ही शुभकर्म के फल का भोग करने के लिए चन्द्रमण्डल में जाते हैं पापकर्मकारी नहीं जाते हैं । पापकर्मकारी तो संयमन अर्थात् यमालय में जाकर के स्वकीय पापकर्म के अनुरूप या गी यातना दुःख का अनुभव करके ही इतर अर्थात् अनिष्ट कर्मकारी को चन्द्रलोक में आरोहावरोह गमनागमन होता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि अनिष्टकर्मकारी का यमलोक में गमन होता है, ऐसा वेदादि शास्त्र में श्रुत है । 'प्रमादी वित्तादि के मोह से अतिमूढ बालक को सांपराय परलोक का प्रतिभास ज्ञात नहीं होता है । यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान पुत्रकल-त्रादि लोक ही लोक है, इससे अधिक परलोक नहीं हैं, तदुक्तं 'एतावानेवल्लोकोयं यावानिन्द्रिय गोचरः । भद्रे मृगवधं पश्य यद्वदन्ति विपश्चितः । त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्यपुंसां दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा । व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाख्यां कोनामभोः तुषकणोपहितान् हितार्थी'

भाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर
इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' (क.१।२।६) इति । सम्यगवश्य
परः परस्ताद्देहपातादूर्ध्वमग्यते गम्यत इति सम्परायः परलोकस्त-
त्साधनभूतकर्मविशेषः साम्पराय इति । तथा 'वैवस्वतं संगमनं जना
ना' मिति च ॥१३॥

॥ स्मरन्ति च ३।१।१४ ॥

अनिष्टादिकारिणां दुष्कृतकर्मणां सर्वेषां प्राणिनां यमायत्तत्वं
स्मरन्ति च पराशरव्यासप्रभृतयो महर्षयः 'सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य
भगवन्किल' (वि०पु०३।१।५) इत्येवमादिषु ॥१४॥

तर्हि इमे कुत्र गच्छन्ति तत्राह संयमने तु इत्यादि । एतदेव सर्वं दर्शयितुं भाष्यकार उप-
क्रमते अथैवमित्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१३॥

पापकर्मकारिणां यमाधीनत्वं न केवलं श्रुतिगम्यम् किन्तु पराशरादिका
महामतयोपि शिष्टाः स्मरन्ति विष्णुपुराणादाविपि । 'हे भगवन् ये इमे शास्त्रप्रतिषिद्धं
कर्म रागादिवशात् कुर्वन्ति तेऽवश्यमेव यमाधीनतां प्राप्नुवन्तीति प्रतिपादयन्तीति ॥१४॥
॥२॥ ऐसा मानने वाले जो लोग हैं जिनको वैषयिक दुःख मितसुख मात्र में स्पृहावान् है
परलोक का अनादर करनेवाले हैं, एतादृश पुरुष हमारे यमराज के अधीन वारम्बार होते हैं'
सम्यक् अवश्यमेव, पर अर्थात् देहपात के अनन्तर में प्राप्त हो जो उसको संपराय कहते हैं
अर्थात् परलोक तादृश परलोक का साधनीभूत कर्म विशेष उसको सांपराय कहते हैं । तथा
'वैवस्वतम्' इत्यादि से भी पूर्वोक्त विषय सुस्पष्ट होता है ॥१३॥

जो अनिष्टादि कर्मकारी अर्थात् शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म का संपादन करते हैं वे लोग
स्वकीय कर्म के अनुरूप फल भोगने के लिए यम के अधीन होते हैं ऐसा पराशर विगरे
महापुरुषों ने कहा है विष्णु पुराणादिक में 'सर्वे चैते' इत्यादि स्थल में । अन्यत्र भी कहा है ॥१४॥

ॐ अपि च सप्त ३।१।१५ ॐ

रौखादीन् सप्तनस्कानपि पापिनां फलभोगभूमित्वेन स्मरन्ति ॥१५॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ३।१।१६

ननु सप्तसु रौखादिषु पापफलभोगभूमिषु गच्छतां कुतो यमलोकावाप्तिर्यतस्तेषु चित्रगुप्तादय एव व्यवस्थापका इत्यत आह

पापकर्मवतां पापानुरूपफलभोगाय रौरवादिकसप्तनरकस्थानानि पुराणादौ ते महामतयः स्मरन्ति पापतारतम्येन फलभोगाय सप्तलोकान् कथयन्ति ते तादृशस्थान-मासाद्य यावत्पापं तदनुरूपफलोपभोगं कुर्वन्तीति ते ब्राह्मः “यस्त्विह वा एतदहमिति ममे दमितिभूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिहविहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति” ‘यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषा-दैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति” (भागवत ५।२६।१०-१३) इत्यादाविति संक्षेपः ॥१५॥

ननु रौरवादितत्तस्थाने चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातरः श्रूयन्ते किन्तु पादशस्थाना-दिषु अधिष्ठातृत्वं न यमस्येति कथमुच्यते तेषु फलभोगं कुर्वतां यमाधीनत्वमिति शङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते ननु सप्तसु रौरवादिषु इत्यादि । यद्यपि रौखादिषु यमातिरिक्ता एव शा-सकास्तथापि तेष्वपि मुख्यमधिष्ठातृत्वं यमस्यैव तदन्येतु तदाज्ञयैव शासनं कुर्वन्तीति

पाप कर्मियों के फलभोग भूमि रूप से रौरवादिक सात स्थान का कथन किया है, इस बात को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के छोटे आचार्य श्रीपराशर तथा सातवें आचार्य श्रीव्यास जी ने अपने दिव्य प्रबन्ध स्मृति पुराणादिकों में कहा है, इसलिए वे लोग तावत्काल यमा-धीन रहते हैं, इति संक्षेपः ॥१५॥

प्रश्न=पाप फल के भोग स्थान जो रौरव प्रभृतिक सात स्थान हैं, उसमें जानेवाले को यमलोक तो नहीं मिलता है क्योंकि रौरवादिक स्थानों में तो चित्रगुप्त प्रभृतिक व्यक्ति विशेष व्यवस्थापक हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं ‘तत्रापि चेत्यादि’ रौखादिक स्थान विशेष में भी यमराज का ही स्वामित्व व्यापार माना जाता है, इसलिए कोई विरोध नहीं होता है ।

‘तत्रापिचेत्यादि’ रौखादिष्वपि यमस्यैव स्वाभित्वव्यापारोऽभ्युपेयत
इत्यविरोधः । चित्रगुप्तादयोऽपि यमाज्ञयैव तत्र व्यवस्थापयन्तीति
भावः ॥१६॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ३।१।१७

एवं पञ्चसूत्र्याः पूर्वपक्षमुद्भाव्य सिद्धान्तयति—विद्याकर्मणोरि
त्यादि । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यदुक्तमनिष्टादिकारिणामपि
चन्द्रलोकगतिरस्तीति तन्नोपपद्यते । कथमवगम्यते । विद्याकर्मणोः
फलभोगार्थत्वेन देवयानपितृयाणयोरुपयोगः । तथा हि—‘तद्य इत्थं
विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति’ (छा.
५।१०।१) इत्याख्य ‘तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्मगमयत्येष
न यमस्याधिष्ठातृत्वहानिः । यथेदानीमपि राष्ट्रपति सत्तयातत्तत्पदेविनियुक्ता न्या-
याधीशाः स्वस्वकार्यं कुर्वाणाः राष्ट्रपतिसत्तांनातिक्रामन्ति तद्वदिहापियमीयसत्तायास्तत्र
विलोपो नभवतीति तत्रापि तदस्त्येवेतिभावः ॥१६॥

अनिष्टादिकारिणो यमलोकमवाप्य तत्र स्वकर्मानुरूपयातना दुःखमनुभूय
तदनन्तरं चन्द्रगमनं ततो निवृत्तिश्च भवतीति पञ्चसूत्रेण प्रपञ्चितं तन्निराकरणायाह
चित्रगुप्त प्रभृतिक भी यमराज के आज्ञा से ही व्यवस्थापक होते हैं । यमराज की
व्यवस्था शक्ति भी परमपुरुष श्रीरामजी के अधीन है स्वतन्त्र रूपसे नहीं है क्योंकि ‘भया-
दस्याग्निस्तपनि भयात्तपनि सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः’ इसतरह से श्रुति
तथा ‘परान्नारायणाचापि कृष्णात्परतरादपि । यो नै परतमः श्रीमान् रामोदाशरथिः स्वराट्’
इत्यादि रूप से श्रीरामजी का परत्वनिरूपण होने से सर्वेश्वर श्रीराम सर्व नियन्ता हैं अन्य
सत्र अग्नि वायु सूर्य यम प्रभृति नियम्य हैं ॥१६॥

इस तरह पञ्चसूत्री से पूर्वपक्ष को बतला करके सिद्धान्त बतलाते हैं ‘विद्याकर्मणोरि-
त्यादि’ सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । जो पूर्व में कहा है कि अनिष्ट
कर्मकारी को भी चन्द्रलोक में गमन होता है. यह ठीक नहीं है । कैसे इस बात को
जानते हैं ! इसके उत्तर में कहते हैं विद्या तथा कर्म को फलभोगप्रयोजनक होने से उसमें
देवयान पितृयाण मार्ग का उपयोग होता है । तथाहि—‘जो इस प्रकार से जानता है और

देवयानः पन्थाः' (छा. ५।१०।२) इत्यन्तेन विद्याया देवयानाख्य-
मार्गं साधनतया प्रकृतत्वात् । 'अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तमित्यु-
पासते ते धूममभिसम्भवन्ति' (छा०५।१०।३) इत्याख्य 'आकाशा
चन्द्रमसम्' इत्यन्तेनेष्टापूर्तादिकर्मणः पितृयाणाख्यमार्गसाधनत्वेन
प्रकृतत्वात् । तत्रेष्टादिकारिणां विद्यारहितत्वेन यथा ब्रह्मलोकगमना
सम्भवस्तथेष्टापूर्तदत्तादिपुण्यकर्मरहितानामपि चन्द्रलोकगमनाऽस-
म्भव इत्याशयः ॥१७॥

५ न तृतीये तथोपलब्धेः ३।१।१८ ५

अथैवं पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति पञ्चम्या
आहुतेर्देहास्मकत्वश्रवणात् तस्याश्चन्द्रगमनपूर्वकत्वश्रवणाच्च पापि
नामपि देहास्मभार्थं चन्द्रलोकगमनमवश्यमङ्गीकार्यमित्याशङ्क्याह
विद्या कर्मणोरिति । यथा पापकर्मकारिणां विद्यारहितत्वात् देवयानपथागमनं न भवति
तथा दत्तापूर्त्तादिरहितत्वात्तेषां चन्द्रमण्डले गमनं न भवतीति सारः ॥१७॥

शरीरान्तरप्राप्त्यर्थं सर्वोचन्द्रमसंगच्छन्तीति आहुतिसंख्यानियमदर्शनादि-
त्यत्राह न तृतीये इत्यादि । तृतीयेस्थाने देहान्तरलाभायाहुतेः संख्यानियमोनावश्यकः ।
कुतः ? तथोपलब्धेः, आहुतिसंख्यानियमाभावेऽपि देहोपलब्धिदृश्यते जायस्व न्नियस्वे-
जो ये, इस अरण्य में श्रद्धातप का उपासन करते हैं वे अर्चिष=देवयान को प्राप्त करते हैं'
यहाँ से लेकर के 'वहाँ एक अमानव पुरुष है जो इस उपासक को ब्रह्मलोक में लेजाता है'
यह देवयान मार्ग है इत्यन्त प्रकरण से देवयान मार्ग का साधनभूत विद्या का प्रक्रम है । 'अथ
जो यह ग्राम में इष्टापूर्त्तदत्त का उपासन करता है वह धूममार्ग को प्राप्त करता है' यहाँ से प्रकृत
करके 'आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करता है' इत्यन्त प्रकरण से इष्टापूर्त्तादि कर्म को
पितृयाण मार्ग के साधन रूप से प्रक्रम किया है । इसमें इष्टादि कर्मकारी को विद्यारहित
होने से ब्रह्मलोक में गमन नहीं होता है, इसी तरह इष्टापूर्त्तादि पुण्यरहित व्यक्ति को
चन्द्रलोक में गमन असंभवित हैं ॥१७॥

"पांचमी आहुति में जल पुरुषाकार हो जाता है" इस श्रुति के अनुसार पांचमी
आहुति में देहोत्पादकत्व का श्रवण है. और पांचमी आहुति चन्द्रगमन पूर्वक होता है ऐसा
भी श्रुत है. इसलिए पापीयों को भी देहारंभार्थ चन्द्रलोकगमन अवश्य मानना चाहिए इस
शंका के उत्तर में कहते हैं "न तृतीये इत्यादि ।

‘न तृतीये’ इत्यादि । तृतीयेस्थानेऽभिगतानां पापिनां क्षुद्राणां जन्तूनां देहारम्भाय पञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति । कुतः ? तथोपलब्धेः । ‘वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यते ३ इति’ (छा० ५।३।३) इतिप्रश्नस्य प्रतिवचनम् । विद्याऽविद्यावतां देवयानपितृयाणादिक्रमेण ब्रह्मचन्द्रलोकप्राप्तिमभिधाय ‘अथैतयोः पथोर्नकतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व प्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते’ (छा० ५।१०।८) इति दृश्यते । अत्र वर्णितस्य तृतीयस्थानस्य प्राप्तये न द्युलोकादिगमनापेक्षा । अत एव न पञ्चमाहुत्यपेक्षेति निर्णयः । किञ्च ‘पुरुषवचसो भवन्ती’ त्युक्तत्वान्मनुष्यशरीरहेतुतया संख्यायाः कथनं न क्षुद्रजन्तुशरीरहेतुत्वेन । पुरुषशब्दस्यात्र मनुष्यजातिपरत्वात् ॥१८॥

त्यादि । एवमाहुतेः संख्यानियमोमनुष्यदेहलाभायैव नतु कीटपतङ्गाद्यभिप्रायेण मनुष्यवाचकत्वात्पुरुषशब्दस्य । तस्माद् यत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तत्रैवाहुतिसंख्यानियमः नतु सर्वत्रेति इत्यादिकं सर्वं दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुमाह भाष्यकारः अथैव पञ्चम्यामाहुतावित्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१८॥

तृतीय स्थान में प्राप्त पापी क्षुद्र जन्तुओं को देहारम के लिए पञ्चमाहुति के अपेक्षा का नियम नहीं है । क्योंकि ऐसा उपलब्ध होता है । “हे श्वेतकेतु ! चन्द्रमण्डल में प्रजा को जाने पर भी यह चन्द्रलोक भरता नहीं है । इस बात को तुम जानने हो ! इस प्रश्न का उत्तर में कहा है कि “विद्या उपासना अविद्या केवल कर्मवान् को देवयान तथा पितृयाण क्रम से ब्रह्मलोक प्राप्ति तथा चन्द्रलोक प्राप्ति का कथन करके “इन दोनों मार्ग के मध्य से एक भी मार्ग से जिसका गमन नहीं होता है, वे क्षुद्र असकृदावर्ती जन्तु होते हैं पैदा होते हैं मरते हैं यह एक तृतीय स्थान है, इसलिए चन्द्रलोक भरता नहीं है” ऐसा तृतीय स्थान देखने में आता है । इस श्रुति में वर्णित जो तृतीय स्थान है, तादृश तृतीय स्थान के प्राप्ति के लिए द्युलोकादिक में गमन की आवश्यकता नहीं है । इसलिये वहाँ पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है ऐसा निर्णय होता है । और भी पुरुषाकार जल होता है ऐसा कहा गया है अतः मनुष्य शरीर के कारण रूप से पञ्चत्व संख्या का कथन है, किन्तु क्षुद्रकीट पतङ्गादि शरीर के कारण रूपसे पञ्चत्व संख्या का कथन नहीं है क्योंकि पुरुष शब्द यहाँ मनुष्यत्व जाति का वाचक है । इसलिये मनुष्य शरीर के उत्पाद में ही पञ्चम आहुति को कारणत्व है तदितर के लिए यहाँ नियम नहीं है ॥१८॥

॥ स्मर्यतेऽपि च लोके ३।१।१९ ॥

अपि च लोके भारतादिषु पुण्यकर्मणामपि द्रोणद्रौपदीधृष्ट
द्युम्नादीनां पञ्चमाहुत्यनपेक्षयैव शरीरारम्भः स्मर्यते । तस्मान्न
पञ्चमाहुतेर्नियमः ॥१९॥

॥ दर्शनाच्च ३।१।२० ॥

किञ्च श्रुतावपि कयोश्चिदुद्भिज्जस्वेदजयोर्भूतयोः स्त्रीपुं
व्यक्तिसंयोगजपञ्चमाहुतिमन्तरेणैवोत्पत्तेर्दर्शनात्पञ्चमाहुतेरनपेक्षया
देहारम्भः । दर्शनं श्रुतिः 'तेषां खल्वेषां त्रीण्येव बीजानि

अपि च लोके द्रौपदीप्रभृतीनां द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामयोनित्वं तेन च न पञ्चा-
माहुत्यपेक्षा । तत्र द्रोणादीनामंगना विषयकाहुतेरभाव इति स्मर्यते । धृष्टद्युम्नादीनांतु स्त्री
पुरुषविषयकाहुती न भवतः । तस्मात् सर्वत्राहुतिनियमो नास्तीति दर्शयितुमाह अपि
च लोके भारतादिषु चेत्जादि अन्यत्सर्वमूलाक्षरं सुगमम् ॥१९॥

भूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । तत्र मनुष्य
पशुप्रभृतयो जरायुजाः । पक्षिसर्पादजोऽण्डप्रभवाः दंशमशकादयः स्वेजा उद्भिज्जा वन-
स्पतीनान्त्वजैव समावेशः । तत्र स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुरुषयोर्विलक्षणसंयोगमन्तरेणै-
वोत्पत्तिर्भवतीति श्रुतौ दृध्यते तथाहि श्रुतिः तेषां खल्वेषामित्यादि । तस्मात्सर्वत्र पञ्च-

लोक में अर्थात् महाभारतादिक में पुण्यकर्मशील द्रोण द्रौपदी धृष्टद्युम्नादिक को पञ्चम
आहुति के बिना ही शरीर का आरम्भ उत्पाद हुआ है ऐसा कहा गया है । द्रोण के
शरीरारंभ में स्त्री विषयक आहुतिका अभाव है द्रौपदी प्रभृतिके शरीरारंभ स्त्री पुरुष उभय विषयक
आहुति का अभाव है । इसलिये पञ्चमाहुति का नियम नहीं है ॥१९॥

और भी प्रकृत विषय में देखिय कि श्रुति में भी चार प्रकार जरायुज अण्डज स्वेदज
तथा उद्भिज्ज के मध्य से स्वेदज तथा उद्भिज्ज भूतों को स्त्री पुरुष का विलक्षण संयोगज
लक्षण पञ्चमाहुति के बिना भी उत्पत्ति=देहारंभ देखने में आता है. इसलिये देहारंभ में
पञ्चमाहुति का नियम नियत नहीं है । सूत्र घटक दर्शन शब्द का अर्थ है श्रुति तथाहि

भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति' (छा० ६।३।५) इति ॥२०॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ३।१।२१

ननु 'त्रीण्येव बीजानी'तिवचनात्कथं चतुर्थस्य स्वेदजस्यात्र ग्रहणम् ? इत्यत्राह 'तृतीयेत्यादि' श्रुतौ 'अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति' इतितृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यावरोधः संग्रहः । वृक्षादिकं भूमिमुद्भिद्यजायते स्वेदजन्तु जलमित्युभयोरुद्भि माहुतेरपेक्षानास्तीति दर्शयितुमाह किञ्चश्रुतावपित्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥२०॥

ननु जीवस्य चत्वारोभेदा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः ख्याकथिताः, इहतु त्रय एव भेदाः प्रतिपादिता इतिचतुर्थस्यकुत्रान्तर्भाव इति शङ्कां समाधातुमुपक्रमते ननु त्रीण्येव त्यादि । यद्यपीह त्रय एव भेदाः कथितास्तथापि उद्भिज्जशब्देनैव तृतीयचतुर्थयोः संग्रहो जायते भूमिमुद्भिद्यजातानां वृक्षादीनां यथोद्भिज्जत्वं तथैव जलजानां मशकादीनामपि स्वेदजानां तत एव संग्रहः उद्भिद्यजायमानत्वलक्षणसामान्यधर्मस्योभयत्रापि समानत्वात् । स्वेदस्य जलत्वेन जलमुद्भिद्य जायमानत्वेन तस्यापि तेन संग्रहोऽतो न श्रुतौ न्यूनत्व इन चार प्रकार के भूतों का तीन प्रकार का बीज होता है, आण्डज जीवज तथा उद्भिज्ज" अतः पञ्चामाहुति नियत नहीं किन्तु क्वाचित्क ही है ॥२०॥

'ननु त्रीण्येवबीजानि भवन्ति' तीन प्रकार का ही बीजजीवोत्पत्ति में है' ऐसा कथन होने से चतुर्थ जो स्वेदज जीव है, उसका यहाँ संग्रह किस तरह होगा, ? एतादृश शङ्का का उत्तर करने के लिए कहते हैं 'तृतीयशब्देत्यादि' श्रुति में 'अण्डज जीवज तथा उद्भिज्ज' ऐसा जो कहा है, उसमें तृतीय जो उद्भिज्ज शब्द है उससे संशोकज अर्थात् जो स्वेदज है उस का भी अवरोध, अर्थात् संग्रह होता है । [यद्यपि अवरोध शब्द का अर्थ होता है, रोकना, तथापि प्रकरणवत् से संग्रहार्थक अवरोध पद है ।] जिस तरह भूमि को फोड़कर ऊगने से वृक्ष-दिक पार्थिव उद्भिज्ज कहलाता है, उसी तरह दंशमशकादिक भी जल से पैदा होता है इसलिये उद्भिद्य जायमानत्व स्वेदज में भी है, अतः उद्भिज्ज शब्द से जल जीव का संग्रह होता है । तस्मात् उद्भिज्ज शब्द से स्वेदज का भी संग्रह हो जाता है, इसलिये न्यून-त्वादिक दोष की शंका नहीं होती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि देहारंभ के लिए अनिष्टादि कारी पापमय जीव का देहारंभार्थ चन्द्रलोक गमन की आवश्यकता नहीं है, अतः उनका

ज्जत्वेनाविशेषादुद्भिज्जशब्देनग्रहणम् । तस्मादनिष्टादिकारिणां
दुष्कृतशालिनां न चन्द्रलोकगमनमिति सिद्धम् ॥२१॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽनिष्टादिकार्याधिकरणम् ॥३॥

अथ साभाव्यापत्यधिकरणम् ॥४॥

५ साभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ३।१।२२ ५

एवमिष्टादिकारिणां पितृयाणेन चन्द्रमण्डलगतिस्तत्र यावत्स-
म्पातं समवस्थानं ततश्च सानुशयानामेवावरोहणमित्यभिहितम् ।
इदानीमवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । सचेत्थं श्रूयते 'अथैतमेवाध्वानं
पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशादायुं वायुर्भूत्वा धूमोभवति धूमो
शङ्काकर्तव्येति संक्षेपः । विशेषस्त्वन्यत्रानुसंधेयः ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽनिष्टादिकार्याधिकरणम् ॥३॥

ये इष्टादिकं कर्म कुर्वन्ति ते चन्द्रमण्डलमासाद्य यावत्पुण्यं तावत्तत्रावस्थाय
भुक्तशिष्टकर्मवन्त एव नीचैरागच्छन्तीति प्रतिपादितम् । अनन्तरमवरोहप्रकारं
दर्शयितुमुपक्रमते एवमिष्टादिकारिणामित्यादि अवरोहतश्चन्द्रमण्डलाज्जीवा आकाशादिना
सह तादात्म्यभावं प्राप्नुवन्ति अथवा आकाशादिना सह सम्बन्धमात्रं प्राप्नुवन्ति ।
चन्द्रलोक में गमन नहीं होता है, किन्तु मनुष्य को ही तदर्थ चन्द्रलोक में गमनागमन
होता है ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽनिष्टादिकार्याधिकरणम् ॥३॥

इष्टापूर्तादिकर्मकारियों को पितृयाण द्वारा चन्द्रमण्डल में गमन होता है और उस
चन्द्रमण्डल में जबतक पुण्यकर्म रहता है तब तक इष्टादिकारी का अवस्थान रहता है, तद-
नन्तर अनुशय अर्थात् भुक्तत्व शिष्टकर्मवान् का ही चन्द्रमण्डल से अवरोह होता है, ऐसा पूर्व
प्रकरण में कहा गया है । अब इसके बाद अवरोह प्रकार को बतलाते हैं । वह अवरोह
प्रकार इस रूप से सुनने में आता है । 'इसके बाद पुनः इसी मार्ग से लौटता है जिस
प्रकार से गया था, चन्द्रमण्डल से आकाश में आता है- आकाश से वायु में आता है, तब

भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५। १०। ५) तत्र संशयः । किमेषामवरोहतामाकाशादिप्राप्तौ देवादिवदा काशादिस्वरूपोपलब्धिग्राहोस्विदाकाशादिसाम्यमेव ? तत्राकाशादिस्वरूपोपलब्धिरिति । कुतः ? श्रद्धारूपाणां यथा सोमरूपोपलब्धिस्तद्वदत्राप्यविशेषेणाकाशमारभ्य 'वायुर्भूत्वा धूमो भवती' त्येवं ताद्रूप्यमेव श्रूयते ।

इतिप्राप्तेऽभिधीयते—साभाव्यापत्तिरिति=साम्यापत्तिरित्यर्थः । कथमवगम्यते । उपपत्तेः । सोमादिषु पुण्यपापोपभोगार्थं सारूप्यमेवावश्यकम् । आकाशादिप्रतिपत्तौ तु तदुपभोगाभावात्स्वरूपोपलब्धौ प्रथमपक्ष एव युक्तः, तथा सत्येव वायुर्भूत्वामेघोभवति इत्यादिश्रुतेर्मुख्यार्थता भवति अन्यथा तु लक्षणा स्यात् सति मुख्यार्थत्वे लक्षणाया अन्याय्यत्वात् । तस्मात् प्रथमपक्ष एव श्रेयानिति चेन्न साभाव्यापत्तेः समानोभावो रूपं येषाम् तत्समानतैव नतु तयोस्तादात्म्यम् कुतः ? उपपत्तेः एवमेवैतदुपपद्यते यतोऽन्यस्यान्यभावोमुख्यः संभवति । यदि आकाशस्वरूपत्वं स्यात्तदावाय्वादिक्रमेणावरोहो न स्यात् आकाशस्य व्यापकतया नित्यं वायु होकर के धूम होता है, धूम होकर के अभ्र होता है, अभ्र होकर के मेघ होता है मेघ होकर के बरसता है । इसमें क्या चन्द्रमण्डल से अवरोहण करने वाले को आकाशादि के प्राप्ति होने पर देवादि के समान आकाश स्वरूप की उपलब्धि होती है, अर्थात् आकाशादिक के साथ तादात्म्य हो जाता है, अथवा आकाशादिक के साथ समानता सादृश्य होता है ? ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि आकाशादि स्वरूप की उपलब्धि तादात्म्य होता है । क्योंकि जिस तरह श्रद्धारूप जल को सोमादि स्वरूप की उपलब्धि होती है, उसीतरह यहाँ भी समान रूप से आकाश से लेकर के 'वायु होकर के धूमरूप होता है' इसप्रकार से ताद्रूपत्व का ही श्रवण होता है, अर्थात् वायु होकर के मेघ होता है' यहाँ जिसतरह वायुमेघ में तादात्म्य होता है उसी तरह अवरोही तथा आकाश में तादात्म्य प्रतीत होता है, अन्यथा लक्षणा का प्रसङ्ग होगा, श्रुति लक्षणा में श्रुति ही न्याय्य है क्योंकि लक्षणा तो अगतिक गतिक है ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'साभाव्यापत्तिरिति' साम्यापत्ति होती है, अर्थात् चन्द्रमण्डल से अवरोहण करनेवाले अनुशयी के आकाशादि के साथ सादृश्य होता है ।

ब्धेर्नोपयोगस्तस्मादाकाशादिसाम्यमेवोपयान्ति । अत्राकाशादि
भावश्चाकाशादिसादृश्यापत्तिरेवेत्यवगम्यते ॥२२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥४॥

अथ नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

५ नातिचिरेण विशेषात् ३।१।२३ ५

एवमाकाशादिवर्षपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वसादृश्यं प्राप्योत्तरोत्तरसादृ
श्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् । तदाश्रित्य किं जीवश्चिरकालमेकसादृश्यमा
सम्बद्धत्वात् तस्मात्सादृश्यापत्तिरेव, नान्यः कश्चन सम्बन्धे श्रुत्यसंभवे लक्षणा
श्रवणं युक्तमेवेत्यादिकं सर्वम् इति प्राप्तेऽभिधीयते इत्यादिना भाष्यकारो निवेदयां
चक्रे इति संक्षेपः ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥४॥

अथाकाशादिप्राप्तोब्रीहिभावप्राप्तिपूर्वं किं दीर्घं दीर्घं कालमनुशयी पूर्वपूर्वसादृश्ये
नावस्थितोभूत्वोत्तरोत्तरसादृश्यभाग् भवति अथवाऽल्पकालमेव तथा भवतीति संशयः ।
इस बात को किस तरह जानते हैं ! इसका उत्तर होता है 'उपपत्तेः' सोमलोकादिक में
उपभोग के लिए अनुशयी को आकाशादिक के साथ सादृश्यभाव ही आवश्यक है । यदि
अनुशयी को आकाशादिक के साथ तादात्म्य हो तब तो किसी भी प्रकार का उपभोग
नहीं होगा, इसलिए आकाशादिक के साथ स्वरूपोपलब्धि का कोई भी उपभोग नहीं होता
है । अतः आकाशादिक के साथ समता को ही प्राप्त करता है । यहाँ अनुशयी को आका-
शादिभाव होता है, इसका मतलब है कि आकाशादिक के साथ सादृश्यापत्ति होती है ऐसा
ज्ञात होता है इति ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ।

पूर्वोक्त क्रम से आकाशादि से लेकर वर्षा पर्यन्त में पूर्व पूर्व की समानता को प्राप्त
करके उत्तरोत्तर के सादृश्य को प्राप्त करता है ऐसा कहा है । उसको आश्रित करके क्या
पूर्व पूर्व में जीव चिरकालपर्यन्त आकाशादि के सादृश्य को प्राप्त करके तदग्रिम के सादृश्य
को प्राप्त करता है अथवा अल्पकाल पर्यन्त पूर्व सादृश्य को प्राप्त करके अपर सादृश्य को
प्राप्त करता है ! ऐसा संशय होता है । तो चिरकाल पर्यन्त एक सादृश्य को प्राप्त करके

स्थायापसादृश्यं प्राप्नोत्याहोस्विदल्पकालं वेति संशये चिरं तिष्ठत्य-
चिरं वेति नियमाभावाच्चिरकालमेवेति प्राप्तेऽभिधीयते-नातिचिरे-
णेति । अचिरकालमेवाकाशादिभावेनावतिष्ठन्ते । कुतः ? विशेषात्
ब्रीह्यादिभावावाप्त्यनन्तरं विशिष्य दुर्निष्क्रमणवचनात् । 'अतो नै
खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति ब्रीह्यादिभावमुपगतानां
दुःखेन निष्क्रमणमुच्यते । एतेनावगम्यतेऽतः पूर्वमाकाशादिप्रति-
पत्तावचिरेणैव निष्प्रपतनमिति । दुर्निष्प्रपतरमित्यत्रच्छान्दसस्त-
लोपः ॥२३॥

इति श्रीआनन्दभाष्येनातिचिराधिकरणम् ॥५॥

तत्र नियामकवाक्यनस्यकस्यचिदभावात् चिरकालमेवावतिष्ठते इति पूर्वपक्षः ।

अतो नै दुर्निष्प्रपतरम् इत्यादिना ब्रीहिभावप्राप्त्यनन्तरं निष्क्रमणं दुःखसाध्य
मिति वदन् तत्पूर्वमत्यल्पकालमेवावतिष्ठते इत्यर्थतः प्राप्यते । तस्मात् ब्रीहिभावात्पूर्व
मत्यल्पकालमवाप्यपुनस्ततो निःसृतोभवतीत्यावेदयितुमाह एवमाकाशादि इत्यादि ।
अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

अपर में अल्पकाल पर्यन्त अवस्थित रहता है, इसमें नियामक शास्त्र के अभाव होने से एक
एक में चिरकाल पर्यन्त रह करके तदपर में चिरकाल पर्यन्त अवस्थित रहता है एतादृश
पूर्वपक्ष होता है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'नातिचिरेण' इत्यादि । अचिरकालपर्यन्त
पूर्व पूर्व सादृश्य को प्राप्त करके तदुत्तर में अल्पकाल पर्यन्त ही अवस्थित होता है । क्योंकि
विशेषता है अर्थात् आकाशादि प्राप्ति के अनन्तर ब्रीह्यादिभाव प्राप्ति के अनन्तर में विशेष रूप से
दुर्निष्क्रमण का कथन है । 'जो इस ब्रीह्यादिभाव से निष्क्रमण होता है वह अतिक्लेश साध्य
है' इसतरह ब्रीहिभाव अनुशयी जीव का दुःख पूर्वक निष्क्रमण कहा गया है । इससे ज्ञात
होता है कि इसके पूर्व आकाशादि भाव प्राप्त जीव का जो निष्क्रमण होता है वह अल्प-
काल साध्य है । अर्थात् ब्रीहि से निष्क्रमण अतिदुःख साध्य है तो एतावता आकाशादिक से
जो निष्क्रमण है वह अल्पकाल साध्य है ऐसा निश्चित होता है 'निष्प्रपतरम्' यहां एक
तकार का लोपछान्दस है । एक तकार का लोप करके निष्प्रपतरम्' ऐसा प्रयोग
हुआ है ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ३।१।२४

अवरोहणवाक्ये—‘त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिल-
माषा इति जायन्ते’ (छा. ५।१.०।६) इत्यनुशयिनां जीवानां ब्रीह्यादि
भावेनोत्पत्तिः श्रूयते तत्र संशयः । किं जीवानां ब्रीह्यादि
भावेन मुख्यजन्मोच्यत आहोस्विज्जीवान्तराधिष्ठिते ब्रीह्यादावनुश-
यिनां तेषां सादृश्येन संसर्गमात्रमिति ? किं युक्तम् ? ‘जायन्त’ इति
वचनाद् ब्रीह्यादिशरीरत्वेन सुखदुःखभाजो जायन्ते । मनुष्यो जायते
पशुर्जायत इतिवत् ।

त इह ब्रीहियवा इत्यादाववरोहतामनुशयिनां ब्रीह्यादिभावेनोत्पत्तिः श्रूयते तत्र
मुख्यमेव जन्मानुशयिनामथवा ब्रीह्यादिना संश्लेषमात्रं जायते इति संशयः । तत्र
जायन्ते इति वचनान्मुख्यमेवजन्म. अन्यथा लक्षणास्यात्. सा च मुख्यार्थसंभवेनेष्टा ।
इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु ब्रीह्यादिना संसर्गमात्रं भवति. मुख्यजन्मत्वे ब्रीह्यादीनां
कण्डनेऽनुशयिनः प्रवेसेयुः । तस्मादाकाशादिना संसर्गवदत्राप्यन्याधिष्ठिते संसर्ग-

ब्रीह्यादिभाव प्राप्त्यनन्तर अनुशयी जीव का ब्रीह्यादि रूपसे मुख्य जन्म होता है अथवा
गौण जन्म होता है, इस विषय पर विचार करने के लिए उपक्रम कहते हैं ‘अवरोहण वाक्ये’
इत्यादि । अवरोहण वाक्य में चन्द्रमण्डल से आगत अनुशयी ब्रीहि जौ औषधी वनस्पति
तिल और उणद रूप से पैदा होते हैं’ इसप्रकार से अनुशयी जीवों की ब्रीह्यादि रूप से
उत्पत्ति श्रुत है ।

इसमें संशय होता है कि अनुशयी जीवों का ब्रीह्यादिभाव से मुख्य जन्म कहा जाता
है. अथवा जीवान्तर से अधिष्ठित ब्रीह्यादिक में उन अनुशयियों का सादृश्य से सम्बन्ध मात्र
होता है तो इसमें क्या मानना युक्त है ? ‘जायन्ते’ इत्यादि वचनों से ब्रीह्यादि शरीर से
सुखदुःखभावी अनुशयी होता है । जिस तरह ‘मनुष्यो जायते’ इत्यादि प्रयोग होता है उसीतरह ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘अन्याधिष्ठिते’ इत्यादि । ब्रीह्यादि शरीराव-
च्छिन्न जीव से अधिष्ठित ब्रीह्यादिक में अनुशयी जीवों का संसर्ग मात्र होता है नतु उसके
साथ तादात्म्य होता है । पूर्ववत् अर्थात् आकाशादि वर्षान्त जीवों के साथ संसर्ग के समान ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयतेऽन्याधिष्ठित इति । अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते ब्रीह्यादावनुशयिनां जीवानां संसर्गमात्रं भवति । पूर्ववत् । आकाशादिवर्षान्तसंसर्गमात्रत्ववत् । कथमवगम्यते ? अभिलापात् । इष्टापूर्तादेः कर्मणः स्वर्गसुखभोगेनैव विनष्टत्वात्तदतिरिक्तस्य भुक्तशेषस्यानुशयरूपस्य च कर्मणः कर्मान्तराभावेन सुखादिभोक्तृत्वाऽनुपपत्त्या मुख्यजन्मत्वानुपपत्तेः । तस्मादाकाशादिभावापत्तिरिव ब्रीह्यादिभावावाप्तिरपि तत्संसर्गरूपैव । 'जायन्ते' इति च भाक्तः प्रयोगः ॥२४॥

५ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ३।१।२५ ५

ननु पूर्वश्रुतमिष्टाद्यग्निष्टोमादिकर्महिंसागर्भत्वेनाशुद्धं मात्रमेव भवति नतु मुख्यं जन्मभवतीति । जायन्ते इति प्रयोगस्तु देवदत्तोजात इति प्रयोगवत् गौण एव । अर्थात् जननमरणशरीरस्यैव नतु देवदत्तस्य तद्वत्प्रकृतेपीतिभावः । इत्याशयेनाह अवरोहणवाक्ये इत्यादि । अक्षरार्थस्तु नातिरोहित इति संक्षेपः ॥२४॥

ननु ज्योतिष्टोमादियामानां हिंसा घटितत्वेन तत्फलभोगाय (दुःखभोगाय) किस तरह इस बात को समझते हैं ! अभिलापात् अर्थात् इष्टापूर्तादिक जो कि पारलौकिक फलजनक कर्म है, उसका स्वर्गीय सुखभोग से ही विनाश हो जाने से तथा तदतिरिक्त भुक्तशेष अनुशय रूप कर्म का भी विनाश हो जाने से कर्मान्तर तो कोई है नहीं, स्वर्ग सुख भोक्तृत्व का अन्यथानुपपत्ति है- इसलिए ब्रीह्यादिक में अनुशयी का मुख्य जन्म अनुपपन्न है । तस्मात् जिस तरह अनुशयी को आकाशादि भावापत्ति होती है उसी तरह ब्रीह्यादि भावापत्ति सी ब्रीह्यादिक के साथ संसर्ग मात्र ही होता है । श्रुति में 'जायन्ते' जो प्रयोग है, अर्थात् ब्रीह्यादि रूप से जन्म का संकेत किया है वह गौण प्रयोग है, जिसतरह 'शिखी विनष्टः' इस स्थल में मात्र शिखा के विनाश हो जाने पर शिखावान् में गौण विनाश प्रत्यय होता है क्योंकि विशेष्य का नाश नहीं हुआ है केवल विशेषण का विनाश है, उसी तरह प्रकृत में जो जन्म व्यवहार है वह भाक्त व्यवहार है इति संक्षेपः ॥२४॥

प्रश्न—पूर्व श्रुत जो इष्टापूर्त ज्योतिष्टोमादिक कर्म समुदाय है उसको हिंसा घटित होने से अशुद्ध है अर्थात् अधर्म का जनक है तब तादृश ज्योतिष्टोमादिक याग कर्त्ता जो अनु-

तत्काष्णिमनुशयिनां स्वर्गादवरोहतां ब्रह्मादिषु जन्मदुःखाद्यनुभवा
 र्थमस्त्विति चेन्न । शब्दात् । 'यजेत' इत्यादिविधिशब्दात् । अग्निष्टो
 मादीनां श्रुतिविहितानां कर्मणां पुण्यफलवत्वेन न दुःखहेतुत्वमिति ।
 अथस्यात् 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इतिवैदिकवचनमेव भूतकर्मि-
 काया हिंसाया अधर्मतया दुःखजनकत्वमवगमयतीति कथं नानर्थ-
 हेतुत्वं वैदिकानां कर्मणामिति ? नैवम् । 'अग्निष्टोमीयं पशुमालमेत'
 इत्यापवादिकेन वचनेन वैदिकहिंसाया नानर्थोत्पादकत्वम् । तथा
 अनुशयिनां ब्रह्मादौ मुख्यमेवजन्मस्यादितिचेन्न यजेतेत्यादि वैदिकशब्देन तस्य
 सुखमात्रजनकत्वात् । नच नहिंस्यादितिनिषेधानुप्रवेशात्, दुःखजनकत्वमितिवाच्यं,
 सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेणवाधितत्वात् । यद्यपि हिंसा सामान्यस्याधर्मजनकत्वेपि
 नैधीहिंसाया न तथात्वम्, अपितु पुण्योत्पादकत्वमेव । तदुक्तं यद्यपिस्याद्विधिरुपष्टे नि-
 षेधो नैव तादृशम् । विज्ञायतेहानर्थत्वं षोडशीग्रहणादिवत् । अत एव क्रतुहिंसा अधर्म-
 जनिका, हिंसात्वात् क्रतुव्यतिरिक्तहिंसावदित्यपि परास्तम्, उक्तानुमाने निषिद्धत्वस्यो
 पाधित्वात्, यत्रयत्राधर्मजनकत्वम्, तत्र तत्र निषिद्धत्वमिति साध्यव्यापकता, यत्र पक्षे साधनं
 विद्यते तत्रोपाधिर्नास्तीति साधनाव्यापकतेतिसाध्यव्यापकसाधनाव्यापकत्वेन निषि-
 शयी जीव है, उसको चन्द्रमण्डल से नीचे उतरने के समय में ब्रह्मादिक में अधर्म फलदुःख
 का उपभोग करने के लिए स्थावर में स्वशूकरादिक में मुख्य ही जन्म होता है, तो तादृश
 जन्म में गौणत्व कल्पना निरर्थक है, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि शब्द है, 'स्वर्ग-
 कामोयजेत' 'उयोतिष्टोयेन यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधायक वाक्य हैं ।
 तो श्रुति प्रतिपादित जो उयोतिष्टोमादिक कर्म है वह पुण्य फल का ही जनक है, किन्तु
 वह दुःख का जनक नहीं है, अर्थात् श्रौतस्मार्त यागों से पुण्य फल ही प्राप्त होता है
 किन्तु इन यागों को अधर्म फल दुःख जनकत्व नहीं है । नहीं कहो कि 'न हिंस्यात्सर्वा
 भूतानि' इत्यादिक जो वैदिक वचन हैं वे प्राणियों के हिंसा को अधर्म रूप होने से दुःख
 जनकत्व को समझाता है, तो वैदिक अग्निष्टोमादिक में अनर्थोत्पादकत्व क्यों नहीं है, अर्थात्
 अनर्थजनकत्व है ही । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अग्निष्टोमीयं पशुमालमेत' इत्या
 दिक जो अपवाद वचन है उससे वैदिक हिंसा में अनर्थोत्पादकत्व नहीं है, अर्थात् 'नहिं-
 स्यात्' इस सामान्य शास्त्र का 'अग्निष्टोमेन' इत्यादि विशेष शास्त्र से बाध होता है, एतावतावैदिक
 हिंसातिरिक्त हिंसा में अधर्मजनकत्व अनर्थोत्पादकत्व है । इससे यह सिद्ध हुआ कि यागातिरिक्त

च क्रत्वतिरिक्तहिंसायाः पापोत्पादकत्वं न तु क्रत्वङ्गभूताया इत्युभयो
र्वचनयोः सार्थक्यम् । तस्मान्नानुशयिनां तत्र मुख्यं जन्म किन्तु
तत्संश्लेषमात्रमिति ॥२५॥

५ रेतः सिग्योगोऽथ ३।१।२६ ५

इतोऽपि संश्लेषमात्रं ब्रीह्यादिषु । ब्रीह्यादिभावानन्तरमनुशयिनां
रेतः सिञ्चतीति रेतः सिक् पुरुषस्तद्योगस्तद्भावः श्रूयते—‘यो योह्य
न्मत्ति योरेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति’ (छा.५।१०।६) इति ।
यथाऽत्रतद्योगमात्रमुच्यते तथा ब्रीह्यादिभावोऽपि ब्रीह्यादिसंश्लेष
मात्रमेव ॥२६॥

द्वत्वस्योपाधित्वेन प्रकृतानुमानस्य व्याप्यत्वोपसिद्धत्वमितिनानेनानुमानेन क्रत्वर्थहिंसाया
अधर्मजनकत्वमित्यादिकमावेदयितुमुपक्रमते ननु पूर्वश्रुतमित्यादि । भाष्याक्षरव्याख्यानं
तु स्वयमेवोहनीयं नातोविविच्यते इति संक्षेपः ॥२५॥

योहि अनुशयी तस्य रेतः सिग्भावः प्रतिपादितः । तत्र सद्योजातमात्रोवालको
रेतसिग् न भवति किन्तु चिरजातः प्राप्तयौवनो रेतः सिग् भवतीति तस्मात् ब्रीह्या-
दिना संसर्ग एव भवति ननु तेन सह तादात्म्यं भवतीत्यादिकं बोधयितुमुपक्रमते इतोपि
संश्लेषमात्रमित्यादि अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥२६॥

अर्थात् राग प्राप्ति हिंसा में पापोत्पादकत्व होता है किन्तु यागाङ्गभूत हिंसा में पापोत्पादकत्व
नहीं है, इसप्रकार से विधि वाक्य तथा निषेध वाक्य इन दोनों में सामञ्जस्य होता है,
अर्थात् दोनों वचनों की सार्थकता होती है । [इस विषय पर अधिक विचार हानोपादन
पूर्वक अन्यत्र मेरे प्रबन्ध में देखें ।] इसलिए अनुशयी जीवों का ब्रीह्यादि स्थावरों में
मुख्य जन्म सिद्ध नहीं होता है किन्तु आशादिक के समान संश्लेष संसर्ग मात्र होता है ।

विशेष विचार सम्प्रदाय तत्त्वज्ञ से जानिये ॥२५॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि अनुशयी को ब्रीह्यादि स्थावरादिक के
साथ में संसर्ग मात्र होता है । क्योंकि ब्रीह्यादिभाव के अनन्तर अनुशयी को रेतः सिक् कहा
है. रेतसू वीर्य का जो सिंचन करे उसको रेतः सिक् पुरुष तादृश पुरुष योग्य पुरुषभाव का
श्रवण होता है ‘जो जो अन्न खाता है’ इत्यादि । जिस तरह यहाँ तद्योगमात्र कहा जाता
है, उसी तरह ब्रीह्यादिभाव भी ब्रीहि विगरे के साथ में संश्लेष मात्र ही कहा जाता है ।
अर्थात् सद्योजात बालक रेतः सिक् नहीं होता है, अपितु युवावस्था प्राप्त रेतः सिक् होता है ।
तस्मात् ब्रीह्यादि का संश्लेष मात्र होता है ॥२६॥

ॐ योनेःशरीरम् ३।१।२७ ॐ

नन्वेवमनुशयिनां सर्वत्र संश्लेषमात्रमुत क्वचिन्मुख्यमपि जन्मेत्यत आह—‘योनेस्त्यादि’ यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती’ त्यनन्तरं ‘तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनि मापद्येत्’ (छा.५।१०।७) इत्यनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय यो- नौनिषिक्तेरेतसि योनेरधिशरीरमुख्यमेव जन्म सम्पद्यते । अतः पूर्वमाकाशादिषु संश्लेषमात्रमेवेति सिद्धम् ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्भानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

ननु रेतः सिग्भूभावस्यानन्तरं स्त्रीणां योनौ सिञ्चतेरेतसिग्भूयोनेरधिशरीरमनु- शयाख्यकर्मफलोपभोगाय शरीरं जायते, तत्र मुख्यमेव जन्मानुशयिनां भवति ननु संश्लेष मात्रं भवति, इति, सर्वान्तिमस्थाने मुख्यं जन्मानुशयिनाम्, तस्मात्पूर्वं सर्वत्रानुशयिनां गौणमेव जन्मसंश्लेषमात्रमिति सिद्ध्यतीत्येवं दर्शयितुमुपक्रमतेभाष्यकारः नन्वेवमनु- शयिनानित्यादि । अन्यत्सर्वं यथाग्रन्थमेवानुसन्धेयमिति संक्षेपः ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

क्या अनुशयी जीव को सर्वत्राकाशादिक में संश्लेष मात्र ही होता है, अथवा क्वचित् मुख्य जन्म भी होता है, इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं ‘योनेः शरीरमिति’ जो रेतः सिक् होता है इसके अनन्तर में ‘तद्य इह रमणीयचरणा’ इत्यादि स्थल में अनुशयी जीव को अनुशयाख्य कर्म फलभोग के लिए स्त्री के योनि में रेतः सिंचन के अनन्तर योनि से जो शरीर होता है वह मुख्य जन्म होता है, यह मुख्य जन्म होता है । और इसके पूर्व आका- शादि त्रीहि पर्यन्त में केवल संश्लेष मात्र होता है यह सिद्ध हुआ ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रशिष्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रेकाशे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

ॐ श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॐ

ॐ ॐ ॐ

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

॥ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः प्रारभ्यते ॥

अथ सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

॥ सन्ध्ये सृष्टिराह हि ३।२।१ ॥

एवमतिक्रान्ते पादे जीवस्य वैराग्योत्पादनाय पञ्चाग्नि-
विद्यया कर्मानुगुणा जन्ममरणादिफलिका जीवगतिर्निरूपिता । इदानीं
पुनस्तस्यैवावस्थान्तरं निरूप्यते । सन्ध्यावस्थामधिकृत्य 'न तत्र रथा
न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न
त आनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र
वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथवेशान्ताः पुष्करिणीः स्रवन्तीः
सृजते स हि कर्त्ता' [बृ० ४।३।१०] इत्येवं श्रूयते । तत्र संशयः ।

इदमीयप्रथमपादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य संसारगतिप्रभेदोजीवस्य प्रदर्शितः ।
अतः परं तादृशजीवस्य स्वप्नावस्थाभेदो विचार्यते । तत्र स्वप्नावस्थामधिकृत्य प्रतिपा-
दितम् । स यत्र प्रस्वपिति इत्यारभ्य न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान्
रथयोगान् पथः सृजते इति श्रूयते । तत्र जीवः कर्त्ता परमात्मावेति संशयः । जीव एव कर्त्ता
सङ्घि कर्त्ता भवतीति श्रुतेः । तस्मात् स्वाम्नि सृष्टौ सृज्यमानरथादिवस्तूनां कर्त्ता जीव एव

तृतीयध्याय के प्रथम पाद में असार इस संसार से वैराग्योत्पादन करने के लिये
पञ्चाग्नि विद्या से कर्म के अनुगुण जन्म मरण फलक जीव की गति का निरूपण किया
गया है । अब उस जीव के स्वप्नादि अवस्थान्तर का निरूपण करते हैं । उसमें सन्ध्यावस्था
अर्थात् स्वप्नावस्था को अधिकृत करके कहा है । 'तत्र वहा स्वप्न समय में न रथा नत्रा रथ
में जोतनेवाला घोड़ा है नत्रा रथादि के चलने के लिए मार्ग था, परन्तु रथ रथयोग अश्व
और मार्ग का सर्जन करता है, वहां आनन्द मोद प्रमोद नहीं था किन्तु आनन्दादिक का
सर्ग होता है, उस समय में वे शान्त पर्वत तलाव और नदियाँ नहीं थी किन्तु पर्वत तलाव
नदियों का सर्ग होता है, इन सबका कर्त्ता वह जीव है, इसप्रकार बृहदारण्यक के ४।३।
१०। वें मन्त्र में श्रुत होता है । इसमें संशय होता है कि क्या इन रथादि सृष्टियों का

किमस्या रथादिसृष्टेः कर्त्ता जीवः स्यादाहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? 'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ०४।३।९) इत्युपक्रमवाक्ये सन्ध्यशब्देन स्वप्नावस्था एव निर्दिश्यते । तत्र च स्रष्टृनया जीव एवोच्यते 'सृजत' इति कर्त्तृनिर्देशात् । 'स हि कर्त्ता' इतितस्यैव ग्रहणादिति ॥१॥

५ निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ३।२।२ ५

एवं जीवमेव स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिन आम-
नन्ति 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (का.
२।५।८) इति । एष चक्षुरादिकरणेषु सुप्तेषु स्वव्यापारादुपरतेष्वित्यर्थः ।
भवति नतु परमेश्वरः कर्त्ता तत्र तेषां भवति, यदाकदाचित् परमेश्वरः कर्त्ता भवेत् तदा
परमेश्वरकर्तृकाकाशादिपदार्थवत् स्वाप्निकपदार्थानामपि सत्यत्वं स्यात्, नत्वेवं
भवति जागरितकाले स्वप्नदृष्टानामदर्शनादिति न परमेश्वरः कर्त्ता किन्तु जीव एव
तेषां स्रष्टेति संक्षेपः ॥१॥

अपिचैके शाखिनोऽमुमेवं पुत्रपौत्रादिकाम्यमानवस्तूनां निर्मातारं कथयन्ति य एष
सुप्तेषु स्वप्नेष्वित्यर्थः । कामानांत्वाकामभाजं करोमित्युक्त्वा शतायुषः पुत्रपौत्रा नित्यादि
कर्त्ता उत्पादयिता जीव है, अथवा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर रथादि सृष्टि का सर्जक है ?
इसमें जिज्ञासा होती है कि इसमें क्या मानना युक्त है ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि
रथादि सर्ग का सर्जक जीव है क्यों ? सन्ध्या, यह तृतीय [जागरित सुषुप्ति स्थानापेक्षया तृतीय]
यह स्वप्न स्थान है' इसप्रकार बृहदारण्यक ४।३।९। नवम उपक्रम वाक्य में सन्ध्य शब्द से स्वप्ना-
वस्था का ही निर्देश किया गया है' उसमें सर्जक जीव कहा जाता है 'सृजते' इस प्रकार
कर्त्ता का निर्देश है । 'वह कर्त्ता है' इस प्रकार जीव का ही कर्त्ता रूप से ग्रहण किया गया
है । ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ॥१॥

इस तरह जीव को ही स्वप्नावस्था में काम्यमान अभिलाषा विषयीभूत पुत्रादि रथादि
का निर्माता एक शाखाध्यायी कोई बतलाते हैं 'जो यह सुषुप्तावस्था में काम्यमान वस्तुओं का
निर्माण करता हुआ जागता है' इति । इन चक्षुरादि करणों को सुप्त हो जाने पर अर्थात्
स्व स्व व्यापार से उपरत हो जाने पर । यहाँ काम शब्द से कामना विषयीभूत पुत्रादिक ही

अत्र कामशब्देन काम्यन्त इति कामाः पुत्रादय एव निर्दिष्टाः ।
 'सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व' 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व'
 (का० १।१।२३) इतिकामानित्यविशेषेणाभिधाय 'पुत्रपौत्रा' निति
 निर्देशात् । एवञ्च तदवस्थायामुपकरणाद्यभावेऽपि जीवस्य सत्यसंक-
 ल्पत्वादथादीनां पुत्रादीनाञ्च सृष्टिकर्तृत्वमुपपद्यते ॥२॥

५ मायामात्रन्तु कात्स्न्येनानभि-

व्यक्तस्वरूपत्वात् ३।२।३ ५

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह-मायेति । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः
 स्वाप्तिकरथादीनां मायामात्रस्वरूपाणां परमात्मैव स्रष्टेत्यर्थः । 'जन
 प्रतिपादनात् । तस्मात् जीव एव स्वाप्तिकरथादीनां सर्जको नतु परमेश्वरस्तस्य
 तथात्वे, गगनादिसर्गवदस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गादित्यादिकं सर्वं दर्शयितुमाह एवं जीवमेव
 स्वप्ने इत्यादि । संशयपूर्वपक्षादिकमिहाप्यनुसंधेयमिति पूर्वपक्षः । अन्यत्सर्वं
 सुगमम् ॥२॥

ये च स्वाप्तिका विचित्रविलक्षणाश्चर्यजनकारथादिकाविविधाभावास्तेषां सर्जकत्वं
 परमात्मन एव, यतः सर्वशक्तिमतस्तस्यावाधितसंस्कारादिगुणकत्वात् । जीवस्य कदा-
 निर्दिष्ट होता है । क्योंकि 'सभी काम को स्वेच्छा से प्रार्थना करो' शतवर्ष जीवी पुत्र-पौत्र
 का वरण करो' यहा 'कामान्' ऐसा अविशेष रूप से कथन करके 'पुत्र-पौत्रान्' इसप्रकार से
 निर्देश किया है । ऐसा हुआ तब स्वप्नावस्था में चक्षुरादि उपकरण का अभाव होने पर भी
 जीव को सत्य सङ्कल्पवान् होने से रथ रथयोगादिक तथा पुत्रादि सकल पदार्थ का कर्तृत्व
 सिद्ध होता है ॥२॥

पूर्ण सूत्र द्वय से कृत पूर्वपक्ष को अधिकृत करके सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं 'माया
 मात्रमित्यादि' सूत्र में जो तु शब्द है वह पूर्वसूत्र द्वयकृत पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । माया
 मात्र स्वरूप वाला जो स्वप्न में प्रतिभासित रथरथयोगादिक पदार्थ हैं, उन सब का लृष्टा परमा-
 त्मा भगवान् श्रीराधव ही हैं । 'जनक कुशध्वज के कुल में जायमान देव माया के समान
 निर्मित' इत्यादि. स्थल के समान प्रकृत में भी माया शब्द आश्चर्यार्थ का ज्ञापक है । ऐसा

कस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता' इत्यादाविवात्रापि मायाशब्द-
स्याश्चर्यार्थकत्वात् । एवञ्च स्वाप्तिकानां रथादीनां स्वप्नकालमा-
त्रावसानानां स्वप्नदृष्टमात्रानुभाव्यानामाश्चर्यरूपत्वमेव । अस्याश्चा-
श्चर्यरूपायाः सृष्टेः कर्तृत्वं परमात्मन एवोपपद्यते । तस् सर्वदाज्वा-
धितसत्यसंकल्पत्वात् । न तु जीवस्य तदुपपद्यते । तस्य प्रजापति-
वाक्य आविर्भूतस्वरूपसमकाले सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वानन्तगुणा-
नामाविर्भावित्वश्रवणात् । संसारदशायान्त्वविद्यातिरोहितत्वेन
कृत्स्नस्यानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् रथादिसृष्टे जीवकृतत्वं नोपपद्यते
चिदाविर्भूतगुणकाले सत्यसङ्कल्पवत्त्वेऽपि संसारदशायां तदभावेन तस्य तादृशाश्चर्यकर-
वस्तुत्पादकत्वासंभवादित्याशयेन सूत्रां व्याख्यातुमुपक्रमते एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाहेति ।
एवं यथोक्तक्रमेण स्वाप्तिकपदार्थस्य जीवकर्तृकत्वं न तु परमात्मकर्तृकत्वमित्याक्षेपे सिद्धा-
न्तं दर्शयति सूत्रकार इति तदर्थः । सूत्रघटकस्तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्तिपरकः । माया
पदं न मायिकाभिप्रेतमायाबोधकमपितु अत्याश्चर्यजनकवस्तुबोधकाभिप्रायकम् । जनकस्य
कुलेजातेत्यादिवदिति ।

स्वाप्तिकाः स्वप्नकालमात्रे ज्ञायमानाः स्वप्नदृष्टाभिरेव ज्ञातुं योग्यास्तेषां समेषां
सर्वदासत्यसङ्कल्पादिगुणको भगवान् श्रीराघव एव जनको न तु स्वल्पशक्तिमान् जीवः ।
यद्यपि प्रजापतिवाक्ये जीवस्यापि सत्यसङ्कल्पादिमत्त्वं श्रुतं तथापि तस्याविर्भूतगुणकाले
हुआ तब स्वप्नकालिक जो रथादिक जो कि प्रतिभास मात्र सत्तावाला है तथा स्वप्नदृक् पुरुष
मात्र से अनुभव का विषय है वे सब अत्याश्चर्य रूप ही है । एतादृश आश्चर्य रूप जो सृष्टि
है, तादृश सृष्टि का कर्तृत्व परमात्मा में ही घटित होता है, क्योंकि भगवान् श्रीराघव सर्वदा
सर्वाथा अबाधित सत्यसंकल्पादि गुणवान् हैं, किन्तु जीव में स्वामिक सृष्टि कर्तृत्व उपपन्न नहीं
होता है । यद्यपि जीव को भी प्रजापति वाक्य में आविर्भूत स्वरूप समकाल में सत्य कामत्व
सत्य संकल्पत्वादि अनन्त गुणों का आविर्भाव होता है, ऐसा श्रुत है, तथापि संसार दशा में
अविद्या से निरोहित होने से सम्पूर्ण गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती है । इसलिये स्वामिक
रथादि सृष्टि में जीव कर्तृकत्व उपपन्न नहीं होता है 'कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः' यह श्रुति
भी परमात्मा में ही रथादि सृष्टि के निर्मातृत्व का कथन करती है । 'न तत्र रथा न रथयोगा'
इस श्रुति के साथ 'कामं कामं' इस श्रुति की एक वाक्यता होने पर परमात्मा में ही स्वामिक

‘कामं काम’ मिति तु परमात्मनो निर्मातृत्वमभिधत्ते । ‘न तत्ररथा
इत्यादिश्रुत्या चास्याः श्रुतेरेकवाक्यत्वात्परमात्मन एव तत्कर्तृत्व
मिति ॥३॥

५ पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो

ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ३।२।४ ५

नन्वपहतपाप्मत्वादयोगुणा जीवस्य स्वाभाविकाश्चेत्स्युस्तर्हि
कथं न सर्वदोषलभ्यन्त इत्यत्राह ‘पराभिध्यानात्तित्यादि । तु शब्दः
एव तथात्वं संसारदशायां तु कर्माच्छादितगुणकत्वमेव । नातस्तस्य स्वाप्निकवस्तुनि-
कर्तृत्वमपितु सर्वशक्तिमतः परेशस्यैवेति “जगत्सृष्ट्यादयोलीला ममेव राघवस्य च”
इत्यादिरूपेण सर्वेश्वरी श्रीसीतोक्तेः । यद्यपि प्रकृतसूत्रव्याख्यानमन्यथाकृतं परेण,
तथापि प्रकृते तन्मतनिराकरणमन्यत्र बहुचर्चितत्वादप्रासङ्गिकमिति मत्वाविरमामि पिष्टपे-
षणादिति संक्षेपः ॥३॥

ननु प्रजापतिवाक्ये ये जीवस्य गुणाः प्रतिपादिताः ते यदि तस्य स्वाभाविकास्तदा
सर्वदा ते गुणास्तस्योपलब्धा भवेयुः परन्तु नैवं भवति अपितु सर्वदा तिरोहितगुणक एव
भवतीत्याशङ्क्याह पराभिध्यानादित्यादि अनादिकालिकशुभाशुभकर्माख्याविद्यया संसार
रथादि सृष्टि का कर्तृत्व है ऐसा सिद्ध होता है, किन्तु जीव में तादृश स्वाप्निक रथादि सृष्टि
कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है । अर्थात् स्वाप्निक जो सर्ग है वह अत्याश्चर्य जनक है, तादृश
सर्ग का आकलन जीव मन से भी नहीं कर सकता है क्योंकि परिमित ज्ञानवान् है, परमा-
त्मा तो निरविशयानन्त कल्याण गुणवान् है इसलिये वे ही एतादृशाश्चर्य जनक पदार्थ का
भी सर्जन करते हैं इति संक्षेपः ॥३॥

अथ यदि प्रजापति वाक्य प्रदर्शित अपहतपाप्मत्व सत्यसंकरूपत्वादिक गुण जीव का
स्वभाव सिद्ध है तब उन गुणोंका अनुभव जीव में भी मोक्ष कालवत् संसार काल में भी होना
चाहिये. परन्तु सर्वदा तो उन गुणों का उपालम्भ नहीं होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र
कार कहते हैं—“पराभिध्यानादित्यादि” सूत्र में जो तु शब्द है वह सूत्र बहिर्भूत शङ्का का
निराकरण परक है । इस जीव को अनादि कालिक पुण्यपाप लक्षण कर्मरूप अविद्या से

शङ्कानिवर्तकः । अस्य जीवस्यानादिपुण्यपापकर्मरूपयाऽविद्ययातिरोहितमपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्तगुणविशिष्टं स्वाभाविकं रूपं पराभिध्यानात्परस्य परमात्मनोऽभिध्यानात् तदेकचिन्तनलक्षणात् तत्प्रसादादभिव्यज्यते । हि यतः परमात्मनः संकल्पादेवास्य जीवस्य बन्धमोक्षौ श्रूयेते । एतदुक्तं भवति । अनुध्यानाऽविषयीकृतः परमात्मैवास्मै स्वकीयामोघेन संकल्पेन बन्धं प्रददाति । स एव च परमपुरुषो दीनजनानुकम्पी भगवान् यदामुहुस्तुध्यानविषयीकृतश्चेत्प्रसन्नस्तदा स्वसंकल्पान्मोक्षमप्रयच्छति । तथाचात्र 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' [मु.३।१।३] 'यदा काले जीवस्यापहतपाप्मत्वादयो गुणास्तिरोहिता भवन्ति । यदा तु भगवान् उपासनयोपासितो भवति, तदा तत्प्रसादात्, सम्प्राप्तस्वगुणोमोक्षमासादयति, तदभावे बन्धनबद्धो भवन् तिरोहित गुणको भवति । अर्थात् यथा भगवन्तमुपासनया तोषयति तदा तदीय कृपालेशेन सम्प्राप्तस्वगुणः सुप्रसन्नः स्वस्थो भवति, यदा तु तं परमेश्वरं ध्यानविषयीकृतं न करोति तदा तिरोहितगुणकः संसारभाग् भवतीति परमेश्वराधीनमेवास्य संसा अपहतपाप्मत्वादि सत्य संकल्पवदन्त गुणविशिष्टो जो स्वाभाविक रूप है वह तिरोहित हो जाता है, तादृश जो जीवका गुण है वह पुनः परम पुरुष के अनुध्यान से अर्थात् भगवदेक चिन्तन लक्षण भगवान् के प्रसाद से अभिव्यक्त हो जाता है [जिस तरह तिल में विद्यमान जो तेल है वह निष्पीडन के पूर्वकाल में अभिव्यक्त नहीं रहता है किन्तु निष्पीडन व्यापारोत्तरकाल में अभिव्यक्त होता है, सिकता से तेल अभिव्यक्त नहीं होता है क्योंकि सिकता में स्वभावतः तेल नहीं है तिल में है, इसी तरह जीवमें अपहतपाप्मत्वादिक गुण है जो अविद्या से तिरोहित रहता है जब परमेश्वर कृपा होती है तब वे सब गुण अभिव्यक्त होते हैं,] सूत्र घटक 'हि' शब्द हेत्वर्थक है, जिसलिये परमात्मा के सत्य संकल्प से ही जीव को बन्ध मोक्ष होता है, ऐसा शास्त्र में सुनने में आता है । इससे ऐसा कहा जाता है कि अनुध्यान विषयीकृत परमात्मा ही इस जीव को स्वकीय अमोघ संकल्प से बन्ध देते है, अर्थात् भगवत्संकल्प से जीव को बन्ध होता है । वही दीनजन के ऊपर अनुकंपा करनेवाले भगवान् परम पुरुष जब वारंवार उपासना से भक्त के ऊपर प्रसन्न होते हैं तब स्वकीय अमोघ सत्य संकल्प से

ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ
सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ
तस्य भयं भवति' (तै०२।७) इत्यादयः श्रुतयः प्रमाणतामुपयान्ति । ४।

५ देहयोगाद्वा सोऽपि ३।२।५ ५

सोऽपि तिरोभावोऽपि देहयोगात् सृष्टिकाले देवमनुष्यादि
देहात्मनापरिणतप्रकृतियोगात् । वा शब्दात्प्रलयकालेऽनभिव्यक्त
रागवर्गावित्यादिकं सर्वं बोधयितुं सूत्रं व्याख्यातुञ्चोपक्रमते नन्वपहतपाप्मत्वादय इत्यादि
परमेश्वराधीनमेवास्य सर्वं तत्र प्रमाणं भाष्यप्रदर्शितश्रुत्यादिकमेवेति भाष्यग्रन्था-
देवावसेयम् । अन्यत् सर्वं सुगममित्यक्षराक्षरार्थः स्वयमेवोहनीयः ॥४॥

ननु यदि जीवो हि परमेश्वरोऽशस्तदाकथं तस्य स्वाभाविकगुणानां तिरोभावो
उस अनुध्याता को स्वधाम प्राप्ति लक्षण मोक्ष को प्रदान करते हैं । इस विषय में श्रुति जब
यह जीव सुवर्ण सदृश देदीप्यमान ब्रह्मयोनि कर्त्ता परमेश्वर को जानता है तब पुण्य पाप को बिनष्ट
करके सर्व दुःख रहित होता हुआ परम समता को प्राप्त होता है “जब यह जीव अदृश्य-
त्वादि गुणक परमात्मा में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है तब अभय को प्राप्त कर जाता है और जब
इस परमात्मा में थोड़ा सी अन्तर को देखना है तब उसको भय होता है” अर्थात् परमेश्वर
के साथ सेव्य सेवकत्वेन अभेद ज्ञान मोक्ष प्रयोजक है, और शेषीशेषातिरिक्त भेद ज्ञान बन्ध
प्रयोजक होता है” । इत्यादि वाक्य प्राणाम्य को प्राप्त करता है अर्थात् श्रुति प्रमाण से
उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है । इस जीव को बन्ध मोक्ष भगवत् कृपाधीन है । एतावता
केवल ज्ञानाज्ञान से मोक्ष-बन्ध होता है, यह जिनका मत है वह परास्त हो जाता है ॥४॥

परमेश्वरांश जीव का स्वरूपतिरोभाव किस तरह होगा ? इसका समाधान करते हुए
कहते हैं “सोपितिरोभावोपीत्यादि” जीव का जो स्वरूपतिरोभाव होता है, वह शरीर योग
से अर्थात् सृष्टिकाल में देवमनुष्यादि शरीर रूप से परिणत प्रकृति के सम्बन्ध से तिरोभाव
होता है । वा शब्द से यह अर्थ होता है कि प्रलयकाल में अनभिव्यक्त नाम रूप सूक्ष्मदशा-
पन्न अचित् योग से होता है ।

जिस तरह भस्म के सम्बन्ध से वहि में जो प्रकाश शक्ति है उसका तिरोभाव हो
जाता है, उसी तरह देहादि के सम्बन्ध से जीव का जो अपहतपाप्मत्वादिक गुण है वह

नामरूपसूक्ष्मदशापन्नाचिद्योगाद् भवति । यथा भस्मयोगाद्ब्रह्मेः
प्रकाशनसामर्थ्यं तिरोभवति तद्वदत्रापि तिरोभाव इति ॥५॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ३।२।६

इतश्च न स्वाप्नार्था जीवसंकल्पपरचिताः । यतः स्वान्निकोऽर्थः
इष्टानिष्टयोः सूचकः । 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने । (छा० ५।२।९) इत्यादि
श्रुतेरवसीयते । तद्विदः स्वप्नदृष्टार्थफलविदश्च 'अथ पुरुषं कृष्णं कृष्णद-
न्तञ्च पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना स्वाप्नार्थस्येष्टानिष्टसूचकत्व-
माचक्षते । जीवसंकल्पकृतत्वेऽनिष्टसूचकत्वं नोपपद्यते । नहि कश्चि-
दनुन्मत्तः स्वानिष्टकारिणोऽर्थान् सृजति सृष्ट्वा च पश्यति । तस्मा-
भवति, यथा वह्नेरंशस्य विष्फुलिङ्गस्येत्याशंकायामाह देहयोगादिति । यथा प्रकाशनादि-
समर्थस्य वह्नेररणिगतस्यभस्माच्छन्नस्य स्वरूपतिरोभावस्तथैव मनुष्यदेवादिशरीर-
सम्बन्धादस्यापि स्वरूपतिरोभवति, परमेश्वरप्रसादात् सम्प्राप्तगुणकोभवतीति संक्षेपः ५।

योयं स्वप्नकालिकोऽर्थः स्वल्पकालमात्रे स्वप्नदृक्पुरुषेणैवानुभवितुं योग्यो
न स जीवसंकल्पपरचितः । कुतः ! शुभाशुभसूचकत्वात्तस्य यदाकर्मसु काम्येषु हस्त्या-
रोहणादीनि, राज्यप्रदानिकृष्णदन्तकृष्णपुरुषदर्शनमशुभसूचकं भवतीति श्रुतेः स्वप्नाध्याय-
विदश्च कथयन्ति । स्वप्नः सामान्यतस्त्रिविधो वासनामूलको धातुवैषम्यमूलकः शुभाशु-
भादृष्टमूलकश्च । तत्र वासनानिमित्तकस्य न फलप्रदत्वम्, द्वितीयस्यापि न किञ्चिद्वि-
तिरोहितं होता है और भगवदुपासना से वह आविर्भूत होता है तब जीव मोक्ष को प्राप्त
करता है ॥५॥

इससे भी यह सिद्ध होता है कि स्वप्नकालिक जो रथादिक पदार्थ हैं वे जीव के
संकल्प से निर्मित नहीं होते हैं । क्योंकि स्वप्निक जो हस्त्यारोहण स्त्रीदर्शन तथा कृष्ण
पुरुषादिक पदार्थ हैं वह सब शुभाशुभ का सूचक होता है । तथाहि काम्य कर्म करते हुए
व्यक्ति यदि स्वप्न में किसी विलक्षण स्त्री को देखता है तब उस स्वप्न निदर्शन में तादृश
कर्मकर्ता यजमान की समृद्धि को जाने अर्थात् उस कर्म से उसको शुभ होता है ऐसा समझे
इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि वह स्वप्न शुभ सूचक है । तथा "अथ कृष्ण काला पुरुष

त्वाप्नसृष्टेः कर्तृत्वं परमात्मन एवोपपद्यते न जीवस्य । सर्वेश्वरः
सर्वनियन्ता च परमपुरुषो जीवानुष्ठितानामल्पीयसामपि कर्मणां फल
मनुभावयितुं तावन्मात्रसमयावसानान् तज्जीवैकानुभाव्यान् विचि
त्राकारानर्थानुभावयतीति निस्वद्यम् ॥६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

शेषफलम् । अदृष्टनिमित्तकस्य फलप्रदत्वम् । तत्र शुभादृष्टजनितस्य शुभफलदायकत्वं
तदितरस्य तद्विपरीतफलजनकत्वम् । तत्र यदि स्वाप्लिकोऽर्थो जीवरचितो भवेत्तदा
नकोपि अशुभफलकं स्वप्नं पश्येत्, शुभफलकमेव केवलं तं पश्येत् । परमेश्वररचि-
तत्वे तु नायं दोषः । सर्वार्थदर्शी भगवान् स्वल्पकालफलकं स्वप्नं दर्शयित्वा शुभमशुभं वा
फलमनुभावयति । तस्मान्न जीवरचितः स्वाप्लिकोऽर्थः किन्तु परमेश्वरकृत एव । तदेव
दर्शयति सूचकश्चेत्यादि सूत्रभाष्यमिति । भाष्यग्रन्थोनतिरोहितार्थकः ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्री आनन्दभाष्यदीपे सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

जो काळा दाँतवाला है. उसको यदि स्वप्न में देखता है तो वह उस द्रष्टा को मारता है”
इत्यादि प्रकरण से स्वाप्लिक अर्थ को अनिष्टार्थ सूचकत्व कहते हैं । यदि स्वाप्लिक अर्थ को
जीव संपादित मानें तब अनिष्ट सूचकत्व नहीं होगा । क्योंकि स्वस्थ बुद्धिमान् पुरुष स्वकीय
अनिष्टकारी अर्थको नहीं बनाता है नवा बनाकरके देखता है । इसलिये स्वप्नकालिक पदार्थ
का कर्तृत्व परमात्मा में ही उपपन्न होता है जीव में नहीं । सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमपुरुष
भगवान् जिस से अनुष्ठित अत्यल्प कर्म का भी फल को अनुभव कराने के लिए स्वप्नकाल में
अवस्थित स्वप्नदृक् पुद्गल मात्र से अनुभव के योग्य विचित्राकारक अर्थ को बनाते हैं इसलिये
कोई भी क्षति नहीं है । अतः स्वाप्लिक पदार्थ जीव कर्तृक नहीं है किन्तु परमात्म वस्तु
है यह सिद्ध हुआ ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

अथ तदभावाधिकरणम् ॥२॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मानि च ३।२।७

एवं स्वप्नावस्थां विचिन्त्य सुषुप्त्यवस्थामिदानीं विचारयति । तत्र सुषुप्तिस्थानमधिकृत्य विभिन्नाः श्रुतय उपलभ्यन्ते । यथा 'यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति । अन्यत्र 'अथ यदि सुषुप्तो भवति यदि न कस्य च न वेद हितानाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति । इतरत्र 'य एषोऽन्तहृदयाकाशस्तस्मिन् शेते' (बृ० २।१।१७) इति । अपरत्र च 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति । तत्र संशयः । किमेषां श्रूय-

स्वप्नस्थानपरीक्षा गता सम्प्रति सुषुप्तिस्थानं परीक्ष्यते । तिस्रोऽवस्था जीवस्य भवन्ति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः । तत्रोन्द्रियजन्यज्ञानावस्था प्रथमा बाह्येन्द्रियाणामुपरामे तदनपेक्षज्ञानावस्था द्वितीया, आभ्यां भिन्ना तृतीया, तत्र तृतीयायाः परीक्षा क्रियते । तत्र क्वचित् नाडीसुषुप्तस्थानमिति लभ्यते, क्वचित्सुषुप्तेनैव सुषुप्तस्थानमिति क्वचित्परमात्मैव तदिति । तत्र संशयो भवति किं प्रत्येकमिदं सुषुप्तिस्थानमर्थात् विक-

पूर्व प्रकरणोक्त प्रकार से स्वप्नावस्था का विचार करके सम्प्रति सुषुप्ति अवस्था का विचार करते हैं । जीव की तीन अवस्था होती है जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इसमें क्रमिक दो का विचार प्रायः हो गया, तृतीय के विचार को प्रस्तुत करते हैं । उसमें सुषुप्ति स्थान को अधिकृत करके विभिन्न, विभिन्न श्रुति देखने में आती है । यथा "जिस समय में सुप्त हो करके संप्रसन्न होता हुआ स्वप्न को नहीं जानता है, उस समय में इन नाडीयों में व्याप्त रहता है" । अन्यत्र कहा है "जब सुषुप्त हो जाता है किसी को नहीं जानता है हिता नाम का नाडी है, बहत्तर हजार नाडी है, हृदय से पुरीतत् में जाता है, इससे निकल करके पुरीतति में सोता है" इति । अन्यत्र भी कहा है, "जो यह अन्तहृदयाकाश है उसमें सोता है" इति । और भी कहा है, "जिस समय में यह पुरुष स्वपिति नामवाला होता है, उस

माणानां नाडीपुरीतद् ब्रह्मणां जीवसुषुप्तिस्थानानां विकल्पः समुच्चयो वेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? परस्परनिरपेक्षाणामेव वचनानां सत्वादे-
कस्य युगपदनेकसुषुप्त्यसम्भवाच्च विकल्पः ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—तदभाव इति । तदभावः स्वप्नाभावः सुषुप्तिर्नाडीषु पुरीतति परमात्मनि च भवतीत्यर्थः । नाड्यादीनां त्रयाणां समुच्चय एव न विकल्पः । कुतः ? तच्छ्रुतेः । तेषां नाडी-पुरीतत्परमात्मनां त्रयाणामपि सुषुप्तिस्थानत्वश्रुतेः । समुच्चयाऽस्वी-कारे त्रिविधसुषुप्तिबोधकश्रुतीनां संग्रहो न स्यादिति भावः । तत्र नाडीपुरीतत्प्रवेशनं विना ब्रह्म सम्पत्तेरनुपपत्तेर्नाडीपुरीतत्प्रवेशद्वारा ल्पः समुच्चित्यसुषुप्तिस्थानं समुच्चयो वा । तत्र प्रत्येकमेव, परस्परनिरपेक्ष वचन-सत्वात् । परन्तु समुच्चय एवेति सिद्धान्तः । यथा प्रसादे शेते, अषवरके शेते पथं के शेते, । तद्वत् प्रकृते नाड्यादिद्वारेण परमात्मनि जीवः शेते । इतिसमुच्चित्यैव त्रयाणां सुषुप्तिस्थानतेति दर्शयितुमुपक्रमते एवं स्वप्नावस्थामित्यादि यदि कदाचित्, ब्रीहि यवादिवत् विकल्पः स्वीक्रियेत तदा, एकेनैव कार्यनिर्वाहे अन्येषां बाध एव स्यात् । समय में सत् परमात्मा से सम्पन्न हो जाता है । इसमें संशय होता है कि—क्या ये श्रूयमाण जो नाडी पुरीतति और ब्रह्म जो कि जीव के सुषुप्ति स्थान है—इनका विकल्प है, अर्थात् ब्रीहिवत् स्वतन्त्र रूप से सुषुप्ति स्थान है, अथवा समुच्चय है अर्थात् मिलित होकर के सुषुप्ति स्थान है ? तो इसमें क्या युक्त है ? परस्पर निरपेक्ष इन वचनों का सद्भाव होने से तथा एक का एककाल में अनेक सुषुप्ति स्थान का असम्भव होने से विकल्प होना ही ब्रीहि एव वत् उचित है ।

इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “तदभाव” इत्यादि स्वप्न का अभाव अर्थात् सुषुप्ति नाडी पुरीतति और परमात्मा में होती है । नाडी पुरीतति ब्रह्म का समुच्चय है विकल्प नहीं है । क्यों ? इन नाडी पुरीतति और परमात्मा इन तीनों में सुषुप्ति स्थानत्व का श्रुतियों में श्रवण है । यदि समुच्चय को नमानें तो तीन प्रकार से सुषुप्ति बोधक श्रुतियों का संग्रह नहीं होगा । इसमें नाडी पुरीतति में प्रवेश के बिना ब्रह्मसम्पत्ति

ब्रह्मसम्पत्तिरेवात्र बोध्यते ॥७॥

५ अतः प्रबोधोऽस्मात् ३।२।८ ५

यतः परमात्मैव जीवस्य साक्षात् सुषुप्तिस्थानम् । अत एवा-
स्मात्परमात्मनो जीवस्यागमनं श्रूयते प्रबोधकाले । 'सत आगम्य
न विदुः सत आगच्छामह इति' (छा० ६।१०।२) ॥८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये तदभावाचिकरणम् ॥२॥

नाडीपुगीतति प्रवेशमन्तरेण ब्रह्मसम्पत्तिरेव नस्यात्तस्मात्तद्द्वारेणैव परमात्म सम्पत्तिर्जी-
वानामिति संक्षेपः ॥७॥

परमात्मा जीवस्य मुख्यं सुषुप्तिस्थानम् । नाड्यादीनां प्रवेशद्वारतैव नतु सुषुप्ति-
स्थानत्वम् । यस्मादत एव नियमतः परमात्मनः सकाशादेव प्रबोधकाले जीवस्यागमनं
श्रूयते तदुपपद्यते । यदि प्रकृते स्थानविकल्पो भवेत् तदा कदाचित् नाडीत आगमनं
कदाचित् सुषुप्तिनाडीतः कदाचित् परमात्मनः सकाशादागमनं प्रबोधकाले श्रावितं
भवेन्नन्तर्वेवं श्रूयते । यत्र यस्य सम्पत्तिस्तत एव तस्यागमनं भवति, नान्यतः । तस्मा-
त्परमात्मैव सुषुप्तिस्थानं जीवस्य नतु नाड्यादीनां तत्स्थानत्वमिति संक्षेपः ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तदभावाचिकरणम् ॥२॥

जीव को अनुपपन्न होने से नाडी पुरीतति प्रवेश द्वारा जीव को ब्रह्मसम्पत्ति ही यहाँ
बोधित होता है । तस्मात् समुच्चय अभिमत है विकल्म नहीं ॥७॥

जिसलिये परमात्मा ही जीव का साक्षात् सुषुप्ति स्थान है. किन्तु तदतिरिक्त नाडी
जगैरह साक्षात् सुषुप्ति स्थान नहीं है इसलिये प्रबोधकाल में परमात्मा से ही जीवका आग-
मन होता है ऐसा श्रुति में श्रवण है "सत् से आकर के भी जीव नहीं समझता है कि मैं
स्वपरमात्मा से ही आया हूँ जिस तरह पक्षी जिस नियत वासवृक्ष पर रात में निवास करता
है. प्रातःकाल उसी वृक्ष से निकलता है, जिसमें जिसका प्रलय होता है उसी से उसका उद्गमन
होता है जिस तरह मृत्तिका में लीन घट मृत्तिका से ही उद्गत होता है । अतः परमात्मा ही
साक्षात्सुषुप्ति स्थान है ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे तदभावाचिकरणम् ॥२॥

अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ३।२।९

एवं सुषुप्तौ सत्सम्पत्तेरनन्तरं जीवाप्रबोधे विचार्यते । तत्रान्यः कश्चित्प्रबुद्ध्यत आहोस्विद्यः सुषुप्तः स एवेति संशये यथोदके क्षिप्तमुदकविन्दुरुदकरूपतामावहन्न पुनरुद्धरणे स एवोत्तिष्ठति तथा सुषुप्तसमये निश्शेषोपाधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मसम्पन्नः प्राक्तनकरणकलेवरसम्बन्धहीनो न स एवोत्थातुमर्हति किन्त्वन्य एव कश्चित्प्रबुद्ध्यत इति पूर्वः पक्षः ।

तत्र सिद्धान्तमाह—स एवत्विति । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्ततः । यस्तावत्पूर्वं सुप्तः स एव जीवः प्रबुद्ध्यते नान्यः । कुतः ? कर्मानु

स्वार्पं प्राप्य सत्सम्पन्नो जीवः पुनः प्रबुद्धोभवतीति श्रूयते । तत्रेदं विचार्यते य एव सुप्तः स एव प्रबुद्धोभवति तदन्योवेति संशयः । तत्र नियम इति प्राप्तम् यथा जलराशौक्षिप्तोजलविन्दुः स एव पुनरुद्ध्रियते इति न शक्यते विवेककारणाभावात् तथैव यो जीवः सति सम्पन्नः स एव ततः पुनरुत्तिष्ठतीति वक्तुं न शक्यते । अमुं

इस प्रकार सुषुप्तिकाल में सत्संपत्ति के अनन्तर जो जीव का प्रबोध उत्पन्न होता है उसके विषय में कुछ विचार किया जाता है । जो व्यक्ति सुषुप्त होता है वही स्वापोत्तर काल में प्रबुद्ध होता है अथवा व्यक्त्यन्तर प्रबुद्ध होता है ? ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस तरह महान् जलराशि में प्रक्षिप्त जो जल का एक किन्दु वह राशिस्थ जल के साथ एक रूप हो जाने से पुनः निकलने पर वही जलकिन्दु नहीं निकलता है किन्तु तदन्यका ही उद्धरण होता है, उसी तरह सुषुप्ति समय में समस्त उपाधि से रहित ब्रह्म सम्पन्न जीव पूर्वकालिक शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध से रहित वही जीव पुनः उत्पन्न को प्राप्त नहीं कर सकता है किन्तु तदन्यजीव उत्थित होता है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

इसके उत्तर में सिद्धान्त सूत्रकार बतलाते हैं “स एव तु” इत्यादि सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है । भोगप्रद कर्म के विरामकाल में पूर्व सुप्त जो जीव है वही पुनः दिनान्तर में प्रबुद्ध होता है नतु सुप्त होता है अन्य—और प्रबुद्ध होता है अन्य, किन्तु जो सुप्त हुआ था वही उत्थित होता है । क्योंकि “कर्मानुस्मृतित्यादि” इसमें विभक्त करके

स्मृतिशब्दविधिभ्यः । तत्र कर्मणः सुषुप्तजीवेन प्रागुपार्जितानि कर्माणि तेनैव भोक्तव्यानि नतानि वितथीकर्तुं पार्यन्त इति कर्मणः स एव प्रबुद्ध्यते । अनुस्मृतेरपि योऽहं सुप्तः स एवाहं प्रबुद्ध इति । शब्दादपि यः पूर्वं सुप्तः स एव प्रबुद्ध इत्यवगम्यते । 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदाभवन्ति (छा० ६।१०।२) इति । विधिभ्यश्चापि— 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्येवमादयो मोक्षार्था विधय आत्मदर्शनमन्तरेण जीवस्य पूर्वपक्षं निरासितुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते एवं सुषुप्तौ इत्यादि । य एव सुप्तो भवति स एव पुनरुत्तिष्ठति कुतः ? कर्मानुस्मृतीत्यादिभ्यः । यथाऽद्यकश्चित् यत्कार्यं करोति, अवशिष्टं तत्कार्यं परदिने स एव करोति नान्यस्तत्कार्यं करोति तस्मात्पूर्वदिने यत्कार्यं कृतवानवशिष्टं तत्कार्यं परदिने स एवानुत्तिष्ठतीति । एवांपूर्वादिने यत्पश्यति, तत् परदिने स एव स्मरति, अनुभवस्मरणयोः समानकर्तृकत्वादेकत्वं भवति, नान्यदृष्टं स्मरत्यन्य इति नियमात् । तथा शब्द विधिभ्योपि यदि सुषुप्तिमात्रेण मुक्तो भवेत्तदा मोक्षार्थं प्रवर्तमाना आत्मावारे द्रष्टव्य इति वाक्यमनर्थकमेव स्यात् । अयत्नसिद्धश्च हेतु को बतलाते हैं, जो सुषुप्त जीव है, उसने पूर्व में जिस शुभाशुभ कर्म का उपार्जन किया है, वही उस कर्म को भोगेगा, नतु उसको कोई अन्यथा कर सकता है, इस प्रकार कर्म हेतु से सिद्ध होता है कि जो सुप्त हुआ है कर्म का संचय करके वही उत्थानानन्तर उस कर्म के फलको भोग करता है । अनुस्मरण हेतु से भी उपर्युक्त विषय ही सिद्ध होता है जो मैंने पूर्वदिन में घट को देखा था, उसी को आज स्मरण करता हूं अनुभव स्मरण में समान कर्तृकत्व होता है, अन्यानुभूत का स्मरण अन्यको नहीं हो सकता है "नान्य दृष्टं स्मरत्यन्योनैकमिति नियमात् ।" अतः अनुस्मरण हेतु से सुप्त का ही उत्थान सिद्ध होता है । शब्द से उपनिषदादि शब्द से भी सिद्ध होता है कि जो पहिले सोया था वही प्रबुद्ध होता है" सुषुप्त के पूर्वकाल में जो व्याघ्र सिंह वृक वराह कीट पतङ्ग दंश-मशक रहता है वही पुनः व्याघ्र सिंहादि रूप से होता है" इत्यादि शब्द से उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है । विधिवाक्य से भी "यह आत्मा द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य

सुषुप्तिमात्रेण मुक्तत्वे तस्यैव पुनरप्रबुद्धत्वे व्यर्थतां गच्छेयुः । न
ह्येषामानर्थक्यं युज्यते । तस्माद्यः सुप्तः स एव प्रबुद्ध्यते नान्यः
इति ॥९॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये कर्मानुस्मृत्यधिकरणम् ॥३॥

अथमुग्धाधिकरणम् ॥४॥

॥ मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ३।२।१० ॥

मुग्धपुरुषस्यावस्थेदानीं विचार्यते । किमियं मूर्च्छा प्रसिद्धासु
जागरिताद्यवस्थास्वन्तर्गतैवावस्था, अवस्थान्तरं वेति संशयः । तत्रा-
मोक्षः स्यात् । तस्मात् एभिर्हेतुभिर्यः सुप्तः स एव प्रतिबुद्धोभवतीति निश्चीयते ।
एतत्सर्वं पिण्डीकृत्यभाष्यकारो यथा ग्रन्थं प्रदर्शितवान् । भाष्याक्षराणि च विवि-
च्यानुसंधेयानीति संक्षेपः ॥९॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेर्मानुस्मृत्यधिकरणम् ॥३॥

ननु भवतिमुग्धोनाम यं मूर्छित इति लोकाः कथयन्ति स तु कीदृगवस्थ इतीदानीं
विचारयितुमुपक्रमते मुग्धपुरुषस्यावस्था इत्यादि । शरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्त्रिस्तोऽवस्था
नदिश्यासितव्य है” इत्यादिक मोक्ष प्रयोजनक जो विधि शास्त्र है वह आत्मदर्शन के बिना
यदि जीव को सुषुप्ति मात्र से सर्ववन्धन विनिर्मुक्तत्व होने से उसको पुनः प्रबोधन होवे,
ये सब विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगें परन्तु इन विधि शास्त्रों का आनर्थक्य युक्त नहीं है
वेद का एक भी अक्षर निरर्थक हो नहीं सकता है । और यदि अन्य व्यक्ति सुषुप्त हो
और अन्य का प्रबोध हो तब तो कृत प्रणाश अकृताभ्यागम दोष भी होगा । इसलिये जो सुप्त
होता है वही प्रबुद्ध होता है नतु व्यक्त्यन्तर का प्रबोध होता है ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरामन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे कर्मानुस्मृत्यधिकरणम् ॥३॥

मुग्ध पुरुष, अर्थात् मूर्छित पुरुष की जो अवस्था है उसका अब विचार करते हैं ।
तीन अवस्था जीवों की होती है जागरित स्वप्न और सुषुप्ति । इनमें जो यह मूर्छावस्था है,
वह लोक प्रसिद्ध जागरितादि अवस्थाओं में अन्तर्गत ही अवस्था है, अथवा यह मूर्छावस्था,

वस्थान्तरस्य लोकशास्त्रयोरनधिगतत्वाज्जागरिताद्यवस्थास्वेव मूर्च्छा-
 वस्थाया अन्तर्भावः इति प्राप्तेऽभिधीयते 'मुग्धेऽर्धसंपत्तिरिति ।
 मुग्धे पुरुषे यावस्थोपलभ्यते सा च मरणायार्धसंपत्तिर्मूर्च्छेति । कुतश्चै-
 तत् ? परिशेषात् । अयम्भावः—जागरितस्वप्नयोर्ज्ञानस्य सत्त्वान्मूर्च्छि-
 तस्य ज्ञानाभावान्न मूर्च्छाजागरितस्वप्नावस्थे । नाऽपिसुषुप्तिर्मुग्धस्य
 निश्चलोन्मीलिते नेत्रे भयङ्करं वदनं वेपथुमच्छरीरं निश्चलः प्राणो
 वैरूप्यञ्च सर्वाङ्गे । नैतानि लक्षणानि सुषुप्तस्य दृध्यन्तेऽपि तु निमी-
 लितनेत्रत्वप्रसन्नवदनत्वनिष्कम्पत्वोच्छ्वासादिमत्वादयो धर्मा अभि-
 लक्ष्यन्त इति विलक्षणधर्माश्रयणात् । एवं मरणे प्राणोष्मणोरभावा-
 भवन्ति, जागरितावस्था स्वप्नावस्था सुषुप्तावस्था च । चतुर्थी खलुमरणावस्था । नतु
 तदतिरिक्ता काचिदवस्था श्रुतिस्मृत्योः प्रसिद्धा, अतोऽवस्था चतुष्टये एव मूर्च्छाया,
 समावेश इत्याशङ्कामपनुदति मुग्धेति । तत्रोन्द्रियैर्विषयानीक्षणान्नप्रथमास्वन्तर्भावः ।
 नवास्वप्नेऽन्तर्भावः संज्ञारहितत्वात् । नवा मृतः, प्राणस्यसद्भावात्, मृतस्य प्राणाभावो
 भवति, मुग्धस्तु न प्राणरहितः । नवा समुग्धः सुषुप्तः नैलक्षण्यात्, मृतोयमराष्ट्रं
 गच्छति मुग्धस्तु कदाचित्पूतर्जीवत्यपि । तस्मादिदमवस्थाकाचित् पञ्चमीति, तत्राह
 एक अवस्थान्तर है ! ऐसा संशय होता है । उसमें तीन जागरितादि से अवस्थान्तर का लोक
 तथा शास्त्र में अप्रसिद्ध होने से जागरितादिक अवस्था में ही मूर्च्छावस्था का अन्तर्भाव है !
 इसप्रकार का जो प्रश्न है उसके उत्तर में कहते हैं 'मुग्धेऽर्धसंपत्तिरिति' मुग्धपुरुष में जो
 अवस्था उपलब्ध होती है वह मरण के लिए अर्धसंपत्ति रूप ही मूर्च्छा है । किस तरह मूर्च्छा
 को अर्ध संपत्ति कहते हैं ? परिशेषात् अर्थात् यह अभिप्राय है, जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में
 जीव को ज्ञान रहता है और मूर्च्छित को ज्ञानाभाव रहता है, इसलिये मूर्च्छा जागरित स्वप्न
 रूप नहीं है । नवा सुषुप्ति रूपमूर्च्छा है, क्योंकि मूर्च्छित पुरुष को निश्चल तथा उन्मीलित
 नेत्र रहता है मुख भयानक हो जाता है शरीर कापता रहता है प्राण निश्चल हो जाता है ।
 सर्वाङ्ग में वैरूप्य हो जाता है । यह लक्षण सुषुप्ति पुरुष में नहीं देखने में आता है किन्तु
 सुषुप्ति पुरुष का निमित्तित नेत्र रहता है प्रसन्न मुख होता है शरीर में कंपन नहीं रहता
 है यथा समय श्वासोच्छ्वास चलता रहता है, ये सब धर्म रहता है, इसप्रकार विलक्षण धर्मा-
 श्रयण होने से सुषुप्ति में मूर्च्छा का समावेश संभवित नहीं है । एवं मरण काल में शरीर में

न्मूर्च्छायाञ्च तयोस्सद्भावान्न मूर्च्छामरणम् । परिशेषादुक्तावस्थाभ्यां
भिन्नैव मरणायार्द्धं सम्पत्तिर्मूच्छेति ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये मुग्धाधिकरणम् ॥४॥

अथोभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

५ न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ३।२।११ ५

एवं वैराग्यजननाय दोषविशिष्टानां जीवावस्थानां विचारः
कृतः । इदानीं जीवप्राप्यस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गतोच्यते—‘न स्थानतोपो
त्यादि’ किं जीवस्य दोषा जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ताः पूर्वमुपदर्शितास्ते
मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः कुतः ? परिशेषात् । अयमाशयः । न मूर्च्छायाः परिगणितावस्थासु
समावेशः किन्तु मरणायार्द्धसम्पत्तिरेवेति । भाष्याक्षराणि नतिरोहितार्थकानि ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणंते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे मुग्धाधिकरणम् ॥४॥

जीवस्यासारात् संसारान् वैराग्यं भवतु इति कृत्वा जीवस्य त्रयोऽवस्थाविशेषाः
प्रतिपादिताः । ततः संसाराद् व्यावृत्तस्य यं वस्तु विशेषमवाप्यकृतकृत्यता स्यात्
प्राण नहीं रहता है, गरमो नहीं रहती है और मूर्छा में प्राण रहता है, इसलिये मूर्छा मरण
में समाविष्ट नहीं है । परिशेषात् उक्त अवस्थाद्वयजाग्रत्स्वप्न से भिन्न मरण निमित्तक अर्ध-
संपत्ति मूर्छा है ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे मुग्धाधिकरणम् ॥४॥

उपर्युक्त प्रकार से जीव को जागरितादि अवस्था प्रयुक्त दोष से दोष होता है, इस
बात को संसार से जीव को वैराग्योत्पादन करने के लिये जीवावस्था जागरितादिक का विचार
किया गया । इसके बाद त्रिकृत जीव से प्राप्य जो सकल गुणाश्रय तथा प्राकृतिक हेयगुण
त्रिरहीत परमात्मा के उभय लिङ्गत्व बतलाने के लिये सूत्रकार कहते हैं ‘न स्थानतोपीत्यादि’
क्या जीव को जागरितादि अवस्था प्रयुक्त दोष होता है ऐसा जो पूर्व में कहा गया है, वे

तदन्तर्यामिणः परमात्मनोऽपि सन्त्याहोस्विन्नेति संशयः । किं युक्तम् ? सन्तीति । कुतः ? जागरितस्वप्नाद्यवस्थावति शरीरे परमात्मनोऽप्यवस्थानात् । 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' 'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य रेतः शरीरम्' इत्यादिषु तस्य सर्व शरीरत्वश्रवणेन रेतः शोणितादिविशिष्टतया सर्वदोषवत्त्वसम्भवात् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—न स्थानतोऽपीति । यतः सर्वत्र श्रुति स्मृतिषु निर्दोषत्वसकलकल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गमुभयलक्षणं परं तादृशजीवप्राप्यस्य परमात्मनः यादृशमुभयलिङ्गत्वादिकं स्वरूपं तादृशं स्वरूपं दर्शयितुमुपक्रमते एवं गैराग्ययेत्यादि यथादेहयोगाद् देहकृतदोषाः संभवन्ति तथा तादृश देह सम्बन्धात्सर्गशरीरस्य परब्रह्मणः प्राप्यस्य ते दोषाः संभवन्ति नवेति संशयः । पूर्वोक्त दोष जीव के अन्तर्यामी परमात्मा में भी होता है, अथवा नहीं होता है अर्थात् अवस्था प्रयुक्त जिन दोषों से जीव सम्बद्ध होता है उन दोषों से परमात्मा भी सम्बद्ध होता है अथवा नहीं होता है, ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है, अर्थात् विविपक्ष ठीक है अथवा निषेध पक्ष ठीक है ! तो इसमें विवि पक्ष ही ठीक है । क्योंकि जिसतरह अवस्था त्रयवान् शरीर में अवस्थित रहने के कारण जीव उन दोषों से सम्बद्ध होता है उसीतरह जागरितादिक अवस्थावान् शरीर में परमात्मा का भी अवस्थान है, अन्तर्यामी ब्राह्मण से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वशरीरक है तो जब एक शरीरक जीव में तत्प्रयुक्त दोषकत्व है तब तो सुतराम् सर्गशरीरक परमात्मा में इन सब दोषों का अवश्य सद्भाव है । तो जब एक शरीर सम्बन्ध प्रयुक्त दोषों से ऊब करके संसार से जीव को गैराग्य हो जाता है तब तो अनेक शरीर सम्बन्ध कृतानेक दोषों से ऊब करके कदाचित् परमेश्वर को भी गैराग्य हो जायगा ।

परमेश्वर में सर्गशरीर का सम्बन्ध है ? इसमें प्रमाण को बतलाने के लिये भाष्यकार श्रुति को उदाहृत करते हैं 'यस्य पृथिवी' इत्यादि, 'जिसका पृथिवी शरीर है' 'इससे जड़ शरीरकत्व परमात्मा में बतलाया गया' 'जिसका सर्गभूत शरीर है' 'जिसका जीवात्मा शरीर है' 'इससे चेतनशरीरकत्व परमात्मा को बतलाया गया' 'जिसका रेतस् वीर्य शरीर है' 'इससे शरीर का निदान शरीरकत्व परमात्मा में बतलाया है' इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को सर्गशरीरकत्व का प्रतिपादन किया है, और जो शरीर है वह शुक्रशोणितादि विशिष्ट ही होगा, इसतरह

ब्रह्मावगम्यते । अतः स्थानतोऽपि पृथिव्यादीनां जीवस्य चान्तर्या-
मितयावस्थानतोऽपि परस्य ब्रह्मणोजीवस्यैव जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ता
दोषा न सम्भवन्ति । अत्र श्रुतयस्तावत्—‘अपहतपाप्मा विजरो
विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ (छा.
८।७।१) ‘निस्वद्यं निरञ्जनम्’ ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ (मु.१।१।९) इत्या-
दयो ब्रह्मणो निर्दोषत्वमुक्त्वा पुनस्तस्यैव दिव्यकल्याणगुणवत्त्वम-
भिदधते । स्मृतयोऽपि ‘न मां कर्माणिलिम्पन्ति न मे कर्मफले
स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्धयते’ (गी०) ‘सम-
स्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्’ (वि०पु०) ‘समस्तकल्याणगुणा-
सम्भवन्तीति पूर्वपक्षः यतो दोषनियामकस्य देहयोगस्य सर्वशरीरके ब्रह्मणि विद्यमान-
त्वादितिचेत् सत्यम् न पृथिव्यादिस्थानोपाधियोगात् प्राप्यस्य परमात्मनोदोष
सम्बन्धोयतस्तादृशस्य परब्रह्मणोऽवस्थाविशेषकृतादोषा संभवन्ति, उभयलिङ्गत्वात्,
श्रुतिः सर्वत्रनिर्दोषवत्वं सकलकल्याणगुणाश्रयत्वं च दर्शयति । भाष्यदर्शितदिशाता
सर्व दोषवत्त्व परमात्मा में श्रुत है । अतः सर्वदोषवत्त्व रूप त्रिविध पक्ष की व्यवस्था होती है,
यह पूर्वपक्ष का आशय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के समाधान में सूत्रकार कहते हैं ‘न स्थानतोपीत्यादि’ जिसलिये
सर्वत्र श्रुतिस्मृतियों में सर्वहियदोषरहितत्व, अप्राकृतिक सकल कल्याण गुणाकरत्व लक्षण उभय-
लिङ्ग अर्थात् उभय लक्षण परमात्मा है, ऐसा प्राप्त होता है । इसलिये स्थान से भी अर्थात्
पृथिव्यादिक जड पदार्थ के तथा चेतन जीव के अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित होने पर भी पर-
मात्मा को जीव की तरह जागरितादि अवस्था प्रयुक्त दोषवत्त्व नहीं होता है । इस त्रिषय में
श्रुत्यादिक प्रमाण है । अर्थात् सर्वदोषरहितत्व तथा सर्वकल्याणगुणवत्त्व परमात्मा में है, इस
बात का कथन श्रुतिस्मृतियों में किया है । तथाहि ‘वह परमात्मा, अपहतपाप्मा है जरा से
रहित है मृत्यु शोक से रहित है बुभुक्षापिपासा रहित है सत्यकाम सत्य संकल्पवान् है’ ‘सर्व
प्रकारक पाप रहित तथा सर्वदुःख रहित है’ ‘जो सर्वज्ञ अर्थात् सर्वविषयक ज्ञानवान् है वह
परमात्मा विशेष रूपसे सर्वविषयक ज्ञानवान् है’ इत्यादि वाक्य द्वारा परमात्मा में निर्दोषत्व का
कथन करके पुनः उस परमात्मा में दिव्यानेक कल्याणगुणवत्त्व का प्रतिपादन किया गया है ।
स्मृतियों में भी कहा है ‘मुक्त परमात्मा में कर्म का लेप नहीं होता है, नवा मुक्तको किसी

त्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्भूतभूतवर्गः' (वि.पु०) इत्याद्याः परमात्मन
स्तथा वदन्ति ॥११॥

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ३।२।१२

ननु प्रजापतिवाक्येन जीवस्याप्युभयलिङ्गत्वमुक्तं तथापि देव
मनुष्यादिशरीरसम्बन्धरूपावस्थाभेदात्तद्दोषसम्बन्धस्तथा परस्यापि
पृथिवीजीवादिशरीरसम्बन्धित्वावस्थाभेदाद्दोषास्स्युरेवेति चेन्न ।
प्रत्येकमतद्वचनात् । ये परमात्मशरीरत्वेनोक्ताः पृथिव्यादयस्तेषु
प्रत्येकमुपादाय दोषाऽसम्बन्धित्ववचनात् । 'एष त आत्मान्तर्याम्य
मृतः' (बृ०३।७।३) इत्यन्तर्यामिणः सर्वत्रामृतत्ववचनेन तत्तत्सम्बन्ध
श्रुतयः उदाहर्तव्याः । तदर्थानुसंधानमपि यथामत्युन्नेयमिति संक्षेपः । विशेषतो
विवरणमन्यत्रानुसंधेयमिति ॥११॥

यद्यपि प्रजापति वाक्ये जीवस्याप्युभयलिङ्गत्वं प्रतिपादितं तथापि देवादिशरीर
सम्बन्धप्रयुक्तावस्थावत्त्वेन यथा जीवस्य भवति दोषवत्ता तथा परस्यापि सर्वशरीरवत्त्वा-
त्तत्प्रयुक्तदोषसम्बन्धः स्यादेवेति न. प्रत्येकमतद्वचनात्, परमात्मनः शरीररूपेण ये
पृथिव्यादय उदाहृतास्तेषु प्रत्येकपृथिव्यादिकमुपादाय दोषाभावस्य प्रतिपादनात् एष
कर्मफल की स्पृहा है, एतादृश लक्षण परमात्मा को जो जानता है वह ज्ञाता है वह ज्ञाता
पुरुष कर्मबन्धन से बद्ध नहीं होता है ।' [गीता] जो समस्त प्राकृतिक हेयगुण रहित है वह
विष्णु नामक परमपद है' [वि०पु०] यह परमात्मा समस्त कल्याण गुणवान् है, अपने
शक्ति से समस्त भूतवर्ग का चारक है' । इत्यादि वाक्य परमात्मा में उभयलिङ्गत्व का
प्रतिपादक है ॥११॥

यद्यपि प्रजापति वाक्य से अत्रस्था विशेष में जीव में भी उभयलिङ्गत्व का प्रतिपादन
किया है तथापि देव मनुष्य तिर्यगादि शरीर लक्षण अवस्था भेद से शरीरकृत दोष सम्बन्ध
अवर्जनीय है. जिसतरह, उसीतरह पृथिव्यादि जड तथा चेतन जीव शरीर सम्बन्धित्व रूपावस्था
विशेष से परमात्मा में भी तादृश दोष की संभावना होती है ? उत्तर—'प्रत्येकमतद्वचनात्'
परमात्मा के शरीर रूप से जो पृथिव्यादिक जडचेतन पदार्थ कहा गया है. उनमें से प्रत्येक
वाक्य को लेकर के परमात्मा में शरीर सम्बन्धकृत दोषाभाव का कथन किया है, अर्थात्

कृतदोषरहितत्वस्योक्तत्वात् । जीवस्य तु परमात्मसंकल्पादविद्यातिरो-
हितापहतपाप्मत्वादिगुणस्यतत्कृतपुण्यपापकर्मफलसुखदुःखभोगरूपदोष
स्यावर्जनीयत्वात् ॥१२॥

५ अपि चैवमेके ३।२।१३ ५

अपि च जीवपरमात्मनोरेकस्मिन्देहेऽवस्थितयोरपि परमात्मनः
कर्मफलाभोगित्वेन निर्दोषत्वं जीवस्य तत्फलभोगित्वेन दोषवत्त्वमेके
शाखिनोऽधीयते । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष-
ते आत्मा इत्यादिस्थले सर्वत्रामृतत्वस्यान्तर्यामिणि प्रतिपानादर्थतो दोषासम्बन्धित्वस्य
परमात्मनिकथनात् । यद्यपि जीवेऽपि कदाचित्, अपहतपाप्मत्वादिकं भवति तथापि तादृश
गुणानां कर्मवशात्तिरोहितत्वेन दोषसम्बन्धितायास्तत्रावर्जनीयत्वात् । परमात्मनि कर्मणः
शुभाशुभादेरसंभवेन दोषसम्बन्धिताया अभावादिति सूत्रभाष्ययोर्मुकुलितोर्थः । १२।

अथ यदि समाने शरीरे जीवपरेशौतिष्ठतः शरीरशरीरिभावेन तदा कथमेकस्य
कर्मफलभोगितया दोषवत्त्वमपरस्यतत्फलाभोगितया निर्दोषत्वमित्याशङ्क्य, समानगृह-
स्थितयोरपि देवदत्तयज्ञदत्तयोर्गृहदाहादौजाते एकोदग्धो भवति नापरोदद्यते । यथावा
समाने जलाशये विद्यमानयोरपि कमलकुमुदयोरेकस्य पत्रं जलेन लिप्तं भवति तदन्यस्य पत्रं
प्रतिपर्याय के अन्त में 'एष ते आत्माऽन्तर्यामी अमृतः' इस से अन्तर्यामी परमात्मा को अमृतत्व
का कथन किया है, इससे तत्तत् शरीरादि सम्बन्धकृत दोष के अभाव का कथन किया
है । जीव को तो परमात्मा के संकल्प से अविद्या शुभाशुभकर्म से तिरोहित अपहतपाप्म
त्वादि गुणरु होने से शरीर सम्बन्ध कृत पुण्यपाप कर्म का फल जो सुखदुःख भोग लक्षणदोष
है वह अवर्जनीय है । अर्थात् अमृतत्व का परमात्मा में प्रतिपर्याय में कथन है, इससे
परमात्मा में दोष का संभव नहीं है, और जीव में तो अपहतपाप्मत्वादिक गुण तिरोहित है
इसलिये दोष सम्बन्ध अवर्जनीय है । यह सूत्र भाष्य का भावार्थ होता है ॥१२॥

और भी यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा एक देवमनुष्यादि शरीर में वर्तमान होते हैं,
तथापि परमात्मा के कर्मफलभोक्ता नहीं होने से दोष रहितत्व है और जीवात्मा को कर्मफल
भोक्ता होने से दोषवत्त्व है, ऐसा एक शाखावाले कहते हैं । समान स्वभाववाले परस्पर में
मित्र भाव को प्राप्त किये हुए दो पक्षी एक शरीर रूप वृक्ष पर परिष्वक्त हैं । उन दोनों में

स्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
(मु०३।१।१) इति ॥१३॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ३।२।१४

ननु 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'
[छा०६।३।२] इति श्रुत्या परमात्मनोऽपि जीवेन सह प्रविष्टत्वाभि-
धानात् तत्सामान्याच्च परमात्मोऽपि नामरूपभागित्वेन कर्मवश्यता
स्यादेवेत्याशङ्क्यामाह—'अरूपवदेवेत्यादि' देवमनुष्यादिशरीरेषु
शरीरित्वेनावस्थितमपि तत् परंब्रह्म अरूपवदेव पुण्यपापकर्महेतुकनाम
नोपलप्यते, तथा प्रकृते समानदेहेवसतोरपि जीवपरात्मनो फलभोक्तृत्वेन दोषवत्त्वं
तदन्यस्य कर्मफलाभोगितया निर्दोषत्वमिति । किञ्च द्रासुपर्णेत्यादि भगवतीश्रुतिरेवयदेत्थं
प्रतिपादयति तदा के वयं तन्निषेधयितार इति ॥१३॥

ननु यथा जीवः शरीरेऽवस्थितत्वात् कर्मपराधीनः, एवं जीवेन सह परमात्म-
नोपि शरीरेऽवस्थानश्रवणात् जीववत् परमात्मापि कर्मपराधीनः स्यादेवेत्याशङ्कां समा-
धातुमुपक्रमते अनेन जीनेन इत्यादि । यथा जीवावस्थानं शरीरे तथैव जीवेन सह पर-
मात्मनोप्यवस्थानस्य श्रुत्या प्रतिपादनेन जीवस्य कर्मपराधीनतावत् परमपुरुषस्यापि तथा-
से एक जीव रूप सुपर्ण सुस्वादु कर्मफल को खाता है, अर्थात् उपभोग करता है, और तदन्य
परमात्मा कर्मफलभोग को न करते हुए प्रसन्न रूपसे सर्वदा रहते हैं, अर्थात् जीव परंपरा से
अर्जित शुभाशुभ कर्मफल सुखदुःख का अनुभव करता है, और परमात्मा केवल द्रष्टा भोगयिता
होते हैं किन्तु स्वयं फल का भोक्ता नहीं होते हैं, क्योंकि भोगरूप कार्य का निमित्तकारण
जो अदृष्ट है वह परमात्मा में नहीं है । इसलिये परमेश्वरफलभोक्ता नहीं है । इति संक्षेपः ॥१३॥

प्रश्न 'इस जीव स्वरूप के साथ अनुप्रविष्ट होकर के नामरूप को बनाता हूं' इस
श्रुति से परमात्मा को भी जीव के साथ इस शरीर में प्रवेश का कथन होने से तथा चेतन-
त्वेन जीव के समान होने से परमात्मा को भी नामरूप भागी होने से कर्मपराधीनत्व होगा ?
इस शङ्का के समाधान में कहते हैं 'अरूपवदेवेत्यादि' सूत्र । देवमनुष्यतिर्यगादि शरीरों में
शरीरी रूप से अवस्थित भी वह पर ब्रह्म श्रीराम अरूपवान् है, अर्थात् पुण्यपाप लक्षण जो
कर्म, तद्हेतुक जो नामरूप उससे परमात्मा रहित हैं । क्योंकि प्रधान होने से जीव को

रूपरहितमेव । कुतः ? प्रधानत्वात् । जीवस्यापूर्वकृतपुण्यपापकर्मानुरूपनामरूपव्याकरणकर्तृत्वेन तदुपकारितया तद्विन्नधर्मवत्त्वेन तत् उत्कृष्टत्वात् । अयमभिप्रायः । परमपुरुषः कृपयाकर्मपरवशानां जीवानां भुक्तिमुक्तिसिद्ध्यर्थं तत्तत्पूर्वतनपुण्यपापकर्मानुसारेण तस्य तस्य च नामरूपात्मिकां देवमनुष्यादिरूपां सृष्टिं विधाय स्वयं तन्नियन्तृत्वेन तत्पारवश्याभावतया सर्वदाऽतिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणतया स्वप्रकाशचित्स्वरूप एव जीवकर्मानुगुणं जीवान्प्रवर्तयन् तदन्तर्यामितयाऽवतिष्ठते । अतो जीवानां कर्मवश्यत्वं परमात्मनः कर्मवश्यताराहित्यं सम्यगुपपद्यते ॥१४॥

त्वंस्यादिति शङ्कार्थः । सर्वत्र शरीरित्वेनावस्थितमपि परंब्रह्म, अरूपवदेव, अर्थात् कर्मजनितनामरूपादिरहितमेव नतु कर्महेतुकनामरूपाद्याश्रयं कदापि भवति, येन जीववत् परस्यापि कर्मपराधीनतास्यादित्यर्थः । परमेश्वरे नामरूपयोरभावे हेतुं दर्शयति कुतः ? प्रधानत्वात् यथा पुत्रेण सहागतः पितेत्यत्र पुत्रपित्रोः सहागमनेपि पितुरधीनत्वं पुत्रस्य नतु पिताकस्याप्यधीनः प्रधानत्वात् तथा जीवेन सह परमेश्वरसहानुप्रवेशेपि सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वात् न कर्मपराधीनत्वं परस्य किन्तु जीवस्यैव तथात्वमिति । कुत एतदित्या शङ्कायाः समाधानमाह भाष्यकारः अयमभिप्राय इत्यादिना । अक्षरार्थः स्वयमूहनीयः ।

तस्मात् जीवस्यैव कर्माधीनत्वं परमात्मनस्तु कर्मवश्यताराहित्यमेवेति भावः ॥१४॥

पूर्वपूर्वतरादिभ्यः संपादितं जो पुण्यपाप रूप कर्म तदनुरूप जो नामरूप, उसका उत्पादकत्वेन जीव का उपकारी होने से तथा जीव का जो धर्म तादृश धर्म से भिन्न धर्मवान् होने से परमात्मा जीवापेक्षया अति उत्कृष्ट है । इसका अभिप्राय यह है कि परमपुरुष परमात्मा श्रीराम जी कृपा करके कर्मपराधीन जीवों को भोग मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों का जो पूर्वकालिक पुण्यपाप रूप अदृष्टकर्म है, उसके अनुकूल तत्तत् जीव के नाम रूपात्मक देवमनुष्य-तिर्यगादि रूढ सृष्टि करके स्वयं इन सब जीवों का नियन्ता रूपसे कर्मपारवश्यत्वाभाव रूपसे तथा सर्वदा अतिरोहितापहतपाप्मत्वादि गुणवत्त्व रूपसे स्वयं प्रकाश चित्स्वरूप होकर के जीव के कर्मानुसारेण जीव को प्रवृत्त कराते हुये तथा जीव के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित रहते हैं । इसलिये जीव में कर्मवश्यत्व है और परमेश्वर में कर्मपराधीनत्व का अभाव रहता है- यह दोनों विषय समीचीन रूप से उपपन्न होता है ॥१४॥

५ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ३।२।१५ ५

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ ‘तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरुपासते’ इत्येवमादिश्रुतीनामनैयर्थ्याद् याथार्थ्यात्प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मेत्यवगमात् । ‘यः सर्वज्ञः सर्वविवित्’ ‘सत्यकामः सत्य संकल्पः’ ‘निखद्यं निरञ्जनम्’ इत्येवमादिश्रुतीनामवैयर्थ्याद् याथार्थ्यात्सर्वदोषरहितत्वं निखिलदिव्यगुणाकरत्वञ्च ब्रह्मस्वरूपमित्यवगमादुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण उपपन्नमेव ॥१५॥

श्रुतिप्रामाण्यात् ब्रह्मप्रकाशवत् अर्थात् यथा प्रकाशः सर्वत्र व्यापकतया शुचि-देशस्थाशुचिदेशस्थोपि भवन्, अमेध्यदेशगतदोषस्पृष्टो न भवति तथैव ब्रह्मापि स्वभावत एव सर्वदोषरहितं भवति । एवं यथा ज्ञानमतिनिर्मलं तथा परमात्मापि निर्मलः । एतावता सर्वदोषरहित्यं प्रदर्शितं परमात्मनि । एवं निखद्यं निरञ्जनम् सत्यकामः इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात् हेयप्रत्यनीकसकलकल्याणगुणवत्वमपि सिद्धं भवति । तदेवं सर्वदोषरहित्यदिव्यसकलाप्राकृतिकगुणवत्त्वं भवत्, परमात्मन उभयलिङ्गवत्त्वं श्रुत्या प्रतिपादितं भवतीत्येतत्प्रदर्शयितुमुपक्रमते सत्यं ज्ञानमित्यादि भाष्यम् । अन्यत्सर्वं सुगमिति संक्षेपः ॥१५॥

ब्रह्म में श्रुति द्वारा उभयलिङ्गत्व का प्रतिपादन करने के लिये उपक्रम करते हैं ‘सत्यं ज्ञानमित्यादि’ ‘ब्रह्म सत्य स्वरूप है अर्थात् त्रिकालावाचित है एवं प्रकाशात्मक ज्ञापक ज्ञान स्वरूप हैं । तथा अनन्त त्रिविध परिच्छेद रहित है’ ‘ज्योति का भी ज्योति स्वरूप उस परमात्मा का उपासन देवता लोग करते हैं’ इत्यादि श्रुति के अनैयर्थ्य अर्थात् याथार्थ्य प्रामाणिक होने से प्रकाश स्वरूप ब्रह्म है ऐसा जाना जाता है । एवम् ‘वह परमात्मा सर्वज्ञ सर्ववित् है’ ‘सत्यकाम सत्यसंकल्पवान् है’ ‘सकलपाप रहित है, तथा सर्व प्रकारक दुःख रहित है’ इत्यादि श्रुतियों का अनैयर्थ्य प्रामाणिक होने से परमेश्वर में सर्वदोष रहितत्व निखिलदिव्यगुणाकरत्व है, यह अवगत होता है, इसप्रकार से ब्रह्ममें उभयलिङ्गत्व सिद्ध होता है । इसमें प्रथम द्वितीय श्रुति से ज्ञानस्वरूपत्व का प्रतिपादन करने से ज्ञानवत् निर्मलता का प्रतिपादन होने से सर्व दोषरहित्य, तथा सत्यकामादिवत्त्व का कथन होने से दिव्याप्राकृतिक हेयप्रत्यनीक निखिलमङ्गलगुणाकरत्व की सिद्धि होती है ॥१५॥

॥ आह च तन्मात्रम् ३।२।१६ ॥

एवञ्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' ति श्रुतिर्ज्ञानशब्देन प्रकाश-
मात्रं ब्रह्मस्वरूपमाह 'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपर-
मानन्द आत्मा । यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै
वै नमो नमः' [श्रीरामोत्तरस्तापन्यात्] इति श्रुतिश्च चिदेकरसप्रकाश-
मात्रं ब्रह्मस्वरूपमाह ॥१६॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ३।२।१७

दर्शयति च 'पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमी
ड्यम्' 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (का० २।१।२०) 'न तस्य
कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६।२)
'यः सर्वज्ञस्सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० १।१।९) 'पराऽस्य शक्ति
र्विविधैव श्रूयते' (श्वे० ६।८) 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः'

आह स्वयमेव श्रुतिः परमात्मनश्चैतन्यमात्रस्वरूपतां वदति सत्यं ज्ञानं, स यथा
सैन्धव धन इत्यादि तथा श्रीरामतापिन्यामपि तन्मात्रत्वं प्रतिपादितम् यो ह वै श्रीरामचन्द्र
इत्यादि । एतदेव दर्शयितुमाह एवंचेत्यादि भाष्यग्रन्थो न तिरोहितार्थकः ॥१६॥

न केवलमुपर्युक्तयुक्तिभिरेव परमात्मनः सर्वदोषराहित्यमशेषकल्याणगुणा-
करत्वं च साधितम् । अपितु श्रुतिगणोपि परमात्मनस्तथात्वं साधयति । तथा स्मृति

श्रुति ज्ञानमात्र स्वरूप परमात्मा को बतलाती है 'एवं चेत्यादि' 'ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा
अनन्त रूप है' यह श्रुति ज्ञान शब्द से प्रकाश मात्र ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करती है ।
'जो यह भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं वे अद्वैत परमानन्द आत्म स्वरूप हैं, तथा जो सत् चिदानन्द
अद्वैतचिदात्मा है, भूर्भुवः स्व स्वरूप हैं उनके लिये अनन्त नमस्कार है' यह श्रुति भी चिदे-
करस प्रकाशमात्र ब्रह्मस्वरूप को बतलाती है ॥१६॥

भगवान् सकल दोष रहित हैं तथा सकल कल्याण का आश्रयवान् को बतलाने के
लिए तथा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'दर्शयतीत्यादि' श्रुति
गण को उदाहृत करते हैं—'पतिं पतीनामित्यादि' पतियों का भी पति परमोत्कृष्ट देवको तथा
सकल भुवन के अधिपति स्तुत्यर्ह देवको हम लोगों ने जाना जो भगवान् अणुत्वेन अभिमत

‘स एकोब्रह्मण आनन्दः’ (तौ० २।८) ‘निष्कलं निष्क्रयं शान्तं निर्वद्यं निरञ्जनम्’ (श्वे० ६।१९) इत्येवमादिश्रुतिगणः समस्तदोष रहितत्वमशेषकल्याणगुणाकरत्वं परमात्मनः । स्मर्यते च ‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च’ (गी० १५।१५) ‘मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय’ (गी० ७।७) ‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत्’ (गी० १०।४२) ‘सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्ति ज्ञानबलद्धिमान्’ (वि० पु० ५।१।४८) इत्येवमादिषु तस्य सर्वकल्याण गुणाकरत्वं सर्वदोषरहितत्वञ्चेति न स्थानप्रयुक्तानां दोषाणां परस्मिन्नवकाश इति ॥१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ३।२।१८

यतः परमात्मनः पृथिव्यादिषु प्रविष्टस्याप्युभयलिङ्गत्वेन जलगणोति तथात्वमेव तस्य भगवतः स्मारयति । ततश्च भगवतः परमेश्वरस्य कः श्रुतिगणस्तथात्वमवगमयतीति बोधयितुमुपक्रमते दर्शयतिचेत्यादि श्रुत्यादिवाक्यानामर्थः स्मृत्यर्थश्च स्वयमेवोहनीय इति संक्षेपः ॥१७॥

यस्मादेवकारणात् परमेश्वरोभगवान् सर्वदोषविमुक्तोऽत एव परमेश्वरस्य जलपरमाण्वादि के अपेक्षया अणु तथा महत्त्वेन प्रसिद्ध आकाशादिक से भी पर महान् है उस परमात्मा को कार्य कलेवर तथा करण चक्षुरादिक साधन तथा वाक् पाणी पादादिक नहीं है ‘उसके समान तथा उससे बड़ा कोई नहीं है’ । ‘जो सर्वज्ञ सर्ववित् है’ । ‘सबसे विलक्षण शक्तिमान् हैं’ जिसके भय से वायु तथा सूर्यादिक स्वकार्य में निरत रहते हैं’ । इत्यादिक श्रुतिगण समस्त दोषरहितत्व तथा सकलकल्याण गुणाकरत्वं परमात्मा में बतलाते हैं । स्मृति में भी कहा है ‘मैं सभी के हृदय में सन्निविष्ट हूँ’ मुझसे ज्ञानादिक की प्राप्ति होती है’ ‘मैंने एक अंश से सकल जगत् को चारण किया है’ जो सर्वज्ञ हैं सर्व पदार्थ के कर्त्ता हैं ज्ञानबल ऋद्धिमान् हैं’ इत्यादि स्मृतियों में सर्वदोष रहितत्व सर्वकल्याण गुणवत्त्व का समर्थन किया है। इसलिये स्थान प्रयुक्त दोषों का अवकाश परमात्मा में नहीं है ॥१७॥

जिसलिये परमात्मा सर्वदोष रहित है अतः जलसूर्य की उपमा दी गई है, इस अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिये उपक्रम करते हैं ‘यतः परमात्मन’ इत्यादि, जिसलिये,

प्रतिबिम्बितसूर्यादिवन्न स्थानप्रयुक्तदोषप्रसङ्गः । अत एव शास्त्रेषु
सूर्याकाशादीनामुपमाभिः परमात्मोपमीयते । 'आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथग्भवेत् । तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान् ।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूतेव्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवत्' (याज्ञव० ३।१।४) इत्यादिषु ॥१९॥

प्रतिबिम्बितसूर्यवदाकाशादिवदुपमादीयते, यथा सर्वाप्रकाशस्य जले प्रतिबिम्बितस्य
सूर्यस्य जलाद्युपाधिदोषेण न संस्पृष्टो निर्मलत्वेन सर्वालेपसंभवाभावात् तथैव सर्वालेप
रहितस्य परस्य पृथिव्यादिस्थानस्थितस्यापि पृथिव्यादिदोषेण संस्पर्शो न भवति,
यथावा सर्वाज्ञः सूक्ष्मस्य व्यापकस्याकाशस्य घटाद्युपाधिसम्बन्धेऽपि तदीयपरिच्छिन्न-
त्वादिदोषेण परिच्छेदो न भवति, तदुक्तम् वर्षातपाम्यां किं व्योमस्पर्शमन्यस्ति तयोः फल-
मिति । अतएव भगवान् जलसूर्यादिवत् उपाधिकृत दोषेण विमुक्त इत्युपमया प्रदर्शयते ।
एवं सर्वं द्योयितुमुपक्रमते भाष्यकारः यतः परमात्मनः इत्यादि । भाष्याक्षरार्थः स्वय-
मूहनीय इति ॥१८॥

पृथिव्यादिक में प्रविष्ट परमात्मा को उभयलिङ्गक [सर्वदोषरहितत्व सर्वकल्याण गुणकत्व] होने से
जल प्रतिबिम्बित सूर्य के समान स्थान प्रयुक्त दोषास्पदत्व नहीं होता है । अतएव मोक्षशास्त्रों
में जलसूर्यक तथा आकाशादिक की उपमा से उपमित किया है । [जिसतरह आह्लादकत्व
लक्षण सामान्य घर्म को लेकर के अर्थात् उपमानोपमेय स्थित घर्म को लेकर के प्राकृतिक
वनितादिक के मुख में चन्द्रमा की उपमा दी जाती है अर्थात् इन दोनों में उपमानोपमेयभाव
होता है। इसीतरह परमात्मा में जलसूर्यक का उपमा को प्रदर्शित किया गया है ।] 'जिस
तरह स्वभावतः एक ही आकाश घटादिक उपाधि के भिन्न होने से तत्सम्बन्धात् अनेक के
समान प्रतिभासित होता है, उसीतरह एक भी आत्मा अनेकस्थ जैसा प्रतिभासित होता है,
जिसतरह जल धार में अंशुमान् सूर्य अनेक रूप से प्रतिभासित होते हैं' ।

एक ही भूतात्मा है वह प्रत्येक भूतों में व्यवस्थित होने से एक प्रकार अनेक प्रकार
से देखने में आते हैं, जलचन्द्र के समान । यथा आकाशस्थ चन्द्रमा एक है पर जल में
प्रतिबिम्बित होने से उपाधि भेद से अनेक रूपसे दृष्ट होते हैं उसी तरह प्रकृत में सम-
झना चाहिये ॥१८॥

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ३।२।१९

तु शब्दश्चोद्यं दर्शयति । अम्बुवदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः । अम्बु-
दर्पणादिष्वनवस्थित एव सूर्यो भ्रान्त्या तत्रस्थ इव दृश्यते । न
तथा पृथिव्यादिषु परमात्मा भ्रान्त्या गृह्यते । किन्तु 'यः पृथिव्यां
तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादौ वस्तुत एव स्थितो गृह्यते ।
अतो न तथात्वम् । सूर्यस्य जलादौ भ्रान्त्या दृश्यमानत्वात्परमा-

परमात्मा पृथिव्यादिस्थानस्थितोपि, उभयलिङ्गत्वेन स्थानकृतदोषैर्लिप्तो न
भवतीति तत्र जलसूर्यकस्यदृष्टान्तः प्रदर्शितः किन्तु स नयुक्तः यतोवस्तुतः सूर्यो न तत्र
जलादौस्थितः किन्तु भ्रान्त्या तथाऽवभासते, तत्रातद्वति तत्प्रकारकज्ञानं भवति दृष्टान्ते,
प्रकृते परमात्मातु, सर्वान्तर्यामितया वस्तुतो विद्यते इति न तदभाववति तत्प्रकारकं
ज्ञानमपितु तद्वतितत्प्रकारकमेवज्ञानमिति ततो न दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः साधर्म्यमिति
समानधर्मस्याभावादित्याशङ्कां दर्शयितुं प्राह अम्बुवदित्यादि । सूत्रे तु शब्दः शङ्का प्रद-
र्शनपरकः । यद्यप्यन्यत्र तुशब्दस्य सिद्धान्तपरकत्वं तथापि प्रकृते प्रकरणवशेनशङ्को-
त्थापकत्वमेवेति । अम्बुवदित्यत्र सप्तम्यन्ताम्बुशब्दाद्वति प्रत्ययः । दृष्टान्ते तदभाव
वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारशालिज्ञानं भवति- दाष्टान्तिकेतु तद्वन्निष्ठप्रकारता

'अम्बुवद अग्रहणात्' यहाँ जो तु शब्द है वह शङ्का प्रदर्शनपरक है । यद्यपि अन्यत्र
सूत्रघटक तु शब्द प्रायः समाधानपरक ही देखने में आता है तथापि प्रकृत में प्रकरणवश से
शङ्का प्रदर्शन परक है । 'अम्बुवत्' यहाँ सप्तमीविभक्त्यन्त अम्बु शब्द से वतिप्रत्यय करके
अम्बुवत् ऐसा प्रयोग होता है । जल तथा दर्पण कृपणादिक में सूत्र चन्द्रादिक वस्तुतः उसमें
नहीं रहते हैं किन्तु भ्रम होने से मालूम पड़ता है कि सूर्यजलादिक में विद्यमान है ऐसा
प्रतीत होता है । इस तरह पृथिव्यादिक में परमात्मा भ्रम से तो गृहीत नहीं होते हैं, किन्तु
'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यापि श्रुति से वस्तुतः पृथिव्यादिक में व्यवस्थित ही गृहीत होते हैं ।
इसलिये दृष्टान्तदाष्टान्तिक में विषमता है समानता नहीं है, क्योंकि सूर्य तो जलादिक में भ्रम
से भासित होते हैं और परमात्मा तो पृथिव्यादिक में वस्तुतः स्थित है । इसलिये दृष्टान्त जल
सूर्यक तथा, दाष्टान्तिक परमात्मा में दृष्टान्तदाष्टान्तिक भाव नहीं होता है । सादृश्यादि सामग्री

त्मनश्च तत्र परमार्थतः स्थितत्वान्न त्वदुक्तद्वान्तसाम्यमिति
भावः ॥१९॥

५ वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय

सामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च ३।२।२० ५

चोद्यं समाधत्ते। यथा सूर्यादिप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्भावात् जला
न्तर्गतस्य जलगतवृद्धिहासादिभाक्त्वं न याथार्थ्यरूपेण न च तच्छै
त्यादिधर्मेण कदापि सम्बन्धः। एवं पृथिवीचक्षुरादिषु लघुदीर्घस्थानेषु
तदन्तर्गतत्वेन तत्तदन्तर्यामितयावस्थितस्याप्यविद्या प्रत्यनीकत्वेन
सर्वदोषप्रत्यनीकतया परमात्मनोऽपरिच्छिन्नस्वरूपस्य पृथिव्यादि
निरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानमित्युभयोर्विलक्षणत्वान्न दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः
साम्यमिति पूर्वपक्षाशय इति ॥१९॥

दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोर्विधर्म्यमादाय प्रश्नः सामान्यांशमादायोत्तरं दातुमाह
वृद्धिहासेत्यादि। प्रकृतेजलसूर्यकादिदृष्टान्तोयुज्यते एव विवक्षितांशमादाय दृष्टान्तदा-
ष्टान्तिकयोर्विवक्षितांशं परित्यज्य सर्वसारूप्यं कथमपि न संभवेत् महानसादावपि
वृद्धिमत्त्वधूमवत्त्वांशमादायैव तथा भवति, अन्यथा पर्वतत्व महानसत्त्वाभ्यां तद्भाव एव
न स्यात्। तदिह येनांशेन तद्भावस्तादृशं विवक्षितांशं दर्शयति, यथाजलगतं सूर्यप्रति-
रहने मे भ्रम होता है अत एव सूक्तिरजत में भ्रम होता है कृष्ण अंगार में रजत भ्रम
नहीं होता है ॥१९॥

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हैं 'वृद्धिहासेत्यादि' जिसतरह सूर्यादि प्रतिबिम्ब को
जलान्तर्भाव होने से जलान्तर्गत को जलगत वृद्धिहासवत्त्व होता है, अर्थात् जल के बढने से सूर्य
का प्रतिबिम्ब बढता है और जल के घटने से तद्वत् सूर्य घटता है, परन्तु यह वृद्धिहासभाक्त्व
जो है वह यथार्थ रूपसे नहीं है, नवा जलादिगत शैत्यादि विशेष धर्म से कभी भी सम्बन्ध होता
है। इसीतरह पृथिवी चक्षुरादिक लघुदीर्घ स्थानों में भी तदन्तर्गत होने से, पृथिव्यादिक के अन्त
र्यामी रूपसे अवस्थित भी है, परन्तु अविद्या के विरोधी होने से सर्वदोष विरोधितया अपरिच्छिन्न
स्वरूप परमात्मा को पृथिव्यादि चक्षुरादिगत वृद्धिहासादिमत्त्व जो है वह वास्तविक नहीं है नवा

चक्षुरादिगतवृद्धिहासादिभाक्त्वं न वास्तवं न च तत्तद्गतदोषैः
कदापि सम्बन्ध इत्येतावतांशेन तयोर्दृष्टान्तयोरुभयोः सामञ्ज-
स्यात् । सिंहो माणवक इत्यादौ तथा दर्शनाच्चोपपद्यते सूर्यका-
दिदृष्टान्तेन परमात्मनः सर्वदोषरहितत्वम् ॥२०॥

५ प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति

ततो ब्रवीति च भूयः ३।२।२१ ५

नन्वेन 'अथात आदेशो नेतितेतीत्यादिनिषेधश्रुतिभिर्ब्रह्म-
बिम्बं जलवृद्धौवर्द्धते जलहासे हसति जलस्य चलने चलति, एवं जलधर्ममनुविधत्ते किन्तु
परमार्थतस्तु सूर्यस्य वृद्धिहासौ न संभवतः । एवमपरिच्छिन्नस्य परमात्मनः पृथिव्यादि
गतवृद्धिहासादिकं न वास्तविकम्. नवा पृथिव्यादिगतदोषैः सम्बद्धोभवति परमा-
त्मा, विवक्षितांशमादयोभयोरेतद्भावः । सिंहोमाणवकवदिति संक्षेपः । एतां च जल
सूर्यकादिदृष्टान्तेन सर्वदोषराहित्यं परमात्मनः सिद्धं भवतीति ॥२०॥

ननु यदि ब्रह्म सप्रपञ्चं भवेत्तदा तस्योभयलिङ्गतास्यान्नतु ब्रह्म सप्रपञ्चम् । अथात
आदेशो नेति नेति इत्यादिना ब्रह्मणः सविशेषतां निषिध्य निष्प्रपञ्चत्वसन्मात्रात्वस्य सम-
पृथिव्यादिगत दोषों से कदापि सम्बन्ध होता है, एतावन्मात्र अंश से उन दोनों दृष्टान्तदार्ष्टा-
न्तिक को सामंजस्य होता है । एवं 'सिंहोमाणवक' इत्यादि स्थल में शूरत्व क्रूर्यादि गुण के
सम्बन्ध से गौणी वृत्ति होती है, किन्तु केशरादिमत्त्वेन गौवर्त्म्य रहने पर भी, तथा भाव का
दर्शन होने से उपपन्न होता है कि सूर्यकादि सम्बन्ध से परमात्मा में सर्वदोष रहितत्व अर्थात्
जिस तरह जलादिगत अमुकधर्म से जल सूर्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता है. इसी तरह पर-
मात्मा में स्थान प्रयुक्त घर्मों का सम्बन्ध वस्तुतः नहीं होने से उभयलिङ्गत्व अर्थात् सर्वदोष
राहित्य तथा सर्वमङ्गलगुणवत्त्व की सिद्धि होती है । विशेष विवरण साम्प्रदायिक महा-
त्माओं से जानिये ॥२०॥

ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व का समर्थन करने के लिए उपक्रम करते हैं 'नन्वेवम्' इत्यादि.
'अथात आदेशोनेतिनेति' इत्यादि सप्रपञ्चता का निराकरण परक श्रुति से ब्रह्म में निष्प्रपञ्चत्व

निष्प्रपञ्चं सन्मात्रं न तस्योक्तोभयलिङ्गत्वमुपपद्यत इत्याशङ्काया-
 माह—‘प्रकृतैतावत्वमित्यादि’ । अत्र ‘द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तञ्चैवा
 मूर्तञ्च’ (बृ० २।१।१) इत्यादिना यद्विविधं ब्रह्मणोरूपं प्रतिज्ञातं
 तस्यैव ‘नेतिनेति’ इति प्रतिषेधेश्रुतेरुन्मत्तत्वप्रसक्त्या तत्प्रतिषेधानु-
 पपत्तोः प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति । यद्रूपद्वयं प्रकृतं तस्य ब्रह्मरूप-
 स्यैतावत्त्वं तदेतन्मात्रमेव ब्रह्मरूपं नास्तीति प्रतिषेधति । इतोऽप्यधिकं
 ब्रह्मणो रूपमस्तीति ज्ञापनाय । यतो निषेधानन्तरं ततः पूर्वोक्ता-
 द्रूपद्वयाद्ब्रह्मणोभूयो गुणजातं ब्रवीति । ‘नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्प-
 रमस्त्यथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्’
 पर्णादित्याशङ्काया निराशाय ब्रह्मणः सविशेषतां समर्थयितुमुपक्रमते नत्वेवम अथात आदेश
 इत्यादि । द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे इत्यादिना मूर्तामूर्तात्मकं रूपद्वयं प्रदर्शितम् । अथ यदि
 नेति नेतीत्यादिना तादृशरूपद्वयस्य प्रतिषेधः क्रियते तदा, स्वयं तादृशरूपद्वयस्य विधानं
 कृत्वा पुनस्तस्य निषेधेश्रुतेरुन्मत्तप्रलापिता स्यात्, नच तदिष्टं प्रमाणशेखरत्वात् सर्वापे-
 क्षया आस्थापात्रत्वाच्च तस्याः । किन्तु यत् रूपद्वयं श्रुत्याप्रदर्शितं तावन्मात्रमेवेति,
 इयत्तामात्रस्य प्रतिषेधोभवति । अर्थादेतावदेवरूपद्वयं ब्रह्मण इति न, परन्तु, एतद-
 पेक्षया अधिकमपि ब्रह्मणः सर्वशरीरकत्वात् अत एव ततोऽप्यधिकविशेषजातस्य निराकर
 तथा सन्मात्रत्व की सिद्धि होती है तब ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व लक्षण सप्रपञ्चता सविशेषत्व का
 उपपादन किस तरह समझस होगा ? इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते
 हैं ‘प्रकृतैतावत्वमित्यादि’ यहाँ ब्रह्म का दो रूप है एक पृथिवी जलतेजोलक्षणमूर्त तथा वायु
 आकाश लक्षण अमूर्तात्मक द्वितीय रूप है’ इत्यादि श्रुति से जो दो प्रकार का मूर्तामूर्तलक्षण
 रूप प्रतिज्ञात है, उनका यदि श्रुति नेति नेति से प्रतिषेध कर दे, तब तो श्रुतिमें उन्मत्त
 प्रलापित्व रूप दोष होगा, अतः प्रतिज्ञातरूपद्वय का निराकरण अनुपपन्न होता है, इसलिये
 सूत्रकार कहते हैं ‘प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति’ अर्थात् ब्रह्म का जो मूर्तामूर्त लक्षण रूपद्वय
 है उसके इयत्ता मात्र का नेति—नेति से प्रतिषेध है, एतावन्मात्र ब्रह्म है, इसका निराकरण है ।
 किन्तु उक्त मूर्तामूर्त लक्षण रूप से भी अधिक सविशेष रूप है, इस बात को ज्ञापन करने
 के लिये नेति—नेति कहा है । [‘नैतावन्मात्रं रूपं ब्रह्मणः किन्तु इतोऽप्यधिकानि नानाप्रकारकाणि
 रूपाणि सन्तीति नेतिनेतीति’ श्रुत्यवयवस्य तात्पर्यमिति ।] क्योंकि नेति—नेति से निषेध करने के बाद

(बृ०२।३।६) इति । नेतिनेतीति निर्दिष्टादेतस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्परं स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं न ह्यस्तीत्यर्थः । तस्मादत्र नेतिनेतीत्यादिना नब्रह्मणस्सविशेषत्वं निषिध्यतेऽपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रमित्युभयलिङ्गत्वमस्त्येव ब्रह्मणः ॥२१॥

५ तदव्यक्तमाह हि ३।२।२२ ५

यस्य ब्रह्मणो 'मूर्तचैवामूर्तञ्चे' ति द्वे रूपेऽभिहिते तद्ब्रह्मणान्तरं धर्मान्तरस्य श्रुत्यास्वयमेव प्रतिपादनात् । ब्रह्म न निष्प्रपञ्च सन्मात्रं च किन्तु भयलिङ्गकमेवेति । तस्माद् ब्रह्मण उभयलिङ्गकतया न कोपि पूर्वापरविरोध इति । ये तु निर्विशेषतामात्रं तत्त्वमिच्छन्ति तेषामेव शिरसि दण्डपातोऽवर्जनीय इति संक्षेपः २१

अथ यदि मूर्तामूर्तादिधर्मकं सविशेषं तदा सविशेषघटादिवत् प्रमाणान्तरवेद्यं कुतो न भवति, इत्याशंकां समाधातुं सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते यस्य ब्रह्मण इत्यादि । यदिदं मूर्तामूर्तादिधर्मकं ब्रह्म तत्, अव्यक्तत्वान्न प्रमाणान्तरग्राह्यमिति । तादृशं ब्रह्माव्यक्तमिति श्रुतिराह न चक्षुषा इत्यादि । अयं भावः ब्रह्म यदि प्रमाणान्तरग्राह्यं स्यात्तदाकेन प्रमाणेन ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तत् बाह्यमाभ्यन्तरं च, तत्र रूपस्पर्शादिमतामेव बाह्यप्रत्यक्षवेद्यतेति रूपाद्यभावान्न ब्रह्म बाह्य प्रत्यक्षग्राह्यम् । नापि द्वितीयेन पूर्वोक्तमूर्तामूर्तरूपद्वय से अतिरिक्त पुनः गुण समुदाय का कथन किया जाता है । 'इससे पर अन्य नहीं है, अथ नामधेयं सत्य का सत्य है, प्राण सत्य है, उसका सत्य है' नेति-नेति से निर्दिष्ट इस ब्रह्म से अन्य पर नहीं है स्वरूपतः गुणतो वा उत्कृष्ट कोई नहीं है ऐसा प्रकृत श्रुति का अर्थ है । इसलिये यहाँ 'नेतिनेति' इस श्रुति से ब्रह्म में सविशेषत्व का निषेध नहीं किया जाता है, अपितु पूर्व प्रकृत इयत्ता मात्र का यथोक्त श्रुति से निराकरण किया जाता है । अत ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व अक्षत है ॥२१॥

जिस ब्रह्म का मूर्त पृथिव्यादित्रय, तथा अमूर्त वायु आकाश लक्षणरूपद्वय कहा गया है, वह ब्रह्म सविशेष घटादि लक्षण वस्तु का ग्राहक जो चक्षुरादिक प्रमाण हैं, उन प्रमाणों का विषय नहीं है, अर्थात् चक्षुरादि से अगम्य अग्राह्य है, इस बात को सूत्रकार कहते हैं 'तदव्यक्तमाह' [वह ब्रह्म अव्यक्त है इन्द्रियादि प्रमाणों से अभिव्यक्त नहीं होते हैं, क्योंकि रूपादि रहित होने से, जिसलिये श्रुति का यह कथन है ।] जिस ब्रह्म का मूर्तामूर्तलक्षण दो

चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरमित्याह—‘तदव्यक्तमित्यादि । तद्ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते । यत आह श्रुतिः “न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्” ‘नचक्षुषा गृह्यते नापि वाचा’ इति । २२।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ३।२।२३

तर्हि ब्रह्मणः प्रत्यक्षाभावात्कदापि कस्यापि मोक्षो न स्यादिति जीवतद्गुणव्यतिरिक्तस्य मनसाग्रहणासंभवात् । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचरितलिङ्गाभावात् । नाप्युपमानेन तत्सदृशस्याभावाद् । नापि शब्देन न शब्दशे इत्यादिना तत्प्रतिषेधान् । ततश्च परिदेष्टात्, अव्यक्तमेव तदिति न प्रमाणान्तरवेद्यमिति । यथा न संदृशे इत्यादिश्रुतिस्तस्याव्यक्ततामाह तथा अव्यक्तोयमचिन्त्योयमित्यादिस्मृतिरपि तस्य तथात्वमाहेति ॥२२॥

ननु यदि भगवान् प्रमाणागम्यस्तदा तज्ज्ञानाभावेन परमेश्वरज्ञानसाध्य तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुतिसमर्थितज्ञानाभावादुपासकानां केषा प्रकार का रूप कहा गया है, वह ब्रह्मप्रमाणान्तर=अर्थात् श्रुत्यतिरिक्त प्रमाणों से अभिव्यक्त नहीं होते हैं । सूत्रघटक हि शब्द हेत्वर्थक है । जिसलिये श्रुति स्वयं कहती है । कौन ऐसा श्रुति है जो ब्रह्म को प्रमाणान्तर से अप्राह्यता को बतलाता है, उस श्रुति को भाष्यकार उदाहृत करते हैं ? ‘न संदृशे’ इत्यादि । ‘इस परमात्मा का जो स्वरूप है वह चक्षुरादिक विषय नहीं है, इसी कारण से चक्षुरादि से इसको कोई नहीं देखता है’ ‘यह परमात्मा चक्षु से गृहीत नहीं होता है । यहां चक्षु शब्द ज्ञानेन्द्रिय का उपलक्षक है, अर्थात् चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियाप्राह्य हैं । ‘नापिवाचा’ यहाँ वाक्पद कर्मेन्द्रिय का बोधक हैं, अतः तादृश ब्रह्म कर्मेन्द्रियाप्राह्य है । अत एव सामान्यतः श्रुत्यतिरिक्त प्रमाणान्तरों से अप्राह्य होने से अभिव्यक्त नहीं होते हैं ‘यतोवाचोनिवर्तन्ते’ ‘अगोत्रमप्राह्यम्’ इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है, यथोक्त परमात्मा अव्यक्त है । ‘अव्यक्तोयमचिन्त्योयम्’ इत्यादि स्मृति भी कहती है कि तादृश मूर्तामूर्तरूपद्वयवान् परमात्मा प्रमाणान्तरों से अभिव्यक्त नहीं होता है, अतएव अव्यक्त हैं । इति संक्षेपः ॥२२॥

परब्रह्म के साक्षात्कार होने पर जीवको मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा “तमेव विदित्वातिमृत्युमेति” इत्यादि स्थल में निश्चित किया गया है । परन्तु आपने तो परमात्मा को अव्यक्त प्रत्यक्षादि

त्याह—‘अपि संराधने’ इत्यादि । संराधनं सम्यगाराधनं प्रीतिपूर्वकं तदेकचिन्तनं तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेति श्रुति स्मृतिभ्यां ज्ञायते । श्रुतयस्तावद् ‘ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ (मु० ३।१।८) ‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्’ (मु० ३।१।३) ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे’ (मु० २।२।८) ‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्’ (मु० ३।२।३) इत्यादयः । स्मृतयोऽपि ‘भक्त्या त्वमपिमोक्षो न स्यादित्याशंकाया समाधानाद्योपक्रमते तर्हि ब्रह्मण इत्यादि । परमात्मनः प्रत्यक्षाभावात्परमात्मज्ञानसाध्यमोक्षो न स्यादतोऽपि संराधने, इति, संराधनं भक्ति-ध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानंतत्कालेऽस्योपासकस्य परमात्मसाक्षात्कारो जायते स च श्रुति-स्मृतिगम्यः । सूत्रे प्रत्यक्षपदं श्रुतिमुपस्थापयति, अनुमानमिति पदं च स्मृतिमुपस्थापयति । अयमाशयः यथा प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्ये स्वेतरानपेक्षम्, तद्वत् श्रुतिरपि स्वप्रामाण्ये स्वेतरानधीना, यथानुमानं स्वेतरप्रत्यक्षप्रमाणसापेक्षां तथा स्मृतिरपि स्वेतरश्रुतिसापेक्ष-मिति निरपेक्षत्वं सापेक्षत्वं साधर्म्यस्योभयत्रतुल्यत्वात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां साक्षात्कारो जायते इति ज्ञायते । तत्र श्रुतयः ज्ञानप्रसादाद्विशुद्धान्तःकरण उपायः निष्कलं परमपुरुषं ध्यायमानः परमात्मानं पश्यतीत्यर्थः । यदा जीव उपासकः सुवर्णप्रभं परमात्मानं पश्यतीति क्षीयन्ते इत्यादि पराञ्चिखानि इत्यादिका । यं विनिद्राविनिश्वासाः संतुष्टाः प्रमाणागम्य कहकर के परमेश्वर साक्षात्कार का निराकरण कर दिया तब तदीय साक्षात्कारका अभाव होनेसे जीवका कदापि मोक्ष नहीं होगा ? इस शंका के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं “अपि संराधने” इत्यादि । संराधन=समीचीन रूप से आराधन अर्थात् प्रेमपूर्वक परमेश्वर का चिन्तन एतादृश संराधन का सद्भाव में उपासक को भगवान् का साक्षात्कार होता है । अन्यथा साक्षात्कार नहीं होता है. ऐसा प्रत्यक्षानुमान से अर्थात् श्रुतिस्मृति से अवगत होता है । इसमें ये श्रुतियाँ हैं “ज्ञानप्रसाद से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ध्यान करता हुआ निष्कल उस परमात्मा का साक्षात्कार करता है—“जब पश्य जीव सुवर्ण प्रभ परमात्माका साक्षात्कार करता है” “उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जाने पर इस साक्षात्कर्त्ता का जो प्राक्तन कर्म है वह सब विनष्ट हो जाता है” “जिसके ऊपर परमात्मा की कृपा होती है वही पुरुष परमात्माका साक्षात्कार करता है” इत्यादि । “हे अर्जुन ? एतादृश मेरा स्वरूप

नन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप' (गी० ११।५४) इत्येवमाद्याः । आभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामस्य परमपुरुषस्य साक्षात्कारो भवतीति ॥२३॥

ॐ प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च

कर्मण्यभ्यासात् ३।२।२४ ॐ

अतोऽपि प्रकृतेयत्तायाः निषेधो न मूर्तादिविशिष्टस्य । 'तद्वै-
तत्पश्यन्नृषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरमवं सूर्यश्चेति' (बृ० १।४।१०)
इत्यादिश्रुतिषु साक्षात्कृतब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रका-
श्यादि श्रुतिस्मृतिभिः संराधने काले भगवतः साक्षात्कारो जायते, तं च साक्षात्कृत्य-
विमुक्तो भवतीति । यद्यपि अनेकवचनानि परमात्मनः प्रमाणागम्यत्व प्रतिपादकानि
सन्ति तथाप्यनेकश्रुतिभिस्तस्य साक्षात्कारप्रतिपादिकाभ्यो ज्ञायते, यन् अशुद्धान्तः
करणैः परमात्मानगृहीतो भवति विशुद्धान्तः करणेन तु ज्ञायते एव परमात्मेत्युभय
श्रुतिप्रामाण्यान् निश्चीयते इति संक्षेपः ॥२३॥

नेतिनेति इत्यादिश्रुत्यामूर्तामूर्तारूपद्वयस्य निराकरणं न भवति, तादृशगुणगत
इयत्ताया एव निराकरणं भवति । यतः तद्वैतपश्यन् ऋषिर्वाग्मदेव इत्यादिश्रुतिषु, ब्रह्म-
साक्षात्कारवतां पूर्वाकालिकवामदेवानीनां यदर्शनम् तस्मिन्, ज्ञानानन्दादिका यथा ब्रह्म-
अनन्य भक्तिसे ही जाना जाता है देखा जा सकता है अन्य साधन से नहीं । इन श्रुतिस्मृति
के द्वारा इस परम पुरुष का साक्षात्कार होता है ।

परम पुरुष अव्यक्त है- एतादृशार्थ प्रतिपादक श्रुति का अभिप्राय है कि अपक्व अन्तः
करणवाला व्यक्ति परमात्मा के साक्षात्कार का भागी नहीं होता है और विशुद्ध अन्तः करण-
वाला पुरुष मनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है । इसतरह उभयविध श्रुतिका समर्थन
होता है ॥२३॥

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृत जो इयत्ता है उसीका "नेति-नेति" से निषेध होता
है किन्तु मूर्तामूर्तादिगुण का अथवा तद्विशिष्ट का निषेध नहीं होता है । "इस वस्तु को
देखते हुए ऋषिर्वाग्मदेव ने जाना कि मैं मनु हो गया हूँ मैं सूर्य हो गया हूँ" इत्यादि श्रुतिमें

शादिवज्ज्ञानानन्दादिस्वरूपवन्मूर्तादिप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्म-
गुणत्वानौशेष्यं प्रतीयते । ज्ञानानन्दादयश्च वामदेवादीनां संराधने
कर्मण्यभ्यासादेवोपलभ्यन्ते । तथैव मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशे-
षेण प्रतीयते ॥२४॥

५ अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ३।२।२५ ५

अतो निरुक्तेभ्यो हेतुभ्योऽनन्तेनासंख्यातेन कल्याणगुण-
गणेन युक्तत्वं ब्रह्मणः सिद्धम् । तथा सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपन्न-
तरमेव ॥२५॥

इति आनन्दभाष्ये उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

गुणतया प्रतिभान्ति तथैव मूर्तामूर्तादिका अपि ब्रह्मगुणतयैव प्रतिभान्ति । ते च गुणा
चामदेवादीनां संराधनकर्मादौ अभ्यासादेवसमुपलभ्यमाना भवन्ति, तद्वत् मूर्तादि
विशिष्टत्वमपि समानतया प्रतिभान्तीतिभावः ॥२४॥

“जीवदोषा न रामे यद्रामस्योभयलिङ्गता । ‘द्वे वाव ब्रह्मण’ इचैवमुभयव्यपदेशतः”
(प्रमिताक्षरासारः ३।२।६) इत्याद्याचार्योक्तिमनुसरन्निगमयन्नाह अतो निरुक्तेभ्यः
इत्यादि । शिष्टमतिरोहितार्थकम् ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

परब्रह्म के स्वरूप को साक्षात्कार करनेवाले वामदेवादिक के दर्शन में प्रकाशादि के समान
ज्ञानानन्दादि स्वरूपवत् मूर्तादि गुणविशिष्टत्व भी ब्रह्मका गुण है, ऐसा प्रतीयमान होता है ।
चामदेवादिक के संराधन कर्म में अभ्यास से ही ज्ञानानन्दादिक उपलभ्यमान होता है । इसी
तरह मूर्तामूर्तत्वादि विशिष्टत्व भी अविशेषेण प्रतीयमान होता है ॥२४॥

इस पूर्वकथित हेतुओं से अनन्त असंख्यात कल्याण दिव्यमङ्गलमय गुणों से परमात्मा
श्रीरामजी युक्त हैं यह सिद्ध हुआ । ऐसा होने से उभयलिङ्गत्व सर्वदोषरहितत्व अनन्त कल्याण
गुणवत्त्व ब्रह्म में उपपन्न होता है ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥४॥

उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत् ३।२।२६

‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च’ (बृ०३।१।१) इति सर्वस्यापि मूर्तामूर्तात्मकप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मस्वरूपत्वं प्रतिपादितम् । कथं तस्य ब्रह्मरूपत्वं कथञ्च चिदचिनोर्विशेषणत्वमिति ब्रह्मगश्चिदचित्स्वरूपविषये विचार्यते । तत्र ‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्’ (श्वे०४।९) इति भेदव्यपदेशात् । ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ ‘तत्त्वमसि’ इति चाभेदव्यपदेशादित्युभयव्यपदेशात्संशयः । किं ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेण परिणामः

द्वेवाव ब्रह्मणोरूपे इत्यादिप्रकरणेन मूर्तामूर्तादिपदार्थसमुदायस्य परमात्मस्वरूपत्वमेवेति निर्द्धारितम् । तत्राचेतनपदार्थस्य चेतनब्रह्मरूपत्वं कथमिति जिज्ञासायां तद्विषयमवलम्ब्य ब्रह्मणोजडचेतनयोः स्वरूप विषयकोविचारः प्रवर्तते । तत्र कार्यकरणयोः सर्वत्र दर्शनात्, तत्त्वमस्यादिनाचाभेदप्रतिपादनात्संशयो भवति, किमत्र ब्रह्मण एव जडरूपतया परिणामो भवति यद्वा प्रकाशप्रकाशाश्रयवत्, एकजातीयतया, अथवा यथाजीवः

“जो यह पृथिव्यादि त्रितयमूर्त है तथा वाय्वादिक अमूर्त है वह परमात्मा का रूप है” इत्यादि सब मूर्तामूर्तात्मक पदार्थ का स्वरूप है, ऐसा प्रतिपादन किया है । यह मूर्तामूर्तादिक जडपदार्थ किस तरह ब्रह्मका स्वरूप और किसतरह जड चेतन पदार्थ ब्रह्म का विशेषण होता है, इस तरह ब्रह्म के चित् अचित् स्वरूप विषय में कुछ विचार किया जाता है । उसमें इस कारण से मायावीश परमेश्वर “इस परिदृश्यमान जड चेतन साधारण जगत् को बनाते हैं” इत्यादि स्थल में प्रपञ्च तथा परमेश्वर में भेद का कथन होता है, क्योंकि कार्य कारण में भेद सर्व सिद्ध है अभेद में जन्य जनक भाव नहीं होता है । कार्य कारण भाव भेद नियत है । अतः प्रपञ्च तथा परमात्मामें भेद सिद्ध होता है । और “सब यह जड चेतन पदार्थ ब्रह्मरूप है” हे श्वेतकेतु ! तुम उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा के स्वरूप हो” इत्यादि श्रुति कार्यकारण में अभेदका कथन करती है । तो इसप्रकार भेदाभेद उभय का व्यपदेश होनेसे संशय होता है कि क्या ब्रह्म स्वरूप का अचित् रूप से परिणाम होता है, ऐसा मानते हैं ? अथवा प्रभा प्रभावान् की तरह समान जाती क्त्वेन परिणाम मानते हैं ? अथवा जीव के समान

स्वीक्रीयतेऽथवा प्रभाप्रभावतोरिगैकजातियोगेन आहोस्विज्जीववद-
चितोऽपि ब्रह्मशरीरतया तद्व्याप्यतयातदपृथक्सिद्धेस्तद्विशेषणत्वेना-
भेदव्यपदेश इति । किं युक्तम् ? ब्रह्मण एवाचिद्रूपेणाहिकुण्डलवत्
परिणामः स्यात् । यथाहेः स्वरूपेणैव कुण्डलभावस्तद्वदित्यर्थः ॥२६॥

५ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ३।२।२७ ५

वा शब्दः पक्षनिवर्तकः । ब्रह्मणश्चिद्रूपतया परिणतिस्वीकारे
तस्य विकारित्वादिदोषापत्त्या निर्दोषत्ववादिनीनामपरिणामित्ववादि
नीनाञ्चश्रुतीनां व्याकोपः स्यात् । तस्माद्यथा सौरं तेजस्तदाश्रयश्च
परमेश्वर श्रीरामस्य शरीरतया विशेषणं तथैवचिदचित् पदार्थोपि ब्रह्मणोविशेषणमिति ।
तत्र यथा फणिनः स्वरूपत एव कुण्डलादिरूपेण परिणामोभवति तथैव सर्वोपि जडपदार्थः
परमात्मन एव परिणाम इति पूर्वपक्षः ॥२६॥

प्रकृतसूत्रे योयं वा शब्दः स पूर्वप्रदर्शितपक्षस्य व्यावर्तकः । अयमर्थः चिद्रूपस्य
ब्रह्मणोयदि परिणामः स्वीक्रियेत तदा परिणामिमृत्तिकावत् ब्रह्मणोपि विकारित्वं स्यात्-
ततश्च विकारित्वे परिणामित्वे निरवयवमित्यादिना प्रतिपादितनिर्दोषत्वस्य विरोधस्तथा
परिणामित्व प्रतिपादकशास्त्रविरोधोपि प्रसज्येत । तस्मात् यथा प्रभाप्रभावतोरुभयो-
जड पदार्थ को भी ब्रह्मशरीर रूप से ब्रह्म व्याप्यत्वेन अथवा ब्रह्म के अपृथक् विशेषण रूप
से अभेद व्यपदेश है ? तो इन तीनों में से किस पक्ष को मानना युक्त है ? तो इसमें
पूर्वपक्षी कहते हैं कि चित् अचित् ब्रह्मके साथ भेद व्यपदेश तो छोक सिद्ध अनुमान सिद्ध
तथा आगम प्रसिद्ध है, अतः ब्रह्मका अचित् रूप से अहिकुण्डलवत् परिणाम मानना ही
युक्त है । जिसतरह सरल भावावस्थित सर्प का स्वरूपत एव कुण्डल भोगादि रूपसे परिणाम
होता है केवल सरल ऋजु भाव रूप अवस्था का भेद है सर्प भाव तो समान उभयकाल में
रहता है, उसी तरह ब्रह्मका स्वरूपतः परिणाम ही जड मूर्तामूर्त भी है ॥२६॥

प्रकृत सूत्रघटक जो वा शब्द है वह इससे पूर्वसूत्र से कथित जो पक्ष है उसका
निराकरणपरक है । यदि परब्रह्म को चिद्रूप से परिणामी मानेंगे परिणामित्वात् ब्रह्ममें विका-
रित्वादिक दोष की आपत्ति होगी, तब ब्रह्म में निर्दोषता प्रतिपादक तथा अपरिणामित्व का

सूर्यस्तयोरुभयोस्तेजस्त्वात्तेजस्त्वेनैकजातियोगादभिन्नत्वं स्वरूपतो
भेदाच्च भिन्नत्वं तथाऽचित्प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मणो रूपत्वमिति ॥२७॥

ॐ पूर्ववद्वा ३।२।२८ ॐ

वा शब्द उक्तपक्षद्वयनिवर्तकः । पूर्वत्रोभयव्यपदेशोपपत्त्यर्थं
ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिष्पत्त्यर्थञ्च 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र.सू.२-३-४३)
'प्रकाशादिवत्तुनैवं परः' (ब्र.सू.२-३-४६) इत्यादौ सम्यगुक्तम् । यथा
जीवस्यापृथक्सिद्धविशेषणत्वेन ब्रह्मणोऽंशत्वम्, तथाचितोऽप्यपृथक्सिद्ध
स्तैजसत्वेनैक्यम्, यथावा घटपटयोः पृथिवीत्वेनैक्यम् स्वरूपतश्च भेद इत्युभयव्यप-
देशो भवति, तथा प्रकृतेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चस्याभेदः स्वरूपतो भेदश्चेत्युभयमुपपन्नं
भवतीत्येकः पक्ष इति संक्षेपः ॥२७॥

एवं यथोक्तक्रमेण स्वस्वाभिप्रायकपूर्वपक्षः कृतः, तयोरुभयोरपि मतयोर्नि-
राकरणाय सिद्धान्तदर्शनायाह पूर्ववद्वेति एतत्सूत्रघटक वा शब्दः पूर्वाप्रदर्शितमतद्वय-
स्यापि निराकरणपरकः । भेदाभेदोभयव्यपदेशस्य ब्रह्मणि निर्दोषत्व संपादनाय
अंशोनानाव्यपदेश स्तथा प्रकाशादिवदित्यादि सूत्रेषु यत्प्रतिपादितं तदेवमतं समीचीनं
नतु पूर्वाप्रदर्शितमतद्वयमपि सुसङ्गतम् । परमात्मनि विकारित्वदोषस्यापरिणामित्व
प्रतिपादकश्रुतेरसामञ्जस्यापातात् । यथा हि जीवोऽपृथक्सिद्धविशेषणतया परमा-
त्मांशस्तथैव जडपदार्थोऽपि अपृथक् सिद्धविशेषणतयैव परब्रह्मोऽंश इत्येतावतैव सर्वोप-
पत्तिसंभवात् । तत्रापि विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपतः स्वकीयासाधारणरूपेण भेदस्य
'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि श्रुति का विरोध होगा । अर्थात् ब्रह्म निर्दोष है तथा
सर्व परिणामरहित है। इस वस्तुका प्रतिपादक आगमों का विरोध होगा । तस्मात् जिसतरह
सूर्य का प्रकाश तथा तादृश प्रकाश का आश्रय सूर्यादिक तेजो धातु, इन दोनों में तैजसत्व
होने से समान जातीयतया अमेद होता है तथा सूर्यत्व प्रकाशत्व रूप से भेद होने से
भिन्नत्व है । इसी तरह अचित्प्रपञ्च भी ब्रह्मका ही रूप है ॥२७॥

'पूर्ववद्वा' इस सूत्र में जो वा शब्द है वह पूर्वसूत्र द्वय से प्रदर्शित जो मतद्वय हैं
उसका निराकरणपरक है । पूर्वमें उभय व्यपदेश ब्रह्म जगत् में भेदोपपत्ति तथा अमेदोपपत्ति
के लिए तथा ब्रह्म में निर्दोषता का प्रतिपादन [निष्पत्ति] करने के लिए 'अंशोनानाव्यपदेशात्'

विशेषणत्वेनांशत्वमेव । तत्रोभयोः स्वरूपस्य भेदाद् भेदव्यपदेशो विशिष्टस्यैक्यादभेदव्यपदेशोऽपि मुख्य एवेति सर्वं परिहृतम् ॥२८॥

५ प्रतिषेधाच्च ३।२।२९ ५

‘स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः’ (बृ.४।४।२५) ‘नास्य जस्यैतज्जीर्यति’ (छा०८।१।५) इत्यादिभिरविच्छर्माणं प्रतिषेधाच्च निर्वोहः, विशिष्टांशस्यैकत्वादभेदोपपत्तिर्भवति । यद्यपि मतविशेषे विशिष्टशुद्धयोरनैक्यं तथापि मतविशेषे तयोरैक्यमादायाभेदोपपत्तिर्भवतीत्यादिकं सर्वं विनिवेद्य सर्वोदोष परिहारः कृतः अंशो नानाव्यपदेशादित्यत्र तदेवेहापि न विस्मर्तव्यम् । विशेषविवरणं तत्रैव द्रष्टव्यमिति संक्षेपः ॥२८॥

ननु यदि अचिदंशः परमात्मनो विशेषणम्, तदाऽचिद्गतधर्मेणपरमात्मनोपि संस्पर्शात् परमात्मनि निर्विकात्वापरिणामित्वयोर्भङ्गः स्यादित्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते स वा एष महानज इत्यादि । सो यं परमात्मा महान् महतोमहीयान् इति श्रुतेः अजः प्रथमभावविकाररहितः उत्पत्तिविरहित इत्यर्थः, आत्मा सर्वव्यापक इत्यर्थः अजरः शरीरगतवृद्धावस्थारहितः । अमरोमरणधर्मविवर्जितोऽन्तिमभावविरहित इत्यर्थः । अस्य परमात्मनो विशेषणनिष्ठजरयाः एतदात्मतत्त्वं न जीर्यति अचिद्गतधर्मेण तदात्मतत्त्वं जीर्णं न भवतीत्यर्थः । इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिभिः परमात्मविशेषणजडगत जन्मादिधर्माणां साक्षादेव परमात्मनि निराकरणश्रवणात् परमात्मनोऽपरिणामित्वस्य “प्रकाशादिवन्नेत्रं” इत्यादि सूत्र में कहा है । जिस तरह जीव अपृथक् विशेषणतया ब्रह्मका अंश है, उसी तरह अचित् पदार्थ भी अपृथक् विशेषणत्वेन ब्रह्म का ही अंश है । इसमें दोनोंका जो स्वरूप है उसका भेद होने से भेदव्यवहार होता है और विशिष्ट को एक होनेसे अभेद व्यवहार भी होता है । इस प्रकार भेदाभेद व्यपदेश मुख्य ही है ऐसा परिहार किया है । अतः तत्रत्य प्रकरण का ही यहाँ अनुसंवान करना चाहिए । विशेष विवरण सम्प्रदाय-गम्य है इति संक्षेपः ॥२८॥

अचित् पदार्थ चित्पदार्थ की तरह परमात्मा का विशेषण है तब तो अवयवगत दोषसे परमात्मा भी दूषित होंगे ! इस आशंका का परिहार करने के लिए उपक्रम करते हैं “स वा एष” इत्यादि । “सो यह परमात्मा महान् है, महत्त्वेन प्रसिद्ध आकाशादि के अपेक्षया भी

नब्रह्मणोऽपरिणामित्वभङ्गः । विशेषणभूताचित्तत्वस्य विकारित्वेऽपि विशेष्यांशस्य निर्विकारित्वम् । प्रतिपादितं चैतत्सर्वमंशो नानाव्यपदेशादित्यत्रेति तत् एवावगन्तव्यम् ॥२९॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥

भङ्गो न भवति । यद्यपि विशेषणांशे जडादौविकारित्वमस्ति तथापि तद्गतधर्मस्य विशेष्यांशेऽभावान्न विशेष्यस्य परमात्मनो विकारित्वं भवति । वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याधाराधेयभावाव्यवस्थापकत्वात् । तदत्रानुसन्धेयम् 'उपादानं निमित्तं च सर्वस्यैकोहि राघवः । ऊर्णनाभिर्यथा तन्तोर्मन्यते कारणद्वयम् ॥ उपादानत्वमेतस्य विश्वस्य ब्रह्मणि किल । 'सदेवसौम्येदमग्र' इत्यादिश्रुतिसंमतम् ॥ न ब्रह्मा नापि विष्णुश्च नो तदासीन्महेश्वरः । तदासीद्भगवान् रामः सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकः ॥ उपादानतया रामे विकारः सम्भवेन्ननु । मैवं विशिष्टरामस्य मतः स च प्रकारयोः ॥ स्वभावे च स्वरूपे च विकारः प्रकृतेः खलु । विकारः सोऽथ जीवस्य स्वभाव एव मन्यते ॥ विशेष्यब्रह्मणः सोऽथ न स्वरूपस्वभावयोः । ब्रह्मणोपादानतावादि श्रुतिकोऽपि नो भवेत् ॥' (श्रीबोधायनमतादर्शः ३६-४१) इतिसंक्षेपः ॥२९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणंते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥

महान् है, अज है, जन्मदोष विवर्जित है सर्वव्यापक है जरामरण विवर्जित हैं" इस शरीरगत जरा में जीर्ण यह परमात्मा नहीं होते हैं' । इत्यादि श्रुति से अचित्पदार्थगत धर्मों का परमात्मा में प्रतिषेध किया गया है, इसलिये ब्रह्म में अपरिणामित्व का भङ्ग नहीं होता है । इसमें विशेषण रूप जो अचित् पदार्थ है उसमें विकारित्व होने पर भी विशेष्यांश परमात्मा में विकारित्व नहीं है किन्तु विकार रहितत्व है । इनसब वस्तुओं का प्रतिपादन 'अंशोनाना व्यपदेशात्' इस सूत्र में विशेष रूप से किया गया है, इसलिये उसी प्रकरण से यथावत् जानना चाहिये ॥२९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणोते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥

अथ पराधिकरणम् ॥७॥

५ परमतः सेतून्मानसम्बन्ध-

भेदव्यपदेशेभ्यः ३।२।३० ५

इदानीमस्मादुभयलिङ्गाद् ब्रह्मणोऽपि किञ्चित्परं तत्त्व स्यादिति विचार्यते । तत्रायं संशयः । जगन्निमित्तोपादानकारणाद् ब्रह्मणः परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति नवेति । अतोब्रह्मणः परमपि तत्त्वमस्ति । कुतः ? सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । ‘अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः’ (छा०८।४।१) इति सेतुत्वेन व्यपदिष्टस्यात्मनः ‘एतं सेतुं तीर्त्वा’ (छा०८।४।२) इति तस्तिव्यत्वव्यपदेशात् । एवञ्च तीर्त्वा

जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानमुपासकस्य प्राप्यमपरिमितशक्त्यादिविशिष्टं सन्दीपोषरहितमखिलकल्याणगुणाकरं च यन्निर्धारितं श्रुत्यादिप्रमाणैस्तस्मादपि परं किञ्चित्तत्त्वान्तरमस्ति नास्तिवेति विचारः प्रादुर्भवति । यद्यपि प्रमाणशेखरश्रुतिप्रमाणेन परब्रह्मणो निर्धारणं कृतमिति नास्ति तदतिरिक्तविषये शंकायाः समावेशस्तथापि सेत्वादि श्रुतीनामापाततस्तद्विरोधदर्शनात्तत्प्रतिसमाधानायायमारंभो भवतीति । तत्र निर्धारित परमात्मापेक्षयाऽन्यत्त्वान्तरमस्ति नास्तिवेति संशयः । अस्ति ततोपि तत्त्वान्तरम्- कुतः ? सेतून्मानादिभ्यः इति । य आत्मा स सेतुः इत्यात्मनः सेतुशब्देन प्रयोगः कृतः । तत्र

जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान उभयलिङ्गक जो परमब्रह्म भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं उनसे भिन्न तथा उत्कृष्ट कोई तत्त्वान्तर है इसका विचार प्रस्तुत अभी हो रहा है । इसमें यह संशय होता है कि परिदृश्यमान जड चेतन साधारण जो निखिल जगत् का कारण जो परब्रह्म भगवान् श्रीरामजी हैं उनसे भिन्न भी कोई तत्त्वान्तर है अथवा नहीं है ।

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि उपर्युक्त परब्रह्म से उत्कृष्ट कोई तत्त्वान्तर है । क्योंकि सेतु उन्मान सम्बन्ध और भेदका व्यपदेश होने से । यद्यपि प्रमाण शेखर श्रुति द्वारा संस्थापित एतादृश तत्त्व में तत्त्वान्तर मानने का अवसर प्राप्त नहीं है तथापि आपात प्रतिपन्न सेत्वादि श्रुति को अग्रसर करके यह विचार आरंभ होता है । इसमें “जो आत्मा है सो सेतु है सबका विचारक है” इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में सेतुरूप से कथित जो आत्मा है उसको

यदवाप्स्यति तदतः परमेवेत्यवगम्यते । 'चतुष्पाद्ब्रह्म' [छा.३।१।८।२] इति श्रुतावुन्मानत्वपरिमितत्वव्यपदेशात्ततः परमपरिमितं तत्त्वमप्यस्तीति प्रतीयते 'अमृतस्यैष सेतुः' (मु०२।२।५) इत्यमृतप्रापकात्सेतुशब्दनिर्दिष्टादस्मात्परं प्राप्यभूतममृतशब्दवाच्यं किमपि तत्त्वमस्तीति प्राप्यप्रापकसम्बन्धादवसीयते । तथा 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु०३।२।८) 'परात्परं यन्महतो महान्तम्' (तौ०१।५) इति च भेदव्यपदेशादेतेभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्मणोऽपि परं किञ्चिदस्तीति ज्ञायते । ३०।

॥ सामान्यात्तु ३।२।३१ ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—'सामान्यादिति । तु शब्दः पूर्वपक्षनिरालौकिकसेतुरिवान्यत्तत्त्वं गमयति, यथा लौकिकसेतुं तीर्त्वादेशान्तरं प्राप्नोति तथैवेहापि परमात्मसेतुं तीर्त्वाऽनात्मानं कमपि सूचयति । एवमुन्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्योऽपि सिद्ध्यति. परमात्मसेतुव्यतिरिक्तं किञ्चित्तत्त्वान्तरमिति पूर्वपक्षः । एतत्सर्वं संक्षेपविस्ताराभ्यां दर्शयितुमुपक्रमते इदानीमस्मादुभयेत्यादि । अक्षरार्थश्च स्वयमेवोहनीय इति ॥३०॥

एवमेतेभ्यः पूर्वाकथितसेत्वादिव्यपदेशेभ्यः परब्रह्मणः परमपितृत्वं विद्यते इति "इससे सेतुको तरण करके" इस प्रकार से तरितव्यत्व का व्यपदेश किया है । ऐसा हुआ तो इससे सेतु को पार करके जिसतत्व को प्राप्त करेगा, वह प्रकृत परमात्मा से तत्त्वान्तर है, ऐसा जाना जाता है । एवं "चार पैरवाले ब्रह्म हैं" इत्यादि श्रुति में उन्मानत्व तथा परिमितत्व का व्यपदेश होनेसे उस ब्रह्मसे पर अपरिमित कोई तत्व है ऐसा प्रतीत होता है ।

एवं 'यह अमृत का सेतु है' इस तरह अमृत का प्रापक सेतु शब्द से निर्दिष्ट आत्मा से परप्राप्य लक्षण अमृत पदवाच्य कोई विभिन्न तत्त्वान्तर है. ऐसा प्राप्य प्रापक सम्बन्ध से निश्चित होता है । एवं 'परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है' । 'परसे भी महान् है' इस प्रकार भेद व्यपदेश भी है । इन सेत्वादि हेतुओं से सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मासे भी पर कोई तत्त्वान्तर है । ३०॥

पूर्वसूत्र कथित सेत्वादि व्यपदेश से ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्यतत्त्व है, इसप्रकार की जो शङ्का उसके उत्तर में कहते हैं 'सामान्यात्तु' इति । सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निरा-

सार्थः । 'एषां लोकानामसम्भेदाय' (छा०८।४।१) इत्युत्तरवाक्यात् प्रसिद्धसेतुर्यथा जलमर्यादाव्यवस्थापकः । एवं ब्रह्मणोऽपि सर्वजगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धसेतुसामान्यात्सेतुत्वव्यपदेशो न तरित्व्यत्वेनेति न ततः किञ्चित्परमस्ति । 'एवं सेतुं तीर्त्वेति तरति-रत्र' 'मीमांसाशास्त्रं तीर्त्वा वेदार्थमधिगच्छती'त्यादिवत्प्राप्त्यर्थक एव ॥३१॥

५ बुद्धयर्थः पादवत् ३।२।३२ ५

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०२।१) 'अणोरणीयान्महतो शंकायाः समाधानार्थमुपक्रमते इति प्राप्तेऽभिवीयते इति सूत्रघटस्तुशब्दः पूर्वोक्तशंका-निरुणद्धि । परब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं किञ्चित्तत्त्वं नास्ति तत्र साधकाभावात् । सर्वस्योत्पद्यमानस्य वस्तुनो जन्मादिकारणं ब्रह्मैवेति निर्णीतम् । कारणेन कार्यस्याभेद इत्यपि दर्शितम् । परमात्मव्यतिरिक्तमन्यत् किञ्चिदपि नित्यं न भवति, सदेवेत्यादिनिर्धारणात् । न च सेत्वादिव्यपदेशो ब्रह्मव्यतिरिक्तं साधयति, किन्तु लौकिकसेतुसामान्यात्तद्व्यपदेशः कृतः । यथा खलु लौकिकः सेतुजलमर्यादाविधारकस्तथा परमात्मापि जगतस्तदीयमर्यादां च विधारयति अतः सेतुसामान्यतः सेतुः समानतायामेव दृष्टान्तदाष्टान्तिकभावो भवति नतु सर्वथा ऐक्ये । एवं तीर्त्वा इत्यत्र न तृधातुरतिक्रमार्थकः किन्तु प्राप्त्यर्थक एव, मीमांसां तीर्त्वा वेदार्थमधिगच्छतीत्यादिवदित्यादिकं विनिवेदयितुमाह एषां लोकानामित्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥३१॥

ब्रह्मण उन्मानव्यपदेशदर्शनात् ततोपि तत्त्वान्तरमस्तीति यत्पूर्वं कथितं स करणपरक है । 'इन लोकों का असंभेद मर्यादा का विधारण के लिए' इसप्रकार का उत्तर वाक्य है, उससे प्रसिद्ध जो लौकिक सेतुजल मर्यादा का विधारक है, इसीतरह परब्रह्म भी सर्वजगत् के मर्यादा का विधारक होने से [मर्यादा का व्यवस्थापक होने से] प्रसिद्ध लौकिक सेतु की समानता से परमात्मा में सेतु का व्यपदेश है नतु तरित्व्यत्वेन सेतु का प्रयोग है, नवा परब्रह्म व्यतिरिक्त कोई तत्त्वान्तर विशिष्ट पदार्थ हैं । एवं 'सेतुं तीर्त्वा' यहाँ तृधातु अतिक्रमार्थक नहीं है किन्तु 'मीमांसांतीर्त्वा वेदार्थमधिगच्छति' यहाँ जिस तरह तृधातु प्राप्त्यर्थक है उसी तरह प्रकृत में भी प्राप्त्यर्थक ही है ॥३१॥

उन्मान व्यपदेश परमात्म व्यतिरिक्त किसी विशिष्ट तत्त्वान्तर का व्यवस्थापक नहीं है

महीयान्' (का० १।१।२०) इत्यादिषु श्रुतस्यानन्तस्यापरिच्छिन्नस्या-
नुपमस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मणः 'चतुष्पाद्ब्रह्म' [छा० ३।१।८।२] इत्यु-
न्मानव्यपदेशो बुद्ध्यर्थः उपासनार्थ एव । पादवत् । ब्रह्मप्रतीकस्य
मनसोवाक्प्राणचक्षुः श्रोक्षाण्युपासचार्थं पादत्वेन व्यपदिष्टानि-
तद् दत्त्यर्थः । ३२।

उन्मानव्यपदेशो नार्थान्तरं साधयति किन्तु बुद्ध्यर्थः उपासनार्थ एव । चतुष्पादष्टा-
दशकलांघोडशकलम्' इत्यादिरूपाबुद्धिः सर्वथाविकाररहितेऽतिसूक्ष्मे परब्रह्मणि स्थैर्यलभेत.
इति विकारद्वारेण स्थिरीक्रियते मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिवत्त्वात्. उपासकानामिति, तथा च
परमात्मन उपासनार्थमुन्मान व्यपदेशो नतु तत्त्वान्तरव्यवस्थापनार्थमिति । पादव-
दिति दृष्टान्तः । यथा ब्रह्मप्रतीकयोर्मन आकाशयोश्चत्वारः पादा मनः सम्बन्धितो
बागादयः अग्न्यादयश्च पादा उपासनार्थं कल्पितास्तथैव प्रकृते उन्मानव्यपदेशः
उपासनार्थैव क्रियते नतु परमात्मनोऽन्यत्तत्त्वमस्तीति स्थापनायेति । एतत्सर्वं मनसि
निधायोपक्रमते सत्यं ज्ञानमित्यादि । भाष्याशयश्चातिरोहित इति संक्षेपः ॥३२॥

किन्तु उपासनार्थक है, इस बात को बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'सत्यं ज्ञान-
मित्यादि । 'ब्रह्मपरमात्मा सत्य ज्ञान स्वरूप तथा अनन्त है' 'अणुत्वेनाभिमत परमाणु के अपेक्षया
भी अणु है, तथा महत्वेनाभिमत आकाशादिक के अपेक्षया भी अतिमहान् है' इत्यादिक श्रुतियों
में अनन्त अपरिच्छिन्न तथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादि श्रुति सर्वथा उपमान
रहित जगदेक कारण परमात्मा का जो उन्मान व्यपदेश है वह बुद्ध्यर्थक है, अर्थात् परमात्मा
के उपासनार्थक है । यानी परमात्मा अति सूक्ष्म अपरिच्छिन्न सर्वोपमान रहित है, उनकी
उपासना सकल साधारण व्यक्तियों से असंभवित है, अतः परमात्मा का उपासन करने के
लिए उन्मान व्यपदेश है । पादवत्, यह दृष्टान्त है, जिसतरह अध्यात्म परमात्म प्रतीक मन
का बागादिक चार पाद रूपसे उपमित किया जाता है, यथा परमात्मा का अविदैवत प्रतीक
जो आकाश उष्मा अग्न्यादिक चार पाद रूप से कल्पित होता है, इसीतरह ब्रह्मका उपासन
सिद्ध्यर्थक प्रकृत में उन्मान व्यपदेश है । नतु परमात्म व्यतिरिक्त तत्त्वान्तर की सिद्धि होती
है । इति संक्षेपः ॥३२॥

॥ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ३।२।३३ ॥

एवमपि स्वयमपरिच्छिन्नस्वरूपस्य ब्रह्मणः कथमुपासनाया-
प्युन्मानसम्भव इत्याशङ्क्यामाह—‘स्थानविशेषादि’ त्यादि । प्रति-
पन्नदिक्पृथिव्यन्तरिक्षादिस्थानविशेषसम्बन्धित्वेनोन्मितत्वानुसन्धानं
युज्यते । यथा विततस्यापि प्रकाशादेर्घटादिपरिच्छिन्नोपाध्यन्तर्गत
स्य परिच्छिन्नत्वेन दर्शनं तद्वदित्यर्थः ॥३३॥

ननु भवतूपासनायोन्मानव्यपदेशस्तथापि स्वभावतोऽपरिच्छिन्नस्य परमात्मनः
कथमुपमानं घटते, नहि स्वभावतोऽपरिच्छिन्नस्य गगनस्य केनचिदप्युन्मानं दृष्टचर-
मित्याशंकां समाधातुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते एवमपीत्यादि स्वभावतः परिच्छेदरहितस्य
परमात्मनः कथमुपमानमित्यर्थः । परिहरति स्थानविशेषादित्यादि । यथा सर्वव्यापकस्या-
प्याकाशस्य घटपटाद्युपाधिवलात्परिच्छिन्नत्वव्यवहारोभवति. स्वयं परिच्छेदरहितस्यापि
तथा सर्वव्यापकस्यापि परमात्मनः पृथिव्यादिस्थानकृतपरिच्छेदमादाय परिच्छि-
न्नत्वव्यवहारोभवति, मन्दधियामुपासनाय । मन्दमतीनपि भक्तान् समुद्धर्तुं भगवान्
तादृगेव स्वकीयस्वरूपं तथा तथा करोति येन मन्दोप्युपासकोभवति परमात्मोपास-
नेऽधिकृत इति संक्षेपः ॥३३॥

उन्मान व्यपदेश को उपासनार्थक होने पर भी स्वयं स्वभावतः अपरिच्छिन्न स्वरूपक
जो परमात्मा है उनका उन्मान व्यपदेश किस तरह संभवित हो सकता है, स्वरूपतः सर्व-
व्यापक आकाश का क्या कहीं भी उपमान होता है ? इस शङ्का का निराकरण करने के
लिए सूत्रकार कहते हैं ‘स्थान विशेषादित्यादि’ पृथिव्यादि स्थान विशेष के सम्बन्ध से परमा-
त्मा में उन्मितत्वानुसन्धान होता है, यथा सूर्य का अथवा चन्द्रमा का जो प्रकाश है वह
सर्वत्र व्याप्त है परन्तु घट अपवरकादि उपाधि के अन्तर्गत होकर के परिच्छिन्न अर्थात् संकु-
चित प्राय अवभासित होता है, उसी तरह परमात्मा पृथिव्यादि स्थान विशेष के सम्बन्ध से
परिच्छिन्नवत् अवभासित होते हैं उपासनार्थ । अर्थात् जिसतरह सर्वव्याप्त भी प्रकाश स्थान
के संकुचितवत् भासित होता है उसीतरह परमात्मा भी उपाधि से संकुचित होने से परिच्छिन्न
वत् अवभासित होते हैं भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ॥३३॥

ॐ उपपत्तेश्च ३।२।३४ ॐ

‘अमृतस्यैष सेतुः’ इति प्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्परमस्तीत्यपि न युक्तम् ‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्’ (मु० ३।२।३) इति परमात्मनः प्राप्यभूतस्य स्वप्राप्तावनन्योपायत्वश्रवणात् स्वस्यैवोपायोपेयत्वोपपत्तेरिति ॥३४॥

ननु अमृतस्यैष सेतुः [अयं पामान्माऽमृतस्य सेतुः प्रापक इत्यर्थः] इत्येवं प्रापकसम्बन्धस्य प्रतिपादनात्, परमात्मनः परं किञ्चित्तत्त्वान्तरं विद्यते इति यत् पूर्वं प्रतिपादितं तन्न युक्तमिति दर्शयितुमाह उपपत्तेरिति । अयमर्थः अयं परमात्मा प्रवचनादिना प्राप्तो न भवति नवा केनचिदन्येनोपायेन किन्तु यदुपरिकृपां करोति तेनैव स परमात्मा प्राप्तो भवति’ इत्यादिना प्राप्यस्य परब्रह्मणः प्राप्तौ नास्ति किमपि मार्गान्तरं किन्तु परप्राप्तौ परमात्मैवोपाय इति स्वस्यैवोपायोपेयत्वोपपत्तेरिति—

“कारुण्याम्बुनिधिश्च यस्तनुभृतां प्राप्यस्तथा प्रापकः

सायुज्यं च ददाति यो हि निजया भक्त्या प्रपत्त्याऽथवा ।

सर्वेशः स परात्परश्च रहितो नैषम्यनैर्घृण्यतः

श्रीरामो जगदाश्रयो भवतु मे त्राता जगत्पालकः ॥४॥”

इत्यादिरूपेण श्रीरामपञ्चके जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्योक्तेरिति संक्षेपः ॥३४॥

‘यह परमात्मा अमृत का सेतु है’ इसप्रकार परमात्मा को प्रापक कहा है इससे सिद्ध होता है कि प्राप्य कोई तदन्य है, अतः प्रापक सम्बन्ध बल से परमात्म व्यतिरिक्त की सिद्धि होती है, ऐसा जो कहा था वह युक्त नहीं है । क्योंकि ‘ये परमात्मा प्रवचन द्वारा लब्ध नहीं होता है नवा मेधा तीक्ष्ण बुद्धि से नवा बहु श्रवण से लब्ध होता है किन्तु जिस जीव के ऊपर भगवान् कृपा करते हैं, उसी पुरुष से परमात्मा लब्ध होते हैं’ इसतरह प्राप्यभूत परमात्मा के स्वप्राप्ति में अनन्योपायत्व का श्रवण होने से परमात्मा स्वयमेव उपाय तथा उपेय हैं, अर्थात् वही परमात्मा प्राप्य है तथा प्रापक भी, किन्तु परमान्मा अमृत का प्रापक है और तदभिन्न कोई प्राप्य है ऐसा नहीं है ॥३४॥

॥ तथान्यप्रतिषेधात् ३।२।३५ ॥

यच्च 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति भेदव्य-
पदेशात्ततोऽपि परमस्तीत्युक्तं तन्निरस्यति "तथाऽन्यस्य ब्रह्मणः परस्य
प्रतिषेधात् । 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्या-
योस्ति कश्चित्' (श्वे० ३।९) 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'
(श्वे० ६।९) 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' [श्वे० ६।८] इत्येवमा-
दिभिर्ब्रह्मपरस्यान्यस्य प्रतिषेधात् ॥३५॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ३।२।३६

अनेन 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इत्येवमादिभिर्ब्रह्मणः

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमित्यादि श्रुत्याभेदादेव्यपदेशात् परमात्मनोऽन्यत्तत्वा-
न्तरमस्तीति यत् कथितं तत्प्रतिसमाधानायाह तथान्यप्रतिषेधादिति प्राप्यस्य परमात्म-
नोऽन्यत्परं तत्त्वान्तरं नास्ति कुतः ? तदन्यस्य स एवावस्तान् आत्मैवावस्तात् नचास्य
कश्चिज्जनिता नचाधिपः इत्याद्यनेकश्रुत्यापरमात्मव्यतिरिक्तस्य निराकरणान् परमात्मनः
परं तत्त्वान्तरं नास्तीति निश्चीयते ॥३५॥

पूर्वोक्तहेतुनिराकरणेन प्रतिषेधाश्रवणेन परमात्मनः सर्वगतत्वं सिद्ध्यति ।

परमात्म व्यतिरिक्त उत्कृष्ट तत्त्वान्तर का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं
'यच्च' इत्यादि । श्रुति से 'भेद व्यपदेश होने से परमात्मा से अतिरिक्त तत्त्वान्तर है, ऐसा
जो कहा था उसका निराकरण करते हैं 'तथान्य प्रतिषेधात्' तथा अन्यः अर्थात् ब्रह्म से भिन्न
तत्त्वान्तर का शास्त्र में प्रतिषेध किया है । 'जिस से पर अथवा अपर कुछ नहीं है, जिस से
छोटा तथा बड़ा कोई नहीं है' 'इस परमात्मा को उत्पन्न करनेवाला तथा इसका कोई अधिप
स्वामी नहीं है' 'उस परमात्मा के समान कोई नहीं, उस परमात्मा से बड़ा तो कोई देखने
में नहीं आता है' 'आत्मा ही नीचे हैं, आत्मा ही ऊपर है आत्मा ही सर्वत्र है' इत्यादि
श्रुतियों से ब्रह्म भिन्न अन्य का प्रतिषेध किया गया है इसलिये ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्य
कोई नहीं है ॥३५॥

इस 'अणु से भी अणु है, महान् से भी महान् है' इत्यादि श्रुति से अन्य कोई अन्य
तत्त्वान्तर नहीं है, एतादृश प्रतिषेध द्वारा परमात्मा से सर्वव्यापकत्व का प्रतिपादन करने से

किञ्चिदपि परं नास्ति प्रतिषेधद्वारा तस्य सर्वव्यापकत्वप्रतिपादनेन सर्वगतत्वमपि सिद्ध्यति । कुतः ? आयामशब्दादिभ्यः । सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्यो ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सिद्ध्यत्सर्वपरत्वमपि सिद्ध्यति । ते च शब्दाः 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' [श्वे०३।९] 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिम्' [मु०१।१।६] 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृ० २।५।१] इत्यादयः ॥३६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये पराधिकरणम् ॥७॥

अथ फलाधिकरणम् ॥८॥

❧ फलमत उपपत्तेः ३।२।३७ ❧

एवं प्रापकस्य जीवस्योपासिषा सिद्ध्यर्थं तत्स्वरूपमुपवर्ण्य एतच्च सर्वगतत्वं परमात्मन आयामशब्दादिभ्यः सिद्ध्यति । तत्रायामशब्दो व्याप्तिवाची । ब्रह्मणः सर्वगतत्वे सिद्धे सर्वेभ्यः परत्वमपि सिद्धं भवति । ते च शब्दाभाष्योक्ता द्रष्टव्याः । तथा यावान् यमाकाशस्तावान् 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'इयायान् पृथिव्याः' इत्यादिज्ञेयाः । विशेषमन्यत्र प्रपञ्चयिष्ये ॥३६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे पराधिकरणम् ॥७॥

यदिदं कर्मजनितमिष्टं स्वर्गादिफलमनिष्टं नरकादिलक्षणं फलं तत् यागादि परमात्मा में सर्वगतत्व की भी सिद्धि होती है । क्यों ? आयाम शब्दादि से अर्थात् सर्वव्याप्तिवाचक शब्दों से ब्रह्म में सर्वगतत्व का सिद्धि होते हुए सर्वपरत्व=सर्वत उत्कृष्टत्व की भी सिद्धि होती है । ब्रह्ममें सर्वव्याप्तिवाची निम्नलिखित वाक्यराशि है । 'उस परम पुरुष से ये सब परिदृश्यमान सर्वपदार्थ पूर्ण है, अर्थात् व्याप्त है' 'वह परमपुरुष नित्य है, विभु व्यापक सर्वगत है, अर्थात् सूक्ष्म हैं, सभी भूतों का निदान कारण है, जिस परमात्मा को महापुरुष उपासक उपासना द्वारा साक्षात्कार करते हैं' 'यह परिदृश्यमान सर्वपदार्थ ब्रह्मस्वरूप है' 'ब्रह्म ही नीचे हैं, ब्रह्म ही ऊपर है' 'ब्रह्म ही सर्वस्वरूप है' इत्यादि ॥३६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे पराधिकरणम् ॥७॥

इस तरह उपासक जीव के उपासना की सिद्धि के लिए जीव स्वरूप का वर्णन करके

तत्प्राप्यभूतस्य परमात्मन उभयलिङ्गत्वं सर्वपरत्वञ्चाभिधाय ततः
परमपुरुषादेवोपासकस्यापवर्गादिफलप्राप्तिस्तीदानीं निश्चीयते

तत्रेदमिष्टानीष्टलक्षणं फलं भजनहवनादिरूपात्कर्मणो भवत्या-
होस्वित्तत्तत्कर्मभिः समाराधितात्परस्मात्पुरुषादिति संशये कर्मण इति ।
कुतः ? लोके कृष्यादिकर्मकारिण एव फलसम्पत्तिदर्शनात् । कर्मा-
ननुतिष्ठतश्च तददर्शनादिति प्राप्तेऽभिधीयते फलमत इति । भोगा
पवर्गादिलक्षणं फलमतः परमपुरुषादेवसम्पद्यते । कुतः ? उपपत्तेः ।
क्षणप्रध्वंसिनः कर्मणोऽसम्बद्धस्याचेतनस्य च कालान्तभाविफलप्रद-

कर्मणैव जायते अथवा कर्माराधित परमेश्वराज्जायते इति संशयः । कर्मणैव फलं भवति.
लोके तथा दर्शनात् । अकुर्वतः कर्मफलादर्शनात्, तस्माद् यागोपासादिक्रिययाफलजन
कत्वदर्शनात्, परमेश्वरफलजनकत्वे तस्मिन् वैषम्यनैर्घृण्यदोषप्रसङ्गात् । तस्माद्
यागादि क्रिययैव फलं नतु परमेश्वरादिति । सिद्धान्तस्तु परमेश्वरादेवफलं तथैवोपपत्तेः
श्रुतेश्च । कर्मणोऽचेतनत्वेन चेतनानधिष्ठितस्यफलजनकत्वाभावात् । परमेश्वरस्य तु
चेतनस्य सर्वज्ञस्य फलप्रापकत्वसंभवात् । नच यद्यपि कर्मयागादिकं क्षणप्रध्वंसि, इति
फलाव्यवहितपूर्वकाले तदभावेन फलजनकत्वं न संभवति विनष्टात् फलादर्शनात्, तथापि
यागादिकर्मजनितमपूर्वमेव स्वर्गादिफल जनयिष्यति फलाव्यवहितपूर्वकाले सद्भावादन्वया
जीव से प्राप्य जो परमात्मा है उसका भी उभयलिङ्गत्व तथा सर्वापेक्षया उत्कृष्ट का कथन
करके तादृश परम पुरुष से ही उपासक जीवको अपवर्गादि फल की प्राप्ति होती है इस बात का
निश्चय करते हैं । इसमें इष्ट स्वर्गापवर्ग फलक यागोपासनादिक अनिष्ट नरकादिफलक शास्त्र
प्रतिषिद्ध हिंसादिक कर्म से पूर्व प्रदर्शित फल होता है । अथवा यथोक्त कर्म से समाराधित
परमपुरुष से इष्टादिक फलों की प्राप्ति होती है ? ऐसा संशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्ष-
वादी कहते हैं कि केवल कर्म के द्वारा ही कर्म का फल प्राप्त होता है, क्यों ? तो लोक में
कृषि व्यापारादिक क्रिया को करनेवाला जो व्यक्ति उसी को तादृश क्रिया जनित फल की
प्राप्ति होती है और जो कर्म नहीं करता है उसको फलप्राप्ति नहीं होती है, इसलिये प्रथम
पक्ष ही ठीक है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "फलमत" इति । भोगाय
वर्ग लक्षण जो फल है वह परम पुरुष से ही प्राप्त होता है । क्यों ? इसी तरह मानने से ही
उपपत्ति होती है, एक क्षण में विनष्ट होनेवाला जो कर्म यागोपासनादिक है जो कि पुरुष

त्वायोगात् । नचापूर्वकल्पनयापीष्टसिद्धिस्तस्याप्यचेतनत्वात् तस्मात्सर्वसमीक्षाकारिणः परमात्पुंस एव फलं भवति ॥३७॥

॥ श्रुतत्वाच्च ३।२।३८ ॥

सर्वभोगापवर्गादिलक्षणं फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते यागादिप्रतिपादकश्रुतेर्वीथ्यादिति वाच्यम् । अपूर्वस्याप्यचेतनत्वेन चेतनानधिष्ठितस्य फलजनकत्वासंभवात् । तस्मात् कर्माशयितपरमेश्वरादेवोपासकस्य स्वर्गापवर्गलक्षणं फलं भवतीति सिद्धान्तदर्शनायोपक्रमते भाष्यकार एवं प्रापकस्य जीवस्येत्यादि अवतरणे- नैवभाष्यग्रन्थोक्त्याख्यातः ॥३७॥

न केवलमुपपत्तिवलेनैव परमेश्वरं कर्मफलदातारं मन्ये किन्तु श्रुतिवलेनापि परमेश्वर एव सर्वकर्मणः फलदाता इति निश्चीयते, एतदेव दर्शयितुमाह सर्वभोगापवर्ग इत्यादि । श्रुतिश्च स वा एष इत्यादि । तदाहुराचार्याः श्रुतिव्याख्याने 'स वा एष महान् सर्वव्यापकोऽजो नित्य उत्पत्तिविनाशरहित आत्मा अन्नादो वसुदानोधनदातेतिक्रमेण य उपासक एवमनेन प्रकारेण वेद विजानाति तदुपासनं करोति स उपासको वसुलोकभोग्यं सुवर्णगवादिकं धनं विन्दते प्राप्नोति । ननु घनादिफलदायकत्वं कर्मणः कार्यं तत् कथमीश्वरप्रसादात्तस्यादिति चेन्न, 'फलमत उपपत्तेरिति सूत्रे कर्माशयितात्परमपुरुषादेव सर्वं फलं प्राप्नोत्याराधकः सेवाराधितराजवदित्यादिना समाहितत्वात्' (आनन्दभाष्यम् सम्बद्ध नहीं है तथा अर्चन है, उसको कालान्तर में होनेवाला जो स्वर्गादिक फल है तदुत्पादकत्वं असंभवितं है । नहीं कहो कि कर्मयागादिक क्षणिक हैं तथापि कर्म से जायमान जो अपूर्व उस में फलप्रदत्व होगा ? ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपूर्व भी तो अचेतन है वह भी चेतनानधिष्ठित होकर के फलप्रद नहीं हो सकता है । तस्मात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमपुरुष से ही यागादिक कर्म जनित भोगापवर्गादि लक्षण फल जीव को प्राप्त होता है । केवल कर्मयागादिक से फलप्राप्ति नहीं होती है, किन्तु कर्माशयित परमपुरुष की कृपा से ही इष्टानिष्ट फलप्राप्ति जीव को होती है ॥३७॥

ऐ हक आमुष्मिक और अपवर्गादिक जो कोई फल है उसका प्रदाता परमात्मा है, किन्तु यागादिक कर्म से फल प्राप्ति नहीं होती है इस बात का निश्चय केवल युक्ति तर्क के बल से ही प्राप्त है ऐसा नहीं किन्तु श्रुति से भी यही सिद्ध होता है कि परमात्मा ही

‘स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः’ (बृ०४।४।२४) इति ३८।

॥ धर्मं जैमिनिरत एव ३।२।३९ ॥

अतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामेव ‘रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येन्’ ‘कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येन्’ (छा०५।१०।७) ‘अथ खलु क्रतुरस्मिंल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति’ (छा०३।१४।१) ‘पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन’ इत्यादिषु पुण्यस्य कर्मणः पुण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वश्रवणात् पाप कर्मणः पापशरीरहेतुत्वश्रवणात् तदतिरिक्तस्येश्वरस्याश्रवणाच्च । बृ०४।४।२४।) इत्यादि । विशेष विवरणमन्यत्रानुसन्धेयमिति दिक् ॥३८॥

प्रकृतविषये जैमिनिमतं दर्शयति । जैमिनिराचार्यः धर्म एव फलस्य दाता भवतीति मन्यते श्रुत्युपपत्तिभ्याम् । श्रुतौ श्रूयते स्वर्गकामो यजेत अनया च याग एव स्वर्गोत्पादक इत्यवगम्यते । अन्यथाश्रुतेर्वैयर्थ्यस्यात् । न च क्षणप्रध्वंसित्वात् तस्य जनकत्वं न स्यादिति वाच्यं फलाव्यवहितपूर्वकाले यागस्यासत्त्वेपि यागजनितापूर्वात्मकव्यापारस्य सत्त्वेन तद्वारा तस्य तत्संभवान् स्वस्वव्यापाराभावे एव कार्याक्षमत्वम् । इहतु यागस्य स्वरूपतोऽविद्यमानत्वेऽपि तदीयव्यापारस्य तदानीं सत्त्वात् । नच तर्हि अपूर्वात्मकव्यापारेण स्वर्गसिद्धौ यागोऽन्यथासिद्धः स्यात् इति वाच्यम् । व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वासंभवात् । अन्यथा दण्डव्यापारेण चक्रभ्रम्यादिनैव कार्यसिद्धौ फलदाता है । “यह महान् अज परमेश्वर अन्नदाता है तथा धन का वितरण करनेवाले हैं” । इत्यादि श्रुति से फलदातृत्व परमेश्वर में ही सिद्ध होता है ॥३८॥

इस श्रुति तथा उपपत्ति हेतु से धर्म को ही फलोत्पादक जैमिनि आचार्य मानते हैं इस बातको बतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं “अतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामेवेत्यादि” इसी श्रुति तथा उपपत्ति से । “जो रमणीयचरण पुण्य कर्मवान् है वह पुण्य योनि को प्राप्त करते हैं तथा जो कुत्सित कर्मवान् है वह कुत्सित योनि को प्राप्त करते हैं” ‘इस लोक में जो यादृश संकल्पवान् होता है- परलोक में भी उसी तरह का होता है’ । पुण्यकर्म से पुण्य होता है, पापकर्म से पाप होता है’ इत्यादि स्थलों में तुण्यकर्म को पुण्य शरीर का प्रापकत्व श्रुत है तथा पापकर्म को पाप शरीर प्रापकत्व श्रुत है, किन्तु कर्म से अतिरिक्त परमे-

कृष्यादियज्ञादिकारिणामेव तत्तत्फलप्राप्तिदर्शनात् । तदकारिणां तत्तत्फलप्राप्त्यदर्शनाच्च कर्मण एव फलदातृत्वोपपत्तेरिति श्रुत्युपपत्तिभ्यां धर्ममेव फलदातारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कर्मणः क्षणिकत्वेऽप्य-
पूर्वद्वाराफलमिति जैमिनेर्मतम् । ॥३९॥

दण्डस्यान्यथासिद्धत्वे लौकिककार्यकारणभावोपि विलुप्त एव स्यात् । तस्मात् श्रुतेः ग्रामाण्याय यागादेव स्वर्गादिफलं भवति । नतु परमेश्वरात्, तस्य कारणत्वे वैषम्य-
नैर्घृण्यदोषः प्रसज्यते । तथा लौकिकनैदिककार्यकारणपरिभाषाया अपि विलोपः
स्यात्, तस्माद् यागादिरेव स्वर्गादिफलादायकोनेश्वरः फलप्रदातेति जैमिनेर्मतमित्ये
तत्सर्वमुपपादयितुमुपक्रमते अतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामित्यादि । भाष्यविवरणं स्वमनीषयैव
ज्ञातव्यमक्षरार्थोनतिरोहित इति संक्षेपः ॥३९॥

श्वरादिक में पुण्यपाप शरीरोत्पादकत्व तो श्रुत नहीं है [प्रत्युत यदि परमेश्वर को तादृश फल
जनक मानें तब तो हीन मध्यमोत्तम सर्गों का सर्गक होने से परमेश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य
दोष होगा ।] लोक में कृषि यागादि कर्म करनेवाले को ही तादृश फल प्राप्ति देखते हैं, जो
कृषि यागादिक नहीं करता है तो उसको तादृश फल प्राप्ति नहीं होता है, इसलिये कर्म
को ही फलदातृत्व उपपन्न होता है इसलिये श्रुति उपपत्ति से कर्म कोही फलप्रदाता जैमिनि
आचार्य मानते हैं । यद्यपि यागादिक जो कर्म है वह आशुतर विनाशी है तो स्वर्गाव्यव-
हित पूर्वकाल में स्वरूपतः यागादिक का सद्भाव नहीं होने से स्वर्ग का कारणत्व उसमें
नहीं घटता है तथापि स्वरूपतः याग का सद्भाव नहीं होने पर भी स्वजनित अपूर्वात्मक
व्यापार के द्वारा फलजनकता में कोई भी बाधा नहीं है, स्व तथा स्वका व्यापार अन्यतर
रूप से स्वाव्यवहित पूर्वत्व कार्य कारण भाव का नियामक होता है यथा घट के अव्यव-
हित पूर्ववर्ती कपाल स्वरूपतः होता है, तथा दण्ड स्वरूपतः होता है, तथा दण्ड स्वव्यापार
द्वारा होता है, इसी तरह प्रकृत में यागस्वकीय व्यापार अपूर्व द्वारा पूर्ववर्ती होकर के
कारण होता है । यद्यपि अपूर्व से स्वर्गादिक कार्य को मानें तो याग तो कारण का
कारण होने से कुलालजन्य घट में कुलालपिता के समान अन्यथासिद्ध हो जायगा तथापि
व्यापार से व्यापारी में अन्यथासिद्धत्व नहीं होता है, अन्यथा लोक प्रसिद्ध दण्ड घट का
कार्य कारण भाव भी नहीं होगा, कुलालपुत्र वृद्ध कुलाल का व्यापार नहीं है [क्योंकि
'द्रव्यान्य हो स्वजन्य हो स्वजन्य का जनक हो उसको व्यापार कहते हैं'] ऐसा व्यापार
का लक्षण है । अतः अपूर्वात्मक व्यापार द्वारा स्वर्गाव्यवहित पूर्ववृत्ती स्वर्गादि कार्य में
कारण है, ऐसा जैमिनि का मत प्रकृत विषय में है ॥३९॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ३।२।४०

तु शब्दः पक्षनिवर्तकः । पूर्वपूर्वोक्तं परमपुरुषमेव फलप्रदातारं भगवान् बादरायण आचार्यो मन्यते । कर्मणोऽपूर्वस्य वा ह्यचेतनत्वेनकर्मफलस्वरूपानभिज्ञतया तत्फलदानासमर्थत्वात्तयोरिति कर्मादि स्वरूपतद्विनियोगसाक्षात्कास्वतोऽपरिच्छिन्नस्य चिदात्मनः स्वप्रकाश स्वरूपस्य सर्वज्ञसर्वशक्तिमतः परमपुरुषस्य तु फलदातृत्वं युक्ततरमेव कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । “एष ह्येनैनं साधुकर्मकारयति तं यमन्वानु नेषत्येष एनैनमसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो ननुत्सते”

श्रीबादरायणनामकश्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य सप्तमाचार्यः पूर्वोक्तं परमेश्वरमेव फलस्य स्वर्गापवर्गादेरतिरामनुमोदयति न केवलात् यागादिकर्मणः फलं भवति न वा कर्म जन्यकेवलादपूर्वात्फलं भवति, किन्तु कर्मसापेक्षात् परमेश्वरात् अथवा अपूर्वसापेक्षात् परमेश्वरात् कर्मापूर्वयोरचेतनत्वेन स्वतन्त्राभ्यां ताभ्यां तथाभावात् । यतः परमेश्वरो धर्माधर्मयोरपिकारयितृत्वेन हेतुतयाव्यपदिष्टो भवतीति स एव साधुकर्म कारयति इत्यादिना प्रतिपादनात् प्रथमपक्ष एव श्रेयानिति दर्शयितुमुपक्रमते सूत्रव्याख्यानाय तु शब्दः

प्रथम पक्ष उचित है इस बात को पुष्ट करने के लिये आचार्यान्तर के मत को बतलाते हैं ‘पूर्वन्तु बादरायण’ इत्यादि । सूत्रघटक तु शब्द द्वितीय पक्ष का निवर्तक है । अर्थात् केवल कर्म अथवा केवल अपूर्व फल का प्रदाता है, इस पक्ष का निराकरणपरक तु शब्द है । श्रीबादरायण आचार्य जो श्रीसम्प्रदाय-श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के सातवें आचार्य हैं वे पूर्वोक्त परम पुरुष को ही फल प्रदाता मानते हैं । क्योंकि केवल कर्म अथवा केवल अपूर्व को अचेतन होने से कर्म स्वरूपादि के ज्ञाता नहीं होने से फल प्रदान में वे दोनों अचेतन सर्वथा असमर्थ हैं । कर्म का स्वरूप तथा कर्म के विनियोग विषयक साक्षात्कार अपरिच्छिन्न चैतन्य स्वरूप अतएव स्वप्रकाश स्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमपुरुष श्रीराम में ही फलदातृत्व युक्त है । क्योंकि हेतु का वचन है अर्थात् परमेश्वर कर्मादि का कारक है ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन किया है । परमेश्वर ही उस व्यक्ति को साधुकर्म करवाते हैं जिसको ऊर्ध्वगति में ले जाना चाहते हैं और यह परमेश्वर उस व्यक्ति से असाधु कर्म करवाते हैं जिसको नीचगति में ले जाना चाहते हैं’ इत्यादि श्रुति से परमपुरुष श्रीराम को ही कारयिता रूप से कर्म सिद्धि के हेतु

(कौषी०३-९-) इति परमपुरुषस्यैव कारयितृत्वेन कर्मसिद्धिहेतुव्यपदेशात् । तस्यैव च कर्मफलभूतोर्धाधोगतिप्राप्तिहेतुव्यपदेशात् ४०

ॐ स्मर्यते च ३।२।४१ ॐ

स्मर्यते च कर्मफलप्रदाता परमात्मैव ।

‘स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ।’ (गी०७-२२)

पक्षनिवर्तकः इत्यादि । केवलेन कर्मणा फलं भवति, अथवा केवलेनापूर्वेण फलं भवतीति पक्षनिवर्तकस्तु शब्दः सूत्रघटकः । अचेतनकर्मणोपि कारयितापरमेश्वरोऽतः स एव ताभ्यां सह कृतः सर्वं करोतीति भावः । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥४०॥

न केवलं श्रुत्यैव परमपुरुषस्य फलप्रदातृत्वं सिद्ध्यति किन्तु स्मृत्यापि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमतः परमपुरुषस्य फलप्रदातृत्वं सिद्ध्यति । योगोपासनादिकर्मणा सम्यगाराधितो भगवान् तुष्टो भक्तान् अनुगृह्णाति फलप्रदानेनेति । तथा च स्मृतिः ‘स परमपुरुषोपासकः विलक्षणया श्रद्धया संयुक्तोभूत्वा तस्य परमपुरुषस्याराधनं कुरुते कुर्वाणश्च पुरुषविशेषात् क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टाद्विहितान् प्रदत्तान् कामान् लभते प्राप्नोतीत्यर्थः तदाह्वरस्मदाचार्या जगद्विजयिनो जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरघुवराचार्याः ‘स पूर्वोक्तः स्वार्थसाधनपरोभक्तस्तयामयैवनिर्वाधविहितया श्रद्धया युक्तस्तस्याः स्वाभिमताथप्रदायित्वेनाभिमताया देवताराराधनमुपासनमीहतेऽनुतिष्ठति ‘ततोमच्छरीरभूतादित्यादि देवताराधनाद्वेतोर्हि स्वाभिमतांस्तां स्तान् कामानाराधनफलत्वेन मयैव विहितान् लभते । यतः सर्वफलदातृत्वं मयैव विद्यते निरंकुशैश्वर्यशक्तिशालित्वात् । नतु तया देवतया तरीके से कथन किया है । इससे सिद्ध होता है कि परमेश्वर ही फल प्रदाता हैं और केवल कर्म अथवा केवल अपूर्व फल प्रदाता नहीं है । एतावता श्रीबादरायणाचार्य ने जैमिनि मत में अस्वरस बतला करके पूर्वमत का ही पुष्टीकरण किया है ॥४०॥

केवल श्रुति से ही परमपुरुष में फल प्रदातृत्व की सिद्धि होती है सो नहीं किन्तु वेदोपबृंहणभूत स्मृति से उसी परमात्मा में फल प्रदातृत्व सिद्ध होता है । परमात्मा परमपुरुष श्रीरामजी फल प्रदाता हैं इस विषय में स्मृति का उद्धरण देते हैं ‘स तयाश्रद्धत्येत्यादि’ वह उपासक अनन्य साधारण श्रद्धा से युक्त होकर के परमपुरुष श्रीरामजी का यथा सम्प्रदाय आराधन

इति तस्मात्कर्मफलं परमात्मन एवेति सिद्धम् ॥४१॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसायाः श्रीआनन्दभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२॥

स्वातन्त्र्येण तस्मै स्वभक्त्याय क्षोदीयोऽपि फलं दातुं शक्यम् । तस्या मत्पारतन्त्र्यादिति भावः' (अर्थचन्द्रिका ७।२२) तस्मात् कर्मफलं परमपुरुषादेव भवति, नतु जडात् कर्म-
णोऽपूर्वाद्वा भवतीति संक्षेपः ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

ॐ श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॐ

करता है, तब मुझसे विहित कामों को प्राप्त करता है' । इसलिये यह सिद्ध होता है कि परमपुरुष से ही कर्म का फल प्राप्त होता है नतु केवल कर्म से अथवा केवल अपूर्व से फल प्राप्ति होती है ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे

तृतीयाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त हुआ ॥२॥

ॐ शुभमस्तु सर्वजगतः ॐ श्रीरामाय नमः ॐ



५ श्रीरामचन्द्राय नमः ५

भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीतशरीरकमीमांसाया

॥ आनन्दभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ३।३।१

सर्वेषु वेदान्तेषु तत्र तत्र श्रूयमाणा या दहरवैश्वानरादयो विद्यास्तासां सर्वासां किं विद्यान्तस्त्वमाहोस्विदेकविद्यात्वमिति संशये विद्याभेदाभावे प्रकरणान्तरे पुनस्तत्पाठस्यायुक्तत्वात्प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वावगमाद्विद्यान्तस्त्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते—‘सर्ववेदान्त प्रत्ययमिति । सर्वेषु वेदान्तेषु प्रतीयमानमुपासनमेकमेव । कुतः ?

अथ विज्ञेयस्य परमात्मनः स्वरूपविचारोगतप्रकरणेन कृतः । ततः परं प्रति वेदान्तं विज्ञानस्य भेदो भवति । अथवा भेदो न भवतीति विचारः प्रस्तूयते । तत्र यथा कर्मकाण्डे कर्मणोभेदोऽभेदो वा भवति, तद्वत् उपासनस्य भेदाभेदौ संभवत इति तदर्थ-मयमारंभः क्रियते । तत्र प्रतिवेदान्तं विज्ञानमर्थादुपासनं भिन्नं भिन्नं भवति, अभिन्नमेव वा सर्वं विज्ञानमिति संशयः । तत्र नामभेदोयथा कर्मभेदप्रतिपादकस्तथैव प्रकृते नामभेदो दृश्यते, यथा ज्योतिरादिषु वैश्वानरेत्यादि । यथावा रूपभेदोभेदहेतुः कर्मणि, सा वैश्वदेवी आमिक्षावाजिभ्योवाजिनम् । अत्रापिरूपभेदो विद्यते । यथा पञ्चाग्निविद्यायां

सर्व वेदान्तों में तत्तत्स्थल में श्रूयमाण जो दहरविद्या वैश्वानरादिक विद्या हैं, वह क्या शाखादिभेद से भिन्न—भिन्न विद्या हैं, अथवा एक ही है, ऐसा संशय होता है ।

यदि विद्या सब एक ही हो तब तो प्रकरणान्तर में उसका पुनः कथन अयुक्त होता है, अतः प्रकरणान्तर विद्या भेद का नियामक है ऐसा अवगत होता है—इसलिये शाखाभेद प्रकरण भेद विद्या भेद का नियामक है, अतः तत्र तत्र श्रूयमाण विद्या भिन्न—भिन्न ही है । ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ‘सर्ववेदान्त प्रत्ययमित्यादि’ सभी वेदान्तों में प्रतीयमान जो उपासन है, वह सब एक ही है । क्योंकि चोदनादिक सर्वत्र एक रूप से ही प्रतीयमान होता है । ‘चोदनाद्यविशेषात्’ इसमें जो आदि पद है, उससे शाखान्तर अधिकरणान्तर में कथित सर्वविद्या के अमेद हेतुभूत फल संयोग रूप, समाख्या का संग्रह

चोदनाद्यविशेषात् । चोदनाद्यभेदात् । आदिशब्देन शाखान्तराधिकरणसूत्रान्तरोक्ता अभेदहेतुभूताः फलसंयोगरूपसमाख्या गृह्यन्ते । चोदनाफलसंयोगसमाख्यानामविशेषादभेदादित्यर्थः । चोदनाहि—‘उपासीतविद्यात्’ इत्युपासनवेदनयोः पर्यायवाचित्वेनाभिन्ना । फलसंयोगोऽप्युभयत्र ब्रह्मप्राप्तिरूप एक एव । उभयत्र वैश्वानरविद्येति समाख्या चैकैव । एषां चोदनादीनां सर्वासु शाखास्वविशेषात्तत्र तत्र शाखासु निरुक्तानामेकविद्यात्वमेव ॥१॥

कुत्रचित् पष्ठोप्यग्निः प्रदर्शितः कुत्रचित् पञ्चैव । इहापि प्राणसंवादादौ न्यूनान् वागादीन् कथयन्ति केचिदधिकान् कथयन्ति । तथा यथा धर्मविशेषः कर्मभेदस्य प्रतिपादकः, यथा कारीर्यादिष्वाशंकितः । तथेहापि आथर्वणिकानां शिरोव्रतम्, एवं पुनरुक्त्यादयोपि यथाकर्मभेदप्रतिपादकास्तथेहापि ते सन्तीति प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि विभिन्नान्येवेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानाभेद एव, चोदनाद्यविशेषात्, अभेदादित्यर्थः । आदिग्रहणेन, शाखान्तराधिकरणगतसिद्धान्तसूत्रप्रदर्शिता भेदकारणानि संगृहीतानि भवन्ति, संयोगरूपचोदनाख्या, विशेषादिति । यथा एकस्मिन्नपि अग्निहोत्रादौ शाखाभेदेपि गृह्यादित्यादिचोदनासमानैव भवति । यथावा यागस्य द्रव्यदेवज्ञेयरूपम्, तथेहापि विज्ञानस्य विज्ञेयमेवरूपम् । समाख्यापि प्राणादिविद्येति समानैव भवति । एवं पञ्चाग्निविद्या शाण्डिल्यविद्यादिका इत्यादि । तस्मान् सर्वविज्ञानप्रत्ययत्वं सर्वविज्ञानमित्यादि । यद्यपि नामादिकाभेदाः सन्ति तथापि तेषां प्रतिविधानं कर्मकाण्डे एव प्रदर्शितं तत एव द्रष्टव्यमित्यादिकं सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते सर्वेषु वेदान्तेषु इत्यादि । अवतरणेनैव भाष्याशयो व्याख्यात एवेति न तदर्थं प्रयत्नो विधीयते इति संक्षेपः ॥१॥

होता है । अर्थात् चोदना फल संयोग रूप तथा समाख्या नामों का अभेद है, ‘उपासीत, विद्यात्’ इत्यादि उपासन वेदन को पर्यायवाची होने से अभेद है । फल संयोग भी दोनों जगह में समान है, सर्वत्र ब्रह्मप्राप्ति रूप फल एक ही है, साधारणतः सब विद्या का फल ब्रह्मप्राप्ति ही है । और सर्वत्र शाण्डिल्य विद्या वैश्वानर विद्या, इत्यादि समाख्या=विद्याओं का नाम भी एक ही है । ये जो चोदनादिक हैं, उनको सब शाखाओं में समानता होने से तत्तत् शाखाओं में कथित जो विद्याएं हैं उन सब में एकत्व ही है, सब उपासन एक है ॥१॥

५ भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ३।३।२ ५

यत्तूक्तं प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वं तदनूद्यपरिहरति 'भेदादित्यादि ।

प्रकरणान्तरात् विधेये भेदाच्च न विद्यैक्यमिति चेन्न, एकस्यामपिविद्यायां कर्तृभेदात्प्रकरणान्तरमुपपद्यते । एकस्मिन्नेव कर्तरि यदि प्रकरणान्तरं स्यात्तदाविधेयेभेदाद्विद्याभेदः स्यात् ॥२॥

५ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधि

काराच्च सववच्च तन्नियमः ३।३।३ ५

एवमप्यार्थवर्णिकानां शिरोव्रताद्यपेक्षा दृश्यतेऽन्येषाञ्च नानु सर्वोपासनानामेकत्वं न संभवति गुणभेदाद्भेद एवायाति । क्वचित्पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमप्यग्निं प्रतिपादयति, क्वचिन्न तथा प्रतिपाद्यते, तत्र यत्र प्रतिपादयति यत्र च न प्रतिपाद्यते तयोरेकत्वं न स्यादपितु गुणोपसंहारानुपसंहारमूलको भेद एवापततीति कथं सर्वासामेकत्वमपितु भेद एवेत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमुपक्रमते यत्तूक्तं प्रकरणान्तरस्येत्यादि, सूत्रन्याख्यानाय शङ्कां प्रदर्शयति प्रकरणान्तरादिति । समाधत्ते इति चेन्न इति । उत्तरग्रन्थमुपपादयति एकस्यामपीत्यादि । प्रकरणान्तरं कर्तृभेदाद्भवति नतु विद्याभेदादिति ॥२॥

आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रतस्यापेक्षा विद्यते, तदन्येषां तदपेक्षा न विद्यते, प्रकरणान्तर विद्या भेद का नियामक है, अतः प्रकरणान्तर स्थित विद्या भिन्न है, एक नहीं है, ऐसा जो कहा था उसका, अनुवाद करके उद्धार करते हैं 'भेदान्नेति' इत्यादि प्रकरणान्तर होने से तथा विधेय का भेद होने से सब विद्याओं में एकत्व नहीं होगा, ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक भी विद्या में कर्त्ता के भेद होने से प्रकरणान्तर हो सकता है । एक कर्त्ता में यदि प्रकरणान्तर हो तब विधेय में भेद होने से विद्या का भेद होगा, अन्याया नहीं ॥२॥

यद्यपि प्रकरणादिभेद विद्याभेद नियामक नहीं है एतावता विद्या का ऐक्य नहीं हो सकता है, क्योंकि देखिये आथर्वणिक के विद्या में शिरोव्रत का विधान है और अन्य शाखियों

स्तीति विद्याभेदः स्यादितिसमाधीयते— शिरोव्रतं न विद्याङ्गमपि तु स्वाध्यायस्यैव यतः समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे तथात्वेन स्वाध्यायाङ्गत्वेन शिरोव्रतमपि वेदव्रतत्वेन समामनन्ति 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' [मु० ३।२।११] इत्यध्ययनशब्दाधिकारादित्यवगम्यते । सववच्च तन्नियमः । यथा हि सवसम्बन्धिनः सप्त होमा सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता आथर्वणोक्तैकाग्निसम्बन्धित्वेन तत्रैवानुष्ठेया न शाखान्तरोक्तत्रेताभिषु तथैवाधीतशब्दाच्च तदध्ययन एव शिरोव्रतस्य नियमोनान्यत्र ॥३॥

इति येषामपेक्षा विद्यते येषां तदपेक्षा न विद्यते तयोर्विद्याभेदः स्यादेवेति कथं विद्यैकत्वमित्याशङ्क्य तत्समाधानायोपक्रमते एवमपीत्यादि । अयमाशयः सत्यमार्थवर्णिकानां शिरोव्रतापेक्षा तदन्येषां तन्नास्तीति विद्याभेदः स्यादिति प्रतिभाति । परन्तु, आथर्वणिकानामपि शिरोव्रतापेक्षा, नोपासनायामपितु तदध्ययने एव । नैतदचीर्णव्रतोऽधीते इति चाधिकृतविषयादध्ययनशब्दप्रयोगाच्च स्वकीयोपनिषदध्ययनस्याङ्गभूतमेव नतु विद्याङ्गमिति । न च तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् इति दर्शनात्. विद्यांगत्वमपीति वाच्यम्. तत्राप्येतामिति प्रकृत प्रत्यवमर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमतोग्रन्थविशेषसम्बद्ध एनौषधर्मः । सववत् । यथा सवाः सप्तसौर्यादयः शतौदनपर्यन्ताः, आथर्वणिकानामेव नान्येषामेवमध्ययने एव शिरोव्रतस्यापेक्षानतूपासनायामिति । एतदेव सर्वं पिण्डीकृत्यभाष्यकारा निवेदयामासुरिति संक्षेपः ॥३॥

के उपासन में तो शिरोव्रत का विधान नहीं है तो एतद्व्युक्त विद्या में तो भेद होगा ? एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'स्वाध्यायस्येत्यादि' शिरोव्रत विद्या का अङ्ग नहीं है. किन्तु शिरोव्रत स्वाध्याय का अङ्ग है । अर्थात् स्वकीय शाखा के अध्ययन में शिरोव्रत की आवश्यकता होती है किन्तु उपासन में तदपेक्षा नहीं है । क्योंकि समाचार में अर्थात् वेद प्रतिपादित व्रत के उपदेश परक निबन्ध विशेष में स्वाध्याय के अङ्गरूप से शिरोव्रत को भी वेद व्रत रूप से कथन किया है । इस बात को 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' इसप्रकार अध्ययन शब्द के अधिकार से जाना जाता है । 'सववच्चतन्नियमः' जिसतरह सब सम्बन्धी सौर्यादिक शतौदन पर्यन्त सात होम आथर्वण कथित एकाग्नि सम्बन्धी होने से आथर्वणिक के प्रकरण में ही उसका अनुष्ठान किया जाता है किन्तु शाखान्तर में कथित त्रेताग्नि में नहीं होता है. उसी तरह 'नैतदचीर्ण' यहाँ 'अधीत' शब्द का अविकार से शिरोव्रत का शाखाध्ययन में ही सम्बन्ध है. किन्तु ब्रह्मोपासन में शिरोव्रत का सम्बन्ध नहीं है । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥३॥

॥ दर्शयति च ३।३।४ ॥

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ [का० २।१५] इति श्रुतिर्दर्शयति सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन तत्प्रतिपादकवाक्योक्तानां सर्वासां वेदान्तविद्यानामेकत्वम् । एवमन्यत्रापि योज्यम् ॥४॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ३।३।५

एवं विधैक्यं दृढीकृत्य तत्प्रयोजनमाह-उपसंहार इत्यादि । च शब्दोऽवधारणार्थः । एवं सर्ववेदान्तेषु दहरोपासने समाने सत्यन्य

सर्वमप्युपासनमेकमेव नतु प्रकरणादिबलेनानेकमिति विषयं श्रुतिरपि दर्शयति सर्वे वेदा इत्यादि । अत्र प्रतिपाद्यस्य प्राप्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन तत्प्रतिपादकविद्यया अप्येकत्वमेव । यद्यपि स्वरूपतोज्ञानं विभिन्नमिव प्रतिभाति तथापि ज्ञेयस्यैकत्वान् तद्वोधकज्ञानमपि, एकमेव, ज्ञेयभेदेन ज्ञानभेद इति नियमात् । तदिह ज्ञेयस्योपास्यस्यैकत्वेन ज्ञानमपि सर्वमेकमेवेति विधैकत्वमेव नतु तस्य नानात्वमिति भावः ॥४॥

शाखादिभेदेपि नामादीनामेक्यात् । तत्र तत्रोक्तानां सर्वासामपि विद्यानामेकत्वं स्थिरिकृतम् । एतावत्कण्ठशोषणस्य प्रयोजनं दर्शयितुमुपक्रमते एवं त्रिवैक्यं दृढीकृत्येत्यादि

‘सभी वेद जिस पद का अर्थात् प्राप्य का प्रतिपादन करते हैं’ इत्यादिक श्रुति बतलाती है सर्ववेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्ममें एकत्व है, तो तत्प्रतिपादक वाक्योक्त सभी विद्याओं में एकत्व है । इसीतरह सर्वत्र विद्याओं में एकत्व को जानना चाहिये इति संक्षेपः ॥४॥

युक्ति तथा श्रुतियों से सब विद्या का एकत्व है इस बात को दृढ करके विद्या में एकत्व का प्रयोजन बतलाते हैं ‘उपसंहार’ इत्यादि । सूत्रघटक जो ‘च’ अव्यय शब्द है उसका अर्थ है अवधारण अर्थात् निश्चयार्थक सूत्रघटक चकार है । इसतरह सभी वेदान्तों में अर्थात् सर्वशाखा में दहरोपासन के समानता होने से एक शाखा भेद में दहरविद्या में जिन अधिक गुणों का विद्यांगत्वेन कथन है उन गुणों का, जिस स्थल में कथन नहीं है उस स्थल में उन अधिक गुणों का उपसंहार करना चाहिये । [क्योंकि वे अज्ञात जिस तरह पठित स्थल में विशिष्ट विज्ञान का उपकारक होता है, उसी तरह अन्यत्रापि उपकारक होगा, दोनों जगह विज्ञान तो समान है, इसलिये सर्वत्र सर्वगुण का उपसंहार अवश्यमेव करना चाहिये ।] क्योंकि

त्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः कर्तव्यः । कुतः ? अर्थाभेदात् । गुणानां विद्याङ्गत्वेन तदुपकाररूपप्रयोजनाभेदात् । गुणानां विद्योपकारित्वाच्च वेदान्तान्तरोक्तगुणानां वेदान्तान्तरेऽवश्यमुपसंहारः कर्तव्यः । विधिशेषवत् । यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रधर्माणामग्निहोत्रस्य सर्वत्रैक्यात्सर्वत्रोपसंहारः क्रियते तद्वदिति ॥५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

यथा विधिस्थले अग्निहोत्रानामेकत्वे तद्गुणानां न्यूनाधिकानां विद्यमानत्वेऽपि न्यूनस्थले तदधिकगुणानामुपसंहृत्यकमेकत्वं स्वीक्रियते तथैव, दहराद्युपासनेऽसत्यत्र कथितानां गुणानामुपहारं कृत्वा सर्वविद्यानामेकत्वमेव, नतु गुणाधिक्यस्थलीयविद्याभिन्ना, न्यूनगुणस्थलीयाविद्याभिन्ना, सत्यपि गुणानां विद्याङ्गत्वे । इदमेव प्रयोजनम् विद्यैकत्वप्रसाधनस्य । एतदेव दर्शयितुं भाष्यकारः ग्राह-च शब्दोऽवधारणार्थक इत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति संक्षेपः ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सर्ववेदान्त प्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

दोनों जगह अर्थ अभिन्न है, अर्थात् विज्ञान एक है । विधिशेष की तरह । अर्थात् जिसतरह विधिशेष जो अग्नि होत्रादि का धर्म है उसको वही अग्नि होत्रादि कर्म समान है तो उपसंहार होता है । गुणों को विद्या का अङ्ग होने से उपकार रूप प्रयोजन सर्वत्र समान ही है । गुणों को विद्या का उपकारक होने से वेदान्त में कथित जो गुणजात है उनका अन्य वेदान्तों में न्यून गुणक वेदान्त में अवश्य उपसंहार करना चाहिये । 'विधिशेषवत्' जिसतरह विधिशेष अग्निहोत्रादि धर्मों का अग्निहोत्र कर्म को सर्वत्र एक होने से सर्वत्र उपसंहार होता है, उसी तरह प्रकृत में भी होना चाहिये । जिसतरह विविकाण्ड में विधिस्थल में कर्म अग्नि होत्रादिक के एक होने से एक जगह में कथित जो धर्म है उसका, उपसंहार जहाँ न्यून धर्म कथित है वहाँ भी किया जाता है, उसी तरह उत्तर काण्ड में भी एकत्र उपासन में कथित जो गुणजात है उसका उपसंहार न्यून स्थल में करना चाहिये । क्योंकि शाण्डिल्यादि विद्या सर्वत्र एक है । वही गुणोपसंहार न्यून गुण स्थल में करना चाहिये, यह फल है विद्यैकत्व प्रसाधन का । इसी अभिप्राय को 'अर्थाभेदात्' इस सूत्रावयव से सूत्रकार ने संकेत किया है, इसी वस्तु को भाष्यकार ने 'उपसंहार रूपप्रयोजनाभेदात्' से किया है ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सर्ववेदान्त प्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

अथान्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ३।३।६

वाजसनेयके 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्' [बृ०१।३।७] इत्युद्गीथविद्याम्नायते । तथा छान्दोग्येऽपि 'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा.१।२।७) इति सैव विद्या श्रूयते । तत्रायं संशयः किमुभयत्रापि विद्यैक्यमेवाहोस्विद्विद्याभेद इति । चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु उभयत्र प्राणदृष्ट्यैवोद्गीथ उपासनमविशेषेण श्रुतम् । तथापि 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छा०१।१।१] उद्गीथमाजहुरनेनैतानभिहनिष्यामः (छा०१।२।१) इत्युद्गीथावयवे प्रणव एव प्राणदृष्ट्योपासनं छन्दोगानाम् । वाजि

बृहदारण्यके छान्दोग्ये च देवासुरसंग्रामोदृश्यते । तत्र बृहदारण्यके तेह देवा ऊचुरित्यादि तथा छान्दोग्ये तद्वदेवा उद्गीथमाजहुरित्यादिना प्रकरणमुत्थाप्य अथ य एवायं मुख्यः प्राणः इत्यादिना मुख्यप्राणोपासनमुभयत्रापि प्रदर्शितम् । तत्र संशयः उभयत्र

वाजसनेयक में 'वागादिक प्राणों को असुरग्रस्त हो जाने के बाद इस आसन्य मुख्य प्राण से कहा कि तुम हम लोगों के लिए उद्गान करो- तब कहा 'तथेति' यह कह करके मुख्य प्राण ने उन लोगों के लिए उद्गान किया इस प्रकार से उद्गीथ विद्या में कहा है । एव छान्दोग्य में भी 'जो यह मुख्य प्राण है, उसको उद्गाथ रूप से उपासन किया' इस प्रकार से वही प्राण विद्या श्रुत है । इसमें संशय होता है कि क्या दोनों जगह प्राण विद्या एक है अथवा शाखाभेद से विद्या भिन्न-भिन्न हैं । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं दोनो जगह विद्या एक ही है क्योंकि विधायक वाक्य दोनों जगह एक ही है । इसके उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं कि यद्यपि बृहदारण्यक छान्दोग्य दोनो जगह में प्राण दृष्टि से उद्गीथ का उपासन समान रूप से श्रुत हो रहा है तथापि 'ओम्' इत्याकारक अक्षर को उद्गीथ रूप से उपासन किया 'उद्गीथ का ग्रहण किया' इससे असुर को पराभूत करुंगा' इसप्रकार उद्गीथ के अवयव प्रणव में प्राण दृष्टि से उपासन छान्दोग्य में है । और बृहदारण्यक में तो समग्र उद्गीथ में प्राणदृष्टि से.

नान्तु समप्रोद्गीथे प्राणदृष्ट्योपासनम् 'हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेना-
त्ययामः' (बृ. १।३।१) इति । तथा चोभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेद एवेति ।
सूत्रार्थयोजनात्वेवम् । उभयत्र प्राणस्य कर्तृकर्मत्वभेदेनान्यथात्वाद्वि-
न्नाकारत्वादाकारभेदेनोपास्यभेदादन्यथात्वमेव शब्दान्न विद्यैक्य-
मितीमां शङ्काम्पहिर्गति पूर्वपक्षी-इति चेन्नेति । कुतः ? अविशेषा
दुभयत्र विशेषाभावाद्विद्यैक्यमिति ॥६॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ३।३।७

न वेतिपक्षनिवर्तकौ । न ह्यत्र विद्यैक्यमुपपद्यते । कुतः ?
प्रकरणभेदात् । छान्दोग्ये ह्युद्गीथावयवप्रणवोपासना प्रक्रम्यते 'ओमि-
विद्यैक्यं तद्भेदोवेति, तत्र विद्यैक्यमुक्त युक्तेः । इति पूर्वपक्षः । विद्याभेदः कुतः ?
उभयत्ररूपभेदादिकं दर्शयितुमुपक्रमते वाजसनेयके इत्यादि ॥६॥

अथ नात्रविद्यैकत्वमपितु विद्याभेद एव युक्तः प्रकरणभेदात् । उपक्रमभेदात् ।
अत्र ह्युपाक्रमभेदो भवति, छान्दोग्ये उद्गीथावयवे प्रणवे ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत
इत्यादिना, उद्गीथावयवस्योपासनं दृश्यते, वाजसनेयके तु समस्तस्योद्गीथस्योपासनं
दृश्यते, इत्युपक्रमभेदाद्विद्या भेद एव, उपक्रमाधीनत्वान् उपसंहारस्येति विद्याभेद
उपासन कहा है 'इन असुरों को यज्ञ में उद्गीथ से अतिक्रमण करूंगा' इति । तब दोनों
जगह रूप के भिन्न होने से उभयत्र विद्या भिन्न-भिन्न है । सूत्रार्थ योजना इसप्रकार से है
दोनों जगह प्राण को कर्तृत्व कर्मत्व भेद से विभिन्न होने से भिन्न आकार है और आकार
भेद होने से शब्द से विद्या में भेद सिद्ध होता है विद्या में एकत्व नहीं है ? इस शंका को
हटाते हैं 'इति चेन्न' इस ग्रन्थ से । क्यों ? तो दोनों जगह खास कोई भेदक नहीं होने से
विद्या में एकत्व है ॥६॥

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में कथित प्राण विद्या परस्पर विभिन्न है, एक नहीं है ।
इस बात को बतलाने के लिए सूत्रव्याख्यानमुखेन उपक्रम करते हैं 'नवेतिपक्षनि-
वर्तकौ' इत्यादि ।

सूत्रके 'न' तथा 'वा' यह अव्यय वाचक शब्द हैं । वे एकत्व पक्ष का निवर्तक हैं ।
यहाँ छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकीय जो प्राण विद्या है वह एक नहीं है । क्योंकि प्रकरण

त्येतदक्षरमुद्गीथेनात्ययामः' [बृ०१।३।१) इति । ततश्च रूपभेदोऽ-
स्त्येवेति विद्याभेदः । परोवरीयस्त्वादिवत् । यथा समानायामपि
शाखायामुद्गीथोपासनेहिरण्यपुरुषदृष्टेः परोवरीयस्त्वादिविशिष्ट-
दृष्टिर्भिन्नैव । तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् ॥७॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ३।३।८

ननु शाखाद्वये विधैक्यमस्ति । कुतः ? संज्ञातः । उभयत्रोद्-
गीथविद्येति संज्ञाया एकत्वादिति चेत् तत्संज्ञैक्यं विधेयभेदेऽप्यस्त्येव
एवोभयत्रेति । परोवरीयस्त्ववदिति दृष्टान्तः । यथा परमात्मदृष्ट्याध्यासस्य समत्वेपि
आकाशोद्देवैभ्योज्यायान् स एष परोवरीयान् इति परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्टस्योद्गीथस्यो
पासनम् । अक्षयादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनतो विभिन्नं तथै-
वोभयत्र विद्याभिन्नैव नैकेति दर्शयितुमुपक्रमते नवेति पक्ष निवर्तकावित्यादि । अन्यत्सर्वं
भाष्यानुसारेणैव ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥७॥

ननु उद्गीथविद्येतिनाम्न एकत्वादुभयत्रशाखाद्वयेपि विद्याया एकत्वमेव भवतु इति
चेत्सत्यम्, नहि संज्ञाया एकत्वे संज्ञिनोरपि अभेद एव न्याय्यः । दृश्यते कर्मकाण्डे
अर्थात् प्रक्रम का भेद होने से । छान्दोग्य में उद्गीथ का एकावयव प्रणव के उपासन का
प्रक्रम है । 'ओम् इत्याकारक उद्गीथावयव का उपासन करना' बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ
का उपासन है, तो इसप्रकार रूप का भेद होने से विद्या का भेद है । जिसतरह कर्मकाण्ड
में द्रव्यदेवता लक्षण रूपभेद से कर्मभेद होता है । उसी तरह प्रकृत में रूपभेद होने से
विद्या का भेद है । परोवरीयस्त्व के समान । अर्थात् जिसतरह परमात्मदृष्टि का समानत्व होने
पर भी 'आकाशोद्देवैभ्योज्यायान्' 'स एष परोवरीयान्' यहाँ परोवरीयस्त्वादि गुण विशिष्ट
उद्गीथोपासन, अक्षयादित्यगत हिरण्यश्मश्रुत्व विशिष्टोद्गीथोपासन समान शाखा में भी भिन्न है,
उसी तरह प्रकृत में भी दोनों जगह का उपासन भिन्न है ॥७॥

छान्दोग्य शाखा तथा बृहदारण्यकीय शाखा में विद्या का एकत्व होना ही युक्त है ।
क्योंकि संज्ञा के अर्थात् छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक इन दोनों में 'उद्गीथ विद्या' इसप्रकार नाम
एक है [यथा काशीस्थ रामदास तथा प्रयागस्थ रामदास ये दोनों एक है ननु स्थान भेद प्रयु-
क्त भेद होता है व्यक्ति में] इसी तरह प्रकृत में स्थानभेद होने पर भी दोनों उपासन में एकत्व

यथा नित्याग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे चाग्निहोत्रसंज्ञाया
एकत्वेऽपि कर्मणोभिन्नत्वम् ॥८॥

५ व्याप्तेश्च समञ्जसम् ३।३।९ ५

यथा प्रथमपाठके उपक्रमवाक्ये प्रणवस्योपास्यत्वं तथेतरास्वपि
विद्यासूद्गीथावयवभूतप्रणवस्यैवोपास्यत्वव्याप्तेः । एवं 'उद्गीथमुपा
अग्निहोत्र संज्ञाया नित्याग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनगते चाग्निहोत्रेनाम्नः समानत्वेऽपि कर्मणोः
भेदः सर्वसंमतः, तथैव प्रकृते उभयशाखायां नाम्ना समानत्वेऽपि विद्ययोर्भेदस्य श्रुतिसिद्ध-
त्वादिकं बहुतरं स्वयमूहनीयमिति संक्षेपः ॥८॥

उद्गीथोपासनप्रकरणे आदाववसाने च प्रणवस्योपासनं दृश्यते, क्वचिन्मध्ये
उद्गीथस्योपासनं श्रूयते । तत्रादौविरामे च तस्य निर्णयात् मध्ये यत्रोद्गीथोपासनं
तत्रापि प्रणवस्यैव व्याप्तिरभ्युपेतव्येऽपि व्याप्तत्वान्मध्येऽपि प्रणवोपासनमेव समञ्जसमित्या
ही होना चाहिये । जिसतरह दृष्टान्त में प्रमाणान्तर से अभेद का निश्चय होने से नाम की
एकता व्यक्यैक्य का प्रयोजक है । उसी तरह प्रकृत में समझना चाहिये । उत्तर=यह संज्ञा
नाम का जो ऐक्य है वह विधेय के भेद होने पर भी संभवित है । जिसतरह नित्याग्निहोत्र
में तथा कुण्ड पायि के अयनगत अग्निहोत्र में अग्निहोत्र संज्ञा का एकत्व होने पर भी कर्म में
परस्पर भेद होता है । नित्याग्निहोत्रापेक्षया कुण्डपायि के अयनगत कर्म का भेद प्रमाणान्तर
से निश्चित है । इसलिये भेद अभेद प्रयोजक नहीं होता है । उसी तरह प्रकृत में संज्ञा जो
उद्गीथ विद्या नाम है उसकी समानता होने पर भी विधेय उपासन में अभेद नहीं परन्तु
भेद ही होता है ॥८॥

जिसतरह छान्दोग्य के प्रथम प्रपाठकीय उपक्रम वाक्य में प्रणव—ओंकार में उपास्यत्व
श्रुत है, उसी तरह इतर विद्याओं में भी उद्गीथ का एक देशभूत प्रणव में ही उपास्यत्व
श्रुत है । एवं 'उद्गीथ का उपासन किया' इसप्रकार मध्य में भी प्रणव का उपासन ही युक्त
है । अर्थात् आदि अन्त में नाम ग्रहणपूर्वक प्रणव का उपासन है, तब मध्य में उद्गीथोपासन

साञ्चक्रिरे' [छा० १।२।७] इत्यादौ । मध्येऽपि प्रणवविषयकोपास-
नमेव समञ्जसम् । १।

इति श्रीआनन्दभाष्येऽन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

अथ सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

॥ सर्वाभेदादन्यत्रमे ३।३।१० ॥

‘यो ह वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति
प्राणोवाव ज्येष्ठश्च’ (छा. ५।१।१) इतिच्छन्दोगाः प्राणविद्यां समाम-
नन्ति । वाजिनोऽप्येवम् । इत्युभयत्र समानरूपत्वाद्विधैक्यम् । परन्तु
कौषीतकिनस्तु वसिष्ठत्वादिगुणराहित्येनेति सर्वत्र विधैक्यमुत नेति
संशये न विधैक्यम् । कुतः ? रूपभेदात् । एकत्रज्येष्ठवसिष्ठत्वादि
अयेनोपक्रमे यथा प्रथमेत्यादि सुगममन्यदिति ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

छान्दोग्यबृहदारण्यकीयप्राणविद्यां सर्वत्र वसिष्ठत्वादिकाः प्राणस्य कथिताः
परन्तु कौषीतकिब्राह्मणे तादृशगुणसहितप्राणस्योपासनं न प्रतिपादितवान्, इति तत्र संशयो
भवति यदिमाः सर्वा विभिन्ना अभिन्नावेति, विभिन्नैव, एकत्र वसिष्ठत्वादिगुणयुक्त-
स्यान्यत्रतद्रहितस्योपास्यत्वं प्रतिपादनात् । रूपभेदेन विद्याभिन्नैवेति प्रथमवक्षः । सर्वा
होने पर भी मध्य में प्रणवोपासन ही युक्त है ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशेऽन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

‘जो उपासक ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्व गुणयुक्त प्राण का उपासन करता है वह उपासक स्वकीय
ज्ञाति में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ होता है, प्राण सब इन्द्रियों में ज्येष्ठ श्रेष्ठ है [क्योंकि श्रुति निर्णय
काल से लेकर के अन्तिम इवासपर्यन्त प्राण की वृत्तित्व शरीर में होता है, इतर इन्द्रियों में
गोचक स्थान के निर्माणादनन्तर शरीर में वृत्ति होती है । प्राणावीन सबकी स्थिति रहती है ।]
इसतरह छान्दोग्य प्राण विद्या का कथन करते हैं । एवं वाजसनेयक भी कहते हैं । इसप्रकार
दोनों जगह समान रूप होने से प्राण विद्या में एकत्व है यह स्थिर वस्तु है । परन्तु कौषीत
कि ब्राह्मण में वसिष्ठत्वादि गुणरहित रूप से कथन किया है । तो सन्देह होता है कि सर्वत्र

गुणैर्युक्त उपास्यतया श्रूयते । अपस्त्र तु तद्रहित इत्युपास्यरूपभेदो विद्याभेदसाधक इति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वाभेदादन्यत्रेम इति । न ह्यत्रविद्याभेदः, अन्यत्र प्राणविद्यायामपीमे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपास्यतया विहिता एवेति । कुतः सर्वाभेदात्, यद्यपि कौषीतकिनांप्राणविद्यायांवसिष्ठत्वादिकं न शब्दतश्चोक्तं तथापि वागादिगतवसिष्ठत्वादिगुणानां प्राणहेतुकत्वानुसन्धानमन्तरेण प्राणस्य ज्यैष्ठ्यादिकमप्यनुपपन्नं स्यात्तस्मात्कौषीतकिनां प्राणविद्यायामपि वसिष्ठत्वादि सम्बन्धवतः एव प्राणस्योपास्यत्वमिति न रूपभेदोऽतो विद्यैक्यमेवेति ॥१०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

भेदान्यत्रापि वसिष्ठत्वादिकागुणा उपसंहर्तव्या एव सर्वत्र प्राणविद्यायाः सर्वत्र समानत्वात् । यत्र नोक्तगुणास्तत्र पि ते उपसंहर्तव्या एवेत्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते भाष्यकारः यो ह ज्यैष्ठ्यश्च ज्यैष्ठ्यत्वेत्यादि अन्यत्सर्वं भाष्योक्तमेवानुसंधेयमिति ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

प्राण विद्या एक ही है अथवा कौषीतकि ब्राह्मण की प्राण विद्या भिन्न है, क्योंकि रूपभेद होने से एक जगह छान्दोग्य बृहदारण्यक में वसिष्ठत्वादि गुणयुक्त प्राण को उपास्य रूप से कथन किया है । और कौषीतकि ब्राह्मण में वसिष्ठत्वादि गुणरहित प्राण को उपास्य रूप से कथन किया है तो इसप्रकार उपास्य के रूप का भेद होने से विद्या का भेद प्राप्त होता है । एतदृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त बतलाते हैं 'सर्वे भेदादित्यादि' यहाँ विद्या का भेद नहीं है अन्यत्र कौषीतकि ब्राह्मण में भी वसिष्ठत्वादिक गुणजात उपास्य रूप से विहित है । क्योंकि उपास्य विज्ञान को सर्वत्र अभेद होने से । यद्यपि कौषीतकि ब्राह्मण में प्राणविद्या में वसिष्ठत्वादि गुण का कथन मुख्यतः कथन नहीं किया है तथापि वागादिगत वसिष्ठत्वत्वादि गुणों को प्राण हेतुकत्वानुसंधान के बिना प्राण में ज्यैष्ठ्यत्व ज्यैष्ठ्यत्व अनुपपन्न हो जायगा । तस्मात् कौषीतकि ब्राह्मणीय प्राणविद्या में भी वसिष्ठत्वादि सम्बन्धजन्य प्राण का ही उपास्यत्व है, इसलिये भेद नहीं है अतः विद्या एक ही है ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

ॐ आनन्दादयः प्रधानस्य ३।३।११ ॐ

पूर्वाधिकरणन्यायेन यैर्गुणैर्विना ब्रह्मस्वरूपस्यानुसन्धानमेव नोपपद्यते तेषां विचारः प्रस्तूयते । तत्र ब्रह्मस्वरूपनिरूपकाणां धर्माणां सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारोऽस्ति न वेति संशये प्रकरणाधीनानान्तूपसंहार आवश्यको नत्वनधीतानाम्प्रमाणाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते-आनन्दादयः प्रधानस्येति । पूर्वसूत्रादभेदादित्यनुवर्तते ।

ननु स्वरूपणपरका आनन्दविज्ञानमयत्वादयोगुणा ये यत्र श्रयमाणा भवन्ति तैर्वत्ते-ज्ञातव्याः सर्वत्र सर्वे गुणाः प्रतिपत्तव्या इति संशयः । तत्र यत्र यावन्तो गुणास्तत्र त एव संग्राह्या नत्वनुक्ता अपि संग्राह्या अनुक्तानां संग्रहे प्रमाणाभावात् प्रयोजनाभावान्चेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तः यत्र ये उक्तास्ते तत्रसंग्राह्या एवोक्तत्वात् । ये च नोक्ता यत्र तत्रापि ते संग्राह्या एव, कुतः ? उपास्यस्यब्रह्मणोऽनन्यत्वात् । उपास्य भेदादेवोपासनाभिद्यते । इहतु तादृशगुणविशिष्टः परमात्मा सर्वेश्वर श्रीरामः सर्वगतत्वादिगुणविशिष्ट

परमात्मा का जो आनन्दादिक गुण है, वह जो गुण जहाँ श्रयमाण है उसका उस स्थल में उपसंहार होता है । परन्तु जो गुण जिस स्थल में उपस्थित नहीं है, उसका भी उस स्थल में उपसंहार करना ही चाहिये । इस बात को कतलाने के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'पूर्वोक्ताधिकरणेत्यादि' पूर्वोक्ताधिकरण न्याय से अर्थात् सर्वाभेदाधिकरण न्याय से जिन गुणों के बिना परमात्मा के स्वरूप का अनुसन्धान अनुचिन्तन उपपन्न न हो, उन गुणों के विचार को प्रस्तुत करते हैं ।

उसमें ब्रह्मस्वरूप के निरूपक जो धर्म समुदाय आनन्दादिक हैं उन सबका सर्व ब्रह्म विद्या में उपसंहार होता है अथवा नहीं होता है, अर्थात् जिस स्थल में जितने परमात्म गुण श्रुत हैं, उनका मात्र ग्रहण होता है और उस स्थल में श्रुत नहीं है किन्तु स्थलान्तर में श्रुत हैं, उन अश्रुत का भी उपसंहार अश्रुतस्थल में होता है अथवा उपसंहार नहीं होता है, ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जो गुण प्रकरण में श्रुत हैं उनका तो उपसंहार होता ही है, परन्तु जो गुण प्रकरण में अनधीत अश्रुत हैं उनका उपसंहार करने में तो कोई प्रमाण नहीं होने से उन अश्रुत गुणों का उपसंहार नहीं करना चाहिये ।

प्रधानस्य गुणवतो ब्रह्मणः सर्वेषूपसनेष्वभेदादानन्दादयो गुणाः
सर्वत्रोपसंहर्तव्याः । गुणानां गुण्यतिरिक्तेऽवस्थानादितिभावः ॥११॥

५ प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ

हि भेदे ३।३।१२ ५

नन्वेवं प्रियशिरस्त्वादीनामपि ब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहारः
कर्तव्य इत्याह 'प्रियशिरस्त्वेत्यादि ।

एक एवेति । तस्मात् उक्ता अनुक्ता ये गुणास्ते सर्वत्रोपसंहर्तव्या एवेत्याशयम
नुरुध्योपक्रमते पूर्वाधिकरणन्यायेनेत्यादि । गुणानामित्यादि भाष्यम् । नहि गुणो गुणिनं
विहायान्यत्रावतिष्ठते । नहि घटगुणानां घटादिव्यतिरिक्ताधारेऽवस्थानं कथमपि भवति
गुणगुणवतोः समवायात् । तथैव ये ब्रह्मगुणास्ते परमात्मानमपहायान्यात्रावस्थातुं न
शक्नुवन्तीति, अनुक्तानामपि तेषां तत्रोपसंहार आवश्यक इति ॥११॥

ननु यथा आनन्दादयः परमात्मगुणा इति ते यत्र न श्रूयन्ते तत्रापि तेषां ब्रह्म
गुणत्वादुपसंहारप्रतिपादितस्तथैव प्रियशिरस्त्वभेदादीनामपि परमात्मगुणत्वात् तेषा-
एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'आनन्दादयः प्रधानस्येति' पूर्वसूत्र
सर्वाभेदादन्यत्रोमे' इससे 'सर्वाभेदात्' इसका अनुवर्तन होता है । प्रधान अर्थात् गुणवान् जो
परमात्मा उनका सर्वत्र उपासना में अभेद एक होने से आनन्दादिक जो गुणजात परमात्मा
का है, उन सब का श्रुत अश्रुत सब स्थल में उपसंहार करना ही चाहिये । क्योंकि जो गुण
है उनका गुणवान् से अतिरिक्त स्थल में अवस्थान नहीं रहता है अर्थात् गुण तो गुणी में ही
रहेगा, तो यदि अश्रुत स्थल में उपसंहार नहीं करेंगे तब उन गुण के बिना परमात्मोपासन
नहीं होगा । इसलिये सर्वत्र उपासना में सर्व परमात्म गुण का उपसंहार करना आवश्यक है ।
अन्यथा तादृश गुण विशिष्ट परमात्मा का अनुसंधान नहीं हो सकेगा । अन्यथा अनुसंधान के
अन्यथानुपपत्ति से उपसंहार अत्यावश्यक है । विशेष विवरण आकार ग्रन्थों से देखना
चाहिये ॥११॥

आनन्दादिक गुण को भगवत्स्वरूप निरूपणपरक होने से जिसतरह सर्व विद्या में उप-
संहार होना चाहिये ? इस शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं 'प्रियशिर-
स्त्वादीनामित्यादि ।' पुरुषविवत्वाकार समर्पणपरक जो गुण प्रियशिरस्त्वादिक है उनका सर्वत्र

प्रियशिरस्त्वादीनां सर्वत्राप्राप्तिस्तेषां ब्रह्मस्वरूपगुणत्वाभावात्
केवलं ब्रह्मणः पुरुषविधत्वनिरूपणमात्रोपयोगित्वात्प्रियशिरस्त्वादी-
नाम् । नोचेच्छिरः पक्षादीनामवयवत्वे तदवयविनो ब्रह्मणोऽप्युपच-
यापचयौ स्याताम् । तथा सति निर्विकारत्वाभिधायिनीनां श्रुतीनां
विरोधः स्यात् ॥१२॥

मप्यश्रुतानामुपसंहारः कर्त्तव्य इति चेत्सत्यम् नैते प्रियशिरस्त्वादिका आनन्दसत्य-
कामत्वादिवन् परमात्मस्वरूपनिरूपणोपयोगिनः किन्तु परमात्मनः पुरुषाकारत्व
प्रदर्शनपरकाः, नतु स्वरूपनिरूपणपरः । तस्मान्नैतेषां प्रियशिरस्त्वादीनां सर्वत्र
प्राप्तिरित्यावेदयितुमुपक्रमते भाष्यकारः प्रियशिरस्त्वादीनामित्यादि । यदि प्रियशिरस्त्वा-
दिकाः परमात्मनोऽवयवाभवेयुस्तदा तादृशावयवानामवयवविभूतः परमेश्वरोपि, उप-
चितापचितको भवेत् तदा घटादिवत्सोपि प्रतिक्षणपरिणामीशरीरादिवद् भवन् सवि-
कारः स्यात् ततश्च परमेश्वरस्य निर्विकारता प्रतिपादकश्रुतीनां निरालम्बनत्व
प्रसङ्गः स्यादिति संक्षेपः ॥१२॥

विद्या में अप्राप्ति है, इन प्रियशिरस्त्वादिक गुणों का सर्वत्र उपसंहार नहीं होता है, क्योंकि
प्रियशिरस्त्वादिक गुण परमेश्वर के स्वरूप का निरूपणपरक नहीं है । प्रश्न=आनन्दादिक
भगवत्स्वरूपनिरूपणपरक है ये नहीं है तब इनका पाठ निरर्थक हो जायगा ! इसके उत्तर में
भाष्यकार कहते हैं 'केवलमित्यादि' प्रियशिरस्त्वादिक तो केवल परमेश्वर में पुरुष विधत्व को
निरूपण करने में उपयोगी है किन्तु ये गुणजात परमात्मस्वरूप निरूपणपरक नहीं हैं । अगर
ऐसा नहीं मानें किन्तु प्रियशिरस्त्वादिक को भी भगवत् स्वरूप निरूपणपरक मानें तब तो
शिरपाण्यादिक को परमात्मा का अवयव होने से, तादृश अवयवान् परब्रह्म परमात्मा को भी
तादृश अवयव के अपचय उपचय होने से परमात्मा का भी उपचय अपचय होगा, तब
अवयव के समान अवयवी परमात्मा में सविकारत्व अनित्यत्व स्पष्ट रूप से हो जायगा । इष्टा
पत्ति कह नहीं सकते हैं क्योंकि तब तो परमात्मा में निर्विकारत्व प्रतिपादक 'निष्कल निष्क्रियं
शान्तं निरवय्वं निरञ्जनम्' 'न मे कर्माणि लिपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा' इत्यादि । श्रुतिस्मृतियों के
साथ विरोध होगा । अथवा उक्तार्थ प्रतिपादक इन श्रुतिस्मृतियों का अप्रामाणिकत्व प्रसङ्ग हो
जायगा । यह इष्ट नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर सर्वत्र अनाश्वासकत्व तथा अस्तव्यस्तता होगी ।
जब प्रमाण शेखर वेदादि की यह गति है तब प्रत्यक्षादि प्रमाणों में किसतरह किसको विश्वास
होगा । तस्मात् प्रियशिरस्त्वादिक परमात्मा के स्वरूप निरूपणपरक नहीं है । इसलिये इन
गुणों का सर्वत्र ब्रह्म विद्या में उपसंहार करने का कोई प्रसङ्ग नहीं है । केवल ये गुण पुरुष
विधत्व का निरूपणपरक हैं ॥१२॥

ॐ इतरे त्वथसामान्यात् ३।३।१३ ॐ

उपचयापचयकरेभ्यः प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे ब्रह्मस्वाभाविक गुणत्वेन सदैकरसाः ज्ञानानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपनिरूपकधर्मत्वेनार्थ सामान्याद् ब्रह्मस्वरूपसमानत्वाद् ब्रह्मवद् ब्रह्मविद्यासु सर्वथानुसंधानायोपसंहर्तव्या एवेति ॥१३॥

ॐ आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ३।३।१४ ॐ

तर्हि प्रियशिरस्त्वादित्वेन ब्रह्मणोनिरूपणं किमर्थमित्यत आह—
'आध्यानाय' त्यादि ।

ननु यथा प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मविद्यायां नोपसंहारस्तदा सत्यकामः सत्यसंकल्पः इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितानां गुणानामपि ब्रह्मविद्यायामुपसंहारो न स्यात्, युक्तेरुभयत्र तुल्यत्वादित्याशङ्क्यसमाधातुमुपक्रमते इतरे तु इत्यादि । प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे ये ज्ञानानन्दसत्यकामादिका गुणास्तेऽर्थसमानत्वात्, ब्रह्मवत् ब्रह्मस्वरूपनिरूपकत्वस्य तुल्यत्वात् ब्रह्मवत् ब्रह्मविद्यायां सर्वत्रोपसंहर्तव्याः नतु प्रियशिरस्त्वादिवन्निराकर्त्तव्याः । यतः प्रियशिरस्त्वादिका न ब्रह्मस्वरूपनिरूपणप्रवणाः सत्यकामादिकास्तु ब्रह्मस्वरूपनिरूपणप्रवणा इत्यादिकं सर्वमाक्षरैर्ज्ञातव्यमिति संक्षेपः ॥१३॥

यदि प्रियशिरस्त्वादिनिरूपणस्य प्रयोजनं नास्ति तदा तादृशरूपवत्तया परमात्मनं

उच्य अपचय कारक जो प्रियशिरस्त्वादिक धर्म हैं उनसे भिन्न ब्रह्म का स्वाभाविक गुण होने से ब्रह्मवत् सर्वदा एक स्वभावक ज्ञानानन्द सत्य संकल्पादिक है, उसको ब्रह्म स्वरूपक धर्म होने से अर्थ सामान्य से अर्थात् ब्रह्म स्वरूप के समान होने से ब्रह्म के समान सर्वविद्या में सर्वथा अनुसंधान=अनुचिन्तन करने के लिये अवश्य उपसंहर्तव्य है । अर्थात् ब्रह्म का स्वाभाविक आनन्दादिक गुणों का सर्वत्रोपसंहार करना चाहिये, किन्तु प्रियशिरस्त्वादिक गुणों का उपसंहार नहीं करना, क्योंकि ये प्रियशिरस्त्वादिक ब्रह्मगुण नहीं हैं ॥१३॥

यदि प्रियशिरस्त्वादिक निरूपण की आवश्यकता नहीं है तब प्रियशिरस्त्व रूप से ब्रह्म का निरूपण क्यों किया गया ! इस शंका के निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं

प्रियशिरस्त्वादीनां निरूपणस्य प्रयोजनान्तराभावादाध्याना-
यानुचिन्तनायोपासनासिद्धयर्थं तद्रूपेण ब्रह्मणः पुरुषविधत्वनिरूपणं
कृतम् ॥१४॥

५ आत्मशब्दाच्च ३।३।१५ ५

‘अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः’ (तै० २।३) इत्यात्मशब्दादा-
निरूपणं कथं कृतमित्याशङ्कानिरासायोपक्रमते भाष्यकारः तर्हि प्रियशिरस्त्वादित्वेनेत्यादि
यद्यपि तादृशरूपत्वेन निरूपणं व्यर्थमिवाभातिः तथापि प्रियशिरस्त्वादिरूपविशिष्ट
ब्रह्मणोऽनुसंधानाय तन्निरूपणस्यावश्यकत्वात् । विशिष्टस्य परमात्मन उपासनं
विशेषणानिरूपणमन्तरेण न संभवति, विशिष्टबुद्धौविवेचनज्ञानस्य कारणत्वात्, दण्डी-
पुरुषवत् । यथा दण्डविशिष्टबुद्धिविवेचनदण्डज्ञानमन्तरेणानुपपद्यमाना तादृशविशिष्ट
बुद्धिमाक्षिपति कारणतया तथा प्रियशिरस्त्वविशिष्टपरमात्मनोऽनुचिन्तनम्, प्रिय-
शिरस्त्वप्रकारकज्ञानमन्तरेणानुपपद्यमानं तस्यापि तत्कारणत्वमाक्षिपतीति प्रयोजनान्तर
विरहेण तन्निरूपणमुपासमार्थमेवशास्त्रे कृतमिति ॥१४॥

ननु प्रियशिरस्त्वादयोन परमात्मनः स्वरूपभूता गुणा नवा तादृशानां तेषां सर्वत्र
विद्यायामुपहारस्तत्कथनन्तु केवलमुपासकानां हृदये प्राकृतिकरूपादिविरहितपरमात्मन
आरोहायैव कृतं नतु प्रयोजनान्तरं विद्यते इति दर्शयितुमाह आत्म शब्दाच्चेति अन्योन्तर
आत्मानन्दमय इत्यत्रात्मशब्दः पठितः आत्माचावयवरहित इति न प्रियशिरस्त्वादिका
आध्यानायेत्यादि’ प्रियशिरस्त्वादि निरूपण का कोई प्रयोजनान्तर नहीं है, तथापि प्रियशिर-
स्त्वादि विशिष्ट ब्रह्मानुचिन्तन, ब्रह्मोपासना की सिद्धि के लिये प्रियशिरस्त्वादि रूप से ब्रह्म को
पुरुषविधत्वन, अर्थात् पुरुषाकारत्व का निरूपण किया गया है । क्योंकि विशिष्ट का अनुचिन्तन
विशेषण ज्ञान के बिना असंभवित है । दण्ड विशिष्ट पुरुष ज्ञान में दण्डज्ञान के समान प्रकृत
में भी इसी तरह समझना ॥१४॥

‘इससे भिन्न तथा एतदपेक्षया अन्तर आनन्दमय आत्मा है’ इस तैत्तिरीय वाक्य में
आत्मशब्द पठित है, और आत्मा में शिरपुच्छादिक अवयवों का होना असंभवित है, तब
आत्मा में प्रियशिरस्त्वादिक का जो कथन है वह उपासक के बुद्धि में सुखपूर्वक आरोह के
लिये है, ऐसा जाना जाता है । अर्थात् परमात्मा प्राकृत रूपादि रहित है इसलिये मन्द उपा-

त्मनश्च शिरः पक्षपुच्छत्वाद्यसम्भवात्तस्य प्रियाशिरस्त्वादिकथन
मुपासकबुद्धौ सुखेनारूढार्थमिति गम्यते ॥१५॥

५ आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ३।३।१६ ५

ननु प्राणमदिष्वात्मशब्दस्यानात्मन्यपि प्राणादिषु प्रयो-
गात् 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यात्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वं
कुतोऽवगम्यत इत्यत्राह—'आत्मे' त्यादि । 'अन्योऽन्तर आत्मानन्द-
मय' (तौ.२।५) इत्यत्रत्येनात्मशब्देन परमात्मन एव गृहीतिर्ग्रहणम् ।
इतरवत्—यथेतरेण 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्स ईक्षत लोका-
न्नु सृजा' इत्यात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम् । तद्वत् । कुतः ?
आत्मधर्माः किन्तु केवलमुपासकानांमन्दानामनुग्रहायैव तथा कथनमितिभावः "उपा-
सकानां कामार्थं ब्रह्मणोरूप कल्पना" इति श्रुत्युक्तेः ॥१५॥

अथ प्राणमयाधिकारेऽनात्मनि प्राणादावात्मशब्दस्य प्रयोगदर्शनेन सर्वत्रात्मन
एव ग्रहणं युक्तं तत्कथम् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मनो ग्रहणं
कथमित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते ननु प्राणमयादिषु इत्यादि । अन्योन्यतर आत्मानन्दमय
इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवति नत्वनात्मनोजीवस्य वा यतः एतद्वाक्य-
समानक लोकानुसृजा इत्यादौ परमात्मन एव ग्रहणात् । यदि कदाचित् परमात्म
भिन्नस्य ग्रहणं भवेत्तदा सृष्टिवाक्येन सामञ्जस्यं न स्यात् । तस्मात्पूर्वोत्तरवाक्य
सक को बुद्धिगम्य नहीं होता है, तो मन्द बुद्धि उपासक से सुखपूर्वक परमात्मा अनुसन्धीय-
मान हो सकें इसलिये प्रियशिरस्त्वादिक का कल्पन किया गया है. तो ये गुण सरळ तथा
उपासना सिद्ध्यर्थ करानामात्र का विषय हैं यथार्थ नहीं है ॥१५॥

प्रश्न=प्राणमयादिक में आत्मशब्द का अनात्म प्राणादिक में भी आत्मशब्द का
प्रयोग देखने में आता है, तब किसतरह समझते हैं कि 'अन्योन्तर आत्मानन्दमयः' यहाँ आत्म
शब्द परमात्मा का वाचक है ? इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं 'आत्मगृहीति-
रित्यादि' 'अन्तर आत्मानन्दमयः' एतत् वाक्य घटक आत्मशब्द से परमात्मा का ग्रहण होता
है । इतरवत्=जिसतरह 'आत्मा वा इदमेक' इत्यादि वाक्य घटक आत्मशब्द से परमात्मा का

उत्तरात् । 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्याद्युत्तरात्तदेकार्थाद्वा-
क्यात् ॥१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ३।३।१७

प्राक्तनेषु प्राणमयादिष्वप्यात्मशब्दस्यान्वयस्य सत्त्वात्कथमुत्त-
स्वाक्यान्निर्णयः स्यादिति चेत् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः
सम्भूतः' (तौ.२।२) इति प्राकृच्छ्रुतस्यात्मन एव प्राणमयादिवाक्येष्वव-
धारणात् परमात्मन एव निर्णयः । अन्नमयादिषु परमात्मबुद्धिस्वती-
योरैकार्थ्यक्यनिर्वाहायेहापि आत्मपदेन तस्यैव ग्रहणं कर्तव्यमिति संक्षेपः ॥१६॥

यद्यपि पूर्वोक्तप्राणमयादिष्वप्यात्मशब्दस्यान्वयदर्शनात् उत्तरवाक्यादात्मपदस्य
परमात्मपरकत्वं कथमिव स्यात् तथापि आकाशः संभूतः इत्यादि पूर्ववाक्यश्रुतपरमात्मन
एव प्राणमयादिषु निर्णयात् आनन्दमय इत्यत्रात्मपदं परमात्मपरकमेवेति निर्णीतु-
ग्रहण होता है उसी तरह प्रकृत श्रुति घटक आत्मा शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है ।
किस्त'ह इस बात को समझते हैं ? तो 'सोऽकामयत' इत्यादि उत्तर समानार्थक वाक्य से १६

पूर्वोक्त प्राणमयादिक में आत्मशब्द के अन्वय का विद्यमान होने से उत्तर वाक्य से
आत्मपद को परमात्मपरकत्व का निश्चय किसतरफ हो सकता है ? 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः संभूतः' इत्यादि वाक्य में पूर्वोक्त जो आत्मा उसका ही प्राणमयादिक में निर्णय होता
है । अन्नमयादिक से परमात्म बुद्धि को अतिक्रान्त होने पर तत्र तत्र विचार्यमाण होने पर
आनन्दमय में ही विश्रान्त होता है । एवं 'सोऽकामयत' इत्यादि उत्तर वाक्य भी आत्मपद
का परमात्मपरकता में तात्पर्य ग्राहक है, अर्थात् 'सोऽकामयत' इत्यादि उत्तर वाक्य से भी
निश्चित होता है कि 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमय' इत्यादि वाक्य में जो आत्मशब्द है वह
परमात्मपरक है जड बोधक नहीं है ।

"तदयमन्त्र संक्षेपोधिकरणस्य" आनन्दादिक जो परमात्मा का गुण है उनका सर्वत्र
उपसंहार होता है अथवा नहीं होता है ? यह संशय है उसमें पूर्व पक्षी कहते हैं प्रमाणाभावात्
सर्वत्रोपसंहार नहीं होता है । उत्तर सर्वत्र सर्व विद्या में आनन्दादिक का उपसंहार होता है,
क्योंकि उपास्य ब्रह्म सर्वत्र अभिन्न है इसलिये उपासन भी एक ही है, जिस तरह जो घट
होगा, वह कम्बूप्रीबादिमान् होगा ही । तब तो प्रियशिरस्त्व का भी सर्वत्रोपसंहार होगा ?

र्णाऽपि तत्र त विचार्यमाणायामानन्दमये विश्राम्यति । 'सोऽकाम-
यत' इत्युत्तखाक्यमस्मिन्नर्थे तात्पर्यग्राहकम् ॥१७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आनन्दाद्यधिकरणम् ॥४॥

अथ कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

५ कार्याख्यानादपूर्वम् ३।३।१८ ५

छान्दोग्यवाजसनेयकयोः प्राणोपासना विद्यते । तदनन्तरं
सहोवाच 'किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः' इत्यपां प्राणवास-
स्त्वमभिधाय 'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाञ्चाद्भिः परि-
दधति लम्बुकोहवासोभवत्यनग्नो भवति' (छा.५।२।२) इतिच्छा-
न्दोग्ये श्रूयते । तथा वाजसनेयकेऽपां प्राणवासस्त्वमुक्त्वा 'तस्मादेवं
मुपक्रमते प्राक्तनेषुप्राणमयादिषु इत्यादि । भाष्यार्थोनातिरोहित इति तदर्थं न प्रयत्नम-
करवमितिदिक् ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्य श्रीरामप्रणनाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आनन्दाधिकरणम् ॥४॥

छान्दोग्ये बृहदारण्यके च प्राणविद्याश्रुता । तत्र "किं मे वासोभविष्यतीत्याप
एवेत्यपि श्रुतम् । तत्र संशयः जलस्याचमनमपूर्वविधीयमानं भवति, अथवा जले
वासस्त्वपरिकल्पनम् तत्र प्रथमपक्ष एव, यतस्तत्रविधिविभक्तेश्रवणादिति पूर्वपक्षः ।
जलीयाचमनस्य सदाचारप्राप्तस्य विधाने नैयथ्यमेव शास्त्रस्य स्यादतोवासस्त्वानुचिन्त-
ऐसा नहीं स्वरूपानुबन्धी गुणों का सर्वत्रोपसंहार होता है प्रियशिरस्त्वादि स्वरूपानुबन्धी ब्रह्म
गुण नहीं हैं वे तो केवल अनुचिन्तन मात्र के लिये उपयोगी है ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे आनन्दाधिकरणम् ॥४॥

छान्दोग्य तथा बृहदारण्य में प्राणोपासना का विधान है । उसमें 'मेरा वस्त्र क्या
होगा ? उत्तर में कहा जल ही वस्त्र है' इस तरह जल को प्राण वस्त्र रूप से कथन करके
"इसलिये भोजन करनेवाले भोजन के पूर्व में तत्पश्चात् जल से ढाँकता है अनग्न होता है"
इस प्रकार छान्दोग्य में श्रुत है । तथा बृहदारण्यक में जल को प्राण रूप से कथन करके
"इसलिये एवं त्रित् भोजन पूर्व में आचमन करे भोजन के बाद में भी आचमन करे" ऐसा

विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदेनमनग्नं कुरुते' (वृ. ६। १। १४) इति श्रूयते । अत्र किमाचमनमपूर्वं विधीयते आहोस्विदपां प्राणवासस्त्वमनुद्यपुस्तादुपरिष्ठाच्चाचमनं प्राणविद्याङ्गतया विधीयत एवेति प्राप्तेऽभिधीयते 'कार्याख्यानादिति । अप्राप्तस्य विधान एव शब्दस्यार्थवत्त्वादत्राचमनस्य सदाचारप्राप्तत्वादाचमनमनूद्याचमनीया नामपामप्राप्तं प्राणवासस्त्वानुसन्धानमेव विधीयते । अप्राप्तस्यैव विधाने शास्त्राणामर्थवत्वमिति ॥१८॥

इति श्रीआनन्दभाष्यकार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

नमेवविधीयते प्राणस्यानग्रतासिद्धये नतु आचमनस्य विधानं भवति । यत् प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं भवेत् तत्प्राप्तको वेदभाग एव विधिः । यथा स्वर्गकामोयजेन इत्यादिप्राप्तप्रापकोऽनुवादः । तत्र विधिरेवार्थवान्नतत्त्वनुवादोऽर्थवान् । तस्मात् प्रकृते आचमनस्य सदाचारप्राप्तविधाने तादृशशास्त्रस्यार्थवत्त्वं नस्यात् तस्मादनग्रतानुचिन्तनापापांवासस्त्वपरिकल्पनमेवोचितं नतु जलाचमनस्यविधानमित्याशयेन सूत्रव्याख्यानोपक्रमते छान्दोग्यवाजसनेयकयोरित्यादि । अक्षरार्थस्तुस्वयमूहनीयः ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

श्रुत है । तो यहां क्या अपूर्व आचमन का विधान है अथवा जल में प्राण वस्त्रत्व का अनुवाद करके पूर्व पश्चात् कालिक आचमन का विधान होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि पूर्वपश्चात् कालिक आचमन का ही विधान होता है क्योंकि "आचमेत्" ऐसा वचि वाक्य है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "कार्याख्यानादित्यादि" यहां आचमन का विधान नहीं है क्योंकि प्रमाणान्तर से अप्राप्त वस्तु का विधान करने से ही शास्त्र अर्थवान् प्रयोजनवान् होता है "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति" और प्राप्त का जो प्राप्त होता है वह विधायक नहीं होता है किन्तु अनुवादक कहलाता है । प्रकृत में भोजन पूर्वकालिक पश्चात् कालिक आचमन को शिष्टाचार प्राप्त होने से तादृश आचमन का अनुवाद करके आचमनीय जल में प्रमाणान्तराप्राप्त जल में प्राणवस्त्रत्व के अनुचिन्तन का ही विधान किया जाता है । क्योंकि अप्राप्त वस्तु का विधान करने से ही शास्त्र में प्रयोजनत्व होता है । इसलिये तादृश जलमें वस्त्र का अनुचिन्तन ही विधीयमान होता है ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

अथ समानाधिकरणम् ॥६॥

ॐ समान एवं चाभेदात् ३।३।१९ ॐ

बृहदारण्यके शाण्डिल्यविद्याम्नायते 'मनोमयोऽयं पुरुषोभाः सत्यम्' (बृ० ५।६।१) इत्यादिका । तथा वाजसनेयकेऽग्निरहस्येऽपि पुनः सैवविद्याम्नाता 'सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते' त्याग्भ्य 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' (वा० अग्निरहस्ये) इत्यादिका । अत्र सशयः किमुभयत्र विद्याभेदो न वेति । तत्र रूपभेदाद् भेद इति प्राप्तेऽभिधीयते 'समान एवमिति । उभयत्र समान एव मनोमय-

ननु बृहदारण्यके शाण्डिल्यविद्याकथिता तत्र मनोमयोऽयं पुरुषः इत्यादि तथा तत्रैवाग्निरहस्ये पुनः सैव विद्याकथिता । तत्र आत्मानमुपासीत मनोमयमित्यादि तत्र संशयो भवति किमियं विद्याभिन्नाभिन्नावेति । तत्र रूपभेदस्य विद्याभेदनियामकतया प्रकृते रूपभेदसत्त्वाद्विद्याभिन्नैवेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु मनोमयत्वादिगुणानामुभयत्र समानत्वात् । तथाऽधिको वशित्वादिको यो गुणोभेदनियामकस्तेषां सत्यसंकल्प-त्वादिगुणेभ्योऽभेदेन मनोमयत्वादिगुणानामुभयत्र समानत्वादेकैव भिन्नशाखावत्

बृहदारण्यक में शाण्डिल्य विद्या कही गयी है "यह मनोमय पुरुष भारूप सत्यरूप है" इत्यादिका तथा वाजसनेयक अग्निरहस्य में पुनः यही शाण्डिल्य विद्या कही गयी है 'सत्य लक्षण ब्रह्मका उपासन करो' यहाँ से लेकरके "मनोमय प्राण शरीरक भारूप आत्मा का उपासन करो" इस प्रकार अग्नि रहस्य में कहा गया है । इसमें संशय होता है कि यहां दोनो जगह विद्या का भेद होता है अथवा दोनों जगह अभेद है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस तरह द्रव्यदेवता लक्षण रूपभेद से यागभिन्न होता है उसी तरह रूप भेद होने से दोनो जगह विद्या भिन्न भिन्न है ।

इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "समाने एवम्" इत्यादि । दोनों जगह मनोमयत्वादि गुण को समान होने से वशित्वादिक जो गुण है वह यद्यपि एक जनह में अधिक है किन्तु वशित्वादिक गुण को सत्य संकल्पत्वादि गुण से अभिन्न होने से दोनो

त्वादिके वशित्वादेश्चाधिकस्य सत्यसंकल्पत्वगुणाभेदाद्विद्याया ऐक्यमेवेति ॥१९॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये समानाधिकरणम् ॥६॥

अथ सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

॥ सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ३।३।२० ॥

वाजसनेयके 'तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषोयश्चायं दक्षिणेऽक्षन्' (बृ. ५।५।१) इति प्रक्रम्यादित्यमण्डलेऽक्षणि च ब्रह्मण उपास्यत्वमभिधाय 'तस्योपनिषदहस्त्यधिदैवतम्' तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्' (बृ. ५।५।३) इति रहस्यनामनी द्वे उपनिषदावाम्नायेते । तत्र संशयः किमस्यां विद्यायामादित्यपुरुषस्या समानशाखायामप्यभिन्नैव विद्या । तत्रैकत्रापरस्यगुणानामुपसंहार इति संक्षेपः ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे समानाधिकरणम् ॥६॥

बृहदारण्यके सत्यमानन्दब्रह्मेत्यारभ्य तद्यत्सत्यम् इत्यत्र तस्य सत्यपरमात्मनोऽधिदैवतमध्यात्मं च स्थानविशेषमुपदिश्य तस्य परमात्मनोद्वे उपनिषदौ. उपदिष्टे अह इत्यधिदैवतम्. अहमित्यात्मम् । तत्र संशयः किमभेदेनोभयोरनुसंधानंभेदेनोभयोरनुसंधानमिति । तत्र सूत्रेणैव पक्षयति सम्बन्धादित्यादि । यथा शाण्डिल्यविद्यायां जगह की विद्या अभिन्न ही है । इति संक्षेपः ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे समानाधिकरणम् ॥६॥

वाजसनेय शाखा में "जो वह सत्य है सो यह आदित्य सूर्य है, जो यह आदित्य इस सूर्यमण्डल में पुरुष रूप देखनेमें आते हैं और जो वह आदित्य दक्षिण नेत्रमें दृश्यमान होते हैं" इस प्रकारसे प्रक्रम करके आदित्यमण्डल में तथा दक्षिण नेत्र में ब्रह्म परमात्मा को उपास्य रूप से कथन करके "उसका अधिदैवत उपनिषत् अहः है, और आध्यात्मिक उपनिषत् अहम्. इत्याकारक है" इस प्रकार रहस्यनामक दो प्रकार के उपनिषत् का कथन किया गया है । उस विषय में संशय होता है कि क्या इस विद्या में आदित्य पुरुष के

हरिति नाम्ना ध्यानमक्षिपुरुषस्याहमिति नाम्ना यथाश्रुतं ध्यानं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नामद्वयस्य पुरुषद्वयेऽप्युपसंहार इति । किं युक्तम् ? उभयोः स्थानयोरेकस्यैकसत्यस्य पुरुषस्योपास्यत्वादुपास्यभेदाद्विद्यै कयादन्योऽन्यगुणोपसंहारः ॥२०॥

ॐ न वा विशेषात् ३।३।२१ ॐ

इति प्राप्तेऽभिधीयते 'नवेत्यादि । विद्यैक्यान्नामद्वयस्य पुरुषद्वये उपसंहार इति न । कुतः ? विशेषात् । उभयत्रोपास्यरूप भेदेन कथितायां गुणोपसंहारस्तथैवात्रापि गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः, उभयोरेकविद्यात्वात् एकविद्यात्वेन गुणोपसंहारः कर्त्तव्य एवेत्यादिकं सर्वं पिण्डीकृत्यदर्शयितुमुपक्रमते वाजनेयके इत्यादि । अतिरोहितार्थत्वाद् भाष्याक्षराणिनोव्याख्यातानि ॥२०॥

उपास्यस्याभेदाद्विद्यैक्यमिति न युक्तम् कुतः ? विशेषात् । स्थानकृतभेदस्य विद्यमानत्वात् । अयमाशयः यथा आकाशोव्यापकः स्वरूपतश्चैक एव परन्तु घटपटाद्युपाधिभेदेन विभिन्न इव प्रतिभाति घटाकाशो महाकाश इत्यादिभेदेन व्यवहार योग्योपि भवति । तथा प्रकृते समुपास्यसत्यपुरुषस्याभेदेषु सूर्यनेत्रस्थानात्मकोपाधि भेदादुपास्यभेदः । नहि स्वरूपतः परमेश्वर इहोपास्यो भवति किन्तु स्थानविशेष अहः इस नाम से ध्यान तथा अक्षि पुरुष के अहम्. इस नाम से तथा श्रुत ध्यान करना अर्थात् अलग रूपसे ध्यान करना अथवा नामद्वयका पुरुषद्वय में उपसंहार करना चाहिये ।

तो इसमें क्या मानना युक्त है ? इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि आदित्य मण्डल तथा दक्षिण नेत्र लक्षण दोनों स्थानों में एक ही सत्य पुरुष को उपास्य होने से विद्या के रूप में तो कोई भेद नहीं है. अर्थात् रूप तो एक ही है, तो इस तरह से विद्या में एकता हुई तब तो परस्पर अन्योन्य गुण का उपसंहार होना चाहिये । अर्थात् दोनों विद्या एक है, तब एक गुणका अपर में उपसंहार होना चाहिये ॥२०॥

पूर्व सूत्रप्रदर्शित प्रश्नका समाधान में सूत्रकार कहते हैं 'नवा विशेषात्' इति [स्थानकृत भेद होने से उपास्य में भेद है और उपास्यभेद होने से विद्या भिन्न है, अतएव गुणोपसंहार उचित नहीं है इति सूत्रार्थः] विद्या का एकत्व होने से नामद्वय का पुरुषद्वय में उपसंहार होता है. ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है. क्योंकि विशेषता होने से अर्थात् दोनों जगह में उपास्य का जो

विशेषात् । आदित्यस्थानसम्बन्धिनः सत्याद् ब्रह्मणोऽक्षिस्थान
सम्बन्धिनः सत्यस्य ब्रह्मण उपाधिभेदेन रूपभेदे विद्याभेदात् ॥२१॥

॥ दर्शयति च ३।३।२२ ॥

किञ्च विद्यान्तरे हिरण्यश्मश्रुस्तियादिनाऽदित्यपुरुषस्य रूप
मुक्त्वा तद्रूपमक्षिपुरुषेऽतिदिदेश 'तस्यैतदेवरूपं यदमुष्यरूपम्' इति ।
विशिष्ट इति तदिहशुद्धाद् विशिष्टस्य भेदः । यथा द्रव्यादित्रितयगतसत्तापेक्षया
गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताया भेदस्तथैव स्थानभेदेन तादृशस्थानविशिष्टसत्यपुरुषोपि
भिन्न एवेति रूपभेदाद् विद्याभेदः । भेदादेव नान्यत्र गुणानामन्यत्रोपसंहार इति
प्रकरणार्थः । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥२१॥

अपि चान्यत्र विद्यायाः, एकत्र विद्यमानगुणस्यातिदेशेन कथनं कृतम्. तादृश
इचातिदेशगुणानामन्यत्रस्थितानां तदन्यत्रसुणानामुपसंहारं दर्शयति. विद्यैक्यादेव
रूप है वह भिन्न—भिन्न है । आदित्य स्थान सम्बन्धी सत्य ब्रह्म से नेत्र स्थान सम्बन्धी
सत्य पुरुष को उपाधि भेद होने से रूपभेद है. और रूपभेद होने से विद्या भिन्न है.
अतएव एकत्र कथित गुण का अन्यत्र उपसंहार नहीं होता है । यद्यपि सत्य परमात्मा एक
है उसी का उपासन दोनो जगह में है इसीलिये पुणोपसंहार होना चाहिये. परन्तु प्रकृत में
आदित्य स्थान तथा आदित्य स्थान का भेद होने से तादृश स्थान भेद विशिष्ट सत्य पुरुष
भिन्न है । जिस तरह सत्ता को एक होने पर भी गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता विभिन्न
होती है, किन्तु दोनो में एकत्व नहीं होता है "विशिष्टः शुद्धादतिगिच्यते" ऐसा न्याय
है । उसी तरह प्रकृत में सत्य पुरुष को स्वरूपत एक होने पर आदित्यादि स्थानविशिष्ट
सत्यपुरुष भिन्न है । इस प्रकार रूप भेद होने से विद्या भिन्न हुई और विद्या के भेद
होने से अन्य गुण का उपसंहार अन्यत्र नहीं होता है. यद्यपि सत्तावत् प्रकृत में भी विशेष-
ण्याश में भेद नहीं है किन्तु सत्तावदेव विशेषणांश में भेद होने से तत्प्रयुक्त भेद विशेष्यांश
में रहने से रूपभेद विद्या का भेद होता है । विद्या भेद से एकत्र कथित गुण का अन्यत्रो
पसंहार नहीं होता है ॥२१॥

और भी अन्य विद्या में "हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेशवाळा" इत्यादि क्रम से आदित्य मण्डल
वर्ती पुरुष के रूप का कथन करके. उस पुरुष के उन रूपों का अक्षिपुरुष में अतिदेश

अयमतिदेश एव विद्याभेदेन गुणानुपसंहारं दर्शयति । विद्यैक्ये हि रूपादीनां स्वतः प्राप्तत्वेनातिदेशापेक्षैव न स्यात् । तस्मादत्र विद्या भेदाद् गुणोपसंहाराभाव इति ॥२२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

अथ सम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

॥ सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ३।३।२३ ॥

तैत्तिरीयके नारायणीयानां खिलेषु च श्रूयते—‘ब्रह्मज्येष्ठावीर्या गुणोपसंसारसिद्धावतिदेशेन गुणानयनं सर्वथैव निरर्थकमापद्येत । अतो न विद्यान्तरे कथितस्य गुणस्य विद्यान्तरे कथमप्युपसंहारोभवतीतिभावः ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सम्बन्धाधिकरणम् ॥९॥

‘ब्रह्मज्येष्ठावीर्या’ संभृताति ब्रह्माग्नेज्येष्ठं दिवमाततान । ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेना-
हतिब्रह्मणा स्पर्धितुं क ब्रह्मज्येष्ठं वीर्यो येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठा जज्ञे सम्भूव । यद्यपि शाण्डिल्य-
दहरादिविद्यासु आयतनभेदस्य परिग्रहेणाध्यात्मिकभेदाश्रयत्वं सम्भृतिप्रभृतिगुणाना-
माधिदैविकत्वमनेन प्रकारेणायतनभेद एव प्रतिभाति, तथापि ज्यायान्दिव इत्यादिना
प्रकरणेनाधिदैविकविभूतिप्रत्यभिज्ञानस्य दर्शनात् षोडशकलादिविद्यास्वायतनस्य-
द्वारा बतलाया है “उस अक्षि पुरुष का यही रूप है जो कि आदित्य मण्डल पुरुष में है ।
यह जो अतिदेश है वह भिन्न विद्या में गुणानुपसंहार को बतलाता है । यदि विद्या की
एकता हो तब तो रूपादिक को स्वतः प्राप्त होने से अतिदेश की कोई भी अपेक्षा नहीं
होती । इसलिये विद्या के भेद होने से गुण का उपसंहार नहीं होता है । किन्तु विद्या
भेद गुणोपसंहारक नहीं होता है यह सिद्ध हुआ ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

तैत्तिरीयक तथा नारायणीयक के खिल में अर्थात् विचिनिषेध रहित वाक्यों में यह
मन्त्र श्रुत है “सर्वतो ज्येष्ठ अत्युत्कृष्ट वीर्य पराक्रम को ब्रह्म धारण करते हैं, वह ब्रह्म सर्व
प्रथम इन्द्रादि देवों को बनाया । ब्रह्म सब भूतों के पूर्व में ही थे, इसलिये एतादृश ब्रह्म के

सम्भृतानि ब्रह्माग्रेज्येष्ठं दिवमाततान । ब्रह्मभूतानां प्रथमोऽतजज्ञे ते-
 नार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं क' इति अत्र संशयः । किमेषां सम्भृतिद्यु-
 व्याप्त्यादिगुणानां शाण्डिल्यादि ब्रह्मविद्यासूपसंहार आहोस्वित्तद्गु-
 णकमिदमुपासनान्तरम् ? इति । किं युक्तम् ? अनारम्भाधीतत्वाद्देवां
 गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहार इति प्राप्तेऽभिधीयते—'सम्भृतिद्युव्या-
 श्रवणाभावादन्ततो ब्रह्माश्रयत्वेनैव समत्वस्यज्ञानसंभवेन सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिगुणानां
 शाण्डिल्यविद्यायां दहरषोडशकलादिविद्यायां तादृशसंभृत्यादि गुणानामुपसंहारः
 कर्त्तव्य इत्येवं हि भवति पूर्वपक्षिणामाक्षय इति, सिद्धान्तवादिनस्त्वित्थं संगिरन्ते
 तथाहि. परस्परसमानगुणश्रवणं परिज्ञाय. यादृशीविद्याश्रुतानपूर्वानपि गुणान् समु-
 पाहारयति. परन्तु प्रकृते सम्भृत्यादिगुणकब्रह्मविद्यायां शाण्डिल्यादिविद्यास्थित
 गुणश्रवणं नास्ति । यद्यपि काचिदाधिदैविकविभूतिः शाण्डिल्यविद्यासु तथापि तस्या-
 स्तदीयप्रकरणे पठितत्वेन तावन्मात्रस्यैव ग्रहणं स्यात्. नत्वेतावन्मात्रेण श्रुतानपि
 तत्र सम्भृत्यादिगुणानामप्यनुवर्तनं करयिष्यति, तत्प्रकरणतत्प्रत्यभिज्ञानाभावादिति ।
 एतत्सर्वहृदिविधायसूत्रां व्याख्यातुमुपक्रमते तैत्तिरीयकेनारायणीयानामित्यादि खिलेष्विति
 विधिनिषेधरहितवाक्येष्वित्यर्थः खिलस्येति । ब्रह्मज्येष्ठेति. ब्रह्मज्येष्ठानि छन्दसिबहुवचन
 विभक्तेऽस आदेशोभवति. तेन ब्रह्मज्येष्ठा=इत्यस्य ब्रह्मज्येष्ठानीत्यर्थः अस्य विशेषण-
 स्यवीर्येऽन्वयः । ततश्चब्रह्मज्येष्ठानि वीर्याणीत्यर्थः । तत्र वीर्याणि पराक्रमविशेषः ।
 पुरुषान्तरस्य पराक्रमोहि सहायकान्तरत्वापेक्षो भवन्नज्येष्ठ ब्रह्मपराक्रमस्तु तन्निरपेक्ष
 तयाज्येष्ठ इति । ब्रह्मवीर्याणां ब्रह्मैवज्येष्ठमनन्यापेक्षां ब्रह्मजगज्जन्मस्थितिपालनविनाशं
 करोतीति सम्भृतानि वीर्याणि ब्रह्मणा सम्भृतानि व्यक्त्यन्तरस्य पराक्रमो क्वचिद्वि-
 श्लेषोपि भवति ब्रह्मवीर्यं तु न तथा तज्ज्येष्ठं ब्रह्म अग्रे=इन्द्रादिजन्मोत्पत्तयोः प्रागेव पूर्वमेवदिवं
 स्वर्गमाततानव्याप्तवत् नित्यमेव सर्वव्यापकमित्यर्थः । भूतानां प्रथमं पूर्वमेव ब्रह्मजज्ञे.
 जनधातुर्यद्यप्युत्पत्त्यर्थकस्तथापि न प्रकृतेतथार्थकः किन्तुस्थित्यर्थकः सर्वतः प्रथममेवासा-
 साय कौन स्पर्धा कर सकता है" यहाँ संशय होता है कि इन सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिक गुणों का
 शाण्डिल्य दहरादिके ब्रह्मविद्या में उपसंहार होता है अथवा सम्भृत्यादिक गुणक यह उपास-
 नान्तर है । तो इसमें क्या युक्त है ? इन गुणों को अनारम्भाधीत अर्थात् सामान्य शास्त्र
 प्राप्त होने से सर्व ब्रह्मविद्या में उपसंहार होना युक्त है इति पूर्वपक्षः ।

त्यपीति । सम्भृतिद्युव्याप्तीति समाहारद्वन्द्वः । शाण्डिल्यादिविद्या-
स्वल्पस्थानत्वं ब्रह्मणः श्रूयते । अत्र त्वाकाशादिवीर्यद्युव्याप्तित्वेन
महास्थानत्वं तस्य श्रूयतेऽतः स्थानभेदादनारभ्याधीतानामपि तेषां
शाण्डिल्यादिविद्यासु नोपसंहारः । किन्तु सम्भृत्यादिगुणविशिष्टमु-
पासनान्तरमेवेदमिति ॥२३॥

इति श्रीआनन्दभाष्येसम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

एतादृशब्रह्मणा सहस्रार्धितुं समर्थो न कोपि समर्थ इति मन्त्रार्थः संक्षेपतोज्ञातव्य
इति । अत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ता भाष्यानुसारेण ज्ञातव्या इति । तदयं प्रकरणस्य
संक्षिप्तार्थो भवति । तैत्तिरीयकनारायणीयानां विधिनिषेधरहितवाक्ये ये सम्भृत्यादि
का गुणाः कथितास्तेषां गुणानाम् शाण्डिल्यदहरादिविद्यासूपसंहारो भवति अथवा
सम्भृत्यादिगुणकं विभिन्नमेवोपासनम् । तत्र प्रथमः तेषां तत्रानारभ्याधीतत्वादिति ।
शाण्डिल्यदहरादिषु ब्रह्मण उपास्यस्य स्थानमल्पमेव श्रुतम् तस्माद्द्युव्याप्त्यादेस्त-
त्रान्वयोनास्तीति द्वितीयपक्ष एव श्रेयान् । तत्संयोगाद्विशिष्टसम्भृत्यादिगुणानामुपसंहारो
न भवति शाण्डिल्यदहरादिविद्यास्वितिभावः ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

इस प्रश्नके उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं “सम्भृत्यादि सूत्रम्” । सम्भृतिद्युव्याप्ति
में समाहार द्वन्द्व समास है ऐसा समझना चाहिये । शाण्डिल्यदहरादि विद्याओं में ब्रह्म का
स्थान आयतन अति अल्पश्रुत है और यहाँ तो आकाशादि वीर्यद्युव्याप्तित्व से महास्थान ब्रह्म
का श्रुत है । अतः स्थान के भेद होनेसे अनारभ्याधीत गुणों का शाण्डिल्यविद्या में उपसंहार
नहीं होता है । किन्तु सम्भृत्यादि गुण विशिष्ट उपासनान्तर परमात्मा का है । अर्थात्
जिसतरह मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट एक ब्रह्मोपासना है, उसी तरह सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिक गुण
विशिष्ट ब्रह्मोपासन एक स्वतन्त्रोपासन है ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

अथ पुरुषविद्याधिकरणम् ॥९॥

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नात् ३।३।२४

छान्दोग्ये पुरुषविद्याम्नायते 'पुरुषोवाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि' (छा० ३।१।६।१) इति । तथा तैत्तिरीयकेऽपि पुरुषविद्या श्रूयते—'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिधम-मुरो वेदिलोमानि वह्निः' (तै० ना० ५२) इत्यादिरूपा । अत्र विद्यैक्यमुतविद्याभेद इति । किं युक्तम् ? विद्यैक्यम् । कुतः ? उभयत्र पुरुषविद्येति समाख्यैक्याद्रूपफलयोरप्येक्याच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते—पुरुषविद्यायामपि चेति । पुरुषविद्यायामपि रूपादिभेदाद्विद्याभेद एव । कुतः ? इतरेषामनाम्नात् । इतरशाखोदितानां गुणानामितरशाखायामनाम्नात् । छान्दोग्ये पुरुषस्य यज्ञत्वकल्पनं पुरुषायुषं त्रेधा विभज्य

छान्दोग्ये तदन्यत्रापि पुरुषविद्येति श्रूयते, तत्र छान्दोग्यीयपुरुषविद्यायां ये गुणास्तेषां तदन्यविद्यायामुपसंहारः कर्त्तव्यो न वेति संशयः । कर्त्तव्य एव समाख्याया एकत्वात् अत्रापि सैव पुरुषविद्या तदन्यत्रापि सैव पुरुषविद्येति पुरुषविद्यात्वस्य समानत्वादुभययोरुभयत्रोपसंहारे क्षत्यभावादिति प्रथमपक्षः । सिद्धान्तस्तु रूप

छान्दोग्य में पुरुष विद्या का प्रतिपादन किया गया है 'उपासक पुरुष ही यज्ञ है' उस उपासक पुरुष के आयु के जो पहिला चौथा भाग चौबिस वर्ष है' इस प्रकार से कहा गया है । एवं तैत्तिरीयक में भी पुरुष विद्या का प्रतिपादन किया है । "उपासकीय यज्ञका आत्मा यजमान है, श्रद्धा ही पत्नी है, शरीर समित् है, उरोभागा वेदी है, लोम कुशा है' । अब यहाँ संशय होता है कि यहां शाखा भेद होने पर भी विद्या उभयत्र समान अर्थात् एक है, अथवा उभयत्र विद्याभेद भिन्न-भिन्न है ? इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं, दोनों जगह एक ही विद्या है, क्योंकि दोनों जगह पुरुष विद्या इत्याकारक समाख्या=नाम एक है और फलरूप फल का भी ऐक्य है इसलिये विद्या एक दी है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'पुरुषविद्यायामपि च' इत्यादि पुरुष विद्या में भी रूपादि के भेद होने से विद्या में भेद है । क्योंकि एक शाखीय पुरुष विद्या में जो गुण कहा गया है, उन गुणों का तदितर शाखा में प्रतिपादन नहीं है । छान्दोग्य में तो पुरुष में यज्ञत्व का कल्पन है पुरुष के आयु

सवनत्रयकल्पनमशिशिषादीनां दीक्षात्वेन च कल्पनं कृतम् । तैत्तिरीयकेत्वेवं कल्पना न दृश्यते किन्तु रूपान्तरेण दृश्यते । तथा च प्रकारभेदाद्रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्विद्याभेदः । तथा तैत्तिरीयके पुरुषविद्यायाः 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इतिन्यायाद् ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन ब्रह्मप्राप्तिरूपमेव फलं दृश्यते । छान्दोग्ये त्वायुः प्राप्तिरूपं पुरुषविद्याया इति फलसंयोगभेदोऽपि विद्याभेदसाधकः । एवञ्चोभयत्र विद्याभेदान्नह्येकत्र श्रुतानां गुणानामन्यत्रोपसंहार इति ॥२४॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये पुरुषविद्याधिकरणम् ॥९॥

भेदस्य विद्याभेदसाधकस्य विद्यमानत्वेन नैकत्रविद्यमानगुणानामन्यत्रोपसंहार इति । यद्यपि अभेदोपि दृश्यते तथापि भेदसाधकरूपस्याधिकत्वाद्विद्याभेद एवेति संक्षेपतो विशेषतोऽनुसन्धानं अन्यत्रावगन्तव्यमिति ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्या प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे पुरुषविद्याधिकरणम् ॥९॥

को त्रिधा विभाग करके सवनत्रय का कल्पन है, एवं अशनायादिक में दीक्षात्व का कल्पन किया है, और तैत्तिरीयक में इस प्रकार का कल्पन नहीं देखने में आता है, रूपान्तर से कथन किया गया है । इस तरह का भेद होने से रूपभेद स्पष्ट है, अतः दोनों जगह में विद्या भेद है । तैत्तिरीयक में तो फलवान् के समीप अफलवान् फलवान्का अङ्ग होता है' इस न्याय से फलवती ब्रह्मविद्या का अंग पुरुष विद्या है अतः इसका भी फल ब्रह्म प्राप्ति ही है । छान्दोग्य में आयु प्राप्ति रूपफल पुरुषविद्या का है, इस तरह संयोग भेद भी विद्या भेद का साधक है । इसतरह दोनों जगह विद्या में परस्पर रूपफलादि भेद प्रयुक्त भेद होने से एकत्र कथित जो गुण है, उसका अन्यत्र उपसंहार करना उचित नहीं है । अर्थात् यद्यपि नाम मात्र से दोनों में अभेद प्रतिभास होता है, तथापि रूप फल के भेद से विद्या में भेद है । और विद्या का भेद होने से अन्योन्य गुण का उपसंहार नहीं होता है ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे पुरुष विद्याधिकरणम् ॥९॥

अथ वेधाद्यधिकरणम् ॥१०॥

५ वेधाद्यर्थभेदात् ३।३।२५ ५

स्वस्वोपनिषदारम्भे सर्वेषां शाखिनां भिन्नभिन्नमन्त्राणामा-
म्नानं वर्तते । यथार्थर्वणिकानाम्—‘शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य’ इत्या-
दिकम् । काठकानां तैत्तिरीयाणाञ्च ‘शंनो मित्रः शं वरुणः’ इत्या-
दिकम् । वाजसनेयिनां ‘देवाह वै सत्रं निषेदुः’ इत्यादि प्रवर्ग्यब्राह्मण
स्य । सामगानां रहस्य ब्राह्मणारम्भे ‘देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव’
इत्यादिकम् । तत्र संशयः । किमेषां मन्त्रादीनां विद्याङ्गत्वमाहोस्वि-
न्नेति । किं युक्तम् ? विद्याङ्गत्वम् । कुतः ? विद्यासन्निधौसमाम्ना-
नादिति प्राप्तेऽभिधीयते—वेधाद्यर्थभेदादिति । ‘शुक्रं प्रविध्य हृदयं

सर्वेषां शाखिनां स्वस्वकीयोपनिषदोऽभिचारिकामन्त्राः पठिता दृश्यन्ते । तेषां
विद्यासु सम्बन्धोभवति नवेति संशयः । तत्र विद्यासमीपे पठितत्वादेसां विद्याङ्गत्वं
स्यात्संनिधेरपि प्रमाणत्वमस्ति तत्वाच्च तदङ्गत्वं स्यादिति चेन्न अर्थभेदात् ‘शुक्रं प्रविद्ये-
त्यादिलिङ्गात् प्रदर्शितानां मन्त्राणां कर्मणां चाभिचारादिकर्मण्येवोपयोगो न विद्यासु
असंभवात् । न च संनिधानादङ्गत्वम् लिङ्गापेक्षया संनिधेर्दौर्बल्यस्य प्रथमकाण्डे व्यव-
स्थापनात् श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानानुत्तरोत्तरस्य दौर्बल्यं पूर्व पूर्वस्य च प्राबल्यमिति
नियमान् । तस्मादभिचाराख्यादिकर्मणि विनियुक्तानां तत्रोपयोगस्तदङ्गत्वं च न तु

सभी शाखावालों के स्वकीय स्वकीयोपनिषत् के प्रारंभ में तत्तत् मन्त्रों का प्रतिपादन
किया गया है, यथा—आथर्वणिक के उपनिषदारंभ में ‘शुक्र को नष्ट करके हृदय को विदारित
करके’ । इत्यादि रूप से कथन है । एवं काठक तैत्तिरीयवालों के यहाँ “शंनो मित्रः शं
वरुणः शंनो भवत्वर्थमा” इत्यादि । वाजसनेय शाखा में “देवा ह वै सत्रं निषेदुः” इत्यादि ।
प्रवर्ग्यब्राह्मण कथित है । एवं सामवेद के रहस्य ब्राह्मण के प्रारंभ में “देव सवितः प्रसुव”
इत्यादिक है । अब इसमें संशय होता है कि ये जो मन्त्र हैं, उनको विद्याङ्गत्व अर्थात् विद्या
में उपयोग है अथवा उनका उपयोग नहीं है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं ये सब मन्त्रविद्या
के अङ्ग हैं क्योंकि विद्या के समीप में पठित हुए हैं, यदि विद्या में इनका उपयोग नहीं हो,

प्रविध्य' इत्यादिभिर्लिङ्गैरभिचारादिषूक्तानां मन्त्राणां विनियोगाद्विद्याङ्गत्वं न सम्भवति । अत एव चैते मन्त्रा न सर्वासु विद्यासूपसंहार्या इति ॥२५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये वेदाद्यधिकरणम् ॥१०॥

अथ हान्यधिकरणम् ॥११॥

५ हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दः

स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ३।३।२६ ५

ताण्डिनामुपनिषदि श्रूयते—‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापं श्येनादिव्यतिरिक्तकर्मणि विद्यायां च तेषामङ्गत्वं नवा तदीयगुणानामन्यत्रोपसंहार इति संक्षेपः । विशेषविवरणं तु यथाभाष्यमेवानुसन्धेयं ज्ञानकाण्डेऽधिकविद्यान्युपयोगादिति ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वेदाद्यधिकरणम् ॥१०॥

क्वचित् श्रुतौ सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते । अन्यत्र पुनस्तयोर्मित्रादावुपायनं तब तो इन विद्यायों के प्रकरण में इनका पाठ निरर्थक हो जायगा । इसलिये सब मन्त्रविद्या के अङ्ग हैं । इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं “वेदाद्यर्थेत्यादि” शुक्रं प्रविध्य’ इत्यादि लिङ्ग से सिद्ध होता है अभिचारिक जो ये मन्त्र हैं उनका अभिचार कर्मश्येनादि याग में ही उपयुक्त होता है, अनभिचारिक विद्या में नहीं । शब्द सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं, यह लिङ्ग प्रमाण संनिधि प्रमाण से प्रबल है, अतः लिङ्ग प्रमाण से सिद्ध होता है कि ये सब मन्त्र श्येनादिक कर्म के उपयोगी है, किन्तु ये सब विद्या का अङ्ग नहीं हैं । नवा इन गुणों का उपसंहार किया जाता है । विशेष विवरण अन्वत्र देखें ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे वेदाद्यधिकरणम् ॥१०॥

ताण्डिक के उपनिषद् में कहा गया है “अश्व के समान रोम को विधुनित करके वह उपासक तत्त्वज्ञानी पाप को चन्द्रमा के समान हटा करके चन्द्रमा के

चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि
सम्भवामि' [छा० ८।१३।१] एवं शाख्यायनिनां श्रुतिः—कौषीतकि-
नान्तु—तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते तस्य प्रियाज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया
दुष्कृतम्' (कौ० १।४) तथाथर्वणिकानाम्—'तदा विद्वान् पुण्यपापे
विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इति श्रुतिः । अत्र
कस्याञ्चित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानिर्दृश्यते कस्याञ्चिच्च सुहृद्द्विषत्सु तयोः
प्राप्तिः क्वचिदुभयम् । एतदुभयमेकत्र श्रुतमपि सर्वासु विद्याखङ्ग-
ताम्भजते । तत्र संशयः । किमेषां हानिचिन्तनोपायनचिन्तनोभय
चिन्तनानां विकल्पः समुच्चयो वेति । किं युक्तम् ? विकल्पः । कुतः ?

श्रुतम् । अपरत्र पुनः सुकृतदुष्कृतयोस्तदुभयं श्रुतं विद्यते तदुभयमेकत्र श्रुतं सर्वत्रानु-
ज्यते इति स्थितिः । तत्र संशयः किमेषां हानिचिन्तनोपायनचिन्तनोभयचिन्तनानां
समान पाप से प्रमुक्त होकर विशुद्धात्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है । एवं शाख्यायन के
श्रुति में तो कहा है “वह उपासक पुण्यपाप को हटा देता है, उसके प्रियजातिभोग सुकृत
को प्राप्त करते हैं और अप्रिय शत्रुभोग पापकर्म को लेते हैं” । तथा आथर्वणिक में कहा है
“तब वह उपासक विद्वान् पुण्यपाप के सम्बन्ध को हटा करके सर्वदुःख रहित होकर के
परमात्माके साथ परम समता को प्राप्त करता है” ऐसी श्रुति है । यहां किसी शाखा
में सुकृतदुष्कृत का हान—त्याग देखने में आता है, किसी शाखा में मित्र शत्रु में सुकृत दुष्कृत
की प्राप्ति देखने में आती है और किसी शाखा में तदुभय अर्थात् सुकृतदुष्कृत का हान
तथा उपायन यह दोनों देखने में आता है । यह दोनों सुकृतदुष्कृत का हान उपायन, यद्यपि
एक शाखा श्रुत है, तथापि सर्व विद्या का अङ्ग होता है । इसमें संशय होता है कि ये जो
सुकृतदुष्कृत का हानानुचिन्तन उपायन का अनुचिन्तन तथा तदुभय का अनुचिन्तन इन
सबका अनुचिन्तन उनका विकल्प होता है अथवा इन सबका समुच्चय होता है ? तो इसमें
कौन पक्ष युक्त है ? कहते हैं कि प्रकृत में विकल्प पक्ष ही ठीक है, क्योंकि एक एकका
पृथक् पृथक् श्रवण है । यदि सर्वत्र हानोपायन एतदुभय का अनुसंधान अनुचिन्तन अभिमत
हो तब तो कौषीतकि वाक्य से हा निर्वाह हो जाता था श्रुत्यन्तर का पाठ सर्वथा व्यर्थ हो
जायगा । तस्मात् किसी स्थल में सुकृतदुष्कृत का हानानुचिन्तन तथा किसी स्थल में तदु-
पायन का अनुचिन्तन उपासन करना एतादृश विकल्प को स्वीकार करना ही उचित है ।

एकैकस्य पार्थक्येन श्रवणात् सर्वत्रोभयानुसन्धाने तु कौपीतकिवा-
क्येनैव सिद्धे श्रुत्यन्तरपाठस्य वैयर्थ्यमेव स्यात् । तस्मात्क्वचिद्धानि-
चिन्तनम् क्वचिच्चोपायचिन्तनमिति विकल्प इति प्राप्तेऽभिधीयते-
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति ।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । हानावित्युपायन इत्यस्याप्युपल-
क्षकः 'तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते' 'तस्य प्रिया ज्ञातयः' 'सुकृतमुपयन्त्य-
प्रियादुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति हानिवाक्य उपायनस्यापि श्रवणात्
केवले विमोचने केवले चोपायने श्रूयमाणेऽपि तयोरन्योऽन्यसमुच्च-
योऽभिप्रेतः । कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात् । उपायनशब्दस्य हानि-
वाक्यशेषत्वादित्यर्थः । विद्वत्त्यक्तपुण्यपापनिवेशस्थानयोस्तत्प्रियाप्रि-
ययोः श्रुतत्वादुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वमुपपद्यते । एवं प्रदे-
विकल्पः समुच्चयोवा । अर्थात् यत्र यत् हानादिकं श्रुतं तत्रैव तस्यानुचिन्तनं
विधेयम्, समुचित्य सर्वत्र सर्वत्रानुचिन्तनं वा विधेयमिति । पृथक् पृथक् सर्वेषां कथनात्
जिस तरह "ब्रीहिर्भिर्धेजेत यत्रैत्रा यजेत" इस स्थल में ब्रीहि तथा यव का विकल्प होता है,
ब्रीहि कारणक याग- यवद्रव्य निरपेक्ष रहता है तथा यव कारणक याग ब्रीहि निरपेक्ष होकर
के विधीयमान होता है । इसी तरह प्रकृत में हानापेक्षा रहित उपायमात्र का अनुचिन्तन
करे, अथवा उपायन निरपेक्ष हानमात्र का अनुचिन्तन करे । एतादृश विकल्प पक्ष प्रथमो-
पस्थित होने से विकल्प का स्वीकार ही उचित है ।

एतादृश पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त रूप में सूत्रकार कहते हैं "हानौतूपायनशब्देत्यादि
सूत्रम् । सूत्र घटक जो 'तु' अव्ययवाचक शब्द है सो विकल्प पक्ष का निराकरणपरक है ।
तथा हानिपद जो है वह उपायन का भी उपलक्षक है । "वह उपासक सुकृतदुष्कृत का
परित्याग करता है" 'उसका प्रियज्ञाति पुत्रादिक सुकृत को ले लेता है और शत्रु लोग
दुष्कृत को ले लेते हैं' इस प्रकार हानिवाक्य में उपायन भी श्रुत है, तो केवल हान तथा
केवल उपायन को श्रुत होने पर भी हान उपायन में समुच्चय पक्ष ही सूत्रकार को अभिमत
है । क्योंकि उपायन शब्द का शेष अङ्ग होने से अर्थात् उपायन शब्द हानिवाक्य का
अङ्ग है । विद्वान् उपासक व्यक्ति से परित्यक्त पुण्यपाप का निवेश स्थान भूततत्त्वज्ञानीका

शान्तराग्नातवाक्यस्य प्रदेशान्तस्वाक्यशेषत्वे दृष्टान्तमाह—कुशा-
 च्छन्दः स्तुत्युपगानवदिदि । यथा 'कुशाः वानस्पत्याः स्थ तामापात'
 इति भाल्लविनां निगमस्थवाक्यस्य 'औदुम्बर्यः' इति तद्विशेषवाचि
 प्रदेशान्तस्वाक्यशेषत्वम् । यथा हि—'देवासुराणां छन्दोभिः' इति
 सामान्येन देवासुराणां छन्दसां प्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वम्' इति
 क्रमपरं वाक्यं पूर्वतनोक्तवाक्यशेषतामुपयाति । यथा च 'समयावि-
 षिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' इति विशेषविषयकं वाक्यं
 "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इति सामान्येनागन्तार्थकस्य
 वाक्यस्य यथा वा 'नाध्वर्युरुपगायेत्' इत्येतद्राक्यं 'ऋत्विज उपगा-
 यन्ति' इति सामान्यप्राप्तार्थकस्य वाक्यस्य शेषत्वमुपगच्छति । एव-
 मिहापि शेषशेषिभावात्सर्वार्थसंगतिर्बोद्ध्या । उपायनवाक्यस्य
 हानिवाक्यशेषत्वेन सिद्धायां गतौ विकल्पो नादरणीयः । तदुक्तम्
 विकल्प एव यत्र यः श्रुतस्तदनुचिन्तनं तत्रैवेति प्रथमपक्षः । मिद्वान्तस्तु सर्वेषां समु-
 च्चय एव यत उपायश्रुतौ हानिवाक्यस्याङ्गत्वात् कुशादिवत् । सति संभवे विकल्पोना-
 प्रिय तथा अप्रिय उनका श्रवण है । इसलिये उपायन वाक्य को हानि वाक्य का शेषत्व उप-
 पन्न होता है । प्रदेशान्तर में श्रुत है उसको प्रदेशान्तरस्थ वाक्य का अङ्गत्व होता है ।
 इसी विषय में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं "कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवदिति" । जिस तरह
 "वनस्पति सम्बन्धी कुश होते हैं" यह जो भाल्लविको का निगमस्थ वाक्य है, उसको
 'औदुम्बर्यः' इस विशेष वाचक प्रदेशान्तरस्थ वाक्यका शेषत्व होता है । यथावा 'देवासुराणां
 छन्दोभिः' इससे सामान्य रूप से देवासुर के छन्द के प्रसङ्ग में "देवच्छन्दांसि पूर्वम्" यह
 जो क्रमवचक वाक्य है वह पूर्वोक्त वाक्य का शेष होता है । यथावा "समयाव्यषिते"
 इत्यादि विशेष विषयक वाक्य "हिरण्येन" इत्यादि सामान्यतः आगत वाक्यार्थ का शेष
 होता है । यथावा "नाध्वर्युरुपगायेत्" यह वाक्य "ऋत्विज उपगायन्ति" इस सामान्य वाक्य
 का शेष होता है । इसीतरह प्रकृत में भी अङ्गाङ्गीभाव होने से सबका सङ्गमन होता है ।
 ऐसा समझना चाहिये । उपायन वाक्य को हानिवाक्य का शेष होने से जब निर्वाह होता
 है तब विकल्प पक्ष ठीक नहीं है किन्तु समुच्चय पक्ष ही ठीक है । पूर्वतन्त्र में भी कहा

पूर्वतन्त्रो 'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीना-
मेकदेशः स्यात् (जै० सू०) इति ॥२६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये हान्यविकरणम् ॥११॥

अथ साम्परायाविकरणम् ॥१२॥

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ३।३।२७

सुकृतदुष्कृतयोर्हानञ्च छान्दोग्ये शरीरवियोगकाले श्रूयते-
'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव गहोर्मुखात्प्रमुच्य धृत्वा
शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' (छा० ८।१।१३) इति
श्रयितव्योविकल्पस्याष्टदोषवत्त्वात् प्रतिपत्तुर्भेदादेकत्रोभयविधानमिति संक्षेपः ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे हान्यविकरणम् ॥११॥

कौषतिकीब्राह्मणे पर्यंकविद्यायां पर्यंकस्थ ब्रह्मप्रस्थितस्य भागे पुण्यपापयोगं
दर्शयति स एतं देवयानमित्याद्युपक्रम्य स आगच्छविरजामित्यादि । तत्र ब्रह्मप्रस्थितस्य मार्गे
पुण्यपापयोर्हानम्, अथवा देहाद्यपसर्पणकाले एव विद्यासामर्थ्यात्तयोर्हानमिति संशयः ।
हे "अपितुवाक्यशेषस्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य" इत्यादि । इसलिये समुच्चय पक्ष ही ठीक
है विकल्प पक्ष नहीं ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे हान्यविकरणम् ॥१॥

शरीर के वियोगकाल में पुण्यपाप का वियोग हो जाता है ऐसा छान्दोग्य में श्रुत है
"अश्व जिस प्रकार अपने रोम को छोड़ देता है उसी तरह ब्रह्मज्ञानी पाप कर्म का त्याग
कर देता है, राहु के मुख से जिस तरह चन्द्रमा वियुक्त हो जाता है उसी तरह ब्रह्मज्ञानी
शरीरको छोड़ करके ब्रह्मको प्राप्त करता है एवं शाल्यायनक में भी कहा है "उस ब्रह्मज्ञानी
का दायभाग पुत्र लेता है, मित्र वर्ग पुण्यकर्म को लेता है और दुश्मन पापकर्म को लेता
है" इसप्रकार दाय के संक्रमण काल में सुकृत तथा दुष्कृत का हान श्रुत है, सो तो देह के
वियोग समय में ही प्रतीयमान होता है । कौषीतकी ब्राह्मण में "वह ब्रह्मज्ञानी इस देवयान

एवं शाख्यायनकेऽपि 'तस्य पुत्राः दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां
द्विन्तः पापकृत्याम्' इति दायसंक्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृतहानं
श्रूयते तच्च देहवियोगसमय एव प्रतीयते । कौपीतकीब्राह्मणे
तु 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छती' त्युपक्रम्य 'स
आगच्छति विरजां नदीं तां मनसात्येति तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते' (कौ.
५।३।४) इति देहादपसृत्याध्वनि तद्धानमाम्नायते । तत्र संशयः ।

तत्र श्रुती प्रतिपादनात् मार्गे एव सुकृतदुष्कृतयोर्हानमिति । सिद्धान्तस्तु ब्रह्मप्रस्थि-
तस्य शरीरवियोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तेः पूर्वं किञ्चित् यदि प्राप्तव्यमवशिष्टं भवेत् तदा-
मार्गमध्ये तयोर्हानं परिकल्प्येत नत्वेतदस्ति शरीरयापनानन्तरं निश्चयेन वामात्मप्राप्तेः
आचिरादि मार्ग को प्राप्त करके अग्नि लोक में जाता है" ऐसा उपक्रम करके "वह ब्रह्म-
ज्ञानी उपासक विरजा नदी के किनारे पर पहुँचता है और उस विरजा नदी को मन से ही
अतिक्रमण करता है, तथा सुकृत दुष्कृत का त्याग करता है" इस तरह शरीर से निकलने के
बाद मार्ग में सुकृतदुष्कृत का हान कहा गया है । इसमें संशय होना है कि शरीर वियोग
काल में शरीर से वियुक्त होकर जाने के बाद मार्ग में सुकृतदुष्कृत का हान होना है,
अथवा देह वियोग समय में ही सुकृतदुष्कृत का हान होता है ? तो इन दोनों पक्षों में
कौन पक्ष युक्त है ? इस जिज्ञासा में कहते हैं कि प्रथम पक्ष ही ठीक है, क्योंकि यदि देह के
वियोगकाल में ही सकल कर्म का विनाश हो जाय तब तो देवयान मार्ग से अग्रिम गमन
ही अनुपयुक्त हो जायगा- क्योंकि प्रापक जो कर्म है वह तो सर्वथा विलुप्त हो गया है
तब उपासकका गमन नहीं होगा । अतः देह वियोगकाल में आधा कर्म विनष्ट होता है ।
और आधा पुण्यपाप विरजा नदी के संतरण के उत्तरकाल में नाश होता है, अर्थात् यदि
शरीरावसान काल में ही यदि सकल पुण्यपाप विनष्ट हो जायगा तब तो देवयानादि में गमन
नहीं हो सकता है, अतः आधा पुण्यपाप तो शरीरवियोगकाल में नाश हो जाता है और
अर्धशिष्ट पुण्यपाप नदी संतरणोत्तर काल में नाश होता है । इसलिये प्रथमपक्ष ही ठीक है
यह पूर्वपक्ष होता है ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—“साम्परायेतर्तव्याभावादिति” शरीर वियोगकाल
में ही सकलकर्म का विनाश हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी उपासक शरीरावयोगकाल में ही उपा-
सना के बल से सकल कर्म को विनष्ट करके स्वयं सर्वकर्म विनिर्मुक्त होकर के देवयान

शरीरवियोगकाले वियुज्य गतस्य मार्गे च सुकृतदुष्कृतहानमाहो-
स्विच्छरीरवियोगसमय एवेति ? किं युक्तम् ? देहवियोगकालेऽशेष-
कर्मक्षये देवयानेन पथा गमनानुपपत्तेः । तदार्थं क्षीयतेऽर्धन्तु विर-
जातरणानन्तरमिति प्राप्तेऽभिधीयते-साम्प्रयाये तर्तव्याभावादिति ।
'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) 'आहार
शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्र
मोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति श्रवणात् विद्याविपाकादेहापक्रमणकाल

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतीत्यादिना ब्रह्मज्ञानवतः प्राप्तव्यस्यान्यस्याभावात् । तस्मात् शरीर
वियोगकाले एव सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशो भवति न तु मार्गमध्ये तयोर्विनाश इत्यादिकं
मार्गसे ब्रह्म को प्राप्त करता है, यदि लेशतोपि शरीरवियोगानन्तर कर्म का सद्भाव रहे तब
तो देवयान से गमन नहीं होगा- नवा परमात्मा की प्राप्ति होगी और उस उपासक को
परमात्म व्यतिरिक्त कर्म साध्य कोई भी प्राप्तव्य शेष है नहीं साम्प्रयाय परलोक में उपा-
सक को कोई भी तर्तव्य प्राप्तव्यवस्तु अबशिष्ट नहीं है जिसके लिये लेशतोऽपि कर्म साहाय्य
अपेक्षित हो वह तो ब्रह्मज्ञान होने से कृतकृत्य हो जाता है, कर्म तो प्राकृत पदार्थ का
ही प्रापक होता है मोक्ष में तो ज्ञानसहकृत भक्ति प्रपत्ति ही कारण हैं ! इसलिये अपे-
क्षितवस्त्वन्तर प्राप्ति के अभाव होने से ब्रह्म साक्षात्कारानन्तर उस उपासक को प्राप्तव्यान्तर
का अभाव होने से शरीर वियोगकाल में ही सकल कर्म का विनाश हो जाता है नतु आवा
कर्म का वियोग देहावसान होने पर होता है औ आवा कर्मका विनाश नदी संतरणोत्तर काल
में होता है । अतः द्वितीय पक्ष ही सिद्धान्त उचित है । इसी वस्तु को भाष्यकार बतलाते
हैं "क्षीयन्ते चास्येत्यादि" "परमात्मा का जिसने साक्षात्कार कर लिया है उस उपासक का
सकल कर्म विनष्ट हो जाता है" इस श्रुति में "कर्माणि" बहुवचन प्रयोग से सिद्ध होता
है कि सकल कर्मका विनाश हो जाता है । "नत्वर्चं विनश्यति, तदध्वमवशिष्टं सन्नदी-
संतरणमपेक्षते" इति । "आहार की विशुद्धि से अर्थात् विशुद्ध भोजन करने से
अन्तः करण पवित्र होता है और अन्तः करण के विशुद्ध होने से ध्रुवास्मृति
साक्षात्कार सदृश दृढज्ञान होता है और तादृश ज्ञानका लाभ होने से सर्वकर्म का
विनाश हो जाता है" यहां भी "सर्वग्रन्थीनाम्" इस बहुवचन के स्वारस्य से

एव ब्रह्मविदः सुकृतदुष्कृतयोर्हानम् । कुतः ? तर्तव्याभावात् । देह-
वियोगानन्तरं सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्ययोः सुखदुःखात्मकभोक्त-
व्ययोरभावात् । तथा ह्यन्ये कर्मनिमित्तकसुखदुःखाभावमभिदधते
'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१४।२)
इति । 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१)
इति च ॥२७॥

५ छन्दत उभयाविरोधात् ३।३।२८ ५

एवं विद्यासामर्थ्यात् देहवियोगकाले सर्वकर्मक्षयानन्तरमुपा-
सर्वमावेदयितुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते भाष्यकारः सुकृतदुष्कृतयोर्हानं च इत्यादि ।
अवतरणेनैव कृतव्याख्यानप्रायं भाष्यम् ॥२७॥

यथा अग्निहोत्रं जुहोति यवागूपचतीत्पत्र यदा यवागूपाकस्याग्निहोत्रसाधनता प्रमा-
सिद्ध होता है कि सकल कर्म का विनाश होता है नतु आशिक कर्म का विलोप होता है ।
इस तरह शास्त्र में श्रुत होता है । अतः ब्रह्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर देहावसान
काल में ही ब्रह्मज्ञानी के सकल सुकृत दुष्कृत का विनाश हो जाता है । ऐसा क्यों होता
है ? इसके उत्तर में कहते हैं 'तर्तव्याभावादिति' शरीरावसान के अनन्तर में सुकृतदुष्कृत
के द्वारा तरितव्य प्राप्तव्य भोक्तव्य सुखदुःख का अभाव है । एवं ब्रह्मज्ञानी को कर्मनिमित्तक
सुखदुःख के अभावका अन्यत्र भी प्रतिपादन किया है । 'तस्यतावदेवेत्यादि' उस ब्रह्मज्ञानी
उपासक को तावदेव विलंब होता है, मोक्ष प्राप्ति में जबतक की इस शरीर से विमुक्त नहीं होता
है और इस शरीर का अवसान हो जाने के बाद परममोक्ष को प्राप्त कर जाता है
'शरीर रहित होकर के रहनेवाले उपासक को प्रिय अप्रिय का स्पर्श नहीं होता है'
इन सब श्रुतियों से सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञानी उपासक को शरीरावसान के उत्तर काल
में ही सकल पुण्यपापात्मक कर्म का विनाश हो जाता है और श्रीसाकेत को प्राप्त कर जाता
है, नतु शरीरावसानोत्तरकाल में आशिक कर्म विनष्ट होता है और अंशतः कर्म विनाश
विराजित संतरण के बाद होता है । क्योंकि शरीरपात के बाद उस पुरुष को कुछ प्राप्त
व्यान्तर नहीं रहता है । अतः पूर्वपक्ष ठीक नहीं उत्तर पक्ष ही समुचित है । ॥२७॥

इस प्रकार विद्या उपासना के बल से शरीरावसान काल में ही सर्वपुण्यपापात्मक कर्म
के अवसानोत्तर काल में वह तत्त्वज्ञानी उपासक देवयान द्वारा परमात्मा को प्राप्त करता

सको देवयानेन पथा ब्रह्म प्राप्नोतीति निश्चिते सति 'अश्व इव रोमाणि' इति श्रुतेः 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यस्याश्च श्रुतेरविरोधात् उभयश्रुत्यनुरोधाच्चरमश्रुतोऽपि 'तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते' इति वाक्य खण्डः 'एतं देवयानं पन्थानमापद्य' (कौषी० १।३) इति प्रथम श्रुतात्पूर्वं छन्दतो यथेष्टं योजनीय इति ॥२८॥

५ गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा

हि विरोधः ३।३।२९ ५

अत्राशङ्कते देहवियोगकाले विरजातरणोत्तरकाले चेत्युभयथा णान्तरेण निश्चीयते तदा पाठक्रममनादित्यार्थक्रममाश्रित्यप्रथमं कारणस्य यवागूषाकस्य सम्पादनं करोति तदनन्तरं तेन कारणेनाग्निहोत्रं संपादयति अन्यथा पाठक्रमाश्रयणे अग्निहोत्रकरणानन्तरं यवागूषाकस्य औपस्थ्यं भवेत् तस्मात् क्रमं विभिद्य प्रथमं साधन सम्पादनं तत्पश्चात् तेन तत्साध्यमग्निहोत्रं सम्पादनं भवति । अन्यथाऽग्निहोत्रानुष्ठानासंभवात् । एवं प्रकृते उपासनया शरीरवियोगसमये एव कर्मणि समाप्य ब्रह्मलोक गमनं भवति । तत्र एतद् देवयानपन्थानम् इति पूर्वश्रुतात्पूर्वमेव सुकृतदुष्कृतविधूतनवो-
धकावयवोयथेच्छयायोजनीय इत्याशयेनोपक्रमते एवं विद्या सामर्थ्यादित्यादि भाष्याक्षराणि सुगमत्वान्नोव्याख्यातानि स्वमनीषयैवनिर्णेतव्यानीति ॥२८॥

अत्राह—ननु किञ्चित् कर्मशरीरवियोगकाले एव विनिश्चयत्यवशिष्टं च तदपरं मात्रया विद्यमानं विरजोत्तरणानन्तरं चेत्येवमुभयथा यदि कर्मक्षयोमन्येत तदैव देवयान है' इस बात का निश्चित हो जाने पर 'अश्व इव रोमाणि तस्य तावदेवचिरम्' इन दोनों श्रुतिका अविरोध होने से तथा उभय श्रुति के अनुरोध से पश्चात् श्रुत जो 'तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते' इस वाक्यावयव का 'स एतं देवयानम्' इस प्रथम श्रुत से पूर्व में ही आर्थक्रमानुरोधेन यथेच्छया व्याख्यान करना चाहिये । अर्थात् अग्निहोत्रयवागूषाकवत् अनुसंधान करना चाहिये ॥२८॥

यहां कोई पूर्वपक्षी शंका करते हैं देहावसानकाल में तथा विरजानदी संतरणोत्तर काल में उभयथा दोनों प्रकार से कर्मक्षय हो जाने पर ही देवयानगति प्रतिपादक श्रुति में

कर्मक्षये सत्येव देवयानगतिश्रुतेर्यवत्त्वमुपपद्यते । अन्यथा देहो-
त्क्रान्तिकाले सर्वकर्मविनाशे सति सूक्ष्मशरीरस्यापि विनाशाद्
गत्यनुपपत्तावर्चिरादिगमनश्रुतेर्विरोधः स्यात् ॥२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकवत् ३।३।३०

प्रदर्शितां शङ्काम्परिहरति । परमपुरुषोपासकानां देहादुत्क्रमण
काले सर्वकर्मक्षयेऽपि देवयानः पन्था उपपन्नः एव । कुतः ? तल्ल-
मार्गप्रतिपादकश्रुतेः सार्थक्यं संभवेत् । अन्यथा देहावसानकाले एव सर्वकर्मणां सर्वथा
विनाशे कर्ममूलकसूक्ष्मशरीरस्यापि कारणाभावेनाशरीरस्य गमनं कथमपि नोपपद्येत
ततश्चाचिरादिमार्गप्रतिपादकश्रुतेर्विरोध इति पूर्वपक्षिण आशयः । अर्थात् यथा स्तं
भाभावे तत्स्थितिरस्य प्रसादस्यावस्थानं दुःसंपादम् ततश्च प्रासादेऽवस्थित्यादिकमती
वदुःशकम् । तथैव सर्वकर्मक्षये तन्मूलकसूक्ष्मशरीरस्याप्यभावेन शरीरमूलकगतेरसंभ-
वात्तादृशगतिप्रतिपादकश्रुतेः सामञ्जस्यं कथमिवस्यादिति पूर्वपक्षी प्राहेति ॥२९॥

सत्यं शरीरवियोगकाले विदुषः सर्वकर्मक्षये सति सूक्ष्मशरीरस्यापि विनाश इति
सर्वकर्ममध्यनिविष्टसूक्ष्मशरीरस्थापककर्मणामभावात् सूक्ष्मशरीरस्यापि विलये आश्रय
सार्थक्य होता है । अन्यथा यदि देह के उत्क्रमणकाल में ही सर्व शुभाशुभ का विनाश हो
जाने से कर्ममूलक सूक्ष्म शरीर का भी विनाश हो जायगा, तब शरीरमूलक गत्यनुपपत्ति होने से
अचिरादिगमन श्रुति का विरोध हो जायगा । यह पूर्वपक्ष है ॥२९॥

पूर्व सूत्र से प्रदर्शित शङ्का का परिहार करने के लिये कहते हैं “उपपन्न” इत्यादि
सूत्रम् । परमपुरुष परमात्मा के उपासक अनन्य भक्त जो व्यक्ति हैं उसको शरीर से उत्क्रमण
काल में सर्व कर्म का क्षय हो जाने पर भी देवयान मार्ग उपपन्न होता है । क्यों ? ‘तल्लक्ष-
णार्थोपलब्धेः’ यहाँ तत् शब्द प्रक्रान्त परामर्शक है, जिस तरह यहाँ ‘घट है, उसको लाओ’
इस प्रयोग में तत् शब्द पूर्व प्रक्रान्त घट का बोधक होता है और पूर्व प्रक्रान्त घट का
आनयन होता है, इसी तरह पकृत में पूर्व प्रक्रान्त शरीर सम्बन्ध का द्योतक तत् शब्द
है, तल्लक्षण तत्सजातीय अर्थ शरीर सम्बन्ध रूप है, उसकी उपलब्धि हो रही है । प्रश्न
जब श्रुति अर्थात्त्यादिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि अशेष कर्म का क्षय हो जाता है तब
कर्म साध्य शरीर सम्बन्ध की उपपत्ति किस तरह होगी ? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते

क्षणार्थोपलब्धेः । तल्लक्षणार्थस्तत्सजातीयार्थस्तस्योपलब्धेः । अकर्म-
 लभ्यार्थोपलब्धेरित्यर्थः । अशेषकर्मक्षयेऽपि विद्ययाऽविर्भूतस्वरूपत्वा-
 द्विदुषो देहसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो
 भवति' [छा. ७।२।५।२] 'यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समु-
 मन्तरेणगत्यादिकं नोपपद्यते इति गतिप्रतिपादकश्रुतिविदोषशङ्काऽविचारितरमणीय
 दृष्ट्या विरोध आपतति । तथापि कर्मजन्यस्यशरीरस्याभावेऽपि तत्त्वज्ञानिन उपासकस्यो-
 पासनावलादाविर्भूतस्वरूपस्याप्राकृतशरीरसद्भावेन तत्समयेऽपि शरीरसम्बन्धस्याक्षतेः ।
 अयमाशयः शरीरं द्विविधम् प्राकृतिकमप्राकृतिकं च । तत्र प्रथमं कर्मसाध्यमनित्यं
 च अपरं तु स्वाभाविकमशेषमलवियोगे परमात्मप्रसादेनाविर्भवति । तेन दिव्यशरीरेण
 शरीरवानुपासकः शरीरसाध्यं सर्वमपि कार्यं संपादयन् स्वेच्छया प्रतिबन्धविर-
 हितो विहारादिकार्यं संपादयति । तत्त्वज्ञानिनो विदुषोऽकर्मसंपादितशरीरसम्बन्धं
 स्वयमेव भगवतीति श्रुतेर्बुद्धयति अस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति इत्यादि । नहीष्टवस्तु
 हैं "अकर्मलभ्येत्यादि" यद्यपि कर्मसाध्य शरीर सम्बन्ध का बाध है तथापि अकर्मसाध्य शरीर
 सम्बन्ध रूप अर्थ की उपलब्धि होती है । तथापि बाध दोष का तो परिहार नहीं होता
 है, इस जिज्ञासा के अनुसंधान में भाष्यकार कहते हैं 'अशेष कर्मक्षयेऽपि' इत्यादि देहवियोग-
 काल में अशेष कर्म का क्षय हो जाने पर भी विद्या से आविर्भूत स्वरूप होने से तत्त्वज्ञानी
 उपासक को एवम् साध्यशरीर सम्बन्धलक्षण अर्थ की उपलब्धि होती है । अर्थात् उस
 समय में यद्यपि प्राकृत शरीर सम्बन्ध जो कि कर्म साध्य है, उसका अभाव होने पर भी
 दिव्य कमनीय लोकोत्तर शरीर सम्बन्ध रहता है, जिस शरीर के सम्बन्ध से अबाधित रूप
 से यथाभिलषित गमनागमय होता है । दिव्य शरीर जो कर्मसाध्य नहीं है लोकोत्तर है
 तादृश शरीर सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण बतलाते हैं 'तस्य सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि 'उस
 आविर्भूत स्वरूपक उपासक को सर्वलोक में कामाचार होता है, अर्थात् स्वेच्छया अबाधित
 रूप से आवागमनादिक होता रहता है' यह स्वेच्छपूर्वक सर्वत्र गमनागमनादिक शरीर
 सम्बन्ध के बिना अनुपपन्न है और प्राकृतिक शरीर का उस समय में बाध होने से दिव्य
 शरीर सम्बन्ध को प्रमाणित करता है । एवम् 'जिस कमनीय पदार्थ विषयक कामना करता
 है वे सब पदार्थ इस आविर्भूत स्वरूपक उपासक के संकल्प मात्र से वहां ही उपस्थित हो

त्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते' (छा० २।२।१०) 'स एकधा भवति-
त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इति ब्रह्मविदोऽऽकर्मलभ्यार्थोपलब्धि-
श्रवणात् । तत्र दृष्टान्तः-लोकवदिति । यथा लोके राजसेवकानां
प्रयत्नमन्तरेणापि पुरुषान्तरप्रयत्नालभ्यातिस्मणीयानेकपदार्थाना-
मुपलब्धिस्तद्वत् ॥३०॥

प्राप्तिविहारादिकं शरीरसम्बन्धमन्तरेण संभवतीति । तत्र प्राकृतशरीरबाधेन परिशेषात्
दिव्यशरीरसम्बन्धमर्थोपत्तिर्गमयति । सर्वतो हि बलवतीत्यर्थोपत्तिः प्रमाणशतमपि
विधूय चार्थं साधयति । तदुक्तं 'वाच्यान्यथोपपत्तिर्वात्यात्योवाद्दृष्टां ग्रहः । नह्येकत्र
समावेशः छायातपवदेतयोस्तिर्यादिकं सर्वमावेदयितुमुत्तरसूत्रं व्याख्यातुं च भाष्यकार
उपक्रमते प्रदर्शितां शङ्कामित्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममतिरोहितार्थकंचेति विवरणाय न
प्रयते ॥३०॥

जाते हैं, उन सबसे सम्पन्न होकर के वह उपासक स्वकीय महिमा से पूजित होता है
[तदुक्तं 'ऐहिकानां तु साधूनामर्थवागनुवर्तते । ऋषीणां पुनराप्तानां वाचमर्थोनुवावति'] एवम् 'वह
आविर्भूत स्वरूपक उपासक एक रूप से तथा अनेक स्वरूप होता है इत्यादि श्रुतियों में
ब्रह्मज्ञानी को अकर्मलभ्य अर्थ का अर्थात् अप्राकृत दिव्य मङ्गलनय शरीर का सम्बन्ध है
ऐसा श्रुत होता है ।

जो पदार्थ जीव के कर्मसाध्य नहीं है वह पदार्थ अति सरल रूप से उपासक को
सिद्ध हो जाता है । इसमें अनुरूप लौकिक दृष्टान्त को बतलाते हैं जिससे लोक के बुद्धि
में भी यह पदार्थ सुगम रूप से आरुढ़ हो सके । यद्यपि लोक से अप्राप्त वस्तु का
प्रतिपादन करने से ही शास्त्र अर्थवान् होता है तथापि लोक व्युत्पादनार्थक शास्त्र
है । लोक व्युत्पादनार्थकत्वात् शास्त्रस्येति' ऐसा न्याय है 'लोकवत्' जिस तरह इस लोक में
जो पदार्थ अत्यन्त दुरुह है, लोक को अनेक प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होता है परन्तु
राजसेवक को वही पदार्थ अल्पप्रयत्न मात्र से सरलतया प्राप्त हो जाता है, उसमें राजगौरव
कारण है । उसी तरह जो जीव प्रयत्न साध्य नहीं है वही पदार्थ भगवदुपासक को लोक
प्रयत्न परमेश्वर प्रसाद से अति सरल हो जाता है अतः उपासक के लिए सब पदार्थ
संभवित होता है इति संक्षेपः ॥३०॥

५ यावदधिकारमवस्थितिराधि

कारिकाणाम् ३।३।३१ ५

नचैवं ज्ञानवतां वसिष्ठादीनां कर्मफलरूपदेहान्तरसंयोगस्य पुत्र
जन्ममरणादिहेतुकसुखदुःखानुभवस्य च दर्शनाद् ब्रह्मविद्यया कर्म-
णामपि ब्रह्मोपासकानां सुखदुःखानुभवोऽवर्जनीयः स्यादित्यत्राह-
'यावदधिकारमित्यादि ।

येषां ज्ञानिनां ब्रह्मविद्यया क्षीणकर्मणां प्रारब्धकर्मावसानकृत
देहवियोगानां शताधिकया नाड्या देहाद्विनिर्गतानामर्चिरादिना
ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तेषां हेतोरभावान्न पुण्यपापकर्महेतुकः सुखदुःखानु-
भवः । आधिकारिकान्तु वसिष्ठादीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोक

ननु श्रीवसिष्ठादीनां ज्ञानित्वेनाभिमतानां कर्महेतुकसुखाद्यनुभवस्य दर्शनात्कथ-
मुच्यते विद्यया तद्विनाश इत्याशं कामपनेतुमुपक्रमते न चैवं ज्ञानवतामित्यादि येषां ज्ञानाद्
शेषकर्मक्षयोजातः स तु देवयानेन गच्छन् ब्रह्मप्राप्त्याविमुक्तो भवति । यदधिकारे
परमात्मनाविनियोजितः यावत्प्रारब्धं तदनुकूलमधिकारकार्यं कृत्वा प्रारब्धकर्मा-

प्रश्न=ज्ञानवान् जो श्रीवशिष्ठ विगरे हैं उनको भी कर्म का फलस्वरूप शरीरान्तर
का संयोग तथा पुत्रादि जन्ममरणादि कारणक सुखदुःखादिक का अनुभव देखने से ब्रह्म विद्या
से भी ब्रह्मोपासक को सुखानुभवादिक अवर्जनीय प्रतीत होता है ? इस शंका के उत्तर में
सूत्रकार कहते हैं 'यावदधिकारमित्यादि' जो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या से कर्म को क्षयित कर दिये
हैं और जिनको प्रारब्ध कर्म के अवसान प्रयुक्त देहावसान होनेवाला है, तथा सुषुम्नानाडी
के द्वारा इस देह से निकल करके अर्चिरादि देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक श्रीसाकेत की प्राप्ति
होती है, उनको कर्म रूप कारण के अभाव होने से शुभाशुभ कर्ममूलक सुखदुःखादि का
अनुभव नहीं होता है । और जो आधिकारिक वसिष्ठ प्रभृतिक महापुरुष हैं । जो वेदादि
प्रवर्तनादिक लोक व्यवस्था के हेतुभूत अधिकार में परमात्मा से नियुक्त हैं । उनका अवि-
कार कार्य पर्यन्त अवस्थान रहता है तथा अविकारारंभक शुभाशुभ कर्मभी अधिकार पर्यन्त
अवस्थित रहता है । इसलिये उन अधिकारियों को सुखदुःखादिक का अनुभव होता है।

व्यवस्थाहेतुष्वधिकारेषु ब्रह्मणानियुक्तानां यावदधिकारमवस्थिति
स्तदास्मभकं कर्मापि यावदधिकारमवतिष्ठते । अतस्तेषां सुखदुःखा-
नुभवोऽपि भवति । प्रारब्धकर्मवशात्सम्पन्नेत्वधिकारे तेषां तदैव
ज्ञानोदयादर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिरिति ॥३१॥

इति श्रीआनन्दभाष्येसाम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

अथानियमाधिकरणम् ॥१३॥

५ अनियमः सर्वेषामविरोधः

शब्दानुमानाभ्याम् ३।३।३२ ५

किमर्चिरादिना गतिर्यत्र विद्यासु श्रूयते तद्विद्यावतामेव तथा
गत्या ब्रह्मप्राप्तिराहोस्वित्सर्वविद्यावतामर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिरिति
वसाने ज्ञानप्राप्यविमुक्तो भवति । इति तेषां यावदधिकारं परमेश्वरेच्छया मात्रयत्
कर्मावतिष्ठते तेन सुखाद्यनुभवे न कापि क्षतिः । प्रारब्धावसाने ज्ञानमवाप्यविरज्यते
इतिदिक् ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे साम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

ननु यस्यां विद्यायां योहि देवयानादिमार्गः कथितस्तद्विद्योपासकानामेव
परमात्मप्राप्तिरथवा सर्वविद्यावतां देवयानमार्गेण परमात्मप्राप्तिर्भवतीति संशयः ।
और जब प्रारब्ध कर्म के बल से स्वक्रियाधियार सम्पन्न हो जाता है तब उसी समय में ज्ञान
का उदय होने से अर्चिरादि देवयान मार्ग से ब्रह्म मरमात्मा श्रीराम की प्राप्ति हो जाती है । अर्थात्
आधिकारिक पुरुषयावत् अधिकार रह करके तदनन्तर देवयान मार्ग द्वारा उपासना के बल से
श्रीसाकेत में प्रविष्ट हो जाते हैं । प्राकृतिक दुःखानुभव से मुक्त हो जाते हैं ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे साम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

जिस विद्या में अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में गमन श्रुत है । तादृश विद्यावान् को
ही तादृश अर्चिरादि मार्ग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है अथवा सर्व विद्यावान् को
अर्चिरादि मार्ग द्वारा गमन होता है ऐसा संशय होता है । तत्र जिस विद्या में अर्चिरादि

संशये यासु विद्यासु गतिराम्नायते तद्विद्यावतामेव तद्गत्या ब्रह्मप्राप्तिर्नान्येषां प्रमाणाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते— अनियम इति । सर्वेषां सर्वविद्यावतामर्चिरादिना मार्गेणैव ब्रह्मप्राप्तिरितिसिद्धान्तात्तद्विद्यावतामेवेति नियमो नास्ति । सर्वविद्यावतां तथा गमने शब्दानुमानाभ्यामविरोधः । नोचेद्विरोध इति भावः ।

श्रुतिस्तावद्-‘य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति’ (वृ० ६।२।२५) इति । तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति’ (छा० ५।१०।१)

तत्रान्य विद्यावतां देवयानमार्गेण परमात्मप्राप्तिरिति न प्रमाणाभावेन यस्यां विद्यायां योभागः श्रुतस्तेन पथा तस्यैव गमनं भवतीति पूर्वपक्षः । श्रुतिस्मृत्योर्विरोधाभावाद् द्वितीयपक्ष एव मनोरमोऽन्यथा ताभ्यां विरोधः स्पष्ट एव भवेदिति सिद्धान्तं दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुञ्चोपक्रमते भाष्यकारः किमर्चिरादिनेत्यादि शब्दोहि श्रुतिप्रमाद्वारा गमनं श्रुतं है तादृश विद्यावान् को ही तादृश मार्ग द्वारा गमन होता है किन्तु अन्य विद्यावान् को अर्चिरादि द्वारा गमन होने में कोई प्रमाण नहीं है और अप्रमाणिक पदार्थ का स्वीकार पुरुषार्थक प्रयोजक नहीं होता है एवं वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती है । अतः जिस विद्या में जो मार्ग श्रुत है तादृश विद्यावान् को ही उस मार्ग से गमन होता है अन्य को ब्रह्मलोक गमन उस मार्ग से नहीं होता है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—‘अनियमः’ इत्यादि । सर्व विद्यावान् को अर्चिरादि मार्ग से ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ऐसा सिद्धान्त है । अर्थात् जिस विद्या में जो मार्ग श्रुत है तादृश विद्यावान् को ही उस मार्ग से गमन होता है ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि विद्या तो अनेक हैं और मार्ग तो अनेक नहीं है । इसलिये विद्या तथा मार्ग में वैमत्य नहीं है, अन्यथा मार्गरहित विद्या में ब्रह्मप्रापकत्व नहीं होने से ब्रह्मविद्या में पाक्षिक भवत्व हो जायगा अथवा मार्ग रहित विद्या में अप्रमाणिकत्व हो जायगा । इन सभी विद्यावान् को अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मगमन होता है । इस पक्ष में श्रुति स्मृति का विरोध कोई नहीं है । सर्व विद्यावान् को अर्चिरादि मार्ग से गमन होने में श्रुति अनुमान अर्थात् स्मृति से कोई विरोध नहीं है प्रत्युत श्रुति स्मृति इसमें अनुकूल है । अन्यथा ऐसा यदि मानें तो श्रुति स्मृति का विरोध

इति च स्पष्टमेव सर्वविद्यावतामर्चिरादिना गतिरभिधत्ते । तथा स्मृतिरपि 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः' (गी० ८।२४) इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनयैव गत्या ब्रह्मप्राप्तिं दृढयति ॥३२॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽनियमाधिकरणम् ॥१३॥

अथाक्षरव्यधिकरणम् ॥१४॥

५ अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद

भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ३।३।३ ५

वाजसनेयके गार्गीम्प्रति याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् 'एतद्वै तदक्षरं गम् । अनुमानम् स्मृतिः । यथा अनुमानं प्रत्यक्षसापेक्षं भवति तथैव स्मृतिरपि श्रुतिसापेक्षत्वेनानुमानपदबोध्यं भवतीति । ततश्च श्रुतिस्मृतिप्रमाणाभ्यामविरोधोद्वितीयपक्षपरिग्रहो भवति । अन्यथा तु ताभ्यामविरोध आपत्तेदिति संक्षेपः ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽनियमाधिकरणम् ॥१३॥

अथ बृहदारण्यके मुण्डकेचास्थूलत्वादिकादिकानिषेधात्मका गुणाः परमात्मन होगी तथा श्रुत्यादिकं प्रमाणं व्याहृतार्थकत्वं अप्रमाणिकत्वं भी हो जायगा । अतः भाष्यकारजी तादृश श्रुति को बतलाते हैं "जो उपासक यथोक्त रूप से परमात्मा को जानते हैं तथा अरण्य में श्रद्धा सत्य का उपासन करते हैं वे अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त करते हैं" जो इस तरह जानते हैं अरण्य में श्रद्धा तप की उपासना करते हैं वे अर्चिष को प्राप्त करते हैं" । इत्यादि श्रुति स्पष्ट रूप से विद्यावान् को अर्चिरादि मार्ग का प्रतिपादन करते हैं । गीता में भी "अग्निर्ज्योतिः०" इस प्रकरण में सर्व विद्यावान् के लिए अर्चिरादि गति ब्रह्मप्राप्ति के दृढ रूप से स्पष्ट किया है । इसलिये सर्व विद्यावान् को अर्चिरादिक पथ से ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अनियमाधिकरणम् ॥१३॥

वाजसनेयक में गार्गी के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा है "हे गार्गी ? इस

गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्' (बृ०३।८।८)
 इत्यादिकं श्रूयते । एवं मुण्डकेऽपि 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते
 यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्' [मु०१।१।५)
 इति श्रूयते । तत्र संशयः । किमेषामस्थूलत्वादीनां गुणानां यत्र
 श्रुतिस्तत्रैव चिन्तनमाहोस्वित्सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहार इति । किं
 युक्तम् ? यत्रौतेषां श्रुतिस्तत्रैव । कुतः ? प्रकरणभेदात् । विद्यान्तर
 इति श्रुताः, तत्र यत्र प्रकरणे ते श्रुतास्तत्रैव तेषामनुचिन्तनम् सर्वविद्यासु वा तेषां
 मुपसंहारो विधेय आनन्दादिविधिगुणान्तरवत् । आनन्दादयः प्रधानस्येत्यत्र यथा
 सर्वविद्यासूपसंहृताः । तत्र विधिरूपगुणानामिदं निषेधात्मकगुणविशयेचिन्तयेतावा
 नेवोभयोर्नैषण्यम् । इति सर्वेषां भावात्मकगुणानां सर्वत्रोपसंहारो नवेति संशयः । तत्र
 अक्षर ब्रह्म को ब्राह्मण लोग अस्थूल अनणु अहस्व और अदीर्घ' कहते हैं ऐसा सुनने में
 आया है । तथा मुण्डक में भी कहा है "दूसरी परा विद्या है जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म जाना
 जाता है जो कि अद्रेश्य अग्राह्य अगोत्र अवर्ण अचक्षु अक्षोत्र पाणिपाद रहित है" ऐसा
 सुनने में आया है । इसमें संशय होता है कि जो ये अस्थूलत्वादिक गुण समुदाय हैं वे
 जिस प्रकरण में श्रूयमाण हैं उसी स्थल में उनका अनुचिन्तन करना चाहिये अथवा सर्व
 ब्रह्म विद्या में अश्रुत स्थल में भी उपसंहार करना चाहिये । तो इसमें क्या मानना युक्त है?]
 जहाँ जिस प्रकरण में अस्थूलत्वादिक श्रूयमाण हैं उसी स्थल में उनका अनुचिन्तन करना
 किन्तु अश्रुतस्थल में उनका अनुचिन्तन नहीं करना क्योंकि प्रकरण सत्र भिन्न-भिन्न है नहीं
 क्योंकि जो गुण विद्यान्तर रूपात्मक गुण हैं वे विद्यान्तर का रूप बनें इसमें कोई प्रमाण नहीं
 है । [जिस तरह घट के जो गुण हैं वे पटादिक का गुण कभी नहीं होते हैं ।] एतादृश
 पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं "अक्षरधियांत्वरोध इति" जब जीवात्मा में भेद केवल
 आनन्दादिक गुणों से नहीं हो सकता है क्योंकि आनन्दादिक गुण तो जीव में भी विद्यमान
 हैं [अर्थात् परमात्मा जीवात्मभ्योभिद्यते आनन्दादि गुणवत्त्वादितरमेदानुमानम् । तत्रोक्त हेतोः
 केवलजीवेऽपि सत्त्वेन तत्र साध्यस्येतरभेद लक्षणस्य जीवे अभावेन साध्याभाववति हेतोर्वर्तमा-
 नतया व्यभिचारः स्यात्] साध्याभाव परमात्मेतर भेदभावाधिकरण जीव में हेतु के वर्तमान
 होने से यथोक्त हेतु व्यभिचारित होने से साध्य साधक नहीं होगा धूमवान् द्रव्यत्वात् के
 समान । अतः अस्थूलत्वादि गुण से समानाधिकरण्य सम्बन्धेन विशेषित जो आनन्दादिक गुण

रूपात्मकानां गुणानां विद्यान्तरूपत्वे मानाभावादिति प्राप्तेऽभि-
धीयते—‘अक्षरधियां त्वरोध’ इति । यतः केवलमानन्दादिभिर्गुणै
ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तिर्नोपपद्यते । प्रत्यगात्मनोऽप्यानन्दादि
गुणकत्वात् । अतोऽस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिभिर्विशेषितस्य
ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त्युपपत्तेः । अस्थूलत्वादीनामप्यानन्दादि
वत्स्वप्रकाशापरिच्छिन्नचिदेकरसब्रह्मस्वरूपानुमन्धान उपयुक्तत्वात् ।
अनस्तेषामप्यानन्दादिवत्सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारः । कुतः ? सामा-
न्यतद्भावाभ्याम् । सर्वास्वक्षरविद्यासूपास्यभूतस्याक्षरस्य ब्रह्मणः समा-
ये श्रुतास्तेषां प्रकरणवलात्तत्रैवानुचिन्तनम् नत्वन्यत्रेति प्रकरणान्तर्गताभावात्मक
गुणानां नयने प्रमाणाभावादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु सर्वोपसंहारविद्याः विध्या
त्मकगुणवत् । कुतः ? उपास्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्रैकरूपत्वात् । उपास्यभेदे उपा-
सना भेदः । उपासनाभेदे च गुणव्यवस्थास्यान्नत्वेवमस्ति । सर्वत्रोपास्यस्य भानत्वात् ।
इ उसको जब हेतु बनाते हैं तब अस्थूलत्वादि विशिष्ट आनन्द को हेतु बनाते हैं तब तादृश
हेतु से परमात्मा में परमात्मेतर जीवादि का भेद उपपन्न हो सकता है । अस्थूलत्वादिक जो
अभावात्मक गुण समुदाय है वह भावात्मक आनन्दादि गुण की तरह स्वप्रकाश अपरिच्छिन्न
चिदेक रसब्रह्म स्वरूप के अनुमन्धान में उपयोगी है । अतः अस्थूलत्वादि अभावात्मक गुणों
का भी आनन्दादिक भावात्मक गुण की तरह सर्व विद्या में उपसंहार होता है । नतु जिस
प्रकरण में श्रूयमाण है तावन्मात्रस्थल में ही अनुचिन्तन का उपयोगित्व है । इसका विशेष
विवरण “आनन्दादयः प्रधानस्य” इस सूत्र में किया है । “आनन्दादयः प्रधानस्य” इस सूत्र
में भावात्मक गुणोपसंहार का विवेचन किया है और प्रकृत सूत्र में अभावात्मक गुणोपसंहार
का विचार किया गया है । एतावन्मात्र विशेषता यहां है पूर्व प्रकरण का ही यह विस्तृत
स्वरूप है । तस्मात् अन्यत्र कथित अस्थूलत्वादि गुणों का उपसंहार सर्वब्रह्म विद्या में
करना चाहिये यह सिद्ध हुआ ।

प्रश्न—जब प्रकरण भेद विद्यमान है तब प्रकरणान्तर स्थित गुणों का प्रकरणान्तरीय
ब्रह्म विद्या में उपसंहार किस तरह होगा ? इस अभिप्राय से भाष्यकार जिज्ञासा करते हैं
कुतः ? इत्यादि । ऐसा क्यों अर्थात् प्रकरण भेद होने से अन्य ब्रह्म विद्या में अन्य गुणों का

नत्वात् । अस्थूलत्वादीनां गुणानां ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च । प्रधानानुवर्तित्वं हि गुणानां स्वभावः । औपसदवत् । यथा जामद-
ग्न्यचतुरात्रपुरोडाशुपसद्गुणभूतस्य मन्त्रस्य प्रधानानुवर्तितयोपसद-
नुवर्तित्वेनोपांशुगुणकत्वम् । तदुक्तम् ‘गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मु-
ख्येन वेदसंयोगः [जै० द० सू०] इति ॥३३॥

यद्यप्ययं विषय आनन्दादयः प्रधानस्येति सूत्रे प्रपञ्चितस्तथापि तत्र विध्यात्मक
गुणानां विचारः कृत इह तु प्रतिषेधात्मकम् स्थूलत्वादीनामित्येतावान् विशेषः । तस्यै-
वात्र विशेषरूपेण प्रपञ्च इति । उपसद्वदिति दृष्टान्तः ॥३३॥

उपसंहार किस तरह होगा ? उत्तर—“सामान्यतद्भावाभ्यामिति” सामान्य तद्भाव से अर्थात्
सर्वत्र उपास्य परमात्मा के एक रूपक होने से अन्यत्र कथित गुणों का उपसंहार होता है ।
‘सामान्यतद्भावाभ्याम्’ इस सूत्रावयव का स्पष्टीकरण भाष्यकार कहते हैं ‘सर्वाक्षर विद्यासु’
इत्यादि । सभी अक्षर विद्या में उपास्यभूत जो अक्षरब्रह्म उसको समान एक होने से अर्थात्
उपास्य जो अक्षर परमात्मा श्रीराम हैं वे सर्वत्र एक है । सर्व ब्रह्माक्षर विद्या में सब गुणका उप-
संहार होता है । और अस्थूलत्वादिक जो गुण है उसका ब्रह्म स्वरूपानुसन्धान में अन्तर्भाव होने
से, क्योंकि नियम है कि प्रधान का अनुवर्तन इतर गुण करते हैं, अर्थात् प्रधानानुवर्तित्व
गुणों का स्वभाव है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त बताते हैं “औप सदवत्” जिस तरह जामदग्न्य
चतुरात्रपुरोडासी उपसद कर्म का गुणभूत जो मन्त्र है, उसको प्रधानानुवर्ती होने से उपांशु
का गुण भी होता है । ऐसा कहा है, पूर्वतन्त्र में “गुणमुख्यव्यतिक्रमे” इत्यादि ।

तदयमत्र संक्षेपः ‘अक्षर विद्या में अस्थूलत्वादिक अभावात्मक गुण कहा गया है, उनका
अनुचिन्तन उसी प्रकरण में करना अथवा सर्वाक्षर विद्या में करना यह संशय होता है ।
प्रकरण भेद होने से जो जहां श्रुत है उसी स्थल में अनुचिन्तन करना अन्यत्र नहीं, यह
पूर्वपक्ष है । जिस तरह ब्रह्मस्वरूप के अनुसन्धान में उपयोगी होने से आनन्दादिक गुण
का सर्वत्र उपसंहार होता है उसी तरह ब्रह्मस्वरूपानुसन्धान में अस्थूलत्वादिक को उपयोगी
होने से सर्वत्र उपसंहार होना आवश्यक है । ब्रह्म स्वरूपानुसन्धान का अन्तर्भूत यथोक्त है
प्रधान का अनुवर्तन करना गुणों का स्वभाव है ॥३३॥

५ इयदामननात् ३।३।३४ ५

तर्हि 'सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः' [छा० १।१४।४] इत्येवमादीनामपि गुणानां प्रधानभूतब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहारः स्यादित्यत्राह—'इयदामननात्' । इयदस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिकमेव सर्वत्रोपसंहर्तव्यम् । कुतः ? आमननात् इयद्गुणविशिष्टस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्यामननात् । येन गुणजातेन विना प्रत्यगात्मव्यावृत्तस्य ब्रह्मस्वरूपस्यामननमनुसन्धानं नोपपद्यते तदेव सर्वत्रोपसंहृत्यानुसन्धेयम् नान्यत् प्रधानानुवृत्त्यपि सर्वकर्मत्वाधिकम् । तत्तु प्रतिविद्यमेव व्यवस्थितमिति ॥३४॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽक्षरव्यविकरणम् ॥१४॥

ननु यदि प्रधानानुवर्त्ति अस्थूलत्वादिगुणानां सर्वत्रोपसंहारो भवति तदा सत्यकामत्वादीनामपि सर्वत्रोपसंहारो भवतु परन्तु स तु नेष्टस्तत्राह 'इयदामननादिति अस्थूलत्वादिविशिष्टानन्दादीनामेव सर्वत्रोपसंहारो ननु सत्यकामत्वादीनाम् । यतोऽस्थूलत्वादिविशिष्टानन्दादिगुणैरैव प्रत्यगात्मव्यावृत्तिसंभवेन तावतामेव सर्वत्रोपसंहारप्रतिपादनात् । न तु प्रधानानुवर्त्तिनामपि तदितरगुणानामुपसंहारः सर्वत्र निष्प्रयोजनत्वादिति भावार्थः ॥३४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽक्षरव्यविकरणम् ॥१४॥

यदि अस्थूलत्वादि गुणों का उपसंहार सर्वत्र होता है तब तो 'सर्वकर्मा सर्वरस' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सत्यकामत्वादि गुणों का भी सर्वत्रोपसंहार होना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "इयदामननादिति" इयत् अर्थात् अस्थूलत्वादि गुण विशिष्ट आनन्दादिक गुणोंका ही सर्वत्र उपसंहार होता है । क्योंकि एतद्गुण विशिष्ट ही ब्रह्मस्वरूप का कथन किया गया है जिन गुणों के निरूपण के बिना प्रत्यगात्मव्यावृत्त ब्रह्मस्वरूप का अनुसंधान अनुचिन्तन उपपन्न हो सके उन्हीं गुणों का सर्वत्र उपसंहार करना आवश्यक है । परन्तु तदितर यदि प्रधानानुवर्त्ती भी हो तो उनका उपसंहार नहीं करना जैसे सर्वकर्मत्वादिक ये यद्यपि प्रधानानुवर्त्ती भी है तथापि इनका सर्वत्रोपसंहार नहीं करना किन्तु ये गुण जिस विद्या में श्रुत हैं उसी स्थल में अनुचिन्तनीय हैं ॥३४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे क्षरव्यविकरणम् ॥१४॥

५ अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ३।३।३५ ५

वाजसनेयके—‘यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मेव्याचक्ष्व’ (बृ० ३।४।१) इत्युपस्तेन पृष्ठस्य याज्ञवल्क्यस्योत्तरं ‘यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः’ (बृ० ३।४।१) इत्यादि । ‘अतोऽन्यदार्तम्’ (बृ० ३।४।२) इत्यन्तम् । एवमग्रेऽपि ‘यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मेव्याचक्ष्व’ (बृ० ३।५।२) इति कहोलप्रश्ने ‘योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति’

बृहदारण्यकी उपस्थित कहोलयोः श्रूयमाणा विद्या भिन्नाऽथवाऽभिन्नेति संशयः । तत्र प्रत्युत्तरप्रकारस्योभयत्रभेदात् तदुभयविद्यापरस्परं विभिन्नेवेति पूर्वपक्षः । तत्रोत्तरं तु तयोर्द्वयोरपि विद्या अभिन्नैव यतस्तदुभयत्र सर्वप्राणनकारणत्वाशनायादि धर्मराहित्यलक्षणपरमात्मधर्मपरमेश्वरे एव संभवेनोपास्यस्यैकस्यैवोभयत्रापि समानत्वात् विद्या एकैव । यतोरूपभेदे सत्येवोपास्यभेदः उपास्यभेदे चोपासना भिद्यते

वाजसनेयक में “जो साक्षात् ब्रह्म है जो आत्मा सर्वान्तर है उसका कथन कीजिये” इस प्रकार उसस्तिने याज्ञवल्क्य को प्रश्न किया, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया “जो प्राण से प्रणित होता है वह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है” इत्यादि प्रकरण से लेकर के ‘इस आत्मा से अन्न पदार्थ आस्था रहित है’ एतदन्त प्रकरण से कहा है । इसी तरह आगे भी कहा है “जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो आत्मा सर्वान्तर है, उसका कथन मुझसे कीजिये” । इस प्रकार कहोल प्रश्न में ‘जो अशना पिपासा शोक मोह जरा और मृत्यु को अतिक्रमण करता है’ यहाँ से लेकर के “इससे भिन्न जो है वह आस्था रहित है” एतदन्त प्रकरण से कहोल को याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया है । अब यहाँ संशय होता है कि उपस्थित ब्राह्मण तथा कहोल ब्राह्मण की जो विद्या है वह परस्पर भिन्न है, अथवा उभयस्थल में विद्या अभिन्न है ? इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि उपस्थित ब्राह्मण तथा कहोल ब्राह्मण में उपास्य रूप के भेद होने से विद्या भिन्न है । [जिस तरह द्रव्य तथा यागका रूप है,

(वृ० ३।५।१) इत्यारभ्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (वृ० ३।५।१) इत्यन्तं याज्ञ-
वल्क्यस्योत्तरम् । तत्र किमुभयत्र विद्याभेद उताभेद इति संशयः ।
पूर्वपक्षस्तूभयत्रोपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः । यद्यपि प्रश्नस्यैकरूप्यं
परन्तूत्तरस्य प्रकारभेदस्तेन रूपभेदोऽस्त्येव । प्रथमे देहेन्द्रियादिव्य-
तिरिक्तस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपम् । द्वितीये तु अशनायापिपासादि-
रहितस्य जीवाद्विलक्षणस्य परमात्मनः स्वरूपमिति रूपभेदोऽस्त्येव ।
भूतग्रामवतस्त्वापेक्षिकमेव सर्वान्तरत्वं परमात्मनस्तु न तथा । तथा-
प्युभयत्र प्रत्यगात्मपरमात्मनावेव ग्राह्यौ । अन्यथा प्रतिवचनभेदो-
नोपपद्येत । तस्मादत्र विद्या भिद्यत इति चेत् ।

इति नियमः । तदिहोपास्याभेदान्नो तादृशविद्ययोर्भेदोऽपि त्वभेद एव । यद्यपि
प्रश्नप्रतिवचनयोः पुनरावर्तनं तेन विद्याभेद इव प्रतिभाति तथापि सद्विद्यावत् पुनरा-
वर्तनं तयोरुपास्यस्य दृढताख्यापनाय तदीयमाहात्म्यातिशयद्योतनायेति नो नैरर्थ-
क्यम् । यथा अहो दर्शनीया अहोदर्शनीयेति पुनरभ्याशोऽर्थस्य दृढतां मनोरमतां च
उसमे द्रव्य देवता का भेद होने से याग भिन्न कहलाता है, उसी तरह रूप के भेद से
उपासना भिन्न होती है, तो प्रकृत में दोनों स्थल में उपास्य का रूप भिन्न-भिन्न है तो
उपासना भी दोनों जगह भिन्न ही है ।]

यद्यपि उभयत्र प्रश्न तो समान है तथापि उत्तर में तो प्रकार का भेद है, इसलिये
रूपभेद दोनों जगह में है अतः उभय स्थलीय विद्या भिन्न भिन्न है । क्योंकि उषस्ति
ब्राह्मण में शरीरेन्द्रियादि भिन्न प्रत्यगात्मजीव स्वरूप का निर्वचन है और द्वितीय में अर्थात्
कहोळ ब्राह्मण में अशना पिपासा जग रोगादि रहित जीव से विलक्षण परमात्म स्वरूप का
निर्वचन है, तो दोनों जगह में रूपभेद विद्यमान है । भूतग्रामवत् आपेक्षिक सर्वान्तरत्व है
अर्थात् जिस तरह शरीरापेक्षया इन्द्रिय में अन्तरत्व है इन्द्रियापेक्षया प्राणादिक में है, परन्तु
परमात्मा में आपेक्षिक सर्वान्तरत्व नहीं है । तथापि दोनों जगह जीव परमात्मा का ही ग्रहण
करना चाहिये अन्यथा प्रतिवचन उत्तर में भेद उपपन्न नहीं होगा । इसलिये प्रकृत में विद्या
भिन्न-भिन्न ही है ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं 'नेति' उषस्ति ब्राह्मण तथा कहोळ ब्राह्मण
की जो विद्या है वह परस्पर भिन्न नहीं है क्योंकि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' इस तरह परमात्म
विषयक प्रश्न दोनों जगह समान ही है । और उसका जो उत्तर है वह भी सर्व प्राणी

आत्राभिधीयते-नेति । नोभयत्र विद्याभेदः कुतः ? 'यत्सा
क्षादपरोक्षादि' ति परमात्मविषयकप्रश्नस्यैकरूप्यात् । तदुत्तर-
स्यापि सर्वप्राणिप्राणनादिकारणत्वस्याशनायाद्यतीतत्वस्यैकस्मिन्पर
मात्मन्युपास्यभूते सम्भवात् । तत्र दृष्टान्तमाह-उपदेशवत् । यथा
सद्विद्यायामुपास्यस्यैक्येऽपि प्रश्नावृत्तिः प्रतिवचनावृत्तिश्चोपास्य
स्यार्थस्य दार्ढ्यसम्पादनाय तन्माहात्म्यख्यापनाय च दृश्यते तद्वत् ।
अतोऽत्र विद्यैक्यमेव ॥३५॥

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ३।३।३६

ननु तथाप्युपस्तकहोलयोः प्रश्नकर्त्रोर्भेदः प्रश्नप्रतिवचनयो-
रुपापयति न तु प्रतिपाद्येन्यूनत्वमौपचारिकत्वं वेति । तद्वदिहापि प्रश्नप्रतिवचनयोर
भ्यासे नक्षतिकारकोभवतीत्याशयं द्योतयितुमुपक्रमते वाजसनेयके इत्यादि सुगमत्वाद्
भाष्याक्षराणिनो विवृतानीति संक्षेप ॥३५॥

यद्यपि प्रश्नकर्त्रोरुपस्तकहोलयोर्भेदात्प्रश्नप्रतिवचनयोर्भेदः स च विद्यासंपादक
जीवजात के प्राणन का कारणत्व तथा अशना पिपासादि रहितत्व भी एक परमात्मा में ही है
जो कि परमात्मा उपास्य है उसी में उपपन्न होता है क्योंकि सर्व प्राणी प्राणन कारणत्व
तथा अशनायादि रहितत्व परमात्म व्यतिरिक्त में कथमपि संभवित नहीं हो सकता है ।
इसलिये दोनों जगह में परमात्म विषयक ही प्रश्न प्रतिवचन है और वह उपास्य परमात्मा
सर्वत्र समान होने से न रूपभेद है नवा उपासना का भेद है । किन्तु उभयत्रोपास्य के
एक होने से तद्विषयक उपासना भी दोनों जगह एक ही है, विद्या परस्पर भिन्न नहीं है ।
इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं 'उपदेशवदिति' जिस तरह सद्विद्या में उपास्य परमात्मा को एक
होने पर भी प्रश्न का आवर्तन तथा प्रतिवचन का उपास्य लक्षण पदार्थ का दृढता का
सम्पादनपरक है तथा उपास्य के माहात्म्यवर्णनपरक है । उसी तरह प्रकृत में भी प्रश्नप्रतिवचन
का जो आवर्तन है वह उपास्य परमात्मा के माहात्म्य प्रदर्शनपरक है यह उपास्य
परमेश्वर महामहिमशाली है जिनकी उपासना सद्यः फलप्रद है । इसलिये सर्वत्र विद्या
एक ही है विभिन्न नहीं है ॥३५॥

प्रश्नकर्त्ता जो उपस्तथा कहो- उन दोनों का जो भेद है वह प्रश्न प्रतिवचन का

भेदसम्पादकः स्यादित्यत्राह—‘व्यतिहारः’ इत्यादि ।

न ह्यत्र विद्या भिद्यते । उपस्तकहोलयोर्द्रयोरपि प्रश्नस्यैकरूप्यादेकविषयत्वे निश्चिते सत्युभयोः प्रतिवचनगतबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः । उपस्तेनाशनायाद्यतीतत्वबुद्धिः स्वजिज्ञास्यभूत उपास्ये विधेया । तथा कहोलेन प्राणनादिहेतुत्वधीः सर्वान्तरात्मविषया स्वोपास्ये कर्त्तव्येति । एवमेवाचार्यस्य याज्ञवल्क्यस्य वचनानि विशिषन्ति सर्वान्तर्यामिणमेकमेवोपास्यं परमात्मानम् । अत्र दृष्टान्तः—इतरवत् । सद्विद्याप्रकरणे सर्वाणि प्रतिवचनानि प्रतिपाद्यपरमकारणपरमात्मविषयकाण्येव तद्वदत्रापीति ज्ञेयम् ॥३६॥

॥ सैव हि सत्यादयः ३।३।३७ ॥

ननु सद्विद्यायामेव कथमैक्यम् यतस्तत्रापि प्रश्नप्रतिवचनभेद इति तथा प्रश्नकर्त्रोर्भेदोपि प्रश्नस्य समानत्वेन एकविषयकत्वमेव तदश्चैकविषयत्वे निश्चिते याज्ञवल्क्यवचनं विशेषणीयं व्यतिहारेण उपस्तेनोपास्ये अशनायाद्यतीतत्व बुद्धिः कर्त्तव्याः, तदपरेण कहोलेन प्राणनादिकारणत्व बुद्धिरुपास्येकरणीया । सद्विद्यावदिति संक्षेपः ॥३६॥

ननु सद्विद्यादिवत् यद् दृष्टान्तप्रदर्शनं तदेवासिद्धं यतस्तत्रापि प्रश्नप्रतिवचनभेदक होगा ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘व्यतिहारः’ इत्यादि । प्रकृत में विद्या में कोई भेद नहीं होता है । क्योंकि उपस्त कहोल इन दोनों का भी प्रश्न समान विषयक है और जब दोनों के प्रश्नों को समानविषयत्व निश्चय होने से दोनों के प्रतिवचनगत बुद्धि का व्यतिहार [उलट पुलट] करना चाहिये । उपस्त स्वजिज्ञास्यभूत उपास्य में अशनाया पिपासादि रहितत्व बुद्धि करे । और कहोल को चाहिये कि सर्वान्तरात्म विषयक प्राणनादि कारणता बुद्धि स्वकीय उपास्य परमात्मा में करे । इसी तरह से आचार्य याज्ञवल्क्य के वचन को सर्वान्तर्यामी एक उपास्य परमात्मा को विशिष्ट करते हैं । अर्थात् आचार्य वचन के अभिप्राय को इस प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं । इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं ‘इतरवत्’ । जिस तरह सद्विद्या प्रकरण में सभी प्रतिवचन प्रतिपाद्य परमकारण परमात्म विषयक है । इसी तरह प्रकृत में भी जानना चाहिये ॥३६॥

आपने सद्विद्या में एकत्ववत् प्रकृति विद्या अर्थात् उपस्त कहोलीय विद्या में एकत्व का

उपलभ्यत एवेत्याह—‘सैव हि सत्यादय’ इति। सैव—सत्पदाभिलष्यादि कारणरूपा परा देवतैव ‘यथा सोम्य मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ति’ (छा. ६।६।२) इत्याद्युत्तरवाक्येषु सर्वत्र प्रतिपाद्यते। हि—यतः ‘तत्सत्यं स आत्मा’ (छा०४।३।३) इति प्रथमवाक्ये श्रुताः सत्यादय उत्तरत्र प्रतिपाद्यैकस्मिन्नेवात्मन्युपसंहियन्त इति। तस्मादत्र भेदकारणाभावान्न भिद्यते विद्येतिनिखद्यम् ॥३७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये अन्तरत्वाधिकरणम् ॥१५॥

अथ कामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ३।३।३८

छान्दोग्ये—‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म योर्भेदोपलंभादित्याशंक्य तत्र यथासोम्य इत्यादिना तामेव परादेवतां परामृश्य तस्या एव सर्वत्रोत्तरवाक्ये प्रतिपादनात्। यस्मात् प्रथमवाक्ये श्रुता ये सत्यादिका गुणास्त एवोत्तरे तस्मिन् परे उपसंहृता भवन्तीति दर्शयितुमुपक्रमते ननु सद्विद्यायामेवकथमैक्यमित्यादि ॥३७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽन्तरत्वाधिकरणम् ॥१५॥

छान्दोग्ये बृहदारण्यके चोभयत्रापि दहरोपासनं श्रूयते। तदुभयं भिन्नमभिसमर्थन किया है वह असिद्ध है। क्योंकि सद्विद्या में भी प्रश्न प्रतिवचन का भेद उपलब्ध होता है ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं “सैव हि सत्यादयः” इति। सत्पदवाच्य आदिकारण रूप परा देवता ही “यथासोम्य !” इत्यादि उत्तरवाक्य में सर्वत्र प्रतिपादित होती हैं। क्योंकि ‘तत्सत्यं स आत्मा’ इस प्रथम वाक्य में श्रुत जो सत्यादिक गुण हैं वे ही उत्तर प्रकरण में प्रतिपाद्य एक परमात्मा में उपसंहृत होते हैं। अतः यहां भेद कारण के अभाव से विद्या में भेद नहीं है ऐसा समझना चाहिये ॥३७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अन्तरत्वाधिकरणम् ॥१५॥

दहर विद्या में एकत्व है अथवा शाखा भेद से अनेकत्व है इस बात का विचार करने

दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वावविजिज्ञासित-
व्यमिति' (छा०८।१।१) इति प्रकृत्य श्रूयते 'एष आत्मापहतपाप्मा
विजरो विमृत्युः' (छा०८।१।५) इति । तथा बृहदारण्यके 'स वा एष
महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आका-
शस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' (बृ०४।४।२२) इति श्रूयते ।
तत्र संशयः । किमुभयत्र विद्या भिद्यते न वेति । किं युक्तम् ?
भिद्यत इति कुतः ? उभयत्र रूपभेदात् । छान्दोग्ये अपहतपाप्मत्वा
दिगुणविशिष्टस्य दहराकाशशब्दाभिहितस्य परमात्मन उपास्यत्वम् ।

न्नं वेति संशयः । तत्र परस्परमुपासनं विभिन्नमेव यतः उभयत्र रूपभेदस्य विद्यमान-
त्वात् । तथाहि छान्दोग्ये अपहतपाप्मत्वादिका उपास्यस्य गुणाः प्रतिपादिताः । बृह-
दारण्यके तु उपास्यस्य परमात्मनोवशित्वादिका गुणाः प्रतिपादिताः छान्दोग्ये गुणाः
सन्ति नते बृहदारण्यके ये च बृहदारण्यके न ते छान्दोग्ये इति । तदुभययत्र रूपभेद
दर्शनेन रूपभेदस्योपासनाभेदकस्य विद्यमानत्वादवश्यं विद्याभेद उपगन्तव्य एव । यद्यपि
उभयत्रोपास्यः परमात्मा एक एवेति तदभेदेनाभिन्नयैव विद्यया भवितव्यं तथापि
विशिष्टस्य शुद्धादतिरिक्तत्वेन विद्याभेदसंभवात् । यथा दण्डीत्यत्रापि पुरुषः पुरुष इति
प्रतीतावपि स पुरुषोभासते एव परन्तु प्रथमप्रतीतौ दण्डविशिष्टोभासते द्वितीये तु
के लिए भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'छान्दोग्ये' इत्यादि । छान्दोग्य में 'इस ब्रह्म पर अर्थात्
हृदय में जो छोटा कमल रूप स्थान है उसमें छोटा एक आकाश है, उसके अभ्यन्तर में
जो है सो अन्वेषणीय है वह जिज्ञास्य है' ऐसा प्रकृत करके श्रुत होता है । 'यह आत्मा
अपहतपाप्मा है तथा जरामृत्यु से रहित है' इति । तथा बृहदारण्यक में भी श्रुत होता है
'यह आत्मा महान् है अज है जो यह विज्ञानमय प्राण में रहता है अर्थात् प्राणोपलक्षित
हृदय में रहता है, जो यह हृदय के अन्तर्गत आकाश है उसमें शयन करता है जो सर्व-
वशी है अर्थात् जिसके अविकार में सर्व पदार्थ रहता है तथा सबका ईशान है' ऐसा सुनने
में आता है । इसमें संशय होता है कि दहर विद्या तथा बृहदारण्यक की दहर विद्या परस्पर
भिन्न भिन्न हैं अथवा दोनों एक ही हैं इस संशय का मूल यह है कि दोनों जगह
उपास्य एक है और उपास्य का जो विशेषण है वह परस्पर भिन्न है, अतः धर्म का दर्शन
होने से संशय होता है कि 'विद्या भिन्नाऽभिन्नावेति' । इसमें पूर्वपक्षादी कहते हैं कि भेद

बृहदारण्यके तु आकाशे शयानस्य वशित्वादिगुणयुक्तस्य तस्योपास्य
त्वमिति रूपभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्तेऽभिधीयते—कामादीतरत्र तत्र
चेति । न ह्यत्र रूपभेदो येन विद्याभेदः स्यात् । तथा हि सत्यका-
मत्वादिगुणजातमितरत्र वाजसनेयक उपसंहरणीयमेव तत्र छान्दो-
ग्ये च सर्ववशित्वादिकमुपसंहर्तव्यम् । कुतः ? आयतनादिभ्यः ।

केवल एव भासते इति विशेषणांशस्य भेदात् यथाकथंचित् भेदः प्रतिभासते इति
केवलः पुरुषोदण्डविशिष्टात् पुरुषात् विभिन्न इवायाति तथैव प्रकृते अपहृत
पात्मकत्वादिविशेषणांशस्य वशिस्वादिगुणात्मकविशेषणस्य भेदादुपास्यभेदस्तत्त्वाच्चो-
पास्यपरमेष्ठवरस्यापि यथाकथंचित् भिन्नत्वात् रूपभेदस्य विद्यमानत्वेनावश्यमेव
विद्याभेदोऽवगन्तव्य इति पूर्वपक्षाशयः ।

सिद्धान्तस्तु अंशतो विशेषणस्योभयत्रविद्यमानत्वेपि बहूनां सत्यकामत्वादि
विशेषणानां समानत्वेन यत्र योगुणो न श्रुतस्तत्रापि सगुण उपसंहर्तव्य एव । अर्थात्
हे क्योंकि दोनो जगह में उपास्य का रूप भिन्न—भिन्न देखने में आता है । तथाहि
छान्दोग्य में तो अपहृतपात्मत्वादि गुणविशिष्ट दहरोकाश पदबोध्य परम कारण परमात्मा
उपास्य तरीके से ज्ञात होते हैं । और बृहदारण्यक में तो आकाश में शयनशीलत्वादि गुणयुक्त
परमात्मा में उपास्यत्व श्रुत है तो इस प्रकार अपहृतपात्मत्वादिक तथा वशित्वादिक रूप का
भेद होने से उपासना का भी भेद सिद्ध होता है, क्योंकि उपास्य का रूपभेद उपासना
का भेदक होता है, द्रव्य देवता का भेद जिस तरह याग भेद का नियामक होता है ।
उसी तरह प्रकृत में रूपों का परस्पर भेद होने से उभयस्थलीय दहरोपासना परस्पर भिन्न
है । यद्यपि विशेष्य जो उपास्य है वह तो दोनो जगह एक ही है । तथापि विशेषण का
भेद होने से विशेषण भेद प्रयुक्त विद्या में भेद होगा । जिस तरह प्राबृट् कालिक तथा
हेमन्त कालिक धान कालात्मक विशेषण भेद प्रयुक्त भिन्न होता है शाल्वेन एक होने परभी ।
उसीतरह विशेषण भेद प्रयुक्त उभय स्थलीय विद्या भिन्न है, ऐसा पूर्वपक्षियों का अभिप्राय है ।

इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्त सूत्र से बतलाते हैं “कामादीतरत्र तत्र चेति” यहाँ उभय
स्थलीय दह्रविद्या में रूप का भेद नहीं है जिससे रूपभेद प्रयुक्त विद्या का भेद हो ।
क्यों उभयस्थलीय विद्या में रूप भेद नहीं है ? इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए
भाष्यकार कहते हैं “तथाहीत्यादि” केवल प्रतिज्ञा से पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है किन्तु

हृदयायतनत्वसेतुत्वादीनां गुणानामुभयत्र समानत्वात् । उभयत्रापि हृदयायतनं श्रूयते । तेनान्येऽप्युपास्यगुणा उभयत्रानुसन्धेया एवेति न रूपभेदः । एवं फलसंयोगादिकमपि न भिन्नमतो न विद्याभेदः ॥३८॥

बृहदारण्यके सत्यकामत्वादीनां गुणानामुपसंहारः छान्दोग्ये च सर्ववशित्वादीनामुपसंहारः कर्तव्यः । हृदयायतनत्वादिकास्तु गुणा उभयत्र समाना एव दृश्यन्ते इति प्रकृते रूपभेदाभावेन नोपासनाविभिद्यते, किन्तु समुपहृतगुणमादाय तेन चोपास्यस्य समानतां कृत्वा न विद्याभेदः । रूपभेदाभावात् । नहि भवति दण्डकुण्डलादिरूपभेदेषु विशेष्यस्य पुरुषस्य भेदः विशिष्टस्य विशेष्यानतिरिक्तत्वादिति । एतदधिकमन्यत्रानुसन्धेयम् ॥३८॥

हेतुयुक्ति के सद्भाव से साध्य की सिद्धि होती है अतः हेतु का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार कहते “तथाहीत्यादि” छान्दोग्यादिक प्रकरण में परमकारण परमात्मा का कथित जो सत्यकामत्वादिक गुण समुदाय हैं उन गुणों का इतरत्र अर्थात् वाजसनेयक बृहदारण्य में अवश्य उपसंहार करना चाहिये एवं वाजसनेयक में कथित जो सर्ववशित्व सर्वेशानत्वादिक गुण जात हैं. उन सब वशित्वादि गुणों का उपसंहार छान्दोग्य प्रकरण प्रतिपादित दहरविद्या में अवश्य उपसंहार करना चाहिये । क्योंकि आयतनादि कारणों से अर्थात् हृदयायतनत्व सेतुत्वादि जो गुण समुदाय हैं उनका दोनों शाखा में समान रूप से श्रवण होता है. इन गुणों के समानता जब दोनों जगह है तब जो गुण जिसमें श्रुत नहीं है उन गुणों को उस स्थल में उपसंहार करना आवश्यक तथा उचित है । हृदयायतनत्वादिक तो दोनों जगह समान रूप से श्रुत है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन गुणों से अतिरिक्त जो उपास्य परमेश्वर का गुण समुदाय है. उनका अवश्य दोनों जगह अर्थात् छान्दोग्य बृहदारण्यकीय दहरविद्या में उपसंहार करना चाहिये । जब उभयत्रस्थित गुणों का उभयत्र उपसंहार होना निश्चित है तब सब गुण का सर्वत्र समान होनेसे रूप में कोई भेद नहीं है । एवं फल संयोग भी समान है, परस्पर भिन्न नहीं है अतः उभयस्थलीय विद्या में भेद नहीं एक ही विद्या है ॥३८॥

॥ आदरादलोपः ३।३।३९ ॥

ननु 'मनसैवानुद्गृह्यं नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ०४।४।१९)
इत्यादेः पूर्वप्रकृतात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ०४।४।२२) इति
वक्ष्यमाणत्वात् ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य प्रतिषेध्यत्वावगमात्सर्व-
वशित्वसर्वेशानत्वादीनां ब्रह्मनित्यगुणत्वानुपपत्तेः । एवम् सत्यका-
मत्वादीनामपि न पारमार्थिकत्वमतः कथं मोक्षसाधनीभूतेषूपसने
ष्वनुसन्धेयत्वमित्यत आह—'आदरादलोपः' इति । 'नेह नानास्ति
किञ्चन' (बृ०४।४।१९) इत्यादिनिषेधविषयता न सर्ववशित्वसत्य
कामत्वादिगुणानां सम्भवति । कुतः ? आदरात् । प्रमाणान्तराप्रति

ननु 'नेह नानास्ति किञ्चन' स एष नेतिनेत्यात्मा अस्थूलम् इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मव्यतिरि-
क्तस्य सर्वप्रपञ्चस्य निराकरणेन प्रपञ्चान्तर्गतसर्ववशित्वसत्यकामत्वादीनामपि
प्रतिषेधः कृत इति मोक्षकारणीभूतपरमात्मोपासनायां मिथ्याभूतवशित्वादीनामनुचि-
न्तनीयत्वं कथं स्यात् तादृशपदार्थस्य मिथ्याभूतस्य मोक्षकारणत्वं च कथं स्यात् ।
मिथ्यात्वं नामकल्पितत्वं नहि कल्पितेन साधनेन पारमार्थिकमोक्षात्मकसाध्यस्य
सिद्धिः स्यात् नहि कल्पितेन सपेण दष्टोमृतो भवति, नवा कल्पितेन शुक्तिरजतेन
व्यावहारिककटककुण्डलादीनां निष्पत्तिर्भवतीत्याशंकानिराकरणायोपक्रमते ननु मन-
सैवानुद्गृह्यमित्यादि । नहि यथोक्तश्रुतिर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य पदार्थमात्रस्य निराकरणं

प्रश्न—“संस्कृत मन से ही देखना चाहिये कि जगत्कारण इस परमात्मा में नानावस्तु
सामान्य का अभाव है” इत्यादिक पूर्व में कथित है । और “इस आत्मा से अतिरिक्त कोई
नहीं है” ऐसा आगे कहा जायगा । इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मस्वरूप से भिन्न सब
पदार्थ का अभाव है तब सर्ववशित्व सर्वेशानत्वादिक में ब्रह्म नित्य गुणत्व उपपन्न नहीं होता
है । एवं सत्यकामत्वादिक में पारमार्थिकत्व सिद्ध नहीं होता है । तब किस तरह मोक्षसाधनीभूत
उपासना में ये सब गुण अनुसन्धेय होगा ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं “आदराद-
लोपः” इति । “नेह नानास्ति किञ्चन” इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य निषेध का प्रतियोगी
सर्ववशित्व सत्यकामत्वादिक परमात्मा विशेष गुण नहीं है । क्योंकि आदर होने से
अर्थात् प्रमाणान्तर से अप्राप्तमात्र श्रुति प्रतिपादित ये ब्रह्म का असाधारण गुण सर्ववशित्वादिक

पन्नास्ते हि सर्ववशित्वादयो ब्रह्मणोऽसाधारणगुणाः स्वयं भगवत्या श्रुत्यात्यादरेण विधानात् । स्वयमादरेण विहितानां तेषामपवारणे तु श्रुतेरुन्मत्तप्रलापित्वं दुर्वारं स्यादिति भावः । तस्मात्तेषां गुणा नामलोपः 'नेह नानास्ति' (बृ०४।४।१९) इति वचनेन तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैक्यात्तद्विन्नम् नानात्वं नास्तीति बोध्यते प्रपञ्चितश्चा यमर्थोजिज्ञासाधिकरणे इति ॥३९॥

५ उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ३।३।४० ५

स गुणोपासनस्य 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पा- देवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा०८।२।१) इति सांसारिकफलत्वेन करोति किन्तु कार्यकारणयोर्भेदमाश्रित्य निराकरणं कार्यमात्रस्य निराकरणं करोति । यतः कार्यकारणयोरभेदेन नानात्वमात्रस्य निषेधो भवति न तु भेदाधिकरणस्य भिन्नस्य वस्तुनो निषेधः क्रियते । किञ्च प्रमाणान्तराप्राप्तवशित्वादीनां ब्रह्मणि अनन्यसाधारणतया प्रतिपादनात् कथं सा तान् गुणान् प्रतिषेत्स्यतीत्यादिकं बहुतरं जिज्ञासाधिकरणे विवृतमवगन्तव्यम् । सुगमत्वात् भाष्याक्षराणिनो विव्रियन्ते ॥३९॥

अथैवं सगुणोपासनायां पितृलोकादिसंसारफलस्य श्रवणात् संसारविरक्तस्य मोक्षमिच्छतस्तादृशोपासनायां प्रवृत्तिर्न भवेत्, इति सत्यकामस्वादिगुणानां कथमनु- सत्य संकल्पत्वादिक उक्तं सतीका श्रुति स्वयमेव आदरपूर्वक विधान करती है । यदि स्वयं आदरपूर्वक विहित गुणों का स्वयमेव निराकरण करे तब तो श्रुति में उन्मत्तप्रलापित्व दोष होगा । तस्मात् इन सब सर्ववशित्वादि गुण का विलोप नहीं होता है । अर्थात् इन सब गुणों में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है । "नेहनास्ति" इत्यादि वचनों से तो सभी पदार्थों को ब्रह्म कार्य होने से एकत्व है तो ब्रह्म भिन्न नानात्वमात्र का अभाव बोधित होता है । इस बात को विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है "अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा" इस अधिकरण में । विशेष जिज्ञासा वहां से ही इन वस्तुओं को जानें ॥३९॥

सगुणोपासन का फल मोक्षफलकत्व है अथवा संसारफलकत्व है इस बात को निश्चित करने के लिए उपक्रम करते हैं "सगुणोपासनस्य" इत्यादि । "वह उपासक यदि पितृलोको

न मोक्षफलत्वम् । अतो ब्रह्मप्रेप्सुना न सगुणोपासनं कार्यमिति सत्यकामत्वादीनां नानुसन्धेयत्वं विद्यास्वित्यत्राह—‘उपस्थिते’ इत्यादि । उपस्थितिरुपस्थानम् । उपस्थाने ब्रह्मोपासने कर्मबन्धापगमानन्तरं ब्रह्म सम्पत्तिः स्वरूपाविर्भावश्च भवति । अतो ब्रह्म सम्पत्तेरनन्तरमेव तद्वचनात्पितृलोकादि प्राप्तिवचनान्न तस्याः सांसारिकफलत्वमपितु मोक्षफलत्वमेवेति ‘कुतोऽवगम्यते ‘एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः’ (छा० ८।१२३) इत्यशेषक्लेशविमुक्तस्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पन्नस्यैव स्वेच्छाविहचिन्तनीयत्वमित्याशङ्काया निराकरणायोपक्रमते सगुणोपासनस्येत्यादि । अयमाशयः ब्रह्मोपासनान्तरमेव ब्रह्मः स्वरूपाविर्भावोपासकस्य भवति । तदनन्तरं ब्रह्मसम्पत्त्यनन्तरं च तद्वचनात् पितृलोकादिप्राप्तिर्भवतीतिनोपासनं संसारफलकमतः सगुणोपासकी कामना करता है तब उस ब्रह्म सम्पन्न तथा आविर्भूतस्वरूपक उपासक के संकल्पमात्र से पितरलोक उपस्थित हो जाते हैं” इस प्रकार सगुणोपासन को सांसारिकफलक होने से मोक्ष लक्षणफलजनकता नहीं है । इसलिये मोक्षामिलायी पुरुष को सगुणोपासन नहीं करना चाहिये । तब जो सत्यकामत्वादिक गुण हैं उनको विद्या में अनुचिन्तनीयत्व नहीं होता है । इस शंका के निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं “उपस्थिते” इत्यादि ‘उपस्थिति’ का अर्थ है उपस्थान ब्रह्मोपासन तादृश ब्रह्मोपस्थान करने से कर्मबन्धन का निराकरण होने के बाद ब्रह्म सम्पत्ति तथा स्वरूपाविर्भाव उपासक को होता है । तब ब्रह्मसम्पत्ति के बाद में ही उसके वलसे पितृलोकादि की प्राप्ति होती है । इसलिये तादृश उपासन को संसारफलकत्व नहीं है किन्तु मोक्षफलकत्व ही है । क्यों इस बात को किस तरह जानते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं “एषसम्प्रसाद” इत्यादि. “यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से उत्क्रान्त होकर के स्वकीय रूप से अभिनिष्पन्न होता है वह उत्तम पुरुष है” इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि अशेषक्लेश से विनिर्मुक्त स्वरूप से अभिनिष्पन्न जीव को ही स्वेच्छा विहरण कहा गया

रणामाम्नायते । तस्मात्सत्यकामत्वादीनां गुणानां मोक्षोपयोगित्वा-
दुपसंहार्यत्वमेवेति ॥४०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये कामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

॥ तन्निर्धारणानियमस्तददृष्टेः

पृथगध्यप्रतिबन्धः फलम् ३।३।४१ ॥

कर्माङ्गाश्रयमुद्गीथाद्युपासनं छान्दोग्ये श्रूयते 'ओमित्येत्तद-
क्षमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इति । तत्रायं संशयः । किमिद-
मुपासनं तत्कर्माणि पर्णतादिवन्नियमेनानुसन्धेयमुत गोदोहनादिवद-
नियमेनेति । तत्र 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवति' [छा० १।१।१०] इति फलस्य श्रूयमाणत्वात्तस्य
पासनस्यापि मोक्षफलकत्वमेवेति श्रौतं मतमिति संक्षेपः ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे कामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

छान्दोग्ये कर्मणोऽगभूतमुद्गीथाद्युपासनं श्रुतम् । तत्रोदमुपासनं तत्कर्माणि नियमे-
नानुचिन्तनीयं पर्णतादिवत्, अथवा गोदोहनवदनियमेनेति संशयः । तत्र नियमेनेति
हे । इसलिये सत्यकामत्वादिक गुणों को मोक्षोपयोगी होने से उन गुणों का उपसंहार
ब्रह्मविद्या में अवश्य करना चाहिये ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे कामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

छान्दोग्य श्रुति में कर्माङ्गाश्रित उद्गीथोपासन का विधान है । "ओमित्याकारक अक्षर
उद्गीथ का उपासन करना" इसमें संशय होता है कि जिस तरह कर्म में नियमतः पर्णता
का विधान होता है उसी तरह कर्म में नियमत उपासन भी करना चाहिये, अथवा कर्म में
गोदोहनवत् अनियमेन उपासन करना चाहिये । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि "यदेव
विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति से पृथक् फल का श्रवण होने से पृथक् प्रतिपादन नहीं है

पृथक् प्रतिपादनायोगात् क्रत्वर्थत्वेनावगतत्वान्नियमेनोपादेयमिति
प्राप्तेऽभिधीयते-तन्निर्धारणानियम इति । निर्धारणञ्च निश्चयेन
मनसोधारणं ध्यानापरपर्यायमुपासनम् । तस्य क्रतुषु गोदोहनादि
वदनियमेनोपादानम् कुतः ? तद् दृष्टेः । 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैत
देव वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इति तदुपासनाविदुषोऽपि
कर्मानुष्ठानदर्शनात् । एवञ्चोपासनस्यानङ्गत्वे निश्चिते तत्फलजिज्ञा
सायां रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकम् वीर्यवत्तरत्वम् फलं क्रतुफलात्पृथ-
ग्भूतमेव प्रतीयते । तच्च कर्मफलस्याप्रतिबन्धस्वरूपम् । अयं
भावः । एकस्य कर्मणो यत्फलं तत्प्रबलकर्मन्तरस्य फलेन प्रतिवध्यते
यावत्तदुपभोगः । इदन्तु न तथेत्यतः क्रतुफलात्पृथक् फलत्वेन कर्माङ्ग
श्रयाणामपि कर्मसूद्ग्रीथाद्युपासनानामनियमेनोपसंहार इति ॥४१॥

इति श्रीआनन्दभाष्येतन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

पूर्वपक्षः प्रयोगविधिगृहीतत्वादिति । तत्राह सिद्धान्ती 'तन्निर्धारणस्यानियमः । अर्थात्
यदिदमुपासनं तत् कर्माणि न नियमेन कर्तव्यम् तद् दृष्टेः यश्चैतदेववेद यश्च नवेदेत्या-
दिकं सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते कर्माङ्गश्रयमित्यदि । अनिरोहितार्थमन्यदितिदिक् ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

इसलिये कर्म में नियमत उपासन करना चाहिये ऐसा पूर्वपक्ष होता है, इसके उत्तर में
कहते हैं "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि । निश्चयेन मन का जोधारण उसको निर्धारण कहते
हैं । ध्यान कहिये यद्वा उपासन कहिये । उस उपासन का कर्म में गोदोहनवत् अनियमेनैव
उपादान करना चाहिये । क्योंकि ऐसा देखने में आता है "येनोभौ" इत्यादि स्थल में ।
इस तरह जब उपासन को कर्मान्गतत्वं निश्चित होता है तब वहाँ फल की जिज्ञासा होने से
रात्रिसत्र न्याय से अर्थवादिक वीर्यवत्तरत्व लक्षणफल कर्मफल व्यतिरिक्त फल की कल्पना की
जाती है । एतादृश उपासन का जो फल है वह कर्मफल का प्रतिबन्धक नहीं है । यहाँ कहने का
अभिप्राय यह है कि एक कर्म का जो फल है वह प्रबल कर्मन्तर के फल से प्रतिबद्ध होता है
जब तक उपभोग नहीं होता है । प्रकृत में तो ऐसा नहीं है । अतः क्रतु फल से पृथक्
फलक होने से कर्म में नियमत उपासन का उपसंहार नहीं होता है ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

अथ प्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

ॐ प्रदानवदेव तदुक्तम् ३।३।४२ ॐ

दहरविद्यायां श्रूयते 'तद्य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् (छा० ८।१।६) इति । तत्र दहराकाशस्वरूपस्य परमात्मन उपासनमविधाय तद् गुणानामप्युक्तवचनेन पृथक्तयाचिन्तनं विहितम् । तत्किं गुणचिन्तने तत्तद् गुणविशिष्टतया परमात्मचिन्तनस्यावृत्तिराहोस्विन्नेति संशये एकस्यैव परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादि

छान्दोग्यदहरविद्यायां परमात्मनस्तदीयगुणानां च पार्थक्येनानुचिन्तनं कथितं तत्र संशयः किमत्रगुणचिन्तनावसरे तद्गुणविशिष्टस्य परमात्मनो विशेष्यस्य पुनः पुनश्चिन्तनं कर्त्तव्यं नवेति । तत्र सर्वविशेषण युक्तस्य परमात्मन एकवारमनुचिन्तनकरणेनैव निर्वाहे तदावृत्तिर्नकर्त्तव्येति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तः । यद्यपि स्वरूपत उपास्यः परमात्मा एक एव तथापि विशेषणस्यानेकविधत्वेन, तत्रैकाकारविशिष्टस्यैकदा अनुचिन्तने आकारानन्तरविशिष्टस्यानुचिन्तनं न जातमिति तदर्थं पुनः पुनराकारान्तर

अग्रिम सूत्र का श्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "दहर विद्यायां श्रूयते" इत्यादि । छान्दोग्य प्रकरण के दहरविद्या में सुनने में आया है कि "जो उपासक यहां परमात्माको जान करके तथा तदीय सत्यादि कामत्व गुण को जान करके जाता है" इत्यादि । इसमें दहराकाश [अति सूक्ष्माकाश] पदवाच्य स्वरूप परमात्मा के उपासन का कथन करके तदीय जो सत्यकामत्वादिक तदपृथक् सिद्ध गुण समुदाय है, उनका भी उपासन का पार्थक्येन कथन किया है । अर्थात् इस वाक्य से जिस तरह परमात्मा के उपासन विहित होता है उसी तरह तदीय गुणों का भी उपासन विहित होता है । अब इसमें संशय होता है, जब गुण का उपासक अनुचिन्तन करेगा उस समय में [गुण चिन्तनावसरे में] तादृश तादृश गुण विशिष्टत्वेन रूपेण विशेष्य जो परमात्मा उसके अनुचिन्तन का भी आवृत्ति करे, अथवा नहीं करे । अर्थात् विशेषणानुचिन्तन समय में विशेष्यका अनुचिन्तन न करें क्योंकि एक विशेषण के अनुचिन्तन के समय में अथवा उसके पूर्व विशेष्य का अनुचिन्तन तो हो गया है । यह संशयाकार हुआ । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि एक ही विशेष्य रूप परमात्मा अपहतपाप्मत्वादि सकल गुण लक्षण विशेषण का आश्रय है तो एकबार में ही तदनुचिन्तन

सर्वगुणाश्रयत्वेन सकृदेव चिन्तनोपपत्तेर्नावृत्तिरिति प्राप्तेऽभिधीयते—
‘प्रदानवदेवेति ।

सर्वगुणाश्रयस्य गुणिनः परमात्मनः स्वरूपस्यैकेऽपि तत्तद्गुण
विशिष्टाकारभेदात्सकृच्चिन्तनेन तत्तद्गुणविशिष्टतत्तदाकाराणां चिन्त
नानुपपत्तेरावृत्तिः कर्णीयेति । तत्र दृष्टान्तः । प्रदानवदेवेति । यथा
सहितस्यानुचिन्तनायावृत्तिः कर्त्तव्यैवेति । यथा राजत्व गुणविशिष्टस्येन्द्रस्य एकादश
पुरोडाशनिर्वापेऽपि पुनः अधिराजत्वस्वाराजत्वविशिष्टाय तादृशसंख्याकपुरोडाशकपा-
लस्य प्रदानाय पुनरावर्तनं भवति, तथैवात्रापितत्तद्विशेषणविशिष्टाकाराणां भेदात्, एक
विशेषणविशिष्टाकारवतोऽनुचिन्तनेष्वाकारान्तरविशिष्टस्यानुध्यानाय तदावृत्तिराव-
श्यक्येवेति सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते दहरविद्यायां श्रयते इत्यादि । तदयमत्र संक्षेपः=छान्दो-
ग्योपनिषदि दहराकाशपदवाच्य परमकारणपरमात्मन उपासनं विधाय तदीय कामत्वा-
द्यनेकगुणानामप्यनुचिन्तनं प्रतिपादितम् तत्र गुणानामनुचिन्तने तद्गुणविशिष्टस्य
उपपन्न हो जाता है तब पुनः प्रतिस्थल में विशेष्यानुसन्धान अनर्थक हो जाता है । अतः
विशेष्य का आवर्तन प्रतिविशेषण स्थल में नहीं करना, क्योंकि विशेष्य तो प्रतिविशेषण स्थल
में कुसुम में सूत्र के समान एक होकर के ही अनुस्यूत रहता है । अर्थात् माला में सूत्र के
समान विशेष्य परमात्मा तो सर्व विशेषण स्थल में एक ही है और विशेष्य का एकवार अनु-
चिन्तन करने से उपासक कृतकृत्य हो गया तब पुनर्विशेषणान्तर के समय में तदनुचिन्तन
अनति प्रयोजनक होता है । ऐसा अभिप्राय पूर्वपक्षवादियों का है । एतादृश पूर्वपक्ष के
उत्तर में सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं “प्रदानवदेवेत्यादि” सूत्रम् । यद्यपि सत्यकामत्वादिक
सर्वगुणों का आश्रय तादृश गुणवान् परमात्मा एक ही है माला में सूत्र के समान तथापि
तत्तद् गुण विशिष्ट आकार के परस्पर भेद होने से भिन्नवत् प्रतिभासित होते हैं तो यदि
अमुक विशिष्ट परमात्मा का एक बार अनुचिन्तन करने पर भी तदन्य गुण विशिष्ट जो आकार
है उसका तो अनुचिन्तन नहीं हुआ, अतः आवृत्ति आवश्यक है । अर्थात् एक विशेषण
विशिष्ट परमात्मा का अनुचिन्तन करने से परमात्मा तो तादृश गुणाश्रयतया अनुचिन्तित हुए,
परन्तु द्वितीयादि विशेषण विशिष्टतया अनुचिन्तनावसर में पूर्वानुचिन्तित विशेष्य का पुनः
अनुचिन्तन को न मानेंगे, तब तो उक्त स्थल में तादृश विशेषणमात्र का अनुचिन्तन होगा,
परन्तु विशेष्यांश अनुचिन्तित नहीं होगा । इसलिये प्रत्येक अनुचिन्तन विषयता परमात्मा में

‘इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्’ (यजु०२) ‘इन्द्राया-
धिराजाय’ ‘इन्द्राय स्वराज्ञे’ (यजु०२) इत्यत्र राजत्वादिगुणविशिष्ट
स्यैकस्यैवेन्द्रस्य तत्तादृगुणसम्बन्धादाकास्य भेदात्प्रदानावृत्तिर्भवति ।

परमात्मनो यदनुचिन्तनं तदावर्तनीयं नवेति संशयः । तत्र प्रथमपरोक्षवरीयान् ।
यत एकस्यैव ब्रह्मणोविशेष्य सर्वतस्तादृशगुणाधारत्वेन सकृत् चिन्तनेनाप्युपपत्ति
संभवात् । आवर्तनस्य सकृत्करणेनैव गतार्थत्वादिति पूर्वापक्षः । यतः सर्वागुणाश्रयस्य
ब्रह्मण एकत्वमितितदनुचिन्तनावर्तनं नावश्यकमिवाभाति, तथापि एकगुणविशिष्टस्य
परमात्मनः सकृदनुचिन्तने कृतेपि अन्यगुणयुक्तस्य परमात्मनोऽनुचिन्तनं न जातम्-
विशिष्टस्यशुद्धादतिरिक्तत्वात् । यथाऽत्र सत्वविशिष्टसत्वयोर्भेदेन नैकेनापरस्य निर्वाहो
सिद्ध हो इसलिये आवृत्ति आवश्यक है । “विशेषण के भेद से विशिष्ट भिन्न होता है”
ऐसा जिनका मत है, उस मत में एक गुण विशिष्ट परमात्मा तादृशानुचिन्तन विषयत्व होता
है और द्वितीय गुण विविष्टानुचिन्तन समय में पुनराकार भेद विशिष्टानुचिन्तन विषय होता
है । ऐसी आवृत्ति करने में दृष्टान्त बतलाते हैं “प्रदानवदेवेति” जिस तरह “राजा
इन्द्र के लिये एकादश पुरोडाशकपाल का निर्वाप प्रक्षेप अग्नि में करना” “राजाधिराज इन्द्र
के लिये एकादशपुरोडाश कपाल का निर्वाप करना” “स्वर्ग के राजा इन्द्र के लिये
एकादशपुरोडाश कपाल का संस्कृताग्नि में प्रक्षेप करना” । इस स्थल में राजत्वादि गुण
विशिष्ट एक ही इन्द्र रूप विशेष्य को तत्तादृश गुण विशेषण के सम्बन्ध से आकार का भेद
होने से एकादश पुरोडाश कपाल की प्रदानावृत्ति होती है । अर्थात् सर्वत्र इन्द्र रूप विशेष्य
तो एक ही है तो एकवार प्रदान से भी चारितार्थ्य होता है पुनः पुनः पुरोडाश कपाल
प्रदान असमंजसप्रायः होता है और जब गुणभेद से भेद मानते हैं तब तादृश प्रदान सफल
होता है । क्योंकि सर्वत्र विशेष्य को एक होने पर भी विशेषण भेद से विशिष्ट में भेद
को मान करके प्रदानका त्रिधा आवर्तन सार्थक होने से शास्त्र सफल कहलाता
है । जैमिनि सूत्र में कहा है “नाना देवता है, क्योंकि विशेषण राजत्वादि के भेद होने से
विशेष्य इन्द्र देवता भिन्न भिन्न है” इति । इसी तरह प्रकृत में भी विशेष्य परमात्मा के
एक होने पर भी विशेषण के भेद होने से तादृश विशेषण विशिष्ट भी परस्पर भिन्न है ।

तदुक्तं जैमिनीये 'नानावा देवता पृथक्त्वात्' इति ॥४२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये प्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

अथलिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

लिङ्गभूयस्त्वात्ताद्धि बलीयस्तदपि ३।३।४३

वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये केचिन्मनश्चित्तादयः साम्पादिका अग्नयः श्रूयन्ते—'मनश्चित्तो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति । तत्रायम् संशयः । किमेतेषामग्नीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमाहोस्विद्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवेदि ? । तत्र कर्मप्रकरणे पठितत्वात्कर्माङ्गभूता एतेऽग्नय इति प्राप्तेऽभिधीयते—'लिङ्गभूयस्त्वात्ताद्धि बलीयस्तदपीति । नहि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेषां किन्तु भवति तथैव प्रकृतेपिज्ञातव्यमितिभावः अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमिति संक्षेपः ॥४२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

बृहदारण्यकीयाग्निरहस्ये मनश्चित्तादीनग्नीन् पठन्ति । तेऽग्नयः क्रियाङ्गभूताः केवलं विद्याङ्गभूतावेति संशयः । तत्र क्रियामयक्रत्वङ्गभूता इमे इति । यतः क्रतुप्रकरण एतेषां पाठात् । प्रकरणस्याङ्गत्वव्यवस्थापकत्वादिति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु विद्याङ्गभूता एव । यद्यपि प्रकरणेन तादृशाग्नीनां कर्माङ्गत्वं प्रापितं तथापि प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वेन बलवतातेन लिङ्गेन प्रकरणस्य बाधितत्वान्नतेन कर्माङ्गत्वमपितु विद्याङ्गत्वमेवेति ।

अतः विशेष्य के अनुचिन्तन का आवर्तन आवश्यक है ॥४२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे प्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

वाजसनेयक शाखा बृहदारण्यक के अग्निरहस्य में मनश्चित्तादिक संपादिक अग्नियों का कथन किया गया है यथा- 'मनश्चित्तवाक्चित' इत्यादिक । इसमें यह संशय होता है कि ये कर्म के अङ्ग हैं अथवा विद्या के अङ्ग हैं । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि अङ्गागी-भाव का बोधक श्रुतिलिङ्गादिक प्रमाण छः हैं उनमें से प्रकरण नामक प्रमाण से सिद्ध होता

विद्यामयकत्वङ्गत्वमेव । कुतः ? लिङ्गभूयस्त्वात् । एतस्मिन्प्रकरणे भूयांसि लिङ्गान्येषां विद्यामयत्वमाविष्कुर्वन्ति 'तान्हेतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इत्यादीनि । तद्विलिङ्गम् प्रकरणादलोयः । तदपि चोक्तम् पूर्वकाण्डे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण स्थानममाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै०मृ० ३। ३।१४) इति ॥४३॥

बलाबलाधिकरणे एतेषां प्रावल्यंदौर्वल्यं च जैमिनिना व्यवस्थापितम् । श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरणस्थान समाख्यातां समवायेपारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षादिति । तत्र निरपेक्षा श्रुतिः । यथा क्रीडिन् प्रोक्षति इत्यत्र द्वितीयाश्रत्या प्रोक्षणस्य याज्ञाङ्गत्वं भवति शब्दसामर्थ्यालिङ्गम् । तदुक्तं सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमभिधीयते अनेन स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्यधारयाऽमृतं सुवेशं कल्पयामि तस्मिन् सीदत्रीहिणां सारमेध इत्यत्र सदनकरणाङ्गत्वं मन्त्रस्य भवतीति । समभिव्याहारो वाक्यम् इतिवा करणलक्षणम् । इत्येवं क्रमेण प्रकरणादीनामपिलक्षणो दाहरणे, बलवत्त्वावलवत्वे च ज्ञातव्ये इति ॥४३॥

हे किं जो यह सांपादिक अग्नि है वह क्रियामय क्रतु का अङ्ग है किन्तु विद्यामय क्रतु का अङ्ग नहीं है । क्योंकि विद्या के प्रकरण में इनका पाठ नहीं है । इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—“लिङ्गभूयस्त्वादित्यादि” ।

ये जो सांपादिक अग्नि हैं वे क्रियामय क्रतु का ही अङ्ग हैं ऐसा नहीं किन्तु ये सब अग्नि विद्यामय क्रतु का ही अङ्ग हैं । क्योंकि यद्यपि क्रियामय क्रतु के प्रकरण में पठित हैं तथापि लिङ्ग की अधिकता होने से विद्यामय क्रतु का ही अङ्ग है । यतः प्रकरण प्रमाणपेक्षयालिङ्ग प्रमाण प्रबल होता है । और इस प्रकरण में अनेक ऐसे लिङ्ग विद्यमान हैं जो इन सांपादिक अग्निषु को विद्यामयकत्वंगता को सिद्ध कराते हैं “तान् हेतान्” इत्यादि । यह लिङ्ग प्रमाण प्रकरण प्रतिलिङ्गेत्यादि, श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान तथा समाख्या, इनके समुदाय में पूर्वप्रबल है और उत्तरोत्तर दुर्बल है, अर्थ के विप्रकर्ष होने से । तस्मात् लिङ्ग प्रमाण से सिद्ध होता है कि ये सांपादिक अग्नि क्रियामय क्रतु का अङ्ग नहीं है किन्तु विद्यामय क्रतु का अङ्ग है । श्रुत्यादि प्रमाणों का स्वरूप तथा इनके बलाबल को पूर्वकाण्ड से देखें । यहाँ इनका वृद्धत् विचार अधिक उपयोगी नहीं है ॥४३॥

५ पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया

मानसवत् ३।३।४४ ५

अत्र पूर्वपक्षी समाशङ्कते-

न स्वतन्त्रोऽग्निः किन्तु क्रिया-क्रियामयकत्वज्ञः स्यात् । इष्ट-
काभिरग्निं चिनुते इति प्रकृतस्य पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेरयं मनः संक-
ल्पात्मको मनश्चिताद्यग्निं विकल्पः प्रकरणात्स्यात् । क्रियामयाग्निविक-
ल्पत्वेन क्रियामयकत्वज्ञः स्यादित्यर्थः । विद्यारूपाणामप्येषां क्रिया-
मयकत्वज्ञत्वमुपपद्यत एव । तत्र दृष्टान्तः । मानसवदिति । यथा द्वाद-
शाहे दशमेऽहन्यविवाक्ये विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य क्रियायाः
प्रकरणात्तदङ्गता सम्पद्यते तद्वदिहापि ॥४४॥

पुनरपि पूर्वपक्षीशङ्कां करोति, नायं मनश्चितादिकोऽग्निर्न सविद्यामयकतोरङ्गः
किन्तु क्रियामयकतोरेवाङ्गः प्रकरणात् । इष्टकाभिरग्निं चिनुते इत्यादिना पूर्वप्रकृतस्य
क्रियामयकतोरेवाङ्गो मनः संकल्पात्मको विकल्पः स्यात् पूर्वप्रकरणात् । मानसक्रिया-
वत् । अर्थात् यथा द्वादशाहे दशमेऽहनि विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य क्रियाप्रकरणात्,
तस्यैवाङ्गत्वं तद्वत् विद्यांगस्यापि सांपादिकाग्नेः क्रियाप्रकरणे पाठात् कर्माङ्गत्वमेव नतु
विद्याङ्गत्वमिति ॥४४॥

यहां पूर्वपक्षी पुनः शंका करते हैं “पूर्व विकल्पः” इत्यादि । यह जो मनश्चितादिक
अग्नि है वह स्वतंत्र नहीं है किन्तु क्रिया है, अर्थात् क्रियामय कृतु का ही अङ्ग है । क्योंकि
“इष्टका से अग्नि का चयन करता है” इत्यादि पूर्व प्रकृत जो क्रियामय अग्नि है उसका
यह मन संकल्पात्मक मनश्चितादिक अग्नि विकल्प रूप है प्रकरण से । क्रियामय अग्निके
विकल्प होने से क्रियामय कृतु का अङ्ग होगा । इस तरह से विद्या रूप भी जो ये मनश्चि-
तादिक अग्नि हैं उनमें क्रियामयकत्वं उपाय होता है । इसमें दृष्टान्तवत्ताते हैं “मानस-
वदिति” जिस तरह द्वादशाहक्रिया में दश में दिन के अविवाक्य में विद्यारूप मानस ग्रहको
प्रकरण से कर्माङ्गत्व होता है, उसी तरह विद्या रूप भी मनश्चितादिक अग्निक्रियामय कृतुका
प्रकरण से अङ्ग होता है । ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ॥४४॥

॥ अतिदेशाच्च ३।३।४५ ॥

मनश्चितादीनां 'तेषामेकैकोऽग्निस्तावान् यावानमौ पूर्वः' इति पूर्वोऽष्टिकान्वितेनाग्निना मानसाग्नीनां सादृश्यस्यातिदेशाच्च तेषां क्रियाशेषत्वं प्रतीयते ॥४५॥

विद्यैव तु निर्धारणादर्शनाच्च ३।३।४६ ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—'विद्यैवतु' इत्यादि । तु शब्दः पक्षव्यावर्तकः । विद्यैव मनश्चितादयो विद्यामयकत्वङ्गभूता एव न कर्माङ्गभूता इत्यर्थः । कुतः ? निर्धारणात् । 'ते हैते विद्याचित एव' इति निर्धारणं विद्यामयकत्वङ्गत्वयैव तेषां विद्यामयत्वं द्योतयति । न कर्मा

न केवलं प्रकरणात्. मनश्चितादीनामग्नीनां क्रियामयकत्वं गत्वमपितु, अतिदेशादपि तेषां तथात्वमिति दर्शयितुमाह अतिदेशादिति । 'तेषामेकैकोऽग्निस्तावान् यावानमौ पूर्वः' इत्यादिना इष्टिकान्वितेनाग्नीनां सांपादिकमानसाग्नीनामतिदेशदर्शनादपि क्रियामयकत्वं गत्वमेव नतु विद्याङ्गत्वमिति पूर्वपक्षाशयः ॥४५॥

एवमुपरिदर्शितसूत्रत्रयेण मनश्चितादीनां मानसाग्नीनां न विद्यामयकत्वं गत्वमपितु क्रियामयकत्वङ्गत्वमिति पूर्वपक्षिणा प्रदर्शितं तन्निराकरणाय सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाहेति । पूर्वसूत्रत्रयं प्रदर्शितपक्षस्य निराकरणाय सिद्धान्तं दर्शयतीत्यर्थः । तत्र सूत्रघटकस्तु शब्दप्रदर्शितशङ्कानिवर्तकः । विद्यैव तु विद्यामयकतोरङ्गभूता एव मनश्चितादयोऽग्नयो नतु क्रियामयकतोरङ्गभूता । यतः श्रुतौ ते हैते विद्याचित

मनश्चितादिक जो मानस अग्नि है उसको "उनमें से एक एक अग्नि उतना बड़ा है जितना बड़ा पूर्व अग्नि है" इस प्रकार पूर्व इष्टिकान्वित अग्नि से मानस अग्नि को सादृश्य तथा अतिदेश होने से इन मानस अग्नि में क्रियामय कृतुशेषत्व प्रतीत होता है ॥४५॥

पूर्वसूत्रत्रय से जो पूर्वपक्ष हुआ है उसके उत्तर में सिद्धान्त बनलाते हैं 'विद्यैवतु' इत्यादि । सूत्रघटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है । मनश्चितादिक जो अग्नि है वह विद्यामयकतु का अंग है. किन्तु क्रियामयकतु का अंग नहीं है । क्योंकि निर्धारण

ङ्गत्वम् विद्यामयक्रतुदर्शनान्च विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेतेषाम् । दृश्यते
च मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसा
स्तुवन्तो मनसा शंसन् इत्यादौ विद्यामयः क्रतुरेषामङ्गीति मनश्चि
तादीनां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव ॥४६॥

श्रुत्यादिवितीयस्त्वाच्च न बाधः ३।३।४७

ननु क्रियामयक्रतुप्रकरणावगतानां मनश्चित्तादीनामङ्गीनां क्रिया
मयक्रत्वङ्गत्वमेव न्याय्यम्. न तु विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशाद्विद्यारूपत्वमि-
त्यत्राह—‘श्रुत्यादीत्यादि ।

एवेति निर्धारणात्. विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवमनश्चित्तादिमानमाङ्गीनाम् ननु क्रियामयक्रतो
रङ्गत्वमिति । एवं दर्शनाच्च तेषां तथात्वमेव सिद्ध्यति मनसैवाधीयन्त इत्यादौ
विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवदृश्यते । ननु क्रियामयक्रतुशेषतां मानमाङ्गीनामिति संक्षेपः ॥४६॥

ननु क्रियामयक्रतुप्रकरणे पठितानां मनश्चित्तादीनामङ्गीनां प्रकरणप्रमाणेन क्रिया
मयक्रत्वङ्गत्वमेवयुक्तम्, ननु यथा कथंचन, तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वं युक्तमित्याशङ्क्या-
निराकरणाय सूत्रत्रयाख्यातुमुपक्रमते ननु क्रियामयक्रतु इत्यादि । अयमाशयः अङ्गाणि
भावबोधकानि षट्प्रमाणानि । तानि श्रुत्यादिसमाख्यानानि । तत्र पूर्वपूर्वेषां प्रावस्य-
होने से, ‘विद्याचित एव’ अवधारणार्थक एव शब्द विद्यामयक्रतु का अङ्गत्व बलता है ननु
क्रियाशेषत्व मनश्चित्तादिक में सिद्ध होता है । एवं विद्यामयक्रतु का दर्शन से भी विद्यामय-
क्रत्वङ्गत्व ही सिद्ध होता है । ‘मनसैवाधीयन्त’ इत्यादि स्थल में देखने से विद्यामयक्रतु इन
मनश्चित्तादिक का अङ्गी है. अतः मनश्चित्तादिक अग्नि विद्यामयक्रतु का अङ्ग है किन्तु क्रिया-
मयक्रतु का अङ्ग नहीं है ॥४६॥

क्रियामय जो क्रतु है, तादृश क्रियात्मक क्रतु के प्रकरण परिपठित जो मनश्चित्तादिक
अग्नि है, उसको तो तादृशक्रियामयक्रतु का अङ्ग ही मानना उचित है । ननु विद्यात्मकक्रतु
में अनुप्रविष्ट होने पर भी विद्याङ्गत्व है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ‘श्रुत्यादीत्यादिमूत्रम्’ ।

अङ्गाङ्गीभाव बोधक जो चतुर्थ प्रकरण प्रमाण है तदपेक्षया श्रुतिवृद्धि और वाक्य लक्षण
जो प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रमाण हैं, उनमें बलकत्व है अर्थात् प्रकरण प्रमाणापेक्षया श्रुत्या-

प्रकरणाद्धि श्रुतिलिङ्गवाक्यानां बलीयस्त्वान्त्युत्थादिभिर्विद्या
मयक्रत्वङ्गत्वेष्वगते न ततो दुर्बलेन प्रकरणेन बाधः । तत्र श्रुतिः
'ते हैते विद्याचित एव' इति । लिङ्गमपि 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा
सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति । एवं 'एवं विदे चिन्वन्ति
इति वाक्यमपि । तस्मादेभिः प्रमाणैर्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवौ
तेषामिति ॥४७॥

मुत्तरोत्तरवर्तिनां दौर्बल्यमिति मीमांसकममयः । तदिह यद्यपि प्रकरणप्रमाणं मनश्चि-
तादीनां क्रियामयक्रत्वङ्गप्रतिपादकं समस्ति तथापि तदपेक्षयाप्रचलश्रुत्यादिभिः प्रकरणस्य
बाधेन न प्रकरणेन तस्य मनश्चितादे क्रियाङ्गत्वमपितु प्रचलश्रुत्यादिर्मनश्चिताद्यग्नीनां
विद्याङ्गत्वमेवसिद्ध्यति न प्रकरणेन श्रुत्यादीनां बाधोऽपितु श्रुतिलिङ्गवाक्यैश्चतुर्थस्य
प्रकरणस्यैवबाधो भवति । श्रुत्यादयोभाष्योक्ता एव संग्राह्याः । भाष्याक्षराण्यतिरो-
हितार्थानीति संक्षेपः ॥४७॥

दिक प्रमाण बलवान् है. तो बलवान् श्रुत्यादि वाक्यान्त प्रमाणों से मनश्चितादिक सांपादिक
अग्नि को विद्यामयक्रत्वङ्गत्व निश्चित हो जाने पर दुर्बल प्रकरण प्रमाण से उन श्रुत्यादिक
प्रमाण का बाध नहीं होता है । अर्थात् समान विषय में परस्पर विरोध होता है और विरोध
होने पर बलवान् से दुर्बल बाधित होता है, नतु दुर्बल से बलवान् का बाध होता है ।
प्रकृत में श्रुत्यादिक प्रमाण बलवान् है, तो बलवान् प्रमाण श्रुत्यादिक से जब मनश्चितादिक
अग्नि में विद्यामयक्रत्वङ्गत्व सिद्ध होता है तब दुर्बल प्रकरण से क्रियामयक्रत्वङ्गत्व नहीं होता
है । यदि ऐसा होता तब प्रकरण से क्रियात्मकक्रत्वङ्गत्व सांपादिक अग्नि में नहीं होता । इस
में भाष्यकार श्रुतिप्रमाण बतलाते हैं 'ते हैते विद्याचित एवेति' । लिङ्ग भी प्रमाण है 'तान् हैवं
विदे' इत्यादि । 'एवम् विदेचिन्वन्ति' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण है । अतः इन सब श्रुत्यादिक
प्रमाणों से सांपादिक मनश्चितादिक अग्नि में विद्यामयक्रत्वङ्गत्व ही सिद्ध होता है. नतु क्रिया-
मयतदंगत्व होता है ॥४७॥

॥ अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्

दृष्टश्च तदुक्तम् ३।३।४८ ॥

पृथक्फलसम्बन्धाश्रवणाद्विधिप्रत्ययाभावाच्च न विद्यामयक-
त्वङ्गत्वमित्यत्राह—‘अनुबन्धादिभ्यः’ इत्यादि । अत्र विद्यामयकतु
विधिस्वयं कल्पनीयः । कुतः ? ‘मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त’ इत्यादि
कत्वानुबन्धात् पूर्वोक्तश्रुत्यादिभ्यश्च । यथा दहरविद्यादीनां क्रिया
मयत्वात्पृथक्त्वम् । तथात्रापि । दृष्टश्चानुवादमरूपे वाक्येऽपि क्वचि

ननु यथा स्वर्गकामो यजेत इत्यादि स्थले फलसम्बन्धस्य विधिप्रत्ययस्य लिङ्गादेः
सत्वात् विधायकं तद्वदत्रपृथक् फलसम्बन्धस्य विधिप्रत्ययस्य लिङ्गादेरभावात् कथं
विद्यामयत्वङ्गत्वमनश्चित्तादीनामित्याशंकां निराकर्तुं सूत्राव्याख्यातुंचोपक्रमते पृथक्
फलसम्बन्धश्रवणादित्यादि । अत्रानुबन्धात् श्रुत्यादि प्रमाणेभ्यश्चाश्रुतस्यापि फलसम्ब-
न्धस्य विधिप्रत्ययस्य च कल्पनमावश्यकमेव । अयंभावः । यथा अग्निहोत्रं जुहोति
इति नित्याग्निहोत्रप्रतिपादनस्थले स्वातन्त्र्येण फलं किमपि नास्ति नवा, लिङ्गादिविधा
यकप्रत्ययो वा विद्यते, तथापिश्रुतेः सार्थक्याय फलमार्थवादिकविधिप्रत्ययश्च कल्पितो
भवति । तथैव प्रकृते फलसम्बन्धं विधिप्रत्ययं च प्रकल्प्य श्रुतेः सार्थक्यमुपपादयन्

विद्यमान मनश्चितादिकोपासन में पार्थक्येन फलश्रवण नहीं है, तथा विधायक तन्वत् तन्व
अनिपर छोट्टिङ् प्रत्यय का अभाव होने से मनश्चितादिक अग्नियों में विद्यामयकत्वंगत्व सिद्ध
नहीं होता है ? एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं ‘अनुबन्धादि-
भ्यः’ इत्यादि । यहाँ विद्यामयकतु विधि का कल्पन अवश्य करना चाहिये । क्योंकि ‘मनसा
एषु’ इत्यादिककृतु अनुबन्ध से तथा श्रुत्यादिक प्रमाणों से । जिसतरह दहरविद्या को क्रियामय
होने से पृथक्त्व होता है, इसीतरह प्रकृत में भी समझना चाहिये । अनुवादक के समान
वाक्य में भी कहीं कहीं विधि का कल्पन होता है जिस तरह ‘यदेव विधया करोति’ इस स्थल
में विधायक प्रत्यय नहीं हैं, किन्तु वर्तमानापदेश है तथापि श्रुति के सार्थकता के लिए विधि
प्रत्यय कल्पित होता है । यथावा ‘अग्निहोत्रं जुहोति’ यहाँ विधायक प्रत्यय नहीं है किन्तु
वर्तमानापदेश है तथापि ‘जुह्यात्’ इसतरह प्रकृत में भी पृथक् फल सम्बन्ध तथा विधि प्रत्यय का

द्विधर्थथा 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादी । तदुक्तमेव 'वचनानि-
त्वपूर्वत्वात्' (जै.सू.) ॥४८॥

५ न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न

हि लोकापत्तिः ३।३।४९ ५

यद्यप्यदिदेशात् क्रियामयक्रतुशेषताभिहिता तत्रोच्यते 'न
सामान्यादित्यादि ।

न ह्यतिदेशमात्रेष्टकचितामिसादेश्यमेपां सम्भवति । केनचि-
दपि सामान्येनातिदेशस्योपलब्धेः । यथा 'स एष मृत्युर्य एष एत
मनश्चिताद्यग्निनां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवोपपादनीयं नतु तद्वैपरीत्यमिति । भाष्याक्ष-
राण्यतिरोहितार्थकान्येवेति संक्षेपः ॥४८॥

सामान्यधर्मेण सादृश्यमादायमनश्चितादीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं संभवति, सर्वस्य
सर्वेण सहन्यापकधर्मेण सादृश्यत्वेपि विशेषरूपेण तयोर्भेदो न निवर्तते । वह्निमत्वादिना
हरापकधर्मेण पर्वतमहानसयोः सादृश्यसत्त्वेपि पर्वतत्वमहानमत्वाभ्यां तयोर्भेदो न निव-
र्तते । यथावा सवा एष एव मृत्युर्य एष इत्यादि । अग्निवैमृत्युः इत्यादिनात्याग्न्योर्मृत्यु
शब्दस्य समानेपि प्रयोगेनात्यन्तसाम्यंतयोर्भवति । तथैव प्रकृते मानसग्रहसामान्यादपि
वर्णन होता है । ऐसा जैमिनी तन्त्र में कहा है 'वचनानित्वपूर्वत्वात्' विधायक प्रत्यय के
बल से ही वचन में विधायकत्व होता है ऐसा नहीं किन्तु प्रमाणान्तराप्राप्त अर्थ का अवबोधक
होने से अर्थात् अपूर्वार्थ प्रतिपादक होने से विधायक वाक्य कहलाता है । इस विषय पर
विशेष विवरण अन्यत्र देखें इति संक्षेपः ॥४८॥

क्रियामयक्रतु के अतिदेश से सादृश्यत्व मनश्चितादिक अग्नि में होता है, ऐसा जो कहा
था, उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'न सामान्यादपीत्यादि अतिदेशमात्र से इष्ट का चित
अग्निका सादृश्य मनश्चितादिक अग्नि के साथ नहीं हो सकता है । क्योंकि अतिदेश तो जिस
किसी सामान्य धर्म के द्वारा भी अतिदेश की उपलब्धि होती है । अर्थात् सामान्य द्वारा पदार्थ
द्वय में सादृश्य के होने पर भी उन दोनों पदार्थ का भेद निवृत्त नहीं होता है, अपितु
दोनों विशेष धर्म को लेकरके विभिन्न ही रहते हैं, जिसतरह सत्त्वरूप व्यापक धर्म को

सिन्मण्डले' इत्यादी मृत्युवत्सर्वसंहारकारित्वमात्रेणादिदेशो न मण्डलपुरुषस्य तल्लोकापत्तिरप्यतिदिश्यते । तथात्रापि फलसामान्येनाप्यतिदेशस्योपपत्तेः ॥४९॥

५ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं

भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ३।३।५० ५

परेण च ब्राह्मणेन मनश्चित्ताद्यग्न्यभिधायिनः शब्दस्यापि ताद्विध्यं विद्यामयप्रतिपादकत्वं प्रतीयते ।

मनश्चित्ताद्यग्नीनां क्रियाशेषत्व न संभवति, किन्तु पूर्वोक्तश्रुतिलिङ्गादिहेतुभ्यो विद्यामयक वङ्गत्वमेव मनश्चित्तादिमांसादिकानामग्नीनां भवति । अतिदेशस्तु केन चित्साधनत्वमेव सादृश्यमादायापि संभवति । न तावता विशेषधर्ममूलको भेदो निवर्तते इत्यादिकं सर्वमावेदयितुमुपक्रमे यदप्यतिदेशात् क्रियामयकतु इत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति संक्षेपः ॥४९॥

अयं वाच लोक एषोऽग्निश्चित इत्यस्मिन् ब्राह्मणे, ताद्विध्यं केवलं विद्यामयविधित्वमेव लेकरके द्रव्यगुण में सादृश्य रहने पर भी अर्थात् सत्तावान् इत्याकारक समान प्रतीति होने पर भी द्रव्यत्व लक्षण विशेष धर्म को लेकरके दोनों में पार्थक्य रहता है, भेद सर्वथा विलुप्त नहीं होता है । इसीतरह प्रकृत में समानता रहने पर भी भेद श्रुत्यादि बलसिद्ध होता है । इसमें दृष्टान्त बतलाने हैं 'यथा स एष' इत्यादि । 'सो यह मृत्यु है जो इस सूर्यमण्डल में दीखता है' इत्यादि स्थल में मृत्यु की तरह सर्व संहार कर्तृत्व रूपसे अतिदेश रहने पर भी मण्डल पुरुष की तल्लोकापत्ति का अतिदेश नहीं होता है । इसीतरह प्रकृत में फल सामान्य से भी अतिदेश उत्पन्न हो सकता है । अर्थात् 'सवा एष एव मृत्युः' अग्नि आदित्य पुरुष में मृत्यु शब्द प्रयोग के समान रूप होने पर भी दोनों में अत्यन्त समत्व नहीं होता है । यथावा 'असौ वा लोकोगीशमाग्निः' इत्यादि स्थल में समिदादिक समानता होने पर भी लोक में अग्निमात्रापत्ति नहीं होती है । इसीतरह प्रकृत में भी समझना ॥४९॥

अग्रिम ब्राह्मण से मनश्चित्तादिक अग्नि का वाचक जो शब्द है, उसको विद्यामय प्रतिपादकत्व ही है ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि 'अयं वाच लोक' इत्यादि मन्त्र से 'सयोहैतदेवं

‘अयं वाव लोक एषोऽग्निचितस्तस्याप एव परिश्रिता’ इत्यादि
ना ‘स यो हैतदेवं वेद लोकमृणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते’
इति पृथक्फला विद्यैव विधीयते । अथैवं तर्हि बृहदारण्यक एवैषाम-
नुबन्ध आवश्यक इत्यत आह—

क्रियाप्रकरण एषामनुबन्धस्तु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानामत्र
भूयस्त्वात्कृतः । तस्माद्विद्यामयकत्वङ्गत्वमेवैतेषां मनश्चितादीना-
मिति ॥५०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

शब्दस्य प्रयोजनं समुपलभ्यते, किन्तु शुद्धकर्माङ्गविधित्वं नोपलभ्यते । परप्रकरणे च
विधया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः इत्यादिश्लोकेन केवलकर्मणो निन्दां कृत्वा विद्या
प्रशंसाविधीयमानो विद्याङ्गत्वमेव मनश्चितादीनां गमयति । अन्यत्राप्येतदेवलक्षितं भवति ।
अनुबन्धस्तु अग्न्यवयवा आधिक्येन विद्यायां कर्तव्या इत्याशयेन । तस्माद्विद्याङ्गत्वमेव
मनश्चितादीनां नतु केवलं क्रियामयकत्वङ्गत्वमिति एतत्सर्वं पिण्डीकृत्यदर्शयितुमाह
परेण च ब्राह्मणेनेत्यादि । भाष्यविवरणं स्वयमेवोहनीयमभिप्रायस्तु, अवतरणे दर्शितः ॥५०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

वेद’ इससे कर्मापेक्षया पृथक् फलक विद्या का ही विधान होता है । तब तो बृहदारण्यक
में ही इनका अनुबन्ध आवश्यक है ! इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं ‘अनुबन्ध ति’
क्रिया प्रकरण में जो इनका कथन किया गया है सो संपादनीय जो अग्नि का अवयव है,
उनका यहाँ अधिकता के कारण से है इसलिए मनश्चितादिक जो अग्नि है वह विद्यामयक
का ही अंग हैं किन्तु केवल क्रियाकृत के अंग नहीं है ॥५०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

अथात्मनः शरीरभावाविकरणम् ॥२०॥

५ एक आत्मनः शरीरे भावात् ३।३।५१ ५

‘आत्मेति तूपगच्छन्ति’ (ब्र०सू०४।१।३) इत्यत्र प्रत्यगात्मनः आत्मत्वेन परमात्मोपास्य इति वक्ष्यते । तत्र शरीरे वर्तमानस्य कर्म वशस्य प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टम् रूपमनुसन्धेयमुत कर्मबन्धाद्रिमुक्तम् प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टम्

वक्ष्यमाणमुद्गो आत्मेति तूपगच्छन्ति प्रत्यगात्मन आत्मरूपतया परमात्मैवोपास्य इति कथयिष्यति । परन्तु शरीरादिव्यतिरिक्ततया जीवस्वरूपं सिद्ध्येत्तदेवतदनुचिन्तनादिकं संभवति, परन्तु तदेव न सिद्ध्यति । अहंस्थूलोऽहंकृश इत्यादि प्रतीत्या देहस्यैवात्मरूपत्वात् । नवा देहातिरिक्ते तस्मिन् किमपि प्रमाणमस्ति । तत्र न तावत् प्रत्यक्षम्, तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र नाद्योरूपस्पर्शाद्यभावेन बाह्यप्रत्यक्षा विषयत्वात् । नापि द्वितीयस्तस्य संन्दिग्धत्वात् । नाप्यनुमानमव्यभिचरितलिङ्गाभावात् । नोपमानं सादृश्याभावात् । नापिशब्दः तादृशशब्दाभावात् । यद्यपि पृथिव्यादौ व्यस्ते समस्ते वा चैतन्यं नोपलभ्यते इति देहस्य चेतनता न संभवति तथापिकायाकार परिणते पृथिव्यादिसमुदाये किण्वेभ्योमदशक्तिवत् तत्प्रादुर्भावसंभवात् ।

तस्मादेहातिरिक्तजीवसद्भावे प्रमाणानुपलब्धेः, यथावस्थितजीवस्वरूपमनुसन्धेयं विमुक्तबन्धस्वरूपं वाऽनुसन्धेयमिति विचारः स्यादित्यतो जीवस्वरूपनिर्णयाय देहातिरिक्तत्वव्यवस्थापनाय च यवनिकां पातयति भाष्यकारः आत्मेतितूपगच्छन्तीत्यादि तत्र शरीरावस्थितस्य कर्मपराधीनस्य जीवस्य यत् यथावस्थितस्वरूपं तदनुचिन्तनं कर्तव्यमथवा, प्रजापतिवाक्योदित कर्मबन्धनवियुक्तं यत् स्वाभाविकरूपं तदेवानुसन्धेयमिति

“आत्मेति तूपगच्छन्ति” इत्यादि सूत्र में प्रत्यगात्मा जीव को आत्म रूप से परमात्मा उपास्य है” ऐसा कहेंगे । वहाँ भोगायतन पाट्कीशिक इस शरीर में वर्तमान कर्म पराधीन प्रत्यगात्मा जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्वादि विशिष्ट जो स्वरूप है, तादृश स्वरूप उपासक से अनुसन्धेय है, अर्थात् उपास्य है, अथवा शुभाशुभ कर्म के बन्धन से रहित तथा प्रजापति वाक्य कथित जा अपहतपाप्मत्वादि गुण विशिष्ट यथावत् अर्थात् वास्तविक स्वरूप है तादृश जैव स्वरूप उपासक से उपास्य है ऐसा संशय होता है । तो इसमें प्रथम पक्षमान्य है अथवा द्वितीय पक्ष मान्य है ! इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि अवच्छेदकता सम्बन्ध से सुखाधिकरण

यथावत्स्वरूपमिति संशये शरीरे वर्तमानस्य यादृशं रूपं तादृशेनैव रूपेण कर्मविधाविवोपासनविधावपि साधनानुष्ठानफलानुभवयोः सम्भवात्तादृशमेव तद्रूपमनुसन्धेयतिति पूर्वः पक्षः ॥५१॥

५ व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न

तूपलब्धिवत् ३।३।५२ ५

अत्राभिधीयते 'व्यतिरेक' इत्यादि । न कर्तृत्वादिविशिष्टोऽनुसन्धेयो मुमुक्षुभिरपि तु सांसारिकादात्मनो योव्यतिरेकः कर्मसंशयः । तत्रसूत्रेण पूर्वापक्षमुत्थापयति एक आत्मन इत्यादि । यादृशरूपविशिष्टो जीवः कर्मविधानुपयुज्यमानो भवति तादृशरूपेणैवानुसन्धेयः । एतावतैव यथोक्तसाधनेनैव शास्त्रवर्णितफलप्राप्तेः संभवादिति तदाशयः ॥५१॥

यथा यथावस्थितस्वरूपविशिष्टस्य परमात्मन उपासनयोपासकस्तादृशगुणादिविशिष्टं परमात्मानं साक्षात्कृत्यसाकेतमवाप्यकृतकृत्यो भवति, तथैव प्रजापतिवाक्योदित शरीर में वर्तमान जीव का यादृश स्वरूप है कर्मपराधीनत्वादिक, तादृश रूप विशिष्ट से ही कर्मविधि के समान उपासना विधि में भी साधन का अनुष्ठान तथा फलानुभव का संभव होने से एतादृश स्वरूप ही जीव का स्वरूप है, अतः तादृश स्वरूप है, अतः एतादृश रूप ही अनुसन्धेय है । अर्थात् जिस तरह शरीराद्यतिरिक्त जीव है यह समझ करके पुरुष यागानुष्ठान करके कालान्तर में स्वर्गादि पारलौकिक फल को प्राप्त करता है, उसी तरह प्रकृत में कर्म पराधीनत्व कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक स्वरूप को समझ करके उपासनानुष्ठान तथा तज्जनित फलको प्राप्त करेगा, अतः कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक ही इसका स्वरूप है, एतादृश रूप का ही अनुसन्धान करना चाहिये । यह पूर्वपक्ष होता है ॥५१॥

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "अत्राभिधीयते" सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए सूत्र का व्याख्यान करते हैं "न कर्तृत्वादीत्यादि" कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आविद्यक गुणविशिष्ट प्रत्यगात्मा मोक्षाभिधाषियों से उपास्य नहीं है । अर्थात् कर्तृत्वादि गुणविशिष्ट मुमुक्षु से उपासनीय नहीं है । किन्तु सांसारिक आत्मा से जो व्यतिरिक्त कर्मबन्धन से विनिर्मुक्त आविर्भूत गुणविशिष्ट आत्मा है, तादृश आत्मा ही मुमुक्षु से उपासनीय है । अर्थात् इस आत्मा का वास्तविक जो स्वरूप है प्रजापति वाक्योदित रूप है वही अनुसन्धान करने का योग्य है तादृश गुण विशिष्ट का ही अनुसन्धान करना चाहिये ।

बन्धविनिर्मुक्तस्वरूपाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टोऽनुसन्धेयः ।
अस्य वास्तविकं यत्स्वरूपं तदेवानुसन्धेयमुपासनायामिति भावः ।
कुतः ? तद्भावभावित्वात् । 'यथा क्रतुर्गस्मिन् लोके पुरुषो भवति'
तथेतः प्रेत्य भवति (छा.३।१।४।१) 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति'
(मुद्ग०३ ख) इति श्रुतेः । यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेव-
रम् । तं तमेवैति कौन्तेय ? सदा तद्भावभावितः' (गी०) इति स्मृ-
तेश्च । उपलब्धिवत् । यथा यथावस्थितब्रह्मस्वरूपोपासने तथैवोपल-
ब्धिर्भवति तथा प्रकृतोपासनेऽपीति ॥५२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये शरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

तापहतपाप्मकत्वादियथावस्थितगुणकमुपासनं कृत्वा कृतार्थः स्यादिति आविर्भूतगुण-
विशिष्टस्यैवोपासन्धान विधेयं नतु कर्तृत्वादि औपाधिकगुणविशिष्टस्य कथमप्युपास-
न्धानं विधेयमित्याशयं हृदिनिधाय सूत्रं व्याख्यातुकामो भाष्यकार उपक्रमते अत्रा-
भिधीयते इत्यादि । सूत्रार्थं विस्पष्टयति न कर्तृत्वादिविशिष्टोऽनुसन्धेय इत्यादि । कर्तृत्वादि
गुणविशिष्टोऽनानुसन्धेयोऽपितुसाकेताभिलाषकेन कर्मबन्धनविरहित आविर्भूतगुणक
एवेतिभावः ॥५२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगान्द प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीर्घे शरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

वास्तविक जीव स्वरूप का अनुसन्धान करने में प्रश्नपूर्वक उत्तर का उपक्रम करते
हैं "कुतः" क्योंकि तद्भावभावित्वात् "यादृश उपासनावान् इस लोक में पुरुष होता है,
उसी तरह यहाँ से परेत्य होकर के भी होता है" । 'उसको जिस जिस रूप से उपासना
करता है उसी तरह का वह होता है' । ऐसा श्रुति वाक्य है । गीता में भी कहा है कि
जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को छोड़ता है । हे कौन्तेय ! अर्जुन !
तादृश भाव से भावित वह पुरुष उसी पदार्थ को प्राप्त करता है । इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं
'उपलब्धिवत्' जिस तरह यथावस्थित ब्रह्म स्वरूप के उपासना करने से उपासक को तादृश
ब्रह्म स्वरूप का ही साक्षात्कार होता है, उसी तरह प्रकृत में जो उपासना है उसमें भी
अपहतपाप्मावादि गुण विशिष्ट आत्मोपासन ही अभिमत है, नतु कर्तृत्व भोक्तृत्वादि विशिष्ट
आत्मोपासन अभिमत है । ॥५२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे शरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

अथाङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥२१॥

५ अङ्गावबद्धास्तु न शाखा हि

प्रतिवेदम् ३।३।५३ ५

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इतिच्छान्दोग्ये काश्चित्कत्वङ्गभूता उपासनाः श्रूयन्ते । तत्र संशयः । किमेता उपासना यत्र शाखासु श्रूयन्ते तास्वेव सम्बद्ध्यन्त आहोस्वित् सर्वशाखागतोद्गीथादिष्विति । किं युक्तम् ? प्रतिशाखामुद्गीथादेः स्वरभेदेन भेदाद् यत्र श्रूयन्ते तच्छाखास्थोद्गीथादिना सम्बद्ध्यन्ते सन्निधानादिति प्राप्तेऽभिधीयते ‘अङ्गावबद्धास्त्विति । पक्षव्यावर्तकस्तुशब्दः । एता अङ्गावबद्धा उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना न तस्यां तस्यां शाखायां विद्यमानोद्गीथादिष्वश्रिताः किन्तु प्रतिवेदं सर्वशा

छान्दोग्यादिषु कर्मसम्बद्धा उद्गीथोपासना दृश्यते । किमिदमुपासनं यत्र पठितास्तच्छाखायामेव कर्त्तव्याः प्रतिशाखायामेवमिति संशयः । संनिधानात्तच्छाखायामेवेति पूर्वपक्षः । उत्तरपक्षस्तु न तत्तच्छाखायामेव परन्तु प्रतिवेदं सर्वशाखमुपासनं विधेयम् । तत्रोद्गीथत्वजातिमाश्रित्य सामान्यतः सर्वत्रैव तदुपासनं न तदीयशाखा

प्रासङ्गिक वृत्तान्त को समाप्त करके प्रकृतोपासन का ही पुनः विचार करते हैं ‘ॐ’ इत्याकारक अक्षर को उद्गीथ रूप से उपासना करना चाहिये’ इस प्रकार छान्दोग्योपनिषत् में क्रिया के अङ्गभूत उपासना में श्रुत है । इसमें संशय होता है । क्या ये उपासन जिस शाखा में श्रुत है, उसीशाखा में उसका अनुष्ठान किया जायगा, अथवा सर्व शाखा में उपासन होगा । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं जो स्वरादि का प्रतिशाखा में भेद होने से जिस शाखामें श्रुत है संनिधानात् उसी शाखा में उपासन होना चाहिये । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ‘अङ्गावबद्धा’ इत्यादि । इस सूत्र में जो ‘तु’ शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । अङ्गावबद्ध=उद्गीथाद्यङ्गाश्रित जो उपासन है वह तत् शाखा में ही सम्बद्ध हो वह नहीं किन्तु प्रत्येक वेद के सर्व शाखा में ही उसका अनुष्ठान करना चाहिये । क्योंकि उद्गीथ शब्द-

शाखासु विद्यमानोद्गीथदिष्वाश्रिताः । 'हि हैतो यस्मादुद्गीथमुपासी
तेत्युद्गीथत्वजात्यविशेषत्वश्रुतेः । सर्वासु शाखासु विद्यमानानामुद्
गीथादीनामुद्गीथत्वाद्यवच्छिन्नत्वेनाभेदः ॥५३॥

॥ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ३।३।५४ ॥

वाशब्दश्चार्थे—यथैकैकशाखावगतानां कृत्वङ्गभूतानां मन्त्रा-
दीनां सर्वशाखासु क्तोरेकत्वेन सम्बन्धस्याविरोधः । आदिपदेन
यामेव । संनिधानात्, श्रुतेर्वलीयत्वादिकमावेदयितुमुपक्रमते ओमित्येतदक्षरमित्यादि ।
अन्यत्सर्वे यथाभाष्यमेव विधेयमिति संक्षेपः ॥५३॥

अपिचान्यशाखास्थमुपासनमन्यशाखासु समवेयादित्यत्र न विवदितव्यम् । यतो
ऽन्यत्रावगतमन्त्राणां यथा तदन्यत्रापि उपयोगो भवति । यथैकत्रोक्तानां समिदादि
यागानां तदन्यत्रापि विनियोगो भवति । तथा प्रकृतेऽपि, एक शाखावगतानामुपासनानां
तदन्यत्रापि तदनुष्ठानं स्यादत्र न कापिश्रुतिरित्याशयेन सूत्रं व्याख्यानमाह वा शब्द-
श्चार्थे इत्यादि । यथैव कृत्वङ्गभूतानां मन्त्रादीनां प्रयाजाद्यंगजातानामन्यत्रापि नियोगो
उद्गीथत्वजात्यभिप्रायक है । क्योंकि उद्गीथत्व जाति सभी उद्गीथ में है, सब उद्गीथ तेन
रूपेण अभिन्न है । यथा 'सम्पन्नो ब्रीहिः' में जात्यभिप्रायेण एकत्व होता है । तद्वत् प्रकृत में
भी समझना ॥५३॥

अन्य शाखा में कथित उद्गीथ का उपासन शाखान्तर में भी होगा इसमें कोई
विरोध नहीं है इस बात को बतलाने के लिये दृष्टान्त बतलाते हैं 'मन्त्रादिवदित्यादि । सूत्र
में जो वा शब्द है वह च शब्द के अर्थ में प्रयुज्यमान है, मन्त्रादिवदित्यर्थः । जिस तरह एक
शाखा में कथित कर्म का अङ्गभूत जो मन्त्र है, उसका सर्वशाखा में क्रिया के एक होने से
सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं होता है उसी तरह प्रकृत में भी कोई विरोध नहीं होता
है उसी तरह प्रकृत में भी कोई विरोध नहीं है । मन्त्रादिवत् में जो आदि पद है उससे
प्रयाजादि अङ्ग का संग्रह होता है । जिस तरह कर्म सम्बद्ध जो प्रयाजादिक अङ्गजात एकत्र
कथित है, उस प्रयाजादिक का यागान्तर में भी सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं होता है

प्रयाजादयो ग्राह्याः । तथैकशाखाविहितानामुपासनानां शाखान्त-
गतोद्गीथादिषु प्राप्तेर्विरोधः ॥५४॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽङ्गाववद्वाचिकरणम् ॥२१॥

अथ भूमउयायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

**५ भूमः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि
दर्शयति ३।३।५५ ५**

वैश्वानरविद्यायां 'बुल्लोकादित्यवाय्वाकाशापृथिवीषु व्यस्तेषु
वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' (छा० ५।१।६) इत्यादौ सम-
स्तस्यापि वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते । तत्र सन्देहः । किमत्रोभयथा
भवति तथैवात्रापि । एकत्रकथितस्य तदन्यापिविनियोगे न कोपि विरोध इति संक्षेपः ॥५४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽङ्गाववद्वाचिकरणम् ॥२१॥

छान्दोग्येनैश्वानरविद्यायां वैश्वानरस्य व्यस्तस्य समस्तस्योपासनं श्रूयते ।
तत्र व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यं समस्तस्येति संशयः । व्यस्तस्यैवोपासनं विधेयं कुतः ?
प्रत्येकस्य पार्थक्यस्य फलश्रवणात्, तथा प्रत्येकस्य सुतेजः प्रभृतिस्वपास्ते इति विधि
विभक्तैः श्रवणात् । तस्मात् व्यस्तस्यैवोपासनं विधेयमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु भूमः
उसी तरह एक शाखा में विहित जो उपासन है उसका शाखान्तर गत उद्गीथ में सम्बन्ध
होने में कोई विरोध नहीं है । इति संक्षेपः ॥५४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अङ्गाववद्वाचिकरणम् ॥२१॥

छान्दोग्य के वैश्वानर विद्या में बुल्लोक आदित्य वायु आकाश और पृथिवी व्यस्त में
'वैश्वानर को आप जानते हो, उसका कथन हम लोगों के प्रति कीजिये' इत्यादि स्थल में
समस्त वैश्वानर का भी उपासन श्रुत है । इसमें संशय होता है, यहाँ दोनों प्रकार का
उपासन विवक्षित है, अथवा समस्त का उपासन विवक्षित है । तो इसमें क्या युक्त है ?
व्यस्तोपासन करना ही युक्त है, क्योंकि व्यस्तोपासन का वारंवार प्रशंसा किया है । और

व्युपासनं विवक्षितमुत समस्तोपासनमेवेति । किं युक्तम् ? व्यस्तोपासनम् । कुतः ? व्यस्तोपासनस्यासकृत्प्रशंसाश्रूयते 'यः प्रशंस्यते स विधीयते' इतिन्यायात्माभादपि विधिप्रत्ययश्रवणाच्चेति व्यस्तोपासनविवक्षितमिति प्राप्तेऽभिधीयते-भूमन् इति ।

‘मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः’ (छा० ५।१२।२) इत्यादिनाव्यस्तोपासनस्य निन्दया समस्तोपासनस्य दृढीकरणात्समस्तोपासनस्यैवात्र ज्यायस्त्वम् प्रतिपाद्यते न व्यस्तोपासनस्य । क्रतुवत् । यथा दर्शपूर्णमासादिकस्य क्रतोः साङ्गप्रधानस्यैकस्यैव क्रतोः साङ्गप्रधानस्यैकस्यैव प्रयोगो विवक्षितो न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत् । तथाहि दर्शयति समस्तोपासनस्य ज्यायस्त्वम् इत्यादि । भूमन्ः समस्तावयवपरिवृत्तस्योपासनमेवज्यायो नतु व्यस्तस्य । तत्र हेतुं दर्शयति तथाहि दर्शयतीति । तत्र भूमनो वैश्वानरस्यैवज्यायस्त्वंदर्शयति । एक वाक्यता वगमात् । एकमेवेदं वाक्यं वैश्वानरविद्या विषयकम्, पूर्वापरप्रकरणादवगतं भवति । प्राचीनशालप्रभृतयः षट्कृषयोऽडवपतिराजानमाजग्मृत्पुष्यक्रम्यैकैकस्योपास्यं युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा मूर्धात्वेप आत्मन इति होवाच इत्यादिनामूर्धादिभावं तेषां विदधाति । एक नियम है कि 'जिसकी प्रशंसा होती है उसका विधान किया जाता है' और विधि प्रत्यय का भी श्रवण होता है । अर्थात् प्रत्येक अवयव सुतेजः प्रभृतिक में 'उपास्ते' इत्याकारक विधयक लिङादि प्रत्यय है । 'तस्मात्तवसुतं प्रसुतम् कुलेदृश्यते' इत्यादि प्रकरण से व्यस्तोपासन का पृथक्-पृथक् फल का भी श्रवण है । इसलिये व्यस्तोपासन ही युक्त है ।

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'भूमन्ः' इत्यादि । 'तुम्हारा मस्तक घड से निकल जाता यदि तुम हमारे पास नहीं आये होते' इत्यादि प्रकरण द्वारा व्यस्तोपासना की निन्दा करके समस्तोपासन को दृढ किया गया है, इसलिये यहां समस्तोपासन में ही ज्यायस्त्व का प्रतिपादन है- किन्तु व्यस्तोपासन में श्रेष्ठत्व नहीं है । इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं 'क्रतुवत्' जिसतरह दर्शपूर्णमास अंगग्राम सहित एक याग का प्रयाजादि साहित्य का प्रयोग होता है किन्तु प्रत्येक प्रयाजादिक का पार्थक्येन प्रयोग नहीं किया जाता है, उसीतरह प्रकृत में भी व्यस्तोपासन उचित नहीं है किन्तु समस्तोपासन ही श्रेष्ठ है । श्रुति भी समस्तोपासन में ही श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती है । प्राचीन शाळादिक ऋषियों से कथित व्यस्तो

श्रुतिः । प्राचीनशालादिभिरुक्तानि व्यस्तोपासनानि मूर्धादिपत-
नानिष्टफलकत्वेन विनिन्द्य वैश्वानरात्मनः स्वर्गलोकादिपृथिव्य-
न्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वं विधाय 'यस्त्वेतमेवं प्रदेशमात्रमभि
विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु
सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५।१८।१) तथा 'तद्यथैषीकातूलमग्नौ
प्रोतं प्रदूयेतैवम् हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२२।३) इति
समस्तोपासनस्यैव फलं दर्शयति तस्मात्समस्तोपासनस्यैव ज्याय
स्त्वमिति ॥५५॥

इति श्रीआनन्दभाष्यदीपे भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

एवं मूर्धा ते व्यपतिष्यत् इत्यादिना व्यस्तोपादानस्य निन्दामपि चकार । पुनः व्यस्तोपास-
नात्तान् निवर्त्य स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु इति वैश्वानराश्रयं फलमपि दर्शयामास ।
ऋतुवत् । यथा दर्शपूर्णमास प्रभृतियागेषु सामस्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैकोविव-
क्ष्यते नतु व्यस्तानामपि प्रयाजादीनाम् नवा एकादशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य । तस्मात्
समस्ताङ्गयुक्तस्य वैश्वानरस्येहोपासनमेव ज्यायो ननु व्यस्तोपासनं युक्तमिति संक्षेपः ५५
इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

पासना की मूर्धापतनादि अनिष्ट फलकतया निन्दा करके तथा वैश्वानरात्मा के स्वर्ग लोकादि
पृथिव्यन्त में मस्तकादिपादान्त अवयव का विधान करके 'जो इस प्रदेशमात्र परिमित वैश्वा-
नर आत्मा का उपासन करता है वह उपासक सब लोक में सबभूतों में सब आत्मा में अन्न
को प्राप्त करता है' । तथा 'जिसतरह इषिकातूल [काश का फूल] अग्नि में प्रक्षिप्त मात्र होने
पर विनष्ट हो जाता है, इसीतरह सर्वावयव युक्त वैश्वानर का समस्तोपासक पुरुष का सभी
पाप शुभाशुभ कर्मप्रारब्ध व्यतिरिक्त विनष्ट हो जाता है' । इसप्रकार समस्तोपासना के फल
को श्रुति बतलाती है । अतः समस्तोपासन ही श्रेष्ठ है व्यस्तोपासन श्रेष्ठ नहीं है । व्यस्तोपासन में
यद्यपि पृथक् फल तथा विधि विभक्ति का श्रवण है तथापि पृथक् फल मूर्धापतनादि अनिष्ट
फलक है, एवं विधि प्रत्यय भी वर्तमानापदेश प्राय है यह पूर्वापर प्रकरण पर्यालोचन से ज्ञात
होता है अतः समस्तोपासन ही युक्तियुक्त तथा सर्वशास्त्र सम्मत है ॥५५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

५ नाना शब्दादिभेदात् ३।३।५६ ५

अत्र परमपुरुषप्राप्तिरूपमुक्तिफलिकाः वैश्वानराद्याः सर्वा विद्या अधिकृत्य विचार्यते । किमासां विद्यानामैक्यमाहोस्विन्नाना-
त्वमिति । किं युक्तम् ? विद्यादुपासीतेत्यादिविधिप्रत्ययानां पर्याय-
त्वादुपास्यस्य ब्रह्मणस्तत्प्राप्तिरूपफलस्य च सर्वत्रैक्याद्विद्यैक्यमिति

शाण्डिल्यविद्या वैश्वानरादिका सर्वापि विद्या विद्यैव । एताः सर्वा विद्या भिन्ना भिन्ना अथवा सर्वापि एकैवेति विचारविषयः । तत्र सर्वासां विद्यात्वाक्रान्त तया अभिन्नत्वमेव । यदिफलभेदोवेषभेदोवा भवेत्तदा नाभिद्येयुः । यथा द्रव्यदेवता भेदेन यागोभिद्यते तथैव यदि प्रकृते उपास्यभेदः फलभेदश्चभवेत्तदाविद्याविभिद्येत, नत्वेतदस्ति । प्रकृते उपास्यस्य परमेश्वरस्यैकत्वात् । य एव परमात्मा वैश्वानरे उपा-
सितो भवति स एव शाण्डिल्यविद्यायामपि वेद्योभवति । यन् फलमेकत्रपरमपदप्राप्ति लक्षणं तदेवफलमन्यत्र विद्यान्तरेऽपि । तस्माद्यथा वामामनोरमाकान्ताकमनीयेत्यादि नामादिभेदेपि तन्वमेकमेव नत्वेनेकविधम्, तथैव प्रकृते नामादिभेदेपि उपास्यस्य परमे-
श्वरस्य सर्वत्रैकत्वात् फलस्य च मोक्षस्यापि तथान्वाद्विद्या सर्वत्राप्येकैवेति प्रथम पक्षाशयः ।

यहां सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ जो भगवान् श्रीसीतानाथजी हैं उनकी प्राप्ति रूप मोक्षफलक जो शाण्डिल्य वैश्वानरादिक सब विद्याएं हैं जो कि छान्दोग्यादिक उपनिषदों के तत्त्वप्रकरण में प्रतिपादित हैं, उन विद्याओं को अधिकृत करके विचार किया जाता है । क्या ये सब विद्यायें एक हैं अथवा ये सब परस्पर विभिन्न हैं ? तो इसमें प्रथम पक्ष को स्वीकार करना अथवा द्वितीय पक्ष को मानना. इसमें क्या युक्त है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विद्या भेद का नियामक वेषभेद होता है तथा फलभेद होता है । जिसतरह द्रव्य देवता का भेद होने से याग का भेद होता है । उसीतरह उपास्य तथा फल का भेद ही विद्याभेद का नियामक होता है, जिसतरह द्रव्य देवता का भेद यागभेद का नियामक होता है । 'विद्यात् उपासीत्' 'सक्रतुं कुर्वीत' इत्यादि विधि प्रत्यय को पर्यायवाची होने से नामावाल्यादि के तरह

प्राप्तेऽभिधीयते-नानेति । उक्ता विद्या नानैव । कुतः ? उपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि शब्दादिभेदात् । आदिनाभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि ग्राह्याणि । विधेयभेदकानुबन्धभेदेभ्य इति । अर्थाज्जग-

यद्यपि वैश्वानरादिविद्यायामुपास्यः परमेश्वरोऽभिन्नस्तथाप्येवं जातीयका विद्या भिन्ना-भिन्ना एव कुतः शब्दादिभेदात् । कुत्रचित् उपासीत, कुत्रचित् विद्यात्, कृतं कुर्वीत इत्यादिकः । शब्दहेतुश्चकर्मभेदहेतुति पूर्वप्रकरणे कथितम् । एवं संख्या अभ्यासगुणादिकोपि भेदहेतुर्भवतीति पूर्वतन्त्रे कथितम्, ते च गुणादयः सन्तीति सर्वा विद्याभिन्नैव । अर्थात्, यद्यपि उपास्यस्य परमेश्वरश्रीरामस्य सर्वत्राभेदो विद्यते तथापि जगदेककारणत्वं सत्यकामत्वादि गुणानां विशेषणानां भेदाद्विशिष्टस्योपास्यस्यापि भेदः । यथा, एकएव कामिनीदेहः केनचिद्भक्ष्यतया केनचिदुपगन्तव्यतया, उपेक्षणीतया अपत्यतया मातृतया विपयीक्रियमाणः पुरुषेच्छाधीनः । एवमत्रापि नानोपासनानि पुरुषेच्छाधीनतया विधेयतां नाति क्रमन्ति । इत्यादिकं सर्वं मनसि निधाय सूत्रव्याख्या तथा उपास्य ब्रह्मका तथा ब्रह्म प्राप्ति रूपफल का सर्वात्र एक होने से सब विद्या एक ही हैं । विद्याओं में भेद होता यदि वेद्य तथा फल का भेद होना परन्तु वेद्य तथा फल में तो कोई भी भेद नहीं है तब विद्या भिन्ना कैसे होगी ? किन्तु सब विद्या एक हैं ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'नानाशब्दादि भेदात्' उक्त जो वैश्वानरादिक विद्या हैं, वे सब परस्पर भिन्न हैं । क्योंकि उपास्य जो ब्रह्म उसके एक होने पर भी बोधक जो शब्दादिक हैं वे भिन्न हैं । आदि पद से अभ्यास संख्या गुणादिक का ग्रहण किया जाता है । जिसतरह शब्द भेद भेद का नियामक है उसीतरह संख्यादिक भेद भी नियामक है ऐसा पूर्वतन्त्र में कहा है । विधेय का भेदक अनुबन्ध भेद होने से । इसका स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं 'अर्थाज्जगदेकैत्यादि' जगदेक कारणत्वं जगत् सेतुत्वं अपहृत पाप्मत्वादिक विशेषण के द्वारा विद्या में भेद होता है । सूक्ष्म में 'शब्दादि भेदात्' शब्दादिक के भेद से विद्या भिन्न हैं ऐसा कहा परन्तु यह कथन तो ठीक नहीं है क्योंकि वामात्राळादि शब्दभेद होने पर भी अर्थ में तो भेद नहीं होता है, तथापि विशेष्य में भेद होने से विशेषण के भी भेद हो जाने से विशिष्ट में भी भेद होता है, और विशिष्ट का भेद होने से विशेष्य

देककारणत्वजगत्सेतुत्वापहतपाप्मत्वादिभिर्विशेषणैर्विद्या भिद्यन्त
इति ॥५६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

अथ विकल्पाधिकरणम् ॥२४॥

५ विकल्पाऽविशिष्टफलत्वात् ३।३।५७ ५

ब्रह्मप्राप्तिफलानां दहगदिविद्यानामनुष्ठाने समुच्चयो विकल्पो
वेति संशये किं युक्तम् ? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनां स्वर्ग
फलकभूयस्त्ववाञ्छया समुच्चयेनानुष्ठानदर्शनवदासामपि विद्यानां
नायोपक्रमते अत्र परमपुरुषेत्यादि । अतिरोहितार्थकतया भाष्याक्षराणिनो विव्रियन्ते
इति संक्षेपः ॥५६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

ननु या या दहगदिका उपासनास्तासां समुच्चयो भवति, अथवा आसां विक-
ल्पोभवतीति संशयः । यथा अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयस्तथैवात्र समुच्चयः ।
अथवा यथा ब्रीहिभिर्मयजेत यवैर्वायजेत इत्यत्रयवकरणकयागस्याथवा ब्रीहिकरणक यागस्य
पार्थक्येनानुष्ठानम् । तथा प्रकृते यथेच्छंदहरादीनामुपासनामनुष्ठानमिति । तत्र यथा
मे भी भेद प्रत्यय होता है, इस अभिप्राय से भाष्यकार ने 'अर्थाज्जगदेक कारणत्वादिक' कहा
है इति संक्षेपः ॥५६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

परब्रह्म की प्राप्ति लक्षण फल है जिसकी ऐसी जो दहर गैश्वानरादिक विद्या हैं इनके
अनुष्ठान में समुच्चय है अथवा विकल्प है । अर्थात् इन सब का साथ साथ ही अनुष्ठान
करना चाहिये अथवा एक किसी का एकदा अनुष्ठान करना चाहिये ऐसा संशय होता है ।
इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि स्वर्गात्मक फल की अधिकता की इच्छा से जिस तरह अग्नि-
होत्र दर्श पूर्णमास ज्योतिष्टोमादि यागों का समुच्चयेन मिलित्वा अनुष्ठान होता है- इसीतरह
ब्रह्मानुभवात्मक फल की भूयस्त्वाकांक्षा से इन सब उपासनों का सदैव अनुष्ठान करना

ब्रह्मानुभवफलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयेनानुष्ठानं सम्भवतीति प्राप्ते ऽभिधीयते 'विकल्प' इति । विकल्प एवानुष्ठाने समाश्रयणीयो न तु समुच्चयः । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात् । सर्वासां विद्यानामपरिमित ज्ञानानन्दब्रह्मानुभवरूपस्यैकस्यैव फलत्वात् । तत्रौक्या विद्यया ब्रह्मा नुभवे सिद्धे विद्यान्तरानुष्ठानस्य व्यर्थत्वान्नानुष्ठाने समुच्चयः ॥५७॥

फलाधिक्य प्राप्तीच्छया अग्निहोत्रादीनां समुच्चयस्तथैव प्रकृतेषु फलाधिक्याकांक्षयोपासनानां समुच्चय एवेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु प्रकृते उपासाविषये विकल्प एव न तु समुच्चयोऽविशिष्टफलत्वात् । अर्थात्, यथा यवकरणकयागस्य यत् फलं तदेव फलं व्रीहिकरणकयागस्यापीति तत्र विकल्पो भवति सर्वासां विद्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपफलमेकमेव न तु फलान्तरम् । यादृशो हि ब्रह्मानुभवो दहरविद्याया साध्यते तादृशफलमेव वैश्वानरविद्ययापि सम्पाद्यते, इति एकविद्ययैवोपासकस्य कृतकृत्यत्वादपरोपासनं निरर्थकमेवातो विकल्प एव स्वीकर्तव्यो न तु समुच्चयः । भवेत् प्रकृते समुच्चयो यदि किञ्चित्फलमेकोपासने न सिद्ध्येत्तदार्धकं फलमुपासनान्तरेण सम्पादितं भवेत् नत्वेवं प्रकृते फलस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्यैकेनैव सिद्धौ उपासनान्तरस्य निष्प्रयोजनत्वादित्येतत्सर्वं द्योतयितुं सूत्रं व्याख्यातुं चोपक्रमते ब्रह्मप्राप्ति फलानां दहरादीत्यादि । भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थकानीति संक्षेपः ॥५७॥

चाहिये । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "विकल्प" इत्यादि । इन अनेक प्रकार के विद्यायो के अनुष्ठान में विकल्प का आश्रयण व्रीहिकरणक यव करणक याग की तरह करना चाहिये । किन्तु समुच्चय नहीं । क्योंकि अविशिष्ट फल के ये सब विद्या हैं । सभी विद्याओं का ज्ञानानन्द ब्रह्मानुभव रूप फल एक ही है ।

उसमें एक दहगादि उपासन से ब्रह्मानुभव लक्षण फल जब सिद्ध हो जाता है तब शाण्डिल्यादि विद्यान्तर का अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है । अर्थात् असिद्ध ओदन के लिये पाक की आवश्यकता होती है परन्तु जब कार्य सिद्ध हो जाता है तब तो साधनानुष्ठान सर्वथा विफल है, इसी तरह जब प्रकृत में साध्य है ब्रह्मानुभव सो जब एकोपासन साधन से सिद्ध हो जाता है तब साधनान्तर का पुनः अनुष्ठान सर्वथा निरर्थक हो जाता है । अतः विद्या के अनुष्ठान में समुच्चय नहीं है किन्तु "ब्राहिर्भिर्यजेत यगैर्वायजेत" इत्यादि ब्रह्मादिकरण याग के समान साधनानुष्ठान में विकल्प ही है ॥५७॥

॥ काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ३।३।५८ ॥

काम्या ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफला विद्यास्ताश्च यथेच्छं समुच्चीयेरन् विकल्पेस्त्वा । कुतः ? पूर्वहेत्वभावात् । दहरादिविद्यानामपरिमितानन्दब्रह्मानुभवरूपफलस्यैव काम्यानां विद्यानां फलस्यापरिमितत्वाभावात् फलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि सम्भवतीति भावः ॥५८॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये विकल्पाविकरणम् ॥२४॥

उपासनं द्विविधं ब्रह्मानुभवफलकम्, तदन्यत् । ऐहिकामुष्मिकमध्यमोत्तमफलकञ्च । या तु ब्रह्मानुभवलक्षणफलिका तामामुपासनानां ब्रह्मानुभवफलानां विकल्पः कथितः फलैक्यात् । यदुपासनं तदतिरिक्तसांसारिकविभिन्नफलजनकं तादृशोपासनानां फलाधिक्यापेक्षया समुच्चयः । एकैव फलाकांक्षया विकल्पो यथाकामं करणीय इति सूत्रस्य मुकुलितार्थः ॥५८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यटीपे विकल्पाविकरणम् ॥२४॥

जो विद्या काम्य है अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति फल व्यतिरिक्त फलक ऐहिकामुष्मिक मध्यमोत्तम फलक है, इन विद्याओं का यथेच्छया समुच्च करें अथवा विकल्प करें । क्योंकि पूर्वहेतु का अभाव है । दहरादि विद्या का अपरिमित ज्ञानानन्द ब्रह्मानुभव रूप फल है, परन्तु काम्य जो उपासन उसका फल तो अपरिमित नहीं है अपितु परिमित है अतः फलभूयस्त्वापेक्षया इनका समुच्चय भी हो सकता है । अपि शब्द से विकल्प भी सूचित होता है । ॥५८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे विकल्पाविकरणम् ॥२४॥

अथ यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥२५॥

५ अङ्गेषु यथाश्रयभावः ३।३।५९ ५

कर्माङ्गाश्रयाणामुद्गीथोपासनादीनां गोदोहनादिवदधिकारान्तरत्वेनोपादाननियमः पूर्वोक्तः सम्भवति नवेति संशये उच्यते—अङ्गेष्विति । अङ्गेषु उद्गीथादिष्वाश्रितानामुपासनानां यथाश्रयभावः । यथोद्गीथादय उपासनाश्रयाकृत्वङ्गतया प्रयोगविधिना नियमेनोपादीयन्त एव । तथोद्गीथाद्याश्रितानामुपासनानामप्युद्गीथाश्रितत्वेन कृत्वङ्गतया नियमेनोपादानमेवेति ॥५९॥

५ शिष्टेश्च ३।३।६० ५

शिष्टिः शासनम्—विधानमिति यावत् । ‘उद्गीथमुपासीत’ इति यथांगानां प्रतिवेदं विधानं तथा तदाश्रितानामुपासनानां विधानाविशेषाच्च तदङ्गभावो न विरुद्ध्यतेऽत उपादाननियमः ॥६०॥

यथा कर्मणि मुख्यानुष्ठाने तदङ्गानामपि नियमतः प्रयोगविधिगृहीतानामनुष्ठानं भवति, तथोपासनयामपि तदङ्गानां नियमतोनुष्ठानं यथाकामं भवति तथैवोपासनयामपि नियमत उपादानं यथाकामं वेति संशयः । तत्र प्रयोगविधिगृहीतानामङ्गानां नियमत एवोपादानं कर्तव्यमिति पूर्वपक्षे चत्वारिमानि सूत्राणि भवन्ति । सूत्राणां व्याख्यानं यथाभाष्यमेवानुसंधेयमिति ॥५९॥

कर्माङ्गाश्रित जो उद्गीथोपासन है उसको गोदोहन की तरह अधिकारान्तरत्वेन उपादान का अनियम जो पूर्व कथित है वह संभवित है अथवा नहीं है. ऐसा संशय होने से कहते हैं “अङ्गेषु यथाश्रयभाव इति” अङ्गभूत जो उद्गीथादिक उपासना उसका जिस तरह आश्रयभाव है । अर्थात् जिस तरह उद्गीथादिक उपासनाश्रय क्रतु के अङ्गरूप से प्रयोगविधि द्वारा नियमतः उपादीयमान होता है । उसी तरह उद्गीथाश्रित उपासना को भी उद्गीथाश्रित होने से कृत्वङ्ग रूप से नियमतः उपादान होना चाहिये ॥५९॥

शिष्टि शब्द का अर्थ है शासन अर्थात् विधान । “उद्गीथमुपासीत” इस प्रकार से जिस तरह उद्गीथ का विधान प्रतिवेद में है उसी तरह तदाश्रित उपासना का विधान को अविशेष रूप होने से अङ्गभाव होने में कोई विरोध नहीं है, इसलिये नियमतः उपादान होना चाहिये ॥६०॥

ॐ समाहारात् ३।३।६१ ॐ

ऋग्वेदोक्तप्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य चैक्योपासने फल-
माह श्रुतिः 'होतृपदनाद्वैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहृति' (छा०१।५।
५) इति । अत्रोपासनस्य समाहारनियमो दृश्यते । वेदनराहित्ये-
ऽन्येन समाधानं ब्रूवतीश्रुतिर्वेदनस्य नियमेनोपादानं दर्शयति । ६१।

ॐ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ३।३।६२ ॐ

इत्थं नियमेनोपादानम् । उपासनाश्रयस्योकारस्योपासनगुणस्य
च 'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्-
गायति' (छा.१।१।९) इति साधारणश्रुतेः समाहारोऽत्र दृश्यते । तच्छ-
ब्देन प्रकृतस्य सोपासनस्य प्रणवस्यैव परामर्शान्तस्यैव च सर्वत्र
सञ्चारः । तथा चोपासनस्य प्रणवसहभावनियमादुद्गीथादिवदुपा-
सनानामप्युपादाननियमः ॥६२॥

ऋग्वेद में कथित प्रणव का तथा सामवेद में कथित उद्गीथ का एक रूपसे उपासना
श्रुति फल विशेष को बनाने की है "होतृपदनाद्वैवापि" इत्यादि । यहाँ उपासना को समाहार
का नियम देखने में आता है । वेदन के अभाव में भी अन्य द्वारा समाधान को कहती हुई
श्रुति वेदन का नियमतः उपादन को बनाने की है ॥६१॥

और इस वक्ष्यमाण हेतु से भी नियमतः उपासन का प्रश्न होता है । उपासनाश्रयओं
का तथा उपासन गुणों का "उसी से त्रयी विद्या वर्तमान है, ओंकार का श्रवण कराता है
शंसन करता है उद्गातन करता है" इसप्रकार से साधारण रूप से कथन किया है । इसलिये
यहाँ समाहार देखने में आता है "तेन" में तत् शब्द से प्रकृत उपासना सहित प्रणव का
परामर्श प्रश्न होने से सर्वत्र उसी प्रणव का संचार प्रश्न है । ऐसा हुआ तब उपासन को
नियमतः प्रणवका सहभाव होने से उद्गीथादिवत् नियमतः उपासनाका भी उपादान
होता है ॥६२॥

ॐ न वा तत्सहभावाश्रुतेः ३।३।६३ ॐ

एवम् चतुर्भिः सूत्रैः प्राप्ते पक्षे सिद्धान्तयति—‘न वा तत्सहभावेत्यादि । वा शब्दस्त्वर्थकः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अङ्गाश्रितोपासनानामङ्गवत्समाहारस्य नियमो नास्ति । कुतः? तत्सहभावाश्रुतेः । ‘ग्रहं वा गृहीत्वा चमसम् वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति’ इति यथाङ्गानां तत्सहभावः श्रूयते । तथाङ्गाश्रितोपासनानां तत्सहभावस्योद्गीथाङ्गभावस्याश्रुतेः ॥६३॥

ॐ दर्शनाच्च ३।३।६४ ॐ

अङ्गाश्रितोपासनानां समुच्चयाभावस्य श्रुतौ दर्शनाच्च नोपासनोपादाननियमः । तथाहि श्रुतिः ‘एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानम् सवाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति’ (छा० ४।१७।१०) इति । अत्र

एभिश्चतुः सूत्रैः कृतस्य प्रश्नस्योत्तरे सिद्धान्तमाह न वा तत्सहभावेत्यादि अङ्गवत्, अङ्गोपाश्रितोपासनानां समाहारो न नियतः । ग्रहं वा गृहीत्वेत्यादि स्थले तत्सहभावस्याश्रुतत्वात् । तस्मादङ्गोपाश्रितोपासनानां नियमतः सहभावो न भवतीत्यादिकं स्वयमूहनीयमिति ॥६३॥

पूर्वोक्त प्रकार से चार सूत्रों से कृत जो पूर्वपक्ष है उसमें सिद्धान्त बतलाते हैं “न वा तत्सहभावेत्यादि” सूत्र घटक वा शब्द तु शब्द के अर्थ में है और वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । अङ्गाश्रित उपासना का अङ्गवत् समाहार का नियम नहीं है, क्योंकि अङ्गवत् अङ्गोपाश्रित उपासना का सहभाव श्रुत नहीं है । “ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय” इत्यादि स्थल में अङ्ग के समान अङ्गाश्रित उपासना का सहभाव श्रुत नहीं है । इसलिये अङ्गाश्रित उपासना का नियमतः उपादान अभिमत नहीं है, इति संक्षेपः ॥६३॥

अङ्गाश्रित उपासनाका अभाव श्रुति में प्रतिपादित है, ऐसा देखने में आता है, इसलिये नियमतः उपासना उपादान नहीं होता है । “एवं विद्ध वै ब्रह्मा” एवं वित् ब्रह्मा यज्ञं यजमान तथा सब ऋत्विजों का रक्षण करते हैं” यहाँ केवल ब्रह्म के वेदन से यज्ञं यजमानादि का

केवलम् ब्रह्मणो वेदनाद्यज्ञस्य यजमानस्य त्विजाञ्च रक्षणमुच्यते ।
 तेनोद्गातृप्रभृतीनां वेदनाभावमवगम्यते । एतच्चोद्गीथोपासन-
 स्यानङ्गत्वे सत्येवोपपद्यते । तस्मादुपादानानियमः सिद्ध्यति ।
 पूर्वपठितानां समुच्चयादिलिङ्गानान्तु सम्भवाभिप्रायकत्वम् ॥६४॥

इति श्रीभगवद्भारामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरकमीमांसाया

आनन्दभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

ॐ श्रीरामचन्द्रार्पणमस्तु ॐ

ॐ शुभमस्तु सर्वजगतः ॐ

रक्षण कहा गया है । इसलिसे उद्गाता प्रभृति में वेदन का अभाव जाना जाता है. यह बात उद्गीथोपासन के अनङ्गत्व में ही उपपन्न होता है । इसलिये उपादान का अनियम सिद्ध होता है । पूर्वपठित जो समुच्चयादि के लिङ्गों का कथन है वह संभवाभिप्रायक है ॥६४॥

इति आनन्दभाष्ये सिद्धासनासीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

ॐ श्रीरामः शरणं मम ॐ



श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शारीरक मीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः प्रारम्भ्यते ५

अथ पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ३।४।१

किं कर्मणः पुरुषार्थ आहोस्विद्विद्यात इति संशयः किं युक्तम् ? कर्मणः ? कुतः ? 'यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्' (छा.१।१।१०) इति श्रुत्या सर्वकर्मसु विद्याया विनियुक्तत्वात् तस्याः कर्माङ्गत्वावगमात् । तत्त्वमसीत्यादीनां का गतिरिति चेत्तानि

साधनस्वरूपं निरूप्यकर्मणा ज्ञानेन वा मोक्षो भवतीति विप्रतिपत्त्या जायमान संशयस्य निराकरणद्वारेण मोक्षसाधारणकारणस्य निर्णयाय चतुर्थपादमारभते । तत्र कर्मणा मोक्षो भवति, ज्ञानेन वा मोक्षो भवति, प्रकारान्तरेण वा स भवतीति निश्चेतुमयमारंभः । तत्र केवलकर्मणेत्येकं मतम् । केवलज्ञानेन वेत्यपरं मतम् । उभाभ्यां भवतीति तदपरं मतम् । ज्ञानकर्मभ्यां भक्तिप्रपत्तिलाभे तदनन्तरं मोक्ष इति । तत्र कर्मज्ञानयोरन्यतरस्यैतत्तत्त्वमिति तावद्विचारयति । तत्र कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः इत्यादि स्मृत्या श्रुत्या च तथा कार्यमात्रस्य कर्मजन्यत्व नियमेन, मोक्षस्यापि कार्यत्वेनावश्यक कर्मजन्यत्वमिति युक्त्या केवलकर्मणैव मोक्षः । नच केवलस्य तस्य तथात्वे ज्ञानकारणत्वं समर्पकश्रुतीनामुन्मत्तप्रलापित्वं स्यादिति वाच्यम् । तासां परंपरया प्रयोजकत्वे-

ब्रह्मानुभवलक्षणं जो पुरुषार्थ है वह कर्म से प्राप्त होता है अथवा विद्या से प्राप्त होता है, इसमें सिद्धान्त बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं 'किं कर्मणः पुरुषार्थः' इत्यादि । क्या अग्निहोत्रादि केवल कर्म से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, अथवा केवल विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है ? ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ? तो कर्म को जनकत्व मानना ही युक्त है ? क्योंकि "जो कर्म विद्या पूर्व के द्वारा किया जाता है श्रद्धादि द्वारा अनुष्ठित होता है वही वीर्यवत्तर होता है" इस श्रुति से सर्व कर्म में विद्या का उपयुज्यमान होने से विद्या में कर्माङ्गत्व अवगत होता है अतः कर्म ही मोक्ष का साधन है । [अर्थात् काम्य निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान नहीं करने से आगामी फलजनक पुण्यापुण्य नहीं होता है और नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठा से प्रात्यहिक दुरित का क्षय होता रहता है "नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो

वाक्यानि कर्मसु कर्तृभूतप्रत्यगात्मनो याथात्म्यं बोधयन्ति कर्माङ्गभूत-
कर्तृयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वककर्मानुष्ठानेन समीचीनपुरुषार्थावाप्तिरिति
विद्यायाः कर्माङ्गत्वावगमेन कर्तृसंस्कारस्वनिष्पत्त्या तत्फलश्रुतेरर्थवा-
दत्वोपपत्तेः कर्मण एव पुरुषार्थः इति प्राप्तेऽभिधीयते— पुरुषार्थोऽन-
नापि सार्थकयान्, मोक्षेऽधिकृतस्य प्रत्यगात्मनः संस्कारादिद्वाराज्ञानस्यापि प्रयोज-
कत्वं संभवेन केवलकर्मणैव मोक्ष इति पूर्वपक्षाशयं दूषयति । न केवलकर्मणामोक्षोऽपितु
ब्रह्मविद्यामोतिपरमं तरतिशोकमात्मवित् नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानस्यैव मोक्ष-
कारणत्वाभिधानान्, भक्तिपवलिन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति बादरायणस्य सिद्धान्तः पन्थाः ।
“मुक्तौ हेतुस्तु भक्त्यपरपर्यायं तैलधारावदविच्छिन्नभगवन्स्मृतिसन्तानमेव । उक्तञ्च
साधनदीपिकायामाचार्यवर्यं जगद्गुरुश्रीगंगाधराचार्यैः ‘रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव
मुक्तिराप्यते । भक्तिर्ध्रुवास्मृति सा च विवेकादिकमसकात्’ इति । उक्तञ्च तथैव
भगवन्तः श्रीदेवानन्दाचार्यचरणा अपि ‘त्वदीयास्मृतिस्तारिकामृत्युमिन्द्रोस्तथाविस्मृतिः
पातिका तत्र चैव । परं योगिना हार्दमालंबनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम्’
(गीतानन्दभाष्यम् २।२२) तथा ‘सा च भक्तिः परमप्रेयोभगवदितरत्रौतृष्ण्यपूर्वक
दुरितक्षयम्’ ऐसा नियम है । एवं प्राप्य कर्म का उद्योग से क्षय हो जाने से अयत्न विद
मोक्ष हो जायगा- अतः कर्म से मोक्ष होता है ज्ञान का कोई भी प्रयोजन नहीं है ऐसा जो
मानते हैं, उनका मत है कि कर्म से ही मोक्ष होता है, इसलिये कर्म ही मोक्ष का कारण
है ।] यदि कर्मसे ही मोक्ष होता तब “तरत्रमसि—तरति शोकमात्मवित्” इत्यादि ज्ञान कारणता
प्रतिपादक श्रुति की क्या गति होगी ? उत्तर कर्ममात्र में कर्ता जो प्रत्यगात्मा उसकी
परार्थता का प्रतिपादक पूर्वोक्त वाक्य है, कर्म का अङ्गभूत जो कर्ता उसका याथात्म्यानु-
सन्धानपूर्वक कर्मानुष्ठान करने से समीचीन रूप से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है- इसप्रकार
विद्या में कर्माङ्गत्व का अवगम होने से कर्ता का संस्कारकत्व की निष्पत्ति होती है, फल-
श्रुति तो केवल अर्थवादरूप है । तस्मात् केवल कर्म को ही मोक्षजनकत्व है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं “पुरुषार्थोऽन” इत्यादि । इस ब्रह्मज्ञान से
ब्रह्मानुभवलक्षण पुरुषार्थ सिद्ध होता है । क्योंकि ‘ब्रह्मविद्यामोतिपरमं’ ‘तरति शोकमात्मवित्’
‘नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय’ तमेव विदिवाति मृत्युमेति’ इत्यादि शब्द प्रमाण से सिद्ध होता
है, ऐसा बादरायण आचार्य का मत है । यद्यपि ब्रह्मानुभव स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, तथापि

इति । अतो ब्रह्मविद्यातः पुरुषार्थो ब्रह्मानुभवलक्षणः । कुतः ? 'ब्रह्म विदानोति परम्' इत्येवमादिशब्दात् इति भगवान् वादरायणो-
मन्यते ॥१॥

५ शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति

जैमिनिः ३।४।२ ५

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—'शेषत्वादित्यादि । तत्त्वमस्यादिवाक्यज्ञानयाथात्म्यस्वरूपस्यात्मनः कर्माङ्गत्वेन कर्मशेषत्वात्तद्विद्याया अपि कर्तृसंस्कारत्वेन कर्तृद्वाराकर्मशेषत्वोप-
परमपुरुषानुरागरूपो ज्ञानविशेष एव" (ब्र० सू० १।१।१) इत्यादिका दिव्यावाणिर-
वद्यानुसन्धेयाः । तमिममाशयं दर्शयितुं भगवान् भाष्यकार उपक्रमते किं कर्मणः पुरुषार्थः इत्यादि । अन्यत्सर्वमतिरोहितार्थकमिति तद्व्याख्यानाय न प्रयते इति सिद्धान्तसूत्रम् ॥१॥

प्रथमसूत्रेण सिद्धान्तं प्रदर्शितवान्, सिद्धान्तश्च पूर्वपक्षप्रयोज्यो भवतीति पूर्वपक्ष प्रदर्शनार्थं द्वितीयादि सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते एवं सिद्धान्तमुपक्रम्येत्यादि तत्त्वमस्यादि वाक्येनावगतः प्रत्यगात्मा कर्मसु कर्तृतयाऽन्विता भवति, यावत् शरीरादिन्यतिरिक्त-
त्वं जीवस्य न सिद्ध्येत् तावत्कर्मसु नाधिकृतो भवेदिति तत्त्वमस्यादि वाक्येभ्योऽवगत परम सुख स्वरूप मोक्ष का प्रयोजक होने से पुरुषार्थ कहलाता है । सुख तथा दुःखाभाव मुख्य पुरुषार्थ है, तदन्यतर साधन भी साधकतया पुरुषार्थ कहलाता है । सिद्धान्त में श्रीसाकेता धिपपि सयेश्वर श्रीरामजी की दिव्यकैर्य प्राप्ति मोक्ष है, वह मोक्ष कर्मज्ञान से आराधित श्रीसीतानाथ की कृपा से तदीय भक्ति प्रपत्ति द्वारा सिद्ध होता है । इसका विशेष विचार मुक्ति मीमांसादि प्रवन्धों में देखिये । विस्तरभयादुपरम्यते ॥१॥

प्रथम सूत्र से यथोक्त क्रमेण सिद्धान्त को बतलाने के बाद पूर्वपक्षी स्वमत को बतलाते हैं 'शेषत्वादीत्यादि' 'तत्त्वमसि' प्रभृतिक वाक्यों से अवगत है, यथार्थ स्वरूप आत्मा कर्माङ्ग होकर के कर्म का कर्ता होता है और कर्म कर्ता होने से कर्मशेष है, तो तदीय जो ज्ञान उसको भी कर्ता का संस्कारक होने से कर्तृद्वारा कर्मशेषत्व उपपन्न होता है ।

पत्तेः । तत्र पुरुषार्थवादोऽर्थवादः । यथाऽन्येषु पर्णमयीद्रव्ययजमानस्था
ज्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपेषु द्रव्यसंस्कारकर्मस्वपापश्लोकादिफल
श्रुतिरर्थवादस्तथात्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो
मन्यये ॥२॥

卐 आचारदर्शनात् ३।४।३ 卐

‘जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे’ (वृ० ३।१।१) ‘यज्ञ-
माणो वै भगवन्तोऽहमस्मि’ (छा० ५।१।३) इत्यादी ब्रह्मविदां जन
कादीनामाचारदर्शनाल्लिंगाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३॥

याथात्म्यस्वरूप एकमार्गमिति कर्माङ्गत्वेन कर्तृद्वारेण कर्मशेष एवमनुस्वतन्त्रः । यथा
पर्णतादीनां द्रव्यतयादिसंस्कारद्वारा कर्माङ्गत्वं तथैव जीवस्यापि । ज्ञाने पुरुषार्थवादस्तु
अर्थवाद एव । यस्य पर्णमयीज्ञहृद्वेति न स पापं श्लोकं श्रृणातीत्यादिवदिति बोध-
यितुमाह तत्त्वमस्यादीन्त्यादि । अतिरोहितार्थकं भाष्यमिति दिक् ॥२॥

ब्रह्मज्ञानवतां भूभृतां जनकादीनामाचारदर्शनेन ज्ञायते यत् परमात्मज्ञानं
कर्मगामंगं भवति । यतो विशिष्टजनकादिज्ञां कर्मकारणत्वे विशेष्यतावच्छेदकतया
तद्विशेषणस्य विद्याया अपिकारणत्वमिति यथाकर्त्ता कर्तृविधयाकर्मणोऽङ्गं भवति तथा
अवच्छेदकता सम्बन्धेन कारणं भवन्ती विद्या कर्मणः कारणमिति ज्ञानमपि कर्माङ्ग-
वत्येवेति । जनकादीनां ब्रह्मवित्त्वं श्रुतिस्मृत्यादी प्रसिद्धमेव । जनको ह वैदेह इत्यादि
श्रुतिः कर्मणैव हि संसिद्धिमित्यादि स्मृतिरिति । ततश्च ब्रह्मविदामाचारदर्शनेन विद्यायाः
कर्माङ्गत्वं निश्चितमिति ॥३॥

उस आप्तज्ञान में जो पुरुषार्थवाद है वह तो अर्थवाद मात्र है । जिस तरह अन्य पर्णमयी
द्रव्य यजमानस्थाज्जनादि संस्कार और प्रयाजादिक में द्रव्य संस्कार कर्म स्वकीय पाप श्रवणादि
फलश्रुति अर्थवाद है, उसी तरह प्रकृत में पुरुषार्थ श्रुति अर्थवाद है ऐसा जैमिनि आचार्य
मानते हैं ॥२॥

‘जनक वैदेह राजा बहु दक्षिणावाले याग से यजन किया’ हे भगवन् मैं यज्ञ करने
वाला हूँ’ इत्यादि स्थल में ब्रह्मज्ञानी जनक प्रभृति राजाओं का आचार दर्शन लक्षण छिन्न से
सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान यागादि रूप कर्म का अङ्ग है । अतः स्वातन्त्र्येण विद्या का जो
फल कथन है वह अर्थवाद मात्र है । अतः विद्याकर्म का अङ्ग है ॥३॥

५ तच्छ्रुतेश्च ३।४।४ ५

‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेववीर्यवत्तस्म भवति’
(छा० १।१।१०) इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वश्रवणात् । प्रकरणादिय-
मुद्गीथमात्रविषयेति न शक्यमभ्युपगन्तुम् । प्रकरणाच्छ्रुतेर्वलवत्त्वात् ।
‘यदेव विद्यया करोती’ति साक्षाच्छ्रवणम् ॥४॥

किञ्च यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिषदेत्यादि साक्षात्, श्रुतेः श्रवणादपि
विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्ध्यति । नचोद्गीथप्रकरणेऽस्याः श्रुतेः श्रवणात्तत्रैवतदंगत्वं
बोधयति नतु कर्ममात्रं प्रतिअङ्गत्वं साधयतीति शङ्क्यं यतः श्रुतिवाक्य प्रकरस्थानसमा-
ख्यानामिति पूर्वकाण्डश्रुतनियमेन प्रकरणात् श्रुतेर्वलवत्वबोधनात् । श्रुतिप्रकरणयोः
संनिधातेश्रुतेरेवप्रवृत्त्वबोधनेन तया तस्य बाधनात् कर्माङ्गत्वमेव विद्यायाः सिद्ध्य-
तीति भावः ॥४॥

‘जिस किसी कर्म को विद्या साहित्येन संपादन करता है श्रद्धा उपनिषत् के साथ
करता है वह कर्मवीर्यवत्तर होता है अर्थात् कर्ममात्र स्वभावतः फलजनक होता ही है परन्तु
उसी कर्मको यदि विद्या श्रद्धादि के साथ संपादन करता है तो वह कर्म अत्यन्त विरक्षण फल
प्रद होता है, स्वाभाविक फलपेक्षया विशिष्ट फल को देता है । जिस्तरह काष्ठौषध यादृश
फल को जितना समय तक फलप्रद होता है उसी काष्ठौषधि में यदि पारा का मिश्रण कर
दिया जाता है तब वही औषध अधिक काल तक तदधिक काल तक तदधिक फल को देता
है । इसीतरह केवल कर्म यादृश फल को देता है विद्यासहित वही कर्म अत्यधिक फल को
देता है’ इस श्रुति से सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग है । नहीं कहो कि उपर्युक्त
श्रुति तो उद्गीथ प्रकरण में श्रुत है इसलिये तत्रैव विद्याको तदङ्गत्व समझायगा ! ऐसा नहीं
कहना क्योंकि प्रकरण से श्रुति प्रमाण प्रवृत्त है तो श्रुति से प्रकरण का बाध हो जाता है
नतु प्रकरण से श्रुति का बाध होता है । अतः विद्या कर्म का अङ्ग है यह निश्चित
होता है ॥४॥

५ समन्वारम्भणात् ३।४।५ ५

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारम्भेते’ (बृ०४।४।२) इति श्रुतिर्विद्याकर्मणोः सामानाधिकरण्यमवगमयन्ती विद्यायाः कर्माङ्गत्वं ज्ञापयति। ५।

५ तद्वतो विधानात् ३।४।६ ५

निखिलवेदार्थविज्ञानवतः कर्मण्यधिकारः श्रुतिभिरुपदिश्यते । ‘आचार्यकुलाद्रेदमधीत्य यथाविधानगुरोः कर्मातिशेषेणाभिममामृत्य कुटुम्बे शुचौदेशे’ (छा.८।१।५।१) इति । अतोऽपि न विद्यायाः स्वातन्त्र्येण फलजनकत्वम् किन्तु कर्माङ्गत्वमैवेति ॥६॥

५ नियमाच्च ३।४।७ ५

इतोऽपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिज्जि-विपेच्छन्तं ममाः । (ई.२) ‘जगमर्यं ह वै एतत्सन्तं यदग्निहोत्रं दर्श-

किञ्च न विद्या साक्षादेव फलजनकमपि तु कर्मकुक्षिप्रविष्टेव पुरुषार्थप्रयोजकम्, यतः कुर्वन्नेवेह कर्माणि जगमर्यं वा इत्यादि श्रुतिर्यावज्जीवनं कर्माचरणनियमं दर्शयति ।

‘उस उपासक को विद्या तथा कर्म साथ देने हैं’ यह श्रुति विद्या तथा कर्मके सामानाधिकरण्य को बतलाती हुई विद्या में कर्माङ्गत्व को ज्ञापित करती है । अतः विद्या कर्माङ्ग है । ५।

जो व्यक्ति सकल वेदार्थ ज्ञानवान् है उसी को कर्म में अधिकार है ऐसा श्रुति में कहा गया है ‘गुरुकुल में नियमपूर्वक वेद का अध्ययन करके गुरु के आज्ञानुसार पारिवारिक कार्य को सम्पन्न करता हुआ समावर्तन करने के बाद कुटुम्ब परिवृत्त शुचि देश में’ । इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग होकरके ही फलजनक है किन्तु स्वातन्त्र्येण विद्या को फलजनकत्व नहीं है ॥६॥

वक्ष्यमाण नियम दर्शन हेतु से भी विद्या में कर्माङ्गत्व की सिद्धी होती है । ‘कर्म करने हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे’ ‘यह अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास रूप जगमर्यं है, इस यज्ञ के द्वारा जरा मृत्यु को पार कर जाता है’ इत्यादि श्रुतियों से जीवन पर्यन्त कर्मा-

पूर्णमासौ जस्या वा ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इति यावज्जीवं कर्माचारनियमदर्शनात्कर्मण एव पुरुषार्थो न विद्यात इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेव ॥७॥

५ अधिकोपदेशात्तु बादराणस्यैव

तद्दर्शनात् ३।४।८ ५

इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते—'अधिकोपदेशादित्यादि'। तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । न विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपितु विद्यात एव पुरुषार्थ इत्येवं भगवतो बादरायणस्य मतम् । कुतः ? अधिकोपदेशात् । वेदान्तेषु कर्मकर्तृजीवादधिकस्याखिलोपासकजनमनोरथपूरयदा यावज्जीवनं कर्मैव करिष्यति तदा कथं कस्मिन् काले स्वातन्त्र्येण विद्यामुपासीत । तस्मात् येयं विद्या सा कर्माङ्गतयैव फलं जनयति नतु स्वातन्त्र्येण । यथा प्रयाजादिदशाङ्गतयैवफलं ददाति न स्वतन्त्रस्तद्वत्प्रकृतेऽपीति । न विद्या मोक्षजनिका किन्तु कर्मैव तथेति जैमिनिमतानुयायिनः पूर्वपक्ष इति भावः ॥७॥

जीवात्मनः कर्तृत्वेन कर्मशेषत्वात्तादृशजीवात्मज्ञानं ब्रीहिप्रोक्षणादिवत् कर्मसम्बन्धि, इति तादृशजीवात्मज्ञानं कर्माङ्गमेवेति यत्कथितं तन्न युक्तम् । अधिकोपदेशात् अर्थात् यदि शरीरादिव्यतिरिक्तः शारीरः कर्त्ता भोक्ता जीवो वेदान्तेषुषदिष्टो भवेत्, चरण का नियम देखने में आता है, इसलिये विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है किन्तु कर्म से ही मोक्ष होता है, अतः विद्या कर्म का अङ्ग है ॥७॥

इस तरह जैमिनि मतानुयायी के पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार समाधान करते हैं 'अधिकेत्यादि' सूत्र घटक जो तु शब्द है वह विद्या कर्माङ्ग है एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । विद्या कर्म का अंग नहीं है किन्तु विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, ऐसा जो भगवान् बादरायण का मत है वही समीचीन है । क्योंकि जीवातिरिक्त परमेश्वर का भी कथन है । अर्थात् वेदान्त में कर्त्ता भोक्ता संसारी शारीरक कर्मकर्त्ता जीव से अधिक=अतिरिक्त सर्व उपासक प्रणतजन मनोरथपूरक परब्रह्म का उपास्य रूपेण उपदेश किया गया है । वेदान्त में जीव व्यतिरिक्त यथोक्त स्वरूपक परब्रह्म का उपास्य रूप से कथन है' इस बात

कस्य परब्रह्मण उपास्यतयोपदेशात् । कथमवगम्यते ? तदुदर्शनात् ।
वेद्यतयोपदेशस्य श्रुतिषु दर्शनात् । 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (पु.मृ.) 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति
रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः' (बृ०४।४।२१) 'सकारणं करणाधि
पाधिपोन चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे०६।७) इति ।
तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षणस्य फलम्यावाप्तिर्विद्यत एवेति ॥८॥

तदा यथोक्तवर्णितप्रकारेणायमाक्षेपो भवेत्, परन्तु नैवं जीवव्यतिरिक्तोऽसंसारी
परमेश्वरः कर्तृत्वादिधर्मरहितोपहतपाप्मत्वादिधर्मयुक्तोवेदान्तेषु प्रतिपादितः । तदीय
ज्ञानं ब्रह्मविद्या नतु तादृशजीवज्ञानं ब्रह्मविद्या । न चैतादृशपरमात्मविज्ञानं कर्मसम्ब-
न्धिर्धेन विद्यापि कर्माङ्गभवेत् । शारीराज्जीवादतिरिक्तं परमात्मानं श्रुतयोदर्शयन्त्या-
दरेण यः सर्वज्ञः स सर्वान् भूषाऽस्मान्दानः पवते सकारणं करणाधिपाधिपः तमेव विदि-
त्वातिमृत्युमेति इत्यादि । तस्मान्परमात्मज्ञानमेव ब्रह्मविद्या नतु जीवात्मविज्ञानं ब्रह्म
विद्या, येन कर्मशेषता विद्याया भवेत्, स्वातन्त्र्येण फलाभाववचनं वेत्यादिकं सर्वं मनसि
निधाय विद्वान्तमुत्रव्याख्यातुमाह इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते इत्यादि । भाष्यग्रन्थः
सुगमत्वान्नोपिबृत्त इति संक्षेपः ॥८॥

को किसतरह जानने है ? 'तदर्शनात्' जीव व्यतिरिक्त परमात्मा का वेष रूप से श्रुति में
उपदेश किया गया है ऐसा देखने में आता है । 'शारीरक से भिन्न उस परमात्मा जगदेक
कारण का साक्षात्कार करके उपासक भगवान् की कृपा से अतिमृत्यु-मोक्ष को प्राप्त कर जाता
है- मोक्ष प्राप्त करने के लिये परमेश्वर ज्ञान के बिना कोई दूसरा मार्ग नहीं है । अर्थात्
असंसारी उपहत पाप्मत्वादि गुणक परमात्मा के ज्ञानातिरिक्त कोई भी प्रकार का मार्गान्तर
नहीं है, जिसके द्वारा उपासक भगवद्धाम प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर सके । 'यह जग-
देक कारण परमात्मा ही परमेश्वर है यही भूताधिपति है यही भूतों का अधिपति है, सर्वथा
सर्व प्रकार से पाठक तथा रक्षक है यही सेतु जगत् मर्यादा का विचारक है' । 'वह परमा-
त्मा कारण जो परमाणवादिक उसका भी कारण है और कारण इन्द्रियादिक का अधिप है
अर्थात् प्रेरक है, इस परमात्मा का कोई उत्पादक नहीं है नवा एतादृश गुण परमात्मा का
कोई अधिप स्वामी नियामक ही है' । तस्माद् ब्रह्मानुभव लक्षण जो जो फल है वह विद्या
के द्वारा ही प्राप्त होता है, नतु कर्म द्वारा प्राप्त होता है । जिससे कि कर्म का अंग विद्या
हो, यदि जीव विज्ञान जनित मोक्ष हो तब कर्म कर्तृतयाजीव कर्माङ्ग है- तब तादृश विद्या में
भी कर्माङ्गत्व की शङ्का होती । इत्यादि बहुतर व्याख्यान स्थलान्तर में देखें ॥८॥

पूर्णमासौ जरया वा ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इति यावज्जीवं कर्माचारनियमदर्शनात्कर्म्मण एव पुरुषार्थो न विद्यात इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेव ॥७॥

५ अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैव

तद्दर्शनात् ३।४।८ ५

इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते—'अधिकोपदेशादित्यादि'। तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । न विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपितु विद्यात एव पुरुषार्थ इत्येवं भगवतो बादरायणस्य मतम् । कुतः ? अधिकोपदेशात् । वेदान्तेषु कर्मकर्तुर्जीवादधिकस्याखिलोपासकजनमनोरथपूरयदा यावज्जीवनं कर्मैव करिष्यति तदा कथं कस्मिन् काले स्वातन्त्र्येण विद्यामुपासीत । तस्मात् येयं विद्या सा कर्माङ्गतयैव फलं जनयति नतु स्वातन्त्र्येण । यथा प्रयाजादिदशाङ्गतयैवफलं ददाति न स्वतन्त्रस्तद्वत्प्रकृतेऽपीति । न विद्या मोक्षजनिका किन्तु कर्मैव तथेति जैमिनिमतानुयायिनः पूर्वपक्ष इति भावः ॥७॥

जीवात्मनः कर्तृत्वेन कर्मशेषत्वात्तादृशजीवात्मज्ञानं ब्रीहिप्रोक्षणादिवत् कर्मसम्बन्धि, इति तादृशजीवात्मज्ञानं कर्माङ्गमेवेति यत्कथितं तन्न युक्तम् । अधिकोपदेशात् अर्थात् यदि शरीरादिव्यतिरिक्तः शरीरः कर्त्ताभोक्ताजीवोवेदान्तेषूपदिष्टोभवेत्, चरण का नियम देखने में आता है, इसलिये विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है किन्तु कर्म से ही मोक्ष होता है, अतः विद्या कर्म का अङ्ग है ॥७॥

इस तरह जैमिनि मतानुयायी के पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार समाधान करते हैं 'अधिकेत्यादि' सूत्र घटक जो तु शब्द है वह विद्या कर्माङ्ग है एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । विद्या कर्म का अंग नहीं है किन्तु विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, ऐसा जो भगवान् बादरायण का मत है वही समीचीन है । क्योंकि जीवातिरिक्त परमेश्वर का भी कथन है । अर्थात् वेदान्त में कर्त्ता भोक्ता संसारी शारीरक कर्मकर्त्ता जीव से अधिक=अतिरिक्त सर्व उपासक प्रणतजन मनोरथपूरक परब्रह्म का उपास्य रूपेण उपदेश किया गया है । वेदान्त में जीव व्यतिरिक्त यथोक्त स्वरूपक परब्रह्म का उपास्य रूप से कथन है' इस बात

कस्य परब्रह्मण उपास्यतयोपदेशात् । कथमवगम्यते ? तद्दर्शनात् ।
वेद्यतयोपदेशस्य श्रुतिषु दर्शनात् । 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (पु.सू.) 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति
रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः' (बृ०४।४।२१) 'स कारणं करणाधि
पाधिपोन चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे०६।७) इति ।
तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षणस्य फलम्यावासिर्विद्यत एवेति ॥८॥

तदा यथोक्तवर्णितप्रकारेणायमाक्षेपो भवेत्, परन्तु नैवं जीवव्यतिरिक्तोऽसंसारी
परमेश्वरः कर्तृत्वादिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिधर्मयुक्तोऽवेदान्तेषु प्रतिपादितः । तदीय
ज्ञानं ब्रह्मविद्या नतु तादृशजीवज्ञानं ब्रह्मविद्या । न चैतादृशपरमात्मविज्ञानं कर्मसम्ब-
न्धियेन विद्यापि कर्माङ्गं भवेत् । शरीराज्जीवादतिरिक्तं परमात्मानं श्रुतयोर्दर्शयन्त्या-
दरेण यः सर्वज्ञः स सर्ववित् भोषाऽस्माद्वातः पत्रते सकारणं करणाधिपाधिपः तमेव विदि-
त्वातिमृत्युमेति इत्यादि । तस्मात्परमात्मज्ञानमेव ब्रह्मविद्या नतु जीवात्मविज्ञानं ब्रह्म
विद्या, येन कर्मशेषता विद्याया भवेत्, स्वातन्त्र्येण फलाभाववत्त्वं वेत्यादिकं सर्वं मनसि
निधाय सिद्धान्तसूत्रत्रयाख्यातुमाह इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते इत्यादि । भाष्यग्रन्थः
सुगमत्वान्नोर्विबृत्त इति संक्षेपः ॥८॥

को किसतरह जानते हैं ? 'तद्दर्शनात्' जीव व्यतिरिक्त परमात्मा का वेद्य रूप से श्रुति में
उपदेश किया गया है ऐसा देखने में आता है । 'शारीरक से भिन्न उस परमात्मा जगदेक
कारण का साक्षात्कार करके उपासक भगवान् की कृपा से अतिमृत्यु-मोक्ष को प्राप्त कर जाता
है. मोक्ष प्राप्त करने के लिये परमेश्वर ज्ञान के बिना कोई दूसरा मार्ग नहीं है । अर्थात्
असंसारी अपहत पाप्मत्वादि गुणक परमात्मा के ज्ञानातिरिक्त कोई भी प्रकार का मार्गान्तर
नहीं है, जिसके द्वारा उपासक भगवद्धाम प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर सकें । 'यह जग-
देक कारण परमात्मा ही परमेश्वर है यही भूताधिपति हैं यही भूतों का अधिपति है. सर्वथा
सर्व प्रकार से पालक तथा रक्षक हैं यही सेतु जगत् मर्यादा का विचारक है' । 'वह परमा-
त्मा कारण जो परमाणवादिक उसका भी कारण है और करण इन्द्रियादिक का अधिप हैं
अर्थात् प्रेरक है, इस परमात्मा का कोई उत्पादक नहीं है नवा एतादृश गुण परमात्मा का
कोई अधिप स्वामी नियामक ही है' । तस्मात् ब्रह्मानुभव लक्षण जो जो फल है वह विद्या
के द्वारा ही प्राप्त होता है, नतु कर्म द्वारा प्राप्त होता है । जिससे कि कर्म का अंग विद्या
हो, यदि जीव विज्ञान जनित मोक्ष हो तब कर्म कर्तृतया जीव कर्माङ्ग है. तब तादृश विद्या में
भी कर्माङ्गत्व की शङ्का होती । इत्यादि बहुतर व्याख्यान स्थलान्तर में देखें ॥८॥

॥ तुल्यन्तु दर्शनम् ३।५।९ ॥

यदुक्तमाचारदर्शनाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वमिति तत्राह—‘तुल्यन्तु दर्शनम्’ विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावेऽप्याचारदर्शनं तुल्यम् ‘एतद्धस्मै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावपेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे’ इत्यादिकाः श्रुतयो विदुषः कर्माचाराभावं दर्शयन्ति । तु शब्दश्चैतस्य मतस्य प्राबल्यमुपपादयन् जनकादिज्ञानिनां कर्माचारस्य लोकसंग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्धिं दर्शयति । मुमुक्षुभिस्तु सका-

जनकादिब्रह्मज्ञानिनामपि नियमतः कर्माचरणदर्शनाद्विद्याकर्मशेषस्तत्परिहाराय प्राह तुल्यं तु दर्शनादिति । नेदमाचारदर्शनं विद्यायाः कर्माङ्गत्वसाधनायान्वयमिचरितं लिङ्गं भवति विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावेऽपि तदाचारदर्शनेन साध्याभाववति प्रमेयत्वस्य हेतोर्विद्यामानत्वेन प्रमेयत्वहेतोर्वन्धिसाधकत्वं न भवति, यतोवन्धिसाधने बन्धभावसाधने समानत्वात् प्रमेयत्वस्य । तद्वत् प्रकृते विद्यायाः कर्माङ्गत्वे तदभावे च जनकयाज्ञवल्क्याद्याचाराणां तुल्यत्वेन साधकत्वं न भवतीत्यादिकं दर्शयति विद्यायाः कर्माङ्गत्वा-

विद्या कर्म का अंग है इसमें जनकादिक का आचार दर्शन को हेतु बतलाया था. उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘तुल्यन्तु दर्शनम्’ विद्या में कर्माङ्गत्व नहीं है. इसमें भी जनक प्रभृति का आचार दर्शन तुल्य है. अर्थात् जिसतरह जनकादि का आचार दर्शन विद्या में कर्माङ्गत्व का प्रतिपादक है उसीतरह विद्या में कर्माङ्गत्वाभाव में भी तुल्य है । ‘कावपेय विद्वान् ऋषियो ने कहा, क्यों हमलोग अध्ययन करें, क्यों हमलोग याग करें, [इस श्रुति में जो ‘कि’ शब्द है वह आक्षेपार्थक है. अर्थात् तत्त्व परमात्म तत्त्वज्ञानी हम लोगों को दान यज्ञाध्ययनादिक इहलोक परलोक साधन का अनुष्ठानानुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है. क्योंकि हमलोग तो असार सांसारिक फल कामना को छोड़ करके परमात्म भजन में संलग्न हैं ।] इत्यादिक विद्वान् के लिए कर्माचाराभाव का प्रतिपादन करती है । सूत्रघटक जो तु शब्द है वह बादरायण मतमें प्राबल्य का उपपादन करता हुआ, जनक याज्ञवल्क्यादिक ज्ञानियों के कर्माचार लोक संग्रहार्थक होने से अन्यथासिद्धि को बतलाता है । अर्थात् जनकादिक का जो कर्माचारण है वह लोक संग्रहार्थक है । मुमुक्षुओं का जो सकाम कर्मानुष्ठान है वह लोक संग्रहार्थक है, अथवा उसका त्याग ही है । और निष्काम

मस्य कर्मणो विद्याविरोधितया लोकसंग्रहार्थमनुष्ठानं त्यागो वा निष्का-
मस्य कर्मणस्तु विद्याङ्गत्वेनानुष्ठानमिति विवेकः । विद्यायाः कर्मा-
ङ्गत्वे तु कथमपि न कर्मत्याग उपपद्यते ॥९॥

॥ असार्वत्रिकी ३।४।१० ॥

यच्चोक्तं श्रुतिरेव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवबोधयति तत्राह-
'असार्वत्रिकी' इति । 'यदेव विद्यया करोती' ति श्रुतिरसार्वत्रिकी
सर्वविद्याविषयान् भवति, किन्तु प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रविषयता
भावेऽपीति । कथमुभयत्राचारस्य तुल्यत्वं तदेव स्पष्टयितुं श्रुतिमुदाहरति एतद्वस्म इत्यादि ।
अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥९॥

श्रुतिवलेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वमाशङ्कितं तदूषणायोच्यतेऽसार्वत्रिकी । अयमाशयः
यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदेत्यादिना विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्, तत्तु न सार्वत्रिकम् ।
अर्थात् सर्वत्रैव विद्याकर्माङ्गभूतेति न किन्तु प्रकृतोद्गीथमात्रकर्मणि तस्याः तदंगत्वं
तादृशकर्मण एव प्रकृतत्वात् । तावन्मात्र विषयत्वम् यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः
इत्यत्र ये भुवि वर्तमानास्तेषां सर्वेषां भोजनमसंभवान्न भवतीति निमन्त्रित ब्राह्मणानामेव
भवति, तथैव प्रकृते सर्वविद्याया न कर्माङ्गत्वमपितु उद्गीथकर्माभिप्रापकमुद्गीथायैव
प्रकृतत्वात् । इहापि सर्वाविद्यास्तदङ्गत्वं न भवति परमात्मविद्यायां तदसंभवात् ।
कर्म का जो अनुष्ठान है वह विद्या का अंग होने से मुमुक्षु से अनुष्ठित होता है । यह
पार्थक्य है । यदि विद्या कर्म का अंग हो तब तो ज्ञानी को भी कर्मत्याग उपपन्न नहीं
होता है । अर्थात् सकाम कर्म का अनुष्ठान ज्ञानी को भी आवश्यक हो तब तो तादृश
कर्म के परित्याग का जो शास्त्र में प्रतिपादन किया है वह सर्वथा असंगत हो जायगा ।
अतः विद्या कर्म का अंग नहीं है, यह सिद्ध होता है ॥९॥

जो पूर्व में कहा था कि विद्या में कर्माङ्गता का प्रतिपादन श्रुति स्वयमेव करती है ?
इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं 'असार्वत्रिकी' विद्या में कर्माङ्गता प्रतिपादक 'यदेव विद्यया
करोतीत्यादि' श्रुति को उदाहृत किया था, सो श्रुति सार्वत्रिकी सर्वविद्या विषयक नहीं है,
किन्तु प्रकान्त जा उद्गीथ कर्म है तावन्मात्र विषयक है, अर्थात् सर्वत्र विद्या कर्म का अंग

हितस्याः । अतो न श्रुतिबलेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्ध्यति । १०।

५ विभागः शतवत् ३।४।११ ५

यदपि समन्वारम्भणादित्युक्तं तत्राह—‘विभागः शतवदिति’
‘तं विद्याकर्मणि समन्वारभेते’ इत्यत्रापि विद्याकर्मणोर्विभागोज्ञेयः ।
विद्या हि स्वफलाय विद्यावन्त समन्वारभेते कर्म च कर्मानुष्ठातार-
मिति । शतवत् । यथाऽऽभ्यांशतंदीयतामित्युक्ते विभज्य पञ्चाशदे
कस्मै पञ्चाशदेकस्मै दीयते तद्वदित्यर्थः ॥११॥

तस्मान्न विद्याकर्माङ्गमिति सूत्रभावः । भाष्याशयस्तु नतिरोहितः ॥१०॥

समन्वारम्भणाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वं तन्न युक्तं यतः प्रकृतश्रुत्या विद्या कर्मणोर्विभाग-
स्यैव प्रतिपादनात् । अर्थात् विद्या विद्यावन्तमनुगच्छति कर्म च कर्मानुष्ठातारम् ।
यथा द्वाभ्यां छात्राभ्यां विद्यालये दशरूप्यकं वृत्तिः प्रतिभासं दीयतां तत्र रूप्यकाणां
विभागं कृत्वा संचालक एकस्मै पञ्चमुद्राप्रदीयतेऽन्यस्मै च पञ्चप्रददाति । नतु एकस्मै
एव दशसमर्पयति । तद्वदिह विद्याविद्यावन्तमनुगच्छति कर्म च तदनुष्ठातारमिति
सूत्रभाष्ययोर्भावः ॥११॥

नहीं है, किन्तु प्रकृत उद्गीय विषयक मात्रक है । अतः श्रुति के बल से विद्या में कर्माङ्ग-
त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥१०॥

विद्या कर्म का समन्वारम्भण कारण से विद्या को कर्माङ्गत्व है, ऐसा जो कहा या उसके
उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘विभाग इत्यादि सूत्रम्’ ‘उसको विद्या कर्म अनुगमन करते हैं’
इस श्रुति में विद्या कर्म का विभाग है ऐव जानना । अर्थात् विद्या स्वकीय फलको देने के
लिये विद्यावान् का अनुगमन करती है और कर्म यागादिक कर्मानुष्ठाता का अनुगमन करता
है । इसप्रकार से विभाग समझना चाहिये नतु दोनो एक का अनुगमन करता है । एतादृश
विभाग में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं—शतवदिति । यथा जिसतरह विभाग के अवसर में
‘इन दोनों को सौ रुपये दे दिया जाय’ एतादृश वचन को सुन करके संचालक पुरुष पचास
पचास रुपया विभाग करके दोनों को दे देता है, नतु एक को ही सौ रुपया देता है ।
उसीतरह प्रकृत में विद्या तथा कर्मका विभाग है, उपासक के लिये विद्या है तथा कर्मकर्ता
के लिये कर्म है, नतु दोनो एक के लिये है, जिससे की शेषशेषी के लिए विवाद हो ।
इसलिये प्रकृत में कोई विरोध नहीं है । इति संक्षेपः ॥११॥

॥ अध्ययनमात्रवतः ३।४।१२ ॥

यत्तूक्तं विद्यावत एव कर्मण्यधिकारस्तस्माद्विद्याकर्माङ्गमिति तत्राह—‘अध्ययनमात्रवतः’ इति । ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्ये’ति वाक्यं स्वाध्यायस्य फलवदर्थवबोधित्वदर्शनेन कर्मावबोधिनश्च कर्मविधीयते न विद्यावतः । मात्रपदेन विद्यायाव्यावर्तनात् । न च मात्रपदेन कर्मज्ञानमपि व्यावृत्त्यताम् । कर्मज्ञानं विना कर्मानुष्ठानासम्भवात् । तस्मान्न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । १२।

॥ नाविशेषात् ३।४।१३ ॥

यत्पुनः ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणी’ति वाक्यमविशेषेण यावज्जीवं

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिषेत् इत्यादिश्रवणादयावज्जीवनकर्मानुष्ठानश्रवणेन विदुषा जो पूर्व में कहा था कि विद्यावान् को हो कर्ममें अधिकार है, इसलिये विद्या कर्मका अङ्ग है ? इस प्रश्न का निराकरण करने के लिये कहते हैं ‘अध्ययनमात्रवत इति,’ स्वाध्याय-अध्ययनवान् के लिये कर्मविधि है किन्तु उपनिषदध्ययनवान् के लिये कर्मविधि नहीं है । अर्थात् जो यह अध्ययन है वह अर्थबोध पर्यन्त कर्म में उपयुक्त होता है, जिसतरह कर्मविधि वाक्य को विधि ज्ञानवत् मात्र को कर्ममें अधिकार है किन्तु उपनिषदध्ययनवान् को नहीं, क्योंकि उपनिषदध्ययन का कर्म में कोई उपयोग नहीं है । इस अभिप्राय को स्फुट करने के लिये भाष्यकार कहते हैं ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्येत्यादि’ ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य इत्यादिक वाक्य, स्वाध्याय को फलवदर्थवबोधकत्व होने से कर्मज्ञानवान् के लिये कर्मका विधान होता किन्तु विद्यावान् के लिये कर्म का विधान नहीं है, क्योंकि कर्ममें उपनिषद् के अध्ययन का कोई प्रयोजन नहीं है । ‘अध्ययनमात्रवत’ इसमूल में जो मात्रपद है उससे विद्या अर्थात् परमात्म ज्ञान की व्यावृत्ति होती है । नहीं कहो कि विद्यावत् मात्र पदसे कर्मज्ञान की भी व्यावृत्ति होगी ? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मज्ञान के बिना कर्म का अनुष्ठान असंभवित है, क्योंकि व्यवहार मात्र के प्रति तदीय ज्ञान आवश्यक है । इसलिये विद्या-कर्माङ्ग नहीं है ॥१२॥

जो पुनः ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य अविशेषेण अर्थात् समान विद्वान् अविद्वान् सबके यावत् जीवन कर्मानुष्ठान में अवश्य कर्तव्यता को बतलाता है, ऐसा जो प्रश्न किया था

हितस्याः । अतो न श्रुतिबलेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्ध्यति । १० ।

卐 विभागः शतवत् ३।४।११ 卐

यदपि समन्वारम्भणादित्युक्तं तत्राह—‘विभागः शतवदिति’
‘तं विद्याकर्मणि समन्वारमेते’ इत्यत्रापि विद्याकर्मणोर्विभागो ज्ञेयः ।
विद्या हि स्वफलाय विद्यावन्त समन्वारमते कर्म च कर्मानुष्ठानार-
मिति । शतवत् । यथाऽऽभ्यांशतंदीयतामित्युक्ते विभज्य पञ्चाशदे
कस्मै पञ्चाशदेकस्मै दीयते तद्वदित्यर्थः ॥११॥

तस्मान्न विद्याकर्माङ्गमिति सूत्रभावः । भाष्याशयस्तु नतिरोहितः ॥१०॥

समन्वारम्भणाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वं तन्न युक्तं यतः प्रकृतश्रुत्या विद्या कर्मणोर्विभाग-
स्यैव प्रतिपादनात् । अर्थात् विद्या विद्यावन्तमनुगच्छति कर्म च कर्मानुष्ठानारम् ।
यथा द्वाभ्यां छात्राभ्यां विद्यालये दशरूप्यकं वृत्तिः प्रतिभासं दीयतां तत्र रूप्यकाणां
विभागं कृत्वा संचालक एकस्मै पञ्चमुद्राप्रदीयतेऽन्यस्मै च पञ्चप्रददाति । नतु एकस्मै
एव दशसमर्पयति । तद्वदिह विद्याविद्यावन्तमनुगच्छति कर्म च तदनुष्ठानारमिति
सूत्रभाष्ययोर्भावः ॥११॥

नहीं है, किन्तु प्रकृत उद्गीय विषयक मात्रक है । अतः श्रुति के बल से विद्या में कर्माङ्ग-
त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥१०॥

विद्या कर्म का समन्वारम्भण कारण से विद्या को कर्माङ्गत्व है, ऐसा जो कहा था उसके
उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘विभाग इत्यादि सूत्रम्’ ‘उसको विद्या कर्म अनुगमन करते हैं’
इस श्रुति में विद्या कर्म का विभाग है ऐम जानना । अर्थात् विद्या स्वकीय फलको देने के
लिये विद्यावान् का अनुगमन करती है और कर्म यागादिक कर्मानुष्ठाना का अनुगमन करता
है । इसप्रकार से विभाग समझना चाहिये नतु दोनो एक का अनुगमन करता है । एतादृश
विभाग में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं—शतवदिति । यथा जिसतरह विभाग के अवसर में
‘इन दोनों को सौ रुपये दे दिया जाय’ एतादृश वचन को सुन करके संचालक पुरुष पचास
पचास रुपया विभाग करके दोनों को दे देता है, नतु एक को ही सौ रुपया देता है ।
उसीतरह प्रकृत में विद्या तथा कर्मका विभाग है, उपासक के लिये विद्या है तथा कर्मकर्ता
के लिये कर्म है, नतु दोनो एक के लिये है, जिससे की शेषशेषी के लिए विवाद हो ।
इसलिये प्रकृत में कोई विरोध नहीं है । इति संक्षेपः ॥११॥

५ अध्ययनमात्रवतः ३।४।१२ ५

यत्तुक्तं विद्यावत एव कर्मण्यधिकारस्तस्माद्विद्याकर्माङ्गमिति तत्राह—‘अध्ययनमात्रवतः’ इति । ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्ये’ति वाक्यं स्वाध्यायस्य फलवदर्थवबोधित्वदर्शनेन कर्मावबोधिनश्च कर्मविधीयते न विद्यावतः । मात्रपदेन विद्यायाव्यावर्तनात् । न च मात्रपदेन कर्मज्ञानमपि व्यावृत्त्यताम् । कर्मज्ञानं विना कर्मानुष्ठानासम्भवात् । तस्मान्न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । १२।

५ नाविशेषात् ३।४।१३ ५

यत्पुनः ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणी’ति वाक्यमविशेषेण यावज्जीवं

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिषेत् इत्यादिश्रवणादयावज्जीवनकर्मानुष्ठानश्रवणेन विदुषा जो पूर्व में कहा था कि विद्यावान् को हो कर्ममें अधिकार है, इसलिये विद्या कर्मका अङ्ग है ? इस प्रश्न का निराकरण करने के लिये कहते हैं ‘अध्ययनमात्रवत इति,’ स्वाध्याय-अध्ययनवान् के लिये कर्मविधि है किन्तु उपनिषदध्ययनवान् के लिये कर्मविधि नहीं है । अर्थात् जो यह अध्ययन है वह अर्थबोध पर्यन्त कर्म में उपयुक्त होता है, जिसतरह कर्मविधि वाक्य को विधि ज्ञानवत् मात्र को कर्ममें अधिकार है किन्तु उपनिषदध्ययनवान् को नहीं, क्योंकि उपनिषदध्ययन का कर्म में कोई उपयोग नहीं है । इस अभिप्राय को स्फुट करने के लिये भाष्यकार कहते हैं ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्येत्यादि’ ‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य इत्यादिक वाक्य, स्वाध्याय को फलवदर्थवबोधकत्व होने से कर्मज्ञानवान् के लिये कर्मका विधान होता किन्तु विद्यावान् के लिये कर्म का विधान नहीं है, क्योंकि कर्ममें उपनिषद् के अध्ययन का कोई प्रयोजन नहीं है । ‘अध्ययनमात्रवत’ इसमूत्र में जो मात्रपद है उससे विद्या अर्थात् परमात्म ज्ञान की व्यावृत्ति होती है । नहीं कहो कि विद्यावत् मात्र पदसे कर्मज्ञान की भी व्यावृत्ति होगी ? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मज्ञान के बिना कर्म का अनुष्ठान असंभवित है, क्योंकि व्यवहार मात्र के प्रति तदीय ज्ञान आवश्यक है । इसलिये विद्या-कर्माङ्ग नहीं है ॥१२॥

जो पुनः ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य अविशेषेण अर्थात् समान विद्वान् अविद्वान् सबके यावत् जीवन कर्मानुष्ठान में अवश्य कर्तव्यता को बतलाता है, ऐसा जो प्रश्न किया था

कर्मानुष्ठानं दर्शयति तत्राह—‘नाविशेषात्’ इति ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि
 ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुपपद्यते । कुनः ?
 अविशेषात् फलसाधनाय स्वातन्त्र्येण कर्मविषयोऽयं नियम इति न
 कश्चिद्विशेषो हेतुः । प्रकृतवाक्ये तु फलप्राप्त्युपायभूतविद्याया अङ्ग-
 तामुपगतानि कर्माण्येव विहितानीति सुगमः पन्थाः । अत एव
 ‘सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः’ (छा०७।२६।२) ‘अनन्यचेताः सततं यो
 मां स्मरति नित्यशः’ (गी०१२) इति श्रुतिस्मृतिभ्योऽध्रुवस्मृतिमतो
 ऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यशः परमपुरुषस्य सातत्येनस्मरणपरस्य तन्नित्य
 युक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकात्यर्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनोमनसः क्षणमपि
 मपि कर्माचरणमावश्यकमिति शंकायाः समाधानाय नाविशेषादिति सूत्रमवतारयति ।
 अयमर्थः नेयं श्रुतिर्विदुषां कर्मावश्यकमिति वक्ति किन्तु ये कर्मजडाः कर्मानुष्ठानेनैव
 जीवनं यापयितुमिच्छन्ति तान् प्रतितद्वचनम् । विद्वांस्तु नियमतो भगवदनुचिन्तनमेव
 परमपुरुषार्थमोक्षसाधनमिति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगत्यनियमतस्तदनुचिन्तने व्यापृतः कर्म-
 कालमलभमानो न कर्मणि संसक्तो भवति, किन्तु भगवदनुचिन्तने एवेति । एतदा-
 शयमाश्रित्यसूत्रं व्याख्यातुकाम उपक्रमते यत्पुनः कुर्वन्नेवेहेत्यादि सत्त्वशुद्धावितिपरि-
 शुद्धाहारग्रहणेन मनसोऽन्तःकरणस्य विशुद्धिर्भवति, तच्छुद्धौ च स्मृतिर्दृढाभवतीत्यर्थः
 उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘नाविशेषादिति’ ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ यह जो यावज्जीवन
 कर्मानुष्ठान का नियम है, उसको केवल कर्म विषयत्व उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि ‘अवि-
 शेषात्’ फल साधन के लिए स्वतन्त्र रूपसे कर्म विषयक यह नियम है । इसलिये यह कोई
 विशेष हेतु नहीं है । प्रकृत वाक्य में तो फलप्राप्ति में उपायभूत जो विद्या- तादृश विद्या के
 अङ्गत्व प्राप्तकर्म का ही विधान है यह सुगम मार्ग है । अतएव ‘अन्तःकरण मनके पवित्र होने
 से ध्रुवास्मृति प्रत्यक्ष समानाकारक ज्ञान होता है’ तथा ‘अनन्यचित्त होकरके उपासक हर
 हमेश हमारा स्मरण करता है’ इत्यादि श्रुतिस्मृति से ध्रुवस्मृतिमान् अनन्यचित्त होकरके निय-
 मतः अनवरत परमपुरुष के स्मरण में तत्पर परमेश्वर में नित्ययुक्त परमेश्वर का एकान्त भक्त
 और परमेश्वर का अतिप्रिय ज्ञानी के मनको क्षण भर भी ब्रह्मचिन्तनानिरिक्त वस्तुवन्तर चिन्तन
 परत्व की अनुपपत्ति होने से कर्मानुष्ठान काल का लाभ नहीं होता है, अतः उपासना का

ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्त्वानुपपत्तेः कर्मानुष्ठानकाला
लाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा नतस्य प्रयोजनम् । तस्मान्न
विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१३॥

॥ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ३।४।१४ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ ति वाक्यार्थं सैद्धान्तिकेनार्थेन योजयति ।
वा शब्दोऽवधारणार्थकः । ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ (ई०१) इति विद्या
प्रकरणाद् ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेयं विदुषः कर्मानुमतिः । मद्विद्याबलेन
कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मफलेन न बध्यत इति भावः ॥१४॥

इयमेव ध्रुवास्मृतिः श्रुतिस्मृत्यनुमोदिता विदुषां मोक्षसाधनायालमिति न मोक्षाय कर्मा
नुष्ठानमपेक्षते । कर्मकालालाभात् प्रयोजनाभावाच्च । अन्यत्सर्वसुगममिति संक्षेपः ॥१३॥

कुर्वन्नेवेह कर्माण्येत्यत्रैको विशेषोनाविशेषादित्यत्र प्रदर्शितोऽयमपरोविशेषः
प्रदश्यते । यद्यपीदं विद्याप्रकरणं विद्यते, इति प्रकरणप्रमाणबलेन कुर्वन्निति क्रियया
विदुष एव सम्बन्ध इति प्रतिभातीव, तथापि यदिदं कर्मानुष्ठानं तद्विद्यास्तुतये एव ।
यतः प्रकृतमन्त्रे एवकर्मलेपाभावस्य प्रतिपादनात् । यावज्जीवनं कर्मकरणेनापि विदुषि
कर्मफललेप उपासनासामर्थ्यान्नभवतीत्येवं रूपेणविद्यायाः स्तुतिरेवभवतीत्याशयं प्रकट
यितुमाहस्तुतयेऽनुमतिर्वेति । भाष्यग्रन्थः सुगम इति तद्वारुणानायुनो प्रयत्यते ॥१४॥
विरोधी जो कर्मानुष्ठान है उसका प्रयोजन उपासक को नहीं है । तस्मात् विद्या कर्मका अंग
नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१३॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य के अर्थ को सैद्धान्तिक अर्थ के साथ जोड़ते हैं । सूत्र
घटक वा शब्द अवधारणार्थक=निश्चयार्थक है । ‘ईशावास्यमिदम्’ इत्यादि विद्या का प्रकरण
है, इससे ब्रह्मविद्या के स्तुत्यर्थ ही विद्वानों को कर्म में अनुमति है । यथोक्त उपासक कर्म
का अनुष्ठान करता हुआ भी सद्धिद्या के बलसे कर्मफल जो दुःखादिक है उससे कभी भी
सम्बद्ध नहीं होता है । यह सदुपासना के सामर्थ्य से विद्वान् कर्म करता है परन्तु तत्फल से
सम्बद्ध नहीं होता है ॥१४॥

कर्मानुष्ठानं दर्शयति तत्राह—'नाविशेषात्' इति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुपपद्यते । कुतः ? अविशेषात् फलसाधनाय स्यात्तन्वयेण कर्मविषयोऽयं नियम इति न कश्चिद्विशेषो हेतुः । प्रकृतवाक्ये तु फलप्राप्त्युपायभूतविद्याया अङ्गतामुपगतानि कर्माण्येव विहितानीति सुगमः पन्थाः । अत एव 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छा० ३.२.३२) 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः' (गी० १.२) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ध्रुवस्मृतिमतोऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यशः परमपुरुषस्य सातत्येन स्मरणपरस्य तन्नित्ययुक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकात्म्यार्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनो मनसः क्षणमपि न कर्माचरणमावश्यकमिति शंकायाः समाधानाय नाविशेष इति सूत्रमवतारयति । अयमर्थः नेयं श्रुतिविदुषां कर्मावश्यकमिति वक्ति किन्तु ये कर्मजडाः कर्मानुष्ठानेनैव जीवनं यापयितुमिच्छन्ति तान् प्रतिबन्धयति । विद्वान्स्तु नियमतो भगवदनुचिन्तनमेव परमपुरुषार्थमोक्षसाधनमिति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगत्य नियमतस्तदनुचिन्तने व्यापृतः कर्मकालमलममानो न कर्मणि संसक्तो भवति, किन्तु भगवदनुचिन्तने एवेति । एतदाश्रयमाश्रित्यसूत्रं व्याख्यातुकाम उपक्रमते यस्मिन् कुर्वन्नेवेह कर्माणि सत्त्वशुद्धाविति परिशुद्धाहारग्रहणेन मनसोऽन्तःकरणस्य विशुद्धिर्भवति, तच्छुद्धौ च स्मृतिर्दृढाभवतीत्यर्थः उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'नाविशेषादिनि' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह जो यादग्रीव कर्मानुष्ठान का नियम है, उसको केवल कर्म विषयक उपासन नहीं होता है । क्योंकि 'अविशेषात्' फल साधन के लिए स्वतन्त्र रूपसे कर्म विषयक यह नियम है । इसलिये यह कोई विशेष हेतु नहीं है । प्रकृत वाक्य में तो फलप्राप्ति में उपायभूत जो विद्या तादृश विद्या के अङ्गत्व प्राप्तकर्म का ही विधान है यह सुगम मार्ग है । अतएव 'अनन्यकरण मनके पवित्र होने से ध्रुवास्मृति प्रत्यक्ष समानाकारक ज्ञान होता है' तथा 'अनन्यचित्त होकरके उपासक हर हमसे हमारा स्मरण करता है' इत्यादि श्रुतिस्मृति से, ध्रुवस्मृतिमान् अनन्यचित्त होकरके नियमतः अनवरत परमपुरुष के स्मरण में तत्पर परमेश्वर में निर्ययुक्त परमेश्वर का एकान्त भक्त और परमेश्वर का अतिप्रिय ज्ञानी के मनको क्षण भर भी ब्रह्मचिन्तनानिरिक्त वस्तुवन्तर चिन्तन परत्व की अनुपपत्ति होने से कर्मानुष्ठान काळ का काम नहीं होता है, अतः उपासना का

ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्त्वानुपपत्तेः कर्मानुष्ठानकाला
लाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा न तस्य प्रयोजनम् । तस्मान्न
विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१३॥

॥ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ३।४।१४ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ ति वाक्यार्थं सैद्धान्तिकेनार्थेन योजयति ।
वा शब्दोऽवधारणार्थकः । ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ (ई० १) इति विद्या
प्रकरणाद् ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेयं विदुषः कर्मानुमतिः । सद्विद्याबलेन
कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मफलेन न बध्यन् इति भावः ॥१४॥

इयमेव ध्रुवास्मृतिः श्रुतिस्मृत्यनुमोदिता विदुषां मोक्षसाधनायामिति न मोक्षाय कर्मा
नुष्ठानमपेक्षते । कर्मकालालाभात् प्रयोजनाभावाच्च । अन्यत्सर्वसुगममिति संक्षेपः ॥१३॥

कुर्वन्नेवेह कर्माण्येत्यत्रैको विशेषोनाविशेषादित्यत्र प्रदर्शितोऽयमपरोविशेषः
प्रदश्यते । यद्यपीदं विद्याप्रकरणं विद्यते, इति प्रकरणप्रमाणबलेन कुर्वन्निति क्रियया
विदुष एव सम्बन्ध इति प्रतिभातीव, तथापि यदिदं कर्मानुष्ठानं तद्विद्यास्तुतये एव ।
यतः प्रकृतमन्त्रे एव कर्मलेपाभावस्य प्रतिपादनात् । यावज्जीवनं कर्मकरणेनापि विदुषि
कर्मफललेप उपासनासामर्थ्यान्नभवतीत्येवं रूपेण विद्यायाः स्तुतिरेवभवतीत्याशयं प्रकट
यितुमाहस्तुतयेऽनुमतिर्वेति । भाष्यग्रन्थः सुगम इति तद्वाख्यानानुमो प्रयत्यते ॥१४॥
विरोधी जो कर्मानुष्ठान है उसका प्रयोजन उपासक को नहीं है । तस्मात् विद्या कर्मका अंग
नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१३॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य के अर्थ को सैद्धान्तिक अर्थ के साथ जोड़ते हैं । सूत्र
घटक वा शब्द अवधारणार्थक=निश्चयार्थक है । ‘ईशावास्यमिदम्’ इत्यादि विद्या का प्रकरण
है, इससे ब्रह्मविद्या के स्तुत्यर्थ ही विद्वानों को कर्म में अनुमति है । यथोक्त उपासक कर्म
का अनुष्ठान करता हुआ भी सद्विद्या के बलसे कर्मफल जो दुःखादिक है उससे कभी भी
सम्बद्ध नहीं होता है । यह सदुपासना के सामर्थ्य से विद्वान् कर्म करता है परन्तु तत्फल से
सम्बद्ध नहीं होता है ॥१४॥

कर्मानुष्ठानं दर्शयति तत्राह—'नाविशेषात्' इति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि
 ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुपपद्यते । कुतः ?
 अविशेषात् फलसाधनाय स्वातन्त्र्येण कर्मविषयोऽयं नियम इति न
 कश्चिद्विशेषो हेतुः । प्रकृतवाक्ये तु फलप्राप्त्युपायभूतविद्याया अङ्ग-
 तामुपगतानि कर्माण्येव विहितानीति सुगमः पन्थाः । अत एव
 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छा० ७।२।२) 'अनन्यचेताः मननं यो
 मां स्मरति नित्यशः' (गी० १२) इति श्रुतिस्मृतिभ्यो ध्रुवस्मृतिमतो
 ऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यशः परमपुरुषस्य सातत्येन स्मरणपरस्य तन्नित्य
 युक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकान्यर्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनो मनसः श्रणमपि
 मपि कर्माचरणमावश्यकमिति शंकायाः समाधानाय नाविशेष इति सूत्रमवतारयति ।
 अयमर्थः नेयं श्रुतिर्विदुषां कर्मावश्यकमिति वक्ति किन्तु ये कर्मजडाः कर्मानुष्ठानेनैव
 जीवनं यापयितुमिच्छन्ति तान् प्रतिनिरुचनम् । विद्वान्तु नियमतो भगवदनुचिन्तनमेव
 परमपुरुषार्थमोक्षसाधनमिति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्य नियमतस्तदनुचिन्तने व्यापृतः कर्म-
 कालमलभमानो न कर्मणि संसक्तो भवति, किन्तु भगवदनुचिन्तने एवेति । एतदा-
 श्रयमाश्रित्य सूत्रं व्याख्यातुकाम उपक्रमते यत्पुनः कुर्वन्नेवेह कर्माणि सत्त्वशुद्धाविति परि-
 शुद्धाहारग्रहणेन मनसोऽन्तःकरणस्य विशुद्धिर्भवति, तच्छुद्धौ च स्मृतिर्दृढा भवतीत्यर्थः
 उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'नाविशेषादिनि' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह जो यापयतीक
 कर्मानुष्ठान का नियम है, उसको केवल कर्म विषयक उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि 'अवि-
 शेषात्' फल साधन के लिए स्वतन्त्र रूपसे कर्म विषयक यह नियम है । इसलिये यह कोई
 विशेष हेतु नहीं है । प्रकृत वाक्य में जो फलप्राप्ति में उपायभूत जो विद्या तादृश विद्या के
 अङ्गत्व प्राप्तकर्म का ही विधान है यह सुगम मार्ग है । अतएव 'अनन्यचेतः मननं यो
 मां स्मरति नित्यशः' इत्यादि श्रुतिस्मृति से, ध्रुवस्मृतिमान् अनन्यचित्त होकरके निय-
 मतः अनवरत परमपुरुष के स्मरण में तत्पर परमेश्वर में निर्ययुक्त परमेश्वर का एकान्त भक्त
 और परमेश्वर का अतिप्रिय ज्ञानी के मनको श्रण भर मो ब्रह्मचिन्तनानिरिक्त वस्तुवन्तर चिन्तन
 परत्व की अनुपपत्ति होने से कर्मानुष्ठान काळ का काम नहीं होता है, अतः उपासना का

ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्त्वानुपपत्तेः कर्मानुष्ठानकाला
लाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा न तस्य प्रयोजनम् । तस्मान्न
विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१३॥

॥ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ३।४।१४ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणी’ ति वाक्यार्थं सैद्धान्तिकेनार्थेन योजयति ।
वा शब्दोऽवधारणार्थकः । ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ (ई० १) इति विद्या
प्रकरणाद् ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेयं विदुषः कर्मानुमतिः । मद्भिद्यावलेन
कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मकृतेन न बध्यत इति भावः ॥१४॥

इयमेव ध्रुवास्मृतिः श्रुतिस्मृत्यनुमोदिता विदुषां मोक्षसाधनायालमिति न मोक्षाय कर्मा
नुष्ठानमपेक्षते । कर्मकालालाभात् प्रयोजनाभावाच्च । अन्यत्सर्वसुगममिति संक्षेपः ॥१३॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यत्रैको विशेषोनाविशेषादित्यत्र प्रदर्शितोऽयमपरोविशेषः
प्रदश्यते । यद्यपीदं विद्याप्रकरणं विद्यते, इति प्रकरणप्रमाणवलेन कुर्वन्निति क्रियया
विदुष एव सम्बन्ध इति प्रतिभातीव, तथापि यदिदं कर्मानुष्ठानं तद्विद्यास्तुतये एव ।
यतः प्रकृतमन्त्रे एवकर्मलेपाभावस्य प्रतिपादनात् । यावज्जीवनं कर्मकरणेनापि विदुषि
कर्मफललेप उपासनासामर्थ्यान्नभवतीत्येवं रूपेणविद्यायाः स्तुतिरेवभवतीत्याशयं प्रकट
यितुमाहस्तुतयेऽनुमतिर्वेति । भाष्यग्रन्थः सुगम इति तद्वाख्यानानुमो प्रयत्यते ॥१४॥
विरोधी जो कर्मानुष्ठान है उसका प्रयोजन उपासक को नहीं है । तस्मात् विद्या कर्मका अंग
नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१३॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य के अर्थ को सैद्धान्तिक अर्थ के साथ जोड़ते हैं । सूत्र
घटक वा शब्द अवधारणार्थक=निश्चयार्थक है । ‘ईशावास्यमिदम्’ इत्यादि विद्या का प्रकरण
है, इससे ब्रह्मविद्या के स्तुत्यर्थ ही विद्वानों को कर्म में अनुमति है । यथोक्त उपासक कर्म
का अनुष्ठान करता हुआ भी सद्भिद्या के बलसे कर्मफल जो दुःखादिक है उससे कभी भी
सम्बद्ध नहीं होता है । यह सद्दुपासना के सामर्थ्य से विद्वान् कर्म करता है परन्तु तत्फल से
सम्बद्ध नहीं होता है ॥१४॥

कर्मानुष्ठानं दर्शयति तत्राह—'नाविशेषात्' इति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'
 ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुपपद्यते । कुतः ?
 अविशेषात् फलमाधनाय स्वातन्त्र्येण कर्मविषयोऽयं नियम इति न
 कश्चिद्विशेषो हेतुः । प्रकृतवाक्ये तु फलप्राप्त्युपायभूतविद्याया अङ्ग-
 तामुपगतानि कर्माण्येव विहितानीति सुगमः पन्थाः । अत एव
 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (आ० १२३।२) 'अनन्यचेताः मननं यो
 मां स्मरति नित्यशः' (गी० १२) इति श्रुतिस्मृतिभ्योऽध्वस्यस्मृतिमतो
 ऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यशः परमपुरुषस्य मातन्त्र्येण स्मरणपरस्य तन्नित्य
 युक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकात्यर्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनो मनसः श्रणमपि
 मपि कर्माचरणमावश्यकमिति अंकायाः समाधानाय नाविशेष इति सूत्रमवतारयति ।
 अयमर्थः नेपं श्रुतिर्विदुषां कर्मावश्यकमिति वक्ति किन्तु ये कर्मजडाः कर्मानुष्ठानेनैव
 जीवनं यापयितुमिच्छन्ति तान् प्रतिदत्तचनम् । विदांस्तु नियमनो भगवदनुचिन्तनमेव
 परमपुरुषार्थमोक्षसाधनमिति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगत्य नियमनस्तदनुचिन्तने व्यापृतः कर्म-
 कालमलभमानो न कर्मणि संसक्तो भवति, किन्तु भगवदनुचिन्तने एवेति । एतदा-
 श्रयमाश्रित्यसूत्रं व्याख्यातुकाम उपक्रमते यत्पुनः कुर्वन्नेवेह कर्माणि सत्त्वशुद्धावितिपरि-
 शुद्धाहारग्रहणेन मनसोऽन्तःकरणस्य विशुद्धिर्भवति, तच्छुद्धौ च स्मृतिर्दृढाभवतीत्यर्थः
 उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'नाविशेषादिनि' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह जो पाश्चात्तीक
 कर्मानुष्ठान का नियम है, उसको केवल कर्म विषयक उपरान्त नहीं होता है । क्योंकि 'अवि-
 शेषात्' फल साधन के लिए स्वतन्त्र रूपसे कर्म विषयक यह नियम है । इसलिये यह कोई
 विशेष हेतु नहीं है । प्रकृत वाक्य में जो फलप्राप्ति में उपायभूत जो विद्या तादृश विद्या के
 अङ्गत्व प्राप्तकर्म का ही विधान है यह सुगम मार्ग है । अतएव 'अनन्यकरण मनके पवित्र होने
 से ध्रुवास्मृति प्रत्यक्ष समानाकारक ज्ञान होता है' तथा 'अनन्यचित्त होकरके उपासक हर
 हमेश हमारा स्मरण करता है' इत्यादि श्रुतिस्मृति से, ध्रुवस्मृतिमान् अनन्यचित्त होकरके निय-
 मतः अनवरत परमपुरुष के स्मरण में तत्पर परमेश्वर में निरपयुक्त परमेश्वर का एकान्त भक्त
 और परमेश्वर का अनिप्रिय ज्ञानी के मनको श्रुण भर जो ब्रह्मचिन्तमानिहिकल वस्तुवत्तर चिन्तन
 परत्व की अनुपपत्ति होने से कर्मानुष्ठान काळ का काम नहीं होता है, अतः उपासना का

ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्त्वानुपपत्तेः कर्मानुष्ठानकाला
लाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा न तस्य प्रयोजनम् । तस्मान्न
विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१३॥

॥ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ३।४।१४ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ ति वाक्यार्थं सैद्धान्तिकेनार्थेन योजयति ।
वा शब्दोऽवधारणार्थकः । ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’ (ई० १) इति विद्या
प्रकरणाद् ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेयं विदुषः कर्मानुमतिः । सद्विद्यावलेन
कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मफलेन न बध्यत इति भावः ॥१४॥

इयमेव ध्रुवास्मृतिः श्रुतिस्मृत्यनुमोदिता विदुषां मोक्षसाधनायालमिति न मोक्षाय कर्मा
नुष्ठानमपेक्षते । कर्मकालालाभात् प्रयोजनाभावाच्च । अन्यत्सर्वसुगममिति संक्षेपः ॥१३॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यत्रौको विशेषोनाविशेषादित्यत्र प्रदर्शितोऽयमपरोविशेषः
प्रदश्यते । यद्यपीदं विद्याप्रकरणं विद्यते, इति प्रकरणप्रमाणवलेन कुर्वन्निति क्रियया
विदुष एव सम्बन्ध इति प्रतिभातीव, तथापि यदिदं कर्मानुष्ठानं तद्विद्यास्तुतये एव ।
यतः प्रकृतमन्त्रे एव कर्मलेपाभावस्य प्रतिपादनात् । यावज्जीवनं कर्मकरणेनापि विदुषि
कर्मफललेप उपासनासामर्थ्यान्नभवतीत्येवं रूपेण विद्यायाः स्तुतिरेवभवतीत्याशयं प्रकट
यितुमाहस्तुतयेऽनुमतिर्वेति । भाष्यग्रन्थः सुगम इति तद्वारुणानायुनो प्रयत्यते ॥१४॥
विरोधी जो कर्मानुष्ठान है उसका प्रयोजन उपासक को नहीं है । तस्मात् विद्या कर्मका अंग
नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१३॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ इत्यादि वाक्य के अर्थ को सैद्धान्तिक अर्थ के साथ जोड़ते हैं । सूत्र
घटक वा शब्द अवधारणार्थक=निश्चयार्थक है । ‘ईशावास्यमिदम्’ इत्यादि विद्या का प्रकरण
है, इससे ब्रह्मविद्या के स्तुत्यर्थ ही विद्वानों को कर्म में अनुमति है । यथोक्त उपासक कर्म
का अनुष्ठान करता हुआ भी सद्विद्या के वरसे कर्मफल जो दुःखादिक है उससे कभी भी
सम्बद्ध नहीं होता है । यह सदुपासना के सामर्थ्य से विद्वान् कर्म करता है परन्तु तत्फल से
सम्बद्ध नहीं होता है ॥१४॥

❧ कामकारेण चैके ३।४।१५ ❧

इतोपि न विद्याकर्माङ्गम् । यत एके शाखिनो ब्रह्मविद्यावतः कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागमामनन्ति । एतत्पूर्वप्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः [बृ.४।४।२२] इति विदुषः स्वेच्छया कर्मसाधनप्रजादित्यागो विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावे लिङ्गम् ॥१५॥

❧ उपमर्दञ्च ३।४।१६ ❧

इतश्च न कर्माङ्गत्वं विद्यायाः । 'मिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु.२॥

पूर्वकालिकाः साक्षात्कृतपरमेश्वराविद्वांसः अनियमतमनित्यफलं कर्मेति ज्ञात्वा स्वेच्छया कर्मत्यागं कुर्वन्त इति किं प्रजया करिष्यामः इत्यादि श्रुत्या ज्ञायते । यदा च कर्मत्यागस्तदा कथं कर्मणोऽङ्गं विद्या स्यात् । अर्थात् नैव विद्याकर्माङ्गमिति द्योतयितुमुपक्रमे इतोपि विद्या न कर्माङ्गमित्यादि अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१५॥

अपि च विद्या न कर्माङ्गं यतो ब्रह्मविद्या कर्मणोः परस्परं विरोधात् । नहि त्रैयधिकरणयोरङ्गागीभावः समानाधिकरणयोरेव तथा भावदर्शनात् यथा शुक्लः केवल इति । परस्परविरोधेतु सहभावाभावेनाङ्गाङ्गीभावस्य सुतरामेवासंभवात् । नहि भवति

वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है । क्योंकि एक शाखावाले ब्रह्मविद्यावान् को स्वेच्छया गार्हस्थ्य त्याग का कथन करते हैं । 'एतत् पूर्वकालिक विद्वान् प्रजा की कामना नहीं करते हैं, कहते हैं कि मैं प्रजा से क्या करूँगा, जिससे यह लोक सिद्ध होता है नवा परलोक प्राप्त करता है' । इसप्रकार विद्वान् को स्वेच्छया कर्म साधन प्रजादि का परित्याग श्रुत है इससे विद्या के कर्माङ्गत्वाभाव में लिङ्ग प्रमाण प्रस्तुत होता है ॥१५॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है । क्योंकि 'परमकारण परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर उस उपासक के हृदय ग्रन्थि का

२।८] इति विद्यायाः सर्वकर्मोपमर्दञ्च श्रूयते । तथा च ब्रह्मविद्यायाः कर्मविनाशकत्वेन तद्विरोधित्वान्न विद्यायास्तदंगत्वमुपपद्यते । दृष्टे इति दर्शनसमानाकारतां नीते सतीत्यर्थः ॥१६॥

॥ ऊर्ध्वरेतसु च शब्दे हि ३।४।१७ ॥

इतोऽपि न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । ऊर्ध्वरेतसु चाश्रमेषु नकुलसर्पयोः प्रकाशतमसोर्वा तथा भावः । तत्कस्य हेतोः । सामानाधिकरण्याभावात् प्रकृते च भिद्यते हृदयग्रन्थिः तत्केन कं पश्ये (बृ. २।४।१४) दित्यादिश्रुत्याविद्याकर्मविनाशस्य प्रतिपादनेन तयोः सामानाधिकरण्याभावेन तत्सकृताङ्गाभिभावस्य सुतरामेवानुपपत्तिरित्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते इतश्च न कर्माङ्गत्वमित्यादि ॥१६॥

ननु आश्रमविशेषेषूर्ध्वः रेतस्यकर्माभावेन तत्र च ब्रह्मविद्यायाः सद्भावश्रवणेन भेदनं हो जाता है. हृदयस्थित सकल संशय का विनाश हो जाता है, और जो प्रारब्धेतर कर्म शुभाशुभ है उन सब कर्मों का विनाश हो जाता है' एवं 'जिस समय में इस उपासक के दृष्टि में सब आत्म स्वरूप हो जाता है । परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब कौन भिन्नात्मकता से किसको किससे भिन्नात्मक रूपत्वेन देखता है' इसप्रकार से विद्या के द्वारा सर्व कर्म का उपमर्द अर्थात् विनाश हो जाता है ऐसा श्रुतियों से सिद्ध होता है । इसीतरह ब्रह्मविद्या को कर्म का विनाशकत्व होने से कर्म विरोधित्व होने से विद्या में कर्माङ्गत्व नहीं है । अर्थात् जब कर्म तथा ब्रह्मविद्या में नाश नाशक होने से विरोध है तब विद्या कर्मका अंग कैसे होगा ! जिस पदार्थ में परस्पर सामानाधिकरण्य होता है तब अङ्गाभिभाव की संभावना होती है. और जिसमें विरोध होता है उन पदार्थों में शेषशेषीभाव नहीं होता है । जिस तरह प्रकाश तथा अन्धकार में जब परस्पर विरोध है अर्थात् सहावस्थान नहीं होता है तब उन दोनों में शेषशेषीभाव भी नहीं होता है । यथावा नकुल सर्प में परस्पर विरोध होने से शेषशेषीभाव नहीं होता है । इसीतरह प्रकृत में जब ब्रह्मविद्या तथा कर्मकलाप में परस्पर नाश नाशकभाव होने से विरोध है तब इन दोनों में अर्थात् विद्या तथा कर्म में अङ्गाभिभाव होने की संभावना भी नहीं है. इसलिये ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं है । 'दृष्टे' का अर्थ है दर्शन समानाकारक ज्ञान विषय होने से हृदयग्रन्थि का विनाश होता है इत्यादि । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥१६॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का कङ्ग नहीं है । क्योंकि

विद्यायाः सत्त्वात्तेषामग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानाधिकारान्न विद्याकर्मा-
ङ्गम् । न ह्यङ्गिनोभावेऽङ्गसत्त्वं दृष्टव्यम् । नन्वूर्ध्वरेतसः केचिदाश्रमा
एव न सन्ति, यतः 'जरामर्यं ह वै एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्ण-
मासौ जरया वाह्यतस्मात्मुच्यते मृत्युना वा' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं
जुहोति' [आप. श्रौ.३।१४।८] इत्यादिश्रुतिभ्यो यावज्जीवमग्नि-
होत्रादिकर्मणोनुष्ठानस्यावगमादित्यत आहशब्दे हीति । वैदिकशब्दे
हि ऊर्ध्वरेतस आश्रमा उपलभ्यन्ते 'त्रयोधर्मस्कन्धाः' (छा.५।१०।१)
'तपः श्रद्धे येऽह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु.९।२।११) 'एतमेव प्रव्राजिनो
लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ.४।४।२२) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा.४)

विद्यायाः कर्माङ्गत्वं न भवति. एकसत्त्वेऽपि तदपरस्याभावात्तस्मान्नकर्माङ्गं विद्येति ।
नचाश्रमविशेष एव नास्ति तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादिति वाच्यम्. त्रयोधर्मस्कन्धाः
एतमेव प्रव्राजिनोलोकमिच्छन्त इत्यादिवेदप्रामाण्यादेवतादृशाश्रमसद्भावस्यावगमात् ।
ऊर्ध्वरेतस आश्रम में विद्या है और उसमें अग्निहोत्रादिक कर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं
है. इसलिये विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है । अङ्गी नहीं है और अङ्ग का सद्भाव रहे ऐसा
कहीं नहीं देखा गया है. अङ्गी रहे तब ही अङ्ग का सद्भाव होता है. क्योंकि शेषशेषी में
व्याप्य व्यापक भाव है. तो व्यापक बन्धि के अभाव में व्याप्याभाव होता है यह सर्वानुभव
सिद्ध है । और व्याप्य व्यापक भाव सामानाधिकरण में ही होता है । प्रकृत में जब ऊर्ध्वरे-
तसाश्रम में कर्म नहीं है और विद्या है, जब दोनों में सामानाधिकरण्य नहीं है. तब तदभाव
से इन दोनों में अङ्गागीभाव होना असंभवित है. व्यभिचार होने से इत्यादि । प्रश्न=ऊर्ध्व-
रेतस नामका कोई आश्रम ही नहीं है ! क्योंकि 'जरामर्यं ह वै' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'
इत्यादि श्रुतियों से यावत् जीवन अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये यह सिद्ध होता
है । इस प्रश्न का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'शब्देहीति' श्रुतिस्मृति में ऊर्ध्वरेतस
आश्रम उपलब्ध होता है. तथाहि 'तीन धर्मस्कन्ध है' 'जो अरण्य में तप श्रद्धा का अनुष्ठान
करते हैं' 'इस आत्मलोक की प्राप्तिच्छा से विरक्त लोक प्रव्रज्या संन्यास का ग्रहण करते हैं'
'ब्रह्मचर्य से, गृहस्थ से, वानप्रस्थ से, ही प्रव्राजी लोग प्रव्रज्या का ग्रहण करते हैं' इत्यादि
स्थल में अन्तिम आश्रम का विधान देखने में आता है. अतः यह आश्रम अप्रामाणिक नहीं

इत्यादौ । यावज्जीवश्रुतिर्हिविरक्तिरहितानामेवाग्निहोत्रादिककर्मानु-
ष्ठेयतया विधत्ते । अतएव 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'
(जा०४) इत्यस्या अपि सामञ्जस्यम् । 'जायमानो ह वै ब्राह्मण-
स्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवानि' त्यादिब्राह्मणस्यापि जायमानो गृहस्थः सम्प-
द्यमान इत्यादिरर्थोऽवगन्तव्य इत्यन्यत्र विस्तरः ॥१७॥

५ परामर्शं जैमिनिश्चोदना-

चापवदति हि ३।४।१८ ५

'त्रयोधर्मस्कन्धा' इत्यनेनोर्ध्वरेतसामाश्रमाणामविधानाद्
ब्रह्मसंस्थत्वस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमनुवादं जैमिनिराचार्यो मन्यते ।
ततश्च विद्याकर्मणोर्त्रैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्याभावात् न तयोः शेषशेषिभावो-
ऽपितु स्वतन्त्रैव विद्येति न तयोः शेषशेषिभावोभवतीत्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते इतोपि
न विद्यायाः कर्माङ्गमित्यादि उर्ध्वरेतः इत्यादि सुगमोभाष्यग्रन्थोऽतो नो न्याख्यात ॥१७॥

ननु त्रयोधर्मस्कन्धा इत्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरस्य विधानं न करोति यत्
स्तत्र लिङ्गलङादि प्रत्यपस्याभावात् । प्रत्युत गृहस्थाश्रमत्यागे निन्दाश्रवणेनानुवादकत्व
है । नहीं कहो कि यावज्जीवन कर्मानुष्ठान बोधक श्रुति का बाध होता है ? ऐसा नहीं
कहना क्योंकि यावज्जीवन कर्मानुष्ठान प्रतिपादक वचन नैराग्य रहित जड कर्म के लिये है
अतएव 'यदहरेव विरजेत्' इत्यादि श्रुति का भी सामञ्जस्य होता है । 'जायमानो ब्राह्मण' इस
श्रुति का मतलब है कि 'गृहस्थः सम्पद्यमानः' अर्थात् जातमात्र द्विजातिक तीन ऋण से
ऋणवान् होता है, इसका अर्थ है कि गृहस्थ होने पर भी तीन ऋण से ऋणवान् होता है
तब उसको कर्म करना आवश्यक होता है, जातमात्र में अर्थित्व शक्तत्व नहीं होता है ।
शक्तत्व तथा अर्थित्व ही कर्म प्रवृत्ति में प्रयोजक होता है । अतः नैराग्य रहित के लिये
यावज्जीव श्रुति है । इसका विशेष विवेचन अन्यत्र देखिये । यहाँ तो केवल अक्षरार्थ का ही
विवरण किया गया है ॥१७॥

'तीन धर्म स्कन्ध है' उसमें यज्ञ, अध्ययन और दान—ये तीन प्रथम हैं, तब द्वितीय
स्कन्ध है और ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी—यह तृतीय स्कन्ध है' इस वाक्य से उर्ध्वरेतस

यतोऽन्याश्रुतिरपवदतिचाश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते' (यजु. १।५।२) 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सी' (तै.१।११।१) इत्यादिकाश्रुतिराश्रमान्तरं नानुष्ठेयमित्यवगमयतीति जैमिनिः ॥१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ३।४।१९

आश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं गृहस्थाश्रमवदेवेति भगवान् बादरायणो मन्यते । कथमवगम्यते । साम्यश्रुतेः । अवश्यानुष्ठेयगृहस्थाश्रमान्तराणामपि श्रूयते । तथाहि—त्रयोधर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनदानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा. २।२३।१) इति वाक्यस्य ब्रह्मसंस्थस्तुतितात्पर्यकमेवैतासां श्रुतीनामितिनाश्रमान्तरस्य सद्भावस्ततश्च सर्वादा सर्वात्र कर्मानुष्ठानस्य सद्भावेन कर्माङ्गमेवोपासनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तदेतत्सर्वं द्योतयितुमुपक्रमते परामर्शं जैमिनिरित्यादि परामर्शोऽनुवादः । तथाचोक्तश्रुतिरनुवादिका नो विधायिकेति भावः ॥१८॥

तदेतज्जैमिनिमपवदितुमाह अनुष्ठेयं बादरायणः इत्यादि । यथागृहस्थधर्मस्यानुष्ठेयत्वं विद्यते तथा आश्रहान्तराणामवश्यानुष्ठेयत्वमेव । यद्यपि गृहस्थेतरधर्माणामवके आश्रमान्तर का विधान नहीं होता है । क्योंकि इस वाक्य में विवायक प्रत्यय तव्यदादिक नहीं है, किन्तु ब्रह्म संस्थत्व का स्तुत्यर्थ अनुवाद मात्र है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । क्योंकि अन्य श्रुति आश्रमान्तर का अपवाद करती है । 'वह वीरहा है जो अग्नि का परित्याग करता है' आचार्य को प्रियघन देकरके प्रजातन्तु का व्यवच्छेद विनाश मत करो अर्थात् गृहस्थाश्रम का परित्याग मत करो' इत्यादि श्रुति गृहस्थाश्रमातिरिक्त आश्रमान्तर अनुष्ठेय नहीं है इस बात को बतलाती है इति जैमिनिः ॥१८॥

जिसतरह गृहस्थाश्रम धर्म अवश्य अनुष्ठेय है उसीतरह आश्रमान्तर भी अवश्यानुष्ठेय है, ऐसा भगवान् बादरायण आचार्य मानते हैं । किसतरह इस बातको समझते हैं ? साम्य-

तयाऽभिधानम् । तच्च गृहस्थाश्रमवदितरेषामपि समानम् । धर्मस्कन्धाः धर्मसाधकाश्रमरूपास्त्रयः पन्थानः । तत्र यज्ञाध्ययनदानैर्गृहस्थाश्रमोऽभिधीयते तपः पदाभिधेये च वैखानसपरिव्राज्ये एवोभयत्रापि तपसोऽनुष्ठेयतया प्राधान्यात् । तृतीयो ब्रह्मचर्याश्रमो ब्रह्मचारिपदेनोच्यते । एते च पुण्यलोकाभवन्ति । एषां चतुर्णामाश्रमाणां मध्ये यो ब्रह्मसंस्थः ब्रह्मणि सम्यवगस्थितिर्यस्य स एवामृतत्वमेतीत्यर्थः । ब्रह्मसंस्थत्वञ्च चातुराश्रम्येष्वधिकज्ञानिनः कस्यचिदपि परमपुरुषकृपापात्रस्य सम्भवत्येवेति समानम् । अयमर्थो गीताशास्त्रेऽपि विस्तरेणाभिहितः । 'येतु सर्वाणिकर्माणि मयि सन्त्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उयासते' 'तेषामहं समुद्धर्ता' ईश्वरः सर्वभूतानां' 'तमेव शरणं गच्छ' 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' [गी.] इत्यग्निहोत्रादिसर्वाश्रमधर्मपरित्यागपूर्वक इयकर्तव्यता प्रतिपादकवाक्ये विधायकप्रत्ययो नास्ति । तथापि अग्निहोत्रं जुहोतीत्यादौ वर्तमानापदेशेपि विधिकल्प्यते तद्वाक्ये एव । तथैवाश्रमान्तरप्रतिपादकवाक्येपि तथा त्वमुन्नेयमेवान्यथा तेषां त्रैषध्वप्रमङ्गात् । अत आश्रमान्तरमपि गृहस्थाश्रमवदवश्यत्वं का श्रवणं है इसलिये । अर्थात् गृहस्थाश्रम अवस्थानुष्ठेय है जिस तरह उसी तरह आश्रमान्तर में भी अवस्थानुष्ठेयत्व शास्त्र में श्रुत है । तथाहि 'तीन धर्म स्कन्ध है, उसमें यज्ञ अध्ययन और दान ये तीन प्रथम हैं । तप द्वितीय स्कन्ध है । आचार्य कुठवासी ब्रह्मचारी तृतीय स्कन्ध है, जो कि नियमतः यावज्जीवन आचार्य कुठ में ही निवास करते हैं, ये तीनों पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं. इन सब में जो ब्रह्म संस्थ हैं वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं' इस वाक्य का ब्रह्मसंस्थ का स्तावक रूपतया कथन किया गया है । यह बात गृहस्थाश्रमवत्, इतर धर्म में भी समान है । धर्मस्कन्ध शब्द का धर्म साधक आश्रम रूप तीन मार्ग है ऐसा अर्थ है ।

उसमें यज्ञ अध्ययन और दान, इससे गृहस्थाश्रम का प्रतिपादन किया गया है, तप पद से वानप्रस्थ और संन्यास का कथन होता है, क्योंकि इन दोनों आश्रमों में अनुष्ठेयतया तप का प्राधान्य है । और तृतीय स्कन्ध ब्रह्मचर्याश्रम है जो कि ब्रह्मचारी पद से प्रतिपादित होता है । ये सब पुण्यलोक भागी बनते हैं । इन चार आश्रमों के मध्य में जो

भगवदेकशरणस्य भगवदेकोपायस्य ब्रह्मसंस्थस्याश्रमान्तरेभ्यः पृथक्कृत्याभिहितत्वात् । तस्मात्तत्तदाश्रमधर्मेऽरुचिमतः परमविरक्तस्य परमपुरुषैकचित्तकस्य तदेकशरणस्य ज्ञानिभक्तस्य सर्वाश्रमश्रेष्ठतया गीताशास्त्रेऽसकृदुक्तत्वात्परमात्मानुरक्तिरसिकैः स एव विरक्ताश्रमोऽनुष्ठेयो मुमुक्षुभिः । वीरहत्यादिश्रुतेर्ज्ञानिभक्तव्यतिरिक्ताज्ञपुरुषविषयत्वान्न विरोध इति ॥१९॥

मेवानुष्ठेयम् समत्वात्सर्वेषामिति । यथा गृहस्थाश्रमस्य ब्रह्मसंस्थस्तवक्तव्यं कथनं तथैवान्येषामपि प्रतिपादनमिति सर्वत्रसमानमेवेति ।

त्रयोधर्मस्कन्धा इत्यारभ्य ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति इत्यन्तवाक्यम् ब्रह्मसंस्थमहापुरुषस्तावकमेव । तत्र स्तावकत्वं गृहस्थधर्माणां तथैवान्येषामपि तुल्यमेवेत्याश्रमान्तरधर्मस्याप्यवश्यानुष्ठेयत्वमेवेति सूत्रभाष्ययोरभिप्रायः । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१९॥

ब्रह्म संस्थ हैं अर्थात् ब्रह्ममें समीचीन रहने से अवस्थान है जिनका वे अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

ब्रह्मसंस्थत्व जो है वह चारों आश्रमों में अधिक ज्ञानी किसी-किसी परमपुरुष के कृपापात्र को ही होता है । इस प्रकार सब आश्रमों का विधान समान रूपसे है । इस बात को गीता शास्त्र में विस्तार रूप से किया गया है । 'जो उपासक महापुरुष सर्ग कर्म को मुझ परमेश्वर में सन्यस्त करके मर्देकशरण होकरके अनन्य योग से ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं उनको मैं इस संसार सागर से उद्धार करता हूँ' 'परमेश्वर सब प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं' । 'हे अर्जुन ! अनन्यशरण उस परमेश्वर का सर्ग प्रकार से सेवन करो' 'सर्ग अग्निहोत्रादि कर्मको परित्याग करके मेरे शरण में आओ' इसतरह अग्निहोत्रादि सर्वाश्रम का परित्यागपूर्वक भगवदेक शरण भगवान् ही एक उपाय जिनके ही एतादृश ब्रह्मसंस्थ उपासक को आश्रमान्तर से पार्थक्येन शास्त्र में कथन किया गया है । तस्मात् गृहस्थादि तत्तदाश्रम धर्मों में रुचिरहित परम विरक्त परमपुरुष मात्र में संवृत्तचित्तवाला तथा सर्वेश्वर मात्र में शरणागत ज्ञानी भक्त को सर्वाश्रमापेक्षया उत्कृष्टत्व का वारंवार कथन होने से जो परमात्मा में अनुराग युक्त हैं, उन्हीं मुमुक्षुओं से विरक्ताश्रम अनुष्ठेय है । 'वीरहा-देवानाम्' इत्यादि श्रुति ज्ञानी भक्त व्यतिरिक्त अज्ञानी पुरुष विषयक है, इसलिये कोई विरोध नहीं है ॥१९॥

॥ विधिर्वा धारणवत् ३।४।२० ॥

यच्चोक्तं 'त्रयोधर्मस्कन्धा' इत्यस्यानुवादकत्वमिति तन्निरा-
कृत्य 'विधित्वमेव' तस्येत्युपपादयति—'विधिर्वेति' वाशब्दोऽवधा-
रणार्थः । सर्वेषामाश्रमाणामस्मिन्वाक्ये विधिरेवनानुवादः । नन्व
नेकाश्रमविधाने वाक्यभेदः स्यादिति चेन्न विध्यविषयाणामाश्रमा-
णामपूर्वविधेरावश्यकत्वेन वाक्यभेदस्येष्टत्वात् । एकवाक्यताप्रतीता
वपि तत्त्यागेनापूर्वार्थविधौ दृष्टान्तमाह—धारणवदिति । यथा 'अध-
स्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्राधो
धारणेनैकवाक्यता ज्ञाताऽपि परित्यज्यते विधीयते च स्त्रुग्दण्डस्यो

त्रयोधर्मस्कन्धा इत्यादिवाक्यं न विधायकं यतस्तत्र विधिप्रत्ययस्याभावात्
किन्त्वनुवादकमेव अग्निहोमस्यभेषजमित्यादिवदिति । तन्न प्रमाणान्तराप्राप्तस्य प्राप-
कोविधिरपूर्वाविधिरिति लक्षणयुक्ततयाऽस्यापि प्रमाणान्तराप्राप्ताश्रमान्तरस्य बोधक
तया, विधायकप्रत्ययाभावेपि, अपूर्वार्थबोधकत्वेन विधित्वमेव । यथा अबः स्तात् समिधं

'त्रयोधर्मस्कन्धा' इत्यादिवाक्यं विधिप्रत्यय रहित होने से अनुवादक है विधायक नहीं
है । ऐसा जो मत है उसका निराकरण करके उपर्युक्त वाक्य को विधि वाक्यता है इस बात
का उपादान करने के लिये कहते हैं 'विधिर्वेत्यादि' सूत्रघटक वा शब्द अवधारणार्थक है ।
गृहस्थादि सभी आश्रमों का इस वाक्य में विधि ही है अनुवाद नहीं, क्योंकि ये आश्रम सब
प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं हैं । यद्यपि इस वाक्य से अनेक आश्रमों का विधान करें तब तो
वाक्यभेद होगा, क्योंकि 'सकृदुच्चारितः शब्द सकृदेवार्थं गमयति' ऐसा नियम है । तथापि
विधिका अविषयीभूत आश्रमों में विधिका आश्रय करना आवश्यक होने से वाक्यभेद दोष इष्ट
है अर्थात् प्रकृत में वाक्यभेद दोष क्षान्तव्य है ।

एक वाक्यता को अवगत होने पर भी एकवाक्यता का परित्याग करके अपूर्व विधि
को स्वीकार करने में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं 'धारणवदिति' धारण की तरह । अर्थात् जिस
तरह 'अधोभाग में समिधा को धारण करते हुए देवों के लिए ऊपर में समिधा का धारण
करता है' इस स्थल में अधोधारण के साथ एक वाक्यता के अवगत होने पर भी उसका
परित्याग करके स्त्रुग्दण्ड के ऊपर में अपूर्वार्थतया समिद्धारण का विधान किया जाता है ।
श्रुति में जो हि शब्द है वह अनुवाद्यता का द्योतक होने पर भी असंभव उक्तिक होने से

परिसमिद्धारणमपूर्वार्थतया । श्रुतौहि शब्दश्चानुवादत्वद्योतकोऽप्यस-
म्भवदर्थकत्वादुपेक्ष्यत इति स्पष्टमेतत् 'विधिस्तुधारणेऽपूर्वत्वात्' [जै-
सू. ३।४।१५] इति प्रकरणे । तथाऽत्राप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेत्य
वगम्यते । अन्ये तु ज्ञानिनो विरक्तस्य भगवद्भक्तस्य विशुद्धाश्रमाव-
स्थितत्वेन तल्लक्षणमस्मिन्वाक्ये ब्रह्मसंस्थत्वमेव विधीयते । गृहस्था-
द्याश्रमाननूद्यानित्यफलत्वेन तेषामनुष्ठान आदरातिशयाभावमभि-
धाय ब्रह्मसंस्थत्वस्यैवाविनाशिफलत्वेनात्र स्तूयमानत्वाद् । यत्स्तूयते
तद्विधीयत इति न्यायादिति सर्वं समञ्जसम् । तस्मादूर्ध्वरेतस्त्वा-
श्रमेषु ब्रह्मविद्याया विधानाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावात्तस्या एव
पुरुषार्थ इति सिद्धम् ॥२०॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

धारयन् इत्यादि स्थलेऽधोधारणसापेक्षोपरिधारणंप्रामाणान्तराप्राप्तमनेनैव विधीयते तथैव
प्रकृतवाक्यमेव विधायकं नानुवादकम् । यद्यप्यत्रवाक्यभेददोषोभवति तथापि तस्ये-
ष्टत्वात् । इत्यादिकं सर्वं संक्षिप्यबोधयितुमुपक्रमते यच्चोक्तं त्रयोधर्मस्कन्वा इत्यादि ॥२०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रवन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

उसकी उपेक्षा की जाती है । इस बात को स्पष्ट रूपसे 'विधिस्तुधारणेऽपूर्वत्वात्' इस मीमांसा
सूत्र के प्रकरण में कहा है । इसीतरह प्रकृत में आश्रम का अनुवादक श्रुति वाक्य विधायक
ही है, ऐसा जाना जाता है । सिद्धान्तवेत्ता लोग तो कहते हैं कि ज्ञानी विरक्त भगवद्भक्त को
विशुद्ध आश्रम में अवस्थित रहने से इस वाक्य में ब्रह्मसंस्थत्व का ही विधान होता है ।
गृहस्थाश्रमादिक का अनुवाद करके उनको अनित्य फलक होने से उन गृहस्थाश्रमादि धर्मके
अनुष्ठान में आदरातिशय के अभाव का अनुवाद करके अविनाशीफलकतया ब्रह्मसंस्थ
का ही यहाँ स्तवन किया जाता है । जिसका स्तवन होता है उसका विधान किया जाता है'
इस न्याय से सर्व समंजस होता है । तस्मात् ऊर्ध्वरेतस आश्रम में ब्रह्मविद्या का विधान है,
अतः विद्याक्रमार्ग नहीं है किन्तु पुरुषार्थ साधक विद्या है यह सिद्ध होता है ॥२०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

अथ स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥२॥

ॐ स्तुतिमात्रमुपादानादिति

चेन्नापूर्वत्वात् ३।४।२१ ॐ

उद्गीथादिविद्यासु श्रूयते 'स एष रसानां रसतमः परमः परा
र्ध्योऽष्टमोयदुद्गीथः' (छा.१।१।३) इति । तत्र किमिदं रसानां रस-
तमत्वादिकं कर्माङ्गोद्गीथस्तुतिमात्रमाहोस्विदुद्गीथोपासनायां
गुणस्यविधानमिति संशये किं युक्तम् ? रसतमत्वादिवाक्यं सर्वमपि
कर्माङ्गविधिस्तुतिमात्रम् । 'इयमेव जुहुरादित्यः कूर्मः स्वर्गलोक
आहवनीयः' इतिवत् कर्माङ्गभूतोद्गीथादिसम्बन्धित्वेनोपादाना-
दिति चेन्न । कुतः ? अपूर्वत्वात् । जुह्वादिविधिवदुद्गीथमुपासी
तेति प्रकरणान्तरगतस्योद्गीथादिविधेरत्रासन्निधानात् । विधिशेष-

ननु स एष रसानां रसतमः अयं वाक्लोकः तदिदमेवोक्तमियमेव पृथिवी इत्यादिकाः
श्रुतयः उद्गीथादेः स्तुतिमात्रप्रयोजनाः अथोपासना विधिपरावेति संशयः । तत्र
स्तुतिमात्रप्रयोजनाः यत् उद्गीथादिकर्माङ्गान्युपादायश्रवणादितिपूर्वपक्षः । अपूर्वार्थ

उद्गीथ विद्या में सुना जाता है कि 'जो यह पृथिव्यादिक आठ रसों में रसतम है
परमात्मा का प्रतीक होने से परमात्मा के समान उपास्य है—पराध्य- परमात्मा का अर्थस्थान
का योग्य है, अर्थात् परमात्मा के समान उपास्य है, तथा पृथिव्याद्यपेक्षया आठ है जो यह
उद्गीथ अर्थात् प्रणव है' । तो क्या यह जो रसों का रसतमत्वादिक है वह कर्माङ्ग उद्गीथ
का स्तुतिमात्र प्रयोजनक है, अथवा उद्गीथोपासना में गुणका विधान परक है ? ऐसा संशय
होता है । तो इसमें क्या युक्त है । रसतमत्वादिक जो वाक्य हैं वे सब कर्माङ्ग विधिका
स्तुतिमात्र परक है । 'यह जुह्वा आदित्य है कूर्म स्वर्गलोक आहवनीय है' इसके समान कर्माङ्ग
उद्गीथ का सम्बन्धित्वेन उपादान है. अतः स्तावक मात्र है ।

ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपूर्वार्थक होने से । 'जुह्वा के विधिवत् उद्गीथ
का उपासन करना' इत्यादि प्रकरणान्तर स्थित उद्गीथादि विधि का यही संनिधान नहीं है ।

त्वासम्भवेन तत्स्तुतिपरत्वानुपपत्तेः । उद्गीथाद्युपासनानां रसतम
त्वादिगुणानाञ्चापूर्वत्वात् प्रमाणान्तरप्राप्तत्वाद्यागादिविधेयत्व-
मेवेति ॥२१॥

卐 भावशब्दाच्च ३।४।२२ 卐

इदानीं विधेयत्वं स्फुटयति । 'उद्गीथमुपासीत' 'सामोपा-
सीत' इत्यादिविधिशब्दाच्चकारादपूर्वत्वाच्च विधेयत्वमेवेत्युपास-
नायां गुणविधानार्थकमेवेदं वाक्यम् ॥२२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥२॥

प्रतिपादकत्वादुपासनविधिपराः । अर्थात्स्तुतिमात्रप्रयोजनत्वं नासां युक्तमपूर्वत्वात्-
यदिविध्यर्थत्वमासां स्यात् तदैवापूर्वार्थोविहितोभवेत् स्तुत्यर्थत्वेतु, आनर्थक्यमेव स्यात्,
इत्याद्यभिप्रायेणसूत्रांख्याख्यातुमाह उद्गीथादिविद्यासु इत्यादि । सुगममन्यदिति ॥२१॥

अहमुक्तमस्मीति विद्यात् सामोपासीत इत्यादि विधायकशब्दात्, प्रमाणान्तरा
प्राप्तत्वाच्च विधायकत्वमेवोपासनानां रसतमत्वादिगुणानां नतु स्तावकत्वमित्यतो गुण-
विधानार्थत्वमेवोक्तवाक्यानामिति बोधयितुमाह इदानींविधेयत्वमेवेति अन्यत्सुगमम् ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

इति श्रीआनन्दभाष्यदीपे स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥२॥

जब विधिशेषत्व का असंभव होने से स्तुतिपरत्व अनुपपन्न है तब उद्गीथादिक का उपासन
तथा रसतमत्वादिक गुणों को अपूर्व प्रमाणान्तरप्राप्त होने से, प्रमाणान्तरप्राप्त यागादिक के
समान विधायकत्व ही है ॥२१॥

रसतमत्वादि गुण प्रतिपादक शास्त्र उपासनादि गुण विधायक है इस बात को स्फुटित
करते हैं 'भावशब्दादिति' 'उद्गीथ का उपासन करना' 'सामका उपासन करना' इत्यादि विधि
वाचक शब्द से तथा चकारात् प्रमाणान्तरप्राप्तत्व लक्षण विधेयत्व हो जाता है । इसलिये
उपासना में रसतमत्कादिगुण का विधायक ही पूर्वोक्त वाक्य है । ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥२॥

अथ पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

५ पारिप्लवार्था इति चेन्न

विशेषितत्वात् ३।४।२३ ५

वेदान्तेषु 'प्रतर्दनो ह नै दैवोदासि' (कौ.३।१) 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः' (बृ.४।५।१) इत्येवमाद्या आख्यायिकाः श्रूयन्ते । ताः किं पारिप्लवार्था आहोस्वित्सन्निहितविद्यास्तुत्यर्था इति संशये किं युक्तम्. पारिप्लवार्था इति । 'आख्यानानि शंसती त समेषामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगात् । इति प्राप्त उच्यते—इति चेन्नेति—नैवं भवितुमर्हति । कुतः ? विशेषितत्वात् । 'पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य' 'मनुर्वैवश्वतो राजा' इत्याद्यश्वमेधयज्ञवाक्यशेषे कासांचित्कथानां पारिप्लवशेषत्वेन विशेषितत्वात् । अत औपनिषदकथानां न पारिप्लवशेषत्वम् ॥२३॥

उपनिषत्प्रकरणे दैवोदामि इत्यादिका आख्यायिकाः श्रूयस्ते ताः कथनोपकथन मात्रमथवा विद्यास्तुत्यर्था इति संशये आख्यानानि शंसन्तीति वाक्यादिना संपूर्णकथानां पारिप्लवे विनियोग इति पूर्वापक्षे, अश्वमेधप्रकरणे मनुर्वैवश्वतो राजा इत्यादिना आख्या नविशेषानामेव संकीर्तनान्नौपनिषदाख्यानानां पारिप्लवार्थेति सिद्धान्तः ॥२३॥

वेदान्त में 'प्रतर्दन नामके दिवोदासी राजा थे' 'याज्ञवल्क्य महर्षि को दो पत्नियां थीं' इत्यादि आख्यायिका सुनने में आती है । ये कथायें पारिप्लवार्थक हैं [आख्यायिका मात्र है] अथवा संनिहित अर्थात् स्वप्रकरण समीपस्थित विद्या=उपासना का स्तुत्यर्थक है ? ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या युक्त है ? इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं, औपनिषद् कथा पारिप्लवार्थक है । 'आख्यान का कथन करता है' इसप्रकार सभी आख्यानों का पारिप्लव में विनियोग होता है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, अर्थात् औपनिषद् कथा को पारिप्लवार्थ कहना ठीक नहीं है । क्योंकि कथा विशेष का ही कथन किया है, 'पारिप्लवमाचक्षीत' यह उपक्रम करके 'मनुर्वैवश्वत राजा हुए' इत्यादि अश्वमेध याग के शेष में अमुक कथा को ही पारिप्लव शेषरूप से कथन किया है । अतः उपनिषद् की जो कथा है वह पारिप्लवार्थक नहीं है किन्तु विद्या का स्तुत्यर्थक है ॥२३॥

५ तथा चैकवाक्योपबन्धात् ३।४।२४ ५

तर्हि किमर्था औपनिषदकथा इत्यत आह—‘तथा चैकेत्यादि’
एवं रीत्या पारिप्लवार्थत्वाभावे सत्येकवाक्यतोपबन्धात् । औपनिष-
दाख्यायिकानां ‘आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः’ (बृ.
४।५।६) इत्यादिविधिनैकवाक्यत्वदर्शनाद् विद्यास्तुतिपरत्वेन विद्यासौ-
कर्यार्थत्वावगमाद्विधिसंनिधिपठिततत्तद्विद्याशेषत्वमेवेतिसिद्धम् ॥२४॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

यदि औपनिषत्कथा न पारिप्लवार्था तदावेदान्ते तत्कथनं किमर्थं तत्राह तथा
चैकेत्यादि । यदा च पारिप्लवार्थता तदा संनिहितोपासनप्रतिपादनोपयोगितैवतासां
वेदान्तेमैत्रेयीब्राह्मणे आत्मावारे द्रष्टव्यः इत्यादिकया विद्याया एकवाक्यत्वदर्शनेन विद्या
स्तुत्यर्थत्वमेव विद्यासौकर्यत्वावगमाय यथा स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत् इत्यादिकानां
कर्मश्रुतिनिष्ठाख्यानानां संनिहितकर्मविधिस्तावकत्वं तथैवोपासनविधिसंनिहितत्वेन विद्या
स्तावकत्वमेवाख्यानानां वेदान्तगतानां भवति नतु पारिप्लवार्थत्वमितिभावः ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

यदि पारिप्लवार्थक नहीं है तो औपनिषद् कथा की क्या आवश्यकता है ? इस
जिज्ञासा के पूर्त्यर्थ सूत्रकार कहते हैं ‘तथा चैकेत्यादि’ पूर्वोक्त प्रकार से पारिप्लवार्थत्वाभाव
का निश्चित होने से एक वाक्यता के बल से संनिहित विद्याशेषत्व औपनिषद् कथा में सिद्ध
होता है । अर्थात् औपनिषद् आख्यायिका को ‘आत्मावारे द्रष्टव्यः’ इत्यादि त्रिविधाक्य के
साथ एक वाक्यता देखने से विद्या का स्तुतिपरक होने से सगुणता रूपसे विद्या के अवगमार्थ
त्रिविध समीपस्थ पठित विद्या का अंगत्व ही सिद्ध होता है ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

अथाग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ३।४।२५

पुरुषार्थोतः शब्दादित्यधिकरणे विद्यायाः स्वातन्त्र्यं प्रदर्श्य तत्प्रसङ्गेन प्राप्तविचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह—अत एवेत्यादि । किं ब्रह्मविद्यायाः स्वफलब्रह्मप्राप्तौ शेषत्वेन यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति आहोस्विन्नेति संशये अस्तीति पूर्वः पक्षः । कुतः ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुतेरिति प्राप्तेऽभिधीयते 'अत एवेति । ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्राप्तिरूपपुरुषार्थहेतुत्वादेवाग्नीन्धनादिसाध्ययज्ञादिकर्मापेक्षानास्ति

येयं मोक्षजनिकाविद्या सा स्वकार्योत्पत्तौ यज्ञादिकर्मापेक्षते नवेतिसंशयः त्रिविदिषन्ति इत्यादिश्रुत्याऽपेक्षते सा यज्ञादि इति पूर्णपक्षः । यद्यपि विद्योत्पत्तौ कर्मापेक्षा-

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' इसप्रकरण में 'यदेव विषया करोति इस श्रुति के बल से कर्माङ्गतया विद्यामोक्ष का साधन है- इस प्रश्न का 'ब्रह्मविद्यामोक्षेति परम्' इत्यादि श्रुति के बल से स्वतन्त्र विद्या से पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होती है ऐसा बादरायण के मत से विद्या में मोक्ष के प्रति स्वतन्त्रता है, किन्तु कर्मापेक्षितत्व नहीं है, इस बात को बतलाया है । तत्प्रसङ्गात् प्राप्त विचार के सम्प्रति पुरुषार्थाधिकरण के फल को बतलाने के लिये कहते हैं 'अत एव च' इत्यादि सूत्रम् ।

क्या ब्रह्मविद्या से जो ब्रह्मविद्या का फल ब्रह्मप्राप्ति है तादृश फलप्राप्ति में अंगरूप से उद्योतिष्ठोमादि या अन्य यागादि कर्मों की अपेक्षा है ? अथवा नहीं है यह संशय होता है । तदनन्तर पूर्वपक्ष होता है कि ब्रह्मविद्या स्वकीय फलप्राप्ति में कर्म सापेक्ष है । क्योंकि 'तमेतम्' उस सर्वशक्तिमान् भक्तजन प्रत्यक्ष श्रीसीतानाथ को ब्राह्मणलोक वेदानुवचन=नित्य स्वाध्याय यज्ञ और दानादि कर्म के साहाय्य से जानने की इच्छा करते हैं । इस श्रुति से सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्म सापेक्ष है ।

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'अतएवचेत्यादि' जिसलिये ब्रह्मविद्या को स्वतन्त्र रूप से ब्रह्मप्राप्ति रूप परमपुरुषार्थ मोक्ष के प्रति कारणता होने से अग्नि समिधा पुरोडासादि के द्वारा सम्पन्न होनेवाला जो यागादिक क्रिया कलाप हैं उनकी आवश्यकता नहीं है । सूत्रवटक 'अग्नीन्धनादिक' में जो आदिपद है, वह आदिपद कर्म यागादिक में उपयोगी

आदिपदं कर्मसाधनभूतान्नघृतादिपरम् । विविदिषायामेव यज्ञादि
कर्मणां विनियोगश्रवणात् । निष्पन्नायां ब्रह्मविद्यायां प्रयोजना-
भावाद् । तत्तदाश्रमोचितकर्मणामेवापेक्षेति निखद्यम् ॥२५॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

अथ सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ३।४।२६

किं ब्रह्मविद्यायाः स्वोत्पत्तौ यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति नवेति
यामपि स्वजन्यफलोत्पत्ता नास्ति तदपेक्षेति, कर्मणां विविदिषायामेवोपयोगो न तु विद्या
साध्यमोक्षे तदुपयोगस्तत्रोक्तम् अत एकेत्यादि । अग्नीन्धनाद्यपेक्षानास्ति अनुपयो-
गादिति भावः ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

यथाघटः स्वोत्पत्तौ कुलालादिकमपेक्षते, तथा येयं ब्रह्मविद्यास्वकीयोत्पत्तौ, यज्ञादि
जो पुरोडासादिक, उसका सम्पादक ब्रीहि यवादिक अन्न तथा आग्यादिक है, उसका बोधक
है । ब्रह्मविद्या को कर्म की अपेक्षा नहीं है ऐसा प्रतिज्ञा मात्र में कहा है, अतः उसमें युक्ति
हेतु का कथन करने के लिये माध्यकार कहते हैं 'विविदिषायामेवेत्यादि' विविदिषा=वेदनज्ञान
तद्विषयिणीच्छा, तादृश वेदनेच्छा में यज्ञादि कर्मों का विनियोग है 'यज्ञेन' यज्ञ जो तृतीया
श्रुति है उससे वेदनेच्छा में यज्ञादिक का उपयोग है तदन्य में नहीं । जब विद्या की उत्पत्ति
हो गयी तब यज्ञादि कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । जिसतरह पाक क्रिया के
निष्पत्यनन्तर में अग्नीन्धनादि की अपेक्षा नहीं रहती है तद्वत् प्रकृत में भी समझमा । विद्यो-
त्पत्ति के पूर्व में कर्मापेक्षा है, किन्तु विद्या निष्पत्यनन्तर तदपेक्षा नहीं रहती है । परन्तु
'नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणोदुरितक्षयम् । ज्ञानं च त्रिमलीकुर्वन् अभ्यासेन तु पाचयेत्' इत्यादि
कथनानुसार विद्योत्पत्ति के अनन्तर में भी ज्ञान के स्वरूप साधक नित्यनैमित्तिक तत्तदाश्रमोचित
कर्म की आवश्यकता तो रहती ही है । अर्थात् काम्य कर्म की अपेक्षा न रहते हुए भी
आश्रमोचित कर्म तो निर्वाध रहता ही है ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशेऽग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति में यागादि कर्मों की अपेक्षा है अथवा नहीं है ? ऐसा संशय

संशये यथा ब्रह्मविद्यायाः स्वफले मोक्षे यज्ञादिकर्मापेक्षानास्ति तथा
 स्वोत्पत्तावपि न कर्मापेक्षेति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वापेक्षेति । विद्या-
 याः—स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षानास्ति । कुतः ? यज्ञादिश्रुतेः ।
 ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा-
 ऽनाशकेन’ इति वेदानुवचनेन ब्रह्मचारिणः यज्ञेन दानेन गृहस्था-
 स्तपसा वानप्रस्था अनाशकेन चतुर्थाश्रमिण इति सर्वेषां ब्रह्मचर्या-
 द्याश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वश्रवणात् । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिप्रति-
 बन्धकान्तःकरणमालिन्यनिवृत्त्यादिपरम्परया ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञादिज-
 कर्मापेक्षा भवति नवेति । तत्र यथा ब्रह्मविद्यास्वकीयमोक्षफलोत्पत्तौ कर्मणामपेक्षा
 न करोति तथैव सेयं ब्रह्मविद्यास्वकीयकृशोत्पत्तौ नापेक्षते कर्माणि तथैव स्वोत्पत्ताव-
 पिनापेक्षते, यथापटः स्वोत्पत्तौ नापेक्षते कुलालंतद्वदिति चेन्न, तमेतं वेदानुवचनेनेत्यादि
 श्रुत्या यज्ञादिसर्वकर्मणामपेक्षा सद्भावप्रदर्शनेन साधनत्वस्य सद्भावात् । तत्र वेदानुवचनेन
 प्रथमाश्रमिणः यज्ञदानाभ्यां गृहस्थाः तपसा वानप्रस्थाः अनाशकेन तपसा चतुर्थाश्र-
 मिण इति सर्वाश्रमकर्मणां विद्याया उत्पत्तौ कारणतायाः श्रवणात् । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ यानि
 दुरितकर्माणि पापाख्यानि प्रतिबन्धकतया व्यवस्थितानि तेषां विनाशनद्वारा यज्ञादि-
 कानि कर्माणि तानि साधकानि भवन्ति । यद्यपि विविदिषन्तीत्यत्र न विधिप्रत्ययो
 होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस तरह ब्रह्मविद्या को स्वकीय फल जो मोक्ष,
 उसमें यागादि कर्म की आवश्यकता नहीं होती है, उसी तरह ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति में भी
 यागादि कर्म की अपेक्षा नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं ‘सर्वापेक्षाचेति’ ब्रह्मविद्या की
 उत्पत्ति में सभी आश्रम तथा कर्मों की अपेक्षा होती है । क्यों ? यज्ञादि प्रतिपादक श्रुति में
 ‘जगदेक काण सर्वशक्तिमान् उस परमात्मा को ब्राह्मणलोक वेदानुवचन=नित्य स्वाध्याय से
 अग्निहोत्रादिक याग से, देश काल पात्र में दान से—शरीर का अविवातक तपके द्वारा जानने
 की इच्छा करते हैं’ उसमें ब्रह्मचारी नित्य स्वाध्याय से यज्ञ तथा दान से गृहस्थाश्रमी, वान
 प्रस्थ साधारण तप से और अनाशक कृच्छ्रचान्द्रायणादिक तप से चतुर्थाश्रम निवासी आत्मा
 को जानने की इच्छा करते हैं । इस तरह सभी ब्रह्मचर्यादि आश्रम कर्मों का ब्रह्मविद्या की
 उत्पत्ति में साधनत्व श्रुत होता है । ब्रह्मज्ञान के उत्पत्ति प्रतिबन्धक जो अन्तःकरण की मलि-
 नता, उसके निवृत्ति परंपरया ब्रह्मज्ञान को यागादि जन्य होने से यज्ञादिक में ब्रह्मविद्योत्पत्ति
 साधनत्व अवगत होता है । यद्यपि ‘विविदिषन्ति’ में वर्तमान प्रत्यय है विधायक तत्त्वज्ञान

न्यत्वेन यज्ञादीनां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वमवगम्यते । विविदिषन्तीत्यत्र वर्तमाननिर्देशेऽपि विधिः कल्प्यते । विविदिषासन्निधानात् यज्ञादीनां बहिरङ्गत्वम् । यथाविद्योत्पत्तौ कर्मापेक्षा तथा विद्याफलभूतमोक्षेऽपि स्यादित्यत आह-अश्ववदिति । यथाऽश्वो योग्यताबलादथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणादौ । तथा योग्यताबलात्कर्माणि ज्ञानोत्पत्तावुपयुज्यन्ते न मोक्षे योग्यताभावादिति ॥२६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

विद्यते किन्तु वर्तमानापदेशः श्रूयते, तथापि वर्तमाननिर्देशेनापि विधिरेव कल्पितो भवति, इति । विद्योत्पादे अन्तरङ्गाणि शमादीनि, बहिरङ्गाणि तु कर्माणि विविदिषासम्बन्धात् । नित्यादि कर्मानुष्ठानधर्मोत्पत्तिः स्ततः पापनिवृत्तिः पापनिवृत्तौ विशुद्धान्तकरणे विविदिषा जायते, ततो गुरुसमीपे गत्वा विद्यायै श्रवणादिकं कृत्वा परमेश्वरं साक्षात्कृत्य कृतकृत्यो भवतीत्येवं परंपरया कर्मणां विद्यायां समुपयोगः, इत्याशयेनाह परंपरयेत्यादि भाष्यम् अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

यरादिक नहीं है, तथापि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इसके सदृश विधि प्रत्यय की कल्पना की जाती है । विद्या की उत्पत्ति में शमादिक अन्तरङ्ग कारण है, और विविदिषा संनिधान से यज्ञादिक में बहिरङ्ग कारणत्व होता है ।

प्रश्न—जिस तरह विद्या की उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा होती है उसी तरह विद्या का फलभूत मोक्ष में भी कर्म में कारणत्व होना चाहिये ? दृष्टान्तमूलक यह प्रश्न होता है उसके उत्तर में कहते हैं 'अश्व वदिति' जिस तरह घोड़े को रथ में ही जोता जाता है किन्तु घोड़ा से हलवहन रूपकार्य नहीं होता है, क्योंकि अश्व में रथ चालन की योग्यता है किन्तु हलवहन की योग्यता नहीं है, उसी तरह यागादिक कर्मज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी होता है किन्तु मोक्ष में उपयोगी नहीं होता है योग्यता के अभाव से । अर्थात् योग्यता बल से ज्ञानोत्पत्ति में कारण कर्म होता है, योग्यता के अभाव से ज्ञान कार्य मोक्ष में कर्म उपयुक्त नहीं होता है । इसका विशेष विचार अन्यत्र देखिये ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

अथ शमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधे- स्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ३।४।२७

यज्ञादीनां ज्ञानोत्पत्तौ वहिरङ्गत्वमुक्त्वा शमादीनामन्तरङ्गत्वमुच्यते । किं विद्यानिष्पत्तये गृहस्थैः शमादयोऽनुष्ठेया न वेति संशये गृहस्थानां करणव्यापाररूपकर्माङ्गत्वेन तदनुष्ठानपरत्वात्कर्मासक्तमानसैर्गृहस्थैः कर्मानुष्ठानविपरीतशमाद्यनुष्ठानासम्भवात् । ऊर्ध्वरेतस्सु च शमादिविनियोगस्य चोपपत्तेर्गृहस्थैरनुष्ठेयाः शमादय इति प्राप्तेऽभिधीयते-शमदमाद्युपेतस्स्यादिति । यद्यपि गृहस्थः यज्ञादिकर्मसु विनियुक्तत्वेन तदासक्तस्तथापि मुमुक्षुर्ब्रह्मविद्यार्थी गृहस्थः शमा-

ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये वहिरङ्गहेतवो यज्ञादय इति विविच्य तत्रैव शमादीनामन्तरङ्गसाधनत्वसाधयितुं प्रयतते । तत्र गृहस्थेन शमाद्यनुष्ठानं विधेयं न वेति संशयः । तत्र तैर्नानुष्ठेयं वहिरङ्गसाधने एव सर्वदा आरक्ततया तद्विरोधिशमादि, अनुष्ठानासंभवादिति पूर्वापक्षः । यद्यपि गृहस्थः सर्वदा बाह्यकर्मानुष्ठाने सक्तस्तथापि विरक्तो निवृत्त

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति में यज्ञदानादिक को वहिरङ्ग साधनता का 'विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुति से सिद्ध करके तादृश विद्योत्पत्ति में शमदम उपरति समाधानादिक अन्तरङ्ग साधनत्व का विधानार्थ उपक्रम करते हैं । ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति में गृहस्थ से समादिक का अनुष्ठान आवश्यक है अथवा नहीं है ? ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि गृहस्थ को करण व्यापार रूप कर्मका अङ्ग होने से सर्वदा कर्मानुष्ठान में आसक्त रहेगा, तो कर्मासक्त मनस्क गृहस्थ से कर्मानुष्ठान के विपरीत शमादिक का अनुष्ठान असंभवित है । ऊर्ध्वरेतस में शमादि विनियोग उपपन्न होता है, परन्तु गृहस्थ में तो कथमपि शमादिक अनुष्ठेय नहीं हैं ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'शमाद्युपेतः स्यादिति' यद्यपि यज्ञदानादिक कर्म में विनियुक्त होने से गृहस्थ कर्मासक्त रहता है तथापि मोक्षेच्छावान् ऐहिकामुष्मिक

द्युपेतः स्यादेव । कुतः ? तदङ्गतया तद्विधेः । 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्ति तिक्षुस्समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' [बृ. ४। ४। २३] इति सामान्येन विद्याङ्गतया तेषां शमादीनां विधानात् विहितानां चैषामवश्यानुष्ठेयत्वात् । यथा यज्ञादीनां बहिरङ्गानां विद्योत्पत्तिहेतुत्वेनानुष्ठानं तथा 'तस्मादेवं विदि'ति विद्यासान्निध्याच्छमादीनामपि विद्योत्पत्त्यन्तरङ्गसाधनत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वादिति ॥२७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये शमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

काम्यकर्मव्यावृत्तो मोक्षाभिलाषीशमादियुक्तः स्यादेव । तस्मादेवंविदित्यादिश्रुत्याशमादीनां साधनत्वावगमेन साधनमन्तरेण साध्यसाधनासंभवात् । यथा बहिरङ्गसाधनमन्तरेण विद्यानिष्पन्ना न भवति तथाऽन्तरङ्गसाधनमन्तरेण तदसंभवमाकलय्य तदनुष्ठानसाध्यावश्यकत्वेनावश्यमेव विरक्तगृहस्थेनापि तदनुष्ठानमवश्यमेव विधेयमिति संक्षेपः ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे शमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

फलेच्छा रहित होने से विरक्त गृहस्थाश्रमवाला अधिकारी शमादि युक्त हो सकता है । क्योंकि विद्याङ्गतया शमादिक का विधान है । अर्थात् 'शान्तदान्त उपरतस्ति तिक्षु समाहित होकरके आत्मा में ही आत्मा स्वाधिष्ठाता के रूप में ब्रह्मको देखे' इसप्रकार सामान्य रूप से ब्रह्मविद्या के अंग रूप से शमादिक का श्रुति में विधान किया गया है । और जो शास्त्र विहित शमादिक हैं वे अवश्य अनुष्ठेय हैं । जिसतरह यज्ञादिक जो बहिरङ्ग साधन है उसका विद्या के उत्पत्ति कारणतया अवश्यानुष्ठेयत्व होता है, उसीतरह 'एवंविद्' इत्यादि श्रुति में विद्या सान्निध्य से शमादिक को भी विद्योत्पत्ति में अन्तरङ्ग साधन होने से गृहस्थ से भी अवश्यानुष्ठेयत्व होता है, क्योंकि साधन के अभाव से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे शमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥७॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ३।४।२८

बृहदारण्यके श्रूयते—प्राणविद्यायां 'न ह वास्यानन्नं जग्धं भवति' [बृ.६।१।१४] इति । अस्य प्राणोपासकस्य सर्वं पदार्थजातमनन्नमनदनीयं न भवति किन्त्वदनीयमेव भवतीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमियं प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुमतिः सर्वदा आहोस्वित्प्राणात्ययापत्तावेवेति किं युक्तम् ! अविशेषश्रवणात्सर्वदेति प्राप्तेऽभिधीयते—'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यय इति । प्राणात्यय एव परस्यामापदि विद्वांसमविद्वांसं प्रतिमुग्रावर्ज्यं सर्वमन्नमदनीयत्वेनानुमतं नानापदि । कुतः ? तद्दर्शनात् । श्रूतावापत्काले प्राणात्यये चाक्रा

इतरसर्वप्राणापेक्षयावर्गिष्ठमुख्यप्राणोपासकस्य कृतेश्चादिमर्यादं सर्वमेवान्नमदनीयमेव. तत्कृतेऽनन्नं किञ्चनापि न विद्यते इति श्रुतिषु श्रूयते । तत्र सर्वदेवतादृशोपासकस्य सर्वान्नानुज्ञानं कदाचिदापत्तौ सर्वान्नानुज्ञानमिति संशयः । तत्र कालदेशादिविशेषस्याश्रवणात् प्रथमपक्ष एव. अन्यथा तादृशानुज्ञानस्यैवव्यर्थत्वादिति पूर्वपक्षः ।

तादृशोपासकस्यापि प्राणात्ययापत्तिकाले एव सर्वान्नानुमतिर्न तु सर्वदा सर्वत्र । यतोदुर्भिक्षग्रस्तकुरुप्रदेशेऽन्नाद्यभावात्कष्टां दशमापन्न उवस्तिश्चाक्रायणः पत्नीसहि-
बृहदारण्यकोपनिषद् के प्राणविद्या प्रकरण में कहा है कि 'प्राणोपासक जिस किसी अन्न को खाता है वह अवन्न को नहीं खाता है, अर्थात् प्राणोपासक को श्वादिक सब अदनीय है' इस श्रुति के अर्थ को भाष्यकार स्वयमेव बतलाते हैं 'अस्येत्यारभ्य भवतीत्यर्थ इति पर्यन्त' इस प्राणोपासक को सभी पदार्थ समुदाय अनन्न अर्थात् अनदनीय नहीं होता है । किन्तु सब अदनीय ही होता है । इसमें संशय होता है कि क्या यह जो प्राणोपासक के लिये जो सर्वान्न का अनुज्ञान है वह सर्वदा के लिये है, अथवा प्राणात्ययापत्तिकाल में ही है । तो इसमें क्या युक्त है ! इसमें कोई विशेषता का श्रवण नहीं होने से प्रथम पक्ष ही युक्त है ? अर्थात् अमुक पक्ष को ही मानना. इसमें कोई खास करके नियामक विनिगमक नहीं होने से सार्वकालिक सर्वान्नानुमति प्राणोपासक के लिये है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है । एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'सर्वान्नानुमतिश्च स्वप्राणात्यये इति' प्राणोपासक

यणर्षैरभक्ष्यभक्षणत्वदर्शनात् । तथाहि मटचीहतेषु कुरुषु दुर्भिक्षे जाते क्षुतृद्भ्यां पीडितः सभार्यश्चाक्रायण उपस्तिर्ब्रह्मविदग्रेसरः कदाचिद्धस्तिपालकदेशमाश्रितोऽनशनेन प्राणसंशयमापन्नो हस्तिपालकेन प्रदत्तान् तदुच्छिष्टान् कुल्माषान् भक्षितवान् । पुनरनुपानायेभ्येनोक्ते 'उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति प्रतिषेधः कुतः । पुनश्चैते कुल्माषानोच्छिष्टा इतीभ्येन पृष्टेनेत्याह चाक्रायणस्तत्र हेतुमभिदधौ । कुल्माषभक्षणं यद्यहं न कुर्यां तर्हि मे जीवनमेव न स्यादुदपानन्तु तडा तोऽन्नलाभाय यतस्ततः परिभ्रमन्. उच्छिष्टमाषान् हस्तिपालकाद् याचयामास । ततो हस्तिपालकादत्तान् भाषान् भुक्तवान् । ततो हस्तिपालकेन कथितं यन्ममपात्रस्थं जलमपि स्वीकुरुः ? ततो ब्राह्मणः उच्छिष्टजलपानेन प्रायश्चित्तं मे स्यादित्युपश्रुत्य किं कुल्माषानैते उच्छिष्टा जलमुच्छिष्टमिति सापेक्षमुक्तवन्तं तं शास्त्रहृदय उपस्तिस्त्वदीयान्ना नामग्रहणे मे प्राणातिपातः स्यान्नैवं जलस्यापाने प्राणानिपातो जलस्यान्यत्रापि संभवात् ।

को सर्वान्न अदन की अनुमति है परन्तु प्राणात्ययकाल में ही नतु अनापत् कालिक सर्वान्न भक्षण विषयक अनुमति है । इसवात को भाष्यकार स्मृतीकरण करते हैं 'प्राणात्यये एवेत्यादि' 'सभी वाक्य अवधारणार्थक होते हैं' इस नियम से प्राणात्यय में अर्थात् प्राणात्ययकाल में ही नतु अनापदकाल में यह अर्थ अवधारण का होता है । प्राणात्ययकाल में परम आपत्ति के समय में ही विद्वान् अथवा अविद्वान् प्राणोपासक यद्वा अनुपासक सब के लिये मद्यवर्जित सब ही अन्न अदनीयत्वेन अनुमत है, किन्तु अनापत्ति प्राणसंकट व्यतिरिक्त काल में सर्वान्न भक्षण की अनुमति नहीं है । परमापत्ति काल में ही क्यों अनुमति है ? अनापत् काल में क्यों नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'तदर्शनात्' ऐसा श्रुति देखने में आता है । अर्थात् श्रुति में प्राणात्ययरूप आपत्काल में चाक्रायण ऋषि को अभक्ष्य भक्षण देखने में आता है । तथाहि मटचीहत् अर्थात् दुर्भिक्षप्रस्त कुरु प्रदेश में क्षुधापिपासा से पीडित भार्या सहित चाक्रायण उपस्तिर्ब्रह्मवेत्ता ऋषि कदाचित् हस्तिपाल के समीप में मार्गक्रम से पहुँचे और अन्न के अभाव से प्राण संकट में प्राप्त होने से हस्तिपाल से उच्छिष्ट उडद प्राप्त किया, तथा तादृश उडद को प्राप्त करके उस अमेघ का भक्षण किया । तब उस हस्तिपालक ने कहा कि महाराज ! जल लीजिये तब ब्राह्मण ने कहा 'हे हस्तिपालक ! इस जलको पीने से उच्छिष्ट पान जनित प्रायश्चित्त होगा।' यह कहके निराकरण किया । तब पुनः हस्तिपालक

गादिषु स्वतो भविष्यतीति स्पष्टमेतच्छान्दोग्योपनिषदः प्रथमस्य दशमखण्डे । तस्मात्प्राणत्ययापत्तौ विदुषां सर्वान्नानुमतिदर्शनात् प्रकृते प्राणोपासकस्य सर्वदासर्वान्नानुज्ञानं तत्स्तुत्यर्थतयार्थ-वाद्मात्रम् ॥२८॥

❧ अबाधाच्च ३।४।२९ ❧

इतश्च नानापदि सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदः । 'आहार शुद्धी तस्मात्प्राणातिपाते सर्वान्नानुमतिर्नतु सर्वदा सर्वत्र इति प्रकृते सर्वान्नानुज्ञानं प्राण-विद्यास्तावकमात्रं नतु विधायकाचनमिति । तस्मान्न सर्वत्रानुमतिः किन्तु प्राणा-त्ययापत्तिकाले एवेति ॥२८॥

यदि सर्वदा सर्वान्नभक्षणं विदुषां स्यात्, तदा आहारशुद्धिविधायकशास्त्रस्य निरालंबनत्वमेव स्यात् । तन्नेष्टम् । तस्मात् प्राणात्यये एव सर्वान्नभक्षणस्यानुमतिः । ने कहा, तो क्या यह उडद जूठा नहीं है तब चाक्रायण ने कहा अरेभाई ! यदि मैं इस उच्छिष्ट उड़दों को न खाऊँ तब मेरा जीवन ही संशय प्रस्त हो जायगा । इसलिये उडद को खाया, पानी तो यथेच्छया प्राप्त अन्य जलाशय में है, तब सूठा पानी यदि मैं पीता हूँ तब तो प्रायश्चित्तीय होऊंगा, इसलिये नहीं पी रहा हूँ' इसप्रकार छान्दोग्योपनिषत् के प्रथम अध्याय दशमखण्ड में बताया है । इसलिये प्राणात्ययापत्ति में ही प्राणोपासक विद्वान् को सर्वान्नानुमति देखने में आया है । अतः सर्वदा सर्वान्न का जो अनुज्ञान है वह अर्थवाद मात्र है अर्थात् विद्या स्तुति परक है । कीट पतङ्गादि का भक्षण इस शरीर से क्रमिक अथवा युगपत् अशक्य है, अतः प्रकृत प्रसंग अर्थवाद मात्र है विद्वान् के लिये हो या अवि-द्वान् के लिये हो ॥२८॥

इस शास्त्र के अबाध हेतु से भी सिद्ध होता है कि आपत्तिकाल व्यतिरिक्त काल में सर्वान्नानुमति ब्रह्मविद् को भी नहीं । क्योंकि 'आहार के विशुद्धि से अन्तःकरण में विशु-द्धिता होती है और अन्तःकरण के पवित्र होने से ध्रुवास्पृतिः साक्षात्कारी ज्ञान सदृश ज्ञान होता है' इत्यादि आहार शुद्धि विधायक शास्त्र का अबाध होने से सर्वदा सर्वान्नानुमति नहीं

सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः' [छा.७।२६।२] इत्याहः शुद्धिः
विधेस्वाधाच्च न सर्वदा सर्वान्नानुमतिः किन्तु प्राणात्यय एव । २९।

५५ अपि च स्मर्यते ३।४।३० ५५

अपि च प्राणसंशय एव सर्वान्नीनत्वं स्मर्यते तत्त्वविदाम् ।
'प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिबाम्भसा' इति ॥३०॥

तदश्च तादृशशास्त्रस्य बाधो न भवति । अतोऽवाधादपि प्राणात्यये एव तदनुमति-
र्भूतु सर्वदेति संक्षेपः ॥२९॥

हे किन्तु प्राणात्ययादि आपत्काल में ही तदनुज्ञा की सिद्धि होती है । अर्थात् जो अन्न
खाया जाता है उस अन्न का परिणाम रूप अन्तःकरण होता है, मन अन्नमय है, जो जिस
प्रकार का अन्न को खायेंगे उसीतरह से शुद्ध वा अशुद्ध अन्तःकरण होता है 'दीपोभक्षयने
ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते । यदन्नं भक्षयते नित्यं तादृशी जायते प्रजा' इस नीति के अनुसार
शुद्ध भोजन से शुद्ध मन होगा, और अपवित्र भोजन से तो अपवित्र ही अन्तःकरण होगा,
तो विद्वान् यदि अशुद्ध भोजन करेगा तब तो उसका अन्तःकरण पवित्र नहीं होगा, तब अशु-
द्धान्तःकरण में किस तरह विद्या का आविर्भाव होगा, किस तरह वह विद्या स्थिर रहेगी,
तब साक्षात्कार, एवं मोक्ष किस तरह होगा । सबका मूल भक्ष्याभक्ष्य विवेक सर्वथा आव-
श्यक है । इसलिये प्राणात्ययादि आपत्काल व्यतिरिक्त काल में सर्वान्न भक्षण की अनुज्ञा नहीं
है, ऐसा सिद्ध होता है, इत्यादि विशेष विचार अन्यत्र देखें ॥२९॥

प्राणसंकट प्राप्ति काल में ही उपासक को सर्वान्न भक्षण का विधान स्मृति में कहा
गया है । 'प्राण संशय को प्राप्त किया जो उपासक यतस्ततः प्राप्त विहित प्रतिसिद्ध अन्न
का भक्षण करता है, तथापि तादृश अभक्ष्य भक्षण जनित पाप से वह संकटापन्न विद्वान्
पाप से छिन्न नहीं होता है । जिसतरह जल में रहता हुआ भी पद्मपत्र जल से छिन्न नहीं
होता है । अर्थात् सर्वदा जल में रहता हुआ भी कमल जल छान्ति नहीं होता है, उसीतरह
प्रकृत में भी समझना ॥३०॥

ॐ शब्दश्चातोऽकामकारे ३।४।३१ ॐ

यतः सर्वान्नीतत्वमार्पाद्रिष्यकमेव विदुषामतः कामकारे स्वेच्छा-
चारे प्रतिषेधकः शब्दोऽस्ति 'तस्माद्ब्राह्मणः सुगं न पिवेदि'ति
कठसंहितायाम् । तस्मात्प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमतिरिति
सिद्धम् ॥३१॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥३॥

अथ विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

ॐ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ३।४।३२ ॐ

सर्वापेक्षेत्यादिसूत्रे यज्ञादीनां विद्याङ्गत्वमुक्तम् । इदानीं तानि
विदुषामपि स्वेच्छाचारेणभक्ष्यभक्षणकरणे ब्राह्मणोपदिरोपीत्वाब्राह्मण्यादेव हीयते
तस्माद्ब्राह्मण सुगं न पिवेत् इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादौ प्रतिषेधः कृतः । स प्रतिषेधोपि
सार्थको भवति । तस्माद्ब्राह्मणोविद्वानपि प्राणशङ्कटन्यतिरिक्तकालेऽभक्ष्यभक्षणं कदापि
न कुर्यादिति संक्षेपः । इह विशेषविरणं ग्रन्थान्तरादवसेयमिति ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥४॥

यज्ञादिकानि यानि कर्माणि तानि सर्वाणि विद्याया अङ्गतामुपगच्छन्तीति सर्वा
पेक्षेति सूत्रे निर्णीतानि । सम्प्रति विद्याकामना विरहितस्य मोक्षेच्छारहितस्य केवला-
जिसलिये विद्वान् को आपत काल में ही सर्वान्न भक्षण की अनुज्ञा है, अतएव स्वे-
च्छया अभक्ष्य भक्षण करने का प्रतिषेधक शब्द है 'इसलिये ब्राह्मण सुरापान न करे' इस
प्रकार काठक संहिता में कहा गया है । तस्मात् प्राणात्ययापत्ति में ही सर्वान्न भक्षण की
अनुमति है सर्वदा नहीं ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥५॥

'सर्वापेक्षा' इत्यादि सूत्र में यज्ञादिक कर्मको विद्या का अंगरूप से कथन किया गया
है । सम्प्रति वे जो यज्ञादिक कर्म, विरक्ताश्रमेतर केवलाश्रम का अंग है अथवा अंग नहीं है,

यज्ञादीनि कर्माणि किममुमुक्ष्वाश्रमस्याङ्गभूतान्युत नेति संशये केवलाश्रमस्याप्यङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः स्यादिति न केवलाश्रमधर्मत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते—‘विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापीति । केवलाश्रमिणाप्यनुष्ठेयानीति । कुतः ? ‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति’ इति जीवननिमित्तातया विहितत्वात् । एकेनैव कर्त्रैकेनैव विनियोगेनोभयाङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोध उपपद्यते । इह तु यावज्जीवमित्यमुमुक्ष्वधिकारत्वात् ‘ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने’ति मुमुक्ष्वधिकारत्वाद्विनियोगपृथक्त्वेन न विरोधः ॥३२॥

॥ सहकारित्वेन च ३।४।३३ ॥

नन्वेवं यज्ञादिकर्मणां मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वं न स्यादित्यत आह—
श्रमनिष्ठस्य तानि यज्ञादिकानि कर्माण्यनुष्ठेयानि नवेति संशये यज्ञादिकानि फलान्तरमिच्छतोमोक्षेच्छा विरहितस्य नित्यानि नानुष्ठेयानि नित्यानित्यसंयोग्य विरोधादिति प्रश्ने अग्निहोत्रं जुहोतीति वाग्मातानि कर्तव्यानीत्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते सर्वोपेक्षेयादि सूत्रे इत्यादि सुगममन्यदिति ॥३२॥

एतादृश संशय के बाद, केवल आश्रम का यज्ञादिक को अङ्ग मानेने तो नित्यानित्य संयोग का विरोध होगा। इसलिये केवल आश्रम का धर्म नहीं है ? ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ‘विहितत्वादित्यादि’ केवल आश्रमी को भी यज्ञादि कर्म अवश्य अनुष्ठेय है । क्योंकि ‘यावत् जीवन अग्निहोत्र कर्म करना’ इसप्रकार जीवन निमित्त रूपसे आश्रम कर्म का विधान किया गया है । एक ही कर्त्ता से एक ही विनियोग से, यदि उभय का अङ्ग होता हो तब ही नित्यानित्य संयोग विरोध होता है, प्रकृत में जो यावत् जीवन का कथन है वह अमुमुक्षु अधिकारक है । और ‘यज्ञादि के द्वारा ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं’ यह जो वचन है वह मुमुक्षु अधिकारक है, इसलिये विनियोग का पार्थक्य होने से कोई विरोध नहीं होता है । इति संक्षेपः ॥३२॥

यदि यज्ञादिक कर्म अमुमुक्षु अधिकारिक है तब तो यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान मुमुक्षु नहीं करेगा ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘सहकारित्वेन चेति’ ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति’ इत्यादिश्रुति से यज्ञादिक विद्या का अङ्गरूप से विधान किया

सहकारित्वेति 'तमेत' मित्यादिश्रुत्या यज्ञादीनां विद्यार्थत्वेन विहितत्वात् सत्वशुद्धिद्वारा विद्यासहकारित्वेन मुमुक्षुणाऽपि तान्यनुष्ठेयानीत्यधिकारभेदप्रदर्शनेनोक्तविरोधः पण्डितः सूत्रकारेण । यथा 'खादिरो यूपोभवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य' इत्येकस्यैव खादिस्त्वस्य शास्त्रद्वयात् क्रत्वर्थत्वेन नित्यत्वं वीर्यार्थत्वेनानित्यत्वन्न विरुध्यते तथेहाऽपि ॥३३॥

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ३।४।३४

नापि कर्मान्तरत्वम् । यज्ञादिकर्मणां विद्यार्थत्वमाश्रमार्थत्वं वा भवेत् सर्वथापि त एव यज्ञादय इत्येव प्रत्ययः । न कर्मस्वरूपभेदः । कथमवगम्यते ? उभयलिङ्गात् । उभयत्रापि यज्ञादिशब्दैरेव है. तो अन्तःकरण के पवित्रता के द्वारा विद्या सहकारी होने से मुमुक्षु से भी यज्ञादिक कर्म अनुष्ठेय है' इसप्रकार अविकारी के भेद प्रदर्शन द्वारा सूत्रकार ने नित्यानित्य संयोग विरोध का परिहार किया है. जिसतरह 'खादिरो यूपोभवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य' [खादिर खैर का यूप होना है' वीर्य कामनावान् के लिए खादिर का यूप करना'] इसतरह एक ही खादिरत्व का शास्त्र द्वय से यागार्थतया नित्यत्व का तथा वीर्यर्थत्वेन अनित्यत्व का विरोध नहीं होता है । इसीतरह प्रकृत में भी अविकारभेद होने से कोई भी विरोध नहीं होता है ॥३३॥

यागादिक जो कर्म है वह विद्यार्थक हो अथवा आश्रमार्थक हो. सर्वथा वह तो यज्ञ ही है. क्योंकि 'त इमे यागाः' एतादृश प्रत्यभिज्ञा होती है । जिसतरह छून पुनर्जात केशज्वालादिक में 'त एवेमे केशा' यह प्रतीति होती है किन्तु वस्तु स्वरूप में कोई भेद नहीं होता है उसी तरह प्रकृत में चाहे याग विद्यार्थक हो अथवा आश्रमार्थक हो परन्तु है तो वह आखिर याग ही है 'त इमे यागाः' यह प्रतीति होती है किन्तु कर्म स्वरूप में कोई भेद नहीं है. यथा कोई व्यक्ति युवा हो अथवा वृद्ध हो तथापि तो व्यक्ति वही है नतु व्यक्ति में भेद होता है, तद्वत् प्रकृत में भी समझना । इस बात को किस तरह समझते हैं ! उभयलिङ्ग से । अर्थात् दोनों जगह में यज्ञादि देश कर्मका कथन करके विनियोग देखने में आता है । और

श्रुतौ समुपस्थाप्य विनियोगदर्शनात् । कर्मभेदकानां प्रमाणानाञ्च दर्शनात् ॥३४॥

५ अनभिभवञ्च दर्शयति ३।४।३५ ५

विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकरूपाभिभवाभावं च दर्शयति श्रुतिः 'धर्मेण पापमपनुदति' इति । कर्मानुष्ठानेनान्तःकरणविशुद्धौ प्रकृष्टा विद्योप जायते । तस्मात् एवोभयत्र यज्ञादयस्ते च केवलाश्रमिणाप्यनुष्ठेया एवेति ॥३५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

कर्मका भेद संख्या अभ्यासादिक जो प्रमाण है वह प्रमाण तो यहां नहीं है इसलिये यज्ञादिक के स्वरूप में कोई भेद नहीं है ॥३४॥

विद्या के उत्पत्ति में प्रतिबन्धक जो कर्म विशेष तादृश कर्मका अभिभवाभाव को श्रुति बनवाती है 'धर्म से पाप का अभाव होता है' नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान करने से अन्तःकरण विशुद्ध होता है और अन्तःकरण के निर्मल होने से विद्या उत्पन्न होती है । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणोदुरितक्षयम्' इत्यादि श्रुतियों से कर्मका विनाशकत्व धर्मात्मक कर्म में होता है । कर्मानुष्ठान से अन्तःकरणस्थ पाप की निवृत्ति होती है तब विशुद्ध अन्तःकरण में विद्या पैदा होती है । जिस तरह धूलीधूसरित आदर्श में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं देखने में आता है परन्तु उसी दर्पण को इष्टकादिचूर्ण से घिसकरके दर्पण को स्वच्छबनाया जाता है तब उसी दर्पण में निष्प्रत्यूह स्वच्छ प्रतिबिम्ब देखने में आता है । उसी तरह पाप से अशुद्ध अन्तःकरण में विद्या नहीं उत्पन्न होती है और जब नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से पाप का विनाश कर दिया जाता है तब विशुद्ध अन्तःकरण में निष्प्रत्यूह रूप से विद्या का प्रादुर्भाव होता है । तस्मात् वही यज्ञादिक दोनों स्थल में है और वही यज्ञादिक केवल आश्रमी से भी अनुष्ठेय है ॥३५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

५ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ३।४।३६ ५

आश्रमधर्माणां विद्यासहायकत्वमभिहितम् । इदानीमाश्रम-
विधुराणामन्तरालानां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशये
'यज्ञेन दानेन तपसानाशकेने' त्याश्रमकर्मणामेव विद्यासाधनत्वश्र-
वणादनाश्रमिणां न तत्राधिकार इति प्राप्तेऽभिधीयते-अन्तरेति ।
आश्रममन्तरा वर्तमानस्य विद्यायामस्त्येवाधिकारः । कुतः ?
तद्दृष्टेः । श्रुतावनाश्रमिणामपि रैक्वभीष्मसंवर्तवाचकनवी प्रभृतीनां

ननु यदि यज्ञादिकर्माणि विद्यायां सहकारिभूतानि, तदा पाककार्ये सहायकस्ये
न्धनादेरभावे पाकः सम्पन्नो न भवति, तथेहाश्रमकर्मणो विद्यायाः सहायकत्वे पूर्वा
प्रकरणे निश्चितत्वात्, आश्रमरहितानां विधुराणां विद्यायां प्रवेशो न स्यात्, यतस्ते
द्रव्यादि सम्पदभावेन तेषां विधुराणां विद्यायामधिकाराभावात् । ततश्च संवर्तादि
ऋषीणां विद्यावत्त्वश्रवणात् । न ते ब्रह्मचर्याद्यन्यतमाश्रमे सन्ति किन्त्वाश्रमरहिता, इत्या-
शङ्काया निरासायोपक्रमते आश्रमधर्माणां विद्यासहायकत्वमित्यादि यान्याश्रमकर्माणि तानि
विद्या सहायकानीति, इतः पूर्वाधिकरणे व्यवस्थापितम् । तत्र ये आश्रमधर्माः तेऽपि
विद्यायां सहायकाः । ततश्च सहायकमन्तरेण कार्यं न भवतीति नियमः । एवञ्च
येऽनाश्रमिणस्तेषामाश्रमकर्मसहायकाभावेन, तेषां ब्रह्मचर्याद्यन्यतमाश्रमरहितान्तराल-
वर्तिनां विधुराणां विद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशयः । तत्राश्रमकर्मणो विद्या सहा-

इससे अव्यवहित पूर्व अधिकरण में आश्रमधर्म यज्ञ दान तपस्यादिक को विद्या का
सहायक है, अर्थात् जिस तरह घटोत्पत्ति में मुख्य कारण कपाल है और सहकारी कारण दण्डा-
दिक है, उसीतरह यहाँ भी विद्योत्पत्ति में आश्रमधर्म यज्ञादिक सहायक है, ऐसा कहा है ।
सम्प्रति आश्रम विधुर अन्तरालवर्ती गृहस्थ धर्म से रहित है, एतादृश व्यक्ति को ब्रह्मविद्या में
अधिकार है अथवा नहीं है अर्थात् ब्रह्म विद्या में सहकारी कारण आश्रम धर्म भी है
परन्तु विधुर तो आश्रम धर्म रहित है इसलिये आश्रमधर्माभाव अनधिकारता का प्रयोजक है
तथा शक्ति सामर्थ्य अधिकार प्रयोजक है इस प्रकार उभय कोटि का उपस्थापक कारण के
रहने से संशय होता है कि विधुर को ब्रह्म विद्या में अधिकार है अथवा अधिकार नहीं है ।

एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि 'यज्ञ दान और तपस्या लक्षण जो
आश्रम धर्म है उसमें ब्रह्मविद्या में साधनत्व का श्रवण होने से आश्रम धर्म रहित विधुरादि
को विद्या में अधिकार नहीं है । क्योंकि साधनाभाव में साध्य की निष्पत्ति नहीं होती है जिस

विद्यानिष्ठत्वदर्शनात् । आश्रमानाश्रमसाधारणैर्जनोपासनादिभिरेवा
नाश्रमिणमपि विद्यानुग्रहो भविष्यतीत्यतोऽस्त्येव विधुराणामपि ब्रह्म
विद्यायामधिकारस्ततस्तेषां मोक्षसिद्धिरिति ॥३६॥

५ अपि स्मर्यते ३।४।३७ ५

‘जप्येनापि च संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।’

यकत्वेन यज्ञेन दानेन इत्यादौ कथनादाश्रमरहितानामनाश्रमित्वान्नास्ति विद्यायामधि-
कार इति पूर्वपक्षाशयः ।

सिद्धान्तस्तु, अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्त्येव । श्रुतौ तथा श्रव-
णात् । अर्थात्, आश्रमरहितानां रैक्वादिपरमर्षीणां विद्यानिष्ठत्वस्य दर्शनात्, एतेषां
सर्वसाधारणजपादिनैव विद्यायां साहाय्यस्य संभवेन विधुराणामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्ये
वाधिकारस्ततश्च तेषां नित्यनिरतिशयमोक्षात्मकफलस्यापिसिद्धिर्भवत्येवेत्यादिकं सर्वं
पिण्डीकृत्यभाष्यकारोदर्शितवान् ॥३६॥

न केवलं पूर्वसूत्रप्रदर्शितयुक्तिभिरेवाश्रमरहितानां विधुराणां ब्रह्मविद्यायाम-
धिकारः प्रदर्शितः किन्तु विधुरस्य ब्रह्मविद्याधिकारे स्मृतिप्रमाणमपि दर्शयति
जप्येनेत्यादि आश्रमनिरपेक्षजपोपासनादिभिरेव ब्राह्मणः संसिद्धिं मोक्षं प्राप्नोति तत्र नास्ति
तरह धूम दर्शन के अभाव में वहि की अनुमिति नहीं होनी है । उसी तरह आश्रम धर्मरूप
साधन के अभाव में आश्रम रहित को कथमपि विद्या में अधिकार नहीं है इति पूर्वपक्षाशयः ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘अन्तराचापीत्यादि’ आश्रम के बिना
वर्तमान व्यक्ति को भी विद्या में अधिकार है । क्यों ? ऐसा श्रुति में कहा है अर्थात् श्रुति में
अनाश्रमी रैक्व भीष्म संवर्तशचन्कवी प्रभृति को विद्यानिष्ठ देखने में आता है । अतः आश्रम
अनाश्रम साधारण जप उपासना विगरे से ही आनाश्रमी को भी विद्या का अनुग्रह होगा अतः
विधुर को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है और ब्रह्म विद्या के बल से उन अनाश्रमी को मोक्ष
प्राप्ति होती है ॥३६॥

पूर्वोक्त सूत्र प्रदर्शित युक्ति से अनाश्रमी को ब्रह्मविद्या में अधिकार है इस बात
को बतला करके सम्प्रति स्मृति प्रमाण से भी अनाश्रमी को ब्रह्मविद्या में अधिकार है । इस
वस्तु को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं ‘जप्येनापीत्यादि’ जप मात्र से भी ब्राह्मण संसिद्धि
मोक्ष को प्राप्त करता है । स्मृति घटक च शब्द से उपासना का भी संप्रह होता है, इस-
लिये सर्वाश्रम साधारण जपोपासना से ब्राह्मण संसिद्धि को प्राप्त कर जाता है । इसमें कोई भी
संशय नहीं है । अन्यत्=जपातिरिक्त साधन का अनुष्ठान करे अथवा न करे, क्योंकि ब्राह्मण

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' ॥ (मनु० २।८७)
इत्यनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यासिद्धिः स्मर्यते ॥३७॥

५ विशेषानुग्रहश्च ३।४।३८ ५

किञ्चानाश्रमिधर्मैर्जपोपवासदेवाराधनादिभिरपि विद्याया

कश्चन संदेहः । अन्यत् जपातिरिक्तं साधनान्तरं कुर्यान्नवा कुर्यात् । यतो ब्रह्मणो मैत्र इति कथ्यते । एवं गायत्रीमात्रं सारोपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वं विक्रयी" तत्र गायत्र्याः सर्वमाधारणतया तादृशं गायत्र्यादि जपमात्रेणैव सर्वः संसिद्धो भवतीति स्मृतौ प्रतिपादनेन नाश्रमधर्मरहितस्य विद्यायां नास्त्यधिकार इति न किन्तु आश्रमविरहितस्यापि विद्ये एवाधिकार इति श्रुतिस्मृति युक्तितत्कैरेवविनिश्चय इति कृतं पल्लवितेनेतिदिक् ॥३७॥

नकेवलं स्मार्तवचनेनैवाश्रमधर्मैर्विद्यायां साहाय्यमपितु श्रौतवचनेनापि विद्याया अनुग्रहो भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते किञ्चानाश्रमिधर्मैरित्यादि अनाश्रमिधर्मैर्जपोपवासदिभिरपि विद्यायां साहाय्यं जायते, एतज्जुतावपि प्रतिपादितम् । तथाहि—तपसा शरीरानाशकेनचान्द्रायणादिना, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया आस्तिक्यं बुद्ध्या आत्मानं जगदेककारणं सर्वशक्तिमन्तं परेशमन्विष्यादिति 'जगन्मृष्टयाद्योलीलाममेव राघवस्य मैत्रं कद्वलाता है । [जिस तरह चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षुमात्र साधन पयोत है तदतिरिक्त साधनान्तर का सद्भाव ही अथवा नहीं हो, इसीतरह प्रकृत में जपादि लक्षण साधन मात्र से संसिद्धि होती है तदतिरिक्त साधनानुसरण निरर्थक है ।] एवम् 'पूर्वा सन्ध्या जपं स्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् । पश्चिमां तु समासीनः' इत्यादि स्थल में अनाश्रमी को भी जपादि द्वारा ही विद्या की सिद्धि होती है ऐसा मानवादिकों का मत है । विशेष विवरणमन्यत्र द्रष्टव्यमिति । ३७।

स्मृति मात्र से ही केवल यज्ञ दानादि अनाश्रमी धर्मों से विद्या को सहाय्य सिद्ध होता है ऐसी बात नहीं किन्तु श्रुतिप्रमाण से भी सिद्ध होता है कि यज्ञ दान तपस्यादिक से भी विद्या में साहाय्य होता है । इस बात को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं 'किं चेत्यादि' और भी देखिये अनाश्रमियों का धर्म जो जप, प्रणवादिक का तथा श्रीरामनामादिक मन्त्रों का जप, उपवास, शरीर का अविधातक व्रत देवाराधन भगवान् श्रीरामजी का आराधनादि के द्वारा विद्या में सहाय्य होता है, ऐसा श्रुति में भी उपलब्ध होता है । तथाहि 'तपस्या से,

अनुग्रहः श्रुतावप्युपलभ्यते 'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानं निष्पृष्यात्' (प्र. १ १०) इति ॥३८॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ३।४।३९

कस्तर्ह्युभयोर्विशेष इत्याशङ्क्याह—अतस्तु' इत्यादि । तु शब्दश्चोद्यनिवर्तकः । अतोऽनाश्रमिवादितरदाश्रमित्वं ज्यायः । बहुज्ञानसाधनाधिकारित्वात् । शीघ्रमेव विद्योपलब्धिग्राश्रमवतः स्यादिति भावः । लिङ्गाच्च—'अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः' । 'संवत्समनाश्रमीस्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इत्याद्यनाश्रमिण आश्रमच' 'सर्वेशः सर्वशक्तिश्च श्रीरामः सर्वकारणम्' इत्याद्यागमोक्तेरिति भावः ॥३८॥

यदि अनाश्रमधर्मादाश्रमधर्मात् च विद्याया अनुग्रहो भवति, तदाऽनयोर्धर्मयोः कः श्रेयानित्याशङ्कामपनेतुमुपक्रमते—कस्तर्ह्युभयोर्विशेष इत्यादि अतोऽस्मादनाश्रमधर्मात् आश्रमधर्मो ज्यायान् भवति, यतोऽस्याश्रमधर्मवतः श्रेष्ठत्वं यतः अत्र बहुतरज्ञानसाधनेऽधिकारो भवति । अर्थात् शीघ्रमेव विद्याया उपलब्धिर्जायते । तथा श्रौतमपि लिङ्गं भवति, अनाश्रमचर्यं से आस्तिक्यं बुद्धिं लक्षणं श्रद्धां से विद्या उपासना से आत्मा को जाने' इस प्रकार से श्रुति में उपलब्ध होता है ॥३८॥

अनाश्रमी तथा आश्रमी में तब क्या विशेष है, जब कि दोनों में विद्यानुग्राहकत्व समान रूप से है, इस शंका का निराकरण करने के लिये उपक्रम करते हैं 'कस्तर्हि उभयो रित्यादि' सूत्रकार स्वयं इन दोनों में विशेषता बतलाते हैं 'अतस्तु' इत्यादि । सूत्र चटक तु शब्द पक्ष का निराकरण परक है । इस अनाश्रमी से इतर भिन्न जो आश्रमी है वह श्रेष्ठ है । क्योंकि आश्रमी में बहुज्ञान साधन का आधिकारिता है । अर्थात् आश्रमवान् को विद्या की उपलब्धि शीघ्रता से होती है ।

और 'लिङ्गाच्चेति' श्रौतस्मार्त लिङ्ग से भी आश्रमी में श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है । 'द्विज ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, एक दिन भी अनाश्रमी होकरके न रहे' 'एक वर्ष तक आश्रमरहित होकरके रहने पर एक कृच्छ्रचान्द्रायण का प्रायश्चित्त करे' इत्यादि शास्त्र से अनाश्रमी को आश्रम ग्रहण के उपदेश परक स्मार्तलिङ्ग से सिद्ध होता है कि अनाश्रमी के अपेक्षया आश्र-

ग्रहणोपदेशपरस्मार्तलिङ्गादनाश्रमिण आश्रमित्वं ज्यायः । मृतभार्यस्य
गृहिणः पुनर्दासंग्रहस्त्वापद्धर्म इति बोद्ध्यम् ॥३९॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये विधुराधिकरणम् ॥९॥

अथ तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

॥ तद्भूतस्य तु नातद्भावो

जैमिनेरपिनियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ३।४।४० ॥

एवमनाश्रमिणो गार्हस्थ्यविधुरस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ती-
त्यभिहितम् । इदानीं नैष्ठिकवानप्रस्थपरिव्राजकानां स्वाश्रमेभ्यः
प्रच्युतानां कर्मणि विद्यासाधनानि सन्ति न वेति विशये तेषामपि
श्रमी नतिष्ठेत्तु इत्यादिकं बहुतरमवगन्तव्यमत्रयद्ववक्तव्यं तद् श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरण
उक्तमितिदिक् ॥३९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे विधुराधिकरणम् ॥९॥

आश्रमविरहितगृहस्थविधुरस्य मोक्षप्राप्तिच्छया ब्रह्मविद्यायां तत्साधनीभूत
जपादि कर्मण्यधिकारोऽस्तीति व्यवस्थापितम् । ततः परं परिभ्रष्टः स्वाश्रमस्य नैष्ठिक
ब्रह्मचारिपरिव्राजकयोः ब्रह्मविद्यायां तत्साधनीभूतजपादिकर्मणि, अधिकारोऽस्ति नवेति
मित्र श्रेष्ठ है । मृतपत्नीक गृहस्थ को जो पुनः स्त्री संप्रह का उपदेश है वह गृहस्थ के
लिये आपत् धर्म है ॥३९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे विधुराधिकरणम् ॥९॥

आश्रम रहित गृहस्थ विधुर को ब्रह्म विद्या में तथा ब्रह्म विद्या का साधन जपादि कर्म में
अधिकार है ऐसा अन्यवहित पूर्ण अधिकरण में निश्चित किया गया है । सम्प्रति नैष्ठिक ब्रह्म-
चारी वानप्रस्थ तथा परिव्राजक सन्यासी, जो कि अपने अपने आश्रम से प्रच्युत पतित हो
गये हैं, उनको विद्या का साधन जो कर्म है उसमें अधिकार है अथवा अधिकार नहीं है,
ऐसा संशय होता है । स्वाश्रम भ्रष्ट ब्रह्मचारी प्रभृति को भी ब्रह्मविद्या में तथा तत्साधनीभूत

कानिचिज्जपादिरूपकर्माणि विद्या साधनानि विधुर्कर्मवत्स्युरिति प्राप्तेऽभिधीयते 'तद्भूतस्य तु नातद्भावः' इति । नैष्ठिकाद्युत्तमाश्रमस्थस्यातद्भावोऽतथाभावोऽनाश्रमिद्वेनावस्थानं न कथमपि सम्भवीतीति । जैमिनेरपीत्यपिशब्दात्स्वस्य बादरायणस्य च सम्मतं दर्शितम् । मम सम्मतं जैमिनेरपि सम्मतमिति भावः । कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात् । नैष्ठिकादिधर्माभावास्तेभ्यः शास्त्रेर्नियमनात् 'ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीतृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २।२३।१) इति नैष्ठिकस्य नियमात् । 'अरण्यमियात्ततो न शंशयः । परित्यक्तगार्हस्थानाश्रमिणो यथा जपादि कर्मणि तथा तादृशकर्मसाध्यब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति । तथैव परित्यक्तसंन्यासस्यापि तत्राधिकारो विद्यते एवेति पूर्वपक्षः । अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् ततो न पुनरेयादित्यादि श्रुतिभिस्तेषामनधिकारस्य प्रतिपादनात् । परित्यक्तोत्तमाश्रमस्य पुनर्ब्रह्मविद्यायां तत्साधनीभूतकर्मणि वानात्येवाधिकार इति सिद्धान्तः । एतत्सर्वं दर्शयितुमुपक्रमते एवमनाश्रमिणोगार्हस्थस्येत्यादि । आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद् यथाविधि इत्यादि शास्त्रीयोनियमः, उत्तमाश्रमपरित्यागाभावं दर्शयति । यदिकश्चित् परिव्राजकः पूर्वाश्रमकर्मलोभेन उत्तमाश्रमं परित्यजेत् तदपि न शोभनम् ब्रह्मचर्यं समाप्यगृहीभवेत् ब्रह्मचर्यादेवपरिव्रजेत् इत्यादीनि वचनान्यारोह-रूपाणि उपलभ्यमानानि भवन्ति, नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि वचनान्युपलब्धानि भवन्ति । तस्मान्नपरित्यक्तोत्तमाश्रमस्य ब्रह्मविद्यायां तत्साधनकर्मणि च पुनरधिकार इति जैमिनि कर्म में अधिकार है । क्योंकि परिभ्रष्ट संन्यासी प्रभृति को भी विद्या साधनीभूत जपादिक में अधिकार है विधुर कर्म के समान, ऐसा पूर्णपक्ष का आशय है । एतादृश पूर्णपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'तद्भूतस्येत्यादि' नैष्ठिकादि उत्तमाश्रम निवासी को अनाश्रम रूप से अवस्थान कथमपि नहीं हो सकता है । 'जैमिनेरपि' यदा अपि शब्द से स्वका बादरायण के संमति को बतलाया है, अर्थात् मेरा-बादरायण व्यास का जो संमत है वह जैमिनि का भी संमत है । क्यों ? नैष्ठिकादि धर्माभाव का उन लोगों के लिये शास्त्र ने नियमन किया है । 'ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी तृतीय है जो कि यावज्जीवन आचार्य कुल में ही निवास करे' इत्यादि छान्दोग्यीय वचन से नैष्ठिक का नियमन किया गया है । 'जंगल अरण्य में जाय, वहां से पुनः लौट करके तत्पूर्वाश्रम में न आवे' वानप्रस्थ के लिये नियम कहा है ।

पुनरेयात्' इति गैखानसस्य । तथा 'सन्न्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्' (यजु० का०) इति परिव्राजकस्य नियमात् । तस्मादनाश्रमित्वेनावस्थानस्य नैष्ठिकादेरप्रामाणिकत्वान्न तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारः । ४०।

५ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद- योगात् ३।४।४१ ५

यदि प्रमादान्नैष्ठिकादेः स्वधर्मात्प्रच्यवस्तर्हितत्वायश्चित्तमनुष्ठायनिष्कल्मषस्य तस्य विद्यायामधिकारः स्यादित्यत्राह— न चाधिवादरायणयोरभिप्रायः । तदाहुर्भाष्यकाराः 'न स्त्रियं परिगृह्णीयादिरक्तो नैष्णवः क्वचित् । मन्वादि स्मृतिशास्त्रेषु तन्निषेधस्य शासनात् ॥ विवाहेतु कृते सस्यादारूढपतितो ध्रुवम् । आरूढपतितस्यार्थे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ प्रच्युतो नैष्ठिकाद्धर्मादात्महापि प्रकीर्तितः । मठाध्यक्षत्वदीक्षादौ बहिष्कार्यः सयत्नतः ॥ व्यासेन ब्रह्मविद्यातो बहिष्कारोऽस्य सूचितः । शिष्टा यज्ञादि कार्येषु वर्जयन्ति तथा विधम् । विरक्तैर्नैष्णवैस्तस्मादारूढपतितो नहि । व्यवहारेषु योक्तव्यस्तत्संसर्गोऽपि पापकृत् ॥' (श्रीनैष्णवमताब्जभास्करः ५।५-९) इति । शेषं सुगममेवेति न पुनर्विचित्रियते इति संक्षेपः । ४०।

ननु यदि नैष्ठिकब्रह्मचारादिः कारणवशेन स्वधर्मात्प्रच्युतो भवति तदा तस्य प्रायश्चित्तेन तादृग् दोषं समाधाय निष्पापः पुनरपि विद्याया मधिकृतः स्यादित्यादि तथा "अग्निं का सन्यास करके पुनः अग्निं का ग्रहण न करे" इस प्रकार परिव्राजक का नियम है । इसलिये आश्रम रहित होकर के नैष्ठिकादिक के अवस्थान को अप्रामाणिक होने से इन परिभ्रष्ट ब्रह्मचारी वानप्रस्थ तथा सन्यासी को ब्रह्मविद्या में अधिकार कथमपि नहीं है । प्रकृत विषय में विशेष रूप से चर्चा श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के प्रभा-किरण नामक टीका में कर चुका हूँ अतः विशेषार्थी वहीं से अनुसन्धान करें ॥४०॥

अथ यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रभृतिक प्रमादात् स्वकीय धर्म से प्रच्युत हो जाय तो शास्त्रोक्त विधि से प्रायश्चित्तानुष्ठान से शरीर को पवित्र करके अपाप होकर के विद्या में पुनः अधिकृत हो सकता है ? इस आशंका का निराकरण करने के लिये उपक्रम करते हैं

कारिकमपीत्यादि । नैष्ठिकादीनामधिकारे यत्प्रायश्चित्तमभिहितं तदपि तद्भ्रष्टानां न सम्भवति । कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात् । स्वाश्रमधर्मप्रच्युतानां नैष्ठिकादीनां पतनस्मरणात् पतितानाञ्च प्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वात् । ‘आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा’ इति । तस्मादुपकुर्वाण ब्रह्मचारिविषयमाधिकारिकं प्रायश्चित्तमिति ॥४१॥

शंकां समाधातुमुपक्रमते यदि प्रमादानैष्ठिकादेरित्यादि, पतितस्य यत् प्रायश्चित्तं कथितम् ब्रह्मचार्यवकीर्णीनैऋतं गर्दभमालेन इत्यादिना प्रायश्चित्तं कथितं तत् उपकुर्वाण विषयकम्, नतु नैष्ठिकविषयकम् । नैष्ठिकविषयेतु आरूढो नैष्ठिक धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः इत्यादिना नैष्ठिकस्य प्रायश्चित्ताभावस्य प्रतिपादनात् । ततश्च पतितस्य नैष्ठिकस्य प्रायश्चित्तो नापि न विशुद्धिस्तदभावान्नास्ति विद्यायामधिकारः । यदि कदाचिदुपकुर्वाणब्रह्मचारी प्रमादात् पतितो भवेत्तदा स प्रायश्चित्तो नात्मानं विशोध्य पुनः कथञ्चिदधिकृतो भवेदपि । नतु नैष्ठिकस्य कदाचिदपि विशुद्धिर्भवति नवा विद्यायामधिकार इति ॥४१॥

“न चाधिकारिकमपीत्यादि” नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रभृति को अधिकार में जो भ्रष्ट के लिये प्रायश्चित्त कहा गया है वह प्रायश्चित्त भी भ्रष्ट को नहीं हो सकता है क्योंकि “पतनानुमानात्तदयोगात्=स्वकीय धर्म से प्रच्युत नैष्ठिकादिकों का पतन के स्मरण होने से पतितों का प्रायश्चित्त असंभवित है । “नैष्ठिक धर्म में आरूढ जो द्विजाति अपने धर्म से प्रच्युत हो जाता है उस के लिये प्रायश्चित्त का विधान शास्त्र में नहीं है जिससे वह आत्मघाती विशुद्ध हो इसलिये आधिकारिक जो प्रायश्चित्त है वह उपकुर्वाण ब्रह्मचारी विषयक है किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारी विषयक नहीं है । अर्थात् उपकुर्वाण ब्रह्मचारी प्रभृतिक प्रमादात् स्वधर्म प्रच्युत हो जाय तो प्रायश्चित्त के द्वारा वह विशुद्ध हो सकता है । परन्तु यदि नैष्ठिक स्वधर्म प्रच्युत हो जाय तब उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है जिसके द्वारा विशुद्ध हो । इसलिये यदि नैष्ठिक का स्वधर्म से प्रच्यव हो जाय तो वह सर्वदा के लिये पतित ही रह जाता है कथमपि वह निशुद्ध नहीं होता है नवा वह ब्रह्मविद्या में अधिकृत हो सकता है इति सिद्धान्तः विशेषोऽन्यत्र द्रष्टव्यः ॥४१॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ३।४।४२

मतान्तरमुत्थापयति । एक आचार्यास्तूपूर्वमुपपातकमिदं ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमित्यभिधाय तत्र प्रायश्चित्तस्य भावं सत्वमेवाशन-वदाहुः । यथा मध्वशननिमित्तकं प्रायश्चित्तमुपकुर्वाणनैष्ठिकयोरुभयो रपि विद्यते । तथान्यनिमित्तकमपि प्रायश्चित्तम् । तदुक्तम् 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' [गौतम १।३।४) एवञ्च ब्रह्मचर्यप्रच्युतौ प्रायश्चित्तस्य विद्यमानत्वात् कृतप्रायश्चित्तानाञ्च नैष्ठिकादीनां ब्रह्मविद्यायामप्य-धिकारोऽस्ति ॥४२॥

किञ्चैके आचार्याः प्रमादतो ब्रह्मचर्यस्खलनं न महापातकं येन प्रायश्चित्तो नापि न विशुद्ध्येत्. किन्तुपपातकमेवेदम्. यतो गुरुतल्पगादिमहापातकप्रकरणे तस्या परिगणनात् । तस्मादत्र प्रायश्चित्तस्य सद्भावमभ्युपेत्य विद्याधिकारं स्वीकुर्वन्ति । ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषात् । अनशनवत् यथा मधुमांसाशने ब्रह्मचारिणो व्रतविलोपः पुनः संस्कारश्च तथैव प्रकृतेऽपि । तस्मान्नेदं महापातकं येन प्रायश्चित्तो नापि विशुद्ध्यति स्यादिति सुगममन्यत् ॥४२॥

प्रकृत विषय में भ्रष्टों के लिये प्रायश्चित्त विधान है अथवा नहीं है इस विषय में मतान्तर को बतलाते हैं । एक कोई आचार्य उपपूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्य स्खलन उपपातक है, महापातक नहीं है, यह कह करके उस उपपातक में प्रायश्चित्त के सद्भाव को स्वीकार करते हैं । अनशन के समान, जिस तरह मधुमांस के अशन निमित्तक प्रायश्चित्त उपकुर्वाण नैष्ठिक दोनों के लिये प्रतिपादित है । उसी तरह ब्रह्मचर्य स्खलन निमित्तक प्रायश्चित्त दोनों के लिये समान ही है । इस विषय का प्रतिपादन गौतम सूत्र में भी कहा है "उत्तरेषांचेत्यादि" ऐसा हुआ तब ब्रह्मचर्य स्खलन में प्रायश्चित्त का सद्भाव होने से जो कृत प्रायश्चित्तक नैष्ठिक है उनको ब्रह्मविद्या में अधिकार है । अर्थात् जिस तरह उपकुर्वाण के लिये प्रायश्चित्त का विधान होने से प्रायश्चित्त करके उसको ब्रह्मविद्या में अधिकार होता है, उसी तरह नैष्ठिक के लिये भी ब्रह्मचर्य का उपवात महापातक नहीं है किन्तु उपपातक है तो उसका प्रायश्चित्त करके वह भी ब्रह्मविद्या में अधिकारी बन सकता है । यह एक आचार्य का मत है ॥४२॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ३।४।४३

तु शब्दः पूर्वमतं निवर्तयति । नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमात्प्रच्युतिरुपपातकं महापातकं वेत्युभयथापि अकृतप्रायश्चित्ता वेत्युभयथापि ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यो बहिर्भूता एव । कुतः ? स्मृतेः । 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' [आग्नेय० १६।५।२३] इति । आचाराच्च स्वधर्मप्रच्युतानां नैष्ठिकादीनां कृतप्रायश्चित्तानामपि वेदाध्यापने यज्ञादिकर्मणि च शिष्टाः परिवर्जनं कुर्वन्तीति शिष्टाचारा

बहिस्तु इत्यादिसूत्रघटकस्तु शब्दः अव्यवहितपूर्वसूत्र प्रतिपादित भ्रष्टस्याश्रम विरहितस्य ब्रह्मचर्यस्खलनं न महापातकं किन्तुपपातकमेवेति पूर्वमतं तस्य निवारण परकमेव । नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमात्प्रच्यवनमुपपातकं भवतु, अथवा महापातक वा भवतु तथापि ब्रह्मविद्यायां तेषामधिकारो न भवति, किन्तु बहिष्कर्तव्या एव । आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्चविनिःसृतम् । उद्धृदं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेदिति इत्यादि निन्दा प्रतिपादकस्मृतिभ्यः । शिष्टाचारादपि आरूढपरिभ्रष्टेभ्यः यज्ञाध्ययनविवाहादीनि कार्याणि शिष्टा नाचरन्तीतिलोकस्थितिः । 'विवाहेतु कृते सस्यादारूढपतितो ध्रुवम् । आरूढपतितस्यार्थे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ प्रच्युतो नैष्ठिकाद्वर्मादात्महापि

सूत्र घटक तु शब्द अव्यवहित पूर्व सूत्र प्रतिपादित मत विशेष का निराकरण परक है । नैष्ठिकों का स्वकीय आश्रम से जो प्रच्युति है वह उपपातक हो अथवा महापातक हो, उभयथा भी, अथवा कृत प्रायश्चित्तक हो अथवा अकृत प्रायश्चित्तक हो, उभयथा भी तादृश आश्रम विभ्रष्ट पुरुष ब्रह्मविद्याधिकार से बहिर्भूत ही है । अर्थात् यह आश्रम विभ्रष्ट विद्याधिकारी कथमपि नहीं होता है । क्यों ! निन्दातिशय प्रतिपादक स्मृतियों से यह सिद्ध होता है । तथाहि 'नैष्ठिक धर्म में आरूढ जो व्यक्ति तादृश धर्म से पतित हो जाता है तो उसका प्रायश्चित्त नहीं देखने में आता है, जिससे कि वह आत्मघाती विशुद्ध हो' तथा 'आरूढ पतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिसृतम् । उद्धृदं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है । तथा आचार शिष्टों के आचार से भी सिद्ध होता है । स्वकीय धर्म से परिभ्रष्ट नैष्ठिक प्रभृति यदि कृत प्रायश्चित्तक भी हो, तो भी वेदाध्ययन शिक्षा-दीक्षा

दपि । तस्मान्नाधिकारः स्वाश्रमधर्मभ्रष्टानां नैष्ठिकादीनां ब्रह्मविद्या
यामिति सिद्धम् ॥४३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

अथ स्वाम्यधिकरणम् ॥११॥

॥ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ३।४।४४ ॥

किमङ्गाश्रितोपासनानि यजमानानुष्ठेयान्याहोस्विद्विगनु-
ष्ठेयानीति संशये किं युक्तम् ? यः कर्त्ता स फलभोक्तेति न्यायमनु-
प्रकीर्तितः । मठाध्यक्षत्वदीक्षादी बहिष्कार्यः स यत्नः' (श्री० त्रै० म० भा० ५।६-९)
'परदारा न गन्तव्याः परधर्मोभयावहः । कदाचिदपि नो कुर्याद् विरक्तो हि गृहस्थ
ताम् । यतस्तस्याश्च शास्त्रेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते' (श्रीत्रै० षण्वधर्मपीयूषम् २३-२४)
इत्याद्याचार्योक्तोऽपि तस्मादाश्रमपरिभ्रष्टनैष्ठिकादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारो नास्तीति
व्यवस्थितमितिदिक् ॥४३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदोषे तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

ननु यानि अङ्गाश्रितोपासनानि तानि यजमानानुष्ठेयानीति संशयः । तत्र
यजमानेनैवतान्युपासनानि कर्त्तव्यानीति । कुतः ? कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्य
दर्शनेन यजमानकर्तृकाण्येव । तथा यजेत स्वर्गकामः इत्यात्मनेपदविधानेन कर्मफलस्य
मठाध्यक्षत्व तथा यज्ञादिक कर्म मे शिष्टलोग उसका परित्याग करते हैं । इसप्रकार शिष्टाचार
से भी उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होता है । तस्मात् स्वाश्रम परिभ्रष्ट नैष्ठिकादिक को ब्रह्मविद्या में
अधिकार नहीं है. यह विषय सिद्ध होता है । अर्थात् परिभ्रष्ट नैष्ठिक का स्मृतियों में निन्दा
तिशय देखने में आया है तथा शिष्ट परित्यक्त भी होने से जब यज्ञादिक ऐहिक कर्ममें अधि-
कार नहीं है तब नित्य निरतिशय सुखात्मक मोक्ष के प्रयोजक ब्रह्मविद्या में तो सुतराम् अधि-
काराभाव सिद्ध होता है ॥४३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

अङ्गाश्रितोपासन यजमान कर्तृक है अथवा ऋत्विक् कर्तृक है इसका निर्णय
करने के लिये उपक्रम करते हैं "किं अङ्गाश्रितोपासनेत्यादि" जो यह अङ्गाश्रित

सृत्य पूर्वपक्षमाह-स्वामिन इति । स्वामिनो यजमानस्यैवाङ्गाश्रितो-
पासनान्यनुष्ठेयानि । कुतः ? तस्यैव फलश्रुतेस्तियात्रेय आचार्यो
मन्यते ४ ४

५ आर्तिज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ३।४।४५ ५

अत्र समाधत्ते 'आर्तिज्य' मित्यादि । ऋत्विगधिकृतस्यैवा
मिन्नुपासनेऽधिकागत् क्रतोरर्तिज्यत्वेनैव तदङ्गोपासनमत्या
कर्तव्यसम्बन्धान्तरादङ्गाश्रितोपासनानि यजमानेनैव सर्वदाऽनुष्ठेयानि कर्तुरेव फल-
श्रुतेस्तियात्रेयाचार्यमतम् ॥४४॥

न केवलं यागादिकर्मयजमानेन परिनिष्पादितं भवति किन्तु यागान्तर्गतं
क्रिञ्चिदेव कर्मयजमाननिष्पादितं भवति तदन्यत्सर्वम् ऋत्विजैवसंपादितं भवति ।
ततश्च साङ्गस्य कर्मणोनिष्पत्तिः ततश्चापूर्वद्वारा स्वर्गादिकलं भवतीतिस्थितिः ।
ततश्च ऋत्विगधिकृतस्यैव उपासनादिष्वधिकारः । एवञ्च यागादेऽऋत्विक् संपाद्यत्वे-
नाङ्गोपासनं ऋत्विक्कर्तृकमेव भवतीति आत्रेयस्य मतम् । ननु ऋत्विक्संपादितो
उपासन है वह स्वयं यजमान से अनुष्ठेय हैं अथवा दक्षिणाक्रीत जो ऋत्विज तत्कर्तृक है ।
ऐसा संशय होता है । उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व में सामानाधिकरण्य होता है" अर्थात् जो
व्यक्ति क्रिया का संपादन करता है, वही तादृश क्रिया जन्य फल का भोक्ता है" इस
लौकिक न्याय को अनुसृत करके पूर्वपक्ष करते हैं "स्वामिनः" इत्यादि । उपासना
रूप क्रिया का स्वामी अर्थात् कर्ता जो यजमान, उसी से अङ्गाश्रितोपासन अनुष्ठेय है ।
क्योंकि यजमान के लिये ही फलश्रवण है । "वर्षतिशस्मै य उपास्ते" इत्यादि स्थल में
यजमान में ही फलश्रवण होने से तादृश फल भोक्ता यजमान ही अङ्गाश्रित उपासन कर्मा
होने से उसी से तादृश उपासना अनुष्ठेय है । ऐसा आत्रेय आचार्य मानते हैं ॥४४॥

अङ्गाश्रित जो उद्गीथादिक उपासन है वह यजमान से अनुष्ठित होता है अथवा
ऋत्विजों से अनुष्ठित होता है ? एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष पूर्वसूत्र में किया था कि जो
कर्मा का कर्ता होता है वही फलका भोक्ता होता है, इस न्याय से स्वामी जो यजमान है,

त्विज्यमृत्विक्कर्तृकमेवेत्यौडलोमिराचार्यो मन्यते । यजमानफलसाधन
भूतस्य साङ्गस्य क्रतोर्निष्पादनाय यजमानेन त्विक् परिक्रियेत
अतो यजमानपरिक्रीर्ता त्विगनुष्ठितस्य कर्माङ्गाश्रितोपासनस्य फलं य
पासनस्य फलं ऋत्विजैव भोक्तव्यं कर्तृत्वात् यजमानस्य तु कर्तृत्वाभावेन फलभोक्तृत्वं
कथं स्यादि चेन्न दक्षिण्या यजमानेन परिक्रीतत्वात् । अयमाशयः अनेकव्यक्ति
साध्ययागादिकर्मणः फलप्राप्तये यजमानो दक्षिण्या आचार्यादिकान् ऋत्विजः परिक्री-
णाति ततश्चतैः सम्पादितकर्मणः फलं प्राप्नोति, इति न कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्व्यधिकरण्यं
भवति नवा न द्वि वकोदारभ्य इत्यादिश्रुतिप्रतिफलश्रवणमपिनोपरुद्धं भवति । इति
उसी से अङ्गाश्रित उद्गीथादिकोपासन अनुष्ठेय है, क्योंकि फल तो यजमान में ही श्रुत है,
अतः अङ्गाश्रितोपासन ऋत्विक् से ही अनुष्ठेय है । ऐसा जो पूर्वसूत्र में प्रश्न हुआ था,
उसके समाधान रूप में यह सूत्र होता है 'आत्विज्यम्' इत्यादि—

यह जो उद्गीथादिक अङ्गोपासन है वह ऋत्विज से ही अनुष्ठेय है, ऐसा औडलोमी
आचार्य मानते हैं । क्योंकि यजमान उसकर्म में दक्षिणा से ऋत्विजों को खरीद लेता है ।
अतः ऋत्विक् अधिकृत को ही इस अङ्गाश्रित उपासना में अधिकार है । और क्रतु को
ऋत्विक् अनुष्ठित होने से अङ्गोपासन भी ऋत्विक् कर्तृक ही है किन्तु यजमान कर्तृक नहीं
है, ऐसा औडलोमी आचार्य का कथन है । क्योंकि उस कर्म से यजमान को होनेवाला जो
फल है उस फल का साधनीभूत जो अङ्गप्राप्त सहित क्रतु है, उस कर्म का निष्पादन करने
के लिये यजमान ने दक्षिणा से ऋत्विक् को खरीद लिया है । अतः यजमान से परिक्रीत
ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठित जो कर्माङ्गोपाश्रित उपासन है, तादृश अङ्गोपासन का जो फल है
वह यजमान में ही होता है, ऐसी जो फलश्रुति है, तादृश फलश्रुति में भी कोई विरोध
नहीं होता है । अर्थात् जो कर्म का कर्ता होता है वही फल भोक्ता होता है, ऐसा नियम
है, तथापि सम्पूर्ण कर्म को सम्पादन करने के लिये दक्षिणा से यजमान ऋत्विजों को खरीद
लेता है । इसलिये ऋत्विजों से सम्पादित कर्म तथा तदन्तर्गत अङ्गोपासन के फल का
फलभोक्ता यजमान ही होता है । उपासन तो ऋत्विक् कर्तृक ही होता है यजमान कर्तृक
नहीं होता है, ऐसा औडलोमी आचार्य का अभिप्राय है । इसलिये कोई भी विरोध

जमानगामिभवतीतिफलश्रुतेरप्यविरोधः ॥४५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये स्वाम्यविकरणम् ॥११॥

अथ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१२॥

५ सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीय

तद्वतोविध्यादिवत् ३।४।४६ ५

बृहदारण्यके श्रूयते—‘तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्यवात्ये नतिष्ठासेदाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिर्मौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्रह्मणः’ (बृह० ३।५।१) इति । तत्र मौनं विधीयते नवेति विषयः । पूर्वतनेवाक्ये बाल्येनतिष्ठासेदित्यत्रैव विधिसमाप्तावत्र मौनं न विधीयते किन्तु पाण्डित्यं निर्विद्येति विहितस्यायमनुवादः । मौनपाण्डित्यशब्दयोश्च ज्ञानाभिधायकत्वादिति पूर्वः पक्षः ।

सूत्र भाष्ययोरभिप्रायः । एतस्य विशेषविवरणमन्यत्र द्रष्टव्यम् ॥४५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेस्वाम्यधिकरणम् ॥११॥

अथ बृहदारण्यके श्रूयते तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य इत्यादि तत्र संशयो जायते यथा प्रकृत वाक्ये ज्ञानबलभावस्यापूर्वार्थत्वादविधानं तथैव मननमपि प्रकृत नहीं होता है । ऐसा अभिप्राय दोनों सूत्र तथा भाष्य का है ॥४५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामदेवरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे स्वाम्यधिकरणम् ॥११॥

बृहदारण्यकोपनिषद् में सुना जाता है कि “इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके ज्ञानबलभावरूप वाक्य रूप से रहने की इच्छा करे, और बाल्य तथा पाण्डित्य को प्राप्त करके मुनि मननशील हो अमौन तथा मौन को प्राप्त करके इसके बाद ब्राह्मण होवे” । इस में संशय होता है कि वाक्यपाण्डित्यादिवत् मौन का विधान होता है अथवा नहीं होता है ? तदनन्तर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि “तस्माद् ब्राह्मणः” इत्यादि

अत्रोच्यते—सहकार्यन्तरविधिरिति । यद्यपि यज्ञादिवद्वाह्यकर-
णैर्निदिध्यासनमननुष्ठेयं तथापि मानसजपादिवद् ब्रह्मासकृच्चिन्तन
रूपस्य निदिध्यासनस्यान्तः करणधर्मत्वेन सम्भवत्येवात्र मौनस्य
विधानम् । एवञ्चात्र पाण्डित्यं वाक्यं मौनञ्चेत्येतत्त्रितयमपि ब्रह्म-
विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते विध्यादिवत् । विधीयत इति
विधिः । यज्ञदानादिक आश्रमधर्मः । आदिपदेन श्रवणमननयोर्ग्रह-
णम् । तद्वतोऽध्ययनजब्रह्मसामान्यज्ञानवतः श्रवणमननवतो वा तद्वि-
वाक्ये विधीयते अथवा पूर्वप्राप्तस्यानुवादमात्रं भवतीति । तत्र मौन पाण्डित्यशब्द
योर्ज्ञानवाचकत्वेन पाण्डित्यशब्देन ज्ञानं विहितम् ततश्च मुनिर्भवतीत्यनुवाद मात्रमेव ।
अप्राप्ते हि विधानम् प्राप्तस्य पुनः प्रापणेत्यनुवादमात्रमेव । यथा वन्हेः शैत्यविनाश
कत्वस्य प्रत्यक्षप्राप्ततया तद्वोधकस्य अग्निर्हिमस्यमेषजमिति वाक्यस्यानुवादकत्वं
नतु विधायकत्वं तथैव अथमुनिर्भवतीति वाक्यं न विधायकं किन्तु मुनित्वस्यानुवाद
पूर्ववाक्य में “वाक्येन लिङ्गासेत्” इसी में केवल विधि प्रत्यय देखने में आता है, “अथवा
मुनिर्भवति” इसमें तो विधि विभक्तिस्तिङादिक नहीं है किन्तु वर्तमानापदेश है, अतः
मौन का विधान यहाँ नहीं होता है, किन्तु “पाण्डित्यं निर्विद्य” इससे विहित
जो ज्ञान उसका यहाँ अनुवादमात्र है । यद्यपि “पाण्डित्यं निर्विद्य” में पाण्डित्य का
विधान है नतु मौन का कथन है जिससे कि प्रकृत में अनुवादकता है, तथापि मौन पाण्डित्य
शब्द को ज्ञानवाचक होने से ज्ञानार्थक पाण्डित्य का विधान होने से ज्ञान रूप मौन
भी प्राप्त है तो तादृश मौनार्थक ज्ञान का पुनः कथन अनुवाद है इति पूर्वपक्षः ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं “सहकार्यन्तरविधिरित्यादि” जिस
तरह यागादिक कर्म बाह्यकरण हस्तादि द्वारा निष्पादित होता है, उस तरह बाह्यकरण
द्वारा निदिध्यासन का अनुष्ठान नहीं होता है, तथापि जपादिक कर्म बाह्यकरणादि
निरपेक्ष केवल मनो द्वारा निष्पन्न होता है, उसी तरह ब्रह्म का असकृत् निरन्तर चिन्तन
रूप जो निदिध्यासन है, उसको अन्तः करण का धर्म होने से यहाँ प्रकृत में मौन
का विधान हो सकता है । ऐसा होने से प्रकृत में पाण्डित्य वाक्य और मौन
ये तीनों ही ब्रह्मविद्या के सहकारी हैं इनका विधान होता है । विध्यादि की तरह

शेषज्ञानप्राप्ता वाश्रमधर्मवच्छ्रवणमननवच्च फलभूतब्रह्मसाक्षाद्दर्शने
 श्रवणमननद्वयापेक्षया तृतीयमिदं सहकार्यन्तरम् निदिध्यासनात्मकं
 मौनमपूर्वं विधीयते । विद्यासहकारित्यार्थप्राप्तयोरपि श्रवणमननयो
 र्यथा 'श्रोतव्योमन्तव्य' इत्यत्रग्रहणम् । तथात्रापि सहकार्यन्तरविधाने
 निदिध्यासनमेव विधीयत इत्यत आह 'पक्षेणेति । निदिध्यासन-
 पदस्य निरन्तरब्रह्मचिन्तनापरपर्यायस्य श्रवणमननाभ्यामत्यन्तोत्कृ
 ष्टत्वम् । अत एव पाण्डित्याद्विन्नमेव मौनमत्र विधीयते तत्र पण्डा
 शास्त्राध्ययनजा शास्त्रीयाब्रह्मसामान्यधीस्तद्वान् पण्डितस्तत्कृतम्
 श्रवणं पाण्डित्यं तन्निर्विद्यनिश्चयेन प्राप्यवात्येन बलभावेन ज्ञान
 मात्रमेव भवति । किञ्च तिष्ठासेदित्यत्रैकविधिविभक्तिः श्रूयते नतु अथमुनिर्भवतीत्यत्र
 तथेति तस्मान्मननस्य न विधानमिति पूर्वपक्षाशयं निराकृत्य सिद्धान्ते मननस्य विधान
 पूर्वकं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते भगवान् भाष्यकारः बृहदारण्यके श्रूयते इत्यादिभाष्यम् ।
 भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थकानि ॥४६॥

शास्त्र द्वारा विधीयमान जो हो, उसको विधि कहते हैं, यथा यज्ञदानादिक
 आश्रमधर्म ये सब विधि हैं । विद्यादि में जो आदि पद है उससे श्रवण मनन का
 ग्रहण होता है । तद्वान् अर्थात् वेदाध्ययन जनित ब्रह्मविषयक सामान्य ज्ञानवान्
 को अथवा श्रवण मननवान् को ब्रह्म विषयक जो विशेषज्ञान उसकी प्राप्ति में आश्रम
 धर्म याग दानादिक की तरह और श्रवणमननवत् फल स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कारी ज्ञान में
 श्रवण मनन की अपेक्षा से यह तृतीय सहकार्यन्तर निदिध्यासन लक्षण अपूर्व यह मौन विधी
 यमान होता है । ब्रह्मविद्या के सहकारि रूप से अर्थतः प्राप्त जो श्रवण मनन
 उसका 'श्रोतव्योमन्तव्यः' इस स्थल में ग्रहण होता है, उसी तरह प्रकृत में सहकार्यन्तर
 के विधान में निदिध्यासन ही विधीयमान होता है" इसलिये सूत्रकारने कहा है "पक्षेणेति" ।
 निरन्तर जो ब्रह्म का चिन्तन वही पर्याय है जिसका एतादृश जो निदिध्यासन पद है,
 उसको श्रवणमननापेक्षया अत्यन्त उत्कृष्टत्व है, अर्थात् श्रवण मनन से अति उत्कृष्ट है
 निदिध्यासन । अत एव पाण्डित्य से भिन्न ही मौन का यहां विधान किया जाता है । उसमें
 शास्त्र के अध्ययन करने से जायमान जो शास्त्रीय ब्रह्मविषयक सामान्य ज्ञान उसको पण्डा
 कहते हैं एतादृश ब्रह्म विषयक शास्त्रजनित ज्ञानवान् पुरुष को पण्डित कहते हैं

बलभावेन मननेन बालस्यभावेन शुद्धान्तः करणेन वा स्थातुमि-
च्छेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथमुनिः मननशीलो ब्रह्मैकचिन्तन
शीलस्तन्निदिध्यासनपरो भवेत् । अमौनञ्च श्रवणमनने मौनञ्च
निदिध्यासनं निर्विद्यतत्सिद्ध्यवस्थाम्प्राप्याथ ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः ।
ब्राह्मणः श्रवणमननान्तरं निदिध्यासनपरो भवेदिति भावः ॥४६॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ३।४।४७।

ननु यदि सर्वाश्रमेषु मौनतृतीयसचिवाब्रह्मप्राप्तीसाधनीभूता
विद्योपदिश्यते कथं तर्हि 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि
सम्पद्यते न स पुनरावर्तते' [छा० ८।१।५।१] इति गार्हस्थ्येन याव-
दायुषं स्थितिः संभवतीत्याशंकायामाह 'कृत्स्नभावात्तु' इत्यादि ।

ननु यदि सर्वाश्रमे विद्यमानानां पुरुषधौरेयाणां ब्रह्मप्राप्तिफलिकातत्तदाश्रमधर्म
निदिध्यासनसहकृता विद्याप्रादुर्भवेत्तदा छान्दोग्ये अभिसमावृत्य इत्यारभ्य' न स
पुनरावर्तते इत्यन्त प्रकरणेन द्वितीयाश्रममधितिष्ठत एव फलप्राप्तिः कथं प्रतिपादिता ।
एतादृश पुरुष से सम्पादित श्रवण को पाण्डित्य कहते हैं । एतादृश पाण्डित्य को
निश्चयतः निर्विद्य प्राप्त करके बाल्य से ज्ञानबलभावात् रूप मन से अथवा विशुद्ध अन्तः
करण से स्थित होने की इच्छा करे । बाल्य मनन तथा पाण्डित्य को निर्विद्य=प्राप्त
करके इसके बाद मुनि अथवा मननशील होवे अर्थात् ब्रह्मैकचिन्तन ब्रह्म के निदिध्यासन
परायण होवे । तथा अमौन अर्थात् श्रवण मनन तथा मौन निदिध्यासन लक्षण को मौन
प्राप्त करके ब्राह्मण होवे । ऐसा अर्थ उदाहृत बृहदारण्यक श्रुति का है । अर्थात् श्रवण मनन
करने के बाद निरन्तर ब्रह्मचिन्तन लक्षण जो निदिध्यासन उसमें ब्राह्मण सर्वदा संलग्न
होवे ऐसा प्रकरण का अभिप्राय है ॥४६॥

यदि सब ब्रह्मचर्यादि चतुर्थाश्रम पर्यन्त आश्रमों में मौन निदिध्यासन सहकृत
ब्रह्म प्राप्ति में साधनीभूत विद्या का उपदेश होता है तत्र "अभिसमावृत्यकुटुंबेषु शुचौदेशे"
यहाँ से आरंभ करके "स खल्वेवं वर्तयन्" इत्यन्त प्रकरण से यावदायुः पर्यन्त जो स्थितिक
काया है वह किस तरह संगत होगा ? अर्थात् इस छान्दोग्य प्रकरण से जो यह सिद्ध होता

तु शब्दः शंकाव्यावर्तकः। सर्वेष्व्वाश्रमेषु विद्यायाः संभवात् सर्वेष्व्वाश्रमिणः स्वाश्रमकर्मानुष्ठानं कुर्वन्तः परमात्मानं चिन्तयन्त कैमुतिकन्यायेन ब्रह्मलोकं सम्पद्य न पुनरावर्तन्ते। इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं गृहस्थधर्मेणोपसंहार इति ॥४७॥

५॥ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ३।४।४८॥ ५॥

‘तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः’ ‘ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति’ इत्यत्र ‘अथ मुनिरित्यत्र च वाक्ये’ ‘पुत्रौषणा-एतत्तदेव संभवेद् यद्यन्यत्र विधानसंभवेत् परन्तु नैवं सर्वत्रापितत्प्राप्तेः प्रतिपादनादित्याशंकायाः समाधानाय सूत्रान्तरं दर्शयितुमुपक्रमते ननु यदि सर्वाश्रमेषु इत्यादि। सत्य इत्यादि सत्यं सर्वत्र संस्थितस्य विद्याभवतुनाम। गृहिणोपसंहारस्तु परमपुरुषचिन्तनपर स्यातिसरलतया मोक्षावाप्तिर्भवतीति दर्शयितुं गृहिणोपसंहारः कृतः। नहि भगवद्भक्ति कमप्याश्रमविशेषमधिकृत्य प्रवर्तते सा तु सर्वत्र समानरूपेण साक्षात्कारं कारयित्वा भगवच्चिन्तापरायणान् संसारसागराद्विमोचयतीत्यधिकमन्यत्रानुसंधेयमिति ॥४७॥

ननु यथा प्रथमद्वितीयाश्रमधर्माणां विद्यायां सहकारिता तथैव तदितराश्रम-हे किं गृहस्थाश्रम में विद्यावान् व्यक्ति को ही विद्या प्राप्त होती है, तब सर्वाश्रम साधनता का कथन अयुक्त प्राय है, तथापि भगवत् कृपागुगृहीत को सरलतया मोक्ष सिद्ध होता है। इस बात को बनलाने के लिये गृही से उपसंहार किया है। तु शब्द जो सूत्रघटक है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है। सब आश्रम में विद्या का संभव है। सभी आश्रमी स्वकीय स्वकीय आश्रमधर्म का अनुष्ठान करते हुए तथा अनन्यमन से परमात्मा का अनुचिन्तन करते हुए “कैमुतिक” न्याय से अर्थात् अतिसरलता रूप से ब्रह्मलोक को प्राप्त करके वहां से पुनः इस मानव आवर्त में लौट करके नहीं आते हैं” इस बात को बनलाने के लिये गृहस्थ धर्मों से छान्दोग्य में उपसंहार किया गया है। अर्थात् जब अनेक विक्षेप से उपप्लुत गृहस्थाश्रम से भी विद्या की प्राप्ति है जो कि मोक्ष कारण है, तब ब्रह्मचर्यादि आश्रम धर्म का पालन करने वाले को एतादृश विद्या की प्राप्ति होगी इसमें तो कहना ही क्या है। इसी लिये कहा है ‘भगवद्दर्मं तत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसेत्। जठीमुण्डी शिखीवापि मुच्यते नात्र संशयः’ इति ॥४७॥

याश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'
[बृह० ३।५।१] इतिपरिव्राजकधर्मेणोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः ।
कुतः ? मौनादिवदितरेषामप्याश्रमधर्माणां यज्ञदानतप आदीना-
मुपदेशात् । तस्मादत्र मौनं विद्यासहकारितया विधीयते ॥४८॥

इति आनन्दभाष्ये सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१२॥

धर्माणामपि सहकारिता समानेव नतु प्रथमद्वितीयोः साक्षात् सहकारकत्वदर्शनेन
तदन्यवानप्रस्थपरिव्राजकाश्रमधर्माणामुपेक्षेत्यादिकं दर्शयितुमग्निमसूत्रमवतारयितु
मुपक्रमते तप एव द्वितीय इत्यादि । यथा गृहस्थधर्मेणोपसंहारः तथैव तप एव द्वितीय
इत्यारभ्य भिक्षामाचरन्ति इत्यन्तपरिव्राजकधर्मेणोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनपरक
एवं । यतः तपः प्रभृतीनामप्युपदेशस्य शास्त्रे प्रदर्शनादिति मौनं विद्यासहकारितयो-
पदिश्यते एवेति । अर्थात् नात्र मौनस्यानुवादः किन्तु पाण्डित्यादिवत् विधानमेवे-
त्यधिकरणस्याशेषस्याभिप्रायः । विशेषोऽन्यत्र जिज्ञास्य इति ॥४८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१२॥

‘तप ही द्वितीय है ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासतृतीय हैं’ ब्रह्म संस्थ अर्थात् ब्रह्म में निष्ठा
स्थिति है जिसको एतादृश पुरुष अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है” इस स्थल में । और
‘अथमुनिः’ इस वाक्य में ‘एवं’ पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से निवृत्त होकर के भिक्षा वृत्ति
को स्वीकार करते हैं अर्थात् परिव्राजक धर्म अनुसरण करते हैं’ इत्यादि स्थल में परिव्राजक
धर्म से उपसंहार किया गया है वह सर्वाश्रम धर्म का प्रदर्शनपरक है । क्योंकि मौन की तरह इतर
आश्रम धर्म यज्ञदान तप स्वाध्यायादिक का भी शास्त्र में उपदेश किया गया है । इसलिये
प्रकृत प्रकाण में विद्या सहकारी रूप से मौन का विधान किया गया है, नतु मौन का प्रकृत में
अनुवाद मात्र है । इति संक्षेपः ॥४८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१२॥



अथानाविष्काराविकरणम् ॥१३॥

५ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ३।४।४९। ५

‘तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्’ [बृह- ३।५।१] इत्यत्र ब्रह्मविदां स्वस्मिन् बाल्यमाविष्करणीयमिति श्रूयते। तत्र बालस्य क्रीडनादिकं सर्वकर्मविदुषोपादेयमाहोस्वित्तदवमानादिरहितत्वमेव विशेषकमेति संशयेऽविशेषादखिलं बालकर्मोपादेयमिति प्राप्तेऽभिधीयते ‘अनाविष्कुर्वन्निति । यथाबालः स्वभावशुद्धिपूर्वकं स्वाभिजनादिकमनाविष्कुर्वन् मानापमानौपरिहाय वर्तते तथा विदुषा वर्तितव्यम् । तदेव तस्य कर्मचोपादेयं नतु शौचाचाराहित्यं तिष्ठन्मूत्रोच्चारादिकमपि । कुतः ! अन्वयात् । विद्यानुकूलानामेव

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् अत्र श्रुतौ विद्यावतां पाण्डित्यप्राप्तेरनन्तरं बाल्यं श्रुतम् बाल्यं च बालस्यभावो बाल्यं बालकस्य कर्म तदत्र बालकस्य यत् स्वेच्छाचारभक्ष्याभक्षणादिकं तत्सर्वमुपादेयं विदुषा, अथवा दंभादिकमपि ग्राह्यमिति संशयः । इदमेव कर्मग्राह्यमित्याकारकविशेषस्याप्रतिपादनान् सर्वमेव बालकर्म ग्राह्यम्, संकोचे कारणाभावात् तथा च स्वेच्छाचारभक्ष्याभक्ष्यादिकं सर्वमेव ग्राह्यमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु दंभादिराहित्यमेव विदुषा ग्राह्यम् । अन्यथा निषेधशास्त्रस्य

“इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके बालभाव से रहे” इस श्रुति में विद्वान् को अपने में बालभाव का आविष्करण करना चाहिये ऐसा सुन ने में आता है । यहां बालक का जो स्वेच्छाक्रीडनाभक्ष्यभक्षणादि निखिल कर्म का सेवन विद्वान् करे: अथवा दंभादि राहित्य जो बालकर्म है ताबन्मात्र का अनुसरण करें, ऐसा संशय होता है ।

इस संशय के बाद पूर्वपक्षी कहते हैं कि अमुक कर्म काही सेवन करना अमुक कर्म का सेवन नहीं करना, एतादृश विशेषनियामक का आभव होने से विद्वान् को अखिल बालकर्म उपादेय है । इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘अनाविष्कुर्वन्निति’ जिसतरह बालक स्वभावशुद्धि पूर्वक स्वकीय देश प्रदेशादिक का अनाविष्करणपूर्वक मानापमान को परित्याग करके रहता है उसी तरह विद्वान् को भी रहना चाहिये । अर्थात् जिसतरह दंभादिरहित होकर के बालक रहता है उसी तरह दंभादि रहित होकर के ही विद्वानों को भी रहना चाहिये। ताबन्मात्र

बालकर्मणामन्वयात् । शौचाचारादित्यादीनान्तु विद्याविरोधितयाऽन
न्वयात् । तथा च श्रुतिः 'नाविस्तोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमा-
हितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' [का० २।२४]
इति । 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिरिति च ॥४९॥

इति आनन्दभाष्येऽनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

लङ्घने पातित्यप्रसङ्गात् । अभक्षणादिकरणे च विद्वराहादितुल्यता च विदुषां
प्रसङ्गात् । तस्मादंभादिराहित्यमेव बालकर्माचरणीयं विदुषां नतु शास्त्रप्रतिषिद्धं कर्मापि
सेवनीयम् । किञ्च प्रतिषिद्ध कर्माचरणे पापोत्पत्तिः स्यात् । ततश्च पापमलिनीकृतेऽन्तः
करणे विद्यैव नोत्पद्येत् । उत्पन्नापिवा नो स्थिरा स्यात् । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य
कर्मणः इति स्मृतेः । तस्मादखिलं बालकर्म विदुषां नो सेवनीयं किन्तु दंभादिराहित्य
मेव सेवनीयमित्यादिकं सर्वमावेदयितुं सूत्रान्याख्यातुंचोपक्रमते तस्माद् ब्राह्मण इत्यादि
भाष्यम् । भाष्याशयो न तिरोहित इति ॥४९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

दंभादिराहित्यमात्र बालकर्मका सेवन करे' विद्वान्, नतु शौचाचारादि रहित होकर के मूत्रपुरीषादिक
को भी ग्रहण करे'। क्योंकि 'अन्वयात्' विद्या के अनुकूल अर्थात् ब्रह्मविद्या के अविरोधी
बालकर्मका ही अन्वय सम्बन्ध अपेक्षित है । शौचाचार राहित्यादिक जो कर्म है, उसको विद्या
का विरोधी होने से, तादृश कर्म अपेक्षित नहीं है। श्रुति भी कहती है 'नाविस्तो दुश्चरितादित्यादि'
जो पाप कर्म से रहित नहीं है, उसको विद्या प्राप्त नहीं होती है। (यं न सन्तं न चासेतनाश्रतं न बहु
श्रुतम् । न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेदकश्चित्स ब्राह्मणः ।) 'गूढ धर्माश्रितो विद्वान् ज्ञानचरितं चरेत् । अन्धवज्र
इव च्चापि मुक्त्वच्च भङ्गीश्चरेदिति, ।, अव्यक्त लिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इति । एवम् 'आहार का
पवित्रता से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, और अन्तःकरण के पवित्र होने पर ध्रुवानुस्मरण होता
है' इत्यादि कथन से सिद्ध होता है कि दंभादिराहित्य लक्षण बालकर्ममात्रका उपादान विद्वान्
करे नतु स्वेच्छामात्र से आचारण करे । अन्यथा विद्वराहादि तुल्यत्व तत्त्वज्ञानी को भी
हो जायगा । अन्यत्र कहा भी है, विद्वराहादि तुल्यत्वमाकाक्षीस्तत्त्वविद्भवानिति संक्षेपः ॥४९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्य प्रकाशे अनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

अथैहिकाधिकरणम् ॥१४॥

५ ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे

तद्दर्शनात् ३।४।५०। ५

किं विद्योत्पत्तिरिहैव जन्मन्युतामुष्मिन्नपीति संशये किं युक्तं ? इहैव जन्मनि विद्याममास्त्विति कामनयाऽनुष्ठितैः कर्मभि रैहिकमेव विद्याजन्मेति प्राप्तेराह—ऐहिकमपीति । विद्यार्थमनुष्ठितं फलोन्मुखं कर्म प्रस्तुतमित्युच्यते । तेन कर्मणा प्रतिबन्धाभावे सत्यै हिकं विद्याजन्म भवति । प्रतिबन्धे सति त्वमुत्रापीत्यनियम एव नत्वि हैवेति नियमः । कुतः ? तद्दर्शनात् । श्रुतौ प्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्या-

येयं विद्यास्वकार्यायापेक्षते सा किं स्वसाधनेनैवेहजन्मन्येवोत्पद्यते, जन्मान्तरेवेति संशयः । तत्र समर्थकारणस्यैवायोगादिति न्यायेन स्वकीयाश्रमधर्मानुष्ठानेनश्रवणादि कारणेनात्रैव जन्मनि स्यात् साधनसंपत्तौ साध्यस्य विलंबे मानाभावादिति साधनजन्मनि एव, साध्यविद्यायाः संभव इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु ऐहिकमपीत्यादि फलात्मिका विद्या इहापि भवति जन्मन्तरे वा भवतीति नियम उभयथापि दर्शनात् । अयमाशयः

विद्या सर्वाश्रम धर्म सापेक्ष है, क्योंकि यागादि का प्रतिपादक श्रुतिसमर्पित होने से' इत्यादि प्रकरण से बहुत विचार किया गया है। वह विद्या दो प्रकार की है: अभ्युदय फलक तथा मोक्षफलक भी है । यह विद्या स्वकीय साधन द्वारा इसी जन्म में उत्पन्न होती है अथवा जन्मान्तर में उत्पन्न होती है' इस बात पर विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं 'किंविद्योत्पत्तिरिहैवजन्मनीत्यादि' क्या अभ्युदय फलवती तथा मोक्ष फलवती दोनों प्रकार की विद्या स्वकीय स्वकीय साधन द्वारा इसी जन्म में उत्पन्न होती है, अर्थात् जिस जन्म में साधन का संचय किया गया है तजन्मावच्छेदेनैव विद्या की उत्पत्ति हो जाती है, अथवा जन्मान्तरावच्छेदेन भी उत्पन्ना होती है ? अर्थात् साधन काल तथा साध्य काल विभिन्न है ?

ऐसा संशय होता है । तो इसमें क्या मानना युक्त है ? ' इस जन्म में ही मुमुक्षुको विद्या प्राप्त होवे, एतादृश कामना से लोग कर्म का अनुष्ठान करते हैं, तो एतादृश साधना

मनियमस्य दर्शनात् गर्भस्थ एव । एवञ्च वामदेवः प्रतिबुबुधे ब्रह्म-
भावमिति जन्मान्तरानुष्ठितस्य कर्मणः फलजन्मान्तरे दर्शयति ।
सविप्रतिबन्धे तु विद्योत्पत्तिर्दुर्लभा । 'यदेवविद्यया करोति' [छा.
१।९।१०] इत्युद्गीथविद्यावतः कर्मणोऽप्रतिबन्धस्य दर्शनात् ॥५०॥

इति आनन्दभाष्ये ऐहिकाधिकरणम् ॥१४॥

कार्यमात्रं प्रतिप्रतिबन्धकाभावस्य कारणतेति नियमः । तथा च यत्र प्रतिबन्धकं विद्यते
तत्र जन्मान्तरे फलं विद्याया जायते । यत्र च प्रतिबन्धकसद्भावो न भवति तत्र तदैव
विद्या जायते । प्रतिबन्धकसद्भावासद्भावौ कार्यत उन्नेयौ । एतत्सर्वं दर्शयितुमुपक्र-
मते किं विद्योत्पत्तिरिहैवेत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥५०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे ऐहिकाधिकरणम् ॥१४॥

नुष्ठान से इस जन्म में ही विद्या का जन्म होना चाहिये, क्योंकि जब जिस शरीरावच्छेदेन
साधन है तत् शरीरावच्छेदेनैव कार्य को होना उचित है, अन्यथा कार्य कारण का जो सामा-
नाधिकरण्य का नियम है वह व्यवस्था अस्त न्यस्त हो जायगी । सामानाधिकरण्य देश काला-
धारित होता है । यदि शरीरान्तर से साधन सद्भाव रहे, तथा शरीरान्तर में साध्य रहे तब
उपर्युक्त व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी । इसलिये जिस जन्म में साधन है उसी जन्म में विद्या की
उत्पत्ति होती है, ऐसा अभिप्राय है पूर्वपक्षवादियों का इस पूर्वपक्ष के उत्तर में दृढ़ते हैं कि
'ऐहिकमपीत्यादि' विद्या के लिए अनुष्ठित फलोन्मुख जो कर्म उसको प्रस्तुत कहते हैं । यदि
प्रतिबन्धक कर्मान्तर का अभाव रहता है तब फलोन्मुख कर्म से इस जन्म में भी विद्या का
जन्म होजा है, अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र के प्रतिकारण होता है ऐसा नियम है । जो
यदि कोई प्रबल प्रतिबन्धक कर्म न हो तो इस जन्ममें ही विद्या का उत्पाद हो जाता है । और
कदाचित् कोई प्रतिबन्धक रहे तब तो जन्मान्तर में फलोदय होता है । इसलिये कोई नियम
नहीं है कि इसी जन्म में ही विद्योत्पाद हो । क्योंकि ऐसा देखा जाता है । श्रुति में प्रतिबन्ध
तथा अप्रतिबन्ध से अनियम देखने में आता है । क्योंकि गर्भस्थित ही वामदेव ऋषि ने ब्रह्मभावको
जान लिया । इस प्रकार जन्मान्तरानुष्ठित कर्म का जो फल है, उसको जन्मान्तर में बतलाया
है । प्रतिबन्धक के सद्भाव में तो विद्या की उत्पत्ति असंभवित है (जिस तरह सूर्यकान्तमण्यभाव
विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के सद्भाव काल में इन्वनादि समभिव्याहत वहि से कार्य जो दाह

॥ एवं मुक्तिफलानियमस्तद-

वस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ३।४।५१। ॥

किं विद्यायामुत्पन्नायामिहैव जन्मनि मुक्तिर्जन्मान्तरेवेति संशये विद्योत्पत्तौ सत्यामिहैव मुक्तिर्भवतीति प्राप्तेराह—एवं मुक्ति फलानियम इति । यथा कर्मणां पौष्कल्ये इहैव विद्याजन्म भवति न चान्यथा । तथा सततस्मृतिरूपायां विद्यायां सत्यामिहैव जन्मनि ब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिरूपपयते । अन्यथा जन्मान्तरेऽपि सम्पद्यते ।

ननु यदास्वकारणकूटसहकारेण यत् शरीरावच्छेदेन विद्याप्रादुर्भूता ततः सा तच्छरीरावच्छेदेनैव निरतिशयसुखात्मकं स्वफलं मोक्षं समुत्पादयति नियमतः, अथवा शरीरान्तरावच्छेदेन फलं जनयत्यनियमतः इति संशयः ।

पूर्वपक्षस्तु यच्छरीरावच्छेदेन ब्रह्मविद्या जायते तच्छरीरावच्छेदेनैव स्वफलं जनयति कारणस्वाभाव्यात्. कारणं हि कार्योत्पत्तिव्याप्यं भवतीति । यदा च दण्ड-चक्रादिकारणसामग्री भवति तदानियमतः कार्यं भवत्येव. अन्यथा कालान्तरेऽपि घटो-स्फोटादि लक्षक है सो नहीं होता है तद्वत् प्रकृत में समझना चाहिये ।)

‘यदेव विद्यया करोती तदेव वीर्यवृत्तं भवति’, इत्यादि स्थल में उद्गीय विद्यावान् के कर्म का अप्रतिबन्ध है । अर्थात् यदि प्रबल प्रतिबन्धक कारण से विद्योत्पादक कर्म प्रतिबद्ध होता है तब उस जन्म में विद्या उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जन्मान्तर में विद्या होती है और प्रतिबन्धक कर्मान्तर नहीं हो तब उस जन्म में भी विद्या का उत्पाद होता है । इति संक्षेपः ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे रेहिवाधिकरणम् ॥१४॥

स्वकीय कारण का समवधान रहने पर भी जिस तरह विद्योत्पाद अनियम को बताया गया है . उसी तरह विद्या का उदय होने के बाद उसी जन्म में मोक्ष हो जाता है अथवा जन्मान्तरावच्छेदेन मोक्ष होता है . ऐसा अनियम को बतलाने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘किं विद्यायामुत्पन्नमिहैव ज्ञेयादि’ ।

अतोऽनियमः । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' [छा. ७।२६।२] इति ध्रुवायाः
स्मृतेरेव कर्मबन्धविमुक्तिहेतुत्वावधारणादिति सर्वमनवद्यम् । अभ्या-
सोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥५१॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥

त्पत्तिः कथमपि न स्यात्. अपेक्षकान्तरस्याभावात् । तद्वत् प्रकृते मोक्षकारणविद्यायाः
सद्भावात्. तद्व्यवहितोत्तरकाले यच्छरीरावच्छेदेन विद्यासमुत्पन्ना तच्छरीरावच्छेदे-
नावश्यमेवकार्यं मोक्षमुत्पादयतीति नियमः ।

सिद्धान्तस्तु—यथा सकलकारणसमवधानेपि प्रतिबन्धकाभावाभावापराधेन विद्या
तच्छरीरावच्छेदेन नोदेति प्रतिबन्धकाभावेतु शरीरावच्छेदेन तच्छरीरावच्छेदेनापि समु-
देति इत्यनियमस्तथैव समुत्पन्ना विद्यापि यदि प्रतिबन्धकाभावसहकृता भवति. तदा य-
च्छरीरावच्छेदेन सा भवति तच्छरीरावच्छेदेनैव शरीरान्तरावच्छेदेन वा समुत्पादयति
मोक्षमितीहापि. विद्यातत्कार्ययोरनियमपक्ष एव श्रेयानिति सूत्रस्य भावं मनसि निधाय

क्या विद्या का उत्पाद हो जाने के बाद एतज्जन्मावच्छेदेनैव मोक्षोत्पाद होता है .
अथवा जन्मान्तरावच्छेदेनैव मोक्ष होता है ? ऐसा संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि
जब स्वकारण से अविकल रूप से विद्या का उत्पाद हो गया तब उसी जन्म में मोक्ष हो जाता
है . क्योंकि सामग्री कार्योत्पत्ति व्याप्य होती है जब कारण सद्भाव है तब कार्य अवश्य होगा ?
इस पूर्व पक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ' एवं मुक्ति फलानियम ' इत्यादि । जिस तरह
विद्योत्पत्ति में अनियम है - उसी तरह मुक्ति में भी अनियम है । इसका स्पष्टीकरण भाष्यकार
करते हैं ' यथा कर्मणामित्यादि ' जिस तरह यागादि लक्षण कर्मका पौष्कल्य होने से इसी जन्म
में विद्या उत्पन्न होती है अन्यथा कारण समवधान में नहीं होती है । उसी तरह सतत स्मृति
लक्षण विद्या का सद्भाव रहने से इसी जन्म में ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष उत्पन्न होता है । यदि
कारण का पौष्कल्य नहीं तब जन्मान्तर में मोक्ष होना है । अतः यहाँ अनियम ही है .
कोई विशेष नियम नहीं है । क्यों ? ऐसा होता है ! इसके उत्तर में कहते हैं ' तदव-
स्थावधृतेः ' इति ।

सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते किं विद्यायामुत्पन्नायामित्यादि सूत्रावतरणेनैव भाष्यभावः स्फुटीकृत इति नो भाष्यं पुनर्व्याख्यातमिति । सूत्रावयवस्य द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतयति । इदमीयोविशेषविचारोऽन्यत्रान्वेषणीयः पूर्वाचार्यप्रवन्धाविति कृतं पल्लवितेनेतिदिक् ५१

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठ संस्थापकाचार्य

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्तमाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

५१ सर्गेश्वर श्रीसीतारामार्पणमस्तु ५२

'आहार की शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण के पवित्र होने से ध्रुव स्मृति होती है, ध्रुव स्मरण की प्राप्ति होने से सर्व हृदय प्रणियों का विमोक्ष हो जाता है' । इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में ध्रुव स्मरण को ही मोक्ष कारण रूप से प्रतिपादित किया है । इसरिये जहाँ ध्रुवस्मरण रहेगा वहाँ अवश्यमेव मोक्ष होगा । इस तरह प्रकृत विचार निर्दृष्ट सिद्ध होता है । 'तद्वत्स्थाववृतेः' इस सूत्रावयव का जो द्विवचन है वह तृतीयाध्याय का समाप्ति बोधक है, अर्थात् इस चतुर्थपाद के साथ तृतीयाध्याय समाप्त हुआ ॥५१॥

यत्कृतं बहुयत्नेन भाष्याक्षरविवेचनम् । तदनेन रमानायोगरामस्तुष्यतु सर्वदा ॥१॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठसंस्थापकाचार्य

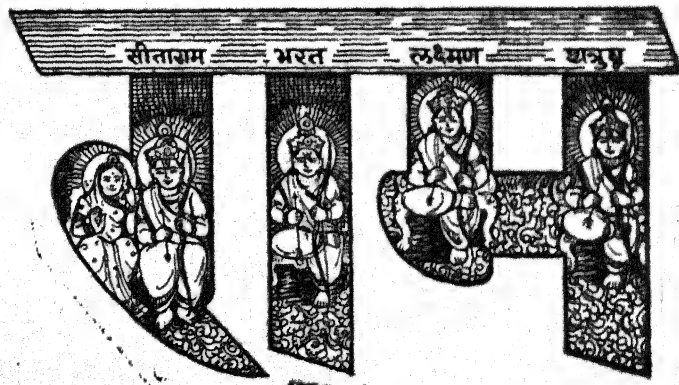
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र सच्चिद्विषय

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

५३ श्रीरामः शरणं मम ५४



श्रीरामचन्द्रायनमः

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शरीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ५

अथावृत्यविकरणम् ॥१॥

एतावता ग्रन्थेन चिदचितोर्व्रक्षणः शरीरभूतयोः स्वरूपं चिद-
चिद्विशिष्टस्याखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणसागरस्य परात्परस्य
पुरुषोत्तमादिपदवेद्यस्य परब्रह्मणश्च स्वरूपमवधारितम् । एवं परमपुरु-
षानुभवलक्षणमोक्षैकफलकसहकारिकर्मकलापालंकृतं विद्यापदबोध्यं
ब्रह्मोपासनमपि गतेनैव ग्रन्थेन विचिन्तितम् । तदन्तःपातिप्रसङ्गानु-
मोदितमन्यदपि विचारितम् । अथाधुनाऽस्मिन्नध्याये परमपुरुषार्थ-
मोक्षरूपविद्याफलमेव विविच्यते । तत्र प्रथमद्वितीयाभ्यां पादाभ्यां
विद्यास्वरूपम् फलञ्च तदुद्दिश्य विदुषः समुत्क्रमणप्रकारश्च विचि-
न्त्यते । तृतीयचतुर्थाभ्याञ्चार्चिरादिमार्गस्य गतेश्च निर्णयः समुपा-
सनस्यान्तिमफलविचारश्च क्रियते । तत्रादिमेनानेनाधिकरणेन विद्या
स्वरूपं विचार्यते ।

विनासाधनं साध्यसिद्धिर्नभवति, नहि कपालादिसामग्र्यभावेघटनिष्पत्तिर्भवति
सतितु साधनसमुदाये निष्पत्तिर्जायते, इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधनं साधनं भवति
नान्यथा । प्रकृते साध्यस्य मोक्षस्य साधनार्थं तृतीयाध्यायेनोपासनादिविषयकोविचारः

प्रथमाध्याय से लेकर के तृतीयाध्यायान्त प्रकरण से ब्रह्म का शरीर लक्षण जड़ चेतन
के स्वरूप का तथा स्थूल सूक्ष्म साधारण चिदचिद् विशिष्ट शरीरी समस्त हेय गुण का विरोधी
जो अनन्त कल्याण गुण तादृश गुणों का सागर परात्पर पुरुषोत्तमादि पद वेद्य जो परब्रह्मभगवान्
श्रीरामचन्द्रजी हैं उनके स्वरूप का भी निर्णय किया गया गत प्रकरण से । एवं परम पुरुष के

५ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ४।१।१ ५

‘आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः’ [बृ.४।५।६] ‘ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति’ [मु.३।२।९] ‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्’ (मु. ३।१।३) ‘तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति’ [श्वे० ३।८] इत्यादिष्वौपनिष-
देषु वाक्येषु ब्रह्मप्राप्तिसाधनतया विहितं ध्यानवेदनादिकं किं सकृदेव
कर्त्तव्यम् आहोष्वित्तस्यावृत्तिरिति संशये सकृत्कर्त्तव्यम् । कुतः ?

प्रायः कृतः । तच्च साधनं प्रकृते वेदनादिकमेव । तच्चोपासनकस्य कस्येति जिज्ञा-
सायां परमपुरुषस्य हेयप्रत्यनीकाशेषकल्याणगुणसागरस्य सूक्ष्मासूक्ष्मजडचिच्छरीर-
स्यैवेति । ततश्च तादृशमहापुरुषस्य स्वरूपं जडचेतनानां स्वरूपं च लक्षणप्रमाणाभ्याम्-
‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यारभ्या तृतीयान्तगतप्रकरणेन विचार्य ततः फलस्वरूपं निरूप-
यितुमुपक्रमते भगवान् भाष्यकारः एतावताग्रन्थेन इत्यादि । तत्र प्रथमं द्वितीयाभ्याम्
शरीरशरीरिणोर्जडचेतनयोः परात्मनश्च स्वरूपावधारणं कृतम् । तृतीयेन तु साधनस्य
वेदनादिपर्यायस्य समुपासनस्य स्वरूपावधारणं कृतम् । चतुर्थे वेदनफलफलस्यार्चिर्ग-
अनुभव लक्षणैक फलक सहकारी यागादि कर्म कलाप से अलंकृत युक्त विद्यापद बोध्य जो
उपासन उसका भी गत प्रकरण से अनुचिन्तन किया गया । और इन सब विषयों के अन्तर्गत
प्रसङ्ग प्राप्त अन्य कतिपय पदार्थों का भी विचार किया गया है । अब इसके बाद इस चतुर्थ
अध्याय में परम पुरुषार्थ मोक्ष रूप जो विद्या का मुख्य फल है उसका विवेचन करते हैं । इस
में भी प्रथम द्वितीय पादों से विद्या का स्वरूप तथा फल के स्वरूप को बतला करके विद्वान्
के समुत्क्रमण प्रकार का विवेचन किया जाता है । और चतुर्थाध्याय के तृतीय चतुर्थ पादों
से अर्चिरादि मार्ग का तथा गति का निर्णय किया जायगा तथा उपासना का अन्तिम फल जो
दिव्यधाम श्रीसाकेत प्राप्ति है उसका भी विचार होगा । इसमें प्रथम जो अधिकरण है उसके
द्वारा विद्या स्वरूप का निश्चय किया जाता है —‘आवृत्तिरसकृदुपदेशात्’ इति ।

‘हे मैत्रेयि ! यह परमात्मा दर्शन योग्य है, श्रवण करने के योग्य है, तथा मनन करने
के योग्य है’ ‘जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है’ (अर्थात् ब्रह्मज्ञानवान्
ब्रह्म के गुणादि स्वरूप को प्राप्त करता है । यहां ब्रह्मज्ञानवान् उद्देश है और भगवत् प्राप्ति
विधेय है । और विधेय में उद्देश्यतावच्छेदक प्रयोक्तृत्व होता है ऐसा नियम है, विधेयजन्य

‘ब्रह्मविदानोति पर’ मिति ब्रह्मवेदनमात्रस्य तत्प्राप्तिहेतुत्वश्रवणा-
दतो ज्योतिष्टोमादिवद्यथाश्रुतम् सकृदेव कर्तव्यमितिप्राप्तेऽभिधीयते-
आवृत्तिसकृदुपदेशादिति । ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या ।
कुतः ? ‘असकृदुपदेशात् ‘निदिध्यासितव्यः’ (बृ० ४।५।६) इति याज्ञ
वल्क्येनात्मदर्शनसाधनत्वेनासकृद्ध्यानस्य कर्तव्यत्वोपदेशात् । नि-

दिगत्यादेशच विचारं करिष्यति । तत्राप्यादौ किमप्यवशिष्टं साधनमेवाश्रित्य विचारं
प्रदर्श्य फलविचारं करिष्यति । प्रसङ्गागतं किमप्यन्यदपि विचारयिष्यतीतिभावः ।

तत्र प्रथमत आह आवृत्तिसकृदुपदेशादिति ‘हे मैत्रेयि ! अयं परमात्मादर्शनविषयः
कर्त्तव्यस्तदर्थं श्रवणादिकं विधेयम्’ ‘तं परमात्मानं ज्ञात्वा अतिमृत्युमाप्नोत्युपासकः’
इत्यादि स्थले मोक्षोपायतया ध्यानवेदनादिकमवगतम् । तत्र ध्यानादिकं सकृदेव कर्त्त-
व्यं होता है तथा उद्देश्यतावच्छेदक जनक होता है । जैसे ‘धनवान् सुखी’ इस स्थल में धनवान्
को उद्देश्य करके सुख का विधान किया जाता है, तो धनवान् उद्देश्यतावच्छेदक है तो तादृश
धन प्रयोज्यत्व विधेय सुख में लब्ध होता है । तथा ‘उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्न भी विधेय
में होता है’ यह भी एक नियम है । इसलिये धनकाल में ही सुख होता है । तद्व्यतिरिक्त
में नहीं होता है । इसी तरह प्रकृत में ब्रह्मवेदन जो उद्देश्यतावच्छेदक है, तत्प्रयोज्यत्व ब्रह्मभवन
में होता है ।)

एवं ‘सुवर्णवत् देदीप्यमान इस परमात्माको ध्यान द्वारा यह जीवसाक्षात्कार करता है तब पुण्य
पाप को छोड़ करके सर्वदुःख रहित होकर सर्व शरीरी परमात्मा के साथ परम समता को प्राप्त
कर जाता है’ ‘उस परमात्मा को ही जान करके अतिमृत्यु मोक्ष को प्राप्त कर जाता है’ ।

इत्यादि औपनिषद् वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति में साधन रूप से विहित-प्रतिपादित जो ध्यान
तथा वेदनादिक है, तादृश ध्यान वेदनादिक का अनुष्ठान उपासक को एक ही बार करना
चाहिये, अथवा बारबार करना चाहिये ? ऐसा संशय होता है ।

एतादृश संशयके बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सकृत् एक बार ही उपासन करना चाहिये ।
क्योंकि ‘ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को प्राप्त कर जाते हैं’ इत्यादि श्रुति में ब्रह्मज्ञान मात्र को ब्रह्म
प्राप्ति में हेतु रूप से कथन किया है, नतु असकृदावृत्त ब्रह्मज्ञान को कारण रूप से प्रतिपादन
किया है । अतः ‘ज्योतिष्टोमादि’ याग की तरह सकृदेव कर्त्तव्य है । अर्थात् जिस तरह

दिध्यासनपदस्यासकृद्ध्यानार्थकत्वात् । असकृन्निदिध्यासनमन्तरेण परमात्मसाक्षात्कारानुपपत्तेः । 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा०७।२६।२) इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेरपि ध्रुवत्वमचलत्वं तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथा नुपपद्यमानं स्मृतेः सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति । उपास्यविष

यम् वारं वारं वा कर्त्तव्यमिति सशयः । सकृदेव कर्त्तव्यं प्रयाजादिवत् यदादर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजाद्यंगजातस्य सकृदेवानुष्ठानं भवति तावतैव तद्विधायकशास्त्रस्य चरितार्थत्वात् । ननु तत्रावृत्तिरशास्त्रार्थत्वात् । तथैव प्रकृते वेदनाद्यावृत्तिर्न करणीया । अश्रुत्वान् अश्रुतस्यकरणेऽशास्त्रार्थः सम्पादितो भवेदिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु ध्यानादीनामावर्तनं फलपर्यन्तं कर्त्तव्यमेव, अपघातादिवत् यथा यावत्पर्यन्तं तण्डुलात्मकफलनिप्रयाज, अनुयाज तथा ज्योतिष्टोमादिक याग एकवार ही अनुष्ठित होता है नतु असकृत अनुष्ठित होता है, एक बार अनुष्ठान करने से ही तत्प्रतिपादक शास्त्र चरितार्थ हो जाता है, उसी तरह प्रकृत में वेदनादिक का सकृत् करण ही युक्त है । यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

एतादृश प्रश्न के समाधान में सूत्रकार सिद्धान्त बतलाने हैं 'आवृत्तिसकृदुपदेशात्' इति । ध्यान वेदनादिक का आवर्तन अवश्य करना चाहिये । क्योंकि असकृत् उपदेश किया गया है । 'निदिध्यासन करना चाहिये' इस प्रकार से याज्ञवल्क्य महर्षिने आत्मदर्शन के साधन रूप से असकृत् ध्यान में कर्त्तव्यता का उपदेश किया है । निदिध्यासन पद असकृत् ध्यानार्थक है, असकृत् निदिध्यासन के बिना परमात्मा का साक्षात्कार असंभवित है, अर्थात् अनुपपन्न है । (अर्थात् जिस तरह ब्रीहि का अवघात तावत् पर्यन्त किया जाता है यावत् पर्यन्त तण्डुल की निष्पत्ति नहीं हो जाय, उसी तरह जबतक ब्रह्म साक्षात्कार नहीं तावत् पर्यन्त ध्यानानुवर्तन करना चाहिये, अतः निदिध्यासनादिकों का आवर्तन आवश्यक है ।) 'सत्त्व अन्तःकरण के पवित्र होने से ध्रुवस्मरण होता है, और ध्रुवस्मरण होने से सभी ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है' इस प्रकरण में सर्वग्रन्थि के विनाश के कारण रूप से श्रयमाण जो ध्रुव स्मृति है, उस में ध्रुवत्व अचलत्व अर्थात् तैलधारा की तरह अविच्छिन्नत्व अन्यथा अनुपपद्यमान होने से स्मृति में सातत्य अर्थात् अनवरतत्व का उपपादन करके निदिध्यासन के आवृत्ति को ज्ञापित कराता है । सर्वोपास्य जो परमात्मा है तादृश परमात्मा विषयक स्मृति है, तादृश स्मृति का ही उपासनपद वेदन पद से कथन किया जाता है । वेदन तथा उपासन जो हैं वे समान

यिणीस्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते । वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थक एवेत्यावृत्तिः कर्तव्येति ॥१॥

॥ लिङ्गाच्च ४।१।२ ॥

इतश्च वेदनादेरावृत्तिर्विधेया । यतः स्मृतेर्यमर्थोऽवसीयते । ‘अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्ययोगिनः ।’ (गी० ८।१४) तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चावृत्तिर्न जायते तावत्कालं ब्रीहीणामवहननमावश्यकमेव भवति, तथैव प्रकृते दर्शनसमाना कारकज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं ध्यानादीनामावर्तनमवश्यकमेव कर्तव्यं तथोपदेशात् आवर्तनमन्तरेण तैलधारावदविच्छिन्नत्वमचलत्वं स्मृतेर्न स्यात्, तथा तादृशस्मृतेरेव फलकत्वेन प्रत्ययावृत्तौ रावश्यकत्वादिकं सर्वं विचारितवान् किं सकृदेव कर्तव्यमाहोस्वित्तस्यावृत्तिरित्यादिना । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१॥

न केवलमसकृदुपदेशादेव वेदनादेरावृत्तिः सिद्ध्यति, अपितु लिङ्गादपि वेदादेरावृत्तिः सिद्ध्यत्येव । तत्र लिङ्गपदं स्मृतिं बोधयति । ततश्च स्मृत्यापि उपर्युक्त एवार्थः सिद्धो भवति, अर्थात् कारणभूतं यद्वेदनादिकं तत्स्मृतिसन्तानरूपमेव, तथा च प्रकरण में कहे गये हैं. इसलिये ये दोनों समानार्थक ही हैं. इसलिये निदिध्यासन का असकृत् आवर्तन आवश्यक है । (अर्थात् जो कार्य पारलौकिक परोक्ष होता है उसका सम्पादन सकृत् अनुष्ठान से होता है, परन्तु जो कार्य प्रत्यक्ष है उसका सम्पादन तो तावत् पर्यन्त किया जाता है जब तक उसकी सिद्धि न हो जाती है, तो प्रकृत में यावत् पर्यन्त ब्रह्म साक्षात्कार रूप कार्य निष्पन्न न हो तावत् पर्यन्त ध्यानादिकों का आवर्तन अवश्य करना चाहिये । अन्यत्र भी कहा है ‘आसुप्तेरासृतेः कालं नयेद्वेदान्तं चिन्तया’ इति । इसलिये श्रवण मनन और निदिध्यासन का प्रत्ययावृत्ति अवश्य कर्तव्य है । इसी बातको आचार्य ने ‘आवृत्तिरसकृदुपदेशात्’ इस सूत्र से बतलाया है ॥१॥

केवल शास्त्रोपदेशमात्र से ही वेदनादिकों का आवर्तन सिद्ध होता है, ऐसा नहीं किन्तु वक्ष्यमाण लिङ्ग से भी उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होता है । इस बात को बतलाते हैं ‘इतश्च वेदना-

न्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैः षडभिर्भूनिष्पाद्यते तथा' (वि०पु०
६।७।९१) इत्यादिकास्मृतिस्त्रामकृदावृत्तिमेव वेदनादेखगम-
यतीति ॥२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आवृत्यधिकरणम् ॥१॥

अथात्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥

आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ४।१।३

अथैवं ध्यानावृत्तिनिष्पत्त्यनन्तरं किं निदिध्यासनकाल उपास्यं
स्मृतिसन्तानलक्षणेन वेदनादिना मोक्षोजायते । इतिवेदनादीनामावर्तनमावश्यक
मेवातोवेदनादीनामावर्तनं कृतवानिति । तादृशीस्मृतिगीताविष्णुपुरादीनामुद्धरणं स्वयं
मेव दर्शयति अनन्यचेताः तद्रूपप्रत्ययेचैकेत्यादिस्मृत्यर्थरूपेण आहुरस्मद्गुरवोमहामहोपा-
ध्यायपदविका जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यचरणाः 'अनेन सततानुस्मरणा-
न्मिका भक्तिरेवसुलभोपायः पूर्वदर्शितेष्व्यायेष्वायासाधिक्यमित्युक्तं भवति (अर्थचन्द्रिका
८।१४)इति । तदत्र 'रामस्यब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैः भक्तिराप्यते । भक्तिर्ध्रुवा स्मृतिः सा च विवे-
कादिकसप्तकात् ।' (साधनदीपिका २) 'अत्रैमिमीतापतिमञ्जुवन्धुतां तथा च सीतापतिदिष्ट
भोग्यताम् । ततश्च सीतापतिनित्यधामदां करोमि सीतापतिभक्तिमुत्तमाम् ।' (अनन्यता
वेदनम् ३) जगद्गुरु श्रीगंगाधराचार्यप्रसादिता दिव्यप्रबन्धा अनुसन्धेयाः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आवृत्यधिकरणम् ॥१॥

गतप्रकरणेन ध्यानादिकमावर्तनीयमितिस्थितम् । तत्र ध्यानकालेध्याताध्येयं
देरित्यादि' इस वक्ष्यमाण लिङ्ग हेतु से भी वेदनादिकों के आवृत्ति का सूचन होता है । यहाँ
लिङ्ग शब्द का अर्थ होता है स्मृति । अर्थात् स्मृति से भी उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होता है ।
उस स्मृति का भाष्यकार स्वयमेव उद्धरण करते हैं । 'अनन्यचेता' इत्यादि । गीता तथा
विष्णुपुराणादिक से यह सिद्ध होता है कि वेदनादिकों का असकृन् आवर्तन अवश्य
करना चाहिये इति ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आवृत्यधिकरणम् ॥१॥

उपर्युक्त सूत्र द्वय से ध्यान के आवर्तन की सिद्धि होने के अनन्तर में क्या निदिध्या-

ब्रह्मोपासकेन स्वान्यत्वेनोपासनीयमाहोस्वित्स्वात्मनेति संदेहे स्वा
न्यत्वेनेति कुतः ? 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' [श्वे०१।९] 'अस्मा-
न्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिञ्चान्योमायया सन्निरुद्धः' [श्वे०४।९]
'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्य
त्यन्यमीशमस्य' (श्वे०४।७) इत्यादिश्रुतिभिः । 'अधिकं तु भेदनिर्दे-
शात्' (ब्र०सू०२।१।२२) 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र०सू०१।१।१७) इत्यादि
सूत्रैश्चोभयोर्भेदस्यावगमात् अतो यथाशास्त्रमेव यथावस्थितं ब्रह्मो-
पास्यम् । नान्यथा । 'यः शास्त्रविधिमुत्सृत्यवर्तते कामकारतः । न स
स्वभिन्नतयाध्यायेत्, यथापूजकः पूज्यं स्वभिन्नतयाज्ञात्वाैव पूजयति, तद्वत् । अथवा
स्वाभेदेन ध्याताध्यायेद्ध्येयमिति विचारः प्रवर्तते । तत्र अहमेवपरं ब्रह्मेति प्रत्यक्षतो
नावगच्छति कश्चित् तथा मत्तोभिन्नः परेशः अपहृतपाप्मादिधर्मकत्वात्, ईश्वरादहं
भिन्नोऽल्पज्ञत्वात् । इतिप्रत्यक्षानुमानाभ्याम्, तथा ज्ञाज्ञौ समाने वृक्षे इत्यादिश्रुत्या,
मां तु पार्थव्यपाश्रित्य इत्यादिस्मृत्या, अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यादिसूत्रप्रमाणेभ्यो जीव
सन काल में उपासक ब्रह्मको स्वभेदेन उपासन करे अथवा स्वस्वरूप से अर्थात् स्वभेद से
उपासन करे ! ऐसा संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि स्व से भिन्न रूप से ही उपा-
सक ध्यान करे । इस बातको किस तरह समझते हैं ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किया जाता
है 'ज्ञाज्ञावित्यादि' । ज्ञ परमात्मा अज्ञ जीव ये दोनों अजायमान हैं ईश तथा अनीश हैं'
मायी परमेश्वर जडचेतन साधारण जगत् का सर्जन करते हैं उस परेश में अन्य अर्थात् जीव
माया कर्म के द्वारा निरुद्ध रहते हैं 'एक शरीर रूप वृक्ष पर जीव परमेश्वर अवस्थित रहते
हैं उसमें एक जीव तो मोहमुग्ध होकर सोचता रहता है, जब यह परमेश्वर की महिमा को
जानता है तब विगत शोक हो जाता है' इत्यादिश्रुतियों से तथा 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' 'नेत-
रोऽनुपपत्तेः' इत्यादि ब्रह्मसूत्रों से जीव परमेश्वर का भेद अवगत होता है । (एवं स्मृति प्रत्यक्ष
अनुमानादि प्रमाण से भी जीव परमेश्वर का भेद सिद्ध होता है ।) अतः शास्त्र के अनुकूल
यथावस्थित ब्रह्मका ही उपासन करना चाहिये, अर्थात् शास्त्र तो जीव से ब्रह्मको भिन्न बत-
लाता है, अतः उपासक स्व से भिन्न परमात्मा का उपासन करे, किन्तु अभेद रूप से
उपासन न करे ।

सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्' (गी०१।६।२२) इति भगव-
द्रचनविरोधात् । तस्मादन्यत्वेनोपास्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते-
आत्मेतित्विति । तु शब्दोऽवधारणार्थकः । उपासकेन स्वात्मतयैवो-
पास्यं ब्रह्म । यथा स्वीयशरीरस्यात्मा उपासिता प्रत्यगात्मा तथोपासितु
स्यात्मा ब्रह्मेति ममात्मा ब्रह्मेत्येवमुपासीतेति तदर्थः । कथमवगम्यते !
उपगच्छन्त्येवमेव पूर्वतनाः समुपासकाः । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो
देवते अहं वै त्वमसि' इत्युपासकस्य स्वरूपेण स्वभावेन भिन्नमपि
ब्रह्माहमित्येवोपासका अभ्युपगच्छन्तीति । कथञ्च तदभ्युपगम इत्याह
परभेदस्य सिद्धत्वेन उपासकः स्वभिन्नतयैव परमात्मानमुपासीत । नत्वभेदेन, तथा
सति परस्य जीवाभिन्नत्वे परे सर्वज्ञत्वाद्यभावप्रसङ्गात् । जीवस्य परमात्मनाऽभिन्नत्वे
संसारयात्रैव विलुप्येतेति वरघाताय कन्योद्वाहन्यायः समापतितः स्यात्तस्मादुपासकः
स्वभिन्नतयैव परमात्मानमुपासीतः इति पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु यथाजीवः स्वकीयं शरीरं स्वात्मतयाऽनुसंधायः देवोऽहं मनुष्योऽह-

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'आत्मेतित्विति' सूत्र धटक जो 'तु' शब्द
है वह अवधारण निश्चयार्थक है । उपासक स्वकीय आत्मा रूप से ब्रह्मका उपासन करे । जिस
तरह स्वकीय शरीर का आत्मा जीव है, उसीतरह उपासिता जो प्रत्यगात्मा जीव है तादृश
जीव का भी आत्मा परमात्मा है, इसलिये 'ममात्मा ब्रह्म' मेरी आत्मा ब्रह्म है, इसप्रकार से स्व
से अपृथक् रूप से उपासक ब्रह्मका उपासन करे, ऐसा अर्थ है ।

उपासक अभिन्न रूप से परमात्मा का उपासन करे, इस बातको किसतरह से जानते
हैं ! तो इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं । 'उपगच्छन्तीति' पूर्वकालिक उपासक छोग इसी
तरह से मानते हैं अर्थात् स्वीकार करते हैं । 'त्वं वा अहमस्मीत्यादि' हे भगवन् देव ! आप
मेरे स्वरूप शेषी हैं तथा मैं आपका स्वरूप शेष हूँ इसतरह उपासक के स्वरूप से अर्थात्
उपासक के स्वभाव से अभिन्न ब्रह्म हैं अतः ब्रह्म मैं हूँ, इसप्रकार से प्राचीन कालिक उपासकों
ने माना है । [इसलिये अद्यतनीय उपासक भी ब्रह्मको स्वाभिन्नत्व रूप शेषशेषात्वेन उपासन करें]

पूर्वकालिक उपासकों का एतादृश अभ्युपगम क्यों है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं
'प्राद्वयन्तिचेति' स्वाभिन्नत्व रूप से ब्रह्मका उपासन करना चाहिये, इसप्रकार से श्रुति अर्थात्
आगम वाक्य उपासक को समझाते हैं । तथाहि श्रुतिः 'ऐतदात्म्यमित्यादि' [परिदृश्य जडचेतन

‘ग्राहयन्ति चेति । एवमेव श्रुतय उपासकानवबोधयन्ति । ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ (छा० ६।८।४) ‘य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मानवेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ (बृ० ३।७।२२) इत्यादिश्रुतयस्सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः शरीरतया परमात्मनश्च तदात्मतया प्रतिपादयन्ति यथा स्वशरीरं प्रति प्रत्यगात्मन आत्मत्वात् ‘देवोऽहम्’ मनुष्योऽहमित्यनुसन्धानं तथा परमात्मनोऽप्यात्मत्वादहमित्येवानुसन्धानम् ।

एतच्च ‘त्वम् वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते’ मिति जानाति, तथा तदनुकूले च व्यवहरति, तथैव परमात्मानं स्वशरीरिणं स्वाभेदे नानुसन्धायोपासीत । परमात्मा हि सर्वस्य जडचिदात्मकपदार्थस्य शरीरीजडचेतनादिकं सर्वं तस्य शरीरमिति शरीरशरीरिणोरभेदात्, परमात्मानं स्वाभिन्नं ज्ञात्यैवोपासनीयः परमात्मेति । नच जीवपरेशयोरभेदे उपास्योपासकभावव्यवस्थाया विलोपः समापत्तीति वाच्यम्, भावानवबोधात्, अयमाशयः, भवेदयं दोषो यदि द्वयोरत्यन्ताभेदः स्वीक्रियेत नत्वेतदस्ति सिद्धान्ते अनेकश्रुतिस्मृतिसूत्रपूर्वाचार्यदिन्यप्रबन्धानुरोधेन साधारण पदार्थं मात्र, इमं परमात्मा के स्वरूप है ।] ‘जो आत्मा जीव में रहता है वह आत्मा से जीव अन्तर है, जिस परमात्मा को जीव नहीं समझ सकता है, जिस परमात्मा का जीव शरीर है, अर्थात् स्वशरीरैक विशेषण है, जो परमात्मा जीव को नियन्त्रित करता है-यही तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं ।’ इत्यादि अनेक वेदान्त वाक्य सम्पूर्ण जड चेतन साधारण जगत् को शरीर रूप से कथन [प्रतिपादन] करते हैं, तथा परमात्मा को सम्पूर्ण जगत् के आत्मरूप से शरीरी रूप से प्रतिपादन करते हैं ।

जिस तरह स्वकीय शरीर के प्रति जीवात्मा को आत्मा=स्वरूप होने से ‘मैं देवता हूं मैं मनुष्य हूं’ इस रूप से अनुसन्धान होता है, उसीतरह परमात्मा को भी सभी का आत्म स्वरूप होने से, मैं परमात्मा हूं, एतादृश ही अनुसन्धान अर्थात् ज्ञान होता है । ‘त्वं वा अहमस्मीत्यादि’ [हे भगवन् ! मैं आपका स्वरूप शेष हूं और आप मेरे स्वरूप शेषी हैं] ‘अथयोन्या मित्यादि’ (जो उपासक अपने से भिन्न रूप से देवता का उपासन करता है, यह उपास्य मुझसे भिन्न है और मैं उपास्य से भिन्न हूं वह भेद दृष्टिमान् उपासक बराबर नहीं समझता है, अर्थात् उपास्य को स्वाभिन्नत्व रूप से ही उपासन करना चाहिये नतु स्वभिन्नत्व रूप

‘अथयोऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद’
(बृ०१।४।१०) ‘सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्ववेदः’ (बृ०४।५।७)
इत्याद्यनेकश्रुतिभिरुपादितम्’ तथा चायमर्थः फलितः । स्वात्मनः
स्वशरीरादाधिक्येनानुसन्धानम् ततोऽप्याधिक्येनात्मशरीरस्य परमा-
त्मनोऽनुसन्धानमिति पार्थक्यमपि ‘पृथगात्मानं प्रेरितास्त्वमत्वा’
(श्वे०१॥६) इति श्रुत्युपदिष्टमनुष्ठितम्भवति । तस्मादुपासकेना-
त्मतयाब्रह्मोपासनीयमिति ॥३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आत्मोपासनाविकरणम् ॥२॥

स्वशरीरशरीरीभावस्य स्वीकारात् । अत एव विशिष्टाद्वैतवादो नतु केवलाद्वैतवादः ।
प्रत्यगात्मपरमात्मनोरत्यन्ताभेदे एव दोषो भवति, नतु प्रकृते तथेति । एतत्सर्वं मनसि
निधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते अथैकव्यानावृत्तिनिष्पत्त्यन्तरमित्यादि । अवतरणेनैव
गतार्थत्वान्नपुनर्भाष्यं व्याख्यातमिति ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आत्मोपासनाविकरणम् ॥२॥

सै कदापि उपासन करना । ‘सर्वं तं परादादिति’ (सब उस उपासक का निराकरण करने हैं जो
उपासक सबको अपने से भिन्न समझता है) इत्यादि श्रुतियों ने उपास्य को उपासक अभिन्न
रूप से उपासन करे, इस बात का प्रतिपादन किया है । तब इस प्रकरण का यह फलि-
तार्थ होता है जिस तरह स्वकीय आत्मा का स्वशरीरापेक्षया आविर्भाव रूप से अनुसन्धान
होता है, उससे भी अधिक रूपेण आत्मा है, शरीर जिसका तादृश परमात्मा का अनुस-
न्धान होता है ।

एतावता आत्मरूप से उपासक परमात्मा का उपासन करें, इस कथन से यह नहीं
समझना कि सर्वथा तादात्म्य जीव पर मैं है किन्तु ‘पृथगात्मानम्’ इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो
परस्पर पार्थक्य है स्वशेषशेषीभावात् प्रयुक्त सम्बन्ध उस पार्थक्य का भी उपदेश सिद्ध होता है ।
तस्मात् उपासक जो जीव वह आत्म रूप से ब्रह्मका उपासन करे, यह सिद्ध होता है ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आत्मोपासनाविकरणम् ॥२॥

अथ प्रतीकाधिकारणम् ॥३॥

ॐ न प्रतीके न हि सः ।४।१।४। ॐ

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ (आ०३।१।४।१) इत्येवमादिप्रतीकोपासनेषु संशयः । किं प्रतीके मनआदावात्मत्वबुद्धिः कर्तव्या आहोस्विन्नेति । तत्र सर्वसूपासनासूपासनत्वसाम्याद् ब्रह्मणश्च स्वात्मत्वान्मनो ब्रह्मेति वचनेन मनआदीनां ब्रह्मरूपत्वादुपासकस्यात्मभूत ब्रह्माभिन्नत्वान्मन आदावात्म बुद्धिः कर्तव्येति प्राप्तेऽभिधीयते

इतः पूर्वप्रकरणे उपासकस्य प्रत्यगात्मन आत्मतया परमात्मोपास्य इति स्थिरीकृतम् । ततश्च प्रतीकाद्युपासने मन आदौ उपासक आत्मत्वेनोपासनं कुर्यान्नवेति संशयो भवति । पूर्वपक्षस्तु पूर्वप्रकरणे उपास्ये ब्रह्मणि आत्मत्वेनोपासनायाः कथनात् प्रतीकोपासनेऽपि उपासनत्वं धर्मस्य समानतया अत्राप्युपासकोमनः प्रभृति प्रतीके

‘मनोब्रह्मेत्यादि’ (मनको प्रकाश ब्रह्मरूप से उपासक उपासना करे) इत्यादि प्रतीकोपासन स्थल में संशय होता है । (अन्य आलंबन में अन्यवस्तु का जो भावन किया जाता है, उसको प्रतीकोपासन कहने हैं यथा शालिग्राम शिला में विष्णु की भावना की जाती है शालिग्राम शिला विष्णु नहीं है, इसप्रकार प्रत्यक्ष भेद रहने पर भी विष्णु बुद्धि से उसका पूजनादिक किया जाता है । यथा पत्थर में देवत्व बुद्धि की जाती है । इसीतरह ब्रह्मव्यतिरिक्त मन प्रभृतिक आलंबन में ब्रह्मबुद्धि को सम्पादन करने के लिये ‘मनोब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादि वेदानुज्ञा है ।) तो ‘मनोब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादि प्रतीकोपासन में संशय होता है कि प्रतीक अर्थात् मन आदिक आलंबन में आत्मबुद्धि कर्तव्य है अथवा नहीं ! सभी उपासनाओं में उपासनात्वं धर्म को समान रूपेण अवस्थित होने से और ब्रह्म सभी उपासक का आत्मरूप है, तो ‘मनोब्रह्म’ इस वचन से सिद्ध होता है कि मन प्रभृतिक आलंबन में ब्रह्मरूपत्व है, तथा उपासक का आत्मरूप ब्रह्म से मन प्रभृतिक वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है, अतः उपासक को चाहिये कि मन आदिक आलंबन में आत्मबुद्धि करे । ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘न प्रतीके’ इत्यादि सूत्रम् । मनः प्रभृतिक जो प्रतीक आलंबन है, उसमें उपासक आत्मबुद्धि न करे ।

न प्रतीक इति । मनआदौ प्रतीके नात्मबुद्धिः कर्त्तव्या । तत्र हे
तुर्न हि स इति । यतः स प्रतीको नह्युपासकस्यात्माप्रतीकोपासनेषु
प्रतीकस्यैवोपासनमभिमतं न ब्रह्मणः । मनोब्रह्मेति मनः सामाना-
धिकरण्येन ब्रह्मपदपाठस्तु मन आदौ ब्रह्मदृष्टिविशेषणार्थम् । अत्र
प्रतीकोपासनं हि अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याभावनम् ॥४॥

आत्मबुद्धिमेव करिष्यतीति । सिद्धान्तस्तु परमात्मनोजीवस्यात्मत्वेनात्मबुद्ध्या समु-
पासनं संभवति मनसि तु न तथा संभवति मनसो जडत्वात् नहि चेतनो जडमात्मतया
समुपासितुं शक्नुयात् यतस्तत्र प्रात्यक्षिकवाच्यस्य सद्भावादतः प्रतीके मन आदौनात्मबु-
द्ध्या समुपासनं कुर्यादित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुं भाष्यकार उपक्रमते मनोब्रह्मेतीत्यादि
अतिरोहितार्थकं भाष्याक्षरम् ॥४॥

उपासक मन प्रभृति प्रतीक में आत्मबुद्धि क्यों न करें, इसमें कारण सूत्रकार बतलाते
हैं 'न हि सः' इति । जिसलिये मन आदिक प्रतीक जो है वह चेतन उपासक का आत्मा
नहीं है । (यतः उपासक चेतन है और उपास्य मन प्रभृतिक जड पदार्थ है, तो चेतन का
जड आत्मा नहीं हो सकता है, जड़चेतन का तादात्म्यवाचिक है ।) प्रतीकोपासन में तो
प्रतीक का ही उपासन अभिमत है किन्तु चेतन पर ब्रह्म का उपासन तो अभिमत नहीं है ।
(यदि कदाचित् मन आदिक आलंबन में ब्रह्मका उपासन अभिमत होता है तब कदाचित्
कथंचित् पूर्वपक्ष का अवसर होना, परन्तु सो तो नहीं किन्तु जड प्रतीक का ही उपासन
अभिमत है ।) यदि प्रतीक में प्रतीकोपासन अभिमत है तब 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' इस वाक्य में
मन ब्रह्म का सामानाधिकरण्य रूप से जो पाठ है वह किस तरह संगत होता है ! मन
आदिक में ब्रह्मदृष्टि के अभिप्राय से कहा गया है' अर्थात् ब्रह्मदृष्टि से मन का उपासन करना
चाहिये । अब्रह्म में ब्रह्मदृष्टि से भावन करने का नाम प्रतीकोपासन होता है । (जिस तरह
घटशराव उदंचनादिक में मृत्तिकात्व लक्षण सामान्य धर्म को लेकर के एकता होती है, परन्तु
घटत्वादि विशेष धर्मको पुरस्कार करके कार्यों में एकता नहीं होती है । अर्थात् घटशराव
का शराव घट का आत्मा नहीं होता है, उसीतरह मन तथा जीवादिक को ब्रह्म कार्यत्व होने
पर भी जीवत्व मनस्वादिवि विशेष धर्मको पुरस्कृत करके जीव तथा मन में एकता नहीं होने
से उपासक जीव मन की उपासना आत्म रूप से न करें यह सिद्ध होता है । विशेष विचार
अन्यत्र देखें इति संक्षेपः) ॥४॥

५ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४।१।५ ५

अथैवं मनसि ब्रह्मदृष्टिस्त ब्रह्मण्येव मनोदृष्टिः कर्तव्येत्यत्राह—
‘ब्रह्मदृष्टिरित्यादि । ब्रह्मणो मन आदिभ्य उत्कृष्टत्वान्मनआदिषु ब्रह्म-
दृष्टिरेव साधीयसी । निष्कृष्ट अमात्यादावुत्कृष्टराजत्वादिवुद्धेः सफ-
लत्वस्य दृष्टत्वात् । राज्ञि ततो हीनस्यामात्यदृष्टेर्हानिकरत्वाच्च ।

पूर्वसूत्रे प्रतीकस्यैवोपास्यत्वमिति कथितम् परन्त्वत्र ब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्त्वेनफल-
दायकत्वात् मनः प्रभृतीनां तु अचेतनतया फलदायकत्वं नास्ति जडानां च तेषामल्प-
शक्तीनामुपास्यायुक्तत्वादित्याशंकां निराकर्तुमुपक्रमते अथैवं मनसीत्यादि । मनआदिके
प्रतीके ब्रह्मदृष्टिर्विधातव्या वा अथवा ब्रह्मणि मनोदृष्टिर्विधातव्येति संशयः । तत्र निया
मकशास्त्रयुक्त्योरभावात् ब्रह्मण्येव मनोदृष्टिरिति प्रश्नसमाधानायाह ब्रह्मदृष्टिरिति
सूत्रम् । निष्कृष्टमनस्येवोत्कृष्टस्य ब्रह्मणोदृष्टिर्विधेया नतुत्कृष्टे ब्रह्मणि तदपेक्षयाऽतिहीनस्य
मनसो दृष्टिः कर्तव्या तथा सतिप्रत्यवायप्रसङ्गात् । अयमाशयः, यथाराजभृत्ये क्रिय
माणाराजदृष्टिर्लौकिकफलाय भवति राजनि क्रियमाणायां तु भृत्यदृष्टौ नफलायभवति
अपितु महदनर्थ एव भवति । तत्कस्य हेतोः ? महतिहीनदृष्टेरनर्थकत्वात् हीने म-
हत्त्वदृष्टेः सुखप्रयोजकत्वात् । तस्मात् हीने मनः प्रभृतिके प्रतीके ब्रह्मदृष्टिः करणी

मनः प्रभृतिक प्रतीक में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रतीक उपासक का
आत्मा नहीं है, किन्तु प्रतीकोपासन में प्रतीक का उपासन ही अभिमत है ब्रह्मोपासन अभि-
मत नहीं है’ ऐसा पूर्वसूत्र में कहा है, परन्तु अब यहाँ संशय होता है कि मन में आत्मानु-
संधान करना चाहिये, अथवा ब्रह्ममें मन का अनुसंधान करना चाहिये । इसके उत्तर में
सूत्रकार कहते हैं—‘ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादिति’ मन आदि के अपेक्षया परब्रह्म परमात्मा को उत्कृष्ट
होने से मनः प्रभृतिक आलंबन में ब्रह्मदृष्टि ही उचित है । क्योंकि राजा के अपेक्षया हीन
राजभृत्य में उत्कृष्ट राजत्व दृष्टि सफला होती है, ऐसा देखने में आता है । अर्थात् साधारण
जो राजा का नौकर है, उसको अगर राजा साहब—ऐसा कोई कहे तो वह राजभृत्य खुश
होकरके बहुत इनाम देता है । और यदि राजा को राजभृत्य शब्द से कथन करता है तो
वह राजा नाराज होकर के उसको अपमान करदेता है । (अभी भी किसी कनिष्ठ सिपाही
को उत्कृष्ट हवाकदार कहने से वह खुश होता है और कर्नल को हवलदार कहने से वह

तस्मादपकृष्टेषु मन आदिषूत् कृष्टस्य ब्रह्मण एव दृष्टिः कर्तव्येति सिद्धम् ॥५॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

अथादित्यादिमत्यधिकरणम् ॥४॥

५ आदित्यादिमतयश्चाङ्गउपपत्तेः ४।१।६ ५

‘य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।३।१) इत्यादिषु कर्माङ्गोपासनेषु संशयः । किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः कार्या आहोस्विदुद्गीथादिषु कर्माङ्गेष्ववादित्यादिदृष्टिरिति । तत्र पूर्वतन-

या नतु महति ब्रह्मणि हीनदृष्टिः कर्तव्येति सिद्ध्यतीति सर्वमवदातम् ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

अस्तिखलु कर्माङ्गाश्रयीभूतमुपासनम् । यथा य एवासौतपति तमुद्गीथमुपासीत लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत वाचि सप्तविधं सामोपासीत् इत्यादि । तत्र संशयो भवति यत् किमत्र आदित्यादिदेवेषु उद्गीथदृष्टिः करणीया उद्गीथादिकर्मणि वा आदित्य

कर्नल नाराज होकर के अपमान कर देता है । इसलिये ब्रह्मापेक्षया अपकृष्टः मनः प्रभृतिक में उत्कृष्ट ब्रह्मकी ही दृष्टि करनी चाहिये नतु उत्कृष्ट ब्रह्ममें तदपेक्षया अति हीन मन की दृष्टि करना चाहिये, यह सिद्ध होता है, यह अभिप्राय सूत्रका है ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

‘जो यह गगनमण्डल में तपित होता है उसका उद्गीथ रूप से उपासन करना चाहिये’ इत्यादिक जो कर्माङ्ग उपासना शास्त्र में बतलाया गया है, उसमें संशय होता है कि क्या आदित्यादिक देवों में कर्मात्मक उद्गीथ की दृष्टि करनी चाहिये, अथवा उद्गीथादि लक्षण कर्मों में आदित्य दृष्टि का सम्पादन करना चाहिये !

इसमें पूर्वसूत्र प्रदर्शित न्याय से अर्थात् उत्कृष्ट का उपासन हीन में करना चाहिये, इस नियम से उद्गीथादिक कर्म को फलवान् होने से उत्कृष्टत्व है और आदित्यादिक जो

न्यायेनोत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कर्तव्येतिनियमादुद्गीथादीनां कर्मरूपत्वेन फलवत्त्वादफलेभ्य आदित्यादिभ्य उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादि दृष्टिरिति प्राप्तेऽभिधीयते-आदित्यादिमतयश्चाङ्ग इति । चोऽवधारणार्थकः । कर्माङ्ग उद्गीथादावादित्यादिमतयोदृष्टयएव कर्तव्याः । कुतः ? उपपत्तेः । यथा प्रोक्षणादिना संस्कृतेषु ब्रीह्यादिषु प्रकृतेन कर्मणाऽपूर्वरूपं फलमुत्पद्यते । तथादित्यादिदेवतादृष्टिभिः संस्कृतेषु

दृष्टिः करणीयेति । तत्र पूर्वप्रकरणे हीने उत्कृष्टमतिविधेयेति निश्चयात् फलरहितत्वेनादित्यादीनां निकृष्टत्वात् फलवत्त्वेन कर्मणां तदपेक्षयोत्कृष्टत्वात् अफलदेवतादौ सफलत्वेनोत्कृष्टस्योद्गीथादिकर्मण एव दृष्टिः करणीयेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु यथा स्वरूपतो ब्रीह्यादिभिः सम्पादितकर्मणा फलेनोत्पादितं भवति किन्तु प्रोक्षणादिना संस्कृतब्रीह्यादिभिः क्रियमाणकर्मणैव फलं भवति तथा प्रकृते यदेव विषयाकरोति तदेववीर्यवत्तरं भवतीति नियमेन देवाराधानादिसहकृतकर्मणा फलाधिक्यसंभवोनतु केवलकर्मणा । तस्माद्देवाराधनपूर्वककर्मण एव फलजननात् आदित्यदृष्टिरेवोद्गीथादिषु कर्मसु कर्तव्या नतुद्गीथदृष्टिरादित्यदेवादिषु कर्तव्येति । एतदाशयं मनसिकृत्वा देवता है वे फलवान् नहीं है, इसलिये हीन हैं । अतः फलरहित ही आदित्यादिक में सफल कर्म का अनुचिन्तन करना चाहिये ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'आदित्यमतयश्चाङ्गो' इत्यादि । कर्माङ्ग उद्गीथादिक में ही आदित्यादि देवों का अनुचिन्तन करना चाहिये । क्योंकि 'उपपत्तेः' ऐसा करने से ही उपपन्न होता है । जिसतरह प्रोक्षणादि से संस्कृत ब्रीहि विगरे में ही प्रकृत कर्म से अपूर्व लक्षणफल उत्पन्न होता है । उसीतरह आदित्यादि दृष्टि से संस्कृत जो कर्माङ्ग उद्गीथादिक है उसमें प्रकृत कर्म का फलाधिक्य लक्षणकर्म समृद्धि होती है । ['यदेव विषया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इससे विद्या सहित कर्ममें आधिक्यफलवत्त्व का प्रतिपादन किया गया है ।] आदित्यादि देवताओं का आराधन करने से कर्म में फलजनकत्व होता है, और देवाराधन के बिना कर्म में फलजनकत्व नहीं होता है । इसलिये आदित्यादिक दृष्टि ही कर्माङ्ग उद्गीण में आवश्यक है, नतु उद्गीथ दृष्टि आदित्यादिक देवों में होती है । अर्थात् कर्म फलवान् हैं, इसलिये कर्म उत्कृष्ट है और आदित्यादिक फलवान् नहीं है, अतः आदित्यादिक कर्मापेक्षया हीन है, इसलिये कर्माङ्ग उद्गीथ की दृष्टि आदित्य में प्राप्त होता है, यह जो कथन

कर्माङ्गेषूदगीथादिषु प्रकृतस्य कर्मणः फलाधिक्यलक्षणा समृद्धिरुत्पद्यते।
आदित्यादिदेवताराधनेन कर्मणां फलजनकत्वमन्यथानेति। अत आदि
त्यादिदृष्टिरेवोदगीथादिष्विति ॥६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आदित्याधिकरणम् ॥४॥

अथासीनाधिकरणम् ॥५॥

५ आसीनः सम्भवात् ४।१।७ ५

पूर्वत्र मोक्षसाधनतया यदुपासनं वेदनध्याननिदिध्यासनादि
पदबोध्यं विहितं तत्तिष्ठन्नासीनः शयानोगच्छन् वाऽनियमेनानुति
सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते य एवासौतपतितमुदगीथमुपासीत इत्यादि । अन्यत्सर्वं सुगम
मिति संक्षेपः ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आदित्यादिमत्याधिकरणम् ॥४॥

मोक्षसाधारणकारणतया वेदान्तादिशास्त्रैः प्रतिपादितं यत् ध्यानाद्यपर
पर्यायकमुपासनं तदनुष्ठानमुपासकैरासीनस्तिष्ठन् शयानः गच्छन् वा अनियमेन
है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म में जो फलजनकत्व है वह देवाराधन प्रयुक्त ही है, स्वरूपतः कर्म में फलजनकत्व नहीं है अतः कर्म उत्कृष्ट नहीं है, देवादिक ही उत्कृष्ट हैं । इसलिये उत्कृष्ट देवों का अनुचिन्तन अनुत्कृष्ट कर्म में नहीं किया जाता है इति संक्षेपः ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आदित्यादिमत्याधिकरणम् ॥४॥

पूर्व प्रकरण में मोक्ष के साधन रूप से वेदन ध्यान तथा निदिध्यासनादि पद प्रतिपाद्य जो उपासन का विधान वेदान्तादि शास्त्र से प्रतिपादित हुआ है उसको उपासक बैठा हुआ आसीन सोता हुआ चला हुआ सम्पन्न करे अनियम से अथवा नियमत आसीन होकर के ही तादृश उपासनका अनुष्ठान करे ? ऐसा संशय होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षा कहते हैं कि उपासना जो है वह मानस है, उस में तो मन की एकाग्रता मात्र आवश्यक है, इसमें शरीर स्थिति का अनियम है । अर्थात् शरीर की स्थिति चाहे जिस प्रकार का हो इस

ष्ठेदुत नियमेनासीन एवेति संशये मनोधर्मत्वादुपासनस्य शरीर-
स्थितेरनियम इति प्राप्तेऽभिधीयते-आसीन इति । आसीन
एवोपासनं विदध्यात् । कुतः ? सम्भवात् । समानप्रत्ययपरम्पर्याल
क्षणस्योपासनस्यासीन एवोपासके सम्भवात् । नहि तिष्ठतः पुंसः
सम्यगुपासनं सम्भवति शरीरधारणप्रयोजकप्रयत्नापेक्षया चित्तविक्षे-
पात् । नवा गच्छतोऽनेकधावस्तुदर्शनेन चित्तस्य चाञ्चल्यात् । शया-
नस्य निद्राप्रसङ्गात् । तस्मान्नासाग्रदृष्टिः सन्नासीन एवोपासनं
कुर्यात् ॥७॥

कुर्यात् नियमेन वा कुर्यादिति संशयः । तत्र सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य दर्शन
समानाकारकस्मृतिसन्तानलक्षणोपासनस्य मानसिकत्वेन तत्र शरीरस्थितेरनावश्यक-
त्वात् अनियमेनैवानुष्ठेयमिति प्रथमपक्षः । सिद्धान्तस्तु मनसोऽनुकूलतायै आसीत
स्यैवयथावदुपासनं स्यादतः आसीन एव तदनुष्ठानं कर्तव्यमिति । न तु तिष्ठन्
शरीरधारणे संलग्नस्य मनसस्तेन तदसंभवात् । नापि गच्छतः गमनस्यापि चित्त-
विक्षेपकत्वात् । शयानस्य निद्रा संभवात् । तस्माद् यथोक्तमेव समीचीनमित्याशय
मावेदयितुं सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते पूर्ववृत्तिसाधनतयेत्यादि भाष्यं सुगममिति न पुन-
र्यारुपायते तदिति संक्षेपः ॥७॥

की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, केवल मन की एकाग्रतामात्र कारण है । एतादृश प्रश्न
के उत्तर में आचार्य कहते हैं 'आसीनः संभवात् 'आसीन होकर के ही उपासक उपासना का
अनुष्ठान करें । क्योंकि आसीन होकर के ही उपासना की संभावना हो सकती है । सजाती
य प्रत्यय परम्परा (प्रवाह) लक्षण जो उपासन है उसका आसीन उपासक में ही संभव हो
सकता है । खड़े हुए उपासक को समीचीन रूप से उपासन नहीं हो सकता है । क्योंकि
शरीर के धारण करने वाला प्रयत्न के अपेक्षा होने से चित्त में विक्षेप हो जाने की संभावना
है । नवा चढ़ने वाले को उपासना होगी, क्योंकि मार्ग में अनेक वस्तुओं के दर्शन से चित्त
में विक्षेप संभवित है । सोनेवाले को तो कथमपि उपासन नहीं होगा, क्योंकि निद्रा हो जाने
से उपास्यकार विषयक वृत्ति रुक जायेगी, तस्माद् नासाग्र दृष्टि होकर आसीन पुरुष ही
उपासना का अनुष्ठान करें । ॥७॥

५ ध्यानाच्च ४।१।८ ५

‘निदिध्यासितव्यः’ [बृ० ४।१।६] ‘ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ [मु०] इत्यादिश्रुतिभ्य उपासनं य ध्यानरूपत्वात् ध्यानस्य च विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणस्यानन्यचेतस्त्वेन ब्रह्मैकसततचिन्तनात्मकस्यासीनेष्वेव सम्भवादासीन एवोपासीत इति ॥८॥

५ अचलत्वं चापेक्ष्य ४।१।९ ५

‘ध्यायतीव पृथिवीध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तो

किञ्चोपासनस्य ध्यानरूपत्वं निदिध्यासितव्य इत्यादिश्रुतिभ्योऽवगतं भवति । ध्यानं तु विसजातीयप्रत्ययरहितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपम् । तदनन्यचित्ततयैवानुष्ठितं भवति, अनन्यचेतस्कत्वं चासीनस्यैव भवति नतु धावतस्तिष्ठतः शयानस्य संभवति । तस्मात् सर्वदासीन एवोपासनं कुर्यादिति भावः ॥८॥

किञ्च पृथिवीपर्वतादिषु जडेष्वपि निश्चलत्वेनावस्थितेषु कदाचिद्ध्यायति शब्दः प्रयोगो भवति । तत्र ध्यानं न मुख्यं किन्तु गौणमेव । तत्र गौणमभिध्यानं निश्चल-

‘निदिध्यासन करना’ निष्कल परमात्मा को ध्यान करने पर देखता है अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार उपासक को होता है’ इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि उपासन ध्यान रूप है । और विजातीय प्रत्यय रहित सजातीय प्रत्यय प्रवाह रूप है, एतादृश ध्यान अनन्य चित्त पुरुष से सम्पादित ब्रह्मैक चिन्तनात्मक है । तो एतादृश ध्यान आसीन पुरुष को ही हो सकता है, नतु दौडनेवाले को नवा शयान व्यक्ति को कथमपि हो सकता है । तस्मात् आसीन होकर के ही उपासक ध्यानात्मक उपासन को सम्पादन करे ॥८॥

पृथिवी सर्वाधार भूता ध्यान करती हुई लक्षित होती है, अन्तरिक्ष ध्यान करते हुए के समान लक्षित होता है, बुलोक ध्यान करते हुए के समान लक्षित होता है, सुस्थिर तडागादिक का जल ध्यान करते हुए के सामान लक्षित होता है पर्वत देव मनुष्यादिक ध्यान करते हुए के

वापोध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः' (छा०७।६।१) इत्ये-
वमादीनां श्रुत्युक्तानां ध्यानोपचारवतां पृथिवीपर्वतादीनां यदचलत्वं
दृश्यते तदपेक्ष्य ध्यायमानस्याचलत्वमावश्यकम् । तच्चासीनस्यैव
सम्भवति । तस्मादासीनएवोपासीतेति ॥९॥

॥ स्मरन्ति च ॥४॥१॥१०॥ ॥

‘शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥गी०६।११

त्वापेक्षम्, इति प्रकृतेषु विधीयमानं तदपेक्षमेव । निश्चलत्वं चासीनस्यैव नतु गच्छत
इति आसीन एव ध्यानं कुर्यादिति द्योतयितुमुपक्रमते ध्यायतीवेत्यादि । नहि पृथिवी प्रभृति
जडेषु मुख्यं ध्यानमपितु ध्यायतीव ध्यानं कुर्वन्तीवलक्ष्यते' । ध्यायन्ती वापः निश्चल
तडागसरोवरादिजलमपेक्ष्य तथोक्तम् । एतावता आसीनस्यैव ध्यानं भवति, नतु
तिष्ठतो गच्छतः शयानस्येति दर्शितं भवतीति भावः ॥९॥

न केवलं श्रुतिभिरेवासीनस्यैव ध्यानं प्रतिपाद्यते, अपितु स्मृतिरपि तथैव प्रतिपा-
दयति स्मरन्ति चेति । स्मृतिमेवोदाहरति भगवान् भाष्यकारः शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्येत्यादि ।
शुचौदेशे पवित्रदेशे ‘समेशुचौशर्करवह्निवालुकेत्यादि प्रतिपादित अनुकूलस्थाने, आ-
त्मनः स्वस्योपासकस्य स्थिरं नतु अस्थिरम्, चैलाजिनकुशोन्तरमासनमन्यतमं मिलिते
वा प्रतिष्ठाप्य तथा तदासनं नात्युच्छ्रितं नात्युन्नतमद्यतनीयाचार्यासनवत्, नातिनीच-
समान लक्षित होते हैं’ इत्यादिक श्रुतियों में प्रतिपादित गौण ध्यानवान् पृथिवी पर्वतादिक पदार्थों
में जो निश्चलत्व देखने में आता है उसकी अपेक्षा करके ध्यान करने वालों में अचलत्व आवश्यक
क है । यह निश्चलत्व तो आसीन व्यक्ति को ही हो सकता है, किन्तु खड़े चलने वाले और
सोते हुए का नहीं हो सकता है । इसलिये आसीन होकर के ही उपासक स्वकीय ध्येय का
उपासासन करें यह सिद्ध होता है । ॥९॥

‘शुचि पवित्र देश में स्वकीय स्थिर चैलवस्त्र अजिन मृगचर्म कुश, इनमें से अन्यतम न
अतिउन्नत नावा अतिनीच आसन को स्थापित करके, उस आसन के ऊपर एकाग्र मनको करके

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्जाद्योगमात्मविशुद्धये ॥ गी० ६।१२

इत्यासीनस्यैव परमात्मनः योगाख्यं ध्यानं स्मरन्ति गीता-
चार्या इति ॥१०॥

ॐ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । ४।१।११ ॐ

तच्च ध्यानमासीनेन कुत्र देशे कदाकर्त्तव्यमित्यत आह-
'यत्रैकाग्रतेत्यादि । यत्र देशे काले वाचित्तस्यैकाग्रता मजातीयप्रत्यय-
मासनं प्रतिष्ठाप्येति, तत्र पूर्वप्रदर्शितामने, एकाग्रमनः कृत्वा मनसो ध्येयैकाकारतां
सम्पाद्य अन्तःकरणेन्द्रियादिकान् नियम्य इन्द्रियादीनामनियमे ध्यायतो विषयान् पुंसः
संगस्तेषूपजायते इत्यादिनादोषश्रवणात् । पूर्वोक्तान्यतमे आसने समुपविश्य आत्म-
विशुद्धये योगं परमात्मनो ध्यानं कुर्यादित्यर्थः ॥१०॥

यदिदं ध्यानापरपर्यायमुपासनमासीनस्य कृते समुपदिष्टं तत् कस्मिन्देशे कस्मिन्
काले वा अनुष्ठेयमिति देशकालयोर्नियमोऽस्ति नवेति जिज्ञासाया निराकरणायोपक्र-
मते तच्च ध्यानमासीनेनेत्यादि । न देशकालयोर्नियमो विशेषनियामकस्याकथनात् ।
किन्तु यस्मिन्काले यस्मिन् देशे वा मनसः विजातीयान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवा-
होन्मुखतामेतित्तत्रैवोपासकेन ध्यानं कर्त्तव्यम् । न तु कस्मिन्दिचह्ने शविशेषे कालविशेषेवेति ।
संयत मन तथा इन्द्रियवाला योगी पूर्वोक्त आसन पर आत्मविशुद्ध्यर्थ योग को अर्थात् ध्यान
करे' इस प्रकार आसीन व्यक्ति को ही परमात्मा का योगारव्यव्यान करने का गीताचार्य ने
कथन किया है । इसलिये आसीन होकर के ही ध्यान उपासक करें यह सिद्ध होता
है ॥१०॥

आसीन जो उपासक वह उस ध्यान का अनुष्ठान किस देश तथा किस काल में करें
अर्थात् ध्यान करने में बाह्य देशकाल नियम है अथवा नहीं ? इस शंका का निराकरण करने
के लिये उपक्रम करते हैं 'तच्च ध्यानमासीनेनेत्यादि' आसीन पुरुष से कर्त्तव्यत्वेन विनिर्दिश्यमान
जो ध्यान है, उसका अनुष्ठान को उपासक किस देश तथा किस काल में सम्पादन करे ?
इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं 'यत्रैकाग्रता' इत्यादि । जिस देश जिस काल में मन की

प्रवाहोन्मुखताभवेत्तत्रैवोपासीत । कुतः ? प्राच्यादिदिशो नदीती-
रादिदेशस्य ब्रह्ममुहूर्तादिकालस्य च विशेषरूपेणाश्रवणात् । 'समे-
शुचौशर्करावह्निवालुकाविवर्जिते' इतिवचनन्तु चित्तस्यैकाग्रतानिरूप-
कमेव देशमभिधत्ते ॥११॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आसीनाधिकरणम् ॥५॥

नच 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते' शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले
नतु चक्षुषीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' इत्यादिना विशेषस्य श्रवणादस्ति त्रैशि-
ष्ट्यमिति वाच्यम् तत्रापि मनोऽनुकूले इति विशेषणात् । अल्पीयसो विशेषस्य श्रवणेपि
तत्रानिर्भरात् । अतएवाचार्याः कथयन्ति-यन् यत्र देशकाले वा मनसः स्थिरता भवेत्तत्रैव
ध्यानं ध्यातव्यमुपासकेन । सत्यपीतरकारणसमवधानेपि मनसो व्यग्रत्वे ध्यानस्यासंभ-
वात् । तस्माद् यत्र मनस आनुकूल्यं तत्रैव ध्यानं विधेयमिति संक्षेपः ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आसीनाधिकरणम् ॥५॥

एकाग्रता अर्थात् विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्ययप्रवाहोन्मुखता हो, तादृश देश काल
में ध्यान करना चाहिये. नतु देश काल का नियम है, अर्थात् अमुक देश में अमुक काल
में ही ध्यान करना यह कोई खास नियम नहीं है । देश काल का नियम क्यों नहीं है ?
तो पूर्व उत्तरादि दिशा का नदीतीरादि स्थान का ब्रह्ममुहूर्तादि काल का विशेष रूप से श्रवण
नहीं है 'समेशुचावित्यादि' समतल पवित्र कंवळ आसन वह्नि वालुका से रहित तथा शब्दजलादि
से विवर्जित स्थान में. तथा मन का अनुकूल स्थान में एवं चक्षुः पीडन विवर्जित निर्वात
गुहादिक स्थानों में ध्यान करे' इत्यादिक वचन से देशकाल का नियंत्रण यद्यपि श्रुत है.
तथापि यह वचन मन की एकाग्रता सम्पादक देश का ही कथन करता है. क्योंकि 'मनोऽनुकूले'
ऐसा विशेषण दिया गया है इसलिये इति संक्षेपः ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आसीनाधिकरणम् ॥५॥



अथाप्रायणाधिकरणम् ॥६॥

५५ आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ४।१।१२५

एतन्मोक्षसाधनमुपासनमेकस्मिन्नेवाहन्यनुष्ठेयमाप्रायणाद-
हरहर्वेति विशये कियत्कालमेव ध्यानमभ्यस्य पुनस्त्यजेत्तावताप्या-
वृत्तस्योपासनस्य सम्पादितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते—आप्रायणा-
दिति । आमरणादावृत्यानुष्ठेयमुपासनम् । कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम् ।
उपासनमारभ्याप्रायणान्मध्येयः कालस्तत्रापि हि दृष्टमुपासनम्

तदिदं यथोक्त लक्षणकं ध्यानापरपर्यायमुपासनम् एकस्मिन् दिवसे एव सम्पा-
दनीयम् अथवा मरणपर्यन्तं प्रतिदिनं तदावर्तनं विधेयमिति संशयः । तत्रैकदिने एवा-
नुष्ठेयम् तावतैवशास्त्रार्थस्य निष्पन्नत्वात् यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत इति प्रतिपादित
प्रयाजादिकाङ्गग्रामसहितदर्शपूर्णमासस्य सम्पादनेनैव शास्त्रं कृतकृतं भवति प्रकृते
एकस्मिन्नेवदिने यथोक्तोपासनसम्पादनेनापि शास्त्रार्थस्य कृतत्वादित्याशङ्कां समा-
धातुं सिद्धान्तसूत्रमाह आप्रायणादिति ।

प्रायणं मरणम् ततश्च मरणपर्यन्तं प्रतिदिनं यथोक्तोपासनमावर्तनीयमेव । यतः
शास्त्रे तथैव प्रतिपादनात् । अर्थादुपासनोद्योगकालादारभ्यमरणान्तकालमध्येयः कालः
सर्वत्रापि समुपासनं कर्त्तव्यमेव । एवमेवश्रुतिर्दर्शयति स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषमित्यादि
अर्थात् उपासनारंभदिवसादारभ्यमरणपर्यन्तमुपासनानुवर्तनं कर्त्तव्यमेव । न तु दिने

श्रीसाकेत प्राप्ति लक्षण मोक्ष का कारणीभूत जो पूर्वोक्त लक्षणक उपासन है, उसका एक
दिन मात्र ही अनुष्ठान करना चाहिये प्रयाजादि वत् अथवा मरणपर्यन्त प्रतिदिन अनुष्ठान करना
चाहिये, ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि कुछ काल पर्यन्त अर्थात् एक
दो दिन ध्यान का अभ्यास करके पुनः ध्यान को छोड़ देना चाहिये । ऐसा करने से ही
आवर्तन सहित उपासन का सम्पादन हो जाता है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार सिद्धान्त कहते हैं 'आप्रायणादिति' । मरण
पर्यन्त आवृत्तिपूर्वक उपासन का अनुष्ठान करना चाहिये । क्योंकि तत्रापि हि 'दृष्टम्' उपासना
के आरंभ काल से प्रारंभ करके मरण के मध्यवर्ती जितना काल है उसमें उपासन का
अनुष्ठान करते ही रहना चाहिये । क्योंकि शास्त्र में ऐसा देखा जाता है । तथाहि शास्त्रम्

‘स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते’ (छा०८।१५ १)
इत्याप्रायणामुपासनावृत्तिः कर्त्तव्येति ॥१२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आप्रायणाधिकरणम् ॥६॥

अथ तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

५ तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष विनाशौ तदव्यपदेशात् ४।१।१३ ५

अतीतेन ग्रन्थेनावशिष्टं विद्यास्वरूपमेव विचारितम् । अथ
तत्फलमिदानीं चिन्त्यते । तत्र ब्रह्मविदो विद्याफलतो विरुद्धफल-
स्याघस्य क्षयो भवति नवेति सन्देहः । न भवति कुतः ? ‘नाभु-
क्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि’ (ब्र. वै. प्र. ख. २७।७०)

कमात्रं सम्पाद्यत्यजेदितिभावः ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आप्रायणाधिकरणम् ॥६॥

तृतीयाध्याये मोक्षजनकविद्यायाः विचारः कृतः । चतुर्थाध्यायस्य प्रथमा-
ध्यायीयद्वादशसूत्रपर्यन्तप्रकरणेन तमेवावशिष्टं वस्तु विचारितम् । इतः परं साधन
‘स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते’ (यावत् आयु पर्यन्त यथोक्त क्रम से प्रतिदिन
उपासना करने वाला उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ।) इस प्रकार प्रायण मरण
पर्यन्त उपासना का आवर्तन करना चाहिये ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आप्रायणाधिकरणम् ॥६॥

अतीत ग्रन्थ से अर्थात् चतुर्थाध्यायी प्रथमपाद के द्वादश सूत्रान्त प्रकरण से तृतीयाध्याय
में जो विद्या को बतलाया गया था, उससे अवशिष्ट विद्या स्वरूप का विचार किया गया ।
इसके बाद अब साधनीभूत ब्रह्मविद्या का जो फल है उसको अधिकृत करके विचार किया
जाता है । तत्र ब्रह्मज्ञानी का विद्याफल से विरुद्धफल जो अघ-पाप कर्म है, उसका विनाश

इति प्राप्तेऽभिधीयते—तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोःश्लेषविनाशा-
विति । ब्रह्मविद्याप्राप्तौ तद्वलादुत्तरपूर्वयोःश्लेषविनाशौ सम्भ-
वत एव । कुतः ? तद्व्यपदेशात्—व्यपदिशन्त्येवमेव श्रुतयः । ‘यथा
पुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेव विदिपापं कर्मनश्लिष्यते’
(छा० ४।१।४।३) इत्युत्तरस्याधस्याश्लेषम् । तथा ‘तद्यथेपीकातूलमग्नौ

फलविचाराय प्रक्रमते अतीतेनग्रन्थेन इत्यादि । ब्रह्मज्ञानं कर्मणो विनाशकमिति शास्त्रे
श्रूयते तदिहसंदिह्यते यत् ब्रह्मविद्यायात्फलविपरीतफलकस्य विनाशोभवति न वा !
तत्र संजातेपि ब्रह्मज्ञाने तेन कर्मणां विनाशो नभवति नाभुक्तं क्षीयतेकर्मकल्पकोटिशतैरपि
कदाचित्स्वकृतं कर्मकूटस्थमिहतिष्ठति इत्यादिना तादृशकर्मणः क्षयाभावप्रतिपादनात् ।
तस्माद्विद्ययापापकर्मणो विनाशो न भवतीति पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु तदधिगमे ब्रह्मज्ञाने जाते तद्वलेनोत्तरपापकर्मणोऽश्लेषः
पूर्वस्य च कर्मणोविनाशोजायते । यथा संजाते भास्करोदयेऽन्धकारस्य विनाशो
भवति तथैव प्रकृते ब्रह्मविद्याया सर्वपापकर्मणामपगमोभवतीति ।

होता है अथवा नहीं होता है ! ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि तत्त्व
ज्ञानी का जो पापकर्म है, उसका विनाश नहीं होता है । क्योंकि ‘नाभुक्त’ मित्यादि, [मैकडों
कल्पकोटि वर्षों में भी भोग के विना कर्म का विनाश नहीं होता है ।]

इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि कर्म का विनाश नहीं होता है । इस पूर्वपक्ष के
उत्तर में कहते हैं कि ‘तदधिगमे’ इत्यादि । ब्रह्मविद्या के प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मविद्या के बल
से उत्तरकालिक अधका अश्लेष=असम्बन्ध तथा पूर्वकालिक अधका विनाश हो जाता है ।
अर्थात् विद्योत्पत्ति के बाद में सम्पत्त्यमान जो पापकर्म उसके साथ ब्रह्मज्ञानी का सम्बन्ध नहीं
होता है, तथा विद्योत्पत्ति के पूर्वकाल में जो संचित अधकर्म था उसका विनाश विद्या के
सामर्थ्य से हो जाता है । क्यों ! तो इसप्रकार शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है । तथाहि
‘यथापुष्करपलाश’ इत्यादि, (जिस तरह कमल पत्र के साथ जल का संश्लेष सम्बन्ध नहीं
होता है इसीतरह ‘एवंवित्’ ब्रह्मज्ञानी को पापकर्म का संश्लेष सम्बन्ध नहीं होता है कि तत्त्व
ज्ञानी को उत्तर कर्म से संश्लेष नहीं होता है’ इति । तथा ‘तद्यथेपीकातूलमित्यादि’ (जिसतरह
इषीकातूलकाश पुष्प सम्बन्धी तूलरूई अग्नि में देने पर सर्वात्मना नष्ट हो जाता है उसीतरह
इस ब्रह्मज्ञानी का सभी पापकर्म विनष्ट हो जाते हैं ।) ‘क्षीयन्तेचास्येत्यादि’ (परात्पर परमात्मा
का दर्शन समानाकारक स्मृत्यात्मक ज्ञान हो जाने पर इस ब्रह्मज्ञानी का जो पूर्वकर्म है वे सब

प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।४) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे' (मु. २।२।८) इति च पूर्वसञ्चि-
तस्याघस्य विनाशञ्च व्यपदिशन्ति । न च 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'
इत्यस्य विरोध इति वाच्यम् । तस्यच फलोत्पत्तौदाहर्याभिधायकत्वात् ।
अश्लेषविनाशप्रतिपादकानाञ्च वचसां कर्मणि या फलोत्पत्तिशक्ति
रस्ति तस्या विनाशसामर्थ्यमुत्पत्त्यवरोधसामर्थ्यञ्च विद्यायामस्तीत्य
भिप्रायः । एवञ्चोभयोर्भिन्नविषयत्वान्न विरोधः । केचित्तु 'ना-

यद्यपि केचन प्रकृते नाभुक्तमिति वचनं प्रारब्धकर्मबोधकम् तेन ब्रह्म ज्ञाने जाते
प्रारब्धेतरकर्मणामेव विद्ययानाशो भवति प्रारब्धं तु भोगादेवापगच्छतीति कथितम्
तथापि समानविषये वाध्यबाधकभावोभवति तत्र च दुर्बलस्य बलवता बाधोभवति प्रकृते
तु विभिन्न विषयत्वान्नबाधः । तत्तु कर्मणां यत् फलजनकतासामर्थ्यं तस्य दृढतादर्श
यति । एतत्तु विद्योत्पत्तेः पूर्वकृतानां पापकर्मणाम् फलोत्पादकशक्तिविनाशसामर्थ्यं
दर्शयति तथा समुत्पत्त्यमानानां कर्मणां फलोत्पादकशक्तेरुत्पत्तिप्रतिबन्धककरण
सामर्थ्यमेव प्रतिपादयतीति द्वयोः शास्त्रयोर्भिन्नविषयत्वात् नैकेनापरस्य बाधकत्वा
विनष्ट हो जाते हैं) इसतरह विद्योत्पत्ति पूर्वकालिक सकल दुरित कर्म के विनाश को शास्त्र
प्रतिपादन करता है । नहीं कहो कि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' (भोग किये बिना कर्मका विनाश नहीं
होता है) इस श्रुति के साथ कर्म विनाश प्रतिपादक श्रुति का विरोध होता है । तो ऐसा कहना
ठीक नहीं है, क्योंकि 'नाभुक्तम्' इत्यादि श्रुति का फलोत्पत्ति में दृढता मात्र का सम्पादकत्व
है । और पाप का अश्लेष तथा विनाश का प्रतिपादक जो वचन हैं उनका कर्म में जो फलो
त्पादिका शक्ति है उस शक्ति का विनाश सामर्थ्य तथा उत्पत्ति के अवरोध करने का सामर्थ्य
विद्या में हैं, ऐसा अभिप्राय है अश्लेष विनाश प्रतिपादक वचन का, अतः 'नाभुक्तम्' इसका
तथा 'क्षीयन्ते' इत्यादि दोनों वाक्यों का परस्पर विभिन्न विषयक होने से कोई विरोध नहीं
है । समान विषय में विरोध होता है और विरोध होने पर बलवान् से दुर्बल का बाध होता
है । जिसतरह 'नहिंस्यात्' इसको 'अग्नीषोमीयम्' इस वाक्य से समान विषयता होने से
विरोध होता है, इसमें बलवान् अग्नीषोमीय वाक्य से दुर्बल शास्त्र का बाध होता है ।
परन्तु उक्त श्रुति में तो समान विषयत्व नहीं है किन्तु विभिन्न विषयत्व होने से कोई भी
विरोध नहीं है ।

भुक्तं क्षीयते कर्मे' ति वचनप्रारब्धपरम् । तस्य च भोगादेवक्षय
इत्याहुः । अत्र दुरितकर्मणां फलानुकूलाशक्तिश्च भगवदननुकम्पैव ।
तस्याश्च भगवद्भजनादिरूपया भगवत्प्रियतमया विद्यया निवारण-
मुत्पत्तेस्वरोधश्चेत्यन्यत्र विस्तरः ॥१३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

अथेतराधिकरणम् ॥८॥

॥ इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ४।१।१४ ॥

उक्तन्यायं पुण्याश्लेषविनाशोऽप्यतिदिशति-इतरस्याप्येवमिति ।
दिचिन्तेत्यादिकं दर्शयितुमाह भाष्यकारः तत्रब्रह्मविरोक्त्वाफलत इत्यादि । अन्यन्मव
सुगममिति संक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगोन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेतदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

इतः पूर्वाधिकरणे संसारकारणीभूतस्य दुरितकर्मणोरागादिकारणबलादाया
तस्याश्लेषविनाशौ ज्ञानेन भवत इति निरूपितौ । पुण्यकर्म तु शास्त्रेण प्रतिपादितमिति

कोई तो 'नामुवनम्' इत्यादि श्रुति को प्रारब्ध कर्मबोधक मानते हैं उस प्रारब्ध कर्म
का विनाश भोग से ही होता है किन्तु ब्रह्मज्ञान से नहीं होता है । अत एव प्रारब्ध कर्म
के विनाश करने के लिये ब्रह्मज्ञानी को कार्यव्यूहादि करने की आवश्यकता को शास्त्र में बत-
लाया है ऐसा कोई कहते हैं । यहाँ दुरित कर्म में फलानुकूल शक्ति है सो भगवान् की
अननुकम्पा जनित है । उसका भगवद् भजनादि रूप भगवद् प्रियतम विद्या से निवारण होता
है तथा उत्पत्ति का निरोध भी होता है । इत्यादि विस्मृत विचार गीतानन्द भाष्यादि विवरण
में अन्यत्र देखिये ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

जिस तरह पापकर्म बन्ध का जनक है तो उसका विद्या से अश्लेष विनाश का प्रति-
पादन किया गया है, उसीतरह पुण्यकर्म का विद्या से अश्लेष विनाश होता है अथवा नहीं होता
है' एतादृश शंका का निराकरण करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'उक्त न्यायं पुण्या-

एवं पापाश्लेषविनाशवत् पापादितरस्य पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशौस्या
ताम् । पुण्यस्यापि विद्याफलमोक्षविरोधित्वेन दुष्कृतसाम्यात् । पुण्य
विनाशस्यापि व्यपदेशाच्च—‘तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते’ (कौ०१।४)
‘उभे हैवेष एते तरति’ (बृ.४।४।२२) ‘तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय’
(मु०) इति । एवं विदुष उत्तरपूर्वयोः पुण्यपापयोः शरीरान्तरहेतुभूत

तादृशस्य पुण्यस्य ब्रह्मविद्यया अश्लेषविनाशौस्यातां नवेति शंशये निराकर्तुमुपक्रमते
उक्तन्यायमित्यादि यथा पापकर्मणो ब्रह्मज्ञानेन विनाशो भवति । कुतः ? ब्रह्मज्ञानेन
विरोधात् तथा संसारकारणत्वात् तथैव पुण्यस्यापि बन्धजनकत्वेन पापवत् पुण्य-
स्यापि ब्रह्मज्ञानेन निवृत्तिर्भवत्येवेति । दुरितकर्मणोऽशुभसंसारजनकत्वं पुण्यस्य तु
सुखमयसंसारजनकत्वमिति तयोर्भेदोद्यद्यपि तथापि बन्धजनकत्वं तु तयोः सममेव
यथा लौहमयीशृङ्खलाबन्धजनिका तथैव सुवर्णनिर्मितलोकदृष्ट्याति सुमनोहरापि
शृङ्खला बन्धजनिका भवत्येव । तदुक्तम् कामकुलकलंकाय कुलजातापिकामिनी । शृङ्खला
स्वर्णजातापि बन्धनाय न संशयः इति । तस्मात् विद्याफलमोक्षविरोधित्वेन पापतुल्यत्वात्
पुण्यस्यापि ब्रह्मविद्यया विनाशउचित एव । यथा पापकर्मणो विद्यया विनाशो जायते

श्लेषेत्यादि’ पूर्वसूत्र प्रतिपादित युक्ति को पुण्य के अश्लेष विनाश में भी बतलाते हैं ‘इतरस्या-
प्येवमितीति’ एवम अर्थात् पापके अश्लेष विनाश की तरह पाप से भिन्न जो पुण्य कर्म है उस
का भी ब्रह्मविद्या के बल से अश्लेष विनाश होता है । (ब्रह्मविद्या के प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मविद्या
के बल से उत्तर पुण्य का अश्लेष तथा ब्रह्मविद्योत्पत्ति पूर्वकालिक संचित पुण्यकर्म का भी विनाश
अवश्यमेव होता है । जिसतरह पापकर्म बन्ध जनक है उसीतरह पुण्यकर्म बन्ध जनक होने से
विद्याफल मोक्ष का प्रतिबन्धक हैं । इसलिये पाप की तरह पुण्यकर्म का भी अश्लेष विनाश
होता ही है ।) क्योंकि पुण्यकर्म को भी विद्याका फल जो मोक्ष उसका विरोधी होने से पाप
समानत्व ही है । और पुण्य विनाश का भी प्रतिपादन (व्यपदेश) शास्त्र में किया है । तथा
हि ‘तत्सुकृतेत्यादि’ (सुकृत पुण्य दुष्कृत पापको विनष्ट करता है) (इन दोनों पुण्यपापों का
सन्तरण करता है ।) ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद विद्वान् उपासक पुण्यपाप को विनष्ट करके
सर्वमल रहित होकर के परम समता को प्राप्त कर जाता है,)

इसप्रकार विद्वान् का उत्तर पूर्वकालिक जो पुण्यपाप है जो कि शरीरान्तर प्राप्ति में
कारण रूप है, उनका विद्या के प्रभाव से अश्लेष तथा विनाश हो जाने पर तथा भोग से

योर्विद्याप्रभावेणाश्लेषविनाशाभ्यां प्रारब्धकर्मणश्च भोगेनैव क्षयाद्दे-
हपातेऽवश्यमुक्तिरित्याह पातेत्विति । तु शब्दोऽवधारणार्थकः ॥१४॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये इतराधिकरणम् ॥८॥

अथानारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

५ अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे

तदवधेः ४।१।१५ ५

पूर्वं ब्रह्मविद्यया पूर्वकर्मणां सर्वेषां विनाश उक्तः । स किं
प्रारब्धकर्मसहितानां भवत्युत प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तानामिति संदेह
तथैव पुण्यस्यापि विनाशोजायते एवेति शास्त्रो व्यपदेशात् । तत्सुकृतदुष्कृतधुनुने
'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इत्यादिस्थले पुण्यपापयोरुभयोरपि विनाशः प्रतिपा-
दित एवेति । तादृशकर्मणोर्विनाशे शरीरपातानन्तरं विदुषां मोक्षो भवतीतिभावः ।
विशेषस्त्वन्यत्रानुसन्धेयः ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे इतराधिकरणम् ॥८॥

अर्थतः पूर्वं तदगमाधिकरणप्रकरणे ब्रह्मविद्यावलेन ब्रह्मज्ञानिनोब्रह्मविद्योत्पत्त्य
नन्तरकालभाविनां ततः पूर्वसंचितानां विनाशोभवतीति कथितम् । तत्र संदिह्यते
प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाने के बाद शरीरपात होने पर अवश्यमेव मोक्ष प्राप्त हो जाता
है, इसबात को सूत्रकार बतलाते हैं 'पातेत्विति' यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है । अर्थात् पाप
पुण्यादि सकल कर्म का विनाश हो जाने पर शरीर पातानन्तरं विद्वान् को मोक्ष प्राप्ति अव-
श्यभावी है, ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे इतराधिकरणम् ॥८॥

पूर्वाधिकरण में ब्रह्म विद्या से कर्म का विनाश हो जाता है, ऐसा निश्चय किया गया
है । तो वह कर्म विनाश अविशेषतः सर्व कर्म का होता है, अथवा अमुक कर्म का ही होता
है । इसबात पर विचार करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं "पूर्वं ब्रह्म विद्ययेत्यादि"

‘क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे’ इत्यविशेषेण सर्वकर्मणां क्षयश्रवणात्सर्वेषां कर्मणां क्षय इति प्राप्तेऽभिधीयते—‘अनारब्धकार्ये’ इति । न आरब्धं न निष्पादितं कार्यं शरीरं याभ्यां पुण्यपापाभ्यां ते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले पूर्वे विद्योत्पत्तेः पूर्वतने अनादिकालतः सञ्चिते पुण्यपापे । एवकारः प्रारब्धकार्यव्यवच्छेदार्थः । न तु प्रारब्धकार्ये विद्यया विनश्यत इत्यर्थः । कुतः ? तदवधेः ‘तस्य

ह्यतेदं विशेषे सर्वकर्मणां प्रारब्धसहितानामेव विनाशोभवति अथवा प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तसंचितक्रियमाणकर्मणामपि ब्रह्मविद्यया विनाशोभवति । तत्र पूर्वपक्षवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते अविशेषतः सर्वकर्मणामेव विनाशोभवति । यतः क्षीयन्ते सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते इत्यादावविशेषश्रवणात् । प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तानामेव कर्मणामिति संकोचविशेषहेतोरश्रवणादिति । सिद्धान्तस्तु अनारब्धकार्ये तु अर्थात् याभ्यां पुण्यपापाभ्यां कार्यशरीरं नारब्धम् तादृशपुण्यपापयोरेव विनाशो ब्रह्मविद्यया भवति । न तु प्रारब्धकार्यस्य कर्मणो ब्रह्मविद्यया विनाशोभवति । यतः तस्य तावदेवचिरम् इत्यादिश्रुतौ शरीरपातावधेः श्रवणात् । अर्थात् यावत्पर्यन्तं विद्याधिकरणविद्यमानशरीरस्य विनाशो इसके पूर्वप्रकरण में कहा है कि ब्रह्म विद्या के द्वारा सभी पूर्वकर्मों का विनाश हो जाता है ।

वह क्या ! प्रारब्ध कर्म सहित सर्व कर्म का विनाश हो जाता है अथवा प्रारब्ध कर्म से भिन्न जो संचित तथा क्रियमाण कर्म हैं उन का ब्रह्म विद्यासे विनाश होता है ऐसा संशय होता है । इस संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि ‘‘क्षीयन्ते चास्येत्यादि’’ (इस परमात्मा के साक्षात्कार करनेवाला जो उपासक है उसके सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं ।) इस श्रुति में अविशेषेण सर्व कर्म का क्षय हो जाता है, ऐसा श्रुत होता है, क्योंकि ‘कर्माणि’ इस तरह बहुत्व बोधक विभक्ति है तथा ‘सर्व संशया’ यहाँ सर्वपद का भी श्रवण है । अतः सर्व कर्म का विनाश होता है ।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं— ‘अनारब्ध कार्ये’ इत्यादि । नहीं आरंभ किया है, अर्थात् सम्पादन नहीं किया है कार्य शरीर को जिसने ऐसा जो पुण्यपाप उसको अनारब्ध कार्यक अप्रवृत्त फलक करते हैं । एतादृश विद्या के उत्पत्ति काल

तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा० ६।१।२) इति देहपातावधिश्रवणादित्यर्थः । तथा च 'तस्य तावदेवे' ति विशेष-श्रुत्यनुसारेण 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी' त्यस्या अविशेषश्रुतेर्नय-नात् प्रारब्धकार्यव्यतिरिक्तयोस्नादिसंचितपूर्वपुण्यपापयोर्विद्यया विनाश उपपद्यते नत्वारब्धकर्मणोस्त्यवधेयम् ॥१५॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

न भवति तदवधिको मोक्षः । यदि ब्रह्मविद्यया सद्यः प्रारब्धसहित सर्वकर्मणां विनाशे शरीरस्थितिनियामकस्य कर्मणोपि विनाशे शरीरावस्थानस्यासंभवेन तदवधि प्रतीक्षणमसंभवप्रायमेव स्यात् । न च यथा संस्कारवशात् चक्रभ्रमणं तथैव शरी-रावस्थानमिति वाच्यं भगवत् कृपाव्यतिरिक्ततादृशसंस्कारेमानाभावान् । तस्मादनारब्धकार्याणामेव कर्मणां विनाशोनत्वारब्धकार्याणामित्यादिकमावेदयितुमुपक-मते पूर्वं ब्रह्मविद्यये त्यादि । भाष्याक्षराण्यतिरोहितार्थानीति संक्षेपः ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

से पूर्वकाल में विद्यमान. अनादि काल से संचित पुण्यपाप वे अनारब्ध कार्यक कहलाते हैं । सूत्र में जो एवकार है वह इतर का व्यवच्छेदक है. अर्थात् अनारब्ध कार्यक, प्रारब्ध कर्म भिन्न जो कर्म संचितादिक उसी का विद्या से नाश होता है । नतु प्रारब्ध कर्म विद्या से नष्ट होता है. ऐसा अर्थ है । क्यों ? "तदवधेः तस्येत्यादि" (उस ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष होने में उतना ही विलंब रहता है जबतक शरीर का पतन नहीं होता है, और जब शरीर का पतन हो गया तब वह विमुक्त साकेत प्राप्त होता है ') इत्यादि श्रुति में देहपात का अवधि सुनने में आया है । तब 'तस्य तावदेव' इस विशेष श्रुति के अनुरोध से 'क्षीयन्ते चास्य' इत्यादि श्रुति में संकोच किया जाता है कि प्रारब्ध कर्म से भिन्न जो अनादि संचित पुण्यपाप है जो कि विद्या पूर्व कालिक है- उसी का विनाश ब्रह्म विद्या से होता है किन्तु आरब्ध कार्यक कर्म का विनाश विद्या से नहीं होता है । अन्यथा 'तस्य तावदेव' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित अवधि श्रवण अनुपपन्न हो जायगा । इसका विशेष विवरण सत् सम्प्रदायाचार्यों से जानिये इति संक्षेपः । १५।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

अथाग्निहोत्राद्यविकरणम् ॥१०॥

ॐ अग्निहोत्रादि तु तत्का-

र्यायैव तद्दर्शनात् ४।१।१६ ॐ

आदिना यज्ञदानतपसां ग्रहणम् । तेषां विद्यासाधनत्वश्रुतेः । पूर्वमनारब्धकार्याणां कर्मणां विद्यया विनाशोऽभिहितः । इदानीं अग्निहोत्रादिरूपाणां नित्यानामाश्रमधर्माणामप्यनारब्धकार्यत्वात्तेषां विद्यया विनाशो भवति नवेतिसन्देहे । अनारब्धकार्यत्वा-

ननु इतरस्याप्येवमश्लेष इत्यादिसूत्रे विद्यावलेन पुण्यकर्मणामपि अश्लेषादिः कथितः । ततश्च नित्यनैमित्तिकानामग्निहोत्रादीनामाश्रमधर्माणामपि पापवत् स एव न्यायविषयः स्यात्, अर्थात् यदा पुण्यस्यापि पापवत्, अश्लेषविनाशः प्रतिपादितस्तदा सर्वपुण्यकर्म विषयक इति पुण्यकर्मत्वाविशेषात्, नित्यनैमित्तिकानामग्निहोत्रादीनामपि तथास्यादित्याशंकां निवर्तयितुमाह अग्निहोत्रादितु इत्यादि । अत्र सूत्रे तु शब्दः इतरपुण्यकर्मभ्यः प्रकृताग्निहोत्रादिकर्मणो वैशिष्ट्यं दर्शयति । अर्थात् यथा इतरपुण्यकर्मणां विद्योदये

जिस तरह ब्रह्मविद्या से पाप कर्म का विनाश होता है उसी तरह पुण्य कर्म का भी विनाश हो जाता है, ऐसा 'इतरस्याप्येवम्' इत्यादि सूत्र में अतिदेश किया गया है । तो यह अतिदेश सर्व पुण्य कर्म विषयक होगा, तब तो अग्निहोत्रादिक जो वर्णाश्रम धर्म हैं उसका भी विधोप हो जायेगा ! इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'अग्निहोत्रादि तु' इत्यादि अग्निहोत्रादि में जो आदि शब्द है, उस से यज्ञदान अनाशक तप का ग्रहण होता है । अग्नि होत्र यज्ञदानादिक विद्या का साधन है ऐसा शास्त्र में श्रुत है । इसके पूर्व में कहा है कि अनारब्ध कार्यक जो कर्म हैं सुकृत तथा दुष्कृत उन कर्मों का ब्रह्मविद्या से विनाश हो जाता है । अब अग्निहोत्रादि रूप जो नित्य नैमित्तिक आश्रम धर्म हैं, जो कि अनारब्ध कार्यक हैं, तो इन अग्निहोत्रादि कर्मों का ब्रह्मविद्या से विनाश हो जाता है अथवा इन कर्मों का विनाश नहीं होता है ! ऐसा संशय होता है ।

इस में पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि ब्रह्मविद्या से इन अनारब्ध कार्यक अग्निहोत्रादि कर्मों का भी विनाश होता है । क्योंकि अनारब्ध कार्यक कर्मों का विनाश होता है- तो ये अग्नि

विशेषादग्निहोत्रादीनामपि विद्यया विनाशः स्यादिति प्राप्तेऽभि-
धीयते-अग्निहोत्रादीति । धर्मान्तरेभ्यो विशेषणार्थस्तुशब्दः ।
अग्निहोत्रादिकर्मतु तत्कार्यायैव विद्याकार्यायैव । कुतः ? तद्-
दर्शनात् । 'तमेतवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन
तपसानाशकेन' [बृ० ४।४।२२] इत्येवमादिश्रुतिष्वग्निहोत्रादीनां
विद्यासाधनत्वदर्शनात् । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमहरहरप्यग्निहोत्रादि-

विनाशादिर्जायते. न तथा अग्निहोत्रादिकर्मणां विलोपो भवति । कुतः ? तद्दर्शनात् ।
अन्येषां पुण्यकर्मणां विद्याविरोधित्वात्तयाविलोपो भवति' परन्तु अग्निहोत्रादिकं पुण्य-
कर्मतु विद्याख्यकार्योत्पत्तौ कारणं भवति. एतेषां यज्ञदानाग्निहोत्रादीनामनुष्ठाने विद्यो
त्पत्तिरेव न स्यात्, तस्मात्, विद्यायाः परिपोषणायाग्निहोत्रादिपुण्यकर्मणामनुष्ठानं तु
प्रतिदिनं कर्त्तव्यमेव, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन
इत्यादिश्रुत्या, अग्निहोत्रादिकर्मणां विद्यासाधनत्वस्य प्रतिपादनात् । तस्मात् विद्याख्य
कार्याय प्रतिदिनमग्निहोत्रादिकं विद्यावताऽनुष्ठेयमेव नतु इतरपुण्यकर्मवदेषां विलोपो-
युक्तः । अन्यथा अग्निहोत्रादीनामभावे पापमलिनीकृतान्तः करणस्य विद्यैव नोत्पद्येत
होत्रादि कर्म भी तो अनारब्ध कार्यक है तब अनारब्ध कार्यत्वाविशेषात्, इन अग्निहोत्रादिक
नित्यनैमित्तिक आश्रम धर्मों का भी विनाश होता है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'अग्नि होत्रादीति' इस सूत्र में जो तु शब्द
है वह अन्य धर्मापेक्षया अग्निहोत्रादिक धर्मों में विशेषता का सूचक है । अग्निहोत्रादिक जो
कर्म हैं वे तो विद्या रूप कार्य के लिये ही हैं, अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञदानादि कर्मों का अनुष्ठान
करने से तो विद्या का उत्पाद होता है ।

ऐसा क्यों ! तद्दर्शनात्. ऐसा शास्त्र में देखा जाता है । 'तमेतमित्यादि [उस परमात्मा
को ब्राह्मण लोग वेदानुवचन- नित्य स्वाध्याय से यज्ञदान तथा अनाशक तप के द्वारा जानने
की इच्छा करते हैं] इत्यादि श्रुतियों में अग्निहोत्रादिक नित्यनैमित्तिक कर्मों में विद्या साधनत्व
को बतलाया है । इसलिये विद्योत्पत्त्यर्थ प्रतिदिन अग्निहोत्रादिक कर्म समुदाय अवश्य अनुष्ठेय
है । अन्यथा वर्णाश्रम धर्म का विलोप हो जाने पर पाप कर्म उदित होगा और कर्म दूषित
अन्तः कारण में विद्या की उत्पत्ति नहीं होगी । अतः विद्योत्पत्त्यर्थ अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान
आवश्यक है । विद्या से पापवत् पुण्य कर्म भी विनष्ट हो जाता है, यह जो कथन है वह तो

कर्मानुष्ठेयमन्यथा वर्णाश्रमधर्मविलोपे कल्पमानसस्य विद्योत्प-
त्तिरेव न स्यादतो विद्यार्थत्वेन तदनुष्ठानमावश्यकम् ॥१६॥

५ अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ४।१।१७ ५

ननु यद्यग्निहोत्रादिकं विद्योदयैकफलं तदा 'तस्य पुत्रा
दायमुपयन्ति मुहदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति वचनं
किंविषयकमित्यपेक्षायामाह—'अतोऽन्यापीत्यादि' । अतोऽग्निहोत्रा-
द्याश्रमधर्मस्वरूपायाः साधुकृत्याया अन्यापिह्यस्ति साधुकृत्या । या
च विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोर्वलवत् कर्मावरुद्ध-
ततश्चोद्देश्यासिद्धिः स्यात् । तस्मान्नाग्निहोत्रादिविद्यासाधनपुण्यकर्मणां विलोप
इति संक्षेपः ॥१६॥

अग्रिमसूत्रमवतारयितुमुपक्रमते भाष्यकारः ननु यद्यग्निहोत्रादिकमित्यादि अर्थात् यदि
नित्यनैमित्तिकं कर्मविद्योदयमात्रफलकं तदा अश्लेषविनाशवचनम् तस्यपुत्रादायमुपयन्ती
न्यादि वचनानां विषयः कः ! इति पूर्वपक्षाशयः ।

समाधानं तु अतोऽन्यापीत्यादि सन्ति द्वेनेकाः साधुकृत्यास्तत्र नित्यनैमित्तिक
वर्णाश्रमधर्मन्यतिरिक्तधर्मस्वरूपा भुक्तभुज्यमानमोक्ष्यमाणाः सन्ति, बलवत् कर्मा-
वरुद्धफलिकाः । तद्विषयकमेवाश्लेषविनाशवचनम् । तथा तत्त्वपुत्रादायमुपयन्तीत्यादि वच-
नमपि । एतदुभयोर्वादरायणजैमिनिमुन्योरनुमतमिति न भवति कस्यचित् केनचिद्वि-
रोध इति ॥१७॥

नित्य नैमित्तिकेतर शुभकर्मपरक है, जिससे स्वर्गादिक फल प्राप्त होता है । नित्यनैमित्तिक कर्म
तो विद्या का उत्पादक तथा पोषक है । इत्यादि विस्तृत विचार अन्यत्र देखें ॥१६॥

यदि अग्निहोत्रादि कर्म का विद्योदय मात्र फल है, तब 'तस्येत्यादि' [उस तत्त्वज्ञानी का
घनादिकदाय का ग्रहण पुत्र करता है, शुभ कर्म का ग्रहण मित्र वर्ग करते हैं और उस विद्वान्
का जो अशुभ कर्म है उस का ग्रहण, उस का जो दुश्मन है, वह ग्रहण करता है,] तो इत्यादि
वचनों का विषय क्या है— इस अपेक्षा में सूत्रकार कहते हैं 'अतोऽन्यापीत्यादि' । इस अग्नि
होत्रादिक वर्णाश्रम स्वरूप साधुकृत्या से भिन्न दूसरीभी साधु कृत्या है । वह विद्या प्राप्ति से

फलिका । तद्विषयकमेवेदमेकेषां शास्त्रिणां वचनम् । अतो न दोषः ॥१७॥

॥ यदेव विद्ययेति हि ४।१।१८ ॥

‘यदेव विद्यया कस्येति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ [छा० १।१।१८] इत्युक्तं ह्युद्गीथविद्यायाः फलं कर्मान्तर-प्रतिबन्धाभावरूपम् । तस्मात्प्रतिबद्धफलायाः साधुकृत्याया एव सुहृत्सूपयानमिति ॥१८॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१०॥

अथेतरक्षपणाधिकरणम् ॥११॥

॥ भोगेनत्वितरे क्षपयि-

त्वाऽथ सम्पद्यते ४।१।१९ ॥

पूर्वविचारिताभ्यामश्लेषविनाशशालिभ्यां पुण्यपापाभ्यामितरे

पूर्वोत्तर कालवर्ती दोनो प्रकारक कर्म के बलवान् कर्म से अवरुद्ध फलक है । तद्विषयक यह वचन एकशाखाध्यायी का है । इसलिये कोई दोष नहीं होता है ॥१७॥

‘जिस किसी कर्म को विद्या श्रद्धा उपनिषदादिक के साथ किया जाता है, वह कर्म वीर्यवत्तर होता है’ इस प्रकार से कर्मान्तर प्रतिबन्धाभावरूप उद्गीथ विद्या का फल को कहा है । इसलिये प्रतिबद्धफलक जो साधु कृत्या शुभ कर्म है, उसीका सुहृदादिक में गमन होता है । ऐसा अभिप्राय ‘सुहृदः साधुकृत्याम्’ इत्यादि वचनों का है ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यस्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रवेशेऽग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१०॥

पूर्व प्रकरण में विचारित अश्लेष विनाश युक्त अनारब्ध कार्यक जो पुण्य तथा पाप है, उन दोनों से भिन्न आरब्ध कार्यक पुण्य पाप है । उनका विद्योपार्जित शरीर के अवसान में

आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्योपार्जितशरीरावसाने आहोस्वि-
त्तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने अपि वेत्यनियम इति सन्देहः ।
तत्र 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' [छा० ६।
१४।२] इति श्रवणान्मुक्तिशरीरावसाने एवेति पूर्वः पक्षः ।

अत्राभिधीयते-भोगेन त्वितरे इति । तु शब्दः पूर्वपक्षनिव-
र्त्तकः । इतरेत्वारब्धकार्ये पुण्यपापे प्रारब्धफलोपभोगेन विनाश्य

यादृशपुण्यपापयोरनारब्धकार्ययोरश्लेषविनाशौ पूर्वं प्रतिपादितौ ताभ्यां वि-
भिन्नयोरारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोः विद्यायोनिशरीरस्यावसाने समाप्तिर्भवति, अथ
वा तच्छरीरावसाने भवति यद्वा शरीरान्तरस्यावसाने इत्यनियमः । इत्याकारकसंशये
तस्य तावदेवचिरमिति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणेन तदवसानं निवृत्तिरिति पूर्वपक्षं
समाधातुमुपक्रमते पूर्वं विचारितेत्यादि अनारब्धकार्यकपुण्यपापव्यतिरिक्तारब्धकार्यक
भिन्नं यत् आरब्धकार्यकं पुण्यपापं च तयोः पुण्यपापयोर्विद्योपार्जितशरीरावसाने
निवृत्तिस्तच्छरीरावसाने वा शरीरान्तरावसाने वा निवृत्तिर्भवतीत्यनियम इति । संशय
तस्य तावदेवचिरमित्यादि श्रवणान् मुक्तिशरीरावसाने एव निवृत्तिरिति पूर्वपक्षाशय इति ।

एतादृशपूर्वपक्षेसिद्धान्तमाह भोगेन तु इत्यादि । सूत्रघटकस्तु शब्दः पूर्वपक्षं
निवर्तयति । प्रारब्धकार्यकपुण्यपापयोः स्वकीयस्वकीयफलभोगेन पराकृत्य, ततो
विद्वान् फलभोगस्योत्तरकाले ब्रह्मसम्पन्नो भवति, परमात्मानं श्रीरामं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
अथ होता है, अथवा उस शरीर का अवसान में क्षय होता है, यद्वा शरीरान्तर के अवसान में
क्षय होता है । इसमें कोई नियम है अथवा अनियम है, ऐसा संशय होता है । तदनन्तर पूर्व
पक्षवादी कहते हैं कि 'तस्य तावदेवेत्यादि' (उस उपासक को तावत् काल ही विलंब होता है,
यावत्काल पर्यन्त प्रारब्ध का संशय नहीं होता है, तदनन्तर प्रारब्ध कर्म के क्षपणानन्तर वह
उपासक ब्रह्म सम्पन्न हो जाता है ।) इस प्रकार से श्रवण होने से मुक्ति शरीर के अवसान
में सत् सम्पन्न होता है ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'भोगेन तु' इत्यादि । इस सूत्र में जो तु शब्द
है, वह पूर्वपक्ष का निवर्तक है । इतर अनारब्ध कार्यक पुण्य पाप से भिन्न जो आरब्ध कार्यक
पुण्य पाप है, उन दोनों को प्रारब्ध फलोपभोग द्वारा विनाश करके विद्वान् उपासक तदीय
फल भोग के समनन्तर काल में ही ब्रह्म सम्पन्न हो जाते हैं । क्योंकि 'उसको तावत् काल ही

विद्वान् तत्फलभोगानन्तरमेव ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेवचिर'
मित्यादिश्रुतेः । भोक्तव्ये पुण्यपापे चैकशरीरभोग्यफलके यदि
स्यातां तर्हि तच्छरीरान्ते ब्रह्म सम्पद्यते, यति तु बहुशरीरभोग्यफल-
के स्यातां तदा बहुशरीरान्ते सम्पद्यते परं भोगेनैवास्वकार्यं पुण्य-
पापे क्षपयित्वेति नियम इति सर्वसवदात्म ॥१९॥

इति तत्क्षपणविकरणम् ॥१९॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्य प्रणीते शरीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

तत्र यदि भोक्तव्य शुभाशुभकर्मणोर्यद्येकशरीरेणैव भोक्तव्यत्वं तदा तदन्ते ब्रह्मनि-
ष्पत्तिर्भवति । यदि कदाचित्, अनेकशरीरैः फलभोग्यत्वं तदाऽनेकशरीरशरीरान्ते
सम्पन्नो भवति । परन्तु आस्वकार्यस्य पुण्यस्य शुभकर्मणः अपुण्यस्याशुभकर्म-
णश्च भोगेनैव क्षयं भवति नान्यथेति नियम एवेति ।

भोगो हि यदा समाप्तो भवति, तदनन्तरमेव शुभाशुभकर्मणो विनाशात् तदन-
न्तरं मुक्तो भवत्युपासक इति भावः ॥१९॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमपादः ॥१॥

विल्लं रहता है' इस तरह श्रुति कहती है । परन्तु भोक्तव्य पुण्य पाप यदि एक शरीर भोग्य
फलक हो तब तो उस शरीर के अन्त में ही ब्रह्म सम्पन्न उपासक हो जाते हैं । अथ यदि
अनेक शरीर भोग्य फलक पुण्य पाप हो तब तो अनेक शरीर के अन्त में वह उपासक ब्रह्म
सम्पन्न होता है । परन्तु आस्व कार्यक पुण्य पाप का तो भोगसे ही क्षय होता है ऐसा
नियम है ॥१९॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

श्रीरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र पट्टशिष्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे

चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

卐 शुभमस्तु सर्वजगतेः 卐

卐 सर्वेश्वर श्रीरामार्पणमस्तु 卐

卐 श्रीरामचन्द्राय नमः 卐

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शरीरकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

५ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ५

अथ वागधिकरणम् ॥१॥

अतिक्रान्ते पादे विद्याधिगमेन भोगेन च पुण्यपापे विना-
श्य भोगायतनदेहमपहाय ब्रह्मविद् ब्रह्मसम्पद्यते । तत्र कथं सम्प-
द्यत इत्यपेक्षायामर्चिरादिमार्गेण परंपदं गत्वेति वक्तुं पथममुत्क्रान्ति-
प्रकारं चिन्तयति-

५ वाङ्मनसि दर्शाच्छब्दाच्च ४।२।१ ५

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ब्रह्मविद्यया तथा भोगेनारब्धकार्यान्ारब्धकार्यक
पुण्यपापयोर्विनाशानन्तरं वर्तमानशरीरपतनाद् ब्रह्मविदां ब्रह्मसंपत्तिः कथिता । सम्प-
त्तिश्च प्राप्तिरूपा प्राप्तिर्भोगसाम्येति, अर्चिरादिमार्मविचारायेदभीयं द्वितीयं पादमा-
रभमाणः प्राह भाष्यकारः अतिक्रान्तेपादे इत्यादि । अर्चिरादिमार्गं तत्रापि प्रथमतः
शरीरादुत्क्रमणप्रकारं दर्शयितुमाह वाङ्मनसोऽस्यादि सूत्रम् । इदमाम्नायते इति छान्दोग्ये
इत्थं प्रतिपादयतीत्यर्थः । अस्य सोम्यपुरुषस्येत्यादि [हे सोम्य ? अस्य पुरुषस्य प्रयतो
प्रियमाणस्य मरणायोन्मुखस्य मुमुर्षोरित्यर्थः वाङ्मनसि सम्पद्यते=वाग्निन्द्रियं मनसि-
चेतसि प्रलीयमानं भवतीति, वाग्निन्द्रियस्वकीयंवदनादिव्यापारं परित्यज्यमनसि लीनं
संयुक्तं भवति । तथा मनोऽन्तःकरणं प्राणे लीनं भवति । प्राणश्च तेजसि जीवे
लीयते । तेजश्च परादेवतायां प्रलीनोभवतीति श्रुत्यर्थः । तत्र वाचो मनसोलयो भवती-

अतिक्रान्त पाद में अर्थात् चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में विद्या की प्राप्ति तथा भोगसे
अनारब्धकार्यक और आरब्धकार्यक पुण्य पाप को विनाश करके भोगायतन शरीर का परिहाराग
के अनन्तर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है, ऐसा कहा गया है । परन्तु वह ब्रह्म संपत्ति
किस प्रकार से होती है ! इस जिज्ञासा के उत्तर में अर्चिरादि मार्ग द्वारा उपासक परमपद

इदमाम्नायते—‘अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतोवाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्’ [छा० ६।८। ६।] तत्र ‘वाङ्मनसि सम्पद्यते’ इत्यत्र संशयः । किं वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिरुत वृत्तिमत्या वाच इति । किं युक्तम् ? वाग्वृत्तेरेव सम्पत्तिः कुतः ? वाचो मनसः कार्यत्वाभावेन तत्र वाक्स्वरूपसम्पत्त्यनुपपत्तेः।

तत्र संशयो जायते । किं वाचोवृत्तेर्मनसि प्रलयोभवति । अथवा वृत्तिविशिष्टस्य वागिन्द्रियस्य मनसि प्रलय इति । किमत्र युक्तमिति जिज्ञासायामाह पूर्वपक्षी नस्वरूपतो वृत्तिविशिष्टस्य वागिन्द्रियस्य मनसि प्रलयः किन्तु तदीयवृत्तेरेव तत्रलयः, इति । तत्र हेतुमुदाहर्तुमाह कुतः ! इति वाग्वृत्तेरेव मनसि प्रलयो भवति किन्तु वृत्तिविशिष्टतादृश वागिन्द्रियस्य न भवति तत्र कोहेतुरिति । तत्र हेतुमुपपादयति वाचो मनः कार्यत्वाभावेन-त्यादि यत् यस्य कार्यं तस्य तत्र लयः । अर्थादुपादानकारणे एव कार्यस्य लयो भवति नान्यत्रेति नियमः । यथा घटादिकार्यस्य स्वोपादानभूतमृत्तिकायामेव लयोभवति नतु जलादौ । यतो यस्योत्पत्तिस्थिती तत्रैव लयोपि नान्यत्रेत्यर्थः । तदिह यदि वागिन्द्रियं मनस उपादेयं भवेत्तदैव तस्य मनसि प्रलयः स्यात्, नत्वेवं विद्यते । तस्मान्न वागिन्द्रियस्य मनसि प्रलयः किन्तु लक्षणावाक्पदंवाचोवृत्तिमवदाति, ततश्च वाग्वृत्तेरेवमनसि प्रलय इति । यद्यपि लक्षणावृत्तिर्जघन्यतामापादयति तथा स हि मुख्यार्थस्य को प्राप्त करके मुक्त होता है, इस बात को कहने के लिये प्रथमतः उक्क्रान्ति प्रकार का विचार करते हैं ‘वाङ्मनसीत्यादि’ उक्क्रान्ति प्रकार को बतलाने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘इदमाम्नायते’ इति । श्रुति में इसप्रकार कहा गया है । ‘अस्य सोम्य पुरुषस्येत्यादि’ [हे सोम्य ? त्रियमाण मरणोन्मुख पुरुषों का वागादिक इन्द्रिय मनमें सम्पन्न हो जाते हैं । मन प्राण में सम्पन्न प्रलीयमान हो जाता है, प्राणतेज में सम्पन्न होता है और तेज परादेवता में सम्पन्न हो जाता है ।]

इसमें ‘वाङ्मनसि’ [वागिन्द्रिय मनमें सम्पन्न होता है.] यहाँ संशय होता है कि क्या वाग्वृत्ति का मन में प्रलय होता है अथवा वृत्ति विशिष्ट वागिन्द्रिय का ही मन में प्रलय होता है ? तो इसमें क्या मानना युक्त है, अर्थात् वृत्ति प्रलय युक्त है अथवा वृत्ति विशिष्ट वागिन्द्रिय का प्रलय होना युक्त है ! इस संशय के अनन्तर में पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि वागिन्द्रिय की जो वृत्ति है उसका प्रलय मनमें मानना युक्त है । क्योंकि वागिन्द्रिय मनका

तात्पर्यानुपपत्त्या वाक्छन्दस्य वाग्वृत्तौ लक्षणया तस्या एव मनसि सम्पत्तिरुपपद्यत इति प्राप्तेऽभिधीयते—वाङ्मनसीति । वागेव मनसि सम्पद्यते संयुज्यतिष्ठतीत्यर्थः । कुतः ? दर्शनात् । दृश्यते वाघेतस्या अपिसमाश्रयणीयत्व भवत्येवेति । तस्मात्लक्षणया वाग्वृत्तेरेव मनसि प्रलये न तु वृत्तिविशिष्टाया वाचोऽतत्प्रकृतिकत्वादिति पूर्वपक्षाशयः ।

एतादृशशंका मुद्धर्तुमाह वाङ्मनसीति इति । नात्र वाग् वाग्वृत्तेर्मनसि लयः किन्तु वृत्तिविशिष्टस्य स्वरूपतो वागिन्द्रियैव मनसि प्रलयः मनसासंयोगो भवति, वागिन्द्रियमेव मनसा संयुज्यव्यवस्थितं भवतीत्यर्थः । नात्र प्रलयो मुख्यार्थकः येनानुपादाने मनसि तन्न भवेत् किन्तु प्रलयशब्दार्थः संयोग एव ततश्च मनसा संयुज्यवृत्तिविशिष्टवागिन्द्रियस्य तत्कालेस्थितौ न कोपि बाधकः ।

ननु वाग्वृत्तेर्न मनसि गमनं किन्तु वृत्तिविशिष्टवागिन्द्रियस्यैवल्लयो भवतीति तत्र किं विनिगमकं तत्राह दर्शनादिति । तदेवोपपादयति दृश्यतेहीत्यादि स्वप्नादिकाले समुप-
रतेपि वागिन्द्रियं मनसस्तदापि प्रवृत्तिदर्शनादिति । नच वागिन्द्रियवृत्तिमात्रेपि समु-
त्पद्यते एतन्नैतन्सर्वं तत्कथं वाच एव प्रलयो न तु वृत्तेस्तत्राह शब्दाच्चेति शब्दोपिवृत्ति
विशिष्टाया वाच एव मनसि प्रलयं दर्शयति वाङ्मनसि संपद्यते इति ।

कार्य नहीं है. इसलिये वृत्तिका प्रलय मानना ही युक्त है । [कार्य जिस कारण से उत्पन्न होता है उसी उपादान में उसका प्रलय होता है, जिस तरह मृत्तिका से उत्पन्न जो घटादिक कार्य है उसका विलय मृत्तिका में होता है. अकारण में कार्य का प्रलय नहीं होता है, जिस तरह जलमें घटादिक का प्रलय नहीं होता है, क्योंकि जल घट का उपादान नहीं है । अतः वागिन्द्रिय मनका कार्य नहीं तो मन में वागिन्द्रिय का प्रलय नहीं हो सकता है ।] अतः लक्षणा का कारण जो तात्पर्यानुपपत्ति उससे वाक् शब्द का वाणी की वृत्ति में लक्षणा करके वाक् वृत्तिका मनमें प्रलय माना जाता है । [यद्यपि लक्षणा वृत्ति जघन्य है, तथापि वाक्यार्थ बोध को अनुपपन्न होने से 'गङ्गायां घोषः' इसके सदृश यहाँ भी लक्षणा करते हैं तथा तद्-
द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है ।]

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त बतलाते हैं 'वाङ्मनसीतीति' वृत्ति विशिष्ट वागि-
न्द्रिय का ही मनमें सम्पत्ति होती है, अर्थात् वागिन्द्रिय ही मनमें संयुक्त होकर के रहता है ।
वागिन्द्रिय का ही मनमें प्रलय होता है वृत्ति का प्रलय नहीं होता है, ऐसा क्यों ? इसके

हि स्वापादिषु वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनसः प्रवृत्तिः । वाग्वृत्तेः सम्पत्तावप्येतदुपपद्यत इत्यत आह 'शब्दाच्चेति । श्रुती 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति वाच एव सम्पत्तिरभिधीयते न वृत्तिमात्रस्य । न हि तदानीं वृत्तिमात्र सम्पत्तौ स्वरूपेण वागिन्द्रियस्य सद्भावे किमपि

नतु वाचोवृत्तेः प्रलयं यथोक्तश्रुतिः प्रतिपादयति । पदं हि शक्तिलक्षणान्यतर सम्बन्धमादायार्थमवबोधयति । तत्र शक्तिर्मुख्या गौणी च लक्षणा, तत्र मुख्यया निर्वाहे लक्षणा न तत्र गृहीताभवति । प्रकृते वाङ्मनसि सम्पद्यते इत्यत्र मुख्यवृत्त्या वाच एव समुपस्थापनात् न वाक् पदस्य वृत्तिपर्यन्तार्थानुधावनं युक्तम् । शब्दस्वारस्यात् वाच एवोपस्थितः । तस्मान्नवृत्तिमात्रस्य मनसि प्रलयः किन्तु वृत्तिविशिष्टवागिन्द्रियस्यैवेति सिद्धान्तः । प्रकृते संपत्तिपदं न प्रलयार्थकमपितुं संयोगमात्रमर्थं बोधयति, संयोगस्तु कारणेन सहैव भवतीति न नियमः कार्यकारणभावविग्रहेऽपि घटपटयोः संयोगदर्शनात् ।

उत्तर में कहते हैं 'दर्शनादिति' स्वप्नादिकाल में वागिन्द्रिय को उपरत हो जाने पर मनका संचार होता रहता है, ऐसा देखने में आता है अतः वृत्ति विशिष्ट वागिन्द्रिय का ही मनमें प्रलय होता है, वृत्ति मात्र का प्रलय नहीं होता है ।

प्रश्न=स्वापादिक में वागिन्द्रिय का मन में प्रलय होने से मनका संचार देखने में आता है, उसीतरह वागिन्द्रिय वृत्तिका प्रलय होने पर भी तो मनका संचार स्वापकाल में उपपन्न हो सकता है । इसके उत्तर में कहते हैं 'शब्दाच्चेतीति' 'वाङ्मनसि' [वागिन्द्रिय मनमें सम्पन्न हो जाता है] इस श्रुति में वृत्ति विशिष्ट वागिन्द्रिय का ही मनमें लय कहा जाता है किन्तु वागिन्द्रिय को जो वृत्ति तावन्मात्र का प्रलय नहीं कहा जाता है । क्योंकि स्वापादि काल में वृत्तिमात्र का प्रलय हो जाने पर स्वरूप मात्र से वागादि इन्द्रियों का सद्भाव में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं, इसलिये वृत्ति विशिष्ट वागादिक इन्द्रियों का ही मनमें प्रलय होता है किन्तु केवल वृत्तिमात्र का प्रलय नहीं होता है ऐसा दर्शन तथा श्रुति शब्दों से सिद्ध होता है ।

'यत्तु' इत्यादि । जिस किसी ने पूर्वपक्ष में कहा था कि वागिन्द्रिय तो मनका कार्य जन्य नहीं है, इसलिये वागिन्द्रिय का मनमें प्रलय नहीं हो सकता है क्योंकि कारण में ही कार्य का प्रलय होता है अकारण में प्रलय नहीं होता है । इसलिये मनमें वागिन्द्रिय की सम्पत्ति नहीं हो सकती है । परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ सम्पत्ति शब्द

प्रमाणमुपलभ्यते । यत्तु वाचो मनसोकार्यत्वान्नोपपद्यते सम्पत्ति-
रिति तन्न सम्पत्तिस्त्र संयोगमात्रं न तु लयो येनोक्तदोषः स्यात् ॥१॥

॥ अत एव सर्वाण्यनु ४।२।२। ॥

यतो मनसि वाचो नलयः किन्तु संयोगः । अत एव वाचमनु

नच त्रियमाणस्य वाग्निन्द्रियं मनसा संयुज्यते तथैव जाग्रत्कालेपि सर्वेन्द्रियं
मनसा संयुज्यते एव ततश्चोभयत्र को विशेष इति वाच्यम्- मरणव्यवहारयोरेव विशेष
स्य सत्वादिति न कोपि दोष इति दिक् ॥१॥

वाग्निन्द्रियस्य वृत्तिविशिष्टस्य मनसि प्रलयोभवति, अथवा वृत्तिमात्रस्य प्रलयो
भवतीति संशये, वृत्तिविशिष्टस्य वाग्निन्द्रियस्य स्वरूपत एव लयोभवति नतु तत्र वृत्ति-
मात्रस्यलयः । तत्रापि न प्रलयशब्दस्य स्वाभाविकोऽर्थः किन्तु संयोग एवार्थः । अत
एव सर्वाण्यपि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनादिकानि, ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि अनु=अनुपादा-
नेपि मनसि सम्प्रलीयमानानि भवन्ति । तत्रापि संपत्तिशब्दार्थो न प्रलयः किन्तु संयो-
गमात्रमेव । तस्मात् कारणात् सर्वेन्द्रियाणां चक्षुरादिकानां, अनुपादानेपि मनसि
सम्पत्तिरुपपद्यते । यद्यपि वृत्तिमात्रस्य मनसि लयोभवति वृत्तिविशिष्टस्य वागादेर्लयो
का अर्थ प्रलय नहीं है किन्तु संपत्ति शब्द का अर्थ संयोग मात्र है । अन्यथा वाग्निन्द्रिय की
जो वृत्ति है वह भी तो मनका कार्य नहीं है किन्तु वाग्निन्द्रिय का कार्य है तब उस वृत्तिका
ही मनमें लय किसतरह से हो सकता है । संयोग पक्ष में कोई दोष नहीं होता है । [किञ्च
अनुपादान में भी कदाचित् कार्य का विलय देखने में आता है जिसतरह घटध्वंस प्रतियोगिता
सम्बन्ध से अनुपादान घट में विलीयमान होता है । इसका विशेष विचार अन्यत्र देखें । प्रकृ-
तानुपयोगीसा होने से यहाँ इस त्रिषय का अधिक विचार नहीं किया जाता है] इति ॥१॥

जिसलिये मनमें वाग्निन्द्रिय का लय नहीं होता है किन्तु संयोग मात्र होता है अतएव
वाणी का मन उपादान कारण नहीं है तथापि चक्षुरादि सर्व इन्द्रियों का उस अनुपादान मनमें
श्रुति प्रतिपादित सम्पत्ति उपपन्न होती है । यहाँ अभिप्राय यह है कि कारण में अर्थात्
उपादान कारण में कार्य का प्रलय होता है किन्तु अनुपादान में कार्य का प्रलय नहीं होता
है, ऐसा नियम है । तो वागादिक इन्द्रियों का जो मनमें सम्पत्ति का कथन किया है वह
सम्पत्ति शब्द का संयोग रूप अर्थ मान करके किया गया है, क्योंकि कार्य का लय उपादान

मनसोऽनुपादानत्वेऽपि सर्वेन्द्रियाणां तत्र श्रुत्युक्ता सम्पत्तिरुपपद्यते । २

इति श्रीआनन्दभाष्ये वागविकरणम् ॥१॥

अथ मनोऽविकरणम् ॥२॥

ॐ तन्मनः प्राण उत्तरात् ४।२।३ ॐ

एवं 'मनः प्राणे' [बृ० ६।८।६] इत्युत्तमाश्रय्ये किं सर्वेन्द्रिय-
सम्पत्त्याधारस्य मनसः प्राणेलयो भवति संयोगमात्रं वेति विशये
'अन्नमयं हि सोम्य मनः' [छा० ६।२।४] इत्यत्र मनसोऽन्नविका-
न भवति, अनुपादानत्वात् मनसीति व्याख्यानं परेषां तथापि तत्कथनं न युक्तम् ।
तथा सति लक्षणाश्रयणेन शब्दस्वारस्यभंगादिति ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वागविकरणम् ॥१॥

ननु मनः प्राणे इति वाक्येमनोभिन्न सकलेन्द्रियसम्पत्तेरधिकरणीभूतेन्द्रिय-
विशेषस्य मनसः प्राणे लयोभवतीति प्रतिपादितम् । तत्रेदं जिज्ञास्यते । किं मनसः प्राणे
लयोभवति, यद्वापूर्ववत् संयोगमात्रमिति । तत्र स्वकारणे एव कार्यस्य विलयोभवतीति
नियमः । तदत्र प्राणस्य जलमयत्वेन मनसश्च पार्थिवत्वात् तत्र तस्य लयो न संभवती
त्याकलय्य पूर्वपक्षीकथयति । यत् मनसः पार्थिवत्वान्प्राणस्य जलीयत्वात्, पृथिवीजल-
में ही होता है तथापि संयोग तो अनुपादान के साथ भी देखने में आता है । अतएव अनु-
पादान कारण मन में भी संयोगात्मक संपत्ति जो कि श्रुति प्रतिपादित है, वह भी सम्पन्न
होता है । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीआमेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे वागविकरणम् ॥१॥

इसीतरह 'मनः प्राणो' (मन प्राण में सम्पन्न हो जाता है) एतादृश श्रुति के उत्तर
(अग्रिम) वाक्य में संशय होता है कि वागादिक इन्द्रियों के संपत्ति के आधारभूत जो मन है
तादृश मनका प्राण में लय होता है, अथवा वागिन्द्रियादियों का मनमें संयोग होता है, तद्वत्
मनका प्राण में संयोग मात्र होता है ! एतादृश संशयोत्तर काळ में पूर्वपक्ष होता है कि 'अन्न
मयम्' (हे सोम्य ! यह मन जो है सो अन्नमय है, अर्थात् अशित अन्न का सूक्ष्म विकार

स्त्वश्रवणादन्नस्य च 'ता अन्नमसृजन्त' [छा० ६] 'इत्यविकार-
स्त्वश्रवणात् 'आपोमयः प्राणः' [छा० ६।६।५] इति प्राणस्याप्रकृति
कत्वात्तेन 'मनः प्राणे' इति प्राणशब्दस्य प्राणकारणभूतास्वप्सु लक्ष-
णया स्वप्रकारणभूतासु परम्परया मनसः सम्पत्तिर्लय एवेति प्राप्ते-
ऽभिधीयते 'तन्मनः प्राण इति । मनस अहं कारिकत्वादाकाश-
योश्च कार्यकारणरूपेण व्यवस्थितत्वेन, परंपरया मनः प्राणयोरपि परस्परंजन्यजनक
त्वेन मनसः स्वकारणे जलीये प्राणे प्रलय एव नतु संयोगवत्वमेवेति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।

सिद्धान्तस्तु प्राण प्रकृतिकस्य मनसः प्राणेन संयोगमात्रमेव भवति नतु प्राणे
विलयः । परंपरया कार्यकारणभावमर्थने लक्षणाश्रयणस्यापरिहार्यत्वमापद्येत । किञ्च
मनो न पृथिवीजन्यमपित्वाहंकारिकम् । प्राणश्चाकाशकार्यरूपः । तेन, तयोर्द्वयोर्मनः
प्राणयोः कार्यकारणभावस्याभावान् न मनसः प्राणे प्रलयः । किन्तु संयोगरूपैव सम्प-
त्तिः । मनः प्राणयोः पृथिवीजलादिना आप्यायनमात्रं भवति नतु जन्यजनकभावः ।
तस्मान्मनसः प्राणसंयोगरूपैव सम्पत्तिर्भवति नतु तत्र तस्यप्रलयः । इत्यादिकमावेद-
यितुं सूत्रां व्याख्यातुं चोपक्रमते एवं मनः प्राणे इत्युत्तरवाक्ये इत्यादि ।

रूप है,) इस श्रुति में मन अन्न का विकार है, ऐसा श्रवण होता है और अन्न जो है वह
'ता अन्नमसृजन्त' (जलने अन्नपदवाच्य पृथिवी को उत्पन्न किया ।) (जल का विकार अर्थात्
कार्य है,) ऐसा सुनने में आता है । और 'आपोमयः प्राणः' (प्राण जलमय है अर्थात् जलका
विकार कार्य है,) इस प्रकार से प्राण में जल प्रकृतिकत्व सिद्ध होता है । इसलिये 'मनः प्राणे'
मन प्राण में सम्पन्न होता है । अतः प्राण शब्द को प्राणकारणभूत जल में लक्षणा वृत्ति द्वारा
स्वकारणभूत जलमें कारण परंपरया मनकी सम्पत्ति लय रूप ही है, किन्तु मनका प्राण में
संयोगरूप प्रलय नहीं है । क्योंकि मन पार्थिव है, और पृथिवी जल का कार्य है, तथा प्राण
जल मय होने से जलात्मक है, अतः जलात्मक प्राण में पार्थिव मनका प्रलय रूप ही सम्पत्ति
है, क्योंकि कार्य का कारण में लय सर्व संमत है इति पूर्वपक्षः ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'मनः प्राणे उत्तरात्' मन पृथिवी जन्य नहीं है
किन्तु अहंकार से उत्पन्न होता है । 'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्' (सात्त्विक
एकादश इन्द्रियगण पञ्चज्ञानेन्द्रि पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये एकादश सात्त्विक अहंकार से
उत्पन्न होते हैं,) इस सांख्य प्रक्रिया से सिद्ध होता है कि मनकी उत्पत्ति अहंकार से होता

कार्यत्वाच्च प्राणस्याप्सु लक्षणागौत्वाच्च न प्राणेलय उपपद्यते ।
‘अन्नमयं हि सोम्यमनः, आपोमयः प्राणः’ इति मनः प्राणयोस्ना-
दिभिश्चाप्यायनमात्रत्वं तस्मान्मनसः प्राणे संयोग एवेति ॥३॥

इति श्रीआनन्दभाष्येमनोऽधिकरणम् ॥२॥

अथाध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

५ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ४।२।४ ५

‘प्राणस्तेजसी’ त्युत्तस्वाक्ये किं प्राणस्य तेजसि सम्पतिरुत
अन्येतु केचनप्रकृते इत्थं विचारयन्ति, किमत्र प्राणेमनसः प्रलयः प्रतिपाद्यते
अथवा मनसः संयोगः प्राणे भवतीति । एवं प्रकृते प्राणपदेन जलस्यग्रहणम् अथवा यतः
श्रुतप्राणस्यैव निर्देशः । आपोमयः प्राणः इतिवाक्यं किं प्रकृति विकारभावबोधकं भवति-
अथवा आप्यायनपरकम् । तत्र यदीदं वाक्यम् प्रकृतिविकारभावपरकत्वे, प्राणे इति
जलस्य निर्देशान् संपत्तिशब्देन प्रलय एवोक्तोभवेत् । आप्यायनपरकत्वेतु प्राणस्यैव
निर्देशात् सम्पत्तिः संयोग एवेत्यादिकं विभावनीयमिति संक्षेपः ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदोषे मनोऽधिकरणम् ॥२॥

ननु यथा अस्यसोम्य पुरुषस्य प्रयतः इतिश्रुतौ प्रलयनिरूपणावसरे एकस्यापरत्र
है किन्तु पृथिवी से नहीं । और प्राण आकाश का कार्य है, और प्राण पद को जलमें लक्षणा
करने का गौरव भी होता है । इसलिये मनका लक्ष प्राण में कहना युक्त नहीं । नहीं कहो
कि तब तो ‘अन्नमयं सोम्य ? मनः’ (अन्नमय मन है अर्थात् अन्न का कार्य मन है ।)
‘आपोमयः प्राणः’ (जल का विकार कार्य प्राण है,) इन श्रुतियों की क्या गति होगी ? तो
इसके उत्तर में कहते हैं कि इन दोनों श्रुतियों का यह अर्थ नहीं है कि पृथिवी जल जन्यत्व
मन प्राण में है किन्तु आप्यायकत्व मात्र है ।

इस मनके अनुपादान प्राण में मन विलय नहीं होता है किन्तु प्राण के साथ मनका संयोग
मात्र होता है ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे मनोऽधिकरणम् ॥२॥

नागिन्द्रिय का मन में संयोग रूप प्रलय होता है, तथा मन का प्रलय प्राण में होता है,

जीव इति संदेहे 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेस्तेजस्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते—सोऽध्यक्ष इति । स प्राणोऽध्यक्षे 'सकारण कारणाधिपाधियः' इति सर्वकरणाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' [बृ० ४।३। ३८] इति प्राणस्य जीवोपगमोऽभिधीयते । एवं 'तमुत्क्रामन्तं प्राणो

प्रलयोदर्शितः । तत्र वाग्निन्द्रियस्य सवृत्तिकस्य मनसि प्रलयो मनसश्च प्राणेलयः प्रतिपादितः । तथैव प्राणस्य प्रलयोदर्शितः । तत्र यथा श्रुतिवाचो मनस्येव मनसः प्राणे एव, न तु वस्त्वन्तरे प्रलय उक्तः । तथैव प्राणस्तेजसीति श्रुतौ प्रतिपादनात् श्रुतेश्चानतिशङ्कनीयत्वात् प्राणस्य यथाश्रुतितेजसिभूते प्रलयोत्थवा तदितरजीवेशरीरेन्द्रियाध्यक्षेलय इति संशयो भवति । यद्यपि जीवस्य साक्षादुपस्थापकं किञ्चिदपि पदं नास्ति, तथापि पूर्वापरप्रकरणं पर्यालोचनया, शरीरेन्द्रियप्राणमनः सम्बद्धस्य जीवस्याप्युपस्थिति संभवमालोच्य जीवकोटिकोपि संशयः समुदेतीति । तत्र श्रुतेः स्वतः प्रमाणत्वात् प्राणस्तेजसि इति वाक्यात् तृतीयभूते एव प्राणलय इति पूर्वपक्षः । ईदृशप्रश्नस्योत्तरमाह सूत्रकारः सोऽध्यक्षे इत्यादि । स प्राणः अध्यक्षे=शरीरेन्द्रियाणामधिष्ठायके जीवे एव प्रलीयते । तत्र कारणमुदाहरति सकारणं करणाधिपाधिपः इयं श्रुतिः सर्वकरणाधिष्ठायके शरी-

इस बात का विचार करके तदुत्तर वाक्य 'प्राणस्तेजसि' के ऊपर विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं 'प्राणस्तेजसीत्युत्तरवाक्ये' इत्यादि । प्राण तेज में सम्पन्न होता है, एतादृश जो अग्रिम वाक्य है, उसमें प्राण का प्रलय तृतीय तेज में होता है, अथवा तेजोपलक्षित शरीरेन्द्रियाध्यक्ष जीव में होता है ? ऐसा संशय होता है । इसके अनन्तर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेज में सम्पन्न होता है) यह श्रुति कहती है कि प्राण का प्रलय तृतीयभूततेज में प्रलय होता है, अतः प्राण के प्रलय को तेज में ही मानना चाहिये, क्योंकि श्रुति स्वतः प्रमाण है, इसलिये श्रुति का अनुरोध करना ही उचित है, अतीन्द्रिय अर्थावबोध में तो केवल श्रुति ही प्रमाण हैं, अतः तेज में प्राण का प्रलय होता है । यह पूर्वपक्ष का कथन है ।

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'सोऽध्यक्षे' इत्यादि । मन के प्रलय का अधिष्ठान प्राण है सो शरीरेन्द्रियादि का अध्यक्ष जो जीव उसमें प्रलीयमान होता है किन्तु तेजमें प्रलीन नहीं होता है । अर्थात् 'सकारणम्' (वह जीव सबका कारण है, तथा सर्वकरणों का

‘ऽनूत्क्रामति’ [बृ० ४।४।२] इति च । ‘कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठास्यामि’ [प्र० ६।३] इति श्रुतिर्जीवेन सह प्राणस्य प्रतिष्ठामपि बोधयति तथाच प्राणोजीवेन प्राक्संयुज्य तेन सह तेजसि सम्पद्यते । नन्वेवं प्राणस्तेजसि इति साक्षाच्छ्रुतेर्विरोध इति चेन्न, प्राणस्याध्यक्षसंयोगेऽपि गङ्गाया संयुज्ययमुनायाः सागर रेन्द्रियाध्यक्षे जीवे एव प्राणप्रलयं दर्शयतीति न प्राणस्यभूते तेजसि प्रलयोऽपितु तेजः पदवाच्यसात्त्विककरणाध्यक्षे जीवे एव प्राणस्याप्ययो भवतीति भावः ।

कुत एवं ज्ञायते यत् शरीराद्यक्षे जीव एव लयः प्राणस्य नतु तेजसीति, तत्राह तदुपगमादिभ्यः इति । तस्मिन् जीवे एव प्राणादीनां मरणकाले, उपगमनदर्शनस्य शास्त्रे प्रतिपादनात् । तथाहि शास्त्रम् एवमेवमात्मानमित्यादि [अन्तकाले=शरीरावसानसमये, सर्वे प्राणाः इन्द्रियादिका अभिसमायन्ति=अभितो यथाराजनि प्रस्थिते तदुपकरणभूता अमात्यादयः परिवारास्तदनुगता एव भवन्ति तद्वत् राजस्थानापन्नजीवगमने तत्परिभूता उपभोगसाधनीभूताः प्राणादयस्तेन सहैव गताभवन्तीति श्रुत्यर्थः । एवम् तमुत्क्रान्तमित्यादि [तं सर्वाध्यक्षं प्रस्थितं दृष्ट्वा प्राणलक्षणपरिवारोपि तदनुत्क्रान्त एव भवन्तीति तदर्थः । आभ्यां श्रुतिभ्यां जीवगमने प्राणादीनां तदनुगमनं प्रतीतं भवति, तस्मात् प्राणादीनां सर्वेषां जीवोपकरणानामध्यक्षे जीवे एव प्रलयो नान्यत्रेति व्यवस्थापितं भव-

अधिप स्वामी नियामक है,) यह श्रुति सर्व चक्षुरादिकर्णों का अध्यक्ष जो जीव है, उसी सर्वाध्यक्ष जीव में प्राण के प्रलय को बतलाती है नतु तेज में प्राण प्रलय को बतलाती है । श्रुति इसप्रकार से क्यों बतलाती है ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ‘तदुपगमादिभ्यः’ इति । ‘एवमेवमित्यादि’ (इस आत्मा को अन्तकाल मरण समय में सभी प्राण प्राणादिक तथा मुख्य प्राण उपगत होते हैं अभितः प्राप्त कर जाते हैं ।) यह श्रुति प्राण का जीवोपगम का कथन करती है । तथा ‘तमुत्क्रामन्तमिति’ (इस शरीर से जीव के जाते हुए तदनन्तर सभी प्राण शरीर से निकल जाते हैं जिस तरह नगर से राजा के चले जाने के बाद अमात्यादि परिवार का अनुगमन होता है, उसी तरह,) यह भी श्रुति जीवोत्क्रमण के पश्चात् प्राणोत्क्रमण का कथन करती हुई प्राण का प्रलय जीव में होता है, इसको व्यवस्थित करती है, नतु तेज में प्रलय होता है, इस बात का प्रतिपादन करती है । एवम् ‘कस्मिन्नुत्क्रान्ते’ इत्यादि, (इस शरीर से किसके निकल जाने पर मैं भी उत्क्रान्त (निकल) हो जाऊंगा, तथा किसके इस शरीर में

गमनेऽपि 'यमुना सागरं गच्छति' इतिवत् प्राणस्तेजसि इतिव्यपदेश उपपद्यत एव । सोऽध्यक्ष इत्यस्य प्राणस्तेजसि इति श्रौतवाक्यसामञ्जसाय च मुख्यप्राणएवेन्द्रियाणां प्राणपदवाच्यानां सङ्गम इत्यर्थ

तीति । एवम् कस्मिन्नुत्क्रान्ते इत्यादि [अस्मात् शरीरात् कस्यगमनेममापि गमनं स्यात् कस्यवात्रशरीरे प्रतिष्ठितेममापि प्रतिष्ठा, अत्र शरीरेममाप्यवस्थानं भवेदित्यर्थः श्रुतेरिति,] इयंश्रुति जीवेन सहैवप्राणस्यावस्थानमप्यस्मिन् दर्शयति । तस्मात् प्राणस्यावस्थितिः प्रलयं च जीवे एव प्रदर्शयति, इति । नचैवं प्राणस्य जीवेप्रलयस्वीकारे प्राणस्तेजसीति खण्डः कदर्थितः स्यात् स तु खण्डः साक्षादेव प्राणस्यतेजसि प्रलयंश्रावयतीति वाच्यम्, यथा सिद्धपुरात्प्रस्थायमथुरां गच्छन् पाटलिपुत्रं याति, तत्र सिद्धपुरात्पाटलिपुत्रं गच्छति, यथवा गङ्गां संयुज्यसमुद्रं गच्छन्त्या यमुनायाः सागरं गच्छतीति व्यवहारो भवति तथैव प्रकृतेऽपि स्वीकारेक्षत्यभावादिति । तस्मात् प्राणस्य संयोगलक्षणः प्रलयः

व्यवस्थित रहने पर मैं इस शरीर में व्यवस्थित रहूंगा ।) यह श्रुति भी जीव के साथ-साथ प्राण के अवस्थान का बोधन करती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथमतः प्राण जीव के साथ संयुक्त होकरके तदनन्तर जीव के साथ तेज में सम्पन्न होता है । प्रश्न=यदि आप ऐसा कहते हो कि प्रथमतः प्राण जीव से संयुक्त होता है तदनन्तर जीव के साथ तेज में सम्पन्न होता है, तब तो 'प्राणस्तेजसि' यह जो श्रुति साक्षात् प्राण की सम्पत्ति तेज में होता है, इस का विरोध होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिसतरह गंगा से संयुक्त होकरके यमुना नदी का समुद्र गमन होने में यमुना सागर में जाती है [यह प्रयोग होता है, यहाँ साक्षात् सम्बन्ध तो यमुना का गंगा से है और गंगा द्वारा सागर गमन होने पर भी यमुना सागर में जाती है] उसी तरह 'प्राण तेज में जाता है, यह भी प्रयोग होता है अर्थात् साक्षात् संयोग तो प्राण का जीव के साथ है और जीव द्वारा तेज के साथ भी होता है 'सोध्यक्षे तथा प्राणस्तेजसि' (वह प्राण अध्यक्ष में संयुक्त होता है तथा प्राण तेज में संयुक्त होता है) इन दोनों वाक्यों को जो कि दोनों श्रौत वाक्य हैं उन दोनों को सामंजस्य करने के लिए, प्राण पदवाच्य इन्द्रियों का मुख्य प्राण में संयोग होता है, इसतरह उपर्युक्त वाक्य द्वय का अर्थ होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यदि मुख्य प्राण में तदितर प्राणादिक प्राणों का संयोग होता है, ऐसा अर्थ किया जाय तब तो इन्द्रियों का मन में तथा मनका प्राण में संयोग होता है, इसप्रकार अर्थ प्रतिपादक अनेक श्रुतियों का बाध हो जायगा ।

स्तु न शङ्कनीय एव । अनेकश्रुतानांगैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥४॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

अथ भूताधिकरणम् ॥४॥

॥ भूतेषु तच्छ्रुतेः ४।२।५ ॥

पूर्वसूत्रेण जीवसम्परिष्वक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरभि-
हिता । सा च सम्पत्तिस्तेजोमात्र आहोस्वित्समवेतेषु सर्वेषु भूते
सर्वाध्यक्षेजीवे एव भवति नान्यत्रेतिभावः ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

इतोध्यक्षाधिकरणीयपूर्वसूत्रेण जीवेन संयुक्तस्य तृतीयभूतेतेजसि संपत्तिर्भवतीति
प्रतिपादितम् । तत्र संशयो भवति, किमिह तादृशप्राणस्य सम्पत्तिः केवलेतेजसि भवति,
अथवा भूतान्तरसंवलिते तेजसि भवतीति । तत्र प्राणस्तेजसीति श्रवणात् केवलेतेजस्येव
इसलिये भाष्य प्रदर्शित मार्ग ही रमणीय है ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

जीवात्मा से संयुक्त जो प्राण है उसका तेज में विलय होता है- ऐसा इससे पूर्व अध्य-
क्षाधिकरण में कहा गया है । इसमें संशय होता है कि केवल तेज में ही प्राण का प्रलय
होता है अथवा मिश्रित पृथिव्यादि सर्वभूतों में प्राण का प्रलय होता है ?

अब यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि जो यहाँ तेज में प्राण का प्रलय कहा गया है वह
केवल तेज में ही प्रलय होता है, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' [प्राण का लय तेज में होता है,]
इस तरह श्रुति में तो केवल तेज में ही प्रलय का प्रतिपादन किया है । इसलिये श्रुति में
जिस तरह प्रतिपादन किया है उसी तरह से मानना युक्त है ! ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'भूतेषु' इत्यादि । मिश्रित सर्वभूतों में
अर्थात् पृथिव्यादि आकाश पर्यन्त समुदित सर्वभूत में जीव संयुक्त प्राण का प्रलय होता है ।
नतु मात्र तेज में ही प्राण का प्रलय होता है । नहीं कहो कि 'प्राणस्तेजसि' [प्राण तेज में
प्रलीयमान होता है] इस श्रुति में तो केवल तेज में ही प्राण का प्रलय होता है ऐसा कहा

ष्विति । सर्वेषु भूतेषु सम्पद्यते जीवसचिवः प्राण इति । कुतः ?
तच्छ्रुतेः 'पृथिवीमय आपोमय वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः'
[बृ० ४।४।५] इत्यात्मनः सर्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥५॥

५ नैकस्मिन् दर्शयतो हि ४।२।६ ५

ननु क्रमेण सम्पत्तावपि 'पृथिवीमय' इत्यादिश्रुतिः सङ्गच्छत
इत्यत्राह—'नैकस्मिन् इत्यादि ।' न क्रमेणैकस्मिन् सम्पत्तिरुपपद्यते ।
सा संपत्तिर्भवतीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु भूतेषु तच्छ्रुतेरिति अयमाशयः न केवलं तेजो-
मात्रे सा संपत्तिर्भवति, किन्तु संहतभूतेषु भवति, तथैव श्रुतिषु प्रतिपादनात् । तथाहि
पृथिवीमय आपोमयो वायुमयः इति । अनया च श्रुत्यासर्वभूतमयत्वस्य श्रवणात् । संहत
सर्वभूतेषु सा सम्पत्तिरिति ॥५॥

ननु केवले तेजसि प्राणस्यप्रलयो न भवति, किन्तु समुदितभूतेष्वेव तस्य प्राणस्य
संपत्तिर्भवतीति पृथिवीमय इत्यादिश्रुत्यनुरोधादिति प्रथमसूत्रे प्रतिपादितम् । तत्र वच्मि
क्रमेण तेजः प्रभृतिषु प्राणस्य संपत्तिस्वीकारेपि तादृशश्रुतेरुपपत्तिसंभवेन सर्वभूतेषु
है, तब यदि आप समुदित सर्वभूतों में प्रलय कहते हैं तब तो पूर्ण श्रुति का विरोध होता
है ? ऐसा नहीं कहना क्योंकि सर्वभूतमयत्व का आत्मा में श्रुत्यन्तर से प्रसिद्ध होता है ।
'पृथिवीमय आपोमय' इत्यादि । (यह जीवात्मा पृथिवीमय जलमय वायुमय आकाशमय और
तेजोमय है.) इस श्रुति में जीव में सर्वभूतमयत्व का प्रतिपादन किया गया है । तस्मात् समु-
दित सर्वभूतों में जीव संयुक्त प्राण की सम्पत्ति होती है. ऐसा मानना ही युक्त है । ननु
केवल तेज में प्रलय होता है ऐसा अभिप्राय है सूत्र का । अतः पूर्वपक्ष उचित नहीं है ।
इति संक्षेपः ॥५॥

'पृथिवीमय आपोमयः' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से संमिलित भूतों में प्राण का लय
होता है. ऐसा पूर्वसूत्र में कहा है, परन्तु क्रम से भी यदि संपत्ति मानें तब भी तो 'पृथिवी-
मयः' इत्यादि श्रुतियों की संगति हो सकती है. तब मिलित पर्यन्त अनुवादन करने की क्या
आवश्यकता है ? इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—'नैकस्मिन्'
इत्यादि । क्रम से प्रत्येक भूतों में प्राणादिकों को सम्पत्ति नहीं हो सकती है ? क्योंकि एकैक
भूतों में प्रातिस्विक रूपेण प्रत्येक भूतों में सर्ग स्थिति तथा लय करने का सामर्थ्य नहीं है ।

एकैकस्य सृष्ट्यादिकरणासामर्थ्यात् । यतो दर्शयन्श्चासामर्थ्यं श्रुति-
स्मृती - 'अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि'
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकस्य करवाणि' [छा० ६।३।२।३] इति
श्रुतिः । 'नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नु-
वन् प्रजाः स्त्रष्टुमसमागम्य कृतस्नशः । समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर-

मिलितेषु तत्स्वीकारेण कमपि विशेषमर्थं बोधयतीत्याशङ्क्य, एकैकस्यात्रिवृतकृतस्यापञ्ची-
कृतस्य वा कार्यकारित्वस्यादर्शनात् श्रुतिस्मृतिभ्यां मिलितानामेवकार्यकारित्वस्य प्रदर्श-
नेन आपः पुरुषवचसो भवन्ति जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नानावीर्याः पृथग्भूता इत्यादिस्थले
समुदितानामेव कार्यकारित्वक्षमत्वात्, न सूक्ष्मेकैकस्य कार्यसामर्थ्यमपितु पञ्चीकृतस्थु-
लानामेव क्षमत्वमतो मिलितस्यैव तथात्वमित्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते ननु क्रमेण संप्रतावपी
त्यादिभाष्यम् ।

प्रत्येकस्मिन् अत्रिवृत् कृतेऽपञ्चीकृते वा सूक्ष्मभूते जलादौ सर्गादिकारणत्वं न
भवति, किन्तु पञ्चीकृते समुदिते एव तादृशसामर्थ्यमुपजायते अनेन जीवेनेत्यादि
त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीत्यादौ तथा दर्शनात् । श्रुतौ त्रिवृत्करणोपदेशः छान्दोग्यश्रुत्य
प्रत्येक अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों में सर्गादि सामर्थ्य नहीं है इसका प्रतिपादन किया है 'अनेनवेजी
नेत्यादि (आत्म रूप जीव के द्वारा अनुप्रविष्ट होकरके प्रपञ्च सम्बन्धी नाम रूप को) (घटा
दिनाम तथा कम्बुग्रीवादि स्वरूप को) स्पष्ट रूप से बनाता हूँ) 'तासां त्रिवृतमित्यादि' ['पृथिवी
जल तथा तेज, इन सब में एक एक को त्रिवृत् त्रिवृत करता हूँ'] इस श्रुति से त्रिवृत्करण
का प्रतिपादन किया गया है । यदि प्रत्येक भूतों में सर्गादि करने का सामर्थ्य होता तो श्रुति
में त्रिवृत्करणोपदेश का कोई भी प्रयोजन नहीं था, अर्थात् निरर्थक प्राय हो जायेगा । और
त्रिवृत्करण का प्रतिपादन किया गया है. इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक सूक्ष्मभूतों में
सर्गादि का सामर्थ्य नहीं है, किन्तु मिलित स्थूल दशापन्न में ही सृष्ट्यादिक सामर्थ्य है । यहाँ
त्रिवृत्करण जो है वह पञ्चीकरण का भी उपलक्षक है । प्रसङ्गात् पञ्चीकरण प्रक्रिया को
बतलाता हूँ । तथाहि प्रथमतः पृथिवी जल तेज वायु आकाश रूप जो पाँच भूत है. इसमें से
पृथिव्यादि प्रत्येक भूतों को दो भाग करिये, तदन्तर पृथिवी के अर्धभाग को चार भाग करके
जलादिक का जो अर्धभाग है. उसमें मिलाईये. पृथिवी द्वितीय भाग का तेज के अर्धभाग में
मिलाईये, एवं तेज को दो भाग करके आधा को पुनः चार भाग करके पृथिवी जल वायु तथा

समाश्रयाः । महदाद्याविशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते' [वि०पु० १।२।६२।६३] इति । तथैवाचार्यचरणाः 'प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणार्धद्वयं कृतम् । एकैकार्धचतुर्थांशाः स्वेतरार्धेषु योजिताः । पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नामनत् । पञ्चीकृतैश्चभूतैश्च रामश्चाण्डं स-सर्ज हि । अण्डोत्पादनतः पूर्वां सृष्टिसमष्टिनामिका । श्रीरामेणकृता

नुसारेण प्रदर्शितम् । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्याद्यनुरोधेन प्रकृते त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षकं भवति । नाना वीर्याः पृथग्भूताः इत्यादि विष्णुपुराणवचनमपि प्रत्येकभूतस्य कार्याक्षमत्वं ज्ञापयित्वामिलितानामेव स्थूलभूतानां कार्यसामर्थ्यं प्रतिपादयति । तथैव प्रपञ्चितं प्रकृते जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यवर्यैः श्रीबोधायनमतादर्शै—'रामेण सर्वभूतानां कृत्वाभागद्वयं समम् । अर्धभागचतुर्थांशाः स्वभिन्नार्धेषु योजिताः ॥ पञ्चीकृतं हि रामेण भूतं जगत्सिसृक्षुणा । स्वभागस्याधिकत्वाच्च स्वनाम्नाव्यपदिश्यते ॥ पञ्चीकृतैश्च भूतैश्च रामश्चाण्डं चकार हि । ततश्चोत्पाद्यब्रह्माण्डं तद्द्वारा कृत-

आकाश के अर्धभाग में जोड़िये । ततः वायु को दो भाग करके तत् वायु के अर्धभाग को चार भाग करके वायु से इतर पृथिवी जल तेज आकाश के अर्धभाग में जोड़िये । तथा आकाश का दो भाग करके पुनः अर्धभाग को चार भाग करके आकाशेतर पृथिव्यादिक एक एक अंश को जोड़ने से सर्वभूत पञ्चीकृत हो जाते हैं । प्रत्येक भूतों में अर्धभाग तो अपना-अपना रहता है, तथा स्वेतर भूतों का दो दो आते रहते हैं, इसतरह सर्वभूत सर्वात्मक होते हैं, परन्तु जिसमें पृथिवी की अधिकता रहती है उसका पृथिवी शब्द से व्यवहार होता है । एवं जलादिक में भी समझना चाहिये । यह पञ्चीकरण प्रकार है ।

स्मृति भी बतलाती है कि प्रत्येक भूतों में सृष्ट्यादिकरण का सामर्थ्य नहीं है । तथाहि 'नानाभूताः' इत्यादि । [पृथक् पृथक् रूप से अनेक शक्तिमान प्रत्येक भूत संघात के बिना प्रजा की सृष्टि करने में अपने को असमर्थ देखा, तब परस्पर संयुक्त हो करके अर्थात् एक दूसरों से मिलकर महत्त्व से लेकर विशेषान्तः महाभूत पर्यन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन किये, ऐसा विष्णुपुराण वचन का अर्थ है ।] इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भूतों में सामर्थ्य नहीं जगत् के उत्पादनादि करने का किन्तु मिलित स्थूल भूतों में ही जगदुत्पादन का सामर्थ्य है । 'प्रत्येकस्येत्यादि' सर्वेश्वर श्रीरामजी ने एक एक भूत के दो दो अर्ध भाग किये पश्चात् प्रत्येक भूत के एक एक अर्धभाग के समान चार चार भाग करके स्वेतर भूतोंके अवशिष्ट

पश्चात् सृष्टिस्तु व्यष्टिसंज्ञका' (श्रौतेप्रमेयचन्द्रिका १।१५६-१५७ १५८) इत्यादि । तस्माद् भूतान्तरमिलितस्यैव तेजसोऽत्र ग्रहणमिति ॥६॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये भूताधिकरणम् ॥४॥

अथासृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

५ समाना चासृत्युपक्रमाद्

मृतत्वं चानुपोष्य ४।२।७ ५

किमिदमुत्क्रमणं ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमाहोस्विदन्यस्यैवान् जगत् ॥ ततो लीलार्थमात्मानं बह्वकल्पयदीश्वरः । अयं प्रधानमसृजत् पुरुषाधिष्ठितं स्वतः ॥' (७६८-७७१) इत्यादिरूपेण तस्मात् प्राणस्तेजसीति श्रुतौ, न केवलस्य तेजसः सूक्ष्मस्य ग्रहणमपितु पृथिव्यादिभूतान्तरसम्पृक्तस्यैव ग्रहणं भवति तादृशे एव मिलिते भूतान्तरसम्पृक्ते तेजसि प्राणस्य प्रलयोऽतो न कोपि दोष इति दिक् ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे भूताधिकरणम् ॥४॥

येयमुत्क्रान्ति प्रसवतो जीवस्य शरीरात् प्रतिपादिता, सा किं विद्वद्विदुषो स्तुत्यैव अर्धभागों में मिलाने पर पञ्चीकरण प्रक्रिया पूर्ण होती है । मिश्रित भूतों में जिसका अर्धभाग होता है वह उसी नाम से व्यवहृत होता है । पर ब्रह्म श्रीरामजी ने पञ्चीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड की रचना की । अण्डोत्पादन से पूर्ण समष्टि सृष्टि थी बाद में व्यष्टि सृष्टि कहलाई । तस्मात् 'प्राणस्तेजसि' [प्राण तेज में प्रलीयमान होता है] इस श्रुति में जो तेज पद है सो पृथिव्यादि तेज भिन्न भूतान्तर से संमिलित तेज का ही बोधक है किन्तु मात्र तेज का बोधक नहीं है, अर्थात् स्वेतर भूत से संमिलित तेज में ही प्राण का प्रलय होता है ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे भूताधिकरणम् ॥४॥

जीव का जो शरीर से उत्क्रमण होता है, वह सबके लिये समान रूप से होता है, अथवा व्यक्ति विशेष में अतुल्य रूप से भी होता है, इस विषय पर विचार करने के लिये

वेति संशयेऽन्यम्यैवेति । कुतः ? ब्रह्मविदस्त्वत्रैवामृतत्वश्रवणादुत्क्रमणाभावात् । तथा च श्रुतिः 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [का० २।६।१४] इति ।

अत्राभिधीयते-समाना चाऽसृत्युपक्रमादिति । ब्रह्मविदोऽप्यासृत्युपक्रमादुत्क्रान्तिः समानैव । आसृत्युपक्रमादित्यस्य प्राङ्नाडीप्रवेशादित्यर्थः । नाडीप्रवेशस्तु ब्रह्मविदोऽपि गमने श्रुयत एव भवति, अथाविदुषां शरीरादुत्क्रमणं तथैव विदुषामपि भवति, अथवा विदुषां तु नोत्क्रान्तिरपितु अविदुष एवेति संशये । तत्राविदुष एवोत्क्रान्ति नतु विदुषो भवति । यतो विदुषोऽत्रैवामृतत्व प्राप्तिवचनान्नोत्क्रान्तिर्भवति । अन्यथा, अविदुषोऽत्क्रमणानन्तरं शरीरान्तरप्राप्तिर्भवति तथैव विदुषोऽपि स्यादिति तस्यामृतत्ववचनं पीडयेतेति तस्मान्न तथा प्रकृत सूत्रका व्याख्यान करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'किमिदमुत्क्रमणं ब्रह्मविद' इत्यादि । प्रयाण काल में जो यह शरीरावधिक उत्क्रमण होता है, वह ब्रह्मज्ञानी तथा तदन्य को समान रूप से होता है । अथवा ब्रह्मज्ञानी से भिन्न अविद्वान् मात्र को होता है ! ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यह उत्क्रमण ब्रह्मज्ञानी को नहीं होता है किन्तु अविद्वान् को ही उत्क्रमण होता है ब्रह्मज्ञानी को उत्क्रमेण नहीं होता है किन्तु तदन्य को ही उत्क्रमण होता है, इसमें युक्ति बतलाने के लिये कहते हैं 'कुतः ? इति । ऐसा क्यों ? इसका समाधान करते हैं कि 'ब्रह्मज्ञानी को तो यही ही अमृतत्व का श्रवण होता है । इसमें श्रुति का प्रमाण बतलाते हैं 'तथा च श्रुतिः' 'अथमर्त्य' इत्यादि, [इसके बाद यह मर्त्यमरणधर्मा उपासक अमृत हो जाता है, यही ही ब्रह्मप्राप्त हो जाता है.] इससे यह सिद्ध होता है कि विद्वान् का उत्क्रमण नहीं होता है किन्तु अविद्वान् का ही उत्क्रमण होता है, ऐसा पूर्वपक्ष का आशय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—'समानाचासृत्युपक्रमादिति । ब्रह्मज्ञानो को भी सुषुम्नानाडी के प्रवेश से पूर्व में समान रूप से ही उत्क्रान्ति होती है । यहाँ आसृत्युपक्रमात् का अर्थ है नाडी प्रवेश के पूर्व में । ब्रह्मज्ञानी को भी जाने के लिये नाडी प्रवेश का श्रवण होता ही है । 'शतं चैकेत्यादि' [एक सौ एक हृदय के प्रधान नाडी हैं उसमें से सुषुम्ना नामक नाडी मस्तक को विदारित करके निकली हुई है, उस एक नाडी के द्वारा ऊपर जाता हुआ उपासक अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त कर जाता है, और तदन्य

‘शतंचैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धनमभिनिस्सृतौका । तयोर्ध्वमा-
यन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्त्या उत्क्रमणे भवन्ति’ [का० २।६।१६]
इति नाडीप्रवेशः श्रूयते । बृहदारण्यके च ‘तेन प्रद्योतेनैष आत्मा
निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नी वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः’ [बृ०
४।४।२] इति श्रूयते । तत्र ‘शतं चैके’ति श्रुत्यभिहितसुषुम्नानाडी
द्वारा प्राणप्रयाणस्य प्रकृतश्रुत्यापि मूर्ध्नीवेत्यनुमोदितस्य तस्य ब्रह्म

विदुष उत्क्रमणमपित्वविदुष एव नियमत उत्क्रमणमिति पूर्णपक्षाशयः । मिद्धान्तस्तु
इयमुत्क्रान्तिर्विद्वद्विदुषोः समानैव । कुतः ! आसामुपक्रमात् नाडीप्रवेशात् । यथा-
ऽविदुषां नाडीप्रवेशः श्रूयते तथैव विदुषामपि नाडीप्रवेशस्य श्रुतत्वात् । विदुषस्त्वमृतत्व
प्राप्तिवचने यदमृतत्वं कथितम्, तदमृतत्वम्, उत्तरपूर्वाधयोरङ्गलेषविनाशरूपमेव नतु सर्व
बन्धनविश्लेषरूपं नातः श्रुत्योर्विरोधगन्धोपि भवति । तदिदं सर्वसंक्षेपविस्तराभ्यां दर्श
यितुं सूत्रं व्याख्यातुं च भाष्यकार उपक्रमते किमिदमुत्क्रमणमित्यादि अथमर्त्योऽमृतो भव

नाडी उत्क्रमण के लिये है, अर्थात् सुषुम्ना के द्वारा उत्क्रमण होने से अमृतत्व प्राप्ति होती है,
और तदितर नाडी द्वारा उत्क्रमण होने से शरीरान्तर की प्राप्ति होती है, परन्तु फल में विशे-
षता होने पर भी उत्क्रमण तो विद्वान् तथा अविद्वान् को समान रूप से ही होता है] इस
तरह नाडी में प्रवेश तो दोनों विद्वान् अविद्वान् को समान रूप से ही श्रुत होता है । बृह-
दारण्यकोपनिषत् में तो ‘तेन प्रद्योतेनैष’ इत्यादि, [उस हृदय के प्रकाश द्वारा यह जीवात्मा
चक्षु से मस्तक से अथवा तदन्य किसी शरीर प्रदेश से, घ्राण मुख श्रोत्रादि के द्वारा निष्क्रमण
इस शरीर से करता है] ऐसा बृहदारण्यक में श्रुत होता है । उसमें ‘शतं चैका’ इत्यादि
श्रुति कथित सुषुम्ना—नाडी द्वारा प्राण प्रयाण को जो कि ‘तेन प्रद्योतेनैष’ इस प्रकृत श्रुति से
‘मूर्ध्नी वा’ इस अंश से अनुमोदित जो प्राण का प्रयाण है, उसका ब्रह्मज्ञानी विषयकत्व सिद्ध
होता है । और चक्षुरादि के द्वारा शरीर से जो प्राण का गमन है, वह अविद्वान् विषयक है
ऐसा सिद्ध होता है ।

प्रश्न—यदि यह उत्क्रमण ब्रह्मज्ञानी तथा तदितर को समान रूप से ही होता है, तब
तो ‘अथमर्त्योऽमृतो भवति’ [इसके बाद मर्त्य अमृत होता है, यहां ही ब्रह्मको प्राप्त कर जाता
है] इस श्रुति की क्या गति होगी ? अर्थात् ‘शतं चैक’ इत्यादि श्रुति उत्क्रमण का समान रूप
से प्रतिपादन करती है और ‘अथमर्त्यः’ इत्यादि श्रुति ब्रह्मप्राप्ति को समझाती है, तब इन दोनों

विदभिप्रायकत्वात् । 'चक्षुरादिभ्यः' प्राणगतिस्त्वन्याभिप्रायेति गम्यते । 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [का० २।६।१४] इत्यस्य का गतिरित्यत आह—अमृतत्वञ्चानुपोष्येति । चोऽवधारणे । करणकलेवरादिसम्बन्धवेलायामेवोत्तरपूर्वार्धयोस्त्यागः स एवामृत-पदव्यपदेश्यः । दुःखहेतुभूतस्याधस्य विनाशे दुःखानुभवाभावाद-

तीति श्रुतिपूर्वपक्षमावेदयति । नाडीप्रवेशस्तु ब्रह्मविदामपि भवत्येव शतं चैका हृदयस्य नाड्यः इत्यादिश्रुतौ विदुषामपि नाडीप्रवेशस्य श्रवणात् । ततश्चोभयोरपि प्रवेशस्तद्द्वारा समुत्क्रमणं समानमेव । एतावानेवोभयोर्विशेषो यदेकस्याविदुषश्चक्षुरादिद्वारोत्क्रमणं शरीरान्तरप्राप्तये भवति, विदुषां तु मूर्धाप्रदेशद्वारेण भवतीति । तस्मादुत्क्रमणं तूभयोः मे सामंजस्य किस तरह से होगा ? इस शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं 'अमृतत्वं चानुपोष्येति । अमृतत्वं च मे जो च शब्द है वह अवधारणार्थक निश्चयार्थक है ।

करण चक्षुरादिक पांच ज्ञानेन्द्रिय वागादिक पांच कर्मेन्द्रिय उभयात्मक अन्तःकरण मन तथा कलेवर शरीर, इन शरीरेन्द्रिय का सम्बन्ध सद्भाव काल में ही जो उत्तर पूर्व अध-पाप का जो त्याग=विनाश है, उसी पाप कर्म के विनाश का ही नाम, 'अमृत' कहलाता है । क्योंकि दुःख का कारण है पाप कर्म तादृश अध समुदाय का नाश हो जाने से दुःख का अनुभव नहीं होने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है । अर्थात् दुःखाभाव में अमृतत्व का उपचार है । अभिप्राय है कि कारण का अभाव होने से कार्य का अभाव होता है. व्यापकाभाव को व्याप्याभाव के प्रति प्रजोजकत्व होता है, जिसतरह वह्न्यभाव से धूमाभाव की सिद्धि होती है । धूमवह्नि का व्याप्य है, और वह्नि धूम का व्यापक होता है और अभाव स्थल में व्यापकाभाव व्याप्य हो जाता है और व्याप्य का अभाव व्यापक होता है, तो व्यापक का अभाव व्याप्य हो जाता है । तो दुःख का व्यापक कारण होने से पापकर्म है और व्याप्य दुःख है, तो पाप कर्म के अभाव से जो करण कलेवर के सद्भाव काल में जो पापाभाव प्रयुक्त दुःखानुभव के अभाव का अनुभव होता है, उसी दुःखानुभवाभाव में अमृतत्व प्राप्ति का कथन होता है । औपचारिक अमृतत्व है ।

इसबात को 'अथमर्त्योऽमृतो भवति' (इसके बाद मर्त्य भी अमृत होता है.) इस श्रुतिका जो पूर्वोद्धि भाग है उससे स्पष्ट किया गया है । 'यदा सर्वे' इत्यादि (इस उपासक के अन्तःकरण में विद्यमान सर्गप्रकारक कामनायें जब नष्ट हो जाती हैं, तब यह मर्त्य अमृत हो

मृतत्वप्राप्तिरेवेति भावः । एतच्च तच्छ्रुतिपूर्वार्धेन स्पष्टीक्रियते
 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः' । इति हृदयाधिष्ठित
 सुखदुःखहेतुभूतपुण्यपापप्रमोकानन्तरमेवामृतत्ववचनम् । श्रौतस्या-
 त्रेत्यादिवाक्यस्य ब्रह्मविदो विद्यासमये कर्मक्षयानन्तरं विमुक्तिद-
 शायां योऽयं ब्रह्मानुभवस्तं प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रतिपादितं चैतद्विस्त-
 रेण अन्मादिसूत्र इत्यत्र संक्षेपः ॥७॥

समानमेवेति । अमृतत्ववचनानां विदुषां दुःखकारणभूतस्य पापकर्मणोर्विनाशेन दुःखा
 नुभवस्याभावेनामृतत्वप्राप्तिरिति कथ्यते । कारणाभावस्य कार्याभावप्रयोजकतया दुःखा
 भावेऽमृतत्वस्योपचारः भारापगमे सुखीसंवृत्तोऽहमिति वत् । तदिहामृतत्वं न सर्ववन्धन
 विमोचलक्षणमपितु दुःखाभावलक्षणमेव । अतोविद्वद्विदुषोः समानैवोत्क्रान्तिरिति
 सिद्धमिति ॥७॥

जाता है, इसप्रकार प्रकृत श्रुति से हृदयस्थित सुखदुःख का कारणीभूत पुण्य तथा पापकर्म
 है, उन कर्मों का प्रमोक, अर्थात् विनाश होने के बाद में ही अमृतत्व का कथन किया गया
 है । यह अमृतत्व दुःखाभाव में औपचारिक है । दुःखाभाव में भी सुखित्व प्रत्यय होता है ।
 जिस तरह 'भारापगमे सुखीसंवृत्तोऽहम्' यहाँ केवल भार का अपगम है किन्तु सुखजनक भारा-
 पगम व्यतिरिक्त कोई कारण उपलब्ध नहीं होता है, दुःखाभाव मात्र में सुखित्व प्रत्यय होता
 है । इसीतरह प्रकृत में सुखविरोधी दुःख का स्वकारण पुण्य पाप के अभाव प्रयुक्त दुःखाभाव
 मात्र में औपचारिक अमृतत्व है किन्तु श्रीसाकेत प्राप्ति लक्षण अमृतत्व की प्राप्ति नहीं है । 'अथ
 मर्त्योऽमृतो भवति' (अब यह मर्त्य अमृत हो जाता है) यहाँ श्रौत जो 'अत्र' इत्यादि वाक्य
 का विद्या उपासना के समय में ब्रह्मज्ञानी को कर्मक्षय के बाद विमुक्ति समय में जो ब्रह्मानु-
 भव है, तादृश ब्रह्मानुभव को प्राप्त करता है, ऐसा 'मर्त्योऽभवति' इस वाक्य का अर्थ है । इस
 बात को विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है, 'जन्माद्यस्य यतः' इससूत्र में । विशेष जिज्ञासु
 लोग वहाँ से ही इसबात को जानें । इससे यह सिद्ध होता है कि नाडी प्रवेश के पूर्व में
 विद्वान् तथा अविद्वान् का समान ही उत्क्रमण होता है, किन्तु उत्क्रमण में कोई भेद
 नहीं है । इसलिये सूत्रकार ने कहा कि='समानाच्चेत्यादि' विशेष विवरण सत् सम्प्रदाय से
 जानिये इति ॥७॥

॥ तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ४।२।८ ॥

अपरित्यक्तदेहसम्बन्धस्यैवामृतत्वमिति । अपीतिर्देशविशेष-
माश्रित्य या ब्रह्मप्राप्तिरूपावस्था । आतदवस्थं देहसम्बन्धलक्षणः
संसारो व्यपदिश्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्प-

पूर्वोक्तममृतत्वं दुःखाभावे उपचर्यमाणमेवोपासकस्य भवति नतु देहसम्बन्ध
रहितस्यमुख्यममृतत्वं प्राप्तं भवतीति प्रतिपादयितुमुपक्रमते अपरित्यक्तदेहसम्बन्धस्येत्यादि
अविनाशितशरीरेन्द्रियादिसम्बन्धवतः एवामृतत्वं भवति, इति स्वीकर्तव्यम् । कुतः ?
आ अपीतेः संसारस्य व्यपदेशदर्शनात् । तत्रापीतिर्नाम साकेतादिदेशविशेषमचिरादि
मार्गेणगतस्योपासकस्यैव ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं भवतीति शास्त्रेविचिन्त्यस्थिरीकृतम् । एता
दृशावस्था विशेषपर्यन्तम्, शरीरादिसम्बन्धलक्षणसंसारस्यानुवर्तनदर्शनात् । अतो
यावत्पर्यन्तं मुख्यब्रह्मप्राप्तिर्भवति तावत्पर्यन्तं मुख्यामृतत्वं न प्राप्तं भवति तावत्पर्य-
न्तं देहादिसम्बन्धलक्षणः संसारो व्यपदिश्यते एव । कुत्र संसारव्यपदेशः कृत इति
संशयानं प्रतिश्रुतिमुदाहरति तस्येतावदेवचिरमित्यादि । [तस्य ब्रह्मोपासकस्य तावत् पर्यन्तं
मुख्यमोक्षप्राप्तौ सायुज्य प्राप्ताविति यावत् विलंबोभवति, यावत्पर्यन्तं देहादिसम्बन्धविर-
हितो न भवति, विमुक्ते संसारसम्बन्धे सति, देवयानपथा श्रीसाकेतंप्राप्य सर्वबन्धनर-
हितो मोक्षसम्बन्धवान् भवतीति श्रुत्यर्थः धृत्वा शरीरम् इत्यादि । यथाऽश्वः स्वशरीरात्

जो यह 'अथमर्त्योऽमृतोभवति' इस श्रुति में अमृतत्व का कथन किया है वह अवश्य-
मेव देह सम्बन्धवान् को ही होता है ऐसा मानना चाहिये ! इसी विषय पर विचार करने
के लिये अग्रिम सूत्र का उत्थानार्थ भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'अपरित्यक्तदेह सम्बन्धस्येत्यादि'
जिसने देहेन्द्रियादि सम्बन्ध को नहीं छोड़ा है, अर्थात् शरीरादि सम्बन्धवान् उपासक को ही
विद्याकाल में ब्रह्मानुभव लक्षण अमृतत्व प्राप्त होता है । क्योंकि देश विशेष का आश्रित करके
जो ब्रह्म प्राप्ति लक्षण अवस्था होती है उसी का नाम अपीति है, एतादृश अपीति पर्यन्त देह
सम्बन्ध लक्षण संसार का व्यपदेश=कथन किया जाता है, वक्ष्यमाण श्रुतिषों से, तथा च श्रुतिः
'तस्य तावदेवचिरमित्यादि' (उस उपासक को तावत्पर्यन्त ही मोक्ष प्राप्ति में विलम्ब होता है,
जब तक शरीरादि सम्बन्ध से रहित नहीं होता है ।) 'धृत्वाशरीरमित्यादि' (अश्व जिसतरह
रोम से विमुक्त होता है, यथात्रा चन्द्रमा राह प्रमुक्त होता है उसीतरह यह उपासक शरीर

स्ये' [छा० ६।१४।२] 'धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' [छा० ८।१६।१] इत्यादिश्रुतिभिरिति ॥८॥

॥ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ४।२।९ ॥

ब्रह्मविदोऽपि क्रममुक्तौ सूक्ष्मशरीरसम्बन्धोऽस्त्येव । कथमवगम्यते प्रमाणतस्तथोपलब्धेः । अर्चिगदिमार्गेण गमने तं प्रतिभूयात्

विधूननेनानपेक्षितानि रोमाणि, अपगमयति, तथैव जीवोपि । यथावा चन्द्रोराहुमुखात्प्रमुच्यस्वात्मानं विमलं करोति, तथैव जीवोपिशरीरं विमलीकृत्य प्रमन्नचित्तो ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीत्यर्थ उदाहृतश्रुतेरिति । अतः सशरीरस्यैवौपचारिकममृतत्वं मुख्यामृतत्वं तु ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरमेवेत्यतः प्रकृतामृतत्वं देहसम्बन्धलक्षणसंसारवत् एवेति संक्षेपः ॥८॥

इतः पूर्वसूत्रे संजाततत्त्वज्ञानस्य विदुषः सूक्ष्मशरीरलक्षणः संसारो न व्यपगतोऽपितु वर्तते एवेति तत्प्रतिज्ञामात्रेण कथितम् । नच प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुनः सिद्धिर्भवतीति तत्र प्रमाणसद्भावं दर्शयितुमुपक्रमते ब्रह्मविदोपिक्रममुक्तावित्यादि ।

अनेन वक्ष्यमाणहेतुनापि ब्रह्मज्ञानिनां बन्धनस्य सर्वथा विनाशो न जात इत्यवश्यमेव मन्तव्यम् । यतः सूक्ष्मशरीरस्य तदापि अनुवर्तनदर्शनात् । अर्थात् प्रमाणसम्बन्ध को छोड़ करके निर्मल होता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ।) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि यथोक्त अमृतत्व शरीर सम्बन्धवान् को ही होता है । क्योंकि ब्रह्मलोक प्राप्ति पर्यन्त शरीर सम्बन्ध संसार के अनुवर्तन का प्रतिपादन किया है । तथा 'योनिमन्ये' इति । इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अपीति पर्यन्त संसार का अनुवर्तन रहता ही है । इति संक्षेपः ॥८॥

क्रममुक्ति में ब्रह्मज्ञानी को भी सूक्ष्म शरीर का अनुवर्तन होता है। इसमें प्रमाण बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं, क्योंकि पूर्वसूत्र में सूक्ष्म शरीर के सद्भावं को प्रतिज्ञा मात्र से कथन किया था, उस प्रतिज्ञा की सिद्धि करने के लिये प्रमाण को उपस्थापित करते हैं 'ब्रह्मविदोपीष्यादि' ब्रह्मज्ञानी को भी क्रम मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध रहता ही है ।

ब्रह्मज्ञानी को सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध रहता ही है, इस बात को किस तरह समझते हैं ?

[कौ० ९।२] इति चन्द्रमसा संवादश्रवणात् । तस्मात्सूक्ष्मशरीरसम्बन्ध उपलभ्यत एव ॥९॥

तस्तथोपलभ्यते, देवयानमार्गेण गच्छतां ब्रह्मज्ञानिनां चन्द्रलोके चन्द्रलोकनायकेन सह विदुषः संवाददर्शनान् । तं प्रतिब्रूयात्स्यं ब्रूयात् इत्यादिक्रमेण संवादः श्रुतः । स च संवादः शरीरसम्बन्धसद्भावं दर्शयति, शरीराद्यभावे वचनादिव्यवहारस्य सर्वथैवानुपपत्तेरिति । तस्मात्तत्समयेऽपि सूक्ष्मशरीरं वर्तते एव, सूक्ष्मशरीरसत्त्वे च न संसारचन्द्रोऽपगतः । अपि च यदा चन्द्रादिना संवादादिदर्शनेन सूक्ष्मशरीरसद्भावो विदुषां सिद्धस्तदास्थूलदेहसद्भावोपि मन्तव्य एव । अन्यथा स्थूलशरीरमन्तरेण सूक्ष्मशरीरस्याप्यवस्थानासंभवात् । तदुक्तम् चित्रं यथाश्रयमृतेस्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया । तद्वद्विनाविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् [यथाभित्तिकुड्यादिमन्तरेणचित्रस्यावस्थानं न भवति असति कुड्यादौचित्रादेरनुपपत्तेः । यथावा वृक्षपर्वतादीनामभावे छाया न जायते, तथैव विशेषैः स्थूलशरीरेण विनानिराश्रितमाश्रयविरहितं लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं नावतिष्ठते इत्यर्थः] तथा प्रकृते विभुत्वयोगात् सूक्ष्मशरीरं नटवद्व्यवतिष्ठते । ततश्च सूक्ष्मशरीरसद्भावे वचनादिव्यवहारसाधकस्थूलशरीरसद्भावोपि सिद्ध्यत्येवान्यथा कण्ठतात्वाद्यभिधातजनितवाग्व्यवहारस्याप्यनुपपत्तिप्रसङ्गात् । तत्सद्भावे च कथमिव

इसके उत्तर में कहते हैं 'प्रमाणतस्तथोपलब्धेरिति।' श्रुत्यादि प्रमाण द्वारा इस सूक्ष्म शरीर को जाना जाता है । श्रुति प्रमाण को बतलाने के लिये कहते हैं 'अर्चिरादीत्यादि' जब ब्रह्मज्ञानी अर्चिरादि मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं तब चन्द्रमा के साथ उस ब्रह्मज्ञानी की बातचीत होती है 'तं प्रतिब्रूयात्' (चन्द्रमा के साथ बात होने पर कहना चाहिये सत्य ही कहना चाहिये,) इसप्रकार चन्द्रमा के साथ संवाद का श्रवण उपलब्ध होता है । तस्मात् विद्वान् का सूक्ष्म शरीर है, यह उपलब्ध होता है ।

सूक्ष्म शरीर के सद्भाव से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी का स्थूल देह रूप बन्धन विद्यमान है, क्योंकि स्थूल देह के बिना निराधार होकर के सूक्ष्म शरीर का अवस्थान नहीं होता है । यद्यपि बाद कौशिक मत्तापिता से जायमान स्थूल देह विनाशी है और सूक्ष्म देह मोक्ष पर्यन्त अवस्थित रहता है चिरस्थायी है, और इहलोक यात्रा का निर्वाहक होता है, तथापि इसका मनुष्य पशु देवादिक योनि में जाकर के अनेक रूप से परिणत होना स्थूल साध्य ही है । तस्मात् शरीर लक्षण जो बन्ध है उसका सर्वथा विनाश तत्त्वज्ञानी को नहीं

५ नोपमर्देनातः ४।२।१० ५

अतः 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' इति श्रुतिर्न शरीरसम्बन्धस्यो-
पमर्देनामृतत्वमभिधत्ते ॥१०॥

बन्धोऽन्यपगतो विदुषः । शरीरादिसम्बन्धस्यैव बन्धपदवाच्यत्वात् । तस्माद्विदुषामपि
बन्धो न सर्वाथाऽन्यपगत इति सिद्धमिति संक्षेपः ॥९॥

जीवन्नेवशरीरादिष्वभिमानाभावेन शरीरसम्बन्धमननुभवन जीवन्मुक्तोभवत्यु-
पासक इति मतम्, तत्र जीवन्मुक्तेनिराकरणेच्छयामृत्प्रमिदमवतारयति । अतः इत्यादि यतो
मोक्षप्राप्तिपर्यन्तं सूक्ष्मादिदेहसम्बन्धलक्षणसंसारबन्धस्यापगमो न भवति, अत एव
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते इत्यादि- [यदा यस्मिन्कालेऽस्योपासकस्य हृदयेवर्तमानाः सर्वे कामा-
विमुक्ता भवन्ति तादृशकामविमोक्षानन्तरं मर्त्योऽमृतो भवति, अत्रास्यामेवावस्थायां ब्रह्म
समश्नुते ब्रह्मानुभवं करोतीत्यर्थ उक्तश्रुतेरिति ।] इयं श्रुतिर्वन्धनिराकरणेनामृतत्वं न
प्रतिपादयति । कुतः ? ब्रह्मानुभवानन्तरमपि, उपासनायाः श्रवणात्, मरणपर्यन्तमुपास-
नाया अनुवर्तनात् । अर्चिरादिगत्योत्क्रमणस्यापि विधानात्, देशविशेषप्राप्तिलक्षण
होता है । बन्ध का अभाव तो श्रीसाकेत प्राप्ति के अनन्तर में ही होता है । अतः क्रम मोक्ष
में शरीर सम्बन्ध रहता ही है । इस विषय में विशेष त्रिचार श्रीसाकेत प्राप्ति पद्धति, परमगति
मीमांसा आदि के मेरे विवरणों अनुसन्धेय है । यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है ॥९॥

जीवन्मोक्ष का निराकरण करने की इच्छा से सूत्र व्याख्यान करने के लिये उपक्रम
करते हुए कहते हैं 'अतः यदा सर्वे' इत्यादि । जिसलिये सूक्ष्मशरीर लक्षण बन्ध का मोक्ष
प्राप्ति पूर्ण में नहीं होता है, इसलिये ('यदा सर्वे' इस उपासक के अन्तःकरण में रहनेवाले
सभी कामों का अपगम हो जाता है, उस अवस्था में यह मर्त्य उपासक अमृत हो जाता है,
और इस अवस्था में ब्रह्मानुभव लक्षण अमृतत्व को प्राप्त करता है ।) यह उपर्युक्त श्रुति
सूक्ष्मादि शरीर के उपमर्द पूर्वक अमृतत्व का प्रतिपादन नहीं करती है । क्योंकि यदि जीवन
काल में ही सर्व बन्धन विमुक्त हो जाय तब तो मरण पर्यन्त उपासना का प्रतिपादक उक्ता-
न्ति प्रतिपादक अर्चिरादि लक्षण मार्ग प्रतिपादक श्रुति तथा देश विशेष साकेत प्राप्ति से सर्व
बन्ध विमोक्ष प्रतिपादक श्रुतियों का वैयर्थ्य हो जायगा । तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का
भी विरोध होगा ।

५ अस्यैव चोपपत्तेरुष्मा ४।२।११ ५

सत्येव सूक्ष्मदेह उपलभ्यमान एष ऊष्मास्यैव सूक्ष्मदेहस्यैव धर्मः । मरणानन्तरं स्थूलदेह ऊष्मणोऽनुपलब्धिर्भवति । ततश्च क्वचिदुपलब्धिः सूक्ष्मशरीरेण सहैव ब्रह्मविद् उत्क्रान्तिं द्योतयतीति । अत आसृत्युपक्रमाद् ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमुत्क्रमणमिति ॥११॥

श्रुतेश्च । यदि जीवन्नेव सर्वबन्धनविमुक्तोभवेत्कदाचित् । तदा उपासनादि विधायकानेकश्रुतीनां वीर्यार्थं स्पष्टमापतेत् । किञ्च प्रत्यक्षादि प्रमाणविरोधादपि जीवन्मोक्षो नैव सिद्ध्यति । किन्तु यावज्जीवनं सूक्ष्मादिशरीरसम्बन्धो विद्यते एवेति न जीवनमोक्षोऽपितु शरीरमिमंपरित्यज्य श्रीसाकेतलक्षणप्राप्त्यैव मोक्षोभवतीति संक्षेपः ॥१०॥

सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावे एव, उष्मणः सद्भावदर्शनं भवति, मरणानन्तरं देहे तस्योष्मणोऽनुपलब्धेः । एवञ्च सूक्ष्मदेहेन सहैवब्रह्मज्ञानिनः शरीरादुत्क्रमणमतो विदुषोऽविदुषोद्वयोरपि समानमेवोत्क्रमणं भवति, ननुत्क्रमणे कश्चिदपि विशेषोलभ्यते इत्यावेदयितुमुपक्रमते सत्येवसूक्ष्मदेहे इत्यादि । सुगममन्यत् ॥११॥

तस्मात् जीवनकाल में अमृतत्व प्राप्त श्रुतियों का यह अभिप्राय नहीं है, देहोपमर्द पूर्णक अमृतत्व की प्राप्ति होती है किन्तु श्रुतियों ने ब्रह्मानुभव लक्षण अमृतत्व का ही प्रतिपादन किया है । इत्यादिक विशेष विचार अन्यत्र देखें इति संक्षेपः ॥१०॥

सूक्ष्म शरीर के सद्भाव काल में उपलभ्यमान जो यह ऊष्मा (गरमी) है वह सूक्ष्म देह का ही धर्म है । क्योंकि मरण के बाद इस स्थूल देह में ऊष्मा की उपलब्धि नहीं होती है । ततः क्वचित् उपलब्धि सूक्ष्म शरीर के साथ ही ब्रह्मज्ञानी के उत्क्रमण का द्योतक है । इस लिये नाडी प्रवेश के पूर्व में विद्वान् तथा अविद्वान् का उत्क्रमण समान ही है, किन्तु उत्क्रमण में कोई विशेषता नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥११॥



५ प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरा-

त्स्पष्टो ह्येकेषाम् ४।२।१२ ५

ब्रह्मविद उत्क्रान्तिर्नोपपद्यत इति भूयस्मञ्चोद्य सामाधत्ते-प्र-
तिषेधादित्यादि । ननु बृहदारण्यके पूर्वमविदुष उत्क्रान्तिमभिधाय
'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरे-
त्यस्मैलोकाय कर्मण इति तु कामयमानः' [बृ० ४।१।६] इत्यवि-
द्विषयं समाप्य 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आसकाम

योहि समुपासकश्चिरमुपासनं विधायतादृशोपासनावलेन ब्रह्मसाक्षात्कारं सम्प्रा-
प्तवान्, तादृशब्रह्मविद उत्क्रमणम् भवति नवेति संदिग्धपूर्वपक्षं विधाय समाधातुमुपक्रमते
भाष्यकारः ब्रह्मविद उत्क्रान्तिरित्यादि । प्रश्नस्वरूपं दर्शयति ननुबृहदारण्यके इत्यादिना ।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य इत्यादिना, आरभ्य अथाकामयमानः इत्यादि पर्यन्तमविद्वद् विषयकं
प्रकरणं समाप्य । अथाकामयमानः इत्यारभ्य नतस्य प्राणाऽऽक्रामन्ति एतदन्तप्रकरणेन
बृहदारण्यके ब्रह्मज्ञानिनः प्राणस्योत्क्रमणप्रतिषेधः कृत इति प्रश्नः । समाधानाय प्राह
इति चेन्न शरीरात् ननु शरीरादिति ।

जिन्होंने केवल उपासना से ब्रह्मका अनुभव कर लिये है, तादृश ब्रह्मज्ञानियों
का उत्क्रमण नहीं होता है, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते'
इत्यादि श्रुति में प्रतिषेध किया है । इस बात को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं 'ब्रह्म-
विद उत्क्रान्तिरि' त्यादि । ब्रह्मज्ञानियों का उत्क्रमण नहीं होता है, इस बात को पुनः प्रश्न
द्वारा उपस्थित करके उसका समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'प्रतिषेधादित्यादि'
प्रश्नपूर्वक समाधान करने के लिए सूत्र की व्याख्यानार्थ उपक्रम करते हैं भाष्यकार 'ननु बृह-
दारण्यके' इत्यादि । बृहदारण्यक श्रुति में पहले अविद्वान् पुरुष के उत्क्रमण प्रकार का कथन
करके 'प्राप्यान्तं कर्मणः' (पूर्ण कर्म के अन्त को प्राप्त करके यह जीव जो कुछ शुभ अथवा
अशुभ कर्म को करता है, तथा पुनः परलोक से इसलोक में कर्म करने के लिये आता
है, इसप्रकार कामनावान् की स्थिति है ! इसप्रकार से अविद्वद् पुरुष विषयक प्रकरण को

आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [वृ० ४।४।६] इत्यनया ब्रह्मविद उत्क्रान्तेः प्रतिषेधादिति चेन्न, शरीरात्-शरीराध्यक्षाज्जीवात्प्राणानामुत्क्रान्तिस्त्रप्रतिषिध्यते । न तु शरीरात् । पूर्वत्र 'अथाकामयमान' इति ब्रह्मविदो जीवस्यैव श्रुतिर तस्तस्यैव 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यनेन परामर्शः । एवं तस्येत्यत्र तच्छब्देन विद्वज्जीवस्तदुत्तरपृष्ठ्या च तस्यैव जीवस्य सम्बन्धो

अयमर्थः न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इत्यादिश्रुत्या, यदिदमुत्क्रमणं प्रतिसिध्यते, तत्तु शरीरेन्द्रियाध्यक्षात् जीवादेव प्रतिषेधोभवति । न तु शरीराद्भोगाधिष्ठानात् । एतत्सर्वं बृहदारण्यकीयप्रकरणादेवावगतं भवति । यद्यपि न तस्य प्राणाः इत्यत्र षष्ठीपदोपात्ततच्छब्देन सम्बन्धोऽवबोध्यते नतु, अपादानरूपोऽर्थः षष्ठीविभक्तेरपादानार्थकत्वाभावात् अपादानेपञ्चमी इति सूत्रेऽपादानार्थेपञ्चम्या, एव श्रवणात् । तथापि न तस्य गाथांशृणोती-वतलाकरके 'अथाकामयमान, इत्यादि. (इसके बाद जो अकामयमान, अकाम कामना रहित है, सर्वथा निष्काम है. इतर सर्व काम्यमान वस्तु को प्राप्त कर लिया है, मात्र आत्मा की काम नवान् है, उनका उत्क्रान्त नहीं होता है ब्रह्म स्वरूप होकरके ब्रह्मको प्राप्त कर जाते हैं ।)

इस श्रुति से ब्रह्मज्ञानियों के उत्क्रमण का प्रतिषेध किया गया है. यह प्रश्न है । ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि 'शरीरात्' ब्रह्मज्ञानी के प्राणोत्क्रमण का जो निषेध किया है वह शरीर से अर्थात् शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष जो जीव है, उससे प्राणों के उत्क्रमण का इस प्रकृत श्रुति में प्रतिषेध किया है, किन्तु शरीर से प्राणोत्क्रमण का निषेध नहीं किया जाता है । क्योंकि पूर्ण में 'अथाकामयमानः' यह श्रुति ब्रह्मज्ञानी जीव का ही प्रतिपादन करती है । इसलिये तादृश जीव का ही 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इस स्थल में परामर्श ग्रहण होता है । एवं 'न तस्य प्राणाः इत्यादि श्रुति घटक जो 'तस्य' में तत् शब्द है, उस तत् शब्द से विद्वान् जीव का ग्रहण होता है, तथा तत् पदोत्तर जो षष्ठी विभक्ति, तत्पद प्रकृतिक षष्ठी विभक्ति है, तादृश षष्ठी विभक्ति से भी विद्वान् जीव के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया जाता है । उत्क्रमण का अपादान अवदि संनिधानात् शरीर जीव में ही है, किन्तु शरीर में नहीं, असंनिधान होने से । नहीं कहो कि षष्ठी विभक्ति तो अपादानार्थक नहीं होती है, तब 'तस्य' यहाँ जीव को अपादनता किस तरह संभवित है, इसका समाधान करने के लिये कहते हैं

ऽभिधीयते । उत्क्रमणस्यापादानताऽपि शारीर एव सान्निध्यात्
न तु शरीर इति । सम्बन्धमात्राभिधायिन्याः पष्ठ्याश्चापादानत्व
मपि बोध्यते 'नटस्य शृणोती' तिवत् । अस्मिन्नर्थे न विवादः स्पष्टो
एकेषाम् 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा
उत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।६] इति माध्यन्दिनाः शारीरमेवापादान
मामनन्ति । अयम्भावः । ब्रह्मविदः शरीरत्यागसमय एव ब्रह्मसम्पत्तिः

स्यादिवत् अपादानार्थत्वेपि न भवति कोपिदोषः । तस्येत्यत्र तत्पदेन, तत्पदोत्तरपष्ठी
विभक्त्या च जीव एव बुद्ध्यते । तच्छब्दस्य प्रक्रान्तार्थकत्वात् । प्रक्रान्तश्च प्रकरण
पर्यालोचनया जीव एव न तु देहः । अतोऽत्रशारीरादपादानात् प्राणानामुत्क्रान्त्यभावः
बोधितो भवति, नत्वप्रकृतात् प्राणानामुत्क्रान्तेरभावो बोधितो भवति । तस्मादविद्वान्
वा विद्वान् वा भवतु, शरीरादुत्क्रमणस्य प्रतिषेधो न भवति किन्तु शारीरमात्रादेवो-
त्क्रान्तेः प्रतिषेधः । अन्यथा शरीरादनुत्क्रमणे प्रदेशविशेषप्राप्तिलक्षणमोक्ष एव प्रसि-
'सम्बन्धमात्रेत्यादि' यद्यपि सम्बन्ध रूप अर्थ का वाचक पष्ठी विभक्ति होती है, तथापि क्व-
चित् अपादानत्व रूप अर्थ को भी बतलानी है । जिसतरह 'नटस्येति' (नट की गायन अर्थात्
कथक का गायन को सुनता है ।) इस स्थल में पष्ठी का अपादान भी अर्थ होता है ।
उसीतरह 'नतस्य' इत्यादि स्थल में पष्ठी का अपादान अर्थ होता है ! (अभिप्राय यह है कि
लौकिक नटस्य गायन शृणोति स्थल में नटात्, ऐसा अपादानार्थक पञ्चमी का प्रयोग होना
चाहिये परन्तु पष्ठी का प्रयोग किया है, परन्तु प्रकरण वश अर्थ तो पञ्चमी का ही होता
है, क्योंकि गायन का अवविगायक है, जिसतरह पत्र पतन का अवविहृक्ष है, उसीतरह एवं
उत्क्रमण का अवधि जीव है, अतः 'तस्य' में पष्ठी का भी अर्थ अवधि है, सम्बन्ध अर्थ नहीं
है, इस बात का स्पष्टीकरण स्वयमेव करेंगे-सूत्र-भाष्यकार,) यह जो अभी अर्थ किया गया
है, कोई विवाद नहीं है, एक शाखावालों की शाखा में स्पष्ट रूप से कहा है । 'योऽकाम'
इत्यादि, (जो अकाम निष्काम हैं इतर सर्वकाम प्राप्त है, केवल आत्मा की प्राप्ति की कामना
है, एतादृश ब्रह्मज्ञानी जो है, उनसे प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है । इसप्रकार से माध्यं
दिन शाखावाले शारीर जीव को ही उत्क्रमण का अपादान कहते हैं, अर्थात् यहाँ 'न तस्मात्
प्राणाः' इसप्रकार तत्पद प्राण जीव में पञ्चमी विभक्ति का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है ।

‘तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये’ इत्यभिहिता तदा प्राणवियो गोऽपि सम्भवति । सञ्जातप्राणवियोगस्यत्वर्चिरादिमार्गेण गमनं ब्रह्म प्राप्तिश्च नोपपद्येते । अतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तेः प्राङ्मन प्राणाना मुत्क्रान्तिरिति प्रपञ्चितञ्चैतज्जन्मादिसूत्रेऽतोत्र संक्षेपः ॥१२॥

॥ स्मर्यते च ४।२।१३ ॥

‘ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोक-

द्वो न भवेत्, तथा च वरघातायकन्योद्वाहन्यायप्राप्त्यो देशसिद्धिरेव न स्यादित्यादिकं विशेषतो जन्मादिष्वेवाभाष्यकृता प्रतिपादितं तत एव द्रष्टव्यम् । अक्षरमात्र विवरणप्रया साय प्रयतमानस्य मम तादृशप्रयत्नेनालमिति ॥१२॥

किञ्च याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु, उपासनाबलेन संजातब्रह्मज्ञानवतां शताधिकया मूर्धन्यनाड्या अर्थात् सुषुम्नानाडीद्वारेण ब्रह्मलोकगमनं भवतीति स्मर्यते एव । तथाहि ऊर्ध्वमेक इत्यादि । एक कश्चिदुपासकः तेषां नाडीविशेषाणाम ऊर्ध्वस्थितः, अर्थात् षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं है । अर्थात् तत्पद ग्राह्य शरीर जीव में अपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति का निर्देश करके शरीर रूप अपादान से प्राणोत्क्रमण का प्रतिषेध किया है किन्तु शरीर लक्षण अवधि से प्राणोत्क्रमण का प्रतिषेध नहीं है ।

इसी वस्तु को विस्पष्ट रूप से बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं ‘अयंभाव’ इति । इसका भाव यह है कि ब्रह्मज्ञानी को शरीरावसान का कथन ‘तस्य तावदेव’ इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित हो तब तो प्राण का वियोग भी तदैव संभवित होगा । तब जिसको प्राण का वियोग हो गया तब उस पुरुष को अर्चिरादि मार्ग से गमन तथा ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष यह दोनों उपपन्न नहीं होंगे । इसलिये ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म प्राप्ति से पूर्ण में प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है इस विषय को विस्तृत रूप से ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस अविकरण में किया गया है, अतः यहाँ संक्षेप किया है ॥१२॥

याज्ञवल्क्यादि स्मृति में ब्रह्मज्ञानी को शताधिक सुषुम्नानाडी मार्ग के द्वारा शरीर के उत्क्रमण प्रतिपादन किया है, अतः केवल श्रुति सिद्ध ही यह पक्ष नहीं है किन्तु अनेक स्मृति प्रतिपादित भी यह मत है । तथाहि ‘ऊर्ध्वमेकः’ इत्यादि ।

मतिक्रम्य तेन याति परंगतिम्' [याज्ञवल्क्य० अ० प्र० १६७] इति
ब्रह्मविदो मूर्धन्यनाड्योत्क्रमणम् स्मर्यते ॥१३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

अथ परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

५ तानि परे तथाह्याह ४।२।१४ ५

पूर्वत्र करणप्राणसहितस्य जीवस्य ममुत्क्रान्तिसमये तेज
सुषुम्नानाडीद्वारेण शरीरान्निष्क्रम्योर्ध्वनिः स्रुतः कश्चिद्योगी, सूर्यमण्डले भित्त्वा, सूर्य-
मण्डलादप्युपरिगत्वा तदनन्तरं ब्रह्मलोकं कमलासनलोकमप्यतिक्रम्य गच्छन् परं
गतिं श्रीसाकेताधिवासं मोक्षापरनामकं याति प्राप्नोति सर्वबन्धनविमुक्तो भवन् श्रीसाकेता-
धिपतेरनुव्रजनं कुर्वन् कृतकृत्यो भवतीति स्मृत्यर्थः । एवं चैतत् सिद्ध्यतीति, यत् सुषुम्ना
नाडीमार्गेण ब्रह्मविदामपिशरीराद्गमनं भवति । यद्यपि अपरे केचन, सगुणोपासकानामेव
शरीरादुत्क्रमणं भवति, नतु निर्गुणोपासकानां शरीराद्गमनं भवतीति, तथापि तन्म
तस्य श्रुतिसप्रस्मृत्यादिविरोधात् शिष्टास्तत्पक्षं विसृजन्त्येवेति कृतं परद्वेषोद्भावने-
नेति संक्षेपः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

इतः पूर्वाचक्षुरादिज्ञानजनकक्रियाजनककर्मैन्द्रियसहितस्तथामुख्यगौणप्राणसम्पृ

एक कोई संजात ब्रह्मज्ञानवान् उपासक नाडी विशेष से ऊपर हो करके सूर्यमण्डल को
भेदित करके तथा कमलासन लोक का भी अतिक्रमण करके देवयान मार्ग से परागति=श्रीसाकेत
लोक प्राप्ति लक्षण परमपद को प्राप्त करते हैं । इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है कि ब्रह्म
ज्ञानियों का भी शरीर से उत्क्रमण होता है । विशेष विचार जगद्गुरु श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य
सारस्वत सारंगभूमि प्रणीत श्रीरामप्राप्तिपद्धति तथा वशिष्ठ संहितास्थ परात्पर श्रीरामधाम वर्णन
के मेरे टीका आदि में अन्यत्र देखें इति ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

इससे पूर्व प्रकरण में इन्द्रियादिकरण तथा गौण मुख्य साधारण प्राण सहित जीव जो

आदिभूतसूक्ष्मेषु सम्पत्तिरभिहिता । तानि पुनर्जीवसहितानि भूत-
सूक्ष्माणि फलभोगाय यथास्थानमुपयान्ति आहोस्विद्ब्रह्मणि सम्प-
द्यन्त इति संशयः । तत्र यथाकर्म यथाविद्यं फलोपभोगार्थमेवोपया-
न्तीति प्राप्तेऽभिधीयते—तानि पर इति । तानि सजीवानि भूतसूक्ष्मा-
णि परस्मिन्नात्मन्येव सम्पद्यन्ते । उक्तार्थे श्रुति प्रमाणयति तथाह्य

क्तोजीवः सर्वाध्यक्ष उत्क्रमणसमये तेजः प्रभृतिकसूक्ष्मभूतेषु सम्पद्यमानोभवतीति
प्रतितादितम् । इयं च सम्पत्तिर्नभवति, किन्त्वविदुष एव भवतीति शंकायाः समाधा-
नमपि कृतवान् । तत्रेमानि भूतसूक्ष्माणि जीवसहितानि स्वकीयकर्मापासनावलेन फलभो-
गाय यथास्थानं गच्छन्ति, अथवा सर्वाणि तानि परमात्मनि सम्पद्यमानानि भवन्तीति
संशयः । तत्र यदि परमात्मनि संभवेद्युस्तदा तत्र सुखदुःखोपभोगलक्षणकार्यस्यादर्श-
नात्. सुखादीनां भोगाय कर्मानुगुण्येन तत्तत्स्थाने एव गच्छन्तीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्त
स्तु तानि भूतसूक्ष्माणि परमात्मन्येव सम्पद्यमानानि भवन्ति श्रुतिषु तथा प्रतिपादनात्
तेजः परस्या देवतायामिति हि श्रुतिः सर्वेषां तेषां परमात्मन्येवसम्पद्यमानत्वं दर्शयति ।
नच तत्र सुखाद्युपभोगो न भवतीतिवाच्यम्. यथा सुषुप्तौ प्रलये च सुखाद्युपभोगो
भवति तथाऽत्रापि सुखाद्युपभोगो भवतीति कल्पनीयमेव । एतत्सर्वं निष्कृष्यदर्शयितु
मुपक्रमते पूर्वा करणप्राणसहितस्येत्यादि विचारप्रयोजकं संशयं दर्शयति तानि पुनर्जीवसहिता-
कि इन्द्रियादिकों का सर्वाध्यक्ष हैं उसको जीव को शरीर से उत्क्रमण समय में तेज जल
पृथिवी प्रभृतिक सूक्ष्मभूतों में सम्पत्ति होती है, ऐसा कहा गया है । वे जो जीव संयुक्त
सूक्ष्मभूत तेजः प्रभृतिक हैं वे फलोपभोग के लिये यथास्थान में जाते हैं ! अथवा वे सब
सूक्ष्मभूतों ब्रह्म में सम्पन्न हो जाते हैं ! ऐसा संशय होता है ।

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यादृश कर्म शुभाशुभ रहता है अथवा जिस प्रकार
की उपासना रहती है तदनुकूल फलोपभोग करने के लिये उन तेजः प्रभृतिक भूत सूक्ष्मों का
गमन होता है ! एतादृश पूर्वपक्ष होता है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'तानि परे' इत्यादि । वे भूत जीव सहित
अर्थात् जीवात्मा से संयुक्त जो भूत सूक्ष्म हैं, वे परमात्मा में सम्पद्यमान हो जाते हैं । इस
विषय में श्रुति प्रमाण को बतलाने के लिये कहते हैं 'तथा ह्याह' इति । 'तेजः परस्या देवता

हेति । 'तेजः परस्यां देवतायाम्' [छा० ६।८।६] इति । सुषुप्तौ सति सम्पन्नस्य दुःखाभावः सुखानुभवश्च 'सुखमहमस्वाप्समिति । तथा-
त्रापि परदेवतासम्पन्नस्य दुःखाभावः सुखानुभवश्चानुमीयते । श्रुत्य
नुगुणैव व्यवस्थासम्पादनीयेति भावः ॥१४॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये परसत्यविक्रमम् ॥६॥

नीत्यादि संशयाकारः स्पष्ट एव । पूर्वापक्षस्तु सुखाद्युपभोगलक्षणकार्याय यथास्थानमेव
तानि सूक्ष्माणि भूतानि गच्छन्तीति । श्रुतीतेषां परमात्मन्येव सम्पन्नोः श्रवणात्, नान्यत्र
गच्छन्ति । फलोपभोगस्तु सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति सुषुप्तौ स्थितस्य परामर्शानु-
पपत्तिसिद्धिः सुखाद्यनुभवो यथा सुषुप्तामीयते, तथैव परमात्मसंपत्तावप्यनुमीयता
मिति । ततश्च श्रुत्यनुसारेणैव व्यवस्थासम्पादनीया, नतु तद्विपरीतक्रमेण कुत्रचिदपि
व्यवस्थास्वीकर्तव्या तदत्र 'श्रीरामं समवाप्तोऽयं कर्मयोनिं न गच्छति । आनन्दीनाथ
जीवोऽयं रामं प्राप्य रसात्मकम् । समिच्छति पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम् । सत्यमन्धः
प्रतिश्रुत्यप्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्तयेद्भये नैनं भीरामः श्रितवत्सलः ॥ (भीराम
प्राप्तिपद्धतिः ४७-४९) इत्यादिजगद्गुरुश्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीतदिन्यप्रबन्धा-
याम्' (तेजः प्रभृतिक सूक्ष्मभूत परादेवता में अर्थात् सर्वाकारण परमात्मा में संप्रलीयमान हो
जाते हैं) इसप्रकार से छान्दोग्य श्रुति में बतलाया गया है, इससे सिद्ध होता है कि ये जीवा
त्मा से संयुक्त होकर के परमात्मा में ही लीयमान हो जाते हैं, किन्तु इन भूतों का गमन
फलोपभोग के लिये नहीं होता है । जिसतरह सुषुप्तिकाळ में परमात्मा में सम्पन्न जीव को
दुःखाभाव तथा सुख का अनुभव होता है । 'मैं सुख पूर्णक सोया था,' इसप्रकार का अनु-
भव होता है । (सुषुप्त जीव जब जागता है तब उसको सुख पूर्णक सोया था, एतादृश स्म-
रण होता है, और स्मरण अनुभव के बिना नहीं होता है, तो स्मरण का, अनुभव के बिना
अनुपपन्न होने से सुषुप्ति काळ में अनुभव का अनुमान किया जाता है ।) तो जिसतरह सुषु-
प्ति में दुःखाभाव तथा सुखानुभव होता है, उसीतरह परमात्मा में संपत्ति होने पर भी उस
काळ में सुखादिक का अनुभव होता है, ऐसा अनुमान से जाना जाता है । श्रुति सर्व प्रमाण
के अपेक्षा प्रबल है, अतः श्रुति जिस तरह से कहती है, उसीतरह से अर्थात् श्रुति प्रमाण

अथाविभागाधिकरणम् ॥७॥

५ अविभागो वचनात् ४।२।१५ ५

किमियं परमात्मनि सम्पत्तिः 'पृथिव्यप्सुलीयते' इति पृथिव्यादीनां जलादिकारणापत्तिरेवाहोस्वित् 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति नुसन्धेयं विशेषार्थिभिरितिसंक्षेपः ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

तेजः प्रभृतिकसूक्ष्मभूतानां परमात्मनि सम्पत्तिरित्यतः पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम् । तत्र येयं परमात्मनि तेषां सम्पत्तिः सा किम् जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते इति प्राकृतप्रलयवत् कार्यस्य कारणापत्तिरूपाभवति । अथवा वाङ्मनसीति वदविभागरूपैव सम्पत्तिरिति । अर्थात् कार्यस्यस्वकारणे यथा सावशेषस्यलयस्तथैव प्रकृते सावशेषस्य प्रलयो भवति, निरवशेषस्याविभागस्यैव सेति संशयः । तत्र यथा पृथिवीलक्षणकार्यस्य जलात्मककारणे प्राकृतलयसमये लयस्तथैव सर्वजगत्कारणे परमात्मनि सर्वेषां प्रलये सर्वेषां प्रलय एव यथा कार्य स्वकारणादुत्पद्यते तथैव तस्य स्वकारणे प्रलयस्यापि श्रुतियुक्तिसिद्धत्वादित्यतः परमात्मनि सर्वेषां लय एवेति पूर्वपक्षः ।

के अनुकूल ही पदार्थों की व्यवस्था करनी चाहिये, किन्तु श्रुति प्रतिकूल व्यवस्था अमान्य है इति ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यस्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

जीव सहित तेजः प्रभृति भूत सूक्ष्मों का परमात्मा में सम्पत्ति होता है, ऐसा इससे पूर्वसूत्र ('तानि परे') में कहा गया है । तो यह जो सम्पत्ति है वह प्राकृत प्रलय में कारण में कार्य का प्रविष्ट रूप है, अथवा अविभाग स्वरूप है । एतादृश संशयोत्तर सिद्धान्त बतलाने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं — 'किमियं परमात्मनि सम्पत्तिरित्यादि' क्या यह भूत सूक्ष्मों का परमात्मा में सम्पत्ति होती है, सो 'पृथिव्यप्सु' (हे देवऋषि नारद ! संपूर्ण स्थावर

वदविभागस्वरूपतेति विषये सर्वकारणस्वरूपपरमात्मनि कारणापत्ति-
रूपैवेति प्राप्तेऽभिधीयते 'अविभाग' इति । विभागप्रतियोगिसं-
योगोऽविभाग इति परमात्मना विलक्षणसंयोगरूपेयं सम्पत्तिरिति ।
वैलक्षण्यञ्चात्र पृथग्व्यवहारानर्हत्वमेव । कुतः ? वचनात् । 'वाङ्म-

सिद्धान्तस्तु वाङ्मनसीतिवत् अविभागभूतानां परमात्मनि भवति । तत्रावि-
भागोऽपृथग्भावः पृथग्व्यवहारानर्हसंयोग इति यावत् । तेजः परस्यादेवतायामित्यादि
वचनात् । तस्मात्सेयं सम्पत्तिर्नलयरूपा किन्तु पृथग्व्यवहारायोग्यसम्पादिरूपैवेति
सिद्धान्तप्रदर्शनपूर्वकप्रकृतसूत्रव्याख्यानायोपक्रमते भाष्यकारः किमियं परमात्मनि
सम्पत्तिरित्यादि । अत्र किं शब्दः संभावनायाम् किमिन्द्रुः किं पदमं किमु मुकुरविं किमु
मुखमिति वदिति । परमात्मनीति । सर्वाकारणीभूते परमात्मनि श्रीसीतानाथे पूर्वसूत्र
प्रतिपादिताभूतानां सम्पत्तिः सा पृथिव्यप्सु प्रलीयते इति, 'जगत् प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु
प्रलीयते तेजस्यापः प्रलीयन्ते इत्यादि प्राकृतप्रलयप्रतिपादकप्रकरणवत् । पृथिव्यादीनां
यथाप्राकृतप्रलये स्वकारणे लयं दर्शयति तद्वदिह, अथवा वाङ्मनसीतिवत्—अविभागस्वरूपैव
इति संशयः । तत्र कार्यस्य कारणलय इति सिद्धान्तात् सर्वकारणे परमात्मनि तेजः
प्रभृतीनां प्राकृतप्रलयवच्छेद एवेति पूर्वपक्षशयः । विभागप्रतियोगीति । तत्र विभागो-
नाम=गुणलक्षणविभागस्य प्रतियोगीविरोधी यः संयोगस्तद्रूप एव । तत्र परमात्मना
सह भूतादीनां योविलक्षणः संयोगस्तल्लक्षण एव सम्पत्तिरिति । संयोगे वैलक्षण्यं कि-
मिति जिज्ञासायामाह=वैलक्षण्यं चात्रेति । तत्र सम्पत्तिकाले परमात्मना सह भूतानां

जङ्गम पदार्थों का आधार भूत जो यह स्थूल पृथिवी है, वह प्राकृत प्रलयकाल में कार्य स्वरूप का परित्याग करके स्वकारण जल में विलीयमान हो जाती है, तथा जल स्वकीयकारण तेज में लीन हो जाता है, तेज वायु में, वायु आकाश में लीन होता है, पृथिवी जल में लीन हो जाती है, इस प्रकार पृथिव्यादि पदार्थों का जलादि रूप कारणापत्ति रूप प्रकृत में सम्पत्ति होती है । अथवा 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (सृष्टिक वागिन्द्रिय मन में सम्पन्न हो जाता है) इसके समान अविभाग रूप सम्पत्ति होती है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सर्वपदार्थ का परम कारण स्वरूप परमात्मा में कारण में कार्य का प्रलय रूप ही सम्पत्ति होती है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'अविभाग' इति । विभाग का प्रतियोगी=विरोधी जो संयोगः तादृश संयोग को अविभाग कहते हैं । अतः परमात्मा

नसि सम्पद्यते' इत्यतः । संयोगार्थकस्य सम्पद्यतेरसर्वत्रान्वयात् ।
'तेजः परस्यां देवताया' मित्यत्राप्यन्वयः । सम्पद्यतेश्चात्र विलक्षण
संयोगार्थकत्वम्पूर्वमेव निर्णीतमिति ॥१५॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽविभागाधिकरणम् ॥७॥

पार्थक्येन व्यवहाराभाव एव । यथेह व्यवहारकाले घटस्य स्वकारणेन पृथग् व्यवहारो
भवति न तथा तदानीं परमात्मना सह पार्थक्येन व्यवहारोभवति, इति । पृथग् व्यव
हारानर्हत्वलक्षणाविभाग एव भूतानां सम्पत्तौभवतीति । तत्र कोहेतुरिति जिज्ञासायामाह
वचनादिति । वाङ्मनसिसम्पद्यते अत्र या संयोगरूपासम्पत्तिः कथिता, तादृशसंयोगात्मक
सम्पत्तेः तेजः परस्यामित्यादि सर्वाश्रयान्वयोभवति । ततश्च यथोक्तार्थ एवलब्धोभव-
तीति । तस्मात् तदानीं विलक्षणसंयोगात्मकसम्पत्तिरेव परमात्मना सह तेजः प्रभृति
सूक्ष्मभूतानां भवति नतु प्राकृतप्रलयवत् कारणे लयोभवतीति संक्षेपः ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽविभागाधिकरणम् ॥७॥

के साथ इन भूतों का विलक्षण संयोग रूप ही संपत्ति होती है, नतु प्राकृत प्रलयवत् प्रलय
रूप सम्पत्ति होती है । इस संयोग में पृथग् व्यवहार के अनर्हत्व रूप से ही नैलक्ष्य
है । एतादृश नैलक्ष्य क्यों मानते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं 'वचनात्' 'वाङ्मनसि सम्प
द्यते' इस सूत्र से संयोगार्थक सम्पत्ति का सर्वात्र अन्वय किया जाता है । इसलिये 'तेजः परस्यां
देवतायाम्' इसमें भी तादृश संयोगार्थक सम्पत्ति का ही अनुवर्तन होता है । सम्पत्ति विलक्षण
संयोगार्थक है ऐसा पूर्व में निर्णीत हो गया है ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीमेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽविभागाधिकरणम् ॥७॥



अथ तदोकोऽचिकरणम् ॥८॥

५ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ४।२।१६ ५

‘समाना चासृत्युपक्रमा’ दित्यनेन ब्रह्मविदामन्येषाञ्चोत्क्रान्तिः समानोक्ता एवं ‘शतंचैकां हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतौका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे

इतः पूर्वाधिकरणे विदुषां तथाऽविदुषां च नाडीप्रवेशद्वारेणोत्क्रमणं भवतीति प्रतिपादितं, तत्र विदुषां सुषुम्नानाडीद्वाराभवति तदन्येषां नाड्यन्तरेणभवतीत्यपि कथितम् । तत्र संशयो जायते यत् ब्रह्मज्ञानिनां मूर्धन्ययैवभवति तदन्येषामन्ययाभवति नवेत्ययं नि-

‘समानाचासृत्युपक्रमात्’ इस मंत्र से बतलाया गया कि ब्रह्मज्ञानी को तथा अविद्वान् को जो इस शरीर से उत्क्रमण होता है वह समान नहीं होता है, ऐसा कहा है, आसृत्युपक्रमाधिकरण में । एवं ‘शतं चैकेत्यादि’ हृदय सम्बन्धी एक सौ एक प्रधान नाडी हैं, इसमें से मस्तक को विदारित करके एक नाडी अर्थात् सुषुम्नानाडी ऊपर को गयी है=निकली हुई है । उस प्रधान नाडी से उत्क्रमण करने वाले ब्रह्मज्ञानी लोग अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करते हैं, तदतिरिक्त नाडी द्वारा उत्क्रमण करने वाले को पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति ही होती है, अर्थात् सुषुम्नानाडी के द्वारा शरीर से जो उत्क्रमण होता है वह मोक्ष प्रयोजक होता है और तदितर नाडी द्वारा जो उत्क्रमण होता है, वह पुनः संसार का प्रयोजक होता है । ‘योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसज्जन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्’ तथा ‘यं यं वापि स्मरन्भावंत्य जग्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय ? सदा तद्भावमाबिधेः’ इति ।

इन श्रुतियों तथा स्मृतियों में शरीर से उत्क्रमण का प्रतिपादन किया गया है । इसमें यह संशय होता है कि ब्रह्मज्ञानी को शताधिक मूर्धन्य सुषुम्नानाडी से ही उत्क्रमण होता है और अविद्वान् को तदतिरिक्त नाडी द्वारा ही शरीर से उत्क्रमण होता है, एतादृश नियम हो

भवन्ति' [का० २।६।१६] इत्यस्यां श्रुतावप्युत्क्रान्तिरभिधीयते । तत्रार्यसंशयः । किं ब्रह्मविदः शताधिकयामूर्धन्यया नाड्यैवोत्क्रमणमविदुषश्चान्याभिरेवेत्ययं नियमः सम्भवति न वा । न नियमः सम्भवतीति । कुतः ? अनेकनाडीषु मूर्धन्यनाडीविवेकस्याऽसम्भवादविशेषेणाभिधानाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते—शताधिकयेति । ब्रह्मयमः संभवेन्नवेति । तत्र नियमोनस्यादिति पूर्णपक्षः । कुतः ? अतिसूक्ष्मतया तासां नाडीनामविवेकस्याभावादेवनियमासंभवादिति पूर्णपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु ब्रह्मविदां सुषुम्नयैव गमनं तदन्येषां तदन्ययैव गमनमिति निश्चयः । नच विवेकाभावशङ्क्यः । उपासनया शेषत्वबुद्ध्यासमाराधितपरमेश्वरस्य तदीयकृपया सकृता है, अथवा संभवित नही हो सकता है ! अर्थात् 'शतं चैकाद्वयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुति वाक्य से उत्क्रमण का कथन किया है, उसमें यह संशय होता है कि क्या ब्रह्मज्ञानी मूर्धन्य नाडी द्वारा ही उत्क्रमण करते हैं तथा अविद्वान् को तदन्य नाडी द्वारा ही गमन होता है, अर्थात् अविद्वान् मूर्धन्य नाडी से उत्क्रमण नहीं करते हैं, यह नियम हो सकता है, अथवा नहीं हो सकता है ? ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्णपक्षवादी कहते हैं कि यथोक्त नियम नहीं हो सकता है, अर्थात् विद्वान् ही मूर्धन्य नाडी से उत्क्रमण करते हैं तथा अविद्वान् उस नाडी से उत्क्रमण नहीं करते हैं, यह नियम नहीं बन सकता है । क्योंकि शरीर में अनेक नाडी हैं ये सब अतिसूक्ष्म हैं और सुषुम्नानाडी तो और भी सूक्ष्मतर हैं, तब उन सूक्ष्म नाडियों में से सूक्ष्मतर सुषुम्ना का तो विवेक=पार्थक्य पूर्णक ज्ञान होना तो सर्गथा ही असंभवित है । इसलिये यथोक्त नियम अर्थात् विद्वान् मूर्धन्य नाडी से उत्क्रमण करते हैं, तथा अविद्वान् तदन्य नाडी से उत्क्रमण करते हैं ऐसा कहना तो सर्गथा असंभवित है, यतः यदि उन उत्क्रमण करने वाले को नाडी का पार्थक्येन ज्ञान हो तब ही यह नियम संभवित हो सकता है, यह तो असर्गज्ञ दुर्ज्ञेय है । ऐसा पूर्णपक्ष का आशय है ।

एतादृश पूर्णपक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं । 'शताधिकयेति' विद्वान् ब्रह्मज्ञानी को तो शताधिक मूर्धन्य सुषुम्नानाडी के द्वारा ही उत्क्रमण होता है और जो ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं उन लोगों को सुषुम्नानाडी से अतिरिक्त जो नाडी जाळ है उसके द्वारा उत्क्रमण होता है, ऐसा नियम ही नियत है । अर्थात् विद्वान् का गमन सुषुम्ना से होता है, और अविद्वान् का गमन=शरीर से अन्य नाडी द्वारा ही होता है, यह नियम है ।

विदस्तु शताधिकयामूर्धन्ययैष नाड्योत्क्रमणमन्यस्या विदुषो ना
ड्यन्तरेणैवेति नियमः ।

ननु नाडीविवेकाभावात्कथं मूर्धन्ययैवेति नियम इत्यत
आह-विद्यासामर्थ्यादिति ।

परमात्मोपासनरूपविद्यासामर्थ्यात् परमात्मशेषत्वानुमन्धा
नाच्च स उपासकः परमात्मनानुगृहीतो भवति । एवञ्च परमात्मा
सर्वसंभवात् । यदा खलु सर्वदा असंभाव्यमानमपि मोक्षं यदोपासकस्तदीयकृपाले-
शेन प्राप्नोति तदा का कथा प्राकृतनाडीविवेकस्य ज्ञानं जायते । तस्मान् परमपुरुषकृपा
पात्रस्तादृशसूक्ष्मनाडीविवेकं ज्ञात्वा तथा नाड्योत्क्रमन् भगवत्पदप्राप्नोति । संतरति

प्रश्न=जब अतीन्द्रिय प्रायः अति सूक्ष्मनाडी का पार्यक्य से ज्ञान होना सर्वथा असंभव
प्रायः है, तब विद्वान् का उत्क्रमण सुषुम्ना द्वार से ही होता है, तथा अब्रह्मज्ञानी=अविद्वान्
का तदितर नाडी द्वारा उत्क्रमण होता है, (सुषुम्ना नाडी द्वारा उत्क्रमण पुनः शरीरान्तर के
प्राप्ति का कारण नहीं होता है और तदितर नाडी द्वारा होने वाला उत्क्रमण पुनः शरीरान्तर
का निदान होता हुआ पुनरपि उत्क्रमण का कारण बनता है, यह नियम किस तरह हो
सकता है । इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं='विद्यासामर्थ्यादित्यादि
[विद्या के बल से तथा मैं परमपुरुष का ही शेष हूँ] इत्याकारक अनुष्ठान करने से होनेवाली
जो भगवत् की कृपा, उस कृपा से अनुगृहीत होकर के विद्या के बल से हृदय का अग्रभाग
में जो प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित द्वारवाला उपासक नाडी को पार्यक्य रूप से जानता
है, तदनन्तर सुषुम्नानाडी द्वारा उत्क्रमण करता है । ऐसा सूत्र का अभिप्राय है । अर्थात्
उपासक का परमेश्वर की कृपा से सब कार्य सम्पन्न हो जाता है ।]

सूत्राभिप्राय को भाष्यकार स्वयमेव स्पष्ट करते हैं 'परमात्मोपासनरूपेत्यादि' परमात्मा
की उपासना रूप जो विद्या, तादृश विद्या, तथा मैं परमात्मा का शेष अंश हूँ इस परमात्म
के शेषत्व का अनवरत निदिध्यासन के बल से वह सर्वथा सर्वदा भगवत् परायण जो उपासक
वह परमात्मा से अनुगृहीत होता है । अर्थात् अनन्य भक्ति द्वारा दयार्णव भगवान् उस उपा-
सक के ऊपर कृपा करते हैं 'भक्त्यामामभिजानाति' इसप्रकार स्मृति में भी कथन किया है ।
जब वह भगवान् के भक्ति में परिनिष्ठित होता है तब भगवान् से अनुगृहीत होता है, तब

नुग्रहेणैव तस्य तच्छेषभूतस्य जीवस्य निवासस्थानं हृदयम् अग्रेज्वलनं प्रकाशनं यस्य तथा भवति । अत्र एव तेन प्रकाशितद्वारे ब्रह्मविन्मूर्धन्यासुषुम्नाख्यां नाडीमवगच्छतीति तया चास्य गमनमुपपद्यते ॥१६॥

इति श्रीआनन्दभाष्येतदोक्तोपकरणम् ॥८॥

च संसारमहोदधिमनायासेनेति । इत्यादिकं सर्वमावेदयितुमुपक्रमते समानाचास्त्युपक्रमादित्यनेनेत्यादि । अन्यत्सर्वसुगममिति ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे तदोक्तोऽधिगमाधिकरणम् ॥८॥

भगवान् के अनुग्रह से परमात्मा का शेष रूप जीव का निवास स्थान हृदय के अग्रभाग में एक विलक्षण ज्वलन=प्रकाश होता है । तब तादृश विलक्षण प्रकाश से प्रकाशित द्वारवाक्य ब्रह्मज्ञानी मूर्धन्य सुषुम्नानाडी को कामलक की तरह जानता है=साक्षात्कार करता है । और तब इस परमात्मोपासक ब्रह्मज्ञानी का, नाडी का विवेक ज्ञानपूर्वक शरीर से उत्क्रमण होता है, जो उत्क्रमण आवागमन विवर्जित शाश्वत श्रीसाकेतप्रातिलक्षणमोक्ष का प्रयोजक होता है ।

परम कारुणिक जीवमात्र का अकारणमित्र दयानिधान के भक्ति प्रपत्ति से जो वंचित है, उनके लिये तो अवश्यमेव अतिसूक्ष्म नाडी का पार्श्वक्य रूप से ज्ञान होना असंभव ही है परमात्मा की भक्ति प्रपत्ति पूर्वक मनन करने में सर्वथा संलग्न चित्त हैं, उनके लिये तो दुरुह पदार्थ भी सरल हो जाता है । भक्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है :-

‘गरुडसुधा रिपु करइ मिताई । गोपद सिन्धु अनलशितलाई ।

गरुड सुमेरु रेणु समता ही । राम कृपा करि चितवई जाही’ ॥

अन्यत्र भी कहा है :-

कुंभ से उत्पत्ति थी परिजन वनज मृगजन रहा ।

वल्कलवसन वनवास कन्दाशन से वपु अतिदुःस्थ था ॥

तो भी तपस्वी शान्त ऋषि अक्षोभ्य पारावार को ।

अंजलि में रखकर पी गये श्रीराम की भक्ति अहो ॥१॥

इन सब प्रकरणों से सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीरामजी की भक्ति में संछीनचित्त वालों के लिये इस नाडी का विज्ञान होना कोई भी असंभव नहीं है । विशेष विवरण अन्यत्र देखें । १६।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे तदोक्तोऽधिकरणम् ॥८॥

अथ रश्म्यनुमागधिकरणम् ॥२॥

ॐ रश्म्यनुसारी ४।२।१७ ॐ

अथ मूर्धन्यनाड्यानिर्गतो ब्रह्मविद्रश्मिभिर्ध्वमुपयाति ।
तत्रोदं श्रूयते, अथ यत्रौतस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिर्ध्वं
माक्रमते' [छा० ८।६।५] इति । अत्र प्रकारान्तरेणापि गतिः स

इतः पूर्वाप्रकरणे विद्वान्मूर्धन्यनाड्योत्क्रम्य ब्रह्मलोकं प्राप्नोति, तथा अविद्वान्
तदतिरिक्तनाड्योत्क्रम्यपुनर्भवाय गच्छतीति नियमस्य प्रतिपादनं कृतम् । तद्विषये
एवेदमपि श्रूयते यत् मूर्धन्यनाड्यानिर्गतो विद्वान्मूर्धन्यनाड्याविनिसुन्यादित्यरश्मीञ्चानु
सृत्यादित्यमण्डलं प्राप्नोति अथैतैरेवरश्मिभिर्ध्वमाक्रमते इत्यादिस्थले । तत्र रश्म्यनुसारे
णैव गच्छतीत्ययं नियमः संभवति नवेति संशयः । तत्र पूर्वपक्षः । रात्रौभूतस्य ब्रह्म-
ज्ञानिनः सूर्यकिरणस्य तदाऽभावेन किरणसम्पर्काभावात्, न यथोक्तनियम इति ।
सिद्धान्तस्तु, रात्रौ प्रवसरतोपि ब्रह्मज्ञानिनः सूर्यकिरणसम्पर्कोविद्यते एव, निदाधममये
तदीयकिरणसम्पर्कस्यानुभावात्, निदाधरात्रावपि किरणसम्पर्कमनुभवति । यद्यपि हेम-
न्तादौ तादृशकिरणस्य सम्पर्कोनानुभूतोभवति । तथापि तत्र हिमाधिक्येनाभि-
भूत्वान्नानुभवः । यथा दिने सूर्यकिरणाभिभूतस्य नक्षत्रादेः प्रत्यक्षं न भवति, तथैव
प्रकृतेऽपि विरोधिना शीतस्पर्शेनाभिभवादननुभवः । श्रूयतेचान्यत्र नाडीरश्मीनां सर्व-
दैवान्योन्यसम्बन्धो नैसर्गिक एव । तस्मात् विदुषो गमनकाले रश्मिनियमो नियत
एवेत्यादिकं सर्वं बोधयितुमुपक्रमते अथमूर्धन्यनाड्येत्यादि मूर्धन्यनाड्येति-शतादिकया सुषु

शताधिक मूर्धन्य सुषुम्नानाडी से निर्गत जो ब्रह्मज्ञानी वह सूर्यरश्मि के द्वारा ऊपर
को जाता है । इस सूर्य रश्मि के द्वारा गमन के विषय में इसप्रकार श्रुति में सुनने में आता
है । 'अथयत्रौ तस्मादित्यादि' [अथ वह ब्रह्मज्ञानी उपासक जिस समय में अर्थात् प्रायणकाल
में इस परिदृश्यमान् षाट्कोशिक स्थूल शरीर से उत्क्रमण करता है, तब इन्हीं सूर्य की रश्मि
किरण के द्वारा ऊर्ध्व उत्क्रान्त होता है, अर्थात् शरीर से निष्क्रमण करता है । इसप्रकार से
छान्दोग्योपनिषद् में कहा है ।] यहाँ यह संशय होता है कि प्रकारान्तर से भी गमन संभ-
वित हो सकता है, अथवा रश्मि के द्वारा ही गमन होता है ? एतादृश संशय के बाद पूर्व

म्भवत्याहोस्विद्रश्म्यनुसारेणैवेति संशये रश्म्यनुसारेणैवेति नियमासम्भवात्प्रकारान्तरेणापि । श्रुतेस्तु पक्षान्तरेचास्तार्थ्यम् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—रश्म्यनुसारीति । रश्म्यनुसार्येव ब्रह्मविद्गच्छत्यूर्ध्वम् । कथमवगम्यते । ‘एतैरेव रश्मिभिः’ इत्येवकारेणाव-

गमनानाड्येत्यर्थः । अथयत्रोत्तमादित्यादि (अथ यस्मिन् कालेऽयमुपासकः शरीरावसानकाले, एतस्मात्. पाट्कौशिकात्स्थूलशरीरात्. उत्क्रामति शरीरान्तरग्रहणाय, अमृतत्वाप्राप्तयेवोर्ध्वमुत्क्रमणं करोति । अथ तदा तस्मिन्नुत्क्रमणकाले एतैरेवरश्मिभिर्मानवीयकिरणैः ऊर्ध्वमाक्रमते सूर्यकिरणमालंब्यैव गच्छति । सूर्यरश्मिसम्बद्धस्तद्द्वारेणैवेतो गमनं करोतीत्यर्थः । इयमेव श्रुतिर्विचारविषयरूपा । अत्र संशयोजायते, यदिहकमप्यन्यमपि समालंब्यः अर्थात् प्रकारान्तरेणापि गमनं समुपासकस्यभवति, अथवा रश्म्यनुसारेणैव भवतीति किमत्रयुक्तम् रश्म्यनुसारेणैव प्रवसतां गमनमिति न नियमः, यतः रश्म्यनुसारेणैवेति नियामककारणविशेषस्यादर्शनात्प्रकारान्तरेणापि संभवतीति पूर्वपक्षः । तामिमांशङ्कां निवर्तयितुमाह रश्म्यनुसारीतीति । प्रयाणसमये शरीरादुत्क्रमणं कुर्वन् सूर्यकिरणसंपृक्त एव गच्छति, एतैरेवरश्मिभिरित्यादि श्रुतौ, अवधारणार्थकैवकारस्य प्रयोगदर्शनात् । यदि कदाचित् प्रकारान्तरेणाप्यूर्ध्वगमनं श्रुतिसंमतं भवेच्चैतदा, अस्यामेव श्रुतौ एवकारप्रयोगः सर्वथैव नैरर्थक्यमाप्नुयात् । नेष्टापत्तिः स्वतः प्रमाणभूतायाः श्रुरेरेन्यथायितुमशक्यत्वात् । तथैव श्रीरामप्राप्तिपद्धतौ ‘श्रीरामप्राप्तयेसोऽथत्वरतेभृशमुत्सुकः । रामः स्मरति तं चाथ स्व संप्राप्तिसमुत्सुकम् ॥ यथास्वाप्त्युत्सुकं वत्संधेनुर्वीत्सत्यवारिधिः । अदिलष्टे च विनष्टेस्तस्ततस्तत्पुण्यपापके भोगेनाथविनष्टेस्तस्तत्प्रारब्धात्मके च ते । मनश्चेन्द्रियसंयुक्तं प्राणेन तस्य युज्यते । पक्षी कहते हैं कि छान्दोग्यादिव्यतिरिक्त स्थल में जो प्रकार गमन के विषय में अर्थात् उत्क्रमण के विषय में कहा गया है, यथा ‘शतंचैकाहृदयस्य नाड्यः’ इस स्थल में प्रतिपादित है, तदनुसार भी गमन होसकता है । नतु रश्मि के द्वारा ही उत्क्रमण होता है, ऐसा कोई नियामक विशेष के नहीं होने से प्रकारान्तर से भी गमन संभवित है इति पूर्वपक्षः ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं ‘रश्म्यनुसारीति, सूर्यरश्मि का अनुसरण करके ही ब्रह्मज्ञानी शरीर से ऊपर उत्क्रमण करते हैं, यही नियम करते हैं ।

धार्यते । पाक्षिकप्राप्तावेवकारो व्यर्थः स्यात् । तस्माद्रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मविदो गमनम् ॥१७॥

❧ निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य-

यावदेहभावित्वाद्दर्शयति च ४।२।१८ ❧

नन्वहनि हृदयनाडीसूर्यरश्मिसम्बन्धस्य सत्त्वादहन्येव मृतो

प्राणोजीवेन संयुक्तोभूतसूक्ष्मैस्तु युज्यते । सर्वोद्वरस्य रामस्य संमर्गोजायते ततः । तन्मार्गस्यप्रकाशोऽथहार्दरामानुकम्पया । नाड्यामूर्धन्यया चाथोत्क्रामति हृदयान्किल ॥ हृदयान्निर्गतोभक्त ऊर्ध्वं याति च रश्मिभिः । निदाधेचोऽमतासत्त्वान्निशायाश्चापि रश्मयः (९-१५) इत्यादि । तस्मात् प्रयाणकाले शरीरान्निष्क्रमणं कुर्वन्जीवः यदाकदापि गच्छति तदासूर्यकिरणसम्पृक्तोऽर्थात् सूर्यरश्मिद्वारेणैव गच्छति नतु कदाचित् प्रकारान्तरेण गच्छतीति सिद्धान्तः । तत्र दिवसे रात्रौवाभ्रियमाणस्याविशेषेणैव रश्म्यनुसारित्वं भवतीतिभावः ॥१७॥

ननु पूर्वोक्तत्रे सूर्यरश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मविदामुत्क्रमणं भवतीति प्रतिपादितम् । तत्रेदं जिज्ञास्यते, यद्येवं तर्हि दिवसे मृत एव ब्रह्मवित् सूर्यलोकं यास्यति, यतस्तत्रैव रश्म्यनुसारी हा ऊर्ध्वगमन होता है, इस बात का निर्णय किस तरह करते हैं ? इस बात का 'एतैरेवरश्मिभिः' इस श्रुति घटक अवधारणार्थक एवकार से निर्णय किया जाता है । यदि एक पक्ष में प्रकारान्तर से भी उत्क्रमण हो तथा एक पक्ष में रश्मि से भी उत्क्रमण हो, तब तो निर्धारणार्थक एवकार का प्रयोग ही निरर्थक हो जायगा । अथवा एवकार को अप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा जो कि प्रामाणिक नहीं है । तस्मात् रश्मि के अनुसरण करके ही ब्रह्मज्ञानियों का ऊर्ध्व उत्क्रमण=गमन होता है ऐसा सिद्ध हुआ जो कि सर्व सम्प्रदायानुमत है । विशेष विचार अन्यत्र देखना चाहिये । इत्यत्र संक्षेपः ॥१७॥

सुषुम्नानाडी द्वारा शरीर से उत्क्रमण करके ब्रह्मज्ञानी सूर्यरश्मि के द्वारा ऊपर को जाते हैं 'अथैतैरेवरश्मिभिः' इत्यादि । श्रुति में प्रतिपादन किया गया है । अब इस विषय पर यह विचार किया जाता है कि रात में यदि ब्रह्मज्ञानी का मरण हो जाय तब उस ब्रह्म-

रश्म्यनुसारी सूर्यमप्राप्योर्ध्वं गच्छति रात्रौ तु तत्सम्बन्धस्यासत्त्वान्न रश्म्य-
नुसारित्वमुपपद्यते । कुतस्तर्हि तदूर्ध्वगमनमिति चेन्न, नाडीरश्मि-
सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् रात्रावपि रश्म्यनुसारित्वेनादित्यंप्राप्य

शिरासूर्यरश्मिसम्बन्धस्य सद्भावात् । रात्रौ तु सूर्यस्याभावेन तदीयरश्मिनाड्योः
सम्बन्धस्याभावात्, निशिपरेतस्य ब्रह्मविदआदित्यमण्डलप्राप्तिर्न भविष्यति । अत एव
रात्रिमरणस्यान्यत्र निन्दाकृता, प्रशंसितं च दिवामरणमित्याशङ्क्य नाडीरश्मिसम्बन्धस्य
यावद्देहभावित्वं स्वीकृत्य रात्रावपि नाडीरश्मिसम्बन्धस्य सद्भावं प्रदर्श्य रात्रावपि
मृतस्य तत्त्वज्ञानिनः सूर्यमण्डलप्राप्तिर्भवत्येवेत्यादिकंपूर्वोत्तरपक्षाभ्यां विचार्यसिद्धान्तं
दर्शयितुमुपक्रमते नन्वहनिहृदयनाडीत्यादि सूर्यरश्म्यनुसारी भवतीति यत् कथितम्, तत् दिवसे
ज्ञानी को ब्रह्मको प्राप्ति होती है, अथवा ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती है । यद्यपि रात में भी सूर्य
रश्मि का संभव होने से रश्मि के अनुसार गति रात में भी हो सकती है, तथापि 'दिवाच
शुक्ल पक्षश्च उत्तरायणमेव च । सुमूर्ध्नां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्' [मरनेवालों के लिये
दिन शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण ये सब प्रशस्त हैं और इसके विपरीत रात कृष्णपक्ष और दक्षि
णायन ये सब निन्दित हैं,] इत्यादि शास्त्र में निशा मरण की निन्दा होने से परमार्थ लक्षण
ब्रह्म प्राप्ति रात में मृत व्यक्ति को संभवित नहीं होती है । शास्त्र में निशा मरण की निन्दा
है तथा दिवामरण की प्रशंसा की गई है । इन दोनों में जो निन्दा तथा प्रशंसा है, वह तो
अवमगति तथा उत्तमगति कारण तथैव हो सकता है । अतः रात में रश्मि के नहीं होने से
रात में मृत ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष प्राप्ति होने की संभावना नहीं है । इत्यादि
पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'ननु—अहनिहृदयनाडीत्यादि'

प्रश्न—हृदयनाडी तथा सूर्यरश्मि का सम्बन्ध तो दिन में ही संभवित है, क्योंकि सूर्य तो दिन
में ही होते हैं, रात में सूर्य नहीं रहते हैं किन्तु रात में सूर्य तथा सूर्य किरण तो नहीं
रहती हैं । [ऐसा सूर्य ने स्वयमेव कहा है 'प्रेरितः कालचक्रेण निशि संस्थातु मक्षमः' (काल
चक्र से सर्वथा प्रेरित होने से मैं रात को नहीं रहता हूं,)] इससे सिद्ध होता है कि रात में
सूर्य का अवस्थान नहीं रहता है । और जब रात को सूर्य का अवस्थान नहीं होता है
तब सूर्य व्याप्त जो सूर्य का किरण उसका संस्थान तो सर्वथा असंभवित है । इसलिये
दिन में मृत ब्रह्मज्ञानी ही सूर्यरश्मि का अनुसरण करके सूर्य को प्राप्त करता है, और
सूर्य को प्राप्त करके ही ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है । परन्तु रात में तो न सूर्य है

तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्त्युपपत्तेः । दर्शयति च नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वंश्रुतिः—

एवतयोः सम्बन्धसत्त्वेन दिवामृत एव ब्रह्मज्ञानीरश्म्यनुसारीसंभवेत्, रात्रौ मृतस्य तदयोगान्नरश्म्यनुसारित्वं नवा तद्द्वारोर्ध्वगमनमिति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरपक्षस्तु नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् रात्रौमृतस्यापिरश्मिद्वारागमनंभवत्येवेति । श्रुतिरप्येवमेव दर्शयति अमुष्मादादित्यादित्यादि अस्मादादित्यात् विस्तारिताभवन्तिरश्मयस्तेनाडीषु सम्बद्धाभवन्ति, नाडीभ्यः विस्तार्यमाणाश्च ते रश्मयः अमुष्मिन्नादित्ये सप्ताभवन्ति सम्बद्धाभवन्तीत्यर्थः ।

नवा सूर्य का रश्मि है तब रश्मि द्वारा रात्रि मृत ब्रह्मज्ञानी का ऊर्ध्वगमन अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती है, नवा ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष की ही संभावना हो सकती है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।

इसप्रकार के पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिये कहते हैं 'निशिनेति चेन्न' रात्रि में सूर्य प्रकाश का अभाव होने से रात्रि में मृत ब्रह्मज्ञानी को रश्म्यनुसारित्व नहीं हो सकता है, तब रश्म्यनुसारीत्व नहीं होने से सूर्यमण्डल की प्राप्ति करके ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष की संभावना दूर गई, प्रत्युत यथाकर्म स्थावरान्त अधोगति प्राप्ति की आपत्ति आती है, क्योंकि अधोगति प्रापक रात्रि मरण का शास्त्र में निन्दा का कथन किया गया है । ऐसा नहीं कहना । क्योंकि हृदय नाडी तथा सूर्यरश्मि का सम्बन्ध यावद्देहभावी होता है । अर्थात् जब तक शरीर है तावत् पर्यन्त हृदयनाडी तथा सूर्यरश्मि का सम्बन्ध रहता ही है । इसलिये रात में मृत ब्रह्मज्ञानी को रश्म्यनुसारित्व होकर के आदित्यमण्डल की प्राप्ति होनी है तथा आदित्य द्वारा ब्रह्म प्राप्ति भी होती है । (मोक्ष में परंपरया प्रयोजक जो नाडी रश्मि का सम्बन्ध है, उसका यदि रात में संभव नहीं होता है तब कदाचित् रात्रिमृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष नहीं होता, प्रत्युत निन्दित रात्रि मरण से अधोगति की संभावना होती परन्तु ऐसा तो है नहीं किन्तु शिरा किरण संयोग तो दिन के समान रात में भी रहता ही है, क्योंकि शिराकिरण संयोग यावत् देहभावी है, इसलिये यथाश्रुत पूर्वपक्ष का प्रकृत में अवसर प्राप्त नहीं होता है ।)

नाडी तथा सूर्यरश्मि का सम्बन्ध यावद्देहभावी है, इस बात को श्रुति स्वयमेव प्रतिपादन करती है 'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते' (प्रत्यक्ष परिदृश्यमान सूर्यमण्डल से जो किरण विस्तारित

‘अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो
नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः [छा० ८।६।२] इति ।

ननु रात्रौ मृतस्य रश्मिसम्बन्धो भवेत्तदा, एतत्कथनं सम्भवेन्नतु एवं संभवति
रात्रौ रश्मिनामनुपलभ्यमानत्वात् प्रत्यक्षादिप्रमाणविरुद्धस्य सूर्यकिरणस्य श्रुत्याप्रतिपादने
श्रुतेर्वाधितार्थकत्वमापद्येत इत्याशङ्कते ननु रात्रौ रश्मयएव न भवन्तीत्यादि उत्तरमाह निदाघादौ
रात्रावपीत्यादि ज्येष्ठमासीयरात्रौ निशिषमोपलब्धिर्भवत्येव तस्मादात्रावपिकिरणसद्भावो
भवति ‘निदाघे चोष्मतासत्त्वान्निशायाञ्चापि रश्मयः’ इत्याचार्योक्तेः यद्यपि हैमन्तिक
रात्रौ नोपलभ्यते रश्मिसम्पर्कस्तथापि तदनुमत एव सः । अनुपलब्धिस्तु तदातेषां हिमस-
होता है, वे सब किरण समुदाय हृदयनाडीयों से सम्बद्ध होते हैं और जो जो किरण इन
नाडीयों से विस्तार्यमाण होते हैं वे सबके सब आदित्य मण्डल में सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं ।
इसतरह नाडी तथा रश्मि का सम्बन्ध सार्वदिक है रात्रि दिन में समान रूप से ही रहता है ।
इसलिये रात्रि मृत भी ब्रह्मज्ञानी का किरण द्वारा आदित्यमण्डल गमन पूर्णक ब्रह्मप्राप्ति होती है ।
ननु रात्रि मरण के अपराध मात्र से अधोगति की संभावना है ।)

प्रश्न—अगर कहो कि रात में तो सूर्य का किरण उपलब्ध ही नहीं होती है, तब
किरणानुसारी ब्रह्मज्ञानी का गमन होता है, यह किस तरह कहते हैं ! (क्या घट के अभाव
रहने से घट द्वारा जलाहरणादि कार्य कभी भी होते हुए देखा गया है, सुना गया है, अथवा
युक्ति से उपपन्न होता है । क्योंकि कार्य काल नियत पूर्ववर्ती पदार्थ ही कारण होता है,
तो इसीतरह रात में तो किरण है ही नहीं, तब अब अविद्यमान किरण के द्वारा रात्रि मृत
ब्रह्मज्ञानी का गमन किस प्रकार से होगा ! यह प्रश्न का आशय है । उत्तर—‘निदाघादादि-
त्यादि’ निदाघ—गरमी के रात में गरमी का अनुभव होता है, इसलिये निदाघ कालिक रात्रि
में सूर्यरश्मि का सद्भाव सिद्ध होता है । अर्थात् रात में भी सूर्यकी किरण रहती ही है ।
अतः नाडी तथा सूर्यकिरण सम्पर्क सार्वदिक है, ननु दिन में रहता है, रात को नहीं रहता
है । किन्तु रात में भी किरण रहती है यह सिद्ध होता है ।

यदि रात्रि में भी किरण रहती है तब हैमन्त—शिशिर की हिमाच्छन्न रात्रि में सूर्य
रश्मि की उपलब्धि क्यों नहीं होती है ? इस प्रश्न के समाधान करने के लिये भाष्यकार
कहते हैं ‘वचिच्च शैत्याभिभवेत्यादि’ शिशिर हैमन्तिक रात्रि में हिमगन शीतस्पर्श से सूर्य
किरण को अभिभूत हो जाने के कारण से अनुपलब्धि होती है, किन्तु रश्मि के अभाव प्रयु-

ननु रात्रौश्मय एव न भवन्ति कुतस्तदनुसारेण गमनमिति चेन्न, निदाघादौ रात्रावप्यूपलोपलम्भाद्रश्मिः सद्भावस्तदानीमप्यस्त्येव । क्वचिच्च शैत्याभिभवादुष्मणोऽनुपलम्भः । चकारः प्रमाणन्तरसंग्रहा-

न्तानेनाभिभूतत्वात् । यथादिवसे सूर्यप्रभाभिरभिभूतस्य नक्षत्रमण्डलादेरुपलब्धिर्न भवति । एतावता किं तेषां नक्षत्राणामसत्त्वं भवति । नहि प्रत्यक्षप्रमाणनिवृत्तिमात्रादस्मृतामभावो भवति । अतिदूरादौ स्थितस्यापि गमने उड्डयनं कुर्वतः खगादेरभावो न निश्चीयते, नवाऽहनि सूर्यप्रभाभिरभिभूतस्य ग्रहतारकस्य प्रत्यक्षाभावेन तदभावो भवति । तथैव क्त अनुपलब्धि नहीं है । वर्तमान पदार्थ का भी अनुपलम्भ होता है ? यदि अत्यन्त दूर में पदार्थ हों तो उसके रहते भी उसका प्रात्यक्षिक ज्ञान नहीं होता है, जिसतरह आकाश में उड़ता हुआ भी पक्षी अत्यन्त दूर हो जाने से नहीं देखने में आता है । २=एवं अति समीप होने पर पदार्थ प्रत्यक्षोपलब्ध नहीं होता है, जिसतरह आँख में लगा हुआ जो कज्जल वह आँख से देखने में नहीं आता है । इन दोनों स्थान में पदार्थ नहीं है, इसलिये अप्रत्यक्ष होता है, ऐसा नहीं है किन्तु वर्तमान रहने पर भी अति दूरत्व तथा अति समीप्य के कारण अनुपलब्ध होता है । एतावता प्रत्यक्ष मात्र की निवृत्ति से वस्तु का असद्भाव नहीं होता है ३=तथा आँख के नष्ट हो जाने से रूप का ज्ञान नहीं होता है, तो यहाँ इन्द्रियाभाव प्रयोज्य रूपाभाव होता है नतु रूपाभाव प्रयोज्य रूपानुपलब्धि होनी है । ४=तथा मन के अस्त व्यस्तता भी पदार्थानुपलब्धि में कारण होता है । ५=तथा पदार्थों की सूक्ष्मता भी अनुपलब्धि में कारण है । जिसतरह मनोऽवधान पूर्वक चक्षुः संयोग रहने पर भी परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता है । एतावता परमाणु का अभाव सिद्ध नहीं होता है । ६=अभिभव भी पदार्थ के=अनुपलब्धि में कारण होता है, जिसतरह सूर्य के तेज से अभिभूत ग्रह नक्षत्र मण्डल आकाश में रहते हुए भी दिन में उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, परन्तु कदाचित् खग्रास सूर्य ग्रहण होने पर दिन में भी ग्रह नक्षत्रादिक दृष्ट होते हैं । अतः सूर्य तेज से अभिभूत होने के कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः अभिभव भी अनुपलब्धि में कारण है । ७=व्यवधान भी अनुपलब्धि में कारण है, जिसतरह दिवार के उस तरफ में रहनेवाली राजदारा को इस तरफ से नहीं देख सकते हैं, क्योंकि दिवार का व्यवधान है । ८=तथा समानाभिहार=सजातीय संवन से भी पदार्थ का यथावत् ग्रहण नहीं होता है । जिसतरह मूंग की ढेर में यदि अपना पाव सेर मूंग को रख दिया जाय तो, उस मूंग का पार्थक्य रूप से ज्ञान

र्थकः । तस्माद्रात्रावपि मृतो ब्रह्मविदश्म्यनुसारेणादित्यमुपसङ्गम्य
ब्रह्मप्राप्नोतीति ॥१८॥

इति श्रीआनन्दभाष्येरश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥९॥

शिशिरादिरात्रौ हिमान्वादभिभूतस्य किरणस्याभावो निश्चेतुं शक्यः । तस्मात् निशिमृतो-
पि ब्रह्मज्ञानीरश्मिसम्बन्धेन संबद्ध एवोत्क्रामतीति संक्षेपः ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे रश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥९॥

नहीं होता है । यथावा जल राशि में एक लोटा जल को मिला दिया जायतो उन दोनों
जल का पृथक् रूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसतरह समानाभिहार भी अनुपलब्धि में कारण
बनता है । ९—तथा अनुह्रव भी अनुपलब्धि में कारण होता है, जिस तरह दुग्धवस्था में
दही का ज्ञान नहीं होता है । इन कारणों से विद्यमान पदार्थों का भी ग्रहण नहीं होता है,
न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थ को न देखें एतावता उस पदार्थ का असद्भाव होता है ।
प्रकृत में जो हैमन्तिक रात्रि में सूर्य के किरण उपलब्धन नहीं होता है, उसमें अभिभव कारण
है, अर्थात् हिमनिष्ठ शीतस्पर्श से शीत कालिक रात्रि में सूर्यकी किरण अभिभूत रहती है,
इसलिये सूर्य किरण प्रत्यक्ष नहीं होती है । परन्तु सर्वथा उस रश्मि का अभाव उस समय
में नहीं रहता है, अपितु प्रमाणान्तर से उसका सद्भाव तो है ही है । अतः रात्रि में मृत
ब्रह्मज्ञानी रश्म्यनुसारी होकर के सूर्य मण्डल को प्राप्त करता है, तदनन्तर ब्रह्मको प्राप्त करता
है । ननु रात्रि मरण मात्र अपराध से अघोरात होता है । सूत्र में जो च शब्द है वह प्रमा-
णान्तर का संप्राप्तक है । केवल श्रुति प्रमाण से ही रात में रश्मि का सद्भाव सिद्ध होता
है यों नहीं किन्तु अनुमानादि प्रमाणों से भी यह सिद्ध होता है । विशेष विवरण अन्यत्र देखिये ।

इससे यह सिद्ध होता है कि रात्रि में भी मृतज्ञानी रश्म्यनुसारी होकर के आदित्य को
प्राप्त करके तदनन्तर ब्रह्म प्राप्त करते हैं ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे रश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥९॥



अथ दक्षिणायनाधिकरणम् ॥१०॥

ॐ अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ४।२।१९ ॐ

दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिरस्ति न वेति संदेहः । न ब्रह्मप्राप्तिः । कुतः ? 'अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमस्सायुज्यं गच्छति' [तौ० ना० ५।११] एवं चन्द्रमस्सायुज्यमुपगतानां 'तस्मिन्त्यावत्सम्पातमुपित्वा शैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते' [छा० ५।१०।५] इति पुनर्निवर्त्तनश्रवणात् । अत एव ब्रह्मोपासनवतां भीष्मादीनामुत्तरायणकालस्य प्रतीक्षापीतिहासग्रन्थेषूपप-

ननु मरणकालस्यानियमात् यदि कदाचित् ब्रह्मज्ञानी दक्षिणायने मृतो भवेत्तदा तस्य ब्रह्मप्राप्तिः संभवति, न वा ? यतो दक्षिणायनमरणस्याधोगतिप्रापकत्वस्य शास्त्रे श्रवणादित्याशंकां निराकृत्य दक्षिणायनेपि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्भवत्येवेति समाधानाय सूत्रं व्याख्यानाय चोपक्रमते दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मविद इत्यादि ।

दक्षिणायने मृतो विद्वान् ब्रह्मप्राप्नोति न वेति संशयः । तत्र तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षप्रापकत्वावधारणेन विदुषां मोक्षप्राप्तिर्भवत्येवेत्यभिप्रायेण, तस्य मोक्षो भवतीत्याकारकविधिकोटिः । 'दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च । मुमूर्क्षूणां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्' इत्यादि शास्त्रेण दक्षिणायनमरणस्य

रात में मृत ब्रह्मज्ञानी को सूर्य किरण के साथ सम्पर्क नहीं है अतः रात्रि मृत ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म प्राप्ति होती, अथवा नहीं होती है ? इस विषय पर विचार करके शिरा रश्मि का सम्पर्क यावद्देहभावी है, इस बात को बतला करके जिस तरह रात्रि मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष होता है, यह निर्णय किया है, उसी तरह दक्षिणायन मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष होता है अथवा नहीं होता है, इस बात पर चर्चा करके सिद्धान्त बतलाने के लिये दक्षिणायनाधिकरण का उत्थान के लिये उपक्रम करते हैं, 'दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मविद' इत्यादि । दक्षिणायन में मृत जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है, ऐसा संयय होता है । [संशय का उपस्थापक विरुद्ध कोटि द्वयोपस्थिति होती है, तो प्रकृत में यदि दक्षिणायन मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष होता है, ऐसा माना जाय तब 'दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च' इत्यादि वचन का विरोध होता है । यदि कदाचित् ब्रह्मज्ञानी को दक्षिणायन में मरण प्रयुक्त

द्यते । अतो न ब्रह्मप्राप्तिरिति प्राप्तेऽभिधीयते - अतश्चायनेऽपि दक्षिण इति । अतः सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादेव दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मविदोऽस्त्येव ब्रह्मप्राप्तिः पितृयाणमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तानामविदुषामेव पुनर्निवर्तनम् न तु ब्रह्मविदः । कुतः ? 'तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' [तौ०न० ५२] इति तत्रैव वाक्यशेषात् । प्रक्षीणकर्मबन्धस्य ब्रह्मविदस्त्वर्चिरादिमार्गेण गतिमभिधाय 'तत्पुनिन्दावचनदर्शनेन न विदुषां दक्षिणायने मृतानां ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति निषेधकोटिः । तदिह कोटिद्वयोपस्थापकस्य दर्शनात्संशयोभवतीति । तत्र दक्षिणायनेमृतानां विदुषां मोक्षप्राप्तिर्भवतीति । यतः यो दक्षिणे प्रमीयते इत्यादिश्रुत्या दक्षिणायने मृतस्य चन्द्रप्राप्तिं दर्शयित्वा, तत्र यावत्सम्पातं फलमुपभुज्य पुनस्ततः संसारे एवागमनान्न तत्र मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरिति पूर्वपक्षाशयः ।

एतादृशपूर्वपक्षं निराकरणार्थमाह अतश्चायनेपीत्यादि सूत्रम् । अतः सूर्यरश्मि सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादेव दक्षिणायनकाले मृतानामपि विदुषां ब्रह्मप्राप्तेर्निश्चितत्वादिति । यद्यपि दक्षिणायने मृतस्य पितृयाणमार्गेण चन्द्रमण्डले गमनं पुनश्चततः प्रत्या-अपराध से मोक्ष नहीं होता है, इस बात को न स्वीकार किया जाय तब 'तरतिशोकमात्मवित्' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों का वाच्य होगा । अतः संशय होता है कि दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष होता है अथवा नहीं होता है ।

इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष नहीं होता है । क्योंकि 'अथ यो दक्षिणे प्रमीयते' इत्यादि [जो उपासक दक्षिणायन में शरीर को छोड़ता है, वह पितृयाण मार्ग से जा करके चन्द्रमा के सायुज्य को प्राप्त करता है ।] इस तरह चन्द्रमा सायुज्य को प्राप्त उपासक को, 'तस्मिन् यावन् सम्पातम्' (उस चन्द्रलोक में फल दायक कर्म जब तक रहता है, तावत्पर्यन्त भोग करके पुनः जिस मार्ग से चन्द्रलोक में गया था, उसी मार्ग के द्वारा पुनः निवृत्त होता है- अर्थात् चन्द्रलोक में फल भोग करके पुनः इस लोक में आजाता है ।] इस प्रकार से दक्षिणायन मृत व्यक्तियों को पुनः निवृत्ति सुनने में आता है । इसलिये ब्रह्मोपासक भीष्म प्रभृतिक महानुभावों को उत्तरायण काल का प्रतीक्षण करना पड़ा, ऐसा इतिहासादि ग्रन्थों में सुना गया है । तस्मात् दक्षिणायन मृत ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती है ।

रूपोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] इति ब्रह्म प्राप्तिः श्रूयते । दक्षिणायने तस्यमृतस्य तु चन्द्रलोकावाप्तिः विश्रमार्थमेवेति बहुश्रुतिप्रमाणानुरोधोद्योग्यम् । भीष्मादिमहात्मनान्तरायणकालस्य प्राशस्त्यबोधनार्थमेव तथाचार इति ॥१९॥

वर्तनं भवतीति निश्चितम्, तथापि पितृयाणगतानामविदुषामेवचन्द्रप्राप्तिस्ततः पुनरावर्तनमपि भवति, नतु विदुषाम् । विदुषां तु निवृत्तिश्चन्द्रमण्डलान्नभवति, तस्माद्ब्रह्मणोमहिमानमाप्नोतीति वाक्यशेषात् निश्चीयते । किञ्च ब्रह्मविदस्तु अर्चिरादिमार्गेण गमनं भवतीतिप्रतिपाद्य स एनान्ब्रह्मगमयतीत्यादिना ब्रह्मप्राप्तिमेव प्रदर्शितमिति । तस्मात् दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मविदोविद्यातोपितभगवत्कृपावलान्मोक्षोभवत्येवेति सिद्धान्तः । यद्यपि भीष्मादिमहापुरुषाणामुत्तरकालप्रतीक्षणं श्रूयते तथापि प्रशंसा मात्रमेव तत् । तथा पितृवरलब्धस्वेच्छासृष्ट्युत्पापनायैव उत्तरायणादिप्रतीक्षणमिति संक्षेपः ॥१९॥

इसप्रकार के पूर्वापक्ष के उत्तर में कहते हैं 'अतश्चायनेपि दक्षिणे' इति । अतः नाडी तथा सूर्यकिरण का जो सम्बन्ध है उसको यावदेद्विभाती होने से दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी का भी ब्रह्म प्राप्ति लक्षण अमृतत्व की प्राप्ति होती ही है । पितृयाण मार्ग से चन्द्रमण्डल में जो अब्रह्मज्ञानी जाते हैं उन्हीं को फलोपभोग के बाद में चन्द्रमण्डल से पुनः निवृत्ति होती है, किन्तु जो ब्रह्मज्ञानी पितृयाण से भी चन्द्रलोक में जाते हैं, उनकी पुनः निवृत्ति चन्द्रमण्डल से नहीं होती है । क्योंकि 'तस्माद्ब्रह्मण' [उस चन्द्रमण्डल से ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करते हैं,] इसप्रकार का वाक्यशेष है । विनष्ट है सर्वकर्म बन्धन जिसके एतादृश जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनका अर्चिरादि मार्ग से चन्द्रमण्डल में गमन होता है, ऐसा कह करके 'तत्पुरुषोऽमानवः' [वहाँ एक अमानव एक पुरुष आते हैं जो इस ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं] इसप्रकार से ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया है । दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को जो चन्द्रमण्डल में गमन होता है, ऐसा कथन है वह केवल वहाँ विश्राम करने के लिये है, नतु पुनः निवृत्ति होती है, एतादृशार्थ कल्पन अनेक श्रुति प्रमाणों से किया जाता है । भीष्मादि महानुभावों को जो उत्तरायण काल की प्रतीक्षा करने का वचन है वह उत्तरायण काल के प्रशंसा सूचक है । अथवा भीष्म को स्वेच्छा मरण का ज्ञापक है । परन्तु उत्तरायण मृत को ही मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु दक्षिणायन मृत को ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती है, इस बात का ज्ञापक नहीं है । इति संक्षेपः ॥१९॥

योगिनः प्रतिस्मर्येते स्मार्ते चैते ४।२।२०

ननु स्मृतिषु 'यत्र कालेत्वंनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भर्तृपुत्रम्' [गी० ८।२३] 'अग्नि-ज्योतिरहः शुक्लः पणमासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः' [गी० ८।२४] इत्यादिना कथमुत्तरायणकालस्यैवा-नावृत्तौ हेतुताभिहितेत्यत्राह—'योगिनः प्रति' इत्यादिसूत्रम् ।

ननु दाक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मविदोऽर्चिरादि मार्गेण चन्द्रमण्डलगतस्यापि ब्रह्म प्राप्तिमेव प्रदर्शितवान् न तु पुनरावृत्तिं तत्कथं संगच्छते । यत आवृत्तयेऽनावृत्तये च कालविशेषस्य विधिः प्रतिपादित इत्युभयोः सामंजस्य कथमिवस्यादित्याशङ्काया अपनोदाय सूत्रमिदमुपस्थापयति योगिनः प्रतीत्यादि अयंभावः नात्र प्रवसन्तं प्रतिकाल विशेषस्योपादानं किन्तु योगिनः प्रति । अर्थात् योगनिष्ठान् प्रतिस्मरणविषयीभूतं देवयानपितृयाननामकं मार्गद्वयमेव योगाङ्गतया प्रतिदिनं स्मरणाय प्रतिपादितं भव-तीति । यत उपसंहारे नैतेऽसृतीपार्थं जानन् योगी मुह्यतीति दर्शनात्मार्गद्वयस्यैवाभि-धानम् । यत्रकालेत्वंनावृत्तिमावृत्तिंचैव योगिन इत्यादौकालशब्दो न कालवाचकः किन्तु

प्रश्न=स्मृति में 'यत्रकालौ' (शरीर से उत्क्रमण करनेवाले योगी लोग जिसकाल में जाने से पुनरावृत्ति को प्राप्त करते हैं, तथा जिस काल में उत्क्रमण करने पर अपुनरावृत्ति को प्राप्त करते हैं, हे अर्जुन ! तादृश काल का कथन मैं तुमको करता हूँ । 'अग्निज्योतिरित्यादि' (अग्निज्योति दिन शुक्लपक्ष और पट्मासात्मक उत्तरायण काल, इसमें जानेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म प्राप्त करते हैं) इत्यादि प्रकरण से गीता में उत्तरायण काल को ही अनावृत्ति में कारण रूप से कथन किया गया है । तब दाक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को आप किस तरह से कहते हैं कि मोक्षको प्राप्त करते हैं ! इस प्रश्न के निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'यो-गिनः प्रतीत्यादि सूत्रम् । 'तेर्चिषमभिसंभवन्तीत्यादि' (वे अर्चिष को प्राप्त करते हैं, अर्चिष से दिन को 'दिन से आपूर्यमाण पक्षमें) इसक्रम से छान्दोग्य श्रुति में क्रम पूर्वक अर्चिषादि शुक्लपक्ष प्रभृति का कथन किया गया है । परन्तु एक में ये सब एक काल में युगपद् तो हो नहीं सकता है, इसलिये अग्नि प्रभृतिक का अर्थ काल तो नहीं हो सकता है । किन्तु

अथ 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह आर्पूर्यमाणपक्षम्'
 [छा० ५।१०।१] इति क्रमेणार्चिरहशुक्लपक्षादिप्राप्तेः श्रवणात् ।
 न ह्येकस्य एतद्योगपद्येन सम्भवत्यतोऽग्न्यादेः कालपत्त्वानुपपत्तेः
 कालशब्दस्य कालाभिमानिन्यामातिवाहिकदेवतायां लक्षणा । 'स-
 न्दिग्धन्तु वाक्यशेषा' दिति न्यायेनोपक्रमेसंदिग्धार्थकस्य काल-
 शब्दस्य 'शुक्लकृष्णे गतो ह्येते, नैते स्मृतीं पार्थ ? जानन्योगी मुह्यति
 कश्चन' [गी० ८] इत्युपसंहारश्रुत 'स्मृती' पदानुसारेण नेतव्यत्वात्
 लक्षणया कालाभिमानिदेवविशेषबोधक एव । अतो मुमूर्षुन् प्रतिकालविशेषप्रतिपादनं
 न भवति । अग्न्यादिपदानां कालवाचकत्वाभावान् । अतो न स्मृतिविरोधशङ्का-
 वसरः । इत्यादिकं सर्वमावेदयितुं संक्षेपविस्तराभ्यां भाष्यकार उपक्रमते ननु स्मृतिषु
 यत्र कालेत्वनावृत्तिमित्यादि ।

यत्र यस्मिन् कालविशेषे प्रवर्तन्तो योगिनः अनावृत्तिं प्राप्नुवन्ति यत्र च गच्छ-
 न्त आवर्तनं प्राप्नुवन्ति तादृशकालविशेषभ्रद्धानाय तेऽहं कथयामीति प्रथमश्लोकार्थः ।
 तत्राग्निज्योतिस्तथा उत्तरायणकालविशेषे गता योगिनोऽनावृत्तिं प्राप्नुवन्तिः कृष्णा-
 दौगतानां तु गमनमावृत्तं भवति इत्यर्थः । तथाचोभयोः कालयोरुत्तरायणस्यैव काल-
 स्यानावृत्तयेकारणत्वप्रतिपादितम् ननु दक्षिणायनस्येति पूर्वपक्षग्रन्थस्याभिप्रायः । मि-
 काल शब्द लक्षणावृत्ति से कालाभिमानि देवता परक है । क्योंकि नियम है कि 'संदिग्ध अर्थ
 का निश्चय वाक्यशेष से किया जाता है । अतः उपक्रम में=प्रारम्भ में संदिग्धार्थक जो काल
 शब्द है, उसका 'शुक्ल कृष्णः' ये गति है, हे पार्थ ? इन दोनों गति को जाननेवाला योगी
 कभी भी मोह को प्राप्त नहीं करता है । इस उपसंहार वाक्य में श्रुत जो 'स्मृती' यह पद
 है उसके अनुसार ही काल पद के अर्थ का निश्चय करना चाहिये । ये दोनों शुक्लकृष्ण
 गति जो कि स्मृति के विषय है, इनको योग के अंग होने के कारण प्रतिदिन योगियों को
 स्मरण करने के लिये गीताचार्य ने कहा है 'नैते स्मृती' (हे पार्थ ? इन दोनों मार्ग को
 जाननेवाला योगी अनावर्तन तथा आवर्तन के विषय में कभी भी मुग्ध नहीं होता है, इसलिये
 तुम भी सर्वदा योगयुक्त बनो इति) तस्मात् इससे यह सिद्ध होता है कि मुमूर्षुओं के लिये
 यहाँ कालाकाल का नियम को नहीं बतलाया है, किन्तु मार्गद्वय मात्र का प्रतिपादन किया

एते शुक्लकृष्णे गती स्मार्त्ते स्मृतिविषयभूते चिन्तितव्ये योगाङ्ग-
त्वेन प्रतिदिनंस्मरणाययोगिनः प्रतिस्मर्येते श्रीगीताचार्येण 'नैते
सृतीपार्थजानन्योगीमुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योग-
युक्तोभवार्जुन' [गो० ८] इति । तस्मान्मुमूर्षून्प्रतिनात्रकालनि-
यमनमिति ॥२०॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरिकमीमांसाया आनन्दभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

द्धान्तस्तु योगिनः प्रतीत्यादि अन्यत्र तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीत्यादिना शुक्लपक्षादीनां प्राप्तिः
श्रूयते । तत्रैकस्य योगवद्येनोभाभ्यां न संभवति गमनमिति प्रकृते नकालस्यवाचकः
कालशब्दः किन्तु लक्षणावृत्त्या तदभिमानादेवपरक एव । उपक्रमे सन्दिग्धस्योपसंहा-
रेणैव विनिश्चयो भवतीति नियमेन । यद्यपि उपक्रमे कालः श्रुतस्तथापि उपसंहारान्मार्ग-
परक इति । अवशिष्टमन्यत् स्पष्टमिति संक्षेपः ॥२०॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥१०॥

इयानन्दभाष्यकारजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्ये जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्ये श्रीराम-

प्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रप्रणीते श्रीआनन्दभाष्यप्रदीपे चतुर्थाध्यायस्यद्वितीयपादः ॥२॥

गया है । अतः पूर्वापर सन्दर्भ में कोई भी विरोध नहीं है । इस विषय में विशेष चर्चा मेरे
परम गुरुदेव महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यजी कृत गीतार्थ
चन्द्रिका के ८।२३ श्लोक में किया हूँ अतः वहीं देखें इति संक्षेपः ॥२०॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥१०॥

इयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्ये

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्ये श्रीरामप्रपन्नाचार्ये योगीन्द्रपट्टशिष्ये

आनन्दभाष्यसिंहासनासीनजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्ये श्रीरामेश्वरानन्दाचार्ये प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीय पादः ॥२॥

ॐ श्रीरामः शरणं मम ॐ



श्रीमद्रामानन्दाचार्यप्रणीतशार्ङ्गरिकमीमांसाया आनन्दभाष्ये

॥ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथार्चिगविकरणम् ॥१॥

॥ अर्चिरादिना तत्प्रथितः ४।३।१ ॥

एवमतीतेन ग्रन्थेन ब्रह्मविद उत्क्रान्तिर्गमिहिता । इदानीमा
ब्रह्मप्राप्तेस्तस्याध्वा विचार्यते । तत्रानेकधा श्रुतिषु सोऽध्वा समा-

एतावता गतप्रकरणेन ब्रह्मज्ञानिनः शरीरादुत्क्रमणप्रकारः प्रदर्शितः । गमनं
च मार्गसाध्यम् । अमार्गस्य तदनुपपत्तेरिति ब्रह्मप्राप्तिर्यन्तमार्गस्य विचारणां कर्तु-
मुपक्रमते एवमतीतेन ग्रन्थेन ब्रह्मविद इत्यादि । गतप्रकरणेन ब्रह्मोपासकस्योत्क्रमण
प्रकारो निरूपित इत्यर्थः । अतः परं ब्रह्मप्राप्तौ मार्गविचारः कियते मार्गमन्तरेण गम-
नागमनयोरसंभवात् । मार्गसत्येव गमनागमनयोः संभवादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां
गमनस्य मार्गसाध्यत्वस्यन्यवस्थितिरिति । तस्मादतः परं मार्गविचारोऽतीवावश्यक
इति । सौयमार्गः तत्तच्छ्रुतिषु विभिन्नप्रकारेण प्रदर्शितः । तस्मात् मार्गविषयेऽ-
संदिग्धप्रतिपत्तये तदीयविचारः अत्यावश्यक इति तदीयविचारमत्र प्रस्तौति । मार्गे

चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पादान्त ग्रन्थ=प्रकरण से ब्रह्मज्ञानी का शरीर से उत्क्रमण
होता है, ऐसा कहा गया है । इसके बाद सब ब्रह्म प्राप्ति होने में जो मार्ग है उसको अधि-
कृत करके विचार किया जाता है । (क्योंकि किसी स्थल पर जो गमनागमन किया जाता है,
वही मार्ग साध्य है । मार्ग रहने से गमनागमन होता है और मार्ग नहीं रहने से गमनागमन
नहीं होता है, इसप्रकार प्रात्यक्षिक अन्वय व्यतिरेक द्वारा मार्ग तथा गमन में कार्यकारणभाव
सिद्ध होता है, तो प्रकृत में मार्ग कारण है, और गमन कार्य है, अतः सम्पादन करने के
लिए प्रथमतः कारण का निर्णय कर लेना आवश्यक है । तस्मात् प्रकृत में कारणभूत मार्ग के
विचार को आवश्यक समझ करके मार्ग विषयक विचार को प्रस्तुत करते हैं ।)

‘तत्रानेकधेयादि’ श्रुति में अनेक प्रकार से अध्वा=मार्ग का कथन किया गया है ।
तथाहि—छान्दोग्य श्रुति में ‘तेचिपम’ इत्यादि, (वे ब्रह्मज्ञानी शरीर से उत्क्रमण करने के बाद

म्नायते । यथा छान्दोग्ये—‘तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः’ [छा० ५।१०।१] इत्यर्चिरादिक एकः । पुनस्तत्रैवाष्टमे प्रपाठके ‘अथैतैरेव रश्मिभिर्ध्वमाक्रमते’ [जा० ८।६।५] इति भिन्न एव । ‘यदा वै पुरुषोऽस्माच्छोकात्प्रैति स वायुमागच्छति’ [बृ० ५।१०।१] इति पुन-

विप्रपत्तिं दर्शयितुमाह यथा छान्दोग्ये इत्यादि । छान्दोग्यश्रुतौ तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः [ते ब्रह्मोपासकाः शरीरादुत्क्रम्यार्चिमार्गं प्राप्नोति तदनन्तरं महस्तदनन्तरमा-
पूर्यमाणपक्षं प्राप्नोतीति क्रमेणार्चिषनामकं मार्गं प्रतिपादयति तावतैकोऽर्चिमार्गः कथित इत्येकोऽर्चिमार्गः । तदनन्तरं छान्दोग्याष्टमाध्याये अथैतैरेवरश्मिभिर्ध्वमाक्रमते इत्यादिना पूर्वातिरिक्तोरश्मिलक्षणोमार्गो व्यवस्थापितः । तदनन्तरं बृहदारण्यके यदावै पुरुषोऽस्माच्छोकात्प्रैति इत्यादिना प्रकरणेन ताभ्यामतिरिक्त एव मार्गः प्रतिपादितः । एवं क्रमेणानेकश्रुतिष्वनेके मार्गाः प्रतिपादिता इति श्रुतिविप्रतिपत्तेरिह संशयो भवति । किमनेकश्रुतिषु प्रतिपादितानेकमार्गेण ब्रह्मज्ञानिनोऽनियमेन ब्रह्मलोकं गच्छन्ति अथवाऽनेकपर्वविशिष्टेनैकेनार्चिषनामकेनैव मार्गेण सर्वे गच्छन्तीति संशयः । तत्र मार्गभेद एव कुतः ? स्वतः प्रमाणभूतया श्रुत्या तथैव प्रतिपादनात् श्रुतौ क्वचित्प्रकारभेदः अर्चिष जाते हैं, अर्चिष से दिवस में जाते हैं, दिवस से आपूर्यमाण पक्ष में आपूर्यमाण पक्ष से उत्तरायण छः मास में मास से संवत्सर में, संवत्सर से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से त्रियुग में, वहाँ एक अमानव पुरुष है, जो इस ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म प्राप्त कराता है, यह देवमार्ग है, ब्रह्ममार्ग है, इस मार्ग से गये हुये व्यक्ति पुनः इस मानव आवर्त में नहीं आते हैं । इसप्रकार से अर्चिरादि रूप एक मार्ग का कथन किया गया है । तथा पुनः इसी छान्दोग्य के अष्टम अध्याय में ‘अथैतैरेवरश्मिभिर्ध्वमाक्रमते’ (इसके बाद वह उपासक इन सूर्य रश्मियों के द्वारा ऊर्ध्व आक्रान्त होता है) अथात् सूर्यरश्मियों के द्वारा ब्रह्मको प्राप्त करता है, यहाँ अर्चिष से भिन्न ही रश्मिरूप मार्ग का कथन किया गया है । एवं ‘यदा-वै पुरुषोऽस्माच्छोकात्प्रैति स वायुमागच्छति’ (जब यह उपासक पुरुष शरीर त्याग करके जाता है, तब वायु को प्राप्त करता है,) इसप्रकार से बृहदारण्यक में एक अन्य ही प्रकार मार्ग के विषय में कहा गया है । कौषीतकि ब्राह्मण में तो ‘स एतं देवयानम्’ इत्यादि, (उपासक उत्क्रमण के अनन्तर, इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्नि लोक में जाते हैं, वायुलोक से वरुण लोक में जाते हैं, वरुणलोक से आदित्य=सूर्यलोक में जाते हैं, आदित्य लोक से इन्द्रलोक में

रन्यः । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं
सवरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्म-
लोकम्' [कौषी. १।३] इत्यपरः । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'
[मु. १।२।११] इति चापरः । तत्रायं विशयः समुदेति । किमेभि-
नाना श्रुतिषु प्रभिन्नरूपेण प्रतिपादितैरध्वभिरुपासकोऽनियमेन
क्वचित्प्रकरणभेद इति सर्वोपिमार्गविभिन्नरूपेणैव व्यवस्थित इति तैर्भागैरनियमेनैव
गमनं भवति नतु सर्वेषां ब्रह्मविदामेकेन केनचिन्मार्गेण गमनं किन्वनियमन एव सर्व-
ेषामुपासकानां गमनं भवतीति संक्षिप्तः पूर्वपक्षशयः ।

अमुं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाह सूत्रकारः अचिरादिनेत्यादि । ब्रह्मप्राप्तौ एक
एवाचिमार्गस्तेनाचिमार्गेण सर्वोपि विद्वान् ब्रह्मप्राप्नोति परन्वेकोपि समार्गोऽने-
कपर्वविशिष्टस्तादृशेनैकेन तेन मार्गेण सर्वेषां ब्रह्मविदांगमनं भवति नतु
जाते हैं, इन्द्रलोक से प्रजापति=कमलासन चतुर्मुख के लोक में जाते हैं, तदनन्तर वह उपासक
ब्रह्मलोक में, जो कि ज्ञेय ब्रह्म हैं, तादृश ब्रह्मलोक अर्थात् साकेत को प्राप्त करते हैं) इस
प्रकार से एक अन्य हो मार्ग का प्रतिपादन किया है । तथा 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' ।
सर्व प्रकारक मल रहित होकर के उपासक सूर्य द्वारा ब्रह्मलोक में जाते हैं) इसप्रकार से
पूर्व प्रतिपादित मार्ग से विभिन्न मार्ग से ही जाते हैं, ऐसा एक निभिन्न मार्ग का ही कथन
किया गया है ।

अब इन मार्गों के विषय में संशय होता है कि विभिन्न अनेक श्रुतियों में प्रतिपादित
अनेक मार्गों के द्वारा अनियम से ब्रह्मोपासक ब्रह्म में जाते हैं—अथवा तत्तत्स्थल में प्रतिपादित
अनेक विशेषण=पथ विशिष्ट तत्तत् स्थान में प्रतिपादित एक ही अचिरादि मार्ग से उपासक
ब्रह्मलोक में जाते हैं ! इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्रकरण=मार्गों का प्रतिपादक स्थल
भिन्न-भिन्न है तथा प्रतिपादन प्रकार भी भिन्न-भिन्न है, इसलिये, ये सब मार्ग परस्पर
विभिन्न=अनेक ही हैं अतः सभी अनियम से अनुष्ठान के भेद से विभिन्न मार्ग से ही ब्रह्म
ज्ञानी लोग ब्रह्मलोक में जाते हैं ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'अचिरादिनेत्यादि'
सूत्रम् । अनेक पर्व, अर्थात् अनेक विशेषण विशिष्ट एक ही अचिरादि मार्ग का प्रतिपादन

गच्छत्याहोस्विदनेकविशेषणविशिष्टेन तत्र तत्र प्रतिपादितेनैकेनै-
 वार्चिगादिनाध्वनेति । तत्र प्रकरणभेदात्प्रकारभेदाच्च भिन्ना एवै
 ते सर्वेऽप्यध्वान इति सर्वैरेवानियमेनोपासनाद्यनुष्ठानभेदाद्ब्रह्म-
 विद् गच्छति । तथैव प्रतिपादितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते 'अर्चिरा
 मार्गस्थानेकत्वं येन विप्रतिपत्तिः स्यात् । न च तत्तत् श्रुतौ विभिन्न विभिन्नमार्गस्य-
 श्रवणात् कथमेकत्वं मार्गस्य प्रतिज्ञायते तत्राह तत्प्रथितेः तादृशस्थानेकविशेषणविशिष्ट
 स्थानेकश्रुतौ प्रतिपादनात् । एतस्यैवैकस्यार्चिमार्गस्य क्वचित्केनचिद्विशेषणेन तदन्यत्र
 तदतिरिक्तविशेषणस्य प्रतिपादनेन विशेषणभेदाद्भेदप्रतिभासो भवति विशेष्यस्य तु
 सर्वत्रापि समानरूपेणैव प्रतिभासो भवति । यथा एक एव देवदत्तोदण्डकुण्डलादि
 विशेषणेन प्रतिपन्नः कथञ्चिद्भिन्न इव प्रतीयमानोपि न वस्तुतोभिन्नो भवति विशेष्या-
 शस्योभयत्रापि समानत्वात् । केवलदण्डकुण्डललक्षणविशेषणभेदाद् भिन्न इव प्रति-
 क्रिया गया है । इसलिये सभी ब्रह्मज्ञानियों अर्चिरादि मार्ग से ही ब्रह्मलोक में जाते हैं, नतु
 मार्ग अनेक है, जिससे कि तत्तत् ब्रह्मज्ञानियों का विभिन्न मार्ग से अनियम रूप से गमन
 होने का शंका हो । यद्यपि श्रुत्यन्तरो में मार्ग के भेद का प्रतिपादन देखने में आता है,
 तथापि उन श्रुतियों से मार्ग का भेद नहीं प्रतिपादित होता है किन्तु मार्ग के जो पर्व विशे-
 षण है, तावन्मात्र का प्रतिपादन होता है । (जिस तरह लौकिक राजमार्ग के अनेक पर्व
 अड़्डे होते हैं उसी तरह मोक्ष का राजमार्ग जो अर्चिरादि मार्ग है, उसका पर्व, वायुलोका-
 दिक है, किन्तु वे सब मार्ग नहीं हैं वे तो केवल राजमार्ग स्थानापन्न अर्चिरादि राजमार्ग के
 विशेषण पर्व हैं । इसलिये अनेक मार्ग की जो शंका है, उसका यहाँ अवसर प्राप्त नहीं है ।)
 प्रश्न=एक ही अर्चिरादि मार्ग से सब ज्ञानी जाते हैं ! इसमें क्या युक्ति है ! तो इस शंका
 के निराकरण करने के लिये कहते हैं तत्प्रथितेः 'उसी अर्चिरादि मार्ग का अनेक श्रुतियों में
 अर्चिरादिमार्ग ही ब्रह्ममार्ग रूपसे प्रसिद्धि हैं अर्थात् अनेक श्रुतियों में अर्चिरादि मार्ग ही ब्रह्ममार्ग के
 रूप से प्रसिद्ध है, नतु अनेक मार्ग प्रसिद्ध है । नहीं कहो कि प्रकरण तो सर्वत्र भिन्न-भिन्न
 है, तो प्रकरण के भेद से मार्ग का भेद होना आवश्यक है ? तो यह कहना ठीक नहीं
 है क्योंकि मार्गों का प्रतिपादन करने वाली जितनी भी श्रुतियाँ हैं, उन सबको परस्पर
 में एक वाक्यता है, अर्थात् सर्वमार्ग प्रतिपादक श्रुतियों का एक ही मार्ग के प्रतिपादन

दिनेति । अनेकविशेषणविशिष्टोऽर्चिरादिरेक एवाध्वा सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अतः सर्वेहि ब्रह्मविदोऽर्चिरादिनाऽध्वनैव गच्छन्ति । कुतः? तत्प्रथितेः । तस्यैव बहुश्रुतिषु प्रसिद्धेः । नच प्रकरणभेदान्मार्गभेदः । सर्वासां मार्गपराणां श्रुतीनामैक्यात् । प्राप्तव्यस्य ब्रह्मण एकत्वाच्च । अन्यश्रुतानां पदानामन्यत्रोपसंहारेण सर्वामामेक

भासमानोपि स्वरूपतो न भिन्नो भवति । तथैव प्रकृतेषु मार्गस्त्वर्चिरादिः स्वरूपतः सर्वत्रैकोपि प्रकरणभेदाद्विभिन्न इव प्रतिभातीति । मार्गप्रतिपादकानां सर्वश्रुतीनामेकत्वात् तथा मार्गप्राप्त्यस्य परमात्मन एकत्वादपि मार्गस्यैकत्वमेवेति । अन्यश्रुतानां पदानामित्यादि यथोपासनाप्रकरणे उपास्यस्य क्वचिदल्पीयानेव गुणः प्रतिपादितः क्वचित्तस्यैवोपास्यस्याधिकोगुणः कथितः इतितत्राल्पगुणप्रकरणे अन्यत्रोक्तानां गुणानामुपसंहारः क्रियते कृत्वा च गुणोपसंहारमुपासनानुष्ठानं भवति तथैवाल्लविशेषणकमार्गप्रतिपादनप्रकरणे तदन्यत्र प्रतिपादितपर्वविशेषणस्योपसंहारः क्रियते । नैतावता करने में तात्पर्य है । अन्यथा यदि विभिन्नार्थ प्रतिपादन करने में उनका तात्पर्य हो तब तो परस्पर विरुद्ध-विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन होने से श्रुतियों में जो स्वतः प्रामाण्य है-उसका विछोप हो जायेगा । अतः तदीय प्रामाण्य के अन्यथा अनुपपत्ति होने से सभी श्रुति एक वाक्यता को प्राप्त करके एक मार्ग का ही प्रतिपादन करते हैं, यह स्वीकार करना ही उचित है ।

और मार्ग के द्वारा प्राप्तव्य कौन है ! तो ब्रह्म हैं अर्थात् इन मार्गों के द्वारा सभी भक्त तो भगवान् श्रीसीतानाथ को ही प्राप्त करते हैं तथा उन्हें ही प्राप्त कर कृत कृत्य होते हैं तो वह प्राप्तव्य जो ब्रह्म श्रीसीतानाथ हैं वे एक ही हैं तो उस एक ब्रह्म का प्रापक एक ही अर्चिरादि मार्ग हैं । (जिस तरह लोक में भी एक व्यक्ति से मिलने को हो तो उसके घर पर आने का एक मार्ग ही होता है, किन्तु अनेक मार्ग नहीं होता है, उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये । यद्यपि लोक में तो प्राप्य के होने पर भी प्राप्ति का मार्ग अनेक होता है, जिस तरह राजा से मिलना हो तो राजमार्ग से भी जा सकते हैं-छोटी छोटी सड़क से भी जा सकते हैं और गली के मार्ग से भी जा सकते हैं-अतः प्रकृत में प्राप्तव्य को एक होने से प्राप्ति का मार्ग भी एक है, ऐसा कहना तो ठीक नहीं जंचता है । तथापि श्रुति के बल से ऐसा कहा गया है । अर्थात् श्रुतिगम्य अर्थ में श्रुतिमात्र प्रमाण

वाक्यतोपपत्त्यैकस्यैवार्चिरादिमार्गस्य प्रतिपादकत्वनिष्पत्तेः । तस्माद्
ब्रह्मप्राप्तेरेक एवार्चिरादिलक्षणोऽध्वेति सिद्धम् ॥१॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽर्चिराधिकरणम् ॥१॥

अथ वाक्यधिकरणम् ॥२॥

५ वायुमब्दादविशेषाविशेषाभ्याम् ४।३।२५

इदानीमर्चिरादिमार्गस्य विभिन्नासु श्रुतिषु यः क्रमभेद उप-
विशेषणभेदेन मार्गस्यभेदः किन्तु विशेषणमात्रभेदो भवति, विशेष्यं तु सर्वत्रप्रत्यभिज्ञाय
मानत्वात् । तस्मात् परमात्मप्राप्तावेक एवार्चिमार्गो नतु मार्गबाहुल्यमिति सिद्धम् ॥१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे अर्चिराधिकरणम् ॥१॥

इतः पूर्वप्रकरणेऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मतत्त्वविदां गमनं भवतीति प्रतिपादितम् ।

है, वहाँ इतर प्रमाण अथवा दृष्टान्तादिकों का समावेश नहीं होता है । यह मोक्ष रूप अर्थ
श्रुति मात्र प्रमाणगम्य है धर्मादिक की तरह, अतः इसमें प्रमाणान्तर का अवकाश नहीं होता
है । और श्रुति तो परस्पर एक वाक्यता को प्राप्त करके एक मार्ग को ही बतलाती है, अतः
एक ही मार्ग है मोक्ष प्राप्ति में नतु अनेक मार्ग है । अन्यत्र श्रुत पदों का अन्यत्र उपसंहार
होने से, सभी श्रुतियों में परस्पर एकता की उपपत्ति होने से, एक ही अर्चिमार्ग का प्रति-
पादकत्व श्रुतियों में निष्पन्न होता है । इसलिये ब्रह्म प्राप्ति करने के लिये एक ही अर्चि-
रादि मार्ग है, ऐसा सिद्ध होता है, नतु अनेक मार्ग मोक्ष का प्रापक है, ऐसा सिद्ध होता
है । (यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि यद्यपि अनेक श्रुतियों में मार्ग के विषय में अनेक
विप्रतिपत्ति है, तथापि तदनुसारात् अनेक मार्ग का प्रतिपादन है, ऐसा नहीं समझना । क्यों-
कि मार्ग प्रतिपादक जितने भी श्रुति हैं उनको परस्पर में एकता होने से तथा प्राप्तव्य जो
परमात्मा है उनको एक होने से उस परमात्मा का प्रापक जो मार्ग है वह एक ही है ऐसा
सूक्ष्म विचार करने से अवगत होता है । इति संक्षेपः ॥१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽर्चिराधिकरणम् ॥१॥

ब्रह्म की प्राप्ति में अनेक मार्ग हैं अथवा एक ही अर्चिरादि अनेक पर्व से युक्त

लभ्यते तस्य व्यवस्था क्रियते । तत्र छान्दोग्ये 'मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ४।१।५।५) इति श्रूयते । बृहदारण्यके 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१।५) इति पञ्चमाध्याये 'यदा वै पुरुषोऽस्मात्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इत्येवं श्रूयते । तत्र संशयः । किं वायुशब्देन देवलोकशब्देन चैकार्थस्यैव प्रतिपाद्यत्वादुचितक्रमेण ब्रह्मविदुगच्छत्याहोस्वित् संव-

तत्रार्चिरादिमार्गस्यक्रमभेदस्तत्तत्स्थाने समुपलभ्यते इति तत्र क्रमस्य व्यवस्थां कर्तुमुपक्रमते इदानीमर्चिरादिमार्गस्येत्यादि श्रुतिष्वनेकासु यः क्रमभेदः स तथैवान्यथावेति विचार्यदृढीकर्तव्य इत्यर्थः । विचारविषयं दर्शयितु माह तत्र छान्दोग्ये इत्यादि । छान्दोग्यश्रुतौ मासेभ्यः संवत्सरमित्यादि श्रुतौ मासादनन्तरं संवत्सरस्यग्रहणं विद्यते । बृहदारण्यकश्रुतौ तु मासेभ्यो देवलोकम् इत्यत्र मासादनन्तरं देवलोकस्य तदनन्तरमादित्यस्य चर्चाविद्यते । एवं बृहदारण्यकस्यैवपञ्चमाध्याये वायोरेवश्रवणं भवतीति । अत्र संशयो होकर के द्वारभूत है ! इस तरह संशय के बाद विभिन्न श्रुतियों में विभिन्न-विभिन्न मार्ग का प्रतिपादन किया है और श्रुति स्वयं प्रमाण है, अतिन्द्रियार्थ विज्ञान में, अतः अनेक ही मार्ग हैं । इस प्रकार के प्रश्न का अर्चिराधिकरण से निश्चित किया कि अनेक विशेषण विशिष्ट एक ही अर्चिर मार्ग है । जिस मार्ग के द्वारा सब ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त करते हैं । इस बात का गत प्रकरण के सूत्र से निश्चय किया गया । अब इसके बाद प्रकृत प्रकरण में अर्चिरादि मार्ग का विभिन्न तत्तत् शाखाओं में जो क्रम भेद उपलब्ध होता है, उस क्रम की व्यवस्था=निश्चय करने के लिये विचार करते हैं । 'इदानीमर्चिरादिमार्गस्येत्यादि' (अब अर्चिरादि मार्ग के विषय में विभिन्न शाखाओं में जो क्रम भेद उपलब्ध होता है, उसकी व्यवस्था की जाती है । इस मार्ग के क्रम विषय में छान्दोग्य के चतुर्थाध्याय में कहा है कि ['मास से संवत्सर में जाते हैं, तदनन्तर संवत्सर से आदित्य में उपासक जाते हैं'] इस प्रकार से कहा गया है । तथा बृहदारण्यक के छठे अध्याय में (मास से देवलोक में जाते हैं और देवलोक से आदित्य में जाते हैं,) इसप्रकार से कहा गया है । एवं बृहदारण्यक के पञ्चम अध्याय में [जब यह उपासक इस शरीर से उत्क्रमण करता है तब वह वायु में जाता है] इस प्रकार से मार्ग का क्रम तत्तत् स्थल में विभिन्न रूप से सुना जाता है । अतः मार्ग क्रम

त्सरादूर्ध्वं देवलोकं गत्वा वायुलोकमिति । किम्प्राप्तम् ? अविशेषा-
द्यथेष्टम् । इति प्राप्तेऽभिधीयते — वायुमब्दादिति । संवत्सरादूर्ध्वं
वायुमभिगच्छतीति । कुतः ? अविशेषविशेषाभ्याम् । देवलोक-
शब्दो हि देवानां लोकमित्यविशेषेण व्याख्यानेन वायुमेवाह ।
तथान्यत्र 'स वायुमागच्छति' [वृ० ५।१०।१] इति विशेषेणरूपेण
वायुमाचष्टे । तस्माद् देवलोकवायुशब्दाभ्यामविशेषाभ्यां वायुरे-
भवतीति किमत्र वायुदेवलोकयोर्यथाक्रमः स एवादर्तव्योऽथवा संवत्सरादनन्तरं देव-
लोकं प्राप्यवायुलोके गमनमिति । तत्र स्वेच्छाचार एव नियामकस्य कस्यचिद्भावा-
दिति प्रश्नः । सिद्धान्तस्तु देवलोकशब्देन वायोरेव ग्रहणम् । देवानां लोकोदेवलोक
इति व्युत्पत्त्यादेवेष्टव्यतमस्य वायोरपि ग्रहणं भवति । तथा स वायुमागच्छति इति
विशेषरूपेण वायुशब्देन साक्षादेववायोर्ग्रहणात् वायोर्ग्रहणं भवति । तस्मात् अविशेष
विशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयमानो भवति । अतः संवत्सरानन्तरमुपासको वायुमेव प्रा-
प्ते विषय में संशय होता है कि क्या वायु शब्द से तथा देवलोक शब्द से एक ही अर्थ का
प्रतिपादन होने से, तदुचित क्रम से ब्रह्मज्ञानी जाते हैं, अथवा संवत्सर के बाद देवलोक
में जा करके तब वायु लोक को प्राप्त करते हैं ? [यह संशयाकार है,] तो इन दोनों पक्षों
में से कौन पक्ष युक्त है ! इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि एक किसी पक्ष का नियामक
कोई विशेष युक्ति तो नहीं है इसलिये जिस किसी भी क्रम से जा सकते हैं ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ता कहते हैं 'वायुमब्दादित्यादि' सूत्रम् । ब्रह्मज्ञानी संव-
त्सर के आगे वायु को प्राप्त करते हैं । क्यों ! संवत्सर के बाद वायु में जाते हैं, देवलोक
में क्यों नहीं जाते हैं ? इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'अविशेष विशेषाभ्याम्' देवलोक
शब्द का अर्थ होता है, देवताओं का लोक (देवानां लोको देवलोकः) — इस प्रकार से विप्रह-
कारने पर सामान्यतः देवलोक शब्द से वायु का भी ग्रहण होता है, क्योंकि देवताओं में
अन्यतम वायु भी देवता ही है । इस तरह अविशेष रूप से देवलोक शब्द वायु का प्रतिपा-
दन करता है । एवम् 'स वायुमागच्छति' (वह उपासक वायु में जाता है,) इस स्थल में विशेष
रूप से वायु का कथन किया गया है । तस्मात् देवलोक तथा वायु, इन दोनों शब्दों से
अविशेष सामान्य रूप से, तथा विशेष रूप से वायु का ही कथन होता है । इसलिये वह

वाभिधीयते । अतः संवत्सरात्परं वायुमेवाभिगच्छतीति ॥२॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये वायव्यविकरणम् ॥२॥

अथ वरुणाविकरणम् ॥३॥

ॐ तडितोधि वरुणः सम्बन्धात् ४।३।३ ॐ

‘स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निं लोकमागच्छति स वायु-
लोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं
स ब्रह्मलोकम्’ [कौपी. १।३] इति श्रूयते । तत्र संशयः । किं वरु-
णादीनां पाठमनुसृत्य वायोः परं निवेश आहोम्विद्युत ऊर्ध्वमेवेति
प्नोतीति । विशेषस्तु स्थनान्तरे ज्ञातव्य इति संक्षेपः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपवायव्यविकरणम् ॥२॥

स एतं देवयानं पन्थानमित्यादि कौपीतकीश्रुतौ वरुणादिलोकोपिश्रुतः । तत्र वरुणस्य
पाठक्रमानुसारेण वायोरनन्तरं निवेशः करणीयोऽथवा विद्युतः परमिति, संशये, विद्युत
ब्रह्मज्ञानी संवत्सर के आगे वायु में ही जाता है । इसप्रकार से मार्ग के क्रम में किसी भी
प्रकार से कोई भी विवाद नहीं होता है ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे वायव्यविकरणम् ॥२॥

‘स एतं देवयानम्’ इत्यादि, (वह उपासक, नाडीरश्मि द्वारा शरीर से उत्क्रमण करने के
बाद इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है, अग्निलोक के बाद वायुलोक
में आता है, तदनन्तर वह वरुण लोक में आता है, वरुणलोक के बाद आदित्यलोक में आता
है, तदनन्तर देवराज इन्द्र के लोक में आता है, तदनन्तर इन्द्रलोक से प्रजापति कमलासन
लोक में आता है, इस प्रजापति लोक के अनन्तर मैत्रेय ब्रह्मलोक में आता है । अर्थात्
परमगन्तव्य श्रीसंकेतधाम को प्राप्त करता है=मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।) इसप्रकार से कौपीतकी
श्रुति में श्रुत होता है । इसमें संशय होता है कि क्या, पाठक्रम के अनुसार से वरुण प्रभृति

संशये पाठस्यावीयर्थ्याय कुत्रापि निवेशस्त्वावश्यकस्तत्रविद्युतः ऊर्ध्वं निवेशाऽसम्भवात् । कुतः ? 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्मगमयति' इति तडित्पुरुषस्यैव ब्रह्मप्रापकत्वश्रवणात् । तत्रावकाशाभावेन वा-योरूर्ध्ववरुणादीनां निवेश इति प्राप्तेऽभिधीयते-तडितोऽधिवरुण इति । तडितऊर्ध्वमेव वरुणो निवेशनीयः । कुतः ? सम्बन्धात् । तडितो मेघस्थत्वादुभयोः सम्बन्धस्तस्मात् । पाठगौयर्थ्याय कचिदपि निवेशनीये वलीयांसमर्थक्रममनुसृत्य विद्युतोऽधिवरुणो निवेशनीयः । तत ऊर्ध्वमिन्द्रादीनामन्यत्र श्रुतानां निवेशः । 'आगन्तू-ऊर्ध्वनिवेशासंभव एव, यतो विद्युतपुरुषस्यैव ब्रह्मप्रापकत्वस्य श्रवणात्, ततोवायोरूर्ध्वमेव वरुणनिवेश इतीमांशकां निराकर्तुमुपक्रमते स एतं देवयानं पन्थानमित्यादि स एतं देवयानमित्यादि कौषतकी श्रुतौ श्रूयते । तत्र पाठक्रमबलाद्वरुणस्यवायोः पश्चान्निवेशोऽथवा विद्युत ऊर्ध्वमिति संशयः । तत्र पाठक्रमबलाद्विद्युत ऊर्ध्वं तस्यनिवेशो न संभवति। का निवेश वायु के बाद में होना है, अथवा विद्युत के पर में वरुणादिक का निवेश होता है । ऐसा संशय के बाद पूर्वापक्षी कहते हैं कि क्रम का विनियामक पाठक्रम होता है, तो यथा श्रुत जो पाठक्रम, उस पाठक्रम का वीयर्थ्य न होवे' इसलिये किसी भी स्थल में वरुणादिक का निवेश करना तो आवश्यक है और विद्युत के आगे निवेश करने का तो संभव नहीं है । क्योंकि 'तत्पुरुषोऽमानवः' [वह विद्युत अमानव पुरुष, इस उपासक को ब्रह्म प्राप्ति कराता है.] इस श्रुति से तडित् पुरुष को ही ब्रह्म का प्रापक शास्त्र में कहा गया है । तब वहाँ अन्य स्थान में वरुणादिकों का समावेश करने की संभावना नहीं होने से वायु के ऊपर ही वरुण का निवेश होता है ऐसा पूर्वापक्ष का आशय है । एतादृश पूर्वापक्ष का निराकरण करने के लिये कहते हैं-तडितोऽधिवरुणः' इत्यादि । तडित विद्युत के आगे ही वरुण का निवेश करना चाहिये । क्योंकि ? 'सम्बन्धात्' (सम्बन्ध होने से) विद्युत जो है वह मेघ में रहती है और वरुण=अर्थात् जल भी मेघ में रहता है, अतः इन दोनों का तडित वरुण का सामानाधिकरण्य लक्षण सम्बन्ध है, इसलिये ऐसा ही करना चाहिये । पाठक्रम का वीयर्थ्य नहीं होना चाहिये. इसलिये किसी भी स्थल में उनका संनिवेश अवश्य है तो बलवान् जो अर्थ क्रम है, उसके

नामन्ते निवेश' इति न्यायमनुसृत्येति । ततश्चायं क्रमः सम्पन्नः—
 नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहम् आर्प्यमाणपक्षमापूर्यमाण-
 पक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्यायुं वायोगदित्यमादि-
 त्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैयुताद्राणं वारुणादेन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं
 धातृलोकाद्विरजां तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति ॥३॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये वरुणाधिकरणम् ॥३॥

यतो विद्युत्पुरुषस्यैव ब्रह्मप्रापकत्वावगमादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु तद्वितोऽनन्तरमेव
 वरुणो निवेशनीयः, यतो वरुणतद्वितोर्मध्यस्थत्वेन उभयोः सम्बन्धस्य सत्त्वादिति ।
 अत्र निष्कृष्यमार्गकर्म दर्शयति भाष्यकारस्तदन्वयायक्रमः सम्पन्नः इत्यादिना । अन्यन्मर्ग
 सुगमप्राप्यमिति संक्षेपः ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे वरुणाधिकरणम् ॥३॥

अनुसार विद्युत के अनुसार विद्युत के बाद वरुण का निवेश करना चाहिये । उसके बाद
 अन्यत्र श्रुत जो इन्द्रादिक है, उनका निवेश करना चाहिये ।

'आगन्तुकानामिति' [आगन्तुकों का समावेश अन्त में किया जाता है] इस न्याय के
 अनुसार आगन्तुक इन्द्रादिक का समावेश अन्त में ही किया जाता है ।

तब मार्ग के क्रम विषय में ऐसा सिद्धान्त सिद्ध क्रम निष्पन्न होता है । तथाहि नाडी
 रश्मि के प्रवेश के अनन्तर अर्चिष में जाता है, अर्चिष के बाद दिन में दिन के बाद आर्प-
 र्यमाण पक्ष में, आर्प्यमाण पक्ष से उत्तरायण के मासों में उत्तरायण मासों में से संवत्सर में
 संवत्सर से वायु में वायु से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से विद्युत में, वि-
 द्युत से वरुण में, वरुण से इन्द्रलोक में, इन्द्रलोक से कमलासन प्रजापति लोक में तथा प्रजा-
 पति लोक से विरजा नदी को प्राप्त करता है, उस विरजा नदी में स्नान करने से अति
 पवित्र होकर के श्रीसाकेत लोक प्राप्ति रूप सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे वरुणाधिकरणम् ॥३॥

ॐ श्रीरामः शरणं मम ॐ

५ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ४।३।४ ५

किमेतेऽर्चिरादयोऽध्वनश्चिह्नभूता अथवा भोगस्थानानि आ-
होस्विदब्रह्मप्रेप्सूनामातिवाहिका इति संशयेऽध्वचिह्नभूताश्चैते ।
कुतः ? लौकिकोपदेशवन्निर्दिष्टत्वात् । अथवा भोगस्थानान्येव ।
कुतः ? अग्निलोकादिशब्दानां दर्शनात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते—
आतिवाहिका इति । ब्रह्मविदामतिवहनकर्ताश्चैते परमात्मना नि-

य इमे अर्चिरादिका अनेकविशिष्टामार्गलक्षणाः पूर्वप्रकरणादौ महतोद्बोधेणोद्बो-
दितास्तानेवोद्दिश्येदमिदानीं चिन्ता प्रवर्तते । किमेते अर्चिरादिकामार्गस्य चिह्नरूपाः
परिचायका वा, अथवा जीवानां भोगभूमयो वा, अथवा ब्रह्मप्राप्तिमभिलषमाणानां नेता-
रोवेत्यादिकं संशय्य तत्र निश्चयं कर्तुमुपक्रमते किमेतेर्चिरादय इत्यादि । एते पूर्वप्रति-
पादिता अर्चिरादिकामार्गस्य परिचायकाः । अथवा भोगस्य स्थानानि अथवा ब्रह्मप्रा-
प्तिमभिलषतामुपासकानामिमे प्रापकत्वात् । इमे आतिवाहिकावेति संशयाभिप्रायः । तत्र
चिह्नभूता एवैते, यतो लौकिकोपदेशदर्शनात्, यथालोके कमपि ग्रामादिकं प्रतिगच्छ-
न्तं प्रति भवति लोकानां हितेच्छनामुपदेशः इतः प्रस्थायामुकं वृक्षममुकं पर्वतादिप्रदेशं
गत्वा ततोऽमुकं ग्रामं गच्छेति, तत्र नदीपर्वतवृक्षादयो मार्गस्य परिचायका एव भवन्तीति
तथैव प्रकृतेर्चिरादिकामार्गस्य चिह्नरूपा एवेति । अथवा इमे भोगस्थानान्येव, यतः
कालविशेषरूपेण प्रसिद्धानामहरादीनां मार्गपरिचायकत्वानुपपत्तेः । अतएव भोगभूमि-

अब यहाँ यह विचार किया जाता है, जो ये पूर्वोक्त अर्चिरादिक हैं, ये सब मार्ग
के चिह्न रूप हैं, अर्थात् परिचायक हैं । अथवा जीवों के भोग स्थान हैं, अथवा ब्रह्म प्राप्ति
करनेवालों के लिये अतिवाहिक प्रापक हैं ? ऐसा संशय होता है । इसके बाद पूर्वपक्षी कहते
हैं कि ये अर्चिरादिक मार्गों का चिह्न रूप ही हैं ! क्योंकि यहाँ लौकिक उपदेश के समान
उपदेश है । अथवा ये अर्चिरादिक भोग स्थान ही हैं, यहाँ अग्नि लोक वायुलोक आदि शब्दों का
प्रयोग हुआ है । और लोक शब्द भोग स्थान में प्रसिद्ध है, जैसे 'पृथिवी' लोक आदि ।

युक्ता देवताविशेषाश्चैतेऽर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिङ्गात् । गच्छतां जनानां गमयितृत्वमेवातिवाहिकत्वम् । तच्च 'स एनान् ब्रह्म गमयती' त्युपसंहारावाक्ये स्पष्टमेव दृश्यते । एतदनुगोघेन पूर्वतनानामप्यतिवाहिकत्वं सिद्धम् । अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानिदेवतापस्त्वमिति प्रागेवाभिहितम् ॥४॥

५ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ४।३।५ ५

ननु वैद्युतस्यैव पुरुषस्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति श्रुते त्वं संभवति, एते एव लोका यदहोरात्राण्यर्थमासा इत्यादि श्रुतौ अहः प्रभृतीनां लोककथनेन तत्त्वमुपपन्नं भवतीति । नतु गमयितारोऽर्चिरादिका इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु आतिवाहिका इत्यादि, नैतेभोगभूमयो नवा मार्गस्यचिह्नरूपेण परिचायकाः किन्तु परब्रह्मप्राप्तिमभिलषमाणानां गमयितारः परमात्मना नियुक्तादेवता विशेषाः एव । कुतः ! तल्लिङ्गदर्शनादिति लोकेपि दृश्यते यो हि कश्चिद्भ्यक्तिर्लोकमेकस्मात् स्थानान्तरं प्रापयति स आतिवाहिकोनेतावेति शब्देन व्यहृतोभवति । एतेपि अर्चिरादिकाः सपिण्डतकरणवतामुपासकानां ब्रह्मप्राप्तिमभिलषतां ब्रह्मप्रापयन्ति, स एनान् ब्रह्मगमयतीति उपसंहारस्य वाक्यात् । तत्र कश्चिन् साक्षाद्ब्रह्मगमयति, कश्चिच्चपरस्परया, तत्र ययागोनायोऽश्वनायवत् । अत्रापि एते ब्रह्मप्रापकत्वादतिवाहिका एवेतिसिद्धम् । इमेपि चेतना अमानवा देवताविशेषाः परमेश्वरानुज्ञामन्यमाना एवेति ॥४॥

ननु स एनान् ब्रह्मगमयतीति श्रुत्या, विद्युत्लोकागतामानवपुरुषस्यैवनेतृत्वलक्षण-
एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं 'आतिवाहिका' इत्यादि । ब्रह्मज्ञानियों को अति बड़हन लेजाने वाले ये सब परमात्मा से नियुक्त अर्चिरादिक हैं । क्योंकि उसका लिङ्ग है । चलनेवाले मनुष्यों को ले जानेवाले जो होते हैं, उन्हें आतिवाहिक कहते हैं । एतादृश अति वाहिकत्व 'स एनान् ब्रह्मगमयति' इस उपसंहार वाक्य में स्पष्ट रूप से देखने में आता है । इसके अनुरोध से एतत् पूर्ववर्ती अर्चिरादिक में भी आतिवाहिकत्व सिद्ध होता है । अर्चिरादिक शब्द अर्चिरादिक के अभिमानी देवतापरक है, यह हमसे पहले ही कह दिया गया है । ४।

प्रश्न=विद्युत्लोक से आगत जो पुरुष अमानव को ही 'स एनान्' (वह विद्युत्लोक से

ब्रह्मप्रापकत्वदर्शनात् कथमन्येषामुपरितनानामातिवाहिकत्वमित्य-
 त्नाह—‘वैद्युतेनैवेत्यादि’ सूत्रम् । वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेन अ-
 मानवेनैवातिवाहिकेन विद्युन उपरिष्ठाद् ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्गम-
 नम् । कुतः ? तच्छ्रुतेः । ‘स एनान् ब्रह्म गमयति’ इति तस्यैवाब्रह्म-
 मातिवाहिकत्वं सिद्धयति नतु तदन्येषां चेतनादीनां वरुणादीनां नवाञ्चेतनानामर्चि-
 रादीषामपि देवत्वप्रतिपादनेन देवस्य च चेतनत्वेन कथमचेतनत्वमिति वाच्यम् ।
 तथापि तेषामानवत्वेन अमानवस्यैव ब्रह्मप्रापकत्वस्य स एतान् ब्रह्मगमयतीति श्रुत्याऽमानव-
 स्यैव ब्रह्मप्रापकत्वमिति तदतिरिक्तस्यान्यस्यकथमातिवाहिकत्वमिति शंकां समाधातुमुप-
 क्रमते भाष्यकारः नतु नैद्युतस्यैव पुरुषस्येत्यादि स एनान् ब्रह्मगमयति इत्यश्रुति विद्युल्लोका-
 दागतविलक्षणपुरुषस्यैवातिवाहकत्वं दर्शयति नतु तदन्यस्यतथात्वं दर्शयतीतिकथमुच्यते,
 अमानवातिरिक्तानां वरुणादीनां चेतनानामातिवाहिकत्वमिति शंकितुमभिप्रायः । तामिमां
 शङ्कांस्वीकारमुखेनैव समादधाति सूत्रकारः नैद्युतेनैवेत्यादि । अयंभावः सत्यम् स एनान्
 ब्रह्मगमयतीति श्रुत्याविद्युल्लोकागतपुरुषस्यैवातिवाहकत्वं तदन्येषांचेतनानां देवानामिति न
 तथात्वं तथापि, परमात्मकृपाप्राप्ता अर्चिरादयोपि तदभिमानि देवपरका एवेति सर्वोपि
 चेतन एव नने साक्षात् ब्रह्मप्राप्तिं कुर्वाणाः ब्रह्मप्रापकत्वेनातिवाहिकपदवाच्याः किन्त्वमा-
 नवस्य पुरुषस्य स्वस्वाधिकृतक्षेत्रपर्यन्तं साहाय्यममानवस्य कुर्वाणा अमानवस्य सहायका
 एव भवन्तः कथञ्चिद्वैष्णववृत्त्या आतिवाहिकपदबोध्याभवन्तीति । तेषु वरुणादिष्वप्या-
 आये ह्ये जो अमानव पुरुष हैं वे इन ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म को प्राप्त कराते हैं, इस श्रुति
 से तो यह सिद्ध होता है, अमानव पुरुष ही ब्रह्मका प्रापक आतिवाहक है, तब इस अमानव
 पुरुष से भिन्न उपरितन वरुणादिकों में ब्रह्म प्रापकत्व लक्षण आतिवाहकत्व है, ऐसा किस
 तरह कहते हैं । अर्थात् वरुणादिक में तो आतिवाहकत्व की सिद्धि नहीं होती है । इस आ-
 शंका के निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं ‘वैद्युतेनैव’ इत्यादि सूत्रम् । नैद्युत
 अर्थात् विद्युत लोक से आगत (आये हुए) अमानव आतिवाहिक के द्वारा ही ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्त
 ब्रह्मज्ञानी का गमन होता है ।

ऐसा क्यों कहते हैं ? उत्तर—‘तच्छ्रुतेः’ ‘स एनान् ब्रह्मगमयति’ (वह विद्युतलोक से
 आया हुआ अमानव पुरुष इन ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म पर्यन्त ले जाता है, इसप्रकार से श्रुति

प्राप्तेर्गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादीनामातीवाहीकत्वममानवानुग्राहकत्व
येति सुगमम् ॥५॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

अथ कार्याधिकरणम् ॥५॥

५ कार्ये वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ४।३।६ ५

ब्रह्मविदामर्चिरादिमार्गेण गमनमर्चिरादिमार्गस्य स्वरूपत्र प्रद-
तिवाहिकत्वमुपचर्यते । यथा लोके अन्याधिष्ठितप्रदेशे समागता अन्येस्वकार्यमम्पादना
याधिष्ठातुः साहाय्यमन्तरेण स्वकीयकार्यकरणे तेन प्रतिबद्धाः समर्था न भवन्ति, किन्तु
तत्प्रदेशशासकस्याङ्गां साहाय्यं च समवाप्यैव स्वकार्यकरणे सफला भवन्तीति । तथैव
प्रकृतेऽपि अमानव आतिवाहिकोवरुणाद्यधिष्ठितस्थलेषु वरुणादीनां साहाय्यमनवाप्याप्रति
हताः ब्रह्मपर्यन्तमुपासकान् प्रापयन्तीति भवति वरुणादीनामपि परम्परया आतिवाहि-
कत्वमिति संक्षेपः । प्रकृतविषये स्वारस्यं साम्प्रदायिकादिभिरेवावगन्तव्यमिति दिक् ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे आतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

इतः पूर्वप्रकरणे ब्रह्मविदामार्गेण ब्रह्मगमनं भवतीति कथितम् तथार्चिरादिमान-
कहन्ती है । इसलिये उस मानव पुरुष को ही ब्रह्म प्राप्ति में गमयितृत्व प्राप्तकत्व आतिवाहिकत्व
का कथन किया गया है । वरुणादिक में जो आतिवाहिकत्व है वह अमानव पुरुष का ये
लोग अनुग्राहक है, इसलिये इन वरुणादिकों में आतिवाहिकत्व का कथन किया जाता है ।
अर्थात् वरुणादिक जो देव हैं ये साक्षात् ब्रह्मका प्रापक अतिवाहक नहीं हैं किन्तु आतिवा-
हिक अमानव पुरुष का सहकारी होने से ही आतिवाहिक पद बोध्य होते हैं, इसलिये वरुणा-
दिक आतिवाहिक कहे गये हैं । वस्तुतः आतिवाहिक ये सब नहीं हैं । इन वरुणादिक में
आतिवाहिक अमानव पुरुष का अनुग्राहक होने से ही इनमें आतिवाहिकत्व का उपचार
मात्र है ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीमेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे आतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

इसके पूर्व अधिकरण में निश्चय किया कि ब्रह्मज्ञानी उपासक भक्तों को विद्युतलोक से

शितम् । इदानीमेतद्विचार्यते । किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हि-
रण्यगर्भन्तदुपासीनान् गमयति उत परंब्रह्मैव ब्रह्मोपासीनान् । आ-
होस्वित्प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनान् परंब्रह्मेति सन्देहे कार्यं
मुपासीनानेव कार्यं हिरण्यगर्भं गमयतीति वादरिाचार्यो मन्यते ।
कुतः ? अस्य परिच्छिन्नहिरण्यगर्भोपासकस्य देशविशेषस्थस्य त-

चान्तःआतिवाहिको गणः परमोपासकं परमात्मसमीपं गमयितुं गमयति तेषामातिवाहिकानां
स्वरूपनिर्वचनमपि कृतमेव । ततः परं यद्विचारणीयं तद्विचारयितुमुपक्रमते ब्रह्मविदा-
मर्चिरादिमार्गेण इत्यादि । तत्र योयं प्रापकोऽर्चिरादिगणः स हिरण्यगर्भोपासकान् तदु-
पास्यं कार्यंहिरण्यगर्भं प्रापयति अथवा ब्रह्मोपासकं ब्रह्म गमयति अथवा जीवं ब्रह्मरूपे
णोपासकं ब्रह्मप्रापयतीति त्रयः पक्षाः संशयग्रस्ता भवन्ति इति । तत्र सूत्रं मुखेनैवमत
विशेषं दर्शयति कार्यं वादरिास्येति वादरिाचार्यो मन्यते यतः अयमर्चिरादिकोगणः कार्यं
हिरण्यगर्भस्योपासकं कार्यभूतं हिरण्यगर्भमेव प्रापयतीति । नतु परमात्मानं ज्ञेयं श्री-
सीतानाथं बोधयतीति प्रापयतीत्यर्थः । कुत एतत् ? गत्युपपत्तेः । अर्थात् देशकाल
वस्थाभिः परिच्छिन्नस्यास्य कमलाधिपतेरहिरण्यगर्भस्य तत्प्राप्तयेतदुपासकस्य तत्र गति
आया हुआ अमानव पुरुष उपासक को ब्रह्म प्राप्ति कराता है । इसमें अपानव पुरुष कार्य
ब्रह्मको प्राप्त कराता है, अथवा ज्ञेय परमात्मा जो श्रीसीतानाथ हैं उनके लोक में ले जाता है ।

इस विषय पर चर्चा करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'ब्रह्मविदामर्चिरादि
मार्गेण' इत्यादि । इसके पूर्व अधिकरण में ब्रह्मज्ञानियों को अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है,
तथा विशेषण विशिष्ट अर्चिरादि मार्ग के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । इसके बाद
इस वक्ष्यमाण विषय के ऊपर विचार किया जाता है । क्या यह अर्चिरादिकगण उपासक
को कार्य ब्रह्म जो हिरण्यगर्भ उसके लोक में ले जाता है । अथवा ब्रह्मोपासक को परब्रह्म को
प्राप्त करादेता है । अथवा परब्रह्म को प्रत्यगात्म रूप से उपासना करनेवाले को परब्रह्म की
प्राप्ति कराता है । ऐसा संशय होता है । इस संशय में वादरिाचार्य का मत है कि यह
अमानव पुरुष उपासक को कार्य ब्रह्म=हिरण्य गर्भ के लोक में ले जाता है । क्योंकि ! इस
परिच्छिन्न हिरण्यगर्भ के उपासक को देश विशेष में स्थित को कार्य हिरण्यगर्भ की प्राप्ति
के लिये गति हो सकती है । सर्वात्म भूत परब्रह्म की प्राप्ति के लिये गति अनुपपन्न

त्प्राप्त्यर्थतया गत्युपपत्तेः । सर्वगतस्य सर्वान्मभूतस्य पञ्चगणः प्राप्तये
गत्यनुपपत्तेरिति भावः ॥६॥

५ विशेषितत्वाच्च ४।३।७ ५

‘पुरुषोऽमानव एव ब्रह्मलोकान् गमयति’ [बृ० ६।२।१५]

संभवात् । सर्वव्यापकस्य परमात्मनो नित्यप्राप्तया तदर्थं तदुपासकस्य गतेरनुपपत्तेः ।
नहि सर्वगतस्य स्वभावतो व्यापकस्याकाशस्य प्राप्ते कस्यापि तदर्थगमनादिकं भवतीति ।
नहि समुपासकस्य कस्यचिदपि संभवति । तस्मान् कार्यद्विरण्यगर्भप्राप्तिमेवाचिगदिको
गणः कारयतीति भाष्यस्य समुदितार्थ इति ॥६॥

ब्रह्मलोकादागतोऽमानवः पुरुष उपासकं कार्यब्रह्म लोके एव गमयति नतु पर
ब्रह्मलोके गमयति इति सपरिकरं दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः पुरुषोऽमानव इत्यादि
[अमानवः कश्चित्पुरुषोलोकविशेषादागत्योपासकं कार्यब्रह्मलोकमेव प्रापयतीति समुदा-
हृतश्रुत्यर्थः] अनया श्रुत्या गन्तव्यस्थानं विशेषितम् । अर्थात् अत्र श्रुतौ ब्रह्मलोकानि-
त्यत्र बहुवचनस्य प्रयोगः कृत इति तेनेत्थं ज्ञायते यदनेके ब्रह्मलोकाः सन्ति अन्यथा
ब्रह्मलोकपदोत्तरबहुवचनविभक्तेः स्पष्टमेव वैयर्थ्यं भवेत् । एतेनेत्थं ज्ञायते यदुपा-
सकः । अर्थात् जो पदार्थ अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिये गति होती है, और पदार्थ नित्य
प्राप्त है उसके लिये गमन नहीं होता है । सर्वगत आकाश की प्राप्ति के लिये कोई प्रयत्न
नहीं करता है । क्यों जिसके प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेगा वह तो व्यापक होने से प्राप्त ही
है । उसी तरह परमात्मा तो नित्य प्राप्त है तो उसकी प्राप्ति कौन करेगा, अथवा कौन
गमनागमन करेगा ॥६॥

अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्मोपासक को कार्य ब्रह्मद्विरण्यगर्भ का जो सत्यलोक स्थान है
उसी में लेजाते हैं ऐसा पूर्वसूत्र में वादरि आचार्य के मत को बताया गया है गत्युपपत्ति
हेतु से सम्प्रति उसी मत को परिपुष्ट करने के लिये उपपर्यन्तर को बताते हुए सूत्रान्तर
का उत्थानार्थ भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘पुरुषोऽमानव एव’ इत्यादि । ‘पुरुषोऽमानव’ (वह)
अमानव पुरुष आकर के उस उपासक ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं) इस श्रुति में
‘ब्रह्मलोकान्’ इसमें जो बहुवचनान्त लोक शब्द से उपासक प्राप्य ब्रह्मको विशेषित किया है ।

इति श्रुतिस्थवहुवचनान्तेन लोकशब्देन गन्तव्यस्य ब्रह्मणो विशेषित्वात् । 'प्रजापतेः सभां-वेश्म प्रपद्ये' इति कार्यब्रह्मणः सभां-वेश्म-

सकेन गन्तव्यो ब्रह्मलोकोऽनेकः । यदिह परब्रह्मलोकस्य ग्रहणं कुर्यात्तदा श्रीसाकेतस्यैकत्वेन तस्यानेकत्वं कथनं सर्वथैव विरुद्धं स्यात् । नहि ब्रह्मलोकपदोत्तरवहुवचनं परब्रह्मणि संभवति तस्यैकत्वात् । कार्यब्रह्मणित्वनेकत्वमुपपद्यते कार्यब्रह्मणोऽवस्थाभेदे बहुवचनसंभवात् । किञ्च श्रूयते शास्त्रे ब्रह्माण्डभेदेन तदधिष्ठातुरप्यनेकत्वम् । परमेश्वरशक्तिरूपायां लतायामलानुलतावत् सदस्त्रशो ब्रह्माण्डान्यनुस्थूतानीति अपि च ब्रह्मलोकान् गमयति' अत्र लोकशब्दस्य प्रयोगः कृतः स च लोको भोगभूमौ श्रुतः । यथा पृथिवी लोकइन्द्रलोक इत्यादि स्थले भोगाधिष्ठाने एवलोकशब्दो रूढः । तदन्यत्र प्रयुज्यमानो लोकशब्दो गौणीवृत्तिमेवाश्रयते यथा ब्रह्मैव लोक एष सन्नद् इत्यादिषु । नव्यलोकशब्दो भोगस्थानरूपमर्थं बोधयति । एवम् 'ब्रह्मलोकान् गमयति ते' तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' [अमानवः समुपासकान् ब्रह्मलोकान् गमयति ते उपासकाः तेषु ब्रह्मलोकेषु ते समुपासका अनन्तं कालम् यावत् तत्रैव निवासं कुर्वन्ति इत्यर्थः] । तत्र योपमाधाराधेयभावः ब्रह्मलोकेषु' इति पदे सप्तमी विभक्त्या प्रतिपाद्यते सोऽपि गन्तव्यत्वं यदि कार्यब्रह्मणः स्वीक्रियेत तदैव संभवति नतु पर ब्रह्मणो ग्रहणे संभवति । कार्यब्रह्मण्येवाधाराधेयभावो मुख्यतया संवति अन्यत्र तु गौणीवृत्ति तैव स्यात् । एवम् प्रजापतेः सभां-वेश्म प्रपद्ये [अमानवपुरुषद्वारा प्रजापतिलोकं गत (वहुवचन का प्रयोग तथा लोकशब्द से यह सिद्ध होता है कि यह गन्तव्य ब्रह्मलोक अनेक है तथा लोकशब्द को भोगभूमि में रूढ होने से वह गन्तव्य स्थान भोग का भी अधिष्ठान है । यदि ब्रह्मलोक शब्द से परमात्मा को ग्रहण करें तो वह उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि परमात्म लोक अनेक नहीं है तथा वह भोगाधिकरण भी नहीं है । एवम् 'प्रजापतेः सभां-वेश्म प्रपद्ये' (प्रजापति हिरण्यगर्भ के सभागृह को प्राप्त किया हूँ) इसप्रकार प्रजापति के सभा-वेश्म के प्राप्ति का अनुसन्धान उपासक को होता है । एवं 'ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो निवसन्ति' (उन ब्रह्मज्ञानी उपासकों को वे 'अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में लेजाते हैं और वे ब्रह्मज्ञानी लोग महाप्रलय पर्यन्त उस ब्रह्मलोक में निवास करते हैं ।) इस श्रुति से भी सिद्ध होता है कि गन्तव्य कार्य हिरण्य गर्भ ही ब्रह्मपद का वाच्य है । और 'ब्रह्मलोकेषु' में सप्तमी विभक्ति से आधाराधेय भाव का प्रतिपादन किया जाता है । इससे भी

प्राप्त्यनुसन्धानाच्च तत्रैव गतिरुपपद्यते ॥७॥

५ सामीप्यात्तुतदव्यपदेशः ४।३।८ ५

अथैवं 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति निर्देशः कथं ब्रह्माणं

उपासकौऽहं ब्रह्मणः सभा वेद्य प्राप्तवानित्यनुसन्धानं करोतीत्यर्थः । एतन्मयं तदेव संभवति यदाकार्यं ब्रह्मणः स्थाने समुपासकस्य कार्यं ब्रह्मलोके एव गमनं भवति नतु परब्रह्मलोके गमनेनस्यादिति संक्षेपः ॥७॥

ननु यदि प्रकृते कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ग्रहणं क्रियते परब्रह्मणो ग्रहणं न क्रियते तदा स एनान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र ब्रह्मपदोत्तरं नपुंसकप्रयोगः कथं सङ्गतः स्यात् यतो यदि प्रकृते हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो ग्रहणं तदा ब्रह्मपदोत्तरं पुल्लिङ्गनिर्देशे ब्रह्माणं गमयतीति प्रयोगो भाव्यः । अपि च हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मपदेन ग्रहणं नोपपद्यते यतोऽथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र सकलजगदभिन्ननिमित्तोपादानस्यैव ग्रहणं भवतीति निश्चितत्वात् । तथा च प्रतिज्ञातस्यैव ब्रह्मणो ग्रहणं परामर्शेऽपि तस्यैव ग्रहणं युक्तं नतु अप्रतिज्ञातस्य ग्रहणं युक्तमित्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते भाष्यकारः अथैवं स एनान् ब्रह्मण इत्यादि । अथ यदि वादरिमते पुरस्कृत्य कार्यहिरण्यगर्भस्य ग्रहणं क्रियते तदा स एनान् ब्रह्मगमयतीति श्रुतौ नपुंसकनिर्देशः कथं कृतः पुल्लिङ्गनिर्देशेन भवितव्यमिति शंका ग्रन्थस्याभिप्रायः । समाधत्ते सूत्रकारः सामीप्यात्तुतदव्यपदेशः । हिरण्यगर्भस्य परमकारणजगदभिन्ननिमित्तोपादानकस्य परब्रह्मणोऽव्यवधानेन हिरण्यगर्भस्य विद्यमानत्वेन सिद्ध होता है कि गन्तव्य कार्य ब्रह्म ही है । परमात्म पक्ष में सक्तस्यैव आचारार्थेय भाव उपयुक्त नहीं होगा । तस्मात् प्रकृत में कार्य ब्रह्मका ही ग्रहण होता है यह जो वादरि आचार्य का मत है वह समीचीन है ॥७॥

उपासक पुरुष अमानव पुरुष द्वारा हिरण्यगर्भलोक में जाता है ऐसा मानें तब तो 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्मगमयति' (वह अमानव पुरुष इस उपासक को ब्रह्मलोक में ले जाता है) इस श्रुति में नपुंसक ब्रह्मपद का निर्देश किया है वह किस तरह उपपन्न होगा क्योंकि यदि ब्रह्मपद बोध्य ब्रह्मको अर्थात् कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ को मानें तब तो 'ब्रह्माणं गमयति' इस

बोधयेदित्यत्राह 'सामीप्यात्' इत्यादि । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'
[श्वे० ६।१८] हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इति हिरण्यगर्भस्य

ब्रह्मपदेन हिरण्यगर्भस्य सामीप्यादेव ग्रहणं भवतीति न कोपि दोषः पदमादधाति ।
सूत्रघटकशब्दः समुदीरितशंकाव्यवच्छेदकः । अन्यथा तद्वैयर्थ्यमेव स्यादिति सूत्रा-
शयंस्फोरयितुमाह भाष्यकारः यो ब्रह्माणम् इत्यादि । यः सूक्ष्मस्थूलचिदचिच्छरीरको
जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणः परमात्मा श्रीसीतानाथो ब्रह्माणं सर्वप्रथमम् इतर-
जगन् जननात् पूर्वमेव विदधाति समुत्पादयति तथा परमात्मा समुत्पन्नाय तस्मै हिरण्य-
गर्भाय वेदान् ग्राहयति तस्मै स्रग्दस्यं वेदान् पाठयति इत्यर्थः । तथा हिरण्यगर्भम् इत्यादि ।
य परमात्मा पूर्वमर्गादिकाले एव हिरण्यगर्भं सर्वतः पूर्वम् प्रथमजं जनयामास समुत्पा-
दितवानित्यर्थः । अयमाशयः जनिमत्सु सर्वपदार्थेषु प्रथमतः हिरण्यगर्भस्यैवोत्पत्तिं
करोति तदनन्तरं तदन्यं सर्वजगदुत्पादयति परमात्मा । तत्र हिरण्यगर्भो जायमानेषु
प्रथम इति तस्य ब्रह्मणा साक्षात्सम्बन्धः तदन्येषां च हिरण्यगर्भद्वारा ब्रह्मणा सम्बन्धो
भवति इति परब्रह्मणा सह सम्बन्धसत्त्वेन ब्रह्मसामीप्यात् ब्रह्मशब्देन तस्यापि व्यवहारो
भवति । यथा पलाशसम्बन्धात् कुसुम [वरडी] पुष्पस्यापि केसरशब्देन व्यपदेशो
भवति । यथा गङ्गाप्रवाहपतिततदितरजलस्य गङ्गाजलसामीप्यादिति सम्बद्धतया तदि-
तरजलेष्वपि गङ्गाजलव्यपदेशो भवति । तद्वदिह परब्रह्मसामीप्यात् कार्यब्रह्मणो
ब्रह्मशब्दप्रयोगव्यवहारो भवति । अतएव यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् इति श्रुतौ ब्रह्मा-
णमित्यत्र पुल्लिङ्गनिर्देशकृतः । तस्मादिह ब्रह्मपदेन कार्यब्रह्मण एव ग्रहणं भवति ।
प्रकार पुल्लिङ्ग का निर्देश होना चाहिये । हिरण्य गर्भ बोधक ब्रह्मन् शब्द पुल्लिङ्ग है और
परमात्म बोधक ब्रह्मन् शब्द नपुंसक है । इस शंका का निराकरण करने के लिये भाष्यकार
उपक्रम करते हैं 'अथैवं' 'स एनान् ब्रह्मगमयतीत्यादि' अर्थात् प्रकृत श्रुति में नपुंसक ब्रह्म शब्द
का निर्देश किस तरह हो सकता है ? यह शंका ग्रन्थ का आशय है । इस पूर्वपक्ष का
समाधान सूत्रकार करते हैं 'सामीप्यात्तद्व्यपदेशः' इति ।

परब्रह्म के अति समीपवर्त्ती होने से हिरण्यगर्भ में भी ब्रह्म शब्द का व्यपदेश=व्यव-
हार होता है । हिरण्यगर्भ परब्रह्म का अति समीपवर्त्ती किस तरह है ! इसका स्पष्टीकरण
करते हैं भाष्यकार 'यो ब्रह्माणमित्यादि' (सृष्टि के आदिकाल में सबसे पहिले परमात्मा ने

प्रथमजन्यत्वेन ब्रह्मसामीप्यात् ब्रह्मशब्देन व्यपदेश उपपद्यते ॥८॥

❧ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः

परमभिधानात् ४।३।९ ❧

ननु हिरण्यगर्भप्राप्तस्य 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' [गी० ८।१६] इति शास्त्रेण पुनरावृत्तिरभिधीयत इति कथं अवशिष्यते च तस्मिन् कथं ब्रह्मशब्दनिर्देश इति शङ्का तदुत्तरं सामीप्यात् मुख्यब्रह्म समीपस्थत्वात् तत्रापितद्व्यवहारो न विरुद्ध्यते इति संक्षेपः ॥८॥

ननु यदि ब्रह्मोपासकोऽचिरादिमार्गेण कार्यहिरण्यगर्भलोकं गच्छति तदा एतेन प्रतिपाद्यमाना इमे मानवमावर्तना वर्तन्ते नयोर्ध्वमायन्न मृत्युमेति इत्यादि श्रुत्या मोक्षप्राप्तिं तथा मोक्षप्राप्तानां ततोऽपुनरावृत्तिं च श्रावितं तत्कथं ब्रह्मपदेन कार्यब्रह्मणो ग्रहणं कृते सङ्गतं स्यात् । नच कार्यब्रह्मणः पदमप्यतिचिरकालस्थायित्वान्नित्यमेवेतितत्पदानामपि कदाचिदपुनरावर्तनं संभावितं स्यादिति वाच्यम् आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन इत्यादि शास्त्रेण कार्यब्रह्मणो द्विपराद्वान्तकाले विनाशश्रवणादिति हिरण्यगर्भ हिरण्यगर्भ को बनाया 'हिरण्यगर्भमित्यादि' (परब्रह्म ने सबसे पहिले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया) इन श्रुतिद्वय से सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भ सर्वाप्रथम जन्य हुआ । इसलिये ब्रह्मका अति समीपवर्ती हैं अतः हिरण्यगर्भ में भी ब्रह्म शब्द का व्यवहार सिद्ध होता है ॥८॥

प्रश्न—'आब्रह्मभुवनाल्लोका' [हे अर्जुन ? पृथिव्यादिलोक से लेकर के कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ का जो लोक है तावत् पर्यन्त लोक पुनरावर्ती है । अर्थात् जिस तरह चन्द्रलोकादिक में जो जाते हैं वे लोक वहां स्वकृत कर्म फल का उपभोग करके पुनः इस लोक में आते हैं ये सब लोक पुनरावर्ती कहलाते हैं उसी तरह ब्रह्मलोक अर्थात् कार्य हिरण्यगर्भ का जो सत्य लोक है यह भी पुनरावर्ती हैं] इस शास्त्र से यह सिद्ध होता है कि कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ का जो सत्यलोक है उसको जिसने प्राप्त किया है उसका भी पुनः आवर्तन अर्थात् चन्द्रलोकादिवत् पुनः आवर्तन होता है क्योंकि इतर लोकवत् यह सत्यलोक भी अनित्य है इस सत्य लोक में जो कुत्रचित् अमृतत्व का कथन है वह चिरस्थायित्व मात्र का कथन परक है 'आ-

मर्चिरादिना गतस्य 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' [का० २।६।१६]
इत्यमृतत्ववचनमुपपद्यतामित्यत्राह—'कार्यात्यये' इत्यादिसूत्रम् ।
कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्वामिना
हिरण्यगर्भेणाधिकारिणा सह तत्रैवाधीतविद्यो विद्वान् अतो हिरण्य-

प्राप्तस्य पुनरावर्तनस्यावश्यं भावात् । इत्याशङ्क्य समाधातुमुपक्रमते ननु हिरण्यगर्भप्राप्तस्य
इत्यादि आश्रयभुवनलोकाः [हे अर्जुन ? पृथिव्यादिलोकमारभ्यकार्यहिरण्यलोकपर्यन्त
लोकानामनित्यत्वमेव ततश्चतत्प्राप्तानामपि पुनरावर्तनं भवत्येवेत्यर्थः] ततश्चाचिरा-
दिमार्गेण गतोपासकस्य कथम् पुनरावृत्तिरिति कथ्यते तथा तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति तथा
सुषुम्नाख्यनाड्या देहाद्विनिर्गतानांपदममृतत्वंश्रावयति एतदुभयमपि प्रकृते कार्यहिर-
ण्यगर्भस्य ब्रह्मपदेन ग्रहणे कथमपिनोपपद्यते इति शङ्कार्थः । निराकरोति कार्यात्ययेत्यादि
सूत्रेण । कार्यस्य परब्रह्मणा सर्वपूर्वमुत्पादितस्य जनिमतो हिरण्यगर्भस्य अत्यये स्वा-
धिकारलक्षणकार्यसमाप्त्यनन्तरं विनाशे जातेसति तदध्यक्षेण सत्यलोकाधिष्ठायकेन
हिरण्यगर्भेण सहैव सत्यलोकनिवासिनोऽन्येपिसमुपासनया तत्र प्राप्तस्तत्रैव तदध्य-
क्षेणाधीतविद्योज्ञानमवाप्य अतो हिरण्यगर्भलोकात् परंपरब्रह्मपरमात्मानं प्राप्यकृत-
कृत्या भवन्ति इति श्रुत्यनुशासनादवगतं भवतीति सूत्रार्थः । ने ब्रह्मलोकेत्यादि [ते उपा-

भूत सम्पन्नस्थानममृतत्वं हि भाष्यते] ऐसा नियम है । तब आप किस तरह कहते हैं कि
अचिरादि द्वारा कार्य हिरण्यगर्भ लोक में जाता है उसको तथा—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (सु-
षुम्नानाडी से उत्क्रमण करनेवाला उपासक अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करता है) इस श्रुति से
प्रतिपादिन अमृतत्व प्राप्ति का कथन किस तरह संगत होता है ! यह शंका का आशय है ।
इस आशय का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'कार्यात्यये' इत्यादि सूत्र । इस
सूत्र के आशय को स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार कहते हैं 'कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये'
इत्यादि । कार्य का अर्थात् कार्य ब्रह्मलोक हिरण्यगर्भलोक सत्यलोक का अत्यय विनाश हो
जाने पर द्विपराद्ध के अवसान समय में सत्यलोक का विनाश के अनन्तर काल में तदध्यक्ष
उस सत्यलोक का स्वामी अविकारिक परब्रह्म से अधिकार में नियुक्त हिरण्यगर्भ के साथ उसी
लोक में अभ्ययन करने से सम्प्राप्त विद्यावान् पुरुष इस हिरण्यगर्भ लोक से ही परब्रह्म को
प्राप्त कर जाते हैं । किन्तु चन्द्रलोकादि के समान उसलोक से पुनरावृत्ति की तरह पुनराव-
र्तन नहीं होता है किन्तु सत्यलोक से वे लोग मुक्त हो जाते हैं । क्योंकि ! शास्त्र में ऐसा

गर्भलोकात्परं ब्रह्म प्राप्नोति । कुतः ? अभिधानात् । 'ते ब्रह्मलो-
के तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' [मु० ३।२।६] इति
श्रौताभिधानादिति ॥९॥

॥ स्मृतेश्च ॥४॥३॥१० ॥

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्तेः प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृता-
त्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' [क्र.पु. १ ख. १२।२६७] इतिस्मृतेश्च
सनया ब्रह्मलोकं प्राप्ताः तत्रैव लोके अधीतविद्या कार्यब्रह्मलोके निवसन्तः परान्तकाले
द्विपरार्द्धावसानकाले] एतावानेव कालः कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ? द्विपरार्द्धत्वति-
कान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्तकल्प्यन्ते प्रलयायहि इत्यादौ तावत्काल-
स्यैवपरमेष्ठिन आयुकथनान् । तेन सहैव तदितरे तल्लोकवासिनस्तेन सहैव मुक्ताभव-
न्तीति । धौतवचनमेव प्रमाणमिति संक्षिप्तो भाष्याशयः । अधिकस्त्वन्यत्रेति ॥९॥

योहि पूर्वोक्तो विषयः श्रुत्या स्वयमेव प्रतिपादितः तमर्थं तदनुयायिन्या स्मृत्या
पि प्रतिपादित एव भवतीत्याशयेनाह स्मृतेश्चेति स्मृतिरूपेणमर्थमनुजानाति । तथाहि
ब्रह्मणासहेत्यादि [ते सर्वे सत्यलोके निवासिनो जना प्रतिसञ्चरे महाप्रलये द्विपरार्द्धान्ति-
मकाले परस्यहिरण्यगर्भस्याधिकारान्ते कृतात्मानः समागन्तिनेश्वरा ब्रह्मणा हिरण्यग-
र्भेण सहैवपरंपदं विष्णोरुत्कृष्टं पदं विशन्ति तत्र प्रविशन्तीत्यर्थः । यथा हिरण्यगर्भः
ही कहा है । 'ते ब्रह्मलोके' इत्यादि । (वे विद्वान् लोग ब्रह्मलोक सत्यलोक में निवास करते हुए
परान्त काल में द्विपरार्द्ध के अवसान काल में अमृतत्व को प्राप्त करके सर्वां संसार बन्धन से
विमुक्त हो जाते हैं ।) ऐसा श्रुतिवाक्य से कहा गया है ।

यद्यपि इतर लोकवत् सत्यलोक भी विनाशी है तथापि इतरलोक की तरह सत्यलोक से
पुनरावर्तन नहीं होता है किन्तु जो कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वे लोग सत्यलोक के
अवसानकाल में हिरण्यगर्भ के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये बादरि का जो
कथन है कि ये लोग कार्य ब्रह्मलोक में जाते हैं मुक्त हो जाते हैं वह ठीक ही है ॥९॥

पूर्वोक्त श्रुतियों से प्रतिपादित विषय को स्मृति से भी पुष्ट करते हैं 'स्मृतेश्चेति ।
ब्रह्मा का द्विपरार्ध संख्यात आयु पूर्ण होने पर ब्रह्मा के साथ ही परब्रह्मोपासक लोग भी पर

कार्यब्रह्मोपासकानर्चिरादिगणो नयतीत्यवगम्यते ॥१०॥

५ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ४।३।११ ५

एवं वादरिमत्तमुक्त्वा जैमिनिमतम् भिद्यते-परं जैमिनिरित्या-

स्वाधिकारलक्षणकार्यस्य समाप्तेरनन्तरं विष्णुपदं प्राप्नोति तथैवाराधितपरमेश्वरा-
स्तदन्येपि तल्लोकावामिनो विष्णुपदमधिगच्छत्येवेति । तस्मात्कार्यब्रह्मोपासकान-
र्चिरादिगणोनयतीति वादरिमत्तमवस्थितं भवतीति भावः । विशेषस्त्वन्यत्रावधातव्य-
इति ॥१०॥

आतिबाहिकोदेवः समुपासकं किं हिरण्यगर्भलोकं नयति किं वा परब्रह्मलोकं
नयतीति जिज्ञासायां कार्यब्रह्मलोकं नयति नतु परब्रह्मलोकं नयतीत्यत्र वादरिमत्तं
पूर्वं प्रदर्शितवान् । अतः परमेतस्मिन् विषये जैमिनेराचार्यस्य मतं दर्शयितुमुपक्रमते
एवं वादरिमत्तमुक्त्वा जैमिनिमतमभिधत्ते इति । प्रकृतविषये वादरिमत्तं प्रदर्शितं तदनुजैमि-
नेराचार्यस्य मतमपि दर्शयति विचार्यविषयस्य परिशोधनायेति 'परं जैमिनिरित्यादि ।
अयंभावः । सोपमर्चिरादिक आतिबाहिकोऽमानवो न कार्यब्रह्मलोकं समुपासकं प्राप-
ब्रह्म के नाम में प्रवेश करते हैं-ऐसी स्मृति है अतः अर्चिरादिगण उपासकों को कार्य ब्रह्म
धाम में लेजाते हैं यह मत स्थिर होता है ॥१०॥

आतिबाहिक अमानव पुरुष उपासक को ब्रह्मलोक में लेजाता है ऐसा पूर्व में कहा
गया है । उसमें कार्य हिरण्यगर्भ लोक में लेजाता है अथवा परब्रह्म के लोक में लेजाता है ?
इस प्रश्न के उत्तर में वादरि के मत से कहा कि कार्य हिरण्यगर्भ लोक में ही लेजाता है ।
परन्तु परब्रह्मलोक में नहीं लेजाता है क्योंकि परब्रह्म सर्वगत सर्वव्यापक है तो उनमें गत्या-
दिक अनुपपन्न है ।

अब इस विषय में जैमिनि के मत को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं 'एवं वाद-
रिमत्तम्' इत्यादि । पूर्वोक्त क्रम से वादरि आचार्य के मतका कथन करके इसके बाद जैमिनि
के मतको बतलाते हैं 'परं जैमिनि मुख्यत्वात्' वह आति बाहिक देवता उपासक को परब्रह्म के
लोक में लेजाते हैं क्योंकि ब्रह्म शब्द का अर्थ मुख्य ब्रह्म ही है कार्य हिरण्यगर्भ में ब्रह्म शब्द
का गौण प्रयोग होता है । इति सूत्रार्थः । सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार कहते हैं

दि । 'स एनान् ब्रह्मगमयति' इत्यादौ ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गमयत्यर्चिगादिको गण इति जैमिनिगचार्यो-
मन्यते । तात्पर्यानुपपत्तौ हि लक्षणा भवति । न म्हात्र गमनानु-

यति किन्तु परब्रह्मलोकमेव नयति । ब्रह्मलोकशब्दस्य परब्रह्मलोके मुख्यत्वात् गौणत्वं च तदन्यत्र गौणमुख्यप्रस्तावे मुख्यस्यैव प्रयोगो भवति नतु गौणस्य । मुख्य एवार्थः झटिति शक्त्या बोधितो भवति गौणार्थस्तु लक्षणया परंपर्यैव समुपस्थितो भवति । यदि मुख्यार्थप्रयोगे कश्चिद्वाचको भवति तात्पर्यानुपपत्तिर्भवति तदैव गौणार्थस्य ग्रहणं भवति अन्यथा तु न तथा । प्रकृते ब्रह्मशब्दार्थस्य परिग्रहे वाचकाभावान् तात्पर्यानुपपत्तेरपि विर-
हान् । ब्रह्मैव लोकः सत्मा १ इत्यादिस्थले ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोक इति कर्मधारयसमास-
स्यैव परिग्रहः कृतः । नतु ब्रह्मणोलोको ब्रह्मलोक इति षष्ठीतत्पुरुषस्य प्रयोगः कृतः कर्म-
धारयेतरसमासस्थले सर्वत्र पूर्वपदे उत्तरपदे वा लक्षणाश्रयणस्यावश्यं भावान् कर्मधारये-
च तदभावात् । कर्मधारयस्थले नीलो घट इत्यादौ प्रायः अभेदस्यैव बोधनात् । यद्यपि-
परमात्मा सर्वगतः तथापि ब्रह्मज्ञानिनां देशविशेषगमने एव मोक्षप्राप्तेरभिधानादिति ।

'स एनान् ब्रह्मगमयतीत्यादि' ('स एनानिति' वह अमानव पुरुष इन ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराता है) इत्यादि स्थल में ब्रह्म शब्द को परब्रह्म में ही मुख्य होने से अचिरा-
दिकगण उपासक को मुख्य ब्रह्मपद वाच्य परब्रह्म की प्राप्ति कराता है । अर्थात् ब्रह्मके प्रति जो गमन होता है वही गन्तव्य परब्रह्म है तादृश परब्रह्म के प्राप्ति अचिरादिकगण कराते हैं-
ऐसा आचार्य जैमिनि का मन्तव्य है । ब्रह्मपद कार्य ब्रह्मका बोधक लक्षणावृत्ति के द्वारा होता है ऐसा वादरि के मत में कहा था उसके समाधान के लिये कहते हैं 'तात्पर्यानुपपत्तीहीत्यादि'
जिस स्थल में वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न हो उस स्थल में (जिस तरह तीर में श्रेयपावन-
त्वादिक के अभिप्राय से वक्ता ने 'गङ्गाया घोषः' गंगा में घोष है अर्थात् ग्राम अद्विरो का-
निवासस्थल है ऐसा प्रयोग किया परन्तु यहाँ यदि गङ्गा को शक्यार्थ प्रवाह की उपस्थिती हो-
तव प्रवाह का सम्बन्ध अनुपपन्न है क्योंकि प्रत्यक्ष वाच है और वक्ता का तो तात्पर्य है-
शीतलता तथा पवित्रता में तो वहाँ तात्पर्यान्वयानुपपत्ति से गङ्गा पद का गङ्गा तीर रूप अर्थ-
में लक्षणा होती है । परन्तु प्रकृत में तो ब्रह्मपद के मुख्यार्थ का स्वीकार करने में तो किसी-
भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है जिससे लक्षणा का आश्रयण किया जाय । परब्रह्म सर्वागत-
होने से तो नित्य प्राप्त है तो उसमें गमन अनुपपन्न है ऐसा जो प्रश्न था उसका निराकरण

पपत्तिर्यतो लक्षणा स्यात् । परब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि ब्रह्मविदो देश-
विशेषगमन एव मोक्षनियमात् । ब्रह्मलोकपदेन न तावद्विरण्यगर्भ-
लोकः शक्योऽवगन्तुम् । तत्र ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इतिकर्मधार-
एवत्सर्वं बोधयितुं सूत्राश्वरन्वयाख्यातुं च भाष्यकारः प्राह स एनान् ब्रह्मगयतीत्यादि [सं-
ब्रह्मलोकादागतोऽमानवः पुरुषः एनान् समुपासकान् ब्रह्मगयति प्रापयतीत्यर्थः] अत्र
श्रुतौ विद्यमानो नपुंसक ब्रह्मशब्दः परब्रह्मण्येव शक्तः । अर्थात् प्रकृते ब्रह्मशब्दस्य परब्रह्म-
ण्येव शक्तिरिति शक्तिद्वारा परमात्मानमेव बोधयति ततश्च परब्रह्मलोकमेवातिव्राह्मिकोऽमानवः
समुपासकं प्रापयतीति । ननु कार्यब्रह्मणः कथं न ग्रहणं तत्राह तात्पर्यानुपपत्तौ हीत्यादि यदि
प्रकृते ब्रह्मपदं कार्यब्रह्मबोधयेत् तदा तत्र ब्रह्मपदस्य वृत्तिर्वाच्या वृत्तिश्च शक्तिलक्षणा न्यतर-
रूपैव तत्र यदि शक्यार्थस्य बाधस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा प्रतिसन्धानं तत्रैव ब्रह्मलक्षणा भवति
अन्यथा तु शक्तिरेव निश्चीयते । तदिहा तात्पर्यानुपपत्तिर्नास्ति येन लक्षणा प्रकृते स्यात् ।
प्रकृते ब्रह्मलोक इति वाक्ये ब्रह्मणोलोको ब्रह्मलोक इति न षष्ठीतत्पुरुषोऽपि तु ब्रह्मैवल्लोको ब्रह्म-
लोक इति कर्मधारयसमासस्यापि संभवेन न कार्यद्विरण्यगर्भलोकस्य ग्रहणम् । ब्रह्मणः
करने के लिये कहते हैं 'परब्रह्मणः सर्वगतत्वेपीत्यादि' यद्यपि परब्रह्म के सर्वगत सर्वव्यापक
होने से सर्वत्र अवस्थान है तब उसकी प्राप्ति रूप मोक्ष किस तरह होता है ! तथापि ब्रह्म-
ज्ञानी का देश विशेष में गमन होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा सिद्धान्त है । इसलिये
अर्थात् लक्षणा का समावेश नहीं होने से ब्रह्मपद से कार्य द्विरण्यगर्भ के लोक का ग्रहण नहीं
कते हैं । किन्तु यहाँ 'ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः' (ब्रह्मरूप जो लोक उसका ब्रह्मलोक शब्द से
ग्रहण है ।) यहाँ ब्रह्मलोक शब्द में कर्मधारय समास को ही माना गया है कर्मधारय समास
में विशेषण विशेष्य में तादात्म्य का ही मान होता है यथा अमेद सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वाव-
च्छिन्न प्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालीशब्द बोधका जनक नीलोवटः' इस वाक्य
में होता है । इसलिये प्रकृत में ब्रह्म का लोक ब्रह्मलोक ('ब्रह्मणोलोको ब्रह्मलोकः' इसतरह षष्ठी
तत्पुरुष समास नहीं है यहाँ षष्ठी तत्पुरुष होता तब ब्रह्म सम्बन्धी लोक ऐसा अर्थ प्राप्त होता
परन्तु यहाँ तो 'ब्रह्मैवल्लोकः सम्राट्' एतत् श्रुति समर्थित निषादस्थपति न्याय से ब्रह्माभिन्न
लोकार्थ प्रतिपादक कर्मधारय का ही सिद्धान्त किया गया है । (प्रसङ्गात् निषादस्थपति न्याय
का कुछ स्पष्ट यहाँ किया जाता है । वेद में 'निषादस्थपतिं याजयेत्' [निषाद के राजा को
याग कराना] ऐसा विधि वाक्य है । तो यहाँ 'निषादानां स्थपतिम् निषादस्थपतिम्' ऐसा षष्ठी

यसमासस्यैव निषादस्थपतिन्यायेन सिद्धान्तितत्वात् । परब्रह्मणः
सत्यसंकल्पस्य च तादृशः स्वेच्छाविगचिता अप्राकृताश्च दिव्यलोका

सर्वगतत्वेन ब्रह्मविदां तत्र गमनानुपपत्तिरिति न वक्तव्यम् यतोदेशविदेपगमने एक
मोक्षनियमात् । प्रकृते कर्मधारय समासस्य ब्रह्मलोकः सम्राट् इति श्रुत्यैवतस्य समर्थनम् ।
एवं निषादस्थपतियाजयेदिति प्रकरणे निषादानां स्थपति निषादस्थपतिमिति लक्षणा
परिग्रहमिया षष्ठीतत्पुरुषं परित्यज्य निषादश्चासीत्स्थपतिश्चेति निषादस्थपतिः तयाज-
येत् इत्येवं कर्मधारयसमास एव स्वीकृतः । तद्वत् प्रकृतेऽपि शक्योऽवगन्तुं कर्मधारय
समासमिति । परब्रह्मणोलोकोनास्तीत्यपि न शक्यम् अप्राकृतिकलोकोत्तरदिव्यतदीय
लोकस्य 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्' (यजु. अ०
६ मं. ५) 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' (अ. वे. १०।१।२।३१) 'अयोध्या
तत्परा बोध्या सान्द्रानन्दैकविग्रहा । इतीदं वर्णितं नित्यं सप्तावरणसंयुतम् ॥ श्रीसाकेता
तत्पुरुष समास भी हो सकता है (निषादों का राजा) तथा 'निषादश्चासीत्स्थपतिश्चेति निषाद-
स्थपतिः' ऐसा कर्मधारय भी हो सकता है । तो षष्ठी तत्पुरुष करने से निषाद सम्बन्धी राजा
को याग कराओ ऐसा अर्थ होगा । अब कर्मधारय समास करने से निषाद से अभिन्न जो
राजा ऐसा अर्थ होता है तत्पुरुष समास में पूर्वापद निषाद का निषाद सम्बन्धी में लक्षणा
करते हैं तथा उस निषाद सम्बन्ध का अभेद सम्बन्ध से स्थपति में लक्षणा करके मेदान्वय
बोध होता है । और कर्मधारय समास में अभेद सम्बन्ध से निषाद का अन्वय होता है स्थ-
पति में तब निषाद से अभिन्न जो स्थपति उसको याग कराना ऐसा विधि वाक्य का अर्थ
होता है । तो इस स्थिति में मीमांसा प्रकरण में संशय हुआ कि विधि वाक्य में तत्पुरुष
माने अथवा कर्मधारय माने । इसमें सिद्धान्त कहा कि तत्पुरुष समास में लक्षणा करने का
गौरव होता है और कर्मधारय में लक्षणा नहीं करने से बाधव होता है ऐसा सिद्धान्त किया
गया है । यद्यपि निषाद तो संकर जाति विशेष है तो उनको वेद में अधिकार नहीं होने से
याजन असंभवित है तथापि इस विधि वाक्य के बल से ही उसका भी अधिकार है । इसी
तरह ब्रह्मलोक शब्द में तत्पुरुष समास नहीं है जो कि कार्य ब्रह्मलोक को उपस्थित करे
किन्तु कर्मधारय समास है अतः मुख्य ब्रह्म का ही बोध होता है । यह जैमिनि का मत है ।

मुख्य परब्रह्म का लोक नहीं है ऐसा जो मानने वाले हैं उनके मत को निराकृत करने
के लिये माध्यकार कहते हैं 'परब्रह्मणः सत्यसंकल्पस्येवादि' 'सत्यसंकल्पः' वह भगवान् सत्य

अपि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रतिपाद्यन्त इति ॥११॥

ॐ दर्शनाच्च ४।३।१२ ॐ

‘एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य

भिधानं श्रीरामधामपरात्परम् । रामधाम्नः स्वरूपञ्च माहात्म्यं मुनिसत्तम ॥’ (वशि-
ष्टमंहिता २६।१७१-१७२) इत्याद्यागमोक्तेः श्रुतिस्मृत्यादिषु श्रुतत्वात् । तस्मात् पर
ब्रह्मलोकेवामानवः पुरुष उपासकं नयतीति जैमिनेरभिप्राय इति स्थितम् । विशेषवि-
चारस्त्वन्यत एवावधानव्यस्तदिः संक्षेप एवकृतः ॥११॥

यो हि ब्रह्मज्ञानी सुषुम्नानाडीद्वारा शरीराद्विनिर्गन्त्यदेवयानेन मार्गेण गच्छति
तादृशविदुषः परब्रह्मप्राप्तिरवश्यमेव भवतीति श्रुतिः स्वयमेव दर्शयतीतीममर्थं द्योतयितु
मुपक्रमते एष सम्प्रसादः इत्यादि । एषः करणकलेवराद्यभिमानी सम्प्रसादोजीवः अस्मात्
शरीरात् पादकौशिकात्स्थूलशरीरात् समुत्थायमूर्धन्य-सुषुम्नानाडीद्वारेण समुत्थाय वि-
संकला बाह्य है इत्यादि श्रुति बोधित सत्य संकल्पादि गुणवान् परब्रह्म सर्वेश्वर श्रीसीतानाथ का
विलक्षण स्वेच्छारचित अप्राकृतिक लोकोत्तर स्वोत्पादित दिव्यलोक है ऐसा यजुर्वेद अथर्वेद
वशिष्ट संहिता में श्रीरामधाम वर्णन तथा श्रीराम प्राप्तिपद्धति और श्रीमद्दूरामायण में सान्तनिकलोक
आदि के रूप में श्रुति स्मृति इतिहास पुराणादिकों में प्रतिपादन किया गया है ।

एतादृश परब्रह्म के दिव्यलोक में ब्रह्मज्ञानियों को अमानव पुरुष अर्चिरादि मार्ग से
पहुँचाते हैं । ऐसा जैमिनि का मत है यह सिद्ध हुआ ॥११॥

जो ब्रह्मज्ञानी सुषुम्नानाडी द्वारा इस शरीर से उत्क्रमण करके देवयान मार्ग से जाता है
तादृश ब्रह्मज्ञानों को परब्रह्म की प्राप्ति अवश्यमेव होती है इस बातको श्रुति स्वयमेव बतलाती
है । इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार व्याख्यान करने के लिये उपक्रम करते हैं
‘एष सम्प्रसादः’ इत्यादि ।

यह ब्रह्मोपासक सम्प्रसाद जीव इस परिदृश्यमान पाद कौशिक स्थूल शरीर से समुत्थाय
निकल करके देवयान मार्ग से जाता हुआ परम ज्योतिः स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके स्व
कीय जो स्वरूप है उससे अभिनिष्पन्न होता है अर्थात् जीव का शेयी जो परमात्मा है उस

स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।३।४] इति श्रुतिर्दर्शयति सूर्यन्य-
नाड्यानिस्मृतस्यार्चिगदिना ब्रह्मप्राप्तिम् ॥१२॥

॥ न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ४।३।१ ३ ॥

यश्चार्चिगदिना गतस्य कार्यब्रह्मणि प्रत्यभिमन्धिः 'प्रजापतेः
सभां वेश्मप्रपद्ये' इत्यनया श्रुत्यावगम्यते । सोऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्म-
णि ज्ञेयः । न च कार्ये हिरण्यगर्भे । कुतश्चैतत् ? तस्याभिमन्धानुः
निर्गत्य परंज्योतिः स्वरूपं सर्वस्यादिकारणं परमात्मानम् उपभम्पद्य-संप्राप्यस्वेन स्व
कीयरूपेण अभिनिष्पन्नोभवतीति । इयं समुदाहृता श्रुतिः सुपुत्रानाडीद्वारेण शरीरा-
द्वयो ब्रह्मज्ञानी निःसरति निःसृत्य च देवयानेन मार्गेण गच्छति तादृशोपासकस्य पर
ब्रह्मप्राप्तिमेवेतिदर्शयति ॥१२॥

यत्तु पूर्वमुक्तं यत् अर्चिरादिकोगणउपासकान् कार्यहिरण्यगर्भलोकं नयति प्रजा-
पतेः सभां वेश्मप्रपद्ये इत्यादि श्रुत्याप्रजापतिलोकप्राप्तस्य अहं प्रजापति सभां प्राप्तवानस्मीति
प्रतिसन्धानं भवति तेन हिरण्यगर्भलोकस्यैव प्राप्तिमर्चिरादिगणः करोति न परमात्मलोकं
प्रापयति तत्र तादृशप्रत्यभिसन्धेरभावान् । इति तद्बुद्ध्ययितुमुपक्रमे यश्चार्चिगदिनागतस्य
इत्यादि । अर्चिरादिमार्गेण गतस्योपासकस्य कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भे एव अहं प्रजापति
को प्राप्त कर भगवत्कृपा से आविर्भूत गुणाष्टक स्वरूप श्रीरामशेषत्व अनुभव करना हुआ सर्वो-
श्वर की सेवा के कार्यादि में स्थिर हो जाता है । यह जो छान्दोग्य श्रुति है यह बतलाती
है कि सूर्यन्य नाड़ी द्वारा इस शरीर से उत्क्रान्त तथा देवयान मार्ग से विनिर्गम्य ब्रह्मज्ञानी को
अवश्यमेव परब्रह्म की प्राप्ति होती है यह बात श्रुति सिद्ध है । ॥१२॥

'मैं प्रजापति के सभा को प्राप्त किया हूँ' एतादृश प्रतिसन्धान ब्रह्मप्राप्त उपासक को
होता है इसलिये अर्चिरादिक गण उपासक को कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ के लोक में ही ले जाते
हैं ऐसा जो पूर्व में कहा था वह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मप्राप्त पुरुष को 'यशोहंभवामि'
इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है तादृश उपासक को सर्वस्वभाव का ही प्रतिसन्धान होता है
नतु कार्य ब्रह्म में प्रतिसन्धान होता है । इत्यादि विषय का प्रतिपादन करने के लिये भाष्य-

‘यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्’ [छा० ८।१४।९] इति वाक्यशेषे
सर्वात्मभावाभिमन्धानात् । अतोऽर्चिरादिको गणः परमेव ब्रह्मोपा-
सीनं नयतीति जैमिनिमुनेर्मतम् ॥१३॥

५ अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण

उभयथा च दोषात्तत्कतुश्च ४।३।१४५

तदेवं जैमिनेर्मतम्प्रदर्शयेदानीं स्वमतेन सिद्धान्तमाह भग-
वद्गृह्यप्रवचनस्मीति प्रतिसन्धानं भवति इति प्रजापते सभां वेश्म इत्यादिश्रुत्या प्रत्याख्यते
तदपिनोपपद्यते यतस्तादृशप्रत्यभिसन्धः परमात्मन्येव ज्ञातव्यो नतु कार्यब्रह्मणि ज्ञात-
व्यः । यस्मान् प्रत्यभिसन्धानकर्तुरुपासकस्य यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम् इत्यादिवाक्यशेष
गतवाक्यशेषेण अहं सर्वात्मभावं प्राप्तवानस्मीतिकमेण सर्वात्मभावस्यैव प्रत्यभिसन्धानश्रव-
णान् । तस्मादर्चिरादिकोगणो न कार्यब्रह्मणि तं नयति किन्तु परस्मिन्नयतीति जैमि-
निमतमेव सिद्ध्यतीति संक्षेपः ॥१३॥

पूर्वं वादस्मिन्तेनोपासकः कार्यहिरण्यगर्भलोकं देवयानमार्गेण गच्छतीति वादरि-
मतं प्रदर्शयितुं उपासकमर्चिरादिगणो मुख्यमेवब्रह्मलोकं नयति गौणमुख्ययोर्मध्येमुख्यस्यैव
कार उपक्रम करने हैं ‘यश्चार्चिरादिना गतरूप’ इत्यादि । ‘प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये’ (प्रजा-
पति कार्य हिरण्यगर्भ के सभा को प्राप्त किया हूँ) इत्याकारक प्रत्यभिसन्धि=अनुसन्धान होता
है अतः अर्चिरादिक गण कार्य ब्रह्म के प्रति उपासक को लेजाते हैं यह पूर्वोक्त श्रुति से जाना
जाता है । एतादृश प्रत्यभिसन्धि भी परब्रह्म में ही होती है किन्तु हिरण्यगर्भ लोकगत ब्रह्मा में
उपासक की प्रत्यभिसन्धि नहीं होती है । इस बात को किस तरह जानते हैं ? क्योंकि उस
अभिसन्धान कर्त्ता पुरुष को ‘यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्’ इसप्रकार वाक्य शेष में उपासक को
सर्वात्मभाव का ही प्रतिसन्धान होता है ऐसा कहा है । इसलिये अर्चिरादिक गण उपासक को
परब्रह्म समीप में ही लेजाते हैं नतु कार्य हिरण्यगर्भ लोक में लेजाते हैं । ऐसा जैमिनि मुनि
का मन्तव्य है । इति संक्षेपः ॥१३॥

इस अधिकरण के प्रकृत सूत्र से पूर्ववर्ती तीन सूत्रों से जैमिनि मत का प्रतिपादन

वान् बादरायणः 'अप्रतीकालम्बनानित्यादि' । अचिरादिको गणोऽ-
प्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतीरितान् नयतीति भगवान् वा-
दरायण आचार्यो मन्यते । प्रतीकालम्बनान् कार्यब्रह्मोपासकानेव
वा नयतीति न नियमः । किन्तु ये परं ब्रह्मोपासते ये च प्रत्यगा-
त्मानं प्रकृतिवियुक्तस्वरूपं ब्रह्मात्मकमुपासते—तथा भूतान्नयतीति

प्राधान्यमभ्युपगम्य जैमिनेर्मते प्रदर्शितवान् सम्प्रति सिद्धान्तभूतं स्वकीयं मतं दर्शयितुं
मुपक्रमते भाष्यकारः तदेवं जैमिनेर्मतमित्यादि । परं जैमिनिमुख्यत्वादित्यादिसूत्रेण जैमिनि-
मुनेर्मते प्रदर्शितवान् सम्प्रति स्वकीयं सिद्धान्तं दर्शयितुमाह अप्रतीकालम्बनानित्यादि ।
अन्यत्रान्यदृष्टिप्रक्षेपः प्रतीको यथाशालग्रामादिषु विष्णुदृष्टिकर्मणम् । ततश्च प्रतीका-
लम्बनव्यतिरिक्तानुपासकानचिरादिकातिवाहिकदेवोनयतीति भगवान् बादरायणो मन्यते
इति । अर्थात् प्रतीकालम्बनान् नयति अथवा कार्यब्रह्मोपासकानेव वा अचिरादिको
करके [अर्थात् अचिरादिक गण उपासक को मुख्य ब्रह्मलोक में ही लेजाते हैं क्योंकि 'स एतान्
ब्रह्मगमयति' इस श्रुति में ब्रह्म शब्द का मुख्य ब्रह्म रूप ही अर्थ है गौणवृत्ति का आश्रय
करके कार्य ब्रह्म का ग्रहण करने में कोई हेतु नहीं है । इत्याकारक जैमिनि मत का प्रद-
र्शन करके] सम्प्रति स्वकीय मत से सिद्धान्त को श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के सातों आचार्य भग-
वान् बादरायणजी बतलाते हैं 'अप्रतीकालम्बनानित्यादि' अचिरादिक गण अप्रतीकालम्बन अर्थात्
प्रतीकालम्बन उपासक को [अन्य में अन्य दृष्टि करके जो उपासन हो उसको प्रतीकोपासन
कहते हैं यथा विष्णु भिन्न प्रतिमा में विष्णु बुद्धि से अर्थात् यह विष्णु है इसप्रकार से जो
उपासन किया जाता है उसको प्रतीकोपासन कहते हैं ।] एतद् व्यतिरिक्त उपासक को ब्रह्म
लोक में लेजाते हैं ! ऐसा बादरायण आचार्य का मन्तव्य है । जो प्रतीकालम्बन हैं अर्थात्
प्रतीकोपासक हैं अथवा कार्य ब्रह्म का उपासक है उन्हीं को अचिरादिक गण ब्रह्मको प्राप्त
कराते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है । किन्तु जो शुद्ध परब्रह्म का उपासन करते हैं तथा जो
प्रकृति वियुक्त स्वरूपक प्रत्यगात्मा को ब्रह्मात्मक स्वरूप से उपासना करते हैं तादृश उपासकको
अचिरादिक आतिवाहिकगण ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराते हैं ऐसा ही नियम है ।

उपर्युक्त ही नियम है इसको आप किस तरह समझते हैं जैमिनि मत मुमंगत क्यों
नहीं है ! एतादृश शंका का समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—'उभयथा च दोषात्'

नियमः । कथमिदमवगम्यते ? उभयया च दोषात् । कार्यमुपासीना
नितिपक्षे 'अस्माच्छरीरात्ममुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपे-
णाभिनिष्पद्यते (छा० ८।३।४) इत्यस्याः श्रुतेर्व्याकोपः । परमेवो-
पासीनानिति पञ्चाग्निविदोऽपि गमनदर्शनात् 'तद्य इत्थं विदुः' रित्या
दिश्रुतेर्व्याकोप इत्युभयथापि दोषात् । तस्मात्पूर्वोक्त एव नियमः ।
अत्र दृष्टान्तमाह 'तत्क्रतुश्चेति । 'यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भव

गणो नयतीति नियमो न विद्यते किन्तु ये परमात्मानमुपासते अथवा प्रकृतिवियुक्त
शरीरकंजीवान्मानं ब्रह्मात्मकत्वबुध्योपासनं कुर्वन्ति तान् सर्वान् अचिरादिकोगणो
नयतीति मिद्धान्तः । तत्र हेतुं दर्शयति उभयथाचेत्यादि यदिकार्यब्रह्मोपासीनान् गमय-
न्त्यचिरादिगमस्तदा अस्माच्छरीरात् समुत्थायेत्यादि श्रुतः समापतति । अथ यदि शुद्धपरम
ब्रह्मोपासकानेव गमयन्त्यतिवाहिकोगण इति पक्षस्तदा तद्य इत्थं विदुः इत्यादि तपश्चाग्निविद्या-
वतां परब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति श्रुतिविरोधो भवेत् । तस्मान्न पूर्वोक्तपक्षद्वयेऽपि समावेशः । किन्तु
इति । यदि अनुपद कथित कार्य ब्रह्मका उपासन करनेवाले उपासक को अचिरादिकगण ब्रह्म
प्राप्ति को कराते हैं इस पक्ष को माना जाय तब तो 'अस्माच्छरीरादित्यादि' [उपासक नाडी
द्वारा इस शरीर से उत्क्रान्त होकरके देवयान मार्ग में जाकर के परमज्योतिः स्वरूप परमात्मा
को प्राप्त करके स्वकीय रूप से अर्थात् स्वका शेष जो परमात्मा उसके समान अभिनिष्पन्न
गुणाएक वाला हो जाता है] इस श्रुति का विरोध होता है । अर्थात् यदि अचिरादिकगण
कार्यब्रह्मोपासक को प्राप्त कराते हैं तब तो वे कार्य द्विगुण्यगर्भ में ही लेजायेंगे । परन्तु यह
उपर्युक्त श्रुति तो परब्रह्म की प्राप्ति को बतलाती है इसलिये श्रुति विरोध स्पष्ट रूप से
होता है ।

अथवा परमब्रह्म के जो उपासक हैं उन्हीं को अचिरादिकगण ब्रह्म प्राप्ति कराते हैं इस
द्वितीय पक्ष को मान लिया जाय तब तो यह पक्ष भी ठीक नहीं है जो पञ्चाग्नि विद्योपासक
है उनको देवयान मार्ग से गमन होता है ऐसा जो शास्त्र में प्रतिपादन किया है उसका
विरोध होता है 'तद्य इत्थं विदुः' रित्यादि' [जो उपासक इसप्रकार से उपासन करते हैं अर्थात्
पञ्चाग्नि विद्या का उपासन करते हैं तथा जो अरण्य में निवास करके श्रद्धा तप का अनु-
ष्ठान करते हैं=उपासन करते हैं वे लोक अर्चिष मार्ग को=देवयान मार्ग को प्राप्त करते हैं]
इस श्रुति का विरोध होता है । इस तरह उभय पक्ष में दोष होने से पूर्वोक्त नियम ही उप

ति तथैतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१।४।३) 'तं यथा यथोपासते' इति न्यायात् यथोपासकस्तथैव प्राप्नोति । एवञ्च प्रकृतिवियुक्तस्य ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानस्यैव सर्वथोपादेयत्वं तत्कतुन्यायात्मिदृश्यतीति सिद्धान्तः ॥१४॥

॥ विशेषञ्च दर्शयति ४।३।१५ ॥

नामादिप्रणवपर्यन्तप्रतीकोपासकानां फलविशेषमेव श्रुतिर्दर्श-

ये परमात्मानमुपासते तथा प्रयुक्तप्रत्यगात्मानं परब्रह्मात्मकत्वदृष्ट्योपासनां कुर्वन्ति तेषामेवाचिरादिकौगणोमुख्यब्रह्मलोकं प्रापयति । तत्कतुश्चेति यथैह लोके कतु संकल्पा नुकूलो भवति तथैव तत्रापि भवति तं परमात्मानं यथायथोपासतेतथैवभवतीति । तस्मान्नपूर्वोक्तमतद्वयमपिसाधु किन्तुभाष्योक्तमतमेवश्रेय इति संक्षेपः ॥१४॥

ये च ब्रह्मोपासकास्तथा च ये प्रतीकोपासकाः तेषां फलविशेषं श्रुतिः स्वयमेव युक्त है । अर्थात् जो उपासक परब्रह्म को उपासना करते हैं तथा जो प्रकृति वियुक्त प्रत्यगात्मा को ब्रह्मात्मकत्व बुद्ध्या उपासन करते हैं उनको अचिरादिगण ब्रह्म प्राप्ति कराते हैं यही पक्ष ठीक है ।

प्रकृत विषय में सूत्रकार दृष्टान्त बतलाने हैं 'तत्कतुश्चेति' 'यथाकतुर्गिन्यादि' [यादृश संकल्पवाला पुरुष इसलोक में होता है उसी तरह यहाँ से उत्क्रान्त होकर के तादृश संकल्प के अनुकूल ही होता है] 'तं यथा यथेत्यादि' ['उस परम पुरुष का जिस जिस प्रकार से उपासन करता है उसी तरह से होता है'] इस न्याय से जिस तरह से उपासना करता है तादृश तादृश उपासना के अनुकूल ही फल को प्राप्त करते हैं । ऐसा हुआ तब प्रकृति वियुक्त प्रत्यगात्मा का ब्रह्मात्मकत्व दृष्टि से जो अनुसन्धान=अर्थात् उपासन है यही पक्ष सर्वथा उपयुक्त है । अर्थात् प्रकृति स्वरूप से रहित प्रत्यगात्मा का परमात्मकत्व बुद्धि से उपासन करनेवाले को अचिरादिगण परब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं यह तत्कतु न्याय से सिद्ध होता है अतः यही सिद्धान्त श्रुति युक्त है ॥१४॥

नामादिक प्राण पर्यन्त प्रतीकोपासन में पूर्वापूर्वापेक्षया उत्तरोत्तर प्रतीकोपासन में फल विशेष को बतलाने के तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं—'नामादि

यति 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' [छा० ७।१
५।] इति । अतः परब्रह्मोपासकान् प्रत्यगात्मानञ्च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मा
त्मकमुपासीनांश्चार्चिगदिको गणोनयतीति सिद्धम् ॥१५॥

इति कार्याधिकरणम् ॥५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसायाः श्रीआनन्दभाष्ये

५ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ५

दर्शयति । तत्र ब्रह्मोपासकानामर्चिगदिसापेक्षगतिदर्शयित्वा ब्रह्मप्राप्तिक्षणं फलं
दर्शयति प्रतीकोपासकानां तु गतिनिरपेक्षन्यूनाधिकफलं दर्शयति । तत्र नाम प्रतीकादा-
रभ्य प्राणपर्यन्तप्रतीकोपासनस्य फलविशेषदर्शनायोपक्रमते नामादिप्राणपर्यन्त प्रतीकोपा-
सकानामित्यादि वाग्वानासोभूयमी मनोवावाचोभूयः इत्यारभ्य यावत् प्राणतत्तदुपासनस्य
तत्रास्ययथा कामचारोभवतीति स च फलविशेषः प्रतीकविशेष एव । यदि प्रतीकोपासनस्य
गतिसापेक्षम् ब्रह्मप्राप्तिरेवफलम् तदा ब्रह्मप्राप्तिक्षणस्यन्यूनाधिकभावस्याभावात् समा-
नेरस्यान् । किन्तु प्रतीकोपासने एकापेक्षया प्राणपर्यन्ते फलविशेषमेवश्रुतिर्दर्शयति ।
तस्मान्न प्रतीकोपासकानां ब्रह्मप्राप्तिमर्चिगदिसापेक्षम् । किन्तु ब्रह्मोपासकानामेव
तथा प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मनि ब्रह्मात्मकदृष्ट्योपासकानामेव गतिसापेक्षं ब्रह्मप्राप्ति
फलमिति सिद्धम् । विशेषस्त्वन्यत्रानुसन्धातव्यः । इति कार्याधिकरणम् ॥१५॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादः ॥३॥

प्राणपर्यन्तेत्यादि' नाम से लेकर के प्राण पर्यन्त प्रतीक के उपासन करनेवाले उपासक को
प्रतीक के अनुकूल फल विशेष की प्राप्ति होती है अर्थात् पूर्व पूर्व प्रतीकापेक्षया उत्तरोत्तर में
फल विशेष की प्राप्ति होती है । इस बात को श्रुति बतलाती है 'यावन्नाम्नः' इत्यादि (जहाँ
तक नाम का गमन होता है वहाँ तक नामोपासक को स्वेच्छाचार होता है) इति । अतः
इस परब्रह्म के जो उपासक हैं उनको तथा प्रकृति वियुक्त जीवात्मा का ब्रह्मात्मकत्व दृष्टि से
उपासन करने हैं उन उपासकों को अर्चिगदिकगण ब्रह्मलोक में लेजाते हैं ऐसा सिद्ध हुआ । १५।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र

शिष्य आनन्दभाष्यसिद्धासनासीनजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादः ॥३॥

५ श्रीरामः शरणं मम ५

श्रीरामचन्द्राय नमः

श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसायाश्चानन्दभाष्ये

५ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ५

अथ सम्पद्याविर्भावधिकरणम् ॥१॥

५ सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ४।४।१५

एवं ब्रह्मविदोऽर्चिरादिना पुनरावृत्तिवर्जितं गमनं तेन च ब्रह्म प्राप्तिमभिधाय मुक्तानामैश्वर्यनिर्णय इदानीं क्रियते । तत्रोदं श्रूयते—
'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्ममुत्थाय परं ज्योतिरुपमम्पद्यस्वेन

तुरीयाध्यायीयतृतीयपादान्तप्रकरणे परमात्मोपासकानां तथा ये प्रकृतिस्वरूप विद्युक्तं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकत्वबुद्ध्योपासनं कुर्वन्ति तेषां कृते न स पुनरावर्तने इत्यादि वेदान्तवाक्योदिता पुनरावृत्तिस्वरूपाऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोके गमनं भवतीति प्रतिपादितम् । ततः परमिह तुरीयपादे मुक्तस्य सांसारिककर्ममलवियुक्तमोक्षपदवीं प्राप्तस्य कीदृशमैश्वर्यादिकं प्राप्तं भवतीति विचारयितुमुपक्रमते भगवान् भाष्यकारः एवं ब्रह्मविदोऽर्चि

परब्रह्म का जो उपासक है उनको तथा प्रकृति वियुक्त प्रत्यगात्मा को ब्रह्मात्मक रूप से उपासन करनेवाले हैं उनको अर्चिरादिमार्ग द्वारा गमन होता है जो कि पुनरावर्तन रहित है इस बातका कथन चतुर्थाध्याय के तृतीय पाद में कहा गया है । इसके आगे मुक्त पुरुषों की क्या स्थिति है तथा ऐश्वर्यादिक किस प्रकार का है इस बात का निर्णय करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एवं ब्रह्मविदः' इत्यादि । इसनरह चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद में ब्रह्मज्ञानी को अर्चिरादि मार्ग द्वारा 'नच पुनरावर्तने' (अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में प्राप्त जो जीव उसका पुनः वहां से आवर्तन नहीं होता है) इत्यादि श्रुति प्रतिपादित पुनरावृत्ति रहित होता है और उससे उस ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मकी प्राप्ति होती है इसका कथन किया गया है । इसके बाद जो मुक्त पुरुष हैं उनका स्वरूप तथा उनके ऐश्वर्य का निर्णय अब यहाँ चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पाद में किया जाता है । मुक्त पुरुष के स्वरूप तथा ऐश्वर्य के

रूपेणाभिनिष्पद्यते [छा० ८।१२।२] अत्र संशयः । किं परज्योति-
रूपसम्पन्नस्य कर्मसाध्यदेवादिरूपाभिनिष्पत्तिवत् ब्रह्मविद्यासाध्येन
केनापि रूपेण सम्बन्धोऽनया श्रुत्याभिधीयत आहोस्वित्स्वाभाविक
स्य स्वरूपस्यैवाविर्भाव इति । तत्र साधनानां साध्यनिष्पादकत्वदर्श

रादिनेत्यादि पुनरावृत्तिवर्जितमिति न स पुनरावर्तते [सोर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तिविक्षणं सुखे
कृतानं मोक्षं प्राप्तवानुपासकः पुनरपि तस्मान्मोक्षस्थानात् न निवर्तते । अर्थात् प्रती-
काद्युपासनया तत्तल्लोकं स्वर्गादिकं प्राप्यापि सुखकारणपुण्यकर्मणां भोगेनपरिसमा-
प्त्यनन्तरं स्वर्गस्थानात् प्रतिनिवृत्त्यपुनरागमनधर्मकं संसारचक्रं नातिवर्तते तथा मोक्ष
स्थानं सकृन्प्राप्य समुपासको भगवत्कृपापात्रो न तत्स्थानान्निवृत्त्य पुनः संसारचक्रमा-
सादयति किन्तु 'भगवन्तमुपेतस्य पुनर्जन्मनिषेधनात् । श्रीरामं समवाप्तोऽयं कर्मयोनिं
न गच्छति ॥ आनन्दीनाथ जीवोऽयं रामं प्राप्य रसात्मकम् । समिच्छति पुनर्जन्म
दुःखालयमशाश्वतम् ॥ सत्यसन्धः प्रतिश्रुत्यप्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्तयेद्भये नैनं
श्रीरामः श्रितवत्सलः ॥ (श्रीरामप्राप्तिपद्धतिः ४७-४९) इत्याद्याचार्योक्तेः श्रीसाकेतेस्थिर

विषय में यह वक्ष्यमाण प्रकार का श्रवण होता है । 'एवमेवैव' इत्यादि [इस तरह यह सम्प्र-
साद जीव-इम पाद कीशिक करण कलेवर से सुपुत्रानाडी द्वारा समुत्थित होकर के=उत्क्रान्त
होकर के परज्योति परब्रह्म को प्राप्त करके स्वकीय रूप जो अपहृतपाप्मत्वादि है उन रूपों
से अभिनिष्पन्न=आविर्भूत होता है ।] इस विषय में यहाँ संशय होता है कि क्या परमज्योति
परमात्मा में अभिनिष्पन्न जीव को कर्मसाध्य देवादिभावों की जो प्राप्ति होती है उसकी तरह
ब्रह्मविद्या के द्वारा होनेवाला जो कोई विच्छेदन अर्थात् पूर्वाप्राप्त किसी विशेष रूप से सम्बन्ध
होता है [अर्थात् जिसतरह मनुष्य कर्म के द्वारा देव को प्राप्त करता है वह देवत्व मनुष्य
का स्वभाव नहीं है किन्तु विच्छेदन पूर्वाप्राप्त देवत्व को प्राप्त करता है उसी तरह स्वाभाविकेतर
किसी अपूर्व धर्म को प्राप्त करता है ।] और विच्छेदन वस्तु के साथ जीव को सम्बन्ध होता
है अर्थात् विच्छेदन पदार्थ विशिष्ट रूप से सम्बन्ध होता है इस तरह यह 'एवमेवैव' इत्यादि
श्रुति कहती है । अथवा ब्रह्म सम्पन्न जीव को स्वाभाविक स्वरूप का ही आविर्भाव होता
है । अर्थात् जीव का जो स्वकीय स्वाभाविक स्वरूप है तावन्मात्र का आविर्भाव होता है ।
एतादृश संशय होता है ।

नात् कर्मसाध्यदेवादिरूपसम्बन्धवद्विद्यासाध्येन रूपेण सम्बन्ध एवेति
प्राप्तेऽभिधीयते—सम्पद्याविर्भाव इति । कर्मफलस्यानित्यत्वेन तद्
दृष्टान्तस्यात्रानवकाशात् । अत्रतृपासनरूपविद्यया कर्मरूपाविद्या-

स्थितिकोभवतीत्यर्थः । इत्यादिश्रुतिसमर्थितं तथा 'आवृज्यभुवनान्लोकाः पुनरावर्ति-
नोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते' इत्यादिस्मृतिसमर्थितं च गमनं
प्रतिपाद्य तेन गमनेन ब्रह्मप्राप्तिः समर्थिता ततः परमिदमीयाध्याये मक्तानामेदमर्थ
निर्णयः क्रियते इति ।

तत्रेदं वक्ष्यमाणविषयवाक्यं श्रुतं भवति एवमेवैषः इत्यादि (एवमनेन प्रकारेण एषः
करणकलेवरादिमान् जीवः अस्मात् परेदृश्यमानान् शरीरान् पादुकीशिकान् समुत्थाय
समुत्क्रम्य देवयानेन मार्गेण परं ज्योतिः उपगन्तव्यं सर्वस्यापि प्राप्यन्वेनाभिलषितं
परमात्मानम् अभिसंपद्य—प्राप्य स्वेन रूपेणानादिकर्मजनिताविद्यातिरोधानगदितवास्त
विकस्वीयरूपेण अभिसम्पद्यते अभिसम्पन्नो भवति । यथा कारणवशादाविलंजलंमालि
न्य प्रयोजककारणविवर्जितं सन् स्वकीयशौक्ल्यादिनाऽभिगतं भवति तथैवानादिकर्म-
रूपाविद्याच्छादितोजीवो भगवदुपासनयानिर्मलीकृततनुर्भवतीत्यर्थः ।] अत्र संशयः इति ।
प्रकृतवाक्यविषये संशयो जायते इति । संशयाकारमेव दर्शयति किं पर ज्योतिरूपसम्पन्नस्ये
त्यादि । येन प्रकारेण कर्मसाध्यदेवादि अपूर्वाकस्मिकस्वरूपेणाभिर्भवति समुत्पद्यते

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जो कारण होता है वह कार्य का जनक होता है
ऐसा नियम है क्योंकि अनन्यथासिद्ध कार्य के नियमतः पूर्ववृत्त को कारण कहते हैं एता-
दृश पदार्थ कार्य का उत्पादक नहीं हो तब तो उसका कारणता ही विद्यमान हो जायगी ।
कर्म से जायमान देवत्व रूप की प्राप्ति जिस तरह यगकारी को प्राप्त होता है वह देवत्व
रूप कर्मकारी को प्रथम में नहीं था किन्तु कर्म से जायमान अपूर्व विच्छिन्न रूप की प्राप्ति
होती है । उसी तरह प्रकृत में परमेश्वरोपासन लक्षण जो विद्या तादृश विद्या से जायमान एक
विच्छिन्न रूप का उगमक में उत्पन्न होता है नतु पूर्ववस्थित अनोपाधिक स्वकीय रूपका
प्रादुर्भाव होता है । जिस तरह इयाम घट में अग्नि संयोग रूप निमित्त कारण के बल से
रक्तिमा की उत्पत्ति है जो कि पाक के पूर्व में नहीं थी उसी तरह प्रकृत में विद्या के बल
से जीव में एक नवीन धर्म ही उत्पन्न होता है जो कि विद्या की उत्पत्ति से पूर्व में नहीं

तिरोहितस्यात्मस्वरूपस्य तिरोधाननिवृत्त्या स्वाभाविकरूपस्याविर्भावो भवत्यतोऽयं प्रत्यगात्माऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरूपसम्पद्याविद्यातिरोधानविग्रहितं स्वाभाविकस्वरूपाविर्भावरूपं विद्याफलं प्रा

तथैव परंज्योतिरूपसम्पन्नस्यापूर्वस्वरूपेण जननं भवति अथवा स्वाभाविकस्य स्वरूपस्या विर्भावमात्रं भवति नतु तदतिगितं किमपि रूपान्तरं भवतीति । तत्र प्रथम एव पक्षः यथामृत्तिकादिकारणकलापजनितं घटादिकमपूर्वमेवपूर्वापेक्षया भवति कारणस्यापूर्ववस्तुत्पादकत्वस्यान्वयव्यतिरेकमिद्वन्वात् । अन्यथा तत्रत्यंकारणत्वमेव निवृत्तांस्यादिति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरपक्षस्तु मोक्षस्य वेदैकसमधिगततया त्रैदिककार्यस्य दृष्टान्तसाध्यत्वस्याभावात् । अनुमानादिगम्येऽर्थेन प्रसरादिति । अतः कर्मसाध्यदेवादिभावापत्तिर्नाभिनिवृत्तिः । किन्तु कर्मात्मकाविद्यामलावृतस्य जीवस्योपाधिकधर्मस्योपासनात्मकविद्यया स्वकीयस्वरूपप्राप्तिरेव । यथा स्वभावतः प्रतिविम्बोद्ग्राहकमपि दर्पणजलादिवाष्पमलादिनाऽपहस्तितस्वरूपो न स्वस्मिन् प्रतिविम्बदर्शने शक्तं भवति तदेव यदा ईष्टकादि या पर नवीन धर्म का उत्पत्तिः परब्रह्मापसन्न जीव में समुत्पन्न होता है । यह पूर्वपक्ष का आशय है ।

इस तरह के प्रश्न को निराकरण करने के लिये भगवान् सूत्रकार कहते हैं 'सम्पद्या-विर्भाव' इति । कर्म का जो ऐहिक अथवा पारलौकिक फल है वह अनित्य है क्योंकि वह कारण कलाप से जायमान होता है । जो कारण समुदाय से जन्य होता है वह अनित्य होता है घटादिवत् । स्वर्गादिक फल भी अनित्य है कारण जन्य होने से । और मोक्ष रूप फल अनित्य नहीं है किन्तु नित्य है । यद्यपि स्वर्गादिक फल जिस तरह कर्म जन्य होने से अनित्य है उसी तरह मोक्ष भी तो विद्या जन्य है इसलिये मोक्ष को भी अवश्यमेव अनित्य ही होना चाहिये । तथापि मोक्ष विद्या जन्य होने पर भी अनित्य नहीं है क्योंकि मोक्ष का विशेषी जो पुण्यापुण्य लक्षण कर्म रूप अविद्या है उसका विनाश मात्र विद्या से होता है मोक्ष तो 'य आत्मा अपहृतपाप्मा' इस श्रुति से बोधित पाप राहित्य जीव का स्वरूप है । दुःखाभाव को ही नैयायिक लोग मोक्ष कहते हैं । यद्यपि दुःखाभाव मात्र मोक्ष नहीं है किन्तु दुःखाभाव विशिष्ट मोक्ष है इसमें विद्या तो दुःखाभाव में प्रयोजक है । अतः विशेषणांश मात्र में विद्या में प्रयोजकत्व है विशेष्यांश तो भगवत् प्रपत्ति के अधीन है । अतः अनित्य कर्मफल को मोक्ष का दृष्टान्त देने का अवसर नहीं प्राप्त होता है ।

नोति नत्वपूर्वाकारोत्पत्तिरूपम् । कुतः ? स्वेनशब्दात् । 'स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' इति रूपविशेषणेन स्वेनेति कथनेनागन्तुकस्वरूपपरिग्रहस्य व्यावर्तनाद् ॥१॥

चूर्णेननिर्गमितमलं स्वस्वरूपसमन्वितं भवति तदास्वस्मिन् सम्प्राप्तस्वरूपः प्रतिविम्बादिकमुद्ग्राहयति तत्रेष्टकादिचूर्णेन नापूर्वं किमप्युत्पाद्यते किन्तु तद्गतौपाधिकमल निराशेन तदीयानौपाधिकस्वरूपमेवाविर्भावयति । तद्वत् प्रकृतेऽनादिकर्मात्मकाविद्यातिरस्कृतस्वरूपोजीवो हीनमध्यमोत्तमस्थितिकसंसारसागरं प्रविश्यजन्मजरामरणादिदुःखेन मोमुक्षुमानो भगवत्कृपापराङ्मुख इतस्ततः परिभ्रमन् शिरस्ताडंरोदितीवप्रतिभवति । यदातु भगवदुपासनपर्यायरूपविद्ययातिरस्कृतमलो भवति तदा परंज्योतिरूपसम्पद्यस्वकीयानौपाधिकस्वरूपेणालिङ्गितः कामिन्यालिङ्गितकामुक इव सुप्रसन्नचित्त आत्मानं कृतकृत्यं मन्यमानस्त्यजति संसारचक्रमिति । एतत्सर्वं निष्कृत्यभाष्यकारः शास्त्रानिश्चयं दर्शितवानिति संक्षेपः । विशेषस्तु भाष्याशयविद्धिरेवावधानव्ययः । वयं तु केवलंभाष्याक्षरविवेचका एवेति ॥१॥

इस वस्तु को स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'अवनूपासन रूप विद्ययेत्यादि' यहाँ प्रकृत में तो परमेश्वर के उपासन रूप जो विद्या तादृश विद्या से कर्म स्वरूप अविद्या रूप तिरोधान तिरोहित आत्म स्वरूप का पूर्वोक्त विद्या से उस तिरोघायक का विनाश हो जाने से आत्मा का जो अपहनपापम्वादिका स्वरूप है उसका आविर्भाव होता है । इसलिये यह प्रत्यगात्मा इस शरीर से उत्क्रमण करके देवयान मार्ग से ब्रह्म सम्पन्न होकर के अनादि कर्म लक्षण अविद्या लक्षण तिरोधान=स्वरूपाच्छादक से रहित होकर के स्वाभाविक अनौपाधिक स्वकीय स्वरूप के आविर्भाव लक्षण विद्याफल को प्राप्त करता है । किन्तु अपूर्वाकार लक्षण का उत्पत्ति रूप फल को प्राप्त नहीं करता है ।

इस बातको अर्थात् अविद्या तिरोधान विरहात् स्वकीय रूप को प्राप्त करता है किन्तु अपूर्वाकार की उत्पत्ति को नहीं प्राप्त करता है इस बात को किस तरह समझते हैं ! इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'स्वेन शब्दात्' इति । 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [स्वकीय रूप से अभिनिष्पन्न होता है] इस श्रुति में रूप का विशेषण रूप से 'स्वेन' इत्याकारक स्व शब्द के कथन से जीव में आगन्तुक औपाधिक धर्मका व्यावर्तन=निषेध किया गया है ॥१॥

॥ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ४।४।२ ॥

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात्कः पुनः पूर्वावस्थातो विशेषो येन 'उपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति वचनं सार्थकं स्यादित्यत्राह 'मुक्तः प्रतिज्ञानादिति' । 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यनेन कर्मसम्बन्धतत्कृतदेहादिसर्वानर्थविनिर्मुक्तः स्वाभाविकेन रूपेण समवस्थित उच्यते । पूर्वन्तु अवस्थात्रयकलुषितः संसारी चेति

अथ जीवस्य यत् स्वाभाविकं यदपहृतपाप्मत्वादिकं तस्य स्वरूपत्वान्नित्यप्राप्तत्वे संसारवस्थामोक्षावस्थयोः कोविशेषः स्यात् तदुभयावस्थायामपि स्वरूपस्य विद्यमानत्वात् । यद्युभयोः कश्चिद्विशेषोभवेत्तदैव स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति वचनस्य सार्थक्यं भवेदित्याद्यांकायानिराकरणाद्योपक्रमे ननु स्वरूपस्यनित्यप्राप्तत्वात् इत्यादिभाष्यम् । यदि स्वरूपं नित्यप्राप्तमेव तदा संसारवस्थामोक्षावस्थयोः कोभेदः स्यात् अर्थात् नैवावस्थाभेदोभवेत् । यतः स्वरूपस्योभयावस्थायां समानत्वात् तस्य च नित्य प्राप्तत्वा

जब आत्मा का स्वरूप नित्य है तथा सर्वदा प्राप्त है तब 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नो भवति' इत्यादि श्रुति से किस नवीनता का कथन होता है इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'ननु स्वरूपस्य नित्य प्राप्तत्वादित्यादि' आत्मा का जो अपहृत पाप्मत्वादिक स्वरूप है वह तो नित्य प्राप्त है तब फिर पूर्व अवस्था में अर्थात् संसारवस्था से मोक्ष दशा में क्या विशेषता है जिससे 'उपसम्पद्य स्वेन' इत्यादि । [यह जीव परब्रह्म में उपसन्न होकर के स्वकीय रूप से अभिनिष्पन्न होता है । इत्यादि श्रुति में सार्थकता किस रूप से होती है । अर्थात् जब सत्तावस्था में जीव को स्वकीय स्वरूप प्राप्त ही है तब उपसंपत्ति के अनन्तर में क्या विशेषता है अर्थात् कोई भी विशेषता नहीं है तब तो श्रुति व्यर्थ है ? इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'मुक्तः प्रतिज्ञानादिति' ।

सूत्राभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार कहते हैं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि 'स्वेन रूपेण' इस श्रुति से पुण्यपापात्मक कर्म सम्बन्ध के द्वारा सम्पादित जो शरीर कारणादिक प्रतिकूल वेदनीय अनर्थबाध उनसे विनिर्मुक्त होकर के स्वाभाविक रूप से अवस्थित

विशेषः कर्मरूपाविद्याकृतं यदात्मस्वरूपस्य तिरोधानं तन्निवृत्तिपूर्वकं यः स्वाभाविकस्वरूपस्याविर्भावः सः 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति वाक्यविषयः । कुतश्चैतद्विज्ञायते तत्राह—प्रतिज्ञानात् । 'य आत्मा पहनपाप्मा विजरः' [छा० ८।७।१] इति प्रकृत्य 'सोऽन्वेष्टव्यः स वि जिज्ञासितव्यः' इत्यनेनाविद्यासम्बन्धकृतजरासृत्युशोकादिमकलदोष विनिर्मुक्तस्यात्मनोऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वञ्चाभिधाय यस्ता-

दित्याशयः प्रश्नस्येति । उत्तरयति । सूत्रकारः मुक्तः प्रतिज्ञानादिति सूत्राशयं विवृणोति भाष्यकारः स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्यनेन इत्यादि । मुक्तः अर्थात् पूर्वपूर्वतरम्भोपा- र्जितशुभाशुभकर्मसम्पादितकरणकलेवरादिलक्षणनानार्थसमुदायेन विनिर्मुक्तः सर्वथा तदीयसम्बन्धविरहीतो जीवः मोक्षावस्थायां स्वाभाविकापहनपाप्मन्वादिरूपेणावस्थितः स्वरूपाभिन्न इति कथ्यते । अर्थात् संसारावस्थायाम् जाग्रदादिलक्षणावस्थात्रयेण कलुषितः संसारीतिपदेन व्यवहृतो भवति । मोक्षावस्थायां तु तादृशावस्थात्रयविरहितः स्वरूपप्राप्तो मुक्त इति कथ्यते, अयमेव भेदः पूर्वपरावस्थयोर्भवति । संसारावस्थायां जीवस्य यत्स्वाभाविकं रूपं तत् स्वरूपं तत्तु कर्मणः सम्बन्धातिरोहितं मोक्षे तु विद्यमानिरोधा- रहता है अर्थात् सर्व अनर्थ समुदाय से रहित होकर के जाना जो स्वकीय वास्तविक रूप है उससे युक्त हो जाता है यह बात 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुति में प्रतिपादित होती है । स्वस्वरूप के आविर्भाव से पूर्व में यह जीव अवस्था त्रय=जागरित स्वप्न और सुषुप्ति में कलुषित तथा संसारी था । यही विशेषता थी । परन्तु कर्म रूप अविद्या से सम्पादित जो आत्म स्वरूप का तिरोधान है तादृश तिरोधान का उपासना लक्षण विद्या से निवृत्ति पूर्वक जो स्वाभाविक रूपका आविर्भाव हो जाता है यहाँ 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस वाक्य का विषय है । अर्थात् यथोक्त वाक्य से प्रतिपादित होता है ।

अविद्या तिरोधान पूर्वक स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव होता है । किन्तु नवीन किसी धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है इस बात को किस तरह जानने हैं ! इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'प्रतिज्ञानादिति' 'य आत्माऽपहन' इत्यादि । [जो आत्मा अप-हनपाप्मा है तथा जराजन्मशोकादि से रहित है] इत्यादि प्रकरण से प्रक्रान्त क के 'सोऽन्वेष्टव्यः'

दृशमात्मानं विजानाति 'स सर्वांश्चलोकानान्नोति सर्वांश्चकामान्'
[छा० ८।७।१] इति तादृशात्मस्वरूपविदः सर्वलोकसर्वकामप्राप्तेः
प्रतिज्ञानात् । तस्मादत्र परंज्योतिरूपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पत्तिः
कर्मसम्बन्धविमुक्तिरूपा मुक्तिरेवाभिधीयते स्वाभाविकस्वरूपावि-
र्भावः स एवास्य जीवात्मन इति ॥२॥

नात्मककर्मनिवृत्तौ अभिव्यज्यते इत्येवार्थः स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्न इति वाक्येन कथ्यते ।
कथमयमर्थोऽप्ययत इति जिज्ञासां निवर्तयितुमाह प्रतिज्ञानादिति अयंभावः य आत्माऽपहृत
पाप्मा मोन्वेष्टन्योविजिज्ञामितव्य इत्यादिश्रुतिभिः अविद्यकजरामरणादिकसांसारिक
दोषरहितस्यैवात्मनोन्वेष्टणविषयत्वं तथा जिज्ञासाविषयत्वं प्रतिपाद्य एतादृशात्मज्ञानवत
उपसर्गस्य सर्वकामप्राप्तेः प्रतिज्ञातत्वात् । तस्मादत्र संसारदशातः कर्मकृतानर्थविनि-
र्भोक्षलक्षमुक्तिपूर्वकस्वरूपाविर्भाव एव जीवस्य मोक्ष इति श्रुतिभिः प्रतिपादितोभवतीति
राक्षेपः । विस्तरस्त्वन्यत्रेति ॥२॥

(एतादृश स्वाभाविक भुण विशिष्ट आत्मा अन्वेष्टणीय है तथा जिज्ञास्य है) इत्यादि श्रुतियों से
अविद्या सम्बन्ध से सम्पादित जो जरामृत्यु तथा शोकादिक सकल दोष से त्रिनिर्मुक्त=रहित
आत्मा में अन्वेष्टन्यत्वं तथा जिज्ञास्य का कथन करके जो एतादृश आत्मा को जानता है
अर्थात् एतादृश आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करता है वह 'सर्वांश्चलोकानित्यादि' (वह सर्व
लोक को तथा सर्वकाम=सर्व कामनीय पदार्थ को प्राप्त करता है) इस श्रुति से आत्म
ज्ञानियों को सर्वलोक तथा सर्व काम प्राप्ति का कथन किया गया है ।

इसलिये प्रकृत प्रकरण में परमज्योति स्वरूप परमात्मा को उपपन्न होकर के स्वस्वरूप
प्राप्ति को ही कर्म सम्बन्ध विनिर्मुक्ति स्वरूप मोक्ष का कथन किया जाता है अर्थात् स्व-
कीय स्वरूप का आविर्भाव ही इस आत्मा का होता है । अर्थात् स्वरूप का आविर्भावमात्र
होता है यही आविर्भाव कर्म सम्बन्ध राहित्य रूप मोक्ष है । मोक्षावस्था में एतादृश स्वरूप
का केवल आविर्भाव होता है किन्तु विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है यह सिद्ध
हुआ ॥२॥



॥ आत्मा प्रकरणात् ४।४।३ ॥

ननु यस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुक्ता तस्य तत्स्वरूपं किं शब्दवाच्यं किं लक्षणञ्चेत्यपेक्षायामाह—‘आत्मा प्रकरणात्’ । अय-

ननु आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तौविद्यमानत्वेऽपि तत्रानन्दादिगुणस्याप्रकाशमानत्वेन भवति पुरुषार्थत्वस्यादर्शनात् तथैव मोक्षे स्वरूपस्याविभावेषि पुरुषार्थत्वं न स्यादिति मोक्षशास्त्रस्य पुरुषार्थावबोधकत्वं न स्यादिति यथाकर्मसाध्यदेवत्व प्राप्तिवत् सुखमम्य-
न्ध्यवस्थान्तरप्राप्तिरेवाभिनिष्पत्तिरिति यदुक्तं तस्य समाधानायाह आत्माप्रकरणादिति ।
य आत्माऽपहृतपाप्मा इत्यारभ्य सत्यसंकल्पान्तः गुणाः प्रत्यगात्मन एवेति उत्तरादेशा
विर्भूतस्वरूप इति सम्प्रतिपादितम् । तस्मादपहृतपाप्मत्वादिस्वरूप एव प्रत्यगात्मेति
प्रकरणादवगतो भवति । यद्यपि जीवस्य गुणाः स्वाभाविकाः संसारदशायामपि विद्यन्ते
एव तथापि यथामलावृतस्य मणः प्रकाशाख्योगुण आवृत इवभवति किन्तु इष्टकादि
चूर्णेण धृष्टोमलापनयने प्रकाशगुणोविभाति तथैव संसारदशायामविद्ययावृतस्वरूपस्य
ते स्वाभाविका अपिगुणा न भान्ति किन्तु ब्रह्मविद्ययाकर्माख्याविद्यालक्षणमलापनयने
प्रकाशिता एव भवन्ति । ततो न मोक्षशास्त्रस्य त्रैयर्थ्यं नवा अभिनिष्पत्तिरुत्पत्ति

प्रश्न=जिस प्रत्यगात्मा के स्वकीय स्वरूप की अभिनिष्पत्ति कहा गई है उसका जो तादृश स्वरूप है वह किस शब्द के द्वारा प्रतिपादित होना है तथा उसका लक्षण क्या है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार बतलाते हैं ‘आत्मा प्रकरणात्’ इति । (जिसका स्वकीय रूप से अभिनिष्पत्ति होती है वह जीवात्मा है इस बातको प्रकरण द्वारा समझा जाना है ऐसा सूत्रका संक्षेप अर्थ होता है ।) इसके बाद इस सूत्र का सिद्धान्त के अनुकूल विस्तार रूप से अर्थ करते हैं । ‘अयमात्मा’ इत्यादि । यह आत्मा=जीवात्मा स्वरूप से तो श्रुति प्रतिपादित अपहृतपाप्मत्वादि सत्य संकल्पान्त गुणवाला ही है । ऐसा क्यों ! इस प्रश्न का उत्तर देते हैं ‘प्रकरण से यह अर्थ ज्ञात होता है’ । ‘य आत्माऽपहृतपाप्मेयादि’ (जो यह जीवात्मा अपहृतपाप्मा है जरा रहित है मृत्युजन्मशोक प्रति सर्व कर्म संपादित गुणों से रहित है ।) इत्यादि प्रकरण से जाना जाता है कि यह जीवात्मा स्वरूप तो विशुद्ध गुणवाला ही है नतु औषाधिक गुणवान् है । इस बात को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार कहते हैं ‘अयमाशयः’ इत्यादि ।

मात्मा स्वरूपेणापहतपाप्मत्वादिगुणक एव । कुतः ? प्रकरणात् । 'यथा त्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' [छा० ८।७] इति प्रकरणादवगम्यते । अयमाशयः । कर्मसंज्ञयाऽविद्यया तिरोहितस्वरूपः संसारीत्युच्यते । स एव ब्रह्मविद्ययास्माच्छरीरात्समुत्थायार्चिरादिना परं रूपोर्थः । इत्यादिकं सर्वमावेदयितुं भाष्यकार उपक्रमते ननु यस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरित्यादि यस्य जीवस्य स्वेन रूपेण अपहतपाप्मादिगुणकतयाऽभिनिष्पत्तिः प्रतिपादिता तदीयं तादृशस्वरूपं केन शब्दविशेषेण प्रतिपादितं भवति किं लक्षणकं तस्य स्वरूपं च किमिति शङ्काशयः । उत्तरयति आत्माप्रकरणात् अयंजीवः अपहतपाप्मत्वादिगुणक एव स्वभावत इति प्रकरणेन ज्ञायते इति सूत्रार्थोऽमुकुलितः ।

एतदेव विभज्यदर्शयितुमाह भाष्यकारः अयमात्मा स्वरूपेण इत्यादि । तत्र हेतुं दर्शयितुं शङ्कते कुतः ? इति । समादधाति प्रकरणादिति अपहतपाप्मत्वादिका जीवात्मनः स्वाभाविका एव नतु परोपाधिका इति प्रकरणादेवावगता भवन्तीत्यर्थः । य आत्माऽपहतपाप्मा=इत्यारभ्य सत्यसंकल्प इत्यन्तप्रकरणेनैवज्ञापितं भवति उत्तराच्चेदाविर्भूत स्वरूपः इति सूत्रे सर्वमेव तत्प्रतिपादितम् ।

एतत्सर्वं विभज्यदर्शयितुमाह भाष्यकारः अयमाशयः इत्यादि । स्वाभाविकगुणविशिष्टजीवात्मस्वरूपस्याच्छादकः शुभाशुभलक्षणः पदार्थः स चाविद्येति । तथा कर्मलक्षणयाऽविद्ययाऽच्छादितगुणोजीवः संसारभागित्युच्यते । यथा परानपेक्षप्रकाशस्वभावोऽपि सविता मेघाडंवरेणाच्छादितस्वरूपो नविभाताव प्रतिभाति । यथा स एव सविता वायुनातिरस्कृतमेघाच्छादकेन स्वयंप्रकाशोलोकेनावगतो भवति तथैव परमेश्वरोपासनालक्षणविद्ययातिरस्कृतमलः स्वाभाविकगुणविशिष्टयापरमात्मानमुपसम्प-

इस प्रकरण का आशय है कि शास्त्र विहित यागादि क्रिया से जायमान तथा शास्त्र प्रतिषिद्ध क्रिया ब्रह्महत्या परकीय घनापहार पर स्त्री गमन पातक महापातक उपपातक मलिनीकरण सुरापानादिक क्रिया जनित जो शुभाशुभ कर्मापर्याय अविद्या एतादृश स्वरूपाच्छादक अविद्या से तिरोहित स्वाभाविक स्वरूपवान् जीव संसारी कहलाता है । अर्थात् अविद्या लक्षण आच्छादन से आवृत्त होकर के तादृश अविद्या के बल से हीन मध्यम तथा उत्कृष्ट अत्युत्कृष्ट कर्म करके हीन मध्यम तथा उत्कृष्टगति द्वारा देवनारक मनुष्यपशुतिर्यगादि योनियों में परिभ्र

ज्योतिरुपसम्पद्याविद्यातिगोधाननिवृत्त्याविर्भूतस्वरूपो मुक्त इत्युच्यते । अस्य चात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्ता ये गुणा ये ज्ञानानन्दादयो गुणास्ते संसारदशायां तिगोहिता आमन् । ततस्त एव गुणा विद्यया विनष्टे कर्मबन्धे परंज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवन्ति । तथा चोक्तम्

द्याविर्भूतनिजस्वरूपः कर्ममलरहितोमुक्त इति व्यवह्रियते । तत्र मलावरणदशायां न किञ्चिदप्यस्यावगतं किन्तु व्यवहारमात्रेण बद्ध इति व्यवहारविषयोभवत् मलाभावे जातेऽस्मिन्न किमपि दौर्शिष्ट्यमागतं किन्तु मलापनयनप्रयुक्तमुक्त इति व्यवहारमात्रमेवेति । तदयमर्थोऽविद्यया मलिनीकरणं भवति विद्ययामलविनाशेन निर्मलीकरणमेव भवतीति ।

इममर्थं समर्थयितुं पुराणवचनान्यप्युदाहरति तथाचोक्तम् इत्यादि । यथा मणः-मलप्रक्षालनात् तदीयज्योत्स्नाप्रकाशविशेषो न क्रियते नोत्पादिता भवति मणिज्योत्स्नायाः प्रकाशः प्रतिबन्धमलस्यैवापसारणं भवति नतु तदीयः प्रकाशः समुत्पाद्यते किन्तु मणौ स्वभावेन विद्यमान एव प्रकाशोमलेनावरुद्ध आसीत् तेन न प्रकाशोऽभवत् प्रतिबन्धकापसारेण तत्र मणौ वर्तमान एव विलक्षणः प्रादुर्भवति नतुत्पद्यते मणिना सहैव तस्य समुत्पादात् उत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तेरसंभवात् । अन्यथा कपालादिकारणसमुदायेनैकदासमुत्पन्नोपि घटः पुनरुत्पद्येत कारणकलापस्य विद्यमानत्वादिति नोत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिः किन्तु तस्याविर्भावतिरोभावौ पुनः पुनर्भवन्तौ दृश्यते । यथा तमसाऽवृतो घटः प्रकाशे सति आविर्भवति तदभावे पुनरपि रात्रौ तमस्विन्यातिरो भवति पुनः सूर्योदये प्रादुर्भवन् दृश्यते । तथा तेनैवरूपेण दोषस्य कर्मबन्धनरूपस्य विद्यया विनाशे मण करता है । ऐसा कहा भी है 'योनिमन्ये प्रवर्तन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्ये तु सज्जन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्' इसप्रकार से संसार चक्र में घटा यन्त्र के समान दिनरात चलता हुआ संसारी पद वाच्य होता है ।

और जब वही जीव भगवत् कृपा से प्राप्त ब्रह्मविद्या के द्वारा इस पारदर्शमान शरीर से उत्कमण करके अर्चिरादि मार्ग से परमज्योति स्वरूप परमात्म को प्राप्त करके अविद्या लक्षण जो आवरण आच्छादक की निवृत्ति विनाश हो जाने पर जीवका वास्तविक जो अपहृतपाप्म

‘यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ।

दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥ वि.ध. १०४।५५।

यथोदपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम् ।

सदेवनीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ? ॥ वि.ध. १०४।५६।

जाते तादृशविनाशात् आत्मनो जीवस्य ज्ञानगुणो न क्रियते नोत्पाद्यते । अर्थात् आत्म-
नोगुणोज्ञानादिको जीवे विद्यते एव किन्तु कर्मरूपविद्ययातिरोभूतः तस्य विद्ययावि-
नाशे प्रतिबन्धकाभावात् तत्र स्थित एव प्रादुर्भवति नतु पुनरुत्पादितो भवति कर्मलक्षण
प्रतिबन्धकस्य विनाशेन नवा केनचिदन्येन मणिज्योत्स्नेवेति । तस्मादात्मनि विद्यमाना
एवगुणाः अविद्याविनाशे विद्यावलेन प्रादुर्भवन्तीति प्रथमश्लोकस्यार्थः ।

यथावा उदपानं जलाशयः कूपस्तडागोतस्य करणेन जलंनोत्पादितं भवति किन्तु
भूगर्भस्थितस्य प्रतिबन्धकप्रतिबद्धस्य प्रतिबन्धकस्य मृत्तिकादेरप्रसारणाद्विद्यमानजलम्
आविर्भवति । यतः सतो वस्तुन एव अभिव्यक्तिर्भवति नतु असत आविर्भावः कुत्र
चिदपिदृष्टः किं कुत्रचिदपि बन्ध्यापुत्रस्थोत्पत्तिराविर्भावो वा भवति । यदि कदाचिद्
सतोपि करणंभवेत्तदाबन्ध्यापुत्रादीनामप्युत्पत्तिराविर्भावो वा भवेत् । तथा चोक्तं
सांख्यैः ‘अमदकरणादुपादानप्रहाणात् सर्वमम्भवाभावान् शक्तस्य शक्यकरणात् कारण
भावाच्चमत्कार्यमिति । तथा भगवता कृष्णेनापि प्रतिपादितम् ‘नासतो विद्यतेभावो
नाभावोविद्यते सत’ इति । एतावता सतामेवप्रादुर्भावोन्नवसतामाविर्भाव इति सिद्धम् ।
अनेनैव प्रकारेण जीवस्थितकर्मजनितहेयगुणानां विद्यावलेनाविद्या विनाशपूर्वकवि-
नाशे जाते तदनन्तरं स्वभावतो विद्यमाना एव बोधानन्दादिकागुणामोक्षदशयां प्रादु-
र्भूता भवन्ति । हि यतः एते ज्ञानानन्दादयो जीवस्य गुणाः नित्याः स्वभाविका एव
कत्वादि स्वरूप है तादृश स्वरूप का आविर्भाव हो जाने पर वह मुक्त स्वरूप जीव हो जाता
है अर्थात् भुक्त पद वाच्य कहलाता है ।

इस जीवात्मा का जो स्वाभाविक अपहृतपाप्मत्वादिक सत्यसंकरुत्वादिक गुण समुदाय
है तथा ‘सत्यंज्ञानमानन्दम्’ इत्यादि श्रुति प्रतिपादित ज्ञान तथा आनन्दादिक गुण समुदाय हैं
वे सब गुण संसार काल में अविद्या से तिरोहित हो गये थे । और जब भगवत्कृपा से वे सब
गुण विद्या से कर्मबन्धन रूप अविद्या का नाश हो जाने पर परमज्योति लक्षण परमात्मा में
उपसन्न होने पर वे सब गुण समुदाय का आविर्भाव हो जाता है ।

तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ।

प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥ वि. ध. १०४।५७।

इति । तस्मात्सम्पद्याविर्भाव इति युक्तमुक्तम् ॥३॥

इति श्रीआनन्दभाष्येसम्पद्याविर्भावविकरणम् ॥१॥

नतु कारणजनिताः येन कुतश्चिदुत्पत्तिं प्राप्नुयुरिति । तस्मा 'सम्पद्याविर्भावः' इति यदुक्तं सूत्रकारेण तत्सर्वं समीचीनमेवेति संक्षेपः ।

यथा न क्रियते ज्योत्स्नेत्यादि येन प्रकारेण मणिः प्रक्षालनमन्तरेण प्रकाशं न करोति किन्तु प्रक्षालितमणिनैव ज्योत्स्ना क्रियते तथैव दोषविनाशमन्तरेणात्मानो ज्ञानादिकाः स्वाभाविका अपि संसारदशायां न विभाविताः भवन्ति किन्तु विद्यया कर्मणामपगमे तदीयाः स्वाभाविका गुणाः प्रकाशिता भवन्ति नतु जनिता भवन्ति सतामेव समुत्पादो भवति नन्वसतां तन् भवति ना सतो विद्यतेभाव इति गीतावचनान्न हि मित्रतातस्तैलोत्पत्तिर्भवति किन्तु तिलेनैतदुत्पत्तिः । तथैव प्रकृते कर्मसंपादित हेयगुणानां विनाशाद् ज्ञानादयोगुणा आविर्भूता भवन्ति नतु कर्माभावात्तदुत्पत्तिरभावाद्भावोत्पत्तेरनभ्युपगमान् । तथात्वेऽतिप्रसंगात् । तस्मान् ज्ञानानन्दादयो गुणार्कमभिरात्मनि संकुचिता भवन्ति परमात्मनि समग्रकर्मबन्धक्षये जाते विकाशरूपाविर्भावस्तेषामानन्दादि गुणानां भवति नतु ततस्तदुत्पत्तिर्भवतीति रात्रमार्गः । अतः सम्यगुक्तं सम्पद्याविर्भावः इति दिक् ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे सम्पद्याविर्भावविकरणम् ॥१॥

इसी तरह विष्णु पुराण में शौनक ऋषि ने भी कहा है 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना' इत्यादि । जैसे ज्योत्स्ना मणि का मल प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश से मणि को प्रकाशित करती है वैसे ही ज्ञान आत्मा का प्रक्षालन नहीं करता अपितु उसे प्रकाशित मात्र करता है । जैसे कि जल स्नान से व्यक्ति शरीर से स्वच्छ होता है उसकी आत्मा शुद्ध नहीं होती है वैसे ही हेयगुणों के नष्ट होने से आनन्द आदिगुणों का प्रकाश हो जाता है उत्पन्न नहीं होते वे तो आत्मा के स्वाभाविक नित्य गुण हैं । अतः सूत्रकार ने जो 'सम्पद्याविर्भाव' कहा है वह अति युक्ति युक्त है ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे सम्पद्याविर्भावविकरणम् ॥१॥

५ अविभागेन दृष्टत्वात् ४।४।४ ५

किमयं परं ज्योतिरुपसम्पद्य प्रक्षीणकर्मबन्धः प्रत्यगात्मा ब्रह्म-
विभागेन तिष्ठत्याहोम्बिदविभागेनेति संशये 'पृथगात्मानं प्रेरितारं
च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' [श्वे० १।६] इति स्वस्मात्पृथग्भू-
त्वा सेवितात्परमात्मनः पृथक्त्वेन जीवस्थितेः सत्वाद् ब्रह्मविभागे-

निवृत्तमर्वकर्मबन्धनो मोक्षभावं प्राप्नो जीवस्तत्काले परब्रह्मणा सहविभक्तो भूत्वा-
ऽवतिष्ठते अथवा परमेश्वरेणाविभक्त एवावतिष्ठते' इति श्रुतिविप्रतिपत्त्या संशयोभवति ।
तत्र स तत्र पयोति जक्षन् कीडन इत्यादि श्रुत्या जीवस्याधेयत्वं परमात्मनश्चाधिकरणता दर्श-
यति नहि आधाराधेयभावोऽन्येताभेदे संभवति । नहि भवति घटे घट इति प्रतीतिर्भ-
वति च घटभूतलोभेदे सत्येव घटवद् भूतलमित्याधाराधेयसंभावप्रतीतिः । प्रकृते च
जीवब्रह्मणोरधाराधेयभावस्य श्रुत्यो प्रतिपादनादुभयोर्विभाग एव । तथा 'ज्ञाज्ञौ जीवे-
जावीशानीशौ' पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा इत्यादि स्थलेऽपि विभागस्य प्रतिपादान्मुक्ता
वस्थ जीवस्य विभागेनैवावस्थानं भवति नत्वविभागेनेति । यद्यपि अहंब्रह्मास्मीत्यादाव
विभागेनापि कथनं कृतमिति अविभागोऽपि तदुभययोः संभवति तथापि तत्त्वमस्यादीनां
जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदे न तात्पर्यम् किन्तु जीवः स्वस्मादभिन्नं परमात्मानं मत्वा तदु-
पासनं कुर्यादित्यभिप्रायेण तदुभयोरभेद कथनमित्यत्रैव तात्पर्यस्य निर्णीतत्वात् । तस्माद्

मुक्त जीव मोक्षावस्था में विभक्त होकर के रहता है अथवा अविभक्त होकर के रहता
है । इसका निर्णय करने के लिये अविभागाधिकरण का उपक्रम करते हैं 'किमयं परं ज्योति-
रित्यादि' क्या यह जीव परम ज्योति को सम्पन्न होकर के विनष्ट हो गया है, सकल कर्मबन्धन
जिसका एतादृश प्रत्यगात्मा मुक्त जीव पर ब्रह्म से विभक्त होकर के अवस्थित रहता है अथवा
परमात्मा से अविभक्त अर्थात् तादात्म्यापन्न होकर के अवस्थित रहता है । ऐसा संशय होता है ।
विभागाविभाग प्रतिपादक श्रुतियों के विप्रतिपत्ति से यह संशय होता है ।

एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि 'पृथगात्मानमित्यादि' [यह उपासक
जीव स्वसे भिन्न तथा जीवों के प्रेरयिता परमात्मा को जान करके उसके सेवन करके उस पर-

नावतिष्ठत इति प्राप्तेभिधीयते-अविभागेनेति । 'अजो ह्येको जुष-
माणोऽनुशेते' [श्वे० ४।५] इति जीवस्याजत्वेन नित्यत्वात् । 'आ-
काशवत्सर्वगतश्चनित्यः, अन्तः प्रविष्टः शास्त्रा जनानां सर्वात्मा, अयं
मात्मा ब्रह्म, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' [बृ० ३।७।२२] इत्या-
विभागपूर्वकमेवमोक्षेजीवस्थानमिति नतु अविभागेनावस्थानमिति पूर्वपक्षाशयः ।

सिद्धान्तस्तु-अविभागेनैव मोक्षेजीवस्यावस्थानं नतु विभागेनावस्थानम् । कुतः !
तथादृष्टत्वात् तथैव तत्त्वमसि अहंब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिषु दर्शनेन अविभागेनैवावस्था-
नमिति । तमिमं संशयपूर्वपक्षोत्तरपक्षानाकलय्य सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते भगवान् भाष्य-
कारः किमयं परं श्रुतिरूपसम्पद्येत्यादि ।

विनष्टसर्वकर्मबन्धनो जीवः परमात्मानं विद्यया समवाप्यमोक्षमुखमनुभवन् पर-
ब्रह्मणविभक्तोभूत्वाऽवतिष्ठतेऽविभक्तोवाभूत्वा तदानीभवतिष्ठते इति संययः । तत्र पुन-
गात्मानमित्यादि [स्वस्मात् पृथग्भूतं स्वस्य च प्रेरकं परमात्मानं ज्ञात्वा तं सेवया सेव-
मानः तदीयकृपयैवामृतत्वं मोक्षमाप्नादयति एतदर्थकं श्रुत्या तयोः परस्परविभागश्च-
णेत तथा स तत्र पर्येति इत्यादि श्रुत्योर्भयोराधाराधेयभावप्रतिपादनेन तथा यदापर्यः
पश्यतेरुक्मवर्णम् इत्यादि कर्तृकर्मभावव्यपदेशेन तदुभयोर्भेदस्यावश्यकत्वात् । नहि भव-
मात्मा के द्वारा अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करता है ।] इस प्रकार स्वमे पुण्य परब्रह्म को मान
करके उपासित परमात्मा से पार्यक्य रूप से जीवस्थिति का प्रतिपादन होने से मुक्त जीव ब्रह्म
से विभक्त होकरके ही मोक्षावस्था में अवस्थित रहता है । एवं 'स तत्र पर्येति जक्षन् कीडनरम-
माणः, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' इत्यादि स्थल में आधाराधेय भाव तथा कर्तृ कर्मभाव का
कथन है तो आधाराधेय भाव तथा कर्मकर्तृभाव तो अमेद में ही नहीं सकता है क्योंकि विरोध
है । इसलिये मोक्षावस्था में ब्रह्म से विभक्त होकर के ही जीव का अवस्थान होता है ऐसा
पूर्वपक्ष का आशय है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'अविभागेनेत्यादि' मोक्षा-
वस्था में जीव ब्रह्म के साथ अविभागपूर्वक ही रहता है अर्थात् ब्रह्म से अविभक्त होकर के ही
रहता है क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि तत्त्वमसि' इत्यादि स्थल में ब्रह्मजीव के अविभाग का प्रतिपादन
किया गया है । यह सूत्र का संक्षिप्त अर्थ होता है । इसीका स्पष्टीकरण करने के लिये कहते

द्यासु श्रुतिष्वात्मपरमात्मनोर्व्याप्यव्यापकत्वनियम्यनियन्तृत्वश्रवणाद्
व्याप्यनियम्यस्वरूपस्थितिप्रवृत्त्योस्तद्व्यापकनियन्त्राधीनत्वोपपत्तेः ।

व्याप्यस्य व्यापकापृथक्सिद्धेश्च व्याप्यव्यापकयोरविभागेन स्थित्यु-

न्यभेदे आधाराधेयभावः कर्मकर्तृभावश्च नहि भवति भूतले भूतलम् तथा न भवति
स्वः स्वं पश्यतीति प्रतीतिः । तत्कस्य हेतोः ? स्वस्मिन् स्वस्य भेदाभावात् । तस्माज्जीव
स्य मोक्षकाले विभागेनैवावस्थानमिति पूर्वपक्षस्याशयः इति । एवं प्राप्तेसिद्धान्तोऽभि
धीयते अविभागेनेति अजोद्येकः आकाशकसर्वगतः इत्यादिना जीवपरमात्मनोर्व्याप्यव्यापक
त्वस्य नियम्यनियन्तृत्वस्य प्रतिवादानात् व्याप्यव्यापकयोर्वह्निधूमयोर्देशकालकृत अवि-
भागेनैवावस्थानदर्शनेनाविभाग एव जीवपरमात्मनोरिति । किञ्च अहं ब्रह्मास्मि तत्त्वम-
सीत्यादि श्रुतिभिरपि जीवस्य परमात्मनाऽविभागः प्रदर्शितो भवति । नच मायिकमत
प्रवेशापातः ? शेषशेषप्रकारप्रकरणभावस्य स्वीकारेण तन्मतप्रश्नस्य भ्रममूलकत्वात् ।

हं 'अजोद्येक' इत्यादि [एक अत्रन्माजीव प्रकृति का अनुगमन करता है और मुक्तभोग अन्य
जीव प्रकृति को छोड़ देता है । इत्यादि स्थल में जन्म रहित होने के कारण से जीव में नित्य-
त्व का प्रतिपादन किया गया है । तथा 'आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः' [यह जीव आकाश की
तरह सर्वगत है तथा नित्य है] 'अन्तः प्रविष्टः' [सभी के अन्तः प्रविष्ट होकर के प्रशासन
करने वाला सर्वोत्तम है ।] 'यह आत्मा ब्रह्मरूप है 'जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्तर
है' 'मे ब्रह्म हूं' 'तुम ब्रह्म स्वरूप हो' इत्यादि श्रुतियों में जीव तथा परमात्मा में व्याप्य व्या-
पकत्व नियम्यत्व नियन्तृत्व का श्रवण होता है और व्याप्य में नियम्यत्व तथा व्याप्य की स्वरू-
पस्थिति प्रवृत्ति नदीय व्यापक तथा नियन्ता के अधीन ही होता है । [जिस तरह वह्निका
व्याप्य जो धूम है उस धूम के स्वरूपस्थिति तथा प्रवृत्तिधूम के व्यापक जो वह्नि है उस वह्नि
के अधीन होता है] एवं व्याप्य व्यापक से अपृथक् सिद्ध होता है अर्थात् व्याप्य व्यापक से
कभी भी पार्थक्येन व्यवस्थित नहीं होता है यदि व्याप्यत्व रूप से अभिमत पदार्थ यदि व्या-
पक से पृथक् हो तब तो उनमें व्याप्य व्यापक भाव ही न होगा जिस तरह परस्पर विभिन्न
जल नेत्र में व्याप्य व्यापक भाव नहीं होता है । इसलिये 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि
स्थल में जीवब्रह्म का परस्पर सामानाधिकरण्या को देखने से सिद्ध होता है कि जीव मुक्ता-
वस्था में परमात्मा से अविभाग पूर्वक ही अवस्थित रहता है किन्तु विभागपूर्वक अवस्थित

पपत्तेस्तस्माद् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति व्यपदेशादविभागेनैव तिष्ठ-
तीति ॥४॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

अथ ब्रह्माधिकरणम् ॥३॥

५ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ४।४।५

पूर्वं परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्तावविद्यातिरोधानस्यात्मनः
स्वरूपाविर्भावो भवतीत्यभिहितम् । तत्र येन स्वरूपेणाविर्भूय तिष्ठ-
ति तत्स्वरूपं मतभेदेन विचार्यते । किमयं जीवोऽपहतपाप्मत्वादि-
विस्तृतविवरणं यथाभाष्यं पूर्णमेवप्रपञ्चितमितिदिक् ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

ननु जीवः कृतोपासनस्तद्वलेन परंज्योतिरुपसम्पद्य कर्मात्मकमर्ववन्धनविमुक्तः
स्वरूपेणाविर्भवति इति पूर्वप्रकरणे प्रदर्शितम् । तत्र यादृशस्वरूपेण प्रत्यगात्मन आवि-
र्भावो भवति तादृशं तदीयं स्वरूपश्रुतिविप्रतिपत्त्या तथाऽचार्याणां मतभेदाच्चविचार-
यितुमयमुपक्रमोभवति । एतदाशयेन भाष्यकारः प्राह पूर्वं परंज्योतिरुपसम्पद्य इत्यादि ।
नहीं रहता है । अन्यथा उपर्युक्त अनेक श्रुति प्रतिपादित अविभाग का बाध हो जायेगा । ४।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

ब्रह्मसम्पत्त्यनन्तर मुक्त जीवका अवस्थान किस रूप से होता है । इस बातको विचारने
के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'पूर्वपरंज्योतिरुपसम्पद्य' इत्यादि । परंज्योति परमात्मा में
उपसम्पन्न होने पर निवृत्त हो गया है कर्म लक्षण अविद्या रूप तिरोधान जिसका एतादृश
जो प्रत्यगात्मा जीव स्वस्वरूप से आविर्भाव होता है ऐसा इससे पूर्ण अधिकरण में कहा गया
है । वहाँ जिस स्वरूप से आविर्भूत होकर के अवस्थित होता है तादृश स्वरूप का मतभेद
से विचार करते हैं । क्या मुक्त जीव अपहत पाप्मत्वादि वर्म से आविर्भूत होकर के अवस्थित

नाविर्भूय तिष्ठति 'उत चैतन्यस्वरूपेणाहोस्विदविरोधादुभयस्वरूपे-
णेति संशये जैमिनिगचार्यस्तु ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिना स्वरूपेणेति
मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यः । दहरवाक्यावगतापहतपाप्मत्वा-
दयो हि ब्राह्मणुणाः प्रजापतिवाक्येऽप्यात्मनो गुणतया 'य आत्मा
पहतपाप्मेत्यारभ्य सत्यसंकल्पः' इत्यन्तेन वाक्येनोपन्यस्यन्त इति ।

परमात्ममरूपत्वेरनन्तरमविद्यामलरहितस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपाविर्भावोभवतीत्यर्थः ।
तादृशं तदीयस्वरूपं मतभेदेन विचारयितुमयमुपक्रम इत्यर्थः । तत्र किमपहतपाप्मत्वादिक
मेवास्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपमिति तेनापहतपाप्मत्वादिसवरूपेणावस्थितो भवति । अथवा
ज्ञानमात्रस्वरूपेणावस्थितो भवति । अथवा उभयोः स्वरूपयोः परस्पराविरोधात्तदुभयस्व
रूपेणावस्थितो भवतीति विचारप्रयोजकः संशयः प्रादुर्भवतीति । तत्र कः पक्षोयुक्त इति
जैमिनिगचार्यो ब्राह्मणरूपेण अर्थात् ब्रह्मणोयत्स्वरूपमपहतपाप्मत्वादिकम् तेनैव स्वरूपे-
णैव प्रत्यगात्मा तस्यामवस्थायामवस्थितो भवतीति । तत्र हेतुं दर्शयितुमाह उपन्यासादिभ्य
इति । अर्थात् दहरवाक्ये अपहतपाप्मत्वादिको गुणो ब्रह्मणो भवतीति प्रतिपादितम् ते
एव गुणाः जीवस्यापि गुणरूपेण प्रजापतिवाक्येपिविनिर्दिष्टा इति । ततश्च प्रत्यगात्मनो
रहता है अथवा चैतन्य ज्ञानमात्र स्वरूप से अवस्थित होता है । अथवा अविरोधात् उभय स्व
रूप से आविर्भूत स्वरूपक जीव अवस्थित रहता है ! अर्थात् श्रुति के परस्पर विप्रतिपत्ति
होने से यह तीन प्रकार से संशय होता है । इस विषय में जैमिनि आचार्य कहते हैं कि
ब्रह्मका जो अपहतपाप्मत्वादिक स्वरूप है तादृश स्वरूप से ही जीवका अवस्थान मोक्षकाल में
रहता है । ऐसा इस विषय में जैमिनि का मन्तव्य है । जैमिनि मुनि इसमें ऐसा मानते हैं
इसमें हेतु युक्ति को बनाने के लिये कहते हैं मूलकार 'उपन्यासादिभ्यः' इति ।

उपन्यास लक्षण हेतु का स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार कहते हैं 'दहरवाक्याव-
गतेत्यादि' दहराधिकरण में अपहतपाप्मत्वादिक जो ब्रह्मका गुण कहा गया है वे ही गुण प्रजा
पति वाक्य में जीव के गुण रूप से 'य आत्माऽपहतपाप्मा' यहाँ से आरंभ करके 'सत्य संक
ल्पः' एतदन्त वाक्यों से प्रतिपादित किया गया है । इसलिये जीवात्मा को स्वरूप से तथा
गुणों से अपहतपाप्मत्वादिक ब्रह्म गुण ही उपपन्न होता है । अर्थात् परमात्मा के जो गुण हैं
वे ही जीव के भी गुण हैं तादृश ब्रह्म गुण से ही जीव का मोक्षावस्था में अवस्थान होता

तस्मात्प्रत्यगात्मनः स्वरूपतो गुणतश्चापहतपाप्मत्वादिकमेवोपपद्यते
न विज्ञानमात्रस्वरूपत्वमिति जैमिनेर्मतम् ॥५॥

❧ चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादि-

त्यौडुलोमिः ४।४।६ ❧

‘एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तगोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव’
[बृ० ४।५।१३] इत्याद्यनेकश्रुतिभ्यः प्रत्यगात्मनस्तदात्मकत्वात्प्रज्ञा-
जीवस्यापि स्वस्वरूपतोऽगुणतोऽपि अपहतपाप्मत्वादिकमेव भवति । अथोतु ब्रह्मणो ये गुणा
स्त एवजीवस्यापि भवन्तीति ब्रह्मस्वरूपेणैवावस्थितिः । नतु विज्ञानमात्र स्वरूपेण प्रत्य
गात्मनोऽवस्थानमिति । विज्ञानरूपत्वे स्वरूपं जडान्मकं जीवस्य स्यादिति घटादिवर्जी-
वस्य ज्ञानाश्रयत्वेनस्यादितिभावः ॥५॥

विमुक्तोजीवोऽपहतपाप्मत्वादिरूपेणावस्थितोभवति ज्ञानमात्ररूपेणावस्थितोभवती
ति । संशये अपहतपाप्मत्वादि रूपेणैवावस्थितोभवतीति जैमिनिमतं पूर्वसूत्रेण प्रदर्श्य
सम्प्रतिज्ञानमात्ररूपेणावस्थितोभवतीत्यौडुलोमिमतं दर्शयितुं सूत्रान्तरमुत्थापयति । अयं
जीवोमोक्षदशायां ज्ञानमात्ररूपेणैवावस्थितो भवति । विज्ञानघनः प्रज्ञानघनः इत्यादिश्रुत्या
जीवस्यज्ञानात्मकत्वस्य व्यवस्थापनादिति । तस्माज्ज्ञानमात्रस्वरूपेणैवावस्थितोभवति
हे किन्तु विज्ञान मात्र स्वरूप से जीव का अवस्थान नहीं होता है । क्योंकि ज्ञान को जड
रूप होने से जीव भी जड़ हुआ तब तादृश जीव में ज्ञानाश्रयत्व नहीं होगा । जिस तरह
घटादिक पदार्थ जड़ है तो उसमें ज्ञानाधिकरणत्व नहीं होता है तो उसी तरह जीव में भी
ज्ञानाश्रयत्व नहीं होगा । अतः ब्रह्म का रूप जो अपहतपाप्मत्वादिक है तादृश रूप से ही
जीव मोक्षावस्था में अवस्थित रहता है ज्ञान मात्र रूप से नहीं रहता है । ऐसा जैमिनि मुनि
का मत है ॥५॥

मुक्तात्मा का अवस्थान केन रूपेण होता है इस विषय में जैमिनि मतको बतला कर
के औडुलोमी के मतको बतलाने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘एवं वाऽरेयमात्मा’ इत्या
दि (अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा बाह्याभ्यान्तर सर्व रूप से प्रज्ञानघनस्वरूप है) इत्यादि

नयनात्मकत्वान्चैतन्यमात्रस्वरूपत्वात् । चिति तन्मात्रेण रूपेणाय-
मवतिष्ठत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥६॥

५ एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं

बादरायणः ४।४।७ ५

एवं मतद्वयं प्रदर्श्य बादरायणो भगवान् स्वमतं सिद्धान्तय-
ति 'एवमि'त्यादि । एवमप्यात्मनो विज्ञानमात्र स्वरूपत्वाङ्गीकारे-
न तु ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिस्वरूपेणावस्थितो भवतीति औडुलोमिमुनेर्मतमिति । एतत्सर्वं
दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः एवं वा अरे अयमात्मेत्यादि भाष्यक्षराणि नातिरोहिता-
नीति संक्षेपः ॥६॥

मोक्षावस्थायां जीवोऽपहतपाप्मत्वादिरूपेणावस्थितो ज्ञानमात्ररूपेणावस्थितो भव-
तीति संशये जैमिनिमतेन अपहतपाप्मत्वादिरूपेण तदवस्थानं प्रतिपादितम् औडुलोमि-
नेन तु ज्ञानमात्रस्वरूपेणावस्थितो भवतीति कथितम् । तदत्रोभयमतं परस्परं विरुद्धं न वेति
संशये उभयोरपि मतयोर्नास्तिकश्चिद्विरोध इति वदन् श्रीबादरायणाचार्यः सिद्धान्तं दर्श-
यति एवमप्युपन्यासात् इत्यादि । यद्यपि ज्ञानमात्रस्वरूपत्वमात्मनः प्रदर्शितम् तथापि
अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है कि प्रत्यगात्मा जीव विज्ञानमात्र स्वरूप है अतः चैतन्य मात्र
स्वरूपक है । अतः चैतन्य मात्र रूप से ही मोक्ष में अवस्थित रहता है । ऐसा औडुलोमी
आचार्य मानते हैं ॥६॥

मुक्त जीवों का किस रूप से अवस्थान होता है इस विषय में परस्पर विरुद्ध मतद्वय
जैमिनि और औडुलोमी के मतद्वय को बतला करके स्वमत सिद्ध सिद्धान्त को श्रीबादरायण
भगवान् बतलाते हैं 'एवमप्युपन्यासादित्यादि' जीवात्मा को विज्ञान मात्र स्वरूपता का अंगीकार
करने पर भी अर्थात् 'विज्ञानघनः प्रज्ञानघनः' इत्यादि श्रुति सिद्ध जीव को ज्ञान स्वरूपत्व
का स्वीकार करने पर भी उस जीव में प्रकरण प्रमाण से अवगत ज्ञान जो अपहतपाप्मत्वादिक
गुण समुदाय है उन गुणों का प्राणमात्र स्वरूप जीव में सद्भाव होने में कोई भी विरोध
नहीं है ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं । अपहतपाप्मत्वादिक गुणों का विज्ञानमात्र स्वरूपक

ऽपि तत्र अपहृतपाप्मत्वादीनां प्रकरणावगतानां गुणानामविरोधं वादरायणो भगवान् मन्यते । कुतो विज्ञायते ? उपन्यासात्पूर्वभावात् । 'अपहृतपाप्मे'त्यादिश्रौतवचनोपन्यासात्प्रमाणात् । पूर्वेषामपहृतपाप्मत्वादिगुणानामपि भावाद्विद्यमानत्वात् । चेतनस्वरूपविरोधिपाप्मत्वादिदृष्टगुणनिषेधेनापहृतपाप्मत्वादीनां चेतनस्वरूपप्रकाशकानां गुणानामविरोधादिति भावः । तदेवमपहृतपाप्मत्वा-
अपहृतपाप्मत्वादिगुणानामपि नास्ति कश्चिद्विरोधः । यतो ज्ञानस्वरूपविरोधिगुणाः पाप्मत्वादिकाः तेषां भवतु ज्ञानस्वरूपेण विरोधः किन्तु दृष्टगुणप्रतिषेधरूपाणामपहृतपाप्मत्वादीनां न ज्ञानमात्रस्वरूपविरोधित्वं किन्तु ज्ञाननिष्ठस्वप्रकाशकत्वमाश्रयकानां तु विरोधो न भवति ।

यथा वह्निस्वरूपविरोधिनो जलस्याभावो न भवति वह्निस्वरूपविरोधी किन्तु पोषक एव तथैव प्रकृतेऽपि । ततश्च य आत्माऽपहृतपाप्मा इत्यादि प्रकरणावगतानामपहृतपाप्मत्वादिगुणानां ज्ञानमात्रस्वरूपत्वेन भवति विरोधः । ज्ञानमात्रस्वरूपप्रतिपादकशास्त्राणां तथा अपहृतपाप्मत्वप्रतिपादकशास्त्राणां च समानरूपेण समानबलवत्त्वात् जीव में विरोध नहीं है इस बात को आप किस तरह जानते हैं ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि 'उपन्यासात्पूर्वभावात्' इति । अर्थात् 'अपहृतपाप्मा' इत्यादिक जो श्रौत वचन लक्षण प्रमाण है तादृश प्रमाण है उसके द्वारा जानता हूँ अर्थात् स्वनः प्रमाण शास्त्र प्रमाण से जाना जाता है दोनों में कोई भी विरोध नहीं है । पूर्वकालिक अपहृतपाप्मत्वादिक गुणों का भी जीव में सद्भाव है । जीव के चेतन स्वरूप होने में विरोधी है पाप्मत्वादिक दृष्ट गुण समुदाय उसका निषेधक होने से चेतन स्वरूप का प्रकाशक अपहृतपाप्मत्वादिक गुणों को चेतनमात्र स्वरूपता में कोई विरोध नहीं है ऐसा अभिप्राय है । ऐसा हुआ तब अपहृतपाप्मत्वादिक जीव का स्वरूप लक्षण धर्म होने से अपहृतपाप्मत्वादिक अविद्या परिकल्पित नहीं है किन्तु स्वाभाविक गुण जीव के हैं । क्योंकि चेतनमात्र स्वरूपत्वं तथा अपहृतपाप्मत्वादिक ये दोनों वास्तविक पारमार्थिक ही जीव गुण हैं । अब इन दोनों गुणों में से किस गुणको जीव में मानें और किस गुण को नहीं मानें इसमें एक पक्ष का तो कोई खास नियामक कारण

दीनां स्वरूपधर्मनया नाविद्यापरिकल्पितत्वम् । उभयोर्वास्तविकत्वेन
विनिगमनाविरहादुभयगुणवत्वमेव । यथा च रसनेन्द्रियेणावगतस्य
कृत्स्नस्य सैन्धवघनस्य समयत्वेन चक्षुराद्यवगततद्रूपकाठिन्यादि-
भिर्न विरोधः । तथैव 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति वाक्यावगते-
नात्मनो विज्ञानघनस्वरूपेण 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादिवाक्याव-

नास्तिद्वयोर्विरोधो नवा बाध्यबाधकभाव इत्युभयप्रतिपादितगुणयोरेव समीचीनत्व-
मिति बादरायणसिद्धान्तः । एतत्सर्वेद्योतयितुमुपक्रमते एवमप्यात्मनो विज्ञानमात्रस्वरूपत्वे
न्यादि । अपहतपाप्मत्वादिवर्त्मकत्वं तथा विज्ञानमात्रस्वरूपकत्वमित्युभयमपि शास्त्रेणैव
प्रतिपादितं भवति । ततश्चैकस्यस्वीकारस्तदन्यस्य निराकरणमर्हज्जरतीयन्यायेन नयुक्त
मित्युभयस्वरूपत्वमेवद्वयोरपि आस्त्रयोः प्रमाणत्वात् । प्रमाणबोधितस्यापलापे सर्वत्रा-
नाशमप्रसङ्ग इति संशयः । भाष्याद्वयार्थस्तुनतिरोहित इति नाश्रयो न्याख्यानं
कृतमितिदिक् ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदोषे ब्रह्माधिकरणम् ॥३॥

नहीं प्राप्त होता है । अतः विनिगमना विरह होने से जीव का दोनों गुण वास्तविक ही है
ऐसा मानना ही उचित होगा । ननु अपहतपाप्मत्व गुण आविष्कृत है और विज्ञान मात्र स्व-
रूपत्व परमार्थिक है । [एकतर कोटि के पक्षपातिनी युक्ति को विनिगमना कहते हैं और इस
के अभाव को विनिगमना विरह कहते हैं ।] अतः विनिगमना विरह से जीव में उभय गुण-
त्व है ऐसा कहना ही सर्वथा उचित है ननु एक वास्तविक है तथा तदपर काल्पनिक है ।
अपहतपाप्मत्वादिक में काल्पनिकत्व और ज्ञानमात्र स्वरूपता में वास्तविकत्व ऐसा मानना ठीक
नहीं है । क्योंकि प्रारक्त शास्त्र दोनों ही प्रमाण हैं ।

जिस तरह रसनेन्द्रिय से अवगत जो सम्पूर्ण सैन्धव घन है (नमक का टुकड़ा है)
उसको समय होने से परन्तु चक्षुरादि प्रमाणावगत सैन्धव घन निष्ठ काठिन्यादिक के साथ
उस रसको कोई विरोध नहीं होता है । उसी तरह 'कृत्स्नः प्रज्ञान घन एव' एतद्वाक्यावगत
आत्मा के विज्ञान घन स्वरूप को 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि वाक्य से अवगत जो अप-
हतपाप्मत्वादिक धर्म से कोई भी विरोध नहीं है । अतः अविरोध होने से उभयवर्त्मकत्व जीव

गतापहतपाप्मत्वादिधर्माणामविरोध इति ॥७॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये ब्रह्माधिकरणम् । ३॥

अथ संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

५ संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ४।४।८ ५

एवं ब्रह्मोपसम्पत्त्यनन्तरं मुक्तात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिमत्स्य
संकल्पत्वान्तगुणकत्वमाविर्भवतीत्यभिहितम् । इदानीं स एव मुक्ता
त्मा सांकल्पिकान्विषयाननुभवतीति छान्दोग्येऽभिधीयते । 'म
तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्ममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञानिभिर्वा' [आ०

मुक्तो हि जीरो ब्रह्म संपत्त्यनन्तरं ज्ञानमात्रस्वरूपविशिष्टोऽपहतपाप्मत्वादि
गुणयुक्तश्चाविर्भवतीत्यतः पूर्वं निवेदितम् । परं तस्येच्छामात्रेण सर्वविषयाः समुत्ति-
ष्ठन्ति अथवा संकल्पातिरिक्तसाधनस्याप्यपेक्षाभवतीति विचारयितुमुपक्रमते एवं ब्रह्मो
पसम्पत्त्यनन्तरमित्यादि मुक्तस्य विषयप्राप्तये प्रयत्नान्तरस्य अपेक्षा भवति अथवा संक-
ल्पे रहता है । यह अभिप्राय वादरायण भगवान् का है ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीगमानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे ब्रह्माधिकरणम् ॥३॥

उपासना के कल से ब्रह्म सम्पत्ति हो जाने के बाद मुक्तात्मा का अपहतपाप्मकत्व
सत्यसंकल्पकत्वादि गुण विशिष्ट रूप से आविर्भाव होता है । इसप्रकार से इससे पूर्व अधिक-
रण में कहा गया है । इसके बाद यह कहा जाता है कि वह मुक्तात्मा स्वकीय संकल्पमात्र
से समुत्पादित तत्तत् विषयों का अनुभव करती है । इस प्रकार छान्दोग्य के अष्टमाध्याय
द्वादश खण्ड के तृतीय मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है । अब यहाँ संशय होता है कि क्या
मुक्तात्मा के प्रयत्नान्तर से समुत्पादित होता है स्त्री प्रभृतिक उपभोग जनक पदार्थ अथवा
सर्वतन्त्र परमेश्वर की तरह मुक्त के सत्य संकल्पमात्र से जन्य होते हैं । अर्थात् संकल्पातिरि-
क्त साधनान्तर की आवश्यकता पड़ती है अथवा स्वैतर साधन निरपेक्ष संकल्प से ही उपभोग
जनक पदार्थों का उत्पादन हो जाता है ।

८।१२।३] इत्यादिना । अत्रायं संशयः । किं मुक्तात्मप्रयत्नान्तर
जन्येयं स्यादीनामुपस्थितिरहोस्वित्परमात्मन इव संकल्पादेवेति ।
तत्र लोके कार्यमात्रस्य तत्तत्पुरुषप्रयत्नजन्यत्वदर्शनादस्यामपि मु-
क्तात्मनः प्रयत्नान्तर्माध्यत्वमेव स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते सङ्क-
ल्पादेवेति । संकल्पादेवास्य सर्वकामावाप्तिः । कुतः ? तच्छ्रुतेः ।
'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'

ल्पमात्रादेव सर्ववस्तुप्राप्तिर्भवतीति संशयः । पूर्वपक्षस्तु यथा घटादीनामुत्पत्तिर्न केवलं
कुलालसंकल्पमात्रजनितं भवति किन्तु दण्डादिकसाधनान्तरमपेक्ष्यैव घटादिकार्यं
सम्पादितं भवति । अन्यथा घटादीनामुत्पत्तौ दण्डादिकारणसमवधाननिर्र्थकमेव
स्यात् । तद्वदिहापि पित्रादीनां समुत्थानं न संकल्पमात्रप्रसूतं भवति किन्तु संकल्प
तदितरकारणजनितेनैवेति पूर्वपक्षाशयः । सिद्धान्तस्तु संकल्पादेवास्यपितरः समुत्तिष्ठन्तीति
श्रुतावेवकारस्यान्यन्यावर्तकस्य दर्शनेन यथा परमेश्वरस्य संकल्पेतरसाधनस्यापेक्षा

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस तरह लोक में कार्यमात्र के प्रति इच्छातिरिक्त
पुरुष प्रयत्न जन्यत्व देखने में आता है [अर्थात् घटादि कार्य केवल कुलाल के संकल्प
में नहीं होता है किन्तु कुलाल प्रयत्न साध्य दण्डादि कारणों की भी आवश्यकता होती है
अन्यथा यदि दण्डादि के बिना भी घटादि कार्य उत्पन्न हो जाय तब तो लोक सिद्ध कारणता
का अभाव ही सिद्ध हो जायगा] इसी तरह प्रकृत में भी इस उपभोगजनक पित्रादिक की
उत्पत्ति में भी मुक्तात्मा के प्रयत्नान्तर रूप कारण साध्यत्व है [अर्थात् यथा घटादि कार्य में
संकल्पेतर कारण है उसी तरह मुक्तात्मा का प्रयत्नान्तर भी कारण है]

एतादृश पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिये कहते हैं 'संकल्पादेवेति' इस मुक्तात्मा
को स्वकीय संकल्पमात्र से सर्वकाम की प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि संकल्पमात्र से सर्वकाम
प्राप्ति मुक्त पुरुष को हो जाता है इस बात का प्रतिपादन श्रुति स्वयमेव करती है और अती
न्द्रियार्थ विषयक ज्ञान में श्रुतिमात्र प्रमाण है उसमें तदितर प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती
है । एतादृश श्रुति प्रमाण का निर्देश भाष्यकार करते हैं 'स यदि पितृलोक काम' इत्यादि
[वह मुक्त पुरुष यदि पितृलोक की कामना करता है तब उसके संकल्प करने पर पितापिता
महादिक वहाँ उपस्थित हो जाते हैं] इस तरह संकल्पमात्र से पितर तथा अन्य पदार्थों का

[छा० ८।२।१] इति संकल्पादेव पित्रादिममुत्थितिः श्रूयते । एवकारः साधनान्तरनिरपेक्षतां द्योतयति । संकल्पामात्रादेव सर्वकामावाप्तिरिति निर्गलितोर्थः ॥८॥

५ अत एव चानन्याधिपतिः ४।४।९ ५

अतः सत्यसंकल्पादेव अनन्याधिपतिर्नास्त्यन्यः पुरुषः कर्मा-
दिर्वानियामकः संकल्परोधको यस्य तादृशो भवति । इदन्तु युक्तम् ।

न भवति तथैव मुक्तस्यापि तत्तद्विषयोपस्थितौ संकल्पातिरिक्तसाधनस्यानपेक्षत्वमेव । अन्यथा यद्योक्तश्रुतिषट्क एवकारोऽप्यर्थ एव स्यादिति । नच लोकस्थितिमनु रगेति श्रुतिः तस्याः स्वतः प्रमाणतया तदनपेक्षत्वात् । अन्यथा श्रुति तदितरप्रमाणयोः को भेदः स्यादिति संकल्पमात्रेणैव मुक्तस्यपित्रादिममुत्थानमिति समुदितार्थः पर्यव-
स्यति ॥८॥

यस्मादयं परमात्मोपासनया सम्प्राप्तमत्यसंकल्पत्वादिकगुणवान् यद्वलादेतस्य सर्वकामावाप्तिरिच्छामात्रेण संपन्ना भवति अत एवायं मुक्तोऽनन्याधिपतिरपि भवति । समुत्थान हो जाता है । वह मुक्त पुरुष जिन जिन वस्तुओं की कामना करता है तब स्वकीय सत्य संकल्प के प्रभाव से अभिलषित पदार्थ मुक्त के देशकाल में उपस्थित हो जाते हैं और वे मुक्त पुरुष उन पदार्थों का उपभोग करते हैं । 'संकल्पादेवपितरः समुत्तिष्ठन्ति' इस श्रुति में जा एवकार है वह अवधारणार्थक है । तथा पदार्थोपस्थिति है संकल्पेतर साधन का निर-
पेक्षत्व का द्योतक है । (अर्थात् जिस तरह अरमदादि बद्ध पुरुषों का कार्य केवल इच्छाजनित नहीं होता है किन्तु तदितर अनेक कारण समवधान से ही होता है उस तरह मुक्त का व्यवहार प्रयत्नान्तर अन्य नहीं होता है किन्तु संकल्पमात्र के अधीन होता है । संकल्प में इतर जो साधन उनसे जन्य नहीं होता है और संकल्पमात्र साधन से समुत्पन्न होता है । मुक्त पुरुष को सर्वकाम प्राप्ति संकल्पमात्र से प्राप्त होता है ऐसा प्रकरण का निर्गलित अर्थ होता है । इति संक्षेपः ॥८॥

जिस छिये मुक्त पुरुष को परमात्मोपासना केवल सत्यसंकल्पत्वादिक गुण का आविर्भाव हो जाने से तादृश सर्वकाम प्राप्ति स्वेच्छा मात्र से संपादित हो जाता है अतएव यह मुक्त

ब्रह्मोपासनयैवास्य सत्यसंकल्पत्वादिसिद्धिरिति न ब्रह्माधिपत्य-
मत्र वार्यते किन्तु तदतिरिक्तस्य कस्यचिदप्याधिपत्यं नास्तीत्य-
भिधीयते । अत एव 'स्वराड् भवति' [छा० ७।२।५।२] इत्यभि-
हितम् ॥९॥

इति श्रीआनन्दभाष्ये संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

अथाभावाधिकरणम् ॥५॥

५ अभावं वादरिराह ह्येवम् ४।४।१० ५

इदानीं मुक्तात्मनः संकल्पसत्त्वात्तस्य शरीरेन्द्रियादिविषये
अर्थात् प्राकृतिकः कश्चित् पुरुषः कालोदेशो वा शुभाशुभकर्मादिर्वाऽस्य नियामकोनैव
भवति । अतएव श्रुतिरप्यावेदयति स स्वराड्भवति अन्याधिपतित्वे श्रुतिरियं कदर्थिता
स्यात् । परन्तु इदमत्रावधेयम् प्राकृतिकोऽस्य नियामको न भवति परमात्मा तु तदा
पितृस्यनियामकोभवत्येव । परमात्मनः सर्वान्तर्यामित्वादित्यादि अन्तर्याम्यधिकरणे
स्पष्टीकृतम् । इत्यादिकं सर्वमावेदयितुं भाष्यकारः प्राह अतः सत्य संकल्पादेवेत्यादि अन्य
त्सर्वं सुगममिति न व्याख्यानापेक्षेति ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपे संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

मुक्तपुरुषस्य संकल्पमाधनं मनोऽन्तःकरणमस्तीति संकल्पान्यथाऽनुपपत्त्यासिद्धं
पुरुष अन्याधिपति कइताते हैं अर्थात् इस मुक्त पुरुष के स्वेतर कोई पुरुष अथवा कर्म
शुभाशुभादिक संकल्प को रोकनेवाला नहीं रहता है । परन्तु इतना यहाँ मानना युक्त होगा
कि ब्रह्मकी उपासना से ही मुक्त पुरुष को सत्यसंकल्पत्वादिक गुणों की प्राप्ति हुई है । इस
छिये ब्रह्म चित्त का निवारण नहीं किया जाता है किन्तु परब्रह्म से अतिरिक्त किसी का भी
आधिपत्य नहीं रहता है यह इस सूत्र से कहा जाता है । अतएव (वह मुक्त पुरुष स्वराट्
स्वर्ग का राजा होता है) ऐसा छान्दोग्य श्रुति में कहा है ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

मुक्त पुरुष को मुक्तावस्था में शरीरेन्द्रिय का सद्भाव रहता है अथवा नहीं रहता

विचार्यते—किं मुक्तात्मनः शरीरेन्द्रियाणि मन्ति नवेति संशये शरीरेन्द्रियाणामभावं वादिराचार्यो मन्यते । कुतश्चैवम् ? आह ह्येवम् । 'नवौ सशरीरस्य मनः प्रियाप्रिययोग्यहतिरग्निः । अशरीरं वा वसन्तं परन्तु प्राकृतपुरुषवत् मनसः सत्वेतद्वदेव मनसः सहायकं शरीरस्थूलतन्महचरितं चक्षुरादिकमिन्द्रियं भवति नवेति संशयः । तत्र लोके शरीरेन्द्रिययोर्मनः सहकारित्वान्तरा कलेवरस्य सद्भावस्तथैव मुक्तस्य मनसः सत्त्वान् मनः सहकारिणोः करणकलेवरस्यापि सद्भावः स्यादिति विधिकोटिमाधिकाविप्रतिपत्तिः । असंभान्यमानपित्रादिविषयस्यासद्भावेऽपि यथा सत्यसंकल्पादेव तादृशविषयप्राप्तिर्भवति तथैव करणकलेवरयोग्यभावेऽपि तदधीनं कार्यं तदभावेऽपि स्यादिति निषेधकोटिः । इत्येतद्विचारयितुमुपक्रमते इदानीं मुक्तात्मनः इत्यादिभाष्यम् । मुक्तपुरुषस्य सत्यसंकल्पो भवति तस्मात्तन् मन एवेति मनसः सत्त्वं निश्चितं परन्तु मनसः सहकारिकाकरणं शरीरेन्द्रियादिकं मुक्तस्य भवति नवेति संशयः । तत्र वादिराचार्यो मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादिकं न मन्यते । कुतः ! अशरीरं वा वसन्तम् इत्यादिश्रुत्या तथैव प्रतिपादनात् । नवौ स शरीरस्येत्यादि सशरीरस्य करणकलेवरविशिष्टस्य लौकिकसुखदुःखयोरभासो न भवति किन्तु तत्सद्भाव एव भवतीति यदा तु शरीरेन्द्रिय विरहितो भवति लौकिकसुखदुःखयोरभाव एव भवतीति । एतद्वाक्यद्वयं मुक्तपुरुषस्य करणकलेवरयोग्यभावमेव प्रतिपादयति तस्मात्मुक्तस्य शरीरेन्द्रियाणि न भवन्तीति । हे इस बात का विचार करने के लिये उपक्रम करते हैं 'इदानीं मुक्तात्मनः' इत्यादि । मुक्त पुरुष में सत्यसंकल्पादिक रहता है । यह कहा गया है अब मुक्त पुरुष का शरीरेन्द्रिय रहता है अथवा नहीं रहता है इसके ऊपर में विचार करने हैं ।

क्या मुक्त पुरुष को शरीर तथा इन्द्रिय का सद्भाव होता है अथवा शरीरेन्द्रिय का सद्भाव नहीं होता है ? ऐसा संशय होता है । वादिराचार्य का मत है कि मुक्त पुरुष को शरीरेन्द्रिय का सद्भाव नहीं होता है । तो आप मुक्त पुरुष के शरीरेन्द्रिय का अभाव है इस बात को क्यों मानते हैं ! इसके उत्तर में कहते हैं 'आह ह्येवम्' इति । 'नवौ सशरीरस्येत्यादि' शरीरस्य शरीर सम्बन्ध तो जीवस्य प्रिया प्रिययोः लौकिक सुखदुःखयोरपहतिर्विनाशो नास्ति अर्थात् यावत्पर्यन्तं शरीर सम्बन्धो भवति तावत्पर्यन्तं लौकिक सुखदुःखयोरुभयोऽवश्यं भवतीति । 'अशरीरमित्यादि' यदा तु शरीर सम्बन्धविरहितो भवति तदा सुखदुःखयोरभावो भव-

न प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छा० ८।१२।१] इतिमुक्तस्य शरीराभावमभि-
धत्ते । संकल्पस्य मनोऽधीनत्वान्मनोऽतिरिक्तानामिन्द्रियाणामभाव
इतिमतम् । अतएव 'मनसैतान् कामान् पश्यन् स्मते । य एते ब्रह्म
लोके' [छा० ८।१२।५।६] इतिश्रुतिः संगच्छते ॥१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ४।४।११

जैमिनिगचार्योमुक्तस्य शरीरेन्द्रियाणां भावं मन्यते । कुतः ?

भावः । ननु यथा शरीरेन्द्रियोरभावः श्रुत्याममधिगतस्तथा मनसोऽप्यभावः कथं न !
ततश्चमनोमूलकसंकल्पोपि न सिद्ध्येत्तत्राह भाष्यकारः संकल्पस्य मनोधीनत्वात् इत्या-
दि । संकल्पो हि मनसैवजायते इति तदन्यथानुपपत्त्यामनसः सद्भावोऽवश्यमेव वक्त-
व्यः शरीराद्यभावेपि तन्मत्वसंभवान्नशरीरादिसद्भावोऽपितु शरीरादीनामभाव एवेति
चादरितम् । मनसः सद्भावकल्पने एव मनसैतान् कामानिति श्रुतिरपिसंगताभवति ।
अन्यथा तन्नस्यादिति संक्षेपः ॥१०॥

यथा संकल्पप्रयोजकमनसः सद्भावोमुक्तस्यमन्यते अन्यथामनसोऽभावे संकल्पो
न्यादासंभवात् दण्डाद्यभावेघटाभाववत् । तथैव श्रुतिसिद्धैकधात्रिधाभावस्य शरीरादि
मन्तरेण संभवाभावान् शरीरेन्द्रियादेरपि सद्भावंमुक्तस्येच्छतिजैमिनिः । आत्मातु अत-
एव नित्योच्छेद्यश्चेति तस्य स्वरूपतोऽनेकधामावो न संभवतीत्यतः शरीरनिबन्धना-
नीत्यर्थः ।' इत्यादि श्रुतियों से मुक्त पुरुष के शरीराभाव का प्रतिपादन किया गया है । संक-
ल्पमनः साध्य है इसलिये मनोतिरिक्त इन्द्रिय का ही अभाव रहता है ऐसा समझना चाहिये ।
अतएव 'मनसैतानिन्यादि' (मन से ही इन सब कमनीय पदार्थों को देखता हुआ आनन्द करता
है आनन्द को प्राप्त करने हैं जो जो मुक्त पुरुष इस ब्रह्मलोक में निवास करते हैं) यह
श्रुति भी सङ्गत होती है ॥१०॥

मुक्त पुरुष को शरीरेन्द्रिय का सम्बन्ध रहता है, अथवा नहीं रहता है ? इस विषय
में बादरि के मत से शरीरेन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं रहता है, इस बात को इससे पूर्वसूत्र में
बतला करके ततः परमुक्त पुरुष का शरीरादिक रहता है, इस प्रकार से जैमिनि के मत को
बतलाने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'जैमिनिराचार्यो मुक्तस्य' इत्यादि जैमिनि आ-

विकल्पामननात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा समधा' [छा.

७।२६।२] इति विविधभावस्य कथनात् शरीरस्य भावमस्तीत्यवगम्यते ।

एवेति ज्ञायते । यथा जगामरणजन्मादिरहितस्यात्मनो जन्ममरणादिकं शरीरमूलकं तथैव त्रिधाभावोपि देहेन्द्रियमूलक एवेति शरीरादिमद्भावोऽन्यावश्यक इति जैमिनि मतं दर्शयितुं व्याख्यातुं चोपक्रमते जैमिनिस्वाचार्यो मुक्तस्येत्यादि । मुक्तस्य त्रैविध्ये श्रुति प्रमाणयति विकल्पामननात् विविधः कल्पो विकल्पोऽनेकविधत्वं तस्य प्रतिपादनात् स एकधा त्रिवेत्यादि श्रुत्या । यद्यपि अशरीरं वा वसन्तमित्यादिश्रुत्या मुक्तस्य शरीराद्यभावं दर्शयति तथापि इयं श्रुतिः शुभाशुभकर्ममूलकशरीरस्याभावमिच्छति न तु लोकोत्तरशरीराद्यैः मुक्तपुरुषके शरीरेन्द्रियका सदभावको मानते हैं । क्यों ? 'विकल्पामननात्' मुक्तपुरुषको अनेक रूपता का शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है । 'स एकधा' इत्यादि [यह मुक्तपुरुष एक रूप से होता है, तीन रूप से होता है, पाँच रूप से होता है, तथा सात रूप से होता है, अनेक रूप से होता है] इस प्रकार प्रकृत श्रुति में मुक्तपुरुषको विविधभाव अनेक रूपत्व का कथन किया गया है । यह अनेक रूपता का कथन अनेक शरीरके बिना नहीं हो सकता है, इसलिये शरीर के सदभाव को जैमिनि आचार्य मानते हैं । अर्थात् आत्मा तो एक है छेदादि धर्म रहित है तो तादृश आत्मा का अनेक रूप से होना तो सर्वथा असंभवित है और श्रुति में कहा गया है । इसलिये यह आत्मा अनेक भाव का कथन शरीर के सदभाव मूलक है, यह सिद्ध होता है क्योंकि शरीर तो उत्पाद विनाशशाली होने से शरीर सम्बन्ध से आत्मा में भी अनेकधा का भाव मूलक हो सकता है । अतः मुक्तको शरीर का सदभाव सिद्ध होता है ।

नहीं कहो कि 'अशरीरं वा वसन्तम्' इत्यादि श्रुति जो कि मोक्षकालिक आत्मा में तो शरीराभाव का प्रतिपादन करती है, तो उभ श्रुति से 'स एकधा' इत्यादि श्रुति में बाध उपस्थित होता है तब यह श्रुति बाधित विषयक होती है, तब तादृश श्रुति के बल से शरीरत्व मुक्तको किस तरह कहा जाता है । इस शङ्का का निराकरण करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि 'अशरीरं वा वसन्तमित्यादि 'यद्यपि' अशरीरं वा वसन्तम् इत्यादि श्रुति शरीराभाव का प्रतिपादन करती है परन्तु शरीर भी दो प्रकार का होता है एक तो शुभाशुभकर्मजनित होता है जो कि इहलौकिक तथा स्वर्गादि सुखदुःखाद्युपभोग में कारण होता है, तथा उपासनानुष्ठानादिक में कारणता है । और दूसरा शरीर होता है, अप्राकृतिक लोकोत्तर यह

‘अशरीरं वावमन्त’ मिति श्रुतिस्तु कर्मादिनिमित्तशरीराभावमभि-
धत्त इति ॥११॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ४।४।१२

एवं मतद्वयम्प्रदर्श्य स्वकीयं सिद्धान्तमाविष्करोति भगवान्
बादरायणः—‘द्वादशाहेत्यादि’ सूत्रम् । अतएव संकल्पादेवोभयविध
रस्याभावं प्रतिपादयति । अन्यथा एकस्याः श्रुतेरप्रामाणिकत्वापातात् । तच्चनेष्टम् ।
तस्मान् त्रैमिनिर्मुक्तस्य शरीरेन्द्रिययोः सद्भावमेवेच्छतीतिभावः ॥११॥

ननु द्वादशाहनामकयागस्यैकविभ्रत्वेऽपि विधायकवाक्यभेदात् सत्रेतिनामापिभवति
तथा याजयेदति विधायकवाक्यवलादहीनमिति नामापिभवतीति तस्य स्वरूपत एकेत्येपि
विलक्षणविलक्षणविधिव्याख्याभ्यां द्वैविध्यं न भवति दोषवत् । तथैव प्रकृते यदि मुक्तस्य
शरीरविषयकसंकल्पोभवति तदा सत्यसंकल्पवलात् शरीरसद्भावोभवति । अथ यदि
शरीराभावविषयकः सत्यसंकल्पोभवति तदा शरीररहितमेव तदीयं स्वरूपंभवतीति तदीय
संकल्पस्य सत्यत्वाद्वैचित्र्याच्च कार्येऽपि नैचित्र्यंभवतीत्यादिकमावेदयितुं भाष्यकारः
द्वितीय शरीर मोक्षकाल में अनेकवाभाव से तत्काल में सुख तथा भगवान् की सेवा एवं पार-
मेश्वरी आज्ञापालनादिक में कारण होना है । जो प्रकृत में जो शरीराभाव का कथन किया
गया है वह कर्म संपादित शरीर को लक्षित करके किया है किन्तु लोकोत्तर शरीर को लक्षि-
त करके शरीराभाव का कथन नहीं है । नहीं कहोकि शरीर का उत्पादक जो पूर्वकालिक
शुभाशुभ कर्म है वह कर्म जो ब्रह्मज्ञान में विवश हो गया है, तब मुक्तपुरुष के कारणी-
भूत कर्म के अभाव में यह लोकोत्तर शरीर का प्रादुर्भाव किस तरह होगा ? ऐसा नहीं
कहना क्योंकि उपामनो गमिन परमपुरुष कृपावच्च सत्यसंकल्पादि गुण के द्वारा तादृश शरीर
का लाभ हो जाता है । ऐसा जैमिनि का मत है । इति संक्षेपः ॥११॥

दशम तथा एकादश सूत्र से बादरि तथा जैमिनि का विरुद्ध मतद्वयको बतला करके
स्वकीय सिद्धान्त मतको बतलाने के लिये कहते हैं ‘द्वादशाहदित्यादि’ (जिस तरह द्वादशाह
नामक यागविधि वाक्य के भेद से सत्र पद बोध्य होता तथा अहीन पद बोध्य भी होता है
उसी तरह प्रकृत में संकल्प के भेद से मुक्त पुरुष संकल्प के भेद से सशरीर भी होता है

शरीरेन्द्रियादिसहितं तद्रहितञ्च मुक्तं जीवं मन्यते भगवान् वादरा-
यणः । द्वादशाहवत् । यथा 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः' मित्युपैति चोद-
नयाद्वादशाहस्य सत्रत्वम् 'द्वादशाहेन प्रजाकामयाजयेत्' इतियजति
पूर्वभूमिकामारचयति एवं सतद्वयं प्रदर्शयत्यादि एवं सतद्वयं वादरिजेमिनिमतद्वयं दर्शयित्वा
स्वर्कायसिद्धान्तसिद्धमादर्शयितुं भगवान् वादरायणः प्राह द्वादशाहेत्यादिकं सूत्रम् । अत्र
सूत्रघटकमत इतिपदमुक्तस्य संकल्पं बोधयतीति । अतो यदि मुक्तस्य मम शरीरं भवतु
इत्याकारकः संकल्पो भवति तदा शरीरमहित एव स भवति । अथ यदि मे शरीरं न भवतु
इत्याकारकः संकल्पस्तदा शरीराभाव एव भवति । कारणभेदस्य कार्यभेदनियामक-
त्वात् । यथा गोधूमवीजेन गोधूमाङ्कुरो जायते यववीजेन यवाङ्कुरः प्रादुर्भवति ।
इति वादरायणस्य महामुनेर्मतम् । एतावता वादरिजेमिन्योरुभयोरैवमर्थितं भवत्येव ।

अत्र दृष्टान्तमाह द्वादशाहवदिति यथा द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुर्मित्यादि वाक्येन
द्वादशाहभागस्य सत्रेति नाम भवति । तथा द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत् इत्यत्र याजयेदिति
वाक्येन तस्यैवाहीनमिति नाम भवति इति विधायकवाक्यभेदादुभयमपि तथैव प्रकृतेषु
मुक्तस्य संकल्पभेदान् शरीरमाहित्यं तद्राहित्यं चापि भवतीति वादरायणस्य मतम् । एता
तथा शरीरं रहितं भी होता है) इस सूत्र के अर्थ का स्पष्टीकरण के लिये भाष्यकार
कहते हैं 'अतएव संकल्पादेवेत्यादि' सूत्र घटक जो अतः पञ्चमो विमर्शयन्त पद है तद संक-
ल्प का द्योतक है । एतादृश संकल्प के बल से ही मुक्त पुरुष शरीरेन्द्रियादि सहित भी होता
है तथा शरीरादि रहित भी होता है अर्थात् यदि मुक्त पुरुष को शरीर विषयक संकल्प होता
है तब तो वह शरीरवान् होता है और शरीर विषयक संकल्पवान् नहीं होता है तब शरीरा-
भाववान् होता है इसप्रकार दोनों पक्षों का सामञ्जस्य घटित होता है । ऐसा भगवान् वाद-
रायण आचार्य मानते हैं ।

एक में शरीरत्व तथा शरीर रहितत्व किस तरह समाविष्ट होता है इसमें अनुसूय दृष्टा-
न्त बतलाने के लिये कहते हैं 'द्वादशाहवदिति' (द्वादशाह याग के समान) जिस तरह 'समृद्धि-
कामनावान् अविकारी द्वादशाह यज्ञ करे' इस वाक्य में 'उपेयुः' इस विधिवाक्य के बल से
द्वादशाह याग में सत्रत्व (नाम विशेष) सिद्ध होता है तथा उसी द्वादशाह में (प्रजाकामनावान्
अधिकारी को द्वादशाह नामक याग कराना) इस वाक्य में 'याजयेत्' (यज्ञ कराना) इस विधि-
वाक्य के बल से अहीनत्व की सिद्धि होती है । इसी तरह प्रकृत में भी मुक्त के संकल्प बल

चोदतया च तस्यैवाहीनत्वं भवति । तथा संकल्पवैचित्र्यादत्राप्यु-
भयविश्वम् ॥१२॥

॥ तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ४।४।१३ ॥

शरीरेन्द्रियरहितस्य कथं भोगोपपत्तिरित्यपेक्षायामाह—‘तन्व-
भावे’ इत्यादि । स्वसंकल्पमृष्टतन्वाद्युपकर्णाभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः
यता पूर्वमतद्वयमपि समर्थितं भवति ततयोः कश्चिदपिविशेष इति । कारणभेदस्य सर्वत्र
कार्यभेदनियामकत्वस्य दर्शनात् । प्रकृतेऽपि कारणभेदः प्रदर्शित एव । जैरीयसंकल्प
भेदे भयवत्कृपेव शरणं नान्यदिति संश्लेषोपिस्तरस्त्वन्यत्रानुसंधातव्य इतिकृत-
मधिकेनेति ॥१२॥

ननु मुक्तस्य शरीरमाहित्यं शरीरमाहित्यमपि संभवतीति द्वादशाहदृष्टान्तेन
बादरायणः स्वकीयं सिद्धान्तं प्रदर्शितवान् । तत्र पृच्छामि यदा बादरिमतं बादरा-
यणः समर्थितवानितितत्कथमिव संभवति । यतः सुखाद्युपभोगस्य शरीराद्युपभोगोप-
करणेनैव संभवेत् परन्तु तन्नास्तिमुक्तपुरुषस्य तद्वच्चशरीराद्यभावेनोपभोगः संभवेदि-
त्याशंकां समाधातुं मृष्टतन्वाद्यात्प्राप्त्युपक्रमे शरीरेन्द्रिय रहितस्येत्यादि शरीरेन्द्रियादे-
रुपभोगकरणस्याभावेकथमुपभोगो भवतीत्यपेक्षायामाह तन्वभावे इत्यादि सूत्रम् । यथा
स्वप्नेस्वप्नद्रष्टुः शरीरादिकं न भवति किन्तु परमेश्वरोत्पादितमाधनेनैवोपभोगो भवति
संशरीरत्वं भी सिद्ध होता है तथा संकल्प के बल से अशरीरत्व भी सिद्ध होता है । जिस
तर्ह लोक में भी जब ‘मैं घटको बनाऊंगा’ एतादृश संकल्पवान् रहता है तब तो घट को बनाता
है और जब ‘घटको नहीं बनाऊंगा’ एतादृश संकल्पवान् होता है तब घट को नहीं बनाता
है । इसी तर्ह प्रकृत में भी संकल्प की विचित्रता से कार्य में भी वैचित्र्य होने से दोनों मत
अपेक्षा विशेष से समझजस ही है । ऐसा बादरायण का सिद्धान्त हुआ ॥१२॥

भगवान् बादरायण ने मुक्त का शरीरादि साधन नहीं होता है इसप्रकार का जो बादरि का
मत है उसका भी समर्थन किया किन्तु यह समर्थन उपयुक्त नहीं है इस शंका का समाधान करने
के लिये अधिम सूत्रका अवतरण करते हैं ‘शरीरेन्द्रिय रहितस्य’ इत्यादि । जब मुक्त का भोग
साधन शरीर इन्द्रिय नहीं है तब मुक्त पुरुष को उपभोग किस तर्ह से होता है ? इस शंका का

स्वप्नभोगवदीश्वरसृष्टैरुपकर्णैर्भोगोपपत्तेः । अयम्भावः । करणकले
वराद्यभावेऽपिमुक्तः परमात्मप्रदत्तैस्तैस्तेरेव पितृलोकादिभिश्चलीला-
म्ममनुभवति ॥१३॥

५ भावे जाग्रद्वत् ४।४।१४ ५

स्वसंकल्पेन प्राप्तकरणकलेवरादिभावे पितृलोकादिविषयसद्भावे
तथा मुक्तस्यस्वनिर्मितशरीरादिसाधनाभावेपिपरमेश्वरसृष्टोपभोगसाधनेनैवोपभोगस्य
संभवात् । नास्ति नियमो यत् स्वनिर्मितेनैवस्वोपभोगनियमः किन्तु परोन्यादिते
नापि साधनेनोभोगस्य दर्शनात् । एतदेवभाष्यकारो दर्शयति अयम्भाव इत्यादिप्रकर-
णेन । अन्यत्सर्वं सुगममिति ॥१३॥

ननु यदिमुक्तस्य शरीरेन्द्रियादिमन्तरेणपितृलोकादिविषयस्य भावेपि स्वप्नवदुप-
भोगो भवति तदोपभोगसम्पादनाय शरीरादिसाधनानामुपादानं निरर्थकमेव भवति
यदि कारणमन्तरेणापि कार्यं भवेत्तदा को हि स्वस्थात्मा कारणान्वेषणं कुर्यादिन्याशङ्कां
समाधातुं सूत्रान्तरमवतारयति भावेजाग्रद्वदिति । यदि मुक्तपुरुषस्य स्वसंकल्पसिद्धशरी-
रेन्द्रियादीनां भावस्तथा पितृलोकादिसद्भावश्चमन्यते तदा यथा जीवस्यजाग्रतिकाले
समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'तन्वभावे' इत्यादि । जिस तरह स्वप्नकाल में जीव को
स्वकीय शरीरादिक साधनों का अभाव रहते हुए भी परमेश्वर सृष्ट पुष्पाणि्यादि साधनों से
सुखादि का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है उसी तरह मुक्त पुरुष को स्वनिर्मित शरीरादिक
साधन के अभाव होने पर भी परमेश्वर निर्मित साधनों से उपभोग होना है । 'अयम्भावः'
यहाँ कहने का भावार्थ ऐसा है कि यद्यपि मुक्त पुरुष को स्वकीय करणकलेवर इन्द्रिय तथा
तदधिष्ठान शरीर नहीं भी है तथापि परमात्मा प्रदत्त जो तत्तत् करणकलेवरादिक साधन तथा
परमेश्वर प्रदत्त जो पितृलोकादिक पदार्थ उनके द्वारा मुक्त पुरुष परमेश्वरीयलीला रस का अनु-
भव करते हैं । इसप्रकार बादरि के मतको बादरायण ने समर्थन किया है ॥१३॥

मुक्त पुरुष को यदि स्वकीय सत्य संकल्प के बल से करणकलेवर इन्द्रिय तथा भोगा-
धिष्ठान शरीर का सद्भाव है और स्वनिर्मित पितृलोकादि लक्षण विषय का भी सद्भाव है
तब तो जाग्रत् कालिक विषयेन्द्रिय संपर्क से जायमान अतिविस्पष्ट भोग की तरह मुक्त पुरुष

च जाग्रज्जीवभोगवन्मुक्तपुरुषः स्वप्नभोगविलक्षणं लीलारसमनु
भवति ॥१४॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ४।४।१५

नन्वात्मनोऽणुत्वात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिनो
क्तेष्वनेकशरीरेषु व्याप्त्यनुपपत्तेर्नानैकैरात्मकैः शरीरैर्मुक्तस्य भोग
उपपद्यत इत्यत्राह—'प्रदीपवदावेशः' इत्यदिसूत्रम् ।

यथैकस्मिन्प्रदेशे समवस्थितस्यैकस्यैव प्रदीपस्य स्वप्नभाद्वारा
शरीरादिसत्त्वे विषयादिसद्भावे च तत्काले विषयेन्द्रियसम्बन्धाद्विस्पष्टं ज्ञानमुदेति वि
स्पष्टश्च भोगो जायते तथैव मुक्तस्यापि शरीरादिविषयान्तपदार्थसद्भावश्च स्वनिर्मित
सत्त्वे स्वप्नविलक्षणं भोगमनुभवति मुक्तः । अयं भावः यदा तु मुक्तस्य शरीराद्यभावः स्वी-
क्रियते तदा परमेश्वरसम्पादितकरणकलेवरादिना स्वात्मिकभोगवदविस्पष्टो भवति यदा तु
शरीराद्युपकरणं स्वसंकल्पसम्पादितमेव भवति तदा जाग्रत् वत् सुस्पष्टः सुखाद्यनुभवो
भवति । शरीरसद्भावस्वीकारे विस्पष्टो जाग्रद्बुभोगानुभवः शरीराद्यसद्भावेऽस्पष्टः
स्वप्नवत्सुखानुभव इति संक्षेपः ॥१४॥

अथ एषोऽणुरात्माचेतसावेदितव्यः इत्यादिश्रुत्या जीवस्याणुपरिमाणवत्त्वश्रवणेन
मुक्तजीवोणुस्वभावः कथमनेकशरीरैर्भोगं सम्पादयेत् यतः शरीरान्तरे तत्सम्ब-
न्धस्याभावादित्याशङ्क्य प्रदीपादिलौकिकदृष्टान्तेन एकत्रावस्थितस्यापि स्वकीय-
गुणेनानेकत्र कार्यकारित्वदर्शनादित्यादिहेतुभिः समाधातुमुपक्रमते नन्वात्मनो-
को स्वात्मिक भोगापेक्षया अति विरक्षणं लीला रस का अनुभव करते हैं अर्थात् यदि मुक्तपुरुष
को शरीरादि का सद्भाव मानें तब तो शरीरादि साध्य जाग्रत् कालिक भोगतुल्य अति
स्पष्ट लीला रस का अनुभव होता है । इसलिये बादरि एवं जैमिनि दोनों का मत समीचीन
ही है ॥१४॥

जीवात्मा के अणु होने से 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित
अनेक शरीर के साथ सम्बन्ध अनुपपन्न होने से अनेक शरीर द्वारा युगपत् उपभोग तो मुक्त

ऽऽवेशः यथा चैकस्मिन्नपि देहे हृदयाद्येकदेशावस्थितस्यात्मनश्चैत
न्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्नपिशरीर आत्माभिमानस्तथा मुक्तस्याप्यनेक
शरीरेषु समान एवात्माभिमानोव्यवहारश्च । एतदुक्तमभवति । वद्वानां
जीवानामनादिकर्मणा संकुचितज्ञानत्वाद्देहान्तरे चैतन्यद्वाराव्याप्तिर्न
भवति स्वदेहेतु तेषामावेशोऽस्त्येव । मुक्तानान्तु परमात्मोपामनया
गतकर्मबन्धानां परमात्मानुग्रहेण संकुचितज्ञानत्वात् स्वदेहवद्देहान्तरे
ऽणुत्वादिन्यादि यदा खलु जीवोणुपरिमाणकस्तदा यत्रायमवस्थितस्तत्रैव भोगादिकं
सम्पादयिष्यति तत्कथं स एकवा भवति त्रिवा भवति इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितानेकशरी-
रावच्छेदेनैकस्मिन्नेव काले एकत्रैवावस्थितः सर्वशरीरवर्तितमुपभोगं सम्पादयेदित्य-
वतरणग्रन्थस्थ शङ्काशयः । उत्तरयति सूत्रेण प्रमाणन्यादि यथा स्वर्गोपि चन्दन
विन्दुः शरीरैकदेशे यत्र तत्र विद्यमानोपि सम्पूर्णशरीरगतमाह्लादं करोति स्वकीयप्रसृ-
मरगुणसम्बन्धात् तथैव मुक्तजीवोऽणुत्वादेकत्रविद्यमानोपि स्वकीयचैतन्यगुणयोगा-
न्मर्वत्रैव शरीरे सुखाद्युपभोगं सम्पादयिष्यतीति न कोपि तस्याणुन्वेपि दोषो
जायते । यद्यपि दृष्टान्तमात्रेण वस्तुमिद्विर्नभवति । अन्यथा द्रव्यत्वेन जलेऽप्यौष्ण्यं
बह्नावपिशीतस्पर्शस्य मिद्विः स्यात् किन्तु हेतुयुक्त्यादिभिर्वस्तुमिद्विर्भवति अत एव
प्रमाणरहितवस्तुनः मिद्विर्न जायते इति सर्वतंत्र मिद्वान्तः । तदिह जीवस्याणुन्वे नास्ति
प्रमाणमिति व्यापकत्वे तु प्रमाणं विद्यत इति व्यापक एव स्यात् ततश्च मुक्तस्य पुण्यत्
सर्वशरीरावच्छेदेन भोगः सम्पादितो भविष्यतीति । तथापि एषोणुरात्माचेतसा वेदितव्यः ।
बालाग्रशतभागस्य इत्याद्यनेकश्रुतिप्रमाणेनाणुत्वस्य पूर्वं साधनात् । भवति प्रकृतस्थले
पुरुष को नहीं हो सकता है ! इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं 'प्रदीपवदित्यादि'
जिस तरह गृहादिक को एक प्रदेश में विद्यमान एक ही प्रदीप स्वकीय विस्तृत प्रकाश द्वारा
सम्पूर्ण गृहावस्थित प्रकाश्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है । यथावा एक देह के हृदयादि
रूप एक प्रदेश में अवस्थित जीवात्मा ज्ञान लक्षण व्याप्त गुण द्वारा संपूर्ण शरीर में आत्मा
भिमान करता है । इसी तरह मुक्त पुरुष को भी अनेक शरीर में आत्माभिमान होता है
तथा तत्रत्य सर्वा प्रकारक व्यवहार भी उपपन्न होता है ।

‘एतदुक्तं भवतीति ! इस प्रकरण का यह अभिप्राय है कि जो कर्म बद्ध जीव हैं उन
को अनादिकालिक कर्म के द्वारा उनका ज्ञान अति संकुचित हो जाता है इसलिये बद्ध जीव

ऽपि व्याप्तिरुपपद्यते । तेन च सर्वोऽपि व्यवहारः सम्यगुपपद्यते ।

तथाहि दर्शयति । 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो तस्याणुन्वे मुक्तस्य भोगानुपपत्तिरित्याशंक्य प्रदीपादिदृष्टान्तेन तं दोषमपहर्तुं सूत्रकारो भाष्यकारश्च प्रयत्नमकुर्वतामिति ।] दोषोद्धारप्रकारमेव भाष्यकारो दर्शयति यथैकस्मिन्प्रदेशे इत्यादि । यथागृहैकदेशे विद्यमानोऽव्याप्यो नतु व्यापकः प्रदीपः समस्तगृहगतमन्धकारनिराकरणकार्यं करोति । यथावा हृदयेषु आत्मा इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितशरीरस्यैकप्रदेशे समवस्थितोऽपि निदाधसमये जाह्नवीजलनिमग्नस्य संपूर्णशरीरगताह्लादं स्वकीयज्ञानगुणेन व्याप्तः सन् करोति । तथैव प्रकृतमुक्तोऽपि मोक्षसमये ज्ञानगुणेनानेकं शरीरं व्याप्य तमृषभोगादिकं साधयेत् । तत्र कःप्रद्वेष आयुष्मतामिति । ननु यदि परिमितोऽपि जीवो ज्ञानगुणेनावस्थितस्थानातिरिक्तप्रदेशेषु कार्यं करोति तदा एकत्र विद्यमानः स्वशरीरातिरिक्तशरीरेषुभोगादिकं साधयेत् इत्याशंकायामाह भाष्यकारः एतदुक्तंभवतीत्यादि ।

अयमाशयः । जीवो हि त्रिविधो बद्धोमुक्तो नित्यसिद्धश्च । तत्र शुभाशुभकर्मबलप्राप्तावस्थात्रयवान् कर्मानुरूपं फलं भुनक्ति । स चानादिभवोपाजितकर्मणा प्रतिबद्धत्वात् संकुचितज्ञानः कर्मप्राप्तशरीरमात्रे एव तस्य ज्ञानव्याप्तिर्भवति नान्यत्र तथा भवति । मुक्तजीवस्य तु विद्यया सर्वकर्मबन्धनलक्षणावरणस्य क्षयान्निरावरणो भगवत्कृपया स्वशरीरवत् शरीरान्तेष्वनेकेष्वपि चैतन्यस्य व्याप्तिर्भवति । तेन तस्य सर्वत्रोपभोगादिकं भवति सर्वोऽपि व्यवहारो भवति भगवत्कृपयैवेति । नचैतादृशविलक्षणकार्यदर्शनान्मुक्तस्य व्याकृत्यमेवनाणुत्वमिति शंक्यम् वालाग्रशतभागस्य इत्याद्यनेकको ज्ञान द्वारा शरीरान्तर में सम्बन्ध नहीं होता है अतः शरीरान्तर से उनका व्यवहार नहीं हो सकता है केवल शरीर में ज्ञान का आवेश रहने से तावन्मात्र से व्यवहार होता है । परन्तु मुक्त जीवों को तो परमात्मा की उपासना करने से उनका कर्म बन्धन विनष्ट हो जाता है तब परमात्मा की कृपा से असंकुचित ज्ञानवान् होने से स्वकीय देह के समान ही अनेक शरीरान्तर में भी चैतन्य गुण द्वारा सम्बन्ध होता है और तादृश सम्बन्ध होने से तदनुकूल सब के सब व्यवहार भी उपपन्न होते हैं । इस बात को श्रुति स्वयमेव बतलाती है 'वालाग्र शतभागस्येत्यादि' । (केश के अग्र भाग का जो सौत्रो भाग है उस एक भाग को सौ भाग किया जाय उस शतधा कल्पित भाग के समान जीव हैं तथा वे अनन्त हैं तादृश अणु परि-

जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्यायकल्पते' [श्वे० ५।७] तथा च स्वसंकल्पेनैवमुक्तस्य सर्वमुपपद्यते इति न कश्चिद्दोषः ॥१५॥

५ स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्य-

तरापेक्षमाविष्कृतं हि ४।४।१६ ५

ननु 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्' [बृ० ४।३।२१] इत्येषा श्रुतिर्मुक्तस्य बाह्यान्तरज्ञानाभावं वदत्यतः कथं तस्य सर्वज्ञत्वमुच्यते इत्यत्राह—'स्वाप्ययसंपत्त्योरित्यादि' । श्रुत्याजीवमात्रस्याणुत्वसाधनात्तत्रैव 'एषोऽणुरात्मैष' इत्यादिश्रुतिमानतः । अणुश्च चेतनो जीवो द्रव्यरूपो मतोबुधैः (श्रीवोधायनमतादर्शः ८६०) 'तत्राणुचेतनो जीवः सच्चिदानन्दलक्षणः' (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ५।१) 'तत्रचित्पदवाच्यो जीवः स चाणुचेतनः' (श्रौतार्थसंग्रहः) इत्याद्याचार्योक्तेश्चेतिदिक् ॥१५॥

अथ मुक्तस्य सार्वज्ञ्यं कथमुच्यते यतः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न किञ्चन बाह्यवेदनान्तरम् इत्यादिश्रुत्या भक्तस्य सर्वज्ञानाभावस्यैव प्रतिपादनादित्यादिशङ्कां समाधातुमुदाहृतश्रुतेरन्यपरत्वं चोपपादयितुमुपक्रमते ननु प्राज्ञेनात्मना इत्यादि । प्राज्ञेन परमेश्वरेण सम्परिष्वक्तः तस्मिन् परमेश्वरेण प्रलीनो तस्मिन् सम्पन्नो मुक्तजीवः तत्समाणक जीव मोक्षभागी होता है ।) इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्त जीव को स्वकाय संकल्प बल से ही सर्व वस्तु की उपपत्ति होती है इसमें कोई दोष नहीं है ॥१५॥

प्रश्न ('प्राज्ञेनात्मना' प्राज्ञ आत्मा परमेश्वर से संमिश्रित जीव न तो किसी बाह्य वस्तु को ही जानता है नवा किसी अभ्यन्तरस्थ वस्तु को ही जानता है अर्थात् सर्व विषयक ज्ञानाभाववान् हो जाता है') यह श्रुति तो मुक्त पुरुष में ज्ञानाभाव का प्रतिपादन करती है ? तब आप किस तरह कहते हैं कि मुक्त पुरुष सर्वज्ञ होता है । अर्थात् सर्वज्ञ शब्द का अर्थ होता है कि सर्व विषयक ज्ञानवान् परन्तु उपर्युक्त श्रुति तो इसका विपरीत ज्ञानाभाव का प्रतिपादन करती है ? एतादृश शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरित्यादि' (ज्ञानाभाव का प्रतिपादक जो वचन है वह मुक्त पुरुषाभिप्रायक नहीं

एतज्ज्ञानाभाववचनं स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं नतु मुक्तिविषय-
कम् । स्वाप्ययः सुषुप्तिस्तत्र ज्ञानाभावः श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिपाद्यते
'नाहं खल्वयमेव सम्प्रत्यात्मानं जानाम्ययमस्मीति नो एवेमानि
भूतानि विनाशमेवापीतोभवति' [छा०८।१।२] इति । तथा 'वाङ्म-
नसि सम्पद्यते' इत्यादिदर्शनात् सम्पत्तिर्मरणं तत्रापिज्ञानाभावः
श्रुतीप्रतिपादितः 'एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'

मये बाह्यं वा आन्तरं वा वस्तु न किमपि जानाति बाह्याभ्यन्तरज्ञानाभाववान् भवती
न्यर्थः । ततश्च मुक्ते ज्ञानाभावनिरूपणे सर्वविषयज्ञानवत्त्वलक्षणसर्वज्ञत्वं कथं
स्यात् नैव कथमपि संभवतीति शङ्क्यर्थः । उत्तरयति सूत्रकारः स्वाप्ययसम्पत्त्योरित्यादि
सूत्रम् । तत्र स्वाप्ययशब्दार्थः सुषुप्तिः सम्पत्तिशब्दार्थश्च मरणम् । अन्तिमश्वास-
परिसमाप्तिरिति । तथा च सुषुप्तौ मरणे च ज्ञानं न भवति जीवे इत्येतत्प्रतिपा-
दयति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त इत्यादिश्रुतिर्नतु मुक्तस्य पुरुषस्य सर्वथा ज्ञानविलोपं
दर्शयति । अतो ज्ञानाभावप्रतिपादकवचनं सुषुप्तिमरणान्यतरापेक्षमेव नतु मुक्त-
पुरुषविषयकम् । सुषुप्तिकाले च ज्ञानाभावस्य प्रतिपादकं श्रुत्यन्तरमपि भवति । यथा
हे किन्तु सुषुप्ति तथा प्रलय मरणपरक है । इस बातको श्रुतियों ने स्वयमेव समर्थन किया है ।

सूत्र के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं 'एतज्ज्ञानाभाव-
वचनम्' इत्यादि । 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' इस श्रुति में जो ज्ञानाभाव का कथन है स्वाप्यय
तथा सम्पत्ति के अन्यतरापेक्ष है नतु मुक्ति विषयक है । इसमें स्वाप्यय शब्द का अर्थ है
सुषुप्ति तथा सम्पत्ति का अर्थ होता है प्रलय अर्थात् मरण विषयक है तो सुषुप्ति काल में प्रलय
काल में बद्ध जीव में ज्ञान नहीं रहता है यह उपर्युक्त श्रुति से प्रतिपादित होता है किन्तु
मुक्ति में मुक्त पुरुष में ज्ञान नहीं रहता है एतत्परक उपर्युक्त श्रुति नहीं है । यदि मुक्ति
में ज्ञान नहीं रहे तब तो आत्मा में जडत्वापत्ति हो जायगी तो जड बनने के लिये कौन
बुद्धिमान व्यक्ति प्रयत्न करेगा तब तो मोक्ष की कथा अस्तंभित हो जायगी । इसलिये ज्ञाना-
भाव का प्रतिपादन सुषुप्ति तथा मरण को लक्षित करके कहा गया है नतु मुक्ति को लक्षित
करके कहा गया है ।

[ब्रि० २।४।१२] इति । मुक्तस्य हि सार्वज्ञ्यं श्रुतावाविष्कृतम्—‘सवा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । य एते ब्रह्मलोके [छा० ८।१२।५।६] इति मुक्तावस्थायां सर्वविषयकज्ञानं स्पष्टमेवाविष्कृतम् । तस्मात्संकल्पेनैव मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादीनां सत्त्वममत्वं सर्व-
‘नाहं खल्वयमेव सम्प्रत्योत्मानमित्यादि । वाङ्मनसि सम्पद्यते इत्यादिवेति तस्मात्सु-
षुप्तौ मरणे च ज्ञानाभावं दर्शयति श्रुतिर्न तु मुक्तस्य ज्ञानाभावं प्रदर्शयति । प्रयुतमु-
क्तपुरुषेतु सर्ववस्तु विषयकज्ञानवत्त्वलक्षणसार्वज्ञ्यमेव प्रतिपादयति । तद्यथा सवा एष
दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ये एते ब्रह्मलोके नमन्ति इत्यादिना । अतः
मुक्तस्य शरीराधिष्ठानत्वं शरीराभाववत्त्वं वा सर्वज्ञत्वं वा सर्वमेतन् मङ्गलपानुसारेणैव
भवतीति संक्षेपः । अधिकं श्रीसम्प्रदायगम्यमिति ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यदीपेऽभावाधिकरणम् ॥५॥

सुषुप्ति काल में ज्ञानाभाव का प्रतिपादन श्रुत्यन्तर में भी कहा गया है । तथाहि ‘नाहं खल्वयमेवेत्यादि’ (मैं अभी स्वकीय आत्मा को नहीं जानता हूँ नवा इन भूतों को ही जानता हूँ विनाश को प्राप्त किया हूँ) इति । तथा ‘वाङ्मनसैत्यादि’ (वाणी मन में सम्पन्न प्रकाश मान हो जाती है) इत्यादि स्थल में ज्ञानाभाव का प्रतिपादन देखा जाता है । तथा सम्पत्ति शब्द का अर्थ होता है मरण । उस मरण में भी ज्ञानाभाव रहता है ऐसा श्रुति में प्रतिपा-
दित है । ‘एतेभ्योभूतेभ्यः’ इत्यादि (इन भूतों से उत्पन्न होकर के इन भूतों के विनाश होने से तदनन्तर विनष्ट हो जाता है इति । इसलिये ज्ञानाभाव का बोधक वचन सुषुप्ति मरण विषयक है मुक्ति विषयक नहीं है यह सिद्ध होता है । श्रुति तो प्रयुत मोक्ष में ज्ञान सत्ता का ही प्रतिपादन करती है मुक्त पुरुष में तो सर्वज्ञता का ही प्रतिपादन करती है ‘सवा एष दिव्येनेत्यादि’ (जो लोग ब्रह्मलोक में निवास करते हैं वे लोग दिव्य लोकोत्तर मनरूप चक्षु से इन कमनीय मनोभिषिप्त पदार्थ को देखते हुए आनन्द को प्राप्त करते रहते हैं ।) यह श्रुति मुक्तावस्था में सर्वविषयक ज्ञान के सद्भाव का स्पष्ट रूप से कथन करती है । इसलिये मुक्त पुरुष को संकल्प के बल से ही शरीरादिक का सद्भाव अथवा असद्भाव तथा सर्वविषयक ज्ञानाधिकरणत्व लक्षण सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है । यह सिद्ध होता है । उपासना के

ज्ञानाश्रयत्वञ्चेति सिद्धम् ॥१६॥

इति श्रीआनन्दभाष्येऽभावाधिकरणम् ॥५॥

अथ जगद्व्यापारवर्जनाधिकरणम् ॥६॥

५ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद-

सन्निहितत्वाच्च ४।४।१७ ५

पूर्वं संकल्पमात्रेण मुक्तस्य सर्वकामावाप्तिरभिहिता । अनन्या
धिपतित्वञ्चोक्तम् तथा सतीदमिदानीं विचार्यते । किं मुक्तस्य संक
ल्पमात्रेण परमपुरुषस्येव सर्वेश्वरत्वमपिप्राप्यत आहोस्वित्सर्वकाम-

ये उपासकाः परमपुरुषोपासनया मोक्षपदं प्राप्य समस्तैश्वर्यसम्पन्ना भवन्ति
अन्याधिपतित्वमपि तेषां भवति इति पूर्वं कथितम् । तत्र सन्निहितत्वे यत् किमयमुक्तः
मत्स्यसंकल्पत्वान् सर्वथा परमेश्वर एव भवति अथवा सर्वकमनीयपदार्थमात्रमेव भव-
तीति संशयः । पूर्वपक्षस्तु निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति सर्वेषु लोकेषु कामचारोभवती-
त्यादि श्रुत्या परमेश्वरवन्मुक्तोपि निरवग्रहमेवैश्वर्यं प्राप्नोति । नत्वांशिकमैश्वर्यं प्राप्नो-
तीति । उत्तरपक्षस्तु परमेश्वरसादृश्यमात्रं प्राप्नोति नतु परमेश्वरवत्सर्वैश्वर्यवान्
बल से भगवान् के कृपा पात्र मुक्त पुरुष को स्वकीय संकल्प के बल से सब पदार्थों की सिद्धि
होती है ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते

श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशेऽभावाधिकरणम् ॥५॥

इससे पूर्व प्रकरण में सत्यसंकल्पमात्र के बल से मुक्त पुरुष को सर्व अभिषिक्त वस्तु
ओं की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है । और मुक्त पुरुष अनन्याधिपति भी होता है नहीं है
अन्य कोई अधिपति आसक्त नियन्ता जिसका एतादृश वह मुक्त होता है ऐसा भी पूर्व में
कहा जा चुका है । इसके बाद यह भी विचार किया जाता है कि क्या मुक्त पुरुष को
स्वकीय संकल्पमात्र से सर्वेश्वरत्व भी प्राप्त हो जाता है जिस तरह परम पुरुष नित्य सिद्ध पर
मात्मा में स्वाभाविक सर्वेश्वरत्व सर्वनियामकत्व जडचेतन जगदुत्पादकत्व स्थितिछय कर्तृत्व है ।

प्राप्तिरूपमैश्वर्यमेवेति संशये सर्वजगतामीश्वरत्वमपि । कुतः ? मुक्तत्वादनन्याधिपतित्वेनार्थात्सर्वाधिपतित्वोपपत्त्या परमेश्वरस्यैव सर्वनियन्तृत्वोपपत्तेः । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति परमपुरुषमाभ्यापतिश्रवणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि मुक्तस्य सम्भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद्व्यापारो जगदुत्पत्त्यादिकर्तृत्वं तच्चाशेषचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं तद्वर्जमविभवति । अर्थात् परमेश्वरोऽयं जगदुत्पत्त्यादिकार्यं करोति तत्कर्तुं जीवममर्थो न भवति जगदुत्पत्त्यादिकार्येण नित्यसिद्धपरमेश्वर एव समर्थः । कुतः ? उत्पत्त्यादिप्रकरणे नित्यसिद्धस्यैव कर्तृत्वश्रवणात् तत्र मुक्तस्यासंनिधानाच्च । अन्यथा परमेश्वरबहुत्वमापद्येत अत एव महर्षि श्रीबोधायनेनोक्तं 'जगद्व्यापारवर्जं समानोज्योतिषा' इति । तथा सति एकोमुक्तो जगदुत्पादयेत्तदन्यश्चजगत्संहरेदितिमर्वापि व्यवस्थोपप्लाविताविनष्टास्यादित्यादिकं सर्वं बोधयितुमुपक्रमते पूर्वं संकल्पमात्रेण मुक्तस्य इत्यादि । इतः पूर्वप्रकरणे मुक्तः स्वकीयसंकल्पवलात् सर्वकामप्राप्तिमान्भवति तथाऽनन्याधिपतिरपि भवतीति प्रतिपादितमित्यर्थः । तदत्रपुनर्विचार्यते । किम् मुक्तपुरुषस्य उसी तरह मुक्त में भी होता है । अथवा सर्वकाम प्राप्ति रूप ऐश्वर्य मात्र का ही प्राप्ति होती है ऐसा संशय होता है ।

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जडचेतन सूक्ष्मस्थूल सकल जगत् का ईश्वरत्व भी मुक्त को प्राप्त होता है । क्योंकि मुक्त तथा अनन्याधिपतित्व होने से उस मुक्त जीव में निरञ्जकुश सर्वाधिपत्व की सिद्धि होती है इसलिये सकल स्थूल सूक्ष्मादि साधारण जगत् का नियन्त्रत्व भी जीव में उपलब्ध होता है नित्य सिद्ध परमेश्वर की तरह ।

'निरञ्जन' इत्यादि (जो सांसारिक कर्मकृत सकल मल से रहित हो जाता है वह मुक्त पुरुष परमेश्वर के परम समता को प्राप्त कर जाता है ।) इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि मुक्त परम समता को प्राप्त होता है ऐसा श्रुत होने से जगत् के सृष्टि स्थिति संहार कर्तृत्वादि जो परमात्मा का अनन्य साधारण गुण है तादृश गुण की प्राप्ति भी मुक्त पुरुष को हो जाता है । तस्मात् मुक्त पुरुष भी जगत्सृष्ट्यादिकों का कर्ता होता है ।

इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि 'जगद्व्यापारवर्जमिति । जगत् व्यापार अर्थात् सकल जगत् का उत्पत्ति स्थिति और लय कर्तृत्व रूप है अर्थात् एतादृश जगत् कर्तृत्व

द्यातिरोधानराहित्यपूर्वकपरब्रह्मानुभवरूपम् 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणे' ति श्रुत्यभिहितं संकल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिरूपं मुक्त-
सौश्वर्यमस्ति । नतु जगदीश्वरत्वमपि तत्तुपरमपुरुषस्यासाधारणम् ।
कुतः ? प्रकरणात् । 'यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते येन जाता-
नि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' [ती०
संकल्पबलेन सर्वाथा पारमैश्वर्यप्राप्तिर्भवति अथवा कमनीयवस्तु प्राप्तिमात्रं भवतीति ।
तत्र परमेश्वरवन्मुक्तोपि जगदुत्पत्त्यादिकमपि करोति यतोऽनन्याधिपतित्वेन परमेश्वर-
चन सर्वनियन्तापि भवतीति प्रथमपक्षः । अमुं प्रथमपक्षं दूषयितुं सूत्रकारः प्राह जगद्व्या-
पारवर्जमित्यादि मुक्तोहिपरमेश्वरकृपयैव परमेश्वरस्य परमसमतामुपैतीति निरञ्जनः परम-
मुपैतीत्यादिश्रुत्याज्ञायते । अर्थात् परमेश्वरसदृशोभवति नतुपरमेश्वर एव भवति ।
कुतः ! सादृश्यभेदघटितत्वात् यथाचन्द्रवन्मुखमित्यत्र मुखेचन्द्रसादृश्यं तच्च तद्भिन्न-
त्वेमति तद्गतभूयोधर्मवत्वमात्रमेव भवति नतु चन्द्रमुखयोस्तादात्म्यं प्रत्यक्षवाधात् ।
नहि भवति श्रुतीतिचन्द्रोमुखमिति । किन्तु चन्द्रगताह्लादादिजनकत्वस्य मुखेसत्वात्
चन्द्रवन्मुखमिति । तथैव प्रकृतेपि परमेश्वरसादृश्यं भवति मुक्तस्य नतु तयोरैक्यं भव-
ति भेदस्य नित्यत्वात् तस्य चात्यन्तिकाभेदविरोधित्वात् । तस्मात् मुक्ते निरवग्रहमैश्वर्यं
नायाति किन्तु आंशिकमैश्वर्यमिति । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव परमे-
जडत्वेन जगत् का स्वरूपस्थिति प्रवृत्ति का नियमन रूप है । एतादृश जगद्व्यापार को छोड़
करके अविद्या का जो तिरोधान तत् राहित्य पूर्वक परब्रह्म का जो अनुभव रूप जो कि 'सो
श्नुते सर्वान्' (वह मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ सर्वकाम को प्राप्त करता है) इस श्रुति से कथित
सर्वकाम प्राप्ति रूप ऐश्वर्य लक्षणफल मुक्त को संकल्प द्वारा प्राप्त होता है । अर्थात् जगत्
व्यापार रहित अभिलषित सर्वकाम प्राप्ति रूप ऐश्वर्य संकल्प द्वारा मुक्त पुरुष को प्राप्त होता है
यानि सीमित ऐश्वर्य प्राप्त होता है नतु परमेश्वरवत् सर्वजगत् का नियन्तृत्व जगदीश्वरत्व भी
प्राप्त होता है । जगदीश्वरत्व धर्मतो परमपुरुष परमेश्वर श्रीराम का ही अनन्य साधारण गुण है ।
इस बातको आप किसतरह जानते हैं कि जगत् व्यापार वर्जित सकल कामावाप्ति लक्षण ऐश्वर्य मात्र
मुक्तपुरुष को प्राप्त होता है किन्तु सर्वजगदीश्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती है ? इस शंका के उत्तर
में कहते हैं 'प्रकरणात्' उक्ति के प्रकरण से जानता हूँ कि सर्वजगदीश्वरत्व परमात्मा में ही है मुक्त

३।१] इति परमात्मानमेव प्रकृत्याम्नातम् नतु मुक्तात्मानम् । एवं 'तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेयेति तत्तेजोऽमृजत' [छा० ६।२।३] इत्यादि प्रकरणान्तरेष्वपि ज्ञेयम् । अमन्निहितत्वाच्चापि मुक्तस्य । नहि जगन्निमयनादिषु मुक्तस्य सान्निध्यमप्यस्ति । येन तस्याप्ययं व्यापारः स्यात् ॥१७॥

इश्वरस्य । यतो वा इमानि तदैक्षत इत्यादिप्रकरणे परमेश्वरस्यैव परामर्शात् तत्र च मुक्त स्यात्प्राक्रान्तत्वादिकमुत्तरं स्वयमेवावोचत् सूत्रकारः । भाष्यकारोपि तमेव युक्तियुक्तमिति सत्त्वातदनुमोदयामास 'जगत्सृष्ट्यादयोलीला ममेव राघवस्य च' (वशिष्ठसंहिता) इत्यागमोक्तेः । 'अजडश्चेतनोऽजीवो जगद्व्यापारवर्जितः । अजडं चेतनं ब्रह्मजगज्जन्दादिकारणम् ॥ जगज्जन्मादि हेतुश्च ब्रह्मवेदान्तबोधितम् । बहुस्यामिति संकल्पकारको जानकी इश्वरः ॥ जगत्सृष्ट्यादिकर्ता श्रीरामो ब्रह्मपरात्परम् ॥ श्रीबोधायनमतादर्शः (१।२।१। २६) 'शेरीचाथनिमित्तं चोपादानं जगतोऽस्य हि । महाविष्णुर्निराधारो रामो ब्रह्माखिलेश्वरः' (श्रीतपमेयचन्द्रिका ६।४) इत्याद्याचार्योक्तेश्चेति । अन्यत्वं सुगममिति संक्षेपः ॥१७॥

पुरुष में नहीं है । तथा हि 'यतो इमानि' इत्यादि (जिस सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ सर्व नियामक श्रीराम से यह आशादिक भूत भौतिक सकल जगत् उत्पन्न होता है तथा भगवान् से उत्पन्न होकर के स्थिर रहता है पालित होता है तथा अन्त में उसी में संहार की प्राप्ति कर जाता है हे शिष्यों तादृश महापुरुष की जिज्ञासा करो वही ब्रह्म सर्व व्यापक सर्व नियन्ता है) इस श्रुति में परमात्मा को प्रकृत करके ही कथन किया है । किन्तु मुक्त आत्मा को प्रकृत करके नहीं प्रतिपादन किया गया है । इसी तरह 'तदैक्षत' (उस ब्रह्म ने ईक्षण संकल्प किया कि एक भी मैं अनेक रूप से हो जाऊं तब उसने तेज को बनाया जल पृथिव्यादिक भूत भौतिक पदार्थों का सर्जन किया) इत्यादि प्रकरणान्तर से भी इस बातको जानना चाहिये ।

और इस प्रकरण में मुक्तात्मा का संनिधान नहीं अर्थात् मुक्तात्मा का उपस्थापक कोई भी पद नहीं है जो कि मुक्तात्मा का बोधक हो । जगत् नियमनादिक प्रकरण में मुक्त पुरुषों का सान्निध्य भी नहीं है । जिससे कि मुक्त पुरुष का भी जगत् नियमनादिक व्यापार को माना जाय । तस्मात् निरंकुश ऐश्वर्य तो परमात्मा में ही है । किन्तु मुक्त पुरुष में नहीं है ऐसा सिद्ध होता है । इति संक्षेपः ॥१७॥

५ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिक-

मण्डलस्थोक्तेः ४।४।१८ ५

ननु 'स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारोभवति' [छा. ७।२।५।२] इत्यादौ प्रत्यक्षेणैव स्वातन्त्र्योपदेशान्मुक्तस्य निरंकुश-
मैश्वर्यं स्यादिति चेन्न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । अधिकारे
नियुक्तानां हिरण्यगर्भादीनां लोकेषु स्थितान् भोगान्प्रति मुक्तस्य
कामचारोऽवोक्तेः विमुक्तबन्धो मुक्तो ब्रह्मविभूतिभूतेषु हिरण्यगर्भा-

मुक्तपुरुषस्य परमेश्वरवदेवनिरवग्रहमेवैश्वर्यं भवति नतु सावग्रहमेवैश्वर्यं भवतीत्या-
शङ्क्य समाधातुमुपक्रमते ननु स्वराट् भवति तस्य इत्यादि । योहि संसारबन्धनाद्विमुक्त-
स्तस्य सर्वलोकादिषु स्वेच्छाचारस्य परमैश्वर्यप्राप्तेश्च स्वराड्भवति तस्य सर्वलोकेषु स्वे-
च्छयागमनादिकं भवतीति श्रुत्याप्रत्यक्षत एव प्रतिपादनात् निरवग्रहमेवैश्वर्यमुक्तस्य भव-
तीति चेन्न सवितृहिरण्यगर्भादिकप्रभृत्याधिकादिकमण्डलान्तर्गतभोगादावेवमुक्तस्य स्वे-
च्छाचारोभवति तथा अणिमाद्यैश्वर्यमात्रं भवति तदपि भगवद्विभूत्यन्तर्गतमेव भवति
नतु निखिलब्रह्माण्डवर्तिसुखप्राप्तिरूपमैश्वर्यं जगद्व्यापारप्राप्तिरपि मुक्तस्य भवतीति ।
अर्थात् हिरण्यगर्भादिकाधिकारिकविकारभूतलोकान्तर्गतलोके एव यथा संकल्पं वि-

प्रश्न 'ननु' इत्यादि 'स स्वराड्भवतीत्यादि' (वह मुक्त पुरुष स्वराट् होता है उस
मुक्त पुरुष को सब लोक में कामचार होता है अर्थात् स्वेच्छया गमनागमन होता है)
इत्यादि स्थल में प्रत्यक्ष रूप से स्वातन्त्र्य का उपदेश होने से मुक्त पुरुष को सर्वत्र अबा-
धित ऐश्वर्य प्राप्त होता है अर्थात् जगद्व्यापारादिक कार्य में भी मुक्त को स्वतन्त्रता होती
है ! ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है क्योंकि आधिकारिक मण्डलस्थ का कथन है । अर्थात्
अधिकार में परमपुरुष परमात्मा से विनियुक्त जो हिरण्यगर्भादिक पुरुष है तादृश हिरण्य गर्भा-
दिक का जो लोक है उन लोको में स्थित विद्यमान जो भोग है तादृश भोग के प्रति मुक्त
पुरुष को भी कामचार का कथन उपर्युक्त श्रुति वाक्य से प्रतिपादन किया जाता है । सर्व
संसार बन्धन रहित जो मुक्त है वह परब्रह्म के विभूति लक्षण जो हिरण्यगर्भादिक का विकार

दीनां विकारलोकेषु यथासंकल्पं विहरतीति तदर्थः । नहि तेन वा
क्येन जगद्व्यापारोऽपि मुक्तस्यास्तीति प्रतिपाद्यते ॥१८॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ४।४।१९

तर्हि संसारिन्मुक्तस्यापि विकारान्तर्वर्तिभोगभोक्तृत्वाद्ब-
द्धस्येव मुक्तस्यापि भोग्यक्षयिष्णुनश्वरं स्यादित्यत्राह 'विकारावर्ति'
हरणं भवति इत्येव स्वगद्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारोभवतीत्यादि श्रुत्याप्रतिपाद्यते नतु
तस्य मुक्तस्य जगद्व्यापारादिकार्यमपि प्रतिपाद्यते इति नकोपि दोष इति संक्षेपः ॥१८॥

ननु यदिमहता प्रयत्नेन संसारबन्धनं निरस्यमोक्षपदं प्राप्यापि मुक्तोजन्यमेव
सुखमनुभवेत्तदाबद्धजीवापेक्षया मुक्तस्य कोभेदः को वाभेदः संसारमोक्षयोः । यत उभ-
यत्रापिजन्यसुखस्यैवानुभवान् । यथालोके लोको यागदानादिपुण्यकर्मकृत्वा तद्वलात्स्वर्गं
प्राप्नोति तत्र च यावत्पुण्यमवाप्यनिवर्तते इतितस्याल्पकालिकजन्यसुखस्यैवानुभवा-
भूत लोक है उन लोकों में स्वकीय संकल्प द्वारा मुक्तपुरुष विहरण करते है ऐसा उपर्युक्त
श्रुति वाक्य का अर्थ है ! किन्तु उपर्युक्त श्रुति वाक्य से जगत व्यापार भी मुक्त को प्राप्त
होता है ऐसा नहीं कहा जाता है । इसलिये जो प्रश्न किया था वह निर्मूलक है ॥१८॥

मुक्त पुरुष विकारान्तर्गत जो हिरण्यगर्भलोक का सुख है उस सुख का अनुभव करता
है ऐसा पूर्ण में कहा गया है । इस पर पूर्वपक्ष होता है कि तब तो सांसारिक जीव का
तरह मुक्त पुरुष को भी यदि विकारान्तर्गत भोग का ही भोक्तृत्व है तब तो बद्ध जीव का
तरह मुक्त का भी भोग्य तथा भोग उत्पाद विनाशशाली होगा । अर्थात् जीव साधारण का
जो भोग्य तथा भोग अनित्य देखने में आता है तब तो उसी तरह मुक्त का भी भोग भोग्य
अनित्य ही होगा तब इन दोनों में क्या विशेषता हुई । कीन व्यक्ति अति प्रयत्न साध्यमोक्ष
के लिये प्रवृत्त होगा ! इस शंका का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं 'विकाराव-
र्ति च' इत्यादि (बद्ध जीव तो केवल जन्य भोग का ही अनुभव करता है और मुक्त पुरुष
तो जन्य तथा अजन्य एतद्भुज्य भोग का अनुभव करता है इस बातको श्रुति बतलाती है श्रुति
नित्य सुख भोक्तृत्व रूप से परमात्मा में मुक्त पुरुष के अवस्थान का प्रतिपादन करती है) इति ।

त्यादि । चकारः पूर्वोक्तहिरण्यगर्भादिलोकभोगसमुच्चयार्थकः । न केवलमाधिकारिकलोकस्थानेव भोगाननुभवति मुक्तोऽपितु विकारे जन्मादिकेन वर्तत इति निरस्ताखिलविकारं निस्वधिककल्याणसागरं परंब्रह्म सविभूतिकमप्यनुभवति । तथाहि मुक्तस्य परमात्मनि सर्वात्मकेऽनन्तकल्याणगुणेऽनुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—‘यदा ह्येगौष भवति तथैव मोक्षाय प्रवर्तमानोऽपि महापुरुषो विकारान्तर्गतं ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भलोकं समवाप्य जन्यमेव सुखमात्रमनुभवति । इतियोर्द्वयोः कोभेद इत्याशङ्क्य सत्यं द्वयोरनयोऽस्थितः परन्तु मुक्तो यथा विकारान्तर्गतं सुखमनुभवति तथा नित्यं निरतिशयं सुखमागमयन्नुभवति यतो विकाराऽवर्तिनिपरमपुरुषे मुक्तस्यानुभवितृत्वेनावस्थानं भवतीति श्रुतिभिः प्रतिपादितत्वात् । एतावानेव बद्धमुक्तयोर्भेदः यतो बद्धो जन्यमात्रमेव

भाष्यकार सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये बतलाते हैं ‘चकारः पूर्वोक्तेत्यादि’ सूत्र धरक जो चकार है वह पूर्ण कथित हिरण्यगर्भ के लोकगत जो भोग है उसका समुच्चयार्थक है अर्थात् जन्य तथा नित्य उभय भोग का बोधक है । मुक्त जो पुरुष है वह केवल हिरण्यगर्भादिक आधिकारिक भोगमात्र का ही अनुभव करते हैं एतावत् मात्र ही नहीं है किन्तु विकार जो जन्म स्थिति लयादिक उसमें नहीं रहनेवाला जो नित्य सुख है उसका भी अनुभव करते हैं अर्थात् निरस्त है समस्त विकार जिसमें एतादृश निस्वविक नित्य निरतिशय कल्याण गुण का सागर जो परंब्रह्म जो कि स्वकीय सकल विभूति युक्त हैं तदात्मक सुख का भी मुक्त लोग अनुभव करते हैं । तथाहि सर्वात्मक अनन्त दिव्य गुण सागर परमात्मा में अनुभविता रूप से मुक्त पुरुषों का अवस्थान को श्रुति बतलाती है ‘यदा ह्येगौष’ इत्यादि (जब यह उपासक जीव इस अदृश्य अनात्म्य अनिलयन परब्रह्म में जो कि स्वभावतः अभय रूप है उस परमात्मा में प्रतिष्ठा अवस्थान को प्राप्त करता है तब वह मुक्त जीव अभय को प्राप्त कर जाता है अर्थात् संसार भय से निवृत्त हो जाता है । ‘वह परमात्मा रस स्वरूप निरतिशय आनन्द स्वरूप है । यह जीव नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप परमात्मा को लाभ प्राप्त करके आनन्दित हो जाता है । (स्मृति में भी कहा है ‘यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः’ (जिस आनन्द का लाभ करके उससे अधिक अन्य किसी लाभ को नहीं मानता है) इस प्रकार श्रुति स्मृति में कहा है । उपर्युक्त विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार

एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति' [ती० २।७] 'सो वै सः समं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति' (ती० २।७) इति ।

अयमभिपन्धिः—अस्य चिद्विन्मिश्रस्य जगतः परमात्मविभू-
तित्वात्सर्वाधारे परमपुरुष एव जगत्स्थितिः 'सन्मूलाः सोम्येमाः
प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः
सुखमनुभवति । मुक्तस्तु जन्यन्त्यं चापि सुखमनुभवतीति जन्यसुखभोगोपि न त्रीषयि-
कस्तुच्छोभोग विषयो भवति किन्तु हिरण्यगर्भादिलोकस्थोऽतीवोत्कृष्टभोग एतदनुभव
विषयो भवतीत्यादिकं दर्शयितुमवतारयति सूत्रम् विकारावर्तिकेकादि विकारे जन्ये जन्मादिके
न वर्तते इति विकारावर्त्तिसुखम् नित्यसुखमित्यर्थः । अपाकृतिकलोकोत्तरह्यप्रत्यर्नाकः
निरतिशयानन्दं परमात्मलक्षणं सुखमनुभवति मुक्तो विकारान्तर्गतमपि सुखमनुभवति ।
कहते हैं 'अयमभिसन्धिरित्यादि' इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि जडचेतन मिश्रित जो
यह परिदृश्यमान जगत् है वह परम पुरुष परमात्मा का विभूति है (कार्य है) इसलिये सर्व
जगत् के आधार परमात्मा में ही स्थूल सूक्ष्म जडचेतन साधारण जगत् की स्थिति (अवस्थान)
परमात्मा में ही होता है । इस बात को 'सन्मूलाः सोम्येमाः' (हे सोम्य ! इवेतरेतु ! ये
परिदृश्यमान सभी प्रजा सत् परमात्ममूलक है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण अभिन्न
निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही है तथा ये सब प्रजा सदायतन है सत्प्रदवाच्य जो परमात्मा
है आयतन निवास स्थान है तथा ये सब परिदृश्यमान सर्व प्रजा सत्प्रतिष्ठ है अर्थात् सत्प्रद-
वाच्य जो परमात्मा है वही इस जगत् की प्रतिष्ठा है प्रलय के बाद भी इसी परमात्मा में
विलीयमान होकर के अवस्थित रहती है । जिस तरह जगद्युज अण्डज स्कन्दज और उद्भिज
जीव ग्राम का सर्ग स्थिति और प्रलय पृथिवी से होता है । उसी तरह ये परिदृश्यमान सर्व
प्रजा सन्मूलक है सत् स्थितिक तथा सत्प्रतिष्ठित है । इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में कहा
गया है । एवम् 'तस्मिंल्लोका' इत्यादि (इस परम पुरुष परमात्मा में ये 'भूर्भुवः स्वः' इत्या-
दिक सकल लोक आश्रित हैं इस आत्मा परम ब्रह्म का अतिक्रमण करनेवाला नहीं है अर्थात्
जिस तरह मृत्तिका से जायमान मृत्कार्य कारणीभूत मृत्तिका का अतिक्रमण नहीं करता है मृत्तिका
के अभाव में घट का अवस्थान नहीं होता है इसी तरह परमात्मा के व्यतिरेक में इन भूरादि

सर्वेतदुनात्येतिकश्चन' (का० २।५।८) इत्यादिश्रुतेः एवञ्चमुक्तस्यापि ब्रह्मनिष्ठत्वात्सर्विभूतिकं ब्रह्मानुभवन्नाधिकास्त्रिलोकभोगानप्यनुभवति मुक्तः । तदेव 'स स्वराद्भवति' इत्यादिश्रुत्याभिधीयते न तु सृष्ट्यादिकर्तृत्वम् ॥१९॥

॥ दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ४।४।२० ॥

जगत्सृष्टिनियमनादिरूपोव्यापारस्तु परमात्मन एवेति दर्शय
यत्रघटकश्चकारः सुखद्वयस्य समुच्चयार्थकः । मुक्तजीवः कथंनित्यसुखमपि अनुभवति ।
तन्मुक्तः ? तथाहि स्थिति माहेति श्रुतिरेववक्तीत्यर्थः । तमेवश्रुतिमुदाहरति यद्वा क्षेत्रेण इत्या
दि प्रकरणस्यास्याभिप्राये दर्शयितुमाहभगवान् भाष्यकारः अयमभिसन्धिरिति सुगम-
मन्यदिति ॥१९॥

परमात्मना सर्वदैव नियमितोमुक्तोजीवः नियन्तृत्वंलक्षणं परमात्मैकसाधारणं
जगद्व्यापाररूपं सर्वनियामकत्वलक्षणं धर्मकदाचिदपि न प्राप्नोति अर्थात् नियाम-
लोकों का अवस्थान सर्वथा असंभावित है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि सबका मूल
कारण परमात्मा है और उसी परमात्मा में जडचेतन जगत् का अवस्थान भी होता है । ऐसा
हुआ तब जगदन्तर्गत मुक्त पुरुष को भी परब्रह्म में स्थित होने से सर्व विभूति सहित पर
ब्रह्म का अनुभव करता हुआ आधिकारिक हिरण्य गर्भादिलोक सम्बन्धी भोग का भी अनुभव
मुक्त को होता है अर्थात् जन्य तथा नित्य उभय प्रकारक सुख का अनुभव मुक्तपुरुष को
होता है । किन्तु मात्र जन्य सुख का ही अनुभव नहीं होता है जिससे बद्ध पुरुष की समा-
नता मुक्तपुरुष को हो । इसी बात का 'स स्वराद्भवति' इस श्रुति से कथन किया जाता
है । किन्तु जगत् सृष्ट्यादिक व्यापार को भी मुक्त करता है इस बात का प्रातिपादन उप-
र्युक्त श्रुति से नहीं होता है ॥१९॥

भगवान् की जो उपासना तादृश उपासना के बल से ब्रह्मलोक प्राप्त मुक्त जीव को परम
पूर्ण ब्रह्मका अनुभव होता है तथा हिरण्य गर्भादिक जो आधिकारिक लोक है तद्गत भोग भी
होता है परन्तु भगवत् सायुज्य प्राप्ति होने पर मुक्त जीव में जगत् का सर्ग तथा जगत् का
नियमनादिक व्यापार नहीं होता है किन्तु जगत्सर्जन नियमानादिक व्यापार तो भगवान् श्री

तश्चैवमेव श्रुतिस्मृती 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः' [श्वे. ३।१६]

'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वममृजत यदिदं किञ्च । तत्पृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

[तै० २।६] एष सर्वेश्वर, एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विध

कत्वलक्षणो धर्मो भगवतः परमेश्वरस्यैव सर्वात्मकस्य सर्वनियोकस्य न तु परमेश्वरनियमितस्य सर्वसाधारणजीवस्य मुक्तस्य वा तस्य संभवतीत्यतः प्रतिपादितम् । सम्प्रति जगद्व्यापारादिकार्यं न जीवस्य किन्तु परमेश्वरस्यैव तादृशं कार्यमेतदर्थं श्रुतयः स्मृतयश्चापि दर्शयतः इति प्रतिपादयितुं सूत्रान्तरमुपस्थापयति दर्शयन्तश्चैवमित्यादि जगत्सर्जनादिरूपो व्यापारो भगवतः सर्वशक्तिमत एव नान्यस्य मुक्तस्यापि जीवस्यैतन्मत्रं श्रुतयः स्मृतयश्च स्वतः प्रमाणभूताः परमेश्वरोच्चरितत्वाद्वा तथा भूताः प्रतिपायन्तीत्यतो जगद्व्यापारकार्यमनन्यसाधारणं सर्वनियमितुरेव न तु परमेश्वरनियन्त्रितस्य मुक्तजीवादेरित्यर्थः । यद्यपि सत्यमंकल्पत्वादिकः स्वाभाविक एवाविर्भवति मोक्षकाले तथापि तदाविर्भावोपि परमेश्वराधीन एव भवतीति तत्रापि श्रुत्यादिकमेव प्रमाणमिति भावः । तत्र पूर्वं श्रुतिमेवोदाहरति भाष्यकारः स विश्वकृदित्यादि [स सर्वप्रसिद्धः परमात्मा सर्वस्य स्वप्रकारभूतस्य जडचेतनस्य विज्ञानवान् सर्वज्ञः सर्वस्यापि जडचेतनसाधारणस्य जगतः कर्त्ता भवति । स्वयं तु आत्मयोनिरेव न हि एतादृशस्य परमेश्वरस्य सद्भावोऽन्यहेतुकस्तथात्वेऽप्रामाणिकानवस्था प्रसङ्गान् । आत्माश्रयाच्चेति प्रथमश्रुत्यर्थः । स तपस्तप्त्वेत्यादि सर्वसर्ववित्सर्वनियन्ता तपः तप्त्वा जगदुत्पत्त्यनुकूलमंकल्पकृत्वा सर्वसीतानाथ का ही कार्य है ऐसा जो पूर्ण में बतलाया गया है । इस बात का प्रतिपादन श्रुति स्मृति में भी किया गया है । तादृश श्रुति स्मृति का भगवान् भाष्यकार कहते हैं अर्थात् श्रुति स्मृति प्रतिपादित पदार्थ का ही प्रतिपादन सूत्र से भी किया है उसमें श्रुति को बतलाते हैं 'स विश्वकृदित्यादि' जगदन्तर्गत सकल पदार्थ विषयक नित्य ज्ञानवान् परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का कर्त्ता है तथा वह स्वयमात्म योनि है अर्थात् इनका उत्पादक कोई तदव्य नहीं है अजन्मा है । यदि परमेश्वर का भी उत्पादक को मानें तब तो उत्पादक की अनवस्था हो जायगी । 'स तपस्तप्त्वेत्यादि' वह परमात्मा तप करके अर्थात् स्रष्टव्य पदार्थोत्पत्ति विषयक संकल्प करके जो जो पदार्थ जाता है उन सब को उत्पन्न किया तथा उनको उत्पन्न करके उनमें ही प्रविष्ट हो गये कोशकृमि की तरह जिस तरह कोशकृमि रेशम का कीड़ा सूत को बना करके सूत समुदाय में प्रविष्ट हो जाता है । 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि (यह परमात्मा सर्वेश्वर है अर्थात्

रण एषां लोकानामसम्भेदाय' [बृ.४।४।२२] 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने
गार्गिमूर्याचन्द्रमर्षीविधृतौ तिष्ठतः' [बृ.३।८।९] 'य ईशेऽस्य जगतो
नित्यमेवनान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय [श्वे०६।१७] 'भयादस्याभिस्त
परिदृश्यमानं समुत्पादितवान् समुत्पाद्यत्तेष्वेवावस्थितो जातः कोशकृमिवत् यथा कोश
कृमिः सूत्रां निर्माय तदन्तरेव प्रविशति तद्वदिति । एष सर्वेश्वर इत्यादि । एषः प्रकृतः
परमात्मैव सर्वेश्वरः य आत्मनि तिष्ठन्नित्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणप्रतिपादितसर्वानियन्ते
त्यर्थः । एष एव सर्वभूतानामधिपतिः पालकोरक्षकश्च । एष सर्वलोकानामसांकर्य-
करः । परमात्मनोनियन्त्रणादेव जलधर्मशैत्यस्य तेजसि तेजोधर्मस्य औष्णस्य वा जले
गमनं न भवति अतः सर्वलोकमर्यादाकारकोऽयमेवेत्यर्थः । एतस्यैव परमेश्वरस्य
प्रशामनादेव सूर्यादिग्रहोपग्रहनक्षत्रतारकादीनां पतनवर्जितमाकाशोनिरावरणे समवस्थानं
भवतीति तृतीयश्रुतेरभिप्रायः । य ईशे इत्यादि । यः परमात्मानित्यमेतत् जगदीष्टे
परमात्मभिन्नो न भवत्यस्य जगतः ईशनियन्त्रणकरणाय समर्थोभवतीति मयाप्यक्षस्येत्यादि
लोके सर्वथाऽप्रतिहतप्रभावतया प्रसिद्धोऽग्निरस्य सर्वनियन्तुः परस्य भयादेव नियन्त्रि
तस्तपति सर्वानेवतापयति अतन्द्रितः सन् तपनादिकं कार्यकुर्वाणोऽवस्थितोभवति सवि
तापि परेशस्य भयादेवयथाकालमुदेत्यस्तमेति प्रतापयति प्रकाशयति च तथा वायुरपि
लोके वेदे च प्रथितप्रभावः स्वकीयमीरणादिकं कार्यं करोति किं बहुनासर्वमारकोमृत्यु
सर्वका नियन्ता है यही परमात्मा सर्वभूतों का अधिपति स्वामी है यह परमात्मा सर्वभूतों का
पालक है ये ही सबके सेतु पूल हैं इन लोगों के असंभेद के लिये अर्थात् जिस तरह जल
सन्तान का विच्छेद करनेवाला लौकिक पूल होता है उसी तरह परमात्मा सकल लोक की
मर्यादा का पालक है अन्यथा जल का जो शैत्य है वह वहि में संक्रान्त हो कर वहि का जो
औष्ण्य उष्णता है उसका संक्रमण जल में भी हो जाय अतः लोक व्यवस्था का पालक परम
पुरुष ही होते हैं । यद्यपि प्रकृति स्वभाव देशकालादिक से भी धर्मों की जो व्यवस्था है उस
का निर्वाह हो सकता है प्रकृति स्वभावादिकों का नियामक रूप से परमात्मा को ही स्वीकार
किया जाता है । 'एतस्यवाक्षरस्येत्यादि' हे गार्गि ! इस अक्षर परम पुरुष के प्रशासन से सूर्य
चन्द्रमा नक्षत्र तारा ग्रह उपग्रह प्रभृतिक परिगृहीत होने के कारण से यथा स्थान में स्थिर
रहते हैं । 'य ईशेत्यादि' वह भगवान् परमपुरुष ही इस जगत् को सर्वदा नियन्त्रण करते हैं

पति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (का० २।६।३) इत्यादिकाश्रुतिः । तथा स्मृतिगपि 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी० १०।८) 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १०।४२) तस्मान्मुक्तस्यैश्वर्यं जगद्व्यापारवर्जमिति ॥२०॥

रपि साक्षात्परंपरया संहारकार्यं प्रवृत्तो भवतीति इत्यादिश्रुतयः सर्वजगद्व्यापारकार्यं परेशस्यैव निवेदयन्तीति ।

एवमनेकविधाः स्मृतयोपि अहं सर्वस्य जगत् इत्यादिकाः विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमित्यादिकास्तथा 'विश्वं जातं यतोऽद्वायद्वितमखिलं लीयते यत्र चान्ते सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेव' । यद्भीन्यावातिवातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः साक्षीकूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वेभर्ता ॥ श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहुविधविवुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिघ्नघ्नोऽसृश्यः क्लेशादिभिः मत्समुदितसुयशाः सूग्मान्यो वदान्यः । शश्वच्छीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषैर्निर्मृत्युः सर्वाशक्तिविकलुषविजरो गीर्मानोभ्यामगम्यः' (श्रीनैष्णवमताञ्जभास्कर १।८-९) एतदन्या अपिशत शश्वत्स्य परेशस्य जगद्व्यापारादिकार्यं न तु तदन्यस्य कस्यचिदपीति विनिवेदयन्ति । प्रकरणार्थमुपसंहरति भाष्यकारः तस्मात् मुक्तस्येत्यादि एभिः प्रदर्शितहेतुभिर्मुक्तस्यैश्वर्यं भवति तथापि तदीयैश्वर्यं जगद्व्यापारवर्जितमेव । अर्थात् निःकुशमैश्वर्यं न भवति । यदप्यैश्वर्यं प्राप्नोति तदपि परमेश्वराधीनमेवेति संक्षेपः ॥२०॥

इससे अन्य कोई इस जगत् का नियन्ता नहीं है । 'भयादस्याग्निस्तपतात्यादि' इस परम पुरुष परमात्मा के भय से भयभीत होकर के ही यह आग्न तपित होते हैं सूर्यदेव भी इस परमेश्वर के भय से ही नियत होकर के ताप प्रकाशादि कार्य को करते हैं तथा इन्द्र वायु और यम राज भी अतन्द्रित होकर के स्वस्वकार्य में सगंदा संलग्न रहते हैं । इत्यादि श्रुति इस बात को बतलाते हैं । तथा 'अहं सर्वस्य प्रभवः' इति (मैं ही परमात्मा इस जगत् का प्रभव हूँ अर्थात् मुझ से ही यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है मैं ही सम्पूर्ण जगत् का नियामक हूँ) इत्यादि अनेक स्मृति भी उपर्युक्त बात को बतलाती है । इन सब श्रुति स्मृति वाक्यों से सिद्ध होता है कि मुक्तपुरुष का ऐश्वर्य जगत् व्यापार वर्जित ही होता है ॥२०॥

५ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ४।४।२१ ५

‘सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता’ (तौ० १।२) इति मुक्तस्य ब्रह्मणा सह भोगमात्रेण साम्यं श्रूयते नतु जगद्व्यापारेणाऽपि । तस्माल्लिङ्गाज्जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तस्य सत्यसंकल्पतया सर्वेषु लोकेषु कामचारत्वमिति ॥२१॥

यश्चोपासनावलात् परमेश्वरसायुज्यं प्राप्यमुक्तो जातः तस्य मुक्तपुरुषस्य ब्रह्मानुभवलक्षणभोगमात्रेणैव समता भवति नतु जगद्व्यापारादिरूपेण समत्वं जायते एतस्यार्थस्य ज्ञापकं लिङ्गदृश्यते सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यादि श्रुत्या । तस्मात् मुक्तपुरुषस्य भोगमात्रेणैव ब्रह्मणा समत्वं नतु जगद्व्यापारेणेत्यादिदर्शयितुमाह सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यादि स मुक्तपुरुषो ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् कमनीय पदार्थान् प्राप्नोत्यर्थात् तदुपभोगं सहैव ब्रह्मणा करोतीति श्रुत्यर्थः । अनया श्रुत्या मुक्तस्य ब्रह्मणा सह भोगमात्रेणैव सादृश्यं सिद्ध्यति नतु जगद्व्यापारादिकार्येणापि सादृश्यं भवति तदाहुरस्मद्गुरुचरणा जगद्गुरुवः श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरघुवराचार्याः श्रीरघुवरीयवृत्तौ ‘तदपि भोगैश्चर्यमाम्यं परमसंकल्पायत्तमेव न स्वातन्त्र्येणेति मुक्तैश्चर्यं जगद्रचनादिव्यापारवर्जितमेवेति’ तथा च श्रीबोधायनवृत्तिकारा जगद्गुरु श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणाः ‘जगद्व्यापारवर्जं समानोज्योतिषा’ इति । तस्मान्मुक्तस्य न जगद्व्यापारादिकार्ये ब्रह्मणः सादृश्यमिति संक्षेपः ॥२१॥

‘सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यादि’ वह मुक्त पुरुष सर्वाज्ञ ब्रह्मके साथ सब कमनीय भोग्य पदार्थ का उपभोग करता है । इत्यादि श्रुतियों से मुक्त पुरुष को परम ब्रह्म परमात्मा के साथ भोग मात्र से समत्व सिद्ध होता है नतु जगत् व्यापार में भी उभय को समत्व होता है अर्थात् जगदुत्पादकत्व नियन्त्रित्वादिक घर्म समुदाय तो परमात्मा का अनन्य साधारण है इस घर्म के द्वारा किसी को भी ब्रह्मके साथ समत्व नहीं होता है । तस्मात् भोगांश मात्र में सादृश्य लक्षण लिङ्ग से सिद्ध होता है कि मुक्त पुरुष को सत्य संकल्प के बल से जगत् उत्पत्त्यादि व्यापार रहित सब लोक में कामचार होता है ॥२१॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ४।४। २२

ननु परमात्मसंकल्पायत्तमेव मुक्तस्यैश्वर्यं यदि स्यात्तर्हि कदा चित्तिच्छया पुनरावृत्तिरपि मुक्तस्याभ्युपेयेत्यत्राह—‘अनावृत्तिर्गिति’।

ध्यानोपासनवेदनादिशब्दवाच्यया परमपुरुषैकचिन्तनलक्षणा यानन्यभक्त्या प्रसन्नेन परमपुरुषेणार्चिणादिना ब्रह्मलोकं नीतस्य

ननु यथा स्वर्गजन्यत्वेन सातिशयं तथाऽनित्यमिति तस्यकालान्तरे विनाशोभवति तथा मोक्षसुखस्यापि सातिशयेन कार्यत्वमनित्यत्वमिति स्वर्गप्राप्तस्य यथा पुनरावर्तनं भवति तथैव मोक्षप्राप्तस्यापि कदाचित्पुनरावर्तनंस्यादित्याशङ्कां निराकृत्यमोक्षप्राप्तस्य पुनरावर्तनं न भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते भाष्यकारः ननु परमात्म संकल्पायत्तमेवेत्यादि अथवा अथ यदि मुक्तपुरुषस्य ऐश्वर्यं यदि समस्तजगत्कारणस्य परमपुरुषस्येच्छाधीनम् अर्थात् सर्वज्ञपरमपुरुषश्रीरामस्याधीनम् तदा तस्य परमपुरुषस्वतन्त्रतया स्वोपासकं परमपदे प्रापयति तथा स परमपुरुषः स्वतन्त्रत्वात् कदाचित् स्वोपासकं संसारगतेपिपातयेत् ततश्च स्वर्गसुखान्

जब मुक्त पुरुषों का मोक्षलक्षण ऐश्वर्य परमेश्वरोपासना वह परमपुरुष कृपा के अधीन है तब तो मोक्ष नित्य होगा कारणाधीन होने से स्वर्ग की तरह अर्थात् जिस तरह स्वर्गादिक यागादि कारणजन्य होने से जन्य है और तादृश जन्य स्वर्ग का विनाश होता है एवं स्वर्ग का पुनरावर्तन होता है । इसी तरह मोक्ष के भी कारणजन्य होने से विनाशित्व होता है तथा मोक्ष प्राप्त का पुनरावर्तन भी होगा । तब लौकिक तथा पारलौकिक सुखापेक्षया मोक्ष में क्या विशेषता होगी ! इस प्रश्न का यथावत् समाधान करने के लिये भाष्यकार उपक्रम करते हैं ‘ननु परमात्म संकल्पायत्तमेवेत्यादि’ प्रश्न मुक्त पुरुष को जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह ऐश्वर्य यदि भगवान् के संकल्प का अधीन है ऐसा मानते हैं तब तो भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है तब तो कदाचित् परमेश्वर की इच्छा से मुक्तपुरुष को पुनरावर्तन भी हो सकता है क्योंकि मोक्ष तथा मुक्तों का पुनरावर्तन भगवान् की इच्छा पर निर्भर है तब तो कभी मोक्ष होगा तथा कभी पुनरावर्तन भी होगा ऐसा मानना पड़ेगा ? यदि इष्टापत्ति मानें तब तो ‘न स पुनरावर्तते’ इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा ।

मुक्तस्यानावृत्तिरेव 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१।५।१) इत्यादिवैदिकशब्दादवगम्यते । एवं स्वानन्यभक्तस्यानावृत्तिः स्वयं गीताचार्येण भगवताऽप्यभिहिता—

‘मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमंगताः ॥ गी० ८।१५

मोक्षमुखस्य को विशेषः स्यादित्याशंकाया निराकरणायोपक्रमते ननु परमात्म संकल्पायत्तमेवेत्यादि । यदि परमपुरुषस्याधीनमेवोपासकस्य मुक्तस्यैश्वर्यं मोक्षस्तदातस्य परमपुरुषस्य कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमपि शक्यत्वात् तस्य कदाचित् शक्यत्वात् मोक्षपदान्निवृत्तिरपिस्यादिति शङ्काशयः । तत्रोत्तरमाह अनावृत्तिरिति । न खलुमोक्षप्राप्तस्य कदाचिदपि मोक्षपदान् निवृत्तिर्भवति । तत्र हेतुं दर्शयति शब्दादिति यथा स्वर्गकामो यजेत इत्यादि

इस शंका का समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं ‘अनावृत्तिरिति’ ध्यान उपासन और वेदनादि पदों से वाच्य परमात्म चिन्तन लक्षण जो अनन्या भक्ति तादृश भक्ति से प्रसन्न जो भगवान् सर्वेश्वर श्रीसीतानाथ वे अचिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त जो मुक्त पुरुष हैं उन मुक्तपुरुषों को अपने दिव्यधाम ब्रह्मलोक से पुनः आवृत्ति नहीं कराते हैं । अर्थात् उपासनादि के द्वारा प्रसन्न होकर के परमपुरुष जिस भक्त को स्वधाम साकेतलोक में ले जाते हैं उन मुक्तपुरुषों का उस ब्रह्मलोक से पुनः आवर्तन नहीं होता है ।

ऐसा ‘स खल्वेवं वर्तयन्’ इत्यादि वह उपासक यावत् आयु पर्यन्त उपासना करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है उस ब्रह्मलोक से पुनः नहीं लौटता है नहीं लौटता है । अर्थात् जिससे ब्रह्मलोक को प्राप्त करलिया मुक्त होगया उसका पुनः संसार में आगमन नहीं होता है । ऐसा मुक्तपुरुष के विषय में वैदिक शब्द द्वारा जाना जाता है ।

एवं भगवान् का जो अनन्य भक्त है उनका पुनः आवर्तन नहीं होता है इस वा भगवान् गीताचार्य श्रीकृष्ण ने स्वयमेव गीता में कहा है ‘मामुपेत्य—पुनर्जन्म’ इत्यादि [हे अर्जुन मुक्तपुरुष भगवान् को प्राप्त करके अर्थात् मुक्त हो जाने के बाद अनित्य तथा दुःख का आल्य पुनर्जन्म को परम संसिद्धि को प्राप्त किये हुए महात्मा लोग प्राप्त नहीं करते हैं अर्थात् जिसने भगवान् के धामको भगवान् की कृपा से प्राप्त कर लिया है उनका पुनः संसार में

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मासुपेत्य तु कौन्तेय ? पुनर्जन्म न विद्यते ॥गी० ८।१६

नहि सम्यगाराधितपरमपुरुषचरणस्य अत एवाप्तकामस्य सर्वदा नित्यनिरतिशयानन्दमनुभवतो मुक्तस्य कथञ्चिदपि जन्मजरामरणादिदुःखसंकुले सातिशयसुखे जगति जायते पुनरावर्तनक्लेशः । नवा खिलवात्सल्यसौजन्यसौशील्यकारुण्यजलधिर्भगवान् भक्तजनानुकम्पापरायणः परमपुरुषः श्रीरामचन्द्रः परमात्मा स्वानन्यभक्तं ज्ञानिनं स्वलोकमानीय कर्हिच्चिदप्यावर्तयिष्यति । यतः स्मर्यते स्वाश्रितजनमनन्यभक्तमुद्दिश्य तस्य परमकारुणिकस्य परमपुरुषस्य सर्ववाक्येन यागकर्तुः स्वर्गसुखं जायते एवेति शब्दावगम्यते तथैव शब्दप्रमाणादवगतं भवति यत् मुक्तस्य पुनरावर्तनं न भवतीति । अतीन्द्रियार्थवस्तुविषये शब्दमात्रस्यैव प्रमाणत्वात् । तत्र स खल्वेवं वर्तयन् इत्यादि शब्दप्रमाणं स्वयमेव भाष्यकारो दर्शयि-
आगमन नहीं होता है वह मुक्त हो जाते हैं । 'आब्रह्मभुवनादिति' हे अर्जुन ! हिरण्यगर्भ लोक पर्यन्त सबलोक पुनरावर्ति हैं । अर्थात् हिरण्यगर्भ लोक पर्यन्त लोक को प्राप्त करके पुण्यकर्म का उपभोग से समाप्त हो जाने पर उन लोगों का पुनः आवर्तन होता है । परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त करने के बाद उन भक्तों का पुनरावर्तन नहीं होता है । जिन महापुरुषों ने समीचीन रूप से भगवान् के चरणकमल का आराधन कर लिये हैं अतएव सेवा करने से सर्थथा सकल प्राप्तव्य पदार्थों को प्राप्त कर लिये हैं तथा सर्वदा नित्य निरतिशयानन्द का अनुभव करते हैं उन मुक्तपुरुषों को किसी भी तरह से जन्म जरामरणादि दुःखों से समाकुल सातिशय अनित्य समय विषय सुख विशिष्ट इस जगत् में तादृश पुरुषों को पुनरावर्तन क्लेश का अनुभव कभी भी नहीं होता है अर्थात् भगवत् कृपापात्र मुक्तपुरुष का पुनः जन्म नहीं होता है । नवा समस्त वात्सल्य सौजन्य सुशीलत्व तथा करुणा का जलनिधि भगवान् स्वकीय अनन्य भक्तों के ऊपर अनुकम्पा परायण परमपुरुष श्रीरामचन्द्र परमात्मा स्वकीय अनन्य भक्त ज्ञानियों को स्वकीय साकेतलोक में लाकर के कथमपि पुनः उसलोक से उन भक्तों को लौटाते हैं नवा किसी को लौटाये नवा लौटायेंगे ।

स्मादुत्कृष्टेयमप्रतिज्ञा 'अप्यहं जीवितं जह्याम्' (श्रीमद्भा.आ.१०।१८।)

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्योददाम्येतद् व्रतं मम । श्रीमद्भा.यु० ।'

'तेषां ज्ञानीनित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ गी.७।१७

उदारा सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ गी.७।१८।'

'अनन्याचिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गी.९।२२।'

स्यति परमस्वतन्त्रोऽपि भगवान् स्वोपासकं मोक्षपदं प्राप्य ततो निवर्तयेत् तदा अप्यहं जीवितं जह्याम् इत्यादि पारमेश्वरप्रतिज्ञायाः बाध एव स्यात् । तस्मात्परमपुरुषोयमुपा

क्योकि स्वकीयाश्रित अनन्य भक्त को उपदेश करके उस परम कारुणिक परमपुरुष वी सबसे उत्कृष्ट यह प्रतिज्ञा स्मृति पुराणादिक में सुनी गयी है 'अप्यहं जीवितं जह्याम्' (अपने जीवन को मैं छोड़ सकता हूँ किन्तु स्वकीय भक्तजन का परिश्रम तो मैं कभी भी नहीं कर सकता हूँ) ऐसी कठोर प्रतिज्ञा है ।

यद्यपि इस प्रतिज्ञा से यह सिद्ध होता है कि भक्तजन का परिश्रम भगवान् नहीं करते हैं किन्तु भगवान् के भक्त को मोक्ष से पुनरावर्तन नहीं होता है यह तो इस प्रकरण से सिद्ध नहीं होता है ! इसलिये भगवान् के व्रतान्तर को बतलाते हैं 'सकृदेव प्रपन्नाय' इत्यादि [एक बार भी मेरे शरणागति में आनेवाले 'मैं आप का हूँ' एतादृश याचना करनेवाले को मैं सर्वभूतों से एतादृश शरणागत भक्त को मैं अभय प्रदान करता हूँ यह मेरा व्रत नियम है] [श्रीमद्भगवद्गीता युद्धकाण्ड] इससे सिद्ध होता है कि भगवान् स्वकीय भक्त को मोक्ष से पुनः पुनरावर्तन संसार में नहीं आने देते हैं ।

'तर्पा ज्ञानीत्यादि' इनमें से अनन्य भक्त नित्यमुक्त ज्ञानी जो है वे श्रेष्ठ हैं क्योंकि ज्ञानी भक्त मेरे अतिप्रिय हैं तथा उनके लिये मैं भी अतिप्रिय हूँ । 'उदाराः सर्व' इत्यादि । यद्यपि आर्त प्रभृतिक सभी भक्त उत्तम ही हैं तथापि इन भक्तों में से ज्ञानी भक्त जो है वे

‘तेषामहं समुद्धर्तामृत्युसंसारसागरात् ।

भवानि नचिरात्पार्थ ? मय्यावेशितचेतसाम् ॥गी.१२।७

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥गी.१२।८।

सत्यसन्धः प्रतिश्रुत्य प्रपन्नायाभयं स्वयम् ।

निवर्त्तयेद्भयैर्नैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः ॥’ (श्रीराम प्राप्तिपद्धतिः ४९)

‘उत्तमश्लोकलोकाच्चमुक्तो नावर्त्तते स्वतः ।

सकं स्वपदं प्रापयति तं ततो न निवर्त्तयतीत्यादिकं सर्वभाष्यकारपद्धत्यैव ज्ञातव्यम् ।
गीतादि स्मृतिग्रन्थेषु स्वभक्तस्य मोक्षगतस्य ततोऽपुनरावृत्तिमेव दर्शयति मामुपेय
इत्यादि । स्मृतिव्याख्यानं स्वयमेवोहनीयम् मुमुक्षोर्दृढविश्वासाथ सर्वेश्वरश्रीरामस्या-
तो मेरी आत्मा ही हैं क्योंकि वह युक्तात्मा मुझको ही अनुत्तमगति रूप से प्राप्त कर लिये
हैं । ‘अनन्या’ इत्यादि । [जो भक्त अनन्य चित्त होकर के मेरे उपामन करते हैं उनके योग
क्षेम का मैं वहन करता हूँ ।] ‘तेषामहं समुद्धर्ता’ इत्यादि । [जिन भक्तों ने मुझ परमेश्वर में
चित्त को आवेशित कर लिये हैं उन भक्तों को मैं अतिशीघ्र ही जन्ममरणशील संसार सागर में
उद्धार कर देता हूँ] ‘मय्येव मन’ इत्यादि । हे अर्जुन ! मुझ परमेश्वर में ही मन तथा
बुद्धि को लगाओ इसके आगे तुम मुझ परमेश्वर में ही निवास करोगे अर्थात् सर्व बन्धन से नि-
मुक्त हो जाओगे । ‘सत्यसन्धः’ इत्यादि । सत्यसन्ध-सर्वादा सत्य व्यवहार वाले श्रितवत्सल
सर्वेश्वर श्रीरामजी शरण में आए हुये भक्तों को अभय कर देनेवालो प्रतिज्ञा स्वयं करके उसे
पुनः भय यानी संसार में वापस नही करते हैं । ‘उत्तम’ इत्यादि । निरतिशय
सुखमय महनीय कीर्ति सर्वेश्वर श्रीरामजी के लोक से मुक्तात्मा मृत्यु लोक में स्वयं नहीं छोट
ता है और भक्तवत्सल श्रीराम स्वभक्त को मृत्युलोक में छोटाने भी नहीं हैं । ऐसा हि ‘भक्त्या
चाय प्रपस्या तत् प्राप्यते त्वचिरादिना । यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते रामधाम मतं हि तत्’ (श्रीगणेश
धर्मपीयूष) इन सब वाक्यों से सिद्ध होता है कि परमपुरुष को सम्प्राप्त जो मुक्तपुरुष हैं उनका
इस संसार महोदधि में पुनः आवर्त्तन नहीं होता है ऐसा सिद्धान्त है । यहाँ ‘अनावृत्तिः
शब्दात्’ इस सूत्रका जो आवाह्य किया गया है वह शारीरक मीमांसा शास्त्र के समाप्ति का

नावर्त्तयति गमोहि स्वभक्तं भक्तवत्सलः' (श्रीतप्रमेयचन्द्रिका ५/१०)
तस्मात्परमपुरुषमुपमम्पन्नस्य मुक्तस्य पुनरावृत्तिर्नभवतीतिसिद्धान्तः ।

सूत्रावृत्तिः शास्त्रममाप्तिं गमयति ॥२२॥

इति जगद्ग्यापारवर्जाधिकरणम् ॥६॥

बोधायनवृत्त्यभावे तत्सारमनुसृत्य हि ।
आनन्दभाष्यमेतच्च रामानन्देननिर्मितम् ॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसाया

आनन्दभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादः ॥४॥

नन्यसाधारणप्रपिज्ञांस्मारयति 'सकृदेवे' त्यादि 'स्वभक्तंभक्तवत्सलः' इत्यन्तम् । अत्र
सूत्रे सूत्रावृत्तिर्ग्रन्थसमाप्तिं सूचयति ॥२२॥

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भव-
न्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च मङ्गलयुक्तास्युः' इति शास्त्रानुमोदितं ब्रह्मविद्या परं-
परां शास्त्र्याचार्यः स्वं परिचाययन् बोधायनवृत्त्यभावेत्यादि सर्वप्रथमं ब्रह्मसूत्रोपरि श्रीबोधा-
यनमहर्षेर्वृत्तिरेवासीत् तत्रश्रौतविशिष्टाद्वैतपरकत्वमेव सूत्राणामिति स्वपरमगुरोः सूत्रकारा-
देव तदाशयं ज्ञात्वा व्याख्यातम् । परन्तु कालवशात् कारणान्तराच्च स ग्रन्थोलुप्तप्राय-
इव जातः । ततश्च ब्रह्मसूत्राणां वास्तविकः कोर्थः सोपि लुप्तप्राय एव जातः । ततश्च
भगवान् भाष्यकारः श्रीबोधायनसम्प्रदाय प्राप्तजगद्गुरुश्रीदेवानन्दाचार्यप्रणीतश्रीबोधा-
यनवृत्तिसारमनुसृत्य आनन्दभाष्यनामकं भाष्यरत्नमकरोत् जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य-
इति । एतावता स्वप्रबन्धस्य समस्तपूर्वाचार्यप्रबन्धाधारत्वप्रदर्शनपूर्वकशास्त्रसमाप्तिः
प्रदर्शितेति ।

इति महामहोपाध्यायपदविक जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीधुवराचार्य वेदान्त केसरि

प्रधानशिष्यकाशी शंकुवाराक्षेत्रे आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ

नामक प्रधानाचार्यपीठ संस्थापकाचार्य श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्-

माचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र प्रणीते

शारीरकमीमांसाया जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्रणीत श्रीआनन्द

भाष्यदीपे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॥

बोधक है । अन्यत्र सूत्रघटक पदादि का जो पुनरावर्तन किया था वह तो अध्याय के समाप्ति बोधक था । यहाँ तो संपूर्ण सूत्रका पुनरावर्तन शास्त्र का ही समाप्ति बोधक है । २२।

कालक्रम से महर्षि श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी कृत बोधायन वृत्ति को उपलब्ध नहीं होने से परपरा प्राप्त जगद्गुरु श्रीदेवानन्दाचार्य प्रणीत बोधायन वृत्ति के सार का अनुसरण करके भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने इस 'आनन्दभाष्य' का निर्माण किया है ।

टीकायायन्नविस्पष्टं ग्रन्थबाहुल्यतोयतः । अक्षरार्थं च विन्यस्यभाषया तदनूदितम् ॥

❧ यह शारीरक मीमांसा शास्त्र समाप्त हुआ ❧

इति महामहोपाध्यायपदविक्र जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेसरी

प्रशिष्य काशीस्थाननन्दभाष्यकार जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठ संस्थापका

चार्यजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र पट्टशिष्य

कान्यकुब्ज वशिष्ठगोत्रीय त्रिप्रवरान्वित शुक्लयजुर्गोदीय

वाजसनेयशाखाध्यायी विश्रामद्वारकास्थ पश्चिमाग्राय

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठस्तथाहमदाबादस्थ

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्यश्रीआनन्द

भाष्यसिंहासनासीनजगद्गुरुश्रीरामानन्दा

चार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीते

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रणीत

शारीरकमीमांसायाआनन्दभाष्य

प्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य

चतुर्थः पादः ॥४॥

❧ श्रीरामः शरणं नमः ❧

❧ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्याय नमो नमः ❧



मायावादिकुतर्कजालरचितव्याख्यानसंमूर्छितां-
 योव्याख्यासुधया त्रयीं भगवतीं सञ्जीवयन् राजते ।
 तस्याचार्यशिरोमणेर्विजयिनोवादाहवे श्रीमतो-
 रामानन्दमुनेर्वचोऽखिलजगत्क्षेमाय सञ्जायताम् ॥१॥

॥ श्रीमतेरामानन्दाचार्याय नमः ॥

मायावादीत्यादि तत्र मायावादी केवलाद्वैतमतप्रवर्तकाः तेषां कुत्सिततर्कसमुदाय
 द्वारा सम्पादितं यदागमवाक्यस्य व्याख्यानम् तादृशेन व्याख्येन संमूर्छिता मोहं प्रा-
 प्तेव त्रयीजाता वेदोपि अल्पश्रुतपुरुषान् विभेति यतोवस्तुभूतोऽर्थस्तमयमन्यथयिष्यति
 अल्पश्रुतत्वात् तथा चाल्पश्रुतैरन्यपुरुषैः सम्प्रदायगन्धशून्यैः कृता या व्याख्या तथा
 कलुषितचित्तेवागमवाक्यानि जातानि । एतादृशीत्रयीम् योहि जगद्गुरु श्रीरामानन्दा-
 चार्यः स्वकीयव्याख्यानलक्षणसुधोपमजलेन सिञ्चनं कृत्वा मृतप्रायामपितां पुनः
 स्वस्थामकरोत् यथा कश्चिद्भूषणम्बरः सञ्जीवनी औषधिविशेषेण मृतप्रायमपि जीव-
 यति तथैव यस्य सुधोपमव्याख्यानेनागममपि स्वस्थं सम्पन्नम् । तस्य प्रकृतस्याचार्य
 शिरोमणेर्वादलक्षणसंग्रामे विजयशीलस्य जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यस्य वचनं समस्त
 जगत्कल्याणायभवतादिति भाष्यरत्नशोधनकर्तुर्महामहोपाध्यायपदविकजगद्गुरु श्री-
 रामानन्दाचार्यश्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरिण उक्तिरियम् ।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमो वचनं भवतु ।

॥ श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

मायावादी केवलाद्वैत सिद्धान्तवादियों के कुतर्क जाल द्वारा संमूर्छित श्रुति को जिन प्रस्थान
 त्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यजी ने अमृतोपम व्याख्यान करके भगवती श्रुति को
 संजीवित कर दिया है । उन आचार्य शिरोमणि बाग्युद्ध विजयी तथा दिग्विजयी श्रीमान्
 जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यजी मुनिवर का जो पवित्र वचन हैं वे संपूर्ण जगत् के कल्याण करने
 के लिये हैं ।

ॐ शुभमस्तु सर्वजगतः ॐ

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

५ प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार ५

५ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यः ५

॥ रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले ॥

अवतारतिथिः—मोघकृष्णवसन्तमी विक्रम सम्वत् १३५६ जन्मनाम—श्रीरामानन्दजी पिताजी का नाम श्रीपुण्यसदनशर्माजी माताजी का नाम श्रीसुशीलादेवीजी अवतार स्थान प्रयागराज गुरुजी का नाम—जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी दीक्षानाम—श्रीरामानन्दाचार्यजी गोत्र, जाति, वर्ण—त्रिप्रवरान्वित वशिष्ठ गोत्रीय शुक्ल्यजुर्नेदाय वाजसनेय शाखाध्यायी कान्य कुब्ज ब्राह्मण दीक्षातिथि—वसन्त पञ्चमी विक्रम सम्वत् १३८१ अवतार—भगवान् श्रीरामजी का पाटोत्सवतिथि—वसन्त पञ्चमी विक्रम सम्वत् १३९७ आचार्यपीठ—श्रीमठ पञ्चगङ्गा घाट वाराणसी आचार्य—श्रीसम्प्रदाय के वाईसों आचार्य प्रधान शिष्यों के नाम—श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी श्रीसुखानन्दाचार्यजी श्रीभावानन्दाचार्यजी श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी श्रीयोगानन्दाचार्यजी श्रीगालवानन्दाचार्यजी श्रीनरहर्यानन्दाचार्यजी श्रीपीप्राचार्यजी श्रीकवीरदासजी श्रीधन्नाजी श्रीसेनजी श्रीरविदासजी रचनार्ये—प्रस्थानत्रय—उपनिषदों ब्रह्मसूत्र एवं गीता में आनन्दभाष्य तथा श्रीगौणवमतान्त्रमास्कर परिशिष्ट श्रीरामार्चन पद्धति के साथ साकेतवासतिथि—श्रीरामनवमी विक्रम सम्वत् १५३२ साकेतवास स्थान—श्रीमठ पञ्चगङ्गाघाट काशी ।

राघवानन्दशिष्याय रामानन्दाय श्रीमते । रामतत्त्वविदे भूयाद् भुवि सर्वत्र मङ्गलम् ॥२३६॥
‘आचार्याबहवोऽभुवन् राममन्त्रप्रवर्धकाः । विन्तु देवि ! कलेरादौ पाण्डुप्रचूरं जने ॥२३७॥
रामानन्देति भविता विष्णुधर्मप्रवर्धकः । यदा यदा हि धर्मोऽयं विष्णोः साकेतवामिनः ॥२३८॥
कृशतामेति भो देवि ? तदा स, भगवान् हरिः । रामानन्दयतिर्भूत्वा तीर्थराजे च पावने ॥२३९॥
अवतीर्य जगन्नाथो धर्मं स्थापयते पुनः ।” श्रीवाल्मीकिसेहितायामुक्तं तस्याऽस्तुमङ्गलम् ॥२४०॥
‘सोऽवतारज्जगन्मध्ये जन्तूनां भयसङ्कटात् । पारं कर्तुं हि धर्मात्मा रामानन्दः स्वयं स्वभूः ॥२४१॥
माघे च कृष्णसप्तम्यां चित्रानक्षत्रसंयुते । कुम्भलग्ने सिद्धयोगे सहदण्डगते रवौ ॥२४२॥
रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले’ । गैश्चानरसंहितायां वर्णितायाऽस्तु मङ्गलम् ॥२४३॥
श्रीभविष्यपुराणेऽपि ‘रामानन्दस्ततोऽभवत् । रामानन्दस्तु बलवान् हरिभक्तेश्च संभवः’ ॥२४४॥
इत्येवं बोधितो यश्च तस्य भूयात्सुमङ्गलम् । घटयोनिमहर्षेस्तु सुतीक्ष्णं प्रति यद्वचः ॥२४५॥

अगस्त्यसंहितायां नै सावधानेन श्रूयताम् । व्यतीते द्वापरे पुण्ये श्रीमद्भगवतोऽजिते ॥२४६॥
 कठौसत्बहरे पुंसां प्रवृत्तोऽधर्मवर्धके । जातेऽधर्मरुचौ नित्यं शौचाचारविवर्जिते ॥२४७॥
 मोक्षसाधनमार्गेभ्यो विमुखे पशुतां गते । मन्दे मन्दमती शश्वदल्पभात्रयेऽल्पजीवने ॥२४८॥
 तत्रत्ये पापनिरते महत्सङ्गविवर्जिते । प्रवर्धमानानभिते वादैर्निर्जित्यनास्तिकान् ॥२४९॥
 आचार्यैर्भगवद्गमो वेदवेदान्तपारगैः । स्थापितोऽपि महायोगैर्बुद्धि नैव गमिष्यति ॥२५०॥
 विधातुं सत्यमनघ ? सुरेढ्योनिजभाषितम् । वीक्ष्यविष्णुः कृपासिन्धुः प्रबुद्धं तादृशं कलिम् ॥२५१॥
 तादृशांश्च जनान्सर्वान् दुर्मतीन् क्लेशमंयुतान् । मनः कर्तावताराय स्मृत्वा यो स्वं प्रतिश्रुतम् ॥२५२॥
 खं नमो वेद वेद प्रमिते (४४००) वर्षे गते कलौ । कालिन्दी जाह्नवीसङ्गशोभिते देवपूजिते ॥२५३॥
 तीर्थराजे महापुण्ये प्रयागे तीर्थ उत्तमे । गृहे श्रीपुण्यसदनद्विजातेर्भूरिकर्मणः ॥२५४॥
 योगिनोयोगयुक्तस्य कान्यकुब्जशिरोमणेः । पतिसेवापरा तस्य सुशीला गृहिणी ततः ॥२५५॥
 माघकृष्णस्य सप्तम्या शुभधर्मप्रवर्तके । सप्तदण्डोद्गते सूर्ये सिद्धयोगयुजिप्रभुः ॥२५६॥
 नक्षत्रेत्त्वष्ट्रदैवत्ये कुम्भलग्ने शुभप्रहे । एवं सर्वागुणोपेतं शेदे काले च माधवः ॥२५७॥
 पुण्ये पुण्ये शरण्यः स शरणागतवत्सलः । आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः ॥२५८॥
 रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धारणः कारणः । अष्टमेऽब्दे चोपवीतं जातं तस्य तदाहसौ ॥२५९॥
 ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा तु विद्याभ्यासं करिष्यति । वर्षे द्वादशके जाते काश्यां गत्वा पुनः स्वयम् २६०
 वेदवेदाङ्गशास्त्रानि पुराणानि पठिष्यति । आचार्यलक्ष्मणैर्युक्तां वेदवेदान्तपारगम् ॥२६१॥
 श्रीसम्प्रदायश्रेष्ठञ्च जनोद्धारपरं सदा । विज्ञाय राघवानन्दं लब्ध्वा तस्मात् षडक्षरम् ॥२६२॥
 रहस्यत्रयवाक्यार्थं तात्पर्यार्थञ्च सन्मतम् । आचार्यलक्ष्मणैर्दिव्यैर्लक्षितो नै भविष्यति ॥२६३॥
 प्रवक्तृत्वासर्वधर्माणामनुष्ठाता च कर्मणाम् । रक्षिता धर्मसेतूनामुपदेष्टा महायशाः ॥२६४॥
 शश्वद्वैष्णवधर्माणां महाकीर्तिरुदारधीः । प्रसन्नवदनाम्भोजो विशालाक्षोमहाभुजः ॥२६५॥
 कृगालुः सर्वाजीवानामितरेषां च नित्यशः । संसाराम्भोनिधेर्वोरात्समुद्धारपरायणः ॥२६६॥
 वेदवेदान्तनिरतः सर्वाशास्त्रविशारदः । कामान् पुरयितानृणां कविः कल्पद्रुमो यथा ॥२६७॥
 गुणवान् दयितः पूज्यः सर्वाज्ञो विजितेन्द्रियः । शोभिष्यति धर्मरतैः सद्भिः पण्डितोऽनिशम् ॥२६८॥
 लोके पूर्णफलः खे नै शीतो शुभगणैरिव । सुशीलः समगृक्षान्तोदान्तः श्रीमान् जगद्गुरुः २६९
 पुनः सत्सम्प्रदायस्य वर्त्तयिता मुनीश्वरः । कृपया यस्य लोकेऽस्मिन् जनाः सर्वे निरामयाः २७०
 श्रीरामभक्तनिरताः सदा धर्मपरायणाः । तादृशस्य महाबुद्धेर्योगिवर्यस्य सत्कवेः ॥२७१॥
 गुणान् कार्त्तनेन संवक्तुं कविः कः क्षमतेऽधुना । इत्येवं वर्णितं यस्य तस्य भूयात्सुमङ्गलम् ॥२७२॥
 'रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले ।' इत्यागमवचो यस्य तस्य भवतु मङ्गलम् ॥२७३॥
 तीर्थराजप्रयागे पद्मबाणरामेन्दु (१३५६) विक्रमे । सप्तम्यां माघकृष्णे यो जातस्तस्यास्तु मङ्गलम् ॥२७४॥
 कान्यकुब्जावतंसस्य पुण्यसदनमूनवे । सुशीलगर्भजाताय सदा भवतु मङ्गलम् ॥२७५॥

वशिष्ठगोत्रोत्पन्नस्य शुक्लयजुः सुवेदिने	शाखामाव्यन्दिनीयाय प्रभूयान्मङ्गलं सदा ॥२७६॥
शिखादक्षिणपादाय रामयागेन याजिने	रामतत्त्वार्थविज्ञाय भूयात् सन्मङ्गलं भुवि ॥२७७॥
वशिष्ठशक्तिपराशरेति त्रिप्रवरान्विते	वेदतत्त्वार्थविज्ञात्रे भूयात्सर्वत्रमङ्गलम् ॥२७८॥
बोघायनीय धर्मस्य सूत्रतत्त्वावबोधिने	श्रौतकात्यायनीयेति भवेद्भुवि सुमङ्गलम् ॥२७९॥
ब्राह्मणः कान्यकुब्जोऽयः सीतारामेष्टकश्च यः	विष्णुदैवतकायाय भूयात्सर्वत्र मङ्गलम् ॥२८०॥
यवनत्रासभीतानां जनानां पुण्यकर्मणाम्	सर्वदाऽभयदात्रेऽस्तु मङ्गलं सर्वतो भुवि ॥२८१॥
ब्रह्मसूत्रेव्यधायेन भाष्यमानन्दसंज्ञकम्	आनन्दज्ञानदात्रेस्तु मङ्गलं विश्वतो मुखम् ॥२८२॥
समोपनिषदि येनानन्दफलप्रदायकम्	रचितंशुभमानन्दभाष्यं तस्यास्तु मङ्गलम् ॥२८३॥
उपनिषत्सारभूते गीताशास्त्रोऽतिशोभनम्	विहितं भाष्यमानन्दं तस्य भूयात्सुमङ्गलम् ॥२८४॥
भाष्यतत्त्वावबोधाय रामार्चा यस्य राजते	श्रीगौणवमताव्जाख्यभास्कारश्चातिनिर्मलः ॥२८५॥
प्रस्थानत्रयानन्दाख्यभाष्यदण्डेषु येन वै	वेदधर्मव्यवस्थान्यस्तस्तस्याऽस्तु मङ्गलं सदा ॥२८६॥
श्रीगौणवाख्यधर्मोऽयं वेदाऽभिन्नोऽहि राजते	यस्मिन् भाष्यत्रये दिव्ये तस्य भूयात्सुमङ्गलं ॥२८७॥
बोघायनीयवृत्तोर्हि सारं संगृह्यबोधकः	भाष्यरत्नेन यस्तस्मै प्रभूयान्मङ्गलं सदा ॥२८८॥
पूर्वाचार्यसुरेन्द्राणां मतानां ग्राहकश्च यः	वेदवाक्यार्थतत्त्वानां खण्डकायाऽस्तु मङ्गलम् ॥२८९॥
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तवेदशास्त्रौकबोधितः	विश्वेऽस्मिन् प्रथितो येन तस्मै भूयात्सुमङ्गलम् २९०
श्रीसीतारामीयो येन विशिष्टाद्वैतसम्मतः	परतत्त्वस्वरूपेण तस्य भवतु मङ्गलम् ॥२९१॥
यस्य भाष्याऽमृतेनाऽथह्यमृतीभूतमानवः	तस्याऽऽचार्यवरेण्यस्य संभूयान्मङ्गलं भुवि ॥२९२॥
रहस्यत्रयदीपेन दीपितं सर्वमानवम्	मानवप्राणदात्रेऽस्तु मङ्गलं सर्वतोदिशि ॥२९३॥
तत्त्वत्रयार्थबोधेन बोधितं सर्वदेहिनम्	येन सायुज्यभागजाना तस्मै भवतु मङ्गलम् ॥२९४॥
सर्वशास्त्रार्थगुह्यार्थो येनाऽऽचार्येण भासितः	'परोपकार' इत्येव तस्याऽऽचार्याय मंगलम् ॥२९५॥
श्रीरामशरणापत्तौ सर्वेषामधिकारिता	इत्याज्ञा वर्तते यस्य तस्याऽस्तु मङ्गलं सदा ॥२९६॥
भागवता द्वादशा वै शिष्याः सन्त्यतिविश्रुताः	अनन्तप्रमुखा लोके भूयात्सर्वत्र मङ्गलम् ॥२९७॥
धर्मतत्त्वार्थविज्ञैर्हि द्वादशादित्यसन्निभैः	शिष्यैः प्रशिष्यैः संयुक्तस्तस्याऽस्तु मंगलंसदा २९८
तदानीन्तनलोकेषु शिक्षासंस्थानरूपतः	प्रथितः श्रीमठो यस्य तस्यास्तु मंगलं सदा ॥२९९॥
विश्वेऽस्मिन् प्रथितो यस्य पञ्चघट्टेऽसुविस्तृतः	राजते श्रीमठः पीठस्तस्य भूयात्सुमङ्गलम् ॥३००॥
राममन्त्रजपे मग्नो रामतत्त्वप्रचारकः	भावानन्दाय दाता च तस्याऽस्तु मंगलं भुवि ॥३०१॥
श्रीगौणवाख्यधर्मस्य चक्रं संस्थाप्य सर्वतः	नवम्यां मधुमासस्य शुक्लपक्षेऽतिशोभने ॥३०२॥
नेत्ररामाक्षब्रह्मा(१५३२)न्द्रे श्रीमद्विक्रमवत्सरे	साकेतमगमदार्ढ्यस्तस्य सदाऽस्तु मङ्गलम् ॥३०३॥
काशीस्थाऽऽचार्यपीठाद्यः सदेहोऽदृश्यतां गतः	कथाऽस्ति प्रथिता यस्य तस्य भवतुमङ्गलम् ॥३०४॥